॥ श्रीः ॥

काशी-संस्कृत-ग्रन्थमाला

१५४

काश्यपसंहिता

(वृद्धजीवकीयं तन्त्रं वा)

महर्षिणा मारीचकश्यपेनोपदिष्टा

तच्छिष्येण वृद्धजीवकाचार्येण संक्षिप्य विरचिता

तद्वंश्येन वात्स्येन प्रतिसंस्कृता ।

नेपालराजगुरुणा पं० हेमराजशर्मणा

लिखितेन

विस्तृतेन उपोद्घातेन सहिता

आयुर्वेदालङ्कार श्रीसत्यपाल भिषगाचार्य-

कृतया

'विद्योतिनी' हिन्दीव्याख्यया, उपोद्घातहिन्दी-

भाषानुवादेन च

समुल्लसिता ।

चौखम्बा-संस्कृत-सीरिज, बनारस-१

सन् १९५३

THE

KASHI SANSKRIT SERIES

154

11159

THE

Kāsyapa Samhitā

(or Vṛddhajivakīya Tantra)

By

Vṛddha Jīvaka

REVISED BY

VĀTSYA

WITH SANSKRIT INTRODUCTION

BY

Nepal Rajaguru

Pandit Hemarāja S'armā

WITH

THE VIDYOTINĪ HINDI COMMENTARY

AND

HINDI TR NSLATION OF S NSKRIT INTRODUCTION

BY

ĀYURVEDĀLANKĀR

S'RĪ SATYAPĀLA BHIS'AGĀCHĀRYA

Professor, Ayurvedic College, Gurukul Kangari.

1953

PLACED ON THE SHELF
Date 28.9.96

PUBLISHED BY

Jaya Krishna Das Hari Das Gupta
The Chowkhamba Sanskrit Series Office
P. O. Box 8, Banaras-1.

1953.

LB:441:6x1,1
15J53.2

11150

11150

प्रस्तावना

पाठकों के सम्मुख आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थ काश्यपसंहिता का हिन्दी अनुवाद उपस्थित करते हुए मुझे प्रसन्नता है। अनुवादक के सामने प्रधान दृष्टिकोण ग्रन्थ के मूल विषयको स्पष्ट करना होता है। साथ ही विषय का व्यतिक्रम न हो यह भी उसे ध्यान में रखना पड़ता है। इन दोनों बातों का सामञ्जस्य रखने का मैंने अपनी ओर से यथाशक्ति प्रयत्न किया है। काश्यपसंहिता आयुर्वेद का एक अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ है। यह चरक तथा सुश्रुत का ही समकक्ष माना जाता है। इसकी उपलब्धि नेपाल में अभीतक खण्डितरूप में ही हुई है। कालक्रम से हमारे अनेक प्राचीन आयुर्वेदिक तथा अन्य ग्रन्थ भी विलुप्त हो चुके हैं। इन विलुप्त ग्रन्थों में से जो अनेक ग्रन्थ समय २ पर उपलब्ध हुए हैं उन्हीं में से काश्यपसंहिता भी एक है। यद्यपि यह ग्रन्थ अभी तक पूर्णरूप से नहीं मिला है तथापि जर्जरित एवं खण्डित रूप में उपलब्ध होने पर भी यह हमारे महान् आयुर्वेद कोष की अमूल्य निधि समझी जानी चाहिये तथा समय प्रवाह से भविष्य में इस ग्रन्थ के अवशिष्ट अंशों की उपलब्धि की आशा भी रखनी चाहिये।

इस ग्रन्थ का मुख्य विषय कौमारभृत्य है अर्थात् इसमें बालकों के रोग, उनका पालन पोषण, स्तन्य-शोधन एवं धात्रीचिकित्सा आदि का विशद वर्णन मिलता है। कौमारभृत्य अष्टाङ्ग आयुर्वेद का एक अवि-भाज्य अङ्ग है। इसके अभाव में अष्टाङ्ग आयुर्वेद पूर्ण नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार आयुर्वेद के आठ अङ्गों में से इस समय शालाक्य, विष, तथा भूतविद्या आदि केवल नाममात्र को ही अवशिष्ट हैं उसी प्रकार अष्टाङ्ग आयुर्वेद का कौमारभृत्य सम्बन्धी विषय भी इस ग्रन्थ के उपलब्ध होने से पूर्वतक केवल नाममात्र को ही था। इस कौमारभृत्य का प्रधान आचार्य जीवक माना जाता है। अभी तक इस जीवक का कोई भी विशेष परिचय हमें उपलब्ध नहीं था। इस ग्रन्थ के उपलब्ध हो जाने से जीवक के विषय में भी हमें अनेक प्रकार का ज्ञान मिल जाता है। इससे उसके पिता, जन्मस्थान एवं आचार्य का परिचय मिलता है। कौमार-भृत्य के प्रधान आचार्य जीवक, तथा इस संहिता के विषय में उपोद्घात में विशेष वर्णन किया गया है। इसके विषय में मुझे पुनः विशेष कुछ नहीं कहना है। इस ग्रन्थ में बालकों के विषय में अनेक ऐसी बातें दी हुई हैं जो अन्य प्राचीन आयुर्वेदिक ग्रन्थ में साधारणतया देखने को नहीं मिलती हैं। उदाहरण के लिये बालकों के लेहन, सन्निपात, फक्करोग आदि का इसमें विशेष वर्णन किया गया है। बालकों के दन्तोत्पत्ति का इतना विशद वर्णन अन्यत्र कहीं नहीं मिलता है। स्वेदन के प्रकरण में अत्यन्त छोटे बालकों के लिये अन्य स्वेदों के साथ विशेषरूप से हस्तस्वेद का विधान दिया गया है। हस्तस्वेद से अभिप्राय हाथों को गर्म करके उनके द्वारा स्वेदन देने से है। छोटे बालक अत्यन्त नाजुक होते हैं। थोड़ी सी भी अधिक गरमी से बालकों के उष्णता के केन्द्र विचलित हो जाते हैं इस लिये उन्हें स्वेदन अत्यन्त सावधानी से देने की आवश्यकता होती है। हस्तस्वेद से यह भय नहीं रहता, इसमें हाथों द्वारा उष्णता का नियन्त्रण सुविधापूर्वक किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में संक्षेप में दिये हुए वेदनाध्याय, लक्षणाध्याय, बालग्रह आदि का इसमें विशद वर्णन किया गया है। रक्तगुल्म तथा गर्भ में प्रायः भ्रम उत्पन्न हो जाता है। इनकी भेदक परीक्षा इस संहिता में अत्यन्त विस्तार से दी गई है। विषम ज्वर के वेगों के विषय में यहां एक बिलकुल नवीन शंका उपस्थित करके उसका युक्ति पूर्वक बड़ा सुन्दर उत्तर दिया गया है। विषमज्वर के अन्येद्युष्क, तृतीयक तथा चतुर्थक के समान अन्य भेद क्यों नहीं होते ? अर्थात् जिस प्रकार विषमज्वर प्रति-दिन, तीसरे दिन एवं चौथे दिन होता है उसी प्रकार पांचवें तथा छठें दिन भी इसके वेग क्यों नहीं होते ? इसका उत्तर दिया है कि इस विषमज्वर के आमाशय, छाती, कण्ठ तथा सिर ये चार ही स्थान हैं। इनके अतिरिक्त इसका कोई स्थान नहीं है। इसलिये अन्य स्थानाभाव से इसके अन्य वेग नहीं होते हैं। इन उपर्युक्त स्थानों में से आमाशय में दोषों के पहुंचने पर ज्वर का वेग होता है। एक स्थान से दूसरे स्थान तक दोष को पहुंचने में एक अहोरात्र लगता है अर्थात् अन्येद्युष्क का स्थान छाती है। छाती से आमाशय तक दोष के पहुंचने में एक अहोरात्र लगता है। इसलिये अन्येद्युष्क का वेग २४ घंटे में होता है। तृतीयक का स्थान कण्ठ माना गया है। कण्ठ से छाती तक एक अहोरात्र तथा छाती से आमाशय तक पहुंचने में

दूसरा अहोरात्र लगता है इसलिये तृतीयक का वेग तीसरे दिन होता है। इसी प्रकार चतुर्थक का स्थान सिर है। उसे आमाशय तक पहुंचने में तीन अहोरात्र लगते हैं अर्थात् चतुर्थक का वेग चौथे दिन होता है। इनके अतिरिक्त विषमज्वर का कोई स्थान नहीं है इसलिये चौथे दिन के बाद इसका कोई वेग नहीं होता है। यह अत्यन्त युक्तिसंगत उत्तर दिया गया है। इसी प्रकार अन्य भी बहुत से नवीन विषय इस संहिता में दृष्टिगोचर होते हैं। इस प्रकार संपूर्ण दृष्टियों से कौमारभृत्य के विषय में यह एक पूर्ण प्रामाणिक ग्रन्थ माना जा सकता है। अनेक वर्षों से मेरी इच्छा इसके अनुवाद करने की थी। चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय के व्यवस्थापकों के सत्प्रयत्नों से उस इच्छा को पूर्ण करने का अवसर मुझे उपलब्ध हो गया। इस ग्रन्थ के साथ राजगुरु हेमराज जी ने जो एक अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण एवं सारगर्भित उपोद्घात लिख दिया है उससे तो इस ग्रन्थ की उपादेयता और भी बढ़ गई है। इसमें आयुर्वेद का विस्तृत इतिहास एवं विकासक्रम दिया गया है तथा आयुर्वेद के प्रधान ग्रन्थों एवं उनके आचार्यों का भी विस्तृत विवेचन किया गया है। परन्तु यह उपोद्घात संस्कृत भाषा में लिखा होने से आयुर्वेद के अनेक ऐसे प्रेमी, जो संस्कृत से अनभिज्ञ हैं, इससे विशेष लाभ नहीं उठा पाते, इसी लिये इस संहिता के अनुवाद का प्रश्न जब मेरे सामने आया तो मूल ग्रन्थ के साथ २ उपोद्घात का अनुवाद करना भी मैंने आवश्यक समझा, इससे यद्यपि ग्रन्थ का कलेवर अवश्य बढ़ गया है परन्तु इससे इसकी उपयोगिता निर्विवाद बढ़ गई है।

पूज्य हेमराज जी ने सहर्ष अत्यन्त उदारतापूर्वक प्रकाशक को सानुवाद उपोद्घात छापने की स्वीकृति प्रदान करदी इसके लिये मैं तथा प्रकाशक उनके अत्यन्त आभारी हैं। चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय के व्यवस्थापक श्री जयकृष्णदास हरिदासजी गुप्त भी अत्यन्त धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने इस महान् अर्थ-संकट काल में भी आर्थिक लोलुपता से विरत होकर सेवाभाव से ही इस ग्रन्थ का प्रकाशन कर आयुर्वेद जगत की एक महान् क्षति की पूर्ति कर दी है। श्री अत्रिदेव जी गुप्त का मैं अत्यन्त आभारी हूं उन्हीं की निरन्तर प्रेरणा का फल है कि मैं आप लोगों के सम्मुख इसका अनुवाद उपस्थित कर सका हूं, उनको मैं धन्यवाद तो नहीं दे सकता क्योंकि वे मेरे गुरु हैं। काश्यपसंहिता का अनुवाद करना मेरे लिये सरल नहीं था क्योंकि यह एक अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ है जिसमें स्थान २ पर अनेक विषय एवं शब्द ऐसे आये हुए हैं जो बिलकुल अप्रसिद्ध एवं अस्पष्ट हैं। इनके अतिरिक्त सबसे अधिक कठिनाई जो थी वह यह कि यह ग्रन्थ स्थान २ पर खण्डित अवस्था में है। इन कठिनाइयों के होते हुए भी प्रकाशक के द्वारा निरन्तर प्रोत्साहन मिलते रहने से ही मैं इस कार्य को पूर्ण कर सका हूं अतः मैं उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूं।

इस संहिता के अनुवाद कार्य में मुझे बहुत से व्यक्तियों से अत्यन्त अमूल्य सहायता प्राप्त हुई है उनको मैं हृदय से धन्यवाद देता हूं। गुरुकुल आयुर्वेद महाविद्यालय के वयोवृद्ध उपाध्याय श्री कविराज हरिदास जी शास्त्री न्यायतीर्थ का मैं अत्यन्त आभारी हूं जिनसे मुझे समय २ पर बहुमूल्य सहायता मिलती रही है। श्री पं० हरिदत्त जी वेदालङ्कार, श्री पं० रामनाथ जी वेदालङ्कार तथा श्री पं० शंकरदेव जी विद्यालङ्कार को भी मैं धन्यवाद देता हूं इनसे मुझे हर प्रकार की सहायता प्राप्त होती रही है। ऋषिकुल आयुर्वेद कालेज के विद्यार्थी ऋषिप्रकाश को भी हम धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकते जिन्होंने हमारे इस कार्य में अत्यन्त सहयोग प्रदान किया। अन्त में मुझे अपनी धर्मपत्नी श्रीमती सुशीलादेवी को भी अवश्य धन्यवाद देना चाहिये जिनकी आत्मिक सहायता एवं इच्छाशक्ति के बिना यह कार्य पूरा नहीं हो सकता था।

अन्त में हिन्दी अनुवाद के विषय में मैं इतना अवश्य कह देना चाहता हूँ कि इस संहिता में कुछ ऐसे विषय आये हुए हैं जो अत्यन्त अस्पष्ट एवं संदिग्ध हैं। बहुत प्रयत्न करने पर भी मैं उनको स्पष्ट नहीं कर सका हूँ। उन संदिग्ध स्थलों का हमने अन्य कई वृद्ध वैद्यों के निर्देशानुसार केवल शब्दानुवाद मात्र कर दिया है। विद्वान् पाठक उन संदिग्ध स्थलों के विषय में मुझे अपने विचार लिख सकें तो मैं उनका आभारी होते हुए उन स्थलों का अगले संस्करण में स्पष्ट करने का प्रयत्न करूँगा।

अक्षय तृतीया
वि० संवत् २०१०

निवेदक—
सत्यपाल आयुर्वेदालङ्कार

संस्कृत-उपोद्घातस्य संक्षिप्ता विषयानुक्रमणिका

काश्यपसंहितायां समागतान्याचार्यान्तराणां नामानि

हिन्दी उपोद्धात की संक्षिप्त विषयानुक्रमणिका

प्राप्तिस्थानम्

चौखम्बा-संस्कृत-पुस्तकालय,

पो० बा० नं० ८, बनारस-१
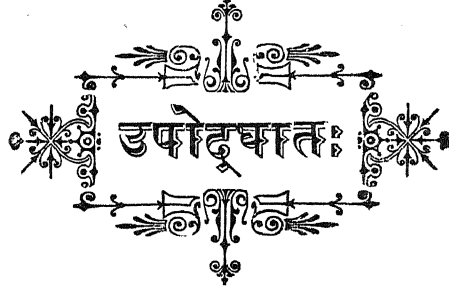
आयुष्याम्नायमाम्नाय नानोन्मेषैर्विवर्ध्य च ।
जगतः श्रेयसे सक्ताः स्मरणीया दयामयाः ॥ १ ॥
यत्प्रातिभरसासिक्त आयुर्वेदमहातरुः ।
फलत्यद्यापि जगति महात्मानो जयन्ति ते ॥ २ ॥

उपोद्घात-प्रस्तावः

यत्किमपि प्रेक्षावतां पुरः प्रदर्श्यमानं किमिदं किमर्थमितीदं प्रथमां जिज्ञासां स्वतः समुत्थापयति। यावद्धि तन्नावगम्यते तावन्न प्रवर्तते सविशेषा दृष्टिः परीक्षकाणाम्[1] सामान्यतोऽवगते विशेषजिज्ञासोन्मुखीकरोति लोकान् । सति हि बाह्ये सामान्यविज्ञानेऽभीप्सितमर्थमुपादातुं, जिहासितमपार्थं च परिहर्तुं कल्पते लोकः । तामेतामादिमाकाङ्क्षां प्रशमयितुं शास्त्रादावनुबन्धनिर्देशवत्प्रस्तुतग्रन्थसम्बन्धिनोऽन्तरङ्गान् बहिरङ्गाँश्च काँश्चन विशेषतो निरीक्षितान् विषयान् भूमिकाप्रस्तावनादिरूपेणोपहृत्य ग्रन्थः पुरस्क्रियत इति समुचितः साम्प्रतिको विपश्चित्सम्प्रदायः। अमुमाचारमनुरुन्धाने चेतसि प्रतिभातमन्यत्र परिदृष्टं च यत्किञ्चन विवेचकानां पुरतः कतिपयैः शब्दैः समुपाहर्तुं लेखनीयं पुरःसरति ॥

तत्रास्मिन्नुपोद्घाते पञ्च परिच्छेदाः—

(१) सोपक्रम आयुर्वेदपरिच्छेदः ।
(२) आचार्यपरिच्छेदो ग्रन्थपरिचयसहितः ।
(३) संस्कारतुलनादिसहितो विषयपरिच्छेदः ।
(४) भारतीयभैषज्यसमर्थनपरिच्छेदः ।
(५) उपसंहारपरिच्छेदः ।

१. सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते ।
शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः ॥
(श्लोकवार्तिकस्योपक्रमे)

(१) सोपक्रम आयुर्वेदपरिच्छेदः—

आयुर्वेद-विषयोपन्यासः

निश्चप्रचमेवेदं विपश्चितां सुखमेव परमः पुरुषार्थ इति । तच्च सुखं दुःखनिवृत्त्यात्मकं दुःखविरोधिभावान्तरं वेति द्विधा निरूप्यते विद्वद्भिः । उभयथाऽपि तल्लब्धये सर्वेषां समीहा । सति हि दुःखे तन्निवृत्तिर्वा सुखं वा नोदेतुं प्रभवति । दुःखं नाम बाधनालक्षणं सर्वाधिकमप्रियं जगति । यदतीतमपि स्मर्यमाणं बाधते, वर्तमानमपि यैः कैश्चिदुपायैर्निवर्तयितुमिष्यते, आगाम्यपि साधनावलम्बेन परिहर्तुं प्रयत्यते । नहि कोऽपि सचेता आत्मनो दुःखं समीहते। यावन्तो व्यापारास्तन्निवर्त्य सुखं साधयितुं प्रवर्त्यन्ते, परं सुखसमीहया प्रवर्तमानोऽप्ययथावेदनेन समुपचारपथं परिहायापचारवर्त्मनि प्रवृत्तो दुःखेन खलीक्रियते लोकः। एतस्यैव मार्गालोकाय सर्वाणि शास्त्राणि सर्वे लोकाश्च प्रावर्तन्त प्रवर्तन्ते च ॥

दुःखं च मनःशरीरादिकमात्मानं निमित्तीकृत्य जायमानमाध्यात्मिकं, पञ्चभूतप्राण्यादिभूतनिकायं निमित्तीकृत्य जायमानमाधिभौतिकं, ग्रहयक्षराक्षसविनायकादिकं देवनिकायं निमित्तीकृत्य जायमानमाधिदैविकमिति त्रिषु प्रस्थानेषु विभज्यते । एषु नानाप्रस्थानेषु यं कञ्चन दुःखविशेषमभिलक्ष्य तत्तन्निवृत्तिप्रधानोपायप्रदर्शनेन आध्यात्मिकानि साङ्ख्यादिदर्शनानि, उपासनाशास्त्राणि, नीतिभैषज्याद्यैहिकशास्त्राणि चार्थवन्ति भवन्ति ॥

परमेतान्याध्यात्मिकान्यैहिकानि च सर्वाणि शास्त्राणि शरीरिणां सुजीवनमुपलभ्यैव स्वात्मलाभाय कल्पन्ते । यः कश्चन सचेता नवनवोत्साहसम्पन्नः सदुपायान् विज्ञाय तत्परिष्कृतेन वर्त्मना आत्मानमुन्निनीषुः क्रमेण समीहितं स्थानमारोढुं पारयति। दुर्जीवनेन स्खलद्गतिः कियत्याऽपि मात्रया पुरः सर्तुमपारयन्नात्मना कमप्युपयोगं साधयितुं न प्रभवतीति शारीरान् जीवनोपायान् प्रतिपादयच्छास्त्रं विशेषतः शास्त्रान्तराणामप्युपजीव्यं भवति । प्रथमतः शारीरबाधया विना कृता स्थितिरस्माज्जीवनादुपेया ऐहिकीः आमुष्मिकीश्चोन्नतीर्गमयति । शरीरं नाम नानाविधैः स्थूलसूक्ष्मातिसूक्ष्मैरवयवैर्गहनाभिस्तत्तदंशक्रियाप्रक्रियाभिर्यथावदप्रमेयमैश्वरशिल्पमयं महायन्त्रमिवावलोक्यते। यत्र क्वचन स्थूलेषु सूक्ष्मेषु वांऽशेषु दृश्याऽदृश्या वा या काचन विक्रिया समुत्पद्यमाना समस्तं शरीरं, न केवलं शरीरमपि तु तदनुस्यूतं शरीरशरीरिसमवायात्मकमन्तरात्मानमपि विकलभावं प्रापयति। शरीरविक्रियया विक्रियमाणः शरीरी विकलेनान्तरात्मना शैथिल्यमापन्नो दुःखान्तराण्यमपि निरसितुं न भवति । शरीरे निर्बाधे दुःखान्तराणां परिहारोपाया विधातुं पार्यन्ते, फलन्ति च। शरीर एवामयेन विकलतामुपेते तदनुषङ्गेणान्तःकरणे च व्यथिते कठिनतपश्चर्यातीर्थाटनपरोपकारप्रभृतयो धार्मिका विषयाः; शिल्पवाणिज्यवार्तादेशान्तरभ्रमणादय आर्थिका उद्योगाः; यथाकाममाहारविहारविषयोपभोगादयः कामिकाः प्रयोगाः, मानसिकविचारविशेषक्रोधलोभाद्यान्तरिकशत्रुदमनेन्द्रियजयेश्वरभजनादयो मोक्षोपाया अपि न यथावत् प्रवर्तयितुं शक्यन्ते। उक्तमेव—'धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलसाधनम्' (च. सू. अ. १) इति ॥

तदेवमारोग्यपरिप्लुते जीवनतरौ सम्यञ्चि फलानि फलन्तीति तत्सम्पत्त्या चिरजीवनाय सुजीवनभावाय च शारीरबाधामयान्यैहिकानि च दुःखान्यवश्यं परिहरणीयानि भवन्ति। शारीराणि दुःखानि च नानाविधरोगात्मना शतधा प्ररोहन्ति। ते च शतशो रोगा नैकेनोपायेनोपदेशेन वा विज्ञेयाः परिहरणीया वा भवन्तीति तेषां निवृत्तयेऽनुत्पादाय च ये यावन्त उपाया व्यवस्थितयस्तेषां यावद्बुद्धिबलोदयं परिज्ञानमावश्यकं देहिनाम् ॥

तत्र हेया दुःखात्मानो रोगाः, तेषां हेतवः (निदानादीनि) हेयरोगाणां हानं (निवृत्तिः), हाने साधनानि (भेषजादीनि) चेति चतुर्धा विज्ञातव्यानि भवन्ति। हेयानां स्वरूपाणि परिचित्य ज्ञातैस्तदीयहेतुभिः पूर्वमेव परिह्रियमाणैस्तदनुत्पत्तये, विज्ञातैश्च हानसाधनैः कथञ्चनोत्पन्नानामपि तेषां निवृत्तये भवितव्यम् ॥

लोकानां श्रेयः साधनतया हितावहेषु विविधेषु ज्ञानविज्ञानप्रभेदेषु सर्वोपजीव्यं यद् विज्ञानरत्नं तदेवायुर्वेदविज्ञानमित्युच्यते। एतदीयं विज्ञानं न केवलं स्वस्य एकव्यक्तिमात्रस्य वोपकृतये, अपि तु कुटुम्बस्य समाजस्य देशस्याप्युपकृतये समुन्नतये च भवतीत्यवश्यं विज्ञेयं शरीरिभिः, उपदेष्टव्यं च विज्ञातृभिरिति विशेषतोऽर्थवानस्यावबोध उपदेशश्च ॥

आयुर्वेदस्य प्राचीनत्वम्

यदा किल स्रष्ट्रा भूतानि भौतिकानि च सृष्टानि तदात्व एव प्राणिनां दीर्घायुष्यसाधनान्यपि विज्ञेयानि बभूवुः। उत्पन्नमात्रा एव मिथ्योपचारेण विनष्टाः प्राणिनः कथङ्कारं सर्जनश्रममर्थवन्तं कुर्युः। यथा यथा ते चिरं सत्तां प्राप्नुवन्ति तथा तथा स्रष्टुः समीहितं किमपि सम्पादयितुं पारयेयुः। सत्तां लब्धवन्तोऽपि विकलाङ्गाः कतमस्मै कामाय कल्पेरन्। अतः सत्त्वबलावष्टब्धेन सकलीभावेन चिरमवस्थानमादित एवापैक्ष्यत। अस्मिंश्च स्रष्टुः शिल्पप्रपञ्चे चरा अचरा भोक्तारो भोज्या एवमादयो नैके प्रभेदाः। भोक्तृभोज्यानामप्यसंख्येयाः प्रकाराः। न खलु सर्वेषां भोक्तॄणां सर्वाणि भोज्यजातान्यनुकूलानि, अपि तु भोक्तॄणां जातिदेशकालावस्थाभेदेनोपकारायापकारायापि प्रतिनियतानि। नह्येकस्यानुकूलं प्रतिकूलं वा वस्तु तथैवस वेषाम् , एकस्याप्यनुकूलं प्रतिकूलं वा न सर्वं सर्वदा, अपि तु तत्राप्यवस्थादिविशेषेण व्यवस्थितम्। इतश्च कस्य कदा किमनुकूलं, किं वाऽस्य साधनं, किञ्च प्रतिकूलं, कथं तदुदयः, को वाऽस्य प्रशमनोपाय इति उपादेयं तदुपायः, हेयं हेयहेतुः, हानसाधनमित्येतानि तदात्व एव विज्ञेयान्यभूवन्। सर्वास्वेषणासु प्राणैषणा प्राथम्येनोदेतुमर्हति। अतश्च प्राणिनां सृष्टेरेवायुर्वेदस्य बीजन्यासः ॥

'अनुत्पाद्यैव प्रजा आयुर्वेदमेवाग्रेऽसृजत्' इति सुश्रुतोक्तेस्तौल्येन 'आयुर्वेदमेवाग्रेऽसृजत्ततो विश्वानि भूतानि' इति काश्यपसंहितायां (पृ० ६१) सृष्टितोऽप्यायुर्वेदस्य ज्यैष्ठ्यं निर्दिश्यमानमपि निमित्तनैमित्तिकयोः पौर्वापर्यानुक्रममनुसन्धाय 'अग्निहोत्रं जुहोति, यवागूं पचति' इत्यादौ पाठक्रमाद् बलीयांसमार्थक्रममिव "तव[1] प्रसादस्य पुरस्तु सम्पदः" इति प्रसादे सम्पदः क्षेपिष्ठभावमिव वस्तुतः सृष्ट्या सहायुर्वेदस्य घनिष्ठं नेदिष्ठं च सम्बन्धमालङ्कारिकोक्त्याऽभिव्यनक्ति। किं वा बालकस्योत्पत्तेः पूर्वं स्तन्योद्गमनमिव सृष्टेः प्रथमत आयुर्विज्ञानं स्वरसतोऽपि सम्भवति। विकासवाददृशा भौतिकसृष्टेः पूर्वमोषधिवनस्पत्यादीनां सृष्टेः प्रतिपादनमपि भूतोद्भवात् प्रागेव भैषज्यविज्ञानस्य बीजन्यासं दर्शयति। आत्रेयाचार्येण तु 'सोऽयमायुर्वेदः शाश्वतो निर्दिश्यते, अनादित्वात् स्वभावसंसिद्धलक्षणत्वात्' (च. सू. अ. ३०) इत्यादिना आयुर्वेदीयावबोधोपदेशयोः सादित्वेऽपि संसारस्येवायुर्वेदविज्ञानपरम्पराया अप्यनादित्वं निर्दिष्टमस्ति ॥

आयुर्वेदः

आयुर्वेदशब्दार्थप्रदर्शनेऽस्यां काश्यपसंहितायाम्—"आयुर्जीवितमुच्यते, विद ज्ञाने धातुः, विद्लृ लाभे च; आयुरनेन ज्ञानेन विद्यते ज्ञायते विन्दते लभते न रिष्यतीत्यायुर्वेदः" (पृ० ६१) इति दीर्घजीवितस्य ज्ञापकमुपायप्रतिपादनद्वारा प्रापकमविनाशकं च शास्त्रमायुर्वेद इति विधीयमानं

१. उदेति पूर्वं कुसुमं ततः फलं घनोदयः प्राक् तदनन्तरं पयः।
निमित्तनैमित्तिकयोरयं क्रमस्तव प्रसादस्य पुरस्तु सम्पदः ॥
(शाकुन्तले ७ अङ्के)

निर्वचनमस्य स्वरूपं प्रयोजनं च निदर्शयति । एवं च आयुर्वेदशास्त्रादायुषः स्वरूपं, यैस्तदुपेयते ते उपायाः, विद्यमानमायुर्यैर्विज्ञायते तानि लक्षणानि च वेद्यन्ते, तानि विज्ञाय यथोपदेशं प्रवृत्त आयुरवस्थापयति च, एतज्ज्ञानमन्तरेणायथावत्प्रवर्तमान आयुर्विनाशाय प्रभवतीति ससाधनायुरवस्थापकशास्त्रमायुर्वेदशब्दार्थः ॥

तदिदं व्याधिपरिमोक्षः स्वास्थ्यपरिरक्षणं चेति प्रयोजनद्वय-[1]मात्रेय[2]सुश्रुतोक्तिभ्यामपि समन्वेति ॥

आयुर्वेदशब्दोऽयं बहुशाखाविस्तीर्णं चिकित्साविज्ञानमवबोधयन्न केवलं मानवीयं भैषज्यमभिप्रैति, किन्तु हस्त्यश्वगवादीनां पशुपक्षिणां,[3] वृक्षलतादीनामुद्भिज्जानामपि भषज्यानि सङ्गृह्णाति । पालकाप्य-मतङ्ग-शालिहोत्रादयो हस्त्यश्वादिभैषज्योपदेशाचार्यास्तदीयोपदेशरूपास्तत्परम्परागताश्च ग्रन्थाः, एवं वृक्षायुर्वेदे काश्यपसारस्वतपराशरादय आचार्यास्तदुपदेशपरम्परागता विषया वराहसंहितायां भट्टोत्पलीयतत्प्रकरणव्याख्यायामुपवनविनोदादिषु च बहुश उल्लिख्यन्ते । धन्वन्तरिणाऽपि नराश्वगोगजवृक्षायुर्वेदनां सुश्रुतायोपदेशनस्य आग्नेयपुराणे (अ. २७९-२९२) उल्लेखोऽस्ति । परं धन्वन्तरिकश्यपात्रेयादीनां मानवीयायुर्वेदत्रिभागविषयं विशेषत उद्दिश्य प्रवर्तनेन प्रकृतोपयोगेन चात्रापि तमेवाधिकृत्य प्रदर्श्यते ॥

अस्याऽऽद्यज्ञानसम्पद्रूपतया वेदशब्देनोल्लेखः क्रियते तैर्थिकैः । वेदो नामार्याणां सर्वादिमो ज्ञानविज्ञानराशिः । तत्रैव पूर्वेषां ज्ञानानि विज्ञानानि च सम्भृतानि । आर्याणां तपःप्रणिधानालोकोज्ज्वलेषु हृदयेषु प्रातिभप्रकाशरूपेण वर्तमानाऽव्याहतस्वरूपाऽऽद्यज्ञानसम्पद्वेदशब्देन व्यवाह्रियत । तेषु ज्ञानविज्ञानप्रस्थानेष्वेकतमदेतद्विज्ञानमपि ॥

ऋग्यजुःसामाथर्वनामभिर्विभक्तानां वेदानामुपवेदरूपेण धनुर्वेद-गान्धर्ववेद-स्थापत्यवेदायुर्वेदा उल्लिख्यन्ते । उपशब्दो हि सन्निकृष्टं सम्बन्धमभिप्रैति । तत्र केन वेदेन

वेदायुर्वेदयोः सम्बन्धः

सहास्याऽऽयुर्वेदस्य सम्बन्ध इति विचारे "इह खल्वायुर्वेदमष्टाङ्गमुपाङ्गमथर्ववेदस्य" इति (सू. अ. १) सुश्रुताचार्यः कण्ठत एवायुर्वेदस्याथर्ववेदेन सहाङ्गाङ्गिभावं निर्दिशति । "चतुर्णामृक्सामयजुरथर्ववेदानामथर्ववेदे भक्तिरादेश्या" (च. सू. अ. ३०) इत्युल्लिखन्नात्रेयाचार्योऽपि ऋग्वेदादिभिश्चतुर्भिः सहास्य सम्बन्धमपरिहरन् भक्तिपदेन अथर्ववेदेन सहैवास्य नेदिष्ठं सम्बन्धमवबोधयति । अस्यां काश्यपसंहितायां तु (पृ. ६१) "आयुर्वेदः कथं चोत्पन्नः" इति प्रश्ने "अथर्ववेदोपनिषत्सु प्रागुत्पन्नः" इत्युत्तरेण प्रथमतोऽथर्वमूलकत्वं निर्दिश्य, "कं च वेदं श्रयति" इति प्रश्नान्तरे "अथर्ववेदमित्याह, तत्र हि रक्षा-बलि-होम-शान्ति-······प्रतिकर्मविधानमुद्दिष्टं विशेषेण, तद्वदायुर्वेदे, तस्मादथर्ववेदं श्रयति, सर्वान् वेदानित्येके" इत्युपन्यस्य, "आयुर्वेदमेवाश्रयन्ते वेदाः......तस्माद्ब्रूमः ऋग्वेदयजुर्वेदसामवेदाथर्ववेदेभ्यः पञ्चमोऽयमायुर्वेदः" इत्युल्लिखन्नाचार्यो विषयविशेषसन्निकर्षेणाथर्वसम्बन्धवादमादौ निर्दिश्य, सर्वेषु वेदेषु न्यूनाधिकभावेनैतद्विषयोपलम्भेन सर्ववेदसम्बन्धवादमप्येकीयमतत्वेनोल्लिख्य, ब्रह्माश्वीन्द्रादिसम्प्रदायपरम्परया क्रमविकसितस्यायुर्वेदीयविज्ञानस्य स्वतन्त्रप्रस्थानान्तररूपेण विजृम्भिततया वेदान्तरवत् सर्वोपजीव्यतायाः पुरुषनिःश्रेयसपरतायाश्च दर्शनेन विज्ञेयविषयश्रृङ्खलितभावेन पृथगवस्थितस्यायुर्वेदस्य स्वीये विषये प्राधान्येनोपादेयत्वमभिप्रेत्य महाभारतस्य पञ्चमवेदत्ववत् पञ्चमवेदस्थानीयत्वमपि स्वविचारारूढमन्ततः प्रकाशयति ॥

"आयुर्वेदमष्टाङ्गमुपाङ्गमथर्ववेदस्य" इति सुश्रुतोक्तावुपाङ्गपददर्शनेन साक्षात्सम्बद्धस्याङ्गतया, अङ्गसम्बन्धस्योपाङ्गतयाऽऽपाततोऽवगमाद्वेदाङ्गेष्वप्यङ्गत्वमायुर्वेदस्य, अङ्गान्यनूपाङ्गानि भवन्तीत्यनुसन्धाय वेदकालादुत्तरं शिक्षाद्यङ्गानां, ततोऽपि पश्चादुपाङ्गभूतस्या[1]युर्वेदस्य काल इति सुश्रुतस्यार्वाग्भावसाधने केषाञ्चिद्विदुषां दृष्टावुन्मिषति । परमुपाङ्गशब्देनापाततस्तथा प्रतीतावपि वेदाङ्गेषु शिक्षाकल्पादिषु वैद्यकविद्याया विशेषतः सम्बन्धस्यादर्शनेन, प्रत्युत वक्ष्यमाणदिशा श्रौतग्रन्थेभ्यो ब्राह्मणेषु, ततोऽपि संहितासु यथापूर्वमायुर्वेदीयविषयाणामतिशयदर्शनेन, तत्राप्यथर्ववेदे बाहुल्योपलम्भेन च वेदेनैव सहास्य नेदिष्ठः सम्बन्धः प्रतीयते । अङ्गत्वं नामाऽप्रधानत्वं शेषत्वमिवावयवत्वमपि । तच्छरीरान्तरनुप्रविश्योपकर्तृणि सन्निपत्योपकारकाणि, तच्छरीराद्बहिर्भूयोपकर्तृणि आरादुपकारकाणीति द्विविधान्यङ्गानि मीमांसकैर्विभज्यन्ते, यान्यन्तरङ्ग-बहिरङ्गशब्दाभ्यामपि विभज्य व्यवहर्तुं शक्यन्ते । वेदशरीराद्बहिर्भूतानि शिक्षादीनि बहिरङ्गान्येव भवन्ति । वक्ष्यमाणरीत्याभैषज्यायुष्यसंशमनीयकर्मादीनां बहूनामायुर्वेदविषयाणां वेदसंहिताभ्यन्तरेऽपि प्रोततया तच्छरीरमनुप्रविष्ट आयुर्वेदस्त्वन्तरङ्गभावमेव भजति । नानाविज्ञानमहाराशिरूपे वेदे याज्ञिको महान् प्रधानविषयः, आयुर्वेदीयविषयादयः प्रासङ्गिका आवन्तरविषया इत्यत आयुर्वेदीयं विज्ञानं वैदिकविज्ञानशरीरमनुप्रविष्टं सत्तदवयवरूपमङ्गं भवति । महावयवानामङ्गत्वं, स्वल्पावयवानामुपाङ्गत्वमिति द्विधा विभागं प्रदर्श्य बाह्वादीन् करादींश्च

१. चरकसंहितायां-"हिताहितं सुखं दुःखम्" इत्यादिना आत्मनो भोगायतनस्य पञ्चभूतविकारात्मकस्य शरीरस्य, भोगसाधनानां चक्षुरादीन्द्रियाणां, मनसोऽन्तःकरणस्य, ज्ञानप्रतिसन्धातुरात्मनश्चैषामदृष्टविशेषनिष्पन्नः संयोग एवायुःपदार्थः; आयुषः स्वरूपं, तत्र हिताहिते, पथ्यापथ्ये, तत्फलीभूते सुखदुःखे, आयुषस्तत्तदवस्थानुरूपाणि लक्षणानि चेत्येभिः साधनफलादिभिः समन्वितमायुर्वेदयति ज्ञापयतीत्यायुर्वेद इति प्रवचनं निर्दिश्यते (सूत्रस्थाने १ अ. ३०)

२. सुश्रुते—"आयुरस्मिन्विद्यतेऽनेन वाऽऽयुर्विन्दतीत्यायुर्वेदः" इति कथनेन शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगरूपमायुरस्मिन् प्रतिपाद्यतया विद्यते, आयुरनेन विद्यते ज्ञायते विचार्यते वा, आयुरनेन विन्दति प्राप्नोतीत्यायुर्वेद इति निर्वचनं विधीयते (सू. अ. १) ।

३. शालिहोत्रः सुश्रुताय हयायुर्वेदमुक्तवान् ।
पालकाप्योऽङ्गराजाय गजायुर्वेदमब्रवीत् ॥
(अग्निपुराणे २९२ अध्याये)

१. History of Hindu Chemistry I. by P. C. Ray.

निदर्शयता डल्लनाचार्येणापि आयुर्वेदस्यान्तरङ्गत्वमेव समर्थितं भवति। यदि बहिरङ्गानां शिक्षादीनामप्यङ्गभावमुपादाय सुश्रुतस्योपाङ्गत्वोल्लेखः स्यात्तदा शिक्षादेरपि पश्चाद्भावौचित्यवत आयुर्वेदस्य भूतसृष्टेरपि प्राग्भावः सुश्रुतेनैवोक्तः कथं न व्याहन्येत। शिक्षादिषु बहिरङ्गेष्वप्यव्यवहृतेन वेदशब्देनायुर्वेदस्य निर्देशोऽपि पूर्वभावित्वमेवास्य प्रगुणयति। विज्ञानमहोदधेर्वेदस्यैकतरङ्गरूपेण वर्तमानमिदमायुर्वेदीयविज्ञानं वेदशरीरमनुप्रविष्टमनुसन्धाय केचन उपवेदशब्देन, अवयवावयविभावापन्नमनुसन्धाय केचन वेदाङ्गशब्देन, स्वल्पावयवात्मकमनुसन्धाय केचन वेदोपाङ्गशब्देन, व्यवहरन्तो मिथोऽव्याहतं समन्वयं गमयन्ति। किं बहुना, कश्यपाचार्येण तु उपशब्दमप्यनुपादाय पञ्चमवेदत्वेन निर्दिष्टमस्ति। अन्तरवयवाश्च अवयविना सहैवावतिष्ठन्ते, नावयविसमयादुत्तरः समयोऽवयवानाम्। तदेवमुपवेदशब्दसामानाधिकरण्येन वर्तमानोऽयमुपाङ्गशब्दोऽपि आयुर्वेदमुपर्येवारोहयति, नतरामर्वाग्भावशङ्कोदयाय कल्पते॥

इहेदमनुसन्धीयते—ब्राह्मणोपनिषन्महाभारतपुराणस्मृत्यादिषु वेदचतुष्टयोल्लेखोपलम्भेऽपि अथर्ववेदे[1] ऋग्यजुःसामाथर्ववेदानामुल्लेखेन, त्रिषु वेदेष्वथर्ववेदस्यानुल्लेखेन[2] च त्रयीविभागः प्राथमिक इति विवेचकानां भणितिः। तत्र मन्त्रात्मके वेदे पद्यात्मिका ऋक्, गद्यात्मकं यजुः, गीत्यात्मकं सामेति त्रिधा विभागः। अस्मिँस्त्रयीविभागेऽथर्वमन्त्राणामपि यथास्वमन्तर्भावः। आर्षहृद्भूमिकास्वादिमज्ञानसम्पत् त्रयीरूपेण[3] यदैव प्रादुर्बभूव, तदाऽप्यायुर्वेदविज्ञानमासीदेवेति ऋग्यजुःसामसु त्रिष्वपि तत्र तत्रोपलभ्यमानैस्तद्विषयैरवगम्यते। अथर्ववेदस्य प्रमेयवैशिष्ट्येन पृथग्गणनायामनेन सह चत्वारो वेदाः। ब्राह्मणोपनिषत्सु स्मृतिमीमांसादिष्वपि वेदानां चातुर्विध्योल्लेखश्चतुर्वेदविदां निर्देशश्चोपलभ्यते। तेन ऋग्यजुःसामाथर्ववेदानां चतुर्णां पुराकालादेव समकक्षतया प्रामाण्यमित्येतस्मिन्विषये न्यायमञ्जर्यां वेदसर्वस्वे च बहु प्रपञ्चितमस्ति। अथर्ववेदेन सह चतुर्णां वेदानामुपवेदान् प्रदर्शयता चरणव्यूहकृता "ऋग्वेदस्यायुर्वेद उपवेद इत्याह भगवान् व्यासः स्कन्दो वा" इति व्यासस्कन्दमतरूपेण ऋग्वेदोपवेदत्व[4]मायुर्वेदस्योल्लिखितं दृश्यते। तदुक्त्या त्रिष्वपि वेदप्रस्थानेष्वेतद्विषयलाभेऽपि, ऋग्वेदे स्ववैद्ययोरश्विनोः सूक्तेष्वन्यत्रापि तादात्विकैरतीतैश्च पुरावृत्तैः सह बहुश आयुर्वेदीयविज्ञानविषयाणामुपलम्भेन विशेषत ऋग्वेदेन सहास्य सम्बन्धमभिप्रेत्य त्रयीदृशा किल व्यासस्कन्दादिभिः कैश्चन पूर्वाचार्यैस्तथाऽभ्युपगतं सम्भाव्यते। यदा कर्मकलापस्यापि विकासविभागविशेषेण शान्तिकपौष्टिकाद्यैहिकश्रेयःकर्माणि दैहिकागन्तुकसंशमनकर्माणि चोपादाय तत्प्रधानस्याथर्ववेदस्य पृथग्गणनया वैदिकं विज्ञानं चतुर्धा व्यभज्यत, तदाऽऽथर्वणे विज्ञाने भैषज्य[1]कर्माण्यायुष्यकर्माणि भूतादिपरिहारकर्माणि बहुशः पृथग्भावेनादृश्यन्त। कौशिकसूत्रकृताऽपि तथैव तत्र तत्र विनियोगः प्रदर्शितः। तदेवमाथर्वणप्रक्रियायां विशेषरूपमवाप्तस्य शान्तिकपौष्टिकादिशबलितस्य भैषज्यविज्ञानस्य क्रमशो विकसनेन साकमायुर्वेदीयविषयस्यापि विकसनाद्वक्ष्यमाणदिशा वेदान्तरेभ्योऽथर्ववेदे एतदीयविषयबाहुल्यदर्शनाच्च तादात्विकीं स्थितिमुपादाय अथर्वणा सहास्य नेदिष्ठं सम्बन्धमनुपश्यद्भिः पूर्वाचार्यैर्धन्वन्तर्यात्रेयकश्यपादिभिः पूर्वनिर्दिष्टलेखैरथर्वोपाङ्गत्वमथर्ववेदे विशेषभक्त्यादेशनमथर्वमूलकत्वं चोक्तं युक्तिसङ्गतमवगम्यते॥

वेदे आयुर्वेदीया विषया

आर्षपरम्परायामानुश्रविकरूपेणानुवर्तमानस्य पूर्वैरपि कर्तुरस्मरणेन, 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' इत्यादिना पूर्वसिद्धस्यैवैश्वरज्ञानात्मकस्यास्य जगत्स्रष्टुर्मनसि प्रतिभानोल्लेखेन, ऋषीणामपि केवलं मन्त्रद्रष्टृतया च नित्यं पदपदार्थसम्बन्धमवलम्बमानस्यास्य अनादिनित्यत्वमिति वेदार्थमीमांसकानां पूर्वाचार्याणां सिद्धान्तः। वेदेऽपि तस्मात् परमेश्वरात् ऋचः सामानि जज्ञिरे यजुश्चाजायतेत्युल्लेखोपलम्भेन शब्दस्य प्रत्युच्चारणं नवोत्पत्त्या तत्समुदायात्मकस्य वेदस्य न नित्यत्वमपितु सर्गादावीश्वरेण विरच्योपदेशनात् पौरुषेयत्वमेव, तथाऽपि सकलदोषाशङ्काविनिर्मुक्तस्य परमाप्तस्य परमात्मनः कृतिरूपतया सर्वांशतोऽबाधितं प्रामाण्यमिति तार्किकादीनां सिद्धान्तः। अनादिरपौरुषेयः पौरुषेय आर्षो वा भवतु वेदः, कश्चास्य प्रकाशस्योद्गमस्य वा तात्विकः समुचितश्च समय इतीदानीं प्रसक्तानुप्रसक्तो विचार आस्तां तावत्। सर्वथाऽपि पूर्वतमैरपि सर्वातिशायिनि प्रमाणपदे प्रतिष्ठापितोऽयमपरिच्छेद्याद्बहोः कालादार्याणां शिरःसु संमानितोऽस्तीत्यत्र न कस्यापि विप्रतिपत्तिः। अद्यत्वेऽपि प्राच्याः पाश्चात्याश्च विपश्चित एनं प्रायः संमानदृशैव पश्यन्ति। केवलं पुरातत्त्वानुसन्धानदृशा वैदिकं साहित्यं पर्यालोचयतां विवेचकानां विचारविशेषाणां निरीक्षणेऽपि केषाञ्चिद्द्वादशसहस्रवर्षपूर्वत्ववादः, केषाञ्चिच्चतुःसहस्रवर्षप्राग्भाववादश्चैवमादयो बहवः पक्षाः स्वस्वविचारारूढा दृश्यन्ते। यथातथाऽपि लोके यावन्ति प्राचीनसाहित्यानि, तेषु सर्वप्रथमं वैदिकसाहित्यमित्यत्र न केषामपि विमतिः। तेनास्य वैदिकविज्ञानस्य, एतद्गर्भगतस्यायुर्वेदीयविज्ञानस्यापि समय उपर्येवारोहति। तस्मिन् वैदिके विज्ञानव्यूहे विज्ञानान्तराणीवायुर्वेदीयं विज्ञानमपि बहुश ओतं प्रोतं च दृश्यते। तथाहि—

---

१. यस्मादृचोऽपातक्षन्यजुर्यस्मादपाकषन्।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम्। (अथर्व १०।७।२०)

२. तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत।
ऋक् १०।७।८; यजुः ३१।७; अथर्व १७।६।१३

३. सा वा एषा वाक् त्रेधा विहिता-ऋचो यजूंषि सामानि।
(शतपथ १०।५।१७)

४. 'तञ्जोर' पुस्तकालयगतायामुमामहेश्वरसंवादरूपायामन्यस्यां काश्यपसंहितायामपि—"ऋग्वेदस्योपवेदाङ्गं काश्यपं रचितं पुरा। लक्षग्रन्थं महातेजः अमेयं मम दीयताम् (?)" इति ऋग्वेदस्योपवेदत्वेनोल्लेखोऽस्ति।

२. भेषजं वा आथर्वणानि। (ताण्ड्यमहाब्राह्मणे १२. ९. १०)

ऋग्वेदसंहितायां—जराजीर्णस्य च्यवनस्य वन्दनस्य च ऋषेरश्विभ्यां रसायनेन पुनर्यौवनापादनं (१. ११६. १० । १. ११७. १३ । १. ११९. ७.); दासैरग्नौ जलेऽपि प्रक्षेपणे रक्षितस्य दीर्घतमसः पुनर्दासेन वितष्टशिरोवक्षसोऽप्यश्विभ्यां जीवनेन दशयुगपर्यन्तं जरां परिहार्य रक्षणं (१. १५८. ४–६); रणे शत्रुभिश्छिन्नपदायाः खेलनृपपत्न्या विश्पलानाम्न्या अश्विभ्यामायसजङ्घायोजनं (१. ११६. १५); विश्लिष्टाङ्गस्याम्न्यादेरवयवसङ्घटनं (१. ११७. १९); शत्रुभिस्त्रिशकलीकृतस्य श्यावाश्वस्याङ्गशकलानि संयोज्य प्रत्युज्जीवनं (१. ११७.२४); किमन्यत्, दधीचस्य शिरः पृथक्कृत्य संरचयाश्वशिरः संयोज्य तस्मादश्विभ्यां मधुविद्याया ग्रहणे तस्याश्वशिरश्छेदे पुनस्ताभ्यां पूर्वशिरसः संयोजनम् (१. ११६. १२ । १. ११७. २२); अन्धाय ऋज्राश्वाय दृष्टिदानम् (१. ११६. १६ । १. ११७. १७); अन्धाय कण्वाय चक्षुर्दानं, बधिराय नार्षदाय श्रोत्रदानं (१. ११७. ८); पङ्गवे परावृजाय विगुणजानवे श्रोणर्षये च गतिदानम् (१. ११२. ८) वध्रिमत्या नपुंसकभर्तृकाया अपि पुत्रोत्पादनं (१. ११६. १३); विश्वकाय विनष्टपुत्रदर्शनं (१. ११६. २३); कुष्ठरोगेण भर्तारमप्राप्य पितृगृहे जीर्यन्त्याः कक्षीवतीपुत्र्या घोषायाः कुष्ठं निवार्य भर्तृदानं (१. ११७. ७); कुष्ठेन श्यामवर्णाय श्यावाय रोगं निवार्य सुन्दरस्त्रीदापनम्) (१. ११७. ८) इत्यादीन्यश्विनोरद्भुतान्यवदानानि, देवभिषग्भ्यामश्विभ्यां वायुद्युपृथिव्यादिभिरिवानुकूलभेषजस्य प्रदानस्य प्रार्थना (१. ८९. ४); अश्विभ्यामोषधिवनस्पत्यादीनां प्रकर्षेणाभिव्यञ्जनं (१. ११६. ८); युवां भैषज्येन भिषजौ स्थ इत्यश्विनोः प्रार्थनम् (१. १५८. ६); अक्षिदर्शनसर्वेन्द्रियसामर्थ्यजरानिवृत्तिशतवर्षायुः प्राप्त्यर्थमश्विनोः प्रार्थनं (१. ११६. २५); आर्चत्कस्य संयुऋषेश्च निवृत्तप्रसवाया अपि गोरश्विभ्यां प्रसवस्य पयोबाहुल्यस्य च सम्पादनम् (१. ११६. २२. । १. ११७. २०); इन्द्रेणापि अन्धाय परावृजाय दृष्टेर्दानं, पङ्गवे श्रोणाय गतेर्दानम् (२. १५. ७) इन्द्रेण अपालायाश्चर्मरोगस्य, तत्पितुः खल्वाटस्य च निवारणम् (८. ९१. ७); इन्द्रस्यौषधिधारकत्वं (२. २३. ७); नानाविषकृमिवर्णनं तत्प्रतीकारश्च (१. १९१. १–१६); नानायक्ष्मरोगनिरसनं (१०. १६३. १–६); सौरप्रतीकारेण हृद्रोगादीनां निरसनं (१. ५०. ११–१३); जलस्य भेषजत्वम् (१०. १३७. ६ । १. २३. १९); ओषधीनां वर्णनम् (१०. ९७. १–२३); यक्ष्माज्ञातयक्ष्मराजयक्ष्मग्राहिपृष्ठ्यामयसिपसिमिहृद्रोगप्रभृतीनां रोगाणामुल्लेखः (१०. ९७. १०५. १३७. १६१. १६७) इत्यादयो बहवो विषयास्तत्र तत्रोपलभ्यन्ते ॥

शुक्लयजुःसंहितायामपि द्वादशाध्याये सूक्तद्वये (१२. ७५–८९. । १२ ९०–१०१) ओषधीनामगदङ्करत्वं, यक्ष्मनाशकत्वं, यस्तासां खनको यदर्थं च खननमुभयेषामुपकारकत्वं, बलासार्शःश्वयथुगण्डुश्लीपदयक्ष्ममुखपाकक्षतादिनाशकत्वं; तत्र तत्र (१९.८१–९३ । २०.५–९ । २५.१–९ । ३१.१०–१३।३०।८–१०) अश्वस्य मनुष्यस्य च शारीराङ्गोल्लेखः, यक्ष्माग्रीवाबलासोपचितपाकारुरर्शोविषूचिकाहृद्रोगामचर्मरोगकुष्ठाङ्गभेदादीनां रोगाणामुल्लेखश्चोपलभ्यते ॥

तैत्तिरीयसंहितायां काम्येष्टिप्रकरणे दृष्टिप्रार्थ्यैर्यक्ष्मोन्मादपरिहारस्य च प्रार्थना, यक्ष्मराजयक्ष्मजयन्यरोगोत्पत्तेर्विषयो (२. १. १ १. । २. ४. १४. ९) दृश्यते ॥

सामसंहितायां सूक्तप्रदिष्टानां मन्त्राणां प्रवेशेनायुर्वेदविषयाववोधकानां मन्त्राणामुपलम्भेन च साम्नोऽप्यस्मिन् विषये ऋगैकमत्यमवगम्यते ॥

अथर्वसंहितायां तु विशेषेणैतदीया बहुविधा विषया दृश्यन्ते। तत्रोपशतं सूक्तानि मन्त्राश्चैतद्विषये लभ्यन्ते। ऋगादिषु प्राय ऐतिहासिकेन रूपेण क्वचन प्रसङ्गेनाप्यायुर्वेदविषयाः समागच्छन्ति; अथर्वणि तु अन्तराऽन्तरा रोगाः, शारीरकावयवाः, रोगप्रतीकारविशेषाः, तत्तदोषधीनां तेषु तेषु रोगेषूपयोगिता चैवमादयो बहवो विषयाः प्रोता दृश्यन्ते; येनायुर्वेदस्याथर्वसम्बन्धः स्फुटीभवति । तत्र—

रोगविषये—तक्म (ज्वर) रोगस्य वर्णनं (६. २१. १–३); तद्भेदानां सततशारद-ग्रैष्म-शीत-वार्षिक-तृतीयकादीनां निर्देशः (१. २५. ४ । ५. २२. १–१४); तक्मविभेदास्तत्र मण्डुकोपयोगः (७. १२२. १. २); तदाख्ये जाङ्गलप्रदेशतया किल मुञ्जवद्बाह्लीकगान्धाराङ्गमगधादिषु तक्मप्रक्षेपनिर्देशः (५. २२. १४); बलासस्यास्थिपरुहृदयपीडकत्वं (६. १४. १–३); मन्यागण्डमालायाः ५५ विभेदत्वं, ग्रैव्यगण्डमालायाः ७७ प्रभेदत्वं, स्कन्ध्यगण्डमालायाः ९९ प्रभेदत्वं (६. २५. १–३); अपचितः (गण्डमालायाः) एनी–श्येनी–कृष्णा–रोहिण्य-सूतिकेति भेदनिदर्शनं (६. ८३. १–३) शीर्षक्ति–शीर्षामय–कर्णशूल–विलोहित–विसल्पकाऽङ्गभेदाऽङ्गज्वर–विश्वाङ्गय–विश्वशारदतक्म–बलास–हरिम–यक्ष्मोधः–काहावाह–क्लोमोदरनाभि–हृदयगतयक्ष्म–पार्श्वपृष्ठिवंक्षणान्त्रमज्जगतपीडा–विद्रध–वातीकारा–ऽलजी–पादजानुश्रोणिपरिमंसोनूकोष्णिहाशीर्षवेदनादि–नानारोगाणां वर्णनं च (९. १३. १–२२ दृश्यते ॥

शारीरकविषये—शरीरनाडीधमनीनिर्देशः, शिराणां शतत्वस्य धमनीनां सहस्रत्वस्योल्लेखश्च (१. १७. १. ४ । ७. ३६. २); नानारोगैः सह शारीरावयववर्णनं (२. ३३. १–७); नानाशरीरावयवोल्लेखः (२. ३३. २ । ४. १२. ४ । १०. २. १ । १०. ९. १३–२५); केशास्थिस्नावमांसमज्जापर्वोरुपादाष्ठीवच्छिरोहस्तमुखपृष्ठिवजंघ्रपार्श्वजिह्वाग्रीवाकीकसत्वगादीनामुल्लेखश्च (११. १०. ११–१५) दृश्यते ॥

प्रतीकारविषये—मूत्राघाते शरशलाकादिभिर्मूत्रनिःसारणं भेदनं वा (१. ३. १–९); सुखप्रसवस्तद्विक्रियायां योनिभेदनादि (१. ११. १–६); जलधावनेन व्रणोपचारः (५. ५७. १–३); अपचितां पिडकानां शलाकावेधनम् (७. ७८. १–२); अपचिति लवणोपचारः (७. ८०. १–२) एवमाद्याः शल्यप्रक्रियाः; बहिर्देशाच्छरीरान्तरनुप्रविश्य रोगकारकाणां नानाविधकृमीणां तन्निरसनस्य च वर्णनं (२. ३१. १–५); चक्षुर्नासिकादन्तादिषु प्रविश्य रोगकारकाणां येवासकक्षैजत्कमिपि

विलकासीनां क्रमीणां नाशनं (५. २३. १–१२); नानावर्णक्रमिवर्णनं, मनुष्यगतानां गवादिगतानां च क्रमीणां सौरकिरणैर्निवारणं (२. ३२. १–६); हानिकारकाणां रोगजन्तूनां सौरकिरणैर्नाशनं (४. ३७ १–१२); सौररक्तकिरणैर्हृद्रोगकामलपाण्ड्वादिरोगनाशनं (१. २२. १–४); प्रातरातपस्वेदनप्रभास्नानजलस्नानानां शारीररोगनाशकत्वं (३. ७. १–७); हृदयरोगे हैमवन्नदीजलोपचारः (६. २४. १–३); जलस्य सर्वरोगौषधत्वं (६. ९२ ३); वानस्पत्यपर्वतीयवायोरारोग्यसाधनत्वं (१. १२. १–४), वायोर्भेषत्वम् (४. १३ २–३); आरोग्यवर्णनं (२. १०. १–८); क्लैब्यनाशनोपायदर्शनं (६. १३८. १–५); चैवमादयो विषया लभ्यन्ते ॥

औषधविषये—नक्तरामाकृष्णाऽसिक्नीब्रह्मसंज्ञकौषधीनां किलासपलितादिनाशकत्वं (१. २३. १–४); सुपर्णाऽऽसुरीसरूपाश्यामाद्यौषधीनां त्वग्रोगनिवारकत्वं (१. २४. १–४); वल्मीकलभ्यौषधविशेषस्य अतीसारातिमूत्रनाडीव्रणादिनाशकत्वं (२. ३. १–६); पृश्निपर्ण्या गर्भनाशरक्तविकारप्रतीकारशरीरवृद्धिकारकत्वं (२. २५. १–४); हरिणशृङ्गस्य तच्चर्मणश्च क्षयकुष्ठापस्मारादिनाशकत्वं (३. ७. १–३); शतवीर्याया दूर्वाया दीर्घायुष्यनानारोगनिबर्हणकारकत्वं (३. ११. १–८); वृषाशुष्माद्यौषधीनां वृष्यत्वं (४. ४. १–८); रोहिण्योषधेर्भग्नसन्धानक्षतप्रतीकारकत्वेन वर्णनं (४. १२. १–७); सहदेव्या अपामार्गस्य च तृषाक्षुधेन्द्रियादिगतनानारोगकृत्याशश्वादिनाशकत्वेन महिमवर्णनम् (४. १७. १–८ । ४. १८ १–८ । ४. १९. १–८); अपामार्गस्य पापनिवर्तकत्वं मुखदन्तशोधकत्वं च (७. ६७. १–३); सिलाच्योषधेर्महिमगानं (५. ५. १–९); कुष्ठौषधेस्तक्मयक्ष्मकुष्ठादिनाशकत्वं (५. ४. १–१०); कुष्ठौषधेर्वर्णनं (६. ९५. १–३), कुष्ठधूपस्य तक्मनाशकत्वं, कुष्ठस्य विश्वभेषजत्वयातुधानतक्मनाशकत्वादिमहिमा (१९. ३९. १–१०); आशरीकविशरीकपृष्ठिकाविश्वशारदतक्मसु जङ्गिडौषधोपयोगः (५. २२. १–१४); जङ्गिडौषधेर्वर्णनं, तन्मणिबन्धनं, तस्य कृत्यानाशकत्वमायुष्करत्वं, विष्कन्ध (वातरोग) नाशकत्वम्, आशरीकविशरीकवलासपृष्ठ्यामयविश्वशारदतक्मनाशकत्वं (२.४. १–६ । १९. ३४ १–१०); जङ्गिडस्य विष्कन्धहरत्वं, विश्वभेषजत्वं, यक्ष्महरत्वं, वातरोगनाशकत्वं, श्वित्रदद्रुपामादित्वग्दोषदुर्नामरोगनाशकत्वं (१९ ३५. १–५); विषाणौषधे रक्तस्रावे वातरोगे च हितकारकत्वं (६. ८४. १–३); वरणौषधेर्यक्ष्मनाशकत्वं (६. ८५. १–३); पिप्पल्याः क्षिप्तातिविद्धवातीकृतरोगभेषजत्वं (६. १०९. १–३); वलासविद्रधलोहितकविसल्पकरोगेषु चीपद्रुनामकौषधेरुपयोगः (६. १२७. १–३); देवीतितल्योषधेः केशवर्धनोपायस्य वर्णनं (६. १३६ १–३ । ६. १३७. १–३); गुग्गुलुधूपस्य गन्धेन यक्ष्मनाशः (१९. ३८. १–३); जलवायुद्वारा प्रसर्पिणां रोगाणां नाशकत्वेन अजशृङ्ग्याः, जलद्वारा प्रसर्पिणां रोगाणां नाशकत्वेन गुग्गुलुपीलानलदीचगन्धिप्रमन्दिनीनां, प्रसारिरोगनाशकत्वेन अश्वत्थन्यग्रोधशिखण्ड्याद्योषधीनां च वर्णनम् (४. ३७. १–१२); ओषधीनां महिमगानम् (६. २१. १–३); असिक्नीकृष्णापृश्निप्रस्तृणतीस्तम्बिन्येकशुङ्गाप्रतन्वत्यंशुमतीकण्डिनी विशाखावैश्वदेव्युग्राऽवकोल्वातीचणशृङ्ग्यादिरूपेण नानौषधीनां प्रकाराणां च वर्णनं; नानावीरुद्रसनिर्मितगुटिकात्मकवैयाघ्रमणेर्वर्णनम्, अश्वत्थदर्भसोमव्रीहियवानां, पुष्पवतीप्रसूमतीफलिन्यफलाप्रकाराणां विषदूषणीकृत्यानाशनबलासनासनादिगुणानामोषधीनां च वर्णनं (८. ७. १–२८); दर्भभङ्ग (शण) यवसहसोमवर्णनं (११. ८ १५); ब्राह्मणनामकौषधेर्विषहरत्वम्, अयस्कम्भौषधेर्विषदिग्धशस्त्रव्रणादिहितकरत्वं, पर्णाधिश्शृङ्गकुड्मलानां शस्त्रप्राण्योषधिविषहरत्वं (४. ६. १–८); वरणाप्रभृत्याद्योषधीनां विषहरत्वं (४. ७. १–७); नानाजातीयसर्पादीनुल्लिख्य तानुववास्तुवाद्योषधीनां विषहरत्ववर्णनं (५. १३. १–११); मधुपरुष्णीशीपालानां सर्पविषनाशकत्वं (६ १२ १–३); व्याख्याभेदेन वल्मीकमृदः सिलाच्योषधेर्वा विषनाशकत्वं (६. १००. १–३); मधुकौषधेर्नानाविधसर्पकृमिविषनिवर्तकत्वं (७. ५६. १–८); विषेणैव विषप्रतीकारः (७. ८८. १); विषदोहनविद्यया विषप्रतीकारः (८. ५. १–१६ । ८. ६. १–४); परचक्रागमे ऐन्द्रशान्तौ दर्भमणिबन्धनं (१९. २८. १–१० । १०. २९. १–९ । १९. ३०. १–५); पुष्टिकामस्यौदुम्बरमणिबन्धनं (१९. ३१. १–१४); मृत्युभयनिवृत्तये दर्भमणिबन्धनं (१९. ३२. १–२ । १९. ३३. १–५) चेत्यादयः शतश ओषधीनां निर्देशाः प्रभेदाः प्रयोगा उपयोगाश्च तत्र तत्रोपलभ्यन्ते ॥

ब्राह्मणग्रन्थेष्वपि—ऐतरेये–क्वचन शरीरोत्पत्तेः प्रागस्य-चोल्लेखः, अश्विनोर्देववैद्यत्वनिर्देशः, ज्ञानेन्द्रियवर्णनम् (५. २२), ओषधीनां रोगनिवारकत्वम् (३. ४०), अञ्जनेन नेत्रामयनिवृत्तिः (१. ३), शापादप्युन्मादकुष्ठादीनामुद्भवः, शुनःशेपाख्याने वरुणकोपेन जलोदररोगः, **छान्दोग्ये**—हृदयनाडीवर्णनम् (८. १. ६), आहारपाकप्रक्रिया (६. ५), निद्रास्वप्नोल्लेखः (४. ३. ३), पामारोगवर्णनम् (४. १. ८), रोगं निरस्य षोडशाधिकशतवर्षायुष्यकारकस्योपायस्योल्लेखः (३. १६); **बृहदारण्यके**—अश्वाङ्गानां (१. १. १.), मनुष्याङ्गानां (२. ४. ११) हृदयतन्नाडीनां वर्णनं (२. १. १९ । ४. २. ३ । ४. ३. २०), मनुष्यवृक्षयोस्तुलना (३. ९. २८), नेत्ररचना (२. २. ३), मूत्रोल्लेखः (३. २. ११), शापाद्रोगोत्पत्तिः (३. ७. १ । ३. (९. २६); **सामविधानब्राह्मणे**—सर्पेभ्यो रक्षणं (२. ३. ३.), भूताक्रान्तिः (२. २. २.), रोगाक्रान्तिः (२. ३. ३.); **तैत्तरीयारण्यके**–कृमिवर्णनम् (४. ३६, १); **श्रौतग्रन्थेषु**–**आश्वलायनीये**—यज्ञीयपशुषु ऋत्विक्षु च परिहरणीयानां रोगाणां निर्देशः; **आपस्तम्बीये**–कृमिवर्णनम् (१५. १९. ५); **गृह्यग्रंथेषु**–**आश्वलायनीये**—सूर्योदयास्तसमययोः शयनस्य रोगहेतुत्वं (३. ७. १. २), यजमाने परिहरणीयस्य रोगस्योल्लेखः (१. २३. २०), पशुरोगनिवर्तनम् (४. ८. ४०). **शाङ्ख्यायनीये**—शारीरपीडासमये वेदमन्त्रगाननिषेधः (४. ७. ३६), आग्रहायणयज्ञे भोज्यवस्तुषु भूतनिवर्तनं (३. ८), सर्वरोगनिवर्तनं (५. ६. १–२); **गोभिलीये**—रोगनिवर्तकमन्त्रोल्लेखः (४. ६. २), सर्पदंशोपायः (४. ९. १६);

आपस्तम्बीये—व्रणस्त्रियाः पद्मपत्रादिभिरभिमन्त्रणं (३. ९. १०), अर्धशिरः पीडायाः कृमिहेतुकत्वनिर्देशः, बालके अपस्माररोगस्य हेतुतया कुक्कुरभूतस्योल्लेखः (७. १८. १), बालके चेत्रियरोगपरिहारः (६. १५. ४); पारस्करीये—शिरपीडाया मर्दनेन प्रतीकारः (३-६); हिरण्यकेशीये—अग्ने रोगनाशकत्वं (१. २. २८), बालकस्य चेत्रियरोगनिवर्तनं (२. ३. १०); खादिरे—कृमिवर्णनं (४. ४. ३); गोरोगनिवृत्तये होमधूमप्रदेशे चारणं (४. ३. १३), सर्पदंशोपायः (४. ४-१) इतीदृशा आयुर्वेदसम्बन्धिनो विषयास्तत्र तत्र न्यूनाधिकरूपेणोपलभ्यन्ते ॥

वैदिके साहित्ये आयुर्वेदीयविषयानुपादाय ब्लूमफील्ड (M. Bloomfield), हिलब्राण्ड (A. Hillebrand), केलेण्ड (Caland), डॉ. पी. कार्डीयर् (P. Cordier), जाली (J. Jolly), बोलिङ (G. m. Bolling) झीमर (Zimmer) प्रभृतिभिः पाश्चात्यैर्विपश्चिद्भिः भारतीयैरपि कैश्चन विद्वद्भिर्बहुशो निरूपितमस्ति। सर्वांशेषु विमर्शस्योपयोगित्वेऽपि प्रासङ्गिकविस्तरभयेनेह विरम्यते ॥

कौशिकसूत्रकृता तत्तन्मन्त्राणां विनियोगस्य प्रदर्शने तन्मन्त्रमहिमानमादर्शयता चतुर्थाध्याये 'अथ भैषज्यानि' इत्युपक्रम्य तत्तद्रोगप्रतीकारोपवर्णने तत्तन्मन्त्रैरभिमन्त्र्य जलौषधादिपानहवनमार्जनादयोऽपि बहुश उपाया उपवर्णिता दृश्यन्ते। मन्त्रसंहितामादाय प्रवृत्तेऽस्मिन्मान्त्रिकविधानान्यप्युत्स्यूतानि भवन्तु नाम, परं—तक्मरोगे वातिके मांसमेदःपानं, श्लैष्मिके मधुपानं, वातपित्तजे तैलपानं, धनुर्वाताङ्कम्पशरीरभङ्गादिवातरोगेषु घृतस्य नस्यदानं, रुधिरवहने स्त्रीरजसोऽतिप्रवर्तने शुष्कपङ्कमृत्तिकापानं, हृद्रोगे कामले च व्याधितस्य हरिद्रौदनभोजनं, श्वेतकुष्ठे यावल्लोहितं कुष्ठं गोमयेन प्रघृष्य भृङ्गराजहरिद्रेन्द्रवारुणीनीलिकापुष्पाणि पिष्ट्वा लेपनं, वातविकारे पिप्पलप्राशनं, शस्त्रावघाते रुधिरप्रवाहे व्याधिस्थले क्वथितलाक्षोदकसेचनं, राजयक्ष्मकुष्ठशिरोरोगसर्वगात्रवेदनासु नवनीतमिश्रकुष्ठपिष्टेन व्याधितशरीरलेपनं, शस्त्राभिघाते क्वथितदुग्धलाक्षापानं गण्डमालायां शङ्खं घृष्ट्वा लेपनं, जलौकां संसृज्य रुधिरप्रवाहणं, सैन्धवलवणचूर्णप्रकिरणं, व्रणे गोमूत्रेण व्रणमर्दनं, मूत्रपुरीषप्रतिरोधे भेदनीयहरीतक्यादिद्रव्यबन्धनम्, आखुकिरिपूतीकमथितजरत्प्रमन्दसावस्कानां जलेनालोड्य पानम्, अश्वाद्यारोहणं, बाणमोक्षणं, गोदोहन्यां जले एकविंशतियवान्निधाय शिश्ने ऊर्ध्वमुखे तज्जलप्रवेशनं, लोहशलाकायाः प्रवेशनं, यवगोधूमवल्लीपद्ममूलपाविकाक्काथरूपस्य आलविसोलफाण्टस्य पानमित्यादीनि भेषजान्यपि प्रतीकारोपायतया निर्दिष्टानि सन्ति। मन्त्रप्रतिष्ठापनीयेऽपि शान्त्युदके शमी—शम-काश-वंशा-शास्त्रवाका-तलाशा-पलाश-वाशा-शिंशपा-शिम्बल-सिपुन-दर्भापामार्ग-कृति-लोष्ट-वल्मीक-वपा-दूर्वाप्रान्त-व्रीहि-यवादयः शान्तौषधयो निक्षेप्तुं विधीयमानास्तदुदकस्य भैषज्यदशाऽपि बहुबाधापहारित्वं ज्ञापयन्तीति मान्त्रिक्यां क्रियायामिव भेषजविद्यायामपि सूत्रकृतस्तदुपात्ताथर्वसंहितायां अप्यान्तरः समन्वयो विज्ञायते ॥

प्राचीनकाले शारीरधातुवैषम्यादय इव रक्षोभूतप्रेतपिशाचग्रहस्कन्दादीनां रुद्रादिदेवानां कोपावेशादयोऽपि रोगकारणतया मता आसन्, येन वैदिकमन्त्रलिङ्गादपि 'रक्षोहामीवचातनः' इत्यादिरूपेण रोगनिरसनाय तन्निदानभूतानां रक्षःप्रभृतीनामपाकरणमप्युपायतया निर्दिष्टमुपलभ्यते। पश्चात्तनवैद्यकग्रन्थेष्वप्युन्मादापस्मारादिषु भूताद्यावेशादीनामपि निदानत्वेनोल्लेख उपलभ्यते। वैदिकावस्थायामप्येतद्दृष्टेर्विशेषेण कौशिकसूत्रादिष्वाथर्वणमन्त्रविशेषाणां तत्र तत्र रोगे तन्निदानभूतरक्षःप्रभृत्यपसारणपरत्वेन विनियोग उपदर्शितः। तत्तद्रोगकारणत्वेन निरसनीयतयाऽथर्वादिमन्त्रेषु निर्दिष्टा नानाजातीयकृम्यादयोऽपि रोगकारणीभूतरक्षोभूतादिपरा इत्यपि केषाञ्चिद्विचारोऽस्ति। ते च रोगबीजाणुकीटा रक्षोभूतादयो वेत्युभयथाऽपि सम्भवन्ति। त्रिशिरस्त्रिपादरक्तलोचनादिरूपेण ज्वरादिरोगाणां मूर्तयो ग्रन्थकृद्भिरुल्लिखिता दृश्यन्ते, यास्तन्निदानभूतानां रक्षःप्रभृतीनां बीजाणुकीटानां वा रूपाण्यध्यारोप्य कल्पिता अपि सम्भवन्ति। अद्यत्वे सूक्ष्मवीक्षणयन्त्रैरवेक्षणे तेषु तेषु रोगेषु विचित्रविभिन्नाकृतयो रोगबीजाणुकीटा उपलभ्यन्ते। एवंविधान्भीषणाकृतीन् कीटाणून्न्तर्दर्शोपलब्धवद्भिः पुरातनैर्महर्ष्यादिभिस्तेषां रक्षोरूपेण वर्णनं विहितं किमु? अद्यापि पर्वतीयादिजातिषु ज्वरादीनां भूतादिजन्यत्वमङ्गीकृत्य अपामार्गनप्राण्यन्तरसंक्रामणबलिदानादयो मान्त्रिका उपचाराः प्रायो विधीयन्ते, सफलतामुपयान्ति च। अद्यत्वे क्वाचित्कव्यवहाररूपेण दृश्यमाना अपीदृशा उपाया न निर्मूलाः, अपि तु प्राचीनवैदिकावस्थात आरभ्यैवानुवर्तमाना विच्छिन्नविकलाङ्गेन केनापि रूपेणावशिष्यन्ते इत्यध्यवसातुं शक्यते। ईदृशो मान्त्रिकप्रक्रियासंवलितो भैषज्यविषयो न केवलं प्राचीनभारत एव, अपि तु प्राचीनमिश्रपाश्चात्यदेशेषु उत्तरामेरिकापर्यन्तदेशान्तरेष्वपि आसीदिति तत्तदीयपूर्ववृत्तानुसन्धानतः स्फुटीभवति ॥

आथर्वणसम्प्रदाये केवलं मान्त्रिकी भूतविद्यैव रोगनिरसनोपाय आसीदिति केषाञ्चिद्विचारो न सर्वांशतः स्थिरीभवति। वैदिके समये मिथ्याहारव्यवहारा इव पापानि भूतप्रेतादयो रुद्रादिदेवकोपा अपि रोगहेतुतया, औषधविशेषाणां प्रयोगा इव तत्तद्देवतानामाराधनेन प्रसादनानि, मन्त्रविशेषैर्भूतादीन्यपसारयि[...]रोगिणां मार्जनजलाभिषेचनाभिमन्त्रणधूपनादीन्यपि रोगनिरसन[...]यतया उपलभ्यन्तां नाम, तथाऽपि पूर्वोपदर्शितदिशा बहूनां रोगाणां क्वचन शल्यप्रक्रियायाः बहूनां शरीरावयवानामनेकसङ्ख्यानां तत्तद्रोगनिबर्हकाणामोषधीनां च मन्त्रलिङ्गतः स्पष्टमवगमेन मन्त्रविद्यायामिव भेषजप्रक्रियायामप्याथर्वणी प्रवृत्तिरासीदिति स्फुटीभवत्येव। तेन मन्त्रविद्या ओषधिविद्या चेत्युभये वर्त्मनी पूर्वैः परिगृहीते अवगम्येते। परमाथर्वणसूक्तमन्त्राणां केषाञ्चिच्छाब्दिकार्थालोचने भूतविद्यासंपृक्तायुर्वेदीयविषयप्रतिपादकत्वेन दृश्यमानानामपि कौशिकसूत्रकृताऽभिचारमन्त्रकरण्डकबन्धनभूतापसारणादिपरत्वेन विनियोजनं जलादिप्रतिपादकानां शन्नोदेवीरित्यादिमन्त्राणां शनिग्रहादिपरत्वेन गृह्यकारादिभिर्विनियोजनमिव कालक्रमागतं दृष्टिभेदं विभावयति ॥

ऋक्संहितानामल्पमात्रया दृश्यमानाया मान्त्रिकोपचारप्रक्रियाया भैषज्यविद्यायाश्चाथर्वणे आधिक्यदर्शनेन विकासः, तदनु मन्त्रलिङ्गतः केवलभैषज्यावबोधकत्वेन दृष्टानामपि मन्त्राणां मान्त्रिकप्रक्रियया कौशिकसूत्रकृता विनियोजनस्य दर्शनेन तत्सूत्रकाले मान्त्रिकप्रक्रियाया विकासविशेषः प्रावर्ततेति क्रमविकासपरम्पराऽवसीयते। किंवा अथर्वा भूतविद्यायामाचार्य आसीदिति श्रूयते। तत एवाथर्वणे वेदे भूतविद्याया मान्त्रिकप्रक्रियायाश्च विषया बहुलतया संमिलिता भवेयुः। अस्मिन् कौमारभृत्यतन्त्रे बालरोगेषु स्कन्दापस्मारग्रहपूतनादयो निदानतया धूपनपूजनादयः प्रतीकारतया इव धातुवैषम्यादिकमपि रोगहेतुतया तत्तदौषधोपयोगा अपि निबर्हणोपायतया प्रतिपाद्यमानाः पूर्वकालानुवृत्तामुभयतो दृशं निदर्शयन्ति॥

वैदिकसाहित्ये बहुशो वैद्यकविषयोपलम्भेऽपि पूर्वोपदर्शितरीत्या ऋग्वेदे अश्विप्रभृतीनां तत्तदवदानरूपाणां भैषज्यविषयाणां केवलमैतिहासिकेन रूपेणोपलम्भो भवति। कया प्रक्रियाऽश्विभ्यां विश्पलाया जङ्घा योजिता, ऋज्राश्वस्य चक्षुषी उन्मीलिते श्रोणस्य जानु प्रगुणीकृतमित्यादयो विधानविशेषा न ततोऽवगम्यन्ते। क्वचित् कानिचिदौषधानि कीर्त्यन्ते, न तत्र तेषामुपयोगप्रक्रिया निर्दिश्यते। अथर्वसंहितायां यद्यपि नानारोगा, औषधानि, रोगहेतवः, कृमिप्रभृतयः, अमुकौषध्युपयोगेऽमुकरोगप्रतीकार इत्यादयो विषयविशेषा अपि क्वचन मन्त्रलिङ्गतोऽवगम्यन्ते, तथाऽपि नैतावता तदीयोपयोगप्रक्रियाविशेषा ज्ञातव्या अवबुध्यन्ते इति मन्त्रलिङ्गानि केवलं तादात्विकीमायुर्वेदविज्ञानपरिस्थितिं सूचयन्ति॥

"यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव।
विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहामीवचातनः॥
(ऋक्. १०. ९७. ६)
शतं ते राजन् भिषजः सहस्रमुर्वी गभीरा सुमतिस्तेऽस्तु॥
(ऋग् १. २४. ९)
शतं ह्यस्य भिषजः सहस्रमुत वीरुधः॥"
(अथर्व २. ९. ३)

इत्यादिमन्त्रलिङ्गेभ्यः शतश ओषधीनां संग्रहीतारो विप्रा भिषज आसन्, भिषजोऽपि न केवलमेकद्वाः, अपितु शतशः; ओषधित्वेन ज्ञाता लतादयोऽपि न विरलाः किन्तु सहस्रश आसन्नित्यवगमनेनातिपूर्वकालेऽपि शतश एतत्प्रस्थानयायिभिर्महर्षिभिरवलम्ब्यमानस्तदीयं विज्ञानविशेषं विशदीकुर्वन्, उपयोगप्रक्रियां कार्त्स्न्येन निदर्शयन्, अशेषैः शृङ्खलितरूपैर्भैषज्यविषयैस्तदेकप्रधानतया सन्दब्धोऽन्य एवायुर्वेदः पृथग्ग्रन्थरूपेणावस्थितः स्यात्। यतो विशेषाणां विषयविशेषाणां सूचनाः, तदुपयोगेन सञ्जातलाभानामितिवृत्तानि च वेदेषु तत्र तत्र विरलविकीर्णभावेनास्माभिर्लभ्यन्ते। वेदशब्देन समष्ट्यात्मनाऽवस्थितमाद्यज्ञानं, तत्सन्निकृष्टं व्यष्टिविशेषविज्ञानमुपवेदशब्देनावबोध्यते। गान्धर्वधानुष्यस्थापत्यादिविज्ञानवद्व्यष्ट्यात्मनाऽवस्थितमायुष्यरक्षाविज्ञानमायुर्वेदशब्दोऽवबोधयति। सोऽयं प्राचीन आयुर्वेदो ब्रह्माश्वीन्द्रसंहितारूपेण पृथगात्मनाऽवस्थितः स्यात्। येन कैश्चनाचार्यैरुपवेदरूपेण, कश्यपेन पञ्चमवेदरूपेण निर्देशनमपि साधु सिध्यति। [सोऽयं प्रत्नो मूलभूत आयुर्वेदः करालकालमुखप्रविष्टतया न पृथगुपलभ्यते, केवलं वैदिकसंहितादिषु तत्र तत्र विरलविकीर्णभावमापन्नैः कैश्चनांशैः, सम्प्रदायपरम्परया केषाञ्चिन्महर्षिप्रभृतीनां लेखन्यामवतीर्णैः कैश्चनांशैरद्यात्मलाभमवगमयति, प्रकाशं च ददाति॥

उपलभ्यमानायुर्वेदीयप्राचीनसंहितागतान् [परिदृश्यमानवैदिकसाहित्यगतांश्चायुर्वेदीयविषयान् पुरो निधाय विमर्शेऽपि रोगाणां संज्ञाः, ओषधीनां नामानि, प्रयोगप्रक्रिया, निरूपणशैली च, बहुशो वैलक्षण्येन दृश्यन्ते। आर्षसंहितागतेषु विषयेषु वैदिकविषयेभ्यः क्रमागता विकसितावस्थाऽपि विशेषविधया दृश्यते। भाषाशास्त्रदृष्टिरपि एवंरूपां परिवृत्तिं न स्वल्पान्तराले सम्भावयति। प्राचीनत्वेन संमानितानां सूत्रादिग्रन्थानामुपद्विसहस्रवर्षपूर्वतनानां कविलेखानां बौद्धसाहित्यानां, किं बहुना काश्यपात्रेयधन्वन्तरिलेखानामप्याधुनिकलेखैः सह तुलनायां लेखशैल्या भाषादशा च यावदन्तरमुपलभ्यते, ततोऽप्यतिमात्रयाऽन्तरं वैदिकसंहितागतादायुर्वेदविषयादार्षसंहितागते तद्विषये समीक्ष्यते। सोऽयमीदृशो विशेषो बहोः समयस्यान्तरालमन्तरा न सम्भवति। यस्मिन् कस्मिन्नपि साहित्ये विज्ञानविकासः क्रमिक एव दृश्यते। आयुर्वेदीयविज्ञानेऽपि वैदिकसाहित्यात् संहितातन्त्रसाहित्ये विषयविकास उपलभ्यमानो बहुकालक्रमागतां पूर्वपरम्परामवलम्बते। वैदिकसंहितासाहित्यमनु ब्राह्मणोपनिषत्कल्पसूत्रादिधारासु विरलतया वहन्नप्यायुर्वेदविज्ञानप्रवाहः स्वाचार्यपरम्पराप्रवाहपरिपोषमन्तरा प्राचीनार्षसंहितातन्त्रादिषु ज्ञानोदधिं कथमनुदर्शयेत्। तेन तत्र तत्र पूर्वाचार्यैरपि निर्दिष्टानां नामशेषाणामन्येषामनिर्दिष्टानां नाम्नाऽपि विलुप्तानां च पूर्वतराचार्याणामौपदेशिकी विज्ञानपरम्परैव अस्मिन्नायुर्वेदीयविज्ञानप्रवाहे वैदिकं साहित्यं प्राचीनसंहिताश्चान्तरा सेतुरूपेण वर्तेत। अदृश्ययाऽप्यनया मध्यसेतुभूतया परम्परया अन्ततो गत्वा एकद्विसहस्रवर्षेभ्योऽप्यन्यूनयैव भवितव्यम्। "विविधानि शास्त्राणि भिषजां प्रचरन्ति लोके" इत्युल्लिखन्नात्रेयाचार्यः स्वसमयेऽप्याचार्यान्तरशास्त्रोपलम्भं दर्शयति। तेनात्रेयादिभ्यः पूर्वमप्याचार्यान्तराणां सत्त्वं स्फुटीभवति॥

इहेदमनुसन्धेयं भवति, वैदिके आयुर्वेदीयविज्ञाने शल्यप्रक्रियायां शारीरकादिविभागान्तरेषु वा सूक्ष्मा अपि विचारविशेषाः समुन्मिषन्ति। औषधप्रक्रियायाः पर्यालोचने धातुरसरसादयस्तादात्विकीं प्रक्रियामनारूढाः, वनस्पत्यादीनि साधारणान्येवौषधानि प्रायः प्रयुज्यमानानि विज्ञायन्ते। तत्रापि पूर्वोद्दिष्टमन्त्रलिङ्गाद्यालोचनेन जङ्गिडकुष्ठरोहिण्यपामार्गप्रभृतयः प्राय एकैकश एव पदार्थास्तत्तद्रोगोपशमाय प्रयुज्यमाना आसन्नित्यवगम्यते। कौशिकसूत्रकृदपि प्रायस्तथैवैकैकेषां वस्तूनां मधुतैलघृतपिप्पलकाष्ठादीनां तत्र तत्र रोगे उपयोगं दर्शयति। आलविसोलपराण्ट-भृङ्गराजादिपुष्परसलेप-नवनीतमिश्रकुष्ठपिष्टलेप-क्वथितदुग्धलाक्षापानादीन् द्वित्रवस्तुयोगोपचारान् कति-

पयानेवोल्लिखति । तत्तद्रोगाणां तत्तद्दोषहराणां वस्तूनां च यथावदवगमे यथावसरं परिहारोपायाः स्वयमूहितुं शक्यन्ते इति निध्याय मूलपरिभाषारूपेण विज्ञेयान् शास्त्रार्थानुपादाय वातिकपैत्तिकश्लैष्मिकतद्वद्रजीवनीयबृंहणीयतर्पणीयसंशमनीयवृष्यादिरूपेण वर्गश ओषधीर्विभज्य मूलभूतानि निहरणसाधनानि पञ्चकर्माणि चैवमादीन् प्रधानविषयान् सङ्गृह्य तत्तत्संहिताकर्तृभिः सूत्रस्थानमादितो न्यबध्यत । तावताऽपि यथावद्विज्ञातेन विशुद्धप्रतिभानवता प्रणिधानकल्पितैर्योगौषधै रोगाः परिहर्तुं शक्यन्त इति सूत्रस्थानमात्रमपि भैषज्यपर्याप्तं पूर्वरूपमिति वक्तुं न खलु न शक्यते । अद्यत्वेऽपि ग्राम्यपर्वतीयादिव्यवहारेषु तत्र तत्र रोगे एकद्रवानस्पत्यौषधोपयोगस्तथैव निर्वाहश्चाभिदृश्यमानः प्राचीनां मौलिकीं प्रक्रियामनुवृत्तां निदर्शयति । अनन्तरं तत्तद्वस्तूनां गुणागुणपरीक्षानुभवे विवर्धमाने रोगेषु मिथः साङ्कर्यमवाप्तानां सर्वदोषाणामेकप्रयोगेण परिजिहीर्षया समानगुणानां विशेषगुणानां चौषधानां योगेन सामूहिकप्रयोगदृष्टिरपि प्रावर्तत । यथा यथा प्राणिनिकायस्याभिवृद्धिः, देशकालजलवायवन्नपानस्थानावस्थादीनां परिवृत्तिः, मिथः सन्निकर्षसङ्घर्षादीनां चोदयः, तन्मूला बाह्या आभ्यन्तराश्च शारीरिका विकारा नानारोगात्मना प्रादुरासँस्तथा तथाऽनुक्रमेण तत्परिच्छेदस्य तन्निवृत्त्युपायदक्षकौशलस्याप्युपचयेन परिस्थितिविभेदतः स एव रोगोऽनेकधा दृश्यमानः कश्चन सङ्कीर्णेन नवरूपेण नवया संज्ञयाऽपि व्यवह्रियमाणो बभूव । परिहरणीयतत्तद्दोषपरिपन्थिनां वस्तूनां व्यूहात्मकानि योगौषधान्यप्यनेकशः कल्पितानि भवेयुः । ईदृशानि पूर्वैः कल्पितानि प्रणिधानोज्ज्वलेष्वन्तःकरणेषु स्वयं प्रतिभातानि योगौषधान्यप्यन्तर्निवेश्य प्रायः सूत्रस्थानलभ्यान् विषयानुपादाय विचारविशेषैश्चोपबृंह्य सूत्रस्थानविवरणात्मना किल स्थानान्तराण्यपि संयोज्य समुचितेन संहितारूपेण निबन्धने महर्षयः प्रवृत्ताः स्युः । एवमुत्तरोत्तरं पूर्वापरानुभवसिद्धान् रोगविशेषांस्तत्परिहारोपायविशेषांश्चानुप्रवेश्य देशकालपरिस्थितिविशेषानुसन्धानसमुन्मिषितदृष्टयो विद्वांसोऽप्यनेकानायुर्वेदग्रन्थान् निबबन्धुः । इत्थं नानाद्रव्ययोगसिद्धानामौषधानां प्रयोगपद्धतिरपि नार्वाचीना स्यात्।१इनमहाशयेन पूर्वतुरुष्कस्थानगत तूह्वाङ्ग (Tun Huang) स्थलोपलब्धं प्राचीनपुस्तकमिति हार्नलमहाशयेन निर्दिष्टे पुस्तके प्राचीनेरानभाषानुवादेन सह यो मूलसंस्कृतलेखोऽस्ति, तत्र भगवता (बुद्धेन) जीवकं सम्बोध्योपदिष्टा औषधविशेषोक्तय उपलभ्यन्ते । महावग्गादिनिर्दिष्टजीवकसाहचर्याद्बुद्धस्यास्मिन्नुपदेशे नानौषधयोगरूपाणां बहूनामौषधानामुल्लेखदर्शनेन नानाद्रव्ययोगौषधकल्पनाऽपि बुद्धसमयात् पूर्वतः प्रचलिताऽऽसीदिति ग्रन्थान्तरादप्यवगम्यते । पाश्चात्यभैषज्यपद्धतावपि निर्हरणीयदोषानुसारेण विज्ञाततत्तद्गुणागुणानि वस्तूनि कार्यकाले सम्मिश्र्य प्रयोगस्य सम्प्रदाये पूर्वतः प्रवर्तमाने सङ्कीर्णदोषमथानां रोगविशेषाणां निबर्हणाय Patent योगौषधान्यपि अद्यत्वे प्रकल्प्यन्ते । नुस्खशाफार्मुलादिरूपेण कानिचित् निबन्धेषु प्रकाश्यन्ते च । पूर्वापरैः स्थानभेदैः संक्षेपविस्ताररूपेण स्वप्रमेयं यथावदवबोधयन्तीभिः संहिताभिः पश्चात्तनैर्निबन्धैश्चैवं विशदीकृतमप्येतद्विज्ञानं दिग्दर्शनमात्रं भवति । शारीरिकी प्राकृतिकी च परिस्थितिर्न खलु सर्वेषां सर्वदा सर्वत्रैकरूप्यं वहति । प्रतिव्यक्तिप्रकृतिविभेदेन स एव रोगोऽप्युच्चावचैर्दोषान्तरसम्पृक्तैरपि तैस्तैर्दोषैर्विभिन्नानेकरूपतां धत्ते । यथा यथा देशकालजलवाय्वाहारविहारादिपरिस्थितिविभेदेन दोषसाङ्कर्येण नानारूपत्वमापद्य रोगा वर्धेरन्, नवनवाकृतयश्च प्रादुर्भवेयुः, तथा तथा देशकालादिविशेषाननुसन्धाय औषधविशेषाणामावापोद्वापौ मानगुरुलघुभावौ निक्षेपरचनापौर्वापर्यक्रमविशेषादिकं वा प्रकल्प्य नवनवानां प्रतीकारोपायानामनुभवविशुद्धानामौषधान्तराणामुपचयेन संरक्षणमुपबृंहणमपि प्राचीन आयुर्वेदविज्ञानकोशः समपेक्षते ॥

---

(२) आचार्यपरिच्छेदो ग्रन्थपरिचयसहितः ।

आयुर्वेदस्य प्रकाशः आचार्याश्च.

सृष्टेषु प्रजावर्गेषु स्वास्थ्यपरिपालनायापेक्षणीयामायुर्वेदविद्यामवधार्य स्वयम्भूरेव संहितारूपेण प्रथमतः प्रकाशयामास । सेयमश्वीन्द्राद्यनुक्रमेण आर्षसमाजमवतीर्णा लोके प्रचारं प्रपेदे इति पूर्ववृत्तं वर्णयन्त्यायुर्वेदाचार्याः । अस्तु नाम स्वयम्भूपक्रमं प्रकाशः, दैवो वा उपदेशः, आर्षो वा सर्ग आयुर्वेदस्य, सर्वथाऽप्येतदीय प्रादुर्भावः प्रत्नतर एव ।

---

१. R. G. Bhandarkar Commemoration Vol I, P. 416

१ (क) स्वयम्भूर्ब्रह्मा प्रजाः सिसृक्षुः प्रजानां परिपालनार्थमायुर्वेदमेवाग्रेऽसृजत् । (काश्यपसंहितायां पृ. ६१)

(ख) इह खल्वायुर्वेदमष्टाङ्गमुपाङ्गमथर्ववेदस्यानुत्पाद्यैव प्रजाः श्लोकशतसहस्रमध्यायसहस्रं च कृतवान् स्वयम्भूः ॥ (सुश्रुते सू. अ. १)

(ग) ब्रह्मणा हि यथा प्रोक्तमायुर्वेदं प्रजापतिः (चरके सू. अ. १)

आयुर्वेदीयमूलग्रन्थेभ्य इत्थं सम्प्रदायक्रमोऽवगम्यते—
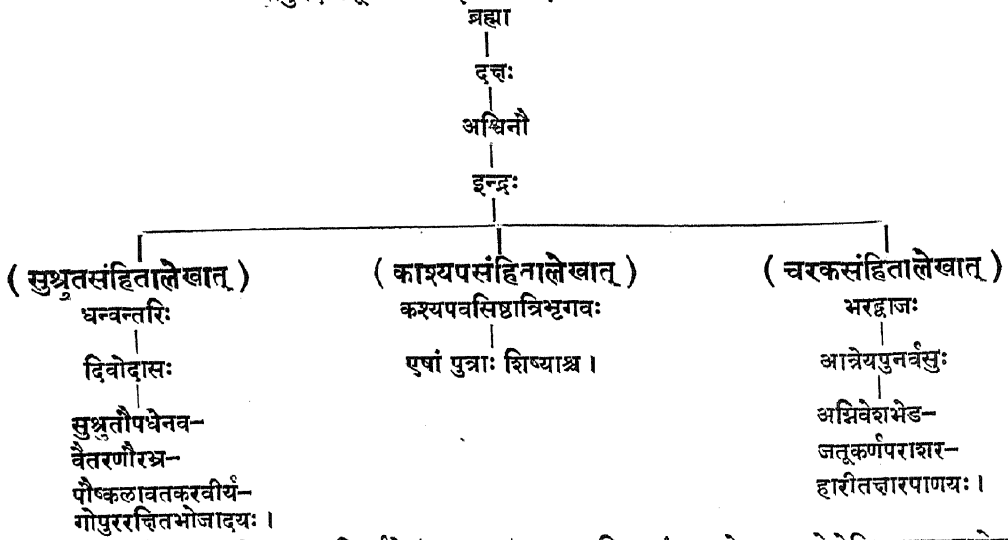
अस्यां काश्यपसंहितायामुपदेशपरम्परानिदर्शने 'स्वयम्भूर्ब्रह्माऽऽयुर्वेदमग्रेऽसृजत्, ततश्च तं पुण्यमायुर्वेदमश्विभ्यां कः प्रददौ, ताविन्द्राय, इन्द्र ऋषिभ्यश्चतुर्भ्यः कश्यपवसिष्ठात्रिभृगुभ्यः, ते पुत्रेभ्यः शिष्येभ्यश्च प्रददुर्हितार्थम्' (पृ० ६१) इति लेखेन इन्द्रात् साक्षादेव कश्यपादिभिः पुरातनैर्महर्षिभिः प्रथमत एषा विद्या प्राप्ताऽवगम्यते। चरकोपक्रमग्रन्थे रोगैरुपद्रुतानां लोकानामुद्धारोपायस्य विवित्सया समवेतानां महर्षीणां प्रेरणया इन्द्रमुपेत्य तस्मादायुर्वेदमवाप्य प्रतिनिवृत्तो भरद्वाजो महर्षीनुपदिदेशेति निर्देशेन इन्द्रोपदिष्टाद्भरद्वाजादेव महर्षीणामेतद्विद्याधिगमो लभ्यते। भरद्वाजो नाम आयुर्वेदविद्यायाः कश्चन प्राचीन आचार्यो ज्वरसमुच्चयादिषूद्धृतैस्तद्वचनैरप्यवगम्यते। महाभारतेऽपि वैद्यकाचार्यस्य भरद्वाजस्य निर्देशोऽस्ति। चरकसंहितायामुपक्रमोत्तरग्रन्थे भरद्वाजस्य द्विधोल्लेखो दृश्यते। वातकलाकलीये (च. सू. अ. १२), आत्रेयभद्रकाप्यीये (च. सू. अ. २६) च कुमारशिरोभरद्वाजस्य मतं दर्शितमस्ति। स च भरद्वाजो विशेषणेन व्यावृत्तोऽन्य एवावगम्यते। एतदीयं मतमात्रेयेण प्रतिक्षिप्तं च। यज्जःपुरुषीये (च. सू. अ. २५), खुड्डीकागर्भावक्रान्तौ (च. शा. अ. ३) च अविशेषितस्य भरद्वाजस्य मतोल्लेखोऽस्ति। तत्रापि भरद्वाजमतमात्रेयेण प्रतिक्षेप्यकुक्षावेव निक्षिप्तमस्ति। उत्तरत्र (च. शा. अ. ३) प्रतिक्षिप्तेन भरद्वाजेन जिज्ञासया पृष्टे आत्रेयेण विशेषविवरणं प्रदत्तं चास्ति। नह्येवं निर्देशोऽस्यापि गुरुभावौचित्यं संगमयति। वातकलाकलीये 'कुमारशिरा' इति भरद्वाजविशेषणमात्रेयगुरुभरद्वाजनिषेधार्थम्' इति, खुड्डीकागर्भावक्रान्तौ 'भरद्वाजशब्देनेह नात्रेयगुरुरुच्यते किन्त्वन्य एव भरद्वाजगोत्रः कश्चित्' इत्युक्तिभिश्चक्रपाणिरुभयत्र निर्दिष्टस्य भरद्वाजस्य गुरुत्वाभावं स्पष्टं दर्शयति। चक्रपाण्युक्तदिशा गोत्रवाचकेन भरद्वाजशब्देनाभिधेयानां बहूनां सम्भवेन अत्रिपरम्पराप्राप्तविद्येनाप्यात्रेयेण कस्माच्चिद्भरद्वाजादपि एतद्विद्याया ग्रहणस्य सम्भवेऽपि भरद्वाजस्योपदेशग्रहणं संमाननं तन्मतप्रतिष्ठापनं चावबोधयन्त्यात्रेयोक्तिः क्वाप्यत्रात्रेयसंहितायामन्तरनुपलभ्यमाना संशयमावहति। तदेवमात्रेयगुरुत्वेन मन्यमानो भरद्वाजः कतम इति नैतावता निश्चेतुं शक्यते। काश्यपसंहितायां रोगाध्याये (पृ. ३९) केवलं कृष्णभरद्वाजस्योल्लेखोऽस्ति। सोऽपि सविशेषणो विभिन्नो भारद्वाजोऽवगम्यते। आयुर्वेदाध्ययनविधाने काश्यपीये (पृ. ४४) प्रजापत्यश्वीन्द्राणां सर्वप्रस्थानपरमाचार्यस्य परमपुरुषावतारस्य धन्वन्तरेः, स्वप्रस्थानमूलाचार्यस्य कश्यपस्य स्वाहाकारदेवतात्वेन निर्देश इव आत्रेयसंहितायामपि (च. वि. अ. ८) प्रजापत्यश्वीन्द्रधन्वन्तरीणामेव नामनिर्देशेन सह स्वाहाकारविधानमस्ति। तत्र सूत्रकारिणामृषीणामिति सामान्यतोऽप्युल्लेखेन ततो भरद्वाजस्यापि ग्रहणं सम्भवति। परं स्वीयप्रस्थाने इन्द्रादनन्तराचार्यभावेन स्वस्यापि गुरुत्वेन च दृष्टस्यास्य विशेषतो नाम्ना ग्रहणं समुचितं किमित्युपेक्षितं स्यात्। यथाहि काश्यपीयोक्तौ कश्यपात्रिवसिष्ठभृगुषु इन्द्रस्य साक्षादौपदेशिकः सम्बन्धो दर्शितः, तथैवात्रेयसहितायामपि रसायनपादे (च. चि. अ १) भृग्वत्रिवसिष्ठकश्यपानामङ्गिरोऽगस्त्यपुलस्त्यवामदेवासितगौतमादीनां च साक्षादेवेन्द्राद्रसायनौषधोपदेशः प्रदर्शितः। नात्रापि भरद्वाजस्योल्लेखोऽस्ति। बहुकालान्तरेण पौर्वापर्यवतामप्याचार्याणां चरकोपक्रमग्रन्थे महर्षिसमवाये सहभावनिर्देशः, उत्तरग्रन्थानुरूपलेखप्रौढेस्तत्रादर्शनमपि संशाययति। इतश्च भरद्वाजादेव महर्षीणामायुर्वेदविद्यालब्धि दर्शयँश्चरकीय उपक्रमग्रन्थः किमाशयक इति विमर्शस्थानमेतत्। तदेवं सर्वतोऽनुसन्धाने कश्यपवसिष्ठात्रिभृगुमहर्षिभिरतिपुराकालादेव स्वपुत्रशिष्यसन्ततिष्वायुर्वेदविद्या प्रवर्तिता। येनात्रेयादिशब्दानां गोत्रनामतया आत्रेयपरम्परायां चरकसंहितामूलभूताचार्य आत्रेयपुनर्वसुः, अन्ये कृष्णात्रेयभिक्ष्वात्रेयादयोऽपि दृश्यन्ते। कश्यपपरम्परायामपि काश्यपवृद्धकाश्यपादय अन्येऽप्याचार्याः प्रतीयन्ते। एकाचार्यगोत्रपरम्परागतेनापि वैशिष्ट्यलाभाय आचार्यान्तराद्विद्याग्रहणस्या-

प्यौचित्येन चरकोपक्रमलेखानुसारेण स्वपूर्वपरम्पराप्राप्तविद्येना- प्यात्रेयपुनर्वसुना भरद्वाजादपि शिक्षाविशेषो गृहीतः सम्भवति, भृगुपरम्परागतेनापि जीवकेन मारीचकश्यपविद्याया ग्रहणमस्यामपि संहितायां दृश्यते। महाभारतलेखतो भरद्वाजाद्धन्वन्तरेर्विद्यालाभस्य, दिवोदासस्य भरद्वाजाश्रमप्राप्तेश्च लाभेऽपि सुश्रुतसंहितालेखतो धन्वन्तरिदिवोदासस्य इन्द्रादेवैतद्विद्यालब्धिरवगम्यते । यथातथाऽपि सर्वेषामिन्द्रस्य परमाचार्यतया साक्षात् परम्परया वा मूलोपदेष्टृत्वोल्लेखः संवादायैव जायते। त एते धन्वन्तरिमारीचकश्यपात्रेयपुनर्वसवो यथास्वं विज्ञानानि लोकोपकृतये संहितारूपेणान्तेवासिन उपादिदिशुः। तदेवं वैदिकविज्ञानपरमभूमिकायां ब्राह्मं विज्ञानबीजमुपष्टभ्य प्रादुर्भूतोऽयं चिरत्न आयुर्वेदकल्पतरुरश्विन्द्रकश्यपात्रिवसिष्ठभृगुप्रभृतिपरम्परया धन्वन्तर्यात्रेयकश्यपैरन्यैरपि पूर्वाचार्यैः प्रयत्नेन प्रतिशाखं परिष्कृत्य पल्लवितः पुष्पितः फलितश्च कालग्रासावशिष्टैः कतिपयैरपि फलैः शिष्यपरम्पराद्वाराऽद्यापि लोकानुज्जीवयतीति सन्तोषस्यैव विषयः॥

यद्यपि वैदिके साहित्ये आयुर्वेदीयविज्ञानस्याष्टधा विभागनिर्देशोऽष्टाङ्गानां नामोल्लेखश्च न दृश्यते, आत्रेयलेखतो ब्राह्मविज्ञानसमये हेतुलिङ्गौषधज्ञानरूपत्रिसूत्रात्मना तदवस्थानमवबुध्यत इति वैदिकं तद्विज्ञानं पुरा त्रिस्कन्धात्मकमासीदित्यवगम्यते, तथाऽपि वैदिकायुर्वेदविषयाणां सङ्ग्रहणे पूर्वोपदर्शितदिशा अश्विनोरुपवर्णने जङ्घायोजनशकलीकृतशरीरसन्धानदृष्टिश्रोत्रप्रदानकुष्ठादिनिवारणच्यवनरसायनापुत्रापुत्रोत्पादनादीनामैन्द्रस्तवनेऽप्येवमेव नानाविषयाणामुपलम्भेन, ऋग्यजुरथर्वोपनिषदादिषु नानाविधभैषज्यानामोषधिविद्याया भूतविद्याया विषपरिहारविद्यायाश्च तत्र तत्र दर्शनेन शल्यशालाक्यकायचिकित्सागदभूतविद्यारसायनादीनामष्टविधानामेव विज्ञानविशेषाणां विषयाः पृथक्पृथग्रूपा अपि तस्मिन् विज्ञाने प्रविष्टा एवासन्नित्यवगम्यते। भूतविद्यायामाचार्योऽथर्वा, महाभारतेऽप्युपलभ्यमानोऽगदतन्त्राचार्यः काश्यपः, कौमारभृत्याचार्यः कश्यपः, शालाक्याचार्या गार्ग्यगालवादयः,शल्याचार्याः शौनकादय एवमेकैकप्रस्थानाचार्यतयाऽवगम्यमानानां महर्षीणां प्राचीनतरत्वेन दर्शनमायुर्वेदविज्ञानस्याष्टप्रस्थानेषु विभक्तत्वमपि प्राचीनकालपरिदृष्टं दर्शयति। येनैकैकप्रस्थानवैशेष्यं केषाञ्चिन्महर्षिविशेषाणां विश्रुतयेऽजायत। केषुचित्तु सर्वप्रस्थानीयविज्ञानानां सामूहिकरूपेणावस्थानमपि भवेत्। ऋगपेक्षयाऽथर्वसंहितायामोषधिभैषज्यभूतचातनविषापहरणादिविषयाणां विकासावस्थाया निदर्शनेन एकैकांशोऽपि कालक्रमेण विज्ञानविशेषैः पुष्टिमापद्यमानो ग्रहणधारणप्रयोगसौकर्याय पृथक्पृथक्प्रस्थानरूपेण विभागप्रतिष्ठामापन्नः स्यात्। आर्षे समये आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकरूपाणां त्रिविधानां दुःखानामेकैकशोऽपि परिहृतये अदृष्टद्वारकोपायानामिव दृष्टोपायानामपि क्रमशो विकासेनाथर्वणविकासमप्युपजीव्य शारीरभैषज्ये शस्त्रक्रियाप्राधान्यमुपादाय शल्यं, बहिरिन्द्रियप्रधानोत्तमाङ्गमुपादाय शालाक्यं, बलवीर्याभिवृद्धिप्राधान्यमुपादाय वाजीकरणं, वयःस्थापनादिमहाफलदीर्घप्रयोगविशेषानुपादाय रसायनम्, ऋतुगर्भबाल्यादिप्राथमिकावस्थासम्बन्धमुपादाय कौमारभृत्यम्, एतदितरशारीरमानसभैषज्यमुपादाय कायचिकित्सा, बहिरागन्तुकविकृतिप्रशमने सर्पवृश्चिकप्रभृतिप्राण्यादिविषविप्लवमुपादाय अगदतन्त्रं, भूतग्रहस्कन्दादिदेववर्गविप्लवमुपादाय भूतविद्या, इति त्रिविधदुःखशाखाविशेषाननुसन्धाय तत्तत्प्रतीकारदशाऽष्टौ प्रस्थानानि विभक्तानि प्रतीयन्ते। पूर्वाचार्याणामनुसन्धाने ब्रह्मण इन्द्रस्य च सर्वप्रस्थानीयविज्ञानव्यूहे आचार्यभावो लभ्यते। महाभारतलेखत इन्द्राल्लब्धोपदेशो भरद्वाजः, हरिवंशलेखतो भरद्वाजात्[1] सुश्रुतसंहितालेखत इन्द्रादेव लब्धोपदेशो धन्वन्तरिश्च सर्वप्रस्थानविज्ञानेषु सामूहिकज्ञानवानवगम्यते। एकैकशो विषयस्य विकासेन बहुलीभावेऽद्यत्वे एकैकाङ्गभैषज्यविशेषविज्ञानवशादेकैकविभागभिषग्भाववत्तत्र तत्र विशेषवैदुष्यसम्पत्तये शिष्याणां ग्रहणधारणसौकर्याय च महाभारतलेखतो भरद्वाजेन, हरिवंशलेखतो धन्वन्तरिणा आयुर्वेदीयविज्ञानमष्टसु प्रस्थानेषु विभज्य विकसितमेकैकप्रस्थानं पृथक्पृथग्भावेन शिष्येभ्य उपदिष्टं प्रचारमापादितं चेत्यवगमेन तदुपक्रममष्टौ प्रस्थानानि पृथक्पृथक्प्रवाहरूपेण लोके प्रसृतानि प्रतीयन्ते। कायचिकित्साप्रस्थानीयायामात्रेयसंहितायां कौमारभृत्यप्रस्थानीयां काश्यपसंहितायामपि साधारणाचार्यैः प्रजापतीन्द्रादिभिः सह धन्वन्तरेर्हौम्यदेवतात्वेन निर्देशनं, नानाप्रस्थानेषु धान्वन्तरघृतादेरुपादानमपि धन्वन्तरेरष्टाङ्गविभागाचार्यत्वं व्यनक्ति। न केवलं मूलधन्वन्तरिः, अपितु तत्सम्प्रदायं लब्धवान् द्वितीयो धन्वन्तरिर्दिवोदासोऽपि अष्टस्वङ्गेषु कतममुपदिशामीति सुश्रुतं पृष्ट्वा शल्यं प्रधानीकृत्योपदिशतु भवानिति तेनाभ्यर्थितः शल्यप्रधानं विज्ञानं तस्मै उपदिदेशेति सुश्रुतसंहितायामुपक्रमभागे लेखेन, पश्चादष्टाङ्गवित्त्वस्य कण्ठतोऽपि निर्देशेन च अष्टाङ्गविद्याचार्य आसीदिति व्यक्तीभवति। अष्टाङ्गविदो[2] भरद्वाजादिन्द्राद्वा लब्धोपदेशेनात्रेयपुनर्वसुनोपदिष्टैरग्निवेशादिभिः षड्भिः पृथक्पृथक्तन्त्राणां प्रणयनस्योल्लेखेन, धन्वन्तरिणा दिवोदासेन शल्यप्राधान्यमादायोपदिष्टेन सुश्रुतेन सुश्रुतसंहिताया निबन्धनस्योल्लेखेन च तयोः क्वचन प्रस्थानान्तरीयविषयाणामप्युपलम्भेऽपि तेषां प्रसङ्गेन लेशत एव तत्रानुस्यूततया 'प्राधान्यतो व्यपदेशा

१. हेतुलिङ्गौषधज्ञानं स्वस्थातुरपरायणम्।
त्रिसूत्रं शाश्वतं पुण्यं बुबुधे यं प्रजापतिः॥
सोऽनन्तपारं त्रिस्कन्धमायुर्वेदं महामतिः।
यथावदचिरात्सर्वं बुबुधे तन्मना मुनिः॥ (चरक सूत्र.अ.१)

१. तस्य गेहे समुत्पन्नो देवो धन्वन्तरिस्तदा।
काशिराजो महाराजः सर्वरोगप्रणाशनः॥
आयुर्वेदं भरद्वाजात् प्राप्येदं भिषजा क्रियाम्।
तमष्टधा पुनर्व्यस्य शिष्येभ्यः प्रत्यपादयत्॥ (हरिवंशे.अ.२९)

२. अष्टाङ्गवेदविद्वांसं दिवोदासं महौजसम्।
विश्वामित्रसुतः श्रीमान् सुश्रुतः परिपृच्छति। (सु.उ.तं.अ.६६)

भवन्ति' इति न्यायेन भरद्वाजस्याष्टाङ्गसम्प्रदायेष्वेकतमोऽय-मात्रेयपुनर्वसोः कायचिकित्साप्राधानः सम्प्रदायः, धन्वन्तरेर्दिवोदासस्य वाऽष्टाङ्गसम्प्रदायेष्वेकतमोऽयं सुश्रुतस्य शल्यप्रधानः सम्प्रदाय इति सम्प्रदायद्वयं चिरादवशिष्टमद्याप्यास्ते। कौमारभृत्यप्रस्थाने आत्रेयादपि पूर्वस्य मारीचकश्यपसम्प्रदायस्याप्यन्यस्येदानीमुपलम्भेन सम्प्रदायत्रयं पुरो भवति। चरकसुश्रुतसंहितयोर्लेशतोऽन्तर्गतस्य कौमारभृत्यविषयस्य स्वतन्त्रप्रस्थानभावेन संहितातन्त्रात्मना पृथगेवमुपलम्भात् सुश्रुतोत्तरतन्त्रे संक्षिप्तरूपेण सन्निवेशितानां शालाक्यादिविषयान्तराणामपि एवमेव सर्वाङ्गपूर्णाः संहितादयस्तत्तदाचार्याश्चानेके भवेयुरिति निश्चेतुं शक्यते। प्रस्थानान्तराणि कालवशेन हन्त इदानीं विलुप्तानि इत्यन्यदेतत्, परं महाभारतहरिवंशसुश्रुतादिषूल्लिखितोऽयमष्टाङ्गविभागः प्राचीन एव। तदेवं कायचिकित्सायां भरद्वाजसम्प्रदायः, शल्यप्रस्थाने धन्वन्तरिसम्प्रदायश्चेति द्वेधा विभक्तोऽसौ पुनरष्टधा प्रववृत इति कल्पना नात्मलाभाय।

तदेवमार्षेऽपि समये कालक्रमेणाष्टाङ्गेष्वेकैकोऽपि विभागो विकासमुपगच्छँस्तैस्तैराचार्यैरेकैकशोऽपि सविशेषं न्यरूप्यत, येन तत्र तत्र विभागे ते ते प्रधानाचार्यपदमलञ्चक्रुः। सुश्रुते-विदेहनिमेः शालाक्यतन्त्रकृत्त्वेन, सुश्रुतौपधेनवौरभ्रपौष्कलावतादीनां शल्यतन्त्रकृत्त्वेन, शौनककृतवीर्यपाराशर्यमार्कण्डेयसुभूतिगौतमानां पूर्वाचार्यत्वेन निर्देशः, चरकसंहितायामग्निवेशभेडादीनां षण्णां चिकित्सातन्त्रकर्तृतया निर्देशः, काङ्कायनवार्योविदहिरण्याक्षकुशिकमैत्रेयकुशसाङ्कृत्यायनकुमारशिरोभरद्वाजवडिशधामार्गवमारीचिकाप्यकाशीपतिवामकपारीक्षिन्मौद्गल्यशरलोमकौशिकभद्रकाप्यधन्वन्तर्यादीनां मतोल्लेखः, अङ्गिरोजमदग्निकश्यपकाश्यपादीनां बहूनामृषीणां नामोद्देशः, अस्मिन् वृद्धजीवकीयतन्त्रेऽपि सूत्रस्थानरोगाध्याय (पृ. ३९) सिद्धिस्थानराजपुत्रीयाध्यायवमनविरेचनीयाध्यायग्रन्थेषु तत्तन्मतोद्देशे भार्गववार्योविदकाङ्कायनकृष्णभरद्वाजदारुवाहहिरण्याक्षवैदेहनिमिगार्ग्यमाठरात्रेयपुनर्वसुपाराशर्यभेडकौत्साख्यानामाचार्यान्तराणामुल्लेखश्चोपलभ्यमानो बहूनायुर्वेदीयान् पूर्वाचार्याननुस्मारयति॥

एषु कतिपयानां पराशरभेडकाङ्कायनहारीतक्षारपाणिजातूकर्ण्यादीनामाश्विनभारद्वाजभोजभानुपुत्रकपिलवलभालुकिखरनादविश्वामित्रादीनामन्येषां चाचार्याणां मधुकोशचरकसुश्रुतव्याख्यादिषु ताडपत्रीयप्राचीनज्वरसमुच्चयज्वरचिकित्सितादिषु चोद्धृतानि वचनान्यपि कतिपयानि लभ्यन्ते, तेनैषां ग्रन्थसत्त्वं स्पष्टमवबुध्यते। येषामुद्धृतानि वचनान्यद्य यावन्नोपलब्धानि तादृशानामपि तत्र तत्र तन्त्रकर्तृत्वेन सूत्रकारित्वेन निर्देशनान्मतोपादानाच्च तेषामपि ग्रन्थसत्त्वमनुमीयते। हेमाद्रेर्लक्षणप्रकाशोद्धृते शालिहोत्रोक्ताश्वशास्त्रेऽप्यश्वाभिषेकमन्त्रश्लोकेषु आयुर्वेदस्य कर्तार इति बहूनामृषीणां नामानि कीर्तितानि दृश्यन्ते॥

अतश्च दैवाद्युगात् प्रभृत्यर्वाचीनसमयपर्यन्तं देवमहर्षिप्रभृतयो बहव आयुर्वेदाचार्या बभूवुः। अष्टाङ्गस्यायुर्वेदस्य एकैकोऽपि विभागस्तत्तदाचार्यैर्ग्रन्थप्रणयनेनोपदेशेन च परमां पुष्टिमापादित इति सङ्कलने महत्तम आयुर्वेदीयो ग्रन्थराशिः सम्भवेत्। परं कालमहिम्ना शास्त्रान्तराणामिव आयुर्वेदरत्नाकरस्यापि हन्त! बहून्यमूल्यरत्नानि विलोपमुपगतानि। एतदीयप्राचीनविलुप्तग्रन्थविषयके आलोचने श्रीयुतमदीयाप्ततमविद्वद्वरगणनाथसेनमहोदयैः गिरीन्द्रनाथमुखोपाध्यायप्रभृतिभार-

---

१. महाभारते सभापर्वणि—आयुर्वेदस्तथाऽष्टाङ्गो देहवांस्तत्र भारत (११।१७)।
एवं पूर्वनिर्दिष्टयोर्महाभारतहरिवंशलेखयोः।

२. सुश्रुते—"शालाक्यतन्त्राभिहिता विदेहाधिपकीर्तिताः" (सु. उ. अ. १४)॥

३. सुश्रुते—औपधेनवमौरभ्रं सौश्रुतं पौष्कलावतम्।
शेषाणां शल्यतन्त्राणां नामान्येतानि निर्दिशेत् (सु.सू.अ.४)॥

४. सुश्रुते—शरीरनिर्मितिविषये शौनकमतोल्लेखः (सु.शा.अ.३)॥

५. चरके—अग्निवेशश्च भेडश्च जतूकर्णः पराशरः।
हारीतः क्षारपाणिश्च जगृहुस्तन्मुनेर्वचः॥
तन्त्रस्य कर्ता प्रथममग्निवेशो यतोऽभवत्।
अथ भेडादयश्चक्रुः स्वं स्वं तन्त्रं कृतानि च॥ (च.सू.अ.१)॥

६. सूत्रस्थाने वातकलाकलीय (१२) यज्जः पुरुषीय (२५) आत्रेयभद्रकाप्यीया (२६) ध्यायेषु।

७. चरकोपक्रमग्रन्थे (च. सू. अ. १)॥

१. हेमाद्रेर्लक्षणप्रकाशस्य १५२५ (वैक्रम) संवल्लिखितं प्राचीनं जीर्णपुस्तकमेकं मत्सङ्ग्रहेऽस्ति। तत्र गजप्रकरणे पालकाप्यादिवचनानीवाश्वप्रकरणे शालिहोत्रवचनानि बहुश उद्धृतानि सन्ति, तत्रैवं श्लोकोद्धारोऽस्ति—

वसिष्ठो वामदेवश्च च्यवनो भारविस्तथा।
विश्वामित्रो जमदग्निर्भारद्वाजश्च वीर्यवान्॥
असितो देवलश्चैव कौशिकश्च महाव्रतः।
सावर्णिर्गालवश्चैव मार्कण्डेयस्तु वीर्यवान्॥
गौतमश्च···भागश्च आगरुप (?) काश्यपस्तथा।
आत्रेयः शाण्डिलश्चैव तथा नारदपर्वतौ॥
काण्वगो नहुषश्चैव शालिहोत्रश्च वीर्यवान्।
अग्निवेशो मातलिश्च जतुकर्णः पराशरः॥
हारीतः क्षारपाणिश्च निमिश्च वदतां वरः।
अदालिकश्च भगवान् श्वेतकेतुर्भृगुस्तथा॥
जनकश्चैव राजर्षिस्तथैव हि विनग्नजित्।
विश्वदेवाः समरुतो भगवाँश्च बृहस्पतिः॥
इन्द्रश्च देवराजश्च सर्वलोकचिकित्सकाः।
एते चान्ये च बहव ऋषयः संश्रितव्रताः॥
आयुर्वेदस्य कर्तारः सुखातं तु दिशन्तु ते॥ (प. १५९)

२. प्रत्यक्षशारीरभूमिकायाम्॥

३. History of Indian Medicine.

तीयविद्वद्भिः पाश्चात्यविद्वद्भिरपि बहु निरूपितमेवेति नात्र पिष्टपेषणमर्हति ॥

आत्रेयसुश्रुतसंहिते बहुशश्चिररत्नानां ग्रन्थरत्नानां विलोपेन विषादमनुभावयतोऽस्यायुर्वेदमहोदधेर्महिमानमविलोपयितुमवशिष्टमात्रेयधन्वन्तरिसंहितयोर्द्वयं चरकसुश्रुतसंहितानामभ्यां चिरात्प्रसिद्धतरमुपलभ्यते । अनयोर्मूर्धन्यभावगौरवस्य सुप्रथिततया सूर्याचन्द्रमसोरालोकान्तरमिव न परिचयाय प्रकाशोऽपेक्ष्यते ॥

अष्टाङ्गहृदयकर्तुर्वाग्भटस्य समये आचार्यान्तराणामपि आयुर्वेदीयाः संहितादयः स्युर्नाम, तथाऽपि—

यदि चरकमधीते तद्ध्रुवं सुश्रुतादि-
प्रणिगदितगदानां नाममात्रेऽपि बाह्यः ॥
अथ चरकविहीनः पक्रियायामखिन्नः
किमिव खलु करोतु व्याधितानां वराकः ॥

(अष्टाङ्गहृदय. उ. अ. ४०)

इति केवलं चरकाध्ययने सौश्रुतोक्तरोगविशेषाणां नाम्नाऽप्यज्ञानं भवेत् , सुश्रुतमात्राध्ययने कथं वा प्रतीकारप्रक्रियाविशेषज्ञानमिति चरकसुश्रुतयोर्द्वयोरप्यवश्यमुपादेयत्वमित्यायुर्वेदीयविज्ञानाकररूपेण संमाननीयदृशा उपवर्णनेन मध्यकाले वाग्भटसमयेऽप्येतावेव ग्रन्थौ सर्वोपर्यास्तामित्यवगम्यते । सहस्रवर्षपूर्वलिपिमये ज्वरसमुच्चयपुस्तकेऽपि चरकसुश्रुतवचनानि बहुश उपात्तानि, चतुर्थशताब्दीलिखिते नावनीतकपुस्तकेऽपि चरकोक्तानि वचनानि संवदन्ति, सुश्रुतस्य नाम्नाऽप्युल्लेखोऽस्ति । बाणभट्टीये हर्षचरिते पौनर्वसववैद्यकुमारस्य निर्देशेन आत्रेयपुनर्वसुसम्प्रदायस्य तदात्वेऽपि प्रचार उपलक्ष्यते । यदा प्रभृत्यनयोरुद्भवस्तदादिविचारगौरवेण गुणातिशयमहिम्ना चरकसुश्रुतसंहितयोर्द्वयं लोके प्रचरद्रूपतया समयेन भरताद्बहिरपि स्वालोकं प्रासारयत्, अद्यापि वैद्यवर्गाणां हृदयसर्वस्वायत एव । सप्तमाष्टमनवमशताब्दीषु प्रगतिपथाभिमुखे आरब्यदेशे पारसीकदेशे च भारतीयभैषज्यविद्यायाः समादरेण चरकसुश्रुतसंहिते अनूदिते । आरब्यभाषायामनूदितश्चरकः **सरक**नाम्ना, सुश्रुतः **सस्रद**नाम्ना ज्ञायते । 'अबूसीन' (Abus'ina) अबूरसी, (Abu Rasi) अबूसिराबि, (Abusirabi) नामकानामारब्यवैद्यकग्रन्थानां लेटिनभाषानुवादेष्वपि चरकनाम पुनः पुनरुपात्तं श्रूयते । अलबेरुनी (Alberuni) नामकस्य पर्यटकस्य पुस्तकालये चरकानुवाद आसीदित्यपि तदीयाङ्ग्लभाषानुवादे लभ्यते । अलमनसूरो (Almansur 753–774 A. D.) बहूनायुर्वेदग्रन्थाँश्चरकस्य सर्पचिकित्साप्रकरणं सुश्रुतं चान्ववादयत् । तदीयवैद्यो रजस् (Rhares) नामा चरकं बहुमानयति स्म । सिरसीननामकस्य पाश्चात्यस्य पूर्वजा[४] अपि भारतीयमायुर्वेदं चरकसुश्रुते चावेदिषुरित्यप्युपवर्ण्यते पुरावृत्तलेखकेन । अशोकनृपपौत्रसमये बौद्धधर्मेण साकं भारतीय आयुर्वेदः सिंहलमप्यनुप्राविशत् । भारतीयायुर्वेदो विशेषरूपेण बह्वीभिष्टीकाभिर्युतो वाग्भटस्तिब्बतप्रदेशे स्वप्रभावं प्रकाश्य ततो मङ्गोलपर्यन्तमपि प्रचचार । भारते विलुप्ता अप्यनेका वाग्भटस्य टीका अद्यापि तिब्बतप्रदेशेऽनूदिता लभ्यन्ते ॥

भेडसंहिता अद्यत्वे भेडसंहितानाम पद्यलेखबहुला संक्षिप्तलेखाऽन्याऽपि संहिता कलिकातायां संमुद्र्य प्रकाशिताऽस्ति । आर्षच्छायानुरूपरचनादर्शनेन साऽपि प्राचीनाऽऽर्षी संहिता प्रतीयते । परमुपक्रमोपसंहारभागयोर्मध्ये मध्येऽपि बहुशो विच्छिन्नविकलाङ्गाऽशुद्धिबहुला च दृश्यते । सहस्रवर्षपूर्वलिखितं ज्वरसमुच्चयस्य ताडपत्रपुस्तकमेकमुपलब्धमस्ति । यत्राश्विनभारद्वाजादीनामिव भेडस्यापि केवलं ज्वरप्राकरणिकानि बहूनि वचनान्युद्धृतानि दृश्यन्ते । तेषु द्वित्रसंख्यका एव श्लोका उपलब्धमुद्रितभेडसंहितायां संवादं लभन्ते, तदुद्धृतानि श्लोकान्तराणि तु न प्राप्यन्ते । प्राचीनैतद्ग्रन्थोद्धृतानां तावतां श्लोकानामत्र संवादेन सेयं भेडसंहिता न खलु न प्राचीनेति वक्तुं शक्यते, परमेकस्मिन्नेव ज्वरप्रकरणे उद्धृता अप्यन्ये श्लोकाः, एवं तन्त्रसारनामके सङ्ग्रहान्तरग्रन्थे भेडनाम्ना उद्धृताः प्रकरणान्तरीयाः श्लोकाः, एवं टीकाकृद्भिस्तत्र तत्र भेडनाम्नोद्धृताः श्लोका अप्यस्या भेडसंहितायां प्रायो न दृश्यन्ते । अस्मिन् वृद्धजीवकीये बस्तिकर्मसमयनिर्देशप्रसङ्गे "षड्वर्षप्रभृतीनां तु भेड" (सिद्धस्थान. अ. १) इति षड्वर्षोत्तरं बस्तिकर्मवादो भेडमतत्वेनोल्लिखितोऽस्ति । उपलब्धभेडसंहितायां 'बालानामथ वृद्धानां युवमध्यमयोस्तथा । स्वस्थानामातुराणां च बस्तिकर्म प्रशस्यते' इति बस्तिकर्मणः सर्वसाधारण्येनोपयोगोल्लेखोपलम्भनं न संवादाय जायते । एवं तत्र तत्रोपलभ्यमानानां बहूनां वचनानामत्रानुपलम्भेन सेयं भेडसंहिता बहुष्ववयवेषु विशेषतो विच्छिन्ना संशयं चादधानाऽवगम्यते । वाग्भटेनापि एवमेव विच्छिन्नाङ्गोपलम्भेन वा चरकसुश्रुतसंहितयोरिवास्यां विषयनिरूपणस्य नातिविशदतया वा—

"ऋषिप्रणीते भक्तिश्चेन्मुक्त्वा चरकसुश्रुतौ ।
भेडाद्याः किं न पठ्यन्ते तस्माग्राह्यं सुभाषितम् ॥"

(अष्टाङ्गहृदये उ. तं. अ. ४०) ।

इति भेडविषये कटाक्षितं दृश्यते ॥

हारीतसंहिता अद्यत्वे संमुद्र्य प्रकाशिता प्राय एतदनुरूपैव द्वित्रशतवर्षपूर्वलिखिताऽपि हारीतसंहिता मिलति । सा तु प्राचीनार्षलेखच्छायाराहित्येन साधारणसंग्रहप्रायतया दृश्यमाना न प्राचीना न वाऽऽर्षी संमन्तुं शक्यते । प्राचीने ज्वरसमुच्चये बहुशो हारीतनाम्नोद्धृतानि श्लोकवचनानि दृश्यन्ते, ग्रन्थान्तरेष्वपि तत्र तत्रोद्धृतानि हारीतवचनानि दृश्यन्ते, परं तानि वचनानि नास्मिन्नुपलब्धहारीतसंहितापुस्तके लभ्यन्त इति विसंवादोऽप्यन्यस्या एव प्राचीनहारीतसंहितायाः पूर्वसत्त्वमनुमापयति ।

१. H. H. Wilson. २. Pr. Sachu.
३. Hindu Superiority by Har Bilas Sarada.
४. किताबे अलफेरिस्त एण्टिक्विटी ऑफ् हिन्दु मेडिसिन ॥

प्राचीनहारीतग्रन्थलोपमनुसन्धाय तन्नामाविलुप्तये दयालुना केनापि पश्चाद्भवेन विदुषा हारीतनाम्नैतद्ग्रन्थरचनासौजन्यमाविष्कृतं संभाव्यते ॥

नवोपलब्धेयं काश्यपसंहिता

चिरात्प्रसिद्धयोश्चरकसुश्रुतसंहितयोरचिरोपलब्धाया भेडसंहितायाश्चोपलब्ध्यनुक्रमेण चतुर्थतां वहत्यपि प्राचीनार्षलेख क्रियया विषयगाम्भीर्येण सारपूर्णतया चात्रेयसुश्रुतसंहितयोः समकक्षं निबन्धनमनुभावयन्ती कौमारभृत्यप्रस्थानीयेयं प्राचीना **काश्यपसंहिता वृद्धजीवकतन्त्रात्मना** परिणता प्रतिकूलेन दैवेन बहुकालविलोपं प्राप्य दिष्ट्या यत्र क्वचनान्तर्निलीयावस्थितेन जिर्णशीर्णेनैकेन प्राचीनताडपत्रपुस्तकात्मनोपलब्धा प्राणशेषा विच्छिन्नविकलेन शरीरेणात्मानमिदानीं प्रादुष्करोति । करालकालकवलितावयवाया अपि शेषैरप्यवयवैर्निजं गाम्भीर्यगौरवं दर्शयन्त्याश्चिरेण नाम्नाऽपि विलुप्तायाः प्रत्नाया अस्या आर्षसंहिताया लाभो महाँल्लाभ इव विदुषां तोषायैव जायेत ॥

पुरा नेपालदेशमुपगतैः श्रीयुतविद्वद्वरमहामहोपाधायहरप्रसादशास्त्रिमहोदयैः—"नेपाले मया ३८ पत्रात्मिका कश्यपभार्गवसंवादरूपा वैद्यकविषयिण्यपूर्णा प्राचीना काश्यपसंहिता लब्धा, यत्रादौ भैषज्योपक्रमणीयमष्टमपत्रतो ज्वरनिदानं निरूपितमस्ति । चरकसुश्रुतकश्यपाश्विनात्रेयभेडपराशरहारीतजतूकर्णादीनां वचनान्यप्युद्धृतानि सन्ति । भैषज्योपक्रमणीयनामसत्त्वेऽप्यौषधविषयोल्लेखो नास्ति" इति विवरणेन सह काश्यपसंहिताया उपलम्भवृत्तं Report on the Search of Sanskrit Manuscripts (1895–to 1900) पत्रे प्रकाशितम्, तद्विवरणं Julius Jolly महाशयेन Medicine पुस्तकेऽप्युल्लिखितं दृश्यते । तदीयविवरणानुरूपं पुस्तकं नेपालराजकीयपुस्तकालये तैरेव निर्माय प्रकाशिते तदीयपुस्तकसूचीपत्रेऽपि न दृश्यते, बहिरपि सयत्नं पर्यालोचने तादृशं काश्यपसंहितापुस्तकं नासाद्यत । परं ज्वरनिदानादिविषये नानार्षवचनसंग्रहरूपः प्राचीनस्ताडपत्रीयो **ज्वरसमुच्चयो** नाम वैद्यकग्रन्थो नेपालेऽन्यत्राप्युपलभ्यते, अस्मत्सकाशेऽप्यस्ति । यत्र ज्वरविषये बहुशः काश्यपवचनानि, तदुक्तविवरणानुरूप्येण चरकश्रुतकश्यपाश्विनभेडादिवचनान्यपि संगृहीतानि दृश्यन्ते । काश्यपवचनोपन्यासे "शृणु भार्गव तत्त्वार्थं सन्निपातविशेषणम्" इति काश्यपसंहिताखिलभागलभ्यवचनोद्धारदर्शनेन तदंशे भार्गवकश्यपसंवादरूपत्वमपि संवदति । तदीयविवरणे आदौ भैषज्योपक्रमणीयोल्लेखेन, ज्वरसमुच्चये तदभावेन, काश्यपसंहितायाः खिलभागे तृतीयाध्यायस्य भैषज्योपक्रमणीयनामतया च अष्टपत्रपर्यन्तं खिलभागीयकाश्यपसंहिताया भैषज्योपक्रमणीयाध्यायोऽपि तत्र संपृक्तः किलेति प्रतिभाति । अस्यां प्रकाश्यमानायां काश्यपसंहितायां तु चरकसुश्रुतादीनां वचनोद्धारो नास्ति । प्राचीनतमायामस्यामर्वाग्भवानां चरकादीनां वाक्यानामुद्धारेण नापि भवितव्यम् । न चात्र ज्वरप्रकरणमेव, नाप्यौषधानुपदेशः, तेन तद्दृष्टिपथमुपेतो ग्रन्थः सर्वांशतया नैषा काश्यपसंहिता भवेत्, अपि तु एतदीयभैषज्योपक्रमणीयाध्यायीयकतिपयपत्रमिलितस्तदुक्तविवरणसंवादी उपलभ्यमानो ज्वरसमुच्चयः, किं वा एतादृशमेव प्राचीनसंग्रहात्मकं ग्रन्थान्तरं स्यादिति सम्भाव्यते ॥

उपलब्धैतत्ताडपत्रपुस्तकस्याकृतिः २१½×२½, प्रतिपृष्ठं पङ्क्तयः ६, सर्वादिमः पत्राङ्कः २९, अन्तिमश्च २६४, अन्तरान्तराऽपि बहुशो विलुप्तानि पत्राणि । उपलब्धैतत्पुस्तकस्याद्यन्तयोर्मध्ये मध्ये च खण्डिततयाऽवशिष्टपत्रोपलब्धये बहुप्रयतितं, परं लुप्तानि पत्राणि प्रतीकान्तरं चानवाप्यैतावत्येव विश्रमितव्यमभूत् । लुप्तपत्राणि मुद्रितारम्भपत्रपादटिप्पण्यां निर्दिष्टानि । ग्रन्थपर्यालोचनायामादौ दशद्वादशाध्याया विच्छिन्नाः, अन्तेऽपि खिलभागस्य ८० अध्यायेषु २६ अध्यायपर्यन्तमेव सत्त्वेन ततः पश्चात्तनो भागोऽपि विच्छिन्नः । वर्तमानेष्वपि पत्रेषु बहुशः पत्राण्यंशतः शकलीभूतानि, येन तत्र तत्र विलुप्ताः पङ्क्तयः शब्दा अक्षरादयश्च बिन्दुमालया मुद्रणे सूचिताः सन्ति । एतदीया लिपिः प्राचीना । तत्रापि बहुभागेषु लिपीनामेकजातीयत्वेऽपि लेखभेददर्शनेन द्वाभ्यां लेखकाभ्यामेकस्मिन् समये खण्डशो विलिख्य समापितमिदं मूलपुस्तकं प्रतीयते । उपक्रमोपसहारभागयोर्विलोपेन ततो विज्ञेया विशेषा न किमप्यवबोद्धुमपार्यन्त । समाप्तिभागस्यानुपलब्ध्या ततो विज्ञेयो लेखसमयोऽपि नोपलभ्यते । परमेतदीयलिप्याकृतेः, अक्षरैर्निर्दिष्टानां पत्राङ्कानां, क्वचनाध्यायश्लोकाङ्कानां, ताडपत्रायामविस्तारयोश्चानुसन्धानेन सप्ताष्टशतवर्षपूर्वतनोऽयं पुस्तकलेख इत्यनुमातुं शक्यते । परमस्मिन्नादर्शपुस्तकेऽपि तदीयादर्शपुस्तकगताक्षराणां विलोपेन किल क्वचन विनैवाक्षरमवशेषितस्य स्थलस्य दर्शनेनैतदीयादर्शमूलपुस्तकमप्येतादृगेव जराजीर्णं प्राचीनं सम्भाव्यते । पुस्तकाकृतिपरिज्ञानाय पृष्ठद्वयस्य प्रतिच्छायाऽप्यत्र सन्निवेशिताऽस्ति ॥

कश्यपस्य विमर्शः

प्राचीनाचार्यवैद्यकग्रन्थेषु सुश्रुतसंहिता चरकसंहिता नवोपलब्धेयं काश्यपसंहितेति यदिदं महनीयमार्षग्र न्थत्रयमिदानीमस्माकं पुरः समुपतिष्ठते, तत्र सुश्रुतसंहितायां धन्वन्तरिः, चरकसंहितायां पुनर्वसुरात्रेय इवास्यां काश्यपसंहितायां कश्यपो मूलभूत उपदेशक इत्यवगम्यते ॥

कोऽयमाचार्यः कश्यप इति जिज्ञासायामस्यां संहितायामुपक्रमोपसंहारभागयोः खण्डिततया ततो विशेषतो विज्ञेयस्यापरिज्ञानेऽपि एतदीयपरिचयायात्रैव संहिताकल्पाध्याये इत्थमुल्लिखितं दृश्यते—

"दक्षयज्ञे वधत्रासाद्देवर्षीणां पलायताम् ।
रोगाः सर्वे समुत्पन्नाः सन्तापाद्देहचेतसोः ॥
प्रागुत्पत्तिस्तथाऽन्येषां रोगाणां परिकीर्तिता ।
कृतत्रेतान्तरत्वेन प्रादुर्भूता यथा नृणाम् ॥
ततो हितार्थं लोकानां कश्यपेन महर्षिणा ।
पितामहनियोगाच्च दृष्ट्वा च ज्ञानचक्षुषा ॥

तपसा निर्मितं तन्त्रमृषयः प्रतिपेदिरे ।
जीवको निर्गततमा ऋचीकतनयः शुचिः ॥
जगृहेऽग्रे महातन्त्रं सञ्चिक्षेप पुनः स तत् ।
नाभ्यनन्दन्त तत्सर्वे मुनयो बालभाषितम् ॥
ततः समक्षं सर्वेषामृषीणां जीवकः शुचिः ।
गङ्गाह्रदे कनखले निमग्नः पञ्चवार्षिकः ॥
बलीपलितविग्रस्त उन्ममज्ज मुहूर्त्तकात् ।
ततस्तदद्भुतं दृष्ट्वा मुनयो विस्मयं गताः ॥
वृद्धजीवक इत्येव नाम चक्रुः शिशोरपि ।
प्रत्यगृह्णन्त तन्त्रं च भिषक्श्रेष्ठं च चक्रिरे ॥
ततः कलियुगे तन्त्रं नष्टमेतद्यदृच्छया ।
अनायासेन यक्षेण धारितं लोकभूतये ॥
वृद्धजीवकवंश्येन ततो वात्स्येन धीमता ।
अनायासं प्रसाद्याथ लब्धं तन्त्रमिदं महत् ॥
ऋग्यजुःसामवेदांस्त्रीनधीत्याङ्गानि सर्वशः ।
शिवकश्यपयक्षांश्च प्रसाद्य तपसा धिया ॥
संस्कृतं तत्पुनस्तन्त्रं वृद्धजीवकनिर्मितम् ।
धर्मकीर्तिसुखार्थाय प्रजानामभिवृद्धये ॥
स्थानेष्वष्टसु शाखायां यद्यन्नोक्तं प्रयोजनम् ।
तत्तद्भूयः प्रवक्ष्यामि खिलेषु निखिलेन ते ॥" इति.

इतश्च दक्षयज्ञे समुपजातादुपप्लवादुत्पन्नैः प्राचीनैश्च नानारोगैः पीडितांल्लोकानभिसमीक्ष्य तदुद्दिधीर्षया पितामहनियोगेन महर्षिः कश्यप आर्षतपोविज्ञानबलेनैतन्महातन्त्रं निर्माय ऋषीनुपदिदेश । सर्वेभ्यः प्रागिदं तन्त्रं गृहीत्वा ऋचीकपुत्रो जीवको नाम बालमुनिर्विस्तृतस्यास्य संक्षिप्तं रचनान्तरमकरोत् । बालजल्पितमिति मुनयस्तन्नाङ्गीचक्रुः, तेन पञ्चवार्षिको बालो जीवकः सर्वेषामृषीणां पुरतः कनखले गङ्गाह्रदे निमज्ज्य बलीपलितव्याप्तवृद्धरूपेण क्षणादुन्ममज्ज । तेनाद्भुतेन विस्मिता मुनयः शिशोरपि वृद्धाकृतेस्तस्य **वृद्धजीवक** इति नाम विधाय तं भिषगुत्तममनुमान्य तदीयं तन्त्रं स्वीचक्रुः । ततः कलिकालवशेन लुप्तप्रचारमेतत्तन्त्रं दैवादनायासनाम्ना केनचिद्यक्षजातीयेन प्राप्य लोककल्याणाय रक्षितम् । तदनु वृद्धजीवकस्यैव वंशोद्भवो वात्स्यो नामाधीतवेदवेदाङ्गः शिवकश्यपभक्तो विद्वान् अनायासयक्षं प्रसाद्य ततस्तत्तन्त्रमधिगत्य बुद्धिवैभवेन श्रमेण च कीर्तिधर्मप्रजासुखाभिवृद्धये प्रतिसंस्कृत्य प्रकाशयामास । अष्टसु स्थानेष्वनुक्तं विषयान्तरं खिलरूपेण संयोजितमित्येतदीयमितिवृत्तं लभ्यते ॥

आर्षेऽपि समये मन्त्रब्राह्मणादिषु कश्यपकाश्यपशब्दाभ्यामभिधीयमाना अनेके[१] महर्षयः, ग्रन्थान्तरेष्वप्यनेके तन्नामानो विद्वांस उल्लिख्यमाना दृश्यन्ते । तेषु कतमोऽस्याः कौमारभृत्यसंहिताया मूलाचार्यः, यस्योपदेशो वृद्धजीवकमनुसङ्क्रान्त इति परिच्छेदाय विवेचनीयं भवति । तत्र, अत्रिकश्यपादीनां गोत्रप्रवर्तकमूलाचार्यत्वेनोपलम्भात् कश्यपशब्देन मूलकश्यपस्य, काश्यपशब्देन तद्गोत्रोद्भवानां सामान्यतोऽवगमो भवति । गोत्रप्रवरनिर्देशाचार्याणां लेखानुसन्धाने बोधायनेन मूलगोत्रप्रवर्तकस्यैकस्यैव कश्यपस्योल्लेखेऽपि, प्रवरेषु काश्यपशब्देन व्यवहरणेऽपि, 'कश्यपान् व्याख्यास्यामः' इत्युपक्रम्य तद्गोत्रीयानवान्तरगोत्रप्रवर्तकान् विभागशो निर्दिश्य, अन्ते 'इत्येते निध्रुवाः कश्यपाः' इत्युपसंहृत्य च काश्यपगोत्रोद्भवा अवान्तरगोत्रप्रवर्तकाः काश्यपशब्देन व्यवहर्तुं योग्या अपि कश्यपशब्देन व्यवहृता दृश्यन्ते । आपस्तम्बाश्वलायनकात्यायनादीनामप्येवमेवोल्लेखा उपलभ्यन्ते[१] । तत्र बहुव्यक्तिनिर्देशपरत्वेन गोत्रप्रत्ययलोपे कश्यपा इति व्यवहारसंभवेऽपि[२], शतपथवंशब्राह्मणे[३] 'हरितः कश्यपः, शिल्पः कश्यपः, नैध्रुविः कश्यपः' इति हरितादीनां मिथो विभिन्ननामैकैकव्यक्तीनामपि कश्यपशब्देन निर्देशोऽस्ति । तेन प्राक्काले काश्यपानां काश्यपशब्देनेव विशेषव्यक्तीनां कश्यपशब्देनापि प्रायिको व्यवहारसंप्रदायः प्रतीयते । तेन गोत्रप्रवरान्निर्दिशतां बोधायनादीनां लेखतो मूलकश्यपस्येव तत्परम्परागतस्याऽवान्तरकश्यपस्यापि कश्यपशब्देनावबोधो जायते । परं कश्यपपरम्परायां बोधायनादिभिरन्यस्य मारीचस्यानिर्देशेन आर्षसर्गे कश्यपस्य मरीचिपुत्रत्वेनान्यत्रोपलम्भाद्बोधायनादिलेखतो मूलकश्यप एव मरीचिपुत्रतया मारीच इति वक्तव्यमेव । मात्स्ये[४] गोत्रप्रवरनिर्देशे मरीचेः पुत्रं कश्यपं मूलगोत्रप्रवर्तकं निर्दिश्य तत्सन्ततिष्ववान्तरगोत्रप्रवर्तकानामुद्देशे कश्यपा मारीचा अपि पुनः पृथग्भावेन निर्दिष्टा दृश्यन्ते । गोत्रप्रवरविषयसङ्ग्रहकारः कमलाकरोऽपि[५] मात्स्योक्तकश्यपविभागमुल्लिखन् 'अथ कश्यपाः' इत्युपक्रम्य कश्यपपरम्परागतमन्यमेकं मारीचं गोत्रप्रवर्तकमृषिमेकवचनान्तेन शब्देन निर्दिशति । कश्यपपरम्परागतत्वेनास्य मारीचस्यापि कश्यपत्वं युज्यते च । तेन कश्यपपरम्परागतो द्वितीयोऽपि मारीचः कश्यप आसीदित्यवगम्यते[६] । चरकोपक्रमग्रन्थे समवे-

१. अनायासेन यक्षेण, अनायासं प्रसाद्याथ-इति पूर्वापरसंगमनेन अनायास इति यक्षस्य नामोल्लेख इत्यवगम्यते ।

१. अथ कश्यपानां त्र्यार्षेयः काश्यपावत्सारनैध्रुवेति ।
(आपस्तम्बप्रवरकाण्डे)
कश्यपानां काश्यपावत्सारासितेति । (आश्वलायनप्रवरकाण्डे)
कश्यपान् व्याख्यास्यामः । (कात्यायनलौगाक्षिप्रवरकाण्डे)

२. अनृष्यानन्तर्ये विदादिभ्योऽञ् ४।१।१०४। यञञोश्च २।४।६४
(पाणिनिसूत्रे)

३. हरितात् कश्यपाद्धरितः कश्यपः शिल्पात् कश्यपाच्छिल्प कश्यपः कश्यपान्नैध्रुवेः कश्यपो नैध्रुविः । (शतपथवंशब्राह्मणे)

४. मरीचेः कश्यपः पुत्रः कश्यपस्य महामुने ।
गोत्रकारानृषीन् वक्ष्ये तेषां नामानि मे शृणु ॥
... ...
... ...
कष्टायनाश्च हारीता आजिहायनहास्तिकाः ।
वैकर्णेयाः कश्यपाश्च सासिसा हारितायनाः ॥ (मात्स्ये)

५. अथ कश्यपाः ... काष्ठायनः मारीचः आजिहायनः ... इति मात्स्योक्ताः । (प्रवरदर्पणे)

६. अङ्गिरा जमदग्निश्च वसिष्ठः कश्यपो भृगुः ।
काङ्कायनः कैकशेयो धौम्यो मारीचिकाश्यपौ
(चरकसंहितायां सू. अ. १)

तानां महर्षीणामुद्देशे कश्यपं प्रथमतः पृथङ्निर्दिश्य मारीचिकाश्यपाविति द्विवचनान्तपदेन मारीचेः काश्यपस्य च पृथगुल्लेखेन कश्यपः काश्यपो मारीचिश्चेति त्रयो विभिन्ना अवगम्यन्ते ॥

अस्यां काश्यपसंहितायां पूर्वापरशब्दानुसन्धाने प्रत्यध्यायमुपक्रमोपसंहारयोः 'इति ह स्माह कश्यपः' इति, क्वचनान्तराऽपि 'इत्याह कश्यपः' (खिलस्थान अ. १०), इति, कश्यपः (खिलस्थान अ. १०), 'कश्यपोऽब्रवीत्' (सिद्धस्थान अ. ३) इति, एवमन्यत्रापि बहुशः कश्यपशब्देनाचार्यस्योल्लेखो दृश्यते। क्वचन मारीचशब्देनापि निर्देशोऽस्ति । पूर्वापरग्रन्थैकवाक्यत्वानुसन्धाने कश्यपएव मारीचत्वेन, मारीच एव कश्यपत्वेन व्यवहृतो दृश्यमान एतदाचार्यं मारीचं कश्यपं बोधयति । स च सर्वत्रैकवचनान्तेन मारीचशब्देन कश्यपशब्देन च व्यवहृततया एकव्यक्तिरूप इति स्पष्टं प्रतीयते । आत्रेयसंहितायां वातकलाकलीये वार्योविदेन सह पक्षप्रतिपक्षभावेन दर्शितसंवादस्य मारीचेरात्रेयेण प्रदर्शनाद्वार्योविदसहभावी स मारीचो गम्यते । अस्यामपि संहितायाम्—

इति वार्योविदायेदं महीपाय महानृषिः ।
शशंस सर्वमखिलं बालानामथ भेषजम् ॥ (खिलस्था. अ. १३)

इत्येतत्संहिताचार्यस्य मारीचस्य वार्योविदसहभावः प्रदर्श्यते । आत्रेयसंहितायां पश्चाच्छारीरनिर्वृत्तिविषये विमर्शे 'विप्रतिपत्तिवादास्त्वत्र बहुविधाः सूत्रकारिणामृषीणां सन्ति' इति पूर्वाचार्यमतनिर्देशोपक्रमे पाठविभेदेन क्वचन पुस्तके मारीचिकश्यपस्य क्वचन पुस्तके कश्यपस्यात्रेयेणोल्लेखात्, 'तत्र कश्यपः सर्वाङ्गनिर्वृत्तिः' इति पाठविशेषे कश्यपस्य सर्वाङ्गनिर्वृत्तिवादस्य चरमपक्षतयाऽऽत्रेयेण प्रदर्शनात्, अस्यां काश्यपसंहितायामपि—

सर्वेन्द्रियाणि गर्भस्य सर्वाङ्गावयवास्तथा ।
तृतीये मासि युगपन्निर्वर्तन्ते यथाक्रमम् ॥ (पृ० ७०)

इति स्वाचार्यस्य मारीचकश्यपस्य सिद्धान्तरूपेण सर्वाङ्गनिर्वृत्तिवादस्य संवादोपलम्भेन चात्रेयसंहितायां मारीचित्वेन कश्यपत्वेन चात्रेयेण निर्दिष्टस्य पूर्वाचार्यस्यैक्यानुसन्धानेनात्रेय पुनर्वसुनाऽपि ससंमानं निर्दिष्टः पूर्वाचार्यो वैद्यविद्याचार्यस्य राजर्षेर्वार्योविदस्य सहभावी मारीचः कश्यप एवास्याः संहिताया उपदेष्टेति तत्संवादेनापि दृढीभवति । एतत्संहितायां बोधायनादिलेखे च मारीचशब्देन व्यवहारोऽस्ति । मरीचिशब्दादपत्यार्थेऽणि स शब्दः सिद्ध्यति । आत्रेयसंहितायां 'धौम्यो मारीचिकाश्यपौ, मारीचिरुवाच, मारीचिः कश्यपः' इतीकारान्तपाठदर्शनेऽपि मरीचिशब्दस्य बाह्वादिगणेऽपि पाठेन वार्योविदसहभावेन च इञ्प्रत्यये मारीचिशब्दस्यापि मारीचशब्दपर्यायत्वमेवायाति । अत इञ् (४।१।९५) इति सूत्रेण मारीचशब्दान्मारीचिशब्दसाधनेऽपि एकान्तरमात्रमुपादाय मारीचेन मारीचिना च सह वार्योविदसाहचर्यं सम्भवति ॥

एवं च सति पूर्वोपदर्शितदिशा मारीचकश्यपनाम्ना व्यवहर्तुं शक्ययोरुभयोर्लाभेनास्यां संहितायां शिष्योपक्रमणीयाध्याये इन्द्रादवाप्तविद्यैः कश्यपात्र्यादिभिः पुत्रशिष्यसन्ततिद्वारैतद्विद्यायाः प्रचारस्योक्त्या बोधायनाद्युक्तो मरीचिपुत्रो मूलकश्यप एतदाचार्य इत्यपि सम्भवति; कृतत्रेतान्तरे बहुरोगोत्पत्त्या लोकबाधां शमयितुं कश्यपेनैषा संहिता निरमायि, यत्संक्षेपात्मकं वृद्धजीवकतन्त्रं कलियुगप्राप्तौ विलुप्तं पश्चाद्वात्स्येन लब्ध्वा संस्कृतमिति संहिताकल्पाध्यायलेखेन, आत्रेयलेखतः काङ्कायनादिसहभाविनो मारीचिकश्यपस्योपलम्भेन च कश्यपपरम्परागतो मात्स्योक्तो द्वितीयो मारीच एतदाचार्य इत्यपि संभवतीत्येतावताऽनयोरयमेवेति निर्धारयितुं दुष्करं भवति । मात्स्याद्युक्तो द्वितीयो मारीचकश्यप एव वा भवतु, स मूलकश्यपपरम्परायां कथित इति नवाधारयितुं शक्यते, तथाऽपि अवान्तरगोत्रेऽपि मन्त्रद्रष्टॄणामेव प्रवर्तकत्वाभ्युपगमेन तस्यापि प्राचीनत्वमेवायाति । संहिताकल्पाध्याये कलौ विलुप्तस्य वृद्धजीवकतन्त्रस्य वात्स्येन यक्षादवाप्य संस्कृतत्वस्योल्लेखेन ततोऽपि पूर्वतनस्य वृद्धजीवकतन्त्रस्यापि मूलभूतायाः काश्यपसंहितायास्ततोऽपि सुतरां प्राक्काल इति संहिताकारः कश्यप उपर्येवारोहति । पाणिनीयसम्प्रदाये विदादिगणप्रविष्टे कश्यपशब्दे बहुत्वे बोध्ये एव गोत्रप्रत्ययलुको विधानेन तन्नि-

१. उपास्यमानमृषिभिः कश्यपं वृद्धजीवकः । (पृ. ३३)
प्रजापतिं समासीनमृषिभिः पुण्यकर्मभिः ।
पप्रच्छ विनयाद्विद्वान् कश्यपं वृद्धजीवकः ॥ (चिकित्सास्था.)
हुताग्निहोत्रमासीनं कश्यपं लोकपूजितम् ।
वृद्धो विशेषमन्विच्छन् पप्रच्छ विनये स्थितः ॥ (कल्पस्थान. वि.क.अ.)
ततो हितार्थं लोकानां कश्यपेन महर्षिणा ।
तपसा निर्मितं तन्त्रमृषयः प्रतिपेदिरे ॥ (कल्पस्था. सं. क. अ.)
महर्षिं कश्यपं वृद्धं वेदवेदाङ्गपारगम् । (खिलस्थान. अ. २)
कश्यपं लोककर्तारं भार्गवः परिपृच्छति । (खिलस्थान. अ. ३)

२. मारीचमासीनमृषिं पुराणं हुताग्निहोत्रं ज्वलनार्कतुल्यम् । (कल्पस्था. भो. क. अ.)
मारीचमृषिमासीनं प्राह स्थविरजीवकः । (कल्पस्था. ष. क. अ.)

३. मुद्रितचरकपुस्तकेऽत्र विप्रतिपत्तिवादोल्लेखे 'परोक्षत्वादचिन्त्यमिति मारीचिः कश्यपः, युगपत्सर्वाङ्गनिर्वृत्तिरिति धन्वन्तरिः' इति पाठदर्शनेन सुश्रुतलेखाद्धन्वन्तरेरप्येतत्सिद्धान्तदर्शनेन च सर्वाङ्गनिर्वृत्तिवादो धन्वन्तरेः, अचिन्त्यत्ववादः कश्यपस्येत्यायाति । परमस्तु नाम धन्वन्तरेरपि स एव सिद्धान्तः, किन्तु एकस्मिंल्लिखिते चरकपुस्तके 'कश्यपः सर्वाङ्गनिर्वृत्तिः' इति नाम्नः पूर्वनिर्देशेन सह कश्यपस्य सर्वाङ्गनिर्वृत्तिवादं दर्शयन् पाठ उपलभ्यते । श्रीयुतगिरीन्द्रनाथमुखोपाध्यायैरपि History of Indian Medicine I. P. 179 पुस्तके काश्यपनिरूपणे स एव पाठो गृहीतश्च । वार्योविदसभाविनो मारीचकश्यपस्यैतत्संहिताचार्यतयाऽऽत्रेयसंहितायामपि तत्संवादी कश्यपः स एव निर्दिष्ट इत्यवधारणेन अत्र 'सर्वेन्द्रियाणि गर्भस्य' इत्यादिवाक्येन (पृ. ७०) सर्वाङ्गनिर्वृत्तिवादस्य सिद्धान्ततया दर्शितत्वेन अचिन्त्यत्ववादस्यात्रानुपलम्भेन विरुद्धसिद्धान्तान्तरस्याभावौचित्येन च कश्यपस्य सर्वाङ्गनिर्वृत्तिवादं दर्शयन्नेव पाठः सङ्गतो दृश्यते; पूर्वापरपदपाठविपर्यासो विचारणीयः ॥

यमाननुरोधिनो वंशब्राह्मणलेखस्यानुसन्धाने एकस्यापि व्यक्तिविशेषस्य कश्यपशब्देन प्राग्व्यवहारस्योपलम्भेनात्र काश्यपस्यापि कश्यपशब्देन निर्देशः पाणिनेः प्राक्तनं व्यवहारमभिव्यनक्ति ॥

अस्यां काश्यपसंहितायां धन्वन्तरेर्मतोपादानेन, तत्सम्प्रदायानुयायिनो दिवोदासस्य सुश्रुतस्य च नामानुल्लेखेन, महाभारते[1] गुरुदक्षिणाप्रदेयाश्वानां प्राप्त्यै काशीपतिं दिवोदासमुपेयुषे गालवाय हिमवन्मूले वायव्यदिशि मारीचिकाश्यपाश्रमस्य निर्देशनस्योपलम्भेन च धन्वन्तरिमनु तच्चतुर्थसन्ततेर्दिवोदासादनतिपूर्वं किं वा तत्समकाले हिमवन्मूले कृताश्रमोऽसौ मारीचकश्यप इत्यायाति, यत्रैतत्संहितोक्तं गङ्गाद्वारनिवासित्वमपि समन्वेति ॥

अवान्तरगोत्रप्रवर्तकस्य मारीचकश्यपस्यैतत्संहिताचार्यत्वस्वीकारेऽपि चरकोपक्रमग्रन्थे मारीचेः काश्यपाच्च पृथक्कश्यपस्य प्राचीनस्योपलम्भेनास्यां संहितायामपि इन्द्रान्तेवासिनः कश्यपात् सन्तत्यादिष्वायुर्वेदविद्यानुवृत्तेरुल्लेखेन च अत्रिभृग्वादिसहचरान्मूलकश्यपादेवेयं विद्या मारीचकश्यपेऽप्यनुवृत्तेति बोद्धुं शक्यते, येन तत्परम्परागतेन मारीचेनेयं संहिता निरमायि । अतश्च वमनविरेचनीयाध्याये (सि. स्था.) वृद्धकाश्यपमतं प्रदर्श्य 'अथ कश्यपोऽब्रवीत्' इति स्वमतप्रदर्शनं पश्चाद्भवस्य मारीचकश्यपस्यैव युज्यते, न खलु मूलकश्यपस्य । आचार्यान्तरमतनिर्देशोत्तरं सनामोल्लेखं स्वमतप्रतिपादनस्य प्राचीना शैली कौटिलीयार्थशास्त्रादिष्वात्रेयसंहितायामपि दृश्यते । 'इति ह स्माह कश्यपः' इति वाक्यसम्पुटितस्याध्यायस्याभ्यन्तरेऽपि आचार्यान्तरमतनिर्देशं विनाऽपि क्वचन 'इति कश्यपः इत्याह कश्यपः (खि. स्था. १०अ. ९८-९९श्लो.)' इति वाक्यं यदत्रोपलभ्यते, तन्नवोद्भावितं तमर्थं सूचयितुं ग्रन्थकृत एव स्वनामोल्लेखनमित्यपि सम्भवति, मारीचकश्यपस्य संहितायां 'कश्यपाय स्वाहा' इति (पृ. ४७) स्वाहाकारदेवतात्वेन कश्यपोल्लेखे प्राचीनकश्यपपरत्वस्यावश्यवक्तव्यतया मूलकश्यपपरम्परात एवैतत्सन्ततौ विद्यानुवृत्त्या तद्विषये पूर्वाचार्यकश्यपोपदेशमवबोधयितुं तत्स्मरणमित्यपि सम्भवति ॥

आदिमः परम्परागतो वा भवतु कश्यपः, नैतावन्मात्रेण स प्राचीनतयाऽवगम्यते, वैदिकसाहित्यालोचनेऽपि मन्त्रद्रष्टृतयोल्लिखितो दृश्यते । कात्यायनीये ऋक्सर्वानुक्रमसूत्रे कश्यपेन काश्यपैश्च दृष्टेषु बहुषु सूक्तेषु दर्शितेषु जातवेदस्यादिसूक्तसहस्रं कश्यपार्षं निर्दिष्टं, तद्व्याख्यायां षड्गुरुशिष्यैः[4] 'अयं मरीचिपुत्रः कश्यपः' इति तं परिचाययति । बृहद्देवतायामपि[1] एतत्सूक्तसहस्रस्य कश्यपदृष्टत्वं कीर्त्यते । सायनाचार्योऽपि जातवेदसमन्त्रे मारीचिकश्यपमृषिं निर्दिशति । बभ्रुसूक्ते तु सूत्रकृदपि मारीचकश्यपार्षत्वं कण्ठत उल्लिखति[2]। आथर्वणसर्वानुक्रमसूत्रेऽपि पृतनाजितमिति[3] जातवेदस्यसूक्तद्रष्टा मारीचिः काश्यपः ? (मारीचः कश्यपः उल्लिख्यते ॥

अत्रेदं मे प्रतिभाति—ऋग्वेदे नवममण्डलेऽन्यत्र च काश्यपावत्सारेण काश्यपनिध्रुविना मारीचकश्यपेन च दृष्टान्यनेकसूक्तानि सन्ति । यानि सायनेनापि तथैव विवृतानि । तेषु दिव्यौषधिः सोमोऽनेकधा स्तूयते । जातवेदस्यमन्त्रेऽग्नेः स्तवनेऽपि सौमिको विषयस्तत्राप्यनुस्यूतोऽस्ति । जातवेदस्यादिकं च सूक्तसहस्रं कश्यपार्षमिति सर्वानुक्रमसूत्रकृदादयो निर्दिशन्ति । उपलभ्यमान ऋग्वेदे सहस्रमितानां मारीचकश्यपार्षसूक्तानां न खलु संगमनं सम्भवति । जातवेदस्य-स्थले त्वेकमेवेदमेकर्चं सूक्तं दृश्यते । जातवेदस्यस्य सयोवृषेति सूक्तस्य चान्तरा एकोनसहस्रसूक्तानां सत्त्वस्य सर्वानुक्रमसूत्रे[4] बृहद्देवतायां[5] षड्गुरुशिष्योद्धृतशौनकशाकपूण्यादिनिर्देशे ज स्पष्टं प्रतीत्या तेषां विलोपः स्फुटीभवति । खिलरूपेण वर्तमानानामेषां सूक्तानामाम्नायाच्च्युतिरिति षड्गुरुशिष्येण[6] स्पष्टमुक्तम् । विलुप्तमन्त्रानुसन्धाने सर्वानुक्रमटीकाकृत् षड्गुरुशिष्यस्त्वत्रैकर्चं द्वृचतृचप्रभृतीनि सहस्रर्चपर्यन्तानि सूक्तानीति[7] प्रथमतो निर्दिश्य,

१. महाभारते उद्योगपर्वणि ११० अध्याये ।

२. हुताग्निहोत्रमासीनं गङ्गाद्वारे प्रजापतिम् । (ल. क. अ.)

३. जातवेदस एका जातवेदस्यमेतदादीन्येकभूयांसि सूक्तसहस्रमेतत्कश्यपार्षम् । (ऋक्सर्वानुक्रमे मं. १ सू. ९९)

४. एतत्सूक्तसहस्रं कश्यपार्षमिति । आर्षं दर्शनं यत्तत्कश्यपार्षम् । अयं स कश्यपो मरीचिपुत्र इति वक्ष्यते मारीचः कश्यप इति । (वेदार्थदीपिकायाम्. पृ. ९१)

१. जातवेदस्यं सूक्तसहस्रमेक ऐन्द्रात्पूर्वं कश्यपार्षं वदन्ति । जातवेदसे सूक्तमाद्यं तु तेषामेकभूयस्त्वं मन्यते शाकपूणिः ॥ (बृहद्देवतायाम् पृ. ९२)

२. बभ्रुर्दश मारीचः कश्यपो वा द्वैपदम् । (ऋक्सर्वानुक्रमे मं. ८ सू. २९)

३. पृतनाजितमिति मरीचिः काश्यप उभे जगत्यौ जातवेदसम् (७।६३) इत्यथर्वसर्वानुक्रमसूत्रे 'मरीचिः काश्यपः' इति पाठदर्शनेऽपि वंशानुक्रमे कश्यपस्य मारीचत्वेनोपलम्भात् काश्यपस्य मरीचेरनुपलम्भात्, ऋक्सर्वानुक्रमे जातवेदस्ये मारीचकश्यपार्षेयत्वेनास्मिन्नपि जातवेदस्ये तथात्वौचित्याच्च लेखादिकृतो वर्णविपर्यासः किमु ?

४. जातवेदस एका जातवेदस्यमेतदादीन्येकभूयांसि सूक्तसहस्रमेतत्कश्यपार्षम् । (सर्वानुक्रमसूत्रे) ।

५. जातवेदस्यं सूक्तसहस्रमेके⋯⋯जातवेदसे सूक्तमाद्यं तु तेषामेकभूयस्त्वं मन्यते शाकपूणिः । (बृहद्देवतायाम्)

६. खिलसूक्तानि चैतानि त्वाद्यैवार्चमधीमहे ।
शौनकेन स्वयं प्रोक्तमृष्यनुक्रमणे त्विदम् ॥
पूर्वात्पूर्वासहस्रस्य सूक्तानामेकभूयसाम् ।
जातवेदस इत्याद्यं कश्यपार्षस्य शुश्रुम ॥
आम्नायोक्तेरेव च्युतत्वेऽपि खिलस्य कश्यपर्षेरनेकसूक्तदर्शनेन माहात्म्यज्ञानार्थोऽयमुपदेशः प्रासङ्गिकः । (वेदार्थदीपिकायाम् पृ. ९१)

७. जातवेदस इत्येकर्चमादिर्येषां तान्येतदादीनि सूक्तानि एकभूयांस्येकर्चैर्बहुतराणि

तत्परिगणने एकर्चसूक्तस्यैवात्रोपलम्भेन एकोनशतपञ्चकाधिक-[1] पञ्चलक्षाणि ऋचोऽत्र विलुप्ता इति गणितमर्यादया दर्शयति। परमृग्वेदे एकैकमन्त्रवृद्ध्यादिप्रक्रियया सूक्तेषु मन्त्रविन्यास-रीतेः क्वाप्यदर्शनेन, सूत्रे बृहद्देवतायां चास्मिन् सूक्तसहस्रे एकर्चबाहुल्यस्योक्ततया च तावत्संख्यत्वं नोपपद्यते। स संख्या-निर्देशः सङ्गतोऽस्तु न वा, तथाऽप्यस्मिन् सूक्तसहस्रे एकर्च-बाहुल्योक्त्या एकर्चानां बहुसंख्यत्वेऽपि सूक्तान्तराणां बह्वृचा-नामपि तत्रानुप्रवेशसम्भवेन सहस्रशो मन्त्रा आसन्निति तु सिध्यत्येव। कश्यपार्षेषूपलभ्यमानेषु काश्यपार्षेषु चान्येषु सूक्तेषु दिव्यपरमौषधेः सोमस्याभिष्टुतिदर्शनेन विलुप्तेष्वन्येषु सहस्रशो मन्त्रेष्वप्येवमेव प्राय ओषध्यादीनां वर्णनं सम्भवति। कश्यपस्यायुर्वेदविद्याचार्यत्वस्य, तत्परम्परायां तदनुवृत्तेश्च काश्यपसंहितायामुल्लेखेन कश्यपसंहितायाः महाकृतेर्वृद्धजीव-केन पश्चात् संक्षेपणस्याप्युल्लेखेन च इदमेव विलुप्तं सूक्तसहस्रं काश्यपसंहितात्मकमासीत् किल ? । आयुर्वेदीयविषयान्तरं प्रतिपादयन् स भागः कश्यपेन ऋग्वेदेऽनुप्रवेशितः खिलरूप-तया समयेन ततो विच्युतः पश्चाद्विलोपमुपगतोऽपि संभवति। पश्चान्निर्देक्ष्यमाणे काश्यपसंहितानाम्नोपलभ्यमाने संहितान्तरे—

> ऋग्वेदस्योपवेदाङ्गं काश्यपं रचितं पुरा।
> लक्षग्रन्थं महातेजः अमेयं मम दीयताम् ? ॥

इति ऋग्वेदोपवेदरूपेण लक्षग्रन्थात्मकं काश्यपं दर्शन-मुच्यमानमपि इदमेव विलुप्तं काश्यपसंहितारूपसूक्तसहस्रं लक्ष्यीकरोति किमु ? खिलरूपेणावस्थितानां स्वदृष्टसहस्र-सूक्तानामीदृशानां परदृष्टानां सूक्तानां च संहितामुपादाय कश्यपाचार्येणायुर्वेदस्य पञ्चमवेदस्थानीयत्वं शिष्योपक्रमणीया-ध्याये (पृ० ६२) उपवर्णितं किमु ? इत्यपि तर्कः समुदेति। तामेव खिलरूपेणावस्थितामायुर्वेदीयविषयावबोधिनीं कश्य-पस्य महासंहितामुपादाय तदीयविषयानन्तर्निधाय वृद्धजीव-केन संक्षिप्य तन्त्रात्मना विहितं न किमु ? यथा तथा वा भवतु, उपलभ्यमानेयं काश्यपसंहिता वेदानुस्यूतमूलमहातरो-रेव संक्षिप्तः स्वरूपविशेषः पर्यवस्यति ॥

तदेवमेतत्संहितायाः संहिताकल्पाध्यायलेखेनास्मिन् ग्रन्थेऽ-न्तराऽन्तरा प्रविष्टैः पदविशेषैरप्येतत्संहिताचार्यः कश्यपो नामाऽऽहिताग्निर्वेदवेदाङ्गपारदृश्वा प्रजापतिस्थानीयो गङ्गाद्वार-निवासी महर्षिर्मारीचः कश्यप इति स्पष्टीभवति। ततश्च चरक-संहितामूलाचार्यस्यात्रेयस्य पुनर्वसुशब्देनेवैतत्संहिताचार्यस्य कश्यपस्य मारीचशब्देन विशेषतः परिच्छेदः ॥

कौमारभृत्यप्रस्थानीयाया अस्याः संहिताया लेखादपि मारीचः कश्यपो वृद्धकाश्यपश्चेति द्वावाचार्यौ गम्येते। येन मारीचकश्यपोपदेशरूपायामस्यां संहितायां वमनविरेच-नीयप्रकरणे परमतश्रेण्यां वृद्धकाश्यपमतं पूर्वं निर्दिश्य पश्चात् 'अथ कश्यपोऽब्रवीत्' इति स्वसिद्धान्तरूपेण कश्यप-मतप्रदर्शनस्य स्पष्टतया मारीचशब्देन व्यवह्रियमाणः कश्यप-एवास्याः संहिताया उपदेष्टा, वृद्धकाश्यपस्त्वाचार्यान्तर एवेति स्पष्टमवगम्यते। प्रत्यध्यायम् 'इतिह स्माह कश्यपः' इति निर्देशो महर्षिं कश्यपमित्यादिरूपेण बहुशोऽत्र निर्देशोऽपीद-मेवोपोद्बलयति। अस्यापि कश्यपस्य महर्षिं कश्यपं वृद्धमिति क्वचन (खिलस्थान. २अ.) वृद्धत्वोल्लेखस्तु ज्ञानवृद्धत्वं वयोवृद्धत्वं वाऽभिप्रैति। खिलभागपुष्पिकायामेकस्यां (खिल. १२अ.) वृद्ध-काश्यपीयायां संहितायामिति लेखस्तु आपातपतितः संभाव्यते, किं वा चरकसंहितायां पश्चाद्भागे कृष्णात्रेयादिमतोल्लेखवद-त्रापि वृद्धजीवकीयभावमापन्ने खिलभागे आचार्यान्तरस्य वृद्ध-काश्यपस्य मतमादाय निर्देशनेन वृद्धकाश्यपीयायामिति लेख-ममपि सम्भवति ॥

महाभारते तक्षकदंशोपाख्याने शप्तं[1] राजानं परीक्षितं दष्टुं गच्छतस्तक्षकस्य राज्ञो दंशप्रतिकारायागच्छतो महर्षेः काश्य-पस्य च पथि समागमेन संवाद उपलभ्यते। सोऽयं काश्यप-शब्दितो मारीचशब्देनाऽविशेषितो महर्षिर्विषहरविद्याविच-क्षणः कश्यपपरम्परागतो भिन्न इवावगम्यते ॥

डल्लनेन सुश्रुतव्याख्यायां काश्यपनाम्ना, माधवनिदान-व्याख्यायां मधुकोशे वृद्धकाश्यपनाम्ना श्लोकावुद्धृतौ दृश्येते। तयोः श्लोकयोरगदतन्त्रीयविषयावबोधेन तावेतौ काश्यपवृद्ध-काश्यपौ अगदतन्त्राचार्यौ भिन्नौ प्रतिभातः ॥

द्व्यृचं तृचं चतुरृचं पञ्चर्चमित्यादि सहस्रर्चान्तान्यत्र सन्ति......एतावत्सूक्तसहस्रं कश्यपार्षम्। (वेदार्थदीपिकायाम् पृ. ९२)

१. सयोवृषीयान्ता वेदमध्यास्त्वखिलमध्यगाः।
ऋचस्तु पञ्चलक्षाः स्युः सैकोनशतपञ्चकम् ॥ (वेदार्थदीपिकायाम् पृ. ९२)

२. हुताग्निहोत्रमासीनं गङ्गाद्वारे प्रजापतिम्।
पप्रच्छ स्थविरः काले प्रजानां हितकाम्यया ॥ (ल. कल्पः)
प्रजापतिं समासीनमृषिभिः पुण्यकर्मभिः।
पप्रच्छ विनयाद्विद्वान् कश्यपं वृद्धजीवकः ॥ (ज्व. चि. अ.)
मारीचमासीनमृषिं पुराणं हुताग्निहोत्रं ज्वलनार्कतुल्यम्।
तपोदमाचारनिधिं महान्तं पप्रच्छ शिष्यः स्थविरोऽनुकूलम् ॥ (भोजनकल्पः)
पितामहनियोगाच्च दृष्ट्वा च ज्ञानचक्षुषा।
तपसा निर्मितं तन्त्रमृषयः प्रतिपेदिरे ॥ (संहिताकल्पः)
महर्षिं कश्यपं वृद्धं वेदवेदाङ्गपराम् ॥ (खिलस्थान)

१. राज्ञः समीपं ब्रह्मर्षिः काश्यपो गन्तुमैच्छत।
गच्छाम्यहं तं त्वरितः सद्यः कर्तुमपज्वरम् ॥ (महाभारते आस्तीकपर्वणि. अ. ४६)

२. ननु काश्यपेन मुनिना शिरादिष्वग्निकर्म प्रतिषिद्धं, तथा च तद्वचनं—
न शिरास्नायुसन्ध्यस्थिमर्मस्वपि कथञ्चन।
दंशस्योत्कर्तनं कार्यं दाहो वा भिषजाऽग्निना ॥ (निबन्धसङ्ग्रहे सू. अ. १)

३. वृद्धकाश्यपः—
संयोगजं च द्विविधं तृतीयं मिश्रमुच्यते।
गरः स्यादविषं तत्र सविषं कृत्रिमं स्मृतम् ॥ (मधुकोशे)

'तृषिमृषिकृषेः काश्यपस्य' (१।२।२५), 'नोदात्तस्वरितोदयमगार्ग्यकाश्यपगालवानाम्' (८।४।६७) इति सूत्रकृता पाणिनिना प्राचीनवैयाकरणेषु स्मृतः काश्यपोऽपि प्रस्थानान्तरविद्वानन्य एवावगम्यते। शिल्पाचार्यत्वेन कश्यपस्य निर्देशस्तैत्तिरीयसंहितायां दृश्यते[1] ॥

काश्यपसंहितानामैकाऽन्या संहिता उमामहेश्वरप्रश्नप्रतिवचनरूपेण निबद्धा चिकित्साविषयिणी लघ्वी तञ्जोरपुस्तकालये (No 10780) विद्यते[2]। यदीयपूर्वार्धभागस्य श्रीयुतवैद्यवरयादवजीमहाभागान्मयाऽप्युलब्धः प्रतिलेखः। अत्र पूर्वार्धे नानावातरोगा ज्वरा ग्रहण्यतीसारार्शांसि, एषां निदानानि, पापानि, तच्छमनौषधोपायाः, निदानपापापहानि रुद्रशिवविष्ण्वाराधनादिविधानानि च संक्षेपेण दर्शितानि। तत्र पूर्वार्धस्याऽन्तभागे 'बालरोगस्य' इत्युपक्रम्य—

"सर्वाङ्गं मूर्ध्नि कचे द्वे श्रोणी द्वे पादबाहुकम् ।
पिटकं दर्दुरं कण्डू तिमिरं कृमिसंकुलम् ॥
पूयं रक्तं स्रवति च वेदनं शुष्कमङ्गजम् ।
विदाहं शोषमत्यन्तबालकं पिच्छिपिच्छिलाम् ॥
एते गुणविकाराश्च पैत्तरूपं समुद्भवम् ।
तत्पैत्तनाडीनाशार्थं राम्नादिलेह्यकं तथा ॥
मासं मासत्रयं नित्यं बालपैत्तविनाशकम् ।
अश्वगन्धिघृतं सेवेद्विडङ्गादिघृतं तथा ॥
वाकुचीघृतविख्यातं बालकं पिच्छिलं हरेत् ॥

इति पार्वतीपरमेश्वरसंवादे काश्यपसंहितायां पूर्वार्धं समाप्तम्" इत्यवसानमस्ति ॥

इत्थंरूपाया अस्याः संहिताया लेखो न प्रौढो, नापि सुसंस्कृतः, नाप्यतिप्राचीनश्रेणीमधिरोढुमर्हति। बालभैषज्यं च नात्र प्राधान्येन वर्णितम्, अन्ते केवलमुपरिनिर्दिष्टश्लोका एतद्विषयका दृश्यन्ते। वृद्धजीवकीयतन्त्रगतलेखेन सह नांशतोऽपि विषयविशेषे रचनायां भैषज्येऽपि संवादः साम्यं छायानुविधानमपि। तान्त्रिकप्रक्रियानुसारिणी विभिन्नैवेयमेतन्नाम्ना निर्दिष्टा संहिता। एतदीय उपदेष्टा काश्यपशब्दितोऽपि विभिन्न एवावगम्यते ॥

काश्यपसंहितानाम्ना मद्रासप्रदेशे मुद्रितोऽगदतन्त्रविषयकविभिन्नोऽन्यो ग्रन्थोऽप्येक उपलभ्यते[1]। तत्र गारुडीविद्या, विषहरा भैषज्यप्रयोगाः, मान्त्रिकप्रयोगाः, विषवत्यो जातयस्तत्प्रभेदाः, दंशादिविशेषाश्च वर्णिताः। एतदीयो लेखो डल्हनमधुकोशोद्धृतयोरगदतन्त्रविषयकयोः श्लोकयोर्लेशतोऽपि समकक्षां प्रौढतां नार्हति। न चात्र तौ श्लोकौ[2]। तेनागदतन्त्रीयस्यान्यस्यैवार्वाचीनकाश्यपस्य प्राचीनागदाचार्यकाश्यपसांप्रदायिकोपदेशानुसारिणोऽन्यस्यैव वा कस्यचिल्लेख इत्यनुमीयते। एतदीयच्छायागन्धोऽपि नास्यां कौमारभृत्यप्रस्थानीयायां संहितायाम् ॥

तदेवं कश्यपकाश्यपशब्दयोर्विभिन्नतया दर्शनेन एषामुपरिनिर्दिष्टानां काश्यपानां प्राचीनत्वेन दृश्यमानानामपि विषयविसंवादेन, काश्यपसंहितानाम्ना लभ्यमानयोरुपरिनिर्दिष्टयोर्ग्रन्थयोरर्वाचीनग्रन्थान्तरत्वेन, एषां काश्यपानां मारीचत्वेनाऽविशेषणेन च कौमारभृत्याचार्यो मारीचकश्यपो नाम विभिन्नः प्राचीन आचार्यः, तन्मूला चेयं नवोपलब्धा प्राचीना संहिता विभिन्नैवेति निर्धार्यते। कश्यपोपदिष्टत्वेऽपि तदीयत्वावबोधिना प्रत्ययेन सह प्रयुज्यमानया समानाधिकरणसमासे पुंवद्भावे च काश्यपी संहिता इत्यर्थमादाय काश्यपसंहितेत्यस्या नाम समुचितमेव ॥

अष्टाङ्गहृदये बालामयप्रतिषेधाध्याये वृद्धकश्यपनाम्ना कश्यपनाम्ना द्वावौषधयोगावुल्लिखितौ दृश्येते[3]। वृद्धकश्यपस्य कश्यपस्य च विभिन्नतया निर्देशेनास्यां "कश्यपस्य संहितायां वृद्धकश्यपोक्तविषयासंवादेऽपि कश्यपनाम्ना निर्दिष्टो बालानां

---

१. यत्ते शिल्पं कश्यप रोचनावदिन्द्रियावत्पुष्कलं चित्रभानु ।
यस्मिन्त्सूर्या अर्पिता सप्त साकं तस्मिन् राजानमधिविश्रयेनम् ॥
(तैत्तिरीयसंहितायाम्)

२. अस्या आरम्भग्रन्थ एवम्—
कैलासशिखरे रम्ये पार्वतीपरमेश्वरौ ।
अन्योन्यसुखलीलायामेकान्तसुखगोष्ठिषु ॥
पार्वती पतिमालोक्य कृताञ्जलिरभाषत ।
किं पापं किंविधं (ो) रोगं (ः) किंविधं नरकं पथ (वद) ।
शङ्कर उवाच—
नानापापवर्णनान्ते—
ऋग्वेदस्योपवेदाङ्गं काश्यपं रचितं पुरा ।
लक्षग्रन्थं महातेजः अमेयं मम दीयताम् ॥ इत्यादि ।

१. अस्या आरम्भः—
काश्यपं तं महात्मानमादित्यसमतेजसम् ।
अभिवाद्याभिसङ्गम्य गौतमः पर्यपृच्छत ॥
गौतमः—
त्वं हि वेदविदां श्रेष्ठो ज्ञानानां परमो निधिः ।
प्रजापतेरात्मभवो भूतभव्यविदुत्तमः ॥
समाप्तिः—
अभिषेकात् परं मन्त्री यन्त्रधारणमाचरेत् ।
पूर्ववद्दक्षिणां दद्यात् पूर्ववत्फलमाप्नुयात् ॥
एवं प्रकारं यः कुर्यात्तस्य सिद्धिर्भवेद्ध्रुवम् ॥
इति काश्यपीये गरुडपञ्चाक्षरीकल्पे अभिषेकयन्त्रधारणविधिर्नाम त्रयोदशोऽध्याय इति ॥

२. समङ्गाधातकीलोध्रकुटन्नटबलाह्वयैः ।
महासहाक्षुद्रसहाक्षुद्रबिल्वशलाटुभिः ॥
सकार्पासफलैस्तोये साधितैः साधितं घृतम् ।
क्षीरमस्तुयुतं हन्ति शीघ्रं दन्तोद्भवोद्भवान् ॥
विविधानामयानेतद्वृद्धकश्यपनिर्मितम् ॥
(अष्टाङ्गहृदये पृ. ४५८)

३. वचाहिङ्गुविडङ्गानि सैन्धवं गजपिप्पली ।
पाठा प्रतिविषा व्योषं दशाङ्गः कश्यपोदितः ॥
(अष्टाङ्गहृदये पृ. ४६२)

ग्रहहरो दशाङ्गधूपो धूपप्रकरणे (कल्पस्थाने) किञ्चिद्वस्तुविशेषे पाठविभेदेनोपलभ्यते । बालानां यक्षरक्षःप्रभृतिबाधाहरतया अभयघृतनाम्ना कश्यपेन (पृ. ६) निर्दिष्टं घृतं वाग्भटेनापि[1] (पृ. ४५५) निर्दिष्टं दृश्यते । यावद्वस्तूनां रक्षोघ्नत्वादेश्च संवादेन तदेवेति निश्चीयते ॥

खोटाङ्प्रदेशभूगर्भान्निष्कासितो बावरमनुस्क्रिप्टाख्यया-प्रसिद्धो नावनीतकं नाम प्राचीनो वैद्यकग्रन्थः[2] । यस्य भूर्जपत्रीयप्राचीनलिपिमात्रानुसन्धानेनापि तृतीयचतुर्थशताब्दीलिखितमिदं पुस्तकमिति निर्धार्यते विवेचकैः । ग्रन्थरचना तु सुतरां ततोऽपि प्राचीना । अत्रात्रेयक्षारपाणिजातूकर्णपराशरभेडहारीतसुश्रुतकाश्यपजीवकानां नामान्यप्युपात्तानि दृश्यन्ते । प्राचीनानामेवामाचार्याणां संहितोक्तयोगौषधानामत्र सङ्गृहीततया अष्टाङ्गहृदयोक्तयोगस्यैकस्याप्यनुल्लेखेन कश्यपकाश्यपात्रेयसुश्रुतभेडादिभ्य उत्तरं वाग्भटात् पूर्वं तन्निबन्धनमनुमातुं शक्यते । एतदीये चतुर्दशाध्याये कौमारभृत्यरूपे काश्यपनाम्ना जीवकनाम्ना च तदीयोपदेशतो भावानुवादेन कानिचिद्योगौषधानि निर्दिष्टान्युपलभ्यन्ते । कौमारभृत्यप्रकरणेऽस्मिञ्जीवकेन सह निर्दिष्टः काश्यपः सोऽयमेवैतत्संहिताचार्यो भवितुमर्हति । स्वार्थेऽणि तद्गोत्रीयबोधने वा कश्यपस्य काश्यप शब्देनापि व्यवहर्तुं शक्यतया कश्यपपदस्थाने काश्यपपदमापातपतितं स्यात् । तत्रैवं दृश्यते—

> आसवेन सुजातेन बालानां दापयेद्भिषक् ।
> सुखं भवति तेनास्य काश्यपस्य वचो यथा ॥ श्लोकः १०
> तेन कोष्ठगतो वायुः क्षिप्रमेव प्रमुच्यते ।
> शिरोरोगेषु शमनं वमनं चैव शाम्यति ॥ ११
> क्रिमिर्गुदगतो यस्य गुटिकायाः प्रलेपयेत् ।
> तेनास्य सौख्यं भवति काश्यपस्य वचो यथा ॥ १२
> शर्कराक्षौद्रसंयुक्तां पाययीत चिकित्सकः ।
> सुखीभवति तां पीत्वा काश्यपस्य वचो यथा ॥ १३

इति किञ्चन गुटिकौषधमुपादाय कश्यपोक्त्यनुवादरूपेण योगविशेषः प्रतिपाद्यते । नावनीतके तत्पूर्वश्लोकानां विलुप्ततया किंरूपमिदं गुटिकौषधमिति न ज्ञायते । काश्यपसंहितायां तत्र तत्र (खिलस्था. १७,१८ अ.) गुटिकौषधानां रचना उपयोगश्च दृश्यते । तेष्वेवान्यतममुपादाय स्वानुभवसिद्धेनानुपानविशेषेण साकमत्र निर्दिष्टं विभाव्यते ॥

प्राचीने रावणीये बालतन्त्रे काश्यपस्य वृद्धकाश्यपस्य च नामोल्लेखोऽस्ति । कौमारतन्त्रेऽस्मिन्नाचार्यभावेन वृद्धकाश्यपेन सह निर्दिष्टः काश्यपोऽप्ययमेव कौमारभृत्याचार्यः कश्यप इति ज्ञायते ॥

ज्वरसमुच्चयो नाम ज्वरविषये प्राचीनार्षमूलवचनानामेकत्रसंग्रहरूपः प्राचीनो ग्रन्थः । यदीयं ताडपुस्तकं लिप्यनुमानेन सप्ताष्टशतवर्षपूर्वतनमेकं, द्वितीयं च ४४ नेपाली (A. D. 924) संवत्सरे लिखितं मत्सकाशेऽस्ति । पुस्तकलेखसमयेनाप्येवं प्राचीने रचनासमयेन तु ततोऽपि प्राचीनेऽस्मिन् ग्रन्थे बहुशः श्लोकाः कश्यपनाम्नोद्धृताः सन्ति, अपि तेषां श्लोकानामस्यां संहितायां पूर्णतया संवादोऽस्ति । स संवादः पश्चान्निर्देक्ष्यते । तेन तदुपात्तः काश्यपोऽप्येतत्संहिताचार्यः कश्यप एव, तदुद्धृताः श्लोका अप्येतत्संहितागता एवेति सविशेषं निश्चीयते ॥

सुश्रुतव्याख्यायां निबन्धसंग्रहे[1] अष्टाङ्गहृदयटीकायां[2] चरकचक्रपाणिटीकायां कश्यपनाम्नोद्धृता द्वित्राः श्लोका अन्येऽप्युपलभ्यन्ते । परमस्याः संहिताया बहुशो भागेषु त्रुटिततया ऽत्रानुपलभ्यमानास्ते श्लोकास्त्रुटितभागपतिताः स्युः ॥

पीयूषधारायां गर्भाधानप्रकरणे[3]–'उक्तं च कश्यपसंहितायां, वर्षद्वादशकादूर्ध्वमित्युपक्रम्य—

> अन्तःपुष्पं भवत्येव पनसोदुम्बरादिवत् ।
> अतस्तु तत्र कुर्वीत तत्सङ्गं बुद्धिमान्नरः ॥

इति श्लोकोद्धारो दृश्यते । अस्य श्लोकस्य ज्योतिर्विषयके ग्रन्थे उद्धारदर्शनेन ज्यौतिषविषयिण्या अन्यस्याः कश्यपसंहिताया अपि भवितुं संभवोऽस्ति । काश्यपसंहितायां जातिसूत्रीयाध्याये (पृ. ७९) उपक्रान्तस्य गर्भाधानादिसम्बद्धस्य विषयस्यांशतोऽवशिष्टस्यांशतस्त्रुटिततया अस्मिञ्छ्लोके आर्षरचनया गर्भाधानविषयप्रतिपादनेन चैतत्काश्यपसंहितायामयं श्लोकस्तत्र त्रुटितभागे पतितोऽपि सम्भवति । तथात्वे तत्र पीयूषधारोद्दिष्टा कश्यपसंहिता इयमेव भवितुमर्हति ॥

पूर्वोद्दिष्टसंहिताकल्पाध्यायोक्त्या (कल्पस्थाने) कश्यपोपदिष्टा महातन्त्ररूपा संहिता कनखलस्थेन ऋचीकपुत्रेण वृद्धजीवकनाम्ना प्रसिद्धेन महर्षिणाऽधिगत्य संक्षिप्य तन्त्ररूपेण प्रकाशिता इत्यवगम्यते ॥

जीवकस्य विमर्शः

महाभारतादौ जामदग्न्योपाख्याने ऋचीकनाम्नो महर्षेरुल्लेख उपलभ्यते । असीरियन्प्रदेशीयपूर्ववृत्तेऽपि गालवादिनामवत् ऋचीकस्यापि नामोपलभ्यते । साधकान्तरोपलम्भमन्तरा अस्य वृद्धजीवकस्य पिता कतमोऽयमृचीक इति न

---

१. ब्राह्मीसिद्धार्थकवचासारिवाकुष्ठसैन्धवैः ।
सकणैः साधितं पीतं वाङ्मेधास्मृतिकृद् घृतम् ॥
आयुष्यं पाप्मरक्षोघ्नं भूतोन्मादनिबर्हणम् ॥
(अष्टाङ्गहृदये उत्तरस्थाने अ० १)

२. एष ग्रन्थो युरोपप्रदेशे लाहोरप्रदेशेऽपि मुद्रितोऽस्ति ।

---

१. काश्यपोक्तं श्लोकमाह गयदासः—
अरजस्कां यदा नारीं श्लेष्मरेता व्रजेद्यतौ ।
अन्यसक्ता भवेत्प्रीतिर्जायते कुम्भिलस्तदा ॥
(सुश्रुतटीकायां निबन्धसंग्रहे)

२. कश्यपः—
भूयो वर्षति पर्जन्यो गङ्गाया दक्षिणे जलम् ।
तेन प्रावृषवर्षाख्यौ ऋतू तेषां प्रकल्पितौ ॥
गङ्गाया उत्तरे कूले हिमवद्गिरिसंकुले ।
भूयः शीतमतस्तेषां हेमन्तशिशिरावृतू ॥
(हेमाद्रेरष्टाङ्गटीकायां चक्रपाणेश्चरकटीकायाञ्च)

३. मुहूर्तचिन्तामणेः संस्कारप्रकरणे प्रथमश्लोकव्याख्यायाम्।

निश्चेतुं शक्यते। पुराणेतिहासादिप्राचीनग्रन्थेष्वात्रेयसुश्रुतादिप्राचीनवैद्यकग्रन्थेष्वपि वृद्धजीवकनाम जीवकनाम वा न दृष्टिपथमुपैति। परं नावनीतके कौमारभृत्यप्रकरणे काश्यपीयस्येव जीवकीयस्याप्यौषधस्य छर्दिरोगे उरोघाते च सनामग्राहमुल्लेखो[1] बालभैषज्यविषयानुषङ्गेण काश्यपसाहचर्येण चामुमेव वृद्धजीवकमवबोधयन् प्रतीयते। अस्मिन् वृद्धजीवकीये छर्दिरोगप्रकरणस्य खण्डिततया तदीयौषधं न संवादाय। उरोघातप्रकरणे औषधनिर्देशिनां श्लोकानां मध्ये त्रुटिततयाऽवशिष्टभागे पिप्पल्या सहोपयोज्यस्यान्तर्निलीनस्य कस्यचिदौषधस्य प्रयोगो गम्यमानः संवादमनुमापयति। सुश्रुतस्योत्तरतन्त्रे "ये च विस्तरतो दृष्टाः कुमाराबाधहेतवः" इति सामान्यतो निर्दिष्टे कौमारभृत्ये "पार्वतकजीवकबन्धकप्रभृतिभिः" इति विशदीकुर्वता डल्लनाचार्येण निर्दिष्टोऽपि जीवकः कौमारभृत्याचार्यश्रेण्यामुल्लिखिततयाऽयमेव वृद्धजीवको भवितुमर्हति। चक्रदत्तेनापि जीवकनाम्ना सौरेश्वरघृतमुद्धृतमस्ति। अन्यत्रापि टीकाग्रन्थे कुमारसुखावहस्य कासश्वासादिहरौषधविशेषस्य जीवकनाम्ना उद्धारो दृश्यते॥

कोऽयं वृद्धजीवक इत्यनुसन्धाने बुद्धसमये वर्तमानस्य 'कुमारभच्च' शब्देन विशेषितस्य जीवकनाम्नः कस्यचित्प्रसिद्धवैद्यस्य महावग्गनामके पालीग्रन्थे बौद्धजातके तिब्बतीयोपकथायां च इतिवृत्तमुपलभ्यते। तत्र **कुमारभच्च**विशेषणस्य **जीवक**नाम्नः **प्रसिद्धवैद्य**त्वस्य च दर्शनेन विमर्शार्थं तेषु बौद्धग्रन्थेषु निर्दिष्टं तदीयेतिवृत्तं किञ्चिदिहोपन्यस्यते—

महावग्गनामके पालीग्रन्थे अष्टमाध्याये एवमुल्लिखितमस्ति—राजगृहे शालावतीनाम्न्या कयाऽपि गणिकया प्रसूतमात्रं सूर्पे निधाय दासीद्वारा बहिरुत्सृष्टं बालकं राजकुमारोऽभयो नाम दृष्ट्वा प्रासादमानीय परिचारिकाद्वारा पुपोष। सोऽयं बालक उत्सृष्टोऽपि जीवतीत्यर्थेन **जीवक** इति नाम्नाऽभ्यधीयत। राजकुमारेण पालितः पोषित इति पालीभाषानुसारेण कु(को)मारभच्च (कौमारभृत्यः, कुमारभृतः) इत्यपि तन्नामाभूत्। ततः समयेन विवृद्धः स जीविकायै विद्यामर्जयितुं राजकुमारमननुमान्यैव तक्षशिलामुपेतस्तत्रत्यादिक्प्रमुखात् कस्माच्चिद्वैद्यात् सप्तवर्षाणि वैद्यविद्यामग्रहीत्। ग्रहणधारणपटुः स भैषज्यविद्यानिपुण आचार्येण पाथेयं दत्त्वा विसृष्टस्ततः प्रत्यागमत्। मार्गे साकेतमुपगतः सप्तवर्षेभ्यः शिरोवेदनयाऽर्दिताया एकस्याः श्रेष्ठिन्या गृहमुपेतः स तरुणभिषक् घृतनस्यौषधेनारोग्यं सम्पाद्य सत्कारलब्धेन बहुद्रव्यदासरथादिना सह राजगृहं प्राप। अर्जितमैश्वर्यं पोषणप्रत्युपकाररूपेण राजकुमारायाभयाय निवेदयन् स तेनास्वीकारेण सदक्रियत। राजप्रासादाभ्यन्तर एवास्य वासभवनं निरमीयत। ततो मागधनृपतेर्बिम्बिसारस्य तीव्रं भगन्दररोगमेकेन लेपेन न्यवारयत्। तेन प्रीतः स राजा पञ्चशतनार्याभूषणैः सत्कृत्य तं तरुणजीवकं स्वस्यान्तःपुरस्य बुद्धप्रमुखभिक्षुसङ्घानामपि भैषज्यसेवानुमतिदानेनानुजग्राह। ततः सप्तवर्षेभ्यः शिरोवेदनयाऽर्दितस्य कस्यचिच्छ्रेष्ठिनो भैषज्याय बहुकालं शयनं प्रतिज्ञाप्य प्रवृत्तस्तदीयं कपालं निर्भिद्य ततः कृमिद्वयं निष्कास्य परिषीव्य कतिपयैर्दिनैः स्वास्थ्यं सम्पाद्य प्रभूतधनसत्कारं प्राप। ततो राजाज्ञया वाराणसीमुपेत्यन्त्रग्रन्थिरोगेण पीडितस्य कस्यापि श्रेष्ठिपुत्रस्योदरं विदार्य चिकित्सयाऽऽरोग्यं समपादयत्। तेनापि श्रेष्ठिना धनैः सदक्रियत। ततो नरपतेराज्ञयोज्जयिनीमुपेत्य तद्भूभुजः प्रद्योतस्य पाण्डुरोगं घृतप्रयोगेण शमयितुं प्रववृते। घृतमनिच्छन्तं नृपतिं कषायरूपेण तन्निपाय्य वमने राजकोपाद्भयेन पूर्वोपस्थापितां हस्तिनीमारुह्य पलायितो राजगृहं प्रत्याययौ। औषधप्रयुक्तेन वमनेन नीरोगो राजा शिबिदेशोद्भवराङ्कवाद्युपायनं जीवकाय प्रैषयत्। तत आनन्दतथागतस्य सूचनया जीवको रुग्णं भगवन्तं बुद्धं विरेचनौषधप्रयोगेण स्वस्थीचकार। जीवकः प्रद्योतेन वाराणसीपतिना चार्पितं राङ्कवकम्बलादिकं भिक्षुसङ्घार्थं भगवते तथागतायार्पयामसेति॥

तिब्बतदेशीयोपकथासु[1] बिम्बसारस्य भुजिष्यायामुत्पन्नः पुत्रो मात्रा मञ्जूषायामुत्सृष्टो बालको जीवको राजकुमारेण अभयेन पालित इति कुमारभृत (भृत्य) नाम्ना प्रसिद्धिं गतः। सोऽधीतभैषज्यविद्यो राजकुमाराज्ञया कपालभेदनादिशल्यतन्त्रविज्ञानाय तक्षशिलामुपेत्य शल्यतन्त्रे परमविदुष आत्रेयाच्छिक्षां लब्ध्वाऽतिनिष्णातो बभूव। स्वगुरोरात्रेयादप्यस्य क्वचन भैषज्यकौशलं ददृशे, इति विशेषोऽस्ति। ४५० A. D. समयलिखितायां बुद्धघोष (?) कृतायां धम्मपदव्याख्यायां[2] जीवकेन पञ्चशतभिक्षुसहितबुद्धस्य भोजनं, बुद्धस्य पादव्रणस्य चिकित्सनं च निर्दिष्टमस्ति। सतीगुम्बजातके, संकिच्चजातके, चुल्लहंसजातके[3] च जीवकस्य निर्देशोऽस्ति॥

स कदाचिदम्बपालीनामकोद्याने विहारमेकं निर्माय सार्धद्वादशशतभिक्षुभिः सह बुद्धमामन्त्र्य सच्चकार। राजगृहे श्रीगुप्तपरिखायां कश्चन स्तूपोऽपि तेन निरमायि। सोऽयं जीवको बिम्बसारपुत्रमजातशत्रुं बुद्धदर्शनाय प्रैरयत्। इत्याद्या अन्या अपि तदाख्यायिका जातकादिबौद्धग्रन्थेषूपलभ्यन्ते। एतद्विषये बुद्धनामके[4] पुस्तके श्री Oldenberg विदुषा श्रीयुतगिरीन्द्रनाथमहोदयेनापि[5] बहु लिखितमस्ति। जीवकेन स्वगृहस्य

१. भार्गीं सपिप्पलीं पाठां पयस्यां मधुनाऽन्विताम्।
श्लेष्मिकायां लिहेच्छर्द्यामिति होवाच **जीवकः**॥
द्वे बृहत्यौ रुबूकत्वक् श्वदंष्ट्रा यासकस्तथा।
शृङ्गवेरं यवाँश्चैव दार्वीं वृक्षादनीं तथा॥
क्षीरमुत्क्वाथयेदेभिः पिप्पलीघृतसंयुतम्।
उरोघातेषु दातव्यमिति होवाच **जीवकः**॥
(नावनीतके १४।१०५)

१. Tibetan Tales P. 75-109, and History of Indian Medicine Vol III P. 644.

२. Buddhist Legends Part II P. 98.

३. The Jataka edited by Fansboll.

४. Buddha by Oldenberg P. 147, 163.

५. History of Indian Medicine [illegible] P. 681.

VENKATESWARA CENTRAL LIBRARY & RESEARCH CENTRE TIRUPATI 11150
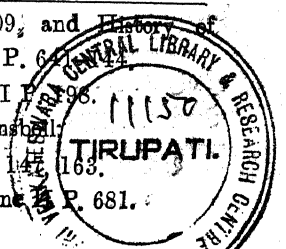
समीपे श्रीगुप्तपरिखायामुद्यानं बुद्धस्य व्याख्यानचत्वरं च निर्मितमासीत्। गृहचत्वरवृक्षादीनां विन्यासस्य किञ्चिच्छेषचिह्नमद्याप्युपलभ्यत इति विलमहाशयेनोक्तमस्ति[१]॥

एवमुपवर्णनेन बुद्धस्य बिम्बसारस्य च सामयिक इतः २५०० वर्षपूर्वं (B. C. 600.) प्रसिद्धो भिषग्जीवको नाम बभूवेति ज्ञायते॥

बौद्धग्रन्थोक्तोऽयं जीवको मगधदेशीयो बिम्बसारस्य वेश्यायां भुजिष्यायां वोत्पन्नः पुत्रस्तरुणवैद्यत्वेन निर्दिष्टः। स बाल्योत्तरं तक्षशिलामुपेत्य तत्रत्यादाचार्यात् सप्तवर्षाणि वैद्यविद्यामधीत्य लब्धतद्वबोध इति महावग्गलेखेन बुद्धस्य बौद्धभिक्षूणां सत्कर्ता वैद्यश्चेति, तिब्बतीयकथया स्तूपनिर्माता पश्चात्तथागतपथे प्रविष्ट इति, मज्झमनिकायलेखेन बुद्धस्य बद्धाञ्जलिः शरणागत उपासकोऽभूदिति चावगम्यते। एतत्तन्त्राचार्यस्तु जीवकः कनखलस्थः ऋचीकपुत्रः पञ्चवार्षिकोऽपि वलीपलितवत्तया वृद्धरूपेण दृश्यमानो वेदवेदाङ्गपारगस्य हिताग्नेः कश्यपस्यान्तेवासी महर्षिभिरादृतो निजवंशोद्भवस्य शिवकश्यपभक्तस्य साङ्गवेदाध्यायिनः प्रतिसंस्कर्तुर्वात्स्यस्य पूर्वपुरुषः श्रौतस्मार्तपथैकनिष्ठ इत्यस्माद् ग्रन्थात् प्रतीयते॥

बुद्धसामयिकस्य जीवकस्य भैषज्येतिवृत्ते राजगृहश्रेष्ठिनः कपालं वाराणसीश्रेष्ठिनश्चान्त्रं विदार्य चिकित्सनोल्लेखेन शल्यतन्त्रे विशेषज्ञत्वं प्रकाशते, बालचिकित्सावृत्तान्तो न लभ्यते। शल्यतन्त्रवेत्तृतयोल्लेखेन तस्य बालचिकित्सायां चिकित्सान्तरे वाऽवेदनं भवतीति न मेऽभिप्रायः, शल्यतन्त्राचार्यस्यापि सुश्रुतस्यावशिष्टान्तरोपदेशोऽस्त्येव, तथाऽपि सुश्रुतस्य शल्यतन्त्रे इव अस्य बालभैषज्ये समादृतत्वे तद्विषयका वृत्तान्ता लब्धुं योग्याः, नत्वेवं निर्दिश्यते। एतत्तन्त्राचार्यस्य जीवकस्य तूपक्रमात् प्रभृति बालानामेव चिकित्सा प्रधानविषयत्वेनानुस्यूतेति बालतन्त्राचार्यत्वं स्पष्टमेव॥

बुद्धसमये काश्यपस्य जीवकस्य चैतिहासिकेन सहोपलम्भेन एतत्तन्त्रे सहभूतौ काश्यपो जीवकश्चोभौ बुद्धसामयिकौ बौद्धग्रन्थोक्तावित्यपि शङ्कितुं न युज्यते। काश्यपत्रिषु भ्रातृषु ज्येष्ठः पूर्वं दार्शनिको याज्ञिकश्चासीत्, स उरुबिल्वग्रामे बुद्धेन बौद्धधर्मे दीक्षितः, तमालोक्य बिम्बसारोऽपि बौद्धधर्मं जग्राहेति बौद्धमतप्रविष्टस्य काश्यपस्येतिवृत्तं महावग्गे उपलभ्यते। ततश्चास्य दार्शनिकत्वमेवावगम्यते, न पुनर्वैद्यकविद्वत्त्वं, नतरां कौमारभृत्याचार्यत्वं, न वाऽस्य मरीचिपुत्रत्वोल्लेखः। बौद्धग्रन्थोक्तजीवकस्य तिब्बतीयकथोपादानेऽपि तक्षशिलास्थादात्रेयादध्ययनमायाति, न तु काश्यपात् मगधदेशीयादिति बौद्धकाश्यपस्य कश्यपस्य च बहुशो वैरूप्यान्न नामसाम्यमात्रेण साहित्यं जीवकपरिच्छेदाय कल्पते॥

किञ्च, बुद्धसामयिकस्य जीवकस्य पालीलेखे कुमारभच्च इति कुमारभृत्यत्वेनोल्लेखादेतत्तन्त्राचार्यस्य कौमारभृत्यवित्तया चोभयोरेकत्वशङ्काऽपि विचारे नावतिष्ठते। यत आयुर्वेदस्य पुराकालाद्विभक्तेष्वष्टसु प्रस्थानेष्वन्यतमं बालचिकित्सनात्मकं कौमारभृत्यं, तदुपदेष्टारस्तद्विदश्च कौमारभृत्या उच्यन्ते। प्रकृतस्यास्य ग्रन्थस्य बालचिकित्साप्रधानतया "कौमारभृत्यमष्टानां तन्त्राणामाद्यमुच्यते[१](पृ.६१), कौमारभृत्यमतिवर्धनमेतदुक्तम् (औषधभेषजीयेन्द्रियाध्याये)" इति ग्रन्थलेखेन, "काश्यपीयसंहितायां कौमारभृत्ये" इति पुष्पिकालेखेन च कौमारभृत्यत्वं "कौमारभृत्यास्त्वपरे जङ्गमस्थावराश्रयात्। द्वियोनिं ब्रुवते धूपं कश्यपस्य मते स्थिताः (धूपकल्पे), भिषक्कौमारभृत्यस्तैः (धात्रीचिकित्साध्याये)" इत्युल्लेखेन एतदाचार्यस्य कश्यपस्य एतत्प्रस्थानविदां वैद्याचार्यान्तराणामपि कौमारभृत्यत्वं निर्दिश्यते। बुद्धसामयिकजीवकस्य तु कुमारेणाभयेन पालितः पोषितश्चेति कृत्वा विद्याभ्यसनात् पूर्वमेव कुमारभृत्यशब्देन तदेकनियतो व्यवहारो बौद्धग्रन्थे निर्दिष्टो, नतु कौमारभृत्यवेत्तृतया। तथात्वे बालचिकित्सनं तद्वेत्तृत्वं च कथं तत्र नोल्लिख्येत। कुमारभृतस्य जीवकभिषजो विशेषविद्यारूपतयाऽस्य प्रस्थानस्य कौमारभृत्यरूपत्वमित्यपि पुरासमयादेवास्य प्रस्थानस्यैतन्नाम्ना व्यपदेशेन, सुश्रुतनावनीतकादिष्वपि तथोल्लेखेन, न केवलं जीवकस्य, अपि त्वेतत्प्रस्थानविदां केनापि कुमारेणापालितानां पार्वतकबन्धकादीनामपि कौमारभृत्याचार्यत्वेनोल्लेखेन च न कथयितुं शक्यते। न चास्य तन्त्राचार्यस्य बौद्धत्वं कुतोऽप्यायाति। बौद्धविदुषो लेखनी वाग्धारा वाऽन्तःकरणान्निःसरन्तीं बौद्धच्छायामस्मिंस्तन्त्रे क्वापि कथं न प्रतिपद्येत। तेन बौद्धग्रन्थोक्तजीवकस्य एतत्तन्त्राचार्यस्य वृद्धजीवकस्य च बहुशो वैरूप्यकृतो विभेदः॥

जैनग्रन्थपरिदृष्टयोरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीपदयोरत्र दर्शनेन जैनेतिहासपर्यालोचनेऽपि श्रुतन्धरराजकुमारो जीवन्धर-जीवस्वाम्यपराभिधानो जीवकनामैकः प्रसिद्धः पुरुष उपलभ्यते। यस्य महापुराण-जीवन्धरचरित्र-गद्यचिन्तामण्यादिजैनग्रन्थेष्विति-वृत्तमुपलभ्यते। स राजकुमारः पितृजनपदान्निरस्तः स्ववीर्यकौशलेन प्रसिद्धो वैरिणो निहत्य राजपदे प्रतिष्ठितो जैनधर्मनिष्ठित उपवर्ण्यते। अस्य स्वोपकृतगन्धर्वप्रदत्तविषहरमन्त्रप्रभावेण स्पर्शादेव विषापहरणशक्तिरासीदिति ज्ञायते। नास्य ततो वैद्यविद्याचार्यत्वं नतरां कौमारभृत्यवित्त्वं लेशतोऽप्यवगम्यते॥

जीवकीयेऽस्मिंस्तन्त्रे श्रौतमार्गानुस्यूता एव अनेके विषया-

१. Buddhist Records of the Western World Vol II P. 152.

१. दन्तजन्मिकाध्यायेऽशुभदन्तशान्तये मारुतीष्टिविधानम्। (पृ.१२)
शिष्योपक्रमणीये वैदिकं शिष्यसंस्कारविधानम्। (पृ. ५७)
आयुर्वेदस्य वेदसम्बद्धत्वं तत्स्थानीयत्वं शिक्षाकल्पसूत्रनिरुक्तवृत्तच्छन्दोयज्ञसंस्तरज्ञ···क्षणीयत्वनिर्देशश्च। (पृ. ६२)
गर्भावक्रान्तौ ईश्वरगुणोपेतसर्वगतसंसारिजीवनिर्देशः। (पृ. ७२)
जातिसूत्रीये श्रौतं पुत्रेष्टिविधानम्। (पृ. ८१)
औषधभेषजीये स्वप्नदोषशमनः सावित्रीहोमः।
धूपनकल्पे वैदिकमन्त्रोल्लेखः। (पृ. १३६)
रेवतीकल्पे शाब्दी आर्थी च वैदिकी प्रक्रिया।
जातकर्मोत्तरीये श्रौतप्रक्रियया निष्क्रमणादिविधानम्।
तत्र तत्र वैदिकमन्त्रदेवताद्युल्लेखः।

लेखाश्चोपलभ्यन्ते। एतावता बुद्धजनसाम्प्रदायिकाभ्यां बौद्ध-जैनग्रन्थोक्ताभ्यां जीवकाभ्यां विभिन्नतया दृश्यमानोऽन्य एव प्राचीनः ऋचीकस्य पुत्रो वृद्धजीवकोऽस्य तन्त्रस्य निबन्धा इति ग्रन्थमर्यादयाऽवगम्यते ॥

संहिताकल्पाध्यायलेखेन (कल्पस्थाने) वृद्धजीवकीयतन्त्ररूपतामापन्नामिमां काश्यपसंहितां कालवशेन विलुप्तामनायासनाम्नो यक्षादधिगत्य जीवकवंशोद्भवोऽधीतवेदवेदाङ्गः शिवकश्यपभक्तो वात्स्यो नाम लोककल्याणाय पुनः संस्कृत्य प्रकाशयामासेत्यवगमेन कोऽयं प्रतिसंस्कर्ता वात्स्यः कश्च तत्समय इति जिज्ञासायामुपस्थितायामेतावदिह बुद्धावुपतिष्ठते ॥

वात्स्यः

वात्स्य इति वत्सगोत्रोद्भवत्वमुपादाय केवलं कुलनाम। जीवकस्य भार्गवत्वेनोल्लेखाद्वत्सस्य भृगुकुलोद्भवत्वाज्जीवकवंशोद्भवत्वेन निर्दिष्टस्यास्य प्रतिसंस्कर्तुर्वात्स्यत्वं युज्यते। वंशब्राह्मणादावपि 'वात्स्याद्वात्स्यः' इति वात्स्योल्लेख उपलभ्यते। वंशनाम्नः साधारणतया ब्राह्मणोल्लिखितो वात्स्योऽयमन्यो वेति निर्धारयितुं न शक्यते। किमभिधानोऽयं प्रतिसंस्कर्ता वात्स्यः कतमश्च जीवकसन्ततिपरम्परायामिति न विशेषतः परिच्छिद्यते। **अनायासयक्ष** प्रसाद्य तस्मादेतत्तन्त्रावाप्तिं स्वस्य निर्दिशन्नसौ यक्षजातीनां विद्यासमृद्धानां सत्त्वसमये सत्त्वमात्मनोऽभिव्यनक्ति। यक्षजातयः पुराकालात् प्रसिद्धा आसन्। यक्षाणां भारतीयैः सह परिचयः सम्पर्कश्च प्राचीन एव। यक्षाणां सम्प्रदायो बौद्धधर्मादपि प्राचीन इत्युल्लिखता श्रीयुतकुमारस्वामिना[१] तद्विषये बहु विवेचितमस्ति। स सम्प्रदायः पश्चाद्बौद्धजैनसम्प्रदाययोरन्तर्भावमलब्ध। प्राचीनेषु बौद्धग्रन्थेषु जैनाङ्गोपाङ्गग्रन्थेष्वपि यक्षाणां निर्देशो दृश्यते। बुद्धसमयेऽपि भारते यक्षाणां पूजा प्रचलिताऽऽसीत्। भारते इतस्ततो यक्षाणां प्राचीना मूर्तयोऽपि लभ्यन्ते। न केवलं भारत एव, रमठ–जागुड–बाल्हिकादिसीमान्तप्रदेशेष्वपि यक्षाणां पुरा पूज्यताऽवगम्यते। नहि कस्यापि जीवनसमये एव देववत्पूज्यभाव उपजायते। बलवीर्यविद्यादिसमृद्धाया जातेः समयान्तरेण देववत्संमाननमपि भवितुमर्हति। तत्र वात्स्येन विलुप्तैतत्तन्त्रलाभे हेतुतया निर्दिष्टस्तेन सह सङ्गतः कोऽयमनायासो नाम यक्ष इति विचारे तन्नाम्नो यक्षस्योल्लेख एवमेकत्रोपलभ्यते। पञ्चरक्षानामकं बौद्धतन्त्रमेकमिदानीं यदुपलभ्यते, तस्य चीनभाषायामपि बहुशो वारानुवादा बभूवुः। येष्वेकतमोऽनुवादः A. D. 317–322 वर्षाभ्यन्तरे मध्यैशियागतेन कूचभिक्षुणा पोश्रीमित्रेण विहित इति निरूप्यते। भारतीयस्यास्य ग्रन्थस्य तावति दूरे तत्समये जातोऽनुवाद उपलभ्यमानो रचनाकालं सुतरां ततोऽपि बहुप्राचीनमनुमापयति। तस्मिन्नपि ग्रन्थे उपशतद्वयं यक्षाणां निर्देशस्तत्तद्देशरक्षकतया वैश्रवणादीनां यक्षाधिपानामाराधनविधानं, तदाराधनतो वातपित्तश्लेष्मरोगनिवृत्तेः, वैद्यानां, गर्भबालबाधकबालग्रहपूजनादीनामुल्लेखोऽपि दृश्यते। तत्रैव ग्रन्थे महामायूरीविद्याप्रकरणे रमठदेशरक्षकतया रावणस्य निर्देशोऽस्ति। मन्त्रविद्यया रोगनिवृत्तिविषये रावणोल्लेखोऽन्यत्राप्युपलभ्यते। मान्त्रिकप्रक्रियया बालचिकित्सां प्रदर्शयद्रावणतन्त्रमपि प्राचीनमवेक्ष्यते। पञ्चरक्षाया महामायूरीविद्यायां तत्तद्देशगतपूज्ययक्षोद्देशे—

"कौशाम्ब्यां चाप्यनायासो भद्रिकायां च भद्रिकः ॥"

इति कौशाम्बीरक्षकत्वेनाऽनायासनाम्नो यक्षस्य निर्देशोऽस्ति। कौशाम्बी बुद्धसमयेऽपि प्रसिद्धाऽऽसीत्। एवं तद्ग्रन्थलेखेन तदात्वेऽपि पूज्यश्रेण्यां निर्दिष्टस्यानायासस्य बहुप्राग्भूतत्वं गम्यते। बुद्धसमयेऽपि पूज्यबुद्धौ प्रविष्टाया यक्षजातेः प्राक्सत्त्वसमये वर्तमानादनायासाद्वात्स्यस्यैतत्तन्त्राधिगमोक्त्या बुद्धसमयादनर्वाग्भावस्तदविप्रकर्षो वा वात्स्यस्यापीत्यवधारयितुं शक्यते। एकस्मिन्प्राचीनपुस्तके महामायूरीविद्याया उपसंहारे 'आर्यमहामायूरीविद्या विनष्टा यक्षमुखात् प्रतिलब्धा' इत्युल्लेखदर्शनेन यक्षेभ्योऽपि विद्यासंप्रदायावगमो लभ्यते। तेनानायासयक्षादेतत्तन्त्राधिगमोऽपि न खलु न युज्यते। आत्रेयगार्ग्यशौनकादिवदार्षेयनाम्ना व्यवहरणमप्यस्य वात्स्यस्य प्राचीनतामवगमयति। सोऽयं वात्स्योऽधीतवेदवेदाङ्गत्वेन शिवकश्यपभक्तत्वेन च निर्दिष्टतया वेदमार्गानुयायीत्यपि ग्रन्थमर्यादयाऽऽयाति ॥

परमत्रेदं विचारणीयमापतति—यदस्मिन् वृद्धजीवकीये शारीरस्थाने (पृ. ६५) कालनिरूपणे आदियुगं दैवयुगं कृतयुगमिति त्रिधा विभक्त उन्नतावस्थारूपः शुभकाल उत्सर्पिणीशब्देन, त्रेता द्वापरं कलिरिति त्रिधा विभक्तोऽवनत्यवस्थारूपोऽशुभकालोऽवसर्पिणीशब्देन, उत्तरोत्तरमवहीयमानानि शारीरसंहननानि नारायणादिशब्दैः, आयुर्मानानि च पलितोपमशब्देन व्यवहृतानि दृश्यन्ते। एतत्तन्त्रीयेऽस्मिन्नंशे निरूपितं युगभेदेनाश्रुतादृष्टमद्भुतमीदृशं शारीरविन्यासवैचित्र्यं गर्भावस्थास्थितिं विकासवादसिद्धान्तमवनतिवादसिद्धान्तं वा कथमवलम्बते, किं वाऽस्य वक्तव्यमिति तत्तद्विषयावगाहनकुशलानां विचारपथे समुपस्थाप्यते। एतदुक्तायाः प्रक्रियायाः सर्वांशतः संवादाभावेऽपि चरके विमानस्थाने तृतीयाध्याये कृतयुगस्य आदिकालरूपोऽवान्तरविभागः, शारीरसंहननायुर्मानादीनामपि यथोत्तरमवनतिः संक्षिप्य निर्दिष्टोपलभ्यते[१]। तद्व्याख्यायां चक्रपाणिना यथापूर्वमुत्कर्षवादे यथोत्तरमपकर्षवादे उपष्टम्भकं व्यासवचनमप्युद्धृतमित्येवमुत्कर्षापकर्षतारतम्यनिर्देशः[२] श्रुतिस्मृत्यनुयायिसम्प्रदायेऽप्यंशतो दृश्यते। श्रीजाकोवीमहाशयोऽप्येषा प्रक्रिया पुराणसंमतेति वर्णयति[३] ॥

१. Cf. his article on Yaksas.

१. आदिकाले शैलेन्द्रसारसंहननस्थिरशरीराः पुरुषा बभूवुरमितायुषः...कृतयुगस्यादौ। भ्रश्यति तु कृतयुगे केषाञ्चिदत्यादानात् साम्पन्निकानां शरीरगौरवमासीत्......ततस्त्रेतायां......प्राणिनो ह्रासमवापुरायुषः।

(चरकविमानस्थाने अ. ४३)

२. पुरुषाः सर्वसिद्धाश्च चतुर्वर्षशतायुषः। कृते त्रेतायुगेऽप्येवं पादशो ह्रसति क्रमात् ॥ (चरकटीकायां चक्रपाणिः)

३. Encyclopaedia of Religion and Ethics Vol I P. 202, H. Jacobi.

महापुराणकर्मप्रकृतिजीवसमासवृत्तिप्रभृतिषु जैनग्रन्थेषु उत्सर्पिण्यवसर्पिणीकालविभागस्य वज्रादिशारीरसंहननप्रभेदस्य पल्योपमाद्यायुर्मानविशेषस्य चोपवर्णनोपलम्भेऽपि तेषु वज्रऋषभनाराचादिषड्विधसंहनननानामुद्देशेन, आयुर्मानस्य पल्योपमसागरोपमशब्दाभ्यां निर्देशेन, अस्मिन् वृद्धजीवकीये तु नारायणार्धनारायणकैशिकप्रज्ञसिपिशितरूपाणां चतुर्विधसंहनननानामायुर्मानस्यापि पलितोपमशब्दितस्य निर्देशेन विषयस्य च्छायोपलम्भेऽपि न सर्वात्मना संवादो दृश्यते ॥

बाह्यसम्प्रदायानामिव श्रौतसम्प्रदायस्यापि बहुशः पूर्वग्रन्था विलुप्ताः। पूर्वसमयप्रसिद्धाः शब्दाः पश्चात्तनैरुपात्ता अपि पूर्वसम्प्रदायग्रन्थानुपलम्भे यत्र दृश्यन्ते तदीयत्वेनानुसन्धीयमाना भवन्ति। पूर्वापरग्रन्थपर्यालोचनेऽपि एतावन्तं विषयलेशमन्तरा नात्र ग्रन्थे आर्हती बौद्धी वा आध्यात्मिकी अन्या वा काचन प्रक्रिया दृश्यते। प्रत्युत यस्मिन्नध्याये उत्सर्पिण्यवसर्पिणीनिर्देशस्तत्रैवोत्तरवाक्येषु समुदयकारणोल्लेखे (पृ. ६७) अव्यक्तमहदादिक्रमेण सांख्यदर्शनानुरूपा सृष्टिप्रक्रिया, उत्तरस्मिन् गर्भावक्रान्त्यध्याये (पृ. ७१) ईश्वरगुणोपेतसर्वगतसंसारिजीवनिर्देशता श्रौतदर्शनानुगतैव दृश्यत इति, एष उक्तावसर्पिण्युत्सर्पिणीशुभाशुभकालसंहननायुर्मानाद्युपन्यासोऽपि श्रौतस्मार्तदर्शनसम्प्रदायपरम्परागत एव स्यादिति वक्तुं न खलु न शक्यते। तथाऽपि उत्सर्पिण्यवसर्पिणीशब्दयोर्लभ्यमानेषु श्रौतस्मार्तग्रन्थेषु क्वाप्यनुपलब्धिः, जैनग्रन्थेषु बाहुल्येनोपलब्धिः, नामसंख्यावैषम्येऽपि संहननविशेषाणामपि तत्रैवोल्लेखदर्शनं च एतत्तन्त्रीयेऽस्मिन्नंशे जैनसम्प्रदायविषयानुबिम्बनं बुद्धावुपस्थापयति। अत्रत्य आयुर्मानीयः पलितोपमशब्दोऽपि तेषु व्यवहृतस्य पल्योपमशब्दस्य विकृतरूपं किलेति बोध्यते। सेन्टपिटर्सबर्गबृहत्कोशे,[१] Encyclopaedia of Religion and Ethics ग्रन्थेऽपि एते शब्दा जैनसाम्प्रदायिकतया निर्दिष्टाः सन्ति। अभिधानराजेन्द्रनामके जैनबृहत्कोशेऽप्येषां शब्दविशेषाणामर्थविवरणं तदीयप्रक्रियानुसारि दृश्यते। जैनसम्प्रदायविषयमुपादायोत्सर्पिण्यवसर्पिणीशब्दयोरर्थविवरणं कालविशेषपरत्वेन Mrs[२] Stevenson विदुष्या प्रदर्शितमस्ति। बौद्धसम्प्रदायलेखेऽपि श्रीहार्डीविदुषा[३] एष विषयो निरूपितोऽस्ति। तदेवमार्हतसम्प्रदायविषयस्यांशतोऽप्यत्र प्रतिच्छायादृष्टिस्तत्सम्प्रदायोद्गमोत्तरतां प्रतिभासयति ॥

किन्तु जैनसम्प्रदाये महावीरस्य बुद्धसम्प्रदाये गौतमबुद्धस्य विशेषप्रसिद्धतया तत्तन्मताचार्यत्वेन दर्शनेऽपि तेषामेव ग्रन्थेषु महावीरात् पूर्वभूतानां पार्श्वनाथादीनां त्रयोविंशतितीर्थङ्कराणां गौतमबुद्धात् पूर्वभूतानां कनकमुन्यादीनामप्युल्लेखेन, अशोकनृपतिना गौतमबुद्धात् पूर्ववर्तिनः कनकमुनेः स्तूपस्य जीर्णोद्धारशिलालेखस्य[४] तत्स्तूपस्य चोपलम्भेन पूर्वमप्येतन्मतयोरनैव रूपेण रूपान्तरेण वा सत्त्वं प्रतीयते। तेन महावीरोपक्रमं जैनसम्प्रदायो गौतमोपक्रमं बौद्धसम्प्रदाय इत्यवधारणाय पुनः पुनर्गवेषणेन शोध्यमान इतिहासोऽद्याप्यपूर्ण एव। वेदबाह्यपथानुयायिनां पूर्वकालेऽपि सत्त्वं दीर्घनिकाय[१]ग्रन्थलेखतोऽप्यायाति। उपनिषदादिष्वपि तादृशाक्षेपदर्शनेन तथाविधानां पुरासमयेऽपि सत्त्वं सूच्यते। अस्तिनास्तिदिष्टं मतिः (४. ४. ६०) इति सूत्रेण पाणिनिरप्युभयेषां सद्भावमवबोधयति। जैनग्रन्थलेखानुसारेण पार्श्वनाथादीनां पूर्वाचार्याणां बह्वन्तरालस्य लाभेन पल्योपमसागरोपमादिशब्दनाम्नां संख्याविशेषस्य महत्तया च आर्हतसम्प्रदायपूर्वपरम्पराया द्राधिष्ठतया उत्सर्पिण्यादयो विशेषा आर्हता अपि भवन्तो महावीरात् पूर्वेषां समयत एव प्रसिद्धा बहुशः सम्भवन्ति, किंवा श्रौतस्मार्त्तग्रन्थेषु लभ्यमानेषु अनुपलम्भेऽपि विलुप्तप्राचीनग्रन्थेषु व्यवहृता अपि सम्भवन्ति। तादृशानामेषां महावीरात् पूर्वमेवास्मिंस्तन्त्रे उपादानसम्भवेऽस्मिन्नर्वाचीनविषयानुवेधशङ्का न दृढीभवति ॥

रेवतीकल्पाध्याये (कल्पस्थाने) मातङ्गीविद्यायाः प्राकृतशाबरशब्दघटितस्य केयूरीशब्देन गर्भितस्य मन्त्रस्यापि निर्देशोऽस्ति। मातङ्ग्या उल्लेखो दक्षिणाम्नाय इव बौद्धसम्प्रदायेऽप्युपलभ्यते। नैतावताऽस्या बौद्धविद्यात्वमेवेत्यवसातुं शक्यते। अत्रैवैतद्विद्योपक्रमलेखे वैदिकमग्निमखं निर्दिश्य 'मातङ्गी नाम विद्या ब्रह्मर्षिराजर्षिसिद्धचारणपूजिताऽर्चिता मतङ्गेन महर्षिणा कश्यपपुत्रेण कनीयसा महता तपसोग्रेण पितामहादेवासादिता' इति तदुत्पत्तिं श्रौतसम्प्रदायोद्भवां स्पष्टमभिधाय वैदिक्यैव पद्धत्या तद्विधानमुपसंहृतमपि। तेन मातङ्गी विद्या बौद्धतन्त्रेष्वपि क्वचन पश्चादुपलभ्यतां नाम, परमेषा विद्या प्रागार्षसमयेऽप्यासीदेवेति एतदुल्लिखिताया मातङ्ग्या न बौद्धविद्यात्वशङ्कास्थानमत्रोदेति। ष्टाइनमहाशयेन तुङ्हाङ्स्थलोपलब्धे प्राचीनग्रन्थे भगवतो बुद्धस्य जीवकं प्रत्युपदेशे, बावरमॅनुस्क्रिप्टगते नावनीतकसहस्थिते ग्रन्थे, पञ्चरक्षादिषु प्राचीनबौद्धग्रन्थेष्वपि प्राकृतभाषाशब्दघटितमन्त्रव्यवहारदर्शनेन चतुरशीतिसिद्धानां नाथादीनां समयात् पूर्वतरकालेऽपि प्राकृतशब्दघटितमन्त्रव्यवहार आसीदेवेति मन्त्रे प्राकृतशब्दप्रवेशनमपि न किञ्चिदेव ॥

किञ्च रेवतीकल्पाध्याये (कलपस्थाने) जातहारिणीनिर्देशप्रसङ्गे भिक्षुणीविशेषेषु श्रमणिका निर्ग्रन्थी चेत्यनयोरप्युल्लेखोऽस्ति। यद्यपि बौद्धसम्प्रदायभिक्षुबोधकतया श्रमणशब्दो बौद्धैः पश्चात्तनग्रन्थकृद्भिश्च व्यवह्रियते नाम, महाभाष्यकृता 'येषां च विरोधः शाश्वतिकः' (२. ४. ९) इत्यत्र शाश्वतिकविरोधे श्रमणब्राह्मणमित्युदाहरणस्य दानेन तत्समये बौद्धब्राह्मणयोर्मिथः सङ्घर्षमादाय श्रमणशब्दो बौद्धभिक्षुपरोऽवगम्यते

१. Vol I by H. Jacobi P. 202.

२. The Heart of Jainism P. 272–76.

३. Manual of Buddhism P, 7–8 by S, Hardy.

४. "देवानां प्रियेण प्रियदर्शिना राज्ञा चतुर्दशवर्षाभिषिक्तेन बुद्धस्य कनकमुनेः स्तूपो द्वितीयं वर्धितः (विंशतिव) र्षाभिषिक्तेन चात्मनाऽऽगत्य महीयितं (स्तम्भश्चो) त्थापितः" इति।
Iuscription of Asoke by Hultzsch P. 165.

१. दीघनिकाये—(१) पूरणकस्सप, (२) मक्खलिगोसाल, (३) अजितकेशकम्बलि, (४) पकुद्धका च्चायन, (५) सञ्जयवेलत्थिपुत्त, (६) निग्गन्थनाथपुत्त.
Buddhist Studies B. C. Law P. 73.

च, तथाऽपि ततः पूर्वमपि 'कुमारः श्रमणादिभिः' इति (२. १. ७०) सूत्रकृता पाणिनिना श्रमणशब्दोल्लेखाद्बौद्धजैनसम्प्रदायोदये सति ततः प्रतिफलितोऽयं शब्द इति वक्तुं नार्हति । श्रमणशब्दः कायक्लेशादिश्रमशीलत्वरूपं निर्वचनमादाय वैखा[1]नससूत्रे तृतीयाश्रमस्थबोधकतया, बृहदा[2]रण्यके त्यागिभिक्षुबोधकतया, तैत्तिरीया[3]रण्यकेरामाय[4]णा[5]दिषु चानैकेषु प्रत्नतरग्रन्थेषु भिक्षुतापसविशेषबोधकतया पुराकालात् प्रयुक्तो बहुश उपलभ्यते । श्रमणशब्दः पुराकालादेव व्यवहृत आसीदिति श्रीयुतचिन्ताम[6]णिवैद्यमहाशयादिभिरपि निर्दिष्टमस्ति ॥

निर्ग्रन्थशब्दस्यानुसन्धाने दिग्घ[7]निकाये तदात्वे प्रचलितानां सम्प्रदायान्तराणां श्रेण्यां कस्यचित् प्रस्थानान्तरीयस्य प्रतिपक्षभावेन निर्दिष्टस्य निग्गन्थनाथपुत्त (निर्ग्रन्थनाथपुत्र) शब्देनोल्लेख उपलभ्यते । निर्ग्रन्थशब्दस्य जैनसाम्प्रदायिकभिक्षुषु प्रसिद्ध्या तदात्वे महावीरस्य तथाविधप्रतिपक्षभावस्य सम्भवितया च निर्ग्रन्थनाथपुत्रशब्देन निर्दिष्टो महावीर इति विवेचकैरुच्यते । किन्तु महावीरो निर्ग्रन्थनाथपुत्रः, तस्य पिता आचार्यो वा निर्ग्रन्थनाथः, ततश्च नाथपदस्वारस्येन पितृसमयेऽपि निर्ग्रन्थानां प्रसिद्ध्या बाहुल्येन च भवितव्यमिति न महावीरोद्भावितत्वं निर्ग्रन्थसम्प्रदायस्य, अपितु ततोऽपि पूर्वतः प्रचलितत्वमेव वक्तव्यं भवति । श्रीविन्टरनीजमहोद[8]योऽपि महावीरादपि पूर्वकालत एव निर्ग्रन्थसम्प्रदायोदय इति निरूपयति । जैनसम्प्रदाये महावीरादपि पूर्वेषामादिनाथपार्श्वनाथादीनामपि आचार्यभावस्य जैनग्रन्थेभ्योऽपि दृश्यमानतया, पूर्वतीर्थङ्कररूपेण तत्सम्प्रदाये तेषामप्यद्यावधि संमान्यमानतया च एतत्सम्प्रदायस्य महावीरेण विशेषतो विकासनेन तस्य प्रधानाचार्यभावेन पश्चात् प्रसिद्धावपि निर्ग्रन्थसम्प्रदायो जैनसम्प्रदायोऽपि भवन् पूर्वपूर्वतीर्थङ्करपरम्परानुवृत्तो विज्ञायते । जैनैः स्वसाम्प्रदायिकभिक्षुबोधाय व्यवह्रियतां नाम, निवृत्तहृदयग्रन्थित्वरूपां निरुक्तिमुपादाय विवेकज्ञानकक्षामारूढमवबोधयन्निर्ग्रन्थ[1]शब्दः, हृदयग्रन्थिविमोक्षस्याध्यात्मिकसम्पद्रूपेणोल्लेख[2]श्च आस्तिकसम्प्रदायग्रन्थेष्वपि पुराकालादेव प्रचलितो दृश्यते ॥

पूर्वसमयतः प्रसिद्धानेवेदृशाञ्छब्दानुपादाय बौद्धैर्जैनैः श्रमणनिर्ग्रन्थात्मना स्वस्वसम्प्रदायभिक्षुव्यवहारः पश्चात्कृतोऽवगम्यते । भाषातत्त्वसिद्धान्तदृशा घटिकादिशब्दवत् कालपरम्परया प्रत्नानामपि शब्दानां रूपान्तरेऽर्थान्तरे वा सङ्क्रमणं बहुश उपलभ्यते । प्रत्नैर्बौधायनाश्वलायनवराहापस्तम्बादिभिः सूत्रकारप्रमुखैः श्रौतस्मार्तयागभूमिबोधकतया बहुशस्तत्र तत्र प्राचीनग्रन्थेषु प्रयुक्तो विहा[3]रशब्दो बौद्धभिक्षुसङ्घावासबोधनाय, श्मशानस्थचित्ताभीष्टदेवताश्वत्थदेवायतनक्षेत्रज्ञाद्यर्थेषु प्रयुक्तश्चैत्य[4]शब्दः स्तूपबोधनाय बौद्धैः प्रयुज्यते । पुराकालात्तपो-

१. वैखानससूत्रे—श्रामणीयकविधानेनाधायाघारं हुत्वा श्रामणकाग्निमादाय तृतीयाश्रमं गच्छेत्………श्रमणकाय स्वाहा (वैखानसधर्मप्रश्नः १-६)

२. बृहदारण्यके—अत्र पिताऽपिता भवति……श्रमणोऽश्रमणस्तापसोऽतापसः । श्रमणः परिव्राडिति भाष्यम् ।
(१४. ७. १. २२)

३. तैत्तिरीयारण्यके—वातरशना ह वा ऋषयः श्रमणा ऊर्ध्वमन्थिनो बभूवुः (२. ७. १.)
सायनव्याख्यायां–वातरशनाख्या ऋषयः श्रमणास्तपस्विन ऊर्ध्वमन्थिन ऊर्ध्वरेतसो बभूवुः ।

४. रामायणे—तपसा भुञ्जते चापि श्रमणाश्चैव भुञ्जते (१-१४-१२) श्रमणां धर्मनिपुणामभिगच्छेति राघवः ।
(१-१)

५. श्रमणा वातरशना मुनयो धर्मकोविदाः ।

६. History of Sanskrit Literature (Vedic Period)- C. V. Vaidya.

७. (१) पूरणकस्सप, (२) मक्खलिगोसाल, (३) अजितकेशकम्बलि, (४) पबद्धकाच्चायन, (५) सञ्जयवेलत्थिपुत्त (६) निग्गन्धनाथपुत्र ।

८. Mahāvīra, "the great hero" the founder or reformer of the sect of the Jainas, which had developed out of the far older sect of the Niganthas (*i. e.* the Fetter-less). History of Indian Literature-M. Winternitz Vol II (P. 424).

१. आत्मरामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः ॥ (भागवते)

२. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
(मुण्डकोपनिषदि भगवद्गीतायां च)
यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ।
(कठोपनिषदि २-१५)

३. **विहारः**—
यागार्थं यत्र यत्र यावती भूमिः श्रुत्यादिभिः परिमाणविशिष्टत्वेन विहिता। तत्र तत्र तावती भूमिर्विहारशब्दवाच्या।
(श्रौतपदार्थनिर्वचने पृ. २)।
उत्तरत उपचारो विहारः (बौधायनीयधर्मसूत्रे १-७-१)
गां चोपसंसृष्टां विहारं चान्तरेण मा संचारिष्टेति संप्रेष्यति ।
(आपस्तम्बश्रौतसू. १-१२-१२)
दक्षिणावद्विहारं प्रपद्यते पूर्वेणोत्करमपरेण प्रणीताः ।
(आश्वलायनश्रौतसू. १-१-४),
न विहारादपपर्यावर्तेत । (मैत्रायणीयवाराहगृह्यसूत्रे पृ. १)

४. **चैत्यः**—
चैत्यवृक्षं चितिं यूपं चण्डालं वेदविक्रयम् ।
एतानि ब्राह्मणः स्पृष्ट्वा सचेलो जलमाविशेत् ॥
(बोधायनधर्मसूत्रे १-९-५)
चैत्ययज्ञे प्राक्स्विष्टकृतश्चैत्याय बलिं हरेत् ।
(आश्वलायनगृह्यसू. १-१२-१)
चित्ते भवाश्चैत्याः, शङ्करः पशुपतिः, इत्येवमादय इति टीका।
वृक्षाः पतन्ति चैत्याश्च ग्रामेष नगरेषु च ।
(इति महाभारते ६-३-४०)।

ज्ञानवयोवृद्धेषु प्रयुक्तः स्थविर[१]शब्दोऽपि श्रेष्ठविद्वद्विशेषबोधाय बौद्धैः प्रयुज्यते । अर्वाचीनसन्निकृष्टव्यवहारानुरक्तहृदयानामस्मत्वे ते विहारादयः शब्दा बौद्धसाम्प्रदायिका इव प्रतिभान्तु नाम, नैतावता प्राचीनव्यवहारमपर्यालोच्यार्वाचीनत्वं वक्तुं शक्यते । एवमेवात्रोल्लिखिताः श्रमणनिर्ग्रन्थादयः शब्दाः प्राचीनतापसविशेषानेवावबोधयन्ति ॥

तत्रैव "लिङ्गिनी परिव्राजिका श्रमणका निर्ग्रन्थी कण्डनी चीरवल्कलधारिणी चरिकी मातृमण्डलिकी अवेक्षणिका" (रेवतीकल्पे) इति भिक्षावृत्त्या गृहाद् गृहान्तरे गमने स्वसंसर्गेण जातहारिणीं सङ्क्रामयन्तीनां नानाभिक्षुकीणां श्रेण्यां निर्दिष्टेषु प्रभेदेषु परिव्राजिकाश्रमणकानिर्ग्रन्थीर्विहाय नान्येषां प्रभेदानां क्वचन ग्रन्थान्तरेषु लोकसम्प्रदायेषु वाऽद्यत्वे विशेषत उपलब्धिरस्ति । पश्चात्तनग्रन्थेषु दृश्यमानान् हंसपरमहंसकुटीचकबहूदकादिभेदाननुल्लिख्य कालवशान्नामतोऽपि विलुप्तप्रायाणामेषां सम्प्रदायविशेषाणामुल्लेखस्य दर्शनं सर्वेषु प्रभेदेषु प्राचीनभावमवबोधयति ॥

तत्रैव रेवतीकल्पाध्याये जातहारिणीनिर्देशप्रसङ्गे सिंहलोड्रादयो देशविशेषाः, सूतमागधादयो जातिविशेषाश्च निर्दिष्टाः सन्ति । तत्र खशशकयवनपल्हवतुषारकम्बोजादीनामुल्लेखोऽस्ति । यवनशब्दवत्खशादयः शब्दा अपि मनुस्मृत्यादिषूपलभ्यन्ते । ऐतिहासिकैरपि खशादयो जातयः पुराकालावस्थितत्वेन निरूप्यन्ते । इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिकापुस्तके हूणानां चतुर्थशताब्द्यां (372 A. D.) यूरोपप्रवेशस्योल्लेखेऽपि इतः २५०० वर्षेभ्यः पूर्वंभवे अवेस्ताग्रन्थे हूनु (हूण)-जातेः प्रतिपक्षिवीरजातितया तज्जातीयानां जरथुष्ट्रादपि पूर्वंभवेन केरसप (Kerasop) नाम्ना इरानदेशनृपतिना विजयस्य चोल्लेखेन हूणानां (B. C. 700) समय इति जे. जे. मोदीमहाशयेन[२] प्रतिपादितमस्ति । महाभारतेऽपि[३] हूणपह्लवयवनशकपुण्ड्रकिरातद्रविडखशादीनामुल्लेख उपलभ्यते । गर्गादिभ्यो यञ् (४-१-१०५) इति पाणिनिसूत्रोक्तगणे शकस्य, इन्द्रवरुणेति (४-१-४९) सूत्रे यवनस्य, कम्बोजाल्लुक् (४-१-१७५) इति सूत्रवार्तिकोक्तकम्बोजादिगणेऽपि शकयवनयोरुल्लेखोऽस्ति । तेनेदृशाः शब्दाः पुराकालेऽपि प्रसिद्धा एवासन्निति ज्ञायते ॥

अस्मिन् ग्रन्थे प्रत्यध्यायम् 'अमुकाध्यायं व्याख्यास्यामः' इत्युपक्रम्य 'इति ह स्माह भगवान् कश्यपः' इत्युपसंहरणं, शिष्योपक्रमणीयाध्याये (पृ. ५७) शाब्देनार्थेन च वैदिकविधानेन शिष्योपनयनं, तत्रैवाग्निसोमप्रजापत्यादिवैदिकदेवतानां स्वाहाकारः, जातिसूत्रीयाध्याये (पृ. ७९) वैदिकी वाक्यरचना, हीनदन्तोद्भवे (पृ. ४८) मारुतीष्टिस्थालीपाकहोमविधानं, पुत्रीयेषु नानाविधानेषु सर्वाण्यपहायेष्टेर्विधानं (पृ. ८६), स्वप्नदोषनिर्हरणाय (इ. स्था.) सावित्रीहोमविधानं, शिशुरक्षाधूपने (धू. क.) अग्निस्त्वेतिवैदिकवाक्यप्रयोगः, रेवतीकल्पाध्याये (कल्पस्थाने) ब्राह्मणवाक्यानुरूपाणि ऐतिहासिकवाक्यानि, तत्रैव देवतोद्देशे वसुरुद्रादित्यानामेव कीर्तनं, दीर्घजिह्वी च छन्दसि (४-१-५९) इति सूत्रकृता पाणिनिना छान्दसत्वेनाभ्युपगताया ङीप्प्रत्ययवत्या दीर्घजिह्वया उल्लेखः, भोजनकल्पाध्याये (कल्पस्थाने) काशीपुण्ड्राङ्गवङ्गकाचसागरानूपकोशलकलिङ्गदेशानां, देशसात्म्याध्याये (खिलस्थाने) कुमारवर्तनिकटिवर्पर्षभद्वीपपौण्ड्रवर्धनमृत्तिकावर्धमानादीनां बहूनां प्राचीनदेशविशेषाणां कीर्तनं, प्रत्युत प्रसिद्धतरस्य पाण्ड्यस्याकीर्तनं, तत्रैव बाह्लीकभिषगुल्लेखे (पृ. २६) सत्यपि यवनरोमकादिभिषजामनुल्लेखनं, राजतैलप्राशस्त्यबोधने (भोजनकल्पे) इक्ष्वाकुसुबाहुसगरनहुषदिलीपभरतगयपर्यन्तानामेव प्राचीननृपाणामुपादानं, रसधातुरत्नौषधानां प्रायः क्वाप्यव्यवहरणं, समुदयकारणोल्लेखे (पृ. ६७) अष्टभूतप्रकृतीन् षोडशविकारांश्च निर्दिश्य प्राचीनसांख्यदर्शनस्यैवोपजीवनं, बौद्धानां जैनानां तदीयाध्यात्मवादस्याप्यनुपादानं,' दीप्ताग्नयो घस्मराः स्नेहनित्याः' (पृ. २०) 'क्षीरं सात्म्यं क्षीरमाहुः पवित्रम्' (भोजनकल्पे) इत्यादिवैदिकच्छायछन्दःपद्योपदर्शनमित्यादीनि बहुशः प्रत्नभावसाधनान्युपलभ्यमानानि अस्य वृद्धजीवकीयतन्त्रस्य बहुप्राचीनतामवगमयन्ति । हेमाद्र्यादौ पुराणवचनैरारोग्यशालानिर्माणविधाने सत्यपि आधुनिकशोधकाहृदयदार्ढ्याय शिलालेखदेशान्तरीयमतान्तरीयलेखादीन् संवादकानपेक्षन्ते इति तदनुसारिण्या सप्रमाणैतिहासिकदृष्ट्याऽऽलोचने २३०० वर्षपूर्वमशोकस्य सर्वसाधारणचिकित्सालयोद्घाटनसुयशोलाभस्य दर्शनेन, कौटिलीयेऽपि दुर्गनिवेशने भैषज्यगृहविन्यासस्योल्लेखेन, चरकादिषु रसायनशालानिर्देशे सत्यपि सर्वसाधारणाय आरोग्यशालाया अनिर्देशेन, अत्र कल्पोल्लेखेऽपि रसायनशालायास्तादृशचिकित्सालयादेश्च निर्माणस्यानुल्लेखनं, प्रत्युत (पृ ५९) रोगिगृहमुपगम्य भिषग्भिर्भैषज्यस्य विधानस्य प्रक्रियोपदेशदर्शनमप्यस्य ग्रन्थस्य प्रत्नतरसमयनिबन्धनमवबोधयति । कश्यपेन सह प्रश्नप्रतिवचनभावेन निर्देशनमपि वृद्धजीवकस्य प्राचीनमेव समयं प्रत्याययति । काश्यपीयमहासंहितां संक्षिप्य वृद्धजीवकेनास्य तन्त्रस्य प्रणयनोल्लेखेन काश्यपीयसंहिताकालस्तु सुतरां ततोऽपि प्राचीन एव ॥

किन्तु श्रमणशब्दस्य ब्राह्मणादिग्रन्थेषूपलम्भवद्ग्रन्थिशब्दस्योपनिषदादिषूपलम्भेऽपि निर्ग्रन्थशब्दस्य तापसविशेषादिबोधकतया भागवतपुराणवर्जं वैदिकग्रन्थेषु महाभारतादिप्राचीनग्रन्थेषु च स्पष्टतया नोपलम्भोऽस्ति । पश्चाद्बौद्धैर्नागार्जुनादिभिरुपायहृदये ललितविस्तरे च जैनावबोधकतयैवायं निर्ग्रन्थशब्दो-

---

'चैत्यमायतनं तुल्ये' इत्यमरः ।
चतुष्पथाश्चैत्यवृक्षः समाजाः प्रेक्षणानि च ।
(मनुस्मृतौ ९-२६४) ।
अहङ्कारस्तमो रुद्रश्चित्तं चैत्यस्ततोऽभवत् ।
(भागवतपुराणे ३-२३-६०) ।

१. यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः (मनुस्मृतिः) ।
२. R. G. Bhandarker Commemoration Volume P. 65
३. आदिपर्वणि १७५ अध्याये, एवमादिस्थलेषु ।

व्यवहृतोऽस्ति । आस्तिकदार्शनिकैर्वाचस्पत्यादिभिरपि[1] वेदबाह्यदार्शनिकश्रेण्यामिमे निर्दिष्टा दृश्यन्ते । निर्ग्रन्थसम्प्रदायो-जैनसम्प्रदाय एवेति आधुनिकविदुषामपि धारणाऽस्ति । अस्यां संहितायां दृश्यमानौ जैनसम्प्रदायस्यासाधारणावुत्सर्पिण्यवसर्पिणीशब्दावप्येतस्य सहयोगेनोपोद्बलनाय पुरो भवतः । ततश्च महावीरादपि पूर्वेषां तीर्थङ्कराणां समयतो न चेत्, अस्मिन् सम्प्रदाये प्रधानाचार्यभावमापन्नस्य महावीरस्य सन्निकृष्टात्समयत एषां शब्दविशेषाणां लोके प्रसिद्ध्या तादात्विकोऽयं सम्प्रदायान्तरशब्दविशेषानुप्रवेशोऽस्मिंस्तन्त्रे इति वक्तव्यमेव । शकहूणपल्हवखशयवनकम्बोजादिशब्दविशेषाणां सहभावो बुद्धसमयादर्वाग्भावमवगमयतीत्यर्वाचीनविवेचकानां धारणाऽप्यस्ति । तथा च महावीरोत्तरमेवास्य ग्रन्थस्योदय इति शङ्कास्थानमत्रोदेति । परमनिश्चितसमयानां कतिपयशब्दविशेषाणामनुप्रवेशदर्शनमात्रेण ग्रन्थस्य कालोऽवधारयितुं न शक्यते । तत्रापि पश्चात्प्रतिसंस्कृतत्वेन स्पष्टमुक्तेषु ग्रन्थेषु गर्भगतान् सन्दिग्धान् कियतः । शब्दविशेषानुपादायैव समुचितस्य ग्रन्थस्य कालावधारणं तु साहसमेव । विवेचकानां पूर्वतर्कावधारिता अपि कति विषयाः समयवशेन बलवत्तरतर्कान्तरोदये विपरिवृत्ता दृश्यन्ते । उक्तञ्चाभियुक्तैः 'तर्काप्रतिष्ठानात्' इति ॥ प्राचीनत्वावबोधाय जागरूकाणि पूर्वोक्तलक्षणानि क्षणमपसार्य अर्वाचीनविवेचकधारणाया अवलम्बनेऽपि कालवशाद्विलुप्तस्य तन्त्रस्य वात्स्येन यत्नादधिगत्य पश्चात् संस्करणस्यात्रैव संहिताकल्पाध्याये स्वमुखोल्लेखेन, अस्मिन् रेवतीकल्पाध्याये दृश्यमाना निर्ग्रन्थादयो न केवलमत्रैव, पूर्वत्र दृश्यमाना उत्सर्पिण्यादयोऽपि पश्चाद्भवत्वसंशायकाः शब्दविशेषा विषयविशेषाश्च जीवकीयतन्त्रसिद्धिमनु संस्करणावसरे वात्स्यलेखनीतः प्रविष्टा अपि भवितुं सम्भवन्ति । चरकसंहितायां सुश्रुतपूर्वभागे च परतन्त्रीयस्य बालग्रहविषयस्याभावेऽपि सुश्रुतस्योत्तरतन्त्रे शालाक्यकौमारभृत्यादिप्रस्थानान्तरीयविषयाणामपि संगृहीततया तत्र २७तः ३८ पर्यन्ताध्यायेषु कौमारभृत्यविषयनिर्देशे मूले आचार्यनामानुल्लेखेऽपि पार्वतकजीवकबन्धकप्रभृतिभिरिति विवरणकर्तुर्लेखेन कश्यपजीवकादीनां कौमारभृत्यतन्त्रादेवैतद्विषयोपग्रहणं बहुशः सम्भवति सुश्रुतीये बालतन्त्रप्रकरणे (उ. तं. अ. २७) निर्दिष्टाः स्कन्दरेवतीशीतपूतनाशकुनीमुखमण्डिकानैगमेषादयो ये स्त्रीरूपाः पुंरूपाश्च बालग्रहास्तत्संवादिन एव ग्रहा अत्र वृद्धजीवकीये चिकित्सितस्थानीयबालग्रहाध्याये दृश्यन्ते । रेवतीकल्पाध्याये रेवत्याः प्रभेदरूपेण जातहारिणीनां ये विशेषास्तेषां प्रतिफलनं सुश्रुतोत्तरतन्त्रे न दृश्यते । द्वयोरध्याययोर्विषयाणां समकाललिखितत्वे जातहारिणीविषयाणामपि न्यूनाधिकतया सुश्रुतोत्तरतन्त्रे प्रतिफलनेन भवितव्यम् । रेवतीग्रहस्कन्दादीनां चिकित्सितस्थानीयबालग्रहाध्याये निरूपणे उपजातेऽपि पुना रेवतीकल्पाध्याये रेवतीविकासरूपाणां बहुविधानां जातहारिणीनां पूर्वापरग्रन्थलेखापेक्षयाऽतिविकसितप्रक्रियया निरूपणदर्शनेन सोऽयं रेवतीकल्पाध्याये विकसितो लेखः कश्यपजीवकसमयादनु वात्स्यसमये उपजातः किमु इति बहुशः सम्भाव्यते । अविभागेन प्रतिसंस्कारे ईदृशान्येव संशयावहानि फलानि फलन्तीत्यग्रे वक्ष्यते । संहिताकल्पाध्यायपूर्तौ संश्लिष्टस्य वात्सीयत्वेनाभ्युपगतस्य खिलभागस्य देशसात्म्याध्याये खिलात्पूर्ववर्तिनि भोजनकल्पाध्यायेऽपि सात्म्यसम्बन्धमुपादाय बहवः प्राचीनदेशाः कीर्तिताः सन्ति । भोजनकल्पाध्यायीयलेखे कुरुक्षेत्रमुपक्रम्य चतुर्दिग्गतेषु बहुदेशेषूल्लिखितेषु सिन्धुसौवीरादयः पाश्चात्याः, काश्मीरचीनादय उदीच्याः, काशीपुण्ड्राङ्गवङ्गादयः पौरस्त्याः सामान्यदेशाः, दक्षिणतः कलिङ्गपट्टननामधेया एव देशा निर्दिष्टाः सन्ति । रामायणसमये दाक्षिणात्यनगराणां विशेषतोऽनुपलम्भवदत्रापि कलिङ्गपट्टनयोर्नर्मदापर्यन्तमेव च निर्देशोऽस्ति । खिलभागीयदेशसात्म्याध्याये तु त्रुटिततया उपलब्धे पूर्वदक्षिणदेशनिर्देशेऽन्येषां प्राचीनदेशविशेषाणामुल्लेखे सत्यपि चिरिपाली-चीर-चोर-पुलिन्द-द्रविडादयो दूरगता अपि दाक्षिणात्यदेशाः, पूर्वतोऽपि कुमारवर्तनिकटिविर्षादयो विशेषदेशा इति विकसितप्रक्रियया निर्देशो दृश्यते । अशोकशिलालेखे प्राचीनसाहित्यान्तरेष्वप्युपलभ्यमानतया एते देशा अपि प्राचीना एवेत्यत्र दिग्दर्शनं पश्चाद्विधास्यते । तथाऽप्युभयतो देशनिर्देशस्य तुलनयाऽनुसन्धाने वृद्धजीवकीयपूर्वभागसमयस्य वात्सीयखिलभागसमयस्य च बह्वन्तरालं स्पष्टीभवति । खिलभागीयदेशसात्म्याध्याये मगधासु महाराष्ट्रमिति चोल्लेखोऽस्ति । वेदेऽपि मगधोल्लेखेन, जरासन्धसमयेऽपि मगधराज्यस्य निर्देशेन, पुरातत्त्वान्वेषिभिरद्यत्वे राजगृहे तत्स्थानोपलम्भेन चात्र निर्दिष्टं मगधराज्यं प्राचीनतरमप्यवबोद्धुं शक्यते, तथाऽपि पूर्वभागे देशोद्देशे नाम्नाऽप्यनुल्लिखितस्य मगधस्योत्तरत्र महाराष्ट्रतयोल्लेखेन, पाण्ड्यदेशस्य पाटलिपुत्रस्याप्यनुल्लेखेन, बौद्धग्रन्थे प्रसिद्धादनायासयत्नात् स्वपूर्वपुरुषतन्त्रलाभोल्लेखेन च बुद्धमहावीरोत्तरं नन्दचन्द्रगुप्तादिसमये वोपजाते मगधस्य महाराष्ट्रप्रतिष्ठाकाले वात्स्यस्य समुद्भवः सम्भाव्यते । तेन तदीयसंस्कारेऽनुप्रविष्टैः किमु एभिः शब्दविशेषैः सन्देह आपादित इत्यत्र दृष्टिः प्रवणीभवति ॥

नावनीतकक्कुड्डलक्षणादिलेखतः कौमारभृत्यभिषजो जीवकनाम्न उपलम्भेन, महावग्गादिबौद्धग्रन्थेषु कौमारभृत्यशब्देन विशेषितस्य प्रसिद्धवैद्यस्य जीवकाभिधानस्येतिवृत्तलाभेन च उभयोर्वैद्यकवैदुष्यं, नामसाम्यं, कौमारभृत्यशब्दोल्लेखं च सामान्यत उपादाय बौद्धग्रन्थोक्तो जीवक एव कौमारभृत्याचार्यो जीवक इति केषाञ्चिद्विदुषां मतं दृश्यते । यावदिदं वृद्धजीवकीयं तन्त्रं नोपलब्धमासीत्तावत् कौमारभृत्यभिषजो वृद्धजीवकस्य परिच्छेदकानां साधनानामितोऽनुपलब्धिः, बौद्धग्रन्थेषु बहुशो जीवकस्य प्रसिद्धिश्चेति दग्धाश्वरथन्यायदशा उभयोरैक्यमभिमन्तुं समुचितमेवासीत्, एतत्तन्त्रकर्तुर्जीवकस्य बौद्धग्रन्थनिर्दिष्टस्य जीवकस्य च तादात्म्ये एतत्तन्त्राचार्यो वृद्धजीवको बुद्धसामयिक इति निश्चेयतया पूर्वोपदर्शितानामुत्सर्पिण्यादिशब्दानामनुवेधस्यापि समन्वयेन संशयोत्पत्तिस्थानं न

१. सांख्यतत्त्वकौमुद्याम्—शाक्यभिक्षुनिर्ग्रन्थकसंसारमोचकादीनामागमाभासाः परिहृता भवन्ति ।　२ शारीरकसूत्रे ।

दृश्यते च। परमिदानीमेतदीयस्यैतत्तन्त्रस्योपलब्ध्या ततो बहुभिरंशैर्वृद्धजीवकीयपरिचयविशेषस्यावगमे पूर्वोक्तदिशा पितृविभेदः, देशविभेदः, गुरुविभेदः, सविशेषणनिर्विशेषणनामभेदः, धार्मिकपथविभेदश्चैवमादयो बहवो विसंवादा उपलभ्यन्ते। बौद्धग्रन्थोक्तजीवकस्य कौमारभृत्यत्वे कुमारेण पालितत्वं निदानतया महावग्गे उल्लिख्यते, न तु कौमारभृत्यप्रस्थानाचार्यत्वम्। तथा प्रसिद्धस्य महावैद्यस्य कौमारभृत्यविद्याऽपि चेतसि चकास्तु नाम, किन्तु बहुषु बौद्धग्रन्थेषु तदीयेतिवृत्तानां चिकित्सनादीनां च सविस्तरमुपवर्णने सत्यपि किमिति नाम कौमारभृत्यवित्त्वं तद्विषयकैतादृशप्रौढतन्त्रस्य निर्मातृत्वं च लेशतोऽपि न सूचितं स्यात्। एतत्तन्त्रस्यान्तरङ्गदृशा विचारणेऽपि विसंवादकमेवोपलभ्यते। तूङ्हाङ्गतहार्नलोपलब्धप्राचीनग्रन्थलेखतो बुद्धेन स्वसामयिकजीवकाय भैषज्यविषयस्य उपदेशनं दृश्यते। स एवायं वृद्धजीवको यद्यभविष्यत्तदा तन्त्राभ्यन्तरे तत्र तत्र धन्वन्तर्यादीनामिव वाह्लिकभिषजः काङ्कायनस्य वैदेशिकम्लेच्छभिषगादीनामपि नामानि भैषज्यविषयविशेषांश्चानुदर्शयन्नसौ स्वोपदेशकं भगवन्तं बुद्धं, तदीयोपदेशलब्धौषधविशेषान्, प्रसङ्गतस्तदीयाध्यात्मिकविषयं वा कथं लेशतोऽपि नासूचयिष्यत्। न चात्र बौद्धी च्छाया लेशतोऽप्युपलभ्यते। महावग्गादिलेखतस्तदीयजीवकस्य शल्यतन्त्रेऽपि विशेषनिष्णातत्वं कृतहस्तत्वं च प्रतीयते। अस्मिंस्तन्त्रे तु शल्यतन्त्रीयविषयस्य परतन्त्रीयत्वेन तटस्थतया निर्देशोऽस्ति। तदेवं बौद्धग्रन्थोक्तान्मागधादभयपुत्राद् भुजिष्यागर्भसम्भवाज्जीवकाद्भिन्नः प्राचीनः कनखलप्रान्तीय ऋचीकपुत्रः कश्यपशिष्यो महर्षिभिरादृतः कौमारभृत्याचार्य एतत्तन्त्रकर्ता वृद्धजीवको दृश्यत इत्यलम्।

प्रसङ्गस्मृतानि आचार्यान्तराणि

तदेवं कश्यपेनोपदिष्टां प्राथमिकीं संहितां महानिबन्धरूपामधिगत्य वृद्धजीवकस्तदीयं विस्तृतांशं संक्षिप्य संक्षिप्तरूपान्तरं व्यदधात्, तदेव समयान्तरेण वात्स्यः प्रतिसंस्कृत्य प्रकाशयामासेति संहिताकल्पाध्यायनिर्देशेन यथाऽऽत्रेयेण प्रथमोपदिष्टां संहितामन्तर्भाव्य अग्निवेशस्तन्त्ररूपतामानिनाय, तदेव तन्त्रं चरकेण पुनः संस्कृत्य वर्तमानरूपेण प्रकाशितं; यथा वा दिवोदासरूपेण धन्वन्तरिणा प्रथमोपदिष्टां संहितामन्तर्भाव्य सुश्रुतः संहितारूपेण निबबन्ध, तामेव नागार्जुनत्वेन संभावितोऽन्यो वा कश्चन प्रतिसंस्कर्ता संस्कृत्य वर्तमानरूपेण प्रकाशयामास; तथैव काश्यपेनोपदिष्टा मूलभूता महासंहिता वृद्धजीवकेन संक्षिप्य तन्त्ररूपतामवापिता समयान्तरेण वात्स्येन प्रतिसंस्कृत्य प्रकाशिता वर्तमानरूपेणास्मद्दृष्टिपथमुपगतेतीदानीं मूलसंहितानां तद्रूपान्तरभूततन्त्राणां च पृथगनुपलम्भेनोपलभ्यमानग्रन्थात्मना वर्तमाना चरकसंहितैवाग्निवेशतन्त्रमात्रेयसंहिता च, वर्तमाना प्रतिसंस्कृतसुश्रुतसंहितैव मूलसुश्रुतसंहिता धन्वन्तरिसंहिता च, वर्तमाना वात्स्यसंस्कृतसंहितैव वृद्धजीवकीयतन्त्रं मूलकाश्यपसंहिता च भवन्ती एकाऽपि ग्रन्थत्रयात्मनाऽस्माकं पुरो भवति। उपलभ्यमानेष्वेषु प्राचीनग्रन्थेषु प्रतिसंस्कर्तॄणां चरकस्य नागार्जुनादेरनिश्चितस्य वात्स्यस्य च कक्षा तृतीया, तत उपरि तन्त्रकर्तॄणामग्निवेशस्य सुश्रुतस्य वृद्धजीवकस्य च कक्षा द्वितीया, ततोऽप्युपरि मूलसंहिताकर्तॄणामात्रेयस्य दिवोदासरूपतामापन्नस्य धन्वन्तरेर्मारीचकश्यपस्य च कक्षा प्रथमेत्यात्रेयधन्वन्तरिकश्यपा एषु प्रस्थानेषु प्राचीनतमा मूलाचार्याः॥

प्राचीनतमत्वेन दृष्टानामेषामात्रेयधन्वन्तरिकश्यपानां मूलाचार्याणां यथास्वं समयविशेषनिर्धारणस्य दुष्करत्वेऽपि किंरूपमेषां पौर्वापर्यं, सहभावो वा कयोश्चित्, यैरात्रेयाग्निवेशचरक–धन्वन्तरिदिवोदाससुश्रुत–कश्यपवृद्धजीवकवात्स्यादिभिरन्यैरपि पूर्वाचार्यैरेतद्विज्ञानं प्रतिष्ठामवापितं, तेषां कदोद्भव इति निश्चितं समयं प्रदर्शयितुं न कोऽपि धारावाहिक ऐतिहासिकलेखोऽस्माकमवलम्बनायेति तत्परिच्छेदाय प्रवर्तनं दुःसाहसमिव। तथाऽपि कियन्तमवधिं यावदेते उपर्यारोढुं प्रभवन्ति, कियतो वाऽवधेरधोऽवतरितुमेते प्रतिरुध्यन्ते, तथाविधविचारसाधनानां केषाञ्चिदुपलम्भेनापि कश्चनास्फुटोऽपि समयोऽवगम्येत; येनैषामेकस्यापरेण साकं स्वीयसमविषयरङ्गभूमाववतीर्णानां पर्यालोचने कश्यपस्य जीवकस्य वात्स्यस्यापि समयावधारणे कोऽप्यालोकः प्रदीयेतेति तत्र तत्र विवेचकानां विदुषामभिप्रायैः सह स्वस्य हृदये प्रतिभातमपि निदर्शयितुं किमपीहोपन्यस्यते—

धन्वन्तरि-दिवोदासश्च

सुश्रुतसंहितायां धन्वन्तरिरूपेण काशिराजेन दिवोदासेन सुश्रुतस्योपदेशनं निर्दिष्टमस्ति। धन्वन्तरेर्दिवोदासस्य परिचयाय पर्यालोचने वेदेषु वैद्याचार्यस्य धन्वन्तरेरुल्लेखो न दृश्यते। ऋङ्मन्त्रेषु यत्र वैद्यकविषया दृश्यन्ते तत्र विशेषतो देवभिषजोरश्विनोरेव भिषग्भावेनोपवर्णनं लभ्यते। ऋग्वेदे प्रथममण्डलादिषु बहुषु स्थानेषु दिवोदासनाम्नो नृपस्योल्लेखोऽस्ति। वैदिके तदुपवर्णने 'अतिथिग्वः शम्बरशत्रुः सुदासपिता' इत्यादयो विशेषाः शौर्यवीर्यकर्माणि चोपलभ्यन्ते। काठकसंहितायामपि,मन्त्रभागे ब्रध्नश्चदिवोदासस्योल्लेखोऽस्ति। अस्य वैदिकदिवोदासस्य काश्या राजत्वं धन्वन्तरिणा सह सम्बन्धश्च न ततः प्रतीयते। तेनास्य ऋग्वेदोल्लिखितस्य काठकोल्लिखितस्य च दिवोदासस्य अतिप्राचीनः कालः, न वाऽयं वैद्याचार्यः॥

पौराणिकेतिहासेष्वप्यनेके दिवोदासनामान उपलभ्यन्ते। तेषु हरिवंशे[1] २९ अध्याये काशस्य वंशे धन्वन्तरेर्दिवोदासस्य

---

१. हरिवंशस्य वाराणस्यां गोविन्दचन्द्रविजयराज्ये १२०१ संवत्सरे लिखितं प्राचीनं ताडपत्रपुस्तकमस्मत्संग्रहालयेऽस्ति, तदीयपाठसंवादेऽप्ययमेव वंशानुक्रम आयाति।

च काशिराजत्वेनोपलम्भोऽस्ति । तद्वंशानुक्रमश्चेत्थम्—

अत्र काशपौत्रो धन्वनामा नृपः समुद्रमथनोत्पन्नस्याब्जनाम्नोदेवस्याराधनेन धन्वन्तरिनामानमब्जावताररूपं पुत्रमवाप । स धन्वन्तरिर्भरद्वाजादायुर्वेदविद्योपदेशमादाय तद्विज्ञानमष्टधा व्यस्य शिष्येभ्य उपादिशत् । अस्य प्रपौत्रो दिवोदासो वाराणसीं[1] नगरीं निवेशयामास । दिवोदासस्य पुत्रः प्रतर्दनोऽभवत् । दिवोदाससमये शून्यां वाराणसीं प्रतर्दनस्य पौत्रोऽलर्को नाम काशिराजः पुनर्निवेशयामासेति हरिवंशलेखादवगम्यते । हरिवंशलेखे शून्याया वाराणस्या दिवोदासेन स्थापनस्योल्लेखेन वाराणस्यास्ततः पूर्वमपि सत्त्वागमेऽपि महाभारतानुशासनपर्वलेखाद्दिवोदासेनैव वाराणस्या निर्माणमवगम्यते ॥

महाभारतेऽपि चतुर्षु स्थानेषु[3] दिवोदासस्य नामास्ति । महाभारतलेखादपि दिवोदासस्य काशीपतित्वं[4], वाराणसीप्रतिष्ठापकत्वं, हैहयेभ्यः पराजये भरद्वाजशरणगमनं, तद्विहितपुत्रेष्ट्या प्रतर्दननामकवीरपुत्रोत्पादनमित्यादय एतत्संवादिन एव विषया दृश्यन्ते । तत्र दिवोदासस्य पूर्वपुरुषेषु अन्तरान्तरागतानि व्यक्त्यन्तराणि अन्तर्निधाय प्रसिद्धतया दृष्टानां हर्यश्वादीनामेव नामोल्लेखः प्रतीयते । अग्निपुराणे (अ. २७८) गरुडपुराणेऽपि (अ. १३९, श्लो. ८–११) वैद्यस्य धन्वन्तरेर्वंशे चतुर्थो दिवोदासः कीर्तितोऽस्ति ॥

महाभारते[1] समुद्रमथनोपाख्याने धन्वन्तरेर्देवस्याविर्भावोल्लेखोऽस्ति । पुराणादिष्वपि धन्वन्तरेर्निर्देश उपलभ्यते । आग्नेयपुराणे[2] समुद्रादुत्पन्नस्य धन्वन्तरेरायुर्वेदप्रदर्शकत्वेनापि निर्देशोऽस्ति । परं वेदे धन्वन्तरेरुल्लेखानुपलम्भेन, हरिवंशे समुद्रमथनादाविर्भूतस्याब्जदेवस्य धन्वनृपपुत्रतयाऽवतरणे यौगिकेन धन्वन्तरिनाम्ना व्यवहारस्य दर्शनेन चोभयोः सङ्गमनेऽब्जस्यैव धन्वन्तरिभावेन द्वयोरभेदमनुसन्धाय समुद्रादुत्पत्तेः प्रसङ्गे देवस्याब्जस्यापि भाविना धन्वन्तरिनाम्ना क्वचन व्यवहारः कृतः किमु इति प्रतिभाति । येन वैद्याचार्यस्य दिवोदासपूर्वपुरुषस्य धन्वन्तरेरब्जदेवरूपतया लौकिकैस्तैर्थिकैश्च देवभावेन व्यवहरणमपि युज्यते ॥

अस्मिन्दिवोदासे भरद्वाजसम्बन्धस्य, वाराणसीनिवेशनस्य, पुत्रस्य प्रतर्दननाम्नश्च संवादेन हरिवंशोक्तस्य भारतोक्तस्य चैक्यमवगन्तुं शक्यते । कौषीतकि (साङ्ख्यायन) ब्राह्मणे[3] कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्यपि[4] दैवोदासिः प्रतर्दन इति शब्दनिर्देशेन दिवोदासपुत्रस्य प्रतर्दनस्य ब्रह्मविद्यालब्धेराख्यायिका दृश्यते । काठकसंहितायामपि[5] ब्राह्मणांशे आरुणिसमकालिकस्य भैमसेनेर्दिवोदासस्योल्लेख उपलभ्यते ॥

एवं दर्शनेन काशनृपतिसन्ततिरूपाः सर्वेऽप्यमी काशनृपेण प्रतिष्ठापिततया किल काशिनाम्ना प्रसिद्धस्य देशस्य नृपतितया काशिराजशब्देन कीर्तिताः, धन्वनृपस्य पुत्रतया तदात्मजस्य धन्वन्तरिनाम्ना व्यवहारः, आत्रेयादीनामिव पूर्वाचार्याद्भरद्वाजादेव धन्वन्तरेरपि आयुर्वेदविद्यालाभो हरिवंशलेखात्प्रतीयते । महाभारतहरिवंशादिलेखे धन्वन्तरेः प्रपौत्रस्य दिवोदासस्य काशिराजस्य वैद्यविद्याचार्यत्वाकीर्तनेऽपि सुश्रुते काशीराजस्य दिवोदासस्य सुश्रुताद्युपदेष्टृत्वोल्लेखसंवादेन च वैद्याचार्यस्य धन्वन्तरेः सन्निकृष्टचतुर्थसन्ततित्वेन पूर्वपुरुषविद्यासमादरणेन दिवोदासस्यापि वैद्यविद्याचार्यभावः सुसङ्गत एव । धन्वन्तरेः सन्निकृष्टसन्ततित्वेन, तदीयसंप्रदायप्रकाशकत्वेन धन्वतरिस्थानापन्नतया धन्वन्तरेरवताररूपत्वेन संमान्य सुश्रुतसंहितायां "धन्वन्तरिं दिवोदासं सुश्रुतप्रभृतय ऊचुः" (सू. अ. १) इति द्वयोरौपचारिकोऽभेदव्यवहारो न खल्वनुचितः । आयुर्वेदाचार्यत्वेनावगतस्य धन्वन्तरेः प्रपौत्रो दिवोदासः, सुश्रुते चायुर्वेदोपदेष्टा धन्वन्तर्यवताररूपो दिवोदास इत्युभयोः सङ्गमनेन धन्वन्तरेरायुर्वेदीयसम्प्रदायः शिष्यपरम्परायामिव स्वसन्ततौ दिवोदासेऽपि अनुवृत्तः स्पष्टं प्रतीयते । मत्स्यकाश-

१. तेन वाराणारनामकः कश्चन वाराणसीं निर्ममे इति प्रवादो निर्मूलः । (हिन्दीविश्वकोशे काशी-शब्दे)

२. सौदेवस्त्वथ काशीशो दिवोदासोऽभ्यषिच्यत । दिवोदासस्तु विज्ञाय वीर्यं तेषां यतात्मनाम् ॥ वाराणसीं महातेजा निर्ममे शक्रशासनात् । अनुशासन अ. २९ ।

३. उद्योगपर्वणि अ. ११७, आनुशासनिके दानधर्मप्रकरणे अ. २९, राजधर्मप्रकरणे अ. ९६, आदिपर्वणि च ।

४. महाबलो महावीर्यः काशीनामीश्वरः प्रभुः । दिवोदास इति ख्यातो भैमसेनिर्नराधिपः ॥ (उद्योगे अ० ११७)

१. धन्वन्तरिस्ततो देवो वपुष्मानुदतिष्ठत । श्वेतं कमण्डलुं बिभ्रदमृतं यत्र तिष्ठति ॥ (आदिपर्वणि अ० १६)

२. ततो धन्वन्तरिर्विष्णुरायुर्वेदप्रदर्शकः । बिभ्रत्कमण्डलुं पूर्णममृतेन समुत्थितः ॥ (अग्निपुराणे ३ अ०)

३. अथ ह स्माह दैवोदासिः प्रतर्दनो नैमिषीयाणां सत्रमुपगम्योपास्य ... विचिकित्सां पप्रच्छ । (कौषीतकिब्राह्मणे २६–५)

४. प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोप जगाम । (कौषीतक्युपनिषदि ३–१)

५. दिवोदासो भैमसेनिरारुणिमुवाच (काठकसंहिता ७–१–८) ।

स्थताडपत्रीये सुश्रुतसंहितापुस्तके सर्वादौ 'इत्युवाच भगवान् धन्वन्तरिः' इति वाक्यं नास्ति । धन्वन्तरिदिवोदाससकाशे सुश्रुतादीनामुपगमोल्लेखात् पूर्वं तादृशवाक्यस्य सत्त्वमपि नोचितं दृश्यते ॥

पूर्वोद्दिष्टे हरिवंशलेखे कलियुगे दिवोदासेन वाराणस्याः प्रतिष्ठापनोक्त्या धन्वन्तरेस्तत्प्रपौत्रस्य दिवोदासस्य च समयः कलियुगीनः प्रतीयते । कतमश्च सः कलियुगसमय इति ततः परिच्छेत्तुं न शक्यते ॥

काशीयुवराजस्य ब्रह्मदत्तस्य तक्षशिलायामायुर्वेदाध्ययनायोपगमनं जातकग्रन्थे, काशिराजपदमधितिष्ठता ब्रह्मदत्तेन सह जीवकस्य समागमवृत्तं महावग्गे उपलभ्यते । महावग्गे काशीशब्दोऽप्यऽस्ति, परं वाराणसीशब्दो बाहुल्येन प्रयुज्यते । बुद्धेनापि वाराणसीशब्दिते प्रदेशे धर्मचक्रस्य प्रवर्तनमुल्लिख्यते । जातकग्रन्थेष्वपि बहुशो वाराणसीशब्दः समायाति । पाणिनिना देशवाचकः काशीशब्दः सूत्रे स्पष्टं निर्दिष्टः । नगरवाचको वाराणसीशब्दो नद्यादिगणे प्रवेशितो दृश्यते । भाष्यकृताऽपि वाराणसेय इत्युदाहरणं बहुशः प्रदत्तमस्ति । जाबालोपनिषदादिषु वाराणसीशब्दस्याप्युपलम्भेऽपि ब्राह्मणग्रन्थेषु प्राचीनोपनिषत्सु काशीशब्दस्योपलम्भसत्त्वेऽपि, वाराणसीशब्दस्यानुपलम्भेन देशविशेषवाचकः काशीशब्दः पुराकालात् प्रचलितः, नगरीविशेषवाचको वाराणसीशब्दस्तु प्राचीनोपनिषत्समयादनन्तरमेव प्रसिद्धिमुपगत इत्युपगम्यते । पुराणादिषु काशीवाराणसीशब्दावुभावेवोपलभ्येते । इतिहासपर्यालोचने बुद्धसमयादनु कदाचित्कोशलनृपतिभिः, कदाचिन्मागधैः शिशुनागैः, तदनु मौर्यशुङ्गगुप्तनृपतिभिः, हर्षवर्धनेनापि वाराणस्या विजयस्येतिहासा उपलभ्यन्ते । तत्तदीयनृपाणामितिवृत्तानुसन्धाने धन्वन्तरिदिवोदासप्रतर्दनानां नामान्यर्वाक्समये नोपलभ्यन्ते । प्रत्युत वार्तिककृतो 'दिवश्च दासे' इति दिवोदाससाधनस्य महाभाष्यकृतो 'दिवोदासाय गायते' इति निदर्शनस्य दर्शनेन, कौषीतकिब्राह्मणे तदुपनिषदि ऋक्सर्वानुक्रमसूत्रेऽपि दैवोदासेः प्रतर्दनस्य, काठकसंहिताया ब्राह्मणभागवाक्ये भैमसेनेर्दिवोदासस्योल्लेखेन, एतत्संवादिनोः महाभारतहरिवंशयोः वैद्यविद्याचार्यधन्वन्तरिप्रपौत्रस्य वाराणसीनिवेशकस्य प्रतर्दनपितुरलर्कप्रपितामहस्य दिवोदासस्य कलियुगीनस्योपलम्भेन च दिवोदासस्य समयः कलियुगे ऐतरेयब्राह्मणकाले काठकब्राह्मणस्य कौषीतकिब्राह्मणस्य तदुपनिषदश्च समयेन सन्निकृष्टः किञ्चित्पूर्वतनो वा इत्यायाति ॥

कौषीतकिब्राह्मणस्य समयविचारे श्वेतकेतोरारुणेर्नाम्नः कथान्तराणां च संवादेन कौषीतक्युपनिषदो बृहदारण्यकस्य च समः समय इति पाश्चात्यविदुषा वेबरमहाशयेन निर्दिष्टमस्ति । श्रीयुत विन्टरनिजविदुषोऽप्यत्र समान एवाभिप्रायः । तेन कौषीतकिब्राह्मणमैतरेयब्राह्मणात् पश्चात्तनमङ्गीक्रियते । श्रीयुत चिन्तामणिवैद्यमहाशयस्तु ऐतरेयब्राह्मणे (७-११) कौषीतकिब्राह्मणवाक्योद्धारो दृश्यते, वेबरमहोदयेन विनैव साधनं तस्य तत्र प्रक्षिप्तत्वमुच्यते; तेनैतरेयब्राह्मणात् पूर्वतनं कौषीतकिब्राह्मणं B. C. 2500 सामयिकमिति साधयति । एस्. बी. दीक्षितमहाशयो ज्यौतिषगणनाधारेण B. C. 2900–1850 एतदन्तरालं समयं कौषीतकिब्राह्मणस्य दर्शयति । कौषीतकिब्राह्मणस्य (१७-४) यास्कनिरुक्ते (१-९) उपादानात्, त्रिंशदध्यायात्मकस्य कौषीतकिब्राह्मणस्य "त्रिंशच्चत्वारिंशतो ब्राह्मणे संज्ञायां डण्" (५-१-६२) इति सूत्रे कौषीतकिपूर्वपुरुषस्य कुषीतकस्य "विकर्णकुषीतकात् काश्यपे" (४-१-१२४) इति सूत्रे पाणिनिना ग्रहणाच्च कौषीतकिब्राह्मणं पाणिनेर्यास्कादपि प्राचीनमिति श्रीयुतकीथमहाशयोऽपि वदति । पाणिनेः समयविचारे मञ्जुश्रीमूलकल्पाधारेण लिखिते इतिहासे जायसवालमहोदयः B. C. 366-338 पाणिनेः समय इति, अन्ये केचन B. C. 400 इति वदन्ति । परं पाणिनीये वेदवेदाङ्गसंप्रदायप्रवर्तकर्षिदेशनगरग्रामनदनदीप्रभृत्युल्लेखसम्भृते गौतमबुद्धमहावीरसंप्रदायसम्बन्धिन एकस्यापि विषयस्यालाभेन श्रीयुतबुद्धमहावीराभ्यां प्राक् (B. C. 700–800) पाणिनिसमय इति बहून् समयानेतद्विषये निमज्य विचारं प्रकटीकुर्वतो गोल्डस्टूकरमहोदयस्य सिद्धान्तः । श्रीयुतबेलवल्करमहाशयस्य श्रीयुतभाण्डारकरमहाशयस्याप्येवंप्रायोऽभिप्रायः । श्रीयुतचिन्तामणिविनायकैः B. C. 900 समयो निर्दिष्टोऽस्ति । एवं विभिन्नमतानां दर्शनेऽपि पाणिनिना ततोऽपि पूर्वतनेन यास्केन च गृह्यमाणं ततोऽपि पूर्वतनं कौषीतकिब्राह्मणं बहुपूर्वसमयकत्वेन प्रतिभासमानमप्यन्ततो गत्वा बुद्धसमयान्नार्वागित्यत्र सर्वेषामैकमत्यमेव । एवमैतरेयकौषीतकिब्राह्मणसमयोरान्तरालिकोऽयं दिवोदास उपनिषत्कालिकोऽवगम्यमानः स्वप्रपितामहं धन्वन्तरिं स्वस्मादपि प्राक्तनं निश्चाययति ॥

---

१. अस्मिन् पुस्तके बहवः पाठभेदा दृश्यन्ते । तत्संहितान्ते सौश्रुतो निघण्टुरप्यस्ति । एतत् पुस्तकपाठसंवादेन सह सुश्रुतसंहितायाः संस्करणान्तरमिदानीं श्रीमदाप्ततमयादवजीमहाभागैः प्रकाश्यते ॥

२. काश्यादिभ्यष्ठञ्ञिठौ ४।२।११६ ।

३. नद्यादिभ्यो ढक् ४।२।९७ वाराणसेयः ।

४. 'गायति' इति काशिका ।

५. प्रसेनानीश्चतुर्विंशतिर्दैवोदासिः प्रतर्दनः ।
(कात्यायनीयऋक्सर्वानुक्रमण्यां सू. ५२)।

१. History of Indian Literature by Weber P. 52.

२. History of Indian Literature by Winternitz.

३. History of Sanskrit Literature C. V. Vaidya.

४. History of Indian Astronomy S. B. Dikshit.

५. Rigveda Brahmanas Translated by. Keith p. 42

६. An Imperial History of India. by K. P. Jayaswal p. 15.

७. Panini his place in Sanskrit Literature by Goldstucker.

८. Systems of Sanskrit Grammar. by S. K. Belvalkar.

९. History of the Deccan by Bhandarkar.

१०. History of Sanskrit Literature Vedic period by C. V. Vaidya p. 129.

मिलिन्दपह्नोनामके पालीग्रन्थे B. C. द्वितीयशताब्दीगतं मिलिन्दं (Menander King of Bactria) प्रति नागसेनस्योक्तौ "चिकित्सकानां पूर्वका आचार्याः"[1] इत्युपक्रम्य कीर्तितेष्वाचार्येषु धन्वन्तरेरप्युपादानमस्ति । तत्र रोगोत्पत्तिनिदानस्वभावसमुत्थानचिकित्साक्रियादिवेत्राचार्यरूपेणोपादानात् , चिकित्सकानां पूर्वकाचार्या इति नागसेनेन स्वस्मात् पूर्ववर्त्याचार्यरूपेण चिकित्सकाचार्यभावेन तस्य निर्देशनाच्च एतन्निर्दिष्टोधन्वन्तरिः महाभारतादिषु आयुर्वेदीयग्रन्थेष्वपि लभ्यमानः सुश्रुतसंहितायामाचार्यभावेन दृष्टो यः प्राचीनो धन्वन्तरिः स एवायमिति स्पष्टमवबुध्यते । किंवा अत्र कपिलनारदादिभिः सहोपादानेन धन्वन्तरिशब्दो मूलधन्वन्तरिमभिप्रैति । किञ्च B. C. द्वितीयतृतीयशताब्दीनिर्मितयोर्भरुचसाचीस्तूपयोः शिलाचित्रलेखानां संवादेन, भरुचस्तूपे जातकानां नामतोऽप्युल्लेखेन च पालीजातकग्रन्थानां तदात्वेऽपि सत्त्वं प्रसिद्धिश्च सिद्ध्यति । B. C. चतुर्थशताब्द्यां वैशाल्यामुपजातायां बौद्धमहासभायामपि तेषां जातकग्रन्थानां प्रसिद्धिरासीदिति मेक्डोनलादयः पाश्चात्यविद्वद्वरा अपि वदन्ति । ग्रन्थप्रसिद्धेरप्येवंभावे ग्रन्थस्य ततः प्राक्तनत्वं तु सुतरामेव । तत्र अयोघरनाम्नि पालीजातके बुद्धस्यैकस्मिन् पूर्वजन्मनि राजपुत्रावस्थायां धर्मचर्यायै राज्ञोऽनुज्ञालब्धये धन्वन्तरिवैतरणभोजाख्यांश्चिकित्सकान्नामग्राहं गृहीत्वा ओषधिभिर्विषापहरणेन च लोकोपकारिणो धन्वन्तरिसदृशा विद्वांसोऽपि मृत्युमुखं प्रविष्टा इति मृत्योर्महिमानमुल्लिख्य दर्शितो धर्मानुरागस्तत्कथायां प्रदर्श्यते[2] । तत्कथोल्लेखेन बुद्धस्य पूर्वजन्मावस्थायामपि धन्वन्तरिवैतरणभोजानामस्माल्लोकादप्यतीतत्वम् , इदमपि कृतमस्मिन् पूर्वजन्मनीति बहुपूर्वत्वं ततो ज्ञायते । आर्यसूरीयजातकमालायामपि अयोगृहजातके व्याधिनाशकवैद्यवर्या धन्वन्तरिप्रभृतयोऽपि विनाशं गता इति धन्वन्तर्यादीनामतीतभावेन ससंमानं निर्देशोऽस्ति । आर्यसूरीयलेखे

१. भन्ते नागसेन, ये ते अहेसुं **टिकिच्छकानं पुब्बका आचारिया,** नारदो, **धम्मन्तरि,** अङ्गिरसो, कपिलो, कण्डरग्गिसामो, अतुलो, पुब्बकच्चायनो, सब्बे ये ते आचारिया स किं येव रोगुप्पत्तिं च निदानं च सभावं च समुट्ठानं च टिकिच्छां च किरियां च सिद्धासिद्धां च सब्बान् तं निरवसेसं जानित्वा इमस्मिन् काये एतका रोगा उपज्जिसन्तीति एकापहारेन कलापग्गाहं कारित्वा सुत्तं बन्धिसु. असब्बञ्ञुनो एते सब्बे । (मिलिन्दपन्हो Pali Text Ed by Trenckner P. 272).

२. आसीविसा कुपिता यं दसन्ति **टिकिच्छका** टीसं विसं दसन्ति ।
नमञ्ञनो दट्ठविसं हनन्ति तं मे मति होति चरामि धम्मम् ।
धम्मन्तरि वैतरणि च भोजो विसानि हत्वा च भुजङ्गमानम् ।
सूयन्ति ते कालकता तथेव (अयोघरजातके)

३. हत्वा विषाणि च तपोबलसिद्धमन्त्रा व्याधीन्तृणामुपशमय्य च वैद्यवर्याः ।
धन्वन्तरिप्रभृतयोऽपि गता विनाशं धर्माय मे नमति (भवति) तेन मतिर्वनान्ते ॥ (आर्यसूरीये जातके)

धन्वन्तरेरेव नाम गृहीतम् , अन्ये त्वाचार्याः प्रभृतिशब्देनैव गृहीताः । पालीलेखे तु धन्वन्तरिनाम्ना सह वैतरणभोजयोरपि चिकित्सकत्वेनोपादानमस्ति । सुश्रुतसंहितायां प्रारम्भवाक्ये धन्वन्तरिरूपदिवोदाससकाशाद्विद्यालब्धये समुपेतानामन्तेवासिनामुल्लेखे वैतरणस्यापि निर्देशोऽस्ति । तत्रसुश्रुतप्रभृतय ऊचुरिति प्रभृतिपदेन भोजादीनां ग्रहणमिति डल्लनाचार्येण व्याख्यातमस्ति । मत्सकाशस्थे प्राचीने सुश्रुतस्य ताडपुस्तके तु 'औपधेनववैतरणौरभ्रपौष्कलावतकरवीर्यगोपुररक्षितभोज-सुश्रुतप्रभृतय ऊचुः' इति मूले एव वैतरणस्येव भोजस्यापि स्पष्टमुल्लेखोऽस्ति । अस्मिन् पालीजातकलेखे दिवोदासान्तेवासिनोर्वैतरणभोजयोः साहचर्येण तदुपात्तो धन्वन्तरिर्न मूलाचार्यः, अपितु धन्वन्तर्यवताररूपतया धन्वन्तरिशब्देन सुश्रुतसंहितायां व्यवहृतस्तद्वंशीयो दिवोदासः प्रतीयते । अत्र सुश्रुतादीनामन्येषामनुल्लेखेऽपि उपनिषत्काले दिवोदासस्योपलम्भेन, सुश्रुतसंहितायां दिवोदासस्य धन्वन्तरिरूपतया व्यवहरणाद्दिवोदासात्मकस्य धन्वन्तरेरन्तेवासिनोर्वैतरणभोजयोः सुश्रुतसंहितोक्तयोः संवादेन, जातके निर्दिष्टस्य विषप्रतीकारविषयस्य सुश्रुतसंहितायां कल्पस्थाने संवादेन च भोजवैतरणाभ्यां सह निर्दिष्टानां सुश्रुतादीनामपि समानकालिकमन्तेवासित्वं सुश्रुतोक्तं संवदति । आग्नेयपुराणलेखतः सुश्रुतस्यापि आयुर्वेदविद्याग्रहणे धन्वन्तर्यन्तेवासित्वं स्थिरीभवति च । तदेवं दिवोदासरूपमवाप्तस्य धन्वन्तरेर्बौद्धजातकग्रन्थेभ्योऽप्यतिप्राचीनत्वेनोपलम्भात्तत्पूर्वपुरुषस्य मूलधन्वन्तरेस्ततोऽपि प्राग्भावः सुतरामेव ॥

धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहेत्यादिश्लोकोक्तो विक्रमीयनवरत्नेष्वन्यतमो धन्वन्तरिरेव प्रसिद्धवैद्याचार्य इत्यपि कस्यचिन्मतमस्ति । परं पूर्वोक्तदिशा प्राचीनस्य वैद्याचार्यधन्वन्तरेरुपलम्भेन धन्वन्तरिनामसाम्यं तद्भ्रान्तयेऽजायत । नवरत्नेषु गणितो धन्वन्तरिः कविः, नास्य वैद्याचार्यत्वं कुतोऽप्यायाति ॥

काश्यपसंहितायां शिष्योपक्रमणीयाध्याये (पृ. ५७) हौम्यदेवतानिर्देशेप्रजापत्यश्वीन्द्राणां, स्वीयतन्त्रपूर्वाचार्यस्य कश्यपस्येव, अग्न्यादीननुल्लिख्य प्रस्थानान्तराचार्यस्य धन्वन्तरेरपि स्वाहाकारविधानेन धन्वन्तरेरुपादानं समादरश्चोपलभ्यते । दिवोदासस्य सुश्रुतस्य धन्वन्तर्यनुयायिनोऽपि नात्रोल्लेखोऽस्ति । तेन द्विव्रणीये परतन्त्रस्य समयमिति (चि.अ.श्लो. ५) शल्यविषयस्य परतन्त्रीयत्वेनोपादानमपि धान्वन्तरं सम्प्रदायमुपस्थापयति । आत्रेयसंहितायाम् 'इति धन्वन्तरिः, धान्वन्तरं मतं, धान्वन्तराः'[1] इति बहुशो धन्वन्तरेस्तत्सांप्रदायिकानां च पूर्वाचार्यत्वेन ससंमानं निर्देशनमस्ति, परं दिवोदासस्य सुश्रुतस्य च तत्रापि नाम स्पष्टं नोट्टङ्कितम् । सुश्रुतेऽपि आत्रेयस्य कश्यपस्यापि न नामोल्लेखोऽस्तीति मारीचिकश्यपात् पुनर्वसोरात्रेयाच्च धन्वन्तरेः पूर्वाचार्यत्वमवगम्यते ।

१. सर्वाङ्गनिर्वृत्तिर्युगपदिति धन्वन्तरिः (सूत्र ६. १८), दाहे धान्वन्तरीयाणामत्रापि भिषजां मतम् (चिकित्सा० ५. ६४), इदं तु शल्यहर्तॄणां (चि० १३. १८२), ताः शल्यविद्भिः कुशलैश्चिकित्स्याः (चिकित्सा ६. ५८) इत्यादि चरकसंहितायाम् ।

काश्यपीये धन्वन्तरिमात्रोल्लेखः, आत्रेयीये तु धन्वन्तरिसाम्प्रदायिकानामप्युल्लेख इति धन्वन्तरिसम्प्रदायस्य बहुलीभावे सति आत्रेयपुनर्वसोरुदयः प्रतीयते। आत्रेयादपि धन्वन्तरेः पूर्वत्वे सति तदनुयायिन अग्निवेशाद्भेडाच्च धन्वन्तरेः पूर्वत्वं सुतरामेव। भेडसंहितायां चरकसंहितायामपि धान्वन्तरघृतादीनामुल्लेखोऽप्येतदेव स्पष्टयति। सुश्रुते शारीरस्थाने तृतीयाध्याये शौनककृतवीर्यपाराशर्यमार्कण्डेयसुभूतिगौतमानां प्राचीनतमानां पूर्वाचार्याणां निर्देशः। आत्रेयकाश्यपसंहितयोस्तु काङ्कायनादीनामपि पूर्वाचार्यत्वेन निर्देशोऽस्ति। डल्लनलेखाद्दिवोदासान्तेवासितया काङ्कायनस्याभ्युपगमः कस्यचिन्मतेन निर्दिष्टः। तथात्वे दिवोदासान्तेवासितया ज्ञातस्य काङ्कायनस्य आत्रेयसंहितायां काश्यपसंहितायामपि निर्देशेन आत्रेयकाश्यपाभ्यां दिवोदासस्य धन्वन्तरेश्च पूर्वत्वं प्रगुणीभवति।

भरद्वाजाद्धन्वन्तरेरायुर्वेदविद्यालाभस्य, दिवोदासेनापि भरद्वाजस्याश्रयणस्य हरिवंशे उल्लेखेन त्रिपुरुषान्तरिताभ्यां धन्वन्तरिदिवोदासाभ्यां सह सम्बद्धो भरद्वाज एकैव व्यक्तिरुत तद्गोत्रीयं व्यक्तिद्वयमिति नावधार्यते। चरकसंहितायामपि उपक्रमग्रन्थे भरद्वाजादात्रेयस्यायुर्वेदविद्यालाभः, उत्तरत्र क्वचन भरद्वाजमतस्यात्रेयेण प्रतिक्षेपः, वातकलाकलीये 'कुमारशिर' इति विशेषितस्य भरद्वाजस्य निर्देशः, काश्यपसंहितायां रोगाध्याये (पृ. ३९) कृष्णभारद्वाजस्य निर्देशश्चास्ति। तेनायुर्वेदविद्यायां नानाभरद्वाजानामाचार्यभावोऽवगम्यते। तदेवमेकेन तद्गोत्रगतविभिन्नव्यक्तिरूपेण वा भरद्वाजेन सह धन्वन्तरिमारीचकश्यपात्रेयपुनर्वसुदिवोदासानां नातिविप्रकृष्टकालिकः सम्बन्धः प्रतीयते। आत्रेयपुनर्वसुना मारीचकश्यपेन च गृह्यमाणो धन्वन्तरिः धन्वन्तरिसन्ततित्वेन तन्नाम्ना व्यवह्रियमाणो दिवोदासोऽपि भवितुं संभवतीति धान्वन्तरमतरूपेण दिवोदासमतनिर्देश इत्यपि वक्तुं शक्यते, तथाऽपि कश्यपेन स्वाहाकारदेवतात्वेनापि धन्वन्तरेर्निर्देशादात्रेयकश्यपाभ्यामुभाभ्यां काशिराजत्वेन प्रसिद्धस्य दिवोदासस्य ग्राहकं काशीपतित्वदिवोदासत्वादिकं कमपि विशेषमनिर्दिश्य केवलं धन्वतरिशब्दमात्रेण तस्य निर्देशनात्, महाभारतादिलेखतो धन्वन्तरेरष्टप्रस्थानाचार्यत्वेन तदीयसंहिताया अपि पूर्वं सत्त्वावगमाच्च मूलधन्वन्तरिसंहितागतं विषयमेवाभिलक्ष्यात्रेयकश्यपाभ्यां धान्वन्तरमतमुपात्तं बहुशः सम्भवति। पूर्वोपदर्शितदृशा दिवोदासनृपेण सह संगताय गालवाय केवलं मारीचकाश्यपीयाश्रमनिर्देशनस्य महाभारते उपलम्भेन दिवोदाससमये मारीचस्य कश्यपस्यातीतत्वं, किंवा तदाश्रमे मारीचस्य कश्यपस्यापि सत्त्वमासीदित्यपि वक्तुं शक्यते। तेन धन्वन्तरेः पश्चाद्दिवोदासात् पूर्वं, किंवा दिवोदाससमये मारीचः कश्यप आसीत्। चरककाश्यपसंहितयोरात्रेयेण मारीचिकश्यपस्य, मारीचकश्यपेनात्रेयपुनर्वसोरुल्लेखेन, आत्रेयसंहितायां वातकलाकलीये मारीचिकश्यपात्रेयपुनर्वस्वोः संवादरूपोल्लेखस्योपलम्भेन, उभयत्र शब्दान्तरेण विशेषितस्याविशेषितस्य च भरद्वाजस्योल्लेखेन च, एषामाचार्याणामनतिविप्रकृष्टः समयो ग्रन्थमर्यादयाऽऽयाति॥

सुश्रुतः सुश्रुतसंहिताया निर्माता सुश्रुताचार्यो विश्वामित्रपुत्र इति सुश्रुतसंहितायामेवोक्तमस्ति[1]। चक्रदत्तेनापि तट्टीकायां तथैव निर्दिष्टमस्ति[2]। महाभारतेऽपि विश्वामित्रस्य पुत्रेषु सुश्रुतस्य नामोपलभ्यते[3]। ऋग्वेदे तत्तन्मन्त्राणां द्रष्टा रामाय धनुर्विद्योपदेष्टा च विश्वामित्रो महर्षिरन्य एव प्राचीनतरः स्यात्। सुश्रुतस्य औपनिषत्कालिकदिवोदासशिष्यत्वेनोल्लेखेन सुश्रुतसंहितायां कृष्णनामोपलम्भेन[4] च दिवोदासवदौपनिषदे काले श्रीकृष्णोद्भवादुत्तरं जातस्य कश्यपात्रेयवद्गोत्रपरम्परागतस्य विश्वामित्रस्यात्मजोऽयं सुश्रुताचार्यः प्रतीयते। विश्वामित्रमुनिः स्वपुत्रं सुश्रुतं काशिराजधन्वन्तरि (दिवोदास) सकाशेऽध्ययनाय प्रैषयदिति भावप्रकाशेऽप्यस्ति[5]। डल्लनव्याख्यायां विश्वामित्रनाम्नोद्धृतं वैद्यकविषयकं वचनमपि लभ्यते[6]। कोऽयं विश्वामित्र इति न सम्यक् परिचीयते॥

सुश्रुतसंहितायाः समयविचारे हैस (Haas) नामा पाश्चात्यविद्वान् सुश्रुतादयो द्वादशशताब्दीवर्तिन इति, श्रीयुत जोन्स विल्सनादयः (Jones, Wilson) नवमदशमशताब्दीवर्तिन इति, अन्येऽपि पञ्चमचतुर्थशताब्दीषु सुश्रुतस्य समय इत्यर्वाग्गाकर्षणवचांसि जल्पन्ति॥

"Sus'ruta seems to have lived not later than the fourth century A. D., as the Bower manuscript contains passages not only parallel but verbally agreeing with passages in the works of Caraka and Sus'ruta."[7] इत्थं म्याग्डोनल (Macdonell) महाशयो लिखति॥

"In language and style, it (Sus'ruta) and the

१. "अन्ये तु—औपधेनवादयोऽष्टौ, प्रभृतिग्रहणात् निमिकाङ्कायनगार्ग्यगालवाः,
एवमेतान् द्वादश शिष्यानाहुः" इति सुश्रुतसंहिताटीकायां डल्लनः (पृ. २)।

१. विश्वामित्रसुतः श्रीमान् सुश्रुतः परिपृच्छति।
(सुश्रुतसंहिता उ. तं अ. ६६)।
विश्वमित्रासुतं शिष्यमृषिं सुश्रुतमन्वशात्।
(सुश्रुतसंहिता चि. अ. २)।

२. अथ परमकारुणिको विश्वामित्रसुतः सुश्रुतः शल्यप्रधानमायुर्वेदतन्त्रं प्रणेतुमारब्धवान् (चक्रदत्ते)।

३. आनुशासनिके पर्वणि ४ अध्याये।

४. महेन्द्ररामकृष्णानां ब्राह्मणानां गवामपि। तपसा तेजसा वापि प्रशाम्यध्वं शिवाय वै॥ (सुश्रुते चिकित्सास्थाने. अ. ३०)

५. अथ ज्ञानदृशा विश्वामित्रप्रभृतयोऽविदन्।
अयं धन्वन्तरिः साक्षात्काशिराजोऽयमुच्यते॥
विश्वामित्रो मुनिस्तेषु पुत्रं सुश्रुतमुक्तवान्।
वत्स वाराणसीं गच्छ त्वं विश्वेश्वरवल्लभाम्॥ (भावप्रकाशे)

६. 'तथा चोक्तं विश्वामित्रेण—यावशूकस्य पानं तु कुलत्थक्षारवारिभिः' (सु. टी. डल्हणः.)।

७. History of Sanskrit Literature by A. A. Macdonell p. 436.

८. History of Indian Literature by Weder p. 168

works resembling it with which I am acquainted manifestly exhibit a certain ffinity to the writings of Varaha Mihira. इत्थं वेबर (Weber) महाशयोऽपि लिखति ॥

अन्ततो गत्वा हवर्ट गोवन (H. Gowen) नामको विद्वाँस्तु सुश्रुतो नाम न कोऽपि बभूवेति बहवो जल्पन्ति । यदि कोऽपि स्यात्तदाऽपि साक्रेटिस एवेत्यपि मुक्तकण्ठं वदति ॥[1]

तत्रैवमुपन्यस्यते—उपद्विसहस्रवर्षपूर्वतनस्य दार्शनिकस्यार्यनागार्जुनस्य[2] उपायहृदयं नाम दार्शनिकग्रन्थ उपलब्धः। भारते मूलसंस्कृतलेखानुपलम्भेऽपि पुरासमयाच्चीनभाषायां वर्तमानादनुवादादस्मत्परममित्रेण श्रीयुततुच्चीमहाशयेन संस्कृतभाषायां प्रत्यनूद्याद्यत्वे यः प्रकाशितोऽस्ति, तस्मिन् ग्रन्थे पूर्वं तन्त्रान्तराणां विषयोद्देशप्रसङ्गे—“ओषधिविद्या षड्विधा–ओषधिनाम, ओषधिगुणः, ओषधिरसः, ओषधिवीर्यं, सन्निपातो, विपाकश्चेति भैषज्यधर्माः” इति भैषज्यविद्यायाः प्रधानविषयान् प्रदर्श्य पश्चादागमवर्णनप्रसङ्गे “यथा सुवैद्यको भेषजकुशलो मैत्रचित्तेन शिक्षकः सुश्रुतः” इति भैषज्यविद्याया आचार्यप्रवररूपेण ससंमानगौरवं सुश्रुतस्य कीर्तनमुपलभ्यते । तदेवमुपद्विसहस्रवर्षसमयेनार्यनागार्जुनेनाप्याचार्यदृशा सनामनिर्देशं सुश्रुतस्योल्लेख उपलभ्यमानस्ततोऽर्वाचीनत्ववादप्रतिरोधाय पर्याप्तमेकमपीदं साधनम् ॥

अपरञ्च, पूर्वोद्दिष्टस्य खोटाडोपलब्धस्य भूर्जपत्रीयहस्तलिखितकपुस्तकस्य लिपिमात्रानुसन्धानेऽपि तृतीया चतुर्थी वा शताब्दी लेखसमय इति सर्वैर्निर्धारितमस्ति । अद्यत्वे इव झटिति प्रापकैर्बाष्पशकटव्योमयानशब्दवाहकादिसाधनैर्विनाकृते पूर्वकाले भारतीयस्यास्य ग्रन्थस्य दुर्गमतावद्दूरपर्यन्तं प्रचाराय प्राप्तये च विशेषतः समयस्यापेक्षिततया तद्ग्रन्थरचना ततोऽपि पूर्वतनी वक्तव्यैव । अत्र मङ्गलनिर्देशे बुद्धोल्लेखदर्शनेन बुद्धसमयमनु कतिपूर्वकाले एतद्ग्रन्थरचनेति न परिच्छिद्यते । ईदृशे प्राचीनेऽस्मिन् ग्रन्थे आत्रेयस्य तदनुगानां क्षारपाणिहारीतजातूकर्ण्यपराशरभेडादीनां काश्यपजीवकयोः सुश्रुतस्य च नामानि तदीयौषधोद्धाराश्च सन्ति । तदुद्धृतानां केषाञ्चिदौषधपाठानां वर्तमानचरकसंहितायामुपलम्भेऽप्यात्रेयनाम्ना तत्र निर्देशो-

---

१. By many Sus'ruta has been denied actual substance in the flesh, or has been identified with Socrates.

A History of Indian Literature. H. H. Gowen pp. 144–145.

२. नागार्जुननामानोऽनेके विद्वांसः प्राक्तना उपलभ्यन्ते । नागार्जुनरचनारूपेणोपलब्धेषु कक्षपुट–योगशतक–तत्त्वप्रकाशादिषु बहुषु ग्रन्थेषु कक्षपुटादिकौतुकग्रन्थानां प्रणेता सिद्धनागार्जुन इति विशेषनाम्ना व्यवह्रियते । वैद्यकविषये योगशतकं नाम प्राप्तप्रकाशमेव, यस्य तिब्बतभाषायामप्यनुवाद उपलभ्यते । नागार्जुनीय एवान्यः “चित्तानन्दपटीयसी” नाम ताडपत्रीयः संस्कृतवैद्यकग्रन्थस्तिब्बतप्रदेशे गीममठे वर्तते इति श्रूयते । तन्त्रसंवलितबौद्धाध्यात्मविषये तत्त्वप्रकाशः, परमरहस्यसुखाभिसंबोधिः, समयमुद्रा एवमादयः । केवलबौद्धदार्शनिकविषये माध्यमिकवृत्तिः, तर्कशास्त्रम्, उपायहृदयमेवमादयो ग्रन्था दृश्यन्ते । एषां प्रस्थानविशेषग्रन्थानां निर्माता नागार्जुनो विभिन्न एको वेति विचारणीयं भवति । तत्र–अष्टमशताब्द्यां भारते पर्यटितुमागतः अल्बेरुनीनामको यात्रिकः स्वस्माच्छतवर्षपूर्वं रसायनविद्यानिपुणो बोधिसत्त्वोऽतीव प्रसिद्धो नागार्जुननामा विद्वान् बभूवेति निरूपयति । सप्तमशताब्द्यां भारतमुपागतो ह्युयन्सङ्गनामा चैनिकयात्रिकः स्वस्मात् सप्ताष्टशताब्दीपूर्वतनः शान्तिदेवाश्वघोषादिवत् प्रसिद्धतरो बौद्धविद्वान् बोधिसत्त्वः पाषाणमपि रसायनेन स्वर्णं विदधानो नागार्जुनः शातवाहनमित्रं बभूवेति वर्णयति । राजतरङ्गिणीकारो बुद्धाविर्भावात् सार्धशतवर्षोत्तरं नागार्जुनो नाम महाविद्वानभूदित्युल्लिखति । तदेवमनेकधा विभेदेन ज्ञायमानाः समयाः संवादकान्तरसाहाय्येनान्यतरस्यैव प्रामाण्यमथवा नागार्जुनानामेव विभेदमनभ्युपगम्य नैकस्मिन्नागार्जुने संगम्यन्ते । शालवाहनाय नागार्जुनेन पत्रप्रेषणस्य वृत्तमन्यत्र प्रकाशितमेवास्ति । मदीये संग्रहे ताडपत्रीयं विशकलितं संस्कृतभाषानिबद्धमेकं शालवाहनचरितमस्ति । तत्र “दृष्टतत्त्वो बोधिसत्त्वो महासत्त्वो महाराजगुरुः श्रीनागार्जुनाभिधानः शाक्यभिक्षुराजः” इति स्पष्टोल्लेखेन बोधिसत्त्वस्थानीयः कुरुकुल्लाया उपदेशनोल्लेखेन तान्त्रिकः शाक्यभिक्षुर्नागार्जुनः शालवाहनसामयिक इति सिध्यति । हुयन्–सङ्गो हि बोधिसत्त्वतया धातुवादविद्वत्तया च शालवाहनसामयिकं नागार्जुनमुल्लिखति । नागार्जुनेन शालवाहनाय रसायनगुटिकौषधस्य प्रदानमपीतिवृत्ते लभ्यते । नागार्जुनेन स्वसुहृदे शातवाहनाय रत्नैकावल्याः प्रदानस्य “समतिक्रामति च कियत्यपि काले तामेकावलीं तस्मान्नागराजान्नागार्जुनो नाम……लेभे च, त्रिसमुद्राधिपतये शातवाहनाय नरेन्द्राय सुहृदे स ददौ ताम्” इति हर्षचरिते (उ. ८) बाणभट्टस्य लेखनादप्येतयोः समकालसौहार्दं प्रतीयते। ततश्च शातवाहनसामयिको नागार्जुनो बोधिसत्त्वस्थानीयो महाविद्वाँस्तन्त्रविद्यानिपुणो रसायनेऽपि प्रसिद्धो वैद्यकेऽपि विद्वानासीदिति निश्चीयते । तेन च तन्त्रसंवलितबौद्धाध्यात्मग्रन्थास्तत्त्वप्रकाशादयोऽस्यैव तान्त्रिकबोधिसत्त्वनागार्जुनस्य भवितुमर्हन्ति । पाटलिपुत्रे शिलापट्टके उत्कीर्णा “नागार्जुनेन लिखिताः स्तम्भे पाटलिपुत्रके” इति वृन्देन चक्रपाणिना च लिखिता नागार्जुनीयास्तत्तद्रोगप्रतीकारका औषधयोगविशेषा अप्यस्यैव नागार्जुनस्य भवेयुः । सप्तमशताब्दीसमयं निर्दिशन् अल्बेरुनीलेखस्तु हुयन्सङ्गलेखादपि प्रतिहततया तदुक्तनागार्जुनान्तरस्यानुपलम्भेन च आनुश्रविकं काल्पनिकं समयमुल्लिख्य शातवाहनसामयिकमेव नागार्जुनमभिप्रैतीति प्रतिभाति । तान्त्रिकविषयासंसृष्टा केवलमध्यात्मप्रधाना प्रौढा माध्यमिकवृत्तौ उपायहृदये (छायानुवादरूपेण प्रकाशिते) च लेखशैली दृश्यमाना तान्त्रिकनागार्जुनाद्विभिन्नस्यैव नागार्जुनस्य कृतिमवबोधयति । उपायहृदये दर्शनान्तरविषयसूचनाप्रसङ्गे भैषज्यविद्यायाः प्रधानविषयरूपेण षण्णां भैषज्यधर्माणां केवलं साधारणनाममात्रेणोद्देशनाद्धातुरसायनविषयाणां लेशतोऽप्यसूचनेन चास्योपायहृदयस्य माध्यमिकवृत्तेश्च निर्माता महायानपथप्रतिष्ठापको दार्शनिक आर्यनागार्जुनः प्राचीन इत्यवगम्यते । राजतरङ्गिण्यां निर्दिष्टो नागार्जुनस्तु बौद्धोऽपि सन्नरपतित्वेन वर्ण्यते । माध्यमिकादिकर्तुर्नागार्जुनस्य कुतोऽपि नृपतिभावस्यालाभेन विभिन्न एवायं समाननामा नृपतिर्नागार्जुन इति भाति ॥

ऽस्ति । चरकाचार्यस्य नागार्जुनस्य चात्र नामोल्लेखो नास्ति । चरकनाम्ना प्रसिद्धायाश्चरकसंहिताया आविर्भावोत्तरमस्य नावनीतकस्य जन्म यद्यभविष्यत्तदा वाग्भटादिग्रन्थेष्विवात्रापि तथा प्रसिद्धस्याचार्यस्य चरकस्य नाम किमिति नोदधरिष्यत । तेन चरकसमयादप्यस्य पूर्वत्वं किमिति सन्दिह्यते । बौद्धेन निबन्ध्रा वैद्यकेऽपि प्रसिद्धस्य बौद्धाचार्यस्य नागार्जुनस्य, एवमन्यस्यापि बौद्धाचार्यस्य वैद्यके प्रसिद्धस्य सत्त्वे तादृशस्यापि नाम किमिति नाम नोपात्तं भवेत् । तेन आत्रेयस्य तद्वर्ग्याणां सुश्रुताचार्यस्य काश्यपजीवकयोरुदयोत्तरं नागार्जुनसमयात् पूर्वतनोऽयं ग्रन्थ इत्यवगमेन तत्राप्युपात्तस्य सुश्रुतस्य नागार्जुनादिसमयात् पूर्वभावे इदमप्युपोद्बलकं भवति ॥

एवं न केवलमार्यनागार्जुनान्नवनीतकारादपि प्राचीनत्वं सुश्रुतस्य, अपितु महाभाष्यकृतः "तद्धितेष्वचामादेः (७. २. ११७), इको गुणवृद्धी (१. १. ३)" इति सूत्रव्याख्याने "सौश्रुतः" इति, "शाकपार्थिवादीनामुपसंख्यानम् (२. १. १७०)" इति वार्तिके 'कुतपवासाः सौश्रुतः कुतपसौश्रुतः' इति निदर्शनेन महाभाष्यकाराद्वार्तिककारादप्यस्य प्राग्भवत्वं ज्ञायते । नैतावदेव, भगवता पाणिनिनाऽपि "कार्तकौजपादयश्च (६. २. ३७)" इति सूत्रीयगणे 'सौश्रुतपार्थिवाः' इति शब्दस्योद्देशेनापत्यसम्बन्ध्यादिबोधकप्रत्ययान्तेन सौश्रुतशब्देन प्रदर्शनान्न केवलं सुश्रुतस्य, तद्वंश्यस्य तदन्तेवासिनो वा तत्संबन्धिनोऽपि पाणिनितोऽपि पूर्वत्वमवगम्यते ॥

अत्र महाभाष्यकृता 'सुश्रुत्-सौश्रुतः' इति निदर्शने हलन्तसुश्रुच्छब्दोपादानेन, कार्तकौजपादिगणे सौश्रुतशब्दघटितशब्दस्य दर्शनेऽपि तस्य गणे पश्चात्प्रवेशस्यापि सम्भवितया पाणिन्युपदिष्टत्वानिश्चयेन, भाष्यकृताऽव्याख्यातस्य तत्सूत्रस्य पाणिनीयत्वानवधारणेन, भाष्यलेखतः सुश्रुतस्य वैद्यकाचार्यत्वे साधकस्य लिङ्गस्यालाभेन च महाभाष्यकृता सूचितोऽयमेव सुश्रुत इति निर्धारयितुं न शक्यते इति पाश्चात्यविदुषो वेबरमहाशयस्य मतं दृश्यते । तत्रेदमुच्यते—सुश्रुच्छब्दः क्विप्प्रत्यये, सुश्रुतशब्दः क्तप्रत्यये निष्पन्नो भृत् भृतः कर्मकृत् कर्मकर इत्यादिशब्दवत् । केवलं प्रत्ययभेदकृतमांशिकविशेषमेवावबोधयन्नेकमेवार्थं बोधयितुं शक्नोति । 'इको गुणवृद्धी' इति सूत्रभाष्ये अन्त्ययोरेवेकारोकारयोर्गुण इति विशेषोक्त्या 'अग्नि वायु बभ्रु मण्डु' इत्यादीकारोकारान्तशब्दस्थल एव गुणो, न तूपधागतेकारोकारयोरिति निदर्शयितुं हलन्तशब्द एव प्रत्युदाहरणदानौचित्येन सुश्रुच्छब्दे तदभावावबोधाय 'सुश्रुत्-सौश्रुतः' इति हलन्तप्रकृतिमुपादाय भाष्यकृता निर्दिष्टं दृश्यते । सुश्रुच्छब्दादिव सुश्रुतशब्दादपि सौश्रुतशब्दो निष्पद्यत एव । बाभ्रव्यमाण्डव्यशब्दयोः केवलं बभ्रुमण्डुशब्दाभ्यां निष्पन्नतयाऽव्यभिचारेण प्रकृतिनिदर्शनस्याप्रयोजनतया बाभ्रव्यो माण्डव्य इत्येवोल्लिखितम्, न तु बभ्रु—बाभ्रव्यः मण्डु—माण्डव्य इति । सौश्रुतशब्दस्याप्येवमेव सुश्रुच्छब्दादेव निष्पत्तौ जायमानायामव्यभिचरितप्रकृतेः सुश्रुच्छब्दस्योपादानं न सप्रयोजनं जायेत । सुश्रुच्छब्दादिव सुश्रुतशब्दादपि तस्य निष्पन्नतयैव अकारान्तनिष्पन्नसौश्रुतशब्दस्यात्रोपधागतोकारगुणनिवृत्तिनिदर्शनेऽनुपयोगितया हलन्तप्रकृतिकस्यैवास्य तदुपयोगितया अदन्तान्निष्पन्ने सौश्रुतशब्दे नात्र फलवैषम्यमपितु हलन्तान्निष्पन्न एवेत्यवबोधयितुं प्रकृत्या सह तन्निदर्शनं सार्थक्याय भवति । एवं 'तद्धितेष्वचामादेः' (७।२।११७) इति सूत्रभाष्येऽपि अन्त्योपधावृद्ध्यपवादकत्वेनाऽऽद्यचो वृद्धिविधाने अदन्ते सुश्रुतशब्दे उपधावृद्ध्यप्रसक्त्या तत्प्रसङ्गवति हलन्तसुश्रुतशब्दे एव तन्निदर्शनौचित्यमनुसन्धाय हलन्तप्रकृत्या सह सौश्रुतपदं निर्दिष्टं भाष्यकारेण । एवमुभयत्रादन्तसुश्रुतशब्दे प्रकृतित्वशङ्कानिरासार्थं हलन्तप्रकृतेरुपादानायासं कुर्वन् भाष्यकारः प्रत्युत सौश्रुतशब्दस्य अदन्तः सुश्रुतशब्दोऽपि प्रकृतिरस्तीति प्रत्याययति । अत एव कार्तकौजपादिसूत्रे निर्दिष्टस्य, सौश्रुतपार्थिवशब्दस्य' "गोत्रान्तेवासिमाणवब्राह्मणेषु क्षेपे (६।२।६९)" इति सूत्रे निदर्शनीभूतस्य भार्यासौश्रुतशब्दस्य च योगार्थं निदर्शयतां काशिकापदमञ्जरीन्यासकृदादीनां[1] सुश्रुतस्य छात्राः सौश्रुताः, सुश्रुतापत्यं सौश्रुत' इति, क्वचन कस्यचित्सुश्रुतोऽपत्यं सौश्रुत इति च निर्वचनेन सुश्रुतशब्दात् सुश्रुच्छब्दाद्वा सौश्रुतशब्दस्य निष्पादनाद्बहोः समयात् पूर्वै रेभिर्व्याकरणाचार्यैरपि सुश्रुत् सुश्रुत इत्युभावपि शब्दौ सौश्रुतशब्दप्रकृतितया स्वीकृतौ तदेप्रमाणीकुरुतः । कुतपसौश्रुता इति वार्तिकभाष्यकृद्भ्यां पार्थिवसौश्रुता इति गणपाठकृता च निर्दिष्टयोः शब्दयोः सुश्रुच्छब्दादेव सौश्रुतशब्दस्य निष्पत्तिर्नतु सुश्रुतशब्दादित्यत्र किन्नाम साधकम् ? पाणिनीयोपदेशरूपेणाभ्युपगते गणपाठे दृश्यमाना सब्दाः सर्वे पाणिनिनैव परिगणिता इति न मे निर्बन्धः, समयविशेषेणापि कश्चन शब्दोऽनुप्रवेष्टुं शक्नोति; किन्तु पाणिनेः सन्निकृष्टाभ्यां विवरणकारिभ्यां प्राचीनाभ्यां भाष्यवार्तिकाराभ्यामपि सूत्रोदाहरणे प्रदर्शितो गणपाठे उपलभ्यमानः सौश्रुतशब्दो न पाणिनीय इति, विशेषवक्तव्याभावेन मध्ये मध्येऽव्याख्यातानि सूत्राणि भाष्येऽनुपादानेनापाणिनीयानीति च सन्देहनं साहसमेवानुरुन्धे । भाष्यकृताऽव्याख्यातानां बहुशः सूत्राणामपाणिनीयत्वोक्तौ तत्तदध्यायपादान्तगतसूत्रगणना वा कथं समन्वीयात् । पाणिनीये कार्तकौजपादिगणे निर्दिष्टानां गणशब्दानामनुसन्धाने शेखरादिषु सौश्रुतपार्थिवा इति पाठलाभेन तदनुसरणे विभिन्नानां सौश्रुतानां पार्थिवानां च मिथः सम्ब-

1. History of Indian Literature by Weber. P, 266

1. कार्तकौजपादयश्च (६. २. ३१) ।
(क) सौश्रुतपार्थवाः **सुश्रुतस्य** पृथोश्च छात्राः (काशिका) ।
सुश्रुतस्य छात्राः सौश्रुताः, पृथोश्छात्राः पार्थिवाः ।
(न्यासः) ।
(ख) गोत्रान्तेवासिमाणवब्राह्मणेषु क्षेपे (६. २. ६९) ।
भार्यासौश्रुतः **सुश्रुता**पत्यस्य भार्याप्रधानतयाऽऽक्षेपः
(काशिका) ।
सुष्ठु शृणोतीति **सुश्रुत्** तस्यापत्यं सौश्रुतः (पदमञ्जरी) ।
सुश्रुतोऽपत्यं सौश्रुत इत्यण् । भार्याप्रधानं सौश्रुतो-भार्यासौश्रुतः, **सुश्रुतस्य** भार्याप्रधानतयेत्यनेन समानाधिकरणेनात्र समास इति दर्शयति । **सुश्रुतो**ऽपत्यमित्यनेनापि सौश्रुतस्याऽण्प्रत्ययान्तत्वम् (न्यासः) ।

न्धोऽवगम्यते । पार्थिवशब्दादपि सौश्रुतशब्दस्य पूर्वप्रयोगस्य दर्शनेन तदात्वे सौश्रुतानां राजभिः संमाननं प्रतिष्ठा चासीदित्यनुमीयते । सौश्रुताः पार्थिवाश्चेति बहुवचनगर्भसमास एव सौश्रुतपार्थिवा इति निष्पत्त्या पाणिनिसमयेऽपि बहुशः सुश्रुतसंप्रदायानुयायिनो भिषजो बहुशः पार्थिवैः सह संबद्धा आसन्निति बहुवचनान्तपददानेन प्रत्याय्यते। सुश्रुतसंहितासूत्रस्थाने युक्तसेनीयाध्याये[1] वैद्येन सर्वतो निरीक्ष्य नृपस्य रक्षणं, स्कन्धावारेऽपि साहित्येन वर्तनं, राज्ञाऽपि वैद्यस्य संमाननं विशेषतो विधीयते । सूत्रस्थानोपसंहारेऽप्येतच्छास्त्रं[2] राज्ञां महात्मनां भैषज्यायाध्येतव्यमित्येतद्विद्याविदां राजभिः सह विशेषसम्बन्धो द्योत्यते । 'शतं ते राजन् भिषजः सहस्रम्' (ऋक् १. २४. ९) इति मन्त्रलिङ्गादपि पुराकालादेव राज्ञां भिषजां च मिथः संबन्धोऽवगम्यते । महाभारते[3] कौटिलीयेऽपि[4] साङ्ग्रामिके प्रसङ्गे विशेषतः शस्त्रचिकित्साविदां सहभावो निर्दिष्टोऽस्ति । यातृयातव्यासितादिसर्वावस्थासूपयोगितया शस्त्रास्त्रविमर्दवृत्तिभिः सेनापरिवृढैर्भूपतिभिः शल्यविद्यानिष्णातानां विशेषापेक्षा एकान्ततः समुचिता च । सुश्रुतस्य शल्यप्रस्थानाचार्यतया तत्साम्प्रदायिकानां सौश्रुतानामपि पार्थिवैः सह नेदिष्ठं सम्बन्धमुपादाय प्रचलितः 'सौश्रुतपार्थिवाः' इति शब्दः पाणिनिना प्रवेशितो दृश्यमानस्तदात्वे न केवलं सुश्रुतस्य, अपितु तदनुयायिनां सौश्रुतानां शस्त्रवैद्यानामपि पूर्वतः प्रसिद्धिं, बाहुल्येन राजकुले प्रचारं चावगमयति । काशिकाद्यनुसारेण 'सौश्रुतपार्थवाः' इति पाठान्तरोपादाने सौश्रुतानां राजभिः सह सम्बन्ध एतत्पदान्नावबुध्यत इत्यन्यदेतत्, परं सौश्रुतानां प्रसिद्धिरभ्यर्हितत्वं चास्मादपि शब्दात् प्रतीयत एव । व्याकरणलेखतः सुश्रुतो वैद्यकाचार्यं इति विशेषतः परिच्छेदालाभेऽपि "सुश्रुतस्य छात्राः सुश्रुताः" इति सौश्रुतशब्दयोगार्थं कण्ठतो दर्शयतः प्राचीनवैयाकरणस्य काशिकाकृतस्तद्विवरणकर्तुर्न्यासकारस्यापि लेखतः स मूलभूतः सुश्रुतो न साधारणं व्यक्त्यन्तरमपि तु विद्यासम्प्रदायप्रवर्तनद्वारा सौश्रुतानामाचार्यभूत आसीदिति तु स्पष्टमवगम्यते । शल्याचार्यमेनं सुश्रुतं विहाय विद्यासंप्रदायप्रवर्तकस्यान्यस्य सुश्रुतस्य न क्वाप्युपलम्भोऽस्ति। भिषगाचार्यस्य सुश्रुतस्य नागार्जुनेनोपायहृदये, वाग्भटनावनीतकज्वरसमुच्चयादि[illegible]षु, जयवर्मशिलालेखेऽपि कीर्तिततया, एतदीयग्रन्थस्यैव आरबादिदेशेऽप्यनुवादेन, हरिवंशलेखसंवादिनो दिवोदासस्य ब्राह्मणोपनिषदादिषूपलब्ध्या, दिवोदासाद्विश्वामित्रपुत्रेण सुश्रुतेन वैद्यविद्याया ग्रहणस्य सुश्रुतसंहितायामुल्लेखेन, महाभारतेऽपि विश्वामित्रपुत्रेषु सुश्रुतस्य दर्शनेन च शल्यप्रस्थानाचार्यस्यैवास्य सुश्रुतस्य सम्प्रदायप्रवर्तकाचार्यतया प्रसिद्धिः पूर्वसमयादवगम्यते । सुश्रुतसंहितायामार्षरचनायाः प्रायो दर्शनं, बौद्धच्छायाया अदर्शनं, धातुरसाद्यौषधानां प्रायोऽनुपयोगदर्शनं, शौनककृतवीर्यपाराशर्यमार्कण्डेयसुभूतिगौतमाख्यानां केषाञ्चिदेव प्राचीनाचार्याणामुल्लेखः, दिवोदाससुश्रुतशब्दयोः स्वरप्रक्रियायामुदाहरणस्योपलम्भश्चास्याचार्यस्य प्राचीनत्वमेव प्रगुणयन्ति । पुरासमयात् परितः प्रसिद्धतरतया सर्वेषां बुद्धावुपस्थितं शल्यवैद्यकाचार्यमेनं सुश्रुतं विहायानुपस्थितस्यान्यस्य कल्पनायां न कोऽपि मानावलम्ब इति व्याकरणसूत्रवार्तिकभाष्यकारैरपि निर्दिष्टोऽयमेव सुश्रुतः पाणिनेरपि पूर्वतनो दिवोदासवदुपनिषत्कालिक इति निश्चेतव्यं भवति । बलवन्तं प्राचीनमाश्रयं भङ्क्त्वैव न खलूदासितव्यं भवति। उक्तमेवाभियुक्तैः—"व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्" इति ॥

किञ्च आग्नेयपुराणे (अ. २७९–२९२) नराश्वगवायुर्वेदजिज्ञासया पृच्छते सुश्रुताय धन्वन्तरिणा तस्योपदेशनस्योल्लेखदर्शनेन धन्वन्तरिरिव तदन्तेवासी सुश्रुतोऽपि नरायुर्वेदवद्गवाश्वायुर्वेदयोरपि विज्ञाता प्रतीयते । सोऽयमाग्नेयोक्तः सुश्रुतोऽपि धन्वन्तरिसाहचर्यात् सुश्रुतसंहिताया निबन्धैव स्यात् । एकस्यापि बहुषु विद्याप्रस्थानेषु विज्ञातृत्वं बहुशो दृश्यते । शालिहोत्रग्रन्थे प्रष्टृभावेन सुश्रुतस्य नामनिर्देश उपलभ्यते । अश्वशास्त्रप्रवर्तकस्य शालिहोत्रस्य विषये श्रीयुतगिरीन्द्रनाथ[1]महोदयैर्विशेषतो निरूपितमस्ति । कलिकातामुद्रितजयदत्तीयाश्वचिकित्सितभूमिकायामपि किञ्चिदस्ति । विशेषान्तरं तत एवावसेयम् । शालिहोत्रग्रन्थस्य कियताऽप्यंशेन तत्र तत्र पुस्तकालये उपलम्भः श्रूयते । मया तस्यादर्शनेऽपि पूर्वनिर्दिष्टे हेमाद्रेर्लक्षणप्रकाशेऽश्वप्रकरणे शालिहोत्रीयाश्वशास्त्रवचनानि कानिचिदुद्धृतानि दृश्यन्ते । तत्र सुश्रुतमित्रजिद्द्रान्धारादिभिः पुत्रैः, गर्गादिभिः शिष्यैश्च पृष्टेन शालिहोत्राचार्येणाश्वविषयाणामुपदेशनं, प्रष्टृतया शालिहोत्रपुत्रत्वेन सुश्रुतस्योल्लेखश्च दृश्यते[2]। शिष्यस्याप्यन्यत्र क्वचन ग्रन्थान्तरे पुत्ररूपेण निर्देशो दृश्येत नाम, परमत्र–"पुत्राः शिष्याश्च पृच्छन्ति विनयेन महामुनिम् ।" इति पुत्राणां शिष्याणां च पृथङ्निर्देशदर्शनेन, सुश्रुतस्यानेकवारं पुत्रत्वेनैव स्पष्टमुल्लेखेन च शालिहोत्रेणाश्वशास्त्रमुपदिष्ट एष सुश्रुतः शालिहोत्रस्य पुत्र एवेत्यवधार्यते । सुश्रुतसं-

---

१. युक्तसेनस्य नृपतेः परानभिजिगीषतः ।
भिषजा रक्षणं कार्यं यथा तदुपदेक्ष्यते ॥
चिन्तयेन्नृपतिं वैद्यः श्रेयांसीच्छन्विचक्षणः ।
वैद्यो ध्वज इवाभाति नृपतद्विद्यपूजितः ॥
(सुश्रुते सूत्र. अ. ३४)

२. इमं विधिं योऽनुमतं महामुनेर्नृपर्षिमुख्यस्य पठेद्धि यत्नतः ।
स भूमिपालाय विधातुमौषधं महात्मनां चार्हति सूरिसत्तमः॥
(सुश्रु. सूत्र. अ. ४६)

३. महाभारते उद्योगे १५१।१५२ अध्याययोः, भीष्मपर्वणि १२० अध्याये च ।

४. कौटिलीये साङ्ग्रामिकाधिकरणे अ. १० ।

---

१. Indian Historical Quarterly Vol II P. 47

२. शालिहोत्रमृषिश्रेष्ठं सुश्रुतः परिपृच्छति ।
एवं पृष्टस्तु पुत्रेण शालिहोत्रोऽभ्यभाषत ॥
शालिहोत्रमपृच्छन्त पुत्राः सुश्रुतसङ्गताः ।
व्याख्यातं शालिहोत्रेण पुत्राय परिपृच्छते ॥
मित्रजित्प्रमुखाः पुत्रा भूयः पितरमब्रुवन् ।
शालिहोत्रः सुतं प्राह हयानां स्वरलक्षणम् ॥
इत्यादि (शालिहोत्रीये)

हितायां शल्यप्रस्थानाचार्यः सुश्रुतस्तु विश्वामित्रपुत्रत्वेन निर्दिष्टोऽस्ति । महाभारतलेखादपीदं संवदतीत्यवोचाम । आचार्य[1]परिच्छेदे पूर्वनिर्दिष्टेषु शालिहोत्रोक्ताश्वाभिषेकमन्त्रश्लोकेष्वायुर्वेदकर्तॄणां निर्देशे आत्रेयस्य तदन्तेवासिनामग्निवेशहारीतक्षारपाणिजातूकर्ण्यपराशरादीनामन्येषां चाचार्याणामुल्लेखे सत्यपि धन्वन्तरेर्दिवोदासस्य च नोल्लेखोऽस्ति । यदि नाम शालिहोत्रोपदिष्टो धन्वन्तर्युपदिष्टश्च सुश्रुत एक एवाभविष्यत् तदाऽश्ववैद्यकाचार्यः शालिहोत्रस्तदन्तेवासी सुश्रुतो वा तादात्विकं प्रसिद्धतरमाचार्यं धन्वन्तरिं दिवोदासं च तत्रायुर्वेदकर्तृषु कथं नाम्नाऽपि नोदलेखिष्यत् । सुश्रुतसंहिताया निबन्धा सुश्रुतोऽपि अश्वशास्त्रविभागीयत्वेऽपि वैद्यके एकप्रस्थानप्रायतया तथाप्रसिद्धं स्वस्य पितरमाचार्यं वा शालिहोत्रं किमिति क्वापि प्रसङ्गेनापि न निरदेक्ष्यत् । आचार्यान्तरवैद्यकविषयैरपि सम्भृते पश्चात्सम्बद्धे उत्तरतन्त्रेऽपि सुश्रुतेन सौश्रुतेन संस्कर्त्रा वा किमिति तन्नाम नोल्लिखितं स्यात् । तेन शालिहोत्रस्योपदेश्यः पुत्रः सुश्रुतः, धन्वन्तरेरुपदेश्यो विश्वामित्रपुत्रः सुश्रुतश्च विभिन्नौ दृश्येते । दुर्लभगणकृते सिद्धोपदेशसङ्ग्रहनामकेऽश्ववैद्यकग्रन्थे—

शालिहोत्रेण गर्गेण सुश्रुतेन च भाषितम् ।
तत्त्वं यद्वाजिशास्त्रस्य तत्सर्वमिह संस्थितम् ॥

इति निर्देशेन सुश्रुतस्याप्यश्ववैद्यकोपदेष्टृत्वमायाति, परमाग्नेयपुराणोक्त्या धन्वन्तरिशिष्यस्य सुश्रुतस्याप्यश्ववैद्यकवित्त्वेनोपलम्भादेतन्निर्दिष्टः सुश्रुतः शालिहोत्रीयो धान्वन्तरो वेति स्पष्टं न परिच्छिद्यते । अस्तु वा दुर्लभगणोक्तः सुश्रुतः शालिहोत्रगर्गसाहचर्याच्छालिहोत्रीयः, तदुक्त्या एतदीयोऽपि कश्चनाश्वशास्त्रग्रन्थः स्यात्, परमस्य शालिहोत्रपुत्रस्य सुश्रुतस्य ग्रन्थो न कोऽपि साम्प्रतमुपलभ्यते, तदीयस्य ग्रन्थस्योल्लेखो वचनस्योद्धारोऽपि, किं बहुना नाममात्रमपि गणकृतग्रन्थं विना नान्यत्राश्वायुर्वेदीयग्रन्थेष्वप्युपलभ्यते । ततस्तस्य सुश्रुतस्य विषये सम्प्रति किमपि वक्तुं न शक्यते । धान्वन्तरसुश्रुतस्य तु ग्रन्थोपलम्भतः, ग्रन्थान्तरनिर्देशतः, आचार्यान्तरोपग्रहणतः, शिलालेखाद्युल्लेखतश्च यथा प्रसिद्धिरस्ति, न तथा तस्य शालिहोत्रपुत्रस्य सुश्रुतस्य प्रसिद्धिर्दृश्यते । अतो यत्र सुश्रुतस्य कीर्तनं तत्र साधकबाधकान्तरोपलम्भमन्तरा शल्यप्रस्थानाचार्यो धान्वन्तरः सुश्रुत एव बुद्धावुपतिष्ठते ॥

अनयोः सुश्रुतयोरैक्यं मनसि कृत्वा शालिहोत्रलेखतः सुश्रुतस्य शालिहोत्रपुत्रत्वं नकुलकृतेऽश्वचिकित्सिते—

पायाद्वः स तुरङ्गघोषतनयः श्रीशालिहोत्रो मुनिः ।

इति प्रारम्भपद्यलेखदर्शनेन तुरङ्गघोषशब्देनाश्वघोषमुपादाय शालिहोत्रस्याश्वघोषपुत्रत्वं च सङ्ग्रथ्य तुरङ्गघोषो हयघोषोऽश्वघोषश्चैकः, तत्पुत्रः शालिहोत्रः, तत्पुत्रः सुश्रुत इति कनिष्कसामयिकादश्वघोषादपि शालिहोत्रसुश्रुतयोरर्वाग्भावसाधकं व्यूहनकौशलमपि कस्यचिद् दृश्यते । परं नेपालदेशोपलब्धेऽश्वचिकित्सितस्य पुस्तकद्वये मङ्गलाचरणोक्तं तत्पद्यमेव नास्तीति मूले कुठारः, अस्तु वा तत्पद्यं, तथाऽपि शालिहोत्रग्रन्थेऽश्वचिकित्सितादौ च ब्रह्मणा इन्द्रेण वा सह सम्बद्धो मूलसंहिताकर्तृतया निर्दिष्टः शालिहोत्रः प्राचीन आचार्यः कीर्त्यते, शालिहोत्रग्रन्थे इक्ष्वाकुसगरयोः शालिहोत्रसकाशे प्रश्नस्य निर्देशोऽपि प्राक्तनत्वं दर्शयति । शालिहोत्रस्य न केवलं पञ्चतन्त्रादावेवोल्लेखोऽपि तु महाभारतेऽपि वनपर्वणि[1] अश्वहृदयविदो नलस्योपाख्याने तदुल्लेखोऽस्ति । तत्राश्वकुलवित्त्वेन विशेषणात् प्रकरणवशाच्च तत्रोल्लिखितः शालिहोत्रः स एवायमाचार्य इति निश्चीयते । उपलभ्यमाना शालिहोत्रसंहिता शालिहोत्रस्यैव हस्तलेखरूपा, किंवा संस्कारेण रूपान्तरमापन्ना, अथवा तदीयसम्प्रदायपरम्परागतोपदेशरूपेति त्वन्यदेतत्, परमश्वशास्त्रस्य परमाचार्यः शालिहोत्रः प्राचीनतर इत्यत्र न संशयः । ईदृशस्य प्राचीनस्य मुनेर्युधिष्ठिरभ्रात्रा नकुलेन स्वग्रन्थे मङ्गलाचरणे आचार्यभावेन संमाननमपि युज्यते, पूर्वापरग्रन्थसंगमनं च भवति । ईदृशं पुरासमयात् प्रसिद्धं प्राचीनमाचार्यं विहाय तुरङ्गघोषशब्देन अश्वघोषं कल्पयित्वा शालिहोत्रसुश्रुतयोस्तत्पुत्रपौत्रभावकल्पनमितिहासमेव विप्लावयति । अश्वशास्त्रस्य प्रथमप्रवर्तकः शालिहोत्रः, स चेदश्वघोषपुत्रस्तर्हि कनिष्कोत्तरमेवास्य प्रस्थानस्योदयेन भवितव्यं, तथाचाभ्युपगते कौटि[2]लीयेऽर्थशास्त्रेऽपि अश्वानां शालानिर्माणमाहारकल्पना कुलजात्युल्लेखश्चैवमादयो बहवः शालिहोत्रीयविषयाः संक्षेपेण निर्दिष्टा दृश्यन्ते, अश्वानां चिकित्सका अपि गृहीताः सन्ति, तेषां तत्र कुत उद्गमो वक्तव्यः । अशोकनृपतिना भारतीयभैषज्यमुपादाय स्वदेश इव देशान्तरेष्वपि शिलालेखेन प्रमाणीकृतमश्वादिपशुचिकित्सालयानामुद्घाटनं कं नाम विद्याधारमाश्रयेत । अश्वघोषो बुद्धसाम्प्रदायिकः प्रधानाचार्य इति स्पष्टमेव । शालिहोत्रलेखेऽश्वाभिषेकप्रकरणे श्रौतानामेव महर्षीणां नामानि, ब्रह्मघोषः, श्रौतं यज्ञविधानं, वाजिनां देवरूपत्वनिर्देशोऽपि श्रौतस्मार्तदेवानामेवोल्लेखश्च दृश्यमानः शालिहोत्राचार्यस्य वेदमार्गानुयायित्वमेव निश्चाययति । शालिहोत्रीये लेखे सुश्रुतसंहितायामपि बौद्धच्छायाया अनुपलम्भोऽनयोरश्वघोषस्य बुद्धाचार्यस्यापत्यत्वं व्याघट्टयति । अश्वघोषः साकेतवर्ती, शालिहोत्रः पश्चिमोत्तरप्रदेशीय इत्यनयोः प्रदेशविभेदोऽपि विसंवादमेव दर्शयति । अश्वघोषपुत्रतया कल्पितस्य शालिहोत्रस्य पुत्रेण सुश्रुतेन सह शल्यप्रस्थानाचार्यस्य सुश्रुतस्याभेदेऽभ्युपगम्यमाने कनिष्काश्वघोषयोः सामयिकेन नागार्जुनेन तत्पौत्रतुल्या सम्भावितस्य सुश्रुतस्य सुप्रसिद्धभिषक्त्वेनाचार्यदशा महिमगानं कथं समर्थ्येत, नागार्जुनेन सुश्रुतसंहितायाः संस्करणस्य प्रवादोऽपि विपर्यस्येत् । द्वयोः सुश्रुतयोरभेदे कनिष्कसामयिकत्वे च सति पाणिनिवार्तिकभाष्यकाराणां सुश्रुतशब्दोपादानं किमालम्बनमासादयेत् । तेन न किञ्चिदेतदिति विरम्यते ॥

अन्ततो विक्रमाब्दारम्भात् पूर्वं षष्ठशताब्द्यां सुश्रुतस्य समयं सोपपत्तिकं साधयतो हार्नले (A. F. Rudolp

१. पृ० १२ ।

१. शालिहोत्रोऽथ किन्तु स्याद्धयानां कुलतत्त्ववित् ।
(वनपर्वणि ७२ अध्याये)

२. कौटिलीये अश्वाध्यक्षप्रकरणे ३० अध्याये, साङ्ग्रामिकेऽपि ३७ पृष्ठे हस्त्यश्वयोः कुलजात्युल्लेखोऽस्ति ।

Hoernel) नामकस्य पाश्चात्त्यविदुषो[1] लेखादपि ततोऽनर्वाचीनत्वं सिध्यति । केचन[2] यथावदनिश्चीयमानोऽपि सुश्रुतस्य समय ईशवीयाब्दोपक्रमात् षट्शताब्दीपूर्व एव नतु ततोऽर्वाचीन इति; अन्ये सुश्रुते सप्तविधकुष्ठनिरूपणं दृश्यते, यस्य रोगस्य भारतीयैश्चीनदेशीयैरपि २५०० वर्षपूर्वं ज्ञानमुपलब्धमासीदिति सुश्रुतस्योपसार्द्धद्विसहस्रवर्षपूर्वत्वं सम्भाव्यते इत्यपि निर्दिशन्ति । सुश्रुतसंहिताया लेटिनभाषायामनुवादको ह्यास[4]लर (Hessler) नामकः पाश्चात्त्यविद्वांस्तथा श्रीयुतगिरीन्द्रनाथमुखोपाध्यायोऽपि[5] ईशवीयाब्दारम्भादुपसहस्रवर्षं (B. C. 1000) पूर्वतनः सुश्रुत इति निर्दिशति ॥

एवंविधैर्विवेचकविदुषामुपन्यासैर्विचारदृष्ट्या च सुश्रुतसंहितायाः पूर्वो भागोऽन्ततो गत्वाऽपि इतः २६०० वर्षपूर्वोऽवगम्यते ॥

सुश्रुते पूर्वाचार्येषु निर्दिष्टः सुभूतिगौतमः शाक्यसिंहस्य शिष्य इति बुद्धोत्तरभावित्वं सुश्रुतस्येति केचिन्निदर्शयन्ति । अष्टसाहस्रिकाशतसाहस्रादिके बौद्धग्रन्थे सुभूतेर्नाम उपलभ्यते नाम । परं तत्र आयुष्मत्सुभूतिस्थविरसुभूतिशब्दैरेव व्यवहारः कृतोऽस्ति, न तु सुभूतिगौतमस्य तत्रोल्लेखो दृश्यते । बौद्धग्रन्थेषु सुभूतेरध्यात्मविषय एवोल्लेखोऽस्ति, वैद्यविद्याचार्यत्वं न कुत्रापि निर्दिष्टमिति सुश्रुतोक्तः सुभूतिगौतमो न बौद्धोऽन्य एव प्राचीनो वैद्याचार्यः । सुभूतिगौतमस्य बौद्धत्वे तमपि पूर्वाचार्यदृशा पश्यतः सुश्रुतस्य लेखे बौद्धसंप्रदायच्छायाः कथं नोपलभ्येरन् । प्रत्युत अत्र बौद्धच्छायानुपलम्भ एवास्य सुभूतेरबौद्धत्वं द्रढयति । स्थविरसुभूतेर्व्याकरणमुपलभ्यते इति नामसाम्यमात्रेण सोऽपि सुभूतिः प्राचीनो बुद्धस्य प्रधानशिष्य इति वक्तुं शक्येत किमु ? ॥

वैद्यकटीकाकृद्भिः क्वचिद्विहितस्य वृद्धसुश्रुतोक्तवचनोद्धारस्य दर्शनेन तदुद्धृतवचनानां वर्तमानसुश्रुतसंहितायामनुपलम्भेन औपधेनवमौरभ्रमिति सुश्रुतोक्तपद्ये सौश्रुतस्य पृथङ्निर्देशेन च वर्तमानसुश्रुतसंहितातः पृथगेव वृद्धसुश्रुतस्य सौश्रुततन्त्रं पूर्वमासीदिति कथयितुमपि सुश्रुतसंहितायां वृद्धसुश्रुतस्य पूर्वाचार्यत्वेनानिर्देशात्, महाभारतादावपि विश्वामित्रपुत्रत्वेन सुश्रुतस्यैवोल्लेखात्, महाभाष्यकारनावनीतकनागार्जुनवाग्भटज्वरसमुच्चयादिलेखेऽपि सुश्रुतनाम्नैव निर्देशात्, एतदीयवचनानामेव तेषु संवादाच्च, आरब्यादिदूरदेशान्तरेष्वस्यैव सुश्रुतस्य संहिताया अनुवादात् प्रचाराच्च, कम्बोडियादिगतयशोवर्मशिलालेखेऽपि सुश्रुतस्यैवोल्लेखात्, वृद्धसुश्रुतनाम्नोपलब्धेषु वचनेषु प्राचीनरचनारूपप्रौढेरदर्शनेन, तद्वचनविषयतो वृद्धसुश्रुतस्य शल्यप्रस्थानाचार्यत्वानिर्धारणात्, सुश्रुतसंहितायाः उपक्रमे काशिराजं दिवोदासमुपेतानामौपधेनवौरभ्रपौष्कलावतकरवीर्यगोपुररक्षितसुश्रुतप्रभृतीनामन्तेवासितया निर्देशोत्तरम् —

> औपधेनवमौरभ्रं सौश्रुतं पौष्कलावतम् ।
> शेषाणां शल्यतन्त्राणां मूलान्येतानि निर्दिशेत् ॥

इति औपधेनवौरभ्रपुष्कलावतसुश्रुताचार्यप्रणीततन्त्राणि तदीयार्थकप्रत्ययान्तैः सौश्रुतादिपदैः प्रदर्श्य एतेषां सर्वेषु शल्यतन्त्रेषु प्राधान्यनिर्देशेन तन्निर्दिष्टस्य सौश्रुतस्यान्यदीयपूर्वतन्त्रत्वे तन्न्यायेन औपधेनवादितन्त्राणामपि औपधेनवाद्याचार्यतन्त्रेभ्यः पृथक्त्वेन पूर्वसिद्धानां वक्तव्यत्वापातात्, कौटिलीयादिप्राचीनग्रन्थेष्वपि स्वीयग्रन्थे स्वीयनामोल्लेखदर्शनस्य प्रायिकतया स्वीयसौश्रुततन्त्रस्य औपधेनवादितन्त्राणामिव प्राधान्यावबोधाय निर्देशौचित्याच्च, टीकाकारैरर्वाचीननिबन्धकारैश्च क्वचन गृहीतो वृद्धसुश्रुतस्तु कतमः, कदा सम्भूतः, कश्चास्य ग्रन्थः, कस्मिन्प्रस्थाने तस्याचार्यत्वमिति सर्वस्यास्य निलीनतया पूर्वोद्दिष्टं प्रसिद्धं दिवोदासान्तेवासितया सुश्रुतं सुश्रुतं परित्यज्यापरिच्छेद्यस्य वृद्धसुश्रुतस्य शल्यप्रस्थाने पूर्वाचार्यत्वसाधकं दृढं साधनान्तरमपेक्ष्यते । उपलभ्यमानसुश्रुतसंहितायां क्वचनार्वाचीनविषयप्रतिभासोऽपि संस्करणवशेन प्रतिफलितः, क्वचन पाठभेददोषोऽपीत्यत्र संस्करणप्रकरणे दिग्दर्शनं विधास्यते ॥

वैदिक्यामवस्थायामार्यनिवासस्थलस्य परिस्थित्यनुसारेण विभक्तानां वसन्तग्रीष्मवर्षाशरद्धेमन्तशिशिराख्यानां षण्णामृतूनामुल्लेखो वैदिके साहित्ये[1] दृश्यते । एषुव सन्तमन्यं वोपक्रम्य जात एक ऋतुपर्यावर्तः संवत्सरात्मको भवति, प्राचीनपरिस्थितौ कल्पितोऽयमृतुविभागः पश्चादप्यनुवर्तमानो 'वसन्तादिभ्यष्ठक् (४. २. ६३)' इति सूत्रे पाणिनिनाऽपि गृहीतः, अद्यापि लोके प्रचलति च । सुश्रुतसंहिताया ऋतुचर्याध्याये उत्तरायणादिमारभ्य शिशिरादयो हेमन्तान्ताः प्रचलितप्रक्रियानुरूपाः षड्तवः पूर्वं निर्दिष्टाः, तदनुपदमेव शीतोष्णवर्षारूपसमयभेदेन त्रिदोषाणामुपचयप्रकोपसंशमनावस्थामुपादाय अस्मिन्समये उपचयप्रकोपौ भजन्नयं दोषोऽस्मिन्समये संशमनीय इति भैषज्यप्रक्रियोपयोगि विज्ञानाय इह त्वित्यादिना दक्षिणायनोपक्रमं विभागान्तरमपि पुनर्दर्शितम् । तत्र वर्षाशरद्धेमन्तवसन्तग्रीष्मप्रावृडाख्यानां षड्तूनामुल्लेखेन प्राथमिक्यां प्रक्रियायां चतुरो मासान् शीतस्य, मासद्वयं वृष्टेः, द्वितीयप्रक्रियायां तु मासद्वयं शीतस्य, चतुरो मासान् वृष्टेः समय इति विशेष आयाति । द्वितीया प्रक्रिया भैषज्यविज्ञानोपयोगायोपात्ता दृश्यते । काश्यपीये ऋतुविमानग्रन्थस्य खण्डितत्वेऽपि आत्रेयभेडसंहितयोरपि ऋतुविमाने भैषज्यसंबद्धा द्वितीयैव प्रक्रिया गृहीताऽस्ति । एवञ्चायुर्वेदीयपद्धतौ भैषज्यदृशा हिमशिशिरयोरभेदं प्रावृड्वर्षयोर्विभेदं भजत ऋतुविशेषक्रम-

१. Studies in the Medicine of Ancient India Part 1.
२. History of Indian Medicine III P. 576. by G. N. Mukhopadhyaya.
३. History of Indian Medicine III P. 578.
४. „ „ „ P. 578.
५. Surgical Instruments of the Hindus. by G. Mukhopadhyaya P. 15.

१. यजुर्वेदे—वसन्तेन ऋतुना इत्यादि (२१. २३-२८) मन्त्रेषु, वसन्तायेति (२४. २०) मन्त्रे च ।
सामवेदे—वसन्त इन्नुरन्त्यो ग्रीष्म इन्नुरन्त्यः ।
वर्षाण्यनु शरदो हेमन्तशिशिर इन्नुरन्त्यः ॥ (६।१३।२)

स्याचार्यैरुपग्रहणमवबोधयितुम् "इह तु" इति पदेनायुर्वेदीयं पन्थानमुद्दिश्य स्वदेशानुरूपो विभागः सुश्रुते दर्शितः । इदम्परत्वमेवेहशब्दस्य केनचिट्टीकाकृताऽभ्युपगतं च । परं शास्त्रविशेषे सार्वदेशिकस्यैकरूप्येण ऋतुविभागस्य बोधने न सामञ्जस्यमायाति । न हि भारतेऽन्यत्र वा सर्वत्रैकरूप ऋतुविभागः । देशभेदेन शीतोष्णदशयोर्विभेदादार्तवलक्षणानि बहुशो भिद्यन्ते । सिंहल (सीलोन) प्रदेशे प्रायः सर्वदा समया शीतोष्णदशया समप्रायाः षडृतवो भवन्तीति नैवं भावः सर्वत्र । क्वचन शैत्यमतिशयानं बहुसमयं हृदयमाकम्पयति, क्वचनौष्ण्यमभिवृद्धं बहुकालं सर्वतस्तापयति, क्वचन वृष्टिर्बहुलतां वहति । मद्रासादिप्रदेशेषु मार्गपौषयोराम्रमञ्जर्य उद्गच्छन्ति, फाल्गुने चैत्रे तत्फलानि पच्यन्ते । यथायथोत्तरीयः पर्वतीयः प्रदेशस्तथा तथा पश्चाद्भावः । येन नेपाले पार्वतप्रदेशे वैशाखे आम्रमञ्जर्युद्भवः, अन्ततो भाद्राश्विनयोस्तत्फलानि पच्यन्ते । एवमेव शाकपुष्पफलौषध्यादीनामपि देशभेदेन विभिन्नः समयोऽनुभूयते । प्रदेशविशेषतः शीतोष्णजलवाय्वादीनां परिवृत्त्या यत्र यादृशी परिस्थितिस्तदनुसारेणैव गुणागुणान् विज्ञाय भिषग्भिः प्रवर्तनीयं भवति । तेन "इह तु" इत्यनेन तदुपदेशस्थलमवबोधयितुं युज्यते । पूर्वप्रचलितां पद्धतिमादौ निर्दिश्य इहत्विति उपदेशस्थलविशेषे प्रावृड्वर्षारूपवृष्टिसमयद्वैगुण्यप्रदर्शनेन शीतसमयस्य द्वैमासिकत्वं वर्षासमयस्य चातुर्मास्यत्वं तत्र बोध्यते इत्येवावगन्तुं युज्यते । स्थानभेदेन वर्षासमयस्य तारतम्यमप्यनुभूयत एव । भारतेऽपि ग्रीष्मान्ते वङ्गोपसागरस्य आरब्योपसागरस्य वा जलं निपीय प्रस्थितो जलदो वायवीयां गतिमनुगच्छँस्तत्तत्प्रदेशेषु क्रमशो वर्षन् स्वीययात्रायां हिमाद्रेरन्येषां वोच्चगिरीणां शिखरैः प्रतिरुद्धपरागतिश्चिरापुञ्ज्यादिप्रदेशेष्विव स्थाने स्थाने चिरं बहुलतया च जलं वर्षति । अथा यथा तथाभावः तथा तथा वृष्टिसमयस्य बाहुल्यमुपजायते इति प्राकृतिकपरिस्थित्यनुरूपो वैज्ञानिकानां सिद्धान्तः । सौश्रुते तन्त्रत्ये भैषज्यानुकूले ऋतुविभागे वर्षाप्रावृषोः स्वरूपविशेषः पृथक्तया प्रदर्श्यते काशीप्रदेशे तु वर्षासमयस्य द्वैगुण्याभावेन वर्षाप्रावृड्घटितो द्वितीयो विभागोऽननुकूलतां वहन् इहेति तदनुरूपमेव प्रदेशान्तरं दर्शयदवगमयति । सुश्रुतटीकायां काश्यपवचनत्वेन निर्दिष्टाभ्याम्—

"भूयो वर्षति पर्जन्यो गङ्गाया दक्षिणे जलम् ।
तेन प्रावृषवर्षाख्यौ ऋतू तेषां प्रकल्पितौ ॥

गङ्गाया उत्तरे कूले हिमवद्धिमसङ्कुले ।
भूयः शीतमतस्तेषां हेमन्तशिशिरावृतू ॥"

इति श्लोकाभ्यां गङ्गाया उत्तरतो हिमालयपरिसरप्रदेशे हिमशिशिरयोः, गङ्गाया दक्षिणतः प्रदेशे प्रावृड्वर्षयोः परिस्थितिर्बोध्यते । अत्र गङ्गापदेन वाराणसेयगङ्गोपादाने तु तद्दक्षिणोत्तरयोरेवं विभेदस्य दुर्वचतया तत्र गङ्गापदेन गङ्गाद्वारादुपरिवर्तिनीं गङ्गामादाय तत उत्तरतो हिमसमयद्वैगुण्यं, तद्दक्षिणकूलभागे वृष्टिसमयद्वैगुण्यं प्रदर्शितं सम्भवति । एतत्समानन्यायेन इहत्विति निर्दिष्टं वृष्टिसमयद्वैगुण्योपलक्षितं स्थलं गङ्गादक्षिणविभागीयं स्थानं स्यादिति सम्भाव्यते ॥

यद्यपि भावप्रकाशकृता[1] काश्यां दिवोदाससकाशाद्वैद्यकविद्याध्ययनाय विश्वामित्रेण पुत्रस्य सुश्रुतस्य मुनिसूनुशतेन साकं प्रेषणस्य निर्देशेन, सुश्रुतसंहितायामाश्रमस्थं काशिराजं दिवोदासमुपेत्य सुश्रुतादीनां प्रश्नस्योपदेशलाभस्योल्लेखनेन च काश्यां क्वचनाश्रमे सुश्रुतस्योपदेशनमपि सम्भवति । परं तथात्वे इह त्विति पश्चान्निर्दिष्टस्य चातुर्मास्यवृष्टिस्थलो देशस्य काश्यामननुकूलतया, महाभारतादिगतदिवोदासकथायां हैहयैराक्रान्तस्य दिवोदासस्य राज्यभ्रंशे भरद्वाजाश्रमोपगमस्य लाभेन च राज्यभ्रंशेन मुन्याश्रमोपगमे, किं वा पूर्वेषां राज्ञामन्तिमे वयसि वानप्रस्थचर्याया दर्शनेन वानप्रस्थमुपादाय तपोवनोपगमे, वृष्टिसमयप्राचुर्यवति गङ्गाद्वारदक्षिणप्रदेशे दिवोदासेन सुश्रुतस्योपदेशनं विहितं किलेति सम्भाव्यते । तेन इह त्विति आश्रमस्थमिति च समन्वेति । आश्रमस्थलमुपेत्योपदिशतोऽपि दिवोदासस्य पूर्वाधिपत्यमुपादाय सुश्रुते काशिराजत्वेन निर्देशमपि युज्यते । महाभाष्यकृता शाकपार्थिवादि (२. ३. ७०) गणोदाहरणे 'कुतपवासाः सौश्रुतः कुतपसौश्रुतः' इति निदर्श्य सुश्रुतसम्बन्धिनां सौश्रुतानां कम्बलरूपकुतपप्राधान्योल्लेखनेन सौश्रुतानामपि हिमवदविप्रकृष्टदेशवासित्वं ज्ञायते । प्रचण्डग्रीष्मोष्मणा भर्जनकपालायितायां वाराणस्यां वसतः कुतपप्राधान्यवादे न नामकिमपि यौक्तिकमालम्बनं भवेत् ॥

अत्रैवमृतुविभागद्वयोल्लेखो गणितप्रक्रियया संहितानिर्माणस्य संस्करणस्य च १५०० वर्षान्तरितं कालभेदं व्यनक्तीति श्रीयुतस्य एकेन्द्रनाथघोषमहाशयस्य विचारविशेषो दृश्यते । पूर्वोपदर्शितरीत्या बहुपुरुषानन्तरितानां धन्वन्तरिदिवोदाससुश्रुतानां तु नैतावत्समयान्तरालं सम्भवति । सुश्रुतानुयायिना सौश्रुतेनान्येन वा केनचित्पश्चात्संस्करणे इदं संभवति । परमुत्तरतन्त्रसंहिताया वर्तमानसुश्रुतसंहिताया एव सप्तमाष्टमशताब्द्योः आरब्यादिदेशान्तरेष्वप्यनूदिततया, कम्बोडियागतयशोवर्मशिलालेखेऽप्युल्लेखेन तावद्दूरदेशान्तरेष्वपि प्रचलितुं कालविशेषस्याप्यपेक्षिततया, वाग्भटज्वरसमुच्चयादिलेखेष्वप्युत्तरतन्त्रसहिताया एवास्याः संवादेन च नागार्जुनविहितसंस्कारप्रवादाभ्युपगमेनापि संस्कारनिष्पन्नैतत्स्वरूपस्थितेरन्ततो गत्वा सप्तदशाष्टादशशतवर्षपूर्वत्वनिश्चयेन तदुपरिगणितप्रक्रियागतपञ्चदशशतवर्षयोजने मूलसंहिताया द्वात्रिंशच्छतवर्षप्राग्भाव आयाति ॥

धन्वन्तरेर्दिवोदासस्य, वार्योविदस्य[3] वामकस्यापि[4] काशीपतित्वेन निर्देशादीदृशैर्बहुभिर्वैद्याचार्यै राजर्षिभिः काश्यां पुरा-

---

१. विश्वामित्रो मुनिस्तेषु पुत्रं सुश्रुतमुक्तवान् ।
वत्स ! वाराणसीं गच्छ त्वं विश्वेश्वरवल्लभाम् ॥
तत्र नाम्ना दिवोदासः काशिराजोऽस्ति बाहुजः ।
स हि धन्वन्तरिः साक्षादायुर्वेदविदां वरः ॥
पितुर्वचनमाकर्ण्य सुश्रुतः काशिकां गतः ।
तेन सार्धं समध्येतुं मुनिसूनुशतं ययौ ॥ (भावप्रकाशे)

२. Indian Historical Quarterly vol IV P. 557.

३. काश्यपसंहितायां (३३) पृष्ठे-"काशिराजं महामुनिः" इति ॥

४. चरके "काशीपतिर्वामकः" इति (सूत्र. अ. २५) ॥

काले वैद्यविद्यायाः प्रतिष्ठापनमवगम्यते । बुद्धकालिकस्य काशीयुवराजस्य ब्रह्मदत्तस्यायुर्वेदविद्याध्ययनाय तक्षशिलागमनस्य जातकग्रन्थे निर्देशोपलम्भेन पूर्वपरम्परानुवृत्तामायुर्वेदविद्यां रक्षितुं काशिराजकुले चिरकालमनुरागोऽवगम्यते । औपधेनवैतरणसौश्रुतपौष्कलावतानां चतुर्णां सुश्रुते समप्राधान्यनिर्देशेन पूर्वपुरुषीयं सौश्रुतमौपधेनवादिकं वा कतमत्तन्त्रं तत्र प्रसृतमासीदिति विशेषोल्लेखानुपलम्भेऽपि नागार्जुनभाष्यकारादिभिः सुश्रुतसौश्रुतानां विशेषतो ग्रहणेन औपधेनवादीनां नाम्नाप्यनिर्देशेन च सौश्रुतः सम्प्रदायः पश्चिमदिग्भागेऽपि विशेषतः पूर्वप्रदेशे प्रचलित आसीदित्यूहितुं शक्यते । पश्चिमप्रदेशे कायचिकित्साप्रस्थानं, काश्यादिपूर्वप्रदेशेषु सौश्रुतं शल्यप्रस्थानं प्रचलितमासीदिति तु नियन्तुं नैव शक्यते । काशिस्थधन्वन्तरिसम्प्रदायेऽप्यष्टप्रस्थानोल्लेखो दृश्यते । "विविधानि शास्त्राणि भिषजां प्रचरन्ति लोके" (च.वि. अ. ८) इत्यात्रेयोऽपि सर्वतो नानाविधभैषज्यविद्यायाः प्रचारं स्वमुखेनोद्गिरति । चरकसंहितालेखात्पाञ्चालकाम्पिल्यादिषु, भेडलेखाद्गान्धारेषु, काश्यपलेखाद्गङ्गाद्वारकनखलादिष्वायुर्वेदविद्योपदेशस्य दर्शनेन तत्रापि सा विद्या प्रतिष्ठिता दृश्यते । तेन गान्धारादारभ्य, न केवलं गान्धारादपि तु बाल्हीकभिषजः काङ्कायनस्यापि तदात्वे उपलम्भेन बाल्हीकात् काशीपर्यन्तं पश्चिमोत्तरप्रदेशेषु भैषज्यविद्यायाः प्रचारः समुन्नतिश्च पूर्वमासीदित्यनुमातुं शक्यते । परं काशीयुवराजेन ब्रह्मदत्तेन तक्षशिलां गत्वा वैद्यविद्याअध्ययनस्य जातकग्रन्थात्, मगधान्निर्गतेन बुद्धसामयिकेन जीवकेन सन्निकृष्टां काशीमुपेत्य तक्षशिलामुपेत्य भैषज्यविद्यायां विशेषवैदुष्यस्य संपादनस्य, ततोऽधीत्य निवृत्तेन तेन जीवकेन विद्यां लब्ध्वा राजपदस्थस्य ब्रह्मदत्तस्य समये कस्यचिच्छ्रेष्ठिपुत्रस्योदरं विदार्य काश्यां शस्त्रचिकित्सयोल्लाघनस्य, अन्येषामपि बहुशो रोगिणां तत्र तत्र शस्त्रचिकित्सया कायचिकित्सया च जीवकस्य ख्यातेश्च महावग्गलेखतोऽवगमेन, जातकग्रन्थेभ्यो देशदेशान्तरतोऽप्यधिजिगमिषूणां तत्रोपगमवृत्तोपलम्भेन च विद्यान्तराणामिव भैषज्यविद्यायाः कालक्रमेण बुद्धसन्निकृष्टसमये काश्यपेक्षया शल्यप्रस्थानीयविद्याया अपि तक्षशिलादिषु विज्ञानगौरवं प्रतीयते । काश्यां पश्चात् समये समये राज्योपप्लवस्येतिहासतोऽप्यवगमेन समयवशाद्ध्रासः, आचार्यविशेषैश्चर्चाबाहुल्येन तक्षशिलादिष्वतिशयस्याधानमपि सम्भवति । अन्ततो गत्वा अशोकनृपसमये स्वदेश इव विदेशपर्यन्तमपि चिकित्सालयादीनामुद्घाटनेनेयं भैषज्यविद्या दूरदूरं प्रससार च । परं तादृशे विद्यापीठे तक्षशिलादिपरिसरप्रदेशेऽपि पश्चात्समयान्तरे विद्याह्रासमुपजगाम । तत्रापीतिहासलभ्येन राज्यविप्लवादिनैव हेतुना भवितव्यम् । तथैव बुद्धसमये तक्षशिलापेक्षया काश्यां तस्या विद्याया ह्रास इवानुभूयते ॥

"इन्द्र ऋषिभ्यश्चतुर्भ्यः काश्यपवसिष्ठात्रिभृगुभ्यस्ते पुत्रेभ्यः शिष्येभ्यश्च प्रददुर्हितार्थम्" इति (पृ. ६१)

आत्रेयः काश्यपसंहितायां पूर्वसंप्रदायोल्लेखेन आयुर्वेदविद्यायामत्रेरप्यन्यतमः संप्रदायः प्रवृत्तोऽवगम्यते ।

यत्र गोत्रनाम्ना आत्रेयाख्या भिक्षुरात्रेयः, कृष्णात्रेयः, पुनर्वसुरात्रेयश्च आचार्या अवगम्यन्ते । अन्येऽप्यनेके अत्रिपरम्परागता आचार्या भवेयुः । यथा कश्यपपरम्परायां मारीचशब्देन विशेषितः कश्यपः कौमारभृत्यसंहितायाम्, एवमेवात्रेयपरम्परायां पुनर्वसुनाम्ना विशेषित आत्रेयः अग्निवेशादीनामुपदेशकश्चरकसंहितामूलोपदेशक आचार्यः । स एवायं पुनर्वसुरात्रेयश्चन्द्रभागाया मातुर्नाम्ना चरके "यथाप्रश्नं भगवता व्याहृतं चान्द्रभागिना" (सू. १३) इति, भेडसंहितायां "सुश्रोता नाम मेधावी चान्द्रभागमुवाच ह" (पृ. ३९) इति चान्द्रभागः चान्द्रभागी पुनर्वसुरित्यपि व्यवहृतो दृश्यते । चरके "त्रित्वेनाष्टौ समुद्दिष्टाः कृष्णात्रेयेण धीमता" (सूत्र. अ. ११) इति एकदृस्थाने, भेडसंहितायामपि "कृष्णात्रेयं पुरस्कृत्य कथाश्चक्रुर्महर्षयः" इति क्वचन कृष्णात्रेयनाम्ना व्यवहारस्य दर्शनेन पुनर्वसुरात्रेय एव कृष्णात्रेयशब्देनापि व्यवह्रियते इत्यपि केषाञ्चिन्मतम् । अपरे तु श्रीकण्ठदत्तशिवदासादिभिः कृष्णात्रेयनाम्ना शालाक्यविषयकवचनान्तराणामुल्लेखेन आत्रेयपुनर्वसोरन्य एव कृष्णात्रेय इत्यपि वदन्ति । चरकसंहितायामादितोऽन्तपर्यन्तमात्रेयनाम्नाऽऽत्रेयपुनर्वसुनाम्ना वा प्रायो व्यवहरणेन, भेडसंहितायामपि पुनर्वसुनाम्नाऽऽत्रेयस्य व्यवहरणस्य प्रायिकतया, आत्रेयपरम्परायां वर्तमानस्य कृष्णात्रेयनाम्न आचार्यान्तरस्यापि मतमुपादाय क्वचन तन्निर्देशनस्य चरकभेडसंहितयोः सम्भवितया, कृष्णात्रेयशब्दयोरेकत्र सहप्रयोगस्यानुपलम्भेन च कृष्णात्रेयः पुनर्वसुरात्रेयश्च विभिन्नावाचार्यौ इत्यपि वक्तुं शक्यते ॥

चरकसंहितायामात्रेयपुनर्वसुना वार्योविदस्य तत्सहभाविनो मारीचिकश्यपस्य च पूर्वाचार्यदृशा उल्लेखनस्य पूर्वनिर्दिष्टतया मारीचकश्यपादुत्तरभावी, चरकसंहितागतेनोल्लेखेन काम्पिल्यराजधान्यां पाञ्चालप्रदेशे वर्तमानः पुनर्वसुरात्रेय आचार्य इत्यवगम्यते ॥ एवमस्यां काश्यपसंहितायां पादचतुष्कवर्णने—

> अस्य पादचतुष्कस्य मन्यन्ते श्रेष्ठमातुरम् ।
> तदर्थं गुणवन्तो हि त्रयः पादा इहेप्सिताः ।
> नेति प्रजापतिः प्राह भिषङ्मूलं चिकित्सितम् ॥
>
> (पृ. ३८–३९)

इति केवलं चतुष्पादकीर्तनं, तदपि संक्षिप्तलेखेन, चरकसंहितायां खुड्डाकचतुष्पादाध्याये तेषां चतुष्पादानां चातुर्गुण्येन षोडशकलतयोपबृंहणम्, उत्तरत्र महाचतुष्पादाध्यायेऽपि तस्यैव विशेषविवरणं वर्ण्यमानमपि कश्यपात्रेययोः पौर्वापर्यमवगमयन् कश्यपसमयादात्रेयसमये उत्तरभाविनि क्रमप्राप्तं विचारविकासमवबोधयति ॥

एवं रोगनिर्देशे काश्यपीये संक्षिप्तक्रियया रोगविभागस्तदनुबद्धा विषयाश्चैकेनैव सप्तविंशतितमाध्यायेन निर्दिष्टाः सन्ति, आत्रेयीये तु तद्विषये चत्वारोऽध्यायाः, तत्र महारोगाध्याये एकस्मिन्नेव काश्यपीयोक्तविषयसंवादिनो विषयाः सन्ति, तत्पूर्वतने कियन्तःशिरसीयादिकेऽध्यायत्रये विशेषान्तरनिर्देशो विकासदृशमुन्मीलयति । एवमनुसन्धाने बहुशो निदर्शनानि दृश्येरन् ॥

न केवलं कश्यपात्रेययोः पौर्वापर्यमात्रमपि तु चरकसंहि-

तायां पूर्वोपदर्शिते गर्भावक्रान्तिविषयकनानामतोपवर्णने "विप्रतिपत्तिवादास्त्वत्र बहुविधाः सूत्रकारिणामृषीणां सन्ति" इति कुमारशिरोभरद्वाजकाङ्कायनभद्रकाप्यभद्रशौनकवडिशवैदेहजनकधन्वन्तर्याचार्यैः सह मारीचकश्यपस्यापि सूत्रकारिणामृषीणामितिपदेन सूत्रकर्तृत्वं मुखेन निर्दिश्य सनामग्राहं मतोल्लेखेन एषां महर्षीणां ग्रन्था अपि आत्रेयपुनर्वसुना दृष्टा अवगताश्चेति स्पष्टं लाभेन आत्रेयपुनर्वसोर्ग्रन्थनिर्माणात् पूर्वमेव मारीचकश्यपीयो ग्रन्थः प्रसिद्ध आसीदित्यपि विशदीभवति ॥

चरकसंहितायां महाचतुष्पादाध्याये "प्रतिकुर्वन्[१] सिध्यति प्रतिकुर्वन्म्रियते अप्रतिकुर्वन् सिध्यति अप्रतिकुर्वन्म्रियते तस्माद्भेषजमभेषजेनाविशिष्टम्" इति मैत्रेयमतमननुकूलं निर्दिश्य तत्खण्डनपरतया "मिथ्या चिन्त्यत इत्यात्रेयः" इत्यात्रेयसिद्धान्तोल्लेखेन भेडसंहितायां चतुष्पादाध्याये अप्रतिकुर्वतोऽपि सिद्धिं वदतो मतं खण्डयत आत्रेयस्य सशब्दसंवादं सनामग्राहं सिद्धान्तस्य प्रदर्शनेन चरकसंहितायां भरद्वाजाल्लब्धं चिकित्साविज्ञानं प्रगुणीकृत्यात्रेयपुनर्वसुनोपदिष्टैर्भेडाग्निवेशादिभिः षड्भिः पृथक्तन्त्रप्रणयनोल्लेखेन तं संवादयता भेडसंहितायां प्रत्यध्यायमित्याह भगवानात्रेय इत्यात्रेयस्योपदेष्टृतया निर्देशेन शरीरनिर्वृत्तिविषये पूर्वाचार्यमतोल्लेखे कश्यपस्यापि नामोल्लेखेन चात्रेयस्येव कश्यपस्यापि भेडात् प्राक्तनत्वमित्यपि निर्विवादमेव ॥

भेडसंहितायामात्रेयकश्यपयोः कश्यपसंहितायां भेडात्रेयपुनर्वस्वोश्चरकसंहितारूपायामात्रेयसंहितायां मारीचिकश्यपस्येति परस्परं नामोल्लेखेन, चरकसंहितायामात्रेयेण वार्योविद्मारीचिकश्यपयोः पक्षप्रतिपक्षसंवादस्य कश्यपसंहितायां वार्योविदाय कश्यपेनोपदेशनस्योल्लेखेन च समसामयिकानामपि नानाचार्याणां प्रसिद्धतराणां मिथो मतोपादानस्य नामनिर्देशस्य भावितया च भेडाल्लेशतः पूर्वभाविनोः परस्परं सनामग्राहं मतमुल्लिखतोरात्रेयमारीचकश्यपयोर्वयस्तारतम्येन समसमयकत्वमपि युक्तिसहं भवति ॥

अथवा अस्यां काश्यपसंहितायां स्वोपजीवकयोर्वृद्धजीवकवात्स्ययोर्मतोल्लेखस्य कश्यपेन विधातुमयोग्यतया वृद्धजीवकवात्स्ययोर्नाममतोल्लेखः पश्चात्संस्करण प्रतिसंस्करणावसर एव प्रविष्टोऽवश्यमेव वक्तव्यः । एवमेव भेडादीनी पश्चाद्भवानां नाममतोल्लेखः संस्करणे पश्चात्प्रविष्टोऽपि सम्भवति ॥

एवञ्च सति कौटिलीयादिप्राचीनग्रन्थेषु मानवबृहस्पतिवातव्याधिप्रभृतीनामेवं यास्कादिगृहीतानां पूर्वाचार्याणां पक्षप्रतिपक्षभावेनोल्लेखेऽपि नैषामेतावतैव समकालकत्वं कल्पयितुं शक्यते । अतीताचार्यविषयानपि पुरःस्थपुस्तकादिगतान् बुद्धावाकलय्य परस्परं विमर्शरूपेण लेखनस्यापि प्राचीना शैली । तेनेतराचार्याणामेकतो नाममतोल्लेखमात्रं न समसमयकत्वं साधयति । यत्र तु द्वयोराचार्ययोर्ग्रन्थेषु मिथो नामोल्लेखो मतनिर्देशो वा पश्चात्तनस्य पूर्वेण निर्देशासम्भवेन तथाभावे जीवकवात्स्यादिसदृशप्रतिसंस्कर्तृसद्भावस्थले पूर्वोत्तरयोरप्याचार्ययोर्मिथो ग्रन्थेषु नाममतनिर्देशं विधाय पश्चात्तनैः संस्करणमपि संभवति । किंवा तयोरेवाचार्ययोः समसमयकतया स्वयमेव मिथो नामादिनिर्देशनमपि युज्यते, इतीदृशेषु पश्चात्प्रतिसंस्कृतेषु ग्रन्थेषु मिथो नामग्रहणादिना पौर्वापर्यं समसमयकत्वं वेति सूक्ष्मया दृशा साधनान्तरैर्विवेचनीयं भवति ॥

तिब्बतीयोपकथायां तक्षशिलास्थितादात्रेयाज्जीवकस्याध्ययनोल्लेखोपलम्भेन बुद्धकालीनजीवकस्य गुरुरात्रेय एव पुनर्वसुरात्रेय इति मत्वा चरकसंहितामूलाचार्यस्य पुनर्वसोरात्रेयस्य स एव बुद्धकालीनः समय इति बहुभिर्विवेचकैर्विपश्चिद्भिः सन्धार्यते। परं जीवकस्य विषये तिब्बतदेशीया इव सिंहलदेशीया ब्रह्मदेशीया अपि उपकथा दृश्यन्ते । मिथः कथांशेष्वनैकात्म्यमासु दृश्यते । जीवकस्याध्ययनोपवर्णने महावग्गलेखतस्तक्षशिलायां कस्माच्चिदेव दिशाप्रमुखादाचार्याज्जीवकस्याध्ययनमायाति, न तु तद्गुरोरात्रेयत्वं ततः परिच्छेत्तुं शक्यते । चुल्लकसेट्ठिजातकेऽपि तक्षशिलायां पञ्चशतमाणवकाचार्यस्य दिक्प्रमुखस्य बोधिसत्वस्य निर्देशः, तत्कथायां पापकस्य जीवकस्य च नामनिर्देशोऽप्यस्ति । सिंहलोपकथां[१] तु शक्रेण विशेषमहिमानं प्रापितात् कपलक्ष्य (कपिलाक्ष ?) गुरोर्जीवकस्याध्ययनमुल्लिख्यते । ब्रह्मदेशीयोपकथायां[२] तु न तक्षशिलायाम्, अपि तु वाराणस्यां गत्वा जीवकस्याध्ययनं निर्दिश्यते । इत्येवमुपकथानां मिथो विरोधेन कस्या उपकथायाः प्रमाणविधयाऽङ्गीकरणं विधीयेत । विरोध्युपकथान्तरैः सह विवदमानायास्तिब्बतीयकथायाः केवलमुक्तिमुपादाय आत्रेयस्यार्वाग्भवतारमर्वाग्भावसाधनबद्धपरिकरेभ्य एव रोचताम् । ईदृशदुर्बलप्रमाणमुपादाय चरकसंहितामूलाचार्यस्यात्रेयपुनर्वसोः समयनिर्धारणं दुःसाहसं-

---

१. सिध्यति प्रतिकुर्वाण इत्यात्रेयस्य शासनम् ।
अपि चाप्रतिकुर्वाण इत्याख्यद्भद्रशौनकः ।
नत्वेतां बुद्धिमात्रेयः शौनकस्यानुमन्यते ।
प्रतिकुर्वति सिद्धिर्हि वर्णोत्साहसमन्विता ॥

(भेडसंहितायाम्. पृ. १५) ॥

अत्र भेडेन शौनकनाम्ना गृहीतस्य प्रतिमतस्य चरके मैत्रेयनाम्ना निर्देशो दृश्यते । गृहीतमतस्य संवादोपलम्भेन मुद्रितचरकपाठे समयवशेन नामविपर्यासः, अथवा शौनक इति कुलनाम्ना मैत्रेय इति मातृनाम्ना एक एवाचार्यो निर्दिष्टोऽपि सम्भवति ॥

१. Jivaka went to *Takṣas'ilā* to study medicine. The Professor agreed to teach him. At this moment the throne of *S'akra* trembled, as Jivaka had been acquiring merit through a *Kap-Laksha*, and was soon to administer medicine to Gautama *Buddha*.

Vide-Manual of Buddhism by Spence Hardy pp. 239.

२. Jiyaka, in order to afford relief and comfort to his fellew-creatures, he resolved to study medicine. He repaired to *Banaras*, placed himself under the direction of a famous physician and soon became eminent by his extreme proficiency in the profession.

Vide-Legend of the Burmese Buddha p. 197
by Right Revrent p. Bigandet.

मन्ये । आत्रेयस्य जीवकगुरुत्वे जीवकेन स्वीयतन्त्रे आत्रेयस्य गुरुभावेन निर्देशनं किमिति न विधीयेत ॥

क्याङ्गूर-विनयस्य तृतीयभागे ६१ अध्याये (९२-१०८ पत्रेषु) जीवककुमार-(छ्रो गे सोन नु) नाम्नो भिषग्राजस्यैवमाख्यानं दृश्यते-"जीवको राजानं प्रार्थ्य जीविकार्थं भैषज्यविद्यां पठित्वा कपालभेदनचिकित्सनविद्याविज्ञानाय तक्षशिलायां (ध्येजोग्) भिषग्राजस्य ध्युन् शेकि भु (नित्यप्रज्ञ ?) नाम्नस्तद्विद्याविशेषज्ञस्य सकाशे गन्तुं राजानमभ्यर्थयामास । ततो नित्यप्रज्ञविदुषो भैषज्यविद्याविशेषलब्धये तत्रागच्छतो मत्पुत्रस्य जीवकस्याध्ययनप्रबन्धो विधेय इति तक्षशिलानृपतये पद्मसार (पद्म हि डिङ् पो) नाम्ने लिखितं बिम्बसारपत्रमादाय तक्षशिलां गतो जीवकः प्राप्तपत्रेण नृपेणोक्तान्नित्यप्रज्ञ (ध्युन् शेकि भु) भिषग्राजाद्भैषज्यविद्यां जग्राह" इति । 'ध्युन्=सदा अथवा नित्यः; शेकि=प्रज्ञायाः; भु=सूनु, सम्बन्धी;' इति योगार्थमादाय तिब्बतीयभाषायास्तदीयगुरुवाचकस्य 'ध्युन् शेकि भु' इति तस्मिन्नाख्याने बहुवारं प्रयुक्तस्य शब्दस्य दर्शनेन जीवकस्य गुरुस्तक्षशिलायां वर्तमानो भिषग्राजः कपालभेदनचिकित्सनविद्यायां विशेषतः प्रसिद्धो नित्य-(सदा) प्रज्ञो नामेति तिब्बतीयोपाख्यानमूललेखतः समायाति । राहुलसाङ्कृत्यायनेन पालीभाषातो हिन्दीभाषायामनूदिते विनयपिटकेऽपि-"उस समय तक्षशिलामें (एक) दिशा-प्रमुख (=दिगन्तप्रसिद्ध) वैद्य रहता था" (पृ० २६७) इत्थं लिखितं वर्तते । नात आत्रेयो जीवकगुरुरिति प्रत्येतुं शक्यते । 'तिब्बतीयोपकथात आत्रेयो जीवकगुरुरवगम्यते' इति वदतां विदुषामपि नाम किमप्यवलम्बनान्तरं बलवदिति विमर्शस्थानमेतत् ॥

किञ्च-आत्रेयपुनर्वसुनाऽग्निवेशस्योपदेशनस्थानं "जनपदमण्डले पाञ्चालक्षेत्रे काम्पिल्यराजधान्याम्" इति निर्देशेन काम्पिल्यप्रदेश इति स्पष्टमेव । यदि नाम बुद्धसामयिकजीवकीयेतिवृत्ते तिब्बतीयकथाजातकादिषु तक्षशिलायामात्रेयादध्ययनोल्लेखेन तक्षशिलाध्यापक आत्रेयोऽग्निवेशस्योपदेशकः स्यात्तदा तक्षशिलाया उल्लेखोऽग्निवेशसंहितायां कथं न दृश्येत । तक्षशिलाप्रदेशे भूगर्भनिगतप्राचीननगरत्रये दक्षिणभागस्थो विर्माउण्डसंज्ञको भागः पूर्वकालिकः B. C. १०००-१२०० समयात्प्रसिद्ध आसीदिति ऐतिहासिका वदन्ति । पाणिनिनाऽपि[1] तक्षशिलायाः सूत्रे निर्देशः क्रियते । बुद्धसमयादपि पूर्वसमये तक्षशिलायां विद्याप्रचार आसीदिति ऐतिहासिकैरप्युपवर्ण्यते । मागधस्य जीवकस्य काशीराजब्रह्मदत्तस्यापि तक्षशिलायां वैद्यशास्त्राध्ययनायोपगमनोल्लेखेन तदात्वे तक्षशिला विद्यान्तराणामिव आयुर्वेदविद्याया अपि प्रधानं विद्यापीठमासीदिति महावग्गजातकादिलेखेभ्योऽपि व्यक्तमेव । पुनर्वसोरात्रेयस्य तदन्तेवासिनोऽग्निवेशस्य च तत्सामयिकत्वे आत्रेयसंहिताकर्त्रा अग्निवेशसंहिताकर्त्रा वा तादृश्याः प्रसिद्धविद्यापीठरूपायास्तक्षशिलाया नामोपादानं किमिति न क्रियेत । तस्यामग्निवेशसंहितायामात्रेयपुनर्वसोरुपदेशस्थानानि[1] यावन्ति कीर्तितानि तत्र नैकत्रापि तक्षशिलाऽनुस्मर्यते । एवंरूपां तक्षशिलामनुपादाय काम्पिल्यादावुपदेशनस्योल्लेखेन तक्षशिलायास्तत्समये प्रसिद्धिरेव नासीत् । तस्या विद्यापीठभावसमयात् पूर्वमेव काम्पिल्ये आत्रेयपुनर्वसुनाऽग्निवेशस्योपदेशनं प्रतीयते । काम्पिल्य[2]देशो हि वेदसमयात् प्रभृति प्रसिद्धः । शुक्लयजुर्वेदतैत्तिरीयमैत्रायणीयकाठकसंहितासु च काम्पिल्यशब्दो लभ्यते । पाञ्चाल[3]शब्दोऽपि वेदेषु ब्राह्मणेषु उपनिषत्स्वपि दृश्यते । नैवं तक्षशिलाया वेदेषु ब्राह्मणेषु उपनिषत्सु वा प्राचीनग्रन्थेषु उल्लेखोऽस्ति । महा[4]भारतेऽप्युपक्रमोपसंहारभागयोरेव, रामायणे[5]ऽप्युत्तरकाण्डे एव तदुल्लेखोपलम्भात्तक्षशिलायाः पश्चाद्भावः स्पष्टमवगम्यते । न केवलमात्रेयपुनर्वसुनाऽग्निवेशेन, नानादेशानुपवर्णयता मारीचकाश्यपेन तदन्तेवासिना वृद्धजीवकेनापि तक्षशिला नोल्लिखिता । न वा सुश्रुतसंहितायां भेडसंहितायां वा तन्नामोपलभ्यते । बुद्धसामयिकजीवकाचार्यः केवलमात्रेयशब्देन तक्षशिलागतत्वेन च निर्दिश्यते । चरकीयात्रेयाचार्यो हि आत्रेयपुनर्वसुशब्देन काम्पिल्यस्थानीयत्वेन निर्दिश्यते इति स्पष्टो विशेषः । एकस्यैवात्रेयस्यान्तेवासिनौ एतौ जीवकाग्निवेशौ यद्यभविष्यतां तदा जीवककथायां तादृशप्रधानसतीर्थ्यस्याग्निवेशस्य नाम, अग्निवेशलेखे वा तादृशविशिष्टबुद्धिमत्तया प्रसिद्धस्य जीवकस्य नाम किमिति न निरदेक्ष्यत । अग्निवेशस्याचार्य आत्रेयपुनर्वसुः कायचिकित्सायामेवाचार्योऽवगम्यते । येनाग्निवेशादिभिरपि तद्विषय एव संहिता निरमायि । जीवकाचार्य आत्रेयः कायचिकित्सायां, ततोऽपि विशेषतः शल्यप्रस्थाने परिनिष्ठित आसीदिति अन्तेवासिनो जीवकस्य भैषज्यप्रक्रियातः स्पष्टीभवतीति विद्याप्रस्थानविशेषोऽप्यनयोरात्रेययोर्व्यक्तिभेदं साधयति । एवं दर्शनेन तक्षशिलाभ्युत्थानात् पूर्वतनोऽयं काश्यपात्रेयाग्निवेशभेडदिवोदासादीनामायुर्वेदविद्योपदेशनग्रहणधारणसमय इति कथं वक्तुं न शक्यते । एवं पाणिनीये कच्छादिगणे (४. २. १३३.), तक्षशिलादिगणे (४. ३. ९३) दृश्यमानस्य पाश्चात्यप्रसिद्धदेशवाचकस्य काश्मीरशब्दस्य वेदब्राह्मणेष्विव आत्रेयाग्निवेशसंहितायामनुपलम्भेन तदात्वे

---

१. सिन्धुतक्षशिलादिभ्योऽणञौ (पाणिनिसूत्रम् ४-३-९३) ।

---

१. पार्श्वे हिमवतः शुभे (पृ. ५), वने चैत्ररथे रम्ये (पृ. १२९), जनपदमण्डले पाञ्चालक्षेत्रे काम्पिल्यराजधान्यां ··· शिष्यमग्निवेशमब्रवीत् (पृ. २३६) पञ्चगङ्गे पुनर्वसुम् (पृ. ४२४), कैलासे नन्दनोपमे (पृ. ४८०) इत्यादि ॥

२. अम्बे अम्बिके ··············· सुभद्रिकां काम्पीलवासिनीम्— (यजुर्वेदे २३. १८) ।

३. पञ्चालानां समितिमेयाय (शतपथब्राह्मणे) ।

४. उपलभ्यमानमहाभारते तक्षशिलाशब्द आदिपर्वणि तृतीयाध्याये द्विवारं, स्वर्गारोहणपर्वणि ५ अध्याये च दृश्यते-"गुरवे प्राङ् नमस्कृत्य" (१५५ अध्यायतः) इत्यारभ्य महाभारतस्योपक्रमः, ततः पूर्वतनो भागस्तु सूतेन पश्चात् पूरित इति महाभारतविमर्शे (Bhandarkar O. R. I. vol XVI part III, IV) मया निर्दिष्टमस्ति ।

५. रामायणे उत्तरकाण्डे ११४ अध्याये २०१ श्लोके ॥

काश्मीरदेशस्य सद्भावेऽपि विद्यापीठभावेन प्रसिद्धेः पूर्वतनस्तदीयो गौणभावोऽवबुध्यते। अन्यथा काम्पिल्यपाञ्चालपरिसरप्रादुर्भूतायामात्रेयसंहितायां काम्पिल्यादिसन्निकृष्टस्य तथा प्रसिद्धस्य काश्मीरस्यानुल्लेखः कौतुकं किं न जनयति ॥

एवं च तिब्बतीयोपकथायाः प्रामाण्याभ्युपगमेन तदाचार्यस्यात्रेयत्वाभ्युपगमेऽपि गोत्रबोधकेनात्रेयशब्देन नानाव्यक्तीनां व्यवहारस्य दर्शनेन, गोत्रवाचकात्रेयशब्दमात्रमुपादाय सोऽयमेवात्रेयपुनर्वसुरिति न निश्चेतुं शक्यते। किन्तु बौद्धग्रन्थोक्तजीवकाध्ययनस्थानत्वेन निर्दिष्टायास्तक्षशिलाया अध्यापकत्वेन तिब्बतीयकथातोऽवगम्यमान आत्रेय आत्रेयपुनर्वसोः पश्चाद्भवो बुद्धकालिकोऽन्य एव गोत्रनाम्ना व्यवहृत आत्रेयः कोऽपि स्यादिति सम्भाव्यते। राजर्षेर्वार्योविदस्य बुद्धसमये तदुत्तरं वा न क्वापीतिहासे उपलम्भोऽस्ति। वार्योविदसहभाविनः पुनर्वसोरात्रेयस्य मारीचकश्यपेन सहाविप्रकृष्ट औपनिषदः समय इत्यवोचाम। तेनात्रेयपुनर्वसोः समयो बुद्धकालिक इति निर्धारयितुमवलम्बितं साधनं दुर्बलं प्रतिभाति ॥

अग्निवेशः चरकसंहितायामात्रेयपुनर्वसोः प्रधानान्तेवासितया निर्दिष्टोऽग्निवेशः, तत्सतीर्थ्या भेडादयश्च तत्सामयिका एव भवितुमर्हन्ति ॥

अग्निवेशसंहितायां तक्षशिलाया अनुल्लेखेन पाणिनीयसूत्रे[1] तक्षशिलाया उल्लेखेन, पाणिनिना गर्गादिगणे[2] जतूकर्णपराशराग्निवेशशब्दानामुल्लेखेन च अग्निवेशस्य पाणिनितोऽपि पूर्वः समयः प्रतीयते। यद्यपि पाणिनीयेषु तेषु तेषु गणेषु समानवर्गीया एव शब्दा उद्दिश्यन्ते इति न नियमः, तथाऽपि भाषाप्रगतिदृशा प्राय एकजातीयेषु शब्देषु प्रत्ययाद्यैकरूप्येण शब्दानां प्रायिकी एकाकारता दृश्यते। येन पाणिनीयगणेषु ऋषिदेशनदीनगरप्राण्यादिवर्गीयाः शब्दाः सह गृहीताः प्रायशो दृश्यन्ते। अस्मिन् गर्गादिगणे जतूकर्णपराशरभिषजचिकित्सितशब्दानां पाठेन सन्निधिपाठमवाप्तः पराशरशब्दो वैद्याचार्यस्य पराशरस्य बोधकः स्यात्। तस्मिन् गणे प्रविष्टोऽग्निवेशशब्दोऽपि समानन्यायेन आत्रेयशिष्यस्य वैद्याचार्यस्याग्निवेशस्य बोधको बहुशः सम्भवति। तथात्वेऽग्निवेशस्य पाणिनेरपि प्राक्तनत्वमायाति ॥

पूर्वं निर्दिष्टेषु हेमाद्रिलक्षणप्रकाशोद्धृतशालिहोत्रश्लोकेषु आयुर्वेदकर्तॄणां[3] नामावल्यामग्निवेशस्य हारीतक्षारपाणिजातूकर्णपराशरादिभिः सतीर्थ्यतया ज्ञातैराचार्येणात्रेयेण च सह नामोल्लेखो दृश्यते। पालकाप्यकृते हस्त्यायुर्वेदेऽपि चतुर्थस्थाने ४ अध्याये स्नेहविशेषवर्णने[4]ऽग्निवेशस्य मतोल्लेखोऽस्ति। चरकसंहितायां (पृ. ७७) पुनर्वसुमतत्वेनोपलभ्यमानो द्वैविध्यवादो भरद्वाजमतत्वेन, चातुर्विध्यवादो गौतममतत्वेन पालकाप्ये दर्शितः। पालकाप्ये प्रयोगतः साप्तविध्यवादोऽग्निवेशमतत्वेनोल्लिखितोऽस्ति। वर्तमानचरकसंहितायां स्नेहान्तराणामुल्लेखे सत्यपि चतुर्णां स्नेहानामेव विशेषतः प्रयोगा दृश्यन्ते। सोऽयं संस्कारकृतो विशेषः किमु? ॥

पूर्वे ऋषयो वेदवेदाङ्गविषयेष्विव केचन आयुर्वेदविषयेष्वपि ज्ञानवन्त आसन्निति तत्र तत्र गतैर्विषयैरवगम्यते। यद्यपि समानाभिधानवन्तोऽनेके संभवन्ति, मज्झमनिकाये[1] गौतमबुद्धेन सहाध्यात्मिकचर्चापरस्य सञ्चक (सत्यक) नामकस्य निगण्ठ (निर्ग्रन्थ) नाथपुत्रस्यापि गोत्रनाम्ना अग्निवेशशब्देन सम्बोधनमुपलभ्यते। साधकबाधकप्रमाणान्तरोपलम्भं विना स एवायं न वाऽयमिति निश्चेतुं न शक्यते, व्यक्तिविशेषनिर्धारणेन संभावनां द्रढयितुं साधनान्तरविकासोऽपेक्ष्यते, तथाऽपि ब्राह्मणोपनिषत्कालिकत्वेन समर्थितानां दिवोदासप्रतर्दनादीनामनतिविप्रकृष्टत्वेन आत्रेयस्य प्रदर्शिततया तत्कालिक आत्रेयशिष्योऽग्निवेशः शतपथब्राह्मणे आयुर्वेदीयविषयाणामप्युपलम्भेन तदीयवंशब्राह्मणे[2] निर्दिष्टस्याग्निवेश्यस्य पूर्वपुरुषतया ज्ञायमानोऽग्निवेशः किमयमित्यपि बहुशः सम्भवति। आत्रेयोऽस्मिन्नायुर्वेदप्रस्थाने परमाचार्यः, यस्याग्निवेशादयः षट् प्रधानतमाः शिष्यास्तदुपदेशाँस्तत्संहितोक्तीश्चोपादाय स्वस्वविचारविशेषावनद्धैर्निबन्धनैः पृथक्पृथक्प्राकाशयन्। तेषु, अग्निवेशस्य मुख्यतन्त्रकर्तृत्वेन चरकसंहिताया उपक्रमोल्लेखादग्निवेशतन्त्रं सर्वमूर्धन्यमासीदित्यपि प्रतीयते। एकस्यापि नभोमध्यमणेः प्रभायास्तत्तत्प्रदेशतारतम्यवशेन प्रतिफलनतारतम्यवदात्रेयाचार्यस्योपदेशा अग्निवेशहारीतक्षारपाणिप्रभृतीनां विदुषामन्तःकरणेषु पतिता यथास्वं ग्रहणधारणमननप्रयोगानुभवविशेषैर्विभिन्नभावेन विशेषात्मना उच्चावचविभिन्नतन्त्राणां निबन्धने कारणतामुपजग्मुः। तेष्वपि अग्निवेशस्य निबन्धनं प्राथम्यं विशिष्टतां च लोके दर्शयामास। अतः किल अग्निवेशतन्त्रमेव चरकाचार्येण संस्कृतं सर्वतः प्रसिद्धिमापेदे। अस्य वैशिष्ट्यमेव हारीतक्षारपाण्याद्याचार्यान्तरग्रन्थानां प्रचारविरलीभावेनाद्यत्वे विलोपायापि हेतुतामवाप किल? ॥

चरकः आत्रेयपुनर्वसूपदेशमादाय निबद्धाया अग्निवेशसंहितायाः पश्चात् संस्कर्तृतयोल्लिखितश्चरकाचार्यः कतमः किंसमयको वेति विमर्शे यद्यपि तत्र तत्र ग्रन्थेषु चरकशब्दप्रयोगः, तेन शब्देन तत्र तत्र विभिन्ना नानार्थाः[3] प्रतीयमाना अप्युपलभ्यन्ते; तथाऽपि एतमर्थमुपादाय

१. सिन्धुतक्षशिलादिभ्योऽणञौ। (पाणिनि. सू. ४. ३. ९३)

२. गर्गादिभ्यो यञ्। (पाणिनि. सू. ४. १. १०५)

३. अत्रैवोपोद्घातलेखे आचार्यपरिच्छेदे पृ० १२।

४. तद्यथा–नवनीतं घृतं मस्तिष्कं मज्जा तैलं फलतैलं मेदो वसा शुक्रमित्येते नव स्नेहविशेषाः। तत्र शुक्रमस्तिष्कव्यपेता गार्ग्यः प्रोवाच, प्रयोगतः स्नेहान् सप्ताग्निवेशः, चतुरः स्नेहांस्तेषां प्राह गौतमः सर्पिस्तैलं वसा मज्जा चेति, भरद्वाजस्तु स्थावरजङ्गमौ द्वौ विशेषौ प्राह। (पालकाप्ये. पृ. ५८१) ॥

१. मज्झमनिकाये पृ. १३८।

२. आग्निवेश्यादाग्निवेश्यः (शतपथब्राह्मणे) ॥

३. I कृष्णयजुर्वेदीया एकतमा शाखाऽपि चरकनाम्ना प्रसिद्धाऽस्ति, यच्छाखीयाश्चरका इति शतपथादिषूल्लिखिता दृश्यन्ते।

II ललितविस्तरे १ अध्याये "अन्यतीर्थिकश्रमणब्राह्मणचरकपरिव्राजकानाम्" इति श्रमणादिश्रेण्यां केषाञ्चिच्चरणशीलानां तपोवृत्तीनां बोधकश्चरकशब्दो लभ्यते।

वैद्याचार्यश्चरकनाम्ना प्रसिद्ध आसीत्, अमुकोऽयमाचार्य इति निर्धार्य यथावत्परिच्छेत्तुं न शक्यते ॥

भावप्रकाशे[1] आयुर्वेदाचार्याणामुपवर्णने साङ्गान् वेदानथर्वान्तर्गतमायुर्वेदं च ज्ञातवतः शेषस्य पृथिवीवृत्तमवगन्तुं चररूपेणावतीर्णस्यावताररूपो वेदवेदाङ्गवेदिनः कस्यचिन्मुनेः पुत्रः आयुर्वेदवेत्ता चरकाचार्यश्चर इवेति निर्वचनमादाय तेन नाम्ना प्रसिद्ध आत्रेयशिष्यैरग्निवेशादिभिर्विहितान्यायुर्वेदीयतन्त्राणि उपादाय संस्कृत्य समाहृत्य चरकसंहितानाम्ना ग्रन्थं निबबन्धेति चरकसंहिताप्रणेतुरायुर्वेदाचार्यस्य चरकस्येतिवृत्तमुल्लिखितमुपलभ्यते ॥

चरकशब्दो वैद्यरूपमर्थं बोधयति, येन एकद्वस्थले व्यक्त्यन्तरेऽपि चरकशब्दव्यवहारो दृश्यते इत्यपि केचनोपवर्णयन्ति । परं चरकशब्दस्य वैद्यपर्यायत्वे अभिधानग्रन्थेष्वपि वैद्यपर्यायश्रेण्यां तदुल्लेखेन, सुश्रुतादिष्वाचार्यान्तरेष्वपि तत्प्रयोगेण च भवितव्यं, न चैवमस्ति, अपि तु चरकसंहिताप्रणेतरि व्यक्तिविशेषे एव रूढोऽयं शब्दस्तमेव निसर्गत उपस्थापयति । तेन क्वचन व्यक्त्यन्तरे दृश्यमानोऽयं चरकशब्दः कलिभीम इत्यादिवदौपचारिक इति वक्तव्यमेव । आयुर्वेदीयविषयाणामथर्ववेदे विशेषोपलम्भेन कश्यपसुश्रुतसंहितयोरिव एतदीयसंहितायामप्यथर्ववेदस्यास्मिन् विषये प्राधान्यकीर्तनं चरकशाखीयत्वेऽपि चरकाचार्यस्य न व्याहन्यते । तेन गोत्रनाम्नाऽऽत्रेयस्येव शाखानाम्नाऽप्यस्य चरक इति प्रसिद्धिरपि सम्भवति । किंवा तद्व्यक्तेश्चरक इति रूढमेव संकेतनाम स्यात् । अथवा पश्चिमविभागे पूर्वं नागजातीनामितिवृत्तोपलम्भेन तज्जातीयो विद्वान् सन् भावप्रकाशोक्तरीत्या शेषावतारश्चरकः कीर्तितः किल ? । बृहज्जातकव्याख्याकृतो रुद्रस्य लेखानुसारेण वैद्यविद्याया विशेषविद्वानसौ लोकोपकारदृशा भिक्षुवृत्त्या ग्रामे ग्रामे चरित्वा वैद्यविद्याया उपदेशेन भैषज्येन च लोकोपकारं विदधान आसीत् । अतः किल सञ्चरणशीलभिक्षुरूपार्थमादाय चरकनाम्ना प्रसिद्धः स्यादित्यपि बहुशः सम्भवति । अस्तु नाम यथातथाऽपि अस्य चरकनाम्ना ख्यातिः, सोऽयं चरकाचार्य आत्रेयसंहितोपदेशमुपादायाग्निवेशनिबद्धस्य तन्त्रस्य प्रतिसंस्कृत्य प्रकाशनेन आयुर्वेदीयभैषज्यविद्यायामतिनिष्णाततया पूर्वसमयादेवाचार्यकुक्षौ संमानित आसीदित्यवगम्यते, येन वाग्भटादयोऽपि चरकाचार्यं विशेषतः कीर्तयन्ति । जयन्तभट्टोऽपि न्यायमञ्जर्यां-प्रत्यक्षीकृतदेशकालपुरुषदशाभेदानुसारिसमस्तव्यस्तपदार्थशक्तिनिश्चयाश्चरकादयः" इति सबहुमानमेनमाचार्यमनुस्मरति ॥

एतदीयसमयविचारे "कठचरकाल्लुक् (४-३-१०७)" इति पाणिनिना चरकशब्दस्य निर्देशाच्चरकाचार्यस्य पाणिनेरपि प्राक्तनत्वमिति कैश्चन विद्वद्वरैः प्रतिपादितम् । परमस्मिन् सूत्रे निर्दिष्टश्चरकः कठसाहचर्याच्चरणव्यूहोक्तिसंवादाच्च संहिताद्रष्टा, किंवा तत्सांप्रदायिकोऽन्य एव प्राचीनो महर्षिरिति निश्चीयते । चरकशाखासंहिताऽप्यद्यत्वे मुद्रितोपलभ्यते । "माणवकचरकाभ्यां खञ्" इति सूत्रान्तरे (५-१-१४) उपात्तश्चरकशब्दोऽपि ञित्वस्य स्वरार्थतया निर्देशेन स्वरस्य विशेषतो वैदिक्यां प्रक्रियायामुपयोगाच्च लौकिकैकचरकव्यक्तिपरत्वकल्पनापेक्षया चरकशाखीयपर एव कल्पयितुमुचितः प्रतिभाति ॥

याज्ञवल्क्यस्मृतिव्याख्यायां[1] विश्वरूपाचार्येण "तथा च चरकाः पठन्ति" इत्युद्धृते वाक्ये अश्विनोर्भैषज्योपदेशदर्शनेन आपाततो वैद्यविषयत्वप्रतिभासेऽपि मधुन आपदि ब्रह्मचर्याप्रतिघातकत्वे साधकतया निर्दिष्टत्वेन एतत्समश्रेण्यां वाजसनेयिनामपि वचनोद्धारेण तत्साहचर्याच्च चरका इति चरकशाखीया एव निर्दिष्टा इति स्पष्टमवबुध्यते । काशिकावृत्तेर्लेखानुसारेण वैशम्पायनान्तेवासिनश्चरकत्वेन[2] व्यवहारोऽपि चरकशाखाप्रवर्तकत्वेनैव दृश्यते ॥

शुक्लयजुःसंहितायां ३० अध्याये पुरुषमेधप्रकरणे १८ मन्त्रे 'दुष्कृताय चरकाचार्यम्' इति मन्त्रप्रतीको दृश्यते । तस्य व्याख्याने हिन्दीभाषाभाष्यकृता मिश्रमहाशयेन चरकाचार्यो वैद्यशास्त्राचार्य इत्यर्थः कृतः, ततश्च वैद्याचार्यश्चरकोऽतिप्राचीन इत्यपि केनचिदुच्यते । परं तथाव्यक्तिपरकत्वेन व्याख्याने किंवा मूलं स्यात् । एकेनैव पुरुषमेधे चरकाचार्यस्य दुष्कृतदेव-

---

III वराहमिहिरेण बृहज्जातके (१५-१) प्रव्रज्यायोगवर्णने "शाक्या जीविकभिक्षुवृद्धचरका निर्ग्रन्थवन्याशनाः" इत्युपात्तस्य चरकशब्दस्य भट्टोत्पलेन "चरकश्चक्रधरः" इति, रुद्रेण "चरका योगाभ्यासकुशला मुद्राधारिणश्चिकित्सानिपुणाः पाखण्डभेदाः" इति व्याख्यानं विहितमस्ति ।

IV श्रीहर्षेण नैषधचरिते (४।११६) "देवाकर्णय सुश्रुतेन चरकस्योक्तेन जानेऽखिलम्" इति द्वितीयार्थे चरः स्पश एव चरक इत्यपि बोधितमस्ति ।

V ब्रह्मणे ब्राह्मणमिति तैत्तिरीयसंहितामन्त्रगते चरकाचार्यपदे भाष्यकृता सायनेन वंशाग्रनर्तक इति व्याख्यानेन नटविशेषोऽपि चरकशब्देन बोध्यते ॥

१. अनन्तश्चिन्तयामास रोगोपशमकारणम् ।
सञ्चिन्त्य स स्वयं तत्र मुनेः पुत्रो बभूव ह ॥
प्रसिद्धस्य विशुद्धस्य वेदवेदाङ्गवेदिनः ।
यतश्चर इवायातो न ज्ञातः केनचिद्यतः ॥
तस्माच्चरकनाम्नाऽसौ ख्यातश्च क्षितिमण्डले ।
आत्रेयस्य मुनेः शिष्या अग्निवेशादयो भवन् ॥
मुनयो बहवस्तैश्च कृतं तन्त्रं स्वकं स्वकम् ।
तेषां तन्त्राणि संस्कृत्य समाहृत्य विपश्चिता ॥
चरकेणात्मनो नाम्ना ग्रन्थोऽयं चरकः कृतः । (भावप्रकाशे)

१. तथा च चरकाः पठन्ति–श्वेतकेतुं हारुणेयं ब्रह्मचर्यं किलासौ जग्राह । तमश्विनावूचतुः, मधुमांसौ किल ते भैषज्यमिति । सहोवाच ब्रह्मचर्यमानी कथं मध्वश्नीयामिति । तौ होचतुः यदा चात्मना पुरुषो जीवति अथान्यत्सुकृतं करोमीत्यात्मानं सर्वतो गोपायेत् । अथ खल्वाहुर्वाजसनेयिनः···इत्यादि (याज्ञवल्क्यटीका बालक्रीडा १-२-३२)

२. चरक इति वैशम्पायनस्याख्या, तत्संबन्धेन सर्वे तदन्तेवासिनश्चरका इत्युच्यन्ते ॥ (काशिकावृत्तिः ४-३-१०४)

तायै समुपहरणे पश्चात्तनेन यज्वना क उपह्वियेत। महीधरेण तु चरकाणामाचार्यं गुरुमिति सामान्यरूपेणाव्यक्तमेव विवरणं विहितम्। चरकशाखीयानामाचार्यमिति चरकशाखीयोपादानमपि प्रकरणासङ्गतं प्रतिभाति। यतो हि अस्मिन् प्रकरणे जातिविशेषाणां नानावृत्तिमतां च पुरुषाणां मेधोपहरणीयतयोपादानं दृश्यते। न तु कस्यापि शाखाविशेषानुयायिनो व्यक्तिविशेषस्य वा। अस्मिन्नेव मन्त्रे कितवादयः प्रायो दुर्वृत्तिमन्तो निम्नश्रेणीकाः पुरुषास्तदुचिताभ्यो देवताभ्यो निवेद्यमाना ज्ञायन्ते, तेन दुष्कृतदेवतायै समर्प्यमाणश्चरकाचार्योऽपि कश्चन दुर्वृत्तिमानेव भवितुं युज्यते। एतत्पदं चरकाचार्यपरं तच्छाखीयानामाक्षेपपरमिति ज्ञानकोशकृतां मतं, परं शतपथे चरकशाखीयबोधकस्य चरकपदस्य बहुशो दर्शनेऽपि कर्मविशेषे तदीयसम्प्रदायमात्रं तत्रावबोध्यते, न तु तदाक्षेपः। तैत्तिरीयब्राह्मणगतमन्त्रेऽपि दुष्कृताय चरकाचार्यमिति पदमस्ति। तत्र सायनेन चरकाचार्यं वंशाग्रव(न)र्तनस्य शिक्षयितारं नटविशेषमित्यर्थः कृतः, न तत्र चरकशाखाचार्योऽभिप्रेयते। कृष्णयजुर्वेदीये मन्त्रे दृश्यमानस्य पदस्य आक्षेपदृशा तद्विभागीयचरकशाखाचार्यपरत्वं नापि युज्यते इति प्रकरणशुद्धिमनुरुध्य सायनीयव्याख्यानवदत्रापि तादृश एव दुर्वृत्तिकः प्रत्येतुं युज्यते। चरः स्पशश्चर एव चरक इति स्वार्थे प्रत्ययेन नैषध इव चरकाचार्यपदेनात्र स्पशवृत्तीनां प्रधानतम इत्यप्यर्थः सम्भवति। तथा सति प्रकरणशुद्धिः, कितवसन्निधानं, दुर्वृत्ततया योग्यं योग्याय दातव्यमिति न्यायेन दुष्कृतदेवतायै निवेदनं च सङ्गच्छते। यजुर्भाष्यकृता दयानन्दस्वामिना भक्षकाणामाचार्यं इत्यर्थो निर्दिष्टः, अयमर्थश्चरगतिभक्षणयोरिति धातुमुपादाय लिखितः स्यात्॥

"चरके पतञ्जलिः" इति नागेशस्य, "पातञ्जलमहाभाष्यचरकप्रतिसंस्कृतैः" इति चक्रपाणिदत्तस्य च उक्त्योस्तदुपोद्बलकतया विज्ञानभिक्षुभोजभावमिश्राद्युक्तीनां प्रामाण्यमङ्गीकृत्य कैश्चिच्चरकपतञ्जल्योरैक्ये, कैश्चिदनयोरनैक्ये च स्वमतमुपवर्णितमालोक्य विचारारूढे स्वमनसि प्रतिभातं किञ्चिदुपन्यस्यते—

पतञ्जलिर्हि अरुणद्यवनः साकेतमिति यवनाक्रमणमतीतत्वेन, पुष्पमित्रं याजयाम इति अशोकमनु वैदिकधर्मं प्रत्युज्जीवयन्तं पुष्पमित्रं वर्तमानत्वेनोल्लिखन् विक्रमाब्दारम्भाद्द्विशतवर्षपूर्ववर्तितया निश्चीयते। भाण्डारकरमहोदयेनापि महाभाष्यपुराणपाश्चात्येतिहासादीनालोच्य महाभाष्यकारस्य B. C. २०० समयो निर्धारितोऽस्ति। तथा च चरकस्य प्राचीनतरत्वाभ्युपगमे दूरे सङ्गमनम्, त्रिपिटकलेखमात्रेण कनिष्कसामयिकत्वस्वीकारे तु कनिष्कपुष्पमित्रसामयिकयोर्द्विशतवर्षान्तरितयोश्चरकपतञ्जल्याचार्ययोरेकव्यक्तित्वकल्पना प्रतिहन्यते। योगे व्याकरणे च पतञ्जलिनाम्ना व्यवहृतस्य वैद्यके तदनुल्लिख्यान्येनैव चरकनाम्नाऽभिधाने वा किन्नाम कारणं स्यात्। महाभाष्ये गोनर्दीयस्त्वाहेति निर्देशेन भाष्यकृद्गोनर्ददेशीयत्वमात्मनो बोधयतीत्यपि विचारविशेषोऽस्ति। गोनर्दस्तु 'एङ् प्राचां देशे' इति सूत्रव्याख्याने काशिकाकृता गोनर्दीयशब्दोदाहरणेन प्राग्देशान्तर्गतोऽवबुध्यते इति वर्तमानो गोण्डाप्रदेश इति निरूप्यते श्रीयुतभाण्डारकरमहोदयेन। काश्मीरस्य पूर्वेतिवृत्ते गोनर्दनृपोपलम्भेन काश्मीरप्रदेशो गोनर्ददेश इत्यपि कस्यचिन्मतमस्ति। यदि भाष्यकार एव गोनर्दीयस्तर्हि तस्य चरकस्य चाभेदे चरकः प्रतिसंस्कारांशे क्वचनात्मनो गोनर्ददेशं कथं नोल्लिखति। चरकसंहितायां तु पाञ्चालपञ्चनदकाम्पिल्यप्रदेशानामुल्लेखोऽस्ति, नतु कुत्रापि गोनर्दस्य। चरकशब्दस्य नामान्तरत्वे गोनर्दीयस्त्वाहेति वदन् व्याकरणमहाभाष्यकारश्चरकस्त्वाहेति सकृदपि कथयितुं कथं नाम विस्मरेत्। तदेवं समयनामदेशानां विसंवादा अनयोर्भेदमेव साधयितुं प्रगुणीभवन्ति। पतञ्जलेर्महाभाष्यलेखोऽन्तराऽन्तरा लोकोक्तिगर्भः समासव्यासोक्तिबहुलः सहसा दुर्बोधो विभिन्नप्रकारः। चरकसंहितायां चरकलेखत्वेन संभाव्यमान आंशिकलेखस्तु गभीरार्थोऽपि सरसप्राञ्जलरचनया सहृदयहृदयमनुरञ्जयन्नन्यामेव रीतिमवलम्बमानः समीक्ष्यत इति लेखशैलीविभेदोऽपि अनैक्यमेवोपोद्बलयति। चरकेणाग्निवेशतन्त्रस्य केवलं संस्कारमात्रोल्लेखाव्याकरणे महाभाष्यरूपं विशालं नवं ग्रन्थं, योगे सूत्ररूपं शीर्षण्यं ग्रन्थं विरचयन् पतञ्जलिर्वैद्यकाचार्यो भवँस्तत्र स्वं नवं प्रतिभानमयं निबन्धलेखमपहाय परलेखसंस्कारमात्रेण कथमात्मनः सन्तोषं चापादयेत्। शिवदासेन चक्रदत्तटीकायां च 'तदुक्तं पातञ्जले' इत्युद्दिश्योद्धृतस्य श्लोकस्य रसविषयकतया दर्शनेन चरकसंहितायामनुपलम्भेनच रसवैद्यकेऽन्यदेव पातञ्जलतन्त्रं पतञ्जलेरासीदिति ज्ञायते। वैद्यकरसविषये ग्रन्थनिर्माता धातुरसायनाचार्यः पतञ्जलिश्चरकसंहितायां रसधात्वाद्यौषधविषयं कथं वा न प्रवेशयेत्। चरके हि धातूनां नामोद्देशं सकृद्रसेन्द्रोपादानं च विहाय नेदृशविषयः क्वापि विशेषविधया निर्दिष्ट उपलभ्यते। न वा रसवैद्यके मदीये ग्रन्थान्तरे विस्तृतमिति क्वचन तत्सूचनादानमपि दृश्यते। एकस्मिन्नेव वैद्यकविषये उभयथा ग्रन्थनिर्मातृत्वे रसवैद्यके पातञ्जलतन्त्रमिति, "अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते" इत्युल्लेखेन कायचिकित्सायां चरकसंहितेति विभिन्ननामभ्यां व्यवहरणे वा को हेतुः स्यात्। स्वयमात्मना चरकेण, प्रतिसंस्कर्त्रा दृढबलेन, प्राचीनटीकाकर्तृभिर्भट्टारहरिचन्द्रादिभिः, वाग्भटादिभिराचार्यान्तरैश्च एकेनैव चरकनाम्ना ऐकरूप्येण व्यवह्रियमाणस्याचार्यस्य पश्चाद्भूतेन चक्रपाणिना नागेशाचार्येण च पतञ्जलित्वेनोल्लेखने किन्नाम मूलं स्यात्। पतञ्जलेर्वैद्यविद्यायामप्याचार्यतया योगे व्याकरणे च ग्रन्थनिर्मातृत्वेनास्य भोजादिभिर्निर्देशो न खलु न सङ्गच्छते॥

पातञ्जलमहाभाष्यचरकप्रतिसंस्कृतैः।
मनोवाक्कायदोषाणां हर्त्रेऽहिपतये नमः॥

इति लेखेन चरक एव पतञ्जलिरितिसाधनमपि न शब्दस्वारस्यमनुकूलं लभते। अत्र चरकपदं तन्नामकव्यक्तिपरं यद्यभ्युपेयते, तदा चरकायाहिपतये इति कथयितव्यमासीत्।

१. कन्यान्तःपुरबाधनाय यदधीकारान्नदोषा नृपं द्वौ मन्त्रिप्रवरश्च तुल्यमगदङ्कारश्च तावूचतुः। देवाकर्णय सुश्रुतेन चरकस्योक्तेन जानेऽखिलं स्यादस्या नलदं विना न दलने तापस्य कोऽपि क्षमः॥ (नैषधीयचरिते ४, ११६)

चरकशब्दस्य प्रतिसंस्कृतपदेन सहभावो नोपपद्यते, नामैकदेशे नामग्रहणमिति न्यायेन चरकसंहितायाश्चरकशब्देनोपादाने प्रतिसंस्कृतपदेन सहान्वयो भवति । तथा च चरकनाम्ना पूर्वसिद्धस्य ग्रन्थविशेषस्य प्रतिसंस्कर्ता पतञ्जलिरिति ततः प्रतीयेत, न तु चरक एव पतञ्जलिरिति । 'इति चरके पतञ्जलिः' इति नागेशोक्तेः को वाऽऽशयः । चरकसंहिताग्रन्थे पतञ्जलेरियमुक्तिरिति चेत्तदुद्धृतोक्तेरानुपूर्व्या चरकसंहितायां भवितव्यम्, तदुद्धृतवाक्यस्यास्यां संहितायामनुपलम्भोऽमुमाशयं वर्णयितुं प्रतिरुणद्धि । अत्र हि सूत्रस्थाने एकादशाध्याये, विमानस्थाने चतुर्थाध्यायेऽप्याप्तत्वनिर्वचनमन्ययैवानुपूर्व्या लभ्यते, न तु तदुद्धृतानुपूर्व्या । इति–चरकस्योपरि पतञ्जलिरित्यर्थमादाय चरकव्याख्याने पतञ्जलिरेवमाहेत्यपि ततः प्रत्येतुं शक्यते तथा च चरकव्याख्याकर्तुः पतञ्जलेरियमुक्तिरित्यायाति । ततश्च पतञ्जलेश्चरके व्याख्यानुपलभ्यमानाऽप्यासीदिति ततः प्रतीयते । चरकस्य व्याख्याकारः पतञ्जलिर्न तु चरक एव पतञ्जलिरिति केचनेदानीमुपवर्णयन्त्यपि । चरकस्य पतञ्जलिकृता मञ्जूषाख्या व्याख्याऽऽसीदिति आर्यप्रदीपनामके आधुनिकपुस्तके लिखितमस्तीति पतञ्जलिश्चरकस्य मञ्जूषाख्यटीकाकार इति केचन कल्पयन्ति । नागेशकृते मञ्जूषाख्ये व्याकरणग्रन्थे पूर्वोल्लिखितचरकवाक्योद्धारोऽस्ति । मञ्जूषा तु नागेशकृतो व्याकरणग्रन्थः प्रसिद्ध एव । पतञ्जलिकृता मञ्जूषानाम्नी चरकटीका न क्वचन दृश्यते श्रूयते वा, न वा चक्रपाण्यादिभिरपि टीकाकारैस्तन्निर्देशः कृतोऽस्ति । तेन साधनान्तरोपलम्भमन्तरा निश्चयस्य कर्तुमशक्यतया "चरकप्रतिसंस्कृतैः" इति, "चरके पतञ्जलिः" इति अस्फुटार्थाः शब्दाः न द्वयोरैक्यसाधनाय व्याख्यानादिसाधनाय वाऽवलम्बनीभवितुमर्हन्ति ॥

अपरञ्च, यः खलु विषयो देशादि वा येन विशेषतः परिचितः परिशीलितो भवति स एव तस्य हृदयेऽनुस्यूतः पुनः पुनरुपस्थायी च भवति । यथाहि महाभाष्ये पाटलिपुत्रस्यानेकश उल्लेखदर्शनेन तस्य विशेषतः परिचयेन निवासेन वा हृदये उपस्थानमुन्नीयते । एकस्य नानाविषयेषु ग्रन्थनिर्माणे एकत्र अपरग्रन्थसम्बद्धविषयोपन्यासप्रस्तावे अमुत्र प्रतिपादितमेतदिति उभयोरेकवाक्यत्वावबोधनस्य च निबन्धकृतां सम्प्रदायः । एवं नानानिबन्धकृतां केचन विषया उक्तयो युक्तयश्चातिप्रियाः सन्तो नानाप्रस्थानेषु सङ्गमय्योपन्यस्ता अपि दृश्यन्ते । यथाहि भामतीकर्त्रा ग्रन्थादावुपन्यस्ता व्यापकविरुद्धोपलब्धियुक्तिर्दर्शनान्तरस्वनिबन्धेष्वपि किञ्चिद्रूपविपर्यासेन बहुश उपन्यस्यते । एवमेव चरकाचार्यस्य महाभाष्यकृतः पतञ्जलेश्चैक्ये महाभाष्यगता विषयाश्चरकलेखे, चरकीयविषया वा महाभाष्ये तदीयहृदयेशयाः किमिति पदे पदे नोपलभ्येरन् । यद्यप्यात्रेयाग्निवेशसंहितायाश्चरकेण केवलं प्रतिसंस्करणान्मूलग्रन्थपरवशतया स्वीयलेखन्याः ससङ्कोचं प्रसार-

१. तत्राप्तोपदेशरूपः शब्दः प्रमाणम् । आप्तो नामानुभवेन वस्तुतत्त्वस्य कार्त्स्न्येन निश्चयवान् रागादिवशादपि नान्यथा वादी यः स इति चरके पतञ्जलिः (नागेशमञ्जूषायाम्) ॥

णीयतया व्याकरणप्रस्थानाचार्यभावनिदर्शनीभूता उक्तयः शब्दविशेषा अन्यानि लिङ्गानि वा चरकसंहितायां न प्रवेशितानीत्यपि वक्तुं शक्यते, तथाऽपि महाभाष्यलेखे सूत्रमात्रपारवश्येन यथाकामं स्वीयाभिर्वाग्धाराभिरुदाहरणैः साधकोक्तिभिर्लोकोक्तिभिरपि विज्ञानस्य व्याख्यानस्य च स्वं कौशलं प्रदर्शयता भाष्यकारेण चरकाचार्यभावानुबद्धा वैद्यकविषया लभ्यावसरेष्वपि बहुशः स्थलेषु किमिति नोल्लिखिता दृश्यन्ते । यत्रांशे सूत्रादिपारवश्येन अवश्यवक्तव्यतया वा निर्देशस्तादृशांशेषु तदीयहार्दविकास इति वक्तुं नौचित्यमावहति । यथा—वातिकं पैत्तिकं श्लैष्मिकमित्यादि शब्दसाधनोदाहरणानि, नैतादृशानि लिङ्गानि वैद्यकवित्त्वगमकानि भवितुं शक्नुवन्ति । तत्र हि "तस्य निमित्तं संयोगोत्पातौ (५-१-३८)" इति सूत्रे तस्य निमित्तप्रकरणे "वातपित्तश्लेष्मभ्यः शमनकोपनयोरुपसंख्यानं कर्तव्यं, सन्निपाताच्चेति वक्तव्यम्" इति वार्तिकयोः परवशतया 'वातिकं पैत्तिकं श्लैष्मिकं सान्निपातिकम्' इत्युदाहरणानि दत्तानि । एवम् "उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य (८-४-६१)" इति सूत्रे "उदःपूर्वत्वे स्कन्दे च्छन्दस्युपसंख्यानं, रोगे" इति वार्तिकोदाहरणत्वेनावश्यवक्तव्यतया 'उत्कन्दको रोगः' इत्युदाहृतं भाष्यकृता । परं यत्र तथा अन्यथा वोदाहर्तुमुपन्यस्तुं वा स्वातन्त्र्यं ग्रन्थकृतस्तत्र तदुपन्यासस्तदीयामन्तर्वासनामवगमयति । भाष्यकृता "ह्वः संप्रसारणम् (६-१-३२)" इति सूत्रव्याख्याने "अन्तरेणापि निमित्तशब्दं निमित्तार्थोऽवगम्यते" इत्युपन्यस्य "दधित्रपुसं प्रत्यक्षो ज्वरः, ज्वरनिमित्तमिति गम्यते; नड्वलोदकं पादरोगः, पादरोगनिमित्तमिति गम्यते; आयुर्वै घृतम्, आयुर्निमित्तमिति गम्यते" इति निदर्शनानि प्रदत्तानि । 'आयुर्वै घृतम्' इतिवत् दधित्रपुसं प्रत्यक्षो ज्वरः, नड्वलोदकं पादरोग इत्यपि प्राचीनाचार्यवाक्ययोरुद्धरणमवगम्यते । तत्र निमित्तनिमित्तिनोरभेदोपचारप्रदर्शकेषु अन्येष्वपि बहुषु निदर्शनेषु सम्भवत्स्वेतदुपादानमस्याचार्यस्य वैद्यकसम्प्रदायवित्त्वमवबोधयति लोकान् । नैतावताऽस्य चरकाचार्यत्वमायाति । यदि नामानयोरैक्यं स्यात्तदा व्याकरणग्रन्थे प्रसङ्गोपात्ता ईदृशा विषयाः स्वीये वैद्यकग्रन्थे असाधारण्येन किमिति नोल्लिख्येरन् । दधित्रपुसस्य ज्वरहेतुभावेन, नड्वलोदकस्य पादरोगहेतुतया उल्लेखश्चरके कथं नोपलभ्यते । न च उत्कन्दको नाम कश्चन रोगो भावप्रकाशादौ लभ्यमानोऽपि चरके लभ्यते । महाभाष्यकृतस्तथा परिचयेन निवासेन प्रेम्णा वा बहुवारमुल्लेखपदं गतं पाटलिपुत्रं चरकसंहितायां किमिति सकृदपि नोपलभ्यते । गर्गादिगणे प्रविष्टान्यग्निवेशपराशरजतूकर्णपदानि वैद्याचार्यस्मारकाण्युपादायोदाहरणदानौचित्येऽपि भाष्यकृता न तदुदाहरणानि दत्तानि । अन्यत्र स्थलत्रये अग्निवेशस्योल्लेखेऽपि स्वरविषय एवोपादानेन वैद्याचार्यत्वरूपेणाग्निवेशस्यावबोधनं परिचयो वा भाष्यकृता न क्वापि कृतः । चरकनिर्दिष्टानामन्येषां प्राचीनवैद्याचार्याणामसाधारणं नामापि महाभाष्यकृता न कीर्तितम् ॥

१. आद्यन्तवदेकस्मिन् (१-१-२०) स्वरितात्संहितायामनुदात्तानाम् (१-२-३९) समासस्य (६-१-२२३) सूत्रभाष्येषु ।

क्रतूक्थादिसूत्र (४-२-६०) व्याख्याने उक्थादिगणे प्रविष्टस्याप्यायुर्वेदशब्दस्य ठक्प्रत्ययरूपस्यानिदर्शनम्; तत्रैव विद्यालक्षणेत्यादिवार्तिकसम्बन्धिविद्योदाहरणे 'वायसविद्यिकः, सार्पविद्यिकः, आङ्गविद्यः, धार्मविद्यः, त्रैविद्यः' इति निदर्श्यापि स्वयमाचार्यभावेनाधिष्ठिताया आयुर्वेदविद्यायाः ससम्भ्रमं नामानुपादानं; रोगाख्यायां ण्वुल्बहुलम् (३-३-१०८) इति सूत्रव्याख्याने रोगवाचकशब्दोदाहरणादानं; रोगाच्चापनयने (५-४-४९) इति चिकित्सारूपविलक्षणार्थे तसिल्प्रत्ययस्य काशिकादाविव 'प्रवाहिकातः कुरु' इत्यादेरेकस्याप्युदाहरणस्यादानमपि भाष्यकारस्य चरकाचार्यभावे कौतुकं जनयति ॥

'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि' (२-३-६२) इति सूत्रे षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वाच्या, इति वार्तिकोदाहरणत्वेनोदाहृते तैत्तिरीयवाक्ये[1] रजस्वलाभिः पालनीया धर्मशास्त्रानुरूपा नियमाः, अन्यथाभावे सन्तत्यनिष्टोत्पत्तिरूपफलानि च सविशेषं महाभाष्ये निरूपितानि। इत्थमेव सुश्रुते शारीरद्वितीयाध्याये (पृ. २९१) सफलनिर्देशं विशदरूपेण प्रायः संवादिना स्वरूपेण निर्दिष्टमस्ति। सम्भावितपतञ्जल्यभेदेन चरकाचार्येण तु शारीरजातिसूत्राध्याये (पृ. ३३७) महाभाष्ये सविशेषमुद्धृता अपि रजस्वलानियमाः सामान्यत एवोक्ताः, फलानि च नोल्लिखितानि, पात्रांशेऽपि विसंवादश्चेत्यप्यवधेयम् ॥

भाष्यकारोक्त्या स्त्यैधातोर्घनीभावार्थकात् स्त्रीशब्दः, सूधातोः प्रवृत्त्यर्थकात् पुंस्शब्दो निष्पाद्यते, तेन घनीभावरूपार्थमादाय स्त्रीत्वव्यवहार इत्यायाति[2]। चरकलेखाद्धनीभावमादाय पुरुषत्वं प्रदर्श्यते। प्रसवस्य मातृधर्मत्वेन 'षूङ् प्राणिगर्भविमोचने' इति पाणिनीयधातुपाठाच्च लोके इव स्त्री सूते, माता सूते इति प्रयोगः स्वारसिक एव। भाष्यकारोक्तप्रक्रियया तु प्रसवस्य पुरुषधर्मत्वेन निर्देशात् पुमान् सूते इत्येव स्वारसिकः प्रयोगः, माता सूते इति प्रयोगस्तु अर्थान्तरविवक्षया औपचारिक इत्यवबुध्यते, इति चरकस्य भाष्यकारस्य च प्रक्रियाविभेदः। एवमुपदर्शितैः साधकैर्बाधकैश्च चरकाचार्यस्य पतञ्जलेश्चाऽभेदसाधनापेक्षया भेदाभ्युपगम एव प्रवणीभवति मदीयदृष्टिकोणोन्मेषः ॥

किञ्च, चरकसंहितायां शारीरस्थानप्रथमाध्याये पुरुषवर्णनप्रसङ्गे दृष्टस्य योगविषयस्य पातञ्जलयोगविषयेण सह संवादोल्लेखविषयेऽपि विमृश्यमाने एवं प्रतिभाति। शारीरे प्रथमाध्याये पूर्वोद्दिष्टेषु त्रयोविंशतिप्रश्नेषु षड्धातुसमवायात्मके चतुर्विंशतितत्त्वसमवायात्मके वा वेदनायोगनिवर्तनार्हे कर्मपुरुषे एकविंशतिप्रश्नान् समाधाय-"क्व चैता वेदनाः सर्वा निवृत्तिं यान्त्यशेषतः" इत्युपन्यस्तस्य सर्ववेदनानिवृत्तपुरुषविषयकस्य प्रश्नान्तरस्योत्तरणाय—

"योगे मोक्षे च सर्वासां वेदनानामवर्तनम् ।
मोक्षे निवृत्तिर्निःशेषा योगो मोक्षप्रवर्तकः ॥"

इति अन्तःकरणविषयदुर्योगजनितसुखदुःखराहित्यावस्थोदयस्वरूपस्य योगस्योपादानमस्ति। पुनः पञ्चमाध्याये पूर्वोक्तमेव विषयं विवरीतुमग्निवेशपृष्ठेनात्रेयेण प्रवृत्तिनिवृत्ती विभज्य दर्शयता निवृत्त्यात्मकेऽपवर्गे पूर्वोक्ताः सत्सङ्गब्रह्मचर्यादयः साधनत्वेन गद्यवाक्यैः सविशेषं पुनः प्रतिपादिताः। अनयोः पूर्वापराध्याययोरेक एव विषयो भङ्गीभेदेनात्रेयेणैव निरूपित इति प्रतिसंस्कर्तृचरकत्वेन सम्भावितात् पतञ्जलेः प्राक्तन एवासौ लेखविषय इति भाति ॥

सुश्रुते चिकित्साशास्त्रोपयोगितया तदधिकृतस्य पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायात्मकस्य कर्मपुरुषस्य, भेडसंहितायामपि तथाविधस्यैव षड्धातुचेतनासमवायरूपस्य, अस्यां काश्यपीयायामपि "शरीरेन्द्रियात्मसत्त्वसमुदयं(रूपं)पुरुषमाचक्षते आत्मानमेके (पृ. ६७)" इति शरीरशरीरिसमवायात्मकस्यैव निर्देशनेन एतदनुरूपप्राचीनसिद्धान्तरीत्या आत्रेयेणापि तावदेव निर्दिश्य स्वीयवैद्यदर्शनपरिपालनस्यौचित्येऽस्मिन् प्रकरणे मोक्षोपयोगिनो योगविषयस्य निदर्शनं पश्चाच्चरकेणैव प्रतिसंस्करणे प्रवेशितं स्यादित्यभ्युपगमेऽपि एतदीया पातञ्जलसूत्रोक्ता च योगप्रक्रिया नैकरूप्येण लभ्यते। पातञ्जले "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः (१. २), ता एव सबीजः समाधिः (१. ४५), तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः (१. ५०)" इत्यादिसूत्रैः अन्तःकरणस्य बहिर्वृत्तीर्निरुध्य आत्माकारैकवृत्तिस्थापनमन्तत आत्माकारवृत्तेरपि निरोधेन निवातदीपायितत्वव्यवस्थापनमिति सम्प्रज्ञातासम्प्रज्ञातकक्षाभेदाभ्यां द्विधा विभिन्नो योगः, तादृशयोगोदये च ऋतम्भरप्रज्ञादीनि फलानि, मोक्षस्वरूपं च "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् (१. ३), पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपनिष्ठा वा चितिशक्तेः, (४. ३४)" इति आत्मनोऽसङ्गकूटस्थचित्स्वरूपमात्रविश्रान्तिश्चरमसिद्धान्तरूपेण वर्ण्यते। चरकसंहितायां तु—

"आत्मेन्द्रियमनोर्थानां सन्निकर्षात् प्रवर्तते ।
सुखदुःखमनारम्भादात्मस्थे मनसि स्थिरे ।
निवर्तते तदुभयं वशित्वं चोपजायते ।
सशरीरस्य योगज्ञास्तं योगमृषयो विदुः ।" इति

इन्द्रियान्तःकरणादिकं बहिर्विषयेभ्यः परावर्त्य मनस आत्मनि स्थैर्यापादनं योग इति,

"मोक्षो रजस्तमोऽभावाद्बलवत्कर्मसंक्षयात् ।
वियोगः कर्मसंयोगैरपुनर्भव उच्यते ॥" इति

रजस्तमोगुणनिवर्तने केवलसात्त्विकत्वापादनेन कर्मक्षये

१. तिस्रो रात्रीः या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वो जायते, यां मलवद्वाससं सम्भवन्ति यस्ततो जायते सोऽभिशस्तः, यामरण्ये तस्यै स्तेनः, यां पराचीं तस्यै ह्रीतमुख्यप्रगल्भः, या स्नाति तस्या अप्सु मारुकः, याऽभ्यङ्क्ते तस्यै दुश्चर्मा, या प्रलिखते तस्यै खलतिरपमारी, याङ्क्ते तस्यै काणः, या दतो धावते तस्यै श्यावदन्, या नखानि निकृन्तते तस्यै कुनखी, या कृणत्ति तस्यै क्लीबः, या रज्जुं सृजति तस्या उद्बन्धुकः, या पर्णे न पिबति तस्य उन्मादको जायते, अहल्यायै जारमनायै तन्तुः ॥

२. स्त्रियाम् (४।१।३) सूत्रमहाभाष्ये ॥

३. प्रत्यक्षशारीरभूमिकायां पृ. ८ ॥

शरीरान्तःकरणादिभिः सह आत्मनः स्थायी वियोगो मोक्ष इति चोपवर्ण्यते ॥

अनयोस्तुलनायां चरकीये शुद्धसत्त्वशेषतया केवलात्माकारान्तःकरणवृत्तिस्थैर्यरूपेण योगेन त्रैगुण्यावस्थासम्पाद्यशरीरान्तःकरणसंयोगापगमस्थैर्यं मोक्षपदार्थत्वेन, पातञ्जले तु अन्ततो निर्बीजरूपतापत्त्या सर्वान्तःकरणवृत्तिविलयपुनरनुदयरूपयोगेनान्तःकरणिकवृत्तिरूपसुखदुःखच्छायानुदयेन कूटस्थचिन्मात्ररूपतयाऽऽत्मनः प्रतिष्ठापनरूपो मोक्ष इति मुख्यप्रमेयफलयोः स्वरूपवैलक्षण्यम् । तेन चरकोक्तो योग **"आत्मस्थे मनसि स्थिरे रजस्तमोऽभावात्, शुद्धसत्त्वसमाधानात्"** इत्येवं विन्यस्तानां पदानां स्वारस्येन, रजस्तमोवृत्तिपरिहारेण विशुद्धसत्त्वावशेषेण सात्त्विकवृत्तिप्रधानस्य मनस आत्मनि स्थैर्योक्त्यवबोधेन पातञ्जले सम्प्रज्ञातकक्षायां प्रतिपादिते योगविषये एव विश्राम्यति । यदि मनोलयादिकं प्रतिपादितमभविष्यत्तदैव सात्त्विकवृत्तेरपि परिहारेण ध्येयमात्रप्रकाशावस्थारूपासंप्रज्ञातावस्थो योगोऽस्मादवागंस्यत । पातञ्जले तु सम्प्रज्ञातकक्षातोऽप्युपरितन्यामसम्प्रज्ञातकक्षायां योगस्य विश्रान्तिस्तत एवेष्टसिद्धिः प्रतिपाद्यते इति मुख्यकक्षावैलक्षण्यमालोच्यते ॥

एवम्—

"आवेशश्चेतसो ज्ञानमर्थानां छन्दतः क्रिया ।
दृष्टिः श्रोत्रं स्मृतिः कान्तिरिष्टतश्चाप्यदर्शनम् ॥
इत्यष्टविधमाख्यातं योगिनां बलमैश्वरम् ।
शुद्धसत्त्वसमाधानात्तत्सर्वमुपजायते ॥"

इति चरकीये परपुरप्रवेशादयोऽष्टावेव योगविभूतयः, ता अपि आत्मनि मनःस्थैर्यरूपस्य मुख्यप्रमेयभूतस्य विभूतयः कीर्त्यन्ते। तासामैश्वरबलरूपेणाभिनन्दनं विधायैव विश्रम्यते च। पातञ्जले तु आत्मविषयकस्य योगस्य ऋतम्भरप्रज्ञादीन्येव फलानि । तत्साधनावस्थायामभ्यासदार्ढ्याय त्राटकादिवत् प्रत्ययकायरूपादिषु तेषु तेषु विषयान्तरेषु विधीयमानस्य धारणाध्यानसमाधित्रिकात्मकस्य योगाङ्गभूतस्य संयमस्य विभूतिरूपत्वेन परचित्तज्ञान–सर्वभूतरुतज्ञान–पूर्वजातिज्ञान–हस्तिबलभुवनज्ञान–ताराव्यूहज्ञान–कायव्यूहज्ञानादयो बह्व्यः सिद्धयो विभूतिपादे वर्ण्यन्त इति विभिन्नो हेतुहेतुमद्भावः, प्रक्रियाऽपि विभिन्ना, क्वचनैकस्मिन्नपि विषये विभिन्नानां पारिभाषिकशब्दानां व्यवहारश्च, न च विभूतीनामष्टसंख्यापालनमपि । ता अपि विभूतयः "ते समाधावुपसर्गाव्युत्थाने सिद्धयः (३. ३६)" इति मुख्ययोगमार्गव्याघातकत्वाद्विघ्नस्थानीयतया न समभिनन्द्यन्ते ॥

योगमोक्षोपायवर्णनेऽपि—

**"सतामुपासनं सम्यगसतां परिवर्जनम् ।
ब्रह्मचर्योपवासश्च नियमाश्च पृथग्विधाः ॥
धारणं धर्मशास्त्राणां विज्ञानं विजने रतिः ।
विषयेष्वरतिर्मोक्षे व्यवसायः परा धृतिः ॥**

इत्यादिना सत्सङ्गासत्सङ्गवर्जनादयो बहव उपायत्वेन वर्ण्यन्ते । एषु ब्रह्मचर्यादयः केचन पातञ्जलेऽपि यमनियमाद्यङ्गेषु प्रविशन्ति, सत्सङ्गोपवासशास्त्रधारणप्रभृतयो न तत्र साधनेषूल्लिख्यन्ते, प्रत्युत तत्र अभ्यासवैराग्ये योगहेतुतया प्रणवोपासनमैत्र्यादिचित्तपरिकर्मप्राणायामासनादयोऽङ्गभावेन विशेषेण कीर्त्यमानाश्चरकसंहितायां नोल्लिख्यन्त इति साधनांशेऽपि न सर्वांशतः सारूप्यम् । येन केनचिदंशेन तौल्यं तु मुख्योपादेयांशे सर्वत्र संभवत्येव । न च योगविद्या पतञ्जलेरेवाविर्भूता, अपि तु ततः पूर्वमपि महाभारतादिष्वपि वर्ण्यते । हिरण्यगर्भो योगस्य वक्तेति हिरण्यगर्भसमयादेव योगविद्यायाः शाश्वतिक उदयः कीर्त्यते । महेञ्जोदारोभूगर्भादपि योगस्थपुरुषमूर्तेरुपलम्भात्[१] योगस्यातिपूर्वकालादनुवृत्तिर्भारते इति सर जॉन्मार्सलाख्येन विदुषाऽपि स्वीये रिपोर्टपत्रेऽप्युल्लिखितमस्ति । श्रीयुतदासगुप्तेनापि लिखितं वर्तते[२] । ततश्च स्वरूपतो हेतुतः फलतो विशेषोपायतः पारिभाषिकशब्दविशेषतश्च वैलक्षण्यदर्शनेन पातञ्जलयोगप्रक्रियायां कालानुक्रमिकविषयविकासस्य चानुसन्धानेन उभयोर्लेखशैल्या विभेदेन च विभिन्नलेखनीद्वयमवगम्यते ॥

महाभारते "अतः[३] परं प्रवक्ष्यामि योगशास्त्रमनुत्तमम्" इत्यारभ्योपन्यस्तायां योगविद्यायामप्येवमेव इन्द्रियनिरोधपूर्वकं मनस आत्मनि स्थैर्यपूर्वकं मोक्षयोगः कार्यः, तदुपायतया योगशास्त्राभ्यासः, एकान्तशीलतया संयमः, इन्द्रियजयादयः कार्याः,

---

१. Mohenjodaro and Indus Civilization Vol. I. P. 54.

२. History of Indian Philosophy by Dasagupta Vol. I. P. 226.

३. महाभारते आश्वमेधिके अनुगीतापर्वणि १९ अध्याये—

अतः परं प्रवक्ष्यामि योगशास्त्रमनुत्तमम् ।
युञ्जन्तः सिद्धिमात्मानं यथा पश्यन्ति योगिनः ॥ १५ ॥
तस्योपदेशं वक्ष्यामि यथावत्तं निबोध मे ।
यैर्द्वारैश्चारयन्नित्यं पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥ १६ ॥
इन्द्रियाणि तु संहृत्य मन आत्मनि धारयेत् ।
तीव्रं तप्त्वा तपः पूर्वं मोक्षयोगं समाचरेत् ॥ १७ ॥
तपस्वी सततं युक्तो योगशास्त्रमथाचरेत् ।
मनीषी मनसा विप्रः पश्यन्नात्मानमात्मनि ॥ १८ ॥
स चेच्छक्नोत्ययं साधुर्योक्तुमात्मानमात्मनि ।
तत एकान्तशीलः स पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥ १९ ॥
संयतः सततं युक्त आत्मवान्विजितेन्द्रियः ।
तथाऽयमात्मनाऽऽत्मानं सम्प्रयुक्तः प्रपश्यति ॥ २० ॥
... ...
यदा हि युक्तमात्मानं सम्यक्पश्यति देहभृत् ।
न तस्येहेश्वरः कश्चित् त्रैलोक्यस्यापि यः प्रभुः ॥ २४ ॥
अन्यान्याश्चैव तनवो यथेष्टं प्रतिपद्यते ।
विनिवृत्य जरामृत्यू न शोचति न हृष्यति ॥ २५ ॥
देवानामपि देवत्वं युक्तः कारयते वशी ।
ब्रह्म चाव्ययमाप्नोति हित्वा देहमशाश्वतम् ॥ २६ ॥ इति ॥

एवं योगेन यथेष्टं नानाशरीरप्रतिपत्तिः, देवानामपि वशीकरणं, निर्भयत्वमक्लेशो निस्पृहत्वमित्यादीनि च जायन्ते इति निरूपितो यः प्राचीनयोगविषयस्तस्य सर्वांशे छायानतुविधानेऽप्येतदीयप्रक्रियायाःसान्निध्यमस्यां चरकीययोगप्रक्रियायां दृश्यत इति प्राचीन एव योगस्य पन्था अनेनोपात्तो न तु पातञ्जलोक्त इति भाति । तेनानयोराचार्ययोरिमौ विभिन्नौ योगप्रक्रियाविशेषौ नाभेदसाधनाय, प्रत्युत भेदसाधनायैव पुरःसरतः ॥

योगसूत्रकृतः पतञ्जलेर्महाभाष्यकृतः पतञ्जलेरप्यैक्यं विभेदो वेत्यत्रापि विदुषां मतभेदोऽस्ति । महाभाष्यकारसमयस्य धातुरसायनविषयोत्थानात् प्राक्तनत्वेन रसायनशास्त्राचार्यः पतञ्जलिरपि विभिन्नः, केवलं नामसाम्यमेषामित्यपि केषाञ्चिद्विचारः। तदेषामैक्यमनैक्यं वेति विमर्शान्तरे प्रकृतविच्छेदभियेदानीं विरम्यते ॥

अलबेरुनीनामको लेखकस्तु अग्निवेशचरकयोरभेदमनुसन्धत्ते । 'तच्च अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते' इति तन्त्रकर्तृतया प्रतिसंस्कर्तृतया चानयोः स्पष्टं विभेदोल्लेखेन प्रतिहन्यते । विभिन्नयोराचार्ययोर्व्यक्तिभेदेऽपि तदीयकृत्योरेकेनैव स्वरूपेण शिष्यमाणतया यशःशेषयोरनयोर्ग्रन्थतात्पर्येण हन्त ! साम्प्रतमैक्यमिव सञ्जातम् ॥

उपलभ्यमानप्रतिसंस्कृतचरकसंहितायामपि प्राचीनसांख्यदर्शनस्यैवातिमात्रयाऽवलम्बनेन, बौद्धमतच्छायाया अप्रवेशेन, संस्कारप्रविष्टतया संभाव्यमानेषु लेखविषयेष्वपि प्राचीनप्रौढरचनादर्शनेन च प्रतिसंस्कर्ता चरकोऽपि नार्वाचीनः प्रतिभाति । किन्तु भिषग्जितीयाध्याये न्यायदर्शनीया न्यायनिग्रहस्थानादयो बहुशः पदार्थाः समीक्ष्यमाणा अस्य विषयस्य प्राचीनतरत्वमभ्युपेतुं प्रतिघट्टयन्ति । श्रौतदार्शनिकग्रन्थेषु गौतमसूत्रात्पूर्वं, बौद्धदार्शनिकग्रन्थेषु नागार्जुनीयोपाय (कौशल्य) हृदयादिग्रन्थेभ्यः पूर्वं, न्यायच्छलजातिनिग्रहस्थानादीनां विगृह्यसम्भाषायामुपयोगिनां पदार्थानां निरूपणानुपलम्भेन बौद्धानां महायानिकविचारोदये सत्युभयतः सङ्घर्षे पक्षप्रतिपक्षजयपराजयनियमव्यवस्थाया विकासस्यानुसन्धेयतया कतिपयपूर्वसमयाल्लघुमात्रया प्रवृत्त एष विवादविषयो गौतमनागार्जुनादिभिर्ग्रन्थप्रणयनेनोभयतः परिष्कृत्य नियमितोऽवगम्यते । पक्षप्रतिपक्षभावेन विवादो हि पश्चाद्धर्वैर्दिङ्नागधर्मकीर्तिप्रभृतिभिर्बौद्धाचार्यैः प्रमाणसमुच्चयप्रमाणवार्तिकवादन्यायहेतुबिन्द्वादिग्रन्थेषु, न्यायवैशेषिकाचार्यैर्वात्स्यायनभाष्योद्द्योतकरवार्तिकतात्पर्यटीकातात्पर्यपरिशुद्ध्यादिषु, जैनाचार्यैश्च तत्त्वसङ्ग्रहादिषु स्वग्रन्थेषु मध्यकालेऽपि विवर्धितः परिदृश्यते । तेन यत्र यत्र विमर्शावसरस्तत्र तत्र विमर्दीयपदार्थानामनुप्रवेशः सामयिक एव । आयुर्वेदीयेषु प्राचीनग्रन्थेषु सुश्रुतभेलाभ्यां वादीयपदार्थोपन्यासे उदासितमेव । कश्यपेन तु भिषजां मिथो विमर्शविषयोपन्यासे सन्धायसम्भाषामेव प्रदर्श्य विगृह्यसम्भाषायाविषयो (पृ. ६१) लेशत एव सूचितो न प्रपञ्चितः । एवं दर्शनेन प्राचीनाचार्यगृहीतमार्गेण आत्रेयेणाग्निवेश्येन च स्वीयसंहितायां सन्धायसम्भाषायामेव विश्रान्तं भवितुमर्हति । भैषज्यविषये पक्षप्रतिपक्षभावेन यथाकथमपि स्वस्वपक्षप्रतिष्ठापनपरपक्षनिरसननिर्बन्धे [illegible]नुसन्धानस्यैवौचित्येन विगृह्यसम्भाषायामुपयोगिनां छलजातिनिग्रहस्थानादीनां प्रपञ्चो हितं पन्थानं कण्टकितं जनयति । उपलभ्यमानचरकसंहितायां वादविषयोल्लेखे—

"विगृह्यभाषा तीव्रं हि केषाञ्चिद् द्रोहमावहेत् ।
कुशला नाभिनन्दन्ति कलहं समितौ सताम्" ॥
(विमाने. अ. ८)

इति सन्धायसम्भाषाया विषयस्योपसंहृतौ तत्रैव पक्षपातः प्रथमतो दर्शितः । एतावत् पर्यन्त एव विषय आत्रेयीय उपन्यासः स्यात् । ततः परं विगृह्यसंभाषायाः पदार्थविशेषानुपादाय प्रवृत्तः "इमानि खलु पदानि भिषग्वादज्ञानार्थमधिगम्यानि भवन्ति" इत्यारभ्य "इति वादमार्गपदानि यथोद्देशमभिनिर्दिष्टानि भवन्ति" इत्येतावत्पर्यन्त उपक्रमोपसंहारपृथक्कृतो ग्रन्थः प्रसक्तानुप्रसक्तपथेन पश्चाच्चरकसमये प्रविष्टः किलेति सन्दिह्यते । पुराकालेऽपि विभिन्नमतानां नानाचार्याणां भावेन मिथस्तेषां विमर्शास्तदर्थं वादनियमा अपि प्रमाणान्तरोपलम्भं विना नासन्निति न निश्चयेन वक्तुं शक्यते । भासकवेः प्रतिमानाटके प्राचीनाचार्यशास्त्रेषु मेधातिथीयन्यायशास्त्रं प्रतिष्ठितमवगम्यते । तत्रापि वादविषयोल्लेखः सम्भवति । परमत्र बार्हस्पत्यार्थशास्त्रस्य पृथगुल्लेखेन न्यायशास्त्रमिति शब्दमात्रेण तर्को मीमांसा विषयान्तरं वा, तर्कशास्त्रत्वेऽपि तत्र वादविषय आसीन्न वा, सन्नपि किमात्मक आसीदिति न निश्चेतुं शक्यते । गौतमनागार्जुनादिभ्यः पूर्वतनेषु ग्रन्थेषु एतद्विषयानुपलम्भेन सामान्यरूपेण पूर्वतो वर्तमानानामेवैषां विषयाणां गौतमनागार्जुनादीनां मल्लप्रतिमल्लभावोदये विशेषतः प्रसर इति वक्तुं शक्यते । एतदन्तर्निध्याय चरकगौतमनागार्जुननिर्दिष्टवादविषयाणां तुलनायां पौर्वापर्यपर्यालोचने न्यायावयवसिद्धान्ततत्प्रभेदादिषु चरकगौतमोक्त्योः साम्यदर्शनेऽपि, गौतमेन कथात्रैविध्यमुद्दिश्य सन्धायसम्भाषारूपस्य वादस्य तत्त्वबुभुत्सुकथात्मकतया, विगृह्यसंभाषारूपस्य जल्पस्य पक्षप्रतिपक्षकथात्मकतया, जल्पोपयोगितया छलजातिनिग्रहस्थानादीनां च निर्देशेन, चरकेण तु उपायहृदये नागार्जुनेनेव विवादपर्यायरूपं

१. I History of Indian Philosophy by Dasagupta Vol I. P. 261.
II Yoga System of Patanjaly by J. H. Woods.

२. उपायहृदयं नाम बौद्धदार्शनिकाचार्येण नागार्जुनेन प्रणीतो विवादविषयको ग्रन्थः, तस्य मूलग्रन्थस्य लोपेऽपि चीनभाषायामनुवादोपलम्भेन प्रो० तुचीमहाशयेन संस्कृते प्रत्यनुवादः कृतोऽस्ति ॥

१. साङ्गोपाङ्गं वेदमधीये मानवीयं धर्मशास्त्रं माहेश्वरं योगशास्त्रं बार्हस्पत्यमर्थशास्त्रं मेधातिथेर्न्यायशास्त्रं प्राचेतसं श्राद्धकल्पञ्चेति॥
(प्रतिमानाटके पृ. ७९)

२. चीनभाषानुवादे तिब्बतीयभाषानुवादवत्प्रतिशब्दच्छायाया भावानुवादमात्रदर्शनेऽपि यथावस्थिततदनुवादतः संस्कृते विहितात्प्रत्यनुवादतो लब्धानां विषयाणां तुलना ॥

वादमभिप्रेत्य तदनुबद्धतया छलजातिनिग्रहस्थानादीनां निर्देशनेन, तत्रापि छलजातिनिग्रहस्थानप्रभेदानां चरकोक्तापेक्षया गौतमोक्ते विभागसंख्याधिक्योपलम्भेन विकसितावस्थायाः, उपायहृदये केषुचित्पदार्थेषु गौतमचरकोक्तरीतितः प्रक्रियान्तरेण संक्षेपदर्शनेऽपि अधिकन्यूनत्रैविध्य–दृष्टान्तद्वैविध्य–सिद्धान्तधर्मचातुर्विध्य–विंशतिविधप्रश्नोत्तरसम्बन्धादीनां बहुविशेषविषयाणां विकसितानां दर्शनेन, विकासवादक्रमोपादाने चरकसमयाद्गौतमनागार्जुनसमये विचारविकासोपलब्ध्या एकस्मिन्नेव विवादयुगेऽनुस्यूतानामपि चरकगौतमनागार्जुनानां किञ्चित्कालान्तरेण पौर्वापर्यमिति गौतमनागार्जुनसमयाच्चरकसमयः पूर्वः प्रतीयते । श्रीयुतसुरेन्द्रनाथदासगुप्तमहाशयेनापि[1] उभयतो विगृह्यसंभाषाया विषयान् विमृश्य गौतमाच्चरकस्य प्राग्भावित्वे स्वाभिप्राय उद्घाटितो विद्यते ॥

बौद्धत्रिपिटकस्य चीनभाषानुवादे[2] कनिष्कनृपते राजकुलवैद्यश्चरको नाम राज्ञ्या दुश्चिकित्स्यं रोगं न्यवारयदिति वर्णनोपलम्भेन चरकाचार्यस्य कनिष्कसामयिकत्वलाभादुपप्रथमशताब्दीभवश्चरकाचार्य इति पाश्चात्यपण्डितसिलवान्[3]लेभीमहाशयानामभ्युपगमः । तदात्वे दार्शनिकार्यनागार्जुनस्यैतिहासिकोपलम्भेन नागार्जुनीये उपायहृदये इव चरकीयलेखेऽपि विगृह्यसंभाषीयविषयोपन्यासेन च आर्यनागार्जुनचरकाचार्ययोः कनिष्कसामयिकत्वं संवदति । परं शिलालेखेतिवृत्तादिभिः कनिष्कनृपतेर्बौद्धत्वस्य, नागार्जुनाचार्ये कनिष्कसामयिकत्वस्य च बहुशः सिद्धावपि तन्त्रप्रतिसंस्कर्तुश्चरकस्यैव कनिष्कराजकुलवैद्यत्वोल्लेखे प्रामाण्यविषये मतविभेदोऽस्ति ।[4] श्रीयुतकीथ्महाशयस्यापि तथैव मतं वर्तते । चरकस्य कनिष्कसामयिकत्वे तदीयराजकुलवैद्यत्वे च कथं नैतदीयलेखे क्वापि बौद्धसंप्रदायच्छायानुवेधो दृश्यते, कथं वा वैदिकमन्त्रादीन्निर्दिश्य श्रौतप्रक्रिययैव व्यवहरणं चरकसंहितायां संगच्छेत, इत्यपि व्याघातकं निर्दिशन्ति । आत्रेयाग्निवेशग्रन्थस्य चरकाचार्येण केवलं प्रतिसंस्करणोक्त्या पूर्वाचार्यलेखे सांख्यदर्शनस्य श्रौतप्रक्रियायाश्च विद्यमानतया चरकीयतत्संस्करणेऽपि न बौद्धच्छायानुप्रवेशः, नैतावता प्रतिसंस्कर्तुश्चरकस्यातिप्राचीनत्वं साधयितुं शक्यते, इत्यपि केचन वदन्ति । केचन क्वचित्स्वभाववादाद्युल्लेखस्थले बौद्धमतमाहेति टीकाकृता चक्रपाणिना व्याख्यानादत्र बौद्धमतस्याप्यंशतः प्रवेशोऽस्तीत्यपि वदन्ति । केचित्तु स्वभाववादो हि न बौद्धानामेव, ततः प्राक्कालादपि प्रवृत्त इति नैतावता बौद्धमतानुप्रवेश इति वक्तुं शक्यते इत्यपि प्रतिवदन्ति ॥

चरकस्य कनिष्कवैद्यत्वे उपायहृदये भैषज्यविषयप्रसङ्गेन सुश्रुतमनुस्मरन्नार्यनागार्जुनः स्वसामयिकबौद्धनरपतेः कनिष्कस्य राजकुलवैद्यं तादृशं प्रसिद्धविद्वांसं चरकाचार्यं किमिति नाम्नोल्लिखितुं विस्मृतवान् स्यादित्यपि व्याघट्टयति चेतः । यदि नाम साधनान्तरैश्चरकाचार्यस्य ततोऽप्यर्वाचीनत्वमसाधयिष्यत तदा आर्यनागार्जुनेन सुश्रुतमनुस्मरता चरकस्यानुल्लेखान्नागार्जुनसमयादर्वाचीनश्चरकसमय इत्यभ्युपागंस्यत । दार्शनिकग्रन्थभूतेऽस्मिन्नुपायहृदये लेशतः प्रविष्टे प्रासङ्गिके वैद्यकविषये पूर्वेषामात्रेयाग्निवेशकश्यपादीनामिव बहुसमयमतीतस्य चरकाचार्यस्य बौद्धसम्प्रदाये प्रविष्टतया दृष्टस्य प्रसिद्धस्य जीवकस्य च आर्यनागार्जुनेन नामानिर्देशनं न खलु नोपपद्यते । तदनुल्लेखमात्रेणार्वाग्भावाभ्युपगमे आत्रेयादीनामपि तथात्वं कथं न शङ्क्येत । सुश्रुतसम्प्रदायस्य काश्यां, चरकसम्प्रदायस्य पाञ्चालकाम्पिल्यादिपश्चिमप्रदेशे उदयेन तत्र तत्र विभागप्रदेशेषु क्रमशोऽनयोर्विकसनौचित्यात् पूर्वतः प्रदेशेषु सुश्रुतसम्प्रदायस्य विकसनं प्रसिद्धिश्च विशेषतोऽजायत, येन श्यामकम्बोडियाप्रदेशगतयशोवर्मजयवर्मशिलालेखेषु[1] वैद्याचार्यत्वेन सुश्रुतस्योल्लेख उपलभ्यते । नागार्जुनस्य दक्षिणदेशे मगधप्रदेशेऽपि विशेषतः सम्बन्धः, तेन पूर्वीयविभागे प्रसिद्धतरतया स्वसमाजमानिततया च सुश्रुतस्यैव बुद्धौ प्रथममनुस्मृत्या नागार्जुनेनोपग्रहणं कृतं किलेत्यपि वक्तुं शक्यते । परं चरकस्य कनिष्कराजकुलभिषग्भावे मिथः सहभावसम्पर्कवैदुष्यपरिचयादिकमुपेतेनार्यनागार्जुनेन सुश्रुतादपि चरकः प्रथमतः कथं नानुस्मर्येत । राजतरङ्गिणीकृताऽपि कनिष्कवृत्ते चरकः कथं नोल्लिख्येत च । गौतमसूत्राविर्भावात् पूर्वमपि न्यायवितण्डादीनां पदार्थानां प्रचार आसीत्, चरकीया लेखशैली ब्राह्मणग्रन्थच्छायानुविधायिनी दृश्यते, तेन चरको न कनिष्कस्य सामयिक इति सिलमहाशयादयः कथयन्ति ॥

तदेवं चरकाचार्यस्य समयान्वेषणे यथोपलम्भमुपपत्तिवादगर्भाणि बहूनि मतानि विपश्चितां दृक्पथमुपयन्ति । यथातथमस्य समयं परिच्छिद्यावधारयितुमसाधारणानि साधनान्तराण्यपि गवेषणीयानि भवन्ति । श्रीयुतप्रफुल्लचन्द्ररायमहोदयेनापि[2] चरकस्य सुश्रुतस्य च समयविचारे बहु प्रपञ्चितमस्ति ॥

वार्योविद्– दारुवाह– नग्नजिद्वेडाः अस्यां काश्यपसंहितायां रोगाध्याये काश्यपसम्मतरोगद्वैविध्यवादितया,[3] वमनविरेचनीयाध्यायेऽपि ग्रन्थव्युक्त्याऽव्यक्तस्य मतविशेषस्य वादितया च 'इति वार्योविदः' (सि.स्था.अ.३) इति वार्योविदस्योल्लेखोऽस्ति । 'कुक्कुणकचिकित्साध्यायान्ते वार्यो-

---

१. History of Indian Philosophy Vol. I. by Dasagupta.

२. Chinese Buddhist Chronicle.

३. Jour. Asiatique. 1896 T. VIII. P. 447.

४. Caraka, according to tradition was the physician of Kanishka, whose wife he helped in a critical case. Unhappily we cannot tell the value of such stories when they come to us at a late date. History of Sanskrit Literature. A. B. Keith P. 406

१. सुश्रुतोदितया वाचा समुदाचारसारया ।
एको वैद्यः परत्रापि प्रजाव्याधीन् जहार यः ।
आयुर्वेदास्त्रवेदेषु वैद्यवीरैर्विशारदैः ।
योऽघातयद्राष्ट्ररुजो रुजारीन् भेषजायुधैः ।

२. History of Hindu Chemistry Vol. I. P. C. Ray.

३. द्वौ रोगौ निजश्चागन्तुश्चेति वार्योविदः । (पृ. ३९).

विदन्नृपतये मारीचकश्यपेन बालभैषज्यस्योपदेशो[1] निर्दिष्टोऽस्ति । उत्तरभागे बहुशो जीवकस्य प्रश्ने सम्बोधने च सत्यपि 'पार्थिव (खि. स्था. अ. १०), विशांपते (खि.स्था.अ. १०), नृपोत्तम (खि. स्था. अ. १०), नृप, नराधिप' इति मध्ये मध्ये दृश्यमानं राजसम्बोधनं राजान्तरस्याप्रकृततया एकत्र नाम्ना निर्दिष्टं तमेव वार्योविदमभिप्रैतीति; देशसात्म्याध्याये 'काशिराजो (काशिराजं) महामुनिः (खि. स्था. अ. २५)' इति काशिराजत्वेन निर्दिष्टोऽपि स एव स्यादिति च लक्ष्यते । तेनैतल्लेखान्मारीचकश्यपस्योपदेश्यभूतस्तत्समकालो वैद्याचार्यो वार्योविदः काशिराज इत्यायाति । आत्रेयसंहितायां वातकलाकलीयाध्याये (च. सू. अ. १२) मारीचिवार्योविदयोः पक्षप्रतिपक्षभावेन निर्देशनमपि तयोः सहभावं संवादयति । वातकलाकलीये[2], यज्जः[3]-पुरुषीये, आत्रेयभद्रकाप्यीये[4] च आत्रेयेण सह समवेतानां महर्षीणां सहभावेन वार्योविदस्य निर्देश आत्रेयवार्योविदयोरपि सहभावं, तत्र तत्र तदीयमतविशेषोल्लेखो वार्योविदस्य वैद्याचार्यत्वमपि स्पष्टमवबोधयति । यज्जःपुरुषीये आत्रेयसहभावेन काशिपतित्वेन च निर्देशाद् वामकोऽपि[5] काशिराजो वैद्याचार्य इत्यवबुध्यते । काशिराजत्वेनोपलभ्यमानानां वैद्याचार्याणां दिवोदास–वामक–वार्योविदानां त्रयाणां मिथः किंरूपं पौर्वापर्यमिति नैतावता परिच्छेत्तुं शक्यते । वार्योविदस्येदानीं ग्रन्थस्य वचनोद्धारस्य वा बहुशोऽनुपलम्भेऽपि आत्रेयकाश्यपसंहितयोस्तदीयमतोद्धारदर्शनेन तदात्वे प्रसिद्धिं दधान आचार्यविशेषोऽयमित्यवगन्तुं शक्यते । कश्यपेन बालभैषज्यमुपदिष्टतया निर्दिष्टोऽयमपि कौमारभृत्यप्रस्थानस्याचार्यः किमु ?। तदेवमात्रेयपुनर्वसोर्मारीचकश्यपस्य च सहभावेनोभयतो निर्दिष्टो वार्योविदो राजर्षिरपि मिथो नामोल्लेखं कुर्वतोरात्रेयपुनर्वसुमारीचकश्यपयोः कालतोऽविप्रकर्षमवगमयति ॥

किञ्चास्यां काश्यपसंहितायाम्—

'उपास्यमानमृषिभिः कश्यपं वृद्धजीवकः ।
चोदितो दारुवाहेन वेदनार्थेऽभ्यचोदयत् ॥' (पृ. ३३)

इति निर्देशेन पूर्वभागे वृद्धजीवकस्य प्रवृत्तायां प्रेरको दारुवाहो ज्ञायते । तत्रैव रोगाध्याये रोगपाञ्चविध्यवादितया 'पञ्च रोगा आगन्तुवातपित्तकफत्रिदोषजा इति दारुवाहो राजर्षिः' (पृ. ३९) इति तस्य राजर्षित्वेनोल्लेखोऽस्ति । रोगद्वैविध्यवादितया वार्योविदस्य, रोगपाञ्चविध्यवादितया दारुवाहस्य च पृथङ्निर्देशेन विभिन्नव्यक्तित्वं स्पष्टं भासते, कुत्रत्योऽयं दारुवाहो राजर्षिरिति न ततः स्पष्टीभवति । किन्तु–अष्टाङ्गसंग्रहस्योत्तरस्थाने विषवेगविषये पुनर्वसुनग्नजिद्विदेहालम्बायनधन्वन्तरिमतविशेषोल्लेखदर्शनेन नग्नजिन्नामकोऽपि[1] वैद्याचार्योऽवगम्यते । तदीयेन्दुव्याख्यायां[2] 'नग्नजितो दारुवाहिनः' इति नग्नजिद्दारुवाहिशब्दौ सामानाधिकरण्येनोपात्तौ । अत्रेनन्तशब्देनोपादानेऽपि चरकचक्रपाणिव्याख्यायां दारुवाहनाम्ना वचनोद्धारस्य दर्शनेन काश्यपीयायामपि दारुवाहनाम्ना मतोल्लेखेन चान्त्यवर्णमात्रविभिन्ना एकैवेयं व्यक्तिः प्रतिभाति । अन्यत्र क्वचन निर्दिष्टो दारुकोऽपि[4] नामैकदेशन्यायेनायमेव दारुवाहः किमु ?। दारुवाहेन सहैक्यमनुसन्धाय नग्नजितोऽनुसन्धाने भेडसंहिताया मुद्रितपुस्तके—

'गान्धारभूमौ राजर्षिमग्नजित्स्वर्गमार्गदः ।
सङ्गृह्य पादौ पप्रच्छ चान्द्रभागं पुनर्वसुम् ॥
एवमुक्तस्तथा तस्मै महर्षिः पार्थिवर्षये ।
विषयोगेषु विज्ञानं प्रोवाच वदतां वरः ॥ (पृ. ३०)'

इति राजर्षिमग्नजिदित्येवं पाठदर्शनेऽपि श्रीमद्भिर्यादवजीमहाभागैस्तञ्जोरपुस्तकालयगतपुस्तकात्[5] 'राजर्षिर्नग्नजित्स्वर्णमार्गदः' इति पाठस्योपलम्भेन, पूर्वापरवाक्यानुसारतः प्रथमान्तराजर्षिशब्दपाठस्यैवौचित्येन च तत्पाठानुसारेण नग्नजिन्नाम भेडसमकालिकः कोऽपि गान्धारपार्थिवः चन्द्रभागाया मातुः सम्बन्धमादाय किल चान्द्रभागसंज्ञितस्य पूर्वापरसन्दर्भसिद्धस्य पुनर्वसोरात्रेयस्य सकाशे विषविषयकं प्रश्नं चकारेति ज्ञायते । अष्टाङ्गहृदये रसाद्रक्तमित्यस्यारुणदत्तव्याख्यायां नग्नजितो[6] वचनोद्धारस्य दर्शनेन, अष्टाङ्गसंग्रहे विषविषये 'इति नग्नजितो मतम्' इत्युल्लेखेन, भेडेऽपि विषविषये एतत्प्रश्नस्य दर्शनेन च सोऽयमेवेति संवादो दृढीभवति । दारुवाहस्य नग्नजितश्च पार्थिवत्वेनोपलम्भात्, इन्दुलेखतो द्वयोः सामानाधिकरण्याख्यानयोर्विषये तत्तन्नाम्नोपलभ्यमाना विशेषा गुणोपसंहारन्यायेन सम-

---

१. इति वार्योविदायेदं महीपाय महानृषिः । शशंस सर्वमखिलं बालानामथ भेषजम् । (खि. स्था. अ. १३)

२. वातकलाकलज्ञानमधिकृत्य परस्परमतानि जिज्ञासमानाः **समुपविश्य** महर्षयः पप्रच्छुर**न्योन्यम्** ।…… तच्छ्रुत्वा वडिशवचनमुवाच **वार्योविदो** राजर्षिः । (चरके. सू. अ. १२)

३. पुरा प्रत्यक्षधर्माणं भगवन्तं पुनर्वसुम् । **समेतानां** महर्षीणां प्रादुरासीदियं कथा ।… **वार्योविद**स्तु नेत्याह नह्येकं कारणं मनः ।… तथर्षीणां विवदतामुवाचेदं पुनर्वसुः । (चरके सू. अ. २५)

४. आत्रेयो भद्रकाप्यश्च…… श्रीमान्**वार्योविद**श्चैव राजा मतिमतां वरः ।…… तेषां **तत्रोपविष्टा**नामियमर्थवती कथा ।…… षड्रसा इति **वार्योविदो** राजर्षिः (चरके सू. अ. २६)

५. तदनन्तरं काशिपति**र्वामको** वाक्यमर्थवित् ।…… आत्रेयस्य वचनमनुनिशम्य पुनरेव **वामकः काशिपति**रुवाच भगवन्तमात्रेयम् । (चरके सू. अ. २५)

१. 'दुष्यति प्रथमे रक्तं द्वितीये श्वयथूद्भवः ।…… सप्तमे मरणं वेग इति नग्नजितो मतम् ।' (अष्टाङ्गहृदये)

२. नग्नजितो दारुवाहिनोऽप्यत्र दुष्यति प्रथमे रक्तमित्यादिक्रमेण सप्तवेगा इति मतम् (इन्दुव्याख्यायाम् पृ. ३१४)

३. यदाह दारुवाहः—सूक्ष्मसूक्ष्मतरास्येषु दूरदूरतरेषु च ।
दोषो रक्तादिमार्गेषु शनैरल्पं चिरेण यत् ॥……
(चरकचक्रपाणिव्याख्यायां चि. अ. ३)

४. चरकचक्रपाणिव्याख्यायां चि. अ. ३ ॥

५. निर्णयसागरमुद्रितचरकद्वितीयसंस्करणभूमिकायां द्रष्टव्यम् ।

६. 'नग्नजिदप्याह—तत्राहाररसात्पूर्वं रसधातुर्विवर्धते । रक्तं धातुरसाच्चैव रक्ताख्यान्मांसमेव च ॥' अष्टाङ्गहृदयटीकायां शारीरे । (अ. ३)

न्वयं प्राप्नुवन्तोऽस्य गान्धारराजर्षेर्न केवलं विषविषय एव, अपितु वैद्यविद्यायामाचार्यभावमवगमयन्ति । पूर्वनिर्दिष्टे (पृ. १२) शालिहोत्रोक्ताश्वशास्त्रेऽप्यायुर्वेदकर्तॄणां मध्ये विनग्नजितो नाम दृश्यते, सोऽप्ययमेव स्यात् । मात्स्ये वास्तुशास्त्रोपदेशकत्वेनापि नग्नजित उल्लेखोऽस्ति[1], स नग्नजित् गान्धारो राजा वाऽन्यो वेति न ततोऽवधार्यते ॥

किञ्च—ऐतरेयब्राह्मणे[2] क्षत्रिययज्वनां फलचमसभक्षणस्य साम्प्रदायिकत्वप्रदर्शने नग्नजितो गान्धारस्योल्लेखोऽस्ति । ततः सर्वदिग्विजयराष्ट्रसम्पदादेः फलस्य क्षत्रिययजमानत्वस्य चोल्लेखेन नग्नजिन्नाम क्षत्रियो गान्धारमहाराजः फलचमसभक्षणेन प्रतिष्ठितश्रीकः सर्वशत्रुविजयी चासीदिति लभ्यते । एवमत्र निर्दिष्टो गान्धारमहाराजो नग्नजिदेव देशनामादिसाम्येन भेडेन ससंमानं राजर्षितया निर्दिष्टो गान्धारराजो नग्नजिद्भवितुमर्हति । शतपथब्राह्मणेऽपि[3] चित्यां प्राणभृदुपधाने नाग्नजितः (नग्नजित्पुत्रस्य) स्वर्जितः, गान्धारस्य नग्नजितश्चोल्लेखोऽस्ति । तत्र प्राणमहिमवक्तृत्वस्य राजन्यबन्धुत्वस्य च निर्देशेन शारीरविद्याचार्यो गान्धारराजर्षिर्नग्नजिदेवानेनापि निर्दिष्टः प्रतीयते । अत्र तदीयपुत्रस्य स्वर्जिन्नाम्नोल्लेखो भेडलेखे स्वर्गमार्गद इति नग्नजितो विशेषणं च कञ्चन तदीयविजयवृत्तान्तं साम्येन सूचयति किमु ? । एवं संवादेन नग्नजित ऐतरेयशतपथकालादनर्वाचीनत्वेऽनुसन्धीयमाने 'नग्नजितो दारुवाहिनोऽप्यत्र' इति इन्दुलेखे अपिशब्दसत्तया व्यक्तिद्वयकल्पनेऽपि औपदेशिकेन सम्बन्धेन नग्नजित्सम्बन्धस्य पुनर्वसोरात्रेयस्य तदन्तेवासिनो भेडाचार्यस्यापि ऐतरेयशतपथब्राह्मणकालादनर्वाग्भाव आयाति । तेन 'स्वर्णमार्गद इति पददर्शनेन पारसीकमहाराजस्य दारायसनाम्नः समसमयकौ (B.C. 521–485) गान्धारमहाराज नग्नजिद्भेडौ' इति कल्पनं न समीचीनं प्रतिभाति ॥

एवं महाभारते[4] युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदेतिहासादींस्तपोबलेनाधिगम्य तत्तद्विद्याप्रकाशकानां महर्षीणां निर्देशे कृष्णात्रेयस्य चिकित्सितोपदेशकत्वमुल्लिखितं दृश्यते । कृष्णात्रेय एव पुनर्वसुरात्रेयो भवतु मा वा । भेडेऽपि चरकसंहितायां कृष्णात्रेयस्याप्युपदेशोल्लेखेन तत्सहभाविनः पुनर्वसोरात्रेयस्य महाभारतकालात् प्राचीनत्वं ततोऽप्यायाति ॥

तदेवमात्रेयसहभाविभावेन मारीचकश्यपोल्लेखः, वार्योविदस्य मारीचकश्यपात्रेयपुनर्वसुसहभावः, कृष्णात्रेयस्य पुनर्वस्वात्रेयसामानाधिकरण्यं, चिकित्सितप्रवर्तकत्वेन कृष्णात्रेयस्य महाभारते निर्देशः, आत्रेयान्तेवासितया भेडोल्लेखः, भेडसहभावितयाऽऽत्रेयपुनर्वसूपदेश्यतया च गान्धारनृपस्य नग्नजितउल्लेखः, नग्नजितो दारुवाहस्य च सामानाधिकरण्यं, दारुवाहस्य काश्यपीये निर्देशः, गान्धारनृपस्य नग्नजित ऐतरेयब्राह्मणे, गान्धारस्य प्राणविदो नग्नजितस्तत्पुत्रस्य स्वर्जितोऽपि शतपथब्राह्मणे कीर्तनं, दिवोदासस्य ब्राह्मणोपनिषदादिषूपलम्भः, तत्पूर्वपुरुषत्वेन धन्वन्तरेर्लाभश्चेत्येवं सर्वतो दृशः प्रवर्त्य विचारणे मारीचकश्यपः, पुनर्वसुरात्रेयः, भेडः, नग्नजिद्दारुवाहः, वार्योविदश्चैते भैषज्यविद्याचार्या ऐतरेयशतपथकालादनर्वाचीना धन्वन्तरिदिवोदासवद् ब्राह्मणोपनिषत्समये सहभावेन लेशतः पौर्वापर्येण वा वर्तमाना आसन्नित्यवधारयितुमृजुः पन्थाः पुरो भवति ॥

तदेवं वेदकालादारभ्य प्रतिष्ठितेयं भारतीयायुर्वेदविद्या ब्राह्मणोपनिषत्कालेऽपीदृशैर्महर्षिभिर्भारते तत्रापि विशेषतो बहुभिराचार्यैः पश्चिमविभागे परामुन्नतिमापादिताऽऽसीदिति निर्धार्यते इत्यलम् ॥

रसग्रन्थाः

भावप्रकाशाद्यर्वाचीनग्रन्थेषु कानिचिद्वैदेशिकान्यौषधानि, काचन वैदेश्या प्रक्रिया, धातुरसादीनां विशेषप्रयोगाः, अहिफेनादीनामुपयोगाश्चेत्यादयोऽर्वाचीना विषया उपलभ्यन्तां नाम; ततः कियताऽपि समयेन पूर्वतनेषु सिद्धयोगादिषु पारदधात्वादीनां सामान्यतः प्रयोगदर्शनोपलम्भेऽपि ततः पूर्वं वाग्भटसमयपर्यन्तमपीदृशा विषया विशेषतोऽप्रविष्टा दृश्यन्ते । चतुर्थीशताब्दीपुस्तकलेखतया सम्भाविते बावरोद्धृतनावनीतकादौ, ततोऽपि पूर्वत्वेन सम्भाविते हार्नलोपलब्धलेखपुस्तकेऽपि स्वर्णादिधातूनामुल्लेखेऽपि तदीयशोधनादिविशेषप्रक्रिया पारदाद्युपयोगाश्च न विशेषत उपलभ्यन्ते । अन्ततो महावग्गीयजीवकेतिवृत्ते भैषज्यानुपयोगिनो वनस्पतेर्विषये गुरुणाऽनुयुक्तेन जीवकेन तथाविधस्यैकस्याप्यनुपलब्धिकीर्तनं, तत्र घृतनस्यादिभिरौषधैः शस्त्रक्रियया वा रोगिणां चिकित्सनं, रसधात्वादीनां क्वाप्यनुपयोजनं चोपलभ्यमानमपि जीवकसमयपर्यन्तमपि रसधात्वाद्यौ-

---

१. भृगुरत्रिर्वसिष्ठश्च विश्वकर्मा मयस्तथा ।
नारदो **नग्नजिच्चैव** विशालाक्षः पुरन्दरः ।
....
अष्टादशैते विख्याता वास्तुशास्त्रोपदेशकाः ।
(मात्स्ये २५२ अध्याये)

२. "तमेवमेतं भक्षं प्रोवाच रामो भार्गवेयो विश्वन्तराय सौषद्मनाय ।......एतमु हैव प्रोवाच तुरः कावषेयो जनमेजयाय पारीक्षिताय ।......भीमाय वैदर्भाय, **नग्नजिते गान्धाराय**......ते ह ते सर्व एव महज्जग्मुरेतं भक्षं भक्षयित्वा सर्वे हैव महाराजा आसुरादित्य इव ह स्म श्रियं प्रतिष्ठितास्तपन्ति सर्वाभ्यो दिग्भ्यो बलिमाहवन्तः... उग्रं हास्य राष्ट्रमव्यथ्यं भवति य एवमेतं भक्षं भक्षयति क्षत्रियो यजमानः" ऐतरेयब्राह्मणे ३५. ८. पृ. ८९२ (आनन्दाश्रममुद्रिते) ।

३. अथ ह स्माह स्वर्जिन्नाग्नजितः, नग्नजिद्वा गान्धारः प्राणो वै समञ्चनप्रसारणं यस्मिन् वा अङ्गे प्राणो भवति तत्सं चाञ्चति प्र च सारयति......तदुवाच राजन्यबन्धुरिव त्वेव तदुवाच" । शतपथब्राह्मणे ८-१-४-१० ।

४. युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः ।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा ॥
वेदविद्वेद भगवान् वेदाङ्गानि बृहस्पतिः ।
भार्गवो नीतिशास्त्रं तु जगाद जगतो हितम् ॥
गान्धर्वं नारदो वेद भरद्वाजो धनुर्ग्रहम् ।
देवर्षिचरितं गार्ग्यः कृष्णात्रेयश्चिकित्सितम् ॥
न्यायतन्त्राण्यनेकानि तैस्तैरुक्तानि वादिभिः ।
(शान्तिपर्वणि २१० अध्याये)

SRI VENKATESWARA CENTRAL LIBRARY TIRUPATI.
LB:441:6x(1,1)
11150
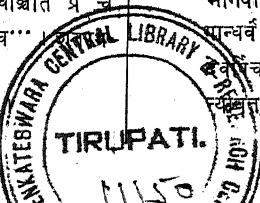
षधानामप्रचलनमवगमयति । चरकसुश्रुतयोरपि धातूनां मणीनां चौषधेषु उद्देशमात्रं दृश्यते, न तु तेषां शोधनादिकं तत्सिद्धान्यौषधानि पारदौषधोल्लेखोऽहिफेनादयो वा निर्दिष्टाः । काश्यपीये तु खिलभागे आत्रेयभेडलेखयोरिव शोथादिषु द्वित्रिवारमेव अयोरजस्ताम्ररजसोरुपयोगोल्लेखोऽस्ति । काश्यपीये तच्छोधनभस्मीकरणादेरनिर्देशेऽपि भक्षणेऽप्युपयोगलेखेन शोधनादिकमभिप्रेतं स्यादित्यनुमीयते । एतावदन्तरेण धात्वादीनां पारदस्य चोपयोगो नात्र दृश्यते । नवाऽहिफेनाद्योऽन्येवाऽर्वाचीना विषया दृश्यन्ते इति यथा यथा प्राक्तनत्वं तथा तथैषां पश्चाद्भवविषयाणां विरलताऽनुपादानं चेक्ष्यते ॥

कुतः कदाऽस्योद्गम ? इति विचारे–रसायनविद्यायां प्रयुज्यमानः केमिष्ट्री (Chemistry) शब्दः–अलकेमी–विज्ञानमवबोधयति । केमिष्ट्रीशब्दो मिश्रदेशीयात् 'क्यामी' शब्दान्निष्पन्न इति मिश्रदेशात् प्रादुर्भूता रसायनविद्या आरब्यदेशे ग्रीसदेशे च प्रसृत्य ततो युरोपदेशे प्रससारेति कस्यचिन्मतं वर्तते ॥

केचन–मिश्रदेशे तद्विद्यावाची 'क्यामी' शब्दो नोपलभ्यते । न वा तत्र रसायनविद्यायाः प्रागुद्भवेतिवृत्तं किमप्युपलभ्यते । केमिष्ट्रीशब्दो हि तृतीयशताब्दीभवादारब्यात् 'किमाइ' शब्दान्निष्पन्नः । सोऽयं शब्द एल्केमीशब्दार्थे सिनिसनामकेन विदुषा स्वीयेऽभिधानग्रन्थे निर्दिश्यते । सेयं विद्या न वा मिश्रदेशे, न वा ग्रीसदेशे समुद्भूता । तथात्वे हेरोडोटस–डायोडोरस–प्लुचार्ट–प्लीनीप्रभृतिभिः प्राचीनैस्तदीयविद्वद्भिः किमिति तद्विषये किमपि नोल्लिख्येत । मिश्रदेशीयानां ग्रीसदेशीयानां च तृतीयचतुर्थशताब्दीपर्यन्तं रसायनविद्याया ज्ञानमेव नासीत् । एल्केमीविद्यायां पारदस्य प्रयोगः पश्चादेवोपलभ्यते । तेन पाश्चात्यदेशेषु रसायनविद्याविदां सर्वप्रथम आरब्यदेशीयो ग्याबरनामको विद्वानिति निश्चितमस्ति । तत एवैषा विद्या सर्वत्र प्रससारेति केचन वदन्ति ॥ केचन वैदिकसमये सोमरसस्य बहुशो व्यवहारदर्शनेन रसायनविद्याया उद्भव ऋग्वेदकालादेव भारते आसीत् । तन्मूलकतया चरकादिसमये यूषक्षीररसादिषु रसशब्दो व्यवाह्रियत । तदनु रसस्येव तरलतागुणमादाय पारदे द्रवीकृतधातुष्वपि स शब्दो व्यवहृतोऽभूदिति भारतीयरसप्रक्रियाया मूलमतिपुरातनम् । रसप्रक्रिया हि रसविषयकतान्त्रिकग्रन्थेषु प्राथमिकतया, तदनुगृहीतेषु पश्चात्तनरसग्रन्थेषु विकसिततया समीक्ष्यते । सेयं प्रक्रिया नागार्जुनेन प्रवर्धितेति विवेचकानां विचारोन्मेषश्च । लोहशास्त्रं पतञ्जलिना निर्मितमासीदिति बहुस्थलेषु निर्दिष्टमस्ति । पारसीकमतप्रवर्तकाजरथुष्टात् प्रागेव तद्देशनिवासिनो ये मागीजातीयास्तैरियं रसायनगुप्तविद्या भारतीयब्राह्मणेभ्योऽधिगतेति तदीयेतिहासादपि ज्ञायते । ग्रीसदेशीयरसायनग्रन्थेष्वपि तद्विद्याविषये पर्सियादेशस्य तत्पूर्वदेशानां च बहुशो निर्देशोऽस्ति । तेन पूर्वं भारत एव आविर्भूतेयं रसौषधप्रक्रिया । भारतीयवैद्यानामारब्यदेशोपगमस्य चरकसुश्रुताद्यनुवादस्य भारतीयचिकित्साया आदरणेनापि भारतादेव आरब्यादिदेशेष्वपि एतद्विद्यायाः प्रचारो गम्यते । एकादशद्वादशशताब्दीसमये आरब्यदेशेऽपि रसप्रक्रिया उन्नतावस्थायामासीदिति तदीयेतिवृत्ततो विज्ञायते । तेन रसशोधनादिपरिज्ञानमारब्यदेशादुपलब्धं भारतेनेति कथनं यत्किञ्चिदेव । रसप्रक्रिया बहुशताब्दीपर्यन्तं पाश्चात्त्यैर्युरोपदेशीयैरनुपादेयत्वबुद्ध्या न परिगृहीता समयेन तदीयगुणपरिज्ञानेऽर्वाक्समयत एव पाश्चात्यदेशेषु प्रचलितेति समुल्लिखन्तीतिहासलेखकाः पी. सी. रायप्रभृतयो महानुभावाः ॥

रक्तपारदं ग्रीसदेशे रोमदेशे च भारताद्गतमिति लेखोपलम्भेन तदुपवर्णने जायसवालमहोदयेन रक्तपारदं रससिन्दूरमिति कोष्ठके विवृतं दृश्यते । परं रससिन्दूरे रक्तपारदशब्दस्याप्रयोगदर्शनेन हिङ्गुलपर्यायेषु तच्छब्दोपलम्भेन च सोऽयं रक्तपारदशब्दो हिङ्गुलमात्रपरः स्यादिति भाति ॥

भारते रसविद्याज्ञानं पुरैवासीदिति तु प्रथमशताब्दीवर्तिनो[1] भर्तृहरेः 'उत्खातं निधिशङ्कया क्षितितलं ध्माता गिरेर्धातवः' इत्युल्लेखेनापि दृढीक्रियत इत्यादि केचनोपवर्णयन्ति ॥

धातूनां विज्ञानं प्रथमत एवासीदिति तु आत्रेयसुश्रुतकाश्यपादीनां धातूल्लेखेनापि ज्ञायते । बालकेभ्यो जातमात्रेभ्यः सुवर्णप्राशन–तदवलेहनादिरूपं तत्फल–गौरवं च कश्यपेनाप्युपदिष्टमस्ति (पृ० ४) धातूनां रत्नानां च धारणादिना आयुरारोग्यादिश्रेयस्करत्वं श्रुतिषु स्मृतिषु चोल्लिखितं बहुशो दृश्यमानमतिपुराकालादेव तदुपयोगपरिज्ञानं भारतीयानामभिव्यनक्ति । यजुर्वेदे 'प्रथमो दैव्यो भिषक्' इति रुद्रस्यापि प्रथमवैद्याचार्यत्वं प्रतिपाद्यते । आत्रेयादिभिर्ब्रह्मणः प्राथमिकत्वमुल्लिख्यते, न तत्र रुद्रस्योल्लेखः । तन्त्रशास्त्रे नाथसम्प्रदायीयग्रन्थेऽपि रसवैद्यकस्य विषयस्तत्र तत्रोपलभ्यते । तन्त्रशास्त्रे नाथसम्प्रदाये च शिवस्य परमाचार्यत्वं निर्दिश्यते । तेन तान्त्रिकादिप्रचलितरसवैद्यकादिरूपप्रस्थानान्तरे मूलाचार्यत्वं रुद्रस्य भवितुमर्हति । रसविषयस्य प्राचीनतन्त्रग्रन्थेष्वप्युपलभ्यमानतया चरकसुश्रुतकाश्यपीयादिषु लेशतोऽपि तद्दर्शनेन च अर्वाचीनत्वमेवेति न वक्तुं शक्यते । अरबदेशे सप्तमशताब्दीतः प्रचलितस्यापि रसायनस्य युरोपीयैः षोडशशताब्दीत एव ग्रहणमिव पूर्वतः प्रचलितस्यापि तन्त्रोक्तस्य रसवैद्यकस्य वैदिकसंप्रदायानुरक्तदृष्टिभिरात्रेयादिभिः स्वसमये लेशत एव ग्रहणमारब्धमासीदित्यपि वक्तुं न खलु न शक्यते ॥

धातूनां शोधनादिना योगेन च तन्त्रोक्ता भारतीयाऽपि नानारसौषधनिर्माणप्रक्रिया बहुपुराकाले गुप्ताऽप्रचलिता आंशिकरूपेण वर्तमाना वाऽऽसीत् । पश्चात्काले नागार्जुनादिभिर्भारतीयैः रसविद्याचार्यैः प्रकाशं विकासं चापादिता स्यात् । येन प्रत्नतरग्रन्थेषु विशेषेण तदनुपलम्भ इति वक्तुं मनः प्रवणीभवतीत्यलम्॥

१. 'सुवर्णं समलाः पञ्च लोहाः ससिकताः सुधा ।
मनःशिलाले मणयो लवणं गैरिकाञ्जने ॥
भौममौषधमुद्दिष्टम्' (चरकसूत्रस्थाने अ. १)

२. 'पार्थिवाः सुवर्णरजतमणिमुक्तामनःशिलामृत्कपालादयः' । (सुश्रुते सूत्रस्थाने अ. १)

१. भर्तृहरिः प्रथमशताब्दीवर्तीति विचार्यमेतत् ।

२. First Oriental Conference 1919. P. 15-16

(३) संस्कारतुलनादिसहितो विषयपरिच्छेदः

प्राचीनाचार्यनाम्नोपलब्धासु संहितासु वृद्धजीवकीयतन्त्ररूपा काश्यपसंहिता, चरकसंहितारूपा आत्रेयाग्निवेशसंहिता, सुश्रुतसंहितारूपा धन्वन्तरिसंहिता, भेड-

प्रतिसंस्कारः

संहिता च प्राचीनेति तासु क्वचनार्वाचीनत्वसंशायकानां पदवाक्यप्रबन्धविशेषाणामनुप्रवेशोऽपि संस्कारवशादेव स्यादिति च सविशेषमुपदर्शितम्॥

तत्र काश्यपसंहितायाः संक्षिप्तस्वरूपविशेषस्य वृद्धजीवकीयतन्त्रस्य वात्स्येन प्रतिसंस्करणमेतदीये संहिताकल्पाध्याये (क० स्था०) कण्ठोक्तमेव। आत्रेयसंहितात्मकस्याग्निवेशतन्त्रस्य चरकाचार्येण प्रतिसंस्करणं च चरकसंहितायाः 'अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते" इति श्लोके स्पष्टमेवोक्तमस्ति। सुश्रुतसंहितायाः प्रतिसंस्करणस्य ग्रन्थाभ्यन्तरे स्पष्टोक्तेरदर्शनेऽपि डल्लनादिभिष्टीकाकारैर्नागार्जुनीयं संस्करणमुल्लिख्यते। प्रतिसंस्कर्ता नागार्जुनो भवतु मा वा, तत्र तत्र विषयान्तरदर्शनादिना संस्कारनिष्पन्नमेतद्वर्तमानस्वरूपमिति तु सर्वैर्विद्वद्भिरवधार्यत एव। भेडसंहितायां कश्यपमतत्वेनोल्लिखितः 'चक्षुरिति कश्यपः' इति चक्षुर्निर्वृत्तिवादः, कश्यपोद्धृतो भेडीयः षड्वर्षोत्तरं विरेचनवादश्च उपलब्धभेडसंहितायां विसंवादं दर्शयतीत्युक्तमेव (पृ. १२)। भेडसंहितायां ज्वरसमुच्चयोद्धृतभेडवचनानां निरीक्षणे भेडनाम्नोद्धृतेषु पञ्चाशदधिकेषु श्लोकेषु मुद्रितभेडसंहितायां लेशत (सार्धश्लोकत) एव संवादेन ज्वरप्रकरणमिव प्रकरणान्तरमपि बहुशस्त्रुटितं विकलाङ्गमन्तराऽन्तरा विषयान्तरं पुनः प्रतिसंस्करणं च स्पष्टमवबुध्यते। तदीदृशो विप्लवो भेडसंहितायां धियमन्यथा गमयति। एकमात्रेयोपदेशमादाय पृथक्पृथग्बिन्बन्धोरग्निवेशभेडयोः पश्चान्निदर्शयिष्यमाणं बहुशः प्रबन्धनसाम्यं क्वचनांशे संवादासादनमप्यनुसन्धीयमानं धियः पुनः परावर्तयति। तदेवं भेडसंहितायां दृश्यमानो दोषः कालस्यैव शिरसि पातनीयः। पुनःसंस्करणोल्लेखस्तु न क्वाप्युपलभ्यते, तथाऽपि पुनः प्रतिसंस्करणं त्वत्रापि जातं स्पष्टमवबुध्यते॥

तत्रात्रेयसंहितादीनुपादाय निबद्धानामग्निवेशतन्त्रादीनां चरकाचार्यादिभिः किंरूपं संस्करणं व्यधायीति विमर्शे चरकस्य संस्करणे दृढबलेन संस्करणक्रिया एवमुपवर्णिता दृश्यते—

'विस्तारयति लेशोक्तं संक्षिपत्यति विस्तरम्।
संस्कर्ता कुरुते तन्त्रं पुराणं च पुनर्नवम्।' इति।

अनेन संक्षिप्तस्य विस्तारः, विस्तृतस्य संक्षेपश्च चरकीयनिबन्धनस्य प्रक्रियाद्वयं समीक्ष्यते। तच्च संक्षिप्तस्य पूर्वग्रन्थस्य स्थाने विस्तृतलेखान्तरस्य विस्तृतस्य पूर्वग्रन्थस्य स्थाने संक्षिप्तलेखान्तरस्य यथौचित्यं रचनमिति आवापोद्वापप्रक्रिययाऽपि सम्भवति। किं वा पूर्वग्रन्थस्य संक्षिप्तस्य नातिविशदतया तदुत्तरं पुनस्तस्य विशदीकरणेन विस्तृतलेखान्तरं, पूर्वग्रन्थस्य विस्तृतस्य ग्रहणधारणयोः सौकर्याय सारांशमादाय संग्रहणेन संक्षिप्तलेखान्तरमपीति संग्रहविग्रहप्रक्रियया पौनरुक्त्यप्रक्रियया वाऽपि संभवति। अनयोः प्रक्रिययोः प्रथमा आवापोद्वापप्रक्रिया यदि गृहीताऽभविष्यत्, तदा आत्रेयसंहिताऽग्निवेशतन्त्ररूपस्य मूलग्रन्थस्य स्वरूपं बहुनांऽशेन विपर्यासमापत्स्यत। तथात्वे नवमेव विरचनमुपजातमिति चरकसंहितायां ग्रन्थाभ्यन्तरे आत्रेयाग्निवेशप्रतिवचनप्रश्नाद्युपन्यासस्यापि किं वा प्रयोजनं स्यात्। तद्विषये वक्तव्यं सामान्यविशेषात्मना श्रृङ्खलीकृत्यानुक्त्वा संक्षेपविस्ताररूपेण वाक्यभेदेन च पुनः पुनः कथनं चरकसंहितायामुपलभ्यमानं किंहेतुकं स्यात्, इति मूलसंहितायाः केवलमावापोद्वापप्रक्रियया संस्करणेन नवनिबन्धनात्मकत्वं न चरकसंहितायाः, अपि तु मूलग्रन्थे क्वचन संक्षिप्योक्तस्य विषयस्य विशदीकरणात्मना विस्तृतलेखस्य क्वचन विस्तरेणोक्तस्य विषयस्य लघुनोपायेन तदर्थग्रहणधारणोपयोगिनः संक्षिप्तलेखस्यापि विन्यासेन पौनरुक्त्यप्रक्रिययाऽपि संस्करणं चरकाचार्येण विहितं संभाव्यते॥

चरकाचार्य उपलभ्यमानैतत्संहिताया न स्वातन्त्र्येण निर्माता, अपि तु पूर्वसिद्धस्य आत्रेयसंहितागर्भितस्याग्निवेशतन्त्रस्य प्रतिसंस्कर्तैवेत्यस्मिन् विचारे इयं समन्वयदृष्टिरुन्मिषति—

आत्रेयसंहितायां निदानचिकित्सितादिस्थानेषु प्रायो विषयानुपादायैवाध्यायनामनिर्देशेऽपि सूत्रविमानशारीरादिस्थानेषु क्वचन विषयविशेषोपादाने सत्यपि अध्यायादिवाक्यप्रतीकमादाय कल्पितानि दीर्घञ्जीवितीयापामार्गतण्डुलीयारग्वधीयकतिधापुरुषीयातुल्यगोत्रीयादीनि अध्यायनामानि बहुशो दृश्यन्ते। आदिप्रतीकमुपादाय नामकरणे कानिचिन्नामानि विभक्तिगर्भपदव्यूहरूपाण्यपि दृश्यन्ते। तत्तदध्यायोपसंहारसंग्रहश्लोकेऽपि तेनैव नाम्ना तदध्यायोल्लेखदर्शनेन इमान्यध्यायनामानि नाध्येतृसंप्रदायमात्रकल्पितानि, अपि तु ग्रन्थकर्त्तुरेव लेखनीतो निर्गतानीति निश्चीयते। भेडसंहितायामपि सूत्रविमानशारीरेन्द्रियस्थानेष्वादिप्रतीकग्राहीणि नामानि एकद्विवर्णविभेदेऽपि कानिचिदुभयतः साम्येन दृश्यन्ते। यथाहि*—

* अध्यायनामानि	अध्यायादिप्रतीकाः— चरके—	भेडे—
नवेगान्धारणीयः	न वेगान् धारयेद्धीरः	न वेगान् धारयेद्धीमान्
मात्राशितीयः	मात्राशी स्यादाहारमात्रा	मात्राशी स्याद्विपकाशी.
आत्रेयभद्रकाप्यीयः	आत्रेयो भद्रकाप्यश्च	आत्रेयः खण्डकाप्यश्च.
यस्यश्यावनिमित्तीयः	यस्य श्यावे परिध्वस्ते	यस्य श्यावे उभे नेत्रे.
अवाक्शिरसीयः	अवाक्शिरा वा जिह्वा वा	अवाक्शिरा वा जिह्वा वा.

१. शोषयत्येष भूतानि दारुणो विषमज्वरः। मु. पु. पृ. १२१
त्रिफला कषायसिद्धेन घृतेन मतिमान् भिषक्। स्नेहयेत यथान्यायं युक्त्या वृषघृतेन वा। पृ. १२२

२. लेशोक्तं विस्तरत्यर्थं संक्षिपत्यतिविस्तरम्॥ संस्कारः कुरुते तन्त्रं संस्कृतं च पुनर्नवम्॥ (इति ताडपत्रपुस्तके पाठः)

एवं न्यायेनात्रेयभेडयोः संवादीनि इन्द्रियोपक्रमणीय-तिस्रैषणीय-वातकलाकलीय-विधिशोणितीय-दशप्राणायतनीय-दशमूलीयाष्टोदरीय-रसविमान-पुरुषनि(वि)चय-खुड्डीकागर्भावक्रान्ति-जातिसूत्रीयादीनि नामानि च दृश्यन्ते ॥

स्नेहाध्यायस्वेदाध्यायादीनां निदानचिकित्साध्यायादीनां च विषयानुपगृह्य विहितानां नाम्नां साम्यस्य स्वतः सम्भवेऽपि एवमुभयत्रैकेन प्रतीकेनाध्यायोपक्रमः, विभक्तिगर्भमपि प्रतीकमुपादायाध्यायनामकरणं,समाननामस्वध्यायेषु विशेषविषयाणां साम्यं च दृश्यमानमेकसूत्रानुरोधेन विभिन्नकर्तृभ्यां विहिते लेखद्वये सम्भवति। मिथोऽनपेक्षभावेन एकसूत्रानपेक्षभावेन च निष्पन्नयोः स्वतन्त्रलेखयोर्नैवंभावः सहजतः संभवति। तेन आत्रेयेण तत्प्रतीकेनोपक्रम्योपदिष्टानामध्यायानां वाक्यानि विषयांश्चोपादाय स्वस्वावबुद्धोपबृंहणरूपाण्यर्थान्तराण्यप्यन्तर्निवेश्य भेडाग्निवेशाभ्यां पृथक्पृथक्तन्त्रस्य प्रणयनादेवंरूपं साम्यं मिथः सञ्जातमवगम्यते ॥

क्वचन आत्रेयसंहितायामादिप्रतीकमुपादाय निबद्धानि केषाञ्चिदध्यायानां नामानि भेडसंहितायामध्यायादिप्रतीकविभेदेऽपि समानानि दृश्यन्ते। यथाहि—

भेडचरकसंहितयोरध्यायनामानि—	चरके प्रतीकः—	भेडे प्रतीकः—
व्याधितरूपीयम्.	द्वौ पुरुषौ व्याधितरूपौ भवतः	गुरुर्व्याधिर्नरः कश्चित्.
शरीरविचयः	शरीरविचयः शरीरोपकारार्थं	इह खल्वोजस्तेजः.
शरीरसंख्या	शरीरसंख्यामवयवशः	इह खलु शरीरे षट् त्वचः.
पूर्वरूपीयम्	पूर्वरूपाण्यसाध्यानां	अन्तर्लोहितकायस्तु.
गोमयचूर्णीयम्.	यस्य गोमयचूर्णाभं	चूर्णं शिरसि यस्यैव.

एवंदर्शनेन आत्रेयसंहितायां तत्तदुपक्रमप्रतीकमुपादाय व्यवहृतैस्तैर्नामभिः प्रतीकैश्चाग्निवेशेन व्यवहृते भेडेन स्वलेखे प्रतीकविभेदेऽपि पूर्वपरम्परागतैस्तैरेव नामभिर्व्यवहृतं प्रतीयते। तेषां नाम्नां प्रतीकानां चात्रेयीयतया उभयत्र एकैकशो द्विशश्चानुरूप्यं समुचितमेव। अग्निवेशीयमात्रत्वे तु सतीर्थ्येन भेडेन तदनुसरणे बीजं दुर्निरूपं स्यात्। चरकाचार्येण तैः प्रतीकैरुपक्रम्य चरकसंहिता स्वयं निबद्धाऽभविष्यत्तदा ततः प्राक्तनो भेडः कथमिदमन्वसरिष्यत्। भेडाग्निवेशसंहितयोः स्थानानामष्टतयाऽध्यायानां सविंशशतत्वेन संख्यासाम्यमप्येतदेव द्रढयति। 'सिध्यति प्रतिकुर्वाण इत्यात्रेयस्य शासनम्' इति भेडसंहितायां चतुष्पादाध्याये (पृ. १५) अप्रतीकारवादं खण्डयत आत्रेयस्य सनामग्राहं सशब्दच्छायोपादानं निर्दिष्टं मतं वर्तमानचरकसंहितायां महाचतुष्पादाध्याये (सू. अ. १०) सविस्तरं निर्दिष्टं संवदति। ईदृशस्यात्रेयमतत्वेन निर्दिष्टस्योभयत्र संवादोपलम्भ आत्रेयोपदेशस्यैतदात्मना पूर्वसत्त्वं स्पष्टं गमयति च। खुड्डाकचतुष्पादाध्याये चरके भेडे चैकरूप्येणोपलभ्यमाना मृद्दण्डचक्रेत्याद्यः सिद्धान्तश्लोका अप्यात्रेयसंहितागता भवितुमर्हन्ति। एवंरूपैरुभयतः संवादिभिरध्यायनामभिर्विषयादिभिश्चानयोः संहितयोरन्तरनुस्यूताऽऽत्रेयसंहिता पूर्वमासीदेवेति बुद्धावुपस्थाप्यते। तामात्रेयसंहितामन्तर्भाव्य तदीयविषयाँश्चोपादाय यथास्वं विचारविशेषोपबृंहिताभिः स्वोक्तिभिरप्यन्तराऽन्तरा परिपोष्य च संक्षेपप्रियेण भेडेन संक्षिप्तात्मना, विस्तारप्रियेणाग्निवेशेन विस्तृतात्मना सैव संहिता पृथक्पृथक्तन्त्ररूपतामनायि। भेडे चतुष्पादविषये एक एवाध्यायः, तत्र प्रथमत आत्रेयशौनकयोर्विप्रतिपत्तिवादमुपादाय भिषजो ज्ञानवैशिष्ट्यदृष्टिरात्रेयस्य, ततश्चतुष्पादानां वर्णनान्ते सिद्धान्तरूपेण भिषक्प्राधान्यवादोल्लेखः संक्षेपेण दर्शितः। आत्रेयीये तद्विषये द्वावध्यायौ, तत्र पूर्वस्मिन् खुड्डाकाध्याये चतुष्पादानुपवर्ण्य सिद्धान्तरूपेण सविशेषं भिषक्पादप्राधान्योल्लेखः, उत्तरस्मिन्नध्याये मैत्रेया(शौनक ?)त्रेयमतयोः पक्षप्रतिपक्षभावेन निर्देश इति त एव विषया एकेन लघ्वात्मना अपरेण महात्मना प्रतिपादिता दृश्यन्ते। एवमेव बहुशः स्थलेष्वग्निवेशतन्त्रे भेडतन्त्रे च यथाक्रमं गौरवं लाघवं चानुसन्धातुं शक्येते ॥

काश्यपसंहितायां चरकसंहितायां भेडसंहितायां सुश्रुतसंहितायामपि गद्यमयानि पद्यमयानि च वाक्यानि दृश्यन्ते। क्षारपाणिजतूकर्णहारीतादीनां वाक्यान्यपि कानिचिद् गद्यरूपाणि कानिचित् पद्यरूपाणि टीकाकारैरुद्धृतानि दृश्यमानानि तदीयग्रन्थानपि गद्यपद्योभयसंवलितानुमापयन्ति। ज्वरसमुच्चये एकं ज्वरविषयकमात्रमुपादाय तद्विषये काश्यपात्रेयसुश्रुतादीनां हारीतादीनां सतीर्थ्यानामन्येषामपि प्राचीनाचार्याणां केवलं पद्यवाक्यान्युद्धृतान्युपलभ्यन्ते। तत्र गृहीतानां हारीतक्षारपाणिजतूकर्णभेडादीनां सतीर्थ्यानामाचार्याणां वाक्यान्युपादायानुसन्धाने शब्दानुपूर्वीभङ्गीविभेदेऽप्येकाचार्योपदेशसूत्रसन्दब्धः समानो निगर्भोऽवबुध्यते। भेडतन्त्रवज्जतूकर्णहारीतक्षारपाण्यादीनामात्रेयान्तेवासिनामन्येषामपि सम्पूर्णतन्त्राणि यद्यलप्स्यन्त, भेडतन्त्रमपि सकलमविकलमलप्स्यत, तदा सर्वाणि पुरो निधायालोचने एकोपदेशमूलकतया सर्वतोऽनुवृत्ता एतेंऽशाः प्राचीना आत्रेयीयाः, मिथो व्यावृत्ता इमेंऽशास्तदेकविशेषदृष्टिविकासरूपाः संकारविभूतयो वेति परिच्छेददृशः प्रसृत्या अग्निवेशतन्त्रस्य चरकप्रतिसंस्करणस्य च विशेषमुन्मीलयितुं विशेषालोकलाभेन सौकर्यमभविष्यत्। तदेवं ज्वरसमुच्चयोद्धृतकतिपयवचनविषयसंवाददृष्टिरपि सब्रह्मचारिणामुच्चावचनानाचित्तभूमिकास्वेकात्रेयाचार्योपदेशबीजवापेन परितः सजातीयानेकाङ्कुरोदयं निश्चाययति ॥

चरकसंहिताविषये चरकनाम्ना प्रसिद्धेयं संहिता चरकाचार्यस्य कृतिरिति, लघुरूपस्य पूर्वतन्त्रस्य सर्वांशतः परिवर्तनपरिवर्धनादिना चरकाचार्येण नवमेव निबन्धनं कृतमिति, आयु-

वेंदविदां महर्षीणां समवाये तत्र तत्रोपजातान् विमर्षानाकर्ण्य सङ्गृह्य चरकाचार्येणेयं चरकसंहिता न्यबध्यतेति[1] च नानाविधा विचारवितर्का दृश्यन्ते। परं पूर्वोक्तदिशा मूलभूताया आत्रेयसंहितायास्तन्मूलकस्याग्निवेशतन्त्रस्य च पूर्वसत्त्वस्य स्पष्टावगमेन 'अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते' इति स्पष्टतया चरकोक्त्या च तन्त्रनिबन्धाऽग्निवेश एव, चरकस्तु तन्त्रान्तरेभ्यः समुच्चितैः स्वविचारारूढैश्च विषयान्तरैः समुपबृंह्य अन्यानपि संस्कारोचितविधीन् विधाय अग्निवेशतन्त्रस्य प्रतिसंस्कर्तैव। चरक एवास्य रचयिता यद्यभविष्यत् तदा किमिति स आचार्यः स्वं नाम कथं तथारूपेण नोदलेखिष्यत्। अग्निवेशस्य नामानि ग्रन्थाभ्यन्तरे सम्बोधनादिरूपेण बहुशो लभ्यन्ते, नैवं चरकस्य नाम चरकप्रतिसंस्कृते इत्युल्लेखवर्जं क्वापि ग्रन्थान्तरुपलभ्यते। उत्तरग्रन्थपूरको दृढबलोऽपि—

'अतस्तन्त्रोत्तममिदं चरकेणातिबुद्धिना।
संस्कृतं तत्तु संसृष्टं विभागेनोपलक्ष्यते ॥
यस्य द्वादशसाहस्री हृदि तिष्ठति संहिता।
चिकित्सा **वह्निवेशस्य** स्वस्थातुरहितं प्रति ॥'

इति वदँश्चरकस्य केवलं संस्कर्तृत्वं, द्वादशसाहस्रसंहिताया अग्निवेशीयत्वं च स्पष्टं निर्दिशति। चरकस्य विशेषनिबन्धृभावे तदुत्तरस्तदुपजीवी तदीयग्रन्थपूरको दृढबलोऽपि कथमेवमग्निवेशं कर्तृतयोल्लिख्य चरकं संस्कृतत्वेनैव लिखेत्। सर्वतः सञ्चरणशीलतयाऽन्वर्थां चरकसंज्ञां वहताऽऽचार्येण सर्वतोऽस्य ग्रन्थस्य संस्करणेन प्रचारणेन प्रवचनेन प्रयोगकौशलेन उपकारपथस्य प्रवर्तनेन च चरकसंहितेति तन्नाम्ना प्रसिद्धिः प्रवृत्ता स्यात्। सैव प्रसिद्धिश्चरकाचार्यस्य कर्तृत्वभ्रान्तयेऽजायतेति मन्ये ॥

तेन पूर्वोपदर्शितदृढबलीयसंस्करणपरिभाषोक्तरीत्या क्वचन पदविशेषा वाक्यविशेषाः सन्दर्भविशेषा वा संस्कर्तुश्चरकाचार्यस्य लेखनीतो निर्गत्यानुप्रविष्टा भवेयुः। सामान्यतोऽनुसन्धाने केचनेदृशा विषयाश्चरकाचार्यस्य लेखनीसम्बन्धमिवावभासयन्ति—

चरकसंहितायां निर्दिष्टे वादन्यायविषये दृश्यमानस्य पश्चात्तनविषयविकासस्य चरकसामयिकत्वसम्भावना पूर्वं प्रदर्शितैव॥

स्वेदप्रक्रियाविभागनिरूपणे भेडसंहितायां सङ्करप्रस्तरसेकादयोऽष्टावेव विभागाः कीर्तिताः सन्ति। उपलभ्यमानचरकसंहितायां भेडोल्लिखितानष्टौ भेदाँस्ततोऽन्यान् पञ्चभेदानप्युपादाय त्रयोदशविधाः स्वेदा निर्दिष्टा दृश्यन्ते। त्रयोदशधा विभागस्यात्रेयोपदिष्टत्वे आत्रेयानुगामिन्यां भेडसंहितायामपि तावद्भिरेव भेदैर्भवितव्यम्। काश्यपसंहितायामपि अष्टविभागनिर्देशेन प्राचीनो विचारोऽष्टविभागसम्बद्धोऽवगम्यते। प्राचीनैरष्टविभागैः सह योजितेषु भेदान्तरेषु जेन्ताकहोलाकशब्दयोर्बाह्ययोरिव दृश्यमानतया च भेदान्तराणामनुयोजनेन त्रयोदशभेदवर्णनं चरकाचार्यस्य विकासदृष्टेर्निर्दशनमनुमापयति ॥

भेडे खुड्डीकागर्भावक्रान्तेरध्याय एक एव। तत्र मातापितृजत्वं गर्भस्याननुमन्यमानस्य भरद्वाजस्य मतंप्रतिक्षिप्य तत्स्थापयत आत्रेयसिद्धान्तस्य निर्देशोऽस्ति। चरके खुड्डीकाध्यायेऽपि स एव विषयः, इत्युभयोः संवादेन एवंरूप एवात्रेयीय आग्निवेश्य उपन्यासः स्यात्। चरके तदुत्तरं पुनरन्यो महागर्भावक्रान्त्यध्यायोऽस्ति। तत्र गर्भसम्बन्धीन्येव विषयान्तराणि निरूपितानि। तेषां विषयाणां भेडेऽनुपलम्भेन चरकीयः पश्चात्तनो विकासः प्रतिभाति। अथवा खुड्डीकापददर्शनेन महागर्भावक्रान्त्यध्यायस्यापि पूर्वत आग्निवेश्यसंहितायां सत्त्वं, भेडे खण्डितत्वम्, इत्यपि संभवति ॥

वर्तमानचरकसंहिताया उपक्रमग्रन्थे ऋषीणां समवाये भरद्वाजेनेन्द्रसकाशाल्लब्धस्यायुर्वेदस्य प्रकाशनात् तमप्राप्तवत आत्रेयस्य शिष्यैरग्निवेशादिभिस्तन्त्रप्रणयनस्य अग्निवेशादितन्त्राणां भुवि प्रतिष्ठायाश्चाग्निवेशेन कथनापेक्षया चरकेण स्वसंस्क्रियमाणग्रन्थस्य साम्प्रदायिकत्वोत्कृष्टत्वादिमहिमगानस्यौचित्यात्, अग्निवेशेन पश्चात्क्वाप्येतद्विद्याया भारद्वाजोपदेशप्राप्तेरसूचनात्, प्रत्युत भारद्वाजमतस्य प्रतिक्षेपदर्शनेन भारद्वाजसम्बन्धविशेषोल्लेखे तदौदासीन्यावगमाच्च, 'अथातो दीर्घञ्जीवितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः, इति ह स्माह भगवानात्रेयः' इति वाक्यद्वयान्ते 'हिताहितं सुखं दुःखं' इत्यादित एवाग्निवेशतन्त्रस्य प्रारम्भे अन्तरागतो ग्रन्थावतरणिकांशश्चरकाचार्येण पूरितः स्यादित्यपि सम्भाव्यते। हिताहितमित्यादिकस्य ग्रन्थस्य प्राचीनप्रौढेरनुरूपलेखच्छायायास्तत्पूर्ववाक्ये विसंवादोऽपि एतदेवाख्यातुं हृदयमभिमुखीकरोति ॥

वर्तमानचरकसंहितायां भेडसंहितायां च दृश्यमानयोः नवेगान्धारणीयाध्याययोस्तुलनायां चरकसंहितागतलेखे वेगनिरोधौचित्यानौचित्यसम्बद्धस्यैव विषयस्य, भेडलेखे तु अध्यायस्योपक्रमोपसंहारयोस्तद्विषयसत्त्वेऽपि मध्ये तदनुस्यूतानां दन्तधावनधूमवर्त्यादिविषयान्तराणामपि तत्स्थाने दर्शनेन अग्निवेशीये सन्दर्भशुद्धिः, भेडलेखे रचनायां किं वा उपलब्धपुस्तकस्य विकृत्या तदशुद्धिरवगम्यते ॥

नावनीतके आत्रेयमतत्वेनोद्धृतानां बहूनां योगौषधविशेषाणां चरकसंहितायां संवादेऽपि द्वित्रयोगौषधानामसंवादेन, श्रीयुतचक्रपाणिशिवदासादिभिः अग्निवेशनाम्नोद्धृतानां कतिपयश्लोकानां चरकसंहितायामदर्शनेन च अग्निवेशसंहितातः संस्करणावसरे कियान् भागो निष्कासितश्चेत्यप्यनुमीयते ॥

इत्थमुपदर्शितदिशा भेडसंहितामग्निवेशतन्त्रं च पुरो निधाय प्रतिविषयमुभयत आलोचने स्थलान्तरेष्वपि चरकसंहितागता भेडसंहितागताश्च विशेषा बहुशो गवेषकानां नयनयोः प्रतिभासेरन् ॥

चरकसंहितायामध्यायाभ्यन्तरेऽपि तत्रतत्रोक्तानां गद्यवाक्यार्थानां प्रायः पद्यैः क्वचन गद्यैरपि संक्षेपेण क्वचन विस्तारेण च सङ्ग्रहविग्रहरूपत्वमापाद्यते। मध्ये मध्येऽपि 'भवन्ति चात्र, अत्र श्लोकाः' इत्यादिरूपेण क्वचन सङ्ग्रहार्थं क्वचनोपपादकार्थमवबोधयन्तः पद्यलेखाः, प्रत्यध्यायमन्ते 'अत्र श्लोकाः' इत्युद्दिष्टार्थसंग्राहकाः श्लोका अपि दृश्यन्ते। संक्षिप्तस्य विवर-

१. वसुमती वर्ष ९, पृष्ठ ३७८।

पेन ग्रहणसौकर्यं, विस्तृतस्य संक्षेपणेन धारणसौकर्यं भावयन्त इत्थं लेखाः प्राचीनाचार्यलेखेषूपलभ्यन्ते। व्याकरणमहाभाष्यकारस्यापीयं शैली। कुसुमाञ्जल्यादिष्वपि कारिकाप्रतिपाद्यार्थानां पूरणिकारूपैर्गद्यवाक्यैर्विशदीकरणं, शास्त्रदीपिकाभामत्यादिषु विस्तृतप्रघट्टकार्थस्य कारिकारूपेण सङ्ग्रहणं दृश्यते। सुश्रुतकाश्यपीयादिष्वपि सङ्ग्रहविग्रहरूपेण द्विधा वर्णनं तत्र तत्रोपलभ्यते। इत्थमेकस्यापि विषयस्य बुभुत्सूनां हृदयोद्बोधनाय समासेन व्यासेन द्विधा निरूपणं मूलाचार्यस्यापि सम्भवति। एकप्रकारेण पूर्वाचार्योक्ते पुनरपरथा पश्चात् संस्कर्त्रा निरूपणमपि सम्भवति। गहनेषु विषयेष्वन्तर्मिमङ्क्षूणामुपयोगायेत्थमुक्तिभेदो न पौनरुक्त्यदोषमावहतीति प्रतिपत्तये—

'गद्योक्तो यः पुनः श्लोकैरर्थः समनुगीयते।
तद्व्यक्तिव्यवसायार्थं द्विरुक्तं तन्न गर्ह्यते॥'[1]

इति चरकसंहितायां स्पष्टमेवोक्तमस्ति। इत्थं समासव्यासरूपाभ्यां रचनाकौशलं 'प्रौढिर्व्यासमासौ च' इति गुणत्वेन न पुनर्दोषत्वेन कीर्त्यतेऽभियुक्तैः॥

तदेवं चरकाचार्येणाग्निवेशतन्त्रं वाक्यश उपादायैव उपपत्तिपूर्तये संक्षिप्तये विशदीकृतये ग्रहणधारणोपयोगितया च स्वयमात्मना पूरणीयतया उपबृंहणीयतया च दृष्टानि पदानि वाक्यानि प्रघट्टकांश्चानुप्रवेश्य मूलवाक्यानां स्वीयवाक्यानां च तिलतण्डुलभावायमानमेव प्रतिसंस्करणं व्यधायि। यथाहि भारतग्रन्थमन्तर्निवेश्यैव नानोपाख्यानादीनि वैशम्पायनादिप्रश्नप्रतिवचनादीनि पूरणिकावाक्यानि आद्यन्तयोरुपक्रमोपसंहारग्रन्थांश्च निवेश्योपबृंहणेन भारतस्य महाभारतभाव इति महाभारतविमर्शेऽन्यत्रास्माभिः प्रतिपादितमस्ति। एवं प्रायमेवात्र संस्करणेन परिमार्जितरूपान्तरमुपपादितं चरकाचार्येण। येन मूलग्रन्थपरवशतया मूलग्रन्थस्य यादृशो विषयपौर्वापर्यक्रमः स एव संस्कारोत्तरमपीत्यस्यां चरकसंहितायां सुश्रुतसंहितापेक्षया विशृङ्खलितो ग्रन्थसन्दर्भ इति लोकदृष्टिश्चरकाचार्येणापि न परिजह्रे। स्वातन्त्र्येणानेन निबद्धं यद्यभविष्यत् तदा तादृशः प्रौढविद्वान् पौर्वापर्यक्रमसन्दर्भशुद्धिं कथं नादर्शयिष्यत्। समासव्यासभेदेन पौनरुक्त्यमापन्नस्य प्रकीर्णस्य विषयस्याप्येकत्र सङ्कलनेन तथाभावं कथं न पर्यहरिष्यत्। एवंसंस्करणे ज्वरसमुच्चये आश्विनभारद्वाजादीनामपि वचनोपलम्भेन तद्दृष्टिपथं गतत्वेन सम्भावनीयानां भारद्वाजादिसंहितानामप्यनुसन्धानेन ततोऽपि सङ्गृहीता विषयाश्चरकाचार्येणात्रानुप्रवेशिता भवेयुः। तदेवं बहुभिः प्रयत्नैर्व्यापारैश्च प्रतिसंस्कृत्य प्राचीनेयं संहिता बहुविचारविषयपूर्णतां नीता स्यात्। येनैतत्परिज्ञानेन तन्त्रान्तराणां गतार्थतामस्या महनीयतां च संहितान्ते दृढबलः स्वमुखेनोद्गिरति—

'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्' इति॥

तदनेन गुणगौरवेण अन्वर्थस्य चरकनाम्न आनुरूप्येण सर्वतश्चरित्वा प्रचारेण किलास्य ग्रन्थस्यान्तरङ्गदृशा आत्रेयाग्निवेशसंहितारूपत्वेऽपि बहिरङ्गदृशा वर्तमानसंहितायाश्चरकसंहितानाम्ना ख्यातिरुपाजायत किल ?॥

भेडसंहिताया अपि तावदध्यायात्मकत्वावगमेन च पूर्वं सविंशाध्यायशतात्मकग्रन्थस्य[1] स्थानाष्टकरूपस्य आत्रेयेण अग्निवेशेन चोपदेशनस्योक्त्या साकल्येन वर्तमानस्यास्य ग्रन्थस्य अपस्मारप्रकरणोत्तरभागस्य कालवशाद्विलोपेन चरकसमयेऽप्यसंस्कारेण पश्चादात्रेयोपदिष्टहारीतादीनामुपदेशेभ्यो विषयाननुसन्धाय दृढबलः पूरणं चकार किलेति संभाव्यते। पश्चात्पूरिते तावति भागे पूर्वापेक्षयाऽवतीर्णः पद्यप्रायो विभिन्नलेखोऽप्येतदेव समर्थयति॥

अग्निवेशनाम्ना चक्रपाणिशिवदासादिभिरुद्धृतानां वचनानां दर्शनेन तावत्समयपर्यन्तमग्निवेशतन्त्रस्योपलब्धिरासीत् किलेत्यपि सम्भावयितुं शक्यते। परं तथात्वे दृढबलसमयेऽपि तदवस्थितिसम्भवेन अग्निवेशतन्त्रस्यैव शेषभागयोजनेन पूरणमुपेक्ष्य शिलोञ्छवृत्त्या बहुभ्यस्तन्त्रान्तरेभ्यो विषयान् समुच्चित्य चिकित्सास्थानान्तसप्तदशाध्यायान् सिद्धिकल्पस्थाने च निबद्ध्य पूरणे दृढबलः किमिति प्रवर्तेत। अग्निवेशतन्त्रतः पूरणमनुल्लिख्य तन्त्रान्तरेभ्यः पूरणं स स्वमुखेन वर्णयति। उपसहस्रवर्षपूर्वलिखितपुस्तकोपलम्भेन ततोऽपि प्राचीनतयाऽवगते ज्वरसमुच्चये चरकस्य वचनोद्धारे सत्यप्यग्निवेशवचनोद्धाराभावेन, वाग्भटादिभिरपि चरकस्यैवोल्लेखेन, हारुरसीदनृपसमयेऽप्यस्या एव चरकसंहिताया अनुवादेन च वाग्भटदृढबलादिसमयात् पूर्वमेवाग्निवेशतन्त्रस्य विलुप्तिरनुमीयते। चक्रपाणिशिवदासादिपर्यन्तमप्यग्निवेशतन्त्रोपलम्भेऽग्निवेशस्य चरकस्य च तत्र तत्र विषये साम्ये वैषम्ये च बहुशः प्रदर्शयितव्ये कतिपयानामेवाग्निवेशवचनानामुद्धारदर्शनं प्राचीननिबन्धेषु टीकासु विहितेभ्य उद्धारेभ्यस्तदुपलम्भं द्योतयति॥

सुश्रुतसंहितायास्तु संस्करणे न स्पष्टतया ग्रन्थलेखोऽस्ति। केवलं 'प्रतिसंस्कर्ताऽपीह नागार्जुनः' इति डल्लनलेखमुपलभ्य सुश्रुतसंहितायाः प्रतिसंस्कर्तारं नागार्जुनं केचिन्मन्यन्ते। नागार्जुनस्य प्रतिसंस्कर्तृभावेऽपि सुश्रुतस्य ततः पूर्वतनत्वं सिद्ध्यति। किन्तु वर्तमाना सुश्रुतसंहिता नागार्जुनेन प्रतिसंस्कृतेत्यत्र न किमपि बलवत्साधनमुपलभ्यते इति पूर्वमेवोक्तम्। यदि स प्रतिसंस्कर्ताऽभविष्यत् तदा चरके 'अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते' इति लेखवदत्रापि स्वस्य प्रतिसंस्कर्तृतां कथं नोदलेखिष्यत्। आर्यनागार्जुनस्य अन्यनागार्जुनस्यापि ग्रन्थान्तरेषु शल्यविषयसूचनाऽपि क्वचन नोपलभ्यते। आर्यनागार्जुनस्य उपायहृदये सुश्रुतस्य नामकीर्तनेऽपि पूर्वनिर्दिष्टभैषज्यविद्यानिरूपणे शल्यविषयः पृथक्तया नोपात्तः। शान्तिप्रधाने बौद्धमार्गे परिनिष्ठितो बोधिसत्त्वस्थानीयो विद्वान् शस्त्रसाध्यायां शल्यविद्यायां कुतो वा प्रवृत्तः स्यादित्यपि सन्देग्धि चेतः। आर्यनागार्जुनेनान्येन तान्त्रिकनागार्जुनेन वाऽस्याः संस्करणे दृढवासनानुस्यूता बौद्धच्छायाऽवश्यमस्यां प्रवेष्टुमर्हति। न खल्वस्यां संहितायां क्वचन लेशतोऽपि बौद्धसम्प्रदायच्छायोपलभ्यते, प्रत्युत—

---

१. निदानस्थाने अ. २. श्लो. ४१।

१. इत्यध्यायशतं विंशमात्रेयमुनिवाङ्मयम्॥

महेन्द्ररामकृष्णानां ब्राह्मणानां गवामपि।
तपसा तेजसा वाऽपि प्रशाम्यध्वं शिवाय वै॥

इति रामकृष्णादीनां महिमोल्लेखस्तत्र तत्र वैदिकमन्त्रप्रयोगः, अध्यात्मविषये सांख्यदर्शनग्रहणं च दृश्यते। तदेवं नागार्जुनस्य सुश्रुतसंहिताप्रतिसंस्कर्तृभाव आत्मनः साधनाय बलवत्प्रमाणमपेक्षते। सुश्रुतस्य पुनः संस्करणमुपलभ्यतेऽस्माभिरिति बहूनां प्राच्यानां पाश्चात्त्यानां च विदुषामभिप्रायः। क्वचिदर्वाचीनविषयाणामप्यनुप्रवेशदर्शनेनात्रापि संस्करणलेखनी प्रविष्टा इति ममाप्यभिप्रेतम्। परमेतदीये संस्करणे चरकसंहितायामिव न पौनरुक्त्यात्मकं संस्करणं प्रायः समीक्ष्यते। संस्कर्ता च उत्तरतन्त्रभागयोजकश्च अयमिति स्पष्टं तु न ज्ञायते, परं मस्सकाशस्थे ६३३ नेवारसंवल्लिखिते ताडपत्रीये सुश्रुत–पुस्तके पुष्पिकायां पूर्वभागे 'सुश्रुते शल्यतन्त्रे' इति, उत्तरतन्त्रान्ते 'इति सौश्रुते महोत्तरतन्त्रे चतुःषष्टितमोऽध्यायः, अतो निघण्टुर्भविष्यति इति' तदुत्तरगते निघण्टुभागे समाप्तं 'सौश्रुत्यां संहितायां महोत्तरायां निघण्टुः समाप्तः' इति लेखो दृश्यते। इदमर्थप्रत्ययान्तेन सौश्रुतशब्देन सुश्रुतग्रन्थस्यापि ग्रहणं सम्भवति, परं पूर्वापरभागयोरेकनिबन्धभावे एकेनैव रूपेणोल्लेखस्य समुचिततया पूर्वभागे सुश्रुतशब्देन, उत्तरभागे सौश्रुतशब्देन विभिन्नतया निर्देशः पूर्वभागः सुश्रुताचार्यस्य, उत्तरभागस्तद्वंश्यस्य सौश्रुताचार्यस्येति बुद्धावारोहयति। निघण्टुभागे उपक्रमे दिवोदासोपदेशसम्बन्धस्योल्लेखदर्शनेऽपि मूलाचार्यस्यैकतया ग्रन्थस्य समूलत्वेन प्रामाण्यविशेषमाधातुं तथा निर्देशनस्य सम्भवितया, एतदीयलेखस्य किञ्चिदवतीर्णतया, तस्मिन्निघण्टुभागे उत्तरभागीयशब्दविशेषाणामपि प्रविष्टतया च स निघण्टुभागोऽपि सौश्रुतस्यैव भवितुमर्हति। उत्तरतन्त्रं संयोज्यापूर्णांशपूरकेण सौश्रुताचार्येण पूर्वभागेऽपि क्वचन संस्करणविशेषोऽपि विहितः स्यात्। महाभाष्यकृतः सौश्रुतशब्दघटितनिदर्शनस्य दर्शनेन सौश्रुतानामपि पूर्वं प्रसिद्धिः, सुश्रुतवंश्यानां सौश्रुतानां शल्यविद्याविदां पार्थिवैः सह सम्बन्धमादाय सौश्रुतपार्थिवा इति पूर्वतः प्रसिद्धिरिति पूर्वं दर्शितमेव। तेन सुश्रुतस्य वंश्येन साम्प्रदायिकेन वा सौश्रुताचार्येण सुश्रुतस्य पूर्वतन्त्रं संस्कृतमुत्तरतन्त्रं निघण्टुभागश्च योजिते इत्यनुमीयते॥

पूर्वाचार्यसंहितामुपलभ्यापि प्रस्थानान्तरीयाचार्यग्रन्थेभ्यो विशेषान्तराणामवगमे तान्यप्यनुप्रवेश्य पूर्वसंहिताया न्यूनतापरिहारेण सर्वाङ्गपूर्तये प्रयत्नस्य साधुतया दर्शनेन किल पश्चाद्योजकेन तन्त्रान्तरावगतविषयाणामपि संयोजनं, पूर्वतन्यां दिवोदाससंहितामुपादाय निबद्धायां सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्ररूपेण विहितं स्यात्। उत्तरभागे निविष्टा विषया विदेहाधिपादिकीर्तितशालाक्यादितन्त्रान्तरसम्बद्धा इति तदुक्त्यैव स्पष्टीभवति। तत्रत्ये कौमारभृत्यप्रकरणे मूले आचार्यान्तरनिर्देशे कुमाराबाधहेतुभिरिति सामान्यत उल्लेखेऽपि तट्टीकाकृता पार्वतकबन्धकजीवकादिभिरिति निर्देशनेन जीवकस्यैतद्ग्रन्थोपलम्भेन च काश्यपजीवकादिप्रोक्तास्तदीयविषयानप्युपादायोत्तरतन्त्रे योजनं कृतं सम्भाव्यते॥

सुश्रुतोत्तरतन्त्रे रसप्रभेददर्शनपरस्य चतुःषष्ट्यध्यायस्य दोषप्रभेददर्शनपरस्यान्तिमस्य अध्यायस्य चान्तरा पञ्चषष्टितमोऽध्यायस्तन्त्रयुक्त्यध्यायः। कौटिलीयार्थशास्त्रेऽप्यन्तिमस्तन्त्रयुक्त्यध्यायः। उभयोर्युगपदालोचने उभयत्र द्वात्रिंशद्विधानां तन्त्रयुक्तीनामधिकरणादीनामूह्यान्तानां तदन्तर्गतानामुद्देशनिर्देशोपदेशापदेशप्रदेशातिदेशादीनां ग्रन्थान्तरेष्वदृष्टानामसाधारणप्रभेदानामन्येषां च पदार्थानां केवलं स्वस्ववैद्यकनैतिकविषयकोदाहरणवर्जं निर्वचनसाम्यं दृश्यमानमेकस्यापरत्र च्छायानुवेधमनुमापयति। तत्र कतरस्यान्यतरस्मिंश्छायानुवेध इति पर्यालोचने कौटिलीये औपनिषदाधिकरणसमाप्तौ ग्रन्थान्ते शास्त्रीययुक्तिप्रदर्शनमिव सुश्रुतोत्तरतन्त्रे सहप्रवेष्टुमर्हयो रसभेददोषभेदप्रकरणयोरन्तरा तन्त्रयुक्त्यध्यायप्रवेशः पूर्वापरसङ्गतिदार्ढ्यमनुपयन्नन्यदीयच्छायानुवेधेन संस्करणान्तरे वाऽनुप्रवेशं सम्भावयति। चरकसंहितायामपि ग्रन्थान्ते तन्त्रयुक्तेर्विषया उद्देशमात्रेण निविष्टा दृश्यन्ते। तेऽपि दृढबलपूरितांश एव। पश्चात्तनेऽप्युत्तरतन्त्रे धन्वन्तर्युक्तिरूपतया पूर्वभागसम्बन्धेन प्रामाणिकत्वविशेषमवगमयितुं 'यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः' इति पूर्वभागवल्लेखोऽत्राप्यनुप्रवेशितो लेखकेनेति सम्भाव्यते। तदस्यां सुश्रुतसंहितायामनुप्रवेश्यविषयान्तराणि मूलग्रन्थोत्तरमुत्तरतन्त्ररूपेण पृथक्त्वयैव संयोजितानि न तु चरक इव तन्त्रान्तरालेष्वेवैकशरीरतामापाद्य। येन नवपुराणयोर्विषययोः संहितान्तरसंगृहीतविषयाणामपि परिच्छेदेन दर्शनं सुकरमुपजायते। सुश्रुतसंहितायां प्रथमाध्यायान्ते "सविंशमध्यायशतं पञ्चसु स्थानेषु संविभज्य उत्तरे तन्त्रे शेषानर्थान् व्याख्यास्यामः" इति मुद्रितपुस्तकपाठदर्शने पूर्वसंहितासमये उत्तरतन्त्रस्यापि सद्भावप्रतीत्या द्वयोर्भागयोः समकालत्वमेवायाति। परं मदीयसङ्ग्रहालयगते प्राचीनताडपत्रपुस्तके तत्र तत्र बहुशः पाठभेदाः सन्ति। अत्रापि '......संविभज्य उत्तरे वक्ष्यामः' इति पाठोऽस्ति। येन १२० अध्यायान् पञ्चस्थानेषु विभज्य अत उत्तरं वक्ष्याम इत्येव ग्रन्थाशयो, न किलोत्तरतन्त्रनिर्देश इति प्रतिभाति। तृतीयाध्यायादौ अध्यायगणने मुद्रितपुस्तके दृश्यमानः 'तदुत्तरं षट्षष्टिः' इत्यंशोऽपि ताडपुस्तके नास्ति। किन्तु 'अतःपरं स्वनाम्नैव तन्त्रमुत्तरमुच्यते' इत्यारम्भविहिता उत्तरतन्त्राध्यायविषयसंग्राहकाः 'विधिनाऽधीत्य युञ्जाना भवन्ति प्राणदा भुवि' इत्यन्ताः श्लोकास्तु ताडपुस्तकेऽपि सन्ति। पश्चादुत्तरतन्त्रभागयोजनोत्तरं तद्विषयसूचीश्लोका इमेऽप्यनुप्रविष्टा बहुशः सम्भवन्ति॥

वृद्धजीवकीये तु पूर्वतन्याः काश्यपसंहिताया महत्त्वेन वृद्धजीवकेन संक्षिप्य तन्त्रं निर्मितमिति संहिताकल्पाध्यायलेखेन काश्यपीयसंहिता येन रूपेणासीन्न तेनैव स्वरूपेण वृद्धजीवकतन्त्ररूपतामापन्ना, अपितु संक्षिप्तरचनान्तरेण रूपान्तरमापन्ना इति स्पष्टमवबुध्यते। परं वृद्धजीवकेन संक्षेपणेऽपि मूलसंहितामनपेक्ष्य न स्वातन्त्र्येण रचनं विहितमपि तु तदीयोपदेशरूपाणि वाक्यानि तदर्थांश्चान्तर्भाव्यैव मध्ये मध्ये विच्छेदनीयविस्तृतांशानपहाय महत्याः संहिताया लघ्वाकारता केवलं विहिता इति तल्लेखतः प्रतीयते॥

अत्रादितोऽन्तपर्यन्तं प्रत्यध्यायं पूर्वभागे खिलभागेऽपि 'इत्याह भगवान् कश्यपः, इति ह स्माह भगवान् कश्यपः' इत्युपक्रमोपसंहारवाक्ययोरैक्यरूप्यदर्शनेऽपि तदन्तर्गतानि न सर्वाणि वाक्यानि कश्यपस्य, अपितु सिद्धान्तोपदेशवाक्यान्येव तदीयानि, मध्ये मध्ये तत्तद्विषयोपन्यासाय पूरणिकारूपेण निर्दिष्टानि उपक्रमोपसंहरणवाक्यादीनि पश्चाद्वृद्धजीवकेन तन्त्रस्वरूपतापादने पूरितान्यपि भवितुमर्हन्ति । आद्यन्तयोः सर्वेष्वध्यायेषु 'इत्याह कश्यपः' इत्युल्लेखनं तु सर्वस्यास्य विषयस्य स्वकपोलकल्पनारूपत्वमपह्नुत्य कश्यपोपज्ञभावेन कश्यपोक्तसंहिताया एव साररूपतया च प्रामाण्यं व्यवस्थापयितुं जीवकेन विहितं स्यात् । 'इत्याह कश्यपः' इत्युपक्रम्य निर्दिष्टस्यापि प्रकरणस्याभ्यन्तरे पूर्वभागे 'साहसादतिबालस्य सर्वं नेच्छति कश्यपः' (पृ. १२२), मज्जवसयोस्तु मण्डं सर्वेषां कश्यपः पूर्वम् (पृ. १७), 'अथ कश्यपोऽब्रवीत् सर्वमप्येतदसम्यक्' इत्यादिषु स्थलेषु, खिलभागेऽपि "पाययेदिति कश्यपः (अ. १० श्लो. ७३), यथास्त्रमिति कश्यपः(अ. १० श्लो. ६६),पेय इति ह स्माह कश्यपः (अ.१०श्लो.५८)" इत्यादिस्थलेषु पुनः कश्यपशब्दोल्लेखनं तदीयसिद्धान्तानामर्थानुवादं जीवककृतं सूचयति, किंवा वृद्धजीवकोपदेशकस्य मारीचकश्यपस्य तत्र तत्र 'इति कश्यपः' इत्यनुदेशनं प्राचीनकश्यपपरम्परामभिप्रैति । शब्दतोऽर्थतो वोभयथाऽपि गृहीताः सिद्धान्तायुक्तयः प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्तीति न्यायेन कश्यपीयाः समान्यन्ते । मनुस्मृत्यादिषु प्राचीननिबन्धेषु शिष्येण भृगुणा मनोः, सामश्रवादिभिर्याज्ञवल्क्यस्य शब्दतोऽर्थतश्चोपदेशान् संगृह्य सम्पूर्य च निबद्धेषु मनुसंहितायाज्ञवल्क्यसंहितादिनामभिर्व्यवहारस्योपलम्भेन प्राचीनार्षरचनासु दृश्यमाना शैली अत्राप्युचिता समीक्ष्यते । पूर्वसम्प्रदायोल्लेखे कश्यपस्येव तत्पुत्राणां काश्यपानामपि आचार्यभावेऽवबोधितेऽपि प्रत्यध्यायमुपक्रमोपसंहारयोः 'इति ह स्माह कश्यपः' इति, ग्रन्थाभ्यन्तरेऽपि तत्र तत्र 'कश्यपोऽब्रवीत्, इति कश्यपः' इत्यादिरूपेण सर्वत्र कश्यपशब्देनैव एतदीय आचार्य उल्लिख्यते ॥

अस्मिन् ग्रन्थे संहिताकल्पान्तः पूर्वभागस्तदुत्तरः खिलभागश्चेति भागद्वयमीक्ष्यते । उभयोर्भागयोः प्रत्यध्यायमुपक्रमोपसंहारयोः 'इत्याह कश्यपः' इति कश्यपोपदेशरूपत्वेनोल्लेखवाक्यानि सन्ति । ज्वरसमुच्चये कश्यपनाम्नोद्धृतानि वचनानि एतद्ग्रन्थस्य पूर्वभागस्थानि उत्तरभागस्थानि च संवादाय लभ्यन्ते । उभयत्र कश्यपस्य उपदेष्टृतया पूर्वभागे सर्वत्र जीवकस्य, उत्तरभागेऽपि बहुधा जीवकस्यैव क्वचन व्यक्त्यन्तरस्यापि उपदेश्यतयोल्लेखोऽस्ति । अत्र पूर्वोत्तरभागयोरेकोपदेशत्वबोधकानि पूर्वग्रन्थेन सहोत्तरग्रन्थस्य उत्तरग्रन्थेन सह पूर्वग्रन्थस्य च संयोजकानि वाक्यान्युभयोर्भागयोरुपलभ्यन्ते ॥

एवं दर्शनेन पूर्वोत्तरयोर्द्वयोर्भागयोः परस्परसम्बद्धयोरेकशरीरभावेन समुचितस्यास्य ग्रन्थस्य कश्यपसंहितारूपत्वमापाततः प्रतीयते । परं पूर्वभागस्यान्ते पूर्वग्रन्थोपसंहारात्मकः संहिताकल्पाध्यायो ग्रन्थसमाप्तेर्निदर्शको लभ्यते । ग्रन्थस्य सावशेषत्वे सर्वान्त एवोपसंहरणं युज्यते । प्राचीने आत्रेयभेडयोरायुर्वेदीये संहिते सूत्रनिदानादिभिरष्टप्रस्थानैर्विंशत्युत्तरशताध्यायैश्च पूर्णे समुपलभ्येते । तथैवात्रापि पूर्वभाग एवाष्टौ स्थानानि तावन्तोऽध्यायाश्च पूर्यन्ते । संहिताकल्पाध्यायलेखेनापि—

सूत्रस्थाननिदानानि विमानान्यात्मनिश्चयः ।
इन्द्रियाणि चिकित्सा च सिद्धिः कल्पाश्च संहिता ॥

(श्लो. ७)

इति संहिताया अष्टावेवोपविभागाः प्रदर्श्यन्ते । तदन्ते 'समाप्ता चेयं संहिता, अतः परं खिलस्थानं भविष्यति' इति संहितासमाप्तिसूचकं पुष्पिकावाक्यमपि दृश्यते । अनेन अष्टभिः स्थानैः सविंशशताध्यायैश्च वर्तमाना वृद्धजीवकेन संक्षिप्तविन्यासान्तरमापादितेयं पूर्वभागात्मिका काश्यपसंहितेति प्रतीयते ॥

तदुत्तरमनुक्तपरिशिष्टपूरणिकारूपेण पूर्वभागोक्तानां कतिपयानां विषयाणां विकासप्रक्रियया इतस्ततोऽपि सङ्गृहीतानां काश्यपोक्तानां विज्ञेयानां विषयविशेषाणां योजनया च पूर्वभागोक्तक्रममनुपादायैव प्रकीर्णविषयसङ्ग्रहायितः अशीत्यध्यायात्मकः खिलभागः आगन्तूनामन्तेनिवेशन्यायेन सुश्रुते १२० अध्यायात्मकपूर्वसंहितोत्तरमुत्तरतन्त्रवत् पुनर्योजितः प्रतीयते ॥

मेघदूतादिषु केषुचिद्ग्रन्थेषु कथांशान् द्विधा विभज्य पूर्वोत्तरभागरूपेण विभागदर्शनेन नैवं सर्वत्र नियन्तुं शक्यते, तथाऽपि कादम्बरीदशकुमारादिषु पूर्वोत्तरभागयो रचनाभेदः क्वचन कर्तृभेदस्य स्पष्टमुल्लेखश्च । तादृशेषु पश्चात्पूरितांशस्य केवलमुत्तरभागनाम्नैव पृथग्व्यवहारः । ग्रन्थनाम तु समुचि-

१. पूर्वभागे—पप्रच्छ विनयाद्विद्वान् कश्यपं वृद्धजीवकः ।
सूत्रस्थाने भगवता निर्दिष्टो द्विविधो ज्वरः ।
पुनरष्टविधः प्रोक्तो निदाने तत्त्वदर्शिना ॥
(पृ. ९३)
सूत्रस्थाने भगवता द्वौ व्रणौ परिकीर्तितौ ।
तयोर्विस्तरमिच्छामि श्रोतुं लक्षणमेव च ॥
(पृ. १२३)
सूतिकोपक्रमाध्याये यच्च वक्ष्ये खिले मुने ।
तदिहापि प्रयोक्तव्यं सन्निपातचिकित्सितम् ॥
(विशेषकल्पे)
खिलभागे—कश्यपं सर्वशास्त्रज्ञं सर्वलोकगुरुं गुरुम् ।
भार्गवः परिपप्रच्छ संशयं संश्रितव्रतः ।
प्रोक्तं ज्वरचिकित्सायां विषमत्वस्य कारणम् ।
वक्तुमर्हसि तत्त्वेन सविशेषं सविस्तरम् ।
(अ. १. श्लो. ३–४)
अथ खल्वस्माभिः पूर्वं यद्रसविमानेऽभिहितं लालादिचतुर्विंशतिविधमाहारमानं तस्येदानीं प्रतिकल्पविशेषानुपदेक्ष्यामः ॥ (अ. ५ गद्य ३)
परिषेकास्तु बालानां दन्तजन्मनि ये मया ।
कीर्तितास्ते प्रयोक्तव्याः परिभूताक्षिरोगिषु ॥
(अ. १३ श्लो. २५)
पूर्वं ज्वरनिदाने तु प्रोक्तः प्रत्येकशो मया ।
यथावदेषां रूपाणि संप्रवक्ष्याम्यतः परम् ॥

तस्यैव कादम्बरीदशकुमारचरितमित्यादिकमेव । रामायणेऽपि रामचन्द्रसदसि कुशलवाभ्यां गीताद्भागादुत्तरो भागः पश्चात्पूरित एव स्यादिति बहूनां विदुषां विचारः। तद्भागस्योत्तरकाण्डनाम्ना व्यवहारेऽपि समुचितग्रन्थस्यैकेनैव नाम्ना व्यवहृतिः । ईदृशस्थलेषु यत्रोत्तरभागे लेखशैल्या विभेदोऽनुसन्धीयते, तत्र कर्तृभेदेन समयभेदेन वा निर्माणभेदः प्रायिकोऽनुभूयते । सुश्रुतेऽपि पूर्वभागे कौमारभृत्यशालाक्यादिविषयान्तराणां विकासेन संयोजनोचितानां विषयाणामुपलम्भेन एककर्तृत्वे तत्र तत्रैव सविस्तरं वर्णनौचित्येऽपि पूर्वत्र शल्यप्रस्थानप्राधान्यरक्षायै लेशत एव तादृशा विषया दृश्यन्ते । विस्तृताः प्रस्थानान्तरीयविषया उत्तरतन्त्ररूपेण पुनरुपलभ्यमानाः पश्चात् पूरिता इत्यवगन्तुमौचित्येन उत्तरतन्त्रनाम्ना निर्दिश्यन्ते । लेखरचनाभेदेनापि निर्माणभेदोऽनुसन्धीयते । एवमेव काश्यपीयेऽपि खिलभागस्य पूर्वभागेन सहैव रचितत्वे 'पूर्वभागे प्रविष्टेषु ज्वरादिविषयेष्वेव खिलभागोक्तानां ज्वरादिविषयगतविशेषान्तराणामपि सहयोगेन एकपिण्डभावेन निरूपणौचित्ये विशेषान्तराणां खिलभागे पुनः कथनेन उपदेशस्थानसमयोपदेश्यव्यक्तिभेदाद्यवगमेन च पूर्वग्रन्थस्य खिलभागस्य च कर्तृभेदेन समयभेदेन वा रचनाविभेदोऽनुसन्धातुं शक्यते । ऋग्वेदादिष्वपि खिलरूपेण संयुक्तस्य भागस्य समयान्तरमङ्गीक्रियते विवेचकैः । अत्रापि खिलनाम्ना निर्देशोऽपि समयभेदं कर्तृभेदं चानुमापयति । 'तन्त्रं सखिलमुच्यते' इति संहिताकल्पाध्यायवाक्यदर्शनेन खिलभागसंहितायास्तस्या एव संहिताया वृद्धजीवकीयतन्त्रस्वरूपतामापन्नाया वृद्धजीवकीयतन्त्रत्वं, खिलभागीयविषयाणामपि काश्यपोपदेशात्मकत्वेनात्रानुस्यूततया सखिलस्यास्य ग्रन्थस्य संहितात्वं चोपपन्नं भवति । अत्र पूर्वभागे—

> उपास्यमानमृषिभिः कश्यपं वृद्धजीवकः ।
> चोदितो दारुवाहेन वेदनार्थेऽभ्यचोदयत् ॥ (पृ. ३३)

इति दारुवाहप्रेरितस्य वृद्धजीवकस्य कश्यपेनोपदेशनमवगम्यते । तदनुसारेण पूर्वभागे प्रायो बहुष्वध्यायेषु जीवकस्य प्रश्नः कश्यपस्य प्रतिवचनं चास्ति । वत्सस्य भृगुसन्ततितया वात्स्यस्य पूर्वपुरुषत्वेन निर्दिष्टस्य जीवकस्य भार्गवशब्देन सम्बोधनौचित्येऽपि केवलमेकत्र 'भार्गवास्थीनि...' (पृ. ७५) इति भार्गवशब्देन सम्बोधनमस्ति । अन्यत्र तु जीवकशब्देनैव सम्बोधनं दृश्यते । उत्तरभागे तु दारुवाहस्य नामोल्लेखो नास्ति । क्वचनैव जीवकशब्देन सम्बोधनं, प्रायो भार्गवशब्देन सम्बोधनं चास्ति । अन्तर्वत्नीचिकित्सितकुक्कुणकाध्यायादौ क्वचन जीवकभार्गवशब्दाभ्यां संबोधनं जीवकप्रश्नं च विहाय 'नृप ! नराधिप ! विशां पते !' इत्यादिरूपेण राज्ञः सम्बोधनानि सन्ति। एकत्र 'इति वार्योविदायेदं' इति (खि.स्था.अ.१३) वार्योविदस्य कश्यपेनोपदेशनमप्युल्लिखितं दृश्यते। लेखरचनाया अनुसन्धाने पूर्वभागे प्रायो लेखप्रौढिः आर्षभावप्राचुर्यं विषयगाम्भीर्यं च दृश्यते, उत्तरभागे तु प्रायो विकसिता विषयाः, प्राञ्जला निरूपणप्रक्रिया च दृश्यते रेवतीकल्पचर्मदलजातकर्मोत्तरीयशूलचिकित्सिताध्यायादिषु क्वचन पूर्वभागानुरूपा प्रौढा आर्षी रचना विषयगम्भीरभावश्चोपलभ्यते । एवं दर्शनेन प्रायो दारुवाहप्रेरिताय जीवकाय कश्यपेन विहितानुपदेशान् प्राधान्येनोपादाय पूर्वभागः प्रौढप्रायप्रक्रियया, जीवकाय वार्योविदादिभ्योऽन्येभ्यश्चान्यत्रापि समये समये कश्यपोपदिष्टान् विषयानुपादायोत्तरभागो विकसितप्रायप्रक्रियया निबद्धः प्रतीयमानो लेखनीभेदं समयभेदं चानुमापयति । संहिताकल्पाध्यायोक्तौ वृद्धजीवकनिबद्धतन्त्रस्य कञ्चित्कालं लुप्तस्य प्राप्त्या वात्स्येन संस्करणस्य निर्देशोत्तरं—

> स्थानेष्वष्टसु शाखायां यद्यन्नोक्तं प्रयोजनम् ।
> तत्तद्भूयः प्रवक्ष्यामि खिलेषु निखिलेन ते ॥ (सं.क.श्लो.२८)

इत्युक्तिर्हि वात्स्यस्यैव भवितुमर्हति । तेनष्टास्थानात्मकमेव काश्यपसंहितासंक्षेपरूपं वृद्धजीवकीयं पूर्वतन्त्रं, तत्रानुक्तान् सप्रयोजनानाचार्यान्तरग्रन्थेभ्य उपदेशपरम्परातश्चागतान् कश्यपोपदिष्टविषयानप्युपादाय वात्स्येनैव खिलभागरूपेणान्ते योजना विहिता इति प्रतिभाति । वात्स्येनास्य भागस्य योजनेऽपि काश्यपीयोपदेशानां शब्दतोऽर्थतश्चेतस्ततः सङ्ग्रहणेन उच्चावचरूपेणावस्थितेभ्यस्तत्तद्ग्रन्थान्तरगतेभ्यो लेखेभ्यो गृहीतानामंशानां विभिन्नभावेनात्र खिलभागे क्वचन प्रौढ्या क्वचन साधारण्या च प्रक्रियया ग्रन्थलेखदर्शनं सुसङ्गतमेव । वार्योविदकाङ्कायनभारद्वाजदारुवाहहिरण्याक्षवैदेहानां पूर्वेषां तत्सामयिकानां चाचार्याणां मतानि निर्दिश्य वृद्धजीवकस्यापि मतविशेषो निर्दिष्टः । अस्य वृद्धजीवकस्य समसमयकान्तेवासितया तदीयमतस्यापि कश्यपेन स्वयं जीवकेन वा पूर्वपक्षश्रेण्यां निर्दिश्यान्ते चरमसिद्धान्तरूपेण कश्यपमतनिर्देशनं सम्भवतु नाम, परं पश्चाद्वमनविविरेचनाध्याये (सि. स्था.) कौत्सपाराशर्यवृद्धकाश्यपवैदेहवार्योविदानां प्राचां तादात्विकानां चाचार्याणां मतनिर्देशोत्तरं वात्स्यमतं निर्दिश्य सर्वेषामेषां पूर्ववादत्वेन चरमसिद्धान्ततया कश्यपमतनिर्देशस्थले प्रविष्टो वात्स्यः सिद्धान्तवादरूपेण निर्दिष्टात् कश्यपमतात् पूर्वं पूर्ववादरूपेण बहुकालोत्तरोद्भवस्य प्रतिसंस्कर्तुर्वात्स्यस्य कश्यपेन वृद्धजीवकेन वा निर्देशानौचित्येन एतद्ग्रन्थसंस्कर्ता वात्स्य एवायमिति शङ्कितुं न युज्यते । अत्रोल्लिखिताः कौत्सपाराशर्यादयः सर्वे प्राचीनाचार्या एवेति तत्समश्रेण्यां निर्दिष्टेन वात्स्येनापि प्राचीनेनैव भवितव्यम् । शतपथे वंशब्राह्मणे भारद्वाजपाराशर्याग्निवेश्यहारीतकाप्यगालवजातूकर्ण्यात्रेयादयो बहवः प्राचीना ऋषय उपलभ्यन्ते । तैः सह वात्स्यस्याप्युल्लेखोऽस्ति । एतन्नामान आयुर्वेदाचार्या अप्यायुर्वेद-ग्रन्थेभ्योऽवगम्यन्ते । यद्यप्यत्र ब्रह्मविद्यापरम्परानिर्देशेनैषामायुर्वेदाचार्यत्वं नायाति, समाननामानोऽन्येऽपि सम्भवन्ति, तथाऽप्येते ब्रह्मविद्याविद एव केवलं, नत्वायुर्वेदविद इति न नियन्तुं शक्यते । एषां पूर्वकक्षायां स्ववैद्यत्वेन प्रसिद्धयोरश्विनोरप्युल्लेखेन तत्परम्परागतानामेषामायुर्वेदेऽप्याचार्यभावो न खलु न सम्भवी । आयुर्वेदीयग्रन्थेभ्यस्तदीयपूर्वाचार्यत्वेन ज्ञायमानानाम् एषां बहूनां नाम्नामस्मिन् वंशब्राह्मणे प्रायः सहभावेन दर्शनात्त एवेमे स्युरिति सम्भावयितुं शक्यते ॥

प्रतिसंस्कर्त्रा वात्स्येन न केवलं खिलभागयोजना विहिता, किन्तु—"संस्कृतं तत् पुनस्तन्त्रं वृद्धजीवकनिर्मितम् ।'

(सं.क. श्लो. २७) इति संहिताकल्पाध्यायलेखेन पूर्वभागेऽपि संस्करणलेखन्यनुप्रवेशितेति स्पष्टमवबुध्यते । परमनेन वात्स्येन स्वीयवक्तव्यान्यप्यनुप्रवेश्य विशेषविषयसंभृतस्य खिलभागस्य पृथङ्निबध्य संयोजनेन पूर्वभागे मूलग्रन्थविपर्यासरूपो न तथा विशेषप्रतिसंस्कारोऽस्मिंस्तन्त्रे विहितः स्यात्, अपि तु क्वचन पूरणिकावाक्यानि क्वचन स्वीयमतविशेषं तदात्वे समयागतान् विषयांश्च कांश्चनानुप्रवेश्य यथावस्थित एव पूर्वग्रन्थे तत्र तत्र पदवाक्योपबृंहणमात्रं विहितं स्यादित्यनुसन्धीयते ॥

यस्य कस्यापि वस्तुनो निबन्धस्य वा गुणाधानेनोज्ज्वलीकृतये प्रवर्तन्ते प्रतिसंस्कर्तारः। एवमुद्दिष्टप्रक्रियया संस्करणेन तासु प्राचीनसंहितासु लेखस्य विषयविशेषाणां वा सङ्कोचविकासादिभिर्नवप्रतिभातविषयाणां प्रवेशनेन, असाधुतया दृष्टांशानां परिहाणेन परिवर्तनेन चैवमादिभिः संस्कारविशेषैर्नवीकृतानि दृश्यमानानि रूपान्तराणि समपाद्यन्तेति प्रतिसंस्कर्तॄणां प्रयत्नः स्थाने भवतु नाम, परमत्रैवं मनसि प्रतिभाति । एवमासां पुनः पुनः संस्करणेषु प्राचीनसंहितालेखानां प्रतिसंस्कर्तृलेखानां न नीरक्षीरसम्भेदविधानेन प्रतिसंस्कर्तृनिबन्धेषु प्राचीनसंहितानामन्तर्भावः समजनि । ततश्च प्राचीनात्रेयसंहिताया अग्निवेशेनोपबृंहणं, अग्निवेशसंहितायाश्चरकाचार्येण संस्करणम्, एवं कश्यपसंहिताया वृद्धजीवकेन संक्षेपणं तदीयतन्त्रस्य वात्स्येन पुनः प्रतिसंस्करणमिति इयन्ति पदानि वाक्यानि प्रबन्धाश्चैतदीयानीति दुःशक इदानीं परिच्छेदः । यथा प्राचीननावनीतकमूलग्रन्थस्य नवप्रवेशितलेखेन सह प्रतिसंस्कृतस्य लाहोरप्रदेशात् प्रकाशनेन प्रतिसंस्कर्त्रा अपूर्णविषयपरिपूरणादिनोपकृतमेव, संस्करणे वाग्भटनगेन्द्रनाथादिपश्चात्तनोद्भावितौषधानामप्यनुप्रवेशनेनानुभवसिद्धैर्बहुभिरौषधैः समुपबृंहितमपीति सन्तोषस्यैव विषयः । परमस्मिन् प्रकाशने लिपिभेदेन कोष्ठकाभ्यन्तरविन्यासादिना व्याख्यारूपेण वा नवपूरितांशस्य यदि प्रकाशनमभविष्यत्तदा इयानंशः प्राचीन इयानंशो नवसंस्करणे प्रवेशित इति सुतरां पर्यच्छेत्स्यत । सम्प्रति मूलनावनीतकमात्रस्य यूरोपे लाहोरप्रदेशे च पृथङ्मुद्रितस्योपलब्ध्या उभयोः सङ्गमने प्राचीननवीनांशानामधुना परिच्छेदः कर्तुं शक्यते, तथाऽपि समयवशेनास्य मूलग्रन्थमात्रपुस्तकस्यानुपलब्धौ प्रतिसंस्कृतपुस्तकमात्रात्तथा परिच्छेतुं नैव शक्येत । वाग्भटनगेन्द्रनाथाद्युल्लेखलिङ्गेन नगेन्द्रनाथविदुषोऽप्यनु मूलनावनीतकोदय इति संशयस्थानं पश्चात्तनानां जायेत च । तथैव पुरासमये काश्यपसंहितात्रेयसंहितादीनां तदनुस्यूतानामग्निवेशसंहितावृद्धजीवकीयतन्त्रादीनां चरकवात्स्यादिविहितप्रतिसंस्कारग्रन्थेभ्यः पृथगुपलम्भः स्यादेव । प्रचलितैः प्रतिसंस्कृतरूपान्तरैः पूर्वस्वरूपाणामप्रचारतो विलोपेन पुरातनानि स्वरूपाणि विलीनान्यभूवन् । प्रतिसंस्करणे च कति पूर्वतनांशास्त्यक्ताः कति वा नवांशाः प्रवेशिताः कति चांशा रूपान्तरमापादिता भवेयुः । येन तत्तदीयांशानां परिच्छेदेन सहाचार्यसमयस्य परिच्छेदोऽपि दुष्करः समजनि ॥

नानाविधासूक्ष्मावचासु प्रज्ञाभूमिकासु उदीयमानैः प्रतिभानविशेषैराचार्यान्तरोपदेशादीनामनुसन्धानविशेषैश्च नवनवा अपि विचारविशेषाः समुद्भवन्ति । पूर्वेषामाचार्याणां सिद्धान्ता अपि पश्चात्तनीनाचार्यान्तराणां विचारान्तरैरन्यथा प्रतिभासमानाः प्रतिसंस्करणे रूपान्तरं परित्यागमुपगच्छन्तोऽपि सम्भवन्ति । क्वचन निर्मला अपि पूर्वे सिद्धान्ताः पश्चात्संस्करणे पुरुषसुलभैर्दोषैर्मालिन्यमुपयान्ति । यदि नाम चरकसंहितायां चिकित्सितस्थानीयान्तसप्तदशाध्यायानां सिद्धिकल्पस्थानयोश्च विलोपेन दृढबलाचार्येण पश्चात्पूरिततया तावान्भागो दृढबलस्यैव रचनारूपः, तत्र न आत्रेयस्याग्निवेशस्य चरकाचार्यस्य च लेखन्याः प्रवेश इति अन्तभागे पृथगवस्थितस्य तावद्भागस्य विचारसौष्ठवासौष्ठवे दृढबलस्यैव शिरसि । एवमेवाग्निवेशचरकाभ्यामपि स्वीयविचारविशेषलेखानां परिच्छेदरूपेण पूर्वग्रन्थान्ते पृथक्सन्निवेशो व्यधास्यत, किं वा अग्निवेशतन्त्रमद्यापि पृथगलप्स्यत, तदा उभयोः संवादे तत्र तत्र भागे दृश्यमानाः सदसन्तो विचारा उक्तयश्च तस्मिंस्तस्मिन्नेव स्वातिशयमाधास्यन्त । अपि तु पूर्वपश्चाद्भवाचार्याणामुक्त्योर्गङ्गायमुनयोरिवैकत्रैव संमिश्रणे उपजाते पूर्वतन्त्रे च पृथगनुपलब्धे, क्वचन दृश्यमानानां सदसतामुन्मेषाणां यशोऽयशश्च प्राचीनाचार्यस्य पश्चात्तनाचार्यस्य वेत्यनिश्चयेन पश्चात्तनाचार्यसमये उपजातस्यापि अन्यथाभावस्य प्राचीनाचार्येषु दोषः शङ्कनीयः सम्भवति । न केवलमेष प्रसङ्गश्चरकसंहितायामेव, अपि तु सुश्रुतसंहितायां काश्यपसंहितायामपि पश्चात्संस्करणे प्रविष्टा काश्चन विकृतयः अर्वाञ्चो विषयाश्च क्वचनोपलभ्यमाना अस्येत्यनिश्चीयमाना मूलसंहितानिबन्धॄणां महर्षीणामप्यर्वाग्भावशङ्कायै अपसिद्धान्तशङ्कायै च जायन्ते । यथाहि भारतस्य पश्चादुपबृंहणेन महाभारतभावापत्तौ ततः पश्चाद्वा पुनः पुनः संस्करणे प्रविष्टानां शब्दविशेषादीनां प्रवेशसमयानिर्धारणेन मूलभारतमप्यर्वागाकृष्यमाणमिव दृश्यते । एवं चरकसंहितायां दृश्यमानो विकसितो निग्रहस्थानस्योत्तरो विशेषविषयः आत्रेयस्याग्निवेशस्य चरकस्य वा लेखगत इत्यनिश्चीयमान आत्रेयस्यापि अर्वागाकर्षणशङ्कायै जायते । एवमेव अस्यां काश्यपसंहितायां दृश्यमाना उत्सर्पिण्यपसर्पिण्यादयः केचन शब्दविशेषा वात्स्यीये प्रतिसंस्करणे एव प्रविष्टा भवितुमर्हा अपि काश्यपस्य, वृद्धजीवकस्य वात्स्यस्य वेति अनिर्धार्यमाणाः सन्तः कश्यपवृद्धजीवकयोः प्राचीनत्वसाधकेषु बहुषु लक्षणेषु जागरूकेष्वपि अर्वाचीनत्वशङ्कायै जायन्ते ॥

प्राचीनग्रन्थेष्वेव इतस्ततः करणेन नवविचाराणामप्यनुप्रवेशनेन पुनः संस्करणं न केवलं भारतीयपूर्वग्रन्थेष्वेव, अपि तु पूर्वसमये देशान्तरेष्वपीदृश्येव प्रक्रियाऽऽसीत्। ग्रीसदेशीयप्राचीनभिषगाचार्यस्य हिपोक्रिटसस्य ग्रन्थेऽपि एवमेव प्राचीननवीनविषययोस्तिलतण्डुलभावेनाविभागप्रक्रियया पुनः पुनः संस्करणस्योपजाततया तत्रत्यैरपि विवेक्तुं न शक्यते । एवं मिश्रदेशेऽपि एवर्टस-प्येपिरसनामकस्य प्राचीनग्रन्थस्यापि पुनः पुनः संस्करणमजायत । पूर्वग्रन्थेष्वेव नवविचारोदये

१. E. R. E. VI 4 P. 751.

तेषामपि तदभ्यन्तर एवानुप्रवेशनं, क्वचन पुस्तकप्रान्तभागे लेखनं, टीकाटिप्पण्यादिरूपेण निखिलानां नवविचाराणामपि ग्रन्थमध्य एव प्रवेशनं संस्करणेऽभूत्। प्राचीनग्रन्थस्य सारांशमात्रं तत्र विन्यस्तमप्यभूत्। स्थानभेदेन लब्धानां पाठभेदानामपि तत्रैवानुप्रवेशो व्यधीयत। येन पूर्वग्रन्थे कत्यंशाः प्राचीनाः कत्यंशाः पुनः संस्करणे प्रविष्टा इत्यपि परिच्छेत्तुमशक्या अभूवन्। समये समये जायमानानां नवनवविचाराणामेकत्रैवानुप्रवेशनेन पूर्वापरग्रन्थलेखे मिथो विसंवादो व्याघातश्च दृष्टिपथमुपेतः, इत्थं पूर्वापरविचाराणां मिश्रणस्य प्राचीनः सम्प्रदायः समयेन सर्वतो विप्लवाय समुपस्थितः॥

पूर्वोपदर्शिताभिरुपपत्तिभिर्महावग्गपालीजातकतिब्बतीयकथादिभिरपि प्राक्तनतया दृश्यानां धन्वन्तरिकश्यपजीवकादीनां तत्समानन्यायेनात्रेयसुश्रुतादीनामपि प्रतिसंस्कारवशात् प्राप्तस्यास्यार्वाचीनविषयावबोधिनः कस्यचित्पदस्य वाक्यस्य विषयस्य वा दर्शनमात्रेण मूलग्रन्थस्याप्यर्वागाकर्षणायासे २३०० वर्षपूर्वमशोकनृपतिना सर्वतः समुद्घाटितेषु सर्वसाधारणचिकित्सालयेषु अपेक्षणीयानां सुविचारपूर्णानां सर्वाङ्गसम्पन्नग्रन्थानां, तेषु परिनिष्ठितानां भिषजां, सुपरीक्षितानामौषधानाम्, अभिनन्दनीयानां भैषज्यप्रक्रियाणां च स्पृहा कथङ्कारं पूर्येत। कश्यपात्रेयसुश्रुतादयः प्राचीनाः प्रौढविद्वांसस्तदीयग्रन्थाश्च पश्चादवतार्यन्ते, नातः पूर्वं ग्रन्थास्तदात्वे प्रसिद्धतया सम्भाव्यन्ते। ४०१ बी. सी समये मेमनूननामकस्य पारसीकसम्राजो राजकुलवैद्यः टी. सी. यस. नामा यवनवैद्य आसीदिति तदीयेतिहासोपलम्भवद्भारते तदात्वे कस्यापि देशान्तरीयभिषजस्तच्चिकित्सालयेष्वागमनवृत्तं किमपि नोपलभ्यते। बी. सी. पूर्वकालिकमहावग्गप्राचीनबौद्धवैद्यकग्रन्थोऽप्यात्रेयादिसिद्धान्तानुसारीति नातः पार्थक्येनावतिष्ठते। सर्वप्राथम्यरूपेणोपलब्धान् कश्यपात्रेयसुश्रुतादिग्रन्थांस्तद्विदश्च परित्यज्य अनुपस्थितानां केषां कल्पनया शिलालेखप्रतिष्ठापितास्ते सर्वसाधारणचिकित्सालया आत्मलाभमासादयेयुः। आत्रेयादीनामशोकचिकित्सालयोद्घाटनोत्तरत्वे लोकोपकारदृशाऽत्यन्तमुपादेयस्तादृशः साधारणौषधालयः किमित्येभिरुपेक्ष्येत। न खलु तदनुप्रभावितः कोऽपि लेख आत्रेयादीनां दृश्यते॥

एवं केचन स्थूलसिद्धान्ता अपसिद्धान्ता अपूर्णांशा वा क्वचन सुश्रुतादिनिबन्धेष्वद्यत्वे समीक्ष्यमाणा अपि केषाञ्चिदश्रद्धायै जायन्ते। तदिदं मूललेखस्य प्रतिसंस्कारस्य च नीरक्षीरायितस्यैव विजृम्भितं सम्भवति। समयवशेन विज्ञानस्य विद्यान्तराणां यन्त्रविशेषाणां चोत्तरोत्तरं परिष्करणेनाद्यत्वे नवनवानां सिद्धान्तानामुन्मेषेण प्राचीनानां पूर्वे सिद्धान्ताः स्थूला अपसिद्धान्ता वा इदानीं प्रतिभासन्तां नाम, परं विचारदृष्टिर्न खलु सीमिता। एकेन साधुदृष्टमप्यन्योऽन्यथा पश्यति। एकस्मिन् समये साधु साधितमपि समयान्तरे अन्यथाऽऽलोच्यते। यथा हि भारतीये वैद्यके पूर्वतः प्रवृत्तां शोधितधातुरसौषधोपयोगपद्धतिं वैदेशिका विद्वांसो बह्वीः शताब्दीः अनुपादेयामहितावहां च वदन्त आसंस्त एवाद्यत्वे तामुपादेयां साध्वीं साधयन्तस्तया व्यवहरन्ति च। एवमेव कति पूर्वेषां सिद्धान्ताः पश्चाद्वैवैज्ञानिकप्रगत्या बहून् समयानपसिद्धान्तीकृता अपि अद्यत्वे पुनर्दृष्टैः सुपरिष्कारे पुनः प्रतिष्ठाप्यन्ते। प्राचीनसमये विज्ञानसाधनं किमात्मकमासीदिति न परिच्छिद्यते, तथाऽपि प्राचीनसम्प्रदायपरम्परया अनुभवविकासेन चिरतत्परतया तपःप्रणिधानालोकेन चोज्ज्वलेषु पूर्वेषां हृदयेषु प्रतिभाता विषया निर्मला अपि बहुशः सम्भवन्ति॥

स एव विषयः पुनः पुनर्विचारणे परिमार्जनेनौज्ज्वल्यमुपैति। तेनैव ग्रन्थकर्त्रा स्वीयः पूर्वनिबन्धः परिमार्जितविचारान्तरोदये आवापोद्धापप्रक्रियया अन्यथाऽपि संस्क्रियेत तदा स्वस्मिन्नेव हृदये पुनः पुनरपि प्रतिभातानां विचाराणामेकभावानुस्यूततया मिथः सम्पर्केण मुख्यप्रमेयानुबन्धेन तादात्विकानामेव विषयाणामनुप्रवेशेन च स संस्कारो गुणाधानायैव जायते न पुनः समयान्तरे शङ्काविप्लवोदयाय। एवंरूपं संस्करणं प्रशस्यतेऽभियुक्तैः—

'आवापोद्धरणे तावद्यावद्दोलायते मनः।
पदस्य स्थापिते स्थैर्ये हन्त सिद्धा सरस्वती॥' इति

किन्तु प्राचीनानां महर्षिप्रभृतीनामुपदेशात्मकेषु ग्रन्थेषु पश्चात्समये आलोचनेऽभिप्रायभेदेन निगूढगर्भाणां पूर्ववाक्यानामन्यथा प्रतिभासेन तत्तत्सामयिकैर्नवविचारैः पूर्वविचाराणामन्यथा प्रतिपत्त्या च नवोदितविचारविशेषादीननुप्रवेश्य पूर्वग्रन्थानामावापोद्धापप्रक्रियया परिवर्तनेन विकासनेन संक्षेपणेन च रूपान्तरकरणात्मके प्रतिसंस्करणे पश्चात्तनानां प्रवृत्तिर्न समीचीनाऽवभासते। पूर्वेषां सिद्धान्तानां लेखानां वा विपर्यासे स्वरूपमेव प्रच्यवेत, दोषान्तरशङ्कया वा मलिनिमाऽवभासेत। पूर्वेषामपि सूत्रभाष्यादीनामुक्तानुक्तद्विरुक्तादिचिन्तया शोधनीयतादर्शने सूत्राद्यक्षराणि यथावदेवावस्थाप्य वार्तिकाद्यात्मना पृथङ्निबन्धनेन विद्वद्न्तरैरात्मनो विचारान्तरं प्रदर्श्यते, न पुनस्तदनुसारेण सूत्रभाष्यादिगतानि पदवाक्यादीनि अन्यथात्वमापद्यन्ते। एवमेव समयवशेन नवविचारोदयेन, विचारविकासेन, पूर्वोक्तैरपसिद्धान्तभावदर्शनादिना च पश्चात्प्रतिसंस्करणमभिलष्यद्भिर्मूलग्रन्थान् यथावदेवावस्थाप्य तत्र खिलरूपेण पृथक्संयोजनं समालोचनामयं ग्रन्थान्तरं स्वविचारविशेषसहकृतं व्याख्यानादिकं वा विधीयेत, तदा प्राचीनार्वाचीनविषयाणाममिश्रणेन पृथक्परिच्छेदो, विचारविकासविज्ञानं, पूर्वापरविचारलेखसौष्ठवासौष्ठवविभागश्चेति सर्वमविप्लवं सम्पद्येत॥

किञ्च, प्राचीनभावानुस्यूतेष्वपि ग्रन्थेषु संशयितानां कतिपयानां शब्दविशेषाणां दर्शनमात्रेणापि समस्तस्य ग्रन्थस्यार्वाचीनत्ववादे केषाञ्चिदाधुनिकानां विदुषां दृष्टिः प्रवणीभवति। परं प्राचीनग्रन्थेष्वसंस्कारविशेषेणापि तादृशानां शब्दानामनुप्रवेशस्य सम्भवेन न तावतैव साधनेन ग्रन्थस्यार्वाचीनत्वं कल्पयितुं युज्यते। केचन विवेचका ईदृशान् शब्दविशेषानन्यान् वा कांश्चन तत्र प्रतिभातान् विषयानन्तरनुसन्धाय किल स्वाभिप्रेतं ससाधनं विषयं बहिरप्रकाश्यैव केवलमस्य ग्रन्थस्यायं कालः स्यादित्येव प्रदर्श्य सांशयिकीं दशां पुरःसारयन्ति। परं तेषां तथा दृष्टौ कानि साधनान्यनुसंहितानीति न ज्ञायन्ते।

एवमव्यक्तैः साधनैर्विमर्शपथः समाच्छाद्यते। तेषां मनसि प्रतिभातानामसाधारणानां साधनानां स्पष्टतयाऽवगम एव याथातथ्यं निर्द्धारयितुमनुमन्तुं च परेषां विचारदृशः प्रवृत्तये सौकर्यं जायेतेति मे प्रतिभाति॥

अस्मिन् ग्रन्थे संहिताकल्पाध्याये 'संहिताकल्पं व्याख्यास्यामः' इत्युपक्रम्य—

अस्य ग्रन्थस्य संहितात्वं तन्त्रत्वं च

'स पृष्टोऽन्येन वैद्येन प्रब्रूयात् संहिताविधिम्।
कति स्थानमिदं तन्त्रं कस्मात्तन्त्रमितिस्मृतम्
इन्द्रियाणि चिकित्सा च सिद्धिः कल्पाश्च संहिताः।
अष्टौ स्थानानि बोध्यानि ततोऽतस्त त्रमुच्यते।
खिलान्यशीतिरध्यायास्तन्त्रं सखिलमुच्यते।
पारणं ह्यस्य तन्त्रस्य वेदानां पारणं यथा।
तपसा निर्मितं तन्त्रमृषयः प्रतिपेदिरे।
जगृहेऽग्रे महातन्त्रं सञ्चिक्षेप पुनः स तत्।
ततः कलियुगे नष्टं तन्त्रमेतद्यदृच्छया।
अनायासं प्रसाद्याथ लब्धं तन्त्रमिदं महत्।
संस्कृतं तत्पुनस्तन्त्रं वृद्धजीवकनिर्मितम्।'

इत्युल्लिख्य 'समाप्ता चेयं संहिता' इत्युपसंहारेण संहितात्वेन तन्त्रत्वेन चोभयथाऽस्य व्यवहारो मूले पुष्पिकावाक्येष्वपि दृश्यते। उपक्रमोपसंहारग्रन्थयोरस्मिन् पुस्तके खण्डिततया कथं ग्रन्थावतारणं कथं वोपसंहरणमिति द्वयमपि परोक्षम्, अतस्ततो विज्ञेयो विशेषो निलीनः॥

परं संहिताशब्दव्यवहारकालस्तन्त्रशब्दव्यवहारकालात् पूर्वतनः। पुरा ह्यार्षे युगे निबद्धा ग्रन्थाः प्रायस्तत्तत्संहितारूपेण, ततः परं पूर्वाचार्यैर्निबद्धा ग्रन्थाः प्रायस्तन्त्ररूपेण व्यवह्रियन्त। संहिताशब्दो हि, संहननक्रियात्मकं विप्रकीर्णानां तेषां तेषामार्षप्रातिभज्ञानबलप्राप्तप्रकाशानामुपदेशादीनां सामूहिकरूपेणैकत्र व्यूहनरूपमर्थं गर्भीकरोति। तन्त्रशब्दश्च प्रकरणसन्दर्भादिविशेषोपन्यासैः शास्त्ररूपतामापन्नमर्थं दर्शयति। अतः आत्रेयधन्वन्तरिकश्यपादिभिरुपदिष्टा ग्रन्थाः संहितारूपेण, अग्निवेशसुश्रुतवृद्धजीवकादिभिर्मूलसंहितासु प्रकरणोपन्यासपूरणादिभिः सन्दब्धशास्त्ररूपतासम्पादनेन निबद्धास्तन्त्ररूपेण निबद्धास्तन्त्ररूपेण व्यवहृता भवितुमर्हन्ति॥

'तन्त्रप्रणेता प्रथममग्निवेशो यतोऽभवत्।
अथ भेडादयश्चक्रुः! स्वं स्वं तन्त्रं........'

इति चरके उपक्रमणिकाग्रन्थेऽग्निवेशादीनां तन्त्रकर्तृत्वेनोल्लेख इममेवार्थमुपोद्बलयति॥

संहितासु स्वयमेव किं वा तदुपदिष्टं शब्देनार्थेन वा सङ्गृह्य शिष्यादिभिर्निबन्धनस्य प्रायिकः सम्प्रदायः। शिष्यादिभिर्निबन्धनेऽपि तेषामनुवादकमात्ररूपतया मूलाचार्यनाम्नैव संहिताव्यवहारः समीच्यते। तन्त्रकृतो मूलसंहितामन्तर्भाव्य उपक्रमोपसंहारप्रश्नप्रतिवचनस्वीयविशेषान्तराणि मतान्तराणि च सन्निवेश्य तन्त्ररूपतां प्रापयन्ति। विशेषान्तराण्यनुप्रवेश्य प्रतिसंस्कर्तारो बृहदाकारं सम्पादयन्ति इति प्रतिसंस्कर्तुर्निबन्धने तन्त्रं, तदभ्यन्तरे संहिताऽन्तर्भवति॥

यथा हि चरकसुश्रुतसंहितयोरात्रेयधन्वन्तर्युक्त्यो गुरुसूत्रतया, अग्निवेशसुश्रुतपूरितोक्त्यः शिष्यसूत्रतया, आचार्यान्तरोक्त्य एकीयसूत्रतया, चरकदृढबलाद्युक्त्यः प्रतिसंस्कर्तृसूत्रतया[१] एकत्रैव ग्रथिता उपलभ्यमानसंहितयोरन्तर्भवति। तथैवात्रापि कश्यपोक्त्यो गुरुसूत्ररूपेण, वृद्धजीवकीयोक्त्यः शिष्यसूत्ररूपेण, आचार्यान्तरोक्तयः एकीयसूत्ररूपेण, वात्स्योक्त्यः प्रतिसंस्कर्तृसूत्ररूपेणैकत्रैव सन्निविष्टाः भवेयुः॥

तेन यथा आत्रेयेण महर्षिणा प्रथमोपदिष्टां संहितामुपादायाग्निवेशश्चिकित्सातन्त्रं व्यरचयत्, तदेव चरकाचार्यः प्रतिसंस्कृत्य प्रकाशयामासेति आत्रेयसंहितैव अग्निवेशतन्त्ररूपतामापन्नाऽद्यत्वे चरकसंहितारूपेण दृश्यते। यथा वा अष्टप्रस्थानात्मकं धन्वन्तर्युपदेशं गृहीतवता दिवोदासेन प्रस्थानान्तराणामुपदेशस्य विलोपेऽपि शल्यप्रस्थानमेकं प्रधानीकृत्योपदिष्टां संहितामादाय सुश्रुतः स्वीयं तन्त्रं निबबन्ध, तदेव समयान्तरे संस्कृतमित्यद्यत्वे धन्वन्तरिसंहिता विशेषतः शल्यप्रस्थाने सुश्रुतसंहितारूपेण दृश्यते। तथैव संहिताकल्पाध्यायलेखात् काश्यपसंहिता संक्षिप्तरूपान्तरेण वृद्धजीवकीयतन्त्रत्वं समयान्तरे वात्स्यीयप्रतिसंस्करणञ्चोपेता एतद्ग्रन्थात्मनाऽस्माभिरुपलभ्यते। यथा यथोत्तरा कक्षा समुत्पन्ना तथा तथा पूर्वा कक्षा पृथग्वर्तमानाऽपि आवापोद्वापविवर्धनसंस्कारादिनिष्पन्नस्य स्वरूपान्तरस्योदयेन प्रचारेण च विलोपमुपगता, किंवा उत्तरकक्षायामन्तःप्रविष्टा एकशरीरतामुपगता, इति तार्तीयिकीं संस्कारकक्षामुपेत्य परिनिष्पन्ना इमाः संहितास्तन्त्राणि प्रतिसंस्कृततन्त्राणि वाऽस्माकं दृशोर्विषयीभवन्ति। यद्यपि पूर्वापरग्रन्थापर्यालोचने क्वचन प्राचीनप्रौढतरतमलेखशैल्याः क्वचन साधारण्या लेखप्रक्रियाया दर्शनेन मिथः प्राचीनतरतमलेखसंवादनेनापि सूक्ष्मेक्षिकायां क्वचन परिच्छेदालोकः प्रकाशेत, तथाऽपि चरकसंहितायां कियानंश आत्रेयस्य, कियान् वा अग्निवेशस्य, को वा चरकाचार्यस्य लेखः, सुश्रुतसंहितायां च कियानंशो धन्वन्तरेर्मूलसंहितायाः, को वा दिवोदासस्य, कतमो वा सुश्रुतस्य, कश्च प्रतिसंस्कर्तुर्लेखः; अस्यां काश्यपसंहितायामपि कियानंशः कश्यपसंहितायाः, को वा वृद्धजीवकस्य, कतमो वा वात्स्यस्य लेखः शाब्द आर्थो वा कीदृशोऽत्र वृद्धजीवकस्य संक्षेप इति सर्वांशतो याथातथ्येन परिच्छेत्तुं न शक्यते॥

कश्यपात्रेयभेडसुश्रुतग्रन्थानां तुलना विमर्शः

प्राचीनसंहितासु प्रागुपलब्धाश्चरकभेडसुश्रुतसंहिता इमां नवोपलब्धां काश्यपसंहितां च पुरो निधाय स्थानाध्यायप्रकरणादिग्रन्थरचनाया विषयाणां च विचारणे मिथः साम्यं वैषम्यं चैवमीक्ष्यते—

अस्याः काश्यपसंहितायाः प्रकरणान्यध्यायाश्च ग्रन्थकृतैव कल्पस्थानस्यान्तिमाध्याये इत्थमुपवर्णितानि—

'अष्टौ स्थानानि वाच्यानि ततोऽतस्तन्त्रमुच्यते।

१. चतुर्विधानि हि सूत्राणि भवन्ति तद्यथा—'प्रतिसंस्कर्तृसूत्रमेकीयसूत्रं शिष्यसूत्रं गुरुसूत्रं च' इति चक्रदत्तेन निर्दिष्टानि। (चरकव्याख्यायां) सू० अ० १।

अध्यायानां शतं विंशं योऽधीते स तु पारगः॥
सूत्रस्थाननिदानानि विमानान्यात्मनिश्चयः।
इन्द्रियाणि चिकित्सा च सिद्धिः कल्पाश्च संहिताः॥
सूत्रस्थानं चिकित्सा च त्रिंशदध्यायके उभे।
निदानानि विमानानि शारीराण्यष्टकानि तु॥
सिद्धयो द्वादशाध्यायाः कल्पाश्चैवेन्द्रियाणि च।
खिलान्यशीतिरध्यायास्तन्त्रं सखिलमुच्यते॥'

ततश्चास्याः संहितायाश्चरकभेडसुश्रुतसंहितानां च स्थानाध्यायसंमेलने इत्थं परिदृश्यते—

स्थानानि		वृद्धजीवकीये.	चरके.	भेडतन्त्रे.	सुश्रुते.
सूत्रस्थानम्	अध्यायाः	३०	३०	३०	४६
निदानस्थानम्	,,	८	८	८	१६
विमानस्थानम्	,,	८	८	८	×
शारीरस्थानम्	,,	८	८	८	१०
इन्द्रियस्थानम्	,,	१२	१२	१२	×
चिकित्सास्थानम्	,,	३०	३०	३०	४०
सिद्धिस्थानम्	,,	१२	१२	९...(१२?)	×
कल्पस्थानम्	,,	१२	१२	८...(१२?)	८
		१२०	१२०	१२०	१२०
खिलभागः	,,	८०			६६

चतुर्ष्वेषु ग्रन्थेषु खिलवर्जं काश्यपीयचरकभेडसंहितानां त्रयाणां स्थानान्यष्टौ, तेष्वध्याया अपि तावन्तः, अध्यायसमष्टिरपि १२०मितैव[1]। केवलं काश्यपीयचरकसंहितयोः सिद्धिकल्पस्थानयोः पौर्वापर्यव्यत्ययः। ग्रन्थावयवविभजने प्राथमिकस्य द्वैतीयिकेन तार्तीयिकेन च छायाग्रहणं, किं वा एकपूर्वाचार्यसम्प्रदायानुसरणं लक्ष्यते। सर्वेषामेषामाचार्याणां तत्र तत्र पश्चिमविभागे वर्तितया सन्निकर्षेण समच्छायाग्रहणमुपपद्यते च। तत्रापि चरकभेडसंहितयोरेकचिकित्साप्रस्थानीयत्वेन, एकस्यैवात्रेयस्योपदेशमादायाग्निवेशभेडादिभिस्तन्त्रस्य प्रणयनोल्लेखेन च विषयाणां बहुशः सन्निकर्षेण नामनिर्देशे विषयनिरूपणे च विशेषतः साम्यमनुभूयते। यथा च चरके निदानस्थाने अष्टौ प्रधानरोगा उपात्तास्तथैव भेडग्रन्थेऽपि। चिकित्सितस्थाने उभयोरपि तानेव पूर्वोद्दिष्टानष्टौ रोगान् प्रथमत उपादाय तदुत्तरं स्वस्वबुद्ध्युपारूढा अन्ये बहवो रोगा अपि चिकित्सायै निर्दिष्टाः। उभयोः सूत्रस्थाने समाननामानस्तुल्यविषया अध्यायाः पूर्वं प्रदर्शिता एव। एवमुत्तरत्रापि बहुशश्छायानुवेधः पर्यालोचनपथमवतरति। केवलं भेडस्य संक्षिप्तमनतिसारगर्भितं साधारणम्, अत्रेयस्य किं वाऽग्निवेशस्य तु प्रथमत एव प्रौढतरलेखशैल्या विषयगाम्भीर्येण पश्चाच्चरकदृढबलाभ्यां संस्करणेनापि विकासितमगाधावबोधमनेकरहस्यपूर्णमसाधारणं निबन्धनं समीक्ष्यते॥

अस्याः काश्यपसंहितायाः कौमारभृत्यप्रस्थानान्तरीयतया बालविषयानुबन्धेन धात्री गर्भिणीसूतिकाद्यनुसम्बन्धेन च नानाविशेषविषयग्रहरोगभेदभैषज्यप्रक्रियादीनां बहुशो विभेदेऽपि उपलब्धभागे स्नेहाध्यायादयः समाननामानः साधारणविषया अनतिविसंवादिप्रक्रियया एवमीक्ष्यन्ते—

काश्यपसंहितायाम्—	आत्रेय(चरक)संहितायाम्—
२२ सङ्ख्यः स्नेहाध्यायः	१३ सङ्ख्यः स्नेहाध्यायः
२३ ,, स्वेदाध्यायः	१४ ,, स्वेदाध्यायः
२४ ,, उपकल्पनीयाध्यायः	१५ ,, उपकल्पनीयाध्यायः
२५ ,, वेदनाध्यायः	१६ ,, चिकित्साप्राभृतीयाध्यायः
२६ ,, चिकित्सासम्पदीयाध्यायः	१७ ,, कियन्तःशिरसीयाध्यायः
२७ ,, रोगाध्यायः	१८ ,, त्रिशोथाध्यायः
	१९ ,, अष्टोदरीयरोगाध्यायः
	२० ,, महारोगाध्यायः
	२१ ,, अष्टौनिन्दितीयाध्यायः

आत्रेयसंहितायां काश्यपसंहितायां च क्वचन शब्दानुपूर्व्यां क्वचन शब्दरचनायां विभेदेऽपि विषयोपन्यासे क्वचन लेखप्रक्रियायामपि मिथः समानेव च्छाया समीक्ष्यते॥

१ काश्यपसंहिताया वृद्धजीवकीये खिलभागे (अ. ३ श्लो. १०६)

यथा विषं यथा शस्त्रं यथाऽग्निरशनिर्यथा।
तथौषधमविज्ञातं विज्ञातममृतोपमम्॥

आत्रेय(चरक)संहितायां सूत्रस्थानप्रथमाध्याये—

यथा विषं यथा शस्त्रं यथाऽग्निरशनिर्यथा।
तथौषधमविज्ञातं विज्ञातममृतं यथा॥

इति समानानुपूर्विकः श्लोक उभयत्र दृश्यते। तदीदृशः श्लोकः पूर्वतनस्यैकस्य पश्चात्तनेनापरेण गृहीतः, किंवा अन्यस्यैव पूर्वाचार्यस्य श्लोकोऽयं पश्चादुभाभ्यां गृहीतोऽपि सम्भवति॥

(२) काश्यपीयायाम्—

औषधं चापि दुर्युक्तं तीक्ष्णं सम्पद्यते विषम्।
विषं च विधिना युक्तं भेषजायोपकल्पयेत्॥

आत्रेयीयायाम्—

औषधं ह्यनभिज्ञातं नामरूपगुणैस्त्रिभिः।
विज्ञातं चापि दुर्युक्तमनर्थायोपपद्यते॥
योगादपि विषं तीक्ष्णमुत्तमं भेषजं भवेत्।
भेषजं चापि दुर्युक्तं तीक्ष्णं सम्पद्यते विषम्॥
(च. सू. अ. १)

एवं काश्यपीयायां खिले ज्वरचिकित्सायाम् (अ. २ श्लो. ४२)

सर्पिः पित्तं शमयति शैत्यात् स्नेहाच्च मारुतम्।
समानगुणमप्येतत् संस्काराज्जीयते कफम्॥

आत्रेयीयायां ज्वरनिदाने १ अध्याये—

स्नेहाद्वातं शमयति शैत्यात् पित्तं नियच्छति।
घृतं तुल्यगुणं दोषं संस्कारात्तु जयेत् कफम्॥
(च. नि. अ. १)

काश्यपीयायाम्—

मज्जावसे वसन्ते, प्रावृषि तैलं पिबेच्छरदि सर्पिः।
सर्पिर्वा सर्वेषां सर्वस्मिन् शस्यते पातुम्॥
अनुपानमुष्णमुदकमुक्तं घृतस्य, तैलस्य यूषमिच्छन्ति।

[1] भेडसंहिताया अध्याया अप्यन्येषु स्थानेषु समानाः, सिद्धिकल्पयोः खण्डितयोरपि चरककाश्यपीयतौल्यानुमानेन १२० समष्ट्यङ्कतया ज्ञायन्ते।

मज्जवसयोस्तु मण्डं, सर्वेषां कश्यपः पूर्वम् ॥
आत्रेयीयायाम् (चरकसंहितायाम्)
सर्पिः शरदि पातव्यं वसा मज्जा च माधवे ।
तैलं प्रावृषि नात्युष्णशीते स्नेहं पिबेन्नरः ॥
जलमुष्णं घृते पेयं, यूषस्तैले च शस्यते ।
वसामज्जोस्तु मण्डः स्यात् सर्वेषूष्णमथाम्बु वा ॥
(च. सू. अ. १३)

इति स एवार्थ उभयोः केवलं रचनाभेदेन दृश्यते ॥

(३) काश्यपीये रोगाध्याये (पृ. ३९) रोगविषये एकाद्यष्टान्तभेदपक्षा असंख्येयवादश्च, एवमेव आत्रेयीयायामपि सूत्रस्थाने २६ अध्याये रसविषये एकाद्यष्टान्तभेदपक्षा असंख्येयवादश्चेति समाना प्रक्रिया ॥

(४) रोगोद्देशेऽपि काश्यपीये अशीतिर्वातिकाः, चत्वारिंशत्पैत्तिकाः, विंशतिः श्लैष्मिकाः इति (पृ. ४१) ये ये रोगा निर्दिष्टास्त एव तावन्त एव नाम्नाऽपि प्रायः समानाश्चरकीयेऽपि सूत्रस्थाने २० अध्याये उद्दिष्टा इत्येतद्विषयेऽपि बहुशः साम्यमनुसन्धीयते ॥

(५) काश्यपीयायां लक्षणाध्याये (पृ. ५१) सात्त्विकराजसतामससत्त्वानां यथाऽवान्तरविभागाः, आत्रेयीयायां शारीरे ७ अध्याये केवलं सात्त्विकेष्वेकविभेदन्यूनतया अन्ये समाना एव विभागाः । उभयोर्लेखशैलीपर्यालोचनेऽपि गभीरविचारानुस्यूतो नवनवोन्मेषविशेषसन्दब्धः प्रौढतरो लेखोऽनुभूयते ॥

सुश्रुतसंहितायास्तु खिलात्पूर्वतने भागे १२० मिताया अध्यायसमष्टिसंख्यायाः साम्येऽपि विमानेन्द्रियसिद्धिवर्जं पञ्चैव स्थानानि, तेष्वध्यायसंख्या अप्यसमाना । गर्भावक्रान्त्यध्यायादौ बालधात्र्यादिसम्बद्धविषयाणामप्यनुस्यूततया कर्णवेधस्तन्यपरीक्षासामुद्रिकलक्षणसत्त्वप्रभेदादीनां केषाञ्चिद्विषयाणां प्रायो वृद्धजीवकीयोक्ततौल्यमस्ति । शल्यप्रधाने सुश्रुते सत्त्वप्रधानविषयसम्बद्धविषयाः पूर्वभागे शालाक्यादिप्रस्थानान्तरीयविषयाः खिलभागे सन्ति । खिलभागाध्यायाश्च ६६ एव । वृद्धजीवकीये तु बालकोपयोगिनः प्रधानविषयान् पूर्वभागे संक्षिप्तप्रक्रियया निर्दिश्य खिलभागेऽपि प्रायस्तादृशा धात्र्यादिसम्बद्धाश्च विशेषविषयाः केचन पूर्वभागोक्ता अपि पुनर्विशेषरूपेण च प्रतिपादिताः, अत्र खिलभागाध्यायाः ८० मिता इति कयाचिद्दृष्ट्या साम्यम्, अन्यया दृष्ट्या भिन्नमार्गप्रस्थायितया विषयाणां विभागानां निरूपणप्रक्रियाया रोगनिर्देशादीनां वैषम्यं च समीक्ष्यते ॥

एषां पूर्वेषामार्षग्रन्थानां निबन्धनस्यालोचने शारीरेन्द्रियविमानसिद्ध्यादिस्थानीयविषयविशेषाणां स्थानान्तरे विषयाननुप्रवेश्य क्वचन सुश्रुते तत्स्थानविशेषस्य पृथगनुपादानेऽपि अन्येष्विव तत्रापि अष्टस्थानीयविषयाणामुपादानेन अवान्तराध्यायानां क्वचनैकत्र वैषम्येऽपि बहुत्र साम्यं, समष्टध्यायसंख्यासु सर्वत्रैकरूप्यं, प्रतिपाद्यविषयेष्वपि स्वस्वप्रधानप्रस्थानसंबन्धविभिन्नविषयानेवम्भावेऽपि साधारणविषयाणां सर्वत्रानुस्यूतिः, तत्तत्स्थानाध्यायेषु तत्तद्विषयनिरूपणस्य समानता, केषाञ्चिदध्यायानां न्यूनाधिकभावेन संज्ञास्वपि तौल्यमनुसन्धीयमानमेषां पूर्वैकसम्प्रदायानुसरणं, सन्निकृष्टसमयप्रचलितैकनिबन्धशैलीं वा गमयति ॥

कश्यपात्रेयधन्वन्तरिपरिगृहीतसंप्रदायानामेषां विभिन्नप्रस्थानत्वेऽपि परस्परं परिज्ञानं समादरश्चासीत् ॥

काश्यपीये आत्रेयपुनर्वसोः सनामनिर्देशं मतोद्धारश्चास्ति । द्विव्रणीयाध्याये (पृ. १२३) शल्यप्रक्रियां मनसि निधाय—

परतन्त्रस्य समयं प्रब्रुवन्न च विस्तरम् ।
न शोभते सतां मध्ये लुब्धः काक इवार्चितः ॥
अवश्यं भिषजा त्वेतज्ज्ञातव्यमनसूयया ।
तस्मात् समयमात्रं भो शृणु बालहितेप्सया ॥

इति शल्यप्रधानविद्याया उपादेयत्वं निर्दिश्य, अतिबालविषये "तेषामुपक्रमं......संशमनं, बन्धनमुक्लिन्नप्रक्षालनं, कल्कप्रणिधानं, शोधनं, रोपणं, सवर्णीकरणमित्येतैः......शमयेत्, स्रावणपाटनदहनसीवनैषणसाहसादीन्यतिबालेषु न कुर्यात्" इत्युपक्रम्य बन्धव्रणरोपणादिप्रयोगा रोगाध्याये (पृ ४६)—

वैसर्पणं चात्र वदन्ति सिद्धं रक्तावसेकं च विशोषणं च ।
नत्वेव बालस्य विशेषणं हितं नैवातिसंशोधनरक्तमोक्षणे ॥
स्निग्धैः सुशीतैर्मधुरैरदाहिभिस्तत्रोपचारोऽशनलेपसेचनैः ॥

इति उचितशल्यक्रिया च निर्दिष्टा । अश्मरीप्रकरणे (पृ. १२२)-

शल्यवत्यश्मरी बस्तौ वर्धमानाऽवतिष्ठते ।
क्षीयते क्षीयमाणस्य पुष्यमाणस्य पुष्यति ॥
तस्मान्न नित्यं रुजति तस्योद्धरणमिष्यते ।
अश्मर्युद्धरणं तीक्ष्णमौषधं स्रोत ईरणम् ॥
साहसादतिबालेषु सर्वं नेच्छति कश्यपः ॥

इत्यश्मर्युद्धरणमुक्त्वा अतिबालविषये निषिद्धमस्ति । तेन शल्यप्रस्थानक्रियायाः सादरं परिचयः प्रयोगाप्रयोगपरिच्छेदश्च कश्यपस्य दृश्यते ॥

आत्रेयसंहितायामपि काश्यपीयमतोल्लेखः, धान्वन्तरघृतोपयोगोऽप्यस्ति ॥

दाहे धान्वन्तरीयाणामत्रापि भिषजां मतम् (च. चि. अ. ५)

इत्यादिवाक्यैर्बहुशो धान्वन्तरीयप्रक्रिया निर्दिष्टाः । तेनास्यापि तत्परिज्ञानं विशेषतोऽवगम्यते ॥

भेडसंहितायामपि चरकनिर्दिष्टात्रेयमतोल्लेखः कश्यपमतोल्लेखः,

पिबेत् कल्याणकं सर्पिर्धान्वन्तरमथापि वा ॥ (पृ. १९१)
धान्वन्तरं पिबेच्छर्पिः स्नेहनार्थेषु कुष्ठितः ॥ (पृ. १४२)
धान्वन्तरं पिबेत् सर्पिः प्राजापत्यमथापि वा ॥ (पृ. १६३)

इति धान्वन्तरौषधोपयोगः, छिद्रोदरे (पृ. १६८) अर्शसि (पृ. १८२) च शस्त्रक्रियानिर्देशश्चास्ति । तेनानेनापि आत्रेयकश्यपोपदेशस्य धन्वन्तरिसम्प्रदायस्य च समादरणं गम्यते ॥

सुश्रुतसंहितायामप्यश्मरीप्रकरणे (चि. अ. ७)
घृतैः क्षारैः कषायैश्च क्षीरैः सोत्तरबस्तिभिः ।
यदि नोपशमं गच्छेच्छेदस्तत्रोत्तरो विधिः ॥

कुशलस्यापि वैद्यस्य यतः सिद्धिरिहाध्रुवा ।
उपक्रमो जघन्योऽयमतः स परिकीर्तितः ॥

इत्युल्लेखेन शल्यतन्त्राचार्योऽपि कायचिकित्साप्रस्थानस्य समादरं दर्शयति । अष्टप्रस्थानाचार्यतया ज्ञायमानस्य धन्वन्तरेः प्रस्थानान्तरनिबन्धेषु कौमारभृत्यादिविशेषविषया अपि विशेषतो निर्दिष्टा भवेयुः, अस्मिन् शल्यप्रस्थानीयेऽपि निबन्धे पूर्वभागे शारीरस्थाने गर्भिणीव्याकरणादौ (पृ० ३०३) कौमारभृत्यसंबन्धिनोऽपि विषयाः प्रसङ्गेन लेशतो निर्दिष्टाः सन्ति । तत्राचार्यान्तरप्रस्थानान्तरोल्लेखं विनैवेदृशविषयोपवर्णनं काश्यपसिद्धान्तमभिलक्ष्य स्वतो वा विहितमिति नावधार्यते, किन्त्वेतावताऽस्याचार्यस्य कौमारभृत्यविषयेऽपि विचारविशेष आसीदिति वक्तुं शक्यते । एकैकप्रस्थानाचार्या अप्येते प्रस्थानान्तराचार्याणां विषयेषु तानाद्रियन्ते । अद्यत्वेऽपि शारीरतत्तदवयवविशेषचिकित्सानिष्णाताः पाश्चात्यविद्याभिषजोऽवयवान्तरभैषज्ये तद्विशेषविज्ञानवतस्तदाचार्यानाद्रियन्ते । कायचिकित्सकाः शस्त्रचिकित्सकान् शस्त्रचिकित्सकाश्च कायचिकित्सकांस्तत्तदुचितभैषज्येऽपेक्षन्ते च । युक्तं चैतत् । किन्तु आत्रेयभेडादिभिः काश्यपात्रेयादयो नामग्राहं गृहीताः, सुश्रुतेन कायचिकित्सका नामतो न निर्दिष्टाः केवलं तेषां विषयाः सूचिताः, कश्यपेनात्रेयस्य नामनिर्देशोऽपि शिष्योपक्रमणीये धन्वन्तरये स्वाहेति देवतारूपेण धन्वन्तरेर्निर्देशं विहायान्यत्राचार्यरूपेण धन्वन्तरेर्नाम सांप्रतिकोपलब्धग्रन्थभागे गृहीतं न दृश्यते, केवलं शल्यसम्प्रदायमात्रोल्लेखः कृतः । स च सम्प्रदायो धन्वन्तरेर्दिवोदासस्यान्येषां वा पूर्वाचार्याणामिति न परिच्छेत्तुं शक्यते । वेदेऽप्येतद्विषयोपलम्भेन वेदसमयादेव धारावाहिकरीत्याऽनुवर्तमानेयं शल्यविद्या आत्रेयकश्यपादिभ्यः पूर्वमपि प्रतिष्ठिता समादृता चासीत् । आत्रेयेणापि धन्वन्तरेरेवोल्लेखो विहितो, न तु दिवोदासस्य सुश्रुतस्य वा । धान्वन्तरीयशब्देन च सुश्रुतादयोऽभिप्रेता उतान्य एव पूर्वे धान्वन्तरशल्यसम्प्रदायाचार्या इति च नावधार्यते, केवलं तल्लेखेन शस्त्रसाम्प्रदायिकपूर्वाचार्यमार्गाभिज्ञत्वमायाति ॥

विषयश्चास्य ग्रन्थस्य कौमारभृत्यम् । तत्प्रयोजनं च **विषयः** 'कौमारभृत्यं नाम कुमारभरणधात्रीक्षीरदोषसंशोधनार्थं दुष्टस्तन्यग्रहसमुत्थानां च व्याधीनामुपशमनार्थम्' (सू. अ. १) इति सुश्रुतेन निर्दिष्टम् । तेन च स्वग्रन्थस्य शल्यप्रधानतया सूत्रस्थानोद्देशग्रन्थानुसारेणोत्तरतन्त्रे २७ तः ३८ पर्यन्तं द्वादशाध्यायैः कौमारभृत्यमनुवर्णितम्[१] । परं तत्र विशेषतो ग्रहस्कन्दपूतनादिप्रतिषेधविधानानि तदुपयोगीनि कतिपयौषधानि केवलमुपदर्शितानीत्यस्मिन्विषये ज्ञातव्यानां बहूनां विषयाणामवशिष्यमाणतया एतदीयं कौमारभृत्यमांशिकमेव लक्ष्यते । चरकाचार्येण तु स्वग्रन्थस्य कायचिकित्सारूपत्वमनुपालयता किल आयुर्वेदस्याष्टाङ्गेषु कौमारभृत्यं नाममात्रेणोद्दिश्य तद्विषये उदासितमेव ॥

अस्यां काश्यपसंहितायां तु बालकानामुत्पत्तौ रोगेषु निदानेषु प्रतीकारेषु ग्रहादिप्रतिषेधे तत्संबन्धितयाऽन्तर्वत्नीदुष्प्रजाताधात्र्यादीनां दोषनिर्हरणे च विज्ञेयान् विषयान् तदुपष्टम्भकतया शारीरेन्द्रियविमानादिस्थानीयविषयानपि प्राधान्येनोपादाय प्रासङ्गिकैर्विषयान्तरैश्चान्तराऽन्तराऽऽपूर्य निरूपणदर्शनेन आदितोऽन्तपर्यन्तमनुस्यूतस्यास्य विषयस्य उपलब्ध भाग इव त्रुटितभागेष्वपि सम्भवितया चास्य ग्रन्थस्य सर्वाङ्गसम्पन्नकौमारभृत्यस्थानीयत्वं साधु युज्यते ॥

अत्र ग्रन्थे तत्र तत्र निर्दिष्टैर्बालसम्बन्धिभिः प्रश्नैः प्रतिवचनैः, 'कौमारभृत्यमष्टानां तन्त्राणामाद्यमुच्यते (पृ. ६१), कौमारभृत्यमतिवर्धनमेतदुक्तम् (पृ. ९२) इत्यादिग्रन्थाभ्यन्तरीणलेखैः, क्वचन 'कौमारभृत्ये' इति (पृ. ९२, १४५, संहिताकल्पे) पुष्पिकालेखेन च तदेव कण्ठतः स्फुटीक्रियते ॥

प्राचीने नावनीतके कौमारभृत्यविषयतया निर्दिष्टे चतुर्दशाध्याये कश्यपजीवकयोर्नामनिर्देशेन सह नानौषधप्रयोगोल्लेखदर्शनेन, अष्टाङ्गहृदयस्योत्तरतन्त्रे कौमारभृत्यविषयमुपादायोल्लिखितेऽध्यायत्रये, कश्यपोक्तत्वेन निर्दिष्टयोर्दन्तरोगभैषज्यग्रहहरदशाङ्गधूपयोः काश्यपीयोक्त-(पृ. ७) च्छायानुविधायिनः स्तन्यदोषपरीक्षादेश्च दर्शनेनाभ्यामपि कौमारभृत्ये एतस्योपजीवनं समीक्ष्यते । सुश्रुतीये कौमारभृत्ये "ये च विस्तरतो दृष्टाः कुमाराबाधहेतुभिः" इति सामान्यनिर्देशेऽपि तदीयव्याख्यायां डल्लनेन "पार्वतकजीवकबन्धकप्रभृतिभिः" इति उल्लिखितेषु कौमारभृत्याचार्येषु त्रिषु द्वौ नाममात्रेण शिष्येते, एतद्ग्रन्थोपलम्भेन जीवकः पुनरुज्जीवति ॥

'कौमारभृत्यास्त्वपरे जङ्गमस्थावराश्रयात् ।
द्वियोनिं ब्रुवते धूपं कश्यपस्य मते स्थिताः ॥ (क० धूपकल्पे)'

इत्यत्रोल्लेखेन कौमारभृत्येऽन्येऽपि प्राञ्च आचार्या बभूवुः । अन्येऽपि कश्यपस्योपजीवका आसन्, कश्यपः कौमारभृत्ये प्रधानाचार्य आसीदित्यवगम्यते ॥

कौमारभृत्ये शारीरप्रकृतिविपर्यासेन स्कन्दरेवत्यादिबालग्रहवैकृतेन स्तन्यादिदोषेण च जायमानानां बालकाबाधानां निरसनमुद्दिश्य नानाभैषज्यानि, बालग्रहप्रतीकाराः, अन्येऽप्येतदनुस्यूता विषया उपवर्ण्यन्ते । तदिदं कौमारभृत्यं कायचिकित्साया भूतविद्यायाश्च बालभैषज्योपयोगिनस्तदनुषङ्गेण गर्भधात्रीसूतिकादिसम्बद्धाँश्च विषयान् प्राधान्येनोपादाय समुपबृंह्य पृथक्प्रस्थानरूपेण समुदेतीत्यस्मिँश्चिकित्साप्रस्थानस्येव भूतविद्याप्रस्थानस्यापि विषयाः प्रविशन्ति । भैषज्यविद्येव भूतग्रहादिप्रतिषेधविद्या वैदिक्यामप्यवस्थायामासीदेव । छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये 'नक्षत्रविद्यां भूतविद्यां सर्पजनविद्याम्' इति प्राचीनविद्यासु भूतविद्याऽपि निर्दिष्टा । अथर्ववेदेऽप्येतदीया विषयास्तदुपयोगिनो मन्त्राश्च बहुश उपलभ्यन्ते इति पूर्वमुक्तमेव । अत एवेयमाथर्वणविद्यात्वेनापि कीर्त्यते । इतिहासदृशाऽपीयं भूतविद्या सर्वतः प्राक्कालेऽवगम्यमानाऽतिप्राचीनकालादेवात्मनः सत्तामवगमयति ॥

१. नवग्रहाकृतिज्ञानं स्कन्दस्य च निषेधनम् ।
अपस्मारशकुन्योश्च रेवत्याश्च पुनः पृथक् ॥
पूतनायास्तथाऽन्धाया मण्डिकाशीतपूतना ।
नैगमेषचिकित्सा च ग्रहोत्पत्तिः सयोनिजा ॥
कुमारतन्त्रमित्येतच्छारीरेषु च कीर्तितम् । (सुश्रुतसूत्रस्थाने)

कौमारविषये क्रियाकालगुणोत्तरतन्त्रमुपलभ्यते । तत्र कुमारबाधाकरा ग्रहास्तत्तद्दिनमासवर्षभेदेन पीडाकरा वालग्रहविशेषास्तन्निवारका मन्त्रप्रयोगाः कल्पाः कानिचिदौषधादीनि धात्वादीनि च बहुशो निरूपितानि । तत्र शकुनीरेवतीपूतनाभ्योऽन्येऽप्युपशतं बालग्रहाः, मन्त्रा अपि पौराणिकच्छायोपजीविनः, विधानमालाधद्धृतानि स्कन्दमार्कण्डेयपुराणादिवाक्यानि, वालचिकित्सामृत[1]कल्याणवर्मकृतबालतन्त्रयोगसुधानिध्यादयोऽर्वाचीननिबन्धग्रन्थाश्चाद्यत्वे बालतन्त्रविषये उपलभ्यन्ते । तेष्वपि वर्षमासदिनभेदेन विभिन्ना बालग्रहा इति तेषु क्रियाकालगुणोत्तरे चैकच्छाया प्रक्रियाऽवगम्यते । अस्यां काश्यपसंहितायां तु कतिपये एव ग्रहपूतनादयः, वर्षमासदिनभेदेन विभिन्ना ग्रहा नैव, स्कन्दरेवतीपूतनादिप्राचीननामभिरेव तेषामुल्लेखः, मन्त्रा अपि प्रायो वैदिकच्छायानुविधायिनः, क्वचन (मातङ्गीविद्योपदेशे क. रेवतीकल्पे) प्राकृतशब्दगर्भो मन्त्रोपदेशः, भैषज्यविषयोऽपि विभिन्न इत्यनयोर्मिथो विभिन्ना प्रक्रिया समुपलक्ष्यते । उभयतो विषयतुलनायां क्रियाकालगुणोत्तरादिनिर्देशेषु विकासावस्थाप्रक्रियाया दर्शनेन तदपेक्षया काश्यपसंहितायां बहुप्राचीनसम्प्रदायावलम्बः समीक्ष्यते । सुश्रुते निर्दिश्यमाना बालग्रहा अप्यविकासावस्थामनुभावयन्ति ॥

रावणकृतं[2] बालकुमारतन्त्रं दशग्रीवबालतन्त्रं वेत्यभिधीयमानमेकं प्राचीनं बालतन्त्रमुपलभ्यते । अस्य षष्ठसप्तमशताब्द्यां चीनभाषायां विहितोऽनुवादोऽप्यस्तीति श्रूयते। एतद्ग्रन्थविषये Biblio Theque Nationale Paris नाम्नि पुस्तके विशेषतो निरूपितमस्ति तदात्वे तावति दूरे जातानुवादतया ततोऽपि प्राचीनेऽस्मिन् ग्रन्थेऽपि वर्षमासदिनभेदेन व्यवस्थितानां ग्रहपूतनादिप्रभेदानामुल्लेखेन एषा विकसिताऽपि प्रक्रिया नार्वाचीना वक्तुं शक्यत इत्यविकसितपद्धतेस्ततोऽपि प्राग्भावः सुतराम् ॥

१. वालचिकित्सामृतं नाम स्वीयैः परकीयैश्च पद्यैर्बालसम्बन्धिरोगौषधानां विहितसंङ्ग्रहं कायगतपत्रलिखितं जीर्णप्रायं पुस्तकं नेपालराजकीयपुस्तकालये विद्यते ॥

२. अस्मिन् बालतन्त्रे नन्दा सुनन्दा पूतना मुखमण्डिका कटपूतना शकुनिका शुष्करेवती अर्यका सूतिका निर्ऋतिका पिलिपिच्छिका कामुकेति द्वादश मातृका निर्दिष्टाः सन्ति । ग्रन्थलेख एवमादिरूपेण दृश्यते—

प्रथमे दिवसे मासे वर्षे वा गृह्णाति नन्दना नाम मातृका । तया गृहीतमात्रेण प्रथमं भवति ज्वरः, अशुभं शब्दं मुञ्चत्याक्कारं च करोति, स्तन्यं न गृह्णाति । बलिं तस्य प्रवक्ष्यामि येन संपद्यते शुभम् । नद्युभयतटमृत्तिकां गृहीत्वा पुत्तलिकां कृत्वा शुक्लौदनं, शुक्लपुष्पं, शुक्लाः सप्तध्वजाः, सप्तप्रदीपाः, सप्तस्वस्तिकाः, सप्तवटकाः, सप्तशष्कुलिकाः, सप्तजम्बूफलानि, सप्त मुष्टिकाः, गन्धाः, पुष्पं, ताम्बूलं, मत्स्यमांसं, सुराग्रभक्तं च पूर्वस्यां दिशि चतुष्पथे मध्याह्ने बलिर्देयः, ततोऽश्वत्थपत्रं कुम्भे प्रक्षिप्य शान्त्युदकेन स्नापयेत् । रसोनसिद्धार्थकमेषशृङ्गनिम्बपत्रशिवनिर्माल्यैर्बालकं धूपयेत् । ॐ नमो रावणाय अमुकस्य व्याधिं हन हन मुञ्च मुञ्च ह्रीं फट् स्वाहा । एवं दिनत्रयं बलिं दत्त्वा चतुर्थे दिवसे ब्राह्मणं भोजयेत्, अतः सम्पद्यते शुभम् ॥

वालग्रहरूपेण स्कन्दस्योल्लेखस्तदाराधनविधानं चास्यां संहितायां दृश्यते । स्कन्दस्योपासनाप्रणाली प्राचीना । छान्दोग्योपनिषद्[1]गीता[2]महाभाष्या[3]दिष्वपि स्कन्दस्योल्लेखोऽस्ति । महाभारते वनपर्वणि स्त्रीणां गर्भनाशकत्वेन बालरक्षाकरत्वेन च स्कन्दस्योल्लेखोऽस्ति । स्कन्दादीनां बालग्रहरूपेणोपवर्णनं महाभारतीयं सुश्रुतोक्तं च प्रायः साम्येन दृश्यते । पारस्करगृह्यसूत्रेऽपि नवजातबालकविनाशहेतुतया स्कन्दस्योल्लेखो वर्तते । एतद्विषये श्रीयुतमन्मथमुखोपाध्यायेन[4] विशेषतो वर्णितमस्ति ॥

अस्यां काश्यपसंहितायां तत्र तत्रानेके नवीना विषया विचाराः, रमणीया निरूपणरीतयः, विशेषोपपत्तिदृष्टयश्च प्रतिभासमाना निबन्धस्य प्राचीनार्षोन्मेषगौरवमवगमयन्ति । तथाहि—

दन्तजन्माध्याये (पृ. ११) दन्तानां विभेदाः, तेषां सम्पद्विपत्, कुमाराणां कुमारीणां च दन्तेषु वैशेष्यमित्यादयो दन्तविषयका विज्ञानविशेषा अन्यत्रानुपलब्धा उपलभ्यन्ते ॥

स्वेदाध्याये (पृ. २६) स्वेदविषये बहवो विज्ञातव्यविषया निरूपिताः सन्ति । साम्प्रतिकबाष्पस्वेदनादिप्रक्रियापेक्षया एतदीयप्रक्रियायां न विचारन्यूनता वक्तुं शक्यते । बालानां स्वेदने मार्मिकी प्रक्रिया च समीक्ष्यते ॥

लक्षणाध्याये (पृ. ४७) सामुद्रिकलक्षणानि सविशेषं निरूपितानि, परमन्ते खण्डितानि । लक्षणप्रकाशोद्धृतपाराशरसंहितायामप्येतादृशान्येव प्रौढानि सामुद्रिकलक्षणानि वर्तन्ते । त्रुटितांशस्य विषयस्तत एवाध्यवसेयः ॥

रोगे उपद्रवान्तरोत्पत्तौ पूर्वरोगस्योपद्रवस्य वा केवलं प्रथमप्रतीकारमतमननुमान्य तीव्रतरमुपक्रम्योभयोर्हिते प्रतीकारे स्वमतमुपदर्शितम् (पृ. ३९) ॥

प्रसवविलम्बे परोक्तस्य व्यायाममुसलघातादिपक्षस्य सयुक्तिकं निरसनम् (पृ. ८५) ॥

अतिबालेषु अश्मर्युद्धरण–तीक्ष्णौषधादिप्रयोगेषु मार्मिकी अननुज्ञा (पृ. १२२) ॥

वस्तिकर्मणो बालकादिषु सुप्रयुक्तस्य अमृतस्थानीयस्य भिषक्पितृबालकादीनां सर्वेषां श्रेयस्करत्वं, दुष्प्रयुक्तस्य तु अनर्थावहत्वमिति बालके कस्मात् समयादारभ्य वस्तिकर्मेत्यत्र बहूनामाचार्याणां स्वस्य च मतोपन्यासेन गभीरो विचारः (पृ. १४७) ॥

बालानां फक्करोगे त्रिचक्ररथोद्भावनम् (पृ. १४१) ॥

एकनाभिकयोः कस्मात् तुल्यं मरणजीवितम् ।
रोगारोग्यं सुखं दुःखं न तु तृप्तिः समानजा ॥

इत्यादिना यमलविषये विचित्रः प्रश्नविशेषः, सोपपत्तिकं चोत्तरम् (रेवतीकल्पे श्लो० ६२) ॥

१ भगवान् सनत्कुमारस्तं स्कन्द इत्याचक्षते (छान्दोग्ये) ।

२ सेनानीनामहं स्कन्दः (भगवद्गीतायाम्) ।

३ 'जीविकार्थे चापण्ये' इति सूत्रव्याख्याने महाभाष्ये शिवः स्कन्द इति ॥

४ Indian Historical Quarterly Vol 7.P. 309.

विषमज्वरनिर्देशाध्याये तृतीयचतुर्थादिज्वराणां तत्तद्दिनाविर्भावे सम्भवन्तीनामुपपत्तीनां वर्णनमस्ति (खिलस्थाने अ. १)॥

बालकानां षष्ठे मासि सर्वैराचार्यैरन्नप्राशनस्य विधानेऽपि एतदीयाचार्येण तत्संस्कारविधानं निर्दिश्य षष्ठे मासि फलप्राशनमात्रं, द्वादशमासिकस्यान्नमभिलषतोऽल्पशोऽन्नभोजनमिति अनुपचिताग्निबलस्यातिशिशोः मृदुपाकेन फलरसेनैवोपयोगः, संवत्सरोत्तरमेवान्नोपयोगः कीर्त्यते । आधुनिकैः पाश्चात्यवैद्यकनिष्णातैरपि एवमेवातिबालेषु फलोपयोगो वर्षोत्तरमेवान्नोपयोगः साधीयस्त्वेन कीर्त्यते (खिलस्थाने अ. १३) ॥

वेदनाध्याये वाचा स्ववेदनां प्रकटयितुमशक्तानां बालानां तत्तच्चेष्टाविशेषैस्तत्तद्रोगाणां तत्तदङ्गवेदनानां च आनुमानिकविज्ञानवर्णनम् (पृ. ३३) ॥

रोगाणां विज्ञानोपायाः निदानपूर्वरूपरूपादयः चरकसंहितायां विमानस्थाने चतुर्थाध्याये—

'आप्ततश्चोपदेशेन प्रत्यक्षकरणेन च ।
अनुमानेन च व्याधीन् सम्यग् विद्याद्विचक्षणः ॥'

इति प्रत्यक्षादयस्तद्विज्ञानोपायाः प्रदर्शिताः । सुश्रुतेनापि दर्शनस्पर्शनप्रश्नादय उपाया उल्लिखिताः । तेन प्राचीने सम्प्रदाये दर्शनस्पर्शनप्रश्नादिभिर्निदानादिपञ्चरूपाणि विविच्य रोगपरिज्ञानं निर्दिश्यते । नाडीविज्ञानस्योल्लेखश्चरकसुश्रुतादिषु प्राचीनग्रन्थेषु अस्यां काश्यपसंहितायामपि न निर्दिष्टः । नाडीपरीक्षाया अर्वाचीनग्रन्थेष्वेव निर्देशोपलम्भेन स एष विषयः पश्चात्काले प्रचलितोऽवगम्यते । नाडीविज्ञानस्य भारताचीनोपगमेन भारतीयमेवेदं विज्ञानमित्यपि मतमस्ति । सेयं प्रक्रिया भारत एवोद्भूता देशान्तरसम्प्रदायच्छायया वाऽत्र प्रचलितेति विचारो विषयान्तरत्वादास्तां तावत् । यथा तथापि प्राचीनग्रन्थेष्वेतस्य विषयस्यानुल्लेखेन पूर्वकालिकत्वं समर्थयितुं प्रमाणान्तरमपेक्ष्यते । बालकविषये तु अतिबालकानां वाक्शक्तिवैकल्येन यथावदवबोधनाक्षमतया तदीयचेष्टाविशेषै रोगविज्ञानस्य प्रक्रियाऽपि अस्यां काश्यपसंहितायां वेदनाध्याये (पृ. ३३), अन्यत्रापि तत्र तत्र वर्णिता दृश्यते ॥

प्राचीनाचार्याः सूक्ष्मविचारशक्त्युन्मिषितदृष्टयो येषु येषु विषयेषु प्रवर्तन्ते तत्र तत्रान्तस्तलपर्यन्तमवगाह्य मार्मिकैरुपन्यासैरुपदेश्यान्यथावदवबोधयन्ति । कौमारभृत्यविषये प्रवृत्तेन कश्यपेन आचार्यान्तरीणसर्वसाधारणविषया इव बालकेष्वतिबालकेषु चोपयोगिनोऽनेके विषयाः सम्यक् सूचिता उपलभ्यन्ते ॥

वातपित्तकफानां त्रयाणां दोषाणां निर्देशो वैदिके लेखेऽप्युपलभ्यते । ऋग्वेदे-'त्रिधातु शर्म वहतं शुभस्पती' इति त्रिधातुशब्दोल्लेखोऽस्ति । यः शब्दो वातपित्तकफरूपत्रिदोषपरत्वेन सायनाचार्येण व्याख्यातः । ब्रूमफिल्डविदुषाऽपि [तदेवाङ्गीकृतम् । जीमरप्रभृतिभिः कैश्चिदन्य एवार्थो विहितः । किन्तु अथर्ववेद उपलभ्यमानेषु वातगुल्मवातीकृतेत्यादिपदेष्वर्थान्तरस्यासङ्गत्या सर्वत्रैकरूप्यस्यौचित्येन त्रिदोषपरत्वमेव संगच्छते नार्थान्तरम्' इत्युल्लिखितं पी. सी. रायमहोदयेन । ग्रन्थेष्वप्यात्रेयसुश्रुतकश्यपादित आरम्भाद्यपर्यन्तमपि भारतीयप्रक्रियायां त्रिदोषपद्धतिर्धाराप्रवाहगत्याऽनुवर्तते । सुश्रुते वातपित्तकफानां त्रयाणां धातूनां दोषाणां वा देहसम्भवे रोगोत्पत्तौ वा हेतुत्वपक्षो बहुशो निर्दिष्टः । सुश्रुते क्वचन त्रिदोषपक्षस्यैकीयत्वेनोल्लिख्य रक्तस्यापि चतुर्थहेतुभवो निर्दिष्टः । पूर्वकालिके महावग्गस्य प्राचीनबौद्धवैद्यकग्रन्थे बावरोपलब्धनवनीतादिग्रन्थेषु त्रिदोषप्रक्रियैवावलम्बिता दृश्यते । जीवकचिकित्साप्रक्रियायां महावग्गे विनयपिटकेऽपीयमेव त्रिदोषपद्धतिरुपात्ता दृश्यते । कात्यायनीयवार्तिकेऽपि वातपित्तकफानां समभिव्याहारो दृश्यते । B. C. ४६० वर्षपूर्वभवस्य हिपोक्रिटसनाम्नः प्राचीनपाश्चात्यवैद्यजन्मनोऽपि पूर्वं भारते त्रिदोषपद्धतिः परिनिष्ठिताऽऽसीत् । तदीयवैद्यकविज्ञाने पित्तकफरक्तजलानां चतुर्णां दोषतया प्रदर्शनमपि भारतीयप्राचीनत्रिदोषपद्धतेर्वासनयोपरक्ते तन्मनसि सौश्रुतविज्ञानप्रगत्या विचारविकाश उन्नीयते ॥

अत्रेदं प्रतिभाति—प्राग्विज्ञाने स्पष्टं पार्थक्येन सर्वानुस्यूततयाऽवगम्यमानौ अग्निः सोमश्च उष्णं शीतञ्च वा मौलिके तत्त्वे अवभासतः । येन वैदिक्यां यागप्रक्रियायामस्यादित एवारभ्याग्नीषोमयोः पर्युपासनाऽनुवर्तते । शारीरिक्यां परिस्थित्यामपि शीतोष्णभावेन सोमाग्निरूपयोः शुक्रशोणितयोर्देहसम्भवहेतुतया तदनुषङ्गेणाग्नीषोमीयत्वं गर्भस्य सुश्रुतेऽपि निर्दिष्टमस्ति । वायोस्त्वेतद्द्वययोगभावितया तदन्यतरान्तःप्रवेशोऽपि अर्थक्रियाविशेषविकासदृशा सत्त्वरजस्तमांसीवाग्निवायुसोमात्मकतया वातपित्तकफास्त्रयो धातवो देहधारतया विकारेण दोषतामापद्य रोगजनकतया च प्राचीनायुर्वेदविद्भिर्निरधार्यन्त, तन्मूलिकैवेयं त्रिदोषपद्धतिः कश्यपात्रेयभेडादिभिः प्रत्नाचार्यैरुपादीयत च । यथा यथा क्रमशो विचारविशेषोन्मेषः, तथा तथा नवनवानि तत्त्वान्यपि पुरःस्फुरन्ति । अतः किल सुश्रुताचार्येण बहुशो वातपित्तकफानां त्रयाणां दोषाणां निदानतामभ्युपगम्यापि प्रथमकक्षायां त्रयाणामेषां दोषत्वेऽपि द्वैतीयिक्यां कक्षायां विकृतेन रक्तेनापि बहुनर्थोद्भवस्य विमर्शे तेषां त्रयाणामिव चतुर्थस्य रक्तस्यापि व्रणादौ प्राधान्यवाद उपदिष्टः । हिपोक्रीटसविदुषो वैद्यकविज्ञाने पित्तकफरक्तजलानां चतुर्णां दोषतया प्रदर्शनमपि भारतीयप्राचीनत्रिदोषपद्धतेर्वासनयोपरक्ते तन्मनसि सौश्रुतविज्ञानप्रगत्या विचारविकाश उन्नीयते । तदेवं विचारविकासः कालानुक्रमेण पुरातनपद्धतेरेव परिष्कारं द्रढयति ॥

---

१ हिस्ट्री ऑफ् हिन्डु केमिस्ट्री Vol I भूमिकायां P.xxxv. पी. सी. राय.

१ वातपित्तश्लेष्माण एव देहसंभवहेतवः । तैरेवाव्यापन्नैरधोमध्योर्ध्वसन्निविष्टैः शरीरमिदं धार्यतेऽगारमिव स्थूणाभिस्तिसृभिरतश्च त्रिस्थूणमाहुरेके । त एव व्यापन्नाः प्रलयहेतवः । तदेभिरेव शोणितचतुर्थैः संभवस्थितिप्रलयेष्वप्यविरहितं शरीरं भवति । सुश्रुते सूत्रस्थाने २१ अध्याये ॥

२ आर्तवं शोणितं त्वाग्नेयं, अग्नीषोमीयत्वाद् गर्भस्य (सुश्रुते सूत्रस्थाने अ. १४)

३ तच्च वीर्यं द्विविधमुष्णं शीतं च, अग्नीषोमीयत्वाज्जगतः (सुश्रुते सूत्रस्थाने अ. ४०)

काश्यपसंहितायां कल्पस्थाने (लशुनकल्पे) कौतुककारी महीयांल्लशुनकल्पप्रयोगोऽप्यस्ति । चीनदेशान्तर्गते कासगरनामकस्थाने बौद्धस्तूपेन सह बावरनामकेन पाश्चात्यान्वेषकेण भूगर्भादुपलब्धेषु सप्तग्रन्थेषु त्रयो वैद्यकग्रन्थाः, येषु नावनीतकं नामैकः, द्वितीयो लशुनस्य विशेषगुणगौरवावबोधको ग्रन्थः, तृतीयश्च ७२ श्लोकात्मको नानायोगौषधनिरूपको लेखः। एषां लेखसमयेऽपि प्राचीने तदीयरचनाकालस्ततोऽपि प्राचीन इति पूर्वमुक्तमेव । मुद्रिते नावनीतकेऽपि आदितः सविस्तरं काशिराजेन सुश्रुतायोपदिष्टं लशुनविधानमस्ति । तत्र लशुनस्योत्पत्तौ क्वचन प्रयोगांशेषु विभेददर्शनेऽपि काश्यपीयलशुनकल्पीयप्रयोगच्छाया बहुत ईक्ष्यते । भाषारचनालोचनेऽपि नावनीतकलेखात् काश्यपीयलेखे प्राग्भावः स्फुरति । चरकसंहितायामपि लशुनोपयोगोऽस्ति । इत्थं पुरा कालभैषज्यग्रन्थेऽप्युपलभ्यमानो लशुनोपयोगोऽर्वाग्भावशङ्कायै न प्रभवति । लशुनं हि स्वगुणगौरवेण केवलं रसेन ऊनमित्यन्वर्थतया रसोनमित्यप्युच्यते । भेषजेषु विशेषतो गीयते चायुर्वेदे । धार्मिकदृष्ट्या स्मृतिग्रन्थेषु लशुनं द्विजेभ्यो विगीयतां नाम, भैषज्यग्रन्थेषु गुणगौरवेण किन्न प्रशस्यताम् । अस्यां काश्यपसंहितायां पुराकाल एवामृतोद्गाराल्लशुनस्योत्पत्तिमभिधाय स्थानदोषेण दुर्गन्धमिदं द्विजैरग्राह्यमिति धर्मशास्त्रमर्यादां स्पष्टमुल्लिखँल्लोकोपकारदृशा तस्य गुणमहिमानं कल्पं च निरूपयायास तत्कल्पाध्याये महर्षिः कश्यपः। जातिविशेषैरभक्ष्याणां सुरादीनां सर्वेषु निषिद्धानां हस्तिमांसखरमूत्रादीनामपि गुणविचारेण तत्र तत्र रोगेषूपयोगोल्लेखा आर्षेष्वपि भैषज्यगुणेषु बहुश उपलभ्यन्ते। नैतावता तेषामुपदेशकानां धर्ममार्गपरित्याग इति न वा धर्मदृढव्रतैरप्युपादेय इत्यपि शङ्कनीयं भवति । उक्तमेव—

> 'न शास्त्रमस्तीत्येतावत् प्रयोगे कारणं भवेत् ।
> रसवीर्यविपाका हि श्वमांसस्यापि वैद्यके ।'
> (वात्स्यायनीये कामसूत्रे सां. अ. अ. २)

इति । श्येनयागस्य हिंसारूपतयाऽनुपादेयत्वेऽपि तद्दोषमङ्गीकृत्याभिचारेणैहिकं सदुदर्कं कामयतामिष्टसाधनाय 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इति श्रौतमपि विधानमुपलभ्यत एव । 'यो हि हिंसितुमिच्छेत् तस्यायमभ्युपायः' इति शबरस्वामिभिरेतत् समर्थितं च। लशुनस्योल्लेखो गौतमधर्मसूत्रे (१५. ३०), मनुस्मृतौ (५. ५, १९), याज्ञवल्क्यस्मृतौ (१. १७६) महाभारते (८. २०३४, १३. ४३६३) अप्यस्ति ॥

हिङ्गुप्रयोगदर्शनमपि नार्वाचीनत्वशङ्कायै प्रभवति । यतो हिङ्गु बहोः कालात् पूर्वत उपादीयते भारतीयग्रन्थेषु । धार्मिकग्रन्थेष्वपि श्राद्धादौ हिङ्गु पितृप्रियमुल्लिख्यते । चरकसुश्रुतयोः काश्यपीये तत्र तत्रौषधेषु तत्सहयोगो वर्ण्यते । काश्यपीयादौ हिङ्गुवाचकतया बाल्हीकशब्दोऽपि प्रयुज्यते । तेन बाल्हीकाद्देशान्तरादस्य भारतीयैः परिचय उपयोगो वा विहितः स्यात् । येनास्य तद्देशनाम्नाऽपि व्यवहार इति प्रतिभाति । परं भारतस्य बाल्हीकदेशस्य च मिथः सम्पर्कस्तदीयवैद्यानां च परिचयः पूर्वकालादेवासीदिति आत्रेयकश्यपादिभिरपि बाल्हीकभिषजः काङ्कायनस्य नामनिर्देशेन बाल्हीकानां पुनः पुनरुल्लेखेन च विज्ञायते । बाल्हीकदेशस्तु यवनानामाक्रमणात् प्रागपि इरानियज्ञातीयानां साम्राज्ये प्रतिष्ठितो बल्खप्रदेशः। तदात्वे तत्रत्याया इरानजातेः समुन्नतिसमये तदीयभिषजां तदीयौषधानां च भारतीयपुरातनग्रन्थेषूपादानं सङ्गच्छते च ॥

भावप्रकाशे पारसीकयवान्या उल्लेखेन पश्चात्तनदेशान्तरवस्तूपादानदर्शनेऽपि चरकसुश्रुतकाश्यपीयादिप्राचीनग्रन्थेषु न तथोल्लेखोऽस्ति । किन्तु यवानीशब्दमात्रस्य निर्देशोऽस्ति । यवानीशब्दस्तु न यवनशब्दान्निष्पन्नो न वा यवनसम्बन्धाभिधायी । इन्द्रवरुणेतिसूत्रे[1] यवशब्दाद्यवानीशब्दो निष्पाद्यते पाणिनिना । वार्तिककृता कात्यायनेन 'यवाद्दोषे' इति दुष्टयवार्थे स शब्दः स्त्रियां साध्यते । अतोऽयं भारतीय एव प्राचीनो यवानीशब्दोऽपि नान्यथा शङ्कायै प्रभवति ॥

अत्र देशविशेषनिर्देशः

एतत्पुस्तकस्योपलभ्यमानान्तिमपत्रगते देशसात्म्याध्याये (खिलस्थाने) देशविशेषेण रोगविशेषान् निदर्शयितुं तदात्वे एतद्विद्यासमुन्मेषादिदृशा किल प्रसिद्धं कुरुक्षेत्रं मध्यदेशं प्रकल्प्य तदनुसारेण पूर्वादिगतानां देशविशेषाणामुल्लेखोपक्रमो दृश्यते । यदि नामायमध्यायः साकल्येनोपालप्स्यत तदान्येऽपि बहवो देशास्तादात्विका अवागमिष्यन्त । परमेतावत्येवास्य पुस्तकस्य विच्छेदेन क्षुधितस्यार्धकवल एव प्रतिरोध इवोत्कलिका बलान्निगृहीतव्या भवति । अन्त्यभागविलोपेन तत्रोल्लिखितानां पश्चिमोत्तरदेशानामपरिज्ञानेऽपि पूर्वदिग्गताः दक्षिणदिग्गताश्च कतिपये देशा विज्ञायन्ते । यद्यपि पूर्वदक्षिणगता अपि प्राचीनाः सर्वे देशा नोल्लिखिताः, अपितु रोगोचिता एव केचनोल्लिखिता भवेयुः । तेषु प्रियङ्गु–नवध्वान–वानसी–मुकुद–विवेह–घटानामुपलभ्यमानग्रन्थान्तरेषु संवादकनिर्देशालाभेनानिर्धारणेऽपि तत्सहचरितानामधो निर्दिष्टानां देशनाम्नां प्राचीनत्वेन विज्ञायमानतया सर्वाणीमानि प्राचीनकालाद्व्यवहृतान्यवगम्यन्ते । अधस्तनानि देशनामानि प्राचीनपरिचयेन सह श्रीयुतकनिङ्हाम[2]विदुषा श्रीयुतनन्दलालमहोदयेन[3] श्रीयुत E. J. Rapson[4] महाशयेन स्वीयप्राचीनभौगोलिकग्रन्थेषु निर्दिष्टान्युपलभ्यन्ते ॥

मध्ये—कुरुक्षेत्रप्रदेशः–शतयोजनमितः। स तु सर्वत्र प्रसिद्धः।

पौरस्त्यदेशाः—

कुमारवर्तनीः—महाभारते (सभा० अ० २९) कुमारदेशस्योल्लेखोऽस्ति । सोऽयं रीवासमीपगतः कुमारदेश इत्युच्यते ॥

कटीवर्षः—अद्यत्वे वङ्गदेशे वर्धमानप्रान्ते वर्तमानः कटवाप्रदेशोऽयमित्युच्यते ।

---

१ इन्द्रवरुणभवशर्वरुद्रमृडहिमारण्ययवयवनमातुलाचार्याणामानुक् (पा० सू० ४-१-४९)

२ Ancient Geography of India.

३ Geographical Dictionary.

४ Ancient India (Cambridge History of India Vol.I).

मगधः—ऋग्वेदेऽथर्ववेदे च मगधदेशस्योल्लेखदर्शनेनास्य पुरासमयादेव स्वनाम्ना प्रसिद्धिरुपलभ्यते। मागधस्योल्लेखस्तैत्तिरीयब्राह्मणे (३.४.१.१.), जैमिनीयब्राह्मणे (१६५) अप्यस्ति॥

ऋषभद्वीपः—महाभारते (वनपर्व० अ० ८५) ऋषभस्योल्लेखोऽस्ति। बृहत्संहितायामपि दक्षिणतः ऋषभो निर्दिष्टोऽस्ति। मदुरासन्निहितः ऋषभपर्वतप्रदेशः इति केचन वदन्ति। परं पूर्वदेशस्थित एव ऋषभद्वीपोऽस्याभिमतः स्यात्॥

पौण्ड्रवर्धनकम्—पुण्ड्रवर्धनमप्येतदेवोच्यते। पुण्ड्रदेशस्य राजधानीयमासीत्। हरिवंश-पद्म-ब्रह्माण्डपुराणादिषु वासुदेवनृपते राजधानीत्वेन निर्दिश्यते च। सोऽयमद्यत्वे मालदाप्रान्तगतपाण्डुवाप्रदेशः कथ्यते। महाभारते भीमदिग्विजये पूर्वस्यां पुण्ड्रदेशः, वराहसंहितायां पौण्ड्रदेश उल्लिखितोऽस्ति। श्रीयुतपार्जिटरमहोदयः पुण्ड्रं पौण्ड्रं च भिन्नौ स्वीकृत्य पुण्ड्रो गङ्गाया उत्तरतोऽङ्गवङ्गयोर्मध्ये, पौण्ड्रो गङ्गाया दक्षिणतो वर्तमानसन्थालपरगनान्तर्गतवीरभूमप्रदेश इति निरूपयति॥

मृत्तिकावर्धमानकम्—सोऽयं वर्धमानदेशः सम्भाव्यते। मार्कण्डेयपुराणवेतालपञ्चविंशत्यादिषु विन्ध्यस्योत्तरतः, देवीपुराणे (अ. ४६) वङ्गसमीपे वर्धमानदेश उल्लिखितोऽस्ति॥

कर्वटम्—महाभारते भीमदिग्विजये पूर्वस्यां कर्वटदेशस्योल्लेखोऽस्ति। बृहत्संहितायामप्यस्य निर्देशोऽस्ति॥

मातङ्गम्—युक्तिकल्पतरौ कामरूपस्य दक्षिणपूर्वतो मातङ्गदेशो रत्नखनितया निर्दिष्टोऽस्ति॥

ताम्रलितम्—महाभारते (भीष्म० अ. ९, सभा० अ. २९) भीमसेनदिग्विजये बृहत्संहितायामन्येषु पुराणबौद्धग्रन्थदशकुमारचरितादिष्वपि निर्दिष्टमस्ति। ह्युयन्सङ्गेनाप्येतदुल्लिखितम्। अशोकशिलालेखेऽपि निर्दिष्टमस्ति। सोऽयं वङ्गीयमेदिनापुरप्रान्तगतः तमलूकनाम्ना प्रसिद्धो देशोऽवगम्यते॥

चीनकम्—चीनदेशस्योल्लेखो महाभारते (सभा० अ.५१) मनुस्मृतौ (१०-४४) चास्ति। साहित्यपरिषत्पत्रिकायां चीनशब्दो वर्तमानस्य अनामा (Annama) देशस्य बोधकतया दर्शितः। कौशेयवस्त्रस्य चीनांशुकत्वेन पुराकालात्प्रसिद्धिः, बर्माप्रदेशे विशेषतः कौशेयवाणिज्यं तत्प्रदेशस्य चीनराज्यत्वमप्यासीत्। चीनकेतिकप्रत्ययान्तशब्देन लघुचीनरूपः स प्रदेशो बोधितः प्रतिभासते॥

कौशल्यम्—कोशलदेशः उत्तरकोशलदेशश्च रामायणे (उत्तर० अ. १०), पद्मपुराणे (उत्तर० अ. ६८), अवदानशतकादिषु च निर्दिष्टोऽस्ति॥

कलिङ्गम्—महाभारते (वन० अ. ११३) सहदेवदिग्विजये, बृहत्संहितायां, अशोकशिलालेखेऽप्युल्लिखितमस्ति। महाभारतसमये उत्कलस्य बहवो भागाः कलिङ्गराज्यान्तर्गता आसन्। कालिदाससमये कलिङ्गोत्कलौ भिन्नावास्ताम् (रघुवंशे ४)॥

दाक्षिणात्यदेशाः—

काञ्ची—महाभारते (भीष्म० अ. ९), पाद्मे (उत्तर० अ. ७४) अपि उल्लिखिताऽस्ति। महाभाष्येऽपि चीरचोलकाञ्चीनामुल्लेखोऽस्ति। द्रविडचोलदेशस्य राजधान्यासीत्। अद्यत्वेऽपि काञ्ची (काञ्जीवरम्) प्रसिद्धैव॥

कावीरम्—सोऽयं कावेरीनदीपरिसरप्रदेशः सम्भाव्यते। कावेर्या उल्लेखः स्कन्दपुराणादिषु दृश्यते। कालिदासेनापीयमुल्लिखिता (रघु० ४)ऽस्ति॥

चिरिपाली—त्रिचिनापल्ल्या लौकिकं नामान्तरं भाति। रावणसेनापतेस्त्रिशिरोनामकस्य नाम्ना पूर्वं त्रिशिरः पल्लीति नामासीत्। तस्या एव समयवशेन त्रिचिनापल्लीति नाम्ना प्रसिद्धिरभूत्। अस्या एव समयवशेन उरगपुरं निचुलपुरमित्यपि नामान्तरं बभूव। पूर्वं पाण्ड्यानां चोलानां चेयं राजधान्यासीत्॥

चीरराज्यम्—चीरदेशो महाभाष्येऽप्युल्लिखितः। चीरशब्दः केरलपुत्रशब्दस्यापभ्रष्टसंक्षिप्तरूपान्तरमुच्यते। सोऽयमद्यत्वे मैसूरराज्येऽन्तर्भवति॥

चोरः—चोरः चोल इत्येक एव। अशोकशिलालेखे चोडशब्देन व्यवहारोऽस्ति। काञ्चीपुरनृपतेश्चोलनाम्नोऽभिधानेन तन्नामासीत्। पद्मपुराणे चोलस्य द्रविडदेशे उल्लेखोऽस्ति। पाणिनीयगणपाठेऽपि देशवाची चोलशब्दो दृश्यते। बृहत्संहितायामप्युल्लिखितोऽस्ति। सोऽयमद्यत्वे कारोमण्डलप्रदेशेऽन्तर्भवति॥

पुलिन्दः—महाभारते सहदेवदिग्विजये दक्षिणतः पुलिन्दस्योल्लेखोऽस्ति। अशोकशिलालेखेऽपि दृश्यते। नर्मदातटे विन्ध्यगिरेर्मध्यदेशे पुलिन्ददेशः स्मिथ्महोदयेन प्रदर्श्यते। तारातन्त्रे कामरूपोत्तरभागे, महाभारते वनपर्वणि हरिद्वारोत्तरपश्चिमप्रदेशेऽपि पुलिन्दोल्लेखेन पुलिन्दजातिमादायान्यत्रापि प्रयोगो ज्ञायते। हिमालयप्रान्तगतजा-

---

१ अस्यां संहितायां सचीरकमितिपाठे (खिल.अ. २५) मुद्रितेऽपि चीरस्य दक्षिणतः पश्चाद्वक्ष्यमाणतया, पूर्वतश्चीनस्यौचित्येन, प्राचीनलिप्यां नकारस्य रेफपाठसंभवेनापि सचीनकमित्येव युक्तं प्रतिभाति॥

तिषु पुलिन्दशब्दः पश्चात् प्रायुज्यतेति स्मिथ्महोदयो निरूपयति ॥

द्र(द्र)विडः—महाभारते वनपर्वणि, वराहसंहितामनुस्मृत्यादिष्वप्युल्लिखितोऽस्ति । मद्रासतः कन्याकुमारीपर्यन्तो देशो द्रविडनाम्ना व्यवहृत आसीत् । बूलरमहाशयो द्रविडस्यैव चोल इति नामान्तरं वक्ति ॥

करघाटः—महाभारते (सभा० अ. ३१) सहदेवदिग्विजये दक्षिणतः करहाटकदेशस्योल्लेखोऽस्ति । स्कान्दे सह्याद्रिखण्डे काराष्ट्रदेशस्य राजधानी निर्दिष्टाऽस्ति । भाण्डारकरमहोदयेनापि E. H. D. पुस्तके एव देशो वर्णितोऽस्ति । अद्यत्वे **कराड** इति प्रसिद्धः स देशो विज्ञायते ॥

कान्तारम्—महाभारते सहदेवदिग्विजये दक्षिणतः कान्तारकदेशस्योल्लखोऽस्ति । अरण्यकमप्येतदेवेति वदन्ति । महाभारते (सभा० अ. ३१), देवीपुराणेऽप्यरण्यस्योल्लेखोऽस्ति । सोऽयं देशोऽद्यत्वे औरङ्गाबादप्रदेशो दक्षिणकोङ्कणं च । तत्रत्या राजधानी तगर इत्यासीत्, येदानीं दौलताबादनाम्ना निर्दिश्यते ॥

वराहः—वितस्ताया दक्षिणतो वराहावतारस्थानस्य वराहमूलकत्वेन प्रसिद्धिरिव कौशिकीतीरे नेपालपरिसरप्रदेशे वर्तमानस्य कोकामुखतीर्थस्थानस्य वराहक्षेत्रतया पूर्वसमयात् प्रसिद्धिरस्ति । वराहपुराणेऽप्यस्य महिमा गीयते । परमत्र दाक्षिणात्यदेशेषु गणितस्य वराहस्य पाश्चात्त्यपौरस्त्यदेशयोस्तयोरसङ्गमनीयतया दक्षिणतोऽवस्थितमन्यमेव पुरा प्रसिद्धं वराहदेशमभिप्रेत्यसौ शब्दः । यः साम्प्रतं 'वरार' नाम्ना निर्दिश्यते स एव किमु ? ॥

आभीरः—गुर्जरदेशस्य दक्षिणपूर्वभागस्थो नर्मदामुखप्रदेश आभीरनाम्ना व्यवहृत आसीत् । अयमेव ग्रीकैः Abira इत्यभ्यधीयत । महाभारते (सभा० अ. ३१) समुद्रसन्निधौ सोमनाथसन्निहितगुर्जरदेशीयसरस्वतीतीरे आभीरा निर्दिष्टाः । गुर्जरस्य दक्षिणतः सूरतप्रदेशोऽप्याभीरदेशे मिलित आसीदित्यपि कस्यचिन्मतम् । तारातन्त्रे कोङ्कणदक्षिणतस्तापतीपश्चिमतटपर्यन्तमाभीरो निर्दिष्टः । ल्यासनमहोदयो वायविले निर्दिष्ट आफीर (Ofir) देश एवाभीर इति मन्यते । भारतस्य पश्चिमतस्तापतीतो देवगढपर्यन्तो देश आभीर इति इलियडमहोदयस्य मतम् । वन्किडमहोदयः सिन्धुनदस्य पूर्वत आभीरं मन्यते । विष्णु—(अ० ४) ब्रह्माण्डपुराणयोराभीरदेशो सिन्धुनद्या उल्लेखोऽस्ति । आभीरशब्दस्य जातिवाचकतया तन्निवासमादायान्येऽपि देशा आभीरनाम्ना व्यवहृताः सन्तु नाम । अत्र कुरुक्षेत्रं मध्ये कृत्वा दक्षिणतो वर्ण्यमान आभीरदेशो गुर्जरप्रान्तीयः सम्भवति । यत्र भिल्लाः साम्प्रतमपि निवसन्ति । बृहत्संहितायामपि दक्षिणनैर्ऋत्यभागे आभीरदेशो निर्दिष्टोऽस्ति ॥

एवमुल्लिखिता इमे देशाः प्राचीना एव विज्ञायन्ते । अत्र मगधासु महाराष्ट्रमिति मगधस्य महाराष्ट्रत्वेन निर्देशः कौशल्यदेशस्योल्लेखश्चास्ति । कोशलदेशः B. C. 400 समये मगधराज्याङ्गभूत उपवर्ण्यते । बुद्धसमये कोशलदेशस्य प्रतिष्ठाऽप्यासीत् । मगधे महाराष्ट्रपरिस्थितिर्मौर्येभ्यः पूर्वं नन्दकाले बुद्धकालिकशिशुनागवंशीयाजातशत्रुसमयेऽपि R. D. ब्यानर्जीमहोदयैः, H. R. चौधरीमहोदयैरपि स्वीये प्राचीनभारतपुस्तके वर्णिताऽस्ति । कोशलस्य पृथगुल्लेखेन पाण्ड्यदेशस्याकीर्तनेन सह मगधे महाराष्ट्रभावोल्लेखोऽयं बुद्धकालिकीं परिस्थितिं सूचयति । वात्स्येन पूरिते खिलभागे एवं दर्शनेन, वात्स्यीये प्रतिसंस्करणे उत्सर्पिण्यवसर्पिणी श्रमणनिर्ग्रन्थशकपह्लवहूणादिसंज्ञयावहशब्ददर्शनेनापि वात्स्यस्य बुद्धेन सहसामयिकः सन्निकर्षोऽनुमीयते ॥

अत्रैव पूर्वभागे भोजनकल्पाध्याये—(श्लो. ४०-५१)ऽपि केषाञ्चिद्देशानां नामान्युल्लिखितानि सन्ति । तेषु कतिपयानां प्रसिद्धानां कुरु-कुरुक्षेत्र-नैमिष-पाञ्चाल-कोशल-शूरसेन-मत्स्य-दशार्ण-शिशिराद्रि-(हिमाद्रि)विपाशा-सारस्वत-सिन्धु-सौवीर-काश्मीर-चीना-ऽपरचीन-खश-बाह्लीक-काशी-पुण्ड्रा-ऽङ्ग-वङ्ग-कलिङ्ग-किरातादिदेशानां महाभारतादिषु प्राचीनग्रन्थेष्वप्युपलम्भेन प्राचीनत्वमेवावधार्यते । अन्येषां माणीचर-हारीतपाद-दासेरक-शातसार-रामण-काचा-ऽनूपकपट्ट-नानां तु नामान्यप्यन्यत्र न सुलभानीत्यप्रसिद्धा एते देशा अपि पुराकाल एव व्यवहृता ज्ञायन्ते । एते देशाः कुत्रत्याः पश्चिमोत्तरप्रदेशस्था वेति विचारयन्तु विद्वांसः । खिलगते देशोल्लेखे महाराष्ट्रत्वेन निर्दिष्टोऽपि मगधोऽत्र नाम्नाऽपि न निर्दिष्टः । कोशलस्तूल्लिखितोऽस्ति । अन्येऽपि तत्रोल्लिखिताः केचन देशविशेषा अत्र न निर्दिष्टाः । प्रत्युत पूर्वत्वेन निश्चीयमानाः सिन्धु-सौवीर-कुरु-पाञ्चाल-बाह्लीकादयः प्राचीनाः केचन पश्चाद्विलुप्तव्यवहारा अपि देशा एव पूर्वभागलेखे दृश्यन्त इत्यनयोः पूर्वोत्तरभागगतयोर्देशविशेषोल्लेखयोरनुसन्धाने बुद्धसमयसन्निकर्षे ज्ञायमानाद्वात्स्यात् पूर्वभागनिबन्धुर्वृद्धजीवकस्य मूलाचार्यस्य कश्यपस्यापि प्राचीनत्वं विशेषतोऽनुसन्धीयते इत्यलं पल्लवितेन ॥

---

(४) भारतीयभैषज्यसमर्थनपरिच्छेदः—

अस्या भारतीयायुर्वेदविद्यायाः स्वीयप्राचीनसम्प्रदायपरम्परयैवाभ्युत्थानम्, उतास्यां देशान्तरीयवैद्यकेनापि शिलान्यासः । किं वा यूरोपप्रदेशेऽपि सर्वप्राथम्येन ग्रीसदेशे सभ्यतायाः भैषज्यविद्यायाश्चोदयेतिवृत्तस्यावगमेन तदीयवैद्यकस्य भारतीयवैद्यके प्रभावानुप्रवेशः, किं वा परेषामधमर्णभावमनुपेतमपि भारतीयवैद्यकं भारत एव विश्रान्तमुत बहिःप्रदेशानपि स्वालोकोद्भासितान् विदधौ । एषां विषयाणां

विमर्शं विना भारतीयायुर्वेदस्रोतसः पूर्वपरिस्थितेर्न सम्यगवभासः, पूर्वेषामायुर्वेदाचार्याणामपि भारतीयपरम्परयैव औपदेशिकः सम्प्रदायोऽपि शैथिल्यमापद्येत इत्यस्मिन् विषयेऽपि विवेचनमत्रोपष्टम्भकं भवेदिति तद्विषयके विमर्शे नानाविदुषां मतान्यप्युपदर्श्य स्वमनसि प्रतिभ्रातया दृशा किमपि विमृश्यते॥

केचन भारतीयविज्ञानात् पाश्चात्त्यविज्ञानस्य प्राग्भावं साधयितुं कृतबुद्धयः उभयतः केषुचिदंशेषु सादृश्यमवलम्ब्य भारतीयवैद्यके पाश्चात्त्यविज्ञानप्रभावानुप्रवेशः, भेडस्य गान्धारवर्तितयोल्लेखेन यवनसम्पर्कात् तदीयवैद्यके यावनप्रभावानुवेध-इति चोपन्यस्यन्ति ॥

अन्ये केचन एवमुपवर्णयन्ति—सर्वप्रथमतया यूरोपविभागे भैषज्यविद्याया उदय ईशवीयाब्दारम्भात् पूर्वं पञ्चमशताब्द्यां (B. C. ४६०) हिपोक्रेटिस (Hippocrates) नाम्नो ग्रीकविदुषः समजनि । यस्तत्रत्यवैद्यविद्यायाः पितेत्युच्यते । तदीये भैषज्यग्रन्थे यूरोपदेशेऽनुद्भविनां केवलं भारतीयत्वेन तत एव विज्ञेयानां जीरकार्द्रकमरिचत्वगेलातेजःपत्रादीनामौषधेषु प्रयोगस्य, तत उपषष्टिवर्षोत्तरस्य (B C. ४००) थियोफ्रेष्टस (Theophrastus) नाम्नो भिषजो लेखेऽपि भारतीयानां बहुशो वनस्पतीनां प्रयोगस्य, एवमन्यैरपि प्राचीनपाश्चात्त्यवैद्यैर्भारतीयवनस्पत्याद्यौषधानामुल्लेखनस्य दर्शनेन च तेषु भारतीयवैद्यकविज्ञानप्रभावोऽवगम्यते इति ॥

तदस्मिन्नुभयविधे विमर्शे वस्तुतत्त्वमवधारयितुं भैषज्यविद्याया इव सभ्यतायाः यातायातस्य पूर्वेतिहासादेश्च विचारस्याप्यावश्यकतया लेशतस्तद्विषयकेनोपष्टम्भकेन सह प्रकृतविषयमुपन्यस्तुं लेखनी प्रवर्तते ॥

भारतीयानामिवार्यमन्यानां पाश्चात्त्यानां च प्राथमिकोद्गमस्थानविषयके आलोचने 'उत्तरध्रुवसन्निहितप्रदेशः प्राक्तनोऽभिजनः । तत एव क्रमशः प्रसरणेन परित आर्याणामुपगमः' इति केषाञ्चित् महाशयानां दृष्टिः । अन्ये केचन विद्वांसः सुदूरोत्तरभागे[१] एव आर्याणां प्राथमिकं प्रभवस्थानं, ततः शाखाविभेदेन प्रसरन्तस्ते केचन पाश्चात्त्यप्रदेशेषु केचन पौरस्त्यप्रदेशेष्वभ्युपगताः, पौरस्त्या शाखैव भारतीयेति निरूपयन्ति । परमुपलब्धेषु सांसारिकसाहित्येषु ऋग्वेदः सर्वप्रथमं साहित्यमिति सर्वैरङ्गीक्रियते । तदालोचने तत्रोल्लिखिता देशनदीनगरग्रामपर्वतादयः सर्वे पाञ्चालसिन्धुसौवीरादिपरिसरप्रदेशगता एव दृश्यन्ते । तत्रत्यानामार्याणामन्यतः कुतश्चिदागमनं तेषामन्यत्पूर्वाभिजनं वोल्लिखितं न किमप्युपलभ्यते । तत्र सुरजातीयानामसुराणां च मिथः सङ्घर्षादिवृत्तं च लभ्यते । एतदनुसन्धानेन पाञ्चालसिन्धुसौवीरप्रदेशस्तत्सन्निकृष्टेरानवेब्लोनियाऽसीरियादिप्रदेशश्च पूर्वाभिजनस्थानमवगम्यते । आस्तां तावदिदं पूर्वाभिजनविषयकं विचारान्तरम् । किन्तु याः खलु प्राचीना जातयस्तासां प्राचीनासु भाषासु ऋग्वेदस्य भाषाया-

१ It is now established that ancient Indo-Aryan, Greek, Iranian. Slavonic. Teutonic, Italo-celtic, Tokharian languages descended from a parent stock of language which we may call strictly Indo-European or loosely Aryan. The language and along with it certain elements of a very developed culture were disseminated in Asia and Europe by the speakers of the common Aryan of Indo-European language most probably the beginning of the second millenium B.C. The speakers of the common Aryan language either in the plains of Hungary in the valley of the Danube as Giles maintains in the *Cambridge History of India* or in Southern Russia near about the Caspian Sea as Carnoy and other scholars have maintained. In any way there is no doubt that they lived in a geographical area in which such trees as birch (bhūrja), willow etc. were abundant and these trees are found, as has been pointed out by various scholars, only in the region from East Prussia to the Pamirs. The Aryanam Vaejo (the home land of the Aryas), of the Iranian tradition also may be modern Ajarbaizan, one of the states in the Caucasus.

Names of gods like Mitra, Nasatya, Indra, Varuna etc. have been discovered in the inscriptions of the Mittanians, and other traces of the presence of the Aryans between 1800-1400 B. C. have been discovered in Asia Minor. These land-marks show that various branches of the Aryans were on the move in this period, in search of new lands and it was probably in this period that the Indo-Iranians also migrated towards the east and settled down on the confines of India and Iran. A schism soon took place amongst the Indo-Iranians and the that branch whom we call the Indo-Aryan migrated further to the East towards India.

From a comparative study of the literature and religion of the Iranians and the Indo-Aryans (viz. the Gathas of the Avesta and the Athrvaveda) it is abundantly clear that they inherited common religious and literary traditions. The religion was entirely ritualistic and there is no doubt that this religion had its origin in a still earlier period amongst the speakers of the common Aryan language because elements of this ritualism are found also amongst other branches of the Aryan speaking people. Literary tradition also seems to be very old, if we are to judge from the common parentage of the metres used in the Homeric epics, those used in the Avestan Gathas and those used in the Vedas.

स्तद्भवतत्समादिरूपेण बहुशः साम्यदर्शनेन भाषातत्त्वदृशाऽपि बहोः कालात्पूर्वमेकस्मादेव मूलवृक्षात् परितः शाखाप्रसरणमनुमीयते विवेचकैः ॥

न केवलं भाषादृष्टिरेव, अपितु प्राचीनतमासु पाश्चात्यजातिषु भारतीयजातौ च विषयान्तरीयसभ्यतायां अपि बहुशः साम्यमनुसन्धीयते। तत्रैकस्यां प्राचीनतमपरिस्थितौ वर्तमाना सभ्यता ततः प्रसृतासु शाखासु प्रसरन्ती पाश्चात्यप्राचीनजातिषु भारतीयशाखायां च न्यूनाधिकभावेन समच्छायामापादयामास। किं वा वैदिकी आर्यसभ्यता परितः प्रसरन्ती पाश्चात्यप्रदेशीयपूर्वजातिष्वपि स्वं प्रतिफलनं विदधौ इति विचारान्तरमुपतिष्ठते ॥

बेब्लोनियाँप्रदेशे कसाइटिस्[१]—(Kassites B. C. 1760) वंशोद्भवानां राजकुमाराणां नामसु सूर्येन्द्रमरुच्छब्दानां; पश्चिमैशियाः कैपोडोसिया—(Cappadocia) स्थाने हिताईटी[२] (Hittites)- मित्तानी (Mittani) नाम्न्योः प्राचीनजात्योर्मिथः सङ्घर्षोत्तरमुपजाते (B. C. 1360) सन्धिशिलालेखे तयोर्वैवाहिकसम्बन्धे च साक्षितया मित्रवरुणेन्द्रनासत्यानां; बोगसंक्राय[३] (Boghaz Keui B. C. 1400) शिलालेखे संख्यावाचकादिशब्दानां[४]; सिरियाप्यालष्टाइनदेशोद्भवानां[५] राज्ञामार्यनामसदृशनाम्नां चोल्लेखोपलम्भेन वैदिकसभ्यतायाः पूर्वं तावति दूरेऽप्यालोकप्रसरणं[१] स्पष्टीभवति ॥

सुमेरियन्प्रदेशीयानां पूर्वनृपाणां भारतीयग्रन्थदृष्टानां च पूर्वनृपाणां केवलं वर्णापभ्रंशमात्रतो विशिष्टमानुक्रमिकं साम्यं बेब्लोनियानां मनुसूनामनाऽभिहितस्यादिमन्यवस्थापकस्य[३] भारतीयग्रन्थोक्तस्य मनोश्च नाम्ना कार्येण च साम्यं, तत्रत्यशिलालेखादिगतप्रत्नव्यावहारिकनियमेषु बहुशो मानवीयव्यवहारसाम्यं चोपलभ्यते। सुमेरियन्प्रदेशोपलब्धनामवस्तुलेखादिषु भारतीयग्रन्थदृष्टानां बहुशः साम्योपलम्भे श्रीयुतवाडेल[४]महाशयेनापि बहुशो निरूपितमस्ति। उभयत एवं राज्ञामानुक्रमिकं साम्यं सुमेरियन्प्रदेशीयैर्नृपैर्भारतस्याधिष्ठानेन, भारतीयैर्वा नृपैः सुमेरियन्प्रदेशादिपर्यन्तमपि शासितत्वेन वोभयथाऽपि संभवति। नह्येकदेशाधीशानां देशान्तराधिपत्यं न संभवति ॥

सुराणामसुराणां च मिथः प्राकृतिकेन विरोधेन संमर्दादिकान् विषयानुपादाय पुराणेषु ऋग्वेदेऽपि असुरोल्लेखो बहुशो दृश्यते। असीरियन्-बेब्लोनियन्जातीनामुपास्या प्रधानदेवता असुरअहुरनाम्नोपलभ्यन्ते। असीरियन्शब्दोऽपि प्राचीनभारतीयैर्विशेषतः परिचितानसुरान् प्रत्यायन्दृश्यते ॥

अद्यत्वे श्रीयुतसिटानलायडमहाशयस्य, डाक्टर हेनरी फ्रेङ्कफोर्ड-महाशयस्य चाध्यक्षभावेन इराकप्रदेशीये टयलअगरमनामकस्थाने भूगर्भान्वेषणे भग्नावशेषस्य प्राचीनमन्दिरस्य तदन्तःकोष्ठेऽनेकेषां महत्त्वपूर्णप्राचीनवस्तूनां कतिपयानां महेंजोदारोभूगर्भोपलब्धवस्तुसंवादिनामप्युपलम्भेन इराकदेशस्य पञ्चसहस्रवर्षपूर्वसभ्यतायां भारतीयसभ्यतायाः प्रभाव आसीदिति; तथा श्रीयुतसरआरेलष्टीनमहाशयस्यान्वेषणे बलूचिस्तानप्रदेशे दक्षिणेरानप्रदेशे चोपलब्धानां प्राचीनवस्तूनां निदर्शनेन भारतस्य प्राचीनसुमेरियाप्रदेशस्य (साम्प्रतिकेरा-

EVIDENCE OF THE PRESENCE OF THE ARYANS IN ASIA MINOR.

1 The Kassites who established a dynasty at Babylon in 1760 B. C. In the names of their princes we get the following elements-S'urias (Sûrya), (Indas' (Indra), Maruttas' (Marutah) and-bugas (Iranian baga-god). They introduced also the use of horse for the first time.

2 A treaty signed by the kings of Mittani, settled in the upper Euphrates Valley, and the kings of the Hittites in 1360 B. C. we get the names of Aryan gods-In-da-ra, U-ru-v-na, Mi-i-tra, and Na-sa-at-ti-i-ia. Some of the Mittani kings had Aryan names-Sutarna, Dusratta, Artatama.

3 The Boghaz keui Inscription (about 1400 B. C.) of the Mittanians, contains Aryan numerals-aika, teras, panza, satta, nav.

4 The Hittites of Cappadocia probably spoke an Aryan language in the 16th and 15th centuries B. C. Cf. the Pronouns-kuis, kuit, the Verb esmi, and the formation of the present stems in-numi (Skt.-nomi) etc.

5 From old documents discovered at Tell-el-Amarna we get names of some princes of Syria and Palestine and these also look like Aryan names-cf. Biridaswa, Suwardata, Yasdata, Artamanya.

१ Greater India by Kalidasnag M. A., D. Litt; No I, P. 5

२ "सुमेरियन्प्रदेशीयाः पूर्वे नृपाः—

'उक्कुसि, वक्कुस, निमिरूद, पुनपुन, नक्षअनेन,...शगुर, मनिशमंज, नरमअंश, दलीप' इ० 'इक्ष्वाकु, विकुक्षि, निमि, पुरञ्जय, अनेना,...सगर, असमञ्ज, अंशुमान्, दिलीप' इत्यादयश्च बहुशः क्रमशश्च समाना दृश्यन्ते," इति सरस्वतीमासिकस्य १९३७ अप्रेलसंख्यायां वर्णितमस्ति।

३ Manu's Land and Trade laws by R. S. Vaidyanath Aiyer.

४ अद्यत्वे वैडल (L. A. Waddell) महाशयेन महेंजोदरो-हरप्पा-भूगर्भनिर्गतानां मैसोपोटामिया-सुमेरियन्प्रदेशोपलब्धानां मुद्रादीनामितिहासादीनां च विशेषानुसन्धानपूर्वं तुलनया भारतीयानां प्राचीननृपाणां तद्देशोपलब्धमुद्रादिषु एकद्विपुरुषपर्यन्तमपि समच्छायतया नामसाम्यं, केषांचिदक्षराणां सङ्केतानां वस्त्वन्तराणां शिल्पकलादीनां च समच्छायां प्रतिपाद्य उभयोर्देशयोः प्राक्तने सम्बन्धविषये एकं ग्रन्थं Makers of Civilisation in race and history. निर्माय स्वीयो विचारः प्रकटीकृतोऽस्ति ॥

नदेशस्य) च प्राचीनः समसभ्यतासम्बन्ध आसीदित्यपि तेषां रिपोर्टपत्रादिभ्योऽवगम्यते ॥

प्यालिष्टाइन (Palestine) प्रदेशस्य भूगर्भनिर्गतसभ्यतायाः परीक्षणे तत्प्रदेशस्य समये समये विभिन्नदेशीयैराक्रान्ततया तत्र तेषु तेषु स्थानेषु तत्तदीयानां पूर्वलक्षणानामुपलम्भेऽपि एकस्मिन्स्थाने सर्वप्राचीनतया महेञ्जोदारोप्रदेशोपलब्धसंवादिनां प्राचीनभारतीयसभ्यताचिह्नानामुपलम्भेन भारतीय एव सभ्यतालोकस्तत्र सर्वप्राथमिक इति मेथिक्सोसाइटीलेखः[1] प्रतिपादयति ॥

अद्यत्वे परिस्कृतपथरथादिव्यवस्थयाऽपि मिर्जापुरीयादिसुन्दरमृत्पात्रादीनां सन्निकृष्टेऽपि नगरान्तरे नीयमानानां रक्षणाय कियदवधीयते जनैः । बंहीयोभिर्दुर्गमैः पार्वत्यशार्करादिप्रदेशैरन्तरितानां मिश्रप्यालिष्टाइनेराकभारतानां चिरकालावस्थायिनामलङ्कारादीनां यातायातसौकर्येऽपि स्वल्पमप्याघातमसहमानानां मृत्पात्रादीनामपि शिल्पसाम्यमसाधारणं मिथः परिचयचिह्नमुपलक्ष्यते ॥

न केवलमेतावदेव, पाश्चात्त्यानां प्राचीनशाखासु भारतीयानां प्राचीनपरिस्थितौ च दृष्टानि धार्मिकसामाजिकाध्यात्मिकादिषु बहुषु विषयेषु समसूत्रानुवेधसाधनानि सभ्यतासाम्यलक्षणानि ऐतिहासिकतत्तल्लेखतो[2] बहुशो लभ्यन्ते ॥

प्रत्यक्षानुभवमेव साक्षितयोपादाय भारतस्य प्राचीनावस्थाया अनुसन्धानेऽप्येतदीया सभ्यता प्राचीनतमैवावलोक्यते-महेञ्जोदारोभूगर्भोद्धृतयः प्राचीनतमा देवमूर्तयोऽप्युपलब्धाः । तत्र ब्रह्मविष्णुमहेश्वराणां संवलनरूपा त्रिमूर्तिः, हस्तिव्याघ्रखड्गिमृगसहिता शिवमूर्तिः, स्त्रीदेवतामूर्तिरपि दृश्यते । स्त्रीदेवता (Mathi Gods) मूर्तयः सिन्धुतीरे वालुकास्थाने इलाम-पर्सिया-एसियामाइनर-सीरिया-प्यालिष्टाइन-साइप्रस-एजिएन्सीतट-बाल्कन-मिश्रदेशेष्वपि, ग्रीसदेशस्य क्रेटाद्वीपे अग्रपृष्ठयोः सिंहव्याघ्रसमन्विता Minoan नाम्ना व्यवहृता देवी मूर्तिः, एलोनियादेशे सिंहवाहना Cybele नाम्ना व्यवहृता देवीमूर्तिश्च प्राचीना लभ्यन्त इति महेञ्जोदारोविवरणपुस्तकादुपलम्भो भारतीयं[1] च देशान्तरीयं समसूत्रानुवेधं दर्शयति ॥

---

१ Quarterly Journal of the Mythic Society Bangalore.

२ (क) मिश्रदेशीये पूर्वसंप्रदायेऽपरिवर्तनीयकुलपरम्परानुसारिपौरोहित्य-सेनावृत्ति-शिल्पव्यापार-दास्यरूपचतुःप्रस्थानविभागे भारतीयवर्णभेदच्छाया; तदीये पूर्ववृत्ते भारतीये इव जलप्लावनवृत्तं; प्रजापतिस्थानीय 'क' शब्दितदेवतोल्लेखः; तद्देशीयभाषायां मात-इभु-आत्मू-पुष-उषा-आप-अपूप-न्रादिशब्देषु बहुषु माता-इभ-आत्मा-पुष्प-उषा-आप-अपूप नरादिशब्दानां किञ्चिद्विकृत्याऽविकलभावेन च शब्दतोऽर्थतश्च साम्यमपीक्ष्यते । एतद्विषये श्रीयुतश्यानचन्द्रमहाशयेन (Quarterly Journal of Mythic Society Vol. XXI, No 3, P. 250), श्रीयुताविनाशचन्द्रमहाशयेनापि (Rigvedic India Vol 1, P. 245, बहु लिखितं वर्तते । मन्त्रान्तरेष्विव शाखाभेदकृतं पाठभेदं विनैव एकयैवानुपूर्व्या भारतं व्याप्नुवतो वैदिकस्य सावित्रीमन्त्रस्यावगमेन तेतान्यैश्च ऋगादिसौरमन्त्रैः प्रतिपाद्यस्य सूर्यदेवस्योपासनं भारतीयः प्राचीनोऽसाधारणो धर्मः । भारतस्य दूरपश्चिमभागवर्ति प्रत्नतरं नष्टं भ्रष्टं विशालतमं मार्तण्डमन्दिरमपि भारतीयानां चिरानुवृत्तं सूर्योपासनमवबोधयति । मिश्रदेशे प्राचीननगरेऽप्रचलितस्य सूर्योपासनस्य पश्चात्······नृपतिसमये जनैः प्रतिरोधेऽपि बलात्प्रवर्तनेतिहासः, पञ्चसहस्रवर्षपूर्वतनेन तदीयसमाधिशवेन साकं वैदिकोक्तिच्छायानुविधायिसूर्यस्तोत्रमुत्कीर्णञ्चोपलभ्यते । पञ्चसहस्रवर्षपूर्वतनानां मिश्रदेशोपलब्धभाण्डशिल्पकलादीनामद्यत्वे गवेषणेन महेञ्जोदारो-हरप्पादिप्रदेशभूगर्भनिर्गतानां प्राचीनभारतवस्तुशिल्पकलादीनां च तुलनायां न केवलमुभयेषां समानता, किन्तु मिश्रीयानतिशयाना भारतीयाः कलादयो विवेचकैर्विविच्यमाना मिश्रादपि भारतस्य ज्यैष्ठगर्भितं समसूत्रानुवेधं प्रत्याययन्ति ॥

(ख) रोमदेशीयप्राचीनजातेः इट्रुस्कान (Etruscan) नाम्ना धार्मिके विषये सप्तमपञ्चमपुरुषाभ्यन्तरे वैवाहिकसम्बन्धनिषेधनियमे "वध्वा वरस्य वा तातः कूटस्थाद्यदि सप्तमः" इति प्राचीनस्मृतिनियमसाम्यस्य प्राचीनरोमग्रीसादिदेशसम्प्रदायोपलब्धेषु लिङ्गपूजन-नन्दिपूजन-पितृश्राद्धाग्निशालाऽन्नहोम-गुरुकुलशिक्षाप्रणाली—जातसंस्कार-पुनर्जन्मवादाध्यात्मवादादिषु भारतीयासाधारणविषयप्रतिबिम्बनस्य; बृटिशानां पूर्वतमावस्थारूपायाः केल्ट (Celtic) जातेर्धर्माचार्याणां ड्रूइड (Druid)-जातीयानां धार्मिकनियमेषु विंशतिवर्षान्तं ब्रह्मचर्यधारणम् , अन्तिमे वयसि वानप्रस्थचर्या, उच्चकुले विद्यादानम् , आत्मनोऽमरत्ववाद इत्यादिकेषु भारतीयासाधारणधर्मच्छायाया दर्शनेन भारतीयसभ्यतासम्बन्धो न केवलं प्राचीनतरमूलशाखास्वेव अपि तु ततः परं विभक्तासूपशाखाजातिव्यवहारेष्वप्युपलभ्यते ॥

१ ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा भारते प्राचीनतरकालादेवोपास्यन्ते । भिन्नभिन्नदेवोपासनामार्गे देशकालान्तरेण प्रचालिते तत्तदुपासनापथानां परस्परविमर्दं परिहर्तुमेकीकरणेन उमामहेश्वरहरिहरादीनामिव ब्रह्मविष्णुमहेश्वराणामभेदभावमवबोधयन्ती संवलिताकारा त्रिमूर्तिरप्युपास्यतां प्रपेदे । दिलीपनृपेण कामिकाचले त्रिमूर्तेरुपासना विहिताऽऽसीदिति देवीपुराणेऽपि (अ. ६०) दृश्यते । बहु पुराकालादेवात्र प्रसिद्धतया भारतस्यैवासाधारण्य एता देवताः । येन महेञ्जोदारोप्रदेशेऽपि त्रिमूर्तिशिवमूर्त्यादीनामुपलम्भः समुचित एव । ईदृशमूर्तिभिः सहैवोपलब्धा स्त्रीमूर्तिरपि भारतीयैः पुराकालादुपासितायाः स्त्रीदेवताया एव मूर्तिः । शक्तेरुपासनासंप्रदायो भारते प्राचीनकालादेवानुवर्तते । कुलजातयोऽपि भारते पुराकालादनुवर्तन्ते । महाभारतरामायणपुराणादिष्वपि दुर्गादिदेवीनामुपासनेतिहासा अनेके लभ्यन्ते । निगमवत्पुराकालादेव प्रसिद्धास्तन्त्रादयो बहुश आगमा अपि शक्तेर्महिमानमुपासनामुपासकान् महर्ष्यादींश्च प्रतिपादयन्ति । पूर्वापरप्रसृतप्राकारायिते हिमवति अर्वाग्पराग्भागयातायातसाधनघाटीद्वारदेशरूपेषु उद्यान-जालन्धर-पूर्णगिरि-कामरूपेषु चत्वारि शक्तेर्महापीठानि तत्र तत्रान्यान्यपि शतशः पीठोपपीठानि भारते पुराकालान्मान्यन्ते । शक्तिप्रभेदानां काल्यादीनामुत्पत्तेश्चरित्राणाञ्चेतिहासा भारतीया एव । शक्त्युपासनासम्प्रदायो द्विसहस्रवर्षेभ्योऽर्वाचीन इति वदतां केषांञ्चिद्विदुषां प्रतिवादाय महेञ्जोदारोपलब्धा ईदृश्यः प्राचीनतरा मूर्तयोऽपि विवेचकानां नयनान्युद्घाटयन्ति ।

भारतीयानां पुराकाले दूरदूरदेशान्तरपर्यन्तमभ्युपगमस्तत्परिचयश्च ज्ञायते। वैदिक्यामप्यवस्थायां भुज्युप्रभृतीनां द्वीपान्तरगमनमवाप्यते। प्राचीनेतिहासानुसन्धाने ययातिनृपतेः पुत्राणामनुद्रुह्यतुर्वसुप्रभृतीनां स्वनियोगापरिपालनेन पित्रा द्वीपान्तरेषु निष्कासनं, पाण्डवैर्दूरदूरदेशानामपि विजयः, महाभारतीययुद्धभूमौ दूरदेशनृपाणामपि सद्भावः, भारतीयनृपादीनां गान्धारादिपश्चिमप्रान्तीयैः सह वैवाहिकसम्बन्धः, पुराणे नीलनद्या नामोल्लेखः, पाश्चात्यदेशीयप्राचीनेतिहासमुद्रादिष्वपि नामसंवादं लब्धवतां केषाञ्चिन्नृपादीनां भारतहरिवंशादिषु नामोपलम्भः, मनुसंहितायामपि देशान्तरीयजातिविशेषाणां मूलस्रोतोनिर्देशनमित्यादीनि प्राचीनभारतस्य देशान्तरेषु सम्बन्धमवगमयन्ति। पश्चादपि (B.C. 217 समये) (Tsin Shih Huanungti) सम्राजो राज्ये भारतादष्टादशभिक्षूणां चीनदेशे उपगमवृत्तं, B.C. 200 शताब्द्यां Changkin नामकचीनदेशीयपुरुषस्य भारते यातायातवृत्तं च श्रीयुतकालिदासनागमहाशयेनोल्लिखितमस्ति॥

प्राचीनसभ्यताया यातायातविषये बहूनां विवेचकानां बहुशो विचाराः सन्ति। समय एव याथातथ्यं स्फुटीकरिष्यति। तथेतरथापि वा भारतीयप्राचीनार्याणां प्राचीनपाश्चात्यजातीनां च सभ्यतासु अतिपुराकालेऽपि सन्निकृष्टो मिथःसम्बन्ध आसीदिति वक्तुं शक्यते॥

आस्तां तावदसौ सभ्यतान्तरसम्बन्धः, प्रकृते वैद्यकविषयेऽप्यभितो दृशं प्रसार्य विचारणे इदं पुरो भवति—

लोके यावन्ति प्राचीनवैद्यकानि तेषु सर्वेषु ऋग्वेदोत्तरम् आथर्वणं वैद्यकसाहित्यं सर्वप्रथममिति सम्मान्यते। अथर्ववेदो भारतीयचिकित्साविज्ञानस्योत्पत्तिस्थानमिति वैज्ञानिकदृष्टिपथेऽप्यमूल्योऽयं ग्रन्थ इत्युच्यते॥

आथर्वणे तेषु तेषु रोगेषु मन्त्रप्रक्रियया औषधप्रक्रियया च द्विधा चिकित्सा प्रदर्श्यते। एवम्भावेनैव कौशिकसूत्रकृताऽपि क्वचन मन्त्रोपयोगेन केवलं जलादीनां सेचनेन पानेन वा विनियोगः प्रदर्श्यते। क्वचन मन्त्रेण सहापि तेषु तेषु रोगेषु औषधविशेषाणामप्युपयोगो विहितोऽस्ति। रोगोत्पत्तौ कारणत्वेन दुष्टा देवविशेषा ग्रहस्कन्दादयो यातुधाना वा मन्त्रेपूपलभ्यन्ते। तेषां निरसनदशा मान्त्रिकी प्रक्रिया, रोगाणां निरसनाय औषधप्रक्रियाऽप्यथर्ववेदीयभैषज्ये लभ्यते। तत उत्तरोत्तरं मन्त्रविद्ययोपचारपथमतिशय्य औषधोपचारपथः प्रससार। परमन्ततोऽद्यापि क्वचनांशविशेषैर्मान्त्रिकविद्याऽप्युपचाररूपेण ग्रन्थेषु व्यवहारेषु चानुवर्तत एवेत्यवोचाम॥

आसीरियाबेब्लोनियाप्रदेशे पूर्वकाले भारतीयपूर्वदृष्टाविव अशुचिपुरुषसहवाससम्पर्कसम्भाषणोच्छिष्टभोजनादिना रोगागमः, रोगाणां भूतप्रेतपिशाचाद्युपसर्गरूपत्वं, दुर्दर्शभीषणमूर्त्यादिकल्पना, रोगनिरसनायाभिमन्त्र्य जलादिपानमौषधविशेषभक्षणम्, औषधिविशेषधारणं, प्रतिसरबन्धनं, पिष्टकधूल्यादिभी रोगिणामावरणं, वृक्षविशेषपल्लवादिभी रोगिणो मार्जनं, रोगकारकदुष्टदेवताभ्यश्छागशूकरादिबलिदानं, तान्त्रिकपद्धताविव प्रतिपक्षव्यक्तेः केशनखपादधूल्याद्यभिमन्त्रणेन प्रतिकृतिं निर्माय्यापमार्जनम्, ऋग्वेदोपलब्धमाडूकदेवतासमच्छायनाम्ना मर्डूकाख्यदेवताया उपासनेन रोगपरिहारश्चैवमादयो बहव आथर्वणतान्त्रिकादिभारतीयप्रयोगसमानप्राया उपायादयो दृश्यन्ते। भोजनात्पूर्वं प्रातरौषधोपयोगः, विरेचनस्य महिमा, तैलेन विरेचनम्, उदरामये पर्वतीयलवणोपयोगः लशुनोपयोगः, मेहरोगे मूत्रपरीक्षणं, दन्तरोगे कीटानां हेतुता, इत्यादयोऽप्यायुर्वेदीयविचारानुरूपा विचारा वस्तूपयोगा अपि तेषां लभ्यन्ते। यथा आथर्वणसम्प्रदाये य एव शान्तिपुष्ट्यादिप्रयोक्तारो धार्मिका आचार्यास्ते मान्त्रिक्या प्रक्रियया औषधाद्युपयोगेन च रोगपरिहर्तारो भिषजोऽप्यासन्, ये अथर्वाणोऽभिधीयन्ते, एवमेव मिश्रादिदेशीयपूर्ववृत्तेऽपि धर्मगुरव एव रोगादेरपि चिकित्सका (Priest Doctor) आसन्, येन तदीया देवालया एव प्राधान्येन चिकित्सास्थानान्यासन्। तादृशस्थलेषु औषधोल्लेखलेखा अप्युपलभ्यन्त॥

बेब्लोनियाप्रदेशे रोगिणां चिकित्सायै आपणादिषु जनसमवायेषु उपस्थाप्यमानानां वृत्तोपलम्भेन तदात्वे तत्र भैषज्यविद्याया विशेषोन्नतिर्नासीदिति हेरोडोटस् नाम्न ऐतिहासिकविदुष उक्तेः प्रतिवादरूपेण क्याम्बलथोम्सनामको विद्वान् बेब्लोनियानां वैद्यकं नानुन्नतमासीत्, शस्त्रभिषजः शल्यचिकित्सायामन्यथाकुर्वाणा दण्ड्या इति हेमूर्बन् (Hemmurabri) नृपसमये राजनियम एवासीत्, इति दर्शयन् B.C. 700 समये अर्दनना (Arda-nana) नामकवैद्येन लिखिते उपलब्धे वृत्तान्तपत्रे नेत्रचिकित्सनेन सप्ताष्टदिवसैरारोग्यस्य, नासिकाव्रणाद्बहिरुपचारेणोपजातस्य रुधिरस्रावस्यान्तरौषधपट्टबन्धेन प्रतीकारस्य चैवमादीनां प्रतीकारादीनां सफलताया उल्लेखोपलम्भेन पूर्वसमयादेव भैषज्यविज्ञानमपि तत्र समुन्नतमासीदिति निश्चाययति॥

आसीरियाप्रदेशे पूर्वकालेऽपि शस्त्रचिकित्सा विशेषतः प्रचलिताऽऽसीदिति Herbert Loewe महोदयेन लिखितमस्ति॥

मिश्रदेशीये प्राचीने पेपर्याख्ये त्वक्पत्रे सार्द्धशतं रोगाः, तथा एबर्स (Ebers) त्वक्पत्रे ज्वरोदररोगजलोदरदन्तशोथप्रभृतयः १७० विधा रोगाश्चोपवर्णिता दृश्यन्ते। तद्देशीयद्वादशवंशसमयलिखिते एकस्मिन् पुस्तके तत्रत्यायाः कस्याश्चिन्नार्या रजोविकारार्बुदादयो रोगाः, अद्यत्वेऽभ्युपगम्यमाना नेत्ररोगाणां प्रभेदाश्च लभ्यन्ते, सूक्ष्मरोगाणामपि तत्र गणनादर्शनेन न तत्र रोगाणां बाहुल्यमनुमेयमपि तु तदात्वे तत्रत्यानां विदुषां रोगविषये विज्ञानबाहुल्यमुन्नतमासीदिति प्रतीयते। हेरोडोटस्-

एवमासेतुहिमाचलं विष्वगभिव्याप्य वर्तमानो भारते समुत्पन्नः शक्त्युपासनासम्प्रदायो गुणमहिम्ना शाखोपशाखाभिर्विजृम्भमाणो देशान्तरेषूपलब्धानां स्त्रीदेवतामूर्तीनां तत्रत्यैर्नामान्तरेण व्यवहारेऽपि तत्र तत्र भारतीयसभ्यतायाः प्रभावं प्रसारयति॥

१ Greater India (P. 22) by Kalidas Nag.

२ आयुर्वेद का नव्यरसायन पृ. ५

१ E. R. E. Vol 4. P. 746 by R. C. Thompson.

२ E. R. E. Vol 4. P. 757.

विद्वानपि नीलनदीपरिसरप्रदेशं स्वास्थ्यप्रदं वर्णयति। तत्रत्यानामपि असीरियादिप्रदेशान्तरेष्विव भूतप्रेतदेवप्रकोपादितो रोगोत्पत्तिवाद आसीत्। चिकित्साविषयका ग्रन्था मन्त्रमया आसन्, धार्मिकाः पुरोहिताश्चिकित्सका अप्यासन्, इति George Faucart विद्वान्निरूपयति। प्राचीनमिश्रदेशेऽप्यथर्ववेदानुरूप्येण मन्त्रतन्त्रसहितस्य चिकित्साविज्ञानस्य रसायनशास्त्रस्य च व्यवहार आसीदिति Cf. Berthelot महाशयोऽप्युल्लिखति। प्राचीनमिश्रदेशे तैलवृतवृक्षभैषज्यानामपि व्यवहारः श्रूयत इति श्रीयुतसुरेन्द्रनाथदासगुप्तमहाशयोऽपि निर्दिशति॥

रोमदेशीयप्राचीनेट्रुस्कन् (Etruscan)—जातेः, ग्रीसदेशीयप्राचीनजातेश्च पूर्ववृत्तेऽपि रोगनिवृत्तये देवतोपासनाप्रार्थनाबल्यादयो मान्त्रिका उपचारा अप्युपलभ्यन्ते॥

केल्टिकजातीयविचारे वैद्यकस्य धर्मस्य च मिथो घनिष्ठः सम्बन्धः। तदीया धर्मगुरवो ड्रुइड्नामका एव चिकित्सका अप्यासन्। आथर्वणपद्धताविव तेषामपि मान्त्रिके औषधसम्बन्धिनि चिकित्सने दृष्टिरासीदिति T. Barns महोदयो लिखति॥

यूरोपीयट्यूटन (Teuton)—जातेः प्राचीनचिकित्सायां मर्सवर्गस्य (Mersseburg) मान्त्रिकप्रयोगेण (Charms) सह कतिपयभारतीयवैदिकमन्त्राणां सादृश्यमुपलभ्यते, कृमिरोगेऽस्थिभङ्गचिकित्सायां तु विशेषरूपेण तत्सादृश्यं सुस्पष्टं परिदृश्यते इति एडाल्बर्ट कून् (Adalbert Kuhn) अपि लिखति॥

एतज्जातेः प्राचीनविचारे भूतानां देवप्रकोपस्य पापानां च रोगे कारणत्वं, दैवप्रकोपजे पशुबल्यादीनां प्रतीकारः, रोगपरिहाराय वृक्षत्वगादौ तदीयमन्त्रं विलिख्य हस्तादौ धारणं मन्त्रपाठः, यन्त्रधारणं देवमूर्त्याप्लवजलपानं, धूपादिभिर्भूताद्यपसारणप्रक्रिया चासादिति K. Sudhoff महाशयो J. Jolly महाशयोऽपि वर्णयति। एषां विषयाणामनुसन्धाने आथर्वणप्रक्रियाया भारतीयायुर्वेदीयप्रक्रियायाश्च तत्रापि बहुधा साम्यमुपलभ्यते। लिथुनियादिजात्यन्तरेष्वपि शब्दविशेषाचारव्यवहारायुर्वेदीयविषयादिषु भारतीयच्छायानुवेधो दृश्यते॥

उत्तरामेरिकाया रेडइण्डियन च्यारोकी (Cherokees) जातीयानां प्राचीने मान्त्रिकभैषज्येऽपि आथर्वणमान्त्रिकप्रयोगस्य बहुधा साम्यमीक्ष्यते इत्यपि जोली (J. Jolly) महाशयो लिखति॥

"चीनप्रदेशे सार्द्धचतुःसहस्रवर्षपूर्वतने तदीयग्रन्थे द्वात्रिंशत्प्रकारा ज्वरस्य, चतुर्दशविभागा आमाशयस्य निर्दिष्टाः सन्ति। नाडीपरीक्षायां तत्र विशेषदृष्टिरासीत्। B. C. 400 वर्षपूर्वत आरभ्य प्रतिवर्षमुपजायमानानामामयानां निर्घण्टपत्रं कल्पितमासीत्। चीनदेशीयभैषज्यग्रन्थे आर्द्रक–दाडिममूल–वत्सनाभ–गन्धक–पारद–बहुविधप्राणिमलमूत्रासृङ्ग्वृक्षपत्र-मूलादीनामौषधरूपेणोल्लेखाऽस्ति। चीनदेशेऽद्यापि लक्षशो द्रव्याणां वृक्षपत्रमूलादीन्यौषधरूपेण विक्रीयन्ते। शीतलावेधनविज्ञानं तत्र पूर्वमेवासीत्। चिकित्साशास्त्रेतिहासप्रणेता ग्यारिसन्महाशयो याथातथ्येन चीनदेशीयैर्भारतादेव भैषज्यविद्याऽलम्भीति निरूपयति" इति श्रीसुरेन्द्रनाथदासगुप्तमहाशयेन निर्दिष्टमस्ति॥

चीनराज्यस्य B. C. 200 सामयिकतया चीनोल्लेखगर्भं कौटिल्यशास्त्रं नातिप्राचीनमिति कस्यचिदभ्युपगमे अवेस्ताग्रन्थे निर्दिष्टासु पञ्चसु जातिषु चीनानामप्युल्लेखदर्शनेन चीनस्य प्राचीनत्वमेव। चीननामकं माण्डलिकराज्यं B. C. 900 शताब्द्यामासीदिति मोदीमहाशयेन निर्दिष्टमिति जयचन्द्रविद्यालङ्कारमहादया वर्णयति॥

तुर्फानप्रदेशाद्दक्षिणतः काराशरनामके स्थाने पूर्वसमये केचन प्राचीनकूचजातीया आसन्। ईशवीयारम्भात्पूर्वं कदा तेषां तत्रागम इति किमपि न ज्ञायते। सा कूचजातिरार्यशाखीया इत्यनुमन्यते सर्वैः। पश्चाद् द्वित्रशताब्दीसमये वणिग्जनैः सह बौद्धधर्मप्रचाराय तत्रागतान् भारतीयभिक्षूनालोक्य अस्मदीयपूर्वदेशाद्धवा एते भारतीया इत्यात्मीयभावेन बहुशस्ते सदकुर्वन्निताति वृत्तं तेषामुपलभ्यते॥

एतज्जातेस्तत्प्रदेशस्य च विषये चीनभाषायामुल्लिखितं प्रागितिवृत्तमेवमुपलभ्यते। द्वितीयशताब्द्यां मध्येशियापरिसरप्रदेशान् विजयमानेनापि चीनराज्येन बलवत्या कूचजात्याऽधिष्ठितेऽस्मिन् प्रदेशे आक्रान्तुमशक्ये सत्युभयोर्देशयोर्मिथो मैत्रीसम्बन्धः स्थापितोऽभूत्। ईशवीयाब्दारम्भोत्तरं २६५–३१६ अब्दसमयान्तरे तत्र बौद्धधर्मः पूर्णतया प्रचलित आसीत्। कुमारजीवनामा बौद्धभिक्षुस्तत्रैवासीत्। अन्येऽपि बौद्धभिक्षवस्तत्रागताः। बहूनि बौद्धस्तूपमन्दिराण्यपि निरमीयन्त। तान्यद्यापि भूगर्भादुपलभ्यन्ते। भारतीया वणिजो बौद्धधर्मप्रचारकाश्चानेनैव पथा चीनदेशयातायातमकुर्वन्। ईशवीयाब्दारम्भात्प्राक्कालादेवारभ्य दक्षिणदेशस्थाना चीनदेशे

१ E. R. E. Vol. 4. P. 749.

२ Cf. Berthelot 'Les origines de i' olehienie P. 81–83.

३ प्रवासी ३४ भाग १ खण्ड, पृष्ठ १९४

४ E. R. E. Vol 4. P. 747.

५ A. Kûhn Zeitschrift fur verglei Cheude Sprachfoss Chung XIII P. 49–74 & 113–157.

६ The cure of wounds and fractures is aflected by incantations which have been compared by A. Kûhn with the Mersseburg charm of German antiquity.

J. Jolly. E. R. E. Vol 4. P. 754.

१ The charms of the Atharvaveda have been fitly compared with the sacred formulae of the Cherokees and other spells current among the Indians of North America. E. R. E. Vol 4. P. 754. by J. Jolly.

२ प्रवासी ३४ भाग १ खण्ड. पृ. १९४

३ भारतके इतिहासकी रूपरेखा पृ. ७००

४ India and China No 2. P. 24.

व्यापारमार्गोप्येष एवासीत्। हुयन्सङ्गनामा चैनिकपरिव्राजकोऽप्यनेनैव वर्त्मना भारतमुपागमत्, इत्येवमनर्वाचीनं तदीयं चीनभारतसहयोगि प्राग्वृत्तमवगम्यते। तत्र भूगर्भशोधनेऽतः परमपि प्रवृत्ते प्राचीनभारतसम्बन्धीनि बहूनि विशेषान्तराण्युपलब्धुं शक्येरन्नित्याशास्यते। तत्र ब्राह्मलिप्यां लिखितानि प्राचीनसंस्कृतपुस्तकानि भारतीयसंस्कृतग्रन्थेभ्यः कूचभाषायामनूदिताः काष्ठपट्टिकोत्कीर्णा लिखिताश्चानुवादग्रन्था अपि बहुश उपलब्धाः। भूगर्भाद्बहूनि प्राचीनवस्तून्यप्युपलब्धानीत्यपि स्टाइनमहाशयेन निर्दिष्टमस्ति॥[1]

भाषातत्त्वविदा A. C. उलनरमहाशयेन तदीयकूचभाषायाः संस्कृतेन सह तुलनायां भारतीयायुर्वेदीयौषधिवाचकानां संस्कृतशब्दानां कानिचिदविकृतानि कानिचिदुच्चारणकृतवैचित्र्यमात्रवन्ति रूपाणि कानिचित्तद्भवरूपाणि च स्वरूपाण्युपलभ्यन्ते। रायल एशियाटिकसोसाइटीपत्रिकायां प्रकाशितमस्ति।[2] ते शब्दा यथा—

माञ्चष्ठ	(माञ्जिष्ठा)	सुक्मेल	(सूक्ष्मेला)
करञ्चपीज	(करञ्जबीज)	प्रियङ्कु	(प्रियङ्गु)
अपमार्क	(अपामार्ग)	विरङ्क	(विडङ्ग)
सारिप	(शारिवा)	उपद्रव	(उपद्रव)
मर्गी	(मार्गी)	शालवर्णी	(शालपर्णी)
किञ्चेल	(किञ्जल्क)	किरोत	(गिलोध)
तकरु	(तगर)	कुन्तर्क	(गुन्द्रक)
पृङ्करच	(भृङ्गराज)	चिपक	(जीवक)
करुणसारि	(कालानुसारी)	शञ्चपो	(शिंशपा)
पितरी	(विदारी)	पिप्पाल	(पिप्पली)
अश्वकान्ता	(अश्वगन्धा)	मोतर्ते	(अजमोदा)
तेचवती	(तेजोवती)	कोरोशा	(गोरोचन)
मेत	(मेदा)	पिस्सौ	(विश्वा)
खादिर	(खदिर)	सुमां	(सोम)

इत्येवमनिश्चितपूर्वसमयात् तावति दूरे वर्तमानायाः प्राचीनकूचजातेरार्यजातीयत्वस्य स्पष्टोल्लेखेन तत्संवादयता पश्चात्सङ्गतानां भारतीयानामात्मीयत्वेन समादरोल्लेखेन च भारतीयार्यजातित्वेन निश्चितानां कूचानां भाषायामपि भारतीयौषधिशब्दानां विकृत्याऽविकृत्या च बहुशोऽनुप्रवेशदर्शने सति भारतीयजातेस्तत्प्रदेशोपगमेन साकं ते शब्दा अपि तत्रोपगताः किं वा समयेनोपगताः स्युः, उभयथाऽपि भारतीयायुर्वेदस्य तावति देशकालविप्रकर्षेऽपि प्रचारः प्राचीनगौरवाय॥

इरानाभिजनानां पारसीकानामवेस्ताख्ये मूलग्रन्थेऽथर्ववेदस्य तदीयभाषायां देववाण्याश्च विशेषतः सन्निकर्षो दृश्यते। तेषामुपास्या देवता भारतीयैः परिचितस्यासुरस्योच्चारणमात्रविभेदेनाहुरनाम्ना निर्दिश्यते। अग्न्युपासन–गोपूजन–सूर्योपासन–होमप्राधान्य–मित्रादिदेवताप्रभृतिषु बहुषु विषयेष्वपि प्राचीनभारतस्यालोकस्तत्र भासते। इरानजातीया भारतीयार्येभ्य एव विभक्ता इतीतिहासविद्भिरप्युल्लिख्यते। इरानप्रदेशे एकमेनियन्स (Achaemenians) नृपकुले, तथा प्रथमडेरियस (Darius I. B. C. 521) नृपसमये डेमोकेडियस (Demokedes) नामा, समयान्तरे स्टेसियस (Ctesias) अपोलोनीडस् (Apollonides) नामानौ च ग्रीकवैद्या आसन्। इरानदेशीये ग्रीकदेशीये च भैषज्ये बहुशो विचारसाम्येन इरानदेशे ग्रीकवैद्यकस्य प्रभावोऽप्यासीदित्युल्लेखोऽपि दृश्यते।[1] इरानप्रदेशेऽपि ससेनियन्सनृपवंशे राजकुले ग्रीकवैद्या इव भारतीया वैद्या अप्यासन्, विदेशीयानां तद्देशीयानां च वैद्यानां मिथः प्रतिस्पर्धाऽऽसीदिति स्पीगलमहाशयोऽप्युल्लिखति।[2] तेन इरानदेशीयवैद्यके येष्वंशेषु ग्रीसोपज्ञमुद्भूता असाधारणा विषयाः परिच्छिद्यन्ते, तेषु ग्रीसवैद्यकस्य प्रभावः स्यान्नाम, परं वैद्यकविषये ये भारतीयायुर्वेदीयरोगशारीरकादिविषयका विचाराः समानतया तत्रोपलभ्यन्ते, ये वा ग्रीकादिसाधारणा अपि भारतीया विचारास्तत्र ज्ञायन्ते, तेषु भारतीयवैद्यानां तदीयवैद्यकस्य च प्रभावो निरूपणीयः। ग्रीसवैद्यके भारतीयायुर्वेदीयविषयाणामपि साम्यं कीथ—(A. B. Keith) महाशयेन यथा निर्दिष्टमस्ति, तेष्वंशेषु तत्रापि साक्षात् परंपरया वा भारतीयः प्रभावः पश्चान्निरूपयिष्यते। इरानदेशेन सह भारतस्य देशतोऽपि सन्निकर्षोऽस्ति। तस्यैव प्रथमडेरियसनृपतेः साहाय्यभावेन B. C. 479 समये प्लेटियारणस्थले ग्रीसवीरैः सह भारतीयसेनाया युद्धस्योल्लेखनमपि लभ्यते।[3] तदेवम् इरानभारतयोर्घनतरे मिथः सम्बन्धे भारतीयवैद्यानामपि तत्र प्रतिष्ठितत्वे चागम्यमाने भारतीयवैद्यानां विशेषरूपेण तत्र प्रभावो निरूपणीयः। किमन्यत्, इरानदेशीयपर्शुभारति[4] (Pehlavi) भाषायां भिषजभेषजमन्त्रादिशब्दसमाना वेषज (Baeshaza, Beshaj), भिजिष्क (Bejishka), माथ्, इत्यादिशब्दा अप्युपलभ्यन्ते। किं बहुना आर्मिनियन् (Armenian) भाषायामपि एषां शब्दानामेव स्वरूपान्तराणि (Bshishk, Bzhshkel)

१ Innermost Asia Vol II P. 565-572. P. 1028.

२—J. R. A. S. 1925, P. 623

१ Encyclopaedia of Religion and Ethics Vol 4, P. 759 by L. C. Casartelli.

२ Spiegal thinks it probable that in populous cities foreign physicians often competed with native ones. Under the Sassanians, too, we find Greek physicians at the royal court, and Spiegal is of opinion that Indian physicians made their way there also. (Eran Alterth.) E. R. E. Vol IV P. 759.

३ Greater India by Kalidas Nag M. A. D. Litt. No. I, P. 15.

४ The commonest term to indicate indifferently 'medicine', 'healing', 'medicaments', or 'physician' is Baeshaga, corresponding to Sanskrit Bhishaj, Bheshaja. In Pehlavi we find this word as Beshsj, but more commonly under the curiously inverted from bejishak as in modern Persian and Armenian words Bezhishk 'physician' and 'Bezhshkel' 'heal'. By L. C. Casartelli, E. R. E Vol 4, P. 757.

दृश्यन्ते । इरानभाषायामपि वैद्यवाचको भिजिष्कशब्दः, औषधवाचको वेषजंशब्दोऽपि भारतीयभिषग्भेषजशब्दयोरेवोच्चारविभेदकृतः स्वरूपविशेषः । तथाविधौ अथर्ववेदोक्तौ ऋग्वेदोक्तौ च प्रधानशब्दावपि भारतात् तत्र सङ्क्रान्तौ चेत् तत्र भारतीयायुर्वेदस्य प्रभाव एतावताऽपि बहुशोऽनुमातुं शक्यते । किं बहुना पारसीकमतप्रवर्तकाजरथुष्ट्रादपि प्राक्तनैस्तद्देशीयनिवासिभिर्मागीजातीयैरियं गुप्ता वैद्यकविद्या भारतीयब्राह्मणेभ्योऽधिगतेति चतुर्थशताब्द्या रोमेतिहासलेखकानाम् 'अमीनस् मर्सिनस्' प्रभृतीनां लेखोपलम्भेन, इरानदेशेऽतिपुराकालादेव भारतीयवैद्यकप्रभावस्य स्पष्टतया ततः परमपि भारतीयवैद्यानामुपगमवृत्तोपलम्भेन च भारतीयायुर्वेदस्यालोकस्तत्र चिरात् प्रतिफलितः स्पष्टीभवति । आयुर्वेदीयग्रन्थेषु चरकवृद्धजीवकीयादिषु बाल्हीकभिषक्त्वेन काङ्कायनो निर्दिष्टोऽस्ति । पुरा बहुकालमिरानाधिपत्येनाधिष्ठितो बलखप्रदेशो बाल्हीकशब्देन बोध्यते । काङ्कायनस्य सुश्रुतव्याख्योद्धृतसुश्रुतसतीर्थ्यत्वोक्तेः प्रामाणिकत्वे 'बाल्हीकभिषजां वर' इति निर्दिष्टेन काङ्कायनेन तत्र प्रवर्तिता वैद्यकविद्या भारतीयैव सिध्यति । अन्यथाऽपि भारतीयाचार्यैः सह पक्षप्रतिपक्षभावेन दर्शितसंवादस्य काङ्कायनस्य आचार्यकुक्षौ संमानेन निबन्धसंग्रहादौ संस्कृतभाषामयानां तदीयवचनानामुद्धारदर्शनेनापि भारतीयानुरूप एव तदीयोऽपि सम्प्रदायो न देशान्तरीयः, बुद्धसामयिकस्य जीवकस्याध्यापकत्वेनाभ्युपगतेनात्रेयेण काश्यपेनापि निर्दिष्टस्य बाल्हीकभिषजां वरस्य काङ्कायनस्य समयो ग्रीकवैद्यैः सह सम्पर्कमुपेतानां पूर्वोल्लिखितानामिराननृपाणां समयाद् अन्ततोऽपि गत्वा एकद्वशतवर्षपूर्व एव दृश्यत इति तत्र भारतीनां सम्बन्धः प्रभावश्च न किं प्राचीनतरः सिद्ध्यति ? प्रत्युत एतावन्तोंऽशा इति परिच्छेत्तुं न शक्यन्ते, तदपि इरानप्रदेशाद्भारताच्च कतिपये वैद्यकविषया ग्रीसवैद्यके प्रतिसङ्क्रान्ताः सन्तीति मतमपि E. B. बृहत्कोशे निर्दिष्टमस्ति ॥

एवमादिरूपेण दूरदूरमपि प्राचीनेष्वनेकदेशेषु शाखोपशाखारूपासु प्राचीनानेकजातिष्वपि न्यूनाधिकरूपेण भारतीयप्राचीनव्यवहृतीनामाथर्वणप्रक्रियासाम्येन मान्त्रिकप्रक्रियया भेषजोपयोगेन च चिकित्सनसम्प्रदायस्य च गमकान्यसाधारणलक्षणानि बहुशो दृश्यन्ते । येषु प्रकृतविच्छेदविस्तरभयाद्दिङ्मात्रमिह निदर्शितम् । एवं दर्शनं भारतस्य देशान्तराणां चातिपुराकालादेव मिथः परिचयं सम्पर्कं व्यवहारं विद्याविज्ञानादिसङ्क्रमणादिकं च निश्चाययति ॥

प्राचीनभारतस्य सभ्यताया विषयान्तरविभागेष्विव आयुर्वेदीयविभागेऽपि प्राचीन एवोन्मेषः । आध्यात्मिकेषु विचारेषु बाह्येषु कलाकौशलादिषु च पुरासमयाद्विकसितां दर्शं दधद्भारतं सर्वोपजीव्यशारीरयात्रोपयोगिनि भैषज्यप्रस्थाने कथमुदासीत । आयुर्वेदीयसंहितासु तु लोकसृष्टेः समकालमेव ब्रह्मण आयुर्वेदोद्गमः प्रतिपाद्यते । वैदिके साहित्ये यथा हि विद्यान्तराणि तथैव वैद्यकविषया अपि ऋग्यजुःसामतैत्तिरीयादिषु ततोऽप्याथर्वणे विशेषत उपलभ्यन्ते ॥

वैदिकसमयादेवायुर्वेदविद्यायाः संमाननेन उपवेदपदमुपादीयते । वैदिके समयेऽपि नानाप्रस्थानान्तरेष्विव आयुर्वेदीये प्रस्थानेऽपि पूर्वे महर्षयो बहुशः कृतपरिशीलनास्तत्त्वदृशो बभूवुः । वैदिके समये शतशो वैद्याः, सहस्रश औषधानि, अनेकशो रोगाः, तत्प्रतीकारोपायाश्चासन्निति प्रतिपादितमेव । ततः पराक्कालेऽपि आधुनिकविचारेण उपत्रिसहस्रवर्षप्राचीनतयाऽनुसन्धीयमानेषु ऐतरेय–शतपथ–कौषीतक्यादिब्राह्मणेषु छान्दोग्याद्युपनिषत्सु गर्भोपनिषदि श्रौतसूत्रादिषु गृह्यसूत्रादिषु रामायणमहाभारतपुराणादिष्वपि अङ्गप्रत्यङ्गादीनि शारीरकाणि रोगास्तत्परिहारोपाया भेषजानि एवमादाय आयुर्वेदीयविषयास्तत्सम्बन्धिन इतिहासा उपाख्यानान्युल्लेखाश्चोपलभ्यन्ते । महाभारते युद्धादिष्वपि साङ्ग्रामिकसैन्यैः सह वैद्यानां चिकित्सकानामपि सह नयनं सर्वोपकरणोपेतानां शास्त्रविशारदानां बहूनां वैद्यानां युद्धशिबिरेष्ववस्थापनं, तद्द्वारा आहतानां प्रती-

---

१. There is no question of a Greek influence either on the medical knowledge current in ancient Iran. The Iranians use in the Avesta the word B*haes*aj, which was certainly derived either from Indian Bhesaj, B*hais*ajya found both in the Rk and Atharvavedas, both of which are more ancient than the Gathas. The word is not of Indo-European origin and the Greeks do not use it. The persistence of this word in Iranian shows that the Iranians had most probably preserved medical tradition not of Greek origin but most probably of Indian origin. Even admiting that the Atharvaveda is of the same age as that of the Avesta there is no doubt that Rgveda is older than both and the word is found in it too.

२. Persian and Indian sources contributed something to Greek Medicine. As to the amount and the character of these contributions, we are not yet in a position to speak with definiteness.

E. B. Vol 15, P. 198.

१. लक्ष्मणविशल्यीकरणम् ।

२. उपातिष्ठन्नथो वैद्याः शल्योद्धरणकोविदाः
सर्वोपकरणैर्युक्ताः कुशलैः साधु शिक्षिताः } —(महाभारत–भीष्मपर्वणि अ. १२०

३. I, कोशं यन्त्रायुधं चैव ये च वैद्याश्चिकित्सकाः ।
तत्संगृह्य ययौ राज्ञां ये चापि परिचारकाः ।
५८ उद्योगे अ. १५१

II, शिबिराणि महार्हाणि राज्ञां तत्र पृथक्पृथक् ।
तत्रासन् शिल्पिनः प्राज्ञाः शतशो दत्तवेतनाः ।
सर्वोपस्करणैर्युक्ता वैद्याः शास्त्रविशारदाः ।
(१२) उद्योगे अ. १५२

कारप्रवृत्तिरपि तत्र तत्र दृश्यते । एष विषयो मत्थूमहाशयेनापि[1] निर्दिष्टोऽस्ति । रामायणे सुषेणवैद्यकथा प्रसिद्धैव ॥

कौटिलीये साङ्ग्रामिकाधिकरणे[2] शस्त्रयन्त्रागदस्नेहवस्त्रहस्तचिकित्सकस्त्र्यादीनामपि सेनापृष्ठभागेऽवस्थानं निर्दिष्टमस्ति ॥

पुराणेतिहासादिष्वपि न खल्वेष विषयो विरलः ॥

तदेवं गुरुदक्षिणाप्रदेयाश्वानां प्राप्त्यै काशीपतिं दिवोदासमुपेयुषे गालवाय हिमवन्मूले वायव्यदिशि मारीचकश्यपाश्रमस्य निर्देशनस्योपलम्भेन दिवोदासादनतिपूर्वं किं वा तत्समकाले कृताश्रमो मारीचकश्यप इति महाभारतोल्लेखः, मारीचकश्यपस्य ऋक्सर्वानुक्रमसूत्रे बृहद्देवतायामप्युपलम्भः, आत्रेयसहभाविभावेन मारीचकश्यपोल्लेखः, वार्योविदस्य मारीचकश्यपात्रेयपुनर्वसुसहभावः, कृष्णात्रेयस्य पुनर्वस्वात्रेयसामानाधिकरण्यं, चिकित्सितप्रवर्तकत्वेन कृष्णात्रेयस्य महाभारते निर्देशः, आत्रेयान्तेवासितया भेस्योल्लेडखः भेडसहभावितयाऽऽत्रेयपुनर्वसूपदेश्यतया च गान्धारनृपस्य नग्नजित उल्लेखः, नग्नजितो दारुवाहस्य च सामानाधिकरण्यं, दारुवाहस्य काश्यपीये निर्देशः, गान्धारनृपस्य नग्नजित ऐतरेयब्राह्मणे, गान्धारस्य प्राणविदो नग्नजितस्तत्पुत्रस्य स्वर्जितोऽपि शतपथब्राह्मणे कीर्तनं, दिवोदासस्य कौषीतकिब्राह्मणे कौषीतक्युपनिषदि काठकसंहिताब्राह्मणांशे महाभारतेऽप्युपलम्भः, तत्पूर्वपुरुषत्वेन धन्वन्तरेर्लाभश्चेत्येवं सर्वतो दृशः प्रवर्त्य विचारणे मारीचकश्यपः, पुनर्वसुरात्रेयः, भेडः, नग्नजिद्दारुवाहः, वार्योविदश्चैते भैषज्यविद्याचार्या ऐतरेयकौषीतकिशतपथकाठकब्राह्मणकालादनर्वाचीना धन्वन्तरिदिवोदासवद्ब्राह्मणोपनिषत्सहभावेन लेशतः पौर्वापर्येण वा वर्तमाना आसन्निति पूर्वं प्रतिपादितमेव ॥

आत्रेयकश्यपादिभिरपि कति पूर्वाचार्याणां मतानि बहूनि नामानि च गृहीतानि दृश्यन्ते । एषामात्रेयादीनां संहिताकर्तृतयाऽपि पूर्वाचार्योपदिष्टानां विप्रकीर्णविषयाणां संहननमभिव्यज्यते ॥

तदेवं वैदिकात्समयात् परम्परानुवृत्ता क्रमविकासेन विवृद्धा चिकित्साविद्या पूर्वतनग्रन्थानां विलोपेनाद्यत्वेऽनुपलम्भेऽपि उपलभ्यमानात्रेयसुश्रुतकश्यपादिग्रन्थान्तर्गतविषयाणां निध्याने तत्समये परां प्रौढिमापन्नाऽनुभूयते । चिकित्साप्रधानैरात्रेयकश्यपभेडादिभिरपि शल्यप्रक्रियायाः सूचनेन शल्यविद्याऽपि प्राचीना तदात्वे प्रस्थानविशेषरूपेण प्रौढिमादधानाऽवगम्यते । एभिरेवात्रेयादिभिरुल्लिखितेषु शालाक्यादि षड्विभागान्तरेष्वपि विचारपूर्णाः प्रौढा ग्रन्थाः स्युः । कालवशेनैषामपि लोपो महते खेदाय ॥

आश्विन–भारद्वाज–जतूकर्ण–पराशर-हारीत-क्षारपाणि–भानुपुत्र–भोज[1]–कपिलबलादीनामाचार्याणां भूततन्त्रस्य चाद्यत्वे मूलग्रन्थानुपलम्भेऽपि तेषां वचनानि ताडपत्रीये प्राचीने ज्वरसमुच्चये, केषाञ्चिदेषामाचार्याणामन्येषामपि कतिपयानां वचनानि पश्चात्तनेषु तन्त्रसारे चरकादिव्याख्यासु निबन्धग्रन्थेषु च समुद्धृतानि बहून्युपलभ्यन्ते । एवमुपलम्भेन तावत्कालपर्यन्तमपि तेषामाचार्याणां ग्रन्था उपलभ्यमानाः परिशील्यमानाश्चासन्निति स्पष्टप्रतीतयेऽद्यापि चिह्नमवशिष्यते ॥

प्राचीनैरात्रेयकश्यपादिभिः काम्पिल्यगङ्गाद्वारादिकं तत्तत्स्थानमलङ्कुर्वद्भिरायुर्वेदाचार्यैस्तत्तत्स्थलेष्वेव[2] स्वोपदेशपरम्परया शिष्यसंप्रदायाद्यभिवर्धनेन स्वस्वीया विचारा एव केवलं न प्रकाशिताः, अपितु अद्यत्वे वैद्यविद्यापीठमधिष्ठितैस्तैस्तैर्वैद्याचार्यैस्तत्र तत्र प्रदेशे सम्भूय वैद्यसंमेलनसमितिमवस्थाप्य स्वस्वविचारोद्भूतानां नवनवानां प्राचीनानाञ्च विषयाणां विमर्शनमिव प्राचीनकालेऽपि यदा कदाचित् देशदेशान्तरागतैस्तदानीन्तनैः प्रसिद्धैस्तैस्तैराचार्यैस्तेषु तेषु स्थानेषु सम्भूय परिषदमवस्थाप्यापि परस्परविमर्शा विधीयमाना आसन् । येनैवं विमर्शैः शाणसङ्घर्षोज्ज्वलानि रत्नानीव तानि तानि सिद्धान्तरत्नानि, नवनवा विचाराः, स्वस्वाभिप्रायविचाराश्च स्वस्वसंहितासु निर्दिष्टाः दृश्यन्ते ॥

पाणिनिनाऽपि गर्गादिभ्यो यञिति (४-१-१०५) सूत्रीयगर्गादिगणे जतूकर्णपराशराग्निवेशशब्दानामुल्लेखनेन, कथादिभ्यष्ठगिति (४-४-२) सूत्रे कथादिगणे आयुर्वेदशब्दं प्रवेश्य तत्र साधुरित्यर्थे 'आयुर्वेदिकः' इति पदसाधनेन च तदात्वेऽप्यायुर्वेदविद्या समुन्नतावस्थायामासीत्, तत्र कुशला विद्वांसोऽपि बहव आसन्नित्यपि प्रतीयते । 'मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्' इति (२-१-६७) सूत्रकृता गौतमेन तत्तदौषधोपयोगोपदेशानुसारेण तत्तद्रोगनिवृत्त्यादीनां लाभेन आयुर्वेदस्य विषभूताशनिप्रतिषेधार्थानां मन्त्राणां च तत्तत्प्रयोगविशेषे फलानुपप्लवेन यथा प्रामाण्यं व्यवस्थितमेतत्तौल्येषु सर्वेषां वेदानां प्रामाण्यमिति आयुर्वेदादेः प्रामाण्यं सिद्धवत् कृत्वा तन्निदर्शनेन सर्वेषां वेदानां प्रामाण्यस्य व्यवस्थापनेन प्राचीनाचार्याणामेषां समयेऽप्यायुर्वेदविद्यायाः प्रचारः, संमाननं, प्रामाण्यं चाभ्युपगतमासीदिति च ज्ञायते, न्यायमञ्जरीकारेण[3] जयन्तभट्टेनाप्यस्मिन्विषये सुनिरूपितमस्ति ॥

महावग्गादिपालीग्रन्थलेखे कालाञ्जन–रसाञ्जन-स्रोतोञ्जन-गैरिकाद्यौषधानां, भगन्दरादिरोगाणां त्रिदोषाणां, स्वेदनबस्तिकर्मादीनां च भारतीयायुर्वेदिकविषयाणां तदीयशब्दैर्यद्वहता-

१. Antiquity of Hindu Medicine by D. C. Muthu A. D. P. 21, 52.

२. चिकित्सकाः शस्त्रयन्त्रागदस्नेहवस्त्रहस्ताः स्त्रियश्चान्नपानरक्षिण्यः उद्धर्षणीयाः पृष्ठतोऽनुगच्छेयुः (कौटिलीये अधिकरणे १०)।

१. एष भोजः प्राचीनाचार्यः सुश्रुतसमकालीनो नतु धारानगराधीशः ॥

२. हिमवतः पार्श्वे, चैत्ररथवने, जनपदमण्डले पाञ्चालक्षेत्रे काम्पिल्यराजधान्यां, पञ्चगङ्गे च आयुर्वेदीयविचाराय महर्षीणां समवायश्चरकसंहितायां तत्र तत्रोल्लिखितोऽस्ति । तत्रैव विमानस्थाने परिषदोऽपि निरूपणमस्ति । काश्यपसंहितायामपि जातिसूत्रीये 'इति परिषद्' (पृ. ७९) 'भूयांसः' (पृ. १५३) इति परिषदो विद्वत्समवायस्य चोल्लेखोऽस्ति ॥

३ न्यायमञ्जर्याम् (पृ. २५३–२६०) ।

नामुपलम्भेन जीवकीयचिकित्सनवृत्तेन च बुद्धसमयेऽपि (B. C. 600) एतदीयः प्रचारो बहुशः स्फुटीभवति ॥

महावग्गीयजीवकस्य चरित्रानुसन्धाने गुरुणा परीक्षार्थं वनस्पत्यालोचनाय नियुक्तेनानेनैकस्याप्यनुपयोगिनो वनस्पतेरनुपलम्भवर्णनेन भेषजप्रयोगेण बहूनां तीव्ररोगाणां चिकित्सनेतिवृत्तेन च कायचिकित्सायाम्, अन्त्रभेदनकपालभेदनपर्यन्तया शस्त्रप्रक्रिययाऽपि चिकित्सनेन शल्यप्रस्थानेऽप्यसाधारणं विशेषविज्ञानं तदीयमवगम्यते। तस्य महावग्गतिब्बतीयकथाजातकादिलेखेभ्यो बुद्धस्य तत्कालीननृपादीनां च चिकित्सनस्य निर्देशेन तस्य बुद्धसामयिकत्वं, तल्लेखात्तस्य तक्षशिलायामध्ययनमपि निश्चेतुं शक्यते। परं महावग्गलेखात् तद्दिशाप्रमुखात् कस्माच्चिदेवाचार्यात् तदध्ययनमायाति। तिब्बतीयोपकथात आत्रेयात् तदध्ययनं प्रतीयते इति केचन वदन्ति। तस्य मूलं तु न प्राप्यत इति पूर्वं (पृ. ४१) उक्तमेव। तेन स चात्रेयः चरकसंहिताया मूलाचार्यः पुनर्वसुरात्रेय एवेति न ततोऽवधार्यते। चरकसंहिताया लेखादपि पुनर्वसुरात्रेयो, भिक्षुरात्रेयः, कृष्णात्रेय इति त्रय आत्रेयास्तदानीं वैद्यविद्यायामाचार्यत्वेन प्रसिद्धा ज्ञायन्ते। आत्रेय इति गोत्रनाम। तद्गोत्रोत्पन्ना अनेके पूर्वापरा आत्रेयशब्देन शब्द्यन्ते। जीवकस्याचार्यत्वेनाभ्युपगत आत्रेयः कतम इति एतावतैवानिश्चीयमानतया आत्रेयशब्दसाम्यमात्रेण स एव पुनर्वसुरात्रेयो जीवकगुरुरिति न वक्तुं शक्यते। आत्रेयेण तिस्रैषणीयाध्याये त्रिविधौषधवर्णने 'शस्त्रप्रणिधानं पुनश्छेदनभेदनव्यधनदारणलेखनोत्पाटनप्रच्छनसीवनैषणक्षारजलौकसश्च' इति शस्त्रप्रणिधानस्य नाममात्रोद्देशोऽस्ति (पृ. ५७८)। सोऽपि तदध्यायीयविषयाणामन्ते कृष्णात्रेयत्वस्योल्लेखात्तदीयः प्रतीयते। काश्यपसंहितायां 'परतन्त्रस्य समयम्' इति शल्यविद्यायाः परतन्त्ररूपेणोल्लेखवदात्रेयेणापि 'धान्वन्तरीयाणाम्' 'एके' इत्यादिशब्दैर्धान्वन्तरसंप्रदायो निर्दिष्टः। चिकित्सास्थाने द्विव्रणीयाध्याये शल्यप्रस्थानीयोपचाराणामपि निर्देशोऽस्ति। परं स निर्देशः पश्चाद्दृढबलपूरितांश एव। टीकाकर्तॄणां मतभेदेन तदंशस्यात्रेयाग्निवेशीयांशत्ववादेऽपि तत्रैवाध्याये—'इति षड्विधमुद्दिष्टं शस्त्रकर्म मनीषिभिः' (श्लो. ६१), तेषां चिकित्सा निर्दिष्टा यथास्वं स्वे चिकित्सिते' (श्लो. ११९) इत्युक्तेः स्वारस्येन प्रस्थानान्तरीयः परकीयः संप्रदायो निर्दिष्टोऽवगम्यते। ततः पूर्वमर्शश्चिकित्सितप्रकरणे (अ. १२) अर्शसामुपचाररूपेण नानाविधौषधप्रयोगान् प्रथमं निर्दिश्य—

> 'तत्राहुरेके शस्त्रेण कर्तनं हितमर्शसाम्।
> दाहं क्षारेण चाप्येके दाहमेके तथाऽग्निना।
> अस्त्येतद्भूरितन्त्रेण धीमता दृष्टकर्मणा॥
> क्रियते त्रिविधं कर्म भ्रंशस्तत्र सुदारुणः।'
> (चि. अ. १२, श्लो. ३३)

इति शस्त्रक्षारदाहप्रक्रियाया एकीयत्वेन परकीयत्वापरपर्यायरूपेण निर्देशनं, तत्र अल्पज्ञानेन हानिसंभवाद्भूरितन्त्रज्ञानावश्यकत्वं ब्रुवता तस्मिन् विषये स्वस्य ताटस्थ्यमिवावबोध्यते आत्रेयाचार्येण। सुश्रुते—अष्टसु प्रस्थानेषु कतमत् प्रस्थानमुपदिशामीति दिवोदासोक्तिवत् पुनर्वसोरात्रेयस्योक्त्यदर्शनेन आत्रेयसंहितायां विषतन्त्रादिविषयान्तराणामनुप्रवेशेऽपि शल्यविद्याविषयस्यानुपदेशेन च तच्छिष्याणां षण्णां कायचिकित्साविषय एव ग्रन्थप्रणयनेन शल्यप्रस्थाने शिष्यभूतस्यान्यस्य कस्यापि नामानुपलम्भेन च अद्यत्वे कायचिकित्साविषये शस्त्रचिकित्साविषये चासाधारणवैदुष्यवतां भिषजां (Physician and surgeon) पार्थक्येन प्रसिद्धिवत् तदात्वे पुनर्वसोरात्रेयस्यापि कायचिकित्साविषय एवासाधारणवैदुष्यमाचार्यभावश्चासीदिति परिज्ञायते। महावग्गीयजीवकस्य तु कायचिकित्सायामिव शल्यचिकित्सायामप्यसाधारणं वैदुष्यमीक्ष्यते। पुनर्वसोरात्रेयस्य शिष्यत्वेऽस्येदृशस्यासाधारणस्य सतीर्थ्यस्य अग्निवेशादीनां षण्णां पुनर्वस्वात्रेयशिष्याणां सहभावेन किमिति नाम नोपादीयेत। आत्रेयपुनर्वसोरपि पूर्वतनस्यात्रिपरम्परागतस्यान्यस्यैवात्रेयस्यान्तेवासी जीवकः स्यादित्यपि कल्पयितुं न शक्यते। तथात्वे चरकसंहितायामुपक्रमग्रन्थे मध्येऽपि प्रसिद्धानां पूर्वेषामायुर्वेदविदामाचार्याणां निर्देशे तथा प्रसिद्धतरस्य महाभिषजो जीवकस्य नाम किमिति नोपात्तं स्यात्। बुद्धसामयिकजीवकगुरोरात्रेयादप्यर्वाचीनत्वेन संभावनेऽनेनात्रेयपुनर्वसुना काशीनरेशयोर्वार्योर्विदवामकयोर्वैदेहनिमेश्च समं सामयिकमुल्लेखं कुर्वता वैद्यविद्याध्येतृतया जातकाद्युक्तस्य काशीपतेर्ब्रह्मदत्तस्यापि नाम किमिति नोपादीयेत। तत्सामयिकेन काश्यपेनापि कथं नोपादीयेत। अग्निवेशस्याचार्यो हि आत्रेयपुनर्वसुशब्देन काम्पिल्यस्थानीयत्वेन निर्दिश्यते। बुद्धसामयिकजीवकाचार्यत्वेन ज्ञात आत्रेयस्तु तक्षशिलागतत्वेन निर्दिश्यते। काम्पिल्यं वेदकालात् प्रसिद्धं, तक्षशिला तु पश्चादेव प्रसिद्धतरेत्यवोचाम। अर्वाचीनतया कल्पने अनेनात्रेयपुनर्वसुना तथा प्रसिद्धायास्तक्षशिलायाः पाटलिपुत्रस्य च नाम किमिति नोपादीयेत, इत्येवमालोचने आत्रेयपुनर्वसोः कालो नार्वाग् भवितुं शक्नोति। ततः पश्चात्तनोऽन्य एव वसिष्ठादिशब्दवद्गोत्रनाम्ना आत्रेयशब्देन व्यवहृतः शल्यप्रस्थाने कायचिकित्सायां च वैदुष्यशाली तक्षशिलायामाचार्यः स्यात्। तत एव बुद्धसामयिकेन जीवकेनाधीतं स्यादिति कथयितुं शक्यते। अतः केवलमात्रेयशब्दमात्रमुपादाय पुनर्वसुरात्रेय एवास्य जीवकस्य गुरुरिति साधयितुं बलवत्प्रमाणमपेक्ष्यते, इत्यादि पूर्वं (पृ. ४१) प्रतिपादितमेव। तस्य वृद्धजीवकनाम्ना अपरस्य जीवकनाम्ना प्रसिद्धिरपि द्वयोर्भेदं पूर्वापरभावं चावबोधयति। एवं परित आलोचनेन तिब्बतीयोपकथोक्तात्रेयोऽपि पुनर्वसोरात्रेयाद्विभिन्नः पश्चात्तनश्चेत्यायाति॥

यदि नाम पूर्वोपदर्शितदिशा एतत्तन्त्राचार्यस्य वृद्धजीवकस्य महावग्गादिबौद्धग्रन्थनिर्दिष्टस्य प्रसिद्धवैद्यवरस्य जीवकस्य च जन्मस्थानगुरुकुलचिकित्सनेतिहासादीनां मिथो विभिन्नानां विभेदं साधयतां बहूनां बाधकविसंवादकानां दर्शनेऽपि स्वस्वविषयोपरक्तदृष्टिभिर्लिखितेष्वितिहासेषु तथेतरथा वोल्लेखेऽपि प्रमेयांशमात्रमनुसन्धाय संवादः सम्भावनीयः। महावग्गे तत्पूर्वचरित्रानुसारेण कुमारभृत इति वक्तुमौचित्येऽपि

१. Tibetan Tales P. 98.

कुमारभञ्चो इति तद्विशेषणेन कुमारभृत्य इति परिचयविशेषलाभात् तत्साधकतया राजकुमारेणाभयेन पालितत्वरूपं यत्पूर्ववृत्तं निर्दिष्टमस्ति तत्र न स्वारसिकं सङ्गमनं भवति। पालीलेखतस्तस्य कुमारभृत्यत्वे कौमारभृत्यवेत्तृत्वमेव विनिगमकं स्यात्। पूर्वसम्प्रदायानुसारेण कौमारभृत्यशब्देन बालचिकित्सैवावबोध्यते। कालिदासेनापि कुमारभृत्याकुशलैरिति तत्परत्वमभिप्रेयते। तादृशस्य महाभिषजो बालचिकित्सावृत्तानुल्लेखेऽपि तद्वेत्तृत्वं न खलु न सम्भवति। पुरावृत्ते क्वचन नैसर्गिकविषयोपस्थितौ दैवी शक्तिः किमपि कौतुकं वोल्लिखितं तत्र तत्रेक्ष्यते। तत्रान्तर्निध्याने किमपि रहस्यं प्रक्रियान्तरेणोपरञ्जकतयाऽवबोधितं प्रतिभासते। अस्मिंस्तत्रे पञ्चवार्षिकस्य जीवकस्य गङ्गाह्रदोन्मज्जने क्षणादेव वलीपलितव्याप्तया वृद्धभावे किमपि कौतुकं, बौद्धग्रन्थोक्तजीवकस्यापि पूर्वतनमुत्पत्त्यादिबाल्यवृत्तमसाधारणमित्युभयतः किमपि बालरहस्यं निगूढमवभासते। पञ्चनदगान्धारादिपश्चिमविभागे नानाचार्यैर्वैद्यविद्याया उपबृंहणं, वैद्यकतन्त्रकृतामाचार्यत्वेनात्रेयस्य निर्देशः, महावग्गलेखे आत्रेयानुल्लेखेऽपि तिब्बतीयगाथायां तक्षशिलायां जीवकेनात्रेयाद्वैद्यविद्याया ग्रहणस्योल्लेखश्चास्ति। चरके आत्रेयेण मारीचिकश्यपस्योल्लेखेऽपि तथा प्रसिद्धस्य जीवकस्यानुल्लेखेन संहिताकर्तुर्मरीचकश्यपाज्जीवकस्य पश्चात्तनत्वमायाति। वृद्धजीवकीये प्राचीनेन काश्यपेन सह जीवकस्य प्रश्नप्रतिवचनसम्बन्धदर्शनमपि स्वग्रन्थस्य मौलिकत्वप्रदर्शनमेवाभिप्रैति। एवं सति तल्लेखनीतोऽप्युत्सर्पिण्यवसर्पिणीनिर्ग्रन्थादितादात्विकलोकप्रसिद्धशब्दविशेषाणामत्रानुप्रवेशनं च सम्भवति, इत्येवं स्थालीपुलाकदृशा नामैकदेशसाम्यमात्रेण आत्रेयोऽपि स एव, वृद्धजीवकोऽपि बौद्धग्रन्थोक्तः प्रसिद्धो भिषग्जीवक एवेति बलादैक्यमभ्युपगम्येत, तदाऽपि आत्रेयस्य जीवकस्यापि बुद्धसमय एवायाति। न तु ततोऽपि पश्चात्कालः। इतोऽपि २६०० वर्षेभ्योऽनर्वाक्तनत्वमेव सिद्ध्यति ॥

बुद्धसामयिकेन जीवकेनापि शल्यप्रक्रियया नानाविधैरसाधारणौषधप्रयोगैश्च सुयशस्विना उभाभ्यां हस्ताभ्यामुभे प्रस्थाने समकक्षायामुद्गमय्य तदात्वे परां प्रौढिमारूढे प्रदर्शिते। सद्गुरूपदेशाध्ययनबलोपजाततयाऽध्ययनाध्यापनप्रणालीगौरवस्यानुसन्धेयतया तदात्वे प्रचारवशेन परःशतानां व्यक्त्यन्तराणामपि तारतम्यभाजामायुर्वेदविद्याविदां विशेषतः सम्भवेन कायचिकित्सायां शल्यप्रस्थाने च स समयः आयुर्वेदविद्यारसायनेन पूर्णयौवनारूढोऽवगम्यते ॥

आत्रेयशिष्यतया कीर्तितेन जीवकेन कायचिकित्साविज्ञानाय चरकसंहितायाः पूर्वाप्रतिसंस्कृतावस्थारूपाऽऽत्रेयसंहितेव, शल्यप्रस्थाने विज्ञानाय आत्रेयसंहितायामपि समानदशा धन्वन्तरेरुल्लेखेन पुराकालादसाधारण्येन प्रसिद्धा सुश्रुतसंहिता तत्पूर्वावस्थारूपा धन्वन्तरिसंहिता वाऽधीता स्यादिति तदीयेतिवृत्तगतक्रियाकौशलफलबलकल्पनीयमेव। स एवान्यो वाऽस्तु जीवकः, तेन बालतन्त्रपरिज्ञानायापि तदात्वे प्रसिद्धा कश्यपसंहितैवोपात्ता स्यात्, आयुर्वेदीयपरम्परागतानि तदात्वे उपलभ्यानि आश्विनभारद्वाजादिसंहितान्तराणि च विशेषविज्ञानायावलम्बनानि भवेयुः। तदात्वे उपस्थितानीदृशानार्षग्रन्थान् परित्यज्य ग्रन्थान्तराणां, पूर्वसमये प्रसिद्धानितिहासतोऽपि संवादिन आत्रेयादीनाचार्यान् विहाय अनुपस्थितेभ्यो वैदेशिकादिभ्य आचार्यान्तरेभ्यो वाऽध्ययनं कल्पयितुं न किमपि प्रमाणमवलम्ब्यते। यदि तथाऽभविष्यत्तदा आत्रेयमुल्लिखत्सु तिब्बतीयकथाजातकादिग्रन्थेषु तथाऽप्युदलेखिष्यत ॥

पुरा समयादेव विद्यासम्प्रदायोज्ज्वले भारतीये पश्चिमविभागे तक्षशिलापरिसरप्रदेशो बुद्धसमयात् पूर्वतः पाणिनिव्याडिसदृशैरन्यैरपि परःशतैर्वेदवेदाङ्गादितत्तद्विषयाचार्यैर्वैद्याचार्यैश्च सुप्रतिष्ठित आसीदिति विदितमेव। एतद्विषये राइस डेविडमहोदयमतमिति भारतीमासिकपत्रिकायां[1] तक्षशिलाविश्वविद्यालये आयुर्वेदधनुर्वेदगान्धर्वविद्याऽर्थशास्त्ररसायनधर्मशास्त्रप्रभृतीनां बहुविधानां विद्यानामध्ययनाध्यापनप्रवृत्तिः, विशेषत आयुर्वेदशास्त्रस्य चर्चाबाहुल्यं चासीत्। तत्र विश्वविद्यालये बेब्लोनियन—मिशर—फिनीशियन्—सीरियन्—अरब—चीनप्रभृतिदेशपण्डिता अपि बहवो वैद्यशिक्षासम्बन्धमुद्दिश्य समवेता अवर्तन्तेति तदीयो महिमा साधूपवर्णितः, किन्तु तेनैवमुपवर्णयता तत्समये ग्रीसभिषजोऽपि आयुर्वेदशिक्षायै तक्षशिलायामागच्छन्त आसन्, तत्रैव जीवकोऽपि गत्वाऽऽयुर्वेदशास्त्रमपठदिति च यदुल्लिखितं तत् पश्चात्तनं बौद्धधर्मप्रसरणकालमुपादाय निर्दिष्टं स्यात्। जातकग्रन्थेष्वपि तक्षशिलाविद्यालये भारतीयतत्तत्प्रदेशागतविद्यार्थिभिर्भारतीयाध्यापकेभ्यो भारतीयपूर्वसम्प्रदायग्रन्थानां स्मृत्यायुर्वेदधनुर्वेदार्थशास्त्रादीनामेवाध्ययनमुल्लिखितं दृश्यते, आत्रेयाज्जीवकस्याध्ययनसमयस्तु प्राक्तनः जीवकाध्ययनसम्बन्धिनः पश्चात्तनबौद्धसामयिकस्य च विषयस्यैकसूत्रे संग्रथनं भ्रममुत्पादयति। महावग्गीयजीवकाध्ययनसमये मगधेऽपि बौद्धधर्मस्य प्रारम्भिक्यवस्थाजाताऽऽसीत्। बुद्धस्येतिवृत्ततोऽपि तत्समये मगध—साकेतकपिलवस्त्वादिषु सन्निकृष्टदेशेष्वेव तदीयः प्रभावोऽवगम्यते। मज्झिमनिकायप्रभृतिपालीत्रिपिटकग्रन्थानामनुसन्धाने यमुनायाः पश्चिमदिग्भागे बुद्धस्य गमनं धर्मप्रचारणं च नोपलभ्यते। तक्षशिलायाः परिचयं दधानो महावग्गलेखोऽपि तत्प्रदेशे बौद्धधर्मप्रभावं नानुदर्शयति। अलेक्जेण्डरागमनसमयेऽपि नृपान्तराधिष्ठिते तक्षशिलाप्रदेशे बौद्धधर्मप्रभावो नावगम्यते। पश्चादशोकनृपतेः समये मिलिन्दरेण बौद्धधर्मग्रहणोत्तरं वा तत्र बौद्धधर्मप्रचारेण तक्षशिलाविश्वविद्यालयेऽपि तत्प्रभावः समुन्मिमेष, यदि नाम ग्रीकवैद्यानां तत्रोपगमः स्यात् तर्हि पश्चात्तने बौद्धप्रभावप्रसरणसमय एव सम्भवेत्। बुद्धसामयिकस्य जीवकस्याध्ययनसमये तु जन्मनाऽप्यलब्धसत्ताकस्य ग्रीकवैद्यकप्रथमजनकस्य हिपोक्रिटसस्याप्यागमनमपि न सङ्गच्छते, नतरां तदुत्तरेषामन्येषामप्यध्यापकत्वम्। तदात्वे ग्रीकवैद्यविद्यासुगन्ध-

१. 'कुमारभृत्याकुशलैरनुष्ठिते भिषग्भिराप्तैरथ गर्भभर्मणि।' (रघुवंशे ३ सर्गे)॥

१. भारती वर्ष ४८, पृ. ७०४.

लब्धये भारतीयानां यवनदेशोपगमस्य, अत्रोपगतैः प्राचीनयवनैर्भारतीयवैद्यके अतिशयाधानस्य कस्यापि ग्रीकवैद्यकस्य भारतेऽध्यापकत्वस्य वा वृत्तं भारतीये ग्रीसीये वा इतिहासे न किमपि लभ्यते। राजदौत्यमादाय भारते समागतेन स्वयं ग्रीसवैद्येन मेगस्थनीजेन ग्रीकवैद्यानां यवनानां भारते अध्यापकत्वस्य प्रभावस्य चानुल्लेखेन, प्रत्युत चन्द्रगुप्तराज्ये वर्तमानानां वैदेशिकजनानामामयाविते आरोग्यसम्पादनाय भारतीयवैद्यानां नियोजनस्य व्यवस्थाया उल्लेखेन[1] तदात्वे भारते भैषज्यविद्याया भारतीयवैद्यहस्तगतत्वं वैदेशिकानां लेशतोऽप्यप्रभावश्च स्पष्टमवगम्यते॥

हिपोक्रिटस-सम्बन्धी विमर्शः

पाश्चात्त्यग्रीकवैद्यके प्राधान्येनाचार्यपदं हिपोक्रिटसस्य निर्दिष्टमस्ति। तस्य जन्म कॉस-(Cos) स्थाने[2] B. C. 460 मतान्तरेण ४५० संवत्सरे बभूव। अनेन पितुः Heraclides सकाशात्, Herodicus सकाशाच्चाधीतम्। स विद्यासम्पत्तये दूरदेशानप्युपजगाम। ८५तः ११० वर्षपर्यन्ते तदीये जीवनावधौ मतभेदोऽस्ति। हिपोक्रिटसो भैषज्यविषयाध्यापनवृत्तिमानासीदिति प्रोटागोरस (Protagoras) ग्रन्थे, दर्शनविषये फेड्रस (Phaedrus) ग्रन्थे च प्लेटो (Plato B. C. 428–348) नामकेन विदुषा द्विवारमस्य नाम गृहीतमस्ति[3]। टिमियस (Timaeus) नामके इन्द्रियविज्ञानविषयके ग्रन्थे तेन नाम न गृहीतम्। अरिष्टाटल (Aristotle B. C. 384–322) विदुषा स्वीये नैतिकग्रन्थे सकृदेवास्य नाम गृहीतं दृश्यते। एतद्दर्शनेन हिपोक्रिटसो भैषज्यविद्याध्यापनवृत्तिमान् विद्वानासीदिति समर्थितं भवति। ग्रीसेतिहासलेखकेन हिरोडोटसेन (Herodotus B. C. 484–425) पाथागोरसादीनां विदुषामुल्लेखेऽपि स्वोत्तरवयसि वर्तमानस्यास्य अनिर्देशेन तावत्पर्यन्तं न तथा प्रसिद्धिरवगम्यते। कासस्थानीयपूर्ववृत्तगवेषकेण हरजोगेन (Herzog) कासस्थानीये बहुलेखेऽप्यस्य विषये उदासितं दृश्यते[1]। अन्यत्र प्राचीनग्रन्थेष्वप्यस्य विशेषनिर्देशो न दृश्यते॥

B. C. 427 आरभ्य B. C. 400 समयान्नातिपश्चात् स्यादनेन ग्रन्थसंपादनं कृतमिति Galen (C. 130–200 A. D.) महाशयस्य मतम्[2], B. C. 430 आरभ्य 420 पर्यन्तमिति Littre महाशयस्य मतम्[3], छन्दोव्याकरणलेखशैलीनामनुसन्धाने अलेक्जेण्डरादनन्तरं हिपोक्रिटसग्रन्थस्य B. C. 300 समये रचनेति कस्यचन मतं वर्तते[4]। तन्नाम्ना बहवो ग्रन्था दृश्यन्ते, तेषु परस्परविरोधलेखशैलीभेदादेर्दर्शनेन सर्वे हिपोक्रिटसीया इति पूर्णतया विश्वस्य कथयितुं न शक्यते इति थ्रेमर- (E. Thra-mer) महाशयेन[5]; केषाञ्चित्तदीयत्वेऽपि सर्वे न

1. Among the Indian officers are appointed even for foreigners, whose duty is to see that no foreigner is wronged. Should any of them lose his health, they send physicians to attend him, and take care of him otherwise. P. 42 M.'Crindle's Megasthenes and Arrian.

2. From the ancient biographies of Hippocrates by Suidas, by Tzetzes and by Soranus, we gather that Hippocrates was born in Cos in 460 B. C.
Hippocrates Vol. I P. XLII.

3. The former passage (Protagoras) tells us that Hippocrates was a Coan and an Asclepiad and a professional trainer of medical students. This passage (in Protagoras) tells us little except that Hippocrates took pupils for a fee. Plato's Protagoras 311 B. C. Hippocrates Vol. I P. XXXIII.
See also Plato's Phaedrus.
Ibid Vol. I P. XLIII.

4. From Aristotle we learn that Hippocrates was already known as 'the great Hippocrates.'
Ibid Vol. I P. XLIV.

1. Herzog's untiring researches in Cos have not yielded a single fact regarding him (Hippocrates).
E. R. E. Vol. VI P. 544. E. Thrämer.

2. The style of a treatise is sometimes a sure test and sometimes not. Sophistic rhetoric is of such a marked character in its most pronounced form that a treatise showing it is not likely to be much earlier than 427 B. C., nor much later than 400 B. C. when sophistic extravagances began to be modified under the influence of the Attic orators. Hippocrates Vol. I, Introduction P. XXXII.

3. All this evidence tends to fix the date as approximately 430–420 B. C., and to suggest as the writer either Hippocrates or a very capable supporter of the medical school of which Hippocrates was a contemporary member.
Hippocrates Vol. I, P. V.

4. In some respects grammar and diction are the surest tests of all. If the negative Un' markedly ousting ov' it is sure sign of Post Alexandrine (the hers of which was Alexander the Great) date. There is also a subtle quality about writings later than 300 B. C. an unnatural verbosity and tortuousness of expression, a suspicion of 'the baboo' that is as unmistakable as it is impalpable. A few of the Hippocratic treatises display this characteristic.
Hippocrates Vol I, Introduction P. XXXII.

5. The Corpus Hippokr. contains over seventy treatises, but none of them can be with absolute confidence ascribed to the master (Hippocrates), while many are not the products of his school.
E. R. E. Vol. VI P. 543 E. Thrämer.

तदीयाः किन्तु तद्वंश्यैस्तदन्तेवासिभिस्तदनुयायिभिश्च लिखिता बहवः सन्तीति ड्रेपर (Draper) महाशयेन;[1] P. C रायमहाशयेन; अन्यैरपि च लिखितं वर्तते। हिपोक्रिटसात् पूर्वतनस्य डेमोकेडिसस्य[2] ग्रन्थोऽपि हिपोक्रिटसग्रन्थेषु प्रविष्ट इत्यप्युपलभ्यते। तत्र एफारिजनामको ग्रन्थो डाइक्लिसविदुषा, आर्टिक्युलेशननामको ग्रन्थः टेरियसविदुषा, द्वित्रा अन्ये ग्रन्था मेननविदुषा पूर्वं विज्ञाता आसन्। नेचर ऑफ मॅन नामको ग्रन्थः अरिष्टाटलविदुषा[3] विज्ञात आसीत्, सोऽपि पालिवसस्य तं ग्रन्थं जानाति। 'हिपोक्रिटसस्य स्वलेखमयोऽमुको ग्रन्थ इति निश्चयेन वक्तुं न शक्यते, ईदृशः कोऽपि ग्रन्थो नास्ति यो भैषज्यपितृपदारूढस्य रचनेति वक्तुं शक्येत। तदीयनाम्ना प्रसिद्धानां ग्रन्थानां सङ्ग्रहे उपशतं ग्रन्था वर्तन्ते, येषु परस्परं विभिन्ना विरुद्धाश्च विचारा दृश्यन्ते। विभिन्नसांप्रदायिकैर्ग्रीसराष्ट्रीयविभिन्नस्थानीयैर्विभिन्नकालिकैश्च विद्वद्भिर्निर्मितानां नानाग्रन्थानामसौ सङ्ग्रहो ज्ञायते, येषां मिथः षट्शताब्दीपर्यन्तमपि समयान्तरमस्ति[4]। केचन ग्रन्थास्तु रोमदेशे A. D. [5]तृतीयशताब्दीपर्यन्तं निष्पन्ना अप्यत्र प्रविष्टाः सन्ति' इति E. B. आङ्ग्लबृहत्कोशेऽस्ति। हिपोक्रिटसस्तु महानित्युच्यते, विनैव ग्रन्थनिर्माणमस्य नाम प्रचलितमिति विलामाविजस्य[6]

1. Of the works attributed to Hippocrates, many are doubtless the production of his family, his descendants, or his pupils.

Draper-P. C. Ray History of Hindu Chemistry Vol. I P. XVIII.

2. But he (Demokedes) can hardly have lived to see the birth of Hippocrates, in whose time the most important of the treatises here translated were composed. Hippocrates Vol. III P. XVI.

3. Hippocrates Vol. I P. XXVIII.

4. To the question 'Which of these works is of Hippocrates ?' no definite answer can be given. There is no work which we can state with confidence to be by Father of Medicine. The books of the collection, of which there are about 100, are by a number of authors of different schools, holding various and often contradictory views, living in widely separate parts of the Greek world and writing at dates separated, in extreme cases, by perhaps five or six centuries. E. B. Vol. XV P. 198.

5. Of later works, some of the more recent, dating from the time of the Empire, were probably mostly written in Rome and may be as late as 300 A. D. E. B. Vol. XI P. 584.

6. Such is the ancient account of Hippocrates, a name without writings as Wilamowitz says.

Hippocrates Vol. I P. XLIV.

(Wilamowitz) मतम्। अरिष्टाटलात् प्राक् कार्पस-(Corpus) नामके ग्रन्थसङ्ग्रहे हिपोक्रिटसीयलेखस्योद्धारादर्शनेन हिपोक्रिटसनाम्ना प्रसिद्धानां ग्रन्थानां कर्ता न हिपोक्रिटसः, अपि तु पालिबस-(Polybus) नामकोऽन्य एव विद्वानित्यपि[1] मतं हिपोक्रिटसीयग्रन्थानुवादभूमिकायां दृश्यते। 'प्राचीनानामपि ग्रन्थानां कालवशेन पाठविशेषावापोद्वापसंस्करणपरिवर्धनादिभिर्बहुशो विकार उपजातः' इत्यादीनि पाश्चात्यविदुषामन्येषां चान्यान्यपि मतानि वर्तन्ते। ते चोपशतं हिपोक्रिटसनाम्ना प्रसिद्धा ग्रन्थाः प्रायश एकैकविषयकप्रकरणरूपा लघवो दृश्यन्ते। A. D. १३०-२०० समये ग्यालन्-(Galen) नाम्ना विदुषा हिपोक्रिटसनाम्ना प्रसिद्धानां कतिपयग्रन्थानां विवरणं विहितमस्ति। तेनापि[2] हिपोक्रिटसनाम्ना प्रसिद्धा ग्रन्था रूपान्तरितावस्थायामलभ्यन्त। लब्धेषु ग्रन्थेष्वपि बहवो ग्रन्था एशियामाइनरप्रदेशात्, एकद्वा ग्रन्थाः सिसलीप्रदेशात् प्राप्ता इति दर्शनेन तद्ग्रन्थस्य पुरातनग्रीसराज्येऽनुपलम्भः, अवस्थान्तरितस्योपलम्भश्चावबुध्यते। यदि तन्नाम्ना दृश्यमानाः सर्वे ग्रन्थास्तदीयास्तादात्विकाश्चाभविष्यन्, एतदीयग्रन्थानां ग्रीसे तदीयसमयादेवातिशयेन प्रचारश्चाभविष्यत्, तदा प्लेटोऽरिष्टाटलाभ्यां भैषज्याध्यापनविषये आध्यात्मिकविषये चास्य नामसङ्कीर्तनमिव प्लेटोकृते टिमियसग्रन्थे ग्रीसीयप्राचीनविद्वदन्तरग्रन्थेष्वपि तदीयभैषज्यग्रन्थप्रचारसम्बन्धमादाय बहुश उल्लेखा अवश्यमलप्स्यन्त। भैषज्यपितृपदे प्रतिष्ठितस्य हिपोक्रिटसस्य स्वदेश एव सम्प्रदायप्रचारे विशेषतो जागरूके तत्पश्चाद्वा भैषज्यविद्याविशेषलब्धये मिश्रदेशं नानुधाविष्यन्त च। हिपोक्रिटससमयोत्तरं B. C. ३८२-३६४ वत्सराभ्यन्तरे यूडाक्सस (Eudoxas)नाम्ना मिश्रदेशं गत्वा पञ्चदशमासपर्यन्तं हेलियोपोलिस-स्थानीयभिषक्पुरोहितसकाशाद्भैषज्यविद्याया अध्ययनमितिहासे लभ्यते[3]। पूर्वकाल इवोत्तरकालेऽपि

1. There is no quotation from any treatise in the Corpus before Aristotle and he assigns as the author not as Hippocrates but Polybus. In fact the connexion between the great physician and the collection of writing which bears his name cannot with any confidence be carried further back than Ctesias the Cnidian, Diocles of Carystus and Menon. Ctesias and Diocles belong to the earlier half of the 4th centusy and Menon a disciple of Aristotle.

Hippocrates Vol. I, Introduction P. XLIV.

2. (a) But dubious in its origin as was the collection, it had not remained intact even between the time when first put together and the time of Galen.

E. B. Vol. XI P. 584.

(b) Of these (the Hippocratic collection) the very earliest.........come from the shores of Asia Minor, one or two possibly from Sicily.

E. B. Vol. XI P. 584.

3. E. R. E. Vol. VI P. 541 E. Thrämer.

ग्रीसजनानां भैषज्यविद्याध्ययनाय मिश्रे उपगमनं तावत्पर्यन्तमपि ग्रीसे मिश्रप्रभावपातञ्च वर्णयन्ति ॥

स्वसम्प्रदायप्रचाराय स्यात् स्नीडस (Cnidos)स्थानस्य मतान्तरेण कास-(Cos)स्थानस्यापि हिपोक्रिटसेन पूर्वपुस्तकालयस्य ज्वालनं कृतमित्यभियोगेन, इतस्ततोऽपि विद्याविवर्धनहेतोर्वा हिपोक्रिटसस्य यौवन एव वयसि स्वस्थानं परित्यज्य स्थानान्तरगमनवृत्तं चोपलभ्यते[1]। सोऽयं तस्य स्थानत्यागो मुख्ये तदीयस्थाने प्रचारसौकर्यं व्याघट्टयेन्नाम। तदात्वे मुद्रणकलाद्यभावेनाऽद्यत्व इव तत्प्रक्रियया झटिति प्रचारसौकर्यसाधनं नासीत्। बहुशः प्रतीकलेखानामितस्ततः उपलम्भोऽध्ययनाध्यापनबाहुल्यञ्च पौर्वकालिकं प्रचारविशेषमभिव्यनक्ति। ग्रीसे अलेक्जेन्ड्रियायां वा तत्प्रचारविशेषः कार्पससङ्ग्रहो वा पूर्वमुपजातो वर्तमानो वा यद्यभविष्यत्, तदा ग्यालनदृष्टेर्बहिर्भावो नाभविष्यत्, एशियामाइनर–सिसलीप्रदेशत एव उपलम्भप्रयासोऽपि तस्य नाभविष्यत्। एवमेव लिट्रे (Littre) महाशयोऽपि ब्रवीति। ग्रीसाद्बहिर्मिश्रदेशे B. C. तृतीयशताब्दीभवेन इन्ड्रीयस–(Andreas)विदुषा, रोमदेशे B. C. प्रथमशताब्दीभवेन एस्क्लिपियाडिस[3] (Asclepiades) विदुषा हिपोक्रिटसविरुद्धतया परिशीलनं कृतमवगम्यते। कासस्थले हिपोक्रिटससाम्प्रदायिकपुस्तकालयावस्थितेः प्रमाणमपि नोपलभ्यते इति लिट्रे महाशयैरुच्यते। शतत्रिशतवर्षाभ्यन्तरे कार्पस संग्रह इति लिट्रे[4] महाशयोक्त्या ग्यालनीयव्याख्यानोत्तरं स संग्रहो जातः स्यादिति सम्भाव्यते। तेन रूपान्तरितावस्थायामितस्ततो वर्तमानानां तन्नाम्ना व्यवहृतानां ग्रन्थानां ग्यालनेन यावदुपलम्भं संकलनेन, कतिपयग्रन्थानां व्याख्यानेन, उत्तरोत्तरं देशदेशान्तरविज्ञानालोकलब्ध्या तृतीयशताब्दीपर्यन्तं नवोपजातानां ग्रन्थानामपि तत्र प्रवेशनेन, नवोदितरोमसाम्राज्यावलम्बलाभेन, A. D. सप्तमशताब्द्यां लेटिनभाषायामप्यनुवादेन[1], यूरोपीयकतिपयदेशेष्वप्येतत्संप्रदायप्रसरणेन च पश्चात्काले यथा तन्नाम्ना प्रसिद्धानां ग्रन्थानां विशेषतः प्रचारो, न तथा पूर्वकाले ग्रीसे बभूवेत्यत्र मनः प्रवणीभवति ॥

ग्यालसमयपर्यन्तमपि पौरस्त्येषु असीरिया–पर्सिया–बेब्लोनियादिदूरदेशेषु तद्ग्रन्थोपलब्ध्यदर्शनेन तत्रापि पदन्यासमदर्शयन्ती हिपोक्रिटसीया विद्या मण्डूकप्लुत्या पूर्वं भारते पादन्यासं कृतवती स्यादिति कल्पयितुं मनः सङ्कुचति ॥

ग्रीसभारतवैद्यकयोः प्रायिको विषयसंवादः

हिपोक्रिटसवैद्यकलेखे निदानेषु ज्वरादिरोगेषु भैषज्यप्रक्रियासु भेषजेषु चैवमनेकविषयेषु भारतीयायुर्वेदवैद्यकस्य साम्यं कीथ[2]–म्याकडोलनप्रभृतयो महाशयाः प्रतिपादयन्ति। अस्मद्दृष्टावपि बहुशः साम्यं प्रतीयते। भारतीयग्रन्थेषु रोगादीनामुत्पत्तिनिवृत्त्योररिष्टानां चानुसन्धानाय स्वप्नाध्यायः प्रवर्तते। असीरिया–बेब्लोनिया–प्रदेशेष्वपि असुरवनिपालनृपस्य (B. C. ६६८–६२६),

1. (a) It would thus seem certain that he (Hippocrates) left the island for ever at an early age. The Vita gives three distinct reasons for this: (1) an injunction intimated in a dream (Soranos); (2) his desire to widen the horizon of his medical knowledge; (3) his being accused of burning the Cnidian library.

E. R. E, Vol. VI P. 544, E. Thrämer.

(b) The ancient biographies of Hippocrates relate a fable that he destroyed the library of the Temple of Health at Cnidos (or, according to another form of the fable, at Cos) in order to enjoy the monopoly of the knowledge it contained.

Hippocrates Vol. I P. XXIX.

2. Hippocrates Vol. I P. XXVIII.

3. Among his detractors were Anrdeas of Carystus, who practised in Egypt at the end of the 3rd Cen. B. C., and Asclepiades of Bithynia, who practised in Rome in Ist Cen. B. C. The works of neither of them have survived. E. B. Vol. XI P. 584.

4. Hippocrates Vol. I Pp. XXVIII-XXIX.

1. Our earliest manuscript of a translation is of the 7th Century A. D., and is a Latin version of the obviously spurious Dynamidia. E.B. Vol. XI P. 584.

2. The striking similarty in many points between the Greek and the Indian medical systems has long been well known. We find in both such things as the doctrine of humours, whose derangement explains disease, the three stages of fever and other disorders which correspond to the Greek triad of āveyia ne'yes and kpiois; the division of means of healing into hot and cold, or dry and oily; the healing of disease by remedies of opposing character; the insistence in tht manner of Hippocrates on prognosis; the oath exacted from doctors and the rules of etiquette and professional conduct declared to be incumbent on healers. There are also many detailed correspondences; both systems emphasize the influence of the seasons on health, and contray to Indian feeling we have in some cases insistence on the use of strong drink as a remedy. Quotidian, tertian, and quartan-fevers are noted, consumption is prominently dealt with, while little account comparatively is taken of affections of the heart. There are also similarities in regard to embryology; the doctrine of the simultaneous development of the members is held, the connexion of the male sex with right side is noted, and a like cause is given for the production of twins;

यस्य नाम [illegible] इति संस्कृतशब्दवद्भासते, तस्य समये तत्रापि स्वप्नविचारसंस्था प्रवृत्ताऽऽसीत्। तादृश एव विचारो ग्रीसदर्शनेऽपि प्राक्प्रतिफलितः हिपोक्रिटसीयलेखेऽपि दृश्यमानः B. C. चतुर्थशताब्दीपर्यन्तमपि वर्तमानः पश्चाद्विलयमवापेत्युल्लिख्यते[1]। भारतीयायुर्वेदे रुद्रकोपादितो जनमारादिरोगप्रादुर्भावो वर्ण्यते। एवंविध एव दैवकोपतो रोगाद्युत्पत्तेः प्राचीनविचारो ग्रीसदेशे आसीदिति होमरलेखतः प्रतीयते। हिपोक्रिटसपूर्वपुरुषस्य एस्क्लिपियस (Asclepios)-स्याप्येवमेव विचार आसीत्॥

एवं भारते यथा प्राचीनवैद्यकविद्या दार्शनिकविषयसंपृक्ताऽऽसीत्, तथैव ग्रीसदेशेऽपि हिपोक्रिटसतः पूर्वं शतवर्षाभ्यन्तरे प्रवर्तमाना भैषज्यविद्या दार्शनिकविषयसंबद्धाऽऽसीदिति वर्ण्यते। ततो दार्शनिकविषयादीनपाकृत्य[2] केवलाया भैषज्यविद्याया नवोद्भावनं हिपोक्रिटसेन विहितमित्युल्लिख्यते। तेन प्राचीनदेशेषु भारतीयपूर्वस्रोतःसाम्यवत्सु स्रोतःसु ग्रीसेऽपि तच्छायस्रोतःसु विद्यमानेषु पश्चाद् ग्रीसदेशे प्राचीनस्रोतसां विपर्यासेन हिपोक्रिटससमये नवस्वरूपोदयोऽवगम्यते। हिपोक्रिटसेन नवोद्भावितस्य वैद्यकविज्ञानस्य प्रभावो भारतेऽपतिष्यत्, तदा तद्वदेव दार्शनिकादिप्राचीनस्रोतोविषयवर्जिताया एव भैषज्यविद्याया भारते दर्शनमभविष्यत्। हिपोक्रिटसेन नवोद्भाविता विषयविशेषास्तदीयशब्दच्छायादयोऽप्यनुप्रविष्टा-अद्रक्ष्यन्त, नहीयं तथात्वेनोपलभ्यते। भारतीया भैषज्यविद्या दार्शनिकविषयादिसंपृक्तत्वेन प्रवर्तमानाऽद्यापि तथैवास्ते। भारतीयादिप्राचीनपरम्परागतविषयाणां हिपोक्रिटसवैद्यके अपोद्धारदर्शनं प्रत्युत भारतीयवैद्यकप्रतिष्ठोत्तरमेव हिपोक्रिटसवैद्यकोदयमवगमयितुं प्रभवति॥

शारीरमूलतत्त्वानि कफवातपित्तानि ग्रीसवैद्यकाद्भारते उपात्तानीत्यपि[1] वक्तुं न शक्यते। पाश्चात्त्या विद्वांसो ग्रीसोपज्ञं त्रिधातुवाद इत्यत्र न व्यवतिष्ठन्ते, मिश्रदेशीयमेतूसम्प्रदायतो[2] गृहीत इत्यन्यन्मूलं प्रदर्शयन्ति। भारतीयायुर्वेदविषयके विमर्शे कीथमहाशयोक्तेः पर्यालोचने तत्र नैतिकोक्तिविशेषाणां दर्शनेऽपि उपक्रमोपसंहारदृशा तदीयप्रघट्टकार्थग्रहणे ग्रीसवैद्यकाद्भारतीयवैद्यकस्य प्राग्भावे मूलभावे च तेषामपि हृदयस्य प्रवणीभाव इव प्रतिभाति। अतिपूर्वकालं प्रति दृष्टिदाने तु त्रिर्नो अश्विनेति आश्विनसूक्तगते ऋङ्मन्त्रे त्रिधातुशब्देन[3] वातपित्तश्लेष्मधातुत्रयमुपादाय तच्छमनजन्यसुखप्राप्तेः प्रार्थनाया-उपलम्भेन, अथर्ववेदे वलास (कफ) रोग–निदानचिकित्सादेः (६. १४. १–३), पित्तस्य (१. २४. १, १८. ३. ५), भेषजत्वेन व्याधिनिदानत्वेन च वातस्य (४. १३. २), वरुणपुत्रार्चिःशोचिरादिशब्दविशेषैः श्लेष्मवातपित्तज्वराणां च निर्देशदर्शनेन भारतीये वैद्यके श्लेष्मवातपित्तरूपत्रिधातुवादो वेदकालादेवानुवृत्तो निश्चीयते। कौशिकसूत्रेऽपि[4] त्रिदोषोल्लेखोऽस्ति इति कीथमहाशयो वदति। महाभारतेऽपि तदुल्लेखो लभ्यते[5]। शारीराणि कफवातपित्तानि नाम कानि तत्त्वानीत्यत्र श्रीमत्थुप्रभृ-[6]

the viability of an eighth month foetus is asserted, that of a seventh-month is denied; there is similarity in regard to the removal of a dead foetus. In surgery there is similarity in the operation for stone, in modes of dealing with haemorrhoids, in blood-letting, in the use of leeches, including according to Sus′ ruta those from Greece, cauteries, many surgical instruments, and the use of the left hand to deal with the right eye in ophthalmology. It must however be confessed that it is very difficult to determine how much is due to Greek influence and how much is merely parallel development. The doctrine of the three humours' which at first sight might be held to be definitely Greek, is in close connexion with the Sāmkhya system of the three Gunas or constituents, moreover, one of the humours, wind, is already known in the Atharvaveda, and the Kaus′i ksûtra is alleged by the comment, perhaps with justification, to have recognized the doctrine of three, wind, bile, and phlegm.

History of Sanskrit Literature P. 513 by A. B. Keith.

1. E. R. E. Vol. VI P. 542 E. Thrämer.

2. The Roman Celsus in his preface (Hippocrates) asserts that Hippocrates separated medicine from Philosophy.

Hippocrates Vol. I P. XV; E. B. Vol. XI P. 584.

1. The doctrine of three humours which at first sight might be held definitely to be Greek.

Hist. of Sans. Lit. by Keith P. 5I3.

2. The Egyptian doctrine of Metu survives in the Greek theory of humours.

E. R. E. Vol. VI P. 541.

३. त्रिर्नो अश्विना दिव्यानि भेषजा त्रिः पार्थिवानि त्रिरु दत्तमद्भ्यः।
ओमानं शंयोर्ममकाय सूनवे त्रिधातु शर्म वहतं शुभस्पती॥

ऋग्वेदे १।३४।६

सायनः–हे अश्विना अस्मभ्यं दिव्यानि द्युलोकवर्तीनि भेषजा औषधानि त्रिर्दत्तम्। तथा पार्थिवानि पृथिव्यामुत्पन्नान्यौषधानि त्रिर्दत्तम्। अद्भ्य उ अन्तरिक्षसकाशादप्यौषधानि त्रिर्दत्तम्।… शंयोरेतन्नामकस्य बृहस्पतिपुत्रस्य…सम्बन्धिनमोमानं सुखविशेषं ममकाय सूनवे मदीयाय पुत्राय दत्तम्। हे शुभस्पती शोभनस्यौषधजातस्य पालकौ युवां त्रिधातु वातपित्तश्लेष्मधातुत्रयशमनविषयं सुखं वहतं प्रापयतम्॥

4. History of Sanskrit Literature P. 514 Keith.

५. अभिमन्योस्ततस्तैस्तु घोरं युद्धमवर्तत।
शरीरस्य यथा राजन् वातपित्तकफैस्त्रिभिः।

महाभारते ६।८१।४१

6. They (humours) are Vāyu, nerve force; Pitta, metabolism and heat production; and Kapha

तीनां बहूनां विदुषां मतविशेषा दृश्यन्त इति त्वन्यदेतत् । परं यथा तथा वा भवतु त्रिधातुवादः प्राचीनो भारतीय एव । तदेवं वैदिकादतिपूर्वकालात् परम्परयाऽनुवर्तमानस्य त्रिदोषवादस्य ग्रीसतो भारते प्रतिफलनोक्तिर्न यौक्तिकी भवति । यदा भारतीयं वैद्यकविज्ञानं प्रादुर्बभूव, तदैव सोमसूर्यानिलानामिव विसर्गादानविक्षेपकार्यसंपादकतया शरीरान्तस्तत्त्वानां श्लेष्मवातपित्तानामपि विज्ञानमुदियाय । भारतीयमिदं प्राचीनविज्ञानं विज्ञानान्तरैः सह देशान्तरेऽपि प्रसर्तुं पारयत्येव । त्रिधातुवादो भारतीय एव, तत एव हिपोक्रिटसेन गृहीत इति J. J. मोदीमहाशयेन निरूपितमस्ति ॥

पाञ्चभौतिकवादो भारतीयः प्राचीनः । आयुर्वेदेऽपि आत्रेय-धन्वन्तरि-कश्यपादिभिः पञ्चभूतात्मकत्वं शरीरस्य प्रदर्शितमस्ति । येन समुदितानामेषां चेतनाविशकलितत्वेनावस्थानमुपादाय मृत्योः पञ्चताशब्देनापि व्यवहारोऽस्ति । पञ्चभूतेष्वाकाशतत्त्वं पृथगनभिसन्धाय चतुर्भूतमात्रवादो लोकायतादिमतेषु प्राचीनभारतेऽपि गृहीतो दृश्यते । हिपोक्रिटसेन चातुर्भौतिकत्ववादं पूर्वैरभ्युपगतमेकीयरूपेणोपादाय तत्र स्वस्यानभिरुचिः प्रदर्शिताऽस्ति । ग्रीसदेशे एष चतुर्भूतवादः एम्पिडोक्लिसेन (Empedocles 495–435 B. C.) प्रथममुद्भावित इति धार्मिकेतिहासे लभ्यते । तस्य एम्पिडोक्लिसस्य इरानभारतोपकण्ठादिपूर्वदेशागमनं, ततो दार्शनिकविषयपरिज्ञानं, ग्रीसदेशे दार्शनिकविषयप्रचारणं च लभ्यते[1] । तमिममेम्पिडोक्लिसेनाभ्युपगतं पूर्ववादं प्रतिक्षिपतो हिपोक्रिटसस्य हृदये भारतीयः स प्राचीनः सिद्धान्तः साक्षात् परम्परया वा स्फुरित उपलक्ष्यते । पञ्चभूतेभ्यस्तत्रैकं भूतमपास्य चतुर्भूतेभ्यः शरीरोत्पत्तिर्भारतीयपूर्वसिद्धान्ते लभ्यते । भूतहेतुप्रत्याख्यानवादस्तु न भारते पूर्वकालिको दृश्यते । यदि नाम हिपोक्रिटसीयविचारालोको भारतेऽपतिष्यत् तदा प्रत्याख्यानवादोऽपि भारतीये वैद्यकेऽलक्षिष्यत । तदेवं हिपोक्रिटसेन प्रतिक्षिप्तस्य पूर्ववादस्य भारते उपलम्भः, हिपोक्रिटसोदितस्य प्रतिक्षेपवादस्य भारतेऽनुपलम्भश्चानयोर्दृष्टिदाने कतरस्य पौर्वापर्यं कतरस्यापरत्रालोकपात इत्यपि विद्वद्भिरवधारयितुं शक्यते ॥

किञ्च, आत्रेयसंहितायां[१] वातकलाकलीयाध्याये परस्परमतानि जिज्ञासमानानां महर्षीणां सम्भूय विचारे वातप्राधान्यवादितया कुशभरद्वाजकाङ्कायनभार्गववार्योविदानां, पित्तप्राधान्यवादिनो मरीचेः, कफप्राधान्यवादिनः काप्यस्य मतेषु दर्शितेषु 'सर्वं एव खलु वातपित्तश्लेष्माणः प्रकृतिभूताः पुरुषमायुषा महतोपपादयन्ति' इति त्रयाणामप्येषां संवलितप्राधान्यवाद आत्रेयेण स्वोन्मेषरूपेण प्रदर्शितोऽस्ति । हिपोक्रिटसेन एकैकप्राधान्यवादमेकीयमतत्वेन प्रदर्श्य पश्चात् समुच्चयवादः प्रदर्शितो दृश्यते । एकैकप्राधान्यवादाः कस्य कस्येति न नामनिर्देशोऽस्ति । समुच्चयवादमपि स्वोद्भावितसिद्धान्तरूपेण न निर्दिशति । आत्रेयेण तु तत्तन्मतान्युल्लिख्य सम्मिलितत्ववादः स्वसिद्धान्तरूपेण दर्शितः । तेन भारते पूर्वप्रचलिता एकैकवादाः समुच्चयवादश्चानूदिताः, तेषु समुच्चयवादे स्वाभिरुचिश्च प्रदर्शितेति स्पष्टमवबुध्यते ॥

नैतावदेव, अपि तु दन्तरोगविषये चरके सुश्रुते च पैत्तिकादयः प्रभेदा दर्शिताः । डा० हिपोक्रिटसेनापि दन्तवेष्टनशोथरोगोल्लेखे Pituita (Bile) इति पित्तं दोषतया निर्दिष्टमस्ति । तदिदं पैत्तिकदन्तरोगस्य निदानतया भारतीयैरभ्युपगतं पित्तमेव निर्दिष्टमिति शब्दापभ्रंशदशाऽपि वीक्ष्यते ॥

एवमेव मुखदौर्गन्ध्यप्रतीकारविषये यदौषधं निर्दिष्टं तस्य Indian Medicament (भारतीयौषधम्) इति शब्देन व्यव-

---

which presides over heat regulation, and Mucous and Glandular Secretions.

The Antiquity of Hindu Medicine—David C. Muthu P. 21.

१. विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा ।
धारयन्ति जगद्देहं कफपित्तानिलास्तथा ॥
(आयुर्वेदांची मूलतत्वे)

2. This pituita, i. e., Bile is the Pitta of the Old Indian Medicine. Now it is a well-known fact that the Indian Medicine is woven round the theory of the three humours of the body viz., Vāyu, Pitta and Kapha; and that this theory was borrowed by Hippocrates, the originator of Western Medicine, for his explanation of diseases.

Fourth All-Indian Oriental Conference. Vol. II P. 428.

२. परं खादीन्यहंकारादुत्पद्यन्ते यथाक्रमम् ।
ततः सम्पूर्णसर्वाङ्गो जातोऽभ्युदित उच्यते ॥
शरीरं हि गते तस्मिञ्छून्यागारमचेतनम् ।
पञ्चभूतावशेषत्वात् पञ्चत्वं गतमुच्यते ॥
(चरकशारीरे १ अध्याये ॥)

4. Hippocrates Vol. IV P. 3.

5. Empedocles brought forward a theory of elements : fire, water, air and earth.

A History of Religions–Denis Stuart P. 140.

1. History of Hindu Chemistry. Vol. I P. 22–by P. C. Ray.

१. वातकलाकलज्ञानमधिकृत्य परस्परमतानि जिज्ञासमानाः समुपविश्य महर्षयः पप्रच्छुरन्योन्यम् ।...भगवान्पुनर्वसुरात्रेय उवाच सर्वं एव भवन्तः सम्यगाहुरन्यत्रैकान्तिकवचनात् । सर्वं एव खलु वातपित्तश्लेष्माणः...तदृषयः सर्वे एवानुमेनिरे वचनमात्रेयस्य भगवतोऽभिननन्दुश्च । (चरकसूत्रे. अ. १२. पृ. ७८–८१)

3. Some of them say that a man is blood, others that he is bile, a few that he is phlegm. Physicians like the metaphysicians, all add the same appendix. For they say that a man is a unity giving it the name that severally they wish to give it.

Hippocrates Vol. IV P. 5.

हारः कृत्रो वर्तते[1] इति डा० जे. जे. मोदी L. M. &. S., L. D. S. (Eng.) महाशयेन निरूपितमस्ति। भारतादेव तस्मिन् रोगे तस्य औषधस्य परिज्ञातत्वेनैव भारतीयौषधमिति संज्ञाकरणं संभवति। इदमेकमेव पदमपि तस्य भारतीयं भैषज्यविज्ञानं साधयति। किमन्यत्, हिपोक्रिटसीये मेटिरिया मेडिका (निघण्टु) ग्रन्थे। 'जतमनसी (जटामांसी), जिञ्जिबेर (शृङ्गवेर), पिपरनिग्रम् (मरीचं पिप्पली वा), पेपेरी (पिप्पली), पेपेरियस रिजा (पिप्पलीमूलम्), कोस्तस (कुष्ठं), कर्दमोमोस (कर्दमम्), सकरून (शर्करा), इत्याद्य औषधवाचकशब्दा भारतीयायुर्वेदसंस्कृतशब्दानां सन्निकृष्टा अपभ्रंशाः स्पष्टं दृश्यन्ते[2]। भारतीयतिलवाचके 'सिसमं इण्डिकम्' शब्दे, भारतीयकरञ्जवाचके 'ग्यालेङ्गुपा इण्डिका' शब्दे च भारतवाचकस्य इण्डिकशब्दस्य प्रयोगदर्शनेन तस्य भारतपरिज्ञानं भारतीयवस्तुविशेषाणां व्यवहार उपादानञ्च साक्षात्क्रियते। हिपोक्रास[3] (Hippocras) नाम्नि योगौषधे भारतीयासाधारणवस्तूनां त्वगार्द्रकशर्कराणां प्रवेशो दृश्यते। तस्य योगौषधस्य 'हिपोक्रास' इति तन्नामसङ्केतदर्शनेन तदीयमेव तद्वस्तुपरिज्ञानं दृढीभवति। B. C. ३५० वर्षभवेन थियोफ्रेष्टस (Theophrastus) विदुषाऽपि फिकस इण्डिका (Ficus Indica) नामकौषधे इण्डिकाशब्दो निर्दिष्टोऽस्ति। बहुशो भारतीयवनस्पत्योषधीनां ग्रीसदेशे उपगमस्य वृत्तं पोकाकादिविद्वद्भिरप्युल्लिख्यते[1]। यान्यौषधानि भारत एवोद्भवन्ति, यानि भारतीयवैद्यैस्तेषु तेषु रोगेषूपयोज्यन्ते, नहि तेषां परिज्ञानं विना तानि ग्रीसभिषजो हृदये स्वतः प्रतिभातुं कल्पन्ते। अनेनैव निदर्शनेन डा० हिपोक्रिटसस्य भैषज्यविषये भारतीयभैषज्यविषयाणां रोगनिदानौषधोपचारादिषु दृश्यमानं साम्यमपि तस्य भारतीयविज्ञानमूलकतां द्रढयितुं शक्नोति। एवमेह बहूनि प्रमाणानि निर्दिश्य डा० जे० जे० मोदीमहाशयेन Is Ayurveda a quackery इत्यत्र, रायलएशियाटिकसोसाइट्यां पठिते पत्रेऽपि सर्वविदेशीयभैषज्यपद्धतीनां भारतीयायुर्वेदपद्धतिरेव मूलमिति[2] निरूपितमस्ति। तदीयवैद्यकग्रन्थे भारतमात्रोद्भविनोऽनेके ईदृशावनस्पत्योषधयो निर्दिष्टाः। तेन शब्दतोऽर्थतश्च भारतीयवैद्यकविज्ञानं तस्य साक्षात् परम्परया वाऽऽसीदित्यकामेनाप्यभ्युपगन्तव्यं भवति॥

यद्यपि 'भारताद् बहुशो विज्ञानान्तराणि ग्रीसेन गृहीतानि, भैषज्यविद्या गृहीता न वा, भैषज्यविद्यायां ग्रीसस्य प्रभावः पतितो न वेत्यपि निश्चेतुं न शक्यते' इति प्रथमतो निर्दिश्य, 'त्रिपिटकसंवादेन चरकस्य कनिष्कसामयिकत्वावगमे भारतीयवैद्यकात् प्राक्तनत्वं हिपोक्रिटसस्य, तेन ग्रीसस्य भारते प्रभावः पतितः' इति म्यांकडोनलमहाशयेन[3] पश्चाल्लिखितं दृश्यते। परं यदि नाम चरकाचार्य एवास्या आत्रेयसंहितायामूलाचार्योऽभविष्यत्, तदा एवमनुसन्धीयमानं पौर्वापर्यं समभविष्यत्। तत्र चरकाचार्यः खलु चरकनाम्ना प्रसिद्धाया आत्रेयसंहितायाः न निर्माता, अपि तु पश्चात् प्रतिसंस्कर्तैव। संहितायाः कालस्तु आत्रेयाग्निवेशयोः समय इति पूर्वमुक्तमेव। काश्यपभेडादिनिर्देशसंवादोऽप्यमुमेवार्थं द्रढयति। आत्रेयस्त्वौपनिषत्कालिक इत्यवोचाम। अन्ततो गत्वा तिब्बतीयोपकथावलम्बनेऽपि बुद्धान्नार्वाचीन आत्रेयः सिद्ध्यति। अनेन पौर्वापर्यन्यायेन प्रत्युत आत्रेयस्य विद्याप्रभावो हिपोक्रिटसवैद्यके पतित इति वक्तव्यमायाति, न पुनर्वैपरीत्यम्॥

हिपोक्रिटसात् पूर्वोद्भवेन वैद्येन इम्पीडोक्लिस[4] (Empe-

1. De Morbis Mulierum lib. II P. 666.

2. History of Dentistry by Dr. Gerini P. 50 and Fourth Oriental Conference Proceedings.
Vol. II, P. 427.

3. (a) Some five centuries before Christ, Hippocrates in his Materia Medica recommends several Indian plants mentioned in Sanskrit works of much anterior date, as for instance, Sesamum indicum (tila), Nardostachys Jatamansi (Jatamansi), Boswellia thurifera (kunduru), Zingiber officinale (Shringavera), Piper Nigrum (Marichi), etc., In the first century of the Christian Era, Dioscorides, a Greek physician, thoroughly investigated the medicinal virtues of many Indian plants which were then taken to the market of Europe, and incorporated in his extant book on Materia Medica, which for many ages was received as a standard work.

A Short History of Aryan Medical Science P. 123 by H. H. Bhagvatsinhajee.

(b) There is similarity in the names of Greek and Indian medicine:-Gk. Pepero, Pepercosriza, Costus, Ziggiberis Indian-Pippali, Pippalimûla, Kustha, Srngavera Gk. Kardamomos, Hakoros, Bdellion Sakkaron, Ind. Kardama, Vaca, Guggulu, S'arkarā.

Hellenism in Ancient India P. 203 J. Jolly—Medicine.

3. Hippocras, an old medicinal drink or cordial, made of wine mixed with spices such as cinnamon, ginger and sugar. E. B. Vol. XI P. 584.

1. India in Greece by Pococke. P. 363.

2. The virtues of the Indian drugs were known not only in the country of their birth, but in other countries as well.

History of Aryan Medical Science. (Gondal).

3. History of Sanscrit Literature P. 421 by A. A. Macdonell.

4. According to Greek tradition, Thales, Empedocles, Anaxagoras, Democritus and others undertook journeys to oriental countries in order to stuby

docles) नाम्नाऽपि अध्यात्मविद्या पूर्वदेशादेवाधीता, भैषज्यविद्याऽपि तत एवाधीता स्यादिति; हिपोक्रिटसेनापि भैषज्यविद्या भारतादेवाधीता इति च केचन वदन्ति। हिपोक्रिटसस्य भारतागमनं गोण्डलीयठाकुर[1]महाशयेन निर्दिष्टमप्युपलभ्यते । इम्पीडोक्लिसस्य भारतोपकण्ठपर्यन्तमागमनस्य साधकप्रमाणोपलम्भेऽपि हिपोक्रिटसस्य भारतागमने प्रमाणं किंरूपमिति पर्यवेक्षणीयं भवति। हिपोक्रिटसेन न केवलं स्वदेश एव, अपि तु दूरदेशानप्युपेत्य विज्ञानानि सञ्चितानीति विदुषां निर्देशेन सर्वतो विज्ञानमधुबिन्दूंश्चिन्वानस्यास्य पुराकालतो भैषज्यादिविद्यासु प्रतिष्ठिते भारते तदुपकण्ठे वाऽप्युपगमो न खलु न सम्भवति, किन्तु स्पष्टोल्लेखानुपलम्भेन भारते तेन विद्यायाः प्रदानमिव साक्षादादानमपि नैव निश्चेतुं शक्यते ॥

यद्यपि प्रथमडेरियसनृपसमये (B. C. 521) डेमोके[3]डिसनाम्नो यवनशल्यवैद्यस्य इरानदेशे आगमनवृत्तं लभ्यते, तथाऽपि तत्समयस्य हिपोक्रिटसात् प्राग्भावेन तद्द्वारा हिपोक्रिटसीयसम्प्रदायप्रभावपातशङ्काया अपि नावसरः। हिपोक्रिटससमयादुत्तरं टेरियसस्य[4] अर्दक्षीरमेमनून (Artaxerexes Memnon B.C. 404–359) नृपसमये B. C चतुर्थशताब्द्यामिरानदेशे भारतोपकण्ठे च, मेगस्थ[5]नीजस्य B. C. चतुर्थ शताब्द्यन्ते भारते उपगमवृत्तं लभ्यते। तथाऽपि तयोः हिपोक्रिटसस्यैव सम्प्रदायानुयायित्वे साधकं प्रमाणं नोपलभ्यते। टेरियसेन हिपोक्रिटसीयस्य आर्टिकुलेसननामकग्रन्थस्य सकृदभिधानेऽपि तत्साम्प्रदायिकत्वमेवास्येत्यत्र साधकं नोपलभ्यते। राजदौत्यमादाय भारतमुपगतस्य मेगस्थनीजस्य ग्रीसवैद्यत्वे सत्यपि ग्रीसवैद्यकविषयाणामुपदेशनप्रचारणप्रयोगाद्युल्लेखो न क्वाप्युपलभ्यते। प्रत्युत तेनापि भारतीयवैद्यानां प्रशंसनं तद्द्वारा वैदेशिकजनानामारोग्यसम्पादनमुल्लिखितमस्ति। वैद्येन सताऽप्यनेन भारतीयवैद्यानां समादरणं तद्द्वारौषधिकरणमपि प्रत्युत भारतीयवैद्यकविज्ञानस्यैव समृद्धिमतिरेकं च साधयति। भारतोपकण्ठमुपगतेन टेरियसेनापि हिपोक्रिटससांप्रदायिकस्य सम्प्रदायान्तरीयस्य वा ग्रीसवैद्यकस्य भारते प्रचारणोपदेशनादेर्वृत्तस्यालाभेन स्वीये इण्डिकानाम्नि ग्रन्थेऽप्यनुल्लेखेन च तद्द्वाराऽपि भारते प्रभावपातो न दृश्यते। प्रत्युत उत्तरभारतमेत्य विनिवृत्तेन तेन स्वीये त्रयोविंशतिग्रन्थात्मके पर्सिकानाम्नि ग्रन्थे इण्डिकानाम्नि ग्रन्थे च भारतविषये बहुशो निरूपितमस्ति। तत्र भारतीयगजकपिशुकसारिकाकीटरङ्गादिविषये इव वनस्पतिविशेषस्यापि वर्णनं कृतम्। भारते शिरोरोगदन्तरोगनेत्ररोगमुखव्रणास्थिव्रणाद्यो रोगविशेषा न भवन्तीति च वर्णितमस्तीत्युल्लेखोपलम्भेन भारतमुपगतेन इरानसम्राजो राजकुलवैद्यपदे प्रतिष्ठितेनानेन ग्रीसवैद्येन भारतीयविषयसङ्ग्रहे भारते पूर्वतः प्रतिष्ठितायावैद्यकविद्याया विषयान्तराण्यपि विशेषतः सङ्गृह्य स्वात्मा विनोदितः स्यादिति प्रतिभाति ॥

प्राचीन ग्रीसवैद्यकसम्प्रदायाः

मास्तु हिपोक्रिटसीयवैद्यकप्रभावपातो भारते, किन्तु हिपोक्रिटसात् पूर्वमपि ग्रीसदेशे प्रिनोसन्स ऑफ् कास (Prenotions of Cos) फर्स्ट प्रिरेटिक[3] (First Prerrehetic) इम्पिडोक्लिस (Empedocles) क्निडोस[4] (Cnidos) इति त्रयः सम्प्रदाया आसन्। यत्र डेमोकेडिस Democedes (प्रभृतयः) पाथागोरससम-

philosophy. Hence there is at least the historical possibility of the Greeks having been influenced by Indian thought through Persia.

History of Hindu Chemistry Vol. I. P. 22. by Dr. P. C. Roy.

1. In the opinion of some writers, Hippocrates acquired his knowledge of medicine in India.

Short History of Aryan Medical Science P. 190. by H. H. Bhagvatsinhajee.

2. It is said and it is likely that Hippocrates travelled widely. E. B. Vol. XI P. 584.

3. History of Greece Vol. IV Grotes P. 181 f. Hippocrates Vol. III P. XVI.

4. The Surgical Instruments of the Hindus by G. N. Mukhopadhyay Vol. I P. 344.

History of Sanskrit Literature P. 514–A. B. Keith.

5. Ibid Vol. I P. 344. by G. N. Mukhopadhyay.

1. E. B. Vol. VI P. 832.

2. The Surgical Instruments of the Hindus. Vol. I P. 344. by G. N. Mukhopadhyay.

3. The Prenotions of Cos and the First Prorrhetic (the latter being the earlier, although both are supposed to be earlier than Hippocrates) show that in the medical school of Cos great attention was paid to the natural history of diseases, especially to the probability of a fatal or not fatal issue.

Hippocrates Vol. I P. XIII

4. Empedocles who flourished somewhat earlier than Philolaus, was a 'medicine-man' rather than a physician, though he is called by Galen the founder of the Italian school of medicine. The medical side of his teaching was partly magic and quackery. The work on humours may be taken to be typical of the Italian-Sicilian school of medicine, in which a priori assumptions of the 'Philosophic' type were freely admitted. Hippocrates Vol. I, Intro. P. XII–XIII.

5. Besides these two schools there was also a famous one at Cnidos, the doctrines of which are

कालिका भैषज्यविद्वांस[1] आसन्निति ज्ञायते। तेषां प्रभावो भारते पतितो वेति तर्कोऽपि नास्पदं लभते। तेषामपि पूर्वसम्प्रदायानां हिपोक्रिटसात् प्राक् शतवर्षाभ्यन्तर एव सत्त्वमवगंस्यते, नातोऽधिकं प्राचीनत्वम्। तेष्वपि सम्प्रदायेष्वेकः स एव प्राचीनो मन्त्रप्रधानः सम्प्रदायः प्रतिभाति। इतरयोर्दार्शनिकविषयसंवलितत्वमस्ति। भारताद्ध्यात्मविद्यां ग्रीसे नयतः पाथागोरसस्य समकालिकतया, तेन सह सम्बन्धवत्तया, पाथागोरससम्बन्धे वक्ष्यमाणतया च तयोः पूर्वसम्प्रदाययोरपि केनाप्यंशेन भारतीयविषयसम्पर्कदर्शनेन ग्रीसोपज्ञता तादृशी विज्ञानसम्बद्धता वा न तथोपलभ्यते। सुसानगरस्य कारागारे दासैः सह निगडितेन डेमोकेडिसेन इराननृपतेरश्वात् पतनेन विश्लथीभूतस्य पादस्य शस्त्रं विनैव यथास्थानं सन्धानेनारोग्यसम्पादनाद्भाग्येन यशस्वितया[3] लाभेऽपि तद्विषयके वर्णने शस्त्राद्युपकरणैः परिपूर्णत्वाभावस्योल्लेखेन[4] तावत्पर्यन्तं शस्त्रप्रक्रियाया ग्रीसे अपरिपूर्णत्वावगमनेन च ग्रीसवैद्यकस्य तदात्वे प्रथमावस्था समर्थ्यते। यदि नाम ग्रीसदेशे पूर्वतः प्रौढभावेन भैषज्यविद्या विशेषतः प्रावर्तिष्यत, तदा कथमनन्तरं हिपोक्रिटसः पितृपदमुपारोच्यत। तथा पदमधिरूढेनानेन हिपोक्रिटसेन तदात्वे ग्रीसदेशे सविज्ञानभैषज्यविद्यायाः शैशवावस्थैव समवबोध्यते। ग्रीसदेशे तदात्वे भैषज्यविज्ञानं कीर्तनीयं यद्यभविष्यत्, तदा मिश्रगतां भैषज्यविद्यां दृष्ट्वा पर्यटतः पाथागोरसस्य विस्मयो ग्रोटसेन[5] उल्लिख्यते, सोऽपि कथमुदभविष्यत्। तेन तदात्वे देशान्तरालोकेन कासादिस्थानेषु सविज्ञानभैषज्यविद्याया नवोत्थानसत्त्वेऽपि मिश्रादाविव कीर्तनीयावस्था नासीदिति पाथागोरसस्य विस्मयः सूचयति। ग्रीसे सविज्ञानं भैषज्यं B. C. षष्ठशताब्दीत एवोपक्रान्तमिति प्रो. ओसलर[1] (Osler) विद्वानपि कथयति। हिपोक्रिटसात् पूर्वतनेषु तेषु सम्प्रदायेष्वपि भारतीयभैषज्य इव दार्शनिकविषयादिसंपृक्तता, भारतीयशब्दविशेषच्छायादिकं चेदृशानि भारतीयविज्ञानचिह्नान्युपलभ्यन्ते। ग्रीसवैद्यकात् पूर्वतनतया मिश्रदेशे भैषज्यविज्ञानस्योपलम्भेन, मिश्रप्रभावपातवृत्तस्योपलम्भेन च ग्रीसेन भैषज्यविज्ञानं मिश्रात्[2] प्राप्तमिति निदर्श्यते। भारतीयासाधारणचिह्नानि तु भारतस्याप्यालोकं गमयन्ति। ग्रीसे भैषज्यविज्ञानोदयस्य मिश्रीयमिव भारतीयमपि पूर्वस्रोत इत्युल्लिख्यते[3] विवेचकैः॥

उत्तरीयप्राचीनतरमूलसभ्यतायाः शाखाप्रशाखाभेदेन सर्वतः प्रसरणे पूर्वशाखया भारते इव पश्चिमशाखया ग्रीसादिदेशेष्वपि भैषज्यविज्ञानं पुराकालादेव प्रवृत्तमासीदित्यपि सम्भावयितुं न शक्यते। प्राचीनग्रीसमहाकवेर्होमरस्य ओडिसी (Odyssey) नामके ग्रन्थे दैवबलादेव रोगाणामुत्पत्तिः, तन्निवृत्तिरपि देवप्रसादादेव, पूजायज्ञमन्त्रोपासनादिभ्यो रोगानिवर्तन्ते इति निर्देशो[4] दृश्यते। तदीये इलियड, (Iliad) नाम्नि ग्रन्थे शस्त्रकर्मणो लेशत आभा दृश्यते, साऽपि बेब्लोनियाप्रभावत एव सङ्क्रान्ता स्यादिति थ्रेमरस्य (Thramer) मतमस्ति[5]। तदीये ग्रन्थद्वये कुत्रापि अन्तः पेयाद्यौषधोपयोगादे रोगनिवृत्त्युपायतया निर्देशो न दृश्यते। प्राचीनकाल-

criticised in the Hippocratic treatise Regimen in Acute diseases.

Hippocrates Vol. I. Introduction P. XIII.

1. History of Greece Vol. IV Grotes P. 180, 327.

2. E. B. Vol. XI P. 584.

3. History of Greece by Grotes Vol. IV P. 181-182.

4. So rapid was his success even in the first year—'though very imperfectly equipped with instruments and apparatus'—that the citizen of the island made a contract with him to remain there for one year at a salary of one talent (about 383 I sterling, an AEginaean talent).

History of Greece Vol. IV P. 180-181, Grotes.

5. The medical art in Egypt at the time when Pythagoras visited that country, was sufficiently far advanced to excite the attention of an inquisitive traveller—the branches of it minutely subdivided and strict rules laid down for practices (Herodotus II. 84) History of Greece Vol. IV P. 325-by Grotes.

1. 'Scientific medicine, the product of a union of religion with philosophy, had its origin in a remarkable conjunction of gifts and conditions among the Greeks in the sixth centuries' Osler. Vide 'The Surgical Instruments of the Hindus' Vol. I P. 329 by G. N. Mukhopadhyay.

2. Alike in the Nile valley and in Mesopotamia, therefore, the healing art was a combination of the occult and the rational, and this peculiar system of medicine exercised an influence on the Greeks at a very early age. E. R. E. Vol. VI P. 541 by E. Thrämer.

3. (a) From Egypt came many drugs used by the Greek physicians. The basis of the Greek medical ethics can be traced to Egypt.

(b) Persian and Indian sources contributed something to Greek medicine. E. B. Vol. XV P. 198.

4. In the Odyssey likewise the illness of individuals is regarded as sent by Gods (V. 396, IX. 411), and from the Gods alone the remedy to be procured (V. 397). The prevalence of the theurgic medicine in the Homeric age must thus be recognised as a fact beyond question. E. R. E. Vol. VI P. 540.

5. E. R. E. Vol. VI P. 540.

धारणानुसारेण देवोपासनामन्त्राद्युपायानामेव रोगप्रतीकारोपायतया विज्ञायमानानां तल्लेखे उपलम्भेन,[1] तदीय एव लेखे देवप्रसादान्मिश्रदेशेन रोगशमनौषधयः प्राप्ता इत्युल्लेखस्य दर्शनेन, मिश्रविषय एव तावदुल्लिख्य स्वदेशविषये किमप्यनुल्लिख्य मौनावलम्बनेन च तावत्कालपर्यन्तमपि ग्रीसदेशे वैज्ञानिकभैषज्यविद्याविशेषस्यानुदयो देशान्तरादप्यनधिगमः स्पष्टीभवति ॥

ग्रीसे पौराणिककथायां (Classical History) भैषज्यवृत्तस्य दर्शनेऽपि सर्वं तत्रत्यं भैषज्यवृत्तं न पूर्वस्रोतोविनिर्गतमिति वाइज[3] (Wise) महोदयोऽपि निर्दिशति ॥

भारतीयवैद्यके ग्रीसवैद्यके च बहुशो विषयसाम्यं दृश्यते इति पूर्वं प्रदर्शितमेव । द्वित्रविषयविचारादिषु विभिन्नदेशविदुषां हृदयेष्वाकस्मिकोऽप्युन्मेषसंवादः सम्भवति । परमनेकविषयाणामसाधारणविषयाणां चैकतोऽपरत्र प्रभावपातं विना साक्षात् परम्परया वा मिथो यातायातादिसम्पर्कविशेषमन्तरा एकस्यापरत्र विषयप्रतिफलनं दुर्निरूपं भवति । आर्यमन्यानां प्राचीनमूलस्रोतसश्छायारूपेण शाखोपशाखास्वनुवर्तनस्य मान्त्रिकभैषज्यप्रक्रियांशे प्रायः पूर्वमुपलम्भेऽपि, शाखोपशाखासु विभक्ताया वैज्ञानिकभैषज्यविद्याया भारत इव ग्रीसे पूर्वतोऽनुवृत्तेः साधकप्रमाणानुपलम्भेन ग्रीसवैद्यके भारतीयवैद्यके च दृश्यमानं साम्यं भारतात्तत्र, ततो वा भारते, साक्षादथवा देशान्तरं द्वारीकृत्य विज्ञानसङ्क्रमणमनुभावयति । ग्रीसवैद्यकस्य भारते प्रभावपातो यद्यभविष्यत्, तदा ग्रीसवैद्यकोपदृष्टाः तन्मस्तिष्काङ्कुरिता विषयास्तदीयशब्दविशेषास्तत्प्रक्रियाविशेषाश्च भारतीये वैद्यके न्यूनाधिकरूपेणावश्यमलप्स्यन्त, नहीदृग्भावो लभ्यते । प्रत्युत पूर्वोपदर्शितदिशा भारतीया असाधारणविषयाः, भारतीयशब्दच्छाया, भारतीयत्वेन मुखेनैव क्वचनोल्लेखश्चैवमादयः प्राचीनग्रीसवैद्यके दृश्यमानाः साक्षात् मिश्रादिदेशान्तरं द्वारीकृत्य वा भारतीयभैषज्यविज्ञानस्य यं कञ्चन आलोकं ग्रीसवैद्यके पतितमवबोधयन्ति ॥

नालन्दाविश्वविद्यालये एषु रोगेषु एवं शस्त्रचिकित्साऽऽसीदिति प्रतिपाद्य भारतीयायुर्वेदे शारीरके न कोऽपि वैदेशिकः शब्दो दृश्यते, प्रत्युत पाश्चात्यवैद्यके शारीरकावयवनिर्देशकाः शब्दाः भारतीयप्राचीनशब्दच्छायाग्राहिणो बहुशो दृश्यन्ते इति Dorothea Chaplin महाशयो निरूपयति[1] ॥

यवनैर्भारतीयविषयाणामुपादानम्

'ग्रीकभैषज्ये तद्देशीयपूर्वजातेः मिनोयन-(Minoan) नामिकायाः स्वच्छतानियमानां, मेसोपोटामिया-ऽसीरिया - मिश्रेरानभारतादिदेशेभ्यः शारीररचनाज्ञानस्य, भूतप्रेतादिभ्यो रोगोत्पत्तिवादस्य, ओषधिरचनाविद्यायाः, अनेकौषधानामायुर्वेदीयाचारव्यवहाराणां, शल्यसम्बन्धिशस्त्रविज्ञानस्य चोपसङ्ग्रहणेन चत्वारि स्रोतांसि तत्प्रादुर्भावे आसन्, एतावन्तोंऽशा अस्येति न परिच्छेत्तुं शक्यते' इति इन्साइक्लोपीडियाब्रिटानिकायाम्प्युल्लेखेन[2] एतावन्तोंऽशा इत्यपरिच्छेदेऽपि इरानवैद्यकस्येव भारतीयवैद्यकस्यापि कतिपयानां विषयाणां ग्रीसवैद्यकेप्र तिसंक्रमणं स्पष्टीभवति ॥

कस्मिन् कस्मिन् समये कस्मात् कस्माद्देशाद्भैषज्यविद्यासम्बन्धिनां केषां केषां विषयाणां ग्रीसे प्रतिसंक्रमणमुपजातमिति याथातथ्येन निरूपयितुं दुष्करत्वेऽपि भारताद् ग्रीसे तद्विषयालोकपाताय सम्भाव्यमानानि प्रमाणतो दृष्टानि द्वाराणि प्रदर्श्यन्ते—

---

1. E. R. E. Vol. VI P. 541.

2. Homer pays tribute to Egypt for her—'Patron-god' imparts to 'all the Pharian race his healing arts'. The Surgical Instruments of the Hinbus Vol. I P. 340. G. N. Mukhopadhyay.

3. So Wise remarks as follows:—'Facts regarding the ancient history of medicine have been sought for only in the classical authors of Greece and Rome and have been arranged to suit a traditional theory which repudiated all systems which did not proceed from a Greecian source.'

The Surgical Instruments of the Hindus Vol. I P. 330 by G. N. Mukhopadhyay.

1. Our medical system came originally from the Hindus through Arabia. The Hindu medical works contain no names that denote a foreign origin...... European medicine down to the seventeenth century was practically based upon that of the Hindu...... Let us take a glance at the similarity of names used in Hindu anatomy with the modern nomenclature of the West. The division of the brain into—

Shirobrahm and Shirobiloma.

Shirobrahm, cf. Cerebrum.
Shirobiloma, cf. Cerebellum.

Hrid or hrith, cf. heart.

Mahaphala (Maha = magna), cf. magnavelo.

Thus may we see that the Hindu system is neither crude nor quackish, but perhaps the most ancient and the most scientific of all treatments, still containing enough fresh information, as regards Europe, to make the fortune of some enterprising doctor.

Some Aspects of Hindu Medical Treatment by Dorothea Chaplin pp. 7-8.

2. (a) Minoan origin (b) Mesopotamia, (c) Egypt, are the sources of Greek medicine. Persian and Indian sources contributed something to Greek medicine. As to the amount and the character of these contributions, we are not yet in a position to speak with definiteness. E. B. Vol. 15. p. 198.

हिपोक्रिटसात् पूर्वतनेन दार्शनिकेन हेराक्लिटसेन[1] (Heracleitus) B. C. ५०४ वर्षे लिखिते पुस्तके बहुवारमुल्लिखितः पाथागोरसो (Pythagoras) नाम ग्रीसविद्वान् B. C. ५८२–४७० समये ग्रीसे सञ्जात इति ज्ञायते । तस्य पाथागोरसस्य भारते उपगमनं, भारतादाध्यात्मिकान् दार्शनिकांश्च विषयान् विज्ञाय तेषां ग्रीसदेशे प्रचारणं च पोकाक (Pococke) स्रोडर (Schroeder) प्रभृतिभिः पाश्चात्यैर्बहुभिर्भारतीयैश्च विद्वद्भिरु[2]ल्लिखितं दृश्यते । भारतात्तेन भैषज्यविज्ञानमपि गृहीतमिति स्पष्टलेखस्य प्राचीनस्यानुपलम्भेऽपि पाथागोरसस्य[1] संस्था B.C. षष्ठशताब्द्यां स्थापिता इति; पाथागोरससम्प्रदायानुयायिनस्तदुत्तरवयोन्तेवासिनो दार्शनिका एव तत्र प्रथमतो भैषज्यविज्ञाने[2] दृशः प्रावर्तयन्निति; तेषामेव विद्यायाः प्रभावो हिपोक्रिटसीयविज्ञाने पतित इति चोल्लेखेन[3] भारताद्विद्याभारं नयतः पाथागोरसस्यानुयायिनस्तत्र प्राथम्येन भैषज्यविज्ञानाभिमुखा दार्शनिका एव हिपोक्रिटसीये हृदये भारतीयभैषज्यविज्ञानोदयाय द्वारतां गता भवेयुः । पाथागोरसाभिधायिनः "पुत्थगोरस" इति ग्रीकशब्दस्य संस्कृतमूलरूपं बुद्धगुरुरिति[4] पोकाक-(Pococke) कोलब्रुक (Colebrooke) प्रभृतिविदुषां निर्देशोऽस्ति । पाथागोरसीये दर्शने भारतीयबौद्धदर्शनस्य प्रतिफलनं बहुशश्चास्ति । न केवलं दर्शने, अपि तु तदीये गणितेऽपि

1. Hippocrates Vol. IV P. 452.

2. (a) Dr. Enfield says: 'We find that in (India) was visited for the purpose of acquiring knowledge by Pythagoras, Anaxarches. Pyrrho and others who afterwards became eminent philosophers in Greece. Hindu Superiority P. 233, 234, 235; by H. B. Sarda.

(b) Certain it is, that he (Pythagoras) visited India which I trust I shall make self-evident.

India in Greece, Pococke P. 353.

(c) The Greek philosopher (Pythagoras) owed his inspiration in India.

V. Schroeder–Pythagoras and die Inder Pp. 44–59.

(d) Discussing the question as to what constitutes human nature according to the Hindus, the Swedish Count says; 'Pythagoras and Plato hold the same doctrine, that of Pythagoras, being probably derived from India, whither he travelled to complete his philosophical studies.'

Theogony of the Hindoos–P. 77.

(e) Schlegel says: 'The doctrine of the transmigration of souls was indigenous to India and was brought into Greece by Pythagoras.'

History of Literature P. 109.

(f) Mr. Princep says: 'The fact, however, that he (Pythagoras) derived his doctrines from an Indian source is very generally admitted. Under the name of Mythraic, the faith of Buddha had also a wide extension' Indian Wisdom P. 68.

(g) Whatever may be the truth in the case just mentioned, the dependence of Pythagoras on Indian philosophy and science certainly seems to have a high degree of probablity. Almost all the doctrines ascribed to him, religious, philosophical, mathematical were known in India in sixth century B. C. The coincidences are so numerous that their cumulative force becomes considerable. The doctrine of metempsychosis in the case of Pythagoras appears without any connection or explanatory background and was regarded by the Greeks as of foreign origin. He could not have derived it from Egypt, as it was not known to the ancient Egyptians. In spite however, of the later tradition, it seems impossible that Pythagoras should have made his way to India at so early a date, but he could quite well have met Indians in Persia,

History of Hindu Chemistry Vol. I, P. 22–23 by Dr. P. C. Roy.

1. In Western Greece the Pythagorean brotherhood was founded in the latter part of the 6th century B. C.

Hippocrates Vol. IV P. 452.

2. The first philosophers to take a serious interest in medicine were the Pythagoreans. Alcmaeon (a young man in the old age of Pythagoras who was more interested in medicine than in philosophy) of Croton, although perhaps not strictly a Pythagorean was closely connected with the sect and appears to have exercised considerable influence upon the Hippocratic school.

Hippocrates Vol. I Intro. P. XIII.

3. Introduction to Susruta Samhita. Vol. I P. IX. by K. L. Bhisagratna.

4. Pythagoras has been identified with Buddhagoorus as held by Colebrooke :—Buddhagoorus–Sanskrit ; Putha–goras–Greek ; Pythagoras–English.

India in Greece–Pococke P. 364.

5. Cantor, the historian of Mathematics, was so much struck with the resemblance between Greek Geometry and the S'ulva Sûtras that he, as is natural to the European, concluded that the latter was influenced by the Alexandrian school of Hero (215 B. C.). The S'ulva Sûtras, however, date about the 8th Cen. B. C., and Dr. Thibaut has shown that the

भारतीयप्राचीनशुल्वगणितस्य विषयसाम्यं दृश्यत इति डा. थिबोटमहाशयेन विभूतिभूषणदत्तमहाशयेन च लिखितमस्ति। भारते तदात्वे प्ररूढानि दर्शनगणितादीनि बहुशो विज्ञानानि गृह्णानेनानेन दार्शनिकविषयोपसन्दब्धा विशेषतो लोकोपयोगिनी चिरप्रतिष्ठिता भारतीया भैषज्यविद्याऽपि गृहीता बहुशः सम्भवति। भारतीया भैषज्यविद्याऽपि पाथागोरसेन ग्रीसदेशे नीतेति बेड्रो (Bedroe) महाशयेन, सुश्रुतानुवादभूमिकायां K. L. भिषग्रत्नमहाशयेन, गोण्डलीयठाकुरेण, G. N. मुखोपाध्यायेनाप्युल्लिखितमस्ति। पाथागोरसानुयायिनां दार्शनिकानां भैषज्यविद्यासम्बन्धस्य हिपोक्रिटसे प्रभावपातस्य च दर्शनेन पाथागोरसस्यापि भैषज्यविज्ञानवत्त्वं बहुशः सम्भाव्यते। क्रोटनस्थानस्थः अल्कमेइनो (Alcmaeon) नाम पाथागोरससंस्थाया अप्यनुयायी आसीत्, वैद्यविद्यानुरागी स हिपोक्रिटससम्प्रदाये पूर्णरूपेण स्वप्रभावं दर्शितवानित्युल्लेखदर्शनेन पाथागोरसस्यापि भैषज्यविद्यासम्बन्धिनी संस्थाऽऽसीदित्यनुमीयते। पाथागोरसीयविद्याविषयाणामनुसन्धाने मानवशरीरे मानसिकशारीरिकविकृतिनिवृत्तये सङ्गीतप्रयोगाद्युपायोपयोगः, आकृतिपरीक्षया शारीरान्तर्विकारपरिज्ञानं, पशुमांसभक्षणस्याहितावहत्वेन ततो निवर्तनस्य श्रेयस्त्वम्, आरोग्यसम्पत्तये पथ्यविषये समादरः, शारीरिकशक्तिवर्धकोपायानुसन्धानं, व्यक्तिभेदेन प्रकृतिवैषम्यात् सर्वेषामाहारस्य नैकरूप्यमपि तु यथाप्रकृति तद्विधानम्, ईदृशा विषया अपि लभ्यन्ते इति; पाथागोरसस्य यावन्त आदेशास्तेषु शारीरसौष्ठवमापादयितुं स्वानुकूलपथ्यसेवनादिनियमपरिपालनोपदेशाय विशिष्टस्थानं दीयते इति; पाथागोरससम्प्रदाये रोगनिवृत्तये अन्तरुपयोज्यौषधप्रयोगापेक्षया विशेषतः पथ्याहारविहारादिनियमपरिपालने, औषधे उपयोज्येऽपि यावच्छक्यं लेपादिबाह्यशरीरोपचारे विशेषदृष्टिरासीदिति; B. C. ५३० वर्षे क्रोटनस्थानमुपेत्योपदेशान् दातुं प्रवृत्ते पाथागोरसे तत्रोपगतैस्त्रिशतजनैस्तदुपदेशं स्वीकृत्य औषधोपयोगादपि पथ्याहारविहारादिपरिपालनेन शारीरस्वास्थ्यरक्ष-

geometrical theorem of the 47th proposition, Bk. 1, which tradition ascribes to Pythagoras, was solved by the Hindoos at least two centuries earlier. Thus confirming the conclusion of V. Schroeder that the Greek philosopher owed his inspiration to India.

History of Hindu Chemistry
by Dr. P. C. Roy. P. XLI.

1. Jour. Asiatic Society Bengal 1875 P. 227.

2. Science of the S'ulba–Bibhuti Bhushan Dutta P. 104.

3. The great philosopher (Pythagoras) imbibed his mysteries and metaphysics from the Brahmans of India. Mr. Pococke in his 'India in Greece' identifies him with Booddhagurus or Buddha and it is but an easy inference to suppose that he carried many recipes and aphorisms of his Master's Āyurveda with him.

The Origin and Growth of Healing Art–Bedroe P. 162.

4. Introduction to Susruta Samhita Vol. I P. VIII by K. L. Bhisagratna.

5. The teaching of Pythagoras (B. C. 582), the founder of the Healing Art among the Greeks, is essentially Indian. He is said to have acquired his knowledge from the Egyptians, who, as will be shown further on, had borrowed their art from the Indians. Enfield in his History of Philosophy, says that Pythagoras learnt his doctrine from oriental philosophers, meaning the Hindoos. His Philosophy bears such a resemblance to that of Buddha, that Mr. Pococke, in his India in Greece, identifies him with 'Buddhagurus' or Buddha. If he borrowed philosophy from India, he may easily have borrowed the science of medicine from the same source.

Short History of Aryan Medical Science P. 190–191. by H. H. Bhagvatsinhajee.

6. The Surgical Instruments of the Hindus Vol. I, by P. 344. by G. N. Mukhopadhyay.

1. The first philosophers to take a serious interest in medicine were the Pythagoreans. Alcmaeon (a young man in the old age of Pythagoras) of Croton, although perhaps not strictly a Pythagorean was closely connected with the sect and appears to have exercised considerable influence upon the Hippocratic School. Hippocrates Vol. I. P. XI.

2. We hear of his (Pythagoras) memorial discipline, his monastic self-scrutiny, his employment of music to soothe disorderly passions, his knowledge of physiognomy which enabled him to detect even without trial, unworthy subjects, his peculiar diet, and his rigid care for sobriety as well as for bodily vigour. He is also said to have inculcated abstinence from animal food, a feeling so naturally connected with the doctrine of metempsychosis, that we may well believe him to have entertained it, as Empedocles also did after him.

History of Greece Vol. IV P. 322 by Grotes.

3. Yet on the other hand, it seems equally certain that the members of the order cannot have been subjected to the same diet, or training, or studies.

History of Greece Vol. IV. P. 322–Grotes.

4. History of Greece Vol. IV. P. 325–Grotes.

याय शपथः कृतं[1] इति; बहून् देशान् पर्यटन् मिश्रदेशमुपगतः पाथागोरसस्तत्रागन्तुकानामपि ग्रहणलालसोपपादकं भैषज्यविद्याप्रचारविशेषं दृष्ट्वा विस्मयमवापेति[2]; क्रोटनप्रदेशे पाथागोरसेन सह सङ्गतेन पाथागोरससाम्प्रदायिकस्य मीलोनामकस्य जामात्रा डेमोकेडिस-(Demokedes) नाम्ना प्रवर्तितो भैषज्यविषयकः सम्प्रदायः B. C. तृतीयचतुर्थशताब्द्योः प्रचलित आसीत्[3] इति च ग्रोट्स (Grotes) विदुषा निर्दिष्टतया भैषज्यशास्त्रसम्बन्धिन उपदेशान् ददानः, तदुपदेशग्राहिभिराद्रियमाणः, मिश्रे भैषज्यविद्योन्नतिं दृष्ट्वा प्रहृष्यन्, भैषज्यसम्प्रदायप्रवर्तकस्य डेमोकेडिसस्य स्वान्तेवासिसम्बन्धं समागमं च वहन्नयं पाथागोरसो भैषज्यविज्ञानस्यापि समादर्ता ज्ञाता प्रवर्तयिता चासीदिति समर्थितं भवति। भारताद्दार्शनिकविषयग्राहितया मिश्रगतभैषज्यविद्याद्रष्टृतया चोल्लेखाद्भारते मिश्रे चाऽऽगतत्वेन ज्ञातस्य स्वास्थ्यसम्बन्धिभिर्बहुश उपदेशैस्तद्विद्याभिरुचिं प्रकाशयतः पाथागोरसस्य भैषज्यविषयविज्ञानविशेषाणां सञ्चयस्तद्विषये विस्मयमावहतो मिश्रात्, एतद्विषये पूर्वकालादेव प्रतिष्ठिताद्भारतादपि सञ्जातो भवितुमर्हति। इत्थं च ग्रोट्सनिर्दिष्टानां तदीयोपदेशगतस्वास्थ्यसम्बन्धिविषयाणां भारतीयायुर्वेदे लभ्यतया हिपोक्रिटसीयभैषज्यविज्ञानेऽपि भारतीयवैद्यकविषयसाम्यस्य बहुशोऽनुसंहितत्वेन च भारतसम्बन्धमनुदर्शयता पाथागोरसेन साक्षात् परम्परया वा भारतीयविज्ञानालोकेन पौर्वकालिकं ग्रीसभैषज्यविज्ञानमुद्भासितमिति समर्थयितुं हृदयं पुरः स्फुरति॥

किञ्च, हिपोक्रिटसात्प्रातिपूर्वं ग्रीसे वर्तमानेषु त्रिषु भैषज्यसम्प्रदायेषु एकतमसम्प्रदायप्रवर्तकस्य एम्पीडोक्लिसस्यापि इरानभारतोपकण्ठप्रदेशपर्यन्तमुपगमनं, भारतीयदार्शनिकविद्याया ग्रीसे नयनं च P. C. रायमहोदयेन[1] वर्णितमस्ति। भारते पाञ्चभौतिकवादवच्चातुर्भौतिकवादस्यापि पूर्वकालादुपलम्भः, अनेन एम्पीडोक्लिसेन चतुर्भूतवादस्य ग्रीसे अभूतपूर्वं नवप्रचारणं, नवभैषज्यसम्प्रदायस्याप्युद्भावनं, हिपोक्रिटसेन तदभ्युपगतचातुर्भौतिकशरीरवादस्य प्रत्याख्यानं, तेन पूर्वसम्प्रदायत्रये आवापोद्वापविधया परिष्कृत्या च स्वसम्प्रदायस्योद्भावनं चावगम्यमानमनेन हिपोक्रिटसपूर्वजातेन एम्पीडोक्लिसेन साक्षाद्भारतमेत्य किंवा इरानद्वारा भारतीयाया दर्शनविद्याया इव दार्शनिकविषयसम्पृक्ताया भैषज्यविद्याया अप्युपादानं विहितमेव स्यादिति निदर्शयति। एतद्द्वाराऽपि भारतीयं भैषज्यविज्ञानं ग्रीसे प्रविष्टं, हिपोक्रिटसीयहृदयेऽपि सङ्क्रान्तं भवितुमर्हति। एवमुपलक्षणेन इरानभारतादिप्राच्यदेशानुपेत्य भारतीयविद्यायाः साक्षात्परम्परया वा पाश्चात्त्यदेशोपसंक्रमणे द्वारभूता अन्येऽपि कति ग्रीकविद्वांसः पूर्वेतिवृत्तेषु निलीयावस्थिताः, विलुप्तेतिवृत्ता वा भवेयुः। स्पष्टोल्लेखं विना न परिच्छेत्तुं शक्यते॥

न केवलं पूर्वकाले, हिपोक्रिटसस्य पश्चात्समयेऽपि भारतीयव्यवहारदर्शनार्थमुपेतस्य इविमेरसस्य (Evemerus) निदर्शनेनापि पूर्वपरम्परानुवृत्तां भारतीयसभ्यतामध्येतुं ततः पूर्वमपि कति ग्रीसदेशीया भारतमुपेताः स्युः। पूर्वतो भारतोपकण्ठमधिष्ठितैर्वा यवनैः कियती भारतीया सभ्यता स्वदेशे प्रतिसंक्रामिता स्यात्॥

भारतीयविदुषां ग्रीसोपगमः

न केवलं ग्रीसदेशीयानां प्राच्यदेशे आगमनम्, अपि तु भारतीयानामपि विदुषां वैद्यानां च पाश्चात्त्यदेशेषु उपगमनं, नयनं, प्रेषणं समादरणमुपदेशनं चैवमादीन्यपि पूर्वेतिवृत्तेषूपलभ्यन्ते—

B. C. 330 सामयिकस्य प्रसिद्धगायकस्य अरिष्टाटलशिष्यस्य अरिष्टोक्सेनस (Aristoxenus) नामकस्य लेखतः ग्रीसदेशस्य एथेन्सराजधान्यां वर्तमानेन सॉक्रेटिस-(Socrates B. C.469-399) नाम्ना प्रसिद्धेन दार्शनिकेन सह मानवात्मविषये तदीयसिद्धान्तमुपहासरूपेण प्रतिवदतः कस्यचिद्भारतीयस्य मिथ आध्यात्मिकसम्भाषणस्यावगमेन, Eusebius विदुषाऽपि तत्संवादस्योल्लेखेन च B. C. चतुर्थशताब्द्याः पूर्वतोऽपि भारतीयानां यवनैः सह परिचय आसीदिति H. G. Rawlinson महाशयेन प्रकाशितात्लेखादपि अलेक्जेण्डरस्य भारतोपग-

---

1. That a select body of these adherents (of Pythagoras) three hundred in number, bound themselves by a sort of vow both to Pythagoras and to each other, adopting a peculiar diet. ritual and observances, as a token of union.

History of Greece Vol. IV P. 329-Grotes.

2. The medical art in Egypt, at the time when Pythagoras visited the country, was sufficiently far advanced to excite the attention of an inquisitive traveller-the branches of it minutely subdivided and strict rules laid down for practice. Herodotus II. 84; Aristotle Politics III. 10. 4.

History of Greece Vol. IV P. 325-Grotes.

3. The medical or surgical celebrity of Demokedes (Son-in-law of the Pythagorean Milo), to whom allusion has been made in a former chapter (P. 180 ff Vol. IV), is contemporaneous with the presence of Pythagoras at Kroton.

History of Greece Vol. IV P. 327-Grotes.

1. History of Hindu Chemistry by P.C. Ray. Vol. I P. 22. Amrit Bazar Patrika, 1936.

2. Attention has repeatedly been drawn, by Garbe and others, to the striking resemblances between Indian and Greek philosophy. The parallels between the Eleatic and Sankhya schools, and between Orphism and Buddhism, are curiously exact. B. J. Urwick, in a recent work, 'The Message of Plato' has pointed out that similar resemblances abo-

मात् पूर्वमपि भारतीयविदुषां ग्रीसदेशे उपगमः, ग्रीसभाषाया विज्ञानं, ग्रीसदेशीयप्रसिद्धविद्वद्भ्योऽपि भारतीयानां विचार-गौरवं च स्पष्टं प्रतीयते ॥

अलेक्जेण्डरद्वारा भारतालोकप्रसारः

यत्खलु राष्ट्रमात्मानमुन्निनीषति तत् तदात्वे विद्यादिभिः समृद्धानि राष्ट्रान्तराणि दूरतोऽपि पर्यालोचयति । स्वस्य गौरवाधानाय तेषां विज्ञानविशेषान् सञ्चेतुं प्रयतते च । समुन्नताया देशान्तरीयविद्यायाः सुयशःप्रसरणेन परिचयं भाषाविज्ञानं प्रयोगानुभवसाफल्यमनु श्रद्धाविश्वासातिशये तदीयग्रन्था उपादीयन्ते, तद्विदः संमान्यन्ते, तदीयप्रक्रियोपादीयते । बहुपूर्वसमयात् समुन्नतिपदमारूढं भारतीयं वैद्यकविज्ञानं श्रवणालोकनज्ञानपर्यालोचनसमादरादिपूर्वमुपादातुं ग्रीकादिवैदेशिकविदुषां पूर्वसमयादेव भारते समागमनं न खल्वाश्चर्यावहम् । विजीगीषुराष्ट्रमभिगम्यराष्ट्राणां बलवीर्यसभ्यतापरिस्थितीः प्रथमतो विविच्यैव पादौ प्रसारयतीति भारतमभ्यागच्छतो यवनपतेः प्रागपि भारतीयां परिस्थितिं यथावदवबोद्धुमनेके विचक्षणा यवना अत्रोपगताः स्युः । भारतोपकण्ठमधिष्ठितैर्वा यवनैरधिभारतं यवनानां दृश उन्मीलिता भवेयुः । विजिगीषया भारतमभ्युपेत्य कञ्चन प्रदेशमपि विजितवतो यवनेशस्य अलेक्जेण्डरस्य झटिति प्रतिनिवर्तने चिरकालात् प्रोषितानां स्वसैन्यानामशान्तिः केवलं न हेतुः प्रतीयते । अपि तु स्वसैन्यक्षुण्णं पूर्वागमनमार्गं परिहाय नवेन नौमार्गेण झटिति प्रतिनिवर्तने मुद्राराक्षसोक्त्यालोचनेन किञ्चन कारणान्तरमपि स्यादित्यालोच्यते । भारतं प्रविष्टस्यापि यवनेशस्य झटिति प्रतिनिवर्तनोल्लेखेन तदात्वे चाणक्यसाचिव्यमुपेतेन चन्द्रगुप्तेनाधिष्ठिते अन्तरान्तरोपजातानाघातानपि विषह्य स्वपूर्वसम्प्रदायरक्षणशीले भारते न तथा यावनप्रभावस्य प्रसरणमुपलक्ष्यते ॥

'तक्षशिलाकाश्युज्जयिनीविदर्भादिषु भारतीया विश्वविद्यालया आसन् । अलेक्जेण्डरेण तक्षशिलाया आक्रमणसमये तक्षशिला समस्ते एशियाखण्डे सर्वातिशायि भारतीयविद्यापीठमासीत् । तत्र सर्वाः कलाः, सर्वाणि विज्ञानानि, सैनिकीं विद्यां, भैषज्यविद्यां च शिक्षयद्भिर्बहुभिर्महाविद्वद्भिरधिष्ठितो देशदेशान्तरेभ्यः समागच्छद्भिर्बहुभिर्विद्यार्थिभिश्च समृद्धो महान् विश्वविद्यालय आसीत्; यो भारतीयविद्यानां प्रसिद्धतरं स्थानं बभूव । तत्रापि सर्वा विद्या अतिशय्य भैषज्यविद्यायामस्य विश्वविद्यालयस्य विशेषतः प्रसिद्धिः प्रतिष्ठा चासीत्' इति

---

und in Plato, especially in the 'Republic'. The doctrine of the Ideas is Vedanta pure and simple, and the Vision of Er the Pamphylian at the end of Book X, has a typically Indian ring. The three classes in the 'Republic', Guardian, Auxiliaries and Producers, are the three Varnas of the Indian law books. This was noticed by Megasthenes, the Greek envoy to the court of Chandragupta Maurya in 302 B. C. 'In many points', he says, 'the teaching of the Brahmans agrees with that of the Greeks, for instance that the world has a beginning and an end in time, and that its shape is spherical; that the Deity who is its Governor and Maker, interprets the whole; that the first principles in the universe are different, but that water is the principle from which the order of the world has come to be; that besides the four elements there is a fifth substance from which the heavens and stars are made; that the earth is established in the centre of the universe. About generation and the soul their teaching shows parallels to the Greek doctrines, and on many other matters. Like Plato, too, they interweave fables about the immortality of the soul and the judgments inflicted in the other world.' These resemblances have been hitherto dismissed as coincidences or instances of parallel but independent development of thought, in view of the fact that Herodotus explicitly states that the Greek doctrine of metempsychosis came from Egypt, and that contemporary proof of any of connection between cultured Greeks and Indians has hitherto been wanting. The 'argumentum ex silentio', however, is always a weak one, and I recently came across a remarkable passage in Euseleius, which has apparently been over looked by J. A. M'Crindle the author of chapter XVI of Book I of the Cambridge History of India and other authorities. It runs as follows.

('Aristoxenus, the musician, tells the following story about the Indians. One of these men met Socrates at Athens, and asked him what was the scope of his philosophy. 'An enquiry into the human phenomena,' replied Socrates. At this the Indian burst out laughing. 'How can a man enquire into human phenomena; he exclaimed,' when he is ignorant of divine ones ?')

The interest of this statement is obvious. Eusebius gives his authority for it—Aristoxenus, the musician, the pupil of Aristotle and a well-known writer on harmonics. His date is 330 B. C. So we have contemporary evidence of the presence in Athens, as early as the fourth century, of an Indian who knew Greek and actually discussed philosophy with Socrates. This must modify our views of the interrelationship of Hellenic and Hindu culture.

Amrit Bazar Patrika 1936

विलड्यूराण्ट (Will Durant) महाशयो वर्णयति[1]। 'तक्षशिला महत्तरोन्नतिशीला नगर्यासीत्' इति एरियन (Arrian) महाशयोऽपि निर्दिशति ॥

सिन्धुसमीपस्थमूषकराज्यवर्णने 'तत्प्रदेशीया जनाः १३० वर्षपर्यन्तमपि जीवन्ति स्म। तेषामेवं दीर्घायुष्यस्य परिमिताहार एव निदानम्। विद्यान्तरेभ्यो वैद्यकविद्यामेवाध्येतुं ते प्रवणीभवन्ति' इति अलेक्जेण्डरस्य इतिहासलेखकः एरियन् (Arrian) नामको वदतीति स्मिथमहाशयो वर्णयति[2]। मूषकप्रदेशे त्रिंशदधिकशतवर्षायुष्यस्यासाधारणतया दर्शनमलेक्जेण्डरस्य सिन्धुप्रदेशपर्यन्तमागमनं चात्र मूषकप्रदेशस्य विशेषोल्लेखे हेतुः स्यात्। स्ट्राबो[3] (Strabo) महाशयोऽपि "They do not pursue accurate knowledge in any line, except that of medicine," एवं वर्णयति। पाथागोरसादीतिवृत्तान्तरेभ्यो भारते आध्यात्मिकादिविद्यान्तरेष्वपि गौरवस्य स्पष्टतया विद्यान्तरापेक्षया भैषज्यविज्ञाने तेषां पूर्णत्वमेवानेनापि लेखेन प्रकटीक्रियते। अन्येषु बहुशो भारतीयविद्वत्सु अजिगमिषत्सु अलेक्जेण्डरेण तक्षशिलातः सादरं सह नीतः कल्याण-(Plutarch reproduces as Sphines but the Greeks Called him Kalanos) नामको भारतीयो दार्शनिको विद्वान् तं ग्रीसाधिपतिं परितो वर्तमानेषु दार्शनिकविद्वज्जनेषु सर्वमहत्तरोऽति संमान्यश्चासीत्। पश्चाद्देहजिहासया चितामारोहतस्तस्य ग्रीसाधिपतिनाऽन्तिमसंमानगौरवमतिशयेन व्यधायि। एतस्य भारतीयविदुषो वृत्तं एरियन-स्ट्राबोविद्वद्द्वयामप्युल्लिखितमस्तीति रापसन[1] (Rapson)-महाशयेन वर्णितं लभ्यते। स कल्याणो विद्वान् ग्रीसपर्यन्तमपि गत आसीदिति म्याक्समूलरमहाशयो वर्णयति[2]। एतदेकं निदर्शनमपि भारतस्य तदात्वेऽप्याध्यात्मिकं गौरवं कियदासीदिति दर्शयति ॥

तेन स्वसेनायां स्वेषु यवनवैद्येषु सत्स्वपि सर्पविषचिकित्सायास्तेषां ज्ञानाभावेन सर्पविषचिकित्सकानां भारतीयवैद्यानां, रोगान्तरभैषज्येष्वपि[3] क्रियाकौशलातिशयदर्शनेन स्याद् भारतीयवैद्यानामलेक्जेण्डरेण स्वे स्कन्धावारे स्थापनस्य, स्वदेशं प्रतिनिवर्तमानेन तेन यवनाधिपेन भारतीयविदुषां[4]

1. (a) The oldest of the two thousand cities of northern India in Chandragupta's time was Taxila... ......Arrian describes it as 'a large and prosperous city'; Strabo says, 'it is large and has most excellent laws.' It was both a military and university town......and containing the most famous of the several universities possessed by India at that time. Students flocke to Taxila as in the Middle Ages they flocked to Paris; there all the arts and sciences could be studied under eminent professors, and the medical school especially was held in highr epute throughout the Oriental World. Pp. 441-442.

(b) Taxila, at the time of Alexander's invasion, was known to all Asia as tha leading seat of Hindu scholarship, renowned above all for its medical school. Story of Civilization-Will Durant P. 557.

2. 'The inhabitants were believed to attain the age of a hundred and thirty years, their longevity being the result of good health secured by temperance in diet.'

Early History of India—V. Smith P. 105

3. (Strabo X .V. C. 701)—Cambridge History of Ancient India Vol. I, P. 418; by E. J. Rapson.

1. Cambridge History of India Vol. I by E. J. Rapson P. 359; 381.

2. Maxmüller's History of Sans. Lit. P. 15 (P. O. Ed.)

3. The science continued to flourish down to the advent of the Greeks in India (327 B. C.). Arrian, the Greek historian, in describing the condition of India at the time of the invasion of Alexander the Great, refers to a curious fact, which reflects no small credit on the Hindu physicians of the day. Alexander had in his train several proficient Greek physicians, but these had to confess their inability to deal with cases of snake-bite, very common in the Punjab. Alexander was therefore obliged to consult Indian Vaidyas, who successfully treated these cases. The Macedonian king was so struck with their skill that, according to Nearchus, he employed some good Vaidyas in his camp, and desired his followers to coasult these Indian physicians in cases of snake-bite and other dangerous ailments. In face of the facts that the European texicologists are still in search of a specific for snake-poison the Indian physicians who liveds ome 2200 years ago might well be proud of their skill. It is very likely that on his homeward march Alexander, or Sikander as he is called in India, took with him a few professors of Hindoo medicine. This supposition receives some support from the early history of Greek medicine.

Short History of Aryan Medical Science— Pp. 189-190; by H. H. Bhagvatsinhajee.

4. E. J. Rapson निर्मिते Cambridge History of India Vol. I P. 406 ग्रन्थे, 'There was really indeed very little for a doctor to do in India except to cure snake-bites, since diseases were so rare among Indians—so at least, as we shall see, the Greeks believed'

सादरं सहनयनस्य, मार्गे स्वदेशमुपेत्यापि सर्पदष्टानां भारतीयद्वारा चिकित्सनस्य च तदीयवृत्तत उपलम्भेन आयुर्वेदीयः प्रभावः पश्चादपि ग्रीसदेशं प्रविशन्नालोक्यते ॥

भारतालोकप्रसारे अशोकशिलालेखः

न केवलं पूर्वकाल एव, पश्चादपि अशोकनृपतिसमये तदीयत्रयोदशसंख्यशिलालेखानुसारेण अष्टयोजनशतान्तरालेषु अन्तियोक—(योन) यवननृपस्य (Antiochos Theos B. C. 261–246 King of Syria), **तुर्मयसस्य** (Ptolemaeos Philadelphos, King of Egypt 285–247 B. C.), **अन्तिकोननृपस्य** (Antigonos Gonates of Macedonia) 278–239 B. C.), **मगस्य** (Magas of Cyrene to the West of Egypt died 258 B. C.), **अलीकसुन्दरस्य (अलेकूजेण्डरस्य)** (Alexander of Epirus 272–258 B. C. **मतान्तरेण** Alexander of Corinth 252–244 B. C.) **च देशेषु यवनकम्बोजेषु नीचचोलपाण्ड्यताम्रपर्णीयदरदविषवज्रनाभकनाभप्रान्तभोजपितिनिक्यान्ध्रपुलिन्दादिष्वपि अशोकस्य धर्मविजयो धर्मानुशिष्टिश्च उपलभ्यते । एतल्लेखतो भारतीय**तत्तत्प्रदेशेष्विव दविष्ठेषु पर्यन्तगतेषु सीरियामिश्रमेकडोनियापश्चिममिश्रैपिरसयवनकम्बोजादिदेशेष्वपि भारतीयधर्मप्रतिष्ठापनमशोकेन विहितमवगम्यते । कालचक्रव्याख्यायां विमलप्रभायामपि बुद्धनिर्वाणोत्तरं तत्तद्देशेषु तत्तद्भाषासु यानत्रयपिटकत्रयबौद्धग्रन्थानामनुवादेन धर्मप्रचारो निर्दिष्टोऽस्ति । तत्रापि पारसीकदेशस्य नीलनद्युत्तरे रुक्मदेशस्य चोल्लेखोऽस्ति ॥

अशोकनृपतिना न केवलं धर्मविजयो धर्मानुशिष्टिश्च व्यधायि, अपि तु तदीये शाहावाजगढीप्रदेशस्थे—

'सर्वत्र विजिते देवानां प्रियस्य प्रियदर्शिनो राज्ञो ये चान्ता यथा चोडाः पाण्ड्याः सत्यपुत्रः केरलपुत्रस्ताम्रपर्णी अन्तियोको नाम यवनराजो, ये चान्ये तस्यान्तियोकस्य सामन्ता राजानः, सर्वत्र देवानां प्रियस्य प्रियदर्शिनो राज्ञो द्वे चिकित्से कृते मनुष्यचिकित्सा च पशुचिकित्सा च, औषधानि मनुष्योपगानि च पशूपगानि च यत्र यत्र न सन्ति सर्वत्र हारितानि च रोपितानि च। मार्गेषु वृक्षा रोपिता उदपानानि च खानितानि प्रतिभोगाय पशुमनुष्याणाम्'

इति द्वितीयशिलालेखे अशोकेन भारते तत्तत्प्रदेशेष्विव भारतबहिर्भूतेषु अन्तियोकस्य यवनराजस्य तस्य समन्ताद्वर्तिनामन्येषां नृपाणां च देशेष्वपि मनुष्याणां पशूनामपि द्विविधाश्चिकित्सासंस्थाः प्रवर्तिताः, मनुष्याणां पशूनां चोपयोगीन्यौषधान्यपि व्यवस्थापितानि। ओषधिवृक्षाः फलमूलादितरवोऽपि यथापेक्षं सर्वत्र नीता रोपिताश्चेति लेखेन भारत इव बाह्येषु अन्तियोकादीनां देशेष्वपि तदापर्यन्तमपि भारतीयचिकित्सापद्धतेर्भारतीयौषधानां च अपेक्षणं प्रवर्तनं प्रचारणं च स्फुटीभवति । त्रयोदशे धर्मविजयशिलालेखे अन्तियोकेन समं तुर्मया-ऽन्तिकोन-मगा-ऽलीकसुन्दरनृपाणां चतुर्णां स्पष्टमेवोल्लेखोऽस्ति। तत्र अष्टशतयोजनानि परितो वर्तमानतया च तद्देशानां निर्देशो दृश्यते। द्वितीये शिलालेखे अन्तियोको यवनराजस्तु नामग्राहं गृहीतोऽस्ति।

Nearchus Frags इति नियार्कसेन कथितमिति लिखितमस्ति। Arrian's Indica ग्रन्थे, 'And Nearchus adds this, that Alexander had all the most skilful of the Indians in the healing art collected around him, and had caused proclamation to be made throughout the camp that if anyone were bitten he should repair to the royal tent, but these very same men were able to cure other diseases and pains also." P. 223. इति नियार्कसस्योक्तेरुद्धारोऽस्ति। एतल्लेखतः आधुनिका आहितुण्डिका इव ते नासन्, अपि तु अष्टप्रस्थानान्तर्गते विषतन्त्रे इव भैषज्यान्तरविद्यास्वपि विज्ञानवन्त आसन्, ईदृशा भारतीयवैद्या अलेक्जेण्डरेण स्वयमगृह्यन्त अनाय्यिषत चेति प्रतीयते। केम्ब्रिजहिष्ट्रीगते एतल्लेखे नियार्कसोक्तेः 'but these very same men were able to cure other diseases and pains also.' वाक्यानुपलम्भः केवलमाहितुण्डिकमिव प्रतिभासयन् कौतुकं जनयति।

1. (a) Asoka. V. A. Smith P. 188;
   (b) Asoka. Radhakumud Mukerji P. 166;
   (c) Asoka. D. R. Bhandarkar P. 45-46.

२. '……देवानां प्रियस्य यो धर्मविजयः स च पुनर्लब्धो देवानां प्रियस्येह च सर्वेष्वन्तेष्वष्टस्वपि योजनशतेषु, यत्र अन्तियोको नाम यवनराजः परं च तस्मादन्तियोकाच्चत्वारो राजानस्तुरमयो नाम, अन्तिकोनो नाम, मगो नाम, अलीकसुन्दरो नाम, नीचाः चोडाः पाण्ड्या एवं ताम्रपर्णीया एवमेव हि दरदाः, विषवज्रेषु यवनकम्बोजेषु नाभके नाभकप्रान्तेषु भोजपितिनिक्येषु अन्ध्रपुलिन्देषु सर्वत्र देवानां प्रियस्य धर्मानुशिष्टिमनुवर्तन्ते। यत्रापि दूता देवानां प्रियस्य न यान्ति तत्रापि श्रुत्वा देवानां प्रियस्य धर्मवृत्तं विधानं धर्मानुशिष्टिं धर्ममनुविदधत्यनुविधास्यन्ति च' इति त्रयोदशः शिलालेखः।

१. 'इह तथागताभिसम्बुद्धे भगवति परिनिर्वृते सति सङ्गीतिकारकैर्यानत्रयं पुस्तके लिखितं, तथागतनियमेन पिटकत्रयं मगधभाषया सिन्धुभाषया, सन्नान्तं संस्कृतभाषया, पारमितानयं मन्त्रनयं तन्त्रतन्त्रान्तरं संस्कृतभाषया प्राकृतभाषया अपभ्रंशभाषया संस्कृतशबरादिम्लेच्छभाषया इत्येवमादिः सर्वज्ञदेशितो धर्मः सङ्गीतिकारकैर्लिखितः। तथा बोटविषये यानत्रयं बोटभाषया लिखितं, चीने चीनभाषया, महाचीने महाचीनभाषया, पारसिकदेशे पारसिकभाषया, शीतानद्युत्तरे चम्पकविषयभाषया, वानरविषये (वानर) भाषया, सुवर्णाख्यं (सुवर्ण) विषयभाषया, नीलानद्युत्तरे रुक्मविषयभाषया, सुरम्माविषये (सुरम्मा) भाषया, एवं कोटिकोटिग्रामात्मकेषु षण्णवतिविषयेषु (षण्णवति) विषयभाषया लिखितम्। एवं द्वादशखण्डेषु स्वर्गमर्त्यपातालेषु नानासङ्गीतिकारकैर्यानत्रयं लिखितम्' इति।

कालचक्रटीकायां विमलप्रभायां ताडपत्रीयायां ४४ पत्रे.

2. Inscriptions of Aśoka by Hultzsch. P. 51, 66.

३. अनयोर्द्वितीयत्रयोदशशिलालेखयोः सीरियाधिपतेः अन्तियो-

अन्येषां तु 'ये चान्ये तस्यान्तियोकस्य सामन्ता राजानः' इति तस्य समन्ताद्वर्तितया सामान्यत एवोल्लेखदर्शनेऽपि अन्तियोकसाहचर्याद्भौगोलिकदृष्ट्या सीरियाप्रदेशं परितो वर्तमानतया सामन्तत्वौचित्याच्च त्रयोदशशिलालेखे[1] अन्तियोकेन समं निर्दिष्टा ये तुर्मयान्तिकोनमगालीकसुन्दरनृपाः, त एव अत्रापि राजान इत्यवबोधिता भवेयुः । ग्रीसाधिपतेः अलेक्जेण्डरस्य प्राक्तनतया अशोकसामयिकैर्नृपान्तरैः सहैककालिकत्वाभावेऽपि भारते आगमनेन पूर्वैः परिचितस्य अलेक्जेण्डरस्य पौर्वकालिकं सम्बन्धं लक्ष्यीकृत्य अलीकसुन्दरशब्देनात्र प्रसिद्धं ग्रीसाधिपमलेक्जेण्डरमुपादाय ग्रीसदेशे इत्यपि बोद्धुं शक्यते । परं समयवैषम्येण नृपान्तराणां तत्सामयिकतया च अत्र अलीकसुन्दरशब्देन ग्रीसाधिपतिमलेक्जेण्डरमनवबोध्य अशोकसामयिक एपिरसप्रदेशीयो मतान्तरेण कोरिन्थप्रदेशीयोऽलेक्जेण्डरो गृह्यते ऐतिहासिकैः । राजान इतिपददर्शनेन अशोकसमकालिक एवालेक्जेण्डरः स्यात् । तथात्वेऽपि अष्टशतयोजनान्तरालेषु परितो देशेषु धार्मिकप्रभावपातस्य, सीरियायाः समन्ताद्गतेषु देशेषु भारतीयभैषज्यप्रस्थानस्यापि विशेषतः प्रभावपातस्य, ग्रीसपूर्वस्रोतःस्थानत्वेनाभ्युपगते मिश्रेऽप्येतत्प्रभावालोकपातस्य चास्माच्छिलालेखद्वयादवगमेन, ग्रीसस्य मिश्रसीरियोपान्तवर्तितया, एपिरसकोरिन्थप्रदेशयोरपि ग्रीसान्तःपातितया, ग्रीसेन भारततदीयविद्ययोः परिचयस्य प्राप्ततया, ग्रीसाध्यात्मविद्यायां भारतीयदर्शनप्रभावोपलम्भेन, हिपोक्रिटसनाम्ना उत्तरोत्तरं ग्रन्थसङ्कलनस्य तद्ग्रन्थेष्वायुर्वेदीयविषयसाम्यस्याप्यवगमेन च दार्शनिके धार्मिके च विषये इव भैषज्यविज्ञानविषयेऽपि साक्षात् परम्परया वा अशोकसमयेऽपि भारतीय आलोको ग्रीसेऽपि विभाव्यते । तदात्वेऽपि भारतीयायुर्वेदविद्यायाः, भारतीयचिकित्सापद्धतेः, भारतीयौषधानां, भारतीयवैद्यानां, भारतीयवैद्यकग्रन्थानां च पाश्चात्यदेशेष्वपि कियानालोकः कियद्वा गौरवं चासीदित्यवबोधः पर्याप्तो भवति ।

ग्रीसभारतयोः पुराकालात् सम्बन्धः

'अद्यपर्यन्तं साधकविशेषानुपलम्भेऽपि प्राक्काले ग्रीसभारतयोर्मिथो यातायातवाणिज्यसम्बन्धदर्शनेन भारतीयवैद्यकविज्ञानं ग्रीसदेशीयानां श्रुतौ पतितं प्रतीयते । अलेक्जेण्डरसमयतस्तु बहुकालपर्यन्तं ग्रीसभारतयोर्घनिष्ठसम्बन्धस्यावगमेन, हिपोक्रिटस-ड्यासकोराइडिस (Dioscorides) ग्यालनादीनां लेखाद्यनुसन्धानेन च नानाविधौषधानि रोगनिवर्तनपद्धतयश्च यानि भारतीयभिषग्भिर्व्यवहृतानि, तानि अभ्यासिभिर्ग्रीसभिषग्भिरुपात्तानि प्रतीयन्ते' इति बक (Buck) महाशयो[2] निर्दिशति ॥

'भारतीये ग्रीसीये च प्राचीनवैद्यकविज्ञाने बहुशः साम्यं दृश्यते । तत्र ग्रीसीयविज्ञाने भारतीयविज्ञानस्य प्रभावं केचिन्न मन्यन्ते, केचन संशेरते; तद्विस्मयावहम् । हस्तलिखितप्राचीनपुस्तकोपलम्भात् प्राक् प्रसिद्धप्राचीनभारतीयग्रन्थानां समयावधारणं दुष्करमेवासीत् । परं भारतीयानां विज्ञानकलादिषु बहुशः शाखासु परनिरपेक्षभावेन विचारः, देशान्तरविज्ञानालोकस्यावधीरणं चासीत् । भारतीयभैषज्यविषयकेऽन्वेषणे अद्यत्वे बहुशो भारतीयविषयाणां भारतोपज्ञभाव आसीदित्यसौ पक्षो बहुभिरङ्गीक्रियते' इति;[1] 'भारतीयायाः प्राचीन-

---

-कस्यैव यवनराजत्वेन निर्देशादलीकसुन्दरस्य तथात्वेनानिर्देशाच्च -पूर्वकाले सिरियाप्रदेशगतजातेरेव यवनशब्देन व्यवहार आसीन्ननु इति प्रतीयते । साम्प्रतिकानां तु यवनशब्देन ग्रीका एवावबोध्यन्ते इति धारणाऽस्ति । विचारणीयमेतत् ।

1. Inscriptions of Asoka–Hultzsch Pp. 66–67.

2. Buck in his book, 'The Growth of Medicine from the Earliest Time to 1800', seems to belittle the influence of the Old Indian Medicine on the Old Greek Medicine, the progenitor of the Present Western medicine. But probing the history further he has to modify his opinion and say 'that it is reasonable to suppose, although directly confirmatory evidence has not yet been discovered, that through the channels of trade between the two countries, some knowledge of the doings of the physicians of India must have reached the ears of their Greek brethren. On the other hand at a later period of history (after the invasion of Alexander the Great) the relations between the two countries became quite close and were kept up without a break for several hundred years. During the earlier part of this period, as appears from the writings of Hippocrates, Dioscorides and Galen, various drugs and methods of treatment employed by the physicians of India were adopted by the practitioners of Greece.'

Fourth Oriental Conference Vol. II Pp. 425–426.

1. Neuberger says:—'The similarity between Indian and Greek medicine of the period is in its outline and in certain details so striking that it is hardly surprising that the originality of the former has frequently been questioned or even denied. The more so is this true since the dates of the more important Indian works are fixed with the greatest difficulty, and before the discovery of the most recent manuscripts they quite indefinite.

In consideration of the outstanding independent achievements of the Indians in most branches of scienze and art, and of their aversion from foreign influences, the trend of opinion to-day, informed by recent discoveries is in favour of the originality of Indian medicine in its most salient features.'

Neuberger. History of Medicine Vol. I P. 45.

भैषज्यविद्याया आलोचने तदीयगूढविचारसूक्ष्मबुद्धिविकासलेख-सौष्ठवादीनामनुसन्धाने तदीयं स्थानमत्युच्चमासीदिति ज्ञायते इति च न्यूबर्गर (Neuberger) विद्वानपि वर्णयति ॥

पाश्चात्यदेशैः सह भारतस्य पुराकालादेव मिथः परिचयः सम्पर्को व्यवहारश्च आसीदिति हेरोडोटसफीलोष्ट्रेटस्प्रभृतयः प्राचीनाः पाश्चात्यविद्वांसोऽप्युल्लिखन्ति । जैसोडस्-आफिसेनस्-अफ्रिकेनस्-इत्यादिप्राचीनतत्तदाचार्यसंगृहीता लेखा अप्येतदेव द्रढयन्ति । प्रथमशताब्दीभवस्य प्लेनीनामकस्य ग्रीकविदुषो लेखादपि भारतीयानां वनस्पत्यौषधानां योगौषधानामपि विक्रयाय ग्रीसदेशे नयनमित्यादय उपलभ्यन्ते । ग्रीसभारतयोः पारस्परिकः सम्बन्धः पूर्वमप्यासीत्, भारतीयैः पूर्वप्रसाधितां पक्षाघाताम्लपित्तादिरोगेषु धत्तूरस्योपयोगितां यूरोपीयैरप्यनूपात्तामुल्लिखन् रायेल् (Royle) पण्डितः पाश्चात्येषु भारतीयविज्ञानप्रभावं दर्शयति । प्राचीनग्रीकवैद्यके भारतीयायुर्वेदस्य कैश्चिदंशैरनुप्रभाव आसीत्, भारतीयानां ग्रीकानां च भैषज्यप्रणाल्यां समानता दृश्यते इति होमेल्टन् विद्वानपि संमन्यते । ब्यानर्जीमहाशयोऽपि तदेव विवृणोति ॥

श्रीयुतरमेशचन्द्रदत्तमहाशयेन स्वकीयपुस्तकेऽपीत्थं लिखितं वर्तते ।

उत्तरकालेऽपि भारतीयवैद्यो मंकनामकः अरबाधिपतेः (खलिफा) हारुनअलरसीद् (A. D. 700) नामकस्य राजकुलमुपेत्य तदीयरोगं निरवारयत्, चरकीयविषतन्त्रस्य पर्शियनभाषायामनुवादं चाकरोत्, इति; Saleh (शल्य) नामकोऽपि भारतीयवैद्यः खलिफाहारुनअलरसीदस्य राजकुले आसीत्, स प्यालिष्टाइनप्रदेशे गत्वा तत इजिप्टप्रदेशमुपेत्य तत्रैव देहं जहौ, इति च आरब्यविदुषा इब्नअसेवनाम्ना निर्दि-

1. Neuberger says.—'The medicine of the indians, if it does not equal the best achievements of their race, at least nearly approaches them, and owing to its wealth of knowledge, depth of speculation and systematic consideration takes an outstanding position in the history of oriental medicine.'

Neuberger. History of Medicine, Trans. by Playfair Vol. I P. 437

2. Pliny, the Roman contemporary of Dioscorides had also mentioned Indian medicinal plants and drugs. 'Hindu achievements in exact sciences' B. K. Sarkar P. 50–51. See also Intercourse between India and the Western World P. 102 by H. G. Rawlinson.

3. The smoking of dhattura leaves in asthma... are modern in Europe, but have come down in India since very old times (Royle) Vide-Hindu Achievements in exact Sciences by B. K. Sarkar P. 49. Antiquity of Hindu Medicine.

4. When we remember also that Pythagoras introduced Brahmanical system...'that there was some Indian influence on the medicine of ancient Greece. The analogy between Hindu and Greek system of medicine is certainly much too close to be the result of accident.' (W. Hamilton, History of Medicine Vol. I P. 43)—Hellenism in Ancient India P. 196 by G. N. Banerji.

5. 'Nor do the Hindoos appear to have derived their knowledge of Medicine from any of their neighbours. The Greeks were the only people from whom they would have borrowed it; but besides the immeasurable distance and absence of frequent communication between the two countries in such remote times, the Hindoos were naturally so averse to travelling and so little desirous of intercourse with foreigners, that the hypothesis of their having borrowed the medical literature seems to stand on an exceedingly slender basis.'

Hellenism in Ancient India. P. 191 G. Banerjee.

1. In Europe the antiquity of Hindu medicine is not yet generally known and recognised, and the habit of tracing the origin of all Aryan culture to the Greek style impedes an impartial inquiry. As Dr. Wise justly remarks, 'Facts regarding the ancient history of medicine have been sought for only in the classical authors of Greece and Rome, and have been arranged to suit traditional theory which repudiated all systems which did not proceed from a Grecian source. We are familiar from our youth with classical history, and love to recall events illustrated by the torch of genius and depicted in our memories; and it requires a thorough examination of a subject, a careful weighing of new evidence, and a degree of ingeniousness not always to be fonnd, to alter early impressions. Still candour and truth require us to examine the value of new facts in history as they are discovered, so as to arrive at just conclusions.'

The Greeks themselves did not lay claim to the honour (which is now after claimed for them by modern writers) of originating ancient culture generally, or the science of medicine in particular. Nearchus (apud Arrian) informs of that 'the Grecian physicians found no remedy against the bite of snakes, but the Indians cured those who happened to incur that misfortune.' Arrian himself

[1]ष्टमस्ति । एतद्दर्शनेन इतः पूर्वमपि कति भारतीया विद्वांसो वैद्याश्च दूरदूरमपि प्राप्ताः सम्भाव्यन्ते ॥

तदेवमुपदर्शितदिशा पाथागोरसादिसमयतः समये समये बहूनां ग्रीकजनानां विद्यालब्धये भारतोपगमस्य, भारताद्धारतोपकण्ठाद्वा भारतीयविषयाणामवगमस्य, भारतीयविदुषामपि केषाञ्चित् पूर्वकालाद् ग्रीसदेशोपगमस्य, भारतीयविदुषां तत्र समादरस्य, भारतान्निवर्तने भारतीयवैद्यानामतिशयानुसन्धानेन ग्रीसाधिपतिना स्वदेशे नयनस्य, अशोकसमयेऽपि तदीयशिलालेखानुसारेण पाश्चात्यदेशेषु भारतीयभैषज्यप्रस्थानप्रचारस्य चेतिवृत्ततो लाभेन, हिपोक्रिटसनाम्ना प्रसिद्धानां सर्वेषां ग्रन्थानामपौर्वकालिकत्वस्य पश्चादपि विकसितविज्ञानसयानां लेखानां तत्र सम्मेलनस्य विद्वद्भिः परिदृष्टतया, भारतीयवैद्यके ग्रीसवैद्यकासाधारणलिङ्गानुपलम्भेन, प्रत्युत भारतीयवैद्यकच्छायालिङ्गानां ग्रीसवैद्यके बहुश उपलम्भेन च पुराकालादेव मिथः परिचयमितस्ततो यातायातं कुर्वद्भिः पाथागोरसादिभिर्भारतीयैर्वा भारतीयभैषज्यविज्ञानं न्यूनाधिकैरंशैः समये समये ग्रीसवैद्यकस्य शरीरपुष्टये सम्पादितमुपलक्ष्यते; हिपोक्रिटससमयतस्ततः कियतोऽपि पूर्वसमयतो वा उदिते वैज्ञानिके ग्रीसभैषज्ये मिश्रबेब्लोनियादिप्राचीनदेशान्तरविज्ञानानामपि प्रभावो न्यूनाधिकभावेन पतित एव, किन्तु ग्रीसभैषज्यं देशान्तराणामिव साक्षात् परम्परया वा भारतस्याप्यधमर्णभावं भजत्येवेति प्रतिभाति, न पुनः पश्चादुदिता ग्रीसस्य सविज्ञाना भैषज्यविद्या पूर्वतः प्रतिष्ठिते भारतीयायुर्वेदवैद्यके लेशतोऽपि आलोकप्रदानाय बभूवेति अप्रतिहतं दर्शनमुन्मिषति ॥

महाविदुषा हिपोक्रिटसेन भैषज्यविषये देशान्तरेभ्यः प्रक्रियान्तरेभ्योऽपि वा उपयोगिनो विषयान् निरीक्ष्य स्वीयविचारनिकषोज्ज्वलांश्च विषयानुपादाय भैषज्यविषये अत्युत्तमा निबन्धाः सम्पादिताः । येनासौ पाश्चात्यदेशीयवैद्यकस्य पितृपदमध्यतिष्ठत् । हिपोक्रिटसविचारे ये विषयास्तदीयपरिष्कृतविचारोद्भूताः स्युस्तेषु तदुपज्ञभाव एव स्यात् । परं ये भारतीयायुर्वेदविषयसंवादिनः शब्दा विषया विचारा वा दृश्यन्ते तेषु साक्षात् परम्परया वा भारतीयप्राचीनवैद्यकस्यैव प्रतिफलनं वक्तव्यं भवति । पूर्वतनबाह्यदेशीयभैषज्यसम्प्रदायानां भारतीयपूर्वाचार्यैरनुसृतत्वे भारतीयपूर्वाचार्यग्रन्थैरपि बाह्यसम्प्रदायानुरूपैरेव भवितव्यं, न च तथाऽस्ति । किन्तु पूर्वोपदर्शितरीत्या (पृ. ६३–६५) एकमूषानिषिक्तनानाप्रतिमावदेकस्यामेव भूमिकायां निष्पन्ना एता विभिन्ना निबन्धनाकृतयः प्राचीनायुर्वेदीयादेकस्मादेवार्षस्रोतसः समुद्भूतमात्मानमवबोधयन्ति । इतः पूर्वतना अप्येतत्स्रोतोगता आर्षग्रन्था विषयविभेदेऽप्येतत्स्रोतःपातिन्यैवाकृत्या वर्तमानाः स्युरित्यनुमीयन्ते । ततश्च हिपोक्रिटसेन प्रवर्तितस्य पूर्वतनस्य वा ग्रीसवैद्यकस्यालोको वेदकालादनुस्यूततन्तौ इतिहासतो भौगर्भिकदृशा च तद्द्विगुणपूर्वकालेऽपि प्रौढतां दर्शयति भारतीयायुर्वेदवैद्यके पतितः स्यादिति वक्तुं जिह्वा प्रतिरुध्यते ॥

यद्यपि पञ्चसहस्रवत्सरात् पूर्वं ज्यौतिषविद्यायाः समुत्पादका अपि भारतीया एवेति पाश्चात्यविद्वांसोऽपि[1] वदन्ति । परं, ग्रीसदेशे ज्यौतिषविद्योन्नतौ द्वितीयशताब्दीभवस्य कस्यचिद्यवनविदुषो भाषामयो जातकग्रन्थो विचारगौरवेण प्रसरन् भारतीयैरप्यादरणेन देववाण्यामनूदितो **यवनजातक**नाम्ना भारते यावनज्यौतिषविद्याया निदर्शनमभूत् । वराहमिहिरादयः

tells us that the Greeks, 'when indisposed applied to their sophists (Brahmans), who, by wonderful, and even more than human means, cured whatever would admit of cure.' Diosorides who lived in the first Century A. D., is the most copious author on the Materia Medica of the ancients, and Dr. Royle has in an exhaustive inquiry shown how much of his Materia Medica was taken from the more ancient Materia Medica of the Hindus. The same remark holds good with regard to Theophrastus, who lived in the third Century B. C., while even the physician Classias, who lived in the fifth Century B. C., wrote an account of India, which Dr. H. H. Wilson has shown, contains notices of the natural products of India. But the chain of evidence is complete when Hippocrates is called the 'Father of Medicine.' because he first cultivated the supject as science in Europe, is shown to have borrowed his Materia Medica from the Hindus. We refer our reeders for evidence to Dr. Royle's excellent essay. 'It is to the Hindus,' says Dr. Wise, 'We owe the first system of medicine.'

Civilisation in India Vol. II P. 249.

(हिन्दू सभ्यताका इतिहास)

1. Ancient and Mediaeval India.

Vol. I Mrs. Manning P. 353.

1. The Hindoos were the first to cultivate Astronomical Science (**Jyotisha**). All modern astronomers admit the great antiquity of their observations. Cassini, Bailly and Playfair have stated that observations taken by Hindoo Astronomers upwards of 3000 years before Christ are still extant, and prove a considerable degree of progress already made at that period. The ancient Hindoos fixed the calendar, observed and predicted the eclipses, and were acquainted with the phases of the moon and the motions of the several planets. According to Colebrooke, they were more correct than Ptolemy in their notions regarding the precession of the equinoxes.

Short History of the Aryan Medical Science

Pp. 13-14; by H. H. Bhagvatsinhajee.

पश्चात्तना ज्यौतिषाचार्या अपि यवनाचार्यं निर्दिशन्ति। कालक्रमेण यावना रमलताजिकादिविषया अपि भारतीयं विज्ञानमनुप्राविशन्। एवं रोमकसिद्धान्तोऽपि भारते प्रसिद्धिं प्राप। प्राचीनवैद्यकविषये त्वयमंशो यावनः प्रसाद इत्यत्र न किमपि साधकमुपलभ्यते। वैद्यकविषये प्राचीनः कोऽपि यावनोऽतिशयः सम्पर्कः सहयोगो वाऽभविष्यत्, तदा शारीरके शल्यप्रक्रियायां कायचिकित्सायामौषधेषूपचारेषु अन्यासु वा वैद्यकप्रक्रियासु काऽपि यावनी प्रतिच्छाया प्राचीनभारतीयायुर्वेदग्रन्थेषु सुतरामलप्स्यत॥

आत्रेयकश्यपादयः पूर्वाचार्याः 'काङ्कायनो नाम बाह्लीकभिषक्, बाह्लीकभिषजो वा, बाह्लीकास्त्वपरे' इत्यादिशब्दैः काङ्कायनं नामतोऽन्यांश्च बाह्लीकवैद्यान् बाह्यानपि ससंमानमाचार्यभावेन निर्दिशन्ति। आत्रेयकश्यपाभ्यामप्युल्लिखितोऽयं बाह्लीकदेशः ग्रीकानामाक्रमणात् पूर्वं **बलख**नाम्ना प्रसिद्धः इरानप्रदेशः। तदात्वे तत्रापि वैद्यविद्यायाः समुन्नतिः, साऽपि आत्रेयाद्युक्ताचार्यविशेषविमर्शश्रेण्यां काङ्कायनस्य निर्देशाद्भारतीयवैद्यप्रक्रियातो नातिविसंवादिनी केवलं तत्र तत्र विषये विचारविशेषमात्रमादधती प्रतीयते। सुश्रुतव्याख्याकारलेखस्य समूलत्वे तु सुश्रुताचार्यसतीर्थ्यश्रेण्यां काङ्कायनोल्लेखेन 'बाह्लीकभिषजां वर' इनि निर्दिष्टे काङ्कायनेऽपि भारतीयस्रोतोगतमेव वैद्यकविज्ञानं स्फुटीभवति॥

एवमपक्षपातं सबहुमानं बाह्यदेशविदुषोऽपि आचार्यकुक्षौ निक्षिप्य गुणग्राहितां कृतज्ञतां निदर्शयन्तः कश्यपात्रेयादयो भारतीयाचार्या भारतीयवैद्यकं यवनाचार्यैः प्रभावितं चेत् कथं तान्नाम्नाऽपि नोल्लिखेयुः॥

ग्रीसे शस्त्रवैद्यकस्य पश्चात्प्रचारः

यद्यपि शरीरवतां स्वास्थ्यसम्पत्तये न्यूनाधिकेन येन केनापि रूपेण भैषज्यमिव राज्यसम्बन्धेन मिथो राज्ञां संमर्दस्य पुराकालादेव सर्वेषु देशेषु जायमानतया तदनुषङ्गेणाहतप्रत्याहतोपचाररूपं शल्यचिकित्सनमपि केनचिदंशेन पुराकालेऽपि भवितुमर्हति। होमरलेखतो ग्रीसेऽपि शस्त्रवैद्यकस्य आभेव प्रतिभाति। तथाऽपि भारतीयं भैषज्यविज्ञानं नयद्भिः प्रतिसंक्रामयद्भिर्वा पाश्चात्त्यैः पाथागोरसादिभिः कायचिकित्साविज्ञानं यथा प्रथमतः प्रतिष्ठापितं, न तथा वैज्ञानिकं शस्त्रवैद्यमपि। तत्तु कायचिकित्साविज्ञानोदयस्य पश्चात् समयान्तरेणैव ग्रीसे प्रचलितं प्रतीयते। मिश्रदेशे B. C. तृतीयशताब्द्यां सविज्ञानं शस्त्रवैद्यकमासीत्, ग्रीसदेशेनाऽभूतपूर्वं शस्त्रवैद्यकं B. C. प्रथमशताब्द्यां मिश्रदेशादधिगतमित्युल्लेख[1] उपलभ्यते। हिपोक्रिटसीयलेखादपि तदात्वे तस्य शिराधमन्यस्थ्यादिशारीरकज्ञानं सामस्त्येन नासीदिति प्रतीयते। G. N. ब्यानर्जीविदुषामपीयमेव दृष्टिः[2]। हिपोक्रिटसस्य व्यायामलभ्यशारीरहितादिबाह्यज्ञानवर्जमान्तरशारीरज्ञानं विशेषतो नासीदिति लिटरे (Littre) महाशयस्य[1] मतं ग्रोट्सोऽप्युल्लिखति। हिपोक्रिटसीयग्रन्थे अंशत एव शारीरकज्ञानं दृश्यते, तदपि मिश्रतः प्राप्तमिति ग्रीसेतिवृत्ते लभ्यते[2]। ग्रीसे अस्थिधमन्यादिविषयज्ञानस्य प्रदर्शकः पूर्वलेखविशेषो न लभ्यते इति कीथ[3]महाशयोऽपि वदति। सुश्रुतसदृशः प्राचीनशारीरकग्रन्थो ग्रीसदेशे पूर्वं नासीदिति ब्यानर्जी[4]महाशयोऽपि निर्दिशति॥

शस्त्रवैद्यकस्य काश्यादिपूर्वदेशे प्रवृत्ततया भारतीयपश्चिमविभागे तक्षशिलादौ कायचिकित्साविज्ञानस्यैव पूर्वं वर्तमानतया पाश्चात्यैः प्रथमतः सन्निकृष्टात् पश्चिमविभागतः कायचिकित्साविज्ञानमेव नीतं, समयक्रमेण पूर्वदेशेऽपि स्वप्रसरणसम्पर्कपरिचयादावुपजाते तत्रत्यं शस्त्रवैद्यकविज्ञानमपि पश्चान्नीतमिति हैतुको विचारविशेषः कस्यचिद्विदुषो दृश्यते। परं तत्रेदमनुसन्धेयं भवति,—शस्त्रवैद्यकसम्प्रदायस्य काशिराजेन दिवोदासेन प्रतिष्ठापनात् प्राधान्येन काश्यादिपूर्वदेशीयत्वावगमेऽपि आत्रेयभेडकश्यपादिभिरपि धान्वन्तरा इतिबहुवचनान्तशब्दविशेषैः प्रस्थानान्तररूपेण निर्देशात् कायचिकित्साप्रधानेषु स्वोपदेशेष्वपि शस्त्रचिकित्सासम्बन्धिनां कतिपयविषयाणां सूचनाच्च आत्रेयादिभिः कायचिकित्साविज्ञानेनोज्ज्वलिते पश्चिमप्रदेशेऽपि शस्त्रवैद्यकविज्ञानं प्रचलितं, तत्साम्प्रदायिकाश्च बहव आसन्निति च ज्ञायते। तक्षशिलायामध्ययनेन विशिष्टवैदुष्यमवाप्तस्य जीवकस्य महावग्गादावुल्लिखितः शस्त्रचिकित्साकौशलातिशयस्तत्र शस्त्रचिकित्साविज्ञानस्यापि उत्कर्षं स्फुटीकरोत्येव। सुश्रुतसंहितायां दिवोदासशिष्यत्वेन निर्दिष्टाः सुश्रुतसतीर्थ्या नानादेशीया अप्यवबुध्यन्ते। तेषु शल्यविषये विशिष्टतन्त्रकर्तृतयोल्लिखितेषु स्वेन सह चतुर्ष्वाचार्येषु[5] पौष्कला-

---

1. History of Sans. Lit. A. B. Keith P. 514.

2. Neither in his (Hippocrates') time nor for two centuries later, is there any distinct record of human dissection being practised by the Greeks. Hellenism in Ancient India—G. N. Banerji P. 191.

---

1 Littre—History of Greece by Grotes. Vol. IV P. 325.

2. There are sevaral treatises in the collection, of which the earliest, On Wounds of the Head, dates from the early part of the 4th Cen. B. C. It has affinities with certain Egyptian papyri and part of it may be of Egyptian origin. E. B. Vol. XI P. 585.

3. The definite evidence of relation (bet. India and Greece) is rendered almost impacticable of attainment by absence of any early Greek lists of bones of the human body as reckoned in the Greek surgery. History of Sans. Lit A. B. Keith P. 514.

4. No summary of Osteological doctrines, such as we find in the writings of Charaka and Sus'ruta, appears to exist in any of the known works of the earlier Greek medical works.

Hellenism in Ancient India by G. N. Banerji P. 194.

५. औपधेनवमौरभ्रं सौश्रुतं पौष्कलावतम्।
शेषाणां शल्यतन्त्राणां मूलान्येतानि निर्दिशेत्।

सुश्रुतसंहितायां ४ अध्याये.

वतस्योल्लेखोऽस्ति। प्राचीनगान्धारराजधानीत्वेनावगम्यस्य पुष्कलावतस्याभिजनसम्बन्धं वहन्नयं पौष्कलावतो भवितुमर्हति। तदीयोऽपि सम्प्रदायस्तक्षशिलापरिसरे प्रचलितः स्यात्। औपगवोऽप्याचार्यः पश्चिमप्रदेशीयः, बाह्लीकभिषक्काङ्कायन इव औरभ्रोऽपि आधुनिकभारताद्बाह्यः पश्चिमोत्तरप्रदेशीय इति पश्चात् तर्कयिष्यते। एवं दर्शनेन तक्षशिलागान्धारादिपरिसरप्रदेशोऽपि सौश्रुतसम्प्रदायस्य तत्राप्रसरणाभ्युपगमपक्षेऽपि पश्चिमतः प्रसिद्धत्वेन संभावितानामेषामाचार्यान्तराणां सम्प्रदायैरपि शस्त्रवैद्यकविज्ञानसमृद्धतामात्मनोऽवगमयति। जीवकस्य तक्षशिलायामध्ययनसमये तद्गुरुणा विहितस्य कपालभेदनस्य तत्रापि जीवकस्य विशेषदक्षेश्च जातकग्रन्थात्, ततोऽधीत्य निवृत्तेन जीवकेन विहितस्य कपालभेदनस्यापि महावग्गलेखतोऽवगम्यमानतया तक्षशिलायामूर्ध्वजत्रुविभागीयशालाक्यविज्ञानस्यापि प्रचार आसीदिति वक्तुं शक्यते।

B. C. ३२७ वर्षे भारतमुपेतस्य अलेक्जेण्डरस्य प्रत्यावर्तनान्मरणादप्यनन्तरं B. C. ३०४ संवत्सरे मिश्रदेशे अलेक्जेण्ड्रियायामुद्घाटिते सङ्ग्रहालये (Museum) हीरोफिलस (Herophilus) एरासिस्ट्रेटस (Erasistratus) नामकाभ्यां शारीरकज्ञानसम्बन्धिलेखानां स्थापनं कृतं, यत् A. D. द्वितीयशताब्दीभवेन ग्रीसविदुषा ग्यालनेनान्विष्यापि न प्राप्तमित्युल्लेखो[1] दृश्यते। ग्यालनेनापि मिश्रादेव शारीरविज्ञानस्योपलब्धेः, विषयान्तराणां चानुसन्धानतो मिश्रदेशे तृतीयशताब्दीतः शारीरकस्य शस्त्रवैद्यकस्य च विशेषज्ञानमासीदित्यवगम्यते। ग्रीसदेशीयेषु मिश्रदेशीयेषु च शल्यवैद्यकशस्त्रेषु भारतीयशल्यवैद्यकशस्त्राणां साम्यमप्युपलभ्यते। ग्रीसवैद्यकशस्त्राणि सुश्रुतोक्तशस्त्रानुरूपाणीति G. N. मुखोपाध्यायोऽपि[2] ब्रवीति। हॉर्नलोऽप्येवमुल्लिखति[3]। तदिदं दृश्यमानं साम्यमपि भारतीयशस्त्रवैद्यकस्य यैः कैश्चिदंशैः प्रभावपातमनुमापयति॥

भारते इतस्ततः प्रौढभावेन वर्तमाना नानाविद्याः, विशेषतो विद्यान्तरेभ्योऽपि शैल्यवैद्यकविभागीयस्य कायचिकित्साविभागीयस्य च भैषज्यविज्ञानस्य तक्षशिलादिप्रदेशेषु प्रौढतरतां दृष्टवता गुणगौरवैः स्वदेशं समेधयितुं प्रयत्नवता महता ग्रीसाधिपेन अलेक्जेण्डरेण गान्धाराचार्यपौष्कलावतस्य सुश्रुतस्यापि वा सम्प्रदायेन तक्षशिलापुष्कलावतगान्धारादिप्रदेशेषु समृद्धस्य वैज्ञानिकशस्त्रवैद्यकस्यापि विशेषतः समादर उपग्रहणं च विहितमिति भारतीयचिकित्सकानां स्वे स्कन्धावारे स्थापनस्य स्वदेशे नयनस्य चेतिवृत्तं व्याख्यात्येव। विषयेभ्यो विरज्य वनस्थवृत्तिमुपाददानमाध्यात्मिकविद्वांसं कल्याणं (Kalanos) तक्षशिलानृपतेः प्रेषणप्रेरणसाहाय्यमप्युपादाय स्वदेशे विद्यागौरवाधानाय नीतवता तेन लोकोपयोगिनो विशेषतः संमर्दवृत्तिभी राजभिरपेक्षणीया शस्त्रभिषजः कायचिकित्सका अपि बहुशो नीता अवश्यं भवितुमर्हन्ति। अलेक्जेण्डरेतिवृत्ते इत्थंभावोपलम्भः, B. C. ३२७ वर्षे भारतमुपेतस्य अलेक्लेण्डरस्य प्रत्यावर्तनान्मरणादप्यनन्तरमुद्घाटितायामलेक्जेण्ड्रियायां वैज्ञानिकशस्त्रवैद्यकस्योद्गतिदर्शनं च मिथः समेत्य तत्रापि भारतीयप्रभावपातं गुणाधायकं न किं प्रत्याययति॥

इरानदेशे मिश्रदेशीयैश्चिकित्सकैः प्रथमडेरियसनृपतेश्चिकित्सनवृत्तस्योपलम्भात् मिश्रदेशे B. C. तृतीयशताब्दीतः पूर्वमपि शल्यवैद्यकमासीदिति प्रतीयेत, परं तेषां तत्रासफलतावृत्तं तदीयामवस्थामपि ध्वनयति। मिश्रे पौर्वकालिकस्य शारीरकविज्ञानस्य निदर्शनं नाप्युपलभ्यते। सत्त्वेऽपि तत्र भारतीयः प्रभावः पश्चाद्दर्शयिष्यते॥

ग्रीसदेशोपलब्धप्राचीनमूर्तिषु मांसपेशीनां यथावदङ्कनदर्शनेन तत्र शारीरकज्ञानं विशेषतः पुराकालादेव आसीदित्यपि तर्कितुं न शक्यते। चित्रमूर्तिषु मांसपेशीनामङ्कनं तु भारते सुमेरियाबेब्लोनियादिप्रदेशेष्वपि पूर्वकालत उपलभ्यते। चित्रमूर्तिषु बाह्यपेश्यादीनामङ्कने सौष्ठवमसौष्ठवं च चित्रकलायां कौशलमकौशलं चाववोधयतः। आन्तरशारीरकावयवपरिज्ञानस्यापि सद्भावे चित्रकलायां गुणाधानमपि सम्भवतीत्यत्र न कस्यापि विमतिः। परं यथावच्चित्राङ्कनदर्शनमात्रेणान्तः-शारीरकावयवानामपि विशेषज्ञानं कल्पयितुं न शक्यते। शस्त्रवैद्यकोपयोगि शारीरकविज्ञानं त्वान्तरं सूक्ष्मं बहुविषयोपबृंहितं विभिन्नमेव। अद्यत्वेऽपि चित्रकलायां निष्णाता अप्यान्तरशारीरकज्ञानविनाकृताः, अन्तःशारीरकज्ञानपूर्णा अपि चित्रनिर्माणे अकृतहस्ताश्च बहुशो दृश्यन्त एव। बाह्यमान्तरं चेदं विज्ञानं पृथक्पृथक्प्रस्थानरूपमेवेति एकतो विज्ञानदर्शनं विज्ञानान्तरमप्यवगमयितुं न प्रभवति॥

यः खलु मिलाण्डरो नाम ग्रीसदेशीयः साकेतपर्यन्तं भारतमभ्येत्य पश्चाद् बौद्धधर्ममग्रहीत्, तदीयवृत्तसम्बन्धिनि मिलिन्दप्रश्ननामके बौद्धपालीग्रन्थे यवनाधिपं मिलाण्डरं प्रत्युपदेशे धन्वन्तर्यादीनामुल्लेखश्च[1] पूर्वं (पृ. ३१) प्रदर्शित

1. (a) It is not until after the death of Alexander the Great, and the institution of the Museum at Alexandria (304 B. C.), that the great anatomists, Erasistratus and Herophilus recorded their discoveries. In the time of Galen none of their works remained extant. Hellenism in Ancient India P. 192 G. N. Banerji.

(b) Whatever was the case with Hippocrates, there is no doubt of the prevalence of dissection of the human body in the Alexandrian schools of Herophilus and Erasistratos in the third Century B. C. History of Sanskrit Litrature P. 514–A. B. Keith.

2. Surgical Instruments of the Hindus. Vol. I P. 342–343 by G. N. Mukhopadhyay.

3. Medicine of Ancient India Vol. I by Hoernle.

1. 'Nārada, Dhanvantari, Aṅgiras and Kapila... ....all these teachers knowing thoroughly and of themselves and without any omission, the rise of disease and its cause and nature and progress and cure and treatment and 'management–each of

एव। बाणविद्धव्रणे मांसविकृत्यां त्रिदोषवृद्ध्या ज्वराद्युत्पत्तौ यथा व्रणं शस्त्रेणावकार्य क्षारादिभिः संशोध्य लेपेन शोथं निवर्त्य शस्त्रचिकित्सका भिषजश्चोपचरन्ति, तथा विधाने न पापम्, अपि तु लोकोपकार इति दृष्टान्तविधया व्रणोपचारे शस्त्रचालने व्रणबन्धे च तदीयाः सूक्ष्मा विशेषाः, स्थले स्थले विरेचनरोगोत्पत्तिनिदानौषधप्रयोगादीनां बहूनां वैद्यकविषयाणामुल्लेखाश्च तत्र सन्ति॥

B. C. ६०० वर्षपूर्वमपि भारतीयभैषज्यविद्याऽतीवोन्नताऽऽसीत्, शस्त्रचिकित्सनम्, अस्थ्यादिज्ञानं, शारीरककौशलं चासीदिति; भारतीयप्राचीनवैद्यकग्रन्थेऽपि शारीरकविज्ञानस्य विशेषतो विवरणं सर्वेषां विस्मयावहमुपलभ्यते इति; हिपोक्रिटसीयसम्प्रदाये शवच्छेदनविद्याया विवरणं न लभ्यते, टेरियसस्य भारते आगमनमपि लभ्यते, ग्रीसीयशारीरकविज्ञानस्य मूलं भारतीयशारीरकविज्ञानमित्येतन्न प्रत्याख्यातुं शक्यते इति चैवमादयो भारतीयवैद्यकस्य गौरवोल्लेखाः हार्नले (Hoernle) महाशयस्य बहुशो दृश्यन्ते॥

them composed his treatise in bloc........'

Questions of King Milinda T. W. Rhys Davids Vol. XXXVI.

1. Suppose, in treating a wound........an able physician and surgeon were to anoint it with a rough, sharp, bitter stinging ointment to the end that the inflammation had gone down................ suppose he were then to cut into it with a lancet and burn it with caustic. And when he had cauterised it, suppose he were to prescribe an alkaline wash, and anoint it with some drug to the end that the wound might heal up and the sick man recover his health. Now, tell me O King, 'would it be out of cruelty that the surgeon thus smeared with ointment and cut with the lancet and cauterised with the smell of caustic and administered a salty wash?'

The questions of King Milinda (translated by) T. W. Rhys Davids Vol. XXXV.

2. Considering that we have no direct evidence of the practice of human dissection in the Hippocratic school, but know of the visit, about 400 B. C., of Ktesias to India, the alternative conclusion of a dependence of Greek anatomy on that of India cannot be simply put aside. P. IV.

Probably it will come as a surprise to many, as it did to myself, to discover the amount of anatomical knowledge which is disclosed in the works of the earliest medical works of India. Its extent and accuracy are surprising, when we allow for their

एवमेव डायज (Diaz), डाक्टरहर्श्बर्ग (Dr. Hirschberg), डाक्टर हुइलेट (Dr. Huillet), डाक्टर वाइज् (Dr. Wise), विट्नी (Whitney) प्रभृतिभिर्महोदयैरपि समर्थितं वर्तते॥

प्राचीनमिश्रे भैषज्य-विज्ञानम्

प्राचीनानां ग्रीसदेशीयानामन्येषां च बहूनां विदुषां लेखानुसन्धाने ग्रीसवैद्यकस्य मूलं मिश्रीयं स्रोतः प्राधान्येनावगम्यते। ग्रीसे वैज्ञानिकवैद्यकोदयात् पूर्वमेव मिश्रे वैज्ञानिकं वैद्यकं प्रतिष्ठितमुपलभ्यते च। देशसन्निकर्षोऽपीदं सङ्गमयति। तेन मिश्रीयभैषज्यविज्ञानबीजेभ्योऽपि ग्रीसे तदीयनवाङ्कुरा उदिताः प्रतीयन्ते॥

early age – probably the sixth century before Christ—and their peculiar methods of definition.

Medicine of Ancient India—P. III. Vol. I by Hoernle.

1. Professor Diaz of the Konigsberg university clearly detects the principles of Indian medicine in the Greek system.

Dr. Hirschberg of Berlin says—'The whole plastic surgery in Europe had taken its new light when these cunning devices of Indian workmen became known to us. The transplanting of sensible skin flaps is also an entirely Indian method.' The same writer also gives credit to the Indians for discovering the art of cataract couching, 'which was entirely unknown to the Greeks, the Egyptians, or any other nation.'

He also adds in a learned paper, with regards to certain surgical operations, that, 'the Indians knew and practised ingenious operations, which always remained unknown to the Greeks, and which even we Europeans only learnt from them with surprise in the beginning of this century. Pp. 178, 193.

Dr. Huillet, late of Pondicherry, assures us that 'Vaccination was known to a physician Dhanvantari, who flourished before Hippocrates.' P. 179.

The Hindoos knew human anatomy and something of physiology. 'The Hindoo Philosophers,' says Dr. Wise, 'undoubtedly deserve the credit of having, though opposed by strong prejudice, entertained sound and philosophical views respecting uses of the dead to living; and were the first scientific and succesful cultivators of the most important and essential of all the departments of medical knowledge—practical anatomy.' P. 179.

मिश्रगतं भैषज्यविज्ञानमपि केनापि देशान्तरविज्ञानेनानुप्राणितमुत स्वस्यामेव भूमिकायां स्वबलेनैवोत्थितं प्रतिष्ठितं चेति निर्धारयितुमसाधारणानि विनिगमकानि परिच्छेत्तव्यानि भवन्ति। अशोकशिलालेखतस्तत्समये (B. C. 273–233) मिश्रेऽपि भारताद्भैषज्यसंस्थानां भेषजानां च प्रवर्तनस्य स्पष्टोपलम्भेन, भारताद्विदुषो भिषजश्च सादरं नीतवतोऽलेक्जेण्डरस्योपरममनु (B. C. 323) अलेक्जेण्ड्रियायामुदिते भैषज्यविज्ञानविशेषे भारतीयविज्ञानप्रभासम्पर्कस्य बहुशः सम्भवितया च एतत्समयतस्तु मिश्रेपि भारतीयभैषज्यविज्ञानप्रभानुवेधो वक्तव्य एव। अशोकशिलालेखेऽपि निर्दिष्टेन मिश्राधिपतिना तुरमय (Ptolemy Philadelphos) नाम्ना अलेक्जेण्ड्रियायाः प्रसिद्धपुस्तकालयस्य स्थापनमथवा वर्धनं व्यधायि, तदीयपुस्तकालयस्य कार्याध्यक्षो भारतीयानां बहूनां ग्रन्थानामनुवादे समुत्सुक आसीदिति एपीफेनिस (Epiphanius) महोदयेन वर्णितमस्तीति भाण्डारकरीये अशोकनाम्नि[1] पुस्तके दृश्यते। इरानग्रीसयोः (B. C. 479) सामयिके युद्धे प्लेटियारणस्थले ग्रीसवीरैः सह भारतीयसेनाया अपि संमर्दस्य पूर्वं (पृ. ७६) निर्दिष्टस्यानुसन्धाने[2] इरानेन सह भारतस्य घनिष्ठो मैत्रीसम्बन्धश्च आसीदिति तु स्पष्टमेव। अभियातव्यस्य ग्रीसस्य भारतेन, अभ्यायातानां भारतीयानां ग्रीसेनाप्यवश्यं विज्ञेयतया ग्रीसभारतयोः हिपोक्रिटसतः पूर्वमपि मिथः परिचयो नासीदिति न वक्तुं शक्यते। तस्मिन् युद्धे भारतीयानामिव मिश्रीयानामपि सहभावेतिवृत्तोपलम्भेन मिश्रभारतयोरपि मिथः परिचयः सम्भवति। युयुत्सया परकीयदेशं यान्त्या भारतीयसेनया सह महाभारतकौटिलीयलेखानुसारेण भारतीयैर्भिषग्भिरपि भवितव्यमेव। तदात्वे न केवलं ग्रीसेन विशेषतः सहयोगिभिर्मिश्रीयैरपि भारतीयभिषजां परिचयलाभोऽनुमीयते। परं ततः प्राक्तनं मिश्रीयं भैषज्यविज्ञानं सापेक्षं निरपेक्षं वेति निर्णयो विचारमपेक्षते॥

मिश्रगतं प्राचीनं भैषज्यविज्ञानं किमात्मकमासीदित्यनुसन्धाने एबिरस–पेपिरस (Ebers Papyrus) नाम्ना ख्यातानि त्वक्पत्राणि प्राचीनभैषज्यविज्ञानचिह्नान्युपलब्धानि। येषु काहुन–पेपिरसस्य प्रायः B. C. 1850 समयम्, एडविनस्मिथेनोपलब्धानां त्वक्पत्राणां प्रायः B. C. 1600 समयम्, एबिरस–पेपिरसस्य प्रायः B. C. उपसहस्रवर्षपूर्वं समयं सम्भावयन्ति। परमेषां समयनिर्देशे विदुषां मतभेदस्यापि दर्शनेन काल्पनिके समये न्यूनाधिकभावोऽपि सम्भवेत्। काहुन–पेपिरसपत्रे विरेचनादिविषयः, ऐडविन–स्मिथोपलब्धेषु त्वक्पत्रेषु शल्यसम्बद्धाः ४८ विषयाः, रोगपरिज्ञानं, प्रतीकारः, व्यवहारगतौषधानि, रोगचिकित्साप्रक्रिया च; एबिरस–पेपिरसपत्रे सर्पदंशनाद्यः चयान्ताः १७०, मतान्तरे ७०० रोगा निर्दिष्टाः सन्तीति च वर्णयन्ति विवेचकाः।[1] 'कतिपयानि रोगप्रतीकारव्यवस्थापत्राणि चोपलब्धानि। येषु कतिपयेषु पल्लीरुधिरं, शूकरकर्णदन्तमांसमेदांसि, कच्छपमस्तिष्कं, शयितायाः स्त्रियाः स्तन्यं, ब्रह्मचारिण्याः स्त्रिया मूत्रं, मनुष्यगर्दभश्वसिंहमार्जारयूकशुक्रमित्यादीन्यौषधानि निर्दिष्टानि दृश्यन्ते। कतिपयेषु मान्त्रिकी प्रक्रियापि निर्दिष्टाऽस्ति। प्रायस्ते मान्त्रिकप्रयोगेषु विश्वासवन्त आसन्। द्वादशवंशस्य राज्ञ्या निखातशवेन सह चषकाणि (Vases), लघुदर्व्यः (Spoons), शुष्कौषधानि, मूलानि चोपलब्धानि" इत्यपि विल्डूराण्टे[2] (Will Durant) महाशयो निरूपयति। एवमुपलम्भेन मिश्रे पुराकालेऽपि भैषज्यप्रवृत्तिरासीदिति ज्ञायते। मिश्रे भैषज्यविद्यासम्बन्धिनो लेखास्त्वक्पत्र (पेपेरी) रूपेण मन्दिरेषु[3] स्थाप्यमाना आसन्। राजकुलेऽपि मान्त्रिकभैषज्यप्रक्रिया, तस्याः प्रतिष्ठा चासीत्। मनुष्याणां देवानां चारोग्यसंपादकतया 'रा'नामकदेवताया निर्देशः एबिरस–पेपिरसपत्रे लभ्यते इत्यपि वदन्ति। भारते रविरिव तदीयो 'रा' देवः प्रतीयते॥

असीरिया बेब्लोनिययोः पूर्वं भैषज्यज्ञानम्

असीरिया–बेब्लोनियाप्रदेशेऽपि प्राचीनभैषज्यसम्बन्धिविषयोपलम्भः पूर्वं (७४) दर्शित एव। बेब्लोनियनीयप्राचीननृपस्य हेमूर्वन् (Hammurabi B. C. 100 मतान्तरेण B. C. 2500) नामकस्य सामयिकानां त्रयोदशलेखानां[4] निर्गमनवृत्तमुपलभ्यते। यत्र साधुभावेन व्रणादिचिकित्सकानां प्रदेयं पारितोषिकद्रव्यं शस्त्रचिकित्सनादौ विपर्ययकृतां दण्डनमित्यादयो विषयाः सन्तीत्युच्यते। मिथ्योपचारिणां चिकित्सकानां दण्डो मन्वादिभिरपि निर्दिष्टोऽस्ति[5]। हेमूर्वन्नृपस्य सामयिकं पूर्ण

The ophthalmic and obstetric and other operations have been practised for ages in India and 'our modern surgeons have been able to borrow from them (Hindoos) the operation of rhinoplasty.'

Whitney says: 'The medical science, although its beginning goes back even to the Veda, in the use of medicinal plants with accompanying incantations, is of little account, and its proper literature by no means ancient.'

Introduction to Whitney's Sanskrit Grammar P. XXII.

1. Asoka–by D. R. Bhandarkar P. 158.
2. (a) History of Greece Vol. V P. 20; by Grotes.
   (b) Greater India by Kalidas Nag No. 1, P. 15.

1. The Story of Civilization P. 182–83; by Will Durant.
2. The Story of Civilization P. 183; by Will Durant.
3. E. R. E. Vol. VI P. 541.
4. E. R. E. Vol. IV P. 750.
५ चिकित्सकानां सर्वेषां मिथ्याप्रचरतां दमः।
अमानुषेषु प्रथमो मानुषेषु तु मध्यमः॥ मनुस्मृतौ ९. २८४.
भिषङ् मिथ्याचरन् दण्ड्यस्तियक्षु प्रथमं दमम्।
मानुषे मध्यमं राजपुरुषेषूत्तमं दमम्॥
याज्ञवल्क्यस्मृतौ. २. २४२

वर्णनमनुपलभ्य तादात्विकी परिस्थितिर्नैतावता सम्यक् परिच्छिद्यते । तदुत्तरमसुर[1]वनिपालसमये भैषज्यविद्यायां विशेषोऽवगम्यते । येन पूर्वतः प्रवृत्तो मान्त्रिकोपचारः शैथिल्यमानीयत । परं तदात्वेऽपि मान्त्रिकी प्रक्रिया तत्रानुवर्तमानाऽऽसीत् । भैषज्यविद्यायां बेब्लोनियनीयं स्रोतो मिश्रस्य पूर्वस्रोत[2] इत्युच्यते कैश्चिद्विपश्चिद्भिः ॥

मिश्रबेब्लोनियेरानचीनेषु भारतीयशब्दादिसाम्यम्.

मिश्रबेब्लोनियाऽसीरियाचाल्डियासुमेरियादिप्राचीनदेशीयसभ्यताया अनुसन्धाने भारतीयशब्दप्रतिच्छायानां शब्दानां भारतीयविषयप्रतिबिम्बायितानां विषयाणां तेषु तेषु प्राचीनस्थानेषूपलम्भः, किं बहुना इक्ष्वाकुप्रभृतीनां भारतीयपूर्वनृपनाम्नामपि सुमेरियाप्रदेशीयनृपनामसंवादोपलम्भः समसभ्यतासम्बन्धमनुदर्शयतीति, केषुचिद्देशेषु क्वचन भैषज्यसम्बन्धिशब्दविषयविशेषादीनां बिम्बानुबिम्बभावोऽप्यस्तीति च (पृ. ७२-७६) पूर्वं निर्दिष्टमस्ति । अन्येऽप्येवंरूपा[3] दृश्यन्ते—

भारते.	मिश्रे.	भारते	बेब्लोनियायाम्.
सूर्यः(हरिः)	होरस	अहि	ई
ईश्वरः	ओसिरीस	सत्यव्रत	हसिसद्र
ईश्वरी	ईसिस्	अहिहन्	ईहन्
शिव	सेव	दहन	दगनु
शक्ति	सेखेत	चन्द्र	सिन
प्रकृति	पख्त	वायु	विन
श्वेत	सेत	मरुत्	मतु, मर्तु
मातृ	मेतेर	दिनेश	दियानिसु
सूर्यवंशी	सूरियस	मार्डिक	मर्दूक
क्षत्रिय	खेत	अप्	अप्सु
अत्रि	अत्तिस्	तमस्	त्यामत
मित्र	मिथ्र	पुरोहित	पटेसिस
शरद्	सरदी	श्रेष्ठि	सेठ
रवि	रा	तैमात	तियामत्

भारत[4] इव मिश्रे लिङ्गपूजनं वृषस्यादरः, बेब्लोनियायां पृथ्व्याः पूजा इत्यादयो बहवः समसभ्यतासम्बन्धा विज्ञायन्ते॥

इरानीयानां प्राचीनमूलग्रन्थस्य जेन्दावस्तायाश्चतुर्षु भागेष्वेकतमः वेन्दिदादनामको विभागोऽस्ति । तदीयेषु प्रकरणेषु भैषज्यसम्बन्धिनो विषयाः सन्ति । तत्र सामावंशोद्भवः थ्रितो नाम सर्वप्रथमो वैद्य आसीत्, स रोगनिवृत्तये अहुरोमज्दानामकं तदीयं देवं सम्प्रार्थ्य सोमेन सह वर्धमाना रोगनाशिनीर्दशसहस्राण्योषधीर्लेभे; वनस्पतीनां हओमः (सोमः) राजाऽऽसीत् । स थ्रितः क्षथ्रवैर्यात् सहरवराच्च रोगनिवर्तकोपायान् विज्ञाय शस्त्रचिकित्साविज्ञानं च प्राप्य ज्वरकासशिरोरोगक्षयादीन् रोगान् न्यवारयत् इत्यादीनीतिवृत्तानि, तत्तद्रोगविशेषोपचारादयः, वैद्यैरिन्द्रियौषधतन्निर्माणज्ञानवद्भिः सुशीलै रोगिप्रसादकैश्च भवितव्यमित्यादयः शिक्षाविशेषाश्च तत्र लभ्यन्त इति वर्ण्यते[1] । जेन्दावस्थायां वैदिकसाहित्ये चालोच्यमानयोः तदीयदेवतानां वैदिकदेवतानां च शब्दसाम्यं न केवलं देवताविषये, तदीयगाथानामनुवादतः संस्कृतशब्दानां बहुशस्तौल्यमस्तीत्युपवर्ण्यते । प्राचीनभारतसम्प्रदाय इवाग्न्युपासनहोमेष्ट्यादियागप्रभृतयो विषयाः सन्तीति पूर्वं (पृ. ७६) वर्णितमेव । हओमशब्दितस्य सोमस्य प्रशंसा ओषधिराजत्वं यागोपयोगश्चैवमादयस्तत्र दृश्यन्ते ॥

जेन्दभाषायां संस्कृतभाषायां च बिम्बानुबिम्बभावेनेत्थं शब्दा[2] दृश्यन्ते—

संस्कृतम्.	जेन्द.	संस्कृतम्.	जेन्द.
सरस्वती	हरह्वयती	असुर	अहुर
सप्तसिन्धु	हप्तहिन्दु	देव	दैव
सोम	हओम	विश्वेदेव	विश्योदैव
नासत्य	नाहत्य	नराशंस	नैर्योसंघ
अर्यमन्	एर्यमन	वायु	वयु
विवस्वत्	विवङ्ह्वत्	वृत्रहा	वेरेत्रघ्न
काव्यउशनस्	कवउस	दानव	दानव
अध्वर्यु	रथ्वी	इष्टि	इश्ति
आहुति	आजूइति	होता	जओता
बर्हिः	वरेश्मन्	आप्री	आफ्री
गाथा	गाथा	पशु	पशु
अथर्वन्	अथ्रवन्	अहि	अजि
यज्ञ	यस्न	अपांनपात्	अपंनपाट्

इत्यादयो बहुशः शब्दास्तद्भवतत्समादिरूपेण एकच्छायावगाहिनो दृश्यन्ते । एतद्विषये Gatha by J. M. Chatterji & Yasna by L. Mills इत्यत्र विशेषतो निरूपितमस्ति । वेदे इव अवेस्तायामपि प्रधानदेवतास्त्रयस्त्रिंशत्संख्यया गण्यन्ते । एवं दर्शनेन प्राचीनेरानस्य प्राचीनभारतस्य च सम्बन्धो मिश्रासीरियाबेब्लोनियादेशापेक्षयाऽपि घनिष्ठ आसीदिति प्रतीयते ॥

चीनदेशेऽपि प्राचीनभैषज्यविषयोपलम्भः पूर्वं (पृ. ७५)

---

1. History of Assyria by Olmstead P. 492.
2. E. R. E. Vol. VI P. 541.
3. (a) The Modern Review, June 1910 P. 530–533.
   (b) Rgvedic India by A. C. Das P. 228–233; 261–265; 178–180.
4. (a) The Modern Review–June 1910 P. 530–533.
   (b) The Edinburgh Review (See Ibid)
   (c) Phallism; London (1889), P. 54.

---

1. The Zendavesta Vol. I (S. B. E. Vol. IV) P. 225–230.
2. Essay on the Religion of the Parsis by M. Haug P. 267.

निर्दिष्ट एव । तद्देशीयस्य सर्वप्राचीनस्य भैषज्यग्रन्थस्य (B. C. 2597) समयो वर्ण्यते[1] । चीनदेशे भारतीयस्य बौद्धधर्मस्य प्रभावपातः, तद्धर्मप्रचारकाणां भारतीयानां तत्रोपगमः, भारतीयग्रन्थानामपि तत्र पूर्वकालात् प्रचारः, महाभारतादिषु भारतीयप्राचीनग्रन्थेष्वपि चीनदेशस्य चीनांशुकादेः, तन्त्रग्रन्थेषु चीनाचारस्य निर्देशः, कौटिल्यार्थशास्त्रे चीनदेशागतवस्तुषु शुल्कव्यवस्थानिर्देशश्चेत्यादीनां मिथो व्यवहारसाधनानामुपलम्भेन वैदिकसमये स देशः केन नाम्ना व्यवहृत आसीदित्यज्ञानेऽपि चीननाम्ना तद्देशस्य भारतेन, भारतस्यापि तेन परिचयो मिथो यातायातवाणिज्यादिसम्बन्धश्च पूर्वकालादेवासीदिति स्पष्टीभवति । काश्यपसंहितायामपि चीनदेशस्योल्लेखोऽस्ति ॥

भारतचीनयोरन्तरावर्त्मगते काशरनामकस्थाने वर्तमानायां प्राचीनकूचभाषायामपि भारतीयौषधवाचकशब्दविशेषाणां तत्समतद्भवादिरूपेणोपलम्भः पूर्वं (पृ. ७५) दर्शित एव ॥

प्राचीन-भारतस्य देशान्तर-सम्बन्धः

उपदर्शितदिशा असीरिया-बेब्लोनिया-मेसोपोटामिया-मिश्रादिप्राचीनोन्नतदेशेषु शाखोपशाखारूपासु प्राचीनपाश्चात्यजातिषु च, किं बहुना अमेरिकागतरेडइण्डियनचीनादिसुदूरपर्यन्तमपि अद्ययावदुपलब्धभारतीयग्रन्थभूगर्भोपलब्धविषयाचारव्यवहारादीनामायुर्वेदीयभैषज्यविद्यायाश्च तत्र तत्र न्यूनाधिकरूपेण तुलना परिदृश्यते । आथर्वणे यथा भूतादिवादप्रक्रियया मान्त्रिकप्रक्रियया च संवलितं भैषज्यं, प्राय एवं प्रकार एव भैषज्यसम्प्रदायः प्राचीनेषु प्रायः सर्वेषु देशेषु, प्रायः सर्वासु प्राचीनजातिषु च पूर्वोक्तदिशा विवेचकैरुपवर्ण्यते । नह्येवं विप्रकृष्टप्रदेशेषु बहुशोऽसाधारणाः संवादाः काकतालीयन्यायेन स्वतः समुद्भवितुं युज्यन्ते । ईदृशी प्राचीनभारतस्य प्राचीनदेशान्तराणां च बहुशोंऽशेषु समानविषयता साक्षात् परम्परया वा मिथः परिचयं सम्पर्कं व्यवहारं चैकान्ततोऽवगमयति ॥

प्राचीनभारतस्य पुराकालादेव देशान्तरैः सह सम्बन्ध आसीदिति अनेकैर्विद्वद्भिरुल्लिखितं चास्ति[2] । मिश्रदेशे तत्सन्निकृष्टस्थानान्तरेष्वपि भारतस्य वाणिज्यसम्बन्ध आसीदिति तदात्वे (A. D. 100) मिश्रदेशस्तेन परिप्लसनाम्नाऽप्युल्लिखितमस्ति[3] ॥

सर विलियम जोन्स (Sir William Jones), मेजरविल्फोर्ड (Major Wilford), लुइस् ज्याकोलिओट् (Louis Jacolliot) प्रभृतिभिरपि सभ्यताकलास्मृतिज्ञानानि भारतादेव मिश्रदेशेऽपि गतानीति प्रतिपादितं वर्तते[1] ॥

'भारतीयभैषज्यविद्यायाः प्रभावो ग्रीसवैद्यके पतित इति अर्धेन मनसा पाश्चात्या लोका मन्यन्ते । मिश्रपर्सियाऽरेबियाद्वारा भारतीयं भैषज्यविज्ञानं ग्रीसे उपगतं, मिश्रपर्सियाऽरेबियादेशैरपि भारताल्लब्धम्' इति स्वमतमनुदर्शयन् जे. जे. मोदीमहाशयः[2] 'सर्वदेशीयानां भैषज्यपद्धतीनां मूलमेकमेव, पाथागोरसेन हिपोक्रिटसपूर्वजैर्वा ग्रीसदेशे यद्भैषज्यविज्ञानं प्रथमतो गृहीतं तदपि मिश्रदेशीयानामृषीणां साहाय्येन प्राप्तं,

---

1. The Surgical Instruments of the Hindus-
Vol. I, P. 341;
by G. N. Mukhopadhyay.

2. (a) History of Indian Shipping and Maritime activity from the earliest times—R. K. Mukarji.

(b) Intercourse between Indian and the Western World—H. G. Rawlison.

(c) Lassen's History of Indian Commerce.

3. The Periplus of the Erythraean Sea—P. 3.

1. Sir William Jones, in the report of the Royal Asiatic Society is led to believe that Egypt must have been in remote ages colonised by the Indian Aryans, and writers like Major Wilford consider the 'Mishrasthana' of the Purans to be no other than 'Mishra,' the ancient name of Egypt. There is, on the other hand, no record of the Egyptians having ever migrated into India. Such circumstancial evidence has led some European writers—Louis Jacolliot among others—to affirm that if Egypt gave civilization to Greece and the latter bequeathed it to Rome, Egypt herself received her laws, arts and sciences from India. There is nothing in the Egyptian medicine which is not in the Indian system, and there is much in the elaborate Indian system that is wanting in the medical science of Egypt.

Short History of Aryan Medical Science
Pp. 194-195.

2. It seems a half-hearted admission of the influence of the Indian Medicine on the Greek Medicine, and in making this admission ....but he seems to forget India's indirect influece on Greek Medicine exerted through Egypt, Persia and Arabia. Now it has been proved that Greek Medicine to a considerable extent owed its knowledge to these countries;.........owe their medical knowledge to India. Referring India's indirect influence on Greek medicine practised by Hippocrates & Pythagoras... ......western midicine, Dr. Wise in his book 'Hindu System of Medicine' says: 'All these midical systems have a common source............The Greecian philosophers were assisted by the Egyptian sages who appear to have obtained much of their knowledge from some mysterious nation of the East.'

Fourth Indian Oriental Conference Vol. II P. 426.

मिश्रीयैरपि रहस्यपूर्णात् पूर्वदेशादधिगतम्' इति वाङ्‌जमहोदयस्य मतमुपवर्णयति। यूरोपीयप्राचीनराष्ट्रेषून्नतेः प्रागेव भारतेन ज्यौतिषगणितविज्ञानभैषज्यादिविद्यासून्नतिर्व्यधायि; सभ्यताया ज्ञानस्य च तत्त्वानामुद्गमः पूर्वदेशे बभूव; तत एव पश्चिमदिशि तेषां प्रतिसंक्रमणमभूत्, न तु पश्चिमतः पूर्वदेशे इति मोनियर विलियम्स (M. Monier Williams) महाशयोऽपि निरूपयति[1]॥

पूर्वसमये सिन्धोः पारेगतान् देशानप्यन्तर्निधाय तादात्विककेन्द्रभूतात् तक्षशिलाशरावतीपरिसरप्रदेशात् प्राच्यामासामदेशमवाच्यां चोलादिदेशान् यावदेकात्मतयाऽतिबहोः कालात् प्रतिष्ठितस्य प्राचीनभारतस्य[2] प्रतीच्यां प्रतिवेशिस्थानीयानां मिश्रादिदेशानां मिथो यातायातसम्पर्कपरिचयादिसिद्धये कियती दूरता व्याघातिका वक्तुं शक्येत॥

वैदिक्यामप्यवस्थायां भुज्युप्रभृतीनां द्वीपान्तरगमनमनुदुह्युतुर्वसूनां पित्रा निष्कासितानां द्वीपान्तरोपगमेन वंशान्तरप्रवर्तनं, पाण्डवैर्दूरदूरदेशानामपि विजयश्चैवमादीनामुपलम्भेन भारतीयानां द्वीपान्तरयातायातादिकमवगम्यते इति पूर्वं (पृ. ७४) विवृतमेव। ऋग्वेदादिष्वपि सामुद्रिकनावामुल्लेखः, प्राचीनग्रन्थेष्वपि सामुद्रिकवणिजां शुल्कव्यवस्था चोपलभ्यते। वेदे 'पणि'नाम्ना देशान्तरेषु यायिनां श्रेणीरूपाणां वणिजां निर्देशो दृश्यते। एतादृशैरेव वणिग्जनैः पश्चिमेशियाग्रीसमिश्रसेमेटिकप्रदेशेषु प्रभावः पातित[3] इति ए. सी. दासमहाशयोऽप्युल्लिखति। महाजनकशङ्खजातकयोरपि भारतीयवणिजां सिंहलबेब्लोनियासौवर्णभूमिप्रदेशेषु गमनमुल्लिखितमस्ति। कालिदासकविनाऽपि रघुमुपलक्ष्य पारसीकपर्यन्तमपि[5] स्थलपथेनाभियाने दृष्टिः प्रदत्ता वर्तते। पश्चादपि चीनदेशात् खोतानघाटीद्वारा स्थलपथेन भारतमुपेतस्य फाहियानस्य सिलोनप्रदेशान्नौमार्गेण स्वं चीनदेशं प्रति निवर्तनस्य, ग्रीसदेशे रोमदेशे च नौद्वारैव सौकर्येण सम्भविनो भारतीयहस्तिसिंहादिनयनवृत्तस्य, पश्चिमदिश्यपि भारतात् झटिति प्रतिनिवर्तमानस्य यवनेशितुरलेक्जेण्डरस्य महत्यै सेनायै पर्याप्तानां नावामुपस्थितेरनुसन्धानेन, मिश्रमेसोपोटामियादिषु जलतटस्थपथादपि जलपथस्यानुकूल्येन च भारतस्य पाश्चात्यदेशैः सह पुराकालान्मिथो यातायातपरिचयसम्पर्कादिका व्यवहतिर्न कथमपि व्याहन्यते[4]॥

भारतीयायुर्वेदविज्ञानस्रोतसो मूलोद्गममनुसन्धातुं दृष्टिमुन्नम्यालोचने—उपलभ्यमानायुर्वेदग्रन्थाचार्यतया ज्ञायमानानां धन्वन्तरिदिवोदासकाश्यपात्रेयाग्निवेशभेडसुश्रुतादीनामपि नार्वाचीनः समयः।

धन्वन्तर्यादीनां पौर्वकालिकता

धन्वन्तरेर्महाभारते, हरिवंशे, पुराणान्तरेषु (पृ. २९), मिलिन्दपह्नोपालीग्रन्थे (पृ. ३१), अयोघरजातके (पृ. ३१), चोल्लेखेन; भीमसेनपुत्रस्य दिवोदासस्य हरिवंशे, महाभारते, काठकसंहितायां, प्रतर्दनपितृत्वेन दिवोदासस्य कौषीतकिब्राह्मणे, कौषीतक्युपनिषदि (पृ. २९), कातीयऋक्सर्वानुक्रमे, (पृ. ३०) महाभाष्ये च निर्देशेन; दिवोदासप्रतिष्ठापितत्वेन निर्दिष्टाया वाराणस्या महावग्गादावप्युल्लेखदर्शनेन (पृ. २९-३०), मारीचकाश्यपस्य महाभारते, ऋक्सर्वानुक्रमे, बृहद्देवतायाम् (पृ. १७) अथर्वसर्वानुक्रमे च निर्देशेन; भेडनिर्दिष्टस्य गान्धारस्य नग्नजितः ऐतरेयशतपथब्राह्मणयोः (पृ. ५१) निर्देशेन; भेडस्य आत्रेयान्तेवासितया गान्धारनग्नजित्साहित्येन च निर्देशेन; आत्रेयस्य मारीचकश्यपेन, सवाक्योद्धारमाचार्यतया भेडेन, कृष्णात्रेयनाम्ना च महाभारते निर्देशेन; भारद्वाजस्यापि महाभारते निर्देशेन च भारद्वाजधन्वन्तरिदिवोदासात्रेयमारीचिकाश्यपनग्नजिद्वारुवाहवार्योविदानां सन्निकृष्टकालिकेन मिथः सम्बन्धेन एते उपनिषत्कालिका आचार्या इति तत्र तत्र पूर्वमुपदर्शितमस्ति। उपनिषत्कालविचारे पाश्चात्यविद्वन्मतानां पूर्वं (पृ. ३०) प्रदर्शितत्वेऽपि कौषीतक्यैतरेययोः B. C. 2500 इति चिन्तामणिविनायकमहाशयेन, ज्यौतिषगणनानुसारेण B. C. 1850–2900 इति दीक्षितमहाशयेन समर्थितमस्ति। पालीलेखतो महावग्गलेखतः सिंहलब्रह्मदेशीयोपकथातास्तिब्बतीयमूललेखतोऽपि जीवकगुरुरात्रेय एवेति साधने प्रमाणानुपलम्भेन, आत्रेयस्य तक्षशिलोत्थानादुत्तरभवत्वे पाञ्चालगङ्गाद्वारपरिसरप्रदेशेषु बम्भ्रम्योपदिशता तेन विद्यापीठभावेन प्रसिद्धायास्तक्षशिलाया अवश्यमुपादेयत्वेन प्रत्युत तन्नाम्नोऽप्यनुपादानेन, मारीचकश्यपेन गृह्यमाणनामतया च आत्रेयपुनर्वसोरनर्वाचीनत्वस्यावधारणेनापि तिब्बतीयोपकथामादाय जीवकगुरोरात्रेयो बुद्धसमकालिक इत्याशङ्का नावतिष्ठते। जीवकगुरोरात्रेयत्वाभ्युपगमेऽपि गोत्रनाम्ना व्यवहृतोऽन्य एव कोऽप्यात्रेयः स्यात्, न त्वात्रेयपुनर्वसुरिति च पूर्वं (पृ. ४०-४२-७९) निर्दिष्टमेव। जे. जे. मोदीमहाशयः सुश्रुतस्य[1]

1. (a) More than this the Hindus had made considerable advances in astronomy, algebra, arithmetic, botany and medicine, not to mention their superiority in grammar, long before some of these sciences were cultivated by the most ancient nations of Europe.

Vide-Sans. Eng. Dictionary, M. Monier Williams P. XXI.

(b) Is not the case that the earliest elements of Civilization and enlightenment have always originated in the East, and spread from the East to the West—not from the West to the East.

Ibid P. XXIII.

२. लोकोऽयं भारतं वर्षं शरावत्यास्तु योऽवधेः।
देशः प्राग्दक्षिणः प्राच्य उदीच्यः पश्चिमोत्तरः॥

3. Rgvedic India by A. C. Das P. 198–208.

4. Intercourse between India and the Western World by H. G. Rawlinson P. 5.

५ पारसीकांस्ततो जेतुं प्रतस्थे स्थलवर्त्मना॥ रघुवंशे ४ सर्गे।

1 Writing about practical anatomy, i. e., dissection, Suśruta, that famous Indian surgeon,

B. C. 1500 समयं, डोरोथिया च्यापलिनमहाशयो[1] हिपोक्रिटससमयात् 1200 वर्षपूर्वं धन्वन्तरिसमयं वर्णयति । श्रीयुताक्षयकुमारमजूमदारमहाशयः जनकस्य विदेहराजस्य B. C. 2500, अगस्त्यस्य B. C. 2200, जाबालस्य B. C. 2000, जाजलेः B. C. 1900, पैलस्य B. C. 1800, कवथस्य B. C. 1800, धन्वन्तरेः B. C. 1600, भैमरथेर्दिवोदासस्य B. C. 1500, चरकसुश्रुतसंहितयोः B. C. 1400, 1500 समयं निर्दिशति[2] । 'भारते भैषज्यविद्याऽपि बहोः पूर्वसमयादेवोन्नताऽऽसीत्' इति F. E. Keay.[3] महाशयोऽपि ब्रवीति; 'धर्म-दर्शन-विज्ञान-कला-सङ्गीत-भैषज्यविद्यासु B. C. 1500 तः B. C. 500 पर्यन्तं भारतस्य तुलनां स्पर्धां च कर्तुं योग्यं किमपि राष्ट्रान्तरं नासीत्' J. C. इति चटर्जीमहाशयोऽपि[4] निरूपयति ॥

प्राचीनत्वेनावधारितेषु धन्वन्तर्यात्रेयकाश्यपादिमूलग्रन्थेषु मिश्रीयहिपोक्रिटसीयादिलेखेष्विव पश्चात्संस्करणवशेन केषाञ्चिदर्वाचीनत्वेन शङ्क्यमानानामंशानां प्रवेशाभ्युपगमेऽपि, जीर्णोद्धारप्रक्रियया नूतनशिल्पसङ्कीर्णानां प्राचीनमन्दिरभवनादीनां यथा सर्वांशतो नूतनत्वं वक्तुं न शक्यते तथैवात्रापि मौलिकं प्राचीनत्वं न कथमपि व्याहन्यते इत्येष विषयः पूर्वं (पृ. ६०-६१) विवृत एव ॥

सुमेरियन्मिश्रादिप्रदेशानां पुरा काले तथोन्नतसभ्यताया उपलम्भे तत्सहयोगि भारतं तदात्वे मोहनिद्रया सुषुप्तं स्यादिति न खलु सम्भावयितुं शक्यते । पूर्वतने मिश्रदेशभूगर्भासादिते शवशरीरे कपालभेदसन्धानाङ्क उपलब्धः, योऽद्यत्वेऽतिनिष्णातैरपि शल्यविद्भिः समुचितः समर्थ्यते । मिश्रदेशे विक्रमाब्दारम्भात् सार्धद्विशतवर्षपूर्वं (B. C. 301) शल्यविद्याया उन्नत्यवस्था, ततः शतद्वयवर्षानन्तु तदनुविधानेन ग्रीसदेशेऽपि शल्यविद्योदय इतीतिहासविदामुल्लेखोऽस्ति । सौश्रुते शल्यविज्ञाने देशान्तरीयशल्यविद्यायाश्छायानुपलम्भेन समयविचारे अन्ततो गत्वाऽपि सुश्रुतस्य २६०० वर्षेभ्योऽर्वाचीनताया वक्तुमशक्यतया बहुशः पाश्चात्त्यविद्वद्भिरपि तथैव निष्कृष्टमतोपवर्णनेन च देशान्तरीयेभ्यः प्रागेव सुश्रुतसमये भारतीया शल्यविद्या प्रौढावस्थामुपगता ज्ञायते । काश्यपसंहितायामात्रेयसंहितायामपि शल्यविद्याविषयोल्लेखेन ततः पूर्वमपि तत्प्रचार आसीदित्यवगम्यते । महावग्गीये जीवकेतिहासेऽपि कपालभेदनान्त्रवेधनादीनां शल्यप्रस्थानीयानां प्रस्थानान्तरीयाणां च भैषज्यानां भारते विशेषकौशलमीच्यते । ततः प्रागपि रामायणमहाभारतादियुद्धेषु यदैव जनानां मिथः संमर्दे बाणादीनां शल्यानि शरीरेष्वन्तर्मग्नानि निष्कासनीयान्यभूवंस्तदाऽपि तदुद्धरणविद्याया विज्ञेयतया शल्योद्धरणविधानाम्ना शल्यविद्या स्वस्याः सत्त्वमवबोधयति । किमेतावदेव, आयुर्वेदीयप्रवाहस्य पूर्वपूर्वोद्गमालोचने अथर्वऋगादिष्वपि पूर्वोपदर्शितदिशा भग्नसन्धानादयः शल्यविषया उपलभ्यन्ते ॥

भारतीय-स्रोतसो देशकाल-व्याप्तिः

उपलभ्यमानग्रन्था धन्वन्तर्यात्रेयकश्यपभेडादय एव नास्मिन्नायुर्वेदप्रस्थाने मूलाचार्याः, पश्चात्प्रसिद्धैः संहिताकर्तृभिः कश्यपात्रेयसुश्रुतादिभिरेकैकप्रस्थानाचार्यपीठमधिष्ठितैः कति पूर्वाचार्या नाम्ना निर्दिष्टाः, कति तु विनैव नामनिर्देशमपरे परे इत्यादिशब्दैरेव सूचिताः । ततः पूर्वतमाः भारद्वाजाश्विनादयोऽपि संहिताकर्तृतया ज्ञायन्ते । आश्विनादिसंहितासु कालबलेनाद्यत्वे दर्शनपथमप्राप्तास्वपि तदीयविषयवचनोद्धारादयः ताडपत्रीयज्वरसमुच्चयादिप्राचीनवैद्यकग्रन्थेषूपलभ्यन्ते । आयुर्वेदग्रन्थेभ्योऽश्वीन्द्रभरद्वाजादीनां परमाचार्यभावस्तत्परम्परयाऽस्य सम्प्रदायस्य प्रसरणं च विज्ञायते । अश्वीन्द्रादीनां भिषग्भावो वेदेऽप्युपवर्ण्यते । सेयं सम्प्रदायपरम्परा भारतीयं स्रोतः समुन्नमयति । एवमायुर्वेदीयः प्रवाहः पूर्वपूर्वतोऽनुसन्धीयमानो वैदिकात् समयादात्मनः उदयं समृद्धिं चावबोधयति । तस्मात् प्राचीनतरसमयादेव वैदिकविज्ञानमहाशैलादुद्गच्छदायुर्वेदीयं स्रोतस्तत्तदाचार्यविचारधारोपबृंहितं बहून् समयान् बहून् देशांश्चाभिव्याप । भारतीयमिदं स्रोतो वंशाङ्कुर इव केवलमुपर्युपरिभावेन वर्तमानं नासीत्, अपि तु नानाप्रदेशीयानां बहूनामाचार्याणामनुसन्धानेऽपि समन्ततोऽपि प्रसृतमासीदिति प्रतीयते ॥

काङ्कायनस्य सुश्रुतसतीर्थ्यभावो डल्लणेन प्रदर्शितोऽस्ति । काङ्कायनो हि 'बाह्लीकभिषक्, बाह्लीकभिषजां वरः' इति आत्रेयेण बाह्लीकदेशीयभिषगुत्तमत्वेन निर्दिष्टो दृश्यते । मारीचकश्यपेनापि एतन्मतं सनामग्राहं निर्दिष्टमस्ति । तेनायमपि तादात्विकैर्विज्ञातो बाह्लदेशीयः प्राचीनतमो दृश्यते ।

---

and father of Indian surgery, who flourished in about 15th century B. C., has said.........

F. I. O. C. Vol. II P. 415-16.

1. Dhanvantari, the founder of Hindu Medical science, declared, about a dozen centuries before Hippocrates, that 'Health is positive-disease is negative,' and how to turn the negative into positive was the Problem he set himself to solve.

Some Aspects of Hindu Medical Treatment P. 11; by Dorothea Chaplin.

2. The Hindu History by Akshyakumar Mazumdar P. 474-76, 791.

3. Medicine also received an early development in India as well as law.

Ancient Indian Education P. 42; by F. E. Keay.

4. In fact between the years 1500 and 500 B. C., the people of India were so far advanced in religion, metaphysics, philosophy, science, art, music; and medicine, that on other nation could stand as their rival, or compete with them in any of these branches of knowledge.

J. C. Chatterji. The Wisdom of the Hindus ed. by Brian Brown, P. XXV.

बाह्लीकभिषग्जनेषु मुख्यत्वेन ज्ञातस्यास्य काङ्कायनस्य दिवोदासशिष्यभावेऽवगम्यमाने भारतीयभैषज्यविद्याया न केवलं भारते, अपितु बहिरपि आदर्शभावेन प्रसरणं, भारतस्य तत्तत्प्रदेशेभ्य इव बाह्यप्रदेशेभ्योऽप्येतदधिगमाय जिज्ञासूनामन्तेवासिभावेनोपगमश्च प्रतीयते। तस्य दिवोदासशिष्यत्वाभावेऽपि तदीयमतस्य भारतीयैः पूर्वाचार्यैरपि निर्दिष्टतया मिथः परिचयः स्पष्टीभवति॥

न केवलं काङ्कायनः, औपधेनववैतरणौरभ्रपौष्कलावतकरवीर्यगोपुररक्षितभोजादयोऽपि दिवोदासान्तेवासिन आसन्निति सुश्रुतलेखतो ज्ञायते। अयोघरनाम्नि पालीजातके बुद्धस्य पूर्वजन्मावदानोल्लेखे अतीतवैद्याचार्यत्वेन धन्वन्तरिणा सह सुश्रुतसतीर्थ्ययोर्भोजवैतरणयोः पूर्वं (पृ ३१) निर्दिष्टोऽप्युल्लेखः पूर्वकालसम्बन्धमेव प्रत्याययति। एवं दर्शनेन औपधेनवादयस्ते आचार्याः पौर्वकालिकाः, नामाद्यनुसन्धानेन नानादेशीयाश्चावबुध्यन्ते॥

पौष्कलावतकरवीर्यौरभ्राद्याचार्येषु वितर्कः

पूर्वेषामभिधानानि पितुर्मातुराचार्यस्य गोत्रस्य देशस्य असाधारणगुणविशेषस्य वा सम्बन्धमुपादाय व्यवहृतानि प्रायशो दृश्यन्ते। तेन प्राचीनव्यक्तिविशेषाणां नाम्नो दर्शने देशव्यक्तिविशेषादिकं किन्नाम मूलमुपादायेत्थं व्यवहृतमिति जिज्ञासा निर्वक्तुं नयने उन्मीलयति।

एतन्न्यायेन साधितशब्दात्मकाः पौष्कलावतादयो नामविशेषा अपि कञ्चन देशविशेषं व्यक्तिविशेषं वा मूलसम्बन्धितयोपादाय 'तत्र जातः, तत्र भवः' इत्याद्यर्थविशेषप्रत्ययेन निष्पन्ना भवेयुः॥

तत्र पुष्कलावतो नाम न कोऽपि व्यक्तिविशेषो भारतीयेतिवृत्ते लभ्यते। किन्तु प्रदेशविशेषबोधकतया स शब्दो लभ्यते। पौष्कलावतो नाम 'पुष्कलावतदेशे भव' इत्यर्थमादाय देशनाम्ना तथा व्यवहृतः प्रतिभाति। पौष्कलावतो नाम भरतपुत्रेण पुष्कलेन निवेशित इति विष्णुपुराणे[1]ऽस्ति। वाल्मीकिरामायणे[2]ऽप्येतदुल्लेखोऽस्ति। आसन्दीवत्पस्त्यावच्छर्यणावदित्यादिभिर्वैदहृष्टस्थाननामभिर्महाभारतोक्तवारणावतनाम्ना च सह सारूप्यं वहदिदं पौष्कलावतनाम स्वरूपेणापि भारतपश्चिमविभागीयप्राचीनदेशं प्रत्याययति। एतन्नाम्नी गान्धारराजस्य प्राचीना राजधानी चासीत्। अलेक्जेण्डरागमनसमयेऽपीयं नगरी गान्धारे प्राधान्येनासीत्। एरियन्-ष्ट्रेवो-टालेमीप्रभृतिभिर्बहुभिः प्राचीनग्रीसविद्वद्भिः सिन्धोर्नातिदूरे महानगरतया अस्या[3] उल्लेखेन ग्रीकजनैरपि विशेषतः परिचिता कीर्तिता चेयमासीत्। तत्प्रदेशीय एवायमाचार्यः पौष्कलावतः सम्भाव्यते। सुश्रुतेन शल्यप्रधान[1]तन्त्रकर्तृतया सविशेषं निर्दिष्टोऽयं शस्त्रवैद्यके गान्धारप्रदेशस्यापि पुरा प्रतिष्ठामवबोधयति॥

करवीर्यशब्दः 'करवीरप्रदेशे भव' इत्यर्थमवबोधयन्निव भाति। करवीरपुरं[2] दृषद्वत्यास्तटे आसीदित्युपलभ्यते। कालिकापुराणेऽप्यस्य करवीरपुरस्योल्लेखोऽस्ति। दृषद्वती वेदेऽपि प्रसिद्धा। करवीरपुरोद्भवत्वेन तस्य तथाऽभिहितत्वे तत्प्रदेशीयत्वमप्यस्याचार्यस्य सम्भवति। किंवा शस्त्रचिकित्साविद्वत्तया करगतं तत्कौशलरूपं वीर्यं वहन्नाचार्यविशेषोऽनेन नाम्ना प्रसिद्धोऽपि सम्भवति॥

किञ्च—इरानदेशीयप्राचीनावेस्ताग्रन्थाभ्यन्तरे वेन्दिदाद्नाम्नि भैषज्यप्रकरणे तदीयशल्यचिकित्साविज्ञानस्य मूलाचार्यः त्थ्रवैर्यनाम्ना कीर्तितोऽस्ति। अद्यत्वे व्यवह्रियमाणस्य वेन्दिदादशब्दस्य प्राचीनं स्वरूपं विदैवोदात[3] इत्युच्यते। वैदिकसम्प्रदाये समीचीनभावावबोधकेषु सुरदेवादिशब्देषु तेषामसदर्थावभासेन किल सदर्थपर्यवसानाय असुरविदेवादिरूपेण प्रयोगस्य दर्शनेन तन्न्यायेन दैवोदातशब्देऽपि 'दिव'-शब्देन सह 'वि'-शब्दस्य सम्पर्केण भैषज्यविद्यायुतविभागबोधको विदैवोदातशब्दः अपभ्रंशभावेन दैवोदाससम्प्रदायमभिप्रैति किमु इति तर्कनाऽप्युदेति। अहुरमज्दात ओषधीन् त्थ्रवैर्यात् सोहरवराच्च कायचिकित्साशस्त्रचिकित्साविज्ञाने च थ्रितोऽवाप्तवानिति, तत्र शस्त्रविज्ञानस्याद्य उद्भावकः त्थ्र[4]वैर्य इति चोल्लिख्यते। थ्रितस्याप्याचार्यभावेन निर्दिष्टौ त्थ्रवैर्यः सोहरवरश्च कौ? इत्यनुसन्धातुं युज्येते। विदैवोदातशब्दे दैवोदासशब्दस्य प्रतिभानेन तत्साहचर्येण चिकित्साविज्ञानाचार्यविशेषे सोहरवरे सुश्रुतस्य, शल्यचिकित्साविज्ञानवोद्भावके त्थ्रवैर्ये दिवोदासशिष्यस्य शल्यप्रस्थानाचार्यस्य सुश्रुतसतीर्थ्यस्य करवीर्यस्य शब्दतः कार्यतश्च सन्निकर्षेण काचन आभा उदेति। भारतीयपूर्वाचार्यकृतो निर्देशो बाह्लीकभिषजः काङ्कायनस्य भारतेन परिचयमिव, वेन्दिदादनिर्देशो भारतीयाचार्याणां दिवोदाससुश्रुतकरवीर्याणामिरानेन परिचयमभिव्यञ्जयति किमु? । अवेस्तायां भारतीयशब्दविषयादीनां साम्यं पूर्वमुक्तमेव। तद्गतभैषज्यानुसन्धानेऽपि—

---

1. Visṇu Purāṇa (Bk. IV. Ch. 4) trans.
   by H. H. Wilson Vol. III, P. 319.
2. Rāmāyaṇa-uttara, Chs. 101, 114, Lassen-
   J. A. S. B. 1840, P. 476.
3. Penkalaitis (Pukkalaoli-Pali; Puṣkalavati Skt.) which is also of great size and not far from the Indus.
   M'crindle's-Megasthenes & Arrian P. 184.

१. औपधेनवमौरभ्रं सौश्रुतं पौष्कलावतम्।
शेषाणां शल्यतन्त्राणां मूलान्येतानि निर्दिशेत्॥
सुश्रुते. सू. स्था. अ. ४

2. Sanskrit-Wortlbuch Vol. I, P. 112;
   by O. Bōhtlingk & R. Roth.
3. (a) Essays on the Religion of the Parsis
   by M. Hang P. 268.
   (b) Zendavesta Part I (S. B. E. Vol. IV)
   P. LXX by J. Darmesteter.
4. Zendavesta Part I (S. B. E. Vol. IV)
   P. 226-27, J. Darmesteter.

अथर्ववेदे	अवेस्तायाम्	अर्थः
तक्मन्	तफ्नु	ज्वरः
अप्वा	अजह्व	अपवाहः
पामा (सुश्रुतेऽपि)	पामन्	चर्मरोगः
शीर्षक्तिः	सारस्त्य	शिरोरोगः
सारणः	सारन[1]	

एवं कुरुघ (दुष्टव्रण), दुरुक् (अश्मरी), अघोस्ति (शीर्णास्थि), दझु (ज्व)र इत्यादिशब्देष्वपि कुरुक्, दृषत्,...ऽस्थि, दाह इत्यादिसंस्कृतशब्दापभ्रंशता प्रतीयते। अन्येष्वपि शब्देष्वनुसन्धाने बहुशः साम्यं प्रतिच्छाया वोपलक्ष्येत। अवेस्तायां मानसं शारीरकं चेति द्विधा स्वास्थ्यं वर्ण्यते[2]। सुश्रुतेऽपि 'पुनश्च द्विविधाः शारीरा मानसाश्च' (सू. स्था. अ. २४) इति द्वैविध्योल्लेखोऽस्ति। अवेस्तायां मन्थ (मन्त्र), उर्वर (उर्वीरुह), केरेत (कर्तिका, कर्तरी, करपत्रं वा) इति मन्त्रवनस्पत्योषधिशस्त्ररूपास्त्रयो रोगनिवर्तनोपायाः[3] कीर्तिताः सन्ति। भारतीये भैषज्यसम्प्रदायेऽपि मन्त्रौषधशस्त्ररूपास्त्रिधा प्रतीकारोपायाः पूर्वानुवृत्ता दृश्यन्ते। अवेस्तायां 'गौकिरेन[4], इति, यस्य पश्चाद्भवभाषायां 'गोकार्त' इति रूपं जातम्, तस्य सर्वप्रधानौषधिवृक्षभावेन निर्देशोऽस्ति। यः शब्दो 'गोकर्ण' इति अश्वगन्धावाचकस्य संस्कृतशब्दस्य विकृतिरिव भाति। अश्वगन्धाया आयुर्वेदेऽपि प्राशस्त्यं कीर्त्यते। सोमस्य यज्ञसम्बन्धितया ओषधिभावेन चोभयथाऽप्युपयोग उभयत्र दृश्यते। अवेस्तायां भैषज्यविज्ञानं, वैद्यः, रोगः, रोगनिवृत्त्युपाय इति भैषज्यस्य चत्वारः पादाः कीर्तिताः सन्ति[5]। आयुर्वेदीयसम्प्रदायेऽपि भैषज्यविज्ञानं, वैद्यः, रोगः, परिचारक इति क्वचन अंशे गणनीयांशविभेदेऽपि धन्वन्तरिकश्यपात्रेयभेडादिभिश्चतुष्पादसिद्धान्त उपवर्णितोऽस्ति। थ्रितेन अहुरोमज्दातो विषप्रतीकाराय 'विसचित्तं,' शल्यचिकित्सार्थं सौवर्णाग्रच्छुरिका च लब्धे इत्युपवर्ण्यते[1]। विसचित्तमिति शब्दे 'विषचिकित्सा विषकृत्यं वा' अस्य शब्दस्य छायेव प्रतिभाति। भारतीये सम्प्रदायेऽपि कर्णवेधे सौवर्णसूच्याः, चूडाक्षुरकर्मणि सुवर्णसम्पृक्तक्षुरस्य उपादेयत्वं लभ्यते। सुश्रुते शल्यचिकित्साशस्त्रोपवर्णने 'तानि (शस्त्राणि) प्रायशो लौहानि भवन्ति' इत्युक्तमस्ति। यस्य व्याख्यायां 'लोहाः पञ्च सुवर्णादयः' इति सुवर्णप्रमुखभावेन निर्देशोऽस्ति। एवं दर्शनेन तदीयप्रथमवैद्यस्य त्रितस्याऽप्याचार्यभावेन निर्दिष्टस्यावबोधके क्षथ्रवैर्यशब्दे करवीर्य-चैत्रवीर्य-क्षतवीर्येत्यादिभारतीयसंस्कृतच्छायाया दृश्यमानतया भारतीयसम्प्रदाये ज्ञायमानः करवीर्योऽन्यो वाऽज्ञायमानः कश्चन भारतीयो भिषगाचार्य इव स प्रतिभाति॥

तुङ्हाङ्गतहार्नलोपलब्धप्राचीनलेखे जीवकाय बुद्धेन कृते भैषज्योपदेशे पूर्वं (पृ. २८) निर्दिष्टे संस्कृतेन सह प्राचीनेरानभाषानुवादस्याप्युपलम्भो भारतीयभैषज्यविषयस्य प्राचीनेराने ग्रहणमादरं स्वभाषायामनूद्यापि प्रचारं च दर्शयति॥

अवेस्तायां भैषज्यप्रस्थानोद्भावकत्वेन थ्रितस्य, रोगनिवृत्तेः प्रार्थनाकर्तृतया थ्रैतानस्य निर्देशेन, वेदेऽपि त्रितस्य त्रैतनस्य चोपलम्भेन वेदे अवेस्तायां च निर्दिष्टाविमौ शब्दसामीप्यादेकौ स्यातामिति बहूनां विदुषां दृष्टिरस्ति[2]। ऋग्वेदे त्रैतनस्य सकृदुल्लेखेऽपि जिघांसया दीर्घतमऋषिं जलाग्न्योः पातयतस्तदङ्गच्छेदकस्य दासजातीयस्य भावेन[3] निर्देशदर्शनादश्विभ्यां भूयो रक्षितस्यापि दीर्घतमस ऋषेः प्रतिपक्षः कश्चन विपक्षः स त्रैतन इति प्रतीयते; परं नास्य भैषज्यसम्बन्धो वैदिकाल्लेखाल्लभ्यते। त्रितस्य ऋग्वेदेऽथर्ववेदे च बहुश उल्लेखेऽपि क्वचन त्रितशब्दोऽग्न्यादिदेवताविशेषपरत्वेन व्याख्यातोऽस्ति। यत्र मानवभावावबोधकः स शब्दोऽस्ति तत्र क्वचन सूक्तद्रष्टृषिभावेन त्रितस्योपलम्भोऽस्ति। बृहद्देवतायां यास्कनिरुक्तेऽपि ऋषित्वमुल्लिखितमस्ति। ईदृशेषु स्थलेषु स्वर्थान्तरमेव। यत्र तु वेदे 'आप्त्यः आप्त्यः त्रितः' इति, अवेस्तायाम् 'आथ्व्यः त्रितः' इति शब्दतो बहुशः साम्यं दृश्यते, तत्र परिवेदनदुःस्वप्नस्वर्णकारमालाकारादिदुष्कृतमार्जनस्थानत्वेनापि त्रितस्योल्लेखदर्शनेन[4] वैदिके सम्प्रदाये हेयभावेन गृहीततया सुराणामसुर इव त्रितेऽपि विपक्ष-

१. सारणसारनशब्दयोरानुपूर्वीसाम्येऽपि वैदिकस्य अतीसारबोधकतया, अवेस्तागतस्य शिरोरोगबोधकतया निर्देशेन अर्थभेदो दृश्यते।

2. E. R. E. Vol. IV P. 758 by L. C. Casartelli.

3. Ibid Vol. IV P. 758 by L. C. Casartelli.

4. (a) Zendavesta Part I (S. B. E. Vol. IV), P. 227.

(b) E. R. E. Vol. IV P. 758 by L. C. Casartelli.

5. It is curious to remark that Hindu medical science also distinguished the four feet (Pāda) of medicine. which, however, were reckoned as the physician, disease, medicine, the nurse; while Hippocrates has a threefold division. (de morb, Vulg. i. 1.)

E. R. E. Vol. IV P. 759 by L. C. Casartelli.

६. सुश्रुते—वैद्यो व्याध्युपसृष्टश्च भेषजं परिचारकः।
एते पादाश्चिकित्सायाः कर्मसाधनहेतवः॥
सू. स्था. अ. ३४

काश्यपीये—भिषक्, भेषजम्, आतुरः, परिचारक इति। पृ. ३७

चरके—भिषग्द्रव्याण्युपस्थाता रोगी पादचतुष्टयम्॥
सू. स्था. अ. ९

1. (a) As Khshathravairya presides our metals it was a knife he received, 'of which the point and the base were set in gold'. He was therefore the first who healed with knife, as well as the first who healed with herbs.

Zendavesta Part I (S. B. E. Vol. IV), P. 227.

(b) E. R. E. Vol. IV, P. 758.

2. Essays on the Religion of the Parsis by M. Hang. P. 277-78.

३. ऋक् १. १५८. ३.

४. ऋक् ६. ४७. १४-१५। अथर्व ६. ११३. १। ६. ११४. ३। १९. ५६. ४.

भावोऽवबुध्यते। त्रितस्य श्रितस्य चैकत्वे वैदिकाश्विनभैषज्यसम्प्रदायस्येव इरानीयस्य श्रितभैषज्यसम्प्रदायस्यापि समयो विशेषेणोपर्यारोहति। किन्तु त्रिते भैषज्यविषयसम्बन्धो न क्वापि वेदे दृश्यते। तैत्तिरीयसंहितायामेकत्र (१. ८. १०. २) आयुष्यदातृतया त्रितस्य प्रार्थनोपलम्भेन वैदिके त्रितेऽपि भैषज्यसम्बन्धो दृश्यत इति मार्टिन (Martin) विदुषा कथ्यते, तथाऽपि तत्र त्रितशब्दस्य अन्यार्थकत्वेन व्याख्याततया राजसूयप्राकरणिकतया च प्रकृते त्रिते भैषज्यविषयसम्बन्धस्ततोऽपि न स्फुटीभवति। विचारणीयोऽयं तर्कविषयः॥

औरभ्रशब्दो हि उरभ्रस्यापत्यमिति उरभ्रे भव इति वाऽर्थमादाय व्यक्तिविशेषस्य देशविशेषस्य वा वाचकादुरभ्रशब्दान्निष्पन्नः स्यात्। उरभ्रव्यक्तिः उरभ्रदेशो वा प्राग्भारते न ज्ञायते। उरभ्रशब्द उरणशब्दश्च मेषावबोधकतया प्रसिद्धौ, वेदेऽप्युपलभ्येते। सिन्धौ संगच्छन्त्या ऊर्णावत्या नद्या वेदेऽप्युल्लेखोऽस्ति। गान्धारे तदुत्तरदेशेषु च मेषप्राचुर्यं पुराऽपि कीर्त्यते। तत्प्राचुर्यसम्बन्धेनैव स्यात् नद्या अपि ऊर्णावतीति नाम निरुच्यते। 'अध्वर्यवो य उरणं जघान' इति ऋङ्मन्त्रे (२. १४. ४) इन्द्रेण हतस्य उरणनामकस्यासुरस्योल्लेख उपलभ्यते। बेबिलोनदेशस्य प्राचीननगरेष्वेकम् 'उर' नामकं नगरमनुश्रूयते। यत् चाल्डियनानां समये अब्राहामस्य प्रधानस्थानं, सुमेरियनानां B. C. 3000 पूर्वसमये सेमेटिकसत्तायाः प्रारम्भे सारगानवंशजानन्तरम् 'उरगुर' नाम्नः 'उर एन गर' नाम्नो वा नृपस्य समये उरनगरं प्रधानं, बाबिलोनसमयस्यान्तपर्यन्तं धार्मिकवाङ्मययोर्विषययोः प्रसिद्धतरं चासीत्। उरनगरे प्राचीनस्य 'उर नम्मु' (Ur Nammu B. C. 2300-2200) नामकस्य 'वर्सिन' (Bursin) नामकस्य च नृपस्य शिलालेखौ प्राप्तौ। असीरियन्प्रदेशीयपूर्वजातयः असुरत्वेनाभ्युपगम्यन्ते। इन्द्रेण हत उरणस्तद्देशीयः सम्भावयितुं शक्यते। उरशब्दस्य उरभ्रादिशब्देष्वनुगमस्तद्देशसम्बन्धसूचनाय चेतः संशाययति। उरप्रदेशे भारतीयशालवृक्षकाष्ठमुपलब्धमासीदिति ए. सी. दासो वर्णयति। तद्देशवाचकस्य उरशब्दस्य सम्बन्धेन उरभ्रशब्दो निष्पन्नश्चेत् काङ्कायनेन बाह्लीकप्रदेश इव दिवोदासशिष्येणोरभ्राचार्येण उरप्रदेशोऽपि उपरञ्जितः किमु इति तर्कणास्थानमुदेति॥

गोपुररक्षितनाम्ना निर्दिष्टौ गोपुरो रक्षितश्चेति द्वावाचार्यौ केचन मन्यन्ते। केचन समष्टिनाम्ना व्यवहृत एक एवेति मन्यन्ते। दाक्षिणात्यशिल्पग्रन्थे गोपुरस्य निर्देशात् दाक्षिणात्यदेशेषु गोपुरस्याद्यापि विशेषतः प्रसिद्ध्या च गोपुरनाम्ना व्यवहृत आचार्यो दाक्षिणात्योऽपि भवितुं सम्भवति। किन्तु महाभारते रामायणेऽपि गोपुरस्य पुरद्वारार्थकस्योपलम्भेन एतावतैव देशनिर्धारणं कर्तुं न शक्यते। किंवा गोपुरमिति अज्ञातनगरान्तरस्य सम्बन्धेन व्यवहृतो गोपुररक्षितोऽपि सम्भवति॥

प्राचीनो भोजदेशः कान्यकुब्जदेशगतभागीरथ्या दक्षिणे तटे पञ्चदशषोडशक्रोशान्तराले आसीदित्युपवर्ण्यते। दिवोदासान्तेवासी भोजाचार्यो भोजदेशसम्बन्धमादाय तन्नाम्ना व्यवहृतः सम्भवति॥

उपधेनोरपत्यसम्बन्धमादाय औपधेनव इति निष्पद्यते। औपधेनवो नामाचार्योऽन्यत्र नोपलभ्यते। किन्तु उपगोरपत्यमौपगव इति पाणिनीयसूत्रोदाहरणे महाभाष्यकृता उपग्वपत्यरूपेण औपगवो निर्दिष्टोऽस्ति। विष्णुपुराणे मिथिलानृपतेः सीरध्वजस्य भ्रातुः काशिराजस्य कुशध्वजस्य वंशोद्भव एक उपगुर्लभ्यते। उपगुर्नाम वसिष्ठगोत्रोद्भव ऋषिविशेषोऽपि लभ्यते। औरवकौत्सनृपतिपुरोहितस्य सौश्रवस उपगोराख्यानं पञ्चविंशब्राह्मणे (१४. ६. ८) दृश्यते। औपगवेर्यूनश्छात्रा औपगवीया इति महाभाष्यकृता (४. १. ३. ९०) लिखिततया छात्रसम्प्रदायप्रवर्तकत्वमौपगवस्यावगम्यते। सोऽयं प्रसिद्ध औपगव एव औपधेनवः किमु? पर्यायशब्दैरपि पूर्वेषां क्वचन व्यवहारो दृश्यते। कोऽयमौपधेनवः कुत्रत्यश्चेति न निश्चीयते॥

ईदृशास्तर्का दृढप्रमाणपर्येषणामन्तरेण न किमपि निश्चाययितुं प्रभवन्ति। तदपि दर्शितेन पथा तर्कितानीमान्याचार्यनामानि भारते तत्र तत्र प्रदेशेष्विव बहिर्दूरदेशेष्वपि धान्वन्तरसम्प्रदायालोकप्रसरणे द्वारसद्भावं सम्भावयन्ति। एवंन्यायेन न केवलं धान्वन्तरसम्प्रदायस्यैव, किन्तु विभागान्तरीयभैषज्यविज्ञानानामप्यालोकस्य परितः प्रसरणाय द्वाराणि भवेयुः। किमन्यत्, ऋग्वेदेऽपि प्रयुज्यमानस्य वैद्यवाचकस्य भिषक्-शब्दस्य औषधवाचकस्य भेषज-शब्दस्य च विकृतमाकारं स्फुटमवबोधयन्तौ बिजिष्क (Bejishke) बेषज (Beshaj) शब्दौ इरानदेशीयपर्शुभारतीयभाषायां, बिझिष्क (Bzhishk) बेझ्ष्क (Bzhshkel) शब्दौ अर्मिनियन्भाषायामप्युपलभ्येते इति पूर्वं (पृ. ७६) निर्दिष्टमस्ति। वैद्यौषधवाचकयोः प्रधानशब्दयोरपि एवंरूपेण पूर्वकाले दूरदेशान्तरप्रसरणेऽवगम्यमाने एतद्विद्याप्रस्थानविषयाणां परितः प्रसरणे न किमपि कौतुकम्। वाडेलमहाशयेन सुमेरियन्प्रदेशीयप्राचीनमुद्रागतैः साङ्केतिकाक्षरैः कल्पितानां तद्देशीयशब्दानां भारतीयशब्दानां च

बृगु-भृगु.	सख-शक.	गधिया-गाधि.
वर्गव-भार्गव.	इन्दुरु-इन्द्र	सुसिन-सुषेण.
गुर्गु-गर्ग.	अस्सि-अश्वि.	एमड्गल-मुद्गल.
हनक-जनक.	गलह-गालव.	उर्वस-हर्यश्व.

एवंदिशा बहुशो बिम्बानुबिम्बभावेन साम्यं सम्भावितमस्ति। किं बहुना धन्वन्तरिदिवोदासयोरपि तत्रोद्भावनं कृतम्। तद्गतपूर्वनृपादीनामिशवीयाब्दारम्भतः उपष्टित्रसहस्र-

1. Essays on the Religion of the Parsis by H. Hang. P. 277-78.
2. Babylonian Life and History P. 221-23 by E. A. Wallis Budge.
3. Rigvedic India by A. C. Das P. 216-19.

1. Geographical Dictionary of Ancient and Mediaeval India. by Nundo Lal Day. P. 33.
2. Indo—Sumerian Seals deciphered. Makers of civilization in Race and History. by L. A. Waddell.

वर्षपूर्वत्वं च दर्शितमस्ति। शालिहोत्रीये पूर्वं (पृ १२) निर्दिष्टे आयुर्वेदशास्त्रकर्तृनिर्देशे गालवस्योल्लेखेन, चरकोपक्रमग्रन्थेऽप्यायुर्वेदप्रवर्तकाचार्येषु तन्नामोपलम्भेन च गालवोऽप्यायुर्वेदविद्यायामाचार्यभावेनावगम्यते। गालवस्य काशिराजदिवोदाससङ्गमो मारीचकाश्यपाश्रमद्रष्टृत्वं च महाभारतोक्तमपि पूर्वं (पृ. १७) निर्दिष्टमेव। तस्य गालवस्य अश्वलिप्साप्रसङ्गेन इतस्ततो दूरेऽपि पर्यटनं महाभारतलेखादायाति। सुमेरियन्प्रदेशीयपूर्वमुद्राद्दष्टो गल्हो नाम गालव इति वाडेलमहाशयेन सम्भाव्यते। मुद्गलमौद्गल्यादीनामपि भारते वैद्याचार्यतयोपलब्धिरस्ति। सुमेरियन्प्रदेशीये एमद्गले 'अजू' इति वैद्यविद्याज्ञानावबोधकं विशेषणमस्तीत्यपि वाडेलमहाशयेनोच्यते। यदि गल्ह–गालवयोः, एमद्गल–मुद्गलयोरैक्यं भवेत् तदा भारतीयायुर्वेदविद्याचार्यैः सुमेरियन्प्रदेशोऽप्युपरञ्जितः सम्भवेदिति वितर्कोऽप्युदेतुं शक्नोति। परमतिप्राचीनविषयतया प्राचीनमुद्राक्षराणामपि ऐकमत्येनानिश्चिततया तदीयेषु सम्भावितगालवजनकधन्वन्तरिदिवोदासादिषु भैषज्यवेत्तृत्वादेर्विषयस्यानुपलम्भेन च पूर्णतयाऽनुसन्धानं विना नैतावन्मात्रेण प्रकृते याथातथ्येन न किमपि वक्तुं शक्यत इत्यास्तां तावदेतत्। अस्यां काश्यपसंहितायां भोजनकल्पाध्याये (पृ. २०६) सात्म्याशनप्रसङ्गे काश्मीरचीनापरचीनादिभिः सह वाह्लीकदासेरकशातसाररामणदेशानामप्युल्लेखोऽस्ति। दासेरकदेशो मालवाप्रान्तीय इति कैश्चिदुच्यते[1]। परं महाभारतेऽनेकस्थलेषु दासेरकोल्लेखे मालवस्य पृथगुल्लेखदर्शनेन मालवदेशादन्य एव स देश इति ततः प्रतीयते[2]। शातसारः को देश इति च न प्रतीयते। तथाऽपि वाह्लीकरामणदेशसाहित्येन दासेरकशातसारयोरपि तत्सन्निकृष्टदेशविशेषत्वमनुमीयते। रामणदेशस्तु अरमेनिया (Armenia) देशः[3] इति निरूपितोऽस्ति। रामणपर्वतस्योल्लेखो जेन्दावस्तायामप्यस्ति। महाभारते[4] उत्तरीयनानाजातीनां निर्देशे हूणपारसीकचीनादिभिः सह रमणजातीनां, निषधस्योत्तरतो रमणवर्षस्य निर्देशश्च दृश्यते। एवमुल्लेखदर्शनेन अरमेनियाप्रदेशपर्यन्तमपि भारतीयपूर्वाचार्याणां परिचय आसीदित्यनुमातुं शक्यते। अलेक्जेण्डरेण सह नीतानाम्, अशोकसमये इतस्ततः प्रेषितानां च विदुषां कानि नामानीति इतिहासो निगूहते। 'यिशुखृष्टस्य समये मिश्रदेशे 'थेराप्यूत' नाम्ना प्रसिद्धाः केऽपि विरक्ता भिक्षुवृत्तय आसन्। येषां शिक्षाप्रभावो यिशुखृष्टेऽपि पपात। इमे पूर्वदेशाभिजनाधर्मोपदेशेन साकं चिकित्सामपि कुर्वाणा आसन्। येषां नाम्ना पाश्चात्यचिकित्साशास्त्रे 'थेराप्यूतिक्स' नामको विभागविशेषोऽस्ति। एषां थेराप्यूतानां जीवनं भारतीयथेरो (स्थविर) भिक्षुकाणामिवासीत्। अशोकसमये पाश्चात्यप्रदेशेषु गतानां भिक्षुकाणां चिकित्सकानां च सन्ततय एते भवेयुः' इति भारतीयेतिहासग्रन्थे[1] जयचन्द्रविद्यालङ्कारो वर्णयति। पोकाकमहाशयोऽप्येवमेव निरूपयति[2]। देशान्तरीयेतिहासेष्वपि कति निलीना भवेयुः। देशान्तरेतिहासगतान्यपि कति भारतीयनामानि देशान्तरभाषासु बहुशो विकृत्या अपरिचेयभावमापद्य तद्देशीयव्यक्तिनामानीव प्रतीयमानानि स्युः। यथा हि कलोनस (Kalanos) नाम्नाऽभिहितो भारतीयः कल्याण इति विवेचकैर्निरूप्यमाणः स एवायमिति परिचीयते। एवंभावेन बहुशो विकारैर्विवेचकदृशो बहिर्भावेन च भारतीया अपि अपरिचेयभावेन देशान्तरीया इव प्रतीयमाना इतिहासगर्भगता भवेयुः। कतिपयेषु जायमाना सदसती प्रत्यभिज्ञासम्भावनाऽपि विचाराय दृशः प्रेरयति॥

चरकसुश्रुतकाश्यपभेडादीनां प्राचीनग्रन्थेषु गृहीतनाम्नां पूर्वाचार्याणामन्येषामपि नामान्येकैकश उपादाय यथावन्निर्वचनं, पर्यालोचनं, विषयानुसन्धानमपि आयुर्वेदीयपूर्वावस्थाया देशतः कालतः स्वरूपतोऽपि विवेकाय यं कमपि सालोकं मार्गमुपदर्शयेदेव, किन्तु विस्तरभयादिदानीमेतावतैवोपरम्यते॥

वैदिकसाहित्यमूलकं भारतीयभैषज्यसमर्थनम्

वैदिकसाहित्ये मान्त्रिकप्रक्रियाया उपलम्भेऽपि केवलभेषजप्रक्रियाया अपि नाल्पा न वा साधारणाः, अपि तु असाधारणा बहुशो विषया ऋग्वेदेऽपि दृश्यन्ते; अथर्ववेदे तु शारीरकाणि ओषधयः शस्त्रवैद्यकविषया रोगनिर्देशा रोगोपचाराश्चेत्येतादृशा भैषज्यविषया ओताः प्रोताश्चेति पूर्वं (पृ. ५–७) निर्दिष्टमेव। षष्ट्यधिकत्रिशतास्थिज्ञानं[3] शतसहस्रशः सिरा[4] (हिरा)

1. Das'eraka—Malwa, Geographical Dictionary of Ancient & Mediaexal India, P. 54; by Nundo Lal day.

२. भीष्मपर्वणि ११७. १३२-३३। द्रोणपर्वणि ११. १६-१७॥

3. (a) Rāmaṇīyaka—A pleonastic form of Rāmaṇīya, that is Armenia (Mbh. Adi. Ch. 26.) P. 166. The Geographical Dictionary of Ancient & Medieval India. by Nundo Lal Day.
(b) Ræmana Mount (going forwards the East) P. 288. Zendavesta Part II (S. B. E. Vol. XXIII) —J. Darmesteter.

४. उत्तराश्चापरे म्लेच्छाः क्रूरा भरतसत्तम।
यवनाश्चीनकाम्बोजा दारुणा म्लेच्छजातयः॥
सकृद्ग्रहाः कुलत्थाश्च हूणाः पारसिकैः सह।
तथैव रमणाश्चीनास्तथैव दशमालिकाः॥
—भीष्मपर्वणि ९ अध्याये.
दक्षिणेन तु श्वेतस्य निषधस्योत्तरेण तु।
वर्षं रमणकं नाम जायन्ते तत्र मानवाः॥ –तत्रैव ८ अध्याये.

१. भारतीय इतिहासकी रूपरेखा भाग २ पृ. ५१६.

2. 'India in Greece' by Pococke.

३. द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ त तच्चिकेत।
तत्राहतास्त्रीणि शतानि शङ्कवः षष्टिश्च कीला अविचाचला ये॥
अथर्व. १०. ८. ४

४. शतस्य धमनीनां सहस्रस्य हिराणाम्।
अस्थुरिन्मध्यमा इमाः साकमन्ता अरंसत॥ अथर्व. १. १७. ३

धमनीनां पौर्वकालिकं ज्ञानं मन्त्रलिङ्गादपि स्फुटीभवति। शतपथब्राह्मणेऽप्यस्थ्नां षष्ट्यधिकत्रिशतानां वर्णनमस्ति। वैदिक्यां यागप्रक्रियायां पाशुकविभागे न केवलं पशूनां, मनुष्याणामपि मेधेषु तत्तदवयवानां पृथक्करणं विनियोजनं च दृश्यमानं तद्विषयकं विज्ञानविशेषं व्यनक्ति। वपाहृदयाद्युद्धरणे हस्तकौशलमपि विज्ञानवर्धकमभ्यासं दर्शयति। 'अथर्ववेदस्य दशमकाण्डद्वितीयसूक्ते शारीरकास्थ्नामानुक्रमिकं समीचीनं च वर्णनं लभ्यते। वेदकालिकैर्भारतीयैः प्रथमं शरीरस्य शारीरकविज्ञानस्य च मिथः सम्बन्धमावहन्तो विषयाः परिज्ञाता आसन्' इति वैदिकविषये वैदुष्यवद्भ्यां कीथम्याकडोनलमहाशयाभ्यामपि लिखितमस्ति॥

ऋगथर्वयजुर्मन्त्रलिङ्गतो विशेषतो बह्वीनामोषधीनां ज्ञानं विनियोगश्च पूर्वं दर्शित एव, विकृतभग्नाद्यवयवानां रोहणसन्धानाद्यर्थमोषधीनां प्रार्थनाऽथर्ववेदे दृश्यते। ऋग्वेदे सोमस्य ओषधिराजत्वेन वर्णनमपि बहुश उपलभ्यते। सौमिकी याज्ञिकप्रक्रिया यदा प्रवृत्ताऽऽसीत् तया साकमेव सोमस्य प्रधानौषधिभावेन परिज्ञानं दृश्यते। अश्विनोर्देवभिषग्भावं सोमाश्विनयोर्घनिष्ठं सम्बन्धं च बहुशो मन्त्रलिङ्गानि गमयन्ति। सुश्रुतेऽपि सोमस्यौषधिभावेन बहुशो निर्देशोऽस्ति। सोमस्य याज्ञिक्यां संस्थायां भेषजसंस्थायां च सम्बन्धविशेषावगमोऽप्येतद्विद्यायाः प्राचीनतरत्वं दर्शयति। अथर्वणि कुष्ठौषधवर्णनसूक्ते कुष्ठस्य इक्ष्वाकुकाम्यवसैः पूर्वकाले परिज्ञानस्य निर्देशदर्शनेन ओषधिविशेषाणामन्वेषणं परिज्ञानं च पूर्वकालादेव बहूनामासीदित्यपि मन्त्रलिङ्गतो लभ्यते। नैतावदेव, वेदमन्त्रः सहस्रश ओषधीनां शतशो भिषजां च तादात्विकीं प्रज्ञप्तिमप्युद्गिरति। न केवलं वेदकाल एव, अपि तु त्रियुगात् पूर्वमप्योषधिपरिज्ञानमासीदिति 'या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा' इति वैदिकादेव मन्त्रलिङ्गाद् दृश्यते॥

किञ्च-वैदिक्यां नक्षत्रेष्टौ शतभिषङ्नामकस्य नक्षत्रस्य याज्यानुवाक्यातैत्तिरीयमन्त्रयोः वरुणस्य शतभिषङ्नक्षत्रस्य च शतश ओषधीर्निष्पाद्य आयुष्यकारकत्वादिकमुपवर्ण्यते। तेनास्मान्मन्त्रलिङ्गाच्छतशो भेषजानां दातृतयाऽस्य नक्षत्रविशेषस्य तन्नाम्ना व्यवहारः पौर्वकालिकोऽवगम्यते। तत्रैव ब्राह्मणवाक्यान्तरे असुरप्रहारशतस्य चिकित्सनेन देवानामारोग्यलब्धिर्यस्मिन्नक्षत्रे बभूव स एव शतभिषगिति निर्वचनान्तरमपि सूचितमस्ति। कृत्तिकादिनक्षत्रकालो गणनयाऽप्यतिप्राचीनः। तेष्वेकतमनक्षत्रवाचकस्य शतभिषक्छब्दस्य वैदिके समयेऽपि निरूढस्यानुसन्धाने तावताऽपि शतसहस्रश ओषधीनां तदुपयोगानां ततो लाभानां चावगमोऽतिपूर्वकालादेवासीदिति प्रतीयते॥

आध्यात्मिकप्रक्रियायामुपनिषद्यपि नाड्यादीनां विज्ञानं लभ्यते। योगमार्गेऽपि शारीराणां प्राणवहानां सूक्ष्माणामपि नाडीनां बहुशो विज्ञानं यथाकाममान्तरवायोः सञ्चारणनिरोधनादिकौशलं च लभ्यते। तान्त्रिक्यां पद्धत्यामपि षट्चक्रभेदनं तत्तत्स्थानेभ्यो वर्णानामुत्पत्तिविभावनं, मूर्धभागे कर्णाक्षिनासिकादिसम्बन्धिनीनां तत्तदैन्द्रियकादिविज्ञाननाडीनामनुसन्धानं ज्ञानवहनाडीनां केन्द्रस्थानीये गुरुपदे कुण्डलिनीतः समुत्थापिताया जीवशक्तेः संयोजनेन लाभास्वादनमित्यादयः सूक्ष्मा आन्तरविज्ञानविशेषा अन्तर्मुखीं विशेषसंविदमवभासयन्ति। महेञ्जोदारोभूगर्भोपलब्धयोगमूर्तीनां विन्यासवैशिष्ट्यमपि यौगिकान्तःक्रियाविज्ञानकौशलं प्राचीनतरं साधयति। वसन्त-

इमा यास्ते शतं हिराः सहस्रं धमनीरुत।
तासां ते सर्वासामहमश्मना विलमप्यधाम्॥ अथर्व. ७. ३६. २

१. शतपथे १२. १. ३। १२. ३. २।

2. The interest of the Vedic Indians seems early to have been attracted to the considerations of questions connected with the anatomy of the body. Thus a hymn of the Atharva Veda (X. 2) enumerates many Parts of the body with some approach to accuracy and orderly arrangement.'

F. I. O. C. Proceedings Vol. II. P. 415.

३. सं ते मज्जा मज्ज्ञा भवतु समु ते परुषाः परुः।
सं ते मांसस्य विस्रस्तं समस्थ्यपि रोहतु॥
मज्जा मज्ज्ञा सं धीयतां चर्मणा चर्म रोहतु।
असृक् ते अस्थि रोहतु मांसं मांसेन रोहतु॥
लोम लोम्ना सं कल्पया त्वचा सं कल्पया त्वचम्।
असृक् ते अस्थि रोहतु छिन्नं सं धेह्योषधे॥
अथर्व. ४. १२. ३. ५

४. यं त्वा वेद पूर्व इक्ष्वाको यं वा त्वा कुष्ठ काम्यः।
यं वा वसो यमास्यस्तेनासि विश्वभेषजः॥ अथर्व. १९. ३९. ९

१. (क) क्षत्रस्य राजा वरुणोऽधिराजः। नक्षत्राणां शतभिषग्वसिष्ठः।
तौ देवेभ्यः कृणुतो दीर्घमायुः। शतं सहस्रा भेषजानि धत्तः॥
(अनुवाक्या)

सायनः......तौ वरुणशतभिषजौ देवेभ्यो देवार्थं यजमानस्य दीर्घमायुः कृणुतः। तत्सिद्ध्यर्थं शतं शतसंख्याकानि सहस्रसंख्याकानि च भेषजान्यौषधानि धत्तः सम्पादयतः॥

(ख) यज्ञं नो राजा वरुण उपयातु। तन्नो विश्वे अभि संयन्तु देवाः।
तन्नो नक्षत्रं शतभिषग्जुषाणम्। दीर्घमायुः प्रतिरद्भेषजानि॥
(याज्या)

सायनः......शतभिषगाख्यं तन्नक्षत्रं नोऽस्मभ्यं दीर्घमायुश्चिरकालमायुष्यं भेषजानि तदर्थान्यौषधानि च प्रतिरत् प्रकर्षेण ददातु॥
तैत्तिरीयब्राह्मणे ३. का. १. प्र.

२. यच्छतमभिषज्यन् तच्छतभिषक्॥ तैत्तिरीयब्राह्मणे १.५.२.९
सायनः—यस्मिन्नक्षत्रेऽसुरकृतं प्रहाराणां शतं देवा अभिषज्यन् अनायासेन चिकित्सितवन्तः तस्य शतभिषगिति नाम॥

३. शतं चैका हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वगन्या उत्क्रमणे भवन्ति॥
कठोपनिषदि ६-१६

4. The Mysrious Kundalini—Vasant G. Rele.
The Vedic Gods as figures of Biology—
Vasant G. Rele.

जी. रेले (V. G. Rele) महाशयेन वैदिकमन्त्रानवलम्ब्य आन्तरनाडीचक्रादीनां तत्तदधिष्ठातृदेवतादीनां च विषयेषु बहुशः प्रकाश उद्भावितोऽस्ति ॥

याज्ञवल्क्यस्मृतौ योगसम्बन्धेन शरीरोत्पत्तिप्रदर्शने सविवरणानि षष्ट्यधिकत्रिशतास्थीनि प्राणायतनानि सप्तशतसिरा नवशतस्नायून् द्विशतधमनीः पञ्चशतपेशीः केशरोमाणि रसादिपरिमाणानि हृदयनिर्गता द्वासप्ततिसहस्रनाडीश्च निरूप्यैतद्विज्ञानं योगोपयोगितया निर्दिष्टमस्ति[1]। रामायणमहाभारतादिष्वपि शस्त्रवैद्यकादिविषयोऽस्तीत्युक्तमेव। कौटिलीयेऽपि शस्त्रवैद्यकादिसम्बन्धिनो विषया बहुशो लभ्यन्ते। तत्र चतुर्दशे औपनिषदाधिकरणे परघाताद्भुतोत्पादनभैषज्यमन्त्रयोगस्वबलोपघातप्रतीकारसम्बन्धिनो बहुश ओषध्यादीनां प्रयोगा अपि सन्ति ॥

वेदः खलु सांसारिकेषु सर्वसाहित्येषु वर्षिष्ठः सम्मान्यते लोकैः। प्राचीनतमहिताइटीमित्तानीजात्योर्मिथः सन्धिशिलालेखे नासत्यमित्रवरुणेन्द्रादिवैदिकदेवतानां साक्षितयोल्लेखस्य पूर्वं (पृ. ७२) निर्दिष्टस्यानुसन्धाने तदात्वे स्वप्रतिज्ञापालने साक्षितया वैदिकदेवतानामुपादानदर्शनमिदं वैदिकसभ्यतायाः केवलं तादात्विकत्वं नावबोधयति, अपि तु तदात्वे तावति दूरे भाषान्तरीयजात्यन्तरीयशिलालेखेऽपि वैदिकदेवतानां साक्षिभावेन निर्देशनं समुत्किरणं च दृश्यमानं वैदिकसभ्यतायाः सर्वोपरिभावेन प्रतिष्ठया प्रचारेण च सह पूर्वपरम्परयाऽनुवृत्तिं बहुपूर्वकालिकतां च दर्शयति। न केवलमेतावदेव, यौ खलु नासत्यौ भैषज्यविद्यायाः पूर्वाचार्यभावेन ऋग्वेदादिकसाहित्ये बहुशः कीर्तितौ दृश्येते, तयोरप्यत्र शिलालेखे उत्कीर्तनं भैषज्यविज्ञानस्यापि ततः प्राचीनतां ध्वनयति ॥

किञ्च—वैदिकीषु यज्ञसंस्थासु अश्वमेधस्य महती कक्षा प्रतिष्ठा चासीत्। परितो नृपतीनवनाम्य स्वं गौरवं ख्यापयितुमामुष्मिकं श्रेयश्च साधयितुं वीर्यवद्भिः प्राचीनतमैरप्यनेकै राजभिरेतद्यागस्यानुष्ठानं बहुशः पूर्वेतिवृत्तेषु दृश्यते। वेदकालादारभ्य प्रवर्तमानोऽयं यागोऽन्ततो वैदिकधर्मं पुनरुज्जीवयता पुष्यमित्रेणापि विहितस्तदीयं नाम सगौरवं प्रतिष्ठापयामास। समुद्रगुप्तस्य शिलालेखेऽपि यदुल्लेखः सम्मानदृशा वीक्ष्यते। सोऽयं यागः प्रायः श्रुतेः सर्वासु शाखासु संहितासु ब्राह्मणेषु श्रौतसूत्रेषु च निर्दिष्टोऽस्ति। ईदृशेऽश्वमेधे राजपरिषदि महर्षीणामग्रतः संवत्सरपर्यन्तं गीयमानासु तत्तद्गाथासु तृतीयेऽह्नि भेषजविद्याख्यानं गीयमानतया आश्वलायनसूत्रे[2] शाङ्खायनसूत्रे[3]ऽपि निर्दिष्टमुपलभ्यते। अश्वमेधे भेषजविद्याकीर्तनमासीदिति म्याक्सम्मूलर (Maxmuller) विदुषाऽप्युल्लिखितमस्ति[4]। वेदस्य ऋग्यजुःसामाथर्वप्रस्थानानां शतशः सहस्रशश्च शाखा विभक्ताः प्रतिपाद्यन्ते चरणव्यूहकृता। कालधर्मेण बहुशः शाखानामुच्छेदेऽपि उपलभ्यन्ते अद्यापि अनेकाः शाखाः। कतिपयशाखान्तराणां श्रौतस्मार्तसूत्रादीन्युपलभ्यमानानि तन्मूलश्रुतिशाखानां विलोपमप्यनुमापयन्ति। सोऽयं वेद आनुश्रविकप्रक्रियया तत्तच्छाखाविशेषरूपेण अतिपूर्वकालादार्याणामसंख्यमहर्षीणां वसतिषु हृदयेषु मुखेषु च ओतप्रोतां विष्वग्व्यापिनीं महनीयामात्मनः स्थितिमवबोधयति। एतादृशे आम्नायसम्प्रदाये अश्वमेधसदृशस्य महनीययागस्याङ्गतया भेषजाख्यानं गीयमानमासीत्। यत् श्रुतेरध्ययनाध्यापनप्रक्रियया, अहरहः पारायणाभ्यासरीत्या, याज्ञिककल्पप्रयोगचर्चानुष्ठानात्विज्यादिवर्त्मना च आर्षवसतिषु समन्तादुद्घोष्यमाणं सत् मन्दिराद्यवस्थितकतिपयभैषज्यसम्बन्धिलेखविषयेभ्यः क्वचनोपलब्धशिलेष्टकादिगतभैषज्यविषयेभ्योऽन्यूनं महत्त्वं, व्यापिकां स्थितिं, वैदिकदेवताग्राहिलेखान्तरेभ्यः पूर्वप्रतिष्ठिताया वैदिकसभ्यताया उदयसहभावेनातिप्राचीनतां च भारतीयभैषज्यप्रस्थानस्य साधयति। इत्येवं नानाशाखाप्रसृतऋगथर्वादिष्वपि बहुशोऽनुस्यूतविषयतया, यागीयप्रयोगेऽप्यन्तर्गीयमानाख्यानतया, आयुर्वेदनाम्ना वैदिकप्रस्थानविशेषेण पुराकालाद् विभक्ततया चातिप्राचीनाद्भारतीयाद्वैदिकान्मूलस्रोतसः परम्परया प्रवर्तमानतया निश्चितस्यास्या भारतीयभैषज्यविज्ञानस्य पूर्वोपक्रान्तं भारतीयत्वं सुसमर्थितं भवति ॥

सत्यमुक्तं कोलब्रुक—(Mr. Colebrooke)महाशयेन—

'The Hindoos were teachers and not learners' इति;

तथा—'Is not the case that the earliest elements of civilization and enlightenment have always originated in the East, and spread from the East to the West—not from the West to the East.' इति मोनियर विलियम्स महाशयेनापि ॥

भारतीयभूगर्भतः प्राचीनभैषज्यदृष्टिः

यस्य भारतस्य खलु प्राचीना सभ्यता मिश्रमेसोपोटामियादिप्राचीनसभ्यतया सह संवदन्ती तामप्युल्लंघ्याग्रे गन्तुमिव समीहते, तादृशस्य भारतस्य महेंजोदारोप्रदेशभूगर्भोपलब्धानां निवासस्थलस्नानागारमलप्रणाल्यादीनामनुसन्धाने दृश्यमानमाधुनिकैः स्थापत्यविद्याकुशलैरप्यभिनन्दनीयं प्राचीननिर्माणमपि पञ्चसहस्रवर्षपूर्वमपि भारतीयं स्वास्थ्यवैद्यकविज्ञानं पूर्णतयाऽभिव्यनक्ति। तत्रैव भूगर्भान्महच्छ्यामगोलकमप्युपलब्धम्[1]। यदनुसन्धाने डा. सनाउल्लानामकेन रसायनाचार्येण डॉ० हमीदनामकेन च भिषग्वरेण च परीक्ष्य 'शिलाजतुगोलकमिदं पर्वतीयप्रदेशादत्रोपगतम्, इदं मूत्ररोगादिषु बहुषु रोगेषूपयुज्यते, औषधकर्मण्येवास्य विशेषोपयोगः इत्यादि विवरणं प्रदत्तम्। एवंविधेन परीक्षकाणां विवरणेन सह तदुपलम्भवृत्तं सर जानमार्शल-

१. याज्ञवल्क्यस्मृतौ प्रायश्चित्ताध्याये यतिधर्मप्रकरणे। श्लो० ८४-११०

२. अथर्वाणो वेदः सोऽयमिति यद्भेषजं निशान्तं स्यात्तन्निगदेत्। आश्वलायनश्रौतसूत्रे ४. ७

३. अथर्ववेदो वेदः सोऽयमिति भेषजं निगदेत्। शाङ्खायनश्रौतसूत्रे १६. २

4. A History of Ancient Sanskrit Literature—F. Maxmuller P. 20. (P. O. W.)

1. 'Pieces of a coal-black substance, have been found in the DK Area and VS Areas and have long

महोदयेन प्रकाशितमस्ति एवं शिलाजतुदर्शनं भैषज्यविद्याया आलोकाय उज्ज्वलं दीपकमिव प्रतिभाति। शिलाजतोरुपयोगो धन्वन्तर्यात्रेयकश्यपादिभिरपि बहुशो निर्दिष्टः। नावनीतकेऽपि तत्प्रयोगोऽस्ति। यस्य तादृशप्रदेशे नोद्भवः अपि तु दूरतः पर्वतप्रदेशादानयनं भवति, तस्य भैषज्यायैव प्राचीनैरपि उपयोगो निर्दिष्टः। यस्य महारसायनकल्पो महिमा च गीयते भारतीये आयुर्वेदे। चिरकालभूगर्भसमाधिना विनष्टानामौषधादीनामनुपलम्भौचित्येन औचित्यवतो यस्य कस्यचिदपि विषयस्य दैवादुपलम्भस्यासाधारणत्वेनानुसन्धेयतया ईदृशस्यासाधारणौषधवस्तुनश्चिरावस्थितस्योपलम्भो भारतीयं प्राचीनवैद्यकं समुद्द्योतयति। एतावति कालान्तरे इतराणि कानि वा वैद्यकचिह्नानि उपलभ्येरन्॥

तत्रैव भूगर्भाद्ये खलु मृगा न तत्रोद्भविनः, अपि तूच्चहिमालयादिषु सम्भविनः तादृशानां शृङ्गाण्यप्यनेकशः पुञ्जीभूतान्युपलब्धानि। आथर्वणसंहितायां हरिणशृङ्गस्य क्षेत्रिय (क्षयकुष्ठापस्मारादि) रोगनाशनोपयोगितया[1] उपलम्भेन वैदिके समयेऽपि तस्य भेषजरूपेणोपादेयताऽऽसीदित्यवगमादत्रोपलब्धानां हरिणशृङ्गाणामप्यौषधार्थं सङ्ग्रहः स्यात्। हरिणशृङ्गाण्यद्यापि शृङ्गपुटाद्यौषधेषु भारतीयैरुपयोज्यन्त एव। तत्र हरिणशृङ्गाण्यौषधार्थं वाणिज्यार्थं सङ्गृहीतानि स्युरिति सर जानमार्शलमहोदयेनापि स्वाशय उद्घाटितोऽस्ति॥

तत्प्रदेशे बहूनि धातुमृन्मयानि क्रीडनकान्यप्युपलब्धानि। काश्यपीये जातकर्मोत्तरीयाध्याये (पृ० ३१६), चरकेऽपि जातिसूत्रीयाध्याये विनोदाय बुद्धिविकासाय च नानाविधपशुपक्ष्याद्याकृतीनां बालक्रीडनकानामुपवर्णनमप्युपलभ्यते। क्रीडनकानामप्यायुर्वेदीयविषयैः सह सम्बन्धो न खल्वाश्चर्यावहः।

been a puzzle...... Mr. Sanaullah, the Archaeological Chemist in India has now succeeded in identifying this substance. It is not an ink, but an ancient medicine called S'ilājit, which is very largely used at the present day in India as a cure for various ills. It is said to be a specific for dyspepsia, diabetes, diseases of the liver and spleen, to regulate the action of the heart and as a good respiratory stimulant and expectorant.

The analysis of this substance made by Dr. Hamid is given in Appendix I......It is the black S'ilājit which excludes from the rocks that have been found at Mohenjodaro. The localities in which it occurs are the lower, central and upper ranges of the Himalayas......'

Mohenjodaro & the Indus Civilization Vol. II—
by John Marshall.

१. हरिणस्य रघुष्यदोधि शीर्षणि भेषजम्। सक्षेत्रियं विषाणया वि षूचीनमनीनशत्॥ अनु त्वा हरिणो वृषा पद्भिश्चतुर्भिरक्रमीत्। विषाणे विष्यगुष्पितं यदस्य क्षेत्रियं हृदि॥ (अथर्व. ३।७।१-२.)

एवमुपलम्भेन भारतीया भैषज्यविद्या इतिहासदृशाऽपि पञ्चसहस्रवर्षेभ्य उपरि आरोहति॥

इहेदमप्यनुसन्धेयं भवति–यथा हि महेञ्जोदारोभूगर्भानुसन्धानेन पञ्चसहस्रवर्षेभ्यो नार्वाचीनत्वं भारतीयसभ्यतायाः स्पष्टीभवति। तथैव प्राचीनलेखवस्त्वादीनां पूर्वलक्षणानां दर्शनेन मिश्रबेब्लोनियासीरियाचीनादिदेशानामपि सभ्यता चतुःपञ्चसहस्रवर्षैर्वर्षीयसी निश्चीयते। पुराकालेऽपि सभ्यतासमृद्धतया लक्ष्यमाणेष्वेषु प्राचीनदेशेषु बहुशो ज्ञानविज्ञानविशेषैरपि भवितव्यम्। तत्रापि विशेषतो जीवनोपयोगिन्या व्यावहारिक्या भैषज्यविद्यया त्ववश्यमेव भवितव्यम्। समुन्नतानां प्राचीनदेशानां भैषज्यविषये आत्मीयानि पूर्वस्रोतांस्यपि भवेयुः। पेपेरीनिर्दिष्टानि पक्षिरुधिर–शूकरादिमांसमेदः–कच्छपमस्तिष्क–मनुष्यशुक्रौषधादीनि भारतीयायुर्वेदसम्प्रदाये प्रायः अनुपलभ्यमानानि तदीयासाधारणपूर्वस्रोतसः प्रवृत्तानीव प्रतिभान्ति। एवमन्यत्रापि स्वस्वपूर्वसम्प्रदायागता असाधारणा अपि विषया भवेयुः। बाह्लीकभिषजः काङ्कायनस्य निदर्शनेन अन्येऽपि कति वैदेशिका भिषजो भारतीयैः, भारतीया अपि वैदेशिकैर्विज्ञाता भवेयुः। अस्यां काश्यपसंहितायां खिलभागे सूतिकोपक्रमणीयाध्याये—'वैदेश्याश्च प्रयच्छन्ति विविधा म्लेच्छजातयः' इत्यत्र (पृ० ३०७) वैदेश्या विविधा म्लेच्छजातय इति सामानाधिरण्योल्लेखेन भारताद्बहिर्भूता बहुविधा म्लेच्छजातय एतद्ग्रन्थकृताऽपि परिज्ञाता अवगम्यन्ते। म्लेच्छशब्दो महाभारतहरिवंशादिप्राचीनग्रन्थेष्वपि दृश्यते। ययातेरुपाख्याने पितुराज्ञाया अननुपालनेन तुर्वसुरनुद्रुह्युश्च शापेन वेदबाह्यानां म्लेच्छानां वंशप्रवर्तका उल्लिखिताः सन्ति। 'प्रत्यन्तो म्लेच्छदेशः स्यादि'ति कोशकृदुल्लेखेन भारतप्रत्यन्तदेशस्थानां म्लेच्छानामयं निर्देशः स्यात्। किं वा—पाणिनीयधातुपाठेऽपि म्लेच्छधातुरुपात्तः। महाभाष्यकृता पतञ्जलिना 'तेऽसुराः हेऽलयो हेऽलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुस्तस्मान्म्लेच्छा मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम्' इत्युल्लिख्य असुरा म्लेच्छतया निर्दिष्टाः। सिन्धुतटोपलब्धवस्तुषु बहुशः सङ्केतसाम्योपलम्भेन इरानियन्–असीरियन्प्रभृतिप्राचीनम्लेच्छजातीनां भारतीयानां च मिथः परिचयस्यावगत्या तदात्वे प्रसिद्धा इरानियन्–असीरियन्प्रभृतयो विशेषज्ञानवत्यो भारतबाह्या विविधा म्लेच्छजातयोऽत्र म्लेच्छशब्देनावबोधिता अपि सम्भवन्ति। सोऽयं वैदेश्यम्लेच्छवैद्योल्लेखः खिलभागगतत्वेन जीवकसमये वात्स्यसमये वा देशान्तरीयवैद्यकप्रक्रियाविशेषस्याप्यवगमेन तेन निर्दिष्टोऽपि सम्भवति। चरकेऽपि विमानस्थाने 'विविधानि हि भिषजां शास्त्राणि प्रचरन्ति लोके' इति लोके नानाविधभेषजशास्त्रप्रचारो निर्दिष्टः। अद्यत्वे सौरचिकित्सा-जलचिकित्सा–भैषज्यचिकित्सा–शस्त्रचिकित्सादिनानाप्रक्रियाणां प्रचारवत् तदात्वे भारतेऽन्यत्र विदेशेऽपि प्रक्रियान्तरैरपि भैषज्यप्रचारोऽवबुध्यते। वेदकालादनुवर्तमानस्य भारतीयायुर्वेदसम्प्रदायस्य भारतीयत्व एव समर्थितेऽपि कालक्रमेण भारतीयविष-

प्राचीनतत्त्वदेशभैषज्यविमर्शस्यावश्यकता.

याणां वैदेशिकसम्प्रदायेषु, वैदेशिकसम्प्रदायविषयाणां भारतीयसम्प्रदाये न्यूनाधिकैरंशैरनुप्रवेशः प्रतिफलनमपि सम्भवति । प्राचीननानादेशगतानां प्राचीनभैषज्यविषयाणां यथावदनुसन्धानमन्तरा तदीयं तादात्विकं भैषज्यसम्बन्धिज्ञानं किमात्मकं किमवस्थं चासीत्, स्वीयमेव तेषामसाधारणं पूर्वस्रोतः, किं वा परकीयस्रोतसोऽपि प्रतिफलिता विषया आसन् इति नैतावता सामान्यदर्शनेन किमपि परिच्छेत्तुं शक्यते । तत्र तत्र गतानामुपरिकल्पविषयाणां यथावद्विचारात् प्राक् परिच्छेददृष्टिः सम्भावनायामेव पर्यवस्यति, न पर्यन्तभूमिं प्रत्येति । प्राचीनदेशगतान् प्राचीनविषयानेकैकश उपादाय यथावदालोचनं यदि विधीयेत, तदा अस्मिन्नंशेऽनयोः सम्प्रदाययोः साम्यम्, अनयोर्वैषम्यं, समानानामेषां विषयाणामितोऽत्र प्रतिफलनम्, इमा एतदीया असाधारणाः पूर्वदृष्टय इति परिच्छेत्तुं कोऽप्यालोक उद्भवेत् । यद्यपि प्राचीनदेशानां पूर्वपरिस्थितेर्यथावदवगमकानि पूर्वचिह्नानि कालवशाद्बहुशो विलुप्तानीति सामस्त्येन यथावदवबोधो दुष्करः प्रतिभाति, तथाऽपि यान्यद्याप्यवशिष्टानि उपलभ्यन्ते, तेष्वपि विचारालोके उन्मील्यमाने किमप्यन्तः स्थितं स्वरूपं यथासम्भवं प्रकाशेत । मिश्रे प्राचीनभैषज्यसम्बन्धीनि त्वक्पत्ररोगप्रतीकारव्यवस्थापत्रादीनि यान्युपलभ्यन्ते, असीरियायां हेमूर्विन्सामयिकाः शिलालेखगता भैषज्यसम्बन्धिनस्त्रयोदशलेखा उपलब्धाः, इरानीयप्राचीनावेस्ताग्रन्थे वेन्दिदादयस्नयशतप्रकरणेषु भैषज्यसम्बन्धिनो ये विषया दृश्यन्ते, सुमेरियन्प्रदेशभूगर्भनिर्गता इष्टकोत्कीर्णलेखा बृटिशम्यूझियमसङ्ग्रहालये सङ्गृहीताः श्रूयन्ते, तेष्वपि भैषज्यसम्बन्धिनो विषयाः सन्तीत्युच्यते । चीनदेशेऽपि प्राचीनभैषज्यसम्बन्धिनो विषया लभ्यन्ते । गवेषणेऽन्येऽप्युपलभ्येरन् । ते नाद्यापि सम्यक्परीक्षिताः सन्ति । चतसृषु दिक्षु विचारदृशमप्रसार्य स्वस्वसाम्प्रदायिकपद्धतेरेव मौलिकत्वाभिनिवेशेन पर्यवष्टम्भे एकतः प्रवणा दृष्टिर्वास्तविक्याः परिस्थितेः परिच्छेदाय नौचित्यमावहति । तेन पूर्वेतिवृत्तैर्मेहेञ्जोदारादिनिर्गतपूर्ववस्तूपलम्भैः पूर्वविचारविशेषैश्च पञ्चसहस्रवर्षाधिकसभ्यतालोकेन नयनमुन्नमयतां पुराकालेऽपि मिथः परिचययातायातादिसम्पर्कं दर्शयतां भारतमिश्रेरानचाल्डियावाह्लीकबेब्लोनियासीरियाचीनादिदेशानां पौर्वकालिक्यामुपरिकक्षायां विचारदृशमुन्नमय्य प्राचीनदेशानां ये यावन्तः प्राचीनभैषज्यविषया उपलब्धा उपलभ्येरंश्च तान् सर्वान् पुरो निधाय भारतीयप्राचीनायुर्वेदपरिस्थितिं चानुसन्धाय समविषमतुलनादृशा कुत्रत्याः के विषयाः किमुपक्रमाः, किमुपज्ञाः, कोंऽशः कुत्र प्रतिफलितः, कस्य प्रभाव आलोको वा कस्य गौरवाधानाय समृद्धये च बभूवेति विचारस्य समुचितोऽयमवसर उपस्थितोऽस्ति । अन्त्यालोकमुद्वहतोऽर्धवयस्कस्य ग्रीसवैद्यकस्य भारतीयवैद्यके प्रभावपातशङ्का यातयामैवेत्यलमतिविस्तरेण ॥

---

(५) उपसंहारपरिच्छेदः—

प्राचीनाचार्याणां गौरवानुसन्धानम्

विदितमेवैतद्विदुषां, पूर्वसमये धन्वन्तरिकश्यपात्रेयादिभिराचार्यैर्विचारशाणनिघर्षणेनोज्ज्वलीकृतानि सिद्धान्तरत्नानि पाश्चात्यविज्ञानभास्करप्रभातरलितदृष्टिभिरपि सम्प्रति सबहुमानं पर्यालोच्यन्ते, उपादीयन्ते, प्रशस्यन्ते चेति कियानगाधो विचारोदधिः पूर्वेषाम् । यत्र चिरं निरुद्धनिश्वासमवगाढैः पाणिपूरं रत्नान्यासाद्यन्ते । ईदृशा अत्युच्चा ग्रन्थविशेषाः पूर्वविभूतयो भारतस्य । एत एवाद्यत्वे उपलभ्यमाननिबन्धेषु सर्वप्राथम्यगौरवदृशा वीक्ष्यन्ते । एषां सूक्ष्मया दृशा विषयानुसन्धाने प्रत्येकवाक्यानि सारनिष्कर्षरूपाणि सूत्रमयानि ज्ञायन्ते । यानि परिष्कृतप्रज्ञावैभवैः प्रवचनेन विशालविषयदिग्दर्शनरूपतामानेतुं शक्यन्ते । भूगर्भान्नानारत्नानीव निशितप्रज्ञाविदलिताद्यदन्तर्भागात् संख्यातीतानि सिद्धान्तरत्नान्यासाद्यन्ते कृतश्रमैः । पुरा समये एवंविधाः सुसंस्कृता विचारा अवगम्यमानास्तादात्विकीं विमर्शोन्नतिं यथाऽवबोधयन्ति, ततः परमप्येवं क्रमेण विचारविवृद्धेरवगमाय नैकमपि निदर्शनं लभ्यते । शल्यप्रस्थाने सुश्रुतसंहितायाः पश्चात् केवलं वाग्भटप्रभृतिभिर्द्वित्रैर्लेशतः शल्यप्रक्रिया निर्दिष्टा । साऽपि सौश्रुतविज्ञानस्यैवांशतश्छायाग्रहणमनुभावयति । किंनामास्मिन् प्रस्थाने शल्यविज्ञानं तस्मिन्नेव प्रतिष्ठितं परिनिष्ठितं च । ऐतिहासिकदृशाऽप्यन्ततो जीवकपर्यन्तमपि तथा विज्ञानकौशलमवगम्यते । तथोन्नतिभूमिकामारूढं तद्विज्ञानमेकपदे कुतो विलीनम् । शस्त्रक्रियायां लेशतो व्यत्यये ऽनर्थशङ्कासमुदयो वा, भीषणतादृशा परिहरणं वा, शमप्रधानैर्ब्राह्मणादिभिरुपेक्षणं वा, धर्मशास्त्रकारैश्चिकित्सावृत्तेरनभिनन्दनं वा, अध्यात्मवादविजृम्भणेन हिंसामयत्वानुसन्धानं वा, अहिंसावाददृशपारमितसिद्धान्तविकासो वा, किन्नाम निदानं स्यात्, येन सर्वोपकार्यपि तद्विज्ञानं तद्धस्तकौशलं तदुपदेशनं तदुपकरणपरिष्करणं च द्रुतगत्या ह्रासमुपगच्छत् विद्वत्समाजहस्तादधो निपत्य भारते सम्प्रति विद्याविज्ञानशून्यासु नापितादिजातिषु लेशतोऽवशिष्यते । धन्वन्तरिसदृशैः पूर्वाचार्यैस्तथा समुन्नमितेयं पूर्वविद्याऽद्यत्वे तादृशानां हस्तमवलम्ब्य कार्श्येन वर्तमाना उत्तरोत्तरं ह्रासमुपेत्य हन्त ! दीपनिर्वाणवन्निर्वातुं प्रतीक्षते । गुणग्राहिभिरुन्नतिशीलैः पाश्चात्यविद्वद्भिरर्वाक्समयेऽश्रान्तप्रवर्तितैर्विचारैः परिष्करणैर्नवनवप्रयोगानुभवैश्चाऽपरिचेयरूपान्तरमापाद्य शल्यविद्या, गर्भभैषज्यं, बालभैषज्यं, कायचिकित्सा, विकृतिपरीक्षोपायविशेषादयश्चाद्यत्वे विशेषत उन्नतिपथमारोप्यन्ते । येन विगलितनिजपूर्वविद्याबलं भारतमपि सम्प्रति सर्वतः प्रसरन्त्याः पाश्चात्यप्रक्रियाया विज्ञानबलावष्टब्धेन हस्तकौशलेन साधु समुपक्रियते । न केवलं शल्यप्रस्थानमेतदवस्थं; शालाक्यादिप्रस्थानान्तराणि तु यथोद्भूतानि तथैव जराजीर्णभावमुपगतानि । कायचिकित्साप्रस्थाने पश्चादपि सहस्रशो भैषज्यविद्याविदः प्रादुरभूवन्, शतशो वैद्यकग्रन्थाश्च निरमीयन्त । येषां समूहनेऽद्यापि महान् ग्रन्थराशिः

समीक्ष्यते। परमात्रेयादिमहर्षिसमये यादृशाः सिद्धान्ता विचाराश्चान्तर्विज्ञानबलेनाहमहमिकया प्रादुर्भूय प्रस्थानमिममुज्ज्वलमकार्षुः, नातः परं तादृशा महार्घा अभिनवा विचारोन्मेषाः पुनस्तत्प्रकाशातिशयाय प्रादुर्बभूवुः। पूर्वानेव सिद्धान्तानुपादाय यथाकथमपि तथेतरथा भङ्गीभेदेन वा निदर्श्य कालवशेन नवानुभूतैरौषधादिभिः केवलं संवर्धिताः पूर्वानुवादरूपाः संग्रहरूपा वा निबन्धा उदेत्य नवानि शरीराणि भासयन्ति। भैषज्यविषये विशेषतः समीक्षणे धातुरसभैषज्यप्रस्थानं नवनवयोगौषधाद्याविष्करणेन नवानुभवानुसारेणानेकग्रन्थनिर्माणेन श्रापदपि समुपबृंहितमालोच्यते। यदिदानीमपि सर्वत आयुर्वेदीयभिषग्भिरेतदीयः पन्था उपयोगः प्रयोगः सफलता च उपादीयते। यदीयो विशेषप्रचारोऽद्याप्यायुर्वेदविद्यायाः प्रस्थानान्तराणां च संरक्षणं करोतीति नेयमत्युक्तिः स्यात्। प्राचीनैर्महर्षिभिरिव ततः परमपि भैषज्यकोविदैर्विमर्शपरम्परानुवृत्त्या नवनवाः सिद्धान्ता निरकासिष्यन्त, पूर्वेऽपि सिद्धान्ताः पर्यष्करिष्यन्त, अपूर्णांशा अपूरयिष्यन्त, आनुभविकाः संस्कारविशेषा उपादेक्ष्यन्त, उच्चविचारसम्भृतानि प्रौढतमानि निबन्धरत्नानि पुनः पुनर्निरमासिष्यन्त, तर्हि भारतीयमायुर्वेदविज्ञानमप्येतावता समयेनोन्नतिशिखरमारोक्ष्यत। कालवशेनोपेक्षया मालिन्यमुपेतस्य भारतीयायुर्वेदस्य गौरवमनुपश्यन्तो बहवो वैद्यवरा विपश्चितोऽस्याद्यत्वे प्रचाराय परिष्कारायोपष्टम्भाय समुन्मीलितदृशो नवविचारमयान् निबन्धान् प्रचारसंस्थाः परिष्कारमार्गानौषधनिर्माणशालादींश्च प्रादुष्कृत्य पुष्टये प्रवर्तमाना दृश्यन्ते। आप्ततमैः श्रीयुतगणनाथसेनमहोदयैः प्रत्यक्षशारीरसिद्धान्तनिदाननिर्माणेन प्राचीनशारीरावयवविज्ञाने रोगनिदानेऽपि विशेषान्तराणि बहुश उद्भावितान्यवलोक्यन्ते, श्रीयामिनीभूषणरायकविरत्नमहोदयेन रोगविनिश्चयशालाक्यविषप्रसूतिविषयाणि लघुतन्त्राणि निर्मितानि, डाक्टरबालकृष्णशिवराममुञ्जेमहाशयेनापि नेत्रचिकित्साविषये कोऽपि ग्रन्थः प्रकाशितो वर्तत इति संस्कृतभाषानिबद्धान् नवनिबन्धान् विलोक्य महदिदमाशास्थानमुदेति। जराजीर्णाऽपीयं भारतीयायुर्वेदविद्या जागरूकाणां सूक्ष्मधियामुद्योगिनां विपश्चितां भारतीयानामितरेषां च सहयोगिनामवलम्बरसायनेनैव च्यवन इव पुनर्यौवनमासादयिष्यतीत्याशास्यते। समयवशेन बहुषु विषयेषु वैज्ञानिक्या प्रगत्या, परिष्कृतया रासायनिकप्रक्रियया, नवोद्भावितैर्दूरवीक्षणान्तर्वीक्षणादियन्त्रविशेषैः, नवोन्मेषवतां तत्तद्देशविदुषां साक्षाल्लेखनिबन्धादिद्वारा वा मिथो विमर्शैः, शारीरावयवसूक्ष्मेक्षिकया, प्रत्यग्रविचारमयानां शतशो निबन्धानां प्रकाशनेन च पाश्चात्त्यविद्वद्भिरद्यत्वे समुन्नतिपथमारोपिताया अनेकशाखाया भैषज्यविद्याया आलोचने प्राचीना भारतीयायुर्वेदविद्या केषाञ्चिद्विचारदृष्टौ स्थूलप्रतिभासमयी बालक्रीडामयी वा साम्प्रतं प्रतिभासतां नाम; परं दुर्गमगिरिनदीवनान्तरालदुष्करदेशान्तरोपगमतत्तद्विद्वदन्तरसम्पर्कविमर्शविशेषे पुरासमये वनमृगसहवासिभिरलब्धयन्त्रादिभौतिकसाधनविशेषैरपि केवलं प्रणिधानशक्तिनिशातान्तः प्रज्ञाबलावलम्बैः प्राचीनाचार्यैरात्रेयकश्यपधन्वन्तर्यादिभिरुद्भाविता विचाराः, ये साम्प्रतिकोन्नततरविज्ञानपरिष्कृतदृष्टिभिरप्यद्यापि समाद्रियन्त एवेति महद्गौरवस्थानं समीक्ष्यते। भारतीयैरन्यैरपि एतद्विज्ञानसम्पदोऽधमर्णैरविस्मरणीय एषामनुग्रहः। ते ईदृशाः पूर्वे आचार्याः शतशः शिरोभिरभिनन्दनीया एवेति मे दृढः प्रत्ययः॥

प्राचीन-ग्रन्थानां विलोपो रत्ना च

दैवाद्युगादारभ्यार्याणां ज्ञानविज्ञानप्रवाहः संहिताब्राह्मणोपनिषत्सूत्रतन्त्रभाष्यटीकोपटीकानिबन्धादिरूपेणानेकशाखाभिः प्रवहन्नृष्याचार्यनिबन्धकारादीनां विचारधाराभिरुपबृंह्यमाणो मानवक्षेत्रं विष्वक् सरसीकरोति। येनाद्यत्वे तस्य विज्ञानस्य शतशो विभागाः, प्रतिविभागमनेके पूर्वाचार्याः, तेषां तारतम्यवन्तो विभिन्ना विचारा अप्यवगम्यन्ते। परम्, आर्याणां मूलसर्वस्वभूतस्याद्यविज्ञानमहाकल्पतरोर्भगवतो वेदस्यापि कति शाखास्तदङ्गोपाङ्गान्यपि विच्छिन्नविकलाङ्गभावमापद्याद्यत्वे विलोपमुपागमन्। कति शाखा नामतोऽपि व्यलुप्यन्त। कासाञ्चित्संहिताब्राह्मणसूत्रादिषु क्वचित्किञ्चिदवशिष्यते। पूर्वेषां महर्षिप्रभृतीनामाचार्याणामुपदेशरूपा लेखा अपि विलोपमुपागमन्। केषाञ्चिदितराचार्यैः क्वचनोल्लिखिता मतविशेषा नाममात्राणि केवलमवशिष्यन्ते। हन्त कियतां नामान्यपि विलुप्तानि भवेयुः!॥

किं बहुना, एकस्मिन्नपि विषये उपलभ्यमानस्यैकस्यापि पूर्वग्रन्थस्य पृष्ठपर्यावर्तने कियन्तः ततोऽपि पूर्वे, तैरनुस्मृताः, तैस्तदात्वे विज्ञातग्रन्थाः, परिशीलितविचारविशेषा आचार्याः केवलं नामतोऽस्माभिरिदानीं ज्ञायन्ते। यास्कनिरुक्ततोऽन्येऽपि वेदार्थनिर्वक्तारः, पाणिनीयसूत्रतः शाकल्यगालवगार्ग्यापिशलिकाश्यपस्फोटायनादयः पूर्वे व्याकरणाचार्याः, पाराशर्यकर्मन्दशिलालिकृशाश्वादयो भिक्षुनटसूत्रादिप्रस्थानान्तराचार्याश्च, कौटिलीयार्थशास्त्रतः पराशरोशनोविशालाक्षकौणपदन्तभरद्वाजवातव्याधिबाहुदन्तीपुत्रपिशुनादयः पूर्वेऽर्थशास्त्राचार्याः, सायनीयवेदभाष्यतो मेधातिथिशाकपूण्यग्निस्वाम्यादयः पूर्वे वेदव्याख्यातारः, पूर्वोत्तरमीमांसासूत्रतः आश्मरथ्यकाशकृत्स्नौडुलोमिबादरिप्रभृतयः पूर्वे वेदोपनिषदर्थमीमांसकाः, एवमुपलभ्यमानश्रौतस्मार्तदर्शनज्यौतिषादिग्रन्थेभ्योऽपि सहस्रशः पूर्वे संहितातन्त्रसूत्रव्याख्याननिबन्धादिकर्तारो महर्षिप्रभृतयस्तत्तद्विषयाचार्याः केवलं नामशेषा विज्ञायन्ते। कियन्तो भारतीया दार्शनिकादयो बौद्धाश्च ग्रन्थाश्चीनतिब्बतभाषयोरनुवादरूपेणैव लभ्यमानाः केवलं छायारूपेण वर्तन्ते। उपसहस्रवर्षपूर्वभूता अपि बौद्धग्रन्थाः शतश उच्छिन्नाः। इत्थेवं श्रुतिस्मृत्यागमवेदाङ्गोपाङ्गदर्शनादिषु बौद्धार्हतादिसम्प्रदायान्तरेषु च हन्त क्व वा रोमहर्षणो महान् विप्लवो न!!॥

अस्मिन्नायुर्वेदीयविषयेऽपि उपलभ्यमानानामात्रेयसुश्रुतभेडसंहितानामस्याः काश्यपसंहितायाश्चोल्लेखतः काप्यवार्योविदवामकवैदेहकाङ्कायनहिरण्याक्षशौनकपाराशर्यगार्ग्यमाठरकौत्समौद्गल्यकुशिकसुभूतिमार्कण्डेयकरवीर्यप्रभृतयो बहवः प्राञ्च आयुर्वेदाचार्या ज्ञायन्ते, येषु केषाञ्चिद्वचनानि मतान्यपि तत्र तत्रोद्धृतान्युपलभ्यन्ते। क्व विलीनानि तेषां ग्रन्थरत्नानि। तेषां सर्वेषामुपलब्धिसम्भवे सङ्कलने महत्तम आयुर्वेदीयग्रन्थराशिः पुरो भवेत्। उपलभ्यमानद्वित्रग्रन्थानामन्तस्तलमवगाह्य

पर्यालोचने प्रातिभज्ञानालोकोज्ज्वलाः शतशो गभीरतत्त्वोपदेशा अनुभूयन्ते। यदि नामैवमेव नानाग्रस्थानेषु विभक्ताः पूर्वेषां सर्वेषां ग्रन्था अलप्स्यन्त, तदा कियद्भिः सद्विचाररत्नैरापूर्णान्यभविष्यन् विविदिषूणां हृदयभवनानि। कारुणिकैः पूर्वैर्महर्षिप्रभृतिभिर्विचारधारारसेन विज्ञानकल्पतरोः संवर्धनेनानुगृहीता अपि सर्वाङ्गपुष्टैः फलैर्वञ्चिता इवास्महे ॥

पुरासमयात् तदा तदोपजातैः प्राकृतिकैर्वैकृतिकैराकस्मिकैश्च क्षोभैः राष्ट्रीयैर्मिथो युद्धादिभिर्नैतिकैरुपद्रवैः, वारं वारं वैदेशिकनृपाणां विध्वंसिभिराक्रमणैः, साम्प्रदायिकैश्च परस्परं सङ्घर्षैः, तक्षशिलानालन्दाविक्रमशिलादिगतानां महतां पुस्तकालयानां भस्मसाद्धूलिसाद्भवनैः, जलाग्न्यादिविप्लवैश्च सहस्रशः प्राचीनानि ग्रन्थरत्नानि विलयमवापुः। न केवलं पूर्वमेव, अद्यापि प्राचीनविद्यास्थानेषु ग्रामीणपर्णशालागतानां शतशो ग्रन्थानामग्न्युत्पाततः क्षणाद्भस्मीभावेन, कियतां पूर्वैर्विद्वद्भिः सङ्गृहीतानामपि तदीयपरिवारसन्तत्यादिषु संरक्षकस्याभावेनानास्थया ब्रह्मपुत्रमुखनदीप्रवाहविपणिविकिरणैर्भूगर्भालिञ्जरधूलिराशिष्वज्ञातवासचर्यया जराजीर्णतया कीटोदरपातादिना च अवशिष्टा अपि ग्रन्था उत्तरोत्तरं विनाशमुपयान्ति। सर्वमिदं पर्यालोचयतः कस्य विद्यानुरागिणो मनः शतधा न विदीर्येत। विद्यामयस्य प्राचीनकोशस्यैवं विलोपो महते खेदाय !!! ॥

अनभिमतं प्राचीनविद्याविनाशं प्रतिरोद्धुं शतशः कृतप्रयत्नाः पाश्चात्त्या भारतीयाश्च केचन गुणग्राहिणो दयालव इतस्ततो गवेषणायै पर्यटन्तो विनाशोन्मुखान् कति प्राचीनग्रन्थानासादयन्नुददीधरँश्च। खोटानादिप्रदेशभूगर्भादिभ्य उद्धृता बावरमेन्युस्क्रिप्टाद्याख्याभिः प्रसिद्धा नावनीतकादयो विकलाङ्गाः पूर्वलेखा अद्यत्वे निदर्शनीभवन्ति। चीनतिब्बतादिप्रदेशयात्रया तत्रोपलब्धेभ्यो मूललेखेभ्योऽनुवादेभ्यश्च केचन कैश्चिदुद्भ्रियन्ते च। बहुमुखैरभिनन्दनीय ईदृशानां प्रयासः। बहुशो विनाशोन्मुखा प्राचीनविद्या वदान्यानां गुणग्राहिणां श्रीमतां धीमतां च करावलम्बमेवावशिष्टात्मरक्षासाधनमपेक्षते। येऽद्याप्यवशिष्यन्ते पुरातनाः सद्ग्रन्थास्ते शतशः प्रयत्नैरपि गवेषणीयाः समुद्धरणीयाश्च शक्तिमद्भिरिति बलवती प्रत्याशा ॥

पुरातनवस्तूनि बहिर्दृशा, पुरातनलेखाश्चान्तर्दृशा प्राचीनां परिस्थितिं ज्ञपयन्ति। इमान्यन्तरेण किं नाम यथावद्विज्ञानसाधनं भवेदतीतसमयस्य। पूर्वकालस्य पदार्था लेखा वा ये केऽप्युपलब्धाः किमपि प्राक्तनत्वं न्यूनाधिकभावेन दर्शयन्त्येव। सम्भावनीयकिञ्चित्कालपौर्वापर्येण प्राचीनसभ्यतासमसूत्रावनद्धेषु असीरियन् बेब्लोनियन्–सुमेरियन्–मिश्रादिप्राचीनजातीनां पाश्चात्यदेशेष्वपि कालधर्मानुयायिन्या परिणत्या अलेक्जेण्ड्रियागतविशालपुस्तकालयदहनादिभिः समये समये तत्रोपजातै राजनैतिकैः साम्प्रदायिकैश्च विप्लवैः पाश्चात्यदेशेष्वपि प्राचीना ऐतिहासिका विषया बहुशो विलोपमुपगताः स्युः। तथाऽपि तेषु नानावस्तुभिर्लेखेन च सह शवानां निखननस्य क्वचन मन्दिरकीर्तिप्रस्थ–(पीरामीड्) स्तूप–(ग्रूप) प्रभृतिषु इतिवृत्तलेखनस्य क्वचनेष्टकाशिलाधात्वादिषु ग्रन्थस्येतिवृत्तादीनां च चिरावस्थानायोत्किरणस्य च प्रक्रियायाः पुराकालात् प्रचलिततया तत्र तत्रोपलब्धैः पुरातनलक्षणैः असीरियन्–बेब्लोनियन्–सुमेरियन्–मिश्रादिप्राचीनदेशजातीनामानुक्रमिकप्राचीनसभ्यतापरिस्थितेः समयावधारणेन सह निर्धारणस्यानुकूल्येन अतिपूर्वकालादारभ्यानुवृत्तानां तदीयपूर्वविषयाणां परिज्ञानाय प्रायः सुलभः पन्थाः। भारतीये सम्प्रदाये तु आहितेनाग्निना पात्रादिभिः सह लौकिकाग्निना वा पूर्वकालाच्छवानां दहनस्य व्यवस्थित्या, अवशिष्टवस्त्वन्तराणामपि वितरणादिना उच्छिन्नप्रच्छिन्नभावेन, मन्दिरादीनामपि बहुवारोपजातैर्विप्लवैर्विलुप्ततया, प्राचीनरीत्यामानुश्रविकपद्धत्या संहितासूत्रादीनां प्राचीनग्रन्थानां लेखनाभिरुचेर्विरलतया पश्चाद्भूर्जताडपत्रादिषु विहितलेखानामपि चिरसमयवशेनान्तरान्तराभूतैः पारस्परिकैर्वैदेशिकैश्च क्षोभैर्बहुशो दग्धशीर्णध्वस्तभावोपगमेन भारतीयपुरातनलेखेतिवृत्तादीनामद्यत्वे खोतानकासगरादिभूगर्भगवेषणेन चीनतिब्बतादिगतलेखानुसन्धानादिना वाऽनुसन्धेयपुरातनेतिवृत्तलक्षणानामतिविरलीभावेन, पुराणादिकथानामुपलम्भेऽपि महाभारतीयगणेशोपाख्यानसदृशैरन्तराऽन्तराऽनुप्रविष्टैरर्वाचीनविषयान्तरैरालङ्कारिकदृष्ट्या प्रविष्टाभिरतिशयोक्तिभिस्तत्तत्साम्प्रदायिकहस्तक्षेपैः स्वस्वानुकूलरीत्या पूर्वविषयविलोपपरिवर्तनादिभिश्च मलिनीकरणेन, पुरातनांशानामपि देशान्तरीयलेखशिलालेखभूगर्भोपलब्धविज्ञानादिभिः संवादेन प्रामाण्यस्य साध्यमानतया च अद्यत्वे महेंजोदारोगर्भाद्युपलब्धसदृशानां पर्याप्तसाधनानामनवाप्तिं यावत् भारतस्य सामस्त्येन पूर्वपरिस्थितिर्दुर्ज्ञेयतामुपेत्य तथेतरथा वा कल्पयितुमप्युचितेवासीत्। परमद्यत्वे महेंजोदारोहरप्पादिप्रदेशभूगर्भानुसन्धानोपलब्धैस्तैस्तैर्विषयैः प्राचीनभारतीयपरिस्थितौ बहुश आलोकः प्रदीयते। भारते महेंजोदारोहरप्पादिसदृशाः पुरातनप्रदेशाः गङ्गातीरं यावद्बहुशः सम्भाव्यन्ते। कालक्रमेण अनुसन्धानविवृद्धौ तत्र तत्र भूगर्भशय्यागताः पदार्थाः देशान्तरीयलेखादयश्च यथा यथा प्रकाशमापद्येरन्, यथा वा हरप्पामहेंजोदारोभूगर्भोपलब्धाः पुरातनाक्षरलेखाः केनाप्यंशेनाद्य यावत्पर्यालोचकैः पठ्यमाना अप्यनिश्चीयमानाः समयेन निर्धारितार्थाः पूर्वविषयान् प्रकाशयेयुः, तथा तथा प्राचीनभारतीयं पुरावृत्तं तदालोकेन बहुशः स्फुटीभावं लभेत ॥

अत्रेदमेकं वक्तव्यमपि विवेचकानां पुरः समुपस्थापनीयं प्रतिभाति—अद्यत्वे मुद्रायन्त्राणामितस्ततः प्रचारेण भारते देशान्तरेष्वपि प्रचलिता नवोपलब्धा अप्रकाशाश्च भारतीयग्रन्था बहुशः प्रकाशमुपयान्ति। येनैकस्यापि सहस्रशः प्रतीकान्याविर्भूय गृहे गृहे प्रसरन्तीति प्रचलितानामपि विशेषतो विकासः, अप्रकाशानामपि सर्वसाधारण्येन प्रकाशः, विनैवान्वेषणलेखनाद्यायासमल्पेनैव व्ययेन लाभश्चेति स्वपूर्वतनैरदृष्टाश्रुता अपि बहुशो ग्रन्था अञ्जसा द्रष्टुं परिशीलितुमपि प्राप्यन्त इति महत् सन्तोषस्थानं दृश्यते। परं मुद्रणे समर्थतादृशामसीदार्ढ्येऽपि यथासम्भवं दुर्बलेषु कायगतपत्रेषु प्रकाश्यमानाः दृढताडपत्रकायगतपत्रलिखिततौल्येन चिरमवस्थातुं न पारयन्ति। येन पूर्वमुद्रितानि पुस्तकानि उपशतैरपि वर्षैरद्यत्वे

विकृतवर्णानि शीर्णभावोन्मुखानि दृश्यन्ते । मुद्रितानां सौलभ्येन लेखनकलाया उत्तरोत्तरं ह्रास एव । पदच्छेदस्पष्टताशुद्ध्यादिभिर्मनो हरतां मुद्रितपुस्तकानां सौलभ्येन विद्यमानेष्वपि लिखितपुस्तकेषु न संरक्षणादरदृक् पतति । मुद्रितानां पुनर्मुद्रणमध्ययनाध्यापनपरम्परानुवृत्तानामेव सम्भवि, तदननुवृत्तानां न पुनर्मुद्रणमिष्यते । कति तादृशा ग्रन्था अद्यत्वे दुर्लभा दृश्यन्ते । मुद्रणदशा लेखनात्, सकृदुपजातमुद्रणदशा पुनर्मुद्रणाच्च उभयतो वञ्चितास्ते प्राचीनग्रन्था उत्तमा अपि सन्तः पूर्वमुद्रितपुस्तकायुरवसाने एकद्वशतवर्षैः सर्वत एकदैवोच्छिद्येरन् । कालवशेन आनुश्रविका अन्येऽपि बहवः प्राचीना विषया नास्तिभावमुपेता एव, अवशिष्यमाणाः प्राचीनानां गौरवस्मारका ग्रन्था अपि हस्ताच्च्युता उत्तरकाले नाम्नाऽप्यविज्ञेया भवेयुरिति महत्यनर्थशङ्का । तमिमं भाविनमनर्थं पूर्वतः पर्यालोच्याविलोपनीयानां ग्रन्थानां कतिपयान्यपि प्रतीकानि सुदृढस्थायिपत्रेषु मुद्रकैः प्रकाशयितुं प्रवृत्तिर्विधेया । येन कतिपयान्यपि प्रतीकानि सुचिरमवस्थाय नाल्पेन समयेन विलोपाय जायेरन् । पुस्तकालयेषु तादृशान्येव दृढप्रतीकानि बहुमूल्येनापि सङ्गृह्य रक्षणीयानि । नैतावदेव, कदाऽप्यविलोपनीयानि पूर्वसर्वस्वरूपाणि संहिताब्राह्मणसूत्रभाष्यादीनि त्वध्ययनपरम्परायां प्रविष्टान्यप्रविष्टान्यपि बहुव्ययेनापि ताडपत्रेषु दृढतरकायगतादिपत्रेषु वोत्तममस्या विलेख्य पुस्तकालयेषु संरक्षितुं विद्योद्धारव्रतानां श्रीमतां शुभा दृष्टिः प्रसरेत् । येन दृढकायगतपत्रलिखितानि सप्ताष्टशतवर्षायूंषि, ताडपत्रलिखितानि सहस्राधिकवर्षायूंषि अद्यत्वे इवातः परमपि सुचिरमवतिष्ठेरन् । भूर्जपत्रीयं पिप्पलादशाखासंहितापुस्तकमेकमप्यवशिष्टं चिरेणाद्य तच्छाखोपलब्धयेऽभूदेव । चिरं विलीनमपि प्रमाणवार्तिकं ताडपत्रीयविन्यासकवचरक्षितं सत् सहस्रं वर्षाणि गुहायां निलीयाप्यद्यत्वे पुनरुज्जीवति । किं बहुना, इष्टकोत्कीर्णलेखाः शिलालेखाश्च भूगर्भात् प्रादुर्भूय नाम्नाऽपि विलुप्तानां त्रिसहस्रवर्षपूर्वतनानामपि सभ्यतां प्रकाशयन्ति । नैतावदेव, महेञ्जोदारो-हरप्पादिनिर्गता मुद्राविशेषाः पञ्चसहस्रवर्षेभ्योऽपि पूर्वतनीं सभ्यतां प्रकाश्य भारतस्य प्राचीनं मुखं समुज्ज्वलयन्ति । तावदाधिक्यं मा भवतु नाम, तथाऽपि ताडपत्रीयलेखाः सहस्राधिकवर्षाणि तु न विलुप्येरन्नेव । इदमेव काश्यपसंहितापुस्तकं ताडपत्रीयत्वेनैव सम्प्रति चिरेणात्मनः प्रकाशेनाविलोपनिदर्शनमजनिष्ट । चिरसंरक्षणसाधनमिदं धीमद्भ्यः श्रीमद्भ्योऽवश्यमेव रोचेतेत्याशास्यते । इत्यलं बहुना ॥

नेपालग्रन्थमालायाः प्रथमप्रकाशः

श्रीश्रीश्रीमन्नेपालमहाराजानां युद्धशमसेरजङ्गबहादुरराणानां नानाविधपदवीविभूषितानां विद्यानुरागं स्वदेशोपलब्धप्राचीनग्रन्थविशेषप्रकाशनाभिरुचिं च बहुशः समभिनन्द्य उपोद्घातोपन्याससमन्वितेयं काश्यपसंहिता नेपालग्रन्थमालायाः प्रथमस्तबकरूपेण प्रकाश्यते ॥

साहाय्यसमादरः

एतस्मिन्नुपोद्घातलेखे प्राचामर्वाचां वा प्राच्यानां पाश्चात्यानां च येषां विपश्चितां ग्रन्था विचारविशेषाश्चोद्धृत्य निर्दिष्टाः सन्ति तेषां नितराम्धमर्णोऽस्मि । कृतज्ञतया तदनुस्मरणमन्तरेण नान्यमृणनिर्यातनस्य पन्थानमवगच्छामि । एतद्ग्रन्थप्रकाशने संशोधने च श्रीयुतासतमविद्वद्वरवैद्ययादवजीत्रिकमजीमहाभागानां सपरिश्रमं साहाय्यं बहु मानयँस्तेभ्यो धन्यवादानुपहरामि । अस्मिन् उपोद्घातलेखेऽसाधारणसहयोगदायितया प्रूफसंशोधनेऽपि साहाय्यदानेन पण्डितवरसोमनाथशर्मणेऽपि शतशो धन्यवादाः । डाक्टरगोकुलचन्द्रमहाशयेन मास्टर-इन्द्रविहारीशरणेन च यदत्र आङ्ग्लग्रन्थगतकतिपयस्थलसूचनादानं व्यधायि, तदनयोरप्युपकृतिं न विस्मरामि ॥

ईदृशे गहने विमर्शे न केवलमायुर्वेदीयग्रन्थानां संस्कृतग्रन्थान्तराणां च परिशीलनं पर्याप्तं भवति, अपि तु भारतीयानामिव ग्रीसमिश्रेरानादिदेशदेशान्तरीयेतिवृत्तानां परिज्ञानं, नानाभाषाविषयविज्ञानं, प्राच्यानां पाश्चात्यानां च विपश्चितां ग्रन्थाकाराः प्रकीर्णलेखरूपा ये यावन्तो विचाराः सन्ति तेषामनुसन्धानम्, ऊहापोहकौशलम्, अन्तरालोकोदयेन यथार्थवस्तुदृष्टिः, इतीदृशानि बहुशः साधनानि अग्रेगमयितुं पारयन्ति । ईदृशैः प्रदीपैरनुद्भासिते पथि सञ्चरितुं कृतसाहसस्यास्य जनस्य कतिपयाः पदन्यासाः कथमभिलषितस्थानस्य प्राप्तये भवेयुः । दुर्बलैरवयवैर्विषमे पथि सञ्चरणं साहसमिव प्रतिभासेत । परं 'नभः पतन्त्यात्मसमं पतत्रिणः' इति न्यायेन यावद्बुद्धिबलोदयमुचिते वर्त्मनि वाचां विनियोगं वाग्देव्याः परिचर्यां मन्यमानो विशेषतः अपरिशीलितवैद्यविद्योऽपि आयुर्वेदप्रकाशकान् प्राचीनमहर्षीननुध्यायन् केवलमेतन्मुद्रणावसरं यावत् यथावसरलाभमायुर्वेदीयग्रन्थानामस्याः संहितायाश्च साहित्यदृशा पर्यालोचने यत्किमपि मनसि प्रतिभातमुपन्यस्य, अनभ्यस्तमार्गसुलभासु भ्रान्तिषु क्षमामभ्यर्थयन्, विद्यानुरागिणां महनीयानां विपश्चितां विनोदाय, वैद्यमहाशयानां प्रोत्साहनाय चेममुपोद्घातपुष्पाञ्जलिं करकमलेषु उपहरामि ॥

नेपाल-काष्ठमण्डपराजधान्यां
वै० १९९४ श्रीधन्वन्तरिजयन्तीदिने

विदुषां विधेयः—
हेमराजशर्मा

परिशिष्टम्

ज्वरसमुच्चये काश्यपसंहितायाः श्लोकसंवादः—

ज्वरसमुच्चयो नाम ज्वरविषयेऽनेकप्राचीनार्षमूलवचनानामेकत्र सङ्ग्रहरूपः प्राचीनो ग्रन्थः, यस्य मत्सङ्ग्रहालये ताडपत्रीयं पुस्तकद्वयमस्ति । तयोरेकं प्राचीनाक्षरलिखितमपूर्णं, यस्यान्ते लेखसमयः ४४ नेपालसंवत्सरो निर्दिष्टोऽस्ति । अपरं च पूर्णं नेवाराक्षरलिखितं लिप्यनुमानेन इतोऽष्टशतवर्षप्राचीनं सम्भाव्यते । पुस्तकलेखसमयोऽप्येवं प्राचीनः, तन्निबन्धनं कदा स्यात् । तत्र आश्विन–भारद्वाज–कश्यप–चरक–सुश्रुत–भेड–हारीत–भोज–जतूकर्ण–कपिलबलानां प्राचीनाचार्याणामेव ज्वरविषयकाः श्लोकास्तत्तन्नामनिर्देशेन सह सङ्गृहीताः सन्ति । अर्वाग्भवाचार्याणां वचनासङ्ग्रहोऽप्यस्य ग्रन्थस्य विशेषतः प्राचीनत्वमनुमापयति । अत्र ज्वरविषयकाणि बहूनि काश्यपवचनान्युद्धृतानि दृश्यन्ते, यान्यस्यां काश्यपसंहितायां बहुशः पूर्वभागे, कानिचित् खिलभागे दृश्यमानानि प्रायः सर्वाणि संवदन्ति । यानि नोपलभ्यन्ते, तान्यपि त्रुटितभागपातेन तथा भूतानि स्युः । क्वचन पाठभेदोऽपि दृश्यते, सोऽपि क्वचन मुद्रितैतत्पुस्तकपाठतः साधुः प्रतीयते । तद्गतान् पाठविशेषान् स्थूलाक्षरैः संसूच्य मुद्रितैतत्संहितापुस्तकपृष्ठाङ्कं पार्श्वे निर्दिश्य तदुद्धृता एतत्संहितागताः श्लोकाः संवादायाधो निर्दिश्यन्ते—

मु. पृ.

‘[1]पूर्वोद्भवनिमित्तेन योऽपरो जायते गदः । ४५–४६
समुपद्रवमित्याहुरतीसारो यथा ज्वरे ॥
चिकिरिसितं यथोत्पत्ति तेषामेके प्रचक्षते ।
उपद्रवाणामित्येके पूर्वं नेत्याह कश्यपः ॥’

‘घृतं गुग्गुलु बिल्वं च देवदारुक **एव च** । १७०
एष माहेश्वरो धूपः **सर्पिर्युक्तो ज्वरापहः** ॥’

‘शृणु भार्गव ! तत्त्वार्थं सन्निपातविशेषणम् । २१३–२१४
जानते भिषजो नैनं बहवोऽकृतबुद्धयः ॥
शीतोपचारात् सूतानां मैथुनाद्विषमाशनात् ।
प्रजागराद्दिवास्वप्नाच्चिन्तेर्ष्यालौल्यकर्शनात् ॥
तथा दुःखप्रजातानां व्यभिचारात् पृथग्विधात् ॥
शिशोर्दुष्टपयःपानात्तथा सङ्कीर्णभोजनात् ॥
विरुद्धकर्मपानान्नसेविनां सततं नृणाम् ।
अभोजनादध्यशनाद्विषमाजीर्णभोजनात् ॥
सहसा चान्नपानस्य परिवर्ताद्दतोस्तथा ।
विषोपहतवाय्वम्बुसेवनाद्गरदूषणात् ॥
पर्वतोपत्यकानां च **प्रावृट्काले** विशेषतः ।
अवप्रयोगात् स्नेहानां पञ्चानां चैव कर्मणाम् ॥
यथोक्तानां च हेतूनां मिश्रीभावाद्यथोच्छ्रिताः ।
त्रयो दोषाः प्रकुप्यन्ति क्षीणे चायुषि भार्गव ! ॥
ततो ज्वरादयो रोगाः पीडयन्ति भृशं नरम् ।
सर्वदोषविरोधाच्च दुश्चिकित्स्यो महागदः ॥
यथाऽग्निवज्रपवनैर्न स्यादभिहतो द्रुमः ।
वातपित्तकफैस्तद्वत् क्रुद्धैर्देही न जीवति ॥
विषाग्निशस्त्रैर्युगपन्न जीवन्ति यथा हताः ।
सन्निपातार्दितास्तद्वन्न जीवन्ति **तपस्विनः** ।
इत्थं तदुपरिष्टाच्च यथा प्रज्वलितं गृहम् ।
न शक्यते परित्रातुं सन्निपातहत **[स्तथा]** ॥
दिग्धबाणास्त्रयो व्याधाः परिवार्य यथा मृगम् ।
घ्नन्त्यमी [कुपिता] स्तद्वत्त्रयो दोषाः शरीरिणम् ॥
सङ्गता नियतं यस्मात् पातयन्ति कलेवरम् ।
अन्ये च...सन्निपाताद्यतो वा सन्निपातनात् ॥
अकस्मादिन्द्रियोत्पत्तिरकस्मान्मूत्रदर्शनम् ।
अकस्माच्छीलविकृतिः सन्निपाताग्रलक्षणम् ॥’

‘तस्य ज्वरोऽङ्गमर्दस्तृट्तालुशोषप्रमीलकाः । २१५
अरुचिस्तन्द्रिविड्भेदश्वासकासश्रमभ्रमाः ॥’
‘अन्तर्दाहो बहिः शीतं तस्य तृष्णा च वर्धते ।
तुद्यते दक्षिणं पार्श्वमुरःशोषो गलग्रहः ॥’
निष्ठीवति कफं सासृक्कृच्छ्रकण्ठश्च दूष्यते ।
विड्भेदश्वासहिक्काश्च वर्धन्ते······[1] ॥’

काश्यपसंहिताया मूलताडपुस्तके १९२ तमपत्रलोपेन मुद्रितपुस्तके तत्स्थले (पृ. २१५) त्रुटितभागसंवादी विषयो मधुकोशव्याख्योद्धृतभालुकितन्त्रीयश्लोकेषु दृश्यत इति टिप्पणी प्रदत्ताऽऽसीत् । तस्यैव त्रुटितपत्रस्य सन्निपातप्रभेदविषयानुबन्धिनः श्लोका ज्वरसमुच्चये कतिपये कश्यपनाम्नोद्धृता दृश्यन्ते । तत्पूर्वोत्तरयोः १९१, १९३ पत्रयोर्वर्तमानाः श्लोका अप्यस्मिञ्ज्वरसमुच्चये संवदन्तीति तन्मध्यविन्यासोचितेषु विलुप्तश्लोकेषु केचन तत्र खण्डशः क्रमेण उपलब्धाः; तत्र मध्ये विलुप्तांशे पूरणीयाः श्लोका इमे—

‘तस्य शीतज्वरो निद्रा क्षुत्तृष्णा पार्श्वसंग्रहः ।
शिरोहृदयमन्यानां गौरवं पार्श्व [पीडनम्] ॥
उदरं दह्यते चास्य किञ्चिद्गुडगुडायते ।
सन्निपातः स विज्ञेयो मकरीति सुदारुणः ॥’
‘तस्य तृष्णाज्वरग्लानिपार्श्वरुग्दृष्टिसंक्षयाः ।

१. ज्वरसमुच्चये कश्यपश्लोकास्तत्र तत्र प्रकरणे खण्डश उद्धृताः सन्ति । यावन्तः श्लोकाः सहभावेन निर्दिष्टा दृश्यन्ते तावन्तः ‘ ’ इति सङ्केतेन निर्दिश्य, तेषां श्लोकसङ्घानां तत्र पौर्वापर्येऽप्यत्र मुद्रितपुस्तकानुसारेण पौर्वापर्यक्रमं प्रकल्प्य निर्दिष्टा इत्यवबोध्यम् ॥

१. ज्वरसमुच्चयस्य प्राचीनजीर्णतया क्वचन विलुप्ताक्षरतया च तत्स्थानेऽत्र बिन्दुमालया निर्देशः क्रियते ॥

पिण्डिकोद्वेष्टनं दाह ऊरुसादो बलक्षयः ॥
सरक्तं चास्य विण्मूत्रं शूलं निद्राविपर्ययः ।
वितुद्यते गुदश्चास्य बस्तिश्च परिकृष्यते ॥
आयम्यते भज्यते च हिक्कति प्रलपत्यपि ।
मूर्च्छते स्फुरते रौति नाम्ना विस्फोटको मतः ॥'
'तस्य दाहज्वरो घोरो बहिरन्तश्च वर्धते ।
शीतं च सेवमानस्य प्रकुप्येते कफानिलौ ॥
ततश्चैव त्रयो दोषा यथास्वैः स्वैरुपद्रवैः ।
युगपद् घ्नन्ति कुपितास्त्रिविधा इव पन्नगाः ॥
असाध्यः सन्निपातोऽयं शीघ्रकारीति कीर्त्यते ।
न हि जीवत्यहोरात्रमनेनाऽऽविष्टविग्रहः ॥'
'तस्य शीतज्वरः स्वप्नो गौरवालस्यतन्द्रयः ।
दाहस्तृष्णा भ्रमो मूर्च्छा छर्दरोचकहृद्द्रवाः ।
ष्ठीवनं मुखमाधुर्यं श्रोत्रवाग्दृष्टिनिग्रहः ।
श्लेष्मणो निग्रहं चास्य यदा प्रकुरुते भिषक् ॥
तदाऽस्य पित्तं कुपितं कुर्यात् सोपद्रवं ज्वरम् ।
निगृहीते च पित्तेऽस्य भृशं वायुः प्रकुप्यति ॥
निराहारस्य बलवन्मेदो मज्जास्थि धावति ।
तस्यौषधं गभीरत्वाद् दृष्टं तद्दैर्घ्यकारणम् ॥
नष्टाङ्गचेष्टो हृतवागायामेन विनश्यति ।
अथ तुष्टा ''ऊर्जे वा त्रिरात्रं नातिवर्तते ॥
मेदोनुगः सन्निपातः·····सोऽतिदारुणः ।'
'अल्पशूलं कटि···मध्यदाहो ज्वरः क्रमा[त्]
भृशं कण्ठशिरोवक्त्रमन्याहृदयवाग्ग्रहः ।
प्रमीलकः कासश्वासहिक्काजीर्णविसंज्ञताः ॥
प्रथमोत्पत्तिकत्वेन शोधयन्ति कदाचन ।
एतस्मिन् सन्निपाते तु कर्णमूले सुदारुणः ॥
शोथः सञ्जायते जन्तो··········· ।
·········वदन्त्येनं सन्निपातं सुदारुणम् ॥
त्रिरात्रोपेक्षितस्यास्य व्यर्थमाहारभेषजम् ॥'
'अन्तर्दाहो वि······················ ।
यत्नादाकर्षते श्लेष्मा हृदयं प्रतिभिद्यते ॥
इषुणेव हतं पार्श्वं तुद्यते क्षुद्यतेऽपि च ।
प्रमीलकश्वासहिक्का वर्धन्ते च दिने दिने ॥
···········[कण्ठः शू] कैरिवावृतः ।
स्वजनं नाभिजानाति कूजत्यपि कपोतवत् ॥
···वच्छ्लेष्मणा पूर्णः शुष्कवक्त्रौष्ठतालुकः ।
दृष्टिश्रोत्रगुदभ्रंशो················ ॥
···वाऽतिभजते श्लानिं विपरीतानि चेच्छति ।
आयम्य बहुशः क्लेशात् सासृक् ष्ठीवति चाल्पशः ॥
एष कर्कोटको नाम सन्निपातः सुदारुणः ॥'
'विलापायामन······कम्पमूर्च्छारतिभ्रमाः ।
एकपक्षाभिघातं वा········विशेषणम् ॥
एष संमोहको नाम सन्निपातः सुदारुणः ॥'
इत उत्तरं मुद्रितपुस्तके संवादिनोऽन्ये तत्रत्याः श्लोकाः—
'सर्वस्रोतोभवं त्वस्य रक्तपित्तं प्रकुप्यति । २१६
विस्फोटैरग्निदग्धाभैश्चीयते च समन्ततः ॥
हृदयोदरमन्तश्च यकृत्प्लीहाऽथ······ ।
पच्यते तु शरीरस्य ·····धः पूयमेति च ॥
शीर्णदन्तश्च मृत्युश्च तस्याप्येतद्विशेषणम् ।'
'स्तब्धाङ्गः स्तब्धदृष्टिश्च स तु शेते हतो यथा । २१६
विरिच्यतेऽतिमात्रं च पुरीषं बद्धनश्वतः ॥
सर्वेषां स्रोतसां पाकः··············· ॥'
'शिरोरुग्वेपथुश्वासप्रलापच्छर्द्यरोचकाः ।
हीनपित्ते मध्यकफे लिङ्गं वाताधिके मतम्[1] ॥
जृम्भाप्रजागरायामविप्रलापशिरोरुजः । २१६
मन्यास्तम्भेन मृत्युश्च तस्याप्येतद्विशेषणम् ॥'
'त्रिदण्डवत्समबलो यथा······त्रिपादवत् । २१७
यानि ज्वरचिकित्सायां रूपाण्युक्तानि यानि च ।
कूटपालक इत्येष सन्निपातः सुदारुणः ॥
व्याधिभ्यो दारुणेभ्यश्च वज्रशस्त्राग्नितो यदा ।
सद्यो हन्ता महाव्याधिर्जायते कूटपालकः ॥
कूटपालकविग्रस्तो न शृणोति न पश्यति ।
न स्पन्दते न ब्रवीति नाभिष्टौति न निन्दति ॥
केवलोच्छ्वासपरमः स्तब्धाङ्गः स्तब्धलोचनः ।
त्रिरात्रपरमं तस्य जन्तोर्भवति जीवितम् ॥
तदवस्थं तु तं दृष्ट्वा मूढो व्याभाषते जनम् ।
धर्षितो राक्षसैर्नूनमवेलायां चरन्निशि ॥
अन्यथा ब्रुवते चैके यक्षिण्या ब्रह्मराक्षसैः ।
पिशाचैर्गुह्यकैश्चैव तथाऽन्ये सहभोजितम् ॥
आक्रुष्टमभिशस्तं च तथाऽन्ये मस्तकाहतम् ।
कुलदेवार्चनहतं धर्षितं गृहदैवतैः ॥
नक्षत्रपीडामपरे गरकर्माणि चापरे ।
वदन्ति सन्निपातं तु भिषजः कूटपालकम् ॥
सद्यः स्वस्थस्य युगपद्यदा कुप्यन्ति ते त्रयः ।
तदाऽभिवर्धते देहे पित्तको विषसंज्ञितः ॥
विरुद्धभोजनात् कालात् परिमाणाच्च कर्मणाम् ।
प्रकुप्यत्यनिलः शीघ्रं सोऽस्याग्निमुपहन्यते ॥
तस्योपहतकायाग्नेः पूर्ववत्पिबतोऽश्नतः ।
कफाद्भवति भूयिष्ठं यदादत्ते चतुर्विधम् ॥
तं कफं वायुरादाय स्रोतांस्यस्य विधावति ।
तस्य स्रोतांसि सर्वाणि·····हन्ति च ॥
पूरयित्वाऽपि वायोस्ते संरुद्धः········· ।
पित्तं प्रकोपयत्यस्य तत् पित्तं मारुतेरितम् ॥
सर्वतः श्लेष्मणा रुद्धमन्योन्यमिथुनाश्रयात् । २१७
···हृल्लासमरुचिं········विषूचिकाम् ॥
रोगान्नानाविधांश्चान्यान् कुर्वन्·····देहिनः ।
प्रकृतेर्वा···············वायुः प्रकुप्यति ॥

१. एष श्लोकोऽत्र मुद्रितपुस्तके नास्ति ।

यथा यथोद्बलत्वं वा प्राप्नुवन्ति गदा'''।
तथैकद्वयुद्वलानाद्वुर्हीनमध्याधिकानपि॥
कूरस्थैः''''''दोषैर्जायते कूटपालकः।
एवमेते विनिर्दिष्टाः सन्निपातास्त्रयोदश॥'
'लङ्घनं स्वेदनं नस्यं मर्दनं कवलग्रहः। २१९
एतान्यादौ प्रयुञ्जीत सन्निपातेषु युक्तिवित्॥'
'स्वेदाध्याये यथाप्रोक्तः स्वेदः सर्वाङ्गिकस्तथा। २१९
तत्रास्य स्वेदयेद्युक्तो यत्र यत्रास्य वेदना॥'
'कफो हि वायुना क्षिप्तो विष्टम्भं पार्श्वयोर्हृदि। २२०
'''रीकृतश्च पित्तेन शल्यवद्बाधते नरम्॥
तस्य शुष्कस्य नीलस्य विलग्नस्य कृशात्मनः।
दुःखनिर्हरणं कर्तुं तिक्तादन्यन्न भेषजात्॥'
'तस्य तीक्ष्णानि नस्यानि तीक्ष्णाश्च कवलग्रहाः। २२०
स्वेदं दिवाजागरणं विदध्यात् पार्श्वशूलिनः॥
मातुलुङ्गार्द्रकरसमुष्णं स (त्रि)लवणान्वितम्।
अन्यद्वा सिद्धिविहितं तीक्ष्णं नस्यं विधापयेत्॥
तेन प्रभिद्यते श्लेष्मा प्रस्विन्नश्च प्रभिद्यते।
शिरोहृदयमन्यास्यं दृष्टिश्चास्य प्रसीदति॥'
'पुनः पुनश्च निद्रायां कटु नस्याञ्जनं हितम्। २२०
तीक्ष्णद्रव्यैः सलवणैर्मातुलुङ्गरसद्रवैः।
फलाम्लयुक्तैरथवा कोष्णाः स्युः कवलग्रहाः।
आर्द्रकस्वरसोपेतं सैन्धवं सकटुत्रिकम्॥
आकर्षं धारयेदास्ये निष्ठीवेच्च पुनः पुनः।
तेनास्य हृदये श्लेष्मा मन्यापार्श्वशिरोगलात्॥
लीनो व्याकृष्यते शुष्को लाघवं चास्य जायते।
पर्वभेदो ज्वरो निद्राश्वासकासगलामयाः॥
मुखाक्षिगौरवं जाड्यमुत्क्लेशश्चोपशाम्यति।
सकृद्द्वित्रिचतुः कुर्याद् दृष्ट्वा दोषबलाबलम्॥
एतद्धि परमं प्राहुर्भेषजं सन्निपातिनः॥'
'ज्वरशोषारुचिप्लीहयकृत्पाण्डुर्न जीवति। २२४
सर्वलक्षणसम्पन्नः सर्वोपद्रवसंयुतः॥
त्रिरात्रोपेक्षितश्चापि सन्निपातो न सिध्यति।'
'सन्निपाते निवृत्ते तु यो व्याधिरवलम्बते। २२४
सोपद्रवं तं चिकित्सेत् स्वैः स्वैश्चिह्नैश्चिकित्सितैः॥
एकाहारब्रह्मचर्यलघुपानान्नसेवनम्।
अकर्मण्यमनायासः सुखशय्यासनस्थितिः॥
दिवा जागरणं सद्भिः सुहृद्भिश्च समागमः।
अन्यस्याङ्गाच्छादनं नित्यं कदाचित्स्नानमेव च॥
जाङ्गलस्वरसानुष्णान् कुलत्थरसशोधितान्।
वास्तुकं तण्डुलीयं च संस्कृतं बालमूलकम्॥
सेवते विधिवच्चैव द्वौ मासौ जीवितार्थिकः।
त्रीन्मासांश्चतुरो वाऽपि जिह्मत्वादस्य यक्ष्मणः॥
सुश्रुतेन समश्नीयात् पयसाऽऽज्येन पैत्तिकः।
शर्कराक्षौद्रयुक्तेन गवां क्षीरेण वा पुनः॥
कर्पूरचूर्णं तृष्णायां वदने धारयेत् सदा। २२४-२२५
तैलानि गन्धपुष्पाणि नित्यं मुख्यानि धारयेत्॥
औदकानूपमांसानि मास(ष)पिष्ट''''''''।
मन्दजातानि मद्यानि गुरूण्यभिनवानि च॥
पायसं कृसरं चुक्रं शष्कुलीं पानकं दधि।
वर्जयेत्तानि सर्वाणि श्राद्धभोजनमेव च॥
अश्वव्यायामसंक्लेशं शीताम्बु मदिरासवम्।
अवश्यायं पुरोवातमत्युष्णं च विवर्जयेत्॥
यानि तस्य प्रशस्यन्ते शुद्धभोज्यानि जीवक!।
पथ्यानि चानुपानानि यथास्वं तानि मे शृणु॥
गुडसर्पींषि पिप्पल्यः संस्कृता दधिसाधिताः।
तथा मुख्यं गुडकृतं भक्ष्या मुद्गमयाश्च ये॥
यवगोधूमसंस्कारा दाधिकं शुष्कमूलकम्।
मुद्गामलकयूषश्च तिक्तयूषश्च सर्पिषा॥
एवं श्रद्धाविनयनं भिषक्कुर्यादरोचके।
अप्रमादेन धर्मार्थी चिकित्सेन्मतिमान् भिषक्॥
सूतिकोपद्रवाध्याये (यच्च वक्ष्ये) खिलेषु ते।
तदिहापि प्रयोक्तव्यं सन्निपातचिकित्सितम्॥'
गुडूच्यामलकानां च स्वरसे साधितं घृतम्। खिल-३१६
कल्केन सारिवाशुण्ठीलोध्रदाडिमचन्दनैः॥
तद्धि माङ्गल्यकं नाम विषमज्वरनाशनम्।
ज्वराणां चापि सर्वेषामेतदेवामृतोपमम्॥

एवं प्राचीनेऽस्मिन् ज्वरसमुच्चये एतत्संहितागतानां बहुशो वचनानामुद्धारोपलम्भः संवादश्च तात्कालपर्यन्तं काश्यपसंहितायाः प्रचारं समादरं ग्रन्थकृद्भिः स्वप्रामाण्योपजीवनाय निर्देशनं चावगमयति। यस्मिन् खलु ग्रन्थे प्राचीनानामेवर्षीणां वचनानि सङ्गृहीतानि तत्रैवं काश्यपसंहितावचनानां संवादो न केवलं पूर्वभागस्य, अपि तु तदीयखिलभागस्यापि संवादेन तस्यापि प्राचीनतरत्वमुपोद्बलयति॥

उपोद्घात

का

हिन्दी अनुवाद

आयुष्याम्नायमाम्नाय नानोन्मेषैर्विवर्ध्य च ।
जगतः श्रेयसे सक्ताः स्मरणीया दयामयाः ॥ १ ॥
यत्प्रातिभरसासिक्त आयुर्वेद महातरुः ।
फलत्यद्यापि जगति महात्मानो जयन्ति ते ॥ २ ॥

आयु के वेद अर्थात् आयुर्वेद को जानकर तथा उसे नाना उपायों द्वारा बढ़ाकर जो जगत् के कल्याणमें लगे हुए हैं, उन स्मरणीय, दयालु तथा जिनकी प्रतिभारूपी रस से सींचा हुआ यह आयुर्वेद रूपी महावृक्ष आज तक जगत् में फल फूल रहा है, उन महापुरुषों की जय हो ॥ १–२ ॥

उपोद्घात प्रस्ताव—

किसी भी वस्तु को देखकर विद्वान् प्रेक्षकों को यह स्वतः जिज्ञासा होती है कि यह क्या है तथा इसका क्या प्रयोजन है? जबतक इसका ज्ञान नहीं होता तब तक विद्वानों(१) की दृष्टि उस विषय में विशेषरूप से प्रवृत्त नहीं होती। सामान्य ज्ञान हो जाने पर विशेष जिज्ञासा होती है। तथा बाह्य सामान्य ज्ञान हो जाने पर लोग अभीप्सित विषय को ग्रहण करने तथा विपरीत विषय को छोड़ने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रारम्भिक आकांक्षा को शान्त करने के लिये शास्त्र के आदि में अनुबन्ध* निर्देश की तरह आज-कल विद्वान् लोग प्रस्तुत ग्रन्थ के कुछ विशेष २ अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग विषयों को भूमिका तथा प्रस्तावना आदि के रूप में देकर ग्रन्थ को उपस्थित करते हैं। इस उपर्युक्त आचार को दृष्टि में रखते हुए तथा अन्य विषयों को देखते हुए हमारे मन में जो विचार उत्पन्न हुए हैं उन्हें विद्वानों के सामने हम संक्षेप में प्रकट करते हैं।

---

(१) **सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते।**
शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः संबन्धः सप्रयोजनः॥
(श्लोकवार्तिकस्योपक्रमे)

(अर्थात् श्रोता ज्ञातव्य विषय तथा उसके संबन्ध को सुनने के लिये प्रवृत्त होता है। अतः शास्त्र के आदि में प्रयोजन सहित संबन्ध बतला देना चाहिये)।

* प्रत्येक शास्त्र के चार अनुबन्ध (संबन्ध रखने वाले विषय) होते हैं। १. अधिकारी २. विषय ३. संबन्ध ४. प्रयोजन (अनुवादक)

इस उपोद्घात में पांच विषय हैं—

(१) उपक्रम सहित आयुर्वेद संबन्धी विवरण।
(२) ग्रन्थों के परिचयपूर्वक आचार्यों का विवरण।
(३) संस्कार तुलना सहित विषय।
(४) भारतीय चिकित्सा का समर्थन।
(५) उपसंहार।

(१) उपक्रम सहित आयुर्वेद संबन्धी विवरण—

यह एक निर्विवाद तथ्य है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिये सुख ही अन्तिम ध्येय है। विद्वान् लोग सुख की समीक्षा दो प्रकार से करते हैं। प्रथम दुःख का निवारण कर देना (Negative) तथा दूसरा दुख का विरोधी भाव (Positive) अर्थात् दुःख का उत्पन्न ही न होना। दोनों प्रकार से इस सुख को प्राप्त करना प्रत्येक व्यक्ति चाहता है। दुख के उत्पन्न होने पर उसकी निवृत्ति अथवा सुख का उदय होना संभव नहीं। बाधना (कष्ट) लक्षण वाला दुःख संसार में सबसे अधिक अप्रिय वस्तु होती है। वह दुःख भूतकाल की वस्तु हो जाने पर भी स्मरण किया जाने पर कष्ट की अनुभूति कराता है, उसको वर्तमान अवस्था में प्रत्येक संभव उपायों से दूर करनेका प्रयत्न किया जाता है, तथा उसके भविष्य की कल्पना करके उसे पहले से ही दूर करने का प्रयत्न किया जाता है। कोई भी ऐसा सहृदय व्यक्ति नहीं होगा जो अपने लिये दुःख चाहता हो। संसार के जितने भी व्यापार (क्रियायें) हैं, उन सबका प्रयत्न दुख को दूर करके सुख की साधना करना है। परन्तु सुख की

प्राप्ति में लगा हुआ भी यह संसार असम्यक् ज्ञान के कारण हितकारी मार्ग को छोड़कर अहितकर मार्ग में प्रवृत्त हुआ दुःख से आक्रान्त किया जा रहा है। इस सुख के मार्ग को ही ढूढने में सब शास्त्र तथा लोग आज तक लगे रहे हैं तथा इस समय भी लगे हुए हैं। दुःख तीन प्रकार का होता है। मन, शरीर तथा आत्मा को निमित्त करके होने वाला आध्यात्मिक, पञ्चमहाभूतों से बने हुए प्राणी समूह को निमित्त करके होने वाला आधिभौतिक तथा ग्रह यक्ष राक्षस विनायक (गणेश) आदि देवसमूह को निमित्त करके होने वाला आधिदैविक दुःख कहलाता है। इन नाना प्रस्थानों में से जिस किसी दुःख विशेष को लक्ष्य करके उस २ दुख के निवारण के उपायस्वरूप आध्यात्मिक सांख्य आदि दर्शन, उपासनाशास्त्र तथा नीति आदि ऐहिक शास्त्र उपयोगी होते हैं।

परन्तु इन सब आध्यात्मिक तथा ऐहिक शास्त्र आदियों का तभी लाभ है जब कि प्राणियों को उत्तम जीवन प्राप्त हुआ हो। विद्वान् व्यक्ति नवीन उत्साह से युक्त होकर तथा उत्तम उपायों को जानकर उनके द्वारा परिष्कृत मार्ग से अपनी उन्नति करता हुआ क्रमशः अभीष्ट स्थान पर पहुंचने में समर्थ हो जाता है। इसके विपरीत अधम जीवन से दुःखी व्यक्ति कितना ही प्रयत्न क्यों न करे किसी कार्य को सिद्ध करने में समर्थ नहीं होता। इसलिये लोगों को सुजीवन के उपायों का प्रतिपादन करने वाले तथा अन्य भी शास्त्रों का सहारा लेना पड़ता है। सर्व प्रथम शारीरिक कष्टों के अभाव से इस जीवन द्वारा प्राप्तव्य ऐहिक तथा पारलौकिक उन्नति प्राप्त होती है। हमारा यह शरीर नाना प्रकार के स्थूल तथा अत्यन्त सूक्ष्म अवयवों तथा उन २ अवयवों की गहन क्रियाओं द्वारा यथावत् न जान सकने योग्य परमात्मा की कलास्वरूप एक विशाल मशीन के समान दिखाई देता है। उस मशीन के स्थूल या सूक्ष्म किसी भी अंश में होने वाली दृश्य या अदृश्य कोई भी विकृति न केवल समस्त शरीर को अपितु उससे अनुप्राणित शरीर-शरीरि समवायात्मक आत्मा को भी विकृत कर देती है। शारीरिक वकृति से उत्पन्न हुआ पुरुष विकृति अन्तरात्मा के कारण शिथिलता को प्राप्त हुआ अन्य दुःखों से भी छुटकारा नहीं पा सकता है। शरीर के निरोग होने पर ही अन्य दुःखों से छुटकारा पाने के उपाय किये जा सकते हैं तथा वे फलीभूत भी होते हैं। शरीर ही यदि रोगी हो तथा उसके कारण अन्तरात्मा भी स्वस्थ न हो तो कठोर तपस्या, तीर्थभ्रमण, परोपकार आदि धार्मिक विषय, शिल्प, वाणिज्य, वार्ता (कृषि), देशान्तर भ्रमण आदि आर्थिक प्रयत्न, अभीष्ट आहार विहार, विषय भोग आदि रतिप्रयोग तथा मानसिक विचार क्रोध लोभ आदि आन्तरिक शत्रुओं का दमन, इन्द्रिय निग्रह, ईश्वर भजन आदि मोक्ष के उपाय भी सम्यक् प्रकार से होना संभव नहीं है। जैसा कि कहा भी है— 'धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलसाधनम्' (च. सू. अ. १) अर्थात् धर्म अर्थ काम मोक्ष इन सबका मूल साधन आरोग्य ही है।

इस प्रकार क्योंकि स्वस्थ जीवन रूपी वृक्ष में उत्तम फल लगते हैं इसलिये दीर्घायुष्य एवं उत्तम जीवन के लिये शारीरिक कष्टों तथा ऐहिक दुःखों का दूर किया जाना आवश्यक है। शारीरिक दुःख विविध रोगों से सैकड़ों प्रकार से उत्पन्न होते रहते हैं, तथा ये सैकड़ों प्रकार के रोग किसी एक ही उपाय या उपदेश द्वारा न जाने जा सकते हैं और नहीं दूर किये जा सकते हैं इसलिये इन रोगों की निवृत्ति तथा इनको उत्पन्न ही न होने देने के लिये मनुष्य को जितने भी उपाय या साधन हैं वे सब यथाशक्ति अपनी बुद्धि तथा बल के अनुसार अवश्य जानने चाहिये।

इसके लिये हमें चार बातें जाननी चाहिये।

१. हेय—अर्थात् दुखों को उत्पन्न करने वाले रोग।

२. हेतु—उन रोगों के कारण (निदान)

३. हेय अर्थात् रोगों का हान (निवृत्ति-दूर करना) तथा

४. निवृत्ति के साधन (ओषधि आदि उपाय)

हेय (रोगों) के स्वरूप तथा उनके निदान (कारणों) को देखकर ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि पहले तो रोग उत्पन्न ही न हों और यदि उत्पन्न हो भी जावें तो ज्ञात साधन (ओषधि आदि) के द्वारा उन्हें दूर कर दिया जाय।

लोगों का कल्याण करने वाले हितकारी एवं विविध ज्ञान विज्ञानों में जो सबसे अधिक उपयोगी ज्ञान है उसी को आयुर्वेद-विज्ञान कहते हैं। यह आयुर्वेद-विज्ञान केवल अपने या केवल एक दो व्यक्तियों के लिये ही उपयोगी नहीं, अपितु इससे कुटुम्ब, समाज, तथा सम्पूर्ण देश का उपकार एवं उन्नति होती है अतः प्रत्येक व्यक्ति को इसे जानना चाहिये तथा जानने वालों को इसका उपदेश एवं प्रचार करना चाहिये। इस प्रकार इसका ज्ञान तथा उपदेश विशेष रूप से उपयोगी है।

आयुर्वेद की प्राचीनता—

जब सृष्टि के प्रारंभ में जगत् स्रष्टा ने पञ्चमहाभूत तथा उनसे उत्पन्न पदार्थों को बनाया तभी से प्राणियों के दीर्घायुष्य के साधनों का भी ज्ञान कराया। यदि प्राणी उत्पन्न होते ही मिथ्योपचार के कारण नष्ट हो जायें तो स्रष्टा का परिश्रम व्यर्थ ही होगा। ज्यों-ज्यों वे चिर सत्ता को प्राप्त करते जाते हैं त्यों २ वे स्रष्टा की अभिलषित बात को करने में समर्थ हो जाते हैं। और यदि वे प्राणी सत्ता को प्राप्त करके भी विकल (अपूर्ण) अङ्गों वाले हों तो उनसे भी कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है, अतः आदिकाल से ही सत्व एवं बल से युक्त सम्पूर्ण अङ्गों सहित दीर्घायुष्य की अपेक्षा होती थी। इस संसार में उस शिल्पकार स्रष्टा के चर, अचर, भोक्ता, भोज्य, आदि अनेक भेद हैं। भोक्ता तथा भोज्य के भी अनेक भेद होते हैं। सब भोक्ताओं के लिये भी सब प्रकार के भोज्य पदार्थ अनुकूल नहीं होते, अपितु भोक्ताओं की जाति, देश, काल तथा अवस्था आदि के भेद के अनुसार ही उपकारी या अपकारी होते हैं। एक व्यक्ति के लिये अनुकूल या प्रतिकूल वस्तु भी सबके लिये समान नहीं होती। उसी व्यक्ति के लिये भी कोई वस्तु सदा एक समान अनुकूल या प्रतिकूल नहीं हो सकती अपितु वहां भी अवस्था आदि के अनुसार ही परिवर्तन होता रहता है। इसलिये किस व्यक्ति के लिये कब क्या अनुकूल होता है, उसके क्या साधन हैं, क्या प्रतिकूल है, किस प्रकार उसका उदय होता है, उसकी शान्ति का क्या उपाय है तथा रोग, रोग के कारण तथा रोगों को दूर करने के उपाय आदि का सृष्टि के प्रारंभ से ही ज्ञान था। सब ऐषणाओं (इच्छाओं)

में से प्राणैषणा सबसे प्रथम उत्पन्न होती है। इस प्रकार प्राणियों की उत्पत्ति के साथ ही आयुर्वेद का प्रारंभ होता है।

अनुत्पाद्यैव प्रजा 'आयुर्वेदमेवाऽग्रेऽसृजत्' (प्राणियों की उत्पत्ति से पूर्व ही सृष्टि के प्रारंभ में आयुर्वेद को उत्पन्न किया) सुश्रुत के इस वाक्य के समान 'आयुर्वेदमेवाग्रेऽसृजत्ततो विश्वानि भूतानि' (आयुर्वेद को सृष्टि के प्रारंभ में उत्पन्न किया, उसके बाद सम्पूर्ण प्राणियों को उत्पन्न किया) काश्यपसंहिता के इस वाक्य के द्वारा यद्यपि सृष्टि से भी आयुर्वेद की प्राचीनता प्रकट की है परन्तु निमित्त तथा निमित्ती (कार्य तथा कारण) के पूर्वापर संबन्ध को दृष्टि में रखते हुए 'अग्निहोत्रं जुहोति' 'यवागूं पचति' आदि वाक्यों में पाठक्रम के अनुसार बलवान् अर्थक्रम की तरह 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के 'तव प्रसादस्य(१) पुरस्तु संपदः' इस वाक्य के अनुसार प्रसाद (कृपा) से पूर्व ही संपदाओं के होने के समान ही वास्तव में सृष्टि के साथ आयुर्वेद का आलंकारिक रूप से घनिष्ठ एवं निकट संबन्ध बतलाया है। अथवा बालक की उत्पत्ति से पूर्व ही स्तन्य (दूध) की उत्पत्ति के समान ही सृष्टि से पूर्व भी आयुर्वेद की उत्पत्ति वस्तुतः संभव हो सकती है। विकासवाद की दृष्टि से भी भौतिक सृष्टि से पूर्व औषधि वनस्पति आदि की उत्पत्ति को स्वीकार किया जाना भी प्राणियों की उत्पत्ति से पूर्व भैषज्य विज्ञान (आयुर्वेद) का होना सिद्ध करता है। भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने 'सोऽयमायुर्वेदः शाश्वतो निर्दिश्यते, अनादित्वात् स्वभावसंसिद्धलक्षणत्वात्' (च. सू. अ. ३०) अर्थात् यह आयुर्वेद अनादि तथा लक्षण के स्वभावसिद्ध होने से नित्य है इस लक्षण के द्वारा आयुर्वेद के ज्ञान तथा उपदेश के सादि (जिसका आदि कारण विद्यमान हो) होने पर भी संसार के समान आयुर्वेद की ज्ञान परम्परा को भी अनादि दर्शाया है।

आयुर्वेद—

आयुर्वेद शब्द का अर्थ करते हुए इस काश्यपसंहिता में 'आयुर्जीवितमुच्यते' विदज्ञाने धातुः, विदॢलाभे च, आयुरनेन ज्ञातेन विद्यते ज्ञायते विन्दते लभते न रिष्यतीत्यायुर्वेदः, (आयु का अर्थ है जीवन, उसके साथ विद्ज्ञाने धातु या विदॢ लाभे धातु से आयुर्वेद शब्द बनता है, अर्थात् इसके द्वारा आयु का ज्ञान होता है या आयु की प्राप्ति होती है इसलिये इसे आयुर्वेद कहते हैं) इस परिभाषा के द्वारा दीर्घ जीवन के बतलाने वाले तथा उपायों के द्वारा उसे प्राप्त कराने वाले अविनाशी शास्त्र को आयुर्वेद कहते हैं। इस निर्वचन के द्वारा आयुर्वेद का स्वरूप तथा प्रयोजन प्रकट होता है। इस प्रकार आयुर्वेद शास्त्र के द्वारा आयु का स्वरूप, जिनके द्वारा वह जाना जाता है वे उपाय, तथा विद्यमान आयु के लक्षणों को जाना जाता है। इन सबको जानकर तथा उनके अनुसार ठीक आचरण करने से आयु स्थिर होती है तथा इस ज्ञान के बिना आचरण करने से आयु विनाश की ओर अग्रसर हो सकती है। इस प्रकार साधनों सहित आयु को स्थिर करने वाला शास्त्र आयुर्वेद कहाता है।

आत्रेय(१) तथा सुश्रुत(२) के अनुसार भी आयुर्वेद के प्रयोजन व्याधि परिमोक्ष तथा स्वास्थ्यरक्षा (Curative and Preventive Treatmant) प्रतीत होते हैं।

आयुर्वेद शब्द बहुत शाखाओं वाले चिकित्साविज्ञान को प्रकट करता हुआ केवल मनुष्यों की चिकित्सा से ही संबन्ध नहीं रखता अपितु इसमें हाथी, घोड़े, गौ आदि पशुपक्षी तथा वृक्ष लता आदि उद्भिज्ज की चिकित्सा का भी विधान है क्योंकि वराहसंहिता, भट्टोत्पल के उस प्रकरण की व्याख्या तथा उपवन विनोद आदि ग्रन्थों में पालकाप्य,(३) मतङ्ग, शालिहोत्र आदि पशुचिकित्सकों, तथा उनके उपदेशों और परम्परागत ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार वृक्षायुर्वेद में भी काश्यप, सारस्वत, पराशर आदि आचार्य एवं तत्संबन्धी उनके उपदेश भी देखने में आते हैं। अग्निपुराण (अ. २७९-२९२) में धन्वन्तरि द्वारा भी सुश्रुत को मनुष्य हाथी, घोड़े, गौ तथा वृक्ष आदि से संबन्धित आयुर्वेद के उपदेश का उल्लेख मिलता है। परन्तु धन्वन्तरि काश्यप, आत्रेय आदि सब आचार्यों ने मानवीय आयुर्वेद को ही लेकर विशेषरूप से वर्णन किया है इसलिये हम भी उन्हीं के अनुसार उसी को लेकर प्रवृत्त होंगे।

विद्वान् लोग आद्यज्ञान (प्रारंभिक ज्ञान) होने के कारण इसका वेद शब्द से उल्लेख करते हैं। वेद आर्यों का सबसे प्रारंभिक (ईश्वरीय) ज्ञान समझा जाता है। इसमें प्राचीन समय का सब ज्ञान विज्ञान संग्रहीत है। आर्यों के तपस्या प्रणिधान आदि के आलोक से उज्वल हृदयों में प्रतिभा रूप से अव्याहत आद्यज्ञान रूपी संपत्ति उत्पन्न हुई थी उसी को वेद शब्द से कहा है। उसी ज्ञान विज्ञान में से ही एक यह आयुर्वेद भी है।

वेद तथा आयुर्वेद का परस्पर संबन्ध—

ऋक्, यजु, साम तथा अथर्ववेद के क्रमशः धनुर्वेद गान्धर्ववेद, स्थापत्यवेद, (भवन निर्माण कला) तथा आयुर्वेद उपवेद हैं उपशब्द समीप अर्थ का द्योतक है। आयुर्वेद का किस वेद के साथ संबन्ध है, जब हम इस विषय में विचार करते हैं तो देखते हैं कि सुश्रुताचार्य 'इह खल्वायुर्वेदमष्टाङ्गमुपाङ्गमथर्ववेदस्य' (सू. अ. १) इस

---

(१) उदेति पूर्वं कुसुमं ततः फलं, घनोदयः प्राक् तदनन्तरं पयः।
निमित्तनैमित्तिकयोरयं क्रमस्तव प्रसादस्य पुरस्तु संपदः॥
(शाकुन्तले ७ अङ्के)

(१) चरकसंहिता में—**'हिताहितं सुखं दुःखम्'** इत्यादि द्वारा अपने भोग के आयतन, पंचभूतों के विकाररूप शरीर, भोग के साधन चक्षु आदि इन्द्रियों, मन, अन्तःकरण तथा ज्ञान कराने वाली आत्मा का अदृष्टपूर्वक हुआ संयोग आयु नामक पदार्थ, आयु का स्वरूप, आयु के लिये हितकर तथा अहितकर (पथ्य और अपथ्य) तथा उसके परिणाम स्वरूप उत्पन्न हुए सुख दुख तथा अवस्थानुरूप आयु के लक्षण इत्यादि साधनों एवं फलों से युक्त आयु को जो प्राप्त कराता है अथवा उसका ज्ञान कराता है उसे आयुर्वेद कहा है (च. सू. १. अ. ४०)

(२) सुश्रुत में—**'आयुरस्मिन् विद्यतेऽनेन वाऽऽयुर्विन्दतीत्यायुर्वेदः'** के द्वारा 'शरीर, इन्द्रिय, सत्व तथा आत्मा का संयोगरूप आयु जिसमें स्थित हो, जिसके द्वारा आयु का ज्ञान हो तथा जिससे आयु की प्राप्ति हो इत्यादि आयुर्वेद के निर्वचन किये गये हैं।

(३) शालिहोत्रः सुश्रुताय ह्यायुर्वेदमुक्तवान्।
पालकाप्योऽङ्गराजाय गजायुर्वेदमब्रवीत्॥
(अग्निपुराण २९२ अध्याय)

वाक्य के द्वारा स्पष्ट रूप से आयुर्वेद का अथर्ववेद के साथ अवयव तथा अवयवों का संबन्ध दिखाते हैं। आत्रेय भगवान् भी 'चतुर्णामृक्सामयजुरथर्ववेदानामथर्ववेदे भक्तिरादेश्या' (च. सू. अ. ३०) इस वाक्य द्वारा ऋग्वेद आदि चारों वेदों के साथ थोड़ा बहुत संवन्ध होते हुए भी भक्ति शब्द के द्वारा अथर्ववेद के साथ ही आयुर्वेद का घनिष्ठ संवन्ध प्रकट करते हैं। इस काश्यपसंहिता में भी 'आयुर्वेदः कथं चोत्पन्नः' इस प्रश्न के 'अथर्ववेदोपनिषत्सु प्रागुत्पन्नः' इस उत्तर द्वारा प्रारंभ में इसे अथर्वमूलक दिखलाकर 'कं च वेदं श्रयति' इस दूसरे प्रश्न के उत्तर में 'अथर्ववेदमित्याह, तत्र हि रक्षावलि होमशान्ति······प्रतिकर्मविधानमुद्दिष्टं विशेषेण, तद्वदायुर्वेदे, तस्मादथर्ववेदं श्रयति, सर्वान्वेदानित्येके' यह कहकर 'आयुर्वेदमेवाश्रयन्ते वेदा······तस्माद्ब्रूमः ऋग्वेदयजुर्वेदसामवेदाथर्ववेदेभ्यः पञ्चमोऽयमायुर्वेदः' (वेद आयुर्वेद के ही आश्रित हैं। इसलिये ऋक्, यजु, साम तथा अथर्ववेद के अतिरिक्त आयुर्वेद को पांचवां वेद कहा है) इत्यादि के द्वारा आचार्य विषयसन्निकर्ष के कारण पहले अथर्ववेद से संवन्ध दिखलाकर तथा उसी के साथ २ सब वेदों में ही आयुर्वेद का थोड़ा बहुत विषय मिलने से एकीय मत से सब वेदों के साथ आयुर्वेद का संबन्ध दिखलाते हैं। और अन्त में ब्रह्मा, अश्विनीकुमार तथा इन्द्र आदि की सम्प्रदाय परम्परा द्वारा क्रमशः विकसित आयुर्वेद के एक स्वतन्त्र प्रस्थान (विज्ञान) के रूप में परिवर्तित होकर वेदों के समान ही सब के जीवनधारक तथा लोक कल्याण परक होने से पृथक् एक शास्त्र के रूप में प्रतिष्ठा तथा आयुर्वेद की अपने विषय में प्रधानरूप से उपादेयता दिखलाकर उसे महाभारत की तरह ही पांचवां वेद स्वीकार किया है।

सुश्रुत के 'आयुर्वेदमष्टाङ्गमुपाङ्गमथर्ववेदस्य' इस वाक्य में उपाङ्ग शब्द को देखकर कुछ विद्वान्(१)सुश्रुत तथा उसी के द्वारा आयुर्वेद को बहुत अर्वाचीन सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। वे कहते हैं कि जहां साक्षात् संबन्ध होता है उसे अङ्ग कहते हैं तथा अङ्ग का जिससे संबन्ध होता है उसे उपाङ्ग कहते हैं अर्थात् आयुर्वेद वेदाङ्ग का भी अङ्ग है और क्योंकि शिक्षा आदि वेदाङ्ग वेद के बाद हुए हैं अतः आयुर्वेद जो कि वेदाङ्ग का अङ्ग (उपाङ्ग) है वह वैदिक काल तथा वेदाङ्गकाल के भी बाद हुआ है, इस प्रकार वे सुश्रुत को अर्वाचीन सिद्ध करते हैं। परन्तु उपाङ्ग शब्द से आपाततः वैसा प्रतीत होने पर भी वेद के अङ्ग शिक्षा कल्प आदियों में वैद्यक विषय विशेषरूप से दिखाई नहीं देता है, अपितु श्रौत तथा ब्राह्मणग्रन्थ तथा उससे भी पूर्व के संहिता ग्रन्थों में आयुर्वेद विषय यथापूर्व अधिक मिलता है। इसमें भी अथर्व वेद में इसका बाहुल्य होने से वेद के साथ ही इसका घनिष्ठ संबन्ध प्रतीत होता है। अङ्ग का अर्थ अप्रधान या गौण की तरह अवयव भी होता है। मीमांसकों ने अङ्गों के दो भाग किये हैं। जो शरीर के अन्दर प्रविष्ट होकर (समीप होकर) उप कारक होते हैं उन्हें अन्तरङ्ग तथा जो शरीर के बाहर (दूर) से उपकारक हो उसे बहिरङ्ग कहते हैं। वैदिक शरीर से बहिर्भूत होने के कारण शिक्षा आदि बहिरङ्ग हैं परन्तु इसके विपरीत भैषज्य आयुष्य संशमनीय आदि बहुत से आयुर्वेद के विषय के वेदसंहिताओं में ओतप्रोत होकर उसके शरीर के अन्दर प्रविष्ट होने से आयुर्वेद तो अन्तरङ्ग रूप से ही विद्यमान है। नाना ज्ञान विज्ञान के भण्डार वेद का प्रधान विषय याज्ञिक (यज्ञसंबन्धी) है। परन्तु आयुर्वेद उसमें प्रसङ्गवश अवान्तर रूप से आया हुआ होने से वैदिक विज्ञान के शरीर में प्रविष्ट हुआ अवयव अङ्गरूप से है। बाहु आदि बड़े अवयवों को अङ्गरूप से तथा हाथ आदि छोटे अवयवों को उपाङ्गरूप से दिखलाकर सुश्रुत के टीकाकार डल्हण ने भी आयुर्वेद को अन्तरङ्ग ही बतलाया है। यदि वेद के बहिरङ्गभूत शिक्षा आदि को अङ्ग मानकर उसी के अनुसार सुश्रुत में आयुर्वेद को उपाङ्ग माना गया हो तो शिक्षा आदि अङ्गों के बाद में होने वाले आयुर्वेद को सुश्रुत में ही भूतसृष्टि से भी पूर्व होनेवाला कैसे कहा गया है? अपितु शिक्षा आदि अङ्गों में अव्यवहृत वेद शब्द के द्वारा आयुर्वेद का निर्देश किया जाना इसे उनसे पूर्व कालका ही सिद्ध करता है। ज्ञान विज्ञान के समुद्र वेद के एक तरङ्ग रूप से विद्यमान आयुर्वेद को वेद के शरीर में अनुप्रविष्ट हुआ देखकर कुछ लोग इसे उपवेद शब्द से अवयव अवयविभाव को देखकर कुछ लोग वेदाङ्गशब्द से तथा स्वल्प अवयव को दृष्टि में रखकर कुछ लोग वेदोपाङ्ग शब्द द्वारा व्यवहार करते हैं इसलिये इनमें परस्पर कोई असंगति नहीं है। इसीलिये काश्यपाचार्य ने तो उपशब्द को बिलकुल ही छोड़कर इसे पञ्चमवेद ही कहा है। अन्तरवयव सदा अवयवी के साथ ही रहते हैं। अवयव का समय अवयवी के बाद नहीं होता। इस प्रकार उपवेद शब्द के समान अर्थ वाला यह उपाङ्ग शब्द भी आयुर्वेद को प्राचीन ही सिद्ध करता है अतः इसमें अर्वाचीनता की शंका नहीं करनी चाहिये।

यद्यपि ब्राह्मणग्रन्थ उपनिषद् महाभारत पुराण तथा स्मृति आदि में चारों वेदों का समानरूप से वर्णन मिलता है। इसके साथ ही अथर्ववेद(१) में ऋक्, यजु, सामवेदों का उल्लेख है परन्तु इन(२)तीनों वेदों में अथर्ववेद का उल्लेख न होने से विद्वानों की सम्मति में यह त्रयीविभाग (ऋक् यजु साम वेद) प्राचीन है। मन्त्रात्मक वेद के पद्यात्मक ऋक्, गद्यात्मक यजु तथा गीत्यात्मक साम इस प्रकार तीन विभाग हैं। इस त्रयीविभाग (तीन वेदों) में ही अथर्ववेद के मन्त्रों का भी यथास्थान समावेश हुआ है। ऋषियों के हृदयों में प्रारंभ में आदिमज्ञानरूप तीनों (३) वेदों का जब ज्ञान हुआ था तभी आयुर्वेद विज्ञान भी था, ऐसा ऋक् यजु तथा सामवेद में स्थान २ पर आये हुए आयुर्वेद के विषयों से ज्ञात होता है। विशिष्टज्ञान के कारण अथर्व वेद की पृथक् गणना करके इसके सहित चार वेद हो जाते हैं। ब्राह्मण, उपनिषद्, स्मृति तथा मीमांसा आदि में भी चारों वेदों तथा उनके ज्ञाताओं का निर्देश मिलता है। इस

(१) हिस्ट्री ऑफ हिन्दू कैमिस्ट्री—भाग १—पी. सी. राय.

(१)यस्मादृचोऽवातक्षन्यजुर्यस्मादपाकषन्। सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम् (अथर्व १०।७।२०)

(२)तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि-जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत। (ऋक् १०।७।८, यजु ३१। ७। अथर्व १७।६। १३)

(३)सा वा एषा वाक् त्रेधा विहिता ऋचो यजूंषि सामानि। (शतपथ १०।५।१७)

प्रकार ऋक्, यजु, साम, अथर्व इन चारों वेदों के पुरातन काल से ही समकक्ष होने के प्रमाण न्यायमञ्जरी तथा वेदसर्वस्व में बहुत से मिलते हैं। अथर्ववेद के सहित चारों वेदों के उपवेदों का उल्लेख करते हुए चरणव्यूहकार ने "ऋग्वेदस्यायुर्वेद उपवेद इत्याह भगवान् व्यासः स्कन्दो वा" वाक्य द्वारा भगवान् व्यास तथा स्कन्द के मत में आयुर्वेद को ऋग्वेद का (१) उपवेद बताया है। उसकी सम्मति में तीनों वेदों में आयुर्वेद के विषय मिलने पर भी ऋग्वेद में विशेषरूप से स्वर्वैद्य अश्विनीकुमारों के सूक्तों में तथा अन्यत्र भी दूसरे अतीत पुरावृत्तों के साथ आयुर्वेद विषय के विशेषरूप से मिलने से त्रयी-विभाग को दृष्टि में रखते हुए ऋग्वेद के साथ आयुर्वेद का विशेष संबन्ध होने से संभवतः उपर्युक्त उक्ति कही हो। परन्तु उसके बाद जब कर्मकाण्ड के विशेष विकसित हो जाने पर शान्तिक पौष्टिक आदि ऐहिक कल्याणकारक कर्म तथा दैहिक आगन्तुक संशमन कर्म प्रधान अथर्ववेद की पृथक् गणना करके वैदिक विज्ञान चार भागों में विभक्त हो गया तब अथर्ववेद में (२) भैषज्यकर्म, आयुष्यकर्म तथा भूतादि परिहारकर्म विशेषरूप से पृथक् कर दिये गये। कौशिक-सूत्रकार ने भी स्थान २ पर उसी प्रकार का विनियोग प्रदर्शित किया है। इस प्रकार आथर्वण प्रक्रिया में विशेषरूप से आये हुए शान्तिक पौष्टिक आदि क्रियाओं से युक्त भैषज्य विज्ञान के क्रमिक विकास के साथ २ आयुर्वैदिक विषयों के भी विकसित होने से तथा पूर्वोक्तानुसार अन्य वेदों की अपेक्षा अथर्ववेद में विशेषरूप से इस विषय के मिलने से तात्कालिक स्थिति के अनुसार अथर्ववेद के साथ इसका घनिष्ठ संबन्ध देख कर धन्वन्तरि आत्रेय तथा कश्यप आदि प्राचीन आचार्यों ने आयुर्वेद के विषय में 'अथर्ववेद का उपाङ्ग' अथर्ववेद में विशेष भक्ति (श्रद्धा) का रखना तथा अथर्व-मूलक इत्यादि जो कहा है वह युक्तिसंगत ही है।

वेदों में आयुर्वेद संबन्धी विषय—

वेदों के विषय में दो मत हैं। प्रथम प्राचीन मीमांसकों का सिद्धान्त है कि वैदिक पद्धति में श्रवणपरम्परा द्वारा वर्तमान, प्राचीन आचार्यों द्वारा भी कर्ता का ज्ञान न होने से "यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै" इस श्वेताश्वतरोपनिषद् के वचन द्वारा पूर्व सिद्ध ऐश्वर ज्ञानात्मक इस वेद के जगत् स्रष्टा के मन में प्रतिभा (इलहाम-Revelation) के रूप में उदित होने के उल्लेख से, तथा ऋषियों के भी केवल मन्त्रद्रष्टा होने से पद तथा पद के अर्थ के नित्य संबन्ध होने से यह वेद अनादि तथा नित्य है। परन्तु इसके विपरीत तार्किकों (नैयायिकों) का सिद्धान्त है कि उस परमेश्वर से ऋक्, साम तथा यजु के उत्पन्न होने का उल्लेख मिलने से वेद रूपी शब्द के प्रत्येक उच्चारण की नई उत्पत्ति के कारण शब्दों के समुदायरूप वेदों का भी यद्यपि नित्यत्व संभव नहीं, अपितु ये सृष्टि के प्रारंभ में ईश्वर द्वारा बनाकर उपदेश करने से पौरुषेय हैं। तथापि सब दोषों से रहित परम आप्त परमात्मा की कृतिरूप होने से इसे प्रामाणिक तो मानना ही चाहिये। वेद अनादि हैं, अपौरुषेय (ईश्वरीय ज्ञान) हैं, पौरुषेय (पुरुष-मनुष्यकृत) हैं, अथवा आर्ष हैं और इस वेद की उत्पत्ति अथवा प्रकाशन का कौन सा वास्तविक तथा ठीक ठीक समय है—एतद्विषयक विचार को इस समय हम यहीं पर समाप्त करते हैं। यह निर्विवाद तथ्य है कि प्राचीन ऋषियों द्वारा भी सबसे अधिक प्रामाणिक माना जाने के कारण यह अत्यन्त प्राचीन काल से ही सम्मानित माना गया है। आजकल के प्राच्य तथा पाश्चात्य विद्वान् भी इसे सन्मान की दृष्टि से देखते हैं। पुरातत्वानुसन्धान की दृष्टि से वैदिक साहित्य की आलोचना करनेवाले विद्वानों को यदि हम देखें तो किसी २ के मत में यह बारह हजार वर्ष पूर्व का है तथा किसी २ के मत में यह चार हजार वर्ष पूर्व का है-इत्यादि। इस प्रकार अपने २ विचारों के अनुसार बहुत सेप क्ष हमारे दृष्टि गोचर होते हैं परन्तु संसार में जितने भी प्राचीन साहित्य उपलब्ध हैं उन सबसे प्राचीन वैदिक साहित्य (वेद) हैं, इसमें किसी का विरोध नहीं है। इस प्रकार इस वैदिक विज्ञान का तथा उसके अन्तर्गत आयुर्वेद विज्ञान का भी समय प्राचीन ही स्थिर होता है। इस वैदिक विज्ञान रूपी भण्डार में अन्य विज्ञानों की तरह आयुर्वेद विज्ञान भी बहुत प्रकार से ओतप्रोत दिखाई देता है। उदाहरणार्थ—

ऋग्वेद संहिता में—वृद्धावस्था से जीर्ण हुए च्यवन तथा वन्दन ऋषि का अश्विनीकुमारों द्वारा रसायन प्रयोग से पुनः यौवन की प्राप्ति-Rujuvenilation (१-११६-१०। १-११७-१३। १-११९-७) दासों द्वारा अग्नि और जल में फेंकने पर भी बचे हुए दीर्घतमस् ऋषि का पुनः दास द्वारा सिर तथा छाती के काट दिये जाने पर अश्विनीकुमारों द्वारा जीवन दान देकर दस युग पर्यन्त वृद्धावस्था से रहित होकर जीवित रहना (१. १५८. ४-६) युद्धक्षेत्र में खेल राजा की पत्नी विश्पला की शत्रुओं द्वारा टांग काट दी जाने पर अश्विनीकुमार द्वारा लोहे की जंघा जोड़ना (१. ११६. १५) कटे हुए अङ्गों वाले अत्रि आदि के अवयवों को जोड़ना (१. ११७. १९) शत्रुओं द्वारा तीन टुकड़े किये हुए श्यावाश्व के अङ्गों को जोड़कर पुनरुज्जीवित करना (१. ११७. २४) अश्विनीकुमारों द्वारा दधीच (दधीची या दध्यङ्) ऋषि के सिर को अलग करके उसे रखकर उसकी जगह घोड़े का सिर जोड़कर उसके द्वारा मधुविद्या (प्राण-विद्या) ग्रहण करके फिर घोड़े का सिर काटकर उसके स्थान पर पुनः पहला (मनुष्य का) सिर जोड़ देना (१. ११६. १२।१. ११७. २२) अन्धे ऋज्राश्व को दृष्टिदान (१. ११६. १६।१. ११७. १७) अन्धे कण्व को दृष्टिदान तथा बहरे नार्षद को श्रोत्रदान (१.११७.८) पङ्गु (लूले) परावृज तथा जिसके घुटने खराब हुए हैं ऐसे श्रोणर्षि को गतिदान (१. ११२. ८) नपुंसक पतिवाली वध्रिमती के भी पुत्रोत्पादन (१. ११६. १३) विश्वक को नष्ट हुए पुत्र (विष्णाश्व) की प्राप्ति (१. ११६. २३) कुष्ठ रोग के कारण पति को न प्राप्त करके पितृगृह में जीर्ण होती हुई कक्षीवती की पुत्री घोषा का कुष्ठ निवारण करके पति की प्राप्ति कराना (१. ११७. ७) कुष्ठ-रोग से कृष्ण वर्ण वाले श्याव के रोग को दूर करके सुन्दर पत्नी की प्राप्ति (१. ११७. ८) इत्यादि अश्विनीकुमारों के अनेक अद्भुत चम-

---

(१) तञ्जौर के पुस्तकालय में विद्यमान उमा-महेश्वर संवाद रूप एक अन्य काश्यपसंहिता में भी **'ऋग्वेदस्योपवेदाङ्गं काश्यपं रचितं पुरा। लघुग्रन्थं महातेजः अमेयं मम दीयताम् (?)** इस श्लोक के द्वारा आयुर्वेद को ऋग्वेद का उपवेद बतलाया गया है।

(२) भेषजं वा आथर्वणानि (ताण्ड्यमहाब्राह्मणे १२. ९. १०)

त्कार-वायु, द्यु, पृथिवी आदि के समान देवभिषग् अश्विनीकुमारों द्वारा अनुकूल भेषज की प्रार्थना (१. ८९. ४) अश्विनीकुमारों द्वारा ओषधि वनस्पति आदि की विशेष रूप से अभिव्यक्ति (१. ११६. ८) तुम दोनों भैषज्य के द्वारा भिषक् होवो-इस प्रकार अश्वियों की प्रार्थना (१. १५८. ६) आंखों द्वारा देखना, अन्य सब इन्द्रियों द्वारा समर्थ होना, वृद्धावस्था को दूर करना तथा सौ वर्ष की आयु की प्राप्ति की अश्वियों से प्रार्थना (१. ११६. २५) आर्चत्क तथा संयु ऋषि की निवृत्तप्रसवा गौ को भी अश्वियों द्वारा प्रसव कराना तथा दूध का दिलवाना (१. ११६. २२।१. ११७. २०) इन्द्र द्वारा भी अन्धे परावृज को दृष्टिदान तथा पङ्गु (लूले) श्रोण को गतिदान (२. १५. ७) इन्द्र द्वारा अपाला के चर्मरोग तथा उसके पिता का गंजरोग (Baldness) दूर करना (८. ९१. ७) इन्द्र का औषधि धारण करना (२. २३. ७) नाना विष तथा कृमियों का वर्णन और उनका प्रतिकार (१. १९१. १-१६) नाना प्रकार के यक्ष्मा रोगों को दूर करना (१०. १६३-१-६) सूर्यचिकित्सा द्वारा हृद्रोग आदियों को दूर करना (१. ५०. ११-१३) जल का भेषजत्व (१०. १३७. ६।१.-२३. १९) औषधियों का वर्णन (१०. ९७. १-२३) यक्ष्मा, अज्ञातयक्ष्मा (अज्ञात रोग- Obsevre diseases) राजयक्ष्मा, ग्राहि, पृष्ठ्यामय, सिपसिमि तथा हृद्रोग आदि का उल्लेख (१०. ९७. १०५. १३७. १६१. १६७) इत्यादि बहुत से विषय स्थान २ पर मिलते हैं।

शुक्ल यजुः संहिता—में भी १२ वें अध्याय के दो सूक्तों (१२. ७५. ८९। १२. ९०. १०१) में औषधियों का रोगनाशकत्व, औषधियों के खोदने वाले तथा जिनके लिये औषधियां खोदी गई हैं उन दोनों के लिये उपकारी होना, श्लेष्मरोग, अर्श, श्वयथु, गण्डु, श्लीपद, यक्ष्म, मुखपाक, क्षत आदि रोगों का नाश करना, स्थान २ पर (१९. ८१. ९३।२०. ५. ९।२५. १-९।३१. १०-१३।३०. ८-१०) घोड़े तथा मनुष्य के शरीर के अङ्गों का उल्लेख, यक्ष्मा, रोग, कफरोग, शोथ, पाकारु, अर्श, विषूचिका, हृद्रोग, अर्म, चर्मरोग, कुष्ठ, अङ्गभेद आदि रोगों का उल्लेख मिलता है।

तैत्तिरीय संहिता के काम्येष्टि प्रकरण में दृष्टिप्राप्ति तथा यक्ष्मा उन्माद आदि रोगों के परिहार की प्रार्थना, यक्ष्म, राजयक्ष्म तथा उससे उत्पन्न अन्य रोगों की उत्पत्ति का विषय (२. १. १. १।२. ४. १४. १५) में दिखाई देता है।

सामसंहिता में भी ऋग्वेद में दिये हुए मन्त्रों के प्रवेश तथा आयुर्वेद संबन्धी मन्त्रों के मिलने से सामवेद भी इस विषय में ऋग्वेद के समान ही प्रतीत होता है।

अथर्ववेद में तो विशेषरूप से आयुर्वेद के बहुत से विषय मिलते हैं। वहां इस विषय के सैकड़ों सूक्त तथा मन्त्र मिलते हैं। ऋग्वेद आदियों में तो प्रायः केवल ऐतिहासिक रूप से ही कहीं २ प्रसङ्गवश आयुर्वेद का विषय आता है परन्तु अथर्ववेद में तो स्थान २ पर रोग, शारीरिक अवयव, रोग प्रतीकार, अमुक २ औषधियों का अमुक २ रोग में उपयोग, इत्यादि बहुत से विषय भरे पड़े हैं जिससे कि आयुर्वेद का अथर्ववेद से संबन्ध स्पष्ट प्रतीत होता है। उदाहरण के लिये रोग के विषय में—तक्म (ज्वर) रोग का वर्णन तथा उसके भेदों (६. २१. १-३) सतत, शारद, ग्रैष्म, शीत, वार्षिक (वर्षाऋतु में होने वाला) तृतीयक आदि का निर्देश (१. २५. ४।५. २२. १-१४) ज्वर के भेद तथा उनमें मण्डूक (मेंढक) का उपयोग (७. ११६. १. २) उस समय जांगल प्रदेश होने के कारण मुंजवत्, बाह्लीक, गान्धार, अङ्ग, मगध आदि देशों में ज्वर का निर्देश (५. २२. १४) श्लेष्मा का अस्थि, सन्धिस्थान तथा हृदय को पीडा देना (६. १४. १-३) मन्या-गण्डमाला के ५५ भेद, ग्रीवा की गण्डमाला (Goitre) के ७७ भेद, स्कन्ध गण्डमाला के ९९ भेद (६. २५. १-३) अपचित (गण्डमाला-Scrofula) के एनी, श्येनी, कृष्णा, रोहिणी, सूतिका, आदि भेद (६. ८३. १-३) शीर्षक्ति, शीर्षामय, कर्णशूल, विलोहित, विसल्यक, अङ्गभेद, अङ्गज्वर, विश्वाङ्ग्य, विश्वतक्म, शारदतक्म, बलास, हरिम, यक्ष्मोध, काहावाह, क्लोम (Pharynx) उदर, नाभि हृदयगतयक्ष्म, पार्श्व, पृष्ठि, वंक्षण (Groin) आन्त्र तथा मज्जागत पीडा विद्रधि वातोकर अलजी पाद जानु श्रोणि परिमंश (कटि या जघन प्रदेश) उनूक (रीढ की हड्डी) उष्णिहा (ग्रीवा-नाडी) तथा शीर्ष वेदना आदि नाना रोगों का वर्णन मिलता है (९. ८. १-२२)

शारीर शास्त्र के विषय में—शरीर की नाडी तथा धमनियों का निर्देश सौ शिराओं तथा सहस्र धमनियों का उल्लेख (१. १७. १. ४।७. ३६. २) नाना रोगों के साथ शारीरिक अवयवों का वर्णन (२. ३३. १-७) नाना शरीरावयवों का उल्लेख (२. ३३. २।४. १२. ४।१०. २. १।१०. ९. १३-२५) केश, अस्थि, स्नाव, मांस, मज्जा, पर्व, उरु (जंघा) पैर, घुटने, शिर, हाथ, मुख, पृष्ठ, वर्जह्य (स्तन) पार्श्व, जिह्वा, ग्रीवा, कीकस (लोम) तथा त्वचा आदियों का उल्लेख (११. १०. ११-१५) में मिलता है।

रोग प्रतीकार के विषय में—मूत्राघात रोग में शर तथा शलाका (Cathetar) आदि द्वारा मूत्र का निकालना या भेदन करना (१. ३. १-९) सुखप्रसव (Normal Delivery) तथा उसकी विकृति (Abnormal Delivery) में योनिभेदन-Scissarian Section (१. ११. १-६) व्रण की जल द्वारा चिकित्सा (५. ५७. १-३) पकी हुई पिडका (Abscess) का शलाका द्वारा वेधन (७. ७४. १-२), पिडका को पकाने के लिये लवण का उपचार (७. ७६. १-२) इत्यादि शल्यप्रक्रियाएँ, बाहर से शरीर में प्रविष्ट होकर रोगों को उत्पन्न करने वाले विविध कृमियों तथा उनके निकालने का वर्णन (२. ३१. १-५) चक्षु नासिका तथा दांतों में प्रविष्ट होकर रोगों को उत्पन्न करने वाले येवास, कष्कष, एजत्क, शिपी विलुक आदि कृमियों को नष्ट करना (५. २३. १-१३) नाना रंग के कृमियों का वर्णन, मनुष्य तथा गौ आदि पशुओं में विद्यमान कृमियों का सूर्य की किरणों द्वारा नष्ट किया जाना (२. ३२. १-६) हानिकारक रोग कृमियों को सूर्य की किरणों द्वारा नष्ट किया जाना (४. ३७. १-१२) सूर्य की लाल किरणों (Red rays) द्वारा हृद्रोग, कामला, पाण्डु आदि रोगों का नाश (१. २२. १-४) प्रातःकाल की धूप में स्वेदन, प्रभास्नान (Sun bath) तथा जल स्नान आदि द्वारा शारीरिक रोगों को नष्ट करना (३. ७. १-७) हृद्रोग में नदी के हिमयुक्त जल का उपयोग (६. २४. १-३) जल का सर्वरोग नाशकत्व (६. ९२. ३) जंगल तथा पर्वत की वायु का आरोग्यदायकत्व (१. १२. १-४) वायु

का भेषजत्व (४. १३. २-३), आरोग्य का वर्णन (२. १०. १-८) क्लैव्य-नपुंसकता नाशन के उपाय (६. १३८. १-५) इत्यादि विषय मिलते हैं।

ओषधि के विषय में—नक्त रामा कृष्णा असिक्नी तथा ब्रह्मसंज्ञक औषधियों का किलास (कुष्ठ) तथा पलित (बालों का झड़ना) आदि रोगनाशकत्व (१. २३. १-४) सुपर्णा आसुरी सरूपा श्यामा आदि औषधियों का त्वग्रोगनाशकत्व (१. २४. १-४) वल्मीक (सांप की बाँबी) में मिलने वाली औषधियों का अतिसार, अतिमूत्र, नाडीव्रण आदि को नाश करना (२. ३. १-६) पृश्निपर्णी का गर्भनाश तथा रक्तविकार को दूर करने तथा शरीर की वृद्धि करने में (२. २५. १-४) कुरंग शृंग तथा उसके चर्म का क्षय कुष्ठ, तथा अपस्मार के नाश करने में (३. ७. १-३) शतवीर्या, दूर्वा का दीर्घायुष्य तथा नाना रोगों के दूर करने में (३. ११. १-८), वृषा शुष्मा आदि औषधियों का वृष्य रूप में (४. ४. १-८), रोहिणी नामक औषधि का भग्नसंधान तथा क्षत के प्रतीकार में (४. १२. १-७) वर्णन, सहदेवी तथा अपामार्ग का तृषा क्षुधा आदि की इन्द्रियों के रोगों हिंसाकर्म तथा शत्रुओं के नाश करने की महिमा का वर्णन (४. १७. १-८।४. १८. १-८।४. १९. १-८) अपामार्ग का पाप को दूर करना तथा मुख और दांतों का शोधन करना (७. ६७. १-३) सिलाच्य औषधि की महिमा का वर्णन (५. ५. १-९) कुष्ठ औषधि का तक्म (ज्वर) यक्ष्मा तथा कुष्ठ नाशन (५. ४. १-१०) कुष्ठ औषधि का वर्णन (६. ९५. १-३) कुष्ठ औषधि की धूप का तक्म (ज्वर) नाशकत्व तथा उसका विश्वभेषजत्व (सब रोगों की औषधि होना), यातुधान (कृमि) तथा ज्वर आदि नाशकत्व (१९. ३९. १-१०) की महिमा आशरीक, विशरीक, पृष्ठिका, विश्व तथा शारद ज्वरों में जङ्गिड औषधियों का उपयोग (५. २२. १-२४) जङ्गिड औषधियों का वर्णन, मणियों का बांधना तथा उसके द्वारा शत्रुओं का नाश, आयुष्य की प्राप्ति, विष्कन्ध (वातरोग) का नाश तथा आशरीक विशरीक, कफरोग, पृष्ठरोग तथा विश्व शारद आदि ज्वरों का नाश (२.४.१-६।१९.३४.१-१०) जङ्गिड औषधि का विष्कन्ध (वातरोग) नाशन, विश्वभेषजत्व, यक्ष्मनाशन, वातरोगनाशन, श्वित्र, दद्रु, पामा आदि त्वग्रोग तथा दुर्नाम (अर्श) रोग नाशन (१९. ३५. १-५) विषाण औषधि का रक्तस्राव तथा वातरोग में हितकर होना (६. ८४. १-३) वरण औषधि का यक्ष्मा नाशकत्व (६. ८५. १-३) पिप्पली का क्षिप्त, अतिवृद्ध तथा वातीकृत रोगों की औषधि होना (६. १०९. १-३) कफरोग, विद्रधि, लोहितक, विसल्यक आदि रोगों में चीपद्रु नामक औषधि का उपयोग (६. १२७. १-३) देवीतितली औषधि द्वारा केशवृद्धि के उपायों का वर्णन (६. १३६. १-३। ६. १३७ .१-३) गुग्गुल की धूप की गन्ध द्वारा यक्ष्मा रोग का नाश (१९.३६.१-३) जलवायु द्वारा फैलने वाले रोगों के नाशक के रूप में अजशृङ्गी, जल द्वारा फैलने वाले रोगों के नाशक के रूप में गुग्गुलु पीलानल चौक्षगन्धि प्रमन्दि आदि, तथा प्रसारिरोगों (Infections deseases) के नाशक के रूप में अश्वत्थ, न्यग्रोध शिखण्डी आदि ओषधियों का वर्णन (४.३७.१-१२) ओषधियों की महिमा (६.२१. १-३) असिक्नी, कृष्णा, पृश्णि, प्रस्तृणती, स्तम्बिनी, एकशुङ्गा, प्रतन्वती, अंशुमती, कण्डिनी, विशाखा, वैश्वदेवी, उग्रा, अवकोल्वा, तथा तीक्ष्णशृङ्गी आदि के रूप में नाना ओषधियों तथा उनके प्रकारों का वर्णन, नाना वनस्पतियों के रस से निर्मित गुटिकात्मक वैयाघ्रमणि का वर्णन, अश्वत्थ, दर्भ, सोम, व्रीहि, यव आदियों का तथा पुष्पवाली, प्रसूमती, फलिनी तथा फलरहित ओषधियों और विषदूषण कृत्यानाशन तथा श्लेष्मरोगनाशन गुण वाली ओषधियों का वर्णन (८. ७. १-२८) दर्भ भङ्ग (शण) यव सह सोम आदि का वर्णन (११. ८. १५) ब्राह्मण नामक ओषधि का विषहरत्व, अयस्कम्भ नामक ओषधि का विष में बुझे हुए शस्त्रों द्वारा किये हुए व्रण आदि में हितकर होना तथा पर्ण अधिशृङ्ग कुड्मल आदि का शस्त्र प्राणी तथा ओषधियों का विषनाशन (४. ६. १-८) वरणा प्रक्रया आदि ओषधियों का विषहरत्व (४. ७. १-७) नाना जाति के सर्पों का उल्लेख करके तावुव तथा तस्तुव आदि ओषधियों के विषनाशक गुण का वर्णन (५. १३. १-११) मधुग रुष्गीशी पाला आदि ओषधियों का सर्पविषनाशकत्व (६. १२. १-३) व्याख्याभेद से वल्मीक मिट्टी (सायण के मत से) अथवा सिलाच्य ओषधि (ग्रिफिथ के मत से) का विषहरत्व (६. १००. १-३) मधुक नामक ओषधि का नाना प्रकार के सर्प कृमि तथा विष को दूर करना (७. ५६. १-८) विष के द्वारा ही विष का प्रतीकार (७. ८८ .१) विषदोहन विद्या के द्वारा विष का प्रतीकार (८. ५. १-१६।८. ६. १-४) पर राष्ट्र पर आक्रमण तथा इन्द्रशान्ति के निमित्त दर्भमणि का बांधना (१९. २८. १-१०।१९. २९. १-९।१९. ३०-१-५) पुष्टि की कामना करने वाले व्यक्ति को औदुम्बर मणि का बांधना (१९. ३१. १-४) मृत्यु के भय की निवृत्ति के लिये दर्भमणि का बांधना (१९. ३२. १-२।१९. ३३. १-५) इत्यादि सैकड़ों ओषधियों के निर्देश, भेद, प्रयोग तथा उपयोग आदि स्थान २ पर उपलब्ध होते हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों में भी निम्न वर्णन मिलता है। ऐतरेय ब्राह्मण में-कहीं कहीं शरीर की उत्पत्ति तथा प्राण का उल्लेख, अश्वियों का देवताओं के वैद्य के रूप में निर्देश तथा ज्ञानेन्द्रियों का वर्णन (५. २२) ओषधियों का रोगों को दूर करना (३. ४०) अञ्जन के प्रयोग से नेत्ररोगों की निवृत्ति (१. ३) शाप के द्वारा भी उन्माद कुष्ठ आदि रोगों की उत्पत्ति, शुनःशेप की कथा में वरुण के कोप से जलोदर रोग का होना। छान्दोग्य में—हृदय नाड़ियों का वर्णन (८. १. ६) आहार के पचने की प्रक्रिया (६. ५) निद्रा तथा स्वप्न का उल्लेख (४.३. ३) पामा रोग का वर्णन (४.१.८) रोग को दूर करके एक सौ सोलह वर्ष की आयु की प्राप्ति के उपायों का उल्लेख (३. १६)।

बृहदारण्यक में—अश्वके अङ्गों (१. १. १) मनुष्य के अङ्गों (२. ४. ११) हृदय तथा उसकी नाडियों का वर्णन (२. १. १९।४. २. ३। ४. ३. २०) मनुष्य तथा वृक्ष की तुलना (३. ९. २८) नेत्र की रचना (२. २. ३) मृत्यु का उल्लेख (३. २. ११) शाप के द्वारा रोगों की उत्पत्ति (३. ७. १।३. ९. २६)।

सामविधानब्राह्मण में—सर्पों से रक्षा (२. ३. ३)। भूतों का आक्रमण (२. २. २) रोगोंका आक्रमण (२.२.३)।

तैत्तिरीयारण्यक में—कृमियों का वर्णन (४.३६.१)।

श्रौतग्रन्थों में—

आश्वलायन में—यज्ञीय पशुओं तथा ऋत्विगों में परिहरणीय

रोगों का निर्देश। आपस्तम्ब में कृमियों का वर्णन (१५. १९. ५)।

गृह्य-ग्रन्थों में—

आश्वलायन में—सूर्योदय तथा सूर्यास्त के समय सोने में रोग का कारण (३. ७. १. २) यजमान में परिहरणीय रोग का उल्लेख (१. २३. २०) पशुओं के रोगों को दूर करना (४. ८. ४०)।

शाङ्खायन में—शारीरिक कष्ट के समय वेदमन्त्रों के गायन का निषेध (४.७.३६) आग्रहायण यज्ञ में भोज्यवस्तुओं में भूतों की निवृत्ति (३. ८) सब रोगों की निवृत्ति (५. ६. १-२)।

गोभिलीय सूत्र में—रोग निवर्तक मन्त्रों का उल्लेख (४.६.२) सर्पदंश का उपाय (४. ९. १६)।

आपस्तम्ब में—रुग्ण स्त्री को पद्मपत्र आदियों के द्वारा अभिमन्त्रित करना (३. ९. १०) आधा सीसा) (Hemicronia) का कारणभूत कृमियों तथा बालकों में अपस्मार रोग के कारणभूत कुक्कुरभूत का निर्देश (७. १८. १) बालक में क्षेत्रिय रोग (सहज, पैतृत-Congenital) का परिहार (६.१५.४)।

पारस्कर गृह्य सूत्र में—मर्दन (मालिश) के द्वारा शिरःशूल का प्रतीकार (३-६)।

हिरण्यकेशीय गृह्यसूत्र में—अग्नि का रोगनाशकत्व (१.२.२८) बालक के क्षेत्रीय रोग को दूर करना (२. ३. १०)।

खादिर गृह्य सूत्र में—कृमियों का वर्णन (४. ४. ३) गोरोग की निवृत्ति के लिये होम के धूम से युक्त प्रदेश में विचरण करना (४. ३. १३) सर्पदंश का उपाय (४. ४-१) इत्यादि आयुर्वेद संबन्धी विषय स्थान २ पर न्यूनाधिक रूप में उपलब्ध होते हैं।

वैदिक साहित्य में आयुर्वेद संबन्धी विषयों को लेकर ब्लूमफील्ड (M. Bloompield), हिलब्राण्ड (A. Hillebrandt) कैलेण्ड (Caland) डॉ. पी. कार्डियर (P. Cordier), जॉली (J. Jolly), बोलिङ्ग (G. M. Bolling) झीमर (Zimmer) इत्यादि पाश्चात्य विद्वानों तथा कुछ भारतीय विद्वानों ने भी बहुत कुछ लिखा है। इन सबके विषय में विमर्श करना उपयोगी होने पर भी अब हम विस्तार के भय से इसे यहीं समाप्त करते हैं।

कौशिक सूत्रकार ने उन २ मन्त्रों के विनियोग के दिखाने में उस २ मन्त्र की महिमा को दिखाते हुए ४ थे अध्याय में 'अथ भैषज्यानि' इत्यादि से प्रारंभ करके उस २ रोग के प्रतीकार के लिये उन २ मन्त्रों द्वारा मन्त्रित करके जल, ओषधि आदि का पिलाना तथा हवन मार्जन आदि बहुत से उपाय दिये हैं। मन्त्रसंहिता को लेकर बने हुए कौशिकसूत्र में ये मान्त्रिक विधान भी भरे हो सकते हैं परन्तु वातिक तक्म रोग में मांस तथा मेद का पिलाना, श्लैष्मिक में मधु का पान, वातपित्तज में तैलपान, धनुर्वात, अङ्गकम्प, शरीरभङ्ग आदि वातरोगों में घृत का नस्य, रक्त के बहने तथा स्त्रियों की अतिरजःप्रवृत्ति में सूखे कीचड़ की मिट्टी को घोलकर पिलाना, हृद्रोग तथा कामला में रोगी को हरिद्रा तथा ओदन खिलाना, श्वेत कुष्ठ में खूब लाल कुष्ठ को गोबर के साथ घिसकर भृङ्गराज, हरिद्रा, इन्द्रवारुणी तथा नीलिका के फूलों को पीसकर लेप करना, वातविकार में पिप्पली का सेवन, शस्त्र की चोट लगकर रक्तप्रवाह होने पर उस स्थान पर पकाये हुए लाख के पानी द्वारा सिञ्चन करना, राजयक्ष्मा, कुष्ठ, शिरोरोग तथा सारे शरीर की वेदना में मक्खन में कूठ को मिलाकर रोगी के शरीर पर लेप करना, शस्त्र की चोट लगने पर पकाये हुए दूध में लाक्षा डालकर पिलाना, गण्डमाला में शङ्ख को घिसकर लेप करना, जलौका द्वारा रक्त का निकालना, सेन्धा नमक का चूर्ण छिड़कना (Dusting) व्रण में गोमूत्र का उपयोग, मूत्र तथा मल के रुक जाने पर हरीतकी आदि भेदनीय (Lexatws) द्रव्य का बांधना, आखु किरि पूतीक मथित जरत् प्रमन्द तथा स्रावस्क आदि ओषधियों को जल में घोलकर पिलाना, घोड़े आदि पर चढ़ना, बाण का छोड़ना, गोदोहनी में जल में २१ जौ डालकर शिश्न (Penis) को ऊपर करके उसमें वह जल डालना, लोहशलाका (Catheter or Sound) का डालना, जौ, गेहूं, वल्ली, पद्ममूल, तथा पाविका के क्वाथ रूप आलविसोल फाण्ट का पीना इत्यादि का वर्णन है। मन्त्रों द्वारा प्रतिष्ठापित (मन्त्रित) शान्त्युदक में भी शमी, शम, काश, वंश, शाम्य, वाका, तलाश, पलाश, वासा, शिंशपा, शिम्बल, सिपुन, दर्भ, अपामार्ग, कृति, लोष्ठ, वल्मीक, वपा, दूर्वाप्रान्त, व्रीहि, यव आदि शान्त ओषधियों को डाल कर तैयार किये हुए उस जल को भैषज्य के रूप में भी बहुत से रोगों का नाशक बताया है। इस प्रकार मान्त्रिक प्रक्रिया की तरह औषधि विद्या में भी कौशिक सूत्रकार का अथर्ववेद से संबन्ध प्रतीत होता है।

प्राचीन काल में शारीरिक धातुओं की विषमता के समान राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच, ग्रह, स्कन्द, रुद्र आदि देवताओं का कोप आदि भी रोग के कारण माने जाते थे जैसा कि 'रक्षोहाऽमीबचातनः' इत्यादि मन्त्रांश द्वारा रोग को दूर करने के लिये उस २ रोग के निदानभूत राक्षस प्रभृति को दूर करना उपाय रूप से निर्दिष्ट है। पाश्चात्य चिकित्सा ग्रन्थों में भी उन्माद, अपस्मार आदि रोगों में भूत आदियों का निदान रूप में वर्णन मिलता है। इसी दृष्टि से वैदिक समय में भी कौशिक सूत्र आदियों में उस २ रोग के निदान भूत राक्षस आदियों को दूर करने के लिये आथर्वण मन्त्रों का प्रयोग किया गया है। किसी २ का ऐसा भी विचार है कि अथर्व आदि मन्त्रों में उस २ रोग के कारण भूत जो नाना प्रकार के कृमियों का उल्लेख है वह भी रोगों के कारणभूत राक्षस आदि परक ही जानना चाहिये। वे रोगों के जीवाणु (Germs) अथवा राक्षसभूत आदि दोनों ही संभव हैं। ग्रन्थकारों ने तीन सिर, तीन पैर, तथा लाल आँखों वाली ज्वर आदि रोगों की जो मूर्तियाँ (चित्र) बनाई हैं वे भी उन २ रोगों के निदानभूत राक्षस आदि या रोगों के जीवाणुओं की आकृति की कल्पना द्वारा ही बनाई गई प्रतीत होती हैं। आजकल सूक्ष्मवीक्षणयन्त्र (Microscope) द्वारा देखने पर उन २ रोगों में भिन्न २ तथा विचित्र आकृति वाले जीवाणु मिलते हैं। इन्हीं भीषण आकृति वाले जीवाणुओं का ही अन्तर्दृष्टि वाले प्राचीन ऋषियों ने संभवतः राक्षस रूप में वर्णन किया हो। आजकल भी पहाड़ी जाति में ज्वर आदि को भूत आदियों से उत्पन्न हुआ मानकर अपमार्जन (झाड़ना-फूकना), दूसरे प्राणियों में संक्रामण, तथा बलि देना आदि मान्त्रिक उपचार प्रायः किये जाते हैं तथा सफल भी होते देखे जाते हैं। आजकल कहीं २ व्यवहार में दिखाई देने वाले ऐसे उपाय एकदम निर्मूल नहीं हैं अपितु प्राचीन वैदिक अवस्था से ही प्रारंभ होकर टूटी फूटी अवस्था में

किसी न किसी रूप में आजतक भी प्रचलित हुए समझना चाहिये। इस प्रकार की मान्त्रिक प्रक्रिया से युक्त भैषज्य प्रक्रिया न केवल प्राचीन भारत में ही थी अपितु प्राचीन मिश्र, पाश्चात्य देश तथा उत्तरी अमेरिका के देशों में भी थी जैसा कि उन २ देशों के प्राचीन इतिहास के अनुसन्धान से स्पष्ट है।

कुछ लोगों का जो यह विचार है कि आथर्वण सम्प्रदाय में केवल मान्त्रिक भूत विद्या ही रोगों को दूर करने का उपाय था, यह सर्वांश में सत्य नहीं है। वैदिक समय में मिथ्याहार-विहार के समान पाप, भूतप्रेत आदि रोगों के हेतु रूप से तथा रुद्र आदि देवताओं का कोप एवं ओषधियों के प्रयोग के समान उस २ देवता का आराधन करके उसे प्रसन्न करना, विशेष२ मन्त्रों द्वारा भूत आदियों को दूर करने के लिये रोगियों का मार्जन, जलाभिषेचन, अभिमन्त्रण, धूपन आदि रोगों को दूर करने के उपाय यद्यपि मिलते हैं तथापि पूर्वोक्तानुसार बहुत से रोग, शल्यप्रक्रियायें, बहुत से शारीरिक अवयव, उस २ रोग को दूर करने वाली अनेक ओषधियों का मन्त्रों में स्पष्ट रूप से उल्लेख मिलने से यह कहा जा सकता है कि मन्त्रविद्या के समान भैषज्यप्रक्रिया में भी आथर्वणी प्रवृत्ति विद्यमान थी। इस प्रकार प्राचीन लोग मन्त्रविद्या तथा औषधविद्या दोनों ही मार्गों का अनुसरण करते थे। परन्तु आथर्वण सूक्तों के मन्त्रों में से कुछ मन्त्रों का शब्दार्थ करते हुए उनके भूतविद्या से रहित आयुर्वेदीय विषयों के प्रतिपादक दिखाई देने पर भी गृह्यकार आदि के द्वारा जल के प्रतिपादक 'शन्नो देवी' इत्यादि मन्त्रों का शनिग्रहादि परक अर्थ करने के समान ही कौशिक सूत्रकार द्वारा अभिचार (हिंसाकर्म), मन्त्रकरण्डबन्धन (रक्षासूत्र का बांधना) तथा भूतापसारण परक आदि अर्थ किया जाना कालक्रमागत दृष्टिभेद को प्रकट करता है।

ऋक् संहिता में अल्प मात्रा में आई हुई मान्त्रिक उपचार प्रक्रिया तथा भैषज्य विद्या की अथर्ववेद में अधिकता दिखाई देने से विकास प्रतीत होता है। उसके बाद शुद्धरूप से भैषज्य का निर्देश करने वाले मन्त्रों का भी कौशिकसूत्रकार ने मान्त्रिक प्रक्रिया परक अर्थ लगाया है। इससे प्रतीत होता है कि सूत्रकाल में मान्त्रिक प्रक्रिया का विशेष विकास हुआ था। इस प्रकार क्रमिक विकास-परम्परा समाप्त हो जाती है। अथवा अथर्वा भूतविद्या का आचार्य था ऐसी भी श्रुति है। इसीलिये अथर्ववेद में भूतविद्या तथा मन्त्र विद्या के विषय विशेषरूप से सम्मिलित हैं। इस कौमारभृत्य तन्त्र में बालरोगों में स्कन्द, अपस्मार ग्रह, पूतना आदि को निदान रूप से तथा धूपन, पूजन आदि को रोग-प्रतीकार रूप से देने के समान ही धातुविषमता को रोग के हेतु रूप तथा उन २ ओषधियों का उस २ रोग को दूर करने में उपयोग दिया होने से प्रतीत होता है कि पूर्वकाल में दोनों प्रक्रियाएँ विद्यमान थीं।

वैदिक साहित्य में बहुत से वैद्यक के विषयों के मिलने पर भी पूर्वोक्तानुसार ऋग्वेद में अश्वियों द्वारा नाना चमत्कार रूप भैषज्य विषयों का केवल ऐतिहासिक रूप से ही वर्णन मिलता है। किस रीति से अश्वियों ने विश्पला की जङ्घा जोड़ी, ऋज्राश्व की आंखें ठीक की, श्रोण के जानुओं को क्रियाशील बनाया-इत्यादि के विशेष विधान का इससे ज्ञान नहीं होता। कहीं २ किन्हीं ओषधियों का वर्णन है परन्तु वहां उनकी उपयोग विधि नहीं दी है। अथर्ववेद में यद्यपि नाना रोग, औषध, रोगों के कारण, कृमि आदि, अमुक ओषधि के सेवन से अमुक रोग का प्रतीकार इत्यादि विषय भी मन्त्रों में मिलते हैं परन्तु उनसे भी उनकी उपयोग की विधि मालूम नहीं होती। इस प्रकार उन मन्त्रों से केवल तात्कालिक आयुर्वेद विज्ञान की स्थिति सूचित होती है।

'यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव।
विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहामीव चातनः॥'
(ऋक् १०. ९७. ६)

शतं ते राजन् भिषजः सहस्रमुर्वी गभीरा सुमतिस्तेऽस्तु॥
(ऋक् १. २४. ९)

शतं ह्यस्य भिषजः सहस्रमुत वीरुधः॥ (अथर्व २.९.३)

इत्यादि मन्त्रों से प्रतीत होता है कि सैकड़ों ओषधियों के संग्रहकर्ता विप्र भिषक् (वैद्य) होते थे। वैद्य भी न केवल एक दो थे अपितु सैकड़ों की संख्या में थे। ओषधिरूप से ज्ञात लता वनस्पतियां आदि भी स्वल्प नहीं थीं अपितु हजारों की संख्या में थीं। इनसे ज्ञात होता है कि इस विज्ञान के ज्ञाता सैकड़ों महर्षियों द्वारा प्रतिपादित, सम्पूर्णरूप से व्यवहृत, तथा शृंखलारूप में विद्यमान सम्पूर्ण ओषधियों से युक्त यह आयुर्वेद एक पृथक् ग्रन्थ के रूप में विद्यमान था। क्योंकि ज्ञातव्य विषयों की सूचना तथा उनके उपयोग से होने वाले लाभों का निर्देश वेदों में स्थान २ पर विकीर्णरूप में (Seattereb) हमें मिलता है। वेद शब्द से समष्टि रूप में विद्यमान आदिम ज्ञान का बोध होता है तथा उसकी समीपता वाले व्यष्टि विशेष का ज्ञान उपवेद शब्द से सूचित होता है। गान्धर्व, धानुष्य, स्थापत्य आदि के ज्ञान की तरह व्यष्टि रूप से विद्यमान आयु की रक्षा का ज्ञान आयुर्वेद शब्द से ध्वनित होता है। यह प्राचीन आयुर्वेद ब्रह्मा, अश्वि तथा इन्द्र की संहिता रूप से पृथक् रूप में ही विद्यमान होगा। इसी कारण कुछ आचार्यों ने इसे जो उपवेद रूप से लिखा है तथा कश्यपाचार्य ने इसका पांचवें वेद के रूप में निर्देश किया है वह ठीक ही है। परन्तु कालव्यतिक्रम से वह प्राचीन तथा मूलभूत आयुर्वेद आजकल पृथक् रूप से नहीं मिलता है। केवल वैदिक संहिताओं में कहीं २ विकीर्णरूप से अथवा सम्प्रदाय परम्परा द्वारा किसी २ ऋषि की लेखबद्ध रचना द्वारा ही मिलता है।

उपलब्ध प्राचीन आयुर्वेदिक ग्रन्थों तथा वैदिक संहिता ग्रन्थों में आये हुए आयुर्वेद के विषयों का विचार करने पर रोगों के नाम, ओषधियों के नाम, उनके उपयोग तथा निरूपण शैली आदि में बहुत ही भेद दिखाई देता है। वैदिक विषयों की अपेक्षा आर्ष-संहिता ग्रन्थों के विषयों में क्रमागत विकसितावस्था भी विशेषरूप से दिखाई देती है। भाषाशास्त्र की दृष्टि से भी इस प्रकार का अन्तर थोड़े समय के व्यवधान से संभव नहीं है। लेख तथा भाषा की शैली में जितना अन्तर प्राचीन सूत्र आदि ग्रन्थों, दो हजार वर्ष पूर्व के कवियों की रचनाओं, बौद्ध-साहित्य तथा काश्यप, आत्रेय, धन्वन्तरि आदि महर्षियों के लेखों का आधुनिक लेखों से है उससे भी अधिक अन्तर वैदिक संहिताओं तथा आर्षसंहिताओं में आये हुए आयुर्वेद के विषय में है। यह अन्तर (भेद) बहुत

लम्बे समय के व्यवधान के बिना संभव नहीं है। प्रत्येक साहित्य में विज्ञान का विकाश क्रमिक ही हुआ करता है। आयुर्वेद विज्ञान के विषय में भी वैदिक साहित्य की अपेक्षा आर्षसंहिता के साहित्य का विकास बहुत लम्बा कालक्रमागत पूर्व परम्परा की अपेक्षा रखता है। वैदिक साहित्य के बाद ब्राह्मण, उपनिषद्, कल्प, सूत्र रूपी धाराओं में विरलरूप से बहता हुआ आयुर्वेद विज्ञान का प्रवाह अपनी २ आचार्य परम्परा के बिना प्राचीन आर्ष संहिता ग्रन्थों में उस ज्ञानोदधि को किस प्रकार प्रकट कर सकता है। इसलिये स्थान २ पर पूर्वाचार्यों द्वारा निर्दिष्ट, नाममात्र शेष तथा जिनके नाम भी लुप्त हो चुके हैं ऐसे प्राचीन आचार्यों की उपदेशरूपी विज्ञान परम्परा ही आयुर्वेद विज्ञानप्रवाह में वैदिक साहित्य एवं आर्षसंहिता को मिलाने वाले सेतु (Connecting link) के रूप में कार्य कर रही है। यह अदृश्य सेतुभूत परम्परा भी अन्ततो गत्वा कम से कम हजार दो हजार वर्ष से कम नहीं हो सकती। 'विविधानि शास्त्राणि भिषजां प्रचरन्ति लोके' के द्वारा भगवान् आत्रेय भी अपने समय में प्रचलित अन्य आचार्यों के शास्त्रों का उल्लेख करता है। इसप्रकार आत्रेय आदि से पूर्व भी अन्य आचार्यों का होना स्पष्ट है। यहां यह भी विचारणीय विषय है कि वैदिक आयुर्वेद विज्ञान में शल्यप्रक्रिया तथा अन्य शारीरिक आदि विभागों के संबन्ध में भी अत्यन्त सूक्ष्म विचार आये हुए हैं। औषधिविभाग (Medical side) को देखने पर उसमें हमें धातु, रत्न, रस आदि का उल्लेख नहीं मिलता है। केवल वनस्पति आदि साधारण औषधियां (Herbal drugs) ही प्रयुक्त की जाती हुई दिखाई देती हैं। तथा वे जङ्गिड, कुष्ठ, रोहिणी अपामार्ग आदि वनस्पतियां भी उस २ रोग में केवल पृथक् २ ही व्यवहृत हुई मिलती हैं। कौशिकसूत्रकार ने भी लगभग उसी प्रकार से मधु, तैल, घृत, पिप्पली, काष्ठ आदि वस्तुओं का अमुक २ रोग में पृथक् २ व्यवहार किया है। आलविसोलफाण्ट-भृङ्गराज आदि पुष्पों के रस का लेप, नवनीत (मक्खन) मिले हुए कुष्ठ का प्रलेप (Paste) तथा पकाये हुए दूध और लाक्षा का पीना-इत्यादि दो तीन वस्तुओं के मिले हुए योग कहीं २ ही दिये हैं। अमुक २ रोग तथा अमुक २ दोषहर वस्तुओं के ठीक २ ज्ञान हो जाने पर उनके परिहार के उपाय यथासमय स्वयं विचारे जा सकते हैं। इसी को दृष्टि में रखते हुए मूल परिभाषा रूप में ज्ञातव्य शास्त्रों के विषयों को लेकर वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक तथा जीवनीय, बृंहणीय, तर्पणीय, संशमनीय एवं वृष्य आदि वर्गानुसार औषधियों को विभक्त करके तथा रोगों के प्रतीकार के भूलभूत उपाय पञ्चकर्म आदि प्रधान विषयों को संगृहीत करके भिन्न २ संहिताओं के रचयिताओं ने सबसे पूर्व सूत्रस्थान को बनाया। उतने को ही ठीक २ जानकर उनसे कल्पित योगों के द्वारा रोग दूर किये जा सकते हैं इस लिये सूत्रस्थान मात्र भी औषधियों के लिये पर्याप्त है, यह कहा जा सकता है। आजकल भी गांवों तथा पहाड़ों में भिन्न २ रोगों में केवल एक दो वनस्पतियों का प्रयोग किया जाता हुआ उसी प्राचीन मौलिक प्रक्रिया को सूचित करता है। इसके बाद धीरे २ ज्यों २ वस्तुओं के गुणों तथा दोषों का अनुभव बढ़ता गया तथा रोग भी क्लिष्ट (कई दोषों से युक्त) होते गये त्यों २ एक ही योग द्वारा सब दोषों को दूर करने की इच्छा से समान एवं विशेष गुण वाली औषधियों को मिलाकर सामूहिक योग बनाकर प्रयोग करने की विधि प्रचलित हुई। ज्यों २ प्राणिसमूह की वृद्धि, देश-काल-जल-वायु-अन्न-पान-स्थान-अवस्था आदि में परिवर्तन, व्यक्तियों में परस्पर सम्पर्क एवं संघर्ष का उदय, तथा नाना रोग स्वरूप बाह्य एवं आभ्यन्तर शारीरिक विकार उत्पन्न होते गये, त्यों २ क्रम से उस २ रोग तथा उसकी निवृत्ति के उपायों के ज्ञात होने पर तथा परिस्थिति के अनुसार वही रोग अनेक रूपों में दिखाई देता हुआ नये रूप तथा नये नाम द्वारा प्रकट होने लगा। तथा उसी के अनुसार उन २ दोषों को दूर करने के लिये वस्तुओं को मिलाकर सामूहिक रूप में योग बनने लगे होंगे। फिर ऋषियों ने इन पूर्वकल्पित तथा अपने विशुद्ध अन्तः करणों में प्रस्फुरित योगौषधियों को मिलाकर सूत्रस्थान में आये हुए विषयों को अपने विचारों द्वारा बढ़ाकर सूत्रस्थान के अनुसार ही अन्य स्थानों को जोड़कर इसे पूरी संहिता का रूप दिया होगा। इसके बाद उत्तरोत्तर अन्य विद्वानों ने पूर्वापर अनुभवों से सिद्ध रोगों तथा उनके प्रतिकारों के उपायों को लेकर देश-काल तथा परिस्थिति के अनुसार अन्य अनेक आयुर्वेद के ग्रन्थ बनाये। इस प्रकार नाना द्रव्यों के योग (समूह) से बनी हुई औषधियों के प्रयोग की पद्धति भी अर्वाचीन नहीं है। हा(१)र्नले द्वारा निर्दिष्ट, ष्टाइन द्वारा पूर्व टर्की स्थित तूङ्हाङ् (Tun Huang-चीन की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर स्थित) नामक स्थान में प्राप्त प्राचीन पुस्तक के प्राचीन ईरानी भाषा के अनुवाद के साथ जो मूल संस्कृत का लेख है उसमें भगवान् बुद्ध द्वारा जीवक को संबोधित करके उपदिष्ट औषधियों का वर्णन मिलता है। महावग्ग में निर्दिष्ट जीवक के साहचर्य से बुद्ध के इस उपदेश में नाना औषधियों के योग से बनी हुई औषधियों का उल्लेख होने से नाना द्रव्यों के योग से बनी औषधियों का प्रचार भी बुद्ध के समय से पहले से विद्यमान था ऐसा अन्य ग्रन्थों से भी प्रतीत होता है। पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति में भी दूर करने योग्य दोष के अनुसार अमुक गुण एवं दोष वाली वस्तुओं को उपयोग के समय मिलाकर व्यवहार करने की प्रक्रिया के प्राचीन समय में होने पर भी आजकल अनेक मिले हुए दोषों वाले रोगों को दूर करने के लिये मिली हुई औषधियों द्वारा पेटेन्ट औषधियां भी बनती हैं तथा उन्हें नुस्खे या फार्मूले के रूप में प्रकाशित भी किया जाता है। पूर्वापर स्थानभेद से संक्षेप एवं विस्ताररूप से अपने ज्ञातव्य विषय का ठीक २ ज्ञान कराने वाली संहिताओं तथा वर्तमान निबन्धों द्वारा विशद किया हुआ भी यह चिकित्सा विज्ञान केवल दिग्दर्शन मात्र के लिये ही है। सब लोगों की शारीरिक तथा प्राकृतिक परिस्थिति सदा एक जैसी नहीं रहती। एक ही रोग प्रत्येक व्यक्ति तथा उसकी प्रकृति के भेद से विभक्त होकर अनेक रूपों वाला हो जाता है। ज्यों २ देश, काल, जल-वायु, आहार-विहार आदि की परिस्थिति के भेद से तथा दोषों के संयोग से नाना रूपों में रोग बढ़ते हैं तथा नये २ रूप धारण करते हैं त्यों २ देश-काल आदि के अनुसार औषधियों के आवापोद्वाप, मान में गुरु एवं लघु का अन्तर तथा रचना के पौर्वापर्यक्रम को करके नये २ रोगों के प्रतिकार के उपाय तथा अनुभवसिद्ध

(१) आर. जी. भण्डारकर कमोरेशन भाग १ पृ० ४१६

ओषधियों को लेकर प्राचीन आयुर्वेद विज्ञान के कोश को सुरक्षित रखने तथा बढ़ाने की आवश्यकता है।

(२) ग्रन्थ परिचय सहित आचार्यों का विवरण—

आयुर्वेद का प्रकाश तथा आचार्य—उत्पन्न हुए प्राणियों की स्वास्थ्यरक्षा की दृष्टि से सृष्टि के प्रारम्भ में स्वयंभू ब्रह्मा ने ही संहितारूप से आयुर्वेद को प्रका(१)शित किया। वह आयुर्वेद अश्विनीकुमार तथा इन्द्र आदि द्वारा ऋषियों को प्राप्त होकर उनके द्वारा लोक में प्रचलित हुआ, आयुर्वेद के आचार्य इसका ऐसा इतिहास बतलाते हैं। अस्तु, चाहे यह आयुर्वेद ब्रह्मासे प्रारम्भ हुआ हो, चाहे देवताओं द्वारा उपदिष्ट हो और चाहे यह ऋषिवर्ग द्वारा प्रकाशित हो, इसमें कोई सन्देह नहीं कि इसका प्रादुर्भाव प्रत्येक अवस्था में प्राचीन ही है। आयुर्वेद के मूलग्रन्थों से निम्न सम्प्रदाय क्रम मिलता है—
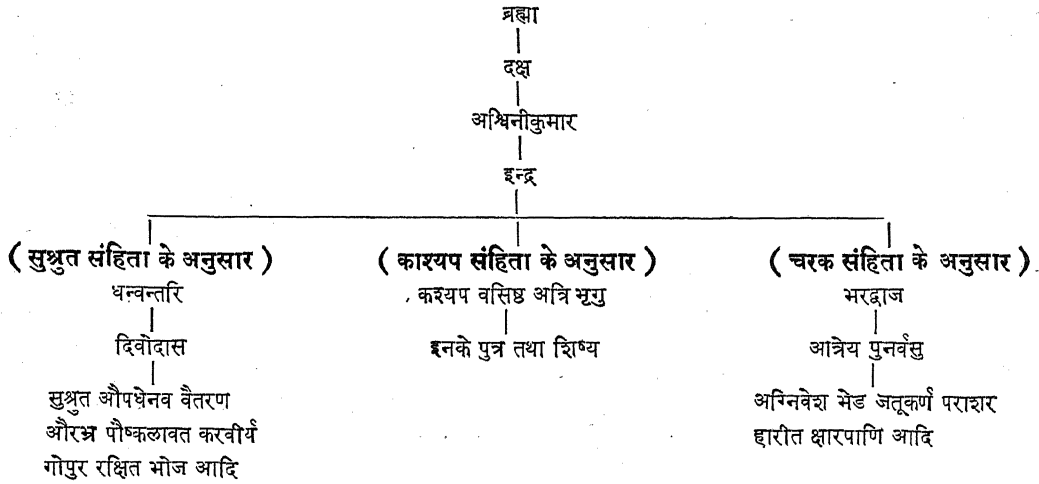
इस काश्यपसंहिता की उपदेश-परम्परा के वर्णन में 'स्वयम्भूर्ब्रह्माऽऽयुर्वेदमग्रेऽसृजत्, ततश्च तं पुण्यमायुर्वेदमश्विभ्यां कः प्रददौ, ताविन्द्राय, इन्द्र ऋषिभ्यश्चतुर्भ्यः कश्यपवसिष्ठात्रिभृगुभ्यः, ते पुत्रेभ्यः शिष्येभ्यश्च प्रददुर्हितार्थम्' (पृ. ६१), इस लेख के द्वारा इन्द्र से साक्षात् ही कश्यप आदि प्राचीन ऋषियों ने यह विद्या प्राप्त की ऐसा प्रतीत होता है। चरक के प्रारम्भ में रोगों से दुःखी हुए प्राणियों की रोगमुक्ति के उपाय को ढूंढने की इच्छा से समवेत हुए महर्षियों की प्रेरणा से इन्द्र के पास जाकर उससे आयुर्वेद विद्या को प्राप्त कर लौटे हुए भरद्वाज द्वारा महर्षियों को इसका उपदेश देने के निर्देश से प्रतीत होता है कि इन्द्र द्वारा उपदिष्ट भरद्वाज से ही ऋषियों को यह विद्या प्राप्त हुई। भरद्वाज आयुर्वेद विद्या का कोई प्राचीन आचार्य था ऐसा 'ज्वरसमुच्चय' में आये हुए वचनों से भी ज्ञात होता है। महाभारत में भी वैद्याचार्य भरद्वाज का निर्देश है। चरकसंहिता के उपक्रम तथा उत्तर भाग में भरद्वाज का दो प्रकार से उल्लेख किया गया है। वातकलाकलीय (च. सू. अ. १२) तथा आत्रेयभद्रकाप्यीय (च. सू. अ. २६) अध्यायों में कुमारशिरा भरद्वाज का मत दिया हुआ है। इस विशेषण से युक्त दिया होने के कारण यह भरद्वाज कोई अन्य ही प्रतीत होता है। इसके मत का आत्रेय ने खण्डन भी किया है। यज्जःपुरुषीय (च. सू. अ. २५) तथा खुड्डीका-गर्भावक्रान्ति (च. शा. अ. ३) अध्याय में विशेषण रहित भरद्वाज का मत दिया है। वहां भी भरद्वाज के मत का आत्रेय ने खण्डन ही किया है। तथा उसके बाद अपने मत का खण्डन होने पर जिज्ञासा द्वारा पूछने पर आत्रेय ने उसका विशेष विवरण दिया है। इस प्रकार का निर्देश होने से भरद्वाज इसका गुरु प्रतीत नहीं होता है। वातकलाकलीय अध्याय में भरद्वाज का कुमारशिरा यह विशेषण आत्रेय के गुरु भरद्वाज के निराकरण के लिये कहा है तथा 'खुड्डीकागर्भावक्रान्ति' अध्याय में भरद्वाज शब्द से यहां आत्रेय के गुरु का बोध नहीं है अपितु अन्य ही कोई भरद्वाज गोत्र वाला प्रतीत होता है, इस प्रकार लिख कर टीकाकार चक्रपाणि ने स्पष्ट रूप से बतलाया है कि उपर्युक्त दोनों स्थलों पर आया हुआ भरद्वाज आत्रेय का गुरु नहीं है चक्रपाणि की उक्ति के अनुसार संभवतः गोत्रवाचक कई भरद्वाजों के संभव होने पर अत्रि परम्परागत किसी आत्रेय ने किसी भरद्वाज से इस विद्या को ग्रहण किया हो परन्तु आत्रेय संहिता में कहीं भी भरद्वाज से उपदेश ग्रहण, उसका सम्मान तथा उसके मत की प्रतिष्ठा को दिखाने वाले संकेतों के न मिलने से मन में सन्देह उत्पन्न होता है। इस प्रकार आत्रेय का गुरु भरद्वाज कौन है, इसका निश्चय नहीं किया जा सकता। काश्यपसंहिता के रोगाध्याय में केवल कृष्ण भरद्वाज का उल्लेख है। यह भी विशेषणयुक्त कोई विभिन्न ही भरद्वाज प्रतीत होता है। काश्यपसंहिता के आयुर्वेदाध्ययन प्रकरण में प्रजापति, अश्वि, इन्द्र तथा सब विद्याओं के आचार्य परम पुरुष धन्वन्तरि के साथ अपने ग्रन्थ के मूल आचार्य कश्यप का भी स्वाहाकार देवताओं में जिस प्रकार निर्देश किया गया है, उसी प्रकार आत्रेयसंहिता (चरक. वि. अ. ८) में भी प्रजापति, अश्वि, इन्द्र तथा

---

(१) (क) **स्वयम्भूर्ब्रह्मा प्रजाः सिसृक्षुः प्रजानां परिपालनार्थमायुर्वेदमेवाग्रेऽसृजत्।** (काश्यपसंहितायां पृ. ६१)

(ख) **इह खल्वायुर्वेदमष्टाङ्गमुपाङ्गमथर्ववेदस्यानुत्पाद्यैव प्रजाः श्लोकशतसहस्रमध्यायसहस्रं च कृतवान् स्वयम्भूः।** (सुश्रुते सू. अ. १)

(ग) **ब्रह्मणा हि यथाप्रोक्तमायुर्वेदं प्रजापतिः।** (चरके सू. अ. १)

धन्वन्तरि के ही केवल स्वाहाकार का उल्लेख है। वहां 'सूत्रकारिणामृषीणाम्' इस सामान्य उल्लेख द्वारा यद्यपि भरद्वाज का ग्रहण भी हो सकता है परन्तु अपने ही ग्रन्थ में इन्द्र के बाद परम्परागत आचार्य एवं अपने ही गुरु रूप से निर्दिष्ट भरद्वाज के नाम तक का निर्देश न करना उचित प्रतीत नहीं होता है। जिस प्रकार काश्यप संहिता में कश्यप, वसिष्ठ, अत्रि तथा भृगु का इन्द्र से साक्षात् औपदेशिक सम्बन्ध दिखाया है, उसी प्रकार आत्रेयसंहिता के रसायनपाद में (च. चि. अ. १) भृगु, अत्रि, वसिष्ठ, कश्यप, अङ्गिरा, अगस्त्य, पुलस्त्य, वामदेव, असित तथा गौतम आदि का इन्द्र द्वारा साक्षात् रसायन का उपदेश प्रदर्शित किया है। इसमें भी कहीं भरद्वाज का उल्लेख नहीं है। चरक के उपक्रम ग्रन्थ में मिलने वाले महर्षियों के समवाय में बहुत समय के पौर्वापर्य वाले आचार्यों का भी निर्देश होने से तथा उत्तरतन्त्र के समान लेख की प्रौढ़ता भी न दीखने से कुछ सन्देह उत्पन्न होता है। इस प्रकार चरक के उपक्रम में भरद्वाज द्वारा ही महर्षियों की जो विद्याप्राप्ति का निर्देश किया गया है उसका क्या तात्पर्य है यह नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार अनुसन्धान करने पर कश्यप, वसिष्ठ, अत्रि, भृगु, आदि महर्षियों द्वारा ही अति प्राचीन काल से अपने पुत्र एवं शिष्यसन्तति में आयुर्वेद विद्या का प्रचलन किया गया प्रतीत होता है। इसीलिये आत्रेय आदि शब्दों के गोत्रवाचक होने से आत्रेय परम्परा में चरक संहिता का मूल आचार्य आत्रेय पुनर्वसु, कृष्ण आत्रेय, भिक्षु आत्रेय आदि कई देखने में आते हैं। कश्यप परम्परा में भी कश्यप, वृद्ध काश्यप आदि बहुत से आचार्य मिलते हैं। एक आचार्य की गोत्र परम्परा में आया हुआ कोई व्यक्ति विशेष ज्ञान के लिए दूसरे आचार्य से भी विद्या ग्रहण कर सकता है। इस प्रकार चरक के उपक्रम के अनुसार अपनी पूर्व परम्परा से विद्या प्राप्त करके आत्रेय पुनर्वसु द्वारा भरद्वाज से भी किसी विशेष विद्या का ग्रहण किया जाना सम्भव है। जिस प्रकार भृगु परम्परागत जीवक का मारीचकश्यप द्वारा भी विद्या ग्रहण किये जाने का निर्देश इस संहिता में भी मिलता है। महाभारत में यद्यपि भरद्वाज द्वारा धन्वन्तरि को विद्या की प्राप्ति तथा दिवोदास का भरद्वाज के आश्रम में जाने का उल्लेख मिलता है तथापि सुश्रुतसंहिता के अनुसार धन्वन्तरि दिवोदास का साक्षात् इन्द्र द्वारा ही विद्या-प्राप्ति का वर्णन मिलता है। परन्तु सब में इन्द्र को परम आचार्य होने से साक्षात् अथवा परम्परा द्वारा मूल उपदेष्टा स्वीकार किया गया है। इन धन्वन्तरि, मारीच कश्यप, आत्रेय पुनर्वसु आदि ऋषियों ने लोकोपकार के लिये इस विज्ञान का संहिता रूप से अपने शिष्यों को उपदेश किया। इस प्रकार वैदिक विज्ञान रूपी भूमिका में ब्रह्मा के विज्ञान सम्बन्धी बीज को लेकर उत्पन्न हुआ तथा अश्वि, इन्द्र, कश्यप, अत्रि, वसिष्ठ, भृगु आदि परम्परा तथा धन्वन्तरि, आत्रेय, कश्यप आदि अन्य पूर्वाचार्यों द्वारा प्रयत्न पूर्वकप्रत्येक शाखा का परिष्कार करके पल्लवित, पुष्पित, एवं फलित किया गया यह प्राचीन आयुर्वेदरूपी कल्पवृक्ष काल के ग्रास से बचे हुए कुछ फलों से शिष्य परम्परा द्वारा आज भी लोगों को जो जीवन दान कर रहा है यह भी सन्तोष का ही विषय है।

यद्यपि वैदिकसाहित्य में आयुर्वेद के आठ विभाग तथा उनके नामों का उल्लेख नहीं मिलता। तथा आत्रेय के लेखानुसार ब्राह्म विज्ञान (ब्रह्मा ने जब आयुर्वेद का उपदेश किया) के समय यह विज्ञान हेतु(१) (Cause), लिङ्ग (Symptoms) तथा औषध (Treatment) के ज्ञानवाला त्रिसूत्र रूप में ही था। इस प्रकार वैदिक आयुर्वेद विज्ञान प्राचीनकाल में त्रिस्कन्धात्मक ही प्रतीत होता है। तथापि वैदिक आयुर्वेद के विषयों के संग्रह तथा पूर्वोक्तानुसार अश्वियों के वर्णन में जङ्घा का जोड़ना, टुकड़े किये हुये शरीर का सन्धान, दृष्टि तथा श्रवण शक्ति का प्राप्त कराना, कुष्ठादि का निवारण, च्यवनरसायन, अपुत्रा के पुत्रोत्पादन आदि तथा इन्द्र की स्तुति में भी इसी प्रकार के नाना विषयों के मिलने से तथा ऋक्, यजु और अथर्ववेद आदि में अनेक प्रकार की भैषज्य, औषधि विद्या, भूतविद्या तथा विषपरिहार विद्या के स्थान २ पर मिलने से शल्य, शालाक्य, कायचिकित्सा, अगद, भूतविद्या, रसायन आदि आठों भागों के विषय पृथक् २ रूप में भी उस समय थे ऐसा प्रतीत होता है। भूतविद्या का आचार्य अथर्वा, महाभारत में आया हुआ अगदतन्त्राचार्य काश्यप, कौमारभृत्याचार्य कश्यप, शालाक्याचार्य गार्ग्य एवं गालव तथा शल्याचार्य शौनकादि एक २ प्रस्थान (विभाग) के आचार्य रूप में विद्यमान प्राचीन महर्षियों के उल्लेख मिलने से आयुर्वेद का आठ विभागों में विभक्त होना भी प्राचीन ही सिद्ध होता है। इसीसे एक २ विभाग की विशिष्टता (Specialisation) के कारण कुछ महर्षियों की प्रसिद्धि हो गई। कोई २ सब विभागों (ज्ञानों) के सामूहिक रूप से भी ज्ञाता हो सकते हैं। जिस प्रकार ऋग्वेद की अपेक्षा अथर्ववेद में औषधि, भैषज्य, भूतचातन, विषापहरण आदि विषय विकसित रूप में मिलते हैं उसी प्रकार उसका एक २ अंश कालक्रम से विज्ञान द्वारा पुष्ट होकर ग्रहण, धारण तथा प्रयोग के सौकर्य की दृष्टि से पृथक् २ प्रस्थान (विज्ञान) रूप से विभागों में विभक्त हो गया। आर्ष समय में आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक तीनों प्रकार के दुःखों को पृथक् २ दूर करने के लिये अदृष्ट उपायों की तरह दृष्ट उपायों के भी क्रमशः विकसित होने से अथर्ववेद में होने वाले विकास को दृष्टि में रखते हुए निम्न आठ विभाग हो गये। शारीरभैषज्य में शारीरक्रिया की प्रधानता को लेकर शल्य, बहुत सी मुख्य इन्द्रियों की स्थिति के कारण प्रधान माने जाने वाले उत्तमाङ्ग (शिर) को लेकर शालाक्य, बल तथा वीर्य की वृद्धि संबन्धी वाजीकरण, वयःस्थापन रूप महाफल वाले तथा लम्बे विशेष प्रयोगों को लेकर रसायन, ऋतु, गर्भ तथा बालक की प्राथमिक अवस्था से संबन्धित कौमारभृत्य, इनसे भिन्न शारीरिक तथा मानसिक भैषज्यसंबन्धी कायचिकित्सा, बाह्य आगन्तुक विकार को शान्त करने तथा सांप, बिच्छू आदि प्राणियों के विष विकार से संबन्धित अगदतन्त्र, भूतग्रहस्कन्द आदि देवताओं के विकारसंबन्धी भूतविद्या इत्यादि। इस प्रकार तीनों दुःखों के प्रत्येक विभाग को लेकर उस २ के प्रतीकार की दृष्टि से आठ प्रस्थान

(१) हेतुलिङ्गौषधज्ञानं स्वस्थातुरपरायणम्।
त्रिसूत्रं शाश्वतं पुण्यं बुबुधे यं पितामहः॥
सोऽनन्तपारं त्रिस्कन्धमायुर्वेदं महामतिः।
यथावदचिरात्सर्वं बुबुधे तन्मना मुनिः॥
(चरके सू. अ. १)

(विभाग) विभक्त हुए प्रतीत होते हैं। प्राचीन आचार्यों में ब्रह्मा तथा इन्द्र सर्वप्रस्थानों (आठों विभागों) के आचार्य थे। महाभारत के अनुसार इन्द्र द्वारा उपदिष्ट भरद्वाज तथा हरिवंश पुराण के अनुसार भरद्वाज से तथा सुश्रुतसंहिता के अनुसार साक्षात् इन्द्र द्वारा उपदिष्ट धन्वन्तरि सर्वप्रस्थानों के आचार्य माने गये हैं। एक २ विषय के अधिक विकसित हो जाने के कारण जिस प्रकार आजकल एक २ अङ्ग की विशेष चिकित्सा द्वारा एक २ विभाग के विशेषज्ञ (Specialist) होते हैं। उसी प्रकार उस २ विषय में विशेष नैपुण्य प्राप्त करने तथा शिष्यों के ग्रहण एवं धारण के सौकर्य के लिए महाभारत के अनुसार भरद्वाज ने तथा हरि(१)वंश के अनुसार धन्वन्तरि ने आयुर्वेद विज्ञान को आठ भागों में विभक्त करके तथा एक २ विभाग को विकसित करके पृथक् २ शिष्यों को उपदेश दिया तथा उसका प्रचार किया। इससे प्रतीत होता है कि आठों प्रस्थान पृथक् २ प्रवाहरूप में लोक में प्रचलित थे। कायचिकित्सा संबन्धी आत्रेय संहिता में तथा कौमारभृत्य संबन्धी काश्यप संहिता में प्रजापति, इन्द्र आदि आचार्यों के साथ धन्वन्तरि का होम्य देवतारूप से निर्देश किया जाना तथा नाना प्रस्थानों में धान्वन्तर घृत आदि का विधान होना धन्वन्तरि का अष्टाङ्गविभागों का आचार्य होना सूचित करता है। न केवल मूलधन्वन्तरि अपितु उसके सम्प्रदाय वाला द्वितीय धन्वन्तरि दिवोदास भी 'आयुर्वेद के आठों अङ्गों में से किसका उपदेश करूं' इस प्रकार सुश्रुत से पूछकर इस प्रश्न के उत्तर में 'शल्यशास्त्र का उपदेश कीजिये' ऐसी सुश्रुत द्वारा प्रार्थना किये जाने पर उसे शल्यशास्त्र का उपदेश दिया। इस प्रकार सुश्रुतसंहिता के उपक्रम के लेख द्वारा तथा पीछे अपने मुंह(२) से भी अष्टाङ्ग आयुर्वेद का ज्ञाता होना स्वीकार करने से भी अष्टाङ्ग विभाग का आचार्य होना सिद्ध होता है। अष्टाङ्ग के ज्ञाता भरद्वाज या इन्द्र द्वारा उपदिष्ट आत्रेय पुनर्वसु के अग्निवेश आदि ६ शिष्यों द्वारा पृथक् २ तन्त्रों के निर्माण के उल्लेख से तथा धन्वन्तरि दिवोदास से शल्यशास्त्र का उपदेश लेकर सुश्रुत द्वारा सुश्रुतसंहिता के निर्माण के उल्लेख से यद्यपि उन दोनों में कहीं २ प्रसङ्गवश अन्य प्रस्थानों के विषय भी आ जाने से 'प्राधान्यतो व्यपदेशा भवन्ति' इस न्याय से भरद्वाज के अष्टाङ्गसम्प्रदाय में एक आत्रेय पुनर्वसु का कायचिकित्सा विभाग तथा धन्वन्तरि दिवोदास के अष्टाङ्ग सम्प्रदाय में से एक सुश्रुत का शल्यप्रधान सम्प्रदाय है। इस प्रकार आजकल भी चिरकाल से दोनों सम्प्रदाय हैं। इसके अतिरिक्त कौमारभृत्य के विषय में आत्रेय से भी प्राचीन मारीचकश्यप सम्प्रदाय के भी अब मिल जाने से आजकल तीन सम्प्रदाय हो गये हैं। चरक तथा सुश्रुत संहिता में लेशरूप से आये हुए कौमारभृत्य के विषय में स्वतन्त्र प्रस्थानरूप में पृथक् संहिता के मिल जाने से हम कह सकते हैं कि सुश्रुत के उत्तरतन्त्र में संक्षिप्त रूप से आये हुए शालाक्य आदि अन्य विषयों के भी इसी प्रकार से सर्वाङ्गपूर्ण स्वतन्त्र संहिताएँ तथा आचार्य होंगे। अन्य प्रस्थान यद्यपि कालवश आजकल लुप्त हो चुके हैं तो भी महा(१)भारत, हरिवंश, सुश्रुत आदि में वर्णित यह अष्टाङ्ग विभाग प्राचीन ही है। इस प्रकार यह कल्पना करना ठीक नहीं है कि कायचिकित्सा में भरद्वाज का सम्प्रदाय तथा शल्यचिकित्सा में धन्वन्तरि सम्प्रदाय ये दो विभाग पुनः आठ विभागों में विभक्त हुए हैं।

इस प्रकार आर्ष समय में भी अष्टाङ्गों में से कालक्रम से विकसित एक २ विभाग का विशेष रूप से निरूपण करने से उस विभाग में वे २ ऋषि प्रधान आचार्य माने गये हैं। सुश्रु(२)तसंहिता में शालाक्यतन्त्र के कर्ता के रूप में विदेहनिमि का, सुश्रु(३)त, औपधेनव, औरभ्र, पौष्कलावत आदियों का शल्यचिकित्सक के रूप में शौन(४)क, कृतवीर्य, पाराशर्य, मार्कण्डेय, सुभूतिगौतम आदि का पूर्वाचार्य के रूप में वर्णन है। चरक(५)संहिता में अग्निवेश, भेड आदि छओं का कायचिकित्सा के आचार्य के रूप में, कांका(६)यन, वार्योविद, हिरण्याक्ष, कुशिकमैत्रेय, कुश, साङ्कृत्यायन, कुमारशिरा भरद्वाज, वडिश, धामार्गव, मारीचि काश्यप, काशीपति वामक, पारीक्षित मौद्गल्य, शरलोम, कौशिक, भद्रकाप्य, धन्वन्तरि आदि का मतोल्लेख, अङ्गिरा(७) जमदग्नि, काश्यप आदि बहुत से ऋषियों के नाम दिये हैं। इसी प्रकार इस वृद्धजीवकीय तन्त्र के भी सूत्रस्थान रोगाध्याय, सिद्धिस्थान राजपुत्रीयाध्याय, वमनविरेचनीयाध्याय तथा ग्रन्थ में भिन्न २ मत आने पर भार्गव, वार्योविद, कांकायन, कृष्ण भरद्वाज, दारुवाह, हिरण्याक्ष, वैदेहनिमि, गार्ग्य, माठर, आत्रेय पुनर्वसु, पाराशर्य, भेड तथा कौत्स आदि नामों वाले बहुत से पूर्व आचार्यों का स्मरण किया गया है।

इनमें से पराशर, भेड, काङ्कायन, हारीत, क्षारपाणि जातूकर्ण,

---

(१) तस्य गेहे समुत्पन्नो देवो धन्वन्तरिस्तदा।
काशिराजो महाराजः सर्वरोगप्रणाशनः॥
आयुर्वेदं भरद्वाजात् प्राप्येदं भिषजां क्रियाम्।
तमष्टधा पुनर्व्यस्य शिष्येभ्यः प्रत्यपादयत्॥
(हरिवंशे अ. २९)

(२) अष्टाङ्गवेदविद्वांसं दिवोदासं महौजसम्।
विश्वामित्रसुतः श्रीमान् सुश्रुतः परिपृच्छति॥
(सु. उ. तं. अ. ६६)

---

(१) महाभारते सभापर्वणि—'आयुर्वेदस्तथाऽष्टाङ्गो देहवांस्तत्र भारत !' एवं पूर्वनिर्दिष्टयोर्महाभारतहरिवंशलेखयोः।
(११।१७)

(२) सुश्रुते—शालाक्यतन्त्राभिहिता विदेहाधिपकीर्तिताः॥
(सु. उ. अ. १४)

(३) सुश्रुते—औपधेनवमौरभ्रं सौश्रुतं पौष्कलावतम्।
शेषाणां शल्यतन्त्राणां नामान्येतानि निर्दिशेत्॥
(सु. सू. अ. ४)

(४) सुश्रुते—शरीरनिर्मितिविषये शौनकमतोल्लेखः॥
(सु. शा. अ. ३)

(५) चरके—अग्निवेशश्च भेडश्च जतूकर्णः पराशरः।
हारीतः क्षारपाणिश्च जगृहुस्तन्मुनेर्वचः॥
तन्त्रस्य कर्ता प्रथममग्निवेशो यतोऽभवत्।
अथ भेडादयश्चक्रुः स्वं स्वं तन्त्रं कृतानि च॥
(च. सू. अ. १)

(६) सूत्रस्थाने वातकलाकलीय (१२) यजः पुरुषीय(२५) आत्रेयभद्रकाप्यीया (२६) ध्यायेषु। (च. सू. अ. १)

(७) चरकोपक्रमग्रंथे।

आश्विन, भारद्वाज, भोज, भानुपुत्र, कपिलबल, भालुकि, खरनाद तथा विश्वामित्र आदि कुछ आचार्यों के मधुकोश, चरक तथा सुश्रुत की व्याख्या में तथा ताडपत्र लिखित प्राचीन 'ज्वरसमुच्चय' तथा 'ज्वरचिकित्सित' आदि पुस्तकों में उद्धृत वचन मिलने से इनके ग्रन्थों की सत्ता प्रकट होती है। तथा जिनके आजकल वचन उपलब्ध नहीं होते हैं उनके भी स्थान २ पर तन्त्रकर्ता एवं सूत्रकार के रूप में निर्देश तथा मतों के दिखाई देने से ग्रन्थों का होना स्पष्ट है। हेमा(१)द्रि के लक्षणप्रकाश तथा शालिहोत्रोक्त अश्वशास्त्र के अश्वाभिषेक मन्त्रों में भी आयुर्वेद के कर्ता के रूप में बहुत से ऋषियों के नाम दिये हुए हैं।

इस प्रकार देवयुग से लेकर आजतक देवर्षि तथा महर्षि आदि बहुत से आयुर्वेद के आचार्य हुए हैं। अष्टाङ्ग आयुर्वेद के एक २ विभाग को उन २ आचार्यों ने ग्रन्थ निर्माण एवं उपदेश द्वारा बहुत बढ़ाया है। उस सब का यदि संकलन किया जाय तो आयुर्वेद का एक बड़ा भारी ग्रन्थ बन सकता है। परन्तु कालप्रवाह में अन्य शास्त्रों की तरह आयुर्वेद के भी बहुत से अमूल्य रत्न लुप्त हो चुके हैं। इन प्राचीन विलुप्त ग्रन्थों के विषय में मेरे परम मित्र श्रीयुत गण(२)नाथ सेनजी तथा गिरीन्द्र(३)नाथ मुखोपाध्याय आदि भारतीय तथा बहुत से पाश्चात्य विद्वानों ने पर्याप्त विवेचन किया है अतः उसके पिष्टपेषण की आवश्यकता नहीं है।

आत्रेय तथा सुश्रुतसंहिताएँ—बहुत से प्राचीन ग्रन्थों के विलोप के कारण क्षतिग्रस्त आयुर्वेद की बची हुई महिमा को स्थिर रखने के लिए अत्यन्त प्राचीन काल से आत्रेय तथा धन्वन्तरि की संहिताएँ क्रमशः चरक तथा सुश्रुतसंहिता नाम से प्रसिद्ध आज भी मिलती हैं। इनके अत्यन्त प्रसिद्ध होने के कारण सूर्य तथा चन्द्रमा के लिये अन्य प्रकाश के समान इनके परिचय की आवश्यकता नहीं है।

अष्टाङ्ग हृदय के लेखक वाग्भट के समय यद्यपि आयुर्वेद के अन्य आचार्यों की भी संहिताएँ विद्यमान थीं परन्तु फिर भी—

यदि चरकमधीते तद्ध्रुवं सुश्रुतादि-
प्रणिगदितगदानां नाममात्रेऽपि बाह्यः।
अथ चरकविहीनः प्रक्रियायामखिन्नः
किमिव खलु करोति व्याधितानां वराकः॥

इत्यादि श्लोक द्वारा मालूम पड़ता है कि यदि चरक का ही अध्ययन किया जाय तो सुश्रुत में आये हुए रोगों का नाम मात्र भी ज्ञान नहीं हो सकता तथा यदि केवल सुश्रुत का अध्ययन किया जाय तो रोगों के प्रतीकार की प्रक्रिया का ज्ञान असम्भव है। इसलिये चरक तथा सुश्रुत दोनों का अध्ययन ही आवश्यक है। इस प्रकार मध्यकाल में वाग्भट के समय में भी ये दोनों ग्रन्थ ही सर्वोपरि माने जाते थे। हजार वर्ष पूर्व के ज्वरसमुच्चय नामक पुस्तक में भी चरक तथा सुश्रुत के बहुत से वचन दिये हुए हैं। इसी प्रकार चतुर्थ शताब्दी के नावनीतक नामक पुस्तक में भी चरक तथा सुश्रुत का उल्लेख है। बाणभट्ट के हर्षचरित में पौनर्वसव (पुनर्वसु के पुत्र या शिष्य) वैद्यकुमार के निर्देश से आत्रेय पुनर्वसु के सम्प्रदाय का उस समय भी प्रचार मालूम पड़ता है। जबसे चरक तथा सुश्रुत संहिता का उद्भव हुआ है तभी से ही अपने विचारों की गुरुता एवं गुणों की महिमा से भारत तथा उससे बाहर भी ये अत्यन्त प्रचलित रहे हैं तथा आज भी ये ग्रन्थ वैद्यों के लिये सर्वस्व हैं। सप्तम(१) अष्टम तथा नवम शताब्दी में जब कि अरब तथा पारसीक (पर्शिया) देश अत्यन्त उन्नत अवस्था में थे उस समय भारतीय चिकित्सा-विज्ञान के आदर की ही दृष्टि से चरक तथा सुश्रुत संहिताओं का अनुवाद हुआ था। अरबी में अनूदित चरक-सरक नाम से तथा सुश्रुत-सस्रद नाम से प्रसिद्ध हैं। अबूसिना (Abusina), अबूरसी (Abu Rasi), तथा अबूसिराबि (Abusirabi) नामक अरबी के चिकित्सा ग्रन्थों के लेटिन भाषा के अनुवाद में भी स्थान २ पर चरक का नाम आता है। अ(२)लबेरुनी (Alberuni) नामक यात्री के पुस्तकालय में चरक का अनुवाद था ऐसा उसके अंगरेजी अनुवाद से ज्ञात होता है। अलम(३)नसूर (Almansur) ई. प. ७५३–७७४ ने बहुत से आयुर्वैदिक ग्रन्थों, चरक के सर्पचिकित्सा प्रकरण तथा सुश्रुत का अनुवाद किया था। रजस् (Rhazes) नाम का उसका वैद्य चरक का बहुत सम्मान करता था। सिरसीन नामक पाश्चात्य विद्वान् के पू(४)र्वज भी भारतीय आयुर्वेद तथा चरक-सुश्रुत को जानते थे ऐसा पुरावृत्त के लेखकों से मालूम पड़ता है। अशोक राजा के पोते (सम्प्रति) के समय बौद्ध धर्म के साथ भारतीय आयुर्वेद भी सिंहल द्वीप में पहुंचा था। भारतीय आयुर्वेद विशेषकर बहुत सी टीकाओं से युक्त वाग्भट तिब्बत में अपना प्रकाश

(१) विक्रम संवत् १५२५ में लिखी हुई हेमाद्रि की 'लक्षण-प्रकाश' नामक एक प्राचीन जीर्ण पुस्तक मेरे संग्रहालय में है। उसमें हाथियों के प्रकरण में पालकाप्य आदियों के वचन के समान अश्वप्रकरण में अनेक स्थानों पर शालिहोत्र के वचन दिये हैं। वे निम्न हैं—

वसिष्ठो वामदेवश्च च्यवनो भारविस्तथा।
विश्वामित्रो जमदग्निर्भारद्वाजश्च वीर्यवान्॥
असितो देवलश्चैव कौशिकश्च महाव्रतः।
सावर्णिर्गालवश्चैव मार्कण्डेयस्तु वीर्यवान्॥
गौतमश्च······भागश्च आगरुप (?) काश्यपस्तथा।
आत्रेयः शाण्डिलश्चैव तथा नारदपर्वतौ॥
काण्वगो नहुषश्चैव शालिहोत्रश्च वीर्यवान्।
अग्निवेशो मातलिश्च जतुकर्णः पराशरः॥
हारीतः क्षारपाणिश्च निमिश्च वदतांवरः।
अदालिकश्च भगवान् श्वेतकेतुर्भृगुस्तथा॥
जनकश्चैव राजर्षिस्तथैव हि विनग्नजित्।
विश्वेदेवाः समरुतो भगवांश्च बृहस्पतिः॥
इन्द्रश्च देवराजश्च सर्वलोकचिकित्सकाः।
एते चान्ये च बहव ऋषयः संश्रितव्रताः॥
आयुर्वेदस्य कर्तारः सुस्नातं तु दिशन्तु ते॥ (पृ. १५९)

(२) प्रत्यक्षशारीरभूमिकायाम्॥

(३) History of Indian Medicine.

(1) H. H. wilson

(2) Pr. Sachu.

(3) Hindu Superiority by Har Bilas Sarada.

(४) किताबे अलफेरिस्त एण्टिक्विटी ऑफ हिन्दू मैडिसिन।

फैलाकर वहां से मंगोल तक पहुंच गया। भारत में विलुप्त बहुत सी वाग्भट की टीकाएँ आज भी तिब्बत में अनूदित हुई मिलती हैं।

भेडसंहिता—आज कल भेडसंहिता नाम की पद्यमय तथा संक्षिप्त लेख वाली एक अन्य संहिता भी कलकत्ता से प्रकाशित हुई है? आर्षछाया के अनुरूप रचना होने से वह भी प्राचीन तथा आर्ष प्रतीत होती है। परन्तु उपक्रम (प्रारम्भ) उपसंहार (समाप्ति) तथा बीच २ में भी इसमें बहुत से त्रुटित अंश एवं अशुद्धियां हैं। आजकल एक हजार वर्ष पूर्व की ताडपत्रों पर लिखी हुई ज्वर-समुच्चय नामक पुस्तक मिली है जिसमें आश्विन, भरद्वाज आदियों की तरह भेड के भी केवल ज्वरप्रकरण के बहुत से वचन उद्धृत किये गये हैं। उनमें से उपलब्ध मुद्रित भेडसंहिता में केवल दो तीन श्लोक ही मिलते हैं। उसके अन्य श्लोक इसमें नहीं मिलते हैं। इस प्राचीन पुस्तक में इतने श्लोकों के भी मिलने से यह संहिता प्राचीन नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। परन्तु उसी ज्वरप्रकरण में भेड नाम से उद्धृत अन्य श्लोक, तन्त्रसार नामक अन्य संग्रह ग्रन्थ में भेडसंहिता नाम से दिये हुए अन्य प्रकरण के श्लोक तथा इसी प्रकार टीकाकारों द्वारा स्थान २ पर भेड नाम से उद्धृत १ श्लोक भी इस मुद्रित भेडसंहिता में प्रायः नहीं मिलते हैं। इस वृद्धजीवकीय तन्त्र (काश्यपसंहिता) में बस्तिकर्म के समय का निर्देश करते हुए 'षड्वर्षप्रभृतीनां तु भेड' द्वारा भेड के मत में ६ वर्ष के बाद बस्तिकर्म का विधान बताया है। परन्तु उपलब्ध भेडसंहिता में 'बालानामथवृद्धानां युवमध्यमयोस्तथा। स्वस्थानामातुराणां च बस्तिकर्म प्रशस्यते' द्वारा सर्वसाधारण के लिये बस्ति का विधान दिया है। यह परस्पर विरोध है। इस प्रकार भिन्न ग्रन्थों में भेड के नाम से मिलने वाले वचनों के यहां न मिलने से यह भेडसंहिता बहुत से अंशों से विच्छिन्न तथा सन्देहास्पद प्रतीत होती है। इन्हीं विच्छिन्न अंशों के न मिलने तथा चरक सुश्रुत के समान इसमें विषय निरूपण की अस्पष्टता के कारण ही वाग्भट ने भी निम्न श्लोक द्वारा भेड के विषय में कटाक्ष किया है—

ऋषिप्रणीते भक्तिश्चेन्मुक्त्वा चरकसुश्रुतौ।
भेडाद्याः किं न पठ्यन्ते तस्माद् ग्राह्यं सुभाषितम्॥
(अष्टाङ्गहृदये उ. तं. अ. ४०)

हारीतसंहिता—प्रायः इसी के अनुरूप दो तीन सौ वर्ष पूर्व लिखित हारीत संहिता भी प्रकाशित हुई आजकल मिलती है। इसमें प्राचीन आर्ष लेख की छाया न होकर केवल साधारण संग्रह मात्र होने से यह न तो प्राचीन तथा न आर्ष ही प्रतीत होती है। प्राचीन ज्वरसमुच्चय नामक पुस्तक में हारीत नाम से उद्धृत बहुत से श्लोक दिये हैं। अन्य ग्रन्थों में भी स्थान २ पर हारीत के वचन उद्धृत किये गये हैं। परन्तु वे वचन उपलब्ध हारीत-संहिता में न मिलने से किसी अन्य ही प्राचीन हारीतसंहिता की पूर्वस्थिति का अनुमान होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि संभवतः प्राचीन हारीतसंहिता के लोप को देखकर उस (हारीत) के नाम को स्थिर रखने के लिये पीछे होने वाले किसी विद्वान ने हारीत के नाम से इस ग्रन्थ की रचना की हो?।

नवोपलब्ध काश्यपसंहिता—अत्यन्त प्राचीन काल से प्रसिद्ध चरक सुश्रुत संहिताएँ तथा अभी (वर्तमान समय में) मिली हुई भेडसंहिता की अपेक्षा उपलब्धि (प्राप्ति) की दृष्टि से चौथे नम्बर पर होती हुई भी प्राचीन आर्ष लेख, विषय की गम्भीरता तथा सारयुक्त होने की दृष्टि से चरक तथा सुश्रुत की समकक्ष कौमारभृत्य विषय की यह प्राचीन काश्यपसंहिता प्रतिकूल दैव के कारण बहुत समय तक विलुप्त रहकर फिर सौभाग्य से कहीं दबी हुई जीर्णशीर्ण अवस्था में प्राचीन ताडपत्र की पुस्तक के रूप में प्राण शेष तथा स्थान २ पर खण्डित अंशों से युक्त वृद्धजीवकीय तन्त्र रूप में अब मिली है। करालकाल के द्वारा इसके अवयवों के खण्डित हो जाने पर शेष अवयवों द्वारा भी अपने विषय की गम्भीरता को प्रकट करती हुई तथा नाम से भी लुप्त हुई इस प्राचीन आर्ष संहिता का मिलना भी विद्वानों के लिये सन्तोष का ही विषय है।

पहले किसी समय नेपाल देश में आकर विद्वद्वर महामहोपाध्याय श्रीयुत पण्डित हरप्रसाद शास्त्री ने निम्न विवरणसहित काश्यपसंहिता का उपलब्धि वृत्तान्त Report on the Search of Sanskrit Manuscripts (1895 to-1900) नामक पत्र में प्रकाशित किया था तथा उस विवरण को जूलियस जौली नामक विद्वान् ने मैडिसिन की पुस्तक में भी दिया है—'नेपाल में मुझे काश्यप भार्गवसंवाद रूप वैद्यक विषय की ३८ पृष्ठों की अपूर्ण प्राचीन काश्यपसंहिता मिली है जिसके प्रारम्भ में भैषज्योपक्रमणीय में आठवें पृष्ठ से ज्वर निदान दिया हुआ है। इसमें चरक, सुश्रुत, कश्यप, आश्विन, आत्रेय, भेड, पराशर, हारीत तथा जतूकर्ण आदियों के वचन भी दिये हुए हैं। भैषज्योपक्रमणीय नाम होने पर भी इसमें औषधियों का उल्लेख नहीं है।' इस विवरण के अनुरूप पुस्तक नेपाल राजकीय पुस्तकालय के उन्हीं द्वारा तैयार करके प्रकाशित किये हुए पुस्तकों के सूचीपत्र (Index) में भी नहीं दी हुई है। उससे बाहर भी यत्नपूर्वक ढूढने पर ऐसी काश्यपसंहिता नहीं मिली है। परन्तु ज्वरनिदान आदि के विषय में नाना ऋषियों के वचनों का संग्रहस्वरूप प्राचीन ताडपत्रीय ज्वरसमुच्चय नाम का वैद्यक ग्रन्थ नेपाल में अन्यत्र भी मिलता है तथा मेरे पास भी है, जिसमें ज्वर के विषय में बहुत से काश्यप, चरक, सुश्रुत, आश्विन, भेड आदि के वचन दिये हुए हैं। काश्यपसंहिता के खिल भाग में आये हुए 'शृणु भार्गव तत्त्वार्थं सन्निपातविशेषणम्' आदि वचनों के मिलने से इसमें भार्गव तथा कश्यप का संवाद प्रकट होता है। उसके विवरण में आदि (प्रारम्भ) में भैषज्योपक्रमणीय के उल्लेख होने से, परन्तु ज्वरसमुच्चय में इसके अभाव होने से, काश्यपसंहिता के खिलभाग के तृतीय अध्याय का नाम भैषज्योपक्रमणीय होने से संभवतः प्रारम्भ के आठ पृष्ठों में काश्यपसंहिता के खिलभागान्तर्गत भैषज्योपक्रमणीय अध्याय भी उसमें जोड़ दिया गया हो। इस प्रकाशित काश्यपसंहिता में चरक, सुश्रुत आदियों के वचन नहीं दिये हैं। इस प्राचीन पुस्तक में अर्वाचीन चरक आदि के नामों का उल्लेख होना भी नहीं चाहिये। इसमें ज्वरप्रकरण तथा औषधियों का विषय भी नहीं है। इस प्रकार उनकी दृष्टि में आया हुआ वह ग्रन्थ सर्वांश रूप से यह काश्यसंहिता नहीं हो सकती अपितु इस संहिता के भैषज्योपक्रमणीय अध्याय के कुछ पृष्ठों को मिलाकर उक्त विवरण वाला ज्वरसमुच्चय अथवा इसी प्रकार का कोई प्राचीन संग्रहात्मक अन्य ग्रन्थ होगा।

इस उपलब्ध ताडपत्र पुस्तक की आकृति २१½×२½ है। प्रत्येक पृष्ठ में ६ पंक्तियां है। सबसे प्रारम्भ का पृष्ठ २९ और अन्तिम पृष्ठ २६४ है। तथा बीच २ में भी बहुत से पृष्ठ विलुप्त हैं। इस उपलब्ध पुस्तक के आदि, अन्त तथा मध्य के भी स्थान २ पर खण्डित होने के कारण बहुत प्रयत्न करने पर भी खण्डित पृष्ठ तथा प्रतीकों की प्राप्ति नहीं हो सकी है। लुप्त पत्रों का संकेत मुद्रित पुस्तक के प्रथम पृष्ठ की पादटिप्पणी (Foot note) में कर दिया गया है। ग्रन्थ के आदि के १०-१२ अध्याय खण्डित हैं तथा अन्त में भी खिल भाग के ८० में से केवल २५ अध्याय तक ही होने से उसके बाद का भाग भी खण्डित है। शेष बचे हुए पृष्ठों में से भी बहुत से अंश पूरे नहीं हैं इसलिये स्थान २ पर विलुप्त पंक्ति, शब्द तथा अक्षर आदि को प्रकाशित करते हुए बिन्दुमाला द्वारा दिखाया गया है। इसकी लिपि प्राचीन होने पर भी बहुत से स्थानों पर लेखभेद होने से एक ही समय में दो लेखकों ने मिलकर खण्डरूप में इस मूल पुस्तक की पूर्ति की होगी, ऐसा प्रतीत होता है। इस पुस्तक के उपक्रम तथा उपसंहार के लुप्त होने के कारण उसके द्वारा ज्ञातव्य विषयों का कुछ भी ज्ञान नहीं हो सकता। अन्तिम भाग के न मिलने से उसके लेख के समय के विषय में भी कुछ नहीं मिलता। परन्तु फिर भी इसकी लिपि की आकृति, अक्षरों द्वारा निर्दिष्ट पृष्ठों के अङ्क (संख्या), कहीं २ अध्याय और श्लोकों की संख्या तथा ताडपत्र की लम्बाई और चौड़ाई को देखकर यह अनुमान किया जा सकता है कि इस पुस्तक का लेख सात आठ सौ वर्ष पूर्व का है। परन्तु इस आदर्श पुस्तक में भी अक्षरों के लुप्त होने से तथा कहीं २ बिना अक्षरों के अधूरे ही स्थलों के मिलने से यह आदर्श मूल पुस्तक भी इस प्रकार की जराजीर्ण तथा प्राचीन प्रतीत होती है। पुस्तक की आकृति के ज्ञान के लिये मूल पुस्तक के दो पृष्ठों की प्रतिच्छाया (Reproduction) भी साथ में दे दी गई है।

कश्यप सम्बन्धी विमर्श—प्राचीन वैद्यक ग्रन्थों में से हमारे सामने सुश्रुत संहिता, चरक संहिता, तथा नवोपलब्ध काश्यपसंहिता, ये जो तीन महान आर्ष ग्रन्थ हैं। उनमें सुश्रुतसंहिता में धन्वन्तरि तथा चरक संहिता में पुनर्वसु आत्रेय की तरह काश्यपसंहिता में कश्यप मूल उपदेशक हैं। इस ग्रन्थ के उपक्रम तथा उपसंहार भाग के खण्डित होने के कारण इस कश्यप का विशेष परिचय न मिलने पर भी संहिता के कल्पस्थान के संहिताकल्प नामक अध्याय में ही निम्न विवरण मिलता है—

'दक्षयज्ञे वधत्रासाद्'·····'निखिलेन ते' (श्लो. १४-२८)

अर्थात् दक्ष के यज्ञ में उत्पन्न हुई अव्यवस्था से उत्पन्न प्राचीन नाना रोगों से पीडित प्राणियों के उद्धार की दृष्टि से पितामह ब्रह्मा की सहायता तथा तपोबल से महर्षि कश्यप ने इस महान् तन्त्र का निर्माण करके ऋषियों को उपदेश दिया। सर्वप्रथम इस विस्तृत तन्त्र को ग्रहण करके ऋचीक के पुत्र जीवक नाम वाले एक बालमुनि ने इसको संक्षिप्त रचना के रूप में परिणत कर दिया। परन्तु बालजल्पित (बालक का वचन) कहकर जब अन्य ऋषियों ने इसे स्वीकार नहीं किया तब उसी समय सब ऋषियों के देखते २ कनखल स्थित गङ्गा के कुण्ड में डुबकी लगाकर क्षण भर में वलिपलितयुक्त (झुर्रियों तथा सफेद बालों से युक्त) वृद्ध रूप में परिणत हो गया। इस चमत्कार के कारण विस्मित हुए मुनियों ने वृद्ध आकृति वाले उस बालक का वृद्धजीवक नाम रखकर तथा उसे उत्तम वैद्य मानकर उसके तन्त्र को स्वीकार कर लिया। उसके बाद लुप्त हुए इस तन्त्र को भाग्यवश अनायास नामक किसी यक्ष ने प्राप्त करके लोककल्याण के लिये इसकी रक्षा की। इसके बाद वृद्धजीवक के ही वंश में उत्पन्न हुए वेद वेदाङ्ग के ज्ञाता, तथा शिव-कश्यप के भक्त वात्स्य नामक विद्वान् ने अनायास को प्रसन्न करके उससे इस तन्त्र को प्राप्त करके कीर्ति, धर्म तथा लोककल्याण के लिये अपनी बुद्धि तथा श्रम से उसका प्रतिसंस्कार करके उसे प्रकाशित किया। तथा इसके आठ स्थानों में न आये विषयों को खिलस्थान के रूप में इसमें जोड़ दिया। इस प्रकार का इसका वृत्तान्त मिलता है।

वैदिक समय में भी मन्त्र ब्राह्मण आदियों में कश्यप और काश्यप नाम वाले अनेक महर्षियों तथा अन्य ग्रन्थों में भी इस नाम के अनेक विद्वानों का उल्लेख मिलता है। इनमें से कौनसा कश्यप इस कौमारभृत्य संहिता का मूल आचार्य है जिसके उपदेश को वृद्धजीवक ने ग्रहण किया यह विचारणीय विषय है। अत्रि, कश्यप आदि के गोत्रप्रवर्तक मूल आचार्य के रूप में मिलने से कश्यप शब्द से मूल कश्यप तथा काश्यप शब्द से कश्यप गोत्र में होनेवाले व्यक्ति का सामान्य रूप से बोध होता है। गोत्र प्रवरों (पुरोहित का गोत्र) के निर्देश करने वाले आचार्यों के लेख के अनुसन्धान में बोधायन (धर्मसूत्रकार-समय लगभग ४ थी शती ई. पू.) ने मूलगोत्र के प्रवर्तक केवल एक आचार्य में कश्यप तथा अन्यों के लिये काश्यप शब्द का व्यवहार उचित होने पर भी 'कश्यपान् व्याख्यास्यामः' द्वारा प्रारम्भ करके उस गोत्र वाले तथा अन्य गोत्र प्रवर्तकों का विभाग पूर्वक निर्देश करके अन्त में 'इत्येते निध्रुवाः कश्यपाः' द्वारा समाप्त करके काश्यप गोत्र वाले तथा अन्य गोत्र के प्रवर्तकों का काश्यप शब्द से व्यवहार उचित होने पर भी कश्यप शब्द से ही व्यवहार किया गया है। आपस्तम्ब (१)आश्वलायन तथा कात्यायन आदि में भी इसी प्रकार के उल्लेख मिलते हैं। बहुत व्यक्तियों के निर्देश होने पर गोत्र(२) प्रत्यय का लोप होकर 'कश्यपाः' यह व्यवहार सम्भव होने पर भी शतपथ(३) ब्राह्मण में 'हरितः कश्यपः', 'शिल्पः कश्यपः', 'नैध्रुविः कश्यपः' इत्यादि द्वारा हरित आदि परस्पर विभिन्न एक २ व्यक्ति का भी कश्यप शब्द से निर्देश किया है। इस प्रकार प्राचीन काल में कश्यपगोत्र वाले व्यक्तियों का काश्यप शब्द के समान व्यक्तिविशेष के लिये कश्यप

(१) अथ कश्यपानां त्र्यार्षेयः काश्यपावत्सारनैध्रुवेति। (आपस्तम्बप्रवरकाण्डे)

कश्यपानां काश्यपावत्सारासितेति। (आश्वलायनप्रवरकाण्डे)

कश्यपान् व्याख्यास्यामः। (कात्यायनलौगाक्षिप्रवरकाण्डे)

(२) अनृष्यानन्तर्ये विदादिभ्योऽञ् ४।१।१०४। यञञोश्च २।४।६४ (पाणिनिसूत्रे)

(३) हरितात् कश्यपाद्धरितः कश्यपः शिल्पात् कश्यपाच्छिल्पः कश्यपः कश्यपान्नैध्रुवेः कश्यपो नैध्रुविः। (शतपथवंशब्राह्मणे)

शब्द का व्यवहार भी प्रायः देखा गया है। इस प्रकार बोधायन आदि के लेख से मूल कश्यप के समान उस परम्परा वाले अन्य कश्यप के लिये भी कश्यप शब्द आता है। परन्तु कश्यप के सम्प्रदाय में बोधायन आदि द्वारा अन्य मारीच के निर्देश न होने से तथा अन्यत्र वैदिक संहिताओं में कश्यप का मरीचि के पुत्ररूप में मिलने से यह कहा जा सकता है कि बोधायन आदि के लेख के अनुसार मूल कश्यप ही मरीचि का पुत्र होने से मारीच है। (१)मत्स्य पुराण के गोत्रप्रवरों के वर्णन में मरीचि के पुत्र कश्यप का मूलगोत्र प्रवर्तक के रूप में निर्देश करके उसकी सन्तति में अवान्तरगोत्रों के प्रवर्तक की दृष्टि से मरीच के पुत्र कश्यपों का पुनः निर्देश किया है। गोत्र प्रवरों के विषय का संग्रहकर्ता (२)कमलाकर (१७ शताब्दी) भी मात्स्योक्त कश्यपों का उल्लेख करता हुआ 'अथ कश्यपाः' द्वारा कश्यप परम्परागत अन्य गोत्रप्रवर्तक एक मारीच (मरीच के पुत्र) ऋषि का एकवचनान्त शब्द द्वारा निर्देश करता है। कश्यप परम्परागत होने से इस मारीच का भी कश्यप होना संगत है। इस प्रकार कश्यप परम्परागत एक दूसरा भी मारीच कश्यप हुआ है-ऐसा ज्ञात होता है। (३)चरक के प्रारम्भ में एकत्रित महर्षियों का वर्णन करते हुए पहले कश्यप का पृथक् निर्देश करके फिर 'मारीचिकश्यपौ' इस द्विवचनान्त पद द्वारा मारीचि तथा काश्यप का पृथक् निर्देश मिलता है। इस प्रकार कश्यप, काश्यप तथा मारीचि तीन भिन्न २ व्यक्ति प्रतीत होते हैं।

इस काश्यपसंहिता में प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भ तथा अन्त में 'इति ह स्माह कश्यपः' तथा कहीं २ बीच में भी 'इत्याह कश्यपः' 'इति कश्यपः' 'कश्यपोऽब्रवीत्' इत्यादि द्वारा बहुत से स्थानों पर कश्यप(४) शब्द से आचार्य का उल्लेख किया है। कहीं २ (५)मारीच शब्द द्वारा भी निर्देश किया है। पूर्वापर वाक्यों को देखते हुए कश्यप ही मारीच तथा मारीच ही कश्यपरूप से दिखाई देने से इस ग्रन्थ का आचार्य मारीच कश्यप मालूम होता है। तथा सर्वत्र एक वचनान्त मारीच तथा कश्यप शब्द द्वारा व्यवहृत होने से स्पष्टरूप से वह एक व्यक्ति प्रतीत होता है। अत्रेयसंहिता के वातकलाकलीय अध्याय में भगवान् आत्रेय के द्वारा वार्योविद के साथ संवाद करते हुए मारीचि का वर्णन करने से मारीच तथा वार्योविद की समकक्षता प्रतीत होती है। इस काश्यपसंहिता के निम्न प्रसङ्ग द्वारा भी इस संहिता के आचार्य मारीच का वार्योविद का समकालीन होना प्रकट होता है—

इति वार्योविदायेदं महीपाय महानृषिः।
शशंस सर्वमखिलं बालानामथ भेषजम् ॥

अर्थात् वार्योविद नामक राजा के लिये ऋषि कश्यप ने बालकों की सम्पूर्ण औषधियों का उपदेश किया।

आत्रेय संहिता में पीछे शारीर निर्वृत्ति (शरीर के अङ्गों के गर्भ में प्रकट होने) के विषय में विचार करते हुए 'विप्रतिपत्तिवादास्त्वत्र बहुविधाः सूत्रकारिणामृषीणां सन्ति' (अर्थात् शास्त्रकर्ता ऋषियों के बहुत से एक दूसरे से विरुद्ध वाद हैं-भिन्न २ मत हैं) इत्यादि वाक्य द्वारा पूर्व आचार्यों के मतों का निर्देश करते हुए 'कश्यपः (१) सर्वाङ्गनिर्वृत्तिः' इस विशेष पाठ द्वारा आत्रेय ने कश्यप के सर्वाङ्गनिर्वृत्तिवाद (सब अङ्गों का साथ साथ उत्पन्न होना) को चरमपक्ष के रूप में दिया है। इस काश्यपसंहिता में भी निम्न श्लोक द्वारा अपने आचार्य मारीच कश्यप का सर्वाङ्गनिर्वृत्तिवाद मिलता है—

सर्वेन्द्रियाणि गर्भस्य सर्वाङ्गावयवास्तथा।
तृतीये मासि युगपन्निर्वर्तन्ते यथाक्रमम् ॥

इसी प्रकार आत्रेयसंहिता में आत्रेय द्वारा वर्णित मारीच और कश्यप को एक ही मानने से आत्रेय पुनर्वसु द्वारा भी सम्मानपूर्वक निर्देश किये हुए आयुर्वेद के आचार्य राजर्षि वार्योविद का समकालीन मारीच कश्यप ही इस संहिता का उपदेष्टा प्रतीत होता है। इस संहिता तथा बोधायन आदि के लेख में मारीच शब्द व्यवहृत किया गया है। मरीचि शब्द से अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय करके मारीच शब्द बनता है। आत्रेय संहिता में **'धौम्यो मारीचिकाश्यपौ,** मारीचिरुवाच; मारीचिः कश्यपः' इत्यादि इकारान्त पाठों के मिलने पर भी मरीचि शब्द के बह्वादिगण में पाठ होने से तथा वार्योविद के समकालीन होने से इञ् प्रत्यय होकर मारीचि शब्द भी मारीच शब्द का पर्याय ही है। अत इञ् (४।१।९५) सूत्र द्वारा मारीच शब्द से मारीचि शब्द बनने पर भी मारीच तथा मारीचि के साथ वार्योविद का साहचर्य संभव है।

इसप्रकार पूर्वोक्तानुसार मारीच तथा कश्यप इन दोनों नामों का व्यवहार संभव होने से इस संहिता के शिष्योपक्रमणीयाध्याय में इन्द्र द्वारा विद्या प्राप्त किये हुए कश्यप, अत्रि आदि के शिष्य तथा पुत्रों द्वारा इस विद्या के प्रचार के उल्लेख से बोधायन आदि में कहा हुआ मरीचि पुत्र मूलकश्यप इस संहिता का आचार्य हो सकता है। तथा सतयुग और त्रेतायुग के बीच में उत्पन्न हुए रोगों से प्राणियों के कष्टों को दूर करने के लिये कश्यप ने इस संहिता का निर्माण किया जिसका वृद्ध जीवकतन्त्र नामक संक्षिप्तरूप कलियुग में विलुप्त हो गया है।

(१) १ से ५ तक की टि० उपो० संस्कृत पृ० १५-१६ देखें।

१, मुद्रित चरक पुस्तक में विप्रतिपत्तिवाद के वर्णन में 'परोक्षत्वादचिन्त्यमिति मारीचिः कश्यपः, युगपत्सर्वाङ्गनिर्वृत्तिरिति धन्वन्तरिः' इस पाठ के मिलने से तथा सुश्रुतसंहिता में भी धन्वन्तरि के इसी सिद्धान्त के मिलने से सर्वाङ्गनिर्वृत्ति वाद धन्वन्तरि का तथा अचिन्त्यवाद कश्यप का प्रतीत होता है। संभव है इस विषय में धन्वन्तरि का भी यही सिद्धान्त हो किन्तु एक हस्तलिखित चरक की पुस्तक में 'कश्यपः सर्वाङ्गनिर्वृत्तिः" द्वारा कश्यप का सर्वाङ्गनिर्वृत्तिवाद का पाठ मिलता है। श्रीयुत गिरीन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने भी काश्यप के निरूपण में अपनी पुस्तक "हिस्ट्री ऑफ इण्डियन मेडिसिन" भाग प्रथम पृष्ठ १७९ पर यही पाठ दिया है। वार्योविद के सहभावी मारीच कश्यप के इस संहिता के आचार्य होने से और आत्रेय संहिता में आया हुआ कश्यप भी वही होने से इस काश्यपसंहिता में आये हुए 'सर्वेन्द्रियाणि गर्भस्य' इत्यादि वाक्य द्वारा सर्वाङ्गनिर्वृत्तिवाद के सिद्धान्तरूप से दिये होने से तथा उसमें अचिन्त्यवाद के न मिलने से विरुद्ध सिद्धान्तों के अभाव के औचित्य की दृष्टि से कश्यप के सर्वाङ्गनिर्वृत्तिवाद वाला पाठ ही उचित प्रतीत होता है। संभवतः इसमें पूर्वापर पदों के पाठ में उलटफेर हो गया है।

होकर पुनः वात्स्य द्वारा प्राप्त करके संस्कार किया गया—संहिता कल्पाध्याय के इस लेख के अनुसार तथा आत्रेय के लेख में कांकायन आदि के समकालीन मारीचिकश्यप के मिलने से मात्स्योक्त कश्यप परम्परा वाले द्वितीय मारीच का भी इस संहिता का आचार्य होना संभव है। इस विषय में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। मात्स्योक्त द्वितीय मारीच कश्यप को यद्यपि निश्चय पूर्वक मूल कश्यप परम्परा वाला नहीं कहा जा सकता तो भी अवान्तर गोत्र वाला होने पर भी मन्त्रद्रष्टाओं के प्रवर्तक का ही उल्लेख होने से वह भी प्राचीन ही होना चाहिये। संहिताकल्पाध्याय में कलियुग में लुप्त हुए वृद्धजीवकतन्त्र का यक्ष से प्राप्त करके वात्स्य द्वारा उसका संस्कार किये जाने के उल्लेख मिलनेसे वृद्धजीवकतन्त्र की भी मूलभूत काश्यपसंहिता का समय उससे भी प्राचीन होने से संहिताकार कश्यप का समय प्राचीन ही सिद्ध होता है। पाणिनि के मत में बिदादिगणमें प्रविष्ट हुए कश्यप शब्द से बहुत्व अर्थ में ही गोत्र प्रत्यय के लुक् (लोप) का विधान है परन्तु वंशब्राह्मण आदि में उससे विपरीत एक व्यक्ति के लिये भी कश्यप शब्द का व्यवहार मिलने से यहां काश्यप के लिये आया हुआ कश्यपशब्द पाणिनिसे भी प्राचीन प्रयोग को सूचित करता है।

इस काश्यपसंहिता में धन्वन्तरि का मत दिया होने से परन्तु उसके अनुयायी दिवोदास तथा सुश्रुत के नाम न होने से तथा (१) महाभारत में गुरुदक्षिणा में दिये जाने वाले घोड़ों की प्राप्ति के लिये काशीपति दिवोदास के पास पहुंचने वाले गालव ऋषि को हिमालय की तलहटीमें वायव्य (पश्चिमोत्तर) दिशा में मारीचि कश्यप के आश्रम का निर्देश होने से यह मारीचि कश्यप धन्वन्तरि के बाद परन्तु उसकी चतुर्थ सन्तति दिवोदास के कुछ समय पूर्व या उसके समकालीन हिमालय की तलहटीमें आश्रम बनाकर रहता था—ऐसा प्रतीत होता है। इससे इस संहिता में आये हुए आचार्य की (२) गङ्गाद्वारनिवासित्व की संगति भी ठीक बैठती है।

अवान्तर गोत्र प्रवर्तक मारीच कश्यप को भी यदि इस संहिता का आचार्य माना जाय तो चरक के उपक्रममें मारीचि तथा कश्यप से भिन्न प्राचीन कश्यप के मिलने से तथा इस संहिता में भी इन्द्र के शिष्य कश्यप द्वारा अपनी सन्तति में आयुर्वेद विद्या के प्रचार के उल्लेख होने से अत्रि, भृगु आदि के साहचर्य से मूलकश्यप से ही यह विद्या मारीच कश्यप में गई प्रतीत होती है। इस प्रकार परम्परागत मारीच ने इस संहिता का निर्माण किया प्रतीत होता है। इसीलिये वमनविरेचनीयाध्याय में वृद्ध काश्यप का मत देकर 'अथ कश्यपोऽब्रवीत्' द्वारा जो अपना मत दिया है वह बाद में होने वाले मारीच कश्यप के लिये ही संभव है न कि मूलकश्यप के लिये। अन्य आचार्यों के मतों को देकर अन्त में नामोल्लेख सहित अपने मत के प्रतिपादन करने की प्राचीन शैली कौटिलीय अर्थशास्त्र तथा आत्रेयसंहिता में भी दिखाई देती है। **'इति ह स्माह कश्यपः'** इस वाक्य द्वारा प्रारंभ किये हुए अध्याय के बीच में भी अन्य आचार्यों के मतों के बिना भी कहीं २ जो **'इति कश्यपः' 'इत्याह कश्यपः'** आदि वाक्य आये हुए हैं वे नये एवं विशेष अर्थ को सूचित करने

(१) १-२ तक की टिप्पणी उपो० संस्कृत पृ० १७ देखें।

की दृष्टि से भी संभवतः ग्रन्थकार ने अपने नामसहित दिये हों, परन्तु मारीच कश्यप को संहिता में **'कश्यपाय स्वाहा'** इस प्रकार जो स्वाहाकार देवता के रूप में कश्यप का उल्लेख मिलता है वह प्राचीन कश्यप का ही नाम होना चाहिये इसीलिये मूलकश्यप परम्परा द्वारा ही उसकी सन्तति में इस विद्या के प्रवृत्त होने से पूर्वाचार्य कश्यप के उपदेश को जताने के लिये उसका नाम लेना संभव है।

अस्तु यह कश्यप चाहे मूल व्यक्ति हो और चाहे परम्परागत व्यक्ति हो केवल इतने से ही उसे अर्वाचीन नहीं कहा जासकता। वैदिक साहित्य में भी मन्त्रद्रष्टा के रूप में इसका उल्लेख है। कात्यायन के ऋक् सर्वानुक्रम सूत्र में कश्यप तथा काश्यपों द्वारा दृष्ट बहुत से सूक्तों में से जातवेद के प्रारंभ के एक (१) हजार सूक्त कश्यप ऋषि प्रणीत बताये गये हैं। उसकी व्याख्या करता हुआ (२) षड्गुरुशिष्य **'अयं मरीचिपुत्रः कश्यपः'** ऐसा परिचय देता है। (३) बृहद्देवता में भी इन एक हजार सूक्तों का द्रष्टा कश्यप को ही बताया है। सायनाचार्य ने भी जातवेदस के मन्त्रों में मारीचि कश्यप ऋषि का निर्देश किया है। बभ्रुसूक्त(४) में तो सूत्रकार ने भी स्वयं मारीच कश्यप को ऋषिरूप से स्वीकार किया है। आथर्वण सर्वानुक्रम सूत्र में भी **'पृतना(५)जितम्'** इत्यादि जातवेदस् सूक्त के द्रष्टा मारीचि काश्यप (मारीच, कश्यप) का उल्लेख है।

ऋग्वेद के नवम मण्डल तथा अन्यत्र भी काश्यपावत्सार, काश्यप निध्रुवि तथा मारीच कश्यप द्वारा दृष्ट अनेक सूक्त हैं। जिनका सायन ने भी उसीरूप में विवरण दिया है। उनमें दिव्य ओषधि सोम की अनेक प्रकार से स्तुति की गई है। जातवेदस् के मन्त्र में अग्नि की स्तुति करते हुए भी सोम का विषय आया हुआ है। जातवेदस् के प्रारंभ के एकहजार सूक्त कश्यप ऋषि प्रणीत हैं, ऐसा सर्वानुक्रम सूत्रकार आदि निर्देश करते हैं। उपलब्ध ऋग्वेद में मारीच कश्यप ऋषि द्वारा प्रणीत ये एक हजार सूक्त नहीं मिलते हैं। जातवेदस् में एक ऋचा वाला केवल यही एक सूक्त मिलता है। (६) सर्वानुक्रम सूत्र, (७) बृहद्देवता तथा षड्गुरुशिष्य द्वारा उद्धृत शौनक शाकपूणि आदि के निर्देश में **'जातवेद'** तथा **'सयोवृषा'** आदि सूक्तों के बीच के ९९९ सूक्तों की विद्यमानता प्रकट होने से यह स्पष्ट है कि इनका लोप होचुका है। खिलरूप से विद्यमान ये सूक्त वेदों से लुप्त हो चुके हैं ऐसा षड्गुरुशिष्य ने स्पष्ट कहा है। इन विलुप्त मन्त्रों का अनुसन्धान करते हुए सर्वानुक्रम के टीकाकार (८) षड्गुरुशिष्य ने प्रारंभ में एकर्च, द्वृच, तृच आदि सहस्रर्च पर्यन्त (९) सूक्तों का निर्देश करके उनकी गिनती करते हुए गणित के अनुसार पांच (१०) लाख चार सौ निन्यानवे ऋचाओं के लुप्त होने का संकेत किया है परन्तु ऋग्वेद में एक २ मन्त्र को बढ़ाकर-सूक्तों में मन्त्रों के विन्यास की रीति कहीं दिखाई नहीं देती है। परन्तु सूत्र तथा बृहद्देवता में इन हजार सूक्तों में एक ऋचा वाले सूक्तों के बाहुल्य का निर्देश है, इस प्रकार उक्त संख्या पूरी नहीं होती। उक्त संख्या के निर्देश की सङ्गति हो, चाहे न हो परन्तु इतना तो स्पष्ट ही है कि इन एक हजार सूक्तों के एकर्च बाहुल्य के निर्देश होने से एकर्च (एक ऋचा वाले) सूक्तों के अधिक संख्या

(१) १ से १० तक की टि० उपो० संस्कृत पृ० १७-१८ देखें।

में होने पर भी अन्य बह्वृच (बहुत ऋचाओं वाले) सूक्तों का प्रवेश संभव होने से इसमें हजारों मन्त्र थे। कश्यप तथा काश्यप के नाम से उपलब्ध सूक्तों में दिव्यौषधि सोम की स्तुति का वर्णन मिलने से संभवतः अन्य विलुप्त हजारों मन्त्रों में भी प्रायः ओषधियों का ही वर्णन प्रतीत होता है। कश्यप के आयुर्वेद विद्या का आचार्य होने से तथा काश्यपसंहिता में उसकी परम्परा में उस विद्या की अनुवृत्ति होने का तथा महान् आकृति वाली कश्यपसंहिता का पीछे वृद्धजीवक द्वारा संक्षेप किये जाने के उल्लेख होने से संभवतः ये विलुप्त एक हजार सूक्त ही काश्यपसंहितारूप में प्रकट हुए थे। आयुर्वेद के विषयों का प्रतिपादन करता हुआ वह भाग कश्यप ने ऋग्वेद में खिलरूप से प्रविष्ट किया हो फिर कालक्रम से च्युत होकर पीछे संभवतः विलुप्त भी होगया हो। आगे निर्दिष्ट काश्यपसंहिता नाम से मिलने वाली एक अन्य संहिता में निम्न श्लोक दिया है—

ऋग्वेदस्योपवेदाङ्गं काश्यपं रचितं पुरा।
लक्षग्रन्थं महातेजः अमेयं मम दीयताम्॥

उपर्युक्त श्लोक द्वारा वर्णित ऋग्वेद के उपवेद रूप तथा लक्षग्रन्थात्मक यह काश्यपदर्शन भी संभवतः उसी विलुप्त काश्यप संहितारूप एक हजार सूक्तों की ओर लक्ष्य करता है। यह भी संभव हो सकता है कि खिलरूप में अवस्थित स्वदृष्ट सहस्र तथा इसी प्रकार के अन्य परदृष्ट सूक्तों की संहिता बनाकर कश्यपाचार्य ने शिष्योपक्रमणीय अध्याय में आयुर्वेद को पंचम वेद माना है उसी खिलरूप में अवस्थित आयुर्वेद विषय का ज्ञान कराने वाली कश्यप की महासंहिता को ही वृद्धजीवक ने संक्षिप्त करके तन्त्ररूप से उपस्थित किया प्रतीत होता है। अस्तु, कुछ भी हो इतना तो स्पष्ट है कि यह उपलभ्यमान काश्यपसंहिता वेदरूपी मूल महावृक्ष का ही संक्षिप्त रूप है।

इस प्रकार इस संहिता के कल्पाध्याय के लेख(१) से तथा ग्रन्थ के बीच २ में आये हुए पदविशेषों से स्पष्ट है कि इस संहिता का आचार्य कश्यप नाम वाला, आहिताग्नि (जिसने अग्नि का आधान किया हुआ है), वेद-वेदान्तों का पारद्रष्टा प्रजापतिस्थानीय तथा गङ्गाद्वार निवासी मारीच कश्यप ही है। चरक संहिता के मूल आचार्य आत्रेय का जैसे पुनर्वसु विशेषण है वैसे ही इस संहिता के आचार्य कश्यप का भी मारीच विशेषण है।

कौमारभृत्य विषयक इस संहिता के लेख से भी मारीच कश्यप तथा वृद्धकाश्यप दो भिन्न २ आचार्य प्रतीत होते हैं। जिससे मारीच कश्यप के उपदेशस्वरूप इस संहिता के वमनविरेचनीय प्रकरण में दूसरे आचार्यों के मतों में पहले वृद्धकाश्यप के मत का निर्देश करके अन्त में 'अथ कश्यपोऽब्रवीत्' द्वारा अपने (कश्यप के) मत को स्पष्टरूप में दिया होने से मारीच कश्यप ही इस संहिता का उपदेष्टा, तथा वृद्धकाश्यप इससे भिन्न अन्य आचार्य प्रतीत होते हैं। प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भ में जो **'इति ह स्माह कश्यपः'** दिया है वह भी इसी को सूचित करता है। इस कश्यप ऋषि को भी कहीं २ जो वृद्ध लिखा है वह ज्ञानवृद्ध या वयोवृद्ध की दृष्टि से लिखा है। खिलभाग में एक स्थान पर **'वृद्धकाश्यपीयायां संहितायाम्'** जो लिखा है वह सम्भवतः प्रक्षिप्त है। अथवा चरकसंहिता के पिछले भाग में जिस प्रकार कृष्णात्रेय आदि के मतों का उल्लेख है उसी प्रकार वृद्धजीवक के बनाये हुए खिलभाग में वृद्धकाश्यप नामक अन्य आचार्य का उल्लेख होने से संभवतः **'वृद्धकाश्यपीयायाम्'** लिखा हो।

महाभारत के तक्षक(१)दंशोपाख्यान में शापग्रस्त राजा परीक्षित को काटने के लिये जाते हुए तक्षक तथा राजा के प्रतीकार के लिये आने वाले महर्षि काश्यप के परस्पर मार्ग में मिलने से उनका संवाद मिलता है। यह मारीच शब्द से रहित काश्यप ऋषि विषहर विद्या में निपुण कश्यप-परम्परागत भिन्न ही व्यक्ति प्रतीत होता है।

डल्हन ने सुश्रुत की (२)व्याख्या में काश्यप नाम से तथा माधवनिदान की मधुकोश (३)व्याख्या में वृद्धकाश्यप नाम से दो श्लोक दिये हुए हैं। वे श्लोक अगदतन्त्र विषयक होने से ये काश्यप तथा वृद्धकाश्यप भी भिन्न ही अगदतन्त्र के आचार्य प्रतीत होते हैं।

पाणिनि द्वारा **'तृषिमृषिकृषेः काश्यपस्य'** (१।२।२५) तथा **'नोदात्तस्वरितोदयमगार्ग्यकाश्यपगालवानाम्'** (८।४।६७) इन सूत्रों में प्राचीन वैयाकरणों की गिनती में दिया काश्यप भी अन्य ही प्रस्थानान्तरीय विद्वान् प्रतीत होता है। शिल्पाचार्य के रूप में कश्यप का निर्देश तैत्तिरीय(४) संहिता में आया हुआ है।

काश्यपसंहिता (५) नाम की उमा महेश्वर संवाद रूप चिकित्सा विषयक एक अन्य भी छोटी सी पुस्तक तञ्जोर के पुस्तकालय में (नं० १०७८०) है, जिसके पूर्वार्ध भाग का प्रतिलेख श्री वैद्यवर यादव जी द्वारा मुझे भी प्राप्त हुआ है। इस पूर्वार्धभाग में नाना वातरोग, ज्वर, ग्रहणी, अतिसार, अर्श, इनके निदान, उनको दूर करने के लिये ओषधियां तथा निदानरूप पापों को दूर करने के लिये रुद्र, शिव, विष्णु आदि का आराधन संक्षेप से दिया हुआ है। इस पूर्वार्ध के अन्त में **'बालरोगस्य'** द्वारा प्रारंभ करके निम्न श्लोक दिये हुए हैं—

सर्वाङ्गं मूर्ध्नि कक्षे द्व श्रोणी द्वे पादबाहुकम्।
पिटकं दर्दुरं कण्डूं तिमिरं कृमिसंकुलम्॥
पूयं रक्तं स्रवति च वेदनं शुष्कमङ्गजम्।
विदाहं शोषमत्यन्तबालकं पिच्छिपिच्छिलाम्॥
एते गुणविकाराश्च पैत्तरूपं समुद्भवम्।
तत्पैत्तनाडीनाशार्थं रास्नादिलेह्यकं तथा॥
ममासं मासत्रयं नित्यं बालपैत्तविनाशकम्।
अश्वगन्धिघृतं सेवेद्विडङ्गादिघृतं तथा॥
वाकुचीघृतविख्यातं बालकं पिच्छिलं हरेत्।

इन श्लोकों के बाद **'इति पार्वतीपरमेश्वरसंवादे काश्यपसंहितायां पूर्वार्द्धं समाप्तम्'** द्वारा इसे समाप्त किया गया है। इस संहिता का लेख प्रौढ़ एवं सुसंस्कृत न होने से इसे प्राचीन नहीं कहा जा सकता। उसमें बालभैषज्य का भी मुख्यरूप से वर्णन नहीं है। केवल अन्त में इस विषय के उपरिनिर्दिष्ट श्लोक दिये हैं। वृद्धजीवकीयतन्त्र के साथ इसकी विषय रचना तथा भैषज्य की दृष्टि से बिलकुल भी समानता नहीं है। यह तान्त्रिक प्रक्रियाओं से युक्त भिन्न ही संहिता प्रतीत होती है। तथा इसका उपदेशक भी कश्यप नाम वाला कोई भिन्न ही प्रतीत होता है।

(१) टि० उपो० संस्कृत पृ० १८ देखें।

(१) १ से ५ तक की टि० उपो० संस्कृत पृ० १८-१९ देखें।

मद्रास प्रदेश में मुद्रित काश्यपसंहिता(१) नाम का अगदतन्त्र विषयक एक अन्य ग्रन्थ भी मिलता है। उसमें गारुडीविद्या (सर्पविद्या), विषनाशक औषधप्रयोग, मान्त्रिकप्रयोग, विषों की भिन्न २ जातियाँ और भेद तथा दंश आदि का वर्णन है। इस संहिता का लेख डल्लन तथा मधुकोश में उद्धृत अगदतन्त्र विषयक श्लोकों से लेशमात्र भी नहीं मिलता है। इसमें वे दोनों श्लोक भी नहीं दिये हैं। इस प्रकार अगदतन्त्र के ज्ञाता किसी अन्य अर्वाचीन काश्यप का अथवा प्राचीन अगदाचार्य काश्यप के सम्प्रदाय वाले किसी अन्य का ही यह लेख प्रतीत होता है। इस कौमारभृत्य विषयक संहिता में इसकी गन्ध तथा नाम भी नहीं है।

इस प्रकार कश्यप तथा काश्यप शब्दों के भिन्न २ दिखाई देने से इन उपरिनिर्दिष्ट काश्यपों के प्राचीन होने पर भी विषय के भेद से काश्यपसंहिता नाम से मिलने वाले उपरिनिर्दिष्ट दोनों ग्रन्थों के अर्वाचीन होने से तथा इन काश्यपों के साथ मारीच शब्द का विशेषण न लगा होने से इस कौमारभृत्य संहिता का आचार्य मारीचकश्यप नाम वाला भिन्न ही आचार्य प्रतीत होता है। तथा उसकी यह नवोपलब्ध प्राचीन संहिता भी भिन्न ही प्रतीत होती है। कश्यप द्वारा उपदिष्ट होने पर भी तदीयत्व (उस विषयक) बोधक प्रत्यय से समानाधिकरण समास होकर पुंवद्भाव में 'कश्यप की संहिता' इस अर्थ को दृष्टि में रखते हुए इसका काश्यपसंहिता यह नाम उचित ही है।

अष्टाङ्ग हृदय में बालकों के रोगों के प्रतिषेध विषयक अध्याय में वृद्धकश्यप (२) तथा कश्यप (३) नाम से दो औषध योग दिये हुए हैं। वृद्धकश्यप तथा कश्यप का पृथक् २ निर्देश होने से इस काश्यपसंहिता में वृद्धकश्यपोक्त विषय के न मिलने पर भी कश्यप नाम से दिया हुआ बालकों का ग्रहहर दशाङ्ग धूप धूपप्रकरण में कुछ पाठभेद से मिलता है। कश्यप नाम से दिया हुआ बालकों के यक्ष-राक्षस आदि की बाधाओं को नष्ट करने वाला अभयघृत वाग्भट(४) में भी दिया है। वस्तुओं तथा रक्षोघ्नत्वादि की समानता से यह वही प्रतीत होता है।

खोटाङ्ग (मध्य एशिया) नामक स्थान के भूगर्भ से बावर मैनुस्क्रिप्ट (Bower manuscript) रूप से प्रसिद्ध नावनीतक नाम का एक प्राचीन वैद्यक* ग्रन्थ अभी मिला है। इस पुस्तक की भोजपत्र पर लिखित प्राचीन लिपि को देखकर विद्वानों ने इसे तीसरी चौथी शताब्दी में लिखा हुआ निश्चित किया है†। ग्रन्थ रचना तो इससे भी प्राचीन होनी चाहिये। इसमें आत्रेय, क्षारपाणि, जातूकर्ण, पराशर, भेड, हारीत, सुश्रुत, काश्यप तथा जीवक आदि के नाम भी दिये हुये हैं। इन प्राचीन आचार्यों की संहिताओं के योगों का इसमें संग्रह होने से परन्तु अष्टाङ्गहृदयोक्त एक भी योग के न होने से यह निबन्ध कश्यप, काश्यप, आत्रेय, सुश्रुत, तथा भेड आदि से पश्चात् तथा वाग्भट से पूर्व का प्रतीत होता है। इसके कौमारभृत्य विषयक १४ वें अध्याय में काश्यप तथा जीवक नाम से कुछ औषध योग दिये हैं। यहां कौमारभृत्य के प्रकरण में जीवक के साथ आया हुआ काश्यप संभवतः इस काश्यप संहिता का आचार्य ही है। स्वार्थ में अण् करके अथवा उस गोत्र के अर्थ में कश्यप का काश्यप शब्द द्वारा भी व्यवहार संभव होने से कश्यप के स्थान पर काश्यप दिया हुआ प्रतीत होता है। वहीं पर निम्न श्लोक दिये हैं जिनमें कश्यप के नाम से गुटिका औषधियों के रूप में विशेष योग दिया है—

> **आसवेन सुजातेन बालानां दापयेद्भिषक्।**
> **सुखं भवति तेनास्य काश्पपस्य वचो यथा॥ १०॥**
> **तेन कोष्ठगतो वायुः क्षिप्रमेव प्रमुच्यते।**
> **शिरोरोगेषु शमनं वमनं चैव शाम्यति॥ ११॥**
> **कृमिर्गुदगतो यस्य गुटिकायाः प्रलेपयेत्।**
> **तेनास्य सौख्यं भवति काश्यपस्य वचो यथा॥ १२॥**
> **शर्कराक्षौद्रसंयुक्तां पाययीत चिकित्सकः।**
> **सुखी भवति तां पीत्वा काश्यपस्य वचो यथा॥ १३॥**

नावनीतक में इससे पूर्व के श्लोकों के लुप्त होने से इस गुटिकौषध का क्या स्वरूप है यह नहीं कहा जा सकता। काश्यपसंहिता में स्थान २ पर गुटिकौषधियों की रचना तथा उपयोग दिये हैं, उन्हीं में से किसी एक को लेकर अपने अनुभूत अनुपान विशेष के साथ यहां दिया गया प्रतीत होता है।

प्राचीन रावणकृत बालतन्त्र में काश्यप तथा वृद्धकाश्यप के नाम दिये हैं। इस कौमारतन्त्र में वृद्धकाश्यप के साथ आचार्यरूप में आया हुआ काश्यप भी यही कौमारभृत्याचार्य कश्यप प्रतीत होता है।

ज्वरसमुच्चय नाम का एक प्राचीन ग्रन्थ है जिसमें ज्वर के विषय में प्राचीन ऋषियों के वचनों का संग्रह किया गया है। जिसकी एक ताडपुस्तक, लिपि के अनुसार सात-आठ सौ वर्ष पूर्व की तथा दूसरी ४४ नेपाली संवत्सर (ई० प० ९२४) में लिखी हुई मेरे पास है। जब ग्रन्थ का लेख (लिपि) समय ही इतना प्राचीन है तब ग्रन्थ का रचना समय तो इससे भी प्राचीन होना चाहिये। इस ग्रन्थ में कश्यप नाम से बहुत से श्लोक दिये हुए हैं। इन श्लोकों की काश्यपसंहिता में आये हुए श्लोकों से संगति है, इसका पीछे निर्देश किया जायगा। इससे यह निश्चयपूर्वक कहा

(१) टि० १ से ४ उपो० संस्कृत पृ० १९-२० देखें।

* यह ग्रन्थ यूरोप तथा लाहौर से भी मुद्रित हुआ है।

† इस ग्रन्थ की उपलब्धि के विषय में भारतीय इतिहास की रूपरेखा पृ. ९८३ (जयचन्द्र विद्यालंकार) पर लिखा है— सन् १८९० में ब्रिटिश भारतीय सेना के लैफ्टिनेंट बावर नामक एक अफसर को एक दूसरे अंग्रेज के घातक की खोज में घूमते फिरते चीनी तुर्किस्तान के उत्तरपूर्वी छोर की कुचार (कूचा) नामक बस्ती से एक स्तूप के खण्डहरों में से निकाली गई भोजपत्रों पर लिखी एक पोथी मिली। वह अब बावर-पोथी कहलाती है। वह कलकत्ते में डा० हार्नली के पास भेजी गई और गुप्त युग ब्राह्मी में लिखी संस्कृत की पोथी निकली। वह वैद्यक का ग्रन्थ है जिसके पहले अंश में लहसुन के गुण बखाने गये हैं। बावर पोथी अब आक्सफोर्ड में है। उसके पूरे फोटो लिप्यन्तर और अनुवाद हार्नली ने आ. स. इ. जि. २२ में प्रकाशित किये हैं—अनुवादक।

जा सकता है कि ज्वरसमुच्चय में आया हुआ काश्यप इस संहिता का आचार्य कश्यप ही है। तथा उसमें दिये हुए श्लोक भी इस संहिता से ही लिये गये हैं।

इसी प्रकार सुश्रुत की व्याख्या के निबन्धसंग्रह(१) अष्टाङ्ग हृदय(२) की टीका तथा चरक की चक्रपाणि टीका में कश्यप नाम से अन्य भी दो तीन श्लोक दिये हुए हैं। परन्तु इस संहिता के बहुत से भागों के खण्डित होने से संभवतः वे श्लोक इस खण्डित भाग में हों।

पीयूषधारा के गर्भाधानप्रकरण(३) में **उक्तं च कश्यपसंहितायां, वर्षद्वादशकादूर्ध्वम्'** इत्यादि द्वारा प्रारंभ करके निम्न श्लोक दिया है—

अन्तः पुष्पं भवत्येव पनसोदुम्बरादिवत्।
अतस्तु तत्र कुर्वीत तत्सङ्गं बुद्धिमान्नरः॥

(अर्थात् कटहल तथा गूलर की तरह बारह वर्ष के बाद स्त्री अन्तःपुष्पा होती है, इस लिये उसके साथ बुद्धिमान् पुरुष सङ्ग कर सकता है)।

उपर्युक्त श्लोक के ज्योतिष के ग्रन्थ में होने से कश्यपसंहिता नाम का अन्य ज्योतिष का ग्रन्थ भी हो सकता है। काश्यपसंहिताके जातिसूत्रीयाध्याय में आये हुए गर्भाधान से संबन्धित विषय के अंशरूप में त्रुटित होने से तथा इस संहिता में आर्ष रचना द्वारा गर्भाधान के विषय का प्रतिपादन किया होने से यह श्लोक संभवतः उस त्रुटित भाग में आया हुआ भी हो सकता है। उस अवस्था में पीयूषधारा में वर्णित कश्यपसंहिता भी संभवतः यही हो।

जीवक-संबन्धी विचार—पूर्वोद्दिष्ट काश्यपसंहिता के कल्पाध्याय के अनुसार ज्ञात होता है कि कश्यप द्वारा उपदिष्ट महातन्त्र रूपी इस संहिता को कनखल निवासी तथा ऋचीकपुत्र वृद्धजीवक नामवाले किसी महर्षि ने उसे ग्रहण किया तथा संक्षिप्त करके उसे तन्त्ररूप में प्रकाशित किया।

महाभारत के प्रारम्भ में जामदग्न्योपाख्यान में ऋचीक नाम के महर्षि का उल्लेख मिलता है। असीरियन् देश के पूर्ववृत्त में भी गालव आदि के नाम की तरह ऋचीक का नाम भी मिलता है। साधक प्रमाणों के अभाव में इस वृद्धजीवक का पिता कौनसा ऋचीक है, यह नहीं कहा जा सकता। पुराण, इतिहास आदि में तथा आत्रेय सुश्रुत आदि प्राचीन वैद्यक ग्रन्थों में भी वृद्धजीवक या जीवक का नाम कहीं भी दिखाई नहीं देता है। परन्तु नावनीतक के कौमारभृत्य प्रकरण में कश्यप के समान ही नाम(४)ग्रहण पूर्वक छर्दि एवं उरोघात रोग में जीवक की ओषधि का भी उल्लेख होने से तथा बालभैषज्य के विषय एवं काश्यप के साहचर्य से यही वृद्धजीवक प्रतीत होता है। इस वृद्ध जीवक तन्त्र में छर्दि रोग के प्रकरण के खण्डित होने से वह ओषधि यहाँ नहीं मिलती है। उरोघात रोग में ओषधियों का निर्देश करने वाले श्लोक बीच २ में खण्डित हैं परन्तु अवशिष्ट भाग में पिप्पली के साथ मिलाकर किसी ओषधि का प्रयोग दिखाई देने से कुछ समानता प्रतीत होती है। सुश्रुत के उत्तर तन्त्र में **'ये च विस्तरतो दृष्टाः कुमाराबाधहेतवः'** द्वारा सामान्यरूप से निर्देश करके उसकी व्याख्या करते हुए डल्लन ने **'पार्वतकजीवबन्धकप्रभृतिभिः'** द्वारा जिस जीवक का संकेत किया है, कौमारभृत्याचार्यों की श्रेणी में दिया होने से संभवतः वह यही वृद्धजीवक है। चक्रदत्त ने भी जीवक के नाम से सौरेश्वर घृत दिया हुआ है। अन्य टीकाग्रन्थों में भी कुमारों के लिये उपयोगी कास-श्वासनाशक ओषधियाँ जीवक के नाम से उद्धृत मिलती हैं।

यह वृद्धजीवक कौन है? इसका अनुसन्धान करने पर हमें भगवान् बुद्ध के समय के महावग्ग नामक पालीग्रन्थ बौद्धजातक तथा तिब्बतीय गाथाओं में **'कुमारभच्च'** विशेषण युक्त जीवक नामक किसी प्रसिद्ध वैद्य का वृत्तान्त मिलता है। इसमें कुमारभच्च विशेषण तथा जीवक नामक प्रसिद्ध वैद्य के मिलने से इसके परिचय के लिये महावग्ग नामक बौद्ध पालीग्रन्थ के आठवें अध्याय में निम्न कथानक मिलता है—

राजगृह (बर्तमान राजगीर-पटना जिला) में शालावती नाम की किसी वेश्या द्वारा सद्यः प्रसूत बालक को दासी ने शूर्प (छाज) में रखकर बाहर फेंक दिया। राजकुमार अभय उसे देखकर महल में ले आया तथा दासी द्वारा इसका पालन-पोषण किया। **'उत्सृष्टोऽपि जीवति'** (छोड़ा हुआ या फेंक दिया जाने पर भी जीवित है) इस व्युत्पत्ति के अनुसार इसका नाम जीवक हुआ तथा राजकुमार द्वारा पालन-पोषण किया जाने के कारण पाली भाषा के अनुसार इसका नाम कु (कौ) मारभच्च (कौमारभृत्य, कुमारभृत) भी हो गया। उसके बाद कालक्रम से वृद्धि को प्राप्त होकर जीविका की दृष्टि से विद्याध्ययन के लिये राजकुमार को बिना कहे ही उसने तक्षशिला जाकर वहां के किसी प्रसिद्ध वैद्य से सात वर्ष तक वैद्यक विद्या का अभ्यास किया। विद्या समाप्ति के बाद आचार्य ने पाथेय बांधकर उसे विदा किया और वह वहां से लौट गया। मार्ग में साकेत (अयोध्या) पहुंचकर सात वर्षों से शिरोवेदना से पीडित किसी सेठानी के घर पहुंचकर उस तरुण वैद्य ने घृत नस्य आदि ओषधियों से उसको स्वस्थ कर दिया तथा सत्कार में मिले हुए धन, दास तथा रथ आदि लेकर राजगृह पहुंचा। उस अर्जित धन को पोषण के प्रत्युपकार रूप में उसने राजकुमार अभय को देना चाहा परन्तु उसने अस्वीकृत करके उसका सम्मान किया तथा राजप्रासाद के अन्दर ही उसका निवास स्थान बनवा दिया। इसके बाद मगध के राजा बिम्बिसार का तीव्र भगन्दर रोग उसने एक ही लेप में अच्छा कर दिया। इससे प्रसन्न होकर राजा ने उसका ५०० स्त्रियों के आभूषणों से सत्कार करके उस तरुण जीवक को अपने अन्तःपुर में रहनेवाले प्रमुख बौद्ध भिक्षुओं की भी चिकित्सा की अनुमति प्रदान की। फिर सात वर्षों से शिरोवेदना से पीड़ित एक सेठ को किसी ओषधि से संज्ञाहीन करके कपाल का भेदन करके उसमें से दो कृमियों को निकाल कर पुनः कपाल को सीकर कुछ दिनों में उसे स्वस्थ करके उससे सत्कार रूप में बहुत सा धन प्राप्त किया। उसके बाद राजाज्ञा से बनारस जाकर आन्त्रग्रन्थि (T. B. of Intestinal Glands) रोग से पीड़ित किसी सेठ के लड़के के पेट का भेदन करके उसको स्वस्थ किया। उस सेठ ने भी उसका धन द्वारा बहुत सत्कार किया। उसके बाद राजा की आज्ञा से उज्जयिनी के राजा प्रद्योत के पाण्डुरोग को घृत प्रयोग द्वारा शान्त करने के लिये

(१) १ से ४ तक की टि० उपो० संस्कृत पृ० २०-२१ देखें।

पहुंचा। घृत को न पीने की इच्छा वाले राजा को जब उसने कषायरूप से घृत का पान करा दिया तो उसे वमन हो गया। तब राजा के डर से पहले से ही तैयार की हुई हथिनी पर सवार होकर भागकर राजगृह लौट गया। औषध प्रयोग द्वारा वमन होने से स्वस्थ हुए राजा ने जीवक के लिये शिबि देश (शोरकोट-मध्य पंजाब) में होनेवाले मृगचर्म आदि की भेंट भेजी। फिर आनन्द तथागत की सूचना से रुग्ण हुए भगवान् बुद्ध को जीवक ने विरेचन के प्रयोग से स्वस्थ किया। प्रद्योत और बनारस के राजा द्वारा दिये हुए मृगचर्म, कम्बल आदि जीवक ने भिक्षुकों के लिये भगवान् तथागत को अर्पित कर दिया।

तिब्ब(१)तीय गाथाओं के अनुसार बिम्बसार द्वारा भुजिष्या में उत्पन्न हुए पुत्र को माता ने एक टोकरी में रखकर फेंक दिया। उस बालक का राजकुमार अभय ने पालन-पोषण किया इसलिये उसका नाम कुमारभृत (भृत्य) हो गया। वह भैषज्य विद्या का अभ्यास करके राजकुमार की आज्ञा से कपालभेदन आदि शल्यतन्त्र (Surgery) का विशेष ज्ञान प्राप्त करने के लिये तक्षशिला पहुंचा। वहां शल्यतन्त्र के परम विद्वान् आत्रेय से शिक्षा ग्रहण करके शल्यतन्त्र में अत्यन्त निपुण हो गया, तथा अपने गुरु आत्रेय से भी बढ़ गया। ई. प. ४५० में लिखित बुद्धघोषकृत धम्म(२)पद-व्याख्या में जीवक द्वारा ५०० भिक्षुकों सहित भगवान् बुद्ध के भोजन तथा बुद्ध के पादव्रण की चिकित्सा का निर्देश है। इसके अतिरिक्त सतीगुम्बजातक, संकिच्चजातक तथा चुल्ल(३)हंसजातक आदि में भी जीवक का निर्देश है।

उसने कभी अम्बपाली नामक उद्यान में एक विहार बनवाकर साढ़े बारह सौ (१२५०) भिक्षुओं के सहित बुद्ध को निमन्त्रित करके उसका सत्कार किया। राजगृह के श्रीगुप्त परिखा (मोहल्ला-बस्ती) में उसने किसी स्तूप का भी निर्माण किया था। इस जीवक ने बिम्बसार के पुत्र अजातशत्रु को बुद्ध के दर्शनों के लिये प्रेरित किया था। इत्यादि अन्य भी इस सम्बन्ध की बहुत सी आख्यायिकायें जातक आदि बौद्ध ग्रन्थों में मिलती हैं। इस विषय में बुद्ध(४) नामक पुस्तक में श्री Oldenberg नामक विद्वान् तथा श्री (५)गिरीन्द्रनाथ महोदय ने बहुत कुछ लिखा है। जीवक ने अपने घर के समीप श्रीगुप्त परिखा में एक उद्यान तथा बुद्ध का व्याख्यानचत्वर (व्याख्यान के लिये वेदी-आंगन) बनवाया हुआ था। गृहचत्वर, वृक्ष आदियों के अवशेष के चिह्न वहां आजतक भी विद्यमान हैं ऐसा विल(६) महाशय का कहना है।

उपर्युक्त वर्णन के अनुसार प्रसिद्ध जीवक नामक वैद्य बुद्ध तथा बिम्बसार के समकालीन आज से २५०० वर्ष पूर्व (ई० पू० ६००) हुआ प्रतीत होता है।

बौद्धग्रन्थोक्त जीवक का मगध देश के रहने वाले, बिम्बसार द्वारा भुजिष्या नामक वेश्या में उत्पन्न हुए तथा तरुण वैद्य के रूप में निर्देश किया गया है। उसने बाल्यावस्था के बाद तक्षशिला जाकर वहां के किसी आचार्य से सात वर्ष तक वैद्यविद्या का अध्ययन किया। उसके बाद महावग्ग के अनुसार बौद्धभिक्षुओं के सत्कर्ता वैद्य, तिब्बतीय कथा के अनुसार स्तूपनिर्माता और बाद में तथागत के सम्प्रदाय में प्रविष्ट हुए, तथा मज्झिम निकाय के अनुसार बुद्ध के शरणागत तथा उपासक होने की प्रतीति होती है। परन्तु काश्यप संहिता के अनुसार इस ग्रन्थ का आचार्य जीवक कनखलवासी, ऋचीक पुत्र, पांच वर्ष की अवस्था में भी वलि-पलित (झुर्रियों तथा सफेद बालों) के कारण वृद्ध प्रतीत होनेवाला, वेदवेदाङ्ग के ज्ञाता तथा आहिताग्नि कश्यप का शिष्य, महर्षियों द्वारा सत्कृत, अपने वंशोद्भव, शिवकश्यप के भक्त तथा वेदवेदाङ्ग के पण्डित प्रतिसंस्कर्ता, वात्स्य का पूर्वपुरुष तथा श्रुति एवं स्मृति के अनुकूल मार्ग का अनुयायी प्रतीत होता है।

बुद्ध सामयिक जीवक के भैषज्यसंबन्धी वृत्तान्त में राजगृह के सेठ के कपाल तथा वाराणसी के सेठ की आंतों के भेदन का उल्लेख मिलने से वह शल्यतन्त्र का विशेषज्ञ प्रतीत होता है न कि बालरोगों का। शल्यतन्त्र के विद्वान् के रूप में उल्लेख होने मात्र से ही उसकी बालचिकित्सा या अन्य चिकित्साओं में अनभिज्ञता थी, ऐसा मेरा अभिप्राय नहीं है। परन्तु जिस प्रकार शल्यतन्त्राचार्य सुश्रुत का अन्य विषयों के ज्ञान के निर्देश होने पर भी उसकी शल्यतन्त्र के विषय में ही प्रसिद्धि है उसी प्रकार यदि यह भी बालकों के रोगों का विशेषज्ञ था तो तद्विषयक वृत्तान्त अवश्य मिलना चाहिये परन्तु ऐसा नहीं मिलता है। परन्तु इस ग्रन्थ के आचार्य जीवक को तो प्रारम्भ से ही बालरोगों का मुख्यरूप से अनुभव होने से यह स्पष्ट रूप से बालतन्त्र का आचार्य प्रतीत होता है।

बुद्ध के समय काश्यप तथा जीवक की ऐतिहासिक समकालीनता मिलने के कारण इस ग्रन्थ में साथ २ आये हुए कश्यप तथा जीवक दोनों बुद्ध के समकालीन तथा बौद्ध ग्रन्थों में आये हुए हैं, ऐसी कल्पना भी उचित नहीं है क्योंकि काश्यप तीनों भाइयों में ज्येष्ठ था तथा वह दार्शनिक और याज्ञिक था। महावग्ग में उसके विषय में मिलता है कि उरुविल्व ग्राम में बुद्ध ने उसे बौद्धधर्म में दीक्षित किया था फिर उसे देखकर बिम्बसार ने भी बौद्धमत को स्वीकार कर लिया। उसके दार्शनिक होने का उल्लेख मिलता है इस प्रकार उसका न तो वैद्य के रूप में न कौमारभृत्याचार्य के रूप में तथा न मरीचि के पुत्र रूप में ही उल्लेख मिलता है। बौद्ध ग्रन्थोक्त जीवक का तिब्बतीय कथाओं के अनुसार भी तक्षशिला स्थित आत्रेय से अध्ययन का उल्लेख मिलता है न कि मगधदेशीय काश्यप से। इस प्रकार बौद्धकाश्यप एवं कश्यप में बहुत सी असमानतायें होने से तथा केवल नाम मात्र की समानता से ही जीवक के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता।

इसके अतिरिक्त बौद्धकालीन जीवक का कुमार द्वारा पालन किया जाने के कारण पालीभाषा के अनुसार कुमारभच्च तथा इस ग्रन्थ के आचार्य का कुमार (बाल) रोगों के आचार्य होने के कारण कौमारभृत्य होने से भी दोनों एक नहीं हो सकते क्योंकि आयुर्वेद के प्राचीन आठ विभागों में से एक विभाग बालचिकित्सा संबन्धी कौमारभृत्य है उसके ज्ञाता तथा उपदेशक कौमारभृत्य कहलाते हैं। इस प्रकृतग्रन्थ का **'कौमारभृत्यमष्टानां तन्त्राणामाद्यमुच्यते'** **'कौमारभृत्यमतिवर्धनमेतदुक्तम्'** इत्यादि ग्रन्थ लेख तथा **'काश्यपीयसंहितायां कौमारभृत्ये'** इस पुष्पिका लेख से कौमारभृत्य

(१) १ से ६ तक की टि० उपो० संस्कृत पृ० २१-२२ देखें।

विषयक तथा **'कौमारभृत्यास्त्वपरे जङ्गमस्थावराश्रयात्। द्वियोनिं ब्रुवते धूपं कश्यपस्य मते स्थिताः'** तथा भिषक्कौमारभृत्यस्तैः इत्यादि वाक्यों द्वारा इस ग्रन्थ के आचार्य कश्यप तथा अन्य वैद्यों का कौमारभृत्यत्व प्रकट होता है। इसके विपरीत बुद्धकालीन जीवक के लिये तो बौद्धग्रन्थों में कुमार अभय द्वारा पालन किया जाने के कारण विद्याध्यन से पूर्व ही कुमारभृत्य शब्द से निर्देश किया गया है, कुमारभृत्य के ज्ञाता के रूप में उसका निर्देश नहीं है। यदि ऐसा होता तो बालचिकित्सा तथा उसके ज्ञाता दोनों का निर्देश क्यों नहीं है। इसके अतिरिक्त यह भी नहीं कहा जा सकता कि कुमार द्वारा पालित जीवक की विशेष विद्या के कारण ही इस प्रस्थान (विभाग) का नाम कौमारभृत्य है क्योंकि प्राचीनकाल से ही इस प्रस्थान का यह नाम सुश्रुत, नावनीतक आदि में मिलता है। तथा न केवल जीवक अपितु किसी भी कुमार द्वारा न पाले गये, पार्वतक बन्धक आदि का भी कौमारभृत्याचार्य के रूप में उल्लेख मिलता है। इस तन्त्र के आचार्य के बौद्धत्व का भी कहीं निर्देश नहीं है। बौद्धविद्वान् की वाणी अथवा लेखनी द्वारा अन्तःकरण से निकली बौद्ध छाया भी इस ग्रन्थ में कहीं भी नहीं मिलती है। इससे प्रतीत होता है कि बौद्धग्रन्थोक्त जीवक तथा इस तन्त्र के ा ' वृद्धजीवक में बहुत ही भेद है।

जैन ग्रन्थों में आये हुए उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी पद यहां मिलते हैं तथा जैन इतिहास के पर्यालोचन में जीवक नाम के एक प्रसिद्ध पुरुष का उल्लेख मिलता है जिसके श्रुतन्धर राजकुमार, जीवन्धर तथा जीवस्वामी नाम भी हैं। जिसका महापुराण, जीवन्धरचरित्र तथा गद्यचिन्तामणि आदि जैनग्रन्थों में भी वर्णन मिलता है। उस राजकुमार ने अपने पिता की नगरी से निकलकर अपने बाहुबल से शत्रुओं का संहार करके राजपद को प्राप्त किया तथा जैनधर्म स्वीकार किया। अपने द्वारा उपकृत एक गन्धर्व से प्राप्त विषहरण मन्त्र के प्रभाव से इसमें स्पर्शमात्र से विषापहरण शक्ति का निर्देश मिलता है। इस प्रकार इसका न तो वैद्य विद्या के आचार्यत्व का और न कौमारभृत्य के ज्ञाता होने का ही निर्देश मिलता है।

इस वृद्धजीवकीय तन्त्र में वैदिक(१) धर्म से अनुप्राणित अनेक विषय तथा लेख मिलते हैं। इस प्रकार इस ग्रन्थ का आचार्य बौद्ध तथा जैनग्रन्थों में आये हुए जीवक से भिन्न अन्य ही कोई प्राचीन ऋचीक का पुत्र वृद्धजीवक है। ऐसा इस ग्रन्थ से ज्ञात होता है।

वात्स्य निरूपण—इस संहिता के कल्पाध्याय के लेख से यह ज्ञात होता है कि वृद्धजीवकीय तन्त्ररूप में आई हुई तथा काल प्रवाह से लुप्त हुई इस काश्यपसंहिता को अनायास नाम के यक्ष से प्राप्त करके जीवक के वंशवाले, वेदवेदाङ्ग के पण्डित तथा शिवकश्यप के भक्त वात्स्य नामक किसी विद्वान् ने पुनः संस्कृत करके प्रकाशित किया। इस वर्णन से यह जिज्ञासा होती है कि यह वात्स्य कौन है तथा किस समय हुआ है? इसके विषय में निम्न उल्लेखनीय है।

वत्स गोत्र में उत्पन्न हुए अर्थ के अनुसार वात्स्य यह केवल कुल का नाम है। जीवक का भार्गव के रूप में उल्लेख होने से तथा वत्स के भृगु कुल में उत्पन्न होने का निर्देश होने से जीवकवंश में होने वाले इस प्रतिसंस्कर्ता का वात्स्य होना उचित है। वंश ब्राह्मण आदि में भी **'वात्स्याद्वात्स्यः'** इस प्रकार वात्स्य का उल्लेख मिलता है। वंशब्राह्मण में वंश नाम से उल्लिखित यही है या कोई दूसरा यह नहीं कहा जा सकता। इस प्रतिसंस्कर्ता वात्स्य का क्या नाम है तथा जीवक की कौन सी सन्तति (पीढ़ी) में यह हुआ है, इस विषय में विशेष कुछ नहीं मिलता है। अनायास नामक यक्ष को प्रसन्न करके उससे इस तन्त्र की प्राप्ति का वर्णन करने से यह प्रतिसंस्कर्ता यक्षजाति की विद्या समृद्धि के समय अपना सत्त्व (होना) प्रकट करता है। यक्ष जातियां प्राचीनकाल से प्रसिद्ध थीं। यक्षों के साथ भारतीयों का परिचय तथा सम्पर्क भी प्राचीन ही है। यक्षों के सम्प्रदाय को बौद्धधर्म से प्राचीन बतलाते हुए श्रीयुत कुमार*स्वामी ने यक्षों के विषय में बहुत विवेचन किया है। यह सम्प्रदाय पीछे से बौद्ध तथा जैन सम्प्रदाय के अन्दर मिल गया। प्राचीन बौद्ध तथा जैन ग्रन्थों में भी यक्षों का निर्देश मिलता है। बुद्ध के समय भी भारत में यक्षों की पूजा प्रचलित थी। भारत में इधर उधर यक्षों की प्राचीन मूर्तियां भी मिलती हैं। न केवल भारत में अपितु रमठ, जागुड, बाह्लीक आदि सीमाप्रान्त के प्रदेशों में भी प्राचीन समय से यक्षों की पूजा का निर्देश मिलता है। किसी की भी अपने जीवन काल में देवता की तरह पूजा नहीं की जाती। बल, वीर्य, विद्या आदि द्वारा समृद्ध जाति का कुछ समय बाद ही देवताओं की तरह पूजा एवं सम्मान सम्भव है। वात्स्य ने जिस यक्ष से इस विलुप्त तन्त्र को प्राप्त किया था उस अनायास नामक यक्ष के विषय में विचार करने पर एक स्थान पर उसका नाम मिलता है। आजकल पञ्चरक्षा नामक एक बौद्ध ग्रन्थ मिलता है उसके चीनी भाषा में भी बहुत से अनुवाद हुए हैं। जिनमें से एक अनुवाद ई. प. ३१७ से ३२२ में मध्यएशिया निवासी कुचभिक्षु पोश्रीमित्र ने किया है ऐसा निर्देश मिलता है। इस भारतीय ग्रन्थ का इतने दूर तथा उस समय में हुआ अनुवाद उसके रचनाकाल को और भी प्राचीन सिद्ध करता है। उस ग्रन्थ में भी लगभग २०० यक्षों का निर्देश है। तथा भिन्न २ देशों के रक्षकों के रूप में वैश्रवण (कुबेर) आदि यक्षाधिपों की आराधन विधि, उनके आराधन से वातिक, पैत्तिक तथा श्लैष्मिक रोगों की निवृत्ति, वैद्य, गर्भ के बालकों के रोग तथा बालग्रहों की पूजा आदि का उल्लेख है। उसी ग्रन्थ में महामायूरी विद्या के प्रकरण में रमठ देश के रक्षक के रूप में रावण का निर्देश है। मन्त्र विद्या द्वारा रोगनिवृत्ति के रूप में रावण का अन्यत्र भी उल्लेख मिलता है। मान्त्रिक प्रक्रिया द्वारा बालकों की चिकित्सा विषयक प्राचीन रावणतन्त्र भी मिलता है। पञ्चरक्षा के महामायूरी विद्या के प्रकरण में अमुक २ देश के पूज्य यक्षों का निर्देश करते हुए **'कौशाम्ब्यां चाप्यनायासो भद्रिकायां च भद्रिकः'** इत्यादि वाक्य द्वारा कौशाम्बी (कोसम-इलाहाबाद के पास) के रक्षक रूप से अनायास नामक यक्ष का निर्देश मिलता है। कौशाम्बी बुद्ध के समय भी प्रसिद्ध थी। इस प्रकार उस लेख के द्वारा उस समय भी पूज्य श्रेणी में निर्दिष्ट अनायास यक्ष को बहुत प्राचीन होना चाहिये। बुद्ध के समय भी पूज्य मानी गई यक्ष जाति के पूर्व समय में विद्यमान अनायास से

(१) १ की टि० उपो० संस्कृत पृ० २२ देखें।

* उसके यक्ष संबन्धी लेख से तुलना कीजिये।

वात्स्य द्वारा इस तन्त्र की प्राप्ति का वर्णन मिलने से वात्स्य भी बुद्ध से पूर्व प्रतीत होता है। एक प्राचीन पुस्तक में महामायूरी विद्या के उपसंहार में **'आर्यमहामायूरी विद्या विनष्टा यक्षमुखात् प्रतिलब्धा'** इस उल्लेख से यक्षों द्वारा भी विद्या का सम्प्रदाय (परम्परा) मिलता है। इससे अनायास नामक यक्ष से भी इस तन्त्र की प्राप्ति संगत ही है। इसके अतिरिक्त आत्रेय गार्ग्य, शौनक आदि के समान आर्ष नाम से भी यह वात्स्य प्राचीन ही प्रतीत होता है। वेद-वेदाङ्ग के पण्डित तथा शिवकश्यप के भक्त रूप से निर्देश मिलने से यह वात्स्य वेदमार्गानुयायी भी प्रतीत होता है।

यहां यह एक विचारणीय प्रश्न है कि इस वृद्धजीवक तन्त्र के शारीरिक स्थान में काल का निरूपण करते हुए आदियुग, देवयुग तथा कृतयुग द्वारा तीन में विभक्त किया हुआ उन्नतावस्था रूप शुभ काल को उत्सर्पिणी शब्द से, त्रेता, द्वापर तथा कलि द्वारा तीन में विभक्त किये हुए अवनत्यवस्थारूप अशुभ काल को अवसर्पिणी शब्द से उत्तरोत्तर क्षीण होते हुए शारीर समूहों को नारायण आदि शब्दों से तथा आयु के मान को पलितोपम शब्द द्वारा व्यवहृत किया गया है। इस ग्रन्थ के इस अंश में निर्दिष्ट युगभेद से न कभी सुना गया, न कभी देखा गया तथा अद्भुत शारीरविन्यास की विचित्र गर्भावस्था, विकासवाद तथा अवनतिवाद में से किस सिद्धान्त के आधार पर है यह विचारणीय है। इस प्रक्रिया से पूर्णरूप से न मिलने पर भी चरक विमा(१)न स्थान तृतीयाध्याय में कृतयुग का आदि कालरूप अवान्तर विभाग करके शारीरसंहनन तथा आयु के मान आदियों की भी यथोत्तर अवनति का निर्देश मिलता है। उसकी व्याख्या(२) में चक्रपाणि ने यथापूर्व उत्कर्षवाद तथा यथोत्तर अपकर्षवाद सूचक व्यास के वचनों को उद्धृत किया है। इस प्रकार उत्कर्ष तथा अपकर्ष के तारतम्य का निर्देश श्रुति तथा स्मृति के अनुयायी सम्प्रदायों में भी अंशरूप में मिलता है। श्रीजाकोबी(३) ने भी 'इनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड इथिक्स भाग १ के पृष्ठ २०२ पर इस प्रक्रिया को पुराणसंमत बताया है।

महापुराण, कर्मप्रकृति तथा जीवसमासवृत्ति आदि जैनग्रन्थों में उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी कालविभाग, वज्र आदि शारीरसंहनन के भेद तथा पल्योपम आदि आयु के मानों के मिलने पर भी उसमें वज्र, ऋषभ, नाराच आदि ६ प्रकार के शारीर संहनन तथा आयु के मान का पल्योपम तथा सागरोपम शब्दों द्वारा निर्देश मिलने से तथा इस वृद्धजीवकीय तन्त्र में नारायण, अर्धनारायण, कौशिक तथा प्रज्ञप्तिपिशितरूप चार प्रकार के शारीर संहनन तथा आयु के मान का भी पलितोपम शब्द द्वारा निर्देश होने से विषय की थोड़ी बहुत छाया के मिलने पर भी पूर्णरूप से समानता नहीं है।

बाह्य (वेदों से बाह्य-वेदविरुद्ध) सम्प्रदायों के समान श्रौत-सम्प्रदाय के भी बहुत से प्राचीन ग्रन्थ विलुप्त हो गये हैं। पूर्व सम्प्रदायों के प्रसिद्ध शब्दों को पीछे के सम्प्रदायों द्वारा लिये होने पर भी पूर्वसम्प्रदाय के ग्रन्थों के न मिलने से बाद में जहां ये शब्द मिलते हैं उन्हीं के प्रतीत होने लगते हैं। ग्रन्थ के पूर्वापर

(१) १ से ३ तक की टि० उपो० संस्कृत पृ० २३ देखें।

पर्यालोचन करने पर भी इस लेशमात्र विषय के अतिरिक्त इस ग्रन्थ में जैन एवं बौद्ध आध्यात्मिक अथवा अन्य कोई ऐसी प्रक्रिया नहीं मिलती है। प्रत्युत जिस अध्याय में उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी शब्दों का निर्देश है वहीं अगले वाक्यों में ही समुदय कारणों (सृष्टि की उत्पत्ति) का उल्लेख करते हुए अव्यक्त, महत् आदि के क्रम से सांख्यदर्शन के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति के मिलने से तथा इसके आगे गर्भावक्रान्ति अध्याय में श्रौतदर्शनों के अनुकूल ईश्वर के गुणों से युक्त सर्वगत संसारी जीवों का निर्देश मिलने से यह उन्नत, अवनत तथा शुभ, अशुभ काल, शारीरसंहनन तथा आयु के मान आदि का उल्लेख भी प्राचीन श्रौत एवं स्मार्त सम्प्रदायों के अनुसार ही प्रतीत होता है। तथापि उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी शब्दों के उपलब्ध श्रौत-स्मार्त ग्रन्थों में कहीं भी न मिलने तथा जैनग्रन्थों में इनके बाहुल्य से मिलने से, तथा नाम और संख्या का विभेद होने पर भी संहनन आदि के भी उन्हीं जैन ग्रन्थों में मिलने से इस संहिता के इस अंश में जैन सम्प्रदाय के विषय की झलक मिलती ही है। यहां आया हुआ आयु का मानसूचक पलितोपम शब्द भी जैन ग्रन्थों के पल्योपम शब्द का अपभ्रंश प्रतीत होता है। सेण्ट पीटर्सबर्ग बृहत्कोश तथा जैकोबी के इनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड इथिक्स—भाग १ के पृष्ठ २०२ में भी ये शब्द जैनसम्प्रदाय के ही बतलाये हैं। अभिधान राजेन्द्र नामक जैन बृहत्कोश में भी इन शब्दों का अर्थ उसी सम्प्रदाय के अनुसार किया है। श्रीमती स्टीवेन्सन ने भी 'दी हार्ट आफ जैनिज्म' नामक पुस्तक के पृ. २७२-७६ पर जैन सम्प्रदाय के विषयों को लेकर उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी शब्दों का कालपरक अर्थ किया है। (१)हार्डी नामक विद्वान् ने भी बौद्ध सम्प्रदाय के लेख में इस विषय का निरूपण किया है। इस प्रकार जैन सम्प्रदाय के विषयों की लेशमात्र छाया भी इसे जैन सम्प्रदाय के उद्गम के बाद का सिद्ध करती है। किन्तु जैन सम्प्रदाय में महावीर तथा बुद्ध सम्प्रदाय में गौतमबुद्ध के विशेष प्रसिद्ध होने से आचार्य प्रतीत होने पर भी उन्हीं के ग्रन्थों में महावीर से पूर्ववर्ती पार्श्वनाथ आदि २३ तीर्थङ्करों का और गौतमबुद्ध के पूर्ववर्ती कनकमुनि आदि का उल्लेख होने से तथा अशोक द्वारा गौतम बुद्ध के पूर्ववर्ती कनकमुनि के स्तूप के जीर्णोद्धार(२)सम्बन्धी शिलालेख तथा स्तूप की प्राप्ति से प्राचीन काल में भी इन सम्प्रदायों का इसी रूप में या थोड़े अन्तर के साथ होना प्रकट होता है। इस प्रकार जैन सम्प्रदाय का महावीर द्वारा तथा बौद्धसम्प्रदाय का गौतमबुद्ध द्वारा प्रारम्भ किये जाने विषयक इतिहास आज भी अधूरा है। प्राचीन काल में भी वेदविरुद्ध मतानुयायियों का सत्त्व दीघनि(३)काय ग्रन्थ के लेख से स्पष्ट है। उपनिषदों में भी तद्विषयक आक्षेप के मिलने से उनका सत्त्व प्रकट होता है। अस्तिनास्तिदिष्टं मतिः (४.४.६०) इस सूत्र द्वारा पाणिनि ने भी दोनों (वेदमतानुयायी तथा वेदविरुद्धमतानुयायी) सम्प्रदायों का होना सूचित किया है। जैन ग्रन्थों के अनुसार पार्श्वनाथ आदि पूर्व आचार्यों में परस्पर बहुत व्यवधान के होने से पल्योपम, सागरोपम आदि शब्द वाचक संख्या की महत्ता से तथा आर्हत सम्प्रदाय की पूर्व परम्परा के अत्यन्त दीर्घ होने से

(१) १ से ३ तक की टि० उपो० संस्कृत पृ० २४ देखें।

उत्सर्पिणी आदि शब्द आर्हत (जैनसाम्प्रदायिक) होते हुए भी संभवतः महावीर से पूर्व समय से ही प्रसिद्ध हैं अथवा उपलब्ध श्रौतस्मार्त ग्रन्थों में न मिलने पर भी संभवतः प्राचीन विलुप्त ग्रन्थों में इनका व्यवहार आया हुआ हो। इस अवस्था में महावीर से पूर्व इन शब्दों का इस ग्रन्थ में अनुप्रवेश होने से इसमें अर्वाचीन विषयों की शङ्का नहीं होनी चाहिये।

रेवती कल्पाध्याय में मातङ्गी विद्या के प्राकृत शाबर शब्द से बने केयूर शब्द युक्त मन्त्र का निर्देश है। मातङ्गी का उल्लेख दक्षिणाम्नाय (दाक्षिणात्य वैदिक सम्प्रदाय की तरह बौद्धसम्प्रदायों में भी मिलता है। इतने मात्र से ही इसे बौद्धविद्या नहीं कहा जा सकता। यहीं रेवती कल्पाध्याय में ही इस विद्या के उपक्रमस्वरूप वैदिक यज्ञ का निर्देश करके **'मातङ्गी नाम विद्या ब्रह्मर्षिराजर्षिसिद्धचारणपूजिताऽर्चिता मतङ्गेन महर्षिणा कश्यपपुत्रेण कनीयसा महता तपसोग्रेण पितामहादेवासादिता'** द्वारा स्पष्ट रूप से इसकी उत्पत्ति श्रौतसम्प्रदायों से बतलाकर वैदिक पद्धति से ही इसके विधान को पूरा किया है। इस प्रकार सम्भव है कि मताङ्गी विद्या पीछे से बौद्धग्रन्थों में भी कहीं मिलती हो। परन्तु यह विद्या प्राचीन वैदिक सम्प्रदाय में भी विद्यमान थी। इसलिये इस ग्रन्थ में आया हुआ मताङ्गी शब्द बौद्ध विद्या की शङ्का उत्पन्न नहीं करता। **श्टाइन नामक** विद्वान् द्वारा तुङ्हाङ् प्रदेश (चीन की उत्तर पश्चिमी सीमा पर) से उपलब्ध प्राचीन ग्रन्थ में भगवान् बुद्ध के जीवक के प्रति दिये गये उपदेश में बावर मैनुस्क्रिप्ट गत नावनीतक के साथ वाले ग्रन्थ में तथा पञ्चरक्षा आदि बौद्ध ग्रन्थों में भी प्राकृत भाषा के शब्दों से युक्त मन्त्र व्यवहार के दिखाई देने से ८४ सिद्ध नाथ आदि के समय से पूर्व समय में भी प्राकृत शब्दों से युक्त मन्त्रों का व्यवहार विद्यमान था। इसलिये मन्त्रों में प्राकृत शब्दों के प्रवेश मात्र से कुछ नहीं कहा जा सकता।

इसके अतिरिक्त रेवती कल्पाध्याय में जातहारिणियों (उत्पन्न हुए को नष्ट करनेवाली) का निर्देश करते हुए भिक्षुणियों के लिये श्रमणिका तथा निर्ग्रन्थी शब्द का उल्लेख किया है। यद्यपि श्रमण शब्द बौद्ध एवं पीछे के अन्य विद्वानों द्वारा बौद्ध भिक्षुकों के लिये ही प्रयुक्त किया गया है तथा महाभाष्यकार द्वारा **'येषां च विरोधः शाश्वतिकः'** (२. ४. ९) इस सूत्र में शाश्वतिक विरोध स्वरूप **'श्रमणब्राह्मणम्'** यह उदाहरण दिया होने से बौद्धों तथा ब्राह्मणों के परस्पर संघर्ष को लेकर श्रमण शब्द बौद्धभिक्षु परक ही प्रतीत होता है तथापि उससे पूर्व पाणिनि द्वारा भी **'कुमारः श्रमणादिभिः'** सूत्र में श्रमण शब्द का उल्लेख होने से बौद्ध तथा जैन सम्प्रदायों के उदय के पश्चात् ही यह शब्द आया है—ऐसा नहीं कहा जा सकता। श्रमण शब्द शारीरिक क्लेश आदि द्वारा उत्पन्न हुए श्रम (थकावट) के अनुसार वैखानस(१) सूत्र में तृतीय आश्रमवाले (वानप्रस्थी) के अर्थ में, बृहदारण्यक(२) में त्यागी भिक्षु के रूप में तथा तैत्तिरीयारण्यक(३) और रामायण(४) आदि(५) अनेक प्राचीन ग्रन्थों में भिक्षु एवं तपस्वियों के लिये प्राचीन काल से ही प्रयुक्त होता हुआ मिलता है। श्रमण शब्द प्राचीन काल से ही व्यवहृत होता आ रहा है ऐसा श्री चिन्तामणि(१) वैद्य ने अपनी पुस्तक में लिखा है।

(१) १ से ५ तक की टि० उपो० संस्कृत पृ० २५ देखें।

निर्ग्रन्थ शब्द का अनुसन्धान करते हुए हम देखते हैं कि दिग्घ(२)निकाय में उस समय प्रचलित अन्य सम्प्रदायों की श्रेणी में प्रस्थानान्तरीय तथा प्रतिपक्षरूप से निर्दिष्ट किसी व्यक्ति का निग्गन्थनाथपुत्त (निर्ग्रन्थनाथ पुत्र) शब्द से उल्लेख किया गया है। कुछ विद्वानों का कथन है कि निर्ग्रन्थ शब्द जैन भिक्षुओं के लिये प्रसिद्ध होने से तथा उस समय महावीर के संभावित प्रतिपक्षी के रूप में मिलने से निर्ग्रन्थनाथ पुत्र शब्द से महावीर का निर्देश किया गया है। किन्तु महावीर के निर्ग्रन्थनाथ पुत्र होने से उसका पिता या आचार्य निर्ग्रन्थनाथ हुआ। इसमें नाथ पद के होने से उसके पिता के समय भी निर्ग्रन्थों की प्रसिद्धि तथा बहुलता होनी चाहिये। इस प्रकार प्रतीत होता है कि निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय महावीर से ही प्रारम्भ नहीं हुआ है अपितु उससे पूर्व भी प्रचलित था। श्री विन्टरनीज(३) नामक विद्वान् ने भी निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय को महावीर से पूर्व का बतलाया है। जैन ग्रन्थों में महावीर से पूर्व आदिनाथ पार्श्वनाथ आदि का भी आचार्यरूप में उल्लेख मिलने से तथा आजतक भी पूर्व तीर्थङ्कररूप में जैन सम्प्रदाय में उनका सम्मान होने से प्रतीत होता है कि इस जैन सम्प्रदाय का महावीर द्वारा विशेष विकास किया जाने से पीछे से उसकी प्रधान आचार्य रूप में प्रसिद्धि होने पर भी निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय ही जैन सम्प्रदाय होता हुआ पूर्व तीर्थङ्कर परम्परा द्वारा ही प्रारम्भ हुआ प्रतीत होता है। जैनों द्वारा अपने सम्प्रदाय के भिक्षुओं के अर्थ में प्रयुक्त किया जाने पर भी निर्ग्रन्थ शब्द निवृत्तहृदय ग्रन्थिरूप निरुक्ति के अनुसार विवेक एवं ज्ञान की श्रेणी में आरूढ़(४) का बोध कराने वाले तथा हृदय की (५) ग्रन्थियों के खुलजाने रूप आध्यात्मिक अर्थ में आस्तिक (वैदिक) सम्प्रदाय के ग्रन्थों में भी अत्यन्त प्राचीन काल से प्रयुक्त हुआ दीखता है।

पूर्व समय से प्रसिद्ध इन शब्दों को देखकर ही बौद्ध तथा जैनों ने श्रमण तथा निर्ग्रन्थ शब्दों का पीछे से अपने २ सम्प्रदाय के भिक्षुओं के लिये प्रयोग किया प्रतीत होता है। भाषा विज्ञान की दृष्टि से काल प्रवाह से घटिका शब्द की तरह प्राचीन शब्दों का भी रूपान्तर या अर्थान्तर में प्रायः प्रयोग होता देखा गया है। उदाहरणार्थ बोधायन, आश्वलायन, वराह, आपस्तम्ब आदि प्राचीन एवं प्रमुख सूत्रकारों द्वारा श्रौत एवं स्मार्त यज्ञभूमि के अर्थ में प्राचीन ग्रन्थों में स्थान २ पर प्रयुक्त किया जाता हुआ विहार(६) शब्द बौद्धों द्वारा बौद्धभिक्षुकसंघ के निवास स्थान के रूप में, तथा श्मशान में स्थित चित्त के अभीष्ट देवता, पीपल, मन्दिर, क्षेत्रज्ञ आदि अर्थों में प्रयुक्त होने वाला चैत्य(७) शब्द पीछे से स्तूप के लिये प्रयुक्त होने लगा है। प्राचीन काल में तप, ज्ञान तथा अवस्था में वृद्ध व्यक्ति के लिये प्रयुक्त किया जाने वाला स्थविर(८) शब्द भी बौद्धों द्वारा श्रेष्ठ तथा विशेष विद्वान् के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। इस प्रकार अर्वाचीनता के प्रेमी इन विहार आदि शब्दों को भी बौद्ध साम्प्रदायिक कह सकते हैं परन्तु केवल इतने मात्र से प्राचीन

(१) १ से ८ तक की टि० उपो० संस्कृत पृ० २५-२६ देखें।

व्यवहार को बिना देखे इन्हें अर्वाचीन कहना उचित नहीं है। इसी प्रकार यहाँ आये हुए श्रमण, निर्ग्रन्थ आदि शब्द भी प्राचीन तपस्वियों के ही सूचक हैं।

यहां आये हुए लिङ्गिनी, परिव्राजिका, श्रमण का निर्ग्रन्थी, कण्डिनी, चीरवल्कलधारिणी, चरिकी, मातृमण्डलिकी तथा अवेक्षणिका आदि मधुकरी वृत्ति द्वारा घर २ जाकर अपने सम्पर्क से जातहारिणी का प्रचार करती हुई नाना भिक्षुणियों के श्रेणी में निर्दिष्ट भेदों में से परिव्राजिका, श्रमणका तथा निर्ग्रन्थी को छोड़कर अन्य कोई भी भेद प्राचीन दूसरे ग्रन्थों या सम्प्रदायों में आजकल नहीं मिलता है। अर्वाचीन ग्रन्थों में आये हुए हंस, परमहंस, कुटीचक, बहूदक आदि भेदों को न देकर केवल इन कालप्रवाह से विलुप्त सम्प्रदायों का ही दिया जाना इन उपर्युक्त भेदों को प्राचीन ही सिद्ध करता है।

वहीं रेवती कल्पाध्याय के जातहारिणी के प्रकरण में सिंहल (लङ्का) तथा उड्र (उड़ीसा) आदि देश तथा सूत, मागध आदि जातियों का उल्लेख मिलता है। वहां खश, शक, यवन, पल्हव, तुषार कम्बोज आदि का उल्लेख भी है, यवन की तरह खश आदि शब्द भी मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में मिलते हैं, ऐतिहासिक विद्वान् भी इन जातियों को प्राचीन मानते हैं। (Encyclopedia Britanica) नामक पुस्तक में हूणों का चतुर्थ शताब्दी (ई. प. ३७२) में यूरोप प्रवेश का उल्लेख मिलने पर भी २५०० वर्ष प्राचीन अवेस्ता ग्रन्थ में हूनु (हूण) जाति का प्रतिपक्षी जाति के रूप में वर्णन मिलने से तथा जरथुष्ट्र से भी पूर्ववर्ती केरसप (**Kerasop**) नामक इरान देश के राजा द्वारा उस जाति की विजय का उल्लेख मिलने से हूणों का समय (ई. पू. ७००) है ऐसा मोदी(१) महोदय ने प्रतिपादित किया है। महाभारत(२) में भी हूण, पल्हव, यवन, शक, पुण्ड्र, किरात, द्रविड, खश आदियों का उल्लेख मिलता है। **'गर्गादिभ्यो यञ्'** (४-१-१०५) इस सूत्रोक्त गण में शक, **'इन्द्रवरुणेति'** (४-१-४९) सूत्र में यवन तथा **'कम्बोजाल्लुक्'** (४-१-१७५) इस सूत्रोक्त वार्तिक के कम्बोजादि गण में शक, यवन आदि का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार इन शब्दों का पूर्वकाल में भी प्रसिद्ध होना स्पष्ट है।

इस ग्रन्थ के प्रत्येक अध्याय में **'अमुकाध्यायं व्याख्यास्यामः'** द्वारा प्रारम्भ करके **'इति ह स्माह भगवान् कश्यपः'** द्वारा समाप्ति, शिष्योपक्रमणीय अध्याय में शब्द तथा अर्थ में वैदिक विधान द्वारा शिष्यों का उपनयन और अग्नि, सोम, प्रजापति आदि वैदिक देवताओं का स्वाहाकार, जाति सूत्रीयाध्याय में वैदिक वाक्य रचना, हीनदन्तोद्भेद में मारुती इष्टि तथा स्थालीपाक होम का विधान, पुत्रोत्पत्ति के नाना विधानों में अन्य सबको छोड़कर इष्टि (पुत्रेष्टि) का विधान, स्वप्नदोष को दूर करने के लिये सावित्री होम का विधान, शिशु रक्षा के लिये प्रयुक्त होने वाले धूप में **'अग्निस्तु'** आदि वैदिक वाक्य का प्रयोग, रेवती कल्पाध्याय में ब्राह्मणग्रन्थों के अनुसार ऐतिहासिक वाक्य तथा वहीं वसु, रुद्र, आदित्य आदि देवताओं का कीर्तन तथा **'दीर्घजिह्वी च छन्दसि'** (४-१-५९) पाणिनि के इस सूत्र के अनुसार वैदिक प्रयोग में आये हुए ङीप् प्रत्यय युक्त दीर्घजिह्वी का उल्लेख, भोजन कल्पाध्याय में काशी, पुण्ड्र, अङ्ग, (पूर्वीबिहार) वङ्ग (बङ्गाल) काच, सागर, अनूप, कोशल (अवध) तथा कलिङ्ग (उड़ीसा) देश का तथा देशसात्म्याध्याय में कुमारवर्त, निकटिवर्ष, ऋषभद्वीप, पौण्ड्रवर्धन, मृत्तिका, वर्धमान आदि बहुत से प्राचीन देशों का कीर्तन करके इनसे अधिक प्रसिद्ध पाण्ड्य (उत्तरी मद्रास) का निर्देश न करना, बाह्लीकभिषग् का उल्लेख होने पर भी यवन तथा रोम के भिषजों का उल्लेख न होना, राजतैल की प्रशस्ति में इक्ष्वाकु, सुबाहु, सगर, नहुष, दिलीप, भरत तथा गय पर्यन्त प्राचीन राजाओं का ही उल्लेख करना, रस धातु तथा रत्नों के औषधिरूप में व्यवहार का कहीं न मिलना, समुदय कारण (सृष्टि उत्पत्ति) के उल्लेख में प्राचीन सांख्य दर्शन के अनुसार ही अष्टप्रकृति तथा षोडश विकारों का निर्देश होना, परन्तु बौद्ध तथा जैनों के अध्यात्मवाद का न मिलना तथा **'दीक्षाग्नयो घस्मराः स्नेहनित्याः'** तथा **'क्षीरं सात्म्यं क्षीरमाहुः पवित्रम्'** इत्यादि वैदिक छन्द एवं पद्यों का दर्शन आदि बहुत से प्राचीनता को सिद्ध करने वाले प्रमाणों के मिलने से यह वृद्धजीवकीय तन्त्र अत्यन्त प्राचीन प्रतीत होता है। हेमाद्रि आदि में पुराणों के अनुसार आरोग्यशाला के निर्माण का विधान होने पर भी आजकल के विद्वान् उसके निश्चय के लिये उसके अनुरूप शिलालेख तथा देशान्तरीय और मतान्तरीय लेखों की अपेक्षा रखते हैं—इसके अनुसार प्रामाणिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से आलोचना करते हुए हम देखते हैं कि २३०० वर्ष पूर्व अशोक द्वारा सर्वसाधारण के लिये चिकित्सालय के उद्घाटन के मिलने तथा कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी दुर्ग बनाते हुए उसमें भैषज्य गृह के बनाने का उल्लेख मिलने पर भी, चरक आदि में रसायनशाला का निर्देश होने पर भी सर्वसाधारण के लिये आरोग्यशाला का निर्देश न होना तथा उसी के अनुरूप इस संहिता के कल्पाध्याय में भी रसायनशाला तथा उस प्रकार के चिकित्सालय आदि के निर्माण का न मिलना, अपितु इससे विपरीत रोगी के घर जाकर वैद्य द्वारा ओषधि का विधान बतलाना, इत्यादि द्वारा भी इस ग्रन्थ का निर्माण प्राचीन ही सिद्ध होता है। कश्यप के साथ वृद्धजीवक का उत्तर प्रत्युत्तर रूप में निर्दिष्ट संवाद भी इसे प्राचीन ही सिद्ध करता है। काश्यपीय महासंहिता को वृद्धजीवक द्वारा संक्षिप्त कर के इस तन्त्र के निर्माण का उल्लेख मिलने से काश्यपीय महासंहिता का समय तो इससे भी प्राचीन प्रतीत होता है।

किन्तु जिस प्रकार श्रमण शब्द ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में मिलता है उसी प्रकार ग्रन्थि शब्द के उपनिषद् आदि में मिलने पर भी निर्ग्रन्थ शब्द का तपस्वी के अर्थ में प्रयोग का भागवत पुराण को छोड़कर अन्य वैदिक ग्रन्थों तथा महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थों में कहीं भी स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं है। अर्वाचीन नागार्जुन आदि ने उपाय हृदय तथा ललित विस्तर नामक ग्रन्थों में जैनों के अर्थ में ही यह निर्ग्रन्थ शब्द प्रयुक्त किया है। वाचस्पति(१) आदि आस्तिक दार्शनिकों ने भी वेदविरुद्ध दार्शनिकों की श्रेणी में ही इन शब्दों का निर्देश किया है। निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय ही जैन सम्प्रदाय है ऐसी आधुनिक विद्वानों की भी धारणा है। इस संहिता में आये हुए जैन सम्प्रदाय के

(१) १-२ तक की टि० उपो० संस्कृत पृ० २६ देखें।

(१) टि० उपो० संस्कृत पृ० २७ देखें।

उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी आदि असाधारण शब्द भी इसी बात को प्रकट करते हैं। इस प्रकार महावीर से प्राचीन तीर्थङ्करों के समय यदि इन शब्दों की प्रसिद्धि नहीं थी तो इस सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य के रूप में प्रकट होने वाले महावीर के समय इन शब्दों की लोक में प्रसिद्धि होने से उस समय (महावीर के समय) इन दूसरे सम्प्रदाय के शब्दों का इस ग्रन्थ में अनुप्रवेश हुआ प्रतीत होता है। अर्वाचीन विद्वानों की यह भी धारणा है कि इस ग्रन्थ में शक, हूण, पल्हव, खश, यवन तथा कम्बोज आदि शब्दों के आने से भी यह ग्रन्थ बुद्ध के बाद का मालूम पड़ता है। इस प्रकार महावीर के बाद ही इस ग्रन्थ का निर्माण हुआ है—ऐसी शंका उत्पन्न होती है। किन्तु अनिश्चित समय वाले कुछ शब्दों के अनुप्रवेश के दर्शन मात्र से ही ग्रन्थ का काल निर्धारित नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त पीछे से जिन ग्रन्थों का प्रतिसंस्करण होने का स्पष्ट निर्देश हो उनमें कुछ सन्दिग्ध शब्दों के आधार पर ही ग्रन्थ के काल का निर्णय करना तो और भी दुःसाहस है। विद्वानों के किसी समय तर्क द्वारा निश्चित किये हुए भी बहुत से विषय पीछे समय प्रवाह से अन्य बलवान् तर्क के उपस्थित होने पर शारीरिक (वेदान्त) सूत्र के **'तर्काप्रतिष्ठानात्'** के अनुसार परिवर्तित होते देखे गये हैं। यदि प्राचीनता को प्रकट करनेवाले पूर्वोक्त लक्षणों को कुछ समय के लिये छोड़कर अर्वाचीन विद्वानों की धारणा का अवलम्बन करें तो भी कालप्रवाह से विलुप्त इस तन्त्र के वात्स्य द्वारा यक्ष से प्राप्त करके पीछे से संस्करण करने का संहिता कल्पाध्याय में स्वयं अपने मुख से उल्लेख किया होने से न केवल रेवती कल्पाध्याय में आये हुए निर्ग्रन्थ आदि शब्द, अपितु पूर्वभाग में आये हुए उत्सर्पिणी आदि अर्वाचीनता की शंका उत्पन्न करनेवाले शब्द तथा विषय भी वृद्धजीवकीय तन्त्र के निर्माण के बाद संस्करण के समय वात्स्य की लेखनी द्वारा प्रविष्ट किये गये प्रतीत होते हैं। चरक संहिता तथा सुश्रुत संहिता के पूर्वभाग में परतन्त्रीय बालग्रह विषय के न मिलने पर भी सुश्रुत के उत्तर तन्त्र में शालाक्य, कौमारभृत्य आदि प्रस्थानान्तरीय विषयों का भी संग्रह होने से २७ से ३८ तक के अध्यायों में कौमारभृत्य के प्रसङ्ग में मूल में आचार्य के नाम का उल्लेख न होने पर भी टीकाकारों ने जो पार्वतक, जीवक, बन्धक आदि का निर्देश किया है उससे प्रतीत होता है कि कश्यप जीवक आदि के कौमारभृत्य तन्त्रों से ही संभवतः यह विषय लिया गया है। सुश्रुत के बालतन्त्र प्रकरण में (उ. तं. अ. २७) जिन स्कन्द, रेवती, शीतपूतना, शकुनी, मुखमण्डिका, नैगमेष आदि स्त्री तथा पुरुषरूप बालग्रहों का वर्णन है, उनसे मिलते जुलते ही ग्रहों का वर्णन इस संहिता के चिकित्सितस्थानीय बालग्रहाध्याय में मिलता है। रेवतीकल्पाध्याय में रेवती के भेदरूप से जिन जातहारिणियों का विशेष वर्णन है वे सुश्रुत के उत्तरतन्त्र में नहीं मिलते हैं। यदि इन दोनों अध्यायों के विषय साथ २ लिखे गये होते तो जातहारिणी का विषय न्यूनाधिक रूप से सुश्रुत के उत्तरतन्त्र में भी अवश्य होना चाहिये था। रेवती ग्रह स्कन्द आदियों का प्रथम चिकित्सितस्थानीय बालग्रहाध्याय में निरूपण करने के बाद पुनः रेवती कल्पाध्याय में रेवती के विकास स्वरूप बहुत सी जातहारिणियों का पूर्वापर ग्रन्थ लेख की अपेक्षा अत्यन्त विकसित रूप में मिलने से रेवती कल्पाध्याय का यह विकसित लेख कश्यप तथा जीवक के पश्चात् वात्स्य के समय प्रतिसंस्करण में प्रविष्ट किया हुआ प्रतीत होता है। बिना विभाग के द्वारा प्रतिसंस्कार करने पर प्रायः ऐसी ही संशयोत्पादक गड़बड़ उत्पन्न हो जाती हैं जिनका आगे वर्णन किया जायेगा। संहिता कल्पाध्याय को पूर्ण करने की दृष्टि से वात्स्य द्वारा जोड़े हुए खिलभाग के देशसात्म्याध्याय में तथा खिलभाग से पूर्ववर्ती भोजन कल्पाध्याय में भी सात्म्य के प्रसङ्ग में बहुत से प्राचीन देशों का उल्लेख है। भोजन कल्पाध्याय में कुरुक्षेत्र को केन्द्र मानकर चारों दिशाओं के बहुत से देशों का उल्लेख करते हुए सिन्धु, सौवीर आदि पाश्चात्य (Western) काश्मीर, चीन आदि उदीच्य (Northern), काशी, पुण्ड्र, अङ्ग, बङ्ग आदि पौरस्त्य (Eastern) तथा दक्षिण (South) में कलिङ्ग, पट्टन, नार्मदेय आदि देशों का ही उल्लेख किया गया है। रामायण काल में जिसप्रकार दक्षिणात्य (Southern) नगरों का विशेष परिचय नहीं था उसी प्रकार यहां भी कलिङ्ग, पट्टन आदि नर्मदा पर्यन्त देशों का ही निर्देश है। खिलभाग के देशसात्म्याध्याय के खण्डित रूप में मिलने से पूर्व तथा दक्षिण देशों का निर्देश करते हुए प्राचीन देशों का उल्लेख होने पर भी चिरपाली, चीर चौर, पुलिन्द, द्रविड आदि दूरवर्ती दाक्षिणात्य देश तथा कुमारवर्त, निकटिवर्ष, आदि पूर्ववर्ती देशों का विकसितरूप में उल्लेख मिलता है। अशोक के शिलालेख तथा अन्य प्राचीन साहित्य में आये हुए ये देश भी यद्यपि प्राचीन ही हैं ऐसा हम आगे लिखेंगे तथापि दोनों में देशों के वर्णन की तुलना करते हुए वृद्धजीवक के पूर्वभाग तथा वात्स्य के खिलभाग में समय की दृष्टि से स्पष्टरूप से बहुत अन्तर प्रतीत होता है। खिलभाग के देश सात्म्याध्याय में **'मगधासु महाराष्ट्रम्'** ऐसा उल्लेख मिलता है। वेद में तथा जरासन्ध के समय मगध का निर्देश होने से तथा पुरातत्व के विद्वानों द्वारा आजकल राजगृह में उस स्थान की प्राप्ति से यद्यपि मगध राज्य को प्राचीन कहा जा सकता है, तथापि ग्रन्थ के पूर्वभाग में नाम द्वारा भी अनिर्दिष्ट मगध का उत्तरभाग में महाराष्ट्र के रूप में उल्लेख होने से पाण्ड्य देश तथा पाटलिपुत्र के निर्देश न होने से तथा बौद्ध ग्रन्थों में अनायास नामक यक्ष से अपने पूर्वज के ग्रन्थ की उपलब्धि का उल्लेख होने से बुद्ध तथा महावीर के पश्चात् नन्द एवं चन्द्रगुप्त के समय मगध की महाराष्ट्र के रूप में प्रतिष्ठा के समय वात्स्य की उत्पत्ति प्रतीत होती है। इससे उस संस्कार में आये हुए (अनुप्रविष्ट) इन शब्दों से सन्देह उत्पन्न हुआ प्रतीत होता है।

नावनीतक के लेखक डल्हण आदि के लेख में कौमारभृत्य के आचार्य जीवक का नाम मिलने से तथा महावग्ग आदि बौद्ध ग्रन्थों में कौमारभृत्य विशेषण वाले प्रसिद्ध वृद्धजीवक का वृत्तान्त मिलने से दोनों में चिकित्सापाण्डित्य, नाम की समानता तथा कौमारभृत्य शब्द का समानरूप से उल्लेख होने से बौद्ध ग्रन्थोक्त जीवक ही कौमारभृत्य का आचार्य जीवक है—ऐसा कुछ विद्वानों का मत है। जब तक इस वृद्धजीवकीय तन्त्र की उपलब्धि नहीं हुई थी तब तक कौमारभृत्य के आचार्य वृद्धजीवक का परिचय देने वाले प्रमाणों का अभाव होने से तथा बौद्ध ग्रन्थों में जीवक की अत्यन्त प्रसिद्धि

होने से दग्धाश्वरथन्याय* से दोनों को एक ही समझना संगत प्रतीत होता था। इस प्रकार इस तन्त्र के आचार्य तथा बौद्धग्रन्थोक्त जीवक की एकात्म्यता होने से इस तन्त्र के आचार्य वृद्धजीवक को बुद्ध कालीन मानने से पूर्वोक्त उत्सर्पिणी आदि शब्दों को देखकर भी सन्देह उत्पन्न नहीं होता था। परन्तु अब इस तन्त्र की उपलब्धि द्वारा वृद्धजीवक का बहुत-सा परिचय मिल जाने से उनके विषय में पिता का भेद, देशभेद, गुरुभेद, विशेषण तथा विशेषण रहित नामों का भेद, धर्मभेद आदि बहुत सी बातें मिलती हैं। बौद्ध ग्रन्थोक्त जीवक का कौमारभृत्यत्व महावग्ग के अनुसार कुमारद्वारा पालन किया जाने के कारण है न कि कौमारभृत्य का आचार्य होने से, बौद्ध ग्रन्थोक्त जीवक संभव है—कौमारभृत्य विद्या का भी पण्डित हो, किन्तु बहुत से बौद्ध ग्रन्थों में उसकी घटनाओं तथा चिकित्सा आदि विषयों का अत्यन्त विस्तारपूर्वक वर्णन होने पर भी उसके कौमारभृत्य के आचार्यत्व तथा तद्विषयक इस प्रसिद्ध तन्त्र के निर्माण का उल्लेख तक क्यों नहीं है? इस तन्त्र के विषय में अन्तरङ्ग दृष्टि से विचार करने पर भी दोनों का परस्पर विभेद ही दृष्टिगोचर होता है। तूङ्हाङ् (Tun huang) प्रदेश में हार्नले द्वारा उपलब्ध प्राचीन ग्रन्थ में बुद्ध द्वारा अपने समकालीन जीवक को उपदेश देने का उल्लेख मिलता है। यदि वही यह वृद्धजीवक हो तो ग्रन्थ के अन्दर स्थान २ पर धन्वन्तरि आदि की तरह जहां बाह्लीकभिषग्, काङ्कायन तथा अन्य विदेशी वैद्यों के नाम तथा चिकित्सा सम्बन्धी विषय दिए हैं वहां अपने गुरु भगवान् बुद्ध के नाम, उसकी प्रसिद्ध ओषधियों तथा प्रसङ्गवश कहीं २ उसके आध्यात्मिक विषय आदि को लेशरूप में भी क्यों नहीं दिया है। इसमें बौद्धमत की लेशमात्र भी छाया नहीं मिलती है। महावग्ग आदि के लेख से जीवक की शल्यतन्त्र के विषय में भी विशेष प्रसिद्धि तथा कुशलता का परिचय मिलता है। किन्तु इस ग्रन्थ में शल्यतन्त्र का परतन्त्र के रूप में निर्देश करके उसके विषय में उदासीनता सूचित होती है। इस प्रकार इस ग्रन्थ का आचार्य, बौद्धग्रन्थोक्त मगधदेशनिवासी भुजिष्या के गर्भ से उत्पन्न अभय के पुत्र जीवक से भिन्न प्राचीन, कनखलवासी, ऋचीक का पुत्र, कश्यप का शिष्य, महर्षियों द्वारा सम्मानित तथा कौमारभृत्य विषय का आचार्य प्रतीत होता है।

प्रसङ्गवश निर्दिष्ट अन्य आचार्यों का विवरण—

कश्यप द्वारा उपदिष्ट प्रारम्भिक एवं विस्तृत महासंहिता को वृद्धजीवक ने संक्षिप्त किया तथा समयान्तर से वात्स्य ने उसका प्रतिसंस्कार करके प्रकाशित किया, ऐसा इस संहिता के कल्पाध्याय में निर्देश होने से जिस प्रकार आत्रेय द्वारा प्रारम्भ में उपदिष्ट संहिता को अग्निवेश ने तन्त्र का रूप दिया और उसी तन्त्र को चरक ने प्रतिसंस्कृत करके वर्तमानरूप में प्रकाशित किया, तथ जिस प्रकार दिवोदासरूप धन्वन्तरि द्वारा प्रारम्भ में उपदिष्ट संहिता को सुश्रुत ने संहितारूप से परिवर्तित किया और पीछे से उसीको नागार्जुन या अन्य किसी प्रतिसंस्कर्ता ने संस्कार करके वर्तमान रूप में प्रकाशित किया है, उसीप्रकार कश्यप द्वारा उपदिष्ट मूलभूत महासंहिता को वृद्धजीवक ने संक्षिप्त करके तन्त्र का रूप दिया, उसीको समयप्रवाह से वात्स्य ने प्रतिसंस्कृत करके वर्तमानरूप में हमारे सम्मुख उपस्थित किया है। इस प्रकार आजकल मूलसंहिता तथा उनके रूपान्तरभूत तन्त्रों के पृथक् २ उपलब्ध न होने से वर्तमान रूप में मिलने वाली चरकसंहिता ही अग्निवेशतन्त्र या आत्रेयसंहिता होने से, वर्तमान प्रतिसंस्कृत सुश्रुत संहिता ही मूल-सुश्रुतसंहिता या धन्वन्तरि संहिता होने से तथा वात्स्य द्वारा प्रतिसंस्कृत संहिता ही वृद्धजीवकीय तन्त्र या मूलकाश्यप संहिता होने से उपलब्ध एक २ ग्रन्थ तीन २ ग्रन्थों के प्रतिनिधि के रूप में हमारे सामने उपस्थित होता है। इन उपलब्ध तीनों प्राचीन ग्रन्थों में प्रतिसंस्कर्ता के रूप में मिलने वाले चरक, नागार्जुन तथा वात्स्य (अनिश्चित कालवाला) तृतीय श्रेणी में, उनसे ऊपर तन्त्रकर्ता अग्निवेश, सुश्रुत तथा वृद्धजीवक द्वितीय श्रेणी में तथा उनसे भी ऊपर मूलसंहिताओं के आचार्य (उपदेशक) आत्रेय, दिवोदासरूप धन्वन्तरि तथा मारीचकश्यप प्रथमश्रेणी में आते हैं। इस प्रकार इन संहिताओं में पुनर्वसु आत्रेय, धन्वन्तरि तथा कश्यप प्राचीनतम मूल आचार्य हैं।

प्राचीन रूप में मिलने वाले आत्रेय, धन्वन्तरि, कश्यप आदि मूल आचार्यों का निश्चित समय निर्धारण दुष्कर होने के कारण इनका पौर्वापर्य, परस्पर सहभाव तथा आत्रेय, अग्निवेश, चरक, धन्वन्तरि, दिवोदास, सुश्रुत, कश्यप, वृद्धजीवक तथा वात्स्य आदि आचार्यों के उद्भव को बतलाने के लिये कोई भी धारावाहिक ऐतिहासिक लेख न मिलने से उनके विषय में कुछ भी कहना यद्यपि दुःसाहस है तथापि हमें यह देखना है कि इनके उद्भव की अधिक से अधिक तथा कम से कम कौनसी अवधि निश्चित की जा सकती है जिससे इनके विषय में कुछ अस्पष्ट-सा ज्ञान भी हो सके तथा परस्पर एक दूसरे का अन्वेषण करते हुए संभवतः हमें कश्यप, वृद्ध-जीवक तथा वात्स्य के विषय में कुछ प्रकाश मिल सके। इसी अभिप्राय से अन्य विद्वानों के मतों का निर्देश करते हुए इन प्राचीन आचार्यों के विषय में अपने हृदय के कुछ भावों को प्रकट करते हैं।

धन्वन्तरि तथा दिवोदास—

सुश्रुतसंहिता में धन्वन्तरिरूप काशीराज दिवोदास द्वारा सुश्रुत को उपदेश देने का निर्देश है। धन्वन्तरि दिवोदास के परिचय के लिये वेद में वैद्याचार्य धन्वन्तरि का कहीं उल्लेख नहीं मिलता है। ऋग्वेद में जहां वैद्यक के विषय मिलते हैं वहां देवभिषग् अश्विनी-कुमारों का ही वैद्यरूप में उल्लेख है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में बहुत स्थानों पर दिवोदास नामक राजा का उल्लेख मिलता है। उसके साथ **'अतिथिग्वः शम्बरशत्रुः सुदासपिता'** इत्यादि शूरता एवं वीरता संबन्धी विशेषण दिखाई देते हैं। काठकसंहिता के मन्त्र-भाग में भी भ्रयश्व दिवोदास का उल्लेख है। इस वैदिक दिवोदास का काशी का राजा होना तथा धन्वन्तरि से किसी प्रकार के सम्बन्ध का निर्देश नहीं मिलता है। इस प्रकार ऋग्वेद तथा काठकसंहिता में आये हुए दिवोदास का समय अत्यन्त प्राचीन है तथा वह वैद्य भी प्रतीत नहीं होता है।

पौराणिक इतिहास में भी दिवोदास नाम के अनेक व्यक्ति

* जिस प्रकार रथ के घोड़ों के जल जाने से रथ निष्प्रयोजन हो जाता है उसी प्रकार किसी एक आवश्यक वस्तु के नष्ट हो जाने पर जब उससे सम्बन्धित दूसरी वस्तु स्वयं नष्ट हो जायें—उस अवस्था में यह व्यवहृत होता है। (अनुवादक)

मिलते हैं। इनमें से हरिवंश* पुराण के २९ वें अध्याय में काश के वंश में धन्वन्तरि तथा दिवोदास का काशिराज के रूप में उल्लेख मिलता है। वह वंशावली निम्न प्रकार से है—

काश के पौत्र धन्व नामवाले राजा ने समुद्रमन्थन से उत्पन्न अब्ज नामक देवता की आराधना करके अब्ज (कमल) के अवतार रूप धन्वन्तरि नामक पुत्र को प्राप्त किया। उस धन्वन्तरि ने भारद्वाज से आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त करके उसे आठ भागों में विभक्त करके शिष्यों को उपदेश दिया। इसके प्रपौत्र दिवोदास ने वाराणसी† नगरी की स्थापना की। दिवोदास का पुत्र प्रदर्तन था। दिवोदास के समय शून्य हुई वाराणसी को प्रतर्दन के पौत्र काशीराज अलर्क ने पुनः बसाया, ऐसा हरिवंशपुराण से प्रतीत होता है। हरिवंश के अनुसार शून्य हुई वाराणसी का दिवोदास द्वारा पुनः बसाये जाने से वाराणसी की उससे पूर्व भी विद्यमानता प्रकट होने पर भी महाभारत(१) के अनुशासन पर्व में दिवोदास द्वारा ही वाराणसी के निर्माण का निर्देश है।

महाभारत में भी चार(२) स्थानों पर दिवोदास का नाम आता है। महाभारत में भी दिवोदास का काशीपति(३) होना, वाराणसी की स्थापना, हैहयों द्वारा पराजित होकर भरद्वाज की शरण में जाना, उसके द्वारा किये हुए पुत्रेष्टि यज्ञ से प्रतर्दन नामक वीर पुत्र की उत्पत्ति आदि मिलते जुलते विषय ही मिलते हैं। इसमें दिवोदास के पूर्वपुरुषों में अन्य व्यक्तियों के साथ केवल हर्यश्व आदि प्रसिद्ध व्यक्तियों के ही नाम दिये हैं। अग्निपुराण (अ० २७८) तथा गरुडपुराण (अ० १३९ श्लोक ८-११) में भी वैद्य धन्वन्तरि की चतुर्थ सन्तति (पीढ़ी) में दिवोदास का नाम दिया है।

* वाराणसी में गोविन्दचन्द्र विजय के राज्य में १२०१ संवत् में लिखी हुई हरिवंश की एक प्राचीन ताडपत्र पुस्तक हमारे संग्रहालय में है। उसके पाठ के अनुसार भी यही क्रम मिलता है।

† इस प्रकार वारणार नामक किसी व्यक्ति ने वाराणसी को बनाया—यह प्रवाद निर्मूल है। (हिन्दी विश्वकोश—काशी शब्द देखें)

(१) १ से ३ तक की टि० उपो० संस्कृत पृ० २९ देखें।

महाभारत(१) के समुद्र मन्थन प्रकरण में धन्वन्तरि देव के आविर्भाव का वर्णन मिलता है। पुराण आदि में भी धन्वन्तरि का निर्देश है। आग्नेय(२)पुराण में समुद्रमन्थन से उत्पन्न धन्वन्तरि का आयुर्वेद के प्रवर्तक के रूप में निर्देश किया गया है। परन्तु वेद में धन्वन्तरि का उल्लेख न होने से तथा हरिवंश पुराण में समुद्र मन्थन से आविर्भूत अब्ज देवता का धन्व राजा के पुत्र रूप में उत्पन्न होने के कारण यौगिक धन्वन्तरि नाम होने से दोनों की सङ्गति करने पर अब्ज के ही धन्वन्तरि होने से दोनों में अभेद मानकर समुद्र से उत्पत्ति के प्रसङ्ग में अब्ज देवता को भी भावी धन्वन्तरि नाम से ही संभवतः कहा गया है। इसीलिये वैद्याचार्य दिवोदास के पूर्वपुरुष धन्वन्तरि के लिये लौकिक एवं तैर्थिक व्यक्तियों द्वारा अब्ज देवता का अवतार होने से देवरूप में निर्देश किया गया है।

भरद्वाज से सम्बन्ध, वाराणसी की स्थापना तथा प्रतर्दन नाम के पुत्र की समानता से हरिवंश तथा महाभारत में वर्णित दिवोदास की एकता प्रतीत होती है। कौषीतकी (सांख्यायन) ब्राह्मण(३) तथा कौषीतकी ब्राह्मणोपनिषत्(४) में भी दैवोदासि (दिवोदास के पुत्र) प्रतर्दन का ब्रह्मविद्या की प्राप्ति का वर्णन मिलता है। काठकसंहिता(५) के ब्राह्मण अंश में भी आरुणि के समकालीन भीमसेन के पुत्र दिवोदास का उल्लेख मिलता है।

इस प्रकार हरिवंश पुराण के अनुसार काश राजा की सन्तति रूप इन सबका काश राजा द्वारा स्थापित काशी नामक देश के राजा होने से काशिराज शब्द से कहा जाना, धन्व राजा का पुत्र होने से उसका धन्वन्तरि नाम से व्यवहार तथा आत्रेय आदि की तरह धन्वन्तरि का भी पूर्वाचार्य भरद्वाज से ही आयर्वेद विद्या की उपलब्धि का निर्देश है। महाभारत तथा हरिवंश में धन्वन्तरि के प्रपौत्र काशीराज दिवोदास का वैद्यक के आचार्य रूप में निर्देश न मिलने पर भी सुश्रुत में काशीराज दिवोदास का सुश्रुत आदियों के उपदेशक के रूप में उल्लेख मिलने से वैद्याचार्य धन्वन्तरि की चतुर्थ सन्तति (पीढ़ी) में होने से तथा अपने पूर्वपुरुष की विद्या के आदर की दृष्टि से दिवोदास का भी वैद्य होना सङ्गत प्रतीत होता है। धन्वन्तरि की सन्निकृष्ट सन्तति (चौथी पीढ़ी) में होने से, उसके सम्प्रदाय का प्रकाश करने के कारण तथा उसका स्थानापन्न होने से धन्वन्तरि का अवतार मानकर सुश्रुतसंहिता में **'धन्वन्तरिं दिवोदासं सुश्रुतप्रभृतयः ऊचुः'** आदि द्वारा धन्वन्तरि तथा दिवोदास का जो अभेद प्रकट किया गया है वह उचित ही है। आयुर्वेद के आचार्यरूप से प्रसिद्ध धन्वन्तरि के प्रपौत्र दिवोदास तथा सुश्रुत में आये हुए आयुर्वेद के उपदेशक धन्वन्तरिरूप दिवोदास इन दोनों की सङ्गति होने से धन्वन्तरि का आयुर्वेदीय सम्प्रदाय अपने शिष्यों की तरह दिवोदासरूप अपनी सन्तति में भी गया हुआ स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है। मेरे पास सुश्रुतसंहिता की एक ताडपत्र* की पुस्तक है जिसके प्रारम्भ में **'इत्युवाच भगवान् धन्वन्तरिः'** यह वाक्य नहीं है। धन्वन्तरिरूप

* इस पुस्तक में बहुत से पाठभेद हैं। इस संहिता के अन्त में सुश्रुत का निघण्टु भी दिया हुआ है। इस संहिता के पाठ के अनुसार सुश्रुतसंहिता का नया संस्करण करके मेरे मित्र श्री यादवजी ने प्रकाशित किया है।

(१) १ से ५ तक की टि० उपो० संस्कृत पृ० २९ देखें।

दिवोदास के पास सुश्रुत आदियों के जाने का उल्लेख होने से प्रारंभ में इस प्रकार का वाक्य होना उचित भी नहीं है।

पूर्वोद्दिष्ट हरिवंश पुराण के लेख में कलियुग में दिवोदास द्वारा वाराणसी की स्थापना का उल्लेख होने से धन्वन्तरि तथा उसके प्रपौत्र दिवोदास का समय कलियुग में प्रतीत होता है। परन्तु कलियुग में कौन-सा समय है इसकी प्रतीति उससे नहीं होती।

काशी के युवराज ब्रह्मदत्त का आयुर्वेद के अध्ययन के लिये तक्षशिला जाने का वर्णन जातक ग्रन्थ में तथा फिर काशीराज के पद पर आरूढ़ ब्रह्मदत्त के साथ जीवक की भेंट का वर्णन महावग्ग में मिलता है। महावग्ग में यद्यपि काशी शब्द भी आया हुआ है, परन्तु वहां वाराणसी शब्द का प्रयोग अधिकता से किया गया है। बुद्ध द्वारा भी वाराणसी में ही धर्मचक्र (धर्मोपदेश) के प्रवर्तन का उल्लेख मिलता है। जातक ग्रन्थों में भी बहुत स्थानों पर वाराणसी शब्द आता है। पाणिनि ने देश वाचक काशी शब्द का **'काश्यादिभ्यष्ठञ्ञिठौ'** (४-२-११६) सूत्र में स्पष्ट निर्देश किया है। तथा नगर वाचक वाराणसी शब्द नद्यादि गण में मिलता है। (**नद्यादिभ्यो ढक्** ४-२-९७ वाराणसेयः) महाभाष्यकार ने भी वाराणसेय उदाहरण कई बार दिया है। जाबालोपनिषद् आदि में वाराणसी शब्द के मिलने पर भी प्राचीन उपनिषदों में काशी शब्द तो मिलता है पर वाराणसी शब्द नहीं मिलता है। इससे अनुमान किया जाता है कि देशवाचक काशी शब्द प्राचीन काल से प्रचलित है तथा नगरी वाचक वाराणसी शब्द उपनिषदों के समय के बाद से ही प्रसिद्ध हुआ है। पुराणों में काशी तथा वाराणसी ये दोनों शब्द मिलते हैं। इतिहास में बुद्ध के पश्चात् कभी कोशल के राजाओं द्वारा, कभी मगध के शिशुनागों द्वारा, उसके बाद मौर्य, शुङ्ग तथा गुप्त आदि राजाओं द्वारा तथा अन्त में हर्षवर्धन द्वारा वाराणसी के विजय का वृत्तान्त मिलता है। उन २ राजाओं के इतिवृत्त का अनुसन्धान करने पर धन्वन्तरि दिवोदास तथा प्रतर्दन आदि के नाम हमें नहीं मिलते हैं। प्रत्युत वार्तिककार कात्यायन द्वारा **'दिवश्च दासे'** से दिवोदास शब्द को सिद्ध करने, महाभाष्यकार द्वारा **'दिवोदासाय(१)गायते'** उदाहरण के देने, कौषीतकि ब्राह्मण, उसकी उपनिषद् तथा ऋक्सर्वानुक्रम(२)सूत्र में भी दिवोदास के पुत्र प्रतर्दन के उल्लेख, काठकसंहिता के ब्राह्मण भाग में भीमसेन के पुत्र दिवोदास के उल्लेख तथा महाभारत और हरिवंश पुराण में भी इसी के समान वैद्य विद्या के आचार्य धन्वन्तरि के प्रपौत्र, वाराणसी के स्थापक, प्रतर्दन के पिता तथा अलर्क के प्रपितामह तथा कलियुग में होनेवाले दिवोदास के वर्णन मिलने से दिवोदास का समय कलियुग में ऐतरेय ब्राह्मण के समय तथा काठकब्राह्मण, कौषीतकी ब्राह्मण तथा उनकी उपनिषदों के समय या कुछ पूर्व सिद्ध होता है।

कौषीतकि ब्राह्मण के काल के विषय में विचार करते हुए श्वेतकेतु आरुणि की कथाओं के संवाद के आधार पर पश्चात्य लेखक वेबर(३) ने लिखा है कि कौषीतकि उपनिषद् तथा बृहदारण्यक का काल समान है। विन्टरनीज(४)नामक विद्वान् का भी इस विषय में यही मत है। उसने कौषीतकि ब्राह्मण को ऐतरेय ब्राह्मण से बाद का स्वीकार किया है। श्री चिन्तामणि(१)विनायक वैद्य ने ऐतरेय ब्राह्मण में (७-११) कौषीतकि ब्राह्मण के वचन दिखला कर ऐतरेय ब्राह्मण से पूर्व कौषीतकि ब्राह्मण का समय ईसा से २५०० वर्ष पूर्व सिद्ध किया। एस. बी. दीक्षित(२)महोदय ने ज्योतिष की गणना के आधार पर कौषीतकि ब्राह्मण का समय (ई. पू. २९००-१८५०) के बीच में बतलाया है। कौषीतकि ब्राह्मण (१७-४) का यास्क की निरुक्ति (१-९) में आया होने से तथा तीस अध्याय वाले कौषीतकि ब्राह्मण का **'त्रिंशच्चत्वारिंशतो ब्राह्मणे संज्ञायां डण्'** (५-१-६२) सूत्र में तथा कौषीतकी के पूर्व पुरुष कुषीतक का **'विकर्णकुषीतकात्काश्यपे'** (४-१-१२४) सूत्र में पाणिनि द्वारा ग्रहण किया गया होने से कौषीतकि ब्राह्मण पाणिनि तथा यास्क से भी प्राचीन है—ऐसा कीथ(३) ने लिखा है। पाणिनि के समय का विचार करते हुए मंजुश्रीमूल कल्प नामक बौद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ के आधार पर लिखे हुए इतिहास में श्री जायसवालजी(४) ने पाणिनि का समय (३६६-३३८ ईस्वी पूर्व) लिखा है तथा अन्य व्यक्तियों ने (४०० ईस्वी पूर्व) लिखा है। परन्तु पाणिनि के लेख में वेद-वेदाङ्ग सम्प्रदायों के प्रवर्तक ऋषि, देश, नगर, ग्राम, नद, नदी आदियों का उल्लेख होने पर भी गौतम बुद्ध तथा महावीर के सम्प्रदाय का एक भी विषय न मिलने से बुद्ध तथा महावीर से पूर्व (७००-८०० ईस्वी पूर्व) पाणिनि का समय है ऐसा (५)गोल्डस्टूकर महोदय ने लिखा है। श्रीयुत वेलवल्कर(६) तथा भाण्डारकर(७) का भी यही मत है। श्रीयुत चिन्तामणि (८)विनायक वैद्य ने पाणिनि का समय (९०० ईस्वी पूर्व) बतलाया है। इस प्रकार विभिन्न मतों के दिखाई देने पर भी पाणिनि तथा उससे भी पूर्ववर्ती यास्क द्वारा गृहीत कौषीतकि ब्राह्मण का समय बहुत पहले का प्रतीत होते हुए भी कम से कम इस विषय में सब एक मत वाले हैं कि कौषीतकि ब्राह्मण का समय बुद्ध के बाद का तो निश्चित नहीं है। इस प्रकार ऐतरेय तथा कौषीतकि ब्राह्मण के मध्य का होने से यह दिवोदास उपनिषत्कालीन प्रतीत होता है और अपने प्रपितामह धन्वन्तरि को अपने से भी प्राचीन सिद्ध करता है।

मिलिन्दपह्नो(९) (मिलिन्दप्रश्न) नामक पालीग्रन्थ में द्वितीय शताब्दी (ईस्वी पूर्व) केमिलिन्द (Menander King of Bactria) के प्रति नागसेन की उक्ति में **'चिकित्सकानां पूर्वका आचार्याः'** द्वारा प्रारंभ करके गिनाये हुए आचार्यों में धन्वन्तरि का नाम भी है। इस में रोगोत्पत्ति निदान, स्वभावसमुत्थान तथा चिकित्सा आदि में आचार्यरूप से दिया होने से तथा नागसेन द्वारा अपने से पूर्व चिकित्सा के आचार्य रूप में निर्दिष्ट धन्वन्तरि महाभारत तथा आयुर्वेद के ग्रन्थों में मिलने वाला सुश्रुत संहिता का आचार्य प्राचीन धन्वन्तरि ही स्पष्टरूप से प्रतीत होता है। अथवा कपिल, नारद आदि के साथ आने से यह मूल धन्वन्तरि का द्योतक भी हो सकता है। इस के अतिरिक्त द्वितीय तृतीय शताब्दी ईस्वी पूर्व में बने हुए भरुच और साञ्ची के स्तूपों के शिलालेखों के संवाद तथा भरुच के स्तूप में जातक ग्रन्थ के नाम का उल्लेख होने से पाली जातक ग्रन्थों की उस समय भी उपस्थिति तथा प्रसिद्धि सिद्ध होती है। चतुर्थ शताब्दी ईस्वी पूर्व में वैशाली में हुई बौद्धमहासभा में भी जातक

(१) १ से ४ तक की टि० उपो० संस्कृत पृ० ३० देखें।

(१) १ से ९ को टि० उपो० संस्कृत पृ० ३०-३१ देखें।

ग्रन्थों की प्रसिद्धि थी ऐसा मैक्डोनल आदि पाश्चात्य विद्वान् कहते हैं। इन ग्रन्थों के उस समय प्रसिद्ध होने से ग्रन्थों का सत्व तो इस से भी प्राचीन होना चाहिये। इन में से अयोघर(१) (अयोगृह) नामक एक जातक में बुद्ध के किसी पूर्व जन्म में राजपुत्र की अवस्था में धर्मचर्या के लिये राजा की आज्ञा प्राप्त करने के लिये एक कथा दी हुई है जिस में धन्वन्तरि, वैतरण, भोज आदि चिकित्सकों का नाम लेकर औषधि तथा विषापहरण के द्वारा लोगों का उपकार करने वाले धन्वन्तरि के समान विद्वान् भी काल के मुख में चले गये इत्यादि द्वारा मृत्यु की महिमा का उल्लेख करके अपना धर्मानुराग प्रकट किया गया है। इस कथा के द्वारा बुद्ध के किसी पूर्वजन्म में भी धन्वन्तरि, वैतरण तथा भोज आदि का इस लोक से चले जाने (मृत्यु) का उल्लेख किया गया है। यह कथा उस के किस पूर्व जन्म की है यह ज्ञात न होने पर भी अत्यन्त प्राचीन काल की सूचक प्रतीत होती है। आर्यसूरीय(२) जातक माला के अयोगृह जातक में व्याधियों के नाशक धन्वन्तरि आदि का अतीतरूप में सम्मानपूर्वक निर्देश किया गया है। आर्यसूरीय जातक में केवल धन्वन्तरि का ही नाम लिया है। अन्य आचार्यों का केवल प्रभृति शब्द से ही ग्रहण किया गया है। परन्तु पाली के लेख में धन्वन्तरि के साथ वैतरण तथा भोज के नाम का भी उल्लेख मिलता है। सुश्रुत संहिता के प्रारंभिक वाक्य में धन्वन्तरि रूप दिवोदास के पास विद्या-प्राप्ति के लिये उपस्थित हुए शिष्यों में वैतरण का भी निर्देश किया गया है। इस में **'सुश्रुतप्रभृतयः ऊचुः'** इस वाक्य में प्रभृति शब्द से भोज आदि का ग्रहण किया गया है ऐसा डल्हण ने व्याख्या में दिया है। परन्तु मेरे पास जो सुश्रुत की प्राचीन ताडपुस्तक है उसके मूल में ही **'औपधेनववैतरणौरभ्रपौष्कलावतकरवीर्य-गोपुररक्षितभोजसुश्रुतप्रभृतय ऊचुः'** इस वाक्य द्वारा वैतरण के समान भोज का भी स्पष्टरूप से उल्लेख किया गया है। इस अयोघर नामक पालीजातक में निर्दिष्ट धन्वन्तरि दिवोदास के शिष्य वैतरण तथा भोज के साहचर्य से मूल धन्वन्तरि प्रतीत नहीं होता, अपितु धन्वन्तरि का अवतार रूप होने से सुश्रुत में धन्वन्तरि शब्द द्वारा व्यवहृत दिवोदास प्रतीत होता है। यहां सुश्रुत आदि अन्य व्यक्तियों का उल्लेख न होने पर भी उपनिषत् काल में दिवोदास के मिलने से, सुश्रुतसंहिता में दिवोदास का धन्वन्तरिरूप से व्यवहार होने से दिवोदासरूप धन्वन्तरि के शिष्य वैतरण तथा भोज का सुश्रुतसंहिता में मिलने से तथा जातकों में आये हुए विषप्रतीकार के विषय का सुश्रुतसंहिता के कल्पस्थान में मिलने से भोज तथा वैतरण के साथ आये हुए सुश्रुत आदि का भी इन्हीं के साथ का समय प्रतीत होता है जैसा कि सुश्रुतसंहिता में दिया है। आग्नेय पुराण के अनुसार आयुर्वेद विद्या के ग्रहण करने में सुश्रुत भी धन्वन्तरि के शिष्यरूप में मिलता है। इस प्रकार दिवोदास रूप धन्वन्तरि की बौद्ध जातक ग्रन्थों से भी प्राचीनता सिद्ध होने से उस के पूर्व पुरुष मूल धन्वन्तरि को तो उस से भी प्राचीन होना चाहिये।

किसी २ का यह भी मत है कि विक्रमादित्य के नवरत्नों में क्षपणक, अमरसिंह आदि के साथ आया हुआ धन्वन्तरि ही प्रसिद्ध वैद्याचार्य धन्वन्तरि है। परन्तु नवरत्नों में आया हुआ धन्वन्तरि कवि था, न कि वैद्य। प्राचीन वैद्याचार्य धन्वन्तरि के मिलने से केवल धन्वन्तरि नाम की समानता से यह भ्रान्ति उत्पन्न हुई प्रतीत होती है।

काश्यपसंहिता के शिष्योपक्रमणीय अध्याय में हौम्य देवताओं का निर्देश करते हुए प्रजापति, इन्द्र, अश्विनी कुमार तथा अपने तन्त्र के पूर्व आचार्य कश्यप के समान अन्य प्रस्थान (विभाग) के आचार्य धन्वन्तरि का भी स्वाहाकार के द्वारा ग्रहण एवं सम्मान किया गया है जब कि इस में आत्रेय आदि का उल्लेख नहीं किया गया है। दिवोदास, सुश्रुत तथा अन्य धन्वन्तरि के अनुयायियों का भी इसमें उल्लेख नहीं है। द्विव्रणीय अध्याय में **'परतन्त्रस्य समयम्'** इस पद द्वारा शल्यतन्त्रका परतन्त्र के रूप में ग्रहण करने से भी उस समय धान्वन्तर सम्प्रदाय की उपस्थिति स्पष्ट है। आत्रेय संहिता में भी **'इति(१)धन्वन्तरिः' 'धान्वन्तरं मतम्' 'धान्वन्तराः'** इत्यादि द्वारा अनेक स्थानों पर धन्वन्तरि तथा उस सम्प्रदाय के अन्य पूर्व आचार्यों का सम्मानपूर्वक निर्देश किया गया है। परन्तु दिवोदास तथा सुश्रुत का इस में भी कहीं स्पष्टरूप से उल्लेख नहीं किया है। सुश्रुत में आत्रेय तथा कश्यप का उल्लेख नहीं है। इस प्रकार मारीचि कश्यप तथा पुनर्वसु आत्रेय से धन्वन्तरि की प्राचीनता प्रकट होती है। इस के अतिरिक्त काश्यप संहित में केवल धन्वन्तरि का ही उल्लेख होने से तथा आत्रेय संहिता में धन्वन्तरि के सम्प्रदाय वालों का भी उल्लेख होने से धन्वन्तरि सम्प्रदाय के फैलने के बाद आत्रेय पुनर्वसु की उत्पत्ति प्रतीत होती है। धन्वन्तरि के पुनर्वसु आत्रेय से भी प्राचीन सिद्ध होने से उस के अनुयायी अग्निवेश, भेड आदि से तो वह निश्चित ही प्राचीन है। भेडसंहिता तथा चरक संहिता में आये हुए धान्वन्तर घृत आदि के उल्लेख से भी यही प्रकट होता है। सुश्रुत संहिता के शारीरस्थान के तृतीय अध्याय में शौनक, कृतवीर्य, पाराशर्य, मार्कण्डेय, सुभूतिगौतम आदि प्राचीनतम पूर्व आचार्यों का निर्देश मिलता है। इसके विपरीत आत्रेय तथा काश्यपसंहिता में काङ्कायन आदि का भी पूर्व आचार्यों के रूप में निर्देश है। डल्हण की सुश्रुत टीका में किसी २ के मत से दिवोदास के शिष्यरूप(२) में काङ्कायन का उल्लेख किया गया है। इस अवस्था में दिवोदास के शिष्य काङ्कायन का आत्रेय तथा काश्यप संहितामें निर्देश होने से दिवोदास तथा धन्वन्तरि का आत्रेय तथा कश्यप से पूर्व होना और भी सुदृढ़ हो जाता है।

हरिवंश पुराण में धन्वन्तरि की भरद्वाज से आयुर्वेद विद्या की प्राप्ति तथा दिवोदास द्वारा भी भरद्वाज के आश्रम का उल्लेख होने से तीन पीढ़ियों के अन्तर वाले धन्वन्तरि तथा दिवोदास के साथ सम्बद्ध भरद्वाज एक ही व्यक्ति है अथवा उसी गोत्र का कोई अन्य व्यक्ति है इस विषय में कुछ नहीं मिलता है। चरक संहिता के उपक्रम में भी भरद्वाज द्वारा आत्रेय की विद्या प्राप्ति तथा बाद में भरद्वाज के मत का आत्रेय द्वारा खण्डन तथा वातकलाकलीय अध्याय में 'कुमारशिर' विशेषण युक्त भरद्वाज का निर्देश है। इसी प्रकार काश्यप संहिता के रोगाध्याय में भी कृष्ण भरद्वाज का निर्देश है। इस प्रकार आयुर्वेद के ग्रन्थों में नाना भरद्वाजों का आचार्यरूप में

(१) १ से २ तक की टि० उपो० संस्कृत पृ० ३१ देखें।

(१) १-२ की टि० उपो० संस्कृत पृ० ३१-३२ देखें।

उल्लेख मिलता है। इससे एक ही या उस गोत्र वाले भिन्न २ भरद्वाज नामवाले व्यक्तियों के साथ धन्वन्तरि, मारीच कश्यप, आत्रेय पुनर्वसु तथा दिवोदास का समकालीन संबन्ध प्रतीत होता है। आत्रेय पुनर्वसु तथा मारीच कश्यप द्वारा गृहीत धन्वन्तरि यद्यपि मूलधन्वन्तरि की सन्तति होने के कारण उस नाम से व्यवहृत दिवोदास भी हो सकता है तथापि कश्यप द्वारा स्वाहाकार देवता के रूप में भी धन्वन्तरि का निर्देश किया होने से, आत्रेय तथा कश्यप दोनों द्वारा काशीराज के रूप में प्रसिद्ध दिवोदास को प्रकट करने वाले काशीपति तथा दिवोदास आदि किसी विशेषण से रहित केवल धन्वन्तरि शब्द द्वारा उसका निर्देश किया होनेसे तथा महाभारत के अनुसार धन्वन्तरि का अष्ट प्रस्थानों का आचार्य तथा उसको संहिता के प्राचीन समय में विद्यमान होने के निर्देश से प्रतीत होता है कि मूल धन्वन्तरि संहिता के विषयों को लेकर ही आत्रेय तथा कश्यप ने स्थान २ पर धान्वन्तर मत दिये हैं। पूर्वोक्तानुसार दिवोदास नामक राजा के साथ आये हुए, गालव के प्रति केवल मारीच कश्यप के आश्रम का निर्देश महाभारत में मिलने से दिवोदास के समय मारीच कश्यप का अतीत रूप में होना प्रकट होता है अथवा आश्रम में मारीच कश्यप की उपस्थिति भी संभवतः हो सकती है। इस प्रकार मारीच कश्यप का समय धन्वन्तरि के पश्चात् तथा दिवोदास के पूर्व या उसके साथ आता है। चरक तथा काश्यपसंहिता में परस्पर आत्रेय द्वारा मारीचि कश्यप का तथा मारीचि कश्यप द्वारा पुनर्वसु आत्रेय का निर्देश होने से, आत्रेय संहिता के वातकलाकलीय अध्याय में मारीच कश्यप तथा आत्रेय पुनर्वसु के परस्पर संवाद का उल्लेख होने से तथा दोनों में उसी रूप में अथवा कुछ अन्तर के साथ भरद्वाज का उल्लेख मिलने से इन दोनों आचार्यों का काल लगभग साथ २ प्रतीत होता है।

सुश्रुत—

सुश्रुतसंहिता(१) में लिखा है कि सुश्रुत संहिता का निर्माता विश्वामित्र का पुत्र सुश्रुत है। चक्रदत्त ने भी टीका(२)में ऐसा ही लिखा है। महाभारत(३)में भी विश्वामित्र के पुत्रों में सुश्रुत का नाम मिलता है। ऋग्वेद के नाना मन्त्रों का द्रष्टा तथा भगवान् राम का धनुर्विद्या का उपदेशक महर्षि विश्वामित्र अन्य ही प्राचीन व्यक्ति प्रतीत होता है। सुश्रुत का उपनिषत्कालीन दिवोदास के शिष्य रूप में उल्लेख होने से तथा सुश्रुतसंहिता में कृष्ण(४)का नाम मिलने से कश्यप तथा आत्रेय के समान गोत्रवाला विश्वामित्र का पुत्र सुश्रुत भी दिवोदास की तरह उपनिषत्काल में तथा भगवान् श्रीकृष्ण के उद्भव के पश्चात् हुआ प्रतीत होता है। ऋषि विश्वामित्र द्वारा अपने पुत्र सुश्रुत को काशीराज धन्वन्तरि (दिवोदास) के पास अध्ययन के लिये भेजने का उल्लेख भावप्रकाश(५) में भी है। डल्लण की व्याख्या में विश्वामित्र के नाम से उद्धृत वैद्यक के वचन(६) भी मिलते हैं। इस विश्वामित्र के विषय में पूर्ण परिचय नहीं मिलता है।

सुश्रुत संहिता के समय के विषय में विचार करते हुए हैस (Hass) नामक पाश्चात्य विद्वान् ने सुश्रुत आदि को १२ वीं शताब्दी का, जोन्स विल्सन (Joneswilson) ने ९-१० शताब्दी का तथा अन्य कुछ विद्वानों ने इसे चतुर्थ-पंचम शताब्दी का माना है।

मैकडोनल(१) नामक विद्वान् लिखता है कि सुश्रुत ई० पू० चतुर्थ शताब्दी से पहले का प्रतीत नहीं होता है क्योंकि बावर मैनुस्क्रिप्ट के प्रकरण चरक तथा सुश्रुत के साथ केवल भावों में ही समानता नहीं रखते अपितु उनमें शब्दों की भी समानता मिलती है।

वेबर(२) (Weber) लिखता है कि भाषा तथा शैली में सुश्रुत की वराहमिहिर के लेखों से समानता है।

अन्त(३)में हर्वर्ट गोवन (H. Gowen) ने तो यहां तक लिख दिया है कि सुश्रुत नाम का कोई व्यक्ति आजतक हुआ ही नहीं है। और यदि हुआ भी है तो वह साक्रिटीज (Socrates) के अतिरिक्त और कोई नहीं है।

किन्तु उपर्युक्त के विषय में हमें यह कहना है कि लगभग दो सहस्र वर्ष प्रचीन दार्शनिक आर्य नागार्जुन* का उपायहृदय नामक संस्कृत भाषा में ताडपत्र पर लिखा हुआ शातवाहन चरित है जिसमें **'दृष्टतत्त्वो बोधिसत्त्वो महासत्त्वो महाराजगुरुः श्रीनागार्जुनाभिधानः शाक्यभिक्षुराजः'** इस प्रकार के स्पष्ट उल्लेख होने से बोधिसत्त्वस्थानीय, कुरुकुल्ला के उपदेश के कारण तान्त्रिक तथा

---

(१) १ से ३ तक की टि० उपो० संस्कृत पृ० ३२ देखें।

(१) १ से ३ तक की टि० उपो० संस्कृत पृ० ३२-३३ देखें।

* नागार्जुन नामवाले अनेक प्राचीन विद्वान् मिलते हैं। नागार्जुन की रचना रूप से मिलने वाले कक्षपुट, योगशतक, तत्वप्रकाश आदि अनेक ग्रन्थों में कक्षपुट आदि कौतुक ग्रन्थों (जादू टोने के ग्रन्थों) का प्रणेता सिद्ध नागार्जुन—इस विशेषण युक्त नाम वाले व्यक्ति को बताया है। वैद्यक विषय में योगशतक नाम का ग्रन्थ अभी मिला है जिसका तिब्बतीय भाषा में अनुवाद भी मिलता है। नागार्जुन की ही एक अन्य **'चित्तानन्दपटीयसी'** नामक वैद्यक की संस्कृत में लिखी हुई ताडपुस्तक तिब्बत के गीममठ में है ऐसा सुनने में आता है। इसके अन्य भी ग्रन्थ मिलते हैं। तन्त्रों में आया हुआ बौद्धों का अध्यात्म विषयक तत्वप्रकाश, परमरहस्य सुखाभिसंबोधि तथा समयमुद्रा आदि इसके अन्य ग्रन्थ हैं। केवल बौद्धदर्शनों के विषय में माध्यमिक वृत्ति, तर्कशास्त्र तथा उपायहृदय आदि ग्रन्थ हैं। इन भिन्न २ विषय के ग्रन्थों का निर्माता एक ही व्यक्ति है या भिन्न २ यह विचारणीय प्रश्न है। अष्टम शताब्दी में भारत में यात्रा के लिये आये हुए अल्बेरुनी नामक यात्री ने अपने से सौ वर्ष पूर्व रसायन विद्या में निपुण, बोधिसत्व (बुद्ध बनने के लिये तपस्या करने वाला) तथा अत्यन्त प्रसिद्ध नागार्जुन नामक विद्वान् का उल्लेख किया है। ७ वीं शताब्दी में भारत में आये हुये ह्युन सङ्ग नामक चीनी यात्री ने अपने से सात-आठ सौ वर्ष पूर्व शान्तिदेव तथा अश्वघोष आदि की तरह अत्यन्त प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् शातवाहन के मित्र नागार्जुन का उल्लेख किया है जो कि रसायन के द्वारा पत्थर को भी स्वर्ण बना देता था। राजतरङ्गिणी के लेखक कल्हण ने बुद्ध के आविर्भाव से १५० (डेढ सौ) वर्ष पूर्व नागार्जुन नामक प्रसिद्ध विद्वान् के होने का निर्देश किया है। इस प्रकार भिन्न २ समयों के मिलने से इन नागार्जुनों में एकता प्रतीत नहीं होती अर्थात् ये परस्पर भिन्न २ प्रतीत होते हैं। नागार्जुन द्वारा शातवाहन को पत्र भेजने का वृत्तान्त अन्यत्र प्रकाशित हुआ है। मेरे संग्रहालय में एक फटा हुआ

दार्शनिक ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है। भारत में मूलसंस्कृत लेख के न मिलने पर भी अत्यन्त प्राचीन काल से चीनी भाषा में विद्यमान अनुवाद से हमारे परम मित्र श्री तुच्ची महोदय ने संस्कृत में पुनः अनुवाद करके जो प्रकाशित किया है उस ग्रन्थ के प्रारम्भ में अन्य तन्त्रों के प्रसङ्ग में **'ओषधिविद्या षड्विधा-ओषधिनाम, ओषधिगुणः, ओषधिरसः, ओषधिवीर्यं, सन्निपातो, विपाकश्चेति भैषज्यधर्मा'** इत्यादि द्वारा भैषज्यविद्या के प्रधान विषयों को देकर बाद में शास्त्र का वर्णन करते हुए **'यथा सुवैद्यको भेषजकुशलो मैत्रचित्तेन शिक्षकः सुश्रुतः'** इत्यादि द्वारा भैषज्यविद्या के आचार्यरूप में सम्मान एवं गौरव के साथ सुश्रुत का नाम दिया है। इस प्रकार लगभग दो सहस्रवर्ष पूर्ववर्ती आर्य नागार्जुन द्वारा भी आचार्य के रूप में सुश्रुत का नाम दिया होना इसकी अर्वाचीनता के प्रतिवाद के लिये पर्याप्त प्रमाण है।

इसके अतिरिक्त पूर्वोद्दिष्ट खोटाङ् प्रदेश से प्राप्त भोजपत्र पर लिखे हुए नावनीतक नामक ग्रन्थ की लिपि को देखकर सब विद्वानों ने इसे तृतीय या चतुर्थ शताब्दी का निश्चित किया है। प्राचीन काल में आजकल के समान शीघ्र चलने वाले स्टीम ऐंजिन, हवाई-जहाज, तार, रेडियो आदि के अभाव में भी इस भारतीय ग्रन्थ के इतने दुर्गम तथा दूर प्रदेश में प्रचार एवं प्राप्ति के लिये विशेष समय की अपेक्षा होने से ग्रन्थ की रचना और भी प्राचीन प्रतीत होती है। इस ग्रन्थ में मङ्गलाचरण के रूप में बुद्ध का उल्लेख मिलने से बुद्ध के कितने समय पश्चात् इस ग्रन्थ की रचना हुई है यह नहीं कहा जा सकता। इस प्राचीन ग्रन्थ में आत्रेय पुनर्वसु तथा उसके अनुयायी क्षारपाणि, हारीत, जातूकर्ण, पराशर तथा भेड आदि तथा काश्यप जीवक और सुश्रुत के नाम तथा उनके नाम से ओषधियों का उल्लेख मिलता है। उसमें आई हुई कुछ ओषधियों के वर्तमान चरक संहिता में मिलने पर भी उसमें आत्रेय नाम से उल्लेख किया गया है। चरक तथा नागार्जुन के नामों का इसमें उल्लेख नहीं मिलता है। चरक नाम से प्रसिद्ध चरकसंहिता के आविर्भाव के बाद यदि नावनीतक का निर्माण हुआ हो तो वाग्भट आदि ग्रन्थों के समान प्रसिद्ध चरक का उल्लेख इसमें अवश्य होता। इस प्रकार यह चरक के समय से भी प्राचीन प्रतीत होता है। यदि किसी बौद्ध ने इस ग्रन्थ का निर्माण किया हो तो वैद्यक में भी प्रसिद्ध बौद्धाचार्य नागार्जुन या अन्य किसी वैद्यक में प्रसिद्ध बौद्धाचार्य का भी इसमें उल्लेख होना चाहिये था। इस प्रकार यह ग्रन्थ आत्रेय, उसके अनुयायी, सुश्रुत, काश्यप तथा जीवक के बाद तथा नागार्जुन के समय से पूर्व का होने से इसमें आया सुश्रुत भी नागार्जुन से पूर्व का सिद्ध होता है।

इस प्रकार सुश्रुत न केवल आर्य नागार्जुन तथा नावनीतक से ही प्राचीन है अपितु महाभाष्यकार के **'तद्धितेष्वचामादेः'** (७-२-११७) तथा **इको गुणवृद्धी** (१-१-३) सूत्रों की व्याख्या में **'सौश्रुतः'** तथा **'शाकपार्थिवादीनामुपसंख्यानम्'** (२-१-१७०) इस वार्तिक में **'कुतपवासाः सौश्रुतः कुतपसौश्रुतः'** निर्देश से यह महाभाष्यकार तथा वार्तिककार से भी प्राचीन प्रतीत होता है। इतना ही नहीं, पाणिनि द्वारा **'कार्तकौजपादयश्च'** (६-२-३७) इस सूत्र के गण में **'सौश्रुतपार्थिवाः'** में अपत्य अर्थ के सूचक प्रत्ययान्त सौश्रुत शब्द के दिया होने से न केवल सुश्रुत अपितु उसके वंश वाले अथवा उसके शिष्य और सम्बन्धी भी पाणिनि से प्राचीन प्रतीत होते हैं।

पाश्चात्त्य विद्वान् वेबर(१) का मत है कि महाभाष्यकार द्वारा **'सुश्रुत्-सौश्रुतः'** में हलन्त सुश्रुत शब्द दिया होने से कार्तकौजपादि गण में सौश्रुत शब्द के मिलने पर भी बाद में उसके प्रक्षिप्त होने से पाणिनि द्वारा उसके उपदिष्ट होने का निश्चय न होने से, भाष्यकार द्वारा उस सूत्र की व्याख्या न की होने से उसके पाणिनीय सिद्ध न होने से तथा महाभाष्यकार द्वारा सुश्रुत के वैद्यकाचार्य होने का प्रमाण न मिलने से महाभाष्य में आया हुआ सुश्रुत यही व्यक्ति है ऐसा निश्चय से नहीं कहा जा सकता। परन्तु ऐसी बात नहीं है।

शाक्यभिक्षु नागार्जुन शातवाहन का समकालीन सिद्ध होता है। ह्युन् सङ्ग ने बोधिसत्त्व तथा धातुवाद (रसायन) के विद्वान् होने से इसी शातवाहन के समकालीन नागार्जुन का सम्भवतः उल्लेख किया है। नागार्जुन द्वारा शातवाहन को रसायन गुटिका ओषधि के देने का उल्लेख भी मिलता है। बाणभट्ट के हर्ष चरित (उ. ८) में **समतिक्रामति च कियत्यपि काले तामेकावलीं तस्मान्नागराजान्नागार्जुनो नाम······लेभे च, त्रिसमुद्राधिपतये शातवाहनाय नरेन्द्राय सुहृदे स ददौ ताम्'** इस लेख से नागार्जुन द्वारा अपने मित्र शातवाहन को रत्नों की एकावली (हार) के देने के उल्लेख से इन दोनों की मित्रता तथा समान काल प्रतीत होता है। इस प्रकार शातवाहन का समकालीन बोधिसत्त्वस्थानीय अत्यन्त विद्वान् तथा तन्त्र विद्या में निपुण नागार्जुन रसायन तथा वैद्यक का भी विद्वान् प्रतीत होता है। इस प्रकार तन्त्रों से युक्त बौद्ध अध्यात्म-ग्रन्थ तत्त्वप्रकाश आदि भी इस तान्त्रिक तथा बोधिसत्त्व नागार्जुन के हो सकते हैं। पाटलिपुत्र के शिलापट्ट पर लिखे हुए **'नागार्जुनेन लिखिताः स्तम्भे पाटलिपुत्रके'** तथा वृन्द और चक्रपाणि द्वारा दिये गये 'नागार्जुन के अमुक २ रोग के प्रतिकार के लिये औषध-योग' भी इसी नागार्जुन के प्रतीत होते हैं। सप्तम शताब्दी का निर्देश करने वाला अल्बेरुनी का लेख ह्युन् सङ्ग के लेख से ही खंडित हो जाने के कारण, उसके अनुसार अन्य नागार्जुन के न मिलने से आनुश्रविक तथा काल्पनिक समय को लिखकर शातवाहन के समकालीन नागार्जुन से ही अभिप्राय प्रतीत होता है। माध्यमिक वृत्ति तथा उपायहृदय (छायानुवाद रूप से प्रकाशित) में तान्त्रिक विषयों से रहित केवल अध्यात्म प्रधान प्रौढ़ शैली के होने से इस तान्त्रिक नागार्जुन से भिन्न नागार्जुन की कृतियां प्रतीत होती हैं। उपायहृदय में दर्शन से भिन्न विषयों के प्रसङ्ग में भैषज्य विद्या के प्रधानविषय रूप ६ भैषज्य धर्मों का केवल साधारण रूप से (नाममात्र) निर्देश होने से तथा धातु रसायन आदि विषयों का बिलकुल उल्लेख न होने से इस उपायहृदय तथा माध्यमिक वृत्ति का निर्माता अन्य ही महायान पथ का स्थापक दार्शनिक आर्य नागार्जुन प्रतीत होता है। राजतरङ्गिणी में निर्दिष्ट नागार्जुन का बौद्ध होने पर भी राजा के रूप में उल्लेख किया गया है। माध्यमिक वृत्ति आदि के कर्ता नागार्जुन का कहीं भी राजा के रूप में उल्लेख न मिलने से केवल समान नामवाला राजा नागार्जुन कोई भिन्न ही व्यक्ति प्रतीत होता है।

(१) इसकी दि० उपो० संस्कृत पृ० ३४ का० १ देखें।

'भृत् भृतः, कर्मकृत् कर्मकरः' आदि शब्दों की तरह ही हलन्त सुश्रुत् शब्द क्विप् प्रत्ययान्त है तथा अदन्त सुश्रुत शब्द क्त प्रत्ययान्त है। ये दोनों शब्द केवल प्रत्यय भेद से आंशिक भेद को प्रकट करते हुए एक ही अर्थ के सूचक हैं। **'इको गुणवृद्धी'** इस सूत्र की व्याख्या में अन्तिम इकार तथा उकार को ही गुण हो सकने के कारण 'अग्नि, वायु, बभ्रु, माण्डु' इत्यादि इकारान्त तथा उकारान्त शब्दों में ही गुण होता है। उपधागत (**'अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा'** अर्थात् अन्तिम अल्—वर्ण से पूर्व वर्ण का नाम उपधा होता है) इकार, उकार में गुण नहीं होता यह दिखलाने के लिये हलन्त शब्द में ही प्रत्युदाहरण का दिया जाना संभव होने से तथा हलन्त सुश्रुत् शब्द में गुण न हो सकने के कारण (उपधा में उकार होने से) भाष्यकार ने **'सुश्रुत्–सौश्रुतः'** यह हलन्त शब्द दिया है। हलन्त सुश्रुत् शब्द की तरह अदन्त सुश्रुत शब्द से भी **'सौश्रुतः'** शब्द बनता है। बाभ्रव्य, माण्डव्य इत्यादि शब्द केवल बभ्रु तथा मण्डु से ही बन सकते हैं इसलिये इसमें प्रकृति (मूल शब्द) देने की आवश्यकता न होने से ही **'बभ्रुः–बाभ्रव्यः'** तथा **'मण्डुः–माण्डव्यः'** न लिखकर केवल बाभ्रव्य, माण्डव्य ही दिया है। इसी प्रकार यदि सौश्रुत शब्द भी केवल हलन्त सुश्रुत् शब्द से ही बनना सम्भव होता तो उस अवस्था में प्रकृतिरूप से हलन्त सुश्रुत् शब्द साथ में देने की आवश्यकता नहीं थी। हलन्त सुश्रुत शब्द की तरह अदन्त सुश्रुत शब्द से भी सौश्रुत शब्द बन सकता है। परन्तु उपधागत इकार, उकार की वृद्धि के उदाहरण के लिये अदन्त शब्द से बना हुआ सौश्रुत शब्द उपयोगी न होकर हलन्त शब्द से बना हुआ सौश्रुत शब्द उपयोगी है इसलिये अदन्त शब्द से बने हुए सौश्रुत शब्द में अर्थ का भेद न होने पर भी प्रकृति (मूल शब्द–हलन्त सुश्रुत शब्द) सहित **'सुश्रुत्–सौश्रुतः'** देना विशेष अर्थ रखता है। इसी प्रकार **'तद्धितेष्वचामादेः'** (७–२–११७) इस सूत्र की व्याख्या में भी अन्तिम उपधा की वृद्धि के अपवाद रूप में आदि अच् (स्वर) की वृद्धि करने में अदन्त सुश्रुत शब्द की उपधावृद्धि सम्भव न होने से तथा हलन्त सुश्रुत् शब्द ही इस उदाहरण के लिये उपयुक्त होने से भाष्यकार ने हलन्त प्रकृति (सुश्रुत्) के साथ सौश्रुत शब्द दिया है। इस प्रकार दोनों स्थानों में हलन्त प्रकृति (सुश्रुत्) शब्द देकर जो भाष्यकार ने अदन्त प्रकृति का निराकरण किया है उससे यह सिद्ध होता है कि अदन्त सुश्रुत शब्द से भी सौश्रुत शब्द बन सकता है। इसीलिये कार्तकौजपादि सूत्र में निर्दिष्ट **'सौश्रुतपार्थिवः'** तथा **गोत्रान्तेवासी माणवब्राह्मणेषु क्षेपे** (६–२–६९) सूत्र में निर्दिष्ट **'भार्यासौश्रुतः'** शब्द का यौगिक अर्थ दिखलाने के लिये काशिका, पदमञ्जरी(१) तथा न्यास आदि ग्रन्थों के रचयिताओं ने किसी स्थान पर **'सुश्रुतस्य छात्राः सौश्रुताः' 'सुश्रुताऽपत्यं सौश्रुतः'** तथा किसी २ स्थान पर **'कस्यचित् सुश्रुतोऽपत्यं सौश्रुतः'** इत्यादि निर्वचनों द्वारा दोनों अदन्त तथा हलन्त सुश्रुत शब्दों से सौश्रुत शब्द बनाया है। इससे प्रतीत होता है कि बहुत काल पूर्व इन व्याकरणाचार्यों द्वारा भी अदन्त तथा हलन्त दोनों शब्द सौश्रुतशब्द की प्रकृति के रूप में स्वीकार किये गये थे। यहां यह एक प्रश्न हो सकता है कि वार्तिककार तथा

(१) इसकी टि० उपो० संस्कृत पृ० ३४ कालम २ देखें।

भाष्यकार द्वारा दिये हुए **'कुतपसौश्रुतः'** तथा गणपाठकार द्वारा दिये हुए **'पार्थिवसौश्रुतः'** शब्दों में हलन्त सुश्रुत् शब्द से सौश्रुत शब्द की निष्पत्ति है या अदन्त सुश्रुत शब्द से दोनों में क्या भेद है। मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि पाणिनि के उपदेशरूप में मिलने वाले गणपाठ में आये हुए सब शब्द पाणिनि द्वारा ही उपदिष्ट हैं। समय प्रवाह से उसमें दूसरे शब्द भी पीछे से अनुप्रविष्ट हो सकते हैं किन्तु एक ही काल वाले प्राचीन भाष्यकार तथा वार्तिककार आदि द्वारा सूत्रों के उदाहरण में दिये होने से गणपाठ में आये हुए सौश्रुत शब्द को तथा विशेष वक्तव्य के न होने से व्याख्यारहित कुछ सूत्रों को केवल भाष्य में न दिया होने से उन सूत्रों को अपाणिनीय बतलाना दुःसाहस है। भाष्यकार द्वारा बहुत से अव्याख्यात सूत्रों को यदि अपाणिनीय कह दिया जाय तो उस २ अध्याय तथा पाद के अन्त में दी हुई सूत्रों की संख्या किस प्रकार पूरी हो सकती है। पाणिनि के कार्तकौजपादि गण में निर्दिष्ट शब्दों का अनुसन्धान करते हुए शेखर आदि व्याकरण ग्रन्थों में **'सौश्रुतपार्थिवाः'** शब्द के मिलने से भिन्न २ सौश्रुतों तथा पार्थिवों (राजाओं) का परस्पर संबन्ध प्रतीत होता है। तथा पार्थिव शब्द से भी सौश्रुतशब्द का पूर्व प्रयोग होने से प्रतीत होता है कि उस समय सौश्रुतों को राजाओं द्वारा भी सम्मान प्राप्त था। **'सौश्रुताः पार्थिवाश्च'** इस बहुवचन वाले समास में ही **'सौश्रुतपार्थिवाः'** शब्द बना होने से पाणिनि के समय में भी अनेक सुश्रुत सम्प्रदाय वाले वैद्यों का अनेक राजाओं के साथ सम्बन्ध प्रतीत होता है। सुश्रुतसंहिता सूत्रस्थान के युक्तसेनीयाध्याय(१) में वैद्य द्वारा अच्छी प्रकार निरीक्षण करके राजा की रक्षा करना, स्कन्धावार (शिविर छावनी) में भी राजा के साथ रहना तथा राजा द्वारा भी वैद्य का विशेष सन्मान करने का उल्लेख मिलता है। सूत्रस्थान के उपसंहार(२) में भी इस शास्त्र का राजाओं तथा महात्माओं द्वारा अध्ययन करने का निर्देश होने से इस शास्त्र के ज्ञाताओं (वैद्यों) के साथ राजाओं का विशेष संबन्ध सूचित किया गया है। **'शतं ते राजन् भिषजः सहस्रम्'** (ऋक् १–२४–९) इस मन्त्र के अंश द्वारा भी प्राचीन काल में राजाओं तथा वैद्यों का परस्पर संबन्ध सूचित होता है। महाभारत(३) तथा कौटिलीय(४) अर्थशास्त्र में भी युद्ध के प्रकरण में विशेषरूप से शस्त्रचिकित्सा के ज्ञाताओं का सहभाव निर्दिष्ट है। जिन्हें सदा शस्त्रास्त्रों से युद्ध करने पड़ते हैं उन सेना से युक्त राजाओं के साथ शल्यचिकित्सकों का होना आवश्यक भी है। सुश्रुत के शल्यचिकित्सक होने से ही उसके अनुयायी सौश्रुतों के भी राजाओं के साथ निकट संबन्ध के अनुसार प्रचलित हुए **'सौश्रुतपार्थिवाः'** शब्द को पाणिनि द्वारा गण में प्रविष्ट किया जाने से न केवल सुश्रुत अपितु उसके अनुयायी शल्यचिकित्सक सौश्रुतों की भी अत्यन्त प्राचीन काल से प्रसिद्धि तथा राजाओं द्वारा सम्मान की प्रतीति होती है। काशिका में **'सौश्रुतपार्थिवाः'** इस पाठान्तर के मिलने से सौश्रुतों का राजाओं के साथ यद्यपि संबन्ध ज्ञात नहीं होता तथापि इससे सौश्रुतों की प्रसिद्धि तथा सम्मान तो प्रतीत होता ही है। व्याकरण के अनुसार सुश्रुत का वैद्यकाचार्यत्व प्रतीत न होने पर भी **'सुश्रुतस्य छात्राः सौश्रुताः'**

(१) १ से ४ तक की टि० उपो० संस्कृत पृ० ३५ का० १ देखें।

द्वारा सौश्रुत शब्द का अर्थ लिखने वाले काशिकाकार तथा न्यासकार आदि प्राचीन वैयाकरणों के लेख से भी वह मूलभूत सुश्रुत साधारण व्यक्ति प्रतीत न होकर विद्या-सम्प्रदाय का प्रवर्तक होने से सौश्रुतों का आचार्य प्रतीत होता है। विद्या सम्प्रदाय के प्रवर्तक के रूप में इस शल्याचार्य सुश्रुत को छोड़कर अन्य किसी सुश्रुत का कहीं उल्लेख नहीं मिलता है। भिषगाचार्य सुश्रुत का नागार्जुन द्वारा उपायहृदय में, वाग्भट, नावनीतक, ज्वरसमुच्चय आदि में तथा जयवर्मा के शिलालेख में भी उल्लेख मिलने एवं इसी के ग्रन्थ का अरब आदि देशों में अनुवाद होने से, हरिवंश पुराण के सदृश दिवोदास का ब्राह्मण उपनिषत् आदि में मिलने से, सुश्रुतसंहिता में विश्वामित्र के पुत्र सुश्रुत द्वारा दिवोदास से आयुर्वेद के ग्रहण का उल्लेख होने से तथा महाभारत में भी विश्वामित्र के पुत्रों में सुश्रुत का उल्लेख होने से प्राचीन समय से ही इस शल्यचिकित्सक सुश्रुत की ही सम्प्रदाय-प्रवर्तक आचार्य के रूप में प्रसिद्धि प्रतीत होती है।

सुश्रुतसंहिता में आर्ष रचना के दिखाई देने, बौद्ध छाया न दीखने, रस धातु आदि औषधियों के प्रायः न मिलने, शौनक, कृतवीर्य, पाराशर्य, मार्कण्डेय, सुभूति गौतम आदि कुछ प्राचीन आचार्यों के ही उल्लेख होने तथा दिवोदास और सुश्रुत शब्द के स्वरप्रक्रिया में उदाहरणरूप में मिलने से सुश्रुताचार्य प्राचीन ही प्रतीत होता है। इस प्रकार प्राचीन काल से अत्यन्त प्रसिद्ध तथा सबके मस्तिष्क में विद्यमान शल्यचिकित्सक इस सुश्रुत को छोड़कर किसी दूसरे अनुपस्थित सुश्रुत की कल्पना करना व्यर्थ है। इस लिये व्याकरण के सूत्रकार, वार्तिककार तथा भाष्यकारों द्वारा निर्दिष्ट सुश्रुत भी यही है जो पाणिनि से पूर्व दिवोदास के समान ही उपनिषत्कालीन प्रतीत होता है। बलवान प्राचीन आश्रय को छोड़कर उदासीन नहीं होना चाहिये। कहा भी है—

'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्।'

इसके अतिरिक्त आग्नेय पुराण में (अ. २७९-२९२) नर, अश्व तथा गौओं से संबन्धित आयुर्वेद के विषय में जिज्ञासापूर्वक प्रश्न करने पर सुश्रुत को धन्वन्तरि द्वारा उसके उपदेश का वर्णन मिलने से धन्वन्तरि के समान उसका शिष्य सुश्रुत भी मनुष्यों के आयुर्वेद की तरह गौ तथा अश्व संबन्धी आयुर्वेद का भी ज्ञाता प्रतीत होता है। यह आग्नेय पुराण में आया हुआ सुश्रुत भी धन्वन्तरि के साहचर्य से सुश्रुतसंहिता का आचार्य (निबन्धा) ही प्रतीत होता है। एक व्यक्ति का अनेक विज्ञानों में प्रवेश होना प्रायः मिलता है। शालिहोत्र के ग्रन्थ में प्रष्टा (शिष्य) रूप से सुश्रुत का नाम आता है। अश्वशास्त्र के प्रवर्तक शालिहोत्र के विषय में श्री गिरीन्द्रनाथ(१) महोदय ने विशेष रूप से विवेचन किया है। कलकत्ता से प्रकाशित जयदत्त के अश्वचिकित्सा की भूमिका में भी कुछ वर्णन दिया है। एतद्विषयक विस्तृत विवरण वहीं से जानना चाहिये। शालिहोत्र ग्रन्थ का कुछ अंश कहीं २ पुस्तकालयों में संभवतः मिलता है। मैंने उसे नहीं देखा है तथापि पूर्वनिर्दिष्ट हेमाद्रि के लक्षणप्रकाश के अश्वप्रकरण में कुछ शालिहोत्र के अश्वशास्त्र संबन्धी वचन उद्धृत मिलते हैं। इसमें सुश्रुत(२) मित्रजित् तथा गान्धार आदि पुत्र एवं गर्ग आदि शिष्यों द्वारा प्रश्न किये जाने पर शालिहोत्र के अश्वसम्बन्धी उपदेश तथा प्रष्टा के रूप में शालिहोत्र के पुत्र सुश्रुत का उल्लेख मिलता है। शिष्य के लिये भी किसी २ ग्रन्थ में पुत्र शब्द का निर्देश मिलता है, परन्तु यहां **'पुत्राः शिष्याश्च पृच्छन्ति विनयेन महामुनिम्'** इस वाक्य द्वारा पुत्र एवं शिष्यों का पृथक् २ निर्देश होने से तथा सुश्रुत का अनेक बार पुत्र रूप से स्पष्ट उल्लेख होने से शालिहोत्र द्वारा अश्वशास्त्र के विषय में उपदिष्ट सुश्रुत शालिहोत्र का पुत्र ही प्रतीत होता है। इसके विपरीत सुश्रुतसंहिता में शल्यचिकित्सक सुश्रुत का विश्वामित्र के पुत्र रूप में निर्देश किया गया है। महाभारत आदि में भी ऐसा ही मिलता है। पूर्व निर्दिष्ट शालिहोत्रोक्त अश्वाभिषेक मन्त्रों में आयुर्वेद के आचार्यों का निर्देश करते हुए (पृ. १२) आत्रेय तथा उसके शिष्य अग्निवेश, हारीत, क्षारपाणि, जातूकर्ण्य, पराशर तथा अन्य आचार्यों का उल्लेख होने पर भी धन्वन्तरि तथा दिवोदास का उल्लेख नहीं मिलता, यदि शालिहोत्र तथा धन्वन्तरि द्वारा उपदिष्ट सुश्रुत एक ही हो तो अश्ववैद्यक के आचार्य शालिहोत्र या उसके शिष्य सुश्रुत ने आयुर्वेद के अन्य आचार्यों के साथ तत्कालीन एवं अत्यन्त प्रसिद्ध धन्वन्तरि तथा दिवोदास का उल्लेख क्यों नहीं किया। तथा सुश्रुतसंहिता के कर्ता सुश्रुत को भी अश्वशास्त्र के आचार्य होने पर भी एक प्रस्थान रूप में इतने प्रसिद्ध अपने पिता या आचार्य शालिहोत्र का कहीं प्रसङ्गवश तो निर्देश करना चाहिये था। अन्य आचार्यों के वैद्यक विषयों से भरे हुए तथा पीछे से मिलाये गये उत्तरतन्त्र में सुश्रुत, सौश्रुत या प्रतिसंस्कर्ता ने इसका नाम क्यों नहीं दिया। इस प्रकार शालिहोत्र का शिष्य एवं पुत्र सुश्रुत तथा धन्वन्तरि द्वारा उपदिष्ट विश्वामित्र का पुत्र सुश्रुत दोनों भिन्न २ व्यक्ति प्रतीत होते हैं।

शालिहोत्रेण गर्गेण सुश्रुतेन च भाषितम्।
तत्त्वं यद्वाजिशास्त्रस्य तत्सर्वमिह संस्थितम्॥

दुर्लभ गण कृत सिद्धोपदेशसंग्रह नामक अश्ववैद्यक ग्रन्थ के उपर्युक्त श्लोक में सुश्रुत का अश्ववैद्यक के उपदेष्टा के रूप में उल्लेख किया गया है। परन्तु अग्नि पुराण के अनुसार धन्वन्तरि के शिष्य सुश्रुत का भी अश्ववैद्यक का ज्ञाता होना प्रकट होता है। इस प्रकार यह नहीं कहा जा सकता कि इस श्लोक में अश्वशास्त्र के उपदेशक के रूप में दिया हुआ सुश्रुत शालिहोत्र का शिष्य है या धन्वन्तरि का। यदि शालिहोत्र तथा गर्ग के साहचर्य से इस दुर्लभ गणोक्त सुश्रुत को शालिहोत्र का शिष्य मान भी लें तो उसी के वचन के अनुसार इसका अश्वशास्त्र संबन्धी कोई ग्रन्थ होना चाहिये। परन्तु इस शालिहोत्र के पुत्र सुश्रुत का आजकल एतद्विषयक कोई ग्रन्थ नहीं मिलता है। उसके ग्रन्थ का उल्लेख वचनों का उद्धरण तथा नाम मात्र भी इस गणकृत ग्रन्थ के अतिरिक्त अन्य किसी भी आयुर्वेद के ग्रन्थ में नहीं मिलता है। इस लिये इस सुश्रुत के विषय में अब कुछ भी कहना कठिन है। ग्रन्थों के मिलने से, अन्य ग्रन्थों में निर्देश होने से, अन्य आचार्यों द्वारा ग्रहण किया जाने से तथा शिलालेख आदि के उल्लेख से धान्वन्तर सुश्रुत की जिस प्रकार प्रसिद्धि है वैसी शालिहोत्र के पुत्र सुश्रुत की प्रसिद्धि नहीं है। इस लिये जहां भी सुश्रुत के नाम का निर्देश

(१) १ से २ तक की टि० उपो० संस्कृत पृ० ३५ का० २ देखें।

मिलता है वहां साधक एवं बाधक प्रमाणों के अभाव में शल्यचिकित्सक एवं धान्वन्तर सुश्रुत की ही प्रतीति होती है।

कुछ लोग दोनों सुश्रुतों की एकता स्वीकार कर तथा शालिहोत्र के लेख से सुश्रुत को शालिहोत्र का पुत्र मानकर नकुलकृत अश्वचिकित्सा के **'पायाद्वः स तुरङ्गघोषतनयः श्रीशालिहोत्रो मुनिः'** इस प्रारम्भिक वाक्य में आये हुए तुरङ्गघोष शब्द से अश्वघोष का ग्रहण करके शालिहोत्र को उसका पुत्र मानते हैं। तथा पूर्व निर्देशानुसार शालिहोत्र का पुत्र सुश्रुत होने से शालिहोत्र तथा सुश्रुत को कनिष्क के समकालीन अश्वघोष से भी अर्वाचीन मानते हैं। परन्तु नेपाल से प्राप्त अश्वचिकित्सा की दो पुस्तकों में मङ्गलाचरण वाले उपर्युक्त पद्य के ही न दिये होने से मूल में ही यह मत खण्डित हो जाता है। परन्तु यदि उस पद्य को मान भी लिया जाय तो भी शालिहोत्र के ग्रन्थ तथा अन्य अश्वचिकित्सा के ग्रन्थों के प्रारम्भ में ब्रह्मा तथा इन्द्र के साथ आया हुआ तथा मूलसंहिता के कर्ता के रूप में निर्दिष्ट शालिहोत्र प्राचीन ही प्रतीत होता है। शालिहोत्र के ग्रन्थ में इक्ष्वाकु तथा सगर द्वारा शालिहोत्र से प्रश्न करने का निर्देश होना भी शालिहोत्र को प्राचीन सिद्ध करता है। शालिहोत्र का केवल पंचतन्त्र के प्रारम्भ में ही उल्लेख नहीं है अपितु महाभारत के वनपर्व(१) में अश्वों के पारखी नल की कथा में भी इसका उल्लेख है। वहां आये हुए शालिहोत्र का अश्वों के विशेषज्ञ रूप में वर्णन होने से तथा अन्य प्रकरण को देखकर वह यही आचार्य प्रतीत होता है। उपलब्ध शालिहोत्र संहिता चाहे शालिहोत्र की हस्तलिखित हो, चाहे प्रतिसंस्कृत हो और चाहे उसी के सम्प्रदाय वाले किसी अन्य व्यक्ति द्वारा उपदिष्ट हो परन्तु अश्वशास्त्र का परम आचार्य शालिहोत्र अत्यन्त प्राचीन व्यक्ति है इसमें किसी को सन्देह नहीं है। इस प्राचीन ऋषि का युधिष्ठिर के भाई नकुल द्वारा अपने ग्रन्थ के मङ्गलाचरण में आचार्यरूप में सन्मानपूर्वक ग्रहण किया जाना भी उचित है, इससे पूर्वापर ग्रन्थ की संगति भी ठीक बैठती है। प्राचीन काल से प्रसिद्ध इस ऋषि को छोड़कर तुरङ्गघोष से अश्वघोष की कल्पना करके शालिहोत्र तथा सुश्रुत को क्रमशः उसके पुत्र तथा पौत्र मानने से तो सारा इतिहास ही गड़बड़ हो जाता है। अश्वशास्त्र का प्रथम आचार्य (प्रवर्तक) यदि कनिष्क सामयिक अश्वघोष का पुत्र हो तो कनिष्क के बाद ही इसके शास्त्र का निर्माण होना चाहिये, उस अवस्था में कौटिलीय(२) अर्थशास्त्र में आये हुये अश्वशाला-निर्माण, आहार-कल्पना, उनकी जातियां तथा चिकित्सकों के नाम इत्यादि संक्षेप में मिलने वाले विषय उसमें कहां से आ गये। अशोक द्वारा भारतीय चिकित्सा के आधार पर अपने देश की तरह विदेशों में भी अश्व आदि पशुओं के चिकित्सालयों का उद्घाटन किया जाना किसके आधार पर माना जाय। यह स्पष्ट है कि अश्वघोष बुद्ध सम्प्रदाय का प्रधान आचार्य है। परन्तु शालिहोत्र के ग्रन्थ में अश्वाभिषेक प्रकरण में केवल श्रौत ऋषियों के नाम, ब्रह्मघोष, श्रौत-यज्ञविधान तथा घोड़ों को देवताओं के रूप में निर्देश करते हुए भी श्रौत एवं स्मार्त देवताओं का ही उल्लेख मिलने से शालिहोत्राचार्य वेदमार्गानुयायी प्रतीत होता है। शालिहोत्र ग्रन्थ तथा सुश्रुतसंहिता में बौद्ध छाया के न मिलने से भी ये दोनों बौद्धाचार्य अश्वघोष की सन्तति प्रतीत नहीं होती है। अश्वघोष का साकेतवर्ती तथा शालिहोत्र पश्चिमोत्तरप्रदेशवर्ती होना भी इसी बात को प्रकट करता है। अश्वघोष के पुत्र रूप में कल्पित शालिहोत्र के पुत्र सुश्रुत के साथ यदि शल्याचार्य सुश्रुत का अभेद माना जाय तो कनिष्क तथा अश्वघोष के समकालीन नागार्जुन ने उसके पौत्र रूप में माने गये सुश्रुत की सुप्रसिद्ध भिषगाचार्य रूप में कैसे प्रशंसा की है तथा इस अवस्था में नागार्जुन द्वारा सुश्रुतसंहिता का प्रतिसंस्कार किये जाने विषयक निर्देश का भी क्या अर्थ है? दोनों सुश्रुतों का अभेद तथा कनिष्क सामयिक होने पर पाणिनि, वार्तिककार (कात्यायन) तथा भाष्यकार आदि द्वारा सुश्रुत शब्द का ग्रहण कैसे संभव हो सकता है, इसलिये यह सब निरर्थक है।

अन्त में युक्तिपूर्वक विक्रम संवत् के पूर्व ६ ठी शताब्दी में सुश्रुत के समय को सिद्ध करने वाले हार्नले (A. F. Rudolp Hoernel) नामक पाश्चात्य(१) विद्वान् के लेख के अनुसार भी वह प्राचीन सिद्ध होता है। कुछ(२) विद्वान् कहते हैं कि पूर्णरूप से निश्चय न होने पर भी सुश्रुत का समय ईस्वी संवत् से ६०० वर्ष पूर्व है। कुछ अन्य(३) विद्वान् कहते हैं कि सुश्रुत में सात प्रकार के कुष्ठ का वर्णन मिलता है। इस रोग का भारत तथा चीन देश के निवासियों ने २५०० वर्ष पूर्व ज्ञान प्राप्त किया था। इस प्रकार सुश्रुत लगभग ढाई हजार (२५००) वर्ष प्राचीन प्रतीत होता है। सुश्रुत-संहिता का लैटिन भाषा में अनुवाद करने वाले ह्यासलर(४) (Hessler) नामक पाश्चात्य विद्वान् तथा श्रीयुत गिरीन्द्रनाथ(५) मुखोपाध्याय आदि ने भी ईस्वी सन् से लगभग एक सहस्र वर्ष पूर्व (ई० पू० १०००) सुश्रुत का समय निश्चित किया है।

इस प्रकार भिन्न २ विद्वानों के दृष्टिकोण से विचार करने पर सुश्रुतसंहिता के पूर्व भाग का समय कम से कम भी आज से २६०० वर्ष पूर्व प्रतीत होता है।

कुछ लोग सुश्रुतसंहिता में पूर्व आचार्यों की श्रेणी में निर्दिष्ट सुभूति गौतम को शाक्यसिंह का शिष्य मानकर सुश्रुत को बुद्ध के बाद का स्वीकार करते हैं। अष्टसाहस्रिका तथा शतसाहस्रिका आदि बौद्ध ग्रन्थों में यद्यपि सुभूति नाम अवश्य मिलता है परन्तु वहां आयुष्मत् सुभूति, स्थविर सुभूति आदि शब्द ही दिये गये हैं, सुभूतिगौतम का उल्लेख नहीं है। बौद्धग्रन्थों में सुभूति के अध्यात्म विषय का उल्लेख किया गया है। वैद्यक के आचार्यरूप में वहां उसका उल्लेख न मिलने से सुश्रुतसंहिता में आया हुआ सुभूतिगौतम बौद्ध न होकर अन्य ही प्राचीन वैद्याचार्य प्रतीत होता है। सुभूतिगौतम को यदि बौद्ध आचार्य माना जाय तो उसे भी पूर्व आचार्यों में गिनने वाले सुश्रुत के लेख में बौद्ध छाया अवश्य मिलनी चाहिये। बौद्ध छाया के न मिलने से सुभूतिगौतम बौद्ध नहीं हो सकता। स्थविर सुभूति का व्याकरण मिलने से केवल नाम की समानता होने से वह सुभूति भी प्राचीन तथा बुद्ध का प्रधान शिष्य प्रतीत होता है।

वैद्यक टीकाकारों द्वारा कहीं २ उद्धृत वृद्ध सुश्रुत के वचनों के दिखाई देने से तथा उन उद्धृत वचनों के वर्तमान सुश्रुतसंहिता में न मिलने से तथा **'औपधेनवमौरभ्रम्'** इत्यादि सुश्रुतोक्त पद्य में भी

(१) १ से २ तक की टि० उपो० संस्कृत पृ० ३६ का० २ देखें।

(१) १ से ५ तक की टि० उपो० संस्कृत पृ० ३७ का० १ देखें।

सौश्रुत का पृथक् निर्देश होने से कुछ लोग कहते हैं कि वर्तमान सुश्रुतसंहिता से भिन्न वृद्धसुश्रुत का सौश्रुत तन्त्र पूर्वकाल में विद्यमान था। परन्तु सुश्रुतसंहिता में वृद्धसुश्रुत का पूर्वाचार्यों में निर्देश न होने से, महाभारत के आदि में भी विश्वामित्र के पुत्र के रूप में केवल सुश्रुत का ही उल्लेख होने से, महाभाष्यकार, नावनीतक, नागार्जुन, वाग्भट तथा ज्वरसमुच्चय आदि में सुश्रुत नाम का ही निर्देश होने से, अरब आदि दूर देशों में भी इस सुश्रुत की संहिता का ही अनुवाद एवं प्रचार होने से, कम्बोडिया स्थित यशोवर्मा के शिलालेख में भी सुश्रुत का ही उल्लेख होने से, वृद्धसुश्रुत नाम से मिलने वाले वचनों में प्राचीन रचना एवं प्रौढता न दिखलाई देने से, उसके वचनों के अनुसार वृद्ध सुश्रुत का शल्याचार्य सिद्ध न होने टीकाकारों एवं अर्वाचीन लेखकों द्वारा कहीं २ उद्धृत वृद्ध सुश्रुत से कौन है, कब हुआ है, इसका कौन सा ग्रन्थ है, किस प्रस्थान (विभाग) का यह आचार्य है—इत्यादि सब विषयों के अज्ञात होने से पूर्वोद्दिष्ट दिवोदास के शिष्य, प्रसिद्ध एवं विश्रुत सुश्रुत को छोड़ कर अज्ञात वृद्ध सुश्रुत को शल्यतन्त्र का पूर्वाचार्य सिद्ध करने के लिये अत्यन्त दृढ प्रमाणों की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त—

औपधेनवमौरभ्रं सौश्रुतं पौष्कलावतम्।
शेषाणां शल्यतन्त्राणां मूलान्येतानि निर्दिशेत्॥

उपर्युक्त श्लोक सुश्रुतसंहिता के उपक्रम में काशीराज दिवोदास के पास शिष्यरूप से आये हुए औपधेनव, औरभ्र, पौष्कलावत, करवीर्य, गोपुर रक्षित, सुश्रुत आदि का निर्देश करके कहा गया है। इनमें औपधेनव, औरभ्र, पुष्कलावत तथा सुश्रुत द्वारा बनाये हुए तन्त्रों का निर्देश करने के लिये तदीयार्थक प्रत्ययान्त सौश्रुत आदि पद दिये गये हैं। सब तन्त्रों में इसकी प्रधानता दिखाने के लिये ही अपने ही ग्रन्थों में पुनः सौश्रुत शब्द दिया गया है। यदि इस सौश्रुत शब्द को देखकर अन्य सुश्रुत की कल्पना की जाय तो उस न्याय से औपधेनव आदि आचार्यों के तन्त्र भी पृथक् रूप में मिलने चाहिये। अपने ग्रन्थ में अपना ही नाम उल्लेख करने की प्रथा कौटिलीय अर्थशास्त्र आदि प्राचीन ग्रन्थों में भी मिलती है। इसलिये औपधेनव आदि तन्त्रों के समान अपने तन्त्र (सुश्रुतसंहिता) की प्रधानता दिखलाने के लिये अपने नाम का निर्देश करना अनुचित नहीं है। उपलब्ध सुश्रुतसंहिता में कहीं २ जो अर्वाचीन विषयों की प्रतीति होती है वह संस्कार के कारण या पाठभेद के दोष से संभव है जिसका विवरण पीछे संस्करण के प्रकरण में दिया जायगा।

वैदिक अवस्था में आर्यों के निवास स्थान की परिस्थितियों के अनुसार विभक्त वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त तथा शिशिर इन ६ ऋतुओं का वैदिक साहित्य(१) में उल्लेख मिलता है। इनमें वसन्त या अन्य किसी एक ऋतु से प्रारम्भ करके समाप्त किये हुए ऋतु पर्यावर्त (ऋतुओं के चक्कर) को संवत्सर कहते हैं। प्राचीन परिस्थितियों में निर्मित यह ऋतु विभाग बाद में **'वसन्तादिभ्यष्ठक्'** (४-२-६३) सूत्र द्वारा पाणिनि द्वारा भी ग्रहण किया गया है तथा आजकल भी लोक में प्रचलित है। सुश्रुतसंहिता के ऋतुचर्याध्याय में पहले उत्तरायण आदि को प्रारम्भ करके प्रचलित प्रक्रिया के अनुरूप शिशिर से प्रारम्भ करके हेमन्त तक ६ ऋतुओं का निर्देश करके पुनः अगले ही वाक्य में सर्दी, गर्मी तथा वर्षा के भेद से तीनों दोषों के उपचय (संचय), प्रकोप एवं संशमन की अवस्था के अनुसार अमुक समय में उपचित एवं प्रकुपित दोष को अमुक समय में शान्त करना चाहिये इत्यादि भैषज्य प्रक्रिया के उपयोगी ऋतु को बतलाने के लिये **'इह तु'** इत्यादि द्वारा दक्षिणायन वाले विभाग को दिया है। इसमें वर्षा, शरद्, हेमन्त, वसन्त, ग्रीष्म तथा प्रावृट् ऋतुओं का उल्लेख होने से प्रथम प्रक्रिया (ऋतुविभाग) में चार मास सर्दी के तथा दो मास वर्षा के आते हैं। और द्वितीय प्रक्रिया में दो मास सर्दी के और चार मास वर्षा के होते हैं। दूसरी प्रक्रिया चिकित्साविज्ञान के उपयोग के लिये प्रतीत होती है। काश्यपसंहिता में ऋतु सम्बन्धी अध्याय के खण्डित होने पर भी आत्रेय और भेडसंहिता में भैषज्य सम्बन्धी द्वितीय ऋतुविभाग का ही ग्रहण किया गया है। इस प्रकार आयुर्वेदीय पद्धति में चिकित्सा की दृष्टि से हेमन्त एवं शिशिर के अभेद तथा प्रावृट् और वर्षा के भेद को प्रकट करते हुए ऋतु विशेष का ग्रहण करने के लिये ही **'इह तु'** इत्यादि पद से आयुर्वेदीय मार्ग के अनुसार स्वदेश के अनुरूप ऋतुविभाग सुश्रुत में दिया गया है। किसी टीकाकार ने **'इह'** शब्द का उपर्युक्त अर्थ किया है। परन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि किसी शास्त्र में सार्वदेशिक ऋतुविभाग को एक रूप से कहना संगत नहीं प्रतीत होता। भारत या अन्य किसी भी देश में सब जगह एक समान ऋतु विभाग नहीं हो सकता। प्रत्येक देश में सर्दी तथा गर्मी के भेद से ऋतुएँ प्रायः बदलती रहती हैं। सिंहल प्रदेश (लंका-सीलोन) में प्रायः सदा छओं ऋतुएँ समान होती हैं। परन्तु ऐसा सब जगह नहीं हो सकता। कहीं बहुत देर तक अत्यन्त सर्दी पड़ती है, कहीं बहुत देर तक भयंकर गर्मी पड़ती है और कहीं वर्षा की बहुलता होती है। मद्रास आदि दक्षिण के प्रदेशों में मार्गशीर्ष तथा पौष में आम की मंजरियां (बौर) आ जाती हैं और फाल्गुन तथा चैत्र में उसके फल भी पक जाते हैं। ज्यों २ ऊपर पर्वतीय प्रदेश की ओर चलते जांय त्यों २ आम पकते हैं। इस प्रकार पर्वतीय प्रदेश होने से नेपाल में वैशाख में आम में बौर आता है और अन्त में भाद्रपद तथा आश्विन में इसके फल पकते हैं। इसी प्रकार शाक, पुष्प, फल तथा औषधि आदि के पकने का समय भी देशभेद से भिन्न २ होता है। देश के अनुसार सर्दी-गर्मी तथा जलवायु आदि में परिवर्तन हो जाने के कारण जहां जैसी परिस्थिति हो, उसी के अनुसार गुण तथा दोषों को जानकर चिकित्सकों को चिकित्सा कार्य में प्रवृत्त होना चाहिये, इसलिये 'इह तु' पद से आचार्य का उपदेश स्थल प्रतीत होता है। पूर्व प्रचलित ऋतु विभाग का प्रारम्भ में निर्देश करके **'इह तु'** के द्वारा उपदेश स्थल में दूसरे ऋतु विभाग में प्रावृट् तथा वर्षा रूप वृष्टि के समय के दुगुने दिये होने से वह स्थान ऐसा होना चाहिये जहां सर्दी दो मास तथा वर्षा चार मास होती है। स्थानभेद से वर्षा का तारतम्य (कमी अथवा अधिकता) देखने में आता ही है। भारत में भी ग्रीष्म के अन्त में बंगाल की खाड़ी अथवा अरब सागर से जल लेकर उठे हुए बादल (मानसून) वायव्य दिशा की ओर बढ़ता हुआ उन २ प्रदेशों में क्रमशः वर्षा करता जाता है तथा हिमालय या अन्य ऊँचे पहाड़ों

(१) १ की टि० उपो० संस्कृत पृ० ३७ का० २ देखें।

की चोटियों से रुककर पश्चिम दिशा में न जा सकने के कारण चिरापूंजी (Cherapunji) आदि स्थानों में बहुत अधिक वर्षा करता है। ज्यों २ ये प्राकृतिक परिस्थितियां अधिक पैदा होंगी त्यों २ वर्षा के समय की अधिकता बढ़ती जायगी यह वैज्ञानिकों का सिद्धान्त है। सुश्रुत में दिये हुए भैषज्यानुकूल द्वितीय ऋतु विभाग में वर्षा तथा प्रावृट् ऋतु का पृथक् २ निर्देश किया गया है। काशी में वर्षा समय के द्वैगुण्य का अभाव होने से इस द्वितीय ऋतुविभाग का वहां होना सम्भव न होने से **'इह तु'** पद से उसी द्वितीय ऋतुविभाग के ही अनुरूप कोई दूसरा प्रदेश प्रतीत होता है। सुश्रुत की टीका में काश्यप के नाम से निम्न श्लोक मिलते हैं।

भूयो वर्षति पर्जन्यो गङ्गाया दक्षिणे जलम्।
तेन प्रावृषवर्षाख्यौ ऋतू तेषां प्रकल्पितौ॥
गङ्गाया उत्तरे कूले हिमवद्गिरिसंकुले।
भूयः शीतमतस्तेषां हेमन्तशिशिरावृतू॥

इन श्लोकों के द्वारा गङ्गा के उत्तर में हिमालय प्रदेश में हेमन्त शिशिररूप शीतद्वैगुण्य तथा गङ्गा के दक्षिण में प्रावृट् वर्षारूप वृष्टिद्वैगुण्य का बोध होता है। यहां **'गङ्गा'** पद से वाराणसीगत गङ्गा का ग्रहण नहीं है क्योंकि वहां गङ्गा के दक्षिण तथा उत्तर में उपर्युक्त भेद प्रतीत नहीं होता है। अपितु गङ्गाद्वार से निकलने वाली गङ्गा का ग्रहण है क्योंकि वहां उत्तर में शीतद्वैगुण्य तथा दक्षिण में वृष्टिद्वैगुण्य का होना सम्भव है। उपर्युक्त सिद्धान्त से **'इह तु'** इस पद से वृष्टि समय द्वैगुण्य वाले गङ्गा के दक्षिण भाग में स्थित किसी प्रदेश का ग्रहण होना चाहिये।

यद्यपि भावप्रकाश(१) में विश्वामित्र द्वारा अपने पुत्र सुश्रुत को अन्य सौ मुनि पुत्रों के साथ दिवोदास से वैद्यक विद्या के अध्ययन के लिये काशी भेजने का निर्देश होने तथा सुश्रुत-संहिता में भी आश्रम में विद्यमान काशीराज दिवोदास के पास जाकर सुश्रुत आदियों के अध्ययन का उल्लेख होने से काशी स्थित किसी आश्रम में सुश्रुत आदियों को उपदेश दिया गया प्रतीत होता है। परन्तु **'इह तु'** द्वारा निर्दिष्ट उपर्युक्त वृष्टिद्वैगुण्य समय के काशी में संभव न होने से तथा महाभारत में आई हुई दिवोदास की कथा में हैहयों द्वारा आक्रान्त दिवोदास का राज्य छिन जाने पर भरद्वाज के आश्रम में जाने का उल्लेख मिलने से संभवतः राज्य छिन जाने पर मुनि के आश्रम में अथवा प्राचीन राजाओं के अन्तिम अवस्था में वानप्रस्थ की प्रथा के मिलने से वानप्रस्थी होकर आश्रम में जाकर वृष्टिसमय की अधिकता वाले गङ्गाद्वार के दक्षिणस्थ किसी प्रदेश में दिवोदास द्वारा सुश्रुत को उपदेश दिया जाना प्रतीत होता है। इस प्रकार **'इह तु'** पद से आश्रमस्थ का अभिप्राय प्रतीत होता है। आश्रम आकर उपदेश करने पर भी दिवोदास को पूर्वाधिपत्य की दृष्टि से सुश्रुत में काशिराजरूप से निर्देश किया गया प्रतीत होता है। महाभाष्यकार द्वारा शाकपार्थिवादि (२-३-७०) गण के उदाहरण में **'कुतपवासाः सौश्रुतः कुतपसौश्रुतः'** के निर्देश द्वारा सौश्रुतों के कम्बलरूप कुतप (छाग कम्बल-A sort of blanket-made of the hair of mountaian goat Poa Cynosuroides) की प्रधानता का उल्लेख होने से सुश्रुत की सन्तति या शिष्यों का भी हिमालय के समीप किसी देश में रहने की कल्पना होती है। प्रचण्ड गरमी से सिर को तपाने वाली वाराणसी में रहने पर कुतप प्राधान्य (कुतपरूप कम्बल ओढ़ना) युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता।

यहां उपर्युक्त दो ऋतुविभागों का उल्लेख देखकर श्रीयुत एकेन्द्रनाथ घोष(१) का मत है कि गणित के हिसाब से संहिता के निर्माण तथा संस्करण में १५०० (डेढ़ हजार) वर्ष का अन्तर प्रतीत होता है। तथा पूर्वोक्त वर्णन के अनुसार धन्वन्तरि, दिवोदास तथा सुश्रुत में इतने समय का व्यवधान नहीं हो सकता। सुश्रुत के अनुयायी या किसी अन्य व्यक्ति द्वारा बाद में किये हुए संस्करण में यह संभव है। परन्तु सुश्रुतसंहिता के संस्करण युक्त इस उत्तरतन्त्र का ही सातवीं-आठवीं शताब्दी में अरब आदि देशों में अनुवाद मिलने से तथा कम्बोडिया में मिले हुए यशोवर्मा के शिलालेख में भी इसका उल्लेख मिलने से इतने दूर देशों में इसका प्रचार होने के लिये विशेष काल की अपेक्षा होने से तथा वाग्भट, ज्वरसमुच्चय आदि में भी उत्तरतन्त्र के मिलने से नागार्जुन द्वारा इसके संस्कार का उल्लेख होने पर भी इस वर्तमान रूप में उपस्थित संस्कारयुक्त संहिता का समय अन्ततोगत्वा १७-१८ सौ वर्ष पूर्व का निश्चित होने से इसमें उपरिनिर्दिष्ट १५०० (डेढ़ हजार) वर्ष मिलाने से मूल-संहिता का काल ३२०० वर्ष पूर्व निश्चित होता है।

धन्वन्तरि दिवोदास, वार्योविद(२) तथा वामक(३) काशीपति रूप से निर्देश होने से प्रतीत होता है कि बहुत से वैद्याचार्य राजर्षियों द्वारा प्राचीन काल में काशी में वैद्यकविद्या की प्रतिष्ठा की गई थी। बुद्धकालीन काशी के युवराज ब्रह्मदत्त का आयुर्वेद विद्या के अध्ययन के लिये तक्षशिला जाने के जातक ग्रन्थों में किये गये उल्लेख से पूर्वपरम्परागत आयुर्वेद विद्या की रक्षा के लिये काशी के राजकुल में अनुराग प्रकट होता है। सुश्रुतसंहिता में औपधेनव, औरभ्र सौश्रुत तथा पौष्कलावत आदि चारों का समान रूप से निर्देश होने से तथा इनमें से किसके तन्त्र का उस समय विशेष प्रचलन था इसका निर्देश न मिलने पर भी नागार्जुन तथा टीकाकारों द्वारा सुश्रुत तथा सौश्रुत का विशेष ग्रहण किया होने से तथा औपधेनव आदि के नाम का भी निर्देश न होने से यह कल्पना की जा सकती है कि सुश्रुत का सम्प्रदाय पश्चिम दिशा में तथा विशेषरूप से पूर्व के देशों में प्रचलित था। यह तो निश्चय से नहीं कहा जा सकता कि पश्चिम देशों में काय चिकित्सा तथा काशी आदि पूर्व के देशों में सुश्रुत की शल्यचिकित्सा ही प्रचलित थी। काशी के धन्वन्तरि सम्प्रदाय में भी आठों प्रस्थानों (विभागों) का उल्लेख मिलता है। **'विविधानि शास्त्राणि भिषजां प्रचरन्ति लोके'** द्वारा स्वयं आत्रेय ने भी सब स्थानों में अनेक चिकित्सा-विज्ञानों के प्रचार का उल्लेख किया है। चरकसंहिता के अनुसार पाञ्चाल तथा काम्पिल्य आदि देशों में, भेड के लेखानुसार गान्धार में तथा काश्यप के अनुसार गङ्गाद्वार पर स्थित कनखल आदि में आयुर्वेद विद्या के उपदेश का उल्लेख मिलने से उन २ स्थानों पर भी इस

(१) इसकी की टि० उपो० संस्कृत पृ० ३८ का० २ देखें।

(१) १-३ की टि० उपो० संस्कृत पृ० ३८ देखें।

विद्या की प्रतिष्ठा प्रतीत होती है। इस प्रकार न केवल गान्धार अपितु बाह्लीक भिषग् काङ्कायन के उल्लेख से, बाह्लीक से लेकर काशी पर्यन्त पश्चिमोत्तर देशों में आयुर्वेद के प्रचार तथा उन्नति का अनुमान होता है। परन्तु जातक ग्रन्थों में काशी के युवराज ब्रह्मदत्त द्वारा तक्षशिला जाकर आयुर्वेद के अध्ययन के उल्लेख से, महावग्ग के अनुसार मगधनिवासी बुद्ध-समकालीन जीवक द्वारा समीपस्थ काशी की उपेक्षा करके तक्षशिला जाक र भैषज्य विद्या में विशेष कुशलता प्राप्त करके लौटने पर विद्या प्राप्त करके काशिराज पद पर प्रतिष्ठित ब्रह्मदत्त के समय किसी सेठ के पुत्र के पेट का ऑपरेशन द्वारा काशी में शस्त्रचिकित्सा की प्रतिष्ठा तथा अन्य भी बहुत से रोगियों को शस्त्रचिकित्सा तथा कायचिकित्सा द्वारा नीरोग करने के कारण उत्पन्न हुई जीवक की ख्याति के उल्लेख मिलने से तथा देशदेशान्तर से विद्या प्राप्ति के लिये जिज्ञासुओं के तक्षशिला आने का जातक ग्रन्थों में निर्देश मिलने से कालक्रम से बुद्ध के समय अन्य विद्याओं की तरह भैषज्य विद्या (विशेष रूप से शल्य-विज्ञान) की भी काशी की अपेक्षा तक्षशिला में अधिक प्रतिष्ठा एवं उन्नति प्रतीत होती है। बाद में काशी में समय २ पर राज्यों के उलटफेर के इतिहास मिलने से भी क्रमशः काशी में आयुर्वेद विद्या के ह्रास तथा आचार्य विशेषों द्वारा चर्चा बाहुल्य के कारण तक्षशिला में उन्नति की सम्भावना हो सकती है। अन्ततोगत्वा अशोक के समय अपने देश के समान विदेशों में भी चिकित्सालयों के उद्घाटन द्वारा यह आयुर्वेद विद्या दूर २ तक फैल गई। परन्तु बाद में कालक्रम से तक्षशिला के समान उस विद्यापीठ में भी विद्या का ह्रास हो गया। इसका कारण भी इतिहास में मिलने वाले राजविप्लव ही होने चाहिये। इसी प्रकार बुद्ध के समय तक्षशिला की अपेक्षा काशी में विद्या का ह्रास हो गया होगा।

आत्रेय—

'इन्द्रः ऋषिभ्यश्चतुर्भ्यः कश्यपवसिष्ठात्रिभृगुभ्यस्ते पुत्रेभ्यः शिष्येभ्यश्च प्रददुर्हितार्थम्' द्वारा काश्यपसंहिता में पूर्व सम्प्रदाय के उल्लेख के मिलने से आयुर्वेद में अत्रि का भी एक सम्प्रदाय प्रतीत होता है। यहां आत्रेय गोत्रवाले भिक्षुरात्रेय, कृष्णात्रेय तथा पुनर्वसु आत्रेय नामक आचार्य मिलते हैं। अन्य भी अनेक अत्रि परम्परा वाले आचार्य हो सकते हैं। जिस प्रकार कौमार-भृत्य संहिता में कश्यप परम्परा में मारीच विशेषण युक्त कश्यप मूल आचार्य है उसी प्रकार आत्रेय परम्परा में पुनर्वसु विशेषण वाला आत्रेय-अग्निवेश आदि का उपदेशक तथा चरक संहिता में मूल उपदेशक आचार्य है। उसी पुनर्वसु आत्रेय को माता के नाम के अनुसार चरक में—**'यथाप्रश्नं भगवता व्याहृतं चान्द्रभागिना'** (सू.अ.१३) तथा भेडसंहिता में **'सुश्रोता नाम मेधावी चान्द्रभागमुवाच ह'** (पृ. ३९) द्वारा चान्द्रभाग तथा चान्द्रभागी नाम से कहा गया है। चरक में—**'त्रित्वेनाष्टौ समुद्दिष्टाः कृष्णात्रेयेण धीमता'** (सू. अ. ११) तथा भेडसंहिता में **'कृष्णात्रेयं पुरस्कृत्य कथाश्चक्रुर्महर्षयः'** इत्यादि पदों के आधार पर कुछ लोग यह भी कहते हैं कि पुनर्वसु आत्रेय को ही कृष्णात्रेय नाम से व्यवहृत किया गया है। इसके विपरीत कृष्णात्रेय नाम से दिये हुए शालाक्य विषयक उद्धरणों को देखकर श्रीकण्ठदत्त तथा शिवदास आदि कहते हैं कि कृष्णात्रेय आत्रेय पुनर्वसु से भिन्न ही व्यक्ति चरकसंहिता में आदि से अन्त तक आत्रेय अथवा पुनर्वसु आ नाम से व्यवहार होने से, भेडसंहिता में भी पुनर्वसु आत्रेय का निर्देश होने से, आत्रेय परम्परा वाले कृष्णात्रेय नामक किसी अ आचार्य के मत का भी चरक तथा भेडसंहिता में दिया होना सं होने से तथा कृष्णात्रेय और पुनर्वसु आत्रेय का कहीं भी ए प्रयोग न मिलने से कृष्णात्रेय तथा पुनर्वसु आत्रेय भिन्न २ आच प्रतीत होते हैं।

चरक संहिता में आत्रेय पुनर्वसु द्वारा वार्योविद तथा उस सहभावी मारीच कश्यप का पूर्व आचार्य के रूप में उल्लेख कि होने से मारीच कश्यप के बाद तथा चरक संहिता के अनुस काम्पिल्य की राजधानी पाञ्चाल देश में स्थित पुनर्वसु आत्रे आचार्य प्रतीत होते हैं। काश्यपसंहिता के चतुष्पाद वर्णन में नि श्लोक दिया है—

> **अस्य पादचतुष्कस्य मन्यन्ते श्रेष्ठमातुरम्।**
> **तदर्थं गुणवन्तो हि त्रयः पादा इहेप्सिताः॥**
> **नेति प्रजापतिः प्राह भिषङ्मूलं चिकित्सितम्।**

उपर्युक्त श्लोक के अनुसार काश्यपसंहिता में केवल चतुष्पा का वर्णन है और वह भी संक्षिप्त रूप में। इसके विपरीत चरक संहिता में पहले खुड्डाक चतुष्पाद अध्याय में उन चतुष्पादों चातुर्गुण्य के द्वारा षोडशकलाओं का वर्णन करके अगले महाचतु ष्पाद अध्याय में उसी की विस्तृत व्याख्या होने से कश्यप तथ आत्रेय का क्रमशः पौर्वापर्य प्रतीत होता है। तथा कश्यप के सम की अपेक्षा आत्रेय के समय क्रमप्राप्त अधिक विकसित अवस्थ दृष्टिगोचर होती है।

इसी प्रकार रोगों का वर्णन करते हुए भी काश्यपसंहिता संक्षेप से ही रोग दिये हैं तथा उनसे संबद्ध विषयों को भी केवर एक २७ वें अध्याय में ही दिया गया है जब कि आत्रेय संहिता इस विषय के चार अध्याय दिये हैं। इनमें से एक महारोगाध्या में ही काश्यपोक्त सब विषयों को दे दिया गया है तथा इससे पूर्व कियन्तःशिरसीय आदि तीन अध्यायों में अन्य विषयों के दिये होने से इसमें विकसित अवस्था दृष्टिगोचर होती है। इस प्रकार अने उदाहरण मिल सकते हैं।

न केवल कश्यप तथा आत्रेय का पौर्वापर्य ही है अपितु चरक संहिता में गर्भावक्रान्ति विषयक नाना मतों के वर्णन में **'विप्रतिपत्तिवादास्त्वत्र बहुविधाः सूत्रकारिणामृषीणां सन्ति'** के द्वार कुमारशिरा भरद्वाज, काङ्कायन, भद्रकाप्य, भद्रशौनक, वडिश, वैदेह जनक तथा धन्वन्तरि आदि आचार्यों के साथ सूत्रकर्ता ऋषि के रूप में स्वयं मारीच कश्यप का नाम लेकर उसके मत का उल्लेख किया होने से स्पष्ट है कि आत्रेय संहिता के निर्माण के पूर्व ही अन्य ग्रन्थों को तरह मारीच कश्यप का ग्रन्थ भी विद्यमान एवं प्रसिद्ध था।

चरकसंहिता के महाचतुष्पाद अध्याय में मैत्रेय (प्रतिपक्षी) के ***'प्रतिकुर्वन् सिध्यति प्रतिकुर्वन्म्रियते, अप्रतिकुर्वन्सिध्यति,**

---

* **सिध्यति प्रतिकुर्वाण''वर्णोत्साहसमन्विता।** भेडसंहितायां पृ.(१५ यहां भेड द्वारा शौनक नाम से गृहीत प्रतिपक्षी के मत का

अप्रतिकुर्वन्म्रियते तस्माद्भेषजमभेषजेनाविशिष्टम्' इस सिद्धान्त का खण्डन करते हुए **'मिथ्या चिन्त्यत इत्यात्रेयः'** द्वारा आत्रेय का सिद्धान्त दिया है। इसी के समान भेडसंहिता के चतुष्पाद अध्याय में भी इसी उपर्युक्त सिद्धान्त का खण्डन करके नामोल्लेख सहित आत्रेय का बिलकुल मिलता जुलता मत दिया होने से तथा चरक संहिता में भरद्वाज से प्राप्त आयुर्वेद विद्या को विशद करके पुनर्वसु आत्रेय द्वारा उपदिष्ट उसके अग्निवेश, भेड आदि ६ शिष्यों ने ग्रहण करके पृथक् २ तन्त्रों का निर्माण किया। इस उल्लेख के मिलने से उसी के अनुसार भेडसंहिता के प्रत्येक अध्याय में **'इत्याह भगवानात्रेयः'** द्वारा उपदेशक (आचार्य) रूप में आत्रेय का निर्देश होने से तथा पूर्वाचार्यों के वर्णन में कश्यप के भी नाम का उल्लेख होने से भेड की अपेक्षा आत्रेय के समान कश्यप की भी प्राचीनता निर्विवाद सिद्ध है।

भेडसंहिता में आत्रेय तथा कश्यप का नाम दिया है, काश्यप संहिता में भेड तथा आत्रेय पुनर्वसु का नाम दिया है तथा आत्रेय संहिता में मारीच कश्यप का नाम दिया है। इस प्रकार परस्पर नामोल्लेख होने से तथा चरक संहिता में आत्रेय द्वारा वार्योविद तथा मारीच कश्यप का प्रतिपक्षी के रूप में तथा काश्यप संहिता में कश्यप द्वारा वार्योविद को उपदेश देने का उल्लेख मिलने से समकालीन अनेक प्रसिद्ध आचार्यों के परस्पर मत तथा नामोल्लेख की संभावना होने से भेड से कुछ समय पूर्व तथा परस्पर नामोल्लेख सहित एक दूसरे के मत का निर्देश करने वाले आत्रेय तथा मारीच कश्यप परस्पर समकालीन प्रतीत होते हैं। अथवा जिस प्रकार इस काश्यपसंहिता में अपने ग्रन्थ के निबन्धा एवं प्रतिसंस्कर्ता वृद्धजीवक तथा वात्स्य के नाम तथा मत का उल्लेख कश्यप द्वारा संभव होने से बाद में संस्कार अथवा प्रतिसंस्कार के समय का माना जाना चाहिये। उसी प्रकार बाद में होने वाले भेड आदि का नाम तथा मतोल्लेख भी पीछे संस्करण के अवसर पर अनुप्रविष्ट हुआ प्रतीत होता है।

इसके अनुसार कौटिलीय अर्थशास्त्र आदि प्राचीन ग्रन्थों में मानव, बृहस्पति, वातव्याधि आदि तथा यास्क द्वारा गृहीत अन्य पूर्वाचार्यों का भी पक्ष प्रतिपक्षरूप से उल्लेख होने पर भी इतने मात्र से इन्हें समकालीन नहीं कहा जा सकता। पुस्तकों में लिखे हुए अतीत आचार्यों के विषयों को देखकर भी परस्पर विमर्शरूप से लिखने की भी प्राचीन शैली है। इससे अन्य आचार्यों के एकत्र नाम एवं मतोल्लेख मात्र से उन्हें समकालीन कहना उचित नहीं है। पूर्व एवं पश्चात् के दो आचार्यों का जहां परस्पर एक दूसरे का नाम एवं मतोल्लेख करना संभव प्रतीत नहीं होता वहां भी बाद में किये गये संस्करणों में पूर्व एवं उत्तरकालीन आचार्य का परस्पर नाम एवं मतोल्लेख संभव है, जैसा कि इस ग्रन्थ में प्रतिसंस्करण के कारण जीवक एवं वात्स्य का नाम एवं मतोल्लेख कई स्थानों पर किया गया है। अथवा दो समकालीन आचार्यों का स्वयं भी परस्पर नाम एवं मतोल्लेख संभव है। इस प्रकार बाद में प्रतिसंस्करण किये हुए ग्रन्थों में परस्पर नाम आदि देखकर उनके पौर्वापर्य अथवा समकालीनता का निश्चय करने के लिये सूक्ष्म दृष्टि एवं अन्य साधनों से इनका विवेचन करना आवश्यक है।

चरक में मैत्रेय नाम से निर्देश किया गया है। दोनों ग्रन्थों में गृहीत मत के संवाद के मिलने से मुद्रित चरक में समयवश नाम का परिवर्तन हो सकता है। अथवा शौनक कुल का नाम होने से तथा मैत्रेय माता के अनुसार नाम होने से संभवतः दोनों एक ही आचार्य हों।

बहुत से विद्वान् तिब्बतीय उपकथाओं (Tibbatian Tales) में आये हुए तक्षशिला निवासी आत्रेय से जीवक के अध्ययन के उल्लेख के आधार पर बुद्धकालीन जीवक के गुरु आत्रेय को ही चरक संहिता का मूल आचार्य पुनर्वसु आत्रेय मानकर उसको बुद्धकालीन निश्चित करते हैं। परन्तु जीवक के विषय में तिब्बतीय गाथाओं के समान ब्रह्मदेशीय तथा सिंहलदेशीय गाथाएं भी प्रचलित हैं। इन गाथाओं में परस्पर अनेक भेद दिखाई देते हैं। जीवक के अध्ययन के विषय में महावग्ग के अनुसार किसी आचार्य से उसके अध्ययन का उल्लेख मिलता है, उसके अनुसार उसका गुरु आत्रेय था ऐसा प्रतीत नहीं होता। चुल्लक सेट्टि जातक में भी तक्षशिक्षा में ५०० शिष्यों के गुरु किसी प्रसिद्ध बोधिसत्त्व का निर्देश मिलता है। उसकी कथाओं में पापक तथा जीवक का भी निर्देश मिलता है। सिंहल(१) की गाथाओं में शक्र द्वारा विशेष विद्या पाये हुए कपलक्ष्य (कपिलाक्ष) नामक गुरु से जीवक के अध्ययन का उल्लेख मिलता है। तथा ब्रह्मदेश(२) की गाथाओं में तक्षशिला का वर्णन नहीं है। अपितु वाराणसी जाकर जीवक के अध्ययन का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार गाथाओं में परस्पर विरोध होने से किसको प्रमाण माना जाय? इन उपर्युक्त विरोधी कथाओं में से केवल तिब्बतीय गाथाओं के आधार पर आत्रेय को अर्वाचीन सिद्ध करना युक्तिसंगत एवं शोभन प्रतीत नहीं होता। केवल इन दुर्बल प्रमाणों के आधार पर चरक संहिता के मूल आचार्य पुनर्वसु आत्रेय का समय निर्धारण करना दुःसाहस है। यदि आत्रेय जीवक का गुरु हो तो जीवक ने अपने ग्रन्थ में आत्रेय का गुरु रूप से निर्देश क्यों नहीं किया? क्याङ्गूर विनय के तृतीय भाग के ६१ अध्याय (९२ से १०८ पृष्ठों पर) में जीवक कुमार (ह्वे गे सोन नु) नामक वैद्यराज के विषय में निम्न कथा मिलती है—'जीवक ने राजा से प्रार्थना करके आजीविका के लिये भैषज्य विद्या पढ़कर कपालभेदन की चिकित्सा के विशेष अध्ययन के लिये तक्षशिला (ध्येजोग्) स्थित उस विद्या में प्रवीण ध्युन् शेकि मु

(१) जीवक चिकित्सा विज्ञान के अध्ययन के लिये तक्षशिला गया। वहां का आचार्य उसे पढ़ाने के लिये सहमत हो गया। उस समय इन्द्र का सिंहासन डोलने लगा क्योंकि जीवक कपलक्ष्य के द्वारा विद्या में विशेष निपुणता प्राप्त करने लगा। जिसके बाद उसे गौतम बुद्ध की चिकित्सा की अनुमति मिली थी। देखिये—**Maunal of Buddhism by Spence hardy पृष्ठ २३९.**

(२) जीवक ने लोगों को आरोग्य प्रदान करने तथा रोगों से मुक्ति दिलाने के लिये चिकित्सा शास्त्र का अध्ययन प्रारम्भ किया। उसने वाराणसी जाकर एक प्रसिद्ध चिकित्सक का शिष्यत्व स्वीकार करके शीघ्र ही अपनी प्रतिभा के कारण इस शास्त्र में नैपुण्य प्राप्त कर लिया। देखिये—**Legend of the Burmese Buddha by Right Revrent P. Bigandet पृष्ठ १९७.**

(नित्यप्रज्ञ) नामक वैद्य के पास जाने के लिये राजा से प्रार्थना की। तब राजा (बिम्बसार) ने पद्मसार (पद्म हि ङिङ् पो) नामक तक्षशिला के राजा के नाम पत्र लिख दिया कि मेरा पुत्र जीवक नित्यप्रज्ञ नामक विद्वान् से भैषज्य विद्या की प्राप्ति के लिये आरहा है, उसके अध्ययन का प्रबन्ध करने की कृपा करें। बिम्बसार का वह पत्र लेकर जीवक ने तक्षशिला जाकर वहां के राजा को दिया। तब राजा के कहने पर नित्यप्रज्ञ (ध्युन् शेकि भु) नामक वैद्य से जीवक ने भैषज्य विद्या का ग्रहण किया'। **ध्युन्=सदा अथवा नित्यः, शेकि=प्रज्ञायाः, भूः=सूनुः, सम्बन्धी**-इस अर्थ के अनुसार तिब्बती भाषा में उसके गुरु वाचक ध्युन् शेकि भु नाम के अनेक बार व्यवहृत होने से ज्ञात होता है कि जीवक का गुरु तक्षशिला में रहने वाला तथा कपाल भेदन चिकित्सा में विशेष निपुण तथा प्रसिद्ध नित्यप्रज्ञ नामक कोई वैद्य था। राहुल साङ्कृत्यायन नामक बौद्ध पण्डित द्वारा पाली भाषा से हिन्दी भाषा में अनूदित विनय पिटक में भी लिखा है कि—'उस समय तक्षशिला में (एक) दिशा-प्रमुख (दिगन्त प्रसिद्ध) वैद्य रहता था'। यहां भी आत्रेय नाम से जीवक के गुरु का निर्देश नहीं मिलता है। तिब्बतीय गाथाओं के आधार पर आत्रेय को जीवक का गुरु मानने वाले विद्वानों के पास कोई अन्य प्रबल प्रमाण है या नहीं, यह विचारणीय प्रश्न है। इसके अतिरिक्त आत्रेय पुनर्वसु ने अग्निवेश को दिये गये उपदेश का स्थल **'जनपदमण्डले पाञ्चालक्षेत्रे काम्पिल्यराजधान्याम्'** द्वारा स्पष्टरूप से काम्पिल्य प्रदेश बताया है। यदि तिब्बतीय एवं जातक कथाओं के आधार पर बुद्ध सामयिक जीवक के तक्षशिला में आत्रेय द्वारा अध्ययन के उल्लेख के अनुसार तक्षशिला के अध्यापक आत्रेय को ही अग्निवेश का गुरु माना जाय तो अग्निवेशसंहिता में तक्षशिला का उल्लेख क्यों नहीं मिलता है। तक्षशिला में भूगर्भ से निकले हुए तीन नगरों में से दक्षिण दिशा वाले बिर्माउण्ड नामक भागको ऐतिहासिक विद्वान् १०००-१२०० वर्ष ईस्वी पूर्व का मानते हैं। पाणिनि(१) ने भी अपने सूत्र में तक्षशिला का निर्देश किया है। इतिहास के विद्वान् बुद्ध से भी पूर्व तक्षशिला में विद्या का प्रचार मानते हैं। महावग्ग तथा जातकों के अनुसार मगधनिवासी जीवक तथा काशी के राजा ब्रह्मदत्त का वैद्यक शास्त्र के अध्ययन के लिये तक्षशिला जाने का उल्लेख मिलने से प्रतीत होता है कि उस समय तक्षशिला अन्य विद्याओं के समान आयुर्वेद विद्या का भी प्रधान विद्यापीठ (University) था। पुनर्वसु आत्रेय तथा उसके शिष्य अग्निवेश को यदि उस समय माना जाय तो अग्निवेश-संहिता तथा आत्रेयसंहिता के रचयिताओं ने उस प्रसिद्ध विद्यापीठ-रूप तक्षशिला का अपने ग्रन्थों में वर्णन क्यों नहीं किया। अग्नि-वेशसंहिता में पुनर्वसु आत्रेय के जितने भी उपदेश (२) स्थानों का उल्लेख किया है, उनमें एक भी स्थान पर तक्षशिला का नाम नहीं है। इतनी प्रसिद्ध तक्षशिला का ग्रहण न करके काम्पिल्य आदि में उपदेश का उल्लेख करने से प्रतीत होता है कि उस समय तक्षशिला की प्रसिद्धि ही नहीं थी। इसलिये तक्षशिला की विद्यापीठ के रूप में प्रसिद्धि से पूर्व ही काम्पिल्य में आत्रेय पुनर्वसु द्वारा अग्निवेश को उपदेश दिया गया प्रतीत होता है। काम्पिल्य(३) देश वैदिक

(१) १ से ३ तक की टि० उपो० संस्कृत पृ० ४१ का० १-२ देखें।

समय से प्रसिद्ध है। शुक्लयजुर्वेद, तैत्तिरीय, मैत्रायणीय तथा काठकसंहिताओं में भी काम्पिल्य शब्द मिलता है। पाञ्चालशब्द(१) भी वेद, ब्राह्मण ग्रन्थ तथा उपनिषदों में मिलता है। तक्षशिला का इस प्रकार वेद, ब्राह्मण तथा उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रन्थों में उल्लेख नहीं मिलता है। महाभारत* में भी उपक्रम तथा उपसंहार में और रामायण(२) में भी केवल उत्तरकाण्ड में तक्षशिला का उल्लेख मिलने से तक्षशिला की बाद में प्रसिद्धि प्रतीत होती है। न केवल आत्रेय तथा अग्निवेश ने उसका वर्णन नहीं किया अपितु नाना देशों का वर्णन करते हुए मारीच कश्यप तथा उसके शिष्य वृद्धजीवक ने भी तक्षशिला का उल्लेख नहीं किया है। सुश्रुतसंहिता तथा भेडसंहिता में भी उसका नाम नहीं मिलता है। बुद्धसामयिक जीवक के आचार्य का केवल आत्रेय तथा तक्षशिला निवासी के रूप में निर्देश मिलता है तथा चरकसंहिता में आचार्य आत्रेय का आत्रेय पुनर्वसु नाम से तथा काम्पिल्यनिवासी के रूप में वर्णन मिलता है। यदि जीवक और अग्निवेश दोनों एक ही आत्रेय के शिष्य होते तो जीवक की कथा में उसके इतने प्रसिद्ध सतीर्थ्य (सहाध्यायी) अग्निवेश का नाम तथा अग्निवेश के लेख में उस विशिष्ट बुद्धि एवं प्रतिभासम्पन्न प्रसिद्ध जीवक के नाम का निर्देश क्यों नहीं मिलता है। अग्निवेश का आचार्य आत्रेय पुनर्वसु केवल कायचिकित्सा का ही विद्वान् प्रतीत होता है। इसीलिये अग्निवेश आदि उसके शिष्यों ने भी उसी विषय में अपने ग्रन्थों की रचना की है। इसके विपरीत जीवक का गुरु आत्रेय कायचिकित्सा के अतिरिक्त शल्यचिकित्सा में विशेष कुशल था जैसा कि उसके शिष्य जीवक की चिकित्सा प्रक्रिया द्वारा स्पष्ट है। इस प्रकार चिकित्सा के विभागों की विभिन्नता भी दोनों आत्रेयों को भिन्न २ व्यक्ति सिद्ध करती है। उपर्युक्त वर्णन के अनुसार यह कहा जा सकता है कि तक्षशिला की विद्यापीठ के रूप में उन्नति एवं प्रसिद्धि से पूर्व ही काश्यप, आत्रेय, अग्निवेश, भेड तथा दिवोदास आदि का आयुर्वेद के उपदेश के ग्रहण एवं धारण का समय है। इसी प्रकार पाणिनि के कच्छादि गण (४-२-१३३) तथा तक्षशिलादि गण (४-३-९३) में आये हुए देशवाचक काश्मीर शब्द के वेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थों की तरह आत्रेय तथा अग्निवेशसंहिताओं में न मिलने से प्रतीत होता है कि काश्मीर की उस समय विद्यमानता होने पर भी विद्यापीठ रूप में प्रसिद्धि होने से पूर्व उसकी स्थिति गौण (अप्रसिद्ध) थी। अन्यथा पाञ्चाल (गङ्गा यमुना का प्रदेश) तथा काम्पिल्य (कम्पिल-फर्रुखाबाद) के आसपास लिखी गई आत्रेय संहिता में काम्पिल्य के समीपवर्ती तथा इतने प्रसिद्ध काश्मीर का उल्लेख न होना आश्चर्य का विषय है।

इसके अतिरिक्त तिब्बतीय गाथाओं को प्रमाण मानकर यदि जीवक के आचार्य को आत्रेय माना भी जाय तो भी गोत्रवाचक

* उपलब्ध महाभारत में तक्षशिला शब्द आदिपर्व के तृतीयाध्याय में दो बार तथा स्वर्गारोहण पर्व के पांचवें अध्याय में आता है। **'गुरवे प्राङ्नमस्कृत्य'** (१-५५ अध्याय) से महाभारत का उपक्रम है। उससे पहला भाग सूत द्वारा बाद में पूरा किया गया है-ऐसा महाभारत के विमर्श में (Bhandarkar O. R. I. Vol XVI part III, IV) मैंने निर्देश किया है।

(१) १-२ की टि० उपो० संस्कृत पृ० ४१ का० २ देखें।

आत्रेय शब्द द्वारा अनेक व्यक्तियों का उल्लेख मिलने से केवल गोत्रवाचक आत्रेय शब्द से ही उसे पुनर्वसु आत्रेय नहीं कहा जा सकता। किन्तु तिब्बतीय कथाओं के अनुसार बौद्ध ग्रन्थोक्त जीवक के अध्ययन स्थान तक्षशिला का अध्यापक आत्रेय, पुनर्वसु आत्रेय के पश्चात् बौद्धकालीन तथा केवल गोत्र की समानता वाला कोई अन्य ही आत्रेय प्रतीत होता है। राजर्षि वार्योविद का बुद्ध के समय या उसके बाद इतिहास में कहीं उल्लेख नहीं मिलता। वार्योविद के समकालीन पुनर्वसु आत्रेय का मारीच कश्यप के साथ तथा उपनिषत्कालीन समय प्रतीत होता है। इसलिये आत्रेय पुनर्वसु को बुद्धकालीन निश्चित करना अत्यन्त दुर्बल प्रमाणों पर आश्रित है।

अग्निवेश—

चरकसंहिता में आत्रेय पुनर्वसु के प्रधान शिष्यरूप में निर्दिष्ट अग्निवेश तथा उसके सतीर्थ्य (सहपाठी) भी उसीके समकालीन होने चाहिये।

अग्निवेश संहिता में तक्षशिला का उल्लेख न होने से परन्तु पाणिनि(१) के सूत्रों में तक्षशिला का उल्लेख मिलने से तथा पाणिनि द्वारा गर्गादि(२) गण में जतूकर्ण, पराशर तथा अग्निवेश शब्द का उल्लेख दिया होने से अग्निवेश का समय पाणिनि से भी पूर्व प्रतीत होता है। यद्यपि ऐसा कोई नियम नहीं है कि पाणिनि के उन २ गणों में समानवर्गीय (समान श्रेणी के) शब्द ही दिये गये हों तथापि भाषा की दृष्टि से प्रायः एक जाति के शब्दों में प्रत्यय आदि की समानता होने से शब्दों की एकाकारता दिखाई देती है जिससे पाणिनि के गण में ऋषि, देश, नदी, नगर तथा प्राणिवाचक शब्द प्रायः साथ २ दिये हुए हैं। इस गर्गादि गण में जतूकर्ण, पराशर, भिषज् तथा चिकिल्सित आदि शब्दों के पाठ से भिषज् तथा चिकित्सित शब्दों के सान्निध्य से पराशर शब्द वैद्याचार्य पराशर का बोधक प्रतीत होता है। उस गण में आया हुआ अग्निवेश शब्द भी उसी न्याय से आत्रेय के शिष्य वैद्याचार्य अग्निवेश का बोधक होना चाहिये। इससे अग्निवेश पाणिनि से भी प्राचीन प्रतीत होता है।

पूर्वनिर्दिष्ट(३) हेमाद्रि लक्षणप्रकाश में उद्धृत शालिहोत्र के श्लोकों में आयुर्वेदाचार्यों की सूची में हारीत, क्षारपाणि, जातूकर्ण, पराशर आदि सतीर्थ्यों सहित अग्निवेश का नामोल्लेख आचार्य आत्रेय के साथ मिलता है। पालकाप्यकृत हस्त्यायुर्वेद के चतुर्थस्थान के चतुर्थ अध्याय में स्नेह विशेष(४) के वर्णन में अग्निवेश का नाम आता है। चरकसंहिता में पुनर्वसु के नाम से दिये हुए द्वैविध्यवाद को पालकाप्य में भरद्वाज के नाम से तथा चातुर्विध्यवाद को गौतम के मत के रूप में दिया हुआ है। पालकाप्य में साप्तविध्यवाद को अग्निवेश के मत के रूप में दिया हुआ है। वर्तमान चरकसंहिता में अन्य स्नेहों का उल्लेख मिलने पर भी चार स्नेहों का ही मुख्य प्रयोग मिलता है। यह परिवर्तन संस्करण के कारण प्रतीत होता है।

स्थान २ पर आये हुए विषयों से प्रतीत होता है कि प्राचीन महर्षि वेद-वेदाङ्गों की तरह आयुर्वेद के विषयों के भी पण्डित थे। यद्यपि एक नाम वाले अनेक व्यक्ति हो सकते हैं तो भी मज्झिमनिकाय(१) में गौतम बुद्ध के साथ आध्यात्मिक चर्चा करने वाले सच्चक (सत्यक) नामक निगण्ठ (निर्ग्रन्थ) नाथ पुत्र का भी गोत्रपरक अग्निवेश शब्द द्वारा निर्देश किया गया है। पक्ष एवं विपक्ष की युक्तियों के अभाव में यह वही अग्निवेश है अथवा नहीं, यह निश्चय करना कठिन है क्योंकि किसी व्यक्ति विशेष के निर्णय करने के लिये दृढ साधनों की अपेक्षा होती है तथापि आत्रेय, ब्राह्मण ग्रन्थ एवं उपनिषदों के समय के सिद्ध किये हुए दिवोदास, प्रतर्दन आदि के ही समान काल वाले होने से उसका शिष्य अग्निवेश शतपथ ब्राह्मण में आयुर्वेदीय विषयों के मिलने से संभवतः वंश ब्राह्मण(२) में निर्दिष्ट अग्निवेश्य (अग्निवेश का शिष्य अथवा सन्तति) का पूर्वपुरुष प्रतीत होता है। आत्रेय इस प्रस्थान में प्रधान आचार्य माना गया है। उसके अग्निवेश आदि ६ प्रधान शिष्यों ने उसके उपदेश को ग्रहण करके अपने २ विचारों के अनुसार पृथक् २ तन्त्र बनाये। उनमें से मुख्य तन्त्रकर्ता के रूप में चरकसंहिता में उल्लेख होने से अग्निवेश का तन्त्र सबसे अधिक प्रतिष्ठित माना जाता था। जिस प्रकार आकाश के मध्य में स्थित एक ही मणि की प्रभा उस २ प्रदेश के तारतम्य के अनुसार भिन्न २ प्रतीत होती है उसी प्रकार एक ही आचार्य आत्रेय के उपदेश अग्निवेश, हारीत, क्षारपाणि आदि विद्वान् शिष्यों के अन्तःकरणों में जाकर अपने २ ग्रहण, धारण, मनन, प्रयोग एवं अनुभव की शक्ति के भिन्न २ होने से भिन्न २ योग्यता वाले तन्त्रों के निर्माणके कारण हुए। इनमें से अग्निवेश तन्त्र सबसे विशिष्ट था। इसीलिये बाद में इस अग्निवेश तन्त्र का ही चरक ने संस्करण करके लोक में प्रसिद्ध किया। इसकी विशिष्टता के कारण ही हारीत तथा क्षारपाणि आदि अन्य आचार्यों के ग्रन्थों का प्रचार कम था और इसीलिये आज वे विलुप्त हुए हैं।

चरक—

पुनर्वसु आत्रेय के उपदेश को ग्रहण करके बनाई हुई अग्निवेश संहिता का पीछे प्रतिसंस्कर्ता के रूप में मिलने वाला चरक कौन हुआ है तथा किस समय हुआ है इसका विचार करने पर हम देखते हैं कि यद्यपि भिन्न २ ग्रन्थों में विभिन्न जगहों पर चरक शब्द का प्रयोग आता है तथापि उनसे विभिन्न* अर्थों का बोध होता है, फिर भी चरक नाम से प्रसिद्ध आयुर्वेद के कोई आचार्य हुये हैं, वे आचार्य चरक अमुक व्यक्ति ही थे यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

---

(१) १ से ४तक की टि०-उपो० संस्कृत पृ० ४२ का० १ देखें।

(१) १-२ की टि० उपो० संस्कृत पृ० ४२ का० २ देखें।

* (i) कृष्ण यजुर्वेद की एक शाखा भी चरक नाम से प्रसिद्ध है। उस शाखा को मानने वाले भी चरक कहलाते हैं—ऐसा शतपथ आदि ब्राह्मणों में लिखा मिलता है।

(ii) ललितविस्तर नामक बौद्ध ग्रन्थ के १म अध्याय में—'अन्यतीर्थिकश्रमणब्राह्मणचरकपरिव्राजकानाम्' में श्रमणों के साथ चरक शब्द आता है जो कुछ भ्रमणशील तपस्वियों का बोधक है।

(iii) वराहमिहिरने बृहज्जातक (१५-१) में संन्यास के वर्णन में—'शाक्या जीविक-(*) भिक्षुवृद्धचरका निर्ग्रन्थ-(†) वन्याशनाः'

(*) जीविक—आजीविक सम्प्रदाय जिसका प्रवर्तक गौतमबुद्ध का समकालीन मङ्खलिपुत्र गोसाल हुवा है।

(†) निर्ग्रन्थ—जैन।

भावप्रकाश * में जहां आयुर्वेद के आचार्यों का वर्णन मिलता है वहां शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष तथा छन्द आदि ६ वेदाङ्गों सहित वेद तथा अथर्ववेद के अन्तर्गत आयुर्वेद के ज्ञाता शेषनाग ने भूमण्डल का वृत्तान्त जानने के लिये चर (गुप्तचर) रूप में वेद तथा वेदाङ्गों के ज्ञाता किसी मुनि के यहां आयुर्वेद के पण्डित के रूप में अवतार ग्रहण किया तथा **'चर इव'** इस निर्वचन के अनुसार चरक नाम से प्रसिद्ध हुआ। फिर उसने आत्रेय के शिष्य अग्निवेश आदि द्वारा बनाये हुये आयुर्वेद के तन्त्रों का संस्कार करके चरकसंहिता नामक ग्रन्थ का निर्माण किया। इस प्रकार चरक संहिता के प्रणेता तथा आयुर्वेद के आचार्य चरक का इतिहास मिलता है।

चरक शब्द वैद्यमात्र का ज्ञान कराता है इसीसे एक दो स्थलों पर अन्य व्यक्तियों के लिये भी चरक शब्द का व्यवहार दिखाई देता है, ऐसा भी बहुत से लोग कहते हैं। परन्तु चरक शब्द का वैद्यमात्र के पर्याय के रूप में अभिधान ग्रन्थों (कोश) में प्रयोग होने पर सुश्रुत आदि अन्य आचार्यों के लिये भी चरक शब्द का प्रयोग होना चाहिये था, परन्तु ऐसा नहीं है, अपितु चरक संहिता के प्रणेता व्यक्ति विशेष के लिये रूढ हुआ यह चरक शब्द स्वभावतः उसी का बोध कराता है। इस प्रकार कुछ अन्य व्यक्तियों के लिये प्रयुक्त हुआ यह चरक शब्द **'कलियुगी भीम'** की तरह औपचारिक (लाक्षणिक) ही समझना चाहिये। अथर्ववेद में आयुर्वेद के विषयों के विशेषरूप से मिलने से कश्यप तथा सुश्रुत की संहिता के समान चरकसंहिता में भी अथर्ववेद के प्रधानरूप से वर्णन होने से उसका चरक शाखा वाला होने पर भी चरकाचार्य होने में कोई व्याघात नहीं होता।

इसप्रकार गोत्र † नाम से आत्रेय की तरह शाखा के नाम से भी इसकी चरकरूप में प्रसिद्धि हो सकती है। अथवा उस व्यक्ति का चरक यह नाम रूढि रूप से भी हो सकता है। अथवा प्राचीन काल में पश्चिम दिशा में नागजाति का इतिहास मिलता है, भावप्रकाश के अनुसार उस जाति का कोई विद्वान् शेषनाग के अवतार के रूप में चरक नाम से प्रसिद्ध हुवा हो। बृहज्जातक के व्याख्याकार रुद्र के अनुसार वह आयुर्वेद विद्या का विशेष पण्डित था। वह लोकोपकार की दृष्टि से मधुकरी वृत्ति धारण करके गांव २ में घूम २ कर वैद्यक के उपदेश तथा चिकित्सा द्वारा लोगों का उपकार करता था। अतः संचरणशील (घूमने वाले) भिक्षु का रूप धारण करने से चरक नाम से उसकी प्रसिद्धि हुई हो यह भी सम्भव है। अस्तु, इसका किसी भी कारण चरक नाम प्रसिद्ध हुआ हो, परन्तु इस चरकाचार्य का आत्रेयसंहिता के उपदेशों को ग्रहण करके अग्निवेश द्वारा बनाए हुये तन्त्र का प्रतिसंस्कर्ता होने से आयुर्वेद विद्या में अतिनिपुण होने के कारण प्राचीन समय से ही आचार्यों की श्रेणी में सन्मान था, ऐसा प्रतीत होता है। इसीलिये वाग्भट आदियों ने भी चरकाचार्य का विशेष रूप से कीर्तन किया है। जयन्त भट्ट (मध्यकालीन काश्मीरी दार्शनिक) ने भी अपनी न्यायमञ्जरी में **'प्रत्यक्षीकृतदेशकालपुरुषदशाभेदानुसारिसमस्तव्यस्तपदार्थशक्तिनिश्चयाश्चरकादयः'** इस प्रकार से चरकाचार्य को बहुत सन्मान के साथ स्मरण किया है।

चरक के समय का विचार करते हुये पाणिनिके **'कठचरकाल्लुक्'** (४-३-१०९) सूत्र में चरक शब्द देखकर कुछ विद्वान् कहते हैं कि चरक पाणिनि से भी पूर्व हुए हैं। परन्तु इस सूत्र में आया हुआ चरक शब्द कठ शब्द के साहचर्य से तथा चरणव्यूह (वेद की शाखा) में गिनाये होने से चरकशाखा संहिता का निर्माता है अथवा उसी सम्प्रदाय का कोई अन्य ही प्राचीन महर्षि होना चाहिये। आजकल चरक शाखा संहिता मुद्रित हुई मिलती भी है। इसी प्रकार **'माणवकचरकाभ्यां खञ्'** (५-१-१४) सूत्र में आया हुवा चरक शब्द भी चरक नामक एक लौकिक व्यक्ति परक होने की अपेक्षा चरकशाखापरक होना अधिक उचित प्रतीत होता है क्योंकि ञित् का स्वरविषयक विधान है तथा स्वर का विशेषरूप से वैदिक प्रक्रिया में ही प्रयोग होता है।

याज्ञवल्क्य स्मृति की व्याख्या में विश्वरूपाचार्य (८वीं शताब्दी) द्वारा उद्धृत **'तथा च चरकाः* पठन्ति'** इस वाक्य में अश्वियों

आदि में चरक शब्द दिया है जिसकी व्याख्या करते हुए भट्टोत्पल ने **'चरकश्चक्रधरः'** अर्थात् चक्र धारण करने वाले तथा रुद्र ने **'चरका योगाभ्यासकुशला मुद्राधारिणश्चिकित्सानिपुणाः पाखण्डभेदाः'** अर्थात् योगाभ्यास में कुशल मुद्रा (योगासन की अवस्था विशेष) को धारण करने वाले तथा चिकित्सा में निपुण संप्रदाय विशेष वाले—यह अर्थ किया है।

(iv) श्री हर्ष ने नैषधचरित (४-११६) में **'देवाकर्णय सुश्रुतेन चरकस्योक्तेन जानेऽखिलम्'** इस द्व्यर्थक पद्यांश में **'चरः स्पश एव चरकः'** अर्थात् गुप्तचर अर्थ किया है।

(v) **ब्रह्मणे ब्राह्मणमिति'** तैत्तिरीय संहिता के इस मन्त्र में आये हुये चरक शब्द का भाष्यकार सायन ने बांस के अग्रभाग पर खेल करने वाला नट अर्थ किया है।

* **'अनन्तश्चिन्तयामास।** ‡ ···**ग्रन्थोऽयं चरकः कृतः।** इत्यादि (भावप्रकाश पूर्वखण्ड १म प्रकरण ६०-६५) (अनुवादक)

† गोत्र—**'अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम्'**। (४-१-१६२) (अनुवादक)

‡ सहस्रजिह्व शेषनाग का अवतार पतञ्जलि को माना है तथा आगे पतञ्जलि और चरक का अभेद प्रदर्शित किया है अतः यहां अनन्त (शेष) का अवतार चरक को माना है। (अनुवादक)

* चरक ऐसा कहते हैं—आरुणी के पुत्र श्वेतकेतु को उसने ब्रह्मचर्य धारण कराया। उसे अश्विनीकुमारों (१) ने मधु (२) तथा मांस ओषधिरूप में बताया। उसने कहा—ब्रह्मचर्य को धारण करने वाला मैं मधु (शराब) कैसे सेवन करूं। उन्होंने उत्तर दिया कि यदि मनुष्य अपनी आत्मा द्वारा जीवित रहता है तो वह दूसरे पुण्य

(१) चिकित्सा की सर्जिकल तथा मैडिकल दोनों पद्धतियों को जानने वाले। आजकल के अनुसार उन्हें M. B. B. S कहा जा सकता है।

(२) मधु—शराब। चरक में भी मधु शब्द शराब के लिये आया है—**'विबन्धघ्नं कफघ्नं च मधु लघ्वल्पमारुतम्'**। (च. सू. २७ अ. १८६) (अनुवादक)।

द्वारा भैषज्य का उपदेश दीखने से आपाततः यह वैद्यक का विषय प्रतीत होने पर भी आपत्काल में मधु (शराब) के ब्रह्मचर्य का बाधक न होकर साधक के रूप में निर्देश है। इसके साथ ही वाजसनेयियों के वचन दिये होने से तथा उनके साहचर्य से यह स्पष्ट है कि यहां चरक शब्द चरक शाखा वालों के लिये ही प्रयुक्त हुआ है। काशिकावृत्ति के लेखानुसार भी वैशम्पायन के लिये जो चरक शब्द का व्यवहार हुआ है वह भी चरक शाखा के प्रवर्तक होने से ही है। (वैशम्पायन का नाम चरक है। इसीलिये उसके सब शिष्य भी चरक कहलाते हैं—काशिकावृत्तिः ४-३-१०४)

शुक्ल यजुःसंहिता के ३० अध्याय के पुरुषमेधप्रकरण के १८ वें मन्त्र में **'दुष्कृताय चरकाचार्यम्'** यह मन्त्र खण्ड आता है। उसकी व्याख्या करते हुए हिन्दी भाषा भाष्यकार मिश्रजी ने चरकाचार्य का अर्थ वैद्याचार्य किया है इससे वैद्याचार्य चरक अत्यन्त प्राचीन हुए हैं, ऐसा भी कोई २ कहते हैं। परन्तु इस प्रकार व्यक्ति परक अर्थ करने में क्या कारण हो सकता है। पुरुषमेध में चरकाचार्य को दुष्कृत देवता को अर्पण करने के बाद फिर यज्वा किस वस्तु को उपहार में दे। महीधर ने तो केवल चरकों का आचार्य अर्थात् गुरु इस प्रकार सामान्यरूप से अव्यक्त ही विवरण दे दिया है। चरक शाखा वालों का आचार्य यह अर्थ भी प्रकरण विरुद्ध प्रतीत होता है क्योंकि इस प्रकरण में भिन्न२ जाति तथा भिन्न२ वृत्ति (आजीविका) वाले पुरुषों का मेधोपहरणीय के रूप में उपादान दिखाई देता है, (अर्थात् यज्ञ में बलि के रूप में संभवतः लाये जाते हुए दीखते हैं) न कि किसी शाखाविशेष के अनुयायी या व्यक्ति विशेष का। इसी मन्त्र में कितव-(जुवारी) आदि दुर्वृत्तिमान् (दुष्ट आचरण वाले) निम्नश्रेणी के लोगों को अपने योग्य देवताओं के अर्पण किया जाता हुआ दिखाई देता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि दुष्कृत देवता को अर्पण किया जाने वाला चरकाचार्य भी कोई दुर्वृत्तिमान ही होना चाहिये। मराठी के ज्ञान कोश (Encyclopedia) के कर्ता का मत है कि यह पद चरक शाखा वालों पर आक्षेप है। परन्तु शतपथ ब्राह्मण में चरक शाखा का बोध कराने वाला चरक पद कई बार दिखाई देने पर भी केवल उस संप्रदाय मात्र का बोधक होता है, न कि उस पर कोई आक्षेप। तैत्तिरीय ब्राह्मण के मन्त्र में भी **'दुष्कृताय चरकाचार्यम्'** यह पद है, वहां सायन ने चरकाचार्य का बांसों पर खेल करने वालों का आचार्य अर्थात् नट अर्थ किया है किन्तु वहां चरक शाखा के आचार्य का कहीं बोध नहीं होता। कृष्णयजुर्वेद के मन्त्र में दिखाई देने वाले पद का, आक्षेप की दृष्टि से, उस विभाग की चरकशाखा का आचार्य परक अर्थ करना उपयुक्त नहीं है। इस प्रकार प्रकरण को दृष्टि में रखते हुए सायन की व्याख्या के समान यहां भी उसी प्रकार दुर्वृत्तिमान अर्थ ही उपयुक्त है। नैषध चरित* में जिस प्रकार चर का अर्थ स्पश=दूत किया है और चर से स्वार्थ में कन् प्रत्यय करके चरक बनाया है वैसे ही यहां भी स्पश=दूतवृत्ति वालों का प्रधान यह भी अर्थ हो सकता है। इस अवस्था में प्रकरण शुद्धि कितव-(जुवारियों) की संगति तथा दुर्वृत्त होने से योग्य को योग्य व्यक्ति के लिये ही अर्पित करना चाहिये-इस न्याय के अनुसार दुष्कृत देवता को अर्पण किया जाना उचित प्रतीत होता है। यजुर्वेद के भाष्यकार श्रीस्वामी दयानन्द जी ने खाने वालों का आचार्य (भोजनभट्ट) अर्थ किया है। यह अर्थ **'चर् गतिभक्षणयोः'** इस धातु से किया प्रतीत होता है।

नागेश भट्ट (व्याकरण के पण्डित) की **'चरके पतञ्जलिः'** तथा चक्रपाणि की **'पातञ्जलमहाभाष्यचरकप्रतिसंस्कृतैः'** इन उक्तियों के आधार पर स्थिर की हुई विज्ञानभिक्षु, भोज, भावमिश्र आदि के वचनों को प्रमाण मानकर कुछ लोग चरक और पतञ्जलि को एक ही मानते हैं तथा कुछ लोग भिन्न २ मानते हैं। इस विषय में हमारे विचार निम्न हैं—

पतञ्जलि ने **'अरुणद्यवनः साकेतम्'** अर्थात् यवनों (यूनानियों) ने अयोध्या पर आक्रमण किया—इस वाक्य द्वारा यूनानियों के आक्रमण को अतीतरूप में तथा **'पुष्यमित्रं याजयामः'** अर्थात् 'पुष्यमित्र की स्तुति करते हैं' इस वाक्य द्वारा अशोक के बाद वैदिक धर्म के पुनरुद्धारक पुष्यमित्र को वर्तमानरूप से उल्लेख किया है। इस प्रकार पतञ्जलि विक्रम संवत् के प्रारंभ से दो सौ वर्ष पूर्व का निश्चित होता है। भाण्डारकर महोदय ने भी महाभाष्य, पुराण पाश्चात्य इतिहास आदि की आलोचना करके महाभाष्यकार पतञ्जलि का समय ईसा से दो सौ पूर्व निश्चित किया है। ज्यादा प्राचीन न जाकर केवल त्रिपिटक के लेख के अनुसार ही चरक को यदि कनिष्क का समकालीन स्वीकार करें तो कनिष्क और पुष्यमित्र के समय में दो तीन सौ वर्ष का अन्तर होने से क्रमशः इनके समयों में होने वाले चरक और पतञ्जलि को एक मानने की कल्पना समाप्त हो जाती है।

योग और व्याकरण में व्यवहृत पतञ्जलि नाम को वैद्यक में न देकर वहां अन्य ही चरक नाम देने में क्या हेतु हो सकता है। महाभाष्य में **'गोनर्दीयस्त्वाह'** ऐसा निर्देश होने से भाष्यकार अपने आपको गोनर्द देशवासी प्रकट करता है। **'एङ् प्राचां देशे'** इस सूत्र की व्याख्या में काशिकाकार ने गोनर्दीय उदाहरण दिया है, इससे गोनर्द देश पश्चिम भाग में प्रतीत होता है। भाण्डारकर महोदय ने इसे वर्तमान **'गोण्डा'** बतलाया है। काश्मीर राज्य के प्राचीन इतिहास में गोनर्द नामक राजा का वर्णन मिलने से काश्मीर

भी कर सकता है। इस प्रकार मनुष्य सब तरह से अपनी रक्षा करे (अर्थात् चिकित्सा के रूप में आवश्यकता होने पर मांस तथा शराब का भी सेवन किया जा सकता है) इसपर वाजसनेयियों (शुक्ल यजुर्वेद की एक शाखा वाले) ने कहा—इत्यादि······(याज्ञवल्क्य टीका बालक्रीडा १-२-२२)

* जिस समय दमयन्ती नल राजा के प्रेम में मूर्च्छित हो गई उसकी सहेलियों ने राजा को इसकी सूचना दी। तब राजा ने मन्त्री तथा वैद्य के सहित प्रवेश किया। उस समय मन्त्री तथा वैद्य दोनों ने राजा से कहा—कन्या के शरीर के रोग के विषय में राजा का कोई दोष नहीं है। हे राजन्! आप सुनें-अच्छी प्रकार सुने हुए चरक (दूत) के वचन से मैं सब कुछ जानता हूं कि इस दमयन्ती को नल राजा को दिये विना इसका सन्ताप दूर नहीं होगा अथवा चरक तथा सुश्रुत के वचनों के अनुसार मैं सब कुछ जानता हूं कि इस दमयन्ती का ताप (ज्वर) नलद (खस) के बिना दूर नहीं हो सकता है। (यह श्लोक द्व्यर्थक है)

ही गोनर्द देश है ऐसा भी किसी २ का मत है। यदि भाष्यकार पतञ्जलि ही गोनर्दीय हो और उसका चरक से अभेद हो तो चरक-संहिता के प्रतिसंस्करण में चरक अपने देश गोनर्द का कहीं भी उल्लेख क्यों नहीं करता। चरकसंहिता में पाञ्चाल (रुहेलखण्ड और मेरठ डिवीजन), पंचनद (पंजाब), काम्पिल्य (फर्रुखाबाद जिले में कम्पिल ग्राम) आदि प्रदेशों का उल्लेख है परन्तु वहां गोनर्द का कहीं नाम तक भी नहीं है। यदि पतञ्जलि का ही दूसरा नाम चरक हो तो व्याकरणमहाभाष्यकार पतञ्जलि **'गोनर्दीयस्त्वाह'** कहता हुआ **'चरकस्त्वाह'** ऐसा एक बार भी क्यों नहीं कहता। इस प्रकार समय, नाम तथा देशों के भेद से ये दोनों पृथक् २ ही सिद्ध होते हैं। पतञ्जलि के महाभाष्य में बीच २ में लोकोक्तियां, समासोक्तियां एवं व्यासोक्तियों का बाहुल्य है तथा उसकी भाषा एक दम दुर्बोध है परन्तु चरक संहिता में चरक द्वारा संभावित लेखांश गंभीर अर्थ वाला होता हुआ भी सरस एवं मनोहर रचना से सहृदय व्यक्तियों के हृदय को आनन्दित करता हुआ अन्य ही शैली का प्रतीत होता है। इस प्रकार लेख की शैली का भेद भी दोनों के अनैक्य (भेद) को ही प्रकट करता है। इसके अतिरिक्त यदि पतञ्जलि ही चरक हो तो व्याकरण के नये तथा विशाल ग्रन्थ महाभाष्य एवं योग के विषय में शीर्षण्य (सर्वश्रेष्ठ) पातञ्जल योग-सूत्र का निर्माण करने वाला पतञ्जलि, वैद्यक में अपने प्रतिभायुक्त नये ग्रन्थ का निर्माण न करके केवल दूसरे के लेख पर संस्कारमात्र करके कैसे सन्तोष कर सकता था।

चक्रदत्त की टीका में शिवदास ने **'तदुक्तं पातञ्जले'** इस उद्देश्य से जो श्लोक दिया है उसके रसविषय प्रतीत होने से, तथा इस श्लोक के चरक संहिता में उपलब्ध न होने से ऐसा प्रतीत होता है कि रसवैद्यक में पतञ्जलि का कोई अन्य ही ग्रन्थ है। रसवैद्यक के विषय में ग्रन्थ लिखने वाला रसायनाचार्य पतञ्जलि अपने दूसरे ग्रन्थ चरकसंहिता में रस धातु आदि औषधों को क्यों नहीं प्रविष्ट करता। चरक में तो धातुओं का केवल नाममात्र आता है तथा पारदका भी केवल एक वार वर्णन है। इसके सिवाय कहीं भी इस विषय का विशेष उल्लेख नहीं किया है, और न इस विषय को अपने रसवैद्यक के दूसरे ग्रन्थ में विस्तृत रूप से देने की सूचना दी है। एक ही वैद्यक के विषय में रसवैद्यक में पातञ्जलतन्त्र नाम से तथा **'अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते'** के अनुसार कायचिकित्सा में चरकसंहिता इन दो विभिन्न नामों से ग्रन्थ निर्माण का क्या प्रयोजन हो सकता है। जब स्वयं चरक, प्रतिसंस्कर्ता दृढबल, प्राचीन टीकाकार भट्टार हरिचन्द्र आदि तथा अन्य वाग्भट आदि आचार्यों ने सब जगह समानरूप से एक ही चरक नाम से व्यवहार किया है, तब अर्वाचीन चक्रपाणि तथा नागेश ने ही क्यों पतञ्जलि नाम से उल्लेख किया है? पतञ्जलि के आयुर्वेद के भी आचार्य होने से योग, व्याकरण तथा वैद्यक में ग्रन्थ निर्माण करने से भोज आदि द्वारा इसका निर्देश न होना ठीक नहीं है।

पातञ्जलमहाभाष्यचरकप्रतिसंस्कृतैः।
मनोवाक्कायदोषाणां हर्त्रेऽहिपतये नमः॥

चक्रपाणि के इस लेख द्वारा भी चरक ही पतञ्जलि है यह सिद्ध करना कोई शब्दयोजना के अनुकूल नहीं है। यहां पर यदि चरक पद उस नाम के व्यक्ति के लिये आया हो तो **'चरकाया-हिपतये'** कहना चाहिये था। चरक शब्द का प्रतिसंस्कृत पद के साथ आना उपयुक्त नहीं है क्योंकि **'नामैकदेशे नामग्रहणम्'** अर्थात् नाम के एक अंश से सम्पूर्ण नाम का ग्रहण हो जाता है- इसके अनुसार चरक शब्द से यदि चरकसंहिता का ग्रहण किया जाय तो प्रतिसंस्कृत पद के साथ अन्वय हो सकता है। इससे चरक नाम से पूर्वप्रसिद्ध किसी ग्रन्थ विशेष का प्रतिसंस्कर्ता पतञ्जलि है यह प्रतीत होता है न कि चरक ही पतञ्जलि है।

अब हमें देखना है कि **'इति चरके पतञ्जलिः'*** नागेशाचार्य की इस उक्ति का क्या आशय हो सकता है? 'चरकसंहिता ग्रन्थ में पतञ्जलि का यह वचन है' यदि ऐसा अर्थ हो तो इस उद्धृत वचन को 'चरक संहिता' में मिलना चाहिये परन्तु इस उद्धृत वाक्य का चरक संहिता में न होना इस आशय के विपरीत है। चरकसंहिता के सूत्र स्थान के ११ वें अध्याय तथा विमान स्थान के ४ थे अध्याय में आप्त का निर्वचन इसमें उद्धृत रीति से भिन्न ही रीति से किया है। इस प्रकार चरक पर पतञ्जलि यह अर्थ करके चरक की व्याख्या में पतञ्जलि ने ऐसा कहा यह भी अर्थ हो सकता है। इस प्रकार चरक के व्याख्याकार पतञ्जलि की यह उक्ति है, ऐसा समझना चाहिये। इससे प्रतीत होता है कि चरकसंहिता पर पतञ्जलि की व्याख्या अनुपलब्ध होने पर भी, थी अवश्य। कुछ लोग आजकल यह कहने भी लगे हैं कि पतञ्जलि स्वयं चरक न होकर चरक का व्याख्याकार था। कुछ लोग कहते हैं कि पतञ्जलि चरकसंहिता की मञ्जूषा नामक टीका का करने वाला है क्योंकि आर्यप्रदीप नामक आधुनिक पुस्तक में लिखा है कि चरकसंहिता की पतञ्जलिकृत मंजूषा व्याख्या थी। नागेश द्वारा रचित मंजूषाख्य व्याकरण ग्रन्थ में पूर्वोल्लिखित-**'इति चरके पतञ्जलिः'** यह वाक्य दिया हुआ है। मंजूषा नागेश द्वारा बनाया हुआ व्याकरण का ग्रन्थ प्रसिद्ध ही है। पतञ्जलिकृत चरक की मंजूषा टीका न कहीं दिखाई देती है और न कहीं सुनने में आती है और न चक्रपाणि आदि टीकाकारों ने इसका निर्देश ही किया है। इस प्रकार अन्य साधनों (पक्ष की युक्तियों) के अभाव में निश्चय न कर सकने से **'चरकप्रतिसंस्कृतैः'** तथा **'चरके पतञ्जलिः'** आदि अस्पष्ट वाक्यों के आधार पर दोनों को एक सिद्ध नहीं किया जा सकता।

इसके अतिरिक्त जो विषय अथवा देश जिसका विशेष रूप से परिचित एवं अभ्यस्त हो वही अनुप्राणित होकर बार २ उसके हृदय में आता है। उदाहरण के लिये महाभाष्य में पाटलिपुत्र के अनेक बार उल्लेख होने से महाभाष्यकार का उससे विशेष परिचय तथा उनका निवासस्थान प्रतीत होता है। एक व्यक्ति के नाना विषयों में ग्रन्थ निर्माण करने पर एक ग्रन्थ में दूसरे ग्रन्थ से संबन्धित विषय आने पर अमुक ग्रन्थ में इसका प्रतिपादन किया गया है ऐसा कहना तथा दोनों ग्रन्थों में एक ही आशय के वचन देना ग्रन्थकारों का तरीका है। इस प्रकार अनेक ग्रन्थों के रचयि-

* आप्तोपदेश रूप शब्द प्रमाण माना जाता है। अनुभव द्वारा वास्तविक तत्त्व का जिसे पूर्ण निश्चय हो तथा जो रागद्वेषादि के कारण भी कभी इससे विपरीत न कहे उसे आप्त कहते हैं—ऐसा चरक में पतञ्जलि ने कहा। (नागेशमञ्जूषायाम्)।

ताओं के कुछ विषय, उक्तियां एवं युक्तियां अत्यन्त प्रिय होने से नाना ग्रन्थों में एक ही रूप में प्रायः मिलती हैं जैसे कि भामती के कर्ता वाचस्पतिमिश्र के अपने ग्रन्थ के प्रारंभ में दी हुई व्यापक-विरुद्ध तथा उपलब्धि युक्तियां उसके दूसरे दर्शन के निबन्धों में भी थोड़े बहुत अन्तर से प्रायः मिलती हैं। इसी प्रकार चरकाचार्य एवं महाभाष्यकार पतञ्जलि के एक ही होने पर महाभाष्यगत विषय चरकसंहिता में और चरकसंहिता के विषय महाभाष्य में जगह २ क्यों नहीं मिलते जब कि दोनों विचारों का उद्गम एक ही हृदय से हुआ हो। यद्यपि इसमें यह कहा जा सकता है कि अग्निवेश संहिता का चरक केवल प्रतिसंस्कर्ता है इस लिये मूल ग्रन्थ के परवशवर्ती होकर उसने संकोच के साथ अपनी लेखनी को चलाया है और इसी लिये महाभाष्यकार के भावों को व्यक्त करने वाली उक्तियां, शब्द तथा अन्य विशेषताएं चरकसंहिता में सन्निहित नहीं की हैं परन्तु महाभाष्य में तो केवल सूत्रों की ही परवशता थी उसमें महाभाष्यकार ने जब स्वच्छन्दतापूर्वक अपनी वाग्धारा, उदाहरण साधनोक्ति एवं लोकोक्तियों द्वारा विज्ञान एवं व्याख्यान में अपने कौशल का प्रदर्शन किया है, तब कई स्थलों पर अवसर प्राप्त होने पर भी चरकाचार्य के भावों से आबद्ध (ओतप्रोत) वैद्यक के विषयों को उसने क्यों नहीं प्रविष्ट किया। जहां कहीं सूत्र के परवश होकर उसे वे विषय आवश्यक रूप से कहने पड़े हैं उनमें वे उसके हृदय के विकास नहीं कहे जा सकते हैं। जैसे केवल वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक शब्दों के उदाहरण देना वैद्यक विद्या का जानना नहीं कहा जा सकता। वहां **'तस्य निमित्तं संयोगोत्पातौ'** (५-१-३८) सूत्र पर निमित्त अर्थ के लिये दिये हुये **'वातपित्त-श्लेष्मभ्यः शमनकोपनयोरुपसंख्यानं कर्तव्यं, सन्निपाताच्चेति वक्तव्यम्'** इन वार्तिकों के परवश होकर ही वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, सान्निपातिक आदि उदाहरण दिये हैं। इसी प्रकार भाष्यकार ने **'उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य'** (८-४ ६१) सूत्र के **'उदः पूर्वत्वे स्कन्दे श्छन्दस्युपसंख्यानं रोगे'** इस वार्तिक के उदाहरण में लाचारी में **'उत्कन्दको रोगः'** दिया है। परन्तु जहां उदाहरण देना ग्रन्थकार की अपनी इच्छा पर हो वहां दिया हुआ उदाहरण ही ग्रन्थकार के अन्तर्गत भावों को प्रकट करता है। भाष्यकार ने **'इग्यणः सम्प्रसारणम्'** इस सूत्र की व्याख्या में **'अन्तरेणापि निमित्त-शब्देन निमित्तार्थोऽवगम्यते'** यह लिखकर ज्वरनिमित्तक **'दधि-त्रपुसं*प्रत्यक्षो ज्वरः'** पादरोगनिमित्तक **'नड्वलोदकं † पादरोगः'** तथा आयुर्निमित्तक **'आयुर्वै घृतम्'‡** ये उदाहरण दिये हैं। यहां पर **'आयुर्वै घृतम्'**के समान **'दधित्रपुसं प्रत्यक्षो ज्वरः'** तथा **'नड्लोदकं पादरोगः'** भी प्राचीन आचार्यों के वाक्यों के ही उद्धरण प्रतीत होते हैं। अन्य भी निमित्त तथा निमित्ति के अभेद को प्रकट करने वाले बहुत से उदाहरणों के संभव होने पर इन्हीं पूर्वोक्त उदाहरणों के देने से महाभाष्यकार का वैद्यक विषय का जानना प्रतीत हो सकता है परन्तु केवल इतने मात्र से उसका चरक होना सिद्ध नहीं होता। यदि इन दोनों की एकता हो तो प्रसङ्गवश व्याकरण के ग्रन्थ में आये हुये इस तरह के विषय अपने वैद्यक ग्रन्थ में उसने क्यों नहीं लिखे हैं। दधित्रपुस का ज्वर के हेतु रूप में तथा नड्वलोदक का पादरोग के हेतुरूप में उल्लेख चरक में क्यों नहीं मिलता, और उत्कन्दक नाम का रोग भाव-प्रकाश में मिलने पर भी चरक में क्यों नहीं मिलता। महाभाष्य-कार ने विशेषरूप से परिचय, निवास एवं प्रेम के कारण जिस पाटलिपुत्र का बार २ उल्लेख किया है चरकसंहिता में उसका वर्णन एक बार भी क्यों नहीं मिलता। गर्गादिगण में आये हुये वैद्या-चार्यों के स्मरण कराने वाले अग्निवेश पराशर, जतूकर्ण आदि शब्दों के उदाहरण देना उचित होने पर भी भाष्यकार ने उनके उदाहरण नहीं दिये। अन्यत्र भी **'आद्यन्तवदेकस्मिन्'** (१-१-२०) **'स्वरितात्संहितायामनुदात्तानाम्'** (१-२-३९) **'समासस्य'** (६-१-२२३) आदि सूत्रों की व्याख्याओं में अग्निवेश का उल्लेख होने पर स्वर का विषय होने से ही भाष्यकार ने अग्निवेश का वैद्याचार्य के रूप में कहीं भी परिचय नहीं दिया है। चरक में दिये हुए अन्य प्राचीन वैद्याचार्यों के महाभाष्यकार ने नाम तक भी नहीं दिये हैं।

क्रतूक्थादि सूत्र (४-२-६०) की व्याख्या में उक्थादिगण में आये हुये आयुर्वेद शब्द के ठक् प्रत्यय के रूप का उसने निर्देश नहीं किया है। वहां **'विद्यालक्षणेत्यादि'** वार्तिक में विद्या के उदाहरण रूप वायसविद्यिकः, सार्पविद्यिकः, आङ्गविद्यः, धार्मविद्यः, त्रैविद्यः, आदि देकर भी स्वयं आचार्यरूप से अधिष्ठित आयुर्वेद-विद्या का प्रतिष्ठापूर्वक नाम भी न लेना, **'रोगाख्यायां ण्वुल् बहु-लम्'** (३-३-१०८) सूत्र की व्याख्या में रोगवाचक शब्द का उदाहरण न देना, **'रोगाच्चापनयने'** (५-४-४९) इस सूत्र में चिकित्सा रूप विशेष अर्थ में काशिका की तरह तसिल् प्रत्यय के **'प्रवाहिकातः कुरु'** आदि किसी एक का भी वर्णन न होने पर भी भाष्यकार को चरक कहना आश्चर्यकारक ही है।

'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि' (२-३-६२) सूत्र के **'षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वाच्या'** इस वार्तिक के उदाहरण के रूप में दिये हुये तैत्तिरीय(१) वाक्य में रजस्वला के पालन करने योग्य धर्मशास्त्र के नियम दिये हैं उनके पालन न करने पर सन्तान की अनिष्टोत्पत्तिरूप फल होते हैं—ऐसा महाभाष्य में विशेषरूप से दिया है। इसी प्रकार सुश्रुत के शारीरस्थान के द्वितीय अध्याय में भी फलनिर्देश सहित इसी प्रकार के नियम दिये हैं। परन्तु पतञ्जलि से अभेद रूप में संभावित चरकाचार्य ने शारीरजातिसूत्राध्याय में महाभाष्य में विशेषरूप से उल्लिखित विषयों को सामान्यरूप से ही कहा है तथा उसके फल नहीं कहे हैं। पात्रांश (बर्तनों) में भी भेद है। यह भी एक विचारणीय विषय है।

भाष्यकार के अनुसार स्त्यै धातु से घनीभाव अर्थ में स्त्री

---

* दही और खीरे के एक साथ खाने से प्रत्यक्षरूप से ज्वर हो जाता है। (अनुवादक)

† 'नड्वलोदकम्' जिसमें नड या सरकण्डे अधिक हों ऐसे पानी (ठहरा हुआ जोहड़ का पानी) से पादरोग हो जाते हैं। (अनुवादक)

‡ **आयुर्घृतं नदी पुण्यं भयं चौरः सुखं प्रिया।**
वैरं द्यूतं गुरुर्ज्ञानं श्रेयो ब्राह्मणपूजनम्॥ (अनुवादक)

(१) इसकी टि० उपो० संस्कृत पृ० ४६ का० १ देखें।

शब्द बनता है। (स्त्यै ष्टयै संघाते) तथा **'सू'** धातु से प्रवृत्ति अर्थ में पुंस शब्द बनता है। इसी प्रकार घनीभाव रूप अर्थ को लेकर स्त्री शब्द का व्यवहार होता है। चरक के अनुसार घनीभाव को लेकर पुंस् शब्द का व्यवहार होता है। प्रसव माता का धर्म होने से तथा **'षूङ् प्राणिगर्भविमोचने'** इस पाणिनीय धातुपाठ के अनुसार व्यवहार में **'स्त्री सूते' 'माता सूते'** आदि प्रयोग ही ठीक हैं। परन्तु भाष्यकार के अनुसार प्रसव पुरुष का धर्म होने से **'पुमान् सूते'** यह प्रयोग ठीक है। **'माता सूते'** यह प्रयोग दूसरे अर्थ को प्रकट करने से औपचारिक (लाक्षणिक) जानना चाहिये। इस प्रकार चरक तथा भाष्यकार की प्रक्रिया में भेद है। इन पक्ष-प्रतिपक्ष की युक्तियों के आधार पर मेरी दृष्टि में चरक एवं पतञ्जलि के अभेद की अपेक्षा भेद ही अधिक सिद्ध होता है।

इसके अतिरिक्त चरकसंहिता के शारीर स्थान के १ म अध्याय में पुरुष के वर्णन के प्रसङ्ग में आये हुये योग से पातञ्जल योग के विषय की तुलना करने पर भी यही प्रतीत होता है। शारीरस्थान के प्रथम अध्याय में पूर्वोद्दिष्ट २३ प्रश्नों में से **षड्धातुसमवायात्मक** (खादयश्चेतनाषष्ठा-६ धातुओं के समवायरूप) अथवा **चतुर्विंशतितत्त्वसमवायात्मक (मनोदशेन्द्रियाण्यर्थाः। प्रकृतिश्चाष्टधातुकी**-२४ तत्त्वों के समवायरूप) वेदना तथा योग के निवर्तन के योग्य कर्मपुरुष (चिकित्साधिष्ठित पुरुष) के विषय में २१ प्रश्नों का समाधान करके सब वेदनाएं जिसकी निवृत्त हो गई हैं ऐसे पुरुष के विषय में **'क्व चैता वेदना सर्वा निवृत्तिं यान्त्यशेषतः'** इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् आत्रेय कहते हैं कि—

योगे मोक्षे च सर्वासां वेदनानामवर्तनम्।
मोक्षे निवृत्तिर्निःशेषा योगो मोक्षप्रवर्तकः॥

अर्थात् अन्तःकरण (मन) के विषय के दुर्योग (मिथ्यायोग) से उत्पन्न सुख-दुःख से रहित होने की अवस्था का जिसमें उदय हो गया है ऐसे योग का वर्णन है। फिर ५ वें अध्याय में अग्निवेश के पूछने पर आत्रेय ने प्रवृत्ति तथा निवृत्ति को पृथक् २ बांटकर निवृत्त्यात्मक अपवर्ग के लिये पूर्वोक्त सत्सङ्ग ब्रह्मचर्य आदि का साधन के रूप में गद्यवाक्यों में विशेषरूप से वर्णन किया है। इन दोनों पूर्वापर अध्यायों में एक ही विषय भङ्गीभेद से आत्रेय ने ही वर्णन किया है। इस प्रकार प्रतिसंस्कर्ता चरक के रूप में संभावित पतञ्जलि से प्राचीन ही यह लेख मालूम पड़ता है।

सुश्रुत में चिकित्सा शास्त्र में उपयोगी होने से चिकित्सा के अधिकरण पंचमहाभूत एवं आत्मा के समवायरूप कर्म पुरुष (चिकित्साधिष्ठित कर्म पुरुष) की, भेडसंहिता में भी उसी प्रकार के षड्धातु एवं चेतना के समवायरूप तथा इस काश्यपसंहिता में भी **'शरीरेन्द्रियात्मसत्त्वसमुदयरूपं पुरुषमाचक्षते आत्मानमेके'** (पृष्ठ ६७) के अनुसार शरीर एवं शरीरी के समवायरूप (कर्मपुरुष) का ही वर्णन है। इन्हीं के अनुसार प्राचीन सिद्धान्त को दृष्टि में रखते हुए भगवान् आत्रेय ने भी उतना ही लिखा होगा और मोक्ष के लिए उपयोगी योग का विषय पीछे से इस प्रकरण में प्रतिसंस्कार करते हुए चरक ने प्रविष्ट कर दिया, यह मानें तो चरक तथा पातञ्जल सूत्र में कही हुई योग की प्रक्रिया समान होनी चाहिये थी परन्तु ऐसा नहीं है। पातञ्जल में—**'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'** (१-२) **'ता एव सबीजः समाधिः'** (१-४५) **तस्यापि निरोधेन सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः'** (१-५०)* इत्यादि सूत्रों द्वारा अन्तःकरण की बहिर्वृत्तियों को रोक कर आत्मस्वरूप एक वृत्ति की स्थापना करना और अन्त में आत्माकार वृत्ति को भी रोक कर निवात दीप की तरह अपने आपको स्थिर कर लेना—इस प्रकार संप्रज्ञात और असम्प्रज्ञात भेद से (सबीज तथा निर्बीज भेद से) दो प्रकार का योग दिया है। और इस प्रकार के योग के हो जाने पर ऋतम्भरा प्रज्ञा आदि (ऋतं बिभर्ति इति) फल होते हैं। तथा मोक्ष का स्वरूप निम्न है—**'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'** (१-३) अर्थात् द्रष्टा का अपने स्वरूप में स्थित हो जाना **'पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपनिष्ठा वा चितिशक्तेः'** अर्थात् पुरुषार्थशून्य गुणों का उदय होना और विशुद्ध चितिशक्ति का अपने रूप में स्थिर रहना ही मोक्ष है—इत्यादि द्वारा आत्मा का किसी के साथ न रहना, अपरिवर्तनशीलता, अपने चित् स्वरूप में रहना, यह चरम सिद्धान्त रूप से वर्णन किया है। इसके विपरीत चरकसंहिता में—

आत्मेन्द्रियमनोर्थानां सन्निकर्षात् प्रवर्तते।
सुखदुःखमनारम्भादात्मस्थे मनसि स्थिरे॥
निवर्तते तदुभयं वशित्वं चोपजायते।
सशरीरस्य योगज्ञास्तं योगमृषयो विदुः॥

अर्थात् इन्द्रियों और मन को बाहरी विषयों से लौटाकर मन को आत्मा में स्थिर करना योग कहलाता है। और

मोक्षो रजस्तमोऽभावाद्बलवत्कर्मसंक्षयात्।
वियोगः कर्मसंयोगैरपुनर्भव उच्यते॥

अर्थात् जब रजोगुण और तमोगुण समाप्त होकर केवल सत्त्वगुण शेष रहे, बलवान प्राक्तन कर्म क्षीण हो जायें तथा शरीर और अन्तःकरण (मन) के साथ आत्मा का स्थायीरूप से वियोग हो जाये उसे मोक्ष कहा है।

इन दोनों की यदि हम तुलना करें तो हम देखते हैं कि चरक में केवल सत्त्वगुण के शेष रह जाने पर आत्मा में अपने अन्तःकरण की वृत्तियों के स्थिर करने को योग तथा त्रैगुण्यावस्था के संपादन के योग्य शरीर तथा अन्तः करण के वियोग को मोक्ष कहा है। पतञ्जलि ने तो सबीज समाधि के बाद अन्त में निर्बीज समाधि द्वारा अन्तःकरण की सब वृत्तियों के विलय हो जाने पर उनका फिर उदय न हो उसे योग तथा अन्तःकरण (मन) की वृत्तिरूप सुख दुःख की छाया की समाप्ति होकर आत्मा का कूटस्थ (अपरिवर्तनशील) तथा चित्स्वरूप होने को मोक्ष कहा है। अतः मुख्य प्रतिपाद्य विषयों में भेद दीखता है। इस प्रकार चरकोक्त योग **'आत्मस्थे मनसि स्थिरे, रजस्तमोऽभावात्, शुद्धसत्त्वसमाधानात्'** इत्यादि

* चित्तवृत्ति के निरोध (Concentration of mind) को योग कहते हैं। उसके दो भेद हैं। सबीज और निर्बीज समाधि। अर्थात् जब वासनाओं का कुछ अंश शेष रह जाय तथा आत्मा की सत्ता विद्यमान रहे तो उसे सबीज समाधि कहते हैं। उस सबीज समाधि के भी निरोध हो जाने पर सब कुछ निरोध हो जाता है उसे निर्बीज समाधि कहते हैं जिसमें आत्मा का भी पृथक् अस्तित्व न रहे। (अनुवादक)

वाक्यों के आधार पर रजोगुण तथा तमोगुण समाप्त होकर शुद्ध सत्त्वगुण के शेष रहने पर सत्त्वगुण प्रधान मन के आत्मा में स्थिर हो जाने के कारण पतञ्जलि के सम्प्रज्ञात श्रेणी में कहे हुए योग में ही अन्तर्निहित हो जाता है। यदि मन के लय होने का प्रतिपादन किया जाता तो सात्त्विकवृत्ति के भी परिहार से ध्येयमात्र प्रकाशावस्था रूप असम्प्रज्ञात योग का बोध होता। पतञ्जलि का योग सम्प्रज्ञात श्रेणी से भी परे असम्प्रज्ञात श्रेणी में जाकर समाप्त होता है तथा उसी अवस्था में ही इष्ट सिद्धि होती है—इस प्रकार योग की मुख्य श्रेणियों में भेद है।

चरक में—

आवेशश्चेतसो ज्ञानमर्थानां छन्दतः क्रिया।
दृष्टिः श्रोत्रं स्मृतिः कान्तिरिष्टतश्चाप्यदर्शनम्॥
इत्यष्टविधमाख्यातं योगिनां बलमैश्वरम्।
शुद्धसत्त्वसमाधानात्तत्सर्वमुपजायते॥

(इत्यादि द्वारा ८ (आठ) योग की विभूतियां दी हैं। यथा (१) दूसरे के मन में प्रवेश करना (२) सब विषयों का ज्ञान (३) अपनी इच्छानुसार कार्य करना (४) दिव्य दृष्टि (५) दिव्य श्रोत्र (६) दिव्य स्मृति (७) कान्ति (८) अपने आपको तिरोहित कर सकना)—ये सब आत्मा में मन के स्थिर हो जाने पर ही होती हैं तथा उनको केवल ईश्वरीय शक्तियां ही कहा है। इसके अतिरिक्त पतञ्जलि ने आत्मविषयक योग के ऋतम्भरप्रज्ञा आदि फल कहे हैं। उस योग को सिद्ध करने की अवस्था में अभ्यास को बढ़ाने के लिये त्राटकादि की तरह उन २ विषयों में किये जाने वाले धारणा, ध्यान तथा समाधि रूप योग के अङ्गभूत संयम का, परचित्तज्ञान, सर्वभूतरुतज्ञान (सब प्राणियों के शब्दों का ज्ञान, पूर्वजातिज्ञान, हस्तिबल भुवनज्ञान, ताराव्यूहज्ञान, कायव्यूहज्ञान आदि बहुत सी सिद्धियों का विभूतिपाद में विभूतियों के रूप में वर्णन किया है। इस प्रकार दोनों में हेतुहेतुमद्भाव (भिन्न २ कारणों से भिन्न २ कार्यों का होना) विभिन्न है, प्रक्रिया का भेद है, कहीं २ एक ही विषय में भिन्न २ पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग है तथा विभूतियों की संख्या भी इसमें ८ नहीं है। उन विभूतियों का भी **'ते समाधावुपसर्गाव्युत्थाने'** के अनुसार मुख्य योग के मार्ग में व्याघात होने से वर्णन नहीं किया है।

योग और मोक्ष के साधन के वर्णन में कहा है—

सतामुपासनं सम्यगसतां परिवर्जनम्।
ब्रह्मचर्योपवासश्च नियमाश्च पृथग्विधाः॥
धारणं धर्मशास्त्राणां विज्ञानं विजने रतिः।
विषयेष्वरतिर्मोक्षे व्यवसायः परा धृतिः॥

इत्यादि द्वारा सत्सङ्ग, असत्सङ्गवर्जन आदि बहुत से उपाय बताये हैं। इनमें ब्रह्मचर्य आदि कुछ उपाय पतञ्जलि के यम-नियमों में भी आते हैं। सत्सङ्ग, उपवास, शास्त्रधारण आदियों को वहां साधनों में नहीं लिखा है। अपितु वहां अभ्यास तथा वैराग्य को जो कि योग के हेतु रूप में लिखे हैं, ओंकार की उपासना, मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा* आदि चित्तसम्बन्धी कर्म, प्राणायाम तथा आसन आदि, जिनका योग के अङ्गरूप में विशेष उल्लेख किया है उनका चरकसंहिता में उल्लेख नहीं किया। इस प्रकार साधनों में भी पूर्ण समानता नहीं पाई जाती। मुख्य उपादेय अंश में थोड़ी बहुत समानता तो सब जगह मिल सकती है।

इसके अतिरिक्त योग विद्या भी पतञ्जलि की ही आविष्कृत नहीं है, इससे पूर्व महाभारत आदि में भी इसका वर्णन मिलता है। 'हिरण्यगर्भ योग का वक्ता है'—इस वाक्य के अनुसार हिरण्यगर्भ के समय से ही योग विद्या का शाश्वतिक उदय माना गया है। महेञ्जोदारो की खुदाई में योगस्थ पुरुष की मूर्ति के मिलने से भारत में योग का प्रचलन अत्यन्त प्राचीन है—ऐसा सर जान मार्सले ने अपनी पुस्तक (Mohenjodaro and indus civilization Vol I) के ५४ पृष्ठ में अपना मत प्रदर्शित किया है। श्रीयुत सुरेन्द्रनाथदास गुप्त ने अपनी पुस्तक (History of Indian Philosophy Vol I) के २२६ पृष्ठ पर यही लिखा है। इस प्रकार स्वरूप, हेतु, फल, साधन, पारिभाषिक शब्दों की भिन्नता, पातञ्जल योग क्रिया में समय के व्यतिक्रम (व्यवधान) से विषय का विकसित होना तथा दोनों की लेखन शैली में भेद होने से दोनों लेखक भिन्न २ प्रतीत होते हैं।

महाभारत के अश्वमेध के अनुगीता पर्व के १९ वें अध्याय में **'अतः(१) परं प्रवक्ष्यामि योगशास्त्रमनुत्तमम्'** इस वाक्य द्वारा प्रारम्भ करके दी हुई योग विद्या में भी इसी प्रकार इन्द्रियों को रोक कर मन को आत्मा में स्थिर करके मोक्ष के लिये योग करना लिखा है तथा उसके उपाय रूप से योगशास्त्रों का अभ्यास, एकान्त में रह कर संयम तथा इन्द्रियों को वश में करना लिखा है। इस प्रकार योग से मनुष्य में इच्छानुसार नाना शरीरों को उपलब्ध करना, देवताओं को वश में करना, निर्भयता, अक्लेश, निस्पृहा आदि उत्पन्न हो जाते हैं—इस प्रकार महाभारत में जिस योग का वर्णन किया है वह पूर्णरूप से न मिलने पर भी इसका कुछ अंश में सान्निध्य चरकसंहितागत योग प्रक्रिया में मिलने से हम कह सकते हैं कि चरक में प्राचीन योग का ही अनुसरण किया गया है न कि पातञ्जल योग का। इस प्रकार इन दोनों आचार्यों की विभिन्न योग प्रक्रियाएँ भी इन दोनों को भिन्न २ व्यक्ति ही सिद्ध करती हैं।

इसके अतिरिक्त योग सूत्रों के कर्ता पतञ्जलि एवं महाभाष्यकार पतञ्जलि भी एक ही व्यक्ति हैं अथवा भिन्न २, इसमें भी विद्वानों में परस्पर मतभेद हैं। महाभाष्यकार पतञ्जलि का समय धातु एवं रसायनों की उन्नति से पूर्व का होने से रसायन शास्त्र का आचार्य पतञ्जलि भी भिन्न २ ही व्यक्ति है-इनमें केवल नाम का ही साम्य है ऐसा सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त ने अपनी पुस्तक (History of indian philosophy Vol I) के २६१ पृष्ठ पर लिखा है। अप्रासङ्गिक होने से इस विषय में हम अधिक विचार नहीं करते।

---

* चरक में यद्यपि मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा आदि इन्हीं नामों से ये शब्द नहीं दिये हैं फिर भी ये शब्द कुछ थोड़े से अन्तर से अवश्य मिलते हैं, यथा—

मैत्री कारुण्यमार्तेषु शक्ये प्रीतिरुपेक्षणम्।
प्रकृतिस्थेषु भूतेषु, वैद्यवृत्तिश्चतुर्विधा॥

(च. सू. ९ अ. २५ श्लोक) (अनु०)

(१) इसकी टि० उपो० संस्कृत पृ० ४७ देखें।

अल्बेरुनी* नामक लेखक तो अग्निवेश तथा चरक में ही अभेद मानता है परन्तु यह मत **'अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते'** में तन्त्रकार एवं प्रतिसंस्कर्ता का स्पष्ट भेद दिये होने से खण्डित हो जाता है। परन्तु यद्यपि दोनों आचार्य भिन्न २ हैं तो भी दोनों के ग्रन्थों का एक ही व्यक्ति द्वारा संकलित किया जाने से तथा उनके नाम मात्र शेष रह जाने से वर्तमान समय में तो दोनों का अभेद सा ही हो गया है, यह बड़े दुख का विषय है।

वर्तमान में उपलब्ध प्रतिसंस्कृत चरकसंहिता में भी अधिकांश रूप में प्राचीन सांख्य दर्शन को ही लेने से, बौद्ध मत की छाया न होने से तथा प्रतिसंस्कार के समय संभावित रूप से प्रविष्ट लेखों में भी प्राचीन एवं प्रौढ़ रचना के दिखाई देने से प्रतिसंस्कर्ता चरक भी अर्वाचीन प्रतीत नहीं होता। किन्तु भिषग्जितीय अध्याय में न्यायदर्शन के निग्रह स्थान आदि बहुत से पदार्थों की समीक्षा होना, इसके विषय को प्राचीन सिद्ध करने में बाधक होते हैं। श्रौत (वैदिक) दार्शनिक ग्रन्थों में गौतमसूत्र से पूर्व तथा बौद्ध दार्शनिक ग्रन्थों में नागार्जुन के उपायहृदय आदि ग्रन्थों से पूर्व विगृह्यसंभाषा में उपयोगी न्याय, छल, जाति, निग्रहस्थान आदि पदार्थों के न मिलने से प्रतीत होता है कि बौद्धों के महायानिक† विचारों के उदय होने पर दोनों (हीनयान तथा महायान के अनुयायियों) में जब परस्पर संघर्ष हुआ तब पक्ष-प्रतिपक्ष, जय-पराजय, नियम-व्यवस्था आदि के अनुसन्धान करने पर जो वादविवाद का विषय पहले संक्षेप में था उसी को गौतम तथा नागार्जुन ने ग्रन्थनिर्माण के द्वारा परिष्कृत करके उसे नियमित कर दिया, पक्षप्रतिपक्षरूप से होने वाले विवाद के विषय को बाद में होने वाले दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि बौद्ध आचार्यों द्वारा प्रमाण समुच्चय, प्रमाण वार्तिक वाद, न्यायहेतु बिन्दु आदि ग्रन्थों में, न्यायवैशेषिकाचार्यों द्वारा वात्स्यायन भाष्य, उद्योतकर वार्तिकतात्पर्य टीका तात्पर्य परिशुद्धि आदि ग्रन्थों में, तथा जैनाचार्यों द्वारा तत्त्वसंग्रह आदि अपने ग्रन्थों में मध्यकाल में भी बढ़ाया हुआ हम देखते हैं। इस प्रकार समय २ पर विमर्श के अवसर के उपस्थित होने पर विमर्दनीय (विचारणीय) पदार्थों का अनुप्रवेश (पीछे से प्रवेश) होता ही रहता है। आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में सुश्रुत, भेड आदि वादविवाद के विषय में उदासीन ही रहे हैं। कश्यप ने वैद्यों के परस्पर विचारणीय विषयों के उपस्थित होने पर संधायसंभाषा को देकर विगृह्यसंभाषा का विषय विस्तार से न देकर लेशमात्र ही दिया है। इन प्राचीन आचार्यों द्वारा गृहीत मार्ग के अनुसार आत्रेय तथा अग्निवेश को भी अपनी संहिता में सन्धायसंभाषा को ही देना चाहिये था क्योंकि चिकित्सा के विषय में विवाद होने पर जब व्यक्ति येन केन प्रकारेण स्वपक्षप्रतिष्ठापन एवं परपक्ष के खण्डन में लगता है तब वस्तुतत्त्व के तिरोहित हो जाने से अनर्थ की संभावना होती है, इस लिये वस्तुतत्त्व के अनुसन्धान के औचित्य को दृष्टि में रखते हुये विगृह्यसंभाषा में उपयोगी छल, जाति, निग्रहस्थान आदि हितकारी मार्ग में बाधक हो जाते हैं।

उपलब्ध चरक संहिता में वादविवाद के प्रकरण में लिखा है—

विगृह्यभाषा तीव्रं हि केषाञ्चिद् द्रोहमावहेत्।
कुशला नाभिनन्दन्ति कलहं समितौ सताम्॥

अर्थात् इसमें सन्धायसंभाषा को ही प्रधानता दी है। यहां तक का विषय ही भगवान् आत्रेय का प्रतीत होता है। इसके बाद विगृह्यसंभाषा के विशेष पदार्थों को लेकर प्रवृत्त हुये हैं। वहां पर **'इमानि खलु पदानि भिषग्वादज्ञानार्थमधिगम्यानि भवन्ति'** अर्थात् ये पद वैद्यक के विवाद विषयों के ज्ञान के लिये जानने चाहियें, यहां से प्रारम्भ करके **'इति वादमार्गपदानि यथोद्देशमभिनिर्दिष्टानि भवन्ति'** अर्थात् इस प्रकार आवश्यकतानुसार वादविवाद के लिये पदों का निर्देश कर दिया। इस प्रकार प्रारंभ एवं उपसंहार (समाप्ति) द्वारा पृथक् प्रतीत होता हुआ ग्रन्थ प्रकरण प्राप्त विषयों से खींचकर पीछे से चरक के समय अनुप्रविष्ट प्रतीत होता है। प्राचीन समय में भी विभिन्न मत वाले भिन्न २ आचार्यों के होने से परस्पर उनमें विचार विमर्श होता ही होगा। इस विषय में पूर्ण प्रमाणों के अभाव में हम निश्चय से यह भी नहीं कह सकते कि उस समय वादविवाद के नियम नहीं थे। भासकवि के प्रतिमा नाटक* में प्राचीन शास्त्रों में मेधातिथि का न्यायशास्त्र विशेष प्रतिष्ठित माना जाता था। वहां भी वादविवाद के विषय का उल्लेख है। परन्तु यहां बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र के पृथक् उल्लेख होने के कारण न्यायशास्त्र से शब्दमात्र द्वारा तर्क का ग्रहण है या अन्य विषय का यह नहीं कहा जा सकता। और यदि तर्क शास्त्र का ही ग्रहण हो तो भी उसमें वादविवाद का विषय है या नहीं, और होने पर भी उसका क्या स्वरूप है यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। गौतम तथा नागार्जुन से पूर्व के ग्रन्थों में इस विषय के न मिलने से ऐसा प्रतीत होता है कि गौतम तथा नागार्जुन के समय पक्ष-प्रतिपक्ष भाव के विशेषरूप से प्रबलता धारण कर लेने पर सामान्यरूप से मिलने वाले प्राचीन विषयों का ही विशेष प्रसार हो गया है। इन बातों को दृष्टि में रखते हुये चरक, गौतम तथा नागार्जुन द्वारा निर्दिष्ट वादविवाद के विषयों की यदि हम पौर्वापर्य की दृष्टि से तुलना करें तो हम देखेंगे कि न्याय, प्रतिज्ञा आदि अवयव, तथा सिद्धान्त आदि के विषय में चरक और गौतम की उक्तियों में समानता होने पर भी गौतम ने वाद, जल्प, वितण्डा आदि शास्त्रीय विचारों के कथात्रैविध्य की दृष्टि से संधाय संभाषा रूपी वाद को तत्त्वज्ञान की दृष्टि से और विगृह्य संभाषारूपी जल्प (वितण्डा) को पक्ष-प्रतिपक्ष की दृष्टि से दिये हैं तथा जल्प में उपयोगी होने की दृष्टि से ही छल, जाति, निग्रहस्थान आदि का निर्देश किया है। परन्तु चरक की अपेक्षा गौतम में छल, जाति, निग्रहस्थान आदि के विभाग तथा संख्या की अधिकता मिलने से

* महमूद गजनवी का समकालीन तथा उसका सभा-कवि। इसने भारत में संस्कृत का अध्ययन करके भारतीय विद्याओं पर पुस्तक लिखी है (समय ११वीं शताब्दी का पूर्वार्ध)—अनुवादक।

† बौद्ध धर्म का अर्वाचीन रूप महायान है जिसमें भगवान् बुद्ध के मूल उपदेशों में बहुत सा परिवर्तन कर दिया गया है। (अनुवादक)

* साङ्गोपाङ्ग वेद, मनु के धर्मशास्त्र, महेश्वर के योगशास्त्र, बृहस्पति के अर्थशास्त्र, मेधातिथि के न्यायशास्त्र और प्रचेता के श्राद्धकल्प को पढ़ता हूँ। (प्रतिमा नाटक पृष्ठ ७९)।

गौतम में विकसित अवस्था प्रतीत होती है। नागार्जुन के उपायहृदय में कुछ पदार्थ गौतम और चरक की अपेक्षा भिन्न प्रक्रिया द्वारा कुछ संक्षिप्त होने पर भी अधिकन्यूनत्रैविध्य, दृष्टान्तद्वैविध्य, सिद्धान्तधर्मचातुर्विध्य आदि २० प्रश्नोत्तर-सम्बन्धी अनेक विषयों के विकसित अवस्था में दिखाई देने से और विकासवाद (Elevation theory) की दृष्टि से चरक की अपेक्षा गौतम और नागार्जुन के समय में विकसित विचारों के मिलने से प्रतीत होता है कि एक ही वादविवाद के युग में होने पर भी कुछ समय के पौर्वापर्य से चरक का समय गौतम तथा नागार्जुन के समय से प्राचीन प्रतीत होता है। सुरेन्द्रनाथ दास ने भी अपनी (History of Indian Philosophy Vol I) में यही मत प्रकट किया है।

बौद्धत्रिपिटक के चीनी अनुवाद (Chinese Buddhist chronicle) में मिलता है कि चरकनामक वैद्य कनिष्क राजा का राजवैद्य था। उसने उसकी रानी के किसी भयंकर रोग की चिकित्सा की थी। इससे चरकाचार्य कनिष्क के समय होने से प्रथम शताब्दी में हुआ है ऐसा पाश्चात्त्य लेखक सिल्वान लेभी का मत है। इतिहास के अनुसार दार्शनिक नागार्जुन का कनिष्क के समय होना तथा नागार्जुन के उपायहृदय तथा चरक के लेख में विगृह्यसंभाषा के समानरूप में मिलने से चरक तथा आर्य नागार्जुन दोनों ही कनिष्क के समकालीन सिद्ध होते हैं। परन्तु शिलालेख आदि के द्वारा कनिष्क राजा के बौद्ध होने तथा नागार्जुन का कनिष्क के समकालीन सिद्ध होने पर भी चरकसंहिता का प्रतिसंस्कर्ता चरक ही कनिष्क का राजवैद्य चरक था इसमें विद्वानों का मतभेद है। श्रीयुत कीथ* महाशय इसी मत के हैं। यदि चरक कनिष्क† का समकालीन हो तथा उसका राजवैद्य हो तो उसके लेखों में कहीं तो बौद्ध सम्प्रदाय की छाया (झलक) मिलनी चाहिये थी परन्तु इसके विपरीत चरकसंहिता में वैदिक मन्त्रों द्वारा वैदिक प्रक्रिया का ही प्रयोग क्यों किया गया है। कुछ लोग इसके प्रत्युत्तर में कहते हैं कि प्राचीन अग्निवेश संहिता में सांख्य दर्शन तथा वैदिक प्रक्रिया पहले से ही विद्यमान थी, चरक तो इस संहिता का केवल प्रतिसंस्कर्ता मात्र था इसलिये उसमें बौद्ध विचारों का प्रवेश नहीं हो सकता था। केवल इतने से ही चरक को प्राचीन सिद्ध नहीं किया जा सकता। कुछ लोग कहते हैं कि चरक संहिता में कुछ स्थलों पर स्वभाववाद‡ का उल्लेख है जिसकी टीका में चक्रपाणि ने बौद्धमत का संकेत किया है इसलिये इसमें बौद्ध मत का प्रवेश है। परन्तु इसके प्रत्युत्तर में कुछ लोग कहते हैं कि इतने मात्र से ही बौद्ध मत का प्रवेश नहीं कहा जा सकता क्योंकि स्वभाववाद केवल बौद्धों का ही नहीं है। इससे पहले भी विद्यमान था।

यदि चरक को कनिष्क का राजवैद्य मानें तो उपायहृदय में नागार्जुन ने जहां चिकित्सा के प्रसंग में सुश्रुत को स्मरण किया है वहां अपने समकालीन बौद्ध राजा कनिष्क के राजवैद्य एवं इतने प्रसिद्ध विद्वान् चरक का नामोल्लेख तक कैसे भूल गया। यदि इन युक्तियों के आधार पर चरक को नागार्जुन से भी बाद का माना जाय तो चरक का समय नागार्जुन से भी अर्वाचीन प्रतीत होता है।

नागार्जुन द्वारा अपने दार्शनिक ग्रन्थ उपायहृदय में प्रसङ्गवश आये हुये वैद्यक के प्रकरण में पूर्ववर्ती आत्रेय अग्निवेश कश्यप आदि की तरह चरक तथा बौद्ध मतानुयायी जीवक का नामोल्लेख न करना ठीक ही है। चरक के वहां नामोल्लेख न होने मात्र से ही यदि उसे अर्वाचीन मान लें तो इस युक्ति के आधार पर आत्रेय आदि को ही हमें अर्वाचीन मानना पड़ेगा। नागार्जुन के उपायहृदय में सुश्रुत का नाम होने पर भी चरक का नाम न होने का कारण संभवतः यह हो कि सुश्रुत संप्रदाय का प्रादुर्भाव काशी में हुआ था और चरक संप्रदाय का पाञ्चाल, काम्पिल्य आदि पश्चिम प्रदेश में। इसलिये उस प्रदेश में उनकी प्रसिद्धि स्वाभाविक थी। परिणामस्वरूप पूर्व दिशा के देशों में सुश्रुत की अधिक प्रसिद्धि हो गई और इसलिये श्याम, कम्बोडिया आदि देशों के यशोवर्मा तथा जयवर्मा* के शिलालेखों में वैद्य के रूप में सुश्रुत का उल्लेख मिलता है। नागार्जुन का संबन्ध विशेषरूप से दक्षिण प्रदेश तथा मगध से था इसलिये पूर्व दिशा में प्रसिद्ध तथा अपने समाज में सम्मानित सुश्रुत का ही नाम उसे ध्यान में आया हो। परन्तु सुश्रुत से भी पहले उसे चरक का नाम याद आना चाहिये था क्योंकि अपने समकालीन राजा कनिष्क के राजवैद्य तथा विद्वान् होने के नाते चरक से उसका परिचय अवश्य होना चाहिये था। इसके अतिरिक्त राजतरंगिणी के लेखक (कल्हण) ने भी कनिष्कवृत्ति में चरक का नाम क्यों नहीं दिया। इनके आधार पर तथा गौतमसूत्र के आविर्भाव से पूर्व भी न्याय वितण्डा आदि विवाद के विषयों के प्रचलित होने और चरक की लेखन शैली में भी प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थों की ही झलक मिलने से सिल आदि विद्वान् चरक को कनिष्क का समकालीन नहीं मानते हैं।

इस प्रकार जब हम चरक के समय का अन्वेषण करते हैं तो हमें बहुत से मत दिखाई देते हैं। इसके समय के पूर्ण निश्चय करने के लिये अभी बहुत से प्रमाणों के खोजने की आवश्यकता है। श्रीयुत प्रफुल्लचन्द्र राय ने भी अपनी पुस्तक (History of Hindu chemistry Vol I) में चरक तथा सुश्रुत के विषय में बहुत से विचार प्रकट किये हैं।

---

* चरक परम्परा के अनुसार कनिष्क का चिकित्सक था, उसने उसकी स्त्री की कठिन रोगावस्था में चिकित्सा की थी। परन्तु दुर्भाग्यवश पीछे से जब हम इन कहानियों को सुनते हैं तो हम नहीं कह सकते कि इन कहानियों का कितना मूल्य है (History of Sanskrit literature A. B. Keith P. 406)।

† कनिष्क का समय ७८ से १०० ईसवी-स्मिथ १२० ईसवी मानता है। (अनुवादक)

‡ **प्रवृत्तिहेतुर्भावानां न निरोधेऽस्ति कारणम्।**
केचित्त्वत्रापि मन्यन्ते हेतुं हेतोरवर्तनम्॥
(च. सू. अ. १६ श्लोक २७)

अर्थात् भाव (पदार्थों) की प्रवृत्ति अर्थात् उत्पत्ति में कारण होता है परन्तु विनाश में कोई कारण नहीं। अर्थात् भावों का नाश अकारण ही (स्वभावतः) हो जाता है। (अनुवादक)

* यशोवर्मा—(कम्बुज का राजा ८८९ से ९०८ ईसवी) तथा जयवर्मा—(यह भी कम्बुज का राजा १२ वीं शताब्दी)। (अनुवादक)

वार्योविद, दारुवाह, नग्नजित् तथा भेड

इस काश्यपसंहिता के रोगाध्याय में काश्यपसम्मत रोगों के द्वैविध्यवाद(१) का उल्लेख होने से तथा वमन विरेचनीयाध्याय में भी ग्रन्थ के त्रुटित होने से वार्योविद के नाम से किसी अव्यक्त मत के दिये होने से वार्योविद का उल्लेख मिलता है। कुक्कुणक चिकित्सा सम्बन्धी अध्याय के अन्त में वार्योविद नामक राजा को मारीच कश्यप द्वारा बालभैषज्य(२) के उपदेश का निर्देश मिलता है। उत्तर भाग में अनेक स्थानों पर जीवक द्वारा प्रश्न एवं सम्बोधन के मिलने पर भी बीच २ में पार्थिव, विशांपते, नृपोत्तम, नृप तथा नराधिप आदि द्वारा मिलने वाले राजा के सम्बोधन, अन्य किसी दूसरे राजा के सम्भव न होने से तथा एक स्थान पर नामपूर्वक उल्लेख होने से उसी वार्योविद के प्रति किये गये प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार देश-सात्म्याध्याय में भी **'काशीराजो (काशिराजं) महामुनिः'** में काशीराज द्वारा निर्दिष्ट व्यक्ति भी वही वार्योविद प्रतीत होता है। इस प्रकार इस संहिता के अनुसार मारीच कश्यप का शिष्य तथा उसका समकालीन वैद्याचार्य वार्योविद काशी का राजा प्रतीत होता है। आत्रेय संहिता के वातकलाकलीय अध्याय में मारीच तथा वार्योविद का पक्ष-प्रतिपक्ष रूप में निर्देश होने से भी दोनों का सहभाव प्रतीत होता है। वातकलाकलीय(३), यज्जः(४) पुरुषीय तथा आत्रेय भद्रकाप्पीय(५) अध्यायों में आत्रेय के साथ एकत्रित हुए ऋषियों में वार्योविद का उल्लेख होने से आत्रेय तथा वार्योविद का सहभाव तथा स्थान २ पर उसके मतों का उल्लेख मिलने से वार्योविद का वैद्याचार्य होना भी स्पष्ट है। यज्जःपुरुषीयाध्याय में आत्रेय के सहभाव तथा काशीपति रूप में निर्देश होने से वामक(६) भी काशीराज तथा वैद्याचार्य प्रतीत होता है। काशीराज रूप में मिलने वाले वैद्याचार्य दिवोदास, वामक तथा वार्योविद आदि तीनों के परस्पर पौर्वापर्य के विषय में अभी तक कुछ ज्ञात नहीं है। यद्यपि आजकल वार्योविद का ग्रन्थ तथा मतोल्लेख नहीं मिलता है तथापि आत्रेय तथा काश्यपसंहिता में उसके मत के उल्लेख मिलने से यह कहा जा सकता है कि यह उस समय कोई प्रसिद्ध आचार्य था। संभवतः यह भी कश्यप से बालभैषज्य के उपदेश को ग्रहण करने वाला कौमारभृत्य का कोई आचार्य हो। इस प्रकार आत्रेय पुनर्वसु तथा मारीच कश्यप के समकालीन रूप में निर्दिष्ट, परस्पर एक दूसरे का उल्लेख करने वाले आत्रेय पुनर्वसु तथा मारीच कश्यप के समान काल वाला ही प्रतीत होता है।

उपास्यमानमृषिभिः कश्यपं वृद्धजीवकः।
चोदितो दारुवाहेन वेदनार्थेऽभ्यचोदयत्॥

काश्यपसंहिता के उपर्युक्त वचन के अनुसार संहिता के पूर्वभाग में वृद्धजीवक को प्रश्न पूछने में प्रेरणा देने वाला दारुवाह प्रतीत होता है। वहीं रोगाध्याय में **'पञ्चरोगा आगन्तुवातपित्तकफ त्रिदोषजा इति दारुवाहो राजर्षिः'** के द्वारा रोगों के पाञ्चविध्य-वाद के मत के द्वारा उसका राजर्षि रूप में निर्देश किया गया है। रोगद्वैविध्यवाद के रूप में वार्योविद का तथा रोगपाञ्चविध्यवाद के रूप में दारुवाह का पृथक् निर्देश होने से, ये दोनों विभिन्न व्यक्ति प्रतीत होते हैं। राजर्षि दारुवाह कहां का है, यह इससे प्रतीत नहीं होता। किन्तु अष्टाङ्गसंग्रह के उत्तर स्थान में विष के वेगों के विषय में पुनर्वसु, नग्नजित्, विदेह, आलम्बायन तथा धन्वन्तरि के मत का उल्लेख मिलने से नग्नजित्(१) नामका भी कोई वैद्य प्रतीत होता है। उसी की इन्दु(२) की व्याख्या में **'नग्नजितो-दारुवाहिनः'** पद द्वारा नग्नजित् तथा दारुवाह दोनों शब्दों को समानाधिकरण के रूप में दिया है। यहां इन्नन्त दारुवाहिन् शब्द का प्रयोग होने पर भी चरक की चक्रपाणि(३) व्याख्या में दारुवाह नाम दिया होने से तथा काश्यपसंहिता में भी दारुवाह नाम से ही उल्लेख होने से केवल अन्तिम वर्ण के भेद होने से दोनों एक ही व्यक्ति प्रतीत होते हैं। अन्यत्र कहीं २ मिलने वाला दारुक(४) भी संभवतः यही दारुवाह हो। दारुवाह तथा नग्नजित् के अभेद को मानकर अनुसन्धान करने पर मुद्रित भेडसंहिता में निम्न श्लोक मिलता है—

गान्धारभूमौ राजर्षिमग्निजित्स्वर्गमार्गदः।
संगृह्य पादौ पप्रच्छ चान्द्रभागं पुनर्वसुम्॥
एवमुक्तस्तथा तस्मै महर्षिः पार्थिवर्षये।
विषयोगेषु विज्ञानं प्रोवाच वदतां वरः॥ (पृष्ठ ३०)

उपर्युक्त श्लोक में **'राजर्षिमग्निजित्'** इस पाठ के मिलने पर भी श्री यादवजी(५) महाराज द्वारा तञ्जोर पुस्तकालय में मिलने वाली पुस्तक के अनुसार **'राजर्षिर्नग्नजित्स्वर्णमार्गदः'** पाठ दिया होने से तथा पूर्वापर वाक्य के अनुसार प्रथमान्त राजर्षि पाठ के ही उचित होने से उस पाठ के अनुसार भेड के समकालीन नग्नजित् नाम वाले किसी गान्धार के राजा द्वारा चन्द्रभागा नाम वाली माता के अनुसार चान्द्रभाग संज्ञा वाले पुनर्वसु आत्रेय से विष के विषय में प्रश्न किये जाने का निर्देश मिलता है। अष्टाङ्गहृदय के **'रसाद्रक्त-मित्यादि'** की अरुणदत्त की व्याख्या में नग्नजित्(६) के वचन का उल्लेख मिलने से अष्टाङ्गहृदय में **'इति नग्नजितो मतम्'** के मिलने से तथा भेड संहिता में भी इस विषसम्बन्धी प्रश्न के मिलने से यह वही (एक ही) व्यक्ति प्रतीत होता है। दारुवाह तथा नग्नजित् का राजा के रूप में उल्लेख मिलने से, इन्दु की टीका के अनुसार दोनों का समानाधिकरण के रूप में दिया होने से तथा इन दोनों के विषय में उस २ नाम से मिलने वाले गुणों की समानता होने से इस गान्धार राजर्षि का नाम केवल विष के विषय में अपितु वैद्यक के विषय में भी आचार्य भाव प्रकट होता है। पूर्वनिर्दिष्ट शालिहो-त्रोक्त अश्वशास्त्र में भी आयुर्वेद के आचार्यों में विनग्नजित् का नाम मिलता है। यह भी संभवतः वही व्यक्ति हो। मात्स्य(७) में वास्तुशास्त्र (गृह निर्माणकला) के उपदेशक के रूप में भी नग्नजित् का उल्लेख है। यह नग्नजित् गान्धार का राजा ही है या कोई अन्य व्यक्ति यह नहीं कहा जा सकता।

इसके अतिरिक्त ऐतरेय ब्राह्मण(८) में क्षत्रिय यज्वाओं के फलचमस भक्षण के साम्प्रदायिकत्व प्रदर्शन में नग्नजित् गान्धार का उल्लेख मिलता है। वहीं क्षत्रिय यजमानों के लिये ही दिग्विजय रूप राष्ट्रसम्पत्ति के फल का उल्लेख होने से फलचमस भक्षण द्वारा ऐश्वर्य को प्राप्त किये हुए, सब शत्रुओं को विजय करने वाले एक

(१) १ से ६ तक की टि० उपो० संस्कृत पृ० ४९ का० २ तथा पृ० ५० का० १ देखें।

(१) १ से ८ तक की टि० उपो० संस्कृत पृ० ५० का० २ तथा पृ० ५१ का० १ देखें।

नग्नजित् नाम के क्षत्रिय गान्धार के महाराजा का निर्देश मिलता है। इस प्रकार यहां निर्दिष्ट गान्धार का राजा नग्नजित् ही देश तथा नामों की समानता के कारण भेडसंहिता में सम्मानपूर्वक राजर्षिरूप में निर्दिष्ट गान्धार का राजा नग्नजित् ही होना चाहिये। शतपथ ब्राह्मण(१) में भी चितिशक्ति में प्राणों के उपधान करने के विषय में नग्नजित् के पुत्र स्वर्जित तथा गान्धार के नग्नजित् का उल्लेख मिलता है। वहां प्राणों की महिमा का वर्णन करने वाले राजन्य बन्धु का निर्देश होने से इससे भी शारीरविद्या के आचार्य गान्धार के राजा नग्नजित् का ही निर्देश प्रतीत होता है। यहां उसके पुत्र स्वर्जित् का उल्लेख होने से तथा भेडसंहिता में नग्नजित् के **'स्वर्गमार्गद'** इस विशेषण से उसके किसी विजय के वृत्तान्त की सूचना मिलती है। उपर्युक्त वर्णन के अनुसार नग्नजित् को ऐतरेय तथा शतपथ ब्राह्मण के काल का सिद्ध करते हुए **'नग्नजितो दारुवाहिनोऽप्यत्र'** इन्दु के इस वाक्य में अपि शब्द के कारण यदि दो पृथक् व्यक्तियों की कल्पना भी की जाय तो भी औपदेशिक सम्बन्ध से नग्नजित् के सम्बन्ध से पुनर्वसु आत्रेय तथा उसके शिष्य भेड का समय भी ऐतरेय तथा शतपथ ब्राह्मण के काल से बाद का नहीं है। इसलिये **'स्वर्णमार्गद'** इस पद के आधार पर यह कहना कि गान्धार के राजा नग्नजित् और भेड दारायस नामक पारसीक राजा के समय (५२१ से ४८५ ईस्वी पूर्व) के हैं—युक्तिसंगत नहीं है।

इसी प्रकार महाभारत(२) में युग के अन्त में अन्तर्हित वेद, इतिहास आदि को अपने तपोबल से प्राप्त करके उस २ विद्या के प्रकाशक महर्षियों के विवरण में कृष्णात्रेय का चिकित्सक के रूप में उल्लेख मिलता है। यह कृष्णात्रेय ही पुनर्वसु आत्रेय हैं या नहीं, यह एक पृथक् प्रश्न है। तथापि भेड संहिता तथा चरक संहिता में भी कृष्णात्रेय के उपदेश का उल्लेख होने से उसके सहभावी पुनर्वसु आत्रेय का महाभारत से प्राचीनत्व तो इससे भी प्रकट होता है।

इस प्रकार आत्रेय के सहभावी रूप से मारीच कश्यप का उल्लेख, वार्योविद का आत्रेय पुनर्वसु तथा मारीच कश्यप के साथ सहभाव, कृष्णात्रेय तथा पुनर्वसु आत्रेय का समानाधिकरण (एक व्यक्तित्व) के रूप में निर्देश, महाभारत में चिकित्सा के प्रवर्तक के रूप में कृष्णात्रेय का उल्लेख, आत्रेय के शिष्य रूप में भेड का उल्लेख, भेड के सहभावी तथा आत्रेय पुनर्वसु के शिष्य रूप में गान्धार के राजा नग्नजित् के उल्लेख, नग्नजित् तथा दारुवाह के एक व्यक्तित्व का निर्देश, दारुवाह का काश्यपसंहिता में निर्देश, गान्धार के राजा नग्नजित् का ऐतरेय ब्राह्मण में तथा गान्धार के प्राणतत्त्व के वेत्ता नग्नजित् तथा उसके पुत्र स्वर्जित् का भी शतपथ ब्राह्मण में कीर्तन, दिवोदास का ब्राह्मणग्रन्थों तथा उपनिषदों में उल्लेख तथा धन्वन्तरि का उसके पूर्वपुरुष के रूप में मिलना, इत्यादि बातों को देखकर उनके अनुसार विचार करने पर ज्ञात होता है कि मारीच कश्यप, पुनर्वसु आत्रेय, भेड, नग्नजित् दारुवाह तथा वार्योविद इत्यादि भैषज्य विद्या के आचार्य ऐतरेय तथा शतपथ ब्राह्मण के समय से बाद के नहीं हैं अपितु धन्वन्तरि तथा दिवोदास के ही समान ब्राह्मण ग्रन्थ तथा उपनिषदों के समय एक साथ अथवा थोड़े बहुत पौर्वापर्य के साथ विद्यमान थे।

(१) १-२ की टि० उपो० संस्कृत पृ० ५१ का० १ देखें।

इस प्रकार उपर्युक्त वर्णन के आधार पर यह कहा जासकता है कि वैदिक काल में प्रारंभ हुई यह भारतीय आयुर्वेद विद्या उपनिषदों तथा ब्राह्मण ग्रन्थों के समय भी इसी प्रकार महर्षियों एवं प्राचीन आचार्यों द्वारा भारत में (विशेषकर भारत के पश्चिम प्रदेशों में) उन्नति की चरमसीमा पर पहुंची हुई थी।

रसशास्त्र के ग्रन्थ—

यद्यपि भावप्रकाश आदि अर्वाचीन ग्रन्थों में कुछ विदेशी ओषधियों, विदेशी चिकित्सा पद्धति, धातु रस आदि के विशेष प्रयोग, अफीम का उपयोग इत्यादि अर्वाचीन विषय मिलते हैं तथा इससे कुछ प्राचीन काल के सिद्धयोग आदि में पारद तथा धातुओं का सामान्यरूप से प्रयोग मिलता है। तथापि हम देखते हैं कि वाग्भट के समय तक इस प्रकार के अर्वाचीन विषय बहुत कम उपलब्ध होते हैं। संभवतः चतुर्थ शताब्दी में लिखित बावर नामक विद्वान् द्वारा उपलब्ध नावनीतक नामक ग्रन्थ में, तथा उससे भी प्राचीन माने जाने वाले हार्नले नामक विद्वान् द्वारा उपलब्ध लेख में भी स्वर्ण आदि धातुओं का उल्लेख होने पर भी उनकी शोधन आदि की विशेष प्रक्रियाओं तथा पारद के उपयोग आदि का विशेष विवरण नहीं मिलता। महावग्ग में जीवक के वृत्तान्त में वनस्पतियों के अन्वेषण के लिये गुरु से नियुक्त जीवक द्वारा चिकित्सा में अनुपयोगी एक भी ओषधि के न प्राप्त कर सकने के वर्णन, घृत नस्य आदि ओषधियों अथवा शस्त्रक्रिया द्वारा रोगियों की चिकित्सा तथा रस धातु आदि के कहीं भी न मिलने से प्रतीत होता है कि जीवक के समय तक भी रस धातु आदि ओषधियों का प्रचार नहीं था। चरक(१) तथा सुश्रुत(२) में भी धातु तथा मणियों का ओषधियों में केवल नाम मात्र का ही उल्लेख मिलता है। उनके शोधन, सिद्धौषध, पारदौषध तथा अहिफेन आदि का वर्णन नहीं मिलता है। काश्यपसंहिता के खिलभाग में आत्रेय तथा भेड के समान शोथरोग में केवल दो तीन बार ही अयोरज (लोहचूर) तथा ताम्ररज का उल्लेख मिलता है। काश्यपसंहिता में यद्यपि उनके शोधन एवं भस्मीकरण का निर्देश नहीं मिलता है तथापि खाने के लिये उनके उपयोग का निर्देश मिलने से यह कहा जासकता है कि उनका शोधन इत्यादि किया जाता होगा। धातु तथा पारद आदि का उपयोग इसके अतिरिक्त इसमें नहीं मिलता है। तथा अहिफेन आदि अर्वाचीन वस्तुओं का भी इसमें निर्देश नहीं है। इस प्रकार ज्यों २ प्राचीन ग्रन्थों का अन्वेषण करते हैं त्यों २ हमें ये अर्वाचीन वस्तुएं कम मिलती जाती हैं।

इस रसायन विद्या की उत्पत्ति कब तथा कहां से हुई है इस विषय में विचार करने पर रसायन विद्या में प्रयुक्त होने वाला कैमिस्ट्री (Chemistry) शब्द अल्कैमीविज्ञान को सूचित करता है। किसी २ व्यक्ति का मत है कि कैमिस्ट्रीशब्द मिश्रदेशीय 'क्यामी' शब्द से बना है। इस प्रकार मिश्रदेश से उत्पन्न हुई रसायन विद्या अरब तथा ग्रीस के द्वारा यूरोप में फैली है। परन्तु कुछ विद्वान् कहते हैं कि मिश्रदेश में उस विद्या के अर्थ में **'क्यामी'** शब्द मिलता ही नहीं है। तथा वहां रसायन विद्या की प्रागुत्पत्ति के

(१) १-२ की टि० उपो० संस्कृत पृ० ५२ का० १ देखें।

इतिहास के विषय में भी कोई निर्देश नहीं मिलता है। कुछ लोगों का कहना है कि कैमिष्ट्री शब्द तृतीय शताब्दी के अरबदेशीय 'किमाइ' शब्द से बना हुआ है। इस **'किमाइ'** शब्द को सिनिस नामक विद्वान् ने अपने अभिधान ग्रन्थ में **'अल्केमी'** अर्थ में प्रयुक्त किया है। इससे ज्ञात होता है कि यह विद्या न तो मिश्रदेश में और न तो ग्रीस देश में उत्पन्न हुई है। क्योंकि यदि वहां उत्पन्न होती तो क्या उस देश के हेरोडोटस, डायोडोरश, प्लुचाट तथा प्लीनी आदि प्राचीन लेखक उसके विषय में कुछ भी नहीं लिखते ? तृतीय, चतुर्थ शताब्दी तक मिश्र तथा ग्रीस वालों को तो रसायन विद्या का ज्ञान ही नहीं था। अल्केमी विद्या में पारद का प्रयोग तो पीछे से ही मिलता है। इस प्रकार पाश्चात्त्य देशों में रसायन विद्या का सबसे प्रथम जानने वाला ग्यावर नामक एक अरबदेशीय विद्वान् था। तथा अरब से ही इस विद्या का अन्य सब देशों में प्रचार हुआ है। कुछ विद्वान् कहते हैं कि वैदिक काल में सोमरस का बहुत अधिक व्यवहार मिलने से ऋग्वेद के समय से ही रसायन विद्या भारत में प्रचलित थी। उसी के अनुसार चरक आदि के समय में यूष तथा शरीर के रस आदि के अर्थ में रस शब्द का प्रयोग होता था। इसके बाद रस के समान तरलता के कारण ही पारद तथा अन्य द्रव धातुओं में भी रस शब्द का व्यवहार होने लगा। इस प्रकार भारतीय रसायन शास्त्र का मूल अत्यन्त प्राचीन है। यह रसप्रक्रिया सर्वप्रथम रस विषयक तान्त्रिक ग्रन्थों में मिलती है, तथा उसके बाद के रसग्रन्थों में इसका विकसित रूप दिखाई देता है। विद्वानों का यह विचार है कि यह विद्या नागार्जुन द्वारा प्रारम्भ की गई है। लोहशास्त्र का पतञ्जलि द्वारा निर्माण करने का अनेक स्थानों पर निर्देश मिलता है। पारसीक मत के प्रवर्तक जरथुष्ट से पूर्व उस देश के निवासी मागी जाति वालों द्वारा इस गुप्त रसायन विद्या को भारतीय ब्राह्मणों से प्राप्त करने का वृत्तान्त उनके इतिहास से मिलता है। ग्रीस देश के रसायन ग्रन्थों में भी इस विद्या के विषय में पारसीक (पर्शिया) देश का स्थान २ पर निर्देश है। इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि यह रसायन विद्या सबसे पहले भारत में ही आविर्भूत हुई थी। भारतीय वैद्यों के अरब देश में जाने से तथा चरक और सुश्रुत के अरब देश में अनुवाद होने तथा भारतीय चिकित्सा का आदर होने से भारत से ही अरब में इस विद्या के प्रचार की प्रतीति होती है। अरब देश के इतिहास से प्रकट होता है कि ११-१२ वीं शताब्दी में अरब देश में भी रसायन शास्त्र उन्नत अवस्था में था। इसलिये यह कहना निरर्थक है कि पारद के शोधन आदि का ज्ञान भारत ने अरब से सीखा। पी० सी० राय आदि इतिहास लेखक लिखते हैं कि यूरोप आदि पाश्चात्त्य देश वालों ने रसायन शास्त्र की उपादेयता न जानकर कई शताब्दो तक उसे ग्रहण नहीं किया। पीछे कालक्रम से उसके गुणों को जानने पर बहुत अर्वाचीन काल में ही पाश्चात्त्य देशों में इसका प्रचलन हुआ है।

रक्तपारद के भारत से ग्रीस तथा रोम में जाने का वर्णन मिलता है। उसके विषय में विवेचन करते हुए जायसवाल जी ने रक्तपारद, शब्द रससिन्दूर के लिये व्यवहृत हुआ बतलाया है। परन्तु रक्तपारद शब्द रससिन्दूर के लिये न मिलकर हिंगुल के पर्यायों में मिलने से रक्तपारद से संभवतः हिंगुल (शिंगरफ) का ग्रहण किया गया है।

*प्रथमशताब्दी वाले भर्तृहरि के **'उत्खातं निधिशङ्कया क्षितितलं ध्माता गिरेर्धातवः'** वचन से कुछ(१) लोग कहते हैं कि भारत में रसविद्या के प्राचीन होने की कल्पना दृढ़ होती है।

धातुविज्ञान पहले से ही था यह बात तो आत्रेय, सुश्रुत तथा कश्यप आदि के द्वारा धातुओं का उल्लेख किया होने से स्पष्ट है। कश्यप ने भी सद्योजात शिशु के लिये स्वर्णप्राशन तथा उसके अवलेहनरूप फलों को दिया है। श्रुति एवं स्मृतियों में धातुओं तथा रत्नों के धारण आदि से आयु, आरोग्य एवं श्रेयस् की प्राप्ति का उल्लेख मिलने से प्रतीत होता है कि भारतीयों को इस विद्या के उपयोग का ज्ञान अत्यन्त प्राचीन काल से था। यजुर्वेद में **'प्रथमो दैव्यो भिषक्'** द्वारा रुद्र को भी प्रधान (आदि) वैद्याचार्य बतलाय है। आत्रेय आदि ने ब्रह्मा को प्राथमिकता दी है, वहां रुद्र का उल्लेख नहीं है। नाथ सम्प्रदाय तथा तर्कशास्त्र में भी स्थान २ पर रसवैद्यक का विषय मिलता है। तन्त्रशास्त्र तथा नाथ सम्प्रदाय में शिव का परम आचार्य के रूप में निर्देश किया है। इसप्रकार तान्त्रिक आदि प्रचलित रसवैद्यक के ग्रन्थों में रुद्र का मूल (प्रधान) आचार्य होना संभव है। रसविद्या के प्राचीन तन्त्र ग्रन्थों में मिलने से तथा चरक, सुश्रुत और काश्यप आदि के ग्रन्थों में भी लेशरूप में मिलने से इसे अर्वाचीन नहीं कहा जा सकता। यह भी कहा जा सकता है कि जिस प्रकार अरबदेश में सातवीं शताब्दी में प्रचलित हुए भी रसायन शास्त्र को यूरोप वालों ने सोलहवीं (१६ वीं) शताब्दी में ग्रहण किया था उसी प्रकार पूर्व प्रचलित तन्त्रोक्त रसशास्त्र को वैदिक सम्प्रदाय वाले आत्रेय आदि महर्षियों ने भी अपने समय में लेशरूप में ग्रहण करना प्रारम्भ किया हो।

धातुओं के शोधन एवं योग आदियों के द्वारा तन्त्रोक्त भारतीय रसौषधनिर्माण प्रक्रिया भी प्राचीन काल में गुप्त, अप्रचलित अथवा आंशिकरूप में वर्तमान थी। पीछे से उस विद्या को नागार्जुन आदि भारतीय रसविद्या के आचार्यों ने प्रकाश में लाकर विकसित किया प्रतीत होता है। इसीलिये सम्भवतः प्राचीन ग्रन्थों में रसविद्या का विशेष विवरण नहीं मिलता है।

(३) संस्करणों की तुलना तथा तत्सम्बन्धी विषय

प्रतिसंस्करण—

प्राचीन आचार्यों के नाम से मिलने वाली संहिताओं में वृद्धजीवकीय तन्त्ररूप काश्यपसंहिता, चरकसंहितारूप आत्रेय एवं अग्निवेशसंहिता, सुश्रुतसंहितारूप धन्वन्तरि संहिता तथा भेडसंहिता-ये सब प्राचीन संहिताएं हैं। उनमें जहां कहीं अर्वाचीनता का सन्देह उत्पन्न करने वाले पद, वाक्य तथा प्रबन्ध इत्यादि मिलते हैं, वे संभवतः पीछे से संस्करण के समय अनुप्रविष्ट हुए प्रतीत होते हैं।

इनमें से काश्यपसंहिता के संक्षिप्तरूप वृद्धजीवकीय तन्त्र के वात्स्य द्वारा प्रतिसंस्करण का उल्लेख इस संहिता के कल्पाध्याय में

---

* यह विचारणीय प्रश्न है कि भर्तृहरि प्रथम शताब्दी में था या नहीं।

(१) इसकी टि० उपो० संस्कृत पृ० ५२ का० २ देखें।

स्वयं किया हुआ है। आत्रेयसंहितात्मक अग्निवेशतन्त्र के चरक द्वारा प्रतिसंस्करण का निर्देश चरकसंहिता के **'अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते'** इत्यादि श्लोक द्वारा स्पष्ट है। सुश्रुतसंहिता के प्रतिसंस्करण का यद्यपि ग्रन्थ (सुश्रुतसंहिता) में स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है तथापि डल्हन आदि टीकाकार इसे नागार्जुन द्वारा प्रतिसंस्कृत मानते हैं। अस्तु, नागार्जुन इसका प्रतिसंस्कर्ता हो चाहे न हो परन्तु यह तो सब विद्वान् स्वीकार करते हैं कि स्थान २ पर अन्य विषयों के मिलने के कारण सुश्रुतसंहिता का वर्तमानरूप प्रतिसंस्कृत ही है। भेड संहिता में **'चक्षुरिति कश्यपः'** द्वारा दिये हुए कश्यप का चक्षुर्निर्वृत्तिवाद तथा काश्यपसंहिता में भेड के नाम से दिया हुआ ६ वर्ष के बाद विरेचन देने सम्बन्धी मत उपलब्ध भेडसंहिता में न मिलने का उल्लेख पहले किया जा चुका है। ज्वरसमुच्चय में उद्धृत भेड के वचनों में से पचास से अधिक भेड के श्लोकों के मुद्रित भेडसंहिता में आंशिक(१) रूप में मिलने से ज्वर प्रकरण की तरह अन्य प्रकरणों का भी स्थान २ पर खण्डित एवं अधूरा होना, बीच २ में अन्य विषयों का होना तथा पुनः किया गया प्रतिसंस्करण स्पष्ट प्रतीत होता है। इस गड़बड़ से सन्देह उत्पन्न होता है। आत्रेय रूप एक ही आचार्य के उपदेश को ग्रहण करके पृथक् २ ग्रन्थों का निर्माण करने वाले अग्निवेश तथा भेड के ग्रन्थों में अनेक समानताओं एवं संवादों के मिलने से पुनः मतिविभ्रम हो जाता है। इस प्रकार भेडसंहिता में दीखने वाले दोष (कमियां) समय के कारण प्रतीत होते हैं। यद्यपि यहां भी प्रतिसंस्करण का कहीं उल्लेख नहीं मिलता है तथापि इसमें प्रतिसंस्करण का होना स्पष्ट है।

आत्रेय आदि की संहिताओं को लेकर बनाये हुए अग्निवेशतन्त्र आदि का चरक आदि आचार्यों ने जो संस्करण किया है उसके स्वरूप के विषय में विचार करने पर हम देखते हैं कि दृढबल ने चरक द्वारा किये संस्करण का निम्न स्वरूप बताया है—

विस्तारयति(२) लेशोक्तं संक्षिपत्यति विस्तरम्।
संस्कर्ता कुरुते तन्त्रं पुराणं च पुनर्नवम्॥

अर्थात् संक्षिप्त भाव को विस्तार से कह देना तथा विस्तृतरूप में दिये हुए भावों को संक्षेप में कह देना यह चरक के संस्करण की शैली है। पूर्वोक्त संस्करण आवापोद्वाप अथवा संग्रह-विग्रह प्रक्रिया में से किसी एक द्वारा संभव है। आवापोद्वाप प्रक्रिया का यह अभिप्राय है कि संक्षिप्त पूर्वग्रन्थ के स्थान में दूसरा ही विस्तृत लेख तैयार कर दिया जाय तथा विस्तृत पूर्वग्रन्थ के स्थान में अन्य संक्षिप्त लेख बना दिया जाय। तथा संग्रहविग्रह प्रक्रिया का अभिप्राय यह है कि पूर्व ग्रन्थ में संक्षेप के कारण विषय के स्पष्ट न होने से उसे स्पष्ट करने के लिये विस्तार से दे दिया जाय, तथा अत्यन्त विस्तार से दिये हुए विषय को सरलतापूर्वक ग्रहण एवं धारण कर सकने के लिये उसके सारांश को लेकर पुनरुक्ति के रूप में संक्षेप से कह दिया जाय। इनमें से यदि प्रथम (आवापोद्वाप) प्रक्रिया द्वारा संस्करण किया गया होता तो आत्रेय एवं अग्निवेश तन्त्ररूप मूल ग्रन्थ का अधिकांश रूप में स्वरूप ही बदल जाता तथा नई ही रचना बन जाती। तथा उस अवस्था में चरकसंहिता में बीच २ में आत्रेय तथा अग्निवेश के प्रतिवचन, प्रश्न आदि नहीं दिये होने चाहिये। परन्तु चरकसंहिता में वक्तव्य विषयों को सामान्य तथा विशेष रूप से न कहकर उसी विषय को संक्षेप एवं विस्तार से तथा वाक्यभेद से बार २ कहा गया है। इस प्रकार चरकसंहिता का आवापोद्वाप प्रक्रिया द्वारा नवनिबन्धनात्मक संस्करण नहीं किया गया है अपितु मूलग्रन्थ में संक्षेप में आये हुए विषयों को स्पष्ट करने के लिये विस्तार से दे दिया गया है तथा कहीं २ विस्तृत विषयों को ग्रहण एवं धारण के उपयोगी बनाने के लिये संक्षिप्त कर दिया गया है। इस प्रकार चरकाचार्य ने पौनरुक्त्य प्रक्रिया द्वारा भी इसका संस्करण किया प्रतीत होता है।

चरकाचार्य उपलब्ध संहिता का स्वतन्त्र रूप से लेखक न होकर आत्रेयसंहितारूप अग्निवेश तन्त्र का प्रतिसंस्कर्ता ही है। इस विषय में निम्न प्रमाण दिये जा सकते हैं।

आत्रेय संहिता के निदान, चिकित्सा आदि स्थानों में प्रायः विषयों के अनुसार ही अध्यायों के नामों का निर्देश किया गया है। इसके विपरीत सूत्र, विमान, शारीर आदि स्थानों में कहीं २ विषयों के अनुसार नाम होने पर भी अध्याय के आदि वाक्य के प्रतीक के अनुसार दीर्घञ्जीवितीय, अपामार्गतण्डुलीय, आरग्वधीय, कतिधापुरुषीय तथा अतुल्यगोत्रीय इत्यादि नाम प्रायः मिलते हैं। आदिप्रतीक के अनुसार दिये नामों में कई नाम विभक्ति सहित ही दे दिये गये हैं। उन २ अध्यायों के उपसंहार के संग्रह श्लोकों में भी उन अध्यायों का उन्हीं नामों से उल्लेख किया होने से यह कहा जा सकता है कि इन अध्यायों के नाम पीछे से केवल शिष्य सम्प्रदाय द्वारा ही नहीं रखे गये हैं अपितु मूलग्रन्थकर्ता की लेखनी द्वारा ही लिखे गये हैं। भेडसंहिता में भी सूत्र, विमान, शारीर तथा इन्द्रिय आदि स्थानों में आदिप्रतीक के अनुसार दिये हुए नाम स्वल्प से भेद के साथ इससे समानता रखते हैं। उदाहरणार्थ—

अध्याय का नाम	अध्याय के आदि प्रतीक — चरक	अध्याय के आदि प्रतीक — भेड
न वेगान्धारणीयः	न वेगान्धारयेद्धीरः	न वेगान्धारयेद्धीमान
मात्राशितीयः	मात्राशी स्यादाहारमात्रा	मात्राशी स्याद्दिपकाशी
आत्रेयभद्रकाप्यीयः	आत्रेयो भद्रकाप्यश्च	आत्रेयः खण्डकाप्यश्च
यस्य श्यावनिमित्तीयः	यस्य श्यावे परिध्वस्ते	यस्य श्यावे उभे नेत्रे
अवाक्शिरसीयः	अवाक्शिरा वा जिह्मा वा	अवाक्शिरा वा जिह्मा वा.

(१) १ से २ तक की टि० उपो० संस्कृत पृ० ५३ देखें।

इसी प्रकार आत्रेय तथा भेडसंहिता में इन्द्रियोपक्रमणीय, तिस्रैषणीय, वातकलाकलीय, विविधशोणितीय, दशप्राणायतनीय, दशमूलीय, अष्टोदरीय, रसविमान पुरुषनि(वि)चय, खुड्डीकागर्भावक्रान्ति तथा जातिसूत्रीय इत्यादि अध्यायों के समान नाम मिलते हैं।

स्नेहन, स्वेदन तथा निदान और चिकित्सा सम्बन्धी अध्यायों के विषयों के अनुसार दिये हुए नामों में अपने आप ही समानता के संभव होने पर भी दोनों ग्रन्थों में एक ही प्रतीक के द्वारा अध्याय के प्रारम्भ होने, विभक्ति युक्त प्रतीक के अनुसार ही अध्यायों के नाम तथा समान नाम वाले अध्यायों में विशेष विषय को समानता होने से एक ही सूत्र के अनुसार (अर्थात् एक ही आचार्य के उपदेश को ग्रहण करके) दो विभिन्न व्यक्तियों द्वारा इनका लिखा जाना संभव है। यदि उन दोनों में परस्पर कोई संबन्ध न हो तथा उन्हें एक ही आचार्य का उपदेश न मिला हो तो दो स्वतन्त्र लेखों में इस प्रकार की समानता सहज नहीं प्रतीत होती। इसलिये ऐसा प्रतीत होता है कि आत्रेय द्वारा उन्हीं प्रतीकों से प्रारम्भ करके उपदिष्ट अध्यायों के वाक्यों एवं विषयों को लेकर अपनी २ बुद्धि के अनुसार उसे बढ़ाकर तथा दूसरे विषयों को सम्मिलित करके भेड तथा अग्निवेश ने पृथक् २ तन्त्रों का निर्माण किया है। इसीलिये इनमें परस्पर इतनी समानता है। कहीं २ आत्रेय तथा भेडसंहिता में अध्यायों के आदि प्रतीकों के भिन्न होने पर भी अध्यायों के नाम समान ही मिलते हैं। जैसे—

भेड तथा चरकसंहिता में अध्यायों के नाम	चरक का प्रतीक	भेड का प्रतीक
व्याधितरूपीयम्	द्वौ पुरुषौ व्याधितरूपौ भवतः	गुरुव्याधिर्नरः कश्चित्
शरीरविचयः	शरीरविचयः शरीरोपकारार्थं	इह खल्वोजस्तेजः
शरीरसंख्या	शरीरसंख्यामवयवशः	इह खलु शरीरे षट् त्वचः
पूर्वरूपीयम्	पूर्वरूपाण्यसाध्यानां	अन्तर्लोहितकायस्तु
गोमयचूर्णीयम्	यस्य गोमयचूर्णाभं	चूर्णं शिरसि यस्येव

इनको देखने से प्रतीत होता है कि अग्निवेश ने आत्रेयसंहिता में उन २ आदि प्रतीकों के अनुसार दिये हुए नाम तथा प्रतीकों को उसी रूप में रखा है तथा भेड ने भी अपने ग्रन्थ में आदि प्रतीक की विभिन्नता होने पर भी अध्यायों के वे ही पूर्वपरम्परागत नाम रखे हैं। दोनों संहिताओं में अध्यायों के नामों या आदि प्रतीकों में जहां समानता मिलती है वह आत्रेय द्वारा दोनों का समान उपदेश दिया जाने के कारण उचित ही है। अग्निवेश संहिता में आये हुए अध्यायों के नाम तथा प्रतीक यदि स्वयं अग्निवेश द्वारा दिये गये हों तो सतीर्थ्य भेड द्वारा उनके अनुसरण किये जाने का कोई कारण प्रतीत नहीं होता है। और यदि चरकाचार्य ने ही उन प्रतीकों द्वारा प्रारंभ करके चरकसंहिता का स्वयं निर्माण किया हो तो भी उससे प्राचीन समय वाले भेड ने उसका अनुसरण किस प्रकार किया होगा। भेड तथा अग्निवेश दोनों संहिताओं में आठ स्थानों तथा १२० अध्यायों द्वारा संख्या की समानता भी यही प्रकट करती है। भेड संहिता के चतुष्पाद अध्याय में (पृ० १५) **'सिध्यति प्रतिकुर्वाण इत्यात्रेयस्य शासनम्'** द्वारा अप्रतीकारवाद का खण्डन करते हुए नामपूर्वक दिये हुए आत्रेय के मत का वर्तमान चरकसंहिता के महाचतुष्पाद अध्याय (सू० अ० १०) में विस्तारपूर्वक मिलने से भी इसकी पुष्टि होती है। इस प्रकार आत्रेय मत के दोनों ग्रन्थों में समानरूप से मिलने से आत्रेय के उपदेश की पूर्वस्थिति स्पष्ट है। चरक तथा भेड दोनों में खुड्डाक चतुष्पाद अध्याय में समानरूप में मिलने वाले मृदण्ड चक्र इत्यादि सिद्धान्त श्लोक भी आत्रेयसंहिता के ही होने चाहिये। इस प्रकार इन दोनों संहिताओं में समानरूप से मिलने वाले अध्यायों के नाम तथा विषयों को देखकर यह कहा जासकता है कि इन दोनों में ओतप्रोतरूप में विद्यमान आत्रेयसंहिता इनसे पूर्व ही विद्यमान थी। उसी आत्रेय संहिता तथा उसके विषयों को लेकर आवश्यकतानुसार अपने विचारों से उसे परिवर्धित करके संक्षेपप्रिय भेड ने संक्षिप्तरूप से तथा विस्तारप्रिय अग्निवेश ने विस्तृतरूप से पृथक् २ तन्त्रों के रूप में उपस्थित किया। भेडसंहिता में चतुष्पाद के विषय में एक ही अध्याय दिया है। इसमें पहले आत्रेय तथा शौनक के विप्रतिपत्तिवाद को देकर आत्रेय के ज्ञानवैशिष्ट्य का वर्णन किया है। तथा पीछे चतुष्पादों के वर्णन के वाद सिद्धान्तरूप में संक्षेप से भिषक्प्राधान्यवाद का उल्लेख किया है। इसके विपरीत आत्रेयसंहिता में इस विषय में दो अध्याय हैं। इसमें पहले खुड्डाकाध्याय में चतुष्पादों का वर्णन करके भिषक्प्राधान्यवाद को सिद्धान्तरूप से देकर अगले अध्याय (महाचतुष्पाद अध्याय) में मैत्रेय (शौनक) तथा आत्रेय के मतों का पक्ष-प्रतिपक्षरूप से निर्देश किया है। इस प्रकार एक ही विषय एक (भेडसंहिता) में संक्षिप्तरूप में तथा दूसरे (अग्निवेशसंहिता) में विस्तार से दृष्टिगोचर होते हैं। इसी प्रकार अग्निवेश तथा भेडसंहिता में अन्य भी अनेक स्थानों पर कई विषय क्रमशः विस्तार तथा संक्षेप से मिलते हैं।

काश्यप, चरक, भेड तथा सुश्रुत—इस सब संहिताओं में गद्य एवं पद्य दोनों मिलते हैं। टीकाकारों ने क्षारपाणि, जतूकर्ण, पराशर आदि के वाक्यों के भी जहां २ उद्धरण दिये हैं वे भी गद्य एवं पद्यमय होने से उनके ग्रन्थ भी गद्य-पद्यमय प्रतीत होते हैं। ज्वरसमुच्चय में केवल एक ज्वर के विषय में काश्यप, आत्रेय, सुश्रुत, हारीत तथा अन्य भी प्राचीन आचार्यों के केवल पद्यमय वाक्य मिलते हैं। इनमें दिये हुए हारीत, क्षारपाणि, जातूकर्ण तथा भेड आदि सतीर्थ्य आचार्यों के वाक्यों को देखने पर प्रतीत होता है कि शब्दों का भेद होने पर भी उनमें एक ही आचार्य का उपदेश समान रूप

से झलकता है। भेडसंहिता के समान आत्रेय के अन्य शिष्य जतूकर्ण, हारीत, क्षारपाणि आदियों के भी सम्पूर्ण तन्त्र यदि उपलब्ध हो जायें तथा भेड का भी सम्पूर्ण तन्त्र अखण्डित रूप में मिल जाय तो उन सबकी तुलना करने पर जो अंश एक आचार्य के उपदेशरूप से सब में समान रूप में मिलता हो उतना अंश प्राचीन एवं आत्रेय का समझना चाहिये। तथा इनमें परस्पर जितना भिन्न अंश है वह उनके अपने २ विचार एवं दृष्टिकोण को प्रकट करता है अथवा संस्कार के कारण प्रतीत होता है। उस अवस्था में अग्निवेश के तन्त्र तथा चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अंश में भेद करने में भी सुविधा हो जायेगी। इस प्रकार ज्वरसमुच्चय में आये हुए कुछ विषयों में परस्पर समानता को देखकर भी यही प्रतीत होता है कि साथ २ अध्ययन करनेवाले भिन्न २ शिष्यों के हृदयों में एक ही आत्रेयरूप आचार्य का उपदेश उन्हें प्रेरणा दे रहा है।

चरकसंहिता के विषय में कुछ लोग कहते हैं कि चरक नाम से प्रसिद्ध संहिता चरकाचार्य की अपनी ही कृति (रचना) है। कुछ लोगों का विचार है कि संक्षेप से विद्यमान पूर्वतन्त्र को पूर्णरूप से परिवर्तित एवं परिवर्धित करके चरकाचार्य ने एक नई ही रचना बना दी है तथा कुछ लोगों का यह भी मत है कि आयुर्वेद के ज्ञाता ऋषियों द्वारा परस्पर एकत्रित होकर किये गये संभाषणों एवं संवादों के सारांश को लेकर चरकाचार्य ने उसे चरकसंहिता के रूप में उपस्थित किया (वसुमती वर्ष ९ पृष्ठ ३७८)—इत्यादि अनेक विभिन्न मत दिखाई देते हैं। परन्तु पूर्वोक्त वर्णन के अनुसार मूलभूत आत्रेयसंहिता तथा उसी के आधार पर बनाये हुए अग्निवेश-तन्त्र की पूर्व स्थिति का स्पष्ट ज्ञान होने से, तथा **'अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते'** चरक की इस स्पष्टोक्ति के आधार पर यह कहा जा सकता है कि तन्त्र का रचयिता अग्निवेश ही है तथा चरक ने तो दूसरे तन्त्रों तथा अपने विचार के अनुसार कुछ अन्य उपयोगी विषयों द्वारा उसे बढ़ाकर तथा अन्य भी संस्कारोपयोगी विशेषताओं को उसमें मिलाकर इस अग्निवेशतन्त्र का प्रतिसंस्कार ही किया है। यदि चरक ही स्वयं इस तन्त्र का रचयिता होता तो वह उस रूप में अपने नाम का उल्लेख क्यों न करता। ग्रन्थ में संबोधन आदि के रूप में अग्निवेश का नाम अनेक स्थानों पर मिलता है, परन्तु चरक का नाम **'चरकप्रतिसंस्कृते'** इस उल्लेख के अतिरिक्त ग्रन्थ में और कहीं नहीं मिलता है। चरक के उत्तर भाग को पूर्ण करने वाले दृढबल ने भी निम्न श्लोक के द्वारा चरक का केवल संस्कर्ता के रूप में तथा द्वादशसाहस्रसंहिता का अग्निवेश की कृति के रूप में स्पष्ट निर्देश किया है—

अतस्तन्त्रोत्तममिदं चरकेणातिबुद्धिना।
संस्कृतं तत्तु संसृष्टं विभागेनोपलक्ष्यते॥
यस्य द्वादशसाहस्री हृदि तिष्ठति संहिता।
चिकित्सा वह्निवेशस्य स्वस्थातुरहितं प्रति॥

यदि चरक ही इस ग्रन्थ का रचयिता होता तो उसके बाद का तथा उसके ग्रन्थ को पूर्ण करने वाला दृढबल भी अग्निवेश को ही ग्रन्थकर्ता तथा चरक को संस्कर्ता के रूप में क्यों निर्देश करता। संभवतः सब जगह घूमने फिरने की प्रकृति के कारण अन्वर्थ चरक संज्ञा वाले किसी आचार्य द्वारा इस ग्रन्थ का संस्करण करके उसका प्रचार, प्रवचन, प्रयोगकुशलता तथा लोकोपकार के लिये प्रवृत्त होने के कारण उस संहिता की चरक नाम से प्रसिद्धि हो गई होगी। इसी प्रसिद्धि के कारण चरकाचार्य के विषय में ग्रन्थ का कर्ता होने की भ्रान्ति उत्पन्न हो गई प्रतीत होती है।

इस प्रकार दृढबल की संस्करण की पूर्वोक्त परिभाषा के अनुसार स्थान २ पर कुछ पद, वाक्य तथा सन्दर्भ चरकाचार्य की लेखनी से भी अनुप्रविष्ट हो सकते हैं। चरकसंहिता का सामान्यरूप से अनुसन्धान करने पर कुछ इस प्रकार के विषय चरकाचार्य की लेखनी से लिखे गये प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिये चरकसंहिता में निर्दिष्ट वाद-विवाद के विषय में दिखाई देनेवाली अर्वाचीन विकसित अवस्था चरक के समय की प्रतीत होती है जैसा कि पूर्व निर्देश किया जा चुका है।

स्वेदप्रकरण में भेडसंहिता में सङ्करस्वेद, प्रस्तरस्वेद आदि आठ स्वेदों का ही उल्लेख किया गया है। उपलब्ध चरकसंहिता में भेडोल्लिखित आठ भेदों के अतिरिक्त पांच भेद और मिलाकर १३ (तेरह) स्वेदों का निर्देश मिलता है। यदि ये तेरह भेद आत्रेय द्वारा ही उपदिष्ट होते तो आत्रेय की अनुगामी भेडसंहिता में भी ये तेरह भेद ही मिलने चाहिये। काश्यपसंहिता में भी आठ ही भेदों के मिलने से प्रतीत होता है कि प्राचीन समय में आठ विभाग ही थे। प्राचीन आठ विभागों के साथ जोड़े हुए दूसरे भेदों में जेन्ताक तथा होलाक शब्द के सर्वथा भिन्न प्रतीत होने से पूर्वोक्त आठ भेदों के साथ अन्य पांच भेदों को मिलाकर तेरह भेदों का वर्णन करना चरकाचार्य की विकासदृष्टि को प्रकट करता है।

भेडसंहिता में खुड्डीकागर्भावक्रान्ति के विषय में एक ही अध्याय है। उसमें गर्भ को मातृज तथा पितृज न मानने रूप भरद्वाज के मत का खण्डन करके उस मत की स्थापना करते हुए आत्रेय के मत का निर्देश किया है। चरक के खुड्डीकाध्याय में भी वही विषय है। इस प्रकार दोनों में समानता देखकर यह कहा जा सकता है कि अग्निवेश संहिता में आया हुआ यही आत्रेय का मत है। परन्तु चरक में उसके बाद दूसरा महागर्भावक्रान्त्यध्याय है। उसमें गर्भ संबन्धी अन्य विषयों का निरूपण किया गया है। इन विषयों के भेडसंहिता में न मिलने से इसे बाद में चरक के समय का विकास कहा जा सकता है। अथवा यह भी सम्भावना हो सकती है कि खुड्डीका पद के दिये होने से महागर्भावक्रान्ति अध्याय भी पहले से ही अग्निवेश संहिता में हो तथा भेडसंहिता में वह कालक्रम से खण्डित (लुप्त) हो गया हो।

वर्तमान चरकसंहिता के उपक्रम में ऋषियों के समुदाय में इन्द्र द्वारा प्राप्त आयुर्वेद विद्या के भरद्वाज द्वारा प्रकाशन से तथा आत्रेय द्वारा उस विद्या को भरद्वाज से प्राप्त करने का उल्लेख न होने पर भी आत्रेय के शिष्य अग्निवेश आदि द्वारा तन्त्र के निर्माण तथा उन अग्निवेश आदि के तन्त्रों की लोक में प्रसिद्धि का निर्देश अग्निवेश की अपेक्षा अपने संस्करण की उत्कृष्टता दिखाने के लिये चरक द्वारा अधिक उचित प्रतीत होने से, अग्निवेश द्वारा बाद में कहीं भी भारद्वाज से इस विद्या की प्राप्ति का निर्देश न होने से, प्रत्युत भारद्वाज के मत का खण्डन करने से तथा भारद्वाज के विषय में विशे कुछ भी निर्देश न करने से प्रतीत होता है कि

'अथातो दीर्घञ्जीवितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः, इति ह स्माह भगवानात्रेयः' इन दो वाक्यों के बाद सीधा **'हिताहितं सुखं दुःखम्'** से अग्निवेशतन्त्र का प्रारम्भ हुआ है तथा इनके बीच का अवतरणिकांश सम्भवतः चरकाचार्य ने पूरा किया है। **'हिताहितम्'** इत्यादि वाक्य में दीखने वाली प्राचीन ग्रन्थ की प्रौढता का इससे पूर्व के वाक्यों में न मिलना भी इसी बात को प्रकट करता है।

वर्तमान चरकसंहिता तथा भेडसंहिता के **'नवेगान्धारणीय'** अध्यायों की तुलना में हम देखते हैं कि चरकसंहिता में वेगों के निरोध के औचित्य एवं अनौचित्य सम्बन्धी विषय को ही दिया है। इसके विपरीत भेडसंहिता में अध्याय के आदि तथा अन्त में उस विषय के होने पर भी बीच में दन्तधावन, धूमवर्ती आदि अन्य विषय दिये हुए हैं। इस प्रकार अग्निवेश संहिता में सन्दर्भशुद्धि तथा भेडसंहिता में लेख, रचना अथवा उपलब्ध ग्रन्थ की विकृति के कारण अशुद्धि प्रतीत होती है।

नावनीतक नामक ग्रन्थ में आत्रेय के नाम से दिये हुए बहुत से योग एवं ओषधियों के चरकसंहिता में मिलने पर भी दो तीन ओषधियों के न मिलने से तथा चक्रपाणि शिवदास आदि द्वारा अग्निवेश के नाम से उद्धृत कुछ श्लोकों का चरकसंहिता में न मिलने से अग्निवेश संहिता में से संस्करण के अवसर पर कुछ अंश निकाल दिया गया प्रतीत होता है।

इसी प्रकार भेडसंहिता तथा अग्निवेशतन्त्र को सामने रखकर प्रत्येक विषय में तुलना करने पर अन्य भी बहुत से स्थलों पर विभेद दृष्टिगोचर होते हैं।

चरकसंहिता में अध्यायों के बीच २ में भी स्थान २ पर आये हुए गद्यवाक्यों के संक्षेप एवं विस्तार के लिये कहीं पद्य तथा कहीं गद्य रूप में भी संग्रह एवं विग्रह रूप मिलता है। बीच २ में भी **'भवन्ति चात्र' 'अत्र श्लोकाः'** इत्यादि द्वारा कहीं संक्षेप के लिये तथा कहीं उपपादक अर्थ को सूचित करने के लिये पद्य (श्लोक) दिये हैं तथा प्रत्येक अध्याय के अन्त में भी **'अत्र श्लोकाः'** द्वारा अध्याय के विषयको श्लोकों में दिया हुआ है। संक्षिप्त लेख के ग्रहण सौकर्य (आराम से समझने) के लिये विस्तृत रूप देना तथा विस्तृत लेख के धारणसौकर्य (याद करने) के लिये संक्षिप्त रूप में देने की प्रणाली प्राचीन आचार्यों के लेखों में भी मिलती है। व्याकरण महाभाष्यकार की भी यही शैली है। कुसुमाञ्जलि आदि में कारिकाओं के प्रतिपाद्य विषयों का पूरणिका रूप में गद्यवाक्यों द्वारा विशदीकरण (स्पष्टीकरण) दिया गया है तथा शास्त्रदीपिका भामती आदि में इसके विपरीत विस्तृत भावों को संक्षेप से कारिका रूप में दिया गया है। सुश्रुत तथा काश्यपसंहिता में भी स्थान २ पर संग्रह तथा विग्रह (संक्षेप और विस्तार) से वर्णन मिलता है। इस प्रकार एक ही विषय को संक्षेप एवं विस्तार दोनों प्रकार से निरूपण करना मूल आचार्य के द्वारा भी सम्भव हो सकता है। किसी एक प्रकार से कही हुई पूर्व आचार्य की उक्ति को पीछे संस्कर्ता द्वारा किसी दूसरी प्रकार भी कहा जा सकता है। चरक संहिता के निम्न श्लोक द्वारा यह स्पष्ट कहा गया है कि गहन विषयों का अन्तर्दृष्टि होकर ज्ञान प्राप्त करने के लिये इस प्रकार के संक्षेप एवं विस्ताररूप उक्तिभेद में पुनरुक्ति दोष नहीं होता है—

गद्योक्तो(१) यः पुनः श्लोकैरर्थः समनुगीयते।
तद्व्यक्तिव्यवसायार्थं द्विरुक्तं तन्न गर्ह्यते॥

इस प्रकार संक्षेप तथा विस्तार द्वारा की गई रचना **"प्रौढिर्व्यासमासौ च"** के अनुसार पुनरुक्ति दोष नहीं है अपितु गुण है।

इसी प्रकार चरकाचार्य ने अग्निवेश तन्त्र के एक २ वाक्य को लेकर कहीं उसे पूरा करने के लिये, कहीं संक्षेप एवं विस्तार के लिये तथा कहीं ग्रहण एवं धारण में उपयोगी बनाने के लिये, उसे पूर्ण करने तथा बढ़ाने की दृष्टि से अपने कुछ वाक्य तथा पद आदि सम्मिलित करके मूल आचार्य तथा अपने वाक्यों को तिलतण्डुलरूप में मिलाकर प्रतिसंस्करण किया है। जिस प्रकार भारत ग्रन्थ में अनेक कथानक, वैशम्पायन आदि के प्रश्नोत्तर आदि पूरणिका वाक्य तथा आदि और अन्त में उपक्रम तथा उपसंहार ग्रन्थों को जोड़कर उसे महाभारत का रूप दे दिया गया है इसी प्रकार चरक ने भी ऐसा ही संस्करण करके इसे दूसरे परिमार्जित रूप में उपस्थित कर दिया है। इसलिये मूलग्रन्थ के परवश होने के कारण मूलग्रन्थ में जैसा विषय का पौर्वापर्यक्रम था, प्रतिसंस्कृत ग्रन्थ में भी वैसा ही होने से सुश्रुतसंहिता की अपेक्षा चरकसंहिता में ग्रन्थ का विषय अधिक विश्रृङ्खलित मिलता है। इस प्रकार चरक ने भी उसे ठीक नहीं किया। यदि वह स्वतन्त्ररूप से चरकसंहिता की रचना करता हो इतना प्रौढ विद्वान् होकर भी क्या इस पौर्वापर्यक्रमरूप सन्दर्भ शुद्धि को ठीक न करता। समास एवं व्यासरूप में पुनरुक्त प्रकीर्ण विषय को संकलित करते हुए भी उसने इस दोष को दूर क्यों नहीं किया। ज्वरसमुच्चय में आश्विन, भारद्वाज आदि के वचनों के मिलने से उनकी संहिताओं से भी विषयों को संग्रह करके इस संस्करण में चरकाचार्य ने संभवतः दिये हों। इस प्रकार बहुत प्रयत्न एवं परिश्रम से प्रतिसंस्कृत करके इस प्राचीन संहिता को चरक ने अनेक विषयों से युक्त कर दिया है। इसीलिये इस संहिता के अन्त में दृढ़बल ने इस संहिता के ज्ञान से ही दूसरे तन्त्रों के ज्ञान तथा इसकी महत्ता का निर्देश करते हुए कहा है कि **यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्'**। उपर्युक्त गुणों के कारण तथा अन्वर्थक चरक नाम के अनुरूप सब जगह घूम २ कर प्रचार करने के कारण अन्तरङ्ग दृष्टि से इस ग्रन्थ के आत्रेय तथा अग्निवेश संहिता रूप होने पर भी बहिरङ्ग दृष्टि से वर्तमान संहिता की चरक संहिता नाम से ही प्रसिद्धि है।

भेडसंहिता में भी उतने ही अध्यायों के होने से तथा इस ग्रन्थ (चरकसंहिता) में भी एक सौ बीस(२) अध्याय तथा आठ स्थानों का आत्रेय तथा अग्निवेश द्वारा उपदेश किया होने से प्रतीत होता है कि इस सम्पूर्ण ग्रन्थ के अपस्मार प्रकरण से अगले भाग के कालवशात् लुप्त हो जाने से तथा चरक के समय भी उसका संस्करण न होने से पीछे आत्रेय द्वारा उपदिष्ट हारीत आदि के ग्रन्थों से विषयों को लेकर संभवतः दृढ़बल ने इसकी पूर्ति की है। पीछे से पूरा किये हुए उतने अंश में विभिन्न पद्यप्रायः लेख का होना भी इसी का समर्थन करता है।

अग्निवेश के नाम से चक्रपाणि तथा शिवदास आदि द्वारा उद्धृत वचनों के मिलने से प्रतीत होता है कि संभवतः उस समय

(१) १–२ की टि० उपो० संस्कृत पृ० ५६ का १–२ देखें।

तक अग्निवेशतन्त्र उपलब्ध था। परन्तु उस अवस्था में दृढबल के समय भी अग्निवेशतन्त्र की उपस्थिति की संभावना होने से उस अग्निवेशतन्त्र से ही शेष भाग की पूर्ति न करके *शिलोञ्छवृत्ति द्वारा अन्य तन्त्रों से विषयों को एकत्रित करके दृढबल द्वारा चिकित्सास्थान के अन्तिम १७ अध्याय तथा सिद्धि और कल्पस्थान की पूर्ति करने में क्या हेतु है? अग्निवेशतन्त्र से पूर्ति न करके अन्य तन्त्रों से पूर्ति करने का उल्लेख दृढबल ने स्वयं किया है। लगभग एक हजार वर्ष पूर्व लिखित एवं उससे प्राचीन ज्वरसमुच्चय में चरक के वचनों के मिलने तथा अग्निवेश के वचनों के न मिलने से, वाग्भट आदि द्वारा भी चरक का ही उल्लेख होने से तथा खलीफा हारूंरशीद के समय भी इसी चरकसंहिता का ही अनुवाद होने से प्रतीत होता है कि वाग्भट तथा दृढबल आदि के समय से पूर्व ही अग्निवेश का तन्त्र विलुप्त हो चुका था। चक्रपाणि तथा शिवदास आदि के समय तक यदि अग्निवेशतन्त्र मिलता होता तो भिन्न २ विषयों में अग्निवेश तथा चरक की समानताओं तथा विषमताओं का अनेक स्थानों पर वर्णन होना चाहिये था। परन्तु इसके विपरीत यहां अग्निवेश के कुछ ही वचनों के उद्धरण दिये होने से प्रतीत होता है कि ये उद्धरण प्राचीन निबन्ध एवं टीकाओं से दिये गये हैं।

सुश्रुतसंहिता के संस्करण के विषय में ग्रन्थ में कहीं भी स्पष्टरूप से उल्लेख नहीं है। केवल **'प्रतिसंस्कर्ताऽपीह नागार्जुनः'** डल्हण के इस निर्देश के अनुसार ही कुछ लोग नागार्जुन को इसका प्रतिसंस्कर्ता मानते हैं। नागार्जुन को भी प्रतिसंस्कर्ता मानने पर सुश्रुत उससे प्राचीन सिद्ध होता है। परन्तु नागार्जुन के वर्तमान सुश्रुतसंहिता का प्रतिसंस्कर्ता होने में कोई प्रबल प्रमाण नहीं मिलता है। यदि वह प्रतिसंस्कर्ता होता तो चरक के **'अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते'** उल्लेख की तरह वह भी अपना प्रतिसंस्कर्ता के रूप में उल्लेख क्यों न करता? आर्य नागार्जुन तथा दूसरे किसी नागार्जुन के विषय में भी अन्य ग्रन्थों में शल्यतन्त्र के विषय में कहीं उल्लेख नहीं मिलता। आर्य नागार्जुन के उपायहृदय में सुश्रुत का नाम दिया होने पर भी पूर्वनिर्दिष्ट भैषज्यविद्या के प्रकरण में शल्यतन्त्र का पृथक् निर्देश नहीं मिलता है। तथा यह भी विचारणीय है कि शान्तिप्रधान बौद्धमार्गानुयायी तथा बोधिसत्व विद्वान् होने के कारण शस्त्रसाध्य शल्य चिकित्सा में उसकी रुचि (प्रवृत्ति) किस प्रकार हो सकती थी। आर्य नागार्जुन या तान्त्रिक नागार्जुन द्वारा यदि इसका संस्करण किया जाता तो उसमें स्वाभाविकरूप से बौद्धमत की छाया अवश्य होती। इस ग्रन्थ में कहीं नाम मात्र को भी बौद्ध छाया नहीं मिलती है अपितु निम्न श्लोक के द्वारा स्थान २ पर राम तथा कृष्ण की महिमा, वैदिक मन्त्रों के प्रयोग तथा सांख्य दर्शन के अनुसार अध्यात्म का विषय दिया हुआ है—

महेन्द्ररामकृष्णानां ब्राह्मणानां गवामपि।
तपसा तेजसा वाऽपि प्रशाम्यध्वं शिवाय वै॥

* जिस प्रकार पक्षी जाति भिन्न २ स्थानों से छोटे कणों को बीन २ कर संग्रह करते हैं उसी प्रकार भिन्न २ ग्रन्थों से जब थोड़ा २ अंश संग्रह करके किसी विषय को पूरा किया जाय तब यह शब्द व्यवहृत होता है। (अनुवादक)

इस प्रकार नागार्जुन को सुश्रुत का प्रतिसंस्कर्ता सिद्ध करने के लिये अन्य बलवान् प्रमाणों की अपेक्षा है। बहुत से प्राच्य एवं पाश्चात्य विद्वानों की सम्मति है कि वर्तमान समय में सुश्रुत का पुनः संस्करण ही मिलता है। कहीं २ अर्वाचीन विषयों के मिलने से मेरी भी यही राय है कि इसका संस्करण हुआ है। परन्तु इस संस्करण में चरकसंहिता की तरह पुनरुक्तियां नहीं मिलती हैं। इसमें संस्कर्ता तथा उत्तर भाग के लेखक का यद्यपि स्पष्ट उल्लेख नहीं है, परन्तु मेरे पास ६३३ नेवार (नेपाली) संवत् में लिखित ताडपत्रीय सुश्रुत है उसकी पुष्पिका (समाप्ति भाग) में पूर्वभाग में **'सुश्रुते शल्यतन्त्रे'** ऐसा उल्लेख है तथा उत्तरतन्त्र के अन्त में **'इति सौश्रुते महोत्तरतन्त्रे चतुःषष्टितमोऽध्यायः, अतो निघण्टुर्भविष्यति इति'** तथा उस निघण्टु भाग के समाप्त होने पर— **सौश्रुत्यां संहितायां महोत्तरायां निघण्टुः समाप्तः'** उल्लेख मिलता है। यद्यपि **'इदम्'** अर्थ प्रत्ययान्त सौश्रुत शब्द से सुश्रुत के ग्रन्थ का भी ग्रहण हो सकता है तथापि पूर्व तथा अपर ग्रन्थ के भाग में लेख की एक ही शैली के औचित्य को दृष्टि में रखते हुए पूर्वभाग में सुश्रुत शब्द तथा उत्तर भाग में भिन्न ही सौश्रुत शब्द से निर्देश होने के कारण पूर्व भाग सुश्रुत-लिखित है तथा उत्तर भाग उसी के वंश वाले किसी अन्य (सौश्रुत) व्यक्ति द्वारा लिखित प्रतीत होता है। निघण्टु भाग के उपक्रम में दिवोदास के उपदेश का उल्लेख होने पर भी मूल आचार्य के एक होने से यह ग्रन्थ भी मूल ग्रन्थ ही है, इसको सिद्ध करने के लिये संभवतः दिवोदास का निर्देश किया हो तथा निघण्टु भाग में आये हुए लेख में कुछ विकसित अवस्था होने से तथा उत्तर भाग के शब्दों के विशेष रूप से मिलने से यह निघण्टु भाग भी संभवतः सौश्रुत का है। अपूर्ण अंश को पूर्ण करने की दृष्टि से इसमें उत्तरतन्त्र सम्मिलित करनेवाले सौश्रुताचार्य ने पूर्वभाग में भी संभवतः कुछ संस्करण किया हो। महाभाष्यकार द्वारा सौश्रुतशब्द से युक्त उदाहरण के देने से सौश्रुतों की भी पहले से प्रसिद्धि का बोध होता है। सुश्रुत के वंश वाले शल्यविद्या के पण्डित सौश्रुतों का राजाओं के साथ सम्बन्ध होने के कारण ही अत्यन्त प्राचीन काल से **'सौश्रुतपार्थिवाः'** उदाहरण प्रसिद्ध है। इस प्रकार यह कहा जासकता है कि सुश्रुत के वंश वाले या उसके किसी शिष्य (सौश्रुताचार्य) ने पूर्वभाग का संस्करण करके उत्तरतन्त्र और निघण्टु भाग उसमें पीछे से सम्मिलित कर दिया है।

पूर्व आचार्य की संहिता के उपलब्ध होने पर भी अन्य आचार्यों के ग्रन्थों में मिलने वाली विशेषताओं को लेकर पूर्व संहिता की कमियों को दूर करके उसे सर्वाङ्ग पूर्ण बनाने की दृष्टि से पीछे से पूर्ववर्ती दिवोदास की संहिता को लेकर उसमें अन्य ग्रन्थों के विषयों की संस्कर्ता ने उत्तरतन्त्र के रूप में सम्मिलित किया प्रतीत होता है। स्वयं ग्रन्थ कर्ता की उक्ति से स्पष्ट है कि उत्तरतन्त्र का विषय विदेहाधिप आदि के शालाक्यतन्त्र से संबन्धित है। सुश्रुतसंहिता के उत्तरभाग में कौमारभृत्य के प्रकरण में अन्य आचार्यों का निर्देश करते हुए मूल में यद्यपि **'कुमाराबाधहेतुभिः'** द्वारा सामान्य उल्लेख होने पर भी टीकाकारों द्वारा पार्वतक बन्धक जीवक आदि का निर्देश किया जाने से तथा जीवक के इस कौमारभृत्य विषयक

ग्रन्थ के मिल जाने से संभवतः उस प्रकरण में काश्यप तथा जीवक के विषयों को भी उत्तरतन्त्र में सम्मिलित कर दिया गया है।

सुश्रुत के उत्तरतन्त्र में रसभेद विषयक ६४ अध्याय तथा दोषभेदविषयक अन्तिम (६६) अध्याय के बीच में ६५ वां तन्त्रयुक्तियों का अध्याय है। कौटिलीय अर्थशास्त्र में तन्त्रयुक्तियों का अन्तिम अध्याय है। इनकी तुलना करने पर हम देखते हैं कि दोनों में अधिकरण से प्रारंभ करके ऊह्य पर्यन्त ३२ युक्तियां दी हुई हैं। तथा बीच में भी उद्देश, निर्देश, उपदेश, अपदेश, प्रदेश, अतिदेश आदि तथा अन्य ग्रन्थों में न आये हुए भेदों तथा अन्य भी पदार्थों में (अपने २ वैद्यक तथा नैतिक विषयों को छोड़कर) परस्पर समानता को देखकर एक की दूसरे पर छाया प्रतीत होती है। इनमें किसकी किस पर छाया है इस विषय में परस्पर विचार करने पर हम देखते हैं कि कौटिलीय अर्थशास्त्र में औपनिषदाधिकरण की समाप्ति पर ग्रन्थ के अन्त में तन्त्रयुक्तियां दी हुई हैं। इसी प्रकार सुश्रुत के उत्तरतन्त्र में भी साथ २ दिये जाने योग्य रसभेद तथा दोषभेद प्रकरण के बीच में तन्त्रयुक्तियों के अध्याय के दिये होने से पूर्वापर सङ्गति को देखकर यह कहा जा सकता है कि यह किसी दूसरे ग्रन्थ को देखकर किया गया है अथवा संस्करण के समय भी यह अनुप्रवेश संभव है। चरक संहिता में भी ग्रन्थ के अन्त में ही तन्त्रयुक्तियों का विषय दिया हुआ है, जो कि दृढ़बल द्वारा पूरित भाग में है। बाद में मिलाये हुए उत्तरतन्त्र में भी पूर्वभाग की तरह इसकी प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिये धन्वन्तरि की उक्तिरूप **'यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः'** वाक्य लेखक ने संभवतः स्वयं जोड़ दिया है। इस प्रकार सुश्रुत संहिता में पीछे सम्मिलित किये हुए विषयों को मूलग्रन्थ के आगे उत्तरतन्त्ररूप में पृथक् जोड़ दिया गया है। चरक के समान मूल ग्रन्थ के साथ ही विषय को मिलाकर परस्पर एकाकार नहीं कर दिया गया है। इससे संहिता में संग्रह किये हुए नवीन तथा प्राचीन विषयों में परस्पर सुगमता से भेद किया जा सकता है। मुद्रित सुश्रुतसंहिता में प्रथम अध्याय के अन्त में **'सविंशमध्यायशतं पञ्चसु स्थानेषु संविभज्य उत्तरे तन्त्रे शेषानर्थान् व्याख्यास्यामः'** इस पाठ के मिलने से पूर्वसंहिता के समय उत्तरतन्त्र की भी उपस्थिति प्रतीत होने से दोनों भाग एक ही समय के होने चाहियें। परन्तु मेरे संग्रहालय में विद्यमान प्राचीनताडपत्र पर लिखे हुए सुश्रुत में स्थान २ पर बहुत से पाठभेद मिलते हैं। यहां भी **'......संविभज्य उत्तरे व्याख्यास्यायः'** यह पाठ मिलता है। इस पाठ के अनुसार १२० अध्यायों को पांच स्थानों में विभक्त करके फिर आगे व्याख्या करेंगे, इतना ही ग्रन्थ का आशय है। इससे उत्तरतन्त्र का निर्देश नहीं मिलता है। तृतीय अध्याय के प्रारंभ में अध्यायों की गणना करते हुए मुद्रित पुस्तक में दिया हुआ **'तदुत्तरं षट्षष्टिः'** यह पाठ भी ताडपुस्तक में नहीं मिलता है। किन्तु उत्तरतन्त्र के अध्यायों के विषयों को सूचित करने वाले **'अतः परं स्वनाम्नैव तन्त्रमुत्तरमुच्यते'** से प्रारंभ करके **'विधिनाऽधीत्य युञ्जाना भवन्ति प्राणदा भुवि'** इत्यादि श्लोक तो ताडपुस्तक में भी मिलते हैं। पीछे उत्तरतन्त्र के जोड़ने के बाद उसके विषयों की सूची वाले ये श्लोक भी संभवतः पीछे से अनुप्रविष्ट हो गये हों।

वृद्धजीवकीय तन्त्र के विषय में तो यह कहा जा सकता है कि प्राचीन काश्यप संहिता के बहुत विस्तृत होने से वृद्धजीवक द्वारा उसको संक्षिप्त करके तन्त्र बनाने का उल्लेख संहिता के कल्पाध्याय में मिलता है इसलिये जिस रूप में काश्यपसंहिता थी उसी रूप में वृद्धजीवकीय तन्त्र नहीं है अपितु अन्य संक्षिप्त रचना के कारण स्पष्टरूप से उसका रूपान्तर हो चुका है। परन्तु वृद्धजीवक ने भी संक्षेप करते हुए मूलसंहिता की उपेक्षा करके स्वतन्त्र रचना नहीं की है अपितु उसीके उपदेशरूप वाक्यों तथा विषयों को ही लेकर विस्तृत अंशों को छोड़कर उसी का केवल संक्षिप्तरूप कर दिया है जैसा कि उसके लेख से प्रतीत होता है।

काश्यपसंहिता के पूर्वभाग तथा खिलभाग में भी आदि से अन्त तक प्रत्येक अध्याय में **इत्याह भगवान् कश्यपः' 'इति ह स्माह भगवान् कश्यपः'** इत्यादि वाक्यों के समान रूप से मिलने पर भी ग्रन्थ के अन्दर आये हुए सब विषय कश्यप के ही हों, ऐसी बात नहीं है अपितु सिद्धान्त तथा उपदेश वाक्य ही केवल कश्यप के है तथा बीच में उस विषय के लिये दिये हुए पूरणिका रूप से उपक्रम तथा उपसंहार वाक्य पीछे से वृद्धजीवक द्वारा तन्त्र बनाते समय भी संभवतः दे दिये गये हों। सब अध्यायों के आदि तथा अन्त में **'इत्याह कश्यपः'** यह पद तो जीवक ने संभवतः इसलिए दे दिया है कि लोग इस सारे विषय को उसकी कपोलकल्पना न समझकर काश्यपसंहिता के साररूप में ही जानकर इसे प्रामाणिक मानें। काश्यपसंहिता के पूर्वभाग में **'साहसादतिबालस्य सर्वं नेच्छन्ति कश्यपः' 'मज्जवसयोस्तु मण्डं सर्वेषां कश्यपः पूर्वम्' 'अथ कश्यपोऽब्रवीत् सर्वमप्येतदसम्यक्,** इत्यादि स्थलों में तथा खिलभाग में भी **'पाययेदिति कश्यपः' 'यथास्वमिति कश्यपः' 'पेय इति ह स्माह कश्यपः'** इत्यादि स्थलों में पुनः कश्यप शब्द का उल्लेख होने से प्रतीत होता है कि जीवक द्वारा कश्यप के सिद्धान्तों का अर्थानुवाद किया गया है अथवा वृद्धजीवक के उपदेशक मारीच कश्यप ने भी प्राचीन कश्यपपरम्परा को सूचित करने के लिये स्थान २ पर **'इति कश्यपः'** पद दिया है। अस्तु, **'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति'** के अनुसार इसमें आई हुई सब सिद्धान्त आदि उक्तियां कश्यप की ही प्रतीत होती हैं। मनुस्मृति आदि प्राचीन ग्रन्थों में शिष्य भृगु ने मनु के तथा सामश्रव आदि ने याज्ञवल्क्य के उपदेशों को शब्दरूप तथा भावरूप में ग्रहण करके तथा उसे पूर्ण करके बनाई हुई संहिताओं के मनुसंहिता तथा याज्ञवल्क्यसंहिता आदि नाम रखे हैं। यहां भी इसी प्राचीन आर्ष शैली का अनुसरण किया गया प्रतीत होता है। पूर्वसम्प्रदायों का उल्लेख करते हुए कश्यप के समान उसके पुत्र काश्यपों का निर्देश होने पर भी प्रत्येक अध्याय के उपक्रम तथा उपसंहार में **'इति ह स्माह कश्यपः'** तथा ग्रन्थ के मध्य में भी स्थान २ पर **'कश्यपोऽब्रवीत्' 'इति कश्यपः'** आदि द्वारा कश्यप शब्द से ही आचार्य का उल्लेख किया है।

इस संहिता में दो भाग हैं। कल्पस्थान तक पूर्वभाग तथा उसके बाद खिलभाग। दोनों ही भागों में प्रत्येक अध्याय के उपक्रम तथा उपसंहार में कश्यप के उपदेश रूप में **'इत्याह कश्यपः'** पद मिलता है। ज्वरसमुच्चय में कश्यप नाम से दिये हुए वचन इस

संहिता के पूर्वभाग तथा उत्तर भाग दोनों में मिलते हैं। पूर्वभाग में सर्वत्र कश्यप के शिष्य रूप में जीवक का तथा उत्तरभाग में भी अधिकांश रूप में जीवक का तथा कहीं २ किसी अन्य व्यक्ति का भी उल्लेख मिलता है। इसमें पूर्व तथा उत्तर भाग में एक ही उपदेश को सूचित करने वाले परस्पर संयोजक वाक्य दोनों भागों में मिलते(१) हैं।

इस प्रकार पूर्व एवं उत्तर दोनों भागों के परस्पर संबद्ध होने से एक शरीर रूप से बना हुआ यह ग्रन्थ आपाततः कश्यपसंहिता रूप ही प्रतीत होता है। परन्तु पूर्वभाग के अन्त में पूर्वग्रन्थ के उपसंहार रूप में ग्रन्थ की समाप्ति का निर्देश करने वाला कल्पाध्याय दिया हुआ है। उपसंहार को ग्रन्थ के अन्त में होना चाहिये। आत्रेय तथा भेड की प्राचीन संहिताएँ सूत्र, निदान आदि आठ स्थानों तथा १२० अध्यायों में पूर्ण हुई मिलती हैं। उसी के अनुसार यहां काश्यपसंहिता में भी पूर्वभाग में ही आठ स्थान तथा १२० अध्याय पूरे हो जाते हैं। इस संहिता के कल्पाध्याय के निम्न श्लोक के अनुसार भी इसके आठ विभाग दृष्टिगोचर होते हैं—

सूत्रस्थाननिदानानि विमानान्यात्मनिश्चयः।
इन्द्रियाणि चिकित्सा च सिद्धिः कल्पाश्च संहिता॥

इसके बाद अन्त में **'समाप्ता चेयं संहिता, अतः परं खिलस्थानं भविष्यति'** यह संहिता की समाप्ति का सूचक पुष्पिकावाक्य भी दिया हुआ मिलता है। इस प्रकार आठ स्थानों तथा १२० अध्यायों वाला यह पूर्वभाग ही वृद्धजीवक द्वारा संक्षिप्त की हुई काश्यपसंहिता प्रतीत होती है।

उसके बाद पूर्वभाग में अनुक्त विषयों को (तथा पूर्वभाग में आये हुए विषयों को भी विकसित रूप में) तथा इधर उधर से कुछ आवश्यक एवं प्रकीर्ण विषयों को संग्रह करके पूर्वभागोक्त क्रम को विना ध्यान में रखे ही, सुश्रुत में १२० अध्याय वाली पूर्वसंहिता के बाद उत्तरतन्त्र के समान ८० अध्याय वाला खिलभाग पीछे से जोड़ा गया प्रतीत होता है।

मेघदूत आदि कुछ ग्रन्थों में, स्वयं लेखक द्वारा कथांश को दो भागों में विभक्त करके पूर्व एवं उत्तर भाग के दिये होने से सब जगह यद्यपि ऐसा नियम नहीं बनाया जा सकता तथापि कादम्बरी और दशकुमारचरित आदि में पूर्व एवं उत्तरभाग में रचना का भेद तथा कहीं २ लेखक के भी भेद का स्पष्ट उल्लेख किया है। इन ग्रन्थों में उसके बाद में पूरे किये हुए भाग का केवल उत्तरभाग नाम से ही निर्देश किया गया है। ग्रन्थ का नाम तो सम्पूर्ण ग्रन्थ के अनुसार, कादम्बरी, दशकुमारचरित आदि एक ही है। कुछ विद्वानों का विचार है कि रामायण में भी राम के घर पर कुश तथा लव द्वारा गाये हुए भाग के पश्चात् का अंश बाद में पूरा करके जोड़ा गया है। उस भाग का उत्तरकाण्ड नाम से पृथक् व्यवहार होने पर भी सम्पूर्ण ग्रन्थ का तो एक ही नाम से व्यवहार मिलता है। ऐसे स्थानों में जहां उत्तरभाग में लेखशैली की भिन्नता प्रतीत होती हो वहां कर्ता एवं समय के भेद से निर्माण के भेद का भी अनुमान किया जाता है। सुश्रुत के पूर्वभाग में भी कौमारभृत्य तथा शालाक्य आदि विषयान्तरों के विकसित अवस्था में मिलने के कारण एक ही लेखक की रचना होने से उनका विस्तृत वर्णन मिलना चाहिये परन्तु शल्यतन्त्र की प्रधानता की रक्षा के लिये ये विषय बहुत संक्षेप से दिये गये हैं। उत्तरतन्त्र के रूप में पुनः मिलने वाले विस्तृत प्रस्थानान्तरीय विषयों का बाद में सम्मिलित किया जाना प्रकट करने के लिये उत्तरतन्त्र नाम से निर्देश किया गया है। लेख की रचना में भेद के द्वारा निर्माण में भी भेद मालूम हो सकता है। इसी प्रकार काश्यपसंहिता का खिलभाग भी यदि पूर्वभाग के साथ ही बनाया गया होता तो पूर्वभाग में दिये हुए ज्वर आदि विषयों के साथ खिलभाग में दिये हुए ज्वर आदि विषयों की समानता को दृष्टि में रखते हुए उसी के अनुसार वर्णन किया जाता परन्तु खिलभाग में पुनः उन्हीं विषयों के देने से तथा उपदेश स्थान, समय और उपदेश्य व्यक्ति का भी भेद दिखाई देने से पूर्वभाग तथा खिलभाग में ग्रन्थ कर्ता, समय तथा रचना का भी भेद प्रतीत होता है। विद्वान् लोग ऋग्वेद में भी खिलरूप से सम्मिलित किये हुए भाग का समय भिन्न मानते हैं। यहां भी खिल नाम से निर्देश किया जाना ही समय तथा कर्ता के भेद को प्रकट करता है। काश्यपसंहिता के कल्पाध्याय में आए हुए **'तन्त्रं सखिलमुच्यते'** वाक्य के अनुसार खिलस्थान भी इसी वृद्धजीवकीय तन्त्र का भाग प्रतीत होता है। तथा खिलभाग में आये हुए विषयों के भी काश्यप के ही उपदेश रूप होने से खिलभाग सहित ग्रन्थ ही काश्यपसंहिता प्रतीत होती है। परन्तु इस संहिता के पूर्वभाग के निम्न श्लोक से दारुवाह द्वारा प्रेरित वृद्धजीवक को कश्यप का उपदेश दिया जाना प्रतीत होता है—

उपास्यमानमृषिभिः कश्यपं वृद्धजीवकः।
चोदितो दारुवाहेन वेदनार्थेऽभ्यचोदयत्॥

इस प्रकार पूर्वभाग में प्रायः बहुत से अध्यायों में जीवक का प्रश्न तथा कश्यप द्वारा उत्तर दिया जाना मिलता है। वत्स के भृगु की सन्तान होने से वात्स्य के पूर्वपुरुष के रूप में निर्दिष्ट जीवक को भार्गव शब्द द्वारा सम्बोधन किया जाना उचित होने पर भी **"भार्गवास्थीनि"** द्वारा केवल एक स्थान पर भार्गव शब्द से सम्बोधन किया गया है। अन्यत्र सब स्थानों पर जीवक शब्द द्वारा ही सम्बोधन किया गया है। इसके विपरीत उत्तरभाग (खिलस्थान) में दारुवाह का उल्लेख नहीं मिलता है तथा जीवक शब्द द्वारा संबोधन भी कहीं २ ही है। प्रायः सब स्थानों पर भार्गव शब्द से ही संबोधन मिलता है। अन्तर्वत्नीचिकित्सा तथा कुक्कुणक आदि अध्याय में भी कहीं २ जीवक तथा भार्गव शब्द द्वारा सम्बोधन तथा जीवक द्वारा प्रश्न न करके 'नृप, नराधिप, विशाम्पते, इत्यादि राजा के सम्बोधन दिये हुए हैं तथा एक स्थान पर **'इति वार्योविदायेदम्'** द्वारा वार्योविद को कश्यप के उपदेश का उल्लेख मिलता है। लेख की रचना का अनुसन्धान करने पर पूर्वभाग में प्रायः लेख की प्रौढ़ता आर्षभाव का प्राचुर्य तथा विषय की गम्भीरता दीखती है तथा उत्तरभाग में प्रायः विकसित विषय तथा निरूपण शैली भी स्पष्ट एवं सुन्दर प्रतीत होती है। रेवतीकल्प, चर्मदल, जातकर्मोत्तरीय तथा शूलचिकित्सा आदि अध्यायों में कहीं २ पूर्वभाग के समान प्रौढ़ एवं आर्ष रचना तथा विषय की गंभीरता

(१) इसकी टि० उपो० संस्कृत पृ० ५८ का० १ देखें।

दिखाई देती है। उपर्युक्त वर्णन के अनुसार प्रतीत होता है कि मुख्यरूप से दारुवाह द्वारा प्रेरित जीवक ने कश्यप द्वारा दिये गये उपदेशों को लेकर पूर्वभाग का निर्माण किया है जिसमें कि रचना शैली भी प्रौढ़ है तथा अन्यत्र जीवक, वार्योविद तथा अन्य भी व्यक्तियों को समय २ पर दिये गये कश्यप के उपदेशों को लेकर उत्तरभाग की रचना की गई है जिसमें कि विकसित अवस्था दिखाई देती है। इन उपर्युक्त स्थलों को देखने से दोनों भागों में लेखनी एवं समय का भेद स्पष्ट दिखाई देता है। संहिता के कल्पाध्याय में वृद्धजीवकतन्त्र के कुछ समय तक लुप्त रहने के बाद वात्स्य द्वारा प्राप्ति एवं संस्करण के निर्देश के बाद दिया हुआ निम्न श्लोक भी वात्स्य द्वारा ही कहा जा सकता है—

स्थानेष्वष्टसु शाखायां यद्यन्नोक्तं प्रयोजनम्।
तत्तद्भूयः प्रवक्ष्यामि खिलेषु निखिलेन ते॥

इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि अष्टस्थानात्मक पूर्वतन्त्र ही काश्यपसंहिता का संक्षिप्तरूप वृद्धजीवकीय तन्त्र है। इस पूर्वभाग में न आये हुए आवश्यक विषयों को कश्यप की उपदेश परम्परा तथा अन्य आचार्यों के ग्रन्थों से संग्रह करके वात्स्य द्वारा ही खिलभाग के रूप में अन्त में जोड़ दिया गया प्रतीत होता है। वात्स्य द्वारा ही इस भाग के जोड़े जाने पर भी कश्यप के कुछ उपदेशों को साक्षात् ग्रहण करके तथा कुछ इधर उधर के ग्रन्थों से एकत्रित करके दिया जाने के कारण ही ग्रन्थ में कहीं प्रौढ़ और कहीं साधारण शैली दृष्टिगोचर होना स्वाभाविक ही है। इसमें वार्योविद, काङ्कायन, भारद्वाज, दारुवाह, हिरण्याक्ष, वैदेह तथा अन्य आचार्यों के मत देकर वृद्धजीवक का मत भी दिया हुआ है। अपने सामयिक एवं शिष्य होने के कारण वृद्धजीवक का मत कश्यप द्वारा अथवा स्वयं जीवक द्वारा भी पूर्वपक्ष के रूप में देकर अन्त में चरम सिद्धान्त रूप में कश्यप का मत दिया जाना यद्यपि संभव हो सकता है परन्तु बाद में वमनविरेचनाध्याय में कौत्स, पाराशर्य, वृद्धकाश्यप, वैदेह, वार्योविद तथा उस समय के अन्य भी आचार्यों के मतों का पूर्वपक्ष के रूप में निर्देश करने के बाद चरम सिद्धान्त के रूप में कश्यप के मत के स्थान पर वात्स्य का मत दिया हुआ है। परन्तु पूर्ववाद के कारण बहुत पीछे होनेवाले प्रतिसंस्कर्ता वात्स्य का कश्यप तथा वृद्धजीवक द्वारा निर्देश किया जाना सम्भव न होने से वात्स्य ही इस ग्रन्थ का संस्कर्ता प्रतीत होता है। यहां दिये हुए कौत्स, पाराशर्य आदि सब प्राचीन ही आचार्य हैं। इसलिये उनके समकक्ष आया हुआ वात्स्य भी प्राचीन आचार्य ही होना चाहिये। शतपथ वंश ब्राह्मण में भरद्वाज, पाराशर्य, आग्निवेश्य, हारीत, काप्य, गालव, जातूकर्ण तथा आत्रेय आदि बहुत से प्राचीन ऋषियों का उल्लेख मिलता है। उन्हीं के साथ वात्स्य का भी उल्लेख है। आयुर्वेद के ग्रन्थों से इन नामों वाले आयुर्वेद के आचार्यों का सत्व भी प्रकट होता है। यद्यपि यहाँ ब्रह्मविद्या का निर्देश होने से इनका आयुर्वेदाचार्यत्व सिद्ध नहीं होता है, समान नाम वाले ये अन्य व्यक्ति भी हो सकते हैं तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि ये केवल ब्रह्मविद्या के ही ज्ञाता थे, आयुर्वेद के नहीं। इन्हीं आचार्यों की पूर्वश्रेणी में स्ववैद्य के रूप में प्रसिद्ध अश्वियों का उल्लेख होने से उसी परम्परा में होने से ये भी आयुर्वेद के आचार्य हो सकते हैं। आयुर्वेद के ग्रन्थों में पूर्वाचार्यों के रूप में दिये हुए बहुत से नामों का इस वंश ब्राह्मण में प्रायः साथ २ मिलने से संभवतः ये वे ही व्यक्ति प्रतीत होते हैं।

प्रतिसंस्कर्ता वात्स्य ने केवल खिलभाग ही नहीं जोड़ा है अपितु कल्पाध्याय के **'संस्कृतं तत्पुनस्तन्त्रं वृद्धजीवकनिर्मितम्'** इस निर्देश के कारण पूर्वभाग में भी वात्स्य द्वारा संस्करण किया जाना स्पष्ट प्रतीत होता है। परन्तु वात्स्य द्वारा अपने विचारों को मिलाकर अनेक विषयों से युक्त खिलभाग को पृथक् रूप से जोड़ने से प्रतीत होता है कि उसने पूर्वभाग में मूल ग्रन्थ के विपर्यास रूप कोई विशेष प्रतिसंस्कार नहीं किया है अपितु पूर्वग्रन्थ में ही केवल कहीं २ पूरणिका वाक्य, कहीं अपना विशेष वक्तव्य तथा तात्कालिक विषयों को देकर प्रायः उसी रूप में ही रखा है।

प्रतिसंस्कार का उद्देश्य जिस किसी भी वस्तु अथवा निबन्ध में गुणाधान द्वारा उसे उज्ज्वल करना होता है। इस उपर्युक्त प्रक्रिया द्वारा संस्कार करने से उन प्राचीन संहिताओं के लेख अथवा विषय को संक्षिप्त एवं विस्तृत करके नये विषयों के प्रवेश करने से तथा अनुपयोगी अंश को परिवर्तित करके तथा निकाल करके उनका रूपान्तर कर देने का प्रतिसंस्कर्ताओं का प्रयत्न संभवतः उचित हो परन्तु इस प्रकार पुनः संस्करण होकर प्राचीन संहिता के लेख तथा प्रतिसंस्कर्ताओं के लेख परस्पर नीर-क्षीर (दूध और पानी) की तरह मिल जाने से प्राचीन संहिता के लेखों का प्रतिसंस्कर्ताओं के लेखों में ही अन्तर्भाव हो गया है। इसीलिये प्राचीन आत्रेय संहिता का अग्निवेश द्वारा विस्तार तथा उस अग्निवेश संहिता के चरक द्वारा किये गये प्रतिसंस्करण में तथा इसी प्रकार काश्यपसंहिता के वृद्धजीवक द्वारा किये गये संक्षेप तथा उसके वात्स्य द्वारा किये गये प्रतिसंस्करणों में यह कहना कठिन है कि इनमें कितना अंश किसका है। जिस प्रकार प्राचीन मूल नावनीतक ग्रन्थ में नवीन विषयों के प्रवेश द्वारा अपूर्ण विषयों को पूर्ण करके लाहौर से प्रकाशित करवाकर प्रतिसंस्कर्ता ने बहुत उपकार किया है तथा यह भी सन्तोष का विषय है कि वाग्भट, नगेन्द्रनाथ आदि बहुत से अर्वाचीन विद्वानों के अनुभव सिद्ध ओषधियों को इसमें प्रविष्ट करके इसे और विस्तृत कर दिया है। परन्तु इस प्रकाशन में यदि नवीन पूरित (प्रतिसंस्कृत) अंश को लिपि के भेद द्वारा अथवा कोष्ठक में देकर पृथक् प्रकाशित कर दिया जाता तो यह मालूम करने में सुविधा रहती कि ग्रन्थ का कितना अंश प्राचीन (मूल ग्रन्थ) है तथा कितना अंश प्रतिसंस्कार में नया प्रविष्ट किया गया है। इस समय लाहौर तथा यूरोप से मूल नावनीतक पृथक् मुद्रित हुआ उपलब्ध होता है इसलिये उन दोनों (मूल तथा प्रतिसंस्कृत) ग्रन्थों की तुलना करने पर प्राचीन एवं अर्वाचीन अंश में यद्यपि भेद किया जा सकता है, परन्तु कालक्रम से यदि कभी मूल ग्रन्थ की उपलब्धि न हो सके तो केवल प्रतिसंस्कृत पुस्तक को देखकर यह भेद करना संभव नहीं होगा। इसमें वाग्भट तथा नगेन्द्रनाथ आदि का उल्लेख होने से कभी बाद में यह सन्देह हो सकता है कि नगेन्द्रनाथ के बाद में मूल नावनीतक ग्रन्थ का निर्माण हुआ है। इसी प्रकार किसी समय चरक तथा वात्स्य द्वारा प्रतिसंस्कृत ग्रन्थों से काश्यपसंहिता, आत्रेयसंहिता, वृद्धजीवकीय तन्त्र तथा अग्निवेश

तन्त्रों की पृथक् स्थिति अवश्य रही होगी। रूपान्तर प्रतिसंस्कारों के प्रचार के कारण प्राचीन ग्रन्थों का प्रचार कम हो गया और इसीलिये पीछे से वे लुप्त हो गये। प्रतिसंस्करणों में कुछ अंश छोड़ दिया जाता है, कुछ नवीन अंश प्रविष्ट कर दिया जाता है तथा कुछ अंश का रूपान्तर हो जाता है। इस प्रकार ग्रन्थ के उस २ अंश के साथ आचार्य के काल का निर्णय करना भी कठिन हो जाता है।

मस्तिष्क में उदय होनेवाले नाना प्रकार के विचारों तथा अन्य आचार्यों के उपदेशों के अनुसन्धान से नये २ विचार उत्पन्न हो जाते हैं। प्रतिसंस्करण के अवसर पर प्राचीन आचार्यों के सिद्धान्तों का भी अर्वाचीन आचार्यों के विचारों से सामंजस्य न होने पर रूपान्तर हो सकता है तथा उनको बिलकुल निकाला भी जा सकता है। कहीं २ बिलकुल निर्मल सिद्धान्त भी पुरुष सुलभ दोषों के कारण संस्करण के समय दूषित हो जाते हैं। चरकसंहिता में चिकित्सास्थान के अन्तिम १७ अध्याय तथा सिद्धि और कल्पस्थान के लुप्त हो जाने से पुनः दृढ़बल द्वारा पूरित किया जाने से उतना अंश यदि दृढ़बल की ही रचना मानी जाय तो उसमें आत्रेय, अग्निवेश तथा चरक में से किसी की भी लेखनी का प्रवेश न होने से उस भाग की अच्छाई या बुराई का उत्तरदायित्व दृढ़बल पर ही होना चाहिये। इस प्रकार यदि अग्निवेश और चरक ने भी पूर्वग्रन्थ के अन्त में परिच्छेद के रूप से अपने २ विचार पृथक् दिये होते अथवा आजकल अग्निवेश तन्त्र पृथक् उपलब्ध होता तो उन २ ग्रन्थों में उस २ भाग में आये हुए अच्छे या बुरे विचारों का उत्तरदायित्व उन २ पर हो सकता था। परन्तु इसके विपरीत प्राचीन एवं अर्वाचीन आचार्यों के लेख गङ्गा-यमुना की तरह परस्पर मिले हुए होने से तथा पूर्व ग्रन्थों के पृथक् उपलब्ध न होने से स्थान २ पर आये हुए अच्छे या बुरे विचारों का उत्तरदायित्व किस पर है यह नहीं कहा जा सकता। इस अवस्था में अर्वाचीन आचार्य के समय सम्मिलित हुई त्रुटियों का दोष भी प्राचीन आचार्यों पर पड़ सकता है। यह बात केवल चरक के विषय में ही नहीं है अपितु सुश्रुतसंहिता तथा काश्यपसंहिता में भी बाद में संस्करण के समय प्रविष्ट हुए कुछ विकार तथा अर्वाचीन विषयों के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकने के कारण कि ये किसके हैं, मूलसंहिता के आचार्यों के विषय में भी अर्वाचीनता तथा उन विकारों की शङ्का उत्पन्न हो जाती है। जिस प्रकार भारत के विस्तृत होकर महाभारत का रूप धारण कर लेने पर अथवा पुनः २ हुए संस्करणों के अवसर पर प्रविष्ट हुए शब्दों के प्रवेश के समय का निश्चय न होने से मूलमहाभारत को भी लोग अर्वाचीन सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। चरकसंहिता में आया हुआ विकसित निग्रहस्थान आदि का विषय भी आत्रेय, अग्निवेश अथवा चरक में से किसी की लेखनी द्वारा प्रविष्ट किया गया है इसका निश्चय न होने से आत्रेय के विषय में भी अर्वाचीनता की शंका उत्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार काश्यपसंहिता में आये हुए उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी आदि शब्दों का भी वात्स्य के प्रतिसंस्करण में ही होना सम्भव होने पर भी, निश्चय न होने से प्राचीनता के साधक बहुत से प्रमाणों के जागरूक होने पर भी कश्यप तथा वृद्धजीवक की अर्वाचीनता की शंका उत्पन्न कर देते हैं।

प्राचीन ग्रन्थों में ही नये विचारों को पीछे से प्रविष्ट करके पुनः संस्करण करने की प्रथा केवल भारतीय ग्रन्थों में ही नहीं मिलती है अपितु अन्य देशों में भी यही प्रक्रिया विद्यमान थी। ग्रीस देश की प्राचीन चिकित्सा के आचार्य हिपोक्रिटस के ग्रन्थ में भी इसी प्रकार प्राचीन एवं नवीन विषयों को एकत्र तिलतण्डुल रूप से मिलाकर पुनः २ संस्करण होने से उसके विषय में भी कुछ विवेचन नहीं किया जा सकता है। इसी प्रकार मिश्र देश में भी एबर्टसप्येपिरस(१) नामक प्राचीन ग्रन्थ के भी अनेक संस्करण हो चुके हैं। पूर्व ग्रन्थों में ही नवीन विचारों के उदय होने पर उन विचारों का भी उसीके अन्दर अनुप्रवेश, कहीं पुस्तक के एक प्रान्त पर देना तथा कहीं टीका टिप्पणी के रूप में सम्पूर्ण नये विचारों को ग्रन्थ के मध्य में भी संस्करण के समय दिया जा सकता है। प्राचीन ग्रन्थों का सारांश भी वहां दिया जा सकता है। तथा स्थान भेद से मिले हुए पाठ भेद भी उसीमें दिये जा सकते हैं। इस प्रकार यह भेद करना कठिन हो जाता है कि प्राचीन ग्रन्थ में कितना अंश प्राचीन है तथा कितना अंश संस्करण के समय प्रविष्ट किया गया है। समय २ पर नये २ विचारों के एकत्र अनुप्रवेश होते जाने से पूर्वापर ग्रन्थलेख में कहीं २ परस्पर विरोध तथा व्याघात भी दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार प्राचीन एवं अर्वाचीन विचारों के परस्पर एकत्र सम्मिलित करने से समयान्तर में सब जगह गड़बड़ी होती आई है। पूर्वोक्त युक्तियों तथा महावग्ग, पालीजातक और तिब्बतीय गथाओं के आधार पर भी प्राचीन सिद्ध किए हुए धन्वन्तरि, कश्यप, जीवक तथा उसी न्याय से आत्रेय सुश्रुत आदि के ग्रन्थों में भी संस्कार के कारण आये हुए अर्वाचीन विषयों के सूचक किसी २ पद, वाक्य या विषय के दर्शन मात्र से ही यदि मूलग्रन्थ को अर्वाचीन सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाय तो २३०० वर्ष पूर्व अशोक द्वारा सब स्थानों पर उद्घाटित सर्वसाधारण के चिकित्सालयों में सुविचार पूर्ण तथा सर्वाङ्ग सम्पन्न ग्रन्थों, उनके ज्ञाता चिकित्सकों, अनुभूत ओषधियों तथा सुन्दर चिकित्साप्रणालियों के होने का जो उल्लेख मिलता है उसका क्या आधार हो सकता है। कश्यप, आत्रेय, सुश्रुत आदि प्राचीन प्रौढ़ विद्वानों तथा उनके ग्रन्थों को यदि अर्वाचीन सिद्ध करें तो इनमें पूर्व के ग्रन्थ उस समय प्रसिद्ध नहीं थे। ४०१ ईस्वी पूर्व में मेयून नामक पारसी राजा का राजवैद्य टी० सी० यस० नामक एक यूनानी वैद्य था। इस प्रकार के उसके इतिहास के समान भारत में उस समय किसी भी विदेशी चिकित्सक के यहां के चिकित्सालय में आने का वृत्तान्त नहीं मिलता है। ईसा से पूर्व का महावग्ग नामक प्राचीन बौद्ध वैद्यक ग्रन्थ भी आत्रेय आदि के सिद्धान्त के अनुसार ही होने से इससे पृथक् प्रतीत नहीं होता। सर्वप्रथम रूप में मिलने वाले, कश्यप, आत्रेय, सुश्रुत आदि के ग्रन्थों तथा उनके आचार्यों को यदि छोड़ दिया जाय तो शिलालेख में दिये हुए सर्वसाधारण चिकित्सालय किन अनुपस्थित व्यक्तियों की कल्पना के आधार पर माने जायेंगे। यदि ये आत्रेय आदि आचार्य अशोक के चिकित्सालयों के उद्घाटन के बाद के माने जांय तो लोकोपकार की दृष्टि से अत्यन्त उपादेय इन साधारण

(१) इसकी टि० उपो० संस्कृत पृ० ६० का० २ देखें।

औषधालयों का इन आत्रेय आदियों ने उल्लेख क्यों नहीं किया है। इनके अतिरिक्त आत्रेय आदि का कोई भी लेख इनसे प्रभावित नहीं प्रतीत होता।

इसी प्रकार सुश्रुतसंहिता आदि में भी आये हुए कुछ स्थूल सिद्धान्त, गलत सिद्धान्त अथवा अपूर्ण अंशों को देखकर कुछ लोगों को इसके विषय में अश्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। यह भी मूललेख तथा प्रतिसंस्कार के परस्पर नीर-क्षीर के रूप में मिले होने से ही है। कालक्रम से विज्ञान, अन्य विद्याओं तथा यन्त्रों के उत्तरोत्तर विकास एवं परिष्कार हो जाने से नये २ सिद्धान्तों के प्रकट होते जाने से प्राचीन ऋषियों के पूर्व सिद्धान्त संभवतः हमें स्थूल एवं कुण्ठित भले ही प्रतीत हों परन्तु उनका विचार करने का ढंग (दृष्टिकोण) सीमित नहीं कहा जा सकता। एक व्यक्ति द्वारा अच्छी समझी जाने वाली वस्तु का दूसरे द्वारा भी वैसा ही समझा जाना आवश्यक नहीं है। एक दिन उचित प्रतीत होने वाली वस्तु अगले ही दिन इससे विपरीत भी मालूम हो सकती है। जिस प्रकार भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित शोधित धातुओं एवं रसौषधियों के उपयोग की पद्धति को अन्यदेशीय विद्वान् अनेक शताब्दियों तक अनुपयोगी एवं अहितकर समझते रहे। वे ही लोग आजकल उसको उपादेय एवं हितकर कहकर उसका व्यवहार करते हैं। इसी प्रकार हमारे प्राचीन आचार्यों के बहुत से सिद्धान्त पाश्चात्यवैज्ञानिक प्रगति के कारण बहुत समय तक अन्यथा माने जाने के बाद अब पुनः दृष्टि के परिष्कृत हो जाने के कारण समुचितरूप में माने जाने लगे हैं। प्राचीन समय में किसी विज्ञान के अनुसन्धान के लिये क्या २ साधन थे? इस विषय में कुछ उल्लेख न मिलने पर भी यह कहा जा सकता है कि प्राचीन सम्प्रदाय परम्परा, अनुभव, निरन्तर लगन एवं तपस्या के आलोक से उज्ज्वल प्राचीन ऋषियों के हृदयों में प्रकट हुए बहुत से सिद्धान्त निर्मल एवं सुन्दर भी हो सकते हैं।

एक ही विषय पुनः विचार करने पर अत्यन्त परिमार्जित हो जाता है। स्वयं ग्रन्थकर्ता ही अपने पूर्वलेख का पुनः परिमार्जित विचारों के उदय होने पर आवापोद्वाप प्रक्रिया द्वारा बिलकुल विपरीत संस्कार कर सकता है। उस अवस्था में अपने ही हृदय में बार २ उदय हुए विचारों के परस्पर सम्पर्क से मुख्य प्रमेय (ज्ञातव्य विषय) तथा तात्कालिक विषयों के अनुप्रवेश द्वारा किये गये संस्कार से गुणों में वृद्धि ही होती है। समयान्तर से इसमें गड़बड़ की संभावना नहीं होती। विद्वान् लोग निम्न प्रकार का संस्करण उचित समझते हैं—

आवापोद्धरणे तावद्यावद्दोलायते मनः।
पदस्य स्थापिते स्थैर्ये हन्त सिद्धा सरस्वती ॥

(अर्थात् जब तक मन स्थिर नहीं होता तब तक आवाप और उद्वाप होते रहते है परन्तु पद के स्थिर होने पर अर्थात् पद-पदार्थ के संबन्ध के सम्यक् ज्ञान हो जाने पर सरस्वती सिद्ध हो जाती है अर्थात् अपने वश में हो जाती है)।

किन्तु बाद में आलोचना करते हुए प्राचीन महर्षियों के उपदेशात्मक ग्रन्थों में अभिप्राय भेद से पूर्वग्रन्थ के गंभीर वाक्यों के अन्यथा प्रतीत होने से तथा तात्कालिक नये विचारों के द्वारा पूर्व विचारों के अन्यथा (विपरीतरूप में) प्रकट होने से पूर्व ग्रन्थ में नवोदित विचारों को प्रविष्ट करके आवापोद्वाप प्रक्रिया द्वारा परिवर्तन, विकास एवं संक्षेप के द्वारा पूर्व ग्रन्थ का रूपान्तर युक्त प्रतिसंस्करण करने में अर्वाचीन लोगों की जो मनोवृत्ति है, वह उचित प्रतीत नहीं होती। प्राचीन सिद्धान्त एवं लेखों के विपरीत हो जाने से उनका स्वरूप ही बदल जाता है अथवा दोषों की शङ्का से वे मलिन प्रतीत होने लगते हैं। प्राचीन सूत्र, भाष्य आदि में उक्त, अनुक्त एवं द्विरुक्त आदि दोषों को दूर करने के लिए अन्य विद्वानों ने सूत्र आदियों को उसी प्रकार रखकर अपने विचारों को वार्तिक के रूप में पृथक् प्रकट किया है। इससे सूत्र भाष्य आदि में आये हुए पद एवं वाक्य आदि में अन्यथा दृष्टि उत्पन्न नहीं हो पाती। इसी प्रकार समयान्तर से नये विचारों के उदय और विकसित हो जाने से तथा पूर्वसिद्धान्तों को अन्यथासिद्ध करने की दृष्टि से प्रतिसंस्कार करने के इच्छुक व्यक्ति यदि मूलग्रन्थ को उसी रूप में रखकर अपने विशेष विचार एवं व्याख्यानों से युक्त समालोचनात्मक अन्य ग्रन्थ को खिलरूप में पृथक् जोड़ दें तो परस्पर मिश्रित न होने से प्राचीन एवं अर्वाचीन विषयों का पृथक् २ भेद, विचारों के विकास का ज्ञान तथा पूर्वापर लेख एवं विचारों की अच्छाई और बुराई का भी ज्ञान ठीक २ हो जाने से कोई गड़बड़ न हो। इसके विपरीत कुछ लोग प्राचीन ग्रन्थों में भी किन्हीं सन्देहास्पद शब्दों के मिलने से ह समस्त ग्रन्थ को अर्वाचीन बतलाने लगते हैं। परन्तु प्राचीन ग्रन्थों में संस्कार के न होने पर भी उन शब्दों का अनुप्रवेश संभव होने से केवल उन शब्दों को देखकर ही ग्रन्थ को अर्वाचीन कहना संगत नहीं प्रतीत होता। कुछ विद्वान् इस प्रकार के शब्द तथा अन्य ऐसे ही विषयों को उन ग्रन्थों में दिखाकर अपने अभिप्राय को विना प्रमाणों के सिद्ध किये ही उन ग्रन्थों का आनुमानिक समय बतलाते रहते हैं। परन्तु उनके उन विचारों में क्या प्रमाण हैं, यह नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार अव्यक्त प्रमाणों से ही विचार किया जाता है। उनके मन में आये हुए असाधारण प्रमाणों का स्पष्ट ज्ञान होने पर ही तथ्य के निर्धारण में सुविधा हो सकती है।

इस ग्रन्थ का संहितात्व तथा तन्त्रत्व

इस ग्रन्थ के संहिताकल्पाध्याय में **'संहिताकल्पं व्याख्यास्यामः'** द्वारा प्रारम्भ करके निम्न श्लोक दिये हैं। जिनमें इसका तन्त्र के रूप में उल्लेख किया गया है—

स पृष्टोऽन्येन वैद्येन'''''(मूल उपोद्घात पृ. ६२ देखें)।

इसके बाद **'समाप्ता चेयं संहिता'** द्वारा इसका उपसंहार किया गया है। इस प्रकार मूल और पुष्पिका वाक्यों में संहिता एवं तन्त्र दोनों रूप में इसका उल्लेख किया गया है। इस ग्रन्थ के उपक्रम तथा उपसंहार के खण्डित होने से उसके द्वारा ज्ञातव्य विषय के संबन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता।

परन्तु संहिता शब्द का व्यवहार तन्त्र शब्द के व्यवहार की अपेक्षा प्राचीन है। प्राचीन आर्षयुग में बनाये हुए ग्रन्थ प्रायः संहिता नाम से तथा उसके बाद प्राचीन आचार्यों द्वारा बनाये हुए ग्रन्थ तन्त्र नाम से व्यवहृत होते थे। संहिता शब्द का अर्थ ऋषियों के प्रतिभा एवं ज्ञान बल से प्राप्त प्रकीर्ण (भिन्न २ विषयों से सम्ब-

न्वित) उपदेशों को सामूहिक रूप से एकत्र करके ग्रन्थ का रूप दे देना है। तथा तन्त्र शब्द भिन्न २ विषयों को भिन्न २ प्रकरण एवं सन्दर्भ सहित शास्त्र का रूप दे देने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इस प्रकार आत्रेय, धन्वन्तरि तथा कश्यप आदि द्वारा मूल उपदिष्ट ग्रन्थों का संहिता नाम से व्यवहार होना चाहिये। तथा इन मूल-संहिता में अग्निवेश, सुश्रुत, वृद्धजीवक आदि द्वारा प्रकरण के अनुसार विषयों को ठीक करके शास्त्र का रूप देने के बाद तैयार हुए ग्रन्थों का तन्त्र नाम दिया जाना चाहिये चरकसंहिता के प्रारम्भ में—

तन्त्रप्रणेता प्रथममग्निवेशो यतोऽभवत्।
अथ भेडादयश्चक्रुः स्वं स्वं तन्त्रं.........॥

इत्यादि द्वारा अग्निवेश आदियों को जो तन्त्रकर्ता के रूप में उल्लेख किया है, वह उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार ही है।

संहिताओं का निर्माण ऋषियों द्वारा स्वयं अथवा उनके उपदेशों को शब्दशः अथवा अर्थशः (भावार्थ) ग्रहण करके शिष्यों द्वारा किये जाने की प्रायः प्रथा है। शिष्यों द्वारा निर्माण किये जाने पर भी केवल उनके भावों को प्रकट करने के कारण संहिताओं का नाम मूल आचार्य के अनुसार ही रखा जाता है। तन्त्रकर्ता मूल संहिता के उपक्रम तथा उपसंहार में प्रश्नोत्तर रूप में अपने तथा दूसरों के मतों को देकर उसे तन्त्र का रूप दे देते हैं। अन्य विशेषताओं को प्रविष्ट करके प्रतिसंस्कर्ता मूलसंहिता को विशालरूप में उपस्थित कर देते हैं। इस प्रकार प्रतिसंस्कर्ता के लेख में तन्त्र का तथा तन्त्र में संहिता का अन्तर्भाव होता है।

जिस प्रकार उपलब्ध चरक तथा सुश्रुत में क्रमशः आत्रेय तथा धन्वन्तरि की उक्तियां गुरु सूत्र के रूप में, अग्निवेश सुश्रुत आदियों की पूरितोक्तियां शिष्य सूत्ररूप में, अन्य आचार्यों की उक्तियां एकीय सूत्ररूप में तथा चरक, दृढबल आदि की उक्तियां प्रतिसंस्कर्तृ सूत्र के रूप में एकत्र(१) मिलती हैं, उसी प्रकार काश्यपसंहिता में भी काश्यप की उक्तियां गुरुसूत्र के रूप में, वृद्धजीवक की उक्तियां शिष्य सूत्र के रूप में, अन्य आचार्यों की उक्तियां एकीय-सूत्र के रूप में तथा वात्स्य की उक्तियां प्रतिसंस्कर्तृ सूत्र के रूप में एकत्रित मिलती हैं।

जिस प्रकार पुनर्वसु आत्रेय द्वारा सर्वप्रथम उपदिष्ट संहिता को लेकर बनाये हुए अग्निवेश के तन्त्र को ही चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत करके प्रकाशित किया जाने से, आत्रेयसंहिता ही अग्निवेश तन्त्र के रूप को प्राप्त करके आजकल चरक संहिता के रूप में दृष्टिगोचर होती है। अथवा जिस प्रकार धन्वन्तरि के अष्टप्रस्थानात्मक उपदेश को लेकर दिवोदास द्वारा अन्य प्रस्थानों के उपदेशों के लुप्त होजाने पर भी केवल शल्यप्रस्थान के विषय में उपदिष्ट संहिता को सुश्रुत ने अपने तन्त्र का रूप दिया तथा उसी का समयान्तर से संस्कार हुआ, इसलिये धन्वन्तरिसंहिता (विशेषकर शल्यसंबन्धी विषय) ही, आजकल सुश्रुतसंहिता के रूप में मिलती है। उसी प्रकार संहिता-कल्पाध्याय के लेख के अनुसार काश्यपसंहिता ही संक्षिप्त वृद्धजीवकीयतन्त्र का रूप धारण करके तथा समयान्तर से वात्स्य द्वारा प्रतिसंस्कृत होकर इस ग्रन्थ के रूप में हमारे सामने विद्यमान है। ज्यों २ उत्तरकक्षा आती है त्यों २ पूर्वकक्षा पृथक् रहती हुई भी, आवापोद्वाप, विवर्धन एवं संस्कार से अन्य स्वरूप के उदय एवं प्रचार के कारण विलुप्त हो जाती है अथवा उत्तरकक्षा में अन्तर्निहित होकर एक शरीर हो जाती है (परस्पर मिल जाती है) इस प्रकार तृतीय संस्कार से युक्त होकर ये संहिताएं तन्त्र तथा प्रतिसंस्कार हमारे दृष्टिगोचर होते हैं। यद्यपि इन ग्रन्थों के पूर्वापर पर्यालोचन करने पर कहीं प्राचीन एवं प्रौढ लेखशैली तथा कहीं साधारण शैली के दिखाई देने से विवेचकों को इनके विषय में कुछ प्रकाश मिल सकता है तथापि वर्तमान चरकसंहिता में कितना आत्रेय का तथा कितना अंश अग्निवेश और चरक का है, सुश्रुत संहिता में भी कितना अंश मूल धन्वन्तरि का तथा कितना अंश दिवोदास, सुश्रुत तथा प्रतिसंस्कर्ता का है, इसी प्रकार काश्यपसंहिता में भी कितना अंश मूलकाश्यपसंहिता का है और कितना अंश वृद्धजीवक एवं वात्स्य का है तथा वृद्धजीवक द्वारा किये गये संक्षेप का क्या स्वरूप है इत्यादि बातों का ठीक २ ज्ञान होना संभव नहीं है।

कश्यप, आत्रेय, भेड तथा सुश्रुत के ग्रन्थों की परस्पर तुलना—

प्राचीन संहिताओं में पूर्व उपलब्ध चरक, भेड तथा सुश्रुतसंहिता और नवीन उपलब्ध काश्यपसंहिता के स्थान, अध्याय, प्रकरण, ग्रन्थ रचना तथा विषयों की परस्पर तुलना करने पर निम्न समानताएँ एवं विषमताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। इस काश्यपसंहिता के प्रकरण एवं अध्यायों का स्वयं ग्रन्थकार ने कल्पस्थान के अन्तिम अध्याय में इस प्रकार वर्णन किया है—

'अष्टौ स्थानानि वाच्यानि......... तन्त्रं सखिलमुच्यते'
(मूल उपोद्घात पृ. ६२-६३ देखें)।

काश्यप, चरक, भेड तथा सुश्रुत संहिताओं के स्थान एवं अध्यायों की तुलना निम्न प्रकार से की जा सकती है—

स्थान		वृद्धजीवकीयतन्त्र	चरक	भेडतन्त्र	सुश्रुत
सूत्रस्थान	अध्याय	३०	३०	३०	४६
निदानस्थान	,,	८	८	८	१६
विमानस्थान	,,	८	८	८	×
शारीरस्थान	,,	८	८	८	१०
इन्द्रियस्थान	,,	१२	१२	१२	×
चिकित्सास्थान	,,	३०	३०	३०	४०
सिद्धिस्थान	,,	१२	१२	९ (१२?)	×
कल्पस्थान	,,	१२	१२	८ (१२ ?)	८
		१२०	१२०	१२०	१२०
खिलभाग		८०			६६

उपर्युक्त चारों ग्रन्थों में से चरक, भेड तथा काश्यपसंहिता आदि तीनों में खिल स्थान को छोड़कर स्थान, अध्याय तथा अध्यायों की कुल संख्या में भी समानता* है। काश्यप एवं चरक

(१) इसकी टि० उपो० संस्कृत पृ० ६२ का० २ देखें।

* भेडसंहिता के अध्याय भी अन्य स्थानों में समान हैं परन्तु सिद्धि एवं कल्पस्थान के खण्डित होने पर भी चरक तथा काश्यप संहिता के अनुसार कुल १२० अध्याय प्रतीत होते हैं।

संहिता में केवल सिद्धि एवं कल्पस्थान के पूर्वापर का ही भेद है। ग्रन्थों के अवयवों का विभाजन करने पर हम कह सकते हैं कि काश्यपसंहिता को चरक और भेडसंहिता में छाया दिखाई देती है अथवा उपर्युक्त तीनों ग्रन्थकारों ने किसी एक ही आचार्य का अनुसरण किया प्रतीत होता है। इन सब आचार्यों के पश्चिमप्रदेश के निवासी होने के कारण इनके ग्रन्थों में समान छाया का होना उचित भी है। इनमें से भी चरक तथा भेडसंहिता में एक ही चिकित्सा का विषय होने से तथा एक ही आत्रेय के उपदेशों को ग्रहण करके अग्निवेश तथा चरक द्वारा तन्त्रों के निर्माण का उल्लेख मिलने से नामों के निर्देश तथा विषयों के निरूपण में विशेषरूप से समानता मिलती है। चरक तथा भेडसंहिता दोनों में निदान-स्थान में आठ प्रधान रोग दिये गये हैं। चिकित्सा स्थान में भी दोनों में उन्हीं पूर्वोद्दिष्ट आठ रोगों का ही पहले वर्णन करके फिर आगे अपनी २ बुद्धि के अनुसार बहुत से रोगों की चिकित्सा दी गई है। दोनों के सूत्रस्थान में आये हुए समान नाम एवं तुल्य विषय वाले अध्यायों का उल्लेख पहले किया ही जा चुका है। इस प्रकार आगे भी बहुत से स्थानों पर समानता दिखाई देती है। भेद केवल इतना ही है कि भेड की रचना संक्षिप्त सारहित तथा साधारण है, परन्तु इसके विपरीत स्वयं आत्रेय अथवा अग्निवेश की रचना में तो प्रौढता एवं विषयगाम्भीर्य है ही अपितु पीछे से चरक तथा दृढबल द्वारा किये गये संस्करण में भी गूढ भाव एवं रहस्य-पूर्ण तथा असाधारण रचना दिखाई देती है।

इस काश्यपसंहिता के कौमारभृत्य का ग्रन्थ होने से इसमें बालकों के तथा धात्री, गर्भिणी और सूतिका के विषय होने से अनेक विशेष विषय, ग्रहरोग तथा भैषज्यप्रक्रियाओं का भेद होने पर भी उपलब्ध भाग में स्नेहाध्याय आदि समान नाम वाले साधारण विषय थोड़े बहुत अन्तर के साथ निम्नरूप में मिलते हैं—

काश्यपसंहिता	आत्रेय (चरक) संहिता
२२ वां स्नेहाध्याय	१३ वां स्नेहाध्याय
२३ „ स्वेदाध्याय	१४ „ स्वेदाध्याय
२४ „ उपकल्पनीयाध्याय	१५ „ उपकल्पनीयाध्याय
२५ „ वेदनाध्याय	१६ „ चिकित्साप्राभृतीयाध्याय
२६ „ चिकित्सासंपदीयाध्याय	१७ „ कियन्तःशिरसीयाध्याय
२७ „ रोगाध्याय	१८ „ त्रिशोथाध्याय
	१९ „ अष्टोदरीय रोगाध्याय
	२० „ महारोगाध्याय
	२१ „ अष्टौ निन्दितीयाध्याय

आत्रेय तथा काश्यपसंहिता में कहीं २ शब्दों तथा रचना में भेद होने पर भी विषय तथा कहीं २ लेख की शैली में परस्पर समानता मिलती है।

१. काश्यपसंहिता के खिलभाग में—

यथा विषं यथा शस्त्रं यथाऽग्निरशनिर्यथा।
तथौषधमविज्ञातं विज्ञातममृतोपमम्॥

आत्रेय (चरक) संहिता के सूत्रस्थान के प्रथम अध्याय में—

यथा विषं यथा शस्त्रं यथाऽग्निरशनिर्यथा।
तथौषधमविज्ञातं विज्ञातममृतोपमम्॥

यह *समान श्लोक दोनों में इसी रूप में मिलता है। इस प्रकार के श्लोक को देखकर प्रतीत होता है कि एक पूर्व आचार्य द्वारा उद्धृत श्लोक को दूसरे अर्वाचीन आचार्य ने ग्रहण किया हो अथवा किसी एक ही पूर्व आचार्य का यह श्लोक किन्हीं बाद में होने वाले दोनों आचार्यों ने ग्रहण कर लिया हो यह भी संभव है।

२. काश्यप संहिता में—

औषधं चापि दुर्युक्तं···(मूल उपोद्घात पृ. ६३)

आत्रेय संहिता में—

औषधं ह्यनभिज्ञातं···(मूल उपो० पृ. ६३)

इसी प्रकार काश्यपसंहिता के खिलस्थान के ज्वरचिकित्सा में—

सर्पिः पित्तं शमयति···(मूल उपो० पृ० ६३)

आत्रेयसंहिता के ज्वरनिदान प्रथम अध्याय में—

स्नेहाद् वातं शमयति···(मूल उपो० पृ. ६३)

काश्यपसंहिता में—

मज्जावसे वसन्ते······(मूल उपो० पृ. ६३)

आत्रेय (चरक) संहिता में—

सर्पिः शरदि पातव्यं······(मूल उपो० पृ. ६४)

इस प्रकार रचनाभेद से दोनों ग्रन्थों में एक ही विषय मिलता है।

३. काश्यपसंहिता के रोगाध्याय में रोग के विषय में एक से लेकर आठ तक भेद देकर अन्त में असंख्येयवाद दिया है। इसी प्रकार आत्रेय संहिता के सूत्रस्थान २६ अध्याय में रस के विषय में भी एक से प्रारंभ करके पहले आठ तक भेद देकर अन्त में असंख्येयवाद दिया होने से दोनों में समान शैली दृष्टिगोचर होती है।

४. रोगों के विषय में काश्यपसंहिता में (पृ. ४१) जो ८० वातिक, ४० पैत्तिक तथा २० श्लैष्मिक रोग दिये हैं। चरकसंहिता के सूत्रस्थान के २० वें अध्याय में भी वे ही रोग उतनी संख्या में तथा लगभग उन्हीं नामों से दिये हैं। इस प्रकार इस विषय में बहुत समानता है।

५. काश्यपसंहिता के लक्षणाध्याय (पृ. ५१) में सात्त्विक राजस तथा तामस सत्त्वों के जो अवान्तर भेद दिये हैं, आत्रेयसंहिता के शारीरस्थान के सातवें अध्याय में भी केवल सात्त्विक भेदों में एक भेद कम है, अन्य सब भेद समान हैं। दोनों की लेखशैली को देखने पर भी गम्भीर विचार एवं नये २ विषयों से युक्त प्रौढ शैली दृष्टिगोचर होती है।

सुश्रुतसंहिता में तो खिलस्थान से पूर्वभाग में अध्यायों की कुल संख्या में १२० की समानता होने पर भी विमान, इन्द्रिय तथा सिद्धिस्थान नहीं हैं, शेष पांच स्थान ही हैं तथा उनमें भी अध्यायों

* इसी प्रकार निम्न श्लोक भी दोनों संहिताओं के इन्द्रिय-स्थानों में एक ही रूप में मिलता है—

यस्य गोमयचूर्णाभं चूर्णं मूर्धनि जायते।
सस्नेहं भ्रश्यते चैव मासान्तं तस्य जीवितम्॥

(अनुवादक)

की संख्या में समानता नहीं है। गर्भावक्रान्ति अध्याय में बालक तथा धात्री आदि से संबद्ध विषयों के भी होने से कर्णवेध, स्तन्य-परीक्षा, सामुद्रिक लक्षण तथा सत्त्वभेद इत्यादि कुछ विषयों में प्रायः वृद्धजीवकीयोक्त विषयों से समानता दिखाई देती है। शल्य-प्रधान सुश्रुत में शल्य से संबन्धित विषय पूर्वभाग में हैं तथा—शालाक्य आदि अन्य विषय उत्तरतन्त्र में दिये हुए हैं। खिलभाग में ६६ अध्याय हैं। वृद्धजीवकीयतन्त्र में बालकोपयोगी प्रधान विषयों का पूर्वभाग में पहले संक्षेप में निर्देश करके फिर खिलभाग में भी प्रायः वे ही कुछ पूर्वभाग में आये हुए धात्री आदि से संबन्धित विषय विस्तार से दिये हैं। इसमें खिल भाग में ८० अध्याय हैं। इस दृष्टि से कुछ समानता है तथा भिन्न विषय होने से, उनके विभागनिरूपणशैली तथा रोगों के निर्देश आदि में विषमता दिखाई देती हैं।

इन प्राचीन आर्ष ग्रन्थों की आलोचना करने पर हम देखते हैं कि शारीर, विमान, इन्द्रिय तथा सिद्धि स्थान आदि के विषयों को अन्य स्थानों में देकर सुश्रुत में कहीं २ उस स्थान के पृथक् दिया होने पर भी अन्य ग्रन्थों के समान यहां भी अष्टस्थानीय विषयों के होने से अवान्तर अध्यायों में कहीं २ विषमता होने पर भी बहुत से स्थानो में समानता भी है। अध्यायों की कुल संख्या में सर्वत्र समानता है। प्रतिपाद्य विषयों में भी अपने २ ग्रन्थ के प्रधान विषयों के मिलने पर भी साधारण विषय सबमें मिलते हैं। उन २ अध्यायों में उन २ विषयों के निरूपण की समानता तथा न्यूनाधिक रूप में बहुत से अध्यायों के नामों में भी समानता मिलती है। इससे इन सबका किसी एक ही प्राचीन सम्प्रदाय का अनुसरण किया जाना अथवा समकाल में प्रचलित एक लेखशैली प्रतीत होती है।

कश्यप, आत्रेय तथा धन्वन्तरि के सम्प्रदाय भिन्न होने पर भी इनमें परस्पर परिचय एवं आदर था। काश्यपसंहिता में नाम-निर्देशपूर्वक आत्रेय पुनर्वसु का मत दिया हुआ है। द्विव्रणीयाध्याय (पृ. १२३) में शल्यक्रिया को लक्ष्य करके कहा है—

परतन्त्रस्य समयं……(मूल उपो० पृ. ६४)।

इस प्रकार शल्य विद्या की उपादेयता का निर्देश करके अत्यन्त छोटे बालकों के व्रण के उपक्रम के विषय में कहा है कि—

'तेषामुपक्रमं……संशमनं बन्धनमुक्लिन्नप्रक्षालनं, कल्क-प्रणिधानं, शोधनं, रोपणं, सवर्णीकरणमित्येतैः……शमयेत्, स्रावणपाटनदहनसीवनैषणसाहसादीन्यतिबालेषु न कुर्यात्'

रोगाध्याय में व्रण के बन्धन, रोपण आदि के निम्न प्रयोग देकर उचित शल्यक्रिया का भी निर्देश किया है—

वैसर्पणं चात्र वदन्ति सिद्धं……(मूल उपो० पृ. ६४)।

अश्मरी के प्रकरण में निम्न श्लोकों में अश्मरी के उद्धरण का निर्देश करके अत्यन्त छोटे बालकों में इसका निषेध किया गया है—

शल्यवत्यश्मरी बस्तौ……(मूल उपो० पृ. ६४)।

इस प्रकार कश्यप द्वारा शल्यक्रिया का आदरपूर्वक परिचय एवं उसके प्रयोग तथा अप्रयोग का वर्णन मिलता है। आत्रेयसंहिता में भी कश्यप का मत तथा धान्वन्तर घृत आदि का उपयोग मिलता है।

'दाहे धान्वन्तरीयाणामत्रापि भिषजां मतम्। (च. चि. अ. ५)

इत्यादि वाक्यों में अनेक स्थानों में धान्वन्तरीय प्रक्रिया का निर्देश करने से आत्रेय के भी इस विषय में ज्ञान का परिचय मिलता है।

भेडसंहिता में भी चरकसंहिता में निर्दिष्ट आत्रेय के मत तथा कश्यप के मत का उल्लेख मिलता है—

पिवेत्कल्याणकं सर्पिः……(मूल उपो० पृ. ६४)।

इत्यादि वाक्यों में धान्वन्तर औषधों का उपयोग दिया है। तथा छिद्रोदर (पृ. १६८) और अर्शोरोग (पृ. १८२) में शस्त्रक्रिया का निर्देश है। इस प्रकार भेड द्वारा भी कश्यप, आत्रेय तथा धन्वन्तरि सम्प्रदायों का आदर किये जाने का वर्णन मिलता है।

सुश्रुतसंहिता के अश्मरी प्रकरण (चि. अ. ७) में निम्न श्लोकों द्वारा शल्यतन्त्र का आचार्य सुश्रुत भी कायचिकित्सा के प्रति आदर प्रकट करता है—

घृतैः क्षारैः कषायैश्च……(मूल उपो० पृ. ६४)।

अष्टप्रस्थानाचार्य धन्वन्तरि के प्रस्थानान्तर (अन्य विषय संबन्धी) निबन्धों में कौमारभृत्य आदि विशेष विषयों का विशेषरूप में संम्भवतः निर्देश हो। इस शल्यसंबन्धी निबन्ध (सुश्रुतसंहिता) के भी पूर्वभाग में शारीर स्थान में गर्भिणी के प्रकरण में (पृ. ३०३) प्रसङ्गवश कौमारभृत्यसंबन्धी विषयों का भी संक्षेप में निर्देश किया गया है। यहां पर अन्य आचार्यों के नामनिर्देश के विना ही जो इस प्रकार के कौमारभृत्य विषय का वर्णन किया है, वह कश्यप के मत को देखकर लिखा गया है अथवा स्वयं उसका ही मत है यह तो नहीं कहा जा सकता परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि कौमारभृत्य के विषय में भी उसका प्रवेश अवश्य था। ये स्वयं एक २ विषय के आचार्य होते हुए अन्य विषयों में उन २ आचार्यों का सन्मान करते थे। आजकल भी भिन्न २ अंगों की चिकित्सा में विशेष निपुण (Specialist) पाश्चात्य चिकित्सक अन्य अंगों की चिकित्सा में उस २ अंग के रोगों के विशेषज्ञों का आदर करते हैं। कायचिकित्सकों (Physicians) को शस्त्रचि-कित्सकों (Surgeons) की तथा शस्त्रचिकित्सकों को कायचि-कित्सकों की उस २ विषय में अपेक्षा होती है। तथा यह उचित भी है। किन्तु आत्रेय, भेड आदि ने कश्यप तथा आत्रेय आदि का नामपूर्वक निर्देश किया है, किन्तु सुश्रुत ने कायचिकित्सकों के नाम नहीं दिये हैं अपि तु केवल उनके विषयों का ही निर्देश किया है। कश्यप द्वारा आत्रेय के नाम का निर्देश होने पर भी शिष्योपक्रमणीय अध्याय में **'धन्वन्तरये स्वाहा'** द्वारा देवता रूप में धन्वन्तरि के नाम के निर्देश के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी उप-लब्ध ग्रन्थ में आचार्य रूप में धन्वन्तरि के नाम का उल्लेख नहीं किया है, अपितु केवल शल्यसम्प्रदाय का ही उल्लेख किया है। वह सम्प्रदाय धन्वन्तरि, दिवोदास अथवा अन्य किसी प्राचीन आचार्य का है, यह नहीं कहा जा सकता है। वेदों में भी शल्यविद्या के मिलने से यह कहा जा सकता है कि वैदिककाल से ही धारा-प्रवाह रूप में आने वाली यह शल्यविद्या आत्रेय, कश्यप आदि से पूर्व भी विद्यमान एवं आदृत थी। आत्रेय पुनर्वसु ने भी केवल धन्वन्तरि का ही उल्लेख किया है, दिवोदास तथा सुश्रुत का नहीं। यह नहीं कहा जा सकता है कि धान्वन्तरीय शब्द से सुश्रुत आदि का

अभिप्राय है अथवा धान्वन्तर शल्य सम्प्रदाय के अन्य प्राचीन आचार्यों का ग्रहण किया जाता है। उस लेख से केवल शल्यसम्प्रदाय के पूर्व आचार्यों का ही ज्ञान होता है।

इस ग्रन्थ का विषय—

इस ग्रन्थ का विषय कौमारभृत्य है। इसका प्रयोजन सुश्रुत ने **"कौमारभृत्यं नाम कुमारभरण''''''"** (मू. उपो. पृ. ६५)। (सू. अ.१) बतलाया है। अर्थात् बालकों के पालनपोषण, धात्री के क्षीरदोष (दूषितदूध) के संशोधन तथा दूषित दूध एवं ग्रहों से उत्पन्न होने वाले रोगों की शान्ति के लिये कौमारभृत्य का प्रयोजन है। सुश्रुत ने अपने ग्रन्थ के शल्यप्रधान होने से सूत्र स्थान(१) के अनुसार उत्तरतन्त्र में २७ से ३८ तक के १२ अध्यायों में कौमारभृत्य विषय का वर्णन किया है। किन्तु वहां पर विशेष रूप से ग्रह, स्कन्द, पूतना आदि के प्रतिषेध तथा उनके लिये कुछ उपयोगी औषधियों का ही उल्लेख किया है। इस प्रकार इसमें बहुत से ज्ञातव्य विषयों का उल्लेख न होने से सुश्रुत का कौमारभृत्य पूर्ण न होकर आंशिक रूप में ही प्रतीत होता है। चरकाचार्य ने अपने ग्रन्थ में मुख्य रूप से कायचिकित्सा का ही विषय होने के कारण आयुर्वेद के आठ अङ्गों में से कौमारभृत्य का केवल नाम मात्र ही उल्लेख किया है।

इस काश्यपसंहिता में तो बालकों की उत्पत्ति, रोग, निदान, चिकित्सा, ग्रह आदि का प्रतिषेध तथा उससे संबन्धित अन्तर्वत्नी (गर्भिणी) तथा दुष्प्रजाता तथा धात्री आदि के दोषों के निर्हरण के उपयोगी विषयों तथा उसके साथ ही शारीर, इन्द्रिय तथा विमानस्थान आदि में आने वाले विषयों को मुख्यरूप से देकर बीच २ में प्रासङ्गिक एवं विषयान्तरों से उसकी पूर्ति की है। इस प्रकार ग्रन्थ के आदि से अन्त तक मिलने वाले इस कौमारभृत्य विषय के उपलब्ध भाग की तरह खण्डित भाग में भी मिलने की संभावना होने से इस ग्रन्थ का विषय सर्वाङ्गसम्पन्न कौमारभृत्य प्रतीत होता है। तथा यही बात ग्रन्थ में स्थान २ पर आये हुए बालसंबन्धी प्रश्नोत्तरों, **'कौमारभृत्यमष्टानां तन्त्राणामाद्यमुच्यते** (पृ. ६१) **कौमारभृत्यमतिवर्धनमेतदुक्तम्'** (पृ. ९२), इत्यादि ग्रन्थान्तर्गत वाक्यों तथा कहीं २ पुष्पिकावाक्यों में आये हुए **'कौमारभृत्ये'** (पृ.९२, १४५ सं. क.) इत्यादि पदों से भी प्रकट होती है।

प्राचीन नावनीतक नामक ग्रन्थ के कौमारभृत्य विषयक चौदहवें अध्याय में कश्यप तथा जीवक के नामोल्लेख सहित नाना औषध प्रयोगों के मिलने से तथा अष्टाङ्गहृदय के उत्तरतन्त्र में कौमारभृत्य विषयक तीन अध्यायों में कश्यप के नाम से दिये हुए दन्तरोग भैषज्य तथा ग्रहहर दशाङ्गधूप तथा काश्यपसंहिता के अनुरूप स्तन्यदोष परीक्षा आदि के मिलने से ये दोनों लेखक भी कौमारभृत्य के विषय में इसे प्रामाणिक मानते हैं। सुश्रुतसंहिता के कौमारभृत्य प्रकरण में **'ये च विस्तरतो दृष्टाः कुमाराबाधहेतुभिः'** द्वारा सामान्य निर्देश होने पर भी उसकी व्याख्या में डल्लन द्वारा **'पार्वतकजीवकबन्धकप्रभृतिभिः'** में उल्लिखित कौमारभृत्य के तीन आचार्यों में से दो का तो केवल नाम ही शेष बचा हुआ है, इस ग्रन्थ के मिलने से जीवक अवश्य हमारे सामने पुनः आ जाता है—

कौमारभृत्यास्त्वपरे जङ्गमस्थावराश्रयात्।
द्वियोनिं ब्रुवते धूपं कश्यपस्य मते स्थिताः ॥ (क.स्था.धू.क.)

काश्यपसंहिता के उपर्युक्त उल्लेख से प्रतीत होता है कि कौमारभृत्य के विषय में अन्य भी प्राचीन आचार्य हुए हैं। कश्यप के अन्य भी अनुयायी थे तथा कौमारभृत्य के विषय में कश्यप प्रधान आचार्य था, यह भी ज्ञात होता है।

कौमारभृत्य के विषय में, शारीरिकप्रकृति के विपरीत हो जाने से, स्कन्दरेवती आदि बालग्रहों की विकृति से तथा स्तन्य आदि के दूषित होने से उत्पन्न होने वाले बालकों के रोगों का उल्लेख करके नाना औषधियां, बालग्रहप्रतिकार तथा अन्य भी इससे संबन्धित विषय दिये होते हैं। कायचिकित्सा तथा भूतविद्या के बालभैषज्यसंबन्धी तथा गर्भ, धात्री एवं सूतिकासंबन्धी विषयों को प्रधानरूप से लेकर तथा उसे ही बढ़ाकर पृथक् प्रस्थान के रूप में इस कौमारभृत्य का उदय होता है। इस प्रकार इस कौमारभृत्य में चिकित्सा के समान भूतविद्या के विषयों का भी प्रवेश है। भैषज्य विद्या के समान भूतग्रहादि प्रतिषेध विद्या वैदिक अवस्था में भी थी। छान्दोग्य उपनिषद् के सप्तम अध्याय में **'नक्षत्रविद्यां भूतविद्यां सर्पजनविद्याम्'** द्वारा प्राचीन विद्याओं में भूतविद्या का भी निर्देश किया गया है। अथर्ववेद में भी यह विद्या तथा इसके उपयोगी मन्त्र बहुत से मिलते हैं, इसका पहले भी उल्लेख किया जा चुका है। इसी लिये इसे आथर्वणविद्या भी कहा जाता है। इतिहास की दृष्टि से भी यह भूतविद्या प्राचीन काल में सर्वत्र मिलने से अपनी सत्ता को अत्यन्त प्राचीन कालीन सिद्ध करती है।

कौमारभृत्य के विषय में आजकल क्रियाकालगुणोत्तरतन्त्र मिलता है। उसमें बालकों के रोगों को उत्पन्न करने वाले ग्रह, उस २ दिन, मास तथा वर्ष के भेद से पीडा पहुंचाने वाले विशेष बालग्रह तथा उनके निवारक मन्त्रप्रयोग, कल्प, कुछ औषधियां तथा धातु आदियों का वर्णन किया गया है। इसमें शकुनी, रेवती, पूतना आदि के अतिरिक्त अन्य भी सैकड़ों बालग्रह दिये हैं। मन्त्रों में भी पौराणिक छाया मिलती है तथा विधानमाला से उद्धृत स्कन्द तथा मार्कण्डेय पुराण के वाक्य दिये हुए हैं। आजकल बालतन्त्र के विषय में बालचिकित्सामृत* कल्याणवर्मा कृत, बालतन्त्र तथा योगसुधानिधि आदि अर्वाचीन ग्रन्थ भी मिलते हैं। इनमें भी वर्ष, मास तथा दिनों के भेद से विभिन्न बालग्रह दिये हुए हैं। इस प्रकार इन ग्रन्थों में तथा क्रियाकालगुणोत्तर तन्त्र में समान छाया मिलती है। इस काश्यपसंहिता में तो ग्रह पूतना आदि थोड़े ही ग्रह दिये हैं तथा वर्ष, मास एवं दिन के भेद से विभिन्न ग्रह भी नहीं दिये हैं, स्कन्द रेवती तथा पूतना आदि प्राचीन नामों से ही इनका उल्लेख किया गया है। इसमें मन्त्रों में भी प्रायः वैदिक छाया मिलती है। कहीं २ (मातङ्गीविद्या के

(१) इसकी टि० उपो० संस्कृत पृ० ६५ देखें।

* बालचिकित्सामृत नाम की ताडपत्र पर लिखित जीर्णप्राय पुस्तक नेपाल के राजकीय पुस्तकालय में है जिसमें अपने तथा दूसरों के बनाये हुए पद्यों में बालरोगों की औषधियों का संग्रह किया गया है।

प्रकरण (पृ. २०० में) प्राकृतिक शब्दों से शुक्तमन्त्र मिलते हैं तथा भैषज्य विषय भी भिन्न ही है। इस प्रकार इन दोनों में विभिन्न प्रक्रिया दिखाई देती है। दोनों ग्रन्थों के विषयों की तुलना करने पर क्रियाकालगुणोत्तर तन्त्र में विकसित अवस्था दिखाई देती है तथा काश्यपसंहिता में उसकी अपेक्षा अत्यन्त प्राचीन सम्प्रदाय का आश्रय मिलता है। सुश्रुत में दिये हुए बालग्रहों में भी विकसित अवस्था नहीं मिलती है।

रावणकृत* बालकुमारतन्त्र, कुमारतन्त्र अथवा दशग्रीवबालतन्त्र नामक एक प्राचीन बालतन्त्र मिलता है। ऐसा भी सुना जाता है कि इस तन्त्र का छठी-सातवीं शताब्दी में चीनीभाषा में किया गया अनुवाद भी है। इस ग्रन्थ के विषय में **'बिब्लियोथीक नेशनल पेरिस'** नामक पुस्तक में विशेष विवरण दिया हुआ है। उस प्राचीन काल में तथा इतनी दूर अनुवाद के होने से ग्रन्थ को इससे भी प्राचीन होना चाहिये। इस ग्रन्थ में भी वर्ष, मास तथा दिनों के भेद के अनुसार ग्रह पूतना आदि के भेदों का उल्लेख होने से इस विकसित अवस्था को भी अर्वाचीन नहीं कहा जा सकता, तब अविकसित अवस्था को तो इससे भी अवश्य प्राचीन होना चाहिये।

बालग्रह रूप से स्कन्द का उल्लेख तथा उसकी आराधना विधि इस संहिता में मिलती है। स्कन्द की उपासना प्रणाली प्राचीन है। छान्दोग्य(१) उपनिषद्, गीता,(२) तथा महाभारत(३) में भी स्कन्द का उल्लेख मिलता है। महाभारत के वनपर्व में स्त्रियों के गर्भनाशक तथा बालकों के रक्षाकर रूप में स्कन्द का उल्लेख है। स्कन्द आदियों का बालग्रह के रूप में महाभारत तथा सुश्रुत में प्रायः समानरूप से वर्णन किया गया है। पारस्कर गृह्यसूत्र में भी नवजात बालक के विनाश के हेतुरूप में स्कन्द का उल्लेख किया गया है। इसका श्रीयुत मन्यथ(४) नाथ मुखोपाध्याय ने विशेषरूप से वर्णन किया है।

इस काश्यप संहिता में स्थान २ पर मिलने वाले अनेक नवीन विषय, विचार, सुन्दर निरूपण शैली तथा विशेष दृष्टिकोण इस निबन्ध के विषय में प्राचीन ऋषियों के विचारों की उच्चता को प्रकट करते हैं।

उदाहरण के लिये—

दन्तजन्माध्याय (पृ. ११) में दांतों के भेद, उनके सम्पत् एवं असम्पत् (गुण और दोष), बालक तथा बालिकाओं के दांतों में भेद इत्यादि दांतों के विषय में अनेक नई बातें मिलती हैं जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं होती हैं।

स्वेदाध्याय (पृ. २६) में स्वेद के विषय में अनेक ज्ञातव्य विषयों का निरूपण किया है। आधुनिक बाष्पस्वेद (Steam bath) आदि की प्रक्रियाओं से इसमें कोई कमी दिखाई नहीं देती। बालकों के स्वेदन के विषय में मार्मिक प्रक्रिया का वर्णन मिलता है।

लक्षणाध्याय (पृ. ५७) में सामुद्रिक लक्षणों का विशेष वर्णन किया है परन्तु वे अन्त में खण्डित हैं। लक्षणप्रकाशोद्धृत पाराशरसंहिता में भी इसी प्रकार के प्रौढ सामुद्रिक लक्षण दिये हैं। इस ग्रन्थ के खण्डित अंश के विषय को भी वहीं से देखना चाहिये।

रोगों में अन्य उपद्रवों के उत्पन्न हो जाने पर पूर्व रोग या उपद्रव की पृथक् २ चिकित्सा के सिद्धान्त को न मानकर दोनों की साथ २ चिकित्सा के विषय में अपनी सम्मति दी है (पृ. ३९)।

प्रसव के विलम्ब होने में (Delayed delivery) अन्य आचार्यों के व्यायाम तथा मुसल आदि के द्वारा आघात करने के पक्ष का युक्तिपूर्वक खण्डन किया गया है (पृ. ८५)।

अत्यन्त छोटे बालकों में अश्मरी के उद्धरण तथा तीक्ष्ण औषधियों के प्रयोग का विशेष रूप से निषेध किया गया है (पृ. १२२)।

बालकों में बस्तिकर्म के अच्छी प्रकार प्रयुक्त किये जाने पर वैद्य बालक तथा उसके पिता आदि सबके लिये वह श्रेयस्कर है तथा ठीक प्रकार से प्रयुक्त न की जाने पर अनर्थ करती है, इस लिये बालकों में किस समय से लेकर बस्तिकर्म करना चाहिये, इस विषय में अनेक आचार्यों तथा अपने मत को देकर विशेष विचार किया गया है (पृ. १४७)।

बालकों के फक्करोग में तीन पहियों के रथ के निर्माण का उल्लेख मिलता है (पृ. १४१)।

एकनाभिकयोः कस्मात् तुल्यं मरणजीवितम्।
रोगारोग्यं सुखं दुःखं न तु तृप्तिः समानजा॥ (पृ. १९४)

इत्यादि वाक्यों द्वारा यमल (जुड़वां बालक-Twins) के विषय में विचित्र प्रश्न तथा युक्तिपूर्वक उत्तर दिया है विषमज्वर के निर्देश में तृतीयक, चातुर्थिक आदि ज्वरों के उस २ दिन होने के कारणों का वर्णन किया है (पृ. २२९)।

अन्य सब आचार्यों द्वारा बालकों के छठे मास में अन्नप्राशन का विधान देने पर भी इस संहिता के आचार्य ने उस संस्कार का निर्देश करके छठे मास में केवल फलों के सेवन तथा १२ मास के बाद अन्न चाहने पर थोड़ा २ अन्न देने का विधान दिया होने से, क्षीण अग्निबल वाले अत्यन्त छोटे बालक को मृदु पाकवाले फलों के रस तथा एक वर्ष के बाद अन्न का उपयोग लिखा है। आधुनिक पाश्चात्य विद्वान् भी इसी प्रकार अत्यन्त छोटे बालकों को फलों का उपयोग कराते हैं तथा १२ मास के बाद ही वे अन्न के उपयोग के पक्ष में हैं (खि. स्था. अ. १३)।

वेदनाध्याय में वाणी के द्वारा अपनी वेदना को प्रकट करने में असमर्थ बालकों की भिन्न २ चेष्टाओं के द्वारा अमुक २ रोग तथा अमुक २ अङ्गों की वेदनाओं के आनुमानिक ज्ञान का वर्णन मिलता है (पृ. ३३)।

आप्ततश्चोपदेशेन प्रत्यक्षकरणेन च।
अनुमानेन च व्याधीन् सम्यग् विद्याद्विचक्षणः॥

चरकसंहिता विमान स्थान के चतुर्थ अध्याय के उपर्युक्त श्लोक द्वारा निदान, पूर्वरूप तथा रूप (लक्षण) आदियों को जानने के लिये प्रत्यक्ष आदि उपाय दिये हैं। सुश्रुत ने भी दर्शन, स्पर्शन,

* इस बालतन्त्र में नन्दा, सुनन्दा, पूतना, मुखमण्डिका कटपूतना, शकुनिका, शुष्करेवती, अर्यका, सूतिका, निर्ऋतिका, पिलिपिच्छिका तथा कामुका इन १२ मातृकाओं का निर्देश है। ग्रन्थलेख निम्न प्रकार से है—

प्रथमे दिवसे मासे वर्षे वा··· (मूल उपोद्घात पृ. ६६ देखें)।

(१) १-४ की टि० उपो० संस्कृत पृ० ६६का० २ देखें।

प्रश्न आदि उपायों का उल्लेख किया है। इस प्रकार प्राचीन सम्प्रदाय में दर्शन, स्पर्शन तथा प्रश्न आदियों के द्वारा निदान आदि पञ्चरूपों की विवेचना करके रोगज्ञान का निर्देश किया है। नाडीविज्ञान का उल्लेख चरक, सुश्रुत आदि प्राचीन ग्रन्थों तथा इस काश्यपसंहिता में भी नहीं मिलता है। नाडीपरीक्षा का उल्लेख अर्वाचीन ग्रन्थों में ही मिलने से यह विषय पीछे से प्रचलित हुआ प्रतीत होता है। नाडीविज्ञान के भारत से चीन में जाने के कारण यह विज्ञान भारतीय ही प्रतीत होता है। यह विज्ञान भारत में ही आविर्भूत हुआ है अथवा किसी दूसरे देश से यहां आकर प्रचलित हुआ है, यह विषयान्तर होने से इसके विषय में हम अधिक विचार नहीं करेंगे। अस्तु, प्राचीन ग्रन्थों में इस विषय के न मिलने से इसे प्राचीन कहना कठिन है। अत्यन्त छोटे बालकों में अपने कष्ट को दूसरों को यथावत् समझाने के लिये वाक्शक्ति के उदय न होने से उसकी भिन्न २ चेष्टाओं से रोगों को पहचानने की प्रक्रिया इस काश्यपसंहिता के वेदनाध्याय (पृ. ३३) में तथा अन्यत्र भी स्थान २ पर मिलती है।

सूक्ष्म विचार शक्ति से विस्तृत दृष्टिकोण वाले प्राचीन आचार्य जिस २ विषय में भी प्रवृत्त होते हैं उस २ विषय के अन्तस्तल तक प्रवेश करके यथावत् ज्ञान कराते हैं। कौमारभृत्य के विषय में प्रवृत्त हुए आचार्य कश्यप ने अन्य आचार्यों द्वारा सर्वसाधारण विषयों की तरह बालकों (विशेषकर अत्यन्त छोटे बालकों) के सम्बन्ध में अनेक उपयोगी विषयों का संकेत किया है।

वात, पित्त कफ आदि तीनों दोषों का निर्देश वैदिक साहित्य में भी मिलता है। ऋग्वेद में **'त्रिधातु शर्म वहतं शुभस्पती'** द्वारा त्रिधातु शब्द का उल्लेख किया है। इस शब्द की सायन ने वात, पित्त, कफ रूप त्रिदोषपरक व्याख्या की है। ब्रूमफील्ड नामक विद्वान् ने भी उसी व्याख्या को स्वीकार किया है। जीमर आदि कुछ विद्वानों ने इसका दूसरा ही अर्थ किया है। किन्तु पी. सी. राय(१) महोदय लिखते हैं कि अथर्ववेद में आये हुए वातगुल्म तथा **'वातीकृता'** इत्यादि पदों में दूसरे अर्थ की सङ्गति न होने से तथा सर्वत्र एक ही रूप के औचित्य के कारण यह शब्द त्रिदोषपरक ही होना चाहिये। इसका दूसरा अर्थ करना सङ्गत नहीं है। यह त्रिदोषपद्धति ग्रन्थों में भी आत्रेय, कश्यप तथा सुश्रुत आदि से लेकर आज तक धाराप्रवाह रूप से चली आ रही है। सुश्रुतसंहिता में अनेक स्थानों पर वात, पित्त कफ आदि तीनों दोषों अथवा धातुओं को देहसंभव तथा रोगोत्पत्ति में कारण माना गया है। सुश्रुत में कहीं २ त्रिदोष(२) के साथ रक्त को भी चतुर्थ कारण माना है। प्राचीन महावग्ग के प्राचीन बौद्ध वैद्यक ग्रन्थ तथा बावर द्वारा उपलब्ध नावनीतक आदि ग्रन्थों में भी त्रिदोषपद्धति का ही अवलम्बन किया प्रतीत होता है। महावग्ग तथा विनयपिटक में जीवक की चिकित्सा-पद्धति में भी यही त्रिदोषप्रक्रिया मिलती है। कात्यायन के वार्तिक में भी वात, पित्त तथा कफ का व्यवहार दिखाई देता है। ४६० वर्ष ईस्वी पूर्व प्राचीन हिपोक्रिटस नामक पाश्चात्य चिकित्सक के जन्म से पहले भी भारत में त्रिदोषपद्धति विद्यमान थी। उसके चिकित्सा विज्ञान में पित्त, कफ, रक्त तथा जल आदि चारों को जो दोष के रूप में दिया है, वह भी उसका हृदय भारतीय प्राचीन त्रिदोषपद्धति से अनुरक्त होने के कारण सुश्रुत के विचारों की विकसित अवस्था प्रतीत होती है।

प्राचीन विज्ञान में अग्नि(१) तथा सोम अथवा उष्ण(२) और शीत ये दो मौलिक तत्त्व माने गये हैं जो कि स्पष्टरूप से सब पदार्थों में ओतप्रोत हैं। जिससे वैदिक यज्ञप्रक्रिया में प्रारम्भ से ही अग्नि तथा सोम की उपासना की परिपाटी चली आ रही है। शारीरिक परिस्थिति में भी शीत तथा उष्ण के प्रतिनिधि सोम तथा अग्निरूप शुक्र तथा शोणित को शरीर की उत्पत्ति का कारण माना है इसीलिये सुश्रुत में गर्भ को 'अग्नीषोमीय' कहा है। प्राचीन आयुर्वेदाचार्यों ने वात के योगवाही होने से पित्त अथवा कफ के साथ मिल जाने पर भी अर्थ तथा क्रिया की विकसित दृष्टि के कारण सत्त्व, रज तथा तम की तरह अग्नि, वायु तथा सोमरूप वात, पित्त, कफ तीनों धातु देह की धारक तथा विकृत होने पर दोषरूप होकर रोगों के कारण के रूप में मानी है, इसी सिद्धान्त के अनुसार स्थापित त्रिदोष-पद्धति को ही कश्यप आत्रेय तथा भेड आदि प्राचीन आचार्यों ने ग्रहण किया था। ज्यों २ क्रमशः विचारों में प्रगति आती है त्यों २ नये २ सिद्धान्त उदित होते जाते हैं। इसीलिये सुश्रुत ने पहले वात, पित्त, कफ इन तीन दोषों को ही प्रधानरूप से रोगों का कारण बतलाकर भी पुनः विकृत रक्त के द्वारा भी बहुत से अनर्थों (रोगों) को देखकर तीनों दोषों के समान चतुर्थ रक्त को भी प्रधान कारण स्वीकार किया है। हिपोक्रिटस के चिकित्सा विधान में भी पित्त, कफ, रक्त तथा जल इन चारों को जो दोष-रूप में माना है, वह भी उसका हृदय भारतीय प्राचीन त्रिदोष-पद्धति से अनुरक्त होने के कारण सुश्रुत के विचारों की विकसित अवस्था प्रतीत होती है। इस प्रकार ये विकसित हुए विचार कालक्रम से प्राचीन पद्धति के ही परिष्कृत रूप प्रतीत होते हैं।

काश्यपसंहिता के कल्पस्थान (पृ. १७४) में अद्भुत एवं विस्तृत लशुन कल्प का प्रयोग दिया हुआ है। चीन देश के कासगर नामक स्थान में बावर नामक पाश्चात्य अन्वेषक को भूगर्भ से बौद्ध स्तूप के साथ सात ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं जिनमें से तीन ग्रन्थ वैद्यक के हैं। इनमें से प्रथम नावनीतक है। दूसरे ग्रन्थ में विस्तारपूर्वक लशुन के गुण दिये हैं तथा तीसरा एक ७२ पृष्ठ का ग्रन्थ है जिसमें अनेक औषधियों के योग दिये हुए हैं। यह पहले ही कहा जा चुका है कि इनकी लिपि के प्राचीन होने से इनका निर्माण काल और प्राचीन होना चाहिये। मुद्रित नावनीतक में भी प्रारम्भ से ही विस्तारपूर्वक काशिराज द्वारा सुश्रुत को लशुन के विधान का उपदेश दिया गया है। उसमें लशुन की उत्पत्ति तथा कुछ प्रयोगों में भेद होने पर भी बहुत अंशों में काश्यपीय लशुन कल्प की छाया मिलती है। भाषा की रचना को देखने पर भी नावनीतक की अपेक्षा काश्यप के लेख में प्राचीनता झलकती है। चरकसंहिता में भी लशुन का प्रयोग दिया है। इस प्रकार प्राचीनकाल के चिकित्साग्रन्थों में भी मिलनेवाले लशुन के उपयोग को देखकर अर्वाचीनता की शंका

(१) १-२ की टि० उपो० संस्कृत पृ० ६७ का० १-२ देखें

(१) १-२ की टि० उपो० संस्कृत पृ० ६७ का० २ देखें।

उत्पन्न नहीं होनी चाहिये। लशुन के गुणों की अधिकता के कारण **'रसेन ऊनम्'** (केवल एक रस की कमी) इस व्युत्पत्ति के अनुसार इसे **'रसोन'** कहते हैं। चिकित्सा में यह विशेष उपयोगी है। धार्मिक दृष्टि से यद्यपि स्मृतिग्रन्थों में इसे ब्राह्मणों (द्विजों) के लिये अवश्य गर्हित माना है किन्तु चिकित्सा के ग्रन्थों में इसकी बहुत महिमा बतलाई है। इस काश्यपसंहिता के कल्पाध्याय में महर्षि काश्यप ने अमृत के उद्गार (डकार) से इसकी उत्पत्ति को बतलाकर केवल स्थान दोष से दुर्गन्धित होने के कारण धर्मशास्त्र की मर्यादा के अनुसार द्विजों द्वारा स्पष्टरूप से अग्राह्य होने पर भी लोकोपकार की दृष्टि से इसकी गुणमहिमा तथा कल्प का वर्णन किया है। जातिविशेष द्वारा निषिद्ध सुरा आदि तथा सबके लिये अभक्ष्य हस्तिमांस तथा गदहे के मूत्र आदि के भी गुणों को दृष्टि में रखते हुए आर्षग्रन्थों में भी भिन्न २ रोगों में इनका उल्लेख किया गया है। गुणों के वर्णन मात्र से हम यह कभी नहीं कह सकते कि वे उपदेशक बिलकुल धर्मभावना से शून्य थे। तथा इसका यह भी कभी अभिप्राय नहीं है कि धर्मपरायण व्यक्तियों को भी इसका सेवन अवश्य करना चाहिये, क्योंकि कहा भी है—

न शास्त्रमस्तीत्येतावत् प्रयोगे कारणं भवेत्।
रसवीर्यविपाका हि श्वमांसस्यापि वैद्यके॥

(वात्स्यायनीये कामसूत्रे सां० अ० अ० २)

(अर्थात् केवल शास्त्र में वर्णित होने से ही किसी वस्तु का उपयोग करना आवश्यक नहीं है क्योंकि वैद्यक में तो कुत्ते के मांस के भी रस, वीर्य, विपाक आदि गुणों का वर्णन मिलता है) यद्यपि **श्येनयाग** हिंसा की दृष्टि से अनुपादेय है इस दोष को स्वीकार करके भी इस लोक के उत्तम फलों को चाहने वालों की इष्टसिद्धि के लिये **'श्येनेनाभिचरन् यजेत'** यह वैदिक विधान मिलता ही है। **'यो हि हिंसितुमिच्छेत् तस्यायमभ्युपायः'** द्वारा मीमांसा भाष्य के टीकाकार शबरस्वामी ने भी इसका समर्थन किया है। लशुन का उल्लेख गौतमधर्म सूत्र (१५-३०), मनुस्मृति (५-५-१९), याज्ञवल्क्य स्मृति (१. १७६) तथा महाभारत (८. २०३४, १३. ४३६३) आदि में भी मिलता है।

हिंगु (हींग-Asafoetada) को देखकर भी अर्वाचीनता की शंका उत्पन्न नहीं हो सकती। क्योंकि हींग का अत्यन्त प्राचीन काल से भारतीय ग्रन्थों में उपयोग मिलता है। धार्मिक ग्रन्थों में भी श्राद्ध आदि में हींग का पितृप्रिय (पितरों को प्रिय) के रूप में उल्लेख मिलता है। चरक, सुश्रुत तथा काश्यप संहिता में भी स्थान २ पर ओषधियों के साथ इसका उपयोग मिलता है। काश्यपसंहिता आदि में हींग के लिये बाह्लीक शब्द का भी प्रयोग किया गया है। इसलिये संभवतः बाह्लीक देश (बलख-अफगानिस्तान का प्रदेश) वालों से भारतीयों ने इसका उपयोग एवं परिचय प्राप्त किया हो। इसीलिये उस देश के नाम के अनुसार ही इसका नाम प्रतीत होता है। परन्तु आत्रेय तथा कश्यप आदि द्वारा बाह्लीक भिषक् कांकायन तथा बाह्लीकों के पुनः २ उल्लेख से प्रतीत होता है कि भारत तथा बाह्लीक देश का परस्पर सम्पर्क तथा इन देशों के वैद्यों का परस्पर परिचय अत्यन्त प्राचीन काल से था। बाह्लीकप्रदेश यवनों(यूनानियों) के आक्रमण से पूर्व भी इरानियन जाति के साम्राज्य में प्रतिष्ठित बलख नामक प्रदेश था। उस इरानजाति की उन्नति के समय उस जाति के वैद्य तथा उनकी ओषधियों का भारत के प्राचीन ग्रन्थों में मिलना संगत ही है।

भावप्रकाश में पारसीक यवानी (खुरासानी अजवायन) के उल्लेख द्वारा अन्य देशों की वस्तुओं के मिलने पर भी चरक, सुश्रुत तथा काश्यप संहिता आदि प्राचीन ग्रन्थों में इसका उल्लेख नहीं मिलता है। किन्तु केवल यवानी शब्द का ही निर्देश है। यवानी शब्द न तो यवन शब्द से ही बना है और न यह यवन के संबन्ध को प्रकट करता है। **'इन्द्रवरुणभवशर्वरुद्रमृडहिमारण्ययवयवनमातुलाचार्याणामानुक्'** (पा. सू. ४-१-४९) इस सूत्र में पाणिनि ने यव शब्द से यवानी शब्द बनाया है। वार्तिककार कात्यायन ने **'यवाद्दोषे'** द्वारा दुष्ट (कुत्सित) यव के अर्थ में स्त्रीलिङ्ग में यवानी शब्द बनाया है। इस प्रकार यह प्राचीन यवानी शब्द भी भारतीय ही है। इससे अन्य शंकाएं नहीं होनी चाहिये।

इस ग्रन्थ में आये हुए देशों का वर्णन

इस पुस्तक के उपलब्ध अन्तिम पृष्ठ पर आये हुए देशसात्म्याध्याय (खिलस्था.) में देश विशेष के अनुसार रोग विशेषों का वर्णन करने के लिये उस समय इस विद्या (आयुर्वेद) की उन्नति की दृष्टि से प्रसिद्ध कुरुक्षेत्र को मध्य (Center) मानकर उसी के अनुसार पूर्व आदि दिशाओं के देशों का उल्लेख मिलता है। यदि यह अध्याय सम्पूर्ण रूप में मिलता तो उस समय के अन्य भी बहुत से देशों का परिचय मिल सकता था। परन्तु इस अध्याय के यहीं बीच में खण्डितरूप में ही समाप्त हो जाने से भूखे व्यक्ति के मुंह से बलात् आधा ग्रास छीन लिये जाने के समान उत्कण्ठा को बीच में ही रोकना पड़ता है। अन्तिम भाग के लुप्त हो जाने के कारण पश्चिम तथा उत्तर दिशा के देशों का परिचय न मिलने पर भी पूर्व एवं दक्षिण दिशा के कुछ देशों का परिचय मिलता है। पूर्व एवं दक्षिण दिशा के भी सब प्राचीन देशों का उल्लेख नहीं है, अपितु केवल रोगोचित कुछ देशों का ही उल्लेख है। इनमें से प्रियङ्गु-नवध्वान-वानसी-कुमुद-विदेह तथा घट आदि देशों का अन्य उपलब्ध ग्रन्थों में संवाद के न मिलने से निश्चय न हो सकने पर भी इन साथ आये हुए निम्नलिखित देशों के नाम प्राचीन प्रतीत होने के कारण उपर्युक्त सब देशों के नाम भी प्राचीन काल से व्यवहृत किये जाते प्रतीत होते हैं। निम्नलिखित देशों के नामों का प्राचीन परिचय सहित उल्लेख श्रीयुत् कनिङ्हाम नामक विद्वान् (Ancient geography of india), श्री नन्दलाल महोदय (Geographical dictionary) तथा E. J. Rapson (Ancient India cambridge(History of India vol I) आदि ने अपने प्राचीन भौगोलिक ग्रन्थों में किया है।

मध्य में—कुरुक्षेत्र प्रदेश जो कि १०० योजन के घेरे में था। यह सर्वत्र प्रसिद्ध ही है।

पूर्व दिशा के देश—

कुमारवर्तिनी—महाभारत (सभा० अ० २९) में कुमार देश का उल्लेख मिलता है। यह रीवा के पास का कुमार देश कहलाता है।

कटीवर्ष—बङ्गाल के वर्धमान प्रान्त में आजकल कटवा प्रदेश नाम से प्रसिद्ध है।

मगध—ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में भी मगध देश का उल्लेख मिलने से प्राचीन समय से ही इसको इसी नाम से प्रसिद्धि मिलती है। मागध का उल्लेख तैत्तिरीय ब्राह्मण (३-४-१-१) तथा जैमिनीय ब्राह्मण (१६५) में भी है।

ऋषभ द्वीप—महाभारत (वनपर्व अ० ८५) में ऋषभ का उल्लेख है। बृहत्संहिता में भी दक्षिण में ऋषभ का निर्देश है। कुछ लोग इसे मदुरा के समीपस्थ ऋषभ पर्वत का प्रदेश मानते हैं। परन्तु पूर्व दिशा में स्थित ऋषभ देश से ही इसका अभिप्राय होना चाहिये।

पौण्ड्रवर्धनक—इसे पुण्ड्रवर्धन भी कहते हैं। यह पुण्ड्र देश की राजधानी थी। हरिवंश, पद्म तथा ब्रह्माण्डपुराण में वासुदेव नामक राजा की राजधानी के रूप में इसका निर्देश है। आजकल यह मालदा प्रान्त में स्थित पाण्डुवा प्रदेश कहलाता है। महाभारत में भीमदिग्विजय में पूर्व दिशा में पुण्ड्र देश का उल्लेख है तथा वराह-संहिता में पौण्ड्रदेश का उल्लेख मिलता है। श्रीयुत पार्जिटर महोदय इन दोनों को भिन्न २ मानकर पुण्ड्र को गंगा के उत्तर में अङ्ग (पूर्वी बिहार-भागलपुर का जिला) तथा बङ्ग देश के मध्य में, तथा पौण्ड्र को गङ्गा के दक्षिण में वर्तमान सन्थाल परगने के अन्तर्गत वीरभूम प्रदेश कहते हैं।

मृत्तिकावर्धमानक—यह संभवतः वर्धमान प्रदेश है। मार्कण्डेय पुराण तथा वेतालपञ्चविंशति आदि में विन्ध्य के उत्तर में तथा देवी-पुराण (अ० ४६) में वङ्ग के समीप वर्धमान देश का उल्लेख किया गया है।

कर्वट—महाभारत के भीमदिग्विजय में पूर्व में कर्वट देश का उल्लेख है। बृहत्संहिता में भी इसका निर्देश मिलता है।

मातङ्ग—युक्तिकल्पतरु नामक ग्रन्थ में कामरूप के दक्षिण-पूर्व में मातङ्ग देश का रत्नों की खान के रूप में निर्देश किया गया है।

ताम्रलिप्त—इसका महाभारत (भीष्म. अ. ९, सभा. अ. २९) के भीमदिग्विजय, बृहत्संहिता तथा अन्य भी पुराण, बौद्धग्रन्थ तथा दशकुमारचरित आदि में भी उल्लेख मिलता है। ह्युन्सङ्ग ने भी इसका उल्लेख किया है। अशोक के शिलालेखों में भी इसका निर्देश है। यह बङ्गाल के मेदिनापुर प्रान्त में तमलूक नाम से प्रसिद्ध स्थान प्रतीत होता है।

चीनक*—चीन देश का उल्लेख महाभारत (सभा. अ. ५१) तथा मनुस्मृति (१०-४४) में भी है। साहित्य परिषद् पत्रिका में चीन शब्द का वर्तमान अनामा (Annama) देश के बोधक के रूप में उल्लेख किया गया है। रेशमी वस्त्रों की प्राचीन काल से चीनांशुक के रूप में प्रसिद्धि रही है। तथा बर्माप्रदेश में रेशमी वस्त्रों का व्यापार भी था, तथा वहां चीन का राज्य भी था। चीनक इस कप्रत्ययान्त शब्द से लघुचीन के रूप में उस प्रदेश का बोध होता है।

कौशल्य—कोशल तथा उत्तर कोशल देश का रामायण (उत्तर. अ. १०), पद्मपुराण (उत्तर अ. ६८) तथा अवदान शतक आदि में भी निर्देश मिलता है।

कलिङ्ग—महाभारत (वन. अ. ११३) के सहदेव दिग्विजय, बृहत्संहिता तथा अशोक के शिलालेखों में भी इसका उल्लेख मिलता है। महाभारत के समय उत्कल का बहुत सा हिस्सा कलिङ्ग राज्य के अन्तर्गत था। कालिदास के समय कलिङ्ग तथा उत्कल भिन्न २ थे (रघुवंश सर्ग ४)

दक्षिण दिशा के देश—

काञ्ची—महाभारत (भीष्म. अ. ९) पद्मपुराण (उत्तर अ. ७४) में भी इसका उल्लेख है। महाभाष्य में भी चीर, चोल तथा काञ्ची का उल्लेख मिलता है। द्रविड चोल देश की राजधानी थी। काञ्ची आजकल भी **'काञ्जीवरम्'** नाम से प्रसिद्ध है।

कावीर—यह कावेरी नदी के आसपास का प्रदेश प्रतीत होता है। कावेरी का उल्लेख स्कन्दपुराण में मिलता है। कालिदास ने भी इसका उल्लेख किया है। (रघुवंश सर्ग ४)

चिरिपाली—यह त्रिचिनापल्ली का ही दूसरा नाम प्रतीत होता है। त्रिशिर नामक रावण के सेनापति के नाम से इसका नाम पहले त्रिशिरः पल्ली था। उसीको समयान्तर से त्रिचिनापल्ली नाम से प्रसिद्धि हो गई है। कालान्तर से इसी के उरगपुर तथा निचुलपुर आदि नाम भी हो गए हैं। प्राचीन काल में यह पाण्ड्य तथा चोलों की राजधानी थी।

चीरराज्य—इसका महाभाष्य में भी उल्लेख है। चीर शब्द को कुछ लोग केरलपुत्र शब्द का अपभ्रंश तथा संक्षिप्त रूप बतलाते हैं। यह आजकल मैसूर राज्य के अन्तर्गत है।

चोर—चीर तथा चोल एक ही है। अशोक के शिलालेख में चोड शब्द से व्यवहार किया गया है। काञ्चीपुर के चोल नामक राजा के नाम से इसका यह नाम था। पद्मपुराण में चोल का द्रविड देश में उल्लेख किया गया है। पाणिनि के गणपाठ में भी देशवाची चोल शब्द मिलता है। बृहत्संहिता में भी इसका उल्लेख मिलता है। यह आजकल कारोमण्डल प्रदेश के अन्तर्गत है।

पुलिन्द—महाभारत के सहदेव दिग्विजय में दक्षिण में पुलिन्द का उल्लेख है। अशोक के शिलालेख में भी इसका निर्देश है। स्मिथ् नर्मदा के तट पर विन्ध्य पर्वत के मध्य में पुलिन्द देश को बतलाता है। तारातन्त्र में कामरूप के उत्तरभाग में तथा महाभारत के वनपर्व में हरिद्वार के उत्तर-पश्चिम प्रदेश में भी पुलिन्द का उल्लेख होने से प्रतीत होता है कि पुलिन्द जाति के अनुसार अन्यत्र भी इसका प्रयोग किया गया है। स्मिथ् महोदय लिखते हैं कि हिमालय प्रान्त की जातियों के लिये पीछे से पुलिन्द शब्द प्रयुक्त होने लगा था।

ड्र (द्र) विड—महाभारत के वनपर्व, वराहसंहिता तथा मनुस्मृति आदि में भी इसका उल्लेख है। मद्रास से लेकर कन्याकु-

* इस संहिता में **'सचीरकम्'** यह पाठ छपा होने पर भी चीर का आगे दक्षिण के देशों में वर्णन होने से पूर्व दिशा में चीन के ही औचित्य होने से तथा प्राचीन लिपि में नकार के स्थान पर रकार पाठ की सम्भावना होने से **'सचीनकम्'** पाठ ही उचित प्रतीत होता है।

मारी तक का प्रदेश द्रविड नाम से कहा जाता था। बृलर महाशय द्रविड का ही दूसरा नाम चोल बतलाते हैं।

करघाट—महाभारत (सभा. अ. ३१) के सहदेव दिग्विजय में दक्षिण में करहाट देश का उल्लेख मिलता है। स्कन्द पुराण के सह्याद्रि खण्ड में इसे काराष्ट्र देश की राजधानी लिखा है। भाण्डारकर महोदय ने भी E. H. D. पुस्तक में इस देश का वर्णन किया है। आजकल यही देश कराड नाम से प्रसिद्ध प्रतीत होता है।

कान्तार—महाभारत के सहदेव दिग्विजय में दक्षिण में कान्तारक देश का उल्लेख मिलता है। इसे ही अरण्यक भी कहते हैं। महाभारत (सभा. अ. ३१) तथा देवीपुराण में भी अरण्य का उल्लेख मिलता है। यह देश आजकल औरङ्गाबाद तथा दक्षिण कोंकण कहलाता है। वहां की राजधानी तगर थी जिसका आजकल नाम दौलताबाद है।

वराह—वितस्ता के दक्षिण में वराहावतार के स्थान की जिस प्रकार वराहमूल के रूप में प्रसिद्धि है उसी प्रकार कौशिकी नदी के किनारे नेपाल के आसपास कोकामुखतीर्थ स्थान की प्राचीन समय से वराह क्षेत्र के रूप में प्रसिद्धि है। वराहपुराण में भी इसकी महिमा का वर्णन है। परन्तु यहां जो वराह शब्द दिया है उसकी दाक्षिणात्य देशों में गणना की है, न कि पश्चिम एवं पूर्व के देशों में। इसलिये यह वराहशब्द दक्षिण दिशा के किसी दूसरे ही वराह नाम से प्रसिद्ध देश के लिये आया प्रतीत होता है। संभवतः यही आज कल बरार है।

आभीर—गुजरात के दक्षिण पूर्व भाग में स्थित नर्मदा नदी के मुहाने का प्रदेश आभीर नाम से कहलाता था। इसी को यूनानी (Abira) कहते थे। महाभारत में (सभा. अ. ३१) समुद्र के पास सोमनाथ से लगे हुए गुजरात देश की सरस्वती नदी के किनारे पर आभीरों का निर्देश मिलता है। किसी २ के मत में गुजरात के दक्षिण में स्थित सूरत प्रदेश भी आभीर देश में सम्मिलित था। तारातन्त्र में कोंकण के दक्षिण में तापती नदी के पश्चिम किनारे तक आभीरों का वर्णन मिलता है। ल्यासन महाशय बाइबिल में आये हुए आफीर (Offir) देश को ही आभीर मानते हैं। इलियड के मत में भारत के पश्चिम में तापती से देवगढ़ तक के प्रदेश को आभीर कहा है। बन्क्रिड महोदय सिन्धु नदी के पूर्व में आभीर देश को मानते हैं। विष्णुपुराण (अ. ५) तथा ब्रह्माण्डपुराण में आभीर देश में सिन्धु नदी का उल्लेख मिलता है। आभीर शब्द के जातिवाचक होने से जिस २ प्रदेश में वह जाति रहती थी उस २ का नाम आभीर हो सकता है। यहां पर कुरुक्षेत्र को मध्य (Centre) मानकर दक्षिण दिशा में वर्णित आभीर देश गुर्जरप्रान्त (गुजरात) में हो सकता है, जहां आजकल भी भीलों का निवास है, बृहत्संहिता में भी दक्षिण नैर्ऋत्य भाग में आभीर देश का निर्देश मिलता है।

ऊपर आये हुए ये देश प्राचीन ही प्रतीत होते हैं। यहां **'मगधासु महाराष्ट्रम्'** द्वारा मगध का महाराष्ट्र के रूप में निर्देश तथा कौशल्य देश का उल्लेख है। ४०० वर्ष ईसवी पूर्व में कोशल देश का मगध राज्य के अङ्ग के रूप में वर्णन मिलता है। बुद्ध के समय कोशल देश की भी प्रतिष्ठा थी। महाराष्ट्र की मगध के अन्तर्गत होने की परिस्थिति का आर. डी. बनर्जी तथा एच. आर. चौधरी ने अपनी प्राचीन पुस्तकों में, मौर्यकाल से पूर्व नन्द के समय तथा बुद्धकालीन शिशुनाग वंश के अजातशत्रु के समय उल्लेख किया है। कोशल का पृथक् उल्लेख होने से पाण्ड्य देश के कीर्तन न करने के साथ मगध का महाराष्ट्र के रूप में उल्लेख होना बुद्धकालीन समय को सूचित करता है। वात्स्य द्वारा पूरित खिलभाग में इस वर्णन के मिलने से तथा वात्स्य के प्रतिसंस्करण में इन उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी, श्रमण, निर्ग्रन्थि, शक, पल्लव, हूण आदि सन्देहास्पद शब्दों के मिलने से भी वात्स्य का समय बुद्ध के समकालीन प्रतीत होता है।

इस संहिता के पूर्वभाग में भोजनकल्पाध्याय (श्लो. ४०-५१) में भी कुछ देशों के नामों का उल्लेख मिलता है। इनमें से कुरु-कुरुक्षेत्र-नैमिष-पाञ्चाल-कोशल-शूरसेन-मत्स्य-दशार्ण-शिशिराद्रि (हिमाद्रि)-विपाशा-सारस्वत-सिन्धु-सौवीर-काश्मीर-चीन-अपरचीन-खश-वाह्लीक-काशी-पुण्ड्र-अङ्ग-वङ्ग-कलिङ्ग-किरात आदि कुछ प्रसिद्ध देशों का महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थों में भी उल्लेख मिलने से ये देश भी प्राचीन ही प्रतीत होते हैं। इसके अतिरिक्त माणीचर-हारीतपाद-दासेरक-शातसार-रामण-काच-अनूपक-पट्टन आदि देशों का अन्यत्र कहीं नाम न मिलने से ये अप्रसिद्ध देश भी प्राचीन काल के ही प्रतीत होते हैं। ये देश कहां के हैं इस विषय में विचार करना विद्वानों का काम है। खिलभाग के देशों में महाराष्ट्र के रूप में निर्दिष्ट मगध का यहां नाम भी नहीं दिया है। कोशल का उल्लेख अवश्य है। वहां पर निर्दिष्ट अन्य भी बहुत से देशों का यहां निर्देश नहीं है। प्रत्युत प्राचीन समझे जाने वाले तथा बाद में जिनका व्यवहार लुप्त हो गया है ऐसे सिन्धु-सौवीर-कुरु-पाञ्चाल-तथा बाह्लीक आदि देशों का ही पूर्वभाग में उल्लेख मिलता है। इस प्रकार पूर्व तथा उत्तरभाग में आये हुए देशों के अनुसन्धान करने पर बुद्धकालीन वात्स्य से पूर्वभाग के रचयिता वृद्धजीवक तथा मूल आचार्य कश्यप का प्राचीनत्व सिद्ध होता है।

(४) भारतीय चिकित्सा का वर्णन

इस भारतीय आयुर्वेद विद्या का विकास अपने प्राचीन सम्प्रदाय के द्वारा ही हुआ है अथवा इसमें किसी दूसरे देश की चिकित्सा का भी सहयोग है? यूरोप देश में ग्रीस में सर्व प्रथम सभ्यता तथा चिकित्सा के विकास का इतिहास मिलने से उस देश की चिकित्सा का भारतीय चिकित्सा पर कोई प्रभाव है अथवा नहीं? तथा अन्यदेशीय चिकित्साओं का प्रभाव न होने पर भी भारतीय चिकित्सा अपने देश में ही सीमित रही है अथवा उसका प्रभाव दूसरे देशों में भी पहुंचा है? इत्यादि विषयों पर विचार किये बिना प्राचीन भारतीय आयुर्वेद की स्थिति का सम्यक् ज्ञान संभव नहीं है तथा आयुर्वेद के प्राचीन आचार्यों का भारतीय उपदेश परम्परा द्वारा प्रचलित सम्प्रदाय भी शिथिल हो जायगा। इस प्रकार उपर्युक्त विषयों के संबन्ध में विचार करने के लिये अनेक विद्वानों के मतों को देकर हम कुछ अपने विचार भी प्रकट करते हैं।

कुछ लोग भारतीय चिकित्सा की अपेक्षा पाश्चात्त्य चिकित्सा

को प्राचीन सिद्ध करने की इच्छा से दोनों में कुछ सादृश्य देखकर भारतीय वैद्यक पर पाश्चात्त्य विज्ञान का प्रभाव मानते हैं तथा भेड का गान्धार देश के निवासी के रूप में उल्लेख होने से कहते हैं कि यवनों के सम्पर्क के कारण उसकी चिकित्सा पद्धति में भी यवनों का प्रभाव था।

इसके अतिरिक्त कुछ लोग कहते हैं कि सर्वप्रथम यूरोप में चिकित्सा विज्ञान का प्रादुर्भाव ईसवी-संवत् से पूर्व पांचवी शताब्दी में (ई. पू. ४६०) हिपोक्रिटस (Hippocrates) नामक ग्रीक विद्वान् के द्वारा हुआ है, जो कि वहां के चिकित्सा विज्ञान का पिता कहलाता है। उसके चिकित्साग्रन्थों में जीरा-अदरक-मरिच-दालचीनी-इलायची-तेजपत्र आदि कुछ ऐसी वस्तुओं का प्रयोग मिलता है जो कि यूरोप में उत्पन्न नहीं होती हैं, अपितु केवल भारत में उत्पन्न होती हैं तथा भारतीयों द्वारा ही ज्ञात हैं। उससे ६० वर्ष पूर्व (ई. पू. ४००) थियोफ्रेस्टस (Theophrastus) नामक विद्वान् के लेख में भी बहुत सी भारतीय वनस्पतियों का प्रयोग मिलता है। इसी प्रकार अन्य भी बहुत से प्राचीन पाश्चात्त्य चिकित्सकों द्वारा भारतीय वनस्पतियों तथा औषधियों का उल्लेख किया होने से यह कहा जा सकता है कि उनकी चिकित्सा में भारतीय चिकित्सा विज्ञान का प्रभाव है।

इस प्रकार दोनों पक्षों के विचारों के मिलने से वस्तुस्थिति का निर्णय करने के लिये चिकित्सा विज्ञान के साथ २ सभ्यता, यातायात तथा प्राचीन इतिहास के विषय में भी विचार करने की आवश्यकता है इसलिये इन सब विषयों के सम्बन्ध में भी संक्षेप से विचार करके हम अपने प्रकृत (मूल) विषय पर आयेंगे।

भारतीयों के समान अपने को आर्य कहने वाले पाश्चात्त्यों के प्रथम उद्गम स्थान के विषय में कुछ लोगों का मत है कि उत्तरध्रुव (North-pole) के समीप का प्रदेश ही उनका मूल स्थान था तथा वहीं से आर्य लोग क्रमशः फैले हैं। कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि सुदूर उत्तरभाग* ही आर्यों का प्रथम उद्गमस्थान है। वहां से फैलकर कुछ पश्चिम प्रदेशों में तथा कुछ पूर्व प्रदेशों में चले गये हैं। इनमें से पूर्व की ओर जाने वाले ही भारतीय हैं। परन्तु यह सर्वसम्मत है कि संसार के उपलब्ध साहित्यों में ऋग्वेद सबसे प्रथम एवं प्राचीन साहित्य है। ऋग्वेद में आये हुए देश, नदी, नगर, ग्राम तथा पर्वत आदि सब, पाञ्चाल, सिन्धु तथा सौवीर आदि देशों के आसपास के प्रतीत होते हैं। इसमें आये हुए आर्यों के वर्णन में उनका किसी अन्य स्थान से आने तथा उनके किसी अन्य प्रथम उद्गम स्थान का निर्देश नहीं मिलता है। इसमें सुर तथा असुरों के परस्पर संघर्ष का वृत्तान्त मिलता है। इसके अनुसन्धान से प्रतीत होता है कि पाञ्चाल, सिन्धु तथा सौवीर का प्रदेश और उसके समीप का इरान, बेबिलोनिया तथा असीरिया आदि का प्रदेश ही आर्यों का प्रथम उद्गम स्थान था। अस्तु, यह प्रथम उद्गम स्थान कोई भी हो किन्तु समस्त प्राचीन जातियों की प्राचीन भाषाओं के साथ ऋग्वेद की भाषा की समानता होने से भाषा शास्त्र की दृष्टि से भी विद्वानों की यह सम्मति है कि अत्यन्त प्राचीन काल में एक हो मूल वृक्ष की चारों ओर फैली हुई ये शाखा-प्रशाखायें हैं।

प्राचीन पाश्चात्त्य जातियों तथा भारतीय जाति में केवल भाषा की ही समानता नहीं है अपितु अन्य सभ्यता आदि भी समान हैं। इससे प्रतीत होता है कि प्राचीन परिस्थिति में विद्यमान एक ही सभ्यता प्राचीन पाश्चात्त्य जाति तथा भारतीय जाति में समानरूप से फैल गई इसीलिये उनमें न्यूनाधिक समानता मिलती है। अथवा यह भी संभव है कि वैदिक आर्यसभ्यता ही चारों ओर फैलती हुई प्राचीन पाश्चात्त्य जातियों में भी पहुंच गई हो तथा उसी की हमें झलक मिलती हो।

---

* यह अब सिद्ध हो चुका है कि प्राचीन इण्डो-आर्यन, ग्रीक, ईरानी, स्लैवोनिक, ट्युटोनिक, इटैली-सैलटिक तथा तुखेरियन आदि सब भाषाएँ एक ही मूल भाषा से निकली हैं जिसे हम इण्डो-यूरोपियन या स्थूल रूप से आर्यन कह सकते हैं। संभवतः दूसरी सहस्राब्दी ईस्वी पूर्व के प्रारम्भ में उस इण्डो-यूरोपियन अथवा आर्यन भाषा के बोलने वालों के द्वारा वह भाषा तथा एक बहुत विकसित संस्कृति एशिया तथा यूरोप में फैली हुई थी। उस मूल आर्यन भाषा को बलने वाले या तो डैन्यूब की घाटी में हंगरी के मैदानों में रहते थे जैसा कि Giles ने अपनी पुस्तक Cambridge History of India में लिखा है अथवा Carnoy तथा अन्य विद्वानों के अनुसार वे कैसपियन सागर के पास दक्षिण रूस में रहते थे। अस्तु, यह निर्विवाद है कि ये आर्य लोग भूमि के उस भाग पर रहते थे जहां पर भोजपत्र तथा बेंत आदि के वृक्ष अधिकांश में होते हैं। तथा ये वृक्ष अनेक विद्वानों के अनुसार पूर्वी प्रशिया से पामीर तक के क्षेत्र में होते हैं। इरानी परम्परा के अनुसार आर्यों का मूलस्थान (Aryanam vaejo–the home land of the Aryas) काकेशश (Caucasus) का एक प्रदेश-वर्तमान अजरबेजान (Ajarbaizan) माना जाता है। मित्तानी या मितन्नी (Mittanians) अभिलेखों में मित्र, नासत्य, इन्द्र, वरुण आदि देवताओं के नाम मिलते हैं तथा १८०० से १४०० ईस्वी पूर्व के बीच में आर्यों के एशिया माइनर में उपस्थित होने के अन्य भी चिह्न मिलते हैं। इन प्रमाणों से प्रतीत होता है कि इस काल में नई भूमि के अनुसन्धान में आर्यों की बहुत सी शाखाएँ विद्यमान थीं और संभवतः इसी काल में इण्डो-इरानियन पूर्व की ओर चलकर हिन्दुस्तान तथा इरान में बस गये थे। इसके बाद इण्डो-इरानियनों में शीघ्र ही धार्मिक अनुशासन के प्रश्न पर मतभेद होकर दो विभाग हो गये तथा वह शाखा जिसे हम इण्डो-आर्यन कहते हैं और भी पूर्व में हिन्दुस्तान में पहुंच गई।

हिन्दुस्तानियों तथा इण्डो-आर्यनों के साहित्य तथा धर्म (अर्थात् इनके ग्रन्थ अथर्ववेद तथा अवेस्ता) के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इनका आदि स्रोत एक ही धर्म है तथा इनके रीति-रिवाज भी एक ही हैं। यह धर्म पूर्णरूप से कर्मकाण्डी था तथा प्राचीन काल में यह धर्म निःसन्देह रूप से एक ही मूल आर्यन भाषा के बोलने वालों से प्रारंभ हुआ था क्योंकि इस कर्मकाण्ड के बहुत से अंश आर्यन भाषा को बोलने वाली दूसरी शाखाओं में भी मिलते हैं। इनके रीतिरिवाज भी बहुत प्राचीन प्रतीत होते हैं क्योंकि ये होमर के काव्य, अवेस्ता ग्रन्थ तथा वेदों में आये हुए रीति-रिवाजों के समान ही हैं।

बेबिलोनिया देश के कसाइटिस* (Kassites ई० पू० १७६०) वंश के राजकुमारों के नामों में सूर्य, इन्द्र तथा मरुत् शब्दों के मिलने से, पश्चिम एशिया के कैपोडोसिया (Cappadocia) नामक स्थान में हित्ताइटी† (Hittites) तथा मित्तानी (Mittani) नामक जातियों के परस्पर संघर्ष के बाद के (B. C. 1360) सन्धि शिलालेख तथा उनके विवाह के समय साक्षीरूप से मित्र, वरुण, इन्द्र तथा नासत्य आदि के उल्लेख से, बोगस‡ क्वाय (Boghaz keui ई. पू. १४००) के शिलालेख में संख्यावाचक§ आदि शब्दों के मिलने से तथा सीरिया¶ और पैलेस्टाइन (फिलस्तीन) के राजाओं के नाम आर्य राजाओं के नामों के समान होने से वैदिक सभ्यता का प्राचीन समय में भी इतनी दूर प्रचार(१) होना स्पष्ट है।

सुमेरियन प्रदेश तथा भारत के प्राचीन राजाओं में साधारण वर्णापभ्रंश के अतिरिक्त विशेष समानता|| मिलती है। उनके मनस् (२) नामक आदि व्यवस्थापक तथा भारतीय ग्रन्थोक्त मनु के

लघु एशिया (एशिया माइनर) में आर्यों की उपस्थिति के प्रमाण

* कसाइटिस् (काश्शी) लोगों ने बेबिलोनिया में १७६० ई० पूर्व में अपना राज्य स्थापित किया था। इनके राजाओं के नामों में हमें Surias (Surya-सूर्य) Indas (Indra-इन्द्र), Maruttas (Marutah-मरुत्) तथा Bugas (Iranian baga-God) के नाम मिलते हैं। तथा उन्हीं लोगों ने ही उस समय घोड़े का भी प्रथम बार प्रयोग किया था। अर्थात् इन्होंने ही पहले पहल घोड़ों को उपयोग में लाना प्रचलित किया था।

† Upper Euphrates valley में मित्तानी राजाओं तथा हित्ताइटी राजाओं द्वारा १३६० ईसवी पूर्व में किये गये सन्धि-पत्र में In-da-ra (इन्द्र), U-ru-v-na (वरुण), Mi-i-tra, (मित्र) तथा Na-sa-at-ti-i-ia (नासत्य) आदि आर्य देवताओं के नाम मिलते हैं। तथा कुछ मित्तानी राजाओं के नाम भी Sutarna, Dusratta, Artatama आदि आर्य नाम मिलते हैं।

‡ मित्तानियों के बोगस क्वाय शिलालेख में (लगभग १४०० ई. पू.) Aika (एक), Teras (त्रि), Panza (पंच) Satta (सात), Nav (नव) आदि आर्य संख्याएँ मिलती हैं।

§ Cappadocia के हित्ताइती १६-१५ शताब्दी ई. पू. में संभवतः कोई आर्यन भाषा बोलते थे। तुलना कीजिये-सर्वनाम-कुइस्, कुइत्। क्रिया-एस्मि (अस्ति) वर्तमान (लट्) की विभक्ति इनुमि (नौमि) रूप आदि।

¶ Tell-el-Amarna (तेल-अल्-अमर्ना) में मिले हुए प्राचीन लेखों में हमें सीरिया तथा फिलस्तीन के राजाओं के नाम भी आर्य नामों के समान मिलते हैं। उदाहरण के लिये—Biridaswa, Suwardata, yasdata तथा Artamanya आदि।

|| सुमेरियन प्रदेश के प्राचीन उक्कुसि, वक्कुस, निमिरुद, पुनपुन, नक्ष अनेन,...शगुर, मनिशमंज, नरम अंश, दलीप इत्यादि राजाओं की क्रमशः इक्ष्वाकु, विकुक्षि, निमि, पुरञ्जय, अनेना, सगर, असमञ्जस, अंशुमान तथा दिलीप आदि भारतीय राजाओं से बहुत समानता मिलती है (सरस्वती मासिक पत्रिका १९३७ अप्रैल अङ्क)

(१) १-२ की टि० उपो० संस्कृत पृ० ७२ का० २ देखें।

नाम तथा कार्य में समानता मिलती है तथा वहां के शिलालेखों में दिये हुए प्राचीन व्यावहारिक नियमों में मनु के नियमों की समानता दृष्टिगोचर होती है। सुमेरियन प्रदेश के नाम, वस्तु तथा लेखों में भारतीयता की समानता के विषय में श्री वैडेल* नामक पाश्चात्य विद्वान् ने भी बहुत कुछ लिखा है।

इस प्रकार दोनों देशों के राजाओं में जो आनुक्रमिक समानता मिलती है वह सुमेरियन् राजाओं का भारत पर शासन अथवा भारतीय राजाओं का सुमेरियन प्रदेश पर शासन का परिणाम हो सकता है अर्थात् ये दोनों बातें संभव हो सकती हैं। क्योंकि एक देश के राजाओं द्वारा दूसरे देश पर शासन करना सर्वथा संभव है।

सुर तथा असुरों के पारस्परिक प्राकृतिक विरोध को दृष्टि में रखते हुए ही पुराणों तथा ऋग्वेद में स्थान २ पर असुरों का उल्लेख मिलता है। असीरियन् तथा बेबिलोनियन् जाति के प्रधान उपास्य देवता भी असुर तथा अशुर नाम से मिलते हैं। असीरियन शब्द भी प्राचीन भारतीयों द्वारा विशेषरूप से परिचित असुर शब्द से ही बना प्रतीत होता है।

आजकल श्री सिटान लायड तथा डाक्टर हेनरी फ्रेङ्कफोर्ड की अध्यक्षता में इराक देश के टयल अगर नामक स्थान में जो भूगर्भ का अन्वेषण हुआ है उसमें एक भग्नावशेष प्राचीन मन्दिर तथा उसके अन्दर के कमरे में अनेक महत्त्वपूर्ण प्राचीन वस्तुओं तथा महेञ्जोदारो की खुदाई में मिली हुई वस्तुओं से मिलती-जुलती कुछ वस्तुओं के मिलने से इराक देश की पांच हजार वर्ष प्राचीन सभ्यता में भारतीय सभ्यता का प्रभाव दिखाई देता है। तथा सर आरेलष्टीन के अन्वेषण में बलोचिस्तान तथा दक्षिण इरान में उपलब्ध प्राचीन वस्तुओं के कारण उनका यह भी मत है कि भारत तथा प्राचीन सुमेरिया (आजकल के इरान) का भी प्राचीन काल में परस्पर समान सभ्यता का संबन्ध था।

मैथिक(१) सोसायटी के लेख के अनुसार फिलस्तीन (Palestine) देश की भूगर्भ से मिली सभ्यता का अन्वेषण करने पर उस देश के समय २ पर विभिन्न देशों द्वारा आक्रान्त होने के कारण उन २ स्थानों में उन २ देशों के पूर्व चिह्न मिलने पर भी एक स्थान पर महेञ्जोदारो की खुदाई में मिली हुई प्राचीन भारतीय सभ्यताके अनुरूप चिह्नों के मिलने से यह कहा जासकता है कि वहां भारतीय सभ्यता का प्रकाश ही सर्वप्रथम पहुंचा था।

आजकल यातायात की व्यवस्था के अत्यन्त परिष्कृत होने पर

* आजकल वैडल (L. A. Waddell) नामक विद्वान् ने महेञ्जोदारो तथा हरप्पा के भूगर्भ से निकले हुए तथा मैसेपोटेमिया और सुमेरियन प्रदेश में मिले हुए मुद्राओं तथा इतिहास आदि का अनुसन्धान करके उन २ देशों में मिले हुए मुद्रा आदि में एक दो व्यक्तियों के साथ भी प्राचीन भारतीय राजाओं की नामों में तथा कहीं २ अक्षरों, संकेतों, वस्तुओं तथा शिल्पकला आदि में समानता देखकर उन्होंने दोनों देशों के प्राक्तन सम्बन्धों के विषय में 'मेकर्स आफ सिविलिजेशन इन रेस एण्ड हिस्ट्री' नामक पुस्तक में अपने विचार प्रकट किये हैं।

(१) इसकी टि० उपो० संस्कृत पृ० ७३ का० १ देखें।

भी मिर्जापुर आदि के सुन्दर मिट्टी के बर्तनों को समीप के शहर में भी ले जाने के लिये लोगों को बहुत अधिक सावधानी बरतनी पड़ती है। तब अत्यन्त घने, दुर्गम तथा कंकडीले और पथरीले प्रदेशों से घिरे हुए मिश्र, फिलस्तीन, इराक तथा भारत में परस्पर सुदृढ़ अलंकार आदि के लेजाने की सुविधा होने पर भी अत्यन्त नाज़ुक (Delicate) मिट्टी के बरतनों की भी कारीगरी में समानता देखकर यह कहा जा सकता है कि उनका परस्पर असाधारण परिचय था।

इतना ही नहीं अपितु पाश्चात्त्यों की प्राचीन शाखाओं तथा भारतीयों की प्राचीन परिस्थिति में मिलने वाले धार्मिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक आदि बहुत से विषयों में समानता के द्योतक सभ्यता के चिह्न ऐतिहासिकों* के भिन्न २ लेखों के द्वारा अनेक स्थानों पर मिलते हैं।

प्रत्यक्ष अनुभव को ही यदि प्रमाण मानकर भारत की प्राचीन अवस्था का अनुसन्धान किया जाय तो भारतीय सभ्यता ही सबसे प्राचीन प्रतीत होती है। महेञ्जोदारो के भूगर्भ से भी बहुत सी अत्यन्त प्राचीन देवताओं की मूर्तियां उपलब्ध हुई हैं। इनमें ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव की सम्मिलित त्रिमूर्ति, हस्ति, व्याघ्र, खड्गि (गैंडा) तथा मृग सहित शिव की मूर्ति तथा स्त्री देवताओं की मूर्तियां भी मिलती हैं। स्त्री देवता (Mathi Gods) की मूर्तियां सिन्धु नदी के किनारे बालुकामयस्थान में, इलाम, पर्शिया, एशिया माइनर, सीरिया, फिलस्तीन, साइप्रस, एजीएन्सीटट, बाल्कन तथा मिश्र देश में भी मिलती हैं। ग्रीस देश के क्रेटाद्वीप में अग्र तथा पृष्ठ भाग पर सिंह तथा व्याघ्र से युक्त Minoan नामक देवी की मूर्ति, एलोनिया देश में सिंह के वाहन वाली Cybele नामक प्राचीन देवी की मूर्तियां मिलती हैं। इस प्रकार महेञ्जोदारो के विवरण वाली पुस्तक के अनुसार भारत* तथा अन्य देशों में एक समान सूत्र का परिचय मिलता है।

---

* (क) मिश्रदेश के पूर्व सम्प्रदाय में अपरिवर्तनीय तथा कुलपरम्परागत पुरोहितता, सैनावृत्ति, शिल्पव्यापार तथा दासता (सेवा-नौकरी) रूप चारों विभागों में भारतीय वर्णभेद की छाया मिलती है। वहां के प्राचीन इतिहास में भारतीय इतिहास के समान जलप्लावन (समुद्रयात्रा) का वर्णन तथा प्रजापति स्थानीय 'क' देवता का उल्लेख मिलता है। उस देश की भाषा के मात–इबु–आत्मू–पुषू–उषा–आप–अपूप–त्रा आदि शब्दों में क्रमशः थोड़े या सम्पूर्ण रूप से माता–इभ–आत्मा–पुष–उषा–आप–अपूप तथा नर आदि शब्दों का शब्द एवं अर्थ से सादृश्य मिलता है। इस विषय में श्री ध्यानचन्द्र (Quarterly Journal of Mythic Society Vol XXI No. 3, P. 250) तथा श्रीअविनाशचन्द्र ने (Rigvedic India Vol I P. 245) में बहुत कुछ लिखा है। अन्य मन्त्रों की तरह शाखाभेद के द्वारा पाठभेद के बिना ही एक परम्परा से ही भारत में व्याप्त हुए वैदिक सावित्री मन्त्र के ज्ञान से तथा ऋग्वेद के सौर मन्त्रों द्वारा प्रतिपाद्य सूर्य देवता की उपासना भारतीयों का प्राचीन असाधारण धर्म समझा जाता है। भारत से सुदूर पश्चिम में स्थित प्राचीन एवं विशाल तथा नष्टभ्रष्ट मार्तण्ड (सूर्य देवता) का मन्दिर भी भारतीयों की चिरकाल से चली आने वाली सूर्य की उपासना को सूचित करता है। मिश्रदेश के प्राचीन नगर में अप्रचलित सूर्योपासना के बाद में किसी राजा के समय जनता द्वारा प्रतिरोध करने पर भी बलपूर्वक उसके पुनः प्रवर्तन का इतिहास तथा पांच हजार वर्ष प्राचीन उसके समाधिशव के साथ वैदिक उक्तियों की छाया (समानता) वाला सूर्यस्तोत्र खुदा हुआ मिलता है। मिश्र देश में उपलब्ध पांच हजार वर्ष प्राचीन बर्तन आदि की शिल्पकला के विषय में आजकल गवेषणा करने पर महेञ्जोदारो तथा हरप्पा के भूगर्भ से निकली हुई प्राचीन भारतीय शिल्पकला के साथ तुलना करने पर न केवल दोनों में समानता ही है अपितु मिश्रदेश की अपेक्षा भी भारतीय कलाओं की श्रेष्ठता के कारण विद्वान् लोग मिश्र की अपेक्षा भी भारत को अधिक प्राचीन मानते हैं।

(ख) रोम देश की इट्रस्कन (Etruscan) नामक प्राचीन जाति के धार्मिक विषय में सात तथा पांच पीढ़ियों में वैवाहिक संबन्ध के निषेध के विषय में **'बध्वा वरस्य वा तातः कूटस्था-यदि सप्तमः'** इस प्राचीन स्मृतिनियम की समानता के मिलने से, प्राचीन रोम तथा ग्रीस देश के सम्प्रदायों में मिलने वाले लिङ्ग-पूजन, नन्दिपूजन, पितृश्राद्ध, अग्निशाला, अन्नहोम, गुरुकुलशिक्षा-प्रणाली, जातसंस्कार, पुनर्जन्म तथा अध्यात्मवाद आदि में भारतीय विषयों का असाधारण रूप से प्रतिबिम्ब मिलने से तथा अंगरेज जाति की पूर्व अवस्था रूप केल्ट (Celtic) जाति के धर्माचार्य रूप ड्रूइड (Druid) जाति के धार्मिक नियमों में बीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य धारण, अन्तिम अवस्था में वानप्रस्थप्रणाली, उच्चकुल में विद्यादान तथा आत्मा के अमरत्व इत्यादि विषयों में भारतीय धर्म-च्छाया के मिलने से यह कहा जा सकता है कि भारतीय सभ्यता का सम्बन्ध न केवल अत्यन्त प्राचीन मूलशाखाओं में ही था अपितु उसके बाद विभक्त हुई उपजातियों तथा उपशाखाओं में भी मिलता है।

* ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव की भारत में प्राचीन काल से ही उपासना की जाती रही है। देश एवं काल के अनुसार भिन्न २ देवताओं के उपासना में उत्पन्न हुए मतभेदों को दूर करने के लिये उमामहेश्वर, हरि (विष्णु) तथा हर (महादेव) जी की एकता के समान ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर के अभेद को प्रकट करने के लिये सम्मिलित रूप से इनकी त्रिमूर्ति की उपासना प्रचलित हुई। देवी पुराण (अ. ६०) में भी राजा दिलीप के द्वारा कामिकाचल पर त्रिमूर्ति की उपासना का उल्लेख मिलता है। ये अत्यन्त प्राचीन काल से प्रसिद्ध भारत के असाधारण देवता हैं। इसलिये महेञ्जोदारो में भी त्रिमूर्ति तथा शिव की मूर्ति का मिलना उचित ही है। इन मूर्तियों के साथ मिलने वाली स्त्रीमूर्ति भी भारतीयों द्वारा प्राचीन काल में उपासना की जाने वाली स्त्रीदेवता की ही मूर्ति प्रतीत होती है। शक्ति की उपासना करने वाला सम्प्रदाय भी भारत में प्राचीन काल से चला आ रहा है। महाभारत, रामायण तथा पुराण आदियों में भी दुर्गा आदि देवियों की उपासना का इतिहास मिलता है। वेदों की तरह प्राचीन काल से ही प्रसिद्ध तन्त्र आदि अनेक शास्त्रों में भी शक्ति की महिमा, उसकी उपासना तथा उसके उपासक महर्षियों का वर्णन मिलता है। पूर्व तथा पश्चिम

भारतीयों का प्राचीन काल में दूर २ देशों में पहुंचने तथा उनसे परिचय का वर्णन मिलता है। वैदिक काल में भी भुज्यु आदि का अन्य द्वीपों में जाने का वृत्तान्त मिलता है। प्राचीन इतिहास का अनुसन्धान करने पर ययाति राजा के अनुद्रुह्य तथा तुर्वसु आदि पुत्रों को आज्ञा न मानने के कारण पिता द्वारा अन्य देशों में निकाल देना, पाण्डवों द्वारा दूर २ देशों की विजय, महाभारत की लड़ाई में दूर २ देश के राजाओं का एकत्रित होना, भारतीय राजाओं का गान्धार आदि पश्चिम प्रान्तों के साथ वैवाहिक संबन्ध, पुराण में नील नदी के नाम का उल्लेख, पाश्चात्य देश के प्राचीन इतिहास तथा मुद्रा आदियों में भी समान नामोंवाले कुछ राजाओं के नामों का महाभारत तथा हरिवंश पुराण में मिलना, तथा मनुसंहिता में भी अन्यदेशीय जाति के मूलस्रोत का वर्णन इत्यादि द्वारा प्राचीन भारत का अन्यदेशों के साथ संबन्ध प्रकट होता है। बाद में भी (ई. पू. २१७) (Tsin Shih Huanungti) नामक राजा के राज्य में भारत से १८ भिक्षुओं का चीनदेश में जाने का वर्णन तथा ईसवी पूर्व २०० में Changkin नामक चीनी व्यक्ति के भारत में आने के वृत्तान्त का श्रीयुत(१) कालिदास नाग ने उल्लेख किया है।

प्राचीन समय के यातायात के विषय में अनेक विद्वानों के भिन्न २ मत हैं। अस्तु, इसका स्पष्टीकरण तो समय ही करेगा। तथापि यह निश्चित है कि प्राचीन भारतीय आर्यों तथा प्राचीन पाश्चात्य जातियों की सभ्यताओं में अत्यन्त प्राचीन काल में भी परस्पर घनिष्ठ संबन्ध अवश्य था। इस सभ्यता के संबन्ध को छोड़कर अब हम अपने प्रकृत विषय (वैद्यक) पर आते हैं।

संसार में जितने भी प्राचीन चिकित्सा साहित्य हैं उनमें ऋग्वेद के बाद का अथर्ववेद में आया हुआ वैद्यक साहित्य सबसे प्राचीन माना जाता है। भारतीय चिकित्साविज्ञान का उत्पत्तिस्थान होने के कारण अथर्ववेद वैज्ञानिकों की दृष्टि में भी अमूल्य ग्रन्थ है(२)।

में प्राकार की तरह फैले हुए हिमालय में उत्तर तथा दक्षिण भाग में जाने के साधनों के लिये घाटियों के द्वार रूप में विद्यमान उद्यान (स्वात नदी का प्रदेश), जालन्धर, पूर्णगिरि तथा कामरूप देश में चार शक्ति (देवी) के महापीठ हैं। इसके अतिरिक्त अन्य भी सैंकड़ों पीठ तथा उपपीठ भारत में प्राचीन काल से हैं। शक्ति के भेदरूप काली आदि की उत्पत्ति तथा उनके चरित्र के इतिहास भी भारतीय ही हैं। जो लोग शक्ति की उपासना के सम्प्रदाय को दो हजार वर्ष से अर्वाचीन बतलाते हैं उनके प्रतिवाद के लिये महेञ्जोदारो में उपलब्ध इस प्रकार की प्राचीन मूर्तियां भी पर्याप्त हैं। इस प्रकार उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में सेतुबन्ध रामेश्वर तक व्याप्त हुआ भारत में उत्पन्न शक्ति की उपासना का सम्प्रदाय अपने गुणों के कारण शाखाओं तथा उपशाखाओं द्वारा अन्य देशों में भी फैल गया है। इसलिये स्थान २ पर मिलने वाली स्त्रीदेवताओं की मूर्तियों का भिन्न २ नामों द्वारा व्यवहार होने पर भी वे भारतीय सभ्यता के प्रभाव को फैलाती हुई प्रतीत होती हैं।

(१) १-२ की टि० उपो० संस्कृत पृ० ७४ का० १ देखें

अथर्ववेद में आये हुए रोगों की मन्त्र तथा ओषधि दोनों द्वारा चिकित्सा का विधान दिया हुआ है। इसी को दृष्टि में रखते हुए ही कौशिकसूत्रकार ने भी कहीं २ रोगों में केवल मन्त्रों का उपयोग तथा जल का प्रयोग किया है। तथा किन्हीं २ रोगों में मन्त्रों के साथ २ ओषधियों का उपयोग भी किया है। रोगोत्पत्ति के कारणभूत दुष्ट देवता तथा ग्रहस्कन्द आदियों का भी मन्त्रों में वर्णन मिलता है। अथर्ववेदीय चिकित्सा में उन ग्रह आदियों को दूर करने के लिये मन्त्रों का प्रयोग तथा रोगों को दूर करने के लिये ओषधियों का प्रयोग भी मिलता है। इसके बाद धीरे २ मन्त्रों द्वारा उपचार की प्रथा कम होकर ओषधियों द्वारा उपचार की प्रथा बढ़ती गई। आजकल भी कुछ अंश में ग्रन्थों तथा व्यवहार में भी मान्त्रिक विद्या का उपचार के रूप में प्रयोग मिलता है।

असीरिया तथा बेबिलोनिया देश में भी प्राचीन काल में भारतीयों के आथर्वण तथा तान्त्रिक प्रयोगों के समान ही उपाय प्रयुक्त किये जाते हुए दिखाई देते हैं। उदाहरण के लिये, अपवित्र पुरुष के सहवास, सम्पर्क, संभाषण एवं उच्छिष्ट भोजन आदि तथा भूत, प्रेत और पिशाच आदियों से रोगों का होना, विकराल एवं भयंकर मूर्तियों की कल्पना, रोगों को दूर करने के लिये मन्त्रों द्वारा अभिमन्त्रित जल का पीना तथा औषध का सेवन करना, ताबीज़ का बांधना, पिष्टि तथा धूलि (Powder) से रोगियों को ढकना, विशेष २ वृक्षों के पत्तों द्वारा रोगियों को हवा करना, रोगों को उत्पन्न करने वाले दुष्ट देवताओं के लिये बकरे तथा सूअर आदि की बलि देना, तान्त्रिक पद्धति के समान विरोधी व्यक्ति के केश, नख तथा पांवों की धूलि को अभिमन्त्रित करके प्रतीकार करना, ऋग्वेद में मिलने वाले मार्डूक देवता के समान ही मर्डूक नाम वाले देवता की उपासना द्वारा रोगों का परिहार इत्यादि। भोजन से पूर्व प्रातःकाल ओषधि का सेवन, विरेचन की महिमा, तैल के द्वारा विरेचन, उदर रोग में पहाड़ी नमक तथा लशुन का उपयोग, प्रमेह रोग में मूत्र की परीक्षा, दांतों के रोगों में कृमियों का कारण होना—इत्यादि और भी आयुर्वेद के अनुरूप अनेक विचार एवं प्रयोग उनके यहां मिलते हैं। जिस प्रकार आथर्वण सम्प्रदाय में शान्ति, पुष्टि आदि के प्रयोग करने वाले धार्मिक आचार्य ही मान्त्रिक प्रक्रिया एवं औषधों के प्रयोग से रोगों को दूर करते थे उन्हें अथर्वा कहते थे। उसी प्रकार मिश्र आदि देशों के प्राचीन इतिहास में भी मिलता है कि जो धर्मगुरु होते थे वे ही चिकित्सक भी होते थे, उन्हें (Priest Doctor) कहते थे, इसीलिये उनके देवालय (मन्दिर) ही चिकित्सालय होते थे। इन स्थानों में ओषधियों के उल्लेख संबन्धी प्राचीन लेख भी मिलते हैं।

हैरोडोटस् नामक विद्वान् लिखता है कि बैबिलोनिया देश में चिकित्सा के लिये रोगियों को बाजार तथा जनसमुदाय में रखने के वृत्तान्तों के मिलने से प्रतीत होता है कि उस समय वहां चिकित्साविज्ञान की विशेष उन्नति नहीं थी परन्तु इसके प्रतिवाद रूप में(१) क्याम्बल थोम्सन नामक विद्वान् ईस्वी पूर्व ७०० समय के अर्दनना (Arda-nana) नामक वैद्य का उपलब्ध हुआ

(१) इसकी टि० उपो० संस्कृत पृ० ७४ का २ देखें।

परिचय पत्र उपस्थिति करके कहता है कि बेबिलोनिया देश के निवासियों का चिकित्साविज्ञान कम नहीं था तथा बतलाता है कि हेमूर्वन (Hemmurabri) राजा के समय ऐसा राजनियम था कि विपरीत शल्यचिकित्सा करने वाले शल्यचिकित्सक (Surgeous) दण्ड के भागी होते थे। उसी के द्वारा नेत्रचिकित्सा में ७-८ दिन में आराम हो जाने, नासिकाव्रण में बहिः उपचार के द्वारा होने वाले रुधिर स्राव में आन्तरिक औषधियों द्वारा उपचार इत्यादि अनेक सफलताओं का उल्लेख मिलने से ज्ञात होता है कि उस देश में प्राचीन काल से ही चिकित्साविज्ञान उन्नत अवस्था में था।

असीरिया देश में प्राचीन काल में भी शस्त्रचिकित्सा विशेषरूप से प्रचलित थी ऐसा (१)Herbert Loewe ने लिखा है।

मिश्र देश के प्राचीन पेपर्याख्य त्वक्पत्र में १५० तथा एबर्स (Ebers) नामक त्वक्पत्र में ज्वर, उदर रोग, जलोदर, दन्तशोथ, आदि १७० प्रकार के रोगों का वर्णन मिलता है। उस देश के बारहवें वंश के समय लिखी हुई एक पुस्तक में किसी स्त्री के रजोविकार एवं अर्बुद आदि रोगों तथा आजकल मिलने वाले नेत्ररोगों के भेद दिये हुए हैं। उसी में सूक्ष्म रोगों की भी गणना की होने से रोगों की उपेक्षा नहीं कही जा सकती अपितु रोगों के विषय में वहां के विद्वानों का ज्ञान बहुत उन्नत था ऐसा प्रतीत होता है। हैरोडोटस् नामक विद्वान् भी नील नदी के आसपास के प्रदेश को स्वास्थ्यप्रद बतलाता है। वहां भी असीरिया देश की तरह भूत, प्रेत तथा देवताओं के प्रकोप से रोगोत्पत्ति मानी जाती थी। (२)(George faucart) नामक विद्वान् लिखता है कि उनके चिकित्साग्रन्थ मन्त्र-बाहुल्य थे तथा धार्मिक पुरोहित ही चिकित्सक भी थे। (३) (Cf. Berthelot) भी लिखता है कि प्राचीन मिश्रदेश में भी अथर्ववेद के अनुरूप ही मन्त्र-तन्त्र सहित चिकित्साविज्ञान तथा रसायनशास्त्र का व्यवहार होता था। (४)श्री सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त ने भी लिखा है कि प्राचीन मिश्र देश में तैल, घृत तथा वानस्पतिक औषधियों का भी व्यवहार मिलता है।

रोम देश की प्राचीन इट्रस्कन (Etruscan) जाति तथा ग्रीस देश की प्राचीन जाति के प्राचीन इतिहास में भी रोगनिवारण के लिये देवताओं की उपासना, प्रार्थना तथा बलि आदि मान्त्रिक उपचार मिलते हैं।

केल्टिक जाति के भी वैद्यक तथा धर्म का परस्पर घनिष्ठ संबन्ध था। उस जाति के ड्रुइड नामक धर्मगुरु ही चिकित्सक थे। (T. barns)(५) लिखता है कि अथर्ववेद की पद्धति के समान उनमें भी मान्त्रिक तथा औषधसंबन्धी दोनों चिकित्साएं प्रचलित थीं।

यूरोपीय ट्यूटन (Teuton) जाति की प्राचीन चिकित्सा में मर्सबर्ग (Mersseburg) के मान्त्रिक प्रयोगों (Charms) के साथ कुछ भारतीय वैदिक मन्त्रों का सादृश्य है। कृमिरोग तथा अस्थिभग्न चिकित्सा में तो यह सादृश्य बिलकुल स्पष्ट दिखाई देता है—ऐसा एडालबार्ट(६) कून् (Adalbart Kuhn) भी लिखता है।

(१) १ एवं २-६ तक की टि० सं. उपो. पृ. ७४ का. २ और पृ. ७५ का. १ में देखें।

K. Sudhoff तथा J. Jolly* नामक विद्वान् भी लिखते हैं कि इस जाति में प्राचीन काल में भूत, देवप्रकोप तथा पापों को रोगों का कारण, दैवप्रकोप से उत्पन्न व्याधि में पशुबलि द्वारा प्रतीकार, रोग परिहार के लिये वृक्षों की त्वचाओं पर मन्त्र लिख कर हाथ में धारण करना, मन्त्रपाठ, यन्त्रधारण, देवमूर्तियों को स्नान और जलपान कराना तथा धूप आदि के द्वारा भूतादियों को दूर करना इत्यादि विधियां मिलती हैं। इसका अनुसन्धान करने पर इनमें भी आथर्वण तथा भारतीय आयुर्वेद प्रक्रिया का सादृश्य मिलता है। लिथुनिया आदि जातियों के शब्द विशेष, आचार व्यवहार तथा चिकित्सासंबन्धी विषयों में भारतीय छाया मिलती है। जौली (J. Jolly)† ने यह भी लिखा है कि उत्तरी अमेरिका की रेड इन्डियन च्यारोकी (Cherokees) जाति की प्राचीन मान्त्रिक चिकित्सा में भी अथर्ववेद के मन्त्रों की बहुत समानता मिलती है।

चीन देश के साढ़े चार हजार वर्ष प्राचीन ग्रन्थ में ज्वर के दस हजार भेदों तथा आमाशय के १४ विभागों का निर्देश किया है। नाडी परीक्षा का उसमें विशेष विधान दिया है। ईस्वी पूर्व ४०० वर्ष से लेकर प्रतिवर्ष नये उत्पन्न होने वाले रोगों का उसमें एक निघण्टुपत्र (Index) दिया हुआ है। चीन देश के चिकित्सा ग्रन्थों में आर्द्रक, दाडिममूल, वत्सनाभ (Aconite), गन्धक, पारद, अनेक प्रकार के प्राणियों के मलमूत्र तथा असंख्य वृक्षों के पत्र एवं मूल आदियों का औषधरूप में उल्लेख किया है। चीन देश में आजकल भी वृक्षों के पत्रमूल आदि अनेक द्रव्य औषध रूप में बिकते हैं। चेचक के टीके (Vaccination) का ज्ञान भी वहां प्राचीन काल में था। (१)श्री सुरेन्द्रनाथ दास ने लिखा है कि चिकित्सा शास्त्र के इतिहास (History of Medicine) के रचयिता ग्यारिसन् के अनुसार चीन देश वालों ने चिकित्सा विज्ञान भारत से ही प्राप्त किया था।

चीन राज्य ईस्वी पूर्व २०० वर्ष सामयिक होने से किसी २ व्यक्ति का मत है कि कौटिल्य अर्थशास्त्र में चीन का उल्लेख होने से कौटिल्य शास्त्र प्राचीन नहीं है परन्तु उसके विपरीत अवेस्ता-ग्रन्थ में निर्दिष्ट पांच जातियों में चीन का भी उल्लेख होने से चीन देश प्राचीन ही है। जयचन्द्र(२) विद्यालंकार ने लिखा है कि श्री मोदी के अनुसार चीन नाम का माण्डलिक राज्य ईस्वी पूर्व ९०० शताब्दी में था।

तुर्फान देश के दक्षिण में काराशर नामक स्थान में प्राचीन

* व्रण तथा अस्थिभग्न की चिकित्सा मन्त्रों के द्वारा की जाती थी जिसकी A. Kuhn ने जर्मनी के प्राचीन मर्सबर्ग मान्त्रिक प्रयोगों के साथ तुलना की है। (J. Jolly. E. R. E. Vol 4 P. 754)।

† अथर्ववेद के मान्त्रिक प्रयोगों की च्यारोकी जाति के पवित्र विधान तथा उत्तरी अमेरिका के रेड इन्डियन में प्रचलित अन्य मान्त्रिक प्रयोगों के साथ पूर्णरूप से तुलना हो सकती है। (E. R. E. Vol 4 P. 754 by J. Jolly)

(१) १-२ की टि. सं. उपो. पृ. ७५ का २ में देखें।

समय में कुछ प्राचीन कूच जातियां रहती थीं। ईस्वी सन् के प्रारंभ से पूर्व कब उनका वहां आगमन हुआ, इस विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं होता है। सब लोग उस कूच जाति को आर्यों की शाखा मानते हैं। बाद में २-३ शताब्दी में व्यापारियों के साथ बौद्धधर्म प्रचार के लिये आये हुए कुछ भारतीय भिक्षुओं को देखकर उन्होंने अपने पूर्वदेश के भारतीय होने के नाते उनका बहुत सन्मान किया—ऐसा उनका (१)इतिवृत्त मिलता है।

इस जाति तथा उस देश के विषय में चीनी भाषा में लिखित प्राचीन इतिहास में लिखा है कि द्वितीय शताब्दी में मध्य एशिया के आसपास के प्रदेशों को विजय करने की इच्छा से जब चीन राज्य ने उसपर आक्रमण करने की इच्छा की, उस समय उस प्रदेश में बलवान् कूचजाति रहती थी। उसको विजय न कर सकने पर दोनों देशों में परस्पर मैत्री संबन्ध स्थापित हो गया, ईस्वी सन् के प्रारंभ के बाद २१६-३१६ समय में वहां बौद्धधर्म पूर्णरूप से प्रचलित था। कुमारजीव नामक बौद्धभिक्षुक वहीं रहता था। अन्य भी बहुत से बौद्धभिक्षुक वहां पहुंचे थे। बहुत से बौद्धस्तूप तथा मन्दिर भी वहां बनाये गये थे। वे अभी तक भी भूगर्भ से उपलब्ध होते हैं। भारतीय व्यापारी तथा बौद्धधर्म प्रचारक इसी मार्ग से चीन देश में आते जाते थे। ईस्वी सन् के प्रारंभ से पहले ही दक्षिण देश वालों के लिये चीन में यही व्यापारिक मार्ग था। ह्युन्सङ्ग नामक चीनी यात्री भी इसी मार्ग से ही भारत में आया था। इस प्रकार इसके चीन तथा भारत से प्राचीन संबन्ध का वर्णन मिलता है। यदि इसकी खुदाई की जाय तो अब भी वहां प्राचीन भारत से संबन्ध रखने वाले बहुत से चिह्न मिलने की आशा है। वहां ब्रह्मदेश की लिपि में लिखे हुए बहुत से प्राचीन संस्कृत ग्रन्थ तथा भारतीय संस्कृत भाषा से कूचभाषा में अनूदित काष्ठपट्टिकाओं पर खुदे हुए तथा लिखे हुए अनुवाद ग्रन्थ भी मिले हैं। स्टाइन(२) नामक विद्वान् ने लिखा है कि वहां भूगर्भ से अन्य भी बहुत सी प्राचीन वस्तुएं उपलब्ध हुई हैं।

भाषा विज्ञान के पण्डित ए० सी० उलनर ने उस कूच भाषा की संस्कृत के साथ तुलना करते हुए कुछ भारतीय आयुर्वेदिक ओषधिवाचक संस्कृत शब्द वहां से ढूंढकर दिये हैं जो कुछ तो अविकृत (मूल) अवस्था में हैं तथा कुछ में उच्चारण अथवा थोड़े बहुत स्वरूप का भेद है। वे शब्द निम्न हैं जो कि रायल एशियाटिक सोसाइटी पत्रिका(३) में प्रकाशित हुए हैं—

माञ्चष्ठ	(माञ्जिष्ठा)	शालवर्णी	(शालपर्णी)
करञ्चपीज	(करञ्जबीज)	किरोत	(गिलोय)
अपमार्क	(अपामार्ग)	कुन्तर्क	(गुन्द्रक)
सारिप	(शारिवा)	चिपक	(जीवक)
मर्गी	(मार्गी)	शञ्चपो	(शिंशपा)
किञ्चेल	(किञ्जल्क)	पिप्पाल	(पिप्पली)
तकरु	(तगर)	अश्वकान्ता	(अश्वगन्धा)
पङ्करच	(भृङ्गराज)	तेचवती	(तोजोवती)
करुणसारि	(कालानुसारी)	मेत	(मेदा)
पितरी	(विदारी)	खादिर	(खदिर)
सुक्ष्मेल	(सूक्ष्मेला)	मोतर्त	(अजमोद)
प्रियङ्कु	(प्रियङ्गु)	कोरोशा	(गोरोचन)
विरङ्क	(विडङ्ग)	पिस्सौ	(विश्वा)
उपद्रव	(उपद्रव)	सुमां	(सोम)

इस प्रकार अनिश्चित पूर्व समय से इतनी दूर विद्यमान प्राचीन कूच जाति का आर्यजाति के रूप में स्पष्ट रूप से उल्लेख होने से तथा उसी के अनुसार बाद में वहां पहुंचे हुए भारतीयों का उनके द्वारा आत्मीय के रूप में सन्मान का उल्लेख होने से कूच जाति भारतीय आर्यजाति सिद्ध होती है। इस प्रकार भारतीय आर्य जाति के रूप में निश्चित हुई कूच जाति की भाषा में भारतीय ओषधिवाचक शब्दों के विकृत एवं अविकृत रूप में मिलने से यह कहा जा सकता है कि या तो भारतीय जाति के उस देश में जाने के साथ ही ये शब्द भी वहां पहुंचे होंगे अथवा समयान्तर से ये शब्द वहां पहुँचे होंगे। दोनों ही अवस्थाओं में भारतीय आयुर्वेद का इतने दूर तथा इतने प्राचीन काल में प्रचार होना उसकी प्राचीनता को सिद्ध करता है।

इरान देश के निवासी पारसियों के अवेस्ता नामक मूलग्रन्थ का अथर्ववेद से तथा उसकी भाषा का देववाणी (संस्कृत) से विशेष सादृश्य दिखाई देता है। उनके उपास्य देवता अहुर का भारतीयों द्वारा परिचित असुर से उच्चारण मात्र का अन्तर है। अग्नि की उपासना, गोपूजन, सूर्योपासना, होमप्राधान्य तथा मित्र आदि देवताओं सम्बन्धी अनेक विषयों में भारतीय झलक मिलती है। इतिहासकार भी लिखते हैं कि इरान जाति भारतीय जाति से ही विभक्त हुई है। इरान देश में एकमेनियन्स (Achaemenians) राजा के कुल में तथा प्रथम डेरियस (Darius ई. पू. ५२१) नामक राजा के समय में डेमोकेडियस् (Demokedes) नामक तथा कुछ समय बाद स्टेसियस (Ctesias) तथा अपोलोनीडस् (Apollonides) नामक ग्रीक वैद्य थे। इरान तथा ग्रीस देश की चिकित्सा के विषय में परस्पर विचार करने पर इरान देश की चिकित्सा में ग्रीस देश की चिकित्सा का प्रभाव था, इस(१) विषयक उल्लेख भी मिलता है। इरान देश में एसेनियन् राजा के राजवंश में ग्रीकवैद्यों की तरह भारतीय वैद्य भी थे। स्पीगल* नामक विद्वान् ने लिखा है कि उस देश के तथा दूसरे देश के वैद्यों (चिकित्सकों) में परस्पर प्रतिस्पर्धा भी थी। इस प्रकार इरान देश की चिकित्सा के जिन २ अंशों में असाधारण ग्रीक विषय मिलते हैं, उस २ अंश में ग्रीकचिकित्सा का प्रभाव माना जा सकता है तथापि वैद्यक के विषय में वहां जो २ भारतीय आयुर्वेद के रोग तथा शारीर सम्बन्धी विचार समानरूप से मिलते हैं अथवा ग्रीक आदि साधारण भी भारतीय विचार वहां मिलते हैं उनमें भारतीय चिकित्सा तथा भारतीय वैद्यों

(१) इसकी टि० सं० उपो० पृ० ७५ का० २ में देखें।
(२) २-३ की टि० सं० उपो० पृ० ७६ का० १ में देखें।

(१) इसकी टि० सं० उपो० पृ० ७६ का० २ में देखें।

* स्पीगल कहता है कि यह स्वाभाविक है कि अधिक आबादी वाले नगरों में विदेशी चिकित्सकों की देशी चिकित्सकों के साथ प्रायः प्रतिस्पर्धा रहती थी। ससेनियनों के समय भी ग्रीक वैद्य राजकुल में मिलते हैं तथा स्पीगल की सम्मति में भारतीय वैद्य भी वहां अवश्य थे। (Eran Alterth) E.R.E. Vol 4 P. 759.

का ही प्रभाव समझना चाहिये। श्रीयुत कीथ (A. B. Keith) महाशय ने ग्रीस वैद्यक में भारतीय आयुर्वेद विषयों की जो समानता दिखाई देती है वहां भी साक्षात् अथवा परम्परा से (Direct or Indirect) भारतीय प्रभाव ही है जिसका आगे निरूपण किया जायगा। इरान तथा भारत देश में वैसे भी परस्पर समीपता है। उसी इरान देश के राजा प्रथम डेरियस की सहायता के रूप में ईस्वी पूर्व ४७९ समय में भारतीय सेना का ग्रीस के सैनिकों के साथ युद्ध(१) का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार इरान तथा भारत के पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध में वहां भारतीय वैद्यों की भी उपस्थिति होने से वहां भारतीय वैद्यों का विशेषरूप से प्रभाव प्रतीत होता है। इरान देश की पर्शु भारतीय* (Pehlavi) भाषा में भिषज, भेषज तथा मन्त्र आदि शब्दों से सादृश्यता रखनेवाले क्रमशः वेषज (Baeshaza, Beshaj) भिजिष्क (Bejishka) तथा माथ्र आदि शब्द भी मिलते हैं। अर्मीनियन (Armenian) भाषा में भी इन शब्दों के समान ही शब्द (Bzhishk, Bzhshkel) मिलते हैं। इरानी भाषा में भी वैद्यवाचक भिजिष्क शब्द तथा औषधिवाचक वेषज शब्द भारतीय भिषग् तथा भेषज शब्दों के ही उच्चारण भेद से रूपान्तर हैं। इस अवस्था में अथर्ववेद तथा ऋग्वेद में आये हुए ये प्रधान शब्द भी यदि वहां भारत से ही पहुँचे हों तो भारतीय आयुर्वेद का प्रभाव इससे भी बहुत कुछ अनुमान किया† जा सकता है। पारसी मत के प्रवर्तक जरथुष्ट्र से भी प्राचीन उस देश की मागी जाति द्वारा भारतीय ब्राह्मणों से इस गुप्त वैद्यक विद्या को प्राप्त करने विषयक चतुर्थ शताब्दी के रोम के इतिहासलेखक, अमीनस् तथा मर्सीनस् आदि के लेखों के मिलने से तथा इरान देश में अत्यन्त प्राचीन काल से ही भारतीय वैद्यक के स्पष्ट प्रभाव तथा भारतीय वैद्यों के वृत्तान्त मिलने से वहां भारतीय आयुर्वेद का प्रकाश चिरकाल से स्पष्ट प्रतीत होता है। आयुर्वेद के चरक तथा वृद्धजीवकीय आदि ग्रन्थों में बाह्लीकभिषक् के रूप में काङ्कायन का उल्लेख मिलता है। प्राचीन काल में बहुत देर तक इरान के आधिपत्य में आया हुआ बलख् देश बाह्लीक शब्द से कहलाता था। सुश्रुतसंहिता की व्याख्या में काङ्कायन को जो सुश्रुत का सतीर्थ्य कहा है उसे प्रामाणिक मानकर वहां दिये हुए **'बाह्लीकभिषजां वरः'** द्वारा निर्दिष्ट काङ्कायन द्वारा बाह्लीक देश में प्रचलित वैद्यक विद्या भी भारतीय ही सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त भारतीय आचार्यों के साथ पक्ष प्रतिपक्ष रूप में संवाद करनेवाले काङ्कायन को आचार्यों के साथ सम्मान देने से निबन्ध संग्रह आदि ग्रन्थों में संस्कृत भाषा में लिखे हुए उसके वचनों का उल्लेख मिलने से उसका चिकित्सा सम्प्रदाय भी अन्यदेशीय न होकर भारतीय ही प्रतीत होता है। बुद्ध सामयिक जीवक के गुरु रूप में निर्दिष्ट आत्रेय तथा कश्यप द्वारा निर्दिष्ट बाह्लीकभिषक् काङ्कायन का समय ग्रीक वैद्यों के सम्पर्क में आये हुए पूर्वोल्लिखित इरानी राजाओं के समय से कम से कम भी एक दो शताब्दी पूर्व का मिलने से वहां भारतीयों का संबन्ध तथा प्रभाव प्राचीन ही सिद्ध होता है। यद्यपि निश्चयपूर्वक कुछ न कह सकने पर भी 'इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' नामक(१) बृहत्कोश में लिखा है कि इरान तथा भारत से कुछ वैद्यक विषय ग्रीसवैद्यक में गये हुए दिखाई देते हैं।

इस प्रकार अत्यन्त दूर २ देशों में शाखा तथा उपशाखारूप अनेक प्राचीन जातियों में भी न्यूनाधिक रूप से भारतीय प्राचीन व्यवहृतियों, अथर्ववेद के समान मान्त्रिक प्रयोग तथा औषधप्रयोग द्वारा चिकित्सा सम्प्रदाय के सूचक अनेक लक्षण मिलते हैं। अनावश्यक विस्तार के डर से इनका केवल संकेतमात्र ही किया है। इन उदाहरणों से भारत तथा अन्य देशों का प्राचीन काल में परिचय, सम्पर्क, व्यवहार तथा विद्याविज्ञान के परस्पर विनिमय का निश्चय होता है।

प्राचीन भारतीय सभ्यता के अन्य विषयों की तरह आयुर्वेद भी प्राचीन ही है। आध्यात्मिक विचारों तथा बाह्य कलाकौशल आदि में उन्नति के शिखर पर पहुँचा हुआ भारत सबसे मुख्य शरीरयात्रा के लिये उपयोगी चिकित्साविज्ञान में किस प्रकार उदासीन रह सकता था। आयुर्वेदीय संहिताओं में तो इस सृष्टि की उत्पत्ति के साथ ही ब्रह्मा से आयुर्वेद का उद्गम बतलाया गया है। अन्य विद्याओं की तरह वैद्यक विषय भी ऋक्, यजु, साम, तैत्तिरीय तथा अथर्ववेद में विशेषरूप से पाये जाते हैं।

वैदिक काल से ही आयुर्वेद का सन्मान होने से इसे उपवेद नाम दिया गया है। वैदिक काल में अन्य विद्याओं की तरह आयुर्वेद में भी बहुत से विचारशील तथा तत्त्वदर्शी ऋषि हुए हैं। उस समय सैकड़ों वैद्यों, हजारों ओषधियों, अनेक रोगों तथा उनके उपायों के होने का प्रतिपादन पहले ही किया जा चुका है। उसके बाद भी आधुनिक विचारों के अनुसार लगभग तीन हजार वर्ष प्राचीन माने जानेवाले ऐतरेय, शतपथ तथा कौषीतकि आदि ब्राह्मण

---

(१) इसकी टि० सं० उपो० पृ० ७७ का० १ में देखें।

* औषध, विरोपण (घाव भरना), औषधोपचार, वैद्य इन सबके लिये एक सामान्य शब्द बेशग् है। तुलना कीजिये—संस्कृत भिषज्–भेषज्; पहलवी में यह शब्द बेशज् रूप में मिलता है। इसीके अत्यधिक विकृत रूप आधुनिक फारसी का बेजिशक शब्द, आरमीनियन भाषा के बेज्हिश्क (वैद्य) बेज्शकेल (विरोपण–घाव भरना) हैं। By L. C. Casartelli, E. R. E. Vol 4, P. 757.

† प्राचीन इरान के प्रचलित चिकित्सा विज्ञान पर ग्रीकों का बिलकुल भी प्रभाव नहीं है। इरानियों के अवेस्ता नामक ग्रन्थ में (Bhaesaj) शब्द प्रयुक्त हुआ है जो कि निश्चित रूप में गाथाओं की अपेक्षा प्राचीन ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में प्रयुक्त हुए भारतीय शब्द भेषज या भैषज्य से निकला हुआ प्रतीत होता है। इस शब्द का मूल इन्डो-यूरोपियन नहीं है तथा ग्रीक लोग भी इसे प्रयुक्त नहीं करते थे। इस शब्द का इरानी भाषा में होना इस बात को प्रकट करता है कि इरानियों ने चिकित्सा विज्ञान ग्रीकों से नहीं, अपितु हिन्दुस्तानियों से ग्रहण किया है। यदि हम यह मान भी लें कि अथर्ववेद तथा अवेस्ता एक ही काल के हैं तो भी यह निःसन्देह है कि ऋग्वेद इन दोनों से प्राचीन है तथा यह शब्द ऋग्वेद में भी पाया जाता है।

(१) इसकी टि० सं० उपो० पृ० ७७ का० २ में देखें।

ग्रन्थों में छान्दोग्य तथा गर्भोपनिषत् में श्रौत एवं गृह्यसूत्रों में और रामायण,(१) महाभारत(२) तथा पुराण आदियों में भी अङ्ग-प्रत्यङ्ग, शारीरिक रोग, उसके परिहार के उपाय, ओषधि आदि आयुर्वेद के विषय, उनके इतिहास तथा उपाख्यान आदि का उल्लेख मिलता है। महाभारत(३) के युद्ध में भी स्थान २ पर योद्धाओं के साथ वैद्यों का जाना, सब उपकरणों से युक्त तथा शास्त्रों में पारङ्गत अनेक चिकित्सकों का युद्धशिविरों में उपस्थित होना तथा उनके द्वारा आहत (घायल) रोगियों की चिकित्सा का उल्लेख मिलता है। मत्थू(४) ने भी इस विषय का निर्देश किया है। रामायण में सुषेण वैद्य की कथा प्रसिद्ध ही है।

कौटिलीय अर्थशास्त्र के युद्ध (५) प्रकरण में शस्त्र, यन्त्र, अगद, स्नेह, वस्त्र तथा हस्तिचिकित्सक और स्त्रीचिकित्सक आदियों के भी सेना के पृष्ठ भाग में होने का निर्देश मिलता है। पुराण-इतिहास आदि में भी यह विषय पर्याप्त मिलता है।

महाभारत में आता है कि गालव ऋषि गुरुदक्षिणा में देने के लिये घोड़ों की प्राप्ति के लिये जब काशीराज दिवोदास के पास पहुंचा तो उसे हिमालय की तलहटी में वायव्यदिशा में मारीच कश्यप का आश्रम बतलाया गया। इसप्रकार दिवोदास के कुछ पूर्व अथवा उसके साथ ही आश्रम बनाकर रहने वाले मारीच कश्यप का उल्लेख, मारीच कश्यप का ऋक्सर्वानुक्रम सूत्र तथा बृहद्देवता में भी उल्लेख है, आत्रेय के समकालीन के रूप में मारीच कश्यप का उल्लेख, वार्योविद का मारीचकश्यप तथा आत्रेय पुनर्वसु के साथ सहभाव, कृष्णात्रेय तथा पुनर्वसु आत्रेय का समानाधिकरण (एक व्यक्तित्व), चिकित्साविज्ञान के प्रवर्तक के रूप में कृष्णात्रेय का महाभारत में निर्देश, आत्रेय के शिष्यरूप में भेड का उल्लेख, भेड के सहभावी तथा आत्रेय पुनर्वसु के शिष्य के रूप में गान्धार के राजा नग्नजित् का उल्लेख, नग्नजित् तथा दारुवाह का एक ही होना, दारुवाह का काश्यप संहिता में निर्देश, गान्धार के राजा नग्नजित् का ऐतरेय में तथा गान्धार के प्राणवित् नग्नजित् तथा उसके पुत्र स्वर्जित का शतपथ ब्राह्मण में कीर्तन, दिवोदास का कौषीतकिब्राह्मण, कौषीतकि उपनिषत्, काठकसंहिता के ब्राह्मण अंश तथा महाभारत में उल्लेख तथा दिवोदास के पूर्वपुरुष के रूप में धन्वन्तरि का उल्लेख इत्यादि उदाहरणों को दृष्टि में रखकर विचार करने पर प्रतीत होता है कि मारीच कश्यप, पुनर्वसु आत्रेय, भेड, नग्नजित् दारुवाह तथा वार्योविद आदि चिकित्सा शास्त्र के आचार्य, ऐतरेय, कौषीतकि, शतपथ, काठक तथा अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों से पूर्व तथा धन्वन्तरि और दिवोदास के समान ही ब्राह्मण ग्रन्थ तथा उपनिषदों के काल में थोड़े बहुत पौर्वापर्य सम्बन्ध के साथ विद्यमान थे, जैसा कि पहले भी निर्देश किया जा चुका है। आत्रेय तथा काश्यप आदि द्वारा भी बहुत से पूर्वाचार्यों के मत तथा नामों का निर्देश मिलता है। इन आत्रेय आदियों द्वारा संहिताओं के निर्माता होने पर भी पूर्वाचार्यों के विप्रकीर्ण विषय भी संगृहीत किये गये प्रतीत होते हैं।

इसप्रकार वैदिक काल से परम्परापूर्वक आया हुआ तथा क्रमशः विकास के द्वारा वृद्धि को प्राप्त हुआ चिकित्सा विज्ञान प्राचीन ग्रन्थों के लुप्त हो जाने के कारण यद्यपि आजकल उपलब्ध नहीं होता है तथापि उपलब्ध आत्रेय, सुश्रुत तथा काश्यप आदि के ग्रन्थों में आये हुए विषयों को देखने से यह कहा जा सकता है कि उस समय वह विज्ञान अत्यन्त उन्नत अवस्था में था। कायचिकित्सा (Medicine) के विद्वान् आत्रेय, कश्यप तथा भेड आदि द्वारा भी शल्यक्रिया (Surgery) का निर्देश करने से ज्ञात होता है कि शल्यविद्या भी प्राचीन थी तथा उस समय पृथक् प्रस्थान (विज्ञान) के रूप में प्रसिद्ध थी। इन आत्रेय आदि द्वारा उल्लिखित शालाक्य आदि अन्य ६ विभागों के विषय में भी विचारपूर्ण एवं प्रौढ़ ग्रन्थ होंगे। कालवश ये ग्रन्थ भी लुप्त हो चुके हैं, यह भी खेद का विषय है।

आश्विन, भारद्वाज, जतूकर्ण, पराशर, हारीत, क्षारपाणि, भानुपुत्र, भोज* तथा कपिलबल आदि आचार्यों के भूततन्त्र के मूल ग्रन्थों के आजकल न मिलने पर भी उनके वचन प्राचीन ताडपत्रीय ज्वरसमुच्चय में तथा इनके और इनके अतिरिक्त अन्य भी कुछ आचार्यों के वचन बाद के तन्त्रसार, चरक की व्याख्याओं तथा निबन्धग्रन्थों में उद्धृत मिलते हैं। इनसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि उस समय तक भी उन आचार्यों के ग्रन्थ उपलब्ध थे तथा उनका परिशीलन भी किया जाता था।

प्राचीन आत्रेय, कश्यप आदि, काम्पिल्य तथा गङ्गाद्वार आदि में तथा भिन्न २ स्थानों में रहने वाले आचार्य उन २ स्थानों पर अपने शिष्य सम्प्रदाय में उपदेश परम्परा द्वारा ही केवल अपने विचारों को प्रकट नहीं करते थे अपितु जिसप्रकार आजकल के वैद्य भिन्न २ संस्थाओं तथा विद्यापीठों के प्रतिनिधि रूप में भिन्न २ संस्थाओं तथा विद्यापीठों के प्रतिनिधि रूप में भिन्न २ स्थानों में एकत्र होकर उसे सम्मेलन का रूप देकर उसमें नवीन एवं प्राचीन विषयों के सम्बन्ध में विचार करते हैं उसीप्रकार प्राचीन काल में भी समय २ पर भिन्न २ देशों के तत्कालीन विद्वान् एवं प्रसिद्ध आचार्य भिन्न २ † स्थानों में एकत्र हो कर तथा परिषत् की स्थापना करके परस्पर विचार विमर्श किया करते थे। इसप्रकार विचार विमर्श के बाद कसौटी पर कसे हुए उज्ज्वल रत्नों के समान वे सिद्धान्त, नवीन २ विचार तथा उनके अभिप्राय आदि उनकी संहिताओं में स्थान पाते थे।

पाणिनि द्वारा भी 'गर्गादिभ्यो यञ्' (४-१-१०५) सूत्र के गर्गादि गण में जतूकर्ण, पराशर, अग्निवेश आदि शब्दों का उल्लेख किया होने से, 'कथादिभ्यष्ठक्' (४-४-२) सूत्र के कथादि गण में आयुर्वेद शब्द से 'साधु' अर्थ में 'आयुर्वेदिक' पद को सिद्ध किया होने से प्रतीत होता है कि उस समय भी आयुर्वेद विद्या उन्नत अवस्थामें थी तथा उस विद्या के कुशल विद्वान् भी बहुत से थे।

(१) १-३ की टि० सं० उपो० पृ० ७७ का० २ में देखें।
(४) ४-५ की टि० सं० उपो० पृ० ७८ का० १ में देखें।

* यह भोज धारानगरी का राजा नहीं है अपितु सुश्रुत का समकालीन प्राचीन आचार्य है।

† हिमालय के पार्श्व, चैत्ररथ वन, जनपद मण्डल, पाञ्चाल क्षेत्र, काम्पिल्य की राजधानी तथा पञ्चगङ्गा नामक स्थानों पर आयुर्वेदीय विषयों पर विचार करने के लिये महर्षियों के एकत्र होने का चरक संहिता में स्थान २ पर उल्लेख मिलता है। विमानस्थान में परिषदों का निर्देश भी है। काश्यपसंहिता में भी जातिसूत्रीय अध्याय में 'इति परिषद् (पृ. ७९) भूयांस (पृ. १५२) इत्यादि द्वारा परिषत् तथा विद्वानों के समवाय का उल्लेख मिलता है।

'मन्त्रायुर्वेद प्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्'। (२-१-६७) इस सूत्र द्वारा सूत्रकार गौतम ने जिसप्रकार उन २ औषधियों के उपयोग तथा उपदेश के अनुसार उन २ रोगों की निवृत्ति से आयुर्वेद तथा विषभूत अशनि (बिजली) के प्रतिषेध के लिये मन्त्रों के फलों को देखकर उनकी प्रामाणिकता को स्वीकार किया है उसी प्रकार सब वेदनाओं के लिये आयुर्वेद को प्रामाणिक मानकर उसकी व्यवस्था करने से इन प्राचीन आचार्यों के समय भी आयुर्वेद विद्या का प्रचार, उसका सन्मान तथा प्रामाणिकता ज्ञात होती है। न्यायमञ्जरी(१) के रचयिता जयन्तभट्ट ने भी इस विषय में बहुत कुछ लिखा है।

महावग्ग आदि पालीग्रन्थों में कालाञ्जन, रसाञ्जन, स्रोतोञ्जन तथा गैरिक आदि औषधियों, भगन्दर आदि रोगों, त्रिदोष, स्वेदन, बस्तिकर्म आदि बहुत से भारतीय आयुर्वेदिक विषयों के उन्हीं शब्दों में मिलने से तथा जीवक के चिकित्सा वृत्तान्त से बुद्ध के समय (६०० ईसवी पूर्व) भी आयुर्वेद का प्रचार स्पष्ट प्रकट होता है।

महावग्ग में आये हुए जीवक के चरित्र का अनुसन्धान करने पर गुरु द्वारा औषधियों की आलोचना करने के लिये नियुक्त किये गये जीवक द्वारा एक भी अनुपयोगी अषोधि के प्राप्त न कर सकने के उल्लेख तथा भेषज प्रयोग द्वारा अनेक तीव्र रोगों की चिकित्सा का इतिवृत्त मिलने से उसका कायचिकित्सा में तथा अन्त्रभेदन कपालभेदन आदि द्वारा चिकित्सा का उल्लेख मिलने से शल्यक्रिया में भी इसके असाधारण ज्ञान का परिचय मिलता है। महावग्ग, तिब्बतीय कथाओं तथा जातकों में उसके द्वारा बुद्ध तथा तत्कालीन राजाओं की चिकित्सा का निर्देश होने से उसका बुद्ध सामयिक होना तथा उन्हीं लेखों के अनुसार उसका तक्षशिला में अध्ययन का भी निश्चय होता है। परन्तु महावग के अनुसार उसका किसी प्रसिद्ध आचार्य द्वारा ही विद्याध्ययन का उल्लेख मिलता है। कुछ लोग कहते हैं कि तिब्बतीय गाथाओं (Tibetan Tales P. 94) के अनुसार आत्रेय द्वारा उसका विद्याध्ययन मिलता है। इसप्रकार वास्तविकता का निश्चय न कर सकने के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि यह आत्रेय ही चरक संहिता का मूल आचार्य पुनर्वसु आत्रेय है। चरकसंहिता के अनुसार भी उस समय पुनर्वसु आत्रेय, भिक्षुरात्रेय तथा कृष्णात्रेय आदि तीन पृथक् आत्रेयों का वैद्यक विद्या के आचार्य के रूप में ज्ञान होता है। वस्तुतः आत्रेय केवल गोत्रनाम ही है। उस गोत्र में उत्पन्न हुए अनेक व्यक्ति पूर्वापर सम्बन्ध से आत्रेय नाम से कहे जा सकते हैं। जीवक के आचार्यरूप में मिलने वाला आत्रेय इनमें कौनसा है, इसका निश्चय न होने से केवल आत्रेय शब्द की समानता से इस पुनर्वसु आत्रेय को ही जीवक का गुरु कहना कठिन है। आत्रेय द्वारा त्रिस्रेषणीयाध्याय में तीन प्रकार की औषधियों के वर्णन में **'शस्त्रप्रणिधानं पुनश्छेदनभेदनव्यधनदारणलेखनोत्पाटनप्रच्छन्नसीवनैषणक्षारजलौकसश्च'** (पृ. ५७८) द्वारा शल्यचिकित्सा का केवल नाममात्र उल्लेख किया है तथा वह भी उस अध्याय के विषय के अन्त में कृष्णात्रेय के नाम से दिये होने से कृष्णात्रेय का ही मत प्रतीत होता है। काश्यपसंहिता में **'परतन्त्रस्य समयम्'** द्वारा शल्यविद्या का परतन्त्र के रूप में उल्लेख होने के समान आत्रेय ने भी **'धान्वन्तरीयाणाम्'** तथा **'एके'** इत्यादि शब्दों द्वारा धन्वन्तरि सम्प्रदाय का निर्देश किया है। चिकित्सा स्थान के द्विव्रणीय अध्याय में शल्यविद्या द्वारा उपचारों का भी निर्देश है। परन्तु वह निर्देश पीछे से दृढबल द्वारा पूरित अंश में ही मिलता है। टीकाकारों के विभिन्न मतों के द्वारा उस अंश के आत्रेय अथवा अग्निवेशीय होने का संवाद मिलने पर भी उसी अध्याय में **'इति षड्विधमुद्दिष्टं शस्त्रकर्ममनीषिभिः'** (श्लोक ६१) तथा **'तेषां चिकित्सा निर्दिष्टा यथास्वं स्वे चिकित्सिते'** (श्लोक ११९) इत्यादि वचनों के मिलने से इसका प्रस्थानान्तरीय तथा परकीय सम्प्रदाय के रूप में निर्देश किया गया है। उससे पूर्व अर्शचिकित्सा के प्रकरण (अ. १२) में उपचारार्थक नाना प्रकार की औषधियों का प्रथम निर्देश करके निम्न श्लोक द्वारा शस्त्र क्षार तथा दाह (Canterisation) प्रक्रिया को दूसरे आचार्यों के मत के रूप में दिया है तथा अल्प ज्ञान के कारण हानि की सम्भावना होने से पूर्णज्ञान की आवश्यकता दिखलाकर इस विषय में आत्रेयाचार्य ने अपने को तटस्थ ही रखा है—

तत्राहुरेके शस्त्रेण कर्तनं हितमर्शसाम्।
दाहं क्षारेण चाप्येके दाहमेके तथाग्निना॥
अस्त्येतद्भूरितन्त्रेण धीमता दृष्टकर्मणा।
क्रियते त्रिविधं कर्म भ्रंशस्तत्र सुदारुणः॥

(चि. अ. १२ श्लोक ३३)

सुश्रुतसंहिता में आठों प्रस्थानों में से किस विषय में उपदेश करूं, दिवोदास की इस उक्ति के समान आत्रेय पुनर्वसु की इसप्रकार की किसी उक्ति के न मिलने से, आत्रेयसंहिता में विषतन्त्र आदि अन्य विषयों का प्रवेश होने पर भी शल्यविद्या के विषय में उपदेश न मिलने से, आत्रेय के छओं शिष्यों के कायचिकित्सा विषयक ग्रन्थों के ही निर्माण करने से, तथा शल्यचिकित्सा के विषय में उसके किसी भी शिष्य का उल्लेख न मिलने से आजकल कायचिकित्सा तथा शस्त्रचिकित्सा में असाधारण योग्यता वाले चिकित्सकों (Physician and Surgeons) की पृथक् प्रसिद्धि के समान उस समय पुनर्वसु आत्रेय के कायचिकित्सा के विषय में ही असाधारण पाण्डित्य तथा आचार्यभाव की प्रतीति होती है। महावग्ग में निर्दिष्ट जीवक की तो कायचिकित्सा के समान शस्त्रचिकित्सा में भी असाधारण विद्वत्ता का परिचय मिलता है। यदि यह जीवक पुनर्वसु आत्रेय का शिष्य होता तो उस आत्रेय के अग्निवेश आदि अन्य छओं शिष्यों द्वारा इस असाधारण योग्यता वाले अपने सहपाठी का नामोल्लेख अवश्य होना चाहिये था। आत्रेय पुनर्वसु से पूर्व अत्रि परम्परा वाले किसी अन्य आत्रेय का जीवक शिष्य हो, यह कल्पना भी नहीं की जा सकती। क्योंकि उस अवस्था में चरकसंहिता के उपक्रम तथा मध्य में जहां प्राचीन एवं प्रसिद्ध आयुर्वेदाचार्यों का निर्देश किया है वहां इतने प्रसिद्ध तथा आयुर्वेद के विद्वान् जीवक का नाम क्यों नहीं दिया गया है। यदि आत्रेय पुनर्वसु को बुद्धकालीन जीवक के गुरु आत्रेय से भी अर्वाचीन माना जाय तो वार्योविद, वामक आदि काशीनरेश तथा वैदेह निमि के समकालीन वर्णन करते हुए आत्रेय पुनर्वसु ने जातक के अनुसार वैद्यक का अध्ययन करनेवाले काशीपति ब्रह्मदत्त के नाम का भी उल्लेख क्यों

(१) इसकी टि० सं० उपो० पृ० ७८ का० २ में देखें।

नहीं किया है ? उसके समकालीन काश्यप ने भी इसका नाम क्यों नहीं दिया ? अग्निवेश के आचार्य आत्रेय का आत्रेय पुनर्वसु तथा काम्पिल्य निवासी के रूप में निर्देश मिलता है। बुद्धसामयिक जीवक के आचार्य आत्रेय का तक्षशिला में निर्देश मिलता है। काम्पिल्य वैदिककाल से प्रसिद्ध है तथा तक्षशिला की प्रसिद्धि तो पीछे हुई है, जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है। यदि आत्रेय पुनर्वसु को अर्वाचीन माना जाय तो इतने प्रसिद्ध तक्षशिला तथा पाटलिपुत्र का उसने निर्देश क्यों नहीं किया। इस प्रकार आत्रेय पुनर्वसु का काल अर्वाचीन नहीं हो सकता है। संभवतः इसके बाद तक्षशिला में वसिष्ठ आदि शब्दों की तरह आत्रेय गोत्रवाला कायचिकित्सा तथा शल्यचिकित्सा दोनों का विद्वान् कोई अन्य ही व्यक्ति हो। उसी आत्रेय से ही बुद्धकालीन जीवक ने संभवतः विद्याध्ययन किया हो। इसलिये केवल आत्रेय शब्द मात्र को ही लेकर आत्रेय पुनर्वसु को जीवक का गुरु सिद्ध करना उचित नहीं है। इन सब बातों का पहले भी निर्देश किया गया है। वृद्धजीवक तथा जीवक नाम से पृथक् २ प्रसिद्धि होना भी दोनों के भेद तथा पूर्वापर भावको प्रकट करता है। इस प्रकार सब बातों पर विचार करने पर तिब्बतीय गाथाओं में निर्दिष्ट आत्रेय भी पुनर्वसु आत्रेय से भिन्न तथा पश्चात् का प्रतीत होता है।

यदि पूर्वोक्त विवरण के आधार पर इस तन्त्र के आचार्य वृद्धजीवक और महावग्ग आदि बौद्ध ग्रन्थों में निर्दिष्ट प्रसिद्ध वैद्य जीवक के जन्मस्थान, गुरुकुल (शिक्षास्थान) तथा चिकित्सा के इतिवृत्तों में परस्पर विपरीत संवादों के मिलने पर भी विशेष दृष्टियों से लिखे गये इतिहासों में जो इससे विपरीत उल्लेख मिलता है वह संभवतः प्रमेय अंश मात्र को लेकर ही लिखा गया है। महावग्ग में उसके पूर्व चरित्र के अनुसार उसका कुमारभृत् नाम उचित होने पर भी कुमारभच्चो इस विशेषण से तथा राजकुमार अभय द्वारा पालन किये जाने का निर्देश होने से उसकी सङ्गति नहीं बैठती। पालीग्रन्थों के अनुसार उसका कौमारभृत्य के ज्ञाता के रूप में ही निर्देश है। पूर्व सम्प्रदायों के अनुसार कुमारभृत्य शब्द से बालचिकित्सा का ही बोध होता है। कालीदास(१) ने भी इसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया है। इतने प्रसिद्ध उस वैद्य का बालचिकित्सा का उल्लेख न होने पर भी, उस विषय में ज्ञान हो सकता है। प्राचीन इतिहासों में कहीं २ नैसर्गिक विषयों के उपस्थित होने पर किसी दैवीय शक्ति अथवा किसी कौतुक (Misrole) का स्थान २ पर उल्लेख मिलता है। इसका अन्तर्दृष्टि से मनन करने पर वह रहस्य किसी दूसरे रूप में प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ में निर्दिष्ट पांच वर्ष वाले जीवक के गङ्गा के कुण्ड में डुबकी लगाकर क्षणभर में वलिपलित (झुर्रियों एवं सफेद बालों से) युक्त होकर वृद्धभावको प्राप्त करने में कुछ कौतुक है। बौद्ध ग्रन्थोक्त जीवक का भी उत्पत्ति संबन्धी बालवृत्तान्त असाधारण है। इस प्रकार दोनों में कुछ बालरहस्य विद्यमान है। पञ्चनद, गान्धार आदि पश्चिम विभाग में अनेक आचार्यों द्वारा वैद्यक विद्या की वृद्धि, वैद्यक के ग्रन्थों के बनाने वालों के आचार्य के रूप में आत्रेय का उल्लेख तथा महावग्ग में आत्रेय के नाम का उल्लेख न होने पर भी तिब्बतीय गाथाओं में तक्षशिला में जीवक का आत्रेय द्वारा वैद्यविद्या के ग्रहण का उल्लेख मिलता है। चरकसंहिता में आत्रेय द्वारा मारीचि कश्यप का उल्लेख होने पर भी प्रसिद्ध जीवक का उल्लेख न होने से संहिताकार मारीचकश्यप की अपेक्षा जीवक बाद का प्रतीत होता है। वृद्धजीवकीय ग्रन्थ में प्राचीन कश्यप के साथ जोव के प्रश्नों तथा प्रतिप्रश्नों का निर्देश भी अपने ग्रन्थ की मौलिकता का प्रदर्शन करने के अभिप्राय से ही प्रतीत होती है। इस अवस्था में उसकी लेखनी द्वारा भी उस समय के उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी, निर्ग्रन्थ आदि लोकप्रसिद्ध शब्दों का प्रवेश संभव है। इस प्रकार स्थालीपुलाक न्याय* से नाम तथा देश की समानता मात्र से जबरदस्ती इस आत्रेय को भी वही माना जाय तथा वृद्धजीवक को भी बौद्ध ग्रन्थोक्त जीवक ही माना जाय तो भी आत्रेय तथा जीवक का समय बुद्धकालीन सिद्ध होता है, न कि उसके बाद का इस प्रकार भी ये २६०० वर्ष से अर्वाचीन सिद्ध नहीं होते हैं।

बुद्ध सामयिक जीवक भी शल्यप्रक्रिया तथा अनेक प्रकार के असाधारण औषधप्रयोगों से प्रसिद्धि पाने के कारण उस समय दोनों प्रस्थानों में (शल्य तथा कायचिकित्सा विभाग) विशेषरूप से प्रसिद्ध था। उस समय अच्छे गुरुओं के कारण अध्ययन तथा अध्यापन की प्रणाली गौरवयुक्त होने के कारण अन्य भी सैकड़ों व्यक्तियों के आयुर्वेद के विज्ञान कायचिकित्सा तथा शास्त्रचिकित्सा दोनों में पूर्ण यौवन पर पहुंचा हुआ था।

आत्रेय के शिष्यरूप में उल्लेख होने से जीवक ने, उसके वर्णन में आये हुए उसके क्रिया कौशल तथा उसके परिणामों को दृष्टि में रखते हुए प्रतीत होता है कि कायचिकित्सा के ज्ञान के लिये चरकसंहिता की प्राचीन अप्रतिसंस्कृत अवस्थावाली आत्रेयसंहिता का तथा शल्यप्रस्थान के ज्ञान के लिये आत्रेयसंहिता में भी सन्मानपूर्वक धन्वन्तरि का उल्लेख होने से प्राचीनकाल में असाधारण रूप से प्रसिद्ध सुश्रुतसंहिता अथवा उसकी पूर्व अवस्थारूप धन्वन्तरि संहिता का ही अध्ययन किया था। यह जीवक वही हो, चाहे दूसरा हो, उसने बालतन्त्र के ज्ञान के लिये भी उस समय प्रसिद्ध काश्यपसंहिता का ही अध्ययन किया प्रतीत होता है। इनके साथ ही उससमय परम्परागत आश्विन, भारद्वाज आदि की उपलब्ध संहिताओं को भी उसने विशेषज्ञान के लिये संभवतः देख लिया हो। उस समय उपस्थित इन आर्ष ग्रन्थों की और प्राचीन काल में प्रसिद्ध तथा इतिहास में भी मिलने वाले आत्रेय आदि आचार्यों को छोड़कर अनुपस्थित विदेशी आचार्यों द्वारा अध्ययन की कल्पना करना संगत प्रतीत नहीं होता। यदि ऐसा होता तो आत्रेय का उल्लेख करनेवाले तिब्बतीय गाथाओं तथा जातक आदि ग्रन्थों में इस आशय का निर्देश भी अवश्य होता।

प्राचीन काल से ही भिन्न २ विद्याओं के सम्प्रदायों द्वारा उन्नत

(१) इसकी टि० संस्कृत उपो० पृ० ८० का १ में देखें।

* स्थालीपुलाकन्याय—हांडी में एक चावल को पका हुआ देखकर शेष के पकने का भी जिस प्रकार अनुमान कर लिया जाता है उसी प्रकार किसी वस्तु के एक अंश को देखकर जब शेष का अनुमान कर लिया जाता है तब यह व्यवहृत होता है। (अनुवादक)

भारतीय पश्चिम विभाग में तक्षशिला के आसपास का प्रदेश बुद्धकाल से पूर्व पाणिनि, व्याडि सदृश अन्य भी सैकड़ों वेद वेदाङ्गों तथा आयुर्वेद के पण्डितों द्वारा प्रतिष्ठित था । इस विषय में राइस डेविड नामक विद्वान् का मत भारती नामक मासिक पत्रिका (वर्ष ४८ पृ० ७०४) में दिया हुआ है कि तक्षशिला विश्वविद्यालय में आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्व विद्या, अर्थशास्त्र, रसायन, धर्मशास्त्र आदि बहुत सी विद्याओं का अध्ययन तथा अध्यापन होता था । आयुर्वेद शास्त्र का विशेष रूप से अध्ययन होता था । उस विश्वविद्यालय में बेबिलोनियन, मिशर, फिनिशियन, सीरियन, अरब तथा चीन देश के भी बहुत से पण्डित वैद्यक की शिक्षा के सबन्ध में एकत्रित होते थे । इस प्रकार तक्षशिला की महिमा का वर्णन किया है । किन्तु उपर्युक्त वर्णन करते हुए उसने जो यह लिखा है कि उस समय ग्रीक लोग भी आयुर्वेद की चिकित्सा के लिये तक्षशिला में आते थे तथा वहीं जाकर जीवक ने भी आयुर्वेद शास्त्र का अध्ययन किया था । यह सभवतः बाद में बौद्ध काल के प्रसार के समय को दृष्टि में रखते हुए लिखा गया है । जातक ग्रन्थों में भी तक्षशिला विश्वविद्यालय में भारत के भिन्न २ प्रदेशों से आये हुए विद्यार्थियों का भारतीय अध्यापकों द्वारा भारतीय पूर्व-सम्प्रदाय के स्मृति, आयुर्वेद, धनुर्वेद, अर्थशास्त्र आदि ग्रन्थों के ही अध्ययन का उल्लेख मिलता है । आत्रेय द्वारा जीवक के अध्ययन का काल प्राचीन है । इस प्रकार जीवक के अध्ययन संबन्धी विषयों तथा बाद के बौद्ध-सामयिक विषयों को परस्पर एक सूत्र में मिला देने से भ्रम उत्पन्न हो गया है । महावग्ग में निर्दिष्ट जीवक के अध्ययन के समय मगध में भी बौद्ध धर्म की प्रारंभिक अवस्था उत्पन्न हो गई थी । बुद्ध के इतिवृत्त के द्वारा भी उस समय मगध, साकेत, कपिलवस्तु आदि आसपास के प्रदेशों में ही उसके प्रभाव की प्रतीति होती है । मज्झम्निकाय आदि पालीत्रिपिटक ग्रन्थों का अनुसन्धान करने पर यमुना के पश्चिम विभाग में बुद्ध के जाने तथा उसके धर्मप्रचार का उल्लेख नहीं मिलता है । तक्षशिला के वर्णन करने वाले महावग्ग में भी उस प्रदेश में बौद्धधर्म के प्रभाव का निर्देश नहीं है । अलेक्जेण्डर (सिकन्दर ३२६ ईस्वी पूर्व) के आगमन के समय भी अन्य किसी राजा द्वारा अधिष्ठित तक्षशिला में बौद्धधर्म का प्रभाव प्रतीत नहीं होता है । बाद में अशोक के समय (ईस्वी पूर्व २६२ से २३२) अथवा मिलिन्दर द्वारा बौद्धधर्म के ग्रहण के बाद बौद्धधर्म का प्रचार होने से तक्षशिला विश्वविद्यालय में भी उसका प्रभाव आ सकता है । यदि ग्रीक वैद्यों का वहां आना हुआ हो तो वह बाद में बौद्धधर्म के प्रचार के समय ही संभव हो सकता है । बुद्ध सामयिक जीवक के अध्ययन के समय तो ग्रीक वैद्यक के पिता हिपोक्रिटस (Hippocrates) का जन्म भी नहीं हुआ था इसलिये उसका आना संभव ही नहीं है। तथा न उसके बाद के अन्य लोगों का वहां अध्यापक होना संभव है । उस समय ग्रीक वैद्यक के अध्ययन के लिये भारतीयों का उनके देश में जाने का तथा यहां भारत में आकर भारतीय वैद्यक में प्रवीण होकर किसी ग्रीक वैद्य का भारत में अध्यापक होने का वर्णन भारत तथा ग्रीक किसी भी देश के इतिहास में नहीं मिलता है । भारत में राजदूत बनकर आये हुए स्वयं ग्रीक वैद्य मेगस्थनीज़ (Megasthenes) द्वारा भी ग्रीक वैद्यों का भारत में अध्यापक होने तथा प्रभाव का उल्लेख नहीं किया गया है अपितु इसके विपरीत चन्द्रगुप्त के राज्य में रहने वाले विदेशियों की चिकित्सा भी *भारतीय वैद्यों द्वारा किये जाने का उल्लेख किया है । इस प्रकार स्पष्ट प्रतीत होता है कि भारत में चिकित्सा विज्ञान भारतीयों के ही हाथ में था । इसमें विदेशियों का नाम मात्र भी प्रभाव नहीं था ।

हिपोक्रिटस संबन्धी विचार—

पाश्चात्य ग्रीक वैद्यक में प्रधान आचार्य के रूप में हिपोक्रिटस का निर्देश मिलता है । उसका जन्म कास† (cos) नामक स्थान में ४६० ईस्वी पूर्व अथवा दूसरे मत से ४५० ईस्वी पूर्व में हुआ था । इसने अपने पिता (Heraclides) तथा (Herodicus) से विद्याग्रहण की थी । विद्याध्ययन के लिये दूर विदेशों में भी वह गया था । ८५ से ११० वर्ष की अवस्था में उसके जीवन काल के विषय में अनेक मतभेद दिखाई देते हैं । ‡प्लेटो (Plato ई० पू० ४२८-३४८) नामक विद्वान् ने हिपोक्रिटस के भैषज्य विद्या के अध्यापन की वृत्ति का उल्लेख प्रोटागोरस (Protagorus) ग्रन्थ तथा दर्शन विषयक फेड्रस (Phaedrus) ग्रन्थ में दो बार किया है। टिमियस (Timaeus) नामक इन्द्रियविज्ञान विषयक ग्रन्थ में उसने इसके नाम का उल्लेख नहीं किया है । अपने नैतिक ग्रन्थ में अरिष्टाटल§ (Aristotle ई० पू० ३८४-३२२)

---

* विदेशियों के लिये भी ऐसे भारतीय अधिकारियों की नियुक्ति की जाती थी जिनकी ड्यूटी पर देखना होता था कि कोई विदेशी बीमार न हो जाय । यदि उनमें से कोई बीमार हो जाता था तो वे अधिकारी उसकी चिकित्सा के लिये चिकित्सक को भेज देते थे तथा अन्य प्रकार से भी उसकी देखभाल करते थे ।

(M'crindlis Megasthenes and Arrian P. 42)

† Suidas, (सुइदास), Tzetzes (जोत्जस) तथा Soranus (सोरानस्) लेखकों द्वारा लिखित हिपोक्रिटस के प्राचीन जीवन चरित्रों से ज्ञात होता है कि हिपोक्रिटस कास (cos) नामक स्थान में ४६० ईस्वी पूर्व में उत्पन्न हुआ था ।

(Hippocrates Vol I P. XLII)

‡ पूर्व ग्रन्थ (Protagorus) से हमें ज्ञात होता है कि हिपोक्रिटस (Cos) देश का रहने वाला एवं (Asclepiad) था तथा उसका व्यवसाय चिकित्सा शास्त्र के विद्यार्थियों को पढ़ाना था। इस ग्रन्थ (Protagorus) से हमें इसके अतिरिक्त कुछ विशेष ज्ञात नहीं होता कि वह हिपोक्रिटस फीस (शुल्क) लेकर विद्यार्थियों को पढ़ाता था ।

(Plato's Protagorus 311 B. C.)
(Hippocrates Vol I P. XXXIII)
(See also Plato's Phaedrus. Ibid Vol I P. XLIII)

§ अरिष्टाटल के ग्रन्थों से हमें ज्ञात होता है कि हिपोक्रिटस पहले से ही महान् हिपोक्रिटस (The Great Hippocretes) कहलाता था ।

(Ibid Vol I P. XLIV)

नामक विद्वान् ने इसके नाम का केवल एक बार ही उल्लेख किया है। इसके द्वारा हिपोक्रिटस के भैषज्यविद्या के अध्यापन की वृत्ति करने का समर्थन होता है। ग्रीक इतिहास लेखक हिरोडोटस (Herodotus ई० पू० ४८४-४२५) द्वारा पाथागोरस आदि विद्वानों का उल्लेख किया जाने पर भी अपनी पिछली अवस्था में विद्यमान हिपोक्रिटस का वर्णन न करने से प्रतीत होता है कि उस समय तक इसकी इतनी प्रसिद्धि नहीं थी। कास नामक स्थान के पूर्व इतिहास के अन्वेषक *हरजोग (Herzog) नामक विद्वान् को भी कास के बहुत से लेखों में भी इसके विषय में कुछ विशेष उपलब्ध नहीं हुआ है। अन्य प्राचीन ग्रन्थों में भी इसके विषय में विशेष निर्देश नहीं मिलता है।

Galen† (C. ई० पू० १३०-२००) का मत है कि ईस्वी पूर्व ४२७ से ४०० समय से पहले ही इसने अपने ग्रन्थ का संपादन किया था। तथा Littre‡ का मत ईस्वी पूर्व ४३० से ४२० तक का है। छान्दोग्य, व्याकरण तथा लेखशैली का अनुसन्धान करने पर किसी§ २ का मत है कि अलेक्जेण्डर के बाद ईस्वी पूर्व ३०० वर्ष में हिपोक्रिटस के ग्रन्थ की रचना हुई थी। उसके नाम से बहुत से ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। इनमें परस्पर विरोध तथा लेखशैली की भिन्नता दिखाई देने से ¶थ्रेमर (E. Thramer) का मत है कि ये सब ग्रन्थ हिपोक्रिटस के ही हैं—यह पूर्ण विश्वास के साथ नहीं कहा जा सकता। *ड्रेपर (Draper) का मत है कि इन ग्रन्थों में कुछ हिपोक्रिटस के होने पर भी सब उसके नहीं हैं अपितु बहुत से ग्रन्थ उसके किसी वंशवाले, उसके शिष्य अथवा उसके किसी अनुयायी द्वारा लिखे गये प्रतीत होते हैं। पी. सी. राय तथा अन्य भी विद्वानों की ऐसी ही राय है। हिपोक्रिटस से प्राचीन डेमोकेडिस †के ग्रन्थों का भी हिपोक्रिटस के ग्रन्थों में समावेश हुआ २ मिलता है। इनमें से एफारिज नामक ग्रन्थ डाइक्लिस नामक विद्वान् द्वारा, आर्टीक्युलेशन नामक ग्रन्थ टेरियस विद्वान् द्वारा तथा दो तीन अन्य ग्रन्थ मेनन नामक विद्वान् द्वारा पहले से ज्ञात थे। नेचर ऑफ मेन नामक ग्रन्थ अरिष्टाटल (१) विद्वान् द्वारा ज्ञात था तथा वह भी उस ग्रन्थ को पालिवस का जानता था। यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता कि अमुक ग्रन्थ हिपोक्रिटस की अपनी रचना है। ऐसा कोई भी ग्रन्थ नहीं मिलता है जिसे चिकित्सा विज्ञान के पिता हिपोक्रिटस की अपनी रचना कहा जा सके। उसके नाम से मिलने वाले ग्रन्थों का यदि संग्रह किया जाय तो सैकड़ों ग्रन्थ एकत्र हो सकते हैं जिनमें परस्पर विभिन्न तथा विरुद्ध विचार मिलते हैं। यह विभिन्न सम्प्रदाय वाले तथा ग्रीस देश के विभिन्न स्थान एवं विभिन्न काल वाले विद्वानों द्वारा लिखे गये अनेक ग्रन्थों का संग्रह प्रतीत होता है जिनका ‡ समय छटी शताब्दी तक भी मिलता है। 'इनसाइक्लो-

* कास (Cos) में किये गये Herozog के अथक अन्वेषणों से भी हिपोक्रिटस के विषय में किसी तथ्य का ज्ञान नहीं होता है।

(E. R. E. Vol VI P. 544. E. Thramer.)

† ग्रन्थों की शैली कई बार उसके काल निर्णय का अभ्रान्त साधन होती हैं, कई बार नहीं भी होती है। अलंकार शास्त्र का वशवर्ती होना इसी प्रकार की पहचान है। यह जिन ग्रन्थों में पाया जाता है वे प्रायः ४२७ ई० पू० से पुराने नहीं होते और न ४०० ई० पू० पीछे के होते हैं क्योंकि इसी समय से एटिक व्याख्याताओं के प्रभाव से इस शैलीमें परिवर्तन प्रारंभ हो गया था।

(Hippocrates Vol I Introduction P XXXII)

‡ इन सब प्रमाणों से उसका काल ४३०-४२० ई० पू० ठहरता है और यह सिद्ध होता है कि लेखक या तो स्वयं हिपोक्रेटस था या उसी वैद्यकप्रस्थान (School) का अनुयायी और उसका समकालीन दूसरा ही कोई योग्य विद्वान् था।

(Hippocrates Vol I P. V.)

§ कुछ अंशों में व्याकरण और शब्दरचना सबसे अधिक निश्चित प्रमाण हैं। यदि निषेधवाची Un उपसर्ग के स्थान पर Ou. का प्रयोग हो तो यह निश्चित रूप से उत्तर सिकन्दरिया (जिसका संस्थापक सिकन्दर महान् था) काल का निश्चित चिह्न है। ३०० ई० पू० के० परवर्ती लेखों की एक अन्य सक्ष्म विशेषता अस्वाभाविक शब्दाडम्बर और अभिव्यक्ति की वक्रता है जो उतनी ही असंदिग्ध है जितनी कि यह अनुभवातीत है। हिपोक्रिटस की कुछ रचनाएं यह विशेषता स्पष्ट रूप से प्रदर्शित करती हैं।

(Hippocrates Vol I Introduction P. 32.)

¶ Corpus Hippokr में लगभग ७० से अधिक लेख हैं परन्तु उनमें से किसी को भी पूर्णनिश्चय के साथ हिपोक्रिटस का नहीं कहा जा सकता। तथा उनमें से कुछ तो निश्चित ही हिपोक्रिटस के नहीं हैं।

(E. R. E. Vol VI P. 543. E. Thramer)

* उन ग्रन्थों में से बहुत से निःसन्देह उसके परिवार के किसी व्यक्ति अनुयायियों अथवा शिष्यों द्वारा लिखे गये हैं—जो कि उस की रचना माने जाते हैं।

(Draper-P. C. Ray. History of Hindu Chemistry Vol I P. XVIII)

† परन्तु हिपोक्रिटस के जन्म से पूर्व ही डेमोकेडिस नामक विद्वान् की मृत्यु हो चुकी थी जिसके समय में बहुत से मुख्य लेख तैयार हुए थे जिनका कि यहां अनुवाद किया गया था।

(Hippocrates Vol III P. XVI)

‡ इनमें से कौन से ग्रन्थ हिपोक्रिटस के हैं, इस प्रश्न का कोई निश्चित उत्तर नहीं दिया जासकता है। ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं है जिसके लिये हम पूर्ण विश्वास के साथ कह सकें कि यह चिकित्सा विज्ञान के पिता (Father of medicine) हिपोक्रिटस का है। उस संग्रह की पुस्तकें जिनकी संख्या १०० के लगभग है, नाना प्रकार के तथा विरुद्ध विचार वाले भिन्न २ मतों के विद्वानों द्वारा लिखी गई हैं। ये विद्वान् ग्रीसदेश तथा ग्रीकसाहित्य में अत्यन्त भिन्न २ समय में हुए हैं तथा इनमें से किन्हीं २ विद्वानों में तो परस्पर लगभग ५-६ सौ वर्ष तक का अन्तर है।

(E. B. Vol XV P. 198)

(१) इसकी टि० सं० उपो० पृ० ८२ का० १ में देखें।

पीडिया ब्रिटेनिका' में लिखा है कि रोमदेश में तृतीय * शताब्दी ईस्वी पश्चात् तक के लिखे हुए कुछ ग्रन्थों का भी इसमें समावेश है। हिपोक्रिटस को महान् का पद दिया गया है। विलामाविज† (Wilamowitz) का मत है कि बिना ग्रन्थ निर्माण के ही इसका नाम प्रचलित है। हिपोक्रिटसीय ग्रन्थों के अनुवाद की भूमिका‡ में लिखा है कि अरिष्टाटल से पूर्व के कार्पस (Corpus) नामक ग्रन्थों के संग्रह में हिपोक्रिटस के लेख के न मिलने से प्रतीत होता है कि हिपोक्रिटस के नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थों का लेखक हिपोक्रिटस नहीं है अपि तु पालिबस (Polybus) नामक अन्य ही विद्वान् है। पाश्चात्त्य विद्वानों की सम्मति है कि प्राचीन ग्रन्थों में भी समय प्रभाव से पाठविशेष, आवापोद्वाप प्रक्रिया द्वारा संस्करण तथा परिवर्धन आदि द्वारा बहुत से विकार उत्पन्न हो चुके हैं। हिपोक्रिटस के नाम से जो सैकड़ों ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं वे प्रायः छोटे २ तथा एक २ विषय का वर्णन करनेवाले हैं। ईस्वी पश्चात् १३०-२०० समय में ग्यालन (Galen) नामक विद्वान् ने हिपोक्रिटस के नाम से प्रसिद्ध कुछ ग्रन्थों का विवरण दिया है। उसको भी हिपोक्रिटस के नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थ रूपान्तरित§ अवस्था में ही मिले हैं। उपलब्ध ग्रन्थों में भी बहुत से ग्रन्थ एशिया माइनर से मिले हैं तथा एक दो ग्रन्थ सिसली प्रदेश से मिले हैं। इस प्रकार इन ग्रन्थों के पुरातन ग्रीसराज्य में न मिलने तथा रूपान्तरित अवस्था में मिलने का ज्ञान होता है। यदि उसके नाम से मिलनेवाले सब ग्रन्थ उसके द्वारा लिखे हुए तथा उसी काल के होते तथा ग्रीस में उसके ग्रन्थों का उसी के समय से ही प्रचार भी होता तो प्लेटो तथा अरिष्टाटल द्वारा भैषज्य तथा आध्यात्मिक विषयों में इसके नाम के निर्देश की तरह प्लेटो के टिमियस नामक ग्रन्थ में तथा ग्रीस के अन्य प्राचीन विद्वानों के ग्रन्थों में भी उसके भैषज्य ग्रन्थों के प्रचार के संबन्ध में बहुत कुछ उल्लेख मिलना चाहिये था। यदि चिकित्सा विज्ञान के पिता समझे जानेवाले हिपोक्रिटस के सम्प्रदाय का अपने देश में ही विशेषरूप से प्रचार होता तो उसके बाद के व्यक्ति भैषज्य विद्या में विशेषता प्राप्त करने के लिये मिश्र देश में न जाते। हिपोक्रिटस के बाद ३८२-३६४ ईस्वी पूर्व में यूडाक्सस (Eudoxas) नामक विद्वान् द्वारा मिश्र-देश में जाकर १५ मास तक हेलियोपोलिस नामक स्थान के एक भिषक् पुरोहित से भैषज्य विद्या के अध्ययन का वर्णन इतिहास में मिलता(१) है। पूर्वकाल के समान बाद में भी ग्रीसवालों का चिकित्सा विज्ञान के अध्ययन के लिये मिश्रदेश में जाने से उस समय तक भी ग्रीस में मिश्र देश का प्रभाव प्रकट होता है।

अपने सम्प्रदाय के प्रचार के लिये स्नीडस (Cnidos) अथवा मतान्तर से कास (Cos) नामक स्थान के रहनेवाले हिपोक्रिटस के पूर्व पुस्तकालय को जलाने के अभियोग से तथा विद्यावृद्धि के लिये युवावस्था में ही अपने स्थान को छोड़कर दूसरी जगह चले जाने का इतिहास मिलता* है। अपने मुख्य स्थान पर रहकर उसके प्रचार की सुविधा नहीं थी। उस समय मुद्रण कला आदि का अभाव होने से आजकल के समान प्रचार की सुविधा नहीं थी। इधर उधर मिलनेवाले बहुत से प्रतीक लेखों के अनुसार प्राचीन काल में अध्ययन तथा अध्यापन ही प्रचार के साधन मिलते हैं। ग्रीस तथा अलेक्जेण्ड्रिया में किये गये उसके प्रचार अथवा कार्पस का संग्रह मिल जाता तो ग्यालन की दृष्टि का बहिर्भाव न होता तथा उसे केवल एशिया माइनर और सिसली से ही ढूढने का प्रयत्न भी न किया जाता। लिटरे(२) का भी यही कथन है। ग्रीस से बाहर मिश्र देश में ईस्वी पूर्व तृतीय शताब्दी-वाले एण्ड्रीयस नामक विद्वान् तथा रोमदेश में ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दी के एस्क्लिपियाडिस (Asclepiades) नामक विद्वान्

---

* बाद के और बहुत से आधुनिक ग्रन्थों का काल रोमन साम्राज्य के समय का है। इनमें से संभवतः बहुत से रोम में ईस्वी पश्चात् ३०० वर्ष तक के भी लिखे हुए हैं।

(E. B. Vol XI P. 584)

† विलामाविज कहता है कि बिना लेखों के ही प्रसिद्ध हिपोक्रिटस नाम का इस प्रकार का प्राचीन विवरण मिलता है।

(Hippocrates Vol I P. XLIV)

‡ अरिष्टाटल से पूर्व के कार्पस (Corpus) नामक ग्रन्थ संग्रह में हिपोक्रिटस के किसी लेख का उद्धरण नहीं मिलता है तथा वह इसका लेखक हिपोक्रिटस को नहीं अपि तु पालिबस को मानता है। वस्तुतः उस महान् चिकित्सक (हिपोक्रिटस) तथा उन लेखों के संग्रह को जिनमें उसका नाम आता है, हम निश्चयपूर्वक Cnidia के Ctesias, Carystus के Diocles तथा Menon से बाद का नहीं कह सकते। Ctesias तथा Diocles चतुर्थ शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुए हैं तथा Menon अरिष्टाटल का शिष्य था।

(Hippocrates Vol I Introduction P. XLIV)

§ (a) इस संग्रह का मूल तो संदिग्ध है ही, तिसपर यह अपने रचनाकाल और गालन के मध्यवर्ती समय में अखण्डरूप में भी नहीं रहा है। (E. B. Vol XI P. 584)

(b) हिपोक्रिटस के इन संग्रहों में से सर्वप्रथम ग्रन्थ एशिया माइनर से तथा एक या दो ग्रन्थ संभवतः सिसली से मिले हैं।

(E. B. Vol XI P. 584)

* (a) इस प्रकार यह निश्चित प्रतीत होता है कि हिपोक्रिटस ने अपनी प्रारंभिक अवस्था में ही अपने देश को सदा के लिये छोड़ दिया था। Vita ने इसके तीन विभिन्न कारण दिये हैं—

१—स्वप्न मिला हुआ आदेश, २—ज्ञानवृद्धि करने की उसकी अदम्य अभिलाषा, ३—उस पर लगाया हुआ यह इलजाम कि उसने निडिया (Cnidia) के पुस्तकालय को जलाया था।

(E. R. E. Vol VI P. 54 E. thramer.)

(b) हिपोक्रिटस के पुराने जीवन वृत्तान्त में एक किस्सा मिलता है कि उसने नीडोस के इसीप्रकार के एक अन्य किस्से के अनुसार कास (Cos) के 'आरोग्यमन्दिर' के पुस्तकालय को जला डाला ताकि वह उस पुस्तकाय में संगृहीत ज्ञान का एक मात्र ज्ञाता होने का पूरा लाभ ले सके।

(Hippocrates Vol I P. XXIX)

(१) १-२ की टि० सं. उपो. पृ. ८२ का. २ और पृ. ८३ का. १ में देखें।

हिपोक्रिटस ये विरोध* में अपना कार्य करते हुए प्रतीत होते हैं। लिटरे का कहना है कि कास नामक स्थान में हिपोक्रिटस सम्प्रदाय के पुस्तकालय के होने का प्रमाण भी नहीं मिलता है। लिटरे के अनुसार (Hippocrates Vol Pp. XXVIII—XXIX) कार्पस संग्रह के १०० से ३०० वर्ष के अन्दर ग्यालन की व्याख्या के बाद वह संग्रह हुआ प्रतीत होता है। इस प्रकार रूपान्तरित अवस्था में इधर उधर विद्यमान उसके नाम से मिलने वाले सब ग्रन्थों का ग्यालन द्वारा संकलन करने से, इनमें से कुछ ग्रन्थों की व्याख्या करने से, उत्तरोत्तर देशदेशान्तरों के चिकित्सा विज्ञान के बढ़ने से तृतीय शताब्दी तक नये बने हुए ग्रन्थों का भी उसमें प्रवेश कर देने से, नवीन स्थापित रोम साम्राज्य के सहारे से, ईस्वी पश्चात् सप्तम शताब्दी में लैटिन† भाषा में भी इसका अनुवाद हो जाने से तथा यूरोप के कुछ देशों में भी इसके सम्प्रदाय का प्रचार हो जाने से बाद में उसके नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थों का जितना प्रचार हुआ है उतना ग्रीस में प्राचीन काल में नहीं था।

ग्यालन के समय तक भी पूर्व के असीरिया, पर्शिया, बेबिलोनिया आदि दूर देशों में उसके ग्रन्थ के न मिलने से वहां भी हिपोक्रिटसीय विद्या के न होने से मण्डूकप्लुति से भारत में उस विद्या का होना कैसे संभव हो सकता है।

ग्रीस तथा भारत की चिकित्सा में समानताएँ—

कीथ‡ तथा मैकडोनल आदि विद्वान् हिपोक्रिटस के वैद्यक ग्रन्थों में निदान, ज्वर आदि रोग, भैषज्य प्रक्रिया, भेषज आदि अनेक विषयों की भारतीय आयुर्वैदिक चिकित्सा से समानता बतलाते हैं। हमारी दृष्टि में भी बहुत सी समानताएं हैं। भारतीय ग्रन्थों में रोगों की उत्पत्ति, निवृत्ति तथा अरिष्ट लक्षणों के अनुसन्धान के लिये स्वप्नों के अध्याय मिलते हैं। असीरिया, बेबिलोनिया आदि देशों में भी असुरवनिपाल (६६८–६२६ ईस्वी पूर्व) नामक राजा के (यह शब्द संस्कृत के असुरावनिपाल शब्द से बना प्रतीत होता है) समय स्वप्नों के विषय में विचार करने की प्रवृत्ति थी। ग्रीस दर्शनों में भी उसी प्रकार के विचार पहले मिलते थे जो कि हिपोक्रिटस के लेख में भी दिखाई देते हैं तथा ईस्वी पूर्व चतुर्थशताब्दी तक भी विद्यमान थे। परन्तु पीछे से वे लुप्त हो गये प्रतीत होते हैं (E. R. E. Vol VI P. 542. E. Thramar)

आयुर्वेद में रुद्र के कोप आदि से महामारी आदि संक्रामक रोगों के उत्पन्न होने का वर्णन मिलता है। होमर के लेख के अनुसार प्रतीत होता है कि ग्रीस में भी प्राचीन काल में इसी प्रकार दैव प्रकोप से रोग आदि की उत्पत्ति मानी जाती थी। हिपोक्रिटस के पूर्व पुरुष एस्क्लिपियस (Asclepios) का भी यही विचार था।

इसी प्रकार भारत में प्राचीन वैद्यक के दार्शनिक विषयों से युक्त होने के समान ग्रीसदेश में हिपोक्रिटस से १०० वर्ष पूर्व तक विद्यमान चिकित्सा विज्ञान भी दार्शनिक विषयों से संबद्ध मिलता है। उसके बाद हिपोक्रिटस द्वारा उसमें से दार्शनिक विषयों को हटाकर⁕ केवल भैषज्य विद्या के नये प्रारंभ किये जाने का

* केरिस्टस (Carystus) के एण्ड्रियस (Andreas)—जो ई० पू० तीसरी सदी के अन्तिम चरण में मिश्र में चिकित्सा करता था और बिथिनिया (Bithynia) निवासी एस्क्लीपिडियस (Asclepiades) जो पहली सदी ई० पू० में रोम में चिकित्सा करता था—ये दोनों उसके कट्टर निन्दकों में थे। इन दोनों ही का कोई ग्रन्थ आजकल नहीं मिलता है।

(E. B. Vol XI P. 584.)

† अनुवाद की सबसे पुरानी पाण्डुलिपि, जो कि हमें उपलब्ध है—ईसा की सातवीं सदी की है। यह स्पष्टतः ही जाली डायनामीडिया (Dynamidia) का लाटीनी (Latine) अनुवाद है।

(E. B Vol XI P. 584.)

‡ यूनानी तथा भारतीय चिकित्सा प्रणालियों में अनेक अंशों में जो अत्यधिक सादृश्य है वह बहुत पहले से मशहूर है। दोनों में हमें अनेक सादृश्य मिलते हैं। जैसे—त्रिदोषसिद्धान्त, वात, पित्त, कफ के प्रकोप से रोग होना, ज्वर की तीन अवस्थायें और अवान्तर रोग यूनानियों के Aveyia, Neyes, Kpiois, से मिलते जुलते हैं, रोहण (Healing) के साधनों का उष्ण और शीत अथवा शुष्क और स्निग्ध जाति में विभाजन, दो विरुद्ध प्रकृति की ओषधियों द्वारा रोग का उपशम, रोग की साध्यासाध्यता (Prognosis) पर हिपोक्रेटस का बहुत अधिक जोर देना, चिकित्सकों से शपथ लिवाना, शिष्ट व्यवहार के नियम तथा चिकित्सकों के लिये आचार व्यवहार संबन्धी नियम-जिनका रोगी पर बहुत प्रभाव पड़ता है तथा और भी अनेक बारीक समानताएं हैं। दोनों प्रणालियां स्वास्थ्य पर ऋतु के प्रभाव को बहुत महत्व देती हैं। भारतीय विश्वास के विपरीत हम कई बार तेज शराब को औषध के रूप में बहुत उपादेय समझते हैं। दैनिक (अन्येद्यु–Quotidian), तृतीयक (Tertian) तथा चातुर्थिक (Quarten) ज्वरों की मीमांसा की गई है, क्षय का विस्तृत विवेचन किया गया है जब कि हृद्रोगों का बहुत ही कम वर्णन किया गया है। भ्रूण विज्ञान सम्बन्धी सादृश्य भी है, सब अंगों की युगपत् वृद्धि स्वीकार की गई है। पुंलिंग का शरीर के दाहिने अंगों से सबन्ध माना गया है, जुड़वां बच्चों के पैदा होने का दोनों में एक ही कारण बताया गया है। आठवें मास का भ्रूण जीने में समर्थ और सातवें मास का जीने में असमर्थ कहा गया है। मृतभ्रूण को गर्भ से निकालने के लिये भी सदृश उपाय बतलाये गये हैं। शल्यचिकित्सा में पथरी और अर्श के आपरेशन में रक्तमोक्षण, जोंकों के प्रयोग, दागने की क्रिया और अनेक शल्योपकरण तथा नेत्र-विज्ञान में दाहिनी आंख की चिकित्सा में बायें हाथ का प्रयोग करने की प्रथा भी सदृश है। यह नहीं कहा जा सकता कि इन सादृश्यों में कितने यूनानी प्रभाव से आये हैं और कितने स्वतन्त्र विकास से उत्पन्न हुए हैं। त्रिधातु का सिद्धान्त जो साधारण दृष्टि से देखने पर एकदम यूनान से उधार लिया गया प्रतीत होता है—सांख्य के त्रिगुणवाद के अनुकूल है। त्रिगुणों में एक बात का वर्णन अथर्ववेद में भी मिलता है और कौशिक सूत्र के व्याख्याकार का दावा है कि सूत्रकार वातपित्त कफ के सिद्धान्त को मानता था।

(History of Sanskrit Literature P. 513 by A. B. keith).

⁕ रोमनिवासी सेल्सस् (Celsus) ने तथाकथित हिपोक्रिटस के ग्रन्थों की भूमिका में कहा है कि हिपोक्रिटस ने ही चिकित्सा को दर्शनशास्त्र से पृथक् किया।

(Hippocrates Val I P. XV, E. B. Vol XI P. 584)

उल्लेख मिलता है। इस प्रकार प्राचीन देशों में भारतीय प्राचीन सभ्यता के स्रोतों के समान ग्रीस में भी मिलने से प्रतीत होता है कि बाद में ग्रीस देश में प्राचीन स्रोतों को हटाकर हिपोक्रिटस के समय उसे नया स्वरूप दिया गया था। हिपोक्रिटस द्वारा नवोद्भावित भैषज्य विज्ञान का यदि भारत में भी प्रभाव होता तो आजकल भारत में भी उसी प्रकार का दार्शनिक विषयों से शून्य चिकित्सा विज्ञान दृष्टिगोचर होता। उसमें हिपोक्रिटस द्वारा नवोद्भावित विशेष विषय तथा उसी के शब्दों की छाया आदि भी दिखाई देनी चाहिये, परन्तु वैसा दिखाई नहीं देता है। इसके विपरीत भारतीय वैद्यक आज भी दार्शनिक विषयों से युक्त तथा उसी रूप में विद्यमान है। तथा भारतीय प्राचीन परम्परागत विषयों के हिपोक्रिटस की चिकित्सा में मिलने से प्रतीत होता है कि भारतीय वैद्यक की प्रतिष्ठा के बाद ही हिपोक्रिटस की चिकित्सा का प्रादुर्भाव हुआ था।

यह कहना कठिन है कि वात, पित्त, कफ आदि शारीरिक मूल तत्त्व ग्रीस देश से भारत में आये* हैं। पाश्चात्त्य विद्वान् त्रिधातुवाद को ग्रीस का नहीं मानते हैं अपितु इसका मूल मिश्र देश के मेतू (Metu) सम्प्रदाय† को मानते हैं। भारतीय आयुर्वेद के विषय में कीथ नामक विद्वान् की उक्ति का पर्यालोचन करने पर ग्रीसवैद्यक में नैतिक उक्तियों के मिलने पर भी उपक्रम तथा उपसंहार की दृष्टि से आयुर्वेद के विषयों के मिलने से भारतीय वैद्यक को ग्रीस के वैद्यक से प्राचीन तथा उसका मूल माना है। **'त्रिर्नो अश्विना'** इत्यादि आश्विन सूत्र में आये हुए ऋग्वेद के मन्त्र में त्रिधातु(१) शब्द के द्वारा वात, पित्त, कफ रूप तीन धातुओं का ग्रहण करके उनके शमन के द्वारा उत्पन्न सुख की प्रार्थना के मिलने से, अथर्ववेद में कफरोग के निदान तथा चिकित्सा के (६. १४. १-३) पित्त (१. २४. १, १८. ३. ५), भेषज तथा रोगों के निदान के रूप में वात (४. १३. २) तथा वरुणपुत्र, अर्चि, शोचि आदि शब्दों के द्वारा श्लेष्म, वात तथा पित्तज्वरों का निर्देश मिलने से भारतीय वैद्यक में श्लेष्म, वात तथा पित्तरूप त्रिधातुवाद वैदिक काल से ही चला आ रहा प्रतीत होता है। कीथ का कहना है कि कौशिकसूत्र(२) में भी त्रिदोष का उल्लेख है। महाभारत(३) में भी इसका उल्लेख मिलता है। शारीरिक वात, पित्त, कफ आदि तत्व कौन से हैं इस विषय में मत्थु‡ आदि बहुत से विद्वानों के मत दिये हुए हैं। यह तो एक भिन्न ही प्रश्न है। परन्तु त्रिधातुवाद का स्वरूप कुछ भी हो यह निश्चित है कि यह सिद्धान्त प्राचीन एवं भारतीय ही है। इस प्रकार अत्यन्त प्राचीन वैदिक काल से परम्परागत त्रिदोषवाद को ग्रीस से भारत में आया हुआ मानना कोई युक्तिसंगत नहीं है। भारतीय चिकित्सा विज्ञान के प्रादुर्भाव के साथ ही सोम (चन्द्रमा), सूर्य तथा अनिल (वायु) के समान विसर्ग(१) आदान तथा विक्षेपरूप कार्य करने वाले शारीरिक अन्तस्तत्व वात, पित्त, श्लेष्म का उदय हुआ था। इस भारतीय प्राचीन विज्ञान का अन्य विज्ञानों के साथ अन्य देशों में भी जाना संभव हो सकता है। जे. जे.* मोदी ने लिखा है कि त्रिधातुवाद भारतीय सिद्धान्त ही है। हिपोक्रिटस ने भारत से ही इसे ग्रहण किया था।

पाञ्चभौतिकवाद भी प्राचीन भारतीय सिद्धान्त है। आयुर्वेद में भी आत्रेय, धन्वन्तरि तथा कश्यप आदि द्वारा इस शरीर को पञ्चभूतात्मक बताया गया है। इसीलिये इन पञ्चभूतों के समुदित अवस्था में न रहकर पृथक् २ हो जाने पर मृत्यु को पञ्चत्वं(२) शब्द से भी कहा गया है। इन पांच भूतों में से आकाशतत्व को पृथक् रखकर चतुर्भूतवाद का सिद्धान्त लोकायत आदि मतों में प्राचीन भारत में भी मिलता है। हिपोक्रिटस(३) ने चातुर्भौतिक वाद को एकीयमत (प्राचीन व्यक्तियों में से किसी एक के मत) के रूप में देकर उसमें अपनी रुचि प्रदर्शित नहीं की है। धार्मिक† इतिहास में मिलता है कि ग्रीस देश में यह चतुर्भूतवाद सर्वप्रथम एम्पिडोक्लिस (Empedocles ई. पू. ४९५-४३५) नामक विद्वान् ने प्रारंभ किया था। इस एम्पिडोक्लिस का इरान, भारत आदि समीप के पूर्वदेशों में आगमन, वहां से दार्शनिक विषयों के ज्ञान तथा ग्रीस में दार्शनिक विषयों के प्रचार का उल्लेख(४) मिलता है एम्पिडोक्लिस द्वारा उद्भूत इस पूर्ववाद (चतुर्भूत वाद) का खण्डन करते हुए हिपोक्रिटस के मस्तिष्क में प्राचीन भारतीय पाञ्चभौतिकवाद का सिद्धान्त साक्षात् अथवा परम्परारूप से अवश्य उपस्थित था ऐसा प्रतीत होता है। पञ्चभूतों में से एकभूत को छोड़कर चार भूतों के द्वारा शरीरोत्पत्ति का वर्णन भारतीय प्राचीन सिद्धान्तों में मिलता है। भूत हेतु प्रत्याख्यानवाद (जिस सिद्धान्त में पंचभूतों का हेतुरूप में खण्डन किया गया है) भारत में प्राचीनकाल में नहीं मिलता है। यदि भारतीय चिकित्सा पर हिपोक्रिटस के

---

* त्रिधातुओं का सिद्धान्त प्रथम दृष्टि में सर्वथा यूनान से उधार लिया गया प्रतीत होता है।

(Hist. of Sans. Lit. by Keith P. 513.)

† मिश्रियों का मेतू का सिद्धान्त युनानियों में (Humours) (त्रिधातु) के सिद्धान्त के रूप में आजतक विद्यमान है।

(E. R. E. Vol. VI P. 541.)

‡ ये त्रिधातु हैं:- वात-नाडी संस्थान, पित्त-पाचक संस्थान तथा उष्णता उत्पादन, कफ-उष्णता संतुलन तथा श्लेष्मा एवं ग्रन्थिस्राव।

(The Antiquity of Medicine David C. Muthu P. 21.)

(१) १-३ की टि० सं० उपो० पृ० ८४ का० २ में देखें।

* यह यूनानी का (Pitnita या Bile) ही प्राचीन भारतीय आयुर्वेद का पित्त है। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि आयुर्वेद शरीर की तीन धातुओं अर्थात् वात, पित्त, कफ के सिद्धान्त पर आश्रित है और इस त्रिधातु के भारतीय सिद्धान्त को यूनानी वैद्य के जनक (पिता) हिपोक्रिटस ने रोगों के कारण की व्याख्या करने के लिये अपना लिया।

(Fourth all Indian Oriental Conference Vol. II P. 428.)

† एम्पिडॉक्लियस ने चार तत्त्वों-अग्नि, जल, वायु, पृथ्वी का सिद्धान्त स्थापित किया।

A History of Religions–Denis stuart P. 140.

(१) १-४ की टि० सं० उपो० पृ० ८५ का० १-२ में देखें।

विचारों का प्रभाव होना तो इस प्रत्याख्यानवाद (पंचभूतों के खण्डन का सिद्धान्त) को भी भारतीय वैद्यक में मिलना चाहिये था। इस प्रकार हिपोक्रिटस द्वारा प्रतिक्षिप्त पूर्ववाद (चतुर्भूतवाद) के भारत में मिलने तथा हिपोक्रिटस द्वारा नवोदित प्रत्याख्यान वाद के भारत में न मिलने को देखकर भी इनके पौर्वापर्य का निश्चय किया जा सकता है तथा यह भी कहा जा सकता है कि किसका किस पर प्रभाव है।

इसके अतिरिक्त आत्रेय संहिता(१) के वातकलाकलीय अध्याय में परस्पर एक दूसरे के विचारों को जानने की इच्छा से एकत्र होकर विचार करते हुए महर्षियों में वातप्राधान्यवाद के रूप में कुश, भरद्वाज, काङ्कायन, भार्गव तथा वार्योविद के, पित्तप्राधान्यवादी मरीचि के तथा कफप्राधान्यवाद के रूप में काप्य के मतों को देखकर अन्त में पुनर्वसु आत्रेय ने **'सर्व एव खलु वातपित्तश्लेष्माणः प्रकृतिभूताः पुरुषमायुषा महतोपपादयन्ति'** द्वारा तीनों के सम्मिलित प्राधान्यवाद को आत्रेय ने अपने मत के रूप में दिया है। हिपोक्रिटस* ने एक २ प्राधान्यवाद को एकीय मत के रूप में देकर फिर समुच्चयवाद का निर्देश किया है। एकैकप्राधान्यवाद में नाम निर्देश नहीं किये हैं। समुच्चयवाद को भी अपने द्वारा उद्भावित सिद्धान्त के रूप में नहीं दिया है। आत्रेय ने भिन्न २ मतों को देकर अन्त में समुच्चयवाद को अपने सिद्धान्त के रूप में दिया है। इस प्रकार स्पष्ट प्रतीत होता है कि भारत में प्राचीन काल में प्रचलित एकैकवाद तथा समुच्चयवाद का अनुवाद किया गया है तथा समुच्चयवाद में हिपोक्रिटस ने अपनी रुचि प्रदर्शित की है।

इतना ही नहीं अपितु चरक तथा सुश्रुत में दन्तरोगों में पैत्तिक आदि भेद दिये हैं। हिपोक्रिटस ने भी दन्तशोथ तथा दन्तवेष्टन आदि रोगों के उल्लेख में Pituita (Bile) द्वारा पित्त का दोष के रूप में निर्देश किया है। इस प्रकार शब्द (Pituita) के अपभ्रंश से भी प्रतीत होता है कि यहां पैत्तिक दन्तरोगों के निदान के रूप में भारतीयों द्वारा वर्णित पित्त का ही संकेत है। इसी प्रकार वहां मुखदौर्गन्ध्यके प्रतिकार केलिये जिस ओषधिका निर्देश किया है उसका Indian medicament (भारतीय औषध) शब्द से व्यवहार(२) किया है, ऐसा जे. जे.(३) मोदी L.M.& S, L. D.S.(Eng) ने लिखा है।

उस रोगकी उस ओषधि का भारत द्वारा ज्ञान होने पर ही भारतीय औषध के रूप में उसका उल्लेख करना संभव हो सकता है। यह एक पद ही उसके भारतीय ओषधियों के ज्ञान को सिद्ध करता है। इसके अतिरिक्त हिपोक्रिटस के मैटेरिया मैडिका (निघण्टु ग्रन्थ) में आये हुए जतमनसी (जटामांसी) जिञ्जिबेर (शृङ्गवेर), पिपरनिग्रम्

* उनमें कुछ कहते हैं कि मनुष्य रक्तनिर्मित है, कई कहते हैं कि पित्त निर्मित है और कुछ लोगों का कहना है कि वह कफनिर्मित है। वास्तव में मनुष्य एक संधान है। विभिन्न विद्वानों ने अपने मतों के अनुसार उसे भिन्न २ नाम दिये हैं।

(Hippocrates Vol IV P. 5.)

(१) १-३ तक की टि. सं. उपो. पृ. ८५ कालम २ और ८६ का का० १ में देखें।

(मरिच वा पिप्पली), पेपेरी (पिप्पली), पेपेरिस रिज़ा (पिप्पलीमूल), कोस्तस (कुष्ठ), कर्दमोमोस (कर्दम), सकरून (शर्करा) इत्यादि औषध वाचक शब्द स्पष्टरूप से भारतीय आयुर्वेद के अपभ्रंश प्रतीत* होते हैं। भारतीय तिल वाचक 'सिसमं इण्डिकम्' (Sesamum indicum) तथा भारतीय करञ्ज वाचक 'ग्यालेङ्गुपा इण्डिका' शब्दों में भारतवाचक 'इण्डिक' शब्द के प्रयोग से उसका भारत विषयक ज्ञान तथा भारतीय वस्तुओं का व्यवहार तथा उपादान साक्षात् प्रतीत होता है।

हिपोक्रास† (Hippocras) नामक योगौषधि में दालचीनी अदरक तथा शर्करा आदि भारतीय असाधारण ओषधियों का प्रवेश दिखाई देता है। उस योगौषध का 'हिपोक्रास' नाम होने से प्रतीत होता है कि हिपोक्रिटस को उन वस्तुओं का निश्चित रूप से ज्ञान था। ईस्वी पूर्व ३५० में होनेवाले थियोफ्रेस्टस (Theophrastus) नामक विद्वान् ने भी 'फाइकस इण्डिका' (Ficus Indica) नामक ओषधि में इण्डिका शब्द का निर्देश किया है। बहुत सी भारतीय वानस्पतिक ओषधियों के ग्रीस देश में पहुंचने का पोकाक(१) आदि विद्वानों ने उल्लेख किया है जो ओषधियां भारत में ही उत्पन्न होती हैं तथा भारतीय वैद्यों द्वारा भिन्न २ रोगों में प्रयुक्त की जाती हैं— प्रत्यक्ष ज्ञान के बिना वे ओषधियां ग्रीक वैद्यों के हृदय में स्वयं उदित नहीं हो सकती। इसी दृष्टान्त से हिपोक्रिटस के चिकित्सा विज्ञान में मिलनेवाले रोग, निदान, औषध, उपचार आदि भारतीय

* (a) ईसा से लगभग ५०० वर्ष पूर्व हिपोक्रिटस ने संस्कृत के ग्रन्थों में प्राचीन काल से वर्णित Sesamum Indicum (तिल) Nardostachys Jatamansi (जटामांसी), Boswellia thurifera (कुन्दुरु) Zingiber officinate (शृङ्गवेर) Piper Nigrum (मरिच) इत्यादि अनेक भारतीय वनस्पतियों का अपने मैटेरिया मैडिका में वर्णन किया है। ईसा की प्रथम शताब्दी में Dioscorides नामक ग्रीक वैद्य ने, उस समय यूरोप के बाजार में आनेवाली अनेक भारतीय वनस्पतियों के चिकित्सा सम्बन्धी गुणों का पूर्णरूप से अन्वेषण करके अपने विस्तृत मैटेरिया मैडिका में उन्हें सम्मलित किया था जो कि पीछे अनेक वर्षों तक एक प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता रहा है।

(A Short History of Aryan Medical Science P. 123 by H. H. Bhagvat Sinhajee.)

(b) ग्रीक तथा भारतीय ओषधियों के नामों में समानता है। उदाहरण के लिये—Pepero, Pepercosriza, Costus, Zigiberis, Kardamomois, Hakoros, Bdelion, Sakkaron इत्यादि ग्रीक ओषधियों के क्रमशः पिप्पली, पिप्पलीमूल, कुष्ठ, शृङ्गवेर, कर्दम, वासा, गुग्गुल तथा शर्करा आदि भारतीय नाम हैं।

(Hellenism in Ancient India P. 203 J. J. Jolly—Medicine.)

† हिपोक्रास—एक दीपक एवं हृद्य वैद्यकीय पेय—जो कि दालचीनी, अदरक आदि मसालों तथा शक्कर और शराब के योग से बनता है।

(E. B. Vol XI P. 584.)

(१) इसकी टि० सं० उपो० पृ० ८६ का० २ में देखें।

चिकित्सा विषयों की समानता भी उसकी चिकित्सा को भारतीय विज्ञान के आधार पर स्थित हुई सिद्ध करती है। इसी प्रकार अनेक प्रमाणों के आधार पर डा. जे. जे. मोदी ने रायल एशियाटिक सोसायटी में 'Is Ayurveda a quackery' नामक लेख में यह सिद्ध किया है कि भारतीय आयुर्वेद ही सम्पूर्ण विदेशी चिकित्सा पद्धतियों का मूल* है। उसके वैद्यक ग्रन्थ में भारत में ही उत्पन्न होनेवाली ऐसी अनेक वानस्पतिक ओषधियों का निर्देश मिलता है। इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि हिपोक्रिटस को भारतीय वैद्यक का ज्ञान अवश्य था चाहे वह साक्षात् हो और चाहे परम्परा द्वारा हो।

म्याकडोनल(१) नामक विद्वान् ने पहले यह लिखकर कि 'ग्रीस ने भारत से बहुत से विज्ञान लिये हैं परन्तु यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि ग्रीस ने भारत से चिकित्सा का ग्रहण किया है तथा भैषज्य विद्या पर भारत का प्रभाव पड़ा है या नहीं' आगे लिखा है कि 'त्रिपिटक के अनुसार चरक के कनिष्क सामयिक होने से हिपोक्रिटस भारतीय वैद्यक से प्राचीन सिद्ध होता है इसलिये भारतीय चिकित्सा पर ग्रीस का प्रभाव पड़ा है'। परन्तु यदि चरकाचार्य ही इस आत्रेयसंहिता का मूल आचार्य होता तो यह उपर्युक्त पौर्वापर्य क्रम ठीक कहा जा सकता था। चरकाचार्य, चरक नाम से प्रसिद्ध आत्रेय संहिता का निर्माता नहीं है अपितु केवल प्रतिसंस्कर्ता ही है। यह संहिता तो आत्रेय तथा अग्निवेश के समय की है, यह पहले ही कहा जा चुका है। काश्यप तथा भेड आदि का निर्देश करना भी इसी बात को सिद्ध करता है। आत्रेय का समय पहले ही उपनिषत्कालीन बताया जा चुका है। यदि तिब्बतीय गाथाओं का ही अवलम्बन किया जाय तो भी आत्रेय बुद्ध से अर्वाचीन सिद्ध नहीं होता है। इस पौर्वापर्य के अनुसार इससे विपरीत आत्रेय का ही प्रभाव हिपोक्रिटस की चिकित्सा पर प्रतीत होता है न कि हिपोक्रिटस का प्रभाव आत्रेय पर।

कुछ लोग कहते हैं कि हिपोक्रिटस से प्राचीन इम्पीडोक्लिस† (Empedocles) नामक वैद्य ने अध्यात्म विद्या पूर्वदेश से प्राप्त की थी। भैषज्य विद्या भी संभवतः वहीं से प्राप्त की थी हिपोक्रिटस के भारत में आने का गोण्डल‡ के ठाकुर ने निर्देश किया है। इम्पीडोक्लिस के भारत के समीप तक आने का प्रमाण मिलने पर भी हिपोक्रिटस के भारत आने के विषय में कोई प्रमाण मिलता है या नहीं यह कहना कठिन है। हिपोक्रिटस के न केवल अपने देश में अपितु दूर २ देशों* में जाकर भिन्न २ विज्ञानों के संचय करने का विद्वानों द्वारा निर्देश मिलने से प्राचीन काल में भैषज्य विद्या में प्रतिष्ठित भारत या उसके आसपास भी उसका जाना संभव हो सकता है किन्तु इसका स्पष्ट उल्लेख न मिलने से भारत को विद्या प्रदान करने की तरह भारत द्वारा उसके साक्षात् विद्या ग्रहण के विषय में भी निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता।

यद्यपि प्रथम डेरियस नामक राजा के समय (ईस्वी पूर्व ५२१) डेमोकिडस नामक यूनानी शल्यचिकित्सक के इरान देश में आने का वृत्तान्त(१) मिलता है तथापि डेमोकिडसका समय हिपोक्रिटस से पूर्व होने के कारण उसके द्वारा इरान देश की चिकित्सा पर हिपोक्रिटस सम्प्रदाय के प्रभाव की शंका नहीं हो सकती है। हिपोक्रिटस के समय के बाद टेरियस(२) नामक व्यक्ति का अर्द्धक्षीर-मेमनून (Artoxerexes Memnon ई. पू. ४०४-३५९) नामक राजा के समय ईस्वी पूर्व चतुर्थ शताब्दी में इरान तथा भारत के आसपास आने का तथा ईस्वी पूर्व चतुर्थ शताब्दी के अन्त में मेगस्थनीज(३) का भारत में आने का वृत्तान्त मिलता है। परन्तु इन दोनों व्यक्तियों के हिपोक्रिटस के ही सम्प्रदाय के अनुयायी होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता है। टेरियस द्वारा हिपोक्रिटस के आर्टीकुलेशन नामक ग्रन्थ का एक बार उल्लेख करने पर भी उसे प्रमाणों के अभाव में हिपोक्रिटस का अनुयायी नहीं कहा जा सकता। राजदूत होकर भारत में आये हुए मेगस्थनीज के ग्रीक वैद्य होने पर भी ग्रीक वैद्यक के उपदेश प्रचार तथा प्रयोग आदि का कहीं उल्लेख नहीं मिलता है। अपितु इसके विपरीत उसने भारतीय वैद्यों की प्रशंसा तथा उसके द्वारा विदेशियों की चिकित्सा का उल्लेख किया है। वैद्य होते हुए भी उनके द्वारा भारतीय वैद्यों का आदर किया जाना तथा उनके द्वारा चिकित्सा का उल्लेख किया जाना भारतीय चिकित्सा विज्ञान की समृद्धि तथा गौरव का सूचक है। भारत के समीप पहुँचे हुए टेरियस नामक विद्वान् ने भी हिपोक्रिटस के सम्प्रदाय वाले अथवा किसी अन्य सम्प्रदायवाले ग्रीक वैद्य द्वारा भारत में प्रचार तथा उपदेश का उल्लेख न करने से तथा अपने 'इण्डिका' नामक ग्रन्थ में भी इसका उल्लेख न करने से उसके द्वारा भी भारत में ग्रीक प्रभाव की प्रतीति नहीं होती है। प्रत्युत उत्तर भारत में पहुँच कर वहां से लौटने के बाद उसने २३ ग्रन्थों के स्वरूपवाले अपने 'पर्सिका'(४) नामक तथा 'इण्डिका' नामक ग्रथों में भारत के विषय में बहुत कुछ लिखा है। इसमें भारतीय गज (हाथी), बन्दर, तोता, मैना, कीटरङ्ग (कीट विशेष) आदि के समान बहुत सी वनस्पतियों का भी

---

* भारतीय ओषधियों के गुणों का केवल अपने देश में ही नहीं अपितु दूसरे देशों में भी ज्ञान था।
(History of Aryan Medical Science-Goudal)

(१) इसकी टि० सं० उपो० पृ० ८६ का० २ में देखें।

† यूनानी परम्पराओं के अनुसार ज्ञात होता है कि Jhales, Empedocles, Anaxagorns, Democritus तथा अन्य विद्वानों ने दर्शनशास्त्र के अध्ययन के लिये पूर्वी देशों की यात्रा की थी। इसलिये पर्शिया (इरान) के माध्यम द्वारा यूनानियों पर भारतीय विचारों का प्रभाव पड़ने की कम से कम ऐतिहासिक संभावना आवश्य है।
(History of Hindu Chemistry Vol. I P. 22 by Dr P. C. Roy)

‡ कुछ विद्वानों की राय में हिपोक्रिटस ने भारत में चिकित्सा शास्त्र का ज्ञान प्राप्त किया था।

(Short History of Aryan Medical Science P. 190 by H. H. Bhagvat Sinhajee)

* कहा जाता है कि हिपोक्रिटस ने बहुत दूर २ की यात्रायें की थीं। (E. B. Vol XI P. 584.)

(१) १-४ तक की टि० सं० उपो. पृ. ८७ का. २ में देखें।

वर्णन किया है। भारत में शिरोरोग, दन्तरोग, नेत्ररोग, मुखव्रण तथा अस्थिव्रण आदि रोगों के न होने के उल्लेख(१) मिलने से भारत में आये हुए इरान देश के राजा के राजवैद्य पद पर प्रतिष्ठित इस ग्रीक वैद्य द्वारा भारतीय विषयों के संग्रह में से भारत में प्राचीन काल से प्रतिष्ठित वैद्यक विद्या के अन्य विषयों का भी संभवतः संग्रह किया है।

प्राचीन ग्रीक वैद्यक सम्प्रदाय

हिपोक्रिटस के चिकित्सा विज्ञान का भारत पर संभवतः प्रभाव न हो, किन्तु हिपोक्रिटस से पूर्व भी ग्रीस में प्रिनोशन्स ऑफ कास (**Prenotions of cas**) तथा फर्स्ट प्रिरेटिक* (**First pre-rrehetic**) इम्पिडोक्लिस† (**Empedocles**) तथा स्निडोस‡ (**Cnidos**) नामक तीन सम्प्रदाय थे, जिनमें पाथागोरस के समकालीन डेमोकेडिस (**Democedes**) आदि बहुत से विद्वान् वैद्य(२) थे। भारत पर उनके प्रभाव के विषय में भी कुछ नहीं कहा जा सकता। ये सम्प्रदाय भी हिपोक्रिटस से अधिक से अधिक सौ वर्ष पूर्व(३) ही थे। इससे अधिक प्राचीन प्रतीत नहीं होते हैं। इन सम्प्रदायों में से भी एक तो वही मन्त्रप्रधान सम्प्रदाय ही प्रतीत होता है। शेष दोनों में दार्शनिक विषय मिला हुआ है। भारत से ग्रीस में अध्यात्म विद्या ले जाने वाले पाथागोरस के समकालीन होने से, उसके साथ संबन्ध होने से तथा पाथागोरस के संबन्ध में वर्णन करने वाले उन दोनों पूर्व सम्प्रदायों में भी कहीं २ भारतीय विषय का सम्पर्क दिखाई देने से उनमें ग्रीक प्रभाव तथा उतना विज्ञान का संबन्ध नहीं मिलता है। सुसानगर के कारागार में दासों के साथ बन्दी हुए डेमोकेडिस द्वारा घोड़े से गिरने से टूटी हुई इरानदेश के राजा की टांग को बिना शस्त्रों के ही यथास्थान जोड़कर अच्छा कर देने से भाग्य से यश(१) के मिलने पर भी तद्विषयक वर्णन में शस्त्र आदि उपकरणों की पूर्णता के अभाव* का उल्लेख होने से उस समय तक ग्रीस में शस्त्र क्रिया की अपूर्णता का ज्ञान होने से प्रतीत होता है कि उस समय ग्रीक वैद्यक अपनी प्रारंभिक अवस्था में थी। यदि ग्रीस में प्राचीन काल से ही चिकित्सा विज्ञान प्रौढ़रूप में विद्यमान होता तो उसके बाद हिपोक्रिटस को चिकित्सा विज्ञान के पिता (**Father of Medicine**) के पद पर आरूढ़ न किया जाता। हिपोक्रिटस को उस पद पर आरूढ़ करने से उस समय ग्रीक वैद्यक की शैशवावस्था प्रतीत होती है। उस समय ग्रीस देश में यदि भैषज्य विद्या उन्नत अवस्था में होती तो ग्रोटस† नामक विद्वान् द्वारा मिश्र देश की भैषज्य विद्या के विषय में पाथागोरस के विस्मय का उल्लेख न होता। इसलिये पाथागोरस के विस्मय से यह सूचित होता है कि उस समय अन्य देशों के द्वारा कास आदि स्थानों में विज्ञानयुक्त भैषज्य विद्या के नवोत्थान के होने पर भी मिश्र देश के समान उन्नत अवस्था नहीं थी। प्रो. ओसलर‡ (Osler) नामक विद्वान् का भी कहना है कि ग्रीस में विज्ञान युक्त चिकित्सा ईस्वी पूर्व छटी शताब्दी से ही प्रारम्भ हुआ है। हिपोक्रिटस से पूर्व के इन सम्प्रदायों में भी भारतीय चिकित्सा के समान दार्शनिक विषयों का सम्मिश्रण तथा भारतीय शब्दों की छाया आदि भारतीय विज्ञान के चिह्न मिलते हैं। मिश्र देश में ग्रीस देश से पूर्व चिकित्सा विज्ञान के मिलने से तथा ग्रीस देश पर मिश्र के प्रभाव का उल्लेख मिलने से प्रतीत होता है कि ग्रीसदेश ने चिकित्सा विज्ञान मिश्र§ से प्राप्त किया है। तथा भारतीय चिह्नों के मिलने से भारत का प्रभाव

* कॉस और पहले प्रिरेटिक (उत्तरकालीन-प्रिरेटिक पूर्वकालीन थे यद्यपि दोनों को हिपोक्रिटस से पहले का समझा जाता है) के पूर्व विचार यह प्रदर्शित करते हैं कि कॉस के चिकित्सा सम्प्रदाय में अधिक ध्यान रोगों के प्राकृतिक इतिहास विशेषतः घातक और अघातक परिणाम की संभावना पर दिया जाता था।

(**Hippocrates Vol. I P. XIII.**)

† इम्पीडोक्लिस-फिलालैस से कुछ पहले हुआ। वह वैद्य की अपेक्षा 'चिकित्सक' अधिक था। यद्यपि गैलन ने उसे इटली के चिकित्सा संप्रदाय का जन्मदाता कहा है। उसकी शिक्षाओं का चिकित्सा संबन्धी पहलू कुछ तो जादू और कुछ नीमहकीमी था। शारीरिक धातुओं पर उसका कार्य इटली और सिसली के चिकित्सा सम्प्रदाय के सदृश है जिसमें दार्शनिक ढंग की कुछ स्वयंसिद्ध मान्यताएं मान ली जाती हैं।

(**Hippocrates Vol. I Introduction P. 12-13.**)

‡ इन दो सम्प्रदायों के अतिरिक्त एक और भी प्रसिद्ध सम्प्रदाय स्निडोस में था। 'उग्ररूपों में पथ्य' (**Regimen**) नामक हिपोक्रिटस की रचना में इसके सिद्धान्तों का खण्डन है।

(**Hippocrates Vol. I Introduction P. 13.**)

(१) १-३ तक की टि. सं० उपो. पृ. ८७ का० २ और ८८ का० १ में देखें।

* यद्यपि वह शल्यक्रिया के साधनों (उपकरणों) से सम्पन्न नहीं था फिर भी पहले वर्ष में ही वह इतना सफल हुआ कि उस द्वीप के निवासियों ने उससे समझौता कर लिया कि वह एक टेलेण्ट के वेतन पर वहां एक वर्ष तक रहेगा। (लगभग ३८३ स्टर्लिंग=एक इजिनियन टेलेण्ट)

(**History of Greece Vol. IV P. 180-181 Grotes.**)

† पाथागोरस के समय मिश्र की वैद्यक की इतनी उन्नति हो गई थी कि एक जिज्ञासु यात्री का ध्यान आकृष्ट कर सके। उसके सिद्धान्तों का श्रेणीकरण और विभाजन हो गया था। उनके चिकित्सा व्यवसाय के नियम निर्धारित हो गये थे।

(**Herodotus II 84. History of Greece Vol. IV P. 325 by Grotes.**)

‡ शास्त्रीय ओषधियों का-जो कि धर्म और विज्ञान के संमिश्रण का परिणाम है-उद्गम छटी सदी ई० पू० के यूनानियों की प्रतिभा और सामाजिक अवस्था है। (Osler)

देखिये—(**The Surgical Instruments of the Hindus' Vol. I P. 329 G. N. Mukhopadhyay.**)

§ नील की घाटी और मैसोपोटमिया दोनों में ही चिकित्सा शास्त्र जादू टोने और विज्ञान का संमिश्रण था। इस प्रणाली का यूनान पर बहुत पूर्वकाल में ही प्रभाव पड गया था।

(**E. R. E. Vol. VI. P. 541 by E. Thramer**)

(१) इसकी टि० सं० उपो० पृ० ८८ का० १ में देखें।

भी सूचित होता है। विद्वानों* का विचार है कि ग्रीसदेश की चिकित्सा का प्राचीन स्रोत मिश्र के समान भारत भी है।

उत्तर की प्राचीन मूल सभ्यता के शाखा प्रशाखा भेद से सब ओर फैलने पर पूर्व शाखा द्वारा भारत के समान पश्चिम शाखा के द्वारा ग्रीस आदि देशों में भी भैषज्य विज्ञान प्राचीन काल से ही प्रवृत्त हुआ हो यह भी संभव नहीं है। ग्रीस के प्राचीन महाकवि होमर ओडिसी (Odyssey) नामक ग्रन्थ में देवबल से ही रोगों की उत्पत्ति तथा दैवप्रसाद—पूजा, यज्ञ, मन्त्र, उपासना आदि से रोगों की निवृत्ति का उल्लेख† मिलता है। इसके इलियड (Iliad) नामक ग्रन्थ में शस्त्रक्रिया की बहुत थोड़ी झलक मिलती है। तथा श्रेमर(१) के मतानुसार वह भी वहां बेबिलोनिया के प्रभाव से ही आई प्रतीत होती है। उसके दोनों ग्रन्थों में कहीं भी रोग निवृत्ति के लिये औषधियों का अन्तः प्रयोग (Internal use) नहीं मिलता है। प्राचीन काल की धारणा के अनुसार उसके लेख में रोगों के प्रतीकार के लिये देवों की उपासना तथा मन्त्र आदि का उल्लेख(२) मिलने से, उसीके लेख में देवप्रसाद से ही मिश्र देश द्वारा रोगों को शमन करनेवाली औषधियों की प्राप्ति‡ के उल्लेख से तथा मिश्रदेश के विषय में ही उपर्युक्त बातें लिखकर अपने देश के विषय में कुछ भी न लिखते हुए मौन अवलम्ब कर लेने से स्पष्ट है कि उस समय तक ग्रीस में वैज्ञानिक भैषज्य विद्या का उदय नहीं हुआ था तथा दूसरे देशों से उसकी प्राप्ति भी नहीं हुई थी।

ग्रीस देश की पौराणिक कथाओं (Classical History) में भैषज्य विद्या का वृत्तान्त मिलने पर भी वाइज§ (Wise) नामक विद्वान् का कहना है कि उसमें आई हुई सम्पूर्ण भैषज्य विद्या प्राचीन स्रोत से ही निकली हुई नहीं है।

भारतीय वैद्यक तथा ग्रीकवैद्यक में मिलनेवाली विषयों की बहुत सी समानताओं का पहले ही वर्णन किया जा चुका है। विभिन्न देशों के विद्वानों में केवल दो-तीन विषयों में विचारों की समानता तो आकस्मिक भी हो सकती है। परन्तु अनेक तथा असाधारण विषयों की समानता, एक का दूसरे पर प्रभाव हुए बिना तथा साक्षात् या परम्परा द्वारा परस्पर यातायात आदि के सम्पर्क के विना संभव नहीं है। अपने को आर्य कहने वालों के प्राचीन मूल स्रोत के छायारूप शाखा उपशाखाओं में मान्त्रिक भैषज्य प्रक्रिया के प्रायः मिलने पर भी, शाखा तथा उपशाखाओं में विभक्त हुई वैज्ञानिक भैषज्य विद्या के भारत के समान ग्रीस में भी मिलने के प्रमाण होने से दोनों देशों के चिकित्सा विज्ञान में समानता को देखकर प्रतीत होता है कि साक्षात् अथवा दूसरे देशों के द्वारा विज्ञान का संक्रमण भारत से ग्रीस में अथवा ग्रीस से भारत में हुआ है। यदि भारतीय वैद्यक पर ग्रीस का प्रभाव होता तो ग्रीक-वैद्यक में आये हुए विषय, शब्द तथा प्रक्रियाएं न्यूनाधिक रूप से भारतीय वैद्यक में अवश्य मिलनी चाहिये थीं, परन्तु ऐसा दिखाई नहीं देता है। प्रत्युत इसके विपरीत पूर्वोक्त वर्णन के अनुसार भारतीय असाधारण विषय, भारतीय शब्दों की छाया तथा कहीं २ स्पष्टरूपेण भारतीय नाम से ही किये गये उल्लेख के प्राचीन ग्रीक वैद्यक में मिलने से भारतीय भैषज्य विज्ञान का थोड़ा बहुत आलोक प्राचीन ग्रीक वैद्यक पर अवश्य पड़ा प्रतीत होता है।

नालन्दा विश्वविद्यालय में अमुक रोगों में अमुक शस्त्र चिकित्सा की जाती थी—इस प्रकार प्रतिपादन करके (Dorothea* Cha-

* (a) यूनानी चिकित्सकों द्वारा प्रयोग में लाये जाने वाले अनेक द्रव्य मिश्र से आते थे। यूनानी चिकित्सा के नीतिनियमों का आधार मिश्री चिकित्सा के नीति नियमों में निहित है।

(b) ईरानी और भारतीय चिकित्सा शास्त्रों से यूनानी को अनेक बातें प्राप्त हुईं।

† इसी ओडिसी में कहा गया है कि रोग लोगों को देवताओं द्वारा बरपा किये जाते हैं (V 396 IV 411) इसलिये उनका इलाज भी वे ही कर सकते हैं (V. 397) इसलिये होमर के समय जादू टोने की चिकित्सा यूनानियों में प्रचलित थी-ऐसा असंदिग्धरूप में माना जा सकता है।

(E. R. E. Vol. VI P. 540)

‡ होमर ने मिश्र को श्रद्धाञ्जलि अर्पित की है क्योंकि उसका ही 'पितृदेवता' समस्त फेरियन जाति को चिकित्सा शास्त्र की शिक्षा देता है।

(The Surgical Instruments of Hindus Vol. I P. 340 by. G. N. Mukhopadhyay)

§ अतः वाइज महोदय निम्न टिप्पणी करते हैं—'चिकित्सा के प्राचीन इतिहास विषयक तथ्यों को केवल यूनान और रोम के प्रसिद्ध लेखकों में ही ढूंढ़ा गया है। और वे तथ्य इस ढंग से व्यवस्थित किये गये हैं कि वे उस परम्परागत सिद्धान्त के अनुकूल हों जिसके अनुसार यूनानी स्रोत से प्रादुर्भूत न होने वाली सभी पद्धतियों को अस्वीकार कर दिया जाता है।

(The Surgical Instruments of the Hindus Vol. I P. 330 by G.N. Mukhopadhyay.)

* हमें अपनी चिकित्सा पद्धति अरब के द्वारा हिन्दुओं से मिली है। आयुर्वेद के ग्रन्थों में ऐसे नाम बिलकुल नहीं मिलते हैं जो किसी विदेशी अभिजन को सूचित करते हों… । १७ वीं सदी तक यूरोपीय चिकित्सा पद्धति हिन्दुओं की चिकित्सा पद्धति पर आधारित थी…… । भारतीय (आयुर्वेदिक) और यूरोपीय शरीर रचना विज्ञान की पारिभाषिक शब्दावलि की तुलना करने से यह बात स्पष्ट हो जायेगी।

मस्तिष्क के विभाग—शिरोब्रह्म और शिरोविलोम।

तुलना कीजिये—शिरोब्रह्म	Cerebrum	(सैरीब्रम)
शिरोविलोम	Cerebellum	(सैरीबेलम)
हृत् या हृद्	Heart	(हार्ट)
महाफल	(महा-मेग्ना Magna)	मैग्नावेलो

इस प्रकार हम देखते हैं कि आयुर्वेद न अपरिष्कृत शास्त्र है और न नीमहकीमी है। इसके विपरीत शायद वही संसार की सबसे प्राचीन और सबसे अधिक शास्त्रीय चिकित्सा पद्धति है। अब भी उसमें अनेक ऐसी जानकारियां हैं जो यूरोप के किसी भी

(१) १-२ की टि० सं० उपो० पृ० ८९ का० १ में देखें।

plin) नामक विद्वान् लिखता है कि भारतीय आयुर्वेद के शरीर-शास्त्र में कोई भी विदेशी शब्द नहीं मिलता है प्रत्युत पाश्चात्य वैद्यक में शारीरिक अवयवों के निर्देश करनेवाले बहुत से शब्दों में भारतीय प्राचीन शब्दों की छाया दिखाई देती है।

यवनों द्वारा भारतीय विषयों का ग्रहण

Encyclopedia* Britanica में लिखा है कि 'ग्रीक चिकित्सा में उस देश की मिनोयन (Minoan) नामक प्राचीन जाति के स्वच्छता के नियमों के, मैसेपोटेमिया, असीरिया, मिश्र, इरान तथा भारत आदि देशों से शरीर रचना विज्ञान का, भूत प्रेत आदियों द्वारा रोगों की उत्पत्ति का औषध निर्माण विद्या का, आयुर्वेद के समान अनेक औषधियों का तथा शल्यसम्बन्धी शास्त्र-विज्ञान के मिलने से उसकी उत्पत्ति के चार स्रोत थे, परन्तु इनमें से कितना अंश किसका है यह नहीं कहा जा सकता।' इस प्रकार इनमें कितना अंश किसका है; इसका ज्ञान न होने पर यह स्पष्ट है कि इरानी वैद्यक की तरह भारतीय वैद्यक के भी कुछ विषयों का ग्रीक वैद्यक में प्रतिसंक्रमण हुआ है।

ग्रीस देश में किस २ समय, किस २ देश से तथा भैषज्य विद्या सम्बन्धी किन २ विषयों का प्रतिसंक्रमण हुआ है, इसका यथावत् निरूपण कर सकना दुष्कर होने पर भी भारत से इस विषय के ज्ञान के लिये जो संभावनाएं मिलती हैं उन पर हम प्रकाश डालेंगे।

हिपोक्रिटस से प्राचीन हेराक्लिटस(१) (Heracleitus) नामक दार्शनिक द्वारा ईस्वी पूर्व ५०४ में लिखित पुस्तक में अनेक वार उल्लिखित पाथागोरस (Pythagoras) नामक ग्रीक-विद्वान् ईस्वी पूर्व ५८२-४७० में ग्रीस में हुआ प्रतीत होता है। पोकाक (Pococke), स्रोडर (Schroeder) आदि पाश्चात्य तथा अनेक भारतीय विद्वानों द्वारा पाथागोरस के भारत में आगमन तथा भारत से आध्यात्मिक एवं दार्शनिक विषयों का ग्रहण करके ग्रीस में उनके प्रचार का उल्लेख† किया गया है। भारत से भैषज्य विद्या के ग्रहण का स्पष्ट प्राचीन उल्लेख न मिलने पर भी ईस्वी पूर्व छठी शताब्दी में पाथागोरस* की संस्था के स्थापित होने, पाथागोरस सम्प्रदाय के अनुयायी तथा उसके दार्शनिक शिष्यों के द्वारा ही भैषज्य† विज्ञान में सर्वप्रथम रुचि प्रदर्शित करने तथा

अध्यवसायी चिकित्सक के लिये बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकती हो।

(Some Aspects of Hindu Medical Treatment by Darothea Chaplin P. 7-8)

* यूनानी चिकित्सा के तीन स्रोत हैं—(१) मिनोयन जाति, (२) मेसोपोटामिया, (३) मिश्र। इरानी तथा भारतीय स्रोत भी यूनानी चिकित्सा के कुछ अंश में देन हैं। परन्तु यह देन किस मात्रा में है तथा उसका स्वरूप क्या है—इस विषय में अभी निश्चय-पूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता है।

(E. B. Vol. XV P. 198)

† (a) डा० एनफील्ड का कथन है—हम देखते हैं कि ज्ञानोपार्जन के लिये पाथागोरस, अनाग्जरेकस् और पाइरो आदि अनेक विद्वानों ने भारत की यात्रा की थी। ये सब विद्वान् पीछे यूनान के महान् तत्ववेत्ता (दार्शनिक) कहलाये।

(Hindu Superiority P. 233, 234,235 by H. B. Sarda)

(b) यह निश्चित है कि वह (पाथागोरस) भारत आया था। मेरा विश्वास है कि मैं इसे स्वतःसिद्ध साबित कर सकता हूं।

(India in Greece, Pococke P. 353.)

(१) इसकी टि० सं० उपो० पृ० ९० का० १ में देखें।

(c) महान् तत्ववेत्ता पाथागोरस को बहुत सी प्रेरणा भारत से मिली थी।

(V. Schroeder-Pythagoras und die Inder P. 44-59.)

(d) हिन्दुओं के मतानुसार किससे मानव प्रकृति का निर्माण होता है—इसकी समीक्षा करते हुए स्वीडन के काउन्ट ने लिखा है—इस विषय में अफलातून और अरस्तू भी पाथागोरस की धारण को मानते हैं और धारण शायद भारत से ली गई है जहां कि पाथागोरस अपना तत्वज्ञान समृद्ध करने के लिये गया था।

(Theogony of the Hindoos P. 77.)

(e) श्लीगल का कथन है—पुनर्जन्म का सिद्धान्त मूलतः भारतीय उद्गम का है और पाथागोरस ने उसका यूनान में प्रचार किया। (History of Literature P. 109.)

(f) श्रीयुत प्रिंसिप का कथन है—'पाथागोरस ने अपने सिद्धान्त भारतीय स्रोत से लिये थे'—यह एक सर्वविदित तथ्य है। मिश्राइक के नाम से बौद्धधर्म के सिद्धान्त भी बहुत प्रचलित हुए हैं।

(Indian wisdom P. 68.)

(g) इस विषय में; जिसका अभी वर्णन किया गया है-सचाई चाहे कुछ भी क्यों न रही हो, लेकिन पाथागोरस भारतीय दर्शन और विज्ञान पर अवलम्बित था यह बात बहुत सीमा तक ठीक जान पड़ती है। धार्मिक, दार्शनिक या गणितसम्बन्धी जो सिद्धान्त उसके नाम से मिलते हैं लगभग वे सभी ६ ठी सदी ई. पू. के भारतीयों को ज्ञात थे। यदि इन्हें निरा दैवयोग ही समझा जाय तो ये दैवयोग भी इतने अधिक हैं कि उनका सम्मिलित वज़न काफी हो जाता है। पाथागोरस का ही पुनर्जन्म संबन्धी सिद्धान्त अन्य सिद्धान्तों से असंबद्ध सा है और उसकी स्थापना की कोई प्रमाण शृंखला नहीं मिली उसके आधार पर उसकी व्याख्या की जा सके। इसीलिये यूनानी लोग भी उसे विदेशी उद्गम से आया हुआ समझते थे। पाथागोरस ने यह सिद्धान्त मिश्र से लिया हो यह संभव नहीं है क्योंकि पुराने मिश्रियों को उसका ज्ञान ही नहीं था। पीछे प्रचार में आई धारणाओं के बावजूद यह बहुत ही कम संभव है कि पाथागोरस भारत आया होगा। लेकिन उसकी भेंट भारतीयों से ईरान में हुई हो सकती है।

(History of Hindu Chemistry Vol. I P. 22-23. by Dr. P. C. Roy.)

* पश्चिमी यूनान में ६ टी सदी ई. पू. में पाथागोरस के अनुयायियों का संगठन स्थापित हुआ।

(Hippocrates Vol. IV P. 452.)

† पहले पहल चिकित्सा शास्त्र में अभिरुचि दिखाने वाले तत्ववेत्ता पाथागोरस के अनुयायी ही थे। क्रोटन का अलेमेयन (पाथागोरस के वृद्धावस्था के दिनों का एक युवक शिष्य जिसकी दर्शन की अपेक्षा चिकित्सा शास्त्र में अधिक अभिरुचि थी) यद्यपि

हिपोक्रिटस के भैषज्यविज्ञान पर उनकी ही विद्या के प्रभाव पड़ने के उल्लेख(१) से प्रतीत होता है कि भारत से भैषज्य विद्या को लेजाने वाले पाथागोरस के शिष्यों द्वारा ही हिपोक्रिटस पर भारतीय भैषज्य विद्या का प्रभाव पड़ा है। पोकाक (Pococke) कोलब्रुक आदि विद्वानों* का कहना है कि पाथागोरस (इंगलिश) के ग्रीक शब्द 'पुत्थगोरस' का संस्कृत मूलरूप बुद्धगुरु है। पाथागोरस के दर्शन तथा भारतीय बौद्धदर्शनों में परस्पर बहुत समानता† है। केवल दर्शन में ही नहीं, अपितु थिबोट(२) तथा विभूतिभूषणदत्त(३) आदि के अनुसार उनके गणित में भी भारतीय प्राचीन शुल्बगणित (Geometry) का सादृश्य मिलता है। भारत से उस समय दर्शन तथा गणित आदि बहुत से विषयों का ग्रहण करते हुए सम्भवतः उसने लोकोपयोगी तथा चिरप्रतिष्ठित भैषज्य विद्या का भी ग्रहण किया हो। भारतीय भैषज्य विद्या के भी पाथागोरस द्वारा ग्रीस देश में ले जाये जाने के विषय में बेड्रो (Bedroe)‡ सुश्रुत के अनुवाद की भूमिका में के० एल०(१) भिषग् रत्न, गोण्डल* के ठाकुर तथा जी० एन०(२) मुखोपाध्याय आदियों ने उल्लेख किया है। पाथागोरस के दार्शनिक अनुयायियों का हिपोक्रिटस के भैषज्य विज्ञान पर प्रभाव के दिखाई देने से प्रतीत होता है कि संभवतः पाथागोरस भी भैषज्य विज्ञान का वेत्ता था। क्रोटन नामक स्थान के अल्कमेइनो (Alcmaeon) नामक विद्वान् के पाथागोरस की संस्था का भी अनुयायी होने तथा वैद्यक विद्या में रुचि होने से हिपोक्रिटसीय सम्प्रदाय में भी उसके पूर्णरूप से प्रभाव के उल्लेख† मिलने से प्रतीत होता है कि पाथागोरस की भी कोई भैषज्य विद्या संबन्धी संस्था थी। पाथागोरस की विद्या के संबन्ध में अनुसन्धान करने पर मानवशरीर में मानसिक तथा शारीरिक रोगों की निवृत्ति के लिये संगीत आदि साधनों का उपयोग आकृति परीक्षा के द्वारा शरीर के आन्तरिक विकारों का ज्ञान, पशुमांसभक्षण अहितकारी होने से उसके न खाने में श्रेय, आरोग्य तथा पथ्य का महत्व, शारीरिक शक्तिवृद्धि के उपायों का अनुसन्धान, प्रत्येक व्यक्ति की प्रकृति के विषम होने से सबके लिये आहार व्यवस्था एक समान न होकर प्रकृति के अनुसार भिन्न २ होना, इत्यादि विषय‡ मिलते हैं।

विशुद्धरूप से पाथागोरस का अनुयायी नहीं था फिर भी उसके सम्प्रदाय से संबद्ध था। ऐसा जान पड़ता है कि हिपोक्रिटस के प्रस्थान (School) पर इसका काफी प्रभाव पड़ा।

(Hippocrates Vol I Intro. P. XIII.)

* पाथागोरस को बुद्धगुरु से अभिन्न सिद्ध किया जाता रहा है। कोलब्रुक भी दोनों को अभिन्न ही मानते थे। संस्कृत का बुद्धगुरुस् (प्रथमा की सु विभक्ति)=पुथागोरस् (युनानी)= Pythagoras (आंग्लरूप)।

(India in Greece–Pococke P. 364.)

† गणित शास्त्र के इतिहास लिखने वाले कैन्टर (Cantor) को यूनानी रेखागणित और शुल्बसूत्रों का अत्यधिक सादृश्य देख कर बहुत आश्चर्य हुआ। उसने इससे जैसा कि नितान्त स्वाभाविक ही था यह परिणाम निकला कि शुल्वसूत्र सिकन्दरिया के हिरो प्रस्थान (२१५ ई. पू.) से प्रभावित है। शुल्वसूत्रों का काल लगभग आठवीं सदी ई. पू. ठहरता है। डा० थिबोट (Dr. Thibaut) ने दिखलाया है कि ४७ वें साध्य के प्रमेय को जो कि पाथागोरस के नाम पर परम्परा से चला आता है हिन्दुओं ने पाथागोरस से २०० वर्ष पूर्व ही हल कर दिया था। इस प्रकार वी. श्रौडर का यह परिणाम पुष्ट होता है कि यूनानी तत्ववेत्ता (पाथागोरस) ने भारत से प्रेरणा पाई थी।

(History of Hindu Chemistry by Dr. P. C. Roy P. XLI.)

‡ महान् तत्ववेत्ता (पाथागोरस) ने अपने तान्त्रिक रहस्य और अध्यात्मवाद भारतीय ब्राह्मणों से प्राप्त किये थे। श्री पोकोक (Pococke) ने अपने 'यूनान में भारत' (India in Greece) नामक ग्रन्थ में उसे बुद्धगुरु या बुद्ध से अभिन्न सिद्ध किया है। यह बड़ी आसानी से अनुमान किया जा सकता है कि वह अपने भारतीय गुरुओं से प्राप्त अनेक आयुर्वेदिक नुस्खे यूनान ले गया होगा।

(The Origin and Growth of Healing Art–Bedroe P. 162.)

(१) १-३ तक की टि० संस्कृत उपो० पृ० ९० का० २ और ९१ का०१ में देखें।

* यूनानियों में चिकित्सा शास्त्र के प्रतिष्ठापक पाथागोरस (५८२ ई. पू.) के सिद्धान्त तत्वतः भारतीय थे। कहा जाता है उसने मिश्रियों से ज्ञान प्राप्त किया। हम आगे दिखायेंगे कि मिश्रियों ने चिकित्साशास्त्र भारत से सीखा। अपने ग्रन्थ 'History of Philosophy' में एनफील्ड ने दिखाया है कि पाथागोरस ने पूर्व के अर्थात् हिन्दु तत्ववेत्ताओं से अपने सिद्धान्त ग्रहण किये थे। उसकी शिक्षाओं की बुद्धकी शिक्षाओं से इतनी अधिक समता है कि श्रीयुत पोकोक ने अपने ग्रन्थ 'India in Greece' में पाथागोरस और बुद्धगुरु या बुद्ध को एक ही सिद्ध करने का यत्न किया है।

(Short History of Aryan Medical Science P. 190–191 by H. H. Bhagvat Sinhajee.)

† पहले पहले चिकित्सा शास्त्र में अभिरुचि दिखाने वाले तत्ववेत्ता पाथागोरस के अनुयायी ही थे। क्रोटन को अलेमैयन (पाथागोरस के वृद्धावस्था के दिनों का एक युवक शिष्य जिसकी दर्शन की अपेक्षा चिकित्सा शास्त्र में अधिक अभिरुचि थी) यद्यपि विशुद्ध रूप से पाथागोरस का अनुयायी नहीं था फिर भी उसके सम्प्रदाय से संबद्ध था। ऐसा जान पड़ता है कि हिपोक्रिटस के प्रस्थान (School) पर इसका काफी प्रभाव पड़ा।

(Hippocrates Vol. I P. XI.)

‡ पाथागोरस के प्रार्थना संघ, तापसोचित आत्मनिरीक्षण, असंयत वासनाओं को वश में करने के लिये संगीत प्रयोग, उसकी मुख की आकृति से विचारों और वासनाओं को ताड़ जाने की शक्ति उसका आहार संयम और शारीरिक शक्ति के प्रति उसकी अत्यधिक जागरूकता–ये सब प्रसिद्ध हैं। यह भी कहा जाता है कि वह पशुमांस भक्षण के छोड़ देने की शिक्षा देता था। इसका पुनर्जन्म के सिद्धान्त से गहरा संबन्ध है और हम मान सकते हैं कि उसने यह मत अपनाया होगा जैसा कि उसके बाद एम्पेडोक्लिस ने किया।

(History of Greece Vol. IV P. 322 by. Grotes.)

(१) १–२ की टि० सं० उपो० पृ० ९१ का० १ में देखें।

पाथागोरस के जितने भी आदेश मिलते हैं उनमें शरीर को स्वस्थ रखने के लिये अपने अनुकूल पथ्यसेवन आदि नियमों के पालन को विशेषस्थान दिया* गया है। पाथागोरस के सम्प्रदाय में रोग-निवृत्ति के लिये ओषधियों के प्रयोग की अपेक्षा पथ्य तथा आहार विहार के नियमों के पालन पर ध्यान दिया जाता था और यदि ओषधियों का प्रयोग किया भी जाता तो अन्त प्रयोग (Internal use) की अपेक्षा यथाशक्ति लेप आदि बाह्य शारीरिक उपचारों पर विशेष ध्यान(१) दिया जाता था। ईस्वी पूर्व ५३० में पाथोगोरस के क्रोटन नामक स्थान में पहुंच कर उपदेश देने पर वहां के तीन सौ व्यक्तियों द्वारा उसके उपदेश के अनुसार औषधप्रयोग को छोड़ कर पथ्य तथा आहार विहार के पालन से स्वास्थ्य रक्षा करने को शपथ† लेने का उल्लेख मिलता है। अनेक देशों में घूमते हुए मिश्र देश में पहुंचकर पाथागोरस ने वहां आगन्तुओं को चकित करनेवाले भैषज्यविद्या के विशेष प्रचार को देखकर बहुत आश्चर्य‡ प्रकट किया, क्रोटन नामक प्रदेश में पाथागोरस के साथ विद्यमान पाथागोरस के सम्प्रदाय वाले मीलो नामक व्यक्ति के जंवाई डेमोकेडिस (Demokedes) द्वारा प्रवर्तित भैषज्यविषयक सम्प्रदाय के ईस्वी पूर्व तृतीय-चतुर्थ शताब्दी में प्रचलित§ होने के ग्रोट्स (Grotes) नामक विद्वान् द्वारा निर्देश होने के अनुसार भैषज्य शास्त्र संबन्धी उपदेशों को देने वाला, उसके उपदेशों को ग्रहण करने वाले व्यक्तियों द्वारा आदर किया जाने वाला, मिश्र में भैषज्य विद्या की उन्नति को देखकर प्रसन्न होने वाला तथा भैषज्य सम्प्रदाय के प्रवर्तक डेमोकेडिस को अपने शिष्यरूप में स्वीकार करनेवाला पाथागोरस भैषज्यविज्ञान का भी आदर करनेवाला, ज्ञाता तथा प्रवर्तक प्रतीत होता है। भारत से दार्शनिक विषयों के ग्रहण तथा मिश्र की भैषज्य विद्या के दर्शन का उल्लेख होने से भारत तथा मिश्र में जानेवाले पाथागोरस को भैषज्य विद्या का ज्ञान मिश्र तथा भारत दोनों देशों से हुआ प्रतीत होता है। इस प्रकार ग्रोट्स द्वारा निर्दिष्ट उसके उपदेशों में दिये हुए स्वास्थ्य सम्बन्धी विषयों के भारतीय आयुर्वेद में मिलने से तथा हिपोक्रिटस के भैषज्य विज्ञान में भी भारतीय वैद्यक विषयों की समानता के दिखाई देने से प्रतीत होता है कि भारत के साथ अपने संबन्ध का वर्णन करने वाले पाथागोरस ने साक्षात् अथवा परम्परा से भारतीय विज्ञान के द्वारा ग्रीस देशीय भैषज्य विज्ञान को प्रारंभ किया था।

इसके अतिरिक्त हिपोक्रिटस से कुछ समय पूर्व ग्रीस में विद्यमान तीन चिकित्सा सम्प्रदायों में से एक सम्प्रदाय के प्रवर्तक एम्पीडोक्लिस का भी इरान तथा भारत के आसपास के प्रदेशों में जाने तथा भारतीय दार्शनिक विद्या को ग्रीस में ले जाने का पी० सी०(१) राय ने वर्णन किया है। भारत में पाञ्चभौतिक तथा चातुर्भौतिकवाद भी प्रारम्भ से ही मिलते हैं। एम्पीडोक्लिस द्वारा ग्रीस में चतुर्भूतवाद का अभूतपूर्व नया प्रचार तथा नवीन भैषज्य सम्प्रदाय का भी प्रारंभ किया जाना मिलता है। हिपोक्रिटस द्वारा उस चातुर्भौतिक शरीरवाद का ही प्रत्याख्यान (खण्डन) मिलता है तथा उसके द्वारा प्राचीन तीनों सम्प्रदायों में आवापोद्वाप विधि तथा परिष्कार के द्वारा संस्कार करके अपने सम्प्रदाय का उद्भव प्रकट किया गया है। इस प्रकार हिपोक्रिटस के पूर्ववर्ती एम्पीडोक्लिस द्वारा भारत में आकर साक्षात् रूप से अथवा इरान देश के द्वारा भारतीय दर्शन विद्या के समान दार्शनिक विषयों से सम्मिश्रित भैषज्य विद्या का भी ग्रहण किया गया प्रतीत होता है। इसके द्वारा भी ग्रीस में पहुंचा हुआ भारतीय चिकित्सा विज्ञान हिपोक्रिटस के हृदय में सङ्क्रान्त हो सकता है। ऊपर लिखे हुए विद्वानों के नाम केवल उपलक्षणमात्र हैं। इसीप्रकार अन्य भी ऐसे कई ग्रीक विद्वान् हो सकते हैं जिनके द्वारा भारतीय विद्या साक्षात् रूप से अथवा इरान आदि देशों के मार्ग से होती हुई पाश्चात्य देशों में पहुंची हो। प्राचीन इतिहास में उनके नाम नहीं मिलते हैं इसलिये इस विषय में स्पष्ट उल्लेख के बिना कुछ नहीं कहा जा सकता।

पूर्वकाल में ही नहीं, अपितु हिपोक्रिटस के पश्चात् भी भारतीय व्यवहार के दर्शन के लिये आये हुए इविमेरस (Evemerus) का उदाहरण मिलने से प्रतीत होता है कि पूर्वपरम्परागत भारतीय सभ्यता का अध्ययन करने के लिये इससे पूर्व भी बहुत से ग्रीक विद्वान् भारत में आये होंगे तथा उनके द्वारा बहुत सी भारतीय सभ्यता उनके देश में पहुंची होगी।

भारतीय विद्वानों का ग्रीस में जाना

केवल ग्रीस देश वालों का ही प्राचीन भारत में आगमन का वर्णन नहीं मिलता है अपितु भारतीय विद्वान् एवं वैद्यों का भी पश्चात्त्य देशों में जाने, उनसे ज्ञान ग्रहण करने, उनका आदर तथा उनको उपदेश देने के वृत्तान्त इतिहास में मिलते हैं। ईस्वी पूर्व ३३० सामयिक प्रसिद्ध गाथक अरिष्टाटल के शिष्य अरिष्टोक्सेनस

* फिर भी दूसरी ओर यह भी सर्वथा संभव लगता है कि आहार, शिक्षण और अध्ययन के ये नियम संगठन के अन्य सदस्यों पर लागू नहीं होते थे।

(History of Greece Vol. IV P. 322 Grotes.)

† पाथागोरस के कुछ खास शिष्यों ने-जो कि संख्या में तीन सौ के लगभग थे-एक प्रकार की प्रतिज्ञा से अपने को पाथागोरस के साथ और परस्पर एक दूसरे के साथ दृढ़ सम्बन्ध में बांध लिया। इस संगठन के चिह्न के रूप में उन्होंने विशिष्ट आहार, कर्मकाण्ड और व्रत अपना लिये थे।

(History of Greece Vol. IV P. 329. Grotes.)

‡ पाथागोरस के समय मिश्र की वैद्यक की इतनी उन्नति हो गई थी कि एक जिज्ञासु यात्री का ध्यान आकृष्ट कर सके। उसके सिद्धान्तों का श्रेणीकरण और विभाजन हो गया था। उनके चिकित्सा व्यवसाय के नियम निर्धारित हो गये थे।

(Herodotus II 84, Aristotle politics III. 10. 4. History of Greece Vol. IV P. 325-Grotes.)

§ औषध विज्ञान तथा शल्यचिकित्सा में जब पाथागोरस के शिष्य मिलो का दामाद डिमोकेडस् प्रसिद्ध हो रहा था तब पाथागोरस् क्रोटन में विद्यमान था।

(History of Greece Vol. IV P. 327-Grotes.)

(१) इसकी टि० सं० उपो० पृ० ९१ का० २ में देखें।

(१) इसकी टि० उपो० संस्कृत पृ० ९२ का० २ में देखें।

(Aristoxenus) नामक विद्वान् के लेख के अनुसार ग्रीसदेश की राजधानी एथेन्स में साक्रिटीज नामक (Socrates B. C 469-399) प्रसिद्ध दार्शनिक के साथ अध्यात्म विषय में उनके सिद्धान्तों का उपहास के रूप में खण्डन करते हुए किसी भारतीय के अध्यात्म विषयक संभाषण के मिलने से तथा (Eusebius) नामक विद्वान् द्वारा भी किये गये इस संवाद के उल्लेख को देखकर प्रतीत होता है कि ईस्वी पूर्व चतुर्थ शताब्दी से पूर्व भी भारतीयों का यूनानियों (ग्रीकों) के साथ परिचय था। इस प्रकार **H. G. Rawlinson*** द्वारा प्रकाशित लेख से भी प्रतीत होता है कि अलेक्जेण्डर के भारत में आने से पूर्व भी भारतीय विद्वानों का ग्रीस में जाना, ग्रीस भाषा का ज्ञान तथा ग्रीक विद्वानों के साथ विचार विमर्श विद्यमान था।

*. यूनानी और भारतीय दार्शनिक चिन्तन में जो अद्भुत सादृश्य मिलता है उसकी ओर ग्रेब आदि अनेक मनीषी बार बार विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करते रहे हैं। एलेटिक और सांख्य सम्प्रदायों तथा औरफिज्म (Orphism) और बौद्धधर्म के सादृश्य सच्चे हैं। B. J. Urwick ने अपने नवीन ग्रन्थ 'Message of plato' में दिखलाया है कि अफलातून की पुस्तकों में विशेषकर Republic-ऐसे सादृश्य बहुत अधिक हैं। Ideas का सिद्धान्त वेदान्त का ही सरलरूप है। १० वें अध्याय के अन्त में आने वाला **'पाम्फीलियन एड् का स्वप्न'** बिलकुल ही भारतीय रंग में रंगा हुआ है। Republic में वर्णित समाज के तीन वर्ग-संरक्षक, व्यवस्थापक और व्यवसायी भारतीय स्मृतिकारों के तीन वर्ण-ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य हैं। चन्द्रगुप्त के दरबार में स्थित यूनानी राजदूत मेगस्थनीज ने भी यही कहा है—अनेक बातों में हिन्दुओं के नीतिनियम यूनानियों से मिलते जुलते हैं। उदाहरणार्थ यह विश्वास कि विश्व की सृष्टि और प्रलय काल का निश्चित है, और यह कि पृथ्वी का आकार वर्तुल है, यह कि नियामक और निर्माता परमात्मा ही इसकी व्याख्या कर सकता है, विश्व के प्रारम्भिक तत्व अनेक हैं लेकिन आप् (जल) तत्व ही पहला तत्व है जिससे विश्व की रचना हुई है, यह कि चार तत्वों के अलावा एक और तत्व है जिससे आकाश तारे आदि बने हैं, और यह कि पृथ्वी ब्रह्माण्ड के केन्द्र में स्थित है। इसी प्रकार जन्म तथा आत्मा एवं अन्य भी अनेक विषयों में भारतीयों के विचार यूनानी विचारों से मेल खाते हैं। अफलातून की तरह ही वे भी आत्मा की अमरता और परलोक में दिये जाने वाले दण्डों के अनेक किस्से कहते हैं। प्रायः इन सादृश्यों को दैवयोग अथवा विचारों का स्वतन्त्र विकास कहकर उनकी उपेक्षा की जाती रही है। हीरोडोटस् ने स्पष्ट ही कहा है कि यूनान में पुनर्जन्म का सिद्धान्त मिश्र से आया है लेकिन उस युग में भारत और यूनान का संबन्ध था यह सिद्ध करने वाला कोई समसामयिक प्रमाण अब तक नहीं मिल सका है। लेकिन यह प्रमाणाभाव की युक्ति बहुत ही निर्बल युक्ति है और अभी हाल में यूसेबियस (Eusebius) का एक महत्वपूर्ण संदर्भ मेरी दृष्टि में आया है जो J. A. M. Crindle द्वारा (जो कि Cambridge History of India Book I Chapter XVI के लेखक हैं) नजर अन्दाज कर दिया गया है। सन्दर्भ इस प्रकार है-

'गायक एरिष्टोग्जेनस् भारतीयों के विषय में यह कहानी कहता है। एक भारयीय 'अथेन्स' में सुकरात से मिला और उससे पूछने लगा कि तुम्हारे दर्शन का कार्य क्या है। सुकरात ने उत्तर दिया 'मानवीय चरित्र और कार्य को समझना'। इस पर भारतीय हँस पड़ा और कहने लगा कि कोई मनुष्य तब तक मानवीय प्रकृति और कार्य (Phenomena) को कैसे समझ सकता है जब तक कि उसे दैवीय चरित्र और कार्यों का ज्ञान न हो।'

इस कथा का भाव स्पष्ट है। यूसेबियस ने इसे प्रामाणिक कहा है। गायक एरिष्टोग्जेनिस् अरस्तू का शिष्य था और स्वरों के विषय में प्रामाणिक लेखक था। उसका काल ३३० ई. पू. है। इसलिये हम निःसंकोच मान सकते हैं कि ई. पू. चौथी सदी में भी अथेन्स में भारतीय थे जो यूनानी बोल लेते थे और जिन्होंने वस्तुतः सुकरात से दार्शनिक चर्चा की थी। इससे भारत और यूनान के पारस्परिक संबन्ध के विषय में हमें अपने विचारों में कुछ परिवर्तन करना होगा।

(Amrit Bazar Patrika, 1936.)

अलेक्जेण्डर द्वारा भारतीय विज्ञान का प्रसार

जो भी राष्ट्र उन्नति करना चाहता है वह विद्या आदि से समृद्ध तत्कालीन अन्य राष्ट्रों का दूर से अध्ययन करता है तथा अपने देश के गौरव को बढ़ाने के लिये उस देश के विज्ञानों को ग्रहण करने का प्रयत्न करता है। उन्नत देशों की विद्या के परिचय, भाषा-विज्ञान तथा उनके अनुभूत सफल प्रयोगों के बाद श्रद्धा तथा विश्वास की अधिकता होने पर उनके ग्रन्थों का ग्रहण किया जाता है, उनके विद्वानों का सन्मान किया जाता है तथा उनकी प्रक्रियाओं को भी स्वीकार कर लिया जाता है। उन्नत अवस्था में पहुंची हुई भारतीय चिकित्सा विज्ञान के श्रवण, आलोकन, ज्ञानपर्यालोचन तथा आदर से पूर्व भी ग्रहण करने के लिये ग्रीक आदि प्राचीन विद्वानों का भारत में आना देखकर हमें आश्चर्य नहीं करना चाहिये। विजिगीषु (विजय की इच्छा वाला) राष्ट्र जिन्हें जीतना चाहता है उन राष्ट्रों के बल, वीर्य तथा सभ्यता आदि की परिस्थितियों को पहले अच्छी प्रकार देखकर ही अपने पैर बढ़ाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार अलेक्जेण्डर के आने से पूर्व भी संभवतः भारतीय परिस्थितियों का सम्यक् अध्ययन करने के लिये बहुत से ग्रीक विद्वान् भारत में आये हों अथवा भारत में रहने वाले यूनानियों ने भारत के विषय में यूनानियों को पूर्ण ज्ञान करा दिया हो। विजय की इच्छा से भारत में आकर तथा कुछ प्रदेश को जीत लेने पर भी यवनाधिपति अलेक्जेण्डर के शीघ्र भारत से लौट जाने में चिरकाल से थकी हुई अपनी सेना की अशान्ति ही केवल कारण प्रतीत नहीं होता है। अपितु जिस मार्ग से आये थे उसे छोड़कर नवीन समुद्र मार्ग से शीघ्र लौट जाने में मुद्राराक्षस की उक्ति के अनुसार कोइ अन्य कारण भी प्रतीत होता है। भारत में आकर भी अलेक्जेण्डर के शीघ्र लौट जाने के उल्लेख से प्रतीत होता है कि चाणक्य नामक मन्त्री सहित चन्द्रगुप्त द्वारा शासित तथा समय २ पर होने वाले आघातों को सहते हुए अपने पूर्व सम्प्रदाय

की रक्षा में तत्पर भारत देश में उस समय यूनानियों का प्रभाव अधिक नहीं था।

विल डूराण्ट* (Will Durant) नामक विद्वान् लिखता है कि 'तक्षशिला, काशी, उज्जयिनी तथा विदर्भ आदि नगरों में भारतीय विश्वविद्यालय थे। अलेक्जेण्डर द्वारा तक्षशिला के आक्रमण के समय तक्षशिला सम्पूर्ण एशिया में सबसे उन्नत भारतीय विश्वविद्यालय था। वहां सम्पूर्ण कलाओं, सब विज्ञान, सैनिक विद्या तथा भैषज्य विद्या की शिक्षा देने वाले बहुत से बड़े २ विद्वानों तथा देश देशान्तरों से आये हुए बहुत से विद्यार्थियों द्वारा समृद्ध महान विश्वविद्यालय था। यह भारतीय विद्याओं के लिये अत्यन्त प्रसिद्ध स्थान हो गया था। अन्य सब विद्याओं की अपेक्षा भी इस विश्वविद्यालय की भैषज्य विद्या में विशेष प्रसिद्धि तथा प्रतिष्ठा थी'। एरियन (Arrian) नामक विद्वान् का भी कहना है कि 'तक्षशिला अत्यन्त महान् तथा उन्नत नगरी थी'। स्मिथ† के अनुसार अलेक्जेण्डर का इतिहास लेखक एरियन (Arrian) नामक विद्वान् सिन्धु के समीपस्थ मूषक राज्य का वर्णन करते हुए लिखता है कि 'उस देश के रहने वाले १३० वर्ष तक जीवित रहते थे। उनके इस दीर्घायुष्य का कारण परिमित आहार ही था। अन्य विद्याओं की अपेक्षा वे वैद्यक विद्या के अध्ययन में विशेष रुचि रखते थे'। मूषक प्रदेश में १३० वर्ष की आयु को असाधारण रूप में देकर, मूषक के उल्लेख द्वारा संभवतः अलेक्जेण्डर का सिन्धु प्रदेश तक आगमन सूचित किया है। स्ट्राबो(१) (Strabo) नामक विद्वान् भी लिखता है कि (They do not persue accurate knowledge in any line except that of medicine' (अर्थात् उन्हें चिकित्सा विज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी भी विषय का सम्यक् ज्ञान नहीं था। पाथागोरस आदियों के इतिवृत्तों के द्वारा भारत में अध्यात्म आदि अन्य विद्याओं की भी उन्नति के स्पष्ट उल्लेख होने से, इस लेख से भी यही प्रकट होता है कि अन्य विद्याओं की अपेक्षा भैषज्य विद्या में भारतीय अधिक पूर्ण थे। अन्य साथ चलने की इच्छा वाले बहुत से भारतीय विद्वानों में से तक्षशिला से आदरपूर्वक साथ लाये हुए कल्याण (Plutarch reproduces as sphines but the Greeks called him Kalanos) नामक भारतीय विद्वान् का ग्रीसाधिपति अलेक्जेण्डर अन्य सब दार्शनिक विद्वानों की अपेक्षा अधिक सन्मान करता था। पीछे देह त्याग की इच्छा से चिता पर आरूढ़ होने पर ग्रीसाधिपति ने उसका अत्यन्त गौरव के साथ अन्तिम सन्मान किया था। रापसन(१) (Rapson) नामक विद्वान् ने लिखा है कि इस भारतीय विद्वान् का वर्णन एरियन तथा स्ट्राबो नामक विद्वानों ने भी किया है। मैक्समूलर के कथनानुसार वह कल्याण(२) नामक विद्वान् ग्रीस तक भी गया था। यह एक उदाहरण ही भारत के तात्कालिक गौरव को सूचित करता है।

अलेक्जेण्डर द्वारा अपनी सेना में ग्रीक वैद्यों के होते हुए भी उनको सर्पविषचिकित्सा का ज्ञान न होने से सर्पविष की चिकित्सा के लिये भारतीय वैद्यों के रखने, अन्य रोगों की चिकित्सा* में

* (a) चन्द्रगुप्त के समय में उत्तरीय भारत के दो सौ प्राचीनतम नगरों में एक तक्षशिला था। एरियन ऐतिहासिक लिखता है कि 'यह एक विशाल और समृद्ध नगर था। स्ट्राबो लिखता है कि यह बहुत विस्तृत नगर है तथा यहां के कानून बहुत अच्छे हैं'। यह नगर सेना और विद्या का केन्द्र था।…… तत्कालीन भारत के कई एक विश्वविद्यालयों में यह सबसे अधिक विख्यात था। जिस प्रकार मध्ययुग में पेरिस में छात्रगण एकत्र होते थे उसी प्रकार तक्षशिला में बहुत से विद्यार्थी एकत्र हुआ करते थे। छात्र यहां के प्रसिद्ध गुरुओं के पास सभी प्रकार की कलाएं और ज्ञान विज्ञान सीखा करते थे। यहां का आयुर्वेद शिक्षालय सारे पूर्वीय जगत् में खूब प्रतिष्ठित और प्रसिद्ध था (पृष्ठ ४४१-४४२)

(b) सिकन्दर के आक्रमण के समय तक्षशिला नगर विद्या के प्रमुख केन्द्र के रूप में समस्त एशिया में सर्वविदित था। अपने आयुर्वेद विद्यालय के लिये तो यह और भी अधिक प्रसिद्ध था।

(Story of Civilization–Will Durant P. 557)

† वहां के निवासी एक सौ तीस वर्ष की उमर तक पहुंचते थे। उनका दीर्घायुष्य उनके सुस्वास्थ्य का परिणाम था जो कि आहार विषयक संयम से प्राप्त किया जाता था।

(Early History of India–V. Smilt P. 105.)

(१) इसकी टि० सं० उपो० पृ० ९४ का० १ में देखें।

* यह (भारतीय चिकित्सा) विज्ञान यूनानियों के भारत में आगमन पर्यन्त (३२७ ई. पू. तक) निरन्तर बढ़ता रहा। यूनानी इतिहास लेखक एरियन ने सिकन्दर के आक्रमण के समय भारत की अवस्था का वर्णन करते हुए एक विचित्र तथ्य का उल्लेख किया है जिससे तात्कालीन हिन्दू चिकित्सकों के गौरव का परिचय मिलता है। वह कहता है कि सिकन्दर की सेना के साथ यद्यपि अनेक कुशल यूनानी चिकित्सक विद्यमान थे परन्तु उन्होंने सर्पदंश (जो कि पंजाब में प्रायः होते हैं) के प्रति अपनी असमर्थता प्रकट कर दी थी। इसलिये सिकन्दर को इस विषय में भारतीय वैद्यों को बुलाना पड़ता था जो कि सर्पदंश की सफलतापूर्वक चिकित्सा करते थे। मैसीडोनिया का राजा इनके हस्तकौशल से इतना प्रभावित हो गया था कि नियार्कस के अनुसार उसने अपने शिविर में बहुत से अच्छे भारतीय वैद्यों को नियुक्त कर रखा था तथा अपने साथियों को उसने सर्पदंश अथवा अन्य भी दारुण रोगों में इन भारतीय वैद्यों से सलाह लेने को कह रखा था। एक ओर जब कि यूरोपीय विषविज्ञान के पण्डित आजतक भी सर्पविष के लिये किसी विशिष्ट (Specific) ओषधि की तलाश में लगे हुए हैं, भारतीय चिकित्सकों को लगभग २२०० वर्ष पूर्व इस कुशलता का गौरव प्राप्त था। इसीलिये संभवतः अलेक्जेण्डर जिसे भारत में सिकन्दर कहा जाता है–यहां से लौटते हुए अपने साथ कुछ भारतीय चिकित्सा शास्त्र के अध्यापकों को अपने देश ले गया था। यूनानी चिकित्सा शास्त्र के प्रारंभिक इतिहास से भी इस अनुमान अथवा कल्पना की कुछ पुष्टि होती है।

(Short History of Aryan Medical Science. P. 189-190. by H. H. Bhagvatsinhajee.)

(१) १–२ की सं० उपो० पृ० ९४ का० २ में देखें।

भी प्रवीण होने से अलेक्जेण्डर द्वारा अपने शिविर में भारतीय वैद्यों को रखने, स्वदेश को लौटते हुए ग्रीसाधिपति द्वारा भारतीय वैद्यों को आदर सहित अपने साथ* ले जाने के तथा अपने देश को लौटते हुए मार्ग में भी भारतीय चिकित्सक द्वारा सर्पदष्ट की चिकित्सा के उल्लेख मिलने से भारतीय आयुर्वेद का प्रभाव पीछे भी ग्रीसदेश में दिखाई देता है।

भारतीय आलोक के प्रसार में अशोक के शिलालेख का स्थान

न केवल प्राचीन काल में अपितु अशोक(१) के समय उसके तेरह शिलालेखों(२) के अनुसार अन्तियोक (योन) नामक ग्रीक राजा (Antiochos Theos B.C. 261–246 King of Syria), तुर्मय (Ptolemaeos Philadelphos, King of Egypt 285–247 B. C.), अन्तिकोन (Antigonos Gonates of Macedonia 278–239 B. C.), मगस (Magas of Cyrene to the West of Egypt-मृत्यु–258 B. C.) तथा अलीकसुन्दर (अलेक्जेण्डर- Alexander of Epirus 272–258 B. C. तथा मतान्तर से Alexander of Corinth 252–244 B. C.) के देशों तथा यवन, कम्बोज, नील, चोल, पाण्ड्य, ताम्रपर्णी, दरदविष, वज्रनाभक, नाभप्रान्त, भोज, पिति, निकि, आन्ध्र तथा पुलिन्द आदि आठ सौ योजन के अन्तर से फैले हुए देशों में भी अशोक की धर्मविजय तथा धर्म के चिह्न मिलते हैं। इस लेख से ज्ञात होता है कि भारत के भिन्न २ प्रदेशों के समान सीरिया, मिश्र, मैसीडोनिया, पश्चिमी मिश्र, एपिरस, यवन, कम्बोज आदि दूर के देशों में भी अशोक ने भारतीय धर्म की प्रतिष्ठा की थी। विमलप्रभा(३) की कालचक्र नामक व्याख्या में भी बुद्ध के निर्वाण के बाद उन २ देशों की उन २ भाषाओं में यानत्रय, पिटकत्रय आदि बौद्धग्रन्थों के अनुवाद होने से धर्मप्रचार का निर्देश मिलता है। उसमें भी पारसीक देश तथा नील नदी के उत्तर में रुक्म देश का उल्लेख मिलता है। अशोक ने केवल धर्मविजय ही नहीं किया था अपितु उसके शाह्बाज गढी नामक स्थान में मिले हुए—

'सर्वत्र विजिते देवानां प्रियस्य''' मनुष्याणाम्' मूल उपोद्घात पृ० ९५ देखें।

इस द्वितीय (१) शिलालेख में अशोक द्वारा भारत के भिन्न २ प्रदेशों के समान भारत से बाहर अन्तियोक नामक ग्रीस राजा के तथा उसके आसपास के अन्य राजाओं के देशों में भी पशुओं तथा मनुष्यों के लिये पृथक् २ दो प्रकार के चिकित्सालय प्रारम्भ किये थे तथा उनमें पशुओं तथा मनुष्यों के उपयोगी ओषधियों की भी व्यवस्था की थी। आवश्यकतानुसार ओषधि, फल तथा मूलों के वृक्ष भी सब स्थानों पर लगाये जाने के उल्लेख से प्रतीत होता है कि उस समय तक भारत के समान भारत से बाहर अन्तियोक आदि के देशों में भी भारतीय चिकित्सापद्धति तथा ओषधियों की अपेक्षा (आवश्यकता) प्रवृत्ति तथा प्रचार था। तेरहवें धर्मविजय शिलालेख में अन्तियोक के साथ तुर्मया, अन्तिकोन, मग तथा अलीकसुन्दर आदि चारों राजाओं का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। वहां इन राजाओं के देशों के आठ सौ योजन तक फैले हुए होने का निर्देश है। दूसरे शिलालेख में अन्तियोक* नामक यवनाधिपति का तो नामपूर्वक ग्रहण किया गया है। अन्य राजाओं का **'ये चान्ये तस्यान्तियोकस्य सामन्ता राजानः'** के द्वारा उनके समीपवर्ती होने से सामान्यरूप से उल्लेख होने पर भी अन्तियोक के साहचर्य से, भौगोलिक दृष्टि से सीरिया प्रदेश के चारों ओर स्थित होने से तथा सामन्त शब्द के औचित्य के कारण सम्भवतः ये वे ही तुर्मय, अन्तिकोन, मग तथा अलीकसुन्दर आदि राजा हैं जिनका तेरहवें(२) शिलालेख में अन्तियोक के साथ निर्देश किया गया है। ग्रीसाधिपति अलेक्जेण्डर के अशोक से प्राचीन होने के कारण अशोक के समकालीन अन्य राजाओं के साथ होना सम्भव न होने पर भी भारत में आने के कारण परिचित हुए अलेक्जेण्डर के पौर्वकालिक सम्बन्ध को लक्ष्य करके अलीकसुन्दर शब्द से प्रसिद्ध ग्रीसाधिपति अलेक्जेण्डर का ग्रहण करके ग्रीसदेश में भी भारतीय प्रभाव समझा जा सकता है। परन्तु ऐतिहासिक विद्वान् समय की विभिन्नता के कारण तथा अन्य राजाओं के अशोक के समकालीन होने से यहां अलीकसुन्दर शब्द से ग्रीसाधिपति अलेक्जेण्डर का ग्रहण न करके अशोक के समकालीन एपिरस प्रदेश के तथा कुछ विद्वानों के मत

---

* 'E. J. Rapson रचित Cambridge History of India' नामक ग्रन्थ के प्रथम भाग पृ. ४०६ पर नियार्कस के नाम से उद्धरण दिया है कि—'भारत में चिकित्सकों के लिये सर्पदष्ट रोगियों की चिकित्सा के अतिरिक्त और कोई कार्य नहीं था, क्योंकि जैसा कि यूनानी लोग समझते थे, भारतीयों को रोग बहुत कम होते थे'। तथा इसके विपरीत 'Arrian's Indica' नामक ग्रन्थ में नियार्कस का निम्न उद्धरण दिया है—सिकन्दर के पास चिकित्सा कार्य में अत्यन्त निपुण बहुत से भारतीय व्यक्ति थे। उसने अपने सारे शिविर में यह घोषणा कर रखी थी कि यदि किसी व्यक्ति को सांप काटले तो उसकी शाही शिबिर में चिकित्सा कराई जाय। परन्तु ये ही व्यक्ति अन्य रोगों एवं कष्टों को भी दूर करने में समर्थ थे—पृ. २२३। इस लेख के अनुसार वे केवल आजकल के सपेरों के सदृश ही नहीं थे अपितु आयुर्वेद के आठ प्रस्थानों में आये हुए विषतन्त्र के समान वे अन्य चिकित्सा विज्ञान के भी ज्ञाता थे। इसीप्रकार के भारतीय वैद्यों को सिकन्दर ने अपने पास रखा था, तथा उन्हें अपने देश में ले गया प्रतीत होता है। इसप्रकार 'Cambridge History of India' में नियार्कस का 'But these very same men were able to cure other diseases and pains also' यह वाक्य न मिलना तथा उन्हें केवल सपेरों के समान ही बताना—आश्चर्यजनक है।

(१) १–३ तक की टि० सं० उपो० पृ० ९५ का० १–२ में देखें।

* इन दूसरे तथा तेरहवें शिलालेखों में सीरियाधिपति अन्तियोक का ही यवनराज के रूप में निर्देश है, अलीकसुन्दर का नहीं। इससे ज्ञात होता है कि प्राचीनकाल में सीरिया देश की जाति के लिये ही यवन शब्द का व्यवहार होता था। परन्तु आजकल तो यवन शब्द से ग्रीस वालों का ही ग्रहण होता है। यह विचारणीय प्रश्न है।

(१) १–२ की टि० सं० उपो० पृ० ९५ का० २ और पृ. ९६ का० १ में देखें।

से कोरिन्थ प्रदेश के, अलेक्जेण्डर का ग्रहण करते हैं। 'राजानः' इस पद के कारण यह अशोक सामयिक अलेक्जेण्डर ही प्रतीत होता है। यह सब होते हुए भी आठ सौ योजन तक के देशों में धार्मिक प्रभाव के होने से, सीरिया के आसपास के देशों में भारतीय चिकित्सापद्धति का भी विशेष प्रभाव होने से, इन दोनों शिलालेखों में ग्रीस के प्राचीन स्रोत के रूप में उल्लिखित मिश्र में भी भारतीय प्रभाव एवं आलोक के मिलने से, ग्रीस के मिश्र तथा सीरिया के समीप ही होने से, एपिरस तथा कोरिन्थ प्रदेशों के भी ग्रीस में सम्मिलित होने से, ग्रीस द्वारा भारत तथा उसकी विद्या के परिचय की प्राप्ति के उल्लेख से, ग्रीस की आध्यात्मिक विद्या में भारतीय दर्शनों का प्रभाव मिलने से, हिपोक्रिटस के नाम सेउ त्तरोत्तर ग्रन्थों के संकलन से तथा उसके ग्रन्थों में आयुर्वेदीय विषयों की समानता मिलने से दार्शनिक तथा धार्मिक विषयों के समान चिकित्सा विज्ञान में भी अशोक के समय ग्रीस में भारतीय प्रभाव का परिचय मिलता है। इससे उस समय भी पाश्चात्त्य देशों में भारतीय आयुर्वेद विद्या, भारतीय चिकित्सापद्धति, भारतीय ओषधियों, भारतीय वैद्यों तथा भारतीय वैद्यक ग्रन्थों का कितना आलोक तथा गौरव था, इसका पर्याप्त ज्ञान हो जाता है।

ग्रीस तथा भारत का प्राचीन काल से सम्बन्ध

आजतक विशेष प्रमाणों के न मिलने पर भी प्राचीन काल में ग्रीस तथा भारत के पारस्परिक यातायात तथा वाणिज्य के सम्बन्ध को देखकर यह कहा जा सकता है कि भारतीय वैद्यक ग्रीस में पहुंची हुई थी। * बक (Buck) नाम विद्वान् का कहना है कि अलेक्जेण्डर के काल से बहुत समय तक ग्रीस तथा भारत के घनिष्ठ संबन्ध के मिलने से तथा हिपोक्रिटस, डिओसकोराइडास (Dioscorides) तथा ग्यालन आदि के लेखों के अनुसन्धान से प्रतीत होता है कि भारतीय वैद्यों द्वारा व्यवहृत की जाने वाली बहुत सी ओषधियों तथा चिकित्सापद्धतियों का अभ्यास करने वाले ग्रीक वैद्यों ने ग्रहण किया हुआ था।

'भारतीय तथा ग्रीसदेशीय प्राचीन वैद्यक विज्ञान में बहुत सी समानताएं मिलती हैं। ग्रीस के चिकित्साविज्ञान पर भारतीय प्रभाव को कुछ लोग जो नहीं मानते हैं तथा कुछ लोग संदिग्ध मानते हैं उसे देखकर हमें आश्चर्य होता है। हस्तलिखित प्राचीन पुस्तकों के मिलने से पूर्व प्रसिद्ध प्राचीन भारतीय ग्रन्थों का कालनिर्णय अत्यन्त कठिन था। परन्तु भारतीय विज्ञान की बहुत सी शाखाओं में स्वतन्त्ररूप से विचार तथा उनमें अन्यदेशीय विज्ञान के आलोक का अनादर मिलता है। भारतीय भैषज्य विषयों के अन्वेषण में आजकल बहुत से लोग भारतीय विषयों का भारतीय होना ही मानते* हैं तथा भारतीय प्राचीन भैषज्य विद्या की आलोचना करते हुए तथा उसके गूढ़विचार, सूक्ष्मबुद्धि का विकास तथा लेख-सौष्ठव आदि के अनुसन्धान में उसका स्थान अत्यन्त ऊंचा होने का परिचय मिलता है' ऐसा † न्यूबर्गर (Neubergel) नामक विद्वान् का कहना है।

हेरोडोटस तथा फीलोष्ट्रेटस आदि प्राचीन पाश्चात्त्य विद्वानों का भी कहना है कि भारत का प्राचीन काल से ही पाश्चात्त्य देशों के साथ परिचय, सम्पर्क तथा व्यवहार था। प्रथम शताब्दी में होने वाले प्लेनी ‡ नामक ग्रीक विद्वान् के लेख से भी भारतीयों द्वारा वानस्पतिक एवं योगौषधियों (Prepared Medicines) को

---

* बक ने अपने ग्रन्थ 'The Growth of Medicine from the Earliest Time to 1800' में आधुनिक चिकित्साशास्त्र के उद्‌गम यूनानी चिकित्साशास्त्र पर भारतीय वैद्यक के प्रभाव को बहुत कम स्वीकार किया था। लेकिन इतिहास का अधिक परिशीलन करने के बाद उसे अपने विचारों में परिवर्तन कर यह कहना पड़ा कि 'यह समझना अनुचित नहीं है कि दोनों देशों के व्यापारिक सम्बन्ध के द्वारा भारतीय वैद्यों के अनेक चिकित्सा कार्य प्राचीन यूनानियों को भी ज्ञात हुए होगें। यद्यपि अबतक इस संबन्ध में कोई पुष्ट प्रमाण तो नहीं मिलता है। दूसरी ओर इतिहास के कुछ अधिक अर्वाचीन युग में अर्थात् सिकन्दर के भारत पर आक्रमण के बाद दोनों देशों में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुआ जो कि कई सदियों तक अटूट रहा। इस युग के प्रारम्भिक हिस्से में यूनानी चिकित्सकों ने भारतीय वैद्यों द्वारा बरती जाने वाली अनेक ओषधियां और चिकित्सा की प्रक्रियाएं अपनाली थीं-ऐसा हिपोक्रिटस, डायस्कोरिडस और गेलन के लेखों से ज्ञात होता है।

(Fourth Oriental Conference Vol. II Pp. 425-426)

* न्यूबर्गर कहते हैं—इस युग की भारतीय और यूनानी चिकित्सा शास्त्रों की रूपरेखा और अनेक विवरणों में इतना अधिक साम्य है कि यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि कितनी ही बार भारतीय चिकित्साशास्त्र की मौलिकता सन्देह की दृष्टि से देखी गई और कई बार तो अस्वीकार कर दी गई। इसका विशेष कारण यह है कि महत्वपूर्ण भारतीय ग्रन्थों में से अधिकांश का कालनिर्णय बहुत मुश्किल से हो पाया था और अभी हाल में अनेक पाण्डुलिपियों के प्रकाश में आने से पहले तक वह भी सर्वथा संदिग्ध था। आधुनिक खोजों के पीछे विज्ञान और कलाओं के क्षेत्र में भारतीयों की प्रमुख सफलताओं के विषय में विद्वानों का झुकाव उनकी मौलिकता को स्वीकार करने की ओर है।

(Neuberger. History of Medicine Vol. I P. 45)

† न्यूबर्गर का कथन है कि 'भारतीयों का वैद्यकशास्त्र भले ही वह भारतीयों की अन्य विशिष्ट सफलताओं की समता न कर सकता हो तो भी लगभग उतना ही महत्वपूर्ण है। और अपनी ज्ञानसमृद्धि, गम्भीरचिन्तन एवं क्रमबद्ध विवेचन के कारण पौरस्त्य चिकित्सा शास्त्रों में उसका विशिष्ट स्थान है।

(Neuberger. History of Medicine Translated by Playfair Vol. I P. 437.)

‡ डायस्कोरिडस के समकालीन रोमन लेखक प्लिनि ने अनेक भारतीय जड़ी बूटियों और ओषधियों का उल्लेख किया है।

(Hindu Achievements in exact sciences. B. K. Sarkar P. 50-51.) और देखिये—
(Intercourse between India and the Western World P. 102 by H. G. Rawlinsno)

विक्रय के लिये ग्रीसदेश में ले जाने का उल्लेख मिलता है। ग्रीस तथा भारत के प्राचीन काल में पारस्परिक संबन्ध को तथा पक्षाघात, अम्लपित्त आदि रोगों में भारतीयों द्वारा किये जाने वाले धतूरे के प्रयोग का यूरोपवालों द्वारा भी ग्रहण किये जाने का उल्लेख करता हुआ रॉयल* (Royle) नामक विद्वान् पाश्चात्त्य देशों में भी भारतीय प्रभाव का वर्णन करता है। हैमिल्टन† नामक विद्वान् का भी मत है कि प्राचीन ग्रीक वैद्यक में भारतीय आयुर्वेद का कुछ अंशों में प्रभाव था तथा भारतीय और ग्रीक चिकित्सा प्रणाली में समानता दिखाई देती है। इस विषय में बनर्जी‡ की भी यही सम्मति है। श्रीयुत रमेशचन्द्रदत्त ने भी अपनी पुस्तक§ में ऐसा ही लिखा है। पीछे भी मंक नामक किसी भारतीय वैद्य द्वारा अरब के राजा (खलीफा) हारुन अल रशीद (A. D. 700) के राजकुल में जाकर उसके रोग को दूर करने तथा चरक के विषतन्त्र का पर्शियन भाषा में अनुवाद करने का उल्लेख मिलता है। शल्य (Saleb) नामक भी कोई भारतीय वैद्य खलीफा हारुन अल रशीद के राजकुल में था। उसने फिलस्तीन तथा वहां से मिश्र जाकर वहीं प्राणत्याग किया-ऐसा अरब के इब्न असेब नामक विद्वान् ने निर्देश(१) किया है। इस प्रकार इससे पूर्व भी बहुत से भारतीय वैद्य एवं विद्वानों के दूर २ जाने की संभावना हो सकती है।

उपर्युक्त वर्णनों के अनुसार पाथागोरस आदि के समय से समय २ पर अनेक ग्रीक विद्वानों के विद्याप्राप्ति के लिये भारत में आने, भारत तथा उसके आसपास के प्रदेशों से विद्या के ग्रहण करने, प्राचीन काल में कुछ भारतीय विद्वानों के भी ग्रीस में जाने, भारतीय विद्वानों के वहां आदर, भारत से लौटते हुए ग्रीसाधिपति अलेक्जेण्डर द्वारा अत्यन्त अनुसन्धान करके भारतीय वैद्यों को अपने देश में ले जाने, अशोक के शिलालेखों के अनुसार उसके समय भी पाश्चात्त्य देशों में भारतीय चिकित्सा विज्ञान के प्रचार के वृत्तान्त मिलने, हिपोक्रिटस के नाम से प्रसिद्ध सब ग्रन्थों के प्राचीन न होकर विद्वानों के मतानुसार पीछे से विकसित विज्ञानयुक्त लेखों के उनमें मिलने से तथा भारतीय वैद्यक में ग्रीक वैद्यक के असाधारण विषयों के न मिलने से, अपितु ग्रीक वैद्यक में भारतीय वैद्यक की छाया अनेक स्थानों पर मिलने से प्रतीत होता

---

* दमें में धतूरे के पत्तों का धूम्रपान करना यूरोप में आधुनिक बात है लेकिन भारत में यह बहुत पुराने समय से प्रचलित है (Royle) देखिये—

(Hindu achievements in exact sciences by B. K. Sarkar P. 49 Antiquity of Hindu Medicine)

† जब हम यह भी देखते हैं कि पाथागोरस ने ब्राह्मण-पद्धति को प्रचलित किया...(तब हमें मानना पड़ता है कि) प्राचीन यूनानी वैद्यक पर भारतीय वैद्यक का कुछ प्रभाव अवश्य था। भारतीय और यूनानी वैद्यक की समानताएं इतनी अधिक है कि काकतालीय न्याय से उनकी व्याख्या नहीं की जा सकती।

(W. Hamilton. History of Medicine Vol. I P. 43)

(Hellenism in Ancient India P. 196 by G. N. Banerji)

‡ ऐसा नहीं जान पड़ता कि हिन्दुओं ने अपना वैद्यक का ज्ञान अपनी किसी पड़ौसी जाति से लिया हो। यूनानी ही ऐसे थे जिनसे वे यह ज्ञान ले सकते थे लेकिन दोनों देशों की दूरी बहुत अधिक थी तथा उनके परस्पर संबन्ध भी सतत नहीं बने रहते थे साथ ही विदेश यात्रा और विदेशी सम्पर्क के प्रति हिन्दुओं की बड़ी अरुचि थी। इन सब बातों पर विचार करने से यह धारणा कि हिन्दुओं ने यूनानियों से वैद्यक ज्ञान प्राप्त किया, बहुत ही अपुष्ट आधार पर स्थापित जान पड़ती है।

(Hellenism in Ancient India P. 191 G. Banerjee)

§ यूरोप में भारतीय वैद्यक की प्राचीनता अभी तक समझी और मानी नहीं गई है। और समग्र आर्यसंस्कृति का उद्गम यूनानी संस्कृति को समझने की प्रवृत्ति निष्पक्ष विवेचन में बहुत बड़ी बाधा है। जैसा कि डा० वाइज ने ठीक ही कहा है—'वैद्यक के इतिहास संबन्धी तथ्यों का अन्वेषण अभी तक केवल यूनानी और रोमन लेखकों के ग्रन्थों में ही किया गया है, और यूनानी संस्कृति से भिन्न उद्गम से निकलने वाली प्रत्येक बात को अमान्य करने की परिपाटी के अनुकूल उन्हें आयोजित कर दिया गया है। बचपन से ही हम प्राचीन साहित्य से परिचित हैं और प्राचीन लेखकों की प्रतिभा की प्रभा से दीप्त उन घटनाओं को, जो हमारे चित्त पर अंकित हैं, स्मरण करना हमें बहुत पसन्द है। इस प्रभाव को मिटाने के लिये विषय का गम्भीर परिशीलन, नवीन प्रमाणों की जांच तथा निष्पक्षता की आवश्यकता है। ज्ञान पिपासा और सत्यप्रेम हमें नवीन ऐतिहासिक प्रमाणों का परिशीलन करने को प्रेरित करते हैं। समग्र प्राचीन संस्कृति और विशेष कर वैद्यक शास्त्र का आदि निर्माता होने का दावा यूनानी मनीषियों ने स्वयं कभी नहीं किया है जो कि परवर्ती विद्वान् उनकी ओर से कर रहे हैं।

नियर्सकस (उर्फ एरियन) ने लिखा है कि सर्पदंश की कोई चिकित्सा यूनानी चिकित्सक नहीं जानते, लेकिन भारतीय वैद्य बड़ी खूबी के साथ कर लेते हैं। एरियन ने ही कहा है कि—'अस्वस्थ होने पर यूनानी लोग ब्राह्मणों से चिकित्सा कराते हैं और वे भारतीय प्रत्येक साध्य रोग की अद्भुत और दैवीय विधि से चिकित्सा कर देते हैं।

डायसोराइसड (ईसा की पहली सदी) प्राचीन द्रव्यगुण विज्ञान का सबसे प्रमुख लेखक था। डा० रायल ने अत्यधिक खोजपूर्ण निबन्ध में दिखाया है कि डायसोराइडस पुराने भारतीय द्रव्यगुण विज्ञान का कितना ऋणी था। ई० पू० तीसरी सदी के थियोफ्रेस्टस पर भी यही बात लागू होती है। ई० पू० ५ वीं सदी के यूनानी चिकित्सक क्लासियस के लेखों में भी भारतीय द्रव्यों का विवरण मिला है। यह प्रमाण शृङ्खला वहां पूर्ण होती है जब यह सिद्ध कर दिया जाता है कि 'चिकित्साशास्त्र के पिता' कहे जाने वाले हिपोक्रिटस ने अपना द्रव्यगुण विज्ञान हिन्दुओं से प्राप्त ज्ञान के आधार पर बनाया। हम इस विषय में डा० रॉयल का अद्भुत निबन्ध पढ़ने की सम्मति पाठकों को देते हैं। रॉयल कहते हैं-'विश्व की पहली चिकित्सा प्रणाली के लिये हम हिन्दुओं के ऋणी हैं'।

(Civilisation in India Vol. II P. 249.)

(हिन्दू सभ्यता का इतिहास)

(१) इसकी टि० उपो० संस्कृत पृ० ९८ का० १ में देखें।

है कि प्राचीन काल से ही परस्पर परिचित एवं यातायात करने वाले पाथागोरस आदियों अथवा भारतीयों द्वारा ग्रीक वैद्यक को बढ़ाने के लिये न्यूनाधिकरूप में समय २ पर भारतीय वैद्यक विज्ञान वहां पहुँचाया गया हो। हिपोक्रिटस अथवा उससे भी प्राचीन वैज्ञानिकरूप में विकसित हुई ग्रीक चिकित्सा पर न्यूनाधिकरूप में मिश्र, बेबिलोनिया आदि अन्य प्राचीन देशों के विज्ञान का भी प्रभाव पड़ा है किन्तु ग्रीक चिकित्सा विज्ञान अन्य देशों की तरह साक्षात् अथवा परम्परा से भारत का भी अवश्य ऋणी है। तथा यह भी निश्चित है कि पीछे से उदित हुई ग्रीक वैज्ञानिक चिकित्सा का पूर्व प्रतिष्ठित भारतीय आयुर्वेद विज्ञान पर नाम मात्र भी प्रभाव नहीं है।

हिपोक्रिटस नामक प्रकाण्ड पण्डित ने अन्य देशों एवं प्रक्रियाओं के चिकित्सा संबन्धी विषयों का निरीक्षण करने तथा अपने विचारों एवं अनुभवों के आधार पर उनमें से उपयोगी विषयों को छांटकर चिकित्सा के विषय में अत्युत्तम निबन्ध तैयार किये थे। इसलिये उसे पाश्चात्त्य चिकित्सा का पिता (Father of Medicine) कहा जाता है। हिपोक्रिटस के ग्रन्थों में जो विषय दिये हुए हैं वे संभवतः उसी के परिष्कृत विचारों से उत्पन्न हुए तथा उसी के मस्तिष्क की उपज हों किन्तु उनमें भारतीय आयुर्वेद के विषयों से समानता रखने वाले जो शब्द, विषय तथा विचार मिलते हैं वे साक्षात् अथवा परम्परा से भारतीय प्राचीन वैद्यक के ही प्रतिफल होने चाहिये। यदि प्राचीन भारतीय आचार्यों द्वारा अन्यदेशीय प्राचीन भैषज्य सम्प्रदायों का अनुसरण किया गया होता तो उन प्राचीन आचार्यों के ग्रन्थ भी अन्यदेशीय सम्प्रदायों के अनुरूप ही होने चाहिये थे। किन्तु ऐसा नहीं है। अपितु पूर्वोक्त वर्णनों के अनुसार (पृ. ६४-६५) एक ही मूषा में रखी हुई अनेक प्रतिमाओं के समान एक ही प्रकार के ये विभिन्न निबन्ध किसी एक ही प्राचीन आयुर्वेदिक आर्षस्रोत से निकले हुए प्रतीत होते हैं। इसलिये हिपोक्रिटस द्वारा प्रवर्तित अथवा उससे प्राचीन ग्रीक वैद्यक का प्रभाव, वैदिक काल से चले आने वाले तथा ऐतिहासिक और भूगर्भ की दृष्टि से भी उससे प्राचीन काल से प्रसिद्ध भारतीय आयुर्वेद विज्ञान पर पड़ा हो-यह कहना कठिन है।

यद्यपि पांच हजार वर्ष पूर्व ज्योतिष विद्या के प्रवर्तक भी भारतीय ही थे, ऐसा पाश्चात्त्य* विद्वान् भी कहते हैं। परन्तु ग्रीस देश में ज्योतिषविद्या की उन्नति के विषय में, द्वितीय शताब्दी में होने वाले किसी यवन (ग्रीक) विद्वान् का जातक ग्रन्थ, विचारों की विशिष्टता के कारण प्रसारित हुआ भारतीयों द्वारा भी आदर की दृष्टि से संस्कृत में अनूदित किया जाकर यवनजातक नाम से भारत में यावनज्योतिष विद्या का निदर्शन कराता है। वराहमिहिर आदि बाद के ज्योतिषाचार्य भी यवनाचार्य का निर्देश करते हैं। इस प्रकार रोम का सिद्धान्त भी भारत में प्रसिद्ध हो गया। प्राचीन वैद्यक के विषय में ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता है जिससे उसे यवनों द्वारा प्राप्त कहा जा सके। यदि वैद्यक के विषय में भी ऐसा कोई प्राचीन यवनों का सम्पर्क अथवा सहयोग होता तो भारतीय शारीरशास्त्र, शल्यप्रक्रिया, कायचिकित्सा, ओषधियों अथवा अन्य भी किसी वैद्यक प्रक्रिया के विषय में यवन प्रभाव का निर्देश प्राचीन भारतीय आयुर्वेद के ग्रन्थों में अवश्य मिलना चाहिये था।

आत्रेय कश्यप आदि प्राचीन आचार्य **'बाह्लीकभिषक्' 'बाह्लीकभिषजो वा' 'बाह्लीकास्त्वपरे'** इत्यादि शब्दों द्वारा कांकायन का नामग्रहणपूर्वक तथा अन्य भी वाह्लीक देश के वैद्यों का सम्मानपूर्वक आचार्यरूप से निर्देश करते हैं। आत्रेय तथा कश्यप आदियों द्वारा भी उल्लिखित यह बाह्लीक देश ग्रीकों के आक्रमण से पूर्व बलख नाम से प्रसिद्ध इरानदेश था। उस समय उस देश में वैद्यक विद्या की उन्नति थी तथा वह भी आत्रेय आदि आचार्यों के साथ विमर्श करने वालों की श्रेणी में काङ्कायन का निर्देश होने से भारतीय वैद्यक प्रक्रिया से मिलती जुलती ही थी, उनमें साधारण विचार मात्र का ही अन्तर था। यदि सुश्रुत के व्याख्याकार के लेख को मूल (Original) रूप में माना जाय तो उसमें काङ्कायन का सुश्रुत के सतीर्थ्य (सहपाठी) के रूप में उल्लेख होने से **'बाह्लीकभिषजां वरः'** द्वारा निर्दिष्ट काङ्कायन में भी वैद्यक विज्ञान का स्रोत भारतीय ही प्रतीत होता है।

यदि भारतीय वैद्यक ग्रीक आचार्यों द्वारा प्रभावित होतो तो पक्षपात शून्य होकर अत्यन्त सम्मान के साथ विदेशी विद्वानों को भी आचार्यों की श्रेणी में रखने वाले गुणग्राही तथा कृतज्ञ कश्यप आत्रेय आदि भारतीय आचार्य इसका अवश्य उल्लेख करते।

ग्रीसदेश में शस्त्रचिकित्सा का बाद में प्रचार

यद्यपि जिस प्रकार प्राणियों की स्वास्थ्य रक्षा के लिये प्रारंभ से ही न्यूनाधिकरूप में ओषधियां विद्यमान थीं उसी प्रकार राजनैतिक संबन्ध से भिन्न २ राजाओं में प्राचीन काल से ही परस्पर संघर्ष के परिणामस्वरूप आहत (घायल) व्यक्तियों के उपचार के लिये शल्यचिकित्सा भी किसी न किसी रूप में प्राचीन काल से विद्यमान होनी चाहिये। होमर के लेख से ग्रीस में भी शल्य चिकित्सा की कुछ झलक मिलती है तथापि यह निश्चित है कि भारतीय भैषज्य विज्ञान को विदेशों में पहुंचाने वाले पाथागोरस आदि पाश्चात्त्य विद्वानों ने जिस प्रकार कायचिकित्सा (Medical Section) की प्रारम्भ में स्थापना की थी उस प्रकार वैज्ञानिक शल्यचिकित्सा (Surgical Section) की स्थापना नहीं की थी। ग्रीस में इस शल्यचिकित्सा का प्रचार कायचिकित्सा

* ज्योतिषशास्त्र के प्रवर्तक हिन्दू लोग थे। आधुनिक सभी ज्योतिषशास्त्री उनके समीक्षण की अतिप्राचीनता को स्वीकार करते हैं। कासिनी, बेली और प्लेफेयर आदि विद्वान् हमें बताते हैं कि हिन्दू ज्योतिषशास्त्रियों के ईसा से तीन हजार वर्ष पूर्व के निरीक्षण अभीतक तथा उस काल में उक्त विद्या के बीच में की गई उनकी प्रगति को सिद्ध करते हैं। भारत के प्राचीन ज्योतिषी पंचाग का निर्माण करते थे, वे ग्रहणों का निरीक्षण और उनके समय की घोषणा करते थे, उन्हें चन्द्र की कलाओं और उनके ग्रहों की गति का ज्ञान था। कोलब्रुक का मत है कि उनके अयन गति संबन्धी मन्तव्य टोलेमी की धारणा से कहीं अधिक ठीक थे।

(Short History of the Aryan Medical Science Pp. 13-14 by H. H. Bhagvat sinhaee)

के बाद समयान्तर से ही हुआ प्रतीत होता है। मिश्रदेश में वैज्ञानिक शस्त्रवैद्यक के ईस्वी पूर्व तृतीय शताब्दी में होने तथा ग्रीस देश द्वारा मिश्र से शस्त्रचिकित्सा के ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दी में ग्रहण करने का उल्लेख(१) मिलता है। हिपोक्रिटस के लेख से भी प्रतीत होता है कि उस समय उसे शिरा, धमनी, अस्थि आदि का शारीरिक (Anatomical) ज्ञान बिलकुल नहीं था।*जी. एन. बनर्जी का भी यही विचार है। ग्रोट्स नामक विद्वान् का भी कहना है कि लिटरे(२) (Littre) के मत में हिपोक्रिटस को शारीरिक हित के लिये व्यायाम आदि बाह्य ज्ञान के अतिरिक्त आन्तरिक ज्ञान विशेष नहीं था। हिपोक्रिटस के ग्रन्थों में शरीर के विषय में बहुत कम ज्ञान मिलता है और वह भी उसने मिश्र के द्वारा प्राप्त किया था–ऐसा ग्रीस के इतिहास में मिलता †है। कीथ नामक विद्वान् ‡की राय में ग्रीस में अस्थि, धमनी आदि के ज्ञान की सूचना देने वाला कोई प्राचीन लेख नहीं मिलता है। बनर्जी§ का भी कहना है कि ग्रीस में प्राचीन काल में सुश्रुत के समान कोई प्राचीन शारीरिक ग्रन्थ नहीं था।

किसी विद्वान् की ऐसी भी सम्मति है कि प्राचीन काल में भारत के काशी आदि पूर्व देशों में शस्त्रचिकित्सा तथा तक्षशिला आदि पश्चिम देशों में कायचिकित्सा का विशेष प्रचार होने से पाश्चात्य देशवाले सर्वप्रथम सन्निकृष्ट पश्चिम विभाग से कायचिकित्सा का ज्ञान ही अपने देशों में ले गये हों तथा फिर समयान्तर से धीरे २ पूर्व देशों में भी अपने प्रसार, सम्पर्क तथा परिचय आदि के होने पर बाद में वहां के शस्त्रवैद्यक के ज्ञान को भी वे अपने देश में ले गये हों। परन्तु शस्त्रचिकित्सा सम्प्रदाय के काशिराज दिवोदास द्वारा प्रारम्भ किये जाने से मुख्यरूप से काशी आदि पूर्वदेशों में ही मिलने पर भी आत्रेय भेड कश्यप आदियों द्वारा भी बहुवचनान्त 'धान्वन्तरां' आदि शब्दों से अन्य प्रस्थान के रूप में निर्देश होने से तथा अपने कायचिकित्सा प्रधान उपदेशों में भी शस्त्रचिकित्सा सम्बन्धी कुछ विषयों का निर्देश करने से प्रतीत होता है कि आत्रेय आदियों द्वारा प्रचलित कायचिकित्सा में प्रसिद्ध पश्चिम प्रदेश में भी शस्त्रचिकित्सा विज्ञान प्रचलित था तथा उस सम्प्रदाय के अनुयायी भी संख्या में बहुत थे। तक्षशिला में अध्ययन करके विशिष्ट विद्वत्ता को प्राप्त करने वाले जीवक के लिये महावग्ग आदि में शस्त्रचिकित्सा में कुशलता का उल्लेख होने से तक्षशिला में शस्त्रचिकित्सा विज्ञान की उन्नति भी स्पष्ट प्रतीत होती है। सुश्रुतसंहिता में दिवोदास के शिष्य सुश्रुत के सतीर्थ्य के रूप में अनेक देशवाले व्यक्तियों का परिचय मिलता है। उनमें से शल्य के विषय में विशेष तन्त्रों का निर्माण करने वाले चार(१) आचार्यों में पौष्कलावत का भी उल्लेख है। संभवतः यह पौष्कलावत प्राचीन गान्धार की राजधानी के रूप में ज्ञात पुष्कलावत का रहने वाला हो। हो सकता है उसका भी सम्प्रदाय तक्षशिला के आसपास के प्रदेशों में प्रचलित हो। औपगव भी पश्चिम प्रदेश का रहने वाला आचार्य था तथा बाह्लीकभिषक् काङ्कायन के समान औरभ्र भी आधुनिक भारत से बाहर, पश्चिमोत्तर प्रदेश (North western frontier Province) का रहने वाला था जिसकी कि हम आगे विवेचना करेंगे। इस प्रकार सौश्रुतसम्प्रदाय के प्रसार के निर्देश न मिलने पर भी तक्षशिला तथा गान्धार आदि के आसपास का प्रदेश पश्चिम देशों में प्रसिद्ध इन पूर्वाचार्यों के सम्प्रदायों के उल्लेख के कारण शस्त्रचिकित्सा में भी उन्नत था–ऐसा प्रतीत होता है। जातक ग्रन्थों के अनुसार जीवक के तक्षशिला में अध्ययन के समय उसके गुरु द्वारा कपालभेदन करने के उल्लेख से तथा महावग्ग के अनुसार वहां से अध्ययन करके लौटने पर जीवक द्वारा भी कपालभेदन का उल्लेख मिलने से यह कहा जा सकता है कि उस समय तक्षशिला में ऊर्ध्वजत्रुविभागीय शालाक्य विज्ञान का भी प्रचार था।

३२७ ईस्वी पूर्व में अलेक्जेण्डर के भारत से लौटकर मृत्यु होने के बाद भी ३०४ ईस्वी पूर्व में मिश्र देश के अलेक्जेण्ड्रिया नगर में उद्घाटित संग्रहालय (Museum) में हिरोफिलस (Herophilus) तथा एरासिस्ट्रेटस (Erasistratus) नामक विद्वानों ने शारीरिक ज्ञान सम्बन्धी लेखों की स्थापना की थी जिनके ईस्वी पश्चात् द्वितीय शताब्दी में होने वाले ग्यालन नामक ग्रीक विद्वान् द्वारा ढूंढने पर भी उपलब्ध नहीं होने का उल्लेख *मिलता है। ग्यालन ने भी

* इस बात का अबतक कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिला है कि हिपोक्रिटस के समय या उसके पीछे की दो सदियों में यूनानी वैद्य शवच्छेद करते थे।

(Hellenism in Ancient India G. N. Banerji P. 191.)

†. संग्रह में कई ग्रन्थ हैं जिनमें पहला 'सिर के घाव' ई. पू. ४थी सदी का है। इसकी कई मिश्री हस्तलिखित ग्रन्थों से समता है। हो सकता है कि इसका कुछ अंश मिश्री उद्गम का हो।

(E. B. Vol. XI P. 585.)

‡. यूनानी शल्यचिकित्सा के ग्रन्थों में मानव शरीर की अस्थियों की प्रारम्भिक सूची के अभाव के कारण भारत तथा यूनान के परस्पर प्राचीन संबन्ध के विषय में किन्हीं निश्चित प्रमाणों का मिलना लगभग असम्भव है।

(History of Sans. Lit. A. B. Keith P. 514.)

§. अस्थिशास्त्रीय सिद्धान्तों का कोई संक्षिप्त संग्रह प्रारम्भिक यूनानी संहिताओं में नहीं मिलता जैसा कि चरक और सुश्रुत में मिलता है।

(Hellenism in Ancient India. by G. N. Banerji P. 194.)

(२). १–२ की टि० सं० उपो० पृ० ९९ का० १–२ में देखें।

(१) इसकी टि० सं० उपो० पृ० ९९ का० २ में देखें।

* (क) सिकन्दर महान् की मृत्यु और सिकन्दरिया के वस्तु-संग्रहालय की स्थापना (३०४ ई. पू.) तक एरासिस्ट्रेटस, हेरोफिलस आदि महान् शरीररचना विज्ञान वेत्ताओं ने अपने अन्वेषणों को लिपिबद्ध नहीं किया था। ग्यालन के समय उनकी कोई कृति विद्यमान नहीं थी।

(Hellenism in Ancient India P. 192 G. N. Banerji)

(ख) हिपोक्रिटस के विषय में स्थिति चाहे कुछ भी क्यों न

मिश्र से ही शारीरविज्ञान की प्राप्ति का उल्लेख किया है तथा उसके अन्य विषयों के अनुसन्धान से प्रतीत होता है कि मिश्र देश में तृतीय शताब्दी से शारीर तथा शस्त्रचिकित्सा का विशेष ज्ञान हुआ था। ग्रीस तथा मिश्रदेश के शस्त्रवैद्यक के शस्त्रों से भारतीय शस्त्रवैद्यक के शस्त्रों (Instruments) की समानता मिलती है। जी. एन (१) मुखोपाध्याय भी कहते हैं कि ग्रीकवैद्यक के शस्त्र सुश्रुतोक्त शस्त्रों के अनुरूप थे। (२) हार्नले नामक विद्वान् की भी यही राय है। इस समानता से भारतीय शस्त्रचिकित्सा का भी ग्रीकचिकित्सा पर कुछ थोड़े बहुत अंश में प्रभाव प्रतीत होता है।

भारत में इधर उधर प्रौढ़रूप में विद्यमान अनेक विद्याओं तथा अन्य विद्याओं की अपेक्षा भी शल्य तथा कायचिकित्सा विभाग वाले भैषज्य विज्ञान की तक्षशिला आदि प्रदेशों में प्रसिद्धि को देखकर उन्हें अपने देश में पहुंचाने के लिये ग्रीस के राजा अलेक्जेण्डर महान् (Alexander the Great) द्वारा गान्धार के आचार्य पौष्कलावत तथा सुश्रुत के सम्प्रदायों से तक्षशिला, पुष्कलावत तथा गान्धार आदि प्रदेशों में उन्नत वैज्ञानिक शस्त्रचिकित्सा का भी विशेषरूप से आदर तथा ग्रहण किया गया था। उसका प्रमाण यह है कि अलेक्जेण्डर के शिविर में भारतीय चिकित्सकों की नियुक्ति तथा उन्हें अपने देश में ले जाने का इतिवृत्त मिलता है। अपने देश में विद्या की वृद्धि के लिये तक्षशिला के राजा की सहायता से विषयवासनाओं से विरक्त होकर वानप्रस्थवृत्ति को धारण करने वाले आध्यात्मिक विद्वान् कल्याण (Kalanos) को ले जाने वाला अलेक्जेण्डर बहुत से लोकोपयोगी तथा विशेषकर रात दिन संघर्ष करने वाले राजाओं द्वारा अपेक्षणीय शस्त्रचिकित्सों तथा कायचिकित्सकों को भी अपने देश में अवश्य ले गया होगा। अलेक्जेण्डर के इतिवृत्त में भी इसका उल्लेख मिलता है तथा ईस्वी पूर्व ३२७ में भारत में पहुंचकर अलेक्जेण्डर के लौटते हुए मृत्यु के उपरान्त अलेक्जेण्ड्रिया में उद्घाटित वैज्ञानिक शस्त्रचिकित्सा के प्रदर्शन में भी दिखाई देने वाला भारतीय प्रभाव इसी बात को प्रकट करता है।

ईरान देश में मिश्रदेश के चिकित्सकों द्वारा प्रथम डेरियस नामक राजा की चिकित्सा के वृत्तान्त के मिलने से मिश्रदेश में ईस्वी पूर्व तृतीय शताब्दी से पूर्व भी शस्त्रचिकित्सा के होने की यद्यपि प्रतीति होती है तथापि उसमें उनकी असफलता के भी वृत्तान्त मिलने से उस शस्त्रचिकित्सा की अवस्था भी प्रकट होती है। मिश्र में प्राचीन काल में शारीरिक विज्ञान का उदाहरण नहीं मिलता है। और यदि मिलता भी है तो उसपर भारतीय प्रभाव था जिसका कि हम आगे वर्णन करेंगे।

ग्रीसदेश में उपलब्ध प्राचीन मूर्तियों में मांसपेशियों के यथावत् चित्रण के दर्शन से भी यह नहीं कहा जा सकता कि उन्हें प्राचीन काल में विशेष शारीरिक ज्ञान था। मूर्तियों में मांसपेशियों का चित्रण तो भारत, सुमेरिया, बेबिलोनिया आदि देशों में भी प्राचीन काल से ही मिलता है। मूर्तियों में बाह्यपेशियों के चित्रण में अच्छाई या बुराई से तो केवल चित्रकला की कुशलता अथवा अकुशलता का ही परिचय मिलता है। इसमें किसी का मतभेद नहीं है कि आन्तरिक शारीरिक अवयवों का ज्ञान होने पर भी चित्रकला में उसे बढ़ाकर दिखाया जा सकता है। परन्तु चित्र में यथावत् अङ्कन के दर्शनमात्र से आन्तरिक शारीरिक अवयवों के विशेषज्ञान की कल्पना नहीं की जासकती। वास्तव में शस्त्रवैद्यक के लिये उपयोगी शारीरिक ज्ञान तो आन्तरिक, सूक्ष्म एवं बहुत विषयों से युक्त भिन्न ही वस्तु है। आजकल भी बहुत से ऐसे व्यक्ति मिल सकते हैं जो चित्रकला में निष्णात होते हुए भी आन्तरिक शारीरिक ज्ञान से शून्य हैं तथा आन्तरिक शारीरिक ज्ञान में पूर्ण होते हुए भी चित्रकला में एकदम कोरे होते हैं। इसप्रकार बाह्य एवं आन्तरिक ज्ञान बिलकुल भिन्न २ वस्तुएं हैं। इसलिये एक विषय में ज्ञान होने से दूसरे विषय में ज्ञान होना आवश्यक नहीं है। भारत में साकेत (अयोध्या) तक पहुंचकर बाद में बौद्ध धर्म ग्रहण करने वाले ग्रीस देश के मिलाण्डर (Melander) के वृत्तान्त संबन्धी मिलिन्द प्रश्न नामक बौद्ध पाली ग्रन्थ में ग्रीस के राजा मिलाण्डर के प्रति उपदेश तथा धन्वन्तरि* आदि के उल्लेख का पहले ही वर्णन किया जा चुका है। उसमें लिखा है कि बाण† द्वारा विद्ध व्रण में मांस की विकृति से त्रिदोष की वृद्धि होकर ज्वर आदि हो जाने पर शस्त्रचिकित्सक व्रण को शस्त्र से ठीक करके, क्षार आदि द्वारा शोधन करके तथा लेपों से शोथ को हटाकर उपचार करते हैं। ऐसा करने में वे कोई पाप नहीं करते हैं अपितु इसमें लोकोपकार की ही भावना होती है। उपर्युक्त दृष्टान्त से उसमें व्रणोपचार, शस्त्रचालन तथा व्रणबन्ध आदि में उसके सूक्ष्म विचारों तथा स्थान २ पर विरेचन, रोगोत्पत्ति, निदान, औषधप्रयोग आदि बहुत से वैद्यक विषयों का उल्लेख मिलता है।

रही हो, लेकिन इतना तो असंदिग्ध है कि ई. पू. तीसरी सदी में हिरोफिलस और एरासिस्ट्रटस के सिकन्दरिया के प्रतिष्ठानों में शवच्छेद प्रचलित था।

(History of Sans. Lit. P. 514-A. B. Keith.)

(१) १-२ की द्वि. सं० उपो. पृ. १०० का० १ में देखें।

---

* नारद, धन्वन्तरि, अंगिरा और कपिल आदि विद्वान् रोगों की सम्प्राप्ति, कारण, स्वरूप, प्रगति और उपचार आदि को भली प्रकार जानते थे। इनमें से प्रत्येक ने अपनी २ संहिताएं (ग्रन्थ) लिखी हैं।

मिलिन्द प्रश्न

(T. W. Rhys Davids द्वारा सम्पादित Vol XXXVI)

† कल्पना करो कि एक व्रण की चिकित्सा करते हुए...... एक अनुभवी वैद्य और शल्यचिकित्सक तेज गन्ध वाली और काटने वाली खुरदरी मल्हम का लेप कर देते हैं और उससे व्रण की शोथ दूर हो जाती है........। कल्पना करो कि वे उसे नश्तर से चीर देते हैं और कास्टिक से जला देते हैं। इसके बाद वे उसे किसी क्षारीय द्रव से धुलवाकर एक लेप लगा देते हैं जिससे अन्त में घाव भर जाता है और वह व्यक्ति स्वस्थ हो जाता है। अब हे राजन्! बतलाओ, क्या चिकित्सक ने मल्हम का लेप, नश्तर से चीर-फाड़, कास्टिक स्पर्श और क्षारीय जल से प्रक्षालन-यह सब हिंसा से प्रेरित होकर किया था।

(The Questions of King Milinda)

(Translated by T. W. Rhys Davids Vol. XXXV.)

हार्नले * (Hoernle) के अनुसार ईस्वी पूर्व ६०० से पूर्व भी भारतीय चिकित्सा विज्ञान के अत्यन्त उन्नत होने, शस्त्रचिकित्सा, अस्थि आदियों का ज्ञान तथा शारीरज्ञान के होने, प्राचीन भारतीय वैद्यक ग्रन्थों में शरीर विज्ञान के विशेष विवरण को देखकर सबके विस्मय, हिपोक्रिटस के सम्प्रदाय में शवच्छेदन विद्या (Dissection) के न मिलने, टेरियस का भारत में आगमन, भारतीय शारीर विज्ञान के ग्रीसदेश के शारीर विज्ञान के मूल होने के खण्डन न हो सकने इत्यादि बहुत से भारतीय वैद्यक के गौरव के उल्लेख मिलते हैं।

इसी प्रकार डायज † (Diag), डा. हर्श्चबर्ग (Dr. Hirschberg) डा. हुइलेट (Dr. Huillet) डा. वाइज (Dr. Wise) तथा विट्नी (Whitney) आदि विद्वान् भी इसीका समर्थन करते हैं।

* हम यह मानलें कि हिपोक्रिटस के समय शवच्छेद के प्रचलन का कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता है और हम यह जानते ही हैं कि लगभग ई. पू. ४०० में टेरियस भारत आया था। तब इस बात का प्रत्याख्यान सुगमता से नहीं किया जा सकता कि यूनानियों का शरीररचना विज्ञान भारतीय शरीररचना विज्ञान पर अवलम्बित है।

भारतीय ग्रन्थों में निहित शरीररचना शास्त्रीय जानकारी को प्रकाश में लाया जाय तो शायद बहुतों को बड़ा आश्चर्य होगा, मुझे भी ऐसा ही हुआ था। उसका विस्तार और सन्दर्भशुद्धि आश्चर्यजनक है। आवश्यकता इस बात की है कि उन पर विचार करते हुए ध्यान में रखा जाये कि वे बहुत प्राचीन (सम्भवतः ई. पू. ६ठी सदी) है और परिभाषा करने की उनकी अपनी ही शैली है।

(Medicine of Ancient India P. III Vol I by Hoernle)

† कोनिसबर्ग विश्वविद्यालय के उपाध्याय डायज ने यूनानी चिकित्सा प्रणाली में से भारतीय सिद्धान्तों को स्पष्ट ढूंढ निकाला है।

बर्लिन के डा. हर्श्चबर्ग कहते है कि भारतीय विद्वानों के कौशलपूर्ण विधियों का ज्ञान हो जाने से यूरोप की सम्पूर्ण प्लास्टिक सर्जरी पर नवीन प्रकाश पड़ता है। संज्ञायुक्त त्वचा के एक हिस्से को दूसरे स्थान पर लगाने (Skin grafting) की विधि भी पूर्णरूप से भारतीय है। यही उपर्युक्त लेखक मोतियाबिन्द के आपरेशन के अन्वेषण का यश भी भारतीयों को ही देता है। इसका यूनानी, इरानी अथवा अन्य किसी भी देश वालों को बिलकुल ज्ञान नहीं था।

कई शारीरिक शल्यक्रियाओं के विषय में उन्होंने अपने एक विद्वत्तापूर्ण निबन्ध में लिखा है कि भारतीयों को शल्यक्रिया का अच्छा ज्ञान था और वे प्रवीणता से यह कार्य करते थे। यूनानी चिकित्सक इन क्रियाओं से सर्वथा अनभिज्ञ थे। इस सदी के प्रारंभ में हमने भी उनकी जानकारी पाकर बड़ा विस्मय प्रकट किया।

(पृ. १७८-१९३)

पांण्डीचेरी के डा. ह्यूलेट हमें विश्वास दिलाते हैं कि धन्वन्तरि को-जो कि हिपोक्रिटस से पूर्ववर्ती थे (Vaccination) का ज्ञान था।

डा. वाइज का कथन है—कि हिन्दुओं को शरीररचना शास्त्र और शरीरक्रियाविज्ञान का ज्ञान था। हिन्दू तत्ववेत्ताओं (दार्शनिकों) को इस बात का श्रेय है कि उन्होंने मृत शरीर की जीवित शरीर के लिये उपयोगिता स्वीकार की, हालांकि उन्हें इस विषय में कदम २ पर पूर्वग्राहियों का विरोध सहना पड़ा। हिन्दू ही वैद्यकशास्त्र की सबसे महत्वपूर्ण शाखा-शरीर रचना विज्ञान के सर्वप्रथम वैज्ञानिक ज्ञाता और प्रतिपादक थे। (पृ० १७९) आंख की तथा प्रसवसंबन्धी अन्य शल्यक्रियायें भारत में मुद्दत तक की जाती रही हैं और हमारे आधुनिक शल्यचिकित्सक हिन्दुओं से ही नाक की प्लास्टिक शल्यक्रिया जान सके हैं।

ह्विटनी कहता है—'यद्यपि ओषधियों और उसके साथ विनियुक्त मन्त्रों के पाठ के रूप में आयुर्वेद का मूल वेदों में मिलता है तो भी वह (आयुर्वेद) बहुत कम महत्व की चीज है और उसका वाङ्मय (साहित्य) बहुत पीछे का है।

(Introduction to Whitney's Sanskrit Grammer P. XXII)

प्राचीन मिश्र में चिकित्सा विज्ञान

प्राचीन ग्रीस देश के तथा अन्य विद्वानों के लेखों का अनुसन्धान करने पर ग्रीसवैद्यक का मूल स्रोत मुख्यरूप से मिश्र प्रतीत होता है। ग्रीस में वैज्ञानिक चिकित्सा के प्रारंभ होने से पूर्व ही मिश्र में वैज्ञानिक चिकित्सा की प्रतिष्ठा हुई थी। देशों की समीपता से भी यह बात सङ्गत प्रतीत होती है। इस प्रकार ग्रीस में मिश्र के भैषज्य विज्ञान रूपी बीजों के नये अङ्कुर प्रादुर्भूत हुए प्रतीत होते हैं। मिश्र का भैषज्य विज्ञान भी किसी दूसरे देश के विज्ञान से अनुप्राणित हुआ है अथवा अपने ही देश में स्वयमेव ही प्रादुर्भूत होकर प्रतिष्ठित हुआ है, इसका निश्चय करने के लिये बहुत से प्रमाणों की आवश्यकता है। अशोक के शिलालेख से उस समय (B. C. 273-233) भारत से मिश्र में भी भैषज्य संस्थाओं तथा चिकित्सकों के जाने का स्पष्ट उल्लेख मिलने से तथा भारत से विद्वानों तथा वैद्यों को आदरपूर्वक अपने देश में लेजाने वाले अलेक्जेण्डर की मृत्यु के बाद (B. C. 323) उदित हुए भैषज्य विज्ञान में अनेक स्थानों पर भारतीय छाया का सम्पर्क दिखाई देने से प्रतीत होता है कि उस समय तक मिश्र में भी भारतीय चिकित्सा विज्ञान का प्रभाव था। भाण्डारकर की अशोक(१) नामक पुस्तक के अनुसार एपीफेनिस (Epiphanius) ने वर्णन किया है कि अशोक के शिलालेख में भी निर्दिष्ट मिश्र के तुरमय (Ptolemy Philadelphos) नामक राजा ने अलेक्जेण्ड्रिया के प्रसिद्ध पुस्तकालय की स्थापना अथवा उसकी वृद्धि की थी तथा उस पुस्तकालय का अध्यक्ष बहुत से भारतीय ग्रन्थों के अनुवाद के लिये उत्सुक था। इरान तथा ग्रीस के ईस्वी पूर्व ४७९ में हुए युद्ध में प्लेटिया के रणक्षेत्र में ग्रीस के सैनिकों के साथ पूर्व निर्दिष्ट (पृ. ७८) भारतीय सेना के संघर्ष का अनुसन्धान(२) करने पर इतना तो स्पष्ट ही है कि इरान का भारत के साथ घनिष्ठ मैत्री संबन्ध था। अभियातव्य (जिस पर आक्रमण किया जाय) ग्रीस को भारत तथा अभ्यायात (आक्रमण करने वाले) भारतीयों को

(१) १-२ की टि० सं० उपो. पृ. १०२ का. १ में देखें।

ग्रीस द्वारा अवश्य जानने के कारण यह कहा जा सकता है कि हिपोक्रिटस से पूर्व भी ग्रीस तथा भारत का परस्पर परिचय अवश्य था। उस युद्ध में भारतीयों के समान मिश्र देश वालों के भी सहभाव का वृत्तान्त मिलने से मिश्र तथा भारत के भी परस्पर परिचय की संभावना हो सकती है। महाभारत तथा कौटिल्य के अनुसार युद्ध करने की इच्छा से दूसरे देशों में जाने वाली भारतीय सेना के साथ भारतीय वैद्यों को भी साथ अवश्य होना चाहिये। उस समय न केवल ग्रीसदेश वालों द्वारा अपितु सहयोगी मिश्रदेश वालों द्वारा भी भारतीय वैद्यों के साथ परिचय का अनुमान किया जाता है। परन्तु उससे पूर्व मिश्र देश की चिकित्सा स्वयमेव उन्नत हुई थी अथवा दूसरे देशों के सहारे से इसका निर्णय करने की आवश्यकता है।

मिश्रगत प्राचीन भैषज्य विज्ञान के स्वरूप के विषय में अनुसन्धान करने पर प्राचीन भैषज्य विज्ञान के चिह्नस्वरूप एबिरस पेपिरस (Ebers-Papyrus) नाम से प्रसिद्ध त्वक्पत्र उपलब्ध हुए हैं। जिनमें से काहुन पेपिरस का समय प्रायः ईस्वी पूर्व १८५०, एडविन स्मिथ द्वारा उपलब्ध त्वक्पत्रों का समय प्रायः ईस्वी पूर्व १६०० तथा एबिरस पेपिरस का समय प्रायः ईस्वी पूर्व १००० वर्ष पूर्व माना जाता है। परन्तु इन समयों के विषय में विद्वानों में मतभेद होने से थोड़ा बहुत अन्तर भी हो सकता है। विद्वान्(१) लोगों का कहना है कि काहुन पेपिरस पत्र में विरेचन आदि के विषय, रोग परिज्ञान, प्रतिकार, उपयोग में आने वाली ओषधियों तथा रोगचिकित्सा प्रक्रिया और एबिरस पेपिरस पत्र में सर्पदंश से लेकर क्षयपर्यन्त १७० अथवा अन्य मत से ७०० रोगों का निर्देश किया गया है। विलडूराण्ट (Will Durant) नामक विद्वान् का यह भी कहना है कि 'उनमें कुछ रोग प्रतीकारव्यवस्था पत्र भी प्राप्त हुए हैं जिनमें किसी में पल्लीरुधिर (Lizard-छिपकली-गुहेरे आदि का रक्त) सूअर के कान, दान्त, मांस तथा मेदा, कछुए के मस्तिष्क, सोई हुई स्त्री का दूध, ब्रह्मचारिणी स्त्री का मूत्र तथा मनुष्य गदहा, कुत्ता, सिंह, मर्जार तथा यूका (जूं) के शुक्र आदियों का औषधरूप में निर्देश किया गया है। कुछ रोगों में मान्त्रिक प्रक्रिया का भी निर्देश मिलता है। वे लोग प्रायः मन्त्रप्रयोगों में विश्वास करते थे। बारहवें वंश के राजा के भूमि से निकले हुए शव के साथ चषक (Vases-पात्र) छोटी कड़छियां (Spoons), शुष्क ओषधियां तथा मूल ओषधियां भी उपलब्ध हुई हैं। इस वर्णन से प्रतीत होता है कि मिश्र में प्राचीन काल में भी चिकित्सा की ओर रुचि थी। मिश्र में भैषज्य विद्या संबन्धी लेख त्वक्पत्र (पेपरी) रूप(२) से मन्दिरों में रखे हुए हैं। राजकुल में भी भैषज्यरूप में मन्त्रप्रयोग तथा उसकी प्रतिष्ठा थी। कुछ लोग कहते हैं कि एबिरस पेपिरस नामक पत्र में मनुष्यों तथा देवताओं के आरोग्य को करने वाले के रूप में 'रा'(३) नामक देवता का निर्देश मिलता है। उनका यह 'रा' देवता भारत के 'रवि' के समान प्रतीत होता है।

(१) १-३ तक की सं० उपो० पृ० १०२ का० २ में देखें।

असीरिया तथा बेबिलोनिया में प्राचीन काल में भैषज्य विषयक ज्ञान

असीरिया तथा बेबिलोनिया में भी प्राचीन भैषज्यसंबन्धी विषय का वर्णन पहले (पृ० ७६ में) किया जाचुका है। बेबिलोनिया के हेमूर्बन् (Hammurabi B. C. 1900 तथा अन्य मतानुसार B. C. 2500) नामक प्राचीन राजा के समय के तेरह लेखों के उपलब्ध होने का वृत्तान्त मिलता है। जिनमें व्रण आदियों की ठीक प्रकार से चिकित्सा करने वालों को पारितोषिक तथा शस्त्रचिकित्सा में विपरीत (Wrong) कार्य करने वालों को दण्ड इत्यादि देने का वर्णन मिलता है। मनु(१) आदि ने भी मिथ्या उपचार करने वालों को दण्ड की व्यवस्था की है। हेमूर्बन् राजा के समय का पूर्ण वृत्तान्त न मिलने से केवल इतने से उस समय की परिस्थिति का सम्यक् ज्ञान नहीं होता है। उसके बाद असुरवनिपाल(२) नामक राजा के समय भैषज्य विद्या में कुछ उन्नति प्रतीत होती है जिससे पूर्व प्रचलित मान्त्रिक उपचारों में कुछ शिथिलता दिखाई देती है। परन्तु उस समय भी मान्त्रिक प्रक्रिया द्वारा उपचार विद्यमान अवश्य था। कुछ विद्वानों का विचार है कि भैषज्य के विषय में मिश्र का प्राचीन(३) स्रोत बेबिलोनिया प्रतीत होता है।

मिश्र, बेबिलोनिया, चीन, इरान आदि देशों में भारतीय शब्दों का सादृश्य

मिश्र, बेबिलोनिया, असीरिया, चाल्डिया तथा सुमेरिया आदि प्राचीन देशों की सभ्यता का अनुसन्धान करने पर उनमें भारतीय शब्द एवं विषयों की समान छाया वाले शब्द तथा विषयों के स्थान २ पर मिलने से तथा इक्ष्वाकु आदि प्राचीन भारतीय राजाओं के नामों के सुमेरिया देश के राजाओं में मिलने से इनमें समान सभ्यता का प्राचीन संबन्ध प्रतीत होता है तथा कहीं २ भैषज्य संबन्धी विषय तथा शब्दों की भी समानता मिलती है जिनका कि पहले भी (पृ० ७३-८२ में) निर्देश किया जाचुका है। इसके अतिरिक्त निम्न शब्दों में भी सादृश्य(४) मिलता है—

भारत	मिश्र	भारत	बेबिलोनिया
सूर्य (हरि)	होरस	अहि	ई
ईश्वर	ओसिरीस	सत्यव्रत	हसिसद्र
ईश्वरी	ईसिस्	अहिहन्	ईहन्
शिव	सेव	दहन	दगनु
शक्ति	सेखेत	चन्द्र	सिन
प्रकृति	पख्त	वायु	विन
श्वेत	सेत	मरुत्	मतु, मतु
मातृ	मैतेर	दिनेश	दियानिसु
सूर्यवंशी	सूरियस	माण्डिक	मडूक
क्षत्रिय	खेत	अप्	अप्सु
अत्रि	अत्तिस्	तमस्	त्यामत्
मित्र	मिश्र	पुरोहित	पटेसिस
शरद्	सरदी	श्रेष्ठि	सेठ
रवि	रा	तैमात	तियामत्

(१) १-४ तक की टि० सं० उपो० पृ० १०२ का० २ और पृ. १०३ का० १ में देखें।

भारत(१) के समान मिश्र में लिङ्गपूजन तथा बैल का आदर और बेबिलोनिया में पृथ्वी की पूजा इत्यादि बहुत से समान सभ्यता के संबन्ध मिलते हैं।

इरान के प्राचीन मूलग्रन्थ जेन्दावस्ता के चार भागों में एक भाग वेन्दिदाद नामक है, उसमें भैषज्यसंबन्धी विषय दिये हुए हैं। उसमें सामा वंशोत्पन्न थ्रित नाम का वैद्य सर्वप्रथम था। उसने रोगनिवृत्ति के लिये अपने अहुरोमज्दा नामक देवता की प्रार्थना करके सोम (चन्द्रमा) के साथ २ वृद्धि को प्राप्त होने वाली दस हजार ओषधियों को प्राप्त किया। हओम (सोम) वनस्पतियों का राजा था। उस थ्रित नामक वैद्य द्वारा क्षथ्रवैर्य तथा सहरवर से रोग निवृत्ति के उपायों को जानकर तथा शस्त्रचिकित्साविज्ञान को प्राप्त करके ज्वर, कास, शिरोरोग, क्षय आदि रोगों को दूर करने के वृत्तान्त तथा ओषधियों के निर्माण के पण्डित, सुशील तथा रोगियों को प्रसन्न करने वाले वैद्यों से भवितव्यता इत्यादि की शिक्षा को ग्रहण करने के वृत्तान्त मिलते(२) हैं। जेन्दावस्ता तथा वैदिकसाहित्य की आलोचना करने पर ज्ञात होता है कि दोनों के देवताओं के विषय में शब्दों का सादृश्य केवल देवताओं के नामों के विषय में ही नहीं है अपितु उनमें आई हुई गाथाओं के अनुवाद से प्रतीत होता है कि उनमें संस्कृत शब्दों की भी बहुत सी समानताएं मिलती हैं। भारत के प्राचीन सम्प्रदाय की तरह यहां भी अग्नि की उपासना, होम, इष्टि, याग, आदि बहुत से विषय मिलते हैं जिनका पहले (पृ० ७८) वर्णन किया जा चुका है। हओम शब्द वाले सोम की प्रशंसा, उसका ओषधियों का राजा होना यथा यज्ञ में उपयोग आदि बहुत से विषय इसमें मिलते हैं। जेन्द तथा संस्कृत भाषा में निम्न समान शब्द(३) मिलते हैं—

संस्कृत	जेन्द	संस्कृत	जेन्द
सरस्वती	हरह्वयति	असुर	अहुर
सप्तसिन्धु	हप्तहिन्दु	देव	दैव
सोम	हओम	विश्वेदेव	विश्वोदैव
नासत्य	नाहत्य	नराशंस	नैर्योसंघ
अर्यमन्	एर्यमन्	वायु	वयु
विवस्वत्	विवङ्ध्वत्	वृत्रहा	वेरेत्रघ्न
काव्यउशनस्	कवउस	दानव	दानव
अध्वर्यु	रथ्वी	इष्टि	इश्ति
आहुति	आजू इति	होता	जओता
बर्हिः	वरेस्मन्	आप्री	आफ्री
गाथा	गाथा	पशु	पशु
अथर्वन्	अथ्रवन्	अहि	अजि
यज्ञ	यस्न	अपांनपात्	अपंनपात्

इत्यादि बहुत से शब्द समान रूप एवं समान छाया वाले मिलते हैं। इस विषय में (Gatha by J. M. Chatterji & Yasna by L. Mills) में विशेष निरूपण किया गया है। वेदों के समान अवेस्ता में भी ३३ प्रधान देवताओं की गणना की गई है। उपर्युक्त वर्णनों से प्रतीत होता है कि प्राचीन इरान तथा भारत के सम्बन्ध मिश्र, असीरिया, बेबिलोनिया आदि देशों की अपेक्षा भी घनिष्ठ थे।

(१) १–३ की टि० सं० उपो० पृ० १०३, का० १–२ में देखें।

चीन देश में भी प्राचीन भैषज्य के विषय में पहले (पृ. ७७) निर्देश किया जा चुका है। उस देश के सब से प्राचीन भैषज्य ग्रन्थ का समय ईस्वी पूर्व २५९७ बतलाया(१) गया है। चीन देश में भारतीय बौद्ध धर्म के प्रभाव, बौद्ध धर्म का प्रचार करने वाले भारतीयों का वहां जाना, भारतीय ग्रन्थों का वहां प्राचीन काल से प्रचार, महाभारत तथा प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में चीन देश के चीनांशुक (रेशम–Silk) आदि का वर्णन, तन्त्रग्रन्थों में चीनी आचार (सभ्यता) का निर्देश, कौटिलीय अर्थशास्त्र में चीन देश से आई हुई वस्तुओं पर शुल्कव्यवस्था (Duty) का निर्देश इत्यादि बहुत से पारस्परिक व्यवहार के साधनों के मिलने से, वैदिक काल में चीन देश का किस नाम से व्यवहार होता था इसका ज्ञान न होने पर भी यह स्पष्ट है कि चीन नाम वाले देश का भारत से तथा भारत का चीन से परस्पर परिचय, यातायात तथा वाणिज्य संबन्ध प्राचीन काल से ही था। काश्यपसंहिता में भी चीन देश का उल्लेख मिलता है। चीन तथा भारत के रास्ते में काराशर नामक स्थान पर वर्तमान प्राचीन कूच भाषा में भी भारतीय औषध वाचक शब्दों की समानता के मिलने का पहले (पृ. ७८) वर्णन किया जा चुका है।

प्राचीन भारत का अन्य देशों के साथ संबन्ध

उपर्युक्त वर्णन के अनुसार असीरिया, बेबिलोनिया, मेसोपोटेमिया, मिश्र आदि प्राचीन उन्नत देशों और शाखा-प्रशाखारूप में वर्तमान पाश्चात्य जातियों में, यहां तक की अमेरिका गत रेड इण्डियन (Red Indians) और चीन आदि दूर देशों में भी आजतक मिलने वाली वस्तुओं में भारतीय ग्रन्थ, भूगर्भ से मिले हुए विषय, आचार-व्यवहार तथा आयुर्वेदीय भैषज्य विद्या की समानता दिखाई देती है। जिस प्रकार आथर्वण सम्प्रदाय में प्रायः भूतप्रक्रिया एवं मान्त्रिक प्रक्रिया से युक्त चिकित्सा मिलती है उसी प्रकार का चिकित्सा सम्प्रदाय प्रायः सभी प्राचीन देशों तथा जातियों में मिलता है। सब देशों में इस प्रकार की असाधारण समानताएं केवल काकतालीय* न्याय से ही नहीं हो सकती हैं। इस प्रकार प्राचीन भारत तथा अन्य प्राचीन देशों में बहुत से स्थानों पर मिलने वाली समानताएं परस्पर साक्षात् अथवा परम्परा से (Direct or Indirect) उनके परिचय, सम्पर्क तथा व्यवहार को सूचित करती है।

* कोई बात जब एकदम अचानक (Purely accidental occurance) हो जाय तब उपर्युक्त कहावत प्रयुक्त होती है। जैसे एक कौवा अचानक आ जाता है और उसी समय ताल का फल भी अचानक ही उसके सिर पर गिर पड़ता है। दोनों घटनाएं अपने आप में बिलकुल सहसा हुई हैं। **(काकस्यागमनं यादृच्छिकं तालस्य पतनं च। तेन तालेन पतता काकस्य वधः कृतः। एवमेव देवदत्तस्य तत्रागमनं दस्यूनां चोपनिपातः। तैश्च तस्य वधः कृतः। तत्र यो देवदत्तस्य दस्यूनां च समागमः स काकतालसमागमसदृशः)**—अनुवादक

(१) इसकी टि० सं० उपो० पृ० १०४, का० १ में देखें।

प्राचीन भारत का प्राचीन काल से ही अन्य देशों के साथ सम्बन्ध होने का अनेक विद्वानों(१) ने उल्लेख किया है। मिश्र तथा उसके समीप के अन्य स्थानों में भी भारत के वाणिज्य संबन्ध के होने का तत्कालीन (A. D. 100) मिश्र देश के परिप्लस(२) (Periplus) नामक विद्वान् ने भी उल्लेख किया है। सर विलियम जोन्स (Sir William Jones), मेजर विल्फोर्ड (Major Wilford), लुइस् ज्याकोलिओट् (Louis Jacolliot) आदि* विद्वानों ने भी प्रतिपादन किया है कि मिश्र में सभ्यता, कला तथा स्मृति आदि का ज्ञान भारत से ही गया था।

'पाश्चात्य विद्वान् आधे मन से स्वीकार करते हैं कि भारतीय भैषज्य विद्या का प्रभाव ग्रीस देश की चिकित्सा पर पड़ा है। मिश्र, पर्शिया तथा अरब द्वारा भारतीय चिकित्सा विज्ञान ग्रीस में पहुंचा है तथा इन देश वालों ने भी इसे भारत से प्राप्त किया है' इसप्रकार अपना मत प्रकट करते हुए जे. जे. † मोदी ने वाइज़ नामक विद्वान् का मत दिया है कि 'सब देशों की चिकित्सा पद्धतियों का मूल एक ही है। पाथागोरस अथवा हिपोक्रिटस के पूर्वजों ने ग्रीस-देश में जिस चिकित्सा विज्ञान का सर्वप्रथम ग्रहण किया था वह मिश्र देश के विद्वानों की सहायता से ही प्राप्त किया था तथा मिश्र वालों ने भी इसे रहस्यपूर्ण पूर्व देश से प्राप्त किया था'। इस विषय में मोनियर विलियम्स * (M. Monier Weillams) नामक विद्वान् का भी कहना है कि प्राचीन यूरोप के राष्ट्रों की उन्नति से पूर्व ही भारत ने ज्योतिष, गणित, विज्ञान तथा भैषज्य आदि विद्याओं में उन्नति करली थी। सभ्यता तथा ज्ञान के तत्त्व का प्रारम्भ पूर्वदेश में हुआ था तथा वहीं से ही वह पश्चिम दिशा में फैला था। इसके विपरीत वह पश्चिम से पूर्वदेशों में नहीं फैला है।

प्राचीन समय में सिन्धु नदी के पार के देशों को भी सम्मिलित करके तात्कालिक केन्द्र तक्षशिला(१) तथा शरावती आदि के आसपास के देशों से पूर्व में आसाम तथा उत्तर में चोल आदि-देशों तक एकात्म्य रूप से अत्यन्त प्राचीन काल से प्रतिष्ठित भारत के पश्चिम में स्थित मिश्र आदि पड़ोसी देशों से परस्पर यातायात, सम्पर्क तथा परिचय आदि के न होने में कौनसी बड़ी भारी दूरी बाधक थी?

वैदिक काल में भुज्यु आदि के अन्य द्वीपों में जाने, पिता द्वारा देश से निकाल दिये गये अनुद्रुह्यु तथा तुर्वसु के अन्य द्वीपों में जाकर नये वंश का प्रवर्तन तथा पाण्डवों द्वारा दूर २ देशों में भी विजय आदियों के वृत्तान्त के मिलने से भारतीयों का अन्य देशों में आवागमन प्रतीत होता है। ऋग्वेद आदियों में भी सामुद्रिक नावों का उल्लेख तथा प्राचीन ग्रन्थों में भी सामुद्रिक व्यापारियों की शुल्क-व्यवस्था का उल्लेख मिलता है। वेद में अन्य देशों में जाने वाले एक पृथक् श्रेणी के रूप में विद्यमान व्यापारियों का 'पणि' नाम से निर्देश मिलता है। ए० सी० दास(२) का कहना है कि इन्हीं व्यापारियों ने ही पश्चिम एशिया, ग्रीस, मिश्र तथा सेमेटिक प्रदेशों में भारतीय प्रभाव डाला है। महाजनक तथा शङ्ख(३) नामक जातकों में भी भारतीय व्यापारियों के सिंहल, बेबिलोनिया, तथा सुवर्णभूमि (दक्षिण पूर्व एशिया) आदि प्रदेशों में जाने का उल्लेख मिलता है। कालिदास ने भी रघु को लक्ष्य करके पारसीक(४) देश (पार्शिया) तक स्थल मार्ग से जाने का उल्लेख किया है। बाद में भी चीन से खोतान घाटी के रास्ते स्थलमार्ग से

---

* सर विलियम जोन्स ने रायल एशियाटिक सोसाइटी की रिपोर्ट में यह विश्वास व्यक्त किया है कि मिश्र बहुत प्राचीन काल में भारतीय आर्यों का उपनिवेश था। मेजर विल्फोर्ड सरीखे लेखकों का मत था कि पुराणों का 'मिश्रस्थान' मिश्र से भिन्न नहीं था। दूसरी ओर इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिला है कि मिश्रवासियों ने भारत का प्रवास किया हो। इस प्रकार के प्रमाणों से कई यूरोपीय लेखकों ने जिनमें लुइस् जेकोलियट् प्रधान हैं—यह स्थापना की है कि मिश्र ने यूनान को सभ्यता का पाठ पढ़ाया और यूनानियों से रोम को सभ्यता का दान मिला। मिश्रने अपनी कला, संस्कृति और विज्ञान भारत से प्राप्त किया। मिश्र की चिकित्सा प्रणाली में ऐसा कोई तत्त्व नहीं है जो आयुर्वेद में न हो लेकिन इसके विपरीत आयुर्वेद में जो कुछ है उसका बहुत बड़ा अंश मिश्र की चिकित्सा प्रणाली में नहीं है।

(Short History of Aryan Medical Science P. 194-195)

† ऐसा प्रतीत होता है कि यूनानी ओषधियों पर भारतीय ओषधियों के प्रभाव को आधे दिल से स्वीकार किया गया है तथा यह स्वीकार करते हुए वह मिश्र, इरान तथा अरब के माध्यम से यूनानी चिकित्सा पर भारत के अप्रत्यक्ष (Indirect) प्रभाव को भूल गया प्रतीत होता है। अब यह सिद्ध हो चुका है कि यूनानी चिकित्सा विज्ञान अपने ज्ञान के लिये बहुत अंश तक इन देशों की ऋणी हैं……और इस प्रकार वह चिकित्सा संबन्धी ज्ञान के लिये भारत की ऋणी है। हिपोक्रिटस तथा पाथागोरस ने यूनानी चिकित्सा पर भारत के अप्रत्यक्ष प्रभाव का वर्णन किया है……। डा॰ वाइज ने अपनी पुस्तक 'Hindu System of Medicine' में लिखा है कि इन सम्पूर्ण चिकित्सा पद्धतियों का कोई एक सामान्य स्रोत है……यूनानी तत्त्ववेत्ताओं (दार्शनिकों) को मिश्र के महात्माओं से सहायता प्राप्त हुई थी तथा इन मिश्र के महात्माओं ने अपना बहुत कुछ ज्ञान पूर्व के किसी रहस्यपूर्ण देश से प्राप्त किया था।

(Fourth Indian Oriental Conference Vol. II P. 426)

(१) १-२ की टि० सं० उपो. पृ. १०४, का. १ में देखें।

* (a) यूरोप के बहुत से अतिप्राचीन राष्ट्रों द्वारा विविध विज्ञानों के परिचय और प्रयोग को जानने से पर्याप्त पहले ही हिन्दू लोगों ने ज्योतिष शास्त्र, बीजगणित, अंकगणित, वनस्पतिशास्त्र और चिकित्सा शास्त्र में विशेष उन्नति करली थी। व्याकरण में तो उनकी उच्चता का संकेत करने की आवश्यकता ही नहीं है।

(M. Monier Williams)

(संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी पृ. सं. २१)

(b) सभ्यता और ज्ञान के तत्त्वों का उद्गम सदा प्राची से ही हुआ है। उनका प्रसार भी प्राची से प्रतीची की ओर हुआ है, न कि पश्चिम से पूर्व की ओर।

(संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी पृ. सं. २३.)

(१) १-४ की टि. सं० उपो. पृ. १०५, का० १ में देखें।

भारत में आये हुए फाहियान नामक चीनी यात्री के सीलोन (लंका) से जलमार्ग के द्वारा अपने देश चीन को लौटने के, ग्रीस तथा रोम में जलमार्ग से ही सुविधापूर्वक पहुँच सकने वाले भारतीय हाथी तथा शेर आदियों के लेजाने के वृत्तान्त से, पश्चिम दिशा में भी भारत से शीघ्र लौटने वाले यवनराज अलेक्जेण्डर की महान् सेना के लिये पर्याप्त नौकाओं की उपस्थिति के अनुसन्धान से तथा मिश्र, मेसोपोटेमिया आदि देशों में जलमार्ग के ही अनुकूल होने से यह स्पष्ट है कि भारत का पाश्चात्य देशों के साथ प्राचीन काल से ही परस्पर यातायात, परिचय तथा सम्पर्क आदिका व्यवहार अवश्य था।

धन्वन्तरि आदियों की प्राचीनता

भारतीय आयुर्वेद रूपी स्रोत के मूल उद्गम का अनुसन्धान करने पर प्रतीत होता है कि उपलब्ध आयुर्वेदिक ग्रन्थों के आचार्य रूप में निर्दिष्ट धन्वन्तरि, दिवोदास, काश्यप, आत्रेय, अग्निवेश, भेड तथा सुश्रुत आदियों का समय अर्वाचीन नहीं है। धन्वन्तरि का महाभारत, हरिवंशपुराण अन्य पुराणों (पृ. २९), मिलिन्द-पह्नो नामक पालीग्रन्थ (पृ. ३०) तथा अयोघर जातक (पृ. ३१) आदि में उल्लेख मिलने से, भीमसेन के पुत्र दिवोदास का हरिवंश, महाभारत तथा काठकसंहिता में और प्रतर्दन के पिता के रूप में दिवोदास का कौषीतकि ब्राह्मण, कौषीतकि उपनिषत् (पृ. २९) कात्यायनीय ऋक्सर्वानुक्रम (पृ. ३०) तथा महाभाष्य में निर्देश होने से, दिवोदास द्वारा स्थापित वाराणसी का महावग्ग आदि में उल्लेख मिलने से (पृ. २९-३०) मारीच कश्यप का महाभारत, ऋक्-सर्वानुक्रम, बृहद्देवता (पृ. १८) तथा अथर्व सर्वानुक्रम में निर्देश होने से, भेड द्वारा निर्दिष्ट गान्धार के नग्नजित् का ऐतरेय तथा शतपथ ब्राह्मण में (पृ. ५२) निर्देश होने से, भेड का आत्रेय के शिष्य तथा गान्धार के नग्नजित् के साथी के रूप में निर्देश होने से, आत्रेय का मारीचकश्यप द्वारा, वार्योवार सहित आचार्य रूप में भेड द्वारा तथा कृष्णात्रेय नाम से महाभारत में निर्देश होने से तथा भारद्वाज का भी महाभारत में निर्देश होने से ये भार-द्वाज, धन्वन्तरि, दिवोदास, आत्रेय, मारीचिकश्यप, नग्नजित् दारु-वाह तथा वार्योविद आदि परस्पर सन्निकृष्ट संबन्ध होने से उप-निषत् कालीन आचार्य प्रतीत होते हैं जिसका पहले भी कई स्थानों पर निर्देश किया जा चुका है। उपनिषदों के विषय में विचार करने पर कौषीतकि तथा ऐतरेय का समय चिन्तामणि विनायक वैद्य महोदय ने ईस्वी पूर्व २५०० वर्ष तथा ज्योतिष गणना के अनु-सार दीक्षित ने ईस्वी पूर्व १८५०-२९०० निश्चित किया है। पाली तथा महावग्ग के लेख, सिंहल तथा ब्रह्मदेश की गाथाओं और तिब्बतीय मूल लेखों के अनुसार आत्रेय के ही जीवक के गुरु होने में प्रमाणों के न मिलने से, आत्रेय के तक्षशिला के उत्थान के बाद में होने पर पाञ्चाल तथा गङ्गाद्वार के आसपास के प्रदेशों में घूम २ कर उपदेश देने वाले आत्रेय के द्वारा विद्यापीठ के रूप में प्रसिद्ध तक्षशिला का अवश्य उल्लेख होना चाहिये था, परन्तु उसके नाम का भी निर्देश न होने से तथा मारीच कश्यप द्वारा नाम का उल्लेख होने से आत्रेय पुनर्वसु के प्राचीन ही सिद्ध होने से तिब्बतीय कथाओं के अनुसार जीवक के गुरु आत्रेय को बुद्ध-कालीन मानने की शङ्का ठीक नहीं है। जीवक के गुरु के आत्रेय होने पर भी वह गोत्रनाम से व्यवहृत कोई अन्य आत्रेय भी हो सकता है। जे. जे.* मोदी सुश्रुत का समय ईस्वी पूर्व १५०० तथा डोरोथिया च्यापलिन ने धन्वन्तरि का समय हिपोक्रिटस के समय से १२०० वर्ष पूर्व माना † है। श्रीयुत अक्षयकुमार मजूमदार ने विदेह के राजा जनक का समय ईस्वी पूर्व २५००, अगस्त्य का समय ईस्वी पूर्व २२००, जाबाल का समय ईस्वी पूर्व २०००, जाजलि का ईस्वी पूर्व १९००, पैल का ईस्वी पूर्व १८००, कवष का ईस्वी पूर्व १८००, धन्वन्तरि का ईस्वी पूर्व १६००, भीमरथ के पुत्र दिवादास का ईस्वी पूर्व १५०० तथा चरक और सुश्रुतसंहिता के समय क्रमशः ईस्वी पूर्व १४०० तथा १५०० माने हैं(१)। F. E. Keay ‡ का कथन है कि 'भारत में भैषज्य विद्या भी बहुत प्राचीन काल से ही उन्नत थी।' जे. सी. § चटर्जी का मत है कि ईस्वी पूर्व १५०० से ५०० तक धर्म, दर्शन, विज्ञान, कला, सङ्गीत तथा भैषज्य विद्या में कोई भी दूसरा राष्ट्र भारत की तुलना तथा स्पर्धा करने योग्य नहीं था।

मिश्र देश के विद्वानों तथा हिपोक्रिटस के लेखों के समान प्राचीन धन्वन्तरि, आत्रेय तथा कश्यप आदियों के मूल ग्रन्थों में पीछे संस्करण के समय कुछ अर्वाचीन विषयों के प्रवेश के मिलने पर भी, जिस प्रकार प्राचीन मन्दिरों को नूतन शिल्प आदि के द्वारा जीर्णोद्धार करने पर भी उन्हें सर्वांश में नूतन नहीं कहा जा सकता उसी प्रकार यहां भी उनकी प्राचीन मौलिकता में कोई व्याघात नहीं पहुंचता है।

प्राचीन काल में सुमेरिया तथा मिश्र देशों की उस उन्नत

---

* शल्यतन्त्र (क्रियात्मक शारीर) के विषय में लिखते हुए श्री जे. जे. मोदी महाशय लिखते हैं कि भारतीय शल्यशास्त्र के के पिता सुश्रुताचार्य ईसा से १५ वीं सदी पूर्व हो गये हैं।

(F. I. O. C. Vol. II P. 415-16.)

† भारतीय चिकित्सा शास्त्र के संस्थापक धन्वन्तरि ने हिपोक्रेटस से कोई १२०० वर्ष पूर्व यह घोषित किया था कि आरोग्य भावात्मक वस्तु है और रोग नकारात्मक। इस नकारात्मक से भावात्मक की ओर जाने की समस्या को हल करने के लिये ही धन्वन्तरि ने बीड़ा उठाया था।

(Some Aspects of Hindu Medical Treatment P. 11 by Dorothea Chaplin)

‡ धर्मशास्त्र (कानून शास्त्र) की तरह चिकित्सा शास्त्र का भारतवर्ष में पर्याप्त पहले ही विकास हो चुका था।

(Ancient-Indian Education P. 42 By F. E. Keay)

§ तथ्य तो यह है कि १५०० ई० पू० से ५०० ई० पू० तक में भारतीय लोग धर्म, अध्यात्म, दर्शन, विज्ञान, कला, संगीत और चिकित्साशास्त्र में इतने अधिक आगे बढ़ गये थे कि अन्य कोई जाति इनकी स्पर्धा में नहीं खड़ी हो सकती थी और ज्ञान-विज्ञानों की इन शाखाओं में से किसी में भी उनका मुकाबला कोई नहीं कर सकता था।

(J. C. Chatterji-The wisdom of the Hindus Edited by Brian Brown P, 25.)

(१) इसकी टि. सं० उपो० पृ. १०६, का० १ देखें।

सभ्यता के मिलने से उसका सहयोगी भारत उस समय मोह निद्रा में सोया हुआ हो, इसकी सम्भावना नहीं हो सकती। मिश्र देश के भूगर्भ से मिले हुए शवों के शरीरों में कपालभेद के सन्धान के चिह्न मिलते हैं जिनका आजकल के अत्यन्त कुशल शल्यचिकित्सकों द्वारा भी समर्थन किया जाता है। ऐतिहासिकों के अनुसार मिश्र देश में विक्रमसंवत् के प्रारम्भ से २५० वर्ष पूर्व (B. C. ३०१) शल्य विद्या की उन्नत अवस्था तथा उसके २०० वर्ष बाद उसी के अनुसार ग्रीस देश में भी शल्य विद्या के उदय का उल्लेख मिलता है सुश्रुत के शल्य विज्ञान में अन्य देशों की शल्य विद्या की छाया न मिलने से सुश्रुत का समय अन्ततोगत्वा भी २६०० वर्ष से अर्वाचीन सिद्ध न होने से तथा पाश्चात्य विद्वानों द्वारा भी इस मत का समर्थन किया जाने से प्रतीत होता है कि अन्य देशों से पूर्व ही सुश्रुत के समय भारतीय शल्य विद्या प्रौढावस्था में पहुंची हुई थी। काश्यपसंहिता तथा आत्रेयसंहिता में भी शल्य विद्या का उल्लेख होने से इससे पूर्व भी उसके प्रचार के होने का परिचय मिलता है। महावग्ग तथा जीवक के इतिहास में भी कपालभेदन तथा आन्त्रवेधन आदि शल्यप्रस्थानीय तथा प्रस्थानान्तरीय भैषज्यों में भारत में विशेष कुशलता दिखाई देती है। उससे पूर्व भी रामायण तथा महाभारत के युद्धों में जब घायल व्यक्तियों के शरीरों में चुभे हुए बाण आदि शल्यों को निकालने की आवश्यकता होती थी उस समय भी उनको निकालने का ज्ञान होने से शल्योद्धरण विद्या नाम से शल्यविद्या की उपस्थिति की सूचना मिलती है। इतना ही नहीं अपितु आयुर्वेदीय प्रवाह के निरन्तर प्राचीन उद्गम की आलोचना करने पर हम देखते हैं कि अथर्ववेद तथा ऋग्वेद में भी भग्नसंधान आदि शल्य विषय उपलब्ध होते हैं।

प्रत्येक देश तथा काल में भारतीय स्रोतों की व्याप्ति

इस आयुर्वेद विज्ञान में केवल धन्वन्तरि, आत्रेय, कश्यप तथा भेड आदि—जिनके कि ग्रन्थ उपलब्ध हैं—वे ही मूल आचार्य नहीं हैं अपितु पीछे एक २ प्रस्थान के आचार्य कश्यप, आत्रेय तथा सुश्रुत आदियों द्वारा कुछ पूर्व आचार्यों का नाम पूर्वक निर्देश किया गया है तथा कुछ को बिना नाम के 'परे' 'अपरे, इत्यादि शब्दों से ही सूचित किया गया है। प्राचीन भारद्वाज तथा आश्विन आदि भी संहिताओं के कर्ताओं के रूप में प्रसिद्ध हैं। आजकल कालक्रम से आश्विन आदि संहिताओं के न मिलने पर भी उनका विषय तथा उनके वचनों के उद्धरण आदि ताडपत्रीय ज्वरसमुच्चय आदि प्राचीन वैद्यक ग्रन्थों में मिलते हैं। आयुर्वेद के ग्रन्थों से अश्वि, इन्द्र, भरद्वाज आदि मूल आचार्यरूप में तथा उन्हीं की परम्परा के द्वारा इस सम्प्रदाय का प्रसार हुआ मिलता है। अश्वि, इन्द्र आदियों का वेदों में भी वैद्य के रूप में उल्लेख किया गया है। इस सम्प्रदाय परम्परा के कारण भारतीय स्रोत अत्यन्त उन्नत अवस्था में है। वैदिक काल से ही आयुर्वेद का उदय तथा उसकी समृद्धि प्रकट होती है। इस प्रकार अत्यन्त प्राचीन काल से ही वैदिक विज्ञान रूपी विशाल शैली से निकल कर यह आयुर्वेद रूपी स्रोत भिन्न २ आचार्यों की विचार धाराओं से वृद्धि को प्राप्त होता हुआ अनेक देशों एवं कालों में व्याप्त हो गया। यह भारयीय स्रोत वंशाङ्कुरों के समान केवल उपरिभाव से ही विद्यमान नहीं था अपितु नाना देशों के अनेक आचार्यों का अनुसन्धान करने पर चारों ओर फैला हुआ मिलता है।

डल्हण ने काङ्कायन का सुश्रुत के सतीर्थ्य (सहाध्यायी) के रूप में निर्देश किया है। आत्रेय ने इसका 'बाह्लीकभिषक्' तथा 'बाह्लीकभिषजां वरः' इत्यादि पदों द्वारा बाह्लीक देश के उत्कृष्ट वैद्य के रूप में निर्देश किया है। मारीच कश्यप ने भी नामपूर्वक इसका मत दिया है। इस प्रकार यह काङ्कायन भी उस समय के लोगों द्वारा ज्ञात दूसरे देश का प्राचीनतम आचार्य प्रतीत होता है। बाह्लीक देश के मुख्य वैद्य के रूप में प्रसिद्ध इस काङ्कायन का दिवोदास के शिष्य के रूप में निर्देश होने से प्रतीत होता है कि भारतीय भैषज्य विद्या न केवल भारत में ही अपितु अन्य देशों में भी आदर्शरूप में प्रचलित थी, तथा यह भी ज्ञात होता है कि भारत के भिन्न २ प्रदेशों के समान अन्य देशों से भी लोग इस विद्या की प्राप्ति के लिये जिज्ञासु एवं शिष्यरूप में यहां आते थे। यदि उसे दिवोदास का शिष्य न भी माना जाय तो भी भारतीय प्राचीन आचार्यों द्वारा उसके मत का निर्देश किया होने से उनका परस्पर परिचय तो स्पष्टरूप से था ही

सुश्रुत के लेख से ज्ञात होता है कि न केवल काङ्कायन अपितु औपधेनव, वैतरण, औरभ्र, पौष्कलावत, करवीर्य, गोपुररक्षित तथा भोज आदि भी दिवोदास के शिष्य थे। अयोघर नामक पालीजातक में बुद्ध के पूर्वजन्म के उल्लेख में अतीत वैद्य धन्वन्तरि के साथ मिलनेवाले सुश्रुत के सतीर्थ्य भोज तथा वैतरण का उल्लेख भी इनके प्राचीन संबन्ध को सिद्ध करता है। इस प्रकार प्रतीत होता है कि ये औषधेनव आदि आचार्य प्राचीन काल के तथा विभिन्न देशों के थे।

पौष्कलावत, करवीर्य तथा औरभ्र आदि आचार्यों के विषय में विचार--

प्राचीन आचार्यों के नाम प्रायः पिता, माता, आचार्यगोत्र, देश अथवा किन्हीं असाधारण गुणों के अनुसार होते थे। इसलिये प्राचीन व्यक्तियों के नामों को देखकर यह स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि इनके नामों का मूल (आधार) क्या है। इसलिये पौष्कलावत आदि नाम भी किसी देश अथवा व्यक्ति विशेष के अनुसार 'तत्र जातः' अथवा 'तत्र भवः' अर्थ में प्रयुक्त किये गये प्रत्ययों सहित बने हुए प्रतीत होते हैं।

पुष्कलावत नाम का कोई भी व्यक्ति भारतीय इतिहास में नहीं मिलता है। किन्तु यह शब्द देश विशेष के बोधक के रूप में मिलता है। इसलिये 'पुष्कलावत नामक देश में होने वाले' इस अर्थ को लेकर देश के अनुसार यह नाम प्रयुक्त किया गया प्रतीत होता है विष्णुपुराण(१) के अनुसार पौष्कलावत भरत के पुत्र पुष्कल द्वारा स्थापित देश है। बाल्मीकि रामायण(२) में भी इसका उल्लेख मिलता है। वेदों में आये हुए आसन्दीवत्, परूयावत्, शर्यणावत् इत्यादि तथा महाभारत के वारणावत् आदि नामों के सदृश होने से यह पौष्कलावत भी भारत के पश्चिम विभाग का कोई प्राचीन देश प्रतीत होता है। गान्धार राज्य की प्राचीन राजधानी का यह नाम था। अलेक्जेण्डर के आगमन के समय भी यह नगरी गान्धार में

(१) १-२ की टि० सं० उपो० पृ० १०७, का० १ में देखें।

प्रधानरूप से विद्यमान थी। एरियन्-स्ट्रेबो तथा टालेमी आदि बहुत से प्राचीन ग्रीक विद्वानों द्वारा भी सिन्धु के समीप महानगरी के रूप में इसका उल्लेख होने से प्रतीत होता है कि यह ग्रीक लोगों द्वारा विशेषरूप से परिचित तथा उल्लिखित(१) थी। यह पौष्कलावत नामक आचार्य उसी देश का प्रतीत होता है। सुश्रुत द्वारा विशेषरूप से शल्यप्रधान(२) तन्त्र के कर्ता के रूप में इसका निर्देश होने से प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में गान्धार देश की भी शस्त्र-चिकित्सा में प्रतिष्ठा थी।

करवीर्य शब्द भी 'करवीर देश में होने वाले' अर्थ का सूचक प्रतीत होता है। करवीरपुर(३) का दृषद्वती के किनारे पर होने का उल्लेख मिलता है। कालिका पुराण में भी करवीरपुर का उल्लेख है। दृषद्वती वेद में भी प्रसिद्ध थी। करवीर पुर में होने के अनुसार उसका यह होने से इस आचार्य का यह स्थान प्रतीत होता है। अथवा शस्त्रचिकित्सक होने से हाथ में कुशलतारूप वीर्य को धारण करने के (हस्तकुशल) कारण भी संभवतः इस आचार्य का यह (करवीर्य) नाम हो।

इसके अतिरिक्त इरानदेश के प्राचीन अवेस्ता ग्रन्थ के वेन्दिदाद नामक भैषज्य प्रकरण में उस देश की शल्य चिकित्सा के मूल आचार्य का क्षथ्रवैर्य नाम से उल्लेख मिलता है। आजकल व्यवहृत होने वाले वेन्दिदाद शब्द का प्राचीन स्वरूप 'विदैवादात'(४) कहा जाता है। वैदिकसम्प्रदाय में सुन्दर भावों के बोधक सुर, देव आदि शब्दों में विपरीत (असुन्दर) अर्थ को सूचित करने के लिये असुर तथा विदेव आदि प्रयोग मिलते हैं। उसी न्याय से दैवोदात शब्द में 'दिव' शब्द के साथ 'वि' शब्द लगाकर भैषज्य विद्याविभाग का बोधक 'विदैवोदात' शब्द दिवोदास सम्प्रदाय का ही अपभ्रंश रूप हो सकता है। थ्रित नामक वैद्य ने अहुरमज्द से ओषधियों तथा क्षथ्रवैर्य और सोहरवर से कायचिकित्सा तथा शस्त्रचिकित्सा में शिक्षाग्रहण की, इस उल्लेख से उस देश में शस्त्रचिकित्सा का प्रारंभ करने वाला क्षथ्रवैर्य(५) सिद्ध होता है। थ्रि नामक वैद्य के भी आचार्यरूप में निर्दिष्ट क्षथ्रवैर्य तथा सोहरवर कौन हैं—इस पर विचार करने पर हम देखते हैं कि विदैवोदात शब्द में दिवोदास शब्द का सादृश्य होने से उसके साहचर्य से चिकित्सा विज्ञान में सोहरवर की सुश्रुत से तथा शल्यचिकित्सा विज्ञान के प्रारंभक क्षथ्रवैर्य की दिवोदास के शिष्य, शल्यप्रस्थान के आचार्य तथा सुश्रुत के सतीर्थ्य करवीर्य से शब्दों तथा कार्यों में समानता दिखाई देती है। भारत के प्राचीन आचार्यों के निर्देशानुसार बाह्लीकभिषक् कांकायन का भारत से परिचय की तरह वेन्दिदाद के लेख के अनुसार दिवोदास, सुश्रुत, करवीर्य आदि भारतीय आचार्यों का इरान से परिचय प्रकट होता है। अवेस्ता नामक ग्रन्थ में भारतीय शब्दों तथा विषय की समानता का पूर्व वर्णन किया जाचुका है। उसमें आये हुए रोगों में भी हमें निम्न समानताएं मिलती हैं—

अथर्ववेद	अवेस्ता	अर्थ
तक्मन्	तफ्नु	ज्वर
अप्वा	अजह्व	अपवाह
पामा (सुश्रुत में भी)	पामन्	चर्मरोग
शीर्षक्तिः	सारस्त्य	शिरोरोग
सारणः	सारन*	

इसी प्रकार कुरुघ (दुष्टव्रण), दुरुक् (अश्मरी), अघोस्ति (शीर्णास्थि), दझु (ज्व) र इत्यादि शब्द भी क्रमशः कुरुक्, दूषत्, अस्थि तथा दाह आदि संस्कृत शब्दों के अपभ्रंश प्रतीत होते हैं। अन्य भी बहुत से शब्दों में समानता तथा प्रतिच्छाया मिलती है। अवेस्ता में मानसिक तथा शारीरिक दो प्रकार(१) के स्वास्थ्य का वर्णन मिलता है। सुश्रुत में भी **'पुनश्च द्विविधाः-शारीरा, मानसाश्च'** (सू. अ. २४) द्वारा द्वैविध्य का उल्लेख किया गया है। अवेस्ता में मन्थ्र (मन्त्र), उर्वर (उर्वीरुह) तथा केरेत (कर्तिका, कर्तरी अथवा करपत्र) द्वारा मन्त्र, वानस्पतिक ओषधियां तथा शस्त्ररूप तीन प्रकार के रोगनिवर्तन(२) के उपायों का वर्णन किया है। भारतीय भैषज्य सम्प्रदाय में भी ये ही मन्त्र, ओषधि एवं शस्त्ररूप तीन रोगप्रतीकार के उपाय मिलते हैं। अवेस्ता में 'गौकिरन'(३) शब्द (जिसका बाद में गोकार्त रूप हो गया है) का प्रधान औषधवृक्ष के रूप में निर्देश किया गया है जो कि अश्वगन्धा के संस्कृत पर्याय गोकर्ण शब्द की विकृति प्रतीत होती है। अश्वगन्धा का आयुर्वेद में भी बहुत माहात्म्य लिखा गया है। दोनों सम्प्रदायों में सोम का यज्ञ तथा ओषधि दोनों रूपों में उपयोग मिलता है। अवेस्ता में भैषज्यविज्ञान, वैद्य, रोग तथा रोगनिवृत्ति के उपाय आदि चिकित्सा के चार† पादों का वर्णन मिलता है। आयुर्वेद में भी धन्वन्तरि (४), कश्यप, आत्रेय तथा भेड आदियों ने थोड़े बहुत भेद के साथ भैषज्यविज्ञान, वैद्य, रोगी एवं परिचारकरूप चतुष्पाद सिद्धान्त का ही वर्णन किया है। थ्रित द्वारा अहुरमज्द से विषप्रतीकार के लिये 'विसचित्त' तथा शल्यचिकित्सा के लिये सौवर्णाग्र छुरिका प्राप्त करने का वर्णन‡ मिलता है। 'विसचित्त' शब्द में विषचिकित्सा अथवा 'विषकृत्य' शब्द की झलक दिखाई

(१) १-५ तककी टि० सं उपो० पृ०१०७, का० १-२ में देखें।

* सारण तथा सारन शब्दों में शाब्दिक समानता होते हुए भी, अथर्ववेद में अतिसार तथा अवेस्ता में शिरोरोग का बोधक होने से अर्थ में भेद है।

† यह एक अद्भुत संकेत है कि भारतीय चिकित्साशास्त्र के भी चार पाद बताये गये हैं। उनकी गणना चिकित्सक, रोग औषध और परिचारक के रूप में की गई है जब कि हिपोक्रेटस ने केवल तीन ही भाग किये हैं।

(de morb, vulg i. L.) E. R. E. Vol. IV P. 759
by L. C. Casartelli.

‡ (a) क्षथ्रवैर्य धातुओं का प्रथम प्रयोग करने वाला था। उसने एक चाकू प्राप्त किया जिसका कि आधार एवं प्रान्त भाग सोने के बने हुए थे। इस प्रकार चाकू (शस्त्र) से चिकित्सा करने वाला वह प्रथम व्यक्ति था। इसी प्रकार वनस्पतियों द्वारा चिकित्सा करने वाला भी वही प्रथम व्यक्ति था।

(Zendavesta Part I (S. B. E. Vol IV.), P. 227.)

(b) E. R. E. Vol. IV P. 758.

(१) १-४ तक की टि० सं० उपो० पृ० १०८ का १ में देखें।

देती है। भारतीय सम्प्रदाय में भी कर्णवेधन संस्कार के लिये सुवर्ण-सूचि तथा चूडाकर्म संस्कार में सुवर्णयुक्त उस्तरे का विधान मिलता है। सुश्रुत में शल्यचिकित्सा में प्रयुक्त होने वाले शस्त्रों के विषय में लिखा है कि **'तानि (शस्त्राणि) प्रायशो लौहानि भवन्ति'।** इसकी व्याख्या में लिखा है कि **'लोहाः पञ्च सुवर्णादयः'** अर्थात् सुवर्ण आदि पांच धातुओं के द्वारा सुवर्ण का प्रमुखरूप से निर्देश किया है। उपर्युक्त वर्णन के अनुसार उनके 'त्रित' नामक प्रथम वैद्य के भी आचार्यरूप में निर्दिष्ट क्षश्रवैर्य शब्द में करवीर्य, क्षेत्र-वीर्य, क्षतवीर्य इत्यादि भारतीय संस्कृत शब्दों की समानता दिखाई देने से यह भारतीय सम्प्रदाय का करवीर्य या अन्य कोई भारतीय आचार्य के समान प्रतीत होता है।

तुड्हाङ् स्थान में हार्नले नामक विद्वान् द्वारा उपलब्ध लेखों में जीवक के प्रति दिये गये बुद्ध के भैषज्यसंबन्धी उपदेशों में संस्कृत के साथ प्राचीन इरानी भाषा का भी अनुवाद उपलब्ध होने से प्रतीत होता है कि प्राचीन इरान ने भारतीय भैषज्य का ग्रहण किया था तथा उसका आदरपूर्वक अपनी भाषा में अनुवाद किया था।

अवेस्ता में भैषज्य प्रस्थान के उद्भावक के रूप में थ्रित तथा रोगनिवृत्ति की प्रार्थना करनेवाले थ्रैतान का निर्देश है। इसीप्रकार वेद में भी त्रित तथा त्रैतन का उल्लेख मिलता है जिससे कुछ विद्वानों(१) की राय है कि शब्दों के सादृश्य के कारण वेद तथा अवेस्ता में आये हुए ये एक ही व्यक्ति हैं। ऋग्वेद में त्रैतन का एक वार ही उल्लेख होने पर भी मारने की इच्छा से दीर्घतमस ऋषिको जल तथा अग्नि में गिराने वाले तथा उसके अङ्गों को काटने वाले दासजाति(२) वाले का निर्देश होने से, वह अश्वियों द्वारा पुनः रक्षा किये गये भी दीर्घतमस् ऋषि के प्रतिपक्षी के रूप में मिलने वाला त्रैतन प्रतीत होता है। परन्तु वैदिक लेख के अनुसार उसका भैषज्य से संबन्ध नहीं मिलता है। त्रित का ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में अनेक वार उल्लेख होने पर भी कहीं २ यह त्रित शब्द अग्नि आदि देवता परक मिलता है। जहां यह त्रित शब्द मानव भावों को सूचित करता है वहां कहीं २ सूक्तद्रष्टा ऋषि के रूप में उसका उल्लेख मिलता है। बृहद्देवता तथा यास्क की निरुक्ति में भी उसका ऋषि के रूप में उल्लेख मिलता है। इन स्थलों पर इसका अर्थ भिन्न प्रतीत होता है। जहां वेद के **'आप्यः आप्त्यः त्रितः'** तथा अवेस्ता के **'आथ्व्यः त्रितः'** में समानता दिखाई देती है वहां त्रित का परिवेदन (दुःख), दुःस्वप्न, स्वर्णकार, मालाकार आदि दुष्कृत मार्जन स्थानी के रूप में भी उल्लेख मिलने(३) से वैदिक सम्प्रदाय में सुरों के लिये असुरों की तरह हेयरूप में ग्रहण होने से यह त्रित भी विपक्षी प्रतीत होता है। त्रित तथा थ्रित की एकात्म्यता होने से वैदिक आश्विन भैषज्य सम्प्रदाय की तरह इरानी थ्रित भैषज्य सम्प्रदाय का समय भी प्राचीन सिद्ध होता है। परन्तु वेद में त्रित का कहीं भी भैषज्य संबन्ध नहीं मिलता है। मार्टिन(४) (**Martin**) नामक विद्वान् का कहना है कि तैत्तिरीय संहिता में एक स्थान पर (१. ८. १०. २) आयुष्य के दाता के रूप में त्रित की प्रार्थना के मिलने से वैदिक त्रित में भी भैषज्य संबन्ध दिखाई देता है। तथापि त्रित शब्द की अग्निपरक व्याख्या दी होने से तथा राजसूय का प्रकरण होने से वहां भी त्रित का भैषज्य सम्बन्ध स्पष्ट नहीं मिलता है। इस विषय में और विचार की आवश्यकता है।

औरभ्र शब्द **'उरभ्रस्यापत्यम्'** अथवा **'उरभ्रे भवः'** अर्थ के अनुसार व्यक्ति अथवा देशवाचक उरभ्र शब्द से बना हुआ प्रतीत होता है। उरभ्र नामक कोई व्यक्ति अथवा देश प्राचीन भारत में नहीं मिलता है। वेद में उरभ्र तथा उरण शब्द मेष (भेड़) के बोधक के रूप में प्रसिद्ध हैं। वेद में भी सिन्ध में बहने वाली ऊर्णावती नदी का उल्लेख मिलता है। गान्धार तथा उससे उत्तर के देशों में प्राचीन काल से ही मेषों के प्राचुर्य का वर्णन मिलता है। उसी प्राचुर्य के कारण ही संभवतः नदी का नाम भी ऊर्णावती था। **'अध्वर्यवो य उरणं जघान'** इस ऋग्वेद के मन्त्र में (२. १४ ४) इन्द्र द्वारा मारे हुए उरण नामक असुर का उल्लेख मिलता है। बेबिलोन देश के प्राचीन नगरों में एक 'उर' नाम का नगर मिलता है जो चाल्डियनों के समय अब्राहम का प्रधान स्थान तथा सुमेरियनों के ईस्वी पूर्व ३००० वर्ष पूर्व सेमेटिक सत्ता के प्रारंभ में सारगान वंशजों के अनन्तर 'उरगुर' अथवा 'उर एन गर' नामक राजा के समय प्रधान उर नगर था वह बेबिलोन समय के अन्त तक धार्मिक तथा वाङ्मय विषयों के लिये प्रसिद्ध था। उर नगर में 'उरनम्मु'(१) (Ur Nammu B. C 2300-2200) तथा बर्सिन (**Bursin**) नामक राजाओं के शिलालेख प्राप्त हुए हैं। असीरिया की पूर्वजातियां असुर के रूप में मिलती हैं। इन्द्र द्वारा मारा हुरा उरण नामक असुर संभवतः इसी देश का था। उरभ्र आदि शब्दों में उर शब्द के आने से इसी देश से संबन्ध प्रतीत होता है। ए. सी.(२) दास ने लिखा है कि 'उर' देश में भारतीय शालवृक्ष की लकड़ियां प्राप्त हुई हैं। यदि इस देश के वाचक उर शब्द से ही उरभ्र शब्द बना हो तो काङ्कायन द्वारा बाह्लीक देश के समान दिवोदास के शिष्य उरभ्र द्वारा यह उर प्रदेश भी भारतीय प्रभाव से युक्त प्रतीत होता है।

कुछ लोग गोपुर रक्षित नाम से निर्दिष्ट गोपुर तथा रक्षित दो भिन्न २ आचार्य मानते हैं। कुछ लोग संयुक्त (गोपुररक्षित) नाम से एक ही व्यक्ति मानते हैं। दक्षिण के शिल्प ग्रन्थ में गोपुर का निर्देश होने से तथा आजकल भी दाक्षिणात्य देशों में गोपुर की विशेष प्रसिद्धि होने से गोपुर नाम से व्यवहृत आचार्य संभवतः दाक्षिणात्य प्रतीत होता है। किन्तु रामायण तथा महाभारत में गोपुर का पुरद्वार के रूप में मिलने से इतने से ही देश का निर्धारण करना सम्भव नहीं है। अथवा यह भी सम्भव है कि गोपुर नामक अन्य अज्ञात नगर के सम्बन्ध से भी गोपुररक्षित नाम का व्यवहार किया गया हो।

प्राचीन भोजदेश के कान्यकुब्ज (कन्नौज) देशस्थित भागीरथी के दक्षिण तट पर १५-१६ कोस के घेरे में फैले होने का वर्णन(३) मिलता है। दिवोदास के शिष्य भोज का संभवतः इसी देश के अनुसार यह नाम था।

(१) १-४ की टि० सं० उपो० पृ० १०८, का० २ और पृ. १०९, का० १ में देखें।

(१) १-३ तक की टि० सं० उपो० पृ० १०९, का० १-२ में देखें।

'उपधेनोरपत्यम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार औपधेनव शब्द मिलता है। औपधेनव नाम का आचार्य अन्यत्र नहीं मिलता है। किन्तु 'उपगोरपत्यमौपगवः' पाणिनीय सूत्र के इस उदाहरण में महाभाष्यकार ने उपगु के अपत्य रूप में औपगव का निर्देश किया है। बिष्णुपुराण में मिथिला के राजा सीरध्वज के भाई काशीराज कुशध्वज के वंश में किसी उपगु का निर्देश मिलता है। उपगु नाम का वसिष्ठ गोत्र में उत्पन्न एक ऋषि भी मिलता है। औरव कौत्स राजा के पुरोहित सौश्रवस् के पंचविंश ब्राह्मण (१४. ६. ८) में उपगु का वर्णन मिलता है। महाभाष्य के (४. १. ३. ९०) 'औपगवैर्यूनश्छात्रा औपगवीयाः' इस निर्देश से औपगव छात्र सम्प्रदाय का प्रवर्तक प्रतीत होता है। यह प्रसिद्ध औपगव ही सम्भवतः औपधेनव हो क्योंकि पर्यायवाची शब्दों द्वारा व्यवहार करने की भी प्राचीन पद्धति मिलती है। यह औपधेनव कौन तथा किस प्रदेश का रहने वाला है यह निश्चित नहीं कहा जा सकता।

यद्यपि दृढ प्रमाणों के अभाव में केवल इन तर्कों के आधार पर कुछ निश्चित नहीं किया जा सकता तथापि उपर्युक्त आचार्यों के नाम भारत के भिन्न २ प्रदेशों के समान दूर विदेशों में भी सम्भवतः धान्वन्तर सम्प्रदाय के आलोक के प्रसार में द्वारभूत हैं अर्थात् इनके द्वारा धान्वन्तर सम्प्रदाय का विदेशों में प्रसार हुआ है। इस प्रकार केवल धान्वन्तर सम्प्रदाय के ही नहीं अपितु अन्य विभागीय भैषज्य विज्ञान के आलोक के लिये भी इसी प्रकार के द्वार होंगे। इससे अधिक क्या कहा जाय कि ऋग्वेद में भी प्रयुक्त होने वाले वैद्यक वाचक भिषक् तथा औषध वाचक भेषज शब्दों के विकृतरूप बिजिष्क (Bejishka) तथा बेषज (Beshaj) शब्द इरान देश की पर्शुभारती (पहलवी) भाषा में तथा बिझिष्क (Bzhishk) तथा बेझष्क (Bzhshkel) शब्द अर्मिनियन भाषा में मिलने का पहले निर्देश किया जा चुका है। जब वैद्य एवं औषध वाचक प्रधान शब्द प्राचीन काल में दूर विदेशों में पहुंचे हुए थे तब इस विद्या के विषय भी चारों ओर फैले हुए हों तो इसमें क्या आश्चर्य है। वाडेल(१) नामक विद्वान् ने सुमेरियन देश के प्राचीन मुद्राओं पर साङ्केतिक अक्षरों में लिखे हुए उस देश के शब्दों तथा भारतीय शब्दों में निम्न समानता प्रदर्शित की है—

बृगु	भृगु	अस्सि	अश्वि
वर्गव	भार्गव	गल्ह	गालव
गुर्गु	गर्ग	गुधिया	गाधि
हनक	जनक	सुसिन	सुषेण
सख	शक्र	एमद्गल	मुद्गल
इन्दुरु	इन्द्र	उर्वस्	हर्यश्व

और तो और धन्वन्तरि तथा दिवोदास का भी वहां उद्भव दिखाया गया है। उस देश के प्राचीन राजाओं का ईस्वी संवत् के प्रारम्भ से लगभग २-३ हजार वर्ष पूर्व होना बतलाया गया है। पूर्वनिर्दिष्ट (पृ. १४) शालिहोत्र के ग्रन्थ में आयुर्वेद के आचार्यों के निर्देश में गालव का उल्लेख होने से तथा चरक के प्रारम्भ में भी आयुर्वेद के प्रवर्तकों में उसका नाम मिलने से गालव भी आयुर्वेद के आचार्य रूप में मिलता है। महाभारत में भी गालव का काशीराज दिवोदास के साथ सहवास तथा मारीच कश्यप के आश्रम के द्रष्टा के रूप में पहले (पृ. १८) निर्देश किया जा चुका है। महाभारत के अनुसार अश्वप्राप्ति के प्रसङ्ग में उसके दूर २ देशों में पर्यटन का निर्देश है। सुमेरियन प्रदेशीय प्राचीन मुद्रा में आये हुए गल्ह के साथ वाडेल ने गालव की समानता दिखाई है। मुद्गल तथा मौद्गल्य आदि भी भारत में वैद्याचार्यों के रूप में मिलते हैं। वाडेल के कथनानुसार सुमेरियन प्रदेश के एमद्गल के साथ वैद्यविद्या के ज्ञान का सूचक 'अजू' शब्द दिया हुआ है। इस प्रकार यदि गल्ह और गालव तथा एमद्गल और मुद्गल की परस्पर एकात्म्यता हो तो यह मानना पड़ेगा कि सुमेरियन प्रदेश में भी भारतीय आयुर्वेदाचार्यों का प्रभाव पहुँचा हुआ था। परन्तु अत्यन्त प्राचीन होने से प्राचीन मुद्राओं के अक्षरों के भी एक मत से निश्चित न होने से तथा उनमें आये हुए संभावित गालव, जनक, धन्वन्तरि तथा दिवोदास आदि में भैषज्य विषय के संबन्ध के न मिलने से पूर्ण अनुसन्धान के विना केवल इतने के आधार पर निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। इस काश्यपसंहिता के भोजनकल्पाध्याय (पृ. २०६) में सात्म्याशन प्रकरण में काश्मीर, चीन, अपरचीन आदि देशों के साथ वाह्लीक, दासेरक, शातसार तथा रामण आदि देशों का भी उल्लेख मिलता है, किसी(१) किसी का विचार है कि दासेरक देश मालवा प्रान्त में है। किन्तु महाभारत(२) में अनेक स्थलों पर दासेरक का उल्लेख होने पर भी मालवा का पृथक् उल्लेख मिलने से दासेरक मालवा से पृथक् कोई अन्य ही देश प्रतीत होता है। शातसार देश का कोई परिचय नहीं मिलता है। तथापि वाह्लीक तथा रामण देश के साथ दिये होने से दासेरक तथा शातसार भी उनके समीप के ही कोई देश प्रतीत होते हैं। रामण देश अरमे(३)-निया (Armenia) देश को बतलाया गया है। रामण पर्वत का उल्लेख जेन्दावस्ता में भी मिलता है। महाभारत(४) में अनेक उत्तर की जातियों के निर्देश में हूण, पारसीक तथा चीन आदि के साथ रमण जाति का तथा निषेध देश के उत्तर में रमणवर्ष का निर्देश मिलता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अरमेनिया देश तक भी भारतीय प्राचीन आचार्यों का परिचय था। अलेक्जेण्डर द्वारा साथ ले जाये गये तथा अशोक के समय इधर उधर भेजे गये विद्वानों के नामों का इतिहास में कुछ पता नहीं लगता है। ईसामसीह के समय मिश्रदेश में 'थेराप्यूत' नामक कुछ भिक्षुवृत्ति वाले विरक्त रहते थे। जिनकी शिक्षा का प्रभाव यीशुखीष्ट (ईसा मसीह) पर भी पड़ा है। ये पूर्व देश के व्यक्ति धर्मोपदेश के साथ २ चिकित्सा भी किया करते थे जिनके नाम से पाश्चात्य चिकित्सा में 'थेराप्यूतिक्स (Therapeutics) नाम से एक विशेष विभाग भी है। इन थेराप्यूतों का जीवन भारतीय थेरो (स्थविर) भिक्षुओं के समान था। जायचन्द्र(४) विद्यालंकार ने भारतीय इतिहास के ग्रन्थ में लिखा है कि ये 'थेराप्यूत' अशोक के

(१) इसकी टि० सं० उपो० पृ० १०९ का० २ में देखें।

(१) १-४ तक की टि० सं० उपो० पृ. ११० का. १ में देखें।

समय पाश्चात्य देशों में गये हुए भारतीय भिक्षुक अथवा चिकित्सकों की सन्तति प्रतीत होती है। पोकाक(१) ने भी इसी आशय के विचार प्रकट किये हैं। अन्य देशों के इतिहासों में भी बहुत से ऐसे व्यक्ति निलीन अवस्था में मिल सकते हैं। अन्य देशों के इतिहासों में भी बहुत से ऐसे भारतीय नाम मिलते हैं जो कि उन २ देशों की भाषाओं के कारण विकृत होकर उन २ देशों के व्यक्तियों के ही नाम प्रतीत होते हैं। जिस प्रकार विद्वानों के कथनानुसार कलोनस (Kalonos) नामक भारतीय व्यक्ति कल्याण प्रतीत होता है उसी प्रकार इतिहास में अन्य भी बहुत से भारतीय व्यक्ति हो सकते हैं जो अपरिचित तथा अन्य देश के प्रतीत होते हैं चरक, सुश्रुत, काश्यप तथा भेड आदियों के ग्रन्थों में आये हुए तथा अन्य भी प्राचीन आचार्यों के नामों का निर्वचन, पर्यालोचन तथा विषयानुसन्धान करने पर भी देश, काल तथा स्वरूप के अनुसार आयुर्वेद की पूर्वावस्था का थोड़ा बहुत परिचय मिल सकता है। किन्तु विस्तारभय से अब हम अधिक नहीं लिखते हैं।

वैदिक साहित्यमूलक भारतीय भैषज्य

वैदिक साहित्य में मान्त्रिक प्रक्रियाओं के मिलने पर भी अकेली भेषज प्रक्रिया के भी उदाहरण कम नहीं हैं। अपितु बहुत से असाधारण विषय ऋग्वेद में भी मिलते हैं और अथर्ववेद में तो शारीरिक ओषधियां, शस्त्रचिकित्सा, रोगनिर्देश, रोगोपचार इत्यादि भैषज्य संबन्धी विषय ओतप्रोत रूप से मिलने का पूर्व (पृ. ५-८) निर्देश किया जाचुका है। वैदिक मन्त्रों से ३६० अस्थियों(२) तथा सैकड़ों हजारों सिराओं(३) (हिरा) और धमनियों का पौर्वकालिक ज्ञान स्पष्ट है। शतपथ(४) ब्राह्मण में भी ३६० अस्थियों का वर्णन मिलता है। वैदिक याग (यज्ञ) प्रक्रिया के पाशुकविभाग में न केवल पशुओं का अपितु मनुष्यों के भी बलि में भिन्न २ अवयवों के पृथक्करण तथा जोडने का वर्णन मिलने से तद्विषयक ज्ञान स्पष्ट प्रकट होता है। चर्बी तथा हृदय के निकालने में हस्तकुशलता भी विज्ञान को बढ़ाने वाले अभ्यासको सूचित करती है। वैदिक विषयों के पण्डित कीथ तथा म्याकडोनल* आदियों ने भी लिखा है कि 'अथर्ववेद के दशम काण्ड के द्वितीयसूक्त में शारीरिक अस्थियों का सुन्दर एवं आनुक्रमिक वर्णन मिलता है। वैदिक काल के भारतीयों को प्रारंभ में शरीर तथा शारीरिक विज्ञान से संबद्ध विषयों का ज्ञान था।

ऋग्वेद, अथर्ववेद तथा यजुर्वेद के मन्त्रों के अनुसार बहुत सी ओषधियों के ज्ञान तथा उपयोग का वर्णन पहले किया जा चुका है। विकृत तथा भग्न अवयवों के रोहण तथा सन्धान के लिये ओषधियों की प्रार्थना अथर्ववेद(५) में मिलती है। ऋग्वेद में सोम का ओषधियों के राजा के रूप में वर्णन भी अनेक स्थानों पर मिलता है। सोम संबन्धी यज्ञ की प्रक्रिया के प्रारंभ होने के साथ ही सोम का प्रधान ओषधि के रूप में परिचय मिलता है। बहुत से मन्त्रों से अश्विनीकुमारों के वैद्य होने तथा सोम और अश्विनीकुमारों के पारस्परिक घनिष्ठ संबन्ध का ज्ञान होता है। सुश्रुत में भी अनेक स्थानों पर सोम का ओषधि रूप में निर्देश मिलता है। सोम का याज्ञिक तथा भेषजसंस्थाओं से विशेष संबन्ध होने से भी यह विद्या प्राचीन सिद्ध होती है। अथर्ववेद में कुष्ठ ओषधि के वर्णन कारक सूक्त(१) में कुष्ठ ओषधि का प्राचीनकाल में इक्ष्वाकु काम्य तथा वस द्वारा ज्ञान होने के निर्देश से प्रतीत होता है कि प्राचीन काल से ही ओषधियों का अन्वेषण तथा ज्ञान बहुत से लोगों को था। इतना ही नहीं, अपितु वैदिक मन्त्रों से उस समय हजारों ओषधियों तथा सैकड़ों वैद्यों के होने का ज्ञान भी मिलता है। और वैदिक काल में ही नहीं, अपितु **'या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा'** इत्यादि वैदिक मन्त्रों से भी ज्ञात होता है कि तीनों युगों से पूर्व भी ओषधियों का ज्ञान था।

वैदिक नक्षत्र इष्टि में शतभिषक् नामक नक्षत्र का तथा याज्या, अनुवाक्या और तैत्तिरीय(२) मन्त्रों में वरुण तथा शतभिषक् नक्षत्र का सैकड़ों ओषधियों को पूर्ण करके आयुष्य को देने वाले के रूप में उल्लेख मिलता है। इस लिये इस मन्त्र के अनुसार सैकड़ों ओषधियों को देने वाले इस नक्षत्र का उस नाम से व्यवहार प्राचीन प्रतीत होता है। वहीं दूसरे ब्राह्मण वाक्यों में शतभिषक् का एक अन्य निवर्चन(३) दिया है कि **'असुरप्रहारशतस्य चिकित्सनेन देवानामारोग्यलब्धिर्यस्मिन्नक्षत्रे बभूव स एव शतभिषक् इति'** अर्थात् जिस नक्षत्र में चिकित्सा द्वारा असुरों के सैकड़ों प्रहारों से देवताओं को आरोग्य लाभ हुआ हो वह शतभिषक् नक्षत्र है। कृत्तिका आदि नक्षत्रों का काल गणना से भी अत्यन्त प्राचीन सिद्ध होता है। उनमें से एक नक्षत्रवाचक शतभिषक् छन्द का वैदिक काल में भी अनुसन्धान करने पर प्रतीत होता है कि लाखों ओषधियों, उनके उपयोग तथा लाभों का अत्यन्त प्राचीनकाल से ही ज्ञान था।

उपनिषदों(४) में भी आध्यात्मिक प्रक्रियाओं में नाडी आदि का ज्ञान मिलता है। योगमार्ग में भी शारीरिक प्राणवह सूक्ष्म नाडियों का अनेक प्रकार का ज्ञान तथा आन्तरिक वायु के इच्छानुसार सञ्चार तथा निरोध आदि में कुशलता का वर्णन मिलता है। तान्त्रिक पद्धति में भी षट्चक्रभेदन, भिन्न २ स्थानों से वर्णों की उत्पत्ति, मूर्धाभाग में कान, आंख, नाक आदि से संबन्ध रखने वाली इन्द्रियों का ज्ञान कराने वाली नाडियों का अनुसन्धान, ज्ञानवहा नाडियों का केन्द्रस्थानीय गुरुपद (प्रधानस्थान) में कुण्डलिनी से उत्पन्न हुई जीवशक्ति के संयोग से लाभ तथा आस्वादन आदि आन्तरिक ज्ञान के होने का वर्णन मिलने से इस विषय में उनका अन्तर्मुखी ज्ञान प्रकट होता है। महेञ्जोदारो के भूगर्भ में उपलब्ध योगावस्था की मूर्तियों की रचना को देखकर भी प्रतीत होता है कि यौगिक आन्तरिक क्रियाओं का विज्ञान प्राचीन था। वसन्त(५) जी. रेले (V. G. Rale) ने वैदिक मन्त्रों में आये हुए आन्तर नाडी चक्र तथा उनके अधिष्ठातृदेवों के विषय में बहुत सा प्रकाश डाला है।

* वैदिक कालीन भारतीय लोगों की अभिरुचि पर्याप्त पहले ही शारीर शास्त्र के महत्त्वपूर्ण प्रश्नों की ओर आकृष्ट हो गई थी। अथर्ववेद के एक मन्त्र में मानवशरीर के विविध अङ्गों का वर्णन बड़ी सूक्ष्मता और पूर्णता के साथ उपलब्ध होता है।

F. I. O. C. Proceedings Vol. II P. 415.

(१) १-५ तक की टि० सं० उपो० पृ. ११०-१११ देखें।

(१) १-५ तक की टि० सं० उपो० पृ. १११ का० १-२ देखें।

याज्ञवल्क्य (१) स्मृति में योग के द्वारा शरीर की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए विवरण सहित ३६० अस्थियों, प्राणों के आयतन, ७०० शिराओं, ९०० स्नायुओं, २०० धमनियों, ५०० मांसपेशियों, रसों के परिमाण वाले केश, रोम आदि तथा हृदय से निकली हुई ७२ हजार नाडियों का निरूपण करके इस विज्ञान को योग के लिये उपयोगी बतलाया है। रामायण तथा महाभारत में भी शस्त्र वैद्यक के विषय के होने का निर्देश किया जा चुका है। कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी शस्त्रवैद्यक से संबन्धित बहुत से विषय मिलते हैं। उसके चौदहवें औपनिषद अधिकरण में परघात, अद्भुत उत्पत्ति वाली भैषज्य, मन्त्रयोग तथा अपनी सेना के नाश के प्रतीकार संबन्धी बहुत सी औषधियों के प्रयोग दिये हुए हैं।

वेद संसार के सब साहित्यों में श्रेष्ठ माना जाता है। पूर्व निर्दिष्ट प्राचीनतम हिताइती (Hittites) तथा मित्तानी (Mittani) जातियों के पारस्परिक सन्धिशिलालेख में नासत्य, मित्र, वरुण तथा इन्द्र आदि वैदिक देवताओं के साक्षिरूप में उल्लेख का अनुसन्धान करने पर उस समय अपनी प्रतिज्ञा के पालन में साक्षीरूप से किये गये वैदिक देवताओं के उल्लेख से वैदिक सभ्यता की केवल तात्कालीनता ही सूचित नहीं होती है अपितु उस समय तथा उतने दूर अन्य भाषा तथा अन्य जातियों के शिलालेख में भी वैदिक देवताओं के साक्षीरूप में निर्देश तथा उद्धरण के मिलने से वैदिक सभ्यता की सर्वोपरिभाव से प्रतिज्ञा तथा प्रचार के साथ २ पूर्व-परम्परा द्वारा अनुवृत्ति तथा अत्यन्त प्राचीनता भी सूचित होती है। और इतना ही नहीं अपितु ऋग्वेद आदि वैदिक साहित्य में अनेक स्थानों पर आये हुए भैषज्य विद्या के प्राचीन आचार्य नासत्यों का भी इस शिलालेख में उल्लेख होने से भैषज्य विज्ञान की भी प्राचीनता सूचित होती है।

इसके अतिरिक्त वैदिक यज्ञों में अश्वमेध की बड़ी प्रतिष्ठा समझी जाती थी। प्राचीन इतिहास में अनेक शक्तिशाली राजाओं द्वारा चारों ओर के राजाओं को वश में करके अपने गौरव के बढ़ाने तथा पारलौकिक कल्याण की प्राप्ति के लिये इस यज्ञ के अनुष्ठान का अनेक स्थानों पर वर्णन मिलता है। वैदिककाल से प्रवर्तित इस यज्ञ को अन्ततो गत्वा वैदिक धर्म के पुनरुद्धारक पुष्यमित्र द्वारा भी किया गया था जिससे उसकी बहुत प्रतिष्ठा बढ़ गई। समुद्रगुप्त के शिलालेख में भी इस यज्ञ का सम्मानपूर्वक उल्लेख किया गया है। इस यज्ञ का प्रायः श्रुतियों की सभी शाखाओं, संहिताओं, ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा श्रौतसूत्रों में निर्देश मिलता है। इस अश्वमेध के समय राजाओं की परिषद् में महर्षियों के सम्मुख वर्ष भर गाई जानेवाली भिन्न २ गाथाओं में तीसरे दिन भेषज विद्या के कीर्तन किये जाने का आश्वलायन(२) तथा शाङ्ख्यायन(३) सूत्र में भी निर्देश मिलता है। मैक्समूलर(४) (Moxmuller) का भी कहना है कि अश्वमेध में भेषज विद्या का कीर्तन किया जाता था चरणव्यूहकार ने ऋक्, यजु, साम तथा अथर्व प्रस्थानों की सैकड़ों तथा हजारों शाखाओं के विभक्त होने का प्रतिपादन किया है। कालक्रम से बहुत सी शाखाओं के नष्ट हो जाने पर भी आजतक अनेक शाखाएं उपलब्ध होती हैं। कुछ अन्य शाखाओं के जो श्रौत एवं स्मार्त सूत्र उपलब्ध होते हैं उनसे उन २ मूल श्रुति शाखाओं के विलोप होने का अनुमान होता है। ये वेद आनुश्रविक प्रक्रिया से उन २ शाखाओं के रूप में अत्यन्त प्राचीन काल से असंख्य आर्य महर्षियों के भावनाओं, हृदयों तथा मुखों में ओतप्रोत हुए अपनी चारों ओर फैली हुई गौरवपूर्ण स्थिति को सूचित करते हैं। इस प्रकार के वैदिक सम्प्रदाय में अश्वमेध सदृश महत्त्वपूर्ण यज्ञ के अङ्गरूप में भेषज संबन्धी आख्यान का गान होता था। इससे श्रुतियों की अध्ययन तथा अध्यापन प्रक्रिया, निरन्तर पारायण तथा अभ्यास, याज्ञिक कल्प, प्रयोग, चर्चा, अनुष्ठान तथा ऋत्विक् आदियों के द्वारा आर्ष विचारों में चारों ओर से ओतप्रोत होने के कारण मन्दिर आदियों में मिलने वाले कुछ भैषज्यसंबन्धी लेखों तथा कहीं २ मिलनेवाले शिलालेखों में आये हुए भैषज्य संबन्धी विषयों से पूर्व प्रतिष्ठित वैद्यक सभ्यता के उदय के साथ २ भारतीय भैषज्य-प्रस्थान के महत्त्व, व्यापक स्थिति तथा प्राचीनता सिद्ध होती है। इस प्रकार नाना शाखा-प्रशाखाओं में फैले हुए ऋक्, अथर्व आदियों में भी इसके विषयों के व्याप्त होने से, याज्ञिक प्रक्रियाओं में भी इसका कीर्तन होने से तथा आयुर्वेद नाम से वैदिक प्रस्थान के प्राचीन काल से ही विभक्त होने से प्राचीन भारतीय वैदिक मूलरूपी स्रोत से परम्परा द्वारा प्रवृत्त इस भारतीय भैषज्य विज्ञान की प्राचीनता निश्चित रूप से प्रकट होती है। कोलब्रुक (Mr. Colebrooke) नामक विद्वान् ने इसके विषय में कहा है कि—'The Hindoos were teachers and not learners' अर्थात् हिन्दू सदा गुरु रहे हैं न कि शिष्य। तथा मोनियर विलियम्स ने कहा है कि—'Is not the case……' (मूल उपोद्घात पृ० ११२ देखें) सभ्यता एवं प्रकाश के प्रथम अङ्कुर सदा पूर्व में ही उदित हुए हैं तथा पूर्व से पश्चिम की ओर ही सदा उनका प्रचार हुआ है न कि पश्चिम से पूर्व की ओर।

भारतीय भूगर्भ के अनुसार प्राचीन भैषज्यविषयक विमर्श—

जिस भारत की प्राचीन सभ्यता मिश्र, मैसोपोटामिया आदि प्राचीन देशों की सभ्यता के साथ सादृश्य रखती हुई उनसे भी आगे बढ़ी हुई है उस भारत के मोहेञ्जोदारो प्रदेश की खुदाई में मिले हुए प्राचीन निवास स्थान, स्नानागार तथा मलप्रणाली आदि की स्थापत्य विद्या के पण्डितों द्वारा भी प्रशंसित प्राचीन निर्माण कला से पांच हजार वर्ष पूर्व भी भारतीय स्वास्थ्य विज्ञान (Hygenic condition) का पूर्णरूप से परिचय मिलता है, वहीं खुदाई में एक काले रंग का बड़ा गोला सा मिला है जिसका अनुसन्धान एवं परीक्षा करके डा० सनाउल्ला नामक रसायनाचार्य (Chemist) तथा डा० हमीद ने कहा है कि—'यह शिलाजीत का पत्थर है जो कि पर्वतीय प्रदेश से वहां आया है, यह मूत्ररोग आदि में प्रयुक्त होता है तथा विशेषरूप से यह औषध कार्य में ही प्रयुक्त होता है।' जान* मार्शल ने भी परीक्षकों के इस प्रकार के परिणामों के

(१) १-४ की टि. सं० उपो. पृ. ११२, का० १ में देखें।

* DK प्रदेश तथा VS प्रदेश में पाया गया कोयले जैसे काले पदार्थ का टुकड़ा बहुत दिनों तक एक समस्या बना रहा……

सहित इसका विवरण प्रकाशित किया है। इस प्रकार वहां शिलाजीत के मिलने से भैषज्य विद्या पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। धन्वन्तरि, आत्रेय तथा कश्यप आदियों ने भी अनेक स्थानों पर शिलाजीत के उपयोग का निर्देश किया है। नावनीतक में भी इसका प्रयोग दिया हुआ है। जिस शिलाजीत की उत्पत्ति उस प्रदेश में नहीं होती अपितु दूर के पर्वतीय प्रदेशों से उसे लाया गया है, उसका भैषज्य के रूप में प्राचीन आचार्यों ने भी निर्देश किया है। तथा उसके रसायन कल्प एवं महिमा का भारतीय आयुर्वेद में वर्णन है। चिरकाल तक भूगर्भ में दबने से नष्ट हुई ओषधियों का न मिलना स्वाभाविक ही है परन्तु भाग्यवश जो कोई ओषधि अथवा वस्तु मिली भी है, उस असाधारण वस्तु के चिरकाल के बाद मिलने से भारतीय प्राचीन वैद्यक का गौरव ही बढ़ता है। इतने प्राचीन समय में और कौन से वैद्यक चिह्नों के प्राप्त होने की आशा की जा सकती है। वहीं भूगर्भ से वहां उत्पन्न न होकर हिमालय में उत्पन्न होनेवाले हरिणों के सींगों के अनेक ढेर मिलते हैं। आथर्वण(१) संहिता में हरिण के सींगों का क्षेत्रिय (क्षय, कुष्ठ, अपस्मार आदि) रोग के प्रतीकारार्थ उपयोग मिलने से तथा वैदिक काल में भी भेषजरूप से उसके उपयोग का उल्लेख होने से प्रतीत होता है कि यहां मिलने वाले हरिण के सींगों का, ओषधि रूप में प्रयोग करने के लिये ही संग्रह किया गया होगा। हरिण के सींगों को आजकल भी भारतीय वैद्य ओषधियों में प्रयुक्त करते हैं। इस विषय में जान मार्शल ने भी लिखा है कि हरिण के सींगों का ओषधियों अथवा वाणिज्य के लिये संग्रह किया गया होगा।

वहां पर बहुत से धातु अथवा मिट्टी के खिलौने भी मिले हैं। काश्यपसंहिता के जातकर्मोत्तरीय अध्याय में तथा चरक के जातिसूत्रीय अध्याय में भी बालकों के विनोद तथा बुद्धि के विकास के लिये अनेक प्रकार के पशु-पक्षियों की आकृति वाले खिलौनों का वर्णन मिलता है। खिलौनों का आयुर्वेद के साथ संबन्ध होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इस प्रकार इतिहास के अनुसार भी भारतीय चिकित्सा विज्ञान पांच हजार वर्ष से प्राचीन सिद्ध होता है।

भारत सरकार के पुरातत्त्व विभाग के कैमिस्ट श्री सनाउल्ला महोदय उस काले पदार्थ की जांच करने में कृतकार्य हुए हैं। यह स्याही का टुकड़ा नहीं है। यह एक प्राचीन ओषधि है जिसे शिलाजीत कहते हैं और जो आजकल भारत में खूब प्रयोग में लाई जाती है और अनेक रोगों को अच्छा करती है। अजीर्ण, मधुमेह तथा यकृत् एवं प्लीहा के रोगों के लिये यह अतिशय उपयोगी है। यह हृदय की प्रक्रिया को नियमित करती है तथा श्वाससंस्थान के लिये हितकारी है। यह उत्तेजक और कफनिस्सारक है।

डा० हमीद द्वारा किया गया इस पदार्थ का विश्लेषण प्रथम परिशिष्ट में दिया गया है। यह काला शिलाजीत चट्टानों में से निकलता है जो कि महेंजोदारों में पाये गये हैं। यह हिमालय की अधोवर्ती, मध्यवर्ती और ऊपर की पर्वत श्रेणियों में पाया जाता है।

— Mohenjodaro & the Indus Civilization Vol. II by John Marshall.

(१) इसकी टि० सं. उपो० पृ० ११३ में देखें।

भिन्न २ देशों के प्राचीन भैषज्य के विमर्श की आवश्यकता

यहां यह कह देना आवश्यक है कि जिस प्रकार महेंजोदारो की खुदाई का अनुसन्धान करने से भारतीय सभ्यता पांच हजार वर्षों से प्राचीन सिद्ध होती है उसी प्रकार प्राचीन लेख तथा वस्तु आदियों के चिह्नों के मिलने से मिश्र, बेबिलोनिया, सीरिया तथा चीन आदि देशों की सभ्यता भी चार-पांच हजार वर्ष प्राचीन निश्चित होती है। इन प्राचीन सभ्य तथा उन्नत देशों में प्राचीन काल में भी ज्ञान-विज्ञान की विशेषता अवश्य रही होगी तथा जीवन के लिये उपयोगी व्यावहारिक भैषज्य विद्या का होना तो और भी आवश्यक है। प्राचीन उन्नत देशों के भैषज्यसंबन्धी अपने पूर्व स्रोत भी होंगे। पेपरी नामक त्वक्पत्र में पल्लीरुधिर, सूअर आदियों के मांस तथा मेद, कच्छप-मस्तिष्क तथा मनुष्य शुक्र आदि बहुत सी ऐसी असाधारण ओषधियां मिलती हैं जिनका भारतीय आयुर्वेद सम्प्रदाय में निर्देश नहीं मिलता है। इस प्रकार की ओषधियां उसी देश के प्राचीन स्रोतों से निकली हुई प्रतीत होती हैं। इसी प्रकार अन्य देशों में भी बहुत से ऐसे असाधारण विषय हो सकते हैं जो उसी देश के प्राचीन सम्प्रदाय से निकले हुए प्रतीत होते हैं। बाह्लीक भिषक् काङ्कायन का निर्देश होने से यह कहा जा सकता है कि अन्य भी बहुत से विदेशी चिकित्सक भारतीयों द्वारा तथा भारतीय चिकित्सक विदेशियों द्वारा ज्ञात थे। काश्यपसंहिता के खिलभाग के सूतिकोपक्रमणीय अध्याय में दिये हुए **'वैदेश्याश्च प्रयच्छन्ति विविधा म्लेच्छजातयः'** उल्लेख से प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ के आचार्य को भी भारत से बाहर की बहुत सी म्लेच्छ जातियों का ज्ञान था। म्लेच्छ शब्द महाभारत तथा हरिवंश आदि प्राचीन ग्रन्थों में भी मिलता है। ययाति की कथा में पिता की आज्ञा का पालन न करने से तुर्वसु तथा अनुद्रुह्यु का शाप के कारण वेदबाह्य म्लेच्छ जातियों के वंशप्रवर्तक के रूप में उल्लेख किया गया है। कोशकार के **'प्रत्यन्तो म्लेच्छदेशः स्यात्'** इस उल्लेख के आधार पर संभवतः भारत की सीमाओं पर स्थित देश के म्लेच्छों की ओर यह निर्देश प्रतीत होता है। पाणिनीय धातुपाठ में भी 'म्लेच्छ' धातु दी हुई है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने **'तेऽसुराः हेलयो हेलय इति पराबभूवुस्तस्मान्म्लेच्छा मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम्'** में असुरों का म्लेच्छ जाति के रूप में उल्लेख किया है। सिन्धु नदी के किनारे उपलब्ध वस्तुओं में अनेक समानताओं के कारण इरानियन् तथा असीरियन् आदि प्राचीन म्लेच्छ जातियों का भारतीयों के साथ परस्पर परिचय का ज्ञान होने से संभवतः उस समय प्रसिद्ध इरानियन् तथा असीरियन् आदि भारत से बाहर की विविध उन्नत म्लेच्छ जातियों का म्लेच्छ शब्द से निर्देश किया गया हो। इन विदेशी म्लेच्छ जातियों का उल्लेख इस संहिता के खिलभाग में होने से प्रतीत होता है कि जीवक अथवा वात्स्य के समय अन्यदेशीय चिकित्साओं का भी ज्ञान होने से संभवतः उसने ऐसा निर्देश किया हो। चरक के विमान स्थान में भी **'विविधानि हि भिषजां शास्त्राणि प्रचरन्ति लोके'** के द्वारा उस समय व्यवहार में अनेक चिकित्सा पद्धतियों के प्रचार का निर्देश किया गया है। आजकल सौरचिकित्सा

(सूर्य चिकित्सा), जलचिकित्सा, भैषज्यचिकित्सा तथा शस्त्र-चिकित्सा आदि अनेक चिकित्साओं के प्रचार के समान उस समय भारत तथा विदेशों में भी अन्य प्रक्रियाओं के द्वारा भी भैषज्य प्रचार का ज्ञान होता है। वैदिक काल से प्रवृत्त भारतीय आयुर्वेद सम्प्रदाय के भारतीय ही सिद्ध होने पर भी कालक्रम से न्यूनाधिक रूप में भारतीय विषयों का विदेशी सम्प्रदायों में तथा विदेशी विषयों का भारतीय सम्प्रदाय में अनुप्रवेश हो गया प्रतीत होता है। भिन्न २ प्राचीन देशों की चिकित्साओं के यथावत् अनुसन्धान के बिना केवल सामान्य ज्ञान के आधार पर यह कहना कठिन है कि उनके तत्कालीन भैषज्य-संबन्धी ज्ञान का क्या स्वरूप था तथा उनकी चिकित्सा के विषय अपने ही देश के असाधारण प्राचीन स्रोत से निकले हुए थे अथवा अन्यदेशीय स्रोतों से उनका उद्गम हुआ था। भिन्न २ स्थानों पर मिलने वाले भिन्न २ विषयों को देखकर हम केवल अनुमान ही कर सकते हैं। इस विषय का निश्चित ज्ञान कुछ नहीं हो सकता है। प्राचीन देशों के प्राचीन विषयों को लेकर यदि पृथक् २ प्रत्येक की यथावत् आलोचना की जाय तो संभवतः हमें कुछ परिणाम निकालने में सहायता मिल सकती है कि उस समय अमुक २ अंशों में इन सम्प्रदायों में समानता थी, तथा अमुक अंश में विषमता थी। समान विषयों का भी अमुक सम्प्रदाय से अमुक का उद्गम हुआ था तथा अमुक २ विषय उस २ सम्प्रदाय के अपने ही थे। कालक्रम से प्राचीन देशों की पूर्व परिस्थिति का यथावत् ज्ञान कराने वाले बहुत से चिह्नों के लुप्त हो जाने से सम्पूर्णरूप से ज्ञान होना यद्यपि कठिन है तथापि जो अवशिष्ट चिह्न उपलब्ध होते हैं उनके आधार पर भी उनकी अन्तः स्थिति का बहुत कुछ ज्ञान हो सकता है। मिश्र में प्राचीन भैषज्य संबन्धी त्वक्पत्र तथा रोगप्रतीकार व्यवस्थापत्र (Prescription forms) आदि उपलब्ध हुए हैं, असीरिया में हेमूर्वन् राजा के समय के भैषज्य विषयक तेरह शिला-लेख मिले हैं, इरान के प्राचीन अवेस्ता नामक ग्रन्थ के वेन्दिदाद, यश्न तथा यश्त प्रकरणों में भैषज्य संबन्धी विषय मिलते हैं तथा बृटिश म्युज़ियम के संग्रहालय में रखे हुए सुमेरिया प्रदेश के भूगर्भ से निकली हुई ईंटों पर खुदे हुए जो शिलालेख मिले हैं उनमें भी भैषज्य संबन्धी विषय मिलते हैं। चीन में भी प्राचीन भैषज्य सम्बन्धी विषय मिलते हैं। इसी प्रकार अन्वेषण करने पर अन्य भी बहुत से विषय मिल सकते हैं। सब ओर दृष्टिपात किये बिना केवल अपने सम्प्रदाय अथवा चिकित्सापद्धति को ही मौलिक कहने से व्यक्ति वास्तविकता पर नहीं पहुंच सकता। इसलिये इस समय आवश्यकता इस बात की है कि प्राचीन इतिहास, महेंजोदारो के भूगर्भ से निकली वस्तुओं तथा प्राचीन विचारों को सामने रखकर पांच हजार से अधिक वर्षों की सभ्यता वाले तथा प्राचीन काल में भी परस्पर परिचय, यातायात तथा सम्पर्क वाले भारत, मिश्र, इरान, चाल्डिया, बाह्लीक, बेबिलोनिया, सीरिया तथा चीन आदि प्राचीन देशों के जितने भी भैषज्य सम्बन्धी विषय मिले हैं अथवा मिलते रहते हैं उन सब को सामने रखकर तथा भारतीय प्राचीन आयुर्वेद की परिस्थिति का भी अनुसन्धान करके समानता तथा विषमता की तुलना की दृष्टि से यह देखना चाहिये कि कहां के कौन से विषय कहां हैं, कौन सा विषय कहां से प्रतिफलित हुआ है तथा किस विषय का प्रभाव अथवा आलोक किस विषय पर पड़ा है इत्यादि। दूसरे देशों के आलोक को धारण करने वाले तथा अर्धवयस्क ग्रीक वैद्यक के भारतीय वैद्यक पर प्रभाव की शंका बिलकुल निर्मूल है।

(५) उपसंहार

प्राचीन आचार्यों का गौरव—

विद्वानों को यह ज्ञात ही है कि प्राचीन समय में धन्वन्तरि, कश्यप तथा आत्रेय आदियों द्वारा विचारों की कसौटी पर कस कर उज्ज्वल किये हुये सिद्धान्तरूपी रत्नों को आजकल पाश्चात्य विज्ञान की चमक से चकाचौंध दृष्टि वाले विद्वान् भी अत्यन्त संमान के साथ देखते हैं। इससे प्रतीत होता है कि प्राचीन महर्षियों का विज्ञान सागर कितना अगाध था जिसमें आज भी रत्नों की कमी नहीं है। ये अत्युच्च ग्रन्थ ही भारत की प्राचीन विभूतियां हैं। आजकल मिलने वाले सब निबन्धों में इन्हीं ग्रन्थों की ही प्रधानता दिखाई देती है। सूक्ष्म दृष्टि से विषयों का अनुसन्धान करने पर इन ग्रन्थों के प्रत्येक वाक्य सार एवं निष्कर्ष पूर्ण तथा सूत्रमय दिखाई देते हैं जिन्हें परिष्कृत बुद्धि वाले विद्वान् अपने प्रवचनों से विशाल विषय का रूप देसकते हैं। इनमें से परिश्रम करने वाले लोग भूगर्भ से नाना रत्नों के समान असंख्य सिद्धान्त रत्नों को ढूंढ कर निकाल लेते हैं। प्राचीन समय में मिलने वाले इस प्रकार के सुसंस्कृत विचारों से तत्कालीन विचारों की उन्नति का सम्यक् ज्ञान होता है परन्तु उसके बाद विचारों की वृद्धि का एक भी ऐसा उदाहरण नहीं मिलता है। शल्यचिकित्सा का सुश्रुतसंहिता के बाद वाग्भट आदि दो तीन विद्वानों ने लेशरूप से ही निर्देश किया है तथा उसमें भी सौश्रुतविज्ञान की ही आंशिक छाया दिखाई देती है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी जीवक के समय तक यह विज्ञान हमें दिखाई देता है। इतनी उन्नत अवस्था में पहुंचा हुआ यह विज्ञान सहसा कहां लुप्त हो गया है? इसका कारण संभवतः शस्त्रक्रिया में लेशमात्र विपरीतता से भी अनर्थ की संभावना हो, अथवा शस्त्र क्रिया के भीषण होने के कारण उसे छोड़ दिया गया हो, शान्तिप्रिय ब्राह्मणों द्वारा उसकी उपेक्षा की गई हो या धर्मशास्त्रकारों द्वारा चिकित्सावृत्ति की निन्दा की होने के कारण, अध्यात्मवाद की दृष्टि से इसमें हिंसा के दिखाई देने से अथवा अहिंसावाद और दशपारमिता* सिद्धान्त के विकसित होने से इसका लोप हो गया हो। यह नहीं कहा जासकता कि इनमें से कौनसा कारण सामने आया जिससे सर्वोपकारी वह विज्ञान, वह हस्तकौशल- वह उपदेश परम्परा तथा वह उपकरणों का परिष्कार

* दश पारमिता—बौद्ध धर्मग्रन्थों में बुद्धत्व प्राप्ति के लिये दश गुणों की पराकाष्ठा तक पहुंचना आवश्यक बताया गया है। ये दस गुण 'पारमिता' कहलाते हैं। पारमिता का अर्थ है उच्चतम अवस्था या पूर्णता (Perfections) जिससे मनुष्य भवसागर से पार हो जाता है। ये निम्न दस हैं—१. दान २. शील ३. क्षान्ति ४. वीर्य ५. ध्यान ६. प्रज्ञा ७. उपाय ८. प्रणिधान ९. बल १०. ज्ञान।

इत्यादि द्रुतगति से ह्रास को प्राप्त होता हुआ विद्वत्समाज के हाथ से निकल कर आजकल भारत में विद्याविज्ञान से शून्य नापित जाति (नाइयों) में लेशरूप से मिलता है। धन्वन्तरि सदृश पूर्वाचार्यों द्वारा उन्नत की हुई वह प्राचीन विद्या आजकल ऐसे व्यक्तियों के हाथों में पड़कर उत्तरोत्तर ह्रास को प्राप्त होती हुई दीप निर्वाण के समान समाप्ति की प्रतीक्षा कर रही है। गुणग्राही तथा उन्नत पाश्चात्त्य विद्वानों ने आजकल अपने अथक विचारों, परिष्कारों तथा नये २ प्रयोगों एवं अनुभवों से परिवर्तित एवं रूपान्तरित करके, शल्यविद्या, गर्भभैषज्य, बालभैषज्य, कायचिकित्सा तथा विकृति-विज्ञान में विशेष रूप से उन्नति करली है, जिससे आजकल अपने प्राचीन विद्याबल एवं पूर्वगौरव को भूले हुए भारत में भी चारों ओर फैली हुई पाश्चात्त्यचिकित्सा के विज्ञानयुक्त कुशलता से उपकार हो रहा है। केवल शल्यचिकित्सा को ही यह अवस्था नहीं है अपितु शालाक्य आदि अन्य विज्ञान तो उत्पन्न होते ही जीर्ण-शीर्ण हो गये थे। हां, कायचिकित्सा में अवश्य बाद में भी भैषज्य विद्या के हजारों पण्डित उत्पन्न हुए हैं तथा सैकड़ों वैद्यक ग्रन्थ लिखे गये हैं जिन्हें यदि एकत्र किया जाय तो आज भी एक विशाल ग्रन्थराशि मिल सकती है। परन्तु आत्रेय आदि महर्षियों के समय आन्तरिक विज्ञान के बल से उत्पन्न हुए जिन सिद्धान्तों एवं विचारों के कारण आयुर्वेद उन्नत एवं समृद्ध हुआ था, वैसे उन्नत एवं नवीन विचार उसके बाद प्रकाशित नहीं हुए हैं। केवल प्राचीन सिद्धान्तों को ही भङ्गीभेद से दिखाकर अथवा नवीन अनुभूत ओषधियों द्वारा संवर्धित करके प्राचीन ग्रन्थों के केवल अनुवाद अथवा संग्रहरूप में नवीन शरीरों को धारण करके भिन्न २ निबन्ध हमारे सामने उपस्थित होते हैं। जहां तक भैषज्य का प्रश्न है हम देखते हैं कि नवीन योगौषधियों के आविष्कार तथा नवीन अनुभवों के अनुसार ग्रन्थों के निर्माण द्वारा धातु तथा रस ओषधियों में वृद्धि होती हुई दिखाई देती है। आजकल भी आयुर्वेद के वैद्य सब स्थानों पर इसी के मार्ग को ग्रहण करके उसके उपयोग तथा प्रयोगों से सफलता प्राप्त कर रहे हैं और यदि हम यह कहें कि यही विषय आयुर्वेद के अन्य प्रस्थानों के नाम की भी रक्षा कर रहा है तो यह कोई अत्युक्ति नहीं होगी। प्राचीन महर्षियों के समान उसके बाद के वैद्य भी यदि अपने विचार विमर्श के अनुसार नये २ सिद्धान्तों का आविष्कार करते, प्राचीन सिद्धान्तों का परिष्कार कर, अपूर्ण अंशों को पूर्ण करते, अपने अनुभव के अनुसार नये २ संस्कार करते, उच्च विचारों वाले प्रौढ निबन्धों की पुनः २ रचना करते तो भारतीय आयुर्वेद भी इतने समय में उन्नति के शिखर पर पहुंच जाता। आजकल बहुत से विद्वान् वैद्य कालवश तथा उपेक्षा से ह्रास को प्राप्त हुए भारतीय आयुर्वेद के प्राचीन गौरव को दृष्टि में रखते हुए उसके प्रचार तथा परिष्कार के लिये नवीन विचारपूर्ण निबन्धों, प्रचार संस्थाओं, परिष्कृत मार्गों तथा औषध निर्माणशालाओं के द्वारा प्रयत्न में लगे हुए दिखाई देते हैं। आजकल श्रीयुत गणनाथ सेन जी द्वारा प्रत्यक्ष शारीर तथा सिद्धान्त निदान का निर्माण करके प्राचीन शारीरिक अवयव तथा रोगनिदान के विषय में बहुत से विशेष विचार प्रकट किये गये हैं। इसी प्रकार कविरत्न श्रीयामिनीभूषण राय ने रोगविनिश्चय, शालाक्य, विष तथा प्रसूति के विषय में छोटे २ तन्त्रों का निर्माण किया है तथा डा० बालकृष्ण शिवराम मुञ्जे ने नेत्र चिकित्सा के विषय में कोई ग्रन्थ लिखा है। इन संस्कृत भाषा के नवीन निबन्धों को देखकर बहुत आशा दिखाई देती है। जराजीर्ण हुई भी यह भारतीय आयुर्वेद विद्या जागरूक, सूक्ष्म बुद्धि वाले तथा उद्योगी भारतीय एवं विदेशी विद्वानों के सहयोग रूपी रसायन से ही संभवतः च्यवन ऋषि के समान पुनः यौवन को प्राप्त करले। समयवश बहुत से विषयों में वैज्ञानिक प्रकृति, परिष्कृत रासायनिक प्रक्रियाओं, नवीन आविष्कृत दूरवीक्षण तथा अन्तर्वीक्षण आदि विशेष यन्त्रों, भिन्न २ देशों के विद्वानों के साथ साक्षात् अथवा लेख, निबन्ध आदि के द्वारा विमर्श, शारीरिक अवयवों की सूक्ष्म दृष्टि तथा नवीन विचार युक्त सैकड़ों निबन्धों के प्रकाशन के कारण आजकल पाश्चात्त्य विद्वानों द्वारा उन्नत तथा अनेक शाखायुक्त भैषज्य विद्या की आलोचना करते हुए प्राचीन भारतीय आयुर्वेद विद्या कुछ लोगों को आजकल स्थूल एवं बालक्रीडा भले ही प्रतीत हो, किन्तु प्राचीन समय में जब कि विचार विमर्श के लिये दुर्गम नदी, वन, पर्वत आदि के व्यवधान के कारण एक दूसरे देश में जाना दुष्कर था उस समय वन के मृग आदि पशुओं के साथ रहने वाले धन्वन्तरि, कश्यप, आत्रेय आदि प्राचीन आचार्यों द्वारा यन्त्र आदि भौतिक साधनों के अभाव में केवल अपनी प्रणिधान शक्ति एवं आन्तरिक बुद्धि के सहारे जो विचार आविष्कृत किये गये थे उनका आधुनिक उन्नत विज्ञान के द्वारा परिष्कृत दृष्टि वाले विद्वान् आज भी जो आदर करते हैं, वह कोई कम गौरव की बात नहीं है। भारतीय तथा अन्य विद्वान् भी चिरकाल तक उनकी इस कृपा के लिये ऋणी रहेंगे। उन प्राचीन आचार्यों का हमें सैकड़ों बार अभिनन्दन करना चाहिये।

प्राचीन ग्रन्थों का लोप तथा उनकी रक्षा—

देवयुग से ही लेकर आर्यों का यह विज्ञान-प्रवाह-संहिता, ब्राह्मण, उपनिषत्, सूत्र, तन्त्र, भाष्य, टीका, उपटीका तथा निबन्ध-रूप अनेक शाखाओं द्वारा बहता हुआ तथा ऋषियों, आचार्यों और निबन्धलेखकों की विचार धाराओं से पुष्ट होता हुआ मानव समाज का निरन्तर कल्याण कर रहा है। इसीलिये आजकल उस विज्ञान के सैकड़ों विभाग मिलते हैं तथा प्रत्येक विभाग के अनेक प्राचीन आचार्य तथा तारतम्य के अनुसार उनके विभिन्न विचार दृष्टिगोचर होते हैं। परन्तु आर्यों के मूल सर्वस्वभूत आद्यविज्ञान रूप महाकल्पतरु वेद की भी अनेक शाखायें अङ्ग तथा उपाङ्ग भी बहुत कुछ विच्छिन्न होकर विलुप्त होगये हैं। बहुत सी शाखाओं के तो नाम भी शेष नहीं रहे हैं तथा किन्हीं २ का संहिता, ब्राह्मण तथा सूत्र आदियों में कहीं २ निर्देश मिलता है। इसी प्रकार प्राचीन महर्षि आदि आचार्यों के उपदेश रूप लेख भी लुप्त होचुके हैं। किन्हीं २ मतों का केवल नाम मात्र मिलता है तथा बहुतों के नाम भी लुप्त होगये होंगे।

यदि हम आजकल किसी भी विषय के किसी एक भी उपलब्ध प्राचीन ग्रन्थ का अध्ययन करें तो उससे हमें बहुत से प्राचीन आचार्य, उनके द्वारा ज्ञात ग्रन्थ तथा विशेष २ मतों के केवल नामोल्लेख मिलते हैं। यास्क के निरुक्त से अन्य भी बहुत से वेदों के अर्थ करने वालों का ज्ञान होता है। इसी प्रकार पाणिनि के

सूत्रों से शाकल्य, गालव, गार्ग्य, आपिशलि, काश्यप तथा स्फोटायन आदि प्राचीन व्याकरणाचार्यों का तथा पाराशर्य, कर्मन्द, शिलालि, कृशाश्व आदि भिक्षु, नट तथा सूत्र आदि अन्य प्रस्थानों के आचार्यों का, कौटिलीय अर्थशास्त्र से पराशर, उशनस्, विशालाक्ष, कौणप, दन्त, भरद्वाज, वातव्याधि, बाहुदन्ती, पुत्रपिशुन आदि प्राचीन अर्थशास्त्रियों का, सायन के वेदभाष्य से मेधातिथि, शाकपूणि तथा अग्निस्वामी आदि प्राचीन वेद के व्याख्याताओं का, पूर्वोत्तर-मीमांसासूत्र से आश्मरथ्य, काशकृत्स्न, औडुलोमि, बादरी आदि प्राचीन वेदोपनिषत् के मीमांसकों का बोध होता है। इसीप्रकार उपलब्ध श्रौत स्मार्त दर्शन, ज्योतिष आदि के ग्रन्थों से भी हजारों संहिताओं, तन्त्र, सूत्र, व्याख्यान तथा निबन्धों के रचयिता महर्षि आदि तथा भिन्न २ विषयों के आचार्यों के केवल नाम मात्र का बोध होता है। बहुतसे भारतीय दार्शनिक तथा बौद्धग्रन्थ चीन तथा तिब्बती भाषाओं में अनूदित हुए केवल छायारूप में मिलते हैं। केवल हजार वर्ष प्राचीन बौद्धग्रन्थ भी सैकड़ों नष्ट होचुके हैं। इस प्रकार की रोमहर्षण घटनाएं श्रुति, स्मृति, आगम, वेदाङ्ग, उपाङ्ग, दर्शन, आदि में अथवा बौद्ध एवं जैन सम्प्रदायों में कहां नहीं मिलती हैं। इस आयुर्वेद में भी आत्रेय, सुश्रुत, भेड तथा काश्यप आदि की उपलब्ध संहिताओं के उल्लेख से काप्य, वार्योविद, वामक, वैदेह, काङ्कायन, हिरण्याक्ष, शौनक, पाराशर्य, गार्ग्य, माठर, कौत्स, मौद्गल्य, कुशिक, सुभूति, मार्कण्डेय, करवीर्य आदि बहुत से प्राचीन आयुर्वेद के आचार्यों का बोध होता है जिनमें से कइयों के स्थान २ पर वचन तथा मत उद्धृत मिलते हैं। उन आचार्यों के वे ग्रन्थ कहां लुप्त होगये हैं। यदि वे सब ग्रन्थ उपलब्ध होसकें तो एक विशाल आयुर्वेदीय ग्रन्थराशि तैयार होसकती है। केवल दो तीन उपलब्ध ग्रन्थों का ही अच्छी प्रकार अवगाहन करने से प्रतिभा एवं ज्ञान से उज्ज्वल सैकड़ों तत्त्वपूर्ण उपदेशों का ज्ञान मिलता है। इस प्रकार नाना प्रस्थानों में विभक्त प्राचीन आचार्यों के सब ग्रन्थ यदि मिल सकें तो विद्वानों को कितना लाभ होसकता है। करुणामय प्राचीन महर्षियों द्वारा विचारधारा रूपी रस से विज्ञान कल्पतरु को बढ़ाने के कारण हम उनके यद्यपि अनुगृहीत हैं तथापि पूर्ण परिपक्व फलों से हम वञ्चित ही हैं।

प्राचीन काल से ही समय २ पर होने वाले प्राकृतिक, वैकृतिक, तथा आकस्मिक क्षोभों, एक दूसरे राष्ट्रों के परस्पर होने वाले युद्ध आदि नैतिक उपद्रवों, बारम्बार होनेवाले विदेशी शासकों के विध्वंसकारक आक्रमणों, साम्प्रदायिक संघर्षों, तक्षशिला, नालन्दा तथा विक्रमशिला आदि के विशाल पुस्तकालयों के भस्मसात् एवं धूलिसात् होने तथा जल, अग्नि आदि के विप्लवों से हजारों प्राचीन ग्रन्थ लुप्त हो चुके हैं। न केवल प्राचीन काल में अपितु आजकल भी प्राचीन विद्यास्थानों में ग्रामीण पर्णशालाओं (चटशालाओं) में स्थित सैकड़ों ग्रन्थों के अग्नि के उत्पात से क्षणभर में नष्ट हो जाने से तथा बहुत से प्राचीन विद्वानों द्वारा संगृहीत ग्रन्थों के भी अब उनके परिवार तथा संतति में संरक्षक के अभाव से, अनास्था से तथा भट्टी, नदी प्रवाह, बाजारों में फैलने, भूगर्भ एवं धूलराशि में अनिश्चित काल तक पड़े रहने से, पुराने होकर जीर्ण-शीर्ण हो जाने से तथा दीमक आदि कीड़ों से खाये जाने के कारण बचे हुए ग्रन्थ भी उत्तरोत्तर नष्ट होते जा रहे हैं। इस सबको देखकर किस विद्यानुरागी का हृदय दुःख से नहीं फटने लगता। अनेक विज्ञानों से पूर्ण इस प्राचीन कोश का इस प्रकार से नष्ट हो जाना बड़े दुःख की बात है।

इस प्राचीन विद्या को नाश से बचाने के लिये आजकल सैंकड़ों प्रयत्नशील, गुणग्राही एवं दयालु भारतीय तथा पाश्चात्त्य विद्वान् इधर-उधर घूम २ कर अन्वेषण करते हुए विनाशोन्मुख बहुत से प्राचीन ग्रन्थों को ढूंढ २ कर निकाल रहे हैं। खोटान् प्रदेश के भूगर्भ से निकले हुए बावर मैन्युस्क्रिप्ट नाम से प्रसिद्ध नावनीतक आदि बहुत से प्राचीन लेख आजकल खण्डित अवस्था में मिले हैं। बहुत से लोग चीन, तिब्बत आदि देशों में जाकर वहां मिलने वाले मूल लेखों तथा अनुवादों से कुछ ग्रन्थों को उपस्थित करते हैं। इन लोगों का प्रयत्न अत्यन्त प्रशंसनीय है। अब विनाशोन्मुख प्राचीन विद्या की रक्षा एकमात्र गुणग्राही विद्वान् तथा श्रीमान् (धनी) व्यक्ति ही कर सकते हैं। धनीमानी लोगों का कर्तव्य है कि जो प्राचीन ग्रन्थ अभी तक अवशिष्ट हैं उनको परिश्रम से भी ढूंढकर प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये।

पुरातन वस्तुएं बाह्य तथा पुरातन लेख प्राचीन समय की अन्तः परिस्थिति को सूचित करती हैं। अतीत समय की अवस्था को जानने के लिये इनके अतिरिक्त और कोई साधन नहीं है। प्राचीन काल की जो भी वस्तुएं तथा लेख आदि उपलब्ध होते हैं उनमें न्यूनाधिक भाव से कुछ न कुछ प्राचीनता की झलक मिलती ही है। थोड़े बहुत समय के पौर्वापर्य वाले प्राचीन सभ्यता के समान सूत्रों में बंधे हुए असीरिया, बेबिलोनिया, सुमेरिया तथा मिश्र आदि प्राचीन जातियों के पाश्चात्त्य देशों में भी काल धर्म से होने वाले अलेक्जेण्ड्रिया के विशाल पुस्तकालय के अग्निकाण्ड आदि तथा समय २ पर होने वाले राजनैतिक तथा साम्प्रदायिक विप्लवों से उनकी बहुत सी प्राचीन ऐतिहासिक वस्तुएं नष्ट हो गई हैं। तथापि उनमें अनेक वस्तुओं तथा लेखों के साथ २ शवों के मिलने से, कहीं २ पिरामिड (Pyramids) एवं स्तूप आदियों में इतिहास के मिलने से तथा कहीं २ ईंटें, शिलाओं तथा धातुओं में चिरकालीन ग्रन्थों तथा इतिवृत्तों के मिलने से प्राचीन काल से प्रचलित एवं स्थान २ पर मिलने वाले प्राचीन लक्षणों से असीरिया, बेबिलोनिया, सुमेरिया तथा मिश्र आदि प्राचीन देशों की आनुक्रमिक प्राचीन सभ्यता के समय-निर्धारण के साथ २ उनके प्राचीन विषयों का ज्ञान भी सुगमता से हो सकता है। परन्तु इसके अतिरिक्त भारत में प्राचीन काल से ही आहिताग्नि अथवा लौकिक अग्नि के द्वारा शवों को जलाने की प्रथा होने से अन्य अवशिष्ट वस्तुओं को भी वितरित कर देने से मन्दिरों के भी बार २ होने वाले विप्लवों के कारण लुप्त हो जाने से प्राचीन समय में आनुश्रविक पद्धति (गुरु से मौखिक रूप में शिक्षा ग्रहण करना) की प्रथा के कारण संहिता, सूत्र आदि प्राचीन ग्रन्थों के लेखन की रुचि की विरलता के कारण तथा बाद में भोजपत्र और ताडपत्र आदियों पर लिखे हुए लेखों के भी समय २ पर होने वाले पारस्परिक एवं वैदेशिक संघर्षों के कारण बहुत कुछ जल जाने तथा नष्ट हो जाने से, आजकल भारतीय इतिवृत्त के अनुसन्धान के लिये खोतान, कासगर आदि स्थानों में हुई खुदाई तथा चीन, तिब्बत आदि में मिलने वाले लेखों के अनुसन्धान से भारतीय पुरातन

इतिवृत्त के बहुत कम लक्षण मिलने से, पुराण आदि कथाओं के मिलने पर भी महाभारत के गणेशोपाख्यान के समान बीच २ में अनुप्रविष्ट अर्वाचीन विषयों, आलङ्कारिक दृष्टि से प्रविष्ट अतिशयोक्तियों तथा भिन्न २ सम्प्रदाय के हस्तक्षेपों से अपने २ अनुसार प्राचीन के लोप तथा परिवर्तन से उसे मलिन (विकृत) कर देने से तथा प्राचीन अंशों की भी अन्य देशों के लेखों, शिलालेखों तथा भूगर्भ से उपलब्ध विज्ञान आदि के साथ समानता होने से आजकल महेञ्जोदारो की खुदाई से उपलब्ध पर्याप्त प्रमाणों के मिलने से पूर्व भारत की प्राचीन परिस्थिति का वास्तविक ज्ञान होना अत्यन्त कठिन था। परन्तु आजकल महेञ्जोदारो तथा हरप्पा की खुदाई में मिलने वाले भिन्न २ विषयों से प्राचीन भारतीय परिस्थिति पर बहुत सा प्रकाश पड़ता है। भारत में महेञ्जोदारो तथा हरप्पा के समान गङ्गा के किनारे और भी बहुत से प्राचीन प्रदेश मिल सकते हैं। तथा कालक्रम से अनुसन्धान के उपायों के उन्नत होने से ज्यों २ खुदाई में और पदार्थ तथा लेख आदि प्रकाश में आते जायेंगे तथा ज्यों २ कालक्रम से हरप्पा तथा महेञ्जोदारों में मिलने वाले प्राचीन अनिश्चित अक्षरों एवं लिपि के पढे जाने से प्राचीन विषय प्रकट होते जायेंगे, त्यों २ प्राचीन भारतीय पुरावृत्त और भी स्पष्ट होता जायगा।

अन्त में हम पाठकों की सेवा में निवेदन करना चाहते हैं कि आजकल मुद्रणयन्त्रों के बहुत प्रचार हो जाने से भारत तथा अन्य देशों में भी प्रचलित, नवोपलब्ध तथा बहुत से अप्रकाशित भारतीय ग्रन्थ भी प्रकाश में आगये हैं। इस प्रकार एक २ पुस्तक की हजारों प्रतियां होकर घर २ में प्रचलित हो जाती हैं जिससे प्रचलित ग्रन्थों का भी विशेषरूप से प्रचार हो जाता है, अप्रकाशित ग्रन्थों का सर्वसाधारण में प्रकाश हो जाता है, अन्वेषण तथा लेखन के परिश्रम के बिना ही अल्पव्यय से ही अधिक लाभ हो जाता है तथा अपने पूर्वजों द्वारा भी बहुत से अदृष्ट एवं अश्रुत प्राचीन ग्रन्थ सहसा ही देखने को तथा अध्ययन करने को मिल जाते हैं। यह यद्यपि सन्तोष का विषय है परन्तु आजकल के मुद्रण में स्याही के दृढ़ होने पर भी दुर्बल पत्रों पर प्रकाशित ग्रन्थ दृढ़ ताडपत्रों पर लिखे हुए ग्रन्थों की तुलना में चिरस्थायी नहीं होते हैं। इसीलिये आजकल सौ वर्ष पूर्व प्रकाशित पुस्तकों के भी वर्ण विकृत हो जाते हैं तथा वे स्वयं भी जीर्ण शीर्ण हो जाती हैं। मुद्रण कला की सुलभता के कारण लेखनकला उत्तरोत्तर ह्रास को प्राप्त हो रही है। पदच्छेद की स्पष्टता तथा शुद्धि (Accuracy) के कारण मन को आकर्षित करने वाली मुद्रित पुस्तकों के सुलभ होने से विद्यमान लिखित पुस्तकों के संरक्षण का ध्यान भी कम होता जारहा है। मुद्रित हुई उन्हीं पुस्तकों का पुनर्मुद्रण संभव है जो प्रायः अध्ययन तथा अध्यापन के काम में आती हैं। जो विशेष काम में नहीं आती हैं उनका पुनर्मुद्रण नहीं होता है। ऐसे बहुत से ग्रन्थ आजकल दुर्लभ हो गये हैं। ऐसे ग्रन्थों को मुद्रित हुआ जानकर कोई लिखता भी नहीं तथा एक वार मुद्रण हो जाने से उनका पुनर्मुद्रण भी नहीं होता। इसप्रकार दोनों ओर से वञ्चित हुए ये ग्रन्थ उत्त॰ ोते हुए भी पूर्व मुद्रित पुस्तक की आयु के समाप्त हो जाने पर सौ दो सौ वर्षों में सहसा समाप्त हो जाती है। कालक्रम से अन्य भी बहुत से प्राचीन आनुश्रविक विषय नष्ट हो गये हैं तथा यह शंका होने लगती है कि प्राचीन आचार्यों के गौरव का स्मरण कराने वाले अन्य भी ग्रन्थ कहीं हमारे हाथ से निकल कर नाम मात्र शेष न रह जायें। इसलिये इस भावी आशंका को पहले से ही ध्यान में रख कर प्रकाशकों का कर्तव्य है कि जिन ग्रन्थों की रक्षा करना आवश्यक हो उनकी कुछ प्रतियां सुदृढ़ एवं स्थायी पत्रों पर प्रकाशित करने की प्रवृत्ति बढ़ानी चाहिये जिससे वे शीघ्र नष्ट न हो सकें। पुस्तकालयों में भी उन्हीं दृढ़ प्रतियों को ही अत्यन्त सुरक्षा पूर्वक रखना चाहिये। तथा संहिता, ब्राह्मण, सूत्र, भाष्य आदि कुछ ऐसे ग्रन्थ जो हमारी प्राचीनता के सर्वस्व समझे जाते हैं (चाहे वे हमारी व्यावहारिक अध्ययन परम्परा में प्रविष्ट हों चाहे न हों) उनको किसी भी व्यय पर ताडपत्र अथवा अन्य सुदृढ़ पत्रों पर उत्तम स्याही से लिखकर यत्नपूर्वक पुस्तकालयों में रखना चाहिये जिससे दृढ़ पत्रों पर लिखे हुए सात-आठ सौ वर्ष की आयु वाले तथा ताडपत्र पर लिखे हुए हजारों वर्षों की आयुवाले आजकल उपलब्ध ग्रन्थों की तरह ये भी चिरकाल तक सुरक्षित रह सकते हैं। भोजपत्र पर लिखित पिप्पलादशाखा संहिता की केवल एक अवशिष्ट प्रति से ही हमें आजकल उस शाखा का ज्ञान होता है। चिरकाल से विलुप्त प्रमाणवार्तिक ताडपत्र रूपी कवच में सुरक्षित रखा हुआ हजारों वर्षों के बाद भी पुनरुज्जीवित अवस्था में उपलब्ध हुआ है। भूगर्भ से निकले हुए ईंटों पर खुदे हुए लेखों तथा शिलालेखों से उन तीन हजार वर्ष प्राचीन लोगों की सभ्यता का ज्ञान होता है जिनका नाम भी लुप्त हो चुका था। इतना ही नहीं, आजकल महेञ्जोदारो तथा हरप्पा में मिलने वाली मुद्राएं पांच हजार वर्ष प्राचीन सभ्यता को प्रकाश में लाकर भारत के प्राचीन गौरव को बढ़ा रही हैं। अस्तु, इतना हो चाहे न हो परन्तु इतना तो निश्चित है कि ताडपत्र पर लिखे हुए लेख हजारों वर्ष तक नष्ट नहीं हो सकते। यह काश्यप संहिता भी ताडपत्रों पर लिखी होने के कारण ही इतने समय के व्यवधान के बाद भी विनाश से बचकर अब प्रकाशित हो सकी है। अन्त में मैं आशा करता हूं कि ग्रन्थों के चिरसंरक्षण का यह साधन विद्वानों एवं धनी-मानी व्यक्तियों को अवश्य पसन्द आयगा। इसके साथ मैं अपने वक्तव्य को समाप्त करता हूं।

नेपाल ग्रन्थमाला का प्रथम प्रकाशन

अनेक पदवियों से विभूषित नेपाल के महाराजा श्री श्री श्री युद्ध शमशेर जंगबहादुर के विद्यानुराग तथा अपने देश में उपलब्ध प्राचीन ग्रन्थों के प्रकाशन की रुचि के अनेक अभिनन्दनों के साथ उपोद्घात सहित यह काश्यपसंहिता नेपाल ग्रन्थमाला के प्रथम प्रकाशन के रूप में प्रकाशित हो रही है।

कृतज्ञता प्रकाशन

इस उपोद्घात में जिन भी प्राचीन अर्वाचीन, प्राच्य तथा पाश्चात्त्य विद्वानों के ग्रन्थों अथवा विचारों को मैंने उद्धृत किया है उनका मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूं। कृतज्ञता प्रकाशन के अतिरिक्त उनके ऋण से उऋण होने का और कोई उपाय मुझे नहीं सूझता है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन तथा संशोधन में श्री मान्यवर आचार्य यादव जी त्रिकम जी महाराज ने जो परिश्रम एवं सहायता की है उन्हें मैं सम्मानपूर्वक

बहुत धन्यवाद देता हूँ। पं० सोमनाथ शर्मा ने इस उपोद्घात में प्रूफ संशोधन आदि के द्वारा असाधारण सहयोग दिया है उन्हें भी मैं बार २ धन्यवाद देता हूँ। अन्त में डा० गोकुलचन्द तथा मास्टर इन्द्रविहारी शरण को भी मैं धन्यवाद देना नहीं भूल सकता जिन्होंने अंग्रेजी ग्रन्थों के स्थल एवं उद्धरण निकाल कर दिये हैं।

अन्त में निवेदन है कि इस प्रकार के गहन विषय पर विचार करने के लिये केवल आयुर्वेदिक तथा अन्य संस्कृत ग्रन्थों का ही परिशीलन आवश्यक नहीं है अपितु भारतीयों के समान ग्रीस, मिश्र तथा इरान आदि आदि अन्य देशों के इतिहास अनेक भाषा तथा विषय, प्राच्य एवं पाश्चात्य विद्वानों के ग्रन्थाकार तथा प्रकीर्ण लेखरूप भिन्न २ विचारों का अनुसन्धान, ऊहापोह, अन्तर्दृष्टि से वस्तुओं का यथार्थज्ञान इत्यादि बहुत से साधनों की आवश्यकता है। इन सब साधनों द्वारा गन्तव्य मार्ग पर चलने का दुःसाहस करने वाले मुझ अकिंचन के इन टूटे-फूटे कुछ शब्दों के द्वारा अभिलक्षित स्थान पर किस प्रकार पहुंचा जासकता है। दुर्बल अङ्गों से इस दुर्गम मार्ग पर चलना दुःसाहस ही प्रतीत होता है। तथापि **'नभः पतन्त्यात्मसमं पतत्रिणः'** इस न्याय के अनुसार यथाशक्ति उचित मार्ग में वाणी के विनियोग तथा सरस्वती देवी की सेवा समझ कर ही आयुर्वेद का परिशीलन न किये हुए होने पर भी आयुर्वेद के प्रकाशक प्राचीन महर्षियों का ध्यान करके केवल इस मुद्रण के अवसर पर ही साहित्य की दृष्टि से यथावसर आयुर्वेद के ग्रन्थों तथा इस संहिता का अध्ययन करने से जो विचार उत्पन्न हुए हैं उन्हें, एक अनभ्यस्त व्यक्ति के लिये होने वाली स्वाभाविक त्रुटियों के लिये क्षमा याचना करता हुआ, विद्यानुरागी एवं गुणग्राही विद्वानों के विनोद एवं वैद्यों के प्रोत्साहन के लिये इस उपोद्घात पुष्पाञ्जलि के रूप में आप लोगों के करकमलों में सादर समर्पित करता हूं

अनुवादक—

सत्यपाल आयुर्वेदालङ्कार

परिशिष्ट

ज्वरसमुच्चय में काश्यपसंहिता के मिलने वाले श्लोक—

ज्वर के विषय में अनेक प्राचीन ऋषियों के वचनों का संग्रह-रूप एक 'ज्वरसमुच्चय' नामक प्राचीन ग्रन्थ है। मेरे पुस्तकालय में इस पुस्तक की ताडपत्र पर लिखी हुई दो प्रतियां हैं। इनमें से एक प्राचीन अक्षरों में लिखी हुई तथा अपूर्ण है जिसके अन्त में लेख का समय ४४ नैपाली संवत्सर दिया हुआ है। दूसरी जो है वह पूर्ण है तथा नेवार (नैपाली) अक्षरों में लिखी हुई है। लिपि को देख कर वह आठ सौ वर्ष प्राचीन प्रतीत होता है। पुस्तक रूप में लिखे जाने का समय ही जब इतना प्राचीन है तब उसके निबन्ध का समय तो और भी प्राचीन होना चाहिये। इसमें आश्विन, भरद्वाज, कश्यप, चरक, सुश्रुत, भेड, हारीत, भोज, जतूकर्ण, कपिलबल आदि प्राचीन आचार्यों के ही नाम निर्देश पूर्वक ज्वरविषयक श्लोक संगृहीत हैं। अर्वाचीन आचार्यों के वचनों के उद्धरण न दिये होने से भी यह ग्रन्थ प्राचीन सिद्ध होता है। इसमें काश्यप के भी बहुत से ज्वरविषयक वचन दिये हुए हैं जो इस काश्यपसंहिता के विशेषकर पूर्वभाग तथा कुछ खिलभाग में प्रायः उसी रूप में मिलते हैं। जो यहां नहीं मिलते हैं वे ही संभवतः इस संहिता के त्रुटित भाग में आ गये हों। कहीं २ थोड़ा बहुत पाठभेद भी मिलता है। उदाहरण के लिये ज्वरसमुच्चय में दिये हुए पाठभेदों को मोटे अक्षरों में रखकर तथा मुद्रित काश्यपसंहिता के पृष्ठों का साथ में निर्देश करके ज्वरसमुच्चय में उद्धृत इस संहिता के श्लोक नीचे दिये जाते हैं—

'पूर्वोद्भवनिमित्तेन योऽपरो जायते गदः।
तमुपद्रवमित्याहुरतीसारो यथा ज्वरे ॥
............**हिक्काश्च प्रवर्द्धन्ते**........॥

(मूल उपोद्घात पृ० ११८ देखें)

मूल ताडपत्रीय काश्यपसंहिता के १९२ पृष्ठ के लुप्त होने से उसके स्थान पर इस मुद्रित पुस्तक में एक टिप्पणी (Foot Note) दी हुई है कि त्रुटित भाग का विषय मधुकोश व्याख्या में उद्धृत भालुकितन्त्र के श्लोकों से समानता रखता है। उसी त्रुटित (खण्डित) पृष्ठ के सन्निपातों के भेदविषयक श्लोक ज्वरसमुच्चय में कहीं २ कश्यप नाम से दिये हुए हैं। उस खण्डित पृष्ठ के आगे तथा पीछे के पृष्ठों के श्लोकों के भी ज्वरसमुच्चय में मिलने से बीच के श्लोक भी वे ही होने चाहिये। बीच के विलुप्त भाग के श्लोकों में कुछ निम्न श्लोक खण्डरूप में मिले हैं—

'तस्य शीतज्वरो निद्रा क्षुत्तृष्णा पार्श्वसङ्ग्रहः।
........................**सन्निपातः सुदारुणः॥'**

(मूल उपोद्घात पृ० ११८-१९ देखें)

इसके बाद मुद्रित पुस्तक से सादृश्य रखने वाले श्लोक ज्वर-समुच्चय में निम्न मिलते हैं—

'सर्वस्रोतोभवं त्वस्य रक्तपित्तं प्रकुप्यति ।
.....................**देवामृतोपमम् ॥'**

(मूल उपोद्घात पृष्ठ ११९-२० देखें)

इस प्रकार प्राचीन ज्वरसमुच्चय में अनेक स्थानों पर इस काश्यपसंहिता के उद्धरण तथा संवादों के मिलने से प्रतीत होता है कि उस समय तक काश्यपसंहिता का प्रचार तथा आदर था और यह प्रामाणिक समझी जाती थी। जिस ग्रन्थ में केवल प्राचीन ऋषियों के ही वचन संगृहीत हों उसमें काश्यपसंहिता के न केवल पूर्व भाग अपितु खिलभाग के भी उद्धरणों के मिलने से यह खिलभाग भी प्राचीन ही प्रतीत होता है।

॥ श्रीः ॥

श्रीकाश्यपसंहिता

वा

वृद्धजीवकीयं तन्त्रम्।

(कौमारभृत्यम्)

सूत्रस्थानम्।

१.................................. ।
.... ॥

किंवा लेहयितव्यं च किंवा लेहितलक्षणम् ।
अतिलेहितदोषाः के के च दोषा अलेहिते ॥
मन्दलीढस्य किं रूपं गुणदोषाश्च तत्र के ।
के लेहनोद्भवा रोगाः कश्च तेषामुपक्रमः ॥
एतन्मे भगवन् सर्वं वक्तुमर्हसि तत्त्वतः ।
सुख(खं)दुःखं हि बालानां दृश्यते लेहनाश्रयम् ॥

भगवन्! बालकों को किस वस्तु का लेहन कराना चाहिये? सम्यक् लेहित के क्या लक्षण हैं? अतिलेहित तथा अलेहित के क्या दोष हैं? मन्दलीढ़ का क्या स्वरूप है तथा उसके गुण और दोष क्या हैं? लेहन से उत्पन्न होने वाले रोग कौन २ से हैं तथा उनकी चिकित्सा क्या है? इत्यादि सब बातों का आप मुझे यथार्थ उपदेश दीजिये क्योंकि बालकों के सुख और दुःख (स्वास्थ्य एवं रोग) लेहन पर ही आश्रित हैं।

वक्तव्य—यह ग्रन्थ पूर्ण रूप से नहीं मिला है इस ग्रन्थ का प्रारम्भ ही २९ वें पृष्ठ से होता है। इससे पूर्व के २८ पृष्ठों में किन २ विषयों का समावेश था–यह कहना कठिन है। सूत्रस्थान के इस अध्याय में इस लेहन सम्बन्धी प्रश्न से पूर्व भी कुछ अन्य प्रश्न जीवक द्वारा अवश्य किये गये होंगे क्योंकि यह अध्याय इस लेहन सम्बन्धी प्रश्न से पूर्व खण्डित है। यह अध्याय एकान्तरूप से यहीं से ही प्रारम्भ नहीं होता है। आगे भगवान् कश्यप द्वारा दिये गये उत्तरों को देखते हुए भी प्रतीत होता है कि इसमें लेहन के अतिरिक्त बालकों की प्रकृति आदि के सम्बन्ध में भी अन्य बहुत से प्रश्न किये गये होंगे।

इस अध्याय का मुख्य विषय लेहन है। बालकों के स्वास्थ्य, बल एवं बुद्धि की वृद्धि के लिये प्राचीन काल में बालकों को अनेक प्रकार के योग लेहन (अवलेह) के रूप में चटाने की परम्परा थी। जिस प्रकार आजकल बालकों के स्वास्थ्य एवं बुद्धि के लिये अनेक प्रकार की जन्मघुट्टियों का प्रयोग किया जाता है उसी प्रयोजन के लिये प्राचीन काल में इन लेहन योगों का प्रचलन था। इन लेहन योगों में स्वर्ण का विशेष स्थान था। स्वर्ण विशेषरूप से मेधावर्धक होता है। इसीलिये सद्यः जात बालक को भी मधु के साथ स्वर्ण चटाने का विधान मिलता है। बालकों के लिये प्रतिदिन व्यवहार में आने

१—वृद्धजीवकीय तन्त्र की उपलब्ध ताडपत्र पुस्तक के आदि अन्त तथा मध्य में खण्डित होने से इसमें २९ से प्रारंभ कर के २६४ तक पृष्ठ हैं। तथा २९ से लेकर २६४ तक के पृष्ठों में भी बीच बीच में ३०–३२, ३५, ३६, ४०, ४७, ४८, ५०–७४, ७७, ७८, ८०, ८२, ८३, ८६, ८८, ९१, ९३, ११३, ११५, ११६, ११९, १२१, १२४, १२७, १२९, १३१, १३४, १३५, १४२, १५५–१६६, १९२, २३५, २४७, २४९, २५१, २५२, २५४–२५८ तथा २६० पृष्ठ खण्डित हैं। इस प्रकार बीच २ में खण्डित होने से अपूर्ण अंशों को बिन्दुओं द्वारा सूचित किया गया है। विद्यमान पृष्ठों में भी कुछ जीर्ण होने से तथा कुछ स्याही के लुप्त हो जाने से पढ़े नहीं जा सकते हैं–उन्हें भी बिन्दुमाला द्वारा सूचित किया गया है। पाठकों को इस ग्रन्थ को इस बात को ध्यान में रखते हुए ही पढ़ना चाहिये कि यह ग्रन्थ मूल पुस्तक के २९ वें पृष्ठ से ही प्रारंभ हुआ है।

वाले इन लेहन योगों को दक्षिण भारत में 'उरमरुन्द' कहते हैं।

इति पृष्टो महाभागः कश्यपो लोकपूजितः ।
प्रश्नं प्रोवाच निखिलं प्रजानां हितकाम्यया ॥

इस प्रकार प्रश्न किये जाने पर लोक पूजित एवं ऐश्वर्यशाली भगवान् कश्यप ने लोगों के हित की कामना से उपर्युक्त प्रश्नों का पूर्ण रूप से उत्तर दिया।

यदन्नपानं प्रायेण गर्भिणी स्त्री निषेवते ।
रसो निर्वर्तते तादृक् त्रिधा चास्याः प्रवर्तते ॥

गर्भिणी स्त्री प्रायः जिस प्रकार के अन्नपान का सेवन करती है उससे वैसा ही रस बनता है तथा वह रस तीन प्रकार से काम में आता है १. उस रस का एक भाग माता (गर्भिणी स्त्री) के शरीर के पोषण में २. एक भाग गर्भ (Foetus) के पोषण में तथा ३ एक भाग स्तनों की पुष्टि के लिये प्रयुक्त होता है।

वक्तव्य—गर्भवती स्त्री जिस भोजन का सेवन करती है उससे स्वयं उसके शरीर का तो पोषण होता ही है अपितु अपरा (Placenta) द्वारा गर्भ का भी पोषण होता है। सुश्रुत में कहा है—"गर्भस्य खलु रसनिमित्ता ········ परिवृद्धिर्भवति।" इसकी टीका में डल्हण ने लिखा है—"रसनिमित्तेति मातुरिति शेषः"। इसके साथ २ गर्भिणी के स्तनों की भी पुष्टि होती है। सुश्रुतसंहिता शारीरस्थान अध्याय ४ में कहा है—'शेषं चोर्ध्वतरमागतं पयोधरावभिप्रतिपद्यते, तस्माद् गर्भिण्यः पीतोन्नतपयोधरा भवन्ति' इसकी टीका में डल्हण कहता है—'स्तनाश्रयमेव कफोपरञ्जितं स्तन्यतामुपगतं प्रसूतायाः पुनराहाररसेनाप्याय्यते'। चरक शा० अ० ६ में भी कहा है—'स च सर्वरसवानाहारः स्त्रियास्त्रिधा रसः प्रतिपद्यते स्वशरीरपुष्टये स्तन्याय गर्भवृद्धये च"।

मातृपुष्ट्यर्थमेकांशो द्वितीयो गर्भपुष्टये ।
तृतीयः स्तनपुष्ट्यर्थं, नार्या गर्भस्तु पुष्यति ॥
तादृक्प्रकृतयस्तस्माद्गर्भात् प्रभृति देहिनः ।
वातपित्तकफस्थूणास्तिस्रः प्रकृतयश्च ताः ॥

नारी के गर्भ की जिस विधि से पुष्टि होती है, प्रारंभ (गर्भ) से ही मनुष्यों की उसी प्रकार की प्रकृतियां बन जाती हैं। ये प्रकृतियां मुख्य रूप से तीन प्रकार की— १. वातस्थूणा २. पित्तस्थूणा तथा ३. श्लेष्मस्थूणा होती हैं।

वक्तव्य—वास्तव में गर्भ को जिस ढंग का पोषण मिलता है उसी प्रकार की आगे उसकी प्रकृति बन जाती है। सुश्रुत शा० अ० ४ में कहा है—शुक्रशोणितसंयोगे यो भवेद्दोष उत्कटः। प्रकृतिर्जायते तेन ········। गर्भावस्था से ही प्रकृति का निर्माण होता है। उसे बदलना अत्यन्त कठिन है। "यः स्वभावो हि यस्यास्ति तस्यासौ दुरतिक्रमः। श्वा यदि क्रियते राजा किं स नाश्नात्युपानहम् ॥" (हितोपदेश)।

आयुर्वेद के सिद्धान्तानुसार वात, पित्त, तथा कफ इन तीनों दोषों पर ही शरीर की स्थिति है। जिस प्रकार तीन स्तम्भों से मकान की स्थिति है उसी प्रकार ये तीनों दोष समावस्था में विद्यमान होकर शरीर का धारण करते हैं। इसी लिये यहां वात, पित्त तथा कफ का स्थूण शब्द से निर्देश किया गया है। सुश्रुत सूत्रस्थान २१ अध्याय में भी स्थूण शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग किया गया है—"वातपित्तश्लेष्माण एव देहसंभव हेतवः। तैरेवाव्यापन्नैरधोमध्योर्ध्वसन्निविष्टैः शरीरमिदं धार्यते ऽगारमिव स्थूणाभिस्तिसृभिरतश्च त्रिस्थूणमाहुरेके"। इस शरीर रूपी मकान के लिये वात, पित्त तथा श्लेष्मा तीन स्थूण (स्तम्भों) का कार्य करते हैं। उन्हीं वात पित्त कफ रूपी तीन स्तम्भों पर यह मकान स्थित है। वे ही स्थूण (स्तम्भ) जब विकृत हो जाते हैं तब शरीर के नाश का कारण होते हैं। इसी लिये शरीर की मुख्य रूप से ये ही तीन प्रकृतियां कही गई हैं।

वातिकाः पैत्तिकाः केचित् कफिनश्चैव देहिनः ।
द्वन्द्वप्रकृतयश्चान्ये समस्थूणास्तथाऽपरे ॥
अरोगास्तु समस्थूणा वातिकाद्याः सदाऽऽतुराः ।

कुछ व्यक्ति वातप्रकृति, कुछ पित्तप्रकृति तथा कुछ श्लेष्मप्रकृति के होते हैं। कुछ व्यक्ति द्वन्द्व (दो दोषोंका संयोग) प्रकृति तथा कुछ समस्थूण प्रकृति के होते हैं। इनमें से समस्थूण प्रकृति के व्यक्ति स्वस्थ होते हैं तथा वातिक आदि प्रकृति के मनुष्य सदा रोगी ही होते हैं।

वक्तव्य—वास्तव में प्रकृतियां मुख्यरूप से उपर्युक्त तीन ही होती हैं परन्तु उन्हीं दोषों के परस्पर संसर्ग से वे सात प्रकार की हो जाती हैं। यथा—१. वातिक २. पैत्तिक ३. श्लैष्मिक ४. वातपैत्तिक ५. वातश्लैष्मिक ६. पित्तश्लैष्मिक तथा ७. सम प्रकृति (जिसमें वात पित्त तथा श्लेष्मा समानरूप से विद्यमान हों)। सुश्रुत में भी सात प्रकार की प्रकृतियां मानी गई हैं—सप्तप्रकृतयो भवन्ति दोषैः पृथग्द्विशः समस्तैश्च। तथा चरक सू. अ ७ के निम्न श्लोक में भी—समपित्तानिलकफाः केचिद्गर्भादिमानवाः। दृश्यन्ते वातलाः केचित्पित्तलाः श्लेष्मलास्तथा॥ 'तथा' शब्द से द्वन्द्वज का ग्रहण करके उपर्युक्त सात ही प्रकृतियां मानी गई हैं। इन सात प्रकार की प्रकृतियों में से समस्थूणा (सम) प्रकृति वाले व्यक्ति स्वस्थ माने गये हैं। तथा शेष वात आदि प्रकृति वाले सब व्यक्ति नित्य आतुर (रोगी-अस्वस्थ) माने गये हैं।

ऊपर्युक्त सातों प्रकार की प्रकृतियां होते हुए भी वास्तव में वे ही व्यक्ति पूर्णरूप से स्वस्थ माने जाते हैं जिनमें तीनों दोष समावस्था में विद्यमान होते हैं। समावस्था से यह अभिप्राय नहीं है कि वात पित्त तथा कफ तीनों दोष समान परिमाण में विद्यमान हों अपितु समावस्था से तात्पर्य यह है कि तीनों दोषों को जिस अनुपात (Proportion) में होना चाहिये उसी अनुपात में हों। वातिक पैत्तिक आदि वास्तव में प्रकृतियां नहीं हैं अपितु जिस व्यक्तिमें जिस दोष की प्रधानता होती है उसे स्थूलरूप में वही नाम देदिया गया है। वास्तव में वे अमुक २ दोषों की वृद्धावस्था ही समझनी चाहिये। इन्हें प्रकृति कहना उपयुक्त नहीं है। किसी भी दोष की वृद्ध्यवस्था सदा रोग को ही सूचित करती है। दोषों की समावस्था ही स्वास्थ्य है। विकारो धातुवैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते। सुखसंज्ञक-

मारोग्यं विकारो दुःखमेव च ॥ (चरक सू. अ. ९) दोषों की समावस्था को ही प्रकृति माना है। यहां कई लोग शंका उपस्थित करते हैं कि कोई भी व्यक्ति समवातपित्तकफ नहीं हो सकते हैं क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के आहार में थोड़ी बहुत विषमता अवश्य होती है और माता के आहार रस के अनुसार ही व्यक्तियों की प्रकृतियों का निर्माण होता है। इसलिये माता के आहार के विषम होने से गर्भ कभी भी समधातुप्रकृति नहीं हो सकता है। अतः किसी न किसी दोष को प्रधानता होकर कोई व्यक्ति वातप्रकृति, कोई पित्तप्रकृति तथा कोई श्लेष्मप्रकृति के ही होते हैं। इसलिये "वातिकाद्याः सदाऽऽतुराः" यह कहना उचित नहीं है। भगवान् आत्रेय चरक संहिता के विमान स्थान में इस तर्क का खण्डन करते हुए कहते हैं कि—समवातपित्तश्लेष्माणं ह्यरोगमिच्छन्ति भिषजः, यतः प्रकृतिश्चारोग्यं, आरोग्यार्था च भेषजप्रवृत्तिः, सा चेष्टरूपा, तस्मात् सन्ति समवातपित्तश्लेष्मप्रकृतयः। न तु खलु सन्ति वातप्रकृतयः, पित्तप्रकृतयः, श्लेष्मप्रकृतयो वा, तस्य तस्य किल दोषस्याधिकभावात्सा दोषप्रकृतिरुच्यते मनुष्याणां, न च विकृतेषु दोषेषु प्रकृतिस्थत्वमुपपद्यते, तस्मान्नैताः प्रकृतयः सन्ति, सन्ति तु खलु वातलाः, पित्तलाः श्लेष्मलाश्च, अप्रकृतिस्थास्तु ते ज्ञेयाः"। चिकित्सक लोग समवातपित्तकफ पुरुष को ही नीरोग अथवा स्वस्थ मानते हैं। प्रकृति को ही आरोग्य कहते हैं। आरोग्य के लिये ही भेषज की प्रवृत्ति होती है। कहा भी है—चतुर्णां भिषगादीनां शस्तानां धातुवैकृते। प्रवृत्तिर्धातुसाम्यार्थां चिकित्सेत्यभिधीयते ॥ समवातपित्तकफधातु वाले पुरुष हो सकते हैं तथा होते हैं। वास्तव में वातिक, पैत्तिक तथा श्लैष्मिक प्रकृति नहीं होती है। वह तो दोषों की प्रधानता होने से दोषप्रकृति ही है तथा इसे अप्रकृति (रुग्णावस्था) ही जानना चाहिये। इसीको दृष्टि में रखते हुए कहा गया है—"वातिकाद्याः सदाऽऽतुराः" चरकसंहिता सू. अ. ७ में भी बिलकुल ऐसा ही वर्णन किया गया है—तेषामनातुराः पूर्वे वातलाद्याः सदाऽऽतुराः ॥ इन वातिक प्रकृति आदि वाले मनुष्यों को हम उपचार रूप से ही स्वस्थ कह सकते हैं वस्तुतस्तु इनमें अमुक २ दोष की प्रधानता होने से ये विकृति ही हैं।

एताः प्रकृतयः प्रोक्ता देहिनां वृद्धजीवक ! ॥
एता आश्रित्य तत्त्वज्ञो भेषजान्युपकल्पयेत् ।
य एता वेद तत्त्वेन न स मुह्यति भेषजे ॥

हे वृद्धजीवक ! ये मनुष्यों की प्रकृतियां कही गई हैं। तत्वज्ञ चिकित्सक को चाहिये कि इन प्रकृतियों के अनुसार ही ओषधियों की कल्पना करे। जो चिकित्सक इन प्रकृतियों को तत्वपूर्वक जानता है अथवा उन्हें ध्यान में रखता है वह चिकित्सा कार्य में कभी भी व्यामूढ (मोहित) नहीं होता है।

विल(ड)ङ्गफलमात्रं तु जातमात्रस्य देहिनः ।
भेषजं मधुसर्पिर्भ्यां मतिमानुपकल्पयेत् ॥
वर्धमानस्य तु शिशोर्मासे मासे विवर्धयेत् ।
अथामलकमात्रं तु परं विद्वान्न वर्धयेत् ॥

बुद्धिमान् चिकित्सक को चाहिये कि उत्पन्न हुए बालक को विडङ्गफल (वायविडङ्ग) के बराबर (भार में) ओषधि मधु तथा सर्पिस् (असमान मात्रा) के साथ देवे। तथा ज्यों २ शिशु की वृद्धि होती जाय प्रत्येक मास ओषधि की मात्रा भी बढ़ाता जाय परन्तु विद्वान् चिकित्सक आमलक (आंवले) के परिमाण से अधिक ओषधि की मात्रा न बढ़ावे।

वक्तव्य—प्राचीन काल में वैज्ञानिक मापतोल का उदय न होने से प्रचलित वस्तुएँ ही माप तोल में व्यवहृत होती थीं। इसीलिये बालकों की ओषधि के लिये विडङ्ग तथा आमलक द्वारा ओषधि के परिमाण का निर्देश किया गया है। सुश्रुतसंहिता के शारीरस्थान में ओषध का परिमाण भिन्न ही ढंग से बतलाया गया है—"तत्र मासादूर्ध्वं क्षीरपायाङ्गुलिपर्वद्वयग्रह (ग्रा) संमितामौषधमात्रां विदध्यात्, कोलास्थिसंमितां कल्कमात्रां क्षीरान्नादाय, कोलसंमितामन्नादायेति"। यहां बालकों का तीन प्रकार का श्रेणीकरण किया गया है १. क्षीराद २. क्षीरान्नाद ३. अन्नाद। एक वर्ष की उम्र तक बालक क्षीराद, दो वर्ष तक क्षीरान्नाद तथा उससे ऊपर अन्नाद कहलाता है। क्षीराद के लिये उतनी औषध का विधान है जितनी अंगुली के दो पर्व पर लग सके। क्षीरान्नाद के लिये कोलास्थि के बराबर तथा अन्नाद के लिये कोल (बेर) के बराबर (भार में) औषध निर्धारित की गई है। अन्य ग्रन्थों में बालकों को निम्न परिमाण में औषध देने का विधान किया गया है—प्रथमे मासि जातस्य शिशोर्भेषजरक्तिका। अवलेह्या तु कर्तव्या मधुक्षीरसिताघृतैः ॥ एकैकां वर्धयेत्तावद्यावत् संवत्सरो भवेत्। तदूर्ध्वं माषवृद्धिः स्यात् यावत् षोडशाब्दिकः ॥ आजकल बालकों की औषध की मात्रा ज्ञात करने के लिये Young का निम्न फार्मूला व्यवहृत होता है—The rule is to divide the age in years by the age in years plus 12, the resulting quotient is the proper fraction of an adult dose. किसी भी आयु के बालक की मात्रा $\frac{\text{अवस्था}}{\text{अवस्था} + १२}$ के द्वारा ज्ञात की जा सकती है। उदाहरण के लिये एक वर्ष के बालक के लिये औषध की मात्रा $\frac{१}{१ + १२}$ अर्थात् पूर्ण मात्रा की $\frac{१}{१३}$ होगी। इसी प्रकार तीन वर्ष के बालक के लिये $\frac{३}{३ + १२} = \frac{३}{१५}$ या $\frac{१}{५}$ मात्रा होनी चाहिये। इससे आगे १२ से १६ वर्ष के बालकों के लिये औषध की मात्रा पूर्णमात्रा का $\frac{१}{२}$ से $\frac{३}{४}$ तथा १७ से २० वर्ष तक $\frac{३}{४}$ से $\frac{४}{५}$ मात्रा होनी चाहिये। इसके अतिरिक्त बालकों की औषध की मात्रा ज्ञात करने के लिये Cowing तथा Dilling के उपाय भी प्रयुक्त किये जाते हैं परन्तु सबसे अधिक प्रचलित Young का फार्मूला ही है जो कि प्रायः व्यवहृत होता है॥

अक्षीरा जननी येषामल्पक्षीराऽपि वा भवेत्।
दुष्टक्षीरा प्रसूता या धात्री वा यस्य तादृशी॥
दुष्प्रजाताभृशव्याधिपीडितायाश्च ये सुताः।

वातिकाः पैत्तिका ये च ये च स्युः कफवर्जिताः ॥
स्तन्येन ये न तृप्यन्ति पीत्वा पीत्वा रुदन्ति च ।
अनिद्रा निशि ये च स्युर्ये च बाला महाशनाः ॥
अल्पमूत्रपुरीषाश्च बाला दीप्ताशयश्च ये ।
निरामयाश्च तनवो मृद्वङ्गा ये च कर्शिताः ॥
वर्चःकर्म न कुर्वन्ति बाला ये च त्र्यहात् परम् ।
एवंविधाञ्छिशूनाह लेहयेदिति कश्यपः ॥

लेहन किन्हें कराना चाहिये—उन बालकों को जिनकी माता या धात्री के स्तनों में दूध बिलकुल न आता हो, कम आता हो या दूषित हो अथवा जो प्रसूता हो। जो दुष्प्रजाता (जिसे ठीक तरह से प्रसव न हुआ हो) तथा गंभीर रोग से पीडित स्त्री के बालक हों, जिनमें वात तथा पित्त दोष की प्रधानता हो परन्तु साथ में जो कफदोष से रहित हों, जो दूध पीने के बाद भी तृप्त नहीं होते तथा दूध पीकर भी लगातार रोते रहते हैं, जिन्हें रात्रि में नींद नहीं आती, जो बहुत भोजन करते हों, जिन्हें मूत्र तथा मल कम आता हो, जिनकी अग्नि दीप्त हो, जो रोगशून्य होने पर भी तनु (पतले) मृदु (कमजोर) अङ्गोंवाले तथा कृश हों, जो तीन २ दिन तक मलत्याग नहीं करते, ऐसे बालकों का लेहन करावे-ऐसा भगवान् कश्यप का मत है।

लेहन से यहां क्या तात्पर्य है इसका पूर्व भी निर्देश किया जा चुका है। बालकों की स्वास्थ्य रक्षा के लिये भिन्न २ ओषधियां तथा स्वर्ण आदि मधु में मिलाकर जो बालकों को चटाई जाती है उन्हें लेहन कहते हैं ॥

..................च मन्दाग्निजठरो जनः ।
निद्रालुर्बहुविण्मूत्रः स्वल्पो यो दृढगात्रकः ॥
कल्याणमातृकोऽजीर्णी गुरुस्तन्योपसेविता(तः) ।
सुतः सर्वरसाशिन्या ऊर्ध्वजत्रुरुजान्वितः ॥
आमे ज्वरेऽतिसारे च कामलाशोथपाण्डुषु ।
हृद्रोगश्वासकासेषु गुदबस्त्युदरामये ॥
आनाहे गण्डवैसर्पे छर्द्यरोचकयो(र्बले) ।
...................हे सर्वग्रहेषु च ॥
न लेहयेदलसके नाहन्यहनि नाशितम् ।
न दुर्दिनपुरोवाते नासात्म्यं नातिमात्रया ॥

लेहन किन्हें नहीं कराना चाहिये—मन्द जठराग्निवाले, निद्रालु, बहुत मल एवं मूत्र का त्याग करने वाले, स्वल्प एवं दृढ (कठोर) शरीर वाले, कल्याणमातृक, अजीर्ण के रोगी एवं भारी स्तन्य (दूध) का सेवन करने वाले, सब रसों अथवा आहार रसों का सेवन करने वाली स्त्री के पुत्रों, ऊर्ध्वजत्रु रोगों से युक्त, आमरोग, ज्वर तथा अतिसार में अथवा आमातिसार और ज्वरातिसार में, कामला (पीलिया-Jaundice) शोथ (Dropsy) तथा पाण्डुरोग में, हृद्रोग, श्वास, कास, गुदरोग, बस्तिरोग, एवं उदररोग में, आनाह (Flatulance) गण्डविसर्प, बलवान् छर्दि (वमन) एवं अरुचि (Nausea) में, सब प्रकार के ग्रहरोगों में तथा अलसक रोग में बालकों को लेहन न करावे। इसके अतिरिक्त, प्रतिदिन, भोजन करने के उपरान्त दुर्दिन में तथा सामने से तेज वायु चलती हो तब भी लेहन न करावे। असात्म्य वस्तु का लेहन तथा अधिक मात्रा में भी लेहन नहीं कराना चाहिये।

वक्तव्य—कल्याणमातृक-'कल्याणी माता यस्य' जिसकी माता कल्याण युक्त हो। कल्याण का अर्थ अक्षय स्वर्ग भी होता है। मेदिनी में कहा है—कल्याणमक्षयस्वर्गे। जिस बालक की माता अक्षय स्वर्ग (मोक्ष) को प्राप्त हो गई है तथा जिसकी विमाता (Step mother) हो। ऐसा बालक कल्याणमातृक कहलाता है। ऊर्ध्वजत्रु-जत्रु से अभिप्राय ग्रीवामूल अथवा अंसफलकास्थि (Clavicles-collar-bones) से है। उससे ऊपर के रोगों अर्थात् श्रवण, नयन, मुख, नासिका तथा सिर के रोगों को ऊर्ध्वजत्रुज या शालाक्य रोग कहते हैं।

अलसक—यह विसूचिका का भेद है। इसकी निरुक्ति निम्न प्रकार से की है—'प्रयातिनोर्ध्वं नाधस्तात् आहारो न विपच्यते। आमाशयेऽलसीभूतस्तेन सोऽलसकः स्मृतः॥ कफ द्वारा मार्गों के रुक जाने से आहार आमाशय में ही स्थित रहता है। वह न नीचे की ओर आता है और न ऊपर की ओर जाता है। अन्दर ही आलसी की तरह पड़ा रहता है इसीलिये इसे अलसक कहा है। इसके लक्षण निम्न होते हैं - कुक्षिरानह्यतेऽत्यर्थं प्रताम्येत् परिकूजति। निरुद्धो मारुतश्चैव कुक्षावुपरि धावति॥

सेवितान्यन्नपानानि गर्भिण्या यान्यभ...... ।
तानि सात्म्यानि बालस्य तस्मात्तान्युपचारयेत् ॥
देशकालाग्निमात्राणां न च कुर्याद्व्यतिक्रमम् ।

गर्भ के समय गर्भिणी जिस अन्नपान का सेवन करती है बालकों को वे ही सात्म्य होते हैं। इसलिये उन्हीं का सेवन कराना चाहिये। इसमें देश, काल तथा अग्निमात्रा का व्यतिक्रम न करे। अर्थात् सात्म्य होते हुए भी देश, काल तथा अग्निमात्रा का ध्यान रखकर ही उनका सेवन करे अन्यथा सात्म्य होने पर भी वे विपरीतार्थकारी सिद्ध होंगे।

वक्तव्य—बालक को वही अन्नपान विशेष रूप से सात्म्य हो सकता है जिसका गर्भावस्था में माता द्वारा सेवन किया हो। माता के आहार रस से ही गर्भ की पुष्टि होती है। गर्भ के प्रत्येक अवयव में उस आहार रस का प्रभाव व्याप्त हो जाता है। इसीलिये माता जिस प्रकार के आहार का सेवन करती है गर्भस्थ बालक की वैसी ही प्रकृति भी बनती है। सात्म्य से अभिप्राय उस वस्तु से है जो निरन्तर उपयोग में आने से अनुकूल हो गई हो। चरक विमानस्थान अ० १ में कहा है—सात्म्यं नाम तत् यदात्मन्युपशेते, सात्म्यार्थो ह्युपशयार्थः।

द्रव्याणां लेहनीयानां विधिश्चैवोपदेक्ष्यते ॥
विघृष्य धौते दृषदि प्राङ्मुखी लघुनाऽम्बुना ।
आमध्य मधुसर्पिर्भ्यां लेहयेत् कनकं शिशुम् ॥
सुवर्णप्राशनं ह्येतन्मेधाग्निबलवर्धनम् ।
आयुष्यं मङ्गलं पुण्यं वृष्यं वर्ण्यं ग्रहापहम् ॥

मासात् परममेधावी व्याधिभिर्न च धृष्यते ।
षड्भिर्मासैः श्रुतधरः सुवर्णप्राशनाद्भवेत् ॥

अब लेहनीय द्रव्यों की विधि बतलाई जायगी। पूर्व दिशा में मुँह करके धोये हुए पत्थर पर थोड़े से पानी के साथ स्वर्ण को घिस कर उसमें मधु और घृत (असमान मात्रा) मिलाकर बालक को चटावे। यह सुवर्णप्राशन कहलाता है जो कि मेधा (बुद्धि), अग्नि और बल को बढ़ाने वाला है। यह आयु को देने वाला, कल्याणकारक, पुण्यकारक, वृष्य, वर्ण्य (शरीर के वर्ण को ठीक करने वाला) तथा ग्रहबाधाओं को दूर करने वाला है। सुवर्णप्राशन से बालक एक मास के अन्दर मेधायुक्त होता है तथा वह व्याधियों द्वारा आक्रान्त नहीं होता है। और वह ६ मास में श्रुतधर (सुनी हुई बात को धारण करने वाला) हो जाता है अर्थात् उसकी स्मरण-शक्ति बहुत बढ़ जाती है।

वक्तव्य—बालक के उत्पन्न होते ही जातकर्मसंस्कार में भी सुवर्णप्राशन का विधान मिलता है। सुश्रुतसंहिता के शारीर-स्थान में यह विधि निम्न प्रकार से दी है— 'अथ कुमारं शीता-भिरद्भिराश्वास्य जातकर्मणि कृते मधुसर्पिरनन्तचूर्णमङ्गुल्याऽनामिकया लेहयेत्'' बालक को मधु और सर्पिस् (घृत) में मिलाकर अनन्तचूर्ण (सुवर्ण) का लेहन करावे। इसी स्थान पर किसी २ ग्रन्थ में निम्न पाठभेद भी मिलता है—मधुसर्पिरनन्ताब्राह्मीरसेन सुवर्णचूर्ण-मङ्गुल्याऽनामिकया लेहयेत्'' । वाग्भट में यह प्राशन (लेहन) विधि भिन्न प्रकार से कही है—' ऐन्द्री ब्राह्मी शंखपुष्पी वचाकल्क मधुघृतोपेतं हरेणुमात्रं कुशलाभिमन्त्रितं सौवर्णेनाश्वत्थपत्रेण वा मेधायुर्बलजननं प्राशयेद्वा ब्राह्मी वचानन्ता शतावर्यन्यतमचूर्णम्'' । यह सुवर्णप्राशन तथा अन्य लेहन बालक के जन्म के बाद तीन चार दिन तक देने का विधान है क्योंकि तीन चार दिन तक दुग्धवहस्रोतस् प्रायः बन्द रहते हैं अतः माता (प्रथम प्रसव में—Primiparas) तीन चार दिन तक बालक को अपने स्तनों से दूध नहीं पिला सकती है। सुश्रुत में कहा है— धमनीनां हृदिस्थानां विवृतत्वादनन्तरम्। चतूरात्रात्त्रिरात्राद्वा स्त्रीणां स्तन्यं प्रवर्तते ॥ तस्मात् प्रथमेऽह्नि मधुसर्पिरनन्तमिश्र मन्त्रपूतं त्रिकालं पाययेत्, द्वितीये लक्ष्मणासिद्धं सर्पिस्तृतीये च। परन्तु यहां उपर्युक्त सुवर्णप्राशन या लेहन से अभिप्राय प्रतीत नहीं होता है जो कि जातकर्म के बाद दो तीन दिन तक दिया जाता है। अपितु यहां निरन्तर सेवन करने के लिये ही इन लेहनों का प्रयोग दिया गया है। जैसे आजकल छोटे शिशुओं का भिन्न २ प्रकार की जन्मघुट्टियों का प्रयोग कराया जाता है उसी तरह बालकों को स्वस्थ रखने के लिये इन लेखों का प्रयोग कराया जाता हुआ प्रतीत होता है।

आयुष्यम्—आयु की वृद्धि के लिये भी सुवर्ण का प्रयोग कराया जाता है। सुश्रुत चिकित्सास्थान के मेधायुष्कामीय अध्याय में कहा है—अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि आयुष्कामरसायनम्। मन्त्रौषधसमायुक्त संवत्सरफलप्रदम् ॥ बिल्वस्य चूर्णं पुष्ये तु हुतं वारान् सहस्रशः। श्रीसूक्तेन नरः कल्ये ससुवर्णं दिने दिने ॥ सर्पिर्मधुयुतं लिह्यादलक्ष्मीनाशनं परम्। इत्यादि।

ब्राह्मी मण्डूकपर्णी च त्रिफला चित्रको वचा ।
शतपुष्पाशतावर्यौ दन्ती नागबला त्रिवृत् ॥
एकैकं मधुसर्पिर्भ्यां मेधाजननमभ्यसेत् ।
कल्याणकं पञ्चगव्यं मेध्यं ब्राह्मीघृतं तथा ॥

ब्राह्मी, मण्डूकपर्णी, त्रिफला, चित्रक, वच, सौंफ, शतावरी, दन्ती, नागबला तथा निसोथ, इनका पृथक् २ मधु तथा घृत के साथ मेधावृद्धि के लिये प्रयोग करे तथा मेधावर्धक कल्याणकघृत, पञ्चगव्यघृत और ब्राह्मीघृत का भी लेहन करावे।

वक्तव्य—चरक संहिता के उन्माद चिकित्सा में कल्याणक घृत का निम्न पाठ दिया है इसे अष्टाविंशति घृत भी कहते हैं—विशाला त्रिफला कौन्ती देवदार्वेलवालुकम्। स्थिरा नतं रजन्यौ द्वे सारिवे द्वे प्रियङ्गुकम् ॥ नीलोत्पलैलामञ्जिष्ठा दन्तीदाडिमकेशरम्। तालीशपत्रं बृहती मालत्याः कुसुमं नवम् ॥ विडङ्गं पृश्निपर्णी च कुष्ठं चन्दनपद्मकौ। अष्टाविंशतिभिः कल्कैरेतैः कर्षसमैर्भिषक् ॥········ ·········कल्याणकमिदं सर्पिः श्रेष्ठं पुंसवनेषु च। इसे ही तन्त्रान्तरों में पानीयकल्याणक घृत भी कहा है। इसकी मात्रा ½ तोला है। चरकसंहिता के ही अपस्मार चिकित्सा में पञ्चगव्य घृत की निर्माणविधि एवं उपयोग निम्न प्रकार से दी है—गोशकृद्रसदध्यम्ल क्षीरमूत्रैः समैर्घृतम्। सिद्धं पिबेदपस्मारकामलाज्वरनाशनम्। वहीं पर ब्राह्मी घृत का निम्न पाठ दिया है—ब्राह्मीरसवचाकुष्ठ शङ्खपुष्पीभिरेव च। पुराणं घृतमुन्मादालक्ष्म्यपस्मारपाप्मजित् ॥ इससे आगे अन्य भी कई लेहन योग दिये गये हैं।

समङ्गा त्रिफला ब्राह्मी द्वे बले चित्रकस्तथा ।
मधु सर्पिरिति प्राश्यं मेधायुर्बलवृद्धये ॥

मेधा आयु तथा बल की वृद्धि के लिये मञ्जिष्ठा, त्रिफला, ब्राह्मी, दोनों बला (बला और अतिबला) और चित्रक के चूर्ण को समभाग लेकर मधु एवं घृत में मिलाकर प्राशन (लेहन) करना चाहिये।

कुष्ठं वटाङ्कुरा गौरी पिप्पल्यस्त्रिफला वचा ।
ससैन्धवैर्घृतं पक्वं मेधाजननमुत्तमम् ॥

कूठ, बढ के अङ्कुर, गौरी (पीत सर्षप) पिप्पली, त्रिफला, वच तथा सेन्धानमक को मिलाकर घृत के साथ घृतपाकविधि से पकाया जाय। यह घृत उत्तम मेधाजनक है।

ब्राह्मी सिद्धार्थकाः कुष्ठं सैन्धवं सारिवा वचा ।
पिप्पल्यश्चेति तैः सिद्धं घृतं नाम्नाऽभयं स्मृतम् ॥
न पिशाचा न रक्षांसि न यक्षा न च मातरः ।
प्रबाधन्ते कुमारं तं यः प्राश्नीयादिदं घृतम् ॥

ब्राह्मी, सरसों, कूठ, सैन्धव, सारिवा (अनन्तमूल) बच तथा पिप्पली से घृतपाक विधि से घृत सिद्ध किया जाय। इसका नाम अभयघृत है। इस घृत के सेवन करने वाले बालक को पिशाच, राक्षस, यक्ष तथा मातृकाऐं कोई बाधा (कष्ट) नहीं पहुंचा पाती हैं। अष्टाङ्ग हृ. उ. अ. १ में भी अभय घृत का यही पाठ मिलता है—ब्राह्मीसिद्धार्थकवचासारिवाकुष्ठसैन्धवैः। सकणैः साधितं पीतं वाङ्मेधास्मृतिकृद्घृतम् ॥ आयुष्यं पापरक्षोघ्नं भूतोन्मादनिबर्हणम् ॥

खदिरः पृश्निपर्णी च स्यन्(न्दनः) सैन्धवं बले ।
केबुकेति कषायः स्यात् पादशिष्टो जलाढके ॥
अर्धप्रस्थं पचेदत्र तुल्यक्षीरं घृतस्य तु ।
घृतं संवर्धनं नाम लेह्यं मधुयुतं सदा ॥
निर्व्याधिर्वर्धते शीघ्रं संसर्पत्याशु गच्छति ।
पङ्गुमूकाश्रुतिजडा युज्यन्ते चाशु कर्मभिः ॥

खदिर, पृश्निपर्णी (पिठवन) स्यन्दन (तिन्दुक अथवा अर्जुन) सैन्धव, दोनों बला (बला और अतिबला) और केबुक (केमुआ-कन्दशाक विशेष)—इनका एक आढ़क जल में चतुर्थांश कषाय बनावे। इनमें समान मात्रा में दुग्ध तथा आधा प्रस्थ घी डालकर घृतपाकविधि से पकावे। यह संवर्धन नाम का घृत है। इसको सदा मधु के साथ मिलाकर लेहन करे। इसके सेवन से बालक शीघ्र ही व्याधिरहित होकर वृद्धि को प्राप्त होता है, शीघ्र चलने फिरने लगता है तथा पङ्गु (न चलने वाले-लूले), मूक (गूंगे), अश्रुति (न सुनने वाले-बहरे) तथा जड (Idiot) बालक जल्दी उन २ क्रियाओं से युक्त हो जाते हैं अर्थात् इसके प्रयोग से लूले चलने लगते हैं, गूंगे बोलने लगते हैं, बहरे सुनने लगते हैं तथा मूर्ख समझने लगते हैं।

स्वरसस्याढके ब्राह्म्या घृतप्रस्थं विपाचयेत्[1] ।
स(वत्सा)ऽजागोपयसामाढकाढकमावपेत् ॥
त्रिफलांऽशुमती द्राक्षा वचा कुष्ठं हरेणवः ।
पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरम् ॥
त्वक्पत्रबालकोशीरचन्दनोत्पलपद्मकम् ।
शतावरी नागबला दन्ती पाठा प्रियङ्गुका ॥
देवदारु हरिद्रे द्वे जीवनीयश्च यो गणः ।
विडङ्गो गुग्गुलुर्जातिः.................. ॥
.... ।
.... ॥

(इति ताडपत्रपुस्तके २९ तमं पत्रम्[2] ।)

ब्राह्मी स्वरस—१ आढक। गोघृत–१ प्रस्थ। जिनके बच्चे जीवित हों उन गौ तथा बकरियों का दूध—एक २ आढ़क। इसमें त्रिफला, अंशुमती (शालिपर्णी), द्राक्षा, वच, कूठ, हरेणु (रेणुका-सुगन्धित द्रव्य), पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, नागर (सोंठ), त्वक् (दालचीनी), पत्र (तेजपत्र), बालक (नेत्रबाला), उशीर (खस), श्वेत-चन्दन, उत्पल (नील कमल), पद्मक (पद्माख अथवा श्वेत-कमल) शतावरी, नागबला, दन्ती, पाठा, प्रियङ्गु, देवदारु, हरिद्रा, दारुहरिद्रा, जीवनीय गण की ओषधियां, वायविडङ्ग, गुग्गुलु तथा जाति पत्री······इत्यादि द्रव्यों का परिभाषानुसार कल्क डालकर घृतपाक करे। इस घृत का लेहन करावे। इससे उपर्युक्त लाभ होते हैं

जीवनीय गण—चरक में निम्न दिया है—"जीवकर्षभकौ मेदा महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गमाषपर्ण्यौ जीवन्ती मधुकमिति"। इनमें से प्रथम ६ ओषधियां अष्टवर्ग में आती हैं जिनके प्रायः अलभ्य होने से उनके स्थान पर क्रमशः विदारी-कन्द, शतावरी तथा अश्वगन्धा आदि प्रतिनिधि द्रव्य लिये जाते हैं। क्योंकि कहा भी है—राज्ञामप्यष्टवर्गस्तु यतोऽयमतिदुर्लभः।

नोट—यह अध्याय यहीं मध्य में ही खण्डित हो गया है।

एकोनविंशोऽध्यायः ।

.... ।
.... ॥
..........................शकुनी कटुतिक्तके ।
स्कन्दषष्ठीग्रहौ ज्ञेयौ व्यापन्ने सान्निपातिके ।
पूतना स्वादुकटुके शेषाः संसृष्टदोषजाः ॥

वक्तव्य-यह अध्याय भी प्रारंभ में खण्डित है। इस अध्याय में धात्री के दूध के विषय में विशेष विवेचन किया गया है। इसमें धात्री के दूध की वृद्धि तथा उसके शोधन के अनेक प्रकार दिये गये हैं। ग्रहदोषों के कारण भी दूध प्रायः दूषित हो जाता है। सर्वप्रथम इस अध्याय में उन्हीं भिन्न २ ग्रहों से दूषित हुए दूध के लक्षण दिये गये हैं।

ग्रहों से दूषित दूध के लक्षण—यदि दूध का स्वाद कटु एवं तिक्त हो तो उसे शकुनी ग्रह से आक्रान्त (दूषित) समझना चाहिये। यदि दूध दूषित हो तथा उसमें सन्निपात (सब दोषों के सम्मिलित) के लक्षण दिखाई दें तो उस पर स्कन्द एवं षष्ठीग्रह का प्रभाव समझना चाहिये। यदि दूध का स्वाद स्वादु (मधुर) एवं कटु हो तो पूतना का प्रकोप समझना चाहिये। शेष सब प्रकार के दूषित दूधों में सम्मिलित दोषों का प्रभाव होता है।

बहुविण्मूत्रता स्वादौ कषाये मूत्रविड्ग्रहः ।
तैलवर्णे बली तुल्या घृतवर्णे महाधनः ॥
यशस्वी धूम्रवर्णे तु शुद्धे सर्वगुणोदितः ।

भिन्न २ दूषित दूधों का प्रभाव-यदि दूध स्वादु (मधुर) है तो उसे (उस दूध के सेवन करने वाले बालक को) मल तथा मूत्र बहुत होगा। यदि दूध कषाय रस वाला है तो मूत्रग्रह तथा मलग्रह (मूत्र तथा मल की रुकावट) हो जायगा। यदि दूध तैलवर्ण वाला है तो उसका सेवन करने वाला बालक बलवान् होगा। यदि दूध घृतवर्ण वाला है तो बालक स्वर्ण आदि महान् ऐश्वर्ययुक्त होगा। यदि दूध धूम्रवर्ण (धुंधला-धूसरवर्ण) का है तो बालक यशस्वी होगा। तथा यदि दूध बिलकुल शुद्ध (सब प्रकार के दोषों से रहित) है तो उसका सेवन करनेवाला बालक सर्वगुण सम्पन्न होगा।

तस्मात् संशोधनपरा नित्यं धात्री प्रशस्यते ॥

इसलिये नित्य संशोधन में लगी हुई धात्री प्रशस्त मानी गई है। अर्थात् दूध पिलाने वाली धात्री (Wet nurse) का नित्य संशोधन करते रहना चाहिये जिससे उदूसके ध का संशोधन

१. अत्र 'विपाचपेत्' इति मुद्रितपुस्तकपाठः।
२. ३० पत्रतः ३२ पत्रपर्यन्तो ग्रन्थस्ताडपत्रपुस्तके खण्डितः।

हो जाय तथा बालक रोगग्रस्त न हो सके। धात्री के दूध पर ही पूर्णरूप से बालक का स्वास्थ्य निर्भर है। अतः धात्री का वमन विरेचन आदि के द्वारा शोधन आवश्यक है।

कषायपानैर्वमनैर्विरेकैः पथ्यभोजनैः ।
वाजीकरणसिद्धैश्च स्नेहैः क्षीरं विशुध्यति ॥

अब दूषित स्तन्य (दूध) के शोधन के भिन्न २ उपाय लिखे जायेंगे। कषायपान, वमन, विरेचन, पथ्य (हितकारी) भोजन तथा वाजीकरण के लिये अथवा वाजीकरण ओषधियों से सिद्ध किये हुए स्नेहों के सेवन से धात्री का दूध शुद्ध होता है।

त्रिफला सत्रिकटुका पाठा मधुरसा वचा ।
कोलचूर्णं त्वचो जम्ब्वा देवदारु च पेषितम् ॥
सर्षपप्रसृतोन्मिश्रं पातव्यं क्षौद्रसंयुतम् ।
एतत् स्तन्यस्य दुष्टस्य श्रेष्ठं शोधनमुच्यते ॥

त्रिफला, त्रिकटु (सोंठ, मरिच, पीपल) पाठा, मधुरसा (मधुयष्टि अथवा द्राक्षा) बच, कोल (बेर) का चूर्ण, जामुन की छाल, देवदारु और सर्षप सब मिलाकर एक प्रसृत (८ तो०) चूर्ण मधु के साथ सेवन करना चाहिये। यह दूषित दुग्ध के लिये श्रेष्ठ शोधन है।

वक्तव्य—८ तोले की मात्रा आजकल के अनुसार बहुत अधिक है। इसे समयानुसार रोगी के बल को देखकर कम किया जा सकता है।

शृङ्गवेरपटोलाभ्यां पिप्पलीचूर्णचूर्णितम् ।
यूषपथ्यं विदध्याच्च ह्यन्नपानं च यल्लघु ॥

आर्द्रक तथा पटोलपत्र के रस से पिप्पलीचूर्ण का सेवन करना चाहिये तथा साथ में पथ्य के रूप में यूष और लघु अन्नपान का प्रयोग करना चाहिये।

वक्तव्य—१८ गुने जल में मूंग आदि को पकाने से यूष सिद्ध होता है। कहा है—अष्टादशगुणे नीरे शिम्बीधान्यश्रृतो रसः। विरलान्नो घनः किञ्चित् पेयातो यूष उच्यते ॥ अथवा—वैदलान् वितुषान् भ्रष्टान् चतुर्भागाम्बुसाधितान्। निष्पीड्य तोयमेतेषां संस्कृतं यूष उच्यते ॥ यूष पेया से कुछ गाढ़ा होता है। इसीलिये कहा है—"यूषः किञ्चित् घनः स्मृतः।

धातकीपुष्पमेला च समङ्गा मरिचानि च ।
जम्बूत्वचं समधुकं क्षीरशोधनमुत्तमम् ॥

धाय के फूल, एला, मंजीठ, मरिच, जामुन की छाल तथा मुलहठी का चूर्ण उत्तम दुग्धशोधक होता है।

नाडिका सगुडा सिद्धा हिङ्गुजातिसुसंस्कृता ।
क्षीरं मांसरसो मद्यं क्षीरवर्धनमुत्तमम् ॥
वाजीकरणसिद्धं वा क्षीरं क्षीरविवर्धनम् ।
घृततैलोपसेवा च बस्तयश्च पयस्कराः ॥

नाडिका (कालशाक) को गुड के साथ सिद्ध करके उसे हींग तथा जायफल से सुसंस्कृत करे। यह सुसंस्कृत योग दूध, मांसरस, तथा मद्य अथवा वाजीकरण के निमित्त अथवा वाजीकरण ओषधियों से सिद्ध किया हुआ दूध, घृतसेवन, तैलसेवन, तथा बस्तियां सभी क्षीरवर्धक (दूध को बढ़ाने वाले) हैं।

वक्तव्य—आगे "मधुराण्यन्नपानानि" द्वारा बहुत से क्षीरवर्धन के योग और दिये गये हैं। ये उपर्युक्त दो श्लोक भी यदि वहीं दिये जाते तो विषय को देखते हुए अधिक उपयुक्त होता। क्योंकि दुग्धशोधक प्रयोगों के बीचमें ही दुग्धवर्धक योगों के दिये जाने से विषय में कुछ व्यासङ्ग हो जाता है।

पाठा महौषधं दारु मूर्वामुस्तकवत्सकाः ।
सारिवारिष्टकटुकाः कैरातं त्रिफला वचा ॥
गुडूची मधुकं द्राक्षा दशमूलं सदीपनम् ।
रक्षोघ्नश्च पटोलश्च गणः क्षीरविशोधनः ॥
लाभतः कथितस्तेषां कषायः स तु सेवितः ।
क्षीरं शोधयति क्षिप्रं चिरव्यापन्नमप्युत ॥

पाठा, सोंठ, दारुहल्दी अथवा देवदारु, मूर्वा (मोरबेल), नागरमोथा, इन्द्रजौ, सारिवा, अरिष्ट (नीम), कटुकी, चिरायता, त्रिफला, बच, गिलोय, मुलहठी, द्राक्षा, दशमूल, दीपनीय द्रव्य, रक्षोघ्न (श्वेत सरसों) तथा पटोलादि गण की ओषधियां ये सभी दुग्ध के शोधक हैं। इनमें से जो २ द्रव्य प्राप्त हो सकें उनका कषाय बनाकर सेवन करने से चिरकालीन क्षीरदोष भी शीघ्र ही दूर हो जाते हैं।

वक्तव्य—स्तन्यशोधक—चरक में निम्न १० स्तन्यशोधक ओषधियां दी हैं—पाठामहौषधसुरदारुमुस्तमूर्वागुडूचीवत्सकफलकिराततिक्तकटुरोहिणीसारिवाकषायाणां च पानं प्रशस्यते। तथाऽन्येषां तिक्तकषायकटुकमधुराणां द्रव्याणां प्रयोगः क्षीरविकारविशेषानभिसमीक्ष्य मात्रां कालं चेति क्षीरविशोधनानि। इसी प्रकार सुश्रुत. सू. अ. ३८ में स्तन्यशोधन के लिये वचादि, हरिद्रादि तथा मुस्तादि तीन गण दिये हैं—वचामुस्तातिविषामभयाभद्रदारूणि नागकेशरं चेति। हरिद्रादारुहरिद्राकलशीकुटजबीजानि मधुकं चेति ॥ एतौ वचाहरिद्रादी गणौ स्तन्यविशोधनौ। मुस्ताहरिद्रादारुहरिद्राहरीतक्यामलकविभीतककुष्ठहैमवतीवचापाठाकटुरोहिणीशार्ङ्गेष्टातिविषाद्राविडीभल्लातकानि चित्रकश्चेति। एष मुस्तादिको नाम्ना गणः श्लेष्मविषूदनः। योनिदोषहरः स्तन्यशोधनः पाचनस्तथा ॥

पटोलादि गण—सुश्रुत सू. अ. ३८ में कहा है—पटोलचन्दनकुचन्दन मूर्वा गुडूची पाठा कटुरोहिणी चेति।

सक्षौद्रः कफसंसृष्टे सघृतः शेषयोर्भवेत् ।
नेत्येके श्लेष्मणः स्थानात् क्षीरं हि कफसंभवम् ॥

उपर्युक्त कषाय कफ से दूषित हुए दूध के लिये मधु के साथ तथा शेष दोनों (वात तथा पित्त) से दूषित में घृत के साथ देना चाहिये। कुछ विद्वानों का मत है कि इसे घृत के साथ नहीं देना चाहिये क्योंकि घृत श्लेष्मा (कफ) का स्थान है तथा दुग्ध कफ से उत्पन्न हुआ है।

मसूराः षष्टिका मुद्गाः कुलत्थाः शालयो घृतम् ।
गव्यमाजं पयः काले लवणं चाप्यनौद्भिदम् ॥
आहारविधिरुद्दिष्टः स्तन्यशोधनकालिकः ।
गुर्वन्नस्नेहमांसानि दिवास्वप्नं च वर्जयेत् ॥

दुग्ध शोधन काल में मसूर, षष्टिक (सांठी के चावल), मूंग, कुलथी, शालि चावल, घृत, गोदुग्ध, अजादुग्ध और अनौद्भिद (कृत्रिम) लवण आदि आहार का सेवन करना चाहिये तथा गुरु अन्न, स्निग्ध द्रव्य, मांस एवं दिवास्वप्न का त्याग कर देना चाहिये ।

वक्तव्य—चरक शा. अ. ८ में क्षीरशोधन काल में निम्न आहार विधि दी गई है—पानाशनविधिस्तु दुष्टक्षीराया यवगोधूमशालिषष्टिकमुद्गहरेणुककुलत्थसुरासौवीरकतुषोदकमैरेयमेदकलशुनकरञ्जप्रायः स्यात्, क्षीरदोषविशेषांश्चावेक्ष्यावेक्ष्य तत्तद्विधानं कार्यं स्यात् ॥ यव गोधूम आदि के सेवन के साथ २ दूध के दोषों की परीक्षा कर के उन २ दोषों के अनुसार ही अन्नपान के उस २ विधान का पालन करना चाहिये ।

शोधनाद्वा स्वभावाद्वा यस्याः क्षीरं विशुष्यति ।
तस्याः क्षीरप्रजनने प्रयतेत विचक्षणः ॥

विद्वान् वैद्य को चाहिये कि उपर्युक्त शोधनों द्वारा अथवा स्वभाव से ही जिस स्त्री का दूध सूख जाता है उसके क्षीरजनन (दुग्धवृद्धि) का प्रयत्न करे ।

मधुराण्यन्नपानानि द्रवाणि लवणानि च ।
मद्यानि सीधुवर्ज्यानि शाकं सिद्धार्थकादृते ॥
वराहमहिषादूर्ध्वं मांसानां च रसो हितः ।
लशुनानां पलाण्डूनां सेवनं शयनं सुखम् ॥
(क्रोधाध्व)भयशोकानामायासानां च वर्जनम् ।
अ···या भवति वत्स इति क्षीरविवर्धनम्[1] ॥

आगे दुग्धवृद्धि के लिये बहुत से प्रयोग दिये गये हैं। मधुर अन्नपान, द्रवपदार्थ, लवण, सीधुरहित मद्य, सिद्धार्थक (श्वेत सरसों) से भिन्न शाक, सूअर तथा महिष (भैंसे) को छोड़कर अन्य पशुओं का मांसरस, लशुन, पलाण्डु सुखपूर्वक शयन करना, क्रोध, मार्गगमन, भय, शोक तथा अन्य परिश्रम के कार्यों का परित्याग-दुग्धरहित स्त्री के लिये सभी क्षीरवर्धक उपाय हैं।

वक्तव्य—सीधु-गन्ने के रस से बनाई हुई मद्य (Spirit distilled from sugar cane juice) को सीधु कहते हैं। यह पक्व एवं अपक्व भेद से दो प्रकार की होती है। भावप्रकाश में कहा है—इक्षोः पक्वैः रसैः सिद्धः सीधुः पक्वरसश्च स । आमैस्तैरेव यः सीधुः स च शीतरसः स्मृतः ॥ इसी प्रकार शार्ङ्गधर संहिता में भी कहा है—ज्ञेयः शीतरसश्शीधुरपक्वमधुरद्रवैः । सिद्धः पक्वरसश्शीधुरसपक्वमधुरद्रवैः ॥

वटादीनां च वृक्षाणां क्षीरिकायाश्च वल्कलम् ।
पाक्यः कषायः क्वथितः क्षीरं तेन पुनः शृतम् ॥
पाक्यं गुडविडोपेतं सघृतं शालिमाशयेत् ।
अपि शुष्कस्तनीनां तत् क्षीरोपजननं परम् ॥

वटादि वृक्ष एवं क्षीरी वृक्षों की छाल का क्वाथ बनाकर उसमें यवक्षार डालें। अब इसमें क्षीर (दूध) डालकर पुनः पकाया जाय। इसमें पाक्य (पांशुलवण या सौवर्चल लवण), गुड, विडलवण और घृत मिलाकर शालि चावलों का सेवन करने से शुष्कस्तनी (जिनका दूध सूख गया है) स्त्रियों के भी दूध आजाता है ।

शालिषष्टिकदर्भाणां कुशगुन्द्रेत्कटस्य च ।
सारिवावीरणेक्षूणां मूलानि कुशकाशयोः ॥
पेयानि पूर्वकल्पेन श्रेष्ठं क्षीरविवर्धनम् ।
स्वभावनष्टे शुष्के वा दुष्टे साध्वीक्षिते हितम् ॥

इसी प्रकार शालिधान्य, षष्टिक-धान्य, दर्भ, कुश, गुन्द्रा (जलज दर्भ), इत्कट (तृण भेद अथवा शर) सारिवा, वीरण (खस) इक्षु, कुश तथा काश की जड़ें लेकर उनके साथ दुग्ध का संस्कार करके पूर्वोक्तानुसार क्वाथ बनाकर सेवन करना दूध के बढ़ाने का श्रेष्ठ उपाय माना गया है। उपर्युक्त प्रयोगों से स्वभाव से ही नष्ट, शुष्क अथवा दृष्टि दोष (नजर लगने) से दूषित हुआ दुग्ध पुनः शुद्ध रूप में प्रवृत्त होने लगता है ।

वक्तव्य—क्षीरीवृक्ष—न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थपारीषप्लक्षपादपाः । चरक शा० अ० ८ में दुग्धवर्धक ओषधियां निम्न दी हैं—क्षीरजननानि तु मद्यानि सीधुवर्ज्यानि ग्राम्यानूपौदकानि च शाकधान्यमांसानि द्रवमधुराम्लभूयिष्ठाश्चाहाराः क्षीरिण्येश्चौषधयः क्षीरपानं चानायासश्चेति, वीरणशालिषष्टिकेक्षुवालिका दर्भकुशकाशगुन्द्रेत्कटमूलकषायाणां च पानमिति क्षीरजननान्युक्तानि । इसी प्रकार सुश्रुत शा० अ० १० में कहा है—क्रोधशोकावात्सल्यादिभिश्च स्त्रियाः स्तन्यनाशो भवति। अथास्याः क्षीरजननार्थं सौमनस्यमुत्पाद्य यवगोधूमशालिषष्टिकमांसरससुरासौवीरकपिण्याकलशुनमत्स्यकसेरुकशृङ्गाटकबिसविदारीकन्दमधुकशतावरीनलिकालाबूकालशाकप्रभृतीनि विदध्यात् ॥ घोष के मैटीरिया मैडिका में लिखा है—An injection of placental extract increases the secretion of milk, so does pituitary extract. The secretion of milk is also influenced by various other factors and reflexes. It is possible that the nerve supply of the mammary glands is different from other glands. Thus pilocarpin, which increases the secretion of other glands, has no effect on the secretion of milk. Prolactin preparations have been used to increase secretion of milk. Urea is supposed to be a true galactagog. पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान में Placente extract, Pituitary extract तथा Urea मुख्य रूप से दुग्ध-वर्धक ओषधियां मानी गई हैं । स्तन्यवर्धन के लिये उपर्युक्त सब ओषधियां प्रयोग में लाई जाती हैं परन्तु वास्तव में स्तन्यप्रवृत्ति का मुख्य कारण (Factor) मानसिक है अर्थात् माता या धात्री का बालक के प्रति प्रेम या आकर्षण मुख्य कारण है। यदि धात्री को बालक के प्रति प्रेम या आकर्षण नहीं है तो उपर्युक्त सब उपाय लगभग व्यर्थ सिद्ध होते हैं। इसलिये सुश्रुत के निदान स्थान अ० १० में कहा है कि शुक्र प्रवृत्ति के समान स्तन्यप्रवृत्ति भी मानसिक भावों पर आश्रित

१, अपत्या या भवेत्तस्या एतत् क्षीरविवर्धनम्' इति पाठश्चेत् साधु।

है—आहाररसयोनित्वादेवं स्तन्यमपि स्त्रियाः । तदेवापत्य संस्पर्शाद् दर्शनात् स्मरणादपि ॥ ग्रहणाच्च शरीरस्य शुक्रवत्संप्रवर्तते ॥ स्नेहो निरन्तरस्तत्र प्रस्रवे हेतुरुच्यते ॥ जब माता प्रेम से बालक को देखती है अथवा उसे गोद में उठाती है तब उसके स्तनों की ओर रक्त का प्रवाह बढ़कर उनसे दुग्ध का स्राव होने लगता है।

अव्याहतबलाङ्गायुररोगो वर्धते सुखम् ।
शिशुधात्र्योरनापत्तिः शुद्धक्षीरस्य लक्षणम् ॥

शुद्ध क्षीर के लक्षण—बालक के बल, अङ्ग तथा आयु अव्याहत (निर्बाध) हों, वह रोगों से रहित (स्वस्थ) होकर सुख पूर्वक वृद्धि को प्राप्त होता हो तथा शिशु एवं धात्री को कोई कष्ट न हो तो दूध को शुद्ध समझना चाहिये।

वक्तव्य—चरक शा० अ० ८ में शुद्ध स्तन्य के निम्न भौतिक गुण दिये हैं—प्रकृतवर्णगन्धरसस्पर्शमुदपात्रे दुह्यमानमुदकं व्येति, प्रकृतिभूतत्वात्, तत्पुष्टिकरमारोग्यकरञ्चेति स्तन्यसम्पत्। जिसका वर्ण गन्ध, रस तथा स्पर्श स्वाभाविक हों और जो जलयुक्त पात्र में दुहा जाने पर जल के साथ मिलकर एक हो जाय वह दूध शुद्ध होता है। इसी प्रकार सुश्रुत शा० अ० १० में भी कहा है—अथास्याः स्तन्यमप्सु परीक्षेत, तच्चेच्छीतलममलं तनु शङ्खावभासमप्सु न्यस्तमेकीभावं गच्छत्यफेनिलमतन्तुमन्नोत्प्लवते न सीदति वा तच्छुद्धमिति विद्यात्। तेन कुमारस्यारोग्यं शरीरोपचयो बलवृद्धिश्च भवति। यही लक्षण सुश्रुत निदान स्थान में भी दिया है—यत्क्षीरमुदके क्षिप्तमेकीभवति पाण्डुरम्। मधुरं चाविवर्णं च प्रसन्नं तद्विनिर्दिशेत्॥

संभवन्ति महारोगा अशुद्धक्षीरसेवनात् ।
तेषामेवोपशान्तिस्तु शुद्धक्षीरनिषेवणात् ॥

अशुद्ध दूध के सेवन से बालक को कई बड़े २ रोग हो जाते हैं। शुद्ध दूध के सेवन से वे ही रोग शान्त हो जाते हैं। अर्थात् शिशु दूध पर ही आश्रित होता है। यदि दूध दोष-युक्त होगा तो उसे अनेक प्रकार के रोग हो जायेंगे। यदि दूध शुद्ध होगा तो सब रोग शान्त हो जाते हैं।

तृणं कीटं तुषं शूकं मक्षिकाङ्गमलाष्टकम्(ङ्गानि लोष्टकः)।
केशोर्णास्थ्यादिकं विद्याद्वज्रमित्युपचारतः ॥

वज्र का लक्षण—तृण, कीट (कीड़े) तुष (धान के छिलके) शूक (ऊर्णादि भक्षक कीट), मक्खियों के शरीर के अवयव तथा लोष्ठ (पत्थर), केश, इन तथा अस्थि आदि ये सब उपचार से वज्र कहलाते हैं।

सहान्नपानेन यदा धात्री वज्रं समश्नुते ।
पच्यमानेन पाकेन ह्यनन्नत्वान्न पच्यते ॥
अपच्यमानं विक्लिन्नं वायुना समुदीरितम् ।
रसेन सह संपृक्तं याति स्तन्यवहाः सिराः ॥
सर्वस्रोतांसि हि स्त्रीणां विवृतानि विशेषतः ।
तत् पयोधरमासाद्य क्षिप्रं विकुरुते स्त्रियाः ॥

स्तनरोगों का कारण—जब धात्री अन्नपान (खाने पीने) के साथ 'वज्र' को खाजाती है तो वह वज्र अन्न न होने से (foreign body होने से) पच्यमानावस्था अथवा पाकावस्था में नहीं पचता है। न पचा हुआ वह 'वज्र' क्लेद को प्राप्त हुआ २ वायु से धकेला जाकर रस के साथ मिलकर स्तन्यवहा शिरा (mammary ducts) में पहुंच जाता है। इससे स्त्रियों के सब स्रोत बन्द हो जाते हैं इस प्रकार वह स्त्री के स्तनों में पहुंचकर शीघ्र ही विकार उत्पन्न करता है। अर्थात् जब स्त्री किसी ऐसे विजातीय द्रव्य का सेवन कर लेती है जो वास्तव में शरीर के लिये सात्म्य न हो तब वह विजातीय द्रव्य (foreign body) होने से शरीर में पचता नहीं है तथा वह रसवाहिनी स्रोतों के मार्ग बन्द कर देता है। इस प्रकार वह मल स्तनों में पहुंचकर विकार उत्पन्न कर देता है।

रूपाणि पीतवज्रायाः प्रवक्ष्याम्यत उत्तरम् ।
अजीर्णमरतिर्ग्लानिरनिमित्तं व्यथाऽरुचिः ॥
पर्वभेदोऽङ्गमर्दश्च शिरोरुग् द(क्ष)वथुग्रहः ।
कफोत्क्लेदो ज्वरस्तृष्णा विड्भेदो मूत्रसंग्रहः ॥
स्तम्भः स्रावश्च कुचयोः सिराजालेन संततः ।
शोथशूलरुजादाहैः स्तनः स्प्रष्टुं न शक्यते ॥
स्तनकीलकमित्याहुर्भिषजस्तं विचक्षणाः ।
कीलवत् कठिनोऽङ्गेषु बाधमानो हि तिष्ठति ॥

अब मैं 'पीतवज्रा' (जिसने वज्र का सेवन कर लिया है) स्त्री के लक्षणों का वर्णन करूंगा। पीतवज्रा के लक्षण—उस स्त्री को अजीर्ण, अरति, ग्लानि, बिना कारण के शरीर में पीडा, अरुचि, पर्वभेद (सन्धियों में पीडा), अङ्गमर्द, शिरःशूल, दवथु (आंखों में जलन अथवा क्षवथु-छींक), अङ्गग्रह-कफोत्क्लेद (कफ के कारण जी मचलाना) ज्वर, तृष्णा, विड्भेद (अतिसार), मूत्र की रुकावट, स्तनों में स्तम्भ (अकड़ान) स्राव (Discharge) होते हैं और चारों ओर शिराओं का जाल (Veinulas) दिखाई देता है। तथा शोथ (Inflamation), शूल (Pain), रुजा (स्पर्शाक्षमता Tenderness) तथा दाह (Burning sensation) के कारण स्तन का स्पर्श नहीं किया जा सकता। बुद्धिमान चिकित्सक इसे स्तनकीलक (स्तनविद्रधि-Mammary abscess) कहते हैं। इसका यह नाम इस लिये है कि यह कील की तरह कठिन होकर अङ्गों में बाधा पहुंचाता हुआ विद्यमान रहता है।

एष पित्तात्मना शीघ्रं पाकं भेदं च गच्छति ।
कफाच्चिरं क्लेशयति वातादाशु निवर्तते (विवर्धते)॥
शाखाशिरोभिस्तु यदि विमार्गान्न प्रपद्यते ।
आकृष्यमाणं बालेन क्षिप्रं निर्धावति स्तनात् ॥
निर्दुह्यमानमुत्पीडाद्रक्तं सक्षीरशोणितम् ।
अथवाऽभ्येति सहसा प्रत्यक्षं चोपलभ्यते ॥

यदि पित्त की अधिकता हो तो यह स्तनकीलक

(Mammary Abscess) शीघ्र ही पक जाता है तथा पककर फूट जाता है । कफ के कारण यह चिरकाल तक कष्ट देता है तथा वायु के कारण शीघ्र ही बढ़ जाता है । बालक के द्वारा स्तनपान के समय आकृष्ट होता (चूसा जाता) हुआ यदि वह शाखा तथा शिर आदि के द्वारा विपरीत मार्गों में न चला जाय तो स्तन के द्वारा शीघ्र ही बाहर निकल जाता है । अथवा यदि उत्पीडन करके (दबाकर) दोहन किया जाय तो वह 'वज्र' दुग्ध तथा रक्त के साथ सहसा प्रत्यक्ष रूप से बाहर निकल आता है ।

वक्तव्य—आधुनिक विज्ञान के अनुसार स्तनकीलक को Mammary Abscess या Abscess of the Breast कहा जा सकता है जो बढ़कर Cancer का रूप धारण कर सकता है । यह स्तनकीलक या अन्य कोई भी स्तनरोग साधारणतया गर्भवती या प्रजाता स्त्रियों को ही प्रायः होता है । सुश्रुत संहिता के निदान स्थान में स्तन रोगों का वर्णन करते हुए कहा है—धमन्यः संवृतद्वारा कन्यानां स्तनसंश्रिताः । दोषाविसरणात्तासां न भवन्ति स्तनामयाः ॥ तासामेव प्रजातानां गर्भिणीनां च ताः पुनः । स्वभावादेव विवृता जायन्ते संभवन्त्यतः ॥ सक्षीरौ वाऽप्यदुग्धौ वा प्राप्य दोषः स्तनौ स्त्रियाः । रक्तं मांसं च संदूष्य स्तनरोगाय कल्पते ॥ प्रसव या गर्भावस्था से पूर्व स्त्रियों में स्तन-संश्रित दुग्धवह स्रोतस् (Lacteals) संकुचित होते हैं अतः उनमें दोषों का प्रवेश नहीं हो सकता है । गर्भावस्था में या प्रसव के बाद वे स्वयमेव विस्तृत हो जाती है इसलिये उनमें स्तनरोग होने की संभावना प्रायः बनी रहती है ।

घृतपानं प्रथमतः शस्यते स्तनकीलके ।
स्रोतांसि मार्दवं स्नेहाद्यान्ति वज्रं च च्याव्यते ॥
निर्दोहो मर्दनं युक्त्या पायनं च गलेन च ।
(इति ताडपत्रपुस्तके ३३ तमं पत्रम् ।)
शीताः सेकाः प्रलेपाश्च विरेकः पथ्यभोजनम् ॥
स्रावणं चाविदग्धस्य दोषदेहव्यपेक्षया ।
स्य पाटनं कुर्यान्मृजां विद्रधिवच्च तत् ॥

स्तनकीलक की चिकित्सा—स्तनकीलक की चिकित्सा में सर्व प्रथम घृतपान कराना चाहिये । इस प्रकार स्नेह से स्रोत मृदु हो जाते हैं तथा 'वज्र' निकल जाता है । इसके लिये युक्ति पूर्वक रोहन (दूध निकाल देना) मर्दन, तथा गले (मुंह) से ओषधि का पान कराना चाहिये । फिर शीतसेक (Cold Compress), प्रलेप, विरेचन तथा पथ्य भोजन देना चाहिये । दोष तथा शरीर (इन दोनों के बल) को दृष्टि में रखते हुए अविदग्ध (अपक्क) विकार का स्रावण करना चाहिये और पके हुए का विद्रधि की तरह पाटन (Open or Incision) करना चाहिये ।

परवद्धितभोक्त्री च परालालिततर्पणा ।
परवेश्मरता धात्री मुच्यते स्तनकीलकात् ॥

जो धात्री दूसरे के यहां हितकारक (पथ्य) भोजन करती है, दूसरे के यहां जिसका लालन पालन (पोषण) एवं तर्पण होता है, तथा जो दूसरे के घर में रहती है—वह स्तनकीलक नामक रोग से मुक्त हो जाती है । अर्थात् उपर्युक्त प्रकार की धात्री को स्तनकीलक नामक रोग नहीं होते हैं ।

दर्शनीयौ स्तनौ पीनौ सुजातौ संहतौ समौ ।
सुकरौ पर्यकीलौ च दृष्ट्वा त्वीक्ष(त्विच्छ)न्ति दुर्हृदः ॥
ततो रुजामवाप्नोति कार्यं तन्त्रावचारणम् ।
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ।

इति क्षीरोत्पत्तिर्नामाध्याय ऊनविंशतितमः ॥ १९ ॥

जिस माता या धात्री के स्तन दर्शनीय (सुन्दर) मोटे, सुन्दर आकृति वाले, उत्तम संघात वाले हों तथा दोनों स्तन आकार में समान, सुन्दर और आगे से गोल, घुण्डीदार होते हैं, उन्हें देखकर दुष्ट जन ईर्ष्या करते हैं (अर्थात् उनकी नज़र लग जाती है) । इससे धात्री या माता रुग्ण हो जाती है । इसमें तान्त्रिक प्रक्रियाओं का प्रयोग करना चाहिये ।

परिहृत्याममांसं तु निशि नेयं चतुष्पथम् ॥
एतच्छ्रुत्वा वचस्तथ्यमृषिपत्न्यः प्रहर्षिताः ।
प्रशशंसुर्महात्मानं कश्यपं लोकपूजितम् ॥

उस स्त्री को कच्चा मांस डालकर रात्रि को चौराहे पर ले जाना चाहिये । इस तथ्य बचन को सुनकर ऋषि पत्निय बहुत प्रसन्न हुईं तथा लोक पूजित महात्मा कश्यप की प्रशंसा की । ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था ।

इति क्षीरोत्पत्तिर्नामाध्याय ऊनविंशतितमः ॥ १९ ॥

विंशतितमोऽध्यायः ।

अथातो दन्तजन्मिकमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ २ ॥

अब हम दन्तजन्मिक (दांतो की उत्पत्ति का जिसमें वर्णन हो) अध्याय का व्याख्यान करेंगे । ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था ।

अथ खलु भगवन् देहिनां जातानामभिवर्धमानानां कतिषु मासेषु दन्ता निषिच्यन्ते, निषिक्ताश्च कियता कालेन मूर्तीभवन्ति, मूर्तीभूताश्च कदोद्भिद्यन्ते, कानि चैषां पूर्वरूपाणि, के चोपद्रवाः, कश्चैषामुपक्रमः, किञ्च दन्तजन्म प्रशस्तमप्रशस्तं च किं, कस्माच्च स्वमङ्गमभिवर्धमानं प्राणसंशयाय भवति, कियन्तश्च दन्ताः, कतिचैषां द्विजाः, कियता च कालेन

पतन्ति, पतिता वा जायन्ते, दन्तसंपदसंपच्च कीदृशीति ॥ ३ ॥

भगवन् ! प्राणियों के उत्पन्न होकर बढ़ते हुवे कितने मासों में दांतों का निषेचन होता है (अर्थात् मसूड़ों के अन्दर दांत बैठते हैं), निषेचन के कितने समय बाद वे मूर्तरूप धारण करते हैं, मूर्तरूप होने के बाद कब प्रकट होते (फूटते) हैं, दांतों के निकलने के क्या पूर्वरूप होते हैं, दन्तोद्भेद के समय क्या २ उपद्रव होते हैं, इन उपद्रवों की क्या चिकित्सा है, कौनसी दन्तोत्पत्ति प्रशस्त तथा कौनसी अप्रशस्त मानी गई है, तथा क्यों दांत अपने निश्चित परिमाण से अधिक बढ़कर प्राणों के लिये भय (संकट) उत्पन्न कर देता है, दांतों की संख्या कितनी होती है, इनमें से द्विज (दो बार होने वाले) कितने हैं, ये कितने समय में गिरते हैं तथा गिरकर पुनः निकल आते हैं, कौन से दन्तसंपत् तथा कौन से असंपत् होते हैं।

अथोवाच भगवान् कश्यपः—इह खलु नृणां द्वात्रिंशद्दन्ताः, तत्राष्टौ सकृज्जाताः स्वरूढदन्ता भवन्ति, अतः शेषा द्विजाः । यावत्स्वेव च मासेषु दन्ता निषिच्यन्ते तावत्स्वहःसूद्भिद्यन्ते । यावत्स्वेव च मासेषु जातस्य सत उद्भिद्यन्ते तावत्स्वेव च वर्षेषु पतिताः पुनरुद्भिद्यन्ते । तत्र मध्ये द्वावुत्तरौ राजदन्तसंज्ञौ भवतः, तौ पवित्रौ, तस्मात्ताभ्यां खण्डे न श्राद्धमर्हति, अपवित्रो हि सः । तयोरुभयतः पार्श्वयोरपि वस्तौ(?), तयोरपि दंष्ट्रे, शेषाः स्वरूढा हानव्या इति चोच्यन्ते; तथाऽधस्तात् ॥ ४ ॥

भगवान् कश्यप ने उत्तर दिया—मनुष्यों के ३२ दांत होते हैं, इनमें आठ सकृज्जात (केवल एक वार उत्पन्न होने वाले) तथा उसी अपने स्वरूप में ही बढ़ने वाले होते हैं। शेष (२४) द्विज* हैं । जितने मास में दांतो का निषेचन होता है उतने ही दिनों में वे फूट आते हैं (अर्थात् यदि चार मास में दांत निषिक्त होते हैं तो चार दिन में वे फूटकर बाहर निकल आते हैं) और बच्चे के उत्पन्न होने के बाद जितने मास में दांत फूटते (निकलते) हैं उतने ही वर्षों में गिरकर वे पुनः निकल आते हैं (अर्थात् यदि छठे मास में दांत निकलते हों तो वे छठे वर्ष में गिरकर पुनः [स्थायी दांत] निकल आते हैं) । ऊपर की पंक्ति में बीच के दो दांतों का नाम राजदन्त (मध्य त्रोटक-Central Incisers) होता है, उनको पवित्र माना गया है, इसलिये उनके खण्डित हो जाने पर मनुष्य श्राद्ध के योग्य नहीं रहता अर्थात् वह किसी का श्राद्ध नहीं कर सकता है, क्योंकि वह अपवित्र हो जाता है । उन दोनों (राजदन्त) के पार्श्व में दोनों ओर वस्त (Lateral Incisers) होते हैं, और इनके दोनों ओर दंष्ट्रा (शीवनकीलक, Canine या Eye teeth) होते हैं। (इस प्रकार ये ६ हुए) शेष स्वरूढ (अपने उसी स्वरूप में बढ़ने वाले) हानव्य अर्थात् हनुप्रदेश में होने वाले (चर्वण दन्त—Bicuspids or molars) कहाते हैं (अर्थात् ये १० हुवे) इसी प्रकार नीचे की पंक्ति में भी समझना चाहिये (अर्थात् २० हानव्य और १२ शेष हुवे इस प्रकार कुल ३२ दांत होते हैं)।

वक्तव्य—आधुनिक मतानुसार भी दन्तोद्भेद दो प्रकार का माना गया है। (१) बाल्यावस्था (Infancy) में तथा (२) किशोरावस्था (Childhood) में। दांतो के प्रथम समुदाय (Set) को "दूध के दांत" (Milk teeth या Primary Dentition) कहते हैं तथा दूसरे को "स्थायी दांत" (Secondary Dentition) कहते हैं।

प्रथम समुदाय के दांत (दूध के दांत) बच्चे के उत्पन्न होने के कई मास पूर्व मसूड़ों के अन्दर बीज रूप से (Germs) विद्यमान होते हैं। धीरे २ उनमें अस्थिनिर्माण (Ossification) प्रारंभ होता है तथा दांतों की आकृति बनकर बढ़ते हुवे मसूड़ों को विदीर्ण करके बाहर फूट आते हैं। इसी को हम दन्तोद्भेद या Teething कहते हैं। इस संहिता के उपर्युक्त प्रकरण में इन्हीं तीनों अवस्थाओं के लिये क्रमशः निषिक्त, मूर्तिमान् तथा उद्भेदन शब्द दिये गये हैं। इस विषय में Birch की Management and medical treatment of children in India नामक पुस्तक के ७५ पृष्ठ पर लिखा है—The germs of the first (milk or temporary) set have existed within the jaw for Several months before birth, but they are at no time covered with true bone. As ossification advances, the tooth rises and pressing upwards causes absorption of its capsule and the gum, till by their removal the tooth makes its appearance. This upward progress, in its later stages, is what we mean when we talk of "teething".

दूध के दांत निम्न क्रम से निकलते हैं—

१. निचले मध्य के त्रोटक (Lower central Incisers) ५ से दस मास
२ ऊपर के चारों त्रोटक (upper central & lateral Incisers) ८ से १२ मास
३. निचले पार्श्व के त्रोटक (Incisers) तथा निचले और ऊपर के प्रथम चर्वण (Ist molars) १२ से १४ मास
४. निचले तथा ऊपर के शीवन या कीलक (Canine या Eye teeth) १६ से २२ मास
५. निचले तथा ऊपर के दूसरे चर्वण (2nd molars) २४ से ३० मास

इस प्रकार इन २० दांतों के निकलने के साथ २½ वर्ष

*द्विज=(द्विर्जायन्ते—दो बार उगने वाले) अर्थात् दूध के दांत–Milk teeth, क्योंकि दूध के दांत एक बार गिर कर दो बारा उगते हैं।

की अवस्था तक प्रथम दन्तोद्भेद (Primary Dentition) पूर्ण हो जाता है। इसके बाद दांतों का दूसरा समुदाय (स्थायी दांत या Secondary Dentition) प्रारंभ होता है। प्रथम समुदाय के दांतों के समान दूसरे समुदाय के दांत भी जन्म से पूर्व ही मसूड़ों में बीजरूप से स्थित होते हैं परन्तु ये प्रथम की अपेक्षा भी अधिक गहरे होते हैं। Birch की पूर्वोक्त पुस्तक में ही आगे लिखा है—Strange as it may appear, the germs of the second set also existed in the jaw before birth, more deeply seated than those of the milk teeth.

स्थायी दांत निम्न क्रम से निकलते हैं—

१. प्रथम पश्चात्-चर्वण या त्रिमूली (1 st. molars)- ५ से ७ वर्ष
२. मध्य के त्रोटक (Central Incisers)—६½ से ८ वर्ष
३. पार्श्व के त्रोटक (Lateral Incisers)—७ से ९ वर्ष
४. प्रथम चर्वण या द्विमूली (1 st. Bicuspids)—९ से ११ वर्ष
५. द्वितीय चर्वण या द्विमूली (2 nd. Bicuspids)—१० से १२ वर्ष
६. शीवन या कीलक (Canines or Eye teeth)—११ से १४ वर्ष
७. द्वितीय पश्चात् चर्वण या त्रिमूली (2 nd. molars)—११ से १४ वर्ष
८. तृतीय पश्चात् या चर्वण या त्रिमूली या ज्ञानदन्त (3 rd. molars or wisdom teeth)—१६ से २१ वर्ष या उससे भी बाद में।

इस प्रकार ज्ञानदन्त (Wisdom teeth) के निकालने के साथ २ दातों की ३२ संख्या पूरी हो जाती है तथा दन्तोद्भेद का कार्य भी पूर्ण हो जाता है।

तत्र कुमारीणामाशुतरमल्पाबाधकरं च दन्तजन्म, सुषिरत्वाद्दंशानां मृदुस्वभावाच्च; प्रकृष्टकालमाबाधाबहुलं तु कुमाराणामाचक्षते, घनत्वाद्दंशानां स्थिरस्वभावाच्च। दन्तानां निषेकमूर्तित्वोद्भेदवृद्धिपतनपुनर्भावनिवृत्तिस्थितिपरिक्षयचलनपतनदृढदुर्बलता जातिविशेषान्निषेकात् स्वभावान्मातापित्रोरनुकरणात् स्वकर्मविशेषाच्चेत्याचक्षते महर्षयः; तथाऽन्येऽपि शरीरवृद्धिह्रासगुणदोषप्रादुर्भावाः ॥ ५ ॥

लड़कियों के दांत जल्दी निकलते हैं तथा कष्ट भी कम होता है क्योंकि उनके दांत सुषिर (सच्छिद्र) एवं मृदु होते हैं। लड़कों के दांत देर में निकलते हैं तथा कष्ट भी अधिक होता है क्योंकि उनके दांत घन (ठोस) तथा स्थिर (दृढ़) होते हैं। दांतों का निषेक, मूर्तरूप होना, प्रकट होना, वृद्धि, पतन (गिरना) गिरकर पुनः न निकलना, स्थिर रहना (जमे रहना), क्षीण होना हिलना, गिरना, दृढ़ता, एवं दुर्बलता इन सब बातों में जाति की विशेषता, निषेक, स्वभाव, माता-पिता का अनुकरण (Hereditary) तथा अपने प्राक्तन कर्मों की अपेक्षा होती है ऐसा प्राचीन महर्षि कहते हैं, तथा अन्य भी शरीर की वृद्धि ह्रास, गुण, दोष उत्पन्न होते हैं।

वक्तव्य—Dr. Donald Paterson अपनी पुस्तक "Sick children" के १४ पृष्ठ पर इस विषय में लिखते हैं कि—"Many abnormalities in the appearance of teeth and the type teeth cut will appear to be hereditary and there can be no doubt that good teeth run in families" अर्थात् दांतों के बहुत से विकार तथा उनके निकलने के बहुत से विकृत तरीके आनुवंशिक प्रतीत होते हैं। सुन्दर दांत निःसन्देह एक पारिवारिक देन है। अर्थात् यदि माता पिता के दांत अच्छे होते हैं तो प्रायः सन्तति के दांत भी अच्छे होते हैं।

नृणां तु चतुर्थादिषु मासेषु दन्ता निषिच्यन्ते। तत्र सदन्तजन्म च, पूर्वमुत्तरदन्तजन्म च, विरलदन्तजन्म च, हीनदन्तता च, अधिकदन्तता च, करालदन्तता च, विवर्णदन्तता च, स्फुटितदन्तता चामङ्गल्या भवति। तत्र शान्त्यर्थं मारुतीमिष्टिं निर्वपेत्, स्थालीपाकमनाहिताग्नेः प्राजापत्यमित्येके, तथाऽन्येष्वपि स्वाङ्गोनाधिकभावेषु, तथा तद्घोरं प्रशाम्यति ॥ ६ ॥

पुरुषों के ४ थे मास में दांत निषिक्त हो जाते हैं। सदन्तजन्य (दांतों के सहित जन्य), पहले ऊपर के दांतों का निकलना (साधारणतया सबसे पहले निचले तथा मध्य के त्रोटक Incisers निकलने चाहिये), दांतों का विरल (दूर २—Scattered) होना, दांतों का कम होना, दांतों की संख्या अधिक होना, दांतों का कराल*—भयंकर (लम्बे) होना, दांतों का मैला होना, तथा दांतों का स्फुटित होना (खिरना) आदि ये सब अशुभ माने गये हैं। इनकी शान्ति के लिये मारुती इष्टि (यज्ञ) करे। कुछ लोग कहते हैं कि अनाहिताग्नि पुरुषों की स्थालीपाक (पुरोडाश) प्रजापत्य इष्टि से करे। इसी प्रकार अन्य अङ्गों के कम या अधिक होंने पर ऐसा ही करे जिससे वह अनिष्ट शान्त हो जाता है।

चतुर्विधं तु दन्तजन्माचक्षते सामुद्गं, संवृतं, विवृतं, दन्तसंपदिति। तत्र सामुद्गं क्षयि, नित्यसंपातात्, संवृतमधन्यं मलिष्ठं, विवृतं वीतमनित्यलालोपहतमसंछन्नदन्तत्वादाशुदन्तवैवर्ण्यकरमासन्नाबाधमिति ॥ ७ ॥

चार प्रकार की दातों की उत्पत्ति मानी गई है—(१) सामुद्ग (२) संवृत् (३) विवृत् (४) दन्तसंपत्। इनमें 'सामुद्ग' बच्चों के दांतों के क्षय की अवस्था में होते हैं क्योंकि उनके दांत सदा गिरते रहते हैं। संवृत्-अधन्य (अप्रशस्त)

* शनैः प्रकुरुते यत्र दन्ताश्रितोऽनिलः।
करालान्विकटान्दन्तांस्स करालो न सिध्यति।
(भा. प्र. मध्यमखण्ड चि० ७२)

है, इसमें दांत मैले होते हैं। विवृत्–जिसमें नित्य लालास्राव (Saliva) होता रहता है तथा होठों द्वारा दांतों के पूरे ढके न जाने के कारण दांत मैले हो जाते हों तथा उनमें सदा रोग होते रहते हों ॥ ७ ॥

चतुर्थे तु मासि दन्ता निषिक्ता दुर्बला भवन्त्याशुक्षयिणश्चामयबहुलाश्च, पञ्चमे स्यन्दनाश्च प्रहर्षिणश्चामयबहुलाश्च षष्ठे प्रतीपाश्च मलग्राहिणश्च विवर्णाश्च घुणदन्ताश्च भवन्ति, सप्तमे द्विपुटाः स्फोटिनश्च राजिमन्तश्च खण्डाश्च रूक्षाश्च विषमाश्चोन्नताश्च भवन्ति, तथाऽष्टमे मासि सर्वगुणसंपन्ना भवन्ति। पूर्णता समता घनता शुक्लता स्निग्धता श्लक्ष्णता निर्मलता निरामयता किञ्चिदुत्तरोन्नतता, दन्तबन्धनानां च समता रक्तता स्निग्धता बृहद्घनस्थिरमूलता चेति दन्तसंपदुच्यते। हीनोल्बणसितासिताऽप्रविभक्तदन्तबन्धनत्वमप्रशस्तमृषयो वदन्ति। तत् स्वभावाद्दन्तोदूखलकेषु यच्छोणितं गर्भे निषिक्तं तदेव जातस्य समतोऽभिवर्धमानस्य क्रमेण··

· ·

(इति ताडपत्रपुस्तके ३४ तमं पत्रम्।)

चतुर्थ मास में निषिक्त हुवे २ दांत दुर्बल, शीघ्र गिरने वाले तथा बहुत से रोगों से युक्त होते हैं, पांचवे मास में निषिक्त हुए २ दांत हिलने वाले, हर्ष* एवं अन्य रोगों से युक्त होते हैं, छठे में निषिक्त हुवे २ दांत प्रतीप–टेढ़े, मैले, विवर्ण तथा कीड़ों से खाये हुवे (Carious) होते हैं, सातवें में निषिक्त हुए २ दांत दो पुट–जड़ वाले (इकट्ठे दो दांत निकलना), चटकनेवाले (खिरने वाले) रेखा युक्त, टूटे हुवे, रूक्ष, विषम (समान न होना) तथा आगे को उभड़े हुवे होते हैं, और ८ वें मास में निषिक्त हुए २ दांत सर्वगुण सम्पन्न होते हैं। दांतों की पूर्णता, समानता, कठोरता सफेदी स्निग्धता, चिकनापन, निर्मल होना, नीरोग होना, तथा दूध के दांतों का कुछ उन्नत–बड़े होना (जिससे वे निचले दातों को ढकलें) तथा दन्तबन्धन (मसूड़ों) का समान, लाल, स्निग्ध तथा बड़े घन एवं स्थिर मूल वाले होना (अर्थात् उनमें दांत अच्छी प्रकार जमे हुवे हों) ये दन्तसंपत् (दांतों के गुण) कहलाते हैं। दांतो का हीन (कम होना), उल्वण (अधिक होना), सित–एक दम सफेद होना (स्थायी दांतों का रंग हलका पीलापन–Yellowish tint–लिये हुवे सफेद होना चाहिये), असित–काले, तथा मसूड़ों का अलग २ न होना (प्रत्येक दांत का मसूड़ा अस्पष्ट अलग दिखाई देना चाहिये), अप्रशस्त माने गये हैं। दांतों के गढ़ों (Pits) में गर्भ के समय जो रक्त स्वाभाविक रूप से निषिक्त होता है वही रक्त,* उत्पन्न होकर समान रूप से बढ़ने वाले व्यक्ति में क्रम से······(दांतो को उत्पन्न करता)।

(ताडपत्र पुस्तक में ३४ वा (पृष्ठ[1])

वक्तव्य—यह ग्रन्थ खण्डित रूप से मिलता है इस लिये बीच २ में इसके पृष्ठ लुप्त हैं। इस अध्याय में भी पूर्वोक्त विवरण के बाद पृष्ठों के लुप्त होने से अध्याय को यहीं अधूरा ही समाप्त कर देना पड़ा है। यदि यह अध्याय पूरा होता तो संभवतः अध्याय के उपक्रम में कहे हुए कई महत्व पूर्ण प्रश्नों की इसमें विवेचना मिलती। अस्तु, उस विषय में तो जब तक इसका खण्डित शेषांश कहीं से उपलब्ध न हो तब तक हमें अपनी जिज्ञासा को शान्त रखना ही पड़ेगा। फिर भी हम पाठकों के ज्ञान के लिये आधुनिक विज्ञान की गवेषणाओं के आधार पर यथा संभव प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

बच्चों के दांत निकलने का समय ऐसा होता है जिसमें बच्चों को बहुत से रोग हो जाया करते हैं। दांतों के उद्गम के विषय में आधुनिक विद्वानों के परस्पर बिलकुल विपरीत दो सिद्धान्त हमारे दृष्टिगोचर होते हैं (१) दांतों के निकलने के समय बच्चे को निश्चित रूप से बहुत से रोग घेर लेते हैं (२) दांतो का उद्गम दांतों के निकलने के सिवाय और किसी बात (रोग आदि) का उत्तरदायी नहीं है। Donald Paterson अपनी पुस्तक Sick Children के १५ पृष्ठ पर लिखते हैं–'Two extreme theories of dentition are advanced. (i) that there are myriads of diseases and upsets definitly due to cutting the teeth. (2) that teething is responsible for nothing but the cutting of teeth."

उपर्युक्त बात मुख्य रूप से 'दूध के दांतों' के विषय में ही है। अस्तु, आपाततः इनमें से कोई भी सिद्धान्त ठीक हो, इतना तो मानना ही पड़ेगा कि शिशु प्रसव (Childbirth) के समान दांतो का उद्गम स्वस्थावस्था होने पर भी किसी २ में विकृत (रोग की) अवस्था धारण कर लेता है तथा उस अवस्था में उसे नाना प्रकार के रोग घेर लेते हैं। परन्तु दन्तोद्भेद पर लोग बच्चों के रोगों की जिम्मेवारी बहुत अधिक डाल देते हैं। दन्तोद्भेद के समय होने वाले प्रत्येक–छोटे से लेकर बड़े तक–उपद्रव की जिम्मेवारी दन्तोद्भेद पर ही थोप दी जाती है। आयुर्वेद के ग्रन्थों में इस विषय में लिखा है—पृष्ठभंगे बिडालानां बर्हिणां शिखरोद्गमे। दन्तोद्भेदे च बालानां न हि किंचिन्न दूयते॥ वास्तव में हमें दन्तोद्भेद पर इतनी अधिक जिम्मेवारी नहीं डालनी चाहिये। हां, कुछ विकृति अवश्य हो जाती हैं। बच्चों के वातसंस्थान (Nervous System) में कुछ विकार उत्पन्न हो जाते हैं जिससे बच्चा चिड़चिड़ा तथा कमजोर अवश्य हो जाता है। इसके अतिरिक्त और

---

* शीतरूक्षप्रवाताम्लस्पर्शानासहाः द्विजाः।
तत्र स्युर्वातपित्ताभ्यां दन्तहर्षः स कीर्तितः॥
(भा० प्र० मध्यमखण्ड चि० ६८)

* Birch की पूर्वोक्त पुस्तक के ८१ पृष्ठ पर लिखा है–"Teeth are built out of blood" रक्त से दांत बनते हैं।

१. ताडपत्रपुस्तक में इससे आगे दो पृष्ठ खण्डित है।

कोई रोग हो यह आवश्यक नहीं है। यदि बच्चे के भोजन एवं परिधान (कपड़ों) की ओर ध्यान रखा जाय तो बच्चे को साधारण तथा कोई कष्ट नहीं होता है। बच्चों का निम्न उपद्रव मुख्यरूप से हो जाते हैं—

१. ज्वर—किसी २ बच्चे को दन्तोद्भेद के समय ज्वर हो जाया करता है।

२. वमन—कभी २ बच्चों को दन्तोद्भेद के समय वमन प्रारंभ हो जाते हैं। यह अवस्था विशेष रूप से तब होती है जब कि बच्चा लगभग १–१ ½ वर्ष का हो जाता है। इस समय तक वह केवल दूध या अन्य तरल भोजन ही ले रहा होता है। अब बच्चे को धीरे २ ठोस भोजन (Solid) देना प्रारंभ किया जाता है। इस समय बच्चे के मसूड़े बहुत नरम होते हैं, कठोर भोजन को चबाने से उसके दांतों में दर्द होता है इसलिये वह उस भोजन को आधा चबाया हुवा ही निगल जाता है वह बिना चबाया हुवा भोजन उसे पचता नहीं और परिणाम स्वरूप उसे वमन हो जाता है जिसमें कि कठोर भोजन का अंश ही मुख्यरूप से निकलता है। यह वमन दन्तोद्भेद के बाद स्वयं शान्त हो जाती है।

अतिसार—दन्तोद्भेद के समय बच्चे को अतिसार भी लग जाते हैं। इसमें मल पतला अवश्य होता है परन्तु उसका रंग ठीक होता है तथा उसमें बिना पचा हुआ अंश नहीं होता। भोजन में परिवर्तन करने से भी मल की संख्या में कोई विशेष अन्तर नहीं होता तथा इस अतिसार से बच्चे के भार में भी कोई कमी नहीं होती है। * कुछ लोगों का विचार है कि दन्तोद्भेद के समय अतिसार एक स्वाभाविक एवं लाभप्रद प्रक्रिया है। परन्तु यह धारणा ठीक नहीं है। Birch की पूर्वोक्त पुस्तक के ७८ पृष्ठ पर स्पष्ट लिखा है कि "Diarrhoea is never a good thing, it is always a bad sign" अर्थात् अतिसार कभी भी अच्छा नहीं है यह सदा बुरा लक्षण है। सामान्य लोग घरों में कहा करते हैं कि दन्तोद्भेद के समय होने वाले अतिसार को नहीं रोकना चाहिये। परिणाम यह होता है कि जब बच्चा दिन प्रतिदिन दुर्बल होता जाता है तब चिकित्सक को बुलाते हैं जो कि अतिसार को रोकने का प्रयत्न करता है परन्तु तब तक वह रोगी असाध्यावस्था को पहुंच चुका होता है। अन्त में वह अभागा बच्चा आक्षेप (Convulsions) के द्वारा अपनी इहलीला को समाप्त कर देता है। परन्तु इसका दोष भी लोग चिकित्सक को ही देते हैं और कहते हैं कि दस्तों को रोकने से वह दिमाग में पहुंच गया है (It went to head) और इसी लिये बच्चा मर गया है। अपने इस अज्ञान को हमें दूर करने का अवश्य प्रयत्न करना चाहिये।

कास - बच्चे को इस समय खांसी भी हो जाती है। परन्तु खांसी का कारण प्रायः दन्तोद्भेद न होकर दूसरा ही होता है। बच्चे को लालास्राव बहुत हुआ करता है। दिन में तो यह स्राव स्वाभाविक रूप से मुंह से बाहर को गिरता रहता है। परन्तु जब बच्चा रात्रि में या दिन में सोता है तब वह स्राव बाहर न निकल कर अन्दर गले में जाकर स्वरयन्त्र के मुंह को बन्द कर देता है जिससे बच्चा बार २ खांसता है।

आक्षेप (Convulsions)—दन्तोद्भेद के समय सधारणतया आक्षेप नहीं होते परन्तु यदि बच्चे को Ricket * हो या कोई अन्य मानसिक दुर्बलता हो तो उसे आक्षेप हो जाया करते हैं।

पामा (Eczema)—इस समय बच्चों को पामा तथा खुजली भी हो जाया करती है। साथ ही प्रायः शीत पित्त के दाग (urticarial Rashes) भी हो जाया करते हैं।

पूर्वरूप—मुंह से लालास्राव होना, मसूड़ों का सूजना तथा वेदना युक्त होना, तथा वस्तुओं को काटने की इच्छा करना ये दन्तोद्भेद के पूर्व रूप होते हैं।

उपक्रम—दन्तोद्भेद के उपद्रव यदि विशेष प्रबल रूप धारण न करलें तो विशेष उपक्रम की आवश्यकता नहीं होती है, दांतो के निकलने के बाद वे स्वयं शान्त हो जाते हैं। कहा भी है—दन्तोद्भेदेषु रोगेषु न बालमतियन्त्रयेत्। स्वयमेवोपशाम्यन्ति जातदन्तस्य ये गदाः॥ परन्तु यदि उपद्रव अधिक गंभीर हो जांय तो उस २ उपद्रव का उपाय अवश्य सावधानी से करना चाहिये। साधारणतया बच्चे का भोजन ठीक करने का प्रयत्न करना चाहिये। बच्चे को ठीक अनुपात में विटामिन, शुद्ध वायु, सूर्य की धूप तथा उपर्युक्त भोजन मिलने की पूर्ण व्यवस्था रखनी चाहिये। दन्तोद्भेद के समय बच्चे के मसूड़ों पर मधु में मिलाकर सुहागे की खील, उंगली में लगाकर ग्लिसरीन या नीम्बू का टुकड़ा रगड़ना चाहिये, इससे दांत सुखपूर्वक निकल आते हैं। दन्तोद्भेद के समय बच्चे के भोजन की मात्रा घटाकर ¾ कर देना चाहिये तथा उस कम की हुई भोजन की मात्रा को शुद्ध जल द्वारा पूरा करना चाहिये। प्रयत्न करना चाहिये कि बच्चे को कोष्ठबद्धता (Constipation) न रहे, एतदर्थ ½ ग्रेन मुग्धरस (Grey powder) दिन में दो वार देकर पेट साफ कर देना चाहिये। मुंह में चूसने के लिये बच्चे को कोई कड़ी चीज देनी चाहिये जिससे उसके हनु (Jaw) की वृद्धि (विकास) पूर्ण रूप से हो सके।

एकविंशतितमोऽध्यायः।

....

....

रोहिणी स्वयङ्गुप्तामूलं द्वे हरिद्रे बृहतीफलरसैर्घृतार्धवत्

---

* देखें—Donald Paterson की Sick children का पृष्ठ १५।

* Ricket—बच्चों का एक रोग है जिसमें विटामिन डी (Vitamin-D) की कमी से उनकी हड्डियां कमजोर होकर टेढ़ी हो जाती हैं।

पचेत्, पच्यमानेऽपामार्गं चावपेत्। सिद्धेन कर्णपाली-महन्यहनि प्रदद्येद्विमृद्नीयाच्च, आशु वर्धते पीना समा च पाली भवति। मधूच्छिष्टसर्जरसयववत्सकैरण्डान्यन्तर्धूमं दग्ध्वा तेन भस्मना प्रचितां कर्णपालीं विमृद्नीयात्, आशु वर्तते पीना समा च पाली भवतीति।

....

कर्णपाली की वृद्धि के उपाय—रोहिणी (कुटकी) कौंच की जड़, हरिद्रा, दारुहरिद्रा तथा कटेरी के रस में इनसे आधे परिमाण में घृत डालकर पकावे। पकती हुई अवस्था में ही इसमें अपामार्ग का चूर्ण डाल दे। इस सिद्ध घृत से कर्णपाली (लौर—Lobule) को प्रतिदिन रगड़े तथा मालिश करे। इससे कर्णपाली शीघ्र बढ़ती है तथा मोटी और समान (स्पर्श में समान—चिकनी) होती है। उपर्युक्त घृत से स्निग्ध हुई कर्णपाली पर मोम, राल, जौ, इन्द्रजौ तथा एरण्ड के पत्तों को अन्तर्धूम विधि से जलाकर उस भस्म को उस पर लगावे (Dust करे)। इससे कर्णपाली शीघ्र बढ़ती है तथा मोटी और चिकनी भी हो जाती है।

वक्तव्य—कर्णपाली बढ़ाने के लिये सुश्रुत सू० अ० १६ में निम्न योग दिये हैं—१. अथास्याप्रदुष्टस्याभिवर्धनार्थमभ्यङ्गः। तद्यथा—गोधाप्रतुदविष्किरानूपौदकवसामज्जानौ पयः सर्पिस्तैलं गौरसर्षपजं च यथालाभं संभृत्यार्कालर्कबलातिबलानन्तापामार्गाश्वगन्धाविदारिगन्धाक्षीरशुक्लाजलशूकमधुरवर्गपयस्याप्रतिवापं तैलं वा पाचयित्वा स्वनुगुप्तं निदध्यात्। स्वेदितोन्मर्दितं कर्णं स्नेहेनैतेन योजयेत्। अथानुपद्रवः सम्यग्बलवांश्च विवर्धते॥ **स्वेद और मालिश किये हुए कान पर उपर्युक्त ओषधियों से सिद्ध किये हुए तैल का प्रयोग करने से कर्णपाली वृद्धि को प्राप्त होती है।** २. यवाश्वगन्धायष्ट्याह्वैस्तिलैश्चोद्वर्तनं हितम्। ३. शतावर्यश्वगन्धाभ्यां पयस्यैरण्डजीवनैः। तैलं विपक्वं सक्षीरमभ्यङ्गात् पालिवर्धनम्॥ ४. ये तु कर्णा न वर्धन्ते स्वेदस्नेहोपपादिताः। तेषामपाङ्गदेशे तु कुर्यात् प्रच्छानमेव तु॥ **उपर्युक्त स्नेहन, स्वेदन अभ्यङ्ग आदि के द्वारा यदि कर्णपाली की वृद्धि न हो तो अपाङ्गदेश (कर्णपुत्रिका के थोड़ा नीचे) छिद्र करना चाहिये।**

तत्र श्लोकाः।

नाभिषग्राजपुत्राणामन्येषां वा महात्मनाम्।
कर्णान् विध्येत् सुखप्रेप्सुरिह लोके परत्र च॥
आमच्छेदेऽत्ययो ह्यत्र कुवेधाद्वोपजायते।
अभिषक् तत्र मन्दात्मा किं करिष्यत्यशास्त्रवित्॥

इह लोक तथा परलोक में सुख को चाहने वाले अज्ञानी वैद्य को राजपुत्रों अथवा अन्य बड़े लोगों के कानों का वेध नहीं करना चाहिये। आमच्छेद (कच्चे वेध) अथवा कुवेध (गलत तरीके से वेध) करने पर यदि कोई उपद्रव हो जाय तो शास्त्रों को न जानने वाला, मन्दबुद्धि तथा अज्ञानी वैद्य क्या करेगा।

कदा वेध्यं कथं वेध्यं कुत्र वेध्यं कथं व्यधः।
हितोऽहितोऽत्ययः कश्च तत्राज्ञः किं प्रपत्स्यते॥
तस्माद्भिषक् सुकुशलः कर्णं विध्येद्विचक्षणः।
शिशोर्हर्षप्रमत्तस्य धर्मकामार्थसिद्धये॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः।

इति चूडाकरणीयोऽध्याय एकविंशतितमः॥ २१॥

कर्णवेधन कब, कैसे, तथा कहां करना चाहिये? किस प्रकार का वेध हितकर तथा अहितकर है? इसके उपद्रव क्या हैं? इत्यादि बातों का मूर्ख वैद्य को कुछ पता नहीं होता। इसलिये अत्यन्त कुशल एवं निपुण चिकित्सक को धर्म, काम तथा अर्थ (धन) की प्राप्ति के लिये हर्ष से युक्त शिशु के कर्ण का वेधन करना चाहिये। ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था।

वक्तव्य—भारत में साधारणतया सब प्रदेशों में उत्पत्ति के पश्चात् बालकों के कानों के वेधन की प्रथा प्रचलित है। कर्णवेधन से बहुत से रोग नहीं हो पाते हैं—ऐसा प्राचीन ऋषियों का विश्वास था। हमारे चिकित्सा ग्रन्थों एवं धर्मशास्त्रों में अनेक स्थानों पर इसका उल्लेख मिलता है। सुश्रुत में कर्णवेधन की विधि अत्यन्त विस्तार से दी हुई है। वहां उसकी विधि के साथ २ उसका प्रयोजन, उपद्रव, तथा चिकित्सा आदि का भी वर्णन मिलता है। सुश्रुत सू० अ० १६ में कहा है—रक्षाभूषणनिमित्तं बालस्य कर्णौ विध्येते। तौ षष्ठे मासि सप्तमे वा शुक्लपक्षे प्रशस्तेषु तिथिकरणमुहूर्तनक्षत्रेषु कृतमङ्गलस्वस्तिवाचनं धात्र्यङ्के कुमारधराङ्के वा कुमारमुपवेश्य बालक्रीडनकैः प्रलोभ्याभिसान्त्वयन् भिषग् वामहस्तेनाकृष्य कर्णं दैवकृते छिद्र आदित्यकरावभासिते शनैः शनैर्दक्षिणहस्तेनर्जु विध्येत्, प्रतनुकं सूच्या, बहलमारया, पूर्वं दक्षिणंकुमारस्य, वामं कुमार्याः, ततः पिचुवर्तिं प्रवेशयेत्॥ **इससे प्रतीत होता है कि कर्णवेधन का उद्देश्य बालकों की ग्रहबाधाओं से रक्षा करना तथा उनमें आभूषण पहनाना है। कहा भी है—**कर्णव्यधे कृते बालो न ग्रहैरभिभूयते। भूष्यते तु मुखं यस्मात् कार्यस्तत् कर्णयोर्व्यधः॥ **कर्णवेधन छटे या सातवें मास में किया जाता है। डल्हण के अनुसार कर्णवेधन के लिये छटा या सातवां महीना जन्म से न लेकर भाद्रपद से लेना चाहिये। तदनुसार माघ या फाल्गुन मास आता है। यह शिशिर ऋतु है। इस ऋतु में कर्णवेधन का मुख्य कारण यह प्रतीत होता है कि उस समय व्रण में पाक (Supparation) का डर बहुत कम होता है तथा व्रण का रोपण भी शीघ्र होता है। इसीलिये धर्मशास्त्रों में जो कर्णवेधन का विधान दिया है वह छठे या सातवें मास में नहीं दिया है अपितु तीसरे या पांचवें वर्ष में दिया है। कात्यायन गृह्यसूत्र १-२ का वचन है—**"कर्णवेधो वर्षे तृतीये पञ्चमे वा"। **कर्णपाली के बीच में एक स्वाभाविक पतला सा छिद्र होता है उसी में वेध करना चाहिये क्योंकि उस स्थान पर शिरा, धमनी. नाड़ी आदि नहीं होती हैं तथा इस भाग में तरुणास्थि भी नहीं होती है। यहां केवल fibrous tissue तथा थोड़ी वसा होती है। इसी स्थान को दैवकृत छिद्र शब्द से कहा गया है। वेधन के**

बाद छिद्र में एक पतला सा धागा डाल दिया जाता है जिससे वह छिद्र बन्द न हो जाय।

उपद्रव—विपरीत कर्णवेधन से तीन प्रकार के उपद्रव हो सकते हैं । (१) रक्तस्राव-धमनी आदि के विंध जाने से होता है (२) वेदना-यह नाडी (Nerve) के विंध जाने से होती है (३) ज्वर इत्यादि-व्रण में सफाई आदि के न होने से जीवाणुओं के प्रवेश (Infection) से ज्वर आदि रोग हो जाते हैं । इसलिये पहले से ही अच्छी प्रकार स्थान देखकर वेधन करे तथा व्रण में जीवाणुओं का प्रवेश न हो सके-इसका प्रयत्न करे। इस अध्याय का नाम चूडाकरणीय अध्याय है जैसा कि अध्याय के अन्त में लिखे वाक्य "इति चूडाकरणीयोऽध्याय एकविंशतितमः" से स्पष्ट है । यह अध्याय प्रारम्भ में खण्डित है इसलिये संभवतः इसके खण्डित अंश में चूडाकर्म का प्रकरण दिया हो। चूडाकर्म या चूडाकरण से अभिप्राय प्रथम बार बालक के सिर के बालों को कटवाने से है जिसे केशच्छेदन या मुण्डन संस्कार कहते हैं। यह बालक के जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त (निषेकादिश्मशानान्तो नित्यं यस्योदितो विधिः) किये जाने वाले वैदिक संस्कारों, में से आठवां संस्कार है। आश्वलायन गृह्यसूत्र १।१७।१ के अनुसार यह संस्कार तृतीय वर्ष में किया जाता है। कहा भी है— "तृतीये वर्षे चौलम्'। पारस्कर गृह्यसूत्र २।१।१ के अनुसार यह प्रथम वर्ष में किया जाता है कहा है—सांवत्सरिकस्य चूडाकरणम्'।

इति चूडाकरणीयोऽध्याय एकविंशतितमः॥ २१ ॥

द्वाविंशतितमोऽध्यायः।

अथातः स्नेहाध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ २ ॥

अब हम स्नेहाध्याय का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था।

स्नेहो द्वियोनिरुक्तश्चतुर्विकल्पश्चराचरसमुत्थः ।
सर्पिर्मज्जवसाख्यं खगमृगजलजप्रभवमाहुः ॥ ३ ॥
तैलानि चोद्भिदेभ्यस्तिलचूतसर्षपबिभीतबिल्वेभ्यः ।
एरण्डातसिशिग्रुमधूकमूलककरञ्जेभ्यः ॥ ४ ॥

स्नेह की दो योनियां (उत्पत्ति स्थान या कारण) कही गई हैं। तथा चर और अचर उत्पत्ति वाले इसके चार विकल्प माने गये हैं । इनमें से घृत, मज्जा, तथा वसा तीनों पक्षी, पशु तथा जल के (अर्थात् सब प्रकार के) प्राणियों से उत्पन्न होते हैं । तथा चौथा स्नेह (तैल) तिल, आम्र, सरसों, बहेड़ा, बिल्व, एरण्ड, अलसी, सुहांजना, महुआ, मूली, तथा करञ्ज आदि उद्भिदों (वनस्पतियों) से प्राप्त होता है।

वक्तव्य—चरक सू० अ० १३ में कहा है—स्नेहानां द्विविधा सौम्य ! योनिः स्थावरजंगमा । स्नेह के स्थावर और जंगम (चर-अचर) भेद से दो प्रकार के उत्पत्ति स्थान माने गये हैं। वही आगे पुनः कहा है—तिलः पियालाभिषुकौ बिभीतकश्चित्राभयैरण्डमधूकसर्षपाः । कुसुम्भबिल्वारुकमूलकातसीनिकोचकाक्षोडकरञ्जशिग्रुकाः ॥ स्नेहाश्रयाः स्थावरसंज्ञिता तथा स्युर्जङ्गमा मत्स्यमृगाः सपक्षिकाः । तेषां दधिक्षीरघृतामिषं वसास्नेहेषु मज्जा च तथोपदिश्यते ॥ इस प्रकार तैल साधारणतया स्थावर तथा घृत, वसा और मज्जा जंगम स्नेह माने गये हैं। साधारणतया इसलिये कहा है कि तैल भी मछली आदि से प्राप्त किया जाता है।

घृततैलवसामज्जां पूर्वः पूर्वो वरोऽन्ये (न्त्ये) ऽयः ।
मुख्यं घृतेषु गव्यं संस्कारात् सर्वसात्म्याच्च ॥ ५ ॥

घृत, तैल, वसा तथा मज्जा इनमें से यथा पूर्व अगले से श्रेष्ठ माना गया है अर्थात् घृत तैल से, तैल वसा से तथा वसा मज्जा से श्रेष्ठ है। घृतों में भी संस्कार तथा सबके लिये सात्म्य होने के कारण गोघृत मुख्य माना गया है।

वक्तव्य—संस्कार से अभिप्राय संस्कार के अनुवर्तन से है अर्थात् यह अपने गुणों को त्यागे बिना ही संस्कारार्थ डाली गई अन्य ओषधियों के गुणों को अपने अन्दर धारण करता है। अन्य स्नेहों में ये गुण नहीं हैं। वे संस्कारार्थ डाली गई अन्य ओषधियों के संसर्ग से अपने गुणों को त्याग देते हैं। चरक में भी घृत को सब स्नेहों से श्रेष्ठ माना है । परन्तु वहां गोघृत का विशेष परिगणन नहीं किया गया है अपितु सामान्य रूप से ही घृत के गुण लिखे हैं । कहा है—सर्पिस्तैलं वसा मज्जा सर्वस्नेहोत्तमा मताः । एभ्यश्चैवोत्तमः सर्पिः संस्कारस्यानुवर्तनात् ॥ घृत की सर्वोत्तमता को दिखाते हुए अष्टाङ्ग संग्रह में कहा है—माधुर्यादविदाहित्वाज्जन्माद्येव च शीलनात्। अर्थात् उसकी श्रेष्ठता के मधुर, अविदाहि एवं जन्म से ही घृत का निरन्तर प्रयोग—ये तीन हेतु अधिक दिये हैं। जन्म से जिस वस्तु का सेवन किया जाता है वह सात्म्य हो जाती है इसी लिये प्रकृत संहिता के उपर्युक्त श्लोक में 'सर्वसात्म्याच्च' विशेषण दिया गया है।

विनिहन्ति पित्तमनिलं पीतं सर्पिः कफं न च चिनोति।
जनयति बलाग्निमेधाः शोधयति शुक्रं च योनिं च ॥६॥

घृत के सामान्य गुण—घृत सेवन किया जाने पर पित्त तथा वायु का शमन करता है परन्तु कफ का संचय नहीं करता । यह बल, अग्नि और बुद्धि को बढ़ाता है तथा शुक्र और योनि का शोधन करता है। चरक निदान स्थान के प्रथम अध्याय में कहा है—स्नेहात्वातं शमयति शैत्यात्पित्तं नियच्छति। घृतं तुल्यगुणं दोषं संस्कारात्तु जयेत् कफम् ॥ उपर्युक्त श्लोक द्वारा घृत के अन्य गुण दिये गये हैं। सुश्रुत सू० अ० ४५ में घृत के निम्न सामान्य गुण दिये गये हैं—घृतं तु मधुरं सौम्यं मृदु शीतवीर्यमल्पाभिष्यन्दिस्नेहनमुदावर्तोन्मादापस्मारशूलज्वरानाहवातपित्तप्रशमनमग्निदीपनं स्मृतिमतिमेधाकान्तिस्वरलावण्यसौकुमार्यौजस्तेजोबलकरमायुष्यं वृष्यं मेध्यं वयःस्थापनं गुरु चक्षुष्यं श्लेष्माभिवर्धनं पाप्मालक्ष्मीप्रशमनं विषहरं रक्षोघ्नं च ॥

उष्णं कफानिलघ्नं स्वरवर्णकरं तनुस्थिरीकरणम् ।
भग्नच्युतसन्धानं धातुव्रणशोधनं तैलम् ॥ ७॥

तैलों के सामान्य गुण – तैल उष्ण, कफ तथा वायु का नाशक (उष्ण एवं स्निग्ध होने से), स्वर तथा वर्ण को निखारने वाला, शरीर को स्थिर-दृढ़ करनेवाला, भग्न (Fracture) एवं च्युत (सन्धिभ्रंश-Dislocation) को ठीक करनेवाला तथा धातु एवं व्रण का शोधक है। चरक सूत्रस्थान के स्नेहाध्याय में तैलों के निम्न गुण दिये हैं—मारुतघ्नं न च श्लेष्मवर्धनं बलवर्धनम् । त्वच्यमुष्णं स्थिरकरं तैलं योनिविशोधनम् ॥ सुश्रुत सूत्रस्थान में भी तैलों के बहुत से गुण दिये हुए हैं। उन्हें वहीं देखना चाहिये।

मज्जावसे विशेषाद्वातघ्ने वृष्यसंमते चैव ।
बलिनां तत्सात्म्यानां प्रजाबलायुः स्थिरीकरणे ॥८॥

मज्जा तथा वसा के सामान्य गुण—मज्जा तथा वसा विशेषकर वातघ्न हैं, ये वृष्य माने गये हैं तथा बलवान् एवं जिन्हें ये सात्म्य हों-उन पुरुषों में सन्तानोत्पत्ति, बल एवं आयु को स्थिर करते हैं। चरक सू० अ० १३ में इनके निम्न गुण दिये हैं—विद्धभग्नाहतभ्रष्टयोनिकर्णशिरोरुजि । पौरुषोपचये स्नेहे व्यायामे चेष्यते वसा ॥ बलशुक्ररसश्लेष्म मेदोमज्जविवर्धनः । मज्जा विशेषतोऽस्थ्नां च बलकृत्स्नेहने हितः ॥ अर्थात् इनका प्रयोग मुख्य रूप से बल एवं वीर्यवृद्धि के लिये होता है।

नित्यानित्यात्मविधौ तिलतैलघृते बुधः प्रयुञ्जीत ।
एरण्डशङ्खिनीभ्यां स्रंसनमन्यद्रसायनं नास्ति ॥९॥

ज्ञानी मनुष्य को दैनिक व्यवहार में प्रतिदिन तिलतैल तथा घृत का प्रयोग करना चाहिये। तथा एरण्ड और शङ्खिनी (श्वेत अपराजिता) के तैल द्वारा होनेवाले विरेचन से बढ़कर दूसरा कोई रसायन नहीं है। अर्थात् दैनिक प्रयोग के लिये घृत अथवा तिलों का तैल ही काम में लेना चाहिये। जहाँ विरेचन देने का उद्देश्य हो वहाँ एरण्ड तथा शङ्खिनी के तेल का प्रयोग करना चाहिये।

मज्जावसे वसन्ते, प्रावृषि तैलं, पिबेच्छरदि सर्पिः ।
सर्पिर्वा सर्वेषां सर्वस्मिञ्छस्यते पातुम् ॥ १० ॥

स्नेहों के सेवन काल—मज्जा तथा वसा का वसन्त ऋतु में, तैल का प्रावृट् में तथा घृत का शरद् ऋतु में सेवन करना चाहिये। अथवा घृत का सब व्यक्ति सब ऋतुओं में सेवन कर सकते हैं।

वक्तव्य—वसन्त, प्रावृट् तथा शरद् साधारण ऋतुयें कहाती हैं। इनमें न सर्दी अधिक पड़ती है; न गरमी तथा न वर्षा। शोधन की दृष्टि से ही इन तीनों ऋतुओं का परिगणन किया गया है। क्योंकि स्नेहन के बाद स्वेदन तथा फिर पञ्चकर्म द्वारा शोधन कराया जाता है। अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० २५ में निम्न प्रकार से वर्णन किया गया है—तैलं प्रावृषि वर्षान्ते सर्पिरन्यौ तु माधवे । सर्वं सर्वस्य च स्नेहं युञ्ज्याद् भास्वति निर्मले ॥ ऋतौ साधारणे······························॥ अर्थात् स्नेहपान साधारण ऋतुओं में ही किया जाता है। अधिक सर्दी, गर्मी एवं वर्षा में स्नेहपान साधारणतया निषिद्ध है। आत्ययिक अथवा शीघ्रकारी व्याधियों के लिये शास्त्रों में इसके अपवाद भी दिये हैं।

अनुपानमुष्णमुदकं घृतस्य, तैलस्य यूषमिच्छन्ति ।
मज्जवसयोस्तु मण्डं, सर्वेषां कश्यपः पूर्वम् ॥११॥

स्नेहों के अनुपान-घृत का अनुपान उष्ण उदक है (घृत के पश्चात् उष्ण जल पीना चाहिये), तैल का यूष तथा मज्जा और वसा का अनुपान मण्ड है। अथवा भगवान् कश्यप के मत में पहला अर्थात् उष्णजल सब स्नेहों का अनुपान हो सकता है। चरक में इसी अभिप्राय को निम्न श्लोकों में प्रकट किया गया है—जलमुष्णं घृते पेयं, यूषस्तैलेऽनुशस्यते । वसामज्ज्ञोस्तु मण्डः स्यात्सर्वेषूष्णमथाम्बु वा ॥ स्नेहों के अनुपान के रूप में उष्णोदक के प्रयोग के विषय में सुश्रुत सू० अ० ४६ में कहा है— उष्णोदकानुपानन्तु स्नेहानामथ शस्यते । ऋते भल्लातकस्नेहात्स्नेहात्तौवरकात्तथा ॥ अर्थात् उसने भिलावे और तुवरक (Chaulmoogra oil) के तेल में अनुपान रूप में उष्णोदक का निषेध किया है। इनके बाद शीतल जल का ही प्रयोग करना चाहिये।

शूलकफानिलतृष्णाहिक्कारोचकविबन्धगुल्मघ्नम् ।
व्रणधातुमृदूकरणं दीपनमुष्णोदकमुशन्ति ॥ १२ ॥

उष्णजल के गुण—उष्णजल-शूल, कफ, वायु, तृष्णा, हिक्का, अरुचि, मलबन्ध तथा गुल्म का नाशक है। यह व्रण और धातुओं को मृदु करता है तथा दीपन है।

पादावशेषसिद्धं तद्दोषघ्नैः शृतं जलं मुख्यम् ।
पेयं कवलग्राह्यं स्नेहं हि तथा विलाययति ॥ १३ ॥

उष्णोदक की अनुपानविधि—भिन्न २ दोषों को नष्ट करनेवाले द्रव्यों से शृत बनाकर (पकाकर) चतुर्थांश शेष रहने पर उस जल का पान करना चाहिये तथा कवल धारण करना चाहिये। इससे सेवन किये हुए स्नेह का विलय हो जाता है।

वक्तव्य—कवल से अभिप्राय मुँह में पानी लेकर कुल्ले (गरारे-Gargles) करने से है। कहा भी है—सुखं संचार्यते या तु मात्रा सा कवलग्रहा। असंचार्या तु या मात्रा गण्डूषः स प्रकीर्तितः ॥ अर्थात् यदि जल केवल मुँह में धारण किया जाय तो उसे गण्डूष कहते हैं। यह दोनों में अन्तर है।

पयसि दधनि मधुमये तूक्ते नोष्णोदकं भवेत् पथ्यम् ।
पित्ते रक्तस्रावे गर्भच्यवने च गर्भदाहे च ॥ १४ ॥

उष्णोदक अनुपान का निषेध—दूध, दही तथा मधु युक्त द्रव्य के सेवन के बाद तथा पित्तप्रकोप, रक्तस्राव (Haemorrhage) गर्भच्युति (Abortion) तथा गर्भदाह में उष्णोदक का अनुपान नहीं करना चाहिये।

ओदनविलेपिकाभ्यां रसमांसक्षीरदधियवागूभिः ।
काम्बलिकसूपयूषैः पेयाशनभक्ष्यविकृतीभिः ॥ १५ ॥
स्नेहप्रयोग इष्टः सोर्ध्वाधः कर्मभिः खला(डा)भ्यङ्गैः ।
चक्षुर्वदनश्रोत्रैर्धारणयोगश्च सात्म्यज्ञैः ॥ १६ ॥

स्नेहों की प्रविचारणाएँ—१. ओदन २. विलेपी ३. मांसरस ४. मांस ५. क्षीर (दूध) ६. दही ७. यवागू ८. काम्बलिक ९. सूप १०. यूष ११. पेया १२. अशन तथा १३. भक्ष्य की विकृतियाँ १४. ऊर्ध्वकर्म (वमन) १५. अधःकर्म (विरेचन) १६. खल या खड १७. अभ्यङ्ग (मालिश) १८ जिन्हें सात्म्य हों वे चक्षु (नेत्रतर्पण) १९. वदन (गण्डूष) तथा २० श्रोत्र (कर्णतेल) द्वारा धारण कर के स्नेह का प्रयोग कर सकते हैं।

वक्तव्य—उपर्युक्त विधियों से स्नेह का प्रयोग किया जा सकता है। चरक में इनके लिये प्रविचारणा शब्द दिया गया है । चरक में इनका निम्न रूप में वर्णन किया गया है—ओदनश्च विलेपी च रसो मांसं पयो दधि । यवागूः सूपशाकौ च यूषः काम्बलिकः खडः॥ शक्तवस्तिलपिष्टं च मद्यं लेहास्तथैव च। भक्ष्यमभ्यञ्जनं बस्तिस्तथा चोत्तरबस्तयः॥ गण्डूषः कर्णतैलं च नस्यं कर्णाक्षितर्पणम्। चतुर्विंशतिरित्येताः स्नेहस्य प्रविचारणाः ॥ अर्थात् चरक में इनकी संख्या २४ दी है । इससे प्रतीत होता है कि काश्यपसंहिता की अपेक्षा चरक में विकसित प्रक्रिया मिलती है । इनमें आये हुए ओदन विलेपी आदि की परिभाषाएँ निम्न हैं—अन्नं पञ्चगुणे साध्यं विलेपी तु चतुर्गुणे । मण्डश्चतुर्दशगुणे यवागूः षड्गुणेऽम्भसि ॥ सिक्थकै रहितो मण्डः पेया सिक्थसमन्विता । यवागूर्बहुसिक्था स्याद्विलेपी विरलद्रवा ॥ अर्थात् ओदन सिद्ध करने के लिये चावलों को पाँच गुने जल में पकाकर द्रव भाग निकाल दिया जाता है । विलेपी में चावलों की अपेक्षा चौगुना जल डालकर पकाया जाता है। मण्ड बनाने के लिये १४ गुना तथा यवागू के लिये ६ गुना जल में चावलों को पकाना चाहिये । सूप-द्रवरूप पकाई हुई दाल को सूप कहते हैं । इसमें दाल की अपेक्षा १४ या १८ गुना जल देकर पकाया जाता है । चतुर्थांश जल शेष रहने पर उतार लिया जाता है । यूष-इसके लिये दाल को पोटली में बाँधकर १८ गुने जल में पकाया जाता है । जल आधा शेष रहने पर पोटली को निकाल लें । अवशिष्ट द्रव यूष कहलाता है । खड, काम्बलिक आदि का लक्षण—पिशितेन रसस्तत्र यूषो धान्यैः खडः फलैः। मूलैश्च तिलकल्काम्लप्रायः काम्बलिकः स्मृतः ॥ अर्थात् फलों से जो द्रव तैयार किये जाते हैं उन्हें खड तथा मूलों से प्रायः तिलकल्क और अनारदाने आदि की खटाई देकर जो द्रव तैयार किया जाता है उसे काम्बलिक कहते हैं।

पित्तानिलप्रकृतयः स्नेहं रात्रौ पिबेयुरुष्णे च ।
श्लेष्माधिको दिवोष्णे निर्मलसूर्ये लघुत्वे च ॥ १७ ॥

अपवाद तथा दोषभेद से स्नेहपान का काल-पित्त और वातप्रकृति वालों को आत्ययिक रोग में यदि गर्मी में भी स्नेहपान करना पड़े तो रात्रि में करना चाहिये । तथा जिसमें कफ अधिक हो उन्हें आत्ययिक रोग में यदि स्नेहपान आवश्यक हो तो दिन की गर्मी में जब कि सूर्य निर्मल हो तथा शरीर लघु हो तब करायें । चरक में भी बिलकुल यही वर्णन मिलता है—वातपित्ताधिके रात्रावुष्णे चापि पिबेन्नरः । श्लेष्माधिके दिवा शीते पिबेच्चामलभास्करे ॥ **अष्टाङ्गसंग्रह में निम्न वर्णन मिलता है**—सर्वं सर्वस्य च स्नेहं युञ्ज्याद् भास्वति निर्मले । ऋतौ साधारणे, दोषसाम्येऽनिलकफे कफे ॥ दिवा, निश्यनिले पित्ते संसर्गे पित्तवत्यपि । त्वरमाणे तु शीतेऽपि दिवा तैलं च योजयेत् ॥ उष्णेऽपि रात्रौ सर्पिश्च दोषादीन् वीक्ष्य चान्यथा ॥ **सुश्रुत चि० अ० ३१ में भी कहा है**—शीतकाले दिवा स्नेहमुष्णकाले पिबेन्निशि । वातपित्ताधिको रात्रौ वातश्लेष्माधिको दिवा ॥ **अर्थात् उपर्युक्त साधारण कालों के अतिरिक्त यदि आवश्यकता पड़े तो इनसे भिन्न कालों में भी अनुकूल समय देखकर स्नेहपान कराया जा सकता है।**

तृण्मूर्च्छोन्मादादीन् पूर्वो लभते विपर्ययेण पिबन् ।
आनाहारुचिपर्वण्युच्छूलं च समृच्छते शेषः ॥ १८ ॥

इनमें पूर्व अर्थात् पित्त और वातप्रकृति वाले पुरुष को विपरीत काल में अर्थात् अधिक गर्मी में स्नेहपान कराने से तृष्णा, मूर्छा तथा उन्माद हो जाता है । तथा शेष अर्थात् कफ प्रकृति वाले पुरुष को अधिक सर्दी में स्नेहपान कराने से आनाह, अरुचि तथा पर्वशूल हो जाता है।

स्नेहाच्छपाने त्रिविधा तु मात्रा
ह्रस्वाऽथ मध्या महती तृतीया ।
ह्रस्वा दिनार्धेन, दिनेन मध्या,
जीर्यत्यहोरात्रवशात् प्रधाना ॥ १९ ॥

अच्छस्नेह की मात्रा—अच्छ (केवल-शुद्ध) स्नेहपान की तीन प्रकार की मात्रा मानी गई हैं। १-ह्रस्व (minimum) २-मध्यम (medium) ३-महान् (maximum)। ह्रस्व मात्रा आधे दिन (६ घण्टे) में, मध्यम मात्रा दिन भर (१२ घण्टे) में, तथा प्रधान मात्रा अहोरात्र (२४ घण्टे) में जीर्ण होती है। चरक में भी केवल शब्दों के भेद से यही अभिप्राय निम्न रूप में प्रकट किया गया है—अहोरात्रमहः कृत्स्नमर्धाहं च प्रतीक्षते । प्रधाना मध्यमा ह्रस्वा स्नेहमात्रा जरां प्रति ॥ इति तिस्रः समुद्दिष्टा मात्राः स्नेहस्य मानतः ॥ **सुश्रुत ने ५ प्रकार की स्नेह की मात्राएँ बताई हैं**—या मात्रा परिजीर्येत चतुर्भागगतेऽहनि । सा मात्रा दीपयत्यग्निमल्पदोषे च पूजिता ॥ या मात्रा परिजीर्येत तथार्धदिवसे गते । सा वृष्या बृंहणी चैव मध्यदोषे च पूजिता ॥ या मात्रा परिजीर्येत चतुर्भागावशेषिते । स्नेहनीया च या मात्रा बहुदोषे च पूजिता ॥ या मात्रा परिजीर्येत्तु तथा परिणतेऽहनि । ग्लानिमूर्च्छामदान् हित्वा सा मात्रा पूजिता भवेत् ॥ अहोरात्रादसन्दुष्टा या मात्रा परिजीर्यति । सा तु कुष्ठविषोन्मादग्रहापस्मारनाशिनी ॥ **अर्थात् जो मात्रा क्रमशः एक, दो, तीन, चार तथा आठ प्रहर में जीर्ण हो।**

दीप्ताग्नयो बलिनः स्नेहनित्या
उन्मादिनो धृतिविण्मूत्रसक्ताः।
गुल्मार्दिताश्चाहिदष्टा विरूक्षा
वैसर्पिणः प्रवरां ते पिबेयुः ॥ २० ॥

स्नेह की उत्तममात्रा किन्हें देनी चाहिये—जिनकी जाठराग्नि दीप्त है, जो बलवान् हैं, जो प्रतिदिन स्नेह का प्रयोग करते हैं, जिन्हें उन्माद रोग हो, जिनकी धृति (धारण शक्ति) कमजोर हो, जिन्हें मल एवं मूत्र कठिनता से आता हो, जो गुल्मरोग से पीडित हों, जो सर्प द्वारा दष्ट हों, जिनकी प्रकृति रूक्ष हो तथा जिन्हें विसर्प रोग हो—उन्हें स्नेह की उत्तम मात्रा पीनी चाहिये। चरक सू० अ० १३ में कहा है—प्रभूतस्नेहनित्या ये क्षुत्पिपासा सहा नराः। पावकश्चोत्तमबलो येषां ये चोत्तमा बले ॥ गुल्मिनः सर्पदष्टाश्च वीसर्पोपहताश्च ये। उन्मत्ताः कृच्छ्रमूत्राश्च गाढवर्चस एव च ॥ पिबेयुरुत्तमां मात्रां,

प्रमेहकुष्ठानिलशोणितारुचि-
विचर्चिकास्फोटविषेषु कण्डौ।
मृदौ तथाऽग्नौ प्रवदन्ति मध्यां
बले च मध्या अशने च ये स्युः ॥ २१ ॥

स्नेह की मध्यम मात्रा किन्हें देनी चाहिये—प्रमेह, कुष्ठ, वातरक्त, अरुचि, विचर्चिका (Pemphigus) फोड़े, विषविकार तथा कण्डू (खुजली) के रोगियों में, जिनकी जाठराग्नि मृदु है, जो मध्यबल वाले हैं तथा जो खाने में भी मध्यम हों अर्थात् जो न बहुत अधिक खाते हों और न बहुत कम—उन्हें स्नेह की मध्यम मात्रा देनी चाहिये। चरक सू० अ० १३ में कहा है—अरुष्कस्फोटपिडकाकण्डूपामाभिरर्दिताः। कुष्ठिनश्च प्रमीढाश्च वातशोणितिकाश्च ये ॥ नातिबह्वाशिनश्चैव मृदुकोष्ठास्तथैव च। पिबेयुर्मध्यमां मात्रां मध्यमाश्चापि ये बले ॥

बालेषु वृद्धेषु सुखोचितेषु
जीर्णेऽतिसारे ज्वरकासयोश्च।
येषां हि कोष्ठो न गुणाय रिक्तो
मन्दाग्निकार्श्ये च कनीयसी स्यात् ॥ २२ ॥

स्नेह की ह्रस्व मात्रा किन्हें देनी चाहिये—बालक, वृद्ध तथा जो सुख के अभ्यासी हैं (अर्थात् जो किसी प्रकार के परिश्रम के कार्य को करने के अभ्यासी नहीं हैं), जीर्ण अतिसारज्वर तथा कासरोग में, कोष्ठ का खाली होना जिनके लिये हितकर न हो अर्थात् कोष्ठ के खाली होने पर जिन्हें कष्ट होता हो, जिनकी जाठराग्नि मन्द हो, तथा जो कृश हों—उन्हें स्नेह की ह्रस्व मात्रा देनी चाहिये। चरक सू० अ० १३ में कहा है—ये तु वृद्धाश्च बालाश्च सुकुमाराः सुखोचिताः। रिक्तकोष्ठत्वमहितं येषां मन्दाग्नयश्च ये ॥ ज्वरातिसारकासाश्च येषां चिरसमुत्थिताः। स्नेहमात्रां पिबेयुस्ते ह्रस्वां ये चावरा बले ॥

दोषानुकर्षिण्यनुसारिणी च
यत्नोपचर्या बलवर्धनी च।
ज्येष्ठाऽथ मध्या न बलं निहन्ति
त्वन्योन्यथोः(?)स्नेहयते सुखाच्च ॥ २३ ॥
ह्रस्वा परीहारसुखाऽविकारा
वृष्याऽथ बल्याऽप्यनुवर्तनी च।
देशं वयःकालबलाग्निसात्म्या-
न्यालक्ष्य मात्रां मतिमान् विदध्यात् ॥ २४ ॥

उपर्युक्त मात्राओं के गुण—स्नेह की उत्तम मात्रा सम्पूर्ण रोगों के मार्गों में जाते हुए दोषों को क्षीण या नष्ट करती है। यह यत्नपूर्वक सेवन करनी चाहिये (अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति आसानी से इस मात्रा का सेवन नहीं कर सकता) यह बल को बढ़ानेवाली है। मध्यम मात्रा—परस्पर एक दूसरे के बल को अधिक कम नहीं करती तथा सुख से स्नेहन कर देती है। ह्रस्व मात्रा—यह परिहार अर्थात् परहेज में सुखकर है (इस मात्रा का सेवन करते हुए परहेज स्वल्प मात्रा में तथा स्वल्प काल तक ही है) यह विकारों उपद्रवों को उत्पन्न नहीं करती तथा वृष्य (वीर्योत्पादक) है, यह बल को बढ़ाती है तथा शरीर में चिरकाल तक रहती है अर्थात् शीघ्र ही बाहर नहीं निकल जाती है। बुद्धिमान वैद्य को चाहिये कि वह देश (जांगल-आनूप आदि), अवस्था (बाल, वृद्ध, युवा आदि), काल (ग्रीष्म, शरद्, वर्षा आदि), अग्निबल तथा सात्म्य को देखकर मात्रा का निर्धारण करे अर्थात् उसे उत्तम, मध्यम और ह्रस्व में से कौन सी मात्रा देनी है—इसका निश्चय करे। इन मात्राओं के गुण चरक में निम्न प्रकार से दिये हैं—उत्तम मात्रा—विकारान् शमयत्येषा शीघ्रं सम्यक् प्रयोजिता। दोषानुकर्षिणी मात्रा सर्वमार्गानुसारिणी। बल्या पुनर्नवकरी शरीरेन्द्रियचेतसाम् ॥ मध्यममात्रा—मात्रैषा मन्दविभ्रंशा न चातिबलहारिणी। सुखेन च स्नेहयति शोधनार्थे च युज्यते ॥ ह्रस्वमात्रा—परिहारे सुखा चैषा मात्रा स्नेहनबृंहणी। वृष्या बल्या निराबाधा चिरं चाप्यनुवर्तते ॥

पित्तानिलात्माऽनिलपित्तरोगी
क्षामः शिशुर्वर्णबलायुरक्तः (ची)।
मेधेन्द्रियार्थी विषशस्त्रदाहै-
रार्ताः पिबेयुर्घृतमेव काले ॥ २५ ॥

अब यह बतलाया जायगा कि उपर्युक्त स्नेहों में से कौन सा स्नेह किसके लिये हितकर है। घृत का सेवन किन्हें करना चाहिये—जिनकी पित्त एवं वातप्रकृति हो अथवा जिन्हें पैत्तिक एवं वातिक रोग हों, जो कमजोर हों, जो शिशु हों, जो वर्ण, बल, आयु, मेधा (धारण शक्ति) तथा इन्द्रियों को चाहनेवाले तथा जो विष, शस्त्र एवं दाह से पीडित हों—वे उचित काल में घृत का ही पान करें।

वक्तव्य—'काले' से अभिप्राय घृत के लिये निर्दिष्ट काल अर्थात् शरद् काल से है। पूर्व कहा है—'पिबेच्छरदि सर्पिः'। चरक में निम्न वर्णन मिलता है—वातपित्तप्रकृतयो वातपित्तविकारिणः। चक्षुष्कामाः क्षताः क्षीणा वृद्धा बालास्तथाऽबलाः ॥ आयुः

प्रकर्षकामाश्च बलवर्णस्वरार्थिनः । पुष्टिकामाः प्रजाकामाः सौकुमार्यार्थिनश्च ये ॥ दीप्त्योजः स्मृतिमेधाग्निबुद्धीन्द्रियबलार्थिनः । पिबेयुः सर्पिरार्ताश्च दाहशस्त्रविषाग्निभिः ॥ **सुश्रुत चि० अ० ३१ में घृत के निम्न गुण दिये हैं**—रूक्षक्षतविषार्तानां वातपित्तविकारिणाम् । हीनमेधास्मृतीनां च सर्पिः पानं प्रशस्यते ॥

प्रवृद्धमेदःकफमांसवाता
नाडीकृमिव्याध्यनिलार्तदेहाः ।
क्रूरानुकोष्ठास्तनुवीर्यकामा-
स्तैलं पिबेयुर्न तु तीव्रकुष्ठे ॥ २६ ॥

(इति ताडपत्रपुस्तके ३७ तमं पत्रम् ।)

तैल का किन्हें सेवन करना चाहिये—जिनमें मेद, कफ, मांस तथा वात बढे हुए हों, जो नाडीव्रण, उदरकृमि तथा वातरोग से पीडित हों, जिनके कोष्ठ क्रूर हों, जो तनुता (कृशता-पतलापन) तथा वीर्य को चाहनेवाले हैं—उन व्यक्तियों को तैल का पान करना चाहिये । परन्तु तीव्र कुष्ठ में तैल का पान न करें । चरक सू० अ० १३ में कहा है—प्रवृद्धश्लेष्ममेदस्काश्चलस्थूलगलोदराः । वातव्याधिभिराविष्टा वातप्रकृतयश्च ये ॥ बलं तनुत्वं लघुतां दृढतां स्थिरगात्रताम् । स्निग्धश्लक्ष्णतनुत्वक्तां ये च काङ्क्षन्ति देहिनः ॥ कृमिकोष्ठाः क्रूरकोष्ठास्तथा नाडिभिरर्दिताः । पिबेयुः शीतले काले तैलं तैलोचिताश्च ये ॥ **यद्यपि तैलपान का काल पहले प्रावृट् ऋतु बतलाया है परन्तु आत्ययिक विकारों में शीतकाल में भी तैल (स्नेह) पान कराया जा सकता है । इसीलिये अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० २५ में कहा है**—निश्यनिले पित्ते संसर्गे पित्तवत्यपि । त्वरमाणे तु शीतेऽपि दिवा तैलं च योजयेत् ॥

(इति ताडपत्र पुस्तके ३७ तमं पत्रम्)

संशुष्कमेदःकफरक्तशुक्रा
वातातपाध्वश्रमरौक्ष्यनित्याः ।
भृशाग्नयो वातनिपीडिताङ्गा
वसां पिबेयुर्धृतिधातुकामाः ॥ २७ ॥

वसा का किन्हें सेवन करना चाहिये—जिनके मेद, कफ, रक्त तथा शुक्र (वीर्य) सूख गये हों (क्षीण हो गये हों), जो नित्य वात, आतप (धूप) तथा मार्ग चलने के श्रम एवं रूक्षता को सहते हैं, जिनकी अग्नि तीव्र हो, वायु से जिनके अङ्ग पीडित हों, तथा जो धृति (धारण शक्ति) और धातुओं की वृद्धि चाहते हों उन्हें वसा का पान करना चाहिये । चरक सू० अ० १३ में कहा है—वातातपसहा ये च रूक्षा भाराध्वकर्शिताः । संशुष्करेतोरुधिरा निष्पीतकफमेदसः ॥ अस्थिसन्धिशिरास्नायुमर्मकोष्ठमहारुजः । बलवान्मारुतो येषां खानि चावृत्य तिष्ठति ॥ महच्चाग्निबलं येषां वसासात्म्याश्च ये नराः । तेषां स्नेहयितव्यानां वसापानं विधीयते ॥ **इसी प्रकार सुश्रुत चि० अ० ३१ में भी कहा है**—व्यायामकर्शिताः शुष्करेतोरक्ता महारुजः । महाग्निमारुतप्राणा वसायोग्या नराः स्मृताः ॥

दीप्ताग्नयो घस्मराः स्नेहनित्याः
क्लेशक्षमाः क्रूरकोष्ठानिलार्ताः ।
मज्जानमेतेषु भिषग्विदध्यात्
स्नेहो भवेत्सात्म्यतो यस्य यो वा ॥ २८ ॥

मज्जा का किन्हें सेवन करना चाहिये—जिनकी अग्नि दीप्त हो, बहुत खानेवाले हों, जो नित्य स्नेह का सेवन करते हों, क्लेशों को सहनेवाले हों, जिनके कोष्ठ क्रूर हों तथा जो वातरोगी हों—उन्हें चिकित्सक को मज्जा का सेवन कराना चाहिये । अथवा जिनको जो भी स्नेह सात्म्य हों उसका सेवन करना चाहिये । चरक सू० अ० १३ में भी कहा है—दीप्ताग्नयः क्लेशसहा घस्मराः स्नेहसेविनः । वातार्ताः क्रूरकोष्ठाश्च स्नेह्या मज्जानमाप्नुयुः ॥ **इसी प्रकार सुश्रुत चि० अ० ३१ में भी कहा है**—क्रूराशयाः क्लेशसहा वातार्ता दीप्तवह्नयः । मज्जानमाप्नुयुःसर्वे .... ॥

व्यायाममद्यचिन्तामैथुननित्याः श्रमाध्वकृशदेहाः ।
स्नेह्यास्तथाविधाः स्युर्बलकालवयोग्निसात्म्यज्ञैः ॥ २९ ॥

किनका स्नेहन करना चाहिये—बल, काल, अवस्था, जाठराग्नि तथा सात्म्य को जाननेवालों को चाहिये कि नित्य व्यायाम करनेवाले, नित्य मद्य पीनेवाले, नित्य चिन्ता में लगे रहनेवाले अथवा मस्तिष्क संबन्धी कार्यअधिक करनेवाले, नित्य मैथुन (भोगविलास) में लगे रहने वाले, श्रम तथा मार्ग चलने से कृश देहवाले तथा अन्य भी इसी प्रकार के पुरुषों को स्नेहन करायें । चरक में स्नेहन के योग्य निम्न व्यक्ति दिये हैं—स्वेद्याः शोधयितव्याश्च रूक्षा वातविकारिणः । व्यायाममद्यस्त्रीनित्याः स्नेह्याः स्युर्ये च चिन्तकाः ॥ **अर्थात् यहाँ स्वेदन एवं संशोधन (वमन-विरेचन) के योग्य पुरुषों को विशेषरूप से गिनाया है । स्वेदन एवं संशोधन से पूर्व स्नेहन का करना अत्यन्त आवश्यक है । कहा भी है**—स्नेहमग्रे प्रयुञ्जीत ततः स्वेदमनन्तरम् । स्नेहस्वेदोपपन्नस्य संशोधनमनन्तरम् ॥

न स्नेहयेद्गर्भिणीं न प्रसूतां
न क्षीरपं नैव दग्धातिवृद्धौ ।
न श्लेष्मपित्तोपहतान्तराग्निं
मूर्च्छारुचिग्लानिभृशामतृट्सु ॥ ३० ॥
बस्तौ न नस्तश्च विधिक्रियायां
छर्द्यां ज्वरे विट्प्रकोपे कफे च ।
बृहत्स्वजाड्येषु गलामयेषु
नस्नेहयेत् स्नेहमदात्ययेषु ॥ ३१ ॥

तेषां स्नेहाच्छपानान्ते (न्ते) वर्धन्ते व्याधयो भृशम् ।
असाध्यतां वा गच्छन्ति स्नेहपानाभिवर्धिताः ॥ ३२ ॥

किनका स्नेहन नहीं करना चाहिये—गर्भिणी, प्रसूता, दूध पीनेवाले बालक, दग्ध (जले हुए), जिनकी अतिवृद्धि हो (जिनके शरीर की आवश्यकता से अधिक वृद्धि हुई २ है), श्लेष्म एवं पित्त से जिनकी आन्तरग्नि क्षीण हुई २ है, मूर्छा,

अरुचि, ग्लानि, अत्यन्त आमदोष तथा प्यास में, बस्ति एवं नस्यकर्म जिस समय किये जा रहे हों, छर्दि (वमन), ज्वर, मलरोग (अतिसार) तथा कफ के प्रकोप में, शरीर की अत्यन्त जड़ता में गले के रोगों में तथा स्नेह के अधिक सेवन से जिन्हें मदात्यय रोग हो जाता हो—उनका स्नेहन न करे इनको केवल स्वच्छ स्नेह का पान कराने से वे २ व्याधियाँ बढ़ जाती हैं तथा स्नेहपान से बढ़ी हुई व्याधियाँ असाध्य हो जाती हैं।

वक्तव्य—जो नित्य मद्य पीते हैं उनको स्नेहन करना चाहिये परन्तु जिन्हें अधिक मद्य के सेवन से मदात्यय रोग हो गया हो उनका स्नेहन नहीं करना चाहिये। **चरक में निम्न पुरुष स्नेहन के अयोग्य गिनाये हैं**—अभिष्यण्णाननगुदा नित्यं मन्दाग्नयश्च ये। तृष्णामूर्च्छापरीताश्च गर्भिण्यस्तालुशोषिणः॥ अन्नद्विषश्छर्दयन्तो जठरामगरार्दिताः। दुर्बलाश्च प्रतान्ताश्च स्नेहग्लाना मदातुराः॥ न स्नेह्या वर्तमानेषु न नस्तोबस्तिकर्मसु। स्नेहपानात्प्रजायन्ते तेषां रोगाः सुदारुणाः॥ **सुश्रुत चि० ३१ अ० में भी कहा है**—विवर्जयेत् स्नेहपानमजीर्णी चोदरी ज्वरी। दुर्बलोऽरोचकी स्थूलो मूर्च्छार्तो मदपीडितः। छर्द्यर्दितः पिपासार्तः श्रान्तः पानक्लमान्वितः॥ दत्तबस्तिर्विरिक्तश्च वान्तो यश्चापि मानवः। अकाले दुर्दिने चैव न च स्नेहं पिबेन्नरः॥ अकाले च प्रसूता स्त्री स्नेहपानं विवर्जयेत्। स्नेहपानाद्भवन्त्येषां नृणां नानाविधा गदाः॥ गदा वा कृच्छ्रतां यान्ति न सिध्यन्त्यथवा पुनः॥ गर्भाशये सशेषा स्यू रक्तक्लेदमलास्ततः। स्नेहं जह्यान्निषेवेत पाचनं रूक्षमेव च॥

वायोरप्रगुणत्वं रौक्ष्यं खरताऽधृतिर्ज्वलनहानिः ।
शुष्कग्रथितपुरीषं लक्षणमस्निग्धगात्रस्य ॥ ३३ ॥

अस्निग्ध व्यक्ति के लक्षण—वायु का अपने गुणों से युक्त न होना अर्थात् अनुलोम न होना, रूक्षता, कर्कशता, अधैर्य (बेचैनी—uneasiness), जाठराग्नि की दुर्बलता, तथा पुरीष (मल) का सूखा और गाँठोंवाला होना—ये अस्निग्ध व्यक्ति के लक्षण हैं। **चरक सू० अ० १३ में अस्निग्ध के निम्न लक्षण बताये हैं**—पुरीषं ग्रथितं रूक्षं, वायुरप्रगुणो, मृदुः। पक्ता, खरत्वं रौक्ष्यं च गात्रस्यास्निग्धलक्षणम्॥ **इसी प्रकार सुश्रुत में भी ये ही लक्षण दिये हैं**—पुरीषं ग्रथितं रूक्षं कृच्छ्रादन्नं विपच्यते। उरो विदहते वायुः कोष्ठादुपरि धावति॥ दुर्वर्णो दुर्बलश्चैव रूक्षो भवति मानवः॥

धृतिर्मृदुपुरीषत्वं मेधापुष्ट्यग्नितेजसां वृद्धिः ।
काले शरीरवृत्तिः स्निग्धस्य वदन्ति लिङ्गानि ॥ ३४ ॥

सम्यक् स्निग्ध के लक्षण—रोगी धैर्य (easiness) अनुभव करता है, मल मृदु (नरम) हो जाता है, मेधा, पोषण, जाठराग्नि तथा तेज की वृद्धि होती है और शरीर की सब वृत्तियाँ (कार्य) ठीक समय पर होती रहती हैं—ये सम्यक् स्निग्ध के लक्षण हैं। **चरक सू० अ० १३ में सम्यक् स्निग्ध के निम्न लक्षण दिये हैं**—वातानुलोम्यं दीप्तोऽग्निर्वर्चः स्निग्धमसंहतम्। मार्दवं स्निग्धता चाङ्गे स्निग्धानामुपजायते॥

गौरवजाड्योत्क्लेशाध्मानानि पुरीषमविपक्वम् ।
अरुचिरपि पाण्डुतन्द्रे वदन्त्यतिस्निग्धलिङ्गानि ॥ ३५ ॥

अतिस्निग्ध के लक्षण—शरीर का भारीपन, जड़ता, शरीर या इन्द्रियों का अच्छी प्रकार कार्य न करना, उत्क्लेश (जी मचलाना—Nausea), आध्मान (पेट का वायु के कारण फूलना), कच्चा मल आना (Undigested fœces), अरुचि, पाण्डुता तथा तन्द्रा—ये अतिस्निग्ध के लक्षण हैं। **चरक सू० अ० १३ में इसके निम्न लक्षण दिये हैं**—पाण्डुता गौरवं जाड्यं पुरीषस्याविपक्वता। तन्द्रीररुचिरुत्क्लेशः स्यादतिस्निग्धलक्षणम्॥ **इसी प्रकार सुश्रुत चि० अ० ३१ में भी कहा है**—भक्तद्वेषो मुखस्रावो गुदवाहः प्रवाहिका। पुरीषातिप्रवृत्तिश्च भृशं स्निग्धस्य लक्षणम्॥

द्रवमितलघूष्णमन्नं काले सात्म्यं बलाग्नियुक्तम् ।
स्वः स्नेहपानमिच्छन् भुञ्जीत शयीत गुप्तश्च ॥ ३६ ॥

स्नेहपान से पूर्व क्या हितकर है—अपने लिये स्नेहपान की इच्छावाले व्यक्ति को चाहिये कि वह द्रव (liquid), मित (नपा हुआ—मात्रा में), लघु, उष्ण, सात्म्य, बल एवं अग्नि से युक्त अन्न को उपयुक्त काल में (जो समय उपयुक्त समझा जाये) खाये तथा एकान्त में शयन करे।

वक्तव्य—यहाँ 'स्वः' के स्थान पर 'श्वः' पाठ होता तो अधिक उपयुक्त था अर्थात् अगले दिन जिसने स्नेहपान करना है उसे पहले दिन उपर्युक्त विधि का पालन करना चाहिये। **चरक में कहा है**—द्रवोष्णमनभिष्यन्दि भोज्यमन्नं प्रमाणतः। नातिस्निग्धमसंकीर्णं श्वः स्नेहं पातुमिच्छता॥

उष्णोदकोपचारी जितेन्द्रियः स्यान्निवातशयनस्थः ।
व्यायामवेगरोषत्यागी स्नेहाच्छ्रपोऽस्वप्नः ॥ ३७ ॥

स्नेहपान के पश्चात् क्या हितकर तथा क्या अहितकर है—स्नेह को पीकर (जीर्ण हो जाने पर) तथा पान करते हुए भी दोनों अवस्थाओं में पुरुष को उष्ण जल का सेवन (प्रयोग) करना चाहिये। जितेन्द्रिय होकर (ब्रह्मचर्यपूर्वक) रहना चाहिये। सोने तथा बैठने की जगह ऐसी होनी चाहिये जहाँ सीधी हवा न आती हो। तथा व्यायाम (परिश्रम के कार्य) वेग (मल मूत्र अपानवायु आदि के वेग) क्रोध तथा दिवास्वप्न का त्याग कर देना चाहिये। **चरक सू० अ० १३ में कहा है**—स्नेहं पीत्वा नरः स्नेहं प्रतिभुञ्जान एव च। उष्णोदकोपचारी स्यात् ब्रह्मचारी क्षपाशयः॥ शकृन्मूत्रानिलोद्गारानुदीर्णांश्च न धारयेत्। व्यायाममुच्चैर्वचनं क्रोधशोकौ हिमातपौ॥ वर्जयेदप्रवातं च सेवेत शयनासनम्। स्नेहमिथ्योपचाराद्धि जायन्ते दारुणाः गदाः॥ **इस विधि का पालन स्नेहपान के दिनों में तथा उसके बाद उतने ही दिन और करना चाहिये। इस विषय में चरक सिद्धिस्थान अध्याय १ में कहा है**—कालस्तु वस्त्यादिषु याति यावांस्तावान् भवेद्द्विःपरिहारकालः। अत्यासनस्थानवचांसि पानं स्वप्नं दिवा मैथुनवेगरोधान्॥ शीतोपचारातपशोकरोषांस्त्यजेदकालाहितभोजनं च॥ **इसी प्रकार अष्टाङ्गसंग्रह**

में भी कहा है—भोज्योऽन्नं मात्रया पास्यन् श्वः पिबन् पीतवानपि । द्रवोष्णमनभिष्यन्दि नातिस्निग्धमसङ्करम् ॥ उष्णोदकोपचारी स्यात् ब्रह्मचारी क्षपाशयः । व्यायामवेगसंरोधशोकहर्षहिमातपान् ॥ प्रवातयानायानाध्वभाष्यात्यशनसंस्थितीः । नीचात्युच्चोपधानाहः स्वप्नधूमरजांसि च ॥ यान्यहानि पिबेत्तानि तावन्त्यन्यान्यपि त्यजेत् ॥

संस्निह्यति मृदुकोष्ठो नरस्त्रिरात्रेण, सप्तरात्रेण ।
स्नेहाच्छपानयोगाज्जीवक ! यः क्रूरकोष्ठस्तु ॥ ३८ ॥

हे जीवक ! अच्छ स्नेह के पान से मृदु कोष्ठ वाला व्यक्ति तीन दिन में स्निग्ध हो जाता है तथा कठोर कोष्ठ वाला व्यक्ति सात दिन में स्निग्ध होता है । चरक में कहा है—मृदुकोष्ठस्त्रिरात्रेण स्निह्यत्यच्छोपसेवया । स्निह्यति क्रूरकोष्ठस्तु सप्तरात्रेण मानवः ॥

द्राक्षापीलुत्रिफलागोरसतप्ताम्बुतरुणमद्यानि ।
भुक्त्वाऽथ पायसं यो मृदुकोष्ठःस्रंस्य(स)ते नान्यः॥३९॥

मृदु कोष्ठ वाले व्यक्ति को द्राक्षा (अंगूर या मुनक्के का रस) पीलुरस, त्रिफला, गोमूत्र, उष्णजल, नवीन तैयार की हुई मद्य, तथा दूध के सेवन करने से ही विरेचन हो जाता है। परन्तु इनसे क्रूर कोष्ठ व्यक्ति को विरेचन नहीं होता है । चरक सू० अ० १३ में कहा है—गुडमिक्षुरसं यस्तु क्षीरमुल्लोडितं दधि । पायसं कृसरं सर्पिः काश्मर्यत्रिफलारसम् ॥ द्राक्षारसं पीलुरसं जलमुष्णमथापि वा । मद्यं वा तरुणं पीत्वा मृदुकोष्ठो विरिच्यते ॥ विरेचयन्ति नैतानि क्रूरकोष्ठं कदाचन । भवति क्रूरकोष्ठस्य ग्रहण्यत्युल्बणानिला ॥ सुश्रुत में तीन प्रकार के कोष्ठों का वर्णन किया गया है—तत्र मृदुः क्रूरो मध्य इति त्रिविधः कोष्ठो भवति। तत्र बहुपित्तो मृदु । स दुग्धेनापि विरिच्यते । बहुवातश्लेष्मा क्रूरः स दुर्विरेच्यः । समदोषो मध्यमः; स साधारणः ॥

पित्तबहुलेतराल्पा ग्रहणी भवति मृदुकोष्ठिनां तस्मात् ।
सुविरेच्या मृदुकोष्ठाः प्रायः पित्तं ह्यधोभागि ॥ ४० ॥

मृदु कोष्ठ वाले व्यक्तियों की ग्रहणी में पित्त का आधिक्य होता है तथा इतर दोष (वात और कफ) अल्प मात्रा में होते हैं इसलिये इन्हें विरेचन सुगमता से हो जाता है। क्योंकि पित्त इनके अधोभाग में स्थित होता है । चरक सू० अ० १३ में कहा है—उदीर्णपित्ताऽल्पकफा ग्रहणी मन्दमारुता । मृदुकोष्ठस्य तस्मात् स सुविरेच्यो नरः स्मृतः ॥

वक्तव्य—ग्रहणी से अभिप्राय क्षुद्रान्त्र का प्रारम्भिक भाग है । इसका परिमाण १२ अंगुल होता है । इसमें अर्धपक्व अन्न को पकाने के लिये पित्ताशय (Gall Bladder) से पाचक पित्त (Bile) तथा अग्न्याशय (Pancreas) से उसका रस पृथक् २ स्रोतों द्वारा आकर एक सम्मिलित मुख (Ampulla of Water) के द्वारा ग्रहणी में पहुँचता है । उनके द्वारा अपक्व अन्न का पाक होकर आगे जाता है इसे पित्तधरा कला भी कहा गया है । सुश्रुत में कहा है—षष्ठी पित्तधरा नाम या कला परिकीर्तिता । पक्वामाशयमध्यस्था ग्रहणी परिकीर्तिता ॥ इसी प्रकार चरक में भी इसे अग्नि का अधिष्ठान माना गया है। कहा है—अग्न्यधिष्ठानमन्नस्य ग्रहणाद् ग्रहणी मता । नाभेरुपरि सा ह्यग्नि बलोपस्तम्भबृंहिता ॥ अपक्वं धारयत्यन्नं पक्वं त्यजति चाप्यधः ॥

तृण्मूर्छामुखशोषैः शब्दद्वेषाङ्गमर्दजृम्भाभिः ।
तन्द्रीवाग्देहसादैः स्नेहज्ञा(ज्ञोऽ)जीर्यतीत्याह ॥ ४१ ॥

स्नेह के जीर्ण न होने के लक्षण—स्नेह के गुणों को जानने-वाला व्यक्ति प्यास, मूर्छा, मुखशोष, शब्दद्वेष, (किसी प्रकार का शब्द अच्छा न लगना), अङ्गमर्द, जँभाई, तन्द्रा तथा वाणी और देह का अवसाद (खिन्न होना) इन लक्षणों से स्नेह के अजीर्ण को जानता है । अर्थात् उपर्युक्त लक्षणों को देखकर यह जाना जा सकता है कि सेवन किया हुआ स्नेह जीर्ण नहीं हुआ है ।

जीर्णाजीर्णविशङ्की केवलमुष्णोदकं पिबेत् तद्धि ।
उद्गारस्य विशुद्धिं जनयति भक्ताभिलाषं च ॥ ४२ ॥

स्नेहाजीर्ण की चिकित्सा—जिस व्यक्ति को सेवन किये हुए स्नेह के जीर्ण होने या न होने की शंका हो वह केवल उष्ण जल पीये । इससे उद्गार (डकार) ठीक हो जाती है तथा भोजन में भी रुचि उत्पन्न होती है ।

तैलेऽधिको(के)विदाहः, सर्पिषि मूर्च्छा, वसासु हृल्लासः।
मज्जनि गौरवमेषां दोषैरल्पा प्रवृत्तिस्तु ॥ ४३ ॥

यदि स्नेहाजीर्ण तैल के आधिक्य से हो तो विदाह (कोष्ठ में जलन), घृत के आधिक्य से हो तो मूर्छा, वसा से हृल्लास (जी मचलाना) तथा मज्जा से शरीर का भारीपन होगा। इन व्यक्तियों को (प्रवृद्ध) दोषों के कारण प्रवृत्ति (कार्य में रुचि) भी अल्प होती है ।

स्नेहाजीर्णे तृष्णा शूलं परिकर्तिका च यस्य स्यात् ।
समतीतजरणकाले तस्य प्रच्छर्दनं श्रेयः ॥ ४४ ॥

स्नेह के द्वारा अजीर्ण होने पर जिसे प्यास, शूल तथा परिकर्तनवत् वेदना हो उसे स्नेह के जीर्ण होने के काल के व्यतीत हो जाने पर वमन कराना श्रेयस्कर है । चरक में भी कहा है—अजीर्णे यदि तु स्नेहे तृष्णा स्याच्छर्दयेद्भिषक् । शीतोदकं पुनः पीत्वा भुक्त्वा रूक्षान्नमुल्लिखेत् ॥ अर्थात् यदि वमन करने पर भी अजीर्ण लक्षण शान्त न हों तो शीतल जल पीकर पुनः वमन करे । सुश्रुत में उस अवस्था में उष्ण जल से वमन कराने का विधान दिया है—एवं चानुपशाम्यन्त्यां स्नेहमुष्णाम्बुना वमेत् ॥ इन दोनों के विरोध के परिहार के लिये अष्टाङ्गसंग्रह में लिखा है—अजीर्णे बलवत्यां तु शीतैर्दिह्याच्छिरो मुखम् । छर्दयेत् तदशान्तौ च पीत्वा शीतोदकं पुनः ॥ रूक्षान्नमुल्लिखेत् भुक्त्वा तादृश्यां तु कफानिले समदोषस्य निःशेषं स्नेहमुष्णाम्बुनोद्धरेत् ॥ अर्थात् पित्त प्रकृति वाले पुरुष में शीतल जल तथा कफ वात प्रकृति एवं समदोष पुरुष में उष्ण जल का प्रयोग करे ।

उद्गारस्य विशुद्धिः कांक्षा स्थिरता लघुत्वमविषादः ।
बलवाग्निन्द्रियसंपज्जीर्णे स्नेहे बलसुखे च ॥ ४५ ॥

कर्णाक्षिप्राणबलं स्मृतिकेशौजसां वृद्धिधृतिपुष्टिः ।
शान्तिस्तद्व्याधीनां भुक्त्वाऽनु स्नेहपीतस्य ॥ ४६ ॥

स्नेह के जीर्ण हो जाने के लक्षण—उद्गार (डकार) का साफ आना, भोजन या अन्य कार्यों में रुचि होना, शरीर की स्थिरता, लघुता (हलकापन), अविषाद (खिन्नता न होना), बल, वाणी तथा इन्द्रियों का सम्पत् (श्रेष्ठ गुणों से युक्त होना) तथा बल और सुख की प्राप्ति होती है। तथा स्नेहपान के बाद कान, आँख तथा प्राणशक्ति बलवान होती है, स्मरणशक्ति, केश, ओज की वृद्धि होती है, धारणशक्ति पुष्ट होती है तथा उन २ व्याधियाँ की शान्ति हो जाती है। अर्थात् जिन २ व्याधियों के उद्देश्य से स्नेह का सेवन किया गया था, स्नेहपान के बाद वे व्याधियां शान्त हो जानी चाहिये।

पित्तानिलामयघ्नं बस्त्यूरुकटीदृढीकरं वृष्यम् ।
ऊर्जस्करं श्रमघ्नं विद्यात् स्नेहावपीडं तु ॥ ४७ ॥

स्नेह के अवपीडन के गुण—स्नेह का अवपीडन (नासिका में स्नेह का डालना) पित्त तथा वायु के रोगों को नष्ट करता है तथा यह बस्ति, ऊरु एवं कटिप्रदेश को दृढ़ करता है और वृष्य ऊर्जस्कर (बल देनेवाला) तथा श्रम (थकावट) को दूर करनेवाला है।

वक्तव्य—अवपीडन से अभिप्राय निचोड़कर रस निकालना है। कहा है—अवपीड्य दीयते यस्मादवपीडस्ततः स्मृतः। कल्कीकृतादौषधाद्यः पीडितो निस्रुतो रसः॥ सोऽवपीडः समुद्दिष्टः तीक्ष्णद्रव्यसमुद्भवः॥ गलरोगे सन्निपाते निद्रायां विषमज्वरे। मनोविकारे कृमिषु युज्यते चावपीडनम्॥ अर्थात् किसी औषधि का रस निकालकर नाक में बूँद २ टपकाने को अवपीडन कहते हैं। सन्निपात आदि रोगों में यह प्रयुक्त होता है।

वर्णस्वरमेधौजःशुक्रायुर्धृतिबलाग्निसंवृद्धिः ।
विण्मूत्रानिलवृत्तिः सुखेन संभोजनस्नेहात् ॥ ४८ ॥

स्नेह के सम्यक् प्रकार सेवन करने से वर्ण, स्वर, मेधा, ओज, शुक्र, आयु, धृति (धारण शक्ति) बल तथा जाठराग्नि की वृद्धि होती है तथा मल, मूत्र एवं वायु सुखपूर्वक सर जाते हैं।

ज्वरपाण्डुकुष्ठशोथास्तृण्मूर्छाच्छर्द्यरोचकोत्क्लेदाः ।
ग्रहणीन्द्रियोपघातस्तैमित्यानाहशूलाद्याः ॥ ४९ ॥

स्नेह के अपचार अर्थात् विधिपूर्वक सेवन न करने से ज्वर, पाण्डु, कुष्ठ, शोथ, प्यास, मूर्छा, छर्दि (वमन), अरुचि उत्क्लेद (जी मचलाना), ग्रहणीरोग अर्थात् संग्रहणी (अथवा ग्रहणी रोग और इन्द्रियोपघात अर्थात् इन्द्रियों का स्वस्थ न होना), स्तैमित्य (जड़ता), आनाह (अफारा) तथा शूल आदि रोग हो जाते हैं। चरक सू० अ० १३ में कहा है—तन्द्रा सोत्क्लेश आनाहो ज्वरः स्तम्भो विसंज्ञता। कुष्ठानि कण्डूः पाण्डुत्वं शोफार्शांस्यरुचिस्तृषा॥ जठरं ग्रहणीदोषः स्तैमित्यं वाक्यनिग्रहः। शूलमामप्रदोषाश्च जायन्ते स्नेहविभ्रमात्॥

स्नेहापचारजास्ते रोगाः, स्वेदोपपादिता ये (ते) षु ।
वमनविरेचनयोगा रूक्षाशनतक्रमूत्राद्याः ॥ ५० ॥

स्नेह के विधिपूर्वक सेवन न करने से उत्पन्न होनेवाले रोगों में स्वेदन, वमन, विरेचन के योग (औषध) रूक्ष अन्न का भोजन तथा तक्र और मूत्र का सेवन करना चाहिये। चरक में कहा है—तत्राप्युल्लेखनं शस्तं स्वेदः कालप्रतीक्षणम्। प्रति प्रति व्याधिबलं बुद्ध्वा स्रंसनमेव च॥ तक्रारिष्टप्रयोगश्च रूक्षपानान्नसेवनम्। मूत्राणां त्रिफलायाश्च स्नेहव्यापत्तिभेषजम्॥

मात्राकालवियुक्तः स्नेहः सात्म्योपचारगुणहीनः ।
युक्तो व्यापदमृच्छति तस्मिन् संशोधनं पथ्यम् ॥ ५१ ॥

उपद्रवों के कारण मात्रा तथा काल से रहित (अर्थात् जिस मात्रा में स्नेह का प्रयोग करना चाहिये उससे भिन्न मात्रा तथा जिन २ कालों में भिन्न २ स्नेहों के सेवन का पूर्वविधान बतलाया है उनसे अतिरिक्त कालों में) तथा सात्म्य उपचार (पथ्यापथ्य) से रहित स्नेह (अर्थात् स्नेह के बाद पथ्यापथ्य का पालन न करने से) उपद्रवों को उत्पन्न कर देता है। इन उपद्रवों में संशोधन अर्थात् वमन विरेचन कराना चाहिये। इसी भाव को चरक में निम्नरूप में प्रकट किया गया है—अकाले चाहितश्चैव मात्रया न च योजितः। स्नेहो मिथ्योपचाराच्च व्यापद्येतातिसेवितः॥

स्नेहद्वेषी क्षामो मृदुकोष्ठः स्नेहमद्यनित्यश्च ।
अध्वप्रजागरस्त्रीश्रान्ता नाच्छं पिबेयुस्ते ॥ ५२ ॥
तेषामन्नैर्विविधैः स्नेहस्य विचारणा सात्म्यम् ।
निर्दिष्टा मासाद्यैः कालाग्निवयःप्रकर्षाच्च ॥ ५३ ॥
गुरुपानभोज्यमांसैर्गुडदधितिलशाकदुग्धनिर्यूहैः ।
न स्नेहयेत् प्रमेहे न कुष्ठकफशोषरोगार्तान् ॥ ५४ ॥

अच्छ (केवल) स्नेह का किन्हें सेवन नहीं करना चाहिये—जो स्नेह को न चाहते हों, जो कमजोर तथा मृदुकोष्ठ हों, जो नित्य स्नेह एवं मद्य का सेवन करते हों, मार्ग के चलने, जागरण तथा स्त्रीगमन के कारण जो थक गये हों उन्हें अच्छ स्नेह का पान नहीं करना चाहिये। उनको मास (ऋतु) आदि का निर्देश करके काल, जाठराग्नि तथा अवस्था के अनुसार गुरु पान, गुरु भोजन, गुरु मांस तथा गुड, दधि, तिल, शाक, दुग्ध तथा निर्यूह आदि विविध अन्नपानों में से जो सात्म्य हों—उसके साथ स्नेह की विचारणा बनाकर देनी चाहिये। परन्तु इनके द्वारा प्रमेह, कुष्ठ, कफ तथा शोषरोग से पीडित व्यक्तियों का स्नेहन नहीं करना चाहिये। चरक में कहा है—स्नेहद्विषः स्नेहनित्या मृदुकोष्ठाश्च ये नराः। क्लेशासहा मद्यनित्यास्तेषामिष्टा विचारणा॥ अर्थात् इन्हें केवल (अच्छ) स्नेह न देकर उपर्युक्त विचारणाओं के रूप में प्रयोग करना चाहिये। इसी भाव को सुश्रुत चि० अ० ३१ में निम्न रूप में दिया है—सुकुमारं कृशं वृद्धं शिशुं स्नेहद्विषं तथा। तृष्णार्तमुष्णकाले च सहभक्तेन दापयेत्॥ यहाँ भक्त अर्थात् भात (ओदन) शब्द

केवल उपलक्षण मात्र है । इससे अन्य विचारणाओं का भी ग्रहण करना चाहिये ।

तद्दोषघ्नैर्द्रव्यैः स्नेहैः सिद्धैर्यथास्वमविकारैः ।
स्नेह्यास्तथात्रिधाः स्युस्त्रिफलासव्योषलवणाद्यैः ॥ ५५ ॥

उपर्युक्त प्रमेह आदि के रोगियों का रोगानुसार तत्तद्दोषहर-त्रिफला, त्रिकटु तथा लवण आदि द्रव्यों से सिद्ध किये हुए अविकारी अर्थात् विकार न करनेवाले-स्नेहों से स्नेहन करे। चरक में कहा है—स्नेहैर्यथास्वं तान् सिद्धैः स्नेहयेदविकारिभिः । पिप्पलीभिर्हरीतक्या सिद्धैस्त्रिफलयाऽपि वा। इसी प्रकार अष्टाङ्ग संग्रह में भी कहा है—गुडानूपामिषक्षीरतिलमाषसुरा दधि । कुष्ठशोफप्रमेहेषु स्नेहार्थं न प्रकल्पयेत् ॥ त्रिफला पिप्पली पथ्या गुग्गुल्वादिविपाचितान् । स्नेहान्यथास्वमेतेषां योजयेदविकारिणः ॥

स्नेहितदेहस्यादौ स्वेदमनन्तरमथ प्रयुञ्जीत ।
सम्यक्स्निग्धस्विन्नैर्विशोधनमनन्तरं कार्यम् ॥ ५६ ॥

इति स्नेहाध्यायो द्वाविंशतितमः ॥ २२ ॥

जिस व्यक्ति का स्नेहन कर लिया गया है उसे पहले स्वेदन कराना चाहिये। फिर ठीक प्रकार से स्नेहन और स्वेदन हो जाने पर संशोधन (वमन, विरेचन आदि पञ्चकर्म की क्रियायें) कराना चाहिये । चरक में भी कहा है—स्नेहमग्रे प्रयुञ्जीत ततः स्वेदमनन्तरम् । स्नेहस्वेदोपपन्नस्य संशोधनमथेतरत् ॥

इति स्नेहाध्यायो द्वाविंशतितमः ॥ २२ ॥

त्रयोविंशतितमोऽध्यायः ।

अथातः स्वेदाध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ २ ॥

अब हम स्वेदाध्याय का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था।

सम्यक्स्निग्धस्य भगवन् कथं स्वेदं प्रयोजयेत् ।
अनत्ययं भिषग्बाले द्रव्यं स्वेदोपगं च किम् ॥ ३ ॥
मन्दातिसम्यक्स्विन्नानां बालानां लक्षणं च किम् ।
कः स्वेद्यो न च कः स्वेद्य इत्युक्तः प्राह कश्यपः ॥ ४ ॥
शृणु स्वेदविधिं कृत्स्नं वृद्धजीवक ! तत्त्वतः ।
यथा बाले प्रयोक्तव्यः प्रयुक्तश्च यथा हितः ॥ ५ ॥

वृद्धजीवक ने पूछा भगवन् ! सम्यक् स्निग्ध व्यक्ति को किस प्रकार स्वेदन करना चाहिये ? बालक में कौन से स्वेदोपग (स्वेदन में सहायता देनेवाले) द्रव्य स्वास्थ्य को देनेवाले हैं ? मन्दस्विन्न, अस्विन्न, अतिस्विन्न, तथा सम्यक् स्विन्न बालकों के क्या २ लक्षण हैं ? स्वेदन के योग्य तथा अयोग्य कौन हैं अर्थात् किनका स्वेदन करना चाहिये तथा किनका नहीं ? इस प्रकार प्रश्न किये जाने पर महर्षि कश्यप ने उत्तर दिया—हे वृद्धजीवक ! तू स्वेदन की सम्पूर्ण विधि को अच्छी प्रकार सुन । किस प्रकार बालक में उसका प्रयोग करना चाहिये जिससे प्रयुक्त किया हुआ वह स्वेदन हितकारी हो सके।

स्तैमित्यशूलकाठिन्यविबन्धानाहवाग्ग्रहैः ।
हृल्लासारुच्यलसकशीतासहनवेपनैः ॥ ६ ॥

(इति ताडपत्रपुस्तके ३८ तमं पत्रम् ।)

वातश्लेष्मोद्भवं दृष्ट्वा पृथग्वा स्वेद इष्यते ।
वाते स्निग्धः कफे रूक्षो द्वयोः साधारणो मतः ॥ ७ ॥

स्तैमित्य, (जड़ता), शूल, कठोरता, मलबन्ध, आनाह, वाणी का निग्रह (बोल न सकना-गूंगापन), हृल्लास (जी मचलाना), अरुचि, अलसक, शीत को न सहन कर सकना तथा कम्पन-इत्यादि लक्षणों को देखकर वातश्लेष्म अथवा पृथक् २ (वातिक एवं श्लैष्मिक) स्वेदन करना चाहिये। वात की प्रधानता में स्निग्ध, कफ की प्रधानता में रूक्ष तथा दोनों का संयोग होने पर साधारण अर्थात् स्निग्ध एवं रूक्ष मिला हुआ स्वेदन देना चाहिये। चरक सू० अ० १४ में कहा है—वातश्लेष्मणि वाते वा कफे वा स्वेद इष्यते। स्निग्धरूक्षस्तथा स्निग्धो रूक्षश्चाप्युपकल्पितः ॥ अर्थात् केवल वात में स्निग्ध, श्लेष्म में रूक्ष तथा वातकफ (द्वन्द्वज) में स्निग्ध और रूक्ष दोनों प्रकार के द्रव्यों से तैयार किया हुआ स्वेदन देना चाहिये।

बालानां कृशमध्यानां स्वेद आवस्थिको हितः ।
शीतव्याधिशरीराणां बालानां च विशेषतः ॥ ८ ॥

कृश एवं मध्यबल वाले बालकों को आवस्थिक (रोग एवं बल की अवस्था के अनुसार) स्वेद देना चाहिये । बालकों को स्वेद देते हुए विशेषकर शीत (सर्दी), व्याधि एवं शरीर का ध्यान रखना चाहिये अर्थात् सर्दी कम है या अधिक तथा इसी प्रकार व्याधि और शारीरिक बल को भी दृष्टि में रखना चाहिये ।

वक्तव्य—सर्दी अधिक हो तो स्वेद अधिक मात्रा में दिया जा सकता है । इसी प्रकार यदि रोग बलवान है तथा शारीरिक बल भी पर्याप्त है तो स्वेद अधिक दिया जा सकता है। परन्तु यदि रोग मृदु एवं शारीरिक बल भी कम हो तो स्वेद भी थोड़ा ही देना चाहिये।

वृषणौ हृदयं चक्षुर्मृदु वा स्वेदयेन्न वा ।
शेफोवङ्क्षणसन्धींस्तु मध्यमं, शेषमिष्टतः ॥ ९ ॥

अण्डकोष, हृदय तथा नेत्रों को मृदु ही स्वेद देना चाहिये अथवा बिलकुल ही स्वेद न दें। शेप (जननेन्द्रिय) वङ्क्षण (रानों) तथा सन्धियों में मध्य स्वेद देना चाहिये। तथा शरीर के शेष अवयवों पर यथाप्रयोजन मृदु, मध्य अथवा महास्वेद दे सकते हैं।

वक्तव्य—यहाँ देशभेद से स्वेद मृदु, मध्य तथा महान् तीन प्रकार का स्वेद बताया है। इनमें से अण्डकोष, हृदय तथा नेत्रों को साधारणतया स्वेद नहीं देना चाहिये अपितु

अन्य उपायों का ही अवलम्बन करना चाहिये। परन्तु यदि इनमें स्वेद से ही अच्छे होनेवाले रोग हों तो मृदु स्वेद देना चाहिये। जननेन्द्रिय, रानों तथा सन्धियों में मध्य स्वेद तथा शेष अङ्गों पर आवश्यकता के अनुसार मृदु, मध्य अथवा महास्वेद निर्भयता के साथ दिया जा सकता है। चरक सू० अ० १४ में भी कहा है—'वृषणौ हृदयं दृष्टी स्वेदयेन्मृदु नैव वा। मध्यमं वङ्क्षणौ शेषमङ्गावयवमिष्टतः॥'

कुमुदोत्पलपद्मानां पत्रैराच्छाद्य लोचने ।
वाससा वाऽथ श्लक्ष्णेन बाले स्वेदं प्रयोजयेत् ॥ १० ॥
मुक्तावलीचन्द्रकान्तशीताम्बुकरभाजनैः ।
स्पृशेदभीक्ष्णं हृदयं बालस्य स्वेदकर्मणि ॥ ११ ॥

सम्पूर्ण शरीर का स्वेदन करते समय चक्षु तथा हृदय की रक्षा का उपाय—कुमुद, उत्पल (नीलकमल) तथा कमल के पत्तों अथवा नरम कपड़े से बालक के नेत्रों को अच्छी प्रकार ढककर स्वेद देना चाहिये। तथा स्वेद देते हुए मोतियों की मालाओं, चन्द्रकान्त मणि तथा शीतल जल से भरे हुए पात्रों से बालक के हृदय का निरन्तर स्पर्श करते रहना चाहिये। अर्थात् जब बालक को स्वेद देना हो तब कमल आदि के कोमल पत्तों से बालक की आँखें ढक दें तथा हृदयप्रदेश को भी यथासंभव उपायों द्वारा शीतल रखने का प्रयत्न करें जिससे उन प्रदेशों पर स्वेद न पहुँचे। चरक सू० अ० १४ में कहा है—शुशुद्धैर्लक्तकैः पिण्ड्या गोधूमानामथापि वा। पद्मोत्पलपलाशैर्वा स्वेद्यः संवृत्य चक्षुषी॥ मुक्तावलीभिः शीताभिः शीतलैर्भाजनैरपि। जलार्द्रैर्जलजहस्तैः स्विद्यतो हृदयं स्पृशेत्॥ सुश्रुत चि० अ० ३२ में कहा है—स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य शीतैराच्छाद्य चक्षुषी। स्विद्यमानस्य च मुहुर्हृदयं शीतलैः स्पृशेत्॥ इसी प्रकार अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० २६ में भी कहा है—पद्मोत्पलादिभिः सक्तुपिण्ड्या वाच्छाद्य चक्षुषी। शीतैर्मुक्तावली पद्मकुमुदोत्पलभाजनैः॥ मुहुः करैश्च तोयार्द्रैः स्विद्यतो हृदयं स्पृशेत्॥

कर्पूरचूर्णमास्येन धारयेत् स्विद्यतः सुखम् ।
फलाम्लयुक्तं खण्डं वा मृद्वीकां वा सशर्कराम् ॥ १२ ॥

सुखपूर्वक स्वेदन करने के लिये मुख में कर्पूरचूर्ण को धारण करे अथवा खाण्डयुक्त अम्लवेतस या अम्लरस वाले फलों या शर्करा से युक्त मृद्वीका (मुनक्का) धारण करे। अर्थात् स्वेदन करते समय मुँह में कर्पूर, खाण्ड से युक्त अम्लफल अथवा मुनक्का धारण करने से सुखपूर्वक स्वेदन हो जाता है।

शीतगौरवविष्टम्भशूलादीनां निवर्तने ।
तद्विपर्ययभावे च स्वेदं प्राज्ञो निवर्तयेत् ॥ १३ ॥

स्वेद देना कब बन्द करना चाहिये—शीत, गौरव (शरीर का भारीपन) विष्टम्भ तथा शूल (वेदना) आदियों के शान्त हो जाने पर तथा इनसे विपरीत भाव उत्पन्न हो जाने पर बुद्धिमान् व्यक्ति स्वेद को बन्द कर दे। अर्थात् जब शरीर में उष्णता तथा हलकापन आ जाय और विष्टम्भ शूल आदि शान्त हो जायं तब स्वेद बन्द कर देना चाहिये।

विषादमूर्च्छातृड्दाहपित्तकोपारतिभ्रमाः ।
स्वराङ्गहानिर्वैह्वल्यमतिस्विन्नस्य लक्षणम् ॥ १४ ॥

अतिस्विन्न के लक्षण—विषाद, मूर्छा, प्यास, दाह, पित्तप्रकोप, अरति (ग्लानि) भ्रम, स्वर और अङ्गों की दुर्बलता तथा विह्वलता (व्याकुलता)—ये अतिस्विन्न पुरुष के लक्षण हैं। चरक सू० अ० १४ में कहा है—पित्तप्रकोपो मूर्छा च शरीरसदनं तृषा। दाहस्वेदाङ्गदौर्बल्यमतिस्विन्नस्य लक्षणम्॥ सुश्रुत चि० अ० ३२ में कहा है—स्विन्नेऽत्यर्थं सन्धिपीडाविदाहः स्फोटोत्पत्तिः पित्तरक्तप्रकोपः। मूर्छा भ्रान्तिर्दाहतृष्णे क्लमश्च॥ इसीप्रकार अष्टाङ्गहृदय में भी कहा है—पित्तास्रकोपतृ मूर्छास्वराङ्गसदनभ्रमाः। सन्धिपीडाज्वरश्यावरक्तमण्डलदर्शनम्॥ स्वेदातियोगाच्छर्दिश्च...॥

तच्चिकित्सां प्रयुञ्जीत यथा वैसर्पिणां तथा ।
रागव्रणविसंज्ञाभिः कृच्छ्रसाध्यं तमादिशेत् ॥ १५ ॥

अतिस्विन्न की चिकित्सा—विसर्प रोग के रोगी की तरह इसकी चिकित्सा करे। तथा जब राग, व्रण तथा विसंज्ञा (मूर्छा) हो जाय तब उसे कृच्छ्र साध्य जाने।

वक्तव्य—चरक चि० अ० २१ में विसर्प रोग का निम्न चिकित्सासूत्र दिया है—लङ्घनोल्लेखने शस्ते तिक्तकानां च सेवनम्। कफस्थानगते सा मे रूक्षशीतैः प्रलेपनम्॥ इसीप्रकार अतिस्विन्न व्यक्ति में भी लङ्घन, वमन, तिक्त ओषधियों का सेवन करना चाहिये तथा रूक्ष एवं शीत द्रव्यों का प्रलेप लगाना चाहिये। अष्टाङ्गहृदय में भी यही विधान दिया है। वहाँ शीत प्रलेप की व्याख्या करते हुए अत्यन्त शीतप्रलेपों का निषेध करके अनुष्णशीत प्रलेपों का प्रयोग लिखा है। चरक सू० अ० १४ में अतिस्विन्न की चिकित्सा में लिखा है—उक्तस्तस्याशितीये यो ग्रैष्मिकः सर्वशोविधिः। सोऽतिस्विन्नस्य कर्तव्यो मधुरः स्निग्धशीतलः॥ अर्थात् अतिस्विन्न व्यक्ति के लिये ग्रीष्मचर्योक्त मधुर स्निग्ध तथा शीतल विधियों का प्रयोग करना चाहिये। परन्तु ग्रीष्मचर्या में दियेहुए मद्यपान को टीकाकारों ने सर्वथा वर्जित बताया है।

वातस्याप्रगुणत्वं च गुरुत्वं स्तब्धगात्रता ।
मन्दस्विन्ने न च ग्लानिस्तृष्णादीनां च विभ्रमः ॥१६॥
तत्र स्वेदं प्रयुञ्जीत भिषग्भूयो विचारयन् ।
बलकालवयोदोषान् पथ्यचेष्टाशनस्थितीः ॥ १७ ॥

मन्दस्विन्न के लक्षण—स्वेदन मात्रा से थोड़ा होने पर वायु अनुलोम नहीं होती, शरीर भारी तथा स्तब्ध (जकड़ा हुआ) होता है तथा ग्लानि और तृष्णा शान्त नहीं होती। इस अवस्था में अर्थात् सम्यक् स्वेदन न होने पर चिकित्सक को चाहिये कि रोगी के बल, काल (ऋतु), अवस्था, दोष, चेष्टा तथा भोजन (आहार-विहार) के पथ्य का विचार करते हुए पुनः स्वेदन करावे।

स्वेदाभिनन्दिता सौख्यं मृदुता रोगदेहयोः ।
काले विसृष्टिः क्षुत्तृष्णा सम्यक्स्विन्नस्य लक्षणम्॥१८॥

सम्यक् स्विन्न के लक्षण—स्वेद से प्रसन्नता एवं सुख की प्राप्ति हो, रोग मृदु (कम बलवाला) हो जाय, देह भी मृदु हो जाय, मल, मूत्र आदि का वेग यथासमय हो तथा भूख और प्यास लगे-ये सम्यक् स्विन्न के लक्षण हैं। अर्थात् इन लक्षणों को देखकर जाना जा सकता है कि स्वेदन ठीक हो गया है तथा अब स्वेदन बन्द कर देना चाहिये। सुश्रुत चि. अ. ३२ में कहा है—स्वेदास्रावो व्याधिहानिर्लघुत्वं शीतार्थित्वं मार्दवं चातुरस्य। सम्यक्स्विन्ने लक्षणं प्राहुरेतन्मिथ्यास्विन्ने व्यत्ययेनैतदेव॥ अर्थात् सम्यक् स्विन्न में स्वेदास्राव, व्याधि का शमन, शरीर की लघुता, शीतपदार्थों की इच्छा तथा शरीर की मृदुता आदि लक्षण होते हैं। तथा असम्यक् स्विन्न में इससे विपरीत लक्षण होते हैं अर्थात् स्वेद नहीं आता, तथा व्याधि की वृद्धि, शरीर का भारीपन, उष्ण पदार्थों की इच्छा तथा शरीर की कठोरता आदि लक्षण होते हैं। इसी प्रकार अष्टाङ्गसंग्रह में कहा है—शीतशूलक्षये स्विन्नो जातोऽङ्गानां च मार्दवे।

पित्तात्मा पित्तरोगी च गर्भिणी मधुमेहिनः।
क्षुत्तृष्णाशोषरोषार्ताः कामल्युदरिविक्षताः॥ १९॥
कार्श्यमद्यविषार्ताश्च भृशाग्नितिमिरस्रुताः।
भ्रष्टभग्नविदग्धाङ्गा न स्वेद्यास्ते कथंचन॥ २०॥

किन्हें स्वेदन नहीं कराना चाहिये—पित्तप्रकृति अथवा पित्त के रोगी, गर्भिणी, मधुमेही, भूख, प्यास, शोष तथा रोष से पीडित, कामला तथा उदररोग के रोगी, विक्षत (जिन्हें घाव लगा हो) कृश, मद्य एवं विष के विकारों से पीड़ित, जिनकी जठराग्नि अत्यन्त तीव्र हो, तिमिर रोग से पीड़ित तथा अतिसार रोगी भ्रष्ट (जिनकी आंत अथवा गुदा-कांच निकली हुई हो, जिनकी अस्थि भग्न हो तथा जिनके अंग जले हुए हों-उन्हें कभी स्वेदन न करावें। चरक में कहा है—कषायमद्यनित्यानां गर्भिण्या रक्तपित्तिनाम्। पित्तिनां सातिसाराणां रूक्षाणां मधुमेहिनाम्॥ विदग्धभ्रष्टबध्नानां विषमद्यविकारिणाम्। श्रान्तानां नष्टसंज्ञानां स्थूलानां पित्तमेहिनाम्॥ तृष्यतां क्षुधितानां च क्रुद्धानां शोचतामपि। कामल्युदरिणां चैव क्षतानामाढ्यरोगिणाम्॥ दुर्बलातिविशुष्काणामुपक्षीणौजसां तथा। भिषक् तैमिरिकाणां च न स्वेदमवतारयेत्॥ **इसी प्रकार सुश्रुत में भी कहा है—**पाण्डुर्मेही रक्तपित्ती क्षयार्तः क्षामोऽजीर्णी चोदरार्तो गरार्तः। तृट्छर्द्यार्तो गर्भिणी पीतमद्यो नैते स्वेद्या यश्च मर्त्योऽतिसारी॥

स्वरभेदप्रतिश्यायगलग्रहशिरोरुजि।
मन्याकर्णशिरःशूले गौरवे श्वासकासयोः॥ २१॥
कुक्षिपार्श्वकटीपृष्ठविड्ग्रहे मूत्रयक्ष्मणि।
शुक्राघाते पक्षवधे कोष्ठानाहविबन्धयोः॥ २२॥
विनामार्दितजृम्भासु हनुमन्याशिरोग्रहे।
अङ्गमर्दे महत्त्वे च वेपथौ वातकण्टके॥ २३॥
शीतशोथामखल्वी(ल्ली)षु पाणिपादाङ्गमारुते।
आयामाक्षेपशूलादौ स्वेदः पथ्यतमो नृणाम्॥ २४॥

स्वेदन कहां २ करना चाहिये—स्वरभेद, प्रतिश्याय, गलग्रह (गले का पकड़ा जाना) शिररोग, मन्या (ग्रीवा शिरा) शूल, कर्णशूल तथा शिरःशूल, गौरव (अङ्गों का भारीपन) श्वास एवं कासरोग, कुक्षिग्रह, पार्श्वग्रह, कटिग्रह, पृष्ठग्रह, तथा विड्ग्रह (मलबन्ध), मूत्ररोग, यक्ष्मारोग, शुक्राघात (शुक्ररोध अथवा वीर्य का बाहर क्षरण न होना), पक्षाघात, कोष्ठ का आनाह (आध्मान), विबन्ध (मल तथा मूत्र के रुक जाने पर), विनाम (वातप्रकोप से शरीर के नमन होने वाले लक्षणों से युक्त अपतानक, धनुस्तम्भ, बाह्यायाम तथा आभ्यन्तरायाम आदि रोग) अर्दित (Facial Paralysis), जृम्भारोग (जंभाई) हनुग्रह, मन्याग्रह, शिरोग्रह, अङ्गमर्द, महत्व (अण्डवृद्धि-Hydrocele आदि), वेपथु (कम्पन), वातकण्टक (पैरों में वातिक वेदना), शीत (सर्दी लगना), शोथ, आमदोष (विसूचिका-अलसक आदि), खल्ली (खल्ली तु पादजंघोरुकरमूलावमोटनी-हाथ पैर आदि में खिंचावट के साथ दर्द होना), हाथ, पैर तथा अन्य अङ्गों में वायु का प्रकोप, आयाम (अङ्गों का फैलना), आक्षेप (Convulsions) तथा शूल में मनुष्यों को स्वेद करना अत्यन्त हितकर माना गया है। **चरक सू० अ० १४ में स्वेदन के लिये निम्न रोगों का परिगणन किया गया है—**प्रतिश्याये च कासे च हिक्काश्वासेष्वलाघवे। कर्णमन्याशिरःशूले स्वरभेदे गलग्रहे॥ अर्दितैकाङ्गसर्वाङ्गपक्षाघाते विनामके। कोष्ठानाहविबन्धेषु शुक्राघाते विजृम्भिके॥ पार्श्वपृष्ठकटीकुक्षिसंग्रहे गृध्रसीषु च। मूत्रकृच्छ्रे महत्त्वे च मुष्कयोरङ्गमर्दने॥ पादोरुजानुजङ्घार्तिसंग्रहे श्वयथावपि। खल्लीष्वामेषु शीते च वेपथौ वातकण्टके॥ सङ्कोचायामशूलेषु स्तम्भगौरवसुप्तिषु। सर्वेष्वेव विकारेषु स्वेदनं हितमुच्यते॥

जन्मप्रभृति बालानां स्वेदमष्टविधं भिषक्।
प्रयुञ्जीत यथाकालं रोगदेहव्यपेक्षया॥ २५॥

जन्म से लेकर चिकित्सक बालकों में यथाकाल रोग तथा शरीर (शारीरिक बल) के अनुसार आठ प्रकार का स्वेदन प्रयुक्त करें।

हस्तस्वेदः प्रदेहश्च नाडीप्रस्तरसंकराः।
उपनाहोऽवगाहश्च परिषेकस्तथाऽष्टमः॥ २६॥

आठ प्रकार के स्वेद—(१) हस्तस्वेद (२) प्रदेह (३) नाडीस्वेद (४) प्रस्तरस्वेद (५) सङ्करस्वेद (६) उपनाह (७) अवगाह तथा (८) परिषेक।

वक्तव्य—चरकमें स्वेदों की संख्या इससे अधिक दी है। वहां मुख्य रूप से अग्निस्वेद एवं अनग्निस्वेद (जिनमें अग्नि का सम्पर्क न हो) दो भेद देकर अग्निस्वेदों के पुनः १३ भेद दिये गये हैं—सङ्करः प्रस्तरो नाडी परिषेकोऽवगाहनम्। जेन्ताकोऽश्मघनः कर्षुः कुटीभूकुम्भिकैव च॥ कूपो होलाक इत्येते स्वेदयन्ति त्रयोदश॥ **सुश्रुत में केवल चार प्रकार का स्वेद गिनाया है—१. तापस्वेद २. ऊष्मस्वेद ३. उपनाहस्वेद ४. द्रवस्वेद। चरक में इनके अतिरिक्त दूसरे प्रकार के स्वेदन वे दिये हैं जो अग्नि के गुण के बिना ही स्वेदन करते हैं अर्थात् इनमें अग्नि का सम्पर्क नहीं होता है। ये १० गिनाये गये हैं—**व्यायाम उष्णसदनं गुरुप्रावरणं

क्षुधा । बहुपानं भयक्रोधावुपनाहाहवातपाः ॥ स्वेदयन्ति दशैतानि नरमग्निगुणादृते ॥ इनमें साक्षात् बाह्य अग्नि का सम्पर्क नहीं होता है। ये अपने उष्ण स्वभाव के कारण ही स्वेदन करते हैं। इसी प्रकार अनग्निस्वेदों के विषय में सुश्रुत में कहा है—कफमेदोऽन्विते वायौ निवातातपगुरुप्रावरणनियुद्धाध्वव्यायामभारहरणामर्षैः स्वेदमुत्पादयेत् ॥ परन्तु यहां केवल आठ स्वेदों का वर्णन किया है। यहां वे ही स्वेद दिये गये हैं जो बालकों को सुविधा पूर्वक दिये जा सकते हैं। क्योंकि इस संहिता में विशेष रूप से बालकों का ही विषय दिया गया है।

जातस्य चतुरो मासान् हस्तस्वेदं प्रयोजयेत् ।
अप्रमादी निवातस्थो विधूमाग्न्यूष्मणा शनैः ॥ २७ ॥

हस्तस्वेद का विधान—उत्पन्न हुए बालक को चार मास तक प्रमादरहित होकर निवातस्थान (जहां सीधी एवं तेज हवा न आती हो) में बैठकर धुएं से रहित अग्नि की ऊष्मा के द्वारा धीरे २ हस्तस्वेद का प्रयोग करे।

वक्तव्य—हस्तस्वेद का तात्पर्य अग्नि के द्वारा अपने हाथों को गरम करके उससे बालक के शरीर को स्पर्श करना है। छोटे बालक को विशेषकर शीतऋतु में गरम रखने की आवश्यकता होती है परन्तु उस अवस्था में बालक बहुत अधिक नाजुक (Sensitive) होते हैं। वे जरा भी अधिक उष्णता को सहने में असमर्थ होते हैं। हाथों के द्वारा स्वेदन करने का उद्देश्य यह है कि बालक को कहीं अधिक स्वेदन न दे दिया जाय। अपने हाथों को गरम करने से व्यक्ति को पहले अग्नि का अपने शरीर पर अनुभव हो जाता है इससे बालक को अधिक उष्णता लगने की सम्भावना बिलकुल कम रहती है। इस प्रकार बालक को निर्भयतापूर्वक स्वेदन दिया जा सकता है। परन्तु स्वेदन करते हुए यह ध्यान रखना चाहिये कि ऐसे स्थान पर न बैठा जाय जहां सीधी एवं तेज हवा आती हो। तथा अग्नि भी धूम्र रहित होनी चाहिये अन्यथा बालक के नेत्रों तथा श्वासमार्गमें कष्ट होगा।

निवर्तमाने बालस्य सौकुमार्ये यथाक्रमम् ।
प्रवर्तमाने काठिन्ये तेषां स्वेदं प्रवर्धयेत् ॥ २८ ॥

धीरे २ बालक की सुकुमारता (Delicacy) हटकर शरीर में कठिनता (कठोरता) आने पर उनका स्वेदन बढ़ाना चाहिये।

सन्ति चाप्यपरे बालाः सुकुमाराः सदासुखाः ।
घृतक्षीराशिनः कल्या ईश्वराणां महात्मनाम् ॥ २९ ॥

कुछ बालक ऐश्वर्यशाली महापुरुषों के पुत्र होते हैं। वे सुकुमार तथा सदा सुखी होते हैं, उन्हें खाने पीने को पर्याप्त घृत तथा दूध मिलता है तथा वे स्वस्थ होते हैं।

मध्यमा मध्यमानां च दरिद्राणां च दुःखिनाम् ।
निषेकदेशसात्म्ये च तान् विद्यात् पण्डितो भिषक् ३०

दूसरे बालक मध्यम कहलाते हैं जो मध्यम श्रेणी वालों के तथा दरिद्र एवं दुखी व्यक्तियोंके पुत्र होते हैं। इसलिये बुद्धिमान चिकित्सक को चाहिये कि इनके निषेक (उत्पत्ति) तथा देश (स्थान) के सात्म्य को जाने। अर्थात् चिकित्सक बालक के घराने (कुल) का ज्ञान प्राप्त करे तथा यह भी जाने की उसका पालन-पोषण किस प्रकार की स्थिति (धनी अथवा निर्धन) में हुआ है। जिससे वह प्रत्येक बालक की पृथक् २ परिस्थिति के अनुसार चिकित्सा का विधान कर सके।

अविशेषेण बाधन्ते सर्वे सर्वान्नरान् गदाः ।
विशेषस्तु महान् दृष्टो दक्षिणाहारभेषजे ॥ ३१ ॥

सब प्रकार के रोग सब प्रकार के मनुष्यों को बिना भेद-भाव के कष्ट पहुंचाते हैं। अर्थात् रोग धनी एवं निर्धन के भेद के बिना ही सब लोगों को समान रूप से आक्रान्त करते हैं। अन्तर (भेद) केवल दक्षिणा (धन) आहार तथा ओषधि में होता है। धनी एवं निर्धन व्यक्ति में अन्तर केवल आर्थिक परिस्थिति का ही होता है। रोग की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है अर्थात् रोगों से धनी व्यक्ति भी नहीं बच पाते हैं। केवल धन होने के कारण वे अच्छी से अच्छी ओषधि एवं पथ्य का सेवन कर सकते हैं जबकि निर्धन व्यक्ति को धन के अभाव में अधिक कष्टों को झेलना पड़ता है।

देशकालवयोमात्रासर्वरुग्गुरुलाघवैः ।
स्वेदोऽतिरिक्तो हीनो वा हन्याद्बालं यथा विषम् ॥३२॥

देश, काल, अवस्था, मात्रा तथा सब प्रकार के रोगों की गुरुता अथवा लघुता की दृष्टि से अतिस्वेद तथा हीनस्वेद विष के समान बालक को मार देते हैं। अर्थात् बालक को स्वेद देते समय यह ध्यान रखना चाहिये कि किसी भी दृष्टि से स्वेद का अतियोग तथा अयोग न हो।

तस्माद्वेद्य देशादीन् काठिन्यं सुकुमारताम् ।
शिशोः स्वेदं प्रयुञ्जीत यशोधन्या(र्मा)र्थसिद्धये ॥३३॥

इस लिये यश, धन्यवाद (अथवा धर्म) तथा धन की प्राप्ति के लिये चिकित्सक को चाहिये कि वह देश, काल, अवस्था आदि तथा कठोरता एवं सुकुमारता को दृष्टि में रखते हुए बालक को स्वेदन का प्रयोग करावे।

गलकर्णशिरोमन्याकर्णाक्षिचिबुकोरसि ।
अभिष्यन्दात् समुच्छूने प्रदेहस्वेद इष्यते ॥ ३४ ॥

प्रदेहस्वेद कहां देना चाहिये—गलकर्ण, शिर, मन्या, कर्ण, आँखों, चिबुक (ठोडी-Chin) तथा छातीमें और अभिष्यन्द रोग के कारण शरीर में शोथ होने पर प्रदेह स्वेद करना चाहिये।

वक्तव्य—प्रदेह स्वेद से अभिप्राय प्रलेप (लेप करने) से है।

एरण्डवृषशिग्रूणां त्वक्पत्रैः कल्कसाधितैः ।
समूत्रबुक्क(किण्व)लवणैः प्रदेहः स्यात् सुखोष्मभिः ३५
शीतीभूतं तु निर्मृज्य लेपयेदपरापरम् ।
अनेकशस्तु विज्ञाय स्विन्नं स्वेदं निवर्तयेत् ॥ ३६ ॥

द्रव्यैर्वातकफघ्नैश्च प्रदेहः शिग्रुवद्धितः ।
अन्यैरपि करीषैश्च गोखराश्वाविबस्तजैः ॥ ३७ ॥

प्रदेहस्वेद की विधि—एरण्ड, बांसा तथा सुहांजने की त्वचा (छाल) तथा पत्तों का कल्क (लुगदी) बनाकर उसमें गोमूत्र बुक्क—(अग्रमांस-हृदय का मांस) अथवा किण्व (सुराबीज-yeast) तथा सैन्धव डालकर उस कल्क की हल्की गर्मी के द्वारा प्रदेहस्वेद किया जाता है। ठण्डा हो जाने पर पूर्व लेप को उतार कर दूसरा लेप कर देना चाहिये। इस प्रकार अनेक तरह से (पर्याप्त) स्विन्न (पसीना आया हुआ) जानकर उस स्वेद (प्रदेह) को हटा दे। इसीप्रकार अन्य वात एवं कफनाशक द्रव्यों-तथा गौ, गदहे, घोड़े भेड़ तथा बकरी के पुरीष (गोबर-उपलों) के द्वारा किया गया प्रदेह (प्रलेप) भी सुहांजने की तरह ही हितकारी होता है।

वक्तव्य—पहले लेप के ठण्डा हो जाने पर दूसरा लेप करदे तथा उसके भी ठण्डा हो जाने पर तीसरा नया लेप कर देना चाहिये इस प्रकार लेपों के द्वारा जब पसीना आजाय तब लेपों के द्वारा स्वेदन बन्द कर देना चाहिये।

वंशमुञ्जनलाद्यैश्च यथायोगं यथासुखम् ।
नाडीस्वेदं प्रयुञ्जीत निवाते वस्त्रसंवृतम् ॥ ३८ ॥

नाडी स्वेद की विधि—बांस, मूंज तथा नल आदि के द्वारा आवश्यकता के अनुसार वस्त्रों से ढककर निवातस्थान में बैठकर सुखपूर्वक नाडीस्वेद का प्रयोग करे। चरक सू० अ० १४ में नाडीस्वेद की विधि निम्न प्रकार से दी है—

स्वेदनद्रव्याणां पुनर्मूलफलपत्रशुङ्गादीनां मृगशकुनिपिशितशिरःपदादीनामुष्णस्वभावानां वा यथार्हमम्ललवणस्नेहोपसंहितानां मूत्रक्षीरादीनां वा कुम्भ्यां बाष्पमनुद्वमन्त्यामुत्क्वथितानां नाड्या शरेषीकावंशदलकरञ्जार्कपत्रान्यतमकृतया गजाग्रहस्तसंस्थानया व्याममात्रदीर्घया व्यामार्धदीर्घया वा व्यामचतुर्भागाष्टभागमूलाग्रपरिणाहस्रोतसा सर्वतो वातहरपत्रसंवृतच्छिद्रया द्विस्त्रिर्वा विनामितया वातहरसिद्धस्नेहाभ्यक्तगात्रो बाष्पमुपहरेत्, बाष्पो ह्यनूर्ध्वगामी विहतचण्डवेगस्त्वचमविदहन् सुखं स्वेदयतीति नाडीस्वेदः ॥ सुश्रुत चि० अ० ३२ में कहा है—

पार्श्वच्छिद्रेण वा कुम्भेनाधोमुखेन तस्य मुखमभिसन्धाय तस्मिंश्छिद्रे हस्तिशुण्डाकारां नाडीं प्रणिधाय तं स्वेदयेत्। सुखोपविष्टं स्वभ्यक्तं गुरुप्रावरणावृतम्। हस्तिशुण्डिकया नाड्या स्वेदयेद्वातरोगिणम् ॥ सुखा सर्वाङ्गगा ह्येषा न च क्लिश्नाति मानवम्। व्यामार्धमात्रा त्रिर्वक्रा हस्तिहस्तसमाकृतिः ॥ स्वेदनार्थे हिता नाडी कलिङ्गी हस्तिशुण्डिका ॥ इसी प्रकार अष्टाङ्ग हृदय में भी नाडी स्वेद का विधान दिया गया है।

उष्णान् पुलाकानास्तीर्य पायसं कृसरादि वा ।
वाससान्तरिते(तं) बालमभ्यक्तं शाययेत् सुखम् ॥३९॥
पञ्चाङ्गुलोरुबूकार्कपत्रैर्वा स्नेहितोष्णितैः ।
प्रस्तरस्वेदमित्याहुरभीक्ष्णपरिवर्तिनः ॥ ४० ॥

प्रस्तरस्वेद की विधि—गरम किये हुए पुलाक (क्षुद्र धान्य) अथवा तुष, पायस (खीर) अथवा कृशरा (खिचड़ी) को बिछाकर (फैलाकर) उस पर श्वेत एरण्ड, लाल एरण्ड तथा आक के पत्तों पर स्नेह लगाकर उन्हें गरम करके बिछा दें उन पर अच्छी प्रकार अभ्यक्त किए हुए (स्नेह की मालिश किये हुए) बालक को वस्त्रों से ढककर सूखपूर्वक लिटा दें। इसे प्रस्तरस्वेद कहते हैं। इसे निरन्तर बदलते रहना चाहिये। चरक सू० अ० १४ में कहा है—

शूकशमीधान्यपुलाकानां वेशवारपायसकृशरोत्कारिकादीनां वा प्रस्तरे कौशेयाविकोत्तरप्रच्छदे पञ्चाङ्गुलोरुबूकार्कपत्रप्रच्छदे वा स्वभ्यक्तसर्वगात्रस्य शयानस्योपरि स्वेदनं प्रस्तरस्वेद इति विद्यात्। सुश्रुत चि० अ० ३२ में कहा है—कोशधान्यानि वा सम्यगुपस्वेद्यास्तीर्य किलिञ्जेऽन्यस्मिन् वा तत्प्रतिरूपके शयानं प्रावृत्य स्वेदयेत्। एवं पांशुगोशकृत्तुषबुसपलालोष्मभिः स्वेदयेत्। इसी लिए अष्टाङ्गसंग्रह में भी कहा है—यथार्हस्वेदद्रव्याणि पिहितमुखायामुखायां सम्यगुपस्वेद्य निवातशरणशयनस्थे किलिञ्जे प्रस्तीर्याविककौशेयवातहरपत्रान्यतमोत्तरप्रच्छदे रौरवाजिनप्रावारादिभिः स्ववच्छन्नं स्वेदयेदिति संस्तरस्वेदः ॥

पायसैः कृशरैर्मांसैरोदनैस्त्रिकठोरकैः ।
उष्णैः सलवणस्नेहैरम्बरास्तरितैः सुखैः ॥ ४१ ॥
किण्वातसीदधिक्षीरसंयुक्तैः पिण्डकैः कृतैः ।
स्थानस्वेदनमिच्छन्ति सङ्करस्वेद उच्यते ॥ ४२ ॥

सङ्करस्वेद की विधि—लवण एवं स्नेह के सहित उष्ण तथा सुखकारी खीर, कृशरा (यवागू-खिचड़ी), मांस ओदन तथा तीन प्रकार की कठोर वस्तुओं (चरक के स्वेद प्रकरण में, सिकता-बालु, पांशु-धूलि तथा पाषाण-पत्थर का उल्लेख होने से यहाँ भी त्रिकठोर शब्द से वे ही अभिप्रेत प्रतीत होते हैं)—को वस्त्र पर फैलाकर तथा उन्हें किण्व (सुराबीज), अलसी, दही तथा दूध के साथ मिलाकर पिण्ड बनाकर इनके द्वारा स्थानिक स्वेदन (विशेष स्थान का स्वेदन) किया जाता है। इसे सङ्करस्वेद कहते हैं। अर्थात् यह स्वेद सम्पूर्ण स्थान के लिये नहीं है अपितु किसी विशेष अङ्ग के लिये व्यवहृत होता है। चरक सू० अ० १४ में सङ्करस्वेद की निम्न विधि दी है—तत्र वस्त्रान्तरितैरवस्त्रान्तरितैर्वा पिण्डैर्यथोक्तैरुपस्वेदनं सङ्करस्वेद इति विद्यात्। वहीं पिण्ड द्रव्यों का भी उल्लेख किया है—तिलमाषकुलत्थाम्लघृततैलामिषौदनैः। पायसैः कृशरैर्मांसैः पिण्डस्वेदं प्रयोजयेत् ॥ गोखरोष्ट्रवराहाश्वशकृद्भिः सतुषैर्यवैः। सिकतापांशुपाषाणकरीषायसपूटकैः ॥ श्लैष्मिकान् स्वेदयेत् पूर्वैर्वातिकान् समुपाचरेत् ॥ सङ्करस्वेद का ही दूसरा नाम पिण्ड स्वेद भी है। अष्टाङ्गसंग्रह में यह विधि निम्न प्रकार से दी है—तत्र मृत्कपालपाषाणलोष्टलोहपिण्डानग्निवर्णान् संदंशेन गृहीत्वाऽम्भस्यम्ले वा निमज्जेत्। तैरार्द्राविकवस्त्रेण वेष्टितैः श्लेष्ममेदोभूयिष्ठं सरुजमङ्गं ग्रन्थिमद्वा स्वेदयेत्। पांशुसिकतागवादिकरीषधान्यबुसपुलाकपलालैर्वाऽम्लोत्क्वथितैः पूर्ववद्वेष्टितैः। गवादिशकृतार्द्रेण पिण्डीकृतेन वा

१. चरकीये स्वेदप्रकरणे सिकतापांशुपाषाणेत्युल्लेखदर्शनेनात्रापि त्रिकठोरपदेन तान्येवाभिप्रेतानि स्युः ॥

उपनाहद्रव्योत्कारिकाङ्करमांसपिण्डैर्वा वातरोगेष्विति पिण्डस्वेदः। स एव सङ्कराख्यः॥

किण्वातसीदधिक्षीरलवणैः साम्लचिक्कणैः ।
कुष्ठादिभिश्च सस्नेहैरुपनाहः प्रशस्यते ॥ ४३ ॥

किण्व (सुराबीज), अलसी, दही, दूध, सैन्धव, अम्ल (कांजी), कुष्ठ आदि चिकने पदार्थों एवं स्नेह (तिल तैल) इनसे तैयार किया हुआ उपनाह प्रशस्त है ।

वक्तव्य—उपनाह से अभिप्राय पुलटिस से है। चरक सू० अ० १४ में इसका निम्न वर्णन मिलता है—गोधूमशकलैश्चूर्णैर्यवानामम्लसंयुतैः। सस्नेहकिण्वलवणैरुपनाहः प्रशस्यते ॥ गन्धैः सुरायाः किण्वेन जीवन्त्या शतपुष्पया। उमया कुष्ठतैलाभ्यां युक्त्या चोपनाहयेत् ॥ चर्मभिश्चोपनद्धव्यः सलोमभिरपूतिभिः। उष्णवीर्यैरलाभे तु कौशेयाविकशाटकैः ॥ रात्रौ बद्धं दिवा मुञ्चेन्मुञ्चेद्रात्रौ दिवाकृतम्। विदाहपरिहारार्थं, स्यात्प्रकर्षस्तु शीतले ॥ अर्थात् स्वेद्य स्थान पर उपनाह रखकर ऊपर से किसी वस्त्र की पट्टी अथवा अन्य चमड़े आदि से बांध देना चाहिये जिससे उसकी गर्मी स्थिर रह सके। उपनाह में लगातार अधिक समय तक पट्टी रखने से उस स्थान पर विदाह होने का डर रहता है अतः उसे आवश्यकता के अनुसार खोलकर बदल देना चाहिये।

खराजाविबिडालेन(लोन्द्र)द्वीपिसिंहतरक्षुजैः ।
.... ॥ ४४ ॥
.... ।

(इति ताडपत्रपुस्तके ३९ तमं पत्रम्[1] ।)

गदहे, भेड़, बकरी, बिडाल (वन मार्जार) उन्द्र (कूलचर पशुभेद), चीता, सिंह तथा तरक्षु-भालू के (मांसरसों से सिद्ध द्रव आदियों से अवगाह स्वेद करना चाहिये)।

(इति ताडपत्रपुस्तके ३९ तमं पत्रम्)

वक्तव्य—यह श्लोक बीच में ही खण्डित हो गया है। पूरा श्लोक न होने से निश्चयपूर्वक यह कहना कठिन है कि इसका क्या अभिप्राय है। फिर भी यह स्वेदों का प्रकरण चल रहा है। इसी अध्याय में पूर्व आठ प्रकार के स्वेद गिनाये गये हैं। उनमें से यहां ६ का वर्णन किया जा चुका है। दो का वर्णन शेष है। इन दोनों में से भी अवगाह स्वेद का क्रम ग्रन्थ में पहले दिया होने से यह संभवतः उसीका वर्णन है। अवगाहन से अभिप्राय कोष्ठ (Tubs) आदि में बैठकर अवगाह द्वारा स्वेदन करने से है। चरक सू० अ० १४ में नाडीस्वेद देने के उपरान्त अवगाहस्वेद की निम्न विधि मिलती है—एत एव च निर्यूहाः प्रयोज्या जलकोष्ठके। स्वेदनार्थं घृतक्षीरतैलकोष्ठांश्च कारयेत् ॥ अर्थात ग्राम्य आनूप मांस आदि, वरुण आदि तथा भूतीक आदि द्रव्यों के क्वाथों को तथा घृत दूध एवं तैल को स्वेदनार्थ अवगाहन के लिये टब में भरकर प्रयोग करें। वहीं पर पुनः कहा है—वातहरोत्क्वाथक्षीरतैलघृतपिशितसोष्णसलिल कोष्ठकावगाहस्तु यथोक्त एव अवगाहः। अष्टाङ्ग संग्रह सू. अ. २६ में भी कहा है—तैरेवाद्भिः पूर्णे महति कटाहे कुण्डे द्रोण्यां वावगाहयेत्। सुश्रुत में इसीका द्रवस्वेद के रूप में वर्णन मिलता है—द्रवस्वेदस्तु वातहरद्रव्यक्वाथपूर्णे कोष्ठे कटाहे द्रोण्यां वावगाह्य स्वेदयेत्। एवं पयोमांसरसयूषतैलधान्याम्लघृतवसामूत्रेष्ववगाहयेत्। इस उपर्युक्त विधियों के द्वारा अवगाहनस्वेद किया जाता है। अब हम ग्रन्थोक्त अन्तिम परिषेक (स्वेद) का भी अन्य ग्रन्थों के आधार पर वर्णन करते हैं। चरक सू० अ० १४ में इसका निम्न वर्णन मिलता है—वातिकोत्तरवातिकानां पुनर्मूलादीनामुत्क्वाथैः सुखोष्णैः कुम्भीर्वर्षुलिकाः प्रनाडीर्वा पूरयित्वा यथार्हसिद्धस्नेहाभ्यक्तगात्रं वस्त्रावच्छन्नं परिषेचयेदिति परिषेकः॥ अर्थात् परिषेक से अभिप्राय जल का सिंचन करने से है। सबसे पूर्व रोगी के शरीर पर यथायोग्य द्रव से सिद्ध तैल आदि की मालिश करनी चाहिये। उसके बाद देह को वस्त्र से ढककर आवश्यकतानुसार ओषधियों के सुखोष्ण क्वाथों से किसी घड़े, फुआरे अथवा Douche को भरकर उसके द्वारा परिषेचन किया जाता है।

इस प्रकार यह स्वेदाध्याय समाप्त होता है।

चतुर्विंशतितमोऽध्यायः ।

.... ।
.... ॥
............................प्रोक्तं चिकित्सितम् ।

वक्तव्य—यह उपकल्पनीय अध्याय है। चरक में भी स्नेहन तथा स्वेदन के बाद उपकल्पनीय अध्याय दिया गया है। उसमें बतलाया गया है कि वमन तथा विरेचन कराने के लिये तथा उनसे उत्पन्न होने वाले उपद्रवों की शान्ति के लिये तत्कालोपयोगी कौन २ से द्रव्य तैयार रखने चाहिये। इस संहिता के भी स्नेहाध्याय में कहा है कि स्नेहन के बाद स्वेदन करावे तथा फिर सम्यक् स्निग्ध एवं स्विन्न हो जाने पर संशोधन करना चाहिये। इस लिये स्वेद सम्बन्धी वर्णन के बाद अब संशोधन का प्रकरण ही होना चाहिये। संशोधन से अभिप्राय वमन एवं विरेचन से है। यह अध्याय प्रारम्भ में खण्डित होने से इससे पूर्व का विषय उपलब्ध नहीं है। परन्तु प्रसङ्ग तथा अन्य ग्रन्थों के विषयों को देखते हुये कहा जा सकता है कि इस खण्डित भाग में वमन एवं विरेचन की विधि का ही सम्भवतः वर्णन किया गया होगा। पाठकों के ज्ञान के लिये हम संक्षेप से पहले वमन विधि का यहां वर्णन करेंगे। चरक सू० अ० १५ में कहा है—ततस्तं पुरुषं स्नेहस्वेदोपपन्नमनुपहतमनसमभिसमीक्ष्य सुखोषितं सुप्रजीर्णभक्तं शिरःस्नातमनुलिप्तगात्रं स्रग्विणमनुपहतवस्त्रसंवीतं देवताग्निद्विजगुरुवृद्धवैद्यानर्चितवन्तम्, इष्टे नक्षत्रतिथिकरणमुहूर्ते कारयित्वा ब्राह्मणान् स्वस्तिवाचनं प्रयुक्ताभिराशीभिरभिमन्त्रितां मधुमधुकसैन्धवफाणितोपहितां मदनफलकषायमात्रां पाययेत्। अर्थात् स्नेहन और स्वेदन कराने के बाद संशोध्य पुरुष को शुभ दिन एवं मुहूर्त में पूर्व रात्रि का भोजन पच

१. अतः परं ४० तमं पत्रं ताडपत्रपुस्तके त्रुटितम् ॥

जाने पर प्रातः काल मधु, मुलहठी तथा सैन्धव से युक्त मदन फल का कषाय पिलावे। इसमें मधु एवं सैन्धव कफ को पतला करने के लिये मिलाया जाता है। यदि पूर्व रात्रि का भोजन जीर्ण न हुआ हो तो उसे संशोधन न करावें क्योंकि उस अवस्था में संशोधन ओषधि पिलाने से विपरीत प्रभाव होगा। ओषधि पान के बाद थोड़ी देर तक प्रतीक्षा करें। यदि वमन न हो तो अप्रवृत्त दोषों को प्रवृत्त करने के लिये गले में अङ्गुली डालकर वमन कर दे। वमन का अतियोग, हीनयोग अथवा मिथ्यायोग नहीं होना चाहिये।

इसी प्रकार रोगी को यथाविधि विरेचन भी करवा देना चाहिये। संशोधन का विषय चरक सू० अ० १५ में विस्तार से दिया गया है। जिज्ञासु पाठकों को उसे वहीं पर देखना चाहिये।

इस खण्डित अध्याय का प्रारम्भ संशोधित रोगी के पथ्य से है अर्थात् संशोधन के बाद रोगी को क्या पथ्य (भोजन) देना चाहिये तथा किस क्रम से पथ्य की मात्रा धीरे २ बढ़ाकर साधारण भोजन दिया जाना चाहिये इत्यादि विषय का इस अध्याय में वर्णन किया गया है। इस अध्याय के प्रारम्भ में खण्डित अंश में सम्भवतः संशोधन का प्रकरण चल रहा होगा जैसा कि पहले भी कहा गया है। अन्त में वमन एवं विरेचन के अतियोग आदि से जो उपद्रव हो जाते हैं उनकी चिकित्सा का वर्णन किया गया है। वही भाव खण्डित अध्याय के प्रारम्भिक निम्न श्लोकांश से प्रकट होता है (इस प्रकार वमन एवं विरेचन से होने वाले उपद्रवों की) चिकित्सा का वर्णन किया गया है।

अतः पञ्चजनात् कञ्चित्सम्यक्शुद्धं प्रकाङ्क्षितम् ।
लघुं विशदसर्वाङ्गं प्रसन्नेन्द्रियमिच्छुकम् ॥
सुखाम्बुसिक्तसर्वाङ्गमनुलिप्तं विभूषितम् ।
कृतपूजानमस्कारं मनोज्ञासनवेश्मगम् ॥
पुराणरक्तशालीनां मण्डपूर्वां सुसाधिताम् ।
यवागूं त्रिःस्नुतामुष्णां दीपनीयोपसंस्कृताम् ॥
भोजयेद्युक्तलवणां रूक्षां युक्ताशितो भवेत् ।
भोजनेषु सुहृद्येषु सुधौतेष्वपराह्णिके ॥

अब अच्छी प्रकार शुद्ध होने के बाद, जिसे भोजन में रुचि हो, संशोधन से जिसका शरीर हलका हो गया हो तथा सम्पूर्ण अङ्ग निर्मल हो गये हों, जिसकी सम्पूर्ण इन्द्रियां प्रसन्न हों, सुखोष्ण जल से जिसने सर्वाङ्ग स्नान किया हो, शरीर पर चन्दन आदि का लेप करके जिसने अपने शरीर को आभूषण आदि से अलंकृत किया हुआ हो, देवता, ब्राह्मण तथा वृद्ध पुरुषों की जिसने पूजा तथा नमस्कार किया हो, जो सुन्दर आसन तथा घर में बैठा हुआ है—ऐसे पञ्चजन (मनुष्य) को पुराने लाल शालि चावलों द्वारा साधित (बनाई हुई), तीन वार स्नुत की हुई, दीपनीय द्रव्यों से संस्कृत, लवणयुक्त, रूक्ष एवं मण्डप्रधान (सिक्थकैः रहितो मण्डः) यवागू मन को अच्छे लगने वाले तथा अच्छी प्रकार धोये हुए पात्रों में अपराह्न काल में पिलावे।

शिरोललाटहृद्ग्रीवावृषणे साक्षशङ्खके ।
स्वेदश्चेत् पीतमण्डस्य सम्यक्शुद्धं तमादिशेत् ॥
उद्गारवातकर्मभ्यां विशुद्धाभ्यां दिने दिने ।
निरुपद्रवपुष्टिभ्यां सम्यक्शुद्धं विनिर्दिशेत् ॥

सम्यक् संशोधित पुरुष के लक्षण—मण्ड पीने के बाद जिस व्यक्ति को सिर, मस्तिष्क, हृदय, ग्रीवा, अण्डकोश, अक्ष एवं शङ्खप्रदेश (Temporal region) में पसीना आजाय तथा प्रतिदिन डकार एवं अन्य वातकर्मों से शुद्ध हो जाय (अर्थात् अपानवायु, मल आदि में वायु का अनुलोमन हो), कोई उपद्रव न हो तथा शरीर का पोषण ठीक प्रकार से हो—उस व्यक्ति का अच्छी प्रकार संशोधन हुआ समझना चाहिये।

सुखोषितं जीर्णभक्तं द्वितीयेऽहनि भोजयेत् ।
यवागूं तु तृतीयेऽह्नि दद्यादस्मै विलेपिकाम् ॥
दीपनोदकसंसिद्धां रूक्षामुष्णां ससैन्धवाम् ।
चतुर्थे मुद्गमण्डः स्यादोदनश्च सुसाधितः ॥
पुराणरक्तशालीनां भृष्टानां वा कृशात्मनः ।
निस्तुषाणां च मुद्गानां मण्डः स्याद्(द्यु)क्वेषणः(सनः)
ईषत्फलाम्लः कर्तव्यो मुद्गमण्डोऽह्नि पञ्चमे ।
ईषत्स्नेहः कृतः षष्ठे सप्तमे च विधीयते ॥
जाङ्गलानां रसं सिद्धं तनुकं मांसवर्जितम् ।
दिनेऽष्टमेऽथ नवमे दद्यात् स्नेहाल्पसंस्कृतम् ॥
दशमैकादशे चाह्नि लवणस्नेहसंस्कृतः ।
फलाम्लसिद्धो युक्तोष्णः शस्यते रसकौदनः ॥
उष्णोदकानुपानौ तु स्यातां वातकफात्मकौ ।
तत उत्तरकालं तु भोज्यसंसर्ग इष्यते ॥
एषां(ष) मण्डादिसंसर्गो सर्वव्याधिक्रियोपगः ।
एनं व्यभिचरन्मोहाद्रोगांल्लभते गदान् ॥

भोजन का संसर्जन क्रम—सुखपूर्वक जिसने रात्रि में शयन किया है तथा पहले दिन का जिसका भोजन जीर्ण हो चुका है उस व्यक्ति को दूसरे दिन केवल यवागू का भोजन करावे। तीसरे दिन इसे दीपनीय जलों से सिद्ध की हुई रूक्ष, उष्ण तथा सैन्धवयुक्त विलेपी (विलेपी विरलद्रवा) देनी चाहिये। चौथे दिन कृश शरीर वाले व्यक्ति को मूंग का मण्ड तथा अच्छी प्रकार सिद्ध किये हुए ओदन देवे। मण्ड पुराने लाल चावल तथा भुने हुए, एवं छिलके रहित मूंगों का बनाया जाता है जिसमें उचित मात्रा में बेसन आदि डाला हुआ हो। पांचवें दिन इसी मुद्गमण्ड में थोड़ा सा फलाम्ल डालकर खट्टा करके देना चाहिये। छठें तथा सातवें दिन उस मुद्गमण्ड में थोड़ा स्नेह डाल देना चाहिये। आठवें दिन जांगल पशुओं का मांस रहित केवल पतला रस (मांस रस) सिद्ध करके देना चाहिये। नौवें दिन उसमें थोड़ा सा स्नेह भी डाला जा सकता है। दसवें तथा ग्यारहवें दिन लवण तथा स्नेह (घृत) से संस्कृत तथा थोड़ी खटाई डालकर बनाया

हुआ थोड़ा २ उष्ण मांसरहित रस तथा ओदन देना चाहिये। वात तथा कफ रोग वालों को साथ में उष्णोदक अनुपान के रूप में देना चाहिये। इसके बाद सामान्य भोजन दिया जाना चाहिये। यह उपर्युक्त मण्ड आदि का क्रम सब व्याधियों में किया जाना चाहिये। जो इस मण्ड आदि के संसर्जन क्रम का भ्रम से उल्लंघन करता है उसको भयंकर रोग (उपद्रव) हो जाते हैं।

वक्तव्य—यवागू—**चावल, मूंग, तिल आदि के द्वारा बनाई हुई खिचड़ी को यवागू कहते हैं। कहा है—**यवागू षड्गुणे तोये सिद्धा स्यात् कृसरा घना। तण्डुलैर्मुद्गमाषैश्च तिलैर्वा साधिता हि सा॥ यवागूर्ग्राहिणी बल्या तर्पणी वातनाशिनी॥ **यवागू पुनः मण्ड, पेया एवं विलेपी भेद से तीन प्रकार की होती है। पके तण्डुल आदि के घन भाग में से ऊपर के केवल द्रव भाग को मण्ड कहते हैं। १४ गुने जल में चावल डालकर खूब पकालें। विना छाने भक्तावयव सहित उस द्रवभाग को पेया कहते हैं। तथा १४ गुने जल में चावलों को खूब पकाया जाय, जब उसमें द्रव कम होकर गाढ़ा हो जाय उस गाढ़े पदार्थ को विलेपी कहते हैं। कहा भी है—**सिक्थकैः रहितो मण्डः पेया सिक्थसमन्विता। विलेपी बहुसिक्था स्यात् यवागू विरलद्रवा॥ **बेसन—**दालयश्चणकानान्तु निष्तुषाः यन्त्रपेषिताः। तच्चूर्णं बेसनं प्रोक्तं .... ॥ **चरक सू० अ० १५में यह संसर्जन क्रम अत्यन्त विस्तार से दिया है—**अथैनं सायाह्ने परे वाऽह्नि सुखोदकपरिषिक्तं पुराणानां लोहितशालितण्डुलानां स्वक्लिन्नानां मण्डपूर्वां सुखोष्णां यवागूं पाययेदग्निबलमभिसमीक्ष्य च, एवं द्वितीये तृतीये चान्नकाले; चतुर्थे त्वन्नकाले तथाविधानामेव शालितण्डुलानामुत्स्विन्नां विलेपीमुष्णोदकद्वितीयामस्नेहलवणामल्पस्नेहलवणां वा भोजयेत्। एवं पञ्चमे षष्ठे चान्नकाले; सप्तमे त्वन्नकाले तथाविधानामेव शालीनां द्विप्रसृतं सुस्विन्नमोदनमुष्णोदकानुपानं तनुना तनुस्नेहलवणोपपन्नेन मुद्गयूषेण भोजयेत्; एवमष्टमे नवमे चान्नकाले; दशमे त्वन्नकाले लावकपिञ्जलादीनामन्यतमस्य मांसरसेनौदकलावणिकेनापि सारवता भोजयेदुष्णोदकानुपानम्; एवमेकादशे द्वादशे चान्नकाले; अत ऊर्ध्वमनुगुणान् क्रमेणोपभुञ्जानः सप्तरात्रेण प्रकृतिभोजनमागच्छेत्। **इस प्रकार १२ भोजनकाल का संसर्जन क्रम बताया है। जिसके बाद क्रमशः भोजन बढ़ाते हुए सात दिन के बाद स्वाभाविक भोजन पर आजावे।**

सुश्रुत चि० अ० ३९ में भी यह विषय निम्न प्रकार से दिया है—प्रस्थे परिस्रुते देया यवागू स्वल्पतण्डुला। द्वे चैवार्धाढके देये तिस्रश्चाप्याढके गते॥ विलेपीमुचितात्भक्ताच्चतुर्थांशकृतां ततः। दद्यादुक्तेन विधिना क्लिन्नसिक्थामपिच्छिलाम्॥ अस्निग्धलवणं स्वच्छमुद्गयूषयुतं ततः। अंशद्वयप्रमाणेन दद्यात् सुस्विन्नमोदनम्॥ ततस्तु कृतसंशेन हृद्येनेन्द्रियबोधिना। त्रींनंशान् वितरेद्भोक्तुमातुरायौदनं मृदुम्॥ ततो यथोचितं भक्तं भोक्तुमस्मै विचक्षणः। लावैणहरिणादीनां रसैर्दद्यात् सुसंस्कृतैः॥ संसर्गेण विवृद्धेऽग्नौ दोषकोपभयाद्व्रजेत्। प्राक् स्वादुतिक्तौ स्निग्धाम्ललवणान् कटुकं ततः॥ स्वाद्वम्ललवणान् भूयः स्वादुतिक्तावतः परम्॥ स्निग्धरूक्षान् रसांश्चैव व्यत्यासात् स्वस्थवत्ततः॥ **आगे सुश्रुत में कहा है कि जिस व्यक्ति को केवल स्नेहन अथवा वमन ही कराया गया है उसे ७ दिन में साधारण भोजन दिया जा सकता है परन्तु जिसका शिरावेधन अथवा अन्य विरेचन आदि शोधन किये गये हों उसे एक मास तक लघु भोजन आदि पर ही रहना चाहिये। कहा है—**केवलं स्नेहपीतो वा वान्तो यश्चापि केवलम्। स सप्तरात्रं मनुजो भुञ्जीत लघु भोजनम्॥ कृतः सिराव्यधो यस्य कृतं यस्य च शोधनम्। स ना परिहरेन्मासं यावद्वा बलवान् भवेत्॥

> ज्वरामकामलापाण्डुकर्णकुष्ठगलामयाः ।
> हिक्कातिसारश्वयथुकासाद्या व्यभिचारजाः ॥
> शूलातिसारौ शुद्धस्य शीतपानान्नसेवनात् ।
> शोथोदरज्वरा अम्लभृशस्नेहदिवाशयात् ॥

उपर्युक्त संसर्जनक्रम तथा उसके बाद पथ्य आहार विहार का सेवन न करने से क्या उपद्रव हो जाते हैं—

ज्वर, आमदोष, कामला, पाण्डु, कर्णरोग, कुष्ठ, गलरोग, हिक्का, अतिसार, शोथ तथा कास आदि रोग संसर्जन क्रम के उल्लंघन से हो जाते हैं। शुद्ध व्यक्ति के शीतल जल एवं अन्न के सेवन से शूल तथा अतिसार हो जाते हैं। खट्टे द्रव्य, अधिक स्नेह, तथा दिवाशयन (दिन में सोने) से शोथ, उदररोग तथा ज्वर हो जाते हैं। सुश्रुत चि० अ० ३९ में इन उपद्रवों का विस्तार से वर्णन किया गया है—क्रुध्यतः कुपितं पित्तं कुर्यात्तांस्तानुपद्रवान्। आयास्यतः शोचतो वा चित्तं विभ्रममृच्छति॥ मैथुनोपगमाद्घोरान् व्याधीनाप्नोति दुर्मतिः। आक्षेपकं पक्षवातमङ्गप्रग्रहमेव च॥ गुह्यप्रदेशे श्वयथुं कासश्वासौ च दारुणौ। रुधिरं शुक्रवच्चापि सरजस्कं प्रवर्तते॥ लभते च दिवास्वप्नात्तांस्तान् व्याधीन् कफात्मकान्। प्लीहोदरं प्रतिश्यायं पाण्डुतां श्वयथुं ज्वरम्॥ मोहं सदनमङ्गानामविपाकं तथाऽरुचिम्। तमसा चाभिभूतस्तु स्वप्नमेवाभिनन्दति॥ उच्चैः संभाषणाद्वायुः शिरस्यापादयेद्रुजम्। आन्ध्यं जाड्यमजिघ्रत्वं बाधिर्यं मूकता तथा॥ हनुमोक्षमधीमन्थमर्दितं च सुदारुणम्। नेत्रस्तम्भं निमेषं वा तृष्णां कासं प्रजागरम्॥ लभते दन्तचालं च तांस्तांश्चान्यानुपद्रवान्। यानयानेन लभते छर्दिमूर्च्छाभ्रमक्लमान्॥ तथैवाङ्गग्रहं घोरमिन्द्रियाणां च विभ्रमम्। चिरासनात्तथा स्थानाच्छ्रोण्यां भवति वेदना॥ अतिचङ्क्रमणाद्वायुर्जङ्घयोः कुरुते रुजः। सक्थिप्रशोषं शोफं वा पादहर्षमथापि वा॥ शीतसंभोगतोयानां सेवा मारुतवृद्धये। ततोऽङ्गमर्दविष्टम्भशूलाध्मानप्रवेपकाः॥ वातातपाभ्यां वैवर्ण्यं ज्वरं चापि समाप्नुयात्। विरुद्धाध्यशनान्मृत्युं व्याधिं वा घोरमृच्छति॥ असात्म्यभोजनं हन्याद्बलवर्णमसंशयम्। अनात्मवन्तः पशुवद्भुञ्जते येऽप्रमाणतः॥ रोगानीकस्य ते मूलमजीर्णं प्राप्नुवन्ति हि॥

> **काङ्क्षा बुभुक्षा वैशद्यं लघुता स्थिरता सुखम् ।**
> **स्वस्थवृत्तानुवृत्तिश्च सम्यग्जीर्णान्नलक्षणम् ॥**

अन्न के सम्यक् जीर्ण होने के लक्षण—भोजन की इच्छा होना, भूख लगना, शरीर का विशद (प्रसन्न), हलका, स्थिर तथा स्वस्थ होना और स्वस्थ व्यक्ति के समान शरीर की क्रियाओं का होना—ये खाये हुए अन्न के सम्यक् जीर्ण होने के लक्षण हैं।

विषादो गौरवं तन्द्री श्लेष्मसेकारतिभ्रमाः ।
स्वस्थवृत्तोपरोधश्च तदजीर्णस्य लक्षणम् ॥

अन्न के जीर्ण न होने के लक्षण—विषाद, भारीपन, तन्द्रा, कफ की वृद्धि, अरति (ग्लानि), भ्रम, तथा स्वस्थवृत्त का पालन न कर सकना-ये खाये हुए अन्न के अजीर्ण के लक्षण हैं।

आमं विदग्धं सश्लेष्म रसशेषं तथैव च ।
चतुर्विधमजीर्णं तु तस्य वक्ष्यामि लक्षणम् ॥

उपर्युक्त अजीर्ण के ४ भेद—१. आमाजीर्ण २ विदग्धाजीर्ण ३ श्लेष्माजीर्ण तथा ४. रसशेषाजीर्ण। यह चार प्रकार का अजीर्ण होता है। उनके लक्षण मैं कहूंगा। सुश्रुत सू० अ० ४६ में भी अजीर्ण के इन्हीं भेदों का उल्लेख किया है—आमं विदग्धं विष्टब्धं कफपित्तानिलैस्त्रिभिः। अजीर्णं केचिदिच्छन्ति चतुर्थं रसशेषतः॥ **श्लेष्माजीर्ण को ही यहां विष्टब्धाजीर्ण कहा गया है।**

यथाभुक्तं भवेदामे, धूमोद्गारौ विदाहिनि ।
सश्लेष्मणि गुरुत्वं तु, रसशेषे तु हृद्द्रवः ॥

इनके सामान्य लक्षण—आमाजीर्ण में रोगी को ऐसा प्रतीत होता है मानों अभी २ भोजन किया गया है। विदग्धाजीर्ण में मुंह से धुंआं निकलता है तथा डकार आती है। **श्लेष्माजीर्ण में शरीर में भारीपन होता है तथा रसशेषाजीर्ण में हृदय में भारीपन (Palpitation of Heart) प्रतीत होता है, सुश्रुत सू० अ० ४६ में इनके निम्न लक्षण दिये हैं**—माधुर्यमन्नं गतमामसंज्ञं विदग्धसंज्ञं गतमम्लभावम्। किंचिद्विपक्वं भृशतोदशूलं विष्टब्धमाव(न)द्धविरुद्धवातम्॥ उद्गारशुद्धावपि भक्तकांक्षा न जायते हृद्गुरुता च यस्य। रसावशेषेण तु सप्रसेकं चतुर्थमेतत् प्रवदन्त्यजीर्णम्॥ **अर्थात् आमाजीर्ण में सेवन किया हुआ भोजन (आम रस के कारण) मधुरता को प्राप्त होता है। विदग्धाजीर्ण में अम्लता को प्राप्त होता है। विष्टब्धाजीर्ण में भोजन का आधा परिपाक होकर पेट में पीडा तथा शूल होती है तथा नीचे का मार्ग बन्द हो जाने से वायु ऊपर की ओर चढ़ती है। तथा रसशेषाजीर्णमें शुद्ध डकार आने पर भी भोजन की इच्छा नहीं होती, हृदय प्रदेश पर भारीपन रहता है तथा मुंह से लालास्राव होता रहता है। इसी प्रकार अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० ११ में भी कहा है**—तत्रामे गुरुतोत्क्लेदः शोथो गण्डाक्षिकूटयोः। उद्गारश्च यथाभुक्तमविदग्धः प्रवर्तते॥ विष्टब्धे शूलमाध्मानं विविधा वातवेदनाः। मलवाताप्रवृत्तिश्च स्तम्भो मोहोऽङ्गपीडनम्॥ विदग्धे भ्रमतृण्मूर्छाः पित्ताच्च विविधाः रुजाः। उद्गारश्च सधूमाम्लःस्वेदो दाहश्च जायते॥ रसशेषेऽन्नविद्वेषो हृदयाशुद्धिगौरवे॥

तन्द्रीशूलारतिग्लानितृड्विदाहारुचिभ्रमाः ।
अङ्गमर्दज्वरानाहाः सर्वेष्वप्यल्पशो गदाः ॥
सर्वैरसाध्यतोत्कृष्टैः क्रमशो याप्यसाध्यते ।
साध्यानां साधनं यत्तु तन्मे प्रवदतः शृणु ॥
आमस्योद्धरणं पथ्यं, विदग्धे प्रावृतः स्वपेत् ।
सश्लेष्मणि भवेत् स्वेदः, परिशोष्यो रसाधिके ॥

सब अजीर्णों के सामान्य लक्षण—सब प्रकार के अजीर्णों में थोड़ी मात्रा में तन्द्रा, शूल, अरति, ग्लानि, प्यास, विदाह, अरुचि, भ्रम, अङ्गमर्द, ज्वर तथा आनाह आदि लक्षण होते हैं। जब ये सब उपर्युक्त लक्षण प्रबल रूप में उपस्थित हों तो रोग असाध्य हो जाता है। इसके विपरीत अल्प लक्षण होने पर रोग क्रमशः याप्य अथवा साध्य होते हैं। इनमें से जो साध्य रोग हैं उनकी तूं मेरे से चिकित्सा सुन।

यदुक्तं पथ्यमशनं तदेवैतेषु शस्यते ।
दीर्घकालौषधानां तु मुद्गमण्डः सदाडिमः ॥

इनकी सामान्य चिकित्सा—आमाजीर्ण में आम का उद्धरण करना चाहिये अर्थात् लङ्घन के द्वारा आम का पाचन कर देना चाहिये। विदग्धाजीर्ण में कपड़ा ओढ़कर सोजाये (अष्टाङ्गसंग्रह में कहा है—तत्राभुक्त्वा दिवा स्वप्यात्-अर्थात् बिना कुछ खाये दिन में सोजाये)। श्लेष्माजीर्ण में स्वेदन देना चाहिये (कफ के विलय के लिये) तथा रस की अधिकता (अर्थात् रसशेषाजीर्ण) में शोषण करना चाहिये (लङ्घन इत्यादि के द्वारा)। सुश्रुत सू० अ० ४६ में इनका निम्न चिकित्सा सूत्र दिया है—तत्रामे लंघनं कार्यं विदग्धे वमनं हितम्। विष्टब्धे स्वेदनं पथ्यं रसशेषे शयीत च॥ **यहां चिकित्सा में थोड़ा अन्तर है। सुश्रुत में विदग्धाजीर्ण में वमन तथा रसशेषाजीर्ण में सोने का विधान है जब कि यहां पर विदग्धाजीर्ण में सोने तथा रसशेषाजीर्ण में परिशोषण का उल्लेख है। इसका अभिप्राय यह है कि इनमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन भी किये जा सकते हैं। इसीलिये अष्टाङ्गहृदय में कहा है—** "*यथावस्थं हितं भवेत्*"।

सस्नेहलवणव्योषः पेयो मांसरसोऽपि वा ।
बालमूलकयूषो वा हितः शाल्योदनस्तथा ॥
चिकित्सितं पञ्चजनान् (द्) राज्ञो राजोपमस्य वा।
धनिनां निर्धनानां वा यथार्थमुपकल्पयेत् ॥

इन अजीर्णों में पहले जिस पथ्य भोजन का निर्देश किया है वही इनमें देना चाहिये। दीर्घकाल (अर्थात् उचित समय पर स्वयं भी अन्न जीर्ण हो जाता है), औषध, दाडिम सहित मूंगों का मण्ड, स्नेह (अल्प घृत) लवण तथा त्रिकटु युक्त मांसरस, कच्ची मूल का यूष तथा शालिचावलों का भात—हितकर है।

बलघ्नं दोषशमनं बलवर्णसुखावहम् ।
सम्यक् संशोधनं कृत्वा दीर्घमायुरवाप्नुते ॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥

इत्युपकल्पनीयोऽध्यायश्चतुर्विंशतितमः॥ २४ ॥

इस प्रकार राजा, राजासदृश (रईस आदि), धनी तथा निर्धनों का ठीक २ संशोधन करे। अर्थात् धनी एवं निर्धन व्यक्तियों का परिस्थिति के अनुसार संशोधन करना चाहिये। चरक सू० अ० १५ में कहा है—अनेन विधिना राजा राजमात्रोऽथवा

पुनः। यस्य वा विपुलं द्रव्यं स संशोधनमर्हति ॥ दरिद्रस्त्वापदं प्राप्य प्राप्तकालं विरेचनम्। पिबेत्काममसंभृत्य संभारानपि दुर्लभान् ॥ न हि सर्वमनुष्याणां सन्ति सर्वपरिच्छदाः। न च रोगा न बाधन्ते दरिद्रानपि दारुणाः ॥ यच्चच्छक्यं मनुष्येण कर्तुमौषधमापदि। तत्तत्सेव्यं यथाशक्ति वसनान्यशनानि च ॥

बल को नष्ट करने वाले (संशोधन में प्रारंभ में रोगी का बल कुछ कम हो जाता है), दोषों का शमन करने वाले, बलवर्ण तथा सुख को देने वाले संशोधन को सम्यक् प्रकार से यथाविधि करके मनुष्य दीर्घ आयु को प्राप्त करता है अर्थात् चिरायु होता है। चरक में कहा है—मलापहं रोगहरं बलवर्णप्रसादनम्। पीत्वा संशोधनं सम्यगायुषा युज्यते चिरम् ॥

अष्टाङ्गसंग्रह में भी कहा है—बुद्धिप्रसादं बलमिन्द्रियाणां धातुस्थिरत्वं ज्वलनस्य दीप्तिम्। चिराच्च पाकं वयसः करोति संशोधनं सम्यगुपास्यमानम् ॥

संशोधन के द्वारा शमन किये हुए दोष फिर प्रादुर्भूत नहीं होते। चरक सू० अ० १६ में कहा है—दोषाः कदाचित्कुप्यन्ति जिताः लङ्घनपाचनैः। जिताः संशोधनैर्ये तु न तेषां पुनरुद्भवः ॥

ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था।

इत्युपकल्पनीयोऽध्यायश्चतुर्विंशतितमः ॥ २४ ॥

पञ्चविंशतितमोऽध्यायः।

अथातो वेदनाध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ २ ॥

अब हम वेदनाध्याय का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् **कश्यप ने कहा था।**

उपास्यमानमृषिभिः कश्यपं वृद्धजीवकः।
चोदितो दारुवाहेन वेदनार्थेऽभ्यचोदयत् ॥ ३ ॥
बालकानामवचसां विविधा देहवेदनाः।
प्रादुर्भूताः कथं वैद्यो जानीयाल्लक्षणार्थतः ॥ ४ ॥

ऋषियों द्वारा उपासना किये जाते हुए कश्यप को दारुवाह द्वारा प्रेरित वृद्धजीवक ने वेदना संबन्धी उपदेश देने के लिये प्रेरित किया (प्रार्थना की)। भगवन्! मुख से न बोल सकने वाले बालकों की उत्पन्न हुई विविध प्रकार की वेदनाओं को वैद्य लक्षणों से किस प्रकार जाने (पहचाने) अर्थात् वे कौनसे लक्षण हैं जिनसे वैद्य बालकों के भिन्न २ रोगों तथा वेदनाओं को पहचान सकता है क्योंकि इस अवस्था में बालक स्वयं अपने मुंह से किसी भी अपने कष्ट को बतलाने में असमर्थ होता है।

इति पृष्टो महाभागः कश्यपो लोकवृद्धपः।
प्रोवाच वेदनास्तस्मै कारणैर्बालदेहजाः ॥ ५ ॥

इस प्रकार प्रश्न किये जाने पर महान् ऐश्वर्यशाली तथा आयु की दृष्टि से वृद्ध कश्यप ने भिन्न २ कारणों से उत्पन्न होने वाली बालकों की शारीरिक वेदनाओं का उसे उपदेश किया।

भृशं शिरः स्पन्दयति निमीलयति चक्षुषी।
अवकूजत्यरतिमानस्वप्नश्च शिरोरुजि ॥ ६ ॥

शिरःशूल—शिरःशूल में बालक सिर को बहुत अधिक हिलाता है, आंखें बन्द कर लेता है, रात्रि को सोते २ चिल्लाता है (Night terrors), उसे आहार में ग्लानि हो जाती है तथा उसे नींद नहीं आती है।

कर्णौ स्पृशति हस्ताभ्यां शिरो भ्रमयते भृशम्।
अरत्यरोचकास्वप्नैर्जानीयात् कर्णवेदनाम् ॥ ७ ॥

कर्णवेदना—कानों की वेदना में बालक हाथों से दोनों कानों का स्पर्श करता है, सिर को बहुत हिलाता है, ग्लानि तथा अरुचि हो जाती है। और उसे नींद नहीं आती है।

लालास्रवणमत्यर्थं स्तनद्वेषारतिव्यथाः।
पीतमुद्गिरति क्षीरं नासाश्वासी मुखामये ॥ ८ ॥

मुखरोग—मुखरोग में बालक के मुख से अत्यन्त लालास्राव होता है, दूध से द्वेष (अरुचि) हो जाती है, उसे ग्लानि एवं व्यथा (पीडा) होती है, पीये हुए दूध को उगल देता है तथा नासिका से श्वास लेता है।

पीतमुद्गिरति स्तन्यं विष्टम्भिश्लेष्मसेवनम्।
ईषज्ज्वरोऽरुचिर्ग्लानिः कण्ठवेदनयाऽर्दिते ॥ ९ ॥

(इति ताडपत्रपुस्तके ४१ तमं पत्रम्)

कण्ठवेदना—गले की वेदना में बालक पीये हुए दूध को उगल देता है, श्लेष्मवर्धक पदार्थों के सेवन से उसे विष्टम्भ हो जाता है, हलका ज्वर, अरुचि तथा ग्लानि होजाती है।

लालास्रावोऽरुचिर्ग्लानिः कपोले श्वयथुर्व्यथा।
मुखस्य विवृतत्वं च जानीयादधिजिह्विकाम् ॥ १० ॥

अधिजिह्विकारोग—इसमें लालास्राव, अरुचि, ग्लानि, कपोल पर शोथ तथा पीडा होती है और मुख खुला रहता है।

वक्तव्य—अधिजिह्विका के लक्षण सुश्रुत नि० अ० १६ में निम्न दिये हैं—जिह्वाग्ररूपः श्वयथुः कफात्तु जिह्वाप्रबन्धोपरि रक्तमिश्रात्। ज्ञेयोऽधिजिह्वः खलु रोग एषः.......................॥

ज्वरारुचिमुखस्रावा निष्टनेच्च गलग्रहे।
कण्डू(ण्ठ)के श्वयथुः कण्ठे ज्वरारुचिशिरोरुजः ॥ ११ ॥

ग्रहरोग—इसमें बालक को ज्वर, अरुचि, मुख से लालास्राव तथा श्वास लेने में कष्ट होता है।

कण्ठशोथ—कण्ठ (गले) में शोथ, ज्वर, अरुचि, तथा शिरःशूल होता है।

मुहुर्नमयतेऽङ्गानि जृम्भते कासते मुहुः।
धात्रीमालीयतेऽकस्मात् स्तनं(न्यं) नात्यभिनन्दति
प्रस्रावोष्णत्ववैवर्ण्ये ललाटस्यातितप्तता।
अरुचिः पादयोः शैत्यं ज्वरे स्युः पूर्ववेदनाः ॥ १२ ॥

ज्वर (Fever)—इसमें बालक बार २ अङ्गों को सुकोड़ता है, जंभाई लेता है, बार २ खांसता है, सहसा धात्री से चिपक जाता है, स्तन या दूध की विशेष इच्छा नहीं करता, मुख से लालास्राव होता है, उसका शरीर उष्ण तथा विवर्ण (सफेद या पीला) रहता है, ललाट (माथा) गरम रहता है, अरुचि होती है तथा उसके पैर ठण्डे हो जाते हैं—ये सब लक्षण बालक को ज्वर होने से पूर्व होते हैं।

देहवैवर्ण्यमरतिर्मुखग्लानिरनिद्रता ।
वातकर्मनिवृत्तिश्चेत्यतीसाराग्रवेदनाः ॥ १४ ॥

अतिसार (Diarrhoea)—शरीर विवर्ण (पीला या सफेद) हो जाता है, अरति तथा मुखग्लानि हो जाती है, निद्रा नहीं आती, तथा वायु के कर्मों की निवृत्ति हो जाती है अर्थात् वायु अपना अनुलोमन का कार्य नहीं करती है—ये सब अतिसार के पूर्व लक्षण हैं।

स्तनं व्युदस्यते रौति चोत्तानश्चावभज्यते ।
उदरस्तब्धता शैत्यं मुखस्वेदश्च शूलिनः ॥ १५ ॥

उदरशूल (Intestinal colic)—बालक स्तन पान करना छोड़ देता है, वह रोता है, उत्तान (सीधा-ऊपर को मुख कर के) लेटता है तथा उदर में स्तब्धता होती है, उसे सर्दी लगती है तथा मुख पर पसीना आजाता है।

अनिमित्तमभीक्ष्णं च यस्योद्गारः प्रवर्तते ।
निद्राजृम्भापरीतस्य छर्दिस्तस्योपजायते ॥ १६ ॥

छर्दिरोग (वमन-Vomiting)—बालक को बिना किसी कारण के बार २ डकार आते हों, तथा निद्रा और जंभाई आरही हो तो ऐसा जानना चाहिये कि बालक को वमन होगा।

निष्टनत्युरसाऽत्युष्णं श्वासस्तस्योपजायते ।
अकस्मान्मारुतोद्गारः कृशे हिक्का प्रवर्तते ॥ १७ ॥

श्वासरोग—श्वासरोग में बालक के छाती से अत्यन्त गरम सांस निकलते हैं। हिक्का—कृश व्यक्ति में एक दम वायु की डकार आवे तो हिक्का होने की संभावना होती है।

स्तनं पिबति चात्यर्थं न च तृषि-(प्य) ति रोदिति ।
शुष्कौष्ठतालुस्तोयेप्सुर्दुर्बलस्तृष्णयाऽर्दितः ॥ १८ ॥

तृष्णा—अत्यधिक स्तनपान करने पर भी यदि तृप्त नहीं होता तथा रोता रहता हो, और ओष्ठ तथा तालु सूख गये हों, यदि जल का इच्छुक हो अर्थात् जल चाहता हो तो जानना चाहिये कि बालक को प्यास लगी है।

विशालस्तब्धनयनः पर्वभेदारतिक्लमी ।
संरुद्धमूत्रानिलविट् शिशुरानाहवेदनी ॥ १९ ॥

आनाह—जिसकी आंखें फैली हुई हों तथा स्तब्ध हों, जिसके जोड़ों में दर्द हो, जिसे अरति तथा क्लम (थकावट) हो, जिसके मूत्र, वायु तथा मल सभी रुक गये हों, उस बालक को आनाह (अफारा) समझना चाहिये।

अकस्मादट्टहसनमपस्माराय कल्पते ।
प्रलापारतिवैचित्त्यैरुन्मादं चोपलक्षयेत् ॥ २० ॥

अपस्मार—इसमें बालक सहसा जोर से अट्टहास करने लगता है। उन्माद—इसमें प्रलाप (Delirium), अरति तथा वैचित्त्य (चित्तभ्रम—Upset mind) हो जाता है।

रोमहर्षोऽङ्गहर्षश्च मूत्रकाले च वेदना ।
मूत्रकृच्छ्रे दशत्योष्ठौ बस्तिं स्पृशति पाणिना ॥ २१ ॥

मूत्रकृच्छ्र (Disurea)—इसमें बालक को रोमहर्ष (बालों का खड़ा होना), अङ्गहर्ष (अङ्गों में कंपकंपी होना) तथा मूत्रत्याग के समय वेदना होती है (Pain during micturation) वह ओष्ठदंशन (ओष्ठ को दांतों के नीचे दबाना) करता है तथा हाथ से बस्तिप्रदेश का स्पर्श करता है।

गौरवं बद्धता जाड्यमकस्मान्मूत्रनिर्गमः ।
प्रमेहे मक्षिकाका (क्रा) न्तं मूत्रं श्वेतं घनं तथा ॥२२॥

प्रमेह—इसमें बालक का शरीर भारी होता है तथा बंधा हुआ सा और जड़ होता है। तथा अकस्मात् उसका मूत्र निकल जाता है, जिसपर मक्खियां बहुत बैठती हैं तथा मूत्र का रंग श्वेत एवं घन होता है अर्थात् उसका आपेक्षिक गुरुत्व अधिक होता है। साधारण मूत्र का आपेक्षिक गुरुत्व (Specific gravity) १०१० से १०२० तक होता है। किन्तु प्रमेह में इसका गुरुत्व अधिक अर्थात् लगभग १०४०-१०५० तक हो जाता है।

बद्धपक्वपुरीषत्वं सरक्तं वा कृशात्मनः ।
गुदनिष्पीडनं कण्डूं तोदं चार्शांसि लक्षयेत् ॥ २३ ॥

अर्शरोग (बवासीर-Piles)—इसमें मल बंधा हुआ तथा पक्व होगा, साथ में रक्त भी होगा तथा बालक कमजोर होगा। उसकी गुदा में वेदना, कण्डू तथा तोद होगा।

सशर्करातिमूत्रत्वं मूत्रकाले च वेदना ।
प्रततं रोदिति क्षामस्तं ब्रूयादश्मरीगदम् ॥ २४ ॥

अश्मरी (Stone in Bladder)—यदि मूत्र शर्करा (Sand) से युक्त हो तथा मात्रा में अधिक होता हो, मूत्रत्याग के समय वेदना होती हो, बालक बहुत अधिक और लगातार रोता हो तथा बहुत दुर्बल हो तो अश्मरी (पथरी) रोग समझना चाहिये।

रक्तमण्डलकोत्पत्तिस्तृष्णा दाहो ज्वरोऽरतिः ।
स्वादुशीतोपशायित्वं विसर्पस्याग्रवेदनाः ॥ २५ ॥

विसर्परोग (Erysipelus)—इस रोग में बालक के शरीर पर रक्तमण्डल (लाल २ चकत्ते-Rashes) बन जाते हैं। उसे तृष्णा, दाह, ज्वर, अरति, होती है तथा उसे मधुर एवं शीत द्रव्यों के सेवन की इच्छा होती है।

दह्यन्तेऽङ्गानि सूच्यन्ते भज्यन्ते निष्टनत्यपि ।

विसूचिकायां बालानां हृदि शूलं च वर्धते ॥ २६ ॥

विसूचिका—बालक के अङ्गों में दाह होता है, सूची भेद सदृश पीडा होती है, उसे सांस लेने में कष्ट होता है तथा हृदय में शूल होता है—ये बालकों में विसूचिका के लक्षण होते हैं।

शिरो न धारयति यो भिद्यते जृम्भते मुहुः।
स्तनं पिबति नात्यर्थं ग्रथितं छर्दयत्यपि ॥ २७ ॥
विषादाध्मानारुचिभिर्विद्यादलसकं शिशोः।
विसूचिकालसकयोर्दुर्ज्ञाने लक्षणौषधे ॥ २८ ॥

अलसक—बालक थोड़ी देर भी सिर को ठीक तरह से धारण नहीं कर सकता है, उसके शरीर का भेदन होता है, वह बार २ जंभाई लेता है, अधिक स्तनपान नहीं करता है, ग्रथित (गांठों से युक्त) वमन कर देता है, तथा विषाद, आध्मान और अरुचि होती है—इन लक्षणों से बालक को अलसक रोग जानें। विसूचिका तथा अलसक रोग के लक्षण एवं औषधि के भेद का ज्ञान कठिनता से होता है। अर्थात् इन दोनों में भेद करना कठिन होता है। विसूचिका तथा अलसक दोनों आमदोष हैं। इन दोनों के भेद के लिये चरक वि० अ० २ में कहा है—तत्र विसूचिकामूर्ध्वं चाधश्च प्रवृत्ता-मामदोषां यथोक्तरूपां विद्यात्। अर्थात् विसूचिका में आमदोष ऊपर और नीचे दोनों मार्गों से प्रवृत्त होते रहते हैं तथा इसमें तीनों दोषों का प्रकोप होता है। अष्टाङ्गसंग्रह में कहा है—विविधैर्वेदनोद्भेदैर्वाय्वादिभृशकोपतः। सूचीभिरिव गात्राणि विध्यतीति विसूचिका ॥ इसी प्रकार सुश्रुत में कहा है—सूचीभिरिव गात्राणि तुदन् सन्तिष्ठतेऽनिलः। यस्याजीर्णेन सा वैद्यैर्विसूचीति निगद्यते ॥ अर्थात् इसमें वायु के प्रकोप से शरीर में विविध प्रकार की सुई चुभने के समान वेदनाएं होती हैं। अलसक के विषय में कहा है—दुर्बलस्याल्पाग्नेर्बहुश्लेष्मणो वातमूत्रपुरीषवेगविधारिणः स्थिरगुरुबहुरूक्षशीतशुष्कान्नसेविनस्त-दन्नपानमनिलप्रपीडितं श्लेष्मणा च विबद्धमार्गमतिमात्रप्रलीनमल-सत्वान्न बहिर्मुखी भवति, ततश्छर्द्यतिसारवर्ज्यान्यामप्रदोषलिङ्गानि यथोक्तान्यभिदर्शयत्यतिमात्राणि; अतिमात्रप्रदुष्टाश्च दोषाः प्रदुष्टाम-बद्धमार्गास्तिर्यग्गच्छन्तः कदाचित्केवलमेवास्य शरीरं दण्डवत्स्तम्भ-यन्ति, ततस्तमलसकमसाध्यं ब्रुवते। अर्थात् इसमें कफ द्वारा मार्गों के बन्द होने से सेवन किया हुआ अन्न पान अन्दर ही रुककर आलसी होने के कारण बाहर नहीं निकलता तथा इसमें वमन तथा अतिसार को छोड़कर आमदोष के सब लक्षण उपस्थित हो जाते हैं।

अन्यत्र भी कहा है—प्रयातिनोर्ध्वं नाधस्तात्राहारोऽपि विपच्यते। आमाशयेऽलसीभूतस्तेन सोऽलसकः स्मृतः ॥ यही इन दोनों में अन्तर है।

दृष्टिव्याकुलता तोदशोथशूलाश्ररक्तताः।
सुप्तस्य चोपलिप्यन्ते चक्षुषी चक्षुरामये ॥ २९ ॥

चक्षुरोग—इसमें दृष्टि की व्याकुलता, चक्षुओं में तोद, शोथ, शूल, अश्रुओं का अधिक आना (Lacrimation) और लालिमा (Congestion) होती है। सोने पर दोनों आंखें (पलक-Eye lashes) परस्पर (Discharge के कारण) चिपक जाती हैं।

घर्षत्यङ्गानि शयने रोदितीच्छति मर्दनम्।
शुष्ककण्ड्वऽदितं विद्यात्ततश्चार्द्रा प्रवर्तते ॥ ३० ॥
सुखायते मृद्यमानं मृद्यमानं च शूयते।
शूनं स्रवति सस्योढा(?)मार्द्रायां शूलदाहवत् ॥ ३१ ॥

शुष्ककण्डू (Pruritis)—इस रोग में बालक रात्रि को सोते समय अङ्गों का घर्षण करता है (रगड़ता है), वह रोता है तथा शरीर का मर्दन करना चाहता है। आर्द्रकण्डू—शुष्क के बाद आर्द्रकण्डू प्रारंभ होती है। इसमें रोगी रगड़ने पर सुख (आनन्द) का अनुभव करता है। रगड़ने पर वह बढ़ जाती है तथा बढ़ने के बाद उसमें से स्राव (Discharge) आने लगता है। इस प्रकार बढ़ी हुई इस आर्द्रकण्डू में शूल एवं दाह होती है।

स्तैमित्यमरुचिर्निद्रा गात्रपाण्डुकताऽरतिः।
रमणाशनशय्यादीन् धात्रीं च द्वेष्टि नित्यशः ॥ ३२ ॥
अस्नातः स्नातरूपश्च स्नातश्चास्नातदर्शनः।
आमस्यैतानि रूपाणि विद्याद्वैद्यो भविष्यतः ॥ ३३ ॥

आमदोष—इस रोग में स्तिमितता (शरीर का चिपचिपापन), अरुचि, निद्रा, शरीर का पाण्डु (Anaemic) होना और अरति होती है तथा बालक को खेल, भोजन तथा निद्रा तथा धात्री से भी निरन्तर द्वेष (अरुचि या घृणा) हो जाती है। यदि उसने स्नान नहीं किया हुआ है तो स्नान किये हुए के समान प्रतीत होता है। और यदि स्नान किया हुआ है तो स्नान न किये हुए के समान प्रतीत होता है। यदि ये लक्षण हों तो उन्हें देखकर वैद्य कह सकता है कि इस बालक को आमदोष होने वाला है।

नाभ्यां समन्ततः शोथः श्वेताक्षिनखवक्त्रता।
पाण्डुरोगेऽग्निसादश्च श्वयथुश्चाक्षिकूटयोः ॥ ३४ ॥
पीतचक्षुर्नखमुखविण्मूत्रः कामलार्दितः।
उभयत्र निरुत्साहो नष्टाग्निरुधिरस्पृहः ॥ ३५ ॥

पाण्डुरोग (Anaemia)—इसमें नाभि के चारों ओर शोथ होता है। आंखें, नाखून तथा मुंह सफेद हो जाता है। उसे अग्निमांद्य हो जाता है तथा उसकी आंखों के चारों ओर शोथ हो जाता है। कामला (Jaundice) रोग—इसमें आंखें, नाखून, मुख, मल तथा मूत्र पीले हो जाते हैं (Bile pigments के कारण)। पाण्डु एवं कामला इन दोनों रोगों में मनुष्य उत्साह शून्य होता है, उसकी जठराग्नि नष्ट हो जाती है तथा रुधिर के प्रति उसकी स्पृहा (आकांक्षा अथवा आवश्यकता) होती है।

मूर्च्छाप्रजागरच्छर्दिधात्रीद्वेषारतिभ्रमैः।

वित्रासोद्वेगतृष्णाभिर्विद्याद्बाले मदात्ययम् ॥ ३६ ॥

मदात्यय—मूर्छा, जागरण (अनिद्रा Insomnia) वमन, धात्री से द्वेष (अनिच्छा-अरुचि), अरति, भ्रम, वित्रास (डर), उद्वेग (वेगों की प्रबलता) तथा तृष्णा-इन लक्षणों से बालक में मदात्ययरोग का ज्ञान होता है।

मुहुर्मुखेनोच्छ्वसिति पीत्वा पीत्वा स्तनं तु यः ।
स्रवतो नासिके चास्य ललाटं चाभितप्यते ॥ ३७ ॥
स्रोतांस्यभीक्ष्णं स्पृशति पीनसे क्षौति कासते ।
उरोघाते तथैव स्यान्निष्टनत्युरसाऽधिकम् ॥ ३८ ॥

पीनसरोग (प्रतिश्याय)—जो बालक स्तनपान करता हुआ बार-बार मुख से श्वास लेता है, जिसकी नासिका से स्राव होता रहता है, ललाट तप्त (गरम) रहता है, स्रोतों का बार २ स्पर्श करता है, छींकता है तथा खांसता रहता है—उसे पीनसरोग से आक्रान्त जानना चाहिये। उरोघात—इसमें पूर्वोक्त लक्षणों के साथ २ बालक छाती से बड़े गरम २ सांस निकालता रहता है।

स्वस्थवृत्तपरो बालो न शेते तु यदा निशि ।
रक्तबिन्दुचिताङ्गश्च विद्यात्तं जन्तुकादितम् ॥ ३९ ॥

जन्तुदंश (Insect Bite)—स्वस्थ (नीरोग) बालक यदि रात्रि में न सोये तथा उसके किसी अंग पर लाल २ बिन्दु दिखाई दें तो यह समझना चाहिये कि उसे किसी जन्तु ने काटा है।

वक्तव्य—बालकों के रोगों तथा वेदनाओं के ज्ञान के लिये सुश्रुत शा० अ० १० में भी कुछ लक्षण संक्षेप से दिये गये हैं—अङ्गप्रत्यङ्गदेशे तु रुजा यत्रास्य जायते। मुहुर्मुहुः स्पृशति तं स्पृश्यमाने च रोदिति॥ निमीलिताक्षो मूर्धस्थे शिरोरोगे न धारयेत्। बस्तिस्थे मूत्रसङ्गार्तो रुजा तृष्यति मूर्च्छति॥ विण्मूत्रसङ्गवैवर्ण्यच्छर्द्याध्मानान्त्रकूजनैः। कोष्ठे दोषान् विजानीयात् सर्वत्रस्थांश्च रोदनैः॥

यदा तु ललिता धात्री सुखिनी सर्वभोगिनी ।
पश्यत्यभीक्ष्णं दुःस्वप्नं स्वयं क्षीरं प्रवर्तते ॥ ४० ॥
बालो वि(ऽप)स्मरते चास्याः सहसाऽङ्कात् पतत्यपि ।
असज्जनेन संसर्गं याति संभोजनं तथा ॥ ४१ ॥
मृतापत्यावकीर्णाभिः परवृद्ध्यसहिष्णुभिः ।
अमङ्गलानि घोराणि पश्यत्याचरतेऽपि च ॥ ४२ ॥
सेवते विपरीतानि मृत्युं चोदयते शिशोः ।
सुप्ते शिशौ निलीयन्ते पक्षिणो दारुणोदयाः ॥ ४३ ॥
विडालो लङ्घयत्येनं परधूमं च जिघ्रति ।
परावतारणबलिं प्रेक्षते लङ्घयत्यपि ॥ ४४ ॥
दुर्गन्धदेहवक्त्रत्वं नासिकाग्रे मलोद्भवः ।
अहृद्यरक्तमाल्यानां मातापुत्रनिषेवणम् ॥ ४५ ॥
भस्माङ्गारतुषादीनामधिरोहणसेवनम् ।
रोदित्यकस्मात्त्रसति छायाशीलविपर्ययः ॥ ४६ ॥
अल्पाशितोऽतिविण्मूत्रस्त्वविण्मूत्रो विपर्यये ।
भविष्यतां निमित्तानि ग्रहाणां वेदनाश्च ताः ॥ ४७ ॥
न यः शिरो धारयति क्षिपन्त्यङ्गानि दुर्बलः ।
श्वासाध्मानपरीताभ्यामन्तवच्चोपलक्ष्यते ॥ ४८ ॥

(इति ताडपत्रपुस्तके ४२ तमं पत्रम् ।)

विनोद्यमानो बहुधा विनोदं नाभिनन्दति ।
तृट्प्रमीलकनिद्रार्तः कूजत्यपि कपोतवत् ॥ ४९ ॥

ग्रहरोग—जब लालन (प्रेमपूर्वक पालन पोषण) करने वाली, सुखी, तथा सब वस्तुओं का भोग करने वाली धात्री लगातार बुरे स्वप्नों को देखे, उसके स्तनों से स्वयमेव दूध प्रवृत्त होने लगे। उस को बालक का स्मरण न रहे (अथवा बालक को अपस्मार रोग हो जाय), बालक सहसा गोद में से गिर पड़े तथा दुष्ट पुरुषों के साथ संसर्ग एवं भोजन करता हो, जिनके पुत्रों की मृत्यु हो जाती हो, जो अवकीर्णी हों तथा जो दूसरों की वृद्धि (बढ़ती-ऐश्वर्य) को सहन न कर सकती हों ऐसी धात्रियाँ भयंकर अमङ्गलों (अशुभ लक्षणों) को देखती हैं तथा उसी के अनुसार आचरण करती हैं एवं विपरीत भावों का सेवन करती हैं तो उस बालक की मृत्यु होने की संभावना होती है। बालक के सोये रहने पर भयंकर आकृति वाले पक्षी वहां घोंसले बना लेते हैं, विडाल (मार्जार) उसे लांघ जाता है, पर धूम को सूंघता है, वह दूसरे के सिर पर से उतार कर रखी हुई बलि को चाटता है तथा इसका लङ्घन करता है। बालक के शरीर तथा मुख से दुर्गन्ध आती है, उसकी नासिका के अग्रभाग में मलोत्पत्ति हो जाती है तथा माता और पुत्र दोनों अशुभ एवं रक्तवर्ण की मालाओं को धारण करते हैं। भस्म (राख) अङ्गारों तथा तुष के ढेर पर बैठता है, सहसा रोने लगता है, उसे डर लगता है, उसकी छाया (शारीरिक कान्ति) तथा स्वभाव में परिवर्तन हो जाता है। बालक कम खाता है। उसे कभी मल एवं मूत्र अधिक आता है तथा कभी कम आने लगता है। बालक अपने सिर को धारण नहीं कर सकता अर्थात् स्थिर नहीं रख सकता, अङ्गों को इधर उधर फेंकता है, दुर्बल हो जाता है, उसे श्वास एवं आध्मानरोग से प्रतीत होने लगता है कि जैसे अब वह बचेगा नहीं। बालक से यदि विनोद किया जाय तो वह उसे पसन्द नहीं करता। वह प्यास, प्रमीलकरोग (तन्द्रा) तथा निद्रा से पीडित होता है तथा कबूतर की तरह शब्द करता है ये सब ग्रहरोगों के प्रारम्भ होने के लक्षण हैं। अर्थात् उपर्युक्त लक्षणों को देखकर अनुमान किया जा सकता है कि बालक को संभवतः कोई ग्रहरोग होनेवाला है। अवकीर्णी—ब्रह्मचर्य व्रत का भङ्ग करने वाला व्यक्ति। इसका निम्न लक्षण दिया है—कामतो रेतसः सेकं व्रतस्थस्य द्विजन्मनः। अतिक्रमं व्रतस्याहुर्धर्मज्ञा ब्रह्मवादिनः॥ अवकीर्णी भवेद्गत्वा ब्रह्मचारी तु योषितम्। गर्दभं पशुमालभ्य नैर्ऋतं स विशुध्यति॥ अर्थात् जो जानबूझ कर ब्रह्मचर्य व्रत

का भङ्ग करता है उसे अवकीर्णी कहते हैं। अनिच्छापूर्वक व्रतभङ्ग करनेवाले को अवकीर्णी नहीं कहते।

पीड्यमानस्य रूपाणि ज्वरच्छर्द्यतिसारिषु ।
वैद्यो दृष्ट्वैव जानीयात् कृच्छ्रं सर्वं न सिध्यति ॥५०॥

इस प्रकार बालक के ज्वर, छर्दि तथा अतिसार आदि रोगों में पीडा देने वाले उपर्युक्त लक्षणों को वैद्य देखकर ही तुरत जान लेवे। क्योंकि सम्पूर्ण लक्षण कृच्छ्र होने पर सर्वदा सिद्ध नहीं होते।

इत्येता विविधाः प्रोक्ता वेदना बालदेहजाः ।
प्रायोद्भवानां रोगाणां कश्यपेन महर्षिणा ॥ ५१ ॥

इस प्रकार महर्षि कश्यप ने प्रायः होने वाले रोगों में बालकों के शरीर में होने वाली वेदनाओं तथा लक्षणों को कह दिया है।

तेषां चिकित्सितं स्वं स्वमविरुद्धं यथाक्रमम् ।
दृष्ट्वा चिकित्सितस्थाने दोषतश्चाभ्यु(प्यु)पक्रमेत् ॥५२॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥
इति वेदनाध्यायः पञ्चविंशतितमः ॥ २५ ॥

उन २ रोगों की चिकित्सा परस्पर अविरुद्ध तथा यथाक्रम चिकित्सास्थान में देखकर अथवा स्वयं दोषों के अनुसार करे।
ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था।
इति वेदनाध्यायः पञ्चविंशतितमः ॥ २५ ॥

षड्विंशतितमोऽध्यायः ।

अथातश्चिकित्सासंपदीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ २ ॥

अब हम चिकित्सासंपदीय अध्याय का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था ॥ १-२ ॥

चिकित्सासंपद्यथोपपद्यते तमुपायमनुव्याख्यास्यामः। चत्वारः खलु पादाश्चिकित्सितस्योपपद्यन्ते । ते यदा गुणवन्त उपपद्यन्ते तदा साध्यो व्याधिर्नातिवर्तते । तद्यथा-भिषक्, भेषजम्, आतुरः, परिचारक इति ॥ ३ ॥

अब हम उन उपायों की व्याख्या करेंगे जिनके द्वारा चिकित्सासंपत् (चिकित्सा का उत्तम गुणों से युक्त होना) उत्पन्न हो सके। चिकित्सा के चार पाद होते हैं अर्थात् चिकित्सा के लिये चार वस्तुओं का होना आवश्यक है। वे चारों पाद जब गुणयुक्त हों तब साध्य व्याधि चिकित्सा का व्यतिक्रम नहीं करती अर्थात् ठीक हो जाती है (साध्य व्याधि की ही चिकित्सा की जा सकती है असाध्य की नहीं। चरक में कहा है—साधनं न त्वसाध्यानां व्याधीनामुपदिश्यते)। वे चारों पाद ये हैं— १. वैद्य २. ओषधि ३. रोगी ४. परिचारक। चरक सूत्रस्थान के खुड्डाकचतुष्पाद अध्याय में भी कहा है—भिषग् द्रव्यमुपस्थाता रोगी पादचतुष्टयम्। गुणवत्कारणं ज्ञेयं विकारव्युपशान्तये ॥ इसीप्रकार सुश्रुत सू० अ० ३४ में भी कहा है—वैद्यो व्याध्युपसृष्टश्च भेषजं परिचारकः। एते पादाश्चिकित्सायाः कर्मसाधनहेतवः ॥ ये चारों पाद मिलकर ही आरोग्यरूप कर्मसिद्धि के हेतु हैं।

तत्र भिषक् सुतीर्थो न्यायेनार्षज्ञानप्राप्तो विज्ञानवाननेकशो दृष्टकर्मा विदितसिद्धयोगो दक्षो दक्षिणः शुचिरनुद्धतवेषः सर्वभूतेषु बन्धुभूतः सिद्धिमान् धर्मार्थदर्शी सत्यदयादानार्जवनिरतो देवद्विजगुरुसिद्धानां पूजयिता चाभिगन्ता चोत्तरोत्तरप्रतिपत्तिकुशलो गुरुवृद्धसेवी न्यायाभिनिवेशी व्यपगतभयलोभमोहक्रोधानृतोऽपैशुन्योऽमद्यलौल्यः सुमुखश्चाव्यसनी चेति ॥४॥

वैद्य या चिकित्सक के गुण—सुतीर्थ (योग्य गुरु वाला अर्थात् जिसने योग्य गुरु से शिक्षा ग्रहण की है), न्यायपूर्वक जिसने आर्षज्ञान प्राप्त किया है, जो विज्ञानवान् हो, जिसने बहुत वार चिकित्सा कर्म देखा हुआ है, जिसे सिद्धयोगों का ज्ञान है, जो चतुर, दक्षिण तथा पवित्र है, जिसका वेश उद्धत नहीं हैं अर्थात् सभ्य वेश वाला है, सब प्राणियों के प्रति जिसके मन में बन्धु (प्रेम) भाव है, जिसके हाथ में सिद्धि है, जो धर्मार्थ रोगियों को देखने वाला है अथवा धर्म और अर्थ (धन) के लिये रोगियों को देखता है, जो सत्य, दया, दान तथा सरलतायुक्त है, जो देव, ब्राह्मण, गुरु तथा सिद्ध महात्माओं की पूजा तथा सेवा करने वाला है, जो उत्तरोत्तर रोग निवृत्ति में कुशल है, जो गुरु तथा वृद्ध पुरुषों की सेवा करता है, जो न्यायवान् है, तथा भय, लोभ, मोह, क्रोध, असत्य, पिशुनता (चुगलखोरी) से रहित है, जिसे मद्य की आदत नहीं है—जो सुमुख (दर्शनीय-सुन्दर आकृति वाला) तथा सब प्रकार के व्यसनों से रहित है—ऐसा वैद्य श्रेष्ठ होता है। चरक सू० अ० ९ में वैद्य के ४ मुख्य गुणों का उल्लेख किया गया है—श्रुते: पर्यवदातत्वं बहुशः दृष्टकर्मता। दाक्ष्यं शौचमिति ज्ञेयं वैद्ये गुणचतुष्टयम्। १. शास्त्र का सम्यक् ज्ञान २. अनुभव ३. चतुराई (Skill) तथा ४ शुद्धता—ये गुण आवश्यक हैं। इन चारों गुणों में अन्य सब गुणों का समावेश हो जाता है। इसी प्रकार सुश्रुत सू० अ० ३४ में कहा है—तत्राधिगतशास्त्रार्थो दृष्टकर्मा स्वयं कृती। लघुहस्तः शुचिः शूरः सज्जोपस्करभेषजः ॥ प्रत्युत्पन्नमतिर्धीमान् व्यवसायी विशारदः। सत्यधर्मपरो यश्च स भिषक् पाद उच्यते ॥ ४ ॥

तत्र भेषजसंपत्—सुभूमौ जातं, काले चोद्धृतं, काले चोत्पन्नम्, अविकारि, अग्नितोयजन्तुविण्मूत्रजरादिभिरनुपहतं, तत्तद्रोगयोग्यं, क्रमेण च विधिवदुपपादितमिति ॥ ५ ॥

औषध के गुण—जो प्रशस्त भूमि में उत्पन्न हुई हो, उचित समय पर उखाड़ ली गई हो, उचित समय में उत्पन्न की गई हो, विकार रहित हो, जो अग्नि, जल, जन्तु, मल, मूत्र

तथा अवस्था आदि से नष्ट न की गई हो, जो अमुक २ रोग के योग्य हो तथा क्रमशः विधिपूर्वक जिसका प्रयोग किया हुआ है—ऐसी ओषधि गुणयुक्त होती है। चरक सू० अ० ९ में ओषधि के निम्न ४ गुण दिये हैं—बहुता तत्र योग्यत्वमनेकविधकल्पना। संपच्चेति चतुष्कोऽयं द्रव्याणां गुण उच्यते॥ १. पर्याप्त मात्रा में होना २. व्याधि के उपयुक्त होना ३. एक ही ओषधि से नाना प्रकार की कल्पनाओं का बन सकना ४ रस आदि से युक्त होना। सुश्रुत सू० अ० ३४ में भी कहा है—प्रशस्तदेशसंभूतं प्रशस्तेऽहनि चोद्धृतम्। युक्तमात्रं मनस्कान्तं गन्धवर्णरसान्वितम्॥ दोषघ्नमग्लानिकरमविकारि विपर्यये। समीक्ष्य दत्तं काले च भेषजं पाद उच्यते॥

वक्तव्य—सुभूमौ जातम्—ओषधि प्रशस्तभूमि में उत्पन्न हुई होनी चाहिये। औषध के योग्य भूमि का वर्णन करते हुए सुश्रुत सू० अ० ३७ में कहा है—

श्वभ्रशर्कराश्मविषवल्मीकश्मसानाघातनदेवतायतनसिकताभिरनुपहतामनूषरामभङ्गुरामदूरोदकां स्निग्धां प्ररोहवतीं मृद्वीं स्थिरां समां कृष्णां गौरीं लोहितां वा भूमिमौषधार्थं परीक्षेत्॥ उपर्युक्त प्रकार की भूमि में उत्पन्न होने के बाद भी ओषधि में निम्न गुण होने चाहिये—तस्यां जातमपि कृमिविषशस्त्रातपपवनदहनतोयसंबाधमार्गैरनुपहतमेकरसं पुष्टं पृथ्ववगाढमूलमुदीच्यां चौषधमाददीतेत्यौषधभूमिपरीक्षाविशेषः सामान्यः। वह ओषधि कृमि विष आदि से अविकृत हो। काले चोद्धृतम्—प्रत्येक ओषधि योग्य काल में अर्थात् रस, वीर्य, विपाक आदि की दृष्टि से पूर्ण परिपक्व हो जाने पर ही तोड़नी चाहिये। ओषधियों के उखाड़ने के विषय में सुश्रुत सू० अ० ३७ में कहा है—सौम्यान्यौषधानि सौम्येष्वृतुष्वाददीताग्नेयान्याग्नेयेषु, एवमव्यापन्नगुणानि भवन्ति। सौम्यान्यौषधानि सौम्येष्वृतुषु गृहीतानि सोमगुणभूयिष्ठायां भूमौ जातान्यतिमधुरस्निग्धशीतानि जायन्ते। सोमगुण की प्रधानता वाली ओषधि को सौम्य ऋतु में तथा आग्नेय गुण प्रधान ओषधि को आग्नेय ऋतु में उखाड़ना चाहिये। इससे वे पूर्ण परिपक्व हो जाती हैं॥ ५॥

तत्रातुरसंपत्—साध्यरोगता, सत्त्वबलबुद्धिशरीरेन्द्रियधृतितेजसां दाढ्यं, निदानपूर्वरूपातङ्कोपद्रवयात्रोपशयानुपशयानां यथावदाख्यानं, धात्र्या वा श्रद्धानता, देवद्विजगुरुभिषग्भेषजसुहृदामभिनन्दनम्, आस्तिक्यं, विनयप्रधानता, यथोक्तकारित्वं वशित्वं चेति॥

रोगी के गुण—जिसका रोग साध्य हो, जिसका सत्व (मन) बल, बुद्धि, शरीर, इन्द्रियां, धारणशक्ति तथा तेज दृढ हो, जो निदान, पूर्वरूप, रोग, उपद्रव, शरीरयात्रा, उपशय तथा अनुपशय को यथावत् बता सके, धात्री अथवा परिचारक में जिसे श्रद्धा या विश्वास हो, देव, द्विज, गुरु, वैद्य, ओषधि तथा मित्रों का जो अभिनन्दन (सम्मान) करता हो, जो आस्तिक हो अर्थात् परमात्मा में विश्वास रखता हो, जो विनयशील (नम्र) हो, आज्ञा का पालन करता हो तथा जिसकी इन्द्रियां अपने वश में हो अर्थात् संयमी हो—ऐसा रोगी गुणयुक्त माना गया है। चरक सू० अ० ९ में कहा है—स्मृतिर्निर्देशकारित्वमभीरुत्वमथापि च। ज्ञापकत्वं च रोगाणामातुरस्य गुणाः स्मृताः॥ रोगी में—१. अपने रोग के प्रारंभ होने का स्मरण होना २. चिकित्सक के निर्देशानुसार कार्य करना ३. निडरता तथा ४. रोग को अच्छी प्रकार बता सकना—ये चार गुण होने चाहिये। इसी प्रकार सुश्रुत सू० अ० ३४ में भी कहा है—आयुष्मान् सत्त्ववान् साध्यो द्रव्यवानात्मवानपि। आस्तिको वैद्यवाक्यस्थो व्याधितः पाद उच्यते॥

तत्र परिचारकसंपत्—विपक्वकषायता, आरोग्यं, शक्तिः, भर्तृभक्तिः, उपचारज्ञता, दाक्ष्यं, शौचम्, आशुकारित्वं, सर्वकर्मसु कौशलम्, अघृणित्वम्, अक्षुद्रपुत्रत्वम्, अद्वैविध्यं, दमो, जितक्रोधादिता, सहिष्णुता चेति ॥ ७ ॥

परिचारक (सेवक) के गुण—कषायों का पकाना अर्थात् जो ओषधि आदि को पकाने का कार्य कर सकता है, आरोग्य, शक्ति, स्वामीभक्ति, उपचार को जानना अर्थात् रोगी के भोजन के लिये यूष, रस, आदि बनाना, उसे सुलाना तथा रोगी की सेवा (Nursing) का ज्ञान होना, निपुणता, पवित्रता, शीघ्र कार्य करना, सब कार्यों में कुशलता, घृणा का न होना, क्षुद्र-व्यक्ति का पुत्र न होना अर्थात् कुलीन होना, जिसमें द्वैविध्य (दोगलापन) न हो अर्थात् इधर की बात उधर और उधर की इधर न कहता हो, जिसने अपनी अपनी इन्द्रियों को वश में किया हुआ है, क्रोध आदि पर विजय पाई हुई है तथा जिसमें सहनशक्ति है—इन गुणों से युक्त परिचारक (सेवक) श्रेष्ठ माना जाता है। चरक सू० अ० ९ में कहा है—उपचारज्ञता दाक्ष्यमनुरागश्च भर्तरि। शौचं चेति चतुष्कोऽयं गुणः परिचरे जने॥ १ उपचार (सेवा आदि) को जानना २ दक्षता ३ स्वामी-भक्ति तथा ४ पवित्रता—ये ४ गुण परिचारक में होने चाहिये। सुश्रुत सू० अ० ३४ में भी कहा है—स्निग्धोऽजुगुप्सुर्बलवान् युक्तो व्याधितरक्षणे। वैद्यवाक्यकृदश्रान्तः पादः परिचरः स्मृतः॥ आजकल परिचर्या के लिये पुरुषों की अपेक्षा स्त्रीपरिचारिकाओं (Nerses) का प्रचलन बढ़ रहा है क्योंकि उनमें पुरुषों की अपेक्षा सेवा की प्रवृत्ति एवं सहानुभूति स्वाभाविक होती हैं तथा वे रोगी के कष्ट को अधिक अनुभव कर सकती हैं। चरक में उपर्युक्त चिकित्सा के प्रत्येक पाद के केवल चार२ गुणों का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार चिकित्सा के षोडशगुण माने गये हैं। इसलिये चरक में कहा है—कारणं षोडशगुणं सिद्धौ पादचतुष्टयम्।

इसी प्रकार अष्टाङ्गहृदय में भी कहा है—चतुष्पादं षोडशकलं भेषजमिति भिषजो भाषन्ते॥ ७॥

तत्र श्लोकाः।

अस्य पादचतुष्कस्य मन्यन्ते श्रेष्ठमातुरम्।
तदर्थं गुणवन्तो हि त्रयः पादा इहेप्सिताः॥ ८॥

इन उपर्युक्त चारों पादों में से रोगी को श्रेष्ठ माना जाता

है तथा उसी पाद (रोगी) के लिये अन्य तीनों गुणी पादों (वैद्य, ओषधि तथा परिचारक) की अपेक्षा होती है ॥ ८ ॥

नेति प्रजापतिः प्राह भिषङ्मूलं चिकित्सितम् ।
भिषग्वशे त्रिवर्गो हि सिद्धिश्च भिषजि स्थिता ॥ ९ ॥
स युनक्ति प्रयुङ्क्ते च शास्ति च ज्ञानचक्षुषा ।
तस्माज्ज्ञाने सविज्ञाने युक्तः श्रेष्ठतमो भिषक् ॥ १० ॥
यदा चतुर्णां पादानां संपद्भवति जीवक ! ।
तदा धर्मार्थयशसां वैद्यो भवति भाजनम् ॥ ११ ॥

वैद्य की श्रेष्ठता का प्रतिपादन—प्रजापति कश्यप ने कहा यह ठीक नहीं है। वस्तुतः चिकित्सा का मूल (प्रधान कारण) वैद्य है। शेष तीनों पाद वैद्य के ही आधीन होते हैं तथा सिद्धि (चिकित्सा की सफलता) भी वैद्य पर ही निर्भर है। वह वैद्य ही ज्ञानचक्षुओं के द्वारा योजना (ओषधि आदि की व्यवस्था) करता है, उनका प्रयोग करता है, तथा शासन परिचारक को निर्देश—(Direction आदि) करता है। इस लिये ज्ञान तथा विज्ञान से युक्त वैद्य श्रेष्ठ माना जाता है। हे जीवक ! जब चिकित्सा के उपर्युक्त चारों पाद गुणयुक्त होते हैं तब वैद्य धर्म, अर्थ एवं यश का भागी होता है। चरक सू० अ० ९ में भी वैद्य की प्रधानता स्वीकार की गई है—विज्ञाता शासिता योक्ता प्रधानं भिषगत्र तु। पक्तौ हि कारणं पक्तुर्यथा पात्रेन्धनानलाः ॥ विजेतुर्विजये भूमिश्चमूः प्रहरणानि च। आतुराद्यास्तथा सिद्धौ पादाः कारणसंज्ञिताः ॥ वैद्यस्यातश्चिकित्सायां प्रधानं कारणं भिषक्। मृद्दण्डचक्रसूत्राद्याः कुम्भकारादृते यथा ॥ न वहन्ति गुणं वैद्यादृते पादत्रयं तथा ॥ चिकित्सा में प्रधान कारण वैद्य ही है शेष तीनों गौण हैं क्योंकि वैद्य के अभाव में ये ओषधि आदि रोगनिवारण में समर्थ नहीं होते। इसी भाव को सुश्रुत सू० अ० ३४ में निम्न रूप दिया है—वैद्यहीनास्त्रयः पादाः गुणवन्तोऽप्यपार्थकाः। उद्गातृहोतृब्रह्माणो यथाऽध्वर्युं विनाऽध्वरे ॥ वैद्यस्तु गुणवानेकस्तारयेदातुरान् सदा। प्लवं प्रतितरैर्हीनं कर्णधार इवाम्भसि ॥ उपर्युक्त गुणवान् पादचतुष्टय की सहायता से रोगों के प्रतिकार करने को चिकित्सा कहते हैं। चरक में कहा है—चतुर्णां भिषगादीनां शस्तानां धातुवैकृते। प्रवृत्तिर्धातुसाम्यार्था चिकित्सेत्यभिधीयते ॥ इसलिये इस अध्याय का नाम 'चिकित्सासंपदीय' है। ॥ ९–११ ॥

इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥

इति चिकित्सासंपदीयोऽध्यायः षड्विंशतितमः ॥ २६ ॥

ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था।

इति चिकित्सासंपदीयोऽध्यायः षड्विंशतितमः ॥ २६ ॥

सप्तविंशतितमोऽध्यायः ।

अथातो रोगाध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ २ ॥

अब हम रोगाध्याय का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था। ॥ १–२ ॥

एको रोगो रुजाकरणसामान्यादिति भार्गवः प्रमतिः, द्वौ रोगौ निजश्चागन्तुश्चेति वार्योविदः, त्रयो रोगाः साध्ययाप्यासाध्या इति काङ्कायनः, चत्वारो रोगा आगन्तुवातपित्तकफजा इति कृष्णो भारद्वाजः पञ्च रोगा आगन्तुवातपित्तकफत्रिदोषजा इति दारुवाहो राजर्षिः, षड्रोगाः षड्रसत्वादन्नपानस्येत्यृषिषद्धयः(?); सप्त रोगा वाताद्येकैकद्वित्रिदोषजा इति हिरण्याक्षः, अष्टौ रोगा वाताद्येकैकद्वित्रिदोषागन्तुनिमित्ता इति वैदेहो निमिः, अपरिसङ्ख्येयाः समहीनाधिकदोषभेदादिति वृद्धजीवकः, एवमनवस्थानमुपलभ्याह भगवान् कश्यपो–द्वावेव खलु रोगौ निजश्चागन्तुश्च, तावनेकविस्तराविति ॥ ३ ॥

प्रमति भार्गव ने कहा—रोग एक ही प्रकार का होता है—सब रोगों में पीडा (कष्ट) के समानरूप में विद्यमान होने से। अर्थात् रुक्–वेदना के विद्यमान होने से ही प्रत्येक रोग को सामान्यरूप से रोग कहते हैं। वार्योविद ने कहा—रोग निज और आगन्तु भेद से दो प्रकार के हैं। काङ्कायन ने कहा—रोग साध्य, असाध्य तथा याप्य भेद से तीन प्रकार के हैं। कृष्णभारद्वाज ने कहा—रोग आगन्तु तथा वात, पित्त और कफ दोष के अनुसार चार प्रकार का है। राजर्षि दारुवाह ने कहा–रोग आगन्तुक तथा वात, पित्त, कफ और त्रिदोष के भेद से पांच प्रकार का है (ऋषि षद्धय ?) के अनुसार अन्नपान के षड्रसयुक्त होने से रोग ६ प्रकार के हैं। हिरण्याक्ष ने कहा—रोग सात प्रकार के हैं—वातादि दोषों से पृथक् तीन (वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक) द्विदोषज (वातपैत्तिक, वातश्लैष्मिक, पित्तश्लैष्मिक) तथा त्रिदोषज। वैदेह निमि ने कहा—रोग आठ प्रकार के हैं। उपर्युक्त सात के अतिरिक्त आठवां आगन्तु। वृद्धजीवक ने कहा—दोषों के सम, हीन तथा अधिक होने से रोग असंख्य हैं क्योंकि संसर्ग से दोषों के भेद अनेक हो जाते हैं। इस प्रकार अवस्था दोष (गड़बड़) को देखकर भगवान् कश्यप ने कहा—वस्तुतः रोग निज और आगन्तु भेद से दो ही प्रकार के हैं। उनके ही अनेक प्रकार के विस्तार हो जाते हैं ॥ ३ ॥

हेतुप्रकृत्यधिष्ठानविकल्पायतनार्थतः ।
ज्ञेया रोगा असङ्ख्येयाश्चिकित्सानां च विस्तरात् ॥४॥
अधिष्ठानद्वयं तेषां शरीरं मन एव च ।
मानसानां च रोगाणां कुर्याच्छारीरवत् क्रियाम् ॥५॥

रोगों के हेतु (कारण), प्रकृति (स्वभाव) तथा अधिष्ठान (आश्रय) के विकल्प के कारण तथा चिकित्सा के विस्तार के कारण रोग असंख्य माने जाते हैं अर्थात् हेतु, प्रकृति आदि के भेद से ही रोगों के असंख्य भेद हो जाते हैं। इन रोगों के शरीर और मन ये दो अधिष्ठान (आश्रय) हैं।

मानसिक रोगों की भी शारीरिक रोगों की तरह ही चिकित्सा करनी चाहिये । चरक सू० अ० २० में भी कहा है—चत्वारो रोगा भवन्ति—आगन्तुवातपित्तश्लेष्मनिमित्ताः । तेषां चतुर्णामपि रोगाणां रोगत्वमेकविधं रुक्सामान्यात् । द्विविधा पुनः प्रकृतिरेषां आगन्तुनिजविभागात् । द्विविधं चैषामधिष्ठानं, मनःशरीरविशेषात् । विकाराः पुनरेषामपरिसंख्येयाः, प्रकृत्यधिष्ठानलिङ्गायतनविकल्पविशेषात् । तेषामपरिसंख्येयत्वात् । इसी प्रकार चरक सू० अ० १८ में भी कहा है—त एवापरिसंख्येया भिद्यमाना भवन्ति हि । निदानवेदनावर्णस्थानसंस्थाननामभिः ॥ ४-५ ॥

धातुस्थूणात्मवैषम्यं तद्दुःखं व्याधिसंज्ञकम् ।
धातुस्थूणात्मसाम्यं तु तत्सुखं प्रकृतिश्च सा ॥ ६ ॥

वात, पित्त, कफ आदि तीन धातुरूपी त्रिस्थूणों की विषमता से ही दुख होते हैं । इसे ही व्याधि (रोग) कहते हैं । तथा धातुरूपी त्रिस्थूणों की साम्यावस्था ही सुख है तथा यही वास्तव में प्रकृति है । अर्थात् तीनों दोषों का समावस्था में होना ही प्रकृति या सुख है तथा इन्हीं की विषमावस्था को रोग कहते हैं । इसी संहिता के सूत्र स्थान के उपलब्ध प्रथम लेहनाध्याय में भी कहा है—अरोगास्तु समस्थूणा वातिकाद्याः सदाऽऽतुराः ॥ इसी प्रकार चरक सू० अ० ७ में भी कहा है—समपित्तानिलकफाः केचिद्गर्भादिमानवाः । दृश्यन्ते वातला केचित् पित्तलाः श्लेष्मलास्तथा ॥ तेषामनातुराः पूर्वे वातलाद्याः सदाऽऽतुराः ॥ दोषों की समावस्था ही स्वस्थावस्था है । इसी लिये चरक सू० अ० १ में कहा है—धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम् ॥ ६ ॥

अव्याहतशरीरायुरभिवर्धेत वा कथम् ।
इत्यर्थं भेषजं प्रोक्तं विकाराणां च शान्तये ॥ ७ ॥

चिकित्सा का प्रयोजन—शरीर तथा आयु की अव्याहत रूप में वृद्धि तथा विकारों की शान्ति के लिये चिकित्सा कही गई है । अर्थात् चिकित्सा के दो प्रयोजन हैं—१-शरीर तथा आयु की वृद्धि (स्वस्थवृत्त) तथा २-उत्पन्न हुए रोगों की शान्ति करना । सुश्रुत सू० अ० १ में कहा है—इह खल्वायुर्वेदप्रयोजनं-व्याध्युपसृष्टानां व्याधिपरिमोक्षः, स्वस्थस्य रक्षणं च । इसी प्रकार चरक सू० अ० ३० में भी कहा है—प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनं चेति । आधुनिक विज्ञान के अनुसार भी Preventive तथा Curative दो प्रकार की चिकित्सा मानी गई है ॥ ७ ॥

निजागन्तुनिमित्ता च द्विविधा प्रकृती रुजाम् ।
नखदन्ताग्निपानीयवधबन्धाधिदेवताः (तः) ॥ ८ ॥

रोगों की निज और आगन्तु ये दो प्रकृतियां (कारण) होती हैं । इनमें आगन्तु रोगों के नख, दन्त, अग्नि, वर्षा, वध, बन्ध (बांधना), देवता, शाप तथा अभिचारकर्म आदि कारण हैं । तथा निज रोगों के कारण वातादि दोष हैं । अर्थात् वातादि दोषों की विषमता से निज रोग होते हैं । चरक सू० अ० २० में कहा है—मुखानि तु खल्वागन्तोर्नखदशनपतनाभिचाराभिशापाभिषङ्गवधबन्धपीडनरज्जुदहनमन्त्राशनिभूतोपसर्गादीनि, निजस्य तु मुखं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यम् ॥ ८ ॥

शापाभिचारादागन्तुर्निजा वातादिहेतवः ।
वातपित्तकफानां तु देहे स्थानानि मे शृणु ॥ ९ ॥

(इति ताडपत्रपुस्तके ४३ तमं पत्रम्)

अब तूँ मुझ से इन वात, पित्त तथा कफ के देह में स्थानों को सुन । अर्थात् शरीर में वातादि के कौन २ से स्थान हैं । इन दोषों के शरीर में सर्वव्यापी होने पर भी इनके विशेष स्थान तथा कर्म कहे जाते हैं ॥ ९ ॥

सर्वगानामपि सतां प्रायः स्थानं च कर्म च ।
अधोनाभ्यस्थिमज्जानौ वातस्थानं प्रचक्षते ॥ १० ॥
पित्तस्यामाशयः स्वेदो रक्तं सह लसीकया ।
मेदः शिर उरो ग्रीवा सन्धिर्बाहुः कफाश्रयः ॥ ११ ॥

शरीर में वात के मुख्य स्थान—नाभि का निचला हिस्सा, अस्थि तथा मज्जा-वायु के स्थान कहे जाते हैं । पित्त के स्थान—आमाशय, स्वेद, रक्त, लसीका (Lymph) ये पित्त के स्थान हैं । कफ के स्थान – मेद, सिर, छाती, ग्रीवा, सन्धि, तथा बाहु-कफ के स्थान हैं ॥ १०-११ ॥

हृदयं तु विशेषेण श्लेष्मणः स्थानमुच्यते ।
आमपक्वाशयौ स्थानं विशेषात् पित्तवातयोः ॥ १२ ॥

उपर्युक्त स्थानों के अतिरिक्त हृदय कफ का विशेष स्थान माना गया है । तथा आमाशय और पक्वाशय क्रमशः पित्त और वात के विशेष स्थान हैं । चरक सू० अ० २० में इनके स्थानों का निम्न प्रकार से उल्लेख किया गया है-तेषां त्रयाणामपि दोषाणां शरीरे स्थानविभाग उपदेक्ष्यते, तद्यथा—बस्तिः पुरीषाधानं कटिः सक्थिनी पादावस्थीनि च वातस्थानानि, तत्रापि पक्वाशयो विशेषेण वातस्थानं, स्वेदो रसो लसीका रुधिरमामाशयश्च पित्तस्थानानि, तत्राप्यामाशयो विशेषेण पित्तस्थानं, उरः शिरो ग्रीवा पर्वाण्यामाशयो मेदश्च श्लेष्मणः स्थानानि, तत्राप्युरो विशेषेण श्लेष्मणः स्थानम् । अष्टाङ्गहृदय सू० अ० १२ में भी कहा है—पक्वाशयकटिसक्थिश्रोत्रास्थिस्पर्शनेन्द्रियम् । स्थानं वातस्य तत्रापि पक्वाधानं विशेषतः ॥ नाभिरामाशयः स्वेदो लसीका रुधिरं रसः । दृक्स्पर्शनं च पित्तस्य नाभिरत्रविशेषतः ॥ उरः कण्ठ शिरः क्लोम पर्वाण्यामाशयो रसः । मेदो घ्राणं च जिह्वा च कफस्य सुतरामुरः ॥ १२ ॥

आगन्तुर्बाधते पूर्वं पश्चाद्दोषान् प्रपद्यते ।
निजस्तु चीयते पूर्वं पश्चाद्वृद्धः प्रबाधते ॥ १३ ॥

आगन्तु तथा निज रोगों में भेद—आगन्तु रोग पहले शरीर को कष्ट पहुंचाता है तथा उसके बाद वातादि दोषों को उत्पन्न करता है । निज रोगों में प्रथम दोषों का चयन होता है फिर उसके बाद वृद्धि को प्राप्त होकर शरीर को कष्ट पहुंचाते हैं । चरक सू० अ० २० में कहा है—आगन्तुर्हि व्यथापूर्वसमुत्पन्नो जघन्यं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यमापादयति; निजे तु वातपित्तश्लेष्माणः पूर्वं वैषम्यमापद्यन्ते, जघन्यं व्यथामभिनिर्वर्तयन्ति ॥ १३ ॥

तस्मादागन्तुरोगाणामिष्यते निजवत् क्रिया ।
निजानां पूर्वरूपाणि दृष्ट्वा संशोधनं हितम् ॥ १४ ॥

इसलिये आगन्तु रोगों की निज रोगों के समान ही चिकित्सा करनी चाहिये तथा निजरोगों के पूर्वरूपों को देखकर संशोधन करना चाहिये । अर्थात् यदि निज रोगों के होने की संभावना हो तो रोगों के लक्षणों के प्रकट होने से पूर्व ही इनका दोष एवं काल के अनुसार संशोधन कर लेना चाहिये ।

हृदि श्लेष्मानुपश्लिष्टमाश्यावं रक्तपीतकम् ।
तदोजो, वर्धते जन्तुस्तद्वृद्धौ, क्षीयते क्षये ॥ १५ ॥

ओज किसे कहते हैं—श्लेष्मा[1] से रहित, कुछ लालिमा तथा पीलापन लिये हुए जो श्वेत पदार्थ हृदय में रहता है उसे ओज कहते हैं । उस ओज की वृद्धि से प्राणी की वृद्धि होती है तथा उसके क्षय होने पर प्राणीक्षीण हो जाता है । चरक सू० अ० १७ में ओज का निम्न वर्णन किया है—हृदि तिष्ठति यच्छुद्धं रक्तमीष सपीतकम् । ओजः शरीरे संख्यात तन्नाशान्ना विनश्यति ॥ इसी प्रकार सुश्रुत सू० अ० १५ में भी कहा है—ओजः सोमात्मकं स्निग्धं शुक्लं शीतं स्थिरं सरम् । विविक्तं मृदु मृत्स्नं च प्राणायतनमुत्तमम् ॥ देहः सावयवस्तेन व्याप्तो भवति देहिनाम् । तदभावाच्च शीर्यन्ते शरीराणि शरीरिणाम् ॥ यह ओज प्राणायतन (जीवन का कारण) है । यह सम्पूर्ण देह में व्याप्त होता है । इसके अभाव में प्राणियों के देह नष्ट हो जाते हैं । कई विद्वान् इस ओज को अष्टम धातु मानते हैं । सुश्रुत सू० अ० १५ में कहा है—"तत्र रसादीनां शुक्रान्तानां धातूनां यत्परं तेजस्तत् खल्वोजस्तदेव बलमित्युच्यते" रस से लेकर शुक्र पर्यन्त धातुओं का जो परम तेज है उसे ही ओज कहा है । इसी को बल भी कहते हैं । वस्तुतः बल और ओज में भेद है । परन्तु सामान्यतया दोनों में अभेद माना है क्योंकि शरीर में बल की उत्पत्ति का प्रधान कारण ओज ही है तथा ओज के क्षय से बल का सबसे अधिक ह्रास होता है । ओज के विषय में प्राचीन ग्रन्थों में भिन्न २ वर्णन मिलता है । आधुनिक विद्वान् भी ओज के विषय में एक मत से अभीतक कुछ नहीं कह सके हैं । चक्रपाणि ने चरक की टीका में दो प्रकार का ओज माना है—"एतेन द्विविधमोजो दर्शयति परमपरं च । तत्राञ्जलिप्रमाणमपरम्, अल्पप्रमाणं तु परम् । अर्धाञ्जलिपरिमितस्यौजसो धमन्य एव हृदयाश्रिताः स्थानम्, तथा प्रमेहेऽर्धाञ्जलिपरिमितमेवौजः क्षीयते, नाष्टबिन्दुकम् । अस्य हि किंचित्क्षयेऽपि मरणं भवति, प्रमेहे तु ओजः क्षये जीवत्येव तावत् । ओजः क्षयलक्षणमपि अर्धाञ्जल्योजः क्षय एव बोद्धव्यम्" । इसका पूर्णरूप से निश्चय न होने पर भी यह तो स्पष्ट है कि ओज शरीर में एक अत्यन्त महत्व का पदार्थ है । पर-ओज हृदयाश्रयी और अष्टबिन्दु मात्रा वाला है । इसकी ही कमी होने से मनुष्य की मृत्यु हो जाती है । अपर ओज धमन्याश्रयी है—उसकी कमी हो सकती है, उससे मृत्यु नहीं होती । मधुमेह आदि रोगों में इस अपर ओज का ही क्षय होता रहता है । आजकल के विज्ञान के अनुसार कई विद्वान् इसे जीवनीय द्रव्य, (Vitamins) कई Albamin तथा कई इसे अण्डकोश आदि ग्रन्थियों का स्राव (Internal Secretion of the testicles, ovaries and Prostate) आदि मानते हैं । परन्तु आधुनिक विज्ञान में हमें अभीतक कोई भी ऐसा उपयुक्त शब्द नहीं मिला है जो ओज का प्रतिनिधि हो सके । श्री रामरक्ष पाठक जी ने अपनी चरक की टीका में इसके विषय में कई भिन्न २ प्रचलित विचार दिये हैं । उन्होंने सूत्र स्थान के १७ वें अध्याय में इसका विस्तृत विवेचन किया है । विशेष ज्ञान के लिये जिज्ञासु पाठक इस विषय को वहां देखें ॥ १५ ॥

मधुरस्निग्धशीतानि लघूनि च हितानि च ।
ओजसो वर्धनान्याहुस्तस्माद्बालांस्तथाऽऽशयेत् ॥ १६ ॥

ओज की वृद्धि के साधन—मधुर, स्निग्ध, शीत, लघु तथा हितकारी पदार्थ ओज की वृद्धि करने वाले हैं । इसलिये बालकों को इन पदार्थों का सेवन करायें ॥ १६ ॥

वृद्धिवर्णबलौजोग्निमेधायुःसुखकारणम् ।
वातादिसाम्यं, वैषम्यं विकारायोपकल्पते ॥ १७ ॥

वातादि दोषों की समानता से शरीर की वृद्धि, वर्ण, बल, ओज, जाठराग्नि, मेधा, आयु तथा सुख की प्राप्ति होती है तथा इनकी विषमता से विकार (रोग) उत्पन्न हो जाते हैं । चरक में कहा है—विकारो धातुवैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते । सुखसंज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च ॥ १७ ॥

तेषामपरिमेयानां विकाराणां स्वलक्षणैः ।
आविष्कृततमान् व्याधीन् यथास्थूलान् प्रचक्ष्महे ॥ १८ ॥

उन असंख्य विकारों में से अपने २ लक्षणों सहित हम प्रसिद्ध २ तथा जो स्पष्ट हैं उन व्याधियों का वर्णन करेंगे ॥ १८ ॥

अशीतिर्वातिका रोगाश्चत्वारिंशत्तु पैत्तिकाः ।
विंशतिः कफजाः प्रोक्ता वातरोगान्निबोध मे ॥ १९ ॥

इनमें वात के ८०; पित्त के ४० तथा कफ (श्लेष्मा) के २० रोग हैं । चरक सू० अ० २० में भी इतने ही रोगों का परिगणन किया गया है—तद्यथा-अशीतिर्वातविकाराः, चत्वारिंशत्पित्तविकाराः, विंशति श्लेष्मविकाराः ॥ १९ ॥

पादभ्रंशः पादशूलं नखभेदो विपादिका ।
पादसुप्तिर्वातखुडो वातगुल्फोऽनिलग्रहः ॥ २० ॥
गृध्रसीपिण्डिकोद्वेष्टौ जानुविश्लेषभेदकौ ।
ऊरुस्तम्भोरुसादौ च पाङ्गुल्यं वातकण्टकः ॥ २१ ॥
गुदभ्रंशो गुदार्तिश्च वृषणाक्षेपकस्तथा ।
शेफःस्तम्भः श्रोणिभेदो वंक्षणानाहविड्गदौ (ड्ग्रहौ) ॥
उदावर्तोऽथ कुब्जत्वं वामनत्वं त्रिकग्रहः ।
पृष्ठग्रहः पार्श्वशूलमुदरावेष्टहृद्द्रवौ ॥ २३ ॥

---

१. श्लेष्मणाऽसम्पृक्तमित्यर्थः, एतदेव ग्रन्थान्तरे विशुद्धपदेन दर्शितम् ।

हृन्मोहो वक्षसस्तोदो वक्षोद्धर्षोपरोधकौ ।
ग्रीवास्तम्भो बाहुशोषः कण्ठोद्ध्वंसो हनुग्रहः ॥ २४ ॥
दन्तचालौष्ठभेदौ च मूकत्वं वाग्ग्रहस्तथा ।
कषायास्यास्यशोषौ च घ्राणनाशो रसाज्ञता ॥ २५ ॥
बाधिर्यमुच्चैः श्रवणं कर्णशूलमशब्दता ।
वर्त्मसंकोचविष्टम्भौ तिमिरं शूलमक्षिषु ॥ २६ ॥
व्युदासो भ्रूव्युदासश्च शङ्खभेदः शिरोरुजा ।
स्फुटनं केशभूमेश्च दण्डकाक्षेपकोऽर्दितम् ॥ २७ ॥
एकाङ्गकः पक्षवधः श्रमभ्रमविजृम्भिकाः ।
प्रलापो वेपथुर्ग्लानी रौक्ष्यं निद्रापरिक्षयः ॥ २८ ॥
श्यावारुणावभासत्वमनवस्थानमेव च ।
हिक्काश्वासौ विषादश्च वन्ध्यात्वं षाण्ढ्यमेव च ॥२९॥

अब तू मेरे से वातरोगों को सुन—१. पादभ्रंश (जहां पैर को उठाकर रखना हो वहां न पड़कर अन्यत्र जा पड़ना) २. पादशूल ३. नखभेद ४. विपादिका (बिवाई फटना) ५. पादसुप्ति (पैर का सोजाना-स्पर्श ज्ञान न होना) ६. वात खुड (खुड-पैर तथा जंघा की सन्धि में वात का प्रकोप होना) ७. वातगुल्फ (गुल्फ = गिट्टे-Ankle में वातप्रकोप) ८ अनिलग्रह (वायु के द्वारा शरीर का पकड़ा जाना) ९. गृध्रसी (रींग बाय-Sciatica) १० पिण्डकोद्वेष्ट (पिण्डलियों में उद्वेष्टन) ११. जानुविश्लेष (जानुसन्धि-Knee goint का ढीला होना) १२. जानुभेद (घुटनों में पीड़ा होना) १३. उरुस्तम्भ १४. उरुसाद (जंघाओं की शिथिलता) १५. पांगुल्य (पंगुला-लंगड़ापन) १६. वातकण्टक १७. गुदभ्रंश (Prolapse of Anus) १८. गुदार्ति (गुदा में पीडा) १९. वृषणाक्षेप (अण्ड-Testicles का नीचे न उतरना) २०. शेफःस्तम्भ (जननेन्द्रिय की जड़ता) २१. श्रोणिभेद (कटि में पीड़ा) २२. वंक्षणानाह (वंक्षण प्रदेश-Groin में आनाह) २३. विड्गद या विड्ग्रह (मलरोग या मलबन्ध) २४. उतावर्त २५. कुब्जता (कुबड़ापन) २६. वामन (ठिगना होना) २७. त्रिकग्रह (त्रिकप्रदेश-Secrum का जकड़ा जाना) २८. पृष्ठग्रह (पीठ का जकड़ा जाना) २९. पार्श्वशूल ३०. उदरावेष्ट (पेट में आवेष्टन-मरोड़ा होना) ३१. हृद्द्रव (हृदय का स्फुरण Palpitation of Heart) ३२ हृन्मोह (Heart failure) ३३. वक्षतोद (छाती या फुफ्फुस में सूचीवेधवत् पीडा) ३४ वक्षोद्धर्ष (छाती में घर्षणवत् पीडा अथवा फुफ्फुस में घर्षणवत् शब्द Crepitations का होना) ३५. वक्ष उपरोधक (छाती का रुका हुआ अनुभव होना) ३६. ग्रीवास्तम्भ (गर्दन का अकड़ जाना-Torticolis या Rhei Neek) ३७. बाहुशोष (बाहुओं का सूख जाना) ३८. कण्ठोध्वंस (स्वरभेद अथवा शुष्क कास) ३९. हनुग्रह ४०. दन्तचाल (दांतों का हिलना) ४१. ओष्ठभेद ४२. मूकता (गूंगापन) ४३. वाग्ग्रह (वाणी का रुक जाना-बोल न सकना) ४४. कषायास्यता (मुख का स्वाद कसैला होना) ४५. आस्यशोष (मुखशोष-मुख का सूख जाना) ४६. घ्राणनाश (गन्धशक्ति का नष्ट हो जाना-गन्ध का ज्ञान न होना) ४७. रसाज्ञता (जिह्वा को रस का ज्ञान न होना) ४८. बधिरता ४९. उच्चैःश्रवण (ऊँचा सुनना) ५०. कर्णशूल ५१. अशब्दता (शब्द का मालूम न पड़ना अथवा शब्द न होते हुए भी शब्दों का सुनाई पड़ना) ५२. वर्त्मसंकोच (वर्त्म-पलकों का सुकड़ना अथवा खोल न सकना) ५३. विष्टम्भ ५४. तिमिर (नेत्रपटल का रोग) ५५. अक्षिशूल ५६. अक्षिव्युदास (आंखों का ऊपर चढ़ा रहना ५७. भ्रूव्यदास (भौंओं का ऊपर चढ़ा रहना) ५८. शङ्खभेद (शङ्खदेश-Temporal region में वेदना) ५९. शिरोरुजा (शिर में पीडा) ६०. केशभूमिस्फुटन (बालों की जड़ों का फूटना) ६१, दण्डकाक्षेप ६२. अर्दित (Facial paralysis) ६३. एकाङ्गक (एकाङ्गवध) ६४. पक्षवध (पक्षाघात) ६५. श्रम (थकावट) ६६. भ्रम (चक्कर आना Giddiness) ६७. विजृम्भिका (जंभाई) ६८. प्रलाप ६९. वेपथु (कम्पन) ७०. ग्लानि ७१ रूक्षता ७२ निद्रापरिक्षय (निद्रानाश) ७३. श्यावारुणावभासता (शरीर अथवा अङ्गों का श्याव तथा अरुण वर्ण का होना) ७४. अनवस्थान (चित्त का स्थिर न होना) ७५. हिक्का ७६. श्वास ७७. विषाद (अप्रसन्नता) ७८. वन्ध्यात्व (बांझपना) ७९. षाण्ढ्य (नपुंसकता) तथा ८० प्रतिश्याय—ये प्रधानरूप से वातिक रोग हैं। चरक सू० २० में भी लगभग इन्हीं ८० वातरोगों का परिगणन किया गया है—तत्रादौ वातविकाराननुव्याख्यास्यामः, तद्यथा—नखभेदश्च, विपादिका च, पादशूलं च, पादभ्रंशश्च, पादसुप्तता च वाताखुड्डता च, गुल्फग्रहश्च पिण्डिकोद्वेष्टनं च, गृध्रसी च, जानुभेदश्च, जानुविश्लेषश्च, उरुस्तम्भश्च, उरुसादश्च, पाङ्गुल्यं च, गुदभ्रंशश्च, गुदार्तिश्च, वृषणोत्क्षेपश्च, शेफःस्तम्भश्च, वङ्क्षणानाहश्च, श्रोणिभेदश्च विड्भेदश्च, उदावर्तश्च, खञ्जत्वं च, (कुब्जत्वं च,) वामनत्वं च, त्रिकग्रहश्च, पृष्ठग्रहश्च, ग्रीवावमर्दश्च, उदरावेष्टश्च, हृन्मोहश्च, हृद्द्रवश्च, वक्ष उद्धर्षश्च, वक्ष उपरोधश्च (वक्षस्तोदश्च), बाहुशोषश्च, ग्रीवास्तम्भश्च, मन्यास्तम्भश्च, कण्ठोद्ध्वंसश्च, हनुस्तम्भश्च, ओष्ठभेदश्च (अक्षिभेदश्च), दन्तभेदश्च, दन्तशैथिल्यं च, मूकत्वं च (गद्गदत्वं च), वाक्सङ्गश्च, कषायास्यता च, मुखशोषश्च, अरसज्ञता च (अगन्धता च, घ्राणनाशश्च), कर्णशूलं च, अशब्दश्रवणं च, उच्चैःश्रुतिश्च, बाधिर्यं च, वर्त्मस्तम्भश्च, वर्त्मसंकोचश्च, तिमिरं च, अक्षिशूलं च, अक्षिव्युदासश्च, भ्रूव्युदासश्च, शङ्खभेदश्च, ललाटभेदश्च, शिरोरुक् च, केशभूमिस्फुटनं च, अर्दितं च, एकाङ्गरोगश्च, सर्वाङ्गरोगश्च (पक्षवधश्च) आक्षेपकश्च, दण्डकश्च, श्रमश्च, भ्रमश्च, वेपथुश्च, जृम्भा च, विषादश्च (हिक्का च, अतिप्रलापश्च, ग्लानिश्च, रौक्ष्यं च, पारुष्यं च, श्यावारुणावभासता च, अस्वप्नश्च, अनवस्थितत्वं च) इत्यशीतिर्वातविकारा वातविकाराणामपरिसंख्येयानामाविष्कृततमा व्याख्याताः ॥ २०-२९ ॥

प्रतिश्यायः शरण्यश्च प्राधान्येनानिलात्मकाः ।
तेष्वनुक्तेषु चान्येषु वायोः स्वं रूपमुच्यते ॥ ३० ॥
शैत्य रौक्ष्यं लघुत्वं च गतिश्चेत्यथ कर्म च ।
विशदारुणपारुष्यसुप्तिसंकोचवैरसम् ॥ ३१ ॥
शूलतोदकषायत्वशोषिर्यखरकम्पनम् ।

सादहर्षौ कार्श्यवर्तव्यासस्रंसनभेदनम् ॥ ३२ ॥

इन उपर्युक्त रोगों के अतिरिक्त अन्य जिनका नाम नहीं लिया गया है उन रोगों में वायु के जो लक्षण होते हैं उनका वर्णन किया जाता है अर्थात् उपर्युक्त नामों द्वारा परिगणित रोगों के अतिरिक्त भी जो वायु के रोग होते हैं उनमें निम्न लक्षणों को देखकर कहा जा सकता है कि यह वायु का ही रोग है। वायु का अपना रूप या लक्षण—शीत, रूक्ष, लघु, गति (चलना-एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना। वायु के मर्म—इस प्रकार के रूप वाली वायु के शरीर के भिन्न भिन्न अवयवों में प्रविष्ट होने पर निम्न लक्षण होते हैं—विशदता, अरुणता, परुषता (कठोरता) सुप्ति (सुन्न हो जाना या स्पर्शज्ञान का न होना), संकोच विरसता (मुंह का स्वाद बिगड़ जाना), शूल, तोद (सूचीवेधवत्पीडा), कषायता (मुंह का स्वाद कषैला होना) शुषिरता (छिद्रयुक्त होना), खरता (शरीर की कर्कशता), कम्पन (शरीर का कांपना) साद (शिथिलता), हर्ष (स्थानभेद से रोमहर्ष, दन्तहर्ष, ध्वजहर्ष आदि), कृशता, वर्त (गोलाई करना), व्यास (विस्तार या फैलना), स्रंसन (अपने स्थान से थोड़ा हिलना), भेद (अङ्गभेद), उद्वेष्टन (ऐंठन), दंश, भङ्ग (टूटना) तथा शोष (सूखना)—ये वायु के कर्म कहे हैं।

चरक सू० अ० २० में कहा है—सर्वेष्वपि खल्वेतेषु वातविकारेषूक्तेष्वन्येषु चानुक्तेषु वायोरिदमात्मरूपमपरिणामि कर्मणश्च स्वलक्षणं, यदुपलभ्यं तदवयवं वा विमुक्तसंदेहा वातविकारमेवाध्यवस्यन्ति कुशलाः; तद्यथा—रौक्ष्यं लाघवं वैशद्यं शैत्यं गतिरमूर्तित्वं चेति वायोरात्मरूपाणि, एवंविधत्वाच्च कर्मणः स्वलक्षणमिदमस्य भवति तं तं शरीरावयवमाविशतः; तद्यथा—स्रंसभ्रंशव्यासाङ्गभेदहर्षतर्षवर्तमर्दकम्पचालतोदव्यथाचेष्टादीनि; तथा खरपरुषविशदसुषिरतारुणकषायविरसमुखशोषशूलसुप्तिसंकुञ्चनस्तम्भनखञ्जतादीनि च वायोः कर्माणि, तैरन्वितं वातविकारमेवाध्यवस्येत् ॥ ३०-३२ ॥

उद्वेष्टदंशभङ्गाश्च शोषश्चानिलकर्म तत् ।
मधुराम्लोष्णलवणस्तत्रोपक्रम इष्यते ॥ ३३ ॥

वातविकारों की सामान्य चिकित्सा—इन वातविकारों की शान्ति के लिये मधुर, अम्ल, उष्ण तथा लवणरस युक्त पदार्थों का उपयोग करना चाहिये। चरक सू० अ० २० में कहा है—तं मधुराम्ललवणस्निग्धोष्णैरुपक्रमैरुपक्रमेत स्नेहस्वेदास्थापनानुवासननस्तःकर्मभोजनाभ्यङ्गोत्सादनपरिषेकादिभिर्वातहरैर्मात्रां कालं च प्रमाणीकृत्य; आस्थापनानुवासनं तु खलु सर्वोपक्रमेभ्यो वाते प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः, तद्ध्यादित एव पक्वाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं वातमूलं छिनत्ति, तत्रावजिते वातेऽपि शरीरान्तर्गता वातविकाराः प्रशान्तिमापद्यन्ते, यथा वनस्पतेर्मूले छिन्ने स्कन्धशाखावरोहकुसुमफलपलाशादीनां नियतो विनाशस्तद्वत्। उपर्युक्त मधुरादि पदार्थों के सेवन के अतिरिक्त स्नेहन, स्वेदन, आस्थापन, अनुवासन, नस्य, भोजन, अभ्यङ्ग, उत्सादन, परिषेक आदि वातहर उपक्रमों द्वारा चिकित्सा का विधान दिया गया है। आस्थापन तथा अनुवासन का वातविकारों को शान्त करने में विशेष स्थान है॥ ३३ ॥

ओषः प्लोषो भ्रमो दाहो वमथुर्धूमकाम्लकौ ।
अन्तर्दाहो ज्वरोऽत्यौष्ण्यमतिस्वेदोऽङ्गदाहकः ॥ ३४ ॥
त्वग्दाहः शोणितक्लेदो मांसक्लेदोऽङ्गशीर्य (र)णम् ।
मांसपाकश्चर्मदलो रक्तविस्फोटमण्डले ॥ ३५ ॥
रक्तपित्तं च कोठाश्च कक्ष्या हारिद्रनीलके ।
कामला तिक्तवक्त्रत्वं रक्तगन्धास्यता तथा ॥ ३६ ॥
अतृप्तिः पूतिवक्त्रत्वं जीवादानं तमस्तृषा ।
मेढ्पायुगलाक्ष्यास्यपाको हारिद्रमूत्रविट् ॥ ३७ ॥

पित्त के ४० विकार—१. ओष (सर्वाङ्गीण तीव्रदाह-जिसमें स्वेद एवं अरति हो) २. प्लोष (प्रादेशिक दाह-जैसे अग्नि द्वारा होता है) ३. भ्रम ४. दाह (तीव्र सन्ताप) ५. वमथु (वमन) ६ धूमक (शिर, ग्रीवा, आदि में धुंआ सा उठना) ७. अम्लक (अन्तर्दाह तथा हृदयशूलयुक्त डकार) ८. अन्तर्दाह (शरीर के अन्दर या कोष्ठ आदि में जलन) ९. ज्वर १०. अति उष्णता (तापांश का अधिक होना) ११ अतिस्वेद (पसीना अधिक आना) १२. अङ्गदाह (अङ्गों में जलन) १३. त्वग्दाह (त्वचा में जलन) १४. शोणितक्लेद (रक्त का काला, दुर्गन्धियुक्त तथा पतला होना) १५. मांसक्लेद (मांस का काला तथा दुर्गन्धियुक्त होना-Gangrenous हो जाना) १६. अङ्गशीरण (अङ्गों का टूटना) १७. मांसपाक १८. चर्मदल १९. रक्तविस्फोट (लाल चकत्ते-Rashes) २०. रक्तमण्डल २१ रक्तपित्त २२. कोठ (रक्तकोठ) २३. कक्षा (बाहु, पार्श्व, अंस आदि में उत्पन्न हुई पीडायुक्त काली २ फुन्सियां-Acute lymphadenitis of the Axillary glands अथवा चरक और अष्टाङ्ग संग्रह के वर्णन के अनुसार इसे Herpes zoster कह सकते हैं) २४. हारिद्र (हल्दी के वर्ण का होना) २५. नीलिका २६. कामला (पीलिया—Gaundice) २७. तिक्तवक्त्रत्व (मुखका कड़वा स्वाद होना) २८. रक्तगन्धास्यता (मुख में रक्त की गन्ध आना) २९. अतृप्ति (भोजन में तृप्ति न होना) ३०. पूतिवक्त्रता (मुख का दुर्गन्धियुक्त होना) ३१. जीवादान (जीवरक्त का निकलना) ३२. तम (आंखों के सामने अंधेरा प्रतीत होना) ३३. तृषा (अधिक प्यास) ३४ मेढ्पाक (मूत्रेन्द्रिय का पकना) ३५. पायुपाक (गुदा का पकना) ३६. गलपाक (गले का पकना) ३७. अक्षिपाक (नेत्रों का पकना) ३८. आस्यपाक (मुख का पकना) ३९. हारिद्रमूत्र (मूत्र का हरा होना) ४०. हारिद्रविट् (मल का हरा होना)—ये मुख्य २ पित्तरोग कहे हैं। चरक सू० अ० २० में पित्त के निम्न ४० रोग गिनाये हैं—पित्तविकाराश्चत्वारिंशदत ऊर्ध्वं व्याख्यास्यन्ते; तद्यथा—ओषश्च प्लोषश्च, दाहश्च, दवथुश्च, धूमकश्च, अम्लकश्च, विदाहश्च, अन्तर्दाहश्च (अङ्गदाहश्च) ऊष्माधिक्यं च, अतिस्वेदश्च, (अङ्गस्वेदश्च), अङ्गगन्धश्च, अङ्गावदरणं च, शोणितक्लेदश्च, मांसक्लेदश्च, त्वग्दाहश्च, मांसदाहश्च, त्वगवदरणं च, चर्मावदरणं च, रक्तकोठाश्च (रक्तवि.

स्फोटाश्च), रक्तपित्तं च, रक्तमण्डलानि च, हरित्वं च, हारिद्रत्वं च, नीलिका च, कक्षा च, कामला च, तिक्तास्यता च, (लोहितगन्धास्यता च), पूतिमुखता च, तृष्णाया आधिक्यं च, अतृप्तिश्च, आस्यपाकश्च, गलपाकश्च, अक्षिपाकश्च, गुदपाकश्च, मेढ्रपाकश्च, जीवादानं च, तमः प्रवेशश्च, हरितहारिद्रमूत्रनेत्रवर्चस्त्वं चेति चत्वारिंशत्पित्तविकाराः पित्तविकाराणामपरिसंख्येयानामाविष्कृततमा भवन्ति ३४-३७

इति प्रधानाः पित्तार्त्याः, स्वं रूपं तस्य वक्ष्यते ।
लाघवं तैक्ष्ण्यमौष्ण्यं च वर्णाः शुक्लारुणादृते ॥ ३८ ॥
वैगन्ध्यं कटुकाम्लत्वमीषत्स्नेहश्च पित्तजाः ।
दाहोष्णपाकप्रस्वेदकण्डूकोठस्रवादिभिः ॥ ३९ ॥

अब पित्त के अपने रूप (लक्षण) कहे जाते हैं जिन्हें देखकर यह कहा जासके कि यह पित्तरोग ही है—पित्त के अपने रूप-लघुता, तीक्ष्णता, उष्णता, शुक्ल तथा अरुण वर्ण को छोड़कर अन्य वर्णों वाला होना, वैगन्ध्य (आमगन्ध), कटु, अम्ल, ईषत् स्नेह (अधिक स्निग्ध न होना)-ये पित्त के अपने रूप हैं। पित्त के कर्म—इन रूपों वाले पित्त के शरीर के भिन्न २ अवयवों में प्रविष्ट होने पर निम्न लक्षण होते हैं—दाह (जलन), उष्णता (गर्मी-Heat), पाक (पकना-Suppuration), प्रस्वेद (पसीना), कण्डू, कोठ तथा स्राव इत्यादि पैत्तिक विकारों के कर्म हैं । चरक सू० अ० २० में कहा है—सर्वेष्वपि खल्वेतेषु पित्तविकारेष्वन्येषु चानुक्तेषु पित्तस्येदमात्मरूपमपरिणामि कर्मणश्च स्वलक्षणं, यदुपलभ्य तदवयवं वा विमुक्तसन्देहा पित्तविकारमेवाध्यवस्यन्ति कुशलाः, तद्यथा—औष्ण्यं तैक्ष्ण्यं लाघवमनतिस्नेहो वर्णश्च शुक्लारुणवर्जो गन्धश्च विस्रो रसौ च कटुकाम्लौ पित्तस्यात्मरूपाणि। एवंविधत्वाच्च कर्मणः स्वलक्षणमिदमस्य भवति तं तं शरीरावयवमाविशतः, तद्यथा—दाहौष्ण्यपाकस्वेदक्लेदकोथस्रावरागा यथास्वं च गन्धवर्णरसाभिनिर्वर्तनं पित्तस्य कर्माणि, तैरन्वितं पित्तविकारमेवाध्यवस्येत् ॥ ३८-३९ ॥

विद्यात् पित्तविकारार्तं कर्मैतत्, तदुपक्रमः ।
कषायतिक्तमधुरस्नेहस्रंसनशोषणाः ॥ ४० ॥

इनकी सामान्य चिकित्सा—इन पित्तविकारों की शान्ति के लिये कषाय, तिक्त एवं मधुर द्रव्य तथा स्नेह, स्रंसन (विरेचन) और शोषण आदि का उपयोग करे। चरक सू० अ० २० में इनकी निम्न चिकित्सा दी है—तं मधुरतिक्तकषायशीतैरुपक्रमैरुपक्रमेत् स्नेहविरेचनप्रदेहपरिषेकाभ्यङ्गावगाहादिभिः पित्तहरैर्मात्रां कालं च प्रमाणीकृत्य विरेचनं तु सर्वोपक्रमेभ्यः पित्ते प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः; तद्ध्यादित एवामाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं पित्तमूलं चापकर्षति, तत्रावजिते पित्तेऽपि शरीरान्तर्गताः पित्तविकाराः प्रशान्तिमापद्यन्ते, यथाऽग्नौ व्यपोढे केवलमग्निगृहं शीतीभवति तद्वत्। मधुर, तिक्त, कषाय आदि द्रव्यों के उपयोग के अतिरिक्त विरेचन, प्रदेह, परिषेक, अभ्यङ्ग तथा अवगाहन आदि पित्तहर क्रियाओं का विशेष प्रयोग बताया गया है। पैत्तिक रोगों में विरेचन का विशेष स्थान है ॥ ४० ॥

स्तैमित्यं गुरुताऽङ्गस्य निद्रातन्द्रातितृप्तयः ।
मुखमाधुर्यसंस्रावकफोद्गारबलक्षयाः ॥ ४१ ॥
हृल्लासोऽथ मलाधिक्यं धमनीकण्ठलेपकौ ॥ ४२ ॥
आमं च गलगण्डश्च वह्निसाद उदर्दकः ।
श्वेतावभासताऽङ्गानां तथा मूत्रपुरीषयोः ॥ ४३ ॥

कफ के २० विकार—१—स्तिमितता (गीले वस्त्र से अङ्गों के आच्छिदित होने की तरह प्रतीत होना) २—शरीर का भारीपन ३—निद्रा (नींद की अधिकता) ४—तन्द्रा (आलस्य) ५—अतितृप्ति (पेट का शीघ्र ही बहुत भरा मालूम पड़ना) ६—मुखमाधुर्य (मुख का स्वाद मीठा होना) ७—संस्राव (मुखस्राव-मुख से लालास्राव होना) ८—कफोद्गार (कफ का बाहर निकलना—कफ का थूकना) ९—बलक्षय (बल का क्षीण होना) १०—हृल्लास (जी मचलाना) ११—मलाधिक्य (मल की अधिकता) १२—धमनीलेपक (धमनियों का श्लेष्मा से लिप्त रहना) १३—कण्ठलेपक (कण्ठ का श्लेष्मा से लिप्त रहना) १४—आम (आम रस का उत्पन्न होना) १५—गलगण्ड १६—वह्निसाद (अग्निसाद-जाठराग्नि का मन्द होना) १७—उदर्द १८—श्वेतावभासता (अङ्गों का सफेद मालूम पड़ना) १९—श्वेतमूत्र (मूत्र का रंग सफेद होना—Phosphates, Chyle अथवा Albumin के कारण) २०—श्वेतपुरीष (मल का रंग सफेद होना—आंव-Mucus के कारण) असंख्य कफरोगों में से इन २० प्रधान रोगों का उल्लेख किया गया है। चरक सू० अ० २० में भी कफ के २० रोग गिनाये हैं—श्लेष्मविकारांश्च विंशतिमत ऊर्ध्वं व्याख्यास्यामः, तद्यथा—तृप्तिश्च, तन्द्रा च, निद्राधिक्यं च, स्तैमित्यं च, गुरुगात्रता च, आलस्यं च, मुखमाधुर्यं च, मुखस्रावश्च, श्लेष्मोद्गिरणं च, मलस्याधिक्यं च, कण्ठोपलेपश्च, बलासश्च, हृदयोपलेपश्च, धमनीप्रतिचयश्च, गलगण्डं च, अतिस्थौल्यं च, शीताग्निता च उदर्दश्च, श्वेतावभासता च, श्वेतमूत्रनेत्रवर्चस्त्वं चेति विंशतिः श्लेष्मविकाराः श्लेष्मविकाराणामपरिसंख्येयानामाविष्कृतमाव्याख्याताः ॥ ४१-४६ ॥

कफजानामसंख्यानां प्रधनाः परिकीर्तिताः ।
स्नेहशैत्यगुरुश्वेतमाधुर्यं कफलक्षणम् ॥ ४४ ॥
श्लक्ष्णता चामयोत्पत्तौ तस्य कर्माणि चक्ष्यते ।
स्नेहादि चिरकारित्वं बन्धोपचयसुप्तयः ॥ ४५ ॥

कफ के लक्षण या अपने रूप—स्निग्धता, शीतता, भारीपन, श्वेतता, मधुरता तथा श्लक्ष्णता (चिकनापन) ये कफ के लक्षण हैं। कफ के कर्म—कफ के रोग उत्पन्न होजाने पर स्नेह आदि (शरीर में स्निग्धता होना), रोग के लक्षणों का चिरकालीन होजाना (अथवा चिरकारित्व-प्रत्येक कार्य धीरे २ करना), बन्ध, उपचय (उपचित-संचित होना), सुप्ति (शरीर का स्पर्श ज्ञान रहित होना) तथा विष्टम्भ ये कफ के कर्म हैं। चरक सू० अ० २० में कहा है—सर्वेष्वपि तु खल्वेतेषु श्लेष्मविकारेष्वन्येषु चानुक्तेषु श्लेष्मण इदमात्मरूपमपरिणामि कर्म-

णश्च स्वलक्षणं, यदुपलभ्य तदवयवं वा विमुक्तसंदेहाः श्लेष्मविकारमेवाध्यवस्यन्ति कुशलाः, तद्यथा-श्वैत्यशैत्यस्नेहगौरवमाधुर्यमात्स्र्यानि श्लेष्मण आत्मरूपाणि, एवंविधत्वाच्च कर्मणः स्वलक्षणमिदमस्य भवति तं तं शरीरावयवमाविशतः, तद्यथा—श्वैत्यशैत्यकण्डूस्थैर्यगौरवस्नेहस्तम्भसुप्तिक्लेदोपदेहबन्धमाधुर्यचिरकारित्वानि श्लेष्मणः कर्माणि, तैरन्वितं श्लेष्मविकारमेवाध्यवस्येत् ॥ ४४-४५ ॥

विष्टम्भश्चेति, तत्र ज्ञः कषायकटुतिक्तकैः ।
रूक्षोष्णैश्चाप्युपचरेन्मात्राकालौ विचारयन् ॥ ४६ ॥

इनकी सामान्य चिकित्सा—विद्वान् चिकित्सक को चाहिये कि मात्रा और काल का विचार करते हुए कफ के रोगों की शान्ति के लिये कषाय, कटु, तिक्त, रूक्ष, तथा उष्ण द्रव्यों तथा स्नेहन, स्वेदन और पञ्चकर्म का प्रयोग करे। चरक सू० अ० २० में कहा है—तं कटुकतिक्तकषायतीक्ष्णोष्णरूक्षैरुपक्रमैरुपक्रमेत स्वेदनवमनशिरोविरेचनव्यायामादिभिः श्लेष्महरैर्मात्रां कालं च प्रमाणीकृत्य, वमनं तु सर्वोपक्रमेभ्यः श्लेष्मणि प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः, तद्ध्यादित एवामाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं श्लेष्ममूलमपकर्षति, तत्रावजिते श्लेष्मण्यपि शरीरान्तर्गताः श्लेष्मविकाराः प्रशान्तिमापद्यन्ते, यथा—भिन्ने केदारसेतौ शालियवषष्टिकादीन्यनभिष्यन्दमानान्यम्भसा प्रशोषमापद्यन्ते तद्वदिति। **उपर्युक्त कषाय तिक्त, आदि द्रव्यों के उपयोग के अतिरिक्त स्वेदन, वमन, शिरोविरेचन, व्यायाम आदि कफनाशक क्रियाओं द्वारा कफ की शान्ति करे। कफरोगों की शान्ति के लिये वमन का प्रधान स्थान माना जाता है ॥ ४६ ॥**

स्नेहस्वेदोपचारौ च तेषु कर्माणि पञ्च च ।
वातघ्नानां तु सर्वेषामनुवासनमुत्तमम् ॥ ४७ ॥

(इति ताडपत्रपुस्तके ४४ तमं पत्रम् ।)

सब वातघ्न पदार्थों एवं क्रियाओं में अनुवासन, पित्तघ्न पदार्थों एवं क्रियाओं में विरेचन तथा श्लेष्मघ्न पदार्थों एवं क्रियाओं में वमन श्रेष्ठ माना गया है ॥ ४७ ॥

पित्तघ्नानां विरेकश्च वमनं श्लेष्मघातिनाम् ।
येषां चिकित्सितस्थानमर्थे तु परिकीर्तितम् ॥ ४८ ॥
तांस्तु रोगान् प्रवक्ष्यामि न ह्यत्रैतत् समाप्यते ।
महागदोऽथ संन्यास ऊरुस्तम्भस्त एकशः ॥ ४९ ॥
ज्वरव्रणामगृध्रस्यः कामला वातशोणितम् ।
अर्शांस्यपि तथाऽऽयामो द्विविधा व्याधयस्तु ते ॥५०॥
वातासृक्श्वित्रशोथास्तु त्रिविधाः परिकीर्तिताः ।
ग्रहण्यग्निविकाराश्च कर्णरोगा मुखामयाः ॥ ५१ ॥
अपस्माराः प्रतिश्यायः शोषाणां हेतवो मदाः ।
चतुर्विधास्ते निर्दिष्टा मूर्च्छा क्लैब्यानि चैव हि ॥ ५२ ॥
तृष्णाच्छर्दिश्वासकासगुल्मप्लीहारुचिव्यथाः ।
हिक्कोन्मादशिरोरोगा हृद्रोगाः पाण्डुसंज्ञकाः ॥ ५३ ॥
एते पञ्चविधाः प्रोक्ताः, षड्विधानपि मे शृणु ।
उदावर्ता अतीसाराः, सप्तवीसर्पा अथामयाः ॥ ५४ ॥
मेहिनां पिडकाः कुष्ठं सप्त सप्तोपलक्षयेत् ।
शुक्रदोषाः पयोदोषा मूत्राघातोदराणि च ॥ ५५ ॥
अष्टावष्टौ वदन्त्येतान् ग्रहास्तु दश कीर्तिताः ।
योनिव्यापत्क्रिमिमेहान् विंशतिं विंशतिं विदुः ॥५६॥

यह रोगों का प्रकरण यहां समाप्त नहीं हुआ है। अभी मैं उन रोगों का उपदेश करूंगा जिनके लिये आगे चिकित्सा स्थान कहा गया है अर्थात् जिनका चिकित्सास्थान में वर्णन किया गया है। वे रोग निम्न हैं—एक २ रोग—महागद, सन्यास तथा उरुस्तम्भ (महागद को चरक में अतत्वाभिनिवेश कहा है अर्थात् जिसमें तत्व का यथावत् ज्ञान न हो)—ये एक २ रोग होते हैं। दो २ रोग—ज्वर, व्रण, आमदोष, गृध्रसी, कामला, वातशोणित (वातरक्त—Gout), अर्श, आयाम (अन्तरायाम तथा बाह्यायाम)—ये दो २ व्याधियां हैं। तीन २ रोग—वातासृक् (वातरक्त), श्वित्र (किलास-कुष्ठ रोग) तथा शोथ-ये तीन २ रोग हैं। चार २ रोग—ग्रहणीरोग, अग्निरोग, कर्णरोग, मुखरोग, अपस्मार, प्रतिश्याय, शोषों के कारण (साहस, वेगरोध, क्षय, विषमासन), मद, मूर्च्छा तथा क्लीवता—ये चार २ रोग हैं। पांच २ रोग—तृष्णा, छर्दि, श्वास, कास, गुल्म, प्लीहा, अरुचि, व्यथा, हिक्का, उन्माद, शिरोरोग, हृद्रोग तथा पाण्डुरोग-ये पांच २ प्रकार के होते हैं। ६ प्रकार के रोग—उतावर्त तथा अतिसार। सात २ रोग—विसर्परोग, मधुमेह की पिडकाएं (Carbuncles) तथा कुष्ठ ये सात २ होते हैं। आठ २ रोग—शुक्रदोष, क्षीरदोष, मूत्राघात तथा उदररोग—ये आठ २ होते हैं। दस प्रकार के रोग—ग्रहरोग १० होते हैं। २० प्रकार के रोग—योनिरोग, कृमिरोग तथा प्रमेह-ये बीस २ होते हैं। इन सब रोगाधिकरणों का चिकित्सास्थान के हेतु से यहां संक्षेप में उल्लेख किया गया है। इस प्रकार यहां एक २ रोग के तीन वर्ग, दो २ के आठ, तीन २ के तीन, चार २ के आठ, पांच २ के पन्द्रह, छः २ के दो, सात २ के तीन, आठ २ के चार, दस का एक तथा बीस २ के तीन वर्ग दिये हैं। चरक सू० अ० १९ (अष्टोदरीय अध्याय) में इनका विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। विशेष ज्ञान के लिये जिज्ञासु पाठक इसे वहीं देखें ॥ ४८-५६ ॥

एते समासतः प्रोक्ताश्चिकित्सास्थानहेतवः ।
पूर्वोद्भवनिमित्तेन योऽपरो जायते गदः ॥ ५७ ॥

उपद्रव का लक्षण—पूर्व उत्पन्न व्याधि के साथ पीछे से जो दूसरा रोग हो जाता है उसे उपद्रव कहते हैं जिस प्रकार ज्वर में पीछे अतिसार हो जाता है। सुश्रुत सू० अ० ३५ में कहा है—"तत्र, औपसर्गिको यः पूर्वोत्पन्नं व्याधिं जघन्यकालजातो व्याधिरुपसृजति स तन्मूलमूलक एवोपद्रवसंज्ञः"। **जो पहले उत्पन्न हुई व्याधि के उत्तरकाल (बाद में) उत्पन्न होता है तथा पहले व्याधि के मूल में ही जिसका मूल (कारण) है उसे**

उपद्रव कहते हैं। चरक में इसका निम्न लक्षण दिया है—उपद्रवस्तु खलु रोगोत्तरकालजो रोगाश्रयो रोग एव स्थूलोऽणुर्वा रोगात्पश्चाज्जायत इति उपद्रवसंज्ञः। आजकल के विज्ञान के अनुसार Secondary complications and sequala का अन्तर्भाव 'उपद्रव' शब्द में होजाता है ॥ ५७ ॥

तमुपद्रवमित्याहुरतीसारो यथा ज्वरे।
चिकित्सितं तथोत्पत्ति तेषामेके प्रचक्षते ॥ ५८ ॥
उपद्रवाणामित्येके पूर्वं नेत्याह कश्यपः।
उभयत्रैव यद्युक्तं पानभोजनभेषजम् ॥ ५९ ॥
शान्तये तत् प्रयुञ्जीत न वर्धेते तथा ह्युभौ।
यं वा तीव्रतरं पश्येद्व्याधिं विद्वान् स्वलक्षणैः ॥६०॥
तमेवोपक्रमेतादौ सिद्धिकामो भिषग्वरः।

उपद्रवों की चिकित्सा—कुछ विद्वान् कहते हैं कि उत्पत्ति के क्रम के अनुसार ही रोगों की चिकित्सा करे अर्थात् जो मुख्य रोग पहले हुआ है उसकी पहले तथा उपद्रव (जो पीछे से अनुबन्ध रूप में हुआ है) की पीछे चिकित्सा करे। तथा कुछ आचार्य कहते हैं कि इनमें से उपद्रवों की चिकित्सा पहले करनी चाहिये। भगवान् कश्यप कहते हैं—यह ठीक नहीं है। उनके मत में दोनों (मूलव्याधि तथा उपद्रव) की ही शान्ति के लिये उचित अन्नपान तथा भेषज का इस प्रकार से प्रयोग करे कि दोनों शान्त हो जायें तथा दोनों में से कोई भी बढ़ने न पावे। अथवा सफलता को चाहने वाले चिकित्सक को चाहिये कि जो व्याधि अपने तीव्र (उग्र—Acute) रूप में हो उसकी पहले चिकित्सा करे अर्थात् जो व्याधि अधिक तीव्र रूप में हो उसकी चिकित्सा पहले करे। उसके शान्त अथवा मन्दवेग होजाने पर पीछे से दूसरे रोग की चिकित्सा की जा सकती है ॥ ५८–६० ॥

यो हेतुः पित्तरोगाणां रक्तजानां स एव तु ॥ ६१ ॥
शोणितं कुपितं जन्तुं क्लिश्नाति बहुभिर्मुखैः ॥ ६२ ॥

रक्तज रोगों के हेतु तथा चिकित्सा—पैत्तिकरोगों के जो कारण हैं, रक्तरोगों के भी कारण वे ही हैं। कुपित हुआ रक्त प्राणियों को अनेक प्रकार से कष्ट देता है।

वक्तव्य—जिन कारणों से पित्त प्रकुपित होता है उन्हीं से रक्त भी प्रकुपित होता है। हमारे प्राचीन शास्त्रों में पित्त को रक्त का ही मल माना गया है। सुश्रुत—सू० अ० ४६ में कहा है—कफः पित्तं मलः खेपु स्वेदः स्यान्नखरोम च। नेत्रविट् त्वक्षु च स्नेहो धातूनां क्रमशो मलाः॥ कफ, पित्त आदि क्रमशः रसरक्त आदि धातुओं के मल हैं। पाश्चात्य विज्ञान के अनुसार भी पित्त का रक्त से ही निर्माण माना गया है। Halliburton's physiology में कहा है–Liver cells take certain materials from plasma and eleborate the constituants of the bile. Bile pigments are formed from pigments of broken down blood Corpaseles. पित्त और रक्तका परस्पर घनिष्ठ संबन्ध है। इसीलिये पित्तप्रकोपक कारणों से ही रक्त भी प्रकुपित हो जाता है। सुश्रुत सू० अ० २१ में कहा भी है–पित्तप्रकोपणैरेव चाभीक्ष्णं द्रवस्निग्धगुरुभिराहारैर्दिवास्वप्नक्रोधानलातपश्रमाभिघाताजीर्णविरुद्धाध्यशनादिभिर्विशेषैरसृक् प्रकोपमापद्यते॥

वैवर्ण्यसंतापशिरोक्षिरोगदौर्बल्यदौर्गन्ध्यतमः प्रवेशाः।
वैसर्पविद्रध्युपजिह्वगुल्मरक्तप्रमेहप्रदरातिनिद्राः ॥६३॥
मन्दाग्निता स्रोतसां पूतिभावः
स्वरक्षयः स्वेदमदानिलासृक्।
तृष्णाऽरुचिः कुष्ठविचर्चिकाश्च
कण्डूः सकोठाः पिडकाः सकण्डूः ॥६४॥

रक्तजरोग—विवर्ण (रक्त की कमी से शरीर का रङ्ग सफेद हो जाना), सन्ताप, शिरोरोग, अक्षिरोग, दुर्बलता, दुर्गन्धि, तमःप्रवेश (अन्धकार में प्रवेश करने के समान प्रतीत होना) विसर्प, विद्रधि, उपजिह्व, गुल्म, रक्तप्रमेह (मूत्र के साथ रक्त आना–Haematuria), प्रदर, अतिनिद्रा, मन्दाग्नि, स्रोतों में दुर्गन्धि आना, स्वरक्षर (Laryngitis), स्वेद, मल, वायु, तृष्णा, अरुचि, कुष्ठ, विचर्चिका, कण्डू, कोठ, पिडका तथा इन रोगों के अतिरिक्त अन्य भी बहुत से अनुक्त रोग रक्त विकार से हो जाते हैं। सुश्रुत सू० अ० २४ में निम्न रक्तज रोग गिनाये हैं—कुष्ठविसर्पपिडकामशकनीलिकातिलकालकन्यच्छव्यङ्गेन्द्रलुप्तप्लीहविद्रधिगुल्मवातशोणितार्शोऽर्बुदाङ्गमर्दासृग्दररक्तपित्तप्रभृतयो रक्तदोषजाः गुदमुखमेढ्रपाकाश्च। इसी प्रकार चरक सू० अ० २८ में भी निम्न रक्तज दोष दिये हैं—कुष्ठवीसर्पपिडका रक्तपित्तमसृग्दरः। गुदमेढ्रास्यपाकश्च प्लीहा गुल्मोऽथ विद्रधी॥ नीलिका कामला व्यङ्गं पिप्लवस्तिलकालकाः। दद्रुश्चर्मदलं श्वित्रं पामाकोठास्रमण्डलम्॥ रक्तप्रदोषाज्जायन्ते ॥६३–६५॥

अन्ये च रोगा विविधा अनुक्ता-
स्तेष्वादितः स्रंसनमेव पथ्यम्।
वैसर्पवच्चात्र वदन्ति सिद्धं
रक्तावसेकं च विशोषणं च ॥ ६५ ॥

रक्तज दोषों की चिकित्सा—इनमें सर्वप्रथम विरेचन देना चाहिये। इसकी विसर्प के समान चिकित्सा की जाती है तथा इसमें रक्तमोक्षण और शरीर का शोषण किया जाता है। रक्तमोक्षण करते समय सुश्रुत सू० अ० १४ में निम्न बातों का ध्यान रखने को कहा गया है—तस्मान्न शीते नात्युष्णे नास्विन्ने नातितापिते। यवागूं प्रतिपीतस्य शोणितं मोक्षयेद्भिषक्॥ रक्तमोक्षण अत्यन्त सर्दी अथवा अत्यन्त गर्मी में न करके साधारण ऋतु में करना चाहिये ॥ ६५ ॥

न त्वेव बालस्य विशोषणं हितं
नैवातिसंशोधनरक्तमोक्षणे।
स्निग्धैः सुशीतैर्मधुरैरदाहिभिस्त-
त्रोपचारोऽशनलेपसेचनैः ॥ ६६ ॥

इति ह स्माह भगवान् कश्यपः।
इति रोगाध्यायः सप्तविंशतितमः ॥ २७ ॥

बालक का चिकित्सा कार्य में अधिक शोषण, अधिक रक्त-मोक्षण तथा आवश्यकता से अधिक संशोधन करना उचित नहीं है । उसका स्निग्ध, शीतल, मधुर तथा दाह न उत्पन्न करने वाले अन्नपान, लेप तथा परिषेचन के द्वारा ही उपचार करना चाहिये। ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था॥६६॥

इति रोगाध्यायः सप्तविंशतितमः ॥ २७ ॥

अष्टाविंशतितमोऽध्यायः ।

अथातो लक्षणाध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ २ ॥

अब हम लक्षणाध्याय का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था। अर्थात् इस अध्याय में बालकों के शरीर में होनेवाले शुभ तथा अशुभ लक्षणोंका वर्णन किया जायगा ॥

भगवँल्लक्षणैर्बाला आयुष्मन्तो भवन्ति कैः ।
सुखिनो दुःखिनः कैः कैर्वा विद्यादनायुषः ॥ ३ ॥
कति सत्त्वानि मर्त्यानां सत्त्वानां लक्षणं च किम् ।
प्रशस्तं निन्दितं देहे यद्यत्तत्तदिहोच्यताम् ॥ ४ ॥

भगवन्! किन लक्षणों से बालक आयुष्मान् होते हैं अर्थात् किन लक्षणों को देखकर बालक के दीर्घायुष्य का ज्ञान हो सकता है? बालकों के सुख, दुःख तथा अनायुष्य (कम आयु) का ज्ञान कैसे हो सकता है? मनुष्यों के कितने सत्त्व होते हैं? सत्त्वों के लक्षण क्या हैं? तथा अन्य भी शरीर में जो जो प्रशस्त एवं निन्दित भाव हों उन २ का आप उपदेश कीजिये॥

पञ्चावदानवचनं श्रुत्वा प्रोवाच कश्यपः ।
कृत्स्नं लक्षणविज्ञानं सत्त्वं निन्दितपूजितम् ॥ ५ ॥

इन उपर्युक्त पांच प्रशस्त वचनों (प्रश्नों) को सुनकर महर्षि कश्यप ने सम्पूर्ण लक्षण विज्ञान, सत्त्व तथा अन्य निन्दित एवं प्रशस्त भावों का उपदेश किया ॥ ५ ॥

इह खलु कुमाराणां वृद्धजीवक ! स्निग्धतनुश्लक्ष्णताम्रा नखा आधिपत्याय भवन्ति, स्थूला आचार्याणां, राजीमन्तश्च दीर्घाश्चायुष्मतां, निम्नशुक्तितुषाकृतयो दरिद्राणां, रूक्षा दुःखभागिनां, पुष्पिता लुण्ठानां, श्वेता मण्डला अनायुषां, स्फुटिता अस्त्रतन्त्राणां, विवर्णा व्यसनिनां, समुन्नता निपिण्डान्ता अल्पाः सुखभागिनां, विपुलैर्नखैर्मध्यत्वमाह, स्थूलाः श्वेता विषमाश्च प्रव्राजयन्ति । पादैः पीनैः सुप्रतिष्ठितैरूर्ध्वलेखैरायुष्मन्तो धनवन्तोऽधिपतयः, स्वस्तिकलाङ्गलकमलशङ्खचक्रहयगजरथप्रहरणमङ्गलाङ्कितै राजानः, ताम्रैः स्निग्धैः सुभगाः, उत्कु(त्क)टकैर्मध्यधनायुषः, श्वेतैरधनाः, अलेखैः परकर्मकराः, बहुलेखै रोगिणः, सुवृत्तश्लक्ष्णपार्ष्णिभिः सर्वगुणोपपन्ना भवन्ति, हीनपार्ष्णिभिरनायुषः प्रजाहीनाः, चिपिटाः पारदारिकाः । अङ्गुलीनखपादैर्दीर्घैर्दीर्घायुषो, ह्रस्वैर्ह्रस्वायुषः । अङ्गुलीभिर्घनाभिर्भोग्यवन्तो, गूढपर्वाभिर्भोगिनः, स्थूलपर्वाभिराचार्याः, लोमशाभिरधनाः । खरपरुषतनुविषमस्फुटितमलिना पार्ष्णिरप्रशस्ता । उत्तरपादमुन्नतमसिरमलोमकं प्रशस्यते, विषमं विपरीतं च तस्कराणाम् । गुल्फौ गूढावल्पावलोमसिरौ प्रशस्येते, धननाशायोल्बणौ, विपुलौ परिक्लेशाय । प्रजङ्घा तन्वी प्रशस्यते, स्थूला पतिपुत्रद्रव्यसुखक्षयकरी स्तेनाय च । जङ्घे चानुद्वृद्धे असिरे अलोमिके प्रशस्येते, शुष्कस्थूलसिरालोमशे विपरीते, वैधव्यकर्यौ तु नारीणाम् । जानुनी च गूढे धन्ये । ऊरू मांसोपचितौ गूढसिरौ श्लक्ष्णौ प्रशस्येते । स्फिचौ निर्वृत्तावलम्बौ

(इति ताडपत्रपुस्तके ४५ तमं पत्रम् ।)

निर्व्रणावलोमशावविषमौ प्रशस्येते, शुष्कावनपत्यानां, लम्बौ प्रधाननाशाय, महान्तौ पौंश्चल्याय, अल्पकौ शीलवताम् । कुकुन्दरौ गम्भीरावलोमशौ प्रविभक्तौ समौ प्रशस्येते, लोमशौ प्रव्रज्यायै, प्रदक्षिणावर्तौ तु धन्यौ, विपुलौ दीर्घायुषां, श्लिष्टावनायुषाम् । जघनमुरसा तुल्यं प्रशस्यत इत्येके । कुमाराणामुरस्तु विशालतरं, जघनं तु कुमारीणां, न तु मध्याय कल्पते । वृषणौ प्रलम्बौ बृहतौ गौरस्य, कृष्णौ कृष्णस्य, गौरौ रक्तस्य, श्यामौ श्यामस्य, रक्तौ लोमशौ मध्यौ स्मृतौ, पीनौ प्रशस्येते, विपरीतौ दौर्भाग्यपुंस्त्वप्रजाहानिकरौ, स्वल्पावनायुषां, दुःखाय चैके, गोखरहयाजाविकाकृती तु सुभगानामायुष्मतां च विज्ञेयौ । प्रजननं मृदु दीर्घमुच्छ्रितं बृहत्ताम्रनिर्वृत्तमणि महाकोशं महास्रोतः प्रशस्यते, तनु ह्रस्वं लम्बि त्रिकोशं श्वेतश्यावविसृतं वामावृत्तमप्रशस्तम् । मूत्रमनाविद्धमतनुकमनल्पमृजुवेगं प्रशस्यते, तद्विपरीतमतिगन्धि सवेदनमत्युष्णं विवर्णमनिमित्तकालमशब्दमप्रशस्तं, कन्यकानां च स्फालितमूत्रत्वमुभयोर्वाऽनपत्यकरम् । योनिः शकटाकृतिरपत्यलाभाय, पीना सौभाग्याय, लम्बाऽपत्यवधाय, मण्डला व्यभिचरणाय, उत्क्षिप्ताऽनपत्यत्वाय, सूचीमुखी दौर्भाग्याय, भृशविवृतसंवृतशुष्का लम्बा विषमा विलिङ्गा क्लेशलाभाय, मध्यनिबिडा कन्याप्रजननाय, उन्नता रमणीया मांसला पुत्रजन्मने, व्यञ्जनवती च धन्या, अतिलोमशा वैधव्यकरी, व्यञ्जनहीना त्वयशसे, पिप्लुमद्वसावती व्यभिचारप्रव्रज्यायै । तथैव लोमराज्युभयतो मध्यमागता नातिघना प्रशस्यते, वैधव्यायाति-

स्थूला, अतिस्थूलघनलोमा पौंश्चल्याय, अधोजाता दौर्भाग्याय, नाभिमतिवृत्ता मध्यत्वाय । कुक्षी समुन्नतौ प्रशस्येते, लोमशौ प्रव्रज्यायै, सिरालौ कुभोजनाय, निम्नौ दारिद्र्याय, समौ मध्यत्वाय, दक्षिणोन्नतौ पुत्रजन्मने, वामोन्नतौ विपरीतौ । ईषदुन्नतमुदरमशिथिलमकठिनमविपुलं प्रशस्यते, दारिद्र्याय शुष्कम् , उन्नतं भोगाय, विशालविषमं विषमशीलभोगाय कल्पते, भृशशुष्कसनपत्यं; स्त्रियाश्चाधस्तादुपचितमसिरमतिविपुलमवलिकमनायुषे, मध्यं नाभेरुपरिष्टादनायुषे, एकवलिकं धन्यं, द्विवलिकं बुद्धिलाभाय, त्रिवलिकं सौभाग्याय, चतुर्वलिकं प्रजायुषे, बहुवलिकमधन्यमनायुषे भवत्युदरम् । नाभिः गम्भीरा प्रदक्षिणा वृत्तोत्सङ्गिनी लोमसिरावर्तवर्जिता प्रशस्यते, गर्ताकृतिरनुन्नता सुखदुःखकरी, विषमोन्नताऽनायुष्या, स्वल्पाकृतिरनपत्या, विदेशस्था प्रव्राजयति, बृहती गम्भीरोन्नताऽऽधिपत्याय । नाभ्या पायुर्व्याख्यातः। पार्श्वे वृत्ते मांसले स्निग्धे अलोमसिरे प्रशस्येते, लोमसिरे प्रव्राजयेते । पृष्ठं सममुपरिविशालमसिरमलोमकमनावर्तकं प्रशस्यते, मध्ये निम्नमायुष्मतां, निर्भुग्नं दुःखभागिनां, संक्षिप्तमनायुषां, लोमशममैत्राणामल्पापत्यानां च । लोमस्कन्धो वणिग्भारजीवी कितवो रङ्गजीवी वा, शुष्कांसो दरिद्रः, तावुभौ दीर्घायुषौ कदाचित् प्रव्रजेतामपि; स्निग्धांसः कर्षकः, पीनांसः आढ्यः, कठिनांसः शूरः, शिथिलांसोऽस(श)क्तः; उन्नतांसः पुमान् प्रशस्यते, भ्रष्टांसा कन्या; विपरीते तद्गुणहानिः। कक्षावुन्नतौ पृथुलौ पीनौ सुव्यञ्जनौ प्रशस्येते, विपरीतावधन्यौ, भृशलोमशौ च नारीणाम् । तथा बाहू आनुपूर्व्योपचितौ गूढारत्नी दीर्घौ जानुस्पृशौ प्रशस्येते, सिराततावायुष्मतां, पद्म (क्ष)-वन्तौ प्रजावताम्, असिरावप्रजानां, तिर्यक्सिरौ कृच्छ्रजीविनां, तिलवन्तौ प्रव्राजयतः, मशकलक्षणवन्तौ कलहाय । मणिबन्धने स्थूले पुंसः प्रशस्येते, तनू स्त्रियाः । उभयोरेव तिस्रो यवपङ्क्तयोऽच्छिन्नाः प्रशस्यन्ते, प्रथमा धन्या, द्वितीया मुख्या, तृतीया प्रजायुषे, सर्वाश्चेदविच्छिन्नाः स्निग्धा व्यक्तगम्भीरलिखिता आधिपत्याय, चतस्रो राजर्षेः, पञ्च षट् शतपुत्रस्य, सप्त देवनिकायानाम्, एकाऽपि चेदविच्छिन्ना व्यक्ता सुखायोपपद्यते ।..........................

....

....

(इति ताडपत्रपुस्तके ४६ तमं पत्रम् ।)

....

....

स्त्रीणां चातिदीर्घाश्चातिह्रस्वाश्च निन्दिताः । केशभूमिः स्निग्धा लोहिता निर्मला निर्व्रणा च प्रशस्यते ॥

मत्तगजवृषभसिंहशार्दूलहंसगतयोऽधिपतयः, स्तिमितगतयो धन्याः, चपलगतयश्चपलसुखदुःखलाभिनः, तिर्यग्गतयस्त्वधन्याः स्खलनाश्चाङ्गविस्फोटिनश्चाप्रशस्ताः । तथा, अतिगौरमतिकृष्णमतिदीर्घमतिह्रस्वमतिकृशमतिस्थूलमतिलोमशमलोमशमतिमृद्वतिकठिनं च शरीरेष्व(रम)प्रशस्तमुच्यते । तथा बालानां रुषितरुदितस्वप्नप्रजागरक्रोधहर्षविसर्गादानपङ्क्तिस्थैर्यगाम्भीर्याणि युक्तानि गुणाधिकानि प्रशस्यन्त इति ॥ ६ ॥

हे वृद्धजीवक बालकों के दीर्घायुष्य के निम्न लक्षण होते हैं—नख—स्निग्ध, तनु (पतले) चिकने तथा ताम्र वर्ण के हों तो बालक अधिपति (राजा या स्वामी) होता है। स्थूल नख हों तो आचार्य होता है। रेखायुक्त तथा दीर्घ हों तो आयुष्मान् (दीर्घायुष्य वाला), नख नीचे झुके हुए, शुक्ति (सीप) तथा तुषाकृति हों तो बालक दरिद्र, रूक्ष हों तो दुखी, पुष्पित (पुष्पों की गन्धरूप अरिष्ट लक्षणों से युक्त) हों तो लुब्ध व्यक्ति, श्वेतवर्ण के तथा मण्डलाकार हों तो कम आयु वाला, स्फुटित टूटे हुए हों तो पराधीन, विवर्ण हों तो व्यसनी, उन्नत (उठे हुए), किनारे पर मुड़े हुए या गोल तथा छोटे हों तो बालक सुखी होता है। नख विपुल हों तो वह मध्य श्रेणी का होता है तथा स्थूल श्वेत एवं विषम हों तो बालक भ्रमणशील होता है। पाद (पैर–Foot)—मोटे, अच्छी प्रकार प्रतिष्ठित तथा ऊपर की ओर रेखाओं वाले हों तो बालक आयुष्मान्, धनवान् तथा अधिपति (स्वामी) होते हैं। स्वस्तिक, लाङ्गल (हल) कमल, शंख, चक्र, घोड़ा, हाथी, रथ आदि मङ्गलकारी प्रहरणों से चिह्नित हों तो वे बालक राजा होते हैं। ताम्र वर्ण एवं चिकने हों तो ऐश्वर्यशाली होते हैं। यदि पैर मुड़े हुए हों तो मध्यम (साधारण) धन एवं आयु होती है। यदि उनके पैर श्वेत हों तो वे निर्धन, रेखाओं से रहित हों तो वे दूसरों का काम अर्थात् नौकरी (दासत्व) करने वाले, बहुत रेखायें हों तो वह रोगी, गोल तथा चिकनी एड़ी वाले हों तो वे सर्वगुणसम्पन्न, यदि छोटी एड़ी वाले हों तो कम आयु वाले एवं सन्तान रहित तथा यदि उनके पैर चपटे हों तो वे दूसरों की स्त्रियों को भगाने वाले अथवा उनसे प्रेम आदि करने वाले होते हैं। अङ्गुलियां, नाखून तथा पैर आदि यदि दीर्घ हों तो वे दीर्घायु तथा ह्रस्व हों तो अल्पायु होते हैं। अंगुलियां—यदि बालक की अंगुलियां मजबूत हों तो वह भाग्यवान्, पर्व (अंगुलियों की सन्धियां) यदि खूब गूढ हों तो भोगी तथा स्थूल हों तो आचार्य, और यदि अंगुलियां लोमश (बालों से युक्त) हों तो बालक निर्धन होता है। पार्ष्णि (एड़ी–Heal)—खुरदरी, परुष (कठोर), तनु (पतली), विषम, फटी हुई तथा मलिन एड़ी अप्रशस्त मानी गई है। उत्तरपाद (पैर का ऊपर का भाग–Dorsum of Foot)—उन्नत (उठा हुआ),

शिराओं से रहित (जिस पर शिरायें-Veins उभरी हुई न हों) तथा लोम (बालों) से रहित प्रशस्त होता है। इससे विपरीत तथा विषम हो तो वह बालक चोर होता है। गुल्फ (टखने-Ankles) - मजबूत, छोटे तथा लोम (बालों) और शिराओं से रहित प्रशस्त माने गये हैं। इसके विपरीत यदि वे बहुत उभरे हुए हों तो धननाश तथा बहुत विशाल हों तो क्लेश (दुःख) के कारण होते हैं। प्रजङ्घा (Lower and of the leg)—यह पतली प्रशस्त मानी गई है। स्थूल प्रजङ्घा-पति पुत्र धन तथा सुख का क्षय करने वाली एवं चोरों की होती है। जङ्घा (Legs) – कसी हुई तथा शिरा और लोम से रहित प्रशस्त मानी गई है। अतिशुष्क (सूखी हुई-पतली) अतिस्थूल तथा शिरा और लोम से युक्त अप्रशस्त होती हैं। ये (अप्रशस्त जङ्घायें) नारियों के लिये वैधव्य करने वाली होती हैं अर्थात् जिन स्त्रियों की जङ्घायें अप्रशस्त होती हैं वे भविष्य में विधवा हो जाती हैं। जानु (घुटने-Knee joints)—मजबूत प्रशस्त होते हैं। ऊरु (जांघ-Thigh)—मांस से युक्त, गहरी (Deep seated शिराओं वाली) तथा चिकनी-प्रशस्त होती हैं। दोनों स्फिक् (नितम्ब-Buttocks)—निर्वृत्त (गोल), जो लम्बे न हों, व्रण एवं लोमरहित तथा अविषम (जो विषम न हो अर्थात् सम हों) प्रशस्त होते हैं। शुष्क नितम्ब सन्तान रहित व्यक्ति के, लम्बे-प्रधानता नष्ट होने वालों के (अर्थात् जिनके नितम्ब लम्बे होते हैं उनकी प्रधानता-बड़प्पन नष्ट हो जाती है), बड़े नितम्ब दुश्चरित्रा के तथा छोटे शीलवान् बालकों के होते हैं। कुकुन्दर (Ischial tuberosities)—गंभीर (गहरे) लोमरहित, विभक्त हुए तथा समान आकार वाले प्रशस्त होते हैं। लोमयुक्त कुकुन्दर भ्रमणशील स्त्रियों के होते हैं। दक्षिण की ओर जिसमें आवर्त (चक्कर) हों वे प्रशस्त माने गये हैं, विपुल (बड़े) दीर्घायु वाले व्यक्तियों के तथा श्लिष्ट (आपस में मिले हुए) अल्पायु के होते हैं। जघन (कूल्हे-Pelvis)—कुछ लोग कहते हैं कि कूल्हे छाती के समान परिमाण वाले प्रशस्त होते हैं। बालकों की छाती विशाल होती है तथा बालिकाओं के कूल्हे (Pelvic region) विशाल होते हैं। ये दोनों छाती तथा कूल्हे मध्यम आकारवाले प्रशस्त नहीं होते हैं।

वृषण (Testicles)—गौरवर्ण वाले बालक के वृषण लम्बे तथा बड़े, कृष्णवर्णवाले के कृष्ण, रक्तवर्ण वाले के गौर तथा श्यामवर्ण वाले के श्याम होते हैं। रक्तवर्ण तथा लोमयुक्त वृषण मध्यम श्रेणी के माने गये हैं। मोटे वृषण प्रशस्त होते हैं। इससे विपरीत अर्थात् पतले वृषण दुर्भाग्य वाले तथा पुंस्त्व और सन्तान नाशक माने गये हैं। छोटे वृषण अल्पायुओं के तथा दुःख के कारण होते हैं। गौ, गदहा, घोड़ा, बकरी तथा भेड़ की आकृति वाले वृषण सौभाग्यशाली तथा आयुष्मान् बालकों के होते हैं। प्रजनन (शेप—Penis)—कोमल, दीर्घ, उच्छ्रित (उछ्राय अथवा हर्षयुक्त), बड़ी ताम्रवर्ण की तथा गोल मणि (Glans) युक्त, महान् कोश तथा महान् स्रोतों वाला प्रशस्त होता है। तथा तनु (पतला), बहुत छोटा, बहुत लम्बा, कोशरहित, श्वेत तथा काले स्राव वाला तथा वाम पार्श्व में आवृत्त वाला प्रजनन अप्रशस्त होता है। मूत्र—जो कष्ट से न आता हो, अत्यन्त पतला न हो, मात्रा में बहुत कम न हो तथा जिसका वेग सरलता पूर्वक हो—वह प्रशस्त होता है। इससे विपरीत अत्यन्त गन्ध (odour) वाला, वेदनायुक्त (Dysurea), अत्यन्त उष्ण, विवर्ण (श्वेतवर्णवाला अथवा अस्वाभावि वर्ण वाला,-Straw Colour मूत्र का स्वाभाविक वर्ण माना जाता है, इससे विपरीत वर्ण वाला अस्वाभाविक होता है), अनिश्चित समय पर आने वाला तथा शब्द से रहित अप्रशस्त माना गया है। कन्याओं के लिये अथवा कन्या एवं बालक दोनों के लिये स्फालितमूत्रत्व (मूत्र का इधर उधर फैल जाना) अनपत्यकर (सन्तानोत्पत्ति को नष्ट करने वाला) होता है। योनि (Vagina)—शकटाकार योनि सन्तानोत्पत्ति के लिये होती है स्थूल सौभाग्य के लिये, लम्बी अपत्यवध (सन्तानघात) के लिये, गोल व्यभिचार के लिये, उत्क्षिप्त (ऊपर उठी हुई) अनपत्य (सन्तान न होने) के लिये, सूचीमुखाकार दुर्भाग्य के लिये, बहुत अधिक फैली हुई बिलकुल संकुचित, शुष्क, लम्बी, विषम तथा लिङ्गरहित योनि क्लेश के लिये, मध्यम रूपसे भिंची हुई (न अधिक फैली हुई और न सिकुड़ी हुई) योनि कन्या की उत्पत्ति के लिये, उन्नत (उठी-उभरी हुई) रमणीय तथा मांसयुक्त योनि पुत्रोत्पत्ति के लिये होती है। व्यञ्जनयुक्त योनि प्रशस्त, अत्यन्त लोमश वैधव्य उत्पन्न करने वाली, व्यञ्जन रहित अप्रशस्त, तथा पिप्लु[1] (मांसाङ्कुर) एवं वसावती (वसा-मेद वाली) योनि व्यभिचार के लिये होती है। इसी प्रकार दोनों ओर बालों की पंक्तियों वाली, मध्यम तथा जो अत्यन्त घनी न हो वह योनि प्रशस्त होती है। अत्यन्त स्थूल वैधव्य के लिये होती है। अत्यन्त स्थूल एवं घने बालों वाली पुंश्चली (कुलटा) के लिये, नीचे झुकी हुई दुर्भाग्य के लिये तथा नाभि से भी ऊपर पहुंची हुई योनि मध्यम श्रेणी की होती है। कुक्षि (कोख-Flanks)—उन्नत (उठी हुई) प्रशस्त होती है। लोमयुक्त कोख अत्यन्त घूमने (भ्रमण करने) वाली के लिये, शिराओं से युक्त कुत्सित भोजनवालों के लिये, नीचे दबे हुए दरिद्रों के, सम आकार वाले मध्यम बालकों के, तथा यदि दक्षिण कुक्षि (Right flank) उभरी हुई हो तो पुत्रजन्म के लिये वाम कुक्षि (Left flank) उभरी हुई हो तो कन्या के जन्म के लिये होती है। उदर (Abdomen)—ईषत् उन्नत, अशिथिल (जो शिथिल-ढीला न हो), कोमल तथा बहुत बड़ा न होना प्रशस्त होता है। शुष्क उदर दरिद्रों के लिये, बड़ा उदर भोग के लिये, विशाल तथा विषम उदर विषम स्वभाव तथा भोग वालों के होते हैं, अत्यन्त सूखा हुआ उदर अनपत्यकर होता है। स्त्रियों का पेट नीचे से बहुत अधिक उपचित (बढ़ा हुआ), शिराओं से रहित,

१. 'जडुलः कालकः पिप्लुः' इत्यमरः, 'निरुक्कृष्णो मांसाङ्कुरः' इत्यष्टाङ्गसंग्रहव्याख्यायामिन्दुः, जतुमणिरित्यस्य नामान्तरम्, पिप्लुमती वसावती (मेदस्विनी) चेत्यर्थः।

अत्यन्त बड़ा तथा वलियों (लकीरों) से रहित अनायुष्यकर होता है। नाभि से ऊपर दबा हुआ होना अनायुष्यकर होता है। पेट पर यदि एक वलि (लकीर) हो तो वह प्रशस्त होता है, दो वलियों वाला बुद्धि के लिये, तीन वलियों वाला सौभाग्य के लिये, चार वलियों वाला सन्तान तथा आयु के लिये तथा बहुत वलियों वाला उदर अनायुष्यकर तथा अप्रशस्त होता है। नाभि (Umblicus)—गहरी, दक्षिण की ओर घूमी हुई, गोल, उठे हुए किनारों वाली, लोम शिरा तथा आवर्तों से रहित प्रशस्त होती है। गर्ताकार तथा अनुन्नत (जो उन्नत न हो) नाभि सुख तथा दुःख को करने वाली है। विषम रूप से उभरी हुई नाभि अनायुष्यकर होती है। स्वल्प आकृति वाली नाभि अनपत्यकर होती है। अपने स्थान से हटी हुई नाभि भ्रमणशील व्यक्ति की होती है तथा बड़ी, गम्भीर और उन्नत नाभि अधिपति (स्वामी) की होती है। नाभि के द्वारा ही वायु (गुदा–Anus) का भी व्याख्यान समझना चाहिये। अर्थात् नाभि के समान ही गुदा के लक्षण समझने चाहिये। पार्श्व—गोल, मांसल, स्निग्ध तथा लोम और शिराओं से रहित प्रशस्त होते हैं। लोम और शिराओं से युक्त भ्रमणशील व्यक्ति के होते हैं। पृष्ठदेश (Back)—सम, ऊपर से विशाल, शिरा लोम एवं आवर्तों से रहित प्रशस्त होता है। बीच के भाग में निम्न हो तो आयुष्यकर होता है। झुका हुआ दुखियों का होता है। यदि पृष्ठप्रदेश बहुत छोटा हो तो व्यक्ति अल्पायु तथा लोमयुक्त हो तो मित्ररहित एवं अल्प सन्तान वाला होता है। स्कन्ध (कन्धे–Shoulders)—कन्धों पर बाल बनियों, भार उठाने वालों, जुआरियों तथा रंगरेजों के होते हैं। शुष्क अंस (कन्धों) वाले व्यक्ति दरिद्र होते हैं। ये दोनों (लोमयुक्त एवं शुष्क स्कन्धों वाले) कभी २ दीर्घायु भी होते हैं तथा वे व्यक्ति भ्रमणशील होते हैं। स्निग्ध अंस (कन्धा) कर्षण करने वाला, पीन (मोटे) कन्धे वाला गुणी होता है, कठिन (कठोर) कन्धों वाला शूरवीर, शिथिल कन्धों वाला अशक्त (दुर्बल) तथा उन्नत कन्धों वाला व्यक्ति प्रशस्त माना जाता है। कन्या झुके हुए कन्धों वाली प्रशस्त मानी जाती है। इनसे विपरीत में गुणों की हानि होती है अर्थात् वे अप्रशस्त होते हैं। कक्ष (बगल–Axilla)—उन्नत, विशाल, मोटे तथा सुस्पष्ट प्रशस्त माने जाते हैं। इससे विपरीत अप्रशस्त। स्त्रियों के अधिक बालों वाले कक्ष अप्रशस्त होते हैं। बाहु (Arms)—बाहु वे प्रशस्त होते हैं जो क्रमशः उपचित हों अर्थात् ऊपर से मोटी तथा नीचे क्रमशः पतली हों, जिसमें अरत्नि[1] (कोहनी) दृढ़ हों। जो दीर्घ हों तथा घुटनों को स्पर्श करने वाले हों अर्थात् इतने लम्बे हों कि घुटनों तक लटकते हों। शिराओं से युक्त बाहु आयुष्मान् बालकों के, पक्ष-युक्त सन्तान वालों के, शिराओं से रहित सन्तानशून्य व्यक्तियों के, तिर्यक् (तिरछी) शिरायें कृच्छ्रजीवियों (जो कठिनता से जीवित रहते हैं) के, तिलयुक्त बाहु भ्रमणशील व्यक्तियों के तथा मशक (मस्सों) से युक्त बाहु कलह करने वालों के होते हैं। मणिबन्धन (कलई–Wrist)—पुरुषों की मोटी तथा स्त्रियों की पतली प्रशस्त होती है। पुरुष तथा स्त्री दोनों की तीनों यवपंक्तियां यदि अविच्छिन्न हैं तो वे प्रशस्त मानी गई हैं। प्रथम पंक्ति ऐश्वर्ययुक्त, दूसरी मुख्य तथा तीसरी प्रजा एवं आयु के लिये होती है। तीनों पंक्तियां यदि अविच्छिन्न (बिना कटी हुई—पूरी), स्निग्ध, स्पष्ट एवं गहरी चिह्नित दिखाई दे तो बालक अधिपति होता है। चारों पंक्तियां अविच्छिन्न राजर्षियों की, पांच तथा छः पंक्तियां यदि अविच्छिन्न हों तो उसके १०० पुत्र होते हैं। सात पंक्तियां अविच्छिन्न देवनिकायों की होती है तथा यदि एक भी पंक्ति अविच्छिन्न एवं स्पष्टरूप में दिखाई देती हो तो वह व्यक्ति सुखी होता है। ....

....*

स्त्रियों के (बाल) बहुत अधिक बड़े तथा बहुत छोटे निन्दित माने गये हैं। केशभूमि (बालों की जड़ें) स्निग्ध (चिकनी) लोहित, निर्मल तथा व्रणरहित प्रशस्त मानी गई है। मस्त हाथी, बैल, सिंह, चीते तथा हंस की गतियों वाले अधिपति (स्वामी) होते हैं। मन्दगति वाले प्रशस्त होते हैं। चञ्चलगतिवाले व्यक्ति चञ्चलतापूर्वक सुख तथा दुख को प्राप्त करते हैं। तिर्यक् गति वाले अप्रशस्त माने गये हैं। स्खलन (लड़खड़ाना) गति वाले तथा जिनके अङ्ग फटे हुए हैं वे व्यक्ति अप्रशस्त होते हैं। तथा अत्यन्त गौर, अत्यन्त कृष्ण, अतिदीर्घ, अतिह्रस्व, अतिकृश, अतिस्थूल, अतिलोमश (बहुत अधिक बालों वाले) अलोमश (जिसके बिलकुल बाल न हों) अतिमृदु तथा अतिकठिन शरीर अप्रशस्त माने गये हैं। बालकों के रुषित (कुपित होना) रोना, सोना, जागरण, क्रोध, हर्ष, विसर्ग (मल मूत्र आदि का त्याग), आदान (अन्न जल आदि का ग्रहण), पक्ति (पाचन), स्थिरता तथा गम्भीरता आदि लक्षण युक्तियुक्त एवं गुणवाले प्रशस्त माने गये हैं। (इससे पूर्व खण्डित अंश में संभवतः हस्तरेखाओं आदि का वर्णन किया गया है। पाठकों के ज्ञान के लिये अध्याय के अन्त में हम हस्तरेखाओं आदि के विषय को संक्षेप से देंगे) चरक शा. अ. ८ में आयुष्मान् बालकों के निम्न लक्षण दिये हैं:—तत्रेमान्यायुष्मतां कुमाराणां लक्षणानि भवन्ति, तद्यथा–एकैकजा मृदवोऽल्पाः स्निग्धाः सुबद्धमूलाः कृष्णाः केशाः प्रशस्यन्ते, स्थिरा बहला त्वक्, प्रकृत्याकृतिसुसंपन्नमीषत्प्रमाणातिवृत्तमनुरूपमातपत्रोपमं शिरः, व्यूढं दृढं समं सुश्लिष्टशङ्खसन्ध्यूर्ध्वव्यञ्जनमुपचितं वलिनमर्धचन्द्राकृतिललाटं, बहलौ विपुलसमपीठौ समौ नीचैर्वृद्धौ पृष्ठतोऽवनतौ

1. 'निगूढकूर्परावित्यर्थः'। 'अरत्निर्ना सप्रकोष्ठतलाङ्गुलिकरेऽपि च। कफोणावपि' इति मेदिनी।

* ताडपत्र पुस्तक में इससे आगे के दो पृष्ठ खण्डित हैं जिसमें हाथ की (सामुद्रिक) रेखाओं तथा केशपर्यन्त ऊर्ध्वजत्रु के अवयवों का संभवतः विस्तारपूर्वक निरूपण किया गया होगा। 'स्त्रीणां च' इत्यादि अगले वाक्य में केशों का ही वर्णन है।

सुश्लिष्टकर्णपुत्रकौ महाच्छिद्रौ कर्णौ, ईषत्प्रलम्बिन्यावसक्ते समे संहते महत्यौ भ्रुवौ, समे समाहितदर्शने व्यक्तभागविभागे वलवती तेजसोपपन्ने स्वङ्गापाङ्गे चक्षुषी, ऋज्वी महोच्छ्वासा वंशसंपन्नेषदवनताग्रा नासिका, महदृजुसुनिविष्टदन्तमास्यम्, आयामविस्तारोपपन्ना श्लक्ष्णा तन्वी प्रकृतिवर्णयुक्ता जिह्वा, श्लक्ष्णं युक्तोपचयमूष्मोपपन्नं रक्तं तालु, महानदीनः स्निग्धोऽनुनादी गम्भीरसमुत्थो धीरः स्वरः, नातिस्थूलौ नातिकृशावास्यप्रच्छादनौ रक्तावोष्ठौ, महत्यौ हनू, वृत्ता नातिमहती ग्रीवा, व्यूढमुपचितमुरः, गूढं जत्रु पृष्ठवंशश्च, विप्रकृष्टान्तरौ स्तनौ, असंपातिनी स्थिरे पार्श्वे, वृत्तपरिपूर्णायतौ बाहू सक्थिनी अङ्गुल्यश्च, महदुपचितं पाणिपादं, स्थिरवृत्ताः स्निग्धास्ताम्रास्तुङ्गाः कूर्माकाराः करजाः, प्रदक्षिणावर्ता सोत्सङ्गा च नाभिः, उरस्त्रिभागहीना समा समुपचितमांसा कटी, वृत्तौ स्थिरोपचितमांसौ नात्युन्नतौ नात्यवनतौ स्फिचौ, अनुपूर्ववृत्तावुपचययुक्तावूरू, नात्युपचिते नात्यपचिते एणीपदे, प्रगूढसिरास्थिसन्धी जङ्घे, नात्युपचितौ नात्यपचितौ गुल्फौ, पूर्वोपदिष्टगुणौ पादौ कूर्माकारौ प्रकृतियुक्तानि वातमूत्रपुरीषाणि तथा स्वप्नजागरणायासस्मितरुदितस्तनग्रहणानि यच्च किंचिदन्यदप्यनुक्तमस्ति तदपि सर्वं प्रकृतियुक्तमिष्टं, विपरीतं पुनरनिष्टम्, इति दीर्घायुर्लक्षणानि॥ **इसी प्रकार सुश्रुत सू. अ. ३५में भी बालकों के दीर्घायुष्य, मध्यमायुष्य तथा अल्पायुष्य के निम्न लक्षण दिये हैं—**गूढसन्धिसिरास्नायुः संहताङ्गः स्थिरेन्द्रियः। उत्तरोत्तरसुक्षेत्रो यः स दीर्घायुरुच्यते॥ गर्भात्प्रभृत्यरोगो यः शनैः समुपचीयते। शरीरज्ञानविज्ञानैः स दीर्घायुः समासतः॥ **मध्यम आयु—**मध्यमस्यायुषो ज्ञानमत ऊर्ध्वं निबोध मे। अधस्तादक्षयोर्यस्य लेखाः स्युर्व्यक्तमायताः॥ द्वे वा तिस्रोऽधिका वाऽपि पादौ कर्णौ च मांसलौ। नासाग्रमूर्ध्वं च भवेदूर्ध्वं लेखाश्च पृष्ठतः॥ यस्य स्युस्तस्य परममायुर्भवति सप्ततिः॥ **अल्पायुः—**जघन्यस्यायुषो ज्ञानमत ऊर्ध्वं निबोध मे। ह्रस्वानि यस्य पर्वाणि सुमहच्चापि मेहनम्॥ तथोरस्यवलीढानि न च स्यात्पृष्ठमायतम्। ऊर्ध्वं च श्रवणौ स्थानान्नासा चोच्चा शरीरिणः॥ हसतो जल्पतो वाऽपि दन्तमांसं प्रदृश्यते। प्रेक्षते यश्च विभ्रान्तं स जीवेत्पञ्चविंशतिम्॥

अत्र श्लोकाः—

यथा वक्त्रं तथा वृत्तं यथा चक्षुस्तथा मनः।
यथा स्वरस्तथा सारो यथा रूपं तथा गुणाः॥

जैसा व्यक्ति का मुंह होता है वैसा ही वृत्त (भाव) होता है अर्थात् मुख भावों के अनुसार बदलता रहता है। जैसी चक्षु होती है वैसा ही मन होता है अर्थात् चक्षुओं के द्वारा हम मन का अनुमान कर सकते हैं। जैसा स्वर होता है वैसा सार तथा जैसे रूप वैसे गुण। अर्थात् रूप के अनुसार गुण होते हैं। तात्पर्य यह है कि बाह्य आकृति आदि आन्तरिक भावों के अनुसार होती है तथा बदलती रहती है। कहा भी है—'आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च। नेत्रवक्त्रविकारैश्च लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः'॥ अंगरेजी में भी एक कहावत है—Face is the index of mind. जो मन का भाव होता है, चेहरे पर स्पष्टरूप से उसकी प्रतिच्छवि दिखाई देती है॥

त्रिविधं सत्त्वमुद्दिष्टं कल्याणक्रोधमोहजम्।
श्रेष्ठमध्याधमत्वं च तेषां प्रोक्तं यथाक्रमम्॥

सत्त्व के भेद—सत्त्व तीन प्रकार के होते हैं। १. कल्याण से उत्पन्न होने वाला (२) क्रोध से उत्पन्न होने वाला (३) मोह से उत्पन्न होने वाला। इन्हें ही क्रमशः श्रेष्ठ, मध्य तथा अधम कहते हैं। अर्थात् कल्याण से उत्पन्न होने वाला सत्त्व श्रेष्ठ, क्रोध से उत्पन्न होने वाला मध्य तथा मोह से उत्पन्न होने वाला अधम होता है। चरक शा. अ. ४ में कहा है—त्रिविधं खलु सत्त्वं शुद्धं राजसं तामसमिति। तत्र शुद्धमदोषमाख्यातं कल्याणांशत्वात्, राजसं सदोषमाख्यातं रोषांशत्वात्, तथा तामसमपि सदोषमाख्यातं मोहांशत्वात्॥ **उपर्युक्त सत्त्वों को ही क्रमशः शुद्ध (सात्त्विक), राजस तथा तामस भी कहते हैं। इनमें से प्रथम दोष रहित माना गया है। शेष दोनों रोष एवं मोह का अंश होने से दोषयुक्त होते हैं। रोष एवं मोह मन को दूषित करते हैं। इनके अभाव में मन शुद्ध होता है॥**

अष्ट सप्त त्रिधा चैषां क्रमाद्भेदः प्रवक्ष्यते।
सत्त्वानां, सत्त्वविज्ञानं हितमौषधकल्पने॥

इन सत्त्वों के क्रमशः आठ, सात और तीन भेद होते हैं अर्थात् श्रेष्ठ (शुद्ध) सत्त्व के ८ भेद, मध्य (राजस) सत्त्व के ७ भेद तथा अधम (तामस) सत्त्व के ३ भेद होते हैं। औषध कल्पना में सत्त्व का जानना हितकर होता है॥

तपःसत्यदयाशौचदानशीलरतं समम्।
ज्ञानविज्ञानसंपन्नं ब्राह्मं विद्याज्जितेन्द्रियम्॥

शुद्ध सत्त्व के भेद—१. ब्राह्मसत्त्व-ब्राह्मसत्त्व से युक्त व्यक्ति तप, सत्य, दया, पवित्रता, दान तथा शील से युक्त, सम (सब प्राणियों में सम दृष्टि रखने वाला), ज्ञान तथा विज्ञान से युक्त और जितेन्द्रिय होता है। चरक शा. अ. ४ में कहा है—शुचिं सत्याभिसन्धं जितात्मानं संविभागिनं ज्ञानविज्ञानवचनप्रतिवचनशक्तिसम्पन्नं स्मृतिमन्तं कामक्रोधलोभमानमोहेर्ष्याहर्षामर्षापेतं समं सर्वभूतेषु ब्राह्मं विद्यात्॥ **सुश्रुत. शा. अ. ४ में भी कहा है—**शौचमास्तिक्यमभ्यासो वेदेषु गुरुपूजनम्। प्रियातिथित्वमिज्या च ब्रह्मकायस्य लक्षणम्॥

प्रजावन्तं क्रियावन्तं धर्मशीलं जगत्प्रियम्।
अनीर्ष्यमशठं प्राज्ञः प्राजापत्यं वदेच्छुचिम्॥

२ प्राजापत्य सत्त्व—प्राजापत्य सत्त्व वाला व्यक्ति प्रजा (सन्तान) युक्त, क्रियाओं (यज्ञ आदिकों) को करने वाला, धर्मशील (धार्मिक), जगत्प्रिय (सम्पूर्ण जगत् जिसको प्रिय है अथवा जो सम्पूर्ण जगत् को प्रिय है), ईर्ष्या रहित, शठता (दुष्टता) रहित तथा पवित्र होता है॥

शौचव्रतेज्याध्ययनब्रह्मचर्यदयापरम्।
जितमानमदक्रोधं वक्तारं चार्षमादिशेत्॥

३. आर्षसत्त्व—शौच, व्रत, इज्या (यज्ञ), अध्ययन, ब्रह्मचर्य तथा दया से युक्त, मान (अहंकार) मद, तथा क्रोध को जिसने जीत लिया है तथा जो वक्ता है वह आर्ष सत्त्व होता है। चरक शा० अ० ४ में कहा है—इज्याध्ययनव्रतहोमब्रह्मचर्यपरमतिथिव्रतमुपशान्तमदमानरागद्वेषमोहलोभरोषं प्रतिभावचनविज्ञा-

नोपधारणशक्तिसम्पन्नमार्षं विद्यात्। सुश्रुत शा. अ. ४ में भी कहा है—जपव्रतब्रह्मचर्यहोमाध्ययनसेविनम्। ज्ञानविज्ञानसम्पन्नमृषिसत्त्वं नरं विदुः ॥

त्रिवर्गनित्यं विद्वांसं शूरमक्लिष्टकारिणम् ।
प्राहुरैन्द्रं महाभागमधिष्ठातारमीश्वरम् ॥

४. ऐन्द्रसत्त्व—ऐन्द्रसत्त्व वाला व्यक्ति त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ तथा काम) में लगा हुआ, विद्वान्, शूरवीर, निन्दित कर्म न करने वाला, महाभाग (महात्मा), अधिष्ठाता (स्वामी) तथा ऐश्वर्ययुक्त होता है। चरक शा. अ. ४ में कहा है—ऐश्वर्यवन्तमादेयवाक्यं यज्वानं शूरमोजस्विनं तेजसोपेतमक्लिष्टकर्माणं दीर्घदर्शिनं धर्मार्थकामाभिरतमैन्द्रं विद्यात्। सुश्रुत शा. अ. ४ में भी कहा है—माहात्म्यं शौर्यमाज्ञा च सततं शास्त्रबुद्धिता। भृत्यानां भरणं चापि माहेन्द्रं कायलक्षणम् ॥

त्यक्तदम्भभयक्रोधं प्राप्तकारिणमीश्वरम् ।
समं मित्रे च शत्रौ च याम्यं विद्यात् सुनिश्चितम् ॥

५. याम्यसत्त्व—जिसने दम्भ (अहंकार), भय तथा क्रोध का त्याग कर दिया है, जो प्राप्तकारी (युक्त कार्य करने वाला) ऐश्वर्यशाली, मित्र तथा शत्रु में समान व्यवहार करने वाला तथा सुनिश्चित (दृढनिश्चयी) व्यक्ति है—वह याम्यसत्त्व वाला होता है। चरक शा. अ. ४ में कहा है—लेखास्थवृत्तं प्राप्तकारिणमसंप्रहार्यमुत्थानवन्तं स्मृतिमन्तमैश्वर्यालम्बिनं व्यपगतरागद्वेषमोहं याम्यं विद्यात्। सुश्रुत शा. अ. ४ में भी कहा है—प्राप्तकारी दृढोत्थानो निर्भयः स्मृतिमान् शुचिः। रागमोहमदद्वेषैर्वर्जितो याम्यसत्त्ववान् ॥

अशुचिर्विशुचिः शूरः शीघ्रक्रोधप्रसादवान् ।
पुण्यशीलो महाभागो वारुणो वरुणप्रियः ॥

६. वारुणसत्त्व—जो व्यक्ति अशुचि, विशुचि, शूर, शीघ्र ही क्रुद्ध एवं शीघ्र ही प्रसन्न होने वाला, पुण्यशील, महाभाग (महात्मा) तथा वरुणप्रिय है—वह वारुणसत्त्व होता है। चरक शा. अ. ४ में कहा है—शूरं धीरं शुचिमशुचिद्वेषिणं यज्वानमम्भोविहाररतिमक्लिष्टकर्माणं स्थानकोपप्रसादं वारुणं विद्यात्। सुश्रुत शा. अ. ४ में भी कहा है शीतसेवा सहिष्णुत्वं पैङ्गल्यं परिकेशता। प्रियवादित्वमित्येतद्वारुणं कायलक्षणम् ॥

स्थानमानपरीचारधर्मकामार्थलोभिनम् ।
क्रोधप्रसादफलदं कौबेरं प्राहुरूर्जितम् ॥

७. कौबेरसत्त्व—जो व्यक्ति स्थान (भूमि-मकान आदि), मान (आदर), परिचार (सेवा), धर्म, काम तथा अर्थ (धन) का लोभी अर्थात् स्थान, मान आदि का इच्छुक हो, जिसका क्रोध एवं प्रसाद (प्रसन्नता) फलप्रद हो अर्थात् क्रोध एवं प्रसाद निरर्थक न हो तथा बलवान् हो-वह कौबेरसत्त्व कहलाता है। चरक शा० अ० ४ में कहा है—स्थानमानोपभोगपरिवारसम्पन्नं सुखविहारं धर्मार्थकामनित्यं शुचिं व्यक्तकोपप्रसादं कौबेरं विद्यात् ॥ सुश्रुत शा० अ० ४ में भी कहा है—मध्यस्थाता सहिष्णुत्वमर्थस्यागमसंचयौ। महाप्रसवशक्तित्वं कौबेरं कायलक्षणम् ॥

श्लोकाख्यानेतिहासज्ञं गन्धमाल्याम्बरप्रियम् ।
नृत्तगीतोपहासज्ञं गान्धर्वं सुभगं विदुः ॥

८. गान्धर्वसत्त्व—जो व्यक्ति श्लोक, आख्यान (कथा) तथा इतिहास का जाननेवाला है, गन्ध (इत्र आदि) माला तथा वस्त्रों का प्रेमी है, नृत्य गीत तथा उपहास का ज्ञाता एवं ऐश्वर्यशाली है—वह गान्धर्वसत्त्व कहलाता है। चरक शा० अ० ४ में कहा है—प्रियनृत्यगीतवादित्रोल्लापकं श्लोकाख्यायिकेतिहासपुराणेषु कुशलं गन्धमाल्यानुलेपनवसनस्त्रीविहारनित्यमनसूयकं गान्धर्वं विद्यात् ॥ सुश्रुत शा० अ० ४ में भी कहा है—गन्धमाल्यप्रियत्वं च नृत्यवादित्रकामिता। विहारशीलता चैव गान्धर्वं कायलक्षणम् ॥

ये चान्येऽपि शुभा भावाः शुद्धास्ते चापि सात्त्विकाः।
एतत् कल्याणभूयिष्ठं शुद्धं सत्त्वमिहाष्टधा ॥

इसके अतिरिक्त अन्य भी जो शुभ एवं सात्त्विक भाव होते हैं वे शुद्ध कहलाते हैं। इस प्रकार यह कल्याण अंश की प्रधानता वाला शुद्ध सत्त्व ८ प्रकार का कहा है।

वक्तव्य—चरक तथा सुश्रुत में सात्त्विक या शुद्ध सत्त्व के ७ भेद दिये गये हैं। उनमें प्राजापत्य सत्त्व का उल्लेख नहीं है। चरक० शा० अ० ४ में कहा है—इत्येवं शुद्धस्य सत्त्वस्य सप्तविधं भेदांशं विद्यात् कल्याणांशत्वात्, संयोगात्तु ब्राह्ममत्यन्तशुद्धं व्यवस्येत् ॥ इन सातों सात्त्विक सत्त्वों में से भी ब्राह्मसत्त्व शुद्धतम जानना चाहिये। सुश्रुत शा० अ० ४ में भी कहा है—सप्तैते सात्त्विकाः कायाः— ॥

आरोग्यं प्रशमो रूपं ज्ञानविज्ञानमार्यता ।
दीर्घमायुः सुखाप्तिश्च सामान्यं शुद्धलक्षणम् ॥

शुद्ध सत्त्व के सामान्य लक्षण - आरोग्य, शान्ति, रूप, ज्ञान, विज्ञान, आर्यता (स्वामित्व), दीर्घायु, सुख की प्राप्ति ये शुद्ध सत्त्व के सामान्य लक्षण हैं ॥

ईश्वरोऽसूयकश्चण्ड आत्मपूजोपधिप्रियः ।
सानुक्रोशभयो रौद्रो हन्ता शूरस्तथाऽऽसुरः ॥

राजस सत्त्व के भेद—१. आसुर सत्त्व—ऐश्वर्यशाली, दूसरों के गुणों में दोषारोपण करने वाला, तीव्र क्रोधवाला, आत्मपूजा (अपनी प्रशंसा करने वाला अथवा अपनी ही आहार आदि के द्वारा पूजा करने वाला-स्वार्थी) तथा उपधिप्रिय (रागद्वेष अथवा छल-कपट का प्रेमी), अनुक्रोश (दया) तथा भय से युक्त, रौद्र (भीषण या उग्रस्वभाव), हत्या करने वाला तथा शूरवीर व्यक्ति—आसुर सत्त्व होता है। चरक० शा० अ० ४ में कहा है—शूरं चण्डमसूयकमैश्वर्यवन्तमौपधिकं रौद्रमननुक्रोशमात्मपूजकमासुरं विद्यात्। इसी प्रकार सुश्रुत शा० अ० ४ में कहा है—ऐश्वर्यवन्तं रौद्रं च शूरं चण्डमसूयकम्। एकाशिनं चौदरिकमासुरं सत्त्वमीदृशम् ॥

क्रूरश्छिद्रप्रहारी च रोषेर्ष्यामर्षसन्ततः ।
वैरमांसाशनायासः* कलहार्थी च राक्षसः ॥

---

* वैरे मांसाशने च आयासो यस्येत्यर्थः ।

२. राक्षस सत्त्व—जो व्यक्ति क्रूर, छिद्रप्रहारी (अवकाश अथवा दुर्बलता पाकर प्रहार करने वाला), क्रोध, ईर्ष्या, एवं अमर्ष (असहिष्णुता-क्षमा न करना) से युक्त, वैर करनेवाला, मांस खाने वाला तथा कलहप्रिय (झगड़ालू) है, वह राक्षससत्त्व होता है। चरक शा० अ० ४ में कहा है—अमर्षिणमनुबन्धकोपं छिद्रप्रहारिणं क्रूरमाहारातिमात्ररुचिमामिषप्रियतमं स्वप्नायासबहुलमीर्षुं राक्षसं विद्यात्। सुश्रुत शा० अ० ४ में भी कहा है—एकान्तग्राहिता रौद्रमसूया धर्मबाह्यता। भृशमात्मस्तवश्चापि राक्षसं कायलक्षणम् ॥

शुचिद्विडशुचिः क्रूरोऽभीरुर्भीषयिताऽऽविलः ।
मद्यमांसप्रियः शङ्की पैशाचो बहुभोजनः ॥

३. पैशाचसत्त्व—जो व्यक्ति पवित्रता से द्वेष करने वाला, अपवित्र, क्रूर, अभीरु (जो डरपोक न हो), दूसरों को डराने वाला, कलुषित, मद्य तथा मांस का प्रेमी, शङ्का (सन्देह) करने वाला, तथा बहुत भोजन करने वाला है—वह पैशाच सत्त्व होता है। चरक शा० अ० ४ में कहा है—महालसं स्त्रैणं स्त्रीरहस्कामम्शुचिं शुचिद्वेषिणं भीरुं भीषयितारं विकृतविहाराहारशीलं पैशाचं विद्यात्। सुश्रुत शा० अ० ४ में भी कहा है—उच्छिष्टाहारता तैक्ष्ण्यं साहसप्रियता तथा। स्त्रीलोलुपत्वं नैर्लज्ज्यं पैशाचं कायलक्षणम् ॥

तीक्ष्णमायासबहुलं निद्रालुं बहुवैरिणम् ।
अक्रुद्धभीरुं स्त्रैणं च सार्पं नित्यौष्ठलेहिनम् ॥

४. सार्पसत्त्व—जो व्यक्ति तीक्ष्ण, बहुत परिश्रमी, बहुत सोने वाला, बहुत समय तक वैर रखने वाला, अक्रुद्धभीरु (जब तक क्रुद्ध न हो तब तक डरपोक), स्त्री के वश में रहने वाला, सदा होठों को चाटने वाला अथवा सदा खाते रहने वाला है—वह सार्पसत्त्व होता है। चरक शा० अ० ४ में कहा है—क्रुद्धं शूरमक्रुद्धभीरुं तीक्ष्णमायासबहुलं संत्रस्तगोचरमाहारविहारपरं सार्पं विद्यात्। सुश्रुत शा० अ० ४ में कहा है—तीक्ष्णमायासिनं भीरुं चण्डं मायान्वितं तथा। विहाराचारचपलं सर्पसत्त्वं विदुर्नरम् ॥

दानशय्यात्यलङ्कारपानभोजनमैथुनैः ।
नित्योपेतं प्रमुदितं याक्षं विद्यात् प्रभक्षणम् ॥

५. याक्षसत्त्व—नित्य दान, शय्या (शयन), अतिअलंकार (आभूषण अथवा सजावट), अतिपान, अतिभोजन तथा अतिमैथुन में लगा हुआ, प्रसन्न तथा खूब खाने वाला व्यक्ति याक्षसत्त्व कहलाता है ॥

अहङ्कृता महाहारा वैरिणो विकृताननाः ।
विरूपा विकृतात्मानो भूतसत्त्वा निशाप्रियाः ॥

६. भूतसत्त्व—जो व्यक्ति अहंकारी, बहुत खानेवाले, वैरी, विकृत मुख (चेहरे) वाले, विकृतरूप वाले तथा विकृत आत्मा वाले हैं तथा जिन्हें रात्रि प्रिय है-वे भूतसत्त्व वाले होते हैं। चरक तथा सुश्रुत में इसे प्रैतसत्त्व नाम से कहा गया है। चरक शा० अ० ४ में कहा है—आहारकाममतिदुःखशीलाचारोपचारमसूयकमसंविभागिनमतिलोलुपमकर्मशीलं प्रैतं विद्यात्। सुश्रुत शा० अ० ४ में कहा है—असंविभागमलसं दुःखशीलमसूयकम्। लोलुपं चाप्यदातारं प्रेतसत्त्वं विदुर्नरम् ॥

अमर्षिकुत्सिताहारवाग्यूनं नित्यशङ्कितम् ।
चलं दुर्मेधसं भीरुं शाकुनं विद्धि नौकसम् ॥

७. शाकुनसत्त्व—असहिष्णु, कुत्सित (निन्दित) आहार तथा निन्दित वाणी में लगे हुए (अर्थात् निन्दित आहार एवं निन्दित शब्दों का प्रयोग करने वाले) नित्य शंका (सन्देह) करने वाले, चल (अस्थिर मति), कुण्ठित बुद्धि वाले तथा भीरु एवं जिसके रहने का स्थान ठीक तरह से निश्चित न हो ऐसे व्यक्ति को शाकुन सत्त्व कहते हैं। चरक शा० अ० ४ में कहा है—अनुषक्तकाममजस्रमाहारविहारपरमनवस्थितममर्षिणमसंचयं शाकुनं विद्यात्। सुश्रुत शा० अ० ४ में भी कहा है—प्रवृद्धकामसेवी चाप्यजस्राहार एव च। अमर्षणोऽनवस्थायी शाकुनं कायलक्षणम् ॥

इत्येतद्राजसं सत्त्वं सप्तधा क्रोधकारितम् ।
व्यामिश्रगुणदोषं च रज एवोपलक्षयेत् ॥

इस प्रकार क्रोध से उत्पन्न होने वाला राजससत्त्व सात प्रकार का है। इनमें गुण एवं दोषों के मिले होने से इन्हें राजस ही समझें।

वक्तव्य—चरक तथा सुश्रुत में राजससत्त्व के ६ भेद दिये हैं, उनमें याक्षसत्त्व नहीं दिया है। चरक में कहा है—इत्येवं खलु राजसस्य सत्त्वस्य षड्विधं भेदांशं विद्यात्, रोषांशत्वात्। सुश्रुत में भी कहा है—"षडेते राजसाः कायाः" ॥

आहारमैथुनपरं स्वप्नशीलममेधसम् ।
अथैवं पाशवं विद्यान्मृजाऽलङ्कारवर्जितम् ॥

तामस सत्त्व के भेद १. **पाशव सत्त्व**—सदा आहार तथा मैथुन में लगे हुए, अत्यधिक सोने वाले, निन्दित अथवा कम बुद्धिवाले, शुद्धि तथा अलंकार (आभूषण या सजावट) से रहित व्यक्ति को पाशवसत्त्व जानें। चरक शा० अ० ४ में कहा है—निराकरिष्णुममेधसं जुगुप्सिताचाराहारं मैथुनपरं स्वप्नशीलं पाशवं विद्यात्। सुश्रुत शा० अ० ४ में भी कहा है—दुर्मेधस्त्वं मन्दता च स्वप्नमैथुननित्यता। निराकरिष्णुता चैव विज्ञेयाः पाशवा गुणाः ॥

भीरुमप्रज्ञमाद्यूनं कामक्रोधवशं गतम् ।
हिंस्रमात्मपरं विद्यान्मात्स्यं सुप्रजसं शठम् ॥

२. मात्स्य सत्त्व—भीरु, मूर्ख, आद्यून[1] (बहुत खाने वाला पेटू), कामी तथा क्रोधी (काम तथा क्रोध में लगा हुआ) हिंसक, आत्मपर (सदा अपने में ही लगा रहने वाला—दूसरों की परवाह न करने वाला), अधिक सन्तान वाला तथा धूर्त व्यक्ति मात्स्यसत्त्व कहलाता है। चरक शा० अ० ४ में कहा है—भीरुमबुधमाहारलुब्धमनवस्थितमनुषक्तकामक्रोधं सरणशीलं तोयकामं मात्स्यं विद्यात्। सुश्रुत शा० अ० ४ में भी कहा है—अनवस्थितता मौर्ख्यं भीरुत्वं सलिलार्थिता। परस्पराभिमर्दश्च मत्स्यसत्त्वस्य लक्षणम् ॥

---

१ यावन्नक्रुध्यति तावद्भीरुरित्यर्थः।

१. 'आद्यूनः स्यादौदरिकः' इत्यमरः।

वधबन्धपरिक्लेशशीतवातातपक्षमम् ।
बुद्ध्यङ्गहीनमलसं वानस्पत्यं वदेदृजुम् ॥

३. वानस्पत्य सत्त्व—वध, बन्धन, दुःख, सर्दी, वायु तथा धूप को सहने वाले, बुद्धि तथा अङ्गों से हीन, आलसी तथा ऋजु (सरल-सीधे सादे) व्यक्ति को वानस्पत्य सत्त्व कहते हैं। चरक शा० अ० ४ में कहा है—अलसं केवलमभिनिविष्टमाहारे सर्वबुद्ध्या हीनं वानस्पत्यं विद्यात्। सुश्रुत शा० अ० ४ में भी कहा है—एकस्थानरतिर्नित्यमाहारे केवले रतः। वानस्पत्यो नरः सत्त्वधर्मकामार्थवर्जितः ॥

इत्येतत्त्रिविधं सत्त्वं तामसं मोहसंभवम् ।
यच्चामेध्यमकल्याणं सर्वं तच्चापि तामसम् ॥

इस प्रकार मोह से उत्पन्न यह तीन प्रकार का तामससत्त्व कहा है। और जो कुछ भी अपवित्र तथा अकल्याणकारी होता है वह सब तामस कहलाता है। चरक शा० अ० ४ में कहा है—इत्येवं खलु तामसस्य सत्त्वस्य त्रिविधं भेदांशं विद्यान्मोहांशत्वात्। सुश्रुत शा० अ० ४ में कहा है—इत्येते त्रिविधाः कायाः प्रोक्ता वै तामसास्तथा ॥

सत्त्वं प्रकाशकं विद्धि, रजश्चापि प्रवर्तकम् ।
तमो नियामकं प्रोक्तमन्योन्यमिथुनप्रियम् ॥

सत्त्व गुण प्रकाशक है (अर्थात् प्रत्येक वस्तु को प्रकाशित अर्थात् विशद करने वाला है), रजोगुणप्रवर्तक है (अर्थात् प्रत्येक वस्तु को प्रवृत्त करने वाला—गति देने वाला है) तथा तमोगुण नियामक (नियन्त्रण करने वाला) होता है। ये तीनों परस्पर एक दूसरे को प्रिय होते हैं अर्थात् ये तीनों परस्पर संयोग से कार्य करते हैं। सांख्यकारिका में कहा है—सत्त्वं लघुप्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः। गुरुवरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥ प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः। अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः

यदा यच्चाधिकं यस्य स देही तेन भावितः ।
शुभाशुभान्याचरति फलं भुङ्क्ते तथाविधम् ॥

जिस व्यक्ति में जिस समय जिस सत्त्व की अधिकता (प्रधानता) होती है वह उसी के अनुसार शुभ एवं अशुभ आचरण करता है। तथा उसी के अनुसार (वैसा ही) वह फल भोगता है ॥

समानसत्त्वा बालानां तस्माद्धात्री प्रशस्यते ।
उद्वेगवित्रासकरी विपरीता न शस्यते ॥

इसलिये बालकों के लिये समान सत्त्ववाली धात्री प्रशस्त मानी गई है विपरीत सत्त्ववाली धात्री उद्वेग तथा कष्ट उत्पन्न करने वाली होने से निषिद्ध मानी गई है।

न जीवन्त्यथ जीवन्ति कृच्छ्राद् धात्रीविपर्यये ।
समानसत्त्वा बालानां पुष्टिरायुर्बलं सुखम् ॥

धात्री के विपरीत सत्त्व (गुणों) वाली होने से, बालक जीवित नहीं रहते हैं। और यदि जीवित रहते भी हैं तो अत्यन्त कठिनता से। समान सत्त्व वाली धात्री बालकों की पुष्टि, आयु, बल एवं सुख को देने वाली होती है ॥

त्वगसृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राणि धातवः ।
ओजः सत्त्वं च सर्वं च तत्सारं तु निबोध मे ॥

त्वचा, रक्त, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा, शुक्र—ये सात धातुएँ, ओज तथा सत्त्व-ये सब ९ शरीर में सार होते हैं। उनके लक्षणों को तू मुझ से सुन। चरक में जिन २ लक्षणों द्वारा मनुष्य के बल की परीक्षा की जाती है; उन प्रकृति-विकृति आदि के साथ सार को भी दिया है। अर्थात् सार के द्वारा रोगी के बल की परीक्षा करने का भी विधान चरक वि. अ ८ में कहा है—सारतश्चेति-साराण्यष्टौ पुरुषाणां बलमानविशेषज्ञानार्थमुपदिश्यन्ते। तद्यथा—त्वग्रक्तमांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्रसत्त्वानि। बल के प्रमाण को जानने के लिये सारों द्वारा लक्षण कहे गये हैं। सार के विषय में चक्रपाणि ने कहा है-'विशुद्धतरो धातुरुच्यते' अर्थात् विशुद्धतर धातु को 'सार' कहते हैं। जिस गुण की विशेषता होती है बालक उसी सार वाला कहलाता है। उदाहरणार्थ—जो बालक सत्त्वगुण विशिष्ट होता है उसे सत्त्वसार कहते हैं। यहां आठ सारों का वर्णन किया गया है। प्रकृत ग्रन्थ में ९ सार गिनाये गये हैं यहां ओज को अधिक गिना गया है ॥

त्वग्रोगरहितो भोगी प्रसन्नव्यञ्जनच्छविः ।
सद्यःक्षतप्ररोहश्च त्वक्सारः सुतनूरुहः ॥

त्वक् सार बालक के लक्षण—जो त्वचा के रोगों (Skin diseases) से रहित है, भोगी है, जिसके शरीरकी छवि (कान्ति) निर्मल तथा स्पष्टरूप से दिखाई देने वाली है, जिसके घाव शीघ्र भर जाते हैं, तथा जिसके रोग प्रशस्त होते हैं—वह बालक त्वक्सार कहलाता है ॥

रक्तसारोऽरुणाभासः .... ॥
....
....

(इति ताडपत्रपुस्तके ४९ तमं[1] पत्रम् ।)

(सूत्रस्थानस्यैतावानेव भाग उपलब्धः ।)

रक्तसार बालक—अरुण आभा वाला ... (होता है)

....

(सूत्र स्थान का इतना ही भाग उपलब्ध हुआ है)

वक्तव्य—उपर्युक्त श्लोक के बीच में ही यह अध्याय खण्डित हो गया है। अतः हम पाठकों के ज्ञान के लिये अन्य शास्त्रीय ग्रन्थों के आधार पर इन सारों के लक्षण कहते हैं—चरक वि. अ. ८ में इनके निम्न लक्षण दिये हैं—त्वक्सार के लक्षण—तत्र स्निग्धश्लक्ष्णमृदुप्रसन्नसूक्ष्माल्पगम्भीरसुकुमारलोमा सप्रभेव च त्वक् त्वक्साराणां, सा सारता सुखसौभाग्यैश्वर्योपभोगबुद्धिविद्यारोग्यप्रहर्षणान्यायुष्यत्वं चाचष्टे। त्वक्सार पुरुष की त्वचा स्निग्ध, चिकनी, कोमल, निर्मल, पतली तथा थोड़े गहरे

१. इससे आगे इस ताड़पत्रपुस्तक में ५० से लेकर ७४ तक के २५ पृष्ठ लुप्त हुए हैं, जिसमें सम्भवतः सूत्रस्थान का अवशिष्ट अंश, सम्पूर्ण निदान स्थान तथा विमान स्थान का भी पर्याप्त अंश होना चाहिये।

सुकुमार बालों वाली एवं प्रभायुक्त होती है। यह सारता सुख, सौभाग्य, उपभोग, बुद्धि, विद्या, आरोग्य, प्रसन्नता तथा दीर्घायुष्य को प्रकट करती है। रक्तसार के लक्षण—कर्णाक्षिमुखजिह्वानासौष्ठपाणिपादतलनखललाटमेहनं स्निग्धरक्तं श्रीमद् भ्राजिष्णु रक्तसाराणां, सा सारता सुखमुदग्रतां मेधां मनस्वित्वं सौकुमार्यमनतिबलमक्लेशसहिष्णुत्वमुष्णासहिष्णुत्वं चाचष्टे रक्तसार पुरुष के कान, आंख, मुख, जिह्वा, नाक, होंठ, हस्ततल, पादतल, नाखून, मस्तक तथा मूत्रेन्द्रिय आदि स्निग्ध, लाल, शोभायुक्त तथा उज्ज्वल होते हैं। यह सारता सुख, क्रूरता, मेधा, तेजस्विता, सुकुमारता, अधिक बल का न होना, क्लेश को सहना तथा गर्मी को न सहना इत्यादि बातों को बताती है। मांससार के लक्षण–शङ्खललाटकृकाटिकाऽक्षिगण्डहनुग्रीवास्कन्धोदरकक्षवक्षःपाणिपादसन्धयो गुरुस्थिरमांसोपचिता मांससाराणां, सा सारता क्षमां धृतिमलौल्यं वित्तं विद्यां सुखमार्जवमारोग्यं बलमायुश्च दीर्घमाचष्टे। मांससार पुरुषों के शङ्ख, ललाट, कृकाटिका, आंख, गाल, हनु, ग्रीवा, कन्धे, पेट, कक्ष, वक्ष (छाती), हाथ, पैर एवं सन्धियां भारी स्थिर तथा मांस से भरी हुई होती हैं। यह सारता, क्षमा, धैर्य, अलोलुपता, धन, विद्या, सुख, सरलता, आरोग्य, बल और आयुका सूचक है। मेदः सार के लक्षण—वर्णस्वरनेत्रकेशलोमनखदन्तौष्ठमूत्रपुरीषेषु विशेषतः स्नेहो मेदःसाराणां, सा सारता वित्तैश्वर्यसुखोपभोगप्रदानान्यार्जवं सुकुमारोपचारतां चाचष्टे, मेदः सार पुरुषों के वर्ण, स्वर, नेत्र, केश, लोम, नख, दन्त, ओष्ठ, मूत्र तथा पुरीष में स्नेह भी विशेषतः होती है। यह सारता धन, ऐश्वर्य, सुख, उपभोग, दान, सरलता तथा मृदु उपचार के योग्य होना—इत्यादि का सूचक है। अस्थिसार के लक्षण—पार्ष्णिगुल्फजान्वरत्निजत्रुचिबुकशिरःपर्वस्थूलाः स्थूलास्थिनखदन्ताश्चास्थिसाराः, ते महोत्साहाः क्रियावन्तः क्लेशसहाः सारस्थिरशरीरा भवन्त्यायुष्मन्तश्च। अस्थिसार पुरुषों की एड़ी, गुल्फ, जानु, कोहनी, जत्रु, ठोडी, शिर, पर्व, हड्डी, नख तथा दांत स्थूल होते हैं। वे बड़े उत्साही, क्रियाशील, क्लेश को सहने वाले, दृढ एवं स्थिर शरीर वाले और दीर्घायु होते हैं। मज्जासार के लक्षण—तन्वङ्गा बलवन्तः स्निग्धवर्णस्वराः स्थूलदीर्घवृत्तसन्धयश्च मज्जसाराः, ते दीर्घायुषो बलवन्तः श्रुतविज्ञानवित्तापत्यसम्मानभाजश्च भवन्ति। मज्जासार पुरुषों के अङ्ग पतले होते हैं, वे बलवान्, स्निग्ध वर्ण एवं स्वरवाले, मोटी-लम्बी एवं गोल सन्धियों वाले, दीर्घायु, बलवान्, श्रुत (शास्त्रज्ञान), विज्ञान, धन, सन्तान एवं सम्मानयुक्त होते हैं। शुक्रसार के लक्षण-सौम्याः सौम्यप्रेक्षिणश्च क्षीरपूर्णलोचना इव प्रहर्षबहुलाः स्निग्धवृत्तसारसमसंहतशिखरिदशनाः प्रसन्नस्निग्धवर्णस्वरा भ्राजिष्णवो महास्फिचश्च शुक्रसाराः, ते स्त्रीप्रिया; प्रियोपभोगा बलवन्तः सुखैश्वर्यारोग्यवित्तसम्मानापत्यभाजश्च भवन्ति। शुक्रसार पुरुष सौम्य तथा सौम्यदृष्टि होते हैं। उनकी आंखें दूध के समान तृप्त अथवा शुभ्र होती हैं। उनको ध्वजोच्छ्राय (Erection) बहुत होता है। उनके दांत स्निग्ध, गोल, दृढ़, सम, संगठित तथा तीक्ष्ण अग्रभाग वाले होते हैं। वर्ण और स्वर निर्मल एवं स्निग्ध होते हैं। वे कान्तियुक्त होते हैं। उनके नितम्ब बड़े होते हैं। वे स्त्रियों के प्रिय होते हैं अथवा वे स्त्रियों को बहुत चाहने वाले होते हैं। वे उपभोग प्रिय एवं बलवान् होते हैं तथा सुख, ऐश्वर्य, आरोग्य, धन, सम्मान तथा सन्तान से युक्त होते हैं। सत्त्वसार के लक्षण—स्मृतिमन्तो भक्तिमन्तः कृतज्ञाः प्राज्ञाः शुचयो महोत्साहा दक्षा धीराः समरविक्रान्तयोधिनस्त्यक्तविषादाः स्वव्यस्थितगतिर्गंभीरबुद्धिचेष्टाः कल्याणाभिनिवेशिनश्च सत्त्वसाराः, तेषां स्वलक्षणैरेव गुणा व्याख्याताः। सत्त्वसार पुरुष स्मृति एवं शक्ति से सम्पन्न, भक्तियुक्त, कृतज्ञ, बुद्धिमान, पवित्र, अत्यन्त उत्साही, कुशल तथा धीर होते हैं। रण में विक्रमपूर्वक लड़ते हैं। उन्हें विषाद बिलकुल नहीं होता, उनकी गति स्थिर होती है। बुद्धि तथा चेष्टायें गम्भीर होती हैं। वे कल्याण में तत्पर होते हैं। तत्र सर्वैः सारैरुपेताः पुरुषा भवन्त्यतिबलाः परमगौरवयुक्ताः क्लेशसहाः सर्वारम्भेष्वात्मनि जातप्रत्ययाः कल्याणाभिनिवेशिनः स्थिरसमाहितशरीराः सुसमाहितगतयः सानुनादस्निग्धगम्भीरमहास्वराः सुखैश्वर्यवित्तोपभोगसम्मानभाजो मन्दजरसो मन्दविकाराः प्रायस्तुल्यगुणविस्तीर्णापत्याश्चिरजीविनश्च भवन्ति। इनमें से सब सारों से युक्त व्यक्ति अत्यन्त बलवान्, गौरवयुक्त, क्लेश को सहने वाले, आत्मविश्वासी आदि होते हैं। वे स्निग्ध, गम्भीर एवं महान् स्वर वाले होते हैं। वे सुख ऐश्वर्य, धन उपभोग एवं सम्मान से युक्त होते हैं। उन्हें वृद्धावस्था तथा रोग देर में होते हैं। वे दीर्घायु होते हैं तथा इनकी सन्तान भी इन्हीं गुणों से युक्त होती है। इन सारों के विषय में सुश्रुत सू. अ. ३५ में निम्न वर्णन मिलता है—स्मृतिभक्तिप्रज्ञाशौर्यशौचोपेतं कल्याणाभिनिवेशं सत्त्वसारं विद्यात्, स्निग्धसंहतश्वेतास्थिदन्तनखं बहुलकामप्रजं शुक्रेण, अकृशमुत्तमबलं स्निग्धगम्भीरस्वरं सौभाग्योपपन्नं महानेत्रं च मज्ज्ञा, महाशिरःस्कन्धं दृढदन्तहन्वस्थिनखमस्थिभिः, स्निग्धमूत्रस्वेदस्वरं बृहच्छरीरमायासासहिष्णुं मेदसा, अच्छिद्रगात्रं गूढास्थिसन्धि मांसोपचितं च मांसेन, स्निग्धताम्रनखनयनतालुजिह्वौष्ठपाणिपादतलं रक्तेन, सुप्रसन्नमृदुत्वग्रोमाणं त्वक्सारं विद्यादिति। एषां पूर्वं पूर्वं प्रधानमायुःसौभाग्ययोरिति।

पाठकों के ज्ञान के लिये हम संक्षेप से कररेखाओं तथा उनके शुभाशुभ फलों का वर्णन करते हैं। कर रेखाओं के द्वारा बालकों की आयु, भाग्य, ऐश्वर्य, विद्या, बुद्धि, धन, सुख तथा दुःख आदि का ज्ञान होता है। हाथ में स्थित विशेष रेखाओं तथा वज्र, नक्षत्र, यव आदि चिह्नों का विशेष प्रभाव माना गया है। इसलिये बालकों के दीर्घायुष्य को जानने के लिये अन्य प्रशस्त एवं अप्रशस्त शारीरिक लक्षणों के साथ २ इन हस्तरेखाओं का जानना भी आवश्यक है। चिकित्सक को इन हस्तरेखाओं से विशेष सहायता मिल सकती है। हमारे पूर्वज सामुद्रिक शास्त्रवेत्ताओं ने हस्तरेखाओं के विषय में जो विचार किये हैं वे संक्षेप में निम्नप्रकार से हैं। हस्तरेखाओं को हम मुख्यरूप से तीन श्रेणियों (classes) में विभक्त कर सकते हैं। (१) मुख्य रेखाएँ, (२) अनुरेखाएँ, (३) वज्र नक्षत्रआदि विशेष प्रकार के चिह्न। १-प्रथम श्रेणी की मुख्य रेखाएँ निम्न हैं—i-पितृ रेखा-जो तर्जनी अंगुली के मूल से मणिबन्ध के मध्यमाग तक फैली हुई होती

है। ii- मातृरेखा-जो इसी के लगभग समानान्तर हथेली के मध्य में रहती है। iii-आयुरेखा-जो कनिष्ठिका अंगुली के मूल से तर्जनी के मूल तक जाती है। iv-भाग्यरेखा-यह मणिबन्ध के मध्य से लेकर मध्यमाङ्गुली तक जाती है। v—रविरेखा या विद्यारेखा—जो अनामिका अंगुली के मूल से पितृरेखा तक जाती है। vi—वाणिज्य या स्वास्थ्य रेखा—जो पितृ रेखा से लेकर कनिष्ठिका तक जाती है। ये ६ मुख्य रेखायें मानी जाती हैं। ये प्रथम श्रेणी की हैं। २. इनके अतिरिक्त दूसरी श्रेणी की कुछ गौण रेखायें होती हैं जिन्हें अनुग रेखायें कहते हैं। i पितृरेखा की अनुगरेखा। ii वाणिज्यरेखा की अनुगरेखा-इसे प्रवृत्तिरेखा भी कहते हैं। iii. एक आयु रेखा की अनुग रेखा भी होती है। इसे शुक्र-बुध संयोजिनी रेखा कहते हैं। ये द्वितीय श्रेणी की गौण रेखायें हैं। ३. तृतीय श्रेणी की रेखायें—ये हाथ में भिन्न २ स्थानों पर विशेष २ प्रकार के चिह्न होते हैं जिनके द्वारा शुभ एवं अशुभ भावों का ज्ञान होता है। ये निम्न हैं—

i. वज्ररेखा ii नक्षत्र रेखा, iii यव रेखा, iv चतुष्कोण रेखा, v त्रिकोण रेखा, ये सब रेखायें हाथ में करतल (Palm) के स्थानविशेष में विशेष फल देती हैं।

इन उपर्युक्त रेखाओं के अतिरिक्त करतल में सप्तग्रहों के भी पृथक् २ स्थान होते हैं। आगे ये सब दिखाये गये हैं। १. रवि-स्थान—अनामिका के निचे का अंश रविस्थान कहलाता है। २. चन्द्रस्थान—मणिबन्ध के बाईं तरफ का स्थान। ३. मंगल-स्थान—करतल का मध्यस्थल। ४. बुधस्थान—कनिष्ठिका का निम्न स्थान। ५ बृहस्पतिस्थान—तर्जनी अंगुली का निम्न भाग। ६. शुक्रस्थान—अंगुष्ठ का निम्न स्थान। ७. शनि स्थान—मध्यमा अङ्गुलि का निम्न स्थान। हाथ में भिन्न २ प्रकार की रेखाओं, चिह्नों तथा ग्रहों के स्थानों को देने के बाद अब हम संक्षेप से उनके फलों का वर्णन करते हैं। पितृरेखा—इस रेखा से शरीर के सम्पूर्ण पितृज भावों का परिचय होता है। शरीर के अन्दर जितने भी कठिन (कठोर) भाव होते हैं वे सब पितृज भाव माने जाते हैं। इससे ज्ञात होता है कि बालक में कितनी दृढ़ता है। शरीर के दृढ होने से आयु का संबन्ध है अर्थात् इस रेखा को देखकर आयु का विचार किया जाता है। इसी लिये पाश्चात्य विद्वान् पितृरेखा को आयु रेखा (Line of life) मानते हैं। मातृरेखा—इस रेखा से शरीर के सम्पूर्ण मातृज भावों का ज्ञान होता है। शरीर में जितनी भी स्निग्ध एवं कोमल वस्तुएं तथा भाव हैं वे सब मातृज कहलाते हैं। मस्तुलुङ्ग (Brain—मस्तिक) भी मातृज भाव माना जाता है। इसी लिये पाश्चात्य विद्वान् मातृरेखा को शिरोरेखा (Line of head) मानते हैं। आयु-रेखा—पहले बताया जा चुका है कि आयुरेखा कनिष्ठका के मूल से तर्जनी के मूल तक जाती है। इस रेखा से प्रत्यक्ष रूप से बालक की आयु का विचार किया जाता है। मनुष्य की पूर्ण आयु १२० वर्ष की मानी गई है। कहा भी है—समाः षष्टिर्द्विघ्ना मनुजकरिणां पञ्च च निशा। हयानां द्विषष्टिः.................. इत्यादि॥ (वराहमिहिर) यह आयु बुध स्थान से लेकर बृहस्पति स्थान तक क्रमशः १०, २०, ४० एवं ५० (=१२०) गणना के अनुसार ४ भागों में विभक्त हुई पूर्ण आयु (१२० वर्ष) को प्रकट करती है। भाग्यरेखा—इस रेखा से अधिकतर बालक के कार्य (राजसेवा-नौकरी) इत्यादि का विचार किया जाता है। रविरेखा—इस रेखा से बालक की विद्या एवं यश, प्रभाव आदि का विचार होता है। वाणिज्यरेखा—इस रेखा से स्वास्थ्य का विषय तथा व्यवसाय आदि का विचार किया जाता है इन तीनों रेखाओं (भाग्य, रवि तथा वाणिज्य रेखाओं) को सम्मिलित रूप से भाग्यरेखा कहा जा सकता है क्योंकि इन तीनों रेखाओं के द्वारा बालक के भाग्य का ज्ञान होता है। इन मुख्य रेखाओं के फलों के अतिरिक्त अनुग रेखाएं अपनी २ मुख्य रेखाओं को दोषरहित करके अधिक बलवान बनाती है। तृतीय श्रेणी की रेखाएं—वज्ररेखा-शुभस्थान अर्थात् बृहस्पति, शुक्र और सम उच्च चन्द्रमा तथा बुध के स्थान में भी ग्रहों के अपने २ स्वाभाविक भावों को बढ़ाते हैं। यदि यह वज्र रेखा क्रूर ग्रहों के स्थानों में (विशेषकर मंगल और शनि) हो तो उनकी स्वाभाविक अनिष्टकारिता को बढ़ाते हैं। नक्षत्ररेखा—इसके फल भी प्रायः इसी प्रकार के होते हैं। परन्तु नक्षत्रचिह्न वज्र की अपेक्षा अधिक बलशाली होता है। यवचिह्न—यह किसी रेखा या स्थान पर हो तो अनिष्टकारी माना जाता है। केवल अंगुष्ठ के मध्यमें यदि यह चिह्न हो तो शुभ माना जाता है। उस अवस्था में बालक विद्वान्, अवि अथवा धनवान होता है। चतुष्कोण—इस रेखा के फल-बुध एवं बृहस्पति स्थान में शुभ होते हैं। इनके अतिरिक्त स्थानों में इसका होना अनिष्टकारक होता है। त्रिकोण—यह रेखा जिस ग्रह के स्थान में होती है उसी ग्रह की सबलता प्रकट करती है। यह चिह्न साधारणतया सभी स्थानों में प्रशस्त माना जाता है। इन उपर्युक्त सभी हस्तरेखाओं एवं चिह्नों का विचार करके बालक की आयु, भाग्य तथा कर्माजीव आदि का निर्णय किया जाता है। विषयान्तर होने से हमने संक्षेपमें ही इस विषय को यहां दिया है। विशेष ज्ञान के लिये पाठकों को यह विषय अन्यत्र देखना चाहिये।

तृतीयं विमानस्थानम् ।

. . . .
. . . .

वक्तव्य—इस अध्याय की केवल अन्तिम दो पंक्तियां ही उपलब्ध हुई हैं। शेष सम्पूर्ण अध्याय खण्डित है। अध्यायका समाप्ति-सूचक अन्तिम वाक्य '(इति) कर्णायजयावष्ठीवनं विमानम्' भी अत्यन्त अस्पष्ट है। इसे देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि इस अध्याय का क्या विषय है। अन्तिम पंक्ति से थोड़ी सी ध्वनि अवश्य निकलती है। 'अवेक्षितजान् गदान्' को देखकर यह कहा जा सकता है कि सम्भवतः इसमें दृष्टि-दोष से उत्पन्न होने वाले रोगों का वर्णन किया गया होगा। अन्त में उन्हीं का देवता तथा नक्षत्र आदिकों की पूजा के द्वारा प्रतीकार दिया हुआ है। इससे अधिक इसके विषय में कुछ कहना कठिन है।

पृथक् पूजा हिताशनम् ।

तिथिनक्षत्रदेवार्चा घ्नन्त्यवेक्षितजान् गदान् ॥

इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥

(इति)कर्णायजयावष्ठीवनं (?) विमानम् ॥

पृथक् २ देवताओं की पूजा, हिताशन (पथ्य आहार का सेवन) तथा तिथि, नक्षत्र और देवताओं की अर्चना से दृष्टिदोष नष्ट होते हैं ॥

ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था।

(इति) कर्णायजयावष्ठीवनं (?) विमानम् ॥

शिष्योपक्रमणीयविमानाध्यायः ।

अथातः शिष्योपक्रमणीयं विमानमध्यायं व्याख्यास्यामः१ इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ २ ॥

अब हम शिष्योपक्रमणीय विमानाध्याय का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था ॥ १-२ ॥

वक्तव्य—शिष्योपक्रमणीय का अभिप्राय शिष्य का अध्ययन के निमित्त गुरु के पास आना है। गुरु उसकी सम्यक् प्रकार से परीक्षा करके उसे शास्त्र का ज्ञान देता है। शिष्य विद्या का अधिकारी है या नहीं, यह जानने के लिये ही इस अध्याय का उपक्रम किया गया है ॥ १-२ ॥

अथ खलु गुरुः शिष्यमभिगतं विद्यार्थिनं शिष्यगुणान्वितं विधिनोपनयेदुदगयने पुण्याहे नक्षत्रेऽश्वयुजि रोहिण्यामुत्तरास्वन्यस्मिन् वा। पुण्ये प्रागुदक्प्रवणदेशे गोमयेनाद्भिश्च गोचर्ममात्रं स्थण्डिलमुपलिप्य; यथोक्तं तत्र लक्षणोल्लेखनाग्निप्रणयनपरिसमूहनपर्युक्षणब्रह्मप्रणीतास्तरणाज्योत्पवनाघाराज्यभागाग्निहोमान् कृत्वा, पालाशीः समिधो घृताक्ता जुहोति-अग्नये स्वाहा, सोमाय स्वाहा, प्रजापतये स्वाहा, कश्यपाय स्वाहा, अश्विभ्यां स्वाहा, इन्द्राय स्वाहा, धन्वन्तरये स्वाहा, सरस्वत्यै स्वाहा, पूर्णभगाय स्वाहा, अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा, इति हुत्वा; ब्राह्मणं हविष्यौदनेन दक्षिणावता तर्पयित्वा, देवांश्च बलिभिः, गुरवे पूर्णकुम्भं दक्षिणां दत्त्वा, 'दधिक्राव्ण' इति प्राङ्मुखो दधि प्राश्य, उपस्पृश्याद्भिः, परिक्रम्य प्रदक्षिणं, गुरोर्बाहुं संस्पृश्य ब्रूयात्—असावहं पुत्र इति, पादौ संस्पृश्य ब्रूयात्—असावहं शिष्य इति ॥३॥

सबसे प्रारम्भ में आचार्य को चाहिये कि वह समीप आये हुए, विद्या के इच्छुक तथा आगे कहे गये शिष्य के गुणों से युक्त शिष्य का उत्तरायण काल में प्रशस्त दिन तथा अश्विनी, रोहिणी, उत्तरा या अन्य किसी नक्षत्र में विधिपूर्वक उपनयन करे। फिर पूर्व या उत्तर की ओर पुण्यकारक स्थान में गोबर तथा पानी से गोचर्म के प्रमाण की एक चौकी या फर्श को लीपकर तथा यथोक्त लक्षणोल्लेखन (लक्षण के अनुसार भूमि खोदना आदि), अग्निप्रणयन (अग्नि का लाना), परिसमूहन (इधर उधर बिखरी हुई वस्तुओं को एकत्र करना), पर्युक्षण (जल छिड़कना), ब्रह्मप्रणीत-आस्तरण (यज्ञ के ब्रह्मा के निमित्त बनाया हुआ आसन बिछाना), आज्योत्पवन (घृत को पवित्र करना अथवा पिघलाना), आघाराज्याहुति,

(१) उपनयन का अर्थ अध्ययन के लिये शिष्य को आचार्य के समीप लाने से है—अध्ययनार्थमाचार्यसमीपं नीयतेऽनेनेत्युपनयनम् ॥

(२) गोचर्म—२१०० हाथ लम्बे-चौड़े स्थान को कहते हैं। कहा भी है—

सप्तहस्तेन दण्डेन त्रिंशद्दण्डैर्निवर्तनम् ।

दश तान्येव गोचर्म दत्त्वा स्वर्गे महीयते ॥ अनुवादक।

(३) मुख्य होम के आदि और अन्त में जो आहुति दी जाती हैं उनमें से यज्ञ कुण्ड के उत्तर भाग में जो एक आहुति और यज्ञ-कुण्ड के दक्षिण भाग में दूसरी आहुति दी जाती है उसे 'आघाराज्याहुति' कहते हैं। जैसे-'ओं अग्नये स्वाहा। इदमग्नये-इदन्न मम' के द्वारा उत्तर भाग में तथा ओं सोमाय स्वाहा। इदं सोमाय-इदन्नमम' के द्वारा दक्षिण भाग में आहुति दी जाती है। अनुवादक

आज्यभागाहुति[1] तथा अन्य आहुतियां आदि तैयार करके घृत-युक्त पलाश (ढाक) की समिधाओं से निम्न देवताओं तथा ऋषियों के नाम से आहुति देवे-अग्नये स्वाहा, सोमाय स्वाहा, प्रजापतये स्वाहा, कश्यपाय स्वाहा, अश्विभ्यां स्वाहा, इन्द्राय स्वाहा, धन्वन्तरये स्वाहा, सरस्वत्यै स्वाहा, पूर्णभगाय स्वाहा, अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा[2]। फिर दक्षिणा सहित हविष्य ओदन के द्वारा ब्राह्मणों तथा बलि के द्वारा देवताओं को तृप्त करके तथा गुरु को घड़ा भरके धन आदि की दक्षिणा देकर 'दधिक्राव्णः' इत्यादि मन्त्र बोलकर पूर्व दिशा में मुख करके दधि का सेवन करके, जल का स्पर्श करके तथा अग्नि को दक्षिण में रखकर परिक्रमा करके गुरु का हस्तस्पर्श करके वह कहे-यह मैं आपका पुत्र हूं तथा गुरु के पैरों को स्पर्श करके कहे यह मैं आपका शिष्य हूं। चरक वि. अ. ८ में शिष्योपनयन-विधि निम्न प्रकार से दी है—एवं विधमध्ययनार्थमुपस्थितमारिराधयिषुमाचार्यश्चानुभाषेत—अथोदगयने शुक्लपक्षे प्रशस्तेऽहनि तिष्यहस्तश्रवणाश्वयुजामन्यतमेन नक्षत्रेण योगमुपगते भगवति शशिनि कल्याणे कल्याणे च करणे मैत्रे मुहूर्ते मुण्डः स्नातः कृतोपवासः कषायवस्त्रसंवीतः समिधोऽग्निमाज्यमुपलेपनमुदकुम्भांश्च गन्धहस्तो माल्यदामप्रदीपहिरण्यहेमरजतमणिमुक्ताविद्रुमक्षौमपरिधिकुशलाज-सर्षपाक्षतांश्च शुक्लांश्च सुमनसो ग्रथिताग्रथितांश्च मेध्यांश्च भक्ष्यान् गन्धांश्च घृष्टानादायोपतिष्ठस्वेति, अथ सोऽपि तथा कुर्यात्। तमुपस्थितमाज्ञाय समे शुचौ देशे प्राक्प्रवणे उदक्प्रवणे वा चतुष्किष्कुमात्रं चतुरस्रंस्थण्डिलं गोमयोदकेनोपलिप्तं कुशास्तीर्णं सुपरिहितं परिधिभिश्चतुर्दिशंयथोक्तचन्दनोदककुम्भक्षौमहेमहिरण्यरजतमणिमुक्ताविद्रुमालंकृतं मेध्यभक्ष्यगन्धशुक्लपुष्पलाजसर्षपाक्षतोपशोभितं कृत्वा, तत्र पालाशीभिरिङ्गुदीभिरौदुम्बरीभिर्माधुकीभिर्वा समिद्भिरग्निमुपसमाधाय प्राङ्मुखः शुचिरध्ययनविधिमनुविधाय मधुसर्पिर्भ्यां त्रिस्त्रिर्जुहुयादग्निमाशीः प्रयुक्तैर्मन्त्रैर्ब्रह्माणमग्निं धन्वन्तरिं प्रजापतिमश्विनाविन्द्रमृषींश्च सूत्रकारानभिमन्त्रयमाणः पूर्वं स्वाहेति । शिष्यश्चैनमन्वालभेत, हुत्वा च प्रदक्षिणमग्निमनुपरिक्रामेत् ततोऽनुपरिक्रम्य ब्राह्मणान्स्वस्ति वाचयेत्, भिषजश्चाभिपूजयेत्। **इसीप्रकार सुश्रुत में भी कहा है—**उपनयनीयस्तु ब्राह्मणः प्रशस्तेषु तिथिकरणमुहूर्त्तनक्षत्रेषु प्रशस्तायां दिशि शुचौ समे देशे चतुर्हस्तं चतुरस्रं स्थण्डिलमुपलिप्य गोमयेन दर्भैः संस्तीर्य रत्नपुष्पैर्लाजभक्तैरन्नैश्च पूजयित्वा देवता विप्रान् भिषजश्च तत्रोल्लिख्याभ्युक्ष्य

(१) जो कुण्ड के मध्य में आहुति दी जाती हैं उन्हें 'आज्यभागाहुति' कहते हैं। वे-'ओं प्रजापतये स्वाहा। इदं प्रजापतये-इदन्न मम'। तथा ओं इन्द्राय स्वाहा। इद'मिन्द्राय-इदन्न मम। इत्यादि दो आहुतियां हैं।

(२) स्विष्टकृत होमाहुति एक ही होती है जो कि निम्न मन्त्र से घृत अथवा भात की दी जाती है—ओं यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम्। अग्निष्टत्स्विष्टकृद्विद्यात् सर्वं स्विष्टं सुहुतं करोतु मे। अग्नये स्विष्टकृते सुहुतहुते सर्वप्रायश्चित्ताहुतीनां कामानां समर्द्धयित्रे सर्वान्नः कामान्त्समर्द्धय स्वाहा। इदमग्नये स्विष्टकृते—इदन्न मम।

दक्षिणतो ब्रह्माणं स्थापयित्वाऽग्निमुपसमाधाय खदिरपलाशदेवदारुबिल्वानां समिद्भिश्चतुर्णां वा क्षीरिवृक्षाणां न्यग्रोधोडुम्बराश्वत्थमधूकानां दधिमधुघृताक्ताभिर्दार्वीहौमिकेन विधिना स्रुवेणाज्याहुतीर्जुहुयात्। प्रणवाभिर्महाव्याहृतिभिः स्रुवेणाज्याहुतीर्जुहुयात्। प्रतिदैवतमृषींश्च स्वाहाकारं जुहुयात्। शिष्यमपि कारयेत्॥ ३॥

अथ शिष्यगुणाः-क्षान्तिर्दाक्ष्यं दाक्षिण्यमानुकूल्यं शौचं कुले जन्म धर्मसत्याहिंसासामकल्याणज्ञानविज्ञानस्थितिविनिवेशः पाटवं यथोक्तकारित्वं ब्रह्मचर्यमनुत्सेको लोभेर्ष्याविवर्जनमिति; अतोऽन्यथा दोषैः सवर्ज्यः॥ ४॥

शिष्य के गुण—क्षमा, निपुणता, चतुराई, अनुकूलता, (आचार्य के अनुकूल होना), पवित्रता, उत्तमकुल में जन्म (कुलीनता), धर्म, सत्य, अहिंसा, साम (शान्ति), कल्याण, ज्ञान तथा विज्ञान की स्थिति प्रवेश, पटुता, यथोक्तकारित्व (आचार्य की आज्ञा के अनुसार कार्य करना), ब्रह्मचर्य, उत्सेक (गर्व-अहंकार) का अभाव और लोभ तथा ईर्ष्या का त्याग—ये शिष्य के गुण हैं। इसके विपरीत दोषों से युक्त शिष्य का त्याग कर देना चाहिये। अर्थात् उपर्युक्त गुणों से रहित शिष्य का ग्रहण नहीं करना चाहिये। चरक वि० अ० ८ में शिष्य के निम्न गुण दिये हैं—अध्यापने कृतबुद्धिराचार्यः शिष्यमेवादितः परीक्षेत। तद्यथा—प्रशान्तमार्यप्रकृतिमक्षुद्रकर्माणमृजुचक्षुर्मुखनासावंशं तनुरक्तविशदजिह्वमविकृतदन्तौष्ठममिण्मिणं धृतिमन्तमनहंकृतं मेधाविनं वितर्कस्मृतिसम्पन्नमुदारसत्त्वं तद्विद्यकुलजमथवा तद्विद्यवृत्तं तत्त्वाभिनिवेशिनमव्यङ्गमव्यापन्नेन्द्रियं निभृतमनुद्धतवेशमव्यसनिनमर्थतत्त्वभावकमकोपनं शीलशौचाचारानुरागदाक्ष्यप्रादक्षिण्योपपन्नमध्ययनाभिकाममर्थविज्ञाने कर्मदर्शने चानन्यकार्यमलुब्धमनलसं सर्वभूतहितैषिणमाचार्यसर्वानुशिष्टप्रतिपत्तिकरमनुरक्तमेवंगुणसमुदितमध्याप्यमेवाहुः। **इसी प्रकार सुश्रुत सू० अ० २ में कहा है—**ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानामन्यतममन्वयवयः शीलशौर्यशौचाचारविनयशक्तिबलमेधाधृतिस्मृतिमतिप्रतिपत्तियुक्तं तनुजिह्वौष्ठदन्ताग्रमृजुवक्त्राक्षिनासं प्रसन्नचित्तवाक्चेष्टं क्लेशसहं च भिषक् शिष्यमुपनयेत्। अतो विपरीतगुणं नोपनयेत्॥ ४॥

अथ गुरुः-धर्मज्ञानविज्ञानोहापोहप्रतिपत्तिकुशलो-गुणसंपन्नः सौम्यदर्शनः शुचिः शिष्यहितदर्शी चोपदेष्टा च भिषक्शास्त्रव्याख्यानकुशलस्तीर्थागतज्ञानविज्ञानः कल्योऽनन्यकर्माऽव्यावृत्तः शिष्यगुणान्वितश्च[1]। अतोऽन्यथा दोषैर्वर्ज्यः॥ ५॥

गुरु या आचार्य के गुण—धर्म, ज्ञान, विज्ञान, ऊहापोह (तर्क वितर्क) तथा प्रतिपत्ति (प्रागल्भ्य, प्रागुत्पन्नमतित्व अथवा युक्ति) में कुशल, गुणसम्पन्न (गुणी), जिसका दर्शन या आकृति सौम्य हो, पवित्र, शिष्यों के हितों का

१. पूर्वोक्तैः शिष्यगुणैरपि यथासंभवविभिर्युक्त इत्यर्थः।

ध्यान रखनेवाला, उपदेशक, चिकित्सा शास्त्र के व्याख्यान में कुशल, ज्ञान तथा विज्ञान जिसे कण्ठस्थ हों, कल्य (मंगलकारी), जो और कोई कार्य न करता हो (अर्थात् शिष्यों को अध्यापन के अतिरिक्त अन्य कोई आजीविकार्थ कार्य न करता हो), जिसने अध्यापन कार्य छोड़ा हुआ न हो (जिसे अध्यापन कार्य में रुचि हो) तथा जो पूर्वोक्त शिष्य में होने वाले गुणों से भी युक्त हो) इनके विपरीत दोषों से युक्त गुरु (आचार्य) का त्याग कर देना चाहिये। अर्थात् उपर्युक्त गुणों से रहित आचार्य अध्यापन कार्य के योग्य नहीं होता है। चरक वि० अ० ८ में आचार्य को निम्न गुणों से युक्त बताया है—ततोऽनन्तरमाचार्यं परीक्षेत। तद्यथा—पर्यवदातश्रुतं परिदृष्टकर्माणं दक्षं दक्षिणं शुचिं जितहस्तमुपकरणवन्तं सर्वेन्द्रियोपपन्नं प्रकृतिज्ञं प्रतिपत्तिज्ञमुपस्कृतविद्यमनहङ्कृतमनसूयकमकोपनं क्लेशक्षमं शिष्यवत्सलमध्यापकं ज्ञापनसमर्थं चेति, एवंगुणो ह्याचार्यः सुक्षेत्रमार्तवो मेघ इव सस्यगुणैः सुशिष्यमाशु वैद्यगुणैः सम्पादयति ॥ ५ ॥

अथ शिष्यानुशासनं-भोः सौम्येनानुकूलेन धार्मिकेण जितेन्द्रियेणाहूताध्यायिना च भवितव्यं, सर्वनिवेदिना समानदुःखेन देशकालज्ञेन धृतिमता च भवितव्यं, लोभक्रोधमोहेर्ष्याप्रहासवैरमद्यमांसस्त्रीभ्यो निवर्तयि(त्ति)तव्यं, गुरुशुश्रूषाऽवशेषेणाध्येतव्यं, न चाननुज्ञातेन न चानभ्यर्च्य वा गुरुमसमाप्तविद्येन वा प्रचरि[1]तव्यम् ॥ ६ ॥

शिष्य के प्रति उपदेश—वत्स! तुझे सौम्य, अनुकूल (आचार्य के अनुकूल), धार्मिक, जितेन्द्रिय, अध्ययन के लिये जिसे बुलाया जाय, सब कुछ मुझे कह देनेवाला (अर्थात् मुझसे कुछ न छिपाने वाला), समान दुःख वाले (अर्थात् मेरे दुख को अपना दुख समझने वाला), देश तथा काल का ज्ञान रखने वाला और धृतिमान् होना चाहिये। लोभ, क्रोध, मोह, ईर्ष्या, प्रहास (दूसरे की हंसी-मजाक उड़ाना), वैर, मद्य, मांस तथा स्त्री से दूर रहना चाहिये। गुरु की सेवा करते हुए अध्ययन करना चाहिये। गुरु से आज्ञा लिये विना, उनकी अभ्यर्चना किये विना तथा विद्या को पूर्ण रूप से समाप्त किये विना चिकित्सा कार्य में प्रवृत्त नहीं होना चाहिये। चरक वि० अ० ८ में शिष्य के प्रति उपदेश का अत्यन्त विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है—अथैनमग्निसकाशे ब्राह्मणसकाशे भिषक्सकाशे चानुशिष्यात्—ब्रह्मचारिणा श्मश्रुधारिणा सत्यवादिनाऽमांसादेन मेध्यसेविना निर्मत्सरेणाशस्त्रधारिणा च भवितव्यम्, न च ते मद्वचनात्किंचिदकार्यं स्यादन्यत्र राजद्विष्टात्प्राणहराद्विपुलादधर्म्यादनर्थसम्प्रयुक्ताद्वाऽप्यर्थात्, मदर्पणेन मत्प्रधानेन मत्प्रियहितानुवर्तिना च शश्वद्भवितव्यं पुत्रवद्दासवदर्थिवच्चोपचरताऽनुवस्तव्योऽहमनुत्सुत्केनावहितेनानन्यमनसा विनीतेनावेक्ष्यकारिणाऽनसूयकेन, न चानभ्यनुज्ञातेन प्रविचरितव्यं, अनुज्ञातेन प्रविचरता पूर्वं गुर्वर्थोपान्वाहरणे यथाशक्ति प्रयतितव्यं, कर्मसिद्धिमर्थसिद्धिं यशोलाभं प्रेत्य च स्वर्गमिच्छता त्वया गोब्राह्मणमादौ कृत्वा सर्वप्राणभृतां शर्माशासितव्यमहरहरुत्तिष्ठता चोपविशता च सर्वात्मना चातुराणामारोग्ये प्रयतितव्यं जीवितहेतोरपि चातुरेभ्यो नाभिद्रोग्धव्यं, मनसोऽपि च परस्त्रियो नाभिगमनीयास्तथा सर्वमेव परस्वं, निभृतवेशपरिच्छदेन भवितव्यमशौण्डेनापापेनापापसहायेन च श्लक्ष्णशुक्लधर्म्यधन्यसत्यशर्म्यहितमितवचसा देशकालविचारिणा स्मृतिमता ज्ञानोत्थानोपकरणसम्पत्सु नित्यं यत्नवता, न च कदाचिद्राजद्विष्टानां राजद्वेषिणां वा महाजनद्विष्टानां महाजनद्वेषिणां वाऽप्यौषधमनुविधातव्यं तथा सर्वेषामत्यर्थविकृतदुष्टदुःखशीलाचारोपचाराणामनपवादप्रतीकाराणां मुमूर्षूणां च तथैवासन्निहितेश्वराणां स्त्रीणामनध्यक्षाणां वा, न च कदाचित्स्त्रीदत्तमामिषमादातव्यमननुज्ञातं भर्त्राऽथवाऽध्यक्षेण, आतुरकुलं चानुप्रविशता त्वया विदितेनानुमतप्रवेशिना सार्धं पुरुषेण सुसंवीतेनावाक्शिरसा स्मृतिमता स्तिमितेनावेक्ष्यावेक्ष्य मनसा सर्वमाचरता बुद्ध्या सम्यगनुप्रवेष्टव्यं, अनुप्रविश्य च वाङ्मनोबुद्धीन्द्रियाणि न क्वचित् प्रणिधातव्यान्यत्रातुरादातुरोपकारार्थाद्वाऽऽतुरगतेष्वन्येषु वा भावेषु न चातुरकुलप्रवृत्तयो बहिर्निश्चारयितव्याः, ह्रसितं चायुषः प्रमाणमातुरस्य न वर्णयितव्यं जानताऽपि तत्र यत्रोच्यमानमातुरस्यान्यस्य वाऽप्युपघाताय संपद्यते, ज्ञानवताऽपि च नात्यर्थमात्मनो ज्ञाने विकत्थितव्यं, आप्तादपि हि विकत्थमानादत्यर्थमुद्विजन्त्यनेके। **इसी प्रकार सुश्रुत सू० अ० २ में कहा है**—ततोऽग्निं त्रिः परिणीयाग्निसाक्षिकं शिष्यं ब्रूयात्—कामक्रोधलोभमोहमानाहङ्कारेर्ष्यापारुष्यपैशुन्यानृतालस्यायशस्यानि हित्वा, नीचनखरोम्णा शुचिना कषायवाससा सत्यव्रतब्रह्मचर्याभिवादनतत्परेणाऽवश्यं भवितव्यं, मदनुमतस्थानगमनशयनासनभोजनाध्ययनपरेण भूत्वा, मत्प्रियहितेषु वर्तितव्यम्, अतोऽन्यथा ते वर्तमानस्याधर्मो भवति, अफला च विद्या, न च प्राकाश्यं प्राप्नोति ॥६॥

अथाध्ययनविधिः-गुरुः शुचिरुद्धतहस्तः शुचौ देशे तद्वच्छिष्यायावहितायाथशब्दमोङ्कारं वा पूर्वं प्रयुज्य महाव्याहृतीरनूच्य सावित्रीं च त्रिरभ्यस्याऽधीष्व भो इत्युक्ते(क्त्वा) रूपमेकं निगदेत्[1], तं चानुपठेत्, तच्छिष्यो रूपहृतं संस्थाहृतं च कुर्यात्, ग्रहणशक्त्यवेक्षः खण्डनसंदर्शनापूर्वग्रहणानि सोढुं यथोक्तश्रवणं तस्याभ्यासो धन्यः, धारणाध्यापनेनार्थतत्त्वाधिगमनं तु मोक्षाय। नानध्यायेष्वधीयीत, न गुरुव्यलीकेषु, न पर्वसु, न सन्ध्यायां, न विद्युदुल्कानभ्रवर्षाऽसूर्यदर्शनेषु (?), न महोत्सवे न भुक्तवान्, नाद्भुतदर्शने, न गोब्राह्मणगुरुपरात्मपीडायां, न पक्षिणीषु, नाप्यष्टकासु, नात्युच्चनीचप्लुतक्लीबस्वरैः, नामुखाद् गुरोः, नालक्षितं, न संदिग्धं, न च क्षुत्पिपासाव्याधिवैमनस्यादियुक्तोऽभ्यसेत् ॥ ७ ॥

---

१. चिकित्सार्थं व्यवहर्तव्यमित्यर्थः।

१. गुरुरेकैकविषयस्वरूपमुपदिशेत्, पुनरप्युपदेशं सुबोधायावर्तयेत्, शिष्यस्तमुपदेशं शब्दस्वरूपावृत्त्या च दृढीकुर्यादिति भावः॥

अध्ययन विधि—सबसे पूर्व गुरु पवित्र एवं उद्धत-हस्त होकर पवित्र स्थान पर सावधान हुए शिष्य के प्रति 'अथ' शब्द या ओङ्कार शब्दपूर्वक महाव्याहृतियों (ओं भूः स्वाहा, ओं भुवः स्वाहा, ओं स्वः स्वाहा, ओं भूर्भुवः स्वः स्वाहा इति) का उच्चारण करके तथा सावित्री (गायत्री मन्त्र) का तीन वार अभ्यास करके, 'वत्स पढ़ो' यह कहकर पहले किसी एक रूप (विषय) का उपदेश करे तथा उसको एकवार पुनः पढ़ाये (अर्थात् उसकी पुनः आवृत्ति कराये)। फिर उस उपदेश को शिष्य शब्द के स्वरूप तथा विषय की आवृत्ति द्वारा दृढ़ करे अर्थात् शिष्य उस उपदेश को अच्छी प्रकार याद करे। ग्रहणशक्ति के अनुसार खण्डन तथा संदर्शनपूर्वक ग्रहण किये हुए को सहना तथा यथोक्त श्रवण किये हुए का अभ्यास करना प्रशस्त होता है। उसके बाद उसे धारण करने तथा अध्यापन के द्वारा विषय के तत्त्वको जानने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। अनध्याय (अवकाश) के दिनों में, यदि गुरु-आचार्य को पीडा-रोग हो, पर्व (त्यौहारों) में, दोनों सन्ध्याकालों में तथा बिजली गिरने, उल्कापात, अनभ्र-वर्षा, तथा सूर्य के दर्शन न होने पर, महोत्सव में, खाने के बाद, अद्भुत वस्तु के दर्शन के बाद, गौ-ब्राह्मण-गुरु-अन्य व्यक्ति या स्वयं (अपने आप) को पीडा (कष्ट) होने पर तथा पक्षिणी (अमावस्या तथा पूर्णमासी) और अष्टका (अष्टमी) आदि की उपस्थिति में नहीं पढ़ना चाहिये। तथा पढ़ते समय न अत्यन्त ऊंचे, न नीचे, न लुप्त तथा न क्लीब (नपुंसक) स्वर से पढ़ना चाहिये। गुरुमुख से बिना पढ़े, अलक्षित (जो बताया नहीं गया है) तथा संदिग्ध स्थल को भी नहीं पढ़ना चाहिये (अर्थात् उसका अभ्यास नहीं करना चाहिये) तथा भूख, प्यास, रोग तथा उदासीनता के समय भी नहीं पढ़ना चाहिये। चरक वि० अ० ८ में कहा है—तत्रायमध्ययनविधिः—कल्यः कृतक्षणः प्रातरुत्थायोपव्यूषं वा कृत्वाऽऽवश्यकमुपस्पृश्योदकं देवगोब्राह्मणगुरुवृद्धसिद्धाचार्येभ्यो नमस्कृत्य समे शुचौ देशे सुखोपविष्टो मनःपुरःसराभिर्वाग्भिः सूत्रमनुपरिक्रामन्पुनः पुनरावर्तयेद् बुद्ध्या सम्यगनुप्रविश्यार्थतत्त्वं स्वदोषपरिहारपरदोषप्रमाणार्थम्, एवं मध्यन्दिनेऽपराह्णे रात्रौ च शश्वदपरिहापयन्नध्ययनमभ्यस्येदित्यध्ययनविधिः। इसी प्रकार चरक सू० अ० ८ में भी कहा है—न विद्युत्स्वनार्तवीषु नाभ्युदितासु दिक्षु नाग्निसंप्लवे न भूमिकम्पे न महोत्सवे नोल्कापाते न महाग्रहोपगमने न नष्टचन्द्रायां तिथौ न सन्ध्ययोर्नामुखाद् गुरोर्नावपतितं नातिमात्रं न तान्तं न विस्वरं नानवस्थितपदं नातिद्रुतं न विलम्बितं नातिक्लीबं नात्युच्चैर्नातिनीचैः स्वरैरध्ययनमभ्यसेत् ॥ ७ ॥

अधीत्यानुज्ञातः प्रचरेच्छुक्लवासाः संह(य)तकेशोऽनुद्भ्रान्तो युगमात्रावलोकी पूर्वाभिभाषी सुमुखः। न चातुरकुलमनाहूतः प्रविशेत्, प्रविशंश्च निमित्तानि लक्षयेत्। न च सर्वतोऽवलोकयेदन्यत्रातुरात्। न चातुरकुलेषु स्त्रीभिः प्रेष्याभिरपि सहोपहासं गच्छेत्, न चासामपूजापुरस्कृतं नाम गृह्णीयात्, मान्यस्थानेनैव तु ब्रूयात्, न च ताभिः संव्यवहारमतिप्रणयं वा कुर्यात्, न च भर्तुरविदितं स्त्रीभ्यः किञ्चिदादद्यात्, न चाविदितः प्रदि(वि)शेत्, न च रहसि स्त्रिया सह ब्रूयादासीत वा, न चैनां विवृतां प्रेक्षेत विहसेद्वा, प्रणयन्तीं चोपेक्षेत, न च प्रकाशयेत्। न चातुरकुलगुह्यं बहिः प्रकाशयेत्, नातुरकुलदोषान् प्रथयेत्। दृष्टारिष्टमपि चातुरं न तत्त्वं ब्रूयात्, नित्यमाश्वासयेत्। न मृत्युपरिगतशरीरमसाध्यरोगमनुपकरणं चोपगच्छेत्, नौषधमक्रमेणोपदिशेत्, न पराधीनं कुर्यात्। न स्वयं कृतकमौषधं प्रयुञ्जीत, शरीरौषधव्याधिवयसां चावस्थान्तरज्ञः स्यात्। नित्यसंभृतधूपाञ्जनौषधः स्यात्। न चान्यभिषग्भिर्विरोधं गच्छेत्। संयुक्तश्च तैरौषधं प्रकल्पयेत्। प्रगल्भो निःशङ्क उपस्थितपदं विस्पष्टं विचित्रं मृदूपनयवद्ग्राहकमविरुद्धं धर्म्यं सदा ब्रूयात्। प्रजानां हि स्वस्तिकामो भिषगिह चामुत्र च नन्दत इति ॥ ८ ॥

शिक्षा ग्रहण करने के बाद आचार्य से अनुमति लेकर, शुभ्र वस्त्रों को धारण करके, बालों को ठीक करके, भ्रमरहित, युग (चार हाथ) मात्र दूरी तक देखने वाला (अर्थात् नीचे मुंह किये हुए), पहले बोलने वाला (अर्थात् परस्पर मिलने पर दूसरे के बोलने से पहले सत्कारयुक्त वचनों को बोलने वाला), तथा उत्तम एवं सुन्दर बात बोलने वाला होकर चिकित्सा क्षेत्र में प्रवेश करे। रोगी के घर में बिना बुलाये प्रवेश न करे। तथा प्रवेश करते हुए निमित्तों को देखे। रोगी के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं का अवलोकन न करे। रोगी के घर में स्त्रियों के साथ उपहास न करे। उनके द्वारा दी हुई पूजा (भेंट) को स्वीकार न करे। उचित ढंग से ही उनसे बातचीत करे। उनके साथ अत्यन्त व्यवहार तथा प्रीति न करे। पति के ज्ञान के बिना स्त्री से कोई वस्तु न ले। बिना ज्ञान के घर में प्रवेश न करे अर्थात् आगमन की सूचना दिये बिना रोगी के घर में प्रवेश न करे। स्त्रियों के साथ एकान्त में बातचीत न करे तथा उनके पास न बैठे। वस्त्रों से रहित अर्थात् नग्न अवस्था में उन्हें न देखे, न हंसे। यदि वह प्रीति करे तो उसकी उपेक्षा करे तथा उसके प्रति अपने भावों को प्रकट न करे। आतुरकुल की गुप्त (Private) बातों को बाहर प्रकाशित न करे। आतुरकुल के दोषों को न बढ़ाये। रोगी में अरिष्टलक्षणों का ज्ञान हो जाने पर भी रोगी से इस तत्त्व (वास्तविकता) का उल्लेख न करें। उसे सदा आश्वासन देता रहे। मरणासन्न, असाध्य तथा

१. कृतकंकृत्रिमम्।

२. आजकल कुछ लोग इस सिद्धान्त को मानने लगे हैं कि रोगी को रोग की वास्तविकता का ज्ञान अवश्य करा देना चाहिये जिससे वह अच्छीप्रकार परहेज तथा संयम से रह सके अन्यथा रोग की गम्भीरता का ज्ञान न होने पर वह उसकी उपेक्षा कर सकता है।

उपकरण (धन आदि अथवा चिकित्सा के उपकरण) से रहित रोगी के पास न जाये तथा औषधक्रम (व्यवस्था) का उपदेश न करे। दूसरे के आधीन न रहे। स्वयं कृत्रिम ओषधि का प्रयोग न करे। शरीर, औषध, रोग तथा उम्र आदि की भिन्न २ अवस्थाओं का ज्ञान प्राप्त करे। धूप, अञ्जन आदि ओषधियां पास में सदा तैयार रहनी चाहिये। दूसरे चिकित्सकों के साथ विरोध न करे अपितु उनके साथ मिलकर औषध व्यवस्था करे। अवसर उपस्थित होने पर सदा प्रगल्भ एवं निःशङ्क (सन्देह रहित) होकर अत्यन्त स्पष्ट, विचित्र, मृदु, उपनयवत् (नीतियुक्त), ग्रहण करने वाली, अविरुद्ध (जो परस्पर विरुद्ध न हो) तथा धर्मयुक्त वचन बोले। लोगों के कल्याण की कामना करने वाला वैद्य इहलोक तथा परलोक में सुखी होता है। चरक सू० अ० ८ में अत्यन्त विस्तार के साथ इन सब कर्त्तव्य कर्मों का निर्देश किया गया है ॥ ८ ॥

अथान्यो भिषगभिषदेत्[1]तस्मै क्षमेत, साम्ना चानुनयेत्। पुनः पुनः कुत्सयन्तं तु विगृह्यादितो ग्रन्थेनाऽवकिरेत्, न चास्य वाक्यावकाशं दद्यात्। ब्रुवतोऽपि प्रोक्तं च ब्रूयात्-नैतदेवमिति। परिहसेत्, अपशब्दांश्चास्य विगृह्णीयात्, अर्थे कृच्छ्रे चैनमवतारयेत्, न चैनमवशः परुषयेत्, स्तोत्रगर्भैरेवैनं धर्षयेदिति ॥९॥

(इति ताडपत्रपुस्तके ७५ तमं पत्रम् ।)

इसके बाद यदि कोई दूसरा वैद्य उसके साथ संभाषण करे तो उसे सहन करे तथा शान्ति द्वारा उसे समझाये। परन्तु यदि वह बार २ कुत्सित वचन बोले तो उसके साथ विगृह्य संभाषा का प्रयोग करे। तथा ग्रन्थों से भिन्न २ वाक्य उसके सामने बोले। और उसे बोलने का अवकाश (अवसर-मौका) ही न दे। यदि वह बोलता भी हो तो उसे कहे—यह ठीक नहीं है। उसकी हंसी करे, तथा उसके अशुद्ध शब्दों को पकड़ ले। तथा उसे कठिन विषय में ले जाये। अपने वश अथवा सीमा से बाहर होकर बहुत कठोर वचन न कहे। तथा स्तुति-गर्भ वाक्यों के द्वारा ही उसे नीचा दिखाये। चरक वि० अ० ८ में विवाद के विषय में लिखा है—तद्विधेन च सह कथयता आविद्धदीर्घसूत्रसंकुलैर्वाक्यदण्डकैः कथयितव्यं, अतिहृष्टं मुहुर्मुहुरुपहसता परं रूपयता च परिषदमाकारैर्ब्रुवता चास्य वाक्यावकाशो न देयः, कष्टशब्दं ब्रुवता वक्तव्यो 'नोच्यते' इति, अथवा पुनः 'हीना ते प्रतिज्ञा' इति पुनश्चाहूयमानः प्रतिवक्तव्यः—परिसंवत्सरो भवापि शिक्षस्व तावत् पर्याप्तमेतावत्ते, सकृदपि हि परिक्षेपिकं निहतं निहतमाहुरिति नास्य योगः कर्तव्यः कथंचिदप्येवं श्रेयसा सह विगृह्य वक्तव्यमित्याहुरेके, न त्वेवं ज्यायसा सह विग्रहं प्रशंसन्ति कुशलाः ॥९॥

भो भिषक्! आयुः किं, किमायुर्वेदस्यायुर्वेदत्वं, किं चायुरित्युच्यते, कत्यङ्गश्चायुर्वेदः, कथं चाध्येयः, किमर्थं चाध्येयः, किञ्चास्याद्यं तन्त्रं, कश्चैषां धुर्यः, कतमं च वेदं श्रयति, किं नित्योऽनित्यः, किमाश्रय-आयुर्वेदः, कानि चैषां सु (स्व)लक्षणानि तत्प्रकृतीनां, तिसृणां च वेदनानामतीतवर्त्तमानानागतानां कतमां भिषक् चिकित्सति, किं चास्यायुर्वेद(स्य)साधनं, किं पुण्योऽपुण्यः[1]? इति पृष्टो वा प्रतिब्रूयात्-भोः तत्रायुर्जीवितमित्युच्यते ॥ 'विद्' ज्ञाने धातुः, 'विद्लृ' लाभे च, आयुरनेन ज्ञानेन विद्यते ज्ञायते, विन्दते लभ्यते न रिष्यतीत्यायुर्वेदः कत्यङ्गश्चायुर्वेद इति अष्टाङ्गः; तस्य कौमारभृत्यं कायचिकित्सा शल्याहर्तृकं शालाक्यं विषतन्त्रं भूततन्त्रमगदतन्त्रं रसायनतन्त्रमिति ॥ अत्राह-अङ्गान्येतानि, शरीरमस्य कतमत्, यदाश्रयन्त्यङ्गानि, अङ्गानि हि शरीराश्रयाणि भवन्ति; अत्राह तस्य शरीरं धर्मः, धर्माश्रयं ह्यस्मिन् कर्म सिध्यतीति ॥ कथं चोत्पन्न इति; आह-अथर्ववेदोपनिषत्सु प्रागुत्पन्नः; स्वयंभूर्ब्रह्मा प्रजाः सिसृक्षुः प्रजानां परिपालनार्थमायुर्वेदमेवाग्रेऽसृजत् सर्ववित्, ततो विश्वानि भूतानि। ततस्तं पुण्यमायुर्वेदमनन्तमायुषो वर्धनमाधारमाप्यायनममृतमश्विभ्यां कः प्रददौ, ताविन्द्राय, इन्द्र ऋषिभ्यश्चतुर्भ्यः कश्यपवशिष्ठात्रिभृगुभ्यः; ते पुत्रेभ्यः शिष्येभ्यश्च प्रददुर्हितार्थं धर्मार्थकाममोक्षशक्तिपरिपालनार्थं चेति, एवमुत्पन्नः ॥ कथं चाध्येय इति, गुरोरनुमतेनेति ॥ केन चाध्येय इति, ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रैरायुर्वेदोऽध्येयः ॥ तत्रार्थपरिज्ञानार्थं पुण्यार्थं चात्मनः प्रजानुग्रहार्थं ब्राह्मणैः, प्रजासंरक्षणार्थं क्षत्रियैः, वृत्त्यर्थं वैश्यैः, शुश्रूषार्थमितरैः धर्मार्थं च सर्वैः। सुखजीवितदानं हि सर्वधर्मस्याधिकं ब्रुवते; ततश्च पुण्य एवमायुर्वेदः। सुखजीवितदानतुष्टाश्च देहिनः कृतज्ञाय संविभजन्ति पुरःस्तुवन्ति च; तदस्य धर्मार्थकामनिर्वर्तकं भवतीति किमर्थं चाध्येय इत्यत्रोक्तम् ॥ किंचास्याद्यं तन्त्रमिति?

कौमारभृत्यमष्टानां तन्त्राणामाद्यमुच्यते।
आयुर्वेदस्य महतो देवानामिव हव्यपः ॥

अनेन हि संवर्धितमितरे चिकित्सन्ति। बालस्य ह्यमौषधमन्यत्, प्रमाणमन्य (दन्य) उपक्रमोऽन्ये च विशेषाः ॥ कं च वेदं श्रयति? अथर्ववेदमित्याह; तत्र हि रक्षाबलिहोमशान्ति ········ प्रतिकर्मविधानमुद्दिष्टं विशेषेण, तद्वदायुर्वेदे, तस्मादथर्ववेदं श्रयति। सर्वान् वेदानित्येके, पद्यगद्यकथ्यगेयविद्याश्रयादिति; न चैतदेवम्, आयुर्वेदमेवाश्रयन्ते वेदाः। तद्यथा-दक्षिणे पाणौ चतसृणामङ्गुलीनामङ्गुष्ठ आधिपत्यं कुरुते, न च नाम ताभिः सह समतां गच्छति, एकस्मिंश्च

१. अभ्यागच्छेदित्यर्थः।

१. आयुर्वेदो धर्म्योऽधर्म्यो वेत्यर्थः

पाणौ भवति, एवमेवायमृग्वेदयजुर्वेदसामवेदाथर्ववेदेभ्यः पञ्चमो भवत्यायुर्वेद इति । किं कारणं ? यथाहि वेदेषु सततं ब्रह्मज्ञैस्त्रिवर्गसंयुक्तं पुरुषनिश्रेयसं चिन्त्यते, एवमेवास्मिन्नपि वेदे निदानोत्पत्तिलिङ्गारिष्टचिकित्सितैः सततमेव हितसुखकरं त्रिवर्गसारभूतं पुरुषनिश्रेयसं चिन्त्यते; तद्यथा च विविधविज्ञानज्ञानोपपन्ना भाष्यवचनविदोऽष्टाङ्गया बुद्ध्योपपन्ना लङ्घनप्लवनस्थानासनगमनागमनसमर्था अपि च नाम मनुष्या अदेशज्ञानवन्तो नित्यमेव देशज्ञं दैशिकमन्वयुरेवमेव खलु वेदनासु शिक्षाकल्पसूत्रनिरुक्तवृत्तच्छन्दोयज्ञसंस्तरज्ञानसमुच्चयविशेषज्ञा आयुर्वेदमेवानुधावन्ति, तस्माद्ब्रूमः-ऋग्वेदयजुर्वेदसामवेदाथर्ववेदेभ्यः पञ्चमोऽयमायुर्वेदः । यतश्च व्याधितस्यारोग्यमरोगस्य च शेषाः क्रिया धर्मार्थकाममोक्षेषु निर्वर्तन्ते ॥ कि नित्योऽनित्य इति, (नित्य इति ब्रूमः) कुतः ? आर्षवचनप्रामाण्यादविनाशित्वात् साध्यासिद्धेर्[1]देशकालसामान्यादिति ॥ किमाश्रय इति, वातपित्तकफाश्रयः । ते च द्वे द्वे देवते श्रिताः; मारुतमाकाशं च वातः श्रितः; अग्निमादित्यं च पित्तं, सोमं वरुणंच कफः; तास्तेषां देवताः । धर्मार्थकामानित्येके, सत्त्वरजस्तमांसीत्येके, साध्ययाप्यासाध्यत्वमित्येके ॥ कानि चैषां स्वलक्षणानि तत्प्रकृतीनामित्यत्रोच्यते । तत्र श्लेष्मा स्निग्ध०

. . . .

. . . .

(इति ताडपत्रपुस्तके ७६ तमं पत्रम्[2] ।)

(विमानस्थानस्यैतावानेव भाग उपलब्धः)

विवाद प्रारंभ हो जाने पर दूसरे वैद्य से निम्न प्रश्न करे— हे वैद्य ! आयु क्या है ? आयुर्वेद का आयुर्वेदत्व क्या है ? आयु किसे कहते हैं ? आयुर्वेद के कितने अङ्ग हैं ? इसका किस प्रकार तथा किस प्रयोजन के लिये अध्ययन करना चाहिये ? इसका सबसे श्रेष्ठ तन्त्र (ग्रन्थ) कौनसा है ? इनमें धुरी (अग्रणी) कौन है ? यह आयुर्वेद किस वेद पर आश्रित है ? यह नित्य है या अनित्य ? आयुर्वेद का क्या आश्रय है ? उनकी प्रकृतियों के अपने लक्षण क्या हैं ? अतीत, वर्तमान तथा अनागत (भावी) वेदनाओं में से वैद्य किसकी चिकित्सा करता है ? इस आयुर्वेद का साधन क्या है ? यह पुण्यकारक है अथवा अपुण्यकारक ? इत्यादि । यदि ये ही प्रश्न उससे पूछे जायं तो वह उत्तर देवे—हे वैद्य ! जीवन को आयु कहते हैं । आयुर्वेद आयु शब्द से 'विद ज्ञाने' अथवा 'विल लाभे च' धातु से बना है । इसका अर्थ है कि जिस ज्ञान के द्वारा आयु का ज्ञान प्राप्त हो अथवा आयु की प्राप्ति हो— उसका नाश न हो उसे आयुर्वेद कहते हैं । आयुर्वेद के कितने अङ्ग हैं इस प्रश्न का उत्तर-उसके आठ अङ्ग हैं । उदाहरणार्थ- कौमारभृत्य, कायचिकित्सा, शल्यहरण (शल्यचिकित्सा), शालाक्य, विषतन्त्र, भूततन्त्र, अगदतन्त्र[1] तथा रसायनतन्त्र । यहां यह प्रश्न है कि ये अङ्ग हैं तो इसका शरीर कौनसा है जिसका ये अङ्ग आश्रय लेते हैं क्योंकि अङ्ग शरीर का आश्रय लेकर स्थित होते हैं । उत्तर—धर्म उसका शरीर है । धर्म के आश्रित होकर इसकी क्रियाएं सिद्ध होती हैं । आयुर्वेद कैसे उत्पन्न हुआ ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—यह पहले अथर्ववेदोपनिषत् में उत्पन्न हुआ । सब कुछ जानने वाले स्वयंभू ब्रह्मा ने लोगों को उत्पन्न करने की इच्छासे उनकी रक्षा के लिये पहले आयुर्वेद की रचना की । उसके बाद सम्पूर्ण प्राणियों की रचना की । तदनन्तर ब्रह्मा ने उस पुण्यकारक, अनन्त, आयु को बढ़ाने वाले, आयु के आधार तथा तृप्त करने वाले और अमृतरूप आयुर्वेद का अश्विनीकुमारों को उपदेश दिया । अश्विनीकुमारों ने इन्द्र को, इन्द्र ने कश्यप, वसिष्ठ, अत्रि तथा भृगु नामक चार ऋषियों को, तथा उन्होंने हित के लिये एवं धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष तथा शक्ति की रक्षा के लिये अपने पुत्रों तथा शिष्यों को उपदेश किया । इस प्रकार यह आयुर्वेद उत्पन्न हुआ है । इसका अध्ययन कैसे करना चाहिये ? इसका उत्तर-गुरु की अनुमति से । किसको इसका अध्ययन करना चाहिये ? इसका उत्तर-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों[2] को इसका अध्ययन करना चाहिये । ब्राह्मणों द्वारा इसका अध्ययन, विषय के ज्ञान, पुण्य तथा अपने और लोक कल्याण के लिये करना चाहिये । क्षत्रियों द्वारा लोकसंरक्षण के लिये । वैश्यों द्वारा वृत्ति (आजीविका) के लिये तथा शूद्रों द्वारा सेवा के लिये अथवा सब वर्णों द्वारा धर्म के लिये इसका अध्ययन करना चाहिये । सुख (स्वास्थ्य) एवं जीवन का दान सब धर्मों से श्रेष्ठ माना गया है इसलिये यह आयुर्वेद पुण्य है । (सुख स्वास्थ्य) तथा जीवनदान से सन्तुष्ट हुए

१. 'साध्यसिद्धेः' इति पाठो युक्तः, फलनिष्पत्तेरिति तदर्थः । साध्यासिद्धेरिति तु वाद्यभिमतस्यानित्यत्वरूपसाध्यस्यासिद्धेरित्यर्थेन संगमनीयम् ।

२. अस्याग्रे पत्रद्वयग्रन्थो लुप्तस्ताडपत्रपुस्तके ।

१. इन आठ अङ्गों में वाजीकरण का उल्लेख नहीं किया गया है । तथा विष विज्ञान के लिये विषतन्त्र तथा अगदतन्त्र दो शब्दों का प्रयोग किया गया है । ऐसा संभवतः प्रकाशन के समय भ्रमवश हो गया है । इसलिये यहां अगदतन्त्र या विषतन्त्र दोनों में से किसी एक के स्थान पर वाजीकरण शब्द का पाठ होना चाहिये ।

२. चरक में शूद्रों को पृथक् नामपूर्वक आयुर्वेद के अध्ययन का विधान नहीं दिया गया है । सूत्रस्थान अ० ३० में कहा है— स चाध्येतव्यो ब्राह्मणराजन्यवैश्यैः । तत्रानुग्रहार्थं प्राणिनां ब्राह्मणैः, आरक्षार्थं राजन्यैः, वृत्त्यर्थं वैश्यैः, सामान्यतो वा धर्मार्थकामपरिग्रहार्थं सर्वैः ।

लोग कृतज्ञ हो जाते हैं तथा स्तुति करते हैं इस प्रकार इसके धर्म, अर्थ तथा काम की निर्वृत्ति होती[1] है। इसका आद्य (श्रेष्ठ अथवा प्रारम्भिक) तन्त्र कौनसा है? इसका उत्तर देते हैं—जिस प्रकार सब देवताओं में अग्नि को श्रेष्ठ माना गया है उसी प्रकार इस महान् आयुर्वेद के आठ तन्त्रों में कौमारभृत्य श्रेष्ठ माना गया है। इस कौमारभृत्य के द्वारा ही वृद्धि को प्राप्त हुए अन्य लोग भी चिकित्सा करते हैं। साधारण व्यक्ति (Adult) की अपेक्षा बालक की ओषधि हृद्य (हृदय को अच्छी लगने वाली-रोचक-Tasteful) होनी चाहिये। उसकी ओषधि का प्रमाण (मात्रा) भी भिन्न होती है, उपक्रम (चिकित्सा) भी भिन्न होती है तथा अन्य भी बहुत से अन्तर होते हैं। यह किस वेदके आश्रित है अर्थात् आयुर्वेद का आधार कौनसा वेद है? इसका उत्तर देते हैं—अथर्ववेद। अथर्ववेद में विशेषरूप से रक्षा, बलि, होम, शान्ति······आदि द्वारा चिकित्सा-विधान का उल्लेख किया गया है। उसी प्रकार आयुर्वेद में भी रक्षा, बलि, होम, शान्ति आदि का उल्लेख है। इसलिये यह आयुर्वेद अथर्ववेद के आश्रित है अर्थात् आयुर्वेद का आधार अथर्ववेद है[2]। कुछ आचार्य कहते हैं कि आयुर्वेद में प , गद्य, कथा, गेय, विद्या आदि होनेसे आयुर्वेद के आधार सब (चारों) वेद हैं। परन्तु यह ठीक नहीं हैं। वेद आयुर्वेद के ही आश्रित हैं। उदाहरणार्थ—जिस प्रकार दक्षिण हाथ में चारों उंगलियों में अंगूठा अधिपति होता है तथा उन उंगलियों के समान नहीं होता अर्थात् उंगलियों से उसकी विशेषता रहती है उसीप्रकार यह आयुर्वेद भी ऋक्, यजु, साम तथा अथर्ववेदों से भिन्न पांचवां वेद कहलाता है। उसका कारण यह है कि जिस प्रकार वेदों में ब्रह्मज्ञ ऋषियों द्वारा त्रिवर्ग (धर्म-अर्थ-काम) युक्त पुरुष निश्रेयस (मोक्ष) का विचार किया गया है उसी प्रकार इस वेद (आयुर्वेद) में भी निदान, रोगोत्पत्ति, लक्षण, अरिष्ट तथा चिकित्सा द्वारा हितकारी, सुखकारक तथा त्रिवर्ग के सारभूत पुरुष-निश्रेयस का ही विचार किया गया है। और जिस प्रकार विविध ज्ञान-विज्ञान से युक्त, भाष्य वचन आदि के पण्डित, अष्टाङ्ग बुद्धि से युक्त, लङ्घन (लांघना), प्लवन (तैरना), स्थान, आसन, गमन (जाना) तथा आगमन (आना) आदि क्रियाओं में समर्थ होते हुए भी मनुष्य देश (स्थान) का ज्ञान न होने पर सदा उस स्थान के जानने वाले तथा वहां के निवासी (Native) के ही पास पहुंचते हैं उसीप्रकार शिक्षा, कल्प, सूत्र, निरुक्त, वृत्त, छन्द, यज्ञसंस्तर तथा ज्ञानराशि के विशेषज्ञ भी वेदना (कष्ट-रोग) होने पर आयुर्वेद की ही शरण में आते हैं। इसलिये कहते हैं कि ऋग्, यजु, साम तथा अथर्ववेद से भिन्न यह आयुर्वेद पञ्चमवेद कहलाता है। क्योंकि रोगी मनुष्य का आरोग्य (स्वास्थ्य) तथा स्वस्थ मनुष्य की शेष (सम्पूर्ण) क्रियाएं धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष में निवृत्त हो जाती है अर्थात् स्वस्थ एवं रोगी प्रत्येक व्यक्ति के लिये धर्मार्थकाम-मोक्षरूप चतुर्विध पुरुषार्थ ही चरम ध्येय होता है। आयुर्वेद नित्य है या अनित्य? इसका उत्तर देते हैं—आर्ष वचनों के प्रमाणों से, अविनाशी होने से, साध्या-सिद्धि-वादी के अभिमत की अनित्यत्व रूप सिद्धि ('साध्यसिद्धि' यह पाठ भेद होने पर 'फलनिष्पत्ति' यह अर्थ होगा जो कि अधिक उपयुक्त है) तथा देश और काल की समानता से यह आयुर्वेद नित्य है। इस आयुर्वेद का आश्रय (आधार) क्या है? इसका उत्तर वात, पित्त तथा कफ इसके आश्रय हैं। वे वात, पित्त तथा कफ दो २ देवताओं का आश्रय करके रहते हैं। वात—मारुत (वायु) तथा आकाश देवता के, पित्त—अग्नि तथा आदित्य देवता के तथा कफ—सोम और वरुण देवता के आश्रित होता है। ये सब इनके देवता हैं। कुछ लोग इस उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर देते हैं कि आयुर्वेद के आधार धर्म कथा काम हैं। कुछ कहते हैं—सत्त्व, रज तथा तम इसके आधार हैं तथा कुछ कहते हैं—साध्य, याप्य तथा असाध्य इसके आधार हैं। इन प्रकृतिस्थ वात, पित्त तथा कफ के स्व (अपने) लक्षण क्या होते हैं? इसका उत्तर देते हैं—इनमें से श्लेष्मा स्निग्ध······(होती है)

वक्तव्य—यह अध्याय मध्य में ही खण्डित हो गया है। यहां पर "तत्र श्लेष्मा स्निग्धः" इत्यादि वाक्यांश को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि इसके आगे प्रकृतिस्थ श्लेष्मा, पित्त तथा वात के लक्षण दिये गये होंगे। तथा अध्याय के प्रारम्भ में किये गये प्रश्नों को देखते हुए यह अनुमान किया जा सकता है कि इस प्रश्न के उत्तर के बाद—(i) "तिसृणां च वेदनानामतीतवर्तमानानागतानां कतमां भिषक् चिकित्सति" तथा (ii) "किं चास्यायुर्वेद (स्य) साधनम्" इत्यादि प्रश्नों

१. सम्पूर्ण प्राचीन आयुर्वेदिक ग्रन्थों में इसे स्थान २ पर पुण्य शब्द द्वारा ही कहा गया है क्योंकि इसके द्वारा प्राणियों का इहलोक तथा परलोक दोनों में हित होता है। चरक सू० अ० १ में कहा है-तस्यायुषो पुण्यतमो वेदो वेदविदां मतः। वक्ष्यते यन्मनुष्याणां लोकयोरुभयोर्हितम्॥ आयुर्वेद का उद्देश्य आयु अथवा स्वास्थ्य प्रदान करना है। संसार में इससे बढ़कर पुण्यजनक कार्य और कोई नहीं हो सकता है। सुश्रुत में कहा है—सनातनत्वाद्वेदानामक्षरत्वात्तथैव च। तथा दृष्टफलत्वाच्च हितत्वादपि देहिनाम्॥ वाक्समूहार्थविस्तारात् पूजितत्वाच्च देहिभिः। चिकित्सितात्पुण्यतमं न किञ्चिदपि शुश्रुमः। इसी प्रकार—यदिदं शाश्वतं पुण्यं स्वर्ग्यं यशस्यमायुष्यं वृत्तिकरं चेति। अन्यत्र भी कहा है— ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रान् रोगार्तान् परिपाल्य च। यत्पुण्यं महदाप्नोति न' तत्सर्वैर्महामखैः॥ तस्माद्रोगापवर्गार्थं रोगार्त्तं समुपाचरेत्। इत्यादि। अर्थात् यथाविधि आयुर्वेद शास्त्र का अध्ययन कर उसके अनुसार चिकित्सा कार्य के द्वारा असीम व्यक्तियों को स्वास्थ्य प्रदान करने से व्यक्ति अनन्त पुण्य का भागी होता है। इसलिये आयुर्वेद पुण्यकारक ही माना गया है।

२. सुश्रुत सू० अ० १ में भी कहा है--इह खल्वायुर्वेदो नाम यदुपाङ्गमथर्ववेदस्यानुत्पाद्यैव प्रजाः श्लोकशतसहस्रमध्यायसहस्रं च कृतवान् स्वयंभूः। इसीप्रकार चरक में भी आयुर्वेदको अथर्ववेद का उपवेद माना है परन्तु कई आचार्य इसे ऋग्वेद का उपवेद भी मानते हैं।

के उत्तर दिये गये होंगे। इस ग्रन्थ के खण्डित होने से पाठकों के ज्ञान के लिये हम इन प्रश्नों के उत्तर अन्य चरक, सुश्रुत आदि आर्षग्रंथों के आधार पर यथाशक्ति देने का प्रयत्न करेंगे। सर्वप्रथम हम प्रकृतिस्थ वात, पित्त, कफ के लक्षण कहते हैं। प्रकृतिस्थ कफ के लक्षण—चरक वि० अ० ८ में कहा है—श्लेष्मा हि स्निग्धश्लक्ष्णमृदुमधुरसारसान्द्रमन्दस्तिमितगुरुशीतपिच्छिलाच्छः, तस्य स्नेहात् श्लेष्मलाः स्निग्धाङ्गाः, श्लक्ष्णत्वाच्छ्लक्ष्णाङ्गाः मृदुत्वाद् दृष्टिसुखसुकुमारावदातगात्राः, माधुर्यात्प्रभूतशुक्रव्यवायापत्याः, सारत्वात् सारसंहतस्थिरशरीराः, सान्द्रत्वादुपचितपरिपूर्णसर्वगात्राः, मन्दत्वान्मन्दचेष्टाहारविहाराः, स्तैमित्यादशीघ्रारम्भाल्पक्षोभविकाराः, गुरुत्वात्साराधिष्ठितावस्थितगतयः, शैत्यादल्पक्षुत्तृष्णासन्तापस्वेददोषाः, पिच्छिलत्वात्सुश्लिष्टसारसन्धिबन्धनाः, तथाऽच्छत्वात्प्रसन्नदर्शनाननाः प्रसन्नवर्णस्वराश्च, त एवं गुणयोगाच्छ्लेष्मला बलवन्तो वसुमन्तो विद्यावन्त ओजस्विनः शान्ता आयुष्मन्तश्च भवन्ति। कफ स्निग्ध, श्लक्ष्ण, मृदु, मधुर, सार (प्रसादरूप), सान्द्र, मन्द, स्तिमित, गुरु, शीतल, पिच्छिल तथा स्वच्छ होता है। श्लेष्माधिक पुरुष उपर्युक्त गुणों के कारण बलवान्, धनवान्, विद्यावान्, ओजस्वी, शान्त एवं दीर्घायु होते हैं। प्रकृतिस्थ पित्त के लक्षण—पित्तमुष्णं तीक्ष्णं द्रवं विस्रमम्लं कटुकं च, तस्यौष्ण्यात्पित्तला भवन्ति उष्णासहाः, उष्णमुखाः, सुकुमारावदातगात्राः, प्रभूतपिप्लुव्यङ्गतिलकपिडकाः, क्षुत्पिपासावन्तः, क्षिप्रवलीपलितखालित्यदोषाः, प्रायो मृद्वल्पकपिलश्मश्रुलोमकेशाः, तैक्ष्ण्यात्तीक्ष्णपराक्रमाः, तीक्ष्णाग्नयः, प्रभूताशनपानाः, क्लेशासहिष्णवो, दन्दशूकाः, द्रवत्वाच्छिथिलमृदुसन्धिबन्धमांसाः, प्रभूतसृष्टस्वेदमूत्रपुरीषाश्च, विस्रत्वात्प्रभूतपूतिकक्षास्यशिरःशरीरगन्धाः, कट्वम्लत्वादल्पशुक्रव्यवायापत्याः, त एवं गुणयोगात्पित्तला मध्यबला मध्यायुषो मध्यज्ञानविज्ञानवित्तोपकरणवन्तश्च भवन्ति। पित्त-उष्ण, तीक्ष्ण, द्रव, आमगन्धि, अम्ल और कटु होता है। पित्ताधिक पुरुष इन गुणों के कारण मध्य बलवाले, मध्यम आयु वाले तथा ज्ञान-विज्ञान एवं उपकरण में भी मध्यम होते हैं। प्रकृतिस्थ वात के लक्षण—वातस्तु रूक्षलघुचलबहुशीघ्रशीतपरुषविशदः, तस्य रौक्ष्याद्वातला रूक्षापचितात्पशरीराः, प्रततरूक्षक्षामभिन्नमन्दसक्तजर्जरस्वराः, जागरूकाश्च, लघुत्वाच्च, लघुचपलगतिचेष्टाहाराः, चलत्वादनवस्थितसन्ध्यक्षिभ्रूहन्वोष्ठजिह्वाशिरःस्कन्धपाणिपादाः, बहुत्वाद्बहुप्रलापकण्डरासिराप्रतानाः, शीघ्रत्वाच्छीघ्रसमारम्भक्षोभविकाराः, शीघ्रोत्रासरागविरागाः, श्रुतग्राहिणोऽल्पस्मृतयश्च, शैत्याच्छीतासहिष्णवः, प्रततशीतकोद्वेपकस्तम्भाः, पारुष्यात्परुषकेशश्मश्रुरोमनखदशनवदनपाणिपादाङ्गाः, वैशद्यात्स्फुटिताङ्गावयवाः, सततसन्धिशब्दगामिनश्च भवन्ति, त एवं गुणयोगाद्वातलाः प्रायेणाल्पबलाश्चाल्पापत्याश्चाल्पसाधनाश्चाधन्याश्च भवन्ति। वात रूक्ष, लघु, चल, बहुत शीघ्र, शीतल, परुष तथा विशद होता है। वातल पुरुष इन गुणों के कारण अल्पबल, अल्पायु, अल्प सन्तान वाले, अल्प साधन वाले तथा निर्धन होते हैं। अब हम अतीत, वर्तमान तथा भावी वेदनाओं (रोगों) में से चिकित्सक किस वेदना की चिकित्सा करता है? इसका उत्तर देते हैं—चरक शारीरस्थान के प्रथम अध्याय में अग्निवेश पुनर्वसु आत्रेय से प्रश्न करते हैं—अथ चार्तस्य भगवंस्तिसृणां का चिकित्सति। अतीतां वेदनां वैद्यो वर्तमानां भविष्यतीम्॥ भविष्यन्त्या असम्प्राप्तिरतीताया अनागमः। साम्प्रतिक्या अपि स्थानं नास्त्यर्तेः संशयो ह्यतः॥

वैद्य रोगी के भूत, वर्तमान अथवा भविष्यत् (भावी) तीन प्रकार के रोगों में से किस रोग की चिकित्सा करता है। वास्तव में वह इनमें से किसी भी रोग की चिकित्सा नहीं करता है। भविष्यत् की तो चिकित्सा वह कर ही नहीं सकता क्योंकि वह तो अभी उपस्थित ही नहीं हुई है। अतीत रोग पुनः लौटकर वापिस नहीं आ सकता तथा वर्तमान रोग भी "प्रवृत्तिहेतुर्भावानां न निरोधेऽस्ति कारणम्" के अनुसार स्थिर नहीं रह सकता अर्थात् सब भावों का स्वभाव नित्य गमन करने वाला है। काल भी नित्य गति करने वाला है। इस प्रकार रोगी के रोग की अवस्था तथा संवत्सरात्मक काल दोनों के नित्यग होने से वर्तमान रोग की भी चिकित्सा नहीं हो सकती अतः हमें यह सन्देह होता है कि इस अवस्था में वैद्य रोगी के किस रोग की चिकित्सा करता है? भगवान् आत्रेय इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—चिकित्सति भिषक्सर्वास्त्रिकाला वेदना इति। यया युक्त्या वदन्त्येके सा युक्तिरुपधार्यताम्॥ वैद्य रोगी के तीनों कालों के रोगों की चिकित्सा करता है। इसमें निम्न युक्ति है—पुनस्तच्छिरसः शूलं ज्वरः स पुनरागतः। पुनः स कालो बलवांश्छर्दिः सा पुनरागता॥ एभिः प्रसिद्धवचनैरतीतागमनं मतम्। कालाश्चयमतीतानामार्तीनां पुनरागतः॥ तमर्तिकालमुद्दिश्य भेषजं यत्प्रयुज्यते। अतीतानां प्रशमनं वेदनानां तदुच्यते॥ आपस्ताः पुनरागुर्मा याभिः शस्यं पुरा हतम्। यथा प्रक्रियते सेतुः प्रतिकर्म तथाऽऽश्रये॥ अतीत वेदनाओं की चिकित्सा में युक्ति – अर्थात् फिर वही सिर का दर्द आगया, फिर वही ज्वर आगया, फिर वही खांसी आगई, फिर वही कै (वमन) आगई। इस प्रकार लोक में कहा जाता है। इन प्रसिद्ध वचनों से अतीत वेदनाओं का पुनः वापिस आना माना जाता है। इन अतीत वेदनाओं के पीडाकाल को लक्ष्य में रखकर जो औषध प्रयुक्त होती है वह अतीत वेदनाओं को शान्त करने वाली कहाती है। खेती को नष्ट करने वाली अतीत वर्षा का ध्यान कर के जिस प्रकार बांध बांधा जाता है उसी प्रकार अतीत पीडाकाल को लक्ष्य में रखकर शरीर वा मन में चिकित्सा की जाती है। यह अतीत प्रशमन चिकित्सा (Preventive treatment) कहलाती है।

अनागत (भावी) वेदना की चिकित्सा में युक्ति—पूर्वरूपं विकाराणां दृष्ट्वा प्रादुर्भविष्यताम्। या क्रिया क्रियते सा च वेदनां हन्त्यनागताम्॥ उत्पन्न होने वाली व्याधियों के पूर्वरूप को देखकर जो चिकित्सा की जाती है वह भावी रोग को नष्ट करती है। वर्तमान रोग की चिकित्सा का सिद्धान्त—पारम्पर्यानुबन्धस्तु दुःखानां विनिवर्तते। सुखहेतूपचारेण सुखं चापि प्रवर्तते॥ न समा यान्ति वैषम्यं विषमाः समतां न च। हेतुभिः सदृशा नित्यं जायन्ते देहधातवः॥ सुख या आरोग्य के हेतु के सेवन से दुखों या रोगोंका प्रवाहरूप से अनुबन्ध निवृत्त हो जाताहै,

तथा सुख व आरोग्य की प्रवृत्ति होती है। अर्थात् विषमहेतुओं के सेवन से उत्पन्न हुई दुःखों या रोगों की परम्परा सुख हेतु का सेवन करने से दुखों के अभाव में सब भावों के क्षणभङ्गुर होने से स्वयमेव नष्ट हो जाती है। इस प्रकार सुखकारक या आरोग्यहेतुओं के सेवन करने से शरीर में समधातुओं की ही परम्परा चल पड़ती है तथा शरीर स्वस्थ हो जाता है। समधातुएँ स्वयमेव विषम नहीं हो सकती हैं तथा विषम धातुएं अपने आप सम नहीं हो सकती हैं। देह की धातुएँ सदा हेतुओं के सदृश ही उत्पन्न होती हैं अर्थात् यदि हेतु विषम हैं तो देहधातुएं विषम हो जायेंगी और यदि हेतु (स्वस्थवृत्त आदि) सम हैं तो धातुएँ सम उत्पन्न होंगी। स्वस्थवृत्त आदि समहेतुओं के होने से समता का ही अनुबन्ध रहता है इसलिये शरीर स्वस्थ रहता है।

इन उपर्युक्त युक्तियों के अनुसार चिकित्सक त्रिकालवेदना की ही चिकित्सा करता है। इसलिये भगवान् आत्रेय अन्त में कहते हैं—युक्तिमेतां पुरस्कृत्य त्रिकालां वेदनां भिषक्। हन्तीति ······························||

अब हम आयुर्वेद के साधन क्या हैं? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं। साधन कारण को कहते हैं। चरक में धातुसाम्यरूपी कार्य अथवा साध्य को निष्पन्न करने के लिये कारणभूत ६ पदार्थों का वर्णन किया गया है। वे कारण भूत ६ पदार्थ ही साधन माने जाते हैं। वे साधन—सामान्य, विशेष, द्रव्य, गुण, कर्म तथा समवाय हैं। इन छओं के द्वारा धातुसाम्यरूपी कार्य (स्वास्थ्य) सम्पादन होता है। चरक सू० अ० १ में उपर्युक्त छओं साधनों (कारणों) का विस्तृत विवेचन करने के बाद भगवान् आत्रेय उपसंहार करते हुए कहते हैं—इत्युक्तं कारणं, कार्यं धातुसाम्यमिहोच्यते। धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्॥ आयुर्वेद शास्त्र का प्रयोजन धातुसाम्य अथवा आरोग्य है तथा उस धातुसाम्यरूपी प्रयोजन अथवा कार्य को सिद्ध करने के लिये उपर्युक्त सामान्य आदि ६ कारण साधनरूप में माने जाते हैं। इस प्रकार ये आयुर्वेद शास्त्र के साधन बताये गये हैं।

चतुर्थं शारीरस्थानम्।

······································

······································

तस्मात् पञ्चैव खलु ऋतवोऽपि, तदनुपपत्तेर्नास्ति षट्त्वमिति; अत्रोच्यते—रसार्थमेषां षट्त्वं रसविमाने प्रोक्तम्॥

······································

······································

इसलिये ऋतुयें भी पांच ही होती हैं। उसकी उपपत्ति न होने से छठी ऋतु नहीं होती। रस के प्रयोजन के लिये ऋतुएँ ६ होती हैं जिसका कि रसविमान (खण्डित भाग) में वर्णन किया गया है॥

स कः[1] कलासमूहं कालं द्विविधमकल्पयत्-शुभं चाशुभं च, तौ तुल्यप्र(परि)माणौ भूतवर्तमानानागतविभागात्। तत्र शुभ उत्सर्पिणी[2], अशुभोऽवसर्पिणी; ते पुनरुभे त्रिविधे युगभेदेन-आदियुगं देवयुगं कृतयुगमित्युत्सर्पिणी, त्रेताद्वापरकलियुगान्यवसर्पिणी; तयोरानन्त्यात् परिमाणं नोच्यते। तत्रादियुगदेवयुगेऽचिन्त्यप्र(परि)माणोद्भवे कर्मभोजनपानगतिवीर्यायुषि अनिर्देश्ये। कृतयुगे तु नारायणं नाम देहिनां संहननं शरीरमुत्पद्यते; तस्मात्तदाहुः—तस्य घनं निष्कपालं शिरः, अस्थीनि च सत्त्वास्पदान्याकृतयो वज्रगरीयस्यः, हृदि चास्य महासिरा दशैव, त्वगस्य शिरश्चाभेद्यमच्छेद्यं, सर्वतोऽस्य शुक्रं, योजनं चास्योत्सेधः, सप्तरात्रं चास्य गर्भवासः, सद्योजातस्य चास्य सर्वकर्माणि शक्यानि भवन्ति, न चैनं क्षुत्पिपासाश्रमग्लानिशोकभयेर्ष्याऽधर्मचिन्ताधिव्याधिजरा बाधन्ते, न च स्तन्यवृत्तिर्भवति, धर्मतपोज्ञानविज्ञानस्थितियुक्तिश्चाति भवति। तस्य पलितोपमार्ध(?)मायुरुत्कृष्टमाहुरिति॥ अथ त्रेतायामर्धनारायणं नाम देहिनां संहननं शरीरमुत्पद्यते। तस्यैकास्थिप्रायं शरीरमाकुञ्चनप्रसारणावर्ज्यं, गर्भवासोऽस्याष्टमासिकः, स्तन्यजीविका च, द्वे शिरस्कपाले, पार्श्वयोरेकैकः सन्धिः उरसि च, त्र्यस्थि पृष्ठं, कोष्ठस्य सिरा विंशतिः, शुक्रं च, पलितोपम(?)चतुर्भागमायुरुत्कृष्टं पूर्वाचार्यगुणावसर्पणमिति॥ अथ द्वापरे कैशिकसंहननं शरीरमुत्पद्यते केशमात्राणुसुषिरास्थि, अतिक्षिप्तसन्धि, महाहस्तिबलः(लं),

१. कः ब्रह्मा। २. जो स्वयं वृद्धिको प्राप्त होता है अथवा क्रमशः आयु आदि भावों को बढ़ाता है उसे उत्सर्पिणी अथवा उन्नतिकाल कहते हैं। जो स्वयं क्षीण होता है अथवा क्रमः आयु आदि भावों को क्षीण करता है उसे अवसर्पिणी या अवनतिकाल कहते हैं।

सिरानुवेष्टितगात्रः(त्रं), गात्रसन्धिषु चास्य शुक्रं, पलितोपमा(?)ष्टभागमायुरुत्कृष्टं पूर्वाचार्धगुणावसर्पणमिति॥ अथ कलियुगे प्रज्ञप्तिपिशितं संहननं शरीरमुत्पद्यते। तस्य षष्टिश्च त्रीणि चास्थिशतानि भृशसुषिराणि मज्जपूर्णानि नलवदासन्नप्रधानि[1], चत्वारि मांसपेशीशतानि, सप्त सिराशतानि हृदयमूलानि, नव स्नायुशतानि मस्तुलुङ्गमूलानि, द्वे धमनीशते तालुमूले, सप्तोत्तरं मर्मशतं, त्रीणि महामर्माणि, दश प्राणायतनानि, पञ्च हृदयानि, त्रीणि सन्धिशतान्येकाशीता(त्यधिका)नि, चतुर्दश कण्डराः, कूर्चा द्विचत्वारिंशत्, षट् त्वचः, सप्त धातवः स्रोतांसि द्विविधानि, जातस्य पृथग्दन्तजन्म, दशमासं गर्भवासः संवत्सरादूर्ध्वं प्रतितिष्ठति, वाचं च विसृजति; तस्य वर्षशतमायुरुत्कृष्टं, सुखदुःखाधिव्याधिजरामृत्युपरिगतः,···सर्वगात्रः, क्षुत्पिपासागौरवश्रमशैथिल्यचित्तेर्ष्यारोषानृतलौल्यपरिक्लेशमोहवियोगप्रायः, संसारगोचरः, आबाधबहुल इति द्वे द्वे युगे सत्त्वरजस्तमोन्वये विद्धि । इति पुरुषस्य सृष्टिकारणमुक्तम् ॥

ब्रह्मा ने कलाओं के समूहरूप काल को शुभ और अशुभ दो प्रकार का बनाया। ये शुभ और अशुभ काल भूत, वर्तमान तथा भविष्यत् के भेद से समान परिमाण वाले होते हैं। इनमें शुभ काल को उत्सर्पिणी तथा अशुभ काल को अवसर्पिणी कहते हैं। ये दोनों पुनः युगभेद से तीन प्रकार के हैं। उत्सर्पिणी के आदियुग, देवयुग तथा कृतयुग ये तीन भेद हैं। इसी प्रकार अवसर्पिणी के त्रेता, द्वापर एवं कलियुग–ये तीन भेद हैं, युगों के अनन्त होने से इनका परिमाण नहीं कहा गया है। आदियुग तथा देवयुग का परिमाण अचिन्त्य होने से इनके कर्म, भोजन, पान, गति वीर्य तथा आयु का निर्देश संभव नहीं है। कृतयुग में मनुष्यों का नारायण नाम का शारीरिक संहनन उत्पन्न होता है। इसलिये उसके लक्षण कहते हैं—उसका सिर घन (ठोस) तथा कपाल रहित होता है, अस्थियां सत्व से युक्त होती हैं, आकृतियां वज्र के समान श्रेष्ठ (स्पष्ट) होती हैं, हृदय में इसके दश महाशिराएं होती हैं, इसकी त्वचा तथा सिर अभेद्य तथा अच्छेद्य होते हैं, इसके सारे शरीर में शुक्र होता है। इसकी विशालता एक योजन होती है। सात रात्रि (सात मास) यह गर्भ में निवास करता है। उत्पन्न होते ही यह सब कर्म कर सकता है। इसे भूख, प्यास, श्रम (थकावट), ग्लानि, शोक, भय, ईर्ष्या, अधर्म, चिन्ता, आधि (मानसिक रोग) तथा व्याधि (शारीरिक रोग) तथा वृद्धावस्था नहीं सताती है, यह स्तन्यवृत्ति नहीं होता अर्थात् प्रारंभ से ही दूध नहीं पीता। इस में धर्म, तप, ज्ञान, विज्ञान, स्थिति तथा युक्ति का आधिक्य होता है। इसकी उत्कृष्ट आयु पलितोपमार्ध होती है। इस के बाद त्रेता में मनुष्यों का अर्धनारायण नाम का शारीरिक संहनन होता है। उसका शरीर प्रायः एक अस्थिवाला तथा आकुञ्चन (Contraction) एवं प्रसारण (Dilatation) से रहित होता है। आठ मास यह गर्भ में रहता है। स्तन्य (दूध) पर यह जीवित रहता है। इसके सिर में दो कपाल होते हैं। पार्श्वों तथा छाती में एक २ सन्धि होती है। पीठ तीन अस्थि वाली होती है। (दो Sacrum तथा एक Coccyx), कोष्ठ में बीस शिराएं होती हैं। शुक्र भी होता है। इसकी उत्कृष्ट आयु पलितोपम का चौथाई भाग होता है। पहले (कृतयुग) की अपेक्षा इसमें आधे गुणों का ह्रास हो जाता है। इसके बाद द्वापर में कैशिक संहनन वाला शरीर उत्पन्न होता है। इसकी अस्थियां केश के समान अणु तथा सुषिर होती हैं। सन्धियां अतिश्लिष्ट होती हैं। हाथी के समान बड़ा बल होता है, सारा शरीर शिराओं से व्याप्त होता है शरीर की सन्धियों में शुक्र (बल) होता है अर्थात् शरीर की सन्धियां अत्यन्त दृढ़ होती हैं। इसकी उत्कृष्ट आयु पलितोपम का आठवां हिस्सा होती है तथा पहले (त्रेता) की अपेक्षा इसमें आधे गुणों का ह्रास हो जाता है। इसके बाद कलियुग में प्रज्ञप्ति पिशित संहनन वाला शरीर उत्पन्न होता है। इसके शरीर में अत्यन्त सुषिर, मज्जा से युक्त तथा नल की तरह भङ्गुर तीन सौ साठ अस्थियां होती हैं, ४०० मांसपेशियां होती हैं, ७०० शिराएं होती हैं, जिनका मूल हृदय होता है, मस्तिष्क मूल वाले ९०० स्नायु, तालुमूलवाली २०० धमनियां, १०७ मर्म, ३ महामर्म, प्राणों के १० आयतन, ५ हृदय, ३८१ सन्धियां, १४ कण्डराएं, ४२ कूर्च, ६ त्वचा तथा ७ धातुएं होती हैं। स्रोत दो प्रकार के होते हैं। उत्पन्न होने के बाद उसके दांतों का जन्म होता है। वह दस मास तक गर्भ में रहता है। एक वर्ष के बाद वह खड़ा होने लगता है तथा बोलने लगता है। इसकी उत्कृष्ट आयु १०० वर्ष होती है। वह सुख-दुःख, आधि-व्याधि, वृद्धावस्था तथा मृत्यु से युक्त होता है अर्थात् वह इन सब से घिरा रहता है।··········इसका शरीर पूर्ण होता है। इसे प्रायः भूख, प्यास, गौरव (भारीपन), श्रम (थकावट) शिथिलता, चित्त, ईर्ष्या, रोष (क्रोध), असत्य, लोलुपता, दुःख, मोह तथा वियोग होते हैं। उसे संसार के सब कर्म करने पड़ते हैं तथा वह कष्टों से युक्त होता है। ये दो २ युग सत्व, रज एवं तम से युक्त जानें। इस प्रकार यह पुरुष की उत्पत्ति का कारण कहा है।

वक्तव्य—१. कलासमूहं कालम्—छोटी २ कलाओं के समूह को ही काल कहते हैं इसीलिये 'कला' शब्द के द्वारा ही 'काल' शब्द बनता है। सुश्रुत सू० अ० ६ में कहा है—'स सूक्ष्मामपि कलां न लीयते इति कालः'। इसकी व्याख्या में **डल्हण ने कहा है**—'सः कालः सूक्ष्मामपि स्तोकामपि कलां भागं न लीयते गतिमत्त्वात् श्लिष्टो न भवति'। **इसलिये कई विद्वान्**

[1] नलवद्भङ्गुराणीत्यर्थः।

कहते हैं—कलाशब्दस्य ककाराकारौ लीधातोश्च लकारमादाय कालशब्दनिष्पत्तिः ॥ २. इस अध्याय में बताया गया है कि प्रत्येक युग में पुरुष की आयु एवं अन्य गुणों का क्रमशः।ह्रास होता जाता है। चरक संहिता में भी प्रत्येक युग में क्रमशः आयु के ह्रास होने का निर्देश मिलता है। चरक वि० अ० ३ में कहा है—युगे युगे धर्मपादः क्रमेणानेन हीयते। गुणपादश्च भूतानामेवं लोकः प्रलीयते ॥ संवत्सरशते पूर्णे याति संवत्सरः क्षयम्। देहिनामायुषः काले यत्र यन्मानमिष्यते ॥ प्रत्येक युग में क्रमशः धर्म का एक पाद (चतुर्थांश) कम हो जाता है। पञ्चमहाभूतों के गुणों का भी एक २ पाद नष्ट होता जाता है। भिन्न २ कालों में संवत्सर के १०० वें भाग के पूर्ण हो जाने पर मनुष्यों की आयु में एक संवत्सर की कमी हो जाती है। जैसे उदाहरण के लिये सतयुग का काल ४८०० दिव्य वर्ष माना जाता है। ४८०० के १०० वें भाग अर्थात् ४८ दिव्य वर्षों के व्यतीत हो जाने पर मनुष्य की आयु में एक वर्ष की कमी आजायेगी। इस प्रकार ४८०० दिव्य वर्षों के व्यतीत होने पर त्रेतायुग के प्रारंभ में १०० वर्ष की आयु कम हो जायेगी अर्थात् सतयुग के प्रारंभ में यदि मनुष्य की आयु ४०० वर्ष थी तो त्रेता के प्रारंभ में वह ३०० वर्ष रह जायगी। द्वापर के प्रारंभ में मनुष्य की आयु २०० वर्ष तथा अन्त में कलियुग के प्रारंभ में तो मनुष्य की आयु १०० वर्ष ही रह जाती है। इसी क्रम से यह आगे भी धीरे २ कम होती जायगी तथा अन्त में कलियुग के १२०० दिव्य वर्ष बीतने पर संसार नष्ट हो जायगा—प्रलय हो जायगा। ३. उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी—इन शब्दों पर तथा नारायण, अर्धनारायण, कैशिक, तथा प्रज्ञप्तिपिशित आदि शारीरिक संहननों के विषय में उपोद्घात में विशेष विचार किया गया है। इन्हें वहीं देखना चाहिये ॥

समुदयकारणं तु ब्रूमः—अव्यक्तान् महान्, महतोऽहङ्कारः; अहङ्कारात् खादीनि, ता अष्टौ भूतप्रकृतयः। चक्षुः श्रोत्रं घ्राणं रसनं स्पर्शनमिति पञ्चेन्द्रियाणि, तान्येव बुद्धीन्द्रियाणि; हस्तौ पादौ जिह्वा गुद उपस्थ इति पञ्च कर्मेन्द्रियाणि; शब्दस्पर्शरसरूपगन्धाः पञ्चेन्द्रियार्थाः; अतीन्द्रियं तु मनः; इत्येते षोडश विकाराः महदादि सर्वं क्षेत्रमव्यक्तमाचक्षते, क्षेत्रज्ञं तु शाश्वतमचिन्त्यमात्मानम्। अस्य लिङ्गानि—चेतनाहङ्कारप्राणापानोन्मेषनिमेषसुखदुःखेच्छाद्वेषस्मृतिधृतिबुद्धयः; तदभावे मृताख्या। शरीरेन्द्रियात्मसत्त्वसमुदयं पुरुषमाचक्षते, आत्मानमेके। ज्ञानस्याभावो भावश्च मनसो लक्षणं, तस्यैकत्वमणुत्वं च द्वौ गुणौ, प्रयत्नज्ञानायौगपद्यादेकं, पृथक् (न)[1]। समनस्कमिन्द्रियमर्थग्रहणसमर्थं भवति। खं वायुस्तेज आपः पृथिवीति पञ्च महाभूतानि शरीरहेतुरुच्यते। शब्दादयस्तेषां गुणाः। गुणवृद्ध्याऽवस्थितानि महाभूतानि दिगात्मा मनः कालश्च द्रव्याणि। द्रव्याश्रया गुणाः। खस्याप्रतिषेधो लिङ्गं, वायोश्चलनं, तेजस औष्ण्यम्, अपां द्रवत्वं, पृथिव्याः स्थैर्यम्। मनःषष्ठानामिन्द्रियाणां त्रीणि त्रीणि विप्रकृष्टसन्निकृष्टवृत्तीनि। मनश्चक्षुः श्रोत्रमिति विप्रकृष्टवृत्तीनि, घ्राणं रसनं त्वगिति सन्निकृष्टवृत्तीनि। तत् सर्वं स्पर्शनलक्षणमाहुः; तद्यथा—पुरुषः सर्वतोगवाक्षं प्रासादमभिरूढस्तांस्तानर्थान् गवाक्षैरालोचयत्येवमयमात्मा शरीरस्थ इन्द्रियैरनुपहतैर्मनःप० ॥

....

....

(इति ताडपत्रपुस्तके ७९ तमं पत्रम्[1]।)

अब हम समुदयकारण (सृष्टि उत्पत्ति के क्रम) को कहते हैं—अव्यक्त (मूलप्रकृति) से महत्तत्व (बुद्धितत्व) उत्पन्न होता है, महत्तत्व से अहंकार (अहं भावना), अहंकार से आकाश आदि पांच सूक्ष्मभूत (पंचतन्मात्राएं) उत्पन्न होते हैं। ये आठ भूतप्रकृतियां हैं। चक्षु, श्रोत्र, घ्राण (नासिका), रसना तथा त्वचा—ये पांच इन्द्रियां जिन्हें बुद्धीन्द्रियां (ज्ञानेन्द्रियां) कहते हैं, हाथ, पैर जिह्वा, गुदा (Anus) तथा उपस्थ (जननेन्द्रिय- Penis) ये पांच कर्मेन्द्रियां, शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध आदि पांच इन्द्रियों के पांच विषय तथा अतीन्द्रिय (जो इन्द्रियों का विषय न हो) मन—ये १६ विकार हैं। महदादि सम्पूर्ण अव्यक्तों को क्षेत्र कहते हैं तथा शाश्वत एवं अचिन्त्य आत्मा को क्षेत्रज्ञ कहते हैं। इस (आत्मा) के निम्न लक्षण हैं—चेतना, अहंकार, प्राण, अपान, उन्मेष, निमेष, सुख, दुःख इच्छा, द्वेष, स्मृति, धृति, बुद्धि आदि। इन लक्षणों के अभाव में व्यक्ति मृत होता है। (शरीर, इन्द्रिय, आत्मा, तथा सत्व (मन) के समुदाय को पुरुष कहते हैं। कुछ लोग आत्मा को पुरुष मानते हैं। ज्ञान का युगपत् अभाव तथा भाव मन का लक्षण है। उस (मन) के एकत्व तथा अणुत्व दो गुण माने जाते हैं। प्रयत्न तथा ज्ञान के युगपत् (साथ २) न होने से मन एक है, अनेक नहीं। मन के सहित ही इन्द्रियां अर्थ (विषय) के ग्रहण करने में समर्थ होती हैं। अर्थात् यदि किसी विषय में मन लगा हुआ नहीं है तो इन्द्रियां उस विषय के ग्रहण करने में कदापि समर्थ नहीं हो सकती। आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथिवी—ये पञ्चमहाभूत शरीर की उत्पत्ति के कारण कहे जाते हैं। शब्द आदि (शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध) पांच महाभूतों के गुण हैं। शब्द स्पर्श आदि गुणों की क्रमशः वृद्धि द्वारा विद्यमान पञ्चमहाभूत, दिशाएँ, आत्मा, मन तथा काल (ये नौ) द्रव्य कहलाते हैं। गुण द्रव्य के आश्रित रहते हैं। आकाश का लिङ्ग (गुण)—अप्रतिषेध (अप्रतिघात किसी

१. अत्र मनसोऽनेकत्ववादमाक्षिप्य एकत्ववादश्चरके इव व्यवस्थापितः। अस्मिन्नेवार्थे समनस्कमित्युत्तरवाक्यं साधकत्वेन संगच्छते। अतोऽत्र 'न पृथक्' इति सनकारपाठश्चेत् साधु।

१. अस्याग्रे ८० तमं पत्रं त्रुटितं ताडपत्रपुस्तके।

प्रकार की रुकावट का न होना), वायु का लक्षण गति, अग्नि का उष्णता, जल का द्रवत्व (Liquid) तथा पृथिवी का गुण स्थिरता होता है। मन सहित इन्द्रियों (६ इन्द्रियों) में से तीन विप्रकृष्ट (दूर) तथा तीन सन्निकृष्ट (समीप) कार्य के लिये हैं। इनमें मन, चक्षु तथा श्रोत्र विप्रकृष्ट तथा घ्राण, रसना और त्वचा सन्निकृष्ट कार्य वाली हैं। इन सबको स्पर्शन लक्षण कहते हैं। उदाहरण के लिये जिस प्रकार कोई मनुष्य चारों ओर से गवाक्षों (झरोखों) वाले महल में बैठा हुआ झरोखों के द्वारा भिन्न २ विषयों का ग्रहण करता है (देखता है) उसी प्रकार यह आत्मा शरीर में स्थित हुआ स्वस्थ इन्द्रियों के द्वारा मन के·········· (योग से भिन्न २ विषयों को ग्रहण करता है) अर्थात् जिस प्रकार मकान में बैठा हुआ मनुष्य केवल द्रष्टा होता है उसी प्रकार आत्मा भी वस्तुतः केवल द्रष्टा है। वह आंख के द्वारा रूप को देखता है, कान के द्वारा शब्द को सुनता है, नासिका के द्वारा सूंघता है, इत्यादि। मन अचेतन होता हुआ भी क्रिया वाला है तथा आत्मा चेतनायुक्त है। जब मन आत्मा के साथ संयुक्त होता है तभी क्रिया होती है अत एव आत्मा व्यपदेश से ही कर्ता कहलाता है। आत्मा के ज्ञान की प्रवृत्ति मन एवं ज्ञानेन्द्रिय आदि साधनों के योग से ही होती है। यदि आत्मा का मन के साथ योग न हो अथवा इन्द्रिय आदि करण निर्मल न हों तो विषय का ज्ञान नहीं हो सकता। इसी लिये चरक शा० अ० १ में कहा भी है—आत्मा ज्ञः करणैर्योगाज्ज्ञानं त्वस्य प्रवर्तते। करणानामवैमल्यादयोगाद्वा न प्रवर्तते॥

वक्तव्य—(i) इसमें सृष्टि उत्पत्ति का क्रम बताया गया है। अन्यत्र भी सृष्टि उत्पत्ति का यही क्रम मिलता है। सुश्रुत शा० अ० १ में कहा है—

सर्वभूतानां कारणमकारणं सत्वरजस्तमोलक्षणमष्टरूपमखिलस्य जगतः संभवहेतुरव्यक्तं नाम। तदेकं बहूनां क्षेत्रज्ञानामधिष्ठानं समुद्र इवोदकानां भावानाम्। तस्मादव्यक्तान्महानुत्पद्यते तल्लिङ्ग एव। तल्लिङ्गाच्च महतस्तल्लिङ्ग एवाहंकार उत्पद्यते। स च त्रिविधो वैकारिकस्तैजसो भूतादिरिति। तत्र वैकारिकादहंकारात् तैजससहायात्तल्लक्षणान्येवैकादशेन्द्रियाण्युत्पद्यन्ते। तद्यथा—श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणवाग्घस्तोपस्थपायुपादमनांसीति। तत्र पूर्वाणि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, इतराणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, उभयात्मकं मनः, भूतादेरपि तैजससहायात्तल्लक्षणान्येव पञ्चतन्मात्राण्युत्पद्यन्ते, तद्यथा शब्दतन्मात्रं, स्पर्शतन्मात्रं, रूपतन्मात्रं, रसतन्मात्रं, गन्धतन्मात्रमिति, तेषां विशेषाः शब्द स्पर्शरूप रसगन्धाः; तेभ्यो भूतानि व्योमानिलानलजलोर्व्यः, एवमेषा तत्वचतुर्विंशतिर्व्याख्याता। **प्रकृति और पुरुष के संयोग से ही विश्व की सृष्टि होती है। सांख्यकारिका में इसका बड़ा सुन्दर एवं उत्प्रेक्षात्मक वर्णन किया गया है—**पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य। पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः॥ प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः। तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पंचभूतानि॥ **प्रकृति और पुरुष का संयोग ही सृष्टि का उपादक है क्योंकि प्रकृति जड़ है तथा पुरुष स्वभावतः निष्क्रिय है अतः ये पृथक् २ सृष्टि को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है** इसलिये दोनों का संयोग आवश्यक है। प्रकृति और पुरुष का यह संयोग अन्धे एवं लंगड़े के परस्पर संयोग के समान होता है। अन्धे में चलने की शक्ति है परन्तु उसे मार्ग नहीं दिखाई देता। इससे विपरीत लंगड़ा मार्ग देख सकता है परन्तु उसमें चलने का सामर्थ्य बिलकुल नहीं है। परन्तु पारस्परिक संयोग से अर्थात् लंगड़े व्यक्ति को यदि अन्धे के कन्धे पर बिठा दिया जाय तो कार्य सम्यक् प्रकार से सम्पन्न हो जाता है। उसी प्रकार प्रकृति एवं पुरुष का संयोग परस्पर सृष्टि उत्पत्तिरूप कार्य को करने में सफल होता है। पुरुष प्रकृति के संयोग का इच्छुक इसलिये बना रहता है कि वह उससे विवेक ज्ञान प्राप्त करके मोक्ष की सिद्धि करता है। और प्रकृति पुरुष से इसलिये मिलना चाहती है क्योंकि पुरुष (भोक्ता) के अभाव में प्रकृति (भोग्या) की स्वरूप सिद्धि नहीं हो सकती। इस प्रकार दोनों का परस्पर संयोग कार्य में साधक होता है।

सांख्य सम्मत सृष्टिविकासक्रम निम्न प्रकार है—

पुरुष + प्रकृति
(अव्यक्त)
|
महत्तत्व (बुद्धितत्व)
|
अहंकार
|
वैकारिक (सात्विक) | तैजस (राजस) | भूतादि (तामस)

सहायता से — सहायता से

एकादश इन्द्रियां
(५ ज्ञानेन्द्रियां + ५ कर्मेन्द्रियां + १ मन)

पांच तन्मात्राएं
|
पञ्चमहाभूत
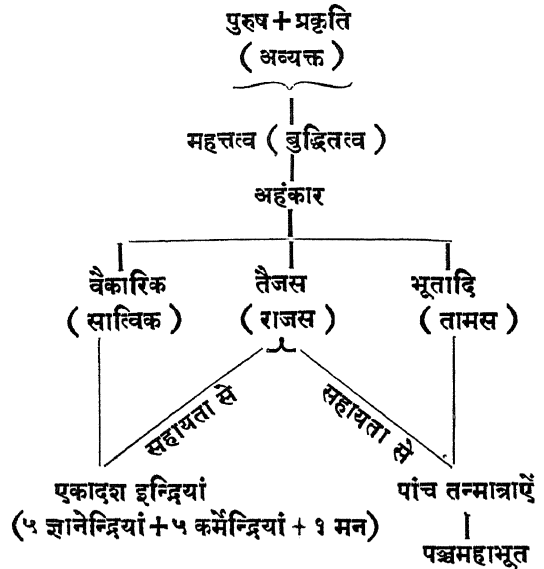
(ii) क्षेत्रज्ञ—क्षेत्र का वास्तविक शब्दार्थ खेत है। दर्शन शास्त्र में चतुर्विंशति तत्व समुदाय (८ प्रकृति + १६ विकार) अर्थात् शरीर को क्षेत्र कहते हैं तथा क्षेत्र के ज्ञाता को क्षेत्रज्ञ कहते हैं। गीता में कहा है—
इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते। एतद् यो वेत्तिं प्राहु क्षेत्रज्ञमिति तद्विदः॥ महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च। इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥ इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना-धृतिः। एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥ **इसी प्रकार चरक शा० अ० १ में कहा है—**तदेव भावादग्राह्यं नित्यत्वान्न कुतश्चन। भावाज्ज्ञेयं, तदव्यक्तमचिन्त्यं व्यक्तमन्यथा॥ अव्यक्तमात्मा क्षेत्रज्ञः शाश्वतो विभुरव्ययः। तस्माद्यदन्यत्तद्व्यक्तं वक्ष्यते चापरं द्वयम्॥ व्यक्तं चैन्द्रियकं चैव गृह्यते तद्यदिन्द्रियैः। अतोऽन्यत् पुनरव्यक्तं लिङ्गग्राह्यमतीन्द्रियम्॥ खादीनि बुद्धिरव्यक्तमहंकारस्तथाष्टमः। भूतप्रकृतिरुद्दिष्टा विकाराश्चैव षोडशः॥ बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैव पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च। समनस्काश्च पञ्चार्था विकारा इति संज्ञिताः॥

इति क्षेत्रं समुद्दिष्टं सर्वमव्यक्तवर्जितम्। अव्यक्तमस्य क्षेत्रस्य क्षेत्रज्ञमृषयो विदुः॥ **अव्यक्त को छोड़कर शेष मूलप्रकृति और विकार का नाम क्षेत्र है। तथा इस क्षेत्र के ज्ञाता अव्यक्त आत्मा को क्षेत्रज्ञ कहते हैं। गीता में अव्यक्त शब्द सत्व, रज, तम इन तीनों गुणों के साम्यरूप मूलप्रकृति के लिये आया है तथा चरक संहिता में अव्यक्त शब्द आत्मसंयुक्त मूलप्रकृति के लिये है। (iii) आत्मा के लिङ्ग चरक शा० अ० १ में निम्न दिये हैं—**प्राणापानौ निमेषाद्या जीवनं मनसो गतिः। इन्द्रियान्तरसंचारः प्रेरणं धारणं च यत्॥ देशान्तरगतिःस्वप्ने पञ्चत्वं ग्रहणं तथा। दृष्टस्य दक्षिणेनाक्ष्णा सव्येनावगमनस्तथा॥ इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्नश्चेतना धृतिः। बुद्धिः स्मृतिरहंकारो लिङ्गानि परमात्मनः॥ **वैशेषिक दर्शन में भी कहा है—**प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि। **iv. मन का लक्षण—चरक शा० अ० १ में कहा है—**लक्षणं मनसो ज्ञानस्य भावो भाव एव च। सति ह्यात्मेन्द्रियार्थानां सन्निकर्षे न वर्तते॥ वैवृत्यान्मनसो ज्ञानं सान्निध्यात्तच्च वर्तते॥ **जब आत्मा द्वारा विषय के ग्रहण के लिये प्रवृत्त किया गया मन उस २ विषय के ग्रहण के लिये उस २ इन्द्रिय की ओर जाता है तब वह मनोयुक्त इन्द्रिय उस विषय को ग्रहण करता है। उसी समय दूसरी इन्द्रियों के विषयों को ग्रहण करने में मन प्रवृत्त नहीं होता, अतएव एक ही काल में एक ज्ञान का होना तथा दूसरे का न होना यही मन का लक्षण है। न्यायदर्शन में भी कहा है—**युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्। **एक काल में मन के द्वारा एक ही विषय का ज्ञान हो सकता है। यदि ऐसा न हो तो आत्मा के विभु एवं सर्वज्ञ होने से सदा सब इन्द्रियों के विषयों का एक साथ ही ज्ञान होता रहेगा। इसी के साथ आत्मा, इन्द्रिय और विषयों का संयोग होने पर भी मन का संबन्ध न हो तो ज्ञान नहीं होता और यदि उनके साथ मन का भी संबन्ध हो तो ज्ञान होता है। इसी लिये वैशेषिक में भी कहा है—**"आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावश्चाभावश्च मनसो लिङ्गम्"। **v मन के गुण—एकत्व तथा अणुत्व है। चरक शा० अ० १ में भी कहा है—**अणुत्वमथ चैकत्वं द्वौ गुणौ मनसः स्मृतौ। **प्रत्येक शरीर में मन एक होता है तथा अणु होता है। यदि मन अनेक तथा महत्परिमाण वाला हो तो युगपत् अनेक ज्ञान होने चाहिये परन्तु ऐसा नहीं होता। इसीलिये चरक सू० अ० ८ में भी कहा है—**"न चानेकत्वं नाण्वेकं ह्येककालमनेकेषु प्रवर्तते" **इत्यादि। इसी प्रकार वैशेषिक दर्शन में कहा है—**"प्रयत्नायौगपद्याज्ज्ञानायौगपद्याच्चैकम्" vi गुणवृद्ध्याऽवस्थितानि—**आकाश आदि पांच महाभूतों में से प्रथम (आकाश) में केवल एक गुण (शब्द) होता है। इसके पश्चात् के भूतों में एक २ गुण बढता जाता है। जैसे—वायु में शब्द और स्पर्श। अग्नि में शब्द स्पर्श और रूप। जल में शब्द, स्पर्श, रूप तथा रस। और पृथ्वी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध गुण रहते हैं। इसीलिये चरक शा० अ० १ में कहा है—**तेषामेकगुणः पूर्वो गुणवृद्धिः परे परे। पूर्वः पूर्वगुणश्चैव क्रमशो गुणिषु स्मृतः॥ vii **द्रव्य तथा उसका लक्षण—चरक सू० अ० १ में कहा है—**यत्राश्रिताः कर्मगुणाः कारणं समवायि यत्। तद् द्रव्यं,……… । **जिसमें कर्म और गुण आश्रित हैं और जो द्रव्य, गुण, कर्म का समवायि कारण है उसे द्रव्य कहते हैं। इसी प्रकार वैशेषिक में कहा है—**क्रियावद् गुणवत्समवायि कारणं द्रव्यम्। **द्रव्यसंग्रह—**खादीन्यात्मा मनः कालो दिशश्च द्रव्यसंग्रहः। **ये ९ द्रव्य कहलाते हैं। viii गुण का लक्षण—चरक सू० अ० १ में कहा है—**समवायी तु निश्चेष्टः कारणं गुणः। **जो समवायी, निष्क्रिय तथा कारण हो उसे गुण कहते हैं। समवायी अर्थात् जो द्रव्य-गुणरूप समवाय का आधेय है। इससे ज्ञात होता है कि गुण द्रव्य के आश्रित रहते हैं। निश्चेष्ट से अभिप्राय कर्मशून्य का है अर्थात् गुण कर्म नहीं करते तथा गुण करण भी नहीं होते हैं। गुणसंग्रह—चरक सू० अ० १ में कहा है—**सार्थाः गुर्वादयो बुद्धिः प्रयत्नान्ताः परादयः। गुणाः प्रोक्ताः……… ॥ **शब्द आदि ५ विषय, गुरु आदि २० गुण, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न तथा पर आदि १० गुण। ये ४१ गुण कहलाते हैं। इनमें शब्दादि ५ गुण वैशेषिक गुण कहलाते हैं क्योंकि ये आकाश आदि पांच महाभूतों के विशेष गुण हैं। गुरु आदि २० गुण सामान्य गुण कहलाते हैं क्योंकि ये पांचो महाभूतों में सामान्यरूप से रहते हैं। बुद्धि, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख तथा प्रयत्न—आत्मगुण कहलाते हैं। परत्व आदि १० गुण भी सामान्य गुण ही हैं। इनके अतिरिक्त कोई २ आचार्य ५ इन्द्रियों के शब्द आदि ५ विषयों के साथ छटे मन के विषयचिन्त्य विचार्य आदि का भी समावेश करते हैं इस प्रकार उनके मत में गुणों की संख्या ४२ हो जाती है।**

असमानगोत्रीयशारीराध्यायः

……………………………………………………

……………………………………………………

वक्तव्य—यह अध्याय प्रारम्भ में खण्डित है। अध्याय के अन्त में समाप्तिसूचक वाक्य को देखकर ही अध्याय के इस नाम का संकेत मिलता है। अध्याय के नाम तथा प्रकरण को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि इसमें गर्भसम्बन्धी विवेचन किया गया होगा। गर्भाशय में गर्भ की मासिक वृद्धि (Intrauterine developement) का विषय इस अध्याय में दिया गया है। तृतीय मास से गर्भ की क्रमिक वृद्धि के विषय से ही यह खण्डित अध्याय प्रारम्भ होता है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि इससे पूर्व के खण्डित भाग में गर्भधारण प्रक्रिया एवं गर्भधारण के बाद प्रथम तथा द्वितीय मास में होने वाली गर्भ की वृद्धि का विषय इसमें दिया गया होगा। पाठकों के ज्ञान के लिये चरक तथा सुश्रुत आदि अन्य आर्ष ग्रन्थों के आधार पर हम उस विषय को यहां देने का प्रयत्न करेंगे। सबसे पूर्व अध्याय के नाम से यह स्पष्ट है कि परस्पर विवाह एवं मैथुन भिन्न गोत्र वालों का ही होना

चाहिये। इससे सगोत्र विवाह का निषेध किया गया है। यद्यपि समान गोत्र वाले स्त्री पुरुषों के परस्पर मैथुन से भी गर्भ स्थित हो जाता है परन्तु उसमें नाना प्रकार के रोग होते देखे जाते हैं। इसी लिये मनु महाराज ने भी सगोत्र विवाह को निषिद्ध ठहराया है—असपिण्डा च या मातुर सगोत्रा च या पितुः। सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने॥ इसी लिये चरक संहिता में भी शारीरस्थान का द्वितीय अध्याय इसी (अतुल्य गोत्रीय शारीर) नाम से दिया गया है। अब हम गर्भधारण प्रक्रिया का वर्णन करेंगे। जब पूर्ण युवा तथा अविकृत शुक्राणु वाला पुरुष पूर्ण युवती तथा मासिकस्राव से शुद्ध हुई स्त्री के साथ मैथुन करता है उस समय हर्ष से प्रेरित हुई शरीर की उत्कृष्ट धातु शुक्र रूप में प्रवृत्त होती है। शुक्र में स्थित शुक्राणु बाहर निकल कर स्त्री के योनिमार्ग द्वारा गर्भाशय में पहुंच कर आर्तव (Ovum) के साथ संयुक्त होता है तथा वहां गर्भ धारण कराता है। यह मैथुन ऋतुकाल में ही होना चाहिये। यह काल स्त्रियों में सामान्यतया आर्तव प्रवृत्ति से ज्ञात होता है। स्त्रियों में आर्तव प्रवृत्ति २८ दिन के बाद होती है। रजोदर्शन से लेकर पहले तीन दिन तक स्त्री को ब्रह्मचारिणी रहना चाहिये। इन दिनों में स्त्रियों को स्नान, शृंगार तथा अत्यधिक शारीरिक एवं मानसिक श्रम बिलकुल नहीं करना चाहिये। इसके बाद चतुर्थ दिन स्त्री को स्नान इत्यादि कर लेना चाहिये। स्नान करने के बाद वह शुद्ध कहलाती है। इस प्रकार रजोदर्शन के चौथे दिन से लेकर १२ दिन तक स्त्री तथा पुरुष को सन्तानोत्पत्ति के निमित्त मैथुन करना चाहिये। अन्तिम १६ वां दिन भी योनिसंकोच के कारण मैथुन के लिये त्याज्य है। चरक शारीर स्थान के द्वितीय अध्याय में विस्तार पूर्वक यथाविधि गर्भाधान का प्रकरण दिया हुआ है। विशेष ज्ञान के लिये पाठकों को यह प्रकरण वहीं देखना चाहिये। इस गर्भ को पञ्चभूतों का विकार तथा चेतना (आत्मा) का आश्रय माना गया है। अर्थात् जब तक उसमें चेतना या आत्मा का संयोग न हो तब तक गर्भ की स्थापना नहीं होती। इसीलिये चरक में कहा है— "शुक्रशोणितजीवसंयोगे तु खलु कुक्षिगते गर्भसंज्ञा भवति"। इस गर्भ का धीरे २ गर्भाशय में क्रमिक विकास होता जाता है। चरक शा० अ० ४ में कहा है—स सर्वगुणवान् गर्भत्वमापन्नः प्रथमे मासि सम्मूर्छितः सर्वधातुकलनीकृतः खेटभूतो भवत्यव्यक्तविग्रहः सदसद्भूताङ्गावयवः। पञ्चमहाभूतों के गुणों से युक्त हुआ वह आत्मा गर्भभाव को प्राप्त होकर प्रथम मासमें सब धातुओं का उत्पादक होकर रूप में कफ के सदृश होता है। इस समय उसका शरीर अस्पष्ट होता है तथा उसके अवयव सत् भी होते हैं और असत् भी। अर्थात् प्रारम्भ में जब शुक्राणु तथा डिम्ब (Ovum) का संयोग होता है तब यह बीजरूप से गर्भाशय की आभ्यन्तरिक श्लैष्मिक कला में चिपक जाते हैं। इस अवस्था में इसके अङ्ग आदि बीजरूप में विद्यमान होने से सत् कहलाते हैं तथा रूप में अव्यक्त होने से असत् कहाते हैं। यह बीज समयान्तर से बढता जाता है तथा धीरे २ इसमें एक खोखली जगह हो जाती है जिसमें लेसदार द्रव भर जाता है इसीलिये प्रथम मास में इसका रूप कफके सदृश बताया है। इसी को प्रकट करने के लिये सुश्रुत शा० अ० ३ में भी कहा है—'तत्र प्रथमे मासि कललं जायते।' दूसरे मास में गर्भाशय की श्लैष्मिक कला मोटी होने लगती है तथा यह बीजरूप गर्भ को चारों ओर से घेर लेती है। इसके ऊपर दो आवरण बन जाते हैं। इसी समय गर्भ के चारों ओर गर्भोदक (Liguor Amnoc) एकत्र हो जाता है। इसके दबाव से गर्भावरण की दोनों झिल्लियां परस्पर मिल जाती हैं। चरक शा० अ० ४ में कहा है—"द्वितीये मासि घनः सम्पद्यते-पिण्डः पेश्यर्बुदं वा, तत्र पिण्डः पुरुषः स्त्री पेशी अर्बुदं नपुंसकम्।" यदि वह घनाकार गर्भ पिण्डरूप हो तो पुरुष, यदि मांस पेशी की आकृति का हो तो स्त्री तथा अर्बुदाकृति हो तो नपुंसक गर्भ होता है।

अब हम मूल ग्रन्थोक्त विषय पर आते हैं क्योंकि इस अध्याय का प्रस्तुत विषय इस प्रकरण के बाद ही प्रारम्भ होता है।

प्राणस्तु बीजधातुं हि विभजत्यस्थिसंख्य(स्थ)या।
प्रविष्टमात्रं बीजं हि रक्तेन परिवेष्ट्यते॥
शुक्रादस्थ्यस्थितो मांसमुभाभ्यां स्नायवः स्मृताः।
सर्वेन्द्रियाणि गर्भस्य सर्वाङ्गावयवास्तथा॥

जीवात्मा के प्राण बीजधातु (शुक्रधातु) को अस्थि संस्थान के अनुसार विभक्त करता है। शरीर में प्रविष्ट हुआ बीज रक्त के द्वारा परिवेष्टित हो जाता है। अर्थात् जब पुरुष के शुक्राणु स्त्री के गर्भाशय में प्रविष्ट होते हैं तब उस शुक्राणु के चारों ओर स्त्री का आर्तव फैल जाता है। शुक्र से गर्भस्थ बालक के अस्थि एवं मांस बनते हैं तथा इन दोनों से अर्थात् अस्थि और मांस से स्नायुओं का निर्माण होता है। यह गर्भावस्था में गर्भस्थ बालक की प्रथम दो मास की आन्तरिक वृद्धि का वर्णन किया गया है॥

तृतीये मासि युगपन्निर्वर्तन्ते यथाक्रमम्।
प्रस्पन्दते चेतयति वेदनाश्चावबुद्ध्यते॥

तृतीय मास में गर्भ की सब इन्द्रियां तथा सब अवयव यथाक्रम युगपत् (एकसाथ) प्रकट हो जाते हैं। गर्भ स्पन्दन करने लगता है। वह चेतना तथा वेदना का भी अनुभव करने लगता है। इस मास में उसकी इन्द्रियां अत्यन्त सूक्ष्म होती हैं तथा मन में सुख दुःख का ज्ञान होने लगता है। चरक शा० अ० ४ में भी कहा है—तृतीये मासि सर्वेन्द्रियाणि सर्वाङ्गावयवाश्च यौगपद्येनाभिनिर्वर्तन्ते। सुश्रुत शा० अ० ३ में भी कहा है-तृतीये हस्तपादशिरसां पञ्च पिण्डका निर्वर्तन्तेऽङ्गप्रत्यङ्गविभागश्च सूक्ष्मो भवति। इस मास में गर्भ के अङ्ग अत्यन्त सूक्ष्म रूप में होते हैं। चरक में इसी मास में गर्भ के हृदय का विकसित होना सूचित किया गया है। वहां कहा है—"तस्य यत्कालमेवेन्द्रियाणि सन्तिष्ठन्ते, तत्कालमेवास्य चेतसि वेदना निबन्धं प्राप्नोति, तस्मात्तदा प्रभृति गर्भः स्पन्दते प्रार्थयते च, तद् द्वैहृदय्यमाचक्षते वृद्धाः।

मातृजं चास्य हृदयं मातृहृदयेनाभिसम्बद्धं भवति रसवाहिनीभिः संवाहिनीभिः, तस्मात्तयोस्ताभिर्भक्तिः सम्पद्यते। तच्चैव कारणमवेक्षमाणा न द्वैहृदय्यस्य विमानितं गर्भमिच्छन्ति कर्तुं, विमानने ह्यस्य दृश्यते विनाशो विकृतिर्वा, समानयोगक्षेमा हि माता तदा गर्भेण केषुचिदर्थेषु, तस्मात्प्रियहिताभ्यां गर्भिणीं विशेषेणोपचरन्ति कुशलाः।" **इस मास में गर्भ स्पन्दन करने लगता है तथा उसी समय मन में सुख दुःख आदि का ज्ञान होने लगता है तथा वह पूर्वजन्म के अनुभूत विषयों की इच्छा करने लगता है। इस काल में गर्भिणी को जो भी इच्छा होती है उसे दौहृद (दोहद) कहते हैं क्योंकि यह इच्छा दो हृदयों से उत्पन्न होती है। इस दौहृद को अवश्य पूरा करना चाहिये क्योंकि वास्तव में इस समय गर्भगत शिशु की इच्छा के अनुकूल ही माता की इच्छा हुआ करती है। उसे यदि पूरा नहीं किया जाता है तो गर्भ में विकार उत्पन्न हो जाते हैं। सुश्रुत ने इस दौहृद को चतुर्थ मास में माना है। वास्तव में गर्भ का स्पन्दन तीसरे मास में प्रारम्भ हो जाता है परन्तु गर्भोदक के कारण उस समय उन स्पन्दनों का कई बार गर्भिणी को ज्ञान नहीं हो पाता है। चतुर्थ या पञ्चम मास में जाकर अधिक स्पष्ट हो जाने पर वह इन स्पन्दनों को अनुभव करती है॥**

सूक्ष्मप्रव्यक्तकरणस्तृतीये तु मनोऽधिकः ।
चतुर्थे स्थिरतां याति गर्भः कुक्षौ निरामयः ॥

चतुर्थ मास में गर्भ गर्भाशय में स्थिर हो जाता है तथा उपद्रवों से रहित होता है। इस मास में गर्भिणी का शरीर भी अधिक भारी हो जाता है। चरक शा० अ० ४ में कहा है—चतुर्थे मासि स्थिरतामापद्यते गर्भः, तस्मात्तदा गर्भिणी गुरुगात्रत्वमधिकमापद्यते विशेषेण। **इस मास में गर्भिणी को अपनी देह विशेष भारी मालूम पड़ने लगती है क्योंकि इस समय गर्भ की विशेष वृद्धि प्रारम्भ हो जाती है। सुश्रुत शा० अ० ३ में कहा है—**चतुर्थे सर्वाङ्गप्रत्यङ्गविभागः प्रव्यक्तो भवति। गर्भहृदयप्रव्यक्तिभावाच्चेतनाधातुरभिव्यक्तो भवति, कस्मात् तत्स्थानत्वात्। तस्माद्गर्भश्चतुर्थे मास्यभिप्रायमिन्द्रियार्थेषु करोति॥

गुरुगात्रत्वमधिकं गर्भिण्यास्तत्र जायते ।
मांसशोणितवृद्धिस्तु पञ्चमे मासि जीवक ! ॥

हे जीवक! पांचवें मास में गर्भ के मांस और रक्त में विशेष वृद्धि होने लगती है। इसलिये इस समय गर्भिणी अत्यन्त कृश (दुर्बल) हो जाती है। अर्थात् इस मास में मांस और रक्त की अधिक वृद्धि के कारण गर्भ का स्पन्दन अधिक बढ़ जाने से अधिक स्पष्ट सुनाई देने लगता है। चरक शा० अ० ४ में कहा है—पञ्चमे मासि गर्भस्य मांसशोणितोपचयः भवत्यधिकमन्येभ्यो मासेभ्यः, तस्मात्तदा गर्भिणी कार्श्यमापद्यते विशेषेण। **परन्तु सुश्रुत में इससे विपरीत इस मास में मन का अधिक व्यक्त होना बताया है। वहां कहा है**—पञ्चमे मनः प्रतिबुद्धतरं भवति॥

गर्भिणी पञ्चमे मासि तस्मात् कार्श्येन युज्यते ।
बलवर्णौजसां वृद्धिः षष्ठे मातुः श्रमोऽधिकः ॥

छठे मास में गर्भ में बल, वर्ण तथा ओज की वृद्धि होती है इसलिये माता (गर्भिणी) को अधिक श्रम (थकावट) हो जाती है। चरक शा० अ० ४ में कहा है—षष्ठेमासि गर्भस्य मांसशोणितोपचयो भवत्यधिकमन्येभ्यो मासेभ्यः, तस्मात्तदा गर्भिणी बलवर्णहानिमापद्यते विशेषेण। **इस मास में गर्भ के बल, वर्ण एवं ओज की अधिक वृद्धि होने से गर्भिणी दुर्बल हो जाती है तथा वर्ण भी पीला पड़ जाता है। सुश्रुत में इस मास में बुद्धि का आविर्भाव बताया है। शा० अ० ३ में कहा है—** "षष्ठे बुद्धिः"॥

सर्वधात्वङ्गसंपूर्णो वातपित्तकफान्वितः ।
सप्तमे मासि तस्माच्च नित्यक्लान्ताऽत्र गर्भिणी ॥

सातवें मास में गर्भ सब धातुओं तथा अङ्गों से पूर्ण हो जाता है तथा वात पित्त और कफ से भी युक्त होता है। इसलिये इस मास में गर्भिणी सदा क्लान्ति (थकावट) अनुभव करती है। चरक शा० अ० ४ में कहा है—सप्तमे मासि गर्भः सर्वभावैराप्याय्यते, तस्मात्तदा गर्भिणी सर्वाकारैः क्लान्ततमा भवति। **परन्तु इस मास में सुश्रुत शा० अ० ३ में कहा है—** सप्तमे सर्वाङ्गप्रत्यङ्गविभागः प्रव्यक्ततरः॥

अष्टमे गर्भिणीगर्भावाददाते परस्परम् ।
ओजो रसवहायुक्तेः[1] पूर्णत्वाच्छलयत्यपि ॥
तस्मात्तत्र मुहुर्ग्लाना मुहुर्हृष्टा च गर्भिणी ।
अत्ययं चाप्नुते तस्मान्न मासो गण्यतेऽष्टमः ॥

आठवें मास में गर्भ के पूर्ण होने से गर्भिणी तथा गर्भ, रसवहा नाडियों के योग से ओज का परस्पर आदान प्रदान करते हैं तथा ओज के इधर उधर संचरण करने से गर्भ के विषय में सदा धोखा होता रहता है। अर्थात् ओज के बार २ विनिमय से मन में सदा सन्देह उत्पन्न होता रहता है कि गर्भ जीवित है या मृत हो चुका है। इसलिये इस मास में गर्भिणी कभी प्रसन्न होती है तथा कभी ग्लानियुक्त हो जाती है तथा उसे अन्य उपद्रव भी होते रहते हैं। इसलिये इस आठवें मास को प्रसव के लिये उचित काल नहीं माना है। चरक शा० अ० ४ में कहा है—अष्टमे मासि गर्भश्च मातृतो गर्भतश्च माता रसवाहिनीभिः संवाहिनीभिर्मुहुर्मुहुरोजः परस्परत आददाते गर्भस्यासंपूर्णत्वात्, तस्मात्तदा गर्भिणी मुहुर्मुहुर्मुदायुक्ता भवति मुहुश्च ग्लाना तथा गर्भः, तस्मात्तदा गर्भस्य जन्म व्यापत्तिमद्भवत्योजसोऽनवस्थितत्वात्; तं चैवमभिसमीक्ष्याष्टमं मासमगण्यमित्याचक्षते कुशलाः। **आठवें मास में गर्भ के अपूर्ण होने से (गंगाधर के अनुसार पूर्ण होने से—यही पाठ अधिक उचित प्रतीत होता है) माता से गर्भ तथा गर्भ से माता रसवाहिनियों द्वारा परस्पर ओज का ग्रहण करते हैं। अर्थात् इस समय ओज के अस्थिर होने से गर्भ का जन्म संकटमय समझा जाता है। सुश्रुत शा० अ० ३ में भी कहा है—**अष्टमेऽस्थिरीभवत्योजः, तत्र जातश्चेन्न जीवेन्निरोजस्त्वान्नैर्ऋतभागत्वाच्च,

१. रसवहानाडीयोगादित्यर्थः। गङ्गाधर प्रकाशितचरकपाठसंवादादर्थौचित्याच्च पूर्णत्वादिति पाठः साधुरेव। गर्भस्य पूर्णत्वमोजोग्रहणे हेतुः संभवति, ओजस इतस्ततः संक्रमणेन गर्भश्छलयत्यपीत्यर्थः।

ततो बलिं मांसौदनमस्यै दापयेत् ॥ इस मास में उत्पन्न हुआ गर्भ या तो मृत ही होता है अथवा उसके पालन करने में बहुत सावधानी की आवश्यकता होती है ॥

नवमादिषु मासेषु जन्म चास्य यथाक्रमम् ।
पूर्वदेहकृतं कर्म गर्भावाससुखासुखम् ॥
जातः स्मरति तावच्च यावन्नोपैति जीविकाम् ।
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥

(इति) शारीरेऽसमानगोत्रीयं नाम (शारीरम्) ॥

नवम इत्यादि मास में यथाक्रम इसका जन्म होता है। पूर्वजन्म में किये हुए कर्म, तथा गर्भावस्था के सुख और दुःख को उत्पन्न हुआ व्यक्ति तभीतक स्मरण रखता है जब तक कि वह नवीन जीवन को प्राप्त नहीं करता। अर्थात् नवजीवन प्राप्त करते ही मनुष्य पूर्वजन्म की सब बातों को भूलकर अपने जीवन की बिलकुल नवीनता प्रारंभ करता है।

वक्तव्य—चरक शा० अ० ४ में प्रसवकाल १२ मास तक माना गया है। कहा है—तस्मिन्नेकदिवसमतिक्रान्तेऽपि नवमं मासमुपादाय प्रसवकालमित्याहुराद्वादशान्मासात्, एतावान्कालः, वैकारिकमतः परं कुक्षाववस्थानं गर्भस्य। सुश्रुत शा० अ० ३ में भी कहा है—नवमदशमैकादशद्वादशानामन्यतमस्मिन् जायते, अतोऽन्यथा विकारी भवति। गर्भ के गर्भाशय में रहने का साधारणतया समय २८० दिन माना गया है। इससे हम गर्भ की आनुमानिक तिथि जान सकते हैं। अर्थात् अन्तिम ऋतुकाल की प्रथम तिथि में २८० दिन जोड़कर प्रसव की तिथि निकाली जा सकती है। अथवा अन्तिम ऋतुस्राव के प्रथम दिन में ७ दिन जोड़ने से जो तिथि आये वही नवम मास में प्रसव की तिथि होगी। उदाहरण के लिये यदि किसी स्त्री को अन्तिम मासिक स्राव १ दिसम्बर को हुआ हो तो इसमें ७ दिन जोड़कर आगे ९ महीने गिनने से ७ सितम्बर आता है जो कि प्रसव की संभावित तिथि होनी चाहिये ॥

ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा है।

(इति) शारीरेऽसमानगोत्रीयं नाम (शारीरम्) ॥

गर्भावक्रान्तिशारीराध्यायः ।

अथातो गर्भावक्रान्तिं शारीरं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ २ ॥

अब हम गर्भावक्रान्ति शारीर का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा है।

वक्तव्य—इस अध्याय में यह वर्णन किया जायगा कि गर्भाशय में गर्भ कैसे उत्पन्न होता है अथवा गर्भ में जीव किस प्रकार अवक्रमण (प्रवेश) करता है। सुश्रुत शा० अ० ३ की टीका में डल्हन ने लिखा है—अत्र हि शुक्रशोणितं गर्भाशयस्थमात्मप्रकृतिविकारसंमूर्छितं गर्भ इत्युच्यते, तस्यावक्रान्तिरूपगमनमवतरणमिति यावत् गर्भावक्रान्तिः, साऽस्मिन्नस्तीति ॥ १-२ ॥

जीवस्तु खलु भो सर्वगतत्वादीश्वरगुणसमन्वितः पूर्वशरीराच्चावक्रामति परशरीरं चोपक्रामति युगपत्, न कदाचिदपि बीजशोणितवाय्वाकाशादिमनोबुद्धिभिर्वियुक्तपूर्वः, सर्वगतत्वाच्च न कस्यांचिद्योनौ नोपपद्यते स्वकर्मफलानुभवादिति ॥ ३ ॥

हे वत्स ! जीव सर्वगत होने से ईश्वर के गुणों से युक्त हुआ युगपत् पूर्व शरीर से अवक्रमण (छुटकारा) तथा पर (दूसरे-अगले) शरीर में उपक्रमण (प्रवेश) करता है। अर्थात् जीव एक शरीर को छोड़ता है तथा उसके साथ ही दूसरे शरीर में प्रवेश कर जाता है। ये कार्य युगपत् ही होते हैं। बीज (शुक्र), शोणित (आर्तव), वायु, आकाश आदि पञ्चमहाभूत, मन तथा बुद्धि से कभी भी इसका वियोग नहीं होता। अर्थात् गर्भ में इन सबका संयोग होना आवश्यक है। यह जीव सर्वगत होने से जिस किसी योनि में नहीं चला जाता अपितु अपने २ (पूर्वजन्मकृत) कर्मों के फलों के अनुसार ही भिन्न २ योनियों को प्राप्त करता है ॥ ३ ॥

गर्भस्य पुनर्भगवन् ! के शरीरावयवा आकाशान्निर्वर्तन्ते, के वायोः, के तेजसः, केऽद्भ्यः, के पृथिव्याः, के चास्य मातृतः संभवतः संभवन्ति, के चास्य पितृतः, किमात्मनः, किंच सात्म्यतः, किंच रसतः, किंच सत्त्वतः, कुत्र चैते सर्वभावा अन्वायत्ता भवन्ति, कं चार्थमवेक्षन्ते; इति पृष्टो भगवान् कश्यप उवाच—गर्भस्य खलु भो शब्दश्च श्रोत्रं च लाघवं च सौक्ष्म्यं च विवेकश्च मुखं च कण्ठश्च कोष्ठं चाकाशात्मकानि भवन्ति, स्पर्शश्च स्पर्शनं च रौक्ष्यं च प्रेरणं च धातुव्यूहनं च प्राणश्चापानश्च शरीरचेष्टा च वाय्वात्मकानि भवन्ति, रूपं च चक्षुश्च प्रकाशश्च पित्तं च पक्तिश्चोष्मा च शरीरवृद्धिश्च तैजसानि भवन्ति, रसश्च रसनं च शैत्यं च मार्दवं च द्रवश्च स्नेहश्च क्लेदश्च श्लेष्मा च मेदश्च रक्तं च मांसं च शुक्रं चाप्यानि भवन्ति, गन्धश्च घ्राणं च गौरवं च स्थैर्यं च मूर्तिश्च पार्थिवानि भवन्ति; तस्मात् पुरुषो लोकसंमितः प्रोच्यते। लोहितं च मांसं च नाभिश्च हृदयं च क्लोम च यकृच्च प्लीहा च वृक्कौ च बस्तिश्च पुरीषधारणं चामाशयश्चोत्तरगुदश्च क्षुद्रान्त्रं च स्थूलान्त्रं चेति मातृजानि, केशाश्च रोमाणि च श्मश्रूणि च नखाश्च दन्ताश्चास्थीनि च सिराश्च स्नायवश्च धमन्यश्च शुक्रं चेति पितृजानि, आयुश्चात्मज्ञानं च मनश्चेन्द्रियाणि च प्राणापानौ च धारणं च प्रेरणं चाकृतिश्च स्वरवर्णोपचयविशेषाश्च सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ च स्मृतिश्चाहङ्कारश्च प्रयत्नश्चावस्थान्तर-

गमनं च सत्त्वं च नानायोनिषूपपत्तिश्चेत्यात्मजानि, आरोग्यं चोत्थानं च संतोषश्चेन्द्रियप्रसादश्च स्वरवर्णबीजसंपच्च मेधा च प्रहर्षभूयिष्ठता चेति सात्म्यजानि, शरीराभिनिर्वृत्तिश्च शरीराभिवृद्धिश्च प्राणाश्च बन्धश्च वृत्तिश्च पुष्टिश्चोत्साहश्चेति रसजानि। कल्याणरोषमोहात्मकं तु सत्त्वं त्रिविधमुक्तमग्रे, तत्रौपपादि(दु)कं सत्त्वं मनश्च लयि(?) नित्यं शुभाशुभमिश्रभावानां स्पर्श इत्युच्यते। ते सर्वभावाः स्वकर्मण्यायत्ताः कालं चावेक्षन्ते। वायुर्हि कालसहितः शरीरं विभजति संदधाति चेति॥ ४॥

भगवन्! गर्भ के शरीर के कौन से अवयव आकाश से उत्पन्न होते हैं तथा कौन से वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, माता के बीज, पिता के बीज, सात्म्य, रस तथा सत्व से उत्पन्न होते हैं? तथा ये सब भाव परस्पर कहां मिलते हैं तथा इनके परस्पर मिलने से क्या प्रयोजन सिद्ध होता है? इस प्रकार प्रश्न करने पर भगवान् कश्यप ने उत्तर दिया-आकाश तत्त्व से उत्पन्न होने वाले भाव—वत्स! गर्भ के शब्द, श्रोत्र, लघुता, सूक्ष्मता, विवेक, मुख, कण्ठ तथा कोष्ठ ये भाव आकाश से उत्पन्न होते हैं। वायुतत्व से उत्पन्न होने वाले भाव—स्पर्श, त्वचा, रूक्षता, प्रेरणा (गति देना), धातुओं का परिवर्तन, प्राण, अपान तथा शरीर की चेष्टा (गतियां)—ये वायु से उत्पन्न होने वाले भाव हैं। अग्नितत्व से उत्पन्न होने वाले भाव—रूप, चक्षु, प्रकाश, पित्त, पक्ति (पाचन), ऊष्मा (शरीर की गर्मी) तथा शरीर की वृद्धि—ये तैजस—अग्नि से उत्पन्न होने वाले भाव हैं। जलतत्व से उत्पन्न होने वाले भाव—रस, रसना (जिह्वा) शैत्य (शीतलता), मृदुता, द्रव, स्नेह, क्लेद (गीलापन) श्लेष्मा, मेद, रक्त, मांस तथा शुक्र—ये आप्य (जल से उत्पन्न होने वाले) भाव हैं। पृथिवी तत्व से उत्पन्न होने वाले भाव—गन्ध, घ्राण (नासिका), गुरुता, स्थिरता, तथा मूर्ति (आकृति-ढांचा) ये पार्थिव (पृथिवी से उत्पन्न होने वाले) भाव हैं। चरक शा० अ० ७ में इन महाभूतों से उत्पन्न होने वाले भावों का निम्न प्रकार से उल्लेख किया है—तत्र यद्विशेषतः स्थूलं स्थिरं मूर्तिमद्गुरुखरकठिनमङ्गं नखास्थिदन्तमांसचर्मवर्चः केशश्मश्रुनखलोमकण्डरादि तत्पार्थिवं गन्धो घ्राणं च, यद्द्रवसरमन्दस्निग्धमृदुपिच्छिलं रसरुधिरवसाकफपित्तमूत्रस्वेदादि तदाप्यं रसो रसनं च, यत्पित्तमूष्मा यो या च भाः शरीरे तत्सर्वमाग्नेयं रूपं दर्शनं च, यदुच्छ्वासप्रश्वासोन्मेषनिमेषाकुञ्चनप्रसारणगमनप्रेरणधारणादि तद्वायवीयं स्पर्शः स्पर्शनं च, यद्विविक्तमुच्यते महान्ति चाणूनि स्रोतांसि तदान्तरीक्षं शब्दः श्रोत्रं च, यत्प्रयोक्तृ तत्प्रधानं, बुद्धिर्मनश्चेति। शरीरावयवसंख्या यथास्थूलभेदेनावयवानां निर्दिष्टा। इसी प्रकार सुश्रुत शा० अ० १ में भी कहा है—आन्तरिक्षास्तु—शब्दः शब्देन्द्रियं सर्वच्छिद्रसमूहो विविक्तता च। वायव्यास्तु—स्पर्शः, स्पर्शेन्द्रियं सर्वचेष्टासमूहः सर्वशरीरस्पन्दनं लघुता च। तैजसास्तु—रूपं रूपेन्द्रियं वर्णः सन्तापो भ्राजिष्णुता पक्तिरमर्षस्तैक्ष्ण्यं शौर्यं च। आप्यास्तु रसो रसेन्द्रियं सर्वद्रवसमूहो गुरुता शैत्यं स्नेहो रेतश्च। पार्थिवास्तु—गन्धो गन्धेन्द्रियं सर्वमूर्तसमूहो गुरुता चेति। इसलिये यह पुरुष लोकसंमत (जगत के तुल्य) कहा जाता है। चरक शा० अ० ५ में भी कहा है—"पुरुषोऽयं लोकसम्मित इत्युवाच भगवान्पुनर्वसुरात्रेयः, यावन्तो हि लोके मूर्तिमन्तो भावविशेषास्तावन्तः पुरुषे, यावन्तः पुरुषे तावन्तो लोके"। षड्धातवः समुदिता 'लोक' इति शब्दं लभन्ते; तद्यथा—पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं ब्रह्म चाव्यक्तमित्येत एव च षड्धातवः समुदिता 'पुरुषः' इति शब्दं लभन्ते। पुरुष इस महान् लोक का ही एक छोटा प्रतिरूप (Miniature) है। जितने भी मूर्तिमान् भाव इस लोक में हैं उतने ही पुरुष में है तथा जितने पुरुष में हैं उतने ही लोक में हैं। उदाहरण के लिये पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश तथा अव्यक्त ब्रह्म—ये छः धातुएं मिलकर ही लोक कहाता है तथा इसीको पुरुष भी कहते हैं। चरक में आगे लोक एवं पुरुष की विभूतियों की विस्तृत तुलना की गई है—तस्य पुरुषस्य पृथिवी मूर्तिः, आपः क्लेदः, तेजोऽभिसन्तापो, वायुः प्राणो, वियच्छुषिराणि, ब्रह्मान्तरात्मा, यथा खलु ब्राह्मी विभूतिर्लोके तथा पुरुषेऽप्यान्तरात्मिकी विभूतिः, ब्रह्मणो विभूतिर्लोके प्रजापतिरन्तरात्मनो विभूतिः पुरुषे सत्वं, यस्त्विन्द्रो लोके स पुरुषेऽहङ्कारः, आदित्यास्तु आदानं, रुद्रो रोषः, सोमः प्रसादो, वसवः सुखं, अश्विनौ कान्तिः, मरुदुत्साहो, विश्वेदेवा सर्वेन्द्रियाणि सर्वेन्द्रियार्थाश्च, तमो मोहो, ज्योतिर्ज्ञानं, यथा यथा लोकस्य सर्गादिस्तथा पुरुषस्य गर्भाधानं, यथा कृतयुगमेवं बाल्यं, यथा त्रेता तथा यौवनं, यथा द्वापरस्तथा स्थाविर्यं, यथाकलिरेवमातुर्यं, यथायुगान्तस्तथा मरणमिति, एवमनुमानेनानुक्तानामपि लोकपुरुषयोरवयवविशेषाणामग्निवेश! सामान्यं विद्यात्। मातृज अर्थात् माता के बीज से उत्पन्न होने वाले भाव-रक्त, मांस, नाभि, हृदय, क्लोम, यकृत् (Liver), प्लीहा (Spleen), वृक्क (Kidney-गुर्दे), वस्ति (मूत्राशय-Bladder), पुरीषधारण (पुरीष-मल का जहां धारण होता है—Sigmoid colon), आमाशय (Stomach), उत्तर गुदा (Rectum), अधरगुदा (Anus), क्षुद्रान्त्र (Small Intestines-छोटी आंते), स्थूलान्त्र (Large-intestines colon-बड़ी आंते)—ये मातृज भाव हैं। चरक शा० अ० ३ में-त्वचा, वपा (मेद) तथा वपावहन (Adipose tissue) अधिक दिये हैं। कहा है—यानि चास्य मातृतः सम्भवतः संभवन्ति, तान्यनुव्याख्यास्यामः। तद्यथा—त्वक् च लोहितं च मांसं च मेदश्च नाभिश्च, हृदयं च, क्लोम च यकृच्च प्लीहा च वृक्कौ च वस्तिश्च पुरीषाधानं चामाशयश्च पक्वाशयश्चोत्तरगुदं चाधरगुदं च क्षुद्रान्त्रं च स्थूलान्त्रं च वपा च वपावहनं चेति मातृजानि। सुश्रुत शा० अ० ३ में कहा है—मांसशोणितमेदोमज्जहृन्नाभियकृत्प्लीहान्त्रगुदप्रभृतीनि मृदूनि मातृजानि। पितृज अर्थात् पिता के बीज से उत्पन्न होने वाले भाव—केश, रोम, दाढी, मूंछ, नख, दांत, अस्थियां, शिरा, स्नायु धमनियां तथा शुक्र—ये पितृज भाव हैं। चरक शा० अ० ३ में भी इन्हीं का परिगणन किया गया है—यानि चास्य पितृतः सम्भवतः संभवन्ति,

१. आत्मनः शरीरान्तरसंबन्धकारकमित्यर्थः। २. स्पर्श इति वेदकमित्यर्थः।

तान्यनुव्याख्यास्यामः । तद्यथा—केशश्मश्रुनखलोमदन्तास्थिसिरा-स्नायुधमन्यः शुक्रमिति पितृजानि । **सुश्रुत शा० अ० ३ में भी कहा है**—"गर्भस्य केशश्मश्रुलोमास्थिनखदन्तसिरास्नायुध-मनीरेतःप्रभृतीनि स्थिराणि पितृजानि" । **आत्मज (आत्मा से उत्पन्न होने वाले) भाव—आयु, आत्मज्ञान, मन, इन्द्रियां, प्राण, अपान, धारण (देह का धारण), प्रेरणा (गति), आकृति, स्वर तथा वर्ण का उपचय (वृद्धि), सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, स्मृति, अहंकार, प्रयत्न, अवस्थान्तर गमन (अन्य अवस्थाओं में जाना), सत्व तथा नाना योनियों में उत्पन्न होना—ये आत्मज भाव हैं। चरक शा० अ० ३ में भी कहा है**—यानि तु खल्वस्य गर्भस्यात्मजानि, यानि चास्यात्मतः संभवतः संभवन्ति, तान्यनुव्याख्यास्यामः; तद्यथा—तासु तासु योनिषूत्पत्तिरायुरात्मज्ञानं मन इन्द्रियाणि प्राणापानौ प्रेरणं धारणमाकृतिस्वरवर्णविशेषाः सुखदुःखेच्छाद्वेषौ चेतनाधृतिर्बुद्धिः स्मृतिरहङ्कारः प्रयत्नश्चेत्यात्मजानि । **सुश्रुत शा० अ० ३ में कहा है**—इन्द्रियाणि ज्ञानं विज्ञानमायुः सुखदुःखादिकं चात्मजानि। **सात्म्यज अर्थात् सात्म्य के सेवन से उत्पन्न होनेवाले भाव—आरोग्य, उत्थान (उन्नति), सन्तोष, इन्द्रियों की प्रसन्नता, स्वर, वर्ण तथा बीज का उत्तम होना, मेधा (बुद्धि), हर्ष (प्रसन्नता अथवा मैथुन में हर्ष की अधिकता)-ये सात्म्यज भाव हैं। चरक शा० अ० ३ में कहा है**—यानि चास्य सात्म्यतः संभवतः संभवन्ति, तान्यनुव्याख्यास्यामः । तद्यथा—आरोग्यमनालस्यमलो-लुपत्वमिन्द्रियप्रसादः स्वरवर्णबीजसम्पत्प्रहर्षभूयस्त्वं चेति सात्म्य-जानि । **सुश्रुत शा० अ० ३ में भी कहा है**—वीर्यमारोग्यं बलवर्णौ मेधा च सात्म्यजानि । **रसज अर्थात् रस के सेवन से उत्पन्न होने वाले भाव शरीर को उत्पन्न करना, शरीर की वृद्धि, प्राण, बन्ध (बन्धन) वृत्ति (शरीर की यात्रा), पुष्टि तथा उत्साह—ये रसज भाव हैं। चरक शा० अ० ३ में कहा है**—

यानि तु खल्वस्य गर्भस्य रसजानि, यानि चास्य रसतः संभवतः संभवन्ति तान्यनुव्याख्यास्यामः, तद्यथा—शरीरस्याभिनिर्वृत्तिर-भिवृद्धिः प्राणानुबन्धस्तृप्तिः पुष्टिरुत्साहश्चेति रसजानि। **सुश्रुत शा० अ० ३ में भी कहा है**—शरीरोपचयो बलं वर्णः स्थितिर्हा-निश्च रसजानि। **कल्याण, रोष (क्रोध) तथा मोहात्मक—तीन प्रकार का सत्व पहले (लक्षणाध्याय में) कहा जा चुका है इनमें आत्मा अथवा जीव का शरीरान्तर के साथ संबन्ध कराने वाला सत्व शुभ अशुभ आदि मिश्रित भावों का सूचक (ज्ञान कराने वाला) है। चरक शा० अ० ३ में भी कहा है**—अस्ति खल्वपि सत्वमौपपादुकं यज्जीवस्पृक् शरीरेणा-भिसंबध्नाति, यस्मिन्नपगमनपुरस्कृते शीलमस्य व्यावर्तते, भक्ति-र्विपर्यस्यते, सर्वेन्द्रियाण्युपतप्यन्ते, बलं हीयते, व्याधय आप्यायन्ते, यस्माद्धीनः प्राणाञ्जहाति, यदिन्द्रियाणामभिग्राहकं च मन इत्य-भिधीयते, तत्त्रिविधमाख्यायते—शुद्धं राजसं तामसं चेति । येनास्य खलु मनो भूयिष्ठं तेन द्वितीयायामजातौ सम्प्रयोगो भवति, यदा तु तेनैव शुद्धेन संयुज्यते तदा जातेरतिक्रान्ताया अपि स्मरति, स्मार्तं हि ज्ञानमात्मनस्तस्यैव मनसोऽनुबन्धादनुवर्तते, यस्यानुवृत्तिं पुरस्कृत्य पुरुषो जातिस्मर इत्युच्यते इति सत्वमुक्तम्। **ये सब भाव अपने कर्मों के आश्रित हैं तथा काल की प्रतीक्षा करते हैं। काल सहित वायु शरीर का विभाजन करता है तथा इसे धारण करता है ॥ ४ ॥**

तत्र श्लोकाः—

शोणिताद्धृदयं तस्य जायते हृदयाद्यकृत् ॥
यकृतो जायते प्लीहा प्लीहः फुप्फुसमुच्यते ॥ ५ ॥
परस्परनिबन्धानि सर्वाण्येतानि भार्गव ! ॥
तेषामधस्ताद्विपुलं स्रोतः कुण्डलसंस्थितम् ॥ ६ ॥
जरायुणा परिवीतं स गर्भाशय उच्यते ॥
आमपक्वाशयौ तस्मिन्नन्नपानाश्रयौ गुदः ॥ ७ ॥
तस्मात् संजायते बस्तिः परिष्यन्दाच्च पूर्यते ॥
धमनीमुखसंस्थाने स्रोतसी चाप्यधः स्मृते ॥ ८ ॥
विण्मूत्रकृमिपक्वामकफपित्ताशयाः पृथक् ॥
सन्त्येते देहिनां कोष्ठे स्त्रिया गर्भाशयोऽष्टमः ॥ ९ ॥
शुक्रमज्जास्थि पितृतो मातृतो मांसशोणितम् ॥
षट्कोशं प्रवदन्त्येके देह०.........॥ १० ॥
....।
....॥

(इति ताडपत्रपुस्तके ८१ तमं पत्रम्[१] ।)

गर्भ के शोणित (रक्त) से हृदय बनता है, हृदय से यकृत्, यकृत् से प्लीहा, तथा प्लीहा से फुफ्फुस (Lungs) बनते हैं। हे भार्गव (भृगुकुल में उत्पन्न जीवक)! ये सब अङ्ग परस्पर संबद्ध होते हैं। इनके नीचे जरायु से युक्त तथा कुण्ड-लिनी चक्र में स्थित एक बड़ा स्रोत होता है जिसे गर्भाशय कहते हैं। (स्त्रीणां तु बस्तिपार्श्वगतो गर्भाशय इति सुश्रुतः)। इसमें आमाशय, पक्वाशय तथा अन्न एवं पान का आश्रय गुदा स्थित होती है। उससे बस्ति (श्रोणि गुहा—Pelvic cavity) बनती है जो स्राव से पूरित होती रहती है। इसके नीचे धमनीमुख संस्थान एवं स्रोतस् होते हैं। मनुष्यों के कोष्ठ में मल, मूत्र, कृमि, पक्व, आम, कफ तथा पित्त के आशय (स्थान) पृथक् २ होते हैं। तथा स्त्रियों के कोष्ठ में इनके अतिरिक्त आठवां गर्भाशय भी होता है। पिता के अंश से गर्भ में शुक्र, मज्जा तथा अस्थियां बनती हैं और माता के अंश से मांस और शोणित बनते हैं। कुछ लोग देह में ६ कोश बताते हैं.........॥ ५-१० ॥

वक्तव्य—यह अध्याय यहीं (मध्य में ही) समाप्त हो गया है। इसलिये विषय का पूर्ण ज्ञान होना कठिन है। उपलब्ध विषय से ही सन्तोष करना पड़ता है।

---

१ अस्याग्रे पत्रद्वयात्मको ग्रन्थो लुप्तस्ताडपत्रपुस्तके।

शरीरविचयशारीराध्यायः ।

....

....

(द्वात्रिंशत्तु मता दन्तास्तावन्त्यू) खलिकानि च ।
पाणिपादाङ्गुलास्थीनि षष्टिः स्युर्विंशतिर्नखाः ।
पाणिपादशलाकास्तु विंशतिः परिकीर्तिताः ।
पाणिपादशलाकानामधिष्ठानचतुष्टयम् ।
द्वे पार्ष्ण्योरस्थिनी कूर्चाश्चत्वारः पादयोः स्मृताः ।
द्वावेव हस्तमणिकौ चत्वार्याहुररत्निषु ।
जान्वस्थिनी द्वे संख्याते चत्वार्यस्थीनि जङ्घयोः ।
द्वावूरुनलकौ द्वे च ख्याते जानुकपालिके ।
द्वावंसावंसफलकावपि द्वावेव चाक्षकौ ।
द्वे बाहुनलके द्वे द्वे श्रोणितालूषके तथा ।
एकं जत्रु भगास्थ्येकं ग्रीवा पञ्चदशास्थिकी ।
भार्गवाऽस्थीनि पृष्ठ्यानि चत्वारिंशच्च पञ्च च ।
चतुर्दशास्थीन्युरसि हन्वस्थ्येकं तु निर्दिशेत् ।
शिरसस्तु कपालानि चत्वार्याहुर्मनीषिणः ।
चतुर्विंशतिः पार्श्वे च तावन्ति स्थालकानि च ।
चतुर्विंशतिरेवाहुः स्थालकार्बुदकानि च ।
द्वौ शङ्खौ परिसंख्यातौ द्वे हनुमूलबन्धने ।
ललाटनासिकागण्डकूटास्थ्येकं विनिर्दिशेत् ।
इत्यस्थिसंख्या सामान्याद् वृद्धिह्रासौ निमित्तजौ ।

वक्तव्य—यह अध्याय प्रारंभ में खण्डित है। इस अध्याय में शरीर के विशेष ज्ञान का वर्णन किया गया है। 'शरीरविचय' शब्द की व्याख्या करते हुए चरक की टीका में चक्रपाणि ने कहा है—"शरीरस्य विचयनं विचयः, शरीरस्य प्रविभागेन ज्ञानमित्यर्थः।" शारीरस्थान के प्रथम अध्याय में पूर्व ३६० अस्थियों का उल्लेख किया गया है। यहां सर्वप्रथम उन्हीं का पृथक् २ परिगणन करते हैं। यह परिगणन स्थूल रूप में दिया गया है। यह संख्या पूर्णरूप से ठीक नहीं मिलती है। यह संख्या ३६३ होती है।

दांत	३२
दांत के उलूखल (गड्ढे)	३२
हाथ तथा पैर की अगुलियों की हड्डियां	६०
नख	२०
हाथ तथा पैर की शलाकास्थियां (Metacarpus & metatarsus bones)	२०
उपर्युक्त शलाकास्थियों के अधिष्ठान	४
पार्ष्णि देश की अस्थियां	२
पैरों की कूर्चास्थियां	४
हाथ की मणिबन्ध देश की (मणकास्थि)	२
अरत्नि (प्रबाहु) की अस्थियां	४
जानु की अस्थियां	२
जङ्घाओं की अस्थियां	४
उस देश की नलकास्थियां	२
जानु कपालिका (Patella)	२
अंस	२
अंसफलक	२
अक्षकास्थि (Cotterbones)	२
बाहु की नलिकास्थियां	२
श्रोणि की अस्थियां	२
तालु की अस्थियां	२
जत्रुदेश में	१
भगास्थि	१
ग्रीवा की अस्थियां	१५
पीठ की अस्थियां	४५
छाती में उरोस्थियां	१४
हन्वस्थि	१
शिर की कपालास्थियां	४
पार्श्वास्थियां	२४
पार्श्वास्थियों के स्थालक (Facets)	२४
अर्बुदाकृति स्थालक	२४
शङ्खदेश की अस्थियां	२
हनुमूल को बांधने वाली अस्थियां	२
ललाटास्थि	१
नासिका में	१
गण्डास्थि	१
कूटास्थि	१
कुल—	३६३

वक्तव्य—यहां पर पूर्व अस्थियों की संख्या ३६० बताई गई है परन्तु पृथक् २ गिनने पर वे ३६३ हो जाती हैं। चरक शा० अ० ७ में भी ३६० अस्थियों का उल्लेख किया गया है परन्तु उन्हें भी पृथक् २ गिनने पर वे ३६८ होती हैं। जयदेव विद्यालंकार ने अपनी चरक की टीका में हाथ पैर की शलाकास्थियों के ४ अधिष्ठान (चत्वार्यधिष्ठानान्यासां) तथा हाथ और पैरों के ४ पृष्ठ (चत्वारि पाणिपादपृष्ठानि) को नहीं गिना है। इस प्रकार ३६० संख्या पूरी की है। यहां भी यदि हम शलाकास्थियों के अधिष्ठानों को न गिनें तो संख्या कुछ अंश तक पूरी हो सकती है। चरकोक्त अस्थियां निम्न प्रकार से हैं—त्रीणि षष्ठ्यधिकानि शतान्यस्थ्नां सह दन्तोलूखलनखैः; तद्यथा—द्वात्रिंशद्दन्ताः, द्वात्रिंशद्दन्तोलूखलानि, विंशतिर्नखाः, विंशतिः पाणिपादशलाकाः, चत्वार्यधिष्ठानान्यासां, चत्वारि पाणिपादपृष्ठानि, षष्ट्यङ्गुल्यस्थीनि, द्वे पार्ष्ण्योः, द्वे कूर्चाधः, चत्वारः पाण्योर्मणिकाः चत्वारः पादयोर्गुल्फाः, चत्वार्यरत्न्योरस्थीनि, चत्वारि जङ्घयोः, द्वे जानुनोः, द्वे कूर्परयोः, द्वे ऊर्वोः, बाह्वोः मांसयोर्द्वे, द्वावक्षकौ, द्वे तालुनी, द्वे श्रोणिफलके, एकं भगास्थि, पुंसां मेढ्रास्थि, एकं त्रिकसं श्रितम् एकं गुदास्थि, पृष्ठगतानि पञ्चत्रिंशत्, पञ्चदशास्थीनि ग्रीवायां, द्वे जत्रुणि, एकं हन्वस्थि, द्वे हनुमूलबन्धने, द्वे ललाटे, द्वे अक्ष्णोः, गण्डयोर्द्वे, नासिकायां त्रीणि घोणाख्यानि, द्वयोः पार्श्वयोश्चतुर्विंशतिश्चतुर्विंशतिः पञ्जरास्थीनि च पार्श्वकानि, तावन्ति चैषां

स्थालिकान्यर्बुदाकाराणि तानि द्विसप्ततिः, द्वौ शङ्खकौ, चत्वारि शिरःकपालानि, वक्षसि सप्तदश, इति त्रीणि षष्ट्यधिकानि शतान्यस्थ्नामिति । **इस प्रकार हमें प्रकृत ग्रन्थ तथा चरक की अस्थि गणना में निम्न अन्तर मिलता है—**

	चरक	काश्यपसंहिता
पाणिपादपृष्ठानि	४	×
कूर्चास्थियां	२	४
हाथों की मणकास्थि	४	२
गुल्फास्थि	४	×
कूर्परास्थि	२	×
अंसफलक	×	२
बाहु	×	२
मेढ्रास्थि	१	×
त्रिकास्थि	१	×
गुदास्थि	१	×
पृष्ठास्थि	३५	४५
जत्रु अस्थि	२	१
ललाटास्थि	२	१
आंखों की अस्थियां	२	×
गण्डास्थि	२	१
नासिकास्थि	३	१
छाती में	१७	१४
जानुकपालास्थि	×	२
कूटास्थि	×	१
	८२	७६

इनके अतिरिक्त अन्य सब अस्थियां परस्पर मिलती हैं। सुश्रुत ३६० अस्थियां स्वीकार नहीं करता। वह केवल ३०० अस्थियां मानता है। वह दांत के उलूखल तथा नखों को अस्थियों में नहीं गिनता। आजकल के शरीरशास्त्र के ज्ञाता शरीर में कुल २०६ अस्थियां मानते हैं। इस प्रकार काश्यपसंहिता, चरक तथा सुश्रुत सब में ही अस्थियों की संख्या बहुत अधिक दी हुई हैं तथा गिनने पर उनकी संख्या ठीक भी नहीं बैठती है तथा बहुत से स्थानों पर उनमें परस्पर समानता नहीं है। उन्होने अस्थि शब्द से संभवतः शरीर के सभी कठिन पदार्थों का ग्रहण कर लिया है तभी इतना अधिक अन्तर हो गया प्रतीत होता है। आधुनिक विज्ञान एक पूर्ण युवा मनुष्य में निम्न अस्थियां मानता है—

बाहुओं में ३०×२	=	६०
सक्थियों में ३०×२	=	६०
शिर और ग्रीवा में	=	३६
मध्यदेह	=	५०
		२०६

इसका विशेष विवरण शरीर-शास्त्र की किसी पुस्तक में देखना चाहिये। यह साधारण रूप में अस्थियों की संख्या कही गई है। इसमें कारणवश वृद्धि अथवा ह्रास भी हो सकता है॥

दशैवायतनान्याहुः प्राणानां तानि मे शृणु ।
मूर्धाऽथ हृदयं बस्तिः कण्ठौजः शुक्रशोणितम् ।
शङ्खौ गुदं ततस्त्रीणि महामर्माणि चादितः ।

प्राणों के दस आयतन कहे गये हैं। इन्हें तू मुझ से सुन। १-मूर्धा २-हृदय ३-बस्ति ४-कण्ठ ५-ओज ६-शुक्र ७-शोणित ८-९ दोनों शङ्ख प्रदेश (Temporal regious) **१०-गुदा चरक सू० अ० २९ में भी ये ही १० प्राणायतन गिनाये हैं—** दशैवायतनान्याहुः प्राणा येषु प्रतिष्ठिताः । शङ्खौ मर्मत्रयं कण्ठो रक्तं शुक्रौजसी गुदम् ॥ **परन्तु चरक शा० अ० ७ में शङ्खप्रदेशों के स्थान पर नाभि तथा मांस को गिना गया है—** दश प्राणायतनानि तद्यथा—मूर्धा कण्ठो हृदयं नाभिः गुदं बस्तिः ओजः शुक्रं शोणितं मांसमिति । **अष्टाङ्गसंग्रह शा० अ० ५ में मांस के स्थान पर जिह्वाबन्धन पढ़ा गया है—** दश प्राणायतनानि-मूर्धा जिह्वाबन्धनं कण्ठो हृदयं नाभिर्बस्तिर्गुदः शुक्रमोजो रक्तं च । तेषामाद्यानि सप्त पुनर्महामर्मसंज्ञानि । **इनमें से प्रथम तीन महामर्म कहलाते हैं अर्थात् मूर्धा, हृदय और बस्ति को महामर्म कहते हैं। अष्टाङ्गसंग्रह में महामर्म ७ गिनाये हैं-१-मूर्धा २-जिह्वाबन्धन ३-कण्ठ ४-हृदय ५-नाभि ६-बस्ति ७-गुदा। इनका ऊपर प्राणायतनों में निर्देश किया गया है॥**

नाभिः प्लीहा यकृत् क्लोम हृद्वृक्कौ गुदबस्तयः ।
क्षुद्रान्त्रमथ च स्थूलमामपक्वाशयौ वपा ।
कोष्ठाङ्गानि वदन्ति ज्ञाः प्रत्यङ्गानि निबोध मे ।

कोष्ठ के अङ्ग—१-नाभि (Umblicus) **२-प्लीहा** (Spleen) **३-यकृत् (जिगर-Liver) ४-क्लोम ५-हृदय** (Heart) **६-दोनों वृक्क (गुर्दे-Kidneys) ७-गुदा** (Anus) **८-बस्ति** (Bladder) **९-क्षुद्रान्त्र** (Small Intestines) **१०-स्थूलान्त्र** (Large Intestines) **११-आमाशय** (Stomach) **१२-पक्वाशय १३-वपा (हृदय के चारों ओर की मेद्-**Fatty Tissues) **चरक शा० अ० ७ में कोष्ठ के अंग १५ दिये हैं—** पञ्चदश कोष्ठाङ्गानि, तद्यथा—नाभिश्च हृदयं च, क्लोम च, यकृच्च, प्लीहा च, वृक्कौ च; बस्तिश्च, पुरीषाधारश्च, आमाशयश्च, पक्वाशयश्च, उत्तरगुदं च, अधरगुदं च, क्षुद्रान्त्रं च, स्थूलान्त्रं च, वपावहनं चेति । **इनमें एक पुरीषाधार को अधिक गिना है तथा गुदा के दो भाग-उत्तरगुदा तथा अधरगुदा-करके पृथक् २ गिने हैं-इसलिये ये १५ होते हैं ॥ १२ ॥**

अक्षिणी नासिके कर्णौ स्तनावोष्ठौ कुकुन्दरौ ।
हस्तौ पादौ भ्रुवौ कूटौ बाहुजङ्घोरुपिण्डिकाः ।
सृक्किणी कर्णशष्कुल्यौ कर्णपुत्रावितारके ।
वृषणौ दन्तवेष्टौ च शङ्खकावुपजिह्विके ।
दन्तलोहाधिमूलानि द्वे द्वे सर्वाणि निर्दिशेत् ।
बस्तिर्बस्तिशिरः शेफः पृष्ठं सचिबुकोदरम् ।
ललाटमास्यं गोजिह्वा शिरो हृदयमेकशः ।

१ 'स्फिचौ गण्डौ वंक्षणौ च' इति पाठश्चेत् साधु ।

पाणिपादतलेष्वेव चत्वारि हृदयानि तु ।
शाखाहृदयसंज्ञानि पञ्चमं चेतनाश्रयम् ।
अक्षिबन्धानि चत्वारि विद्याद्विंशतिरङ्गुलीः ।

अब तू मुझसे प्रत्यङ्गों को सुन—२ आंखे + २ नासिका + २ कर्ण + २ स्तन + २ ओष्ठ + २ कुकुन्दर (जघनास्थियों के बाहर की ओर का निम्न भाग–Ischial tuberocities) + २ हाथ + २ पैर + २ भ्रू (भौंहें) + २ कूट (अक्षिकूटक-जहां अक्षिगोलक रहते हैं) + २ बाहु की पिण्डिकाएँ + २ जङ्घा की पिण्डिकाएँ + २ ऊरु देश की पिण्डिकाएँ + २ सृक्किणी (होठों के किनारे) + २ कर्णशष्कुलियां-(बाहर से दीखने वाले कान–Pinna of ears) + २ कर्णपुत्रक (कर्णशष्कुली के सामने का उभार–Tragus) + २ अक्षितारक (आंख की पुतलियां–Pupils) + २ वृषण (अण्ड–Testicles) + २ दन्त वेष्ट (मसूड़े) + २ शङ्खदेश (Temporal regious) + २ उपजिह्विका (Tonsils) + २ स्फिक् (नितम्ब-चूतड़–Buttocks) + २ गण्ड (गाल) + २ वंक्षण (रानें–groius) + १ बस्ति (Bladder) + १ बस्तिशिर (नाभि के नीचे का प्रदेश) + १ शेफ (मूत्रेन्द्रिय) + १ पृष्ठ + १ चिबुक (ठोडी) + १ उदर (पेट) + १ ललाट + १ आस्य (मुख) + १ गोजिह्वा (जिह्वा के नीचे की छोटी जीभ) + १ शिर + ४ पाणितल तथा पादतल के हृदय * (इन्हें शाखाहृदय भी कहते हैं) + १ हृदय (चेतनाश्रय) + ४ अक्षिबन्धन + २० अंगुलियां = ८७ प्रत्यङ्ग होते हैं । चरक शा० अ० ७ में निम्न ५६ प्रत्यङ्ग गिनाये हैं—षट्पञ्चाशत्प्रत्यङ्गानि षट्स्वङ्गेषूपनिबद्धानि यानि यान्यपरिसंख्यातानि पूर्वमङ्गेषु परिसंख्यायमानेषु तानि तान्यन्यैः पर्यायैरिह प्रकाश्य व्याख्यातानि भवन्ति; तद्यथा—द्वे जङ्घापिण्डिके, द्वे ऊरुपिण्डिके, द्वौ स्फिचौ, द्वौ वृषणौ, एकं शेफः, द्वे उखे, द्वौ वङ्क्षणौ, द्वौ कुकुन्दरौ, एकं बस्तिशीर्षम्, एकमुदरं, द्वौ स्तनौ, द्वौ श्लेष्मभुवौ, द्वे बाहुपिण्डिके, चिबुकमेकं द्वावोष्ठौ, द्वे सृक्कण्यौ, द्वौ दन्तवेष्टकौ, एकं तालु, एका गलशुण्डिका, द्वे उपजिह्विके, एका गोजिह्विका, द्वौ गण्डौ, द्वे कर्णशष्कुलिके, द्वौ कर्णपुत्रकौ, द्वे अक्षिकूटे, चत्वारि अक्षिवर्त्मानि, द्वे अक्षिकनीनिके, द्वे भ्रुवौ, एकोऽवटुः, चत्वारि पाणिपादहृदयानि । सुश्रुत में निम्न प्रत्यङ्ग गिनाये हैं—मस्तकोदरपृष्ठनाभिललाटनासाचिबुकबस्तिग्रीवा इत्येता एकैकाः । कर्णनेत्रभ्रूशङ्खांसगण्डकक्षस्तनवृषणपार्श्वस्फिग्जानुबाहूरुप्रभृतयो द्वे द्वे, विंशतिरङ्गुलयः, स्रोतांसि वक्ष्यमाणानि, एष प्रत्यङ्गविभाग उक्तः ॥

स्रोतांसि द्विविधान्याहुः सूक्ष्माणि च महान्ति च ।
महान्ति नव जानीयाद् द्वे चाधः सप्त चोपरि ।
नाभिश्च रोमकूपाश्च सूक्ष्मस्रोतांसि निर्दिशेत् ।

स्रोत दो प्रकार के होते हैं । १–सूक्ष्म २–महान् । महास्रोत नौ होते हैं जिनमें दो नीचे (मूत्रेन्द्रिय अथवा जननेन्द्रिय और गुदा) तथा सात ऊपर शिर में (२ आंखें + २ नाक + २ कान + १ मुखविवर = ७)-ये कुल मिलाकर ९ होते हैं । चरक शा० अ० ७ में कहा है–नव महान्ति छिद्राणि सप्त शिरसि द्वे चाधः । नाभि तथा रोमकूप सूक्ष्म स्रोत समझे जाते हैं ॥

हृदयात् संप्रतायन्ते सिराणां दश मातरः ।
ऊर्ध्वं चतस्रो द्वे तिर्यक्चतस्रोऽधोवहाः सिराः ।
व्याप्नुवन्ति शरीरं ता भिद्यमानाः पुनः पुनः ।
पर्णानामिव सीवन्यः सरणाच्च सिराः स्मृताः ।

हृदय प्रदेश से शिराओं की १० माताएँ (मुख्य या मूल शिराएँ–Mother roots) निकलती हैं जिनमें चार ऊपर की ओर, दो तिर्यक् (तिरछी) तथा चार अधोवहा शिरायें होती हैं । ये दस शिरायें ही पुनः २ विभक्त होती हुई सारे शरीर को व्याप्त कर लेती हैं । जिस प्रकार पत्तों में सीवनियां होती हैं उसी प्रकार सारे शरीर में सरण (गति) करने के कारण इन्हें 'सिरा' कहते हैं ।

वक्तव्य—पूर्व शारीर स्थान के प्रथम अध्याय में शिराओं की संख्या ७०० बताई हैं । यहां ये १० बताई हैं । इसका अभिप्राय यह है कि मूल में ये शिरायें १० ही होती हैं जो कि धीरे २ विभक्त होकर ७०० या इससे भी अधिक संख्या में होकर सारे शरीर में व्याप्त हो जाती हैं । सुश्रुत शा० अ० ७ में छोटी २ जलहारिणियों (नालियों) का उदाहरण देकर बताया है कि जिस प्रकार छोटी २ एवं कृत्रिम असंख्य नालियों द्वारा उद्यान में पानी दिया जाता है उसी प्रकार इन शिराओं से सारे शरीर का पोषण होता है । कहा है—सप्त सिराशतानि भवन्ति, याभिरिदं शरीरमाराम इव जलहारिणीभिः केदार इव च कुल्याभिरुपस्निह्यतेऽनुगृह्यते चाकुञ्चनप्रसारणादिभिर्विशेषैः, द्रुमपत्रसेवनीनामिव च तासां प्रतानाः तासां नाभिर्मूलं, ततश्च प्रसरन्त्यूर्ध्वमधस्तिर्यक् च । तथा आगे फिर कहा है–व्याप्नुवन्त्यभितो देहं नाभितः प्रसृताः सिराः । प्रतानाः पद्मिनीकन्दाद्बिसादीनां यथा जलम् ॥

यथा काष्ठमयं रूपं तृणरज्ज्वोपवेष्टितम् ।
भवेल्लिप्तं मृदा बाह्यं तथेदं देहसंज्ञकम् ।
अस्थीनि स्नायुबद्धानि स्नायवो मांसलेपनाः ।
सिराभिः पुष्यते नित्यं तस्य सर्वं त्वचा ततम् ।

जिस प्रकार एक लकड़ी का बना हुआ मकान पहले तिनकों तथा रज्जु (रस्सियों) से बांधा जाता है तथा फिर ऊपर से मिट्टी द्वारा लीपा जाता है उसी प्रकार यह देह (शरीर) रूपी मकान है । इसमें सबसे पूर्व अस्थियां स्नायुओं (Ligaments) द्वारा बंधी हुई हैं । स्नायुओं के ऊपर मांस (Muscles) चढ़ा हुआ है । शिराओं के द्वारा इसका निरन्तर पोषण होता है । तथा इसके ऊपर त्वचा (Skin) फैली हुई है ॥

* इन्हें सुश्रुत ने तलहृदय नामक मर्म कहा है जो कि दोनों हाथों तथा पैरों के तले में होते हैं (मध्यमाङ्गुलीमनुपूर्वेण मध्येपादतलस्य तलहृदयं नाम-सुश्रुत शा० अ० ६–२४) ।

त···तः (संततं) कर्णमूलाभ्यां धमनीनां शतं शतम् ।
तासु नित्योऽनिलस्तिष्ठन्नग्नीषोमौ बिभर्त्यधि ॥

प्रत्येक कर्णमूल से सौ-सौ धमनियां फैली हुई हैं। इनमें नित्य वायु रहता हुआ अग्नि तथा सोम को धारण करता है।

वक्तव्य—सुश्रुत शा० अ० ९ में 'धमनी' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए टीका में डल्हण ने लिखा है—"धमानादनिलपूरणाद्धमन्यः" उसने भी धमनियों में वायु का होना स्वीकार किया है। वहीं टीका में उसने "शब्दरूपरसगन्धवहत्वादिकं धमनीनाम्" द्वारा धमनियों का कार्य शब्द आदि का वहन किया है। इस प्रकार ये धमनियां वातवाही नाडियां प्रतीत होती हैं जिन्हें आधुनिक विज्ञान की भाषा में हम Nerues कह सकते हैं। आजकल व्यवहार में धमनी शब्द Artry (रक्तवाहिनी) के अर्थ में प्रयुक्त होता है। वह यहां अभिप्रेत नहीं है॥

साग्रे शतसहस्रे द्वे बहिरन्तश्च कूपकाः ।
रोमकूपानि तावन्ति जातान्येकैकशो यदि ॥
वृद्धिह्रासौ निषेकाच्च स्वभावाद्विश्वकर्मणः ।
चतुर्भागविहीनानि स्त्रीणां विद्धि स्वभावतः ॥
कूपके कूपके चापि विद्यात् सूक्ष्मं सिरामुखम् ।
प्रस्विद्यमानस्तैः स्वेदं विमुञ्चति सिरामुखैः ॥
जातस्य वर्धमानस्य यूनो वृद्धस्य देहिनः ।
स्वेनाञ्जलिप्रमाणेन द्रवाणि प्रमिमीमहे ॥

इसके आगे दो लाख बाह्य एवं आभ्यन्तरिक कूप (छिद्र) होते हैं। रोमकूप भी इतने ही होते हैं। इनमें जन्म से ही अथवा विश्वकर्मा के स्वभाव से वृद्धि एवं ह्रास हो सकता है। अर्थात् इस संख्या में यदि वृद्धि एवं ह्रास हो तो वह जन्म से एवं विश्व के बनाने वाले परमात्मा के स्वभाव से ही समझना चाहिये। स्त्रियों में यह संख्या स्वभाव से चतुर्थांश कम होती है। प्रत्येक रोमकूप में एक २ सूक्ष्म शिरा होती है। स्वेद (पसीना) आने पर उन शिराओं के द्वारा ही पसीना बाहर निकलता है। शरीर से पसीना आने के विषय में आधुनिक विज्ञान भी इसी सिद्धान्त को मानता है। हैलिबर्टन की फिजियोलोजी में कहा है—Sweating in accompanied by a dilatation of the blood-vessels of the region, presumably the result of the production of metabolic products. अब हम उत्पन्न हुए २ (सद्योजात), बढ़ने वाले, युवा तथा वृद्ध पुरुष के शारीरिक द्रवों का अपनी २ अञ्जलि के अनुसार प्रमाण बताते हैं॥

मज्जमेदोवसामूत्रपित्तश्लेष्माणि विट् तथा ।
एकद्वित्रिचतुष्पञ्चषट्सप्ताञ्जलिकाः स्मृताः ॥
शोणिताञ्जलयोऽष्टौ तु नव पक्तिरसस्य तु ।
दशैवाञ्जलयः प्रोक्ता उदकस्य त्वगाश्रयाः ॥
तेनोदकेन पुष्यन्ति धातवो लोहितादयः ।
अतीसारे पुरुषं च ततो मूत्रं प्रवर्तते ॥
व्रणे लसीका पूयं च पिच्छा चातः प्रवर्तते ।
भवन्ति तस्मिन् दुष्टे च दद्रुकण्डूविचर्चिकाः ॥
त्वगामयाः किलासानि पामा केशवधस्तथा ।
तदग्निमारुतोद्विद्धं (कू) पकैः स्वेद उच्यते[1] ॥
श्लेष्मणस्तु प्रमाणेन प्रमाणं तुल्यमोजसः ।
शुक्रस्यार्धाञ्जलिर्देहे मस्तिष्कस्य तथैव च ॥
एतत् प्रमाणमुद्दिष्टमुत्कृष्टं सर्वमेव तु ।
प्रज्ञाप्तपिपि(शि)तीयस्य ततो मध्यं ततोऽधमम् ॥

मज्जा, मेद, वसा, मूत्र, पित्त, श्लेष्मा तथा मल ये क्रमशः एक, दो, तीन, चार, पांच, छः तथा सात अञ्जलि होते हैं। शोणित (रक्त) की आठ अञ्जलियां तथा पक्तिरस (आहार के परिणत होने-पकने पर जो सबसे पूर्व धातु बनती है तथा जिसे 'रस' कहते हैं) की ९ अञ्जलियां होती हैं। त्वचा के आश्रित उदक (जल) की १० अञ्जलियां होती हैं। इसी उदक (जल) के द्वारा ही शरीर की रक्त आदि धातुओं का पोषण होता है। यही अतिसार में पुरीष के रूप में तथा मूत्र के रूप में शरीर से बाहर निकलता है। यह जल व्रण में लसीका (Lymph), पूय (Pus) तथा पिच्छा (लेसदार द्रव्य) के रूप में निकलता है। इस उदक (जल) के दूषित हो जाने पर दद्रु, कण्डू (खुजली), विचर्चिका, किलास (श्वित्र-श्वेत कुष्ठ) तथा पामा (Eczema) आदि त्वग्रोग तथा केशवध (बालों का झड़ना) आदि होते हैं। यही उदक अग्नि एवं वायु के संयोग से जब रोमकूपों के द्वारा बाहर निकलता है तब स्वेद (Sweat) कहलाता है। श्लेष्मा (कफ) के प्रमाण के समान ही अर्थात् ६ अञ्जलि ओज का प्रमाण है। शरीर में शुक्र का प्रमाण आधी अञ्जलि है तथा मस्तिष्क का भी इतना ही (आधी अञ्जलि) है। यह प्रज्ञप्तिपिशित (पूर्व निर्दिष्ट) नामक शारीरिक संहनन वाले (कलियुगी) पुरुष के सम्पूर्ण शरीर के द्रवों का उत्कृष्ट (Maximum) प्रमाण कहा गया है। मध्य व्यक्तियों का मध्यम (Mebium) तथा अधम व्यक्तियों का अधम (Minimum) प्रमाण भी होता है। चरक शा० अ० ७ में भी शारीरिक द्रव्यों का इसी प्रकार अञ्जलि प्रमाण दिया गया है—यत्त्वञ्जलिसंख्येयं तदुपदेक्ष्यामः, तत्पर प्रमाणमभिज्ञेयं, तच्च वृद्धिह्रासयोगि, तर्क्यमेव; तद्यथा—दशोदकस्याञ्जलयः शरीरे स्वेनाञ्जलिप्रमाणेन यत्तत् प्रच्यवमानं पुरीषमनुबध्नात्यतियोगेन तथा मूत्रं रुधिरमन्यांश्च शरीरधातून्, यत्तत् सर्वशरीरचरं बाह्या त्वग्बिभर्ति, यत्तु त्वगन्तरे व्रणगतं लसीकाशब्दं लभते, यच्चोष्मणाऽनुबद्धं लोमकूपेभ्यो निष्पतत्स्वेदशब्दमवाप्नोति, तदुदकं दशाञ्जलिप्रमाणं, नवाञ्जलयः पूर्वस्याहारपरिणामधातोर्यं तं रस इत्याचक्षते, अष्टौ शोणितस्य, सप्त पुरीषस्य, षट् श्लेष्मणः, पञ्च पित्तस्य, चत्वारो मूत्रस्य, त्रयो वसायाः, द्वौ मेदसः, एकः मज्ज्ञः, मस्तिष्कस्यार्धाञ्जलिः, शुक्रस्य तावदेव प्रमाणं, तावदेव श्लेष्मणश्चौजस इत्येतच्छरीरतत्त्वमुक्तम् ॥

---

१ 'यच्चोष्मणाऽनुबद्धं रोमकूपेभ्यो निष्पतत् स्वेदशब्दमवाप्नोति' इति चरकः (शा. अ. ७)।

शुक्रं तु षोडशे वर्षे संपूर्णं संप्रवर्तते ।
अन्योन्यसंश्रयाण्याहुरन्योन्यगुणवन्ति च ॥
महाभूतानि दृश्यानि दार्वग्नितिलतैलवत् ।

सोलहवें वर्ष में पुरुष में शुक्र सम्पूर्ण (पूर्ण परिपक्व) रूप से प्रवृत्त होने लगता है । जिस प्रकार लकड़ी में अग्नि तथा तिलों में तेल होता है उसी प्रकार ये पञ्चमहाभूत भी परस्पर एक दूसरे के आश्रित तथा एक दूसरे के गुणों वाले होते हैं ॥

शारीरसंख्या निर्दिष्टा यथास्थूलं प्रकारतः ॥
देहावयवसूक्ष्मं तु भेदानन्त्यं सुदुर्वचम् ॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥

इति (शारीरस्थाने) शरीरविचयं नाम शारीरम् ।

यह स्थूल (मोटे) रूप से शरीर के अवयव इत्यादिकों की संख्या का निर्देश किया है । देह के सूक्ष्म अवयवों के भेद तो अनन्त हैं इसलिये उनका परिगणन करना हो तो अत्यन्त कठिन है ॥

ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था ।

इति (शारीरस्थाने) शरीरविचयं नाम शारीरम् ।

जातिसूत्रीयशारीराध्यायः ।

अथातो जातिसूत्रीयं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ २ ॥

अब हम जातिसूत्रीय शारीर का व्याख्यान करेंगे । ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था । अर्थात् इस अध्याय में जन्मशास्त्र या उत्पत्तिशास्त्र की व्याख्या की जायेगी ॥ १-२ ॥

जातौ जातौ खलु स्वभाव एवाकृतिभेदनिर्वर्तयिता भवति । स्वभावतो ह्यस्य वायुपरमाणवः संयोगविभागचेष्टाधिकारा आकुञ्चनप्रसारणकोष्ठाङ्गप्रत्यङ्गधातुचेतनास्रोतांसि विभजन्ति । समत्यके धातुरिव निषिक्तः पुरुषः पुरुषमभिनिर्वर्तयति, गौर्गामश्वाऽश्वमेवमादि । नृणामपि तु मध्ये गर्भनिर्वृत्तिः । तत्र द्वयोर्दम्पत्योः स्वभावात् स्वकर्मपरिणामाद्वा प्रजाभिवृद्धिर्भवति, तौ धन्यौ; अतोऽन्यथा भिषजितव्यौ । स्नेहस्वेदवमनविरेचनास्थापनानुवासनैः क्रमश उपचरेन्मधुरौषधसिद्धाभ्यां क्षीरघृतपुष्टं पुरुषं, स्त्रियं तु तैलमांसा (माषा) भ्यामित्येके; सात्म्यैरेवेति प्रजापतिः ॥ ३ ॥

(इति ताडपत्रपुस्तके ८४ तमं पत्रम् ।)

प्रत्येक जाति में स्वभाव से ही आकृति भेद होता है । संयोग, विभाग तथा चेष्टा को करने वाले वायु के परमाणु स्वभाव से ही इसके आकुञ्चन (सिकुड़ना[1]), प्रसारण (फैलना), कोष्ठ के अङ्ग, प्रत्यङ्ग, धातु, चेतना तथा स्रोतों का विभाजन करते हैं । जिस प्रकार सांचों में ढला हुआ पुरुष-पुरुष को उत्पन्न करता है और गौ-गौ को तथा घोड़ा-घोड़े को उत्पन्न करते हैं, उसी प्रकार मनुष्यों में भी गर्भ की निर्वृत्ति होती है । पति और पत्नी दोनों के स्वभाव से अथवा अपने कर्मों के परिणाम से यदि सन्तान उत्पन्न होती है तो वे (पति तथा पत्नी) धन्य (प्रशस्त) हैं । यदि इसके विपरीत हैं अर्थात् किसी कारण से सन्तान की उत्पत्ति नहीं होती है तो उनकी चिकित्सा करनी चाहिये । स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, आस्थापन तथा अनुवासन द्वारा क्रमशः शुद्ध करके दूध तथा घृत से पुष्ट हुए २ पुरुष को मधुर ओषधियों से सिद्ध घृत का तथा स्त्री को तैल और मांस (माष पाठ होने पर उड़द अर्थ होगा) का सेवन करायें-ऐसा कुछ लोग कहते हैं परन्तु प्रजापति कश्यप के मत में जिसे जो सात्म्य हो उसे उसी का सेवन करायें । चरक शा० अ० ८ में भी कहा है—अथास्यैतौ स्त्रीपुरुषौ स्नेहस्वेदाभ्यामुपपाद्य वमनविरेचनाभ्यां संशोध्य क्रमेण प्रकृतिमापादयेत, संशुद्धौ चास्थापनानुवासनाभ्यामुपाचरेत, उपाचरेच्च मधुरौषधसंस्कृताभ्यां पुरुषं, स्त्रियं तु तैलमाषाभ्याम् । अष्टाङ्ग संग्रह में भी कहा है—विशेषतस्तु घृतक्षीरवद्भिर्मधुरौषधसंस्कारैः पुरुषं, तैलेन नारीं पित्तलैश्च मांसैः शुक्र एवं रज को शुद्ध करने तथा उनको पूर्ण करने के लिये यह विधान दिया गया है ॥३॥

यथा च पुष्पमध्ये फलमनिर्वृत्तं सुसूक्ष्ममस्ति न चोपलभ्यते, यथा चाग्निर्दारुषु सर्वगतः प्रयत्नाभावान्नोपलभ्यते, तथा स्त्रीपुंसयोः शोणितशुक्रे कालावेक्षे स्वकर्मावेक्षे च भवतः । षोडशवर्षयोर्हि शोणितशुक्रयोर्मध्ये[1] प्रभवतः; अर्वागपि यदाहारविशेषादारोग्याच्च पूर्णे भवत इति परिषत् ॥ ४ ॥

जिस प्रकार पुष्प में फल सूक्ष्म तथा अनुत्पन्न (Latent) या अदृश्य अवस्था में होने से उपलब्ध नहीं होता अथवा जिस प्रकार लकड़ियों में सब जगह अग्नि होने पर भी प्रयत्न के बिना प्राप्त नहीं होती है उसी प्रकार स्त्री एवं पुरुष में क्रमशः शोणित (आर्तव) तथा शुक्र (वीर्य) काल तथा अपने कर्मों की अपेक्षा रखते हैं अर्थात् उचित समय पर प्रकट होते हैं । स्त्री एवं पुरुष के १६ वर्ष के होने पर शोणित तथा शुक्र कार्य करने में समर्थ होते हैं अथवा पूर्ण होते हैं । १६ वर्ष की अवस्था से पूर्व भी आहार की विशेषता तथा आरोग्य के कारण शोणित और शुक्र पूर्ण हो सकते हैं । अर्थात् साधारणतया १६ वर्ष की अवस्थामें शुक्र एवं शोणित पूर्ण परिपक्व होता है परन्तु यदि पौष्टिक आहार मिले तथा स्वास्थ्य उत्तम हो तो इससे पूर्व भी शुक्र एवं शोणित पूर्ण हो सकते हैं ।

---

१ तद्यथा-कनकरजतताम्रत्रपुसीसकान्यवसिच्यमानानि तेषु तेषु मधूच्छिष्टबिम्बेषु (मधूच्छिष्टविग्रहेषु) तानि यदा मनुष्यबिम्बमापद्यन्ते तदा मनुष्यविग्रहेण जायन्ते' इति चरकः (शा. अ० ३)

१ 'शोतणिशुक्रे पूर्णे भवतः' इति पाठश्चेत् साधु ।

वक्तव्य—सुश्रुत में पुरुष के २५ वर्ष तथा स्त्री के १६ वर्ष का होने पर ही मैथुन का विधान दिया गया है। शोणित एवं शुक्र की उपस्थिति इससे पूर्व भी होती है परन्तु वे पूर्ण अवस्था में नहीं होते हैं। शारीर स्थान के दशवें अध्याय में कहा है—ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्। यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते ॥ जातो वा न चिरञ्जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः ॥ **इस अवस्था में जो गर्भ की स्थिति होगी वह या तो गर्भाशय में ही मृत हो जाता है अथवा उत्पन्न होने के बाद मृत हो जायगा या अत्यन्त ही दुर्बल सन्तान उत्पन्न होगी। स्त्री में १६-२० वर्ष तक की अवस्था में सन्तानोत्पत्ति की शक्ति सबसे अधिक होती है। उससे पूर्व अपक्कावस्था होती है तथा उसके बाद वह शक्ति क्रमशः क्षीण होने लगती है। इसी प्रकार पुरुष में २० वर्ष की अवस्था से लेकर प्रायः ३०-३५ वर्ष की अवस्था तक सन्तानोत्पत्ति की शक्ति सबसे अधिक विद्यमान होती है। उसके बाद वह शक्ति क्रमशः क्षीण होने लगती है। यह सामान्य नियम है। इसके अपवाद भी हो सकते हैं तथा वाजीकरण ओषधियों के द्वारा इस शक्ति को बहुत बड़ी अवस्था तक भी स्थिर रखा जा सकता है ॥ ४ ॥**

रजस्वलायाश्चेत् प्रथमेऽहनि गर्भ आपद्येत तं वातगर्भमाचक्षते विफलं वातपुष्पमिवोद्भिदानां; द्वितीयेऽहनि चेत् स्रंसते च्यवते वा; तृतीयेऽहनि सूतिकासने म्रियते, न वा दीर्घायुर्भवति, हीनाङ्गश्च जायते; अत ऊर्ध्वमृतुर्द्वादशाहं ब्राह्मणीनाम्, एकादशाहं क्षत्रियाणां, दशाहं वैश्यानां, नवरात्रमितरासाम्। ऋतुर्बीजकालमवेक्षत इत्याहुर्महर्षयः । अत ऊर्ध्वमकालजमाहुः । अकालजं हीनं दुर्बलमस्थिरमदृढमपीनभङ्गुरं धान्यमिव भवति ॥ ५ ॥

यदि रजस्वला स्त्री के रजोदर्शन के प्रथम दिन ही गर्भ की स्थिति हो जाय तो उसे वृक्षों के वातपुष्प की तरह 'वातगर्भ' कहते हैं तथा वह फलशून्य होता है अर्थात् उस गर्भ के सन्तान की उत्पत्ति नहीं होती है। यदि (रजोदर्शन के) दूसरे दिन गर्भाधान किया जाय तो गर्भपात (स्राव अथवा पतन*) हो जाता है। रजोदर्शन के तीसरे दिन यदि गर्भाधान हुआ हो तो उत्पन्न बालक की सूतिकागृह में ही मृत्यु हो जाती है अथवा यदि मृत्यु न भी हो तो वह बालक दीर्घायु नहीं होता तथा हीन अङ्गों वाला उत्पन्न होता है। चरक० शा० अ० ८ में भी रजोदर्शन के बाद की प्रथम तीन रात्रियों में सहवास करना निषिद्ध है। कहा है—ततः पुष्पात्प्रभृति त्रिरात्रमासीत ब्रह्मचारिण्यधःशायिनी पाणिभ्यामन्नमजर्जरपात्रे भुञ्जाना न च काञ्चिद् मृजामापद्येत। **सुश्रुत शा० अ० २ में भी कहा है**—ऋतौ प्रथमदिवसात् प्रभृति ब्रह्मचारिणी दिवास्वप्नाञ्जनाश्रुपातस्नानानुलेपनाभ्यङ्गनखच्छेदनप्रधावनहसनकथनातिशब्दश्रवणावलेखनानिलायासान् परिहरेत्। किं कारणं ? दिवा स्वपन्त्याः स्वापशीलः, अञ्जनादन्धः रोदनाद्विकृतदृष्टिः, स्नानानुलेपनाद् दुःखशीलः, तैलाभ्यङ्गात् कुष्ठी, नखापकर्तनात् कुनखी, प्रधावनाच्चञ्चलः, हसनाच्छ्यावदन्तौष्ठतालुजिह्वः, प्रलापी चातिकथनात्, अतिशब्दश्रवणाद्बधिरः, अवलेखनात् खलतिः, मारुतायाससेवनादुन्मत्तो गर्भो भवतीत्येवमेतान् परिहरेत्। **इन तीन रात्रियों के बाद ऋतुकाल होता है जो कि ब्राह्मणी के लिये १२ दिन, क्षत्रिय स्त्री के लिये ११ दिन, वैश्य स्त्री के लिये १० दिन तथा अन्य शूद्र आदि स्त्रियों के लिये ९ दिन होता है। सुश्रुत शा० अ० २ में भी कहा है**—तत्र प्रथमे दिवसे ऋतुमत्यां मैथुनमनापुष्यं पुंसां भवति, यश्च तत्राधीयते गर्भः स प्रसवमानो विमुच्यते, द्वितीयेऽप्येवं सूतिकागृहे वा, तृतीयेऽप्येवम् पूर्णाङ्गोऽल्पायुर्वा भवति, चतुर्थे तु संपूर्णाङ्गो दीर्घायुश्च भवति। न च प्रवर्तमाने रक्ते बीजं प्रविष्टं गुणकरं भवति, यथा नद्यां प्रतिस्रोतः प्लाविद्रव्यं प्रक्षिप्तं प्रतिनिवर्त्तते नोर्ध्वं गच्छति तद्वदेव द्रष्टव्यम्। तस्मान्नियमवती त्रिरात्रं परिहरेत्। अतः परं मासादुपेयात्। **चतुर्थ दिन से लेकर अगले रजोदर्शन तक स्त्री-पुरुष परस्पर सहवास कर सकते हैं। यदि रजोदर्शन न हो तो इसका अभिप्राय यह है कि गर्भ की स्थिति हो चुकी है। उस अवस्था में पुनः मैथुन नहीं करना चाहिये। ऋतु-बीज (शुक्र और शोणित) तथा काल की भी अपेक्षा रखता है-ऐसा महर्षियों ने कहा है। अर्थात् केवल ऋतु के यथोचित होने मात्र से ही गर्भोत्पत्ति नहीं होती है अपितु उसके साथ स्त्री-पुरुष का शोणित तथा शुक्र शुद्ध एवं पूर्ण होना चाहिये तथा काल भी यथावत् होना चाहिए तब गर्भ की स्थिति होती है। सुश्रुत शा० अ० २ में गर्भोत्पत्ति की अङ्कुरोत्पत्ति के साथ बड़ी सुन्दर तुलना की गई है**—ध्रुवं चतुर्णां सान्निध्याद् गर्भः स्याद्विधिपूर्वकः। ऋतुक्षेत्राम्बुबीजानां सामग्र्यादङ्कुरो यथा॥ **जिस प्रकार अंकुर की उत्पत्ति ऋतु (वर्षा आदि काल), क्षेत्र (खेत-भूमि), अम्बु (जल) तथा बीज पर निर्भर है उसी प्रकार गर्भ की उत्पत्ति भी ऋतु (रजोकाल) क्षेत्र (गर्भाशय का शुद्ध होना), अम्बु (आहार के परिणाम से उत्पन्न होने वाली रसधातु) तथा बीज (शुक्र तथा आर्तव) पर निर्भर है। अर्थात् ये चारों अवस्थायें ठीक हों तभी गर्भ की स्थिति सम्यक् प्रकार से हो सकती है। इन उपर्युक्त १२ रात्रियों के अतिरिक्त समय 'अकाल' कहलाता है अर्थात् इन में मैथुन नहीं करना चाहिये। इसीलिये सुश्रुत में कहा है**—"त्रयोदशीप्रभृतयो निन्द्याः"। **इस अकाल में स्थित गर्भ अकाल में होने वाले धान्य की तरह हीन गुणों वाला, दुर्बल, अस्थिर, अदृढ (कमजोर), पतला तथा भङ्गुर होता है ॥ ६ ॥**

---

* सुश्रुत निदान अ० ८ में गर्भपात तथा गर्भस्राव का निम्न भेद दिया है—आचतुर्थात्ततो मासात् प्रस्रवेद्गर्भविद्रवः। ततः स्थिरशरीरस्य पातः पञ्चमषष्ठयोः ॥ अर्थात् गर्भाधान से चतुर्थमास तक गर्भस्राव होता है अर्थात् गर्भ, स्राव के रूप में गिरता है तथा उसके बाद पांचवें और छटे मास में स्थिर (घन) गर्भ का पात होता है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार गर्भस्राव को Abortion तथा गर्भपात को miscarriage कहते हैं।

युग्मेष्वहःसु पुत्रकामोऽन्यत्र कन्यार्थी हर्षितस्तृप्तो-ऽनुरुद्धः स्त्रियमुपेयादिति सिद्धम् ॥ ६ ॥

पुरुष यदि पुत्रोत्पत्ति का इच्छुक है तो हर्षयुक्त (प्रसन्न अथवा ध्वजहर्ष होने पर), तृप्त तथा अनुरुद्ध (किसी अन्य स्त्री को न चाहता) हुआ युग्म दिनों में अर्थात् रजोदर्शन से चौथी, छठी, आठवीं, दसवीं तथा बारहवीं रात्रि में स्त्री से सहवास करे। यदि वह कन्या की उत्पत्ति का इच्छुक है तो अयुग्म (पांचवीं, सातवीं, नवमी, इग्यारहवीं, तेरहवीं) रात्रियों में मथुन करना चाहिये। चरक शा० अ० ८ में कहा है—स्नानात्प्रभृति युग्मेष्वहःसु संवसेतां पुत्रकामौ, अयुग्मेषु दुहितृकामौ। **सुश्रुत शा० अ० २ में भी कहा है**—नारीमुपेयाद्रात्रौ सामादिभिरभिविश्वास्य। विकल्प्यैवं चतुर्थ्यां षष्ठ्यामष्टम्यां दशम्यां द्वादश्यां चोपेयादिति पुत्रकामः। एषूत्तरोत्तरं विद्यादायुरारोग्यमेव च। प्रजासौभाग्यमैश्वर्यं बलं च दिवसेषु वै॥ अतः परं पञ्चम्यां सप्तम्यां नवम्यानेकादश्यां च स्त्रीकामः, त्रयोदशी-प्रभृतयो निन्द्याः ॥ ६ ॥

अथ शुद्धस्नातां (ता) स्त्रियं (स्त्री) चतुर्थेऽहनि स्नानगृहे श्वेतेन एवाऽन्येन वाससाऽवगुण्ठ्यानवलोकयन्ती शुचिर्देवगृहं प्रविश्योद्धटाग्नि[1] प्रज्वलन्तं घृताक्षतेनाभ्यर्च्य ब्राह्मणमीश्वरं विष्णुं स्कन्दं च संप्रेक्ष्याभिवाद्य, निष्क्रम्य सूर्याचन्द्रमसाविति, न तु प्रेतपिशाचरक्षांसि; शुद्धस्नातमात्रा हि स्त्री यं वा पश्यति मनसा वाऽभिध्यायति तादृशाचारवपुषं प्रायेण जनयति; तस्माद्देवगोब्राह्मणगुरुवृद्धाचार्यान् सतः पश्येत्, कल्याणमनाश्च स्यात्। न तु सन्ध्ययोः स्नानं मैथुनं वोपेयान्नान्यमना इति ॥ ७ ॥

इसके बाद स्नान आदि के द्वारा शुद्ध हुई स्त्री चौथे दिन स्नानगृह में अन्य श्वेत (शुभ्र) वस्त्र से अपने आपको ढककर इधर उधर न देखती हुई पवित्र मन से देवगृह (मन्दिर) में जाकर प्रज्वलित तथा हवन की हुई अग्नि की घृत तथा अक्षत द्वारा अभ्यर्चना (पूजा) करके, ब्राह्मण, ईश्वर, विष्णु तथा स्कन्द को देखकर तथा उनका अभिवादन करके, सूर्य एवं चन्द्रमा को नमस्कार करे। वह प्रेत, पिशाच तथा राक्षस आदिकों को नमस्कार न करे। स्नान द्वारा शुद्ध हुई स्त्री सब से प्रथम जिसे देखती है अथवा जिसका ध्यान करती है उसी प्रकार के आचार एवं शरीर वाली सन्तान को उत्पन्न करती है। इसलिये सब से पहले वह स्त्री-देवता, गौ, ब्राह्मण, गुरु, वृद्ध पुरुष (गुरुजन) तथा आचार्य का दर्शन करे एवं कल्याणयुक्त मन वाली रहे अर्थात मन में सदा कल्याण की ही इच्छा करे। सन्ध्या काल में स्त्री स्नान तथा मैथुन न करे। तथा उसे अन्यमना (पति के अतिरिक्त किसी दूसरे व्यक्ति में मन वाली) नहीं होना चाहिये। सुश्रुत शा० अ० २ में कहा है—पूर्वं पश्येद् ऋतुस्नाता यादृशं नरमङ्गना। तादृशं जनयेत्पुत्रं भर्तारं दर्शयेदतः ॥ ७ ॥

तत ऋत्विक् पुत्रीयामिष्टिं निर्वपेत्। सिद्धमांसौदना वातघ्नौ (?) वाऽऽज्यभागौ, यवमयः पुरोडाशोऽष्टाकपालो, व्रीहिमयश्चरुः, उभौ वागायुर्युतौ प्रजायेते; न त्वदे.............द्ये, 'आब्रह्मन्ब्राह्मण' इति यजमानभागमभिमन्त्र्य शेषं दम्पती प्राश्नीयाताम्। श्वेत ऋषभोऽश्वो वा हिरण्यं वा भिषजे सैव दक्षिणा, सैवमनाहिताग्नेः, शालाग्नौ नित्यं होमं हुत्वा, तेनैव मन्त्रेण हुतशेषं तौ प्रा (श्नीतः)। शयनीये मृदुस्वास्तीर्णोपहितेऽस्यै भर्ता.............त्र लक्ष्मणामद्भिरालोड्य, 'सोमः पवत' इत्येतेन शतजप्तेन सावित्र्या व्याहृतिभिः 'अपो देवीरुपसृज' इति मन्त्रेण नस्यं दत्त्वा, वामदेव्यं जपित्वा, दक्षिणेन पार्श्वेन स्त्रियं शाययीत, वामपार्श्वेन पुमानूर्ध्वोत्तरेणोपशयीत। शनैः प्रजार्थं चाचरेत्। बीजेऽवसिक्ते विधार्यावसर्पेत्। शीतोदकेन च शौचं कुर्यात्। तत ऊर्ध्वमग्निकर्मप्रतापायासव्यायामशोकादिवर्जनमिति ॥ ८ ॥

इसके बाद ऋत्विक् पुत्रीय इष्टि (पुत्रेष्टि यज्ञ) को करे। एतदर्थ आज्याहुति के निमित्त वातनाशक एवं सिद्ध किये हुए मांस और ओदन, आठ कपालों में संस्कृत होने वाला यव का बना हुआ पुरोडाश (पूड़ा-अपूप) तथा व्रीहि के बने हुए चरु (हविविशेष) इत्यादि पदार्थों को तैयार करे। इससे वे दोनों (पति तथा पत्नी) वाणी और आयु से युक्त हो जाते हैं। फिर "ओं आब्रह्मन् ब्राह्मण" इत्यादि मन्त्र बोलकर उस से यजमान के भाग को अभिमन्त्रित करके शेष भाग को दम्पती (पति-पत्नी) खायें। अनाहिताग्नि (जिसने अग्नि का आधान नहीं किया है) वद्य को सफेद बैल, घोड़ा अथवा धन की दक्षिणा देवे। तदनन्तर शालाग्नि (गार्हपत्य अग्नि) में आहुति डालकर उसी मन्त्र के द्वारा दोनों पति तथा पत्नी यज्ञशेष को खायें। इसके बाद पति मृदु तथा आस्तीर्ण युक्त बिछौने पर पत्नी को लिटाकर लक्ष्मणा (पुत्रदा-श्वेत कटेरी) नामक ओषधि को जल में घोलकर "सोमः पवत" इत्यादि मन्त्र को १०० वार जपकर सावित्री (गायत्री) मन्त्र की "भूर्भुवः स्वः महः" इत्यादि व्याहृतियों के द्वारा 'अपो देवीरुपसृज' इत्यादि मन्त्र से (लक्ष्मणा ओषधि का) नस्य देवे। तदनन्तर वामदेव (सामगान) को गाकर दाईं ओर स्त्री को लिटाये तथा बाईं ओर पुरुष लेटे। फिर ऊपर तथा नीचे की स्थिति में होकर लेट जायें और शनैः २ सन्तानोत्पत्ति के निमित्त आचरण करें अर्थात् मैथुन करें। चरक में भी पुत्रेष्टि का विधान दिया गया है। शारीर स्थान के आठवें अध्याय में कहा है—ततस्तस्या आशासानाया ऋत्विक् प्रजापतिमभिनिर्दिश्य योनौ तस्याः कामपरिपूरणार्थं काम्यामिष्टं निर्वपेत 'विष्णुर्योनिं कल्पयतु" इत्यनया ऋचा। ततश्चैवाज्येन स्थालीपाकमभिघार्य त्रिर्जुहु-

[1] 'उद्धाहाग्निं' इति पाठश्चेत् साधु।

यात्, यथाऽऽम्नायं चोपमन्त्रितमुदकपात्रं तस्यै दद्यात्सर्वोदकार्थान् कुरुष्वेति । ततः समाप्ते कर्मणि पूर्वं दक्षिणपादमभिहरन्ती प्रदक्षिणमग्निमनुपरिक्रामेत् । ततो ब्राह्मणान् स्वस्ति सह भर्त्राऽऽज्यशेषं प्राश्नीयात्, पूर्वं पुमान् पश्चात्स्त्री, न चोच्छिष्टमवशेषयेत्; ततस्तौ सह संवसेतामष्टरात्रं तथाविधपरिच्छदावेव च स्यातां, तथेष्टपुत्रं जनयेताम् ।

वक्तव्य—सन्तानोत्पत्ति के लिये मैथुन के समय पुरुष को ऊपर तथा स्त्री को नीचे लेटना चाहिये । केवल मैथुन के आनन्द के लिए यद्यपि कामशास्त्र के अनुसार अनेक प्रकार के आसनों का प्रयोग किया जाता है तथापि उनका उद्देश्य केवल आनन्द मात्र ही है । सन्तानोत्पत्ति नहीं । सन्तानोत्पत्ति के लिये तो सर्वश्रेष्ठ आसन पुरुष को ऊपर तथा स्त्री को नीचे लेटना ही है । इसीलिये चरक शा० अ० ८ में कहा है—न च न्युब्जां पार्श्वगतां वा संसेवेत, न्युब्जाया वातो बलवान् स योनिं पीडयति, पार्श्वगताया दक्षिणे पार्श्वे श्लेष्मा संच्युतोऽपिदधाति गर्भाशयं, वामे पित्तं पार्श्वे तस्याः पीडितं विदहति रक्तशुक्रं, तस्मादुत्ताना सती बीजं गृह्णीयात्; तथा हि यथास्थानमवतिष्ठते दोषाः । **बीज (शुक्र) के योनि में अवसिंचन हो जाने पर स्त्री को उसे धारण करके अलग सो जाना चाहिये । उसके बाद मैथुन के समाप्त हो जाने पर ठण्डे पानी से शुद्धि करनी चाहिये । ठण्डे पानी से योनि की मांसपेशियां सिकुड़ेंगी जिससे धारण किये हुए वीर्य की योनि में स्थिरता होकर गर्भोत्पत्ति की संभावना अधिक होगी । इसीलिये चरक में कहा है-** 'पर्याप्ते चैनां शीतोदकेन परिषिंचेत्" **इसकी व्याख्या में 'गङ्गाधर' ने लिखा है-**एनां कृतरमणां स्त्रियं मैथुनश्रमोष्मप्रशमार्थं शीतोदकेन मुखनयनादिषु योनिषु च परिषिञ्चेत्" । **मुख, नेत्र तथा योनि में शीतल जल के छींटे देने चाहिये । इसके साथ ही चरक शा० अ० ८ में गर्भस्थापनकारक ओषधियां दी हुई हैं, इनका सेवन किया जा सकता है । कहा है-**अत ऊर्ध्वं गर्भस्थापनानि व्याख्यास्यामः—ऐन्द्रीब्राह्मीशतवीर्यासहस्रवीर्याऽमोघाऽव्यथाशिवा बलाऽरिष्टावाट्यपुष्पीविष्वक्सेनकान्ता च, आसामोषधीनां शिरसादक्षिणेन पाणिना धारणम्, एताभिश्चैव सिद्धस्य पयसः सर्पिषो वा पानं, एताभिश्चैव पुष्ये पुष्ये स्नानं, सदा समालभेत च ताः, तथा सर्वासां जीवनीयोक्तानामोषधीनां सदोपयोगस्तैस्तैरुपयोगविधिभिः, इति गर्भस्थापनानि व्याख्यातानि भवन्ति । **इसके बाद अग्निकर्म (अग्नि के पास बैठकर कार्य आदि का अधिक करना), धूप, आयास (परिश्रम), व्यायाम तथा शोक आदि का त्याग कर देना चाहिये अर्थात् इनका अधिक सेवन नहीं करना चाहिये । चरक शा० अ० ८ में भी कहा है—**तस्मादहितानाहारविहारान् प्रजासम्पदमिच्छन्ती स्त्री विशेषेण वर्जयेत्, साध्वाचारा चात्मानमुपचरेद्धिताभ्यामाहारविहाराभ्याम् ॥ ८ ॥

सा चेदिच्छेद् गौरमोजस्विनं शुचिमायुष्मन्तं पुत्रं जनयेयमिति, तस्या एवं शुद्धस्नानात् प्रभृति शुक्लयवसक्तूनां मधुघृताभ्यां श्वेतायाः श्वेतपुंवत्साया गोः क्षीरेण संसृज्य मन्थं राजते पात्रे कांस्ये वा सदा पाययेत्, शालिगौरयवक्षीरदधिघृतप्रायं च काले मात्रया अश्नीयात्, पुष्पाभरणवासांसि च शुक्लानि बिभृयात्, सायं प्रातश्च श्वेतमश्वं वृषभं वा पश्येत्, सौम्यहितप्रियकथाभिरासीत, अनुकूलपरिवारा च स्यादिष्टमपत्यं जनयति । या तु श्यामं लोहिताक्षं व्यूढोरस्कं पुत्रमिच्छेत् कृष्णं वा तत्र तादृगुपचारो भोजनवसनकुसुमालङ्काराणां, तादृग्देशानुचिन्तनं चेति । यवागूं तु कन्यार्थिनीभ्यो दद्यात्; क्षीरोदकतिलसिद्धास्तु वर्ण्याः । गौरश्यामकृष्णेभ्योऽन्ये वर्णा निन्दिताः ॥ ६ ॥

यदि वह स्त्री गौरवर्ण, ओजस्वी, पवित्र तथा दीर्घायु पुत्र पुत्र को उत्पन्न करना चाहे तो उसे स्नान द्वारा शुद्ध होने के पहले दिन से ही मधु तथा घृत (असमान मात्रा) सहित सफेद जौ के सत्तुओं से बनाये हुए मन्थ में श्वेत रंग की तथा जीवित श्वेत रंग के बछड़े वाली गौ का दूध मिलाकर चांदी अथवा कांसी के पात्र में सदा पिलाये। तथा यथासमय शालि, सफेद जौ, दूध, दही तथा घी मिलाकर मात्रा में सेवन करे। वह श्वेत पुष्प एवं वस्त्रों को धारण करे, सायं तथा प्रातः काल श्वेत घोड़े तथा बैलका दर्शन करे। सौम्य, हितकारी तथा प्रिय कथाओं (बातचीत) से युक्त रहे अर्थात् उससे सौम्य तथा प्रिय बातचीत ही करनी चाहिये तथा उसके पास उसके मन के अनुकूल परिवारके व्यक्ति ही रहने चाहिये। इस प्रकार वह अभिलषित पुत्रको उत्पन्न करती है। चरक शा० अ० ८ में भी कहा है—सा चेदेवमाशासीत बृहन्तमवदातं हर्यक्षमोजस्विनं शुचिं सत्वसंपन्नं पुत्रमिच्छेयमिति शुद्धस्नानात्प्रभृत्यस्यै मन्थमवदातयवानां मधुसर्पिर्भ्यां संसृज्य श्वेताया गोः सरूपवत्सायाः पयसाऽऽलोड्य राजते कांस्ये वा पात्रे काले काले सप्ताहं सततं प्रयच्छेत्पानाय, प्रातश्च शालियवान्नविकारान् दधिमधुसर्पिर्भिः पयोभिर्वा संसृज्य भुञ्जीत, तथा सायमवदातशरणशयनासनयानवसनभूषणा च स्यात्, सायं प्रातश्च शश्वच्छ्वेतं महान्तमृषभमाजानेयं हरिचन्दनाङ्गदं पश्येत्, सौम्याभिश्चैनां कथाभिर्मनोऽनुकूलाभिरुपासीत, सौम्याकृतिवचनोपचारचेष्टांश्च स्त्रीपुरुषानितरानपि चेन्द्रियार्थानवदातान् पश्येत्, सहचर्यश्चैनां प्रियहिताभ्यां सततमुपचरेयुः, तथा भर्ता, न च मिश्रीभावयापद्येयाताम् । **जो स्त्री श्याम वर्ण के, लाल आखों वाले, विस्तृत एवं उन्नत छाती वाले अथवा कृष्ण वर्ण के पुत्र को उत्पन्न करना चाहे तो उसके लिये भी भोजन, वस्त्र, पुष्प तथा अलंकार आदिका उसी प्रकार का उपचार करना चाहिये तथा उसीप्रकार के देश (स्थान) का चिन्तन भी करना चाहिये। अर्थात् जिस वर्ण के पुत्र को चाहे उसी वर्ण के वस्त्र, अलंकार भोजन आदि होने चाहिये । चरक शा० अ० ८ में कहा है—**या तु स्त्री श्यामं लोहिताक्षं व्यूढोरस्कं महाबाहुं च पुत्रमाशासीत, या वा कृष्णं कृष्णमृदुदीर्घकेशं शुक्लाक्षं, शुक्लदन्तं तेजस्विनमात्मवन्तम्, एष एवानयोरपि होमविधिः, किन्तु परिबर्हं वर्ज्यं स्यात्, पुत्रवर्णानुरूपस्तु यथाऽऽशीः परिबर्होऽन्यकार्यः स्यात्। **परिबर्ह (भोजन, पुष्प, आसन, बिछौना इत्यादि बाह्य वस्तुओं) को छोड़कर उसके लिये भी शेष होम आदि की वही पूर्वोक्त विधि ही है। इसके आगे स्त्री जैसे भी वर्ण के पुत्रों को चाहती हो उसके लिये चरक में**

विधान दिया गया है—या या च यथाविधं पुत्रमाशासीत तस्यास्तस्यास्तां पुत्राशिषमनुनिशम्य तांस्तान् जनपदान् मनसाऽनुपरिक्रामयेत्,ताननुपरिक्रम्य या या येषां जनपदानां मनुष्याणामनुरूपं पुत्रमाशासीत सा सा तेषां तेषां जनपदानामाहारविहारोपचारपरिच्छदाननुविधत्स्वेति वाच्या स्यात्; इत्येतत्सर्वं पुत्राशिषां समृद्धिकरं कर्म व्याख्यातं भवति। कन्या को चाहनेवाली स्त्री को यवागू देना चाहिये। सिद्ध किये हुए क्षीरोदक तथा तिल वर्ण्य (वर्ण को बढ़ाने वाले) होते हैं। गौर, श्याम तथा कृष्ण वर्णों से भिन्न वर्ण (रंग) निन्दित माने गये हैं ॥ ९ ॥

आहारश्चतुर्विधः, षड्रसाश्रयो, विंशतिविकल्पो गुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षमन्दतीक्ष्णस्थिरसरमृदुकठिनविशदपिच्छिलश्लक्ष्णखरसूक्ष्मस्थूलसान्द्रद्रवविकल्पात्; तेन त्वगादयः शुक्रान्ता धातव आप्यायन्ते। तेषां समानं वर्धनमविरुद्धाशनम्। वातादीनां तु धातूनामन्ये धातव आप्यायिता (रो) भवन्ति; भुज्यमानं मांसं मांसस्य, शोणितं शोणितस्येति; तदधर्मभयादनिष्टं, तद्गुणैस्तु शुचिभिराहारैः क्षीणधातूनाप्याययेत्। शुक्रक्षये क्षीरघृतोपयोगो मधुरस्निग्धजीवनानां चान्येषामपि द्रव्याणामविदाहिनां प्रशस्यते, मूत्रक्षये पुनरिक्षुरसवारुणीमण्डद्रवमधुराम्ललवणतक्रगुडत्रपुसोपक्लेदिनां, पुरीषक्षये यवान्नविकृतिकुल्माषमाषषष्टिकयावकगोरसाम्ललवणस्निग्धशाकोपयोगः, वातक्षये कटुतिक्तकषायलघुरूक्षशीतयवान्नोपयोगः, पित्तक्षये कटुलवणाम्लतीक्ष्णोष्णक्षाराणां, कफक्षये स्निग्धमधुरगुरुसान्द्रादीनाम् ॥१०॥

....

....

(इति ताडपत्रपुस्तके ८५ पत्रम्[1]।)

आहार चार प्रकार का (पेय, लेह्य, भक्ष्य तथा भोज्य), होता है। यह मधुर आदि ६ रसों के आश्रित होता है तथा गुरु-लघु, शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष, मन्द-तीक्ष्ण, स्थिर-सर, मृदु-कठिन, विशद-पिच्छिल, श्लक्ष्ण-खर, सूक्ष्म-स्थूल, सान्द्र-द्रव आदि विकल्पों (भेदों) से २० प्रकार का होता है। उस आहार से त्वचा से लेकर शुक्र पर्यन्त सम्पूर्ण धातुओं का पोषण होता है। समान गुण तथा समान गुण भूयिष्ठ द्रव्यों के सेवन से उनकी वृद्धि होती है परन्तु विरुद्धाशन नहीं होना चाहिये। वात आदि धातुओं को अन्य धातुएँ बढ़ाने वाली होती हैं। मांस का सेवन करने पर मांस धातु की वृद्धि होती है, शोणित का सेवन करने पर शोणित की वृद्धि होती है। परन्तु अधर्म के कारण इसका सेवन इष्ट (हितकर) नहीं माना जाता है। इसलिये उन्हीं धातुओं के गुण वाले अन्य पवित्र आहारों के द्वारा क्षीण हुई धातुओं को बढ़ाना चाहिये। शुक्र के क्षय में क्षीर एवं घृत का उपयोग तथा अन्य भी मधुर स्निग्ध एवं जीवनीय आदि अविदाही द्रव्यों का सेवन प्रशस्त माना जाता है। मूत्र के क्षय में ईख का रस, वारुणी, मण्ड, द्रव, मधुर, अम्ल, लवण, तक्र, गुड, त्रपुस आदि उपक्लेदी (शरीर को गीला रखने वाले) द्रव्य हितकर होते हैं। पुरीष के क्षय में यवान्न (यवकृतभक्त) विकृति, कुल्माष (कुलत्थ), माष (उड़द), षष्टिक (सांठी के चावल), यावक (यवागू), गोरस (गोदुग्ध आदि), अम्ल, लवण तथा स्निग्ध शाकों का प्रयोग करना चाहिये। वात के क्षय में कटु, तिक्त, कषाय, लघु, रूक्ष एवं शीत द्रव्य तथा यवान्न का, पित्त के क्षय में कटु, लवण, अम्ल, तीक्ष्ण, उष्ण तथा क्षार द्रव्यों का और कफ के क्षय में स्निग्ध, मधुर, गुरु तथा सान्द्र आदि द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये।

वक्तव्य—आहार विहार आदि की समानता होने पर शारीर धातुओं में वृद्धि होती है। चरक सू० अ० १ में कहा है—सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्। गुरु धातुएँ गुरु आहार-विहार से तथा लघु धातुएँ लघु आहार-विहार के सेवन से वृद्धि को प्राप्त होती हैं। इसीलिये चरक शा० अ० ६ में कहा है—"एवमेव सर्वधातुगुणानां सामान्ययोगाद् वृद्धिर्विपर्यासाद् ह्रासः, एतस्मान्मांसमाप्याय्यते मांसेन भूयस्तरमन्येभ्यः शरीरधातुभ्यस्तथा लोहितं लोहितेन, मेदो मेदसा, वसा वसया, अस्थि तरुणास्थ्ना, मज्जा मज्जया, शुक्रं शुक्रेण गर्भस्त्वामगर्भेण"। मांस के सेवन से अन्य धातुओं की अपेक्षा मांस अधिक बढ़ता है। रक्त से रक्त, मेद से मेद, वसा से वसा, तरुणास्थि से अस्थि, मज्जा से मज्जा, शुक्र से शुक्र तथा कच्चे गर्भ से गर्भ की वृद्धि होती है। परन्तु इस सामान्य नियम के अनुसार यदि किसी धातु की वृद्धि के लिये तत्समान धातु न मिल सके अथवा मिलने पर भी घृणा अथवा अन्य कारणों से उसका प्रयोग न किया जा सके तो उस अवस्था में उसके समान गुण वाले अन्य द्रव्यों का भी प्रयोग किया जा सकता है। उदाहरण के लिये शुक्र के क्षीण होने पर उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार उसकी सर्वश्रेष्ठ एवं आदर्श चिकित्सा तो शुक्र का प्रयोग करना ही है इसीलिये नक्र के वीर्य अथवा बकरे के अण्डों (Testicles) का सेवन कराया जाता है। परन्तु घृणा के कारण यदि कोई व्यक्ति इसका सेवन न कर सके तो उसको शुक्र के गुणों के समान गुणवाले दूध एवं घी का प्रयोग कराना चाहिये। चरक शा० अ० ६ में उसका विस्तार से बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया है—यत्र त्वेवं लक्षणेन सामान्येन सामान्यवतामाहारविकाराणामसांनिध्यं स्यात् संनिहितानां वाऽप्ययुक्तत्वान्नोपयोगो घृणित्वादन्यस्माद्वा कारणात्, स च धातुरभिवर्धयितव्यः स्यात् तस्य ये समानगुणाः स्युराहारविकारा असेव्याश्च, तत्र समानगुणभूयिष्ठानामन्यप्रकृतीनामप्याहारविकाराणामुपयोगः स्यात्, तद्यथा-शुक्रक्षये क्षीरसर्पिषोरुपयोगो मधुरस्निग्धसमाख्यातानां चापरेषामेव द्रव्याणां, मूत्रक्षये पुनरिक्षुरसवारुणीमण्डद्रवमधुराम्ललवणोपक्लेदिनां, पुरीषक्षये कुल्माषमाषकुष्कुण्डाजमध्ययवशाकधान्याम्लानां, वातक्षये कटुतिक्तकषायरूक्षलघुशीतानां, पित्तक्षयेऽम्ललवणकटुकक्षारोष्णतीक्ष्णानां,

१. अस्याग्रे ताडपत्रपुस्तके ८६ तमं पत्रं त्रुटितम्।

श्लेष्मक्षये स्निग्धगुरुमधुरसान्द्रपिच्छिलानां द्रव्याणां, कर्मापि च यद्यदस्य धातोर्वृद्धिकरं तत्तदासेव्यं, एवमन्येषामपि शरीरधातूनां सामान्यविपर्ययाभ्यां वृद्धिह्रासौ यथाकालं कार्यौ, इति सर्वधातूनामेकैकशोऽतिदेशतश्च वृद्धिकराणि व्याख्यातानि भवन्ति ॥ १० ॥

. . . .

. . . .

यानि द्रव्याणि पुण्यानि मङ्गल्यानि शुचीनि च ।
नवान्यभग्नखण्डानि पुन्नामानि प्रियाणि च ॥
गर्भिण्यै तान्युपहरेद्वासांस्याभरणानि च ।
न स्त्रीनपुंसकाख्यानि धारयेद्वा लभेत वा ॥

गाभणी का आचार व्यवहार—पुण्यकारक, मङ्गलमय, पवित्र, नवीन, अभग्न तथा अखण्डित, पुरुष नाम वाले (अथवा पुल्लिंग) एवं प्रिय द्रव्य तथा वस्त्र आभरणादि गर्भिणी को देवे। स्त्री अथवा नपुंसक नाम अथवा लिङ्ग वाले द्रव्यों को गर्भिणी न धारण करे और न प्राप्त करे ॥

धूपितार्चितसंमृष्टं मशकाद्यपवर्जितम् ।
ब्रह्मघोषैः सवादित्रैर्वादितं वेश्म शस्यते ॥
(प्रातरुत्थाय)शौचान्ते गुरुदेवार्चने रता ।
अर्चेदादित्यमुद्यन्तं गन्धधूपार्घ्यवार्जपैः ॥
क्षीयमाणं च शशिनमस्तं यान्तं च भास्करम् ।
न पश्येद्गर्भिणी नित्यं नाप्युभौ राहुदर्शने ॥
सोमार्कौ सग्रहौ श्रुत्वा गर्भिणी गर्भवेश्मनि ।
शान्तिहोमपराऽऽसीत मुक्तयोगं तु याचयेत् ॥
न द्विष्यादतिथिं भिक्षां दद्यान्न प्रतिवारयेत् ।
स्वयं प्रज्वलिते चाग्नौ शान्त्यर्थं जुहुयाद्घृतम् ॥
पूर्णकुम्भं घृतं माल्यं पूर्णपात्रं घृतं दधि ।
न किञ्चित् प्रतिरुध्नीयान्न च बध्नीत गर्भिणी ॥
सूत्रेण तनुना रज्ज्वा स्तम्भनं बन्धनानि च ।
वर्जयेद्गर्भिणी नित्यं कामं बन्धानि मोक्षयेत् ॥

गर्भिणी जिस घर में रहती हो उसमें सदा धूप जलानी चाहिये, पूजा होनी चाहिये, घर मच्छर आदि से रहित होना चाहिये तथा गाजे बाजों सहित घर में सदा गाना-बजाना होता रहना चाहिये। गर्भिणी को प्रातः उठकर शौच स्नान आदि नित्य कर्म से निवृत्त होकर गुरु तथा देवता की अर्चना करनी चाहिये तथा गन्ध, धूप, अर्घ्य (नैवेद्य) तथा जप आदि के द्वारा उदय होते हुए सूर्य की पूजा करनी चाहिये। गर्भिणी को चाहिये कि वह क्षीण होते हुए (कृष्ण पक्ष के) चन्द्रमा तथा अस्त होते हुए (सायंकालीन) सूर्य को न देखे तथा दोनों राहुओं (राहु तथा केतु) को भी न देखे। चन्द्रग्रहण तथा सूर्यग्रहण का ज्ञान होनेपर गर्भिणी को गर्भगृह में जाकर शान्ति होम आदि कार्यों में लगकर सूर्य तथा चन्द्रमा की ग्रह द्वारा मुक्ति की प्रार्थना करनी चाहिये। वह अतिथि से द्वेष न करे, उसे भिक्षा देवे, अतिथि को कभी खाली न लौटाये तथा स्वयं शान्ति के निमित्त प्रज्वलित अग्नि में घृत की आहुति देवे। गर्भिणी स्त्री को जल से भरे हुए घड़े, घृत, माला, तथा घृत एवं दही से भरा हुआ पात्र इत्यादि किसी चीज का प्रतिरोध नहीं करना चाहिये। तथा गर्भिणी स्त्री को धागे अथवा पतली रस्सी आदि से स्तम्भन तथा बन्धन आदि नहीं बांधना चाहिये तथा उसे अपने सम्पूर्ण बन्धनों को ढीला रखना चाहिये। अर्थात् गर्भिणी स्त्री को कोई भी वस्त्र अथवा अन्य बन्धन आदि बहुत कस कर नहीं बांधना चाहिये ॥

अथ हीमानि रूपाणि गर्भिण्या उपलक्षयेत् ।
यानिदृष्ट्वा विजानीयाद्बालजन्मा(न्म)न्युपक्रमेत्(मम्)॥

इसके बाद गर्भिणी के निम्न लक्षणों को देखकर यह जान ले कि अब बालक का जन्म होनेवाला है अर्थात् अब वह उपस्थित प्रसवा है ॥

मुखग्लानिः क्लमोऽङ्गानामक्षिबन्धनमुक्तता ।
कुक्षेश्च स्यादवस्रंसस्त्वधोभागस्य गौरवम् ॥
पृष्ठपार्श्वकटीबस्तिवंक्षणं चातितुद्यति ।
योनिप्रस्रवणौदार्यभक्तद्वेषारतिक्लमाः ॥

उपस्थितप्रसवा के लक्षण—मुख की ग्लानि अथवा मुख का मुरझाना, अङ्गों का क्लम या शिथिलता, अक्षिबन्धन की शिथिलता, कुक्षि का शिथिल होना (उरोदेश से गर्भाशय के नीचे खिसक जाने से), अधोभाग (शरीर के निचले हिस्से) का भारी होना, पीठ, पार्श्व, कटि, बस्ति तथा वंक्षण (रानों) में अत्यन्त पीडा होना, योनिस्राव, उदारता, भक्तद्वेष (भोजन में अरुचि), अरति (अरुचि) तथा थकावट-ये उपस्थितप्रसवा के लक्षण हैं। चरक शा० अ० ८ में कहा है—तस्यास्तु खल्विमानि लिङ्गानि प्रजननकालमभितो भवन्ति, तद्यथा—क्लमो गात्राणां, ग्लानिराननस्य, अक्ष्णोः शैथिल्यं, विमुक्तबन्धनत्वमिव वक्षसः, कुक्षेरवस्रंसनं, अधोगुरुत्वं, वंक्षणबस्तिकटिकुक्षिपार्श्वपृष्ठनिस्तोदो, योनेः प्रस्रवणं, अनन्नाभिलाषश्चेति, ततोऽनन्तरभावीनां प्रादुर्भावः प्रसेकश्च गर्भोदकस्य। इसी प्रकार सुश्रुत शा० अ० १० में भी कहा है—जाते हि शिथिले कुक्षौ मुक्ते हृदयबन्धने। सशूले जघना नारी ज्ञेया सा तु प्रजायिनी ॥ तथा इसके आगे फिर कहा है—तत्रोपस्थितप्रसवायाः कटीपृष्ठं प्रति समन्ताद्वेदना भवत्यभीक्ष्णं पुरीषप्रवृत्तिर्मूत्रं प्रसिच्यते योनिमुखाच्छ्लेष्मा च ॥

एतानि दृष्ट्वा रूपाणि कृत्वा ब्राह्मणवाचनम् ।
प्रविशेयुः स्त्रियो वृद्धाः कुशलाः शस्तधाविताः[1] ॥

इन उपर्युक्त लक्षणों को देखकर ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन करवाकर वृद्ध, कुशल, प्रशस्त तथा स्नान द्वारा शुद्ध हुई स्त्रियां गर्भिणी के पास गर्भगृह में प्रवेश करें। चरक शा० अ० ८ में भी कहा है—तां ताः समन्ततः परिवार्य यथोक्तगुणाः स्त्रियः पर्युपासीरन्नाश्वासयन्त्यो वाग्भिर्ग्राहिणीयाभिः सान्त्वनीयाभिः। इसी प्रकार सुश्रुत शा० अ० १० में भी कहा है—प्रज-

१. शस्ताः प्रशस्ताः, धाविताः शुद्धाश्चेत्यर्थः ।

नयिष्यमाणां कृतमङ्गलस्वस्तिवाचनां कुमारपरिवृतां पुन्नामफलहस्तां स्वभ्यक्तामुष्णोदकपरिषिक्तामथैनां सम्भृतां यवागूमाकण्ठात् पाययेत्। ततः कृतोपधाने मृदुनि विस्तीर्णे शयने स्थितामाभुग्नसक्थीमुत्तानामशङ्कनीयाश्चतस्रः स्त्रियः परिणतवयसः प्रजननकुशलाः कर्तितनखाः परिचरेयुरिति ॥

गर्भिणीं सान्त्वयेयुस्ता हर्षयेयुः प्रियंवदाः ।
आश्वासयेयुर्धर्मार्थौ चोदयन्तं प्रजापतिम् ॥
लोकात् पुत्रवतीनां च सुखानि विविधानि च ।
कीर्तयेयुरपुत्राणां दुःखानि निरयादिषु ॥
अदितिं कश्यपं देवमिन्द्राणीमिन्द्रमश्विनौ ।
आयुष्मतां पुत्रवतां मङ्गल्यानां च कीर्तनम् ॥

प्रिय वचनों को बोलने वाली वे स्त्रियां धर्म और अर्थ के निमित्त प्रजापति ब्रह्मा को प्रेरित करती हुई गर्भिणी को सान्त्वना दें, उसे हर्षित (प्रसन्न) करें तथा उसे आश्वासन दें। उसके सामने पुत्रवती स्त्रियों के विविध सुखों तथा अपुत्रवती (पुत्र रहित) स्त्रियों के दुःखों का वर्णन करें। तथा उसके सामने अदिति और कश्यप देवता, इन्द्राणी, इन्द्र अश्विनीकुमार तथा अन्य आयुष्मान् पुत्रवान् तथा मङ्गलकारी देवताओं का कीर्तन करना चाहिए ॥

तन्त्रीवर्णोऽल्पपर्शः स्रावः पिच्छिलः पुत्रजन्मनि ।
किंशुकोदकसंकाशः पुत्रिकाजन्म शंसति ॥

पुत्र की उत्पत्ति में स्त्री की योनि से गिलोय के रस के समान थोड़ा२ तथा चिपचिपा स्राव निकलता है। तथा कन्या (पुत्री) की उत्पत्ति में किंशुकोदक (पलाशढाक के फूल) के समान स्राव होता है ॥

सूतेरूर्ध्वं तु ये स्रावा निन्दितान् शमयेत्तु तान् ।
तस्या अस्यामवस्थायामुपयाचेत देवताः ॥

प्रसव के बाद स्त्री की योनि से जो स्राव (Abnormal Discharges) होते हैं, वे निन्दित माने गये हैं अतः उनको शान्त करे अर्थात् उनकी चिकित्सा करे। इस अवस्था में उसके लिये देवताओं से प्रार्थना करनी चाहिये ॥

अव्यावृते स्त्रिया गर्भे विवृते चापरामुखे[२] ।
ग्राहीषु[३] वर्तमानासु सा विवर्तेत गर्भिणी ॥

स्त्री के गर्भ के अव्यावृत (संकुचित) होने पर, जरायु के मुख के फैल जाने पर तथा ग्राही (प्रसववेदनाओं Labour Pains) के उपस्थित होने पर गर्भिणी को इसके लिये तैयार हो जाना चाहिये ॥

न तीक्ष्णं[४] ग्राहिशूलेषु क्षिप्रं नारी प्रजायते ।
विलम्बिताभिराविभिर्गर्भः क्लेशयते स्त्रियम् ॥

१. गुडूची रस सदृश इत्यर्थः। २. अपरामुखे जरायुमुखे इत्यर्थः।
३. 'आवीषु' इति पाठश्चेत् साधु।
४. 'न तीक्ष्णं' इत्यत्र 'तीक्ष्णेषु' इति पाठश्चेत् साधु।

प्रसव वेदनाओं के तीक्ष्ण (तीव्र-Acute) हो जाने पर गर्भिणी को शीघ्र ही प्रसव हो जाता है। परन्तु यदि प्रसव वेदनायें ठीक समय पर न होकर देर में हो तो गर्भिणी को अत्यन्त क्लेश होता है ॥

केचिदस्यामवस्थायां व्यायामं मुसलादिकम् ।
जृम्भाचङ्क्रमणाद्यं च भिषजो ब्रुवते हितम् ॥

कुछ वैद्य इस अवस्था में अर्थात् प्रसव वेदनाओं के देर में होने पर कहते हैं कि गर्भिणी को मूसल आदि द्वारा व्यायाम, जंभाई तथा इधर उधर चलना फिरना हितकारी है। अर्थात् इन क्रियाओं द्वारा शीघ्र ही प्रसव हो जाता है। चरक शा० अ० ८ में भी कहा है—सा चेदावीभिः संक्लिश्यमाना न प्रजायेताथैनां ब्रूयात् उत्तिष्ठ मुसलमन्यतरत् गृहणीष्वानेनैतदुलूखलंधान्यपूर्णं मुहुर्मुहुरभिजहि, मुहुर्मुहुरवजृम्भस्व, चङ्क्रमस्व चान्तरान्तरा, इत्येवमुपदिशन्त्येके ॥

वर्जनीयं तु तत् सर्वं भगवानाह कश्यपः ।
नार्याः प्रसवकाले हि शरीरमुपमृद्यते ॥
त्रयो दोषाः प्रकुप्यन्ति विचाल्यन्ते च धातवः ।
गर्भिणी तदवस्था हि यत्नधार्या विशेषतः ॥

परन्तु भगवान् कश्यप कहते हैं कि मूसल आदि द्वारा व्यायाम, जंभाई एवं चङ्क्रमण आदि सब क्रियाओं का त्याग करना चाहिये। अर्थात् प्रसव को शीघ्र करने के लिये उपर्युक्त क्रियाओं का प्रयोग नहीं करना चाहिये। क्योंकि प्रसवकाल के समय स्त्री का शरीर अत्यन्त मृदु होता है, वातपित्त कफ तीनों दोष प्रकुपित होते हैं तथा उस समय शरीर की सब धातुएं अपने स्थान से विचलित हुई होती हैं। गर्भिणी की वह अवस्था अत्यन्त यत्नपूर्वक धारण करने योग्य होती है ॥

अधिकं सौकुमार्यं हि गर्भिण्याः क्लेद्यमेव च ।
स्रावकाले विशेषेण विषादभयसंश्रयः ॥
एकपादो यमकुले पाद एक इह स्थितः ।
दृष्ट्वा दुःखं स्त्रियस्तस्या इत्येवं ब्रुवते मिथः ॥

उस समय गर्भिणी अत्यन्त सुकुमार होती है तथा उसमें क्लेद की वृद्धि हुई होती है। उपर्युक्त क्रियाओं से जब गर्भ का स्राव होता है उस समय विशेष विषाद तथा भय होता है। उस समय अन्य स्त्रियाँ उसके दुःख (कष्ट) को देखकर परस्पर कहती हैं कि इसका एक पैर यम के घर में तथा एक पैर इस लोक में है अर्थात् इसकी इस प्रसवावस्था में कभी भी मृत्यु हो सकती है ॥

तस्यास्त्वस्यामवस्थायां व्यायामो न प्रशस्यते ।
व्यायामः सेव्यमानो हि गर्भिणीमाशु नाशयेत् ॥
अतिचङ्क्रमणेनापि हन्याद्गर्भमुपस्थितम् ।
अत्यर्थं प्राप्नुयाद्घोरं देहान्तकरणं महत् ॥

इसलिये गर्भिणी की इस अवस्था में व्यायाम हितकर

नहीं है। व्यायाम करने से गर्भिणी की मृत्यु हो सकती है। अतिचङ्क्रमण (अधिक इधर उधर घूमने) से भी उपस्थित गर्भ नष्ट हो जाता है। उस स्त्री को देह का अन्त करनेवाले, महान् तथा भयंकर रोग हो जाते हैं। उपर्युक्त मूसल आदि के व्यवहार तथा चङ्क्रमण आदि क्रियाओं का चरक में भी निषेध किया गया है। चरक शा० अ० ८ में कहा है—तन्नेत्याह भगवानात्रेयः-दारुणव्यायामवर्जनं हि गर्भिण्याः सततमुपदिश्यते, विशेषतश्च प्रजननकाले प्रचलितसर्वधातुदोषायाः सुकुमार्या नार्या मुसलव्यायामसमीरितो वायुरन्तरं लब्ध्वा प्राणान् हिंस्यात्, दुष्प्रतीकारा हि तस्मिन् काले विशेषेण भवति गर्भिणी, तस्मान्मुसलग्रहणं परिहार्यमृषयो मन्यन्ते, जृम्भणं चङ्क्रमणं च पुनरनुष्ठेयमिति ॥

उपविष्टाऽसकृत्तस्मादनिर्विण्णा(ऽ)त्रपान्विता ।
वृद्धस्त्रीद्रव्यसंपन्ना प्रजायेत प्रजार्थिनी ॥

इसलिये प्रसव की इच्छा वाली स्त्री को चाहिये कि वह प्रसन्न मन वाली, लज्जा से रहित तथा वृद्धस्त्रियों एवं धन से युक्त हुई बार २ बैठी हुई प्रसव (प्रजननकार्य) को करे ॥

वचा लाङ्गलिकी कुष्ठं चिरबिल्वैलचित्रकाः ।
चूर्णितं मुख(हु)राजिघ्रेत्तथा शीघ्रं प्रजायते ॥
आजिघ्रेद्भूर्जधूपं वा नमेरोर्गुग्गुलोस्तथा ।
अथ(धः) प्रपद्यते गर्भस्तथा क्षिप्रं विमुच्यते ॥
पार्श्वसन्धिकटीपृष्ठं तैलेनोष्णेन म्रक्षितम् ।
मृद्गीयुरवकर्षेयुः शनैः प्राज्ञ्यः स्त्रियः सुखाः(खम्) ॥

चिरप्रसव की चिकित्सा अथवा उपाय—वचा, कलिहारी, कुष्ठ, चिरबिल्व (करञ्ज), छोटी इलायची तथा चित्रक का सूक्ष्म चूर्ण बार २ सूंघने के लिये देने से शीघ्र ही प्रसव हो जाता है। अथवा भोजपत्र के धुएँ को या सरल देवदारु और गूगल के धुएँ को सूंघने से गर्भ शीघ्र ही नीचे की ओर आ जाता है तथा अपने स्थान से छूट जाता है। तथा बीच २ में निपुण स्त्रियां उसके पार्श्व, सन्धियां, कटी तथा पृष्ठ देश में धीरे २ सुखपूर्वक उष्ण तेल चुपड़कर मालिश करें तथा अवकर्षण करें अर्थात् गर्भ को नीचे लाने का प्रयत्न करें। चरक शा. अ. ८ में भी ये ही विधियां दी हैं-अथास्यै दद्यात्कुष्ठैलालाङ्गलिकीवचा चित्रकचिरबिल्वचूर्णमुपाघ्रातुं, सा तन्मुहुर्मुहुरुपजिघ्रेत्, तथा भूर्जपत्रधूमं शिंशपाधूमं वा, तस्याश्चान्तरान्तरा कटीपार्श्वपृष्ठसक्थिदेशानीषदुष्णेन तैलेनाभ्यज्यानुसुखमवमृद्नीयात्, इत्यनेन तु कर्मणा गर्भोऽवाक्प्रतिपद्यते ॥

दुर्बलां पाययेन्मद्यमित्येके, नेति कश्यपः ।
पूर्वक्लिष्टा तथैवास्या(ऽसौ)यवागूं तृषिता पिबेत् ॥

उपर्युक्त चिकित्साओं के अतिरिक्त कुछ लोग कहते हैं कि यदि वह दुर्बल हो तो उसे मद्य (Brandy) पिलाये, परन्तु भगवान् कश्यप कहते हैं कि यह ठीक नहीं है। क्लान्त एवं तृषित (प्यासी) होने पर उसे यवागू पीना चाहिये ॥

यदा गर्भोदकं योनौ सशूलं संप्रवर्तते ।
कालेन चोदितो गर्भो विमुच्य हृदयोदरम् ॥
बस्तिशीर्षमधोभागमवगृह्णाति जन्मनि ।
ग्लानिश्च जायतेऽत्यर्थं योन्युत्पीडनभेदनम् ॥
इत्येतैः कारणैर्विद्याद्गर्भस्य परिवर्तनम् ।
अथास्याः प्रसवश्चेति ततः पर्यङ्कमारुहेत् ॥
प्रावारमुपधानं वा..................

....

....

(इति ताडपत्रपुस्तके ८७ तमं[1] पत्रम्[2] ।)

(शारीरस्थानस्यैतावानेव भाग उपलब्धः)

जब शूल सहित गर्भोदक योनि में आ जाये तथा काल से प्रेरित हुआ गर्भ हृदय प्रदेश को छोड़कर नीचे आ जाता है, बस्तिशीर्ष तथा उसके अधोभाग को पकड़ लेता है, ग्लानि अत्यधिक होती है, योनि में उत्पीडन तथा भेदन (वेदना) अनुभव हो-तब इन उपर्युक्त लक्षणों से यह जाना जाता है कि गर्भ का नीचे की ओर परिवर्तन हो गया है तथा प्रसव होने वाला है। इस अवस्था में उस उपस्थितप्रसवा स्त्री को प्रावार (चादर) तथा उपधान (तकिया) लगे हुए पलंग पर लिटाकर-(प्रवाहण करना प्रारम्भ कराये)

वक्तव्य—चरक शा. अ. ८ में कहा है—स यदा जानीयाद्विमुच्य हृदयमुदरमस्यास्त्वाविशति, बस्तिशिरोऽवगृह्णाति, त्वरयन्त्येनामावयः, परिवर्तते अधो गर्भ इति, अस्यामवस्थायां पर्यङ्कमेनामारोप्य प्रवाहितुमुपक्रामयेत्। **यह अध्याय यहीं पर मध्य में ही खण्डित हो गया है। प्रकरण को देखते हुए कहा जा सकता है कि सम्भवतः इससे आगे इसमें प्रवाहण द्वारा गर्भ की उत्पत्ति** (Delivery) **अपरापातन तथा माता एवं शिशु के जातकर्म का उल्लेख किया गया होगा। पाठकों के ज्ञान के लिये हम इन विषयों को अन्य ग्रन्थों के आधार पर संक्षेप से देते हैं। उपस्थित प्रसवा स्त्री के प्रवाहण के लिये चरक शा. अ. ८ में कहा है—**ताश्चैनां यथोक्तगुणाः स्त्रियोऽनुशिष्युः-अनागतावीर्मा प्रवाहिष्ठाः, या ह्यनागतावीः प्रवाहयते व्यर्थमेवास्यास्तत्कर्म भवति, प्रजा चास्या विकृतिमापन्ना श्वासकासशोषप्लीहप्रसक्ता वा भवति, यथा हि क्षवथूद्गारवातमूत्रपुरीषवेगान् प्रयतमानोऽप्यप्राप्तकालान्न लभते कृच्छ्रेण वाप्यवाप्नोति तथाऽनागतकालं गर्भमपि प्रवाहमाणा, यथा चैषामेव क्षवथ्वादीनां सन्धारणमुपघातायोपपद्यते तथा प्राप्तकालस्य गर्भस्याप्रवाहणं, सा यथानिर्देशं कुरुष्वेति वक्तव्या, तथा च कुर्वती शनैः शनैः पूर्वं प्रवाहेत ततोऽनन्तरं बलवत्तरं, तस्यां च प्रवाहमाणायां स्त्रियः शब्दं कुर्युः 'प्रजाता प्रजाता धन्यं धन्यं पुत्रम्' इति, तथाऽस्या हर्षेणा-

१. अस्मिंश्च पत्रे ताडपत्रीयपुस्तके आपाततो दर्शने २२ किल पत्राङ्काः प्रतिभान्ति, परमत्र पूर्वापरग्रन्थसन्निकर्षौचित्येन ८७ तमत्रुटितपत्रस्थानीयत्वेनेदं निर्दिष्टम्

२. अस्याग्रे चतुष्पत्रात्मको ग्रन्थः खण्डितस्ताडपत्रपुस्तके ।

प्यायन्ते प्राणाः। जब उसे प्रसववेदनाएं हो रही हों उस समय उसे प्रवाहण करना चाहिये। जब वेदनाएं न हो रही हों उस समय प्रवाहण का कोई लाभ नहीं होता। इस प्रकार वेदनाओं के साथ २ धीरे २ प्रवाहण को भी बढ़ा देना चाहिये। इससे गर्भ विशेष कष्ट के बिना बाहर आ जाता है। अपरापातन–गर्भ के बाहर आने के बाद परिचारिकाओं का सबसे प्रथम कर्तव्य यह देखना है कि अपरा (Placenta) बाहर आई है या नहीं। प्रसव के ४० मिनिट के बाद तक भी वह यदि बाहर नहीं आई है तो उसे निम्न विधि से गिराने का प्रयत्न करें। एक स्त्री प्रसूता के पेट की दीवार में से गर्भाशय को इसप्रकार पकड़े कि उसका अंगूठा सामने तथा अंगुलियां गर्भाशय के पीछे रहें। अब गर्भाशय के आकुञ्चन (Contraction) के समय गर्भाशय को सामने से पीछे तथा नीचे की ओर दबाये। आकुञ्चन के साथ ही यह क्रिया करनी चाहिये। इस विधि में गर्भाशय को पार्श्व से नहीं पकड़ना चाहिये। इससे अपरा बाहर आ जाती है। इस विधि को (Crede's method) कहते हैं। योनि में तैल का अनुवासन तथा आस्थापन बस्ति द्वारा भी वायु के अनुलोम हो जाने से वात मूत्र एवं पुरीष के साथ ही अपरा भी बाहर आ जाती है। शिशुपरिचर्या–इस अपरापातन के साथ २ दूसरी ओर सद्योजात शिशु का भी ध्यान रखना चाहिये। अपत्यमार्ग से आते हुए शिशु को बहुत क्लेश उठाने पड़ते हैं अतः बालक कुछ मूर्च्छित सा होता है तथा पूरा श्वास भी नहीं लेता रहता है। उत्पन्न होने के बाद शिशु स्वयं रोता है। यह रोना (Cry) उसके लिये बहुत अच्छा एवं आवश्यक होता है क्योंकि इस रोने के द्वारा वह प्रथम बार श्वास लेता है तथा उसके फुफ्फुसों (Lungs) में हवा जाती है। यदि बालक स्वयं न रोये तथा होश में न आये तो उसे होश में लाने तथा डराकर रुलाने का प्रयत्न किया जाता है। इसके लिये चरक में उसके कानों के पास पत्थर बजाने तथा–काले रंग के छाज से हवा करने को लिखा है। कहा है—अश्मयोः संघट्टनं कर्णयोर्मूले, शीतोदकेनोष्णोदकेन वा मुखे परिषेकः, तथा संक्लेशविहितान् प्राणान् पुनर्लभेत, कृष्णकपालिकाशूर्पेण चैनमभिनिष्पुणीयुर्यद्यचेष्टः स्यात् यावत्प्राणानां प्रत्यागमनम्। सद्योजात शिशु ऐसे स्थान से बाहर आता है जहां कि बाह्य वायुमण्डल का किसी प्रकार का संसर्ग नहीं होता। बाहर आकर वह अपना स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करता है। जीवन की दृष्टि से उसका अब माता के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं रहता है। उसके जीवन को प्रारम्भ करने के लिये ही उपर्युक्त विधि से उसमें (Cry) उत्पन्न की जाती है। इसके साथ ही शिशुके गले में श्लेष्मा आदि फंसी हो तो उसे भी अंगुली में कपड़ा लपेट कर उससे साफ कर देना चाहिये जिससे श्वास प्रश्वास ठीक तरह से हो सके। जब यह निश्चित रूप से मालूम हो जाय कि शिशु जीवित है अर्थात् स्वतन्त्र रूप से वह श्वास प्रश्वास लेने लगा है तब नाभिच्छेदन करना चाहिये। नाभिच्छेदन—शिशु की उत्पत्ति के कुछ ही देर बाद नाभिनाल (Umblical cord) के स्पन्दन बन्द हो जाने पर नाभि से २ इञ्च तथा ३ इञ्च दूर–दो बन्धन लगाकर बीच में से नाभिनाल को काट देना चाहिये। ये बन्धन रक्तस्राव को रोकने के लिये लगाये जाते हैं। दूसरा बन्धन गर्भ में कहीं दूसरा शिशु (यमल–Twin) न हो—उसकी रक्षा के लिये सावधानी के रूप में लगाया जाता है। नाभिनाल को काटने से पूर्व उसके स्पन्दनों का बन्द हो जाना आवश्यक है। उसके बाद नाभि पर (Dusting powder) या कोई अन्य अवचूर्णन ओषध लगाकर पट्टी बांध देनी चाहिये। इसके बाद उसकी आंखों की ओर अवश्य ध्यान देना चाहिये। उन्हें अच्छी प्रकार Boric lotion से साफ करके उसमें १% Caustic की एक २ बूंद डाल देनी चाहिये क्योंकि यदि माता को कोई औपसर्गिक रोग हो तो उससे मुख्यरूप से शिशु की आंख में विकृति (Opthalmia Neonotorum) होने का डर रहता है। इन सब आवश्यक कार्यों को करके अब बच्चे को सुला देना चाहिये क्योंकि वह प्रसवजन्य श्रम के कारण पर्याप्त थका हुआ होता है। इनके अतिरिक्त शिशु को साधारण जीवन प्रारंभ करने से पूर्व अन्य भी कई उपद्रव होने का डर रहता है। इनकी ओर परिचारिकाओं को ध्यान देना आवश्यक है। नवजात शिशु में कई दिन तक उष्णता का नियन्त्रण ठीक तरह से नहीं होता है जिसके परिणामस्वरूप उनको सर्दी–जुकाम आदि (Exposure to cold) बहुत जल्दी होते हैं तथा यदि सावधानी न रखी जाय तो ये अत्यन्त घातक परिणाम तक उत्पन्न कर देते हैं। इसी प्रकार उष्णता का नियन्त्रण न होने से उनके तापमान में वृद्धि भी बहुत जल्दी हो जाती है। शिशु को दो चार दिन तक तो यदि तापमान में थोड़ी वृद्धि (१००°F तक) रहे तो उसे सामान्य अवस्था ही समझनी चाहिये परन्तु यदि बिना किसी विशेष कारण के लगातार तापमान में अधिक वृद्धि (१०३°F या इससे अधिक) रहे तो शरीर में द्रव की कमी समझनी चाहिये। शिशु के इस ज्वर को Dehydration fever कहते हैं। इस अवस्था में शिशु को आधी शक्ति वाला Normal saline Solution धीरे २ कई बार देना चाहिये जिससे यह ज्वर की अवस्था ठीक हो जाती है। दूसरा मुख्य उपद्रव शिशु को श्वासावरोध का होता है। यदि शिशु के गले की श्लेष्मा (Mucus) अच्छी तरह साफ होने पर भी नासिका (Nasal passages) में बाधा हो तो उसे श्वास लेने में कठिनाई होती है। यद्यपि वह मुख से श्वास ले सकता है तथापि शिशु को नासिका से श्वास लेने की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है इसलिये उसका श्वासावरोध होने लगता है। Robert Hutchison ने अपनी पुस्तक Diseases of children में लिखा है—The new born baby has such an intense instinctive urge to breathe through the nose (Probably because breast feeding can only be accomplished if the nose is used for breathing) that it will go blue in the face, struggle Cry and even stop breathing altogether rathar than breath easily through the

mouth इस अवस्था में एक रबड़ कैथेटर (Catheter) नाक के द्वारा बालक के गले में डालकर मार्ग को साफ कर देना चाहिये । भोजन—साधारणतया प्रथम तीन दिनों तक माता के स्तनों में शुद्ध दूध नहीं होता है अपितु एक भारी तथा पीला सा द्रव होता है जिसे खीस (Collustrum) कहते हैं। यह भारी तथा विरेचक (Lexative) होता है। इसलिये प्रारंभ में यह दूध नहीं दिया जाता है । आयुर्वेद में इस समय मधु एवं घृत (असमान मात्रा में) चटाने को लिखा है। चरक शा० अ० ८ में कहा है—"ततोऽनन्तरं जातकर्म कुमारस्य कार्यम्, तद्यथा—मधुसर्पिषी मन्त्रोपमन्त्रिते यथाम्नायं-प्रथमं प्राशितुमस्मै दद्यात्। स्तनमत ऊर्ध्वम्" । सुश्रुत शा० अ० १० में उस समय सुवर्ण प्राशन का विधान दिया है—"अथ कुमारं शीताभिरद्भिराश्वास्य जातकर्मणि कृते मधुसर्पिरनन्ता ब्राह्मीरसेन सुवर्णचूर्णमङ्गुल्याऽनामिकया लेहयेत्" । परन्तु इसके विपरीत कई चिकित्सक शिशु को उन दिनों भी माता का दूध देना ही पसन्द करते हैं। उनकी राय में वह खीस वाला दूध भारी होने पर भी विरेचक होने से शिशु के पेट को साफ कर देता है। आंतों में जो सूखा हुआ मल जिसे Muconium कहते हैं—एकत्रित होता है वह निकल जाता है। तथा स्तन को मुंह में देने से दूसरा लाभ यह होता है कि प्रत्यावर्तन क्रिया (Reflex action) द्वारा माता का गर्भाशय भी सिकुड़ता है जिससे गर्भाशय का स्राव (Lochia) निकलता रहता है। इसके बाद कुछ काल तक शिशु के तापमान, श्वास प्रश्वास गति, नाड़ीगति तथा मलमूत्र आदि का अवश्य ध्यान रखना चाहिये । प्रारंभ में शिशु का तापमान कुछ अधिक (99.8°F. के लगभग) रहता है परन्तु कुछ ही समय में घटकर यह 98.8.°F. हो जाता है । यदि चार दिन तक शिशु का तापमान 100°F. या इससे अधिक रहे तो ध्यान पूर्वक इसका कारण मालूम करने का प्रयत्न करना चाहिये। शिशु की श्वासगति ३०—६० तक तथा नाडीगति १४०—१५० तक रहती है। शिशु का भार (तौल) तथा ऊंचाई आदि भी उसके स्वास्थ्य की निश्चित पहचान है। उत्पत्ति के समय शिशु का भार लगभग ६ से ८ पौण्ड होता है। प्रारंभ के दो तीन दिनों में यह भार थोड़ा सा घटता है परन्तु सप्ताह भर बाद यह फिर बढ़ जाता है तथा आगे नियमपूर्वक बढ़ता रहता है। शिशु के भार में यदि प्रतिसप्ताह वृद्धि न हो तो उसका कारण ढूंढ़ना चाहिये। प्रथम ३ मास तक शिशु का भार ७ औंस प्रति सप्ताह बढ़ता है। जन्म के समय उसकी लम्बाई लगभग १९½ इञ्च होती है। शिशु के लिये सबसे आवश्यक उसका भोजन (माता का दूध) तथा निद्रा है। नियमित समय पर शिशु को स्तनपान कराना चाहिये। शिशु जब रोये तब ही मुंह में स्तन दे देने की प्रथा अच्छी नहीं है। एतदर्थं इसे चम्मच भर पानी अथवा अजवायन के अर्क में मधु मिलाकर दिया जासकता है। अधिक दूध से बालक को अजीर्ण, वमन, अतिसार आदि उपद्रव हो जाते हैं अतः दूध देने का समय निश्चित होना चाहिये। यदि माता का दूध न हो तो यथोक्त गुण वाला धात्री का दूध या कृत्रिम दूध भी आवश्यकतानुसार दिया जासकता है। शिशु को दूध कितना, कितने अन्तर से तथा कब देना चाहिये इसके लिये निम्न तालिका है—

आयु	अन्तर	रात्रि	मात्रा
१ म सप्ताह	२ घण्टे	२ वार	१-१½ औंस
२ से ३ सप्ताह	,,	,,	१½-३ ,,
४ से ५ सप्ताह	,,	१ बार	२½-३½ ,,
६ से १२ सप्ताह	२½ घण्टे	,,	३-४½ ,,
३ से ५ मास	३ ,,	,,	४-५½ ,,
५ से ९ ,,	,, ,,	Nil	५½-७ ,,
९ से १२ ,,	३½ ,,	,,	७½-९ ,,

निन्द्रा—शिशु अपना अधिक समय सोने में बिताता है। प्रारंभ में वह २१ घण्टे सोता है तथा धीरे २ कम करते हुये ६ मास के बाद यह १४-१६ घण्टे पर पहुंच जाता है। नींद के लिये बालक को अफीम आदि का प्रयोग कराना कभी अच्छा नहीं होता है। शिशु के साथ २ माता के स्वस्थवृत्त का पूर्ण ध्यान रखना चाहिये। इस समय माता के शरीर में वायु की वृद्धि हुई होती है। इसलिये उसे भोजन में लघु आहार तथा सात्म्यानुसार घृत आदि किसी स्नेह में पञ्चकोल चूर्ण मिलाकर देना चाहिये अथवा ५-७ दिन तक लगातार दशमूल के क्वाथ में घृत अथवा एरण्ड तेल की योग्य मात्रा मिलाकर दोनों समय पीने को देनी चाहिये। इससे प्रकुपित हुआ वायु शान्त हो जाता है तथा विकार नहीं हो पाते हैं। फिर क्रमशः पुष्टिकारक आहार देकर उसके शरीर को पुष्ट कर दें। माता को २-४ दिन साधारण सा ज्वर हो जाना स्वाभाविक है जो उपर्युक्त उपचार से ठीक हो जाता है परन्तु यदि ज्वर अधिक दिन तक लगातार बना रहे तो उसे प्रसूति ज्वर (Perpual Fever) समझ कर प्रमाद रहित होकर सावधानी से चिकित्सा करनी चाहिये। दस दिन बाद बालक का नामकरण संस्कार किया जाता है। चरक तथा सुश्रुत में बालक के दो नाम रखने को लिखा है। (१) नक्षत्र नाम-अर्थात् जिस नक्षत्र में बालक उत्पन्न हुआ है उसके अनुसार तथा (२) अभीष्ट नाम। सुश्रुत शा. अ. १० में कहा भी है—'ततो दशमेऽहनि मातापितरौ कृतमङ्गलकौतुकौ स्वस्तिवाचनं कृत्वा नाम कुर्यातां यदभिप्रेतं नक्षत्र नाम वा। इसके बाद चरक तथा सुश्रुत में शिशुके वस्त्र, आभूषण, मणिधारण तथा खिलौने आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है यह सब पाठकों को वहीं से देखना चाहिये॥

पञ्चममिन्द्रियस्थानम् ।

. . . .

. . . .

ओषधभेषजेन्द्रियाध्यायः ।

(अथात ओषधभेषजीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः ॥१॥)
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ २ ॥

अब हम औषधभेषजीय इन्द्रिय अध्याय का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था। अर्थात् इस अध्याय में औषध तथा भेषजरूप चिकित्सा संबन्धी इन्द्रियों (अरिष्ट लक्षणों) का वर्णन किया जायगा।

वक्तव्य—इस इन्द्रिय स्थान का केवल यही (अन्तिम) अध्याय ही उपलब्ध हुआ है। इससे पूर्व के सब अध्याय खण्डित हैं। इस स्थान का नाम इन्द्रिय स्थान इसलिये रखा गया है कि इसमें इन्द्र (जीवात्मा) के ज्ञापक लिङ्ग (लक्षण) दिये गये हैं। इन्द्र जीवात्मा को कहते हैं। जीवात्मा के अन्य बहुतसे ज्ञापक लिङ्गों में 'मृत्यु होना' मुख्य लिङ्ग है। इस स्थान में मृत्यु के निदर्शक चिह्न दिये गये हैं अर्थात् जिन्हें देखकर वैद्य यह जान सके कि रोग असाध्य है तथा रोगी की मृत्यु होने वाली है—उन २ लक्षणों, पूर्वरूपों, भावों तथा अवस्थाओं का इस स्थान में समावेश किया गया है। इसी लिये इस स्थान का नाम इन्द्रिय स्थान है। मृत्यु के निदर्शक चिह्नों को रिष्ट या अरिष्ट भी कहते हैं। कहा भी है—रोगिणो मरणं यस्मादवश्यं भावि लक्ष्यते। तल्लक्षणमरिष्टं स्याद्रिष्टं चापि तदुच्यते॥ चिकित्सा से पूर्व इन अरिष्ट लक्षणों का जानना आवश्यक है। रोगी की साध्यासाध्यता का विचार करके ही चिकित्सा में प्रवृत्त होना चाहिये क्योंकि मरणासन्न, असाध्य अथवा गतायुष रोगी की चिकित्सा से कोई लाभ नहीं होता। इसके विपरीत अपनी प्रतिष्ठा की ही हानि होती है। इसी लिये सुश्रुत सू० अ० २९ में कहा है—असिद्धिमाप्नुयाल्लोके प्रतिकुर्वन् गतायुषः। अतोऽरिष्टानि यत्नेन लक्षयेत् कुशलो भिषक्॥ इसीलिये चिकित्सा से पूर्व इन्द्रियस्थान दिया गया है। चरक संहिता में भी इसी दृष्टि से चिकित्सास्थान से पूर्व इन्द्रिय स्थान दिया गया है ॥ १–२

ओषधं भेषजं प्रोक्तं द्विप्रकारं चिकित्सितम्।
तयोर्विशेषं वक्ष्यामि भेषजौषधयोर्द्वयोः॥ ३ ॥

चिकित्सा दो प्रकार की कही है (१) ओषध चिकित्सा। (२) भेषज चिकित्सा। अब मैं ओषध तथा भेषज दोनों के अन्तर-भेद को कहता हूं ॥ ३ ॥

ओषधं द्रव्यसंयोगं ब्रुवते दीपनादिकम्।
हुतव्रततपोदानं शान्तिकर्म च भेषजम् ॥ ४ ॥

औषध तथा भेषज का अन्तर-दीपन आदि द्रव्यों के संयोग से जो चिकित्सा की जाती है उसे औषध कहते हैं तथा होम, व्रत, तप, दान एवं शान्ति कर्म आदि को भेषज कहते हैं॥

उभयं तद्यदा जन्तोः कृतं न कुरुते गुणम्।
क्षीणायुरिति सं(तं)ज्ञात्वा न चिकित्सेद्विचक्षणः ॥५॥

इन दोनों चिकित्साओं द्वारा चिकित्सा किये जाने पर भी यदि रोगी को लाभ न हो तो बुद्धिमान व्यक्ति उसे क्षीणायु (गतायु मरणासन्न) जाने तथा उसकी चिकित्सा न करे। चिकित्सा द्वारा गतायुष रोगी को लाभ क्यों नहीं होता इसके लिये सुश्रुत सू० अ० ३१ में कहा है—प्रेता भूताः पिशाचाश्च रक्षांसि विविधानि च। मरणाभिमुखं नित्यमुपसर्पन्तिम ानवम्॥ तानि भेषजवीर्याणि प्रतिघ्नन्ति जिघांसया। तस्मान्मोघाः क्रियाः सर्वा भवन्त्येव गतायुषाम्॥ ५ ॥

यस्य गोमयचूर्णाभं चूर्णं मूर्धनि जायते।
सस्नेहं भ्रश्यते चैव मासान्तं तस्य जीवितम् ॥ ६ ॥

जिस मनुष्य के सिर पर गोबर के चूर्ण के सदृश तथा स्निग्ध चूर्ण हो जाता है और स्वयं विलीन हो जाता है, उसका जीवन एक मास अवशिष्ट समझना चाहिये। चरक इन्द्रिय अ. १२ में भी यह श्लोक बिलकुल इसी रूप में दिया गया है। इसी प्रकार सुश्रुत में भी कहा है—गोमयचूर्णप्रकाशस्य वा रजसो दर्शनमुत्तमाङ्गे विलयनञ्च॥ ६ ॥

कुक्षिः स्नातानुलिप्तस्य पूर्वं यस्य विशुष्यति।
आर्द्रेषु सर्वगात्रेषु मासार्धं तस्य जीवितम् ॥ ७ ॥

जिस पुरुष के स्नान तथा अनुलेपन (चन्दन आदि का लेप) के बाद अन्य अङ्गों के गीला रहते हुए सबसे पूर्व कुक्षि (कोख) सूख जाती है। वह १५ दिन तक जीवित रहता है। चरक इन्द्रिय स्थान १२ में कुक्षि के स्थान पर उर (छाती) पढ़ा गया है—यस्य स्नानानुलिप्तस्य पूर्वं शुष्यत्युरोभृशम्। आर्द्रेषु सर्वगात्रेषु सोऽर्धमासं न जीवति॥ इसीप्रकार सुश्रुत सू० अ० ३२ में कुक्षि के स्थान पर हृदय पढ़ा है—"प्राग्विशुष्यमाणहृदय आर्द्रशरीरः" ॥ ७ ॥

स्वप्नाधिपानगो नाशो ज्योतिषां पतनानि च।
अग्निदाहोपशान्तिश्च पतनं गृहवृक्षयोः ॥ ८ ॥
गुहाटवीप्रवेशश्च स्वप्नं स्वप्ने विगर्हितम्।
कृष्णां दण्डधरां नग्नां मुण्डां लोहितलोचनाम् ॥ ९ ॥
स्वप्ने दृष्ट्वैव जानीयाद्यमदूतानुपस्थितान्।

जो मनुष्य स्वप्न की अवस्था में नग (पर्वत) का नाश, ज्योतिवाले पदार्थों का गिरना, अग्निदाह से शान्ति, गृह एवं वृक्षों का पतन, गुफा तथा जंगल में प्रवेश और निन्दित स्वप्न

देखता है तथा जो स्वप्न में काले रंग वाली, दण्ड को धारण करने वाली, नग्न मुण्डित (सिर जिसका मुंडा हुआ है) तथा लाल आंखों वाली स्त्री को देखता है-वह यम के दूतों को उपस्थित जाने अर्थात् मृत्यु को सन्निकृष्ट समझे ॥ ८-९ ॥

दीर्घकेशस्तननखीं विरागकुसुमाम्बराम् ॥ १० ॥
स्वप्ने दृष्ट्वा स्त्रियं कृष्णां कालरात्रीं निवेदयेत् ।

स्वप्न में लम्बे बाल, लम्बे स्तन तथा लम्बे नखों वाली, विराग (विकृत रंग अथवा लाल रंग के) पुष्प एवं वस्त्रों वाली, काली स्त्री को देखकर उसे कालरात्रि समझे अर्थात् उस रात्रि को कालरात्रि अथवा अन्तिम रात्रि समझे ॥ १० ॥

गन्धान् पुष्पाणि वासांसि या रक्तानि निषेवते ॥११॥
यदा स्वप्ने शिशुर्वाऽपि तदा स्कन्दग्रहाद्भयम् ।
मयूरं कुक्कुटं बस्तं मेषं वा योऽधिरोहति ॥ १२ ॥
रक्तार्चितः सहैतैर्वा तत्रापि स्कन्दतो भयम् ।
घण्टां पताकां यः स्वप्ने विध्वस्तां भुवि पश्यति ॥१३॥
शयनं शोणिताक्तं वा तत्रापि स्कन्दतो भयम् ।

अब ग्रहों द्वारा आक्रान्त शिशु के लक्षण कहे जाते हैं—स्कन्दग्रह—जब माता या शिशु स्वप्न में गन्ध वाले पदार्थ तथा लाल रंग के पुष्प एवं वस्त्रों को धारण करते हैं। अथवा बालक स्वप्न में मोर, मुर्गे, बकरे तथा मेंढे पर सवार होता है तथा रक्तचन्दन द्वारा उसका शरीर अर्चित हो। अथवा बालक स्वप्न में घण्टे तथा पताका को भूमि पर विध्वस्त हुआ (फटा हुआ तथा नीचे गिरा हुआ) देखे तथा शयन (बिस्तरे) को रक्त से गीला देखे तो उस अवस्था में स्कन्दग्रह का भय समझना चाहिये ॥ ११-१३ ॥

रक्तपुष्पाम्बरधरा रक्तचन्दनरूषिता ॥ १४ ॥
नृत्यते सह भूतैर्वा स्कन्दापस्मारतो भयम् ।

यदि माता स्वप्न में लाल पुष्प तथा वस्त्रों को धारण करके तथा शरीर पर रक्तचन्दन का लेप करके भूतों (पिशाच आदियों) के साथ नृत्य करे तो उस अवस्था में स्कन्दापस्मार (स्कन्दसखा अथवा विशाख) का भय समझना चाहिये ॥१४॥

रक्तपद्मवनं प्राप्य धात्र्यात्मानं यदाऽर्चति ॥ १५ ॥
बालं वा पद्ममालाभिस्तदा स्कन्दपितुर्भयम् ।

यदि धात्री लाल कमल के वन में पहुंच कर पद्ममालाओं के द्वारा अपनी अथवा बालक की अर्चना करे तो स्कन्द के पिता अर्थात् त्रिपुरारि महादेव का भय समझना चाहिये ॥१५॥

रक्तपुष्पवनं धात्री स्वप्नेऽग्निं वा यदा विशेत् ॥ १६ ॥
दह्यते वाऽग्निना बालः पौण्डरीकाद्भयं तदा ।

पुण्डरीक—यदि धात्री स्वप्न में लाल फूलों वाले बन में अथवा अग्नि में प्रवेश करे तथा उसका शिशु अग्नि में जलाया जाता हो तो उस अवस्था में पुण्डरीक का भय समझना चाहिये ॥ १६ ॥

समुद्रादिषु तोयेषु निमग्ने रेवतीभयम् ॥ १७ ॥

रेवती—स्वप्न में यदि बालक समुद्र आदि में अथवा अन्य जलों में डूबे-तो रेवती का भय समझना चाहिये ॥१७॥

शुष्ककूपनदीदर्शी निहन्याच्छुष्करेवती ।
मांसादान् पक्षिणो दृष्ट्वा शकुन्या ब(व)ध्यते शिशुः ॥१८॥

शुष्क रेवती—यदि स्वप्न में सूखे हुए कूंए तथा नदी का दर्शन हो तो शिशु शुष्क रेवती से आक्रान्त हुआ मर जाता है। शकुनी—यदि स्वप्न में मांसभक्षी पक्षियों (गिद्ध-बाज आदि) को देखे तो वह शकुनि द्वारा मार दिया जाता है ॥१८॥

अवडीनाभिदष्टस्तु सद्यो मरणमृच्छति ।
हरितालादिभी रङ्गैर्मण्डितः पीतकाम्बरः ॥ १९ ॥
मांसलोऽलङ्कृतः स्वप्ने तं हन्ति मुखमण्डिका ।

मुखमण्डिका—यदि बालक स्वप्न में किसी पक्षी के द्वारा काटा जाता है तो वह शीघ्र मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। स्वप्न में हरिताल आदि के रंगों से यदि आकाश को पीला रंगा हुआ देखता है तथा मांस का सेवन और अलंकारों (आभूषणों) को धारण करता है—उसे मुखमण्डिका नामक ग्रह मार देता है ॥ १९ ॥

नक्षत्रग्रहचन्द्रार्कतारकाऽक्षिकनीनिकाः ॥ २० ॥
दृष्ट्वा प्रपतिताः स्वप्ने पूतनाभ्यो भयं भवेत् ।

पूतना—यदि स्वप्न में नक्षत्र, ग्रह, चन्द्र, सूर्य, तारे तथा आंखों की पुतलियां नीचे गिरी हुई दिखाई दें-तो पूतना का भय समझना चाहिये ॥ २० ॥

सर्वाण्येतानि रूपाणि नैगमेष्यां प्रपश्यति ॥ २१ ॥

नैगमेष-ये ही पूर्वोक्त सब लक्षण नैगमेष ग्रह के होते है॥२१॥

कीटवृश्चिकसर्पैर्वा दष्टः स्याद्विषमृत्युकः[१] ।
श्वभिर्दुष्टैः खरैर्वाऽपि दक्षिणां याति मुण्डितः ॥२२॥
कृष्यते मृद्यते तैर्वा ज्वरस्यान्तस्तदुच्यते ।

ज्वर के मारक रूप—यदि स्वप्न में कीड़े, बिच्छू अथवा सर्प के द्वारा काटा जाकर विष से मृत्यु हो जाय अथवा मुण्डित हुआ कुत्ते, दुष्टप्राणी अथवा गदहों द्वारा दक्षिण दिशा की ओर ले जाया जाता हो तथा उन्हीं के द्वारा रोगी खींचा जाता हो तथा उसका मर्दन किया जाता हो तो वह रोगी ज्वर के द्वारा समाप्त हो जाता है। अर्थात् ज्वर के द्वारा उसकी मृत्यु हो जाती है ॥ २२ ॥

---

१. यहां कीटादि का दंश विष के द्वारा मृत्यु का सूचक बताया गया है। इसके विपरीत सुश्रुत में 'उरगो वा जलौको वा भ्रमरो वाऽपि यं दंशेत्। आरोग्यं निर्दिशेत्तस्य धनलाभं च बुद्धिमान् ॥ इत्यादि शुभ फलों का सूचक श्लोक मुद्रित पुस्तक में मिलता है परन्तु सुश्रुत की ताडपत्र पुस्तक में यह श्लोक नहीं है।

प्रार्थितं कल्पितं दृष्टमनुभूतं श्रुतं च यत् ॥ २३ ॥
भावितः पश्यति स्वप्ने ह्रस्वं दीर्घं दिवा च यत् ।
अफलाः सर्व एवैते निदानोक्तास्तु दोषजाः ॥ २४ ॥

स्वप्नों के प्रकार—जो स्वप्न (१) प्रार्थित (२) कल्पित (३) दृष्ट (४) अनुभूत (५) श्रुत एवं (६) भावित होते हैं तथा (७) जो अत्यन्त छोटे (८) जो अत्यन्त लम्बे (९) जो स्वप्न दिन में देखे जाने वाले तथा (१०) जो निदान स्थान में दोषज (वातादि दोषों से उत्पन्न होने वाले) कहे गये हैं—ये सब स्वप्न निष्फल होते हैं। **चरक इन्द्रिय अ० ५ में ७ प्रकार के स्वप्न कहे हैं**—दृष्टं श्रुतानुभूतं च प्रार्थितं कल्पितं। तथा भाविकं दोषजं चैव स्वप्नं सप्तविधं विदुः ॥ तत्र पञ्चविधं पूर्वमफलं भिषगादिशेत्। दिवा स्वप्नमतिह्रस्वमतिदीर्घं तथैव च ॥ **अरुणदत्त ने इन सातों स्वप्नों का अपनी टीका में निम्न विवरण दिया है—१. दृष्टं**—यश्चक्षुषा जाग्रदवस्थायां किंचिद् वस्तुजातं दृष्ट्वा तदानीं सुप्तावस्थायां तादृशं वस्तुजातं संवित्तिरूपतयाऽनुभूयते स 'दृष्ट' उच्यते। **दृष्ट स्वप्न वह होता है जिसे हम कभी भी जागृत अवस्था में देख चुके हों। २. श्रुत**—यश्च शब्दमात्रेण वस्तुजातं श्रोत्रेन्द्रियेण गृह्यते तदिदानीं सुप्तावस्थायां तादृक्संवित्तिरूपतयाऽनुभूयते स 'श्रुत' उच्यते। **जिसे हम पहले कभी सुन चुके हों। ३. अनुभूत**—यस्तु जाग्रदवस्थायां यथायथमिन्द्रियैरनुभूयते सुप्तावस्थायां तादृगन्तः संवित्तिरूपतयाऽनुभूयते सोऽ'नुभूत' उच्यते। **जो कभी हमारे अनुभव में आया हो। ४. प्रार्थित**—यस्मिन् दृष्टे श्रुतेऽनुभूते वा यत्पूर्वं जाग्रदवस्थायां वस्तुजातं मनसाऽभ्यर्थ्यते तथैव च सुप्तावस्थायामन्तः संवित्तिरूपतयाऽनुभूयते स 'प्रार्थित' उच्यते। **जिसकी हमें जागृत अवस्था में आकांक्षा होती है। ५. कल्पित**—यस्तु षड्भिः प्रत्यक्षानुमानादिभिर्न दृष्टो नापि श्रुतो नाप्यनुमतो दृष्टश्रुतानुभूतत्वाभावादेव न च प्रार्थितोऽपि तु केवलं मनसा यथेच्छमुत्प्रेक्ष्य यत्किंचनरूपाभिः कल्पनाभिः कल्पितो जाग्रदवस्थायां वस्तुजातान्तः संवित्तावुपारूढस्तदानीं सुप्तावस्थायां तादृगनुभूयते स "कल्पितः"। **जिसकी पहले हम कभी कल्पना कर चुके हैं। ६. भाविक**—यश्च दृष्टश्रुतादिभ्यः स्वप्नेभ्योऽन्यो विलक्षणः स्वप्नो यथा दृश्यते सुप्तावस्थायामुत्तरकालं तथैव स्वप्नदर्शिना नरेण तन्मुखावगततदर्थैरपि प्रत्यक्षतो दृश्यते स 'भाविकः'। **जो भावी शुभ या अशुभ फलों के सूचक होते हैं। ७. दोषज**—दोषजः स स्वप्नो यो वातजः पित्तजः कफजो वा यथायथं दोषाणामनुरूपोऽन्तः संवित्तावनुभूयते स 'दोषज' उच्यते। **अर्थात् जो वातादि दोष से उत्पन्न होते हैं। इन उपर्युक्त ७ प्रकार के स्वप्नों में से प्रथम पांच (अर्थात् दृष्ट, श्रुत, अनुभूत, प्रार्थित तथा कल्पित) तथा अत्यन्त लम्बे, अत्यन्त छोटे तथा दिवास्वप्न निष्फल माने गये हैं अर्थात् इन स्वप्नों का कोई फल नहीं होता है। शेष दोनों अर्थात् भाविक और दोषज फलप्रद होते हैं। चरक संहिता में दोषज स्वप्न को फलप्रद माना है परन्तु इस संहिता में उपर्युक्त श्लोक में दोषज स्वप्न को भी निष्फल माना है। अष्टाङ्गहृदय में भी प्रकृति के अनुकूल दोषज स्वप्न को निष्फल ही माना है। यदि पित्त प्रकृति के मनुष्य को पित्तानुकूल स्वप्न आये तो वह दोषज होने पर भी प्रकृति के अनुकूल होने से निष्फल ही होता है। वहां कहा है**—"तेष्वाद्या निष्फलाः पञ्च यथा स्वप्रकृतिर्दिवा विस्मृतो दीर्घह्रस्वोऽति" ॥

यथा तु फलवान् स्वप्नो वृद्धजीवक ! तच्छृणु ।
अदृष्टमश्रुतानुक्तमकल्पितमभाषितम् ॥ २५ ॥
कार्यमात्रं च यः स्वप्नो जीर्णान्ते फलवांस्तु सः ।
एतांश्चान्यांश्च दुःस्वप्नान् दृष्ट्वा रोगी विनश्यति ॥२६॥
स्वस्थस्तु संशयं गत्वा धर्मशीलो विमुच्यते ।

हे वृद्धजीवक ! जिस प्रकार के स्वप्न फल वाले (फलप्रद) होते हैं वे तू मेरे से सुन। १ **अदृष्ट**—जो कभी देखा न हो। २ **अश्रुत**—जो कभी सुना न हो। ३ **अनुक्त**—जो कभी कहा न गया हो। ४ अकल्पित—जिसकी कभी कल्पना न की गई हो तथा ५ अभाषित—जिसका कभी भाषण न किया गया हो। तथा ६ जो केवल कार्यमात्र हों अर्थात् जिनका देखना सुनना आदि कोई कारण विद्यमान न हों। समाप्त होने के बाद ये उपर्युक्त स्वप्न फलवाले होते हैं। इन उपर्युक्त तथा अन्य भी दुःस्वप्नों (बुरे स्वप्नों) को देखने से रोगी नष्ट हो जाता है अर्थात् जो रोगी इन बुरे स्वप्नों को देखता है उसकी मृत्यु हो जाती है तथा स्वस्थ व्यक्ति का जीवन संशय में पड़ जाता है। इससे केवल धर्मपरायण व्यक्ति ही बच सकता है। **चरक इन्द्रिय अ० ५ में कहा है**—इत्येते दारुणाः स्वप्ना रोगी यैर्याति पञ्चताम्। अरोगः संशयं गत्वा कश्चिदेव विमुच्यते ॥ **इसी प्रकार सुश्रुत सू० अध्याय २९ में भी कहा है**—स्वस्थः स लभते व्याधिं व्याधितो मृत्युमृच्छति ॥ २५-२६ ॥

यद्यदेव द्विजादीनां स्वप्ने शीतकृशात्मनाम् ॥ २७ ॥
मलिनाम्बरपुष्पाणां दर्शनं न प्रशस्यते ।
तेषामेव तु हृष्टानां शुद्धपुष्पाम्बरात्मनाम् ॥ २८ ॥
दर्शनं शस्यते स्वप्ने तैश्च संभाषणं शुभम् ।

अब शुभ फल वाले स्वप्न कहे जायेंगे—शीत (ठण्डे) एवं कृश शरीर वाले जिन द्विज (ब्राह्मण) आदियों का मैले वस्त्र तथा मैले रंग के पुष्प धारण किये हुए दर्शन प्रशस्त नहीं माना गया है। वे ही यदि स्वप्न में प्रसन्न तथा शुद्ध (श्वेत) पुष्प एवं वस्त्र धारण किये हुए दिखाई दें तथा उनसे बातचीत हो तो शुभ माना जाता है ॥ २७-२८ ॥

प्रासादवृक्षशैलांश्च हस्तिगोवृषपूरुषान् ॥ २९ ॥
अधिरोहन्ति ये स्वप्ने तेषां स्वस्त्ययनं कृतम् ।

स्वप्न में जो प्रासाद (महल), वृक्ष, पर्वत, हाथी, गौ, वृष (बैल) तथा पुरुष की सवारी करते हैं उनका स्वस्त्ययन (कल्याण) होता है ॥ २९ ॥

सूर्यसोमाग्निविप्राणां नृणां पुण्यकृतां गवाम् ॥ ३० ॥
मत्स्यामिषस्य चाषस्य दर्शनं पुण्यमुच्यते ।

स्वप्न में सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, विप्र (ब्राह्मण), पुण्यवाले मनुष्य, गौ, मछली के मांस तथा चाष नाम की मछली के दर्शन शुभ माने जाते हैं ॥ ३० ॥

शुक्लपुष्पादर्शच्छत्रग्रहणं तोयलङ्घनम् ॥ ३१ ॥
स्वरक्तदर्शनं चैव सुरापानं च शस्यते ।

स्वप्न में श्वेत पुष्प, आदर्श (दर्पण-शीशा) तथा छत्र (छाते का धारण करना) एवं पानी (नदी आदि) को लांघना, अपने रक्त का दर्शन तथा सुरापान प्रशस्त माना जाता है ॥ ३१ ॥

गवाश्वरथयानं च यानं पूर्वोत्तरेण च ॥ ३२ ॥
रोदनं पतितोत्थानं रिपूणां निग्रहस्तथा ।
पङ्ककूपगुहाभ्यश्च समुत्तारोऽध्वनस्तथा ॥ ३३ ॥
एवंविधानि चान्यानि सिद्धये मुनयोऽब्रुवन् ।

गौ तथा घोड़े के रथ पर सवार होना, पूर्व तथा उत्तर दिशा की ओर जाना, रोना, गिर कर पुनः उठना, शत्रुओं का दमन, कीचड़, कुएं, गुहा तथा मार्ग से पार होना-इत्यादि तथा इसी प्रकार के अन्य स्वप्नों को मुनियों ने सिद्धि (फल) वाला कहा है ॥ ३२-३३ ॥

अदारुणत्वं रोगाणां वैद्यभैषज्यसंभवम् ॥ ३४ ॥
धृतिर्जन्मानुकूल्यं च सत्त्वं धर्मश्च भूतये ॥

इस प्रकार के स्वप्नों से रोग भयंकर नहीं होते। वैद्य तथा भैषज्य द्वारा अच्छे हो जाते हैं। धारण शक्ति बढ़ती है, जन्म की अनुकूलता होती है अर्थात् व्यक्ति स्वस्थ होकर जीवित रहता है तथा सत्त्व, धर्म एवं भूति (कल्याण) की वृद्धि होती है। चरक इन्द्रिय अ० ५ में शुभ फलवाले निम्न स्वप्न दिये हैं—दृष्टः प्रथमरात्रे यः स्वप्नः सोऽल्पफलो भवेत् । न स्वपेद्यः पुनर्दृष्ट्वा स सद्यः स्यान्महाफलः॥ अकल्याणमपि स्वप्नं दृष्ट्वा तत्रैव यः पुनः । पश्येत्सौम्यं शुभाकारं तस्य विद्याच्छुभं फलम् ॥ रात्रि के पहले प्रहर में देखा हुआ स्वप्न अल्प फलवाला होता है। परन्तु स्वप्न देखने के पश्चात् यदि फिर निद्रा न आये तो वह स्वप्न महाफल वाला होता है। इसी प्रकार अशुभ स्वप्न देखने के पश्चात् यदि उसी समय दूसरा शुभ स्वप्न आ जाय तो उसका अशुभ फल नष्ट होकर शुभ फल ही होता है। इसी प्रकार सुश्रुत सू० अ० २९ में भी शुभस्वप्नों का निर्देश किया गया है-अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि प्रशस्तं स्वप्नदर्शनम् । देवान् विद्रान् गोवृषभान् जीवितः सुहृदो नृपान् ॥ समिद्धमग्निं साधूंश्च निर्मलानि जलानि च । पश्येत् कल्याणलाभाय व्याधेरपगमाय च ॥ मांसं मत्स्यान् स्रजः श्वेता वांसासि च फलानि च । लभन्ते धनलाभाय व्याधेरपगमाय च ॥ महाप्रासादसफलवृक्ष-वारणपर्वतान् । आरोहेद् द्रव्यलाभाय व्याधेरपगमाय च ॥ नदीन-दसमुद्रांश्च क्षुभितान् कलुषोदकान् । तरेत् कल्याणलाभाय व्याधेर-पगमाय च ॥ उरगो वा जलौको वा भ्रमरो वाऽपि यं दशेत् । आरोग्यं निर्दिशेत्तस्य धनलाभं च बुद्धिमान् ॥ एवं रूपान् शुभान् स्वप्नान् यः पश्येद्व्याधितो नरः । स दीर्घायुरिति ज्ञेयस्तस्मै कर्म समाचरेत् ॥ ३४ ॥

दृष्ट्वा स्वप्नान् दारुणानेवेतरान् वा
पूतः स्नातः सर्षपानग्निवर्णान् ।
हुत्वा सावित्र्या सर्पिषाक्तांस्तिलांश्च
पूतः पापैर्मुच्यते व्याधिभिश्च ॥ ३५ ॥

अशुभ स्वप्नों का परिहार—इन दारुण अथवा इसी प्रकार के अन्य स्वप्नों को देखने के बाद व्यक्ति को स्नान द्वारा पवित्र होकर अग्नि के वर्ण वाले सर्षप (सरसों) तथा घी से मुक्त तिलों को सावित्री (गायत्री मन्त्र) के द्वारा अग्नि में आहुति देनी चाहिये। इससे वह पवित्र हो जाता है तथा पाप एवं व्याधियों से मुक्त हो जाता है। सुश्रुत सू० अ० २९ में भी अशुभ स्वप्नों का परिहार दिया गया है—स्वप्नानेवं विधान् दृष्ट्वा प्रातरुत्थाय यत्नवान् । दद्यान्माषांस्तिलांल्लोहं विप्रेभ्यः काञ्चनं तथा ॥ जपेच्चापि शुभान् मन्त्रान् गायत्रीं त्रिपदां तथा । दृष्ट्वा तु प्रथमे यामे स्वप्याद् ध्यात्वा पुनः शुभम् ॥ जपेद्वाऽन्यतमं देवं ब्रह्मचारी समाहितः । न चाचक्षीत कस्मैचिद् दृष्ट्वा स्वप्नमशोभनम् ॥ देवतायतने चैव वसेद्रात्रित्रयं तथा । विप्रांश्च पूजयेन्नित्यं दुःस्वप्नात् प्रविमुच्यते ॥ ३५ ॥

कौमारभृत्यमतिवर्धनमुक्तमेत-
ज्ज्ञात्वा हि देहगतमिन्द्रियमादिरूपैः ।
श-श्चिकित्सितपरांस्तु विवर्जयध्वं
शास्त्रं च धर्ममतयः परिपालयध्वम् ॥ ३६ ॥

यह कौमारभृत्य सब से अधिक विशिष्ट (प्रशस्त) कहा गया है। अपने प्रारंभिक रूपों (लक्षणों) के द्वारा रोगी के देहगत इन्द्रियों (अरिष्टों) को जानकर सब चिकित्सकों को चाहिये कि वे रोगी को छोड़ दें अर्थात् उसकी चिकित्सा न करें तथा धर्ममति (धर्म में बुद्धि वाला) होकर शास्त्रों का पालन करना चाहिये। अर्थात् अरिष्ट लक्षण उत्पन्न हो जाने पर चिकित्सा से कोई लाभ नहीं होता है इसलिये इस अवस्था में व्यर्थ में चिकित्सा के पीछे न पड़कर धर्म-कर्म एवं शा स्त्रों में मन लगाना चाहिये। संभवतः इससे कुछ लाभ हो सके।

इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥

ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था।

(इति) वृद्धजीवकीये कौमारभृत्ये वात्स्यप्रतिसंस्कृते इन्द्रियस्थाने औषधभेषजीयं नामेन्द्रियम् ॥
समाप्तानि चेन्द्रियाणि ॥

(इन्द्रियस्थानस्यायमन्तिमोऽध्याय एवोपलब्धः)

षष्ठं चिकित्सितस्थानम् ।

....

....

ज्वरचिकित्सिताध्यायः ।

अथातो ज्वरचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवान् कश्यपः॥ २ ॥

अब हम ज्वर चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था ॥ १-२ ॥

प्रजापतिं समासीनमृषिभिः पुण्यकर्मभिः ।
पप्रच्छ विनयाद्विद्वान् कश्यपं वृद्धजीवकः ॥ ३ ॥

पुण्यकर्मा ऋषियों के साथ बैठे हुए प्रजापति कश्यप से विद्वान् वृद्धजीवक ने विनयपूर्वक पूछा ॥ ३ ॥

सूत्रस्थाने भगवता निर्दिष्टो द्विविधो ज्वरः ।
पुनरष्टविधः प्रोक्तो निदाने तत्त्वदर्शिना ॥ ४ ॥

भगवन् ! सूत्र स्थान में पहले तत्त्वदर्शी आपने दो प्रकार के ज्वर का निर्देश किया है। तथा पुनः निदानस्थान में ८ प्रकार के ज्वर बतलाये हैं।

वक्तव्य—यद्यपि इस संहिता के सूत्रस्थान के खण्डित होने से यह विषय यहां नहीं मिलता है तथापि ज्वरों के दो प्रकारों का चरक में भी उल्लेख मिलता है। चरक चि० अ० ३ में कहा है—द्विविधो विधिभेदेन ज्वरः शारीरमानसः । पुनश्च द्विविधो दृष्टः सौम्यश्चाग्नेय एव च ॥ अन्तर्वेगो बहिर्वेगो द्विविधः पुनरुच्यते। प्राकृतो वैकृतश्चैव साध्यश्चासाध्य एव च ॥ अनेक भेदों से ज्वर के दो प्रकारों का वर्णन किया गया है। सब से मुख्य शारीर एवं मानस भेद से ज्वर दो प्रकार का होता है। जब केवल शरीर में आश्रित होता है तब शारीर ज्वर कहलाता है। जब शरीर के साथ २ मन भी आक्रान्त होता है तब मानस ज्वर कहलाता है। सौम्य तथा आग्नेय भेद से भी ज्वर दो प्रकार का है। वेग के अनुसार भी अन्तर्वेग तथा बहिर्वेग भेद से ज्वर दो प्रकार का है। इसी प्रकार प्राकृत-वैकृत तथा साध्य-असाध्य भेद से भी ज्वर दो प्रकार का होता है। ज्वर के आठ प्रकार चरक नि० अ० १ में कहा है—अथ खल्वष्टभ्यः कारणेभ्यो ज्वरः संजायते मनुष्याणाम्, तद्यथा-वातात्, पित्तात्, कफात्, वातपित्ताभ्यां, वातकफाभ्यां, पित्तश्लेष्माभ्यां, वातपित्तश्लेष्मभ्यः, आगन्तोरष्टमात् कारणात्। आठ कारणों से ज्वर उत्पन्न होता है। १-वात, २-पित्त, ३-कफ, ४-वातपित्त, ५-वातकफ, ६-पित्तकफ, ७-वातपित्तकफ (सान्निपातिक), ८-आगन्तु, इसी प्रकार च० चि० अ० ३ में भी कहा गया है-भिन्नः कारणभेदेन पुनरष्टविधो ज्वरः ॥ ४ ॥

तेषां ज्वराणां कतमो जातमात्रस्य जायते ।
पूर्वरूपं च रूपं च किञ्च तस्य चिकित्सितम् ॥ ५ ॥
इतरेषां ज्वराणां च पूर्वरूपं सलक्षणम् ।
चिकित्सितं च किं तेषामामजीर्णज्वरेषु च ॥ ६ ॥
क्षीरपस्य च किं पथ्यं पथ्यं किंचान्नभोजिनः ।
क्षीरान्नभोजिनः किंच ज्वरितस्य शिशोर्हितम् ॥ ७ ॥
कां च वृत्तिं........................

....

....

(इति ताडपत्रपुस्तके ९२ तमं पत्रम्[1] ।)

नवजात शिशु को उन उपर्युक्त द्विविध तथा अष्टविध ज्वरों में से कौनसा ज्वर होता है। उस ज्वर के पूर्वरूप, रूप (लक्षण) तथा चिकित्सा क्या है? अन्य ज्वरों के भी पूर्वरूप, रूप (लक्षण) तथा चिकित्सा क्या है? आमज्वर तथा जीर्णज्वर में क्षीरप (दूध पीने वाले अर्थात् एक वर्ष तक के), अन्नभोजी (अन्न खाने वाले अर्थात् दो वर्ष से बड़े) तथा क्षीरान्नभोजी (दूध तथा अन्न दोनों का सेवन करने वाले अर्थात् एक से दो वर्ष तक के) बालकों को ज्वर में क्या पथ्य है? उस ज्वर की वृत्ति (प्रवृत्ति) क्या है ॥ ५-७ ॥

वक्तव्य—पाठकों के ज्ञान के लिये उपर्युक्त प्रश्नों के उत्तर हम अन्य ग्रन्थों के आधार पर देने का प्रयत्न करेंगे। शारीर ज्वर—शारीर ज्वर वातादि के प्रकोप से पहले देह में होता है उसके बाद पीछे से मन भी आक्रान्त हो जाता है तथा इन्द्रियों की विकृति ही देहसन्ताप का मुख्य लक्षण है। इन्द्रियों की विकृति से ही देह की विकृति का ग्रहण हो जाता है। कहा भी है-इन्द्रियाणां च वैकृत्यं देहसन्तापलक्षणम्। मानस ज्वर-यह सर्वप्रथम मन में आश्रित होता है तथा तमोगुण एवं रजोगुण के कारण होता है । यह पीछे से शरीर को भी आक्रान्त कर देता है। चरक चि० अ० १ में कहा है- 'वैचित्त्यमरतिर्ग्लानिर्मनसस्तापलक्षणम्'' अर्थात् चित्त का विक्षिप्त होना, किसी कार्य में मन न लगना तथा ग्लानि ये मानस ज्वर के लक्षण होते हैं। सौम्य तथा आग्नेय ज्वर-चरक चि० अ० ३ में कहा है-वातपित्तात्मकः शीतमुष्णं वातकफात्मकः । इच्छत्युभयमेतत्तु ज्वरो व्यामिश्रलक्षणः ॥ योगवाही परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत्। दाहकृत्तेजसा युक्तः शीतकृत्सोमसंश्रयात्॥ जिस ज्वर में वात के साथ पित्त का अनुबन्ध होगा वह आग्नेय तथा

---

[1] अस्याग्रे अष्टपत्रात्मको ग्रन्थः खण्डितस्ताडपत्रपुस्तके ।

जसमें वात के साथ कफ का अनुबन्ध होगा वह सौम्य ज्वर कहलाता है। आग्नेय ज्वर में रोगी शीत को तथा सौम्य ज्वर में उष्णता को चाहता है। यदि मिश्रित लक्षण हों तो वह शीत एवं उष्ण दोनों को चाहता है। **अन्तर्वेगज्वर चरक चि० अ० ३ में कहा है**—अन्तर्दाहोऽधिकस्तृष्णा प्रलापः श्वसनं भ्रमः। सन्ध्यस्थिशूलमस्वेदो दोषवर्चो विनिग्रहः॥ अन्तर्वेगस्य लिङ्गानि ज्वरस्यैतानि लक्षयेत्। **अन्तर्वेग ज्वर में शरीर के अन्दर अधिक दाह, तृष्णा, प्रलाप, श्वास का अधिक वेग से चलना, भ्रम, सन्धियों तथा अस्थियों में शूल, पसीना न आना तथा दोष एवं पुरीष (मल) का अन्दर रुक जाना-ये लक्षण होते हैं। बहिर्वेग ज्वर**—सन्तापोऽभ्यधिको बाह्यस्तृष्णादीनां च मार्दवम्। बहिर्वेगस्य लिङ्गानि सुखसाध्यत्वमेव च॥ **बहिर्वेग ज्वर में-बाह्य-ताप (Temperature) बहुत अधिक होता है तथा तृष्णा आदि लक्षण मृदु होते हैं तथा यह सुखसाध्य होता है। प्राकृत तथा वैकृत ज्वर चरक चि० अ० ३ में कहा है**—प्राकृतः सुखसाध्यस्तु वसन्तशरदुद्भवः। कालप्रकृतिमुद्दिश्य प्रोच्यते प्राकृतो ज्वरः। प्रायेणानिलजो दुःखः कालेष्वन्येषु वैकृतः॥ **काल की प्रकृति (स्वभाव) के अनुसार ही ज्वर प्राकृत कहा जाता है। वसन्त और शरद् ऋतु में होने वाला प्राकृत ज्वर सुखसाध्य होता है। वसन्त कफ का प्रकोप-काल है इसलिये वसन्त में कफज्वर प्राकृत होता है। शरद् पित्त का प्रकोप-काल है इसलिये शरद् ऋतु में होने वाला पित्तज्वर प्राकृत होता है। ये दोनों ज्वर सुखसाध्य होते हैं। परन्तु वात के प्रकोप-काल (वर्षा) में उत्पन्न वातिक ज्वर प्राकृत होते हुए भी कष्ट साध्य है। अन्य कालों में वैकृतज्वर कष्टसाध्य होते हैं। जैसे वसन्त में पैत्तिक ज्वर अथवा शरद् में कफज्वर का होना वैकृत ज्वर कहलाते हैं। ये कष्टसाध्य होते हैं। साध्यज्वर**—बलवत्स्वल्पदोषेषु ज्वरः साध्योऽनुपद्रवः। **बलवान् तथा अल्प दोष वाले पुरुषों में उपद्रवों से रहित जो ज्वर होता है उसे साध्य कहते हैं। असाध्यज्वर**—हेतुभिर्बहुभिर्जातो बलिभिर्बहुलक्षणः। ज्वरः प्राणान्तकृच्चश्च शीघ्रमिन्द्रियनाशनः॥ **जो ज्वर बहुत से प्रबल कारणों से उत्पन्न हुआ हो, जिसमें बहुत से लक्षण हों तथा जो शीघ्र इन्द्रियशक्ति को नष्ट करने वाला हो वह असाध्य होता है। अष्टविध ज्वरों के लक्षण १. वातज्वर-चरक नि० अ० १ में कहा है**—तस्येमानि लिङ्गानि भवन्ति, तद्यथा-विषमारम्भविसर्गित्वम्, ऊष्मणो वैषम्यं, तीव्रतनुभावानवस्थानानि ज्वरस्य, जरणान्ते दिवसान्ते निशान्ते घर्मान्ते वा ज्वराभ्यगमनमभिवृद्धिर्वा ज्वरस्य, विशेषेण परुषारुणवर्णत्वं नखनयनवदनमूत्रपुरीषत्वचामत्यर्थं क्लृप्तीभावश्च, अनेकविधोपमाश्चलाचलाश्च वेदनास्तेषां तेषामङ्गावयवानां, तद्यथा—पादयोः सुप्तता, पिण्डिकयोरुद्वेष्टनं, जानुनो केवलानां च सन्धीनां विश्लेषणं, ऊर्वोः सादः, कटीपार्श्वपृष्ठस्कन्धबाहंसोरसां च भग्नरुग्णमृदितमथितचटितावपीडितावनुन्नत्वमिव, हन्वोश्चाप्रसिद्धिः स्वनश्च कर्णयोः, शङ्खयोर्निस्तोदः, कषायास्यताऽऽस्यवैरस्यं वा, मुखतालुकण्ठशोषः, पिपासा, हृदयग्रहः शुष्कच्छर्दिः, शुष्ककासः, क्षवथूद्गारविनिग्रहः, अन्नरसखेदः, प्रसेकारोचकाविपाकाः, विषादविजृम्भाविनामवेपथुश्रमभ्रमप्रलापजागरणरोमहर्षदन्तहर्षास्तथोष्णाभिप्रायता, निदानोक्तानानुपशयो विपरीतोपशयश्चेति वातज्वरलिङ्गानि। **२. पित्तज्वर**—युगपदेव केवले शरीरे ज्वराभ्यागमनमभिवृद्धिर्वा भुक्तस्य विदाहकाले मध्यन्दिनेऽर्धरात्रे शरदि वा विशेषेण, कटुकास्यता, घ्राणमुखकण्ठौष्ठतालुपाकः, तृष्णा, भ्रमो मदो मूर्च्छा, पित्तच्छर्दनम्, अतीसारः, अन्नद्वेषः, सदनं, स्वेदः, प्रलापो रक्तकोठाभिनिर्वृत्तिः शरीरे, हरितहारिद्रत्वं नखनयनवदनमूत्रपुरीषत्वचाम्, अत्यर्थमूष्मणस्तीव्रभावोऽतिमात्रं दाहः शीताभिप्रायता, निदानोक्तानामनुपशयो विपरीतोपशयश्चेति पित्तज्वरलिङ्गानि भवन्ति। **३. श्लेष्मज्वर**—युगपदेव केवले शरीरे ज्वराभ्यागमनमभिवृद्धिर्वा भुक्तमात्रे पूर्वरात्रे वसन्तकाले वा विशेषेण, गुरुगात्रत्वं, अनन्नाभिलाषः, श्लेष्मप्रसेको, मुखस्य च माधुर्यं, हृल्लासो, हृदयोपलेपः, स्तिमितत्वं, छर्दिः, मृद्वग्निता, निद्राधिक्यं, स्तम्भः, तन्द्रा, श्वासः, कासः, प्रतिश्यायः, शैत्यं, श्वैत्यं च नखनयनवदनमूत्रपुरीषत्वचामत्यर्थं, शीतपिडकाश्च भृशमङ्गेभ्य उत्तिष्ठन्ति, उष्णाभिप्रायता, निदानोक्तानामनुपशयो विपरीतोपशयश्चेति श्लेष्मज्वरलिङ्गानि भवन्ति। **४. वातपित्त ज्वर चरक चि० अ० ३ में कहा है**—शिरोरुक् पर्वणां भेदो दाहो रोम्णां प्रहर्षणम्। कण्ठास्यशोषो वमथुस्तृष्णा मूर्च्छा भ्रमोऽरुचिः॥ स्वप्ननाशोऽतिवाग्जृम्भा वातपित्तज्वराकृतिः॥ **५. वातकफ ज्वर**—शीतको गौरवं तन्द्रा स्तैमित्यं पर्वणां च रुक्। शिरोग्रहः प्रतिश्यायः कासः स्वेदाप्रवर्तनम्॥ सन्तापो मध्यवेगश्च वातश्लेष्मज्वराकृतिः॥ **६. कफपित्त ज्वर**—मुहुर्दाहो मुहुः शीतं स्वेदस्तम्भो मुहुर्मुहुः। मोहः कासोऽरुचिस्तृष्णा श्लेष्मपित्तप्रवर्त्तनम्॥ लिप्ततिक्तास्यता तन्द्रा श्लेष्मपित्तज्वराकृतिः॥ **७. सन्निपात ज्वर**—क्षणे दाहः क्षणे शीतमस्थिसन्धिशिरोरुजा। सास्रावे कलुषे रक्ते निर्भुग्ने चापि दर्शने॥ सस्वनौ सरुजौ कर्णौ कण्ठः शूकैरिवावृतः। तन्द्रा मोहः प्रलापश्च कासः श्वासोऽरुचिर्भ्रमः॥ परिदग्धा खरस्पर्शा जिह्वा स्रस्ताङ्गता परम्। ष्ठीवनं रक्तपित्तस्य कफेनोन्मिश्रितस्य च॥ शिरसो लोठनं तृष्णा निद्रानाशो हृदि व्यथा। स्वेदमूत्रपुरीषाणां चिराद्दर्शनमल्पशः॥ कृशत्वं नातिगात्राणां प्रततं कण्ठकूजनम्। कोठानां श्यावरक्तानां मण्डलानां च दर्शनम्॥ मूकत्वं स्रोतसां पाको गुरुत्वमुदरस्य च। चिरात्पाकश्च दोषाणां सन्निपातज्वराकृतिः॥ **८. आगन्तु ज्वर चरक चि० अ० ३ में कहा है**—आगन्तुरष्टमो यस्तु स निर्दिष्टश्चतुर्विधः। अभिघाताभिषङ्गाभ्यामभिचाराभिशापतः॥ ते पूर्वं केवलाः पश्चान्निजैर्व्यामिश्रलक्षणाः। हेत्वौषधविशिष्टाश्च भवन्त्यागन्तवो ज्वराः॥ **आगन्तु ज्वर पूर्व स्वतन्त्र होते हैं तथा पीछे से इनमें वातादि दोष भी प्रकुपित हो जाते हैं। आमज्वर के लक्षण**—अरुचिश्चाविपाकश्च गुरुत्वमुदरस्य च। हृदयस्याविशुद्धिश्च तन्द्रा चालस्यमेव च॥ ज्वरोऽविसर्गी बलवान् दोषाणामप्रवर्त्तनम्। लालाप्रसेको हृल्लासो क्षुन्नाशो विरसं मुखम्॥ स्तब्धसुप्तगुरुत्वं च गात्राणां बहुमूत्रता। न विड्जीर्णा न च ग्लानिर्ज्वरस्यामस्य लक्षणम्॥ **आमज्वर में उपर्युक्त अरुचि, अपचन आदि लक्षण होते हैं। उसकी चिकित्सा निम्न प्रकार से की जाती है। चिकित्सा-आमज्वर में दोषों को पचाना ही मुख्य उद्देश्य होता है। इसीलिये चरक में कहा है**-"ज्वरे लङ्घनमेवादौ"। **लङ्घन कराने से आमरस की उत्पत्ति नहीं होती है इसलिये दोषों का पाचन भी शीघ्र होकर ज्वर से मुक्ति हो**

जाती है। इसीलिये अष्टाङ्गसंग्रह में कहा है—आमाशयस्थो हत्वाऽग्निं सामो मार्गान् पिधापयत्। विदधाति ज्वरं दोषस्तस्माल्लङ्घनमाचरेत् ॥ **आमदोषों में दोषों का पाचन किये बिना कभी वमन नहीं कराना चाहिये। जीर्णज्वर की चिकित्सा—**जीर्णज्वराणां सर्वेषां पयः प्रशमनं परम्। पेयं तदुष्णं शीतं वा यथास्वं भेषजैः शृतम् ॥ **तथा—**अभ्यङ्गांश्च प्रदेहांश्च सस्नेहान् सावगाहनान्। विभज्य शीतोष्णतया कुर्याज्जीर्णे ज्वरे भिषक् ॥ **जीर्णज्वर में रोगी को दुग्धपान कराना चाहिये तथा अवस्थानुसार शीत एवं उष्ण अभ्यङ्ग आदि देने चाहिये। ज्वर की वृत्ति (प्रवृत्ति या उत्पत्ति) चरक चि० अ० १ में कहा है—**प्रवृत्तिस्तु परिग्रहात्। निदाने पूर्वमुद्दिष्टा रुद्रकोपाच्च दारुणात्। **ज्वर की उत्पत्ति दो प्रकार से मानी गई है १-परिग्रह २-रुद्रकोप से। परिग्रह से अभिप्राय धन के एकत्र करने से है। चरक वि० अ० ३ में परिग्रह द्वारा ज्वर की उत्पत्ति निम्न प्रकार से दी है—**भ्रश्यति तु कृतयुगे केषांचिदत्यादानात्सांपन्निकानां शरीरगौरवमासीत्, शरीरगौरवात् श्रमः, श्रमादालस्यम्, आलस्यात् संचयः, संचयात् परिग्रहः, परिग्रहाल्लोभः प्रादुर्भूतः। ततस्त्रेतायां लोभादभिद्रोहः, अभिद्रोहादनृतवचनम्, अनृतवचनात् कामक्रोधमानद्वेषपारुष्याभिघातभयतापशोकचित्तोद्वेगादयः प्रवृत्ताः, ततस्त्रेतायां धर्मपादोऽन्तर्धानमगमत्, तस्यान्तर्धानात् (युगवर्षप्रमाणस्य पादह्रासः) पृथिव्यादीनां गुणपादप्रणाशोऽभूत्, तत्प्रणाशकृतश्च सस्यानां स्नेहवैमल्य रसवीर्यविपाकप्रभावगुणपादभ्रंशः, ततस्तानि प्रजाशरीराणि हीनगुणपादैश्चाहारविहारैरयथापूर्वमुपष्टभ्यमानान्यग्निमारुतपरीतानि प्राग्व्याधिभिर्ज्वरादिभिराक्रान्तानि। **अधर्म के कारण लोगों में आलस्य उत्पन्न हो गया तथा आलस्य से संचय तथा संचय से परिग्रह (अर्थात् अच्छे बुरे सब तरह के उपायों से धन लेने की इच्छा) हो गया। और परिग्रह से लोभ, असत्य, काम, क्रोध, अहंकार, द्वेष, भय, ताप, शोक आदि उत्पन्न हो गये। तथा क्रमशः पृथ्वी आदि के गुणों में ह्रास हो जाने से मनुष्यों के शरीर का पोषण कम हो गया जिससे ज्वर आदि व्याधियां उत्पन्न हो गईं। (२) रुद्रकोप से ज्वर की उत्पत्ति चरक चि० अ० ३ में निम्न वर्णन मिलता है—**द्वितीये हि युगे सर्वमक्रोधव्रतमास्थितम्। दिव्यं सहस्रं वर्षाणामसुरा अभिदुद्रुवुः ॥ तपोविघ्नाशनाः कर्तुं तपोविघ्नं महात्मनाम्। पश्यन् समर्थश्चोपेक्षां चक्रे दक्षः प्रजापतिः ॥ पुनर्माहेश्वरं भागं ध्रुवं दक्षः प्रजापतिः। यज्ञे न कल्पयामास प्रोच्यमानः सुरैरपि ॥ ऋचः पशुपतेर्याश्च शैव्यश्चाहुतयश्च याः। यज्ञसिद्धिप्रदास्ताभिर्हीनं चैव स इष्टवान् ॥ अथोत्तीर्णव्रतो देवो बुद्ध्वा दक्षव्यतिक्रमम्। रुद्रो रौद्रं पुरस्कृत्य भावमात्मविदात्मनः ॥ सृष्ट्वा ललाटे चक्षुर्वै दग्ध्वा तानसुरान् प्रभुः। बालं क्रोधाग्निसंतप्तमसृजत्सत्रनाशनम् ॥ ततो यज्ञः स विध्वस्तो व्यथिताश्च दिवौकसः। दाहव्यथापरीताश्च भ्रान्ता भूतगणा दिशः ॥ अथेश्वरं देवगणः सह सप्तर्षिभिर्विभुम्। तमृग्भिरस्तुवंस्तावच्छिवे भावे शिवः स्थितः ॥ शिवं शिवाय भूतानां स्थितं ज्ञात्वा कृताञ्जलिः। भिया भस्मप्रहरणस्त्रिशिरा नवलोचनः ॥ ज्वालामालाकुलो रौद्रो ह्रस्वजङ्घोदरः क्रमात्। क्रोधाग्निरुक्तवान् देवमहं किं करवाणि ते ॥ तमुवाचेश्वरः क्रोधं ज्वरो लोके भविष्यति। जन्मादौ निधने च त्वमपचारान्तरेषु च ॥ **इसमें रुद्र के कोप से उत्पन्न हुई क्रोधाग्नि से ज्वर आदि की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार अष्टाङ्गसंग्रह में भी ज्वर की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है—**ज्वरस्तु स्थाणुशापात् प्राचेतसत्वमुपागतस्य प्रजापतेः क्रतौ भागमपरिकल्पयतस्तद्विनाशार्थं पूर्वजन्मात्रमानितया रुद्राण्या प्रेरितस्य पशुपतेर्दिव्यमब्दसहस्रं परिरक्षितव्रतः क्रोधमतिचिरकालसम्भृतो व्रतान्ते रोषाग्निः किङ्कररूपेण किल पिण्डितमूर्त्तिर्वीरभद्रनामा भस्मप्रहरणस्त्रिशिरोऽक्षिबाहुपादः पिङ्गललोचनो दंष्ट्री शङ्कुकर्णः कृष्णतनुरुत्तमाङ्गान्निश्चचार। स देवीविनिर्मितया सह भद्रकाल्या प्रतिरोमकूपमभिनिःसृतैर्विविधविकृताकृतिभिरनन्तैर्भयानकवाक्यक्रियावपुभिरनुचरैः परिवृतश्चतुर्युगान्तकरकालाम्भोदसहस्रनिनदोऽनुनादयन् रोदसी ज्वालागर्भेण परीतः कलकलारावेण महाभूतउद्वेगकारिणा विधाय दानवबधमश्वमेधाध्वरविध्वंसनञ्च प्राञ्जलिर्विज्ञापयामास शिवम्। शिवीभूतोऽसि देवदेव, दैवैः पितामहप्रभृतिभिर्जगतः पित्रा च धात्राऽभिष्टूयमानः। सम्प्रत्यहं किं करवाणीति। तं शूली क्रोधमादिदेश। यस्मात् त्रिदशैरप्यजय्य ! मत्क्रोध ! व्रतविघ्नं चिकीर्षुर्दैत्यसैन्यं दक्षो दक्षहव्यं च त्वया जीर्णमतो जगतोऽस्य सस्थावरस्य ज्वरयिता ज्वरो भवान् भवतु। त्वं हि सर्वरोगाणां प्रथमः प्रवरो जन्ममरणेषु तमोमयतया महामोहः प्राग्जन्मनो विस्मारयितापचारान्तरेषु चोष्मायमाणत्वात्सन्तापात्मा द्वयेष्वपि ध्रुवो भवेति। **इसीप्रकार सुश्रुत उत्तर अध्याय ३९ में भी कहा है—**रुद्रकोपाग्निसंभूतः सर्वभूतप्रतापनः। **इसप्रकार हमने अध्याय के खण्डित प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयत्न किया है।**

गर्भिणीचिकित्सिताध्यायः।

....

....

वक्तव्य—इस अध्याय में गर्भिणी स्त्री के भिन्न २ रोगों की चिकित्सा दी गई है। यह अध्याय प्रारंभ में खण्डित है। खण्डित अंश में अन्य भी कई रोगों की चिकित्सा दी गई होगी।

संयोज्य मधुना शीतं क्षीरं मधु-रसाधिक(त)म्।
शर्करा मधु तैलं च यष्टीमधुकफाणितम् ॥
एते हि लेहिता घ्नन्ति तथैव परिकर्तिकाम्।

परिकर्तिका रोग—मधुर द्रव्यों से सिद्ध किये दूध को शीतल करके उसमें मधु मिलायें तथा उसमें शर्करा, मधु, तिलतैल मुलहठी तथा फाणित* (राब या काकबी) मिलाकर दिये जाते हैं। इनके लेहन करने (चाटने) से परिकर्तिका रोग नष्ट हो जाता है।

वक्तव्य—(i) परिकर्तिका रोग में गुदा, नाभि तथा बस्ति आदि में परिकर्तनवत् पीडा होती है। सुश्रुत चि० अ० ३४ में कहा है—तत्र गुदनाभिमेढ्रबस्तिशिरःसु सदाहं परिकर्तनमनिलसङ्गो वायुविष्टम्भो भक्तारुचिश्च भवति ॥

*फाणित का लक्षण आयु में निम्न दिया है—
इक्षो रसस्तु यः पक्वः किञ्चिद्गाढो बहुद्रवः।
स एवेक्षुविकारेषु ख्यातः फाणितसंज्ञया ॥

फाणितं तिलकल्कं च शर्करा मधुकं तथा ॥
तण्डुलोदकसंयुक्तं सद्यो हन्ति प्रवाहिकाम् ।
काश्मर्यवृक्षत्वक्कल्कं श्यामामूलं तथैव च ॥
यवागूं दधिमण्डेन सिद्धामल्पघृतां पिबेत् ।
किराततिक्तकं लोध्रं यष्टीमधुकमेव च ॥
पातव्यं मधुसंयुक्तं सद्यो हन्ति प्रवाहिकाम् ।

प्रवाहिका रोग—फाणित, तिलकल्क, शर्करा तथा मुलहठी में तण्डुलोदक मिलाकर देने से प्रवाहिका शीघ्र ही नष्ट हो जाती है। तथा गम्भारी वृक्ष की त्वचा का कल्क, त्रिवृत् (निशोत) की जड़ तथा यवागू को दही के मण्ड के साथ सिद्ध करके उसमें थोड़ा घी मिलाकर पिलायें। चिरायता, लोध्र तथा मुलहठी के चूर्ण को मधु के साथ देने से भी प्रवाहिका शीघ्र ही नष्ट हो जाती है।

वक्तव्य—प्रवाहिका रोग का लक्षण सुश्रुत चि० अ० ३४ में निम्न दिया है—तत्र सवातं सदाहं सशूलं गुरु पिच्छिलं श्वेतं कृष्णं सरक्तं वा भृशं प्रवाहमाणः कफमुपविशति। अर्थात् मल में शूलसहित बार २ रक्त एवं पिच्छिल कफ आता है तथा दाह होती है ॥

वर्षाभूमूलनिष्क्वाथं योजयेद्देवदारुणा ॥
तत् पिबेन्मधुसंयुक्तं शूना स्त्री मूर्वया सह ।

शोथरोग— शोथ वाली स्त्री को पुनर्नवा की जड़ के क्वाथ में देवदारु चूर्ण, मरोड़फली तथा मधु मिलाकर सेवन करना चाहिये ॥

पिप्पल्यङ्कोठमूलानि वाजिलेण्डरसं तथा ॥
माहिषेण पिबेद्दध्ना कामलायां चिकित्सितम् ।

कामलारोग (पीलिया—Gaundice)—कामला रोग में पिप्पली तथा अङ्कोठ की जड़ को घोड़े की लीद के रस में मिलाकर भैंस की दही के साथ सेवन करना चाहिये ॥

मातुलुङ्गरसः पेयः सैन्धवेन सुयोजितः ॥
हृदि शूलस्य भैषज्यं श्रेष्ठमित्याह कश्यपः ।
पिप्पलीमूलकल्कस्तु पत्रं गन्धप्रियङ्गवः ॥
मातुलुङ्गरसश्चैव हृदि शूलस्य भेषजम् ।
प्रियङ्गवोऽथ पिप्पल्यो भद्रमुस्तं हरेणवः ॥
क्षौद्रं बदरचूर्णं च षडङ्गं हृदयौषधम् ।

हृदयरोग (Heart disease)—भगवान् कश्यप कहते हैं कि मातुलुङ्ग (बिजौरे) के रस में उचित परिमाण में सैन्धव डालकर पिलाना हृच्छूल की श्रेष्ठ ओषधि है। पिप्पलीमूल का कल्क, तेजपत्र तथा गन्धप्रियङ्गु (फूल प्रियङ्गु) को मातुलुङ्ग के रस के साथ हृच्छूल में देना चाहिये तथा प्रियङ्गु, पिप्पली, भद्रमुस्ता, हरेणु, मधु तथा बेर का चूर्ण ये ६ हृदय रोग की ओषधियां है ॥

स्निग्धो मांसरसः पथ्यः सैन्धवेनावचूर्णितः ।
माहिषे षष्टिका वाऽपि स्यादम्ले त्वचि मारुते ।

त्वचागत वायु रोग में सैन्धव नमक डालकर स्निग्ध मांसरस अथवा सांठी के चावल भैंस के दही के साथ मिला कर देना पथ्य है।

भद्रदारुहरीतक्यौ सैन्धवं कुष्ठमेव च ।
सफाणितं घृतं चैव लेह ऊर्ध्वानिलापहः ।

ऊर्ध्ववात में—भद्रदारु (देवदारु), हरड़, सैन्धव, कुष्ठ तथा फणित (राब) में घी मिलाकर अवलेह बनाकर देने से ऊर्ध्ववात रोग नष्ट होता है ॥

पिप्पल्यो गैरिकं भार्गी हिङ्गु कर्कटकी तथा ।
समाक्षिको भवेल्लेहो हिक्काश्वासनिबर्हणः ।

हिक्का तथा श्वासरोगमें—पिप्पली, गेरु, भारङ्गी, हींग तथा काकड़ाश्रृङ्गी के चूर्ण को मधु के साथ अवलेह बनाकर देने से हिक्का तथा श्वासरोग नष्ट होते हैं ॥

पिप्पली पिप्पलीमूलं मुस्ता नागरमेव च ।
दीपनीयं पिबेदेतं पयसा शर्करान्वितम् ॥

पिप्पली, पिप्पलीमूल, नागरमोथा तथा सोंठ के चूर्ण को शर्करायुक्त दूध के साथ पीने से अग्नि दीप्त होती है ॥ १४ ॥

नित्यं स्नाता च हृष्टा च शुक्लवस्त्रधरा शुचिः ॥
देवविप्रपरा सौम्या गर्भिणी पुत्रभागिनी ॥
नैवोन्नता न प्रणता न गुरुं धारयेच्चिरम् ॥
उद्वेजनं तथा हास्यं संघातं चापि वर्जयेत् ॥

गर्भिणी का आचारण—पुत्र की इच्छा करने वाली गर्भिणी को चाहिये कि वह नित्य स्नान करे, प्रसन्न रहे, शुभ्र वस्त्रों को धारण करे, मन को पवित्र रखे, देवताओं तथा ब्राह्मणों का सम्मान करे, सौम्य रहे और उसे बहुत ऊँचा उठना, बहुत झुकना, बहुत देर तक भारी पदार्थों को उठाना, कांपना, अधिक हंसना तथा संघात (चोट) का त्याग कर देना चाहिये। अर्थात् गर्भिणी को उपर्युक्त क्रियाएं नहीं करनी चाहिये क्योंकि इनसे गर्भपात का भय रहता है।

वक्तव्य - चरक शा. अ. ८ में गर्भोपघातकर भावों का वर्णन किया गया है—गर्भोपघातकरास्त्विमे भावा भवन्ति; तद्यथा—उत्कटुकविषमकठिनासनसेविन्या वातमूत्रपुरीषवेगानुपरुन्धत्या दारुणानुचितव्यायामसेविन्यास्तीक्ष्णोष्णातिमात्रसेविन्याश्च गर्भो म्रियतेऽन्तः कुक्षेरकाले वा स्रंसते शोषी वा भवति, तथाऽभिघातप्रपीडनैः श्वभ्रकूपप्रपातोद्देशावलोकनैर्वाऽभीक्ष्णं मातुः प्रपतत्यकाले, तथाऽतिमात्रसंक्षोभिभिर्यानैरप्रियातिमात्रश्रवणैर्वा, प्रततोत्तानशायिन्याः पुनर्गर्भस्य नाभ्याश्रया नाडी कण्ठमनुवेष्टयति, विवृतशायिनी नक्तञ्चारिणी चोन्मत्तं जनयति, अपस्मारिणं पुनः कलिकलहशीला, व्यवायशीला दुर्वपुषमह्रीकं स्त्रैणं वा, शोकनित्या भीतमपचितमल्पायुषं वा, अभिध्यात्री परोपतापिनमीर्ष्युं स्त्रैणं वा, स्तेना त्वायासबहुलमतिद्रोहिणमकर्मशीलं वा, अमर्षिणी चण्डमौपधिकमसूयकं वा, स्वप्ननित्या तन्द्रालुमबुधमल्पाग्निं वा, मद्यनित्या पिपासालुमल्पस्मृतिमनवस्थितचित्तं वा, गोधामांसप्रिया शार्करिणमश्मरिणं शनैर्मेहिनं वा, वराहमांसप्रिया रक्ताक्षं

क्वथनमननिरुषरोमाणं वा, मत्स्यमांसनित्या चिरनिमिषं स्तब्धाक्षं वा मधुरनित्या प्रमेहिणं मूकमतिस्थूलं वा, अम्लनित्या रक्तपित्तिनं त्वगक्षिरोगिणं वा, लवणनित्या शीघ्रवलीपलितं खालित्यरोगिणं वा, कटुकनित्या दुर्बलमल्पशुक्रमनपत्यं वा, तिक्तनित्या शोषितमबलमपचितं वा, कषायनित्या श्यावमानाहिनमुदावर्तिनं वा, यच्च यस्य यस्य व्याधेर्निदानमुक्तं तत्तदासेवमानाऽन्तर्वत्नी तद्विकारबहुलमपत्यं जनयति, पितृजास्तु शुक्रदोषा मातृजैरपचारैर्व्याख्याताः, इति गर्भोपघातकरा भावा व्याख्याताः ॥

इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥

इति गर्भिणीचिकित्सितम् ॥

ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था ।

॥ इति गर्भिणीचिकित्सिताध्यायः ॥

दुष्प्रजाताचिकित्सिताध्यायः ।

अथातो दुष्प्रजाताचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ २ ॥

अब हम दुष्प्रजाता की चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था। अर्थात् इस अध्याय में प्रसव के ठीक तरह न होने के कारण जो व्याधियां प्रसूता को हो जाती हैं उनकी चिकित्सा का वर्णन किया जायेगा ॥१-२॥

ये स्त्रीणां दुष्प्रजातानां व्याधयः संभवन्ति हि ।
नामतस्तान् प्रवक्ष्यामि तेषां चैव चिकित्सितम् ॥३॥

दुष्प्रजाता स्त्रियों को जो रोग हो जाते हैं उनका मैं नामोल्लेख सहित वर्णन करूंगा तथा चिकित्सा कहूंगा ॥ ३ ॥

याः कृच्छ्रेण प्रजायन्ते प्रसूताश्चामयन्ति[1] याः ।
स्नेहस्वेदैस्ततस्तासां क्षिप्रं वायुः प्रशाम्यति ॥ ४ ॥
यवागूं दीपनीयां तु स्मृतिमान् दातुमर्हति ।
यथा शेते सुखं नारी नीरुजा शयने सुखे ॥ ५ ॥

जिन प्रसूता स्त्रियों को कष्टपूर्वक प्रसव होता है तथा जो रुग्ण हो जाती हैं, स्नेहन तथा स्वेदन के द्वारा शीघ्र ही उनका वायु (वायु का प्रकोप) शान्त हो जाता है। (क्योंकि प्रसव के बाद प्रायः वायु का ही प्रकोप होता है) स्मृतिमान् व्यक्ति उन्हें दीपनीय (अग्नि को प्रदीप्त करने वाली) यवागू दे सकता है। इससे वह स्त्री रोग रहित होकर सुखकारी शयन (बिस्तर) पर सुखपूर्वक सोती है अर्थात् उसके रोगों की शान्ति हो जाती है जिससे वह आराम से सो सकती है ॥४-५॥

रात्रौ निर्गमनात्त्रासात् सहसोत्पतनादपि ।
ईर्ष्याशोकभयक्रोधान्नानावेगविधारणात् ॥ ६ ॥
एतैश्चान्यैश्च नारीणां व्याधयः संभवन्ति हि ।
सूतिकानां दिवास्वप्नादजीर्णाद्ध्यशनादपि ॥ ७ ॥

रोगों के निदान—रात्रि को घर से बाहर निकलने, डरने, सहसा गिरने, ईर्ष्या, शोक, भय, क्रोध, नाना वेगों को धारण करने, दिवास्वप्न (दिन में सोने), अजीर्ण, अध्यशन आदि तथा अन्य भी कारणों से प्रसूता स्त्रियों को रोग हो जाते हैं।

वक्तव्य—अध्यशन-पहले खाये हुए आहार के पूर्णरूप से न पचने पर यदि उस पर और भोजन कर लिया जाय तो वह अध्यशन कहलाता है। चरक चि० अ० १९ में कहा है—"भुक्तं पूर्वान्नशेषे तु पुनरध्यशनं मतम्" ॥ ६-७ ॥

योनिपृष्ठकटीभेदशाखावायुरसृग्दरः ।
वाताष्ठीला च गुल्मश्च हृदि शूलं प्रवाहिका ॥ ८ ॥
पुरीषमूत्रसंरोध आध्मानं शूलमेव च ।
शूयते दुष्यते योनिर्योनिशूलं च दारुणम् ॥ ९ ॥
वेपथुश्छर्दनं मोहो मन्यास्तम्भो हनुग्रहः ।
ज्वरातिसारो वैसर्पो दद्रुपामाविचर्चिकाः ॥ १० ॥
किटिभान्यथ विस्फोटा गात्रे चार्धशिरोरुजा ।
हृद्रोगाश्चाक्षिरोगाश्च प्लीहा श्वयथुकामले ॥ ११ ॥
एते चान्ये च बहवो दुष्प्रजाताशरीरजाः ।
व्याधयः संप्रकुप्यन्ति चिकित्सितमतः परम् ॥ १२ ॥

रोगों के नाम—दुष्प्रजाता स्त्रियों को योनिभेद, पृष्ठभेद, कटीभेद, शाखावायु, रक्तप्रदर, वाताष्ठीला, गुल्म, हृच्छूल, प्रवाहिका, पुरीषरोध (मल का रुक जाना), मूत्ररोध (मूत्र का रुक जाना), आध्मान, शूल, योनिशोथ, योनिदोष, भयंकर योनिशूल, वेपथु (कंपकपी), वमन, मोह, मन्यास्तम्भ (Torticolis), हनुग्रह, ज्वर और अतिसार (अथवा ज्वरातिसार), विसर्प, दद्रु, पामा, विचर्चिका, किटिभ (कुष्ठभेद), शरीर में विस्फोट, आधासीसी (आधे सिर में दर्द), हृद्रोग, अक्षिरोग, प्लीहा, श्वयथु, कामला तथा अन्य बहुत से रोग हो जाते हैं। इसके बाद इनकी चिकित्सा कही जायगी।

वक्तव्य—वाताष्ठीला—यह वातरोग भी है तथा मूत्राघात का भेद भी है। सुश्रुत में इनके निम्न लक्षण दिये हैं—वाताष्ठीला (वातरोग)—अष्ठीलावद्घनं ग्रन्थिमूर्ध्वमायतमुन्नतम्। वाताष्ठीलां विजानीयाद्बहिर्मार्गविरोधिनीम् ॥ (सु० नि० अ० १) सुश्रुत की टीका में घाणेकर जी ने इसे Cancer of the Rectum or Prostate कहा है। वाताष्ठीला (मूत्राघात का भेद)—शकृन्मार्गस्य बस्तेश्च वायुरन्तरमाश्रितः। अष्ठीलावद्घनं ग्रन्थिं करोत्यचलमुन्नतम्॥ विण्मूत्रानिलसङ्गश्च तत्राध्मानं च जायते। वेदना च परा बस्तौ वाताष्ठीलेति तां विदुः॥ (सु० उ० अ० ५८) विचर्चिका सुश्रुत नि० अ० ५ में कहा है—राज्योऽतिकण्ड्वर्तिरुजः सरूक्षा भवन्ति गात्रेषु विचर्चिकायाम्॥ इसमें हाथ पांव आदि में अत्यन्त खाज होती है इसे Rhagades कहते हैं। किटिभ—यत् स्रावि वृत्तं घनमुग्रकण्डु। तत् स्निग्धकृष्णं किटिभं वदन्ति॥ (सु० नि० अ० ५) यह एक कुष्ठ का भेद है जो स्रावयुक्त, गोल,

[1] रुग्णा भवन्तीत्यर्थः।

ोस, अत्यन्त खाजयुक्त, चिकना और काला हो उसे किटिभ कहते हैं। इसे आधुनिक विज्ञान की भाषा में Psoriasis कह सकते हैं ॥ ८-१२ ॥

द्वे पञ्चमूले भार्गी च मधुशिग्रुः शतावरी ।
उशीरं चन्दनं चैव श्वदंष्ट्रा मदयन्तिका ॥ १३ ॥
द्वे बले वसुकः पाठा पयस्या ह्यमृता तथा ।
वृषादनी सुगन्धा च तथा कार्या पुनर्नवा ॥ १४ ॥
मूर्वा गृध्रनखी मुस्ता मोरटस्तिल्वकस्तथा ।
इत्येतासां तु मूलानि यथालाभं समानयेत् ॥ १५ ॥
यवकोलकुलत्थानां त्रयः प्रस्थाः समास्ततः ।
एतान्यष्टगुणे तोये पाचयेद्भिषगुत्तमः ॥ १६ ॥
अष्टभागस्थितं तं तु परिपूतं निधापयेत् ।
तत्रावापमिदं दद्यान्मुष्टिकान्यौषधानि तु ॥ १७ ॥
पिप्पली पिप्पलीमूलं चित्रकं हस्तिपिप्पली ।
चव्यं द्वे रजनी चैव शृङ्गवेरं वचाऽभया ॥ १८ ॥
कुष्ठं रास्नाऽजमोदश्च विडङ्गं मरिचानि च ।
भद्रदारुरथैला च भार्गीकुटजतण्डुलाः ॥ १९ ॥
एतेषां कार्षिका भागा लवणानां पलं भवेत् ।
तैलप्रस्थं वसाप्रस्थं निष्काथो द्विगुणो भवेत् ॥ २० ॥
क्षीरप्रस्थो दधिप्रस्थो जलप्रस्थस्तथैव च ।
मातुलुङ्गाम्रपेशीनां रसप्रस्थार्धयोजितम् ॥ २१ ॥
शनैर्मृद्वग्निना सिद्धमथैनमवतारयेत् ।
अभ्यञ्जनेषु पानेषु बस्तिकर्मणि चोत्तमम् ॥ २२ ॥
ये तु वातसमुत्थानाः सूतिकानामुपद्रवाः ।
सर्वेषां शमनं श्रेष्ठमेतत्त्रैवृतमुत्तमम् ॥ २३ ॥

इनकी चिकित्सा—दोनों पञ्चमूल (स्वल्प तथा बृहत्) भारंगी, मीठा सहिंजना, शतावरी, खस, चन्दन, गोखरू, मदयन्तिका (नवमल्लिका-मेंहदी-Henna), दोनों बला (बला और अतिबला या नागबला), वसुक (बकपुष्प), पाठा, पयस्या (क्षीरकाकोली अथवा जीवन्ती), अमृता (गिलोय) वृषादनी (इन्द्रवारुणी), सुगन्धा (कालाजीरा), पुनर्नवा, मरोड़फली, गृध्रनखी (कण्टकपाली अथवा बेर), नागरमोथा, मोरट[1] (मूर्वाभेद-क्षीरचूरीनि), लोध्र-इनमें से जिन २ की मूल मिल सके वह लेले तथा यव, कोल (बेर) और कुलत्थ के सम्मिलित तीन प्रस्थ लेवे। इन्हें आठ गुने जल में पकायें। अष्टमांश शेष रहने पर उसे उतार कर छान कर रख लें। इसमें निम्न ओषधियों का मुष्टिक प्रमाण में प्रक्षेप डालें—पिप्पली, पिप्पलीमूल, चित्रक, गजपीपल, चव्य, हरिद्रा, दारुहरिद्रा, आर्द्रक, बच, हरड़, कुष्ठ, रास्ना, अजमोद, विडङ्ग, मरिच, देवदारु, छोटी इलायची, भारंगी, कुटज तथा तण्डुल—प्रत्येक १ कर्ष, पांचों लवण १ पल, तिलतैल १ प्रस्थ, वसा १ प्रस्थ, दूध १ प्रस्थ, दही १ प्रस्थ, जल १ प्रस्थ, मातुलुङ्ग तथा आम्र की पेशी का रस आधा प्रस्थ। इन सबको मिलाकर धीरे २ मृदु अग्नि पर पकाये तथा सिद्ध होने पर उतार लें। यह योग अभ्यञ्जन (नेत्रों में अञ्जनार्थ), पान (पीना) तथा बस्तिकर्म में उत्तम है। प्रसूता स्त्रियों के वात से उत्पन्न जो भी उपद्रव होते हैं उन सबको शान्त करने के लिये यह उत्तम त्रैवृत योग है ॥ १३-२३ ॥

एतेषामेव सर्वेषां कल्कं निष्काथ्य पाययेत् ।
यः कश्चित् सूतिकाव्याधिस्तं त्रिरात्रेण साधयेत् ॥२४॥

इन्हीं उपर्युक्त द्रव्यों के कल्कों का क्वाथ बनाकर पिलानेसे प्रसूता की व्याधियां तीन दिन में ठीक हो जाती हैं ॥

द्वे पञ्चमूल्यौ भार्गी च रास्ना द्वे च पुनर्नवे ।
शिग्रुर्हंसपदी·························
·································
·································

(इति ताडपत्रपुस्तके १०१ तमं पत्रम्[1] ।)

दोनों पञ्चमूल, भारंगी, रास्ना, दोनों पुनर्नवा (श्वेत तथा रक्त), सहिंजना तथा हंसपदी·······(इत्यादि ओषधियों का सेवन कराने से भी सूतिका रोगों में लाभ होता है) ॥२५॥

(इति ताडपत्रपुस्तके १०१ तमं पत्रम्) पर अध्याय यहीं बीच में ही खण्डित हो गया है।

बालग्रहचिकित्सिताध्यायः ।

·································
·························श्चाभियाचनम् ।
ब्रह्मण्यभावात् क्रुद्धाऽपि प्राह सानुग्रहं वचः ।
एषां व्यतिक्रमाणां त्वं फलमाप्नुहि रेवति ! ॥
सर्वग्रहाणामेका त्वं तुल्यवीर्यबलद्युतिः ।
भविष्यसि दुराधर्षा देवानामपि पूजिता ॥

वक्तव्य—यह अध्याय प्रारम्भ में खण्डित है। इसमें बालकों के ग्रहों का तथा उनके द्वारा आक्रान्त बालकों की चिकित्सा का वर्णन किया गया है। ये ग्रह संख्या में ९ होते

१. मोरट—मोरटः क्षीरबहुलो मधुरः सकषायकः। पित्तदाहज्वरान् हन्ति वृष्यो बलविवर्धनः॥ (राजनिघण्टु)।

१. मूलताडपत्रपुस्तके एतत्पत्रप्रान्तस्य कीटदष्टतया शतस्थानीय एकोऽङ्को दृश्यते। लिपिरप्येतदीया पूर्वापरालोचने अत्रैव त्रुटितभागे पूरणे संवदति। पश्चात् खिलभागे अन्तर्वत्नीचिकित्सितस्योल्लेखेन तेन सह विषयसंगमनेऽपि तत्र पत्रत्रुटेरभावेन लिपिविसंवादेन पूर्वोक्तविषयस्य खिलभागे पुना रूपान्तरेण निरूपणस्य दर्शनेन, अत्र ग्रहपूतनाविषयात् पूर्वं गर्भिणीदुष्प्रजाताचिकित्सितप्रदर्शनस्यौचित्येन च १०१ तमे किलैतत्पत्रमित्यत्र संनिवेशितम्। अस्याग्रे पत्रद्वयात्मको ग्रन्थः खण्डितस्ताडपत्रपुस्तके।

हैं। कहते हैं कि जिस घर में देवयोग तथा पितृयोग आदि न हो, देवता, ब्राह्मण तथा अतिथियों का सत्कार न हो, आचार विचार आदि का ध्यान न रहता हो, उस घर में इन ग्रहों में से कोई घुसकर गुप्तरूप से बालक की हत्या कर डालते हैं अथवा उसे रोगों से आक्रान्त कर देते हैं। सुश्रुत उ० अ० २७ में कहा गया है—धात्रीमात्रोः प्राक्प्रदिष्टापचाराच्छौचभ्रष्टान्मङ्गलाचारहीनान्। त्रस्तान् हृष्टांस्तर्जितांस्ताडितान् वा। पूजाहेतोर्हिंस्युरेते कुमारान्॥ ग्रहों के नाम—१-स्कन्द, २-स्कन्दापस्मार, ३-शकुनी, ४-रेवती, ५-पूतना, ६-अन्धपूतना या गन्धपूतना, ७ शीतपूतना, ८-मुखमण्डिका, ९-नैगमेष। इनमें से कुछ ग्रह स्त्री शरीर वाले तथा कुछ पुरुष शरीर वाले होते हैं। इनकी उत्पत्ति के विषय में कहा जाता है कि ये ग्रह देवसेनानी कुमार कार्तिकेय की रक्षा के लिये महादेव तथा पार्वती द्वारा उत्पन्न किये गये थे। कार्तिकेय की रक्षा के लिये उत्पन्न हुए ये ग्रह बालकों को किस लिये आक्रान्त करते हैं इसके लिये सुश्रुत में निम्न वर्णन दिया है—ततो भगवति स्कन्दे सुरसेनापतौ कृते। उपतस्थुर्ग्रहाः सर्वे दीप्तशक्तिधरं गुहम्॥ ऊचुः प्राञ्जलयश्चैनं वृत्तिं नः संविधत्स्व वै। तेषामर्थे ततः स्कन्दः शिवं देवमचोदयत्॥ ततो ग्रहांस्तानुवाच भगवान् भगनेत्रहृत्। तिर्यग्योनिं मानुषं च दैवं च त्रितयं जगत्॥ परस्परोपकारेण वर्तते धार्यतेऽपि च। देवा मनुष्यान् प्रीणन्ति तैर्यग्योनींस्तथैव च॥ वर्तमानैर्यथाकालं शीतवर्षोष्णमारुतैः। इज्याञ्जलिनमस्कारजपहोमव्रतादिभिः॥ नराः सम्यक् प्रयुक्तैश्च प्रीणन्ति त्रिदिवेश्वरान्। भागधेयं विभक्तं च शेषं किंचिन्न विद्यते॥ तद्युष्माकं शुभा वृत्तिर्बालेष्वेव भविष्यति। कुलेषु येषु नेज्यन्ते देवाः पितर एव च॥ ब्राह्मणाः साधवश्चैव गुरवोऽतिथयस्तथा। निवृत्ताचारशौचेषु परपाकोपजीविषु॥ उत्सन्नबलिभिक्षेषु भिन्नकांस्योपभोजिषु। गृहेषु तेषु ये बालास्तान् गृह्णीध्वमशङ्किताः॥ तत्र वो विपुला वृत्तिः पूजा चैव भविष्यति। एवं ग्रहाः समुत्पन्ना बालान् गृह्णन्ति चाप्यतः॥ ग्रहोपसृष्टा बालास्तु दुश्चिकित्स्यतमा मताः॥ अन्यत्र इनका प्रयोजन न होने से बालकों से ही इनका सम्बन्ध होता है। इसीलिये ऊपर कहा है—"तद्युष्माकं शुभा वृत्तिर्बालेष्वेव भविष्यति" वास्तव में ये भिन्न २ प्रकार के बालकों के रोग ही हैं जिन्हें ग्रहों का नाम दे दिया गया है। प्राचीनकाल में स्वस्थवृत्त (Hygiene) की दृष्टि से सूतिकागारों का संभवतः उचित प्रबन्ध न होने से बालकों को अनेक प्रकार के रोग घेर लेते थे उन्हें ही सम्भवतः ग्रहरोगों का नाम दिया गया है। रावणकृत बालतन्त्र में इन बालग्रहों का अत्यन्त विस्तार से वर्णन किया गया है। ये ग्रह बालकों को जन्म से लेकर १२ वर्ष की अवस्था तक पीडित करते हैं। उससे ऊपर की अवस्था वालों को ग्रहों की विशेष शंका नहीं रहती है। वहां निम्न वर्णन मिलता है—प्रथम दिन, प्रथम मास वा प्रथम वर्ष में जब नन्दा नामक मातृका बालकों पर आक्रमण करती है तब ज्वर हो जाता है आंखें बन्द हो जाती हैं, शरीर सदा दुःखी होता है जिससे बालक शयन नहीं कर सकता। सदा रोता ही रहता है उसे शब्द अच्छा नहीं लगता तथा वह शब्द करता है। द्वितीय दिन, मास वा वर्ष में सुनन्दा नामक मातृका बालक पर आक्रमण करती है जिससे उपर्युक्त ही लक्षण होते हैं। तृतीय दिन, मास वा वर्ष में पूतना नामक मातृका के आक्रमण करने से ज्वर, चक्षु उन्मीलन, गात्रोद्वेजन, मुट्ठियों का बन्द हो जाना, क्रन्दन, ऊर्ध्व निरीक्षण आदि लक्षण होते हैं। चतुर्थ दिन, मास व वर्षमें मुखमण्डिका नामक मातृका के आक्रमण करने से ज्वर, चक्षु उन्मीलन, ग्रीवानमन, तथा रोदन आदि लक्षण होते हैं। बच्चे को नींद नहीं आती तथा वह दूध नहीं पीता। पञ्चम दिन, मास व वर्ष में कटपूतना नामक मातृका बालक पर आक्रमण करती है जिससे ज्वर हो जाता है। छटे दिन मास व वर्ष में शकुनिका नामक मातृका बालक पर आक्रमण करती है जिससे शरीर में पीडा तथा ऊर्ध्व निरीक्षण आदि लक्षण हो जाते हैं। सातवें दिन, मास व वर्षमें शुष्करेवती आक्रमण करती है जिससे ज्वर, गात्रोद्वेजन तथा मुष्टिबद्धता आदि लक्षण होते हैं। आठवें दिन, मास व वर्ष में अर्यका मातृका, नवम मास दिन व वर्ष में स्वस्तिकामातृका, दसवें दिन वर्ष व मास में निर्ऋतामातृका, ग्यारहवें दिन, मास व वर्ष में कामुकामातृका बालक पर आक्रमण करती है। इन सबके आक्रमण से बालक अस्वस्थ हो जाते हैं। इनके प्रतीकार के लिये इनकी पूजा एवं बलि आदि देनी चाहिये इसका विस्तृत विवेचन रावणकृत बालतन्त्र में देखना चाहिये। प्रत्येक ग्रह के अपने २ भिन्न २ लक्षण होते हैं। परन्तु कुछ लक्षण सब ग्रहों के सामान्य होते हैं। योगरत्नाकर में ग्रहों के सामान्य लक्षण निम्न दिये हैं—क्षणादुद्विजते बालः क्षणात् त्रस्यति रोदिति। नखैर्दन्तैर्दारयति धात्रीमात्मानमेव च॥ ऊर्ध्वं निरीक्षते दन्तान्खादेत्कूजति जृम्भति। भ्रुवौ क्षिपति दन्तोष्ठं फेनं वमति चासकृत्॥ क्षामोऽतिनिशि जागर्ति शूनाङ्गो भिन्नविट्स्वरः। मांसशोणितगन्धिश्च न चाश्नाति यथा पुरा॥ दुर्बलो मलिनाङ्गश्च नष्टसंज्ञोऽपि जायते। सामान्यग्रहजुष्टानां लक्षणं समुदाहृतम्॥ अब हम मूल अध्यायोक्त विषय पर आते हैं—ब्रह्मण्य भाव से क्रुद्ध हुई भी उसने अनुग्रह पूर्वक वचन कहा कि रेवति। तू इनके व्यतिक्रम के फल को प्राप्त कर। वीर्य एवं बल में समान होने से तू सब ग्रहों की अपेक्षा दुर्धर्ष होगी तथा देवताओं द्वारा भी तू पूजित होगी॥

नामभिर्बहुभिश्चैव त्वां वक्ष्यन्ति जना भुवि।
वारुणी रेवती ब्राह्मी कुमारी बहुपुत्रिका॥
शुष्का षष्ठी च यमिका धरणी मुखमण्डिका।
माता शीतवती कण्डूः पूतनाऽथ निरुच्छिका॥
रोदनी भूतमाता च लोकमातामहीति च।
शरण्या पुण्यकीर्तिश्च नामानि तव विंशतिः॥

संसार में लोग तुझे अनेक नामों से जानेंगे। तेरे ये निम्न २० नाम हैं—१ वारुणी २ रेवती ३ ब्राह्मी ४ कुमारी ५ बहुपुत्रिका ६ शुष्का ७ षष्ठी ८ यमिका ९ धरणी १० मुखमण्डिका ११ माता १२ शीतवती १३ कण्डू १४ पूतना १५ निरुच्छिका १६ रोदनी १७ भूतमाता १८ लोकमातामही १९ शरण्या २० पुण्यकीर्ति तेरे ये २० नाम होते हैं॥

ये च त्वां पूजयिष्यन्ति श्रद्दधाना जना भुवि ।
नैतेषां सर्वभूतेभ्यो भविष्यति भयं क्वचित् ।

संसार में जो लोग श्रद्धापूर्वक तेरी पूजा करेंगे उन्हें किसी भी भूत (प्राणी) से कभी भय नहीं रहेगा ॥

सायं प्रातश्च नामानि यो जपेत्तव विंशतिम् ॥
शुचिर्नरः प्रजास्तस्य वर्धिष्यन्ति विपाप्मनः ।

जो मनुष्य शुद्ध एवं पवित्र होकर सायं प्रातः तेरे २० नामों का जप करेगा उसकी सन्तान रोग रहित होकर वृद्धि को प्राप्त करेगी ॥

तत उग्रेण तपसा स्कन्दमाराधयन् पुनः ।
तस्या मनीषितं ज्ञात्वा रेवतीमब्रवीद् गुहः ॥
भ्रातॄणां च चतुर्णां वै पञ्चमो नन्दिकेश्वरः ।
भ्राता त्वं भगिनी षष्ठी लोके ख्याता भविष्यसि ॥

उसके बाद रेवती की मनोगत इच्छा को जानकर उग्र तपस्या द्वारा स्कन्द की आराधना करते हुए गुह (कार्तिकेय) ने रेवती से पुनः कहा कि चार भाइयों के साथ पांचवां भाई नन्दिकेश्वर तथा छटी तू बहन के रूप में प्रसिद्ध होगी ॥

यथा मां पूजयिष्यन्ति तथा त्वां सर्वदेहिनः ।
अस्मत्तुल्यप्रभावा त्वां भ्रातृमध्यगता सदा ॥

जिस प्रकार सम्पूर्ण प्राणी मेरी पूजा करेंगे उसी प्रकार तेरी भी पूजा करेंगे। हमारे ही समान प्रभाव वाली तू सदा भाइयों के साथ रहेगी ॥

षण्मुखी नित्यललिता वरदा कामरूपिणी ।
षष्ठी च ते तिथिः पूज्या पुण्या लोके भविष्यति ॥

तू ६ मुखों वाली, सदा प्रसन्न, वर देने वाली तथा कामरूपिणी (इच्छानुरूप रूप धरने वाली) होगी। तथा लोक में पुण्यकारक षष्ठी तिथि को तेरी पूजा हुआ करेगी। अर्थात् षष्ठी तिथि तेरी पूजा का दिन माना जायगा ॥

इत्येवं भगिनी जज्ञे षष्ठी स्कन्दस्य धीमतः ।
तस्मात् सा सततं पूज्या सा हि मूलं सुखायुषोः ॥

इस प्रकार षष्ठी (रेवती) बुद्धिमान् स्कन्द की बहन के रूप में जाती है। इसलिये उसकी नित्य पूजा करनी चाहिये। क्योंकि वह सुख तथा आयु का मूल है अर्थात् वह सुख और आयु का कारण है ॥

तस्माच्च सूतिकाषष्ठीं पक्षषष्ठीं च पूजयेत् ।
उद्दिश्य षण्मुखीं षष्ठीं तथा लोकेषु नन्दति ॥

इसलिये सूतिकाषष्ठी (प्रसव के बाद छटी तिथि) तथा पक्षषष्ठी (प्रत्येक शुक्ल तथा कृष्ण पक्ष की छठी तिथि) को षण्मुखी (६ मुखों वाली) षष्ठी (रेवती) की पूजा करनी चाहिये । इससे वह संसार में प्रसन्न रहती है। इस प्रकार देवता तथा असुरों द्वारा भी नमस्कार की गई (आदृत) रेवती प्रसिद्ध हुई है ॥

इत्येवं रेवती जज्ञे सुरासुरनमस्कृता ।
वृद्धजीवक ! कर्माणि शृणु तस्याः प्रधानतः ॥

हे वृद्धजीवक ! अब मुख्यरूप से तू उस (रेवती) के कर्मों को सुन। अर्थात् उसके द्वारा उत्पन्न होने वाले रोगों को सुन ॥

ज्वरातिसारो वैसर्पः पीडनेन्द्रियदूषणम् ।
आनाहः शूलमरुचिर्मि· · ·नं श्वासकासतृट् ॥
निद्रानाशोऽतिनिद्रा च मुखपाको व्रणोद्भवः ।
एकाङ्गकः पक्षवधः क्षीरालसविसूचिकाः ॥
हिक्का मूर्च्छा मदो मोहो रोदनं स्तब्धनेत्रता ।
स्वरवर्णाग्निभेदश्च पाण्डुत्वं कामलाऽरतिः ॥
क्षीरदूषणनाशौ च शिरोरुग्घृदयद्रवः ।
नासाक्षिकर्णरोगाश्च त्रासकुञ्चनरोदनम् ॥
ये चान्ये चैव विविधा ये रोगा नानुकीर्तिताः ।
रेवतीरोषसंभूता भूयिष्ठं त उदाहृताः ॥

रेवती ग्रह के द्वारा होने वाले रोग—ज्वर, अतिसार, विसर्प, पीड़ा, इन्द्रियों का दूषित होना, आनाह, शूल, अरुचि, श्वास, कास, तृषा (प्यास), निद्रानाश (अनिद्रा-Insomnia), अतिनिद्रा, मुखपाक, व्रणोत्पत्ति, एकाङ्गवात, पक्षाघात, क्षीरालसक (बालरोग विशेष), विसूचिका, हिक्का, मूर्च्छा, मद, मोह, रोदन (रोना), नेत्रों का स्तब्ध होना, स्वरभेद, वर्णभेद, अग्निभेद, पाण्डु, कामला, अरति, क्षीरदोष, क्षीरनाश, शिरोरुक् (शिरःशूल), हृदयद्रव (Palpitation of heart), नासारोग, अक्षिरोग, कर्णरोग, त्रास (डरना), कुञ्चन (Conual-Sions), रोदन-ये तथा अन्य भी बहुत से रोग जिनका वर्णन नहीं किया गया है-उन्हें रेवती के क्रोध से ही उत्पन्न हुए समझना चाहिये ।

वक्तव्य—क्षीरालसक एक बालरोग होता है। अष्टाङ्ग हृदय उ० अ० २ में इसके निदान एवं लक्षण निम्न प्रकार से दिये हैं—स्तन्ये त्रिदोषमलिने दुर्गन्ध्यामं जलोपमम्। विबद्धमच्छं विच्छिन्नं फेनिलं चोपवेश्यते ॥ शकृन्नानाव्यथावर्णं, मूत्रं पीतं सितं घनम्। ज्वरारोचकतृट्छर्दिशुष्कोद्गारविजृम्भिकाः ॥ अङ्गभङ्गोऽङ्गविक्षेपः कूजनं वेपथुर्भ्रमः। घ्राणाक्षिमुखपाकाद्या जायन्तेऽन्येऽपि तं गदम् ॥ क्षीरालसकमित्याहुरत्ययं चातिदारुणम्। तत्राशु धात्रीं बालं च वमनेनोपपादयेत ॥

तस्मात् साधारणीं तस्याः क्रियां कुर्याद्विचक्षणः ॥
अतश्च रेवतीमेके ग्रहमेके वदन्त्यपि ।

इसलिये बुद्धिमान् व्यक्ति इसकी साधारण चिकित्सा करे। कई लोग रेवती को ही सम्पूर्ण ग्रह मानते हैं।

अश्वगन्धाऽजशृङ्गी च सारिवे द्वे पुनर्नवे ॥

क्षुद्रा सहा विदारी च कषायः परिषेचने।

चिकित्सा—अश्वगन्धा, अजशृङ्गी (मेषशृङ्गी), दोनों अनन्तमूल (कृष्ण तथा रक्त), दोनों पुनर्नवा (सफेद तथा लाल), क्षुद्रा (कटेरी), सहा (माषपर्णी या घृतकुमारी), विदारीकन्द-इनके कषाय का परिषेचन करना चाहिये॥

पलङ्कषा सर्जरसः कुष्ठं गिरिकदम्बकः॥
देवदारु समञ्जिष्ठं सुरा तैलं सुवर्चिका।
नलदं तुम्बरु त्वक् च समभागानि कारयेत्॥
एतेन गात्रमभ्यज्य ततः संपद्यते सुखी।

गूगल, राल, कुष्ठ, गिरिकदम्ब (महाकदम्ब), देवदारु, मंजीठ, सुरा, तिलतैल, सुवर्चिका (हुलहुल), नलद (जटामांसी), तुम्बुरु (तेजबल-नेपाली धनिया), त्वक् (दालचीनी) इनके समभाग लेकर तेल पकाकर मालिश करने से व्यक्ति सुखी (स्वस्थ) हो जाता है॥

अश्वकर्णस्य पुष्पाणि धातक्यास्तिन्दुकस्य च॥
ककुभस्य च पुष्पाणि दाडिमस्य धवस्य च।
त्वक्क्षीरी मधुकं चैव क्षीरेण सह पाचयेत्॥
ततो मात्रां पिबेद्बालस्ततः संपद्यते सुखी।

अश्वकर्ण (गर्दभाण्ड) के फूल, धाय के फूल, तिन्दुक, ककुभ (अर्जुन), अनार तथा धव के फूल, त्वक्क्षीरी (वंशलोचन), मुलहठी इन्हें दूध के साथ पाक करे। इस क्षीरपाक की यथोचित मात्रा पीने से बालक सुखी (स्वस्थ) हो जाता है॥

एतेष्वेव घृतं पक्वमतीसारमरोचकम्॥
हन्ति तृष्णाऽरुचिच्छर्दीः शर्करामधुसंयुतम्।

इन्हीं उपर्युक्त अश्वकर्ण आदि ओषधियों के साथ घृत को पकाकर देने से अतिसार तथा अरुचि को नष्ट करता है। इस उपर्युक्त घृत में शर्करा तथा मधु मिलाकर देने से तृष्णा, अरुचि तथा छर्दि (वमन) नष्ट होते हैं॥

उलूकगृध्ररोमाणि कटुतुम्बस्तथाऽजटी॥
यवाः श्वेता घृतं गव्यं पेयोऽयं रेवतीनुदे।

उल्लू तथा गृध्र के रोम (बाल), कड़वी अलाबू (लौकी), अजटी (भूम्यामलकी) तथा सफेद जौ को गोघृत में मिलाकर पिलाने से रेवती रोग नष्ट होते हैं॥

वरुणारिष्टकौ चोभौ पुत्रञ्जीवकचि(त्र)कौ॥
एतेषां तु त्वचं बालो माता धात्री च धारयेत्।
उपद्रवांश्च शमयेद्दृष्ट्वा स्वैः स्वैश्चिकित्सितैः॥
नक्षत्रे चास्य रेवत्यां पुष्टिकर्माणि कारयेत्।

वरुण, दोनों अरिष्ट (निम्ब तथा महानिम्ब), पुत्रञ्जीवक (जम्बीर के समान पत्तों वाला वृक्ष-पितौंजिया) तथा चित्रक—इनकी त्वचा (छाल) को बालक, माता तथा धात्री को धारण करना चाहिये। तथा अपनी २ चिकित्सा के द्वारा उपद्रवों को शान्त करना चाहिये। इसके अतिरिक्त रेवती नक्षत्र में इसके पुष्टिकर्मों को करे। सुश्रुत उ० अ० ३१ में भी इसकी लगभग ऐसी ही चिकित्सा विस्तार से दी है।

अतश्चोर्ध्वं प्रवक्ष्यामि पूतनायाश्चिकित्सितम्॥
यदुक्तं पूर्वभैषज्यं तच्च सर्वं प्रचारयेत्।

इसके बाद अब मैं पूतना नामक ग्रह की चिकित्सा कहूंगा। जो पूर्व रेवतीग्रह में चिकित्सा कही है वह सब यहां करे॥ ३०॥

असुरो दुन्दुभिर्नाम सुरासुरभयङ्करः॥
स्कन्दमायोधयन्मोहात् क्रुद्धं दृष्ट्वा च षण्मुखम्।
विवेश क्रौञ्चस्य गुहां मातुलस्य महागिरेः॥
स्कन्दस्तं च महाशैलं मातुलं तं च दानवम्।
शक्त्या जघान युगपत्ततो गुहवधाद् गुहः॥
आसीद्वर्णपरिभ्रष्टस्तं समेत्य सुरासुराः।
दिशः समुद्राः सरितो महाभूतानि तोयदाः॥
पूत्यर्थं धूपयामासुस्ततः पूतोऽभवद् गुहः।
यस्मिन् देशे तु भगवान् पूतः स्कन्दो महाबलः॥
संजज्ञे पूतना तस्मात् सर्वलोकभयङ्करी।
तामब्रवीद् गुहः पुण्यां पूतनामग्रतः स्थिताम्॥
याहि त्वं भिन्नमर्यादा(न्)चेत्युक्ताऽऽह तथाऽस्त्विति।
मलजा पूतना कौञ्ची (क्रौञ्ची) वैश्वदेवी च पावनी॥
पञ्चनामेति चाप्युक्ता शृणु तस्याश्चिकित्सितम्।

पूतना की उत्पत्ति—देवता तथा राक्षसों में भयंकर अर्थात् अत्यन्त शक्तिशाली दुन्दुभि नामक राक्षस स्कन्द (कार्तिकेय) से युद्ध करता हुआ उसे क्रुद्ध देखकर अज्ञान से अपने मामा क्रौञ्च की विशाल पर्वत (हिमालय में स्थित) गुहा (गुफा) में घुस गया। स्कन्द ने अपनी शक्ति से युगपत् (एक साथ) उस दुन्दुभि नामक राक्षस, उसके मामा (क्रौञ्च) तथा विशाल पर्वत तीनों का संहार कर दिया। इसलिये गुह (गुफा) का वध करने के कारण वह गुह कहलाता है। इस युद्ध से कार्तिकेय का वर्णनाश हो गया। इसलिये उसे पवित्र करने के लिये सब देवता, असुर, दिशायें, समुद्र, सरिताएं (नदियां), महाभूत तथा बादलों ने उनके पास जाकर धूपन किया। इस प्रकार गुह (कार्तिकेय) पवित्र हो गया। जिस प्रदेश (स्थान) में महाबली भगवान् स्कन्द (कुमार कार्तिकेय) पवित्र हुए वह देश सब लोकों में भयंकर पूतना नामक ग्रह के रूप में प्रसिद्ध हुआ। तब गुह ने अपने सामने स्थित उस पुण्यकारक पूतना को कहा कि तू भिन्नमर्यादा (यज्ञ, बलि, कर्म, पवित्रता आदि की मर्यादा का पालन न करने वाले) वाले लोगों के पास जाकर उनमें प्रवेश कर। उसने उत्तर दिया—ऐसा ही होगा। उसके मलजा, पूतना, कौञ्ची (क्रौञ्ची), वैश्वदेवी तथा पावनी ये पांच नाम

कहे गये हैं। अब तू उसकी चिकित्सा सुन ॥

करञ्जशोभाञ्जनकावास्फोटा ह्याटरूषकः ॥
सप्तपर्णश्च निम्बश्च भार्गी च परिषेचनम् ।

पूतना की चिकित्सा—करञ्ज, कड़वा तथा मीठा सहिंजना, सारिवा, बांसा, सप्तपर्ण, नीम तथा भारंगी–इन ओषधियों से शरीर का परिषेचन करना चाहिये ॥

सुरासौवीरकाभ्यां च हरितालं मनःशिला ॥
कुष्ठं सर्जरसं चैव तैलमभ्यञ्जनं पचेत् ।

सुरा, कांजी, हरताल, मनःशिला, कूठ तथा राल इनसे सिद्ध किये हुए तैल का अभ्यङ्ग (मालिश) करना चाहिये ॥

पिप्पली पिप्पलीमूलं बृहती कण्टकारिका ॥
शालपर्णी पृश्निपर्णी मधूकं मधुकस्तथा ।
एतं संभृत्य संभारं क्षीरे सर्पिर्विपाचयेत् ॥
छर्दिं हिक्कां च शमयेदेतत् सर्पिर्निषेवतः ।

पिप्पली, पिप्पलीमूल, बृहती, कटेरी, शालपर्णी, पृश्नपर्णी, महुआ तथा मुलहठी इन सबको दूध में डालकर इनके द्वारा घृत सिद्ध करे। इस घृत के सेवन करने से छर्दि तथा हिक्का शान्त होती है ॥

कुक्कुटस्य पुरीषं च केशाश्चर्म पुराणकम् ॥
जीर्णां च भिक्षुसङ्घाटीं सर्पनिर्मोचनं घृतम् ।
धूपमेतं प्रयुञ्जीत सन्ध्याकाले सुखङ्करम् ॥

कुक्कुट (मुर्गे) की पुरानी पुरीष (बीट), केश तथा चर्म, पुरानी भिक्षुसंघाटी (शाक्य तथा बौद्धभिक्षुओं का जीर्णवस्त्र), सांप की केंचुली तथा घृत सायंकाल में इनका धूप (Fumigation) देना सुखकारी है ॥

अनन्तां कुक्कुटीं बिम्बीमरिष्टामथ कर्कटीम् ।
सूत्रेण ग्रथिता एता धारयेत् पाणिपादयोः ॥

(इति ताडपत्रपुस्तके १०४ तमं पत्रम् ।)[1]

अनन्ता (सारिवा), कुक्कुटी (मुर्गी के अण्डे के समान कन्द वाली एक बेल), बिम्बी, अरिष्ट (नीम) तथा काकड़ाशृंगी–इन्हें धागे में पिरोकर हाथों तथा पैरों में धारण करे ॥

यो यश्चाभिभवेद्व्याधिस्तं च तं च निवर्तयेत् ।

तथा उस रोगी को और भी जो २ व्याधि हो जाय उसकी चिकित्सा करे। सुश्रुत उ० अ० ३२ इसकी निम्न चिकित्सा दी है—कपोतवङ्काऽरलुको वरुणः पारिभद्रकः। आस्फोता चैव योज्याः स्युर्बालानां परिषेचने ॥ वचा वयःस्था गोलोमी हरितालं मनःशिला। कुष्ठं सर्जरसश्चैव तैलार्थं वर्ग इष्यते ॥ हितं घृतं तुगाक्षीर्यां सिद्धं मधुरकेषु च। कुटतालीशखदिरचन्दनस्यन्दने तथा ॥ देवदारु वचा हिङ्गु कुष्ठं गिरिकदम्बकः। एला हरेणवश्चापि योज्या उद्धूपने सदा ॥ गन्धनाकुलिकुम्भीके मज्जानो बदरस्य च। कर्कटास्थि घृतं चापि धूपनं सर्षपैः सह ॥ काकादनीं चित्रफलां बिम्बीं गुञ्जां च धारयेत्। मत्स्यौदनं च कुर्वीत कृशरां पललं तथा ॥ शरावसंपुटे कृत्वा बलिं शून्यगृहे हरेत्। उच्छिष्टेनाभिषेकेण शिशोः स्नपनमिष्यते ॥ पूज्या च पूतना देवी बलिभिः सोपहारकैः। मलिनाम्बरसंवीता मलिना रूक्षमूर्धजा ॥ शून्यागाराश्रिता देवी दारकं पातु पूतना। दुर्दर्शना सुदुर्गन्धा कराला मेघकालिका ॥ भिन्नागाराश्रया देवी दारकं पातु पूतना ॥

अक्षिरोगचिकित्साभिः शमयेदन्धपूतनाम् ॥
शीतङ्कारचिकित्साभिः शमयेच्छीतपूतनाम् ।

अक्षिरोग की चिकित्सा से अन्धपूतना की शान्ति करे तथा शीतकारक चिकित्सा द्वारा शीतपूतना की चिकित्सा करे ॥

पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरैः ॥
पचेद् घृतं पञ्चमूल्या सैन्धवेन च पण्डितः ।
दीपनीयमिति प्रोक्तं सर्पिरेतन्महात्मना ॥
सक्षौद्रशर्करं लेह्यं शमयेच्छीतपूतनाम् ।

शीतपूतना की चिकित्सा—पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, सोंठ, लघु पञ्चमूल तथा सैन्धव से साधित घृत दीपनीय कहा गया है। मधु तथा शर्करा के साथ इस घृत का सेवन करने से शीतपूतना का शमन होता है ॥

रास्ना पुनर्नवा कुष्ठं तगरं देवदारु च ॥
पत्रागुरुहरेणश्च गुडूची त्रिफला सिता ।
दशमूलं च तैः सर्पिः पचेत् क्षीरे चतुर्गुणे ॥
विशुद्धं लेहयेद्बालं शाम्यते कटपूतना ।

रास्ना, पुनर्नवा, कुष्ठ, तगर, देवदारु, तेजपत्र, अगर, हरेणु, गिलोय, त्रिफला, खांड तथा दशमूल इनको चतुर्गुण क्षीर (दूध) में पकाकर घृत सिद्ध करें। बालक को इसका सेवन कराने से कटपूतना (शीतपूतना) शान्त हो जाती है। सुश्रुत उ० अ० ३४ में इसकी निम्न चिकित्सा दी है—कपित्थं सुवहां बिम्बीं तथा बिल्वं प्रचीबलम्। नन्दीं भल्लातकं चापि परिषेके प्रयोजयेत् ॥ बस्तमूत्रं गवां मूत्रं मुस्तं च सुरदारु च। कुष्ठं च सर्वगन्धांश्च तैलार्थमवचारयेत् ॥ रोहिणीसर्जखदिरपलाशककुभत्वचः। निष्क्वाथ्य तस्मिन्निष्क्वाथे सक्षीरं विपचेद् घृतम् ॥ गृध्रोलूकपुरीषाणि बस्तगन्धामहेस्त्वचः। निम्बपत्राणि मधुकं धूपनार्थं प्रयोजयेत् ॥ धारयेदपि लम्बां च गुञ्जां काकादनीं तथा। नद्यां मुद्गकृतैश्चान्नैस्तर्पयेच्छीतपूतनाम् ॥ देव्यैदेयश्चोपहारो वारुणी रुधिरं तथा। जलाशयान्ते बालस्य स्नपनं चोपदिश्यते ॥ मुद्गौदनाशना देवी सुराशोणितपायिनी। जलाशयालया देवी पातु त्वां शीतपूतना ॥

---

१ मूलताडपत्रपुस्तके अनयोः १०४.१०५ संख्यातया स्वीकृतयोः पत्रयोः प्रान्तस्य कीटदंशेन आदिमे शतस्थानीयः, द्वितीयोऽन्तिमः पञ्चाङ्को दृश्यते; लिपिरपि पूर्वापरालोचने एतद्भाग एव संवदति, पश्चाद्रेवतीप्रकरणसत्त्वेन तेन सहास्य विषयसंगमनेऽपि तत्र पत्रत्रुटेरभावेन लिपिविसंवादेन च अत्र ९२–११४ योरन्तरा त्रुटितभागे १०४।१०५ संख्यत्वेन निर्धार्य समावेशः कृतः ॥

बिल्वाङ्कोठौ कपित्थार्कौ कार्पासमटरूषकम् ॥
उरुवूकस्य पत्राणि वंशस्याश्मन्तकस्य च ।
प्रपौण्डरीकं मधुकं शतपुष्पा पुनर्नवा ॥
एतैस्तैलं घृतं वाऽथ पयसा योजितं पचेत् ।
एतेन गात्रमभ्यज्य सत्तारं पाययेदिदम् ॥
मृद्वीकां च पयस्यां च श्रीपर्णीं सारिवां तथा ।
मधूकं नागपुष्पं च शीतपाकीयुतं पिबेत् ॥
शर्करामधुसंयुक्तं तदा संपद्यते सुखी ॥
अथास्य धूपनं दद्यात् सायं प्रातरतन्द्रितः ।
गोलोमीसर्पनिर्मोकं वचां सिद्धार्थकाँस्तथा ॥
संसृज्य सर्पिषा तेन धूपयेत् सन्ध्ययोर्भिषक् ।
इत्यन्धपूतनायास्तु बिल्वाङ्कोठादि भेषजम् ॥

अन्धपूतना की चिकित्सा—बिल्व, अङ्कोठ, कैथ, आक, कपास, बांसा, उरुवूक (रक्त एरण्ड), बांस तथा अश्मन्तक के पत्र, पुण्डरीक (कमल), मुलहठी, सौंफ, पुनर्नवा इनको दूध के साथ मिलाकर तैल अथवा घृत में पकाये। इसके द्वारा शरीर का अभ्यङ्ग (मालिश) करके चार मिलाकर इसी को पिलादे। मुनक्का, पयस्या (क्षीरकाकोली या जीवन्ती), श्रीपर्णी, सारिवा (अनन्तमूल), महुआ, नागपुष्प (नागकेसर), शीतपाकी (गुञ्जा) तथा शर्करा और मधु मिलाकर सेवन करने से व्यक्ति सुखी होता है। इसके बाद उसे सायं-प्रातः श्वेत दूर्वा, सांप की केंचुली, बचा तथा श्वेत सरसों को घृत में मिलाकर धूप देवे। इस प्रकार अन्धपूतना की यह बिल्व अङ्कोठ आदि ओषधियां हैं। सुश्रुत उ० अ० ३३ में इसकी निम्न चिकित्सा दी है—तिक्तकद्रुमपत्राणां कार्यः क्वाथोऽवसेचने। सुरा सौवीरकं कुष्ठं हरितालं मनःशिला ॥ तथा सर्जरसश्चैव तैलार्थमुपदिश्यते। पिप्पल्यः पिप्पलीमूलं वर्गो मधुरको मधु ॥ शालपर्णी बृहत्यौ च घृतार्थमुपदिश्यते । सर्वगन्धैः प्रदेहश्च गात्रेष्वक्षगोश्च शीतलैः ॥ पुरीषं कौक्कुटं केशांश्चर्म सर्पत्वचं तथा। जीर्णां च भिक्षुसंघाटीं धूमनायोपकल्पयेत् ॥ कुक्कुटीं मर्कटीं शिम्बीमनन्तां चापि धारयेत्। मांसमामं तथा पक्वं शोणितं च चतुष्पथे ॥ निवेद्यमन्तश्च गृहे शिशो रक्षानिमित्ततः। शिशोश्च स्नपनं कुर्यात् सर्वगन्धोदकैः शुभैः ॥ कराला पिङ्गला मुण्डा कषायाम्बरवासिनी। देवी बालमिमं प्रीता संरक्षत्वन्धपूतना ॥

जातमात्रं पुरा स्कन्दमुमाशङ्करसन्निधौ ।
गन्धालङ्कारपुष्पाद्यैर्मण्डयामास षण्मुखम् ॥
इषुकं चित्रकं चास्य ललाटचक्षुषि (व्यधात्) ।
नासिकागण्डचिबुकवक्त्रे चित्रविशेषकान् ॥
गन्धर्वाप्सरसश्चैनं रमयन्ति गणास्तथा ।
ततोऽब्रवीद्बालभावान्मातरं भगवान् गुहः ॥
एतमेव महादेवजटाभारं विभूषणम् ।
देहीति न च लेभे तं पुनः पुनरपि ध्रुवम् ॥
गुहस्त्वलभमानस्तं रुषितो ललितः सदा ।
अपविद्धय क्षितौ सर्वं निर्मृज्य मुखमण्डलम् ॥
ततः क्षुब्धास्त्रयो लोका नष्टज्ञाना विचेतसः ।
दम्पती चापि संविग्नौ ददतुश्चामृतोद्भवम् ॥
ततः प्रभृति सप्तानां चन्द्रः शिरसि दृश्यते ।
रुद्रस्कन्दादिनन्दीनां रेवत्याश्च महात्मनः ॥
अपविद्धं तु यत् क्रोधात् स्कन्देन मुखमण्डलम् ।
ततो ग्रहः सा बभूव दारुणा मुखमण्डिका ॥
निर्दहिष्यन्निव क्रोधात्ततस्तामब्रवीद्गुहः ।
अन्नं कुरु महाभागे सङ्कीर्णाकारकर्मणाम् ॥
तथाऽस्त्विति च सा प्राह स्कन्दस्य परिचारिका ।
एवं मुखार्चि(का) जज्ञे शृणु तस्याश्चिकित्सितम् ॥

पहले किसी समय उत्पन्न हुए छै मुखों वाले स्कन्द को पार्वती तथा महादेव के समीप गन्धवाली वस्तुओं, अलंकार, (आभूषण) तथा पुष्प आदि के द्वारा अलंकृत किया (सजाया गया) था। उसके ललाट तथा चक्षुओं पर बाण का निशान तथा अन्य चित्र आदि बनाये गये। इसी प्रकार नासिका, गाल, ठोडी तथा मुख पर भी विशेष प्रकार के चिह्न बना दिये गये। तथा गन्धर्व, अप्सरायें एवं गण लोग इसके साथ क्रीडा करने लगे। उस समय भगवान् गुह बालभाव (बालस्वभाव) से माता से कहने लगे कि—महादेव जी की जटाओं में यह जो आभूषण (चन्द्रमारूपी आभूषण) है वह मुझे दे दो। परन्तु बार २ मांगने पर भी जब कुमार कार्तिकेय को वह नहीं मिला तब सदा प्रसन्न रहने वाले कार्तिकेय ने क्रुद्ध होकर उस अलंकृत किये हुए मुखमण्डल को विकृत एवं मलिन करके भूमि पर फेंक दिया। इससे तीनों लोकों में विक्षोभ उत्पन्न हो गया। उनका ज्ञान नष्ट हो गया तथा चित्त विभ्रम हो गया। इससे पार्वती तथा महादेवजी भी उदास हो गये तथा उन्होंने उसे अमृत से उत्पन्न हुआ चन्द्रमा दे दिया। तब से लेकर रुद्र (महादेव), स्कन्द (कुमार कार्तिकेय), नन्दी तथा रेवती आदि ७ के सिर पर चन्द्रमा दीखता है। क्रुद्ध होकर कार्तिकेय ने जिस मुखमण्डल को विकृत कर दिया था वह मुखमण्डिका नाम का दारुण (भयंकर) ग्रह बन गया। तब क्रोध से मानो जलाते हुए गुह (कुमार कार्तिकेय) ने उससे कहा कि हे महाभागे (महान् ऐश्वर्य वाली) तू उन लोगों को अपना अन्न (भोजन) बना जिनके आकार एवं कर्म (बलि-हवन आदि) संकीर्ण हैं। तब स्कन्द की उस परिचारिका अर्थात् मुखमण्डिका ने कहा—ऐसा ही होगा। इस प्रकार मुखार्चिका (मुखमण्डिका) उत्पन्न हुई ॥

कपित्थबिल्वतर्कारीबिम्बीगन्धर्वहस्तकाः ।
तैलमेतैस्तु संयुक्तं हितमभ्यञ्जनं शिशोः ॥

अब इसकी चिकित्सा सुन—कपित्थ (कैथ), बिल्व, तर्कारी (अग्निमन्थ-अरणिका), बिम्बी (कन्दूरी) तथा गन्ध-

र्वहस्तक (एरण्ड) इनसे सिद्ध किये हुए तैल का शिशु की आंखों में अञ्जन करना चाहिये ॥

खुड्डाकं पञ्चमूलं च श्योनाकोऽथ मधूलिका ।
मधूकानि त्वचः क्षीरी पिप्पल्यस्तैर्घृतं पचेत् ॥
गव्यं क्षीरं गवां पक्कं शर्करामधुसंयुतम् ।
पिबेत् कोलमितं बालस्ततः संपद्यते सुखी ॥

स्वल्प पञ्चमूल, श्योनाक (अरलु), मधूलिका (मर्कटहस्ततृण–गुडतृण), महुआ, क्षीरी वृक्षों (दूध वाले वृक्षों) की त्वचा तथा पिप्पली इनसे गौ का घृत सिद्ध करे। इसमें गौ का दूध डालकर पाक करे तथा शर्करा एवं मधु मिलाकर बालक को एक कोल (६ माशा) मात्रा में देने से वह सुखी (स्वस्थ) हो जाता है ॥

कुष्ठं सर्जरसं चैव यवाः सर्पिश्च धूपनम् ।
सर्पवीरल्लचाषाणां जिह्वानां धारणं मणेः ॥
जीर्णे भोजनमप्यस्य ततः शस्तं प्रदापयेत् ।

कुष्ठ (कूठ), राल, जौ तथा घृत का धूपन देना चाहिये। सर्प, वीरल्ल (सुश्रुत में वीरल्ल के स्थान पर 'चिरल्लि' दिया है जो कि चिल्ल के लिये आया है) तथा चाष (कर्णायस) की जिह्वा और मणियों का धारण करना चाहिये। तथा पहले भोजन के जीर्ण हो जाने पर उसे दूसरा भोजन देना चाहिये। सुश्रुत उ. अ. ३५ में इसकी निम्न चिकित्सा दी है—कपित्थबिल्वतर्कारीवांशीगन्धर्वहस्तकाः । कुबेराक्षी च योज्याः स्युर्बालानां परिषेचने ॥ स्वरसैर्भृङ्गवृक्षाणां तथाऽजहरिगन्धयोः । तैलं वसां च संयोज्य पचेदभ्यञ्जने शिशोः ॥ मधूलिकायां पयसि तुगाक्षीर्यो गणे तथा । मधुरे पञ्चमूले च कनीयसि घृतं पचेत् ॥ वचा सर्जरसः कुष्ठं सर्पिश्चोद्धूपनं हितम् । धारयेदपि जिह्वाश्च चाषचीरल्लिसर्पजाः ॥ वर्णकं चूर्णकं माल्यमञ्जनं पारदं तथा । मनःशिला चोपहरेद् गोष्ठमध्ये बलिं तथा ॥ पायसं सपुरोडाशं बल्यर्थमुपसंहरेत् । मन्त्रपूताभिरद्भिश्च तत्रैव स्नपनं हितम् ॥ अलङ्कृता रूपवती सुभगा कामरूपिणी । गोष्ठमध्यालयरता पातु त्वां मुखमण्डिका ॥

अतश्चोर्ध्वं प्रवक्ष्यामि शीतपूतनयाऽर्दिते ॥
नादेयी सुरसा बिम्बी कपित्थं जीवकस्तथा ।
नदीभल्लातकं श्यामा बिल्वं शीतशिवं तथा ॥
एतं (भिः) कषायं निष्काथ्य परिषिञ्चेत् सुखाम्बुना ।
एतेन परिषिक्तस्य तैलमभ्यञ्जनं शृणु ॥
गोमूत्रं बस्तमूत्रं च मुस्तकं देवदारु च ।
कुष्ठं च सर्वगन्धाश्च तैलमभ्यञ्जनं पचेत् ॥

अब मैं शीतपूतना से पीडित बालक की चिकित्सा कहूंगा—नादेयी (नागरमोथा), सुरसा (तुलसी), बिम्बी (कन्दूरी), कैथ, जीवक, नदी भल्लातक (नदीपिप्पली–गण्डोपली), त्रिवृत, बिल्व तथा शीतशिव (सैन्धव या शैलेयपुष्प) इनका क्वाथ बनाकर इसके कवोष्ण (ईषदुष्ण) जल से परिषेचन करना चाहिये। इस क्वाथ से परिषेचन करने के बाद निम्न तैल का अभ्यञ्जन करना चाहिये। गोमूत्र, बकरे का मूत्र, नागरमोथा, देवदारु, कुष्ठ तथा छोटी इलायची आदि सर्वगन्ध की ओषधियों से अभ्यञ्जन के लिये तैल पाक करे।

वक्तव्य—सर्वगन्ध-सुश्रुत सू. अ. ४६ में कहा है—चातुर्जातककर्पूरं कक्कोलागुरुकुङ्कुमम् । लवङ्गसहितश्चैव सर्वगन्धं विनिर्दिशेत् ॥

खदिरं रोहिणीसारं पलाशं ककुभत्वचम् ।
एतं संभृत्य संभारं क्षीरे सर्पिर्विपाचयेत् ॥
तत् सिद्धं लेहयेत् काले शर्कराक्षौद्रमात्रया ।
शीतपूतनया ग्रस्तो मुच्यते पथ्यभोजनः ॥

खदिर, कट्फल का सार, पलाश (ढाक) तथा अर्जुन की छाल इनका क्वाथ बनाकर तीन भाग में एक भाग दूध डालकर घृतपाक करे। इस से सिद्ध हुए घृत में शर्करा तथा मधु मिलाकर उचित काल में सेवन करने से तथा पथ्य का सेवन करने से बालक शीतपूतना ग्रह से मुक्त हो जाता है ॥

गृध्रोलूकतरक्षूणां पुरीषाणि समानयेत् ।
अग्निको बस्तलोमानि पिचुमन्दश्च धूपनम् ॥
शीतपूतनया ग्रस्ते तच्चेदं च चिकित्सितम् ।

गृध्र (गीध), उल्लू तथा तेंदूबाघ की पुरीष (मल), चित्रक, बकरे के बाल तथा पिचुमन्द (नीम) की धूप देनी चाहिये। इस प्रकार शीतपूतना ग्रह से आक्रान्त बालक की पूर्वोक्त तथा यह चिकित्सा है।

वक्तव्य—पहले श्लोकों में भी शीत पूतना ग्रह का प्रतिषेध दिया हुआ है। अब भी पुनः शीतपूतना ग्रह की ही चिकित्सा दी है। यहाँ के श्लोक भी यदि पूर्वोक्त श्लोकों के साथ ही दिये जाते तो अधिक विषयशुद्धि प्रतीत होती है॥

अत ऊर्ध्वं तु सर्वेषां शृणु सामान्यभेषजम् ॥
अग्निमन्थः कुरबको वरुणः पारिभद्रकः ।
निशाऽनलः पोटगलः पूतिका रोहिषस्तथा ॥
एतेन परिषिक्तस्य तैलमभ्यञ्जनं शृणु ।
प्रियङ्गू रोचना चैव शतपुष्पा कुटन्नटम् ॥
तालीसपत्रं नलदं तथा चन्दनसारिवे ।
मधूकाङ्कोठमञ्जिष्ठापृथ्वीकाभूतिकानि च ॥
एभिस्तैलं समं सिद्धं मुद्गाम्लोदकसंयुतम् ।
एतेन बालमभ्यक्तं मुञ्चत्याशु पितृग्रहः ॥
बिम्बीकाश्मर्यमधुकं कुलत्था बदरा यवाः ।
खुड्डाकपञ्चमूलस्य निष्काथं चात्र दापयेत् ॥
खर्जूरं मुस्तकं चैव नारिकेलफलानि च ।
नालिकाङ्कुरमृद्वीका मधूकं मधुकं तथा ॥

एतानि शुष्कचूर्णानि ....

....

....

(इति ताडपत्रपुस्तके १०५ तमं पत्रम्[1] ।)

अब सब ग्रहों की सामान्य चिकित्सा सुनो— अग्निमन्थ (अरणी), कुरबक (रक्तझिण्टी-लालकटसरैया), वरुण, पारिभद्र (पर्वतनिम्ब), हरिद्रा, चित्रक, पोटगल (नल), पूतिका (चिरविल्व) तथा रोहिष (कत्तृण-ध्यामक)-इनके क्वाथ से परिषेक करने के बाद निम्न तेल से अभ्यङ्ग (मालिश) करनी चाहिये-प्रियङ्गु, रोचना (कम्पिल्ल अथवा कंकुष्ठ) सौंफ, कुटन्नट (तगर), तालीशपत्र, नलद (जटामांसी) रक्तचन्दन, सारिवा, महुआ, अङ्कोठ, मंजिष्ठा, पृथ्वीका (बड़ी इलायची) तथा भूतिक (भूनिम्ब)-इनसे तैल सिद्ध करके इसमें मूंग तथा कांजी डालकर अभ्यङ्ग करने से पितृग्रह बालक को शीघ्र ही छोड़ देते हैं। बिम्बी, गम्भारी, मुलहठी, कुलत्थ, बेर, जौ तथा लघु पञ्चमूल (शालिपर्णी आदि) का क्वाथ देना चाहिये। तथा खजूर, नागरमोथा, नारियल का फल, कमलनाल के अङ्कुर, मुनक्का, महुआ तथा मुलहठी का शुष्क चूर्ण देने से भी ग्रहों की बाधा दूर हो जाती है.........

(इति ताडपत्रपुस्तके १०५ तमं पत्रम्)

प्लीहहलीमकचिकित्सिताध्यायः ।

....

....

..............दोऽग्निबलसंक्षयः ।
मूर्च्छा तृष्णा भ्रमस्तन्द्री विषादारुचिगौरवम् ॥

हलीमक के लक्षण—अग्नि एवं बल अथवा जाठराग्नि का क्षीण होना, मूर्च्छा, तृष्णा, भ्रम, तन्द्रा, विषाद, अरुचि तथा शरीर का भारीपन-ये हलीमक के लक्षण होते हैं ॥

तस्य प्रतिक्रियांकुर्याद्वातपित्तहरीं बुधः ।
गुडूचीस्वरसे सिद्धं सक्षीरं माहिषं घृतम् ॥
उपस्निग्धं ततस्तं तु स्रंसयेद्बलकालवित् ।
रसेनामलकानां तु त्रिवृद्युक्तेन युक्तितः ॥
मधुराण्यविदाहीनि विरिक्तं नित्यमाशयेम् ।
दुर्बलस्य प्रयोज्या तु नित्यं गुडहरीतकी ॥

बुद्धिमान् व्यक्ति को इनकी वात तथा पित्तनाशक चिकित्सा करनी चाहिये अर्थात् यदि रोग वातिक है तो वातनाशक तथा पैत्तिक है तो पित्तनाशक चिकित्सा करनी चाहिये। पैत्तिक हलीमक की चिकित्सा—गिलोय के स्वरस में भैंस के घृत तथा दूध को यथाविधि सिद्ध करके रोगी को देवे। इस घृत के सेवन से स्नेहन हो जाने पर बल तथा काल को जानने वाला वैद्य रोगी को आंवले के रस में त्रिवृत् चूर्ण मिलाकर युक्तिपूर्वक विरेचन कराये। तथा विरेचन हो जाने के बाद उसे मधुर एवं अविदाही पदार्थों का ही सदा सेवन कराना चाहिये। यदि रोगी दुर्बल हो तो उसे सदा गुडहरीतकी का प्रयोग कराये ॥

रक्तपित्तौषधं यच्च तच्चाप्यत्र प्रशस्यते ।
धात्रीफलानां पक्वानां स्वरसस्याढकं भवेत् ॥
पिप्पल्यो मधुकं द्राक्षा चन्दनोशीरबालकम् ।
घृतप्रस्थं पचेदेतैः पक्वे दद्याच्च शर्कराम् ॥
तल्लिहेन्मधुना प्रातः पथ्याशी नीरुजो भवेत् ।
एतत् पित्तोत्तरे कार्यं, शृणु वातोत्तरेऽपि तु ॥

तथा जो रक्तपित्त की चिकित्सा (अवस्था के अनुसार लङ्घन एवं तर्पण बृंहण तथा पेया आदि का प्रयोग) है, वह भी इसमें उपयोगी है। पके हुए आंवलों के १ आढ़क (४ प्रस्थ) रस में १ प्रस्थ घृत तथा पिप्पली, मुलहठी, द्राक्षा, चन्दन, खस तथा नेत्रबाला आदि ओषधियों का कल्क डालकर घृत पाक करे। घृत तैयार होने पर उसमें शर्करा तथा मधु मिलाकर रोगी प्रातः काल चाटे तथा पथ्य का सेवन करे। इससे रोगी नीरोग हो जाता है। यह पित्त की अधिकता में चिकित्सा कही गई है ॥

कल्याणकं बलातैलं कौमारं[1] वा प्रयोजयेत् ।
कामलापाण्डुशोथानां तुल्यं कुर्याच्च भेषजम् ॥
पथ्याशिना च सततं सेव्याऽगस्त्यहरीतकी ।

वातिक हलीमक की चिकित्सा—इसमें कल्याणकारक बलातैल, तथा कुमारकल्याण घृत का प्रयोग करना चाहिये, इसकी कामला, पाण्डु एवं शोथ रोग के समान चिकित्सा करनी चाहिये तथा पथ्य का सेवन करते हुए अगस्त्यहरीतकी का प्रयोग करना चाहिये।

वक्तव्य—(i) चरक चि. अ. १८ में अगस्त्यहरीतकी का निम्न योग दिया है— दशमूलीं स्वयंगुप्तां शङ्खपुष्पीं शटीं बलाम् । हस्तिपिप्पल्यपामार्गपिप्पलीमूलचित्रकान् ॥ भार्गीं पुष्करमूलं च द्विपलांशं यवाढकम् । हरीतकीशतं भद्रं जले पञ्चाढके पचेत् ॥ यवे स्विन्ने कषायं तं पूतं तच्चाभयाशतम् । पचेद् गुडतुलां दत्त्वा कुडवं च पृथक् घृतात् ॥ तैलात्सपिप्पलीचूर्णात् सिद्धशीते च माक्षिकात् । लिह्याद् द्वे चाभये नित्यमतः खादेद्रसायनात् ॥ तद्वलीपलितं हन्ति वर्णायुर्बलवर्धनम् । पञ्चकासान् क्षयं श्वासं हिक्कां च विषमज्वरम् ॥ हन्यात्तथाऽर्शोग्रहणी हृद्रोगारुचिपीनसान् अगस्त्यविहितं श्रेष्ठं रसायनमिदं शुभम् ॥ **(ii) चरक चि. अ. १६ में भी हलीमक रोग की चिकित्सा निम्न प्रकार दी है—** गुडूचीस्वरसक्षीरसाधितं माहिषं घृतम् । स पिबेत् त्रिवृतां स्निग्धो रसेनामलकस्य तु॥ विरिक्तो मधुरप्रायं भजेत्पित्तानिलापहम् ॥ द्राक्षालेहं च पूर्वोक्तं सर्पींषि मधुराणि च । यापनान्क्षीरबस्तींश्च शीलयेत्सानुवासनान् ॥ मृद्वीकारिष्टयोगांश्च

१ अस्याग्रे अष्टपत्रात्मको ग्रन्थः, खण्डितस्ताडपत्रपुस्तके ।

१. कुमारकल्याणघृतमित्यर्थः ।

पिबेद्युक्त्याऽग्निवृद्धये । कासिकं चाभयालेहं पिप्पलीं मधुकं बलाम् । पयसा च प्रयुञ्जीत यथादोषं यथाबलम् ॥

इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥

(इति) प्लीहाहलीमकचिकित्सितम् ।

ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था ।

वक्तव्य—इस अध्याय में नाम के अनुसार प्लीहारोग (प्लीहोदर-प्लीहावृद्धि) तथा हलीमक रोग की चिकित्सा होनी चाहिये । परन्तु इस अध्याय के प्रारम्भिक भाग के खण्डित होने से उपलब्ध अध्याय में प्लीहारोग का बिलकुल वर्णन नहीं है । इसमें केवल हलीमक रोग की चिकित्सा ही है । हलीमकरोग-पाण्डु, कामला तथा कुम्भकामला का ही प्रवृद्ध रूप है । चरक चि. अ. १६ में हलीमकरोग का निम्न स्वरूप दिया है—यदा तु पाण्डोर्वर्णः स्याद्धरितश्यावपीतकः । बलोत्साहक्षयस्तन्द्रा मन्दाग्नित्वं मृदुज्वरः ॥ स्त्रीष्वहर्षोऽङ्गमर्दश्च श्वासस्तृष्णाऽरुचिर्भ्रमः । हलीमकं तदा तस्य विद्यादनिलपित्ततः ॥ सुश्रुत उ. अ. ४४ में भी कहा है—तं वातपित्ताद्धरिपीतनीलं हलीमकं नाम वदन्ति तज्ज्ञाः ॥ अर्थात् हलीमक रोग वात तथा पित्त से होता है । इसीलिये प्रकृत ग्रन्थ में वातिक तथा पैत्तिक हलीमक रोग की पृथक् चिकित्सा दी है । अब हम प्लीहारोग का वर्णन करते हैं प्लीहारोग से अभिप्राय प्लीहा (Spleen) की वृद्धि (Entargement) है । चरक चि. अ. १३ में इस वृद्धि के निम्न कारण दिये हैं—अशितस्यातिसंक्षोभाद्यानपानातिचेष्टितैः । अतिव्यवायभाराध्ववमनव्याधिकर्शनैः ॥ वामपार्श्वाश्रितः प्लीहा च्युतः स्थानात्प्रवर्धते । शोणितं वा रसादिभ्यो विवृद्धं तं विवर्धयेत् ॥ अर्थात् भोजन के पश्चात् सवारी आदि अत्यधिक शारीरिक चेष्टाओं के कारण प्लीहा की वृद्धि हो जाती है । प्लीहावृद्धि का स्वरूप—तस्य प्लीहा कठिनोऽष्ठीलेवादौ वर्धमानः कच्छपसंस्थान उपलभ्यते, स चोपेक्षितःक्रमेण कुक्षिं जठरमग्न्यधिष्ठानं च परिक्षिपन्नुदरमभिनिर्वर्तयति । अर्थात् प्लीहा कठिन होकर आकार में बढ़ जाती है तथा कुक्षि आदि को घेर लेती है । प्लीहावृद्धि के लक्षण—तस्य रूपाणि—दौर्बल्यारोचकाविपाकवर्चोमूत्रग्रहतमःप्रवेशपिपासाङ्गमर्दच्छर्दिमूर्च्छाङ्गसादकासश्वासमृदुज्वरानाहाग्निनाशकार्श्यास्यवैरस्यपर्वभेदाः कोष्ठे वातशूलं चापि चोदरमरुणवर्णं विवर्णं वा नीलहरितहारिद्राजिमद्भवति । सुश्रुत नि. अ. ७ में इस रोग की सम्प्राप्ति निम्न प्रकार से दी है—विदाह्यभिष्यन्दिरतस्य जन्तोः प्रदुष्टमत्यर्थमसृक् कफश्च । प्लीहाभिवृद्धिं सततं करोति प्लीहोदरं तत्प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥ वामे च पार्श्वे परिवृद्धिमेति विशेषतः सीदति चातुरोऽत्र । मन्दज्वराग्निः कफपित्तलिङ्गैरुपद्रुतः क्षीणबलोऽतिपाण्डुः ॥ प्लीहा वृद्धि की चिकित्सा च० चि० अ० १३ में कहा है—चिकित्सां संप्रकुर्वीत यथादोषं यथाबलम् । स्नेहं स्वेदं विरेकं च निरूहमनुवासनम् ॥ समीक्ष्य कारयेद्बाहौ वामे वा व्यधयेत् शिराम् ॥ अर्थात् प्लीहावृद्धि में स्नेहन, स्वेदन, विरेचन, अनुवासन कराना चाहिये तथा वाम बाहु में शिरावेध कराना चाहिये ॥ सुश्रुत चि० अ० १४ में भी कहा है—"प्लीहोदरिणः स्निग्धस्विन्नस्य दध्ना भुक्तवतो वामबाहौ कूर्पराभ्यन्तरतः शिरां विध्येद्विमर्दयेत् पाणिना प्लीहानं रुधिरस्यन्दनार्थम्" । इसी प्रकार इसमें षट्पल अथवा क्षीरषट्पल घृत, रोहितक घृत, गुडहरीतकी, पिप्पलीवर्धमान, आदि का भी प्रयोग किया जाता है । तथा वात और कफ की प्रधानता में चरक में अग्निकर्म का विधान भी दिया है कहा भी है—"अग्निकर्म च कुर्वीत भिषग्वातकफोल्बणे ।"

(इति) प्लीहाहलीमकचिकित्सिताध्यायः ।

उदावर्तचिकित्सिताध्यायः ।

अथात उदावर्तचिकित्सितमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥ इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ २ ॥

अब हम उदावर्त चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे । ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था ॥ १-२ ॥

कषायकटुतिक्तरूक्षशीतपूतिशुष्कशाकवल्लूरपिण्याकसुनिषण्णकदुग्धिकाकोद्रवश्यामाकनीवारयवककट्(?) वेत्राग्रकर्कन्धूकपित्थबिल्वकरीरगाङ्गेरुकीलिकुचपारावतभव्यकाञ्जिकशुक्तारनालतुषोदकमुद्गकलायातसीप्रभृतिनिषेवणाद्रूक्षात्मनो वातभूयिष्ठप्रकृतेर्वेगविधारणादनिलः प्रकुपितो देहमूर्ध्वमुदामुत्य वायुनोदानेन प्रत्याहतो गुदमासाद्याशयं कृत्वाऽधोवहानि स्रोतांसि दूषयित्वा विण्मूत्रकफपित्तानिलशुक्रमार्गानुपरुणद्धि; तत आनाहमुपजनयति प्राणहरं, तल्लक्षणं वा । क्षीरमुपसेवमानस्य शिशोरचिरं वा कटीधारणाद्बस्तिगुदसंरोधनादतिरोदनात् प्रजागराद्स्नेहात्क्षीरानुपसेवनाद्वेगविधारिण्या उपवासप्रमिताशनविषमाशनप्रजागरचिन्तेर्ष्याव्यायामनित्यायाः क्षीरमामोद्यते वायुना; तत् पीयमानमुदावर्ताय संपद्यते । तत्र षडुदावर्ताः । वातविण्मूत्रशुक्रच्छर्दिक्षवथूनां संधारणादप्रवृत्तेश्च षण्णां षडुच्यन्ते । तदुदावर्तसामान्यात्तु तमेकमेवाहुरेके । तेषां नवेगान्धारणीयेऽध्याये लक्षणान्यौषधानि चोक्तानि । तानीहापि तु दारुणत्वादस्य व्याधेर्यत्किञ्चिदुपदेक्ष्यामः । शूलमूर्च्छादाहानाहाध्मानानि, प्रवृत्तिद्वेषो, वैवर्ण्यं, संज्ञानाशस्खलनपतनविलपनतृष्णाहिक्काश्वासप्रस्वेदाऽङ्गारपरिकर्तिकाभिरभीक्ष्णं बाध्यते, बस्तिगुदहृदयपार्श्ववंक्षणोदरशूलमूरुसादो व्यथा चेत्युदावर्तलक्षणानि । पश्चादौ पूर्वरूपाणि भवन्ति ॥ ३ ॥

आनाह का हेतु—कषाय, कटु, तिक्त, रूक्ष, शीत, पूति (दुर्गन्धयुक्त) द्रव्य, सूखे शाक, वल्लूर (सूखा मांस), पिण्याक (खल), सुनिषण्णक (चौपतिया Marsilea-Inrādrifolia), दुग्धिका (दुद्धी), कोद्रव (कोदों), श्यामाक,

नीवार, जौ, ककुट्ट (?), वेत्राग्र (बेंत का अग्रभाग) कर्कन्धु, कैथ, बिल्व, करीर (टेंट), गांगेरुकी (गंगोठ) कटहल, पारावत (कबूतर अथवा एक प्रकार का फल-फालसा), भव्य (एक प्रकार का फल), कांजी, सिरका, आरनाल (कांजी का भेद), तुषोदक, मूग, कलाय (मटर) तथा अलसी आदि के सेवन से रूक्ष तथा वातप्रकृति वाले पुरुष के मलमूत्रादि के वेगों को धारण करने से प्रकुपित हुआ वायु शरीर के ऊपर की ओर रुका हुआ उदानवायु द्वारा आहत होकर गुदा में पहुंच कर वहां अपना स्थान बनाकर अधोवाही स्रोतों को दूषित करके मल, मूत्र, कफ, पित्त, वायु तथा शुक्र के मार्गों को बन्द कर देता है जिससे प्राणनाशक आनाह अथवा उसके लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। सुश्रुत में आनाह का निम्न स्वरूप दिया है—'आमं शकृद्वा निचितं क्रमेण भूयो विबद्धं विगुणानिलेन । प्रवर्तमानं न यथास्वमेनं विकारमानाहमुदाहरन्ति ॥ तस्मिन् भवत्याम समुद्भवे तु' अर्थात् आनाह आमदोष से उत्पन्न होता है। दूध पीने वाले बालक को बहुत देर तक कटि पर धारण करने से अर्थात् गोद में उठाये रखने से, बस्ति तथा गुदा के वेग अर्थात् मल तथा मूत्र को रोकने से, अधिक रोने से, जागरण से, स्नेह की कमी से, तथा दूध के सेवन न करने के कारण मलमूत्र आदि के वेगों को धारण करने वाली तथा नित्य उपवास, प्रमिताशन (मपा हुआ आहार करना) विषमाशन (विषम भोजन), जागरण, चित्त में ईर्ष्या तथा व्यायाम करने वाली स्त्री का दूध वायु के द्वारा विकृत हो जाता है। उस दूध के पीने से शिशु को उदावर्त हो जाता है। चरक चि० अ० २६ में उदावर्त का हेतु तथा संप्राप्ति निम्न प्रकार से दी है—कषायतिक्तोषणरूक्षभोज्यैः संधारणोदीरणमैथुनैश्च । पक्वाशये कुप्यति चेदपानः स्रोतांस्यधोगानि बली स रुद्ध्वा ॥ करोति विण्मारुतमूत्रसङ्गं क्रमादुदावर्तमतः सुघोरम् ॥ अर्थात् कषाय तिक्त आदि भोजनों तथा वेगसंधारण आदि से पक्वाशय में कुपित हुआ अपान वायु अधोगामी स्रोतों में रुकावट पैदाकर देता है जिससे पुरीष, मूत्र एवं वायु आदि की प्रवृत्ति बन्द हो जाती है। इसे ही उदावर्त कहते हैं। इसी प्रकार सुश्रुत उ० अ० ५५ में भी कहा है। उदावर्त्त ६ प्रकार के होते हैं। वात, पुरीष, मूत्र, शुक्र, छर्दि (वमन) और क्षवथु (छींक)। इन ६ के रोकने तथा अप्रवृत्ति से ६ प्रकार के उदावर्त होते हैं। इन सबमें उदावर्त के सामान्य होने से कुछ लोग एक ही प्रकार का उदावर्त मानते हैं। चरक सू० अ० १९ में भी ६ प्रकार का ही उदावर्त दिया है-षडुदावर्ता इति-'वातमूत्रपुरीष शुक्रच्छर्दिक्षवथुजा'। सुश्रुत उ० अ० ५५ में वात मल मूत्र, जृम्भा आदि के रोकने से १३ प्रकार का उदावर्त दिया है। 'न वेगान्धारणीय' अध्याय में उपर्युक्त ६ प्रकार के उदावर्तों के लक्षण तथा चिकित्सा दी गई है। इस व्याधि के दारुण (भयंकर) होने से उनमें से कुछ लक्षण यहां भी कहे जाते हैं—शूल (पेट में दर्द), मूर्छा, दाह, आनाह तथा आध्मान (अफारा-Flatulance), प्रवृत्तिद्वेष (किसी चीज में प्रवृत्ति-रुचि न होना), विवर्णता (वर्ण का विकृत होना), संज्ञानाश, स्खलन (फिसलना), पतन (गिरना), विलपन (विलाप करना), तृष्णा, हिक्का, श्वास स्वेद (अधिक पसीना आना), अङ्गारों की तरह जलना, तथा परिकर्तिका (गुदा में कर्तनवत् पीडा अथवा Colic) द्वारा रोगी निरन्तर कष्ट पाता है। बस्ति, गुदा, हृदय, पार्श्व, वंक्षण (कटि) तथा उदर में शूल होती है। उरुसाद (घुटनों में वेदना) तथा व्यथा (पीडा) इत्यादि उदावर्त के लक्षण होते हैं। इनमें से प्रारंभ के पांच अर्थात् शूल, मूर्छा, दाह, आनाह एवं आध्मान-उदावर्त के पूर्वरूप होते हैं। चरक चि० अ. २६ में उदावर्त के निम्न लक्षण दिये हैं—रुग्बस्तिहृत्कुक्ष्युदरेष्वभीक्ष्णं सपृष्ठपार्श्वेष्वतिदारुणा स्यात् । आध्मानहृल्लासविकर्तिकाश्च तोदोऽविपाकश्च सबस्तिशोथः ॥ वर्चोऽप्रवृत्तिर्जठरे च गण्डान्यूर्ध्वश्च वायुर्विहतो गुदे स्यात् । कृच्छ्रेण शुक्रस्य चिरात्प्रवृत्तिः स्याद्वा तनुः स्यात्खररूक्षशीता ॥

वक्तव्य—आनाह के लिये माधवनिदान में कहा है—आमं शकृद्वा निचितं क्रमेण भूयो विबद्धं विगुणानिलेन । प्रवर्तमानं न यथास्वमेनं विकारमानाहमुदाहरन्ति ॥ **आध्मान—के लिये सुश्रुत में कहा है**—साटोपमत्युग्ररुजमाध्मातमुदरं भृशम् । आध्मानमिति जानीयाद् घोरं वातनिरोधजम् ॥ ३ ॥

पञ्चजनमादावुष्णलवणतैलाभ्यक्तं यथायोगं स्विन्नशरीरं फलवर्तिभिरुपक्रमेत् । विस्रंसितं च संतमुष्णस्निग्धमधुरलवणप्रायमशनं यवगोधूमषष्टिकशाकघृतप्रायमानूपौदकमांसप्रायं वाऽऽहारमनुपद्रवाय बलिने उपकल्पयेत् । कोशातकीकट्वलाबुबीजपिप्पलीसैन्धवहिङ्गुवचाहरितालमनःशिलामाषचूर्णैर्गोमूत्रपिष्टैः फलवर्त्य उपघाता (क्लृप्ता) घृताक्ते कटुतैलाक्ते वा गुदे शलाकया प्रणयेत् । पूर्ववदेव चोपचारः । म्रक्षणाच्छादनपरिषेकाशनानि तानि चास्य स्निग्धोष्णानि विदध्यात् । सक्तुत्राट्यकुल्माषापूपवास्तुकयवशाकसुधापत्रत्रिवृच्छाकपञ्चाङ्गुलश्रीवारिकाश्रीफलासुवर्चलाकाकमाचीकलायपालङ्क्यादिभिश्च शाकैर्घृतसिद्धैर्भोजयेद्यवान्नम् । त्रिवृत्पीलुयवोत्काराग् वा गोमूत्रेण पाययेत् । त्रिवृद्धरीतकीश्यामासुधाः क्षीरेण युक्ता मूत्रैर्वाऽऽनाहभेदनम् । त्रिफलादन्तीश्यामात्रिवृत्कम्पिल्लकपीलुस्वर्णक्षीरीवचासप्तलानीलिकाग्रहघ्नीचूर्णानि सुधाक्षीरेण गुटिका आमलकमात्रीः कृत्वा तत एकां भक्षयित्वोष्णोदकमूत्रानुपानादानाहैर्मुच्यते । एतान्येव त्रिफलादीनि क्षीरमूत्रवर्जितानि पञ्चकटुकपञ्चलवणहिङ्गुकुष्ठक्षारद्वयशतपुष्पापाठाश्रीफलयुतानि चूर्णानि कृत्वा बिडालपदकं क्षीरमद्योष्णवारिगोमूत्राण्यतमपीतमानाहशूलगुल्मभगन्दरार्शसां निर्णाशनं चूर्णं, नाराचकमित्युच्यते तत् ॥ ४ ॥

सबसे पूर्व उष्ण तथा लवणयुक्त तैल से अभ्यक्त (मालिश

किये हुए) उस पञ्चजन (मनुष्य-रोगी) को आवश्यकतानुसार स्वेदन करके फलवर्तियों (गुदवर्तियों—Suppositories) द्वारा चिकित्सा करे । विरेचन हो जाने के बाद यदि कोई उपद्रव न हो तथा रोगी बलवान हो तो उसे उष्ण, स्निग्ध, मधुर एवं लवण रस प्रधान, जौ, गेहूं, षष्टिक, शाक तथा घृतयुक्त एवं आनूप तथा औदक पशुओं के मांस वाला आहार देना चाहिये । तथा कोशातकी, कड़वी तुम्बी के बीज, पिप्पली, सेन्धानमक, हींग, हरताल, मनःशिला तथा उड़द के चूर्ण को गोमूत्र में घोटकर बनाई हुई फलवर्तियां घी अथवा कड़ुवा तैल लगाकर गुदा में शलाका के द्वारा अन्दर प्रविष्ट कर दे । इनका उपचार पहले के समान ही करना चाहिये । इसके लिये म्रक्षण (मालिश), आच्छादन (वस्त्र), परिषेक तथा भोजन आदि सब स्निग्ध तथा उष्ण होने चाहिये । सत्तू, वाट्य (यवमण्ड-अथवा जौ का दलिया), कुल्माष (अर्धस्विन्न मुद्ग आदि घुघुनी-Powdered varley, halg boiled in warm water and then made into cakes is called kulmasha), अपूप (मालपूआ), बथुआ, यव, शाक, सेहुण्ड के पत्ते, त्रिवृत् शाक, पञ्चाङ्गुल (एरण्ड), श्रीवारिका (शितावर शाक), श्रीफला (बिल्व), सुवर्चला (हुलहुल), काकमाची (मकोय), कलाय (मटर), पालङ्क्य (पालक) इत्यादि घी में बनाये हुए शाकों के साथ यवान्न (जौ का अन्न) रोगी को खिलाये । त्रिवृत्, पीलु, एवं यवोत्कार गोमूत्र से पिलाये । त्रिवृत्, हरीतकी, श्यामा, सुधा (थूहर) को दूध अथवा गोमूत्र के साथ देने से आनाह नष्ट होता है । त्रिफला, दन्ती (जमालगोटा), श्यामा (काली निशोत), त्रिवृत्, कमीला, कपीलु, स्वर्णक्षीरी (सत्यानाशी), वचा, सातला, नीलिका (नीली), म्रहघ्नी (श्वेत सर्षप) के चूर्णों को सेहुण्ड (थूहर) के दूध में घोटकर आंवले के प्रमाण की गुटिका बनाकर उष्ण जल अथवा गोमूत्र के अनुपान से एक गोली का प्रयोग करने से आनाह शान्त हो जाता है । क्षीर (दूध) तथा गोमूत्र से रहित इन्हीं उपर्युक्त त्रिफला आदि को पञ्चकटु (पञ्चकोल-पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, सोंठ), पञ्चलवण (सेन्धानमक, कालानमक, विड् लवण या नौसादर, सामुद्र तथा सांभरनमक), हींग, कुष्ठ, क्षारद्वय (सज्जीक्षार तथा यवक्षार), सौंफ, पाठा तथा श्रीफल (बिल्व) के सहित चूर्ण करके इसको बिडाल (१ कर्ष) मात्रा में दूध, मद्य, उष्णजल, अथवा गोमूत्र में से किसी के अनुपान से पीने से आनाह, शूल, गुल्म, भगन्दर तथा अर्श का नाश करता है-इसे 'नाराचक' चूर्ण कहते हैं ॥ ४ ॥

तत्र श्लोकाः—
यदि व्यतिक्रमेदेतानुदावर्त उपक्रमान् ।
युक्तोष्णलवणं तस्य निरूहमुपकल्पयेत् ॥ ५ ॥
आस्थापनं च
....
....

(इति ताडपत्रपुस्तके ११४ तमं पत्रम्[१])

यदि उदावर्त रोग इन उपर्युक्त उपक्रमों-(चिकित्साओं से ठीक न हो तो उसे उष्ण तथा उचित परिमाण में लवण से युक्त निरूह तथा आस्थापन बस्ति देनी चाहिये.........।

वक्तव्य—चरक चि० अ० २६ में उदावर्त का निम्न चिकित्साक्रम दिया है—तं तैलशीतज्वरनाशनाक्तं स्वेदैर्यथोक्तैः प्रविलीनदोषम् । उपाचरेद्वर्तिनिरूहबस्तिस्नेहैर्विरेकैरनुलोमनान्नैः ॥ इससे आगे चरक में कई फलवर्तियों तथा प्रधमन चूर्णों का उपयोग देने के बाद लिखा है—तैषां विघाते तु भिषग्विदध्यात्स्वभ्यक्तसुस्विन्नतनोर्निरूहम् । ऊर्ध्वानुलोमौषधमूत्रतैलक्षीराम्लवातघ्नयुतं सुतीक्ष्णम् ॥ अर्थात् यदि इन वर्तियों तथा प्रधमन चूर्णों से लाभ न हो तो देह पर अभ्यङ्ग एवं स्वेदन करके वमन, विरेचन, औषध, गोमूत्र, तैल, दूध तथा कांजी आदि से युक्त अच्छी तीक्ष्ण निरूहबस्ति दे । इसके बाद दोषभेद से निरूह बस्ति में भिन्न २ द्रव्यों की योजना दी है—वातेऽधिकेऽम्लं लवणं सतैलं क्षीरेण पित्ते तु कफे समूत्रम् । स मूत्रवर्चोऽनिलसङ्गमाशु गुदं सिराश्च प्रगुणीकरोति ॥ अर्थात् वात की अधिकता में अम्ल, लवण तथा तैल-युक्त, पित्त की अधिकता में दूध तथा कफ की अधिकता में गोमूत्र युक्त बस्ति दी जाती है ॥ ५ ॥

(इति ताडपत्रपुस्तके ११४ तमं पत्रम्)

राजयक्ष्मचिकित्सिताध्यायः ।

....
....
...............(रोगा) नीकविनाशनम् ।
पिप्पल्यो विंशतिः श्रेष्ठा उदकार्धाढके शृताः ॥
चतुर्भागावशेषं तं छागक्षीरेण तावता ।
शृतं नित्यं पिबेच्छोषी तेनैवाश्नीत नित्यदा[१] ॥
विना वाऽन्नोदकं शक्त्या तत्प्रधानो विमुच्यते ।

वक्तव्य—इस अध्याय में राजयक्ष्मा रोग की चिकित्सा का वर्णन है । राजयक्ष्मा 'क्षय' रोग को कहते हैं । क्योंकि यह रोग सब से पूर्व नक्षत्रराज चन्द्रमा को हुआ था इसलिये इसका नाम राजयक्ष्मा है । चरक चि० अ० ८ में कहा है—यस्मात्स राज्ञः प्रागासीद्राजयक्ष्मा ततो मतः । सुश्रुत उ० अ० ४१ में भी इसी प्रकार कहा है । इस रोग को शोष भी कहते हैं क्योंकि इस रोग में शरीर के रस का शोषण हो जाता है । कहा भी है—संशोषणाद्रसादीनां शोष इत्यभिधीयते । क्रियाक्षयकरत्वाच्च क्षय इत्युच्यते पुनः ॥ यह अध्याय प्रारंभ में खण्डित है । इस खण्डित अंश में राजयक्ष्मा के हेतु, सम्प्राप्ति, पूर्वरूप तथा लक्षण इत्यादि होंगे । राजयक्ष्मा रोग के मुख्य चार कारण माने जाते हैं—(१) अपने बल या शक्ति से अधिक कार्य करना, (२) वेगों को रोकना, (३) धातुक्षय, (४) विषम भोजन ।

१. अस्याग्रे पत्रद्वयात्मको ग्रन्थस्त्रुटितस्ताडपत्रपुस्तके ।

१. सर्वदा इत्यभिसन्धिः ।

अब हम अध्यायोक्त विषय पर आते हैं—बीस उत्तम पिप्पलियों को आधे आढक-(२ प्रस्थ) जल में पकाया जाय। जब चतुर्थांश जलशेष रहे तब उतार कर फिर उसमें उतना ही बकरी का दूध डालकर पकाया जाय। सिद्ध होने पर उस दूध को शोष रोग के रोगी को नित्य पीना चाहिये तथा अपनी शक्ति के अनुसार अन्न और जल का त्याग करके केवल उसी दुग्ध का आहार करना चाहिये। इससे वह रोग दूर हो जाता है॥

द्वादशाब्दानतीतो वा स्निग्धस्विन्नो वशोधितः॥
पिवेत् क्षीरेण पिप्पल्यः (लीः) पञ्च पञ्च च वर्धयेत्।
शतं तथैव ह्रसयेद्भोजनोदकवर्जितः॥
पिप्पलीवर्धमानं तु सर्वरोगविनाशनम्।

यदि रोग १२ वर्ष का पुराना हो गया हो तो रोगी स्नेहन, स्वेदन तथा शोधन (पञ्चकर्म द्वारा) करके दूध के साथ पिप्पलियों का सेवन करें। प्रतिदिन पांच पांच पिप्पलियां बढ़ाकर १०० तक ले जाये तथा फिर उसी प्रकार क्रमशः घटाये। भोजन (अन्न) तथा जल का त्याग कर देना चाहिये। यह 'पिप्पली वर्धमान' योग सब रोगों को नष्ट करने वाला है।

वक्तव्य—यक्ष्मा रोग के रोगी को वमन तथा विरेचन यथासंभव नहीं कराने चाहिये और यदि कराने ही पड़े तो बहुत संभल करके कराने चाहिये। चरक में कहा है—'यन्न कर्षणम्' अर्थात् वमन विरेचन ऐसे होने चाहिये जो शरीर का कर्षण न करें॥

पिप्पलीनां शतं वाऽपि शृतं तोयाढके सदा॥
पादशिष्टं समक्षीरं श्रपयेत् पुनरेव तत्।
कफाधिके तु सक्षौद्रं, सघृतं पवनाधिके॥
पित्तोत्तरे शर्करया सेवमानः सुखी भवेत्।

अथवा १०० पिप्पलियों को १ आढक जल में पकाकर चतुर्थांश शेष रहने पर उतना ही दूध मिलाकर पुनः पकाया जाय। कफ की अधिकता में इसमें मधु, वायु की अधिकता में घृत तथा पित्त की अधिकता में शर्करा (खाण्ड) मिलाकर सेवन करने से रोगी स्वस्थ हो जाता है॥

पिप्पलीवर्धमानं तु वातश्लेष्मोत्तरे हितम्॥
सर्वत्र पिप्पलीक्षीरं हितं कालादिदर्शनात्।

वायु तथा कफ की अधिकता में 'पिप्पली वर्धमान योग' हितकर है तथा काल आदि के अनुसार 'पिप्पलीक्षीर' (पिप्पलियों के द्वारा शृत-पकाया हुआ दूध) सब जगह हितकर है॥

शरन्मुखे नागबलामूलान्युद्धृत्य शोषयेत्॥
सन्निधाय नवे भाण्डे ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः।
स्त्रीशूद्रवर्जी विजने चूर्णं क्षीरेण पाययेत्॥
प्रथमे दिवसे कर्षं ततश्चोर्ध्वं विवर्धयेत्।
ततः पलं पलं नित्यं पाययेत् पयसा शुचिः॥
जीर्णे तस्मिन् पिवेत् क्षीरं भक्तोदकविवर्जितः।
मासात् सोपद्रवं शोषं हन्ति नागबला नृणाम्॥
प्रजामायुर्बलं मेधां प्रयताय ददात्यपि।
षण्मासेन श्रुतधरः सर्वरोगविवर्जितः॥
अशीतिकोऽपि च युवा भवेत् संवत्सरान्नरः।

शरद् ऋतु के प्रारंभ में नागवला की जड़ों को उखाड़कर सुखाले। उनका चूर्ण बनाकर एक नवीन वर्तन में रखले। तब रोगी को जितेन्द्रिय होकर, ब्रह्मचर्य पूर्वक वन में रहकर इस चूर्ण का दूध के साथ सेवन करना चाहिये। तथा उन दिनों स्त्री एवं शूद्र का सहवास नहीं करना चाहिये। पहले दिन चूर्ण की १ कर्ष मात्रा होनी चाहिये। तथा उसे बढ़ाकर प्रतिदिन शुद्ध तथा पवित्र होकर दूध के साथ नित्य १ पल मात्रा सेवन करनी चाहिये। इसके जीर्ण हो जाने (पच जाने) पर दूध का सेवन करना चाहिये तथा अन्न एवं जल का त्याग कर देना चाहिये। नागबला का एक मास तक सेवन करने से मनुष्यों का उपद्रव युक्त शोष रोग नष्ट हो जाता है तथा सन्तान, आयु, बल और मेधा की वृद्धि होती है। ६ मास के अन्दर रोगी सब रोगों से छुटकारा पाकर श्रुतधर (सुनी हुई चीज को धारण करने वाला) हो जाता है तथा उसकी स्मरण एवं धारणाशक्ति बढ़ जाती है। तथा एक वर्ष तक इसका सेवन करने से ८० वर्ष का वृद्ध भी युवा (जवान) हो जाता है॥

मण्डूकपर्ण्याः शुण्ठ्याश्च ब्राह्म्याश्च मधुकस्य च॥
तद्गुणः सर्वरोगघ्नो विधिर्नागबलासमः।

इसी प्रकार मण्डूकपर्णी सोंठ, ब्राह्मी तथा मुलहठी का भी प्रयोग करना चाहिये। ये भी सब रोगों को नष्ट करने वाले हैं। इनकी प्रयोग विधि नागबला के समान ही है॥

उद्वर्तितस्त्वजालेण्डैरजामूत्राभिषेचितः॥
अजाक्षीरं पिवेन्नान्यदजाभिश्च वसेत् सह।
अधस्तादवटेऽजानां वसञ्छोषी विमुच्यते॥
आजं रसायनं ह्येतत् क्षयघ्नं बलवर्धनम्।

क्षय रोग के रोगी को बकरियों की मेंगनियों (पुरीष) के रस से उद्वर्तन कराना चाहिये, बकरी के मूत्र से परिषेचन करना चाहिये। बकरी के दूध के अतिरिक्त दूसरे दूध का सेवन नहीं करना चाहिये। बकरियों के साथ ही रहना चाहिये तथा जहां बकरियां बांधी जाती हैं उस छप्पर आदि के नीचे ही उसे सोना चाहिये। इससे क्षय रोग से छुटकारा हो जाता है। यह उपर्युक्त बकरियों का रसायन क्षय को नष्ट करता है तथा बल को बढ़ाता है। सुश्रुत सू० अ० ४१ में कहा है—अजाशकृन्मूत्रपयोघृतासृङ्मांसालयानि प्रतिसेवमानः। स्नानादिनानाविधिना जहाति मासादशेषं नियमेन शोषम्। राजयक्ष्मा में बकरियों के महत्त्व के विषय में अन्यत्र भी कहा है—

'छागं मासं पयश्छागं छागं सर्पिःसशर्करम्। छागोपसेवाशयनं छागमध्ये तु यक्ष्मनुत्॥'

हरीतकीनां श्रेष्ठानां द्वे शते जर्जरीकृते ॥
दशमूलसुधादन्तीकरञ्जाधोगुडासनाः ।
मयूरकं देवदारु निचुलं कुटजाटजी (?) ॥
कटङ्कटेरी बृहती रास्ना श्योनाकचित्रकौ ।
वरुणं चेति संकुट्य पञ्चविंशतिकैः पलैः ॥
षड्द्रोणेऽपां पचेदेतद्यावत् पञ्चाढकं स्थितम् ।
तस्मिन् पूते गुडतुलां दत्त्वा भूयश्च साधयेत् ॥
परिवृत्तं समालक्ष्य घृतभाण्डे निधापयेत् ।
मरिचानि विडङ्गानि भार्गीं शक्रयवांस्तथा ॥
आवपेत् कुटबीजानि पिप्पलीप्रस्थमेव च ।
मधुप्रस्थं च संसृज्य मासादूर्ध्वं प्रयोजयेत् ॥
पथ्याशी मात्रया काले मुच्यते कफजैर्गदैः ।
महाभयारिष्ट इति कश्यपेन प्रकल्पितः ॥

यवकुट की हुई (कूटी हुई) २०० उत्तम हरड़, दशमूल, सुधा (थूहर), दन्ती (जमालगोटा), करञ्ज, अधोगुड, असन (विजयसार), अपामार्ग, देवदारु, निचुल (हिज्जल-समुद्रफल), कुटज, अटजी (?), कटङ्कटेरी (दारुहल्दी), बृहती, रास्ना, श्योनाक (अरलु), चित्रक तथा वरुण-इन्हें कूटकर सम्मिलित २५ पल लेकर ६ द्रोण जल में पकाये। ५ आढक जल शेष रहने पर उतारकर छान लें। उसमें १ तुला गुड डालकर पुनः पाक करें। पाक हो जाने पर उसे पहले से घी का लेप किये हुए बर्तन में डालदें। इसमें मरिच, विडङ्ग, भारंगी, इन्द्रजौ, कुट (गुवाक बीज) तथा पिप्पली का चूर्ण १ प्रस्थ प्रक्षेप के रूप में डालदें। अब इसमें १ प्रस्थ मधु मिलादें। मात्रा एवं काल के अनुसार एक वर्ष तक पथ्य सेवन पूर्वक इसका प्रयोग करने से श्लैष्मिक रोग नष्ट हो जाते हैं। यह कश्यप द्वारा प्रयुक्त 'महाभयारिष्ट' है ॥

अपामार्गोऽश्वगन्धा च नाकुली गौरसर्षपाः ।
तिला बिल्वं च कल्कः स्यात् क्षयेषूद्वर्तनं हितम् ।

क्षयरोग में अपामार्ग, अश्वगन्धा, गन्धनाकुली, श्वेत सरसों, तिल तथा बिल्व के कल्क का उद्वर्तन हितकर होता है॥

लशुनानां पलशतं निस्तुषं जर्जरीकृतम् ।
जलद्रोणेषु दशसु श्रपयेत् पादशेषितम् ॥
घृताढकद्वयं तत्र विपचेज्जीवनैः सह ।
आजस्य पयसो द्रोणं क्वाथं च दशमूलिकम् ॥
आवपेत्तद्घृतं गोप्यं प्रयोज्यं मासतः परम् ।
इन्द्राणीघृतमित्येतद्राजयक्ष्मविनाशनम् ॥
वन्ध्याषण्ढकवृद्धानां कामदं पथ्यभोजिनाम् ।

एक सौ (१००) पल लहसन के छिलके उतार कर यवकुट करके १० द्रोण पानी में पकाकर चतुर्थांश शेष रहने पर उतार ले। इसमें जीवनीय ओषधियों के सहित २ आढक घी, एक द्रोण बकरी का दूध तथा दशमूल का क्वाथ डालकर पकाये। घृत सिद्ध होने पर उतार कर गुप्तस्थान (धान्यराशि आदि) में रखदें। एक मास बाद इसका सेवन करना चाहिये। इसका नाम 'इन्द्राणी घृत' है। यह राजयक्ष्मा को नष्ट करता है तथा पथ्य का सेवन करने वाले वन्ध्या (बांझ), नपुंसक तथा वृद्ध पुरुषों की कामशक्ति को बढ़ाता है॥

लशुनं वाऽपि कल्पेन यथोक्तेनोपचारयेत् ।
घृतस्यार्धाढके गव्ये जर्जरं लशुनाढकम् ॥
घृतभाण्डे समावाप्य वर्षं धान्येषु गोपयेत् ।
षण्मासमष्टमासं वा चतुर्मासमथो ततः ॥
पेयं नागबलावच्च सर्वरोगैर्विमुच्यते ।

अथवा यथोक्त कल्प के द्वारा लशुन का उपचार करे। आधे आढक (२ प्रस्थ) गोघृत में एक आढक (४ प्रस्थ) यवकुट किया हुआ लहसन डालकर उसे घी से लिपे हुए बर्तन में डालदें। वर्ष भर तक उसे धान्यराशि में पड़ा रहने दें। इसका आवश्यकतानुसार ६ मास ८ मास अथवा ४ मास तक नागबला के समान सेवन करने से सब रोग नष्ट हो जाते हैं॥

इन्द्राणीघृतकल्पेन द्राक्षासर्पिर्विपाचयेत् ॥
तथा पीलुघृतं चैव सर्वरोगैर्विमुच्यते ।

'इन्द्राणी घृत' के समान ही 'द्राक्षा घृत' तथा 'पीलु घृत' का पाक करें। इनके सेवन से भी सब रोगों की शान्ति हो जाती है॥

इष्टयो रोहिणीस्नानं तयोर्मङ्गलसेवनम् ॥
रुद्रपूजा धृतिः शौचं ब्रह्मचर्यं च शान्तये ।

इस रोग की शान्ति के लिये इष्टियां (यज्ञ), रोहिणी नक्षत्र में स्नान तथा उनका मंगल, रुद्र की पूजा, धैर्य, पवित्रता तथा ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये। चरक चिकित्सा अध्याय ८ में कहा है-यया प्रयुक्तया चेष्टया राजयक्ष्मा पुराजितः। तां वेदविहितामिष्टिमारोग्यार्थी प्रयोजयेत्॥ अर्थात् इसमें वेदविहित इष्टि का विधान दिया गया है॥

षडेकादश चोक्तानि यानि रूपाणि यक्ष्मिणः ॥
त एवोपद्रवास्तेषामशान्तौ स्वं चिकित्सितम् ।

यक्ष्मा रोगी के जो ६ तथा ११ रूप (लक्षण) कहे हैं वे ही इसके उपद्रव होते हैं। उन उपद्रवों के होने पर उन २ की चिकित्सा करनी चाहिये।

वक्तव्य—यह अध्याय प्रारंभ में खण्डित है। उस अंग में यक्ष्मा के ये ६ तथा ११ रूप दिये गये होंगे। चरक चि० अ० ८ में ये ११ तथा ६ रूप निम्न दिये हैं—कासोऽसतापो वैस्वर्यं ज्वरः पार्श्वशिरोरुजा। शोणितश्लेष्मणोश्छर्दिः श्वासः कोष्ठामयोऽरुचिः॥ रूपाण्येकादशैतानि यक्ष्मिणः षडिमानि वा। कासो ज्वरः पार्श्वशूलं स्वरवर्चो गदोऽरुचिः॥ अर्थात् १. कास २. अंसा-

भिताप ३. स्वरभेद ४. ज्वर ५. पार्श्वशूल ६. शिरःशूल ७. रक्तवमन ८. कफ का थूकना ९. श्वास १०. कोष्ठामय (अतिसार) ११. अरुचि—ये यक्ष्मा रोगी के ११ रूप हैं। तथा १. कास २. ज्वर ३ पार्श्वशूल ४. स्वरभेद ५. मलभेद ६. अरुचि—ये ६ रूप होते हैं। अर्थात् यदि दोष अत्यन्त प्रबल हों तो रोग के उपर्युक्त ११ रूप प्रकट होते हैं अन्यथा ६ रूप होते हैं। सुश्रुत उ० अ० ४१ में यक्ष्मारोग के क्रमशः ११, ६ तथा ३ रूप दिये हैं—स्वरभेदोऽनिलाच्छूलं संकोचश्चांसपार्श्वयोः। ज्वरो दाहोऽतिसारश्च पित्ताद्रक्तस्य चागमः॥ शिरसः परिपूर्णत्वमभक्तच्छन्द एव च। कासः कण्ठस्य चोद्ध्वंसो विज्ञेयः कफकोपतः॥ एकादशभिरेतैर्वा षड्भिर्वापि समन्वितम्। कासातिसारपार्श्वार्तिस्वरभेदारुचिज्वरैः॥ त्रिभिर्वा पीडितं लिङ्गैर्ज्वरकासासृगामयैः। जह्याच्छोषार्दितं जन्तुमिच्छन् सुविपुलं यशः॥ अर्थात् यहां यक्ष्मारोग के ११ तथा ६ रूपों के अतिरिक्त १. ज्वर २. कास ३. रक्तवमन—ये तीन रूप भी दिये हैं॥

इति ह स्माह भगवान् कश्यपः॥
(इति) चिकित्सितेषु राजयक्ष्मचिकित्सितम्॥
(इति ताडपत्रपुस्तके ११७ तमं पत्रम्।)

ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था।
(इति) चिकित्सितेषु राजयक्ष्मचिकित्सिताध्यायः॥

गुल्मचिकित्सिताध्यायः।

अथातो गुल्मिनां चिकित्सितं व्याख्यास्यामः॥ १॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः॥ २॥

अब हम गुल्म रोगियों की चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था॥ १-२॥

वातादिसर्वरक्तोत्थाः कुक्षिहृत्पार्श्वबस्तिजाः।
पञ्च पञ्चापदामग्र्या गुल्माः सूत्रे निदर्शिताः॥ ३॥

वातादि दोषों से पृथक् (वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक), सम्मिलित (सान्निपातिक) तथा रक्त से उत्पन्न होने वाले सब रोगों के अग्रणी ५ गुल्मों का सूत्रस्थान में निर्देश किया गया है जो कि १ कुक्षि २ हृदय ३-४ दोनों पार्श्व तथा ५ बस्ति में पैदा होते हैं। चरक चि. अ. ५ में भी गुल्मों के ये ही पांच स्थान दिये हैं—बस्तौ च नाभ्यां हृदि पार्श्वयोश्च स्थानानि गुल्मस्य भवन्ति पञ्च॥ ३॥

चेष्टान्नपानसामान्या दोषाः प्रकुपिता नृणाम्।
आमाशयमधिष्ठाय ततो गुल्मान् प्रकुर्वते॥ ४॥

चेष्टा तथा सामान्य अन्नपान से मनुष्य के प्रकुपित हुए दोष आमाशय में पहुंचकर गुल्मों को उत्पन्न करते हैं। चरक चि. अ. ५ में गुल्म रोग की निदान तथा सम्प्राप्ति निम्न प्रकार से दी है—विट्श्लेष्मपित्तातिपरिस्रवाद्वा तैरेव वृद्धैरतिपीडनाद्वा। वेगैरुदीर्णैर्विहतैरधो वा बाह्याभिघातैरतिपीडनैर्वा॥ रूक्षान्नपानैरतिसेवितैर्वा शोकेन मिथ्याप्रतिकर्मणा वा। विचेष्टितैर्वा विषमातिमात्रैः कोष्ठे प्रकोपं समुपैति वायुः॥ कफं च पित्तं च स दूषयित्वा प्रोद्धूय मार्गान्विनिबद्ध्य ताभ्याम्। हृन्नाभिपार्श्वोदरबस्तिशूलं करोत्यधो याति न बद्धमार्गः॥ अर्थात् पुरीष, कफ, पित्त आदि के अत्यधिक स्राव अथवा अन्य उदीर्ण हुए वेगों को रोकने इत्यादि कारणों से कोष्ठ में वायु का प्रकोप हो जाता है। वह प्रकुपित वायु कफ तथा पित्त को अपने स्थान से विचलित करके मार्गों को रोक देता है जिससे हृदय, नाभि, पार्श्व उदर तथा बस्ति में शूल उत्पन्न हो जाता है तथा मार्ग के रुके होने से वह नीचे की ओर नहीं जाता॥ ४॥

वातलेऽन्नपानेषु वातलो यः प्रसज्जति।
धावति प्लवतेऽधीते भृशं गायति नृत्यति॥ ५॥
शीतवाताम्बुसेवी च शीतरूक्षकटुप्रियः।
व्याधिक्लिष्टः कृशो रूक्षः सेवते तीक्ष्णमौषधम्॥ ६॥
उदीरयति च्छर्दिं च बलाच्छर्दयतेऽपि वा।
निरुणद्धि च वातादीन् तृप्तः पिबति वा बहु॥ ७॥
शीघ्रयानेन वा यति व्यवायं वाऽतिसेवते।
व्यायामाध्ययनस्त्रीषु बालो रूक्षश्च यो रतः॥ ८॥
एतैश्चान्यैश्च कुपितो मारुतो दोषसंचयम्।
करोति यत्र तत्रास्य स्थाने गुल्मो निचीयते॥ ९॥

वातगुल्म का निदान—जो वात प्रकृति वाला मनुष्य वात प्रधान अन्नपानों का सेवन करता है, अधिक दौड़ता है, तैरता है, पढ़ता है, गाता है, नाचता है, शीतल वायु एवं जल का सेवन करता है, शीतल रूक्ष तथा कटु पदार्थ जिसे प्रिय हों, जो व्याधि से आक्रान्त हो, कृश तथा रूक्ष हो, जो तीक्ष्ण ओषधियों का सेवन करता हो, जो वमन के वेग को उदीर्ण करता हो तथा बलपूर्वक वमन करता हो, जो वातादियों के वेगों को रोकता हो तथा तृप्त होने के बाद भी बहुत अधिक जल पीता हो, जो शीघ्र चलने वाली सवारी पर चलता हो, अत्यन्त मैथुन करता हो, जो बालक एवं रूक्ष व्यक्ति व्यायाम, अध्ययन तथा स्त्री में रत रहता हो-इन कारणों से तथा अन्य भी कारणों से कुपित हुआ वायु जिस २ स्थान में दोषों को संचित करता है उसके उन २ स्थानों में गुल्म कर देता है। चरक नि. अ. ३ में इसकी निदान तथा सम्प्राप्ति निम्न प्रकार से दी है—यदा पुरुषो वातलो विशेषेण ज्वरवमनविरेचनातीसाराणामन्यतमेन कर्शनेन कर्शितो वातलमाहारमाहरति शीतं वा विशेषेणातिमात्रमस्नेहपूर्वं वा वमनविरेचने पिबत्यनुदीर्णां वा छर्दिमुदीरयति वातमूत्रपुरीषवेगान्निरुणद्ध्यत्यशितो वा पिबति नवोदकमतिमात्रमतिमात्रसंक्षोभिणा वा यानेन यात्यतिव्यवायव्यायाममद्यरुचिर्वाऽभिघातमृच्छति वा विषमाशनशयनासनस्थानचङ्क्रमणसेवी भवत्यन्यद्वा किंचिदेवंविधं विषममतिमात्रं व्यायामजातमारभते, तस्यापचाराद्वातः प्रकोपमापद्यते स प्रकुपितो महास्रोतोऽनुप्रविश्य रौक्ष्यात्कठिनीभूतमाप्लुत्य पिण्डितोऽवस्थानं करोति हृदि बस्तौ पार्श्वयोर्नाभ्यां वा, स शूलमुपजनयति ग्रन्थींश्चानेकविधान्, पिण्डितश्चावतिष्ठते, स पिण्डितत्वाद् गुल्म इत्युच्यते॥ ५-९॥

अग्निनाशोऽरुचिः शूलं च्छर्द्युद्गारान्त्रकूजनम् ।
पुरीषवर्तनं कार्श्यं गुल्मानां पूर्वलक्षणम् ॥ १० ॥

गुल्म के पूर्वरूप—अग्निनाश, अरुचि, शूल, छर्दि, उद्गार (डकार), आन्त्रकूजन (आंतों में गुडगुड शब्द होना), मल का रुक जाना तथा कृशता- ये गुल्म रोगों के पूर्वरूप होते हैं। चरक नि. अ. ३ में कहा है—एषां तु खलु पञ्चानां गुल्मानां प्रागभिनिर्वृत्तेरिमानि पूर्वरूपाणि भवन्ति, तद्यथा—अनन्नाभिलषणं, अरोचकाविपाकौ, अग्निवैषम्यं, विदाहो भुक्तस्य, पाककाले चायुक्त्या छर्द्युद्गारौ, वातमूत्रपुरीषवेगाणामप्रादुर्भावः प्रादुर्भूतानां चाप्रवृत्तिः ईषदागमनं वा, वातशूलाटोपान्त्रकूजनापरिहर्षणातिवृत्तपुरीषता, बुभुक्षा, दौर्बल्यं, सौहित्यस्य चासहत्वमिति गुल्मपूर्वरूपाणि भवन्ति। सुश्रुत उ. अ. ४२ में भी इसी प्रकार कहा है ॥ १० ॥

शूलं मूर्च्छा ज्वरस्तोदः कार्श्यं तृ(कृ)ष्णाऽरुणात्म(भ)ता ।
पार्श्वांसाक्षकशूलं च वातगुल्मस्य लक्षणम् ॥ ११ ॥

वात गुल्म के लक्षण – शूल, मूर्च्छा, ज्वर, तोद (पीडा), कृशता, प्यास (अथवा काला) और अरुण आभा (रंग) का होना, पार्श्व अंस (कन्धे) तथा अक्षक (हंसली) में शूल होना-ये वातगुल्म के लक्षण हैं। चरक नि. अ. ३ में इसके निम्न लक्षण दिये हैं—स मुहुराधमति, मुहुरल्पत्वमापद्यते, अनियतविपुलाणुवेदनश्च भवति चलत्वाद्वायोः, पिपीलिकासञ्चार इवाङ्गेषु, तोदस्फुरणायामसङ्कोचसुप्तिहर्षप्रलयोदयबहुलः, तदातुरश्च सूच्येव शङ्कुनेव चातिविद्धमात्मानं मन्यते, अपि च दिवसान्ते जीर्यति शुष्यति चास्यास्यं, उच्छ्वासश्चोपरुध्यते, हृष्यन्ति चास्य रोमाणि वेदनायाः प्रादुर्भावे, प्लीहाटोपान्त्रकूजनाविपाकोदावर्ताङ्गमर्द मन्या शिरःशङ्खशूलब्रध्नरोगाश्चैनमुपद्रवन्ति, कृष्णारुणपरुषत्वङ्नखनयनवदनमूत्रपुरीषश्च भवति, निदानोक्तानि चास्य नोपशेरते, विपरीतानि चोपशेरत इति वातगुल्मः। इसी प्रकार चरक नि. अ. ५ में भी कहा है ॥ ११ ॥

ऊषायणं ज्वरो दाहस्तृष्णाविड्भेदपीतताः।
पित्तगुल्मे विजानीयात् पित्तलान्नोष्णसेविनः ॥ १२ ॥

पित्त गुल्म के लक्षण—पित्त प्रधान अन्न तथा उष्ण पदार्थों का सेवन करने वाले व्यक्ति के पैत्तिक गुल्म में बहुत उष्णता (जलन), ज्वर, दाह, तृष्णा, विड्भेद (अतिसार) तथा शरीर का रंग पीला होना—ये पैत्तिक गुल्म के लक्षण होते हैं। चरक नि० अ० ३ में इसके निम्न लक्षण दिये हैं—पित्तं त्वेनं विदहति कुक्षौ हृदि उरसि कण्ठे च, स विदह्यमानः सधूममिवोद्गारमुद्गिरति अम्लान्वितं, गुल्मावकाशश्चास्य दह्यते दूयते धूप्यते ऊष्मायते स्विद्यति क्लिद्यति, शिथिल इव च स्पर्शासहोऽल्परोमाञ्चो भवति, ज्वरभ्रमदवथुपिपासागलवदनतालुशोषप्रमोहविड्भेदाश्चैनमुपद्रवन्ति, हरितहारिद्रत्वङ्नखनयनवदनमूत्रपुरीषश्च भवति, निदानोक्तानि चास्य नोपशेरते, विपरीतानि चोपशेरत इति पित्तगुल्मः। इसमें निदानोक्त आहार-विहार असात्म्य होते हैं तथा इससे विपरीत सात्म्य होते हैं। इसी प्रकार चरक चि० अ० ५ में भी कहा है—ज्वरः पिपासा वदनाङ्गरागः शूलं महज्जीर्यति भोजने च। स्वेदो विदाहो व्रणवच्च गुल्मः स्पर्शासहः पैत्तिकगुल्मरूपम् ॥ १२ ॥

रोमहर्षो ज्वरश्छर्दिररुचिर्हृदयग्रहः ।
मूत्राक्षिनखविट्शौक्ल्यं शैत्यं च कफगुल्मिनः ॥ १३ ॥

कफ गुल्म के लक्षण—रोमहर्ष, ज्वर, छर्दि, अरुचि, हृदयग्रहः (हृदय प्रदेश का जकड़ जाना), मूत्र, आंखें, नाखून तथा मल का सफेद होना तथा शीतलता—ये कफगुल्म के लक्षण होते हैं। चरक नि० अ० ३ में इसके निम्न लक्षण दिये हैं—श्लेष्मा त्वस्य शीतज्वरारोचकाविपाकाङ्गमर्दहर्षहृद्रोगच्छर्दिनिद्रालस्यस्तैमित्यगौरवशिरोभितापानुपजनयति, अपि च गुल्मस्य स्थैर्यगौरवकाठिन्यावगाढसुप्तताः, तथा कासश्वासप्रतिश्यायान् राजयक्ष्माणं चातिप्रवृद्धः, श्वैत्यं च त्वङ्नखनयनवदनमूत्रपुरीषेषूपजनयति, निदानोक्तानि चास्य नोपशेरते, तद्विपरीतानि चोपशेरत इति श्लेष्मगुल्मः। अर्थात् अन्य लक्षणों के साथ २ जिन आहार विहार आदि से श्लेष्मगुल्म उत्पन्न होता है वे असात्म्य तथा उनसे विपरीत सात्म्य होते हैं। इसी प्रकार चरक चि० अ० ५ में भी कहा है ॥ १३ ॥

सर्वाण्येतानि रूपाणि लक्ष्यन्ते सान्निपातिके ।

सान्निपातिक गुल्म के लक्षण—सान्निपातिक गुल्म में ये सब लक्षण होते हैं। चरक नि० अ० ३ में कहा है—त्रिदोषहेतुलिङ्गसन्निपातस्तु सान्निपातिकं गुल्ममुपदिशन्ति कुशलाः। स विप्रतिषिद्धोपक्रमत्वादसाध्यो निचयगुल्मः। इसी प्रकार चरक चि० अ० ५ में भी कहा है। ॥ १३ ॥

रक्तगुल्मः स्त्रिया योनौ जायते न नृणां क्वचित् ॥ १४ ॥

रक्तगुल्म—रक्तगुल्म केवल स्त्रियों की योनि (स्त्रीजाति) में ही होता है। पुरुषों में कभी नहीं होता। चरक नि० अ० ३ में भी कहा है—शोणितगुल्मस्तु खलु स्त्रिया एव भवति न पुरुषस्य, गर्भकोष्ठार्तवागमनवैशेष्यात्। अर्थात् दूषित आर्तव के कारण जो रक्तगुल्म होता है वह केवल स्त्रियों को ही होता है। अन्यत्र भी कहा है—स्त्रीणामार्तवजो गुल्मो न पुंसामुपजायते। अन्यस्त्वसृग्भवो गुल्मः स्त्रीणां पुंसाञ्च जायते ॥ अर्थात् सामान्य रक्त की दुष्टि से पुरुषों में भी रक्तगुल्म हो सकता है परन्तु रक्त के दूष्य होने से इसका अन्तर्भाव पित्तगुल्म में ही हो जाता है ॥ १४ ॥

दुष्प्रजाता (ऽऽम)गर्भा च गर्भस्रुर्बहुमैथुना ।
अन्वग्[1]गर्भकामा च बहुशीतार्तवा च या ॥ १५ ॥
उदावर्तनशीला च वातलान्ननिषेविणी ।
या स्त्री तस्याः प्रकुपितो वातो योनिं प्रपद्यते ॥ १६ ॥
निरुणद्ध्यार्तवं तत्र मासिकं संचिनोति च ।
रक्ते च संस्थिते नारी गर्भिण्यस्मीति मन्यते ॥ १७ ॥

रक्तगुल्म का निदान एवं सम्प्राप्ति—जो स्त्री दुष्प्रजाता

---

१. 'अन्वगन्वक्षमनुगेऽनुपदम्' इत्यमरः। अतिशीघ्रमिति यावत्।

(जिसका प्रसव सम्यक् प्रकार न हुआ) हो, जिसका गर्भ अभी कच्चा हो, जिसका गर्भस्राव हो गया हो, जो बहुत मैथुन करती हो, जो बहुत शीघ्रता से गर्भ को धारण करती हो, जिसका आर्तव बहुत शीतल हो, जिसे प्रायः उदावर्त होता हो, जो वातकारक अन्नों (आहारों) का सेवन करती हो-उसका प्रकुपित हुआ वायु योनि में पहुंचकर आर्तव को रोक देता है जिससे मासिक स्राव इकट्ठा हो जाता है। इस प्रकार वहां रक्त के स्थिर हो जाने से स्त्री अपने आपको गर्भिणी समझने लगती है। चरक चि० अ० ५ में कहा है—ऋतावनाहारतया भयेन विरूक्षणैर्वेगविनिग्रहैश्च। संस्तम्भनोल्लेखन-योनिदोषैर्गुल्मः स्त्रियं रक्तभवोऽभ्युपैति ॥ अर्थात् ऋतुकाल में आहार न करने से, गर्भस्थिति के भयमात्र से रूक्ष आहार विहार आदि से, वेगों को रोकने से, रक्तस्तम्भक आहार विहार अथवा औषध के प्रयोग से तथा वमन एवं योनि रोगों के कारण स्त्री को रक्तगुल्म हो जाता है। इसी प्रकार चरक नि० अ०३ में और सुश्रुत उ०अ०४२में भी कहा है॥१५-१७॥

स्तनमण्डलकृष्णत्वं रोमराजिः सदोहदा।
गर्भिणीरूपमव्यक्तं भजते सर्वमेव तु ॥ १८ ॥
वि(अ)पाकपाण्डुकार्श्यानि भवन्त्यभ्यधिकानि तु।
इत्येवं लक्षणं स्त्रीणां रक्तगुल्मं प्रचक्षते ॥ १९ ॥

रक्तगुल्म का लक्षण—उस स्त्री के स्तन के मण्डल (अग्र-भाग) काले हो जाते हैं, लोमराजि प्रकट हो जाती है, दोहद (विशेष इच्छायें जो गर्भावस्था के समय गर्भिणी को हुआ करती है) के लक्षण प्रकट होने लगते हैं तथा अव्यक्त (अ-स्पष्ट) रूप से गर्भिणी के सभी लक्षण उसे प्रतीत होने लगते हैं। उसे अपचन, पाण्डु तथा कृशता विशेषरूप से हो जाती हैं। इस प्रकार के लक्षणों वाला स्त्रियों में रक्तगुल्म कहलाता है। चरक नि० अ० ३ में कहा है—तस्याः शूलका-सातिसारच्छर्द्यरोचकाविपाकाङ्गमर्दनिद्रालस्यस्तैमित्यकफप्रसेकाः समु-पजायन्ते, स्तनयोश्च स्तन्यं, ओष्ठयोः स्तनमण्डलयोश्च कार्ष्ण्यं, ग्लानिश्चक्षुषोः, मूर्च्छा, हृल्लासो, दोहदः, श्वयथुः पादयोः, ईष-च्चोद्गमो रोमराज्याः, योन्याश्चाराल्त्वं, अपि च योन्या दौर्गन्ध्य-मास्रावश्चोपजायते, केवलश्चास्याः गुल्मः पिण्डित एव स्पन्दते, ताम-गर्भां गर्भिणीमित्याहुर्मूढाः। चरक चि० अ० ५ में और सुश्रुत उ० अ० ४२ में भी ऐसा ही कहा है ॥ १८-१९ ॥

अनेकदोषसंघातो गुल्मवद्गुल्म उच्यते।
त्रिदोषजादृते गुल्माः सिद्ध्यन्ति न चिरोत्थिताः ॥२०॥

गुल्म का स्वरूप—गुल्म के समान अनेक दोषों का संघात होने से इसे गुल्म कहते हैं। सब चिरोत्थित गुल्म त्रिदोष के बिना नहीं हो सकते हैं। सुश्रुत उ० अ० ४२ में भी कहा है—कुपितानिलमूलत्वाद् गूढमूलोदयादपि। गुल्मवद्वा विशालत्वाद् गुल्म इत्यभिधीयते ॥ अर्थात् सब गुल्मों का मूल कुपित वायु के होने से, मूल (उत्पत्ति कारण) के गूढ (गुप्त-अनिश्चित) होने से, तथा गुल्म (वनस्पति संघात) के समान विशाल होने से इसे गुल्म कहते हैं ॥ ॥ २० ॥

गुल्मिनं प्रथमं वैद्यः स्नेहस्वेदोपपादितम्।
यथास्वदोषशमनैरौषधैः समुपक्रमेत् ॥ २१ ॥

सर्वप्रथम वैद्य स्नेहन तथा स्वेदन किये हुए गुल्म रोगी की भिन्न २ दोषों की शामक ओषधियों से चिकित्सा करे। चरक चि० अ० ५ में कहा है—भोजनाभ्यञ्जनैः पानैर्निरूहैः सा-नुवासनैः। स्निग्धस्य भिषजा स्वेदः कर्तव्यो गुल्मशान्तये ॥ अन्यत्र भी कहा है—सर्वत्र गुल्मे प्रथमं स्नेहस्वेदोपपादिते। या क्रिया क्रियते सिद्धिं सा याति न विरूक्षिते ॥ २१ ॥

बृंहणं चातिगुल्मेषु भृशं चातिविरूक्षणम्।
अतिसंशोधनं चैव गुल्मिनां न प्रशस्यते ॥ २२ ॥

गुल्मरोगी में अतिबृंहण, अतिरूक्षण तथा अतिसंशोधन (वमन-विरेचन) हितकर नहीं होता है। चरक चि० अ० ५ में भी कहा है-तस्मान्ना नातिसौहित्यं कुर्यान्नातिविलङ्घनम् ॥२२॥

अभया पिप्पली व्योषं यावशूकोऽथ चित्रकः।
सौवर्चलं विडङ्गानि वचा चेत्यक्षसंमिताः ॥ २३ ॥
सम्यक्पक्वं घृतप्रस्थं तत् पिबेच्च यथाबलम्।
घृतं दशाङ्गमित्येतद्वातगुल्मनिवारणम् ॥ २४ ॥

वातगुल्म की चिकित्सा—हरड़, पिप्पली, त्रिकटु (सोंठ, मरीच, पीपल), यवक्षार, चित्रक, काला नमक, विडङ्ग तथा वच प्रत्येक १ कर्ष। १ प्रस्थ-घृत। इसे अच्छी प्रकार पकाकर अपनी शक्ति के अनुसार सेवन करें। यह दशाङ्ग घृत कहलाता है। यह वातगुल्म को नष्ट करता है ॥ २३-२४ ॥

सैन्धवं यावशूकश्च पिप्पली हस्तिपिप्पली।
शुण्ठी चित्रक इत्येषां षड्भागाः पलिका पृथक् ॥ २५ ॥
तुल्यक्षीरं घृतं प्रस्थं पक्वं षट्पलमुच्यते।
षट्पलं सर्वगुल्मेषु वैद्याः प्राहुर्यथाऽमृतम् ॥ २६ ॥

सैन्धव, यवक्षार, पिप्पली, गजपिप्पली, सोंठ तथा चित्रक इनके ६ भाग पृथक् एक २ पल (अर्थात् सब मिलाकर ६ पल लें) दूध-१ प्रस्थ। घृत-१ प्रस्थ। यथाविधि घृत पाक करे। यह षट्पल घृत कहलाता है। वैद्य सब गुल्मों में षट्पल घृत को अमृत के समान मानते हैं। चरक चि० अ० ५ में भी कहा है—षट्पलं वा पिबेत्सर्पिर्यदुक्तं राजयक्ष्मणि ॥ २५-२६ ॥

अभया पिप्पली द्राक्षा गुडूची सपुनर्नवा।
लवणक्षारगन्धर्वभार्गीरास्नारसाञ्जनम् ॥ २७ ॥
तुल्यक्षीरं पचेदेतैर्घृतमक्षसमैर्भिषक्।
शैशुकं नाम तत् सर्पिर्वातगुल्मनिवारणम् ॥ २८ ॥

हरड़, पिप्पली, द्राक्षा, गिलोय, पुनर्नवा, सैन्धव नमक, सर्जक्षार, गन्धर्व (श्वेत एरण्ड), भारंगी, रास्ना, तथा

१. एवंप्राय एव विषयश्चरके निदानस्थाने तृतीयाध्याये मुद्रित-भेडसंहितायां चिकित्सास्थानस्य पञ्चमाध्याये (गुल्मचिकित्सायां) च प्रपञ्चितः।

रसौंत-प्रत्येक १ कर्ष। दूध तथा घृत समान मात्रा में लेकर यथाविधि घृत पाक करे। यह शैशुक घृत (शिशुसर्पि) कहलाता है। यह वातगुल्म को नष्ट करता है ॥ २७-२८ ॥

स्निग्धस्विन्नसमाश्वस्तं गुल्मिनं स्रंसयेत्ततः ।
विरेचनेन मृदुना तैलेनैरण्डजेन वा ॥ २९ ॥

स्नेहन तथा स्वेदन किये हुए गुल्म रोगी को आश्वासन देकर किसी मृदु विरेचन (Mild Lexative) या ऐरण्ड तल से विरेचन कराये ॥ २९ ॥

विरिक्तं च यथाकालं नातिरूक्षाणि भोजयेत् ।
युक्ताम्ललवणोष्णानि युक्तस्नेहरसानि च ॥ ३० ॥
भोजयेद्गुल्मिनं नित्यं निदानगुरुवर्जकम् ।
न चातिभोजनं नित्यं शस्यते सर्वगुल्मिनाम् ॥ ३१ ॥

विरेचन हो जाने पर उचित काल में रोगी को ऐसे पदार्थ खिलाये जो अत्यन्त रूक्ष न हों तथा जिनमें योग्य परिमाण में अम्ल तथा लवण पड़ा हो, जो उष्ण हो तथा अच्छी प्रकार स्निग्ध हों। रोगी को सदा निदान (वातिक गुल्म के कारण) तथा गुरु पदार्थों का त्याग कर देना चाहिये। सब प्रकार के गुल्मरोगियों को अधिक भोजन करना हितकर नहीं है॥३०-३१॥

पिप्पलीं पिप्पलीमूलं चव्यं चित्रकनागरम् ।
बिल्वं कपित्थं बदरं वृषकं गणिकारिकाम् ॥ ३२ ॥
हिङ्गुदाडिमजीवन्तीवृक्षाम्लं साम्लवेतसम् ।
पौष्करं शटिदन्त्यौ च लवणानि च सर्वशः ॥ ३३ ॥
द्वौ क्षारावजमोदं च तुल्यं शुष्काणि चूर्णयेत् ।
मातुलुङ्गरसेनैते वटका बदरोपमाः ॥ ३४ ॥
कृताः सुखाम्बुना पेया मद्यैरम्लेन वा भिषक् ! ।
वातगुल्ममुदावर्तं प्लीहशूलं च नाशयेत् ॥ ३५ ॥

पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, सोंठ, बिल्व, कैथफल, बेर, बांसा, गणिकारिका (क्षुद्र अग्निमन्थ), हींग, अनारदाना, जीवन्ती, वृक्षाम्ल (विषांबिल), अम्लवेत, पुष्करमूल, शठि (कपूरकचरी-या कचूर), दन्ती (जमालगोटा) पांचों नमक, दोनों क्षार (सर्जक्षार तथा यवक्षार) तथा अजमोद-इन सब को समान मात्रा में लेकर शुष्क चूर्ण करे। बिजौरे के रस में भावना देकर इसकी बेर के समान गोलियां बनाये। इन्हें वैद्य गरम पानी या मद्य के अनुपान से सेवन कराये। इससे वातगुल्म, उदावर्त, तथा प्लीहाशूल, नष्ट हो जाता है ॥ ३२-३५ ॥

मयूरांस्तित्तिरीन् क्रौञ्चान् कपोतान् वनकुक्कुटान् ।
यवगोधूमशालींश्च वातगुल्मी सदाऽश्नि(श्नी)यात् ॥ ३६ ॥

वातगुल्म में पथ्य—वातगुल्म का रोगी सदा मयूर, तीतर, क्रौञ्च, कबूतर और जंगली मुर्गे का मांस तथा जौ, गेहूं तथा शालि चावलों का सेवन करे। चरक चि० अ० ५ में भी कहा है—कुक्कुटाश्च मयूराश्च तित्तिरिक्रौञ्चवर्तकाः । शालयो मदिरा सर्पिर्वातगुल्मभिषग्जितम् ॥ हितमुष्णं द्रवं स्निग्धं भोजनं वातगुल्मिनाम् । समण्डवारुणीपानं पक्वं वा धान्यकैर्जलम् ॥ ३६ ॥

यदि तु स्निह्यमानस्य वातगुल्मो न शाम्यति ।
हितमास्थापनं तस्य तथैवाप्यनुवासनम् ।
क्षीरानुपानामभयां सगुडां संप्रयोजयेत् ॥ ३७ ॥

यदि स्नेहन करते हुए भी रोगी का वातगुल्म शान्त न हो तो उसे आस्थापन एवं अनुवासन बस्तियां देनी चाहिये तथा दूध के अनुपान से गुड़ और हरड़ को मिलाकर प्रयोग करना चाहिये। चरक चि० अ० ५ में भी गुल्म (वातिक) में बस्ति की श्रेष्ठता बताई है—बस्तिकर्म परं विद्याद् गुल्मघ्नं तद्धि मारुतम् । स्वे स्थाने प्रथमं जित्वा सद्यो गुल्ममपोहति ॥ ३७ ॥

गुल्मिनां बद्धवर्चानां.................. ।
....
....

(इति ताडपत्रपुस्तके ११८ तमं पत्रम्[१] ।)

तथा जिन्हें मलबन्ध रहता हो उन गुल्म रोगियों की...
.........(स्नेहन के द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये)।
....
....

वक्तव्य—यह अध्याय उपर्युक्त श्लोक के मध्य में ही खण्डित हो गया है इसलिये उसी श्लोक के शब्दों को बतलाना तो कठिन है परन्तु फिर भी चरक चि. अ. ५ में कहा है—बद्धविण्मारुतं स्नेहैरादितः समुपाचरेत् । इसीके अनुसार उपर्युक्त श्लोक के भावार्थ को पूर्ण किया गया है। अथवा सुश्रुत उ. अ. ४२ में कहा है—बद्धवर्चोनिलानां तु सार्द्रकं क्षीरमिष्यते। अर्थात् उन्हें दूध में अदरख डालकर देनी चाहिये। इससे आगे इस अध्याय में अन्य गुल्मों की चिकित्सा दी जानी चाहिये। परन्तु इस अध्याय के मध्य में ही खण्डित हो जाने से वे उपलब्ध नहीं हैं। अतः हम पाठकों के साधारण ज्ञान के लिये अन्य आर्ष ग्रन्थों के आधार पर शेष गुल्मों की सामान्य चिकित्सा लिखेंगे। पित्तगुल्म की चिकित्सा चरक चि. अ. ५ में कहा है—स्निग्धोष्णेनोदिते गुल्मे पैत्तिके स्रंसनं हितम् । रूक्षोष्णेन तु संभूते सर्पिः प्रशमनं परम् ॥ अर्थात् पित्तगुल्म में स्रंसन कराना चाहिये। तीव्र विरेचन नहीं देना चाहिये। सुश्रुत उ. अ. ४२ में कहा है—पित्तगुल्मार्दितं स्निग्धं काकोल्यादि घृतेन तु । विरिक्तं मधुरैर्योगैर्निरूहैः सानुवासनैः ॥ अर्थात् काकोल्यादि घृत अथवा अन्य मधुरगण युक्त निरूहों से मृदु विरेचन देना चाहिये। यदि गुल्म के विदग्ध होने की सम्भावना हो तो विदाह से पूर्व ही रक्तावसेचन कराना चाहिये। इससे गुल्म विदाह को प्राप्त नहीं होगा। रक्तावसेचन के बाद जांगल पशुपक्षियों के मांस

[१] अस्याग्रे पत्रमेकं खण्डितं ताडपत्रपुस्तके।

रसों से तर्पण करे। यदि किसी कारण से गुल्म में विदाह हो ही जाय तो उसमें शस्त्रकर्म ही करना चाहिये। चरक में कहा है—रक्तपित्तातिवृद्धत्वात्क्रियामनुपलभ्य च। यदि गुल्मो विदह्येत शस्त्रं तत्र भिषग्जितम् ॥ **कफ गुल्म की चिकित्सा चरक चि. अ. ५ में कहा है**—शीतलैर्गुरुभिः स्निग्धैर्गुल्मे वाते कफात्मके। अवन्यस्याल्पकायाग्नेः कुर्याल्लङ्घनमादितः ॥ **इसके बाद रोगी को उष्ण, कटु तथा तिक्त द्रव्यों का सेवन कराना चाहिये। यदि रोगी को आनाह तथा विबन्ध हो तो उसको युक्तिपुर्वक स्वेदन कराना चाहिये। इस प्रकार लङ्घन, वमन, एवं स्वेदन से अग्नि के प्रदीप्त हो जाने पर क्षार तथा कटु द्रव्यों से युक्त घी का प्रयोग करे। यदि गुल्म बहुत हठी हो अर्थात् ठीक न होता हो और जड़ जमाली हो तो उसमें देश, काल तथा ऋतु के अनुसार क्षार प्रयोग, अरिष्टपान तथा अग्निकर्म कराना चाहिये। चरक चि. अ. ५ में कहा है**—कृतमूलं महावास्तुं कठिनं स्तिमितं गुरुम्। जयेत्कफकृतं गुल्मं क्षारारिष्टाग्निकर्मभिः ॥ दोषप्रकृतिगुल्मर्तुयोगं बुद्ध्वा कफोल्वणे। बलदोषप्रमाणज्ञः क्षारं गुल्मे प्रयोजयेत् ॥ एकान्तरं द्व्यन्तरं वा त्र्यहं विश्रम्य वा पुनः। शरीरबलदोषाणां वृद्धिक्षपणकोविदः ॥ श्लेष्माणं मधुरं स्निग्धं मांसक्षीरघृताशिनः। भित्वाभित्वाऽऽशयात्क्षारः क्षरत्वात्क्षारयत्यधः ॥ मन्देऽग्नावरुचौ सात्म्ये मद्ये सस्नेहमश्नताम्। प्रयोज्या मार्गशुद्ध्यर्थमरिष्टाः कफगुल्मिनाम् ॥ लङ्घनोल्लेखनैः स्वेदैः सर्पिष्पानैर्विरेचनैः। बस्तिभिर्गुटिका चूर्णक्षारारिष्टगणैरपि ॥ श्लैष्मिकः कृतमूलत्वाद्यस्य गुल्मो न शाम्यति। तस्य दाहो हृते रक्ते शरलोहादिभिर्हितः ॥ औष्ण्यात्तैक्ष्ण्याच्च शमयेदग्निर्गुल्मे कफानिलौ। तयोः शमाच्च संघातो गुल्मस्य विनिवर्तते ॥ **सान्निपातिक गुल्म की चिकित्सा**—व्यामिश्रदोषैर्व्यामिश्र एष एव क्रियाक्रमः। **अर्थात् सान्निपातिक गुल्म में दोषों के अनुसार उपर्युक्त मिश्रित चिकित्सा करनी चाहिये। रक्तगुल्म की चिकित्सा-रक्त गुल्म की चिकित्सा पित्तगुल्म की तरह ही की जाती है। सुश्रुत उ. अ. ४२ में कहा है**—पित्तवद्रक्तगुल्मिन्या नार्याः कार्यः क्रियाविधिः। विशेषमपरं चास्याः शृणु रक्तविभेदनम् ॥ पलाशक्षारलोपेन सिद्धं सर्पिः प्रयोजयेत् ॥ दद्यादुत्तरबस्तिं च पिप्पल्यादिघृतेन तु। उष्णैर्वा भेदयेद्भिन्ने विधिरासृग्दरोहितः ॥ **अर्थात् इसमें अधोगत रक्तपित्त की चिकित्सा करनी चाहिये। रक्तगुल्म की चिकित्सा का विधान १० मास व्यतीत हो जाने के बाद दिया गया है। चरक चि. अ. ५ में कहा है**—स रौधिरः स्त्रीभव एव गुल्मो। मासि व्यतीते दशमे चिकित्स्यः ॥ **क्योंकि उस समय ही यह सुख साध्य होता है। कहा भी है**—'रक्तगुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम्'। **इसे देखकर कई लोग कहते हैं कि प्राचीन आचार्यों को रक्तगुल्म तथा गर्भ की भेदक पहचान न होने से ही १० वें मास (गर्भ काल) के व्यतीत हो जाने पर चिकित्सा करने का लिखा है। परन्तु उनका यह विचार ठीक नहीं है क्योंकि** 'यः स्पन्दते पिण्डित एव नाङ्गैः', **द्वारा उन्होंने गुल्म का गर्भ से स्पष्ट भेद दिखाया है। इसलिये प्राचीन आचार्य इससे अनभिज्ञ नहीं थे अपितु १० वें मास के बाद जो चिकित्सा का विधान लिखा है वह उसके सुखसाध्य होने के कारण ही लिखा है। १० मास व्यतीत हो जाने के बाद रक्तगुल्म के रोगी (स्त्री) को स्नेहन तथा स्वेदन के बाद एरण्ड तैल अथवा किसी अन्य स्नेह का विरेचन देना चाहिये। चरक में कहा है**—रौधिरस्य तु गुल्मस्य गर्भकालव्यतिक्रमे। स्निग्धस्विन्नशरीरायै दद्यात्स्नेहविरेचनम् ॥ **गुल्म को शिथिल करने के लिये पलाशक्षारयमक—(पलाश क्षार के साथ समभाग तिलतैल तथा घृत का पाक करने से बनता है) का प्रयोग करना चाहिये। यदि इन प्रयोगों से भी गुल्म का भेदन न हो तो रोगिणी को उत्तरबस्ति (दशमूल क्वाथ की) तथा योनिविशोधन करना चाहिये। योनि से रक्त के प्रवृत्त होने पर उसे मांसरस और ओदन खाने को दे तथा घी और तेल की मालिश करे तथा पीने के लिये मद्य दे। आगे प्रकृत ग्रन्थ के खिलस्थान के रक्तगुल्मविनिश्चयाध्याय में इस विषय का विशद विवेचन स्वयं आचार्य ने किया है। वहां गर्भ से रक्तगुल्म का भेद, उसके लक्षण एवं चिकित्सा आदि का विस्तार से वर्णन किया है। इस विषय को पाठक वहां पर देखें।**

कुष्ठचिकित्सिताऽध्यायः ।

....

....

स्वेदो वाऽतिखरत्वमङ्गानामतिश्लक्ष्णता वा वैवर्ण्यं रौक्ष्यं लोमहर्षः पिपासा गौरवं रागो दौर्बल्यं वेपथुः पिडकारुषां संभवश्चातिवेदना च क्षतविसर्पणमिति ॥

वक्तव्य—इस अध्याय में कुष्ठ रोगों की चिकित्सा कही गई है। यह अध्याय प्रारंभ में खण्डित है। उस अंश में कुष्ठ रोग के उत्पन्न होने के कारण तथा सम्प्राप्ति इत्यादियों का वर्णन किया गया होगा। तथा 'स्वेदो वाऽतिखरत्वं' **इत्यादि अध्याय के प्रारंभिक वाक्य द्वारा कुष्ठों के पूर्वरूप दिये गये हैं। अब हम अध्यायोक्त विषय पर आते हैं—**

कुष्ठों के पूर्वरूप-स्वेद (स्वेद का अधिक आना या बिलकुल न आना), अङ्गों की खरता (खुरदरापन) अथवा अत्यन्त चिकना होना, वर्ण का विकृत हो जाना, रूक्षता, लोम (रोम) हर्ष, प्यास, शरीर का भारीपन, उस स्थान का लाल होना, दुर्बलता, कंपकंपी, पिडकाओं तथा छोटी २ फुन्सियों की उत्पत्ति, अत्यन्त वेदना तथा क्षतविसर्प—ये कुष्ठों के पूर्वरूप होते हैं। चरक नि० अ० ५ में कुष्ठ के निम्न पूर्वरूप दिये हैं—तेषामिमानि खलु पूर्वरूपाणि; तद्यथा-अस्वेदन-प्रतिस्वेदन-पारुष्य-मतिश्लक्ष्णता वैवर्ण्यं कण्डूर्निस्तोदः सुप्तता परिदाहः परिहर्षो लोमहर्षः खरत्वमुष्मायणं गौरवं श्वयथुर्विसर्पागमनमभीक्ष्णं कायच्छिद्रेषूपदेहः पक्वदग्धदष्टक्षतोपस्खलितेष्वतिमात्रं वेदना स्वल्पानामपि च व्रणानां दुष्टिरसंरोहणं चेति कुष्ठपूर्वरूपाणि भवन्ति। **चरक चि० अ० ७ में भी कहा है**—स्पर्शाज्ञत्वमतिस्वेदो न वा वैवर्ण्यमुन्नतिः। कोठानां लोमहर्षश्च कण्डूस्तोदः श्रमः क्लमः ॥ व्रणानामधिकं शूलं शीघ्रोत्पत्तिश्चिरस्थितिः। दाहः सुप्ताङ्गता चेति कुष्ठलक्षणमग्रजम् ॥ **इसी प्रकार**

सुश्रुत नि० अ० ५ में भी कहा है—त्वक्पारुष्यमकस्माद्रोमहर्षः कण्डूः स्वेदबाहुल्यमस्वेदनं वाऽङ्गप्रदेशानां स्वापः क्षतविसर्पणमसृजः कृष्णता चेति ॥

तत ऊर्ध्वमक्रियावतां कुष्ठानि जायन्ते । तत्र, श्यावारुणशूलकण्डूचिमिचिमखरत्वपारुष्यसंस्तम्भायामैर्वातोत्तराणि विद्यात्; दाहवेदनाज्वरविड्भेदोषायनपाकस्रावकोठानिकर्णा(?)क्षिप्रोत्थानैः शीतमधुरकषायसर्पिरनुशयैश्च पित्तोत्तराणि विद्यात्; श्वेतपाण्डुघनोत्सेधगुरुस्तैमित्यस्तम्भमहापरिग्रहाग्निसादैः शीतादितरानुशयैः कफोत्तराणि विद्यात्; व्याविद्धरूपबहुस्फुटितपरिस्रावकृमिदाहरुजोपेतशरीरावयवपातनमशुचिविगन्धिशोथबहुलमनेकोपद्रवं सान्निपातिकं रक्तत्वात् काकणमित्युच्यते । द्विदोषजानीतराणि; तान्यनुव्याख्यामः-वातोत्तरे कपालकुष्ठं, पित्तोत्तरे त्वौदुम्बरं, कफोत्तरे मण्डलकुष्ठं, वातपैत्तिकमृष्यजिह्वं, पित्तश्लैष्मिकं पौण्डरीकं सिध्मं च, इति समासलक्षणम् । विस्तरतस्त्वष्टादश कुष्ठानि; तान्यनुव्याख्यास्यामः-सिध्मं च विचर्चिका च पामा च दद्रुश्च किटिभं च कपालं च स्थूलारुष्कं च मण्डलकुष्ठं च विषजं चेति नव साध्यानि; पौण्डरीकं च श्वित्रं च ऋष्यजिह्वं च शतारुष्कं चौदुम्बरं च काकणं च चर्मदलं चैककुष्ठं च विपादिका चेति नवासाध्यानि । सर्वं तु कुष्ठं त्वङ्मांसरुधिरलसीकाश्रयं स्पर्शघ्नं चेति; वर्धमानं च वैरूप्यकरं भवति । तत्तु(त्र) रजोध्वस्तमलाबुवारणपुष्पीपुष्पसदृशं सिध्मं; श्यामलोहितव्रणवेदनास्रावपाकवती विचर्चिका; कण्डूतोदपाकस्रावारुष्मती पामा; रौद्यकण्डूदाहस्राववन्ति मण्डलानि वृद्धिमन्ति दद्रुः; कृष्णश्यावारुणखरपरुषस्राववृद्धिमन्ति गुरूणि प्रशान्तानि च पुनः पुनरुत्पद्यन्ते किटिभानि; कृष्णखरपरुषमलिनमनेकसंस्थानमण्डलं मण्डूलमृतुसन्धिषूष्णो चातिबाधते कपालाकृति कपालं; पिच्छास्रावावेदनादाहकण्डूतोदज्वरवैसर्पमहाव्रणपरिग्रहं मृदुखरनिभं महारुष्कं; मण्डलैर्बन्धुजीवकुसुमोपमैर्दाहकण्डूवेदनास्राववद्भिर्मण्डलकुष्ठं; लूताकीटपतङ्गसर्पदशनदष्टमुपेक्षितं व्यभिचारेण खरीभवति कृच्छ्रसाध्यं विषजं; महाशयसमुत्सेधं जातं चिराद्भेदि पुण्डरीकपलाशवर्णं पौण्डरीकं; श्वेतभावाच्छ्वित्रं पञ्चविधमुत्तरत्रोपदेक्ष्यामः; ऋष्यजिह्वोपमं पारुष्यवैवर्ण्यगौरवणविल्केदैर्ऋष्यजिह्वं; नीललोहितपीतासितैरनेकैररुष्कैः खरैः स्राविभिरुपद्रुतं शतारुष्कं; पक्वोदुम्बरफलसदृशमस्राविजडमनेकमौदुम्बरं व्याख्यातं; काकणं हस्तिचर्मसदृशं खरं; वृद्धिमच्चर्मदलं वैसर्पोद्भवं नित्यविसर्पि स्राववेदनाक्रिमिमदेककुष्ठं; पाणिपादाङ्गुष्ठौष्ठजङ्घादण्डदेशेषु स्फुटितस्राविवेदनावतीमविपाकिनीं विपादिकां विद्यात् । सर्वरोगाश्चैव मोहादुपेक्ष्यमाणा असाध्यतां यान्ति, असाध्यास्त्वाशु नृणां घ्नन्ति; तस्मादात्महितायाशु प्रयतेत ।

इसके बाद यज्ञ, याग, होम, बलि, अतिथि-सेवा आदि क्रियाएं न करने वाले व्यक्तियों को कुष्ठ उत्पन्न हो जाते हैं। चरक चि० अ० ७ में कुष्ठों का निदान देते हुए अन्य कारणों के साथ "विप्रान् गुरून् धर्षयतां पापं कर्म च कुर्वताम्" भी दिया हुआ है। वातिक कुष्ठ के लक्षण—श्याव (काला), अरुण (लाल), शूल, कण्डु (खुजली), चिमचिमाहट, खरता (खुरदरापन), पारुष्य (कठोरता), संस्तम्भ (स्तब्धता), आयाम (फैलाव) इत्यादि लक्षणों से वातिक कुष्ठ जाने। सुश्रुत नि० अ० ५ में भी कहा है—"कुष्ठेषु तु त्वक्संकोचस्वापस्वेदशोफभेदकौण्यस्वरोपघाता वातेन" । चरक चि० अ० ७ में भी कहा है—रौक्ष्यं शोषस्तोदः शूलं संकोचनं तथाऽऽयासः । पारुष्यं खरभावो हर्षः श्यावारुणत्वं च ॥ कुष्ठेषु वातलिङ्गं ॥ पैत्तिक कुष्ठ के लक्षण—दाह, वेदना, ज्वर, विड्भेद (अतिसार), ऊषायन (जलन), पाक (पकना), स्राव, कोष्ठ, निकर्णा, शीघ्र उत्थान (उत्पत्ति, वृद्धि) तथा शीतल मधुर कषाय द्रव्य एवं घृत से शान्ति हो जाना-ये पैत्तिक कुष्ठ के लक्षण हैं। सुश्रुत नि० अ० ५ में भी कहा है—"पाकावदरणाङ्गुलिपतनकर्णनासाभङ्गाक्षिरागसत्वोत्पत्तयः पित्तेन" । यहां 'सत्वोत्पत्तयः' से अभिप्राय कृमियों की उत्पत्ति से है। चरक चि० अ० ७ में भी कहा है—दाहो रागः परिस्रवः पाकः । विस्रो गन्धः क्लेदस्तथाऽङ्गपतनं च पित्तकृतम् ॥ श्लैष्मिक कुष्ठ के लक्षण-श्वेत, पाण्डु, घन, उत्सेध (ऊँचाई), गुरु (भारीपन), स्तिमितता, स्तम्भ, महापरिग्रह (बड़े मूल वाला होना), अग्निसाद (अग्निमांद्य), तथा शीत के विपरीत अर्थात् उष्णता से शान्ति होना ये श्लैष्मिक कुष्ठ के लक्षण हैं। सुश्रुत नि० अ० ५ में कहा है—कण्डूवर्णभेदशोफास्रावगौरवाणि श्लेष्मणा । चरक चि० अ० ७ में कहा है-श्वैत्यं शैत्यं कण्डूः स्थैर्यं सोत्सेधगौरवस्नेहाः । कुष्ठेषु तु कफलिङ्गं जन्तुभिरभिभक्षणं क्लेदः ॥ सान्निपातिक कुष्ठ के लक्षण—लक्षणों का मिश्रित होना, बहुत स्फुटित (फटा हुआ) होना, परिस्राव (बहना), कृमि तथा दाह रोग से युक्त होना, शरीर के अवयवों का गिरना, अपवित्र, दुर्गन्धि तथा शोथ की अधिकता, अनेक उपद्रवों से युक्त होना-ये सान्निपातिक कुष्ठ के लक्षण हैं। यह लाल होने के कारण काकणक कहलाता है (काकणक रत्ती को कहते हैं जिसका रंग लाल होता है-इसीलिये लाल होने के कारण इसे काकणक कहते हैं) इसके अतिरिक्त द्विदोषज (दो २ दोषों के संसर्ग से उत्पन्न होने वाले अर्थात् वातपित्त, पित्तश्लेष्म तथा वातश्लेष्म) होते हैं। उनकी हम आगे व्याख्या करेंगे। वात की अपेक्षाकृत अधिकता होने पर कपालकुष्ठ पित्त के अधिकता होने पर औदुम्बर कुष्ठ, कफ के अधिकता होने

पर मण्डल कुष्ठ, वात और पित्त की अधिकता होने पर ऋष्य जिह्व, तथा पित्त और श्लेष्मा की अधिका होने पर पौण्डरीक और सिध्म कुष्ठ होते हैं—ये संक्षेप से लक्षण कहे हैं। वास्तव में सभी कुष्ठ तीनों दोषों से उत्पन्न होने के कारण त्रिदोषज ही हैं तथापि भिन्न २ दोषों की प्रधानता के कारण ही ऐसा निर्देश किया गया है। चरक में पित्त और श्लेष्मा की अधिकता में पुण्डरीक तथा वात और कफ की अधिकता में सिध्म कुष्ठ-ये पृथक् २ दिये हैं। चरक चि. अ. ७ में कहा है—वातेऽधिकतरे कुष्ठं कापालं मण्डलं कफे। पित्ते त्वौदुम्बरं विद्यात्काकणं तु त्रिदोषजम् ॥ वातपित्ते श्लेष्मपित्ते वातश्लेष्मणि चाधिके। ऋष्य जिह्वं पुंडरीकं सिध्मकुष्ठं च जायते ॥ अब हम विस्तार से जो १८ प्रकार के कुष्ठ हैं उनकी व्याख्या करेंगे—१ सिध्म २ विचर्चिका ३ पामा ४ दद्रु ५ किटिभ ६ कपाल ७ स्थूलारुष्क ८ मण्डल ९ विषज-ये नौ ९ साध्य कुष्ठ हैं। तथा १ पौण्डरीक २ श्वित्र ३ ऋष्यजिह्व ४ शतारुष्क, ५ औदुम्बर ६ काकणक ७ चर्मदल ८ एककुष्ठ ९ विपादिका ये नौ ९ असाध्य कुष्ठ हैं। चरक तथा सुश्रुत में क्षुद्रकुष्ठ तथा महाकुष्ठ भेद दिये हैं। क्षुद्रकुष्ठ ११ तथा महाकुष्ठ ७ होते हैं। चरक के अनुसार—१ कपाल २ औदुम्बर ३ मण्डल ४ ऋष्यजिह्व ५ पुण्डरीक ६ सिध्म तथा ७ काकणक—ये ७ महाकुष्ठ हैं। तथा १ एककुष्ठ २ चर्मकुष्ठ ३ किटिभ ४ विपादिका ५ अलसक ६ दद्रु ७ चर्मदल ८ पामा ९ विस्फोटक १० शतारु ११ विचर्चिका—ये ११ क्षुद्रकुष्ठ दिये हैं। प्रकृत ग्रन्थोक्त १८ प्रकार के कुष्ठों में से चरक में स्थूलारुष्क, विषज तथा श्वित्र का उल्लेख नहीं है। तथा चरक में आये हुए चर्माख्य, अलसक तथा विस्फोटक कुष्ठ का इस ग्रन्थ में उल्लेख नहीं है। चरक में श्वित्र (किलास) का वर्णन इनसे पृथक् दिया है। इस ग्रन्थ के समान इसका इन १८ प्रकार के कुष्ठों में परिगणन नहीं किया गया है। इसी प्रकार सुश्रुत के अनुसार—१ अरुण २ औदुम्बर ३ ऋष्यजिह्व ४ कपाल ५ काकणक ६ पुण्डरीक ७ दद्रु—ये ७ महाकुष्ठ हैं। तथा १ स्थूलारुष्क २ महाकुष्ठ ३ एककुष्ठ ४ चर्मदल ५ विसर्प ६ परिसर्प ७ सिध्म ८ विचर्चिका ९ किकिभ (म) १० पामा तथा ११ रसका—ये ११ महाकुष्ठ होते हैं। ये सब कुष्ठ त्वचा, मांस, रुधिर (रक्त) तथा लसीका के आश्रित होते हैं और स्पर्श ज्ञान को नष्ट करनेवाले हैं तथा वृद्धि को प्राप्त होने पर विरूपता कर देते हैं। अर्थात् दूषित वात, पित्त, कफ, त्वचा, रक्त, मांस एवं लसीका को दूषित कर देते हैं। अर्थात् ये चारों दूषित धातुएं कुष्ठ के आश्रय हैं चरक चि. अ. ७ में कहा है—वातादयस्त्रयो दुष्टास्त्वग्रक्तं मांसमम्बु च। दूषयन्ति स दुष्टानां सप्तको द्रव्यसंग्रहः ॥ इसी प्रकार चरक नि. अ. ५ में भी कहा है—दूष्याश्च शरीरधातवस्त्वङ्मांस शोणितलसीकाश्चतुर्धा दोषोपघातविकृताः। (विसर्प में भी ये ही तीनों दोष तथा त्वचा, रक्त, मांस एवं लसीका आदि चारों दूष्य भाग लेते हैं। इन दोनों का भेद हमने खिलस्थान के विसर्पचिकित्साध्याय की व्याख्या में दिया है। इसे वहीं देखें) सिध्म कुष्ठ के लक्षण—जिसपर धूलि लगी हुई प्रतीत हो, तथा जो घियाकद्दू एवं वारणपुष्पी के फूल के समान हो—वह सिध्मकुष्ठ है। चरक नि. अ. ५ में कहा है—रूक्षारुणविशीर्णबहिस्तनून्यन्तःस्निग्धानि शुक्लरक्तावभासानि बहून्यल्पवदनान्यल्पकण्डूदाहपूयलसीकानि लघुसमुत्थानान्यल्पभेदकृमीण्यलाबुपुष्पसङ्काशानि सिध्मकुष्ठानीति विद्यात्। चरक चि. अ. ७ में भी कहा है—श्वेतं ताम्रं तनु च यद्रजो घृष्टं विमुञ्चति। अलाबुपुष्पवर्णं तत् सिध्मं प्रायेण चोरसि। अर्थात् यह छाती में होता है इसे अंगरेजी में Ptyriasis Versicolor या Ptyriasis cloasma कहते हैं। सुश्रुत नि. अ. ५ में भी कहा है—कण्डूवन्वितं श्वेतमपाति सिध्मं विद्यात्तनु प्रायश ऊर्ध्वकाये। यहां सिध्म को साध्य कुष्ठों में गिना है। चरक में इसे महाकुष्ठ तथा सुश्रुत में क्षुद्रकुष्ठ के रूप में दिया है। इस विरोध के निराकरण के लिये सुश्रुत की टीका में डल्हण ने लिखा है कि—'सिध्मकुष्ठं द्विविधं-सिध्मं पुष्पिकासिध्मं च। पुष्पिकासिध्मस्य सुखसाध्यत्वात् सुश्रुते क्षुद्रकुष्ठेषु पाठः, सिध्मस्य दुःखसाध्यत्वाच्चरके महाकुष्ठ पाठ इत्यदोषः। अर्थात् सिध्मकुष्ठ के दो भेद हैं १ सिध्म २ पुष्पिका सिध्म। पुष्पिका सिध्म के सुख साध्य होने से उसके अनुसार सुश्रुत में इसे क्षुद्रकुष्ठों में दिया गया है तथा सिध्म के कष्टसाध्य हाने के कारण चरक में इसे महाकुष्ठों में गिना गया है। इस ग्रन्थ में भी पुष्पिकासिध्म को दृष्टि में रखते हुए ही इसे साध्य कुष्ठों में दिया गया है। विचर्चिका का लक्षण—इसमें कृष्ण तथा लोहित (लाल) वर्ण के व्रण होते हैं जिसमें वेदना (पीडा) स्राव तथा पाकहोता है। चरक चि. अ. ७ में कहा है—सकण्डुपिडका श्यावा बहुस्रावा विचर्चिका। सुश्रुत नि. अ. ५ में भी कहा है—राज्योऽतिकण्ड्वर्तिरुजः सरूक्षा भवन्ति गात्रेषु विचर्चिकायाम्। कण्डूमती दाहरुजोपपन्ना ॥ इसे अंगरेजी में (Pemphigus) कहते हैं। पामा का लक्षण—इसमें कण्डू, तोद, पाक, स्राव तथा छोटी २ फुन्सियां होती हैं। चरक चि. अ. ७ में कहा है—पामा श्वेतारुणश्यावाः पिडका कण्डुरा भृशम्। इसी प्रकार सुश्रुत नि. अ. ५ में कहा है—स्रावान्वकण्डूपरिदाहकाभिः पामाऽणुकाभिः पिडकाभिरुग्राः ॥ इसे आधुनिक विज्ञान के अनुसार (Eczema) कहते हैं। दद्रु का लक्षण—ये रूक्षता, कण्डू, दाह एवं स्राववाले मण्डलाकार तथा बढ़ने वाले होते हैं। चरक चि. अ. ७ में कहा है—सकण्डुरागपिडकं दद्रुमण्डलमुद्गतम्। सुश्रुत नि. अ. ५ में भी कहा है—अतसीपुष्पवर्णानि ताम्राणि वा विसर्पीणि पिडकावन्ति च दद्रुकुष्ठानि। इसे (Ringworm) कहते हैं। दद्रुकुष्ठ को चरक में क्षुद्रकुष्ठों में तथा सुश्रुत में महाकुष्ठों में गिना गया है। सिध्म की तरह इसके भी सित तथा असित दो भेद हैं। असित (दद्रु) कुष्ठ के असाध्य होने से सुश्रुत में महाकुष्ठ में तथा सित के सुखसाध्य होने से इसका चरक में क्षुद्रकुष्ठों में परिगणन किया गया है। सुश्रुत नि. अ. ५ की टीका में डल्हण ने लिखा है—"दद्रुकुष्ठं द्विविधं सितमसितं च, असितस्य महोपक्रमसाध्यत्वादनुबन्धित्वप्रकर्षाच्च महाकुष्ठेषु मध्ये सुश्रुते पाठः, सितदद्रुकुष्ठस्य सुखसाध्यत्वादुत्तरोत्तरधात्वनुप्रवेशाभावात्तथाऽत्यर्थपीडारहितत्वाच्च चरके क्षुद्रकुष्ठेषु मध्ये पाठ इत्यदोषः"। किटिभ का लक्षण—ये कृष्ण, श्याव एवं अरुण वर्ण वाले, खुरदरे,

कठोर, स्रावयुक्त और बढ़ने वाले होते हैं। बड़े होते हैं, तथा एक बार शान्त होकर पुनः २ हो जाते हैं। चरक चि. अ. ७ में कहा है—श्यावं किणखरस्पर्शं परुषं किटिभं स्मृतम् । **अर्थात् ये किण (Scar) के समान खुरदरे तथा कठोर होते हैं। सुश्रुत नि. अ. ५ में भी कहा है—**यत् स्रावि वृत्तं घनमुग्रकण्डु । तत् स्निग्धकृष्णं किटिभं (मं) वदन्ति ॥ **इसमें खुजली बहुत अधिक होती है, इसे (Psoriasis) कहते हैं। कपालकुष्ठ के लक्षण—यह कृष्ण वर्ण का, खुरदरा, कठोर तथा मैला, अनेक स्थानों वाला तथा मण्डलाकार होता है। इसमें खुजली होती है। दो ऋतुओं की सन्धियों (जहां दो ऋतुओं का मेल होता है-एक ऋतु समाप्त होती है तथा दूसरी प्रारंभ होती है) में और उष्णकाल में अत्यन्त कष्ट पहुंचाता है। तथा कपाल (घड़े के ठीकरे) की आकृति वाला होता है। चरक चि. अ. ७ में कहा है—**कृष्णारुणकपालाभं यद्रूक्षं परुषं तनु । कपालं तोदबहुलं तत्कुष्ठं विषमं स्मृतम् ॥ **इसी प्रकार चरक नि. अ. ५ में भी कहा है—**रूक्षारुणपरुषाणि विषमविसृतानि खरपर्यन्तानि तनून्युद्वृत्तबहिस्तनूनि सुप्तसुप्तानि हृषितलोमाचितानि निस्तोदबहुलान्यल्पकण्डूदाहपूयलसीकान्याशुगतिसमुत्थानान्याशुभेदीनि जन्तुमन्ति कृष्णारुणकपालवर्णानि कापालकुष्ठानीति विद्यात् । **सुश्रुत नि. अ. ५ में भी कहा है—**"कृष्णकपालिकाप्रकाशानि कपालकुष्ठानि" । **स्थूलारुष्क या महारुष्क कुष्ठ का लक्षण-जो पिच्छा (चिपचिपापन), स्राव, वेदना, दाह, कण्डु, तोद, ज्वर, विसर्प (Erysipelas) तथा जो मूल में बड़े २ व्रणों से युक्त हो तथा मृदु एवं खुरदरा हो उसे महारुष्क कहते हैं। सुश्रुत नि. अ. ५ में भी कहा है—**स्थूलानि सन्धिष्वतिदारुणानि । स्थूलारुषि स्युः कठिनान्यरूंषि ॥ **अर्थात् इसमें अत्यन्त दारुण एवं बड़े २ व्रण होते हैं। चरक में इसका परिगणन नहीं किया गया है। मण्डलकुष्ठ-इसमें दुपहरिया के फूलों के सदृश (लालरंग के) मण्डल होते हैं तथा दाह, कण्डु, वेदना और स्राव होते हैं। चरक चि. अ. ७ में कहा है—**श्वेतं रक्तं स्थिरं स्त्यानं स्निग्धमुत्सन्नमण्डलम् । कृच्छ्रमन्योन्यसंसक्तं कुष्ठं मण्डलमुच्यते ॥ **अर्थात् इसमें मण्डल परस्पर एक दूसरे से जुड़े हुए होते हैं। चरक नि. अ. ५ में भी कहा है—**स्निग्धानि गुरूण्युत्सेधवन्ति श्लक्ष्णस्थिरपीनपर्यन्तानि शुक्लरक्तावभासानि शुक्लरोमराजीसन्ततानि बहुबहलशुक्लपिच्छिलस्राविणि बहुक्लेदकण्डूकृमीणि सक्तगतिसमुत्थानभेदीनि परिमण्डलानि मण्डलकुष्ठानीति विद्यात् । **(बन्धुपुष्प एक वृक्ष होता है जिसका फूल मध्याह्न में विकसित होता है इसे दुपहरिया (Pantapetes Phoenicea) कहते हैं। इसका फूल लाल रंग का होता है। रा. नि. में कहा है—**अस्य पुष्पं मध्याह्ने विकसति पराह्णे च सूर्योदये शुष्यति । **विषज कुष्ठ के लक्षण-मकड़ी, कीड़े, पतंगे, तथा सांप के दांतों से काटे हुए की यदि उपेक्षा की जाय तो वह स्थान खर (खुरदरा) हो जाता है-इसे विषज कुष्ठ कहते हैं यह कृच्छ्र साध्य होता है। पौण्डरीक कुष्ठ के लक्षण-जो बड़े आशय वाला एवं उन्नत हो, जो देर में उत्पन्न हो तथा देर में ही फटे, जो पुण्डरीक (रक्तकमल) तथा पलाश के वर्ण का हो उसे पौण्डरीक कहते हैं। चरक चि. अ. ७ में कहा है—**सश्वेतं रक्तपर्यन्तं पुण्डरीकदलोपमम् । सोत्सेधं च सरागं च पुण्डरीकं तदुच्यते ॥ **चरक नि. अ. ५ में भी कहा है—**शुक्लरक्तावभासानि रक्तपर्यन्तानि रक्तराजीसन्ततान्युत्सेधवन्ति बहुबहलरक्तपूयलसीकानि कण्डूकृमिदाहपाकवन्त्याशुगतिसमुत्थानभेदीनि पुण्डरीकपलाशसङ्काशानि पुण्डरीकाणीति विद्यात् । **सुश्रुत नि. अ. ५ में भी कहा है—**पुण्डरीकपत्रप्रकाशानि पौण्डरीकाणि श्लेष्मणा । **श्वित्रकुष्ठ-श्वेत होने से इसे श्वित्र कहते हैं। इसके ५ प्रकारों का आगे वर्णन करेंगे। चरक में १८ प्रकार के कुष्ठों से भिन्न श्वित्रकुष्ठ का वर्णन किया है। इसे किलास भी कहा है। सुश्रुत नि. अ. ५ में कहा है-** "किलासमपि कुष्ठविकल्प एव, तत्त्रिविधं वातेन, पित्तेन, श्लेष्मणा चेति ।" **अर्थात् इन दोनों में भेद यह है कि कुष्ठ तो त्वचा, रक्त तथा मांस में अधिष्ठित होकर त्वचा में प्रकट होता है परन्तु इसके विपरीत किलास केवल त्वचा में ही अधिष्ठित होता है । कहा है—**"कुष्ठकिलासयोरन्तरं त्वग्गतमेव किलासमपरिस्रावि च" । **कुछ लोग त्वचा में स्थित होने पर उसे किलास कहते हैं तथा उसी के धातुओं में प्रवेश करने पर श्वित्र कहते हैं। कहा भी है—**त्वग्गतन्तु यदस्रावि किलासं तत्प्रकीर्तितम् । यदा त्वचमतिक्रम्य तद्धातूनवगाहते ॥ हित्वा किलाससंज्ञां च श्वित्रसंज्ञां लभेत तत् ॥ **चरक चि. अ. ७ में श्वित्र के ३ भेद दिये हैं—**दारुणं चारुणं श्वित्रं किलासं नामभिस्त्रिभिः । यदुच्यते तत् त्रिविधं त्रिदोषं प्रायशश्च तत् ॥ **अर्थात् किलास (श्वित्र) के दारुण, चारुण और श्वित्र ये तीन भेद हैं। भालुकितन्त्र में भी धात्वाश्रय के भेद से किलास के तीनों भेद दिये हैं—**वारुणं तत्तु विज्ञेयं मांसधातुसमाश्रयम् । मेदः श्रितं भवेच्छ्वित्रं दारुणं रक्तसंश्रयम् । **अर्थात् जब किलास का आश्रय मांस होता है तब उसका नाम वारुण (चरक के अनुसार चारुण) होता है। मेद में आश्रित होने पर श्वित्र तथा रक्त में आश्रित होने पर दारुण कहते हैं। यह रोग जैसा कि पहले कहा जा चुका है, केवल त्वचागत ही होता है। यहां दी हुई मांस मेद तथा रक्त धातुओं का यही अभिप्राय है कि दोष उन २ धातुओं में आश्रित रहता हुआ ही त्वचा में क्रमशः ताम्र, श्वेत तथा रक्तवर्णों को उत्पन्न करता है। अन्य कुष्ठों की तरह इसमें धातुसंबन्धी विशेष विकार उत्पन्न नहीं होते हैं। श्वित्र या किलास को आधुनिक विज्ञान के अनुसार Leucoderma कहा जा सकता है । ऋष्यजिह्व—जो ऋष्य (नीले अण्डकोष वाले हरिण) की जिह्वा के समान, कठोर, विवर्ण, गौरवर्ण एवं क्लेद से युक्त होता है उसे ऋष्यजिह्व कहते हैं। चरक चि० अ० ७ में कहा है—**कर्कशं रक्तपर्यन्तमन्तःश्यावं सवेदनम् । यदृष्यजिह्वासंस्थानमृष्यजिह्वं तदुच्यते ॥ **इसी प्रकार चरक नि० अ० ५ में भी कहा है—**परुषाण्यरुणवर्णानि बहिरन्तःश्यावानि नीलपीतताम्रावभासान्याशुगतिसमुत्थानान्यल्पकण्डूक्लेदकृमीणि दाहभेदनिस्तोदपाकबहुलानि शूकोपहतोपमवेदनान्युत्सन्नमध्यानि तनुपर्यन्तानि कर्कशपिडकाचितानि दीर्घपरिमण्डलानि ऋष्यजिह्वाकृतीनि ऋष्यजिह्वानीति विद्यात् । **सुश्रुत नि० अ० ५ में कहा है—**ऋष्यजिह्वाप्रकाशानि खराणि ऋष्यजिह्वानि । **कोई ऋष्यजिह्व के स्थान पर ऋक्षजिह्व पढ़ते हैं उस अवस्था में ऋक्ष का अर्थ रीछ करना होगा। शतारुष्क कुष्ठ का लक्षण—स्रावों से**

युक्त नीले, लाल, पीले, काले आदि अनेक वर्णों वाले कठोर व्रणों से युक्त होता है। चरक चि० अ० ७ में कहा है—रक्तं श्यावं सदाहार्ति शतारुः स्याद् बहुव्रणम्। इसे Rupia कहते हैं। **औदुम्बर कुष्ठ का लक्षण**—जो पके हुए गूलर के फल के समान, बिना स्राव वाला तथा अनेक जड़ों (Roots) वाला होता है उसे औदुम्बर कुष्ठ कहते हैं। चरक चि० अ० ७ में कहा है—कण्डूविदाहरुग्रागपरीतं लोमपिञ्जरम्। उदुम्बरफलाभासं कुष्ठमौदुम्बरं विदुः॥ चरक नि० अ० ५ में भी कहा है—ताम्राणि ताम्रखररोमराजीभिरवनद्धानि बहलानि बहुबहलरक्तपूयलसीकानि कण्डूक्लेदकोथदाहपाकवन्त्याशुगतिसमुत्थानभेदीनि सन्तापकर्मीणि पक्वोदुम्बरफलवर्णाण्युदुम्बरकुष्ठानीति विद्यात्। सुश्रुत नि० अ० ५ में भी कहा है—"पित्तेन पक्वोदुम्बरफलाकृतिवर्णान्यौदुम्बराणि"। **काकण कुष्ठ का लक्षण**—यह हाथी के चमड़े के समान खुरदरा होता है। चरक चि० अ० ७ में कहा है—यत्काकणन्तिकावर्णमपाकं तीव्रवेदनम्। त्रिदोषलिङ्गं तत्कुष्ठं काकणं नैव सिध्यति॥ अर्थात् यह असाध्य माना गया है। चरक नि० अ० ५ में भी कहा है—काकणन्तिकावर्णान्यादौ पश्चात्सर्वकुष्ठलिङ्गसमन्वितानि पापीयसां सर्वकुष्ठलिङ्गसंभवेनानेकवर्णानि काकणकानीति विद्यात्, तान्यसाध्यानि। सुश्रुत नि० अ० ५ में भी कहा है—'काकणन्तिकाफलसदृशाण्यतीवरक्तकृष्णानि। अर्थात् रत्ती के समान चारों ओर से अत्यन्त लाल तथा बीच में काला होने के कारण ही इसका यह नाम है। **चर्मदल**—यह वृद्धि वाला होता है—अर्थात् यह निरन्तर बढ़ता चला जाता है। चरक चि० अ० ७ में कहा है—रक्तं सकण्डुसस्फोटं सरुग् दलति चापि यत्। तच्चर्मदलमाख्यातं संस्पर्शासहमुच्यते॥ अर्थात् इसमें हाथ आदि के स्पर्श से तीव्र वेदना होती है। सुश्रुत नि० अ० ५ में कहा है—स्फुर्येन कण्डूव्यथनौषचोषास्तलेषु तच्चर्मदलं वदन्ति। यह हाथों तथा पैरों की तलियों में होता है। इसे आधुनिक विज्ञान के अनुसार Zeroderma कहते हैं। **एककुष्ठ**—जो विसर्प से उत्पन्न हुआ हो, सदा विसर्पण करता हो (फैलता हो) तथा स्राव, वेदना एवं कृमियों से युक्त हो। चरक चि० अ० ७ में कहा है—अस्वेदनं महावास्तु यन्मत्स्यशकलोपमम्। तदेककुष्ठं,................................॥ सुश्रुत नि० अ० ५ में भी कहा है—कृष्णारुणं येन भवेच्छरीरं तदेककुष्ठं प्रवदन्ति कुष्ठम्॥ **विपादिका का लक्षण**—जो हाथ, पैर, अंगुष्ठ, ओष्ठ, तथा जङ्घाओं में फट जाता हो, जिसमें स्राव तथा वेदना होती हो तथा जिसका पाक न होता हो अर्थात् पकता न हो उसे विपादिका कहते हैं। चरक चि० अ० ७ में कहा है—वैपादिकं पाणिपादस्फुटनं तीव्रवेदनम्। सुश्रुत नि० अ० ५ में भी कहा है—विपादिका पादगतेयमेव। डल्हण ने इसकी टीका में लिखा है-इयमेव विचर्चिका पादगता यदा स्यात्तदा विचर्चिकासंज्ञां विहाय विपादिकासंज्ञां प्राप्नोतीत्यर्थः"। अर्थात् जब विचर्चिका ही पैरों में हो तो उसे विपादिका कहते हैं। आधुनिक विज्ञान के अनुसार इसे Rhagades कहते हैं। सभी रोग अज्ञान पूर्वक उपेक्षा किये जाने पर असाध्य हो जाते हैं तथा जो असाध्य होते हैं वे मनुष्यों को मार देते हैं अर्थात् वे घातक हो जाते हैं। इसलिये अपने हित को दृष्टि में रखते हुए शीघ्र ही प्रयत्नशील होना चाहिये अर्थात् यथा शीघ्र चिकित्सा का प्रयत्न करना चाहिये।

कुष्ठेष्वादौ वातोत्तरेषु घृताच्छपानमनेकशो मण्डान्तरितं प्रशस्यते, तिक्तसर्पिष इतरोत्तरयोः, वमनविरेचनास्था (पन)०.................................

....

....

(इति ताडपत्रपुस्तके १२० तमं पत्रम्[1])

वातिक कुष्ठ की चिकित्सा—वातिक कुष्ठों में सबसे पूर्व मण्ड से रहित अच्छ (स्वच्छ—केवल) घृत का पान कराना चाहिये। तथा पैत्तिक एवं श्लैष्मिक में तिक्त घृत—पिलाना, वमन, विरेचन, आस्थापन.............(आदि का आवश्यकतानुसार प्रयोग करना चाहिये)

वक्तव्य—यह अध्याय बीच में ही खण्डित हो गया है। इसलिये अन्य आर्ष ग्रन्थों के आधार पर हम इन मुख्य २ कुष्ठों के सामान्य चिकित्सा क्रम का उल्लेख करते हैं। चरक चि० अ० ७ में कहा है—वातोत्तरेषु सर्पिर्वमनं श्लेष्मोत्तरेषु कुष्ठेषु। पित्तोत्तरेषु मोक्षो रक्तस्य विरेचनं चाग्रे॥ अर्थात् वातिक कुष्ठ में घृत पान, पैत्तिक में रक्तमोक्षण अथवा विरेचन तथा श्लैष्मिक में वमन कराना चाहिये। आवश्यकतानुसार उपर्युक्त विधियों से कोष्ठ के शुद्ध हो जाने पर उसे वातप्रकोप से बचाने के लिये स्नेहपान कराना चाहिये। चरक चि० अ० ७ में कहा है-स्नेहस्य पानमिष्टं शुद्धे कोष्ठे प्रवाहिते रुधिरे। वायुर्हि शुद्धकोष्ठं कुष्ठिनमबलं विशति शीघ्रम्॥ इस सामान्य चिकित्सा (General treatment) के साथ ही स्थानिक चिकित्सा (Local application) भी करनी चाहिये। उस स्थान को अच्छी प्रकार स्वेदन कर के कूर्चशस्त्र (Scraper) से अच्छी प्रकार लेखन (Scrape) करे जिस से रक्त का उत्क्लेश कम हो जाय। इस प्रकार शुद्धि हो जाने के बाद आवश्यकतानुसार लेप लगाने चाहियें। लेप लगाने से पूर्व उपर्युक्त स्थानिक तथा आशय संबन्धी शुद्धि करना आवश्यक है। कुष्ठ रोग में आभ्यन्तरिक एवं बाह्य सब प्रकार से विडङ्ग तथा खदिर का प्रयोग श्रेष्ठ माना गया है। चरक चि० अ० ७ में कहा है—पानाहारविधाने प्रसेचने धूपने प्रदेहे च। कृमिनाशनं विडङ्गं विशिष्यते कुष्ठहा खदिरः॥ **श्वित्र चिकित्सा**—श्वित्र रोग में सब से पहले वमन विरेचना आदि द्वारा रोगी के आशय का शोधन करने के बाद सवर्णकरणलेपों का प्रयोग करना चाहिये। तथा अन्य जो भी कुष्ठनाशक प्रयोग हैं उन का व्यवहार करना चाहिये।

---

१. अस्याग्रे पत्रचतुष्टयात्मको ग्रन्थस्त्रुटितस्ताडपत्रपुस्तके।

मूत्रकृच्छ्रचिकित्सिताध्यायः ।

....

....

कटीस्कन्धातिधरणात् पित्तं क्रुद्धं कफानिलौ ।
अनुसृत्य यदा बस्तिं दूषयन्ति तदाश्रयाः ॥
मूत्रकृच्छ्रं तदा जन्तोर्दारुणं संप्रवर्तते ।

वक्तव्य—यह अध्याय प्रारंभ में खण्डित है। इस में मूत्र कृच्छ्र रोग की चिकित्सा कही जायगी। मूत्र कृच्छ्र से अभिप्राय मूत्र के कष्ट पूर्वक आने से है।

मूत्र कृच्छ्र का निदान—कटि तथा स्कन्ध पर अत्यन्त अधिक भार के धारण करने से कुपित हुआ पित्त कफ तथा वायु का अनुसरण करके जब बस्ति (Bladder) को दूषित कर देता है तब उस प्राणी को भयंकर मूत्र कृच्छ्र रोग हो जाता है। चरक चि० अ० २६ में इस का निदान निम्न प्रकार से दिया है—व्यायामतीक्ष्णौषधरूक्षमद्यप्रसङ्गनित्यद्रुतपृष्ठयानात् । आनूपमत्स्याध्यशनादजीर्णात्स्युर्मूत्रकृच्छ्राणि नृणामिहाष्टौ ॥

सफेनमल्पमरुणं कालं वा शूलसंततम् ॥
मूत्रमानद्धवर्चस्त्वं वाताघातस्य लक्षणम् ।

वातिक मूत्रकृच्छ्र के लक्षण—इसमें मूत्र फेन (झाग) वाला तथा थोड़ा २ आता है, रंग अरुण (ईंट जैसा लाल) तथा काला होता है, मूत्र त्याग के समय वेदना होती है, तथा मल भी रुक जाता है। चरक चि० अ० २६ में कहा है—तीव्रा हि रुग्वंक्षणबस्ति मेढ्रे स्वल्पं मुहुर्मूत्रयतीह वातात् । सुश्रुत उ० अ० ५९ में कहा है—अल्पमल्पं समुत्पीड्य मुष्कमेहनबस्तिभिः । फलद्भिरिव कृच्छ्रेण वाताघातेन मेहति ॥

सदाहवेदनं पीतमत्युष्णं बाष्पसंहितम् ॥
स्विद्यमानमुखो मूत्रं कुरुते पैत्तिके शिशुः ।

पैत्तिक मूत्रकृच्छ्र के लक्षण—इस में बालक को मूत्र दाह एवं वेदना से युक्त आता है, रंग अत्यन्त पीला होता है (पित्त के कारण), अत्यन्त उष्ण तथा वाष्प से युक्त होता है तथा मूत्र त्याग के समय मुख पर पसीना आजाता है। चरक चि० अ० २६ में कहा है—पीतं सरक्तं सरुजं सदाहं कृच्छ्रान्मुहुर्मूत्रयतीह पित्तात् । सुश्रुत उ० अ० ५९ में भी कहा है-हारिद्रमुष्णं रक्तं वा मुष्कमेहनबस्तिभिः । अग्निना दह्यमानाभैः, पित्ताघातेन मेहति ॥

बहुलं कुरुते मूत्रमल्पबाधं सितं घनम् ॥
बस्तिगौरवशोथौ च मूत्राघाते कफात्मके ।

श्लैष्मिक मूत्रकृच्छ्र के लक्षण—इस में रोगी को मूत्र बहुत आता है तथा मूत्रत्याग के समय कष्ट कम होता है। मूत्र का रंग श्वेत और घना (सान्द्र) होता है तथा बस्ति में भारीपन एवं शोथ हो जाती है। चरक चि० अ० २६ में कहा है—बस्तेः सलिङ्गस्य गुरुत्वशोथौ मूत्रं सपिच्छं कफमूत्रकृच्छ्रे । सुश्रुत उ० अ० ५९ में भी कहा है—स्निग्धं शुक्लमनुष्णं च मुष्कमेहनबस्तिभिः । संहृष्टरोमा गुरुभिः श्लेष्माघातेन मेहति ॥

द्वन्द्वजं द्वन्द्वरूपेभ्यः सर्वेभ्यः सान्निपातिकम् ॥
रक्तजं पित्तवज्ज्ञेयं सरक्तस्य च मूत्रणात् ।

दो २ दोषों के मिले हुए लक्षणों से मूत्रकृच्छ्र को द्वन्द्वज तथा सब दोषों के सम्मिलित लक्षणों से उसे सान्निपातिक जाने। चरक चि० अ० २६ में कहा है—सर्वाणि रूपाणि तु सन्निपाताद्भवन्ति तत्कृच्छ्रतमं तु कृच्छ्रम् । सुश्रुत उ० अ० ५९ में कहा है—दाहशीतरुजाविष्टो नानावर्णं मुहुर्मुहुः । ताम्यमानस्तु कृच्छ्रेण सन्निपातेन मेहति ॥ **रक्तज मूत्रकृच्छ्र का लक्षण—**रक्तज मूत्रकृच्छ्र पैत्तिकमूत्रकृच्छ्र के समान लक्षणों वाला होता है तथा इस में मूत्र में रक्त आता है। चरक चि० अ० २६ में कहा है-क्षताभिघातात्क्षतजं क्षयाद्वा प्रकोपितं बस्तिगतं विबद्धम् । तीव्रार्ति मूत्रेण सहाल्पमल्पमायाति तस्मिन्नतिसञ्चिते च ॥ आध्मातता विन्दति गौरवं च बस्तिर्लघुत्वं च विनिःसृतेऽस्मिन् ॥

विशेषाः सन्निपातोत्थे मूर्च्छाभ्रमविलापकाः ॥
सर्वेषु कार्श्यमरतिररुचिः सानवस्थितिः ।
तृष्णाशूलविषादार्तिस्त एव स्युरुपद्रवाः ॥

सन्निपातज मूत्रकृच्छ्र में मूर्च्छा, भ्रम तथा प्रलाप-विशेष लक्षण होते हैं सब प्रकार के मूत्रकृच्छ्रों में कृशता, अरति (ग्लानि) अरुचि, मन की अस्थिरता, तृष्णा, शूल, विषाद, अर्ति(पीडा) आदि उपद्रव (लक्षण) होते हैं।

वक्तव्य—इस प्रकार यहां १ वातिक २ पैत्तिक ३ श्लैष्मिक ४ वातपैत्तिक ५ वातश्लैष्मिक ६ पितश्लैष्मिक ७ सान्निपातिक ८ रक्तज—ये आठ भेद दिये हैं। चरक में-१ वातिक २ पैत्तिक ३ श्लैष्मिक ४ सान्निपातिक ५ अश्मरीज ६ शर्कराज ७ शुक्रज ८ रक्तज-ये आठ भेद दिये हैं। सुश्रुत में—१ वातिक २ पैत्तिक ३ श्लैष्मिक ४ सान्निपातिक ५ अभिघातज ६ पुरीषज ७ अश्मरीज तथा ८ शर्कराज—ये आठ भेद दिये हैं।

चिरात् प्रमेहाः कुप्यन्ति सद्यः कृच्छ्राणि देहिनाम् ।
विशेषः कृच्छ्रमेहानां कृच्छ्रे दाहोऽति चेन्द्रिये ॥
कृच्छ्राण्याशु निवर्तन्ते प्रमेहास्तु प्रसङ्गिनः ।
पित्तप्रायाणि कृच्छ्राणि वातस्थानाश्रयाणि च ॥

प्रमेह तथा मूत्रकृच्छ्र में भेद—प्राणियों में प्रमेह रोग बहुत देर से प्रकुपित होते हैं जब कि मूत्रकृच्छ्र शीघ्र ही कुपित हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त मूत्रकृच्छ्र तथा प्रमेह में यह भेद है कि मूत्रकृच्छ्र रोग में मूत्रेन्द्रिय में अत्यन्त दाह होता है। मूत्रकृच्छ्र होग शीघ्र ही ठीक हो जाते हैं तथा प्रमेह धीरे २ ठीक होता है। मूत्रकृच्छ्र में पित्त की प्रधानता है तथा वायु के स्थान इस के आश्रय होते हैं ॥

तस्मात् सामान्ययोगेन चिकित्सा ह्युपदेक्ष्यते ।

इस लिये दोनों की चिकित्सा समानरूप से कही जायगी ॥

शरमूलानि निष्क्वाथ्य शीतं पूतं च तज्जलम् ॥
शर्करामधुसंयुक्तं पिबेत् कृच्छ्रोपशान्तये ।

अब मूत्रकृच्छ्र की सामान्य चिकित्सा कही जायगी—मूत्रकृच्छ्र की चिकित्सा—मूत्रकृच्छ्र रोग की शान्ति के लिये शरमूलों का क्वाथ बनाकर उसे शीतल कर के छान कर उस में शर्करा एवं मधु मिलाकर पिलाना चाहिये ॥

मधुकं शरमूलं च त्रिफला सितवारिका ॥
शृतं सशर्कराक्षौद्रं मूत्रकृच्छ्रनिवारणम् ।

मुलहठी, शरमूल, त्रिफला, सितवारिका (सिंहल पिप्पली) इन के क्वाथ में शर्करा एवं मधु मिलाकर पीने से मूत्रकृच्छ्र दूर होता है ॥

तार्णस्य पञ्चमूलस्य रसं निष्क्वाथ्य पाययेत् ॥
शर्कराक्षौद्रसंयुक्तं सर्वकृच्छ्रनिवारणम् ।

पञ्चतृण मूल के रस का क्वाथ करके उस में शर्करा एवं मधु मिलाकर पिलाने से सब प्रकार के मूत्रकृच्छ्रों की शान्ति होती है ॥

शतावरी पृथक्पर्णी कुलत्थबदराणि च ॥
शर्करामधुसंयुक्तो लेहो मूत्रग्रहापहः ।

शतावरी, पृथक्पर्णी (पृश्निपर्णी), कुलत्थ तथा बेर इन का शर्करा एवं मधु के साथ अवलेह बनाकर देने से मूत्रग्रह (मूत्रकृच्छ्र) नष्ट होते हैं ॥

विपरीतं प्रमेहेभ्यो मूत्रकृच्छ्रेषु कल्पयेत् ॥
औषधं पानमन्नं च सुस्निग्धं मृदु शोधयेत् ।

मूत्रकृच्छ्र में प्रमेह के विपरीत (भिन्न) औषध, पान तथा अन्न (आहार) का व्यवहार करना चाहिये तथा अच्छी प्रकार स्निग्ध एवं मृदु शोधन (वमन-विरेचन) कराये ॥

मधुराणीक्षुविकृतीस्त्रपुसानि घृतं पयः ॥
सेवेत वर्जयेन्नित्यं यत् संग्राहि विदाहि च ।

मूत्रकृच्छ्र में पथ्यापथ्य - मधुर पदार्थ, गन्ने के विकार (गुड आदि), त्रपुस (खीरा), घी तथा दूध का सेवन करना चाहिये तथा संग्राही (Astringent) एवं विदाही पदार्थों का त्याग करना चाहिये। चरक चि० अ० २६ में इस का निम्न परहेज बताया है—व्यायामसंधारणशुष्कभक्षपिष्टान्नवातार्ककरव्यवायान्। खर्जूरशालूककपित्थजम्बूबिसं कषायं न रसं भजेत ॥

ऊषकोऽथ बृहत्यौ द्वे श्वदंष्ट्रा वसुकावुभौ ॥
शृङ्गवेरं यवाश्चैव दर्भो वृक्षादनी बला ।
पिप्पली तैः शृतं क्षीरं घृतमात्रादि(वि)मूर्च्छितम् ॥
सरक्ते पाययेत् कृच्छ्रे क्षिप्रमेतेन सिध्यति ।

रक्तज मूत्रकृच्छ्र की चिकित्सा—दूषक (कल्लर नामक वृष्य कन्द), छोटी कटेरी, बड़ी, कटेरी, गोखुरु, दोनों कुटज (मीठा और कड़वा), आर्द्रक, जौ, दर्भ (डाभ) वृक्षादनी (बन्दाक), बला (खरैटी) तथा पिप्पली-इन के द्वारा दूध को पकाकर उसे थोड़े से घृत से मूर्छित करके पिलाने से रक्तज मूत्रकृच्छ्र शीघ्र ही नष्ट होता है ॥

कनीयसीं पञ्चमूलीं कुलत्थं बदराणि च ॥
शर्करामधुसंयुक्तो लेहो मूत्रग्रहे हितः ।

स्वल्प पञ्चमूल (शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारी तथा गोखुरु), कुलत्थ तथा बेर-इन का शर्करा एवं मधु से अवलेह बनाकर मूत्रग्रह (मूत्रकृच्छ्र) में देना चाहिये ॥

ससैन्धवो रसः कार्यो मूत्राघाते घृतायु(न्वि)तः ॥
सतार्णपञ्चमूलो वा रास्नागोक्षुरकेण वा ।

पञ्चतृण मूल के रस में नमक एवं घृत मिलाकर अथवा रास्ना एवं गोखुरु के साथ मूत्रकृच्छ्र में देना चाहिये ॥

द्वौ करञ्जौ निगर्भा(?)च कार्पासो मधुशिग्रुकः ॥
श्वदंष्ट्रा वसुकौ द्वौ च मृणालं चोत्पलानि च ।
पिप्पल्यः सैन्धवं चैव सूक्ष्मैला मरिचानि च ॥
एतैः सिद्धां पिबेद्बालो यवागूं ससुवर्चलाम् ।

दोनों करञ्ज (करञ्ज तथा पूतिकरञ्ज) निगर्भा ?, कपास, मीठा सुहांजना. गोखरु, दोनों कुटज (मीठा और कड़वा) मृणाल (कमलनाल), उत्पल (नील कमल), पिप्पली, सैन्धा नमक, छोटी इलायची, मरिच, तथा सुवर्चला (हुलहुल) इन से सिद्ध की हुई यवागू को बालक पीये ॥

एतैरेवौषधैर्लेहं शर्करामधुसंयुतम् ॥
प्रयुञ्जीत घृतं चैव पक्वं कृच्छ्रनिवारणम् ।

इन्हीं उपर्युक्त ओषधियों से शर्करा एवं मधु के साथ अवलेह बनाकर अथवा घृत पाक करके प्रयोग करने से मूत्रकृच्छ्र रोग नष्ट होता है ॥

कनीयसी पञ्चमूली पञ्चकोलयवैः सह ।
कुलत्थमधुशिग्रूणि कार्यश्च सतिलो भवेत् ॥
मन्दस्नेहो रसस्त्वेष सौवर्चलयुतो भवेत् ।
मूत्राघाते प्रयोक्तव्यः शर्करासु विशेषतः ॥

लघु पञ्चमूल, पञ्चकोल (पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक सोंठ), जै, कुलत्थ, मीठा सुहांजना, तथा तिल-इन के रस में थोड़ा स्नेह (घृत) तथा सौवर्चल (कालानमक) मिलाकर मूत्राघात (मूत्रकृच्छ्र) तथा विशेषरूप से शर्करा (शर्कराजन्य मूत्रकृच्छ्र) में प्रयुक्त करना चाहिये ॥

एकत्रिदोषजैः कृच्छ्रैः शर्करास्तुल्यलक्षणाः ।
सुवर्णचूर्णसदृशास्तथा सर्षपसन्निभाः ॥
रोचनेव गवां पित्ते संभवन्त्यनिलात्मनाम् ।
वातेनोन्मथितं मूत्रं खजितं पापकर्मणाम् ॥
शर्कराः स्युर्विवृद्धास्ता अश्मर्यः संभवन्त्यथ ।

जिस प्रकार गौ के पित्त (Bile) में क्रमशः गोरोचना बन जाती है उसी प्रकार वात की अधिकता वाले व्यक्तियों

में एक दोषज अथवा त्रिदोषज मूत्रकृच्छ्रों से पापकर्म वाले व्यक्तियों में वायु के द्वारा मथा जाता हुआ मूत्र शर्करा के समान लक्षणवाली सुवर्ण के चूर्ण तथा सरसों के समान शर्करा (Sand) उत्पन्न कर देता है । तथा वे ही शर्करायें बढकर अश्मरियां (Stones) बन जाती हैं । चरक चि. अ. २६ में कहा है—"क्रमेण पित्तेष्विव रोचना गोः" सुश्रुत नि. अ. ३ में अश्मरी किस प्रकार बनती है इसका एक अन्य उदाहरण दिया है—अप्सु स्वच्छा (स्था) स्वपि यथा निषिक्तासु नवे घटे। कालान्तरेण पङ्कः स्यादश्मरीसंभवस्तथा ॥ अर्थात् घड़े में रखे हुए साफ पानी में भी जिस प्रकार कुछ समय के पश्चात् कीच (Precipitate) जमा हो जाता है उसी प्रकार बस्ति में स्थित मूत्र में अश्मरी बनती है । इस विषय में आधुनिक विद्वानों की भी यही राय है । वृक्कस्थ नालियों द्वारा जब मूत्र में यूरिक एसिड, Urates, oxalate, phosphates आदि लवण मात्रा में उत्पन्न होते हैं । मूत्रस्थ जलीयांश में इनका विलयन होना असंभव हो जाता है । और इनका कुछ अंश सूक्ष्म Crystals के रूप में बस्ति या गुर्दों में अवलिप्त हो जाता है और उसके चारों ओर अन्य लवण एकत्रित होने लगते हैं तथा धीरे २ अश्मरी बनजाती है । कभी २ ये लवण सूखी हुई श्लेष्मा, सूखे रक्त या कृमियों के अण्डों पर भी एकत्रित हो जाते हैं । यदि मूत्र की प्रतिक्रिया (Reaction) अम्लीय होगी तो (Uric acid) और उसके लवण निक्षिप्त होंगे तथा प्रतिक्रिया क्षारीय होनेपर (Phosphate) निक्षिप्त होंगे । अश्मरी का केन्द्र (Nucleus) प्रायः शुष्क श्लेष्मा होता है । इसीलिये सुश्रुत नि. अ. ३ में कहा है— 'चतस्रोऽश्मर्यः भवन्ति श्लेष्माधिष्ठानाः' । आयुर्वेद के मतानुसार अश्मरियां चार प्रकार की होती हैं १ वातज २ पित्तज ३ कफज ४ शुक्रज । इनमें से बालकों को प्रथम तीन तथा वृद्धों में अन्तिम अर्थात् शुक्रज अश्मरी होती है । पाश्चात्य विज्ञान में रासायनिक संगठन के अनुसार अश्मरियों के भेद किये गये हैं । श्लैष्मिक अश्मरी को हम रंग रूप आदि के अनुसार Phosphatic calculus कह सकते हैं । यह श्वेत एवं चिकनी होती है । पैत्तिक अश्मरी को Uric acid calculus कहा जा सका है—इसका रंग कुछ लाल भूरा सा होता है । वातिक अश्मरी को हम Oxalate calculus कह सकते हैं । इसका रंग कुछ काला होता है । यह कठोर होती है तथा खुरदरी होती है । इसमें नोकीले उभार बने होते हैं । यह रोगी को अत्यन्त पीडा देती है । अश्मरियों के अनेक कारण होने पर भी आयुर्वेद में इसके मुख्य कारण दो माने गये हैं । १ शोधन का अभाव तथा २ आहार विहार का अपथ्य ॥

तदेतल्लक्षणं तासां नित्यमेव तु वेदना ॥
शर्करा सहमूत्रेण निर्धावत्यपि कस्यचित् ।
शल्यवत्यश्मरी बस्तौ वर्धमानाऽवतिष्ठते ॥
क्षीयते क्षीयमाणस्य पुष्यमाणस्य पुष्यति ।

अश्मरी तथा शर्करा के लक्षण—नित्य वेदना होती है किसी २ के मूत्र के साथ शर्करा (Sand) आती है । वह शल्यरूप अश्मरी बस्ति (Bladder) में वृद्धि को प्राप्त होती जाती है । वह अश्मरी ज्यों २ रोगी क्षीण होता जाता है—त्यों २ क्षीण होती जाती है तथा रोगी की पुष्टि के साथ २ अश्मरी भी पुष्ट होती जाती है अर्थात् बढती जाती है । सुश्रुत नि. अ. ३ में अश्मरी होनेपर निम्न लक्षण दिये हैं—अथ जातासु नाभिबस्तिसेवनीमेहनेष्वन्यतमस्मिन् मेहतो वेदना मूत्रधारासङ्गः सरुधिरमूत्रता मूत्रविकिरणं गोमेदकप्रकाशमत्याविलं ससिकतं विसृजति, धावनलङ्घनप्लवनपृष्ठयानोष्णाध्वगमनैश्चास्य वेदना भवन्ति । अर्थात् मूत्र त्याग के समय नाभि, बस्ति, शिश्न, सीवनी आदि में वेदना, मूत्रका बीच २ में रुक जाना, मूत्र में रक्त आना, तथा दौड़ने चलने आदि से बस्ति में पीड़ा होती है । अष्टाङ्गहृदय में इसके निम्न लक्षण दिये हैं—सामान्यलिङ्गं रुङ्नाभिसेवनीबस्तिमूर्धसु । विशीर्णधारं मूत्रं स्यात्तया मार्गनिरोधने ॥ तद्व्यपायात्सुखं मेहेदच्छं गोमेदकोपमम् । तत्संक्षोभात् क्षते सास्रमायासाच्चातिरुग्भवेत् ॥

तस्मान्न नित्यं रुजति तस्योद्धरणमिष्यते ॥
अश्मर्युद्धरणं तीक्ष्णमौषधं स्रोत ईरणम् ।
साहसादतिबालेषु सर्वं नेच्छति कश्यपः ॥

इसलिये रुग्ण अवस्था में अश्मरी (पथरी) को नहीं निकालना चाहिये । उस अवस्था में स्रोतों को प्रेरित करने वाली तीक्ष्ण ओषधियों से भी अश्मरी का उद्धरण नहीं करना चाहिये । तथा महर्षि कश्यप के मत में अत्यन्त छोटे बालक में साहसपूर्वक अश्मरी को बिलकुल नहीं निकालना चाहिये । सुश्रुत चि. अ. ७ में अश्मरी का निम्न चिकित्सा सूत्र दिया है—औषधैस्तरुणः साध्यः प्रवृद्धश्छेदमर्हति । तस्य पूर्वेषु रूपेषु स्नेहादिक्रम इष्यते ॥ अर्थात् यदि अश्मरी के अभी पूर्वरूप ही है या अश्मरी अभी प्रारंभ ही हुई है तो स्नेहन आदि के क्रम के बाद भिन्न २ अश्मरीघ्न (Lithotrite) ओषधियों के प्रयोग से वह बस्ति में स्वयं घुलकर मूत्र के साथ शर्करारूप में बाहर निकल आती है । परन्तु यदि वह बहुत प्रवृद्धावस्था में पहुंच चुकी हो तो उसे शस्त्रकर्म द्वारा ही निकालना पड़ता है । सुश्रुत में कहा है—घृतैः क्षारैः कषायैश्च क्षीरैः सोत्तरबस्तिभिः । यदि नोपशमं गच्छेच्छेदस्तत्रोत्तरो विधिः ॥

इति ह स्माह भगवान् (कश्यपः) ।

(इति चिकित्सास्थाने मूत्रकृच्छ्रचिकित्सिताध्यायः ॥)

(इति ताडपत्रपुस्तके १२५ तमं पत्रम् ।)

ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था ।

(इति चिकित्सास्थाने मूत्रकृच्छ्रचिकित्सिताध्यायः)

(अथ द्विव्रणीयचिकित्सिताध्यायः १)

अथातो द्विव्रणीयं नामाध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ २ ॥

अब हम द्विव्रणीय नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था।

वक्तव्य—इस अध्याय में दो प्रकार के (अर्थात् दो प्रकार के कारणों–निज तथा आगन्तु–से उत्पन्न हुए) व्रणों तथा उनकी चिकित्सा का वर्णन किया गया है । इसलिये इसका यह नाम है । सुश्रुत चिकित्सास्थान प्रथम अध्याय में लिखा है—तत्र तुल्ये व्रणसामान्ये द्विकारणोत्थानप्रयोजनसामर्थ्याद् 'द्विव्रणीय' इत्युच्यते । **इसकी व्याख्या करते हुए डल्हण ने लिखा है—**व्रणसामान्यं व्रणजातिर्व्रणत्वमित्यर्थः, तस्मिंस्तुल्ये सत्यपि द्विकारणोत्थानप्रयोजनसामर्थ्याद् 'द्विव्रणीय' इत्युच्यते; । द्विकारणं द्विहेतुकं यदुत्थानमुत्पत्तिः तस्य प्रयोजनं शीतक्रियादि, तस्य सामर्थ्यं शक्तिः, तस्माद् 'द्विव्रणीय' इत्युच्यते ॥ १–२ ॥

सूत्रस्थाने भगवता द्वौ व्रणौ परिकीर्तितौ ।
तयोर्विस्तरमिच्छामि श्रोतुं लक्षणमेव च ॥ ३ ॥
अनुग्रहाय बालानां चेष्टाहारौषधानि च ।
इति पृष्टः स शिष्येण संपूज्याह प्रजापतिः ॥ ४ ॥

भगवन् सूत्र स्थान में आपने दो प्रकार के व्रणों का उल्लेख किया था। बालकों के अनुग्रह की दृष्टि से उनके लक्षण, चेष्टा, आहार तथा ओषधि आदियों को मैं विस्तार–पूर्वक सुनना चाहता हूं । इस प्रकार पूजा करके शिष्य द्वारा पूछा जाने पर प्रजापति–कश्यप ने कहा—॥ ३–४ ॥

परतन्त्रस्य समयं प्रब्रुवन्न च विस्तरम् ।
न शोभते सतां मध्ये लुब्धः काक इवार्चितः ॥ ५ ॥
अवश्यं भिषजा त्वेतज्ज्ञातव्यमनसूयया ।
तस्मात् समयमात्रं भो शृणु बालहितेप्सया ॥ ६ ॥

परतन्त्र (अन्य प्रस्थान) के विषय में संक्षेप से ही कहना चाहिये । उसके विषय में विस्तार पूर्वक कहने वाला व्यक्ति पूजा किये गये लोभी कौए की तरह सज्जनों के बीच में शोभा नहीं देता । तथापि असूया (दूसरे के गुणों में दोषों को ढूंढना) न करते हुए वैद्य को इस विषय में भी ज्ञान अवश्य होना चाहिये । इसलिये बालकों के हित की दृष्टि से इस विषय का संकेत मात्र मेरे से सुन ॥ ५–६ ॥

अथ खलु द्वौ व्रणौ निजश्चागन्तुश्च । निजो वातादेकैकसर्वद्वन्द्वजः । क्षतभङ्ग(ग्न)विद्धपाटितदग्धच्छिन्ननिष्पिष्टाभिलू (लू) नशस्त्रतृणकाष्ठाग्निविषदन्तनखशापमन्त्रमूलकर्मादिज आगन्तुः । तस्य निजवदेव लक्षणमौषधं च स्वतर्केणानुविदध्यात् ॥ ७ ॥

निज और आगन्तु भेद से व्रण दो प्रकार के होते हैं। इनमें से निज व्रण वातादि दोषों से पृथक् २, सर्वज (त्रिदोषज) तथा द्वन्द्वज होते हैं । तथा आगन्तु व्रण क्षत भग्न (टूटना), विद्ध (बींधा जाना), पाटन (भेदन), दग्ध (जलना), छिन्न, निष्पिष्ट (पिस जाना), अभिलून (काटा जाना) तथा शस्त्र, तृण, काष्ठ, अग्नि, विष, दांत, नाखून, शाप, मन्त्र, मूल आदि कर्मों से उत्पन्न होते हैं । इन आगन्तु व्रणों के लक्षण तथा ओषधि अपनी बुद्धि के अनुसार निज के समान ही समझें । सुश्रुत चि० अ० १ में कहा है—द्वौ व्रणौ भवतः शारीर आगन्तुश्चेति । तयोः शारीरः पवनपित्तकफशोणितसन्निपातनिमित्तः, आगन्तुरपि पुरुषपशुपक्षिव्यालसरीसृपप्रपतनपीडनप्रहाराग्निक्षारविषतीक्ष्णौषधशकलकपालशृङ्गचक्रेषु परशुशक्तिकुन्ताद्यायुधाभिघातनिमित्तः । **इसी प्रकार अष्टाङ्गसंग्रह में भी कहा है—**स च द्विविधो निज आगन्तुश्च । तत्र निजो दोषसमुत्थः । आगन्तुः शस्त्रानुशस्त्रोपललगुडनखदशनविषाणविषारुष्करादि निमित्तः । **यहां शारीर से अभिप्राय निज व्रण से है। निज व्रण को सुश्रुत में वातादि दोषों के अतिरिक्त रक्तज भी माना है । आगन्तु व्रणों की भी औषध तथा लक्षण आदि निज व्रण के समान ही होते हैं क्योंकि उनका प्रत्यक्ष हेतु भिन्न होने पर भी पीछे से इनमें वातादि दोषों का अनुबन्ध हो जाने से वे निज व्रण ही हो जाते हैं । चरक चि० अ० २५ में कहा है—**व्रणानां निजहेतूनामागन्तूनामशाम्यताम् । कुर्याद्दोषबलावेक्षी निजानामौषधं यथा ॥ **इसी प्रकार अष्टाङ्गसंग्रह में भी कहा है—**'सोऽपि पुनर्वातादिभिरधिष्ठितो निजतां लभते । **सुश्रुत चि० अ० १ में भी कहा है—**उत्तरकालं तु दोषोपप्लवविशेषाच्छारीरवत् प्रतीकारः ॥ ७ ॥

स्तम्भकाठिन्याल्पस्रावशूलतोदस्फुरणकषायास्यत्वैर्वातिकं विद्यात्, ज्वरदाहमोहतृष्णाशुपाकलौहित्यावदारणारुचिदौर्गन्ध्यैः पैत्तिकं विद्यात्, स्तैमित्यशैत्यमार्दवमन्दवेदनास्नेहपाण्डुत्वचिरकारित्वातिस्रावैः कफजं विद्यात्, सर्वरूपं सान्निपातिकं, द्विदोषं संसृष्टं विद्यात् ॥

वातिक व्रण के लक्षण—स्तम्भ (जकड़ना), कठिनता, अल्पस्राव, शूल, तोद (सूचीव्यधनवत् पीडा), स्फुरण, मुख का कसैला स्वाद होना–इन लक्षणों से व्रण को वातिक जाने । चरक चि० अ० २५ में कहा है—स्तब्धः कठिनसंस्पर्शो मन्दस्रावोऽतितीव्ररुक् । तुद्यते स्फुरति श्यावो व्रणो मारुतसंभवः ॥ **अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० २९ में कहा है—**तत्र श्यावोऽरुणः कृष्णो भस्मास्थिकपोतगलाग्यतमवर्णो वा दधिमस्तुक्षाराम्बुमांसधावनपुलाकोदकनिभाल्पस्रावो रूक्षश्चटचटायमानशीलोऽकस्माद्विविधशूलस्फुरणायामतोदभेदस्वापबहुलो निर्मांसश्च वातात् । **सुश्रुत चि० अ० १ में भी कहा है—**तत्र श्यावारुणाभस्तनुः शीतः पिच्छिलोऽल्पस्रावी रूक्षश्चटचटायमानशीलः स्फुरणायामतोदभेदवेदनाबहुलो निर्मांसश्चेति वातात् । **पैत्तिक व्रण के लक्षण–ज्वर, दाह, मोह, तृष्णा, आशुपाक (व्रण का शीघ्र पकना), लालिमा, अवदारण, (व्रण का विदीर्ण होना), अरुचि तथा दुर्गन्धि–इन लक्षणों से व्रण को पैत्तिक जाने । चरक चि. अ. २५ में कहा है—**तृष्णामोहज्वरक्लेददाहदुष्ट्यवदारणैः । व्रणं पित्तकृतं विद्याद्गन्धैः

स्रावैश्च पूतिकैः ॥ **अष्टांग संग्रह उ. अ. २९ में कहा है**—क्षिप्रजः पीतनीलहरितकृष्णकपिलपिङ्गलो गोमूत्रभस्मशङ्खकिंशुकोदकमार्द्वीकतैलाभोष्णभूरिक्लेदो दाहोषाज्वररागपाकावदरणधूमायनान्वितः क्षारोक्षितक्षतोपमवेदनः पिटकाजुष्टश्च पित्तात्। **सुश्रुत चि. अ. १ में भी कहा है**—क्षिप्रजः पीतनीलाभः किंशुकोदकाभोष्णस्रावी दाहपाकरागविकारी पीतपिडकाजुष्टश्चेति पित्तात्। **श्लैष्मिक व्रण के लक्षण-स्तिमितता (चिपचिपा होना), शीतलता, मृदुता, मन्दवेदना, स्निग्धता, वर्ण में पाण्डु होना, चिरकारिता (देर में पकना) तथा स्राव की अधिकता इन लक्षणों से व्रण को श्लैष्मिक जाने। चरक चि. अ. २५ में कहा है**—बहुपिच्छो गुरुः स्निग्धः स्तिमितो मन्दवेदनः। पाण्डुवर्णोऽल्पसंक्लेदश्चिरकारी कफव्रणः॥ **अष्टाङ्गसंग्रह उ. अ. २९ में कहा है**—स्निग्धः स्थूलौष्ठः पाण्डुश्वेतकण्डूर्नवनीतवसा मज्जपिष्टतिलनारिकेलाम्बुसदृशश्वेतशीतबहलपिच्छिलक्लेदः स्वापस्तम्भस्तैमित्यगौरवोपदेहयुक्तः सिरास्नायुजालावततो मन्दवेदनः कठिनश्च कफात्। **सुश्रुत चि. अ. १ में कहा है**—प्रततचण्डकण्डूबहुलः स्थूलौष्ठः स्तब्धसिरास्नायुजालावततः कठिनः पाण्ड्ववभासो मन्दवेदनः शुक्लशीतसान्द्रपिच्छिलस्रावी गुरुश्चेति कफात्। **इन सब (वात, पित्त तथा कफ) के सम्मिलितरूप होने पर व्रण को सान्निपातिक तथा दो दोषों के लक्षणों से संसृष्ट (द्विदोषज) जाने। सुश्रुत चि. अ. १ में इनके अतिरिक्त रक्तज व्रण भी दिया है जिसके लक्षण निम्न होते हैं**—प्रवालदलनिचयप्रकाशः कृष्णस्फोटपिडकाजालोपचितस्तुरङ्गस्थानगन्धिः सवेदनो धूमायनशीलो रक्तस्रावी पित्तलिङ्गश्चेति रक्तात्॥ ८॥

इत्यत्र श्लोकः—

सर्वव्रणानां प्रकृतिर्निरुक्ता दोषदर्शनात्।
न हि दोषाननाश्रित्य व्रणः कश्चिच्छरीरिणः॥ ९॥

दोषों के अनुसार सब व्रणों की प्रकृति कही गई है। क्योंकि प्राणियों का कोई भी व्रण दोषों का आश्रय किये बिना नहीं होता॥ ९॥

तेषामुपक्रमं धात्रीबालनिग्रहौ, संशमनं, बन्धनम्, उत्क्लिन्नप्रक्षालनं, कल्कप्रणिधानं, शोधनं, रोपणं, सवर्णीकरणम्; इत्येतैः स्नेहपानसंभोजनोपनाहस्वेदोष्णपरिषेकमधुराम्ललवणैर्वातव्रणं, शीतोदकदुग्धपरिषेकशीतप्रलेपनमधुरकषायतिक्तकल्कघृतपानमुद्गशालिजाङ्गलोपचारैरुष्णाम्लकटुलवणबन्धनसंपूरणवर्जनैश्च पैत्तिकव्रणम्, उष्णतीक्ष्णतिक्तकटुकषायक्षारसंशोधनोपनाहस्वेदनोष्णवारिपरिषेकलङ्घनबन्धनस्रावणैः कफव्रणं शमयेत्। अतो युक्त्येतरान्। स्रावणपाटनदहनसीवनैषणसाहसादीन्यतिबालेषु न कुर्यादिति॥ १०॥

व्रणों के उपक्रम—धात्री तथा बालक की चिकित्सा, **संशमन, बन्धन, उत्क्लिन्न मांस का प्रक्षालन, कल्कप्रणिधान (औषधि का कल्क-Paste बनाकर बांधना), शोधन, रोपण, सवर्णीकरण (त्वचा के समान वर्ण करना) इत्यादि व्रणों के उपक्रम होते हैं। सुश्रुत चि. अ. १ में व्रणों के ६० उपक्रम दिये हैं**—तस्य व्रणस्य षष्टिरुपक्रमा भवन्ति। तद्यथा—अपतर्पणमालेपः परिषेकोऽभ्यङ्गः स्वेदो विम्लापनमुपनाहः पाचनं विस्रावणं स्नेहो वमनं विरेचनं छेदनं भेदनं दारणं लेखनमेषणमाहरणं व्यधनं विस्रावणं सीवनं सन्धानं पीडनं शोणितास्थापनं निर्वापणमुत्कारिका कषायो वर्तिः कल्कः सर्पिस्तैलं रसक्रियाऽवचूर्णनं व्रणधूपनमुत्सादनमवसादनं मृदुकर्म दारुणकर्म क्षारकर्माग्निकर्म कृष्णकर्म पाण्डुकर्म प्रतिसारणं रोमसञ्जननं लोमापहरणं बस्तिकर्मोत्तरबस्तिकर्म बन्धः पत्रदानं कृमिघ्नं बृंहणं विषघ्नं शिरोविरेचनं नस्यकवलधारणं धूमो मधु सर्पिर्यन्त्रमाहारो रक्षाविधानमिति। **चरक चि० अ० २५ में व्रणों के ३६ उपक्रम दिये हैं**—यथाक्रममतश्चोर्ध्वं शृणु सर्वानुपक्रमान्। शोफघ्नं षड्विधं चैव शस्त्रकर्मावपीडनम्॥ निर्वापणं ससन्धानं स्वेदः शमनमेषणम्। शोधनारोपणीयौ च कषायौ सप्रलेपनौ॥ द्वे तैले तद्गुणे पत्रच्छादनं द्वे च बन्धने। भोज्यमुत्सादनं दाहो द्विविधः सावसादनः॥ काठिन्यमार्दवकरे धूपने लेपने शुभे। व्रणावचूर्णनं वर्ण्यं लेपनं लोमरोहणम्॥ इति षट्त्रिंशदुद्दिष्टा व्रणानां समुपक्रमाः॥ **वातव्रण की चिकित्सा—इनमें से वातव्रण की स्नेहपान, स्निग्धभोजन, स्निग्ध उपनाह (पुलटिस), स्निग्धस्वेद, उष्णपरिषेक तथा मधुर, अम्ल एवं लवणद्रव्यों से चिकित्सा करे। चरक चि० अ० २५ में कहा है**—पूर्वं कषायैः सर्पिर्भिर्जयेद्वा मारुतोत्तरान्। तथा—संपूरणैः स्नेहपानैः स्निग्धैः स्वेदोपनाहनैः। प्रदेहैः परिषेकैश्च वातव्रणमुपाचरेत्॥ **पैत्तिक व्रण की चिकित्सा—शीतलजल, दूध का परिषेक, शीतललेप तथा मधुर कषाय एवं तिक्त द्रव्यों द्वारा प्रस्तुत कल्क, घृतपान, मूंग, शालि चावल, जांगल पशुपक्षियों के मांस रस से तथा उष्ण अम्ल कटु लवण, बन्धन, संपूरण (बृंहण) आदि के त्याग के द्वारा पैत्तिक व्रण की चिकित्सा करें। चरक चि० अ० २५ में कहा है**—शीतलैर्मधुरैस्तिक्तैः प्रदेहपरिषेचनैः। सर्पिष्पानैर्विरेकैश्च पैत्तिकं शमयेद् व्रणम्॥ **कफव्रण की चिकित्सा—उष्ण, तीक्ष्ण, तिक्त, कटु, कषाय, क्षार, संशोधन, उपनाह, स्वेदन, उष्णजल का परिषेक, लङ्घन (उपवास) बन्धन तथा स्रावण के द्वारा कफव्रण को शान्त करे। चरक चि० अ० २५ में कहा है**—कषायकटुरूक्षोष्णैः प्रदेहपरिषेचनैः। कफव्रणं प्रशमयेत्तथा लङ्घनपाचनैः॥ **इसी युक्ति से अन्य व्रणों की चिकित्सा करे। स्रावण** (Drainage), **पाटन (भेदन**-Incision), **दहन (जलाना**-Canterisation), **सीवन** (Suturing–stiching), **एषण (शलाका द्वारा अन्वेषण**–Probing–Exploring) **तथा साहस आदि का प्रयोग** अत्यन्त **छोटे बालकों में नहीं करना चाहिये॥ १०॥**

अत्र श्लोकाः—

जीर्णैः प्रक्षालितैर्वस्त्रैस्तथा बद्धं निधापयेत्।
यथौषधं न पतति बालकं च न पीडयेत्॥ ११॥

पुराने तथा धोए हुए वस्त्रों के द्वारा व्रण पर इस ढंग से

बन्ध (पट्टी) बांधकर रखे जिससे औषधि नीचे न गिरे तथा बालक को अत्यन्त पीडा नहीं देनी चाहिये ॥

वैसर्पः श्वयथुर्दाहो ज्वरस्तृडतिबन्धनात् ।
शिथिलादनवस्थानं मध्यमस्तु प्रशस्यते ॥ १२ ॥

यदि पट्टी बहुत जोर से बांधी जाय तो विसर्प, श्वयथु, दाह, ज्वर तथा तृषा हो जाती है। यदि पट्टी बहुत ढीली बांधी जाय तो औषधि आदि अपने स्थान पर ही नहीं ठहरेंगी। इसलिये यही मध्यम (अर्थात् न बहुत जोर से तथा न बहुत ढीली) प्रशस्त मानी जाती है ॥ १२ ॥

वातार्कतृणकाष्ठाम्बुमक्षिकादिभयाद्व्रणम् ।
बन्धो रक्षति शीघ्रं च दह्यते न च खादति ॥ १३ ॥

पट्टी—वायु, धूप, तृण, काष्ठ, पानी तथा मक्खी आदि के भय से व्रण की रक्षा करती है। इससे व्रण का दहन नहीं होता तथा यह कृमि आदियों द्वारा खाया नहीं जाता। सुश्रुत चि० अ० १ में कहा है—यस्माच्छुध्यति बन्धेन व्रणो याति च मार्दवम्। रोहत्यपि च निःशङ्कस्तस्माद्बन्धो विधीयते ॥ १३ ॥

ज्वरवैसर्पदाहार्तं रक्तपित्तोल्वणं व्रणम् ।
न बध्नीयाद्द्विरह्नस्तु सर्वं प्रक्षालयेद्व्रणम् ॥ १४ ॥

ज्वर, विसर्प तथा दाह से युक्त एवं रक्तपित्त की अधिकता वाले व्रणों पर बन्ध (पट्टी) नहीं बांधनी चाहिये। इस प्रकार के सब व्रणों का दिनमें दो बार प्रक्षालन करना चाहिये ॥ १४ ॥

द्वे हरिद्रे तिलाः सर्पिः सैन्धवं मधुकं त्रिवृत् ।
अरिष्टपत्रमित्येष कल्कः शोधनरोपणः ॥ १५ ॥

हरिद्रा, दारुहरिद्रा, तिल, घी, सैन्धव, मुलहठी, त्रिवृत् तथा नीम के पत्ते—इनका कल्क व्रण का शोधन एवं रोपण करता है। सुश्रुत चि० अ० १ में कल्कप्रणिधान का निम्न प्रयोजन कहा है—पूतिमांसप्रतिच्छन्नान् महादोषांश्च शोधयेत्। कल्कीकृतैर्यथालाभं……॥

शोधने रोपणे चैव युक्त्या क्षौद्ररसक्रिया ।
तत्र निर्वापणे चोक्ता घृतेनोदकसक्तवः ॥ १६ ॥

व्रण के शोधन तथा रोपण में युक्तिपूर्वक क्षौद्र (मधु) तथा रसक्रिया (Extracts) का प्रयोग करना चाहिये। तथा निर्वापण के लिये पानी में तैयार किये हुए सत्तुओं का घी के साथ प्रयोग करना चाहिये। निर्वापण से अभिप्राय दाह को शान्त करने वाले लेपों से है। सुश्रुत चि० अ० १ में व्रण में क्षौद्र (मधु) का निम्न स्थानों पर विधान दिया है—क्षतोष्मणो निग्रहार्थं सन्धानार्थं तथैव च। सद्यो व्रणेष्वायतेषु क्षौद्रसर्पिर्विधीयते ॥ सुश्रुत में रसक्रिया का निम्न प्रयोजन बताया है—तैलेनाशुध्यमानानां शोधनीयां रसक्रियाम्। व्रणानां स्थिरमांसानां कुर्याद् द्रव्यैरुदीरितैः ॥ सुश्रुत में निर्वापण का निम्न प्रयोजन दिया है—दाहपाकज्वरवतां व्रणानां पित्तकोपतः। रक्तेन चाभिभूतानां कार्यं निर्वापणं भवेत् ॥ यथोक्तैः शीतलद्रव्यैः क्षीरपिष्टैर्घृतप्लुतैः। दिह्यात्प्रह्लादनान् सेकान् सुशीतांश्चावचारयेत् ॥ इसके द्वारा सेक और लेप दो प्रकार का निर्वापण कहा है। निर्वापण के लिये चरक चि० अ० २५ में भी कहा है—सर्पिषा शतधौतेन पयसा मधुकाम्बुना। निर्वापयेत् सुशीतेन रक्तपित्तोत्तरान् व्रणान्। अर्थात् रक्त और पित्त प्रधान व्रणों में निर्वापण किया जाता है ॥ १६ ॥

समङ्गाधातकीपुष्पमग्रस्थामलकीत्वचम् ।
घृतं कृष्णास्तिला मांसी कल्कोऽयं व्रणरोपणः ॥ १७ ॥

मंजिष्ठा, धाय के फूल, अग्रस्था, आंवले की छाल, घी, काले तिल तथा जटामांसी का कल्क व्रण का रोपण करते हैं। कषाय, लेप आदियों से शोधन हो जाने पर व्रण का रोपण करना चाहिये। सुश्रुत में रोपण का उद्देश्य एवं विधान निम्न प्रकार से बताया है—पित्तरक्तविषागन्तून् गम्भीरानपि च व्रणान्। रोपयेद्रोपणीयेन क्षीरसिद्धेन सर्पिषा ॥ कफवाताभिभूतानां व्रणानां मतिमान् भिषक्। कारयेद्रोपणं तैलं भेषजैस्तद्यथोदितैः ॥ १७ ॥

एतैरेवौषधैः सर्वैः सर्पिस्तैलमथो पचेत् ।
व्रणरोपणमित्याहुः कट्फलं वाऽवचूर्णितम् ॥ १८ ॥

इन्हीं मंजिष्ठा आदि उपर्युक्त औषधियों से ही घी तथा तेल का पाक करे। ये व्रणरोपण कहलाते हैं। अथवा इन पर कट्फल चूर्ण का अवचूर्णन (Dusting) करना चाहिये ॥१८॥

ज्वरदाहपिपासार्त्या पच्यमानं व्रणं वदेत् ।
तेषां निवृत्तौ जानीयात् पक्वं पीनोन्नताकृतिम् ॥ १९ ॥

पच्यमान व्रण का लक्षण—ज्वर, दाह, एवं पिपासा से युक्त होने पर व्रण को पच्यमान (पकने की स्थिति में विद्यमान) जाने। तथा इन उपर्युक्त दाह आदि लक्षणों के निवृत्त हो जाने (हट जाने) पर मोटे तथा उठी हुई आकृति वाले व्रण को पक्व (पका हुआ) समझे ॥ १९ ॥

मर्मस्थश्चेदुपेक्ष्यः स्याद्बालं धात्रीं च पूरयेत् ।
गोदध्ना म्रक्षितं चैनं बध्नीयाल्लवणान्वितम् ॥ २० ॥

यदि व्रण मर्मस्थान पर हो तथा यदि रोगी धात्री और बालक हो तो उसकी उपेक्षा करनी चाहिये अर्थात् उसे चीरना नहीं चाहिये। अपितु व्रण को पहले थोड़ा रगड़ कर उन पर गौ की दही में नमक मिलाकर बांध दे तथा इसके द्वारा व्रण का पूरण करे ॥ २० ॥

अमर्मजं पाटयेद्वा नेत्येके पूर्वदर्शनात् ।
रक्तक्षयादल्पभावाद्धन्याद्बालं कुपण्डितः ॥ २१ ॥

यदि व्रण मर्मस्थान पर न हो तो उसका पाटन (दारण-(Incision) कर देना चाहिये। कुछ लोग कहते हैं कि पूर्वदर्शन (अच्छी प्रकार देखे बिना अथवा पहले इस कार्य को अच्छी प्रकार जब तक देखा हुआ न हो) के बिना इस पाटन-भेदन के कार्य को न करे। क्योंकि जो अज्ञानी वैद्य है वह रक्तक्षय (Bleeding) तथा रक्त के कम होने से बालक को

मार देता है। अर्थात् बालक में पहले ही रक्त की कमी होती है उस अवस्था में यदि रक्तस्राव (Bleeding) अधिक हो जाय तो बालक की मृत्यु हो सकती है। व्रण का पाटन (भेदन) करने के बाद········(उसे स्नेहपान तथा स्निग्ध सेक आदि उपचार करना चाहिये) ॥ २१ ॥

पाटितं वा प्र........................
....
....
(इति ताडपत्रपुस्तके १२६ तमं पत्रम्[1] ।)
....
....
............(मञ्जि) ष्ठाऽथ मनःशिला ।
प्रलेपः सघृतक्षौद्रः सवर्णकरणः परम् ॥

सवर्ण करण योग—मंजिष्ठा, मनःशिला······इत्यादि का घी एवं मधु के साथ मिलाकर लेप करना उत्तम सवर्णकरण (त्वचा के वर्ण के समान वर्ण का करना) योग है ॥

त्रिफला जातिपुष्पाणि कासीसं लोहपत्रिका ।
लेपः सगोमयरसः सवर्णकरणः परम् ॥

त्रिफला, जातिपुष्प (लौंग), कासीस तथा लोहचूर्ण इनका गोबर के रस (पानी) के साथ मिलाकर लेप करना उत्तम सवर्णकरण माना गया है। व्रण का रोहण होने के बाद त्वचा आजाने पर यदि उस नवीन त्वचा का वर्ण देह की अन्य त्वचा के साथ न मिले तो उसका रंग उसके समान करने का प्रयत्न करना चाहिये इसे सवर्णकरण कहते हैं। सुश्रुत चि. अ. १ में कहा है—दुरूढत्वा कृष्णानां पाण्डुकर्म हितं भवेत्। सप्तरात्रं स्थितं क्षीरे छागले रोहिणीफलम् ॥ तेनैव पिष्टं सुश्लक्ष्णं सवर्णकरणं हितम् ॥ इसी प्रकार चरक चि. अ २५ में भी सवर्णकरण योग दिये हैं।

चतुष्पदानां त्वग्रोमखुरशृङ्गास्थिभस्मना ।
तैलाक्ता चूर्णिता भूमिर्भवेल्लोमरुहा पुनः ॥

लोमोत्पादन—जहां लोम उत्पन्न करने हों उस स्थान पर तैल चुपड़कर गौ घोड़े आदि चौपाये पशुओं की त्वचा, रोम (बाल), खुर (सींग) तथा अस्थि की भस्म का अवचूर्णन करे इससे उस स्थान पर पुनः बाल उग जाते हैं। सुश्रुत चि. अ. १ में भी यह श्लोक इसी रूप में दिया गया है। इसी प्रकार चरक चि. अ. २५ में भी यह श्लोक बिलकुल इसी रूप में दिया गया है।

अथ खलु बालानामष्टौ पिडकाः स्वशरीरदोषात् स्वदोषाच्चोत्पद्यन्ते। तासां निदानलक्षणे प्रोक्ते; नामरूपचिकित्सां च ब्रूमः-शराविका च कच्छपिका च जालिनी च ताः कफप्रायाः, सर्षपिका चाऽलजी च विद्रधिश्च ताः पित्ताधिकाः, विनता वाताधिका, सर्वदोषजा त्वरुंषिका। तासां लक्षणानि-मध्ये निम्ना शराविका, श्लक्ष्णोन्नता कच्छपिका, सिराजालतनुच्छिद्रवती जालिनी, सर्षपाभाऽल्पाऽऽशुपाकिनी बहुला वा सर्षपिका, बहूपद्रवाऽऽशुपाकवैसर्पाऽलजी, विनता तूदरे पृष्ठे वाऽवगाढनीला रुजावती; मांसपाकास्तु पित्तप्रकोपो वा उत्पद्यते, स एव सन्धिषु मर्मसु वा विद्रधिरित्युच्यते, विदह्याशु अङ्गं विदीर्यत इति विद्रधिः, सा बहिरन्तश्चोत्पद्यते; ते चोभे बालानां कृच्छ्रसाध्ये। त्रिदोषजा त्वरुंषिश्च चतुर्विधा दोषभेदादेकैकाधिकसमदोषत्वात्; शूलतोदाटोपस्फुरणानाहपामा वातलिङ्गानि, ज्वरतृष्णादाहमोहमदप्रलापाः पित्तलिङ्गानि, शैत्यपैच्छिल्यबहुक्लेदारुचिस्तैमित्यानि कफलिङ्गानि, सर्वैः समदोषत्वम्, अन्यत्रापि च व्रणे पूर्वोक्तानि च लक्षणानि ॥

बालकों को अपने शरीर के दोष से अथवा अपने ही दोष के कारण आठ पिडकाएं हो जाती हैं। उनके निदान तथा लक्षण पहले कहे जाचुके हैं। अब हम उनके नाम, स्वरूप, तथा चिकित्सा कहेंगे। इनमें शराविका, कच्छपिका, तथा जालिनी—ये तीन कफ की अधिकता वाली, सर्षपिका, अलजी तथा विद्रधि-ये तीन पित्त की अधिकता वाली, विनता वात की अधिकता वाली तथा अरूंषिका त्रिदोषज होती है। चरक सू. अ. १७ में अरूंषिका को छोड़कर शेष ७ पिडकाएं दी हैं जो कि प्रमेह पिडकाएं कहलाती हैं। ये मधुमेह की उपेक्षा से हो जाती हैं। सुश्रुत नि. अ. ६ में १० पिडकाओं का उल्लेख किया गया है—'तत्र वसामेदोभ्यामभिपन्नशरीरस्य त्रिभिर्दोषैश्चानुगतधातोः प्रमेहिणो दश पिडकाः जायन्ते। तद्यथा-शराविका सर्षपिका कच्छपिका जालिनी विनता पुत्रिणी मसूरिका अलजी विदारिका विद्रधिका चेति। इन पिडकाओं के लक्षण निम्न हैं। शराविका का लक्षण—बीच में से दबी हुई होती है। चरक सू. अ. १७ में इसका निम्न लक्षण दिया है—अन्तोन्नता मध्यनिम्ना श्यावाक्लेदरुजान्विता। शराविका स्यात्पिडका शरावाकृतिसंस्थिता ॥ अर्थात् जिस पिडका के किनारे ऊंचे उठे हुए हों, बीच में से दबी हुई हो, श्याम वर्ण की हो तथा जिसमें क्लेद और वेदना हो उसे शराविका कहते हैं। इसकी आकृति शराव (सकोरे) की तरह होती है। इसी प्रकार सुश्रुत नि. अ. ६ में भी कहा है। कच्छपिका का लक्षण—यह श्लक्ष्ण एवं उन्नत होती है। चरक सू. अ. १७ में कहा है—अवगाढार्तिनिस्तोदा महावास्तुपरिग्रहा। श्लक्ष्णा कच्छपपृष्ठाभा पिडकाकच्छपीमता ॥ अर्थात् जिस पिडका में अर्ति (पीडा), तोद (सुई चुभने के समान वेदना), हो जिसका आश्रय बहुत बड़ा हो, जो चिकनी तथा कछुए की पीठ के समान उभरी हुई हो उसे कच्छपी कहते हैं। सुश्रुत नि. अ. ६ में भी कहा है—सदाहाकूर्मसंस्थाना ज्ञेया कच्छपिका बुधैः ॥ जालिनी के लक्षण—यह शिराओं के जाल से युक्त

[1] अस्याग्रे १२७ तमं पत्रं खण्डितं ताडपत्रपुस्तके ।

होती है तथा इसमें छोटे २ छिद्र होते हैं। चरक सू. अ. १७ में कहा है—स्तब्धा शिराजालवती स्निग्धस्रावा महाशया। रुजानिस्तोदबहुला सूक्ष्मच्छिद्रा च जालिनी ॥ अर्थात् जो स्तब्ध, शिराओं के जाल से युक्त, स्निग्ध स्राव युक्त, बड़े आशय वाली हो, जिसमें पीडा तथा तोद (सूचीवेध वत् पीडा) हो, जिसमें सूक्ष्म छिद्र हों उसे जालिनी कहते हैं। सर्षपिका का लक्षण—जो सरसों के आकार की होती है तथा जो छोटी शीघ्र पकने वाली और संख्या में बहुत सी होती हैं। अर्थात् सरसों के प्रमाण की छोटी २ बहुत सी पिडकाओं के एकत्र मिलने से जो एक पिडका बन जाती है। तथा जो बहुत बड़ी न हो और शीघ्र पक जाती हो उसे सर्षपिका कहते हैं। चरक सू. अ. १७ में कहा है—पिडका नातिमहती क्षिप्रपाका महारुजा। सर्षपी सर्षपाभाभिः पिडकाभिश्चिता भवेत् ॥ इसी प्रकार सुश्रुत नि. अ. ६ में भी कहा है। अलजी का लक्षण-जो अनेक उपद्रवों से युक्त हो, शीघ्र पक जाती हो तथा चारों ओर फैलती जाती हो उसे अलजी कहते हैं। चरक सू० अ० १७ में कहा है—दहति त्वचमुत्थाने तृष्णामोहज्वरप्रदा। विसर्पत्यनिशं दुःखाद्दहत्यग्निरिवालजी ॥ अर्थात् अलजी नामक पिडका के उत्पन्न होने के समय त्वचा में दाह होती है। इसमें प्यास, मोह तथा ज्वर भी हो जाता है। यह चारों ओर फैलती जाती है तथा इसमें अग्नि के समान अत्यन्त दारुण दाह होना है। सुश्रुत नि० अ० ६ में कहा है—रक्ता सिता स्फोटवती दारुणा त्वलजी भवेत्। विनता का लक्षण—जो पेट और पीठ पर होती है, जो वर्ण में गहरी नीली हो, तथा जिसमें पीडा होती हो उसे विनता कहते हैं। चरक सू० अ० १७ में कहा है—अवगाढरुजाक्लेदा पृष्ठे वाऽप्युदरेऽपि वा। महती विनता नीला पिडका विनता मता ॥ विद्रधि का लक्षण—इसमें जब मांस का पाक हो जाय तथा पित्त का प्रकोप हो और यह सन्धि एवं मर्मस्थान पर हो तब उसे विद्रधि कहते हैं। यह शीघ्रही विदाह को प्राप्त हो जाती है तथा अङ्गों को विदीर्ण करती है इसलिये इस का नाम विद्रधि है। विद्रधि दो प्रकार उत्पन्न होती है। १-शरीर के बाहरी भाग में (बाह्य विद्रधि) तथा २-शरीर के अन्तः भाग में (अन्तर्विद्रधि)। बालकों में ये दोनों विद्रधियां कृच्छ्रसाध्य होती हैं। (विद्रधि को Abscess कहते हैं) चरक सू० अ० १७ में इन दोनों प्रकार की विद्रधियों का स्वरूप दिया है—विद्रधिं द्विविधामाहुर्बाह्यामाभ्यन्तरीं तथा। बाह्य विद्रधि के लक्षण—बाह्या त्वक्स्नायुमांसोत्था कण्डराभा महारुजा। अर्थात् यह शरीर के बाहर त्वचा स्नायु एवं मांस में होती है। यह कण्डरासदृश तथा अतिवेदना युक्त होती है। आगे चरक में अन्तर्विद्रधि के निम्न लक्षण दिये हैं—अन्तः शरीरे मांसासृगाविशन्ति यदा मलाः। तदा संजायते ग्रन्थिर्गम्भीरस्थः सुदारुणः ॥ हृदये क्लोम्नि यकृति प्लीह्नि कुक्षौ च वृक्कयोः ॥ अर्थात् भिन्न २ कारणों से कुपित हुए दोष जब शरीर के अन्दर मांस तथा रक्त में प्रविष्ट होते हैं तब हृदय, क्लोम, यकृत आदि अवयवों में गम्भीर एवं अत्यन्त कष्टकर ग्रन्थि उत्पन्न हो जाती है। इसमें तीव्र वेदना होती है। अरूंषिका का लक्षण—त्रिदोषज अरूंषिका चार प्रकार की होती है। दोष भेद से एक २ दोष की अधिकता से तीन तथा तीनों दोषों के समान होने से चौथी होती है। अर्थात् त्रिदोषज होने पर भी वात, पित्त तथा कफ की अधिकता होने से तीन तथा चौथी जिसमें तीनों दोष समान मात्रा में बढ़े हुए हों—ये चार होती हैं। अरूंषिका के विषय में सुश्रुत नि० अ० १३ में कहा है—अरूंषि बहुवक्त्राणि बहुक्लेदानि मूर्धनि। कफासृक्कृमिकोपेन नृणां विद्यादरुंषिकाम् ॥ अर्थात् कफ रक्त और कृमियों के प्रकोप से मनुष्यों के शिर में अनेक मुख वाले और स्रावयुक्त व्रण हो जाते हैं उन्हें अरुंषिका कहते हैं। इसे Eczema of the Scalp समझना चाहिये। वातिक अरूंषिका के लक्षण—शूल, तोद (सूचीव्यधवत् पीडा), आटोप, स्फुरण (फड़कना), आनाह तथा पामा ये वातिक अरूंषिका के लक्षण हैं। पैत्तिक अरूंषिका के लक्षण-ज्वर, तृष्णा, दाह, मोह, मद तथा प्रलाप-ये पैत्तिक अरूंषिका के लक्षण हैं। श्लैष्मिक अरूंषिका के लक्षण—शीत, पिच्छिलता (चिपचिपापन), बहुत क्लेद (गीलापन), अरुचि तथा स्तिमितता ये श्लैष्मिक अरूंषिका के लक्षण हैं। समदोषज अरूंषिका के लक्षण—समदोषज अरूंषिका में उपर्युक्त सब लक्षण होते हैं। अन्यत्र व्रणों के जो पहले लक्षण कहे हैं वे लक्षण भी इनमें होते हैं॥

तत्र श्लोकाः—

पूर्वं शराविकाद्यासु सुस्निग्धस्य विरेचनम्।
शस्यते च भिषक्! तासु व्रणकर्म यथोचितम् ॥

चिकित्सा—सर्व प्रथम शराविका आदि पिडकाओं में अच्छी प्रकार स्नेहन करके विरेचन देना चाहिये। तदुपरान्त उनमें यथोचित व्रणकर्म (व्रणचिकित्सा) करना चाहिये। सुश्रुत चि० अ० १२ में भी कहा है—तत्र शस्त्रप्रणिधानमुक्तं व्रणक्रियोपसेवा च। अर्थात् शस्त्र द्वारा आवश्यकतानुसार छेदन भेदन आदि करके व्रणों की जो चिकित्सा है वह करनी चाहिये॥

निवर्तनमपक्वासु पिडकासु प्रयोजयेत्।
परिषेकैः प्रलेपैश्च घृतपानैर्हिताशनैः ॥

अपक्व पिडकाओं में परिषेक प्रलेप, घृतपान तथा हितकर अन्न द्वारा उनको शान्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। सुश्रुत चि० अ० १२ में कहा है—"अपक्वानां पिडकानां शोफवत् प्रतीकारः"। सुश्रुत चि० अ० २१ में शोफ की सामान्य चिकित्सा का वर्णन है॥

अरुंषिकासु सततं शिरसो मुण्डनं हितम्।
स्नापनं म्रक्षणं चैव व्रणतैलैरनेकशः ॥

अरूंषिका की चिकित्सा—अरूंषिका (Eczema of the Scalp) में सिर का मुण्डन करवाकर अच्छी प्रकार स्नान कराये तथा व्रण तैलों के द्वारा बार २ सिर की मालिश करनी चाहिये॥

द्वे हरिद्रे त्रिकटुकं सैन्धवं वा (च) मनःशिला ।
सुवर्णजो जपा जातिर्वचा कुष्ठं रसक्रिया ॥
अश्वघ्नमूलोदकणादशमूलं फलत्रयम् ।
एतैर्गोमूत्रसंयुक्तैः प्रमृद्नीयादरूंषिकाम् ॥
एतैरेव पचेत्तैलं हन्ति तच्चाप्यरूंषिकाम् ।

हरिद्रा, दारुहरिद्रा, त्रिकटु, सैन्धव, मनःशिला, सुवर्ण के वर्ण वाला जपा (जवाकुसुम), जाति (जायफल) बच तथा कूठ—इनकी रसक्रिया, कनेर की जड़, जल पिप्पली, दशमूल, त्रिफला—इनके चूर्णों को गोमूत्र में मिलाकर अरूंषिका का मर्दन करना चाहिये । तथा इन्हीं उपर्युक्त ओषधियों द्वारा बनाया हुआ तैल भी अरूंषिका को नष्ट करता है ॥

अथ चेद्वेदनां दद्यात्तिलैरुद्वर्तयेत्ततः ॥
स्वादुना व्रणतैलेन नवनीतेन वा दिहेत् ।

यदि इन अरूंषिकाओं में वेदना होती हो तो तिलों के द्वारा उनका उद्वर्तन (उबटन) करना चाहिये । अथवा उस पर स्वादु व्रण तल या मक्खन का लेप करना चाहिये ॥

अथो सलोहितां छित्त्वा क्षुरेणारुंषिकां भिषक् ॥
तुल्याभ्यां क्षीरमूत्राभ्यां सिद्धोष्णाभ्यां प्रलेपयेत् ।

यदि अरूंषिका रक्तपूर्ण हों तो वैद्य को चाहिये कि उसे उस्तरे के द्वारा काट करके उन पर समान मात्रा में गोदुग्ध एवं गोमूत्र पकाकर गरम २ ही उनका लेप करना चाहिये ॥

न चेदेवं निवर्तेरन् स्रावणं तु ततः परम् ॥

उपर्युक्त चिकित्सा के द्वारा भी यदि वे ठीक न हों तो उनका स्रावण करना चाहिये । सुश्रुत चि० अ० २० में इनकी निम्न चिकित्सा दी है—अरूंषिकां हृते रक्ते सेचयेन्निम्बवारिणा । ······इत्यादि । अर्थात् रक्तमोक्षण तथा नीम के पानी से सेचन करके अश्वपुरीष रस से युक्त लवण का अथवा हरताल आदि का लेप करना चाहिये ॥

यदा पक्वेष्टकाचूर्णैरभीक्ष्णं गुण्ड्यते शिशुः ।
त्रपुसैर्वारुबीजं वा खादतोऽङ्गेषु शुष्यति ॥
मेदोऽभिवर्धनं चान्नं दिवास्वप्नं च सेवते ।
तस्य मेदः प्रकुपितं वायुना त्वचमाहृतम् ॥
मेदःपूर्णत्वचानद्धा जनयत्यरकीलिकाः[1] ।
लवकर्तन(तश्चैता)दृश्यन्ते च क्वचित् क्वचित् ॥
कर्कन्धुगोस्तनप्रख्या वर्धमाना भवन्ति च ।

अरकीलिका (शलाकाकार कील) का निदान एवं सम्प्राप्ति—जब बालक के शरीर पर निरन्तर पकी हुई ईंट का चूर्ण लगता रहे । खीरे या ककड़ी के बीज खाने से जिसके अङ्ग (अवयव) सूख जाय । जो मेदवर्धक अन्न का सेवन करता हो तथा दिन में सोता हो । उसका मेद प्रकुपित होकर वायु के द्वारा त्वचा में पहुंच जाता है । तथा त्वचा के मेद से पूर्ण (युक्त) हो जाने पर अरकीलिका उत्पन्न हो जाती है । प्रारंभ में ये छोटे २ उभार से कहीं २ दिखाई देते हैं तथा धीरे २ बढ़कर कर्कन्धु (ककरौंदे) और मुनक्के के समान बड़े हो जाते हैं । अन्य ग्रन्थों में इनका चर्मकील के रूप में वर्णन किया गया है । सुश्रुत नि० अ० २ में कहा है—व्यानस्तु प्रकुपितः श्लेष्माणं परिगृह्य बहिः स्थिराणि कीलवदर्शांसि निर्वर्तयति, तानि चर्मकीलान्यर्शांसीत्याचक्षते । अर्थात् क्षुब्ध व्यान वायु कफ को ग्रहण करके बाह्य त्वचा पर न बढ़ने वाले कील के समान मस्से उत्पन्न करते हैं । अष्टाङ्गहृदय में इसे मस्सों का ही एक रूप कहा है—मशेभ्यस्तून्नततरान् चर्मकीलान् सितासितान् ॥

तासां दहनमेवाग्रे तप्तैः स्नेहैर्गुडेन वा ॥
एकैकशो हितं जन्तोश्छित्वा वा क्षारसारणम् ।
बन्धनं क्षारसूत्रैर्वा व्रणकर्म ततः परम् ॥

अरकीलिका की चिकित्सा—सर्व प्रथम उष्ण स्नेह अथवा गुडों के द्वारा इनका दहन (Canterisation) करना चाहिये । अथवा एक २ कीलिका को काटकर उन पर क्षार का प्रतिसारण करना चाहिये । अथवा क्षार सूत्रों के द्वारा इन्हें बांध देना चाहिये । तथा उसके बाद व्रण में उपयोगी कर्म करना चाहिये अर्थात् फिर उसकी व्रण के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिये ॥

विरुद्धाद्ध्यशनपूतिपर्युषितात्युष्णविषमाशनात्तु······णादवलङ्घनादवधूननाद्बीजानां कोद्रवशणबीजमूलकातसीकार्पासानां तुवरीकुलत्थादीनां दह्यमानानां गन्धाघ्राणात् तथा वस्त्रावकर्तनालभल्लातकास्थि ··································

उपर्युक्त गद्यांश बीचमें ही खण्डित हो जाने से यह कहना कठिन है कि प्रस्तुत वाक्य किस विषय में कहे जा रहे हैं। फिर भी यह तो कहा ही जा सकता है कि ये किसी त्वग्रोग के ही निदान प्रतीत होते हैं—विरुद्ध भोजन, अध्यशन, पूति (दुर्गन्धयुक्त), पर्युषित (बासी) अत्यन्त उष्ण, एवं विषमाशन·········लङ्घन, बीज आदि के अवधूनन तथा जलते हुए कोदों, शणबीज, मूली, अलसी, कपास, तुवरी, तथा कुलत्थ आदि की गन्ध के सूंघने से और वस्त्रों के द्वारा काटने, आल (हरताल) भल्लातक और अस्थि························ आदि से यह रोग हो जाता है ॥

··································

(इति ताडपत्रपुस्तके १२८ तमं पत्रम्)

··································

··································

···········शालिपिष्टकसाधितम् ।
शीतं सशर्करक्षौद्रनवनीतं
···लेहयेन्नवनीतं वा लेहयेद्वा तपश्चितम् (?) ।
दीप्ताग्निमवसन्नाग्निं स्तन्येनैव तु धारयेत् ।

१. अरशलाकाकाराः कीलिका इत्यर्थः ।

२. अस्याग्रे पत्रत्रयात्मको ग्रन्थः खण्डितस्ताडपत्रपुस्तके ।

यह प्रसङ्ग भी ऊपर खण्डित है अतः निश्चित रूप से इसके विषय में भी कुछ कहना कठिन है । यह किसी रोग के लिये कोई अवलेह दिया हुआ प्रतीत होता है—दीप्त अग्नि वाले बालकों को..........को शालि चावलों की पिष्टि से सिद्ध करे, ठण्डा होने पर उसमें शर्करा, मधु तथा मक्खन मिलाकर चटाये अथवा उसे नवनीत (मक्खन) और तपश्चित (मलाई) चटाये । परन्तु मन्द अग्नि वाले बालकों को केवल दूध ही देना चाहिये ॥

चपलानां तु बालानां सर्पतां वा तथा भृशम् ॥
तृणकाष्ठेष्टकाशस्त्रैरन्यैर्वाऽपि क्षतं भवेत् ।
आमच्छेदवदे(वेदं) दारुणस्तस्य चात्ययः ॥

चपल एवं बहुत अधिक सर्पण करने वाले (इधर उधर चलने फिरने वाले) बालकों को तृण, काष्ठ (लकड़ी) ईंट, शस्त्र अथवा अन्य किसी वस्तु से क्षत (Inqury) हो जाता है । यह उसके लिये आमच्छेद (कच्चा छेदन-कटना) की तरह भयंकर रोग हो जाता है ॥

संदध्यात्तं विनिर्मृज्य सिञ्चेदुष्णोदकेन च ।
अथातिरुधिरस्रावे संस्तम्भ्यः शीतवारिणा ॥

अच्छी तरह साफ करके उष्ण जलसे उसका परिषेचन करे । यदि रक्तस्राव (Bleeding) अधिक हो तो शीतल जल के द्वारा उसका स्तम्भन करना चाहिये ॥

स्वेदयेद्वा प्रसङ्गे तु दहनं क्षारमेव वा ।
सहितं मधुसर्पिर्भ्यां बध्नीयात् पथ्यभोजिनः ॥
उभयोर्घृतपानं च विदध्याद् व्रणवत् क्रियाम् ।

आवश्यकता के अनुसार उसका स्वेदन, दहन (Cauterisation) एवं क्षारकर्म करके मधु एवं घी के द्वारा उसे बांध दे तथा पथ्य का सेवन करे । इन दोनों को घृत का पान कराना चाहिये । तथा व्रण की तरह क्रिया (उपचार) करनी चाहिये ॥

शीतकालेषु भूयिष्ठं बालानां कुक्षिशायिनाम् ॥
स्वमूत्रोपहताङ्गानां मूत्रसंक्लिन्नवाससाम् ।
तृणेषु वा शयानानां स्नानोद्वर्तनवर्जिनाम् ॥
कृमिमत्कुणयूकानां संभवात्तैश्च भक्षणात् ।
गात्रं दद्रुलतां याति कटिदेशे विशेषतः ॥

शीतकाल में प्रायः कुक्षि (गोद) में शयन करने वाले, अपने ही मूत्र के द्वारा भीगे हुए अङ्गों वाले, मूत्र के द्वारा गीले वस्त्रों वाले, तिनकों (घास-फूस) पर सोने वाले, स्नान एवं उबटन से रहित (अर्थात् जिन्हें स्नान नहीं कराया जाता तथा उबटन नहीं लगाया जाता), कृमि, खटमल एवं जूं के हो जाने से तथा उनके द्वारा काटा जाने से बालक का शरीर विशेषकर कटिप्रदेश दद्रु (दाद) युक्त हो जाता है ॥

म्रक्षणोद्वर्तनस्नानं गन्धधूपनिषेवणम् ।
बालानां शस्यते तत्र शय्यायाश्च विकल्पनम् ॥

नित्यमेव तु बालानां निशि स्नेहविमर्दनम् ।
हितं निद्राकरं बल्यं वर्धनं श्रमनाशनम् ॥
तस्माच्च शस्यते नित्यं बालानां परिमर्दनम् ।

इनका उपचार—इस अवस्था में बालक को मालिश, उबटन एवं स्नान कराना चाहिये तथा गन्ध एवं धूप का प्रयोग करना चाहिये । तथा शय्या को बदल देना चाहिये । रात्रि को प्रतिदिन बालकों को तेल की मालिश करनी चाहिये । तेल की मालिश से बालक को नींद आ जाती है । यह बल्य, वृद्धि, कास एवं श्रमनाशक है इसलिये बालकों को नित्य तैल का मर्दन करना चाहिये ॥

महासेनस्य तुष्ट्यर्थं सृष्टः शक्रेण धीमता ॥
कुञ्जरो दुस्सहो नाम ऐरावण(त)बलद्युतिः ।
स स्कन्देनोपवाह्यश्च कृतः शाखविशाखयोः ॥
आभ्यां परमतुष्टाभ्यां ग्रामपोऽस्त्यग्रमभिः कृतः ॥
उपग्रहाणां सर्वेषामाधिपत्यं च लम्भितः ।

महासेन को तुष्ट करने के लिये बुद्धिमान् इन्द्र ने ऐरावत के समान बलवाले दुस्सह नाम के हाथी को उत्पन्न किया । वह स्कन्द के द्वारा वहन किया जाने योग्य होने से शाख एवं विशाख ग्रहों में उत्पन्न किया गया । अत्यन्त सन्तुष्ट हुए इन शाख और विशाख के द्वारा वह दुस्सह नामक हाथी ग्राम का अधिपति बना दिया गया । इसको सब उपग्रहों का आधिपत्य मिल गया अर्थात् यह सब उपग्रहों का अधिपति हो गया ॥

स यदा क्रुध्यते जन्तोः पूजाकालेष्वपूजितः ॥
पक्षच्छिद्रेषु संध्यासु समाजेषूत्सवेषु च ।
स्वप्ने त्रासयते बालं चतुर्दंष्ट्रो महागजः ॥
सुबुद्ध्यते त्रास्यमानः सहसा वित्रसन् द्रुतम् ।

जब यह पक्ष, छिद्र, सन्ध्या, समाज, एवं उत्सव आदि पूजा कालों में पूजा न किया जाने पर क्रुद्ध होता है तब यह चार दंष्ट्राओं वाला महागज बालक को स्वप्न में डराता है । बालक डरकर सहसा शीघ्र ही जाग जाता है ॥

यत्रैतमङ्गं स्पृशति गण्डस्तत्रास्य जायते ।
मेदोलसीकापूर्णानि प्रसज्यन्ते बहून्यपि ॥
पच्यन्ते कानिचित्तेषां निरायान्त्यपराण्यपि ।
दुःसहं पूजयेत्तत्र पञ्चम्यां नागसत्तमम् ॥
कुलोचितेन न्यायेन तथा नश्यन्ति तान्यपि ।

बालक के जिस अङ्ग का यह स्पर्श करता है उसके उस स्थान पर फोड़े बन जाते हैं । इनमें से बहुत से मेद एवं लसीका से पूर्ण होते हैं इनमें से कुछ पक जाते हैं तथा कुछ शान्त हो जाते हैं । अपनी कुलोचित मर्यादा के अनुसार उस दुःसह नामक विशाल हाथी की पञ्चमी तिथी में पूजा करनी चाहिये । इससे वे गण्ड (फोड़े) नष्ट हो जाते हैं ॥

घृतक्षीराशिनो नित्यं श्लैष्मिकस्यातिभोजिनः ॥
स्वपतो मांसमेदोऽसृग्वृद्धः संवर्तते गदः ।

जो सदा घृत एवं दूध का सेवन करते हों, श्लेष्म प्रकृति वाले हों, अधिक भोजन करते हों तथा जो अधिक सोते हों या दिन में सोते हों उनके मांस, मेद एवं रक्त में वृद्धि होती है तथा रोग भी बढ़ जाता है ॥

तस्मान्मातासुतौ चात्र वमनेनोपपादयेत् ॥
शाल्यन्नमुद्गमण्डांस्तु सप्ताहं चोपचारयेत् ।

इसलिये माता एवं पुत्र दोनों को वमन कराकर एक सप्ताह तक शालि अन्न, मूंग की दाल तथा मण्ड का सेवन कराना चाहिये ॥

अशाम्यत्सु विवर्धत्सु शरदाहोऽपि शस्यते ॥
तथैषां छिद्यते मूलं पक्वेषु व्रणवत् क्रिया ।

इस प्रकार यदि यह रोग शान्त न हो तथा बढता चला जाय तो शलाका के द्वारा इसका दाह (Cauterisation) करना चाहिये । इससे इनकी मूल (जड़) नष्ट हो जाती है तथा यदि ये पक जांय तो व्रण की तरह क्रिया करनी चाहिये ॥

इति विविधरोगभेषजं मुनिः
शिशुजनहिताय कश्यपोऽब्रवीत् ।
तदिदमुपलभ्य पण्डितो भिष-
क्शिशुजनहिताय धारयेत् सदा ॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥

इति (चिकित्सास्थाने) द्विव्रणीयोऽध्यायः ॥

इस प्रकार कश्यप मुनि ने बालकों के हित के लिये विविध रोगों की चिकित्सा का उपदेश किया । इसे देखकर विद्वान् वैद्य को चाहिये कि वह बालकों के हित के लिये इसका सदा धारण करे । ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था ॥

इति (चिकित्सास्थाने) द्विव्रणीयोऽध्यायः ॥

प्रतिश्यायचिकित्सिताध्यायः ।

अथातः प्रतिश्यायचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ २ ॥

अब हम प्रतिश्याय चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे । ऐसा भगवान् कश्यपने कहा था ॥ १-२ ॥

गुरुमधुरशीतरूक्षाभ्यवहारात् सततं द्विविधं वा स्तन्यं पीत्वा पीत्वा स्वपतो नित्यं गुरुत्वाजीर्णयोश्च स्नानात् सश्लेष्मणश्च शीतोदकपानादवगाहनाच्च भुक्ते चातिपिबतो वेगविधारणाच्च सततं संरुद्धवेगस्याभ्यवहाराच्च नित्यं चानुपहितशायिनोऽतिपार्श्वशयनशायिनोऽपावृतमुखशायिनोऽन्यैश्च निदानैर्मन्दाग्नेर्विषमाशिनो वातः प्रकुपित ऊर्ध्वकफाशयं प्रदूष्य स्रोतांसि प्रतिश्याययति; स यदा मुखस्रोतांसि दूषयति तदा मुखरोगा जायन्ते, यदा श्रोत्रं तदा कर्णरोगाः, यदा नासिकामूलं प्रति कफं पित्तमसृग्वा श्याययति तदा प्रतिश्याय इत्युच्यते ॥ ३ ॥

प्रतिश्याय का निदान तथा सम्प्राप्ति—गुरु, मधुर, शीत एवं रूक्ष पदार्थों के सेवन से, लगातार दो प्रकार के दूध (मां का तथा ऊपर का दूध) को बार २ पीकर सोने से, प्रतिदिन गुरु पदार्थ खाकर तथा अजीर्ण में स्नान करने से, श्लेष्मा से युक्त व्यक्ति के ठण्डे पानी के पीने तथा ठण्डे पानी में ही अवगाहन (डुबकी लगाना) करने से, खाने के बाद द्रव पदार्थों को बहुत अधिक पीने से, वेगों को रोकने से, निरन्तर वेगों के रुके रहने से, सदा ठीक ढंग से न सोने से, लगातार एक ही करवट से सोने से, मुख ढककर सोने से तथा अन्य कारणों से मन्द अग्नि वाले तथा विषम भोजन करने वाले व्यक्ति का कुपित हुआ वायु ऊर्ध्व कफाशय (मूर्धा) को दूषित कर के स्रोतों के प्रति गमन करता है । वह दूषित हुआ वायु जब मुख के स्रोतों को दूषित करता है तब मुखरोग हो जाते हैं । जब कानों के स्रोतों को दूषित करता है तब कर्णरोग और जब नासिका मूल में स्थित कफ, पित्त या रक्त के प्रति गमन करता है तब वह प्रतिश्याय कहलाता है । सुश्रुत उ. अ. २४ में प्रतिश्याय का निदान एवं संप्राप्ति निम्न प्रकार से कही है—नारीप्रसङ्गः शिरसोऽभितापो धूमो रजः शीतमतिप्रतापः । संधारणं मूत्रपुरीषयोश्च सद्यः प्रतिश्यायनिदानमुक्तम् । चयं गता मूर्धनि मारुतादयः पृथक् समस्ताश्च तथैव शोणितम् । प्रकोप्यमाणा विविधैः प्रकोपणैर्नृणां प्रतिश्यायकरा भवन्ति हि ॥ चरक चि. अ. २६ में कहा है—सन्धारणाजीर्णरजोऽतिभाष्यक्रोधर्तुवैषम्यशिरोऽभितापैः । प्रजागरातिस्वपनाम्बुशीतैरवश्यया मैथुनबाष्पधूमैः ॥ संस्त्यानदोषे शिरसि प्रवृद्धो वायुः प्रतिश्यायमुदीरयेत्तु ॥

तस्य प्रतिनद्धा इव शिरोमुखनासिका भवन्तीष्टानिष्टाव्यक्ताश्च ग(न्धाः)···ते तस्य वातात् प्रतिबन्धः, कफाद्वैशद्यं, रक्तात् परिक्लेदः, पित्ताद्दौर्गन्ध्यं स्रोतस उपजायते ॥ ४ ॥

उसका शिर, मुख एवं नासिका वायु से पूर्ण होकर मानों रुक से जाते हैं इसलिये उसे इष्ट अथवा अनिष्ट गन्धें अव्यक्त हो जाती हैं अर्थात् उसे किसी भी प्रकार की गन्धों का ज्ञान नहीं होता । उसमें वायु से स्रोतों का प्रतिबन्ध (रुकावट), कफ से विशदता का अभाव, रक्त से परिक्लेद तथा पित्त से दुर्गन्धि हो जाती है ॥ ४ ॥

स एतदवस्थो जाड्यारोचकहृल्लासप्रतिघातार्थं भृशोष्णतीक्ष्णाम्ललवणेषु प्रसज्यते, ततोऽस्य पित्तं प्रकुप्यति । बलाभिवर्धनात्तस्य ज्वरं तृष्णामन्तर्दाहमरति······नी स्रोतसां वैगन्ध्यं पाकं च दिवाकरावर्तं चोत्पादयति ॥५॥

इस अवस्था में वह जड़ता, अरुचि तथा हृल्लास

(जीमचलाना) को दूर करने के लिये अत्यन्त उष्ण, तीक्ष्ण, अम्ल एवं लवण पदार्थों का सेवन करता है। इससे उसका पित्त प्रकुपित हो जाता है। पित्त के अधिक बलवान् होने से उसे ज्वर, तृष्णा, अन्तर्दाह, अरति (ग्लानि), स्रोतों में दुर्गन्धि, पाक तथा सूर्यावर्त हो जाते हैं।

वक्तव्य—सूर्यावर्त-यह एक प्रकार का शिरःशूल होता है- जिसमें सूर्य के उदय होने के साथ २ सिर में वेदना बढती जाती है तथा सूर्यास्त के साथ ही वेदना की भी शान्ति हो जाती है। सुश्रुत उ. अ. २५ में इसका स्वरूप निम्न प्रकार दिया है—सूर्योदयं या प्रति मन्दमन्दमक्षिभ्रुवं रुक् समुपैति गाढम् । विवर्धते चांशुमता सहैव सूर्यापवृत्तौ विनिवर्तते च ॥ शीतेन शान्तिं लभते कदाचिदुष्णेन जन्तुः सुखमाप्नुयाच्च । तं भास्करावर्तमुदाहरन्ति सर्वात्मकं कष्टतमं विकारम् ॥

अतश्चैनं चतुर्विधमृषयो वदन्ति-वातिकः, पैत्तिकः, श्लैष्मिकः, सान्निपातिक इति । तद्यथा-यो रौति न रमते जागर्त्यभीक्ष्णं क्षौति नासिका चोत्तानस्यापि तनुश्लेष्म·································

(इति ताडपत्रपुस्तके १३२ तमं पत्रम् ।)

··

भवति स्निग्धोष्णलवणाम्लोपशायि चेत्तं प्रतिश्यायं वातिकं विद्यात्; ज्वरदाहपिपासाप्रलापिताताालुशोष-मुखनासिकाक्षिपाकैराशुकफसंपाकैः··············

···(पैत्ति)कं विद्यात्; चिरकारित्वारोचकहृल्लासशिरोगौरवातिस्रावमन्दक्षवथुमन्याग्रहहृदयप्रलेपाविपाकैरुष्णकटुकषायरूक्षणोपशयैः प्रतिश्यायं कफजं विद्यात्, सर्वरूपं स्रोतोवैगन्ध्यकृमि·········(सान्निपातिकं विद्यात्) ॥६॥

ऋषियों ने चार प्रकार का प्रतिश्याय माना है। १ वातिक २ पैत्तिक ३ श्लैष्मिक ४ सान्निपातिक। वातिक प्रतिश्याय के लक्षण—जो रोता रहता है, प्रसन्न नहीं होता, निरन्तर जागता रहता है, छींकता है, सीधा लेटने या सोने पर भी उसकी नासिका में पतली श्लेष्मा का स्राव होता रहता है तथा यदि उसे स्निग्ध, उष्ण एवं लवण युक्त द्रव्यों से आराम हो जाता हो तो उस प्रतिश्याय को वातिक जाने। चरक चि. अ. २६ में कहा है—प्राणार्तितोदैः क्षवथुर्जलाभः स्रावोऽनिलात्सस्वर-मूर्धरोगः। अर्थात् इसमें नासिका में वेदना और तोद, छींक, जल के सदृश स्राव का बहना तथा स्वरभेद और सिर में पीडा होती है। पैत्तिक प्रतिश्याय के लक्षण—ज्वर, दाह, पिपासा, प्रलाप, तालुशोष, मुख, आंखों तथा नासिका का पकना और कफ के शीघ्र पक जाने से प्रतिश्याय को पैत्तिक जाने। चरक चि. अ. २६ में कहा है—नासाग्रपाकज्वरवक्त्रशोष-तृष्णोष्णपीतस्रवणानि पित्तात् ॥ श्लैष्मिक प्रतिश्याय के लक्षण—उसे चिरकारिता (बहुत देर में अच्छा होना), अरुचि, हृल्लास (जीमचलाना), सिर का भारी होना, अत्यन्त स्राव, हलकी २ छींकें आना, मन्याग्रह, हृदय प्रलेप (हृदय का कफ के द्वारा लिप्त सा रहना), अविपाक (भोजन का न पचना) होते हैं तथा उसे उष्ण, कटु, कषाय एवं रूक्ष द्रव्यों के सेवन से आराम हो जाता हो तो उसे श्लैष्मिक प्रतिश्याय जाने। चरक चि. अ २६ में कहा है—कासारुचिस्रावघनप्रसेकाः कफाद् गुरुः स्रोतसि चापि कण्डूः। सान्निपातिक प्रतिश्याय के लक्षण— इसमें उपर्युक्त सब लक्षण विद्यमान होते हैं, तथा स्रोतों में दुर्गन्धि एवं कृमि आदिकों की उपस्थिति से प्रतिश्याय को सान्निपातिक जाने। चरक चि० अ० २६ में कहा है—सर्वाणि रूपाणि तु सन्निपातात्स्युः पीनसे तीव्ररुजेऽतिदुःखे ॥ ६ ॥

(तत्र) श्लोकाः—

वातश्लेष्मोत्तरः प्रायः प्रतिश्यायस्त्रिदोषजः ।
बलाग्निवर्णशमनो निहन्ता चाप्युपेक्षितः ॥ ७ ॥

वात एवं श्लेष्मा की अधिकता वाला प्रतिश्याय प्रायः त्रिदोषज होता है अर्थात् प्रतिश्याय में यद्यपि वात एवं श्लेष्मा की प्रधानता होती है तथापि वह साधारणतया त्रिदोषज ही होता है। वह बल, जठराग्नि एवं वर्ण को कम करता है तथा उपेक्षा किया हुआ वह मनुष्य को मार डालता है ॥

तस्मात् प्रथमतस्तस्मिन्नुपवासः प्रशस्यते ।
सुखोष्णं दीपनीयाम्बु पिबेद्वा पाञ्चमूलिकम् ॥ ८ ॥

इसलिये इसमें प्रारम्भ से ही उपवास कराना चाहिये। अथवा पञ्चमूल का दीपनीय (अग्नि को दीप्त करने वाला) एवं सुखोष्ण क्वाथ पिलाना चाहिये ॥

यथाशक्त्य························
························दकेऽपि वा ॥
यवागूं रक्तशालीनामुष्णां त्रिलवणान्विताम् ।
पिबेद्यवानामथवा दृष्ट्वा दोषबलाबलम् ॥

दोष और बल के अनुसार रक्त शालि चावलों की उष्ण यवागू में तीनों नमक (सैन्धव, सौवर्चल एवं विड्) मिला कर पिलायें अथवा जौ की यवागू पिलायें ॥

अग्निप्रावरणोपेतो निवातशयनासनः ।
लघ्वन्नमुष्णं भुञ्जानो मुच्यते नातिसंपिबेत् ॥
वेष्टनं धूमपानं च·····················
························गुडहरीतकीम् ।

जिस व्यक्ति के सोने एवं बैठने का स्थान अग्नि एवं उष्ण वस्त्रों से युक्त हो तथा ऐसे स्थान पर हो जहां सीधी हवा न आती हो, जो लघु एवं उष्ण अन्न का ही सेवन करता हो वह व्यक्ति प्रतिश्याय से मुक्त हो जाता है। उस व्यक्ति को बहुत अधिक जल नहीं पीना चाहिये। उसे वेष्टन (उष्णीष) धारण करना चाहिये तथा धूम्रपान और गुडहरीतकी का सेवन करना चाहिये। सुश्रुत उ० अ० २४ में निम्न पथ्य का सेवन बताया है—निवातशय्यासनचेष्टनानि मूर्ध्नो गुरूष्णं च

तथैव वासः । तीक्ष्णा विरेकाः शिरसः सधूमा रूक्षं यवान्नं विजया च सेव्या ॥ विजया से अभिप्राय हरीतकी से है ॥

जीर्णे च सर्पिषः पानं निशि भुक्त्वा प्रशस्यते ॥
अशाम्यमाने तेनापि पुराणं पाययेद्घृतम् ।
षट्पलं पञ्चगव्यं वा कल्याणकमथाभयम् ॥
यवान्नं च सदाऽत्युष्णं लवणस्नेहव(र्धि)तम् ।
पिप्प..........................
..............सं पिबेद्वा मरिचान्वितम् ॥

जीर्ण प्रतिश्याय में रात्रि को भोजन करके घी पीना चाहिये । यदि इससे भी यह शान्त न हो तो उसे पुराना षट्पल, पञ्चगव्य, कल्याणक तथा अभय घृत का सेवन करना चाहिये तथा सदा लवण एवं स्नेह (घृत) से युक्त यवान्न (जौ का भात) खिलाना चाहिये तथा मरिच से युक्त पिप्पली आदि के क्राथ का पान कराना चाहिये ॥

मरिचानि मुखे नित्यं धारयेदापरिक्षयम् ।
सैन्धवोष्णोदकोपेतां पिबेच्छुण्ठीं विमुच्यते ॥

रोग के नष्ट होने तक मुख में सदा मरिच को धारण करना चाहिये । अर्थात् मरिचों को मुख में रख कर सदा चूसते रहना चाहिये । तथा सेन्धा नमक एवं उष्ण जल के साथ सोंठ का सेवन करना चाहिये ॥

पिप्पलीवर्धमानं वा युञ्जानो वा गुडाभयाम् ।
पथ्याशी रोगतत्त्वज्ञः सात्म्यज्ञश्च विमुच्यते ॥

रोग के तत्त्व एवं सात्म्य को जानने वाला व्यक्ति पथ्य सेवन पूर्वक वर्धमान पिप्पली तथा अभयागुड का सेवन करने से रोग से मुक्त हो जाता है ॥

पटोलपत्रत्रिफला....................
..................प्रतिश्यायाद्विमुच्यते ।

पटोलपत्र, त्रिफला.....आदि का सेवन करने से प्रतिश्याय से मुक्ति (छुटकारा) हो जाती है ॥

अपानं सर्पिषाऽभ्यज्य निवाते स्वेदयेत् सदा ॥
विष्टम्भिगुरुशीतान्नं दिवास्वप्नं च वर्जयेत् ।

प्रतिश्याय के रोगी को जल का त्याग कर देना चाहिये तथा उसे शरीर पर घी की मालिश करके निवातस्थान में स्वेदन करना चाहिये । तथा उसे विष्टम्भि, गुरु एवं शीतल अन्न तथा दिवास्वप्न का त्याग कर देना चाहिये । सुश्रुत उ. अ. २४ में निम्न परिहार बताया है—शीताम्बुयोषिच्छिशिरावगाह-चिन्तातिरूक्षाशनवेगरोधान् । शोकं च मद्यानि नवानि चैव विवर्जयेत् पीनसरोगजुष्टः ॥

प्रतिश्यायस्य यत् प्रोक्तमेतत् सर्वं चिकित्सितम् ॥
अतिबालस्य तत् सर्वं धात्री कुर्यादशङ्किता ।
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥

प्रतिश्याय की यह जो कुछ भी चिकित्सा कही है । अत्यन्त छोटे बालकों के लिये धात्री उस सबको निःशंक होकर कर सकती है । ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था ॥

(इति चिकित्सास्थाने प्रतिश्यायचिकित्सितम्) ।

(इति चिकित्सास्थाने प्रतिश्यायचिकित्सितम्) ।

उरोघातचिकित्सिताध्यायः ।

(अथात उरोघात)चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ २ ॥

अब हम उरोघात चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे । ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था ।

वक्तव्य—उरोघात से अभिप्राय उरःक्षत से है । चरक तथा सुश्रुत में उरोघात शब्द नहीं आया है । वहां उरःक्षत ही दिया है । यह क्षय अथवा राजयक्ष्मा रोग का अगला रूप है जिसमें फुफ्फुस में (Cavities) बन जाती हैं तथा उसमें स्थान २ पर घनीभाव (Consolidation) हो जाते हैं ॥

स्वहेतुकुपिता दोषा उरोघातं चतुर्विधम् ।
कुर्वन्ति सेवमानानां लौल्यमध्यशनादि च ॥ ३ ॥

उरोघात का हेतु—जिह्वालौल्य एवं अध्यशन आदि का सेवन करने वाले व्यक्तियों को अपने २ कारणों से कुपित वातादि दोष चार प्रकार का उरोघात कर देते हैं । चरक चि. अ. ११ में इसका निम्न निदान दिया है—धनुषाऽऽयस्यतोऽत्यर्थं भारमुद्वहतो गुरुम् ।.....इत्यादि । अर्थात् नानाप्रकार के अति परिश्रम युक्त कर्मों को करने से छाती (फुफ्फुस) में क्षत हो जाता है जिससे यह रोग प्रारंभ हो जाता है । इसमें छाती विदीर्ण हो जाती है तथा उसमें विदाह उत्पन्न हो जाता है उसके बाद पार्श्वों में पीडा होने लगती है तथा अङ्ग सूखने लगता है । धीरे २ वीर्य, बल, वर्ण, रुचि और अग्नि हीन हो जाती है । ज्वर, वेदना, मानसिक दीनता, अतिसार, जाठराग्निनाश ये लक्षण उपस्थित होते हैं । उसके खांसने पर दूषित श्यामवर्ण का, पीला, दुर्गन्धित तथा अत्यन्त गाढ़ा एवं रक्त मिश्रित कफ निकलता है । वह रोगी शुक्र एवं ओज के क्षीण होने से अत्यन्त क्षीण हो जाता है ॥

शीतज्वरः प्रतिश्यायः कण्ठः शूकैरिवावृतः ।
उत्कासिक(का)मन्दक.......................॥

इस रोग में शीतज्वर तथा प्रतिश्याय होता है और कण्ठ ऐसा प्रतीत होता है मानों शूकों (धान या गेहूँ की बालियों) से युक्त हो । तथा उसे कास एवं मन्दक रोग हो जाते हैं । चरक चि. अ. ११ में कहा है—उरोरुक् शोणितच्छर्दिः कासो वैशेषिकः क्षते । क्षीणे सरक्तमूत्रत्वं पार्श्वपृष्ठकटिग्रहः ॥

....
......समेति समाख्याता सर्वरोगविनाशिनी ॥

एषैव व्योषसहिता हन्त्युरोघातमुद्धलम् ॥

·······इत्यादि द्रव्य मिलाकर प्रयोग करने से सब रोग नष्ट होते हैं। इसी उपर्युक्त योग के साथ त्रिकटु (सोंठ, मरिच, पीपल) मिलाकर देने से यह भयंकर उरोघात को नष्ट करता है ॥

कफाधिके तु सक्षौद्रा लीढाऽऽरोग्याय कल्पते।

कफाधिक उरोघात के उपर्युक्त योग को मधु के साथ चटा देने से रोगी आरोग्य को प्राप्त करता है ॥

पित्तश्लेष्मोत्तरो व्याधिरुरोघातस्त्रिदोषजः ॥
तस्मात् पित्तकफघ्नानि धात्री (नित्यं समाचरेत्) ।

(इति चिकित्सास्थाने उ) रोघातचिकित्सितम् ॥

त्रिदोषज उरोघात—पित्त एवं श्लेष्मा की अधिकता (प्रधानता) वाला होता है इसलिये धात्री को नित्य पित्त एवं कफनाशक द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये। चरक चि. अ. ११ में इसका निम्न चिकित्सा सूत्र दिया है—उरो मत्वा क्षतं लाक्षां पयसा मधुसंयुताम्। सद्य एव पिबेज्जीर्णे पयसाऽद्यात्स शर्करम् ॥ अर्थात् उरोघात रोग में लाक्षाचूर्ण विशेष स्थान रखता है। इसके अतिरिक्त एलादिगुटिका, यष्ट्याह्वादि घृत, अमृतप्राशघृत तथा अनेक प्रकार के सर्पिर्गुडों का प्रयोग प्रशस्त माना गया है ॥

इति चिकित्सितस्थाने उरोघातचिकित्सितम् ॥

(अथ शोफचिकित्सिताध्यायः ।)

अथातः शोफचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ २ ॥

अब हम शोफचिकित्सा का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था ॥ १-२ ॥

वमनविरेचनोपवासव्याधिकर्शनापथ्याजीर्णेषु यः सदाऽत्यर्थलवणाम्लकटुक्षारोष्णोपसेवी भ(वति)······
·································यनान्ते वा लवणादिषु प्रसज्यते, यथेष्टं च शीतोदकस्नानपानशयनव्यवायव्यायामादिभिर्व्यभिचरति तथा तद्गुणक्षीरा वा भवति, तस्याः श्वयथुर्नाम रोग उत्पद्यते दारुणश्चतुर्विधः। दोषा ह्यस्याः·································

··[1]

(इति ताडपत्रपुस्तके १३३ तमं पत्रम्[2] ।)

·······पथः कृष्णारुणवर्णोऽल्पो रूक्षः पिपीलिकापूर्ण इव सवेदनः पीडितश्च निम्नो भवत्यनिमित्त(रुज) श्चोष्णस्नेहाभ्यां प्रशाम्यति तं वातिकं विद्यात्; नीललोहितपीत

श्वयथु का निदान—जिन बालकों का वमन, विरेचन, उपवास तथा व्याधि से अत्यन्त कर्षण हो चुका हो अर्थात् जो अत्यन्त कृश हो गये हों उनमें, तथा अपथ्य एवं अजीर्ण रोग में जो सदा अत्यधिक लवण, अम्ल, कटु, क्षार एवं उष्ण पदार्थों का सेवन करते हैं·······जो लवणयुक्त पदार्थों में अत्यधिक आसक्त रहता है। तथा जो धात्री यथेष्ट शीतल जल का स्नान एवं पान, शयन, व्यवाय (मैथुन) तथा व्यायाम आदि करती हो, अथवा उसी गुण वाला उसका दूध हो गया हो। उन्हें चार प्रकार का श्वयथु (शोथ या शोफ) नामक भयंकर रोग हो जाता है।··········

(चरक चि. अ. १२ में साधारणतया तीन प्रकार का शोफ दिया है। १ वातिक २ पैत्तिक ३ श्लैष्मिक। तथा इन्हीं के पुनः निज और आगन्तु भेद दिये हैं। निज (वातिक, पैत्तिक तथा श्लैष्मिक) शोथ के साथ आगन्तु शोथ को मिलादेने से ४ भेद हो सकते हैं। सुश्रुत चि. अ. २३ में ५ प्रकारका शोथ दिया है। १ वातिक २ पैत्तिक ३ श्लैष्मिक ४ सान्निपातिक ५ विषज। इनमें प्रथम चार को निज तथा अन्तिम को आगन्तु शोथ कह सकते हैं। अन्य ग्रन्थों में शोथ के ९ भेद दिये हैं-एक दोषज ३ + द्विदोषज ३ + त्रिदोषज १ + अभिघातज १ + विषज १ = ९ इनमें से अभिघातज एवं विषज आगन्तु के भेद हैं। तथा द्वन्द्वज एवं त्रिदोष को पृथक् पढ़ने का विशेष प्रयोजन नहीं होता है। इस प्रकार एकदोषज ३ (वातिक, पैत्तिक एवं श्लैष्मिक) तथा आगन्तु-ये मिलाकर मुख्यरूप से ४ ही शोथ होते हैं। इन्हीं चार का ही यहां निर्देश किया गया प्रतीत होता है। तथा यहां मुख्य रूप से होने के कारण निज शोथ का ही निदान दिया गया प्रतीत होता है। इसमें आगन्तु का निदान नहीं दिया है। चरक चि० अ० १२ में निज शोथ का निम्न निदान दिया है—शुद्ध्यामयाभक्तकृशाबलानां क्षाराम्लतीक्ष्णोष्णगुरूपसेवा। दध्याममृच्छाकविरोधिदुष्टगरोपसृष्टान्ननिषेवणं च ॥ अर्शांस्यचेष्टा न च देहशुद्धिर्मर्मोपघातो विषमा प्रसूतिः। मिथ्योपचारः प्रतिकर्मणां च निजस्य हेतुः श्वयथोः प्रदिष्टः ॥ इसी प्रकार चरक सू० अ० १८ में और सुश्रुत चि० अ० २३ में भी कहा है। वातिक शोथ के लक्षण—जो कृष्ण एवं अरुण (लाल) वर्ण का होता है, अल्प (थोड़ा) एवं रूक्ष होता है तथा ऐसा प्रतीत होता है मानो शोथ प्रदेश पिपीलिकाओं (चिउंटियों) से पूर्ण हो, जो वेदना एवं पीडा से युक्त होता है, निम्न (नीचे झुका हुआ) होता है, जो विना किसी कारण के ही हो जाता है तथा जो उष्ण द्रव्यों एवं स्नेह के प्रयोग

१. मूलताडपत्रपुस्तके अस्मिन् १३३ तमे पत्रे अग्रेतनेषु १३८ तमपत्रतः १५० तमपत्रपर्यन्तपत्रेष्वपि एकपार्श्वे विशेषतो मूषकदंशात् किल शकलापगमनेन प्रायः प्रतिपङ्क्तिन्यूनाधिकभावेन ग्रन्थावयवा विलुप्ताः सन्ति, तेनेत्थं बिन्दुमालाः पुनः पुनर्निवेशिताः।

२. अस्याग्रे पत्रद्वयात्मको ग्रन्थो लुप्तस्ताडपत्रपुस्तके।

से शान्त हो जाय उसे वातिक शोथ समझना चाहिये। चरक चि० अ० १२ में कहा है—चलस्तनुत्वक्परुषोऽरुणोऽसितः प्रसुप्तिहर्षार्तियुतोऽनिमित्ततः। प्रशाम्यति प्रोन्नमति प्रपीडितो दिवाबली च श्वयथुः समीरणात्॥ पैत्तिक शोथ के लक्षण—यह नील, लोहित एवं पीत वर्ण का·····················(होता है)·····

वक्तव्य—यह अध्याय यहीं खण्डित हो गया है। अगले खण्डित अंश में पैत्तिक, श्लैष्मिक एवं आगन्तु शोथ के लक्षण उनकी साध्यासाध्यता एवं चिकित्सा आदि का वर्णन होना चाहिये। पाठकों के ज्ञान के लिये उन्हें हम अन्य आर्षग्रन्थों से उद्धृत करते हैं।

पैत्तिक शोथ का लक्षण—चरक चि० अ० १२ में कहा है—मृदुः सुगन्धोऽसितपीतरागवान्भ्रमज्वरस्वेदतृषामदान्वितः। य उष्यते स्पर्शरुगक्षिरागकृत्स पित्तशोथो भृशदाहपाकवान्॥ अर्थात् जो शोथ मृदु, गन्धयुक्त, काले एवं पीले वर्ण वाला हो जिसमें रोगी भ्रम, ज्वर, स्वेद, प्यास एवं मद से युक्त हो। जिसमें दाह हो, छूने से ही वेदना होती हो तथा जिसमें रोगी की आंखें रक्तवर्ण की हों, जिसमें अत्यन्त दाह हो तथा जो पक जाता हो वह शोथ पैत्तिक होता है। चरक सू० अ० १८ में कहा है—स क्षिप्रोत्थानप्रशमो भवति कृष्णपीतनीलताम्रावभास उष्णो मृदुः कपिलताम्रलोमा उष्यते दूयते दह्यते धूप्यते ऊष्मायते स्विद्यति क्लिद्यते न च स्पर्शमुष्णं वा सुष्यत इति पित्तशोथः। इसी प्रकार सुश्रुत चि० अ० २३ में कहा है—"पित्तश्वयथुः पीतो रक्तो वा शीघ्रानुसार्योषचोषादयश्चात्र वेदनाविशेषाः"। अष्टाङ्ग संग्रह में भी कहा है—पीतरक्तासिताभासः पित्ताद्राताम्ररोमकृत्। शीघ्रानुसारप्रशमो मध्ये प्राग्जायते तनोः॥ सतृड्दाहज्वरस्वेददवक्लेदमदभ्रमः। शीताभिलाषी विड्भेदी गन्धी स्पर्शासहो मृदुः॥

श्लैष्मिकशोथ का लक्षण—चरक चि० अ० १२ में कहा है—गुरुः स्थिरः पाण्डुररोचकान्वितः-प्रसेकनिद्रावमिवह्निमान्द्यकृत्। स कृच्छ्रजन्मप्रशमो निपीडितो-न चोन्नमेद्रात्रिबली कफात्मकः॥ अर्थात् श्लैष्मिक शोथ—गुरु, स्थिर एवं पाण्डु वर्ण होता है। इसमें अरुचि, लालास्राव, निद्रा, वमन तथा अग्निमान्द्य होता है। यह शोथ देर में ही उत्पन्न होता है तथा देर में ही शान्त होता है तथा शोथ को दबाने पर पुनः उन्नत नहीं होता (Pitting on Pressure) तथा यह रात्रि को अधिक होता है। चरक सू० अ० १८ में कहा है—स कृच्छ्रोत्थानप्रशमो भवति, पाण्डुः श्वेतावभासः स्निग्धः श्लक्ष्णो गुरुः स्थिरः स्त्यानः शुक्लाग्ररोमा स्पर्शोष्णसहश्चेति। श्लेष्मशोथः। इसी प्रकार सुश्रुत चि० अ० २३ में भी कहा है—"श्लेष्मश्वयथुः पाण्डुः शुक्लो वा स्निग्धः कठिनः शीतो मन्दानुसारी कण्ड्वादयश्चात्र वेदनाविशेषाः।" अष्टाङ्गसंग्रह में भी कहा है—कण्डूमान् पाण्डुरोमत्वक्कठिनः शीतलो गुरुः। स्निग्धः श्लक्ष्णः स्थिरः स्त्यानो निद्राच्छर्द्यग्निसादकृत्॥ आक्रान्तो नोन्नमेत् कृच्छ्रशमजन्मा निशाबलः। स्रवेन्नासृक् चिरात्पिच्छां कुशशस्त्रादिविक्षतः॥ स्पर्शोष्णकाङ्क्षी च कफाद्॥ शोथों की साध्यासाध्यता—जिसका मांस क्षीण नहीं है ऐसे पुरुष को हुआ एकदोषज, नवीन और बलरहित शोथ 'सुखसाध्य' होता है तथा जो शोथ कृश एवं दुर्बल व्यक्ति को हो, जो वमन आदि उपद्रवों से युक्त हो, मर्मदेश में पहुंच गया हो तथा जो सर्वाङ्ग में फैला हुआ हो वह शोथ असाध्य होता है।

शोथों का चिकित्साक्रम—साध्य शोथ का निदान, दोष एवं ऋतु-विपरीत चिकित्सा करनी चाहिये। चरक चि० अ० १२ में कहा है—अथामजं लङ्घनपाचनक्रमैर्विशोधनैरुल्बणदोषमादितः। शिरोगतं शीर्षविरेचनैरधोविरेचनैरूर्ध्वमधस्तथोर्ध्वगम् उपाचरेत् स्नेहकृतं विरूक्षणैः प्रकल्पयेत्स्नेहविधिं च रूक्षजे॥ अर्थात् आम दोष से उत्पन्न शोथ में प्रारम्भ में लङ्घन तथा पाचन कराना चाहिये। यदि दोष अत्यन्त प्रवृद्ध हो तो दोषों के अनुसार प्रारम्भ में वमनविरेचन द्वारा संशोधन कराये। यदि शोथ शिरोगत हो तो नस्य द्वारा तथा यदि शरीर के अधोभाग में हो तो अधोविरेचन तथा ऊर्ध्वभाग में स्थित हो तो वमन द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये। यदि शोथ अधिक स्निग्ध द्रव्यों के सेवन से उत्पन्न हुआ हो तो रोगी का रूक्षण करना चाहिये तथा यदि शोथ रूक्ष पदार्थों के अधिक सेवन से उत्पन्न हुआ हो तो स्निग्ध पदार्थों द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये। अष्टाङ्गसंग्रह में भी कहा है—श्वयथुषु दोषजेषु सर्वेषु सर्वसरेष्वामानुबद्धेषु लङ्घनपाचनशोधनान्यादौ योजयेत्। स्नेहजेषु विरूक्षणान्यौषधानि। विरूक्षणोत्थेषु स्नेहनानि। तदुपरान्त भिन्न २ दोषों के लिये भिन्न २ चिकित्सा का विधान दिया गया है। सुश्रुत चि० अ० २३ में कहा है—तत्र वातश्वयथौ त्रैवृतमेरण्डतैलं वा मासमर्धमासं वा पाययेत्, न्यग्रोधादिककषायसिद्धं सर्पिः पित्तश्वयथौ, आरग्वधादिसिद्धं श्लेष्मश्वयथौ, सन्निपातश्वयथौ स्नुहीक्षीरपात्रं द्वादशभिरम्लपात्रैः प्रतिसंसृष्टं दन्तीप्रतीवापं सर्पिः पाचयित्वा पाययेत्। इसके अतिरिक्त सब शोथों में गण्डीराद्यरिष्ट, पुनर्नवासव, फलत्रिकाद्यरिष्ट, गुडार्द्रकप्रयोग, शिलाजतु प्रयोग, कंसहरीतकी आदि का प्रयोग करना चाहिये। इन आभ्यन्तर प्रयोगों के अतिरिक्त दोषों के अनुसार भिन्न २ बाह्य प्रलेप, प्रदेह एवं परिषेक आदि का भी प्रयोग करना चाहिये॥ ३॥

कृमिचिकित्सिताध्यायः।

·······································

·······································

···········च लाभतः समुपानयेत्।
पादशेषे जलद्रोणे श्रुते सर्पिर्विपाचयेत्॥
प्रस्थं सैन्धवसंयुक्तं तत् परं कृमिनाशनम्।
विडङ्गघृतमित्येतल्लेह्यं शर्करया सह॥
सर्वक्रमीन् प्रणुदति वज्रो मुक्त इवासुरान्।

वक्तव्य—इस अध्याय में उदरकृमियों की चिकित्सा कही जायगी। यह अध्याय प्रारम्भ में खण्डित है। उस खण्डित अंश में सम्भवतः कृमियों के भेद, उनका निदान तथा लक्षण आदि का वर्णन होना चाहिये। अन्य ग्रंथों के आधार पर इन उपर्युक्त विषयों को हम अध्याय के अन्त में पाठकों के ज्ञान के लिये देंगे।

विडङ्गघृत—(विडङ्ग आदि)............में से जो २ ओषधियां मिल जायें उन्हें लेकर एक द्रोण पानी में पकाकर चतुर्थांश शेष रखे। उसमें एक प्रस्थ घृत डालकर सिद्ध करे। इस घृत में थोड़ा नमक मिला दे। यह घृत अत्यन्त कृमि नाशक है। इसे 'विडङ्ग घृत' कहते हैं। जिस प्रकार वज्र छोड़ा जाने पर असुरों को नष्ट कर देता है। उसी प्रकार शर्करा के साथ इसका लेहन (चाटना) करने पर यह सब प्रकार के कृमियों को नष्ट कर देता है।

वक्तव्य—'वृन्दमाधव' तथा 'चक्रदत्त' आदि में कृमिरोग अधिकार में 'विडङ्ग घृत' का निम्न योग दिया हुआ है—त्रिफलायास्त्रयः प्रस्था विडङ्गप्रस्थ एव च। द्विपलं दशमूलञ्च लाभतः समुपाचरेत् ॥ पादशेषे जलद्रोणे शृतं सर्पिर्विपाचयेत्। प्रस्थोन्मितं सिन्धुयुतं तत्परं कृमिनाशनम् ॥ विडङ्गघृतमेतच्च लेह्यं शर्करया सह। सर्वान् कृमीन् प्रणुदति वज्रं मुक्तमिवासुरान् ॥ उपर्युक्त खण्डित भाग वाला यही योग प्रतीत होता है। विड्ङ्ग का कृमिनाशन के लिए अन्य रूपों में भी प्रयोग चरक-सुश्रुत आदि में अनेक स्थानों पर किया गया है॥

तिक्तोष्णकटुरूक्षाणां मूत्राणां लवणस्य च ॥
स्नेहस्वेदोपसेवा च पथ्यं च कृमिनाशने ।

कृमियों के नाश के लिये तिक्त, उष्ण, कटु, एवं रूक्ष पदार्थ, गोमूत्र, सैन्धव तथा स्नेहन एवं स्वेदन का प्रयोग पथ्य माना गया है॥

बहिःकृमीणां स्नानाद्यं द्विव्रणीये प्रकीर्तितम् ॥
अतिबालस्य तु शिशोर्धात्री सर्वं समाचरेत् ।

द्विव्रणीय अध्याय में बाह्य कृमियों के लिये स्नान आदि (बाह्य शुद्धि) का निर्देश किया गया है। अत्यन्त छोटे शिशु के लिये धात्री यह उपर्युक्त सम्पूर्ण चिकित्सा करे॥

संशोधनैर्विशुद्धं च पथ्यान्नैश्च लघूकृतम् ॥
भावितं चौषधैः क्षीरममृतत्वाय कल्पते ।

वमन विरेचन आदि संशोधनों से शुद्ध हुए तथा पथ्य आहार के द्वारा लघु (हलके) हुए रोगी के लिए भिन्न २ ओषधियों से सिद्ध किया हुआ दूध अमृत के समान माना जाता है॥

अ(ना)त्युष्णं कटुतैलं तु गुदे दत्त्वा ससैन्धवम् ॥
स्वेदयेद् गुदमङ्गुल्या तथाऽऽशु लभते सुखम् ।

जो बहुत अधिक गरम नहीं है ऐसे कड़वे तेल (सरसों के तेल) को सैन्धव सहित गुदा में लगाकर गुदा का अङ्गुलि के द्वारा स्वेदन करे (अर्थात् उँगली से रगड़कर स्वेदन करे) इससे रोगी शीघ्र ही सुख (आरोग्य) को प्राप्त करता है॥

इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥

इति चिकित्सास्थाने कृमिचिकित्सितम् ॥

ऐसे भगवान् कश्यप ने कहा था।

वक्तव्य—चरक तथा सुश्रुत में कृमियों की २० जातियां दी गई हैं। उत्पत्ति की दृष्टि से चरक वि. अ. ७ में इन्हें चार प्रकार का माना है। १ पुरीषज, २ श्लेष्मज, ३ रक्तज, ४ मलज (बाह्यमलज) 'परन्तु सुश्रुत उ. अ. ५४ में ये तीन प्रकार के ही दिये हैं—विंशतेः कृमिजातीनां त्रिविधः संभवः स्मृतः। पुरीषकफरक्तानि॥ अर्थात् इसमें मलज कृमियों को नहीं दिया गया है। कृमियों का सामान्य निदान सुश्रुत उ. अ. ५४ में कहा है—अजीर्णाध्यशनासात्म्यविरुद्धमलिनाशनैः। अव्यायामदिवास्वप्नगुर्वतिस्निग्धशीतलैः ॥ माषपिष्टान्नविदलबिसशालूककसेरुकैः। पर्णशाकसुराशुक्तदधिक्षीरगुडेक्षुभिः ॥ पललानूपपिशितपिण्याकपृथुकादिभिः। स्वाद्वम्लद्रवपानैश्च श्लेष्मा पित्तं च कुप्यति॥ कृमीन् बहुविधाकारान् करोति विविधाश्रयान्। आमपक्वाशये तेषां कफविड्जन्मनां पुनः॥ धमन्यां रक्तजानां च प्रसवः प्रायशः स्मृतः। इस सामान्य निदान के अतिरिक्त सुश्रुत में प्रत्येक का पृथक् २ विशेष निदान एवं सामान्य लक्षण निम्न प्रकार दिया है—माषपिष्टान्नविदलपर्णशाकैः पुरीषजाः। मांसमाषगुडक्षीरदधितैलैः कफोद्भवाः॥ विरुद्धाजीर्णशाकाद्यैः शोणितोत्था भवन्ति हि। ज्वरो विवर्णता शूलं हृद्रोगः सदनं भ्रमः। भक्तद्वेषोऽतिसारश्च संजातकृमिलक्षणम्॥ चिकित्सा चरक वि. अ. ७ में कहा है—तत्र सर्वकृमीणामपकर्षणमेवादितः कार्यम्, ततः प्रकृतिविघातः, अनन्तरं निदानोक्तानां भावानामनुपसेवनम्। अर्थात् सबसे पूर्व कृमियों का अपकर्षण करना चाहिये। ये हाथ से पकड़कर निकाले जा सकते हैं अथवा आमाशय एवं पक्वाशय में ही स्थित होने पर वमन, विरेचन, शिरोविरेचन, आस्थापन आदि से निकालें। इसके पश्चात् उनके उत्पत्ति कारण का नाश करना चाहिये। यह कटु, तिक्त, कषाय, क्षार तथा उष्ण पदार्थों के सेवन से होता है। तथा अन्त में उन्हें पुनः उत्पन्न न होने देने के लिये निदान परिवर्जन करना चाहिये अर्थात् निदानोक्त पदार्थों का त्याग करना चाहिये। इनका विस्तृत विवरण चरक वि अ. ७ तथा सुश्रुत उ. अ. ५४ में देखना चाहिये।

इति चिकित्सास्थाने कृमिचिकित्सितम् ॥

मदात्ययचिकित्सिताध्यायः।

अथातः पानात्ययचिकित्सितं व्याख्यास्यामः॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ २ ॥

अब हम पानात्यय (मदात्यय) चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था ॥ १–२ ॥

मद्यप्रवृत्तौ रोगास्तु प्रोच्यते त्रिविधो नृणाम् ।
पानात्ययो विभ्रमश्च पानापक्रम एव च ॥ ३ ॥

मद्य की प्रवृत्ति में मनुष्य को तीन प्रकार के रोग हो जाते हैं। १ पानात्यय २ विभ्रम (पानविभ्रम) ३ पानापक्रम॥

तत्र योऽध्युषिते पाने त्वजीर्णे पिबते नरः ।
तत् पानमत्ययं याति तस्मात् पानात्ययो मतः ॥ ४ ॥

पानात्यय का हेतु—जो व्यक्ति पहले पीये हुए मद्य के ऊपर अथवा उसके जीर्ण न होने पर पुनः मद्य पी लेता है—उसका पीया हुआ वह मद्य अत्यय (रोग) को प्राप्त हो जाता है इसलिये इसे पानात्यय (मदात्यय) कहते हैं ॥ ४ ॥

विश्रान्तानां तु पानानां सेवनात्(पानविभ्रमः) ।
सहसा पानविच्छेदः पानापक्रम उच्यते ॥ ५ ॥

पानविभ्रम का हेतु—विश्रान्त मद्य के सेवन से पानविभ्रम हो जाता है । (मद्य के कारण चित्तवृत्तियों की अनवस्थिति या अस्थिरता को पानविभ्रम कहते हैं ।) पानापक्रम का हेतु—मद्य का सहसा विच्छेद (न मिलना) हो जाने से पानापक्रम कहाता है । अर्थात् जो व्यक्ति सदा मद्यपान करता हो उसे सहसा यदि मद्य न मिले तो उस अवस्था को पानापक्रम कहते हैं ॥ ५ ॥

दीपनं रोचनं वृष्यं रतिवैशद्यकारकम् ।
कार्श्यचित्तश्रमहरं हर्षणं बलवर्धनम् ॥ ६ ॥
युक्तोपसेवितं मद्यं सात्त्विकानां विशेषतः ।
प्रमोदारोग्यपुष्टीनां तन्मूलं चान्नभोजनम् ॥ ७ ॥

युक्तिपूर्वक सेवन किये हुए मद्य के गुण—सात्त्विक पुरुषों में युक्तिपूर्वक सेवन किया गया मद्य दीपक, रोचक (भोजन में रुचि को बढ़ाने वाला), वृष्य, रति (मैथुन शक्ति) को विशद करने वाला अर्थात् मैथुन शक्ति को बढ़ानेवाला, कृशता एवं चित्त की थकावट को दूर करने वाला, तथा हर्ष एवं बल को बढ़ाने वाला होता है । यह प्रमोद (आनन्द) एवं आरोग्य (स्वास्थ्य) का मूल (कारण) है तथा यह अन्न एवं भोजन है । चरक चि अ. २४ में कहा है—'किन्तु मद्यं स्वभावेन यथैवान्नं तथा स्मृतम्' । अर्थात् मद्य में भोजन के गुण विद्यमान हैं । इसी को प्रकट करने के लिये चरक में 'पानान्नगुणदर्शकः' शब्द भी दिया हुआ है । घोष की मैटेरिया मैडिका में भी लिखा है कि—"The question whether alcohal is a food has been much discussed, and the chief point is whether it can be regarded as a protain sparer. It possesses the power of lessening nitrogenous waste. though inferior to carbobydrate and fat. It is chemically allied to sugar and undergoes combustion in the body, therefore, furnishes some energy to the organism and the chief claim of alcohal as a food is due to the fact that it will help to support life if given along with other food.

स्तन्यक्षये च धात्रीणामुत्पन्ने चाप्य······ ।
·········वातशूलेषु शीतके विषमज्वरे ॥ ८ ॥
नारीणां सुकुमारीणां रोगेषु विविधेषु च ।
सूतानां दुष्प्रजातानां योनिभ्रंशेऽतिमैथुने ॥ ९ ॥
दन्तजन्मनि बालानां पीडितानां पिपासया ।
तालुकण्ठौष्ठशोषे च रोदितेऽतिप्रजागरे ॥ १० ॥
वातश्लेष्मात्मके व्याधौ मद्यमाहुर्यथाऽमृतम् ।

मद्य का सेवन कहां २ करना चाहिये—धात्री के दूध का क्षय हो जाने पर, वातिक शूल में, शीतज्वर तथा विषमज्वर में, नारियों एवं सुकुमारियों के अनेक प्रकार के रोगों में, सूतिका एवं दुष्प्रजाता (जिन्हें प्रसव ठीक तरह से न हुआ हो) स्त्रियों के योनिभ्रंश (Prolapse of vagina or uterus) तथा अत्यधिक मैथुन में, बालकों के दन्तोत्पत्ति के समय, उनके पिपासा (प्यास) से पीड़ित होने पर, तालु, कण्ठ एवं ओष्ठ के शोष (सूख जाने) में, रोने के बाद, अत्यन्त जागरण करने के बाद तथा वातश्लैष्मिक व्याधि में मद्य को अमृत के समान कहा है । चरक चि. अ. २४ में कहा है—सुश्रुत उ. अ. ४७ में भी कहा है—स्निग्धैस्तदन्नैर्मांसैश्च भक्ष्यैश्च सह सेवितम् । भवेदायुः प्रकर्षाय बलायोपचयाय च ॥

तदेवातिप्रसङ्गेन पीयमानं पुनः पुनः ॥ ११ ॥
सर्वव्याधिमुखं प्रोक्तं विषवत् कारयत्यपि ।
मदात्ययं वातकरं कृच्छ्रसाध्यं करोति वा ॥ १२ ॥

वही मद्य जब मात्रा से अधिक तथा पुनः २ पीई जाती है तब उसे सब रोगों का मुख (कारण) कहा गया है तथा विष की तरह यह वायु को बढ़ाने वाले तथा कृच्छ्रसाध्य मदात्यय रोग को उत्पन्न कर देता है । चरक चि. अ. २४ में कहा है—अयुक्तियुक्तं रोगाय युक्तियुक्तं यथाऽमृतम् ॥ ११-१२ ॥

तरुणं वाऽप्यजीर्णे वा यो मद्यमतिसेवते ।
लघुसत्त्वो निराहारो रसस्तस्य विदुष्यति ॥ १३ ॥
अनिलं रूक्षतीक्ष्णत्वात् पित्तमौष्ण्याद्विपाकतः ।
युगपत् कुपितौ दोषौ प्राप्तावामाशयं ततः ॥ १४ ॥
विष्टब्धश्लेष्मणा(ऽ)त्यक्तौ विप्लवेते महासिराः ।
ततो हृदयमूलासु विप्लुतासु सिरासु च ॥ १५ ॥
शरीरं क्लिश्यतेऽत्यर्थं तस्य वक्ष्यामि लक्षणम् ।

मदात्यय रोग की सम्प्राप्ति—जो लघु सत्त्व (साधारण मन वाला) तथा निराहार व्यक्ति नवीन मद्य का सेवन करता है अथवा अजीर्ण में मद्य का अतिमात्रा में सेवन करता है, उसका रस दूषित हो जाता है । इस रस के रूक्ष एवं तीक्ष्ण होने से वायु तथा उष्ण विपाक होने से पित्तदोष युगपत् प्रकुपित होकर आमाशय में पहुँचते हैं । उसके बाद दूषित हुई श्लेष्मा के कारण वे दोष महासिराओं में तथा वहां से विप्लुत हुई हृदय मूल वाली सिराओं में पहुँचते हैं । इससे शरीर को अत्यन्त क्लेश होता है । उसके मैं लक्षण कहूँगा ॥

मुह्यते घृष्यते रौति दह्यते ज्वर्यते भृशम् ॥ १६ ॥
हृद्द्रवो वेपथुर्हर्षः पार्श्वशूलं शिरोरुजा ।
अरुचिः स्वेदविष्टम्भो विह्वलत्यतिसार्यते ॥ १७ ॥
शुष्यते·············याति विलपत्यपि ।
एवं मदात्ययं विद्यात्तस्य वक्ष्यामि लक्षणम् ॥ १८ ॥

मदात्यय के लक्षण—मदात्यय में मनुष्य मूढ़ हो जाता है, उसका घर्षण किया जाता है, वह शब्द करता है, उसे दाह एवं ज्वर हो जाता है। उसे हृद्द्रव (Palpitation of the heart), वेपथु (कंपकपी), हर्ष, पार्श्वशूल, शिरो रोग, अरुचि, स्वेद तथा विष्टम्भ हो जाता है तथा रोगी अत्यन्त विह्वल हो जाता है और उसे अतिसार हो जाता है। उसका शरीर सूखजाता है, तथा वह अत्यन्त विलाप करता है। इन लक्षणों से मदात्यय रोग को जाने। अब मैं उनके (दोष भेद से पृथक् २) लक्षण कहूंगा ॥

हृत्पार्श्वपर्वरुजनं प्रलापोऽतिप्रजागरः ।
उन्मत्त इव चाभाति पवनोत्थे मदात्यये ॥ १६ ॥

वातिक मदात्यय के लक्षण—वातिक मदात्यय में रोगी के हृदय, पार्श्व तथा जोड़ों में दर्द होता है। रोगी प्रलाप (Delirium) करता है, वह अत्यन्त जागरण करता है (उसे निद्रा नहीं आती) और वह उन्मत्त (पागल) की तरह प्रतीत होता है। चरक चि. अ. २४ में कहा है—हिक्काश्वासशिरःकम्पपार्श्वशूलप्रजागरैः । विद्याद्बहुप्रलापस्य वातप्रायं मदात्ययम् ॥ सुश्रुत उ० अ० ४७ में कहा है—स्तम्भाङ्गमर्दहृदयग्रहतोदकम्पाः पानात्ययेऽनिलकृते शिरसो रुजश्च ॥

स्रोतःपाको ज्वरो दाहो विड्भेदः स्वेदपीतता ।
छर्दी रक्तप्रकोपो वा पीतं पश्यति पैत्तिके ॥ २० ॥

पैत्तिक मदात्यय के लक्षण—पैत्तिक मदात्यय में रोगी के स्रोतों का पाक, ज्वर, दाह, विड्भेद (अतिसार), स्वेद (पसीने) का पीला होना, छर्दि एवं रक्तप्रकोप हो जाता है तथा उसे पीला दिखाई देता है। चरक चि० अ० २४ में कहा है—तृष्णादाहज्वरस्वेदमूर्च्छातीसारविभ्रमैः । विद्याद्धरितवर्णस्य पित्तप्रायं मदात्ययम् ॥

आ············सेकच्छर्दिशीतज्वरालसाः ।
तन्द्रा स्तम्भो विसंज्ञत्वं विषादश्च कफात्मके ॥ २१ ॥
श्वासकासभ्रमोत्सादविड्भेदानाहवेपकाः ।
शूलमोहौ च सामान्यौ सर्वरूपस्तु सर्वजः ॥ २२ ॥

श्लैष्मिक मदात्यय के लक्षण—श्लैष्मिक मदात्यय में सेक (कफप्रसेक), वमन, शीतज्वर, अलसरोग, तन्द्रा (आलस्य), स्तम्भ, संज्ञा का अभाव, विषाद, श्वास, कास, भ्रम, उत्साद, अतिसार, आनाह, कम्पन, शूल तथा मोह होते हैं। चरक चि० अ० २४ में कहा है—छर्द्यरोचकहृल्लासतन्द्रास्तैमित्यगौरवैः । विद्याच्छीतपरीतस्य कफप्रायं मदात्ययम् ॥

त्रिदोषज मदात्यय सब रूपों वाला होता है अर्थात् उपर्युक्त सब लक्षण सम्मिलित होते हैं—सुश्रुत उ० अ० ४७ में कहा है—सर्वात्मके भवति सर्वविकारसम्पत् ॥

भूयिष्ठमामप्रभवं प्रवदन्ति मदात्ययम् ।
तस्मान्मदात्यये पूर्वं हितं लङ्घनमेव तु ॥ २३ ॥

मदात्यय रोग को विशेषरूप से आमदोष से उत्पन्न हुआ माना जाता है। इसलिये मदात्यय रोग में सर्वप्रथम लङ्घन कराना हितकर माना गया है। चरक चि० अ० २४ में इसे त्रिदोषज मानकर ही चिकित्सा का विधान किया गया है—सर्वं मदात्ययं विद्यात् त्रिदोषमधिकं तु यम् । दोषं मदात्यये पश्येत् तमादौ प्रतिकारयेत् ॥ अर्थात् मदात्यय के त्रिदोषज होने पर भी जिस दोष की प्रधानता हो पहले उसकी चिकित्सा करनी चाहिये। अथवा वहीं पर ही पहले कफ दोष की चिकित्सा का विधान दिया है—कफस्थानानुपूर्व्या वा क्रिया कार्या मदात्यये । पित्तमारुतपर्यन्तः प्रायेण हि मदात्ययः ॥ अर्थात् पहले कफ की चिकित्सा करें। उसके बाद क्रमशः पित्त और वायु की चिकित्सा करनी चाहिये ॥ २३ ॥

प्रकाङ्क्षा लाघवं स्थैर्यमिन्द्रियाणां प्रसन्नता ।
रोगोपशान्तिर्वाक्शुद्धी रूपं सम्यग्विशोषिते ॥ २४ ॥

लङ्घन द्वारा आम दोष के सम्यक् प्रकार से शोषण हो जाने पर प्रकांक्षा (आहार की अभिलाषा), लघुता, स्थिरता, इन्द्रियों की प्रसन्नता, रोगों की शान्ति तथा वाणी की शुद्धि हो जाती है ॥ २४ ॥

एतानि कृत्वा विकृतिं याति चातिविशोषणात् ।
असंप्राप्तिमथैतेषां जानीयात्तमलङ्घिते ॥ २५ ॥

आम के अधिक शोषण होने पर उपर्युक्त लक्षणों के उत्पन्न होने के बाद उनमें विकार हो जाता है। तथा यदि लङ्घन कम हुआ हो अथवा ठीक तरह से न हुआ हो तो उपर्युक्त लक्षण उत्पन्न नहीं होते हैं ॥ २५ ॥

इत्येतैः कारणैर्दृष्ट्वा विदग्धमदपीडितम् ।
पाययेत्तर्पणं काले शीतं दाडिमवारिणा ॥ २६ ॥

उपर्युक्त कारणों से रोगी को विदग्ध मद से पीडित जानकर उसे यथासमय अनार के रस के साथ शीतल तर्पण पिलाना चाहिये ॥ २६ ॥

येनैव मद्येन भवेत् समुत्पन्नो मदात्ययः ।
तथैवोपहरेत् पातुं बहुशीतोदकान्वितम् ॥ २७ ॥
कायाग्निस्तन्मयो ह्यस्य सिरा रसवहास्तथा ।
मनश्च भावितं तेन तस्मात्तद्ध्यस्य भेषजम् ॥ २८ ॥

जिस मद्य के द्वारा ही रोगी को मदात्यय रोग उत्पन्न हुआ हो उसे बहुत अधिक तथा शीतल जलके साथ मिलाकर वही अर्थात् सजातीय मद्य पीने को देना चाहिये। क्योंकि उस मनुष्य की कायाग्नि, सिरा तथा रसवहा नाडियां तन्मय (उसी मद्य के ही अनुकूल) होती हैं तथा मन भी उसी (मद्य) से ही भावित (ओतप्रोत) होता है। इसलिये यही इसकी चिकित्सा है। चरक चि० अ० २४ में कहा है—मिथ्यातिहीनपीतेन यो व्याधिरुपजायते । समपीतेन तेनैव स मद्येनोपशाम्यति ॥ इसी प्रकार अष्टाङ्गसंग्रह (चि. ७० अ. ७) में भी कहा है ॥

अथवा क्लान्तविक्लिष्टयथर्तुसुखवारिणा ।

ब्रवीति मूले हि हते हतावा········॥ ६ ॥

इसलिये जो बालक मूक (Dumb) होता है वह साथ ही प्रायः बधिर (बहरा-Deaf) भी होता है । श्रोत्र (श्रवण-शक्ति) वाङ्मूल में स्थित होती है। इसलिये वाणी (वाक्-शक्ति) के नष्ट होने पर श्रवण शक्ति भी स्वयमेव नष्ट हो जाती है । इस प्रकार मूल के नष्ट होने पर व्यक्ति बधिर (बहरा) हो जाता है । क्योंकि मूल के नष्ट होने पर उसके आश्रित भाव भी नष्ट हो जाते हैं ।

वक्तव्य—आधुनिक विद्वान् भी बोलने तथा सुनने का परस्पर घनिष्ठ संबन्ध मानते हैं । प्रारंभ में बालक को बोलना सिखाने के लिये आवश्यक है कि वह शब्दों को सुन सके । जिस व्यक्ति ने जो बात कभी सुनी नहीं है वह उसे निश्चित रूप से बोल भी नहीं सकता । एक बार सुनने के बाद ही वह बोल सकता है । इसलिये बोलने की शक्ति उत्पन्न होने से पहले जो बालक किसी कारण से बहरा (deaf) हो जाय वह बोल भी नहीं सकता । इसे Deaf-mutism कहते हैं । बोलने की शक्ति उत्पन्न होने के बाद जो व्यक्ति बहरा होता है उसके विषय में यह सिद्धान्त लागू नहीं होता है । क्योंकि तब तक वह बोलना सीख चुका है । अब उसे कोई बात बोलने के लिये सुनने पर आश्रित नहीं रहना पड़ता जैसा कि बालक की बिलकुल प्रारंभिक अवस्था में होता है । यहां यह स्मरण रखना चाहिये कि वाणी (वाक्) शक्ति के नष्ट होने पर श्रवण शक्ति नष्ट नहीं होती है जैसा कि ऊपर मूल श्लोक में कहा गया है । अपितु इसके विपरीत श्रवण शक्ति के नष्ट हो जाने पर वाक्शक्ति नष्ट हो जाती है ॥ ८-९ ॥

क्षीरजं गर्भजं चैव तृतीयं व्याधिसंभवम् ।
फक्कत्वं त्रिविधं प्रोक्तं क्षीरजं तत्र वर्णितम् ॥ १० ॥

फक्क रोग तीन प्रकार का होता है । १ क्षीरज २-गर्भज तथा ३-व्याधिजन्य । इनमें से क्षीरज फक्क रोग का वर्णन कर दिया गया है ॥ १० ॥

गर्भिणीमातृकः क्षिप्रं स्तन्यस्य विनिवर्तनात् ।
क्षीयते म्रियते वाऽपि स फक्को गर्भपीडितः ॥ ११ ॥

गर्भज फक्करोग—जिसकी माता गर्भिणी है—उसका दूध शीघ्र ही समाप्त हो जाने से अर्थात् गर्भ के कारण उसका दूध बन्द हो जाने से वह बालक क्षीण हो जाता है अथवा उसकी मृत्यु हो जाती है । यह गर्भ द्वारा पीडित फक्क रोग है ॥११॥

निजैरागन्तुभिश्चैव······रो ज्वरादिभिः ।
अनाथः क्लिश्यते बालः क्षीणमांसबलद्युतिः ॥ १२ ॥
संशुष्कस्फिचबाहूरुर्महोदरशिरोमुखः ।
पीताक्षो हृषिताङ्गश्च दृश्यमानास्थिपञ्जरः ॥ १३ ॥
प्रम्लानाधरकायश्च नित्यमूत्रपुरीषकृत् ।
निश्चेष्टाधरकायो वा पाणिजानुगमोऽपि वा ॥ १४ ॥
दौर्बल्यान्मन्दचेष्टश्च मन्दत्वात् परिभूतकः ।
मक्षिकाकृमिकीटानां गम्यश्चासन्नमृत्युरुक् ॥ १५ ॥
विशीर्णहृष्टरोमा च स्तब्धरोमा महानखः ।
दुर्गन्धी मलिनः क्रोधी फक्कः श्वसिति ताम्यति ॥१६॥
अतिविण्मूत्रदूषिकाशिङ्घाणकमलोद्भवः ।
इत्येतैः कारणैर्विद्याद्व्याधिजां फक्कतां शिशोः ॥१७॥

व्याधिज फक्क रोग के लक्षण—निज तथा आगन्तु ज्वर आदि रोगों से अनाथ बालकों को क्लेश होकर उनका मांस, बल एवं द्युति (तेज) क्षीण हो जाता है। उस बालक के स्फिच् (नितम्ब-Buttocks), बाहु तथा जंघायें शुष्क हो जाती हैं तथा उदर (पेट), सिर और मुख बड़े हो जाते हैं, उसकी आंखें पीली हो जाती हैं, अङ्ग हर्ष (रोमहर्ष) युक्त होता है तथा शरीर केवल अस्थियों का पञ्जर (ढांचा) ही दिखाई देता है। उसका अधर काय (शरीर का निचला भाग) म्लान दिखाई देता है, उसका मूत्र एवं मल सदा निकलता रहता है अर्थात् Incontinance of urine and foeces हो जाता है) उसका निचला भाग निश्चेष्ट (Paralysed) हो जाता है तथा वह हाथों और घुटनों के बल चलता है । दुर्बलता के कारण उसकी चेष्टाएँ मन्द हो जाती हैं तथा चेष्टाओं के मन्द हो जाने से मक्खियां, कृमि एवं कीड़े आदि उसे आक्रान्त करके शीघ्र मृत्यु कर देने वाले रोग उत्पन्न कर देते हैं । फक्क रोगी के रोम (बाल) विशीर्ण (सूखे हुए), हृष्ट तथा स्तब्ध होते हैं, उसके नख बड़े २ होते हैं तथा उसके पास से दुर्गन्धि आती है। वह मलिन एवं क्रोधी होता है तथा वह विशेष प्रकार से श्वास लेता है। मल-मूत्र की अधिकता, दूषित सिंङ्घाण (नासिका का मल) एवं मल आदि लक्षणो को देखकर बालक के व्याधिजन्य फक्क रोग को जाने ॥ १२-१७ ॥

गर्भिणीमातृकेनैव················ ।

(इति ताडपत्रपुस्तके १२७ तमं पत्रम् ।)

································॥
··················मनाथानां विशेषतः ।
प्रदुष्टग्रहणीकाश्च प्रायशो बहुभोजिनः ॥
फक्का भवन्ति तस्माच्च भुक्तं तेषामपार्थकम् ।
मन्दाग्नित्वाद्रवो (सो)त्सर्गाद्बहुमूत्रपुरीषिणः ॥

जिसकी माता गर्भिणी है ऐसे बालक·····तथा अनाथ, दुष्ट ग्रहणी रोग वाले और प्रायः अधिक भोजन करने वाले बालक फक्क रोगी होते हैं इसलिये उनका खाया-पीया सब व्यर्थ हो जाता है । अग्नि के मन्द होने से तथा रस का उत्सर्ग होने से उन्हें मूत्र एवं पुरीष अधिक होता है ॥

··························· ।
··························· ॥
··················कारयेत् क्रियाम् ॥

इन रोगियों में निम्न चिकित्सा करे ॥

कल्याणकं पिबेत् फक्कः षट्पलं वा यथाऽमृतम् ।
सप्तरात्रात् परं चैनं त्रिवृत्क्षीरेण शोधयेत् ॥
शुद्धकोष्ठस्ततः फक्कः पि··········· ।
································ ।
································ ॥

न तु ब्राह्मीघृतं शूद्रः पिबेत्तद्ध्यस्य नाशनम् ।
प्रजाक्षयेण युज्यन्ते शूद्रा ब्राह्मीं पिबन्ति ये ॥
मृताः स्वर्गं न गच्छन्ति धर्मश्चैषां विलुप्यते ।

चिकित्सा—फक्करोगी कल्याणकघृत, षट्पलघृत अथवा अमृतघृत का पान करे। इससे स्नेहन हो जाने पर ७ दिन के बाद रोगी का त्रिवृत् क्षीर के द्वारा शोधन करे। कोष्ठ का शोधन हो जाने पर फक्करोगी (ब्राह्मीघृत) का सेवन करे।

···परन्तु शूद्रों को ब्राह्मी घृत का सेवन नहीं करना चाहिये। इससे उसका नाश हो जाता है। जो शूद्र ब्राह्मी (घृत) का सेवन करते हैं उनकी सन्तान का क्षय (नाश) हो जाता है। वे मृत्यु के उपरान्त स्वर्ग में नहीं जाते हैं तथा उनके धर्म का भी लोप हो जाता है ॥

दीप······························ ॥
································ ।
················ल्या वा रास्नया मधुकेन वा ॥
पुनर्नवैकपर्णीभ्यामेरण्डशतपुष्पयोः ।
द्राक्षापीलुत्रिवृद्भिर्वा शृतं क्षीरं प्रयोजयेत् ॥
एतानि त्वेव सर्वाणि संभृत्य मतिमान् भिषक् ।

···तथा रास्ना, मुलहठी, पुनर्नवा तथा एकपर्णी, एरण्ड और सौंफ तथा द्राक्षा, पीलु और त्रिवृत् के द्वारा पकाये हुए दूध का प्रयोग करना चाहिये। बुद्धिमान वैद्य को इन सबको एकत्र करके रखना चाहिये ॥

मांसरस्य··························· ॥
············पुनर्यूषं संस्कृतं क्षीरमेव वा ।
शाल्यन्नेन सहाश्नीयात् पिबेत्तं चापि नित्यशः ॥
तेन प्राणं च लभते याति रोगैश्च मुच्यते ।
तेनैव तैलं विपचेत् फक्कानां सर्वथोदितम् ॥

इसके अतिरिक्त मांस···यूष तथा संस्कार किया हुआ दूध शालि अन्न के साथ नित्य सेवन करना चाहिये। इससे प्राण-लाभ होकर रोग नष्ट हो जाते हैं। इन्हीं उपर्युक्त ओषधियों से ही तेल सिद्ध करके सम्पूर्ण फक्क रोगों में प्रयुक्त करना चाहिये ॥

रास्नामधु··························· ।
···घृतं वा तैलं वा क्षीरं यूषमथो रसम् ॥
द्विःसंस्कृतं प्रयुञ्जीत सर्वरोगैर्विमुच्यते ।

इसी प्रकार रास्ना, मधु·····आदि ओषधियों से यथाविधि घृत, तेल, दूध, यूष या मांसरस को दो बार संस्कार करके प्रयोग करने से सब रोग नष्ट हो जाते हैं ॥

कफाधिकं चेन्मन्येत मूत्रमिश्रं पयः पिबेत् ॥
प्रयोगेण हिताशी च फक्करोगैर्विमुच्यते ।

यदि इस रोग में कफ की प्रधानता हो तो दूध में गोमूत्र मिलाकर पीना चाहिये। इसके प्रयोग तथा पथ्य सेवन से फक्क रोग दूर हो जाता है ॥

एरण्डांशुमतीबिल्व··············· ॥
·········शास्ते कार्या दशपलाः पृथक् ।
यवकोलकुलत्थानां प्रस्थं प्रस्थं समावपेत् ॥
अपां पचेच्चतुर्द्रोणे कषायं पादशेषितम् ।
तैलप्रस्थं दधिप्रस्थं कषायं च पुनः पचेत् ॥
तत् सिद्धं गोपयेद्यत्नात् सर्वथा संप्रयोजयेत् ।
बन्ध्यापङ्गु························ ॥
·········ते इक्ष्वाकोः सुबाहोः सगरस्य च ।
नहुषस्य दिलीपस्य भरतस्य गयस्य च ॥
एतेन लेभिरे पुत्रा गतिमायुर्बलं सुखम् ।
राज्ञां पूर्वोपदेशाच्च राजतैलमिति स्मृतम् ॥
अनुग्रहप्रवृत्तौ हि राज्ञामासी········· ।
··························प्रशस्यते ॥

राजतैल का प्रयोग—एरण्ड, अंशुमती (शालपर्णी) तथा बिल्व·····आदि प्रत्येक १० पल। यव, कोल (बेर) तथा कुलत्थ १-१ प्रस्थ। जल ४ द्रोण। इन सबका क्वाथ करके चतुर्थांश शेष रखे। अब १ प्रस्थ तैल तथा १ प्रस्थ दही के साथ उपर्युक्त कषाय का पुनः पाक करे। तैल सिद्ध होने पर उसे यत्नपूर्वक सुरक्षित स्थान पर रखे। इसका सम्यक् प्रकार से प्रयोग करने से बन्ध्यात्व, पङ्गुत्व, आदि नष्ट होते हैं। इस तैल के प्रयोग से इक्ष्वाकु, सुबाहु, सगर, नहुष, दिलीप, भरत, गय आदि राजाओं के पुत्रों ने गति, आयु, बल तथा सुख को प्राप्त किया था। राजाओं को पहले उपदेश किया जाने से इसे राजतैल कहते हैं राजाओं के अनुग्रह के लिये इसका प्रयोग प्रशस्त माना गया है ॥

त्रिचक्रं फक्करथकं प्राज्ञः शिल्पिकनिर्मितम् ।
विदध्यात्तेन शनकैर्गृहीतो गतिमभ्यसेत् ॥

उपर्युक्त चिकित्सा के अतिरिक्त बुद्धिमान वैद्य को किसी शिल्पी (बढई-कारीगर) से एक तीन पहियों वाला फक्क रथ (Tricycle) बनवाकर उसके सहारे धीरे २ उस फक्क रोग से आक्रान्त बालक को चलने का अभ्यास कराना चाहिये ॥

वस्तयः स्नेहपानानि स्वेदाश्चोद्वर्तनानि च ।
वातरोगेषु बालानां संसृष्टेषु विशे (षतः) ॥
································ ।
·········जन्तोः सुखाश्च शय्यासनबस्तियोगाः ॥

यदि इसके साथ में वात रोगों का संसर्ग हो तो उन बालकों को बस्ति, स्नेहपान, स्वेदन तथा उद्वर्तन (उबटन) आदि कराना चाहिये।···तथा उसे सुखकारी शय्या (चारपाई-बिस्तरा), आसन तथा बस्ति योगों का प्रयोग कराना चाहिये ॥

इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ।

इति (चिकित्सास्थाने) फक्कचिकित्सितम् ।

ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था ।

इति (चिकित्सितस्थाने) फक्कचिकित्सितम् ।

धात्रीचिकित्सिताध्यायः ।

अथातो धात्रीचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ २ ॥

अब हम धात्री-चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे । ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था ॥ १-२ ॥

·· ।
धात्रीचिकित्सां निखिलां वक्तुमर्हसि मे मुने ॥
सुखं दुःखं हि बालानां धात्रीमूलमसंशयम् ।

हे महर्षि ! आप मुझे सम्पूर्ण धात्री-चिकित्सा का उपदेश कीजिये । क्योंकि बालकों के सब दुःख और सुख (रोग और आरोग्य) धात्री पर ही आश्रित होते हैं ॥

इति पृष्टः स शिष्येण स्थविरेण महातपाः ॥
धात्रीचिकित्सितं कृत्स्नं प्रोवाच वदतां वरः ॥

इस प्रकार ज्ञानी शिष्य द्वारा प्रश्न किये जाने पर महातपस्वी एवं श्रेष्ठ विद्वान् महर्षि कश्यप ने उसे सम्पूर्ण धात्री-चिकित्सा का उपदेश किया ॥

·· ।
·· ॥
······(पु)ष्पिकी धात्री तीक्ष्णाग्निर्वातपैत्तिकी ॥
समधातुः समाग्निस्तु विषमैर्विषमाग्निकी ।

···जिस धात्री को मासिक स्राव नियमपूर्वक होता हो तथा वात और पित्त की प्रधानता हो वह धात्री तीक्ष्ण अग्नि वाली होती है । वातादि धातुओं के समावस्था में होने से अग्नि सम होती है तथा उनके विषम होने से अग्नि विषम होती है । चरक वि. अ. ६ में चार प्रकार की अग्नि (जाठराग्नि) का वर्णन किया है—अग्निषु तु शारीरेषु चतुर्विधो विशेषो बलभेदेन भवति तद्यथा-तीक्ष्णो मन्दः समो विषम इति । तत्र तीक्ष्णोऽग्निः सर्वापचारसहः, तद्विपरीतलक्षणो मन्दः, समस्तु खल्वपचारतो विकृतिमापद्यतेऽनपचारतस्तु प्रकृतावचतिष्ठते, समलक्षण-विपरीतलक्षणस्तु विषमः, इत्येते चतुर्विधा भवन्त्यग्नयश्चतुर्विधानामेव पुरुषाणाम् । तत्र समवातश्लेष्मणां प्रकृतिस्थानां समा भवन्त्यग्नयः, वातलानां तु वाताभिभूतेऽग्न्यधिष्ठाने विषमा भवन्त्यग्नयः, पित्तलानां तु पित्ताभिभूतेऽग्न्यधिष्ठाने तीक्ष्णा भवन्त्यग्नयः, श्लेष्मलानां तु श्लेष्माभिभूते ह्यग्न्यधिष्ठाने मन्दा भवन्त्यग्नयः । अर्थात् शारीर अग्नियां बल भेद से चार प्रकार की होती हैं । १. तीक्ष्ण, २. मन्द, ३. सम, ४. विषम । जिन पुरुषों में वात, पित्त तथा कफ समावस्था में हों उनकी सम होती है । वातप्रधान पुरुषों की अग्नि विषम होती है । पित्तप्रधान पुरुषों की अग्नि तीक्ष्ण होती है तथा श्लेष्मप्रधान पुरुषों की अग्नि मन्द होती है ॥

आयुरारोग्ययोर्मूलं प्रजानां च समाग्निता ॥
विषमः सर्वरोगाणां मूलं ह्रास···········
(इति ताडपत्रपुस्तके १३८ तमं पत्रम् ।)

सम अग्नि प्राणियों की आयु एवं आरोग्य का कारण होती है तथा विषम अग्नि सब रोगों का मूल है और शरीर का ह्रास करती है ॥

·· ।
तीक्ष्णस्य बृंहणं नित्यं मन्दाग्नेर्दीपनक्रिया ॥
पथ्याशनं तु सततं विषमाग्नेः सुखावहम् ।
कल्याणकं षट्पलं वा प्रयोगेणोपयुज्यते ॥
यथाबलं यथायोगं पञ्चक··········· ।
·· ॥
······························ति यथाविधि ।

···तीक्ष्ण अग्नि वाले पुरुष का सदा बृंहण करना चाहिये । मन्दाग्नि का दीपन तथा विषम अग्निवाले को सदा पथ्य का सेवन कराना सुखकारक होता है । इनमें कल्याणघृत अथवा षट्पल घृत का प्रयोग करना चाहिये । तथा आवश्यकतानुसार बल को देखकर यथाविधि पञ्चकर्म करना चाहिये ॥···

न तूपयोजयेत् क्षारं क्षारप्रायौषधानि वा ॥
प्रजाविनाशनः क्षारो धात्रीणां स न शस्यते ।

इनमें क्षार अथवा क्षारप्रधान ओषधियों का उपयोग नहीं करना चाहिये । क्षार सन्तान का नाश करने वाला होने से धात्रियों के लिये प्रशस्त नहीं माना गया है । चरक वि. अ. १ में भी क्षार का अधिक प्रयोग पुंस्त्वघातक कहा गया है—क्षारः पुनरौष्ण्यतैक्ष्ण्यलाघवोपपन्नः क्लेदयत्यादौ पश्चाद्विशोषयति, स पचनदहनभेदनार्थमुपयुज्यते; सोऽतिप्रयुज्यमानः केशाक्षिहृदयपुंस्त्वोपघातकरः संपद्यते, ये ह्येनं ग्रामनगरनिगमजनपदाः सततमुपयुञ्जते ते ह्यान्ध्यषाण्ड्यखालित्यपालित्यभाजो हृदयापकर्तिनश्च भवन्ति, तद्यथा-प्राच्याश्चीनाश्च, तस्मात्क्षारं नात्युपयुञ्जीत ॥९॥

म्रक्षणोद्वर्तनस्नानं शुक्लाम्बरनिषेवणम् ॥
मृष्टमन्नं सुखा··················· ।

....||
..........(ध)र्मरतिर्धात्रीणां सुखहेतवः ।

उनका अञ्जण (मालिश), उद्वर्तन (उबटन), स्नान, शुभ्र (श्वेत) वस्त्रों का धारण करना तथा पवित्र अन्न (भोजन)···ये धात्री के धर्म, रति (भोगविलास) एवं सुख के कारण हैं ॥

मेदस्विनीनां धात्रीणां सिराकर्म प्रशस्यते ॥

तथा जो धात्री मेद (चर्बी) वाली अर्थात् स्थूल होती है उसका सिराकर्म (सिराव्यध) करना चाहिये ॥

स्नेहस्वेदोपपन्नानामूर्ध्वं चाधश्च शोधनम् ।
ततः सा मेदसि क्षीणे स्रोतःसु विवृतेषु च ॥
....।
...............................यो रसः ॥
कृशां च नष्टपुष्पां च बृंहयेत्तेन सिद्ध्यति ।

स्नेहन एवं स्वेदन कराकर धात्री का ऊर्ध्व एवं अधः शोधन (वमन एवं विरेचन) कराना चाहिये। इससे वह मेद के क्षीण हो जाने से तथा स्रोतों के खुल जाने से···स्वस्थ हो जाती है। कृश एवं नष्टपुष्पा (जिसका आर्तव नष्ट हो गया हो अर्थात् Menopause हो गया हो) धात्री को बृंहण कराने से वह स्वस्थ हो जाती है ॥

बलामूलतुला धौता दशमूलं शतावरी ॥
गुडूची रोहिषं रास्ना वृश्चिकाली पुनर्नवा ।
वृषः सहचरोशीरसारिवामूर्वच·········॥
....।
...............काकजङ्घांऽशुमत्यपि ॥
अश्वगन्धा मृगैर्वारुः कालाऽथ नवमालिका ।
अतिमुक्तकशार्ङ्गेष्टाकपित्थं त्रिफलेति च ॥
दशमूलात् प्रभृत्येते भागा दशपलाः स्मृताः ।
यवाः कुलत्था माषाश्च··············॥
....।
...............(जल)द्रोणे चतुर्भागावशेषिते ॥
तं कषायं परिस्राव्य पुनरग्नावधिश्रयेत् ।
अथेमान्यौषधान्यत्र पलिकानि निधापयेत् ॥
द्वे मेदे द्वे हरिद्रे च काकोल्यौ वृषजीवकौ ।
माषपर्णी··························॥
....।

त्वक्पत्रचन्दनोशीरं द्वे बले लवणद्वयम् ॥
मूर्वा श्वदंष्ट्रा शार्ङ्गेष्टा श्यामा द्राक्षा सुरोहिणी ।
मधुकं हस्तिपिप्पल्यः कुष्ठं व्याघ्रनखं वचा ॥
सूक्ष्मैलागुरुकाश्मर्यः शतपुष्पा परूषकम् ।

....।
................................नि च ॥
शङ्खपुष्पी विशल्या च वृश्चिकाली मधूलिका ।
दाडिमानि चाम्लानि गुग्गुल्वादि सुगन्धि च ।
अक्षोटं पनसं भव्यं प्राचीनामलकानि च ॥
शतावरी विदारी च मधुपर्णी विषा(णिका) ।
....।
...........(क)षायार्धाढकं भवेत् ।
लवङ्गपुष्पं कर्पूरं स्पृक्काऽथ कटुकाफलम् ॥
आढकं तिलतैलस्य क्षीरद्रोणं च पाचयेत् ।
तत् सिद्धं प्रतिसंहृत्य बलातैलं निधापयेत् ॥
घृतभाण्डे दृढे दान्ते·············।
....।
...............सां अञ्जनेषु(प्र)शस्यते ।

बलातैल निर्माण विधि—धोकर शुद्ध की हुई बलामूल (खरैटी की जड़)–१ तुला (१०० पल)। दशमूल, शतावरी, गिलोय, रोहिषतृण, रास्ना, वृश्चिकाली (वरहंटा–मेषशृंगी का भेद), पुनर्नवा, बांसा, सहचर (पियाबांसा), खस, सारिवा, मूर्वा (चव्य)····, काकजंघा, अंशुमती (शालपर्णी), अश्वगन्धा, मृगैर्वारु (श्वेत अथवा बड़ी इन्द्रवारुणी), काला (त्रिवृत्–काली निशोत), नवमालिका (वासन्ती–नेवारी–वनमोगरा), अतिमुक्तक (तिनिश वृक्ष अथवा नवमल्लिका भेद), शार्ङ्गेष्टा (काकमाची–मकोय अथवा गुंजा), कपित्थ (कैथ), त्रिफला तथा दशमूल–प्रत्येक १० पल। तथा यव (जौ), कुलत्थ और उड़द। ···जल १ द्रोण (४ आढक)। इन्हें पकाकर चतुर्थांश रहने पर उस कषाय को छानकर पुनः अग्नि पर रख दें। इसके बाद इसमें निम्न ओषधियां प्रत्येक १ पल डालें–मेदा, महामेदा, हरिद्रा, दारुहरिद्रा, काकोली, क्षीरकाकोली, बांसा, जीवक, माषपर्णी, ···दालचीनी, तेजपत्र, चन्दन, खस, बला, अतिबला (अथवा नागबला), दोनों लवण (सैन्धव तथा सौवर्चल), मूर्वा (मरोड़फली–मोरबेल—चुरनहार), गोखरू, शार्ङ्गेष्टा (काकमाची–मकोय अथवा गुंजा), श्यामा (काली त्रिवृत्), द्राक्षा, कुटकी, मुलहठी, गजपिप्पली, कुष्ठ, व्याघ्रनख, बच, छोटी इलायची, अगर, गंभारी, सौंफ, परूषक (फालसा)···, शङ्खपुष्पी, विशल्या (लांगली), वृश्चिकाली (बरहंटा), मधूलिका (गिलोय–अथवा नृत्यकुण्डक नामक तृण धान्य विशेष–मर्कट), अनार आदि अम्लपदार्थ, गुग्गुल आदि सुगन्धित पदार्थ, अखरोट, कटहल, भव्य (फलविशेष, ओट–Dillenia indica), पुराने आंवले, शतावरी, विदारीकन्द, मधुपर्णी (गिलोय), विषाणिका (अजशृंगी–उत्तरवारुणी)··· तथा लौंग के फूल, कपूर, स्पृक्का (सुगन्धशाक विशेष–असवर्ग–Trifolium officinalis), कटुकाफल (कटुतुम्बी

या कुटकी)-इनका कषाय आधा आढ़क। तिलतैल-१ आढ़क, दूध-१ द्रोण (४ आढ़क)-इन सबको मिलाकर पकाये। सिद्ध होने पर इस बला तैल को एक दृढ एवं हाथी दांत के बने हुए घृत युक्त (जिसमें पहले से घी का लेप किया गया हो) बर्तन में डालकर रख दें। ...मालिश करने के लिये यह तैल प्रशस्त माना गया है ॥

शाखागतं कोष्ठगतमस्थिमज्जसिरागतम् ॥
बहिराभ्यन्तरायामं हनुस्तम्भं शिरोभ्रमम् ।
एकपक्षवधं शोषम्लानकार्दितगुल्मिनम् ॥
बधिरं वेप (मानं च)................ ।
.... ॥
............(ऽ) पस्मारमुन्मादं कटपूतनाम् ।
कर्णशूलं शिरःशूलं ब्रध्नं मारुतकुण्डलम् ॥
अशीतिं वातिकान् रोगान् योनिदोषांश्च विंशतिम् ।
रेतोदोषान् ग्रहान् सर्वान् बलातैलमपोहति ॥
वृद्ध्यां................................ ।
.... ॥
.........ज्वरे जीर्णे तृतीयकचतुर्थके ।
नारीणां दुष्प्रजातानां योनिशूले श्रमेषु च ॥
नानातिसारज्वरयोः कफरोगेषु सर्वशः ।
नाजीर्णकृशमूर्च्छासु न च्छर्द्यां च प्रयोजयेत् ॥
(इति ताडपत्रपुस्तके १३९ तमं पत्रम् ।)

बला तैल का उपयोग—यह बलातैल शाखा, कोष्ठ, अस्थि, मज्जा, एवं सिरागत रोगों, बाह्यायाम तथा अन्तरायाम, हनुस्तम्भ, शिरोभ्रम, एकाङ्गवध (Paresis), पक्षवध (Paralysis), शोष, म्लानक, अर्दित (facial Paralysis) गुल्म, बधिरता (बहरापन-Deafness), कंपकंपी, अपस्मार, उन्माद, कटपूतना (ग्रहरोग), कर्णशूल, शिरःशूल, ब्रध्न (आन्त्रवृद्धि-Hernia), वातकुण्डलिका, ८० वातरोग, २० योनिदोष, वीर्यदोष तथा सम्पूर्ण ग्रहरोगों को नष्ट करता है। इनके अतिरिक्त वृद्धि, ...जीर्णज्वर, तृतीयक तथा चतुर्थक ज्वर, दुष्प्रजाता नारियों के योनिशूल एवं श्रम (थकावट), अनेक प्रकार के अतिसार एवं ज्वरों तथा सम्पूर्ण श्लैष्मिक रोगों में इसका प्रयोग करना चाहिये। परन्तु अजीर्ण, कृशता, मूर्च्छा, एवं छर्दि रोगमें इसका प्रयोग नहीं करना चाहिये।

वक्तव्य—शाखा—रक्त आदि धातु तथा त्वचा को 'शाखा' शब्द से कहा जाता है। चरक सू. अ. ११ में कहा है—तत्र शाखा रक्तादयो धातवस्त्वक् च, स बाह्यो रोगमार्गः। यह रोग का बाह्यमार्ग समझा जाता है ॥

एतेनैव विधानेन रास्नातैलं विपाचयेत् ।
निहन्ति रोगान् भूयिष्ठं य एते परिकीर्तिताः ॥

इसी उपर्युक्त विधान से ही रास्नातैल का पाक करे। यह भी उपर्युक्त रोगों को नष्ट करता है ॥

शतावर्या बदर्याश्च गुडूच्या मधुकस्य च ।
पुनर्नवाया द्राक्षायाः पीलोः सहचरस्य च ॥
वृषस्य नागवीर्याया अनन्ताशतपुष्पयोः ।
स्वनामपाकतैलानामेष एव (विधिः स्मृतः) ॥

इसीप्रकार अपने २ नाम के अनुसार शतावरी, बदरी (बेर), गिलोय, मुलहठी, पुनर्नवा, द्राक्षा, पीलु, सहचर (पिया बांसा), बांसा, नागवीर्या, अनन्ता (सारिवा) तथा शतपुष्पा (सौंफ) आदि के तैल के पाक की भी यही विधि है ॥

............लं पक्वं तैले सहाचरे ॥
दद्यान्निर्मथ्य सततमेतदत्र विशेषणम् ।

...इसी प्रकार सहाचर (नीली कटसरैया-काला बांसा) का भी तेल बनाया जाता है। इनमें अन्तर इतना ही है कि उसे पानी में मथकर तैल में डाला जाता है ॥

श्योनाकतैलस्य विधिः स एव परिकीर्तितः ॥
कषाये मधुमांसस्य दद्यात् त्रिंशत्पलानि तु ।

श्योनाक तैल की भी यही निर्माण विधि है। इसमें श्योनाक के कषाय (क्वाथ) में ३० पल मधु (शहद अथवा सुरा) और मांस डालना चाहिये ॥

कपित्थतैलस्य विधिः स एव परिकीर्तितः ॥
कपित्थानां तु पक्वानां तुलां दद्यात् स... ।

कपित्थ तैल की भी यही निर्माण विधि है। इसमें पके हुए कपित्थ (कैथ) एक तुला (१०० पल) लेना चाहिये... ॥

..............देव प्रकीर्तितम् ॥
केवलं स्वरसस्यात्र दद्यात्तैलाच्चतुर्गुणम् ।

...इसी प्रकार इस श्लोक में भी किसी अन्य ओषधि के तेल का निर्माण दिया हुआ है जो कि उपर्युक्त विधान के अनुसार ही तैयार किया जाता है। भेद केवल इतना ही है कि इसमें स्वरस की मात्रा तैल से चतुर्गुण ली जाती है ॥

मीनतैलं च मीनानां कषायेण रसेन च ॥
पक्वं बलातैलमिव वातव्याधिषु शस्यते ।

मछली के कषाय तथा रस से पकाकर मीनतैल बनाया जाता है। इसका भी बलातैल के समान वातव्याधि में प्रयोग करना चाहिये ॥

बलाकाहंसवल्गूनां क्रौञ्चसारसयोरपि ॥
आटीशकुनकानां च तैलान्याहुः स्वनामभिः ।

इसी प्रकार अपने २ नाम के अनुसार बलाका (बिसकण्ठी बगुली), हंस, वल्गु, क्रौञ्च, सारस तथा आटी (दलदल के स्थान में रहने वाला पक्षीविशेष-Tardus-ginginia mus आदि पक्षियों के द्वारा तैल बनाये जाते हैं।

···············(दौर्ग) न्ध्यनाशनम् ।
विधानं कीर्तितं पुण्यं षण्ढबन्ध्याप्रजाकरम् ।

···ये दुर्गन्धिको नष्ट करने हैं। नपुंसक-तथा वन्ध्या स्त्री के पुत्रोत्पत्ति के लिये इनका विधान दिया गया है ॥

योनिनास्यास्यश्रोत्रदौर्गन्ध्ये पिच्छिलतेषु च ॥
कपित्थतैलं पिचुभिर्धारयेयुः सदा स्त्रियः ।

योनि, नासिका, मुख तथा श्रोत्र की दुर्गन्धि एवं पिच्छिलता में स्त्रियों को सदा पिचु (Swab) के द्वारा कपित्थ तैल को धारण करना चाहिये ॥

सहकाररसेनापि तद्वत्तैलं प्रशस्यते ॥
विविधानां च तैलानां हृद्या·········
···············न्धानां च निषेवणम् ॥

सहकार (आम्र) के रस से भी तैल का निर्माण किया जाता है इसी प्रकार अनेक तरह के हृदय को अच्छे लगने वाले तैलों का प्रयोग करना चाहिये········ ॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि धातृणां शेषकर्म यत् ।
स्नेहपानात् प्रसूतानां षष्टीमल्लकभक्षणात् ।
अतिमात्राशनाच्चैव विरुद्धाजीर्णभोजनात् ॥
षष्ठिग्रहः कुमाराणां जायते देहनाशनः ।
असाध्यश्चानुष(ङ्गी च)···············
·········(मिता) हारा धर्मशीला तपस्विनी ।
जीर्णाशिनी च सततं षष्ठीमतितरत्यसौ ।
प्राप्तायां वञ्चनायां च पञ्चकर्माणि कारयेत् ॥
अथवा तपसोग्रेण शिवं स्कन्दं च तोषयेत् ।

इसके बाद अब मैं धात्रियों की शेष चिकित्सा कहूंगा। प्रसूता स्त्रियों के स्नेहपान, सांठी के चावल और मल्लक (मत्स्य विशेष) के खाने, अधिक मात्रा में खाने, विरुद्ध भोजन तथा अजीर्ण (पूर्व भोजन के न पचने पर) भोजन से-देह को नष्ट करने वाला बालकों का षष्ठी नामक ग्रहरोग उत्पन्न हो जाता है। यह रोग असाध्य एवं अनुषङ्गी (बहुत देर तक रहने वाला) होता है इसमें मित (मात्रा में) आहार करने वाली, धार्मिक स्वभाव वाली, तपस्विनी तथा पूर्व भोजन के जीर्ण हो जाने पर अगला भोजन करने वाली धात्री षष्ठी नामक ग्रह रोग से मुक्त हो जाती है। तथा इन उपर्युक्त उपचारों से ठीक न होने पर पञ्चकर्म करना चाहिये। अथवा तीव्र तपस्या द्वारा भगवान् शिव एवं स्कन्द (कार्तिकेय) को तुष्ट करना चाहिये ॥

अजीर्णं चापि धात्रीणां नित्यमेव न शस्यते ॥
अजीर्णदूषि (ता दोषा धात्रीणां जनयन्ति हि) ।
·········(ऽ)रुचिग्लानिमदमोहविचर्चिकाः ॥
पामाकुष्ठालजीगुल्महृद्रोगश्वासकासकाः ।
हिक्कातन्द्राश्रमश्वासच्छर्द्यपस्मारविग्रहाः ॥
रक्तपित्तभ्रमोन्मादशूलशोष[illegible] ।
ऊरुस्तम्भः सन्न्यासस्तथाऽन्ये च महागदाः ॥

धात्री को कभी भी अजीर्ण नहीं होना चाहिये। अजीर्ण से दूषित हुए दोष धात्री में अरुचि, ग्लानि, मद, मोह, विचर्चिका, पामा, कुष्ठ, अलजी, गुल्म, हृद्रोग श्वास, कास, हिक्का, तन्द्रा, श्रम-श्वास, छर्दि, अपस्मार, ग्रहरोग, रक्तपित्त, भ्रम, उन्माद, शूल, शोष, गलग्रह, ऊरुस्तम्भ, संन्यास तथा अन्य भी बहुत से भयंकर रोग हो जाते हैं ॥

································ ।
मितपथ्याशनान्मातुः पुत्रे तेषामसंभवः ॥
सुखोदयश्च धात्रीणां तस्मात्तदुपपादयेत् ।

माता के परिमित एवं पथ्य आहार करने पर पुत्र में ये उपर्युक्त व्याधियां नहीं हो सकती हैं तथा धात्रियों को भी सुख (स्वास्थ्य) की प्राप्ति होती है इसलिये मित एवं पथ्य आहार का सेवन करना चाहिये ॥

वृद्धजीवक ! लोकेऽस्मिंस्त्रयो दुष्करकारिणः ॥
भिषग्धात्री च बालश्च त एव सुखदुःखिताः ।

हे वृद्धजीवक ! इस संसार में तीन व्यक्ति ऐसे हैं जो दुष्कर कार्यों को करने वाले होते हैं। १ भिषक् (वैद्य), २ धात्री, ३ बालक। ये ही सुखी एवं दुःखी होते हैं। अर्थात् संसार में ये तीन व्यक्ति ऐसे हैं जिन्हें अत्यन्त कठिन से कठिन कार्य करने पड़ते हैं ॥

परिज्ञानं विना वाताद्यौषधकल्पने शिशोः ॥
································ ।
शास्त्रानुसारचेष्टाभिरिङ्गितैर्नित्यदर्शनैः ॥
कर्त्तव्यं भेषजं बाले स कथं नाऽपराध्नुयात् ।

शिशुमें वातादि दोषोंको बिना जानेही औषध की कल्पना करनी पड़ती है। इसलिये सदा शास्त्र के अनुसार चेष्टा, इंगित (इशारे) तथा दर्शन के द्वारा बालककी चिकित्सा करनी चाहिये। इसमें गलती नहीं होनी चाहिये ॥

भिषक्कौमारभृत्यस्तैः कारणैर्नित्यदुःखितः ॥
दुष्करं चापि कुरुते युञ्जन् साधारणाः क्रियाः ।
गर्भिण्याः सह गर्भेण धात्र्याः सह सु(तेन च) ॥
································ ।
·····················ज्ञातुमदूषकम् ।

कौमारभृत्य (कुमारों का भरण पोषण करने वाला) वैद्य उन २ कारणों से नित्य दुःखी होता हुआ साधारण चिकित्सा को करता हुआ गर्भसहित गर्भिणी तथा पुत्रसहित धात्री के लिए अत्यन्त दुष्कर कार्यों को करता है ॥

धात्री पुत्रशरीरार्थं स्वशरीरोपशोषणम् ॥
स्नेहात् प्राप्नोति सुबहून् क्लेशांश्चान्यान् सुदारुणान् ।
आशास्नेहकृपाधर्माद्रक्षणार्थं च मातरः ।

सहन्ते सर्वदुःखानि मानिनी चात्र कीर्त्यते ।
गर्भात् प्रभृति बालोऽपि .... ॥

(इति ताडपत्रपुस्तके १४० तमं पत्रम् ।)

अधिकं पीड्यते दुःखैरकुर्वन्नपि तत् स्वयम् ।
तस्माच्च धात्री सततं शुभचेष्टाऽशनस्थितिः ॥
माता भवति पुत्राणां भुंक्ते पुत्रफलानि च ।

धात्री स्नेहवश पुत्र-शरीर के लिये अपने शरीर का शोषण करती है तथा अन्य अनेक दारुण क्लेशों (कष्टों) को प्राप्त करती है । आशा, स्नेह, कृपा, धर्म तथा बालक की रचा के लिये माताएँ सब प्रकार के दुःखों को सहन करती हैं तथा इसमें वे अपना मान (गौरव) अनुभव करती हैं । गर्भ से लेकर बालक भी स्वयं प्रतीकार न कर सकने के कारण अनेक प्रकार के कष्टों से पीडित होता है । इसलिये धात्री निरन्तर अपनी शुभ चेष्टा तथा आहार-व्यवहार के द्वारा अपने पुत्रों की माता होकर पुत्ररूपी फलों का उपभोग करती है ॥

इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥

(इति) वृद्धजीवकीये कौमारभृत्ये चिकित्सास्थाने धात्रीचिकित्सिताध्यायः ॥

(स)माप्तानि च चिकित्सितानि ॥

ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था ।

इति वृद्धजीवकीये कौमारभृत्ये चिकित्सास्थाने धात्रीचिकित्सिताध्यायः ।

समाप्तानि च चिकित्सितानि ॥

अथ सप्तमं सिद्धिस्थानम् ।

राजपुत्रीया सिद्धिर्नाम प्रथमोऽध्यायः ।

अथातो राजपुत्रीयां सिद्धिं व्याख्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ २ ॥

अब हम राजपुत्रीय सिद्धि का व्याख्यान करेंगे । ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था । वमन आदि कर्मों के यथावत् प्रयुक्त न होने से उत्पन्न हुए विकारों की सिद्धि (चिकित्सा) का इस स्थान में उल्लेख किया गया है इसलिये इसे सिद्धि स्थान कहते हैं । चरक सि. अ. १२ में कहा है—कर्मणां वमनादीनामसम्यक्करणापदाम् । यत्रोक्तं साधनं स्थाने सिद्धिस्थानं तदुच्यते ॥

भगवन् राजपुत्राणामन्येषां वा महात्मनाम् ।
कतिवत्सर (युक्तस्य बस्तिकर्म समीरि) तम् ॥ ३ ॥
स्नेहप्रमाणं किं बस्तौ बस्तयः के च तद्धिताः ।
केषु रोगेषु शस्यन्ते बस्तयः केषु गर्हिताः ॥ ४ ॥
आस्थापनमवस्थायां कस्यां केषु गदेषु च ।
बस्तिकर्मप्रमाणं किं .... ॥ ५ ॥
.... ।
हिताहितं व्यापदः काः किं च तासां चिकित्सितम् ॥६॥
ऋषिमध्ये तथा पृष्टः प्रश्नान् प्रोवाच कश्यपः ।

जीवक ने कश्यप से निम्न प्रश्न पूछे—१—हे भगवन् ! राजपुत्र अथवा अन्य महापुरुषों को कितने वर्ष की अवस्था में बस्ति कर्म करना चाहिये । अर्थात् किस अवस्था के बाद बस्ति दी जानी चाहिये ? । २-बस्ति में स्नेह का क्या प्रमाण होता है ? ३-उनके लिये कौन सी बस्तियां हितकर हैं ? । ४-किन रोगों में बस्ति देनी चाहिये ? । ५-किन में नहीं देनी चाहिये ? ६-आस्थापन बस्ति किस अवस्था में तथा किन रोगों में करनी चाहिये ? । ७-बस्ति का क्या प्रमाण है अर्थात् कितनी बस्तियां देनी चाहिये ? । ८-बस्तियों के हित, अहित तथा व्यापत्तियां (विकृति-उपद्रव) तथा इनकी चिकित्सा क्या है ? । ऋषियों के बीच में इस प्रकार प्रश्न किये जाने पर महर्षि कश्यप ने निम्न उत्तर दिया ॥ ३-६ ॥

निबोध सम्यग्भवता महत्कार्यं प्रचोदितम् ॥ ७ ॥
बस्तिकर्म हि दुर्ज्ञानं बाल (केषु विशेषतः) ।
.... ॥ ८ ॥

इन्हें सम्यक् प्रकार सुनो ! आपने महान् (गम्भीर-विकट) प्रश्न पूछा है । बस्तिकर्म का ज्ञान, विशेषकर बालकों में अत्यन्त कठिन है ॥ ७-८ ॥

शिशूनामशिशूनां च बस्तिकर्मामृतं यथा ।
भिषजामर्थयशसी, शिशोरायुः, प्रजां पितुः ॥ ९ ॥
त्रयमेकपदे हन्ति भेषजं दुरनुष्ठितम् ।
तस्मादापन्नरोगेषु वातप्रायेषु देहिषु ॥ १० ॥

शिशुओं तथा अन्य युवा आदियों के लिये बस्ति अमृत के समान है । इस बस्ति से वैद्य को धन एवं यश, शिशु को आयु तथा पिता को सन्तान की प्राप्ति होती है । और यदि ओषधि (बस्ति) का ठीक प्रकार से प्रयोग न हो तो उपर्युक्त तीनों एकसाथ नष्ट हो जाते हैं । अर्थात् चिकित्सक का धन

एवं यश, शिशु की आयु तथा पिता की सन्तान ये तीनों एक साथ समाप्त हो जाते हैं। अतः वातप्रधान रोगों में प्राणियों को बस्ति देनी चाहिये ॥ ९-१० ॥

.... ।

(जन्मप्रभृति बालानां) बस्तिकर्मोपकल्पयेत् ॥ ११ ॥
इत्याह **गार्ग्यो** नेत्याह बालत्वादि (द)ति **माठरः**।
मासेन शस्यते मासाद् बालो हि स्यादवस्थितः ॥१२॥

गार्ग्य ने कहा—बालकों को जन्म से ही बस्ति दी जा सकती है।

माठर ने कहा—यह ठीक नहीं है क्योंकि उस समय वह अत्यन्त बाल (छोटा) होता है। एक मास के बाद उसे बस्तिकर्म कराना चाहिये क्योंकि मास भर के बाद बालक स्थिर हो जाता है ॥ ११-१२ ॥

अल्पान्तरत्वान्नेत्याह तमात्रेयः **पुनर्वसुः**।
चतुर्मास्योऽनुवास्य (स्तु)...... .... ॥ १३ ॥

आत्रेय पुनर्वसु ने कहा—यह ठीक नहीं है क्योंकि उस समय उसके अन्तःअवयव अथवा आन्तरिक शब्द बहुत अल्प (थोड़ा कम) होता है। अतः चार मास की अवस्था होने पर उसे अनुवासन (बस्ति) देनी चाहिये ॥ १३ ॥

..................प्राह स्तन्यक्षीरघृताशनात्।
ऊर्ध्वाधो बृंहमाणस्तु रोगैः संतर्पणोद्भवैः ॥
कृच्छ्रसाध्यो भवेद्ग्रस्तस्तस्मात् संवत्सराद्धितम्
तदा शक्यश्च शक्तश्च बालो व्रजति जल्पति ॥
मति.. ।
....न्नभुक् ॥

यह ठीक नहीं है (यहां पर आचार्य का नाम खण्डित है)। स्तन्य (माता के स्तनों का) दूध, एवं घृत के सेवन द्वारा ऊर्ध्व एवं अधोमार्ग द्वारा बृंहण किया जाता हुआ संतर्पण जन्य रोगों से आक्रान्त होने से बालक कृच्छ्रसाध्य होता है अर्थात् उस अवस्था में बस्ति द्वारा बृंहण करने से उसे संतर्पण जन्य रोग हो जाते हैं जो कि कृच्छ्रसाध्य होते हैं। चरक सू० अ० २३ में संतर्पण जन्य रोग निम्न दिये हैं— प्रमेहकण्डूपिडकाः कोठपाण्ड्वामयज्वराः। कुष्ठान्यामप्रदोषाश्च मूत्रकृच्छ्रमरोचकः॥ तन्द्राक्लैब्यमतिस्थौल्यमालस्यं गुरुगात्रता। इन्द्रियस्रोतसां लेपो बुद्धेर्मोहः प्रमीलकः॥ शोफाश्चैवंविधाश्चान्ये शीघ्रमप्रतिकुर्वतः॥ अतः एक वर्ष की अवस्था के बाद बस्तिकर्म कराना चाहिये। उस समय बालक समर्थ एवं शक्तिमान् हो जाता है तथा वह चलने-फिरने एवं बोलने लगता है और अन्न का सेवन प्रारंभ कर देता है ॥

पाराशर्यस्तु नेत्याह तदा दुर्ललितो हि सः ॥
त्रिवर्षस्यैव तु हितं

पाराशर ने कहा—यह ठीक नहीं है क्योंकि उस समय बालक का पालन-पोषण ठीक नहीं होता है। इसलिये तीन वर्ष के बाद बस्तिकर्म करना उचित है।

नेति **भेल**स्तनब्रवीत्।
अल्पान्तरत्वाद्व्याघाताद्विभ्रमाणामसंसहात् ॥
षड्वर्षप्रभृतीनां तु **भेल**...................... ।

भेल ने कहा—यह ठीक नहीं है-क्योंकि उस समय तक बालक की आन्तरिक शक्ति थोड़ी होती है तथा वह व्याघातों एवं विभ्रमों को सहन नहीं कर सकता है। इसलिये भेल ने कहा ६ वर्ष के बालकों को बस्तिकर्म कराना चाहिये ॥

.........षु पक्षेषु सूक्ष्मेष्वपि पुनः पुनः ॥
निश्चयार्थं ततः सर्वे कश्यपं पर्यचोदयन्।
स तेभ्यो निश्चयं प्राह शिशूनां बस्तिकर्मणि ॥
अधस्तनोऽन्नभोक्ता च चयदावा......... ।

इस प्रकार बार २ अत्यन्त सूक्ष्म पक्षों (वादों) के उत्पन्न हो जाने पर, उन सबने इसके विषय में निश्चय करने के लिये महर्षि कश्यप से प्रार्थना की। तब महर्षि कश्यप ने शिशुओं के बस्ति कर्म के लिये अपना निर्णय दिया कि जो बालक नीचे चलता-फिरता हो तथा अन्न खाता हो अर्थात् जिस की गोद की अवस्था व्यतीत हो गई हो और जिसने अन्न खाना प्रारंभ कर दिया हो-उसे बस्तिकर्म कराना चाहिये। अर्थात् जब तक बालक गोद में है तथा उसने अन्न खाना प्रारंभ न किया हो तब तक बस्ति नहीं देनी चाहिये। उसके बाद ही बस्तिकर्म कराना चाहिये ॥

.... ।

भिषक् पुण्याहे कनकरजतताम्रकांस्यत्रपुसीसलोहगजदन्ततरुवेणुशृङ्गास्थिनलानामन्यतमस्योपपत्त्यामत्रकं कारयेच्छ्लक्ष्णमव्रणमृजु गुलिकामुखं गोपुच्छ.....

बस्तिनेत्र (Nozzle)—वैद्य पुण्य (मंगलकारक) दिन में सोना, चांदी, ताम्र, कांसा, बंग, सीसा, लोहा, हाथी दांत, वृक्षों की लकड़ी, बांस, सींग, अस्थि तथा कमल नाल में से किसी का चिकना, अव्रण (जिस पर व्रण न हो अथवा जो व्रण उत्पन्न न करे) तथा सीधा, गुलिका के समान गोलाई लिये हुए मुख वाला और गोपुच्छ के आकार का बस्तिनेत्र बनवावे। चरक सि० अ० ३ में भी कहा है—सुवर्णरूप्यत्रपुताम्ररीतिकांस्यास्थिलोहद्रुमवेणुदन्तैः। नलैर्विषाणैर्मणिभिश्च तैस्तैः कार्याणि नेत्राणि त्रिकर्णिकानि ॥ इसी प्रकार सुश्रुत चि० अ० ३५ में भी कहा है ॥

....

(इति ताडपत्रपुस्तके १४१ तमं पत्रम्[1]।)

....

....

...नोष्णोदकपरिषेकगन्धशुक्लवसनकुसुमरोचनाप्रति-

(१) अस्याग्रे पत्रमेकं खण्डितं ताडपत्रपुस्तके।

सराभ्यलङ्करणभोजनविनोदान् क्रमेण सुखानाप्नुयात् । अभ्यङ्गोत्सादनोष्णोदकपरिषेकभोजनान्यहन्यहनि प्रागनुवासनादिष्यन्ते । पश्चान्निरूहेभ्य अ············ ······कोष्णोदकोपचारब्रह्मचर्योपसेवनं च विरिक्तवदिति परिषत् ॥

जिस रोगी को बस्ति देनी हो उसे क्रमशः उष्ण जल का परिषेक, गन्ध, श्वेत वस्त्र, एवं फूल का धारण, रुचिकारक प्रतिसर (शुद्धि), अलंकार (आभूषण), भोजन तथा विनोद आदि सुखकारक भावों का सेवन करावे । फिर अनुवासन बस्ति से पूर्व, स्नेह की मालिश, उबटन, उष्ण जल का परिषेक, एवं उष्ण भोजन प्रतिदिन देना चाहिये । इसके बाद जिनका निरूह (आस्थापन बस्ति) किया जा चुका हो······························(उन्हें सम्यक् प्रकार से अनुवासन देवे)··············फिर अनुवासन के बाद विरिक्त (जिसे विरेचन दिया गया हो) रोगी की तरह उष्ण जल द्वारा उपचार तथा ब्रह्मचर्य का सेवन इत्यादि करना चाहिये । अर्थात् जब तक वह रोगी बल एवं वर्ण से युक्त न हो जाय तब तक विरेचन में कहे गये विधान के अनुसार कर्म करे । मुख-पैर आदि का धोना, निवात गृह में रहना, ऊंचे बोलने आदि का त्याग तथा पेया आदि का क्रम उसी प्रकार करना चाहिये । इसमें धूम्रपान नहीं करना चाहिये क्योंकि विरेचन के बाद धूम्रपान का निषेध है । चरक सू० अ० ५ में कहा है—'न विरिक्तः पिबेद्धूमम्' । तथा चरक सू० अ० १५ में भी विरेचन के उपरान्त धूम्रपान का निषेध किया गया है—'सम्यग्विरिक्तं चैनं वमनान्तरोक्तेन धूमवर्जेन विधिनोपपादयेदाबलवर्णप्रतिलाभात् ।' इसके बाद रोगी के लिये निम्न विधान दिया है—बलवर्णोपपन्नं चैनमनुपहतमनसमभिसमीक्ष्य सुखोषितं सुप्रजीर्णभक्तं शिरःस्नातमनुलिप्तगात्रं स्रग्विणमनुपहतवस्त्रसंवीतमनुरूपालंकारालकृतं सुहृदां दर्शयित्वा ज्ञातीनां दर्शयेत्, अथैनं कामेष्ववसृजेत् । यह सारा कर्म अनुवासन के बाद रोगी को कराना चाहिये । यह कर्म (पथ्य आहार-विहार आदि) बस्ति काल के समय से दुगुने समय तक होना चाहिये । चरक सि० अ० १ में कहा है—'कालस्तु बस्त्यादिषु याति यावांस्तावान् भवेद्धि परिहारकालः' ॥

तत्र श्लोकाः—

एतेन विधिना बस्तीन् दद्यादेकान्तरं भिषक् ।
अहन्यहनि बस्तीनां प्रणिधानं विनाशनम् ॥
स्नेहो गुरुः स्वभावेन बहुत्वाद्धु··········· ।
················च्छूलं ज्वरोऽरुचिः ॥
आनाहाध्मानकृमयो विड्भेदः कुष्ठसंभवः ।
अपस्मारजडत्वाद्यास्तस्मादेकान्तरं हितः ॥

इस विधि से वैद्य एक २ दिन छोड़कर (Alternate days) बस्तियां देवे । प्रतिदिन बस्तियां देना अहितकर होता है । क्योंकि स्नेह के स्वभाव से ही अत्यन्त गुरु होने से (प्रतिदिन अनुवासन किया हुआ पचता नहीं) और शूल, ज्वर, अरुचि, आनाह, आध्मान, कृमि, अतिसार, कुष्ठ, अपस्मार तथा जड़ता आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं । इसलिये एक दिन छोड़कर ही बस्ति देनी चाहिये ॥

एकान्तरमपि प्राप्ते बस्तौ देये शरीरिणाम् ।
न देयो धातुवैषम्ये धातूनेव स सादयेत् ॥

एक दिन छोड़कर (Alternate days) बस्ति देते हुए भी यह ध्यान रखना चाहिये कि रोगी की धातुएँ समावस्था में हों । धातुओं की विषमता होने पर दिया गया अनुवासन धातुओं को ही नष्ट कर देता है ॥

··························(वि) चक्षणः ।
निरूहयेदर्थतस्तु ह्रासवृद्ध्या निरूहयन् ॥

इसके बाद ज्ञानी वैद्य को चाहिये कि रोगी को निरूह (आस्थापन) बस्ति देवे । निरूह बस्ति क्रमशः धीरे २ बढ़ावे तथा घटावे ॥

जडीभवन्ति स्रोतांसि स्नेहदानात् पुनः पुनः ॥
उद्घाटनार्थं शुद्ध्यर्थं तेषामास्थापनं हितम् ॥

बार २ अनुवासन बस्ति के द्वारा स्नेह का व्यवहार कराने से रोगी के स्रोत जड़ हो जाते हैं । उन स्रोतों को खोलने तथा उनकी शुद्धि के लिये उन्हें आस्थापन (निरूह) बस्ति देनी चाहिये ॥

निरूहकाले संप्राप्ते यो बालो न निरूह्यते ।
स······························ ॥

निरूह (आस्थापन अथवा शोधन) बस्ति के काल के उपस्थित होने पर भी जिस बालक को निरूह (आस्थापन) बस्ति नहीं दी जाती·········(उसे अनेक प्रकार के रोग हो जाते हैं) ॥

स्विन्नं पर्युषितं जीर्णं निवातशयनादिकम् ।
स्वभ्यक्तमकृताहारं भिषग्बालं निरूहयेत् ॥

जिसने स्वेदन किया हुआ है तथा जिसका पहले दिन का भोजन जीर्ण हो चुका है, जो निवात (जहां सीधी वायु न आती हो) स्थान में शयन करता हो, जिसने शरीर पर तेल की मालिश की हुई है तथा जिसने भोजन नहीं किया है—ऐसे बालक को वैद्य निरूह बस्ति दे ॥

वातं मूत्रं पुरीषं च देहिनां विषमस्थितम् ।
अनुलोमयते शीघ्रं निरूहः साधु योजितः ॥

सम्यक् निरूह के लक्षण—सम्यक् प्रकार से प्रयुक्त किया गया निरूह प्राणियों के विषम अवस्था में स्थित वात, मूत्र एवं पुरीष का शीघ्र ही अनुलोमन कर देता है अर्थात् वात, मूत्र, पुरीष आदि की गति को अनुलोम कर देता है । चरक सि० अ० १ में कहा है—प्रसृष्टविण्मूत्रसमीरणत्वं रुच्यग्निवृद्ध्याशयलाघवानि । रोगोपशान्तिः प्रकृतिस्थता च बलं च तत्स्यात्सुनिरूढलिङ्गम् ॥

आमं जडत्वमरुचिं विष्टम्भं दो········· ।
······························दीपयत्यपि ॥

सम्यक् प्रकार से प्रयुक्त किया हुआ निरूह आमरोग, जड़ता, अरुचि तथा विष्टम्भ को दूर करता है और अग्नि को प्रदीप्त करता है ॥

वस्त्रस्य धावनमिव दर्पणस्येव मार्जनम् ।
आस्थापनं नृणां तद्वत् प्राज्ञैः कालोपपादितम् ।

बुद्धिमान् व्यक्ति द्वारा प्राणियों में उचित काल में प्रयुक्त किया गया आस्थापन (निरूह) वस्त्र को धोने तथा दर्पण को साफ करने के समान हैं। अर्थात् वस्त्र को धोने एवं दर्पण को साफ करने के समान ही आस्थापन (निरूह) बस्ति रोगी की आन्तरिक सफाई कर देती है ॥

अनुवासनवच्चास्य विधिः सर्वः प्रशस्यते ।
निरूहः पुनरावृत्तान्न तु वेगान् विधारयेत् ॥

निरूहबस्ति के बाद भी अनुवासन के समान ही सम्पूर्ण विधि करनी चाहिये। निरूह पुनः प्रवृत्त हुए वेगों को धारण नहीं करता ॥

निरुपद्रवमाश्वस्तं.................... ।
..............णां विकारे स्नानमिष्यते ॥

उपद्रवों से रहित रोगी को आश्वासन देकर.....विकारों में स्नान कराना चाहिये ॥

हृद्रोगे पार्श्वशूलेषु कुष्ठेषु कृमिकोष्ठिषु ।
प्रमेहोदरगुल्मेषु वातशूले सकुण्डले ॥
संसृष्टदोषरोगेषु लीनगम्भीररोगेषु च ।
रक्ते श्लेष्मणि वा दुष्टे निरूहमुपकल्पयेत् ॥

निरूह किन रोगों में करना चाहिये—हृद्रोग, पार्श्वशूल, कुष्ठ, कृमिरोग (उदरकृमि), प्रमेह, उदररोग, गुल्म, वातशूल, वातकुण्डल, संसृष्ट (मिले हुए) दोषों वाले, छिपे हुए तथा गम्भीर रोगों में और रक्त एवं श्लेष्मा के दूषित होने पर निरूह (आस्थापन) बस्ति की कल्पना करे ॥

.........................येत् ॥
आकेशाग्रनखाग्रेभ्यो बस्तिर्बृंहयते नरान् ।

बस्ति मनुष्यों के केशों (बालों) के सिरों से लेकर नखों के अग्रभाग तक अर्थात् सम्पूर्ण शरीर का बृंहण करती है। चरक सि० अ० ७ में कहा है—आपादतलमूर्धस्थान्दोषान् पक्वाशये स्थितः। वीर्येण बस्तिरादत्ते खस्थोऽर्को भूरसानिव॥ अर्थात् जिस प्रकार आकाश स्थित सूर्य भूमिस्थित रसों को खींच लेता है उसी प्रकार पक्वाशय में स्थित होती हुई बस्ति भी अपने वीर्य के कारण सम्पूर्ण शरीर के दोषों को खींच लेती है। इसी प्रकार सुश्रुत चि० अ० ३५ में भी कहा है ॥

वर्णतेजोबलकरमायुष्यं शुक्रवर्धनम् ॥
योनिप्रसादनं धन्यं वन्ध्यानामपि पुत्रदम् ॥
बस्तिकर्म(कृतं) काले बालानाममृतोपमम् ।
वातिकान् वातसंसृ (ष्टान्)......... ॥
..............हबीजं सर्वं बस्तिरपोहति ।

बस्ति के गुण—योग्य काल में किया गया बस्तिकर्म बालकों के लिये अमृत के समान होता है। यह वर्ण, तेज, बल, आयु तथा शुक्र को बढ़ाता है। योनि का प्रसादन (स्वच्छता) करता है, बन्ध्या स्त्रियों को भी पुत्र देने के कारण यह धन्य है अर्थात् इसके प्रयोग से बन्ध्या स्त्रियों को भी पुत्र हो जाता है। तथा बालकों के लिये यह अमृत के समान है। बस्ति वातिक एवं वातसंसृष्ट (वायु मिले हुए) रोगों को नष्ट करती है तथा यह सम्पूर्ण रोगों के बीजों को नष्ट कर देती है ॥

यासां च गर्भाः स्रंसन्ते जाता वा न दृढाः सुताः ।
सुकुमार्यश्च या नार्यः सुभगा नित्यमैथुनाः ॥
बहुस्त्रीकाश्च ये बाला ईश्वराणामयौवनाः ।
संक्षीयन्तेऽतिसङ्गाद्वा ये च......... ।
.... तेषां प्रशस्तममृतं यथा ॥

जिन स्त्रियों के गर्भ का स्राव (Abortion) हो जाता है, अथवा उत्पन्न होने पर भी जिनके पुत्र दृढ़ नहीं होते, जो स्त्रियां बहुत अधिक सुकुमारियां (नाजुक) तथा सुभगा हैं, जो नित्य मैथुन कराती हैं, जो बहुत स्त्रियों वाले पुरुष हैं अर्थात् जिन पुरुषों के कई स्त्रियां हों तथा धनी पुरुषों के जो बालक यौवन से पूर्व ही अत्यन्त स्त्रीसङ्ग (मैथुन) से क्षीण हो गये हों—उन सबके लिये बस्ति का प्रयोग अमृत के समान है ॥

इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ।
(इति सिद्धिस्थाने) राजपुत्रीया सिद्धिर्नाम प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था।
इति सिद्धिस्थाने राजपुत्रीया सिद्धिर्नाम प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

त्रिलक्षणा सिद्धिर्नाम द्वितीयोऽध्यायः ।

अथातस्त्रिलक्षणां सिद्धिं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ २ ॥

अब हम त्रिलक्षणा (तीन लक्षणों वाली) सिद्धि का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था ॥ १-२ ॥

त्रिविधं लक्षणं पश्येन्नृणां पञ्चसु कर्मसु ।
दुर्यो.............................. ॥

(इति ताडपत्रपुस्तके १४३ तमं पत्रम् ।)

प्राणियों के पञ्चकर्म (वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन एवं शिरोविरेचन) में तीन प्रकार के लक्षणों को देखना चाहिये—१—दुर्योग (अयोग) २—अतियोग ३—सम्यक्योग ॥

..........................च पण्डितः ।
शरीरयात्रां कायाग्निं शक्तिं वर्णं बलं स्वरम् ॥

दोषांश्च विकृतान् दृष्ट्वा यथादोषं विशोधयेत् ।
सर्वदोषाः प्रशाम्यन्ति बलमायुर्वपुर्वयः ॥
अग्निः प्रजाश्च .... ।
..............................॥

पण्डित (विद्वान् वैद्य) शरीर-यात्रा, जठराग्नि, शक्ति, वर्ण, बल, स्वर तथा विकृत दोषों को देखकर यथादोष (दोष के अनुसार) उनका शोधन करे। इससे सब दोष शान्त हो जाते हैं तथा बल, आयु, शरीर, वय (अवस्था), अग्नि तथा प्रजा (सन्तान) की वृद्धि होती है ॥

विरेचनेन शुद्ध्यन्ति प्रसीदन्तीन्द्रियाणि च ।
धातवश्च विशुद्ध्यन्ते बीजं भवति कार्मुकम् ॥

विरेचन से इन्द्रियां शुद्ध तथा प्रसन्न होती हैं, रस, रक्त आदि धातुयें शुद्ध होती हैं, तथा बीज (शुक्राणु अथवा डिम्ब) अधिक कार्य करने में समर्थ हो जाता है ॥

मेदोदौर्गन्ध्यकफजै रोगैर्वान्तश्च मुच्यते ।
रोगोपशान्तिर्ह्रासो वा विशुद्धिर्लाघवासु ... ॥

वमन के द्वारा रोगी मेद, दुर्गन्धि एवं कफज रोगों से मुक्त हो जाता है, रोग की शान्ति अथवा उसमें कमी हो जाती है, शरीर की शुद्धि हो जाती है तथा शरीर में लघुता आ जाती है ॥

.... ।
(आमाश)यस्य पूर्णत्वं गौरवं हृदयस्य च ॥
शीतज्वरागमाध्मानं ष्ठीवनं च मुहुर्मुहुः ।
शिरोग्रहोऽरुचिर्जाड्यमग्निसादोऽतिनिद्रता ॥
आलस्यं व्याधिवृद्धिश्च विद्याद्दुर्वान्तलक्षणम् ।

दुर्वान्त अथवा वमन के अयोग के लक्षण—आमाशय का पूर्ण (भरा) होना, हृदय का भारीपन, सर्दी से ज्वर का आना, आध्मान, बार २ थूकना (मुख से पानी आना), शिरोग्रह, अरुचि, जड़ता, अग्निमांद्य, अतिनिद्रा, आलस्य तथा रोग की वृद्धि-ये दुर्वान्त अथवा वमन के अयोग के लक्षण होते हैं। चरक सि. अ. १ में कहा है—दुश्छर्दिते स्फोटककोठकण्डूहृत्खाविशुद्धिर्गुरुगात्रता च। अर्थात् वमन के ठीक प्रकार न होने से स्फोट, कोठ, कण्डू, हृदय, स्रोतों एवं इन्द्रियों का शुद्ध न होना तथा देह का भारीपन ये लक्षण होते हैं ॥

..............................॥
......सां च व्यथनमतिवान्तस्य लक्षणम् ।

अतिवान्त अथवा वमन के अतियोग के लक्षण-वमन के अतियोग में सम्पूर्ण स्रोतों में व्यथा (पीडा) होती है। चरक सि. अ. १ में कहा है-'तृण्मोहमूर्च्छानिलकोपनिद्राबलादिहानिर्वमनेऽति च स्यात्' अर्थात् वमन के अतियोग से तृषा, मोह, मूर्च्छा, वातप्रकोप, निद्रानाश तथा निर्बलता आदि लक्षण होते हैं ॥

यदा तु पित्तं रक्तं वा पुरीषं मिश्रमेव वा ॥
वमत्यविरसं शूली न स सिद्ध्यति कुर्वतः ।

जब वमन में पित्त, रक्त, अथवा पुरीष (मल) मिला हुआ आता हो, वमन बहुत पतला होता हो तथा शूल (उदरशूल) होता हो-उस रोगी की चिकित्सा करने पर भी आराम नहीं होता ॥

आमपक्वाशयौ पित्तं गुदो गर्भाशयासृजी ॥
विरेक .... ।
...............क्षुद्वातमूत्रानुलोमता ।
लाघवं चाग्निदीप्तिश्च सम्यक्संसितलक्षणम् ॥

सम्यक् विरेचन के लक्षण—आमाशय, पक्वाशय, पित्त, गुदा, गर्भाशय एवं रक्त ठीक अवस्था में रहते हैं। भूख लगती है। वायु एवं मूत्र की गति अनुलोम हो जाती है। देह में लघुता आती है एवं अग्नि दीप्त होती है-ये सम्यक् विरेचन के लक्षण होते हैं। चरक सि. अ. १ में कहा है-स्रोतोविशुद्धीन्द्रियसंप्रसादौ लघुत्वमूर्जोऽग्निरनामयत्वम्। प्राप्तिश्च विट्पित्तकफानिलानां सम्यग्विरिक्तस्य भवेत्क्रमेण ॥ अर्थात् विरेचन के सम्यक् योग में स्रोतों की शुद्धि, इन्द्रियों की प्रसन्नता, शरीर में लघुता एवं उत्साह, अग्नि की दीप्ति, आरोग्य आदि लक्षण होते हैं तथा उसमें क्रमशः पुरीष, पित्त, कफ और वायु निकलते हैं ॥

कृच्छ्रविण्मूत्रता त्वक्षुपिडका ज्वरसंभवः ।
अरुचिर्गौरवाध्माने दुर्विरिक्तस्य लक्षणम् ॥

विरेचन के अयोग के लक्षण-मल एवं मूत्रत्याग में कष्ट (कठिनाई), त्वचा पर पिडकाएं, ज्वर की उत्पत्ति, अरुचि, शरीर का भारीपन तथा आध्मान ये दुर्विरिक्त अथवा विरेचन के अयोग के लक्षण हैं। चरक सि. अ० १ में कहा है-स्याच्छ्लेष्मपित्तानिलसंप्रकोपः सादस्तथाग्नेर्गुरुता प्रतिश्या। तन्द्रा तथा छर्दिररोचकश्च वातानुलोम्यं न च दुर्विरिक्ते ॥ अर्थात् विरेचन के अयोग में कफ पित्त तथा वायु का प्रकोप, अग्निमांद्य, शरीर का भारी होना, प्रतिश्याय, तन्द्रा, वमन, अरुचि तथा वायु का अनुलोम न होना-ये लक्षण होते हैं ॥

मूर्च्छा शूलं गुदभ्रंशो वात............ ।
..............................॥

विरेचन के अतियोग के लक्षण-विरेचन के अतियोग से मूर्च्छा, शूल, गुदभ्रंश तथा अन्य वातिक विकार आदि हो जाते हैं। चरक सि. अ. १ में कहा है-कफास्रपित्तक्षयजानिलोत्थाः सुप्त्यङ्गमर्दक्लमवेपनाद्याः। निद्राबलाभावतमःप्रवेशाः सोन्मादहिक्काश्च विरेचितेऽति ॥ अर्थात् विरेचन के अधिक होने पर कफ, रक्त एवं पित्त का क्षय हो जाता है जिससे वायु के प्रकुपित हो जाने पर सुप्ति (शरीर का सुन्न होना-सोया हुआ होना), अङ्गमर्द, क्लम, कम्पन, निद्रानाश, कमजोरी, आंखों के सामने अंधेरा आ जाना, उन्माद तथा हिक्का आदि उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं ॥

बृंहणं कर्शनं चैव द्विविधं नस्यकर्म तु ।
बृंहणं वातरुक्प्राये कफाधिक्ये तु कर्शनम् ॥

बृंहणं विविधैः स्नेहैर्मधुरौषधसंस्कृतैः ।
रूक्षैर्वा कटुभिर्द्रव्यैर्वा स्नेहैः कर्शनमुच्यते ॥

नस्यकर्म (शिरोविरेचन) दो प्रकार का होता है- १ बृंहण २ कर्षण । बृंहण नस्य वातप्रधान तथा कर्षण नस्य श्लेष्मप्रधान रोगों में दिया जाता है । अनेक प्रकार की मधुर ओषधियों से संस्कृत स्नेह (तैल आदि) द्वारा बृंहण तथा रूक्ष एवं कटु ओषधियों से सिद्ध स्नेहों द्वारा कर्षण नस्य दिया जाता है ॥

ते गुणा बृंहण..................... ।
......................नस्यमुच्यते ॥

उपर्युक्त गुणों से युक्त बृंहण......तथा कर्षण नस्य प्रशस्त माने गये हैं ॥ १९ ॥

रोगशान्तिः प्रमोदश्च देहयात्रानुवर्तनम् ।
स्मृतिमेधाबलाग्न्याप्तिरिन्द्रियाणां प्रसन्नता ॥
विद्धि सम्यक्कृते नस्ये दुर्योगस्तदलक्षणैः ।

सम्यक् नस्य (शिरोविरेचन) के लक्षण-रोगों की शान्ति, प्रमोद (आनन्द), शरीर-यात्रा का अनुवर्तन (शरीर-यात्रा का ठीक होना), स्मृति, मेधा, बल, जाठराग्नि की आप्ति (तृप्ति) तथा इन्द्रियों की प्रसन्नता-सम्यक् प्रकार से किये गये शिरोविरेचन में ये लक्षण होते हैं। चरक सि. अ. ९ में कहा है-'उरःशिरोलाघवमिन्द्रियाच्छ्यं स्रोतोविशुद्धिश्च भवेद्विशुद्धे ।' शिरोविरेचन के अयोग के लक्षण-उपर्युक्त लक्षणों का न होना दुर्योग का लक्षण है। चरक सि. अ. १ में कहा है-गलोपलेपः शिरसो गुरुत्वं निष्ठीवनं चाप्यथ दुर्विरिक्ते । अर्थात् इसमें गला कफ से लिप्त रहता है, सिर भारी रहता है तथा थूक बहुत आता है ॥

उन्मादवातपित्तांश्च.................... ॥
.......................(हृ) द्द्रवौ ।
सूर्यावर्तो न तृप्तिश्च नस्येनात्यपतर्पिते ॥

शिरोविरेचन के अतियोग के लक्षण-उन्माद, वात तथा पित्त का प्रकुपित होना, हृद्द्रव (Palpitation of HTe Heart), सूर्यावर्तरोग तथा तृप्ति का न होना-ये लक्षण नस्य (शिरोविरेचन) के अतियोग के होते हैं। चरक सि. अ. १ में कहा है-'शिरोऽक्षिशङ्खश्रवणार्तितोदावत्यर्थशुद्धे तिमिरं च पश्येत् । अर्थात् इसमें सिर, आंखें, शङ्खप्रदेश और कान में पीडा एवं तोद होता है तथा आंखों के सामने अंधेरा आजाता है ॥

अग्निदीप्तिर्वयःस्थानं पुष्टिर्वर्णो धृतिर्बलम् ।
वातानुलोमता शान्तिः स्वनुवासितलक्षणम् ॥

सम्यक् अनुवासन के लक्षण-अग्नि का दीप्त होना, आयु का स्थिर होना, पुष्टि, वर्ण, धृति (धारण शक्ति), बल, वायु का अनुलोम होना तथा रोग की शान्ति-ये सम्यक् प्रकार से हुए अनुवासन के लक्षण हैं। चरक सि. अ. १ में कहा है-प्रत्येत्यसक्तं सशकृच्च तैलं रक्तादिबुद्धीन्द्रियसंप्रसादः । स्वप्नानुवृत्तिर्लघुता बलं च सृष्टाश्च वेगाः स्वनुवासिते स्युः ॥ अर्थात् यदि अनुवासन अच्छी प्रकार हो जाय तो तैल पुरीष सहित बिना किसी रुकावट के लौटकर निकल आता है। रक्त आदि धातुएं बुद्धि एवं इन्द्रियां प्रसन्न हो जाती हैं। नींद ठीक प्रकार से आती है, शरीर हलका हो जाता है, बल की प्राप्ति होती है तथा वेग बिना बाधा के अच्छी प्रकार प्रवृत्त होते हैं इसी प्रकार सुश्रुत में भी कहा है ॥

विषादस्तृप्तिररुचिर.............. ।
.........................णम् ॥

अनुवासन के अतियोग के लक्षण—अनुवासन के अतियोग में विषाद, तृप्ति तथा अरुचि......आदि लक्षण होते हैं- चरक सि० अ० १ में कहा है—'हृल्लासमोहक्लमसादमूर्च्छाविकर्तिका चात्यनुवासिते स्युः'। अर्थात् इसमें जी मचलना, मोह, क्लम, अग्निसाद, मूर्च्छा तथा गुदा में परिकर्तनवत् वेदना होती है ॥

विष्टम्भो गाढवर्चस्त्वं रोगवृद्धिर्विवर्णता ।
वेपथुर्वातवृद्धिश्च रूपं दुरनुवासिते ॥

अनुवासन के अयोग के लक्षण—मलबन्ध, मल का घना (कठिन) होना, रोगों में वृद्धि, विवर्णता, कंपकंपी तथा वात की वृद्धि—ये अनुवासन के अयोग के लक्षण हैं। चरक सि० अ० १ में कहा है—अधःशरीरोदरबाहुपृष्ठपार्श्वेषु रुग्रूक्षखरं च गात्रम् । ग्रहश्च विण्मूत्रसमीरणानामसम्यगेतान्यनुवासिते स्युः ॥ अर्थात् इसमें शरीर के निचले भाग, उदर, बाहु, पृष्ठ और पार्श्वों में वेदना, देह का रूक्ष और खर होना तथा पुरीष, मूत्र और वायु का रुक जाना-ये लक्षण होते हैं ॥

शुद्धस्फटिकसंकाशं यदा श्लेष्म विरिच्यते ।
विना मूत्रपुरीषेण............... ॥
.... ।
निरुपद्रवता क्षुच्च निरूढः सम्यगुच्यते ।

सम्यग् निरूढ (आस्थापन) के लक्षण-जब मूत्र एवं पुरीष न आकर केवल शुद्ध स्फटिक के समान श्लेष्मा का ही विरेचन होता हो उपद्रवों का अभाव हो जाय तथा भूख लगती हो-तब रोगी सम्यग् निरूढ कहलाता है। चरक सि० अ० १ में कहा है—प्रसृष्टविण्मूत्रसमीरणत्वं रुच्यग्निवृद्ध्याशयलाघवानि । रोगोपशान्तिः प्रकृतिस्थता च बलं च तत्स्यात्सुनिरूढलिङ्गम् ॥

विण्मूत्रनिग्रहः शूलमानाहो व्याधिसन्नतिः ॥
तन्द्री निद्राऽरुचिस्तृप्तिर्दुर्निरूढस्य लक्षणम् ॥

निरूह (आस्थापन) के अयोग के लक्षण—मल एवं मूत्र की रुकावट, शूल, आनाह, व्याधि का बढ़ना, तन्द्रा निद्रा, अरुचि तथा तृप्ति (बिना खाये पिये ही तृप्ति का अनुभव होना)-ये निरूह के अयोग के लक्षण हैं। चरक सि० अ० १ में कहा है—स्याद्रुक्शिरोहृद्गुदबस्तिलिङ्गे शोफः प्रतिश्यायविकर्तिके च । हृल्लासिकामारुतमूत्रसङ्गः श्वासो न सम्यक् च निरूहिते स्यात् ॥

वातप्रकोपो बलवान् सर्वदेहो ········ ।
························· ॥

(इति ताडपत्रपुस्तके १४४ तमं पत्रम्)

निरूह (आस्थापन) के अतियोग के लक्षण—सम्पूर्ण शरीर में बलवान् वायु का प्रकोप होना······इत्यादि निरूह के अतियोग के लक्षण हैं। चरक सि० अ० १ में कहा है—'लिङ्गं यदेव निविरेचितस्य भवेत्तदेवातिनिरूहितस्य' । अर्थात् जो अति विरेचन के लक्षण होते हैं वे ही इसके भी होते हैं ॥

······························ ।
···········(ब) स्तयः कर्मसंज्ञिताः ।
अन्तरेषु निरूहाः स्युरतश्चोर्ध्वं न दापयेत् ॥

कर्मसंज्ञक बस्तियां भी होती हैं। इनके बीच में निरूह बस्तियां दी जाती हैं जिनके बाद अन्य बस्तियां नहीं दी जातीं। चरक सि० अ० १ में तीन प्रकार का अन्य बस्ति समुदाय दिया है १ कर्म २ काल ३ योगः। कहा भी है—त्रिंशत्स्मृताः कर्मसु बस्तयो हि कालस्ततोऽर्धेन ततश्च योगः। सान्वासना द्वादश वै निरूहाः प्राक् स्नेह एकः परतश्च पञ्च ॥ काले त्रयोऽन्ते पुरतस्तथैकः स्नेहा निरूहान्तरिताश्च षट् स्युः। योगे निरूहास्त्रय एव देयाः स्नेहाश्च पञ्चैव परादिमध्याः ॥ प्रकृत ग्रन्थ के खिलस्थान के बस्तिविशोषणीय नामक आठवें अध्याय में भी यह तीन प्रकार का बस्ति समुदाय दिया हुआ है।

इति ह स्माह भगवान् कश्यपः।

(इति सिद्धिस्थाने) त्रिलक्षणासिद्धिर्नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था।

इति सिद्धिस्थाने त्रिलक्षणासिद्धिर्नाम द्वितीयोऽध्यायः॥२॥

वमनविरेचनीयासिद्धिर्नाम तृतीयोऽध्यायः।

अथातो वमनविरेचनीयां सिद्धिं व्याख्यास्यामः ॥१॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ २ ॥

अब हम वमन-विरेचनीय सिद्धि का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था ॥

·················'मयस्वलक्षणैर्वमनेनोपपादयेद्विधिवदुपस्निग्धमग्निबलावेक्षी वा यथाशक्तिस्विन्नमुषितमपरेद्युर्विजीर्णभक्तं प्रातरेव दन्तकाष्ठाद्यनु·····
···············कटफलनिचुलशिरीषादीनां लाभतः पल्लवान् सर्वशो वाऽऽहृत्यापां द्रोणमात्रेऽधिके वारिण्युत्क्वाथ्य ग्रहघ्नीकृतवेधनवचासैन्धवपिप्पलीवत्सकत्रपुसमदनबीजा··········(उप) विष्टमासने प्राङ्मुखो भिषगालोड्य तं कषायं ग्रहघ्न्यादिकल्कैर्नातिघनोष्णशीतमाकण्ठात् पाययेत्, यथाबलमरिष्टं वा पञ्चषट्कालोत्तरमथ विधायोत्पलकु (मुद)···
·················न वेगमुत्पन्नमवगृह्णीयात्, न वेगान्तरे विश्रमयेत्, उपसंगृहीतपार्श्वः स्यादीषन्न्युब्जः ॥

अपने २ लक्षणों के अनुसार रोगी को वमन देवे। एतदर्थं यथाविधि स्नेहन करके अग्नि और बल को देखकर यथाशक्ति जिसने स्वेदन किया हुआ है तथा जो रात्रि को सोया है ऐसे रोगी को अगले दिन रात्रि के भोजन के जीर्ण हो जाने पर प्रातःकाल दन्तधावन आदि के बाद······· कट्फल, निचुल (समुद्र फल) तथा शिरीष आदि सबके अथवा इनमें से जो मिल सकें उनके पत्ते लेकर एक द्रोण अथवा अधिक जल में क्वाथ बनाये तथा ग्रहघ्नी (गौरसर्षप), कृतवेधन (कोषातकी अथवा अमलतास), वचा, सैन्धव, पिप्पली, इन्द्रजौ, खीरा तथा मदनफल के बीज ·······इत्यादि का कल्क बनाये। फिर पूर्व की ओर मुख कराकर उत्तम आसन पर रोगी को बिठाकर वैद्य उस कषाय का जो न अत्यन्त गाढ़ा हो, न अत्यन्त उष्ण तथा न अत्यन्त शीत हो—आलोडन करके पूर्वोक्त ग्रहघ्नी आदि के कल्क के साथ कण्ठ पर्यन्त पिलाये। अथवा ५-६ काल के बाद अरिष्ट पिलाये इसके बाद उत्पल (नील कमल) तथा कुमुद·····(आदि की नाल बनाकर उस से कण्ठ को स्पर्श करते हुए सुखपूर्वक वमन कराये), उत्पन्न हुए वेग को न रोके, वमन के वेगों के बीच में विश्राम न करे। पार्श्वों को सिकोड़ कर थोड़ा आगे को झुक कर वमन के लिये बैठना चाहिये (जिससे सुखपूर्वक वमन हो सके)। चरक सू० अ० १५ में वमन का निम्न विधान दिया है—"ततस्तं पुरुषं स्नेहस्वेदोपपन्नमनुपहतमनसमभिसमीक्ष्य सुखोषितं सुप्रजीर्णभक्तं शिरःस्नातमनुलिप्तगात्रं स्रग्विणमनुपहतवस्त्रसंवीतं देवताग्निद्विजगुरुवृद्धवैद्यानर्चितवन्तं, इष्टे नक्षत्रतिथिकरणमुहूर्ते कारयित्वा ब्राह्मणान् स्वस्तिवाचनं प्रयुक्ताभिराशीर्भिरभिमन्त्रितां मधुमधुकसैन्धवफाणितोपहितां मदनफलकषायमात्रां पाययेत्"। तदनन्तरं-"पीतवन्तं तु खल्वेनं मुहूर्तमनुकाङ्क्षेत्। तस्य यदा जानीयात्स्वेदप्रादुर्भावेण दोषं प्रविलयनमापद्यमानं, लोमहर्षेण च स्थानेभ्यः प्रचलितं, कुक्षिसमाध्मापनेन च कुक्षिमनुगतं, हृल्लासास्यस्रवणाभ्यामपचितोर्ध्वमुखीभूतं, अथास्मै जानुसममसंबाधं सुप्रयुक्तास्तरणोत्तरप्रच्छदोपधानं स्वापाश्रयमासनमुपवेष्टुं प्रयच्छेत् ॥

वमनं तु द्वित्रिवेगं कनीयः, चतुष्पञ्चवेगं मध्यमं, षट्सप्तवेगमुत्तममिति कौत्सः, श·········
महतां कृशमध्यबलवतां योग्यमिति पाराशर्यः,
व्याध्यवेक्षमिति भूयांसः ॥

कौत्सने कहा—वमन की कनिष्ठ (लघु या अल्प) मात्रा में दो या तीन वेग होते हैं। मध्य मात्रा में चार-पांच वेग तथा उत्तम मात्रा में ६-७ वेग होते हैं। पाराशर ने कहा—

वमन की मात्रा कृश, मध्य. एवं बलवान् व्यक्ति के अनुसार होती है अर्थात् कृश व्यक्ति को कम तथा बलवान् व्यक्ति को अधिक वमन होना चाहिये । बहुत से विद्वान् कहते हैं कि भिन्न २ व्याधि (रोग) के अनुसार वमन की मात्रा होती है। चरक सि० अ० १ में वमन के वेगों के विषय में कहा है—'जघन्यमध्यप्रवरे तु वेगाश्चत्वार इष्टा वमने षडष्टौ' अर्थात् जघन्य (अवर) वमन में ४, मध्य में ६ तथा प्रवर (उत्कृष्ट) वमन में ८ वेग होने चाहिये । वमन में निकले हुए दोषों का प्रमाण क्रमशः १, १½ तथा २ प्रस्थ होना चाहिये अर्थात् अवर (निकृष्ट) वमन में १ प्रस्थ, मध्य में १½ प्रस्थ तथा उत्कृष्ट वमन में २ प्रस्थ होना चाहिये । सुश्रुत में यह मात्रा निम्न प्रकार से दी है—हीन वमन का प्रमाण ½ प्रस्थ, मध्य का १ प्रस्थ तथा उत्तम वमन का प्रमाण २ प्रस्थ होना चाहिये । यहां प्रस्थ १२½ पल का माना जाता है । कहा भी है। वमने च विरेके च तथा शोणितमोक्षणे । सार्धत्रयोदशपलं प्रस्थमाहुर्मनीषिणः ॥ अर्थात् वमन, विरेचन तथा रक्तनिर्हरण में प्रस्थ १२½ पल के बराबर होता है।

अथैनं वान्तमुष्णाभिरद्भिराचाम्य निवाते प्राक्शिरसं शाययित्वाऽपामार्गपिप्पलीशिरीषान्यतमतण्डुला······················रितविलम्बस्य कफस्याकर्षणार्थं संक्रम्य तिष्ठन् प्रतिश्यायशिरोरोगाद्यभिष्यन्दकर्णशूलकर्णपाकमन्याग्रहदन्तपुप्पुटकदन्तमूलशोथकण्ठगलग्रह·······················स्य मण्डादिदिवाजागरोष्णोदकोपचार उपदिष्टः पथ्यतमः । शृङ्गवेरशृतमुदकं पिपासितः पिबेदीषदुष्णम् । अल्पशोऽपि शीतं ह्यस्य प्रतिश्यायादीन् प्रको (पयति)···
······················कुष्ठहृल्लासज्वरारुचिनिद्रातन्द्रीरुपजनयति; तस्मादित्येतत् षड्वर्षादीनामर्थे तदुपदेक्ष्यामोऽतिबालो ह्यशक्त एनं विधिमनुष्ठानहिते चक्षुराख्याति न·······················दुपगृह्य देयमातङ्कशमनं विडङ्गमात्रं बदरास्थिमात्रं बदरमात्रमामलकमात्रमौषधं सर्वमेव संभृतं स्यात् । वमनोपगं विरेचनोपगं वा चातुर्मास्याष्टम······················

(इति ताडपत्रपुस्तके १४१ तमं पत्रम् ।)

·······पु सर्वाणि सशर्कराणीति **वृद्धकाश्यपः** । तेषां पलाध्यर्धपलद्वित्रिपलान्यालोडनानि युक्त्या वा ततो विधार्य भिषग्धात्री वा कुशला क्लृप्तनखयाऽङ्गुल्याऽन्त खात्रयवा······················
···········थ सर्पेण गौतमी वाऽङ्गुली हीना स्यात्रस्यमेकेनेति **वृद्धकाश्यपः**, अतिबालस्य सक्षौद्रशर्करमपामार्गतण्डुलद्वयं त्रयं वेति **वैदेहो जनकः** ॥

अथ खलु·······························नैरतिबाले हि भगवन् ! भिषग्वमनादीनि प्रयुञ्जानः कालमात्रावयोव्याधिबलाबलानामनभिज्ञो बालविनाशायात्मधर्मविनाशाय च संपद्यत इत्या (ह)············
·······································मिति

वार्योविदः, धात्रीगुरुत्वलघुत्वहेतोरिति **वात्स्यः**, धात्रीशर्मणि शिशुशर्मेति भूयांसः ॥

अथ भगवान् **कश्यपो**ऽब्रवीदसम्यगेतत् सर्वमप्यसाधकम······························मिति ॥

वमन हो जाने के बाद रोगी को उष्ण जल पिलाकर निवात (जहां हवा सीधी न आती हो) स्थान में पूर्व दिशा की ओर सिर करके सुला दे । फिर अपामार्ग, पिप्पली तथा शिरोष आदि में से किसी एक को चावलों के साथ मिलाकर शेष बचे हुए कफ को निकालने के लिये रोगी को सेवन कराये। क्योंकि अन्दर बचा हुआ कफ होने से प्रतिश्याय, शिरोरोग, अक्षिरोग, अभिष्यन्द, कर्णशूल, कर्णपाक, मन्याग्रह, दन्तपुप्पुटक, दन्तमूल शोथ (Gingivitis), कण्ठग्रह तथा गलग्रह इत्यादि रोग हो जाते हैं । चरक सू० अ० १५ में वमन के ठीक प्रकार न होने पर निम्न उपद्रव दिये हैं —तत्रातियोगायोगनिमित्तानिमानुपद्रवान् विद्यात्-आध्मानं परिकर्तिका परिस्रावो हृदयोपसरणमङ्गग्रहो जीवादानं विभ्रंशः स्तम्भः क्लमः, उपद्रवा इति । इसी प्रकार चरक सि० अ० ६ में भी कहा है। वमन कराने के बाद रोगी को मण्ड आदि का सेवन तथा दिन में न सोना और उष्ण जल आदि का उपचार पथ्य माना गया है। प्यास लगने पर आर्द्रक से पकाया गया कोष्ण जल पीने को देवे । यदि जल थोड़ा भी शीतल होगा तो वह उसके प्रतिश्याय आदि का प्रकोप कर देगा । चरक सू० अ० १५ में वमन के बाद निम्न पथ्य का विधान दिया है—योगेन तु खल्वेनं छर्दितवन्तमभिसमीक्ष्य सुप्रक्षालितपाणिपादास्यं मुहूर्तमाश्वास्य स्नैहिकवैरेचनिकोपशमनीयानां धूमानामन्यतमं सामर्थ्यतः पाययित्वा पुनरेवोदकमुपस्पृशेत् ॥' अर्थात् थोड़ा आश्वासन देकर उसे धूम्रपान कराये। तदनन्तर—"उपस्पृष्टोदकं चैनं निवातमागारमनुप्रवेश्य संवेश्य चानुशिष्यात्—उच्चैर्भाष्यमत्यासनमतिस्थानमतिचङ्क्रमणं क्रोधशोकहिमातपावश्यायातिप्रवातान् यानयानं ग्राम्यधर्ममस्वपनं निशि दिवा स्वप्नं विरुद्धाजीर्णासात्म्याकालप्रमितातिहीनगुरुविषमभोजनवेगसंधारणोदीरणमिति भावानेतान् मनसाऽप्यसेवमानः सर्वमहोरात्रमयस्वेति । स तथा कुर्यात् । अर्थात् वमन के बाद रोगी को ऊंचा बोलना आदि विषम भावों का त्याग कर देना चाहिये। अष्टाङ्गहृदय सू० अ० १८ में कहा है—सम्यग्योगेन वमितं क्षणमाश्वास्य पाययेत् । धूमत्रयस्यान्यतमं स्नेहाचारमथादिशेत् ॥ अत्यन्त छोटे बालक को प्रयोग कराया गया वमन कुष्ठ, हृल्लास (जी मचलाना), अरुचि, निद्रा तथा तन्द्रा को उत्पन्न करता है । इसलिये ६ वर्ष की अवस्था के बाद वमन का प्रयोग करना

चाहिये । अत्यन्त छोटा बालक अशक्त होने के कारण इस विधि का प्रयोग करने पर चक्षुरोग से पीडित हो जाता है । बालक को पकड़कर उसके रोग को शान्त करने के लिये विडङ्गफल, बेर की गुठली, बेर अथवा आंवले के प्रमाण के समान आवश्यकतानुसार ओषधि पिलानी चाहिये । इसी संहिता के सूत्राध्याय के लेहाध्याय में भी पूर्व बालक की ओषधि की मात्रा का निर्देश किया जा चुका है । वहां कहा है—विल (ड)ङ्गफलमात्रं तु जातमात्रस्य देहिनः । भेषजं मधुसर्पिर्भ्यां मतिमानुपकल्पयेत्॥ वर्धमानस्य तु शिशोर्मासे मासे विवर्धयेत् । अथामलकमात्रं तु परं विद्वान्न वर्धयेत् ॥ वृद्धकाश्यप ने कहा—बालकों को वमन एवं विरेचन में सहायता देने वाली सब ओषधियां चतुर्थ अथवा अष्टम मास में तथा उसमें शर्करा मिलाकर देनी चाहिये । वह वमनद्रव्य युक्तिपूर्वक तथा आवश्यकतानुसार एक, डेढ़, दो अथवा तीन पल अच्छी प्रकार पानी में मिलाकर पिला दें । तथा उसके बाद वैद्य अथवा कुशल धात्री नाखून कटी हुई उंगली बालक के गले में डालकर अन्तर्मुख हुए वेगों को प्रवृत्त करे । चरक सू० अ० १५ में भी कहा है—'अथैनमनुशिष्यात्—विवृतौष्ठतालुकण्ठो नातिमहता व्यायामेन वेगानुदीर्णानुदीरयन् किंचिदवनम्य ग्रीवामूर्ध्वशरीरमुपवेगमप्रवृत्तान् प्रवर्तयन् सुपरिलिखितनखाभ्यामङ्गुलीभ्यामुत्पलकुमुदसौगन्धिकनालैर्वाकण्ठमभिस्पृशन् सुखं प्रवर्तयस्वेति ।' वैदेह जनक ने कहा—अत्यन्त छोटे बालक को मधु एवं शर्करा के साथ अपामार्ग के दो या तीन निस्तुष (छिलके उतरे हुए) बीज सेवन कराने चाहिये । (इसके आगे जिस आचार्य का मत दिया हुआ है उसका नाम लुप्त है)··················ने कहा—भगवन् ! काल, मात्रा, अवस्था तथा रोग के बलाबल से अनभिज्ञ वैद्य द्वारा अत्यन्त छोटे बालकों में वमन आदि का प्रयोग कराने पर उस बालक तथा चिकित्सक के अपने धर्म का भी नाश हो जाता है अर्थात् वैद्य के अज्ञान के कारण बालक को तो हानि उठानी ही पड़ती है, साथ २ वैद्य का अपना धर्म भी नष्ट हो जाता है क्योंकि इसके द्वारा वह पाप का भागी होता है । (इसके आगे वार्योविद का मत खण्डित है जो कि प्रसङ्ग के अनुसार धात्रीविषयक प्रतीत होता है) वात्स्य ने कहा—धात्री की गुरुता तथा लघुता के कारण बालक को रोग होते हैं इसी लिये अनेक आचार्यों का मत है कि धात्री के कल्याण (स्वस्थ) होने से शिशु भी स्वस्थ हो जाता है । इसके बाद भगवान् कश्यप ने कहा यह ठीक नहीं है—क्योंकि आप सब लोगों के मत पृथक् २ रूप में साधक नहीं है अर्थात् पृथक् २ रूप से किसी सिद्धान्त को स्थिर नहीं कर सकते हैं ।

तत्र श्लोकाः—

शिशोर्व्याधौ समुत्पन्ने धात्रीणामेव शोधनम् ।
अलं बालसुखायेति को लोके नावबुद्ध्यते ॥
यस्तु कायगतस्तस्य दोषाणां पूर्वसंचयः ।
अनुद्धृते कथं तस्मिन्··················
··················(व्याधिस्तस्य) प्रशाम्यति ॥
अनागतविघातस्तु न वर्धयति वाऽऽशयम् ।

इस तथ्य को कौन नहीं जानता है कि बालक को रोग होने पर धात्री का शोधन करने से ही बालक स्वस्थ हो जाता है । परन्तु बालक के शरीर में जो दोषों का पूर्वसंचय होता है उसे हटाये या दूर किये विना उसका रोग किस प्रकार शान्त हो सकता है । उससे बालक के भविष्य का विघात (नाश) हो जाता है तथा उसके आशय (शरीर आदि) की वृद्धि नहीं होती है । अर्थात् स्वयं बालक का शोधन भी इसलिये आवश्यक है ।

उभयोस्तु यदा सम्यक् शोधनं कुरुते भिषक् ॥
तदाऽऽरोग्यं भवत्याशु शिशोर्लेखा यथाऽश्मनि ।

जब वैद्य इन दोनों (धात्री तथा बालक) का अच्छी प्रकार शोधन करता है तब शिशु को शीघ्र ही आरोग्य लाभ हो जाता है । यह बात पत्थर की लकीर के समान सत्य है ।

दोषाणामाशयो धात्री भूधराः सरिता(मिव) ॥
·································· ।
··················रोभूतो दोषो बालं प्रबाधते ॥
तयोः संशोधनमृते न शान्तिरिति धारणा ।

जिस प्रकार पर्वत नदियों के आशय (उद्गम स्थान) होते हैं उसी प्रकार धात्री (शिशु के) दोषों का आशय होती है । प्रकुपित हुए दोष धात्री से बालक में पहुंचकर उसे कष्ट पहुंचाते हैं । इसलिये उन दोनों का संशोधन किये बिना निश्चित रूप से बालक के रोगों की शान्ति नहीं होती है ।

स्वयं छर्दयते यस्तु पीतं पीतं पयः शिशुः ॥
न तं कदाचिद्बाधन्ते व्याधयो दैवमानुषाः ।

जो बालक बार २ दुग्ध का पान करके स्वयं वमन कर देता है उसे दैवी (ग्रह आदि से उत्पन्न होने वाली) तथा मानुषी (मनुष्य—सुलभ) व्याधियां कभी कष्ट नहीं देती हैं ।

स्तनमौ··················
··················रार्यते ॥
मुखपाकं च बालानां कुर्याद्धात्र्या ज्वरं तथा ।
तस्माद्बलादिवाचूच्या दद्यादेवौषधं शिशोः ॥

स्तन (स्तन के द्वारा निकलने वाले दूध) के द्वारा दोष बालक में पहुंच जाता है और बालकों को मुखपाक एवं धात्री को ज्वर इत्यादि कर देता है । इसलिये बालक को बल पूर्वक चूचक (स्तन के दूध) के द्वारा ही ओषधि देनी चाहिये ।

अथ खलु विधिवदुपस्निग्धस्विन्नसुखोषितजीर्णाहार··································

(द)न्तीश्यामाकम्पिल्लकनीलिकासप्तलावचाविषाणिका-
दीनां पूर्वोक्तानां लाभतः कर्षिणां भागानर्धपलिनां वा
प्रस्थद्विप्रस्थमात्रीष्वप्सु चतुर्भागावशेष..........
मूत्रसंयुक्तं नातिद्रवोष्णशीतं पाययेत् कालबलवयोगदा-
वेक्ष्य। बालं तु पूर्ववदाङ्कूकेन प्रपाययेन्नवनीतेन वा
सार्धमेतं लेहयेत्तपश्चित्तं नित्यं द्वित्रिवेगं चतु......
....

(इति ताडपत्रपुस्तके १४६ तमं पत्रम् ।)

मेकद्वित्रिप्रस्थम् । अत ऊर्ध्वमतियोगमाचक्षते । तत्रापि वमनवदुपचारः सर्व इति ॥

अब विरेचन की विधि का वर्णन किया जायगा। वमन कराने के १५ दिन बाद विरेचन देना चाहिये। सुश्रुत में कहा है-'पक्षाद्विरेको वान्तस्य'। इन १५ दिनों में रोगी को पेयादि का सेवन तथा स्नेहन एवं स्वेदन आदि कराना चाहिये। इस के बाद जिस का विधिपूर्वक स्नेहन एवं स्वेदन किया गया है, जो रात्रि को सुखपूर्वक सोया है, जिस का पूर्व भोजन पच गया है उसे पूर्वोक्त दन्ती (जमालगोटा), श्यामा (त्रिवृत्), कम्पिल्ल (कमीला), नीलिका, सप्तला (सातला), बचा तथा विषाणिका (अजश्रृंगी) आदि में से जो मिल सके उन की एक कर्ष या आधापल (२ कर्ष) मात्रा को एक या दो प्रस्थ पानी में पकाकर चतुर्थांश शेष रहने पर...उसमें गोमूत्र मिलाकर न अत्यन्त द्रव, न अत्यन्त उष्ण तथा न अत्यन्त शीत अवस्था में काल (समय), बल, अवस्था एवं रोग के अनुसार उसे पिलाये। चरक सू० अ० १५ में विरेचन विधि निम्न प्रकार दी है—'अथैनं पुनरेव स्नेहस्वेदाभ्यामुपपाद्यानुपहतमनसमभिसमीक्ष्य सुखोषितं सुप्रजीर्णभक्तं कृतहोमबलिमङ्गलजप्यप्रायश्चित्तमिष्टतिथिनक्षत्रकरणमुहूर्ते ब्राह्मणान् स्वस्ति वाचयित्वा त्रिवृत्कल्काक्षमात्रां यथार्हालोडनप्रतिविनीतां पाययेत् प्रसमीक्ष्य दोषभेषजदेशकालबलशरीराहारसात्म्यसत्त्वप्रकृतिवयसामवस्थान्तराणि विकारांश्च। सम्यग्विरिक्तं चैनं वमनान्तरोक्तेन धूमवर्जेन विधिनोपपादयेदाबलवर्णप्रतिलाभात्। बलवर्णोपपन्नं चैनमनुपहतमनसमभिसमीक्ष्य सुखोषितं सुप्रजीर्णभक्तं शिरःस्नातमनुलिप्तगात्रं स्रग्विणमनुपहतवस्त्रसंवीतमनुरूपालङ्कारालङ्कृतं सुहृदां दर्शयित्वा ज्ञातीनां दर्शयेत्, अथैनं कामेष्ववसृजेत् ॥ बालक को पूर्ववत् शंखाकृति पात्र के द्वारा ओषधि का कषाय बनाकर पिलादे—अथवा मक्खन में मिलाकर या मलाई के साथ चटादे। विरेचन के सम्यक् योग में दो तीन या चार वेग आने चाहिये अर्थात् हीन वेग दो, मध्य वेग तीन तथा उत्कृष्ट वेग चार होने चाहिये।..........अथवा प्रमाण के अनुसार वे क्रमशः १, २ या ३ प्रस्थ होने चाहिये। यहां यह स्मरण रखना चाहिये कि चरक सिद्धि० अ० १ में "दशैव ते द्वित्रिगुणा विरेके प्रस्थास्तथा द्वित्रिचतुर्गुणाश्च" द्वारा विरेचन के वेगों की जो १०, २० तथा ३० संख्या तथा विरेचन का प्रमाण दिया है वह पूर्ण युवा पुरुष (Adult) के लिये है। यहां इस संहिता में जो २, ३ तथा ४ वेगों की संख्या दी है वह बालकों के लिये दी गई है। इस से अधिक वेग होने पर विरेचन का अतियोग कहलाता है। विरेचन के बाद भी वमन के समान ही सम्पूर्ण उपचार करना चाहिये। चरक सू० अ० १५ में कहा है सम्यग्विरिक्तं चैनं वमनान्तरोक्तेन धूमवर्जेन विधिनोपपादयेदाबलवर्णप्रतिलाभात्।" अर्थात् विरेचन के सम्यक् प्रकार से होजाने के बाद धूम्रपान को छोड़ कर वमन में कहे गये विधान के अनुसार कर्म करे जब तक कि उस संशोध्य पुरुष में बल एवं वर्ण की प्राप्ति न हो जाय। परन्तु इसे विरिक्त पुरुष के समान धूम्रपान कराना निषिद्ध है।

तत्र श्लोकाः—

पित्तान्तं वमनं कुर्यात् कफान्तं च विरेचनम् ।
स्वयं चोपरतं श्रेष्ठमनाबाधं त.......... ॥

चिकित्सक लोग पित्तान्त वमन तथा कफान्त विरेचन को, जो कि स्वयं रुक जाते हों तथा बाधा (उपद्रव) रहित हों—श्रेष्ठ मानते हैं। अर्थात् वमन इतना होना चाहिये जिस में अन्तिम वेग में पित्त आजाय तथा विरेचन इतना होना चाहिये जिस में अन्तिम वेग में कफ आजाय। चरक सि० अ० १ में कहा है—'पित्तान्तमिष्टं वमनं विरेकादर्धं कफान्तं च विरेकमाहुः।' सम्यक् प्रकार से शुद्धि होने के बाद वमन एवं विरेचन के प्रवृत्त हुए वेगों का स्वयं रुक जाना तथा विशेष कष्ट न होना आवश्यक है अन्यथा शोधन का अतियोग होजायगा। चरक सू० अ० १६ में कहा है—काले प्रवृत्तिरनतिमहती व्यथा यथाक्रमं दोषहरणं स्वयं चानवस्थानमिति योगलक्षणानि भवन्ति"। अर्थात् उचित काल में वेगों का प्रवृत्त होना, अत्यधिक कष्ट न होना, क्रमशः दोषों का निकलना तथा शुद्धि हो जाने पर वेगों का स्वयं रुक जाना–सम्यक् योगके लक्षण होते हैं। वमन में दोषों के निकलने का क्रम चरक सि० अ० १ में कहा है—'क्रमात्कफः पित्तमथानिलश्च यस्यैति सम्यग्वमितः स इष्टः।' इसी प्रकार सुश्रुत चि० अ० ३३ में कहा है। विरेचन में दोषों के निकलने का क्रम—चरक सि० अ० १ में कहा है—'प्रास्तिश्च विट्पित्तकफानिलानां सम्यग्विरिक्तस्य भवेत् क्रमेण।' इसी प्रकार सुश्रुत चि० अ० ३३ में कहा है—एवं विरेचने मूत्रपुरीषपित्तौषधकफाः।' अर्थात् इसमें पहले पित्त तथा अन्त में कफ निकलता है। इस प्रकार आमाशय के खाली हो जाने पर वमन तथा विरेचन दोनों में अन्त में वायु निकलता है। वायु तो अन्त में स्वाभाविक रूप से निकलेगा ही। इस का दोषों में परिगणन नहीं किया गया है। इसी लिये चरक संहिता के सूत्रस्थान में वायु का निर्देश होने पर भी इस प्रकृत ग्रन्थ (काश्यपसंहिता) तथा चरक संहिता के सिद्धि स्थान में वमन को 'पित्तान्त' तथा विरेचन को 'कफान्त' कहा गया है।

..............न तु वेगान् विधारयेत्।

प्रवृत्त हुए वमन तथा विरेचन के वेगों को रोकना नहीं चाहिये। वेगों को धारण न करने का चरक में विस्तार पूर्वक-

वर्णन किया गया है। वहां 'न वेगान्धारणीय' नामक एक पूरा अध्याय ही दिया गया है जिसमें प्रवृत्त हुए वेगों को धारण करने का निषेध किया गया है तथा उन्हें धारण करने से उत्पन्न रोग एवं उन की चिकित्सा का वर्णन किया गया है। उपर्युक्त अध्याय (चरक सू० अ० ७) में कहा है—न वेगान्धारयेद्धीमाञ्जातान्मूत्रपुरीषयोः । न रेतसो न वातस्य न वम्याः क्षवथोर्न च ॥ नोद्गारस्य न जृम्भायाः न वेगान् क्षुत्पिपासयोः । न वाष्पस्य न निद्राया निःश्वासस्य श्रमेण च ॥ यहां विरेचन (पुरीष) तथा वमन का प्रकरण है पुरीष के वेग को रोकने से जो रोग (उपद्रव) हो जाते हैं वे चरक सू० अ० ७ में निम्न दिये हैं—पक्वाशयशिरःशूलं वातवर्चोनिरोधनम् । पिण्डिकोद्वेष्टनाध्मानं पुरीषे स्याद्विधारिते॥ वमन के वेग को रोकने से निम्न रोग उत्पन्न हो जाते हैं—कण्डूकोठारुचिव्यङ्गशोथपाण्ड्वामयज्वराः । कुष्ठहृल्लासवीसर्पश्छर्दिनिग्रहजाः गदाः ॥

हस्तस्वेदं च शूलेषु बालकानां विधापयेत् ॥
षड्वर्षप्रभृतीनां तु पटस्वेदः प्रशस्यते ।

बालकों को यदि शोधन काल में शूल होतो उन्हें हस्तस्वेद देना चाहिये अर्थात् हाथों को गरम करके उन के द्वारा स्वेदन करना चाहिये। तथा ६ वर्ष से अधिक अवस्था वाले बालकों में पटस्वेद दिया जाना चाहिये। वस्त्र द्वारा स्वेदन करने में इस बात का पूर्ण रूप से ज्ञान नहीं होसकता है कि बालक को कितना स्वेद दिया जा रहा है। छोटे बालकों में अधिक स्वेदन नहीं किया जाना चाहिये इसीलिये उन में हस्तस्वेद का विधान किया गया है। इस प्रकार स्वेदन करने पर इस बात का पूर्ण ज्ञान हो सकता है कि बालक को कितना स्वेद पहुंच रहा है। हाथों द्वारा दिये गये स्वेदन को हम पूर्णरूप से नियन्त्रित (Regulate) कर सकते हैं। प्रकृत ग्रन्थ के सूत्रस्थान के स्वेदाध्याय में चार-मास तक के बालक के लिये हस्तस्वेद का विधान दिया गया है। कहा है—जातस्य चतुरो मासान् हस्तस्वेदं प्रयोजयेत् । अप्रमादी निवातस्थो विधूमाग्न्यूष्मणा शनैः ॥ निवर्तमाने बालस्य सौकुमार्ये यथाक्रमम् । प्रवर्तमाने काठिन्ये तेषां स्वेदं प्रवर्धयेत् ॥

अथ खल्वतिबृंहणादतिरौक्ष्यादतिकार्श्यादतिमांसमेदो······················(ऽ)त्यल्पौषधत्वादौषधस्यातिघनत्वादतिद्रवत्वादत्युष्णत्वादतिशीतत्वादतिमधुरत्वादतिकटुत्वादतिलवणत्वादतिकषायत्वादत्यम्लत्वादतिक्षारत्वादतिबीभत्सरूपरसगन्ध(त्वात्)························स्य पीतौषधस्य वा प्रचलायतः प्रस्वपतोऽन्यमनसः शीतवातशीतगृहशीतोदकशीताम्बरोपसेवनादुपानत्पादुकाग्निवर्जनाद्वेगविधारणाद्वेगप्रेरणात्······················(वमनविरेच) नौषधानां दुर्योगातियोगावुत्पद्येते; तयोर्लक्षणानि भवन्ति—आध्मानप्रतिश्यायविबन्धहृदयोपग्रहशूलपरिकर्तिकाच्छर्दिशिरोग्रहप्रवाहिकाहिक्काश्वासकासतालुशोषकण्ठ···························(मुखवै)रस्यनिष्ठीविकोरोघातज्वरविषादस्रोतोमलप्रादुर्भावा दुर्योगलक्षणोपद्रवाः । श्रमदौर्बल्यविषादमोहस्मृतिश्रोत्रभ्रंशवाक्तनुत्वविप्रलापजीवादानपक्वाशयशूलाप्लवन··························मुखहृदयशोषमन्यापार्श्वाक्षेपहृदयकम्पकेशमुखाङ्गरूक्षताकटिबस्तिवङ्क्षणशूलमेढ्रदाहगुदशूलपाकभ्रंशातीसारोरुकम्पजानुघातजङ्घावा······च महागदा अतियोगादुत्पद्यन्ते ॥

वमन तथा विरेचन के अयोग तथा अतियोग के कारण—अतिबृंहण, अतिरूक्ष, एवं अतिकृशता से तथा मांस और मेद·· की अधिकता से, ओषधि के अत्यल्प, अत्यन्त गाढा (सान्द्र), अत्यन्त द्रव, अत्यन्त उष्ण, अत्यन्त शीत, अत्यन्त मधुर, अत्यन्त कटु, अत्यन्त लवण, अत्यन्त कषाय, अत्यन्त अम्ल और अत्यन्त क्षारयुक्त होने से तथा ओषधि के रूप, रस एवं गन्ध के अत्यन्त बीभत्स होने से···, पी हुई ओषधि के अपने स्थान से प्रचलित हो जाने से, दिन में सोने से, अन्यमनस्क होने से (मन के दूसरी ओर लगा होने से), शीतल वायु, शीतलगृह, शीतलजल तथा शीतल वस्त्रों के सेवन से, जूते—खड़ाऊं तथा अग्नि के त्याग से, प्रवृत्त वेगों के धारण करने से तथा अप्रवृत्त वेगों को प्रवृत्त करने इत्यादि के द्वारा ··वमन एवं विरेचक ओषधि का दुर्योग (अयोग) तथा अतियोग हो जाता है। उन के निम्न लक्षण होते हैं। अयोग के लक्षण—आध्मान, प्रतिश्याय, विबन्ध, हृदयोपग्रह, शूल, परिकर्तिका, छर्दि शिरोग्रह, प्रवाहिका, हिक्का, श्वास, कास, तालुशोष, कण्ठ··· एवं मुखवैरस्य, बार २ थूक आना, उरोघात, ज्वर, विषाद, तथा स्रोतों के अयोग के लक्षण एवं उपद्रव हैं। अतियोग के लक्षण—श्रम, दौर्बल्य, विषाद, मोह स्मृतिभ्रंश, जीवादान (जीव—शुद्ध रक्त का निकलना), पक्वाशय में शूल, आप्लवन,···मुखशोष, हृदयशोष, मन्याश्रय, पार्श्वाक्षेप, हृदय का कांपना, केश, मुख एवं अङ्गों की रूक्षता, कटि, बस्ति तथा वंक्षण (Groin) में शूल, मेढ्दाह, गुदशूल, गुदपाक, गुदभ्रंश (Prolapse of Rectum), अतिसार, ऊरुकम्प, जानुघात···इत्यादि महारोग—अतियोग से हो जाते हैं। चरक सू. अ. १५ में इन अयोग तथा अतियोग के लक्षण एकत्र ही किये गये हैं। कहा है—तत्रातियोगायोगनिमित्तानिमानुपद्रवान् विद्यात्, आध्मानं परिकर्तिका परिस्रावो, हृदयोपसरणमङ्गग्रहो जीवादानं विभ्रंशः स्तम्भः क्लम उपद्रवा इति ' चरक सि. अ. ६ में भी कहा है।

वमनं च विरेकाय, विरेको वमनाय ।
यदा भवति तं प्राहुरतियोगविपर्ययम् ॥

जब वमन कराते हुए विरेचन हो जाय तथा विरेचन कराते हुए वमन होजाय तब उसे अतियोग के कारण जानना

चाहिये। चरक सि. अ. ६ में कहा है-श्लेष्मोत्क्लिष्टेन दुर्गन्धमहृद्यमति वा। बहु विरेचनमजीर्णे च पीतमूर्ध्वं प्रवर्तते॥ क्षुधार्तमृदुकोष्ठाभ्यां स्वल्पोत्क्लिष्टकफेन वा। तीक्ष्णं पीतं स्थितं क्षुब्धं वमनं स्याद्विरेचनम्॥ अर्थात् अतियोग में विरेचन वमन के रूप में तथा वमन विरेचन के रूप में निकल आती है॥

क्रूरकोष्ठेऽनुपस्निग्धेऽल्पेनौषधेन मृदुना ·················(प्रति)श्यायानाहकफप्रसेकाः। सश्लेष्मणि ज्वरेऽतीसारे चौषधं कुर्वतो विबन्ध उत्पद्यते मृद्वल्पौषधेन वा। अतिविस्रंसनाद्गुदभ्रंशानिलप्रकोपसंज्ञानाश ········ (परि)कर्तिकाः। स्नेहस्वेदहीनस्याजीर्णे पिबतश्चौषधं प्रवाहिकाशूलच्छर्दिहिक्काध्मानश्वासकासारोचकहृल्लासग्रहाः। अतिस्निग्धस्य शूलतन्द्रीनिद्रागुदस्रावशिरो··· ················

(इति ताडपत्रपुस्तके १४७ तमं पत्रम्।)

दाहौष्ठसंवेष्टाग्निसादयक्ष्माणः। वेगविधारणाद्दोषत्रयप्रकोपश्चाल्पजीवादानोन्मादभ्रमाः। स्नेहस्वेदोपपन्नं मृदुकोष्ठमपि बहुनौषधेन य उपक्रमते तस्यौषधं जीवादानाय(संपद्यते)··············गुणमवाप्नोत्यनिलं चास्य प्रकोपयति; स प्रकुपितः प्रलापोन्मादहिक्काश्वासकासतालुशोषतृष्णाशूलबाधिर्यवाग्ग्रहबीजोपघाततिमिरपुष्पोपघाताय(संपद्यते)························ मतिलवणमतिकषायमतिप्रतान्तकालमनुदीरितमवशेषितमौषधं वमनीयमुपकल्पितमस्य विरेचनाय संपद्यते। अजीर्णे सश्लेष्मणि वाऽतिद्रवमतिशीत············ यतो वा विरेचनं वमनाय संपद्यते; तमौषधविपर्ययमाचक्षतेऽतियोगं च। स्नेहनिरूहयोश्चोर्ध्वभावं च दोषाणां मन्दप्रवृत्तिर्दुर्योगोऽप्रवृत्तिरयोगः। तयो····· शोध(न)मिष्यते निरूहो वा। त(द)स्य परिकर्तिकाध्मानपरिस्रावाटोपशूलनिद्रातिविषादरोगोपशमाय भवति। त्रिफलाचित्रकोरुपूगदन्तीश्यामासिद्धं चैनं घृतं पाययेत् प्रयोगेण; (अथवा जीवनीयौषधसिद्धं सर्पिस्तैलं पयो वा बस्तिना दद्याद् विबन्धाटोपशूलपरिस्रावप्रवाहिकामारुतोपशान्तये)[1]···················· त्रिफलाकाश्मर्यमृद्वीकागन्धत्वङ्मूलशृतं वा पयो विबन्धपरिस्रावयोर्बस्तौ प्रशस्यते। गन्धर्वतैलं चास्यानुवासने प्रशस्यते सर्वानिलामयोपशमनं सिद्धं वा गन्धर्वकषायेण हिङ्गुदारु दारुबिल्वशलाटुपथ्यापूतिककल्केनाम्लकाञ्जिकयोपसिद्धेन पूर्ववदेवानुवासनं सर्वोपद्रवशमनमाहुरेतद्गन्धर्वतैमित्युच्यतेऽनुवासनीयमिति॥

जिसका कोष्ठ क्रूर है तथा जिसे अच्छी प्रकार स्नेहन नहीं किया गया है ऐसे व्यक्ति को अल्प तथा मृदु औषध से भी···प्रतिश्याय, आनाह तथा कफ प्रसेक हो जाते हैं। श्लेष्मा के प्रकोप, ज्वर तथा अतिसार में औषध का प्रयोग करने पर अल्प एवं मृदु औषध से भी विबन्ध हो जाता है। अतिविरेचन से गुदभ्रंश (Prolapse of Rectum), वात प्रकोप, संज्ञानाश,···तथा परिकर्तिका रोग हो जाते हैं। स्नेहन तथा स्वेदन से रहित व्यक्ति को तथा अजीर्ण (भोजन के न पचने पर) में औषध का सेवन करने से प्रवाहिका, शूल, छर्दि, हिक्का, आध्मान, श्वास, कास, अरुचि, हृल्लास (जी मचलाना) तथा हृद्ग्रह रोग हो जाते हैं। अत्यन्त स्नेहन करने से शूल, तन्द्रा, निद्रा, गुदस्राव, शिरो···(भ्रम), दाह, ओष्ठसंवेष्ट (गुदौष्ठ-Shhincter aiumuscles में ऐंठन होना), अग्निमांद्य तथा यक्ष्मारोग हो जाते हैं। वेगों को रोकने से तीनों दोषों का प्रकोप, थोड़ा जीवरक्त (शुद्ध रक्त) का निकलना, उन्माद तथा भ्रमरोग हो जाते हैं। अच्छी प्रकार स्नेहन तथा स्वेदन किये हुए भी मृदुकोष्ठ व्यक्ति को अधिक औषध का सेवन कराने से रोगी का जीवरक्त निकलने लगता है, गुण की वृद्धि होती है तथा वायु प्रकुपित हो जाता है, वह प्रकुपित हुआ वायु, प्रलाप, उन्माद, हिक्का, श्वास, कास, तालुशोष, तृष्णा, शूल, बधिरता, वाग्ग्रह (वाणी का जकड़ा जाना), बीजोपघात (वीर्य का दूषित होना), तिमिर (नेत्ररोग) तथा पुष्पोपघात (आर्तव दुष्टि) आदि रोग उत्पन्न कर देता है। जब वमन के लिये प्रयुक्त की हुई अत्यन्त लवण एवं अत्यन्त कषाय रसयुक्त, लगातार बहुत समय तक प्रयुक्त की हुई, अनुदीरित तथा अवशिष्ट (बची हुई) औषधि विरेचन कराती है, तथा जब विरेचन के लिये प्रयुक्त की हुई औषधि अजीर्ण तथा श्लेष्मा की अधिकता में प्रयुक्त कराने और अत्यन्त द्रव तथा शीत होने से वमन कराये तब उसे औषध विपर्यय अथवा ओषधि का अतियोग कहा जाता है। स्नेहन (अनुवासन स्नेह) तथा निरूह (आस्थापन बस्ति) के ऊर्ध्वभाव होने पर अर्थात् लौटकर नीचे न आने से दोषों की प्रवृत्ति मन्द होती है उसे औषध का दुर्योग, अप्रवृत्ति अथवा अयोग कहते हैं। उन दोनों में (अर्थात् औषध के अतियोग तथा अयोग में) रोगी का शोधन कराना चाहिये अथवा निरूह बस्ति देनी चाहिये। इससे उसके परिकर्तिका, आध्मान, परिस्राव (गुदा से स्राव होना), आटोप, शूल, निद्रा, अतिविषाद आदि रोगों की शान्ति हो जाती है। उसे त्रिफला, चित्रक, उरुपूग (एरण्ड), दन्ती तथा त्रिवृत् से सिद्ध घृत का प्रयोग के अनुसार सेवन कराये (अथवा विबन्ध आटोप, शूल, परिस्राव, प्रवाहिका तथा वायु की शान्ति के लिये उसे जीवनीय ओषधियों से सिद्ध घृत, तैल अथवा दूध का बस्ति के द्वारा प्रयोग कराये)··· अथवा त्रिफला, गंभारी, मुनक्का तथा गन्धपाषाण-आदि की

[1] अथेत्यादिर्मारुतोपशान्तये इत्यन्तो भागो मूषकदंशलुप्तोऽपि आदर्शताडपत्रपुस्तके प्रान्तभागे कुतश्चिदानीय पूरितो दृश्यते।

त्वचा एवं मूलों से सिद्ध दूध का विबंध तथा परिस्राव में बस्ति के रूप में प्रयोग करे। सम्पूर्ण वात रोगों की शान्ति के लिये रोगी को अनुवासन के लिये गन्धर्व (एरण्ड) कषाय से सिद्ध गन्धर्व तैल (एरण्ड तैल) का प्रयोग कराना चाहिये। हींग, दारुहरिद्रा···देवदारु, बिल्वशलाटु (कच्चा बिल्व), पथ्या (हरड़) तथा पूतिक (लताकरञ्ज) के कल्क एवं खट्टी कांजी से सिद्ध तैल का पूर्ववत् अनुवासन सब उपद्रवों को शान्त करता है। यह गन्धर्व तैल कहलाता है इसका अनुवासन करना चाहिये ॥

तत्र श्लोकाः—

·····································।
···मानस्य तथाऽतिमात्रं शीताम्भसा लेहनमेव पथ्यम्॥
तथोभयोः शीतकषायपान·······················
घृतेन चैनं सशिरस्कमाशु दिग्धं सुशीतेन जलेन सिञ्चेत्॥
पादौ च धाव्यौ शिशिरो(दकेन)·····················
····································ष्टः।

··दोनों में अर्थात् वेगों के अतियोग तथा उपयोग में अत्यन्त शीतल जल के साथ उपर्युक्त औषधियों का लेहन कराना चाहिये और शीतल कषाय का पान कराना चाहिये। ···सिर सहित सम्पूर्ण शरीर पर घृत की मालिश कर के उसे शीतल जल का सिञ्चन (परिषेचन) कराये तथा शीतल जल से पैरों को धोये ॥

सकट्फलं पद्मयवासमोचं सकेशरोशीरसमञ्ज्युक्तम्॥
एतैः सुपिष्टैः शिशिराम्बुयुक्तैः कल्कैस्तथा शीतपयोद्रुमाणाम्
प्रलिप्यमानं सशिरस्कपादं सं·····················॥
·····················श्च शय्याशनपानभोज्यैः।
संस्थापयेदत्ययमाशु विद्वान् गृहं यथा प्रज्वलितैकदेशम्॥

कट्फल, पद्म (कमल), यवासा, मोचरस, केशर (नागकेसर), खस तथा मंजीठ इत्यादि को शीतल जल से पीसकर अथवा शीतल दूध वाले वृक्षों के कल्कों के सहित रोगी के सिर से लेकर पैर तक लेप करना चाहिये। तथा···शीतल शय्या (सोने का स्थान), शीतल आसन (बैठने का स्थान), शीतल पान (पीने की वस्तु) तथा शीतल भोजनों के द्वारा, जिस प्रकार एक भाग जले हुए घर की रक्षा की जाती है उसी प्रकार विद्वान् वैद्य को चाहिये कि उस रोग को भी शीघ्र ही शान्त करे ॥

द्रव्यैस्तु तैरेव यथोपपत्त्या शृते जले छागपयोऽर्धमिश्रे।
संस्कृत्य शाल्युत्तमलाजपेयां·····················॥

(इति ताडपत्रपुस्तके १४८ तमं पत्रम्।)

·····················द्रुते च्छर्दिरुदीर्यते हि।
अल्पाल्पकं चैव विलम्बितं च शीतं कषायं तु पिबेद्गरिष्ठम्॥

वमन के अयोग में उपर्युक्त द्रव्यों के साथ ही जल को पकाकर उसमें आधे परिमाण में बकरी का दूध डालकर उसके द्वारा शालि तथा उत्तम लाज (चावलों) की पेया सिद्ध कर के···रोगी को देने से वमन की शीघ्र ही प्रवृत्ति हो जाती है। यदि वमन का वेग बहुत थोड़ा २ तथा धीरे २ हो तो उसे शीतल कषाय पिलाना चाहिये ॥

फलाम्लवल्कश्च रसाञ्जनं च लोध्रं च तत्तण्डुलवारियुक्तम्।
पिबेद्विरेके वमनेन वृद्धे तेनाशु शान्तिं लभते (हि बालः)॥

वमन के द्वारा प्रवृद्ध विरेचन में अर्थात् वमन के अतियोग में जब विरेचन प्रारंभ हो जाय तब खट्टे फलों के छिलके, रसाञ्जन तथा लोध्र को चावलों के पानी के साथ पीसकर पिलाना चाहिये। इससे बालक को शीघ्र ही शान्ति प्राप्त हो जाती है ॥

·····································नाम्।
तत् स्थापनं श्रेष्ठमुदाहरन्ति कपित्थसिद्धश्च रसश्च मध्वा॥

·········इत्यादि औषधियां प्रवृत्त प्रवृत्त हुए २ वमन को रोकने में श्रेष्ठ मानी गई हैं अथवा कपित्थ का सिद्ध किया हुआ रस मधु के साथ देने से भी वमन का स्थापन (शमन) होता है॥

जम्ब्वाम्रवेतसपयोद्रुमाग्रैस्तोयं विपक्वमथ दुग्धमिश्रम्।
भूयः शृतं प्रवरमाहुरेतत् पाने तथा बस्ति(विधौ प्रयुक्तम्)॥

जामुन, आम, जलवेतस तथा क्षीरीवृक्षों के अग्रभाग द्वारा जल को पकाकर उसमें दूध मिलाकर पुनः पकाना चाहिये। यह पीने तथा बस्ति के द्वारा प्रयुक्त किया हुआ वमन के अतियोग में श्रेष्ठ माना गया है ॥

·····································घ्नमोचौ।
धातक्यथैतैरुदकं पयो वा शृतं यवागूश्च हिताऽतियोगे?
मांसानि मुख्यानि च जाङ्गलानि संस्कृत्य यूषाम्रसकापयश्च
साज्ये विदद्ध्यादतियोगशान्त्यै·····················॥

···वमन के अतियोग में घ्न(ग्रहघ्न-गौरसर्षप), मोचरस, धातकी (धाय के फूल अथवा हरीतकी) इत्यादि के द्वारा जल, दूध अथवा यवागू सिद्ध कर के देनी चाहिये। तथा तथा मुख्य जांगल पशुपक्षियों के मांस, यूष, आम्रसका(?) तथा दूध सिद्ध कर के तथा उसमें घी डालकर अतियोग की शान्ति के लिये देने चाहिये··· ॥

·····················सी विरेको गुदशूलपाकौ।
उपद्रवाश्चापि न कीर्तिता ये सर्वे शमं यान्ति भवत्यरोगः॥

···उपर्युक्त उपचार के द्वारा विरेचन, गुदशूल, गुदपाक आदि तथा अन्य भी जिनका उल्लेख नहीं किया गया हैं वे सब उपद्रव शान्त हो जाते हैं तथा रोगी रोगरहित हो जाता है ॥

स्वभ्यक्तगात्रस्य तु वातशूले स्वेदं यथायोग्यमुशन्ति वैद्याः।
पेयां पिबेद्दीपन·····················॥

वातिक शूल में शरीर अच्छी प्रकार मालिश कर के रोगी को वैद्य स्वेदन कराये तथा दीपन अग्नि को प्रदीप्त करने वाली) पेया का सेवन करना चाहिये ··· ॥

(इ)ति ह स्माह भगवान् कश्यपः ।

(इति सिद्धिस्थाने) वमनविरेचनीयासिद्धि-
(र्नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥)

ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था ।

(इति सिद्धिस्थाने) वमनविरेचनीयासिद्धि
(र्नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥)

नस्तःकर्मीयासिद्धिर्नाम चतुर्थोऽध्यायः ।

अथातो नस्तःकर्मीयां सिद्धिं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ २ ॥

अब हम नस्तःकर्मीय सिद्धिका व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था। अर्थात् इस अध्याय में नस्य या शिरोविरेचन का वर्णन किया जायगा। शिरोगत रोगों को नष्ट करने के लिये शिरोविरेचन दिया जाता है। नासिका शिर का द्वार है अतः शिरोगत रोगों के लिये नासिका के मार्ग से ही ओषधि दी जाती है। चरक सि. अ. ९ में कहा है– नस्तः कर्म च कुर्वीत शिरोरोगेषु शास्त्रवित् । द्वारं हि शिरसो नासा तेन तद्व्याप्य हन्ति तान् ॥ १-२ ॥

शोधनं पूरणं चैव द्विविधं नस्यमुच्यते ॥

नस्य दो प्रकार का होता है–१ शोधन २ पूरण (बृंहण)। चरक में नस्य के पूर्व–१ नावन २ अवपीड ३ ध्मापन (प्रधमन) ४ धूम ५ प्रतिमर्ष आदि ५ भेद देकर पुनः कर्म-भेद से उसके १ रेचन २ तर्पण ३ शमन तीन भेद दिये गये हैं। चरक सि. अ. ९ में कहा है–'एवं तद्रेचनं कर्म तर्पणं शमनं त्रिधा'। चरकोक्त तर्पण तथा अष्टाङ्गसंग्रह (सू० अ० २९) में दिया हुआ बृंहण नस्य इस ग्रन्थ में आये हुए पूरण नस्य को प्रकट करते हैं ॥

कफानिलाधिकत्वे ष··················· कवृश्चीकापिप्पलीक्ष्वाकुत्त्वकप्रवरकशिग्रुबीजशिरीष-बीजापामार्गबीजनक्तमालबीजलसुनबीजमयूरकसैन्धव-सौवर्चलवराङ्गत्वग्ज्योतिष्मतीविश्वभेषजानामन्यतमं द्वे त्रीणि··················(धौ)तायां दृषदि बीज-पूरकस्वरसमूर्च्छितमार्द्रकस्वरसमूर्च्छितं वा तयोर्वाऽन्य-तमं क्षौद्रमृद्वीकासंयुतमाङ्के समवाप्येषदुष्णं कृत्वाऽऽ-तुराय प्राक्शिरसे शयानायोन्न (तनासाग्राय)······ ····························गलधमनीमुखललाटना-सिकाशिरःश्मश्रुमुखमन्यादेशानहृतः स्वेदयित्वा भिष-ग्भिषगनुमतो वा वामेनाङ्गुष्ठेनावनम्य नासिकाग्रं शिरस्तो भवेद् दक्षिणे·················· ···························त्वन्यत्राल्पशोऽल्पशो दत्त्वा श्लेष्माणमाकर्षयेदभीक्ष्णं च हृदयादीनङ्गावयवान् स्वेद-येन् परिमृद्नीयादनु त्वल्पकफप्रसेचनात् । त्रिचतुष्पञ्च कृत्वेति वा··························तः शुष्क-चूर्णानि प्रधमनानि जिघ्रतो वस्त्रपुटिकाबद्धानि भवन्ति। क्षौद्रयुतानि त्ववपीडः स्यात् । मुखनासिकयोरलं कफं विघातयतीति परिषत् ॥

कफ तथा वायु की अधिकता में··· वृश्चीका (पृश्निपर्णी), पिप्पली, इक्ष्वाकु (कटुतुम्बी फल), त्वक (नकछिकनी), प्रवरक (अगरुकाष्ठ), सहिजने के बीज, शिरीष के बीज, अपामार्ग के बीज, अमलतास के बीज, लहसन के बीज, मयूरक (अपामार्ग), सैन्धव, सोंचल नमक, वराङ्ग (अम्ल-वेतस्), दालचीनी, ज्योतिष्मती (मालकंगनी) तथा विश्व-भेषज (सोंठ) इत्यादि में से जो दो या तीन ओषधियां मिल··· जांय उन्हें पानी से धोये हुए पत्थर पर पीसकर बिजौरे के रस अथवा आर्द्रक स्वरस में से किसी एक के साथ मूर्च्छित करके मधु तथा मुनक्के के साथ मिलाकर एक शंखाकृति पात्र में रखकर थोड़ा गरम कर लें। तब रोगी को पूर्व दिशा की ओर सिर करके तथा नासिका ऊपर करके लिटा दें।··· अब रोगी के गले के धमनियों के मुख, ललाट, नासिका, सिर, श्मश्रु (दाढ़ी मूंछ), मुख तथा मन्या प्रदेश को आवश्यकतानुसार स्वेदन करके वैद्य अथवा वैद्य से अनुमति प्राप्त कोई अन्य व्यक्ति बायें हाथ के अंगूठे से नासिका के अग्रभाग को सिर से थोड़ा झुकाकर दायें हाथ से पिचकारी के द्वारा··· थोड़ा २ करके स्नेह नासिका में डाले तथा श्लेष्मा को निरन्तर बाहर निका-लता जाय। इसके बाद बचे हुए श्लेष्मा का सेचन करने के लिये हृदय आदि अङ्गों का बार २ स्वेदन करे तथा धीरे २ मर्दन करे। इस प्रकार तीन, चार, पांच बार करे।··· उसके बाद वस्त्र की पोटली में बंधे हुए ओषधियों के शुष्क चूर्ण का प्रधमन नस्य देवे। उन्हीं में मधु मिलाकर अवपीड नस्य देना चाहिये। इनसे मुख एवं नासिका में स्थित कफ नष्ट हो जाता है। ऐसा विद्वानों का कथन है।

वक्तव्य—प्रधमन नस्य के विषय में चरक सि. अ. ९ में कहा है– चूर्णस्य ध्मापनं नाम देहस्रोतोविशोधनम् ।' अर्थात् चूर्ण का मुख की वायु अथवा यन्त्र आदि की सहायता से नासिका में फूंकना (Insufzation) प्रधमन या ध्मापन कहलाता है। यह देह के स्रोतों का शोधन करता है। अवपीड के लिये चरक सि. अ. ९ में कहा है– अवपीड्य यत्र कल्कादीनि दीयन्ते इत्यवपीडः।' अष्टाङ्गसंग्रह सू. अ. २९ में कहा है–'कल्कीकृता-दौषधादवपीडितः स्नुतो रसोऽवपीड इत्यपरेषाम् ।' अर्थात् ओषधियों के कल्क का अवपीडन करके जो नस्य दिया जाता है उसे अवपीड नस्य कहते हैं ॥

तैरेव कटुतैलमज्जामूत्रसिद्ध·················· ।

(इति ताडपत्रपुस्तके १४९ तमं पत्रम् ।)

बालाय धात्र्यङ्कगताय बलादुपगृह्य देयं; व्याधिर्ह्युपेक्ष्यमाणो विषवत् परिणमति, तस्मान्नातिद्रुतं नातिविलम्बितं नातिघनं नातितनुं नात्युष्णं नातिशीतं ·····
···············द्वा पिपासतः पीतवतो वा नापक्वे प्रतिश्याये नाजीर्णे न वातशिरोरोगज्वरयोर्न श्रमे न शिरःस्नातुकामस्य न सद्यःशिरःस्नातस्य न रजस्वलायाः·······························
कर्म विदध्यादन्यत्रात्ययात् । तत्रातिद्रुतं दत्तमौषधं प्राणानुपरुणद्धि, खानि चास्योपतप्यन्ते, श्वासकासहिक्कालालास्राववाग्ग्रहायासाश्चोत्पद्यन्ते ।··············
·········वाऽत्युष्णं दाहं व्रणान् दिवाकरावर्तं चोत्पादयति । अतिशीतं विष्टम्भयति । अतिबहु सकृदाशु प्रत्यागच्छति । अल्पं शश्वदावेजयति । अतिबहुशो वातप्रको···················(अ)तितीक्ष्णमजस्रं स्मृतिभ्रंशोन्मादवातादीन् प्रकोपयति । एतेनैवोपचारो व्याख्यातः ॥

उपर्युक्त ओषधियों को ही कटुतैल, मज्जा तथा गोमूत्र आदि में सिद्ध करके···उसका नस्य बालक को धात्री की गोद में बिठाकर उसे बलपूर्वक पकड़कर देना चाहिये। व्याधि की उपेक्षा करने पर उसका विष की तरह परिणाम होता है अर्थात् वह विष की तरह घातक सिद्ध होती है। इस लिये बालक को न अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक, न बहुत धीरे २, न अत्यन्त घना (सान्द्र–Consentrated), न अत्यन्त पतला, न अत्यन्त उष्ण तथा न अत्यन्त शीतल नस्य देना चाहिये। ···तथा यह नस्य कर्म अत्यन्त आत्ययिक अवस्था (Emergency) को छोड़कर साधारणतया प्यास होने पर, पानी पीने के बाद, अपक्व (नवीन) प्रतिश्याय में, अजीर्ण, वातरोग, शिरोरोग, ज्वर तथा श्रम में, शिरसहित स्नान करने की इच्छा वाले, जिसने अभी शिरसहित स्नान किया है तथा रजस्वला···को नहीं कराना चाहिये। चरक सि. अ. ९ में भी कहा है–अजीर्णे भुक्तभक्ते च तोयपीतेऽथ दुर्दिने । प्रतिश्याये नवे स्नाने स्नेहपानेऽनुवासने ॥ नावनं स्नेहनं रोगान्करोति श्लैष्मिकान्बहून् । रोगी को बहुत शीघ्रता से दी गई औषध उसके प्राणों का रोध कर देती है तथा उसके स्रोतों को पीडित करती है। उसे श्वास, कास, हिक्का, लालास्राव, वाग्ग्रह तथा आयास (परिश्रम–थकावट) आदि उत्पन्न हो जाते हैं।···अत्यन्त उष्ण नस्य से दाह, व्रण तथा सूर्यावर्त हो जाते हैं। अत्यन्त शीत से विष्टम्भ हो जाता है। एक साथ बहुत मात्रा में दिया गया नस्य शीघ्र ही वापिस आ जाता है। अल्पमात्रा में दिया गया नस्य निरन्तर क्लेश पहुँचाता है। बार २ दिया जाने से वायु प्रकुपित हो जाता है।···अत्यन्त तीक्ष्ण नस्य से निरन्तर स्मृतिभ्रंश, उन्माद तथा वात आदि प्रकुपित हो जाते हैं। इन्हीं के द्वारा इनका उपचार कह दिया गया है॥

अथ पीतवतो नस्यकर्मणा नासास्रावशिरोरोगगौरवकफप्रसेका···················पक्वे प्रतिश्याये घ्राणोपघातपूतिनाससोर्मीर(मिन्मिन ?) नासार्शांसि । अजीर्णप्रतिश्याये पार्श्वोपरोधकण्ठोद्ध्वंसकासश्वासच्छर्दिज्वरारोचकारतयः । शिरःस्नातस्य·····
················(ऽर्धा)वभेदकज्वराग्निनाशाः । वातज्वरादिषु तानेव रोगान् संतनोति । रजस्वलाया ऋतुर्व्यापद्यते । शुद्धस्नाताया योनिरुपशुष्यति । गर्भिण्या हीनाङ्गस्य··················पघातारोचकौ । बुभुक्षितस्य क्लमारुची । तृषितस्य कासश्वासकफच्छर्दयः। अथ खल्वेषां यथार्थमौषधमुपदेक्ष्यामः–रूक्षं स्निग्धं वोभयं हि नस्तःकर्म······················(ते)षां स्वं स्वं चिकित्सितमविरुद्धम् । अयं चात्र विशेषः–मृद्वीकादाडिमजम्ब्वाम्रमुस्तश्रृतं कषायं शीतं स्रुतं पूतं सक्षौद्रशर्करं पाययेच्छर्द्याम् । पूर्ववच्च··············
·········प्रशस्यते । रक्तशालिमुद्गमण्डसैन्धवोष्णभोजनं च स्वेदलङ्घनकवलग्रहावपीडष्ठीवनानि च धूपनधूमपाने च प्रतिश्याये लङ्घनमिति परिषत् ॥
जीर्णे·······························

(इति ताडपत्रपुस्तके १५० तमं पत्रम्)

जल पीने के बाद नस्य कर्म करने से नासास्राव, शिरोरोग, शरीर का भारीपन, कफप्रसेक इत्यादि हो जाते हैं।···पके हुए प्रतिश्याय में नस्य कर्म से घ्राण शक्ति का नाश, नासिका से दुर्गन्ध आना, सोर्मीर (?), मिन्मिन (मिनमिनाना) तथा नासार्श आदि हो जाते हैं। नवीन प्रतिश्याय में नस्य कर्म से पार्श्वोपरोध, कण्ठोद्ध्वंस, कास, श्वास, छर्दि, ज्वर, अरुचि तथा अरति (किसी चीज में मन न लगना) आदि हो जाते हैं। शिरसहित स्नान किये हुए में नस्यकर्म करने से···अर्धावभेदक (आधा सीसी–Hemicrania), ज्वर तथा अग्निनाश हो जाते हैं। वातज्वर आदि में नस्य कर्म करने से वे ही रोग बढ़ जाते हैं। रजस्वला को नस्य कर्म कराने से ऋतु (आर्तव) संबन्धी रोग हो जाते हैं। स्नान द्वारा शुद्ध होने के बाद नस्य कर्म से योनि का शोषण हो जाता है। गर्भिणी को नस्य का प्रयोग कराने से उत्पन्न बालक अङ्गहीन हो जाता है···तथा उसे अरुचि उत्पन्न हो जाती है। भूखे होने पर नस्य कर्म करने से क्लम (थकावट) तथा अरुचि उत्पन्न हो जाती है। प्यासे होने पर नस्य कर्म करने से कास, श्वास तथा कफ की वमन हो जाती है। अब हम इनकी यथार्थ ओषधि का उपदेश करेंगे। नस्यकर्म (शिरोविरेचन) रूक्ष तथा स्निग्ध अथवा दोनों प्रकार का किया जाता है।···उनकी अपनी २ अविरुद्ध चिकित्सा की जाती है। तथा इसमें निम्न विशेषता होती है–छर्दि (वमन) में मुनक्का, अनारदाना, जामुन तथा आम की गुठली और नागरमोथा इत्यादि ओष-

धियों से सिद्ध कषाय को शीतल, तिर्यक्पातित तथा छान-कर उसमें मधु एवं शर्करा मिलाकर पिलाना चाहिये।...प्रतिश्याय में रक्तशालि, मूंग का मण्ड, सैन्धव युक्त तथा उष्ण भोजन, स्वेदन, लङ्घन, कवलधारण (सुखं संचार्यते या तु मात्रा सा कवलग्रहः), अवपीड तथा ष्ठीवन (थूकना) और धूप (Fumigation) एवं धूम्रपान देना चाहिये ऐसी विद्वानों की राय है ॥

कफप्रसेके त्रिफलाचूर्णं ससैन्धवं सक्षौद्रं वा लिह्यात् । चक्षुषोरक्तं सैन्धवमरीचरसाञ्जनमनःशिला वाऽजाक्षीरपिष्टा वर्त्यः कण्डूतिमिरोपदेहदूषिकाशमन्या भवन्ति। रसक्रिया वा स ....

शिरोविरेचनधूमपानावपीडवमनविरेचननिरूहपथ्यभोजनानि शस्यन्ते । देवदारुतालीसमांसीमुस्तशिग्रुगन्धर्ववासकपुनर्नवाकल्कैः सक्षौद्रैस्तैलं पक्वमभीक्ष्णमुपचार्यमाणमस्य योऽतिनस्या ....

......र्यं तृष्णालोः शीततो वेपमानस्य तीक्ष्णं शिरोविरेचनमनिलशङ्खहनुस्तम्भदिवाकरावर्तातिमोहानुपजनयति ज्वरं वा सोपद्रवं; तेषु कुमारतैलं यष्टीमधुकतैलं पुनर्नवातैलं घृतं वा तद्वत्संस्कृतं वा ....त्रकं प्रशस्यते, जाङ्गलश्च संस्कृतो रसः । निद्रानाशे मत्स्यमांसदधियवगोधूमशालिषष्टिकान्नगुडसंस्कृतानि स्नेह लवणवेषणोपदंशयुक्तान्यानयन्ति निद्राम् । रजस्वलायाः स्नाताया गर्भिण्याश्च पुष्पाध्याययू(षाध्याय)... ....येभ्योऽध्यायेभ्यो भेषजं विद्ध्यात् । क्षीरं वा जीवनीयोपसिद्धमिति परिषत् ॥

जीर्ण...कफप्रसेक में त्रिफला चूर्ण में नमक अथवा मधु मिलाकर देना चाहिये। आंखों के रोगों में सैन्धव, मरिच, रसौत तथा मनःशिला को बकरी के दूध में पीसकर बनाई हुई वर्तियां आंखों की कण्डु (खुजली), तिमिर तथा उपदेह आदि दोषों को शान्त करने वाली कही गई हैं। अथवा इन्हीं की रसक्रिया का प्रयोग किया जाता है।...तथा उसके बाद शिरोविरेचन, धूम्रपान, अवपीडनस्य, वमन, विरेचन, निरूह (आस्थापन बस्ति) एवं पथ्यभोजन आदि का प्रयोग प्रशस्त माना गया है। नस्य के अधिक प्रयोग करने से उत्पन्न हुए उपद्रवों में देवदारु, तालीशपत्र, जटामांसी, नागरमोथा, सहिजना, गन्धर्व (श्वेत एरण्ड), बांसा, पुनर्नवा तथा मधु के साथ तैल को पकाकर उसका निरन्तर सेवन करना चाहिये।... प्यासे तथा ठण्ड से कांपते हुए रोगी में तीक्ष्ण शिरोविरेचन देने से वायु के कारण शङ्ख तथा हनुप्रदेश में स्तम्भ, सूर्यावर्त, अतिमोह तथा उपद्रव युक्त ज्वर हो जाता है। इनमें कुमार तैल, यष्टीमधु तैल, पुनर्नवा तैल अथवा उन्हीं के द्वारा संस्कृत घी तथा...संस्कार युक्त जांगल पशु-पक्षियों का मांसरस प्रशस्त माना गया है। निद्रानाश में संस्कारयुक्त एवं स्नेह, लवण, त्रिकटु तथा उपदंश (आचार-मसाले आदि) से युक्त मछली का मांस, दही, जौ, गेहूं, शालि, षष्टिक अन्न एवं गुड आदि के प्रयोग से निद्रा उत्पन्न हो जाती है। रजस्वला, स्नान द्वारा शुद्ध हुई तथा गर्भिणी स्त्री की पुष्पाध्याय, यूपाध्याय... आदि अध्यायों में कही हुई ओषधियों द्वारा चिकित्सा करे। अथवा जीवनीय ओषधियों से सिद्ध दूध का सेवन कराये—ऐसी विद्वानों की सम्मति है ॥

तत्र श्लोकाः—

कुमारतैलमेतेषां व्याधीनां शमनं परम् ।
नस्ये पाने तथाऽभ्यङ्गे पुराणं घृतमेव च ॥
लङ्घनं धूमधूपौ च स्वेदोष्णपरिषेचनम् ।
उपनाहोऽवपीडश्च श ....॥

उपर्युक्त व्याधियों में नस्य पान तथा अभ्यङ्ग के द्वारा कुमार तैल अथवा पुराण घृत (पुराने घृत) के प्रयोग से ये रोग शान्त हो जाते हैं। अथवा लङ्घन, धूम्रपान, धूप (Fumigation), स्वेदन, उष्णपरिषेचन, (Hot fomentation), उपनाह (पुलटिस) तथा अवपीड का प्रयोग करना चाहिये।

वक्तव्य—पुराण घृत के विषय में प्राचीन आचार्यों में मतभेद दिखाई देता है। कुछ आचार्य एक वर्ष पुराने घृत को, कुछ १० वर्ष पुराने तथा कुछ १५ वर्ष पुराने घृत को 'पुराण घृत' कहते हैं। इसका विस्तृत विवेचन हमने इस ग्रन्थ में अन्यत्र किया है। पाठक इसे वहीं देखें ॥

यवान्नं शालयो मुद्गधात्रीदाडिमसैन्धवम् ।
हितं नस्यविधौ भोज्यं तदा ह्यार्तस्य विभ्रमे ॥

नस्य कर्म में रोगी को विभ्रम हो जाने पर यवान्न (जौ का भात), शालिचावल, मूंग, हरड़, अनारदाना तथा सैन्धव का सेवन कराना चाहिये ॥

नस्यकर्मणि बालानां स्तनपानां विशेषतः ।
कटुतैलं प्रयुञ्जीत घृतं वा सैन्धवान्वितम् ॥
बिन्दुं बिन्दुमथो द्वौ द्वौ त्रींस्त्रीन् वा रोगदर्शनात्।
अङ्गुल्या नासयोर्दद्यादपिदध्यात् क्षणं ततः ॥
तेनास्य पच्यते श्लेष्मा श्लेष्मणा न च बाध्यते ।

नस्य कर्म में विशेष कर दूध पीने वाले बालकों को कटुतैल अथवा सैन्धवयुक्त घृत का प्रयोग कराना चाहिये। इसके लिये जब तक रोग दिखाई देवे तब तक उंगलियों के द्वारा नासिका में दो २ तीन ३ कर के स्नेह की बूंदें डाले तथा थोड़ी देर के लिये नासिका को बन्द करदे । इसके द्वारा इसके श्लेष्मा का पाक हो जाता है। तथा वह श्लेष्मा उसे कोई कष्ट नहीं पहुंचाता ॥

स्नानादीन् परिहारांश्च यथोक्तानुपचारयेत् ॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ।

(इति सिद्धिस्थाने) नस्तःकर्मीयासिद्धि
(र्नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥)

इसके बाद स्नान आदि यथोक्त परिहारों का आचरण करे ॥ ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था ।

(इति सिद्धिस्थाने) नस्तःकर्मीया सिद्धि
(र्नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥)

क्रियासिद्धिर्नाम पञ्चमोऽध्यायः ।

अथातः क्रियासिद्धिं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ २ ॥

अब हम क्रियासिद्धि का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था। इस अध्याय में पञ्चकर्म के द्वारा किस प्रकार रोगसिद्धि होती है तथा उसमें किन २ भावों का त्याग करना चाहिये इत्यादि बातों का वर्णन होगा ॥ १-२ ॥

क्रियाणां सिद्धिमन्विच्छन्नित्यं ब्रूयाद्भिषङ्नरः ।
तैलपात्रमिवात्मानं·········रोगदर्शनात् ॥ ३ ॥

वमन, विरेचन आदि क्रियाओं की सिद्धि को चाहता हुआ व्यक्ति अपने आपको रोग की उपस्थिति पर्यन्त (अर्थात् जब तक रोग विद्यमान है) तैल के पात्र के समान''समझे। अर्थात् जिस प्रकार तैल से भरे हुए पात्र में से सदा तैल के गिरने का डर रहता है उसी प्रकार वह व्यक्ति अपने आपको समझे। चरक सि. अ. १२ में कहा है—अथ खल्वातुरं वैद्यः संशुद्धं वमनादिभिः। दुर्बलं कृशमल्पाग्निं मुक्तसन्धानबन्धनम् ॥ निर्हृतानिलविण्मूत्रकफपित्तं कृशाशयम्। शून्यदेहं प्रतीकारासहिष्णुं परिपालयेत् ॥ यथाण्डं तरुणं पूर्णं तैलपात्रं यथैव च। गोपाल इव दण्डी गाः सर्वस्मादपचारतः ॥ ३ ॥

अजीर्णं मैथुनं यानमुच्चैर्भाष्यं दिवाशयम् ।
अतिचङ्क्रमणास्थानमसात्म्यादि च वर्जयेत् ॥ ४ ॥

जब तक व्यक्ति प्रकृतिस्थ न हो जाय तब तक-१ अजीर्ण २ मैथुन ३ यान (सवारी) ४ ऊंचा बोलना ५ दिन में सोना ६ अतिचङ्क्रमण (बहुत चलना) ७ बहुत बैठना ८ असात्म्य (अहित) भोजन-आदि भावों का उसे त्याग करना चाहिये। चरक सि० अ० १२ में भी कहा है—एतां प्रकृतिमप्राप्तः सर्ववर्ज्यानि वर्जयेत्। महादोषकराण्यष्टाविमानि तु विशेषतः ॥ उच्चैर्भाष्यं रथक्षोभमतिचङ्क्रमणासने। अजीर्णाहितभोज्ये च दिवास्वप्नं च मैथुने ॥ ४ ॥

अजीर्णे वर्धते व्याधिः पुनः कार्श्यं च जायते ।
-क्रियायां मैथुनाच्छाण्ढ्यं पाण्डुत्वं च निगच्छति ॥

पञ्चकर्म के समय अजीर्ण होने से व्याधि की पुनः वृद्धि हो जाती है तथा शरीर में कृशता हो जाती है। चरक सि० अ० १२ में कहा है—'अजीर्णाध्यशनाभ्यां तु मुखशोषाध्मानशूलनिस्तोदपिपासागात्रसादच्छर्द्यतीसारमूर्च्छाज्वरप्रवाहणामविषादयः स्युः।' इसी प्रकार अष्टाङ्गसंग्रह कल्प स्थान में भी कहा है। वमन आदि क्रियाओं के समय मैथुन करने से नपुंसकता तथा पाण्डुता हो जाती है। चरक सि० अ० १२ में कहा है—व्यवायादाशुबलसादोरुसादबस्तिशिरोगुदमेढ्रवृषणवङ्क्षणोरुजानुजङ्घा-सादशूलहृदयस्पन्दननेत्रपीडाङ्गदौर्बल्यशुक्रमार्गशोणितागमनकासश्वासशोणितष्ठीवनस्वरावसादकटीदौर्बल्यैकाङ्गसर्वाङ्गरोगमुष्कश्वयथुवातवर्चोमूत्रसङ्गशुक्रविसर्गजाड्यवेपथुबाधिर्यविषादादयः स्युः, उत्पाट्यत इव गुदस्ताड्यत इव मेढ्रमवसीदतीव मनो वेपते हृदयं पीड्यन्ते सन्धयस्तमः प्रवेश्यत इव च। इसी प्रकार अष्टाङ्ग संग्रह कल्पस्थान में भी कहा है ॥ ५ ॥

योऽतीव नित्यं रमते यानाद्वातश्च कुप्यति ।
अग्निसादो दिवास्वप्नात् कफवृद्धिर्ज्वरोऽरुचिः ॥६॥

जो यान (सवारी) के द्वारा नित्य खूब रमण (सैर) करता है उसका वायु प्रकुपित हो जाता है। चरक सि० अ० १२ में कहा है—'रथक्षोभात् सन्धिपर्वशैथिल्यहनुनासाकर्णशिरःशूलतोदकुक्षिक्षोभाटोपान्त्रकूजनाध्मानहृदयेन्द्रियोपरोधस्फिक्पार्श्ववङ्क्षणवृषणकटीपृष्ठवेदनासन्धिस्कन्धग्रीवादौर्बल्याङ्गाभितापपादशोफप्रस्वापहर्षणादयः।' इसी प्रकार अष्टाङ्गसंग्रह कल्पस्थान में भी कहा है। दिन में सोने से अग्निमांद्य, कफ की वृद्धि, ज्वर तथा अरुचि हो जाते हैं। चरक सि. अ. १२ में कहा है–दिवास्वप्नादरोचकाविपाकाग्निनाशस्तैमित्यपाण्डुकण्डूपामादाहच्छर्द्यङ्गमर्दहृत्स्तम्भजाड्यतन्द्रानिद्राप्रसङ्गग्रन्थिजन्मदौर्बल्यरक्तमूत्राक्षितातालुलेपाः (पिपासा च) इसी प्रकार अष्टाङ्ग संग्रह के कल्पस्थान तथा सूत्रस्थान में भी कहा है। ॥ ६ ॥

मन्यास्तम्भः शिरःशूलं वाक्पार्श्वहनुसंग्रहः ।
कण्ठोद्ध्वंसः श्रमो ग्लानिर्ज्वरश्चात्युच्चभाषणात् ॥७॥

बहुत ऊंचा बोलने से मन्यास्तम्भ, शिरःशूल, वाग्ग्रह, पार्श्वग्रह, हनुग्रह, कण्ठोद्ध्वंस, श्रम, ग्लानि तथा ज्वर हो जाते हैं। चरक सिद्धि अ. १२ में कहा है–'तत्र उच्चैर्भाष्यातिभाष्याभ्यां शिरस्तापकर्णशङ्खनिस्तोदश्रोत्रोपरोधमुखतालुकण्ठशोषतैमिर्यपिपासाज्वरतमकहनुमन्याग्रहनिष्ठीवनोरःपार्श्वशूलस्वरभेदहिक्काश्वासादयः स्युः' ॥ ७ ॥

कटीवङ्क्षणपादोरुजानुबस्त्यनिलामयः ।
शर्कराश्मरिखल्ल्याद्या अतिचङ्क्रमणोद्भवाः ॥ ८ ॥

अति चङ्क्रमण (बहुत अधिक चलने) से कटी, वङ्क्षण, पाद, ऊरु (जंघा), जानु, बस्ति तथा वातरोग, शर्करा (Sand), अश्मरी (Calculus grevels) तथा खल्ली (खल्ली तु पादजङ्घोरुकरमूलावमोटिनी)-आदि रोग हो जाते हैं। चरक सि. अ. १२ में कहा है–अतिचङ्क्रमणात् पादजङ्घोरुजानुवङ्क्षणश्रोणीपृष्ठशूलसक्थिसादनिस्तोदपिण्डिकोद्वेष्टनाङ्गमर्दांसाभितापसिराधमनीहर्षश्वासकासादयः स्युः। इसी प्रकार अष्टाङ्ग संग्रह क. अ. ७ में भी कहा है ॥ ८ ॥

सुप्तताऽधरकायस्य तन्द्रीजाड्यादिविभ्रमाः ।
वातशोणितहृल्लासप्रे·················॥ ९ ॥

(बहुत अधिक बैठने से) शरीर के निचले भाग का

सो जाना (सुन्न होना–Hemiplegia), तन्द्रा, जड़ता, विभ्रम, वातरक्त (Gont), हृल्लास······तथा कफप्रसेक आदि रोग हो जाते हैं। चरक सि. अ. १२ में कहा है–'अत्यासनात् रथक्षोभजाः स्फिक्पार्श्ववङ्क्षणवृषणकटीपृष्ठवेदनादयः स्युः ॥ ९ ॥

वैवर्ण्यमरुचिर्ग्लानिः कण्डुपाण्डुज्वरभ्रमाः ।
कामलाकुष्ठवैसर्पपामाद्याश्चाप्यसात्म्यजाः ॥ १० ॥

असात्म्य अथवा अहितकर भोजन से विवर्णता, अरुचि, ग्लानि, कण्डू, पाण्डु, ज्वर, भ्रम, कामला, कुष्ठ, विसर्प पामा (Eczema) आदि रोग हो जाते हैं। चरक सि. अ. १२ में कहा है–विषमाहिताशना[illegible]दौर्बल्यवैवर्ण्यकण्डूपामा-गात्रावसादा वातादिप्रकोपजाश्च ग्रहण्यर्शोविकारादयः। अष्टाङ्गसंग्रह क. अ. ७ में भी कहा है–'अहितान्नाद्यथादोषं रोगाः स्युः' ॥ १० ॥

तेषां चिकित्सितं स्वं स्वमविरुद्धं विधापयेत् ।
कृशान् संबृंहयेच्चापि कर्शयेत् परिबृंहितान् ॥ ११ ॥

उनकी परस्पर अविरुद्ध चिकित्सा करनी चाहिये। एतदर्थ कृश (दुर्बल) व्यक्तियों का बृंहण तथा बृंहित (पुष्ट) व्यक्तियों का कर्षण करना चाहिये। चरक सि. अ. १२ में इन उपर्युक्त आठ त्याज्य भावों के सेवन से उत्पन्न होने वाले रोगों की पृथक् २ चिकित्सा का विधान दिया गया है। कहा है–तेषां सिद्धिः–उच्चैर्भाष्यातिभाष्यजानामभ्यङ्गस्वेदोपनाहधूमनस्योपरिभक्तस्नेहपानरसक्षीरादिभिर्वातहरः सर्वो विधिर्मौनं च। रथक्षोभातिचङ्क्रमणात्यासनजानां स्नेहस्वेदादि वातहरं कर्म सर्वं निदानवर्जनं च। अजीर्णाध्यशनजानां निरवशेषतश्छर्दनं रूक्षः स्वेदो-लङ्घनीयपाचनीयदीपनीयौषधावचारणं च। विषमाहिताशनजानां यथास्वं दोषहराः क्रियाः। दिवास्वप्नजानां धूमपानलङ्घनवमन-शिरोविरेचनव्यायामरूक्षाशनारिष्टदीपनीयौषधोपयोगः प्रघर्षणो-न्मर्दनपरिषेचनादिश्च श्लेष्महरः सर्वो विधिः। मैथुनजानां जीवनी-यसिद्धयोः क्षीरसर्पिषोरुपयोगस्तथा वातहराः स्वेदाभ्यङ्गोपनाहा वृष्याश्चाहाराः स्नेहाः स्नेहविधयो यापनावस्तयोऽनुवासनं च, मूत्र-वैकृतवस्तिशूलेषु चोत्तरवस्तिः विदारीगन्धादिगणजीवनीयगणक्षीर-संसिद्धं तैलं स्यात् ॥ ११ ॥

अतिदीर्घमतिस्थूलं जर्जरं स्फुटितं तनु ।
कुटि(लं)·························च वर्जयेत् ॥ १२ ॥

बस्तिनेत्र के दोष–१ अतिदीर्घ २ अतिस्थूल ३ जर्जर (जीर्ण) ४ स्फुटित (फटा हुआ) ५ तनु (बहुत पतला) ६ कुटिल (वक्र–टेढा होना)······इन दोषों से युक्त बस्तिनेत्र (Nozzle) का त्याग करना चाहिये। चरक सि. अ. ५ में कहा है–ह्रस्वं दीर्घं तनु स्थूलं जीर्णं शिथिलबन्धनम्। पार्श्वच्छिद्रं तथा वक्रमष्टौ नेत्राणि वर्जयेत् ॥ अर्थात् यहां ये उपर्युक्त आठ दोष गिनाये हैं। सुश्रुत चि. अ. ३५ में ११ नेत्रदोष बताये हैं–अतिस्थूलं कर्कशमवनतमणु भिन्नं सन्निकृष्टविप्रकृष्टकर्णिकं सूक्ष्मातिच्छिद्रमतिदीर्घमतिह्रस्वमस्रिमदित्येकादश नत्रदोषाः ॥ १२ ॥

अतिह्रस्वः खरः स्थूलस्तनुदीर्घचिरस्थिताः ।
छिद्री महानुपहतो वर्जिता बस्तयो नव ॥ १३ ॥

वस्ति के दोष–१ अतिह्रस्व २ खर ३ स्थूल ४ तनु (पतला) ५ दीर्घ ६ बहुत देर का होना ७ छिद्रयुक्त होना ८ महान् ९ उपहत (खराब हुआ होना) इन ९ दोषों से युक्त वस्तियों का त्याग कर देना चाहिये। चरक सि. अ. ५ में वस्तिपुटक के ८ दोष गिनाये हैं–[illegible] वातलाः। छिन्नः क्लिन्नश्च तानष्टौ वस्तीन् कर्मसु वर्जयेत् ॥ अर्थात् १ मांसल होना २ स्निग्ध होना ३ विषम होना ४ स्थूल होना ५ शिराजाल से व्याप्त होना ६ वातल होना ७ कटा होना तथा ८ क्लिन्न होना–ये ८ दोष हैं। सुश्रुत चि. अ. ३५ में वस्ति के ५ दोष गिनाये हैं–बहलता अल्पता सच्छिद्रता प्रस्तीर्णता दुर्बद्धतेति पञ्च वस्तिदोषाः ॥ १३ ॥

अप्राप्तमतिनीतं च विन्यस्तमतिपीडितम् ।
स्रुतं विलग्नं शिथिलं रुद्धवातं चिराचिरम् ॥ १४ ॥
प्रज्ञापराधजा दोषाः प्रणेतुर्बस्तिकर्मणि ।
·························भगन्दरम् ॥ १५ ॥

वस्तिकर्म में वस्ति के बनाने वाले के प्रज्ञापराध (अज्ञान) से निम्न दोष होते हैं–१ बस्ति का पूरा न पहुंचना, २ बस्ति का अधिक पहुंच जाना ३ बस्ति का विन्यस्त (उलटा हो जाना) ४ अत्यन्त पीडा पहुंचाना ५ स्राव-होना ६ अन्दर ही लगा रहना ७ शिथिल ८ बस्ति के द्वारा वायु का रुक जाना ९ चिर (बस्ति में बहुत देर होना) तथा १० अचिर (शीघ्रता–बस्ति कर्म का बहुत शीघ्र हो जाना) इनसे······भगन्दर आदि रोग हो जाते हैं ॥ १४–१५ ॥

जीवकर्षभसिद्धेन तं घृतेनानुवासयेत् ।
निरूहयेत् स्रंसयेद्वा ततः संपद्यते सुखी ॥ १६ ॥

चिकित्सा–इसमें जीवक, ऋषभक, आदि ओषधियों से सिद्ध किये हुए घृत से अनुवासन कराना चाहिये। उसे निरूह बस्ति देवे तथा स्रंसन (विरेचन) कराये। इससे रोगी स्वस्थ हो जाता है ॥ १६ ॥

क्षीरं यवान्नशाकानि जाङ्गलान्यामिषाणि च ।
भोजयेत् स्नेहयुक्तानि गुदरोगोद्भवे शिशुम् ॥ १७ ॥

यदि बालक को गुदा के रोग हो जांय तो उसमें दूध, यवान्न (जौ का भात), शाक, स्नेह (घृत) युक्त जांगल पशु–पक्षियों के मांस का भोजन कराना चाहिये ॥ १७ ॥

इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥

(इति सिद्धिस्थाने) क्रियासिद्धि (र्नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥)

(इति ताडपत्रपुस्तके १५१ तमं पत्रम्)

ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था।

(इति सिद्धिस्थाने) क्रियासिद्धि (र्नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥)

बस्तिकर्मीयासिद्धिर्नाम षष्ठोऽध्यायः ।

(अथातो बस्तिकर्मीयां सिद्धि) व्याख्यास्यामः ॥१॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ २ ॥

अब हम बस्तिकर्मीय सिद्धि का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था। अर्थात् इस अध्याय में बस्ति के अयोग तथा अतियोग से उत्पन्न होने वाले लक्षण एवं उनकी चिकित्सा कही जायगी ॥ १-२ ॥

................'गुदे मलाभिभूते गुदे समुपस्थितानिले वोपस्थितपुरीषे वा संस्थितश्लेष्मणि वा नेत्रे वा जिह्मे शिथिलबस्त्यपीडिते न स्नेहः पक्वाशयमनुप्राप्नोति । तमयोगं विद्यात् ॥ ३ ॥

बस्ति का अयोग—......जब गुद मल से युक्त हो अर्थात् गुदा में मल भरा हुआ हो, गुदा में वायु, पुरीष एवं श्लेष्मा विद्यमान हो, बस्तिनेत्र (Nozzle) टेढा हो, अथवा बस्तिपुटक शिथिल हो तथा दबाया न गया हो तो बस्तिकार्य में प्रयुक्त स्नेह पक्वाशय में नहीं पहुंचता । इसे अयोग कहते हैं। चरक सि० अ० १ में कहा है—वद्धे प्रणीते विषमं च नेत्रे मार्गे तथाऽर्शःकफविड्विबन्धे । न याति बस्तिर्न सुखं निरेति दोषावृतोऽल्पो यदि वाल्पवीर्यः ॥ ३ ॥

यः......वातपित्तकफपुरीषमूत्राभिभूतस्य......
................गच्छन्नूर्ध्वं वा प्रपद्यते, विरिक्तस्रुतविशोषिततृषितबुभुक्षितश्रान्तचिन्तेर्ष्यायासशोकभयार्तस्य वा न प्रत्यागच्छति. तमतियोगं विद्यात् ।

बस्ति का अतियोग—जो......स्नेह रोगी की गुदा के वात, पित्त, कफ, पुरीष तथा मूत्र से व्याप्त होने के कारण......ऊपर जाता हुआ पक्वाशय से भी ऊपर चला जाता है अथवा जो स्नेह विरिक्त (जिसे विरेचन दिया गया है), स्रुत (जिसका स्राव हो रहा है), जिसका शोषण हुआ है, जो प्यासा, भूखा, थका हुआ, चिन्ता, ईर्ष्या, परिश्रम, शोक एवं भय से युक्त है-ऐसे व्यक्ति का, लौटकर वापिस नहीं आता है। उसे अतियोग जाने ॥

तयोस्तृष्णामूर्च्छाहृल्लासज्वरदाहहृद्रोगश्वयथुशूलार्शःपाण्डुका (म)ला................तिस्तैमित्याद्या रोगा उत्पद्यन्ते । तत्रापि यथादोषं स्नेहस्वेदवमनविरेचनास्थापनफलवर्तिहितमिताशनादिभिः शममापद्यते ॥

उन दोनों अर्थात् अयोग एवं अतियोग से युक्त व्यक्तियों को तृष्णा, मूर्च्छा, हृल्लास, ज्वर, दाह, हृद्रोग, श्वयथु, शूल, अर्श, पाण्डु, कामला,......स्तिमितता आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं ॥

इनमें दोष के अनुसार स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, आस्थापन, फलवर्ति तथा हितकारी एवं परिमित आहार आदि के द्वारा शान्ति होती है ॥

तत्र श्लोकाः—

भृशमुत्पीडितो बस्तिर्बाहुल्याद्वातमूर्च्छितः ।
....॥
......पित्तकफसंमिश्रो मुखे निपतितेऽपि वा ।
विष्टम्भयति वा तीव्रं प्राणानुपरुणद्धि वा ॥

बहुत अधिक दबाई हुई बस्ति अधिकता के कारण वायु से मूर्च्छित हुई...पित्त और कफ से मिलकर बस्ति के मुख को नीचे को झुका देती है। इससे वह तीव्र विष्टम्भ उत्पन्न कर देती है—अथवा प्राणों का रोध कर देती है अर्थात् रोगी की मृत्यु हो जाती है ॥

तृण्मूर्च्छास्वेदहृल्लासदाहगौरवविभ्रमाः ।
ऊर्ध्वमागच्छतस्तस्य रूपाण्येतानि लक्षयेत् ॥

बस्ति के ऊर्ध्वमार्ग में आने पर अर्थात् अधोमार्ग से बस्ति के वापिस न लौटने पर निम्न लक्षण होते हैं—रोगी को प्यास लगती है, मूर्च्छा हो जाती है, पसीना आता है तथा जी मचलाना, दाह, शरीर का भारीपन और विभ्रम हो जाते हैं ॥

एतानि रूपाण्युप(लभ्य)................।
............(विश्रा)म्य विश्राम्य पुनः पुनश्च ॥
निपीडयेज्जातबलं बलेन शीताभिरद्भिः परिषेचयेच्च ।
वित्रासयेद्भीषयेद्रोदयेच्च ब्रूयान्मृतान् वा स्वजनेष्टबन्धून् ॥
बद्धान् हतान् विप्रकृतांस्तथैव शीताम्बुसिक्तैर्व्यजनै...।
....॥

रोगी में उपर्युक्त लक्षण दिखाई देने पर अर्थात् बस्ति का अतियोग हो जाने पर...उसे बार २ विश्राम दे तथा बल की वृद्धि होने पर उसका बलपूर्वक पीडन करे और शीतल जल के द्वारा परिषेचन करे। उसे डराये, धमकाये, रुलाये तथा उसके मृत, बद्ध, हत एवं विहत अवस्था में विद्यमान इष्ट, बन्धु आदि स्वजनों का समाचार सुनाये और शीतल जल से युक्त पंखों के द्वारा उसे हवा करे......॥

कुष्ठं सुपिष्टं कुमुदेन सार्धं गव्यंच पित्तं प्रपिबेज्जलेन ।
गोमूत्रयुक्तामभयां पिबेद्वा युक्तं त्रिवृत् सैन्धवसप्तलाद्यैः ॥

अब बस्ति के अयोग की चिकित्सा लिखते हैं—रोगी को कुमुद (नील कमल) के साथ अच्छी प्रकार पीसे हुए कुष्ठ अथवा गोपित्त को जल के साथ सेवन कराये। अथवा गोमूत्र से युक्त हरीतकी या सैन्धव, सातला आदि के साथ युक्तिपूर्वक त्रिवृत् का सेवन कराये ॥

विरेचनद्रव्यकषायसिद्धं सतैलमुष्णं लवणीकृतं च ।
निवृत्तदोषस्य सपञ्चमूलमास्थापनेऽत्यन्तमुशन्ति(वृद्धाः)॥
................म्बुयुक्तेन रसेन चैनम् ।
संभोजयेज्जाङ्गलकेन शालीन् स्नानादि सर्वं परिहारयेच्च ॥

जिसके दोष निवृत्त हो गये हैं ऐसे रोगी को वृद्ध वैद्य तैल

एवं लवण मिले हुए तथा विरेचन द्रव्यों के कषाय से सिद्ध किये हुए पञ्चमूल के क्वाथ का गरम अवस्था में आस्थापन (निरूह बस्ति) देने का विधान बतलाते हैं''तथा जल मिश्रित जांगल पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ शालि चावलों का सेवन कराये। और स्नान आदि सम्पूर्ण भावों का त्याग करे॥

ततोऽस्य सात्म्याग्निबलाद्यवेक्ष्य संबृंहयेद्बस्तिभिरेव बालम्

इसके बाद बालक के सात्म्य, अग्नि, बल आदि को देखकर बस्तियों के द्वारा उसका बृंहण करे॥

आनाहिनं शूलरुजापरीतं सुस्निग्धगात्रं फलवर्तियोगैः॥
विस्रंसयेत् पथ्यभुजं यथोक्तं''..............।

आनाह तथा शूल रोग से युक्त रोगी के सम्पूर्ण शरीर का अच्छी प्रकार से स्नेहन करके फलवर्तियों (गुदवर्तियों—Suppositories) के द्वारा मल का स्रंसन कराये तथा-यथोक्त पथ्य का सेवन करे॥

..............गैश्च सकिण्वसिद्धार्थकमाषचूर्णैः॥
ससैन्धवैस्तैलगुडोपपन्नैर्यवोपमाः फलवर्तीर्विदध्यात्।

फलवर्ति का निर्माण विधि......किण्व (Yeast) सिद्धार्थक (श्वेत सरसों), उड़द, सैन्धव, तैल तथा गुड़ को मिला कर उससे यव (जौ) के समान (अर्थात् दोनों ओर से पतली तथा बीच से मोटी) फलवर्ति (गुदवर्ती) बनाये॥

आनाहिनस्ताःप्रणयेदपाने षट् सप्त पञ्चेति वयोनुरूपम्।
ताभिर्विरिक्ते लभते स शमं विरेचयेत्तदसिद्धौ तु तीक्ष्णैः॥

आनाह रोग के रोगी की गुदा में अवस्था के अनुसार ६,७ अथवा ५ गुदवर्तियां डाले। उनके द्वारा विरेचन हो जाने पर रोगी को शान्ति हो जाती है। यदि इन फलवर्तियों के द्वारा विरेचन न हो तो तीक्ष्ण ओषधियों द्वारा विरेचन कराये॥

इति ह स्माह भगवान् कश्यपः।
(इति सिद्धिस्थाने) वस्तिकर्मीयासिद्धि(र्नाम षष्ठोऽध्यायः॥ ६॥)

ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था।
(इति सिद्धिस्थाने) वस्तिकर्मीया सिद्धि (र्नाम षष्ठोऽध्यायः)॥६॥

पञ्च कर्मीया सिद्धिर्नाम सप्तमोऽध्यायः।

अथातः पञ्चकर्मीयां सिद्धिं व्याख्यास्यामः॥ १॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः॥ २॥

अब हम पञ्चकर्मीय (पञ्चकर्म सम्बन्धी) सिद्धि का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था॥ १-२॥

अथ खलु भगवन् देहिनां व्याधयः के वमनसाध्याः? के न; के विरेचनसाध्याः? के न; केऽनुवासनसाध्याः? के न; के निरूह (साध्याः? के न;)'''
.....................(भ)गवान् कश्यपः—कफज्वरारुचिमुखवैरस्यकफप्रसेककफहृद्रोगविसूचिकाकासश्वासगलग्रहगलशुण्डिकागलगण्डगण्डमालारोहिणिकाविदारिकाधोरक्तपित्तहृल्लासप्रमेहहली (मक)......
.....................स्कन्दग्रहस्कन्दापस्मारस्कन्दपितृनैगमेषक्षीरगौरवक्षीरवृद्धिक्षीरघनत्वाजीर्णपरिकर्तिकाहृल्लासशूलाटोपातिविरिच्यमानगरितविषपीताद्या वमनसाध्या इति॥ ३॥

वृद्धजीवक ने प्रश्न किया—भगवन्! प्राणियों की कौनसी व्याधियां (रोग) वमन साध्य हैं तथा कौनसी वमनसाध्य नहीं हैं? कौनसी व्याधियां विरेचन साध्य हैं तथा कौनसी विरेचन साध्य नहीं हैं? कौनसी व्याधियां अनुवासन साध्य हैं तथा कौनसी नहीं? कौनसी व्याधियां निरूहसाध्य हैं तथा कौनसी नहीं? (कौनसी व्याधियां शिरोविरेचन साध्य हैं तथा कौनसी नहीं?—यह अंश खण्डित है)'''। इन प्रश्नों को सुनकर भगवान् कश्यप ने कहा—वमनसाध्य व्याधियां—कफज्वर, अरुचि, मुखवैरस्य, कफप्रसेक, कफज हृद्रोग, विसूचिका, कास, श्वास, गलग्रह, गलशुण्डिका, गलगण्ड, गण्डमाला, रोहिणिका (Diptheria), विदारिका (प्रमेहपिडकाविशेषः-विदारीकन्दवत् वृत्ता कठिना च विदारिका), अधोरक्तपित्त, हृल्लास, प्रमेह, हलीमक,''' स्कन्दग्रह, स्कन्दापस्मार, स्कन्दपिता, नैगमेष, क्षीरगौरव (दूध का भारी होना), क्षीरवृद्धि, क्षीरघनत्व (दूध का घना-सान्द्र-Consentrated होना), अजीर्ण, परिकर्तिका, हृल्लास, शूल, आटोप, अतिविरेचन (जिसे विरेचन अधिक होता हो) जिसने गर (संयोगज विष) तथा विष का पान किया हो—इत्यादि रोग वमनसाध्य हैं—वमन के द्वारा अच्छे होनेवाले हैं। अर्थात् उपर्युक्त रोगों में वमन कराया जा सकता है। चरक सि. अ. २ में कहा है—पीनसकुष्ठनवज्वरराजयक्ष्मकासश्वासगलग्रहगलगण्डश्लीपदमेहमन्दाग्निविरुद्धाजीर्णान्नविसूचिकालसकविषगरपीतदष्टदिग्धविद्धाधःशोणितपित्तप्रसेकदुर्नामहृल्लासारोचकाविपाकापच्यपस्मारोन्मादातिसारशोफपाण्डुरोगमुखपाकदुष्टस्तन्यादयः श्लेष्मव्याधयो विशेषेण महारोगाध्यायोक्ताश्च, तेषु हि वमनं प्रधानतममित्युक्तं, केदारसेतुभेदे शाल्याद्यशोषदोषविनाशवत्। इसी प्रकार सुश्रुत चि. अ. ३३ में भी कहा है॥ ३॥

अत्र श्लोकः—
कफाधिकाश्च ये रोगा''..............।
..........................॥

जिन रोगों में कफ की अधिकता होती है......(उनमें वमन कराना चाहिये) अर्थात् श्लेष्मप्रधान रोगों में वमन श्रेष्ठ माना गया है। चरक सू. अ. २० में कहा है—वमनं तु सर्वोपक्रमेभ्यः श्लेष्मणि प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः। तद्ध्यादित एवा-

माशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं श्लेष्ममूलमपकर्षति । तत्रावजिते श्लेष्मण्यपि शरीरान्तर्गताः श्लेष्मविकाराः प्रशान्तिमापद्यन्ते ॥

वृद्धजीवक ! पुष्पिण्यृतुमती गर्भिणी कुटीगताऽल्पक्षीरा लघुक्षीरा नष्टक्षीरा क्षीरच्छर्दनपुत्रा प्रच्छर्दिनी सुभगा पण्डितमानिनी जाठरी वातज्वरी स्थूलोऽग्निरोगी तृष्णालुर्मूर्च्छावान्निरूढोऽनुवासितः क्षतः क्षीणःसोप-

(इति ताडपत्रपुस्तके १५२ तमं पत्रम्)

······················गैन्नोऽतिबालोऽतिवृद्धो गुल्मप्लीहोर्ध्वरक्तलोमव्यापत्कर्णरोगशिरःकम्पार्दितार्धावभेदकसूर्यावर्तरेवतीपौण्डरीकशकुनीपूतनामुखमण्डिकार्ताश्च न वाम्याः, अगर्भा गर्भकामा विवर्णक्षीरा स्रवत्क्षीरा मन्दाग्नयो···········वैसर्पशोणितार्शोविषमाग्निकुष्ठश्वयथुश्वित्रोर्ध्वरक्तप्लीहगुल्ममधुमेहहलीमककामलापाण्डुरोगहृद्रोगकृमिकोष्ठापस्मारोपस्तम्भोदावर्तकफोन्मादविद्रधिश्लीपदयोनि·····················द्या इति ॥

किन्हें वमन नहीं कराना चाहिये–हे वृद्धजीवक ! पुष्पिणी (जिसे रजोदर्शन होता है), ऋतुमती, गर्भिणी, जो कुटी में स्थित है, जिसके स्तनों में दूध कम आता है, जिसका दूध हलका होता है, जिसका दूध नष्ट हो गया है अर्थात् सूख गया है, जिसका पुत्र दूध का वमन कर देता है, जिसे पहले से ही वमन होता हो, जो सुभगा एवं अपने को पण्डित समझने वाली है, जिसे उदररोग हो, वातज्वरी, स्थूल, अग्निरोग, तृष्णालु (जिसे प्यास बहुत लगती हो), जिसे मूर्च्छा हो जाती हो, जिसने निरूह तथा अनुवासन किया हुआ हो, जो क्षत तथा क्षीण हो,''जो अतिबाल हो अर्थात् जिसकी अवस्था बहुत छोटी हो, जो अतिवृद्ध हो तथा जो गुल्म, प्लीहा रोग, ऊर्ध्वरक्त (मुख से रक्त आना), लोमव्यापत् (बाल-केश सम्बन्धी रोग,) कर्णरोग, शिरःकम्प, अर्दित (Facial paralysis), अर्धावभेदक (आधा सीसी–Hemicrania), सूर्यावर्त और रेवती, पुण्डरीक, शकुनी, पूतना तथा मुखमण्डिका आदि ग्रहों से पीड़ित व्यक्तियों को वमन नहीं कराना चाहिये। चरक सि. अ. २ में कहा है—अवाम्यास्तावत्—क्षतक्षीणातिस्थूलकृशबालवृद्धदुर्बलश्रान्तपिपासितक्षुधितकर्मभाराध्वहतोपवासमैथुनाध्ययनव्यायामचिन्ताप्रसक्तक्षामगर्भिणीसुकुमारसंवृतकोष्ठदुश्छर्दनोर्ध्वरक्तपित्तप्रसक्तच्छर्द्यूर्ध्ववातास्थापितानुवासितहृद्रोगोदावर्तमूत्राघातप्लीहगुल्मोदराष्ठीलास्वरोपघाततिमिरशिरःशङ्खकर्णाक्षिपार्श्वशूलार्ताः । इसी प्रकार सुश्रुत चि. अ ३३ में भी कहा है।

किन्हें विरेचन कराना चाहिये ?–जिसे गर्भ न ठहरता हो, जो गर्भ की कामना करती हो, जिसका दूध विवर्ण (वर्ण रहित अथवा विकृत वर्ण वाला) हो, जिसका दूध निरन्तर निकलता रहता हो, जिसकी अग्नि मन्द हो,''तथा विसर्प, रक्तार्श, विषमाग्नि, कुष्ठ, श्वयथु (शोथ), श्वित्र (श्वेत कुष्ठ–Leucoderma), ऊर्ध्वरक्त, प्लीहावृद्धि, गुल्म, मधुमेह, हलीमक, कामला (gaunbice), पाण्डुरोग, हृद्रोग, कृमिकोष्ठ (जिसके पेट में कृमि हों), अपस्मार, उपस्तम्भ, उदावर्त, कफोन्माद, विद्रधि, श्लीपद तथा योनि''रोग आदिकों में विरेचन कराना चाहिये । चरक सि. अ. २ में कहा है—कुष्ठज्वरमेहोर्ध्वरक्तपित्तभगन्दरोदरार्शोब्रध्नप्लीहगुल्मार्बुदगलगण्डग्रन्थिविसूचिकालसकमूत्राघातकृमिकोष्ठवीसर्पपाण्डुरोगशिरःपार्श्वशूलोदावर्तनेत्रास्यदाहहृद्रोगव्यङ्गनीलिकानेत्रनासिकास्यश्रवणरोगगुदमेढ्रपाकहलीमकश्वासकासकामलापच्यपस्मारोन्मादवातरक्तयोनिरेतोदोषतैमिर्यारोचकाविपाकच्छर्दिश्वयथुगरविस्फोटकादयः पित्तव्याधयो विशेषेण महारोगाध्यायोक्ताश्च, एतेषु हि विरेचनं प्रधानतममित्युक्तमग्न्युपशमेऽग्निगृहवत् । इसी प्रकार सुश्रुत चि. अ. ३३ में भी कहा है ॥

अत्र श्लोकः—

व्याकुलान् सन्निपातोत्थान् पैत्तिकान् कफपैत्तिकान् ।
संसृष्टान् कफमूलांश्च स्रंसनेनाभ्युपक्रमेत् ॥

सन्निपात से उत्पन्न हुए पैत्तिक, कफपैत्तिक, संसृष्ट (जिसमें दो दोष मिले हुए हों) तथा कफ की मूल (प्रधानता) वाले रोगों से युक्त रोगियों की विरेचन द्वारा चिकित्सा करे ॥

अनुपस्निग्धरिक्तकोष्ठकृशस्थूलदुष्णाफ(दुर्बल ?) ललितसुकुमारश्रीधननष्ट······················षक्षतपक्षहततृष्णातालुशोषोरुस्तम्भार्दितहनुग्रहवातहृद्रोगरेवतीकेवलवातार्ताश्च न विरेच्याः ॥

किन्हें विरेचन नहीं करना चाहिये ?—जिसने स्नेहन नही किया है, जिसका कोष्ठ रिक्त (खाली) हो, कृश, स्थूल, दुष्णाफ (दुर्बल ?), ललित (जिसका अच्छी प्रकार लालन-पोषण किया गया हो), सुकुमार (नाज़ुक–Delicate), जिसका श्री (कान्ति) एवं धन नष्ट हो गया हो,''जो क्षत, पक्षाघात तृष्णा, तालुशोष, ऊरुस्तम्भ, अर्दित, हनुग्रह, वातिक हृद्रोग, रेवती तथा शुद्ध वायु के प्रकोप से पीडित रोगियों में विरेचन नहीं देना चाहिये । चरक. सि. अ २ में कहा है—अविरेच्यास्तु—सुभगक्षतगुदमुक्तनालाधोभागरक्तपित्तविलङ्घितदुर्बलेन्द्रियाल्पाग्निनिरूढकामादिव्यग्राजीर्णनवज्वरमदात्ययिताध्मातशल्यार्दिताभिहतातिस्निग्धरूक्षा दारुणकोष्ठाः क्षतादयश्च गर्भिण्यन्ताः । इसी प्रकार सुश्रुत चि. अ. ३३ में भी कहा है ॥

प्रतिश्यायकासश्वासशोषहिक्कामुखशोषापस्मारगलग्रहरोहिणिका······························तिमुखार्बुदाधिमन्थनासार्शोलज्युपजिह्विकागलगण्डगण्डमालागलशुण्डिकाद्यभिष्यन्दाश्च नस्ततो विरेच्याः ॥

किन्हें शिरोविरेचन देना चाहिये ?–प्रतिश्याय, कास, श्वास, शोष, हिक्का, मुखशोष, अपस्मार, गलग्रह, रोहिणिका,''मुखार्बुद (मुख में रसौली–Tumour), अधिमन्थ, नासार्श, अलजी, उपजिह्विका, गलगण्ड, गण्डमाला, गलशुण्डिका तथा आंखों के अभिष्यन्द रोगों में नस्य के द्वारा विरेचन कराना चाहिये।

चरक सि. अ. २ में कहा है—विशेषतस्तु शिरोदन्तमन्यास्तम्भ-हनुग्रहपीनसगलशुण्डिकाशालूकशुक्रतिमिरवर्त्मरोगव्यङ्गोपजिह्विकार्धाव-भेदकग्रीवास्कन्धांसनासिकाकर्णाक्षिमूर्धकपालशिरोरोगार्दितापतन्त्रका-पतानकगलगण्डदन्तशूलहर्षचालाक्षिराज्यर्बुदस्वरभेदवाग्ग्रहगद्गदक्रथ-नादय ऊर्ध्वजत्रुगता वातादिविकाराः परिपक्वाश्च, एतेषु शिरोविरेचनं प्रधानतममित्युक्तं तद्ध्युत्तमाङ्गमनुप्रविश्य मुञ्जादिषीकामिवासक्तां केवलं विकारकरं दोषमपकर्षति ॥

दन्तचालहनुस्तम्भमन्यास्तम्भशिरोग्रहबाधिर्यकर्ण-शूलार्धावभेदकसूर्यावर्तापता(नक)··················स्वरभेदवाग्ग्रहौष्ठस्फुरणतिमिरमुखनासिका-दौर्गन्ध्याकालपलितखालित्यानिलात्मकार्ताश्च नस्तत उपस्नेह्या इति ॥

किन्हें नस्य के द्वारा स्नेहन कराना चाहिये ?—दांतों का हिलना, हनुस्तम्भ, मन्यास्तम्भ, शिरोग्रह, बाधिर्य (बहरापन, Deafness), कर्णशूल, अर्धावभेदक, सूर्यावर्त, अपतानक, ···स्वरभेद, वाग्ग्रह, ओष्ठस्फुरण (होठों का हिलना), तिमिर, मुख, एवं नाक से दुर्गन्ध आना, असमय में बालों का सफेद होना तथा झड़ना (गंजापन–Baldness) तथा वायु के रोगों से पीडित रोगियों में नस्य के द्वारा स्नेहन कराना चाहिये अर्थात् तर्पण नस्य देना चाहिये ॥

अत्र श्लोकः—

स्नेहयेद्वातिकान्नस्तः कफजांस्तु विरेचयेत् ।
ऊर्ध्वजत्रुगतान् रोगांस्तद्धि तेषां परायणम् ॥

ऊर्ध्वजत्रुगत रोग यदि वातिक हों तो नस्य के द्वारा स्नेहन करे । तथा यदि श्लैष्मिक (कफज) हों तो नस्य के द्वारा विरेचन कराये । यही इनकी मुख्य चिकित्सा है ॥

························शोषमर्मवातप्लीहवातगु-ल्ममूत्रकृच्छ्रपक्वाशयशूलकुक्षिवातकुण्डलयोनिशूलोदा-वर्तसन्धिग्रहगात्रवेष्टगात्रभेदापतानकार्दितालपपुष्पानष्ट-पुष्पानष्टबीजाकर्मण्यबीजपरीता························(अनुवास्या इति) ॥

किनका अनुवासन करना चाहिये ?···शोष, मर्मवात, (यदि मर्मस्थानों में वात का प्रकोप हो), प्लीहवात, गुल्म, मूत्रकृच्छ्र, पक्वाशयशूल, कुक्षिशूल, वातकुण्डल, योनिशूल, उदावर्त, सन्धिग्रह, गात्रवेष्टन, गात्रभेद, अपतानक, अर्दित, अल्पपुष्पा (आर्तव–मासिक स्राव का कम होना), नष्टपुष्पा (मासिकस्राव का बन्द हो जाना–Menopause), नष्टबीज (जिसका वीर्य नष्ट हो गया हो), जिसका वीर्य अकर्मण्य (कार्य में असमर्थ) हो गया है तथा जिसका वीर्य दूषित हो गया है·····इत्यादिकों को अनुवासन करना चाहिये । चरक सि. अ. २ में कहा है—य एवास्थाप्यास्त एवानुवास्याः, विशेषतस्तु रूक्षतीक्ष्णाग्नयः केवलवातरोगार्त्ताश्च, एतेषु ह्यनुवासनं प्रधानतममित्युक्तं वनस्पतिमूलच्छेदनवत्, मूले द्रुमाणां प्रसेकवच्चेति । इसी प्रकार सुश्रुत चि. अ. ३६ में भी कहा है ॥

अत्र श्लोकः—

वातिका वातभूयिष्ठाः शोषणाः स्तम्भना गदाः ।
हुण्डना भञ्जनाश्चैव तेऽनुवास्या हितैषिणा ॥

हित को चाहने वाले वैद्य को चाहिये कि वातिक, वात-प्रधान तथा जिनका शोषण एवं स्तम्भन करना है, जिनका हुण्डन (मस्तक आदि के अन्दर प्रवेश) करना हो एवं भञ्जन (विभक्त) करना हो उनका अनुवासन करना चाहिये ॥

हृदयग्रहपाण्डुश्वयथूदरप्रमेहकुष्ठरोगार्शोभगन्द-रराजयक्ष्मवैसर्प························कफरोगार्ताश्च नानुवासयेत् ॥

किनका अनुवासन नहीं करना चाहिये ?–हृदयग्रह, पाण्डु, श्वयथु, उदररोग, प्रमेह, मधुमेह, कुष्ठ, अर्श, भगन्दर, राजयक्ष्मा, विसर्प·····तथा कफज रोगों में अनुवासन नहीं करना चाहिये । सुश्रुत चि. अ. ३५ में कहा है–उदरी च प्रमेही च कुष्ठी स्थूलश्च मानवः । अवश्यं स्थापनीयास्ते नानुवास्याः कथञ्चन ॥

हृद्रोगोदावर्तवातगुल्मवातोदरविबन्धमूत्रग्रहबस्ति-कुण्डलप्रमेहरक्तगुल्मयोनिजाड्योपरोधपार्श्वरुजामधु-मेहकुष्ठश्वित्रभगन्दरापस्तम्भसंसृष्ट························हृदयद्रवकृशव्याधिपरिगतरक्तातीसार-मूर्च्छाशोथमैथुनश्रमभयचिन्तेर्ष्याप्रजागरहताश्च न निरूह्या इति ॥

किनका निरूह (आस्थापन) करना चाहिये ?—हृद्रोग, उदावर्त, वातगुल्म, वातोदर, विबन्ध, मूत्रग्रह, बस्तिकुण्डल, प्रमेह, रक्तगुल्म, योनि की जड़ता, योनि के मार्ग का रुकना, पार्श्वशूल, मधुमेह, कुष्ठ, श्वित्र, भगन्दर, अपस्तम्भ तथा संसृष्ट···रोगों में निरूह कराना चाहिये । चरक सि. अ. २ में कहा है—सर्वाङ्गैकाङ्गकुक्षिरोगवातवर्चोमूत्रशुक्रसङ्गबलवर्णमांसरेतःक्षयदोषाध्मानाङ्गसुप्तिक्रिमिकोष्ठोदावर्तशुद्धातिसारपर्वाभेदाभिताप-प्लीहगुल्महृद्रोगभगन्दरोन्मादज्वरब्रध्नशिरःकर्णशूलहृदयपार्श्वपृष्ठ-कटीग्रहवेपनाक्षेपकगौरवातिलाघवरजःक्षयार्तवविषमाग्निस्फिग्जानुज-ङ्घोरुगुल्फपार्ष्णिप्रपदयोनिबाह्वङ्गुलिस्तनान्तदन्तनखपर्वास्थिशूलशो-षस्तम्भान्त्रकूजनपरिकर्तिकाल्पाल्पसशब्दोग्रगन्धोत्थानादयो वातव्याधयो विशेषेण महारोगाध्यायोक्ताश्च, एतेष्वास्थापनं प्रधानतममित्युक्तं वनस्पतेर्मूलच्छेदवत् ॥

···किनका निरूह (आस्थापन) नहीं करना चाहिये ?–हृदयद्रव(Palpitation of Heart), कृश, व्याधि से युक्त, रक्तातीसार, मूर्च्छा, शोथ, मैथुन, श्रम, भय, चिन्ता, ईर्ष्या एवं रात्रिजागरण से पीडित व्यक्तियों को निरूह नहीं कराना चाहिये ।

चरक सि. अ. २ में कहा है—अनास्थाप्यास्तु–अजीर्ण्यतिस्निग्धपीतस्नेहोत्क्लिष्टदोषाल्पाग्नियानक्लान्तातिदुर्बलक्षुत्तृष्णाश्रमार्तातिकृश-भुक्तभक्तपीतोदकवमितविरिक्तकृतनस्तःकर्मक्रुद्धभीतमत्तमूर्च्छितप्रसक्त-च्छर्दिनिष्ठीविकाश्वासकासहिक्काबद्धच्छिद्रदकोदराध्मानालसकविसू-चिकामप्रजातामातिसारमधुमेहकुष्ठार्ताः ॥

अत्र श्लोकाः—

स्नेहप्रमाणं यद्वस्तौ निरूहस्त्रिगुणस्ततः ।
एके तु सममेवाहुर्वयःकालादिदर्शनात् ॥

बस्ति में जितना स्नेह डाला जाता है निरूह में उससे तिगुना डालना चाहिये तथा कुछ आचार्य अवस्था तथा काल के अनुसार निरूह में भी बस्ति के समान (समप्रमाण) ही स्नेह डालने को कहते हैं ॥

निरूहं यदि वा बस्तिमल्पमल्पं महर्षयः ।
प्रशंसन्ति बहु त्वज्ञाः प्रभूतादत्ययो ध्रुवः ॥

महर्षि लोग निरूह तथा बस्ति के कार्य को थोड़ा २ करने को अच्छा मानते हैं क्योंकि अधिक करने से निश्चित रूप से रोग या उपद्रव हो जाते हैं ॥

य एते कफजा रोगा एते संतर्पणोद्भवाः ।
ते चापतर्पणीयाः स्युर्लङ्घनीयास्त एव च ॥

(इति ताडपत्रपुस्तके १५३ तमं पत्रम् ।)

जो कफज तथा सन्तर्पण से उत्पन्न होने वाले रोग हैं उनमें अपतर्पण तथा लङ्घन कराना चाहिये ॥

य एव वातिका रोगास्तेऽपतर्पणजाः स्मृताः ।
त एव बृंहणीयाः स्युः संसृष्टास्तु ततः परम् ॥

जो वातिक रोग होते हैं उन्हें अपतर्पणजन्य माना जाता है । उनका बृंहण करना चाहिये । उसके बाद संसृष्ट (मिश्रित दोष वाले) रोगों की चिकित्सा करनी चाहिये ॥

स्नेहस्वेदोपपन्नानामूर्ध्वं चाधश्च शोधनम् ।
सर्वसंसृष्टरोगाणां स्नेहनं न तु बस्तिभिः ॥

इन सम्पूर्ण संसृष्ट रोगों में स्नेहन एवं स्वेदन कराके ऊर्ध्व तथा अधः शोधन (वमन तथा विरेचन) करना चाहिये । इनमें बस्तियों के द्वारा स्नेहन नहीं कराना चाहिये ॥

इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥

(इति सिद्धिस्थाने) पञ्चकर्मीयासिद्धि (र्नाम सप्तमोऽध्यायः ॥७॥)

ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था।

(इति सिद्धिस्थाने) पञ्चकर्मीयासिद्धि (र्नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥)

मङ्गलसिद्धिर्नामाष्टमोऽध्यायः ।

अथातो मङ्गलसिद्धि व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ २ ॥

अब हम मङ्गलसिद्धि का व्याख्यान करेंगे । ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था ॥ १-२ ॥

मङ्गलान्येव सततं प्रजानामभिवर्धयेत् ।
सर्वे गृहस्थाः सेवेरन् दानानि च तपांसि च ॥३॥

बालकों के मङ्गलकारी भावों की ही निरन्तर वृद्धि करे। प्रत्येक गृहस्थ को दान, तप आदि का सेवन करना चाहिये ॥

मङ्गलाचारयुक्तानां नित्यं च नियतात्मनाम् ।
ददतां जुह्वतां चैव विनिपातो न विद्यते ॥ ४ ॥

मङ्गल (शुभ) आचरण करने वाले, नित्य संयम से रहने वाले (जितेन्द्रिय), दान एवं हवन करने वाले व्यक्तियों को रोग आदि आपत्तियां नहीं आतीं ॥ ४ ॥

आमः पक्वोऽपि वा स्नेहो बस्ति········।
···········नित्ये च तच्चोक्तमनुवासनम् ॥

बालक को आम अथवा पक्व स्नेह की बस्ति तथा···नित्य अनुवासन देना चाहिये ॥

कषायैर्विविधैर्मिश्रः स्नेहः स्नेहैश्च मूर्च्छितः ।
सक्षौद्रमूत्रलवणो निरूहो दोषवाहनात् ॥

नाना प्रकार के कषायों से मिश्रित तथा स्नेहों के द्वारा मूर्च्छित किये हुए स्नेह का-जिसमें मधु, गोमूत्र तथा सैन्धव डाला गया है-निरूह (आस्थापन) दोषों को निकाल देता है॥

त्रिफलाश्वगन्धाभूतीकदशमूलपुनर्नवाः ।
बलागोक्षुरकोशीर···············॥
···············लीनानि कुट्टयेत् ।
अष्टभागावशेषं तं जलद्रोणे विपाचयेत् ॥
ततस्तेन कषायेण द्वौ प्रस्थौ तैलसर्पिषोः ।
पचेच्चतुर्गुणे क्षीरे कल्कं चेमं समावपेत् ॥
सैन्धवं मधुकं द्राक्षां शतपुष्पां महासहाम् ।
बीजानि चात्मगु(प्ताया) मोर्वारुकस्य च ॥
विडङ्गकुञ्चिकवचावृषकं शिखिारिका ।
जीवनीयानि सर्वाणि दद्यात् खरबुषामपि ॥
शैशुको नाम स स्नेहो बस्तिकर्मणि शस्यते ।
बालानां सर्वरोगघ्नो निर्दिष्टः पुण्यकर्मणा ।

त्रिफला, अश्वगन्धा, भूतीक, दशमूल, पुनर्नवा, बला, गोखरू, खस,······इत्यादि को कूटकर एक द्रोण जल में पकाकर आठवां भाग शेष रखे। उस कषाय में दो प्रस्थ तैल तथा घृत के तथा कषाय से चतुर्गुण दूध डाले । इसमें सैन्धव, मुलहठी, द्राक्षा, सौंफ, महासहा (माषपर्णी), कौंच के बीज, ककड़ी के बीज, विडङ्ग, स्याह जीरा, बचा, बांसा, शिरिवारिका (चांगेरी), सम्पूर्ण जीवनीय गण तथा खरबुष (मरुवा-मरुबक) इत्यादि का कल्क डालकर पकाये । इसका नाम शिशु स्नेह है । यह बस्ति कर्म में उत्तम कहा गया है । पुण्यकर्मा महर्षि कश्यप ने इसे बालकों के सम्पूर्ण रोगों को नष्ट करने वाला कहा है ॥

वमनं स्रंसनीयानि दशमूलं च शोधयेत् ।
तत्कषायं परिस्राव्य गोमूत्रलवणान्वितम् ॥
घृततैलार्धयुक्तोष्णं निरूहमुपकल्पयेत् ।
तेनास्य विलयं दोषा यान्ति वह्निश्च दीप्यते ॥

वमन, स्रंसन (विरेचन) तथा ओषधियों और दशमूल का शोधन करके उसका कषाय बनाये। इसे छानकर उसमें गोमूत्र, लवण तथा कषाय से आधे परिमाण में घी और तेल डाले। इस स्नेह से उष्ण अवस्था में ही निरूह (आस्थापन बस्ति) देवे। इससे रोगी के दोष विलीन हो जाते हैं और अग्नि प्रदीप्त होती है ॥

श्रेष्ठामदनबीजानामाढकं निस्तुषीकृतम् ।
विपाचयेदपां द्रोणे चतुर्भागावशेषितम् ॥
उपकुञ्चीखरबुषापिप्पल्यः सैन्धवं वचा ।
त्रपुसो·········नि शतपुष्पा यवान्यपि ॥
स कषायः समायुक्तः क्षीरगोमूत्रकाञ्जिकैः ॥
सर्वानिलामयहरः स निरूहोऽर्धतैलिकः ।

श्रेष्ठा (त्रिफला अथवा स्थलपद्मिनी) तथा मदन फल के बीजों को निस्तुष (छिलके रहित) एक आढक लेकर एक द्रोण पानी में पकाकर चतुर्थांश शेष रखे। इसमें उपकुञ्ची (स्याह जीरा), खरबुष (मरुवा-मरुवक), पिप्पली, सैन्धव, बच, खीरे के बीज,···सौंफ तथा अजवायन, दूध, गोमूत्र, कांजी, तथा कषाय से आधा भाग तिल तैल डालकर पुनः पकाये, यह कषाय सम्पूर्ण वातरोगों को नष्ट करता है।

त्रिफला सारिवा श्यामा बृहत्यौ वत्सकत्वचम् ॥
त्रायमाणाबलारास्नागुडूचीनिम्बकूलकम् ।
························(क)ल्पयेत् ॥
महासहा शक्रयवाः शतपुष्पाऽथ वत्सकः ।
मधूकांशुमतीद्राक्षाः समुद्रान्ताऽथ बालकम् ॥
क्षीरक्षौद्रघृतोपेतो निरूहः पित्तनाशनः ।

त्रिफला, सारिवा (अनन्तमूल), श्यामा (त्रिवृत्), दोनों बृहती, कुटज की छाल, त्रायमाणा, बला, रास्ना, गिलोय, नीम, कूलक (पटोलपत्र)···महासहा (माषपर्णी), इन्द्रजौ, सौंफ, कुटज, महुआ, अंशुमती (शालपर्णी), द्राक्षा, समुद्रान्ता (अपराजिता), नेत्रबाला इत्यादि के कषाय में दूध, मधु तथा घृत डालकर दिया गया निरूह पैत्तिक रोगों को नष्ट करता है ॥

त्रिफलादारुभूतीककरञ्जद्वयचित्रकान् ॥
एकाष्ठीलां विषाणीं च················ ।
(कणा)मूलं त्रिवृद्दन्त्यौ पूर्वकल्पेन शोधयेत् ॥
ऊर्ध्वाधःशोधनैः कल्कैर्युक्तो लवणतैलयोः ।
ईषदुष्णः सगोमूत्रो निरूहः कफनाशनः ॥

त्रिफला, देवदारु, भूतीक, करञ्ज, पूतिकरञ्ज, चित्रक, एकाष्ठीला (बक अथवा पाठा), विषाणी (क्षीरकाकोली)···, पिप्पलीमूल, त्रि' त्, दन्तीमूल, द्रवन्ती, इन ऊर्ध्व एवं अधः शोधक ओषधियों के कल्क में लवण, तैल एवं गोमूत्र मिलाकर बनाया हुआ उष्ण निरूह कफ रोगों को नष्ट करता है ॥

अयं तु सर्वदोषघ्नो निरूहः कत्तृणादिकः ।

निम्नलिखित कत्तृण आदि का निरूह सब दोषों (त्रिदोष) को नष्ट करने वाला है ॥

कत्तृणोशीरभूतीकत्रिफला·············॥
रास्नाश्वगन्धाश्वदंष्ट्राशिग्रुश्यामाः शतावरी ।
एलापुनर्नवाभार्ग्यः सपटोला गुडूच्यपि ॥
त्रिपलीनां जलद्रोणे पचेत् पादार्धशेषिते ।
ततस्तेन कषायेण पेष्याणीमानि योजयेत् ॥
वचाजमोदे मदनपिप्पली··········· ।

(इति ताडपत्रपुस्तके १५४ तमं पत्रम्)

(अस्याग्रे द्वादशपत्रात्मको ग्रन्थो लुप्तस्ताडपत्रपुस्तके)

·······························

·······························

(सिद्धिस्थानस्यैतावानेव भाग उपलब्धः ॥)

कत्तृण, खस, भूतीक, त्रिफला,···रास्ना, अश्वगन्धा, श्वदंष्ट्रा (गोखरू), सहिजना, त्रिवृत्, शतावरी, छोटी इलायची, पुनर्नवा, भारंगी, पटोलपत्र तथा गिलोय, इत्यादि ओषधियों के ३ पल लेकर एक द्रोण जल में पकाकर चतुर्थांश शेष रखे। इस कषाय में बच, अजमोद, मैनफल तथा पिप्पली (आदि ओषधियों का कल्क पीसकर डाले। यह निरूह सर्व दोषघ्न माना गया है)॥

(सिद्धिस्थानस्यैतावानेव भाग उपलब्धः ॥

कल्पस्थानम् ।

धूपकल्पाध्यायः ।

.... ।
.... ।।
..............(कु)ष्ठं पूतिकमम्बरं वचा ।।
सर्षपा बस्तलोमानि धूपः स्याद्धिङ्गुसंयुतः ।

...कुष्ठ, पूतिक (करञ्ज), अम्बर (कपास), बच, सरसों बकरे के बाल तथा हींग–इनका धूप देना चाहिये ॥

घृतं मेषविषाणं च वाजिकुञ्जरयोः खुरौ ।।
कपिशल्यकबभ्रूणां लोमभिर्धूप उत्तमः ।

घी, भेड़ के सींग, घोड़े तथा हाथी के खुर, बन्दर, शल्यक (गोधाकार मृग विशेष) तथा बभ्रु (नेवला)–के लोमों का धूप उत्तम माना जाता है ॥

घृतं सर्जरसः कृष्णो भल्लातकशिलेयके ।।
द्वे हरिद्रे जतूशीरसर्षपाः पुष्पमार्जकम् ।
विडङ्गं तगरं पत्रं वचा हिङ्गु सबालकम् ।।
कौमारो नाम धूपोऽयं युक्तो वर्धयति प्रजाः ।

घी, राल, कृष्ण (सौवीराञ्जन), भिलावा, शिलेयक (सिलारस), हरिद्रा, दारुहरिद्रा, लाक्षा, खस, सरसों, अर्जक (तुलसी) का फूल, विडङ्ग, तगर, तेजपत्र, वचा, हींग तथा नेत्रबाला, यह कुमार नामक धूप है। इसका सम्यक् प्रयोग करने से बालकों की वृद्धि होती है ॥

घृतं सर्पस्य निर्मोको गृध्रकौशिकयोश्च विट् ।।
वचा हिङ्गु च धूपः स्यादपस्मारग्रहापहः ।

घी, सांप की केंचुली, गिद्ध तथा उल्लू की विष्ठा, बच तथा हींग–इनका धूप अपस्मार तथा ग्रहरोगों को दूर करता है।

घृतं गुग्गुलु बिल्वं च देवदारु नमेरु च ।।
एष माहेश्वरो धूपो यवयुक्तो ग्रहापहः ।

घी, गूगल, बिल्व, देवदारु, नमेरु (सरल देवदारु) तथा जौ—यह माहेश्वर धूप कहलाता है। यह ग्रहरोगों को नष्ट करता है ॥

आग्नेयस्तु स्मृतो धूपो गोवाला घृतसंयुताः ।।
ब्राह्मणानां विशेषेण सर्वरोगेषु शस्यते ।

गौ के बाल घी में मिलाकर जलाने से आग्नेय धूप कहलाता है। ब्राह्मणों के बाल विशेष रूप से सब रोगों में प्रशस्त माने गये हैं ॥

घृतं हयखरोष्ट्राणां बालाः केशाश्च मातृकाः ।।
नखाश्चतुष्पदां लाभाद्धूपो भद्रङ्करः स्मृतः ।
पिशाचयक्षगन्धर्वभूतस्कन्दकफार्दिते ।।
धूपमेतं प्रयुञ्जीत यमिच्छेदगदं क्षणात् ।

घी, घोड़े गदहे तथा ऊंट के बाल एवं रोम, मातृका (ऋषभक) तथा चतुष्पादों (चौपाये–पशुओं) के जिन २ के मिल सके उनके नख–इनका धूप कल्याणकारक माना गया है। पिशाच, यक्ष, गन्धर्व, भूत, स्कन्द तथा कफ रोगों से पीड़ित व्यक्तियों में इस धूप का प्रयोग करने से रोगी शीघ्र ही रोगमुक्त हो जाता है ॥

घृतं सिद्धार्थको हिङ्गु देवनिर्माल्यमक्षताः ।।
सर्पत्वग्भिक्षुसंघाटी धूपो रक्षोघ्न उच्यते ।

घी, श्वेत सरसों, हींग, देवनिर्माल्य, अक्षत (चावल), सांप की त्वचा (केंचुली) तथा भिक्षुसंघाटी (बौद्ध भिक्षुक का प्राचीन वस्त्र)–इनका धूप रक्षोघ्न कहलाता है ॥

घृतं सिद्धार्थकाः क्षौद्रं मेषशृङ्गमजापयः ॥
खरस्य मूत्रं बालांश्च सोमं चैवात्र योजयेत् ।
एष धूपोत्तमो नाम्ना परः प्रेतनिवारणः ।।
परः प्रेताभिभूतेषु पूतनायां च शस्यते ।

घी, श्वेत सरसों, मधु, भेड़ के सींग, बकरी का दूध, गदहे के मूत्र तथा बाल और सोम (कर्पूर अथवा रक्तचन्दन) यह उत्तम धूप है जो कि प्रेतों को दूर करता है। प्रेतों तथा पूतना नामक ग्रह द्वारा आक्रान्त रोगियों में इसका प्रयोग करना चाहिये ॥

घृतं सिद्धार्थकाः श्वेताः कुष्ठं भल्लातकं वचा ।।
बस्तलोमानि तगरं भूर्जावर्तं सगुग्गुलु ।
दशाङ्गो नाम धूपोऽयं प्रयोज्यः सर्वरोगिषु ।।
अपस्मारे विशेषेण ग्रहेषूपग्रहेषु च ।

घी, श्वेत सरसों, कूठ, भिलावा, बच, बकरे के लोम, तगर, भोजपत्र तथा गूगल—यह दशाङ्ग नामक धूप सब रोगों में–विशेषकर अपस्मार, ग्रह तथा उपग्रह रोगों में प्रयुक्त करना चाहिये ॥

घृतं सिद्धार्थकाः श्वेताश्चोरकं सपलङ्कषम् ।।
शूकरी जटिला चेति धूपो मोह इति स्मृतः ।

घी, श्वेत सरसों, चोरक (ग्रन्थिपर्णभेद–भटेउर), गूगल, शूकरी (वराहीकन्द) तथा जटिला (जटामांसी)— यह धूप मोहित करनेवाला कहलाता है ॥

स्मृतं श्रीवेष्टका···रलाक्षापद्मकचन्दनम् ॥
सदेवदारुसुरसं शालजं चेति योजयेत् ।
धूपोऽयं वारुणो नाम ग्रीष्मकाले प्रशस्यते ॥
शकुन्यां पौण्डरीके च रेवत्यां च कफाधिके ।

श्रीवेष्टक (सरल निर्यास),···लाक्षा, पद्मक, चन्दन, देवदारु, तुलसी तथा शाल–इस वारुण नामक धूप का शकुनी, पुण्डरीक, रेवती एवं श्लैष्मिक रोगों में ग्रीष्मकाल में प्रयोग करना चाहिये ॥

घृतं मज्जा वसा लाक्षा धूपोऽयं चतुरङ्गिकः ॥
अल्पदोषे कृशे बाले प्रयोज्यो ग्रहवैकृते ।

घृत, मज्जा, वसा तथा लाक्षा–इस चतुरङ्गिक (चार अङ्गों-घटकों वाले) धूप का अल्प दोष वाले व्यक्ति, कृश, बालक तथा ग्रहों के विकारों में प्रयोग करना चाहिये ॥

घृतं वचा तरक्षोश्च विष्ठा लोमानि चर्म च ॥
प्रसहानां पुरीषं च धूपो नन्दक उच्यते ।

घी, बच, भालू (रीछ) की विष्ठा, लोम एवं चर्म तथा प्रसह (चील आदि झपट्टा मारने वाले) पक्षियों का पुरीष नन्दक धूप कहलाता है ।

वक्तव्य—अपने भक्ष्य को जबरदस्ती पकड़ कर खाने वाले प्राणियों को प्रसह कहते हैं। कहा भी है–प्रसह्य भक्षयन्तीति प्रसहास्तेन संज्ञिताः ॥

घृतं कणा व्रीहितुषाः कपिलोमत्वचं वचा ॥
सर्षपाः कुष्ठमेला च कणधूपो ग्रहापहः ।

घी, पिप्पली, चावलों के छिलके, बन्दर के बाल तथा त्वचा, बच, सरसों, कुष्ठ तथा एला–इसे कणधूप कहते हैं। यह ग्रहरोगों को नष्ट करता है ॥

घृतं सर्पत्वचं बिल्वं सरः सिद्धार्थका जतु ॥
श्रीधूप इति निर्दिष्टः श्रीकामेषूपयोजयेत् ।

घी, सांप की त्वचा (केंचुली), विल्व, सर (महापिण्डी), श्वेत सरसों तथा लाक्षा–यह घी धूप कहलाता है। ऐश्वर्य को चाहने वालों में इसका प्रयोग करे ॥

श्वविण्मूत्रं मयूराणां लोमान्यथ वचा घृतम् ॥
सर्षपाश्चेति धूपोऽयं ग्रहघ्न इति विश्रुतः ।

कुत्ते की विष्ठा तथा मूत्र, मोर के बाल, बच, घृत तथा सरसों–यह ग्रहघ्न (ग्रहों को नष्ट करने वाला) धूप है ॥

घृतं कुञ्जरदन्तं च तनुजान्यजमेषयोः ॥
गोशृङ्गमिति धूपोऽयं पुण्यः पुण्यजनावहः ।

घृत, हाथी दांत, बकरी तथा भेड़ के बाल तथा गौ के सींग–यह पुण्यकारक धूप पुण्यजनों के लिये प्रयुक्त करना चाहिये ॥

घृतं स्थौणेयकं मांसी तगरं परिपेलवम् ॥
ह्रीवेरं शतपुष्पां च हरितालं मनःशिलाम् ।
मुस्तं हरेणुकामेलां धूपार्थमुपकल्पयेत् ॥
शिशुको नाम धूपोऽयं सर्वरोगग्रहापहः ।
धूपने चानुधूपे च प्रतिधूपे च भार्गव ! ॥

घृत, स्थौणेयक (ग्रन्थिपर्ण–भटेउर), जटामांसी, तगर, परिपेलव (कुटन्नट–जलमुस्ता), ह्रीबेर (हाऊबेर), सौंफ, हरताल, मनःशिला, नागरमोथा, हरेणुबीज तथा छोटी इलायची इनको धूप के लिये प्रयुक्त करे। यह शिशुक नाम का धूप सब रोगों तथा ग्रहों को नष्ट करता है। हे भार्गव ! इसका धूप, अनुधूप तथा प्रतिधूप तथा प्रतिधूप के रूप में प्रयोग किया जाता है ॥

घृतं सिद्धार्थका लाजाः कुशाः सह······ ।
सर्वतुल्या भवेद् ब्राह्मी धूपोऽयं ब्राह्म उच्यते ।
ब्राह्मणक्षत्रवैश्येषु प्रयोज्यो भिषजा भवेत् ।
सर्वरोगेषु सततं क्षिप्रं रोगान्निरस्यति ॥

घृत, श्वेत सरसों, लाजा (खील), कुश, तथा सह (?)··· और इन सबके समान ब्राह्मी लें। यह ब्राह्मधूप कहलता है। वैद्य को ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य में सब रोगों में इसका निरन्तर प्रयोग करना चाहिये। यह शीघ्र ही रोगों को नष्ट कर देता है ॥

घृतं श्वदंष्ट्रा वसुका हरिद्रे परिपेलवम् ।
वचा भार्गी च धूपोऽयं प्रतिधूपः सुखावहः ॥

घृत, गोखुरु, वसुक (बकपुष्प), हरिद्रा, दारुहरिद्रा, परिपेलव (कुटन्नट–जलमुस्ता) बच एवं भारङ्गी–यह धूप के रूप में सुखकर (स्वास्थ्यप्रद) माना गया है ॥

घृतं च पद्मकोशीरं वालकं केसरं रसम् ।
प्रतिधूप इति ख्यातः सर्वरोगेषु शस्यते ॥

घृत, पद्मक (नीलकमल), खस, बालक (नेत्रवाला), नागकेसर तथा रस (सर्जरस अथवा बोल)–यह प्रतिधूप सब रोगों में प्रशस्त माना गया है ॥

घृतं वानरलोमानि कुक्कुटाण्डं वचा यवाः ।
(इति ताडपत्रपुस्तके १६७ तमं पत्रम् ।)
सिद्धार्थकाश्च धूपोऽयं प्रतिधूपमहोदयः ॥

घृत, बन्दर के बाल, कुक्कुटाण्ड (मुर्गी का अण्डा), बच, जौ तथा श्वेत सरसों–महान् उदय वाला यह धूप प्रतिधूप के रूप में प्रशस्त माना गया है ॥

घृतं निम्बस्य पत्राणि मूलं पुष्पं फलं त्वचम् ।
अरिष्टो नाम धूपोऽयमरिष्टं कुरुते क्षणात् ॥

घृत तथा नीम के पत्र, मूल, पुष्प, फल एवं त्वचा (छाल) यह अरिष्ट नाम का धूप रोगी को क्षण भर में रोग रहित कर देता है ॥

घृतं निम्बस्य पत्राणि खरमूत्रं वचा जतु ।
सर्षपाश्चात्र धूपोऽयं प्रतिधूपश्च शस्यते ॥

घृत, नीम के पत्र, गदहे का मूत्र, बच, लाक्षा, तथा सरसों इसका धूप एवं प्रतिधूप के रूप में प्रयोग प्रशस्त माना गया है ॥

घृतं निम्बस्य पत्राणि जतुसर्जरसाक्षताः ।
भासोलूकशकृच्चेति धूपोऽपस्मारनाशनः ॥

घृत, नीम के पत्र, लाक्षा, सर्जरस, (राल), अक्षत (चावल), भास (गृध्र विशेष) तथा उल्लू की विष्ठा-यह धूप अपस्मार को नष्ट करता है ॥

घृतं निम्बस्य पत्राणि सुरसाश्वघ्नयोस्तथा ।
गोमेषबस्तबालाश्च धूपोऽयं सर्वरोगहा ॥

घृत, नीम, तुलसी तथा कनेर के पत्ते, और गौ भेड़ तथा बकरी के बाल-यह धूप सब रोगों को नष्ट करता है ॥

घृताक्षतं जातिपुष्पं मधु सिद्धार्थका वचा ।
गणधूप इतिख्यातः सर्वभूतरुजापहः ॥

घृत, चावल, चमेली के फूल, मधु, श्वेत सरसों, बच-यह गणधूप कहलाता है जो सब भूतों के रोगों को नष्ट करता है ॥

घृतं शल्लकिधूपश्च पुष्पं जातिशिरीषयोः ।
नमेरुणा समायुक्तो धूपः स्वस्तिक उच्यते ॥

घृत, शल्लकी (शालविशेष-सालई-Indian olibanum) चमेली तथा शिरीष के फूल, एवं नमेरु (सरल देवदारु) से युक्त स्वस्तिक धूप कहलाता है ॥

घृतं गुग्गुलुसंयुक्तं, देवदारु घृतान्वितम् ।
कालागुरु च सर्पिश्च, सर्षपाश्चापि सर्पिषा ॥
तृणमूलस्य पत्राणि सारं पुष्पफलं त्वचम् ।
पञ्च धूपाः समाख्याताः सघृता ग्रहनाशनाः ॥

घृतयुक्त गूगल, घृतयुक्त देवदारु, कालागुरु (कृष्ण अगरु) और घृत, घृतयुक्त सरसों तथा पञ्चतृणमूल के पत्र, सार (Extract), पुष्प, फल और त्वचा। घृत के साथ ग्रहों को नष्ट करने वाले उपर्युक्त ५ धूप कहे गये हैं ॥

गुग्गुल्वादीनि चैतानि दशाङ्गं च समापयेत् ।
गृहधूप इति ख्यातो न कचित् प्रतिहन्यते ॥

उपर्युक्त गुग्गुल आदि तथा दशाङ्ग धूप को मिलाने से गृह धूप कहलाता है जो कभी नष्ट (खराब) नहीं होता ॥

सिद्धार्थाश्चेति धूपास्ते चत्वारिंशदुदाहृताः ।
भिषक्सिद्धिकरा नृणां पुत्रदा रोगनाशनाः ॥

इस प्रकार ये अन्वर्थ फल वाले ४० धूप कहे गये हैं। ये चिकित्सा में सिद्धि को करते हैं तथा पुत्रों के देने वाले और रोगों को नष्ट करने वाले हैं ॥

१. एते चत्वारिंशद्धूपाः सिद्ध (अन्वर्थ) फला इत्यर्थः ।

एतैर्बालान् समापन्नानरिष्टागारमेव च ।
वस्त्रशय्यासनाद्यं च बालानां धूपयेद्भिषक् ॥

इन उपर्युक्त धूपों से बालकों को युक्त करके उसके रोगी-गृह, वस्त्र, शय्या तथा आसन आदि का धूपन (Fumigation) करे ॥

पूर्वमेव भिषग्धूपं पुष्ययोगेन संहरेत् ।
उपोषितः शुचिः स्नातो मैत्राग्नेयोत्तरासु वा ॥
वाचयित्वा बलिं कृत्वा श्रुत्वा शब्दान्मनोऽनुगान् ।
चतस्रः शुचयः कन्याः कुट्टयेयुर (तन्द्रिताः) ॥
··········तं धूपं निदध्याद्भाजने नवे ।
गोपयेच्च सुपिहितं काले चैनं प्रयोजयेत् ॥
तत्कालमपि चापन्नः संभृत्याशु प्रयोजयेत् ।
ननु तस्मिन् ध्रुवा सिद्धिर्यथापूर्वोपकल्पिते ॥
आघ्रातपरधूपस्तु यदि न प्रतिधूप्यते ।
आशु तं रोगमाप्नोति तदर्थं धूप्यते पुनः ॥

सर्वप्रथम वैद्य को चाहिये कि वह अच्छे प्रकार उपवास कर स्नान से पवित्र होकर मैत्र, आग्नेय तथा उत्तर दिशा में से पुष्य नक्षत्र में धूप के द्रव्यों को उखाड़ कर लाये। तथा स्वस्तिवाचन, एवं बलिकर्म करके और मन के अनुकूल शब्दों को सुनकर पवित्र हुई चार कन्याएँ प्रमादरहित होकर···उस धूप को कूटकर नवीन पात्र में डालकर अच्छे प्रकार ढककर सुरक्षित स्थान पर रख दे तथा आवश्यकता होने पर इसका प्रयोग करें। यदि उसी समय उसका प्रयोग करना हो तो भी अच्छी तरह संभालकर उसका शीघ्र ही प्रयोग किया जा सकता है। इस पूर्वकल्पित (पहले से तैयार किये हुए) धूप से निश्चित रूप से सिद्धि होती है। यदि एक बार धूप देने के बाद उसका फिर प्रतिधूपन (पुनः धूपन) नहीं किया जाय तो उसे शीघ्र ही रोग हो जाते हैं अतः उसका पुनः धूपन करना चाहिये ॥

धूपश्चैवानुधूपश्च प्रतिधूपश्च जीवक ! ।
त्रिविधो धूप उद्दिष्टः कर्मभेदाच्चिकित्सकैः ॥

हे जीवक ! चिकित्सकों ने कर्म भेद से तीन प्रकार का धूप कहा है—१ धूप २ अनुधूप ३ प्रतिधूप ॥

कौमारभृत्यास्त्वपरे जङ्गमस्थावराश्रयात् ।
द्वियोनिं ब्रुवते धूपं कश्यपस्य मते स्थिताः ॥

अन्य जो कौमार भृत्य के आचार्य हैं वे कश्यप के मतानुसार धूपों के जङ्गम और स्थावर भेद से दो उत्पत्ति कारण मानते हैं ॥

कुतो धूपाः समुत्पन्नाः किंदैवत्याः किमाश्रयाः ।
कैर्नामभिर्मतास्तेषु दह्यमानेषु किं जपेत् ॥
एवं महाजनगतश्चोच्यते भिषजा भिषक् ।
तस्मान्निर्णयमेतेषां प्रश्नानां शृणु तत्त्वतः ॥

धूप कहां से उत्पन्न हुए हैं ? इनका देवता कौन है ? इनका आश्रय क्या है ? इनके क्या नाम हैं ? उन्हें जलाने के बाद क्या जाप करना चाहिये ? इत्यादि प्रश्न एक वैद्य दूसरे वैद्य से करता है। इसलिये तू इन प्रश्नों का यथार्थ निर्णय (उत्तर) सुन ॥

जाता जाता ऋषिसुता ह्रियन्ते राक्षसैर्यदा ।
तदा महर्षयः सर्वे वह्निं शरणमन्वियुः ॥
होमजापतपोयुक्तास्ततस्तुष्टोऽग्निरब्रवीत् ।
इमान् धूपान् प्रयच्छध्वं प्रयुङ्ध्वं च मदर्पितान् ॥
रक्षोभूतपिशाचेभ्यो न भयं वो भविष्यति ।
जातेषु वर्धमाने च रोगे धात्र्यां च युङ्क्ष ह ॥

जब उत्पन्न हुए ऋषियों के पुत्रों को राक्षसों ने सताना प्रारंभ किया तब होम, जाप एवं तप से युक्त हुए सब महर्षि अग्नि देवता के शरण में पहुंचे। इससे प्रसन्न होकर अग्नि ने कहा—मेरे द्वारा अर्पित किये गये इन धूपों का तुम ग्रहण करो तथा प्रयोग करो । इससे तुम्हें राक्षस, भूत, पिशाच, आदि किसी का भय नहीं रहेगा। उत्पन्न हुए बालकों में बढ़ते हुए रोगों में धात्री को इन धूपों का प्रयोग कराना चाहिये ।

ततस्ते मुनयस्तुष्टाः कश्यपं लोकवर्धनम् ।
ऋषिलोकहितं ज्ञात्वा युयुजुस्तत्र कर्मणि ॥

तब प्रसन्न हुए उन मुनियों ने लोकों की वृद्धि करने वाले महर्षि कश्यप को ऋषियों का हित करने वाला समझकर उसे इस कार्य के लिये नियुक्त किया अर्थात् उपर्युक्त धूप को ग्रहण करने के लिये उसे अपना प्रतिनिधि बना दिया।

अग्नेः सकाशाद्धूपान् स संलब्ध्वा चाधिकोऽभवत् ।
अधृष्याः सर्वभूतानां कुमारास्ते च रक्षिताः ॥

इस प्रकार अग्नि देवता से धूपों को प्राप्त कर के उसने इन्हें और बढ़ाया तथा सम्पूर्ण भूतों (प्राणियों) द्वारा अधृष्य (जो आक्रान्त न किये जा सकें) बालकों की रक्षा की ॥

एवं धूपाः समुत्पन्नाः प्रजानां हितकाम्यया ।
निर्दिष्टाश्चाग्निदैवत्या जङ्गमस्थावराश्रयाः ॥

इस प्रकार लोक कल्याण के लिये ये धूप उत्पन्न हुए। इनका देवता अग्नि माना जाता है तथा जङ्गम (चेतन) और स्थावर (जड़) ये दो इनके आश्रय हैं ॥

विधूरस्यनुवाकेन सर्वमेवाभिमन्त्र्य च ।
प्रयुञ्जीत शिशौ रक्षां दह्यमाने जपेत्त्विदम् ॥

विधूरसी इत्यादि अनुवाक का उच्चारण करके उसके द्वारा सम्पूर्ण धूपों को अभिमन्त्रित करके शिशुओं की रक्षा के लिये प्रयुक्त करना चाहिये। तथा धूप को जलाने के बाद निम्न जप करना चाहिये ॥

अग्निस्त्वा धूपयतु, ब्रह्मा त्वा धूपयतु, शिवस्त्वा धूपयतु, वसवस्त्वा धूपयन्तु, रुद्रस्त्वा धूपयतु, आदित्यस्त्वा धूपयतु, मरुतस्त्वा धूपयन्तु, साध्यस्त्वा धूपयतु, देवा ऋभवस्त्वा धूपयन्तु, विश्वे त्वा देवा धूपयन्तु, सर्वे
(इति ताडपत्रपुस्तके १६८ तमं पत्रम् ।)
त्वा देवा धूपयन्तु, छन्दांसि त्वा धूपयन्तु, पृथिवी त्वा धूपयतु, अन्तरिक्षं त्वा धूपयतु, द्यौस्त्वा धूपयतु, दिशस्त्वा धूपयन्तु, दिशां त्वा पतयो धूपयन्तु, देवीरापस्त्वा धूपयन्तु, शिवस्त्वा पवमानो धूपयतु, मित्रस्त्वा सविता सूर्यो धूपयतु, चन्द्रस्त्वा सोमो धूपयतु, नक्षत्राणि त्वा सुप्रजात्वाय धूपयन्तु, नक्षत्राणां त्वा देवताः सुमनसे धूपयन्तु, अहोरात्राणि त्वा शान्तये धूपयन्तु, ऋभवस्त्वा पुण्याय कर्मणे धूपयन्तु, संवत्सरास्त्वाऽऽयुषे ब्रह्मवर्चसे बलाय धूपयन्तु, प्रजापतिस्त्वा सुप्रजात्वाय धूपयतु, अश्विनौ त्वाऽऽरोग्याय दीर्घायुष्ट्वाय सहसे शेव(श्रेय)से धूपयताम्, मातरस्त्वा स्निहा धूपयन्तु, पितरस्त्वा तनोरच्छेदाय स्वधायै धूपयन्तु, कुमारस्त्वा कौमाराय वसवे धूपयतु, शाखस्त्वा यौवनाय धूपयतु, विशाखस्त्वा मध्याय वयसे धूपयतु, नैगमेषस्त्वा जरसे धूपयतु, सर्वे त्वा देवा दिव्याय धाम्ने धूपयन्तु, सर्वे त्वा ऋषयो ब्रह्मवर्चसाय धूपयन्तु, सर्वास्त्वा नद्यः सुपीताय धूपयन्तु, सर्वे त्वा पर्वताः स्थैर्याय धूपयन्तु, सर्वास्त्वा ओषधोऽन्नाद्याय धूपयन्तु, सर्वे त्वा वनस्पतयः सुव्रतानां श्रैष्ठ्याय धूपयन्तु, सर्वे त्वा पशवः शक्त्यै शान्त्यै धूपयन्तु, सत्येन त्वा धूपयाम्यृतेन त्वा धूपयाम्यृतसत्याभ्यां त्वा धूपयामि, नमो देवेभ्य इति जपेत् । इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥

(इति कल्पस्थाने) धूपनकल्पः ॥

अग्नि तेरा धूपन करे, ब्रह्मा तेरा धूपन करे, शिव तेरा धूपन करे, वसु तेरा धूपन करें, रुद्र तेरा धूपन करे, आदित्य तेरा धूपन करे, मरुत् तेरा धूपन करें, साध्यदेवता तेरा धूपन करे, ऋभु देवता तेरा धूपन करें, विश्वे (ब्रह्माण्ड के) देवता तेरा धूपन करें, सर्वे (संकुचित क्षेत्र शरीर आदि के) देवता तेरा धूपन करें, छन्द (वेदमन्त्र) तेरा धूपन करें, पृथिवी देवता तेरा धूपन करे, अन्तरिक्ष तेरा धूपन करे, द्यौ तेरा धूपन करे, दिशाएँ तेरा धूपन करें, दिशाओं के पति (अधिपति) तेरा धूपन करें, जलदेवता तेरा धूपन करे, पवित्र करने वाला शिव तेरा धूपन करे, मित्र, सविता तथा सूर्य नामक आदित्य तेरा धूपन करे, सोमनामक चन्द्रमा तेरा धूपन करे, नक्षत्र उत्तम सन्तान के लिये तेरा धूपन करें, नक्षत्रों के देवता उत्तम मन के लिये तेरा

धूपन करें, दिन तथा रात्रि शान्ति के लिये तेरा धूपन करें, ऋतुदेवता पुण्यकर्म के लिये तेरा धूपन करें, संवत्सर (वर्ष) आयु, ब्रह्मतेज तथा बल के लिये तेरा धूपन करें, प्रजापति उत्तम सन्तान के लिये तेरा धूपन करें, अश्विदेवता आरोग्य, दीर्घायुष्य, बल तथा श्रेयस (सुख) के लिये तेरा धूपन करें, मातृदेवता स्नेह के लिये तेरा धूपन करें, पितर देवता शरीर के अक्षत रहने तथा स्वधा (अन्न) के लिये तेरा धूपन करें, कुमार (कार्तिकेय) कुमारावस्था तथा वसु (सम्पत्ति) के लिये तेरा धूपन करे, शाख देवता यौवन के लिये तेरा धूपन करे, विशाख मध्य आयु के लिये तेरा धूपन करे, नैगमेष जरा (चिरञ्जीविता) के लिये तेरा धूपन करे, सम्पूर्ण देवता दिव्य धाम (तेज) के लिये तेरा धूपन करें, सम्पूर्ण ऋषि ब्रह्मवर्चस् के लिये तेरा धूपन करें, संपूर्ण नदियां उत्तम पान के लिये तेरा धूपन करें, सम्पूर्ण पर्वत स्थैर्य (स्थिरता) के लिये तेरा धूपन करें, संपूर्ण ओषधियां अन्न के लिये तेरा धूपन करें, सम्पूर्ण वनस्पतियां उत्तम व्रतों की श्रेष्ठता के लिये तेरा धूपन करें, सम्पूर्ण पशु शक्ति एवं शान्ति के लिये तेरा धूपन करें। तथा सत्य के द्वारा तेरा धूपन करता हूं, ऋत के द्वारा तेरा धूपन करता हूं, ऋत और सत्य के द्वारा तेरा धूपन करता हूं, तथा देवताओं को नमस्कार करता हूं। ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था ॥

(इति कल्पस्थाने) धूपनकल्पः ॥

लशुनकल्पाध्यायः ।

अथातो लशुनकल्पं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ २ ॥

अब हम लशुन कल्प का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था ॥ १-२ ॥

हुताग्निहोत्रमासीनं गङ्गाद्वारे प्रजापतिम् ।
पप्रच्छ स्थविरः काले प्रजानां हितकाम्यया ॥ ३ ॥

जिसने अग्निहोत्र में आहुति दी है ऐसे तथा गङ्गाद्वार पर स्थित (अर्थात् गङ्गा के आसपास के प्रदेश में रहने वाले) प्रजापति कश्यप से ज्ञानी वृद्धजीवक ने लोककल्याण की दृष्टि से उचित काल में निम्न प्रश्न किया ॥ ३ ॥

भगवँल्लशुनोत्पत्तिं प्रयोगं चोपयोजने ।
श्रोतुमिच्छामि कालं च रोगान्, येषु न येषु च ॥४॥
व्यापदश्चास्य काः सन्ति, किं च तासां चिकित्सितम् ।
अन्नपानं च किं तत्र, परिहारः फलं च किम् ॥५॥

हे भगवन् ! मैं लशुन की उत्पत्ति, प्रयोग, उपयोग और काल को जानना चाहता हूं। तथा इसका किन रोगों में प्रयोग करना चाहिये तथा किन में नहीं? इसके प्रयोग से कौन से उपद्रव हो जाते हैं? उनकी चिकित्सा क्या है? लशुन के प्रयोग काल में किस अन्नपान का सेवन करना चाहिये? उस काल में परहेज (त्याज्य) क्या हैं तथा इसके फल क्या हैं? ॥ ४-५ ॥

इति पृष्टः स शिष्येण मुनिराह प्रजाहितम् ।
शृणु सौम्य ! यथोत्पन्नं लशुनं सपरायणम् ॥ ६ ॥

इस प्रकार शिष्य द्वारा प्रश्न किये जाने पर महर्षि कश्यप ने लोक कल्याण की दृष्टि से उत्तर दिया-हे सौम्य ! लशुन की उत्पत्ति को तू ध्यानपूर्वक सुन ॥ ६ ॥

न लेभे गर्भमिन्द्राणी यदा वर्षशतादपि ।
तदैनां खादयामास शक्रोऽमृतमिति श्रुतिः ॥ ७ ॥
सव्येन परिरभ्यैनां बाहुना चारुणा स्निहा ।
व्रीडन्तीं सान्त्वयन् देवीं पतिर्भार्यामपाययत् ॥ ८ ॥
तस्यास्तु सौकुमार्येण ह्रिया च पतिसन्निधौ ।
अमृतस्य च सारत्वादुद्गार उदयद्यदा ॥ ९ ॥
यदृच्छया च गामागादमेध्ये निपपात च ।
ततोऽब्रवीच्छचीमिन्द्रो बहुपुत्रा भविष्यसि ॥१०॥
एतच्चाप्यमृतं भूमौ भविष्यति रसायनम् ।
स्थानदोषात्तु दुर्गन्धं भविष्यत्यद्विजोपगम् ॥११॥
लशुनं नामतस्तच्च भविष्यत्यमृतं भुवि ।
एवमेतत् समुत्पन्नं, शृणु तस्य क्रियाविधिम् ॥१२॥

ऐसा सुनने में आता है कि जब सौ वर्ष तक भी इन्द्राणी को गर्भ की प्राप्ति नहीं हुई तब इन्द्र ने उसे अमृत का पान कराया। पति (इन्द्र) ने शरमाती हुई पत्नी-देवी शची को अपनी सुन्दर बांई भुजा से स्नेह पूर्वक पकड़कर सान्त्वना देते हुए अमृत पिलाया। इन्द्राणी को सुकुमार होने के कारण तथा पति की उपस्थिति में शर्म (लज्जा) के कारण तथा अमृत का सार होने के कारण जब डकार आई तब उस डकार के द्वारा वह अमृत सहसा भूमि पर अपवित्र स्थान में गिर पड़ा। तब इन्द्र ने इन्द्राणी से कहा तू बहुत पुत्रोंवाली होगी तथा यह अमृत भी भूमि पर रसायन के रूप में उत्पन्न होगा। परन्तु स्थान के दोष के कारण वह दुर्गन्धियुक्त होगा तथा उसे द्विज (ब्राह्मण) सेवन नहीं करेंगे। तथा वह अमृत भूमि पर लशुन नाम से प्रसिद्ध होगा। इस प्रकार लशुन उत्पन्न हुआ।

वक्तव्य—इसी प्रकार हमारे अन्य प्राचीन शास्त्रों में भी लशुन की उत्पत्ति भिन्न २ प्रकार से लिखी है। **गदनिग्रह में कहा है—**राहोरच्युतचक्रेण लूनार्धे पतिता गलात् । अमृतस्य कणा भूमौ ते रसोनत्वमागताः ॥ द्विजा नाश्नन्ति तमतो दैत्यदेहसमुद्भवम् । साक्षात्त्वमृतसंभूतं ग्रामीणकरसायनम् ॥ **अर्थात् अमृत पीते हुए राहु के गले को भगवान् विष्णु द्वारा काटे जाने पर जमीन पर गिरी हुई अमृत की बूंदों से लहसुन की उत्पत्ति हुई। नावनीतक में कहा है—**पुराऽमृतं प्रमथितमसुरेन्द्रः स्वयं पपौ । तस्य चिच्छेद भगवानुत्तमाङ्गं जनार्दनः ॥ कण्ठनाडीसमासन्नं विच्छिन्ने तस्य मूर्धनि । बिन्दवः पतिता भूमावाद्यं तस्येह जन्म तु ॥ न भक्षयन्त्येन-

मतश्च विप्राः, शरीरसम्पर्कविनिःसृतत्वात् । गन्धोग्रताभावत एव नास्य वदन्ति शास्त्राधिगमप्रवीणाः ।" इसी प्रकार भावप्रकाश में भी कहा है ॥ ७–११ ॥

रसोऽस्य बीजे कटुको नाले लवणतिक्तकौ ।
पत्राण्यस्य कषायाणि, विपाके मधुरं च तत् ॥१२॥

अब तू उसकी क्रिया (कर्म) की विधि को सुन ॥ १२ ॥

इसके बीजों में कटु रस, पुष्प नाल में लवण एवं तिक्त रस तथा पत्तों में कषाय रस होता है। और इसका विपाक मधुर होता है।

वक्तव्य—भावप्रकाश का मत इससे भिन्न है। उसके अनुसार कन्द (मूल) में कटुरस, पत्तों में तिक्तरस, पुष्प-नाल में कषायरस, नाल के अग्रभाग में लवण रस तथा बीजों में मधुर रस होता है। कहा भी है—कटुश्चापीह मूलेषु तिक्तः पत्रेषु संस्थितः । नाले कषाय उद्दिष्टो नालाग्रे लवणः स्मृतः ॥ बीजे तु मधुरः प्रोक्तो रसस्तद्गुणवेदिभिः ॥ १३ ॥

स्वादुस्तिक्तः कटुश्चात्र यथापरपरोत्कटाः ।
स्वादुत्वाद्गुरु सस्नेहं बृंहणं लशुनं परम् ॥१४॥

इसमें स्वादु, तिक्त एवं कटु रस क्रमशः बलवान् होते हैं। स्वादु होने से गुरु तथा स्नेह युक्त होने से लशुन अत्यन्त बृंहण होता है। नावनीतक के लेखक ने इसे गुरु नहीं अपितु लघु माना है, कहा भी है—रसे च पाके च कटुः प्रदिष्टः पाके तथा स्वादुरुदाहृतोऽन्यः । लघुश्च गन्धेन स दुर्जरश्च वीर्येण चोष्णः प्रथितश्च वृष्यः ॥ १४ ॥

रससाधारणत्वाच्च साधारणरुजापहम् ।
आयुष्यं दीपनं वृष्यं धन्यमारोग्यमग्रिमम् ॥१५॥
स्मृतिमेधाबलवयोवर्णचक्षुःप्रसादनम् ।
मुखसौगन्ध्यजननं स्रोतसां च विशोधनम् ॥१६॥
शुक्रशोणितगर्भाणां जननं ह्रीनिषेधयोः ।
सौकुमार्यकरं केश्यं वयसः स्थापनं परम् ॥१७॥

तथा अन्य साधारण रसों के कारण वह साधारण रोगों को नष्ट करता है। यह आयु को बढाने वाला, दीपन, वृष्य, धन्य, एवं आरोग्य का देने वाला है। स्मृति, मेधा, बल, अवस्था एवं वर्ण को बढ़ाने वाला तथा चक्षुओं के लिये हितकर है। यह मुख की दुर्गन्धि को नष्ट कर के उसे सुगन्धित करता है, स्रोतों का शोधन करता है, शुक्र शोणित (रक्त) एवं गर्भ को बढ़ाता है। लज्जा एवं निषेध का उत्पादक है। यह सुकुमारता उत्पन्न करता है, बालों के लिये हितकर है तथा आयु को स्थिर करता है ॥ १५–१७ ॥

अमृतोद्भूतममृतं लशुनानां रसायनम् ।
दन्तमांसनखश्मश्रुकेशवर्णवयोबलम् ॥१८॥
न जातु भ्रश्यते जातं नृणां लशुनखादिनाम् ।
न पतन्ति स्तनाः स्त्रीणां नित्यं लशुनसेवनात् ॥१९॥
न रूपं भ्रश्यते चासां न प्रजा न बलायुषी ।
(इति ताडपत्रपुस्तके १६९ तमं पत्रम् ।)
सौभाग्यं वर्धते चासां दृढं भवति यौवनम् ॥२०॥

अमृत से उत्पन्न हुआ यह लशुन रूप अमृत-रसायन है। लशुन का सेवन करने वाले व्यक्तियों के उत्पन्न हुए दांत, मांस, नख, श्मश्रु, केश, वर्ण, अवस्था, एवं बल कभी क्षीण नहीं होते। तथा लशुन का सेवन करने वाली स्त्रियों के स्तन कभी ढीले होकर नीचे नहीं लटकते। स्त्रियों के रूप, सन्तान, बल एवं आयु क्षीण नहीं होते। उनके सौभाग्य की वृद्धि होती है तथा यौवन दृढ़ होता है ॥१८–२०॥

प्रमदाऽतिविधायापि लशुनैः प्राप्नुते मृजाम् ।
नचैनां संप्रबाधन्ते ग्राम्यधर्मोद्भवा गदाः ॥२१॥

स्त्रियां लशुन का अत्यन्त सेवन करके भी शुद्ध रहती हैं तथा उन्हें ग्राम्यधर्म (मैथुन) से उत्पन्न होने वाले रोग नहीं होते हैं ॥ २१ ॥

कटीश्रोण्यङ्गमूलानां न जातु वशगा भवेत् ।
न जातु बन्ध्या भवति न जात्वप्रियदर्शना ॥२२॥

लशुन का सेवन करने से स्त्रियां कटि, श्रोणि तथा अन्य अङ्गों के रोगों के वशवर्ती नहीं होती हैं अर्थात् उन्हें कटि, श्रोणि एवं अन्य अङ्गों के रोग नहीं होते हैं। स्त्री कभी बन्ध्या (बांझ) तथा अप्रियदर्शना (जिसका दर्शन प्रिय न हो) नहीं होती ॥ २२ ॥

दृढमेधाविदीर्घायुर्दर्शनीयप्रजा भवेत् ।
अश्रान्तो ग्राम्यधर्मेषु शुक्रधाश्च भवेन्नरः ॥२३॥

लशुन के सेवन से पुरुष भी दृढ़, मेधावी, दीर्घायु, एवं दर्शनीय, (सुन्दर) सन्तानयुक्त होता है, मैथुन में थकता नहीं, तथा शुक्र को धारण करने वाला होता है अर्थात् इस के प्रयोग से शुक्र की भी वृद्धि होती है ॥ २३ ॥

यावतीभिश्च समियात्तावत्यो गर्भमाप्नुयुः ।
नीलोत्पलसुगन्धिश्च पद्मवर्णश्च जायते ॥ २४ ॥

जितनी भी स्त्रियों से वह मैथुन करता है सबको गर्भ-स्थिति हो जाती है। तथा गर्भ भी नील कमल की सुगन्धि वाला तथा पद्म के वर्ण का होता है ॥ २४ ॥

गात्रमार्दवमाप्नोति कण्ठमाधुर्यमेव च ।
ग्रहणीदोषशमनं परं कायाग्निदीपनम् ॥ २५ ॥

इस के सेवन से शरीर मृदु एवं कण्ठ मधुर हो जाता है, ग्रहणी के दोषों की शान्ति होती है तथा जाठराग्नि प्रदीप्त होती है ॥ २५ ॥

च्युतभग्नास्थिरोगेषु सर्वेष्वनिलरोगिषु ।
पुष्परेतोभ्रमे कासे कुष्ठरोगेषु सर्वशः ॥ २६ ॥
क्रिमिगुल्मकिलासेषु कण्डूवां विस्फोटकेषु च ।

वैवर्ण्यतिमिरश्वासनक्तमान्ध्याल्पभोजने ॥ २७ ॥
जीर्णज्वरे विदाहे च तृतीयकचतुर्थके ।
स्रोतसामुपघातेषु गात्रजाड्योपशोषयोः ॥ २८ ॥
अश्मरीमूत्रकृच्छ्रेषु कुण्डलेऽथ भगन्दरे ।
प्रदर प्लीहशोषेषु पाङ्गुल्ये वातशोणिते ॥ २९ ॥
लशुनान्युपयुञ्जीत मेधाग्निबलवृद्धये ।
मुच्यते व्याधिभिः क्षिप्रं वपुश्चाधिकमाप्नुते ॥ ३० ॥

किन रोगों में लशुन का प्रयोग करना चाहिये—अस्थिच्युत (Dislocation), अस्थिभग्न (Fracture) एवं अन्य अस्थि-रोग, सम्पूर्ण वातरोग, पुष्प (आर्तव संबन्धी) रोग, वीर्य संबन्धी रोग, श्रम, कास, कुष्ठरोग, कृमि, गुल्म, किलास, कण्डू, विस्फोटक, विवर्णता, तिमिर (नेत्ररोग), श्वास, नक्तान्ध्य (Night Blindness), अल्प भोजन (कम भोजन करना), जीर्ण ज्वर, विदाह, तृतीयक एवं चातुर्थिक सन्तत ज्वर (Tertian and Ouarten malarial fever), स्रोतों का बन्द होजाना, शरीर की जडता, उपशोष, अश्मरी, मूत्रकृच्छ्र, कुण्डल (बस्तिकुण्डल), भगन्दर, प्रदर, प्लीहारोग, शोष, पङ्गुता (चल न सकना), वातरक्त (Gout)—इत्यादि रोगों में मेधा, अग्नि एवं बल की वृद्धि के लिये लशुन का उपयोग करना चाहिये। इससे रोगी शीघ्र ही रोगमुक्त हो जाता है तथा उस के शरीर की वृद्धि होती है ॥ २९–३० ॥

नान्यत्तच्छ्लैष्मिके व्याधौ पैत्तिके वा प्रयोजयेत् ।
ह्रसिष्ठः स्थविरोऽनग्निः सूतिका गर्भिणी शिशुः ॥३१॥
आमे ज्वरेऽतिसारे च कामलायां तथाऽर्शसि ।
ऊरुस्तम्भविबन्धेषु गलवक्त्ररुजासु च ॥ ३२ ॥
सद्योवान्ते विरिक्ते च कृतनस्ये विशोषिते ।
तृष्णाच्छर्दिपरीतेषु हिक्काश्वासातिवृद्धिषु ॥ ३३ ॥
अधृतिष्वसहायेषु दरिद्रेषु दुरात्मसु ।
दत्तबस्तिनिरूहेषु लशुनं न प्रयोजयेत् ॥ ३४ ॥

किन रोगों में लशुन का प्रयोग नहीं करना चाहिये—श्लैष्मिक एवं पैत्तिक रोग, शरीर का ह्रास, स्थविर (वृद्धावस्था), अग्निमान्द्य, सूतिका, गर्भिणी, शिशु, आमरोग, ज्वर, अतिसार (अथवा ज्वरातिसार), कामला (Jaundice) अर्श, उरुस्तम्भ, विबन्ध, गले एवं मुख के रोग, सद्योवान्त (जिसने अभी वमन किया हो), विरिक्त (जिसे विरेचन दिया गया हो), जिसने नस्य (शिरोविरेचन) लिया है, शोष, तृष्णा, छर्दि, हिक्का एवं श्वास की अधिक वृद्धि, धैर्यरहित असहाय, दरिद्र एवं दुरात्मा रोगी तथा जिसे बस्ति एवं निरूह (आस्थापन) दिया गया है—इन में लशुन का प्रयोग न करे ॥ ३१–३४ ॥

अक्षीणाग्निबलानां तु सर्वरोगेषु शस्यते ।
पौषे माघेऽथवा मासे लशुनान्युपयोजयेत् ॥ ३५ ॥

जिनकी जाठराग्नि एवं बल क्षीण नहीं हुए हैं उनके सब रोगों में लशुन का प्रयोग किया जा सकता है। पौष एवं माघ के महीने में आयु को स्थिर करने वाले, हृदय को अच्छे लगने वाले तथा छिल के रहित लशुन का प्रयोग करना चाहिये। नावनीतक में चैत्र एवं वैशाख में लशुन के प्रयोग का विधान दिया है। कहा है—अथ [illegible] सुखात्मकानाम्। अयमिह लशुनोत्सवः प्रयोज्यो हिमकाले च मधौ च माधवे च ॥ ३५ ॥

वयस्थानि सुहृद्यानि निस्तुषाण्यविशोधितम् ।
कायाग्निकालसात्म्येन मात्रा स्यान्नियमोऽपि च ॥३६॥

इसकी मात्रा तथा सेवन का नियम जाठराग्नि, काल एवं सात्म्य के अनुसार होता है ॥ ३६ ॥

चतुष्पली भवेन्मात्रा लशुनानां कनीयसी ।
षट्पली मध्यमा, श्रेष्ठा पलाष्टौ च दशाथ वा ॥३७॥

लशुन की लघु (निकृष्ट) मात्रा चार पल, मध्यम मात्रा छः पल तथा श्रेष्ठ (उत्तम) मात्रा आठ या दस पल होती है॥

शतं षष्टिः शतार्धं च मात्राः स्युर्गणितेष्वपि ।
शुष्केषु बद्धबीजेषु, पलवद्धरितेषु तु ॥ ३८ ॥
अथवा यावदुत्साहं भक्षयेदपि मूर्च्छितः ।

अथवा शुष्क एवं बद्धबीज (जिन के बीज अन्दर स्थिर हो गये हैं) लशुनों की गणित (संख्या) के अनुसार श्रेष्ठ, मध्यम तथा निकृष्ट मात्रा क्रमशः १००, ६० तथा ५० होती है। परन्तु हरे लशुनों की मात्राएँ पलों के अनुसार ही होती हैं। अथवा जबतक खाने का उत्साह (रुचि) हो तथा खाते २ रोगी मूर्च्छित न हो जाय तबतक खा सकता है ॥ ३८ ॥

पुण्येऽहनि नरो (धीरो) लशुनाननुपचारयेत् ॥३९॥
बद्धाग्निके निरुद्वेगं निवातशरणः सुखी ।
मार्गकौशेयकार्पासकोवया(?)जिनकम्बलैः ॥ ४० ॥
वासोभिर्निर्मलैर्युक्तो भृशं चागरुधूपितैः ।
धूपैश्चूर्णैश्च युक्तः स्यान्नित्यं (विधृत) पादुकः ॥४१॥
लशुनान्यानयेदन्यस्त्वथान्य उपकल्पयेत् ।
पत्राणि वर्जयेदेषां बीजं नालं च कल्पयेत् ॥ ४२ ॥
सूक्ष्मच्छिन्नानि कृत्वा च सर्पिषा प्लावयेद्भृशम् ।
हैयङ्गवीनं तु घृतं तैलं बालोचितं नवम् ॥ ४३ ॥
प्लावनं यावदुत्साहं तिष्ठेयुश्चाप्लुतान्यपि ।
द्वित्रिपञ्चदशाष्टाहं प्रशस्तस्नेहभावितम् ॥ ४४ ॥
आत्मचिन्तामनुस्वापं दन्तकाष्ठं विवर्ज्य च ।
जीर्णाहारः सुखोत्थायी ब्राह्मणान् स्वस्तिवाच्य च॥४५॥
आसित्वा भक्षयेत्तानि सेव्यमुष्णोदकं सदा ।
उपदंशेऽपि दातव्यमार्द्रकं विश्वभेषजम् ॥ ४६ ॥
केसरं मातुलुङ्गानामथ वा जीवदाडिमम् ।
मूलकं वर्जयित्वा च दद्याद्धरितकान्यपि ॥ ४७ ॥

लशुन सेवन विधि-पुण्य दिन में बहुत अग्नि से युक्त हो कर धीर मनुष्य को लशुन का सेवन करना चाहिये। उस समय रोगी को उद्वेग रहित (शान्त मन वाला) होना, निवात स्थान में सुखपूर्वक रहना, मृगचर्म, रेशम, कपास (सूत), कोवय (?) तथा अजिन के कम्बलों अथवा निर्मल वस्त्रों से युक्त होना, अगुरु के द्वारा धूपित, धूप एवं चूर्णों से युक्त होना तथा नित्य पादुकाओं (खड़ाऊं) का धारण करना चाहिये। लशुन लाने का काम एक व्यक्ति करे तथा खाने के लिये तैयार करने का काम दूसरा ही व्यक्ति करे। इस के पत्तों को पृथक् छोड़ दे तथा उसके बीज एवं नाल के छोटे २ टुकड़े करके घी में अच्छी प्रकार भून ले। इसके लिये रुग्ण बालक के अनुसार मक्खन का घी अथवा नवीन तैल को उपयोग में लाना चाहिये। घी अथवा तेल में उन्हें तबतक भूनना चाहिये जबतक कि वे तैरना बन्द करके नीचे न बैठ जांय। तब शरीर का अच्छी प्रकार स्नेहन करके आवश्यकतानुसार दो, तीन, पांच, दस अथवा आठ दिन तक आत्मचिन्ता सेवन के बाद दिन में सोना तथा दन्त धावन आदि के त्यागपूर्वक पूर्व आहार के जीर्ण होजाने पर सुखपूर्वक शयन के बाद उठकर, ब्राह्मणों का स्वस्तिवाचन करके तथा बैठकर इनका सेवन करना चाहिये। और सदा गरम जल का सेवन करना चाहिये। अचार आदि में भी आर्द्रक, सोंठ, बिजौरे के केसर (पराग), जीवनीय गण के पदार्थ तथा अनार दाने के साथ इसको देना चाहिये। तथा मूली को छोड़कर हरित वर्ग के सब पदार्थ उसे खाने को दिये जासकते हैं ॥ ३९-४७ ॥

अङ्गानामपि भृष्टानां चूर्णं स्यादवचूर्णनम् ।
त्वक्पत्रशुण्ठीमरिचसूक्ष्मैलाजातिमिश्रितम् ॥ ४८ ॥
लवणान्यपि सर्वाणि लाभतस्तत्र चूर्णयेत् ।

भूने हुए लशुन में भी दालचीनी, तेजपत्र, सोंठ, मरिच, छोटी इलायची, जायफल तथा लवण आदि में से जो २ मिल सकें उनका चूर्ण डालकर प्रयोग करे ॥ ४८ ॥

सुजातं मद्यमप्यस्य युक्तितः समुदानयेत् ॥ ४६ ॥

तथा अच्छी प्रकार से तैयार हुए मद्य का भी युक्तिपूर्वक सेवन कराना चाहिये ॥ ४९ ॥

लशुनान्यन्तरा खा ्त् पिबेन्मद्यं तथाऽन्तरा ।
सुखमग्निमुपासीनो भक्षयेत्तृप्तये शनैः ॥ ५० ॥

सुखपूर्वक अग्नि के पास बैठकर लशुन तथा मद्य का बारी २ से एक दूसरे के बीच में सेवन करे। अर्थात् एक बार लशुन खाये फिर मद्य पिये, फिर लशुन खाये तथा पुनः मद्य इत्यादि क्रम से सेवन करे। इस प्रकार धीरे २ तृप्तिपर्यन्त इनका सेवन करे ॥ ५० ॥

उष्णोदकं वा मद्यं वा शृतं वाऽनुपिबेत् पयः ।
हेत्वग्निरोगसात्म्यज्ञो द्वितीयं न च भक्षयेत् ॥ ५१ ॥

इस के बाद उष्णजल, मद्य अथवा पकाया हुआ दूध पिये। तथा रोगों के हेतु, जाठराग्नि, रोग तथा सात्म्य को जाननेवाले व्यक्ति को किसी दूसरी वस्तु का सेवन नहीं करना चाहिये॥५१॥

ततः कलायचूर्णेन हस्तमुष्णोदकेन च ।
(इति ताडपत्रपुस्तके १७० तमं पत्रम्)।
प्रक्षाल्य मुखमोष्ठौ च गुरुप्रावरणोऽग्निमान् ॥ ५२ ॥
ताम्बूलपत्रं सस्वाकं(?)सजातीकटुकाफलम् ।
लवङ्गपुष्पकर्पूरकक्कोलकफलान्वितम् ॥ ५३ ॥
निष्ठीवन् धारयेदास्ये न च निद्रां दिवा भजेत् ।
तेनास्य विलयं श्लेष्मा याति मूर्च्छा च शाम्यति ॥५४॥
सौगन्ध्यं जायते चास्य दौर्गन्ध्यं च विनश्यति ।
तृषितस्तु पिबेदुष्णं दीपनीयशृतं जलम् ॥ ५५ ॥
अत्यन्तपैत्तिको वाऽपि कदुष्णं पातुमर्हति ।
शृतं मुस्तकशुण्ठीभ्यां सशुण्ठीबालकेन वा ॥ ५६ ॥
शुण्ठ्या वा केवलं कोष्णं निशि पीत्वा सुखं स्वपेत् ।
एतेन विधिना खादेत् पक्षं मासमृतुं तथा ॥ ५७ ॥
त्रिमासं हैमनं वाऽपि चतुरो वा जितेन्द्रियः ।
द्रव्यमासाद्य रोगं च यथाकालं प्रयोजयेत् ॥ ५८ ॥
रूक्षाणि तु न भक्ष्याणि तानि पित्तभयाद्बुधैः ।
अन्नमप्यल्पशो देयं शृणु यादृशकं हितम् ॥ ५९ ॥

उसके बाद मटर के आटे तथा उष्ण जल के साथ हाथ, मुख तथा ओष्ठ का प्रक्षालन करे, भारी वस्त्र पहने, अग्नि का सेवन करे, सस्वाक (?), जायफल, कटुकी, लौंग, कर्पूर तथा शीतलचीनी आदि मसालों से युक्त पान को मुख में धारण करे तथा पहला पीक बाहर थूक दे। दिन में नींद न ले। इससे उसकी श्लेष्मा विलीन हो जाती है तथा मूर्च्छा शान्त हो जाती है। मुख में दुर्गन्ध नष्ट होकर सुगन्ध हो जाती है। प्यास लगने पर दीपनीय ओषधियों से पकाया हुआ उष्ण जल पीये। यदि अत्यधिक पित्त का प्रकोप हो तो भी ईषदुष्ण जल पिया जासकता है। अथवा नागरमोथा और सोंठ से या सोंठ और नेत्रवाला से अथवा केवल सोंठ के द्वारा पकाया हुआ ईषदुष्ण जल रात्रि को पीकर सुख से सोये। इस विधि से एक पक्ष, मास अथवा सम्पूर्ण ऋतु में इसका सेवन करना चाहिये। अथवा हेमन्त ऋतु के तीन या चार मास तक जितेन्द्रिय होकर रोग तथा काल के अनुसार इस द्रव्य का प्रयोग करे। बुद्धिमान् व्यक्ति पित्त के प्रकुपित होने के भय के कारण रूक्ष पदार्थों का सेवन न करें तथा हितकर अन्न भी थोड़ा २ कर के जिस प्रकार देना चाहिये-वह अब तू मेरे से सुन ॥ ५२-५९ ॥

कपालभृष्टपक्वाः स्युर्यवगोधूममण्डकाः ।
रूक्षाः सुगन्धयो हृद्याः पूपटा लवणैर्युताः ॥ ६० ॥
शालीनां पोलिकाश्चोष्णा मुद्गकुल्माषसंस्कृताः ।
सक्तुपिण्ड्यः सुलवणाः कुस्नेहाः पञ्चपट्टिताः ॥ ६१ ॥
लावैणतित्तिरिशशार्कपिञ्जलचकोरकाः ।

मांसार्थं जाङ्गलाश्चान्ये विधेया मृगपक्षिणः ॥ ६२ ॥
अभ्युष्णाः संस्कृतानम्ललवणस्नेहवेषणैः ।
मांसं शस्तं फलाम्लं वा कोलामलकदाडिमैः ॥ ६३ ॥
वास्तुको दाडिमे सिद्धश्चाङ्गेर्यामलकेन वा ।
बुर्बु(?)वृंषस्य वा पुष्पमथवा बालमूलकम् ॥ ६४ ॥

सुगन्धित, हृदय को अच्छी लगने वाली, नमकीन व्यञ्जनों के साथ, मिट्टी के घड़े के कपाल में सेककर पकाई हुई जौ तथा गेहूं की रूक्ष (बिना चुपड़ी हुई) रोटियां, शालि-चावलों की बनाई हुई उष्ण पोलिका (रोटी), मूंग तथा कुल्माष के बने हुए पदार्थ, अच्छी तरह नमक पड़े हुए परन्तु कम स्नेह (तैल या घृत) वाली तथा पांच पट्टियों वाली अर्थात् पांच रेखाओं से चिह्नित सत्तुओं की पिन्नियां देनी चाहिये तथा लाव (बटेर), एण (मृगविशेष), तीतर, खरगोश, कपिञ्जल (सफेद तीतर), चकोर तथा अन्य भी जांगल पशु-पक्षियों का मांस देना चाहिये। तथा वह मांस उष्ण एवं अम्लरहित, लवण, स्नेह एवं वेषण (मसालों) से तथा कोल, आंवला और अनारदाने से संस्कृत होना चाहिये। तथा दाडिम, चांगेरी और आंवले से सिद्ध बथुए का शाक, बुर्बु (?) या बांसे के फूल अथवा कच्ची मूली का प्रयोग करना चाहिये ॥ ६०-६४ ॥

यः स्नेहं बहु भुञ्जीत रूक्षान्नं तस्य शस्यते ।
अल्पस्नेहाशिनो भोज्यं सुस्निग्धं तु निधापयेत् ॥६५॥

जो स्नेह का बहुत प्रयोग करता हो उसे रूक्ष अन्न देना चाहिये तथा जो अल्प स्नेह का व्यवहार करते हों उन्हें अच्छी तरह स्निग्ध किया हुआ भोजन देना चाहिये ॥ ६५ ॥

कुष्ठी श्वासी तमी कासी प्रमेही वातकुण्डली ।
ध्यायी प्लीह्यर्शसो गुल्मी भक्षयेयुर्विनाऽम्भसा ॥६६॥

कुष्ठ, श्वास, तमक श्वास (Asthma), कास, प्रमेह वातकुण्डल, प्लीहा, अर्श तथा गुल्मरोग से पीडित व्यक्तियों को लशुन खाने के साथ पानी नहीं पीना चाहिये। लशुन खाने के बाद कुछ दिनों तक इन्हें यूष का सेवन करना चाहिये ॥ ६६ ॥

भक्षितान्ते ततो यूषं विदध्यात् पानभोजने ।
लशुनानां पलं पिष्टं द्विपलं दाडिमस्य च ॥ ६७ ॥
द्विपलं द्विपलं दध्यान्मांसस्य घृततैलयोः ।
सुवेषणं सुलवणं सोष्णं क्षुधितमाशयेत् ॥ ६८ ॥

भूख लगने पर लशुन एक पल तथा अनारदाना, मांस, घृत तथा तैल-प्रत्येक दो २ पल—इन्हें पीसकर इसमें अच्छी तरह कसौंदी तथा नमक डालकर गरम २ सेवन कराये ॥

शालिषष्टिकगौराणां भक्तं तेनाल्पशो भजेत् ।
त्र्यहं सदधितक्रं तु यूषमस्योपपादयेत् ॥ ६९ ॥
ततस्त्र्यहे सशुक्तं तु मुद्गमण्डाद्यतः परम् ।
न पर्युषितमश्नीयाद्यूषं नित्यं तु साधयेत् ॥ ७० ॥

शालि तथा सांठी के सफेद चावलों का भात थोड़ा २ तीन दिन तक दही तथा तक्र (मठे) के साथ खाये तथा उसके बाद यूष का सेवन करे। इसके बाद तीन दिन तक शुक्त और तदनन्तर मुद्ग मण्ड आदि का सेवन करें। पर्युषित (बासी) पदार्थों का सेवन न करे तथा यूष भी नित्य नवीन तैयार करे ॥ ६९-७० ॥

विरुद्धानि विदाहीनि वर्जयेच्छाकगोरसान् ।
अभिष्यन्दीनि चान्नानि मांसं भक्ष्यैस्त्रवाणि च ॥७१॥
अध्वानं मैथुनं चिन्तां शोकव्यायामशोषणम् ।
अहितं वर्जयेत् सर्वं निवातशयनासनः ॥ ७२ ॥

लशुन सेवन के बाद अपथ्य—विरुद्ध तथा विदाह उत्पन्न करनेवाले शाक तथा गोरस (दूध अथवा दूध से बने पक्वान्न आदि), अभिष्यन्दी अन्न, मांस तथा इक्षुविकार (गन्ने से बने पदार्थ) खाने को न दे। अध्व (मार्गगमन), मैथुन, चिन्ता, शोक, व्यायाम, शरीर का शोषण करने वाले तथा अन्य भी सम्पूर्ण अहितकर भावों का त्याग करे। और निवात स्थान में शयन करे तथा बैठे ॥ ७१-७२ ॥

त्यजञ्छीतोपचारांश्च लशुनान्युपयोजयेत् ।
शीतोपचारात् स्नेहाच्च जलोदरमवाप्नुयात् ॥ ७३ ॥

लशुन के सेवन काल में होनेवाले उपद्रव—लशुन का सेवन करते हुए शीतल उपचारों का त्याग करना चाहिये। शीत उपचार तथा स्नेह के सेवन से रोगी को जलोदर हो जाता है ॥ ७३ ॥

स्नेहादण्डोपचाराच्च पाण्डुशोफरुजाभयम् ।
स्नेहाद् गुर्वन्नपानाच्च ग्रहणीदोषकामले ॥ ७४ ॥

स्नेह तथा अण्डे के सेवन से रोगी को पाण्डु तथा शोफ रोग हो जाते हैं। तथा स्नेह एवं गुरु अन्नपान के सेवन से रोगी को ग्रहणी विकार तथा कामला हो जाता है ॥ ७४ ॥

कुमद्यमत्स्यगव्यैस्तु ज्वरकुष्ठक्षयाहतिः ।
रूक्षेभ्यश्चोष्णकाले च सर्वपित्तरुजाभयम् ॥ ७५ ॥
शूलातिसारसाध्मानहृल्लासच्छर्द्यरोचकाः ।
हिक्का विसूचिका श्वासनिद्रेऽन्येऽत्राप्युपद्रवाः ॥ ७६ ॥

दूषित मद्य, मछली एवं गौ के दूध आदि के सेवन से ज्वर, कुष्ठ तथा क्षय रोग हो जाते हैं। रूक्ष व्यक्तियों तथा उष्ण काल में लशुन के सेवन से सम्पूर्ण पैत्तिक रोग हो जाते हैं। तथा अन्य भी शूल, अतिसार, आध्मान, हृल्लास, छर्दि, अरोचक, हिक्का, विसूचिका, श्वास तथा निद्रा आदि उपद्रव हो जाते हैं ॥ ७५-७६ ॥

उपद्रवप्रतीकारः कार्यः स्वैः स्वैश्चिकित्सितैः ।
छर्द्यजीर्णविदाहेषु गौरवे कफसंभवे ॥ ७७ ॥

लङ्घयित्वा यथायोगं पथ्याशी पुनराचरेत् ।
विरेकं वमनं नस्यं कुर्याच्च कवलग्रहान् ॥ ७८ ॥
देहव्याधिबलापेक्षी तीक्ष्णांस्त्वस्य विवर्जयेत् ।
श्रद्दधानो भवेद्धीमान्न त्वरेतोद्विजेत वा ॥ ७९ ॥

अपनी २ चिकित्सा के अनुसार इन उपद्रवों का प्रतीकार करना चाहिये। छर्दि, अजीर्ण, विदाह तथा कफ के कारण शरीर के भारी होने पर आवश्यकतानुसार लङ्घन (उपवास) करके पथ्य के सेवनपूर्वक देह और व्याधि के बल के अनुसार विरेचन, वमन, नस्य और कवलग्रह का प्रयोग करे तथा तीक्ष्ण वस्तुओं का परित्याग करे। शरीर के स्वस्थ हो जाने का विश्वास रखे तथा शीघ्रता और उद्वेग से दूर रहे ॥७७–७९॥

अथ पथ्याशने वृत्ते सप्ताहात् सर्वभोजिनम् ।
निरुपद्रवमाश्वस्तं बलिनं लशुनादिनम् ॥ ८० ॥
पाययेत्त्रिफलायुक्तं सर्पिः सलवणं त्र्यहम् ।
(इति ताडपत्रपुस्तके १७१ तमं पत्रम् ।)
न विहन्याद्यथाऽऽहारः पक्वमन्नं च भोजयेत् ॥ ८१ ॥

इस के बाद पथ्य सेवनपूर्वक सप्ताह भर में सम्पूर्ण भोजन का सेवन करने वाले, उपद्रवशून्य बलवान् तथा लशुन का प्रयोग करने वाले व्यक्ति को आश्वासन देकर त्रिफला युक्त घृत में लवण डालकर तीन दिन तक पिलाये। इसकी मात्रा इतनी होनी चाहिये कि भूख न मारी जाये तथा भोजन में कमी न आये। उस के बाद पकाया हुआ अन्न खिलायें ॥

काये दोषोऽस्य यो लीनः स तेनाशु प्रशाम्यति ।
न च स्नेहकृतो दोषः पश्चात्तं संप्रबाधते ॥ ८२ ॥

रोगी के शरीर में जो लीन (छिपे) हुए दोष शेष होते हैं वे इस से शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं तथा स्नेह से उत्पन्न होने वाले दोष इसे पीछे से कष्ट नहीं पहुंचाते ॥ ८२ ॥

पामा विस्फोटकाः कण्डूर्बाधिर्यं जाड्यसुप्तते ।
एते ह्येतं प्रबाधन्ते यद्यसौ न विरिच्यते ॥ ८३ ॥

यदि रोगी को विरेचन न दिया जाये तो उसे पामा, विस्फोटक, कण्डू, बाधिर्य (बधिरता–Deafness), जडता एवं सुप्ति (अङ्गों का सो जाना) रोग हो जाते हैं ॥ ८३ ॥

तस्मान्मृदुविरेकः स्यात्त्रिवृत्त्रिफलया घृतम् ।
विदध्यात् सोष्णलवणमनु चोष्णोदकं पिबेत् ॥ ८४ ॥

इसलिये त्रिवृत् तथा त्रिफलायुक्त घृत में लवण मिलाकर गरम करके उस के द्वारा मृदुविरेचन देना चाहिये। तथा उस के बाद अनुपानरूप में उष्ण जल पीना चाहिये ॥ ८४ ॥

गुरुदेवाग्निपूजाश्च भक्षयन् वर्जयेद्बुधः ।
स्नात्वा सुगन्धिर्हृद्यात्मा पूजयेद् गुरुदेवताः ॥ ८५ ॥

लशुन का सेवन करते हुए बुद्धिमान् व्यक्ति गुरु, देव तथा अग्नि की पूजा न करे। स्नान करने के बाद सुगन्धयुक्त तथा प्रसन्न आत्मा वाला होकर गुरु तथा देवता आदि की पूजा करे।

वक्तव्य–शोढल तथा नावनीतक में भी पूरा लशुन का कल्प दिया हुआ है। नावनीतक में लिखा है—अथ शुद्धतनुः शुचिर्विविक्तः सुरविप्रान्प्रतिपूज्य पावकं च । लशुनात्स्वरसं पटान्तपूतं प्रपिबेद्धि हुताग्निहोत्रहुते ॥ कुडवं कुडवार्धमथापि चार्धं कुडवं सार्ध-मतोऽपि वातिमात्रम् । नियता न हि काचिदत्र मात्रा प्रपिबेद्दोषब-लानयानि दृष्ट्वा ॥ सतालवृन्तव्यजनानिलैः शुभैः पिबन्तमेनं समभि-स्पृशेच्छनैः । भवेत्तु मूर्च्छा पिबतोऽपि वा यदि स्पृशेत्ततः शीतजलैः सचन्दनैः ॥ सुरातनीयांशविमूर्च्छितस्य गण्डूषमेकं प्रपिबेद्रसस्य । पूर्वं गलवक्त्रोऽविविधानहेतोः स्थित्वा मुहूर्तं च पिबेत्सशेषम् ॥ शोढल ने इसका एक मास तक सेवन करने को लिखा है। आवश्यक-तानुसार कम अथवा अधिक अवधि भी की जासकती है। कहा है—मासः परोऽस्य रसकल्कनिषेवणाय स्वच्छन्दमप्युपदि-शन्ति चिकित्सकास्तु ॥ षण्मासमन्त्रविधिना तमु शास्त्रमाहुः पक्ष-प्रयोगमपि हीनतरं रसोने ॥ ८५ ॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि लशुने शेषकर्म यत् ।
बीजाढकं जलद्रोणे जर्जरीकृतमावपेत् ॥ ८६ ॥
जलानित्येऽग्नि···(?)वा गोपयेत् षष्टिकेषु वा ।
अव्याधिरमरप्रख्यो जीवेद्वर्षशतं नरः ॥ ८७ ॥
यावद्वर्षस्थितं खादेत्तावद्वर्षशतान्यपि ।
जहाति च त्वचं जीर्णां जीर्णां त्वचमिवोरगः ॥ ८८ ॥

इसके बाद मैं लशुन के शेष कर्मों को कहूंगा—एक द्रोण जल में एक आढक लशुन के बीजों को कूटकर डाल दे तथा उसे अग्नि पर पकाले। तब उसे सांठी के चावलों (धान्य-राशि) में रखदें। इसके सेवन से मनुष्य व्याधिरहित एवं अमर होकर सौ वर्ष तक जीवित रहता है। जितने वर्ष तक मनुष्य इसका सेवन करता है उतने सौ वर्षों तक वह रोग रहित होकर अमर के समान जीवित रहता है। जिस प्रकार सांप अपनी पुरानी त्वचा (केंचुली) को छोड़कर नवीन त्वचा प्राप्त करलेता है उसी प्रकार वह जितने वर्ष पुराने इस घृत का प्रयोग करता है उतने ही सौ वर्षों तक वह अपनी पुरानी त्वचा उतारता जाता है तथा नवीन प्राप्त करता जाता है ॥८६–८८॥

लशुनानां पलं नित्यं पले द्वे वा घृतस्य तु ।
मधुनः किञ्चिदेव स्यात्तल्लीढ्वाऽनु पिबेत् पयः ॥ ८९ ॥
संवत्सरमजीर्णान्ते भुञ्जीत पयसौदनम् ।
सोऽपि सर्वरुजाहीनः शतवर्षाणि जीवति ॥ ९० ॥

लशुन—१ पल। घृत—२ पल। इसमें थोड़ा मधु मिला-कर अवलेह बनाकर नित्य सेवन करे तथा उसके बाद दूध पिये। एक वर्ष तक इसका भोजन के जीर्ण होजाने पर सेवन करे और दूध तथा चावल का भोजन करे। इससे वह व्यक्ति सम्पूर्ण रोगों से रहित होकर १०० वर्षों तक जीवित रहता है ॥ ८९–९० ॥

आमानि यो न शक्नोति तस्य भृष्टानि सर्पिषि ।

पत्रपूपलिकावच्च[1] संस्कृतान्युपयोजयेत् ॥ ९१ ॥

जो व्यक्ति कच्चे लशुन का प्रयोग न कर सके उसको घी में भूनकर तथा शाक के पत्तों की बनी पकौड़ियों की तरह संस्कृत करके प्रयोग कराये ॥ ९१ ॥

सिद्धानि सह मांसैर्वा यवाग्वा दाधिकेन वा ।
निर्मन्दकाश्च[2] शस्यन्ते नानाद्रव्योपसंस्कृताः ॥ ९२ ॥

अथवा मांस, यवागू और दधि के साथ सिद्ध करके तथा नाना द्रव्यों से संस्कृत करके बनाये हुए निमन्दक (पूर्णरूप से न जमा हुआ दही) का प्रयोग कराना चाहिये ॥ ९२ ॥

लशुनानां पलशतं जलद्रोणेषु पञ्चसु ।
क्वाथयेद्द्रोणशेषं तं पचेद्भूयो घृताढके ॥ ९३ ॥
आढकं पयसो दद्याद्गर्भं चेमं समावपेत् ।
लशुनानां पलशतं बीजानां श्लक्ष्णसंस्कृतम् ॥९४॥
दीपनं जीवनं वृष्यं यत्किञ्चित् सर्वमावपेत् ।
अक्षवद्दशमूलं च तत् सिद्धमवतारयेत् ॥ ९५ ॥
एतत् पाने च भोज्ये च हितं समधुशर्करम् ।

१०० पल लशुन ५ द्रोण जल में डालकर पकाये । एक द्रोण शेष रहने पर उसमें एक आढ़क घृत डालकर पुनः पाक करे । इसमें एक आढक दूध तथा १०० पल चिकने एवं संस्कृत लशुन के बीज तथा अन्य जो भी दीपनीय, जीवनीय एवं वृष्य ओषधियां मिल सकें, तथा एक अक्ष (कर्ष) दशमूल डालकर पकायें । सिद्ध होने पर इसे उतारलें । इसमें मधु एवं शर्करा मिलाकर पान तथा भोजन के रूप में प्रयोग करना चाहिये ॥ ९३-९५ ॥

तेनैव विधिना तैलं बस्तिकर्मणि शस्यते ॥ ९६ ॥

उपर्युक्त विधि से ही इनका तैल बनाकर उसकी बस्ति देनी चाहिये ॥ ९६ ॥

क्लीबबन्ध्यातिवृद्धानामपि वीर्यप्रजाप्रदम् ।
विरेकवमनद्रव्यैः संस्कृते कुष्ठम्रक्षणम् ॥ ९७ ॥

यह नपुंसक, बन्ध्या तथा अत्यन्त वृद्ध व्यक्तियों को भी वीर्य एवं सन्तान का देने वाला है । तथा विरेचन एवं वमन द्रव्यों से संस्कृत करने पर यह कुष्ठ पर रगड़ने के लिये हितकर है ॥ ९७ ॥

श्वित्रनाडीक्रिमीणां च पानभोजनम्रक्षणे ।
प्रयुक्तमारोग्यकरं गन्धसर्पिरनुत्तमम् ॥ ९८ ॥

श्वित्र, नाडीव्रण एवं क्रमिरोगों में पान, भोजन एवं म्रक्षण (रगड़ना-स्थानिक प्रयोग) के लिये गन्धसर्पि का प्रयोग श्रेष्ठ माना जाता है ॥ ९८ ॥

१. शाकपत्रकृतपोलिका (पकौडी) वदित्यर्थः ।

२. मन्दजातं (अव्यक्तरसेषद्घनीभूतक्षीररूपं) दधि मन्दकं, तद्रूपा इत्यर्थः ।

अथ गन्धमहन्नाम धनिनामुपदिश्यते ।
यं दृष्ट्वा भज्यते शीघ्रं साक्षादपि सदागतिः ॥९९॥
रोगानीकेन सहितः सहितश्च मरुद्गणैः ।

अब धनियों के लिये गन्धमहत् (महान् गन्ध उपचार) का वर्णन किया जाता है जिसे देखकर रोगसमूह—तथा मरुत गण के साथ साक्षात् वायु भी शीघ्र ही भाग जाता है ॥ ९९ ॥

लशुनं न्यायतः खादेन्मुकुटं रचयेदपि ॥ १०० ॥
कुर्याल्लशुनमालां च शिरसः कर्णयोरपि ।
बहिः प्रावरणस्यापि कुर्याल्लशुनकम्बलम् ॥ १०१ ॥
हस्तयोः पादयोः कण्ठे बध्नीयाद्गुच्छितान्यपि ।
अधस्ताद्वाससश्चापि विदध्याच्छयनाशने ॥१०२॥
दद्याल्लशुनचीराणि गृहद्वारेषु सर्वशः ।
भार्याणां भ्रातृपुत्राणां दासीनामुपचारिणाम् ॥१०३॥
सर्वेषामात्मवत् कुर्यात् कृते गन्धवरे बुधः ।
अन्नपानानि सर्वाणि कुर्याल्लशुनवन्ति च ॥ १०४ ॥
वादयन्तु च वादित्रं गान्तु गीतानि चेच्छया ।
नटा भल्लाश्च मल्लाश्च दर्शयन्त्वात्मशिक्षितम् १०५
गन्धमाल्यान्नपानानि यथार्हमुपकल्पयेत् ।
दृष्ट्वा गन्धमहं वातो द्वारादेव निवर्तते ॥ १०६ ॥

लशुन का विधिपूर्वक सेवन करे, लशुन का मुकुट बनाकर धारण करे, सिर तथा कानों में लशुन की माला पहने, ऊपर ओढने के उत्तरीय वस्त्र एवं कम्बल में भी लशुन सिये हुए हों, हाथों पैरों कण्ठ में लशुन के गुच्छे बांधे । शयन तथा आसन के अधोवस्त्र भी लशुन युक्त बनाये । घर के द्वारों पर लशुन युक्त वस्त्र टांगे । तथा इस गन्धवर (महागन्ध) कल्प में पत्नी, भ्राता, पुत्र, दासी, तथा अन्य उपचारक आदि सबको भी अपने ही समान (लशुनवान्) कर दे अर्थात् उनके भी सम्पूर्ण अन्न-पान आदि लशुन युक्त कर दे । मन बहलाव के लिये वहां बाजे बजने चाहिये, गीतों का गान होना चाहिये, तथा वहां नट, भील एवं मल्ल अपनी २ विद्या का प्रदर्शन कर रहे हों । गन्धद्रव्य, माला एवं अन्नपान भी यथाशक्ति लशुन युक्त कर देने चाहिये । इस प्रकार गन्धमह को देखकर वायु द्वार पर से ही वापिस लौट जाता है अर्थात् उसे वातरोग बिलकुल नहीं हो सकते हैं ॥ १००-१०६ ॥

देवदारुवने भैक्षं चरता छन्नरूपिणा ।
अवज्ञातेन रुद्रेण मुनिभार्या निरीक्षिताः ॥१०७॥
ततस्तासां प्रजा नासीत्ततस्ताः शरणं ययुः ।
भद्रकालीमुमां देवः स च तुष्टोऽब्रवीद्वचः ॥१०८॥
अयं गन्धमहो नाम तं कुरुध्वमृषिस्त्रियः ।
सर्वरोगविनाशाय बलरूपप्रजाकरम् ॥ १०९ ॥
उन्मादविषशापघ्नं वातानीकविशातनम् ।
अश्मनीव ध्रुवा लेखा प्रजाऽवश्यं भविष्यति ॥११०॥

ततस्ता ब्रह्मवादिन्यश्चक्रुर्गन्धमहं तदा ।
लेभिरे चेप्सितान् कामाञ्छास्त्रं चेदं प्रचक्रिरे ॥१११॥
(इति ताडपत्रपुस्तके १७२ तमं पत्रम् ।)

देवदारु के वन में प्रच्छन्न रूप वाले तथा अज्ञात अवस्था में भिक्षा के लिये विचरण करते हुए (महादेव) ने मुनियों की स्त्रियों को देखा। उन स्त्रियों के सन्तान न होने से वे देव (महादेव) की शरण में पहुंचीं। महादेव ने प्रसन्न होकर भद्रकाली उमा से कहा कि तुम इन ऋषियों की पत्नियों को सम्पूर्ण रोगों के नाश के लिये बल, रूप एवं सन्तान को देने वाले महान् गन्ध का प्रयोग कराओ। यह उन्माद, विष, शाप तथा वातरोगों को नष्ट करता है। तथा पत्थर की लकीर के समान निश्चित रूप से इसके प्रयोग से इन्हें अवश्य सन्तान उत्पन्न होगी। तब भगवान् का नाम लेनेवाली उन ऋषि-पत्नियों ने महान् गन्ध का प्रयोग कर के अभीप्सित मनोरथों को प्राप्त किया तथा इस शास्त्र का प्रारंभ किया ॥१०७-१११॥

आख्यातं गुरुपुत्राय रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ।
भिषजा न प्रमादेन वक्तव्यं यत्रकुत्रचित् ॥ ११२ ॥

आचार्य द्वारा गुरुपुत्र के लिये यह उत्तम रहस्य प्रकट किया गया है इसलिये वैद्य को प्रमादवश इसको सब जगह नहीं कहना चाहिये अर्थात् प्रकाशित नहीं करना चाहिये॥११२॥

सम्यक् सुभूषितश्चाहं त्वयेदं प्राप्नुवन्मुने ! ।
यं पठित्वा भिषग्लोके न क्रियास्ववसीदति ॥११३॥

हे भगवन् ! अच्छे प्रकार भूषित हुए मैंने आपके द्वारा यह प्रयोग प्राप्त किया है जिसे जानकर वैद्य चिकित्सा में अवसन्न (मूढ) नहीं होता ॥ ११३ ॥

गिरिजं क्षेत्रजं चैव द्विविधं लशुनं स्मृतम् ।
अमृतेन समं पूर्वं तदलाभे परं हितम् ॥ ११४ ॥

लशुन दो प्रकार का होता है—१ गिरिज (पहाड़ी) २–क्षेत्रज (देशी)। इनमें प्रथम अमृत के समान लाभदायक है तथा उसके अभाव में दूसरे (क्षेत्रज) का प्रयोग करना चाहिये ॥ ११४ ॥

देववैद्यद्विजपरैरुपयोज्यं च सिद्धये ।
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ ११५ ॥

(इति) कल्पेषु लशुनकल्पः ॥

देवता, वैद्य एवं ब्राह्मणों द्वारा सिद्धि (कार्यसाधन) के निमित्त इसका प्रयोग करना चाहिये। ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था ॥ ११५ ॥

(इति) कल्पेषु लशुनकल्पः ॥

कटुतैलकल्पाध्यायः ।

अथातः कटुतैलकल्पं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ २ ॥

अब हम कटुतैल के कल्प का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था। कटुतैल से अभिप्राय कड़वे तेल अर्थात् सरसों के तेल से है ॥ १–२ ॥

कटुतैलोपदेशं तु वक्ष्यामि प्लीहनाशनम् ।
न ह्यतः परमं किञ्चिदौषधं प्लीहशान्तये ॥ ३ ॥

प्लीहा (Spleen) को नष्ट करने वाले कटु तैल का मैं उपदेश करूंगा। प्लीहा (Enlargement of spleen) की शान्ति के लिये इससे बढ़कर कोई ओषधि नहीं है ॥ ३ ॥

प्लीहोदरिणमादौ तु बलिनं निरुपद्रवम् ।
कल्याणकेन वा स्निग्धं सर्पिषा षट्पलेन वा ॥ ४ ॥
मात्रया पाययेत्तैलं पथ्यचेष्टाशनस्थितिम् ।
पञ्चप्रयोगास्त्वस्योक्ता मात्रासात्यभोजनैः ॥ ५ ॥

सर्वप्रथम बलवान् एवं उपद्रव रहित प्लीहोदरी का कल्याण घृत अथवा षट्पल घृत के द्वारा स्नेहन करके मात्रा के अनुसार तैल का पान कराये। तथा उसके बाद चेष्टा, आहार एवं निवास में पथ्य का सेवन करे। मात्रा सात्म्य एवं भोजन के अनुसार इसके पांच प्रयोग कहे हैं ॥ ४–५ ॥

पलानि द्वादश ज्येष्ठा, मध्यमा षट्पला स्मृता ।
मात्रा चतुष्पली ह्रस्वा, यावद्वाऽग्निबलं भवेत् ॥ ६ ॥

इसकी ज्येष्ठ मात्रा (Maximum dose) १२ पल, मध्यम मात्रा ६ पल, तथा ह्रस्व मात्रा ४ पल होती है। अथवा अग्नि एवं बल के अनुसार मात्रा का निश्चय करना चाहिये ॥ ६ ॥

स्नेहपीतोपचारं च विदध्यादखिलं भिषक् ।
प्रजागरनिवाताग्निस्वातन्त्र्याम्बरसेविनाम् ॥ ७ ॥

इसके बाद वैद्य रोगी को स्नेहपान के बाद का सम्पूर्ण उपचार अर्थात् जागरण, निवातस्थान, अग्नि तथा स्वतन्त्रता-पूर्वक आकाश का सेवन इत्यादि कराये ॥ ७ ॥

पीतमात्रे क्रमं विद्याद् व्यथा तन्द्री च जीर्यति ।
उद्गारशुद्धिर्वैशद्यलाघवानि जरां गते ॥ ८ ॥

स्नेह का पान करने पर व्यथा होती है। स्नेह के जीर्ण होते हुए तन्द्रा तथा उसके जीर्ण हो जाने पर शुद्ध डकार विशदता एवं लघुता हो जाती है ॥ ८ ॥

कृशं चातिविरिक्तं च मण्डादिभिरुपक्रमेत् ।
बली मन्दविरिक्तश्च भुञ्जीत मृदुमोदनम् ॥ ९ ॥

कृश तथा अत्यन्त विरिक्त (जिसे बहुत विरेचन हुए हों) व्यक्ति का मण्ड आदि के द्वारा उपचार करे तथा बलवान् एवं मन्द विरिक्त (जिसे कम विरेचन हुआ हो) व्यक्ति को मृदु ओदन का सेवन कराये ॥ ९ ॥

ईषत्स्नेहाम्लयूषेण संस्कृतेन यथाबलम् ।
रोहीतमोचयोर्वश्यं कुर्यात् काम्बलिकं सदा ॥ १० ॥

बल के अनुसार ईषत् स्नेह एवं अम्लयुक्त यूष द्वारा संस्कृत तैल से रोहीतक (रोहेड़ा) एवं मोचरस को वश में करे तथा काम्बलिक (दधिमस्तु एवं अम्ल से सिद्ध यूष) का सेवन कराये ।

वक्तव्य—काम्बलिक का लक्षण सुश्रुत सू. अ. ४६ में निम्न कहा है—दधिमस्त्वम्लसिद्धस्तु यूषः काम्बलिकः स्मृतः । तथा अन्यत्र कहा है—तक्रं कपित्थचाङ्गेरी-मरिचाजाजिचित्रकैः । सुपक्वं खडयूषोऽयमयं काम्बलिकोऽपरः ॥ १० ॥

फलाम्लदीपनोपेतं कटुतैलोपसंस्कृतम् ।
तेनैनं भोजयेन्नित्यं यावत्प्राणो यथा भवेत् ॥ ११ ॥

इसे प्राणों के यथास्थिर होने तक नित्य फलाम्ल एवं दीपनीय द्रव्यों से युक्त तथा कटुतैल से संस्कृत भोजन कराये ॥

लब्धप्राणं ततश्चैनं मात्रया पाययेत् सदा ।
कटुतैलं यथाशक्ति संस्कृतं नवमेव वा ॥ १२ ॥

इसके बाद प्राणों के सम्यक् स्थित हो जाने पर इसे उचित मात्रा में यथाशक्ति संस्कृत अथवा नवीन कटुतैल का पान कराये ॥ १२ ॥

द्राक्षाकाश्मर्यमधुकबालकोशीरचन्दनैः ।
कटुतैलं पचेत् क्षीरे प्लीह्नि दाहोत्तरे नृणाम् ॥ १३ ॥

द्राक्षा, गम्भारी, मुलहठी, नेत्रबाला, खस तथा चन्दन के साथ कटुतैल का क्षीर पाक करे तथा इसका प्लीहा और दाह से पीडित रोगियों को सेवन कराये ॥ १३ ॥

जीर्णेऽपराह्णे चोद्वर्त्य लघुरुष्णोदकाप्लुतः ।
अभयां कटुतैलेन भृष्टां दधनि साधिताम् ॥ १४ ॥
शाल्योदनेन भुञ्जीत तथा काम्बलिकेन च ।
तच्चेद्विदाहं जनयेत् पिबेत् कल्याणकं ततः ॥ १५ ॥

स्नेह के जीर्ण हो जाने पर अपराह्ण काल में उद्वर्तन कर के लघु तथा उष्ण जल पीकर कटु तैल में भूनी हुई तथा दही के साथ सिद्ध की हुई हरड़ को शाली चावलों तथा काम्बलिक के साथ खिलाये । यदि इससे विदाह उत्पन्न हो तो कल्याण घृत पिलाना चाहिये ॥ १४-१५ ॥

मत्स्याः कटुकतैलं च दधि माषान् घृतं पयः ।
क्षारेण पारिजातस्य तत् पक्वमवचारयेत् ॥ १६ ॥
एतत्तैलघृतं प्रोक्तं प्लीहगुल्मनिवारणम् ।
दीपनं स्नेहनं बल्यं ग्रहणीपार्श्वरोगनुत् ॥ १७ ॥

मछली, कटुतैल, दही, उड़द, घृत तथा दूध को पारिजात (रोहीतक-रोहेड़ा) के क्षार के साथ पकाकर प्रयोग करे । यह तैल तथा घृत प्लीहा और गुल्म का नाशक, दीपन, स्नेहन, बल्य तथा ग्रहणी और पार्श्व के रोगों को नष्ट करते हैं ॥ १६-१७ ॥

कर्णिकारत्वचतुलां चतुर्द्रोणे पचेदपाम् ।
पादशेषे समक्षीरे कषाये तत्र पाचयेत् ॥ १८ ॥
प्रस्थं कटुकतैलस्य द्वौ प्रस्थौ दधिमाषयोः ।
दशमूलोपसंसिद्धरोहीतरसमावपेत् ॥ १९ ॥
क्षारजीवनवर्गं च सैन्धवं दीपनं च यत् ।
एतत् सिद्धं प्रयोगेण कर्णिकारीयमुत्तमम् ॥ २० ॥

कनेर की छाल १ तुला (१०० पल), ४ द्रोण जल में डालकर पकाये । चतुर्थांश शेष रहने पर उसमें समान दूध, कटुतैल १ प्रस्थ, दधि तथा माष (उड़द) २ प्रस्थ, दशमूल से सिद्ध रोहित मछली का मांसरस, क्षार, जीवनीय वर्ग, सैन्धव तथा अन्य दीपन द्रव्य डालकर पाक करें । सिद्ध हो जाने पर इस उत्तम कर्णिकार तैल का प्रयोग करे ॥ १८-२० ॥

उद्वर्तनं ब्रह्मचर्यं कटुतैलोपसेवनम् ।
सुखाः शय्यासनस्वप्नाश्चिन्तेर्ष्याभयवर्जनम् ॥ २१ ॥

कटुतैल के सेवनकाल में उद्वर्तन (उबटन), ब्रह्मचर्य, सुखकारी शय्या तथा आसन, स्वप्न, चिन्ता, ईर्ष्या तथा भय का त्याग करना चाहिये ॥ २१ ॥

वामपार्श्वोपशयनं दधिमत्स्योपसेवनम् ।
लघ्वल्पस्निग्धसेवा च शमयन्ति प्लिहोदरम् ॥ २२ ॥

वाम पार्श्व (बांई करवट) से शयन, दधि एवं मत्स्य का सेवन तथा लघु अल्प एवं स्निग्ध पदार्थों के सेवन से प्लीहोदर शान्त हो जाता है ॥ २२ ॥

कर्णिकारस्य वा कल्कश्चूर्णितः स्वरसोऽपि वा ।
कटुतैलेन तक्रैर्वा सेवितः प्लीहनाशनः ॥ २३ ॥

कनेर के कल्क, चूर्ण अथवा स्वरस का कटुतैल अथवा तक्र के साथ सेवन करने से प्लीहा नष्ट हो जाती है ॥ २३ ॥

रागसर्षपतैलं वा पूर्ववत् प्लीहनाशनम् ।
सेवितं मात्रया नित्यं दधिमाषौदकाशिनाम् ॥ २४ ॥

नित्य मात्रा के अनुसार दही, उड़द तथा भात का सेवन करने वाले व्यक्तियों में पीली सरसों का तैल पूर्वोक्तानुसार सेवन करने से प्लीहा को नष्ट करता है ॥ २४ ॥

रागसर्षपमुष्टिं तु पिष्टं काञ्जिकयोजितम् ॥
पिबेत् सलवणक्षारं भोज्यं काम्बलिकेन च ॥ २५ ॥
सप्ताहादतिवृद्धोऽपि प्लीहा प्रशममृच्छति ।
दाहश्चेदतिबाधेत रसक्षीरं च भोजयेत् ॥ २६ ॥

एक मुष्टि (मुट्ठीभर) पीली सरसों कांजी के साथ पीसकर उसमें लवण तथा क्षार मिलाकर पीना चाहिये तथा काम्बलिक के साथ भोजन करना चाहिये । इसके एकसप्ताह के प्रयोग से अत्यन्त बढ़ा हुआ (Enlarged) प्लीहा भी शान्त हो जाता है । यदि इसके प्रयोग से बहुत दाह हो तो रोगी को मांसरस तथा दूध पिलाना चाहिये ॥ २५-२६ ॥

---

१. 'दधिमस्त्वम्लसिद्धस्तु यूषः काम्बलिकः स्मृतः' इति सुश्रुतः ।

इत्याह भगवान् वृद्धो जीवको लोकपूजितः ।
वालानां महतां चैव प्लीहोदरनिवर्तनम् ॥ २७ ॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ।

(इति कल्पस्थाने) कटुतैलकल्पः ॥

(इति ताडपत्रपुस्तके १७२ तमं पत्रम् ।)

इस प्रकार बालकों तथा बड़े व्यक्तियों के प्लीहोदर की शान्ति के लिये लोकपूजित भगवान् वृद्धजीवक ने प्रवचन किया । ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था ॥ २७ ॥

(इति कल्पस्थाने) कटुतैलकल्पः ॥

षट्कल्पाध्यायः ।

अथातः पट्कल्पं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ २ ॥

अब हम षट्कल्प का व्याख्यान करेंगे । ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था । इसमें ६ ओषधियों के कल्प का विधान दिया गया है इसलिये इसका नाम षट्कल्पाध्याय है ॥१-२॥

मारीचमृषिमासीनं सूर्यवैश्वानरद्युतिम् ।
विनयेनोपसङ्गम्य प्राह स्थविरजीवकः ॥ ३ ॥

सूर्य एवं वैश्वानर की कान्ति वाले, बैठे हुए महर्षि कश्यप के पास जाकर नम्रतापूर्वक वृद्धजीवक ने प्रश्न किया ॥ ३ ॥

भगवन्नक्षिरोगेण परिक्लिष्टस्य चक्षुषः ।
कदा संशमनं देयं किञ्च संशमनं हितम् ॥ ४ ॥
कः प्रयोगश्च तत्रोक्तः किञ्च तत्र हिताहितम् ।
इति पृष्टः स कल्याणं भगवान् प्रश्नमब्रवीत् ॥ ५ ॥

हे भगवन् ! अक्षिरोग से पीडित बालकों की आंखों में कब तथा कौनसा संशमन देना चाहिये ? कौनसा प्रयोग कराना चाहिये ? उसमें क्या हितकर है तथा क्या हितकर नहीं है ? इस प्रकार प्रश्न किये जाने पर भगवान् कश्यप ने कल्याणकारक उत्तर दिया ॥ ४-५ ॥

अक्षिरोगेण बालेषु क्लिष्टं वाऽऽश्च्योतनादिभिः ।
रागश्वयथुशूलास्रनिवृत्तौ षडहात् परम् ॥ ६ ॥
अल्पशो वा निवृत्तेषु बाधमानेषु वाऽल्पशः ।
रागादिषु प्रयुञ्जीत काले संशमनं हितम् ॥ ७ ॥

बालकों में अक्षिरोग से पीडित आंख में राग (लालिमा-Congestion), शोथ (Swelling), शूल (Pain) तथा अश्रुओं (Lacrimation) के शान्त हो जाने पर ६ दिन के बाद आश्च्योतन (नेत्रसेचन-आंख का स्नेह द्वारा पूरण) कराना चाहिये । अथवा लालिमा आदि के थोड़ा निवृत्त हो जाने पर या थोड़ा कष्ट शेष रहने पर उचित काल में हितकर संशमन का प्रयोग करना चाहिये ।

वक्तव्य—आश्च्योतन का लक्षण—उन्मीलितेऽक्ष्णि तद्वन्मध्ये बिन्दुर्निर्द्व्यङ्गुलाद्धितम् । कार्यश्चाश्च्योतनस्नेहबिन्दूनां बहु पातनम् ॥ तद्वच्चक्षुरुन्मीलिते नेत्रे प्रोक्तमाश्च्योतनं हितम् ॥ ६-७ ॥

दूषिका चोपलेपश्च दृष्टिव्याकुलताऽरतिः ।
वर्त्मशोथः शिरोरोगः स्रावश्चैवेऽक्षिपक्ष्मणि ॥ ८ ॥
एतानि दृष्ट्वा रूपाणि कुर्यात् संशमनं विधिम् ।
स्तनपं सह धात्र्या च स्थापयेत् पथ्यभोजने ॥ ९ ॥

दूषिका (नेत्रमल), उपलेप (सुखलिप्तता), दृष्टिव्याकुलता, अरति, वर्त्मशोथ (Swelling of Lids), शिरोरोग, आंखों की पलकों से स्राव का आना—इत्यादि लक्षण होने पर संशमन विधि का प्रयोग करना चाहिये । तथा स्तन-पान करनेवाले शिशु और धात्री दोनों को पथ्य भोजन का सेवन कराना चाहिये ॥ ८-९ ॥

चक्षुष्या पुष्पकं माता रोचनाऽथ रसाञ्जनम् ।
कतकस्य फलं षष्ठं तेषां कल्पान्निबोध मे ॥ १० ॥

चक्षुरोगों में चक्षुष्या (चाक्षु बीज), पुष्पक (जस्ते के फूल), माता (हरड़), रोचना (गोरोचन), रसाञ्जन (रसौंत) तथा कतक (निर्मली बीज) का फल—इन ६ द्रव्यों के कल्प को तू मेरे से सुन ॥ १० ॥

जन्मतश्चतुरो मासान् पञ्च षड् वाऽक्षिरोगिणाम् ।
विघृष्य नारीस्तन्येन चक्षुषी प्रतिपूरयेत् ॥ ११ ॥

जन्म के बाद चार, पांच या छ मास तक उपर्युक्त ओषधियों को स्त्री के दूध में घिसकर अक्षिरोगियों की आंखों में डाले ॥ ११ ॥

कांस्ये हिरण्यशकलं सस्तन्यक्षौद्रनाभिकम् ।
घृष्ट्वाऽक्षिणी पूरयेद्वा सर्वानक्षिगदाञ्जयेत् ॥ १२ ॥

कांसी के बर्तन में दूध, मधु एवं शंखनाभि के साथ स्वर्ण को घिसकर उससे आंखों का पूरण करना चाहिये । इससे सम्पूर्ण अक्षिरोग नष्ट हो जाते हैं ॥ १२ ॥

एतैः कल्याणकैर्योगावृषिभिः संप्रकीर्तितौ ।
नाभ्यञ्जनकृतौ मुख्यौ कश्यपेन महर्षिणा ॥ १३ ॥

इन उपर्युक्त कल्याण कारक ओषधियों में से महर्षि कश्यप ने नाभि एवं अञ्जन के दो मुख्य प्रयोग बतलाये हैं ॥ १३ ॥

शरद्धेमन्तयोः पक्वां चक्षुष्यां ग्राहयेद्भिषक् ।
नवे कमण्डलौ चैनामनुगुप्तां निधापयेत् ॥ १४ ॥
ततः फलान्युपत्रिंशद्यवांश्च दश साधयेत् ।
शरावे पूतिकां बद्ध्वा गोमयालोडितां प्लुताम् ॥१५
यवसिद्धौ भवेत्सिद्धा ततस्तां निस्तुषीकृताम् ।
स्तन्यपिष्टां प्रयुञ्जीत विशेषश्चोपदेक्ष्यते ॥ १६ ॥

शरद् तथा हेमन्त ऋतु में वैद्य पकी हुई चक्षुष्या (कुलथी) का ग्रहण करे इसे नवीन कमण्डलु (बर्तन) में सावधानीपूर्वक

रखदे। इसके बाद शराव में वस्त्र बांधकर गोबर से आलोडित कर के उसमें चच्चुष्या के ३० फलों तथा १० यवों (जौ) को सिद्ध करे। जौ के सिद्ध हो जाने पर इन्हें भी सिद्ध हुआ जानकर छिलके उतार कर दूध में घिसकर उसका लेप करना चाहिये। इसका विशेष प्रयोग आगे कहा जायगा ॥ १४-१६ ॥

सरागे रोचनोपेता सस्रावे च ससैन्धवा।
दूषिकामलशोथेषु प्रयोज्या सरसक्रिया ॥ १७ ॥
सपुष्पकां सगोमूत्रां ससैन्धवरसक्रियाम्।
पिल्लिमाशोथजाड्येषु चक्षुष्यां संप्रयोजयेत् ॥ १८ ॥

लालिमायुक्त आंखों में रोचना (गोरोचन) से युक्त, स्रावयुक्त में सैन्धव सहित तथा दूषिका, मल एवं शोथ में चच्चुष्या की रसक्रिया का प्रयोग करना चाहिये। तथा पिल्लिमा (पिल्लरोग), शोथ एवं जडता में पुष्पक (जस्ते के फूल), गोमूत्र तथा सैन्धव से युक्त चच्चुष्या की रसक्रिया का प्रयोग करना चाहिये ॥ १७-१८ ॥

अम्ले ताम्रं च कांस्यं च विघृष्य मरिचं तथा।
चक्षुष्यया समायुक्तं शमयत्यक्षिभूनिमान् ॥ १९ ॥

उपर्युक्त अक्षिरोगों में किसी अम्ल में चच्चुष्या के साथ ताम्र, कांसी तथा मरिच को घिसकर प्रयोग करने से आंखों के रोग अच्छे हो जाते हैं ॥ १९ ॥

चक्षुष्यां रोचनां स्तन्यं पुष्पकं च समानयेत्।
सर्वाक्षिरोगशमनो योगोऽयं संप्रकीर्तितः ॥ २० ॥

चच्चुष्या, रोचना, दूध तथा पुष्पक—इनको एकत्रित कर के योग बनाया जाता है। यह सम्पूर्ण अक्षिरोगों का शामक कहा गया है ॥ २० ॥

एकाऽपि स्तन्यसंयुक्ता चक्षुष्या संप्रशस्यते।
चक्षुष्याकल्प इत्येष, पुष्पकल्पं निबोध मे ॥ २१ ॥

दूध में मिलाकर अकेली चच्चुष्या का प्रयोग भी आंखों के लिये हितकर माना गया है। इस प्रकार यह चच्चुष्या का फल कहा गया है। अब तू मेरे से पुष्पक कल्प को सुन ॥ २१ ॥

निवाते पुष्पकं पूतमपराह्णे प्रयोजयेत्।
निशि वा शुष्कचूर्णस्य पूरयित्वाऽक्षिणी स्वपेत् ॥२२॥

निवात स्थान में अपराह्ण काल में पवित्र होकर पुष्पक का प्रयोग करे। अथवा रात्रि में इसका शुष्क चूर्ण (Powder) आंखों में डालकर सो जाय ॥ २२ ॥

रसाञ्जनेन वा सार्धं पुष्पकं मधुनाऽपि वा।
स्तन्येन वा समायुक्तं सर्वानक्षिगदाञ्जयेत् ॥ २३ ॥

पुष्पक का रसाञ्जन, मधु अथवा दूध के साथ मिलाकर प्रयोग करने से यह सम्पूर्ण अक्षिरोगों को नष्ट करता है ॥२३॥

एत एव त्रयो योगाः स्तन्यक्षौद्ररसाञ्जनैः।
रोचनायाः प्रशस्यन्ते सर्वाक्षिगदशान्तये ॥ २४ ॥

सम्पूर्ण आंखों के रोगों को शान्त करने के लिये रोचना के भी दूध, मधु और रसाञ्जन के साथ ये ही तीन योग प्रशस्त माने गये हैं ॥ २४ ॥

रसाञ्जनस्य चाप्येते त्रयो योगाः सहाम्भसा।
कतकस्य फलस्यापि योगाश्चत्वार एव ते ॥ २५ ॥

रसाञ्जन के भी ये ही तीन योग माने गये हैं तथा निर्मली-बीज के उपर्युक्त अनुपानों के साथ जल को मिलाकर चार योग होते हैं अर्थात् निर्मलीबीज का दूध, मधु, रसाञ्जन तथा जल के साथ मिलाकर प्रयोग करना चाहिये ॥ २५ ॥

अक्षिरोगप्रशमनाश्चक्षुषश्च प्रसादनाः।
उक्तसूत्रानुसारेण बालानां हितकाम्यया ॥ २६ ॥

उक्त सूत्रों के अनुसार बालकों के हित की दृष्टि से चक्षु-रोगों को शान्त करने वाले तथा नेत्रों के प्रसादक योग कहे गये हैं ॥ २६ ॥

स्वादुर्विकासिनी शीता त्रिदोषशमनी शिवा।
कषाया स्तम्भिनी स्निग्धा चक्षुष्या चक्षुषे हिता ॥२७॥

हरीतकी—स्वादु, विकासिनी (शरीर का विकास करने वाली), शीत, त्रिदोषशामक, कषाय, स्तम्भक तथा स्निग्ध होती है। तथा चच्चुष्या आंखों के लिये हितकर होती है ॥२७॥

रूक्षोष्णतिक्तलवणाऽनलघ्नी पिच्छिला घना।
(इति ताडपत्रपुस्तके १७४ तमं पत्रम्।)
मङ्गल्या पापनाशनी रोचना पक्ष्मवर्धनी ॥ २८ ॥

रोचना—रूक्ष, उष्ण, तिक्त, लवण, वातनाशक, पिच्छिल, घन, मङ्गलकारक, पापनाशक एवं पक्ष्म (पलक–Eyelashes) को बढाने वाली है ॥ २८ ॥

तीक्ष्णमुष्णं मलहरं रक्तपित्तकफापहम्।
दृष्टिप्रसादनं चाशु पुष्पकं शीतमन्ततः ॥ २९ ॥

पुष्पक—तीक्ष्ण, उष्ण एवं मलनाशक है। यह रक्तपित्त और कफ को नष्ट करता है। दृष्टि का शीघ्र ही प्रसादन करता है तथा इसका आन्तरिक गुण शीत है ॥ २९ ॥

त्रिदोषशमनं रूक्षं षड्रसं चानुसारि च।
शोधनं पक्ष्मजननं चक्षुष्यं च रसाञ्जनम् ॥ ३० ॥

रसाञ्जन—यह त्रिदोषनाशक तथा रूक्ष है। यह छओं रसों का अनुसरण करता है। यह पक्ष्म (पलकों) का शोधक एवं जनक (उत्पन्न करने वाला) है तथा आंखों के लिये हितकर होता है।

कषायमधुरं शीतमाशुदृष्टिप्रसादनम्।
विकासि ह्लादनं स्निग्धं चक्षुष्यं कतकं विदुः ॥ ३१ ॥

निर्मलीबीज—कषाय, मधुर एवं शीत होता है। शीघ्र ही दृष्टि का प्रसादन करता है। यह विकासी, ह्लादन (प्रसन्नता को उत्पन्न करने वाला), स्निग्ध एवं चच्चुष्य माना गया है ॥३१॥

इदं तैलं तु वक्ष्यामि नाम्नोक्तं पाञ्चभौतिकम्।
प्रोक्तं तीर्थकरैः सर्वैः पञ्चेन्द्रियविवर्धनम् ॥ ३२ ॥

अब मैं पाञ्चभौतिक नामक तैल का वर्णन करता हूं। सब आचार्यों ने इसे पांचों इन्द्रियों की शक्ति की वृद्धि करने वाला कहा है ॥ ३२ ॥

जीवकर्षभकौ द्राक्षा मधुकं पिप्पली बला।
प्रपौण्डरीकं बृहती मञ्जिष्ठा त्वक् पुनर्नवा ॥ ३३ ॥
शर्कराऽशुमती मेदा विडङ्गं नीलमुत्पलम्।
श्वदंष्ट्रा सैन्धवं रास्ना भवेदपि निदिग्धिका ॥ ३४ ॥
समभागैः पचेदेतैस्तैलं वा यदि वा घृतम्।
चतुर्गुणेन पयसा सम्यक्सिद्धं निधापयेत् ॥ ३५ ॥

जीवक, ऋषभक, द्राक्षा, मुलहठी, पिप्पली, बला, पुण्डरीक (कमल), बृहती (वहेण्टा), मंजीठ, दालचीनी, पुनर्नवा, शर्करा, अंशुमती (शालपर्णी), मेदा, विडङ्ग, नीलकमल, गोखुरू, सैन्धानमक, रास्ना, निदिग्धिका (कटेरी) इनके समभाग लेकर चतुर्गुण दुग्ध से घी या तैल को अच्छी प्रकार सिद्ध करके रखें ॥ ३३-२५ ॥

नस्यमेतत् प्रयुञ्जीत यथा सिद्धौ निदर्शनम्।
अक्षिरोगैश्चिरोत्पन्नैर्नस्येनानेन मुच्यते ॥ ३६ ॥

इस घृत या तैल का नस्य के रूप में प्रयोग करे। इस नस्य के प्रयोग से अत्यन्त प्राचीन अक्षिरोग भी अच्छे हो जाते हैं ॥ ३६ ॥

तिमिरं पटलं काचं पिल्लमान्ध्याकुलाक्षिताम्।
दूषिकां स्रावरागौ च शोथं शूलं च नाशयेत् ॥ ३७ ॥
खालित्यं पलितेन्द्राख्यौ शिरोरोगमथार्दितम्।
दन्तचालं हनुव्याधिं पूतित्वं स्रोतसामपि ॥ ३८ ॥
प्रजागरं प्रलापं च वाग्ध्वंसं मूकतां जडम्।
बाधिर्यं हनुसंदंशं स्मृतिलोपं च नाशयेत् ॥ ३९ ॥
इन्द्रियाणि प्रसीदन्ति स्मृतिर्मेधा वपुर्बलम्।
स्नेहेनानेन वर्धन्ते मङ्गल्यं पाञ्चभौतिकम् ॥ ४० ॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः।

इति कल्पस्थाने षट्कल्पः ॥

इसके प्रयोग से तिमिर रोग (लिङ्ग नाश नामकनेत्र रोग-नजला), पटल, काच, पिल्ल (क्लिन्न नेत्ररोग), अन्धेपन से युक्त दृष्टि, दूषिका, स्राव, राग, शोथ, शूल इत्यादि अक्षिरोग, खालित्य (गंजापन-Baldness), पलित (बालों का सफेद होना), इन्द्रलुप्त (बालों का झड़ना), शिरोरोग, अर्दित (Facial parelysis), दांतों का हिलना, हनु के रोग, स्रोतों का दुर्गन्धित होना, जागरण (निद्रानाश), प्रलाप, वाग्ध्वंस (वाक्शक्ति-वाणी का नाश), गूंगापन (Dumbress), जड़ता, बहरापन, हनुसन्दंश तथा स्मृतिनाश इत्यादि रोग नष्ट होते हैं। इस स्नेह के प्रयोग से इन्द्रियां प्रसन्न (निर्मल) होती हैं, स्मृति, मेधा, शरीर एवं बल की वृद्धि होती है तथा यह पाञ्चभौतिक स्नेह मङ्गलकारक है।

वक्तव्य—तिमिर का लक्षण—तिमिराख्यः स वै दोषश्चतुर्थपटलं गतः। रुणद्धि सर्वतो दृष्टिं लिङ्गनाशमतः परम् ॥ अस्मिन्नपि तमोभूते नातिरूढे महागदे। चन्द्रादित्यौ सनक्षत्रावन्तरीक्षे च विद्युतम् ॥ निर्मलानि च तेजांसि भ्राजिष्णून्यथ पश्यति। शिरानुसारिणि मले प्रथमं पटलं श्रिते ॥ अव्यक्तमीक्षते रूपं व्यक्तमप्यनिमित्ततः। प्राप्ते द्वितीयं पटलमभूतमपि पश्यति ॥ भूतन्तु यत्नादासन्नं दूरे सूक्ष्मं च नेक्षते। दूरान्तिकस्थं रूपञ्च विपर्यासेन मन्यते ॥ दोषे मण्डलसंस्थाने मण्डलानीव पश्यति। द्विधैकदृष्टिमध्यस्थे बहुधा बहुधास्थिते ॥ दृष्टेरभ्यन्तरगते ह्रस्ववृद्धविपर्ययम्। नान्तिकस्थमधःसंस्थे दूरगं नोपरिस्थितम् ॥ पार्श्वे पश्येन्न पार्श्वस्थे तिमिराख्योऽयमामयः ॥ पटल रोग का लक्षण—अधस्तादुपरिष्टाद्वा पटलं यस्य जायते। रुणद्धि नयने सद्यः ॥ काचरोग का लक्षण—तृतीय पटलगत नेत्र रोग (Affection of optic Nerue) को काच रोग कहते हैं। वाग्भट उत्तर० अ० १२ में इसके निम्न लक्षण दिये हैं—प्राप्नोति काचतां दोषे तृतीयपटलाश्रिते। तेनोर्ध्वमीक्षते नाधस्तनुचैलावृतोपमम् ॥ यथावर्णं च रज्येत दृष्टिर्हीयेत च क्रमात्। इसी के चतुर्थपटल में पहुंचने पर लिङ्गनाश अथवा पूर्वोक्त तिमिररोग कहलाता है ॥ ३७-४० ॥

ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था।

इति कल्पस्थाने षट्कल्पः ॥

शतपुष्पाशतावरीकल्पाध्यायः।

अथातः शतपुष्पा(शता)वरीकल्पं व्याख्यास्यामः ॥१॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ २ ॥

अब हम शतपुष्पा (सौंफ) तथा शतावरी के कल्प का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था ॥ १-२ ॥

शतपुष्पाशतावर्यौ रसवीर्यविपाकतः।
प्रयोगतश्च भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ ३ ॥

भगवन्! मैं शतपुष्पा तथा शतावरी के रस, वीर्य, विपाक एवं प्रभाव को पूर्णरूप से जानना चाहता हूं ॥ ३ ॥

इति पृष्टः स शिष्येण स्थविरेण प्रजापतिः।
शतपुष्पाशतावर्यौ प्रोवाच गुणकर्मतः ॥ ४ ॥

इस प्रकार ज्ञानवृद्ध (ज्ञानी) शिष्य द्वारा प्रश्न किये जाने पर प्रजापति कश्यप ने शतपुष्पा तथा शतावरी के गुण एवं कर्मों का वर्णन किया ॥ ४ ॥

मधुरा बृंहणी बल्या पुष्टिवर्णाग्निवर्धनी।
ऋतुप्रवर्तनी धन्या योनिशुक्रविशोधनी ॥ ५ ॥
उष्णा वातप्रशमनी मङ्गल्या पापनाशनी।

पुत्रप्रदा वीर्यकरी शतपुष्पा निदर्शिता ॥ ६ ॥

शतपुष्पा के गुण—यह रस में मधुर, बृंहण तथा बलदायक है। पुष्टि, वर्ण और जाठराग्नि को बढ़ाती है। आर्तव को प्रवृत्त करती है। धन्य है। योनि और शुक्र का शोधन करती है। यह उष्ण, वातशामक, मङ्गलकारक, पापनाशक, पुत्रों को उत्पन्न करने वाली तथा वीर्यवर्धक है ॥ ५-६ ॥

शीता कषायमधुरा स्निग्धा वृष्या रसायनी ।
वातपित्तविबन्धघ्नी वर्णौजोबलवर्धनी ॥ ७ ॥
स्मृतिमेधामतिकरी पथ्या पुष्पप्रजाकरी ।
भूतकल्मषशापघ्नी शतवीर्या शतावरी ॥ ८ ॥

यह वीर्य में शीत, रस में कषाय एवं मधुर तथा स्निग्ध वृष्य और रसायन है। वात, पित्त तथा विबन्ध (मलबन्ध) को नष्ट करती है। वर्ण, ओज एवं बल की वृद्धि करती है। स्मृति, मेधा एवं मति को बढ़ाती है। पथ्यकारक है। पुष्प (मासिक स्राव) तथा पुत्र को उत्पन्न करती है। भूत, पाप तथा शाप को नष्ट करती है तथा यह सैकड़ों वीर्यों वाली है ॥

तयोः प्रयोगं व्रतवे कृत्वा दोषविशोधनम् ।
प्रावृट्शरद्वसन्तेषु धृतिपथ्यान्नसेविनाम् ॥ ९ ॥

दोषों का शोधन करके, प्रावृट्, शरद् तथा वसन्त ऋतु में धृति (धैर्य-धारणशक्ति) एवं पथ्यभोजन के सेवन पूर्वक इनका प्रयोग करना चाहिये ॥ ९ ॥

आर्तवं या न पश्यन्ति पश्यन्ति विफलं च याः ।
अतिप्रभूतमत्यल्पमतिक्रान्तमनागतम् ॥ १० ॥
अकर्मण्यमविस्रंसि किञ्ञातमृतयश्च याः ।
दुर्बलाऽदृढपुत्राश्च कृशाश्च वपुषाऽथ याः ॥ ११ ॥
प्रस्कन्दना विवर्णाश्च याश्च प्रचुरमूर्तयः ।
स्पर्शं च या न विन्दन्ति याश्च स्युः शुष्कयोनयः ॥१२॥
शतपुष्पाशतावर्यौ स्यातां तत्रामृतं यथा ।
पुमानप्युपयुञ्जानो यथोक्तानाप्नुते गुणान् ॥ १३ ॥

जिन स्त्रियों को आर्तव (मासिक ऋतुस्राव) नहीं होता है, अथवा जिनका मासिक स्राव विफल होता है (अर्थात् जो फल शून्य हो—जिसका गर्भप्राप्ति रूप कोई फल न हो), जिन्हें बहुत अधिक या बहुत कम मासिक स्राव आता हो, जिनका मासिक स्राव समाप्त हो गया हो (Menapanse), जिनको अभी मासिक स्राव प्रारंभ न हुआ हो, जिनका मासिक स्राव अकर्मण्य (कर्मशून्य-Inactive) तथा स्रावरहित हो, जिन्हें अनेक प्रकार का स्राव होता हो, जो दुर्बल हों, जिनकी सन्तान कमजोर हो, जो शारीरिक दृष्टि से कृश (Physically weak हों, जिन्हें अतिसार रोग हो रहा हो अथवा जो विवर्ण तथा प्रचुरमूर्तिवाली हो, जो स्पर्श का अनुभव न करती हो तथा जिनकी योनि शुष्क हो—उन स्त्रियों में शतपुष्पा तथा शतावरी अमृत के समान गुणकारी होता है। पुरुष भी इनका सेवन करने पर उपर्युक्त गुणों को प्राप्त करता है ॥ १०-१३ ॥

चूर्णितायाः पलशतं नवे भाण्डे निधापयेत् ।
तच्चूर्णं शतपुष्पायाः प्रातरुत्थाय जीर्णवान् ॥ १४ ॥
पलार्धार्धं पलार्धं वा पलं वा सर्पिषा लिहेत् ।
शक्त्या वा तस्य जीर्णान्ते भुञ्जीत पयसौदनम् ॥१५॥
विस्रंसितोपचारं च विदध्यादत्र पण्डितः ।
उपयुक्ते पलशते यथेष्टांल्लभते सुतान् ॥ १६ ॥

१०० पल चूर्ण की हुई शतपुष्पा को एक नवीन पात्र में रखें। प्रातःकाल उठकर पूर्व भोजन के जीर्ण हो जाने पर इस चूर्ण का डेढ, एक अथवा आधा पल की मात्रा में अथवा शक्ति के अनुसार घृत के साथ लेहन करे तथा उसके जीर्ण हो जाने पर दूध और चावल का भोजन करे। विद्वान् व्यक्ति यहां विरिक्त (जिसे विरेचन दिया गया है) मनुष्य के समान उपचार करे। इस प्रकार १०० पल का सेवन करने पर यथेष्ट पुत्रों की प्राप्ति होती है ॥ १४-१६ ॥

अपि बन्ध्या च षण्ढा च सूयेते शतपुष्पया ।
युवा भवति वृद्धोऽपि बलवर्णौ लभेत च ॥ १७ ॥
तेजसा चौजसा बुद्ध्या दीर्घायुष्केण मेधया ।
युज्यते प्रजया धृत्या वलीपलितवर्जितः ॥ १८ ॥

शतपुष्पा के प्रयोग से बांझ एवं नपुंसक स्त्री को भी पुत्रोत्पत्ति हो जाती है। वृद्ध व्यक्ति भी बल और वर्ण को प्राप्त करके युवा हो जाता है। वह झुर्रियों तथा सफेद बालों से रहित होकर तेज, ओज, बुद्धि, दीर्घायुष्य, मेधा, सन्तान एवं धृति (धारण शक्ति) से युक्त हो जाता है ॥ १७-१८ ॥

अतो बिडालपदकं लिह्यान्मधुघृताप्लुतम् ।
मेधावी शतपुष्पाया मासाच्छ्रुतधरो भवेत् ॥ १९ ॥
(इति ताडपत्रपुस्तके १७९ तमं पत्रम् ।)

बुद्धिमान् मनुष्य एक मास पर्यन्त एक कर्ष (२ तो०) मात्रा में शतपुष्पा के चूर्ण को मधु एवं घृत के साथ मिलाकर सेवन करने से श्रुतधर (सुनी हुई बात को धारण करने वाला धृतिमान्) हो जाता है ॥ १९ ॥

अग्निकामस्तु मधुना, रूपार्थी क्षीरसर्पिषा ।
बलकामस्तु तैलेन, प्लीहकी कटुतैलयुक् ॥ २० ॥
कामलापाण्डुशोथेषु महिषीक्षीरमूत्रवत् ।
गुल्मी चैरण्डतैलेन, कुष्ठी खदिरवारिणा ॥ २१ ॥
शुष्कविण्मत्स्यवसया पिबेन्मांसरसेन वा ।
जीर्णमांसरसेनाद्यान्मुद्गमण्डेन कुष्ठिकः ॥ २२ ॥

जाठराग्नि की वृद्धि के लिये मधु के साथ, रूप (सौन्दर्य) की वृद्धि के लिये दूध तथा घी के साथ, बलवृद्धि के लिये तिलतैल के साथ, प्लीहोदरी (प्लीहा रोगी) को कटुतैल (सरसों के तेल) के साथ, कामला, पाण्डु तथा शोथरोगी को भैंस के दूध तथा मूत्र के साथ, गुल्म रोगी को एरण्ड तैल के साथ, कुष्ठरोगी को खदिर के स्वरस अथवा क्वाथ, शुष्कमल,

मछली की वसा (चर्बी), मांस रस, जीर्ण मांसरस अथवा मुद्गमण्ड के साथ शतपुष्पा का सेवन करना चाहिये ॥२०-२२॥

शतपुष्पापलशतं जलद्रोणेषु पञ्चसु ।
पादावशेषं निष्क्वाथ्य पूतं भूयो विपाचयेत् ॥ २३ ॥
धात्रीचिकित्सिते वर्गः सामान्यो य उदाहृतः ।
तैलाढकं पचेत्तेन शनैः क्षीरे चतुर्गुणे ॥ २४ ॥
तत् पक्वं नस्यपानाद्यस्नेहम्रक्षणबस्तिषु ।
प्रशस्तमृषिणा नित्यं यथोक्तगुणलब्धये ॥ २५ ॥

१०० पल शतपुष्पा को ५ द्रोण पानी में पकाकर चतुर्थांश शेष रखें। उसे छान कर धात्री चिकित्सा में कहे सामान्य वर्ग के साथ उसे पुनः पकाये। फिर उसमें एक आढ़क तैल चतुर्गुण दूध के साथ डालकर पाक करे। सिद्ध हो जाने पर यथोक्त गुणों की प्राप्ति के लिये उसे नित्य नस्य, पान, स्नेहन, मालिश एवं बस्ति आदि के द्वारा प्रयोग करने के लिये महर्षि कश्यप ने श्रेष्ठ माना है ॥ २३-२५ ॥

य एवं शतपुष्पाया विधिर्दृष्टोऽत्र सर्वशः ।
स एवोक्तः शतावर्या घृतं पाके तु शस्यते ॥ २६ ॥

इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ।

(इति कल्पस्थाने) शतपुष्पाशतावरीकल्पः ॥

जो शतपुष्पा के सेवन की विधि बताई गई है, वही सम्पूर्ण विधि शतावरी के घृत पाक आदि की भी समझनी चाहिये ॥ २६ ॥

ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था ।

(इति कल्पस्थाने) शतपुष्पाशतावरीकल्पः ॥

रेवतीकल्पाध्यायः ।

अथातो रेवतीकल्पं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ २ ॥

अब हम कल्प का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था ॥ १-२ ॥

प्रजापतिर्वै खलु ह स्मैक एवेदं सर्वमासीत्। स कालमेवाग्रेऽसृजत । ततो देवाँश्चासुराँश्च पितॄँश्च मनुष्याँश्च सप्त च ग्राम्यान् पशूनारण्यानोषधींश्च वनस्पतींश्च । अथो स प्रजापतिरैक्षत, ततः क्षुदजायत, सा क्षुत् प्रजापतिमेवाविवेश, सोऽग्लासीत्, तस्मात् क्षुधितो ग्लायतीति । स ओषधीः क्षुत्प्रतीघातमपश्यत् । स ओषधीरादत् । स ओषधीरशित्वा क्षुधो व्यत्यमुच्यत । तस्मात् प्राणिन ओषधीरशित्वा क्षुधो व्यतिमुच्यन्ते । कर्मसु च युज्यन्ते ॥ ३ ॥

प्रारंभ में प्रजापति (ब्रह्मा) ही अकेला सब कुछ था। उसने सर्वप्रथम काल को उत्पन्न किया। उसके बाद देव, असुर, पितर, मनुष्य, सात ग्रामीण एवं जंगली पशु तथा ओषधियों एवं वनस्पतियों की रचना की। तब प्रजापति ने इच्छा की जिससे क्षुधा (भूख) की उत्पत्ति हो गई। वह क्षुधा प्रजापति में ही प्रविष्ट हो गई जिससे उसे ग्लानि (खिन्नता) हो गई इसीलिये क्षुधित (भूखे) व्यक्ति को ग्लानि होती है। उसने क्षुधा के प्रतीकार के लिये ओषधियों को देखा। तब उसने ओषधि का सेवन किया। वह ओषधि का सेवन करके क्षुधा से मुक्त हो गया। इसीलिये सब प्राणी ओषधियों को खाकर क्षुधा से मुक्त हो जाते हैं तथा अपने २ कार्यों में लगे रहते हैं।

वक्तव्य—(i) इससे काल की महिमा बतलाई गई है। अथर्ववेद के १९ वें काण्ड में भी काल की विशेष महिमा का वर्णन किया गया है। वहां ५३ तथा ५४ पूरे सूक्त काल के विषय में दिये हैं। वहां काल का घोड़े के रूप में वर्णन किया गया है । वे सूक्त निम्न प्रकार हैं—कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः। तमारोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा॥ सप्तचक्रान् वहति काल एष सप्तास्य नाभीरमृतं न्वक्षः। स इमा विश्वा भुवनान्यञ्जत्कालः स ईयते प्रथमो नु देवः॥ पूर्णः कुम्भोऽधिकाल आहितस्तं वै पश्यामो बहुधा नु सन्तः। य इमा विश्वा भुवनानि प्रत्यङ्कालं तमाहुः परमे व्योमन् ॥ स एव स भुवनान्यभरत्स एव सं भुवनानि पर्यैत्। पिता सन्नभवत्पुत्र एषां तस्माद्वै नान्यत्परमस्ति तेजः॥ कालोऽमूं दिवमजनयत्काल इमाः पृथिवीरुत। काले ह भूतं भव्यं चेषितं ह वितिष्ठते ॥ कालो भूतिमसृजत काले तपति सूर्यः। काले ह विश्वा भूतानि काले चक्षुर्विपश्यति ॥ काले मनः काले प्राणः काले नाम समाहितम्। कालेन सर्वा नन्दयन्त्यागतेन प्रजा इमाः॥ काले तपः काले ज्येष्ठं काले ब्रह्म समाहितम्। कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत्प्रजापतेः। तेनेषितं तेन जातं तदु तस्मिन्प्रतिष्ठितम्। कालो ह ब्रह्म भूत्वा बिभर्ति परमेष्ठिनम्॥ कालः प्रजा असृजत कालो अग्रे प्रजापतिम्। स्वयंभूः कश्यपः कालात्तपः कालादजायत ॥ **अथर्व० कां. १९ सूक्त ५३.**—कालादापः समभवन्कालाद्ब्रह्म तपो दिशः। कालेनोदेति सूर्यः काले निविशते पुनः॥ कालेन वातः पवते कालेन पृथिवी मही। द्यौर्मही काल आहिता॥ कालो ह भूतं भव्यं च पुत्रो अजनयत्पुरा। कालादृचः समभवन् यजुः कालादजायत॥ कालो यज्ञं समैरयद्देवेभ्यो भागमक्षितम्। काले गन्धर्वाप्सरसः काले लोकाः प्रतिष्ठिताः॥ कालेऽयमङ्गिरा देवोऽथर्वा चाधितिष्ठतः। इमं च लोकं परमञ्च लोकं पुण्यांश्च लोकान्विधृतीश्च पुण्याः। सर्वांल्लोकानभिजित्य ब्रह्मणा कालः स ईयते परमो नु देवः॥ (ii) सप्त पशून्—वेदों में भी प्रारंभ में पशुओं को उत्पन्न करने का वर्णन मिलता है परन्तु वहां सात के स्थान पर ५ पशुओं का वर्णन मिलता है। रुद्र (पशुपति) का वर्णन करते हुए अथर्ववेद में कहा है—पशुपते नमस्ते। तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः॥ (iii) ओषधि—ओषधि का अभिप्राय गेहूँ, चावल, जौ, तिल तथा मूंग आदि अन्न से है जो फल के पक

जाने पर नष्ट (समाप्त) हो जाते हैं। सुश्रुत सू. अ. १ में कहा है—'फलपाकनिष्ठा ओषधय' इति। इसी प्रकार मनुस्मृति में भी कहा है—'ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः' ॥ ३ ॥

स प्रजापतिरग्रीयमेव रसमासां यस्मादग्रहीत्, तस्मात् स तृप्त एव स्यात्। ऋजीषं[१] प्राणिन ओषधीनां रसमश्नन्ति। तस्मादहरहः क्षुध्यन्ति प्रजाः ॥ ४ ॥

उस प्रजापति ने क्योंकि प्रारंभ में ही इन ओषधियों के अन्न का आदान (ग्रहण) कर लिया था इससे वह तृप्त हो गया। अन्य प्राणी ओषधियों के नीरस (रस-साररहित) चूर्ण (कल्क) को ही खाते हैं इस लिये प्राणियों को निरन्तर क्षुधा (भूख) सताती (लगती) रहती है ॥ ४ ॥

प्रजापतिर्ह्यासां सारमघसत्, स प्रजापतिस्तृप्तस्तां क्षुधं काले न्यदधात्। ततः स कालः क्षुधितो देवाँश्चासुराँश्च प्राभक्षयत ॥ ५ ॥

प्रजापति ने इसके सार का भक्षण कर लिया इससे तृप्त होकर उसने क्षुधा (भूख) का काल में आधान कर दिया। इससे वह काल क्षुधित (भूखा) हुआ देवता तथा असुरों का भक्षण करने लगा ॥ ५ ॥

ते देवाश्चासुराश्च कालेन भक्ष्यमाणाः प्रजापतिमेव शरणमीयुः। स एभ्योऽमृतमाचख्यौ, तेऽमृतं ममन्थुस्तदभ्याददति। को न्विदमग्रे भक्षयिष्यतीति। तं देवा एवाभक्षयन्त। ततो देवा अजराश्चामराश्चाभवन्। ते देवा अमृतेन क्षुधं कालं चानुदन्त। स कालः प्रतिनुन्न इमानि भूतानि तस्मादादत्ते, ततो देवानसुरा अभ्यषजन्त; तेऽन्योऽन्यं युयुधिरे। अथो दीर्घजिह्वी नामाऽसुरकन्या सा देवसेनामक्षिणोत्। ते देवाः स्कन्दमब्रुवन्-दीर्घजिह्वी नो बलं क्षिणोति, तां शाधीति। सोऽब्रवीत्-वरं वृणुतेति, ते देवा ॐ मित्यूचुः। सोऽब्रवीत्-वसुष्वेको रुद्रेष्वेक आदित्येष्वेकोऽहं स्यामिति। ते देवा ॐ मित्यूचुः; स तथाऽभवत्। सोमो धरोऽग्निर्मातरिश्वा प्रभासः प्रत्यूषश्चैते पुरा सप्त वसव आसन्, तेषामष्टमो ध्रुवो नामाभवत्, ध्रुवो भवत्येषु लोकेषु य एवं वेद। अज एकपादहिर्बुध्न्यो हरो वैश्वानरो बहुरूपस्त्र्यम्बको विश्वरूपः स्थाणुः शिवो रुद्र इत्येते पुरा दश रुद्रा आसन्, तेषां गुह एकादशोऽभवच्छङ्करो नाम; सम एषु लोकेष्वस्य भवति (य एवं वेद)। इन्द्रो भगः पूषाऽर्यमा मित्रावरुणौ धाता विवस्वानंशो भास्करस्त्वष्टा विष्णुरिति द्वादश पुरा आदित्या आसन्। तेषां त्रयोदशो गुहोऽभवदहस्पतिर्नाम, तस्यैव त्रयोदशो मासोऽधिकस्तस्मात्तत्र तपति मुच्यते सर्वेभ्योऽर्तिभ्यो य एवं वेद। तस्मात् सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु छन्दःसु सर्वासु देवतासु स्कन्दो राजाऽधिपतिरित्युच्यते। तस्मै नमो नम इत्युक्त्वा सर्वानर्थानारभेत, सिध्यन्ति, य एवं वेद ॥ ६ ॥

(इति ताडपत्रपुस्तके १७६ तमं पत्रम्)

काल के द्वारा भक्षण किये जाते हुए वे देवता एवं असुर प्रजापति की ही शरण में पहुँचे। प्रजापति ने इनके लिये अमृत का उपदेश किया। उन्होंने अमृत का मन्थन किया तथा उसे प्राप्त किया। फिर यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि पहले इसका कौन सेवन करे। तब देवताओं ने ही इसका सेवन किया। इसके सेवन से देवता अजर (जरा-वृद्धावस्था से रहित) तथा अमर हो गये। अमृत के द्वारा देवताओं ने क्षुधा एवं काल दोनों को पराभूत कर दिया। पराजित होकर काल ने प्रजापति से इन भूतों को छीन लिया। तब असुरों (राक्षसों) ने देवताओं पर आक्रमण किया। वे परस्पर युद्ध करने लगे। तब दीर्घजिह्वी नाम की असुरकन्या देवताओं की सेना का संहार करने लगी। वे देवता स्कन्द (कार्तिकेय) के पास जाकर कहने लगे—दीर्घजिह्वी हमारी सेना का संहार कर रही है, उसे आप वश में करें। स्कन्द बोला—आप लोग मुझे वर देवें। देवताओं ने ओं का उच्चारण किया। तब वह कहने लगा कि वसुओं, रुद्रों तथा आदित्यों में मैं एक हो जाऊँ अर्थात् मैं वसु, रुद्र एवं आदित्य इन सबमें व्याप्त हो जाऊं। उन देवताओं ने ॐ का उच्चारण किया तथा वह वैसा ही हो गया अर्थात् वह सम्पूर्ण वसु, रुद्र एवं आदित्यों में व्याप्त हो गया। प्राचीन काल में सोम, धर, अग्नि, मातरिश्वा, प्रभास, प्रत्यूष तथा आह—ये सात वसु थे। इनमें आठवां ध्रुव नाम का वसु हो गया। सम्पूर्ण प्राणियों में निश्चित रूप से होंने के कारण उसका ध्रुव नाम हुआ। प्राचीनकाल में अज, एकपात्, अहिर्बुध्न, हर, वैश्वानर, बहुरूप, त्र्यम्बक, विश्वरूप, स्थाणु तथा शिव—ये १० रुद्र थे। इनमें गुह (कार्तिकेय) शङ्कर नाम का ११ वां रुद्र हो गया। समः एषु लोकेष्वस्य भवति—अर्थात् इन लोकों में इसका कल्याण हो इस व्युत्पत्ति के अनुसार उसका यह नाम हो गया प्राचीनकाल में इन्द्र, भग, पूषा, अर्यमा, मित्र, वरुण, धाता, विवस्वान्, अंश, भास्कर, त्वष्टा तथा विष्णु—ये १२ आदित्य थे। इनमें कार्तिकेय अहस्पति नाम का १३ वां आदित्य हो गया। इसका वर्ष में १३ वां मास अधिक होता है इस लिये उस मास में वह अहस्पति नामक आदित्य तपता है। तथा सम्पूर्ण पीडाओं (रोगों) से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार सम्पूर्ण लोक, छन्द (मन्त्रों) तथा देवताओं में स्कन्द (कार्तिकेय) राजा एवं अधिपति माना जाता है। उसे नमस्कार करके सम्पूर्ण कार्य प्रारंभ करने चाहिये। जो इस प्रकार जानता है उसके सम्पूर्ण कार्य सिद्ध हो जाते हैं।

---

१ ऋजीषं नाम सारांशे गृहीतेऽवशिष्टं नीरसचूर्णम्, 'ऋजीषं नीरसं सोमलताचूर्णम्' इति वेददीपे। तत्र सौमपदमुपलक्षणम्।

वक्तव्य—ऐतरेय ब्राह्मण में भी दीर्घजिह्वी आसुरी का वर्णन आता है। वहां कहा है—'असुरी वै दीर्घजिह्वी देवानां प्रातः सवनमवालेट्' ॥ ऐ. ब्रा. २-३ ॥ वहां असुरों को वाणी को दीर्घजिह्वी नामक कुतिया कहा है जो कि कृपणता की शिक्षा देती है ॥ ६ ॥

अथो स दीर्घजिह्वयै रेवतीमेव प्राहिणोत्। सा शालावृकी भूत्वाऽसुरसेनामभ्यवर्तत। अथो दीर्घजिह्वीमेवाग्रेऽभक्षयत्। तां हत्वा शकुनिर्भूत्वा सोल्का सविद्युत्साऽश्मवर्षा सर्वप्रहरणवर्षिणी बहुरूपाऽसुरानभ्यजयत्तेऽसुरा वध्यमाना बहुरूपया गर्भानीयुर्मानुषीणां चामानुषीणां च। अथो रेवती तानसुरान् गर्भेष्वपश्यत् मानुषीणां चामानुषीणां च। तत एनानवधीज्जातहारिणी भूत्वा। तस्माज्जातहारिणी पुष्पं हन्ति वपुश्च हन्ति गर्भांश्च हन्ति जातांश्च हन्ति जायमानांश्च जनिष्यमाणांश्च हन्ति, यद्भवत्यासुरमधार्मिकाणामपत्यमधर्मोपहतं विशेषेण। सैषा वृद्धजीवक ! रेवती बहुरूपा जातहारिणी पिलिपिच्छिकेति चोच्यते, रौद्रीति चोच्यते, वारुणीति चोच्यते। सैषा स्कन्दवराज्ञया सर्वजातिषु भूता याऽधार्मिकाणि मूढयत्यसतां विच्छेदाय। वृद्धजीवक! तस्यास्तु निदानं चागमनं च पूर्वरूपं च निवर्तनं च भेषजं चोपदेक्ष्यामः। कस्मात्, संस (र्जने) ह्येषामासुराणामसतां सन्तोऽपि वध्यन्ते। संसर्गे हि जातहारिणी दिव्येन चक्षुषा दृश्यते। तस्यास्तु धर्म एव निवृत्तिकारणमुक्तमिति ॥ ७ ॥

उसने दीर्घजिह्वी के लिये रेवती को भेजा। उसने शालावृकी होकर (गीदड़ या वनबिलाव का रूप धारण करके) असुरों की सेना का संहार प्रारम्भ किया। तथा सबसे पहले वह दीर्घजिह्वी का ही भक्षण कर गई। उसे मारकर उसने शकुनि बनकर उल्का, विद्युत् (बिजली), पत्थरों की वर्षा करने वाली तथा सम्पूर्ण प्रहरणों (आयुधों) की वर्षा करने वाली—इत्यादि अनेक रूपों वाली होकर असुरों को पराजित किया। इस प्रकार अनेक रूपों वाली शकुनि द्वारा संहार किये जाते हुए वे असुर मनुष्यों तथा अन्य प्राणियों के गर्भों को प्राप्त हुए अर्थात् उनके गर्भों में स्थित हो गये। रेवती ने मनुष्यों तथा अन्य प्राणियों के गर्भों में उन्हें देख लिया। तब उसने जातहारिणी (उत्पन्न हुए प्राणियों का संहार करने वाली) बनकर उनका संहार किया। इस प्रकार वह जातहारिणी पुष्प (आर्तवरूप में विद्यमान गर्भ), वपु (शरीर-पिण्ड), गर्भ, उत्पन्न हुए, उत्पन्न होने वाले तथा उत्पन्न किये जाने वाले—प्राणी को नष्ट करती है। विशेषरूप से वह असुरों, अधार्मिक व्यक्तियों के पुत्रों तथा अधर्म युक्त प्राणियों को नष्ट करती है। हे वृद्धजीवक! इस प्रकार यह अनेक रूपों वाली तथा जातहारिणी (उत्पन्न हुए प्राणियों का हरण करने वाली) रेवती-पिलिपिच्छिका, रौद्री तथा वारुणी आदि नामों से कहलाती है। यह रेवती स्कन्द की आज्ञा से सम्पूर्ण जातियों में उत्पन्न हुए अधार्मिक व्यक्तियों को मूढ कर देती है तथा दुष्टों का विच्छेद (नाश) करती है। हे वृद्धजीवक! अब इस रेवती का निदान, आगमन (संप्राप्ति), पूर्वरूप, निवृत्ति तथा औषधि (चिकित्सा) आदि का उपदेश किया जायगा क्योंकि असुरों एवं दुष्टों के संसर्ग से सज्जन प्राणियों का भी वध हो जाता है। संसर्ग होने पर यह जातहारिणी (रेवती) दिव्य चक्षुओं के द्वारा ही दिखलाई देती है तथा धर्म (धार्मिक कृत्य) ही उसकी निवृत्ति का उपाय माना गया है ॥ ७ ॥

अथ खलु या स्त्री त्यक्तधर्ममङ्गलाचारशौचदेवक्रिया देवगोब्राह्मणगुरुवृद्धसद्द्वेषिणी दुराचाराऽहङ्कृताऽनवस्थिता वैरकलिमांसहिंसानिद्रामैथुनप्रिया चण्डाऽरुन्तुदा दन्दशूका वावदूका विगतसाध्वसाऽथोऽकस्मात्प्रहसनाऽथोऽकस्मात्प्ररोदनाऽथोऽकस्माच्छोचनाऽनृतवादिनी घस्मराऽथो आहुः सर्वाशिनी स्वमतकारिणी पथ्यवचनभोजनत्यागिनी भृशमश्रद्दधाना परविजातोपहिंसिका स्वार्थपरा परार्थविलम्बिनी प्रतीपा भर्तरि, पुत्रेषु च निःस्नेहा, तैश्च नित्यशपथा, श्वश्रूश्वशुरननन्दादेवरानृत्विजमन्यान् वा तत्स्थानीयान्महतो वाऽवमन्यते तथैनान्मन्युना निर्दहन्त्यभिशपन्ति वा, सपत्नीं वा दुःशीला पापचक्षुरभिध्यायति, मन्त्रासदौषधकर्मभिर्वैनामभिचरति, मूर्ध्नि चाभिहन्ति बालं, न चैषां सुखदुःखज्ञा भवति, मित्रद्रोहिणी ह्यमङ्गलवादिनी शान्तिहोमजपदानबलिकर्मस्वस्त्ययनावष्ठीवनपरिचुम्बनपरिष्वजनपरिवर्जिता स्थानेष्वपि भवति; तस्या एभिः कर्मभिरन्यैश्चाशुभैः पूर्वकैश्चेह कृतैरतिपानभोजनस्वप्नव्यायामसेवनैश्च छिद्रेष्वेतेष्वधर्मद्वारेषु जातहारिणी सज्जते। अथो पतिरस्या एवंशीलो भवति। तयोरसाध्यां जातहारिणीं विद्यात्। अथो दम्पत्यो—

(इति ताडपत्रपुस्तके १७७ तमं पत्रम्)

रेकतरोऽधार्मिको भवति कृच्छ्रा भवति। उभयोस्तु धार्मिकयोरार्जवयोरनभिमानिकयोररोगयोश्च प्रजा वर्धते। यदा वा स्त्री प्रथमगर्भिणी म्रियमाणापत्याभिरालिभिर्वाऽन्याभिरचौक्षाभिरशुभाभिरसतीभिरमानुषपरिगृहीताभिर्जातहारिणीसक्ताभिर्वा संयोगमुपैति, सह भुङ्क्ते, सह स्नाति, वस्त्रालङ्कारं वा ददाति, तासां स्नानमूत्रबलिभूमीराक्रामति, विशेषादार्तवोपहतानि चैतानि केशलोमनखोद्वर्तनकजीर्णवस्त्रावकर्तनान्याक्रामति, भोजनशेषं पानशेषमौषधशेषं गन्धशेषं पुष्पशेषं जीर्णोपानहौ

वा दधाति, तदा जातहारिणी सज्जते। यदा वैनां प्रथमगर्भिणीं वा दर्शनीयां वपुष्मतीमरोगां पीनश्रोणिपयोधरोरुबाहुवदनामभिजायमानसौभाग्यां सुकेशीं विशालरक्तान्तलोचनामभिवर्धमानलोमराजिं स्निग्धकरचरणनखदृष्टित्वचमतिसुकुमारीमक्लेशसहामनायासपरमां कालयोगादभिवर्धमानगर्भामुपचीयमानवपुषमाप्यायमानपयसं स्त्रियं गर्भिणीं दृष्ट्वा दुरात्मानोऽन्वीक्षन्ते न चास्याः शान्तिकर्म क्रियते तदाऽस्या जातहारिणी सज्जते। एतस्मात् कारणात् पुत्रीया काम्येष्टिरहन्यहन्युक्ता, सा ह्यस्याः पापं शमयति तस्माज्जनन्याऽपि सह भोक्तुं नार्हति गर्भिणी ॥ ८ ॥

जातहारिणी किन्हें आक्रान्त करती है—? जिस स्त्री ने धर्म, मङ्गलाचार, शौच (शुद्धि) तथा देवताओं के पूजन आदि आवश्यक कर्मों का त्याग कर दिया है। जो देवता, गौ, ब्राह्मण, गुरु, वृद्ध तथा सज्जनों से द्वेष करती है, जो दुराचारिणी, अहंकारयुक्त एवं अस्थिर चित्त वाली है, वैर, कलि (लड़ाई-झगड़ा), मांस, हिंसा, निद्रा एवं मैथुन आदि जिसे प्रिय हैं, जो चण्डा (भयंकर), अरुन्तुदा (मर्मस्थल पर प्रहार करने वाली), दन्दशूका (बार २ खाने वाली), वावदूका (बकवाद करने वाली) तथा विगतसाध्वसा (भयरहित) है। जो सहसा हंसने, रोने, एवं शोक करने लगती है, जो असत्य भाषण करती है, जो घस्मरा (बहुत खाती) है, जो सब कुछ खा जाती है, अपनी इच्छा के अनुसार ही कार्य करती है, पथ्य वचन एवं पथ्य भोजन का जिसने त्याग किया हुआ है, जो बिलकुल श्रद्धा (विश्वास) नहीं करती है, जो दूसरों की उत्पन्न हुई सन्तान को मार देती है। जो अत्यन्त स्वार्थिनी है, परार्थ में विलम्ब करने वाली है, जो पति के प्रतिकूल रहती हो, पुत्रों से स्नेह (प्रेम) न करती हो, तथा सदा उनकी शपथ खाती हो, जो अपने श्वशुर, ननद, देवर, ऋत्विज अथवा उनके समान अन्य बड़े व्यक्तियों का अपमान करती हो, इन्हें क्रोधपूर्वक मारती हो तथा शाप देती हो। जो दुश्चरित्र स्त्री अपनी सौत के विषय में पापयुक्त विचार करती हो अथवा मन्त्रों, दूषित ओषधियों एवं दूषित कर्मों के द्वारा उसका अभिचार (मान्त्रिक क्रिया जादू टोना आदि) करती हो, जो बालकों के सिर पर प्रहार करती है तथा उनके सुख एवं दुःख का जिन्हें ज्ञान नहीं होता है। जो मित्रों से द्रोह करती है, अमङ्गल भाषण (प्रवचन) करती है, जो उचित स्थान पर भी शान्ति, होम, जप, दान, बलिकर्म, स्वस्त्ययन, अवष्ठीवन (थूकना), चुम्बन तथा आलिङ्गन आदि से रहित होती है—उस स्त्री को इन कर्मों अथवा पूर्व जन्म के या इस जन्म के अशुभ कर्मों, अतिपान (पेय पदार्थ का अत्यन्त सेवन), अतिभोजन, अतिस्वप्न, तथा अति व्यायाम आदि के सेवन के कारण उत्पन्न हुए दोषों अथवा अन्य अधार्मिक कार्यों के कारण जातहारिणी आक्रान्त करती है। इससे उसका पति भी इसी स्वभाव अथवा आचरण वाला हो जाता है। उन दोनों में असाध्य जातहारिणी को जाने। यदि इन दोनों पति-पत्नियों में से एक व्यक्ति अधार्मिक हो जाता है तो वह जातहारिणी कृच्छ्र होती है। यदि वे दोनों ही धार्मिक प्रवृत्ति वाले, सरल प्रकृति के, अभिमानशून्य तथा रोगरहित हों तो उनकी सन्तान की वृद्धि होती है। अथवा जब स्त्री को प्रथम गर्भ हो उस समय म्रियमाण (जिनकी सन्तान मर जाती है) पुत्रों वाली सखियों के साथ तथा अन्य अचौक्ष (असुन्दर), अशुभ, असती तथा मनुष्यों ने जिन्हें स्वीकार नहीं किया ऐसी तथा जातहारिणियों से युक्त स्त्रियों के साथ संयोग करती हो, उनके साथ भोजन तथा स्नान करती हो, वस्त्र तथा अलंकार प्रदान करती हो, उनके स्नान, मूत्र तथा बलिस्थान को आक्रान्त करती है, तथा विशेषरूप से इनके आर्तव (मासिक स्राव) से युक्त केश, लोम, नख, उबटन, जीर्णवस्त्र तथा कटे हुए नाखून-बाल आदि पर आक्रमण करती है, उनके भोजन शेष (भोजन के अवशिष्ट अंश), पानशेष, औषधशेष, गन्धशेष, पुष्प (आर्तव) शेष पर आक्रमण करती है तथा पुराने जूतों को धारण करती है तब उन पर जातहारिणी आक्रमण कर देती है। अथवा जब प्रथम गर्भ वाली, दर्शनीय शरीर वाली, रोगरहित, मोटे श्रोणि, स्तन, ऊरु (जंघा), बाहु तथा सुन्दर मुख वाली, सौभाग्यवती, उत्तम बालों वाली तथा नेत्र के अन्तः भाग जिसके विशाल एवं रक्तवर्ण के हैं, जिसके लोम (शरीर के बाल) बहुत बढ़े हुए हैं, जिसके हाथ, पैर, नख, दृष्टि तथा त्वचा अत्यन्त स्निग्ध हैं, जो अत्यन्त सुकुमारी है तथा क्लेश और परिश्रम को सहन नहीं कर सकती है, कालयोग से जिसका गर्भ वृद्धि को प्राप्त हो रहा है, जिसके शरीर तथा दूध की वृद्धि हो रही है—ऐसी गर्भिणी स्त्री को देखकर दुष्ट लोग ईर्ष्या करते हैं, अथवा नजर लगा देते हैं और यदि उसका शान्ति कर्म न किया जाय तो उस पर जातहारिणी आक्रमण कर देती है। इसी कारण से प्रतिदिन पुत्रीय (पुत्रोत्पत्ति) के लिये काम्येष्टि (उत्तम फल की इच्छा से यज्ञ करना) करने का विधान कहा गया है। इससे उसके पाप शान्त हो जाते हैं। इस लिये गर्भिणी स्त्री को अपनी जननी (माता) के साथ भी भोजन नहीं करना चाहिये ॥ ८ ॥

विशेषात् प्रथमे गर्भे प्रमादं चात्र वर्जयेत् ।
बहुयाज्यस्य विप्रस्य संप्रसक्तस्य याजने ॥ ९ ॥
विदुषोऽपि स्वदोषेण सज्जते जातहारिणी ।
आक्षेप्ता यश्च वादेषु दाम्भिकोऽहङ्कृतश्च यः ॥१०॥
सर्वे ते जातहारिण्या भक्ष्यभूताः सयाजकाः ।

विशेष कर प्रथम गर्भ में प्रमाद नहीं करना चाहिये। क्योंकि बहुत यज्ञ करने वाले ब्राह्मण तथा यज्ञ-याग में लगे हुए विद्वान् व्यक्ति पर भी अपने दोष से ही जातहारिणी आक्रमण कर देती है। विवाद में बहुत आक्षेप करने वाला,

बहुत दम्भ करने वाला, अहंकारी तथा याजक आदि सब व्यक्ति जातहारिणी के भक्ष्य होते हैं ॥ ९-१० ॥

रात्रौ यदा गतो मार्गात् पतिः पांसुलपादकः ॥ ११ ॥
स्पृशेद्दतौ वा गर्भे वा तदाऽऽविशति रेवती ।

जब रात्रि में मार्गस्खलित पति पांवों में धूल लगे हुए अथवा ऋतुकाल में स्त्री का स्पर्श करता है तब गर्भ में रेवती प्रविष्ट हो जाती है अर्थात् रेवती गर्भ पर आक्रमण कर देती है ॥

गृहीतां जातहारिण्या सेवित्वा यः स्त्रियं पतिः ॥१२॥
भार्यामुपैति तत्कालं सज्जते जातहारिणी ।

जब पति जातहारिणी से आक्रान्त स्त्री से संभोग करके अपनी पत्नी के पास जाता है तब उस समय जातहारिणी आक्रमण कर देती है ॥ १२ ॥

गृहीतं जातहारिण्या गृहं नित्यं च वर्जयेत् ॥ १३ ॥
आददानं ततः किञ्चिद्गृह्णीते जातहारिणी ।

जातहारिणी से आक्रान्त घर का सदा त्याग कर देना चाहिये अन्यथा उस घर में से कुछ भी लेने वाले व्यक्ति को जातहारिणी ग्रहण कर लेती है अर्थात् उसे आक्रान्त कर देती है ॥ १३ ॥

वधभेदाङ्ककरणैर्गवां बन्धनदोहनैः ॥ १४ ॥
गोपालस्य प्रजा हन्ति गोमाता जातहारिणी ।
महिष्युष्ट्र्यजपालानामेवमेव प्रजाक्षयम् ॥ १५ ॥
करोत्यधर्मसंजाता प्रसक्ता जातहारिणी ।

गौओं के वध, अङ्गभेद तथा बन्धन, दोहन इत्यादि कारणों से जातहारिणी रूप गोमाता गौओं के पालन करने वाले (ग्वाले) की सन्तान का हनन कर देती है। इसी प्रकार अधर्म से उत्पन्न हुई जातहारिणी भैंस, ऊंटनी तथा बकरी के पालन करने वाले व्यक्तियों की भी सन्तान को नष्ट कर देती है ॥ १४-१५ ॥

ब्रह्मस्वहारिणां लोके विषमाणां दुरात्मनाम् ॥ १६ ॥
तस्कराणां शठानां च प्रजा हन्त्युग्ररेवती ।

उग्रस्वरूप वाली रेवती लोक में ब्रह्म (ज्ञान) का हरण करने वाले विषम, दुष्ट, चोर तथा धूर्त व्यक्तियों की सन्तान को नष्ट कर देती है ॥ १६ ॥

रसनाः पापकार्याणां दुष्कुला भिन्नसेतवः १७ ॥
ये भवन्त्यनयप्राया निर्दयाः सर्वजातिषु ।
अरक्षिणस्तीक्ष्णदण्डा वृद्धानां शासनातिगाः ॥ १८ ॥
अनपेक्षितवृत्तान्ता अधर्मस्य प्रवर्तकाः ।
राज्ञो यस्य च दौर्बल्यात् क्षयं यान्तीह च प्रजाः ॥१९॥
गोब्राह्मणं विशेषेण हन्ति तं जातहारिणी ।

जो व्यक्ति पाप कार्यों में रत रहते हैं, नीच कुलवाले होते हैं, जो व्यक्ति मर्यादा का उलंघन करने वाले हैं जो अन्याय करते हैं और सम्पूर्ण जातियों के प्रति दयारहित होते हैं, जिनकी कोई रक्षा नहीं की जाती, जो तीक्ष्ण दण्डों को धारण करते हैं, जो वृद्ध व्यक्तियों के शासन (वश) में नहीं रहते, जिनका वृत्तान्त अपेक्षित नहीं होता, जो अधर्म के प्रवर्तक हों तथा जिस राजा की दुर्बलता के कारण प्रजा-विशेषकर गौ एवं ब्राह्मणों का नाश होता हो—उन्हें जातहारिणी नष्ट कर देती है ॥ १७-१९ ॥

एवमेव दुरात्मानो राजमात्रा नृपाज्ञया ॥ २० ॥
प्रजा यदा प्रबाधन्ते हन्ति ताञ्जातहारिणी ।

इसी प्रकार जब दुष्ट दुष्ट लोग राजा की आज्ञा से प्रजा को सताते हैं तब उन्हें जातहारिणी नष्ट कर देती है ॥ २० ॥

वणिक् पण्योपघाती यो यश्चाप्यस्य[1] प्रतीक्षकः ॥ २१ ॥
अतिवार्धुषिकश्चैव हन्यन्ते बहुरूपया ।

जो बनिया बाजार का व्यतिक्रम करता है (अर्थात् Black marketing करता है) अथवा जो इसीका अनुगामी है, तथा जो अत्यन्त धन की वृद्धि का इच्छुक है वह अनेक रूपों वाली जातहारिणी के द्वारा विनष्ट हो जाता है ॥ २१ ॥

कन्याया यश्च भूमेश्च हिरण्यस्याश्ववाससाम् ॥ २२ ॥
कुर्वन्ति येऽनृतान्येषां (घातिनी) जातहारिणी ।

जो व्यक्ति कन्या, भूमि, स्वर्ण, अश्व तथा वस्त्रों के विषय में अनृत (असत्य) व्यवहार करते हैं—उन्हें जातहारिणी नष्ट कर देती है ॥ २२ ॥

सन्ध्ययोरप्सु रजसि शून्यदेवालयेषु च ॥ २३ ॥
मैथुनं यान्ति ये मोहाद्धन्ति ताञ्जातहारिणी ।

जो व्यक्ति अज्ञानवश दोनों सन्ध्याओं में, नदी तालाब आदि के पानी में, धूल में तथा खाली मन्दिरों में मैथुन करता है—उन्हें जातहारिणी नष्ट कर देती है ॥ २३ ॥

अधर्मद्वारमासाद्य यदा विशति रेवती ॥ २४ ॥
नारीं तदा भवन्त्यस्या रूपाणीमानि जीवक ! ।
(इति ताडपत्रपुस्तके १७८[2]तमं पत्रम्)

हे जीवक ! उपर्युक्त अधर्मयुक्त मार्गों से जब रेवती स्त्री में प्रवेश करती है तब उसके शरीर के मलिन होने पर निम्न रूप (लक्षण) होते हैं ॥ २४ ॥

प्रम्लायतस्तनोस्तस्या रूपाणीमानि, हीयते ॥ २५ ॥
दृष्टिर्व्याकुलतां याति यथाकालं न पुष्यति ॥

---

१. तदनुगामीत्यर्थः ।

२. मूलताडपत्रपुस्तके ७८-७९ पत्रयोः, ८०-८१ पत्रयोश्च मिथः पत्राङ्कव्यत्ययो दृश्यते, परं ग्रन्थसंलापने लेखकप्रमादादव्यत्ययमवधार्य सम्बद्धो ग्रन्थपौर्वापर्यविन्यासस्तदनुसारी पत्राङ्कविन्यासश्चात्र निर्दिष्टः ।

भ्रष्टसत्त्वा निरुत्साहा कुक्षिशूलनिपीडिता ॥ २६ ॥
भवत्यप्रियरूपा च तैस्तै रोगैरुपद्रुता ॥
विपरीतसमारम्भा विपरीतनिषेविणी ॥ २७ ॥
उच्छिष्टा विकृता धृष्टा सर्वार्थेषु प्रवर्तते ॥
अर्थसिद्धिर्न भवति संपच्चास्याः प्रलुप्यते ॥ २८ ॥
गोजाविमहिषीध्वस्या न जीवन्ति च वत्सकाः ॥
अयशः प्राप्नुते घोरं वैधव्यं वा निगच्छति ॥ २९ ॥
कुलक्षयं वा कुरुते प्रसक्ता जातहारिणी ॥

जातहारिणी के द्वारा उसके शरीर के म्लान होने पर निम्न लक्षण होते हैं—उसकी दृष्टि कमजोर हो जाती है, व्याकुलता रहती है, ठीक समय पर पोषण नहीं होता, उसका मन पतित हो जाता है, कार्य में उत्साह नहीं होता है, तथा वह कुक्षि-शूल से पीडित रहती है। उसका रूप (आकृति) अप्रिय हो जाता है तथा अनेक प्रकार के रोगों से वह व्याप्त हो जाती है। उसके सब कार्यों के प्रारम्भ विपरीत होते हैं तथा वह विपरीत ही आचरण करती है। वह उच्छिष्ट, विकृत तथा धृष्ट होती है। सम्पूर्ण विषयों में वह प्रवृत्त हो जाती है। उसे अर्थ (धन) की प्राप्ति नहीं होती तथा उसकी सम्पत्ति (प्रशस्त गुण) लुप्त हो जाती है। इसकी गौ, बकरी, भेड़ तथा भैंस आदि के बच्चे जीवित नहीं रहते। उसे भयंकर अपयश प्राप्त होता है, वह विधवा हो जाती है तथा प्रसक्त हुई जातहारिणी उसके कुल का क्षय (नाश) कर देती है ॥ २५-२९ ॥

शास्त्रतस्त्रिविधामाहुर्मुनयो जातहारिणीम् ॥ ३० ॥
साध्यां याप्यामसाध्यां च तासां लक्षणमुच्यते ॥

शास्त्रों के अनुसार ऋषियों ने तीन प्रकार की जातहारिणियां कही हैं। १. साध्य २. याप्य ३. असाध्य। अब उ के लक्षण कहे जाते हैं ॥ ३० ॥

आषोडशवर्षप्राप्ता या स्त्री पुष्पं न पश्यति ॥ ३१ ॥
प्रम्लानबाहुरकुचा तामाहुः शुष्करेवतीम् ॥

पहले साध्य जातहारिणी (रेवती) के भेद तथा उनके लक्षण कहे जाते हैं—

शुष्क रेवती के लक्षण—सोलह वर्ष की अवस्था तक भी जिस स्त्री को रजोदर्शन नहीं होता तथा जिसके बाहु एवं कुच (नितम्ब) पतले होते हैं उसे शुष्क रेवती कहते हैं ॥ ३१ ॥

विना पुष्पं तु या नारी यथाकालं प्रणश्यति ॥ ३२ ॥
कृशा हीनबला क्रुद्धा साऽपि चोक्ता कटम्भरा ॥

कटम्भरा के लक्षण—बिना रजोदर्शन के ही जो स्त्री उचित काल में नष्ट हो जाती है, जो कृश, हीनबल वाली एवं शुद्ध होती है उसे कटम्भरा कहते हैं ॥ ३२ ॥

वृथा पुष्पं तु या नारी यथाकालं प्रपश्यति ॥ ३३ ॥
स्थूललोमशगण्डा वा पुष्पघ्नी साऽपि रेवती ॥

पुष्पघ्नी के लक्षण—जिस स्त्री को यथासमय रजोदर्शन होता है परन्तु वह व्यर्थ (बिना फल वाला) होता है। जिसके गण्डस्थल (कपोल) स्थूल एवं लोम युक्त होते हैं उस रेवती को पुष्पघ्नी कहते हैं ॥ ३३ ॥

कालवर्णप्रमाणैर्या विषमं पुष्पमृच्छति ॥ ३४ ॥
अनिमित्तबलग्लानिर्विकुटा नाम सा स्मृता ॥

विकुटा के लक्षण—जिस स्त्री का पुष्प (ऋतुस्राव) काल वर्ण एवं प्रमाण से विषम हो अर्थात् विषम काल में, विषम वर्ण वाला तथा प्रारंभ में भी विषम हो। बिना कारण के ही जिसे बल एवं ग्लानि हो जाती हो उसे विकुटा कहते हैं ॥३४॥

अभीक्ष्णं स्रवते यस्या नार्या योनिः कृशात्मनः ॥३५॥
परिस्रुतेति सा ज्ञेया नारीणां जातहारिणी ॥

परिस्रुता के लक्षण—जिस कृश स्त्री की योनि से निरन्तर स्राव बहता रहता है। उस जातहारिणी को परिस्रुता कहते हैं॥

यस्यास्त्वालक्ष्यमालग्नमण्डं प्रपतति स्त्रियाः ॥ ३६ ॥
अण्डघ्नीमिति ह्याहुस्तां दारुणां जातहारिणीम् ॥

अण्डघ्नी के लक्षण—जिस स्त्री का लक्ष्ययुक्त तथा चिपका हुआ अण्ड (गर्भ) गिर जाता है—उस दारुण (भयंकर) जातहारिणी को अण्डघ्नी कहते हैं ॥ ३६ ॥

नातिनिर्वृत्तदेहाङ्गो यस्या गर्भो विनश्यति ॥ ३७ ॥
दुर्धरा नाम सा ज्ञेया सुघोरा जातहारिणी ॥

दुर्धरा के लक्षण—जिसके देह के अङ्ग अधिक प्रकट नहीं हुए हैं ऐसा गर्भ जिस स्त्री का नष्ट हो जाता है उस अत्यन्त भयंकर जातहारिणी को दुर्धरा कहते हैं ॥ ३७ ॥

संपूर्णाङ्गं यदा गर्भं हरते जातहारिणी ॥ ३८ ॥
कालरात्रीति सा प्रोक्ता दुःखात् स्त्री तत्र जीवति ॥

कालरात्रि के लक्षण—जब जातहारिणी सम्पूर्ण अङ्गों वाले (अर्थात् पूर्ण रूप से बने हुए) गर्भ का हरण कर लेती है उसे कालरात्रि कहते हैं। इसमें स्त्री बड़े दुःख से जीवित रहती है ॥ ३८ ॥

यया विषज्जते गर्भः प्रतीतो वाऽथ मुच्यते ॥ ३९ ॥
स्त्रीविनाशाय सा प्रोक्ता मोहिनी जातहारिणी ॥

मोहिनी के लक्षण—जिसके द्वारा गर्भ आक्रान्त होता है अथवा वह अपने स्थान से मुक्त हुआ प्रतीत होता है उस जातहारिणी को मोहिनी कहते हैं। इससे स्त्री विनष्ट हो जाती है ॥ ३९ ॥

यस्या न स्पन्दते गर्भः स्तम्भनी नाम सा स्मृता ॥ ४० ॥

स्तम्भनी के लक्षण—जिसका गर्भ स्पन्दन नहीं करता उसे स्तम्भनी कहते हैं ॥ ४० ॥

उदरस्थो यया क्रोशेत् क्रोशना नाम सा स्मृता ॥

जिस जातहारिणी के कारण उदर में स्थित हुआ गर्भ

बडवामुखी का लक्षण—एक नाभि से उत्पन्न होनेवाले अर्थात् यमज में से यदि एक की पहले मृत्यु हो जाय तो दूसरे की भी मृत्यु हो जाती है । उसे बडवामुखी कहते हैं ॥ ५६ ॥

अथैवंवादिनमृषिं कश्यपं लोकपूजितम् ।
पुनरेव महाप्रश्नमपृच्छद् वृद्धजीवकः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार उपदेश करते हुए लोकपूजित महर्षि कश्यप से वृद्धजीवक ने पुनः निम्न प्रश्न किया ॥ ५७ ॥

एकनाभिकयोः कस्मात्तुल्यं मरणजीवितम् ।
रोगारोग्यं सुखं दुःखं न तु तृप्तिः समानजा ॥ ५८ ॥

एक नाभि से उत्पन्न होने वाले (अर्थात् यमल=जुड़वाँ-Twins) पुत्रों की तृप्ति–पोषण समान न होने पर भी मृत्यु जीवन, रोग, आरोग्य एवं सुख दुःख आदि समान क्यों होते हैं । अर्थात् उनमें से एक की मृत्यु होने पर दूसरे की भी मृत्यु इत्यादि क्यों हो जाते हैं जब कि उनको पोषण समान नहीं मिलता है ॥ ५८ ॥

अथ खलु भगवान् कश्यप उवाच-
एकमेव हि तद् बीजं भिन्नं वायुबलादथ ।
समानकर्मकत्वात् प्राङ्नाड्यैकत्वं च जन्म च ॥ ५९ ॥
तुल्यं निषेकाद् वृद्धेश्च जन्मनः स्तनसेवनात् ॥
तस्मात्तुल्यं वयः प्रोक्तं सुखं दुःखं भवाभवौ ॥ ६० ॥
लक्षणाकृतिवर्णाङ्गबलप्रकृतितुल्यता ॥
न तु तृप्तिविसर्गाणां पृथग्भावात् समानता ॥ ६१ ॥ इति

भगवान् कश्यप ने उत्तर दिया—गर्भ में वह बीज एक ही होता है । वह समान कर्मों के कारण वायु द्वारा दो भागों में विभक्त हो जाता है । इन दोनों के नाडी तथा जन्म एक समान होते हैं । इनके निषेक (गर्भाधान), वृद्धि, जन्म तथा स्तनपान आदि तुल्य होनेसे वय (अवस्था–Age), सुख,दुःख, भव (कल्याण–आरोग्य) तथा अभव (रोग) आदि सब समान होते हैं । इनके लक्षण, आकृति, वर्ण, अङ्ग, बल, प्रकृति आदि सब समान होते हैं । परन्तु पृथक् होने से उनकी तृप्ति (पोषण) तथा विसर्ग (मल-मूत्र आदि का त्याग) में समानता नहीं होती है ॥ ५९–६१ ॥

अथ खलु वृद्धजीवक ! त्रिविधैव जातहारिणी प्रोच्यते लोकभेदतः-दैवी, मानुषी, तिरश्चीनेति । तस्मात्त्रयो लोका भगवत्या रेवत्या बहुरूपया व्याप्ताः । इत्यतश्च सर्वलोकभयङ्करी रेवती पठ्यते । तां देवा अ(म)न्यन्त, तत एषां प्रजाः प्रावृध्यन्त; न एषां प्रजा विच्छेदमगमत् । नास्य प्रजा विच्छिद्यते य एवं वेद । तामथ रेवतीं सर्वलोकगुरुमभिव्यापिकां सर्वर्षीणां कश्यप एवाग्रे तपसोग्रेणाऽविन्दत । तस्मै प्रजां बहुलामाशीरायुष्मतीमविच्छिन्नां प्रादात् । ततः सर्वेभ्योऽभ्यधिकोऽभवत् । रेवतीमेकशोऽभिज्ञश्च रेवतीकल्पं शिष्येभ्यः प्रादाज्जगद्धितार्थम् ॥ ६२ ॥

हे वृद्धजीवक ! लोक भेद से पुनः तीन प्रकार की ही जातहारिणियां कही गई हैं । १ दैवी २ मानुषी ३ तिरश्चीना (पशु–पक्षिसंबन्धी) । इस प्रकार तीनों लोक अनेक रूपों वाली भगवती रेवती के द्वारा व्याप्त हैं । इसलिये रेवती सम्पूर्ण लोकों में भयंकर कही जाती है । देवता उसका सम्मान करते हैं इसलिये उनकी सन्तानों की वृद्धि होती है । उनकी सन्तानों का विच्छेद (वियोग) नहीं होता है । जो इस तथ्य को जानता है उसकी सन्तान का विच्छेद नहीं होता । सम्पूर्ण लोकों की गुरु तथा व्यापक इस रेवती को सब ऋषियों से पूर्व महर्षि कश्यप ने ही उग्र तपस्या के द्वारा प्राप्त किया था । इससे रेवती ने कश्यप को आशीर्वाद दिया तथा उसके बहुत सारी आयुष्मती सन्तान हो गई जो अविच्छिन्न थी । इससे उसके सबसे अधिक सन्तान हो गई । रेवती को एकान्तरूप (पूर्णरूप) से जानकर कश्यप ने लोक कल्याण के लिये शिष्यों को रेवतीकल्प का ज्ञान प्रदान किया ॥ ६२ ॥

अतो वृद्धजीवक ! निरुक्ता दैवी रेवती; मानुषीमत्र व्याख्यास्यामः-तत्र यथोक्तैरधर्मद्वारैर्यां स्त्रियमत्र प्रविशति, तां तां स्त्रियमनुवर्तयिष्यामः ॥ ६३ ॥

इस प्रकार हे वृद्धजीवक ! दैवी रेवती का वर्णन कर दिया गया है । अब हम मानुषी रेवती का व्याख्यान करेंगे। यथोक्त अधर्म उपायों के द्वारा जिस २ स्त्री में वह प्रवेश करती है उस २ स्त्री का हम अनुवर्तन करेंगे ॥ ६३ ॥

कस्मिन् वयसि काले वा कस्मिन् कर्मणि वा मुने ।
स्त्रियमाविशते क्रुद्धा भगवज्जातहारिणी ॥ ६४ ॥

हे भगवन् ! क्रुद्ध हुई जातहारिणी (रेवती) किस अवस्था, काल तथा कर्म में स्त्री में प्रविष्ट होती है ॥ ६४ ॥

अथोवाच भगवान् कश्यपः—
रजस्वलां गर्भिणीं वा प्रसूतां वा कुटीगताम् ।
स्त्रियमाविशते क्रुद्धा त्रिषु कालेषु रेवती ॥ ६५ ॥
न चाधर्ममृते नारीं विशते जातहारिणी ।
मातुः पितुः सुतानां च साऽधर्मेण प्रवर्तते ॥ ६६ ॥
..............मातॄणां च प्रजाक्षयम् ।
आयुः क्षयं च बालानां करोत्येषा स्वकर्मजम् ॥ ६७ ॥

भगवान् कश्यप ने उत्तर दिया—क्रुद्ध हुई रेवती तीनों कालों में रजस्वला, गर्भिणी, प्रसूता तथा कुटी में स्थित अर्थात् कुटीप्रावेशिक नामक रसायन का प्रयोग करनेवाली स्त्रीमें प्रवेश करती है । यह जातहारिणी माता, पिता अथवा पुत्रों के अधर्म के बिना स्त्री में प्रविष्ट नहीं होती है । इसकी प्रवृत्ति का कारण अधर्म ही है । यह अपने कर्मों के कारण माताओं की सन्तान का तथा बालकों की आयु का नाश करती है ॥ ६५–६७

अथ खलु वृद्धजीवक ! इमाः स्त्रियश्चतुर्विधा जातहारिण्याविश्य स्त्रियमत्र प्रविशति । वर्णां, वर्णान्तरां लिङ्गिनीं, कारुकीमिति । ताः खल्वतो व्याख्यास्यामः । अथो वृद्धजीवक ! ब्राह्मणीं समाविष्टां गृहानागतां स्त्रीं प्रत्युपतिष्ठतेऽभिवादयते संव्यवहरते संवदति संस्पृशति संभुङ्क्तेऽभिहन्त्याक्रोशत्युपशेते पदमृतुनिर्माल्यवासोलङ्कारमाक्रामति वा तस्या ब्राह्मणी जातहारिणी भवति । अथो आहुः-सैवैनां ब्राह्मणी ऋतुमतीमवसिञ्चेत् । सैव तत्र प्रायश्चित्तिः । स्वेनैवैनां भागधेयेन प्रजावतीं करोति । नास्या ब्राह्मणी जातहारिणी भवति, या एवं वेद । अथो वृद्धजीवक ! क्षत्रियां जातहारिणीं समाविष्टां गृहानागतां स्त्रियं प्रत्युपतिष्ठतेऽभिवादयते संव्यवहरते संवदति संस्पृशति संभुङ्क्तेऽभिहन्त्याक्रोशत्युपशेते पदमृतुनिर्माल्यवासोलङ्कारमा-

(इति ताडपत्रपुस्तके १८० तमं पत्रम् ।)

क्रामति वा तस्याः क्षत्रिया जातहारिणी भवति । अथो आहुः-सैवैनां क्षत्रिया ऋतुमतीमवसिञ्चेत् , सैव तत्र प्रायश्चित्तिः । स्वेनैवैनां भागधेयेन प्रजावतीं करोति । नास्याः क्षत्रिया जातहारिणी भवति, या एवं वेद । अथो वृद्धजीवक ! वैश्यां जातहारिण्याऽऽविष्टामथो महाशूद्रीं स्त्रीं प्रत्युपतिष्ठतेऽभिवादयते संव्यवहरते संवदति संस्पृशति संभुङ्क्तेऽभिहन्त्याक्रोशत्युपशेते पदमृतुनिर्माल्यवासोलङ्कारमाक्रामति वा तस्या वैश्या जालहारिणी भवति, अथो शूद्रा, अथो महाशूद्री वा । अथो आहुः-सैवैनां वैश्याऽथो शूद्राऽथो महाशूद्री स्त्रियमृतुमतीमवसिञ्चेत् । सैव तत्र प्रायश्चित्तिः । स्वेनैवैनां भागधेयेन प्रजावतीं करोति । नास्या वैश्या वा शूद्रा वा महाशूद्रा वा जातहारिणी भवति, या एवं वेद । अथो वृद्धजीवक ! सूतमागधवेनपुक्कसाम्बष्ठप्राच्यकचण्डालमुष्टिकमेत(द)डौम्बडवाकद्रुमिडसिंहलोड्रूखशशकयवनपह्लवतुखा(षा)रकम्बोजावन्त्यनेमकाभीरकहूणपारशवकुलिन्दकिरातशवरशम्बरजा जातहारिण्यो भवन्ति । अथो आहुः-तामेवैनां(ना)स्तिकनिषादप्रभृतीनां वर्णसंकराणां वा या स्त्रियो जातहारिण्याऽऽविष्टा गृहाणीयुस्ताः स्त्रीः प्रत्युपतिष्ठते, अभिवादयते, अभिनन्दयते, संव्यवहरति, संवदति, संस्पृशति, संभुङ्क्तेऽभिहन्त्याक्रोशति, उपशेते पदमृतुनिर्माल्यवासोलङ्कारमाक्रामति वा तस्याः एता वर्णसंकरजा जातहारिण्यो भवन्ति । अथो आहुः-तामेवैनां स्त्रियमृतुमतीमवसिञ्चेत् । सैव तत्र प्रायश्चित्तिः । स्वेनैवैनां भागधेयेन प्रजावतीं करोति । नास्या वर्णसङ्करा जातहारिणी स्त्री जातहारिणी भवति, या एवं वेद । अथो वृद्धजीवक ! लिङ्गिनी परिव्राजिका श्रमणका करण्डनी निर्ग्रन्थी चीरवल्कलधारिणी तापसी चरिका जटिनी मातृमण्डलिकी देवपरिवारिका वेत्तणिका वा जातहारिण्यो वा जातहारिण्याऽऽविष्टा वा गृहानुपेयात् तां प्रत्युपतिष्ठतेऽभिवादयते वा संव्यवहरते वा संस्पृशति संभुङ्क्तेऽभिहन्त्याक्रोशत्युपशेते पदमृतुनिर्माल्यवासोलङ्कारमाक्रामति वा तस्या लिङ्गिनी जातहारिणी भवति । अथो आहुः-सैवैनां लिङ्गिनी स्त्रियमृतुमतीमवसिञ्चेत् । सैव तत्र प्रायश्चित्तिः । स्वेनैवैनां भागधेयेन प्रजावतीं करोति । नास्या लिङ्गिनी जातहारिणी भवति, या एवं वेद । अथो वृद्धजीवक ! अयस्करी जातहारिण्याऽऽविष्टा कार्ष्णायसेनार्हणे[१]नाभ्यैत्यथो तक्ष्णी दारवेणाथो कुलाली मार्त्तिकेनाथो पदकरी चार्मणेनाथो मालाकारी मुक्तकुसुमेनाथो कुविन्दी तानुकेनाथो सौचिकी स्यूतेनाथो रजकी सुरक्तेनाथो नेजिका निर्णिक्तेनाथो गोपी तक्रेणाथो कारुकुणी(की)स्वेनार्हणेन जातहारिण्याविष्टा गृहानुपेयात् तां स्त्री प्रत्युपतिष्ठतेऽभिवादयते संव्यवहरते संवदति संस्पृशति संभुङ्क्तेऽभिहन्त्याक्रोशत्युपशेते पदमृतुनिर्माल्यवासोलङ्कारमाक्रामति वा तस्याः कारुकुणी(की)जातहारिणी भवति । अथो आहुः-सैवैनां कारुकी स्त्रियमृतुमतीमवसिञ्चेत् । सैव तत्र प्रायश्चित्तिः । स्वेनैवैनां भागधेयेन प्रजावतीं करोति । नास्याः कारुकी जातहारिणी भवति, या एवं वेद ॥ ६८ ॥

(इति ताडपत्रपुस्तके १८१ तमं पत्रम् ।)

हे वृद्धजीवक ! ये स्त्रियां वर्णा (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्ण वाली), वर्णान्तरा (वर्ण संकर से उत्पन्न हुई), लिङ्गिनी तथा कारुकी आदि चार प्रकार की जातहारिणी स्त्रियों में प्रवेश करके पुनः स्त्रियों में प्रविष्ट होती है । उनका अब हम व्याख्यान करेंगे । जो स्त्री घरों में आई हुई तथा ब्राह्मणी जातहारिणी द्वारा आविष्ट स्त्री के पास बैठती है, उसका अभिवादन करती है, उससे व्यवहार करती है, उससे बोलती है, उसका स्पर्श करती है, उसके साथ बैठकर खाती है, उसे मारती है, उसे गाली देती है, उसके साथ सोती है, अथवा उसके पैर, ऋतु, माला, वस्त्र तथा अलंकारों पर आक्रमण करती है उस स्त्री में ब्राह्मणी जातहारिणी प्रवेश करती है । इसका प्रायश्चित्त (उपचार) यही है कि वही ब्राह्मणी इस ऋतुमती स्त्री का अवसिंचन करे । तथा अपने भागधेय (अंश) से उसे सन्तानयुक्त कर दे । जो इस तत्त्व को जानती है उसे ब्राह्मणी जातहारिणी आक्रान्त नहीं करती

१. अर्हणेन उपहारेणेत्यर्थः स्यात् ।

है। हे वृद्धजीवक ! जो स्त्री घर में आई हुई तथा क्षत्रिय जातहारिणी द्वारा आविष्ट स्त्री के पास बैठती है, उसका अभिवादन करती है, उससे व्यवहार करती है, उससे बोलती है, उसका स्पर्श करती है, उसके साथ बैठकर खाती है, उसे मारती है, उसे गाली देती है, उसके साथ सोती है अथवा उसके पैर, ऋतु, माला, वस्त्र तथा अलंकारों पर आक्रमण करती है उस स्त्री में क्षत्रिय जातहारिणी प्रवेश करती है। इसका प्रायश्चित्त (उपचार) यही है कि वह क्षत्रिय (स्त्री) इस ऋतुमती स्त्री का अवसिंचन करे, तथा अपने भागधेय (अंश) से उसे सन्तानयुक्त कर दे। जो इस तत्त्व को जानती है उसे क्षत्रिय जातहारिणी आक्रान्त नहीं करती। हे वृद्धजीवक ! जो जातहारिणी द्वारा आविष्ट वैश्या अथवा महाशूद्री स्त्री के पास बैठती है, उसका अभिवादन करती है, उससे व्यवहार करती है, उससे बोलती है, उसका स्पर्श करती है, उसके साथ बैठकर खाती है, उसे मारती है, उसे गाली देती है, उसके साथ सोती है अथवा उसके पैर, ऋतु, माला, वस्त्र तथा अलंकारों पर आक्रमण करती है उसे वैश्या, शूद्रा अथवा महाशूद्री जातहारिणी आक्रान्त करती है। इसका प्रायश्चित्त (उपचार) यही है कि वे ही वैश्या, शूद्रा अथवा महाशूद्री स्त्रियां इस ऋतुमती स्त्री का सिञ्चन करें तथा अपने ही भागधेय (अंश) से इसे सन्तानयुक्त करें। जो इस तथ्य को जानती है उसे वैश्या, शूद्रा अथवा महाशूद्री जातहारिणियां आक्रान्त नहीं करतीं। हे वृद्धजीवक ! इसके अतिरिक्त सूत, मागध, वेन, पुक्कस, अम्बष्ठ, प्राच्यक, चण्डाल, मुष्टिक, मेत (द) डोम्ब, डवाक, द्रुमिड, सिंहल, उड्, खश, शक, यवन, पह्लव, तुखा (षा) र, कम्बोज, अवन्ती, अनेमक, आभीरक, हूण, पारश, वकुलिन्द, किरात, शबर तथा शम्बर आदि देशों में उत्पन्न होने वाली जातहारिणियां भी होती हैं। जो स्त्रियां इन नास्तिक निषाद आदि वर्णसंकर जातहारिणियों से आक्रान्त अथवा ग्रहण की हुई स्त्रियों के पास बैठती हैं, उनका अभिवादन करती हैं, उनसे व्यवहार करती हैं, उनसे बोलती हैं, उनका स्पर्श करती हैं, उनके साथ बैठकर खाती हैं, उन्हें मारती हैं, उन्हें गाली देती हैं, उनके साथ सोती हैं, अथवा उनके पैर, ऋतु, माला, वस्त्र तथा अलंकारों पर आक्रमण करती हैं-उन्हें वे वर्णसंकर जातहारिणियां आक्रान्त कर देती हैं। उनका प्रायश्चित्त (उपचार) यही है कि ये वर्णसंकर स्त्रियां इस ऋतुमती स्त्री का अवसिंचन करें तथा अपने भागधेय (अंश) से उसे सन्तानयुक्त कर दें जो इस तत्त्व को जानती है उसे वर्णसंकर जातहारिणियां आक्रान्त नहीं करती हैं। हे वृद्धजीवक ! जब लिङ्गिनी, परिव्राजिका, श्रमणका, कण्डनी, निर्ग्रन्थी, चीरवल्कलधारिणी, तापसी, चरिका, जटिनी, मातृमण्डलिकी, देवपरिचारिका, वेक्षणिका, आदि जातहारिणियां अथवा इन जातहारिणियों से आक्रान्त स्त्रियां घरों में आयें-उन स्त्रियों के पास जो बैठती है, उनका अभिवादन करती है, उनसे व्यवहार करती है, उनसे बोलती है, उनका स्पर्श करती है, उनके साथ बैठकर खाती है, उन्हें मारती है, उन्हें गाली देती है, उनके साथ सोती है अथवा उनके पैर, ऋतु, माला, वस्त्र तथा अलंकारों पर आक्रमण करती है-उन्हें लिङ्गिनी जातहारिणी आक्रान्त कर देती है। उनका प्रायश्चित्त (उपचार) यही है कि वही लिङ्गिनी स्त्री इस ऋतुमती स्त्री का अवसिंचन करे तथा अपने भागधेय से इसे सन्तानयुक्त कर दे जो इस तत्त्व को जानती है उसे लिङ्गिनी जातहारिणी आक्रान्त नहीं करती है। हे वृद्धजीवक ! जब अयस्करी जातहारिणी से आक्रान्त स्त्री कृष्ण लोह के बने तथा तक्षणी (बढ़इन) दारव (लकड़ी के बने शस्त्र) सहित उपहार से, कुलाली (कुम्हारिन) मिट्टी के उपहार से तथा पदकरी (चमारिन-जूते बनाने वाली) चमड़े के, मालाकरी (माला बनाने वाली-मालिन) युक्तकुसुम के, कुविन्दी तान्तुक के, सौचिकी स्यूत के, रजकी (रंगरेजिन) अच्छी प्रकार रंगे हुए वस्त्र के, नेजिका (धोबिन) निर्णिक्त के, गोपी (ग्वाले की स्त्री) तक्र के तथा कारुकुणी (की) आदि अपने २ उपहारों के सहित जातहारिणियों से आविष्ट हुई स्त्रियां घरों में आयें उन स्त्रियों के साथ जो स्त्री बैठती है, उनका अभिवादन करती है, उनसे व्यवहार करती है, उनसे बोलती है, उनका स्पर्श करती है, उनके साथ बैठकर खाती है, उन्हें मारती है, उन्हें गाली देती है, उनके साथ सोती है अथवा उनके पैर, ऋतु, माला, वस्त्र तथा अलंकारों पर आक्रमण करती है उसे कारुकुणी (की) जातहारिणी आक्रान्त करती है। इसका प्रायश्चित्त (उपचार) यही है कि वही कारुकुणी (की) इस ऋतुमती स्त्री का अवसिंचन करे तथा अपने भागधेय (अंश) से उसे सन्तानयुक्त कर दे। जो इस तत्त्व को जानती है उसे कारुकी जातहारिणी आक्रान्त नहीं करती है॥

अत ऊर्ध्वं वृद्धजीवक ! तिरश्चीं जातहारिणीमनुव्याख्यास्यामः-पञ्चविधा ह्येषा प्रोच्यते। तद्यथा-शाकुनी, चतुष्पदी, सर्पा, मत्सी, वनस्पतीरिति। ता एता प्रायेण सतामेव प्रसज्जन्ते। वृद्धजीवक ! ये शकुनीं वर्द्धन्तीं घ्नन्ति घातयन्ति वा तेषां शकुनिरूपा जातहारिणी प्रसज्जते महाग्रहः। सा काकी भासी कुक्कुटी मयूरी चाषी सारिका तैलपायिका उलूकी भोलन्तिका गृध्री श्येनी भारद्वाजी ततोऽन्यतमा वा भूत्वा स्वप्नेऽपूर्वान् दर्शयति, गर्भिणीं सूतिकां बिभीषयति, बालं चोत्त्रासयति, महावेगा महाप्राणा घोररूपा रौद्राऽनायतपक्षा वज्रतुण्डनखदशनदंष्ट्रा वैदूर्यज्वलनसदृशलोचना बहुविचित्रमहापत्रा कण्ठे कनकमणिविचित्रगुणधारिणी विविधकुसुमगन्धवसनमुसलोज्ज्वलधारिणी वरमुकुटा नूपुरकांवकम्बूकदाङ्ग(टका)दकुण्डलवामघण्टापताकाऽऽतपत्रोल्काविद्युन्मेघमालाऽलङ्कृता, भगवतः कुमारवरस्य ग्रानी (?) च स्वसा च स्वप्ने धर्षयित्वा रोगागममनन्तरमस्य करोति। ततो मध्याह्नेऽ-

र्धरात्रे वा संध्ययोर्वा सुप्ते वा बालगृहे निलीयते यथोक्तानामेकतमा; ततो बाल उच्चैः क्रोशति रोदिति त्रसते वेपते बिभेति ज्वर्यते विह्वलति निस्तनति मुह्यति विस्खलति सूच्यते शून्यते विस्रंस्यते रोगैरन्यैश्चोपद्रूयते । या त्वभीक्ष्णं शकुनीं स्त्री स्वप्ने पश्यति ततः साऽस्याः शकुनी जातहारिणी सज्जते । तस्या एव शकुन्या निभीतस्या (निलीनाया ?) एव पुरीषेण पञ्चोदकेन वैनां वृद्धस्त्री शकुनिना(नीं) स्त्रीं तत्रावसिञ्चेत् । सैव तत्र प्रायश्चित्तिः । स्वेनैवैनां भागधेयेन प्रजावतीं स्त्रियं करोति । नास्याः शकुनी जातहारिणी भवति या शकुनीं न हिनस्ति, या एवं वेद । अथो वृद्धजीवक ! ये गां घ्नन्ति घातयन्ति वा, गोमांसं चोपयुञ्जन्ते तेषां गोमाता जातहारिणी प्रसज्जते । एषा एनां स्वप्नेऽभिद्रवति गोपालो वा वत्सकपालो वा; असाध्या तस्या गोमाता जातहारिणी प्रसज्जति । अथो आहुर्गोमध्य एनां गोमूत्रपुरीषाभ्यामुपोषितां स्नपयेत् , सैव तत्र प्रायश्चित्तिः । स्वेनैवैनां भागधेयेन गौः प्रजावतीं करोति । नास्या गोमाता जातहारिणी भवति, या गां न हिनस्ति, या एवं वेद । एवमेव महिषीणामजानामविकानां गर्दभीनां श्वाश्वतरीणामुष्ट्रीणां सूकरीणां मूषिकाणां शुनीनां गलगोलिकानां गोपानां विश्वम्भराणां मृगादीनां चैवमेष विधिरुक्तः ॥ अथो वृद्धजीवक ! सर्पी गृहचारिणीमगृहचारिणीं वा स्त्री हन्ति घातयति वा, तस्याः सर्पी जातहारिणी प्रसज्जतेऽथो विषमृत्युमस्याः प्रजाया आहुः । एनां वल्मीके नागकुले वा सिञ्चेदथो आहुर्वल्मीकशतमध्य इति । सैव तत्र प्रायश्चित्तिः । स्वेनैवैनां भागधेयेन प्रजावतीं करोति, नास्याः सर्पी जातहारिणी भवति । या सर्पान् न हिनस्ति, नास्याः प्रजाया विषमृत्युर्भवति या एवं वेद ॥ अथो वृद्धजीवक ! या मत्स्यमकरतिमिङ्गिलनक्रशङ्खशम्बूकसुखनकादीनि भूता-

(इति ताडपत्रपुस्तके १८२ तमं पत्रम्)

न्युदकचराणि हन्ति, तस्यास्तेनाधर्मेण रेवती क्रुद्धा प्रजा हिनस्ति; मत्सी वा मकरी शुक्तिः शङ्खी भूत्वा स्वप्ने पूर्वं हर्षयति, ततो हिनस्ति भूयिष्ठं; तस्या अप्सु प्रजा विनश्यति, जलत्रासेन एकैकरोगैर्वा । अथो आहुः-रोहिणीस्नानेनैवैनां प्रत्युदियात् , सैव तत्र प्रायश्चित्तिः । या मत्स्यान् न हिनस्ति नास्या मत्सी जातहारिणी भवति, या एवं वेद ॥ अथो वृद्धजीवक ! ये वनस्पतीन् हिंसन्ति परिगृहीतानपरिगृहीतान् वा, तेषां वनस्पतिदेवता अभिक्रुद्ध्यन्ति । अग्निर्वैश्वानरो नाम, सोमः पितृमान्नाम, स्वधिति शिवो नाम, आपो वरुणो नाम, भूमिर्निर्ऋतिर्नाम, गौर्वियन्नाम, गौः श्लोको नाम, देव पव(मा)नो नाम, आदित्यः पूषा नाम, दिशः काष्ठा नाम, इन्द्रो वरुणो नाम, वायुः प्राणो नाम; ता वै द्वादश वनस्पतीनां देवताः । एता एव वनस्पतीन् घ्नन्तं घ्नन्ति । अथो आहुर्वनस्पतिमध्ये विवृत्तेषु ता एव देवताः स्थालीपाकैर्यजेत । अग्निमाज्येन, सोमं श्यामाकेन, शिवं पायसेन, आपो दध्ना, भूमिं सप्तान्नकेन, ग्रामधूपैः गां वाऽग्निं पवमानं पिशितेन, पूषागमन्नाद्यैः, दिशो मद्यैः, इन्द्रं हविष्यभोजनेनेति । अथो अस्या वनस्पतिदेवताः प्रजामेव प्रयच्छन्ति, या वनस्पतीन् न हिनस्ति । नास्या वनस्पतिदेवता जातहारिण्यो भवन्ति, या एवं वेदेति ॥ ६६ ॥

हे वृद्धजीवक ! इसके बाद अब हम तिरश्चीन (तिर्यक् जाति) जातहारिणियों का व्याख्यान करेंगे । ये पांच प्रकार की होती हैं—१ शकुनी २ चतुष्पदी ३ सर्पा ४ मत्सी तथा ५ वनस्पति । ये जातहारिणियां प्रायः सज्जन व्यक्तियों को ही आक्रान्त करती हैं । हे वृद्धजीवक ! जो वृद्धि को प्राप्त होते हुए शकुनी (पक्षी) की स्वयं हिंसा करते हैं अथवा दूसरों से हिंसा करवाते हैं उन्हें महाग्रह वाली शकुनीरूप जातहारिणी आक्रान्त करती है । वह शकुनी रूप जातहारिणी काकी, भासी, कुक्कुटी, मयूरी, चाषी, सारिका, तैलपायिका, उलूकी, भोलन्तिका, गृध्री, श्येनो, भारद्वाजी आदि पक्षियों अथवा अन्य रूपों को धारण करके स्वप्न में अपूर्व (पहले कभी न देखी हुई) आकृतियों को दिखाती है, गर्भिणी तथा सूतिका स्त्री को भय दिखाती है (डराती है), बालक को संत्रस्त करती है, तथा महावेग, महाप्राण, भयंकर रूप, भयावनी, अनायतपक्षा (जिसके पंख विस्तृत नहीं हैं), वज्र के सदृश सुदृढ नख, दांत तथा दंष्ट्रा वाली, वैदूर्य मणि की ज्वाला के समान नेत्रों वाली, अत्यन्त विचित्र तथा बड़े पत्र (पंखों) वाली, गले में सोने तथा मणि की विचित्र माला को धारण करने वाली, विविध प्रकार के पुष्प, गन्ध, वस्त्र, मुसल तथा उज्ज्वल पदार्थों को धारण करने वाली, श्रेष्ठ मुकुट वाली तथा नूपुरक, विकम्बूकत्, अङ्गद, कुण्डल, वामघण्टा, पताका, आतपत्र, उल्का, विद्युत्, एवं मेघमाला आदि से अलंकृत भगवान् कार्तिकेय की प्रानी (?) तथा बहन स्वप्न में डराकर बाद में रोगों को उत्पन्न कर देती है। उसके बाद उपर्युक्त जातहारिणियों में से कोई एक मध्याह्न, अर्धरात्रि, सन्ध्या समय अथवा सोने के बाद बालगृह में छिपकर स्थित हो जाती है । इससे बालक उच्चस्वर से चिल्लाता है, रोता है, डरता है, कांपता है तथा भयभीत होता है । उसे ज्वर हो जाता है, वह विह्वल होता है, लम्बे २ सांस लेता है, मोहित हो जाता है, लड़खड़ाता है, दुःखी होता है, शून्य के समान हो जाता है, उसे मल आदि का स्राव होने लगता है तथा

उसे उपद्रव स्वरूप अन्य रोग भी घेर लेते हैं। इस प्रकार जो स्त्री स्वप्न में निरन्तर शकुनी को देखती है, उस पर यह शकुनी नाम की जातहारिणी आक्रमण कर देती है। उसका यही प्रायश्चित्त है कि शकुनी नामक जातहारिणी से आक्रान्त स्त्री को कोई अन्य वृद्ध स्त्री उस शकुनी (पक्षी) के घोंसले में स्थित पुरीष (मल) तथा पक्षोदक (पंखों में लगे हुए पानी) के द्वारा सिंचन करे तथा वह अपने भागधेय (अंश) से उसे सन्तानयुक्त कर दे। जो इस प्रकार जानती है तथा शकुनी (पक्षी) की हिंसा नहीं करती उसे शकुनी नामक जातहारिणी आक्रान्त नहीं करती। हे वृद्धजीवक ! जो स्त्री गौ की स्वयं हत्या करती है अथवा दूसरों से हत्या करवाती है तथा गोमांस का प्रयोग करती है उन पर जातहारिणी का रूप धारण करके गोमाता आक्रमण कर देती है तथा यह जातहारिणी स्वप्न में गौओं अथवा बछड़ों की पालना करने वाले ग्वाले को दौड़ाती है। इस पर गोमाता रूप असाध्य जातहारिणी आक्रमण कर देती है। इसका यही प्रायश्चित्त है कि इस स्त्री को गौओं के बीच में बिठाकर गौओं के मूत्र तथा पुरीष (गोबर) के द्वारा स्नान कराये। उस स्त्री को गौ माता अपने भागधेय (अंश) से युक्त करती है। जो इस तथ्य को जानती है तथा गौ की हत्या नहीं करती उसे गोमाता रूप जातहारिणी आक्रान्त नहीं करती है। इसी प्रकार भैंस, बकरी, भेड़, गधी, खच्चरी, ऊंटनी, सूअरी, चुहिया, कुतिया, गलगोलिका (विषयुक्त कीट विशेष), गोप (ग्वाले), विश्वम्भर (सौम्य कीट विशेष) तथा मृग आदि पशुओं की भी यही उपर्युक्त ही विधि कही गई है। हे वृद्धजीवक ! जो स्त्री घर में अथवा घर से बाहर विचरण करने वाली सर्पिणी की स्वयं हत्या करती है अथवा दूसरों से हत्या करवाती है उस पर सर्पिणी रूप जातहारिणी आक्रमण कर देती है। इसकी सन्तान की विष से मृत्यु हो जाती है। इसका यही प्रायश्चित्त है कि सौ बांबियों के मध्य में वल्मीक (वांबी) अथवा नागकुल में इसका सिञ्चन करना चाहिये। वह सर्पिणी रूप जातहारिणी इस स्त्री को अपने अंश से सन्तान युक्त कर देती है। जो इस तथ्य को जानती है तथा सांपों की हिंसा नहीं करती, उसे सर्परूप जातहारिणी आक्रान्त नहीं करती तथा उसकी सन्तान की विष से मृत्यु नहीं होती। हे वृद्धजीवक ! जो स्त्री मत्स्य, मकर (मगरमच्छ), तिमिङ्गिल, नक्र (नाका), शङ्ख (घोंघा) शम्बूक तथा सुखनक आदि जलचर प्राणियों की हत्या करती है, उसके इस अधार्मिक कृत्य से क्रुद्ध हुई रेवती उसकी सन्तान का हनन करती है। स्वप्न में मछली, मगरमच्छी, शुक्ति अथवा शङ्खी का रूप धारण करके पहले हर्ष उत्पन्न करती है। तदनन्तर अत्यन्त हनन करती है (कष्ट पहुंचाती है) उसकी सन्तान का जलत्रास (Hydrophobia) अथवा अन्य रोगों से जल में नाश होता है (मृत्यु होती है)। इसका यही प्रायश्चित्त है कि रोहिणी स्नान के द्वारा इसका उपाय करे। जो इस तथ्य को जानती है तथा मछलियों की हिंसा नहीं करती उसे मत्सी जातहारिणी आक्रान्त नहीं करती। हे वृद्धजीवक ! जो स्त्री ग्रहण की हुई अथवा ग्रहण न की हुई वनस्पतियों की हिंसा करती है उससे वनस्पति देवता क्रुद्ध हो जाते हैं। वैश्वानर नाम वाला अग्नि, पितृमान् नाम वाला सोम, शिव नाम वाला स्वधा, वरुण नाम वाला अप् (जल), निर्ऋति नाम वाली भूमि, वियत् नाम वाली गौ, श्लोक नाम वाली गौ, पवित्र करने वाला वायु, पूषा नाम वाला आदित्य, काष्ठा नाम वाली दिशायें, वरुण नाम वाला इन्द्र तथा प्राण नाम वाला वायु इत्यादि ये १२ वनस्पतियों के देवता माने जाते हैं। ये देवता वनस्पतियों की हत्या करने वालों का हनन कर देते हैं। इनके उपचार के लिये वनस्पतियों अथवा वृक्षों के समूह के मध्य में इन्हीं देवताओं की स्थालीपाक के द्वारा पूजा करे। अग्नि देवता की घृत के द्वारा, सोम देवता की श्यामाक (धान्य विशेष) के द्वारा, शिव की दूध अथवा खीर के द्वारा, जल देवता की दही के द्वारा, भूमि देवता की सप्तान्न के द्वारा, गौ अथवा अग्निदेवता की ग्रामधूपों के द्वारा, पत्रमान (वायु) की पिशित (मांस) के द्वारा, पूषा देवता की अन्न आदि के द्वारा, दिशाओं की मद्यों के द्वारा तथा इन्द्र देवता की हविष्य भोजन के द्वारा आराधन करना चाहिये। जो वनस्पतियों की हिंसा नहीं करती हैं उनको ये वनस्पति देवता सन्तान से युक्त करती हैं। जो इस तथ्य को जानती है उनके लिये ये वनस्पति देवता जातहारिणी (उत्पन्न हुए को मारने वाले) नहीं होते ॥ ६९ ॥

तत्र श्लोकाः—

अधर्मस्यातिसंवृद्ध्या रेवती लभतेऽन्तरम् ।
लब्ध्वाऽन्तरमतिक्रुद्धा नानारूपैर्यथोदितैः ॥ ७० ॥
अन्यैश्च दारुणतरैस्ततो हन्ति प्रजा इमाः ।
यौगपद्येन भार्या वा म्रियन्ते वा पृथक् पृथक् ॥ ७१ ॥

अधर्म की वृद्धि के कारण रेवती अन्तर (अवकाश छिद्र अथवा दोषों) को प्राप्त करती है तथा दोषों को प्राप्त करके क्रुद्ध होकर ऊपर वर्णित किये हुए अथवा वर्णित न किये हुए भी अनेक प्रकार के रूपों को धारण करके इनकी सन्तानों की हत्या करती है। उसी के साथ अथवा उससे पृथक् स्त्री की भी मृत्यु हो जाती है ॥ ७०-७१ ॥

ग्रस्तस्य जातहारिण्या शिशो रूपाणि मे शृणु ।
सद्यो रूपं तु तत्रैकं यदुच्चैस्त्रस्तवाशितम्[1] ॥ ७२ ॥
स्तन्यदूषणमेवाग्रे ज्वरस्तन्द्री प्रमीलकः ।
शिरोभितापो वैवर्ण्यं भृशं वा पाण्डुपीतता ॥ ७३ ॥
तृष्णाऽतिसारो वैस्वर्यं तालुशोषः प्रहर्षणम् ।
मुखपाको मुखस्फोटो वैसर्पः पाण्डुकामले ॥ ७४ ॥
जागर्ति रोदिति भृशं पीड्यते च मुहुर्मुहुः ।
श्वसते कासते क्षौति शीतीभवति च क्षणात् ॥ ७५ ॥

१. सत्रासं रोदनमित्यर्थः ।

निश्चेष्टो मृतकल्पश्च मुहुः स्थित्वा प्रचेष्टते ।
न पुष्यति यथाकालं स्तनं न प्रतिनन्दति ॥ ७६ ॥
अपूर्वं च जनं दृष्ट्वा भृशमुद्विजते शिशुः ।
बिडालनकुलाखूनां शब्देनाशु प्ररोदिति ॥ ७७ ॥
मृदुनाऽपि च रोगेण पीडामाप्नोति दारुणाम् ।
अभीक्ष्णं त्रसते सुप्तो न शर्म लभते सुखात् ॥ ७८ ॥

जातहारिणी से आक्रान्त शिशु के लक्षणों को तू मेरे से सुन—उसका तात्कालिक रूप तो यही होता है कि शिशु भय सहित उच्चस्वर से रोता है। तथा उसके बाद स्तन्य (दूध) का दूषित होना, ज्वर, तन्द्रा, प्रमीलक (मूढता), शिरोभिताप, विवर्णता, अत्यन्त पाण्डु एवं पीलापन, तृष्णा, अतिसार, विकृतस्वर, तालुशोष, प्रहर्ष, मुखपाक, मुखस्फोट, विसर्प, पाण्डु, कामला आदि हो जाते हैं तथा बालक बहुत अधिक जागता रहता है, रोता है, उसे बार २ अत्यन्त पीड़ा होती है। उसे श्वास तथा कास रोग हो जाते हैं। वह छींकता है तथा क्षणभर में ठण्डा पड़ जाता है। वह निश्चेष्ट एवं मृततुल्य हो जाता है तथा कुछ देर बाद उसे संज्ञा प्राप्त होती है। उसका ठीक समय पर पोषण नहीं होता तथा वह दूध से प्रसन्न नहीं होता। वह बालक जब किसी अपरिचित व्यक्ति को देखता है तो अत्यधिक डर जाता है। विडाल (बिलाव), नेवले तथा चूहों के शब्दों को सुनकर वह शीघ्र ही रोने लगता है। बहुत स्वल्प (मामूली) रोग से भी उसे भयंकर पीडा होती है। वह निरन्तर डरता रहता है तथा सोने पर उसे सुख (आराम) नहीं मिलता ॥ ७२–७८ ॥

रूपाण्येतानि संलक्ष्य भेषजं न प्रणोति यः ।
सोऽपत्यैः कुरुते कार्यं स्वप्नलब्धैर्धनैरिव ॥ ७९ ॥

जो उपर्युक्त लक्षणों को देखकर इनकी चिकित्सा नहीं कराता, उसकी सन्तान उसी प्रकार नष्ट हो जाती है जिस प्रकार स्वप्न में प्राप्त हुए धन नष्ट हो जाते हैं ॥ ७९ ॥

अत ऊर्ध्वं वरणबन्धमुपक्रमिष्यामः । बन्धो हि गर्भिण्याः क्षयति प्रागष्टमान्मासात्, अत ऊर्ध्वं प्रतिषेधस्तस्यान्यत्र । वृद्धजीवक ! श्रद्दधानानां
(इति ताडपत्रपुस्तके १८३ तमं पत्रम् ।)
धर्मक्रियावतां त्रिरात्रोपोषितानां भिषक् शुचिरुपोषितः प्रजावरणं बध्नीयात्; बद्धे चैनां दक्षिणाभिरिष्टाभिरर्चेत्, सा ह्यस्याः प्रजाः प्रयच्छति । तत्र संभारा रोहिणीस्नान स्नाता । स्नपनमप्येके रात्रौ चेत् कुर्याद् गृहेषु, दिवा चेदरण्येऽनुगुप्तमुभयं दिग्बन्धं कृत्वाऽऽत्मरक्षामत्र विधायारभेत् तत्कर्म । अथ शुचौ देशे गोचर्ममात्रं गोमयेनाद्भिश्च स्थण्डिलमुपलिप्य भिषगहतवासाः स्नातोऽलङ्कृतः प्राङ्मुख उपस्पृश्योद्धृतहस्तस्तूष्णीमुपस्पृशेदशब्दवतीभिरफेनाभिरनुष्णाभिरद्भिर्ब्राह्मेण तीर्थेन त्रिः प्राश्नीयात्, द्विरोष्ठौ परिमृजेत्, त्रिरित्येके । अक्षिणी कर्णौ नासिकेऽप्यपानं चोपस्पृशेत् । दुव्य-(दृश्ये)महति सूर्ये स्थण्डिलमभ्युक्ष्य, हिरण्यपाणिर्दर्भपिञ्जूलीनां गर्भवर्तीं गृहीत्वा, तया लक्षणमुल्लिख्य दर्भपिञ्जुलीमभ्युक्ष्य बहिर्निरस्यति, तत्राग्निं प्रणयति । यथापूर्वोक्तं परिसमूह्य, परिसंमृज्य, प्रदक्षिणं बर्हिषा परिस्तीर्याग्नेः पुरस्तात् काञ्चनीं राजतीमुशीरमयीं दर्भमयीं वा प्रतिकृतिं प्रतिष्ठाप्य कुमारं षष्ठीं विशाखं च, दक्षिणतो ब्रह्माणमुत्तरत उदपात्रं, द्वाभ्यां दर्भाभ्यामच्छिन्नाग्राभ्यां समाभ्यां विष्टरबद्धाभ्यामाज्यमुत्पूय, आज्यमसि देवभोजनमसि तेजोऽसि चक्षुरसि श्रोत्रमसीन्द्रियमस्यायुरसि सत्यमसि हविरसीति । अथ जुहोति दर्भस्रुवेण आघारौ हुत्वा गर्भिणीं स्त्रियं स्नातामुषितां शुक्लवसनोपसंवीतामलङ्कृतां दक्षिणत उदङ्मुखीं सुखे पीठेऽथोपवेश्य द्वौ दर्भौ हस्ते दत्त्वा, सा तूष्णीमासीत । अथ भिषगनुज्ञातो नित्यं होमं हुत्वाऽऽज्यभागौ हुत्वा मातङ्ग्या विद्यया जुहुयात् । मातङ्गी नाम विद्या पुण्या दुःस्वप्नकलिरक्षोघ्नी पापकल्मषाभिशापमहापातकनाशनी पातकी ब्रह्मर्षिराजर्षिसिद्धचारणपूजिताऽर्चिता मतङ्गेन महर्षिणा कश्यपपुत्रेण कनीयसा महता तपसोग्रेण पितामहादेवासादिता सर्वभयनाशनी सर्वलोकवशीकरणी स्वस्तिकरणी शान्तिकरी प्रजाकरी बन्धनी विमला अमोघकल्याणी; य इमां विद्यां शुचिरावर्तयति सन्ध्ययोः पूतो भवति, नास्य सर्वभूतेभ्यो भयं भवति; य एनां शुचिरहन्यहनि जपति बहुपुत्रो बहुधन आयुष्माननमीवा सिद्धार्थश्च भवति, य इमां विद्यां श्राद्धे आवाहयत्यक्षयमस्य पितरश्च श्राद्ध अवतार्यन्ते । य इमां गोमध्ये जपेद् बह्व्योऽस्य भवन्ति गावः । य इमां स्त्रियमृतुस्नातां श्रावयते गर्भिणी भवति । य इमां गर्भिणीं श्रावयति पुत्रवती भवति । य इमां कृच्छ्रप्रसवां श्रावयत्याशु मुच्यते । य इमां म्रियमाणपुत्रां श्रावयति जीवत्पुत्रा भवति । यत्र चैव वेश्मनि सर्पान् रक्षांसि च गुह्यकान् वा विद्यात् तत्र सर्षपानष्टशताभिमन्त्रितानवकिरेत्, सर्वे नश्यन्ति । यो वा द्विष्यात् तस्य वा द्वारेऽवकिरेद्यः पूर्वमाक्रामति, स आर्तिमाप्नोति । दुर्गेषु जपतस्तस्कर-
(इति ताडपत्रपुस्तके १८४ तमं पत्रम् ।)
मृगव्यालभयं न भवति । रूपे रूपेऽश्वमेधफलमवाप्नोति । सर्वतीर्थेषु स्नातो भवति । सर्वोपवासाः कृता भवन्ति । सर्वाणि दानानि दत्तानि भवन्ति । अर्थ-

विद्या, नचैतामूहेत् । नमो मातङ्गस्य ऋषि(वर्य)स्य सिद्धकस्य नम आस्तीकस्य, तेभ्यो नमस्कृत्वा इमां विद्यां प्रयोजयामि, सा मे विद्या समृद्ध्यतां, सत्थव हिलि मिलि महामिलि कुरुट्टा अट्टे ममटे तुम्बिपसे करटे गन्धारि केयूरि भुजङ्गमि ओजहारि सर्षपच्छेदनि अलगणिलगणि पंसुमसि ककिकाकण्डि हिलि हिलि बिडि बिडि अट्टे मट्टे अजिहट्टे कुक्कुकुक्कुमति स्वाहा । इत्येतया मतङ्गविद्यया शमीमयीनां समिधानमष्टशतं पालाशीनामश्वत्थमयीनामष्टशतं श्वेतानां पुष्पाणामष्टशतं सर्षपाणामग्निवर्णानामष्टशतं घृतं तैलं वसामित्युपकल्प्य, समध्वाज्यमैकध्यमालोड्य, युगपत्तिस्रः समिधो हुत्वा मन्त्रान्ते चाज्यं जुहोति; एवमष्टशतं हुत्वा प्रतिसरं लक्ष्मणापुत्रञ्जीवफलसमुद्रफेनप्रतिग्रथिता(तं)लम्बा(म्बं)प्रहष्नीवासुशुक्तिजीवोर्णानां रुद्रमातङ्ग्या विद्ययाऽभिमन्त्र्य कण्ठे विसर्जयेत् । अथैषा विद्या रुद्रमातङ्गी भवति । नैनामूहेत् । नमो भगवतो रुद्रस्य मातङ्गि कपिले जटिले रुद्रशामे रक्ष रक्षेमं रिरक्षुमाज्ञापयेति स्वाहा । इत्येतया रुद्रमातङ्ग्या प्रतिसरं बध्नीयात् । बद्धे प्रतिसरे प्रजावरणं बद्धं भवति । नास्याः सर्वभूतेभ्यो भयं भवति, आशा समृद्ध्यते, जीवत्पुत्रा सुभगा चाविधवा च भवति । ततः स्विष्टकृतं हुत्वा, यथा पूर्वोक्तं शान्तिं जपित्वा, महाव्याहृतिभिर्हुत्वा, देवतामभ्यर्च्य, विसर्ज्य, बलिं कृत्वाऽग्निमभ्युदय, तूष्णीं ब्राह्मणान् साधून् पुत्रवत आयुष्मतश्चान्नवासोदक्षिणाभिरभ्यर्च्य, तत उपवसेत् । तत्सर्वमाहवनमुपसंगृह्य चतुष्पथे वोदके वा क्षीरवृक्षे वा निदधाति । एवमेतेन विधिना प्रजावरणं बद्धं भवति, नास्याः प्रजा न भवतीत्याह भगवान् कश्यपः ॥ अत ऊर्ध्वं सप्तरात्रं प्राजापत्यं चरुं पयसि शृतं प्रजापतये जुहुयात्, पूर्वोक्तं गोघृतमित्येके । प्रजाकामपशुकामाऽऽयुष्कामानामिति वा ॥ ८० ॥

अब हम वरण बन्ध का वर्णन करेंगे । (जिस बन्धन के द्वारा गर्भ स्थित होता है तथा गर्भपात का भय नहीं रहता उस बन्धन को वरणबन्ध कहते हैं) गर्भिणी स्त्री को आठवें मास से पूर्व यह बन्ध लगाना चाहिये । इसके बाद इसका निषेध किया गया है । हे वृद्धजीवक ! जो पवित्र है तथा जिसने उपवास किया है ऐसा वैद्य श्रद्धा करने वाली तथा धर्मयुक्त आचरण करने वाली स्त्रियों को तीन दिन तक उपवास कराकर उनमें प्रजावरण (सन्तान को स्थिर करने वाला) बन्ध बांधे । तथा बन्धन बांधने के बाद इष्ट दक्षिणाओं के द्वारा उसकी अर्चना करे । इससे उसे सन्तान की प्राप्ति होती है । इसमें संभारा तथा रोहिणी नक्षत्र में स्नान करना चाहिये । कुछ लोग कहते हैं कि स्नान भी यदि रात्रि में किया जाय तो घर के अन्दर करना चाहिये तथा यदि दिन में करे तो जंगल में करना चाहिये । परन्तु दोनों अवस्थाओं में स्नान का कार्य गुप्तरूप से तथा दिग्बन्ध (चारों ओर दिशाओं का बन्धन करके अर्थात् चारदिवारी के अन्दर बन्द होकर) द्वारा अपने को सुरक्षित करके करना चाहिये । इसके बाद पवित्र स्थान में गोबर तथा पानी के द्वारा गोचर्म* प्रमाण (२१०० हाथ लम्बा) वेदी को लीप कर नवीन वस्त्र पहन कर स्नान करके तथा अलंकृत होकर वैद्य पूर्व दिशा की ओर मुख करके आचमन करे तथा ऊपर हाथ उठाये हुए और शान्त हुए शब्द एवं झागरहित तथा शीतल जल के द्वारा अङ्गस्पर्श करे तथा ब्राह्म तीर्थके द्वारा तीन बार भक्षण करके दो वार ओष्ठों का परिमार्जन करे । कुछ लोगों के मत में तीन वार ओष्ठों का परिमार्जन करना चाहिये । दोनों चक्षु, दोनों कर्ण, दोनों नासिका तथा गुदा का स्पर्श करे । फिर महान् सूर्य के दिखाई देने पर वेदी पर जल के छींटे देकर हिरण्यपाणि (हाथ में स्वर्ण अथवा स्वर्णमय पदार्थ युक्त) होकर दर्भपिञ्जुलि (कुश के गुच्छे–Bunch of grass) युक्त गर्भवती को लेकर तथा उसके द्वारा लक्षणों को लिखकर दर्भपिञ्जुलि को जल के छींटे देकर बाहर आ जाये तथा अग्नि को नमस्कार करे । फिर पूर्वोक्तानुसार सब सामान एकत्रित कर के तथा उन्हें पवित्र कर के तथा बर्हि (कुश) के द्वारा चारों ओर प्रदक्षिणा कर के अग्नि के सामने स्वर्ण, रजत (चांदी), खस अथवा दर्भ की बनी हुई कुमार, षष्ठी अथवा विशाख की प्रतिकृति (मूर्ति) स्थापित कर के तथा दक्षिण की ओर यज्ञ के ब्रह्मा तथा उत्तर की ओर जलपात्र को रखकर जिनके अग्रभाग कटे हुए नहीं हैं, जो सम हैं, ऐसे तथा परस्पर बंधे हुए दोनों दर्भों के द्वारा घृत को पवित्र कर के 'आज्यमसि, देवभोजनमसि, तेजोऽसि, चक्षुरसि, श्रोत्रमसि, इन्द्रियमसि, आयुरसि, सत्यमसि, हविरसि, इत्यादि बोले । तथा दर्भस्रुवों (दर्भ की बनी हुई स्रुवाओं) के द्वारा †आघारों (अग्नि के एक स्थान से दूसरे स्थान तक मन्त्रोच्चारण पूर्वक घृत का डालना) में आहुति देकर हवन करे । तदनन्तर स्नान एवं उपवास कर के तथा शुक्ल वस्त्रों को पहन कर अलंकृत हुई गर्भवती स्त्री को दक्षिण की ओर से उत्तर की ओर मुख कर के सुखकारक पीठ (आसन) पर बिठाकर हाथ में दो दर्भ देवे । वह गर्भवती स्त्री शान्त बैठी रहे । इसके बाद आज्ञा लेकर वैद्य नित्य होम

१. आहवनं हवनोपकरणमिति यावत् ।

*गोचर्म—२१०० हाथ लम्बा चौड़ी भूमि को कहते हैं—
सप्तहस्तेन दण्डेन त्रिंशद्दण्डैर्निवर्तनम् ।
दश तान्येव गोचर्म दत्त्वा स्वर्गे महीयते ॥
अर्थात् ७ × ३० × १० = २१०० हाथ (अनुवादक)

† वह्नेः कश्चिद्देशमारभ्य देशान्तरपर्यन्तं समन्त्रकम् आज्यधारायाः आहरणं प्रक्षेपणम् आघार इत्युच्यते । (अनुवादक)

कर के उसमें आज्यभाग डालकर मातङ्गी विद्या के द्वारा आहुति डाले। मातङ्गी नामक पुण्यकारक, दुःस्वप्न, कलि (रोग) तथा राक्षस (कृमि) आदियों को नष्ट करनेवाली पाप, कल्मष (पाप विशेष), अभिशाप तथा महान् पापों को नष्ट करनेवाली, पातक, ब्रह्मर्षि, राजर्षि, सिद्ध एवं चारणों के द्वारा पूजित एवं अर्चित विद्या को कश्यप के कनिष्ठ पुत्र महर्षि मतङ्ग ने महान् एवं उग्र तपस्या के द्वारा सीधा पितामह ब्रह्मा से प्राप्त किया था। यह विद्या, सम्पूर्ण भयों को नष्ट करनेवाली, सम्पूर्ण लोकों को वश में करनेवाली, कल्याण एवं शान्ति करनेवाली, सन्तान को उत्पन्न करनेवाली, गर्भ का बन्धन करने वाली (जिससे गर्भपात न हो), विमल तथा अत्यन्त कल्याण युक्त है। जो व्यक्ति दोनों सन्ध्याकालों में स्नान आदि द्वारा शुचि (पवित्र) होकर इस विद्या की आवृत्ति करता है वह पवित्र हो जाता है। इसे सम्पूर्ण प्राणियों से भय नहीं रहता। जो पवित्र होकर प्रतिदिन इस विद्या का जाप करता है वह बहुत पुत्रों एवं धन से युक्त होता है, दीर्घायुष्य को प्राप्त करता है, रोग रहित हो जाता है तथा उसके सब अभीप्सित प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं। जो व्यक्ति श्राद्ध में इस विद्या को स्मरण करता है उसका कभी क्षय (नाश) नहीं होता तथा उसके पितर श्राद्ध में अवतीर्ण हो जाते हैं। जो गौओं के मध्य में इसका जाप करता है उसके बहुत सी गौएँ हो जाती हैं। जो ऋतुस्नाता स्त्री को इस विद्या को सुनाता है वह स्त्री गर्भवती हो जाती है। जो गर्भवती को सुनाता है वह स्त्री बहुत पुत्रों वाली हो जाती है। जिस स्त्री का प्रसव कष्ट से हो रहा है उसे यदि इसका श्रवण कराया जाय तो उसे शीघ्र ही प्रसव हो जाता है। जिस स्त्री के पुत्र मर जाते हों उसे यदि इस विद्या का श्रवण कराया जाय तो उसके पुत्र जीवित रहते हैं। जिस घर में सर्प, राक्षस तथा गुह्य आदि को जाने वहां आठ सौ मन्त्रों से अभिमन्त्रित सरसों को बिखेर दे। इससे वे सब नष्ट हो जाते हैं। जो द्वेष करता हो उसके द्वार पर उनको (सरसों को) बिखेर दे, जो सर्व प्रथम उन्हें लांघेगा वह रोग से पीडित हो जायगा। दुर्गों (दुर्गम स्थानों) में इसका जाप करने से चोर, मृग (पशु आदि) तथा सर्प आदि का भय नहीं रहता। इसके प्रत्येक रूप में अश्वमेध यज्ञ का फल मिल जाता है अर्थात् अश्वमेध यज्ञ का जो फल होता है वह उसके देखने मात्र से मिल जाता है—इससे सम्पूर्ण तीर्थों में स्नान हो जाता है, सम्पूर्ण उपवास किये हुए के समान हो जाते हैं, सम्पूर्ण दान दिये हुए हो जाते हैं। अर्थविद्या (धन प्राप्ति की विद्या) की उसे अपेक्षा (आवश्यकता) नहीं रहती अर्थात् इस मातङ्गी विद्या से वे सब पुण्य एवं फल प्राप्त हो जाते हैं जो अश्वमेध यज्ञ, सम्पूर्ण तीर्थों के स्नान, सब उपवास तथा सब प्रकार के दानों से मिलते हैं। ऋषिवर मातङ्ग, सिद्धक तथा आस्तीक को नमस्कार है। इन सबको नमस्कार करके मैं इस विद्या को प्रयुक्त करता हूँ। वह विद्या मेरी समृद्धि करे। 'सत्थव हिलिमिलि महामिलि कुलट्टा अट्टे ममटे तुम्बिपत्ते करटे गन्धारि केयूरि भुजङ्गमि ओजहारि सर्वच्छेदनि अलगणिलगणि पंसुमसि कविकाकण्डि हिलि हिलि विडि विडि अट्टे मट्टे अजिहट्टे कुक्कु कुक्कुमति स्वाहा' इस मतङ्ग विद्या के द्वारा शमी, पलाश (ढाक) तथा अश्वत्थ की समिधाएं आठ सौ, श्वेत पुष्प आठ सौ, अग्नि के वर्ण वाले सरसों आठ सौ, तथा घृत, तैल एवं वसा को एकत्रित करके इन सबका मधु एवं घृत के साथ आलोडन करके युगपत् तीन समिधायें अग्नि में डालकर मन्त्र के अन्त में घृत की आहुति देवे। इस प्रकार आठ सौ बार आहुति देकर लक्ष्मणा, पुत्रञ्जीवफल (पितौंजिया अर्थात् पतजिव) तथा समुद्र फेनसे ग्रथित लम्बी प्रहश्वी (श्वेत सरसों) वासु, शुक्ति, जीव तथा ऊर्णा (ऊन) की बनी हुई माला को रुद्रमातङ्गी विद्या के द्वारा अभिमन्त्रित करके गले में डाल दे। रुद्रमातङ्गी विद्या निम्न होती है। इसमें अधिक तर्क न करे अर्थात् तर्क न करके इसे श्रद्धापूर्वक मान ले। 'नमो भगवते रुद्रस्य मातङ्गि कपिले जटिले रुद्रशामे रक्ष रक्षेमं रिरक्षुमाज्ञापयेति स्वाहा' इस रुद्रमातङ्गी विद्या के द्वारा प्रतिसर (माला) को बांधे। प्रतिसर के बांधा जाने पर प्रजावरण बन्ध बंधा हुआ समझा जाता है। इससे उसे सम्पूर्ण प्राणियों का भय नहीं रहता है। आशा में वृद्धि होती है। उस स्त्री के पुत्र जीवित रहते हैं, वह उत्तम ऐश्वर्य वाली होती है तथा विधवा नहीं होती है। उसके बाद स्विष्टकृत आहुति देकर पूर्वोक्तानुसार शान्ति का जाप करके महाव्याहृतियों (भूः, भुवः, स्वः, महः इत्यादि) के द्वारा आहुति देवे। फिर देवताओं की अभ्यर्चना तथा विसर्जन करके, बलि देकर, अग्नि में जल के छींटे देकर शान्त हो जाये। फिर चुपचाप ब्राह्मण, साधु, पुत्रवान् तथा आयुष्मान् व्यक्तियों को अन्न, वस्त्र एवं दक्षिणा के द्वारा अभ्यर्चना करके बैठ जाये। उस सम्पूर्ण हवन के उपकरण आदियों को लेकर किसी चौराहे पर, जल (नदी आदि) में अथवा किसी क्षीरी वृक्ष पर रख दे। इस प्रकार उपर्युक्त विधि से प्रजावरण (बन्धन) बांधा जाता है। इसके द्वारा सन्तान उत्पन्न न हो ऐसा नहीं हो सकता—ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था अर्थात् इससे अवश्य सन्तान उत्पन्न होती है। इसके बाद सात रात्रि तक प्राजापत्य चरु (हव्यान्न) को दूध में श्रृत (पका) करके प्रजापति के लिये आहुति देवे। कुछ लोग कहते हैं कि इसमें गोघृत की आहुति देवे। तथा प्रजा (सन्तान) को चाहने वाले, पशुओं को चाहने वाले तथा आयु को चाहने वाले, व्यक्तियों को उपर्युक्त आहुतियां देनी चाहिये ॥ ८० ॥

इति प्रधानार्थमुदाहृतं परं
नृणां हितार्थं भिषजां यशस्करम् ।
अलङ्घनीयं हि रहस्यमुत्तमं
शुचिः प्रयुञ्जीत न तु प्रकाशयेत् ॥ ८१ ॥

यह उपर्युक्त वरणबन्ध का विधान मनुष्यों के हित के लिये प्रधानरूप से कहा गया है। तथा यह वैद्यों के लिये यश का

देने वाला है। इस उत्तम रहस्य का लङ्घन नहीं करना चाहिये। पवित्र होकर इसका प्रयोग करना चाहिये तथा इसे किसी दूसरे पर प्रकट नहीं करना चाहिये। अर्थात् इसे रहस्य के रूप में ही रखना चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति को यह रहस्य नहीं बताना चहिये ॥ ८१ ॥

इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ।

(इति कल्पस्थाने) रेवतीकल्पो नामाध्यायः ॥

ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था।

(इति कल्पस्थाने) रेवतीकल्पो नामाध्यायः ।

भोजनकल्पाध्यायः ।

अथातो भोजनकल्पं वक्ष्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् कश्यपः ॥ २ ॥

अब हम भोजन कल्पाध्याय का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था ॥ १-२ ॥

मारीचमासीनमृषिं पुराणं
हुताग्निहोत्रं ज्वलनार्कतुल्यम् ।
तपोदमाचारनिधिं महान्तं
पप्रच्छ शिष्यः स्थविरोऽनुकूलम् ॥ ३ ॥
किं लक्षणं भोः क्षुधितस्य जन्तोः
पिपासितस्याथ तथोभयस्य ।
भृशे च मन्दे च कथं नु विद्यात्
तृषाक्षुधे तत्र च किं हितं स्यात् ॥ ४ ॥
भोज्यानुपूर्वी च कथं हिता स्याद्
भक्तं क देशे परिपच्यते च ।
किं लक्षणं भुक्तवतो महात्मन् !
मन्दाशितात्याशितयोश्च कानि ॥ ५ ॥
गुणाश्च दोषाश्च हि तत्र के स्यु-
रत्युष्णशीताशनयोश्च के च ।
विपर्यये के च भवन्ति दोषाः
क्षुत्तृष्णयोर्भोजनपानयोगात् ॥ ६ ॥
(इति ताडपत्रपुस्तके १८५ तमं पत्रम्)
मण्डश्च केषां भवति प्रशस्तः
केषां प्रशस्तो भगवन्न मण्डः ।
मण्डस्य सम्यक् च निषेवितस्य
गुणाश्च दोषाश्च विपर्यये के ॥ ७ ॥
केषां यवागूरहिता हिता वा
कृताकृतौ चाप्यथ मुद्गमण्डौ ।
यूषश्च कस्मै विरसः प्रदिष्टः
समूलको वाऽथ सदाडिमो वा ॥ ८ ॥
सजाङ्गलो वा रसकौदनो वा
संभोजनस्नानमथो हितं क ।
इत्येवमुक्त्वा स बभूव जोषं
प्रजापतिर्वाक्यमथो बभाषे ॥ ९ ॥

अग्निहोत्र करके बैठे हुए, देदीप्यमान सूर्य की समान कान्ति वाले, तप, दम एवं आचार के निधि (कोश= खजाने), मरीचिपुत्र प्राचीन महर्षि कश्यप से ज्ञानी शिष्य वृद्धजीवक ने अनुकूल अवस्था में देखकर निम्न प्रश्न किये—

१. जिस व्यक्ति को भूख लगी है उसके क्या लक्षण है? २. प्यासे व्यक्ति के क्या लक्षण हैं? ३. इन दोनों के क्या लक्षण हैं? ४. पिपासा एवं क्षुधा के तीव्र एवं मन्द होने पर क्या लक्षण होते हैं? ५. उस अवस्था में क्या देना हितकर होता है? ६. भोजन के समय भोज्य पदार्थों का क्या क्रम होना चाहिये? ७. खाया हुआ भोजन किस स्थान में पचता है? ८. हे महात्मन्! भोजन किये हुए व्यक्ति के क्या लक्षण हैं? ९. मन्द अशित (अल्प भोजन किये हुए) तथा अत्यशित (अधिक भोजन किये हुए) के क्या लक्षण होते हैं? १०. अत्यन्त उष्ण तथा अत्यन्त शीत भोजन के गुण एवं दोष क्या हैं? ११. भोजन एवं पान के योग से क्षुधा एवं तृष्णा के विपर्यय (विपरीतावस्था) के क्या दोष हैं? १२. मण्ड किन्हें हितकर है तथा किन्हें नहीं? १३. सम्यक् प्रकार से सेवन किये हुए मण्ड के क्या गुण हैं? तथा असम्यक् प्रकार से सेवन किये हुए के क्या दोष हैं? १४. यवागू किन्हें अहितकर तथा किन्हें हितकर हैं? १५–कृत एवं अकृत यूष किन्हें हितकर एवं अहितकर हैं? १६–मुद्गमण्ड किन्हें हितकर तथा किन्हें अहितकर हैं? १७–विरस (मसाले आदि से रहित) तथा मूली एवं दाडिम युक्त यूष किनके लिये हितकर कहा गया है? १८–जांगल मांस रस तथा ओदन किनके लिये हितकर है? १९–भोजन तथा स्नान किनके लिये हितकर है? इस प्रकार प्रश्न करके वह शान्त हो गया। तब प्रजापति कश्यप ने उत्तर दिया ॥३–९॥

नासर्वविन्नो खलु मांसचक्षुः
प्रश्नानिमान् वक्तुमिहोत्सहेत ।

असर्ववित् (सब कुछ न जानने वाला–असर्वज्ञ) व्यक्ति केवल इन मांस चक्षुओं के द्वारा इन सब उपर्युक्त प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकता है। अर्थात् दिव्य चक्षुओं के द्वारा इनका उत्तर दिया जा सकता है, इसलिये सर्वसाधारण व्यक्ति इसका उत्तर नहीं दे सकता है।

उत्साहवर्णस्वरदृष्टिहानि-
विषादकार्श्यश्रमवाग्विकाराः ॥ १० ॥
भृशं च पीडा हृदयस्य जन्तो-
र्ग्लानिर्मुखस्यातिबुभुक्षितस्य ।

बुभुक्षित (भूखे) व्यक्ति के लक्षण-अत्यन्त भूखे व्यक्ति में उत्साह, वर्ण, स्वर तथा दृष्टि की कमी हो जाती है, शरीर में विषाद, कृशता तथा थकावट होती है, वाणी विकृत हो जाती है, रोगी के हृदय में अत्यन्त पीडा तथा मुख में ग्लानि होती है १०

ताल्वोष्ठजिह्वागलगण्डशोषः
श्रोत्राक्षिदौर्बल्यविषादमोहाः ॥ ११ ॥
स्मृत्यग्निमेधासुखवाक्यहानि-
र्जिह्वाविवृद्धिश्च पिपासितस्य ।

पिपासित (प्यासे) व्यक्ति के लक्षण—प्यासे व्यक्ति के तालु, ओष्ठ, जिह्वा, गला तथा गण्डप्रदेश सूख जाते हैं, कर्ण एवं नेत्र दुर्बल हो जाते हैं, विषाद एवं मोह होता है स्मृति-शक्ति, जाठराग्नि, मेधा एवं सुख (स्वास्थ्य) एवं वाणी शक्ति नष्ट हो जाते हैं तथा जिह्वा की वृद्धि हो जाती है ॥ ११ ॥

एतानि रूपाण्युभयानि विद्यात्
पिपासिते चैव बुभुक्षिते च ॥ १२ ॥
विशोषणं तत्र शिरोरुजार्ति-
र्मूत्रग्रहो भुक्तवतश्च भेदः ।
तत्रान्नपानानि यथोपजोषं
सात्म्यानि भोज्यानि वदन्ति तज्ज्ञाः ॥१३॥

प्यासे एवं भूखे दोनों व्यक्तियों में सामान्यरूप से शरीर का शोषण, शिरोरोग, मूत्रग्रह तथा भोजन करते ही मल का आ जाना-इत्यादि लक्षण होते हैं। इस अवस्था में विद्वान् लोग आवश्यकतानुसार सात्म्य अन्न पान का भोजन करने को कहते हैं ॥ १२-१३ ॥

तृष्णाबुभुक्षाभृशपीडिते तु
सकृत् कृतं पूरणमप्रशस्तम् ।
ओजो हि दग्धं ज्वलनानिलाभ्यां
पुनः पुनः शोषयते च पीतम् ॥ १४ ॥
लोहं यथा तप्तमपोनिषिक्तं
तत्रान्नपानस्य गतिः कथं स्यात् ।

तृष्णा (पिपासा) एवं बुभुक्षा (भूख) से अत्यन्त पीडित होने पर एक दम पेट भर के खाना या पीना प्रशस्त नहीं माना गया है। क्योंकि अग्नि एवं वायु के द्वारा जला हुआ ओज जो कुछ पिया जाता है उसे बार २ सुखा डालता है। उस अवस्था में अन्नपान की गति कैसे हो सकती है अर्थात् किसी प्रकार नहीं हो सकती है। एक गरम किये हुए लोहे को पानी में डुबो देने से उसकी जो अवस्था होती है वैसे ही इस व्यक्ति के अन्नपान की होती है ॥ १४ ॥

सकृत्प्रपीतस्य वदन्ति चैके
तृप्तिं प्रशस्तां भिषजोऽनुचिन्त्य ॥ १५ ॥
सकृत्प्रपीतस्य हि नश्यते क्षुद्
यथा पृथिव्याः सकृदाप्लुतायाः ।

कुछ वैद्य लोग विचार करके कहते हैं कि-प्यास लगने पर एक दम पानी पी लेने से पूर्णरूप से तृप्ति हो जाती है। परन्तु सहसा जल से आप्लुत हुई पृथ्वी के समान एक दम जल पीने से रोगी की भूख नष्ट हो जाती है ॥ १५ ॥

आदाय पित्तं पवनो ह्युदीर्ण-
ओजोदहां संजनयेद्धि तृष्णाम् ॥ १६ ॥
शिरोगतः स्थाननिरुद्धवेगो-
हृत्क्लोम संतापयते ततस्तृट् ।

अपने स्थान पर जिसका वेग रुक गया है ऐसा वायु शिर में पहुँचकर उदीर्ण हुआ पित्त को लेकर ओज को जलाने वाली प्यास उत्पन्न कर देता है। जिससे हृदय एवं क्लोम में सन्ताप उत्पन्न होता है तथा अन्त में प्यास लगती है ॥ १६ ॥

शूलारताध्मानगुदप्रकोप-
ज्वराङ्गदाहश्रममोहतृष्णाः ॥ १७ ॥
शय्यासनस्त्रीविषयेष्वभक्ति-
र्भवन्ति रूपाण्यपतर्पितस्य ।

अपतर्पित व्यक्ति के लक्षण—शूल, ग्लानि, आध्मान, गुद रोग का प्रकोप, ज्वर, अङ्गों में जलन, थकावट, मोह, तृष्णा, शय्या, आसन एवं मैथुन में इच्छा न होना ये अपतर्पित व्यक्ति के लक्षण होते हैं ॥ १६ ॥

आदातुमिच्छत्यपि यस्तु भूयो
मध्यस्थता चेद्भवतीप्सितेषु ॥ १८ ॥
तद्देशकालौ भजते च युक्त्या
मन्दाशितं तं प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ।

मन्द अशित (कम भोजन किये हुए) व्यक्ति के लक्षण-जो बार २ भोजन को ग्रहण करना चाहता हो, ईप्सित पदार्थों में मध्यस्थता हो, उस २ देश एवं काल का युक्ति-पूर्वक सेवन करता हो-उसे विद्वान् लोग मन्द अशित कहते हैं ॥ १८ ॥

अत्याशितानां वमनं प्रशस्तं
मन्दाशितानामशनं तु युक्त्या ॥ १९ ॥
कालं च देशं च वयो बलं च
समीक्ष्य चोपद्रवभेषजं च ।

अत्यशित तथा मन्द अशित का उपक्रम-काल, देश, अवस्था, बल, उपद्रव तथा औषध को दृष्टि में रखते हुए जिसने बहुत भोजन कर लिया हो उसे वमन कराना चाहिये तथा जो मन्द अशित है अर्थात् जिसने कम भोजन किया है उसे युक्तिपूर्वक भोजन कराना चाहिये ॥ १९ ॥

दृष्टिप्रसादो वचनप्रसिद्धिः
स्वरस्य गाम्भीर्यमदैन्यमूर्जाः ॥ २० ॥

इष्टेन्द्रियार्थेषु मनःप्रहर्षः
स्निग्धं मुखं भुक्तवतश्च विद्यात् ।

भुक्तवान (जिसने भोजन किया हुआ है) व्यक्ति के लक्षण—भोजन करने के बाद उसके नेत्र निर्मल हो जाते हैं, वचन (वाणी) में प्रसिद्धि होती है अर्थात् जो कुछ वह कहना चाहता है उसे कहने में समर्थ होता है, स्वर गंभीर एवं दीनतारहित हो जाता है तथा शरीर में ऊर्ज (बल) बढ़ता है, इन्द्रियों के इष्ट विषयों में मन प्रसन्न होता है तथा मुख स्निग्ध हो जाता है ॥ २० ॥

कान्तिर्बलस्मृतिमेधावयांसि
प्रमोदसत्त्वस्थितिरङ्गवृद्धिः ॥ २१ ॥
दृढेन्द्रियत्वं स्थिरताऽऽयुषश्च
सम्यग्गुणा भुक्तवतो नरस्य ।

सम्यक् प्रकार से भोजन किये हुए व्यक्ति के लक्षण-अच्छी प्रकार भोजन करने के बाद मनुष्य के शरीर में कान्ति, बल, स्मृति, मेधा वय, (अवस्था) की प्राप्ति होती है, प्रमोद, सत्त्वस्थिति (मनः स्थिति) तथा अङ्गों में वृद्धि होती है, इन्द्रियां दृढ होती हैं तथा आयु स्थिर होती है ॥ २१ ॥

भोज्यस्य कालं मुनयो बुभुक्षां
वदन्ति तृष्णामपि पानकालम् ॥ २२ ॥

मुनिगण बुभुक्षा (भूख-Appetite) को भोजन का काल तथा तृष्णा (प्यास) को पान (पानी पीने) का काल कहते हैं। अर्थात् जब भूख लगे तब भोजन तथा प्यास लगने पर पानी पीना चाहिये ॥ २२ ॥

भोज्यानुपूर्वी तु यथा हिता स्यात्
तां तु प्रवक्ष्यामि निबोध वत्स ! ।
तृष्णाक्षुधौ चेद्युगपद्भवेतां
तयोर्भिषक् तां प्रथमं चिकित्सेत् ॥ २३ ॥

भोजन में कौनसा द्रव्य पहले तथा कौनसे पीछे अर्थात् किस क्रम से खाना हितकर होता है-वह मैं बतलाता हूँ, हे वत्स ! इसे तुम सुनो—यदि प्यास और भूख दोनों इकट्ठी लगें तो वैद्य को इन दोनों में से प्रथम अर्थात् प्यास की पहले चिकित्सा करनी चाहिये ॥ २३ ॥

पूर्वं पिपासां शमयेद्विपश्चित्
त्रिभागसात्म्योचितपानयोगैः ।
ततोऽशनैः कुक्षितृतीयभागं
संपूरयेद्भागमथावशिष्यात् ॥ २४ ॥
एवं हि भुञ्जानमथो पिबन्तं
जितेन्द्रियं साहसवर्जिनं च ।
आरोग्यमायुर्बलमग्निदीप्तिः
प्रजा च मुख्या भजते सुखं च ॥ २५ ॥

बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिये कि त्रिभागसात्म्य की दृष्टि से उचित पेय पदार्थों के द्वारा पहले प्यास को शान्त करे अर्थात् कुक्षि के तृतीय (१/३) भाग को पानी (Liquid) से भर ले। इसके बाद कुक्षि के तृतीय (१/३) भाग को भोजन (अन्न-Solid diet) से पूर्ण करे। तथा एक भाग को अवशिष्ट रहने दे अर्थात् कुक्षि के एक भाग को वातादि दोषों की गति के लिये खाली रहने देना चाहिये जिससे वातादि दोषों की गति (Churning movements) के कारण भोजन सम्यक् प्रकार पच सके। इस प्रकार भोजन एवं जल (अन्न तथा पान) का सेवन करने वाले जितेन्द्रिय एवं साहस रहित व्यक्ति को आरोग्य, आयु, बल, अग्निदीप्ति, उत्तम सन्तान एवं सुख (स्वास्थ्य) की प्राप्ति होती है।

वक्तव्य—चरक वि. अ. २ में भी कुक्षि को उपर्युक्त चार प्रकार से ही अन्न एवं जल से पूर्ण करने को कहा है—'त्रिविधं कुक्षौ स्थापयेदवकाशांशमाहारस्याहारमुपयुञ्जानः, तद्यथा—एकमवकाशांशं मूर्तानामाहारविकाराणाम्, एकं द्रवाणाम्, एकं पुनर्वातपित्तश्लेष्मणाम्। एतावतीं ह्याहारमात्रामुपयुञ्जानो नामात्राहारजं किंचिदशुभं प्राप्नोति। उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों में यह क्रम त्रिभाग सौहित्य की दृष्टि से कहा है। अष्टाङ्गहृदय सू. अ. १० में यह क्रम अर्धसौहित्य की दृष्टि से दिया है—अन्नेन कुक्षेर्द्वावंशौ पानेनैकं प्रपूरयेत्। आश्रयं पवनादीनां चतुर्थमवशेषयेत् ॥ अर्थात् कुक्षि (आमाशय) के चार भाग करके उनमें से दो को अन्न (Solid matter) से, तथा एक को जल आदि पेय पदार्थों से भरे तथा चौथा भाग वायु आदि के लिये रिक्त रखना चाहिये ॥ २४-२५ ॥

बुभुक्षितो यस्तु पिबेत् पुरस्ता-
दश्नाति चान्नानि पिपासितः सन् ।
तस्याशु रोगाः प्रभवन्ति घोरा
विपर्ययादानभवा अपायाः ॥ २६ ॥
ज्वराङ्गदाहश्रमकार्श्यकुष्ठ-
च्छर्दिभ्रमानाहविसूचिकास्तृट् ।
यक्ष्मातिसारौ गलतालुशोषौ
देहेन्द्रियार्थेन्द्रियवर्णहानिः ॥ २७ ॥

जो व्यक्ति भूख की अवस्था में पानी पीता है तथा प्यास लगने पर अन्न (भोजन) खाता है, उसे इनके विपर्यय (विपरीत अवस्था) के कारण शीघ्र ही अपाययुक्त एवं भयंकर ज्वर, अङ्गदाह, श्रम, कृशता, कुष्ठ, छर्दि, भ्रम, आनाह, विसूचिका, तृषा, यक्ष्मा, अतिसार, गलशोष और तालुशोष आदि रोगों की प्राप्ति तथा शरीर, इन्द्रियों के विषय (शब्द स्पर्श आदि) तथा इन्द्रियों एवं वर्ण का नाश आदि शीघ्र ही हो जाते हैं ॥ २६-२७ ॥

प्रतान्तभोक्तुर्विषमाशिनश्च
तोयातिपस्यातिमहाशनस्य ।
विरोध्यजीर्णाधिविभोजनस्य
वह्निः प्रशाम्यत्यपि चान्नकाले ॥ २८ ॥

तस्माच्च पूर्वं न जलं पिबेयुः
स्नेहोपरिष्टांन्न न चातिभुक्त्वा ।
(इति ताडपत्रपुस्तके १८६ तमं पत्रम्) ।
पीतं हि सद्यः शमयत्युदर्यं
ततो ज्वराद्याः प्रभवन्ति रोगाः ॥ २६ ॥

बार २ भोजन करने वाले, विषम भोजन करने वाले, अधिक पानी पीने वाले, बहुत अधिक भोजन करने वाले, विरुद्ध भोजन करने वाले, अजीर्ण पर भोजन करने वाले, एवं अध्यशन करने वाले व्यक्ति की अग्नि अल्पकाल में शान्त हो जाती है। इस लिये भोजन से पूर्व जल नहीं पीना चाहिये। इसी प्रकार स्नेह के ऊपर तथा अधिक भोजन करने के बाद भी जल नहीं पीना चाहिये। इन अवस्थाओं में जल के पीने से जाठराग्नि शीघ्र ही शान्त (मन्द) हो जाती है तथा ज्वर आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं ॥ २८-२९ ॥

स्नेहं समाक्रम्य विचित्रभोज्यै
र्जलं पिबेन्मध्य इवा(हा)शनस्य ।
भुक्त्वाऽपि पित्तप्रकृतिः पिबेच्च
मात्रां च सर्वत्र हितं च सात्म्यम् ॥ ३० ॥
जिह्वौष्ठताल्वन्त्रगलोदरौजो
विदह्यते भुक्तफलं न वेत्ति ।
आनाहदुर्नामजलोदरासृग्-
वैसर्पतृष्णाक्षिशिरोरुजश्च ॥ ३१ ॥

पूर्व सेवन किये हुए स्नेह को नाना प्रकार के भोजनों के द्वारा आच्छादित करके भोजन के मध्य में जल पीना चाहिये। अर्थात् स्नेहपान के बाद यदि जल पीना हो तो कुछ अन्य स्नेहरहित पदार्थ खाकर बाद में जल पीना चाहिये। भोजन करने के बाद भी पित्तप्रकृति मनुष्य को मात्रा में हितकारी एवं सात्म्य जल का ही पान करना चाहिये अन्यथा जिह्वा, ओष्ठ, तालु, आंतें, गला, उदर तथा ओज का दहन हो जाता है, उसे भोजन का फल प्राप्त नहीं होता है तथा आनाह, दुर्नाम (अर्श), जलोदर, रक्तविकार, विसर्प (अथवा रक्त-विसर्प), तृष्णा, अक्षिरोग एवं शिरोरोग हो जाते हैं॥ ३०-३१ ॥

अत्युष्णपानान्ननिषेवणेन
रेतोऽसृगण्डोपचयश्च दुष्येत् ।
अग्निः क्षयं याति रसं न वेत्ति
श्लेष्मा च पित्तं च निचीयतेऽस्य ॥ ३२ ॥

अत्यन्त उष्ण अन्नपान के सेवन से वीर्य, आर्तव तथा बीज दूषित हो जाते हैं, जाठराग्नि क्षीण हो जाती है, रस का ज्ञान नहीं होता तथा उसके शरीर में कफ एवं पित्त का संचय हो जाता है ॥ ३२ ॥

शीतान्नपानातिनिषेवणात्तु
कफानिलारोचकशूलवाताः ।
हिक्काशिरोनेत्रगलग्रहाद्या
आलस्यविण्मूत्रगुरुत्ववृद्धिः ॥ ३३ ॥

अत्यन्त शीतल अन्न-पान के सेवन से कफ एवं वायु के रोग तथा अरुचि, वातशूल, हिक्का, शिरोग्रह, नेत्रग्रह, गलग्रह, आलस्य, मल, मूत्र एवं शरीर के भारीपन में वृद्धि हो जाती है। ॥ ३३ ॥

स्निग्धं च पूर्वं मधुरं च भोज्यं
मध्ये द्रवं शीतमथो विचित्रम् ।
तीक्ष्णोष्णरूक्षाणि लघूनि पश्चाद्
भोज्यानुपूर्वी खलु सात्म्यतश्च ॥ ३४ ॥

भोजन में सर्वप्रथम स्निग्ध एवं मधुर पदार्थों का सेवन करना चाहिये। भोजन के मध्य में शीतल द्रव्य पदार्थ एवं नाना प्रकार के व्यञ्जनों का प्रयोग करे तथा अन्त में तीक्ष्ण, उष्ण, रूक्ष एवं लघु पदार्थों का सेवन करना चाहिये अथवा अपने सात्म्य के अनुसार भोजन करना चाहिये। यह भोजन का क्रम बतलाया गया है ॥ ३४ ॥

यः पैत्तिकः क्षीणकफो निरोगो
मूर्च्छाश्रमात्यध्वनिपीडितश्च ।
अत्युष्णपानान्ननिषेवणाच्च
दृष्टिर्हता मद्यनिषेवणाच्च ॥ ३५ ॥
शुष्कं कफं ष्ठीवति यश्च कृच्छ्रात्
ष्ठीवंश्च यः क्लिश्यति निर्विकारः ।
क्लेशात् प्रसूते तृषिता च या स्त्री
क्षीणेन्द्रियो यश्च मदात्ययार्तः ॥ ३६ ॥
मन्दाशिनो योषिति जागरूकाः
संशोधनैर्ये मृदिताश्च मर्त्याः ।
दग्धाश्च वैसर्पविदाहिनश्च
कासेन कोपेन मदेन चार्ताः ॥ ३७ ॥
उद्भ्रामितः पूगफलेन यश्च
जग्धेन वा यो मदनेन मूढः ।
किंपाकभल्लातविषोपसृष्टाः
क्षौद्राशिनो ये गरपीडिताश्च ॥ ३८ ॥
मद्यं पयस्तक्रमथो दधीनि
येऽश्नन्ति वाराहमथापि मत्स्यान् ।
ताम्बूलपूगोन्मथिताश्च ये स्युः
कालोचिता यस्य भवेच्च तृष्णा ॥ ३९ ॥
एते तथाऽन्येऽपि च तद्विधा ये
तेषां जलं शीतमुशन्ति पथ्यम् ।
विष्टम्भतृष्णाग्निनिपीडिता ये
तथा लभन्ते बलसत्त्वपुष्टीः ॥ ४० ॥

किन्हें शीतल जल हितकर है ?—जो पित्त प्रकृति वाला है तथा जिसमें कफ की क्षीणता है, जो रोग रहित है, जो मूर्च्छा, श्रम तथा अत्यधिक मार्गगमन से पीड़ित है, अत्यन्त उष्ण अन्नपान तथा मद्य के सेवन से जिसकी दृष्टि नष्ट हो गई है अथवा क्षीण हो गई है, जो कष्टपूर्वक शुष्क कफ थूकता है तथा थूकते हुए विकाररहित होने पर भी जिसे कष्ट होता है। जिस स्त्री को कष्ट से प्रसव हो तथा जिसे प्यास लगी हो, जिस व्यक्ति की इन्द्रियां क्षीण हो गई हैं तथा मदात्यय रोग से पीड़ित हो, जो कम भोजन करता हो, जो स्त्रियों में जागरूक हो अर्थात् अधिक मैथुन आदि करता हो, जो व्यक्ति संशोधनों के कारण कमजोर हो गये हों, जो दग्ध हो गये हों, जो विसर्प, विदाह, कास, कोप एवं मद से पीड़ित हैं, जो पूगफल (सुपारी) के अधिक सेवन से उद्भ्रान्त हो गया हो, जो मदनफल के सेवन से मूढ़ हो गया हो, जो किंपाक (कुचले) तथा भिलावे के विष से पीड़ित हों, जो मधु का नित्य सेवन करते हों, जो गर (संयोगज विष) से पीड़ित हों, जो मद्य, दूध, तक्र, दही, सूअर का मांस तथा मछली का सेवन करते हों, पान एवं सुपारी का जो प्रतिदिन व्यवहार करते हों, जिसकी कालोचित तृष्णा हो तथा जो विष्टम्भ, तृष्णा एवं अग्नि से पीड़ित हों—इन उपर्युक्त तथा अन्य भी इसी प्रकार के व्यक्तियों के लिये शीतल जल पथ्य माना गया है। इससे उनका बल एवं सत्त्व (मन) पुष्ट होता है ॥३५-४०॥

कौरुक्षेत्राः कुरवो नैमिषेयाः
पाञ्चालमाणीचरकौसलेयाः ।
हारीतपादाश्चरशौरसेना-
मत्स्या दशार्णाः शिशिराद्रिजाश्च ॥ ४१ ॥
सारस्वताः सिन्धुसौवीरकाख्या
ये चान्तरे स्युर्मनुजाः कुरूणाम् ।
उदग्विपाट्सिन्धुवसातिजाश्च
काश्मीरचीनापरचीनखश्याः ॥ ४२ ॥
बाह्लीकदाशेरकशातसाराः
सरामणा ये च परेण तेषाम् ।
एषामवक्षार्यशनादिरुक्ता
सात्म्योचितत्वाद्भिषजा विधेया ॥ ४३ ॥
सा ह्यस्य तृष्णां शमयत्युदीर्णां
बलं च पुष्टिं च रुचिं च धत्ते ।
वातानुलोम्यं प्रकृतिस्थतां च
विण्मूत्रदेहेन्द्रियजां करोति ॥ ४४ ॥
संतर्पयत्याशु च तेन सेभ्यो
हिता मता सात्म्यगुणेन चैव ।

कुरुक्षेत्र के रहने वाले, कुरु एवं निमिष के निवासी तथा पाञ्चाल, माणीचर, कौसल, हारीतपाद, चर, शूरसेन, मत्स्य, दशार्ण, शिशिराद्रि के रहने वाले, सारस्वत, सिन्धु, सौवीरक, तथा कुरुओं के मध्य में रहने वाले मनुष्य, उदग्, विपाट्, सिन्धु, वसातिज, काश्मीर, चीन, अपरचीन तथा खस के निवासी, बाह्लीक, दासेरक, शातसार तथा रामण देश के निवासियों के लिये सात्म्य होने के कारण वैद्यों ने क्षाररहित भोजन का विधान बताया है। इससे उनकी उदीर्ण हुई पिपासा शान्त होती है तथा बल, पुष्टि एवं अन्न में रुचि बढ़ती है। वायु की गति अनुलोम हो जाती है तथा मल, मूत्र और देह की सम्पूर्ण इन्द्रियां प्रकृतिस्थ हो जाती हैं। इसके द्वारा उस व्यक्ति का शीघ्र ही सन्तर्पण हो जाता है। सात्म्य गुण के कारण यह इनके लिये हितकर माना गया है ॥ ४१-४४ ॥

पात्रेषु हृद्येषु सुपुष्पवत्सु
भुञ्जीत देशे च मनोऽनुकूले ॥ ४५ ॥
तक्रं शुक्तं दधि मस्तुर्गुडं च
द्राक्षा मुख्याः सुकृताः शक्तवश्च ।
शीतं हितं दाडिमवारि चार्यं
स्यात् सैन्धवं भूस्तृणपल्लवाश्च ॥ ४६ ॥
तानि त्रिवृद्वासककारवृन्ताद्-
रसः कुठेरादिसमातुलुङ्गात् ।
स्यादार्द्रकयुताः शक्तवश्च
सर्पिर्वरिष्ठं लघवः षाडवाश्च ॥ ४७ ॥
भक्ष्याश्च मुख्या लघवः सुपक्वाः
सूपा रागाः पानकं मद्ययोगाः ।
अतो गणाद्युक्तिमवेक्ष्य कुर्यात्
सात्म्यादवक्षारिमथो विधिज्ञः ॥ ४८ ॥

हृदय को अच्छे लगने वाले तथा पुष्प युक्त पात्रों में मन के अनुकूल स्थान में बैठकर उन्हें तक्र, शुक्त, दधिमस्तु, गुड़ (गुड़ के बने पदार्थ), द्राक्षा, अच्छी प्रकार बनाये हुए पदार्थ, सत्तू, शीतल एवं श्रेष्ठ अनार का रस, सैन्धव, भूस्तृणके पल्लव (कोमल पत्ते) तथा त्रिवृत्, बांसा, करेला, कुठेर एवं मातुलुङ्ग (बिजौरे) का रस, आर्द्रक स्वरस सहित सत्तू, उत्तम घृत तथा लघु षाडव (मधुर अम्ल) आदि पानक विशेष, लघु एवं सुपक्व प्रधान भक्ष्य पदार्थ, सूप (दाल), राग (अचार आदि), पानक तथा मद्य के प्रयोग—इत्यादि उपर्युक्त गण में से विधि को जानने वाला वैद्य सात्म्य के अनुसार द्रव्यों का प्रयोग करे। यह अवक्षारि (क्षाररहित) भोजन कहा गया है ॥ ४५-४८ ॥

काशीन्सपुण्ड्राङ्गकवङ्गकाचान्
ससा(ग)रानानूपकतौ(कौ)सलेयान् ।
पूर्वं समुद्रं च समाश्रिता ये
किरातदेश्यानपि पूर्वशैलान् ॥ ४९ ॥
शाकैः समत्स्यामिषशालितैलै-
र्द्रव्यैश्च तीक्ष्णैः समुपक्रमेत ।

कफो हि तेषां निचितः स्वभावा-
द्विलीयमानः कृशतां करोति ॥ ५० ॥

इसके अतिरिक्त काशी, पुण्ड्र, अङ्गक, बङ्ग, काच के रहने वाले सागरपर्यन्त एवं आनूप प्रदेश के कौसलवासी तथा पूर्व समुद्र के किनारे रहने वालों तथा पूर्वीय पर्वत के किरात देश के निवासियों को मछली का मांस, शालिचावल एवं तैलयुक्त शाक तथा अन्य तीक्ष्ण द्रव्य देने चाहिये। इनमें सञ्चित हुआ कफ स्वभाव से विलीन होता (पिघलता) हुआ शरीर में कृशता उत्पन्न कर देता है ॥ ४९-५० ॥

कलिङ्गकान् पट्टनवासिनश्च
सदक्षिणान् वाऽपि च नार्मदेयान् ।
उच्चावचद्रव्यगुणान्विताभिः
पेयाभिरेतान् समुपक्रमेत ॥ ५१ ॥
(इति ताडपत्रपुस्तके १८७ तमं पत्रम्)
तैलानि कङ्ग्वाढकीयावकाश्च
मूलानि कन्दाश्चणकाः कलायाः ।
एतानि सात्म्यानि भवन्ति तेषां
पेयास्तथोष्णाः परिसिद्धिकाश्च[1] ॥ ५२ ॥

कलिङ्ग, पट्टन, दक्षिण तथा नर्मदा नदी के किनारे रहने वाले व्यक्तियों को नाना प्रकार के द्रव्यों के गुणों से युक्त पेयाओं का प्रयोग कराना चाहिये। इन लोगों को कङ्गु (प्रियङ्गु), आढकी (अरहर) तथा यावक (कुलथी) के तैल, मूल, कन्द, चने तथा मटर एवं पेया और उष्ण परिसिद्धिका (मण्ड विशेष) आदि सात्म्य होते हैं ॥ ५१-५२ ॥

पेया हि सिद्धा सह दाडिमेन
तक्रेण चुक्रेण जलेन चोष्णा ।
ससैन्धवा चाशु विहन्ति तृष्णां
कालोपपन्ना मरिचार्द्रकाभ्याम् ॥ ५३ ॥

अनारदाना, तक्र, चुक्र (सिरका) तथा उष्ण जल से सिद्ध की हुई पेया में सैन्धव, मरिच तथा आर्द्रक डालकर योग्य काल में प्रयोग कराने से तृष्णा शान्त हो जाती है ॥५३॥

पित्तात्मनः सर्पिषि संस्कृता वा
क्षीरोदके शर्करयाऽन्विता वा ।
ज्वरातिसारश्रममोहकासान्
हिक्कां च तृष्णां च हिनस्ति पेया ॥ ५४ ॥

पित्त प्रकृति वाले मनुष्य को घृत में संस्कृत की हुई अथवा क्षीरोदक में सिद्ध की हुई पेया में शर्करा मिलाकर प्रयोग करने से ज्वर, अतिसार, श्रम, मोह, कास, हिक्का तथा तृष्णा नष्ट हो जाती है ॥ ५४ ॥

यद्यस्य सात्म्यं च हितं च भोज्यं
शरीरदेशप्रकृतौ स्थितं च ।
तत्तस्य वैद्यो विदधीत नित्यं
काले च हृद्यं लघु मात्रया च ॥ ५५ ॥

शरीर, देश एवं प्रकृति के अनुसार जिसके लिये जो भोजन सात्म्य तथा हितकर हो, वैद्य को चाहिये कि वह उसको नित्य योग्य समय एवं मात्रा में हृदय को अच्छा लगने वाला तथा लघु भोजन देवे ॥ ५५ ॥

स्तनस्य वामस्य भवत्यधस्ता-
दामाशयस्तत्र विपच्यतेऽन्नम् ।
धातूरसः प्रीणयते विसर्पन्
किट्टान्मलानां प्रभवोऽखिलानाम् ॥ ५६ ॥

वाम (बांये) स्तन के नीचे आमाशय (Stomach) होता है जिसमें अन्न का पाक होता है वहां से सम्पूर्ण शरीर में विसर्पण (गति) करता हुआ रस धातुओं को तृप्त करता है तथा किट्ट के द्वारा सारे मलों की उत्पत्ति होती है ॥ ५६ ॥

दीप्ताग्नयो वर्णबलार्थिनश्च
व्यायामनित्या बहुभाषिणश्च ।
स्त्रीषु प्रसक्ताः क्षयिणो विनिद्रा-
रोगैर्विमुक्ताः कृशदुर्बलाश्च ॥ ५७ ॥
विशुष्कविण्मूत्रकफाध्वखिन्ना-
निपीड्यमाना विषमज्वरैश्च ।
एते नरा मांसरसं पिबेयुः
प्राग्भोजनाद्वातविकारिणश्च ॥ ५८ ॥

मांसरस का सेवन किन्हें करना चाहिये—जिनकी जाठराग्नि दीप्त है, जो वर्ण एवं बल को चाहते हैं, जो नित्य व्यायाम करते हैं, जो बहुत बोलते हैं (अधिक बोलने का कार्य करते हैं), जो नित्य स्त्री-भोग आदि करते हैं, जिन्हें क्षय रोग है, जिन्हें नींद नहीं आती है, जो रोगों से युक्त हैं परन्तु कृश तथा दुर्बल हैं, जो शुष्क हैं, जो मल, मूत्र, कफ एवं अध्व (मार्गगमन) से खिन्न हुए हैं, जो विषम ज्वर से पीडित हैं तथा जिन्हें वायु के विकार हुए हैं—उन व्यक्तियों को भोजन से पूर्व मांसरस पिलाना चाहिये ॥ ५७-५८ ॥

प्रक्लिन्नकाया गलवक्त्ररोगै-
रार्ताः क्षताः पित्तकफार्दिताश्च ।
ज्वरातिसारग्रहशोकनिद्रा-
प्रमेहपाण्ड्वामयकामलार्ताः ॥ ५९ ॥
त्रिषान्विताश्चापि मदान्विता वा
ये चोपसृष्टा विविधैर्गरैर्वा ।
छर्द्यूरुविष्कम्भविकारिणश्च
नैते नरा मांसरसं पिबेयुः ॥ ६० ॥

मांसरस का किन्हें सेवन नहीं करना चाहिये—जिनका शरीर क्लिन्न है, जो गले तथा मुख के रोगों से पीड़ित हैं,

१. परिसिद्धिका मण्डविशेषः ।

जिन्हें वात एवं पित्त तथा कफ के रोग हैं, जिन्हें ज्वर, अतिसार, ग्रह रोग, शोक, अधिक निद्रा, प्रमेह, पाण्डु एवं कामला रोग हैं, जो विष, मद एवं अनेक प्रकार के संयोगज विषों से पीडित हैं, जिन्हें वमन तथा ऊरुस्तम्भ रोग हैं— उन्हें मांसरस का सेवन नहीं करना चाहिये ॥ ५९-६० ॥

तक्रं तु तेषां भवति प्रशस्तं
सत्सैन्धवं शर्करयाऽन्वितं वा ।
सौवर्चलेनाथ विडेन युक्तं
मध्येऽपि चान्तेऽपि सनावनीतम् ॥ ६१ ॥

इन व्यक्तियों के लिये भोजन के मध्य तथा अन्त में भी सैन्धव, शर्करा, सौवर्चल नमक, विड्नमक एवं मक्खनयुक्त तक्र प्रशस्त मानी गई है ॥ ६१ ॥

तक्रं हि सद्यो मथितं सुगन्धि
रुचिं बलं पुष्टिमथो दधाति ।
अम्लोष्णवैशद्यलघु स्वरो(?) वा
निषेव्यमाणं ज्वलयत्युदर्यम् ॥ ६२ ॥

ताजा मथा हुआ एवं सुगन्धित तक्र (मठा) रुचि, बल एवं पुष्टि को बढ़ाता है। यह अम्ल, उष्ण, विशदता करने वाला, लघु तथा स्वर को बढ़ाने वाला है। इसके सेवन करने से यह जाठराग्नि को प्रदीप्त करता है ॥ ६२ ॥

वान्ते विरिक्ते ज्वरिते विशुष्के
महोपवासश्रमपीडिते च ।
तृष्णातिसारोरुगदोपतप्ते
वैसर्पपित्तामयघर्मिते च ॥ ६३ ॥
संसृष्टरोगेषु महाशनेषु
विदह्यमानेषु जलोदरेषु ।
सद्यःप्रसूतास्वपि चाङ्गनासु
मण्डं विदध्यादपि कामलासु ॥ ६४ ॥

मण्ड का प्रयोग किन्हें कराना चाहिये ?—वमन एवं विरेचन कराने के बाद ज्वर में रोगी के ज्वर से शुष्क होने पर, दीर्घ उपवास एवं परिश्रम से पीड़ित होने पर, तृष्णा, अतिसार, ऊरुस्तम्भ, विसर्प, पैत्तिक रोग तथा धूप से पीड़ित व्यक्ति के संसृष्ट दोषों से उत्पन्न रोगों में, बहुत अधिक भोजन करने वालों को, जिनके शरीर के अन्दर विदाह हो रहा हो, जिन्हें जलोदर रोग हो तथा सद्यः प्रसूता स्त्रियों एवं कामला रोग में मण्ड का प्रयोग कराना चाहिये ॥ ६३-६४ ॥

आमातिसारज्वरयोर्विबन्धे
कफोद्भवे श्वासगलामयेषु ।
हिक्कोपजिह्वागलशुण्डिकासु
कासेऽक्षिरोगे शिरसो गुरुत्वे ॥ ६५ ॥
छर्दिश्रमोन्मादविसूचिकासु
योन्यामये प्लीह्नि च पीनसे च ।
गुल्मेषु हृद्रोगहलीमकेषु
वातप्रकोपेष्वथ केवलेषु ॥ ६६ ॥
धात्र्याः प्रवृद्धे पयसि प्रदुष्टे
बालस्य निद्राकफवातवृद्धौ ।
मूत्राभिवृद्धौ हृदयद्रवे च
निष्ठीविकालस्यविषादकेषु ॥ ६७ ॥
छर्देषु सर्वेषु तथा ग्रहेषु
पृष्ठग्रहे यक्ष्मणि हृद्रदे च ।
चिन्ताश्रमोन्मादमदोपतापे
मण्डं भिषङ्नोपदिशेद्विपश्चित् ॥ ६८ ॥

मण्ड का प्रयोग किन्हें नहीं कराना चाहिये ?—आमातिसार, ज्वर, विबन्ध, कफ से उत्पन्न श्वास एवं गलरोग, हिक्का, उपजिह्वा (Ranula), गलशुण्डिका (Enlarged uvula), कास, अक्षिरोग, सिर का भारीपन, वमन, श्रम, उन्माद, विसूचिका, योनि रोग, प्लीहा रोग, पीनस (प्रतिश्याय), गुल्म, हृद्रोग, हलीमक, शुद्ध वायु के प्रकोप, धात्री के प्रवृद्ध हुए दूध के दूषित होने, बालक के निद्राधिक्य तथा कफ एवं वायु की वृद्धि, मूत्रवृद्धि, हृदयद्रव (Palpitation of Heart), निष्ठीविका (थूक का बहुत आना), आलस्य, विषाद, छर्दिरोग, पृष्ठग्रह, यक्ष्मा, हृद्रोग तथा चिन्ता, श्रम, उन्माद एवं मद से पीड़ित अवस्था में विद्वान् वैद्य को मण्ड का प्रयोग नहीं कराना चाहिये ॥ ६५-६८ ॥

मण्डो हि पीतः कफिना गदे वा
कफात्मके वर्धयते कफस्तान् ।
सोऽस्याग्निमुत्साद्य गदान् पुनस्तान्
प्रकोपयन् कष्टतरान् करोति ॥ ६९ ॥

यदि कफ प्रकृतिवाला मनुष्य कफरोगों में मण्ड का सेवन करता है तो इससे उसके शरीर में कफ की वृद्धि होती है। जिससे उसकी जाठराग्नि मन्द हो जाती है तथा वे ही (कफ के) रोग पुनः प्रकुपित होकर कष्टसाध्य हो जाते हैं ॥ ६९ ॥

तस्मात्तु तेषां कफिनां नराणां
न मण्डमाहुर्भिषजः प्रशस्तम् ।
स्यान्मुद्गमण्डोदक एव तेषां
ससैन्धवव्योषयुतः सुखाय ॥ ७० ॥

इसलिये कफ प्रकृतिवाले मनुष्यों को मण्ड का प्रयोग कराना वैद्य प्रशस्त नहीं मानते हैं। इन व्यक्तियों के लिये सैन्धव तथा त्रिकटु मिश्रित मुद्गमण्डोदक ही सुखकारी माना गया है ॥ ७० ॥

कषायतिक्तः कटुपाकिभावात्
कफं निहन्त्याशु हि मुद्गमण्डः ।

तस्मात् कृशं रोगविमुक्तदेहं
दीप्तानलं वा सविलम्बिरोगम् ॥ ७१ ॥
व्यायामिनं वा बलिनं सरोगं
यश्चोचितो गोरसमांसमत्स्यैः ।
संयोजयेत्तं विरसेन यूष्णा
सास्रेण वा गोरससाधितेन ॥ ७२ ॥

मुद्गमण्ड—रस में कषाय एवं तिक्त तथा विपाक में कटु होने के कारण शीघ्र ही कफ को नष्ट कर देता है। इस लिये जो कृश हैं, जिसका शरीर रोग से मुक्त हो गया है, जिसकी जाठराग्नि प्रदीप्त है, जिसे विलम्बिका रोग हुआ है, जो नित्य व्यायाम करता है, बलवान है तथा रोगयुक्त है, जिसे गोरस (गोदुग्ध), मांस, एवं मछली सात्म्य हैं—ऐसे व्यक्ति को मसालों से रहित तथा रक्त अथवा दूध से सिद्ध किया हुआ यूष देना चाहिये ॥

वक्तव्य—विलम्बिका रोग-यह विसूचिका का ही एक भेद है। माधवनिदान में इसके लिये कहा है—दुष्टं च भुक्तं कफमारुताभ्यां प्रवर्तते नोर्ध्वमधश्च यस्य । विलम्बिकां तां भृशदुश्चिकित्स्यामाचक्षते शास्त्रविदः पुराणाः ॥ ७१-७२ ॥

त्रिःप्रस्रुतो दीपनतोयसिद्धः
स्यात्तण्डुलैः संपरिभृष्टकैर्वा ।
मुद्गैर्यवैश्चापि तथैव लाजै-
रुष्णः सुगन्धिर्विशदेन पीतः ॥ ७३ ॥
(इति ताडपत्रपुस्तके १८८ तमं पत्रम् ।)
मण्डः क्षणेनास्य बलं दधाति
व्याधिस्तथा मार्दवमभ्युपैति ।
सर्वेन्द्रियाणि प्रकृतिं भजन्ते
भोज्यानुपूर्वी च तथा कृता स्यात् ॥ ७४ ॥

तीन वार प्रस्रुत किये हुए तथा दीपनीय जल से सिद्ध किये हुए भुने हुए तण्डुल (चावल), मुद्ग, यव तथा लाजा (चावलों की खील) के बने हुए उष्ण सुगन्धि एवं विशद मण्ड के पीने से क्षण भर में बल की प्राप्ति हो जाती है, रोग मृदु (मन्द) हो जाता है तथा सम्पूर्ण इन्द्रियां प्रकृतिस्थ हो जाती हैं। इस प्रकार भोजन का क्रम होता है ॥ ७३-७४ ॥

मण्डं यथोक्तं पिबतो गुणास्ते
विपर्यये चापि विपर्ययः स्यात् ।
य एव मण्डस्य भवन्ति योग्या ········॥ ७५ ॥

यथोक्त मण्ड को पीने से उपर्युक्त गुण होते हैं। इसके विपरीत होने से गुणों में भी विपर्यय हो जाता है। जो व्यक्ति मण्ड के योग्य होते हैं (वे ही यवागू के भी योग्य होते हैं)॥७५॥

लघ्वी यवागूर्न विदह्यते च
दोषानुलोम्यं विदधाति चोष्णा ।
पित्तं च माधुर्यगुणेन हन्ति
भोज्यानुपूर्वी क्रमशश्च युङ्क्ते ॥ ७६ ॥

यवागू लघु होने के कारण शरीर में दाह उत्पन्न नहीं करती है तथा इसका उष्ण अवस्था में प्रयोग करने से यह दोषों का अनुलोमन करती है। माधुर्य गुण के कारण यह पित्त को नष्ट करती है तथा क्रमशः भोजन के क्रम से युक्त होती है॥

सदाडिमा वातकफार्दितस्य,
सशर्करा पित्तकफान्वितस्य ।
रसेन वा जाङ्गलकेन सिद्धा
सगोरसा वा सह दाडिमैर्वा ॥ ७७ ॥
हितां नृणां मारुतपीडितानां
गुल्मे तथा प्लीह्नि च पीनसे च ।
सभोजनस्नानविहारयान-
व्यायामसंभाषणगीतपथ्याम् ॥ ७८ ॥

भिन्न २ अनुपान से यवागू सेवन-वात एवं कफ से पीडित रोगी में दाडिम, पित्त एवं कफ से पीडित में शर्करा तथा वात से पीडित और गुल्म, प्लीहा एवं पीनस रोगों में तथा भोजन, स्नान, विहार, यान, व्यायाम, संभाषण तथा गीत (गाना) जिन्हें हितकर है—उनमें भी जांगल मांसरस से सिद्ध की हुई अथवा गोरस (दूध) से सिद्ध करके अनारदाना पड़ी हुई पेया का प्रयोग कराना चाहिये। स्वस्थ अवस्था में भी रोग के निवृत्त हो जाने पर तथा अग्नि के मन्द होने पर इसे हितकारी माना गया है ॥ ७७-७८ ॥

तत्स्वस्थवृत्तौ च हितां वदन्ति
रोगे निवृत्ते ज्वलने च मन्दे ।
रोगे निवृत्ते ज्वलने च दीप्ते
रोगैर्विमुक्ताः कृशदुर्बलाश्च ॥ ७९ ॥
क्षीणेन्द्रिया वर्णबलाग्निहीना-
वातार्दिताः पित्तनिपीडिताश्च ।
ज्वरातिसारोदरपायुरोग-
चिन्तेष्यपानाध्वगरोगतप्ताः ॥ ८० ॥
कासेन शस्त्रेण विषेण चैव
निपीडिताः शोकहताश्च नित्यम् ।
व्यायामगेयाध्ययनश्रमार्ता-
धूमाग्निवातातपजागरार्ताः ॥ ८१ ॥
विदह्यमानाक्षिगलास्यनासा-
विषीदमानाः स्मृतिबुद्धिहीनाः ।
आनाहिनः शुष्कपुरीषमूत्रा-
भगन्दरार्शोग्रहकुण्डलार्ताः ॥ ८२ ॥
निष्पिष्टभग्नच्युतपी(डि)ताङ्गे
शुद्धव्रणे मांसविवर्जिते च ।

जीर्णज्वरान्येद्युतृतीयकेषु
नित्यज्वरे चापि चतुर्थके च ॥ ८३ ॥
रक्षःपिशाचोरगभूतयक्ष-
क्षुद्वज्रतृष्णाग्निहिमाहताश्च ।
स्त्रीबालपुत्राल्पविशुष्कदुग्धा-
गर्भश्च यस्या न विवर्धते च ॥ ८४ ॥
नाप्यायते यः स्तनपश्च बालो
जागर्ति नित्यं भृशरोदनश्च ।
चक्षुर्हतिर्यस्य च तीक्ष्णनस्यै-
र्विशोषणैर्वा प्रतिकर्मणा वा ॥ ८५ ॥

दूध का प्रयोग किन्हें कराना चाहिये—रोग के निवृत्त होकर अग्नि के प्रदीप्त हो जाने पर तथा जो व्यक्ति रोगमुक्त हैं परन्तु कृश तथा दुर्बल हैं, जिनकी इन्द्रियां क्षीण हैं, वर्ण, बल तथा अग्नि जिनकी नष्ट हो गई है, जो वात तथा पित्त से पीडित हैं, एवं ज्वर, अतिसार, उदररोग, गुदरोग, चिन्ता, ईर्ष्या, पान (मद्यपान) एवं मार्गगमन के कारण जो रोगग्रस्त हैं, जो नित्य कास, शस्त्र, विष तथा शोक से पीडित हैं, व्यायाम, गीत तथा अध्ययन के श्रम से जो युक्त हैं; धूम, अग्नि, वायु, आतप (धूप) तथा जागरण के कारण जो पीडित हैं, जिसके चक्षु, गला, मुख तथा नासिका में विदाह हो जाता हो, जिन्हें विषाद हो तथा जो स्मृति एवं बुद्धि से हीन हों, जिन्हें आनाह रोग हो, जिनका मल एवं मूत्र शुष्क हो, भगन्दर, अर्श, ग्रह एवं वातकुण्डल रोग से जो पीडित हैं, जिनका शरीर निष्पिष्ट (Lacirated), भग्न (Fracture) तथा च्युत (Dislocation) के कारण पीडित हो जिनका व्रण शुद्ध हो, जो मांस से रहित हों अर्थात् जिनके शरीर में मांस की कमी हो तथा जीर्णज्वर, अन्येद्युष्क, तृतीयक, नित्यज्वर तथा चातुर्थिक ज्वर में एवं जो राक्षस, पिशाच, सांप, भूत, यक्ष, क्षुधा, वज्र, तृष्णा, अग्नि तथा हिम से आहत हों, जो स्त्री अथवा बालक हों जिनके पुत्र अल्प हों तथा जिनका दूध सूख गया है, जिनका गर्भ वृद्धि को प्राप्त नहीं होता है, जो दूध पीने वाला बालक दूध से तृप्त नहीं होता है, जो नित्य जागता रहता है तथा अत्यन्त रोता है, तीक्ष्ण नस्यों, शोषणकारक द्रव्यों अथवा चिकित्सा के द्वारा जिसको नेत्ररोग हो गया हो तथा जो व्यक्ति विरेचन के योग्य हैं—इन सबोंको शृत किये हुए दूध का प्रयोग करना चाहिये।

वक्तव्य—शुद्धव्रण का सुश्रुत सू. अ. २३ में निम्न लक्षण दिया है—त्रिभिर्दोषैरनाक्रान्तः श्यावौष्ठः पिडकी समः। अवेदनो निरास्रावो व्रणः शुद्ध इहोच्यते ॥ अर्थात् जो व्रण तीनों दोषों से रहित हैं, जिसके किनारे (Edges) श्याव रंग के हैं, जिसमें सूक्ष्म पिडकाएँ (मांसांकुर–Granulations) हैं, जिसका तल सम है, जिसमें वेदना और स्राव अत्यन्त थोड़ा होता है—वह शुद्ध व्रण कहलाता है ॥ ७९–८५ ॥

एते शृतं क्षीरमथाभ्यसेयु-
रलं शृतं यस्तु विरेचनीयः ।
क्षीरं हि सद्यो बलमादधाति
दृढीकरोत्याशु तथेन्द्रियाणि ॥ ८६ ॥
मेधायुरारोग्यसुखानि धत्ते
रसायनं चापि वदन्ति मुख्यम् ।
पुष्टिर्दृढत्वं लभते च गर्भो
बन्ध्या च षण्ढश्च जरंश्च सूते ॥ ८७ ॥
पायुं पयः शोधयतेऽनुलोमं
करोति वातं लघुतां नराणाम् ।
तस्माच्च सर्वेषु रसायनेषु
रोगस्य चान्ते प्रवदन्ति दुग्धम् ॥ ८८ ॥

दूध शीघ्र ही शरीर में बल को बढ़ाता है, इन्द्रियों को दृढ़ करता है, मेधा, आयु, आरोग्य एवं सुख को करता है तथा यह प्रधान रसायन माना जाता है। इससे गर्भ पुष्ट एवं दृढ़ होता है। इससे बन्ध्या, नपुंसक एवं वृद्ध स्त्री के भी सन्तान हो जाती है। दूध गुदा का शोधन करता है, वायु को अनुलोम करता है तथा मनुष्यों के शरीर में लघुता उत्पन्न करता है इसलिये सम्पूर्ण रसायनों तथा रोग के अन्त में दूध को श्रेष्ठ माना गया है ॥ ८६–८८ ॥

क्षीरं सात्म्यं, क्षीरमाहुः पवित्रं,
क्षीरं मङ्गल्यं, क्षीरमायुष्यमुक्तम् ।
क्षीरं वर्ण्यं, क्षीरमाहुश्च केश्यं,
क्षीरं सन्धानं क्षीरमाहुर्वयस्यम् ॥ ८९ ॥

दूध शरीर के लिये सात्म्य होता है, यह पवित्र करने वाला, मङ्गलकारक, आयुष्यकारक, वर्ण्य, केश्य, सन्धान कारक (टूटे हुए अंगों को जोड़ने वाला) तथा वयःस्थापक है ॥ ८९ ॥

क्षीरं सर्वेषां देहिनां चानुशेते,
क्षीरं पिबन्तं च न रोग एति ।
क्षीरात् परं नान्यदिहास्ति वृष्यं,
क्षीरात् परं नास्ति च जीवनीयम् ॥ ९० ॥

दूध सम्पूर्ण प्राणियों के लिये अनुकूल होता है, दूध पीने वाले व्यक्ति को रोग नहीं होते हैं, दूध से बढ़कर कोई भी वृष्य (वाजीकरण) द्रव्य नहीं है तथा जीवनीय द्रव्यों में भी दूध से बढ़कर कोई द्रव्य नहीं है ॥ ९० ॥

शैत्यात् पयो वर्धयतेऽनिलं प्राक्
पित्तात्मनस्तेन भिनत्ति वर्चः ।
ईषच्च शूलं कुरुते गुरुत्वात्
स्नेहाद्विपाके शमयत्युभे द्वे ॥ ९१ ॥

दूध शीतल होने से प्रारम्भ में शरीर में वायु की वृद्धि करता है पित्त प्रकृति वाले व्यक्ति को इससे विरेचन हो जाता है तथा गुरु होने से यह थोड़ा शूल उत्पन्न कर देता है परन्तु

विपाक में स्निग्ध होने से यह दोनों (वायु तथा पित्त) को शान्त कर देता है ॥ ९१ ॥

माधुर्यतो वर्धयते शरीरं
प्रसादयत्याशु तथेन्द्रियाणि ।
स्थैर्यं पयः सान्द्रतया करोति
पैच्छिल्यतः शोधयतेऽन्तराणि ॥ ९२ ॥

मधुर होने से दूध शरीर की वृद्धि करता है और इन्द्रियों को प्रसन्न करता है। तथा सान्द्र होने के कारण शरीर में स्थिरता उत्पन्न करता है एवं पिच्छिल होने के कारण शरीर के आन्तरावयवों का शोधन करता है ॥ ९२ ॥

विष्टभ्यते चापि कषायभावाद्-
वातात्मनस्तेन करोति शूलम् ।
स्नेहाच्च माधुर्यगुणाच्च शूलं
पयो नियच्छत्यनुजीर्यमाणम् ॥ ९३ ॥

कषाय होने से यह शरीर में विष्टम्भ उत्पन्न करता है तथा वातप्रकृति वाले पुरुष में शूल उत्पन्न कर देता है। परन्तु स्निग्ध एवं मधुर गुण के कारण दूध जीर्ण होने पर शूल को शान्त कर देता है ॥ ९३ ॥

स्नेहाद्गुरुत्वात् सकषायशैत्याद्-
विस्रंस्य सद्यो बलमादधाति ।
सस्नेहशैत्यान्मधुरान्वयत्वात्
कफात्मनां वर्धयते कफं च ॥ ९४ ॥
(इति ताडपत्रपुस्तके १८९ तमं पत्रम् ।)

दूध, स्निग्ध, गुरु, कषाय एवं शीतल होने के कारण शरीर में शीघ्र ही बलको बढ़ाता है। स्निग्ध शीतल एवं मधुर गुण के कारण कफ प्रकृति वाले मनुष्यों में यह कफ की वृद्धि करता है ॥ ९४ ॥

एतद्धितं सात्म्यकषायभावात्
पाकस्य तुष्टिं कुरुते न दोषम् ।
गौरं च वर्णं कुरुते सितत्वात्
स्नेहं च सस्नेहतया करोति ॥ ९५ ॥

सात्म्य एवं कषाय होने के कारण यह शरीर के लिये हितकर है, यह पाचकाग्नि को सन्तुष्ट करता है तथा शरीर में कोई दोष (विकार) उत्पन्न नहीं करता है। दूध श्वेत होने के कारण वर्णको गौर करता है तथा स्निग्ध होने के कारण शरीर में स्निग्धता उत्पन्न कर देता है ॥ ९५ ॥

शैत्यात् कषायाद्घनसान्द्रभावात्
संपर्कतश्चाभिषवाच्च भाण्डे ।
क्रमेण चोष्मोपचयान्निरुद्धं
पयो दधित्वाय शनैरुपैति ॥ ९६ ॥
पयो हि वातातपपीडितं द्रा-
क्कूर्चीभवत्येष हि तत्र हेतुः ।
औष्ण्याद्घनत्वादथ वर्धमानः
संक्लेदनाच्चाभिषवाच्च दध्नः ॥ ९७ ॥

शीतल, कषाय, घन एवं सान्द्र होने के कारण तथा पात्र के सम्पर्क एवं सन्धान (Fermentation) के कारण क्रमशः ऊष्मा (गरमी) के उपचय (वृद्धि) के कारण निरुद्ध हुआ दूध धीरे २ दधिभाव को प्राप्त हो जाता है। अर्थात् दूध दही के रूप में परिणत हो जाता है। वायु एवं धूप से पीडित होने के कारण दूध में शीघ्र ही जो कूर्चीभाव (फुट्टियां) उत्पन्न हो जाता है उसका कारण यह है कि उसमें उष्णता एवं घनता के कारण धीरे २ क्लेद तथा सन्धान (Fermentation) हो जाता है ॥ ९६-९७ ॥

निर्वर्तयत्यम्लरसं पयोऽग्नि-
र्मस्तुं तथा चाप्यतिवर्तमानः ।
ऊर्ध्वं सरश्चोत्प्लवते स्वभावात्
किट्टं ततोऽधश्च निषीदतेऽस्य ॥ ९८ ॥

अधिक मात्रा में बढ़ी हुई अग्नि (ऊष्मा) दूध में अम्ल रस एवं मस्तु (दधिमस्तु) को उत्पन्न कर देता है। इसका सरभाग (पतला भाग) स्वभाव से ही ऊपर तैरता रहता है तथा इसका किट्ट भाग नीचे रहता है। अर्थात् यदि उष्णता न हो तो दुग्ध में अम्लभाव उत्पन्न नहीं होता है तथा दही नहीं जमती है। दही जमने के लिये उष्णता का होना आवश्यक है। हम व्यवहार में भी प्रतिदिन देखते हैं कि शीतऋतु में हमें दही जमाने के लिये दूध को गरम स्थान पर तथा अग्नि के पास रखना पड़ता है तथा उसके लिये पर्याप्त प्रयत्न करना पड़ता है। अन्यथा दही नहीं जम पाती है ॥९८॥

दिव्येन च ज्ञानबलेन दृष्टं
मुखैः(ख्यैः)पुरा मन्थनमस्य युक्त्या ।
ततो घृतोदश्विदुपोपलभ्य
गावः प्रतिष्ठाः सचराचरस्य ॥ ९९ ॥

प्राचीन काल में हमारे मुख्य २ ऋषियों ने दिव्य एवं ज्ञान बल से युक्तिपूर्वक दही के मन्थन को श्रेष्ठ माना है। दही के मन्थन से घृत एवं उदश्वित् (लस्सी) प्राप्त किया जाता है। इस प्रकार गौएँ सम्पूर्ण चर एवं अचर (जड़ तथा चेतन) जगत् की प्रतिष्ठा का कारण हैं। अर्थात् गौएँ अपने दूध, दही, घृत तथा तक्र के द्वारा सम्पूर्ण जगत् का पोषण करती हैं ॥ ९९ ॥

तस्माच्चिरव्याधिनिपीडितानां
मूर्च्छागतानां पततां नराणाम् ।
परायणं क्षीरमुशन्ति वैद्या
निद्रासुखायुर्बलकृत् पयो हि ॥ १०० ॥

इसलिये जो व्यक्ति बहुत काल से रोग से पीडित हैं, मूर्च्छा से युक्त हैं तथा जो उपर से गिर पड़ते हैं—उनके लिये

वैद्यलोग दूध को उत्कृष्ट पदार्थ मानते हैं। दूध निद्रा, सुख, आयु एवं बल को देने वाला है ॥ १०० ॥

मूढस्तु यः स्यान्मदनस्य बीजै-
भल्लातकैः पूगफलादिभिश्च ।
पयो हि तस्योपदिशेद्विपश्चिद्-
गुडोदकं वा शिशिरं पिबेत् सः ॥ १०१ ॥
क्षीरेण चैनं सगुडेन नित्यं
संभोजयेत् सर्पिषि संस्कृतेन ।
धान्वीरकार्तेऽपि तथैव कार्यं
क्षीरं हि तस्यौषधमुक्तमग्र्यम् ॥ १०२ ॥

जो मैनफल के बीज, भिलावे तथा सुपारी के कारण मूढ़ हुआ है, उसे विद्वान् व्यक्ति दूध का प्रयोग कराये अथवा उसे ठण्डा किया हुआ गुडोदक पिलाये। अथवा उसे घृत में संस्कृत किये हुए गुडयुक्त दुग्ध का सेवन कराना चाहिये। धान्वीरक रोग (इसका अभिप्राय संभवतः धनुःस्तम्भ आदि वात रोग से है) से पीडित व्यक्ति में भी यह उपक्रम करना चाहिये। दूध इसकी श्रेष्ठ औषध कहा गया है ॥१०१-१०२॥

आनूपजो जाङ्गलजो वरिष्ठः
सुभूमिजातो गुरुबद्धचक्षुः ।
सामुद्रषण्ढे(पौण्ड्रे)क्षुकवंशकाना-
मिक्षुः प्रशस्तस्तु परः परो यः ॥ १०३ ॥

उपर्युक्त रोग में आनूप एवं जांगल देश में उत्पन्न होने वाला, श्रेष्ठ, उत्तम भूमि में उत्पन्न हुआ गुरु एवं बंधे हुए चक्षु (अंकुर) वाला तथा सामुद्र, पौण्ड्र एवं इक्षुक वंश (जाति) वाला इक्षु अत्यन्त प्रशस्त माना गया है ॥ १०३ ॥

स्वादुः शीतः पुष्टिकृद्दीपनीयः
स्निग्धो वृष्यो वर्णचक्षुःप्रसादी ।
श्लेष्माणमुत्क्लेदयते च जग्धो
रसस्तु पीतः कुरुते विदाहम् ॥ १०४ ॥

इक्षु स्वादु (मधुर), शीतल, पुष्टिकारक, दीपक, स्निग्ध, वृष्य तथा वर्ण एवं चक्षु को प्रसन्न करने वाला होता है। दांत से चबाकर पिया हुआ गन्ने का रस श्लेष्मा को बढ़ाता है तथा पिरा हुआ रस (अर्थात् यन्त्र-कोल्हू आदि से निकाला हुआ) विदाह को उत्पन्न करता है। गन्ने का स्वयं दांतों से चबाकर निकाला हुआ रस श्रेष्ठ माना गया है। कोल्हू से निकाला हुआ रस शरीर में विदाह उत्पन्न करता है। चरक सू० अ० २७ में कहा है—वृष्यः शीतः स्थिरः स्निग्धो बृंहणो मधुरो रसः। श्लेष्मलो भक्षितस्येक्षोर्यान्त्रिकस्तु विदह्यते ॥ इसीप्रकार सुश्रुत सू० अ० ४५ में भी कहा है। यान्त्रिक अथवा कोल्हू से निकले हुए रस के विदाही होने के कारण अष्टाङ्गहृदय सू० अ० ५ में बताया है—मूलाग्रजन्तुजग्धादिपीडनान्मलसङ्करात्। किंचित्कालं विधृत्या च विकृतिं याति यान्त्रिकः ॥ विदाही गुरु विष्टम्भी तेनासौ ॥ अर्थात् यान्त्रिक रस ईख के मूल, अग्रभाग, एवं कीटयुक्त अंश के पेरे जाने से, उसमें मिट्टी आदि मल के मिले होने से अथवा कुछ काल पड़ा रहने से विदाही, गुरु एवं विष्टम्भी हो जाता है ॥१०४॥

भुक्त्वा पिबेदिक्षुरसं कफात्मा
प्राग्भोजनात् पैत्तिकवातिकौ तु ।
संसृष्टदोषस्य हितोऽन्नमध्ये
तथाहि सर्वे सुखमाप्नुवन्ति ॥ १०५ ॥

कफप्रकृति वाले मनुष्य को भोजन के बाद तथा वात एवं पित्तप्रकृति वाले मनुष्य को भोजन से पूर्व और संसृष्ट दोष वाले व्यक्ति को भोजन के मध्य में इक्षुरस का पान करना चाहिये। इस प्रकार इसके द्वारा सम्पूर्ण व्यक्ति सुख (स्वास्थ्य) को प्राप्त करते हैं ॥ १०५ ॥

इति प्रकृत्येक्षुरसप्रकारा
रोगांस्तु वक्ष्यामि हितार्थमेषाम् ।
ज्वरातिसारामगलामयेषु
विसूचिकाकुष्ठवि(कि)लासकासे ॥ १०६ ॥
पाण्ड्वामये शूलजलोदरेषु
छर्द्यां कफोद्रेकविरिक्तवान्ते ।
नस्तः क्रियावस्तिनिरूहितेषु
स्वरोपघातक्षयपीनसेषु ॥ १०७ ॥
प्रमेहशोथोरुगदेषु नाद्याद्-
रोगेष्वभिष्यन्दसमुत्थितेषु ।
ग्रहेषु सर्वेषु पयोऽतिवृद्धौ
बालेऽतिनिद्रे कफरोगिते च ॥ १०८ ॥

इस प्रकार प्रकृति के अनुसार इक्षुरस के भेदों का वर्णन किया गया है। अब मैं इनके हित के लिये रोगों का वर्णन करूंगा। इक्षु का सेवन किन्हें नहीं करना चाहिये—ज्वर, अतिसार, आमदोष, गलरोग, विसूचिका, कुष्ठ, किलास, कास, पाण्डुरोग, शूल, जलोदर तथा वमन रोग में, विरेचन एवं वमन में कफ का उद्रेक (अधिकता) होने पर, नस्य, बस्ति एवं निरूह कराने के बाद, स्वरोपघात, क्षय एवं पीनस रोग में, प्रमेह, शोथ एवं ऊरुस्तम्भ में, अभिष्यन्द से उत्पन्न हुए रोगों में, सम्पूर्ण ग्रहरोग, दूध की अत्यधिक वृद्धि, बालक के अत्यन्त निद्रायुक्त होने पर तथा कफ का रोग होने पर इक्षु का प्रयोग नहीं करना चाहिये ॥ १०६-१०८ ॥

इक्षुः प्रयोगो न हितो, हितस्तु
येषामिमांस्तानपि मे निबोध ॥
जीर्णज्वरारोचकरक्तपित्त-
कासक्षतक्षीणकफक्षयेषु ॥ १०९ ॥
तृष्णाग्निवैसर्पमदात्ययेषु
मूत्रामये कर्णशिरोऽक्षिवाते ॥

त्वङ्मांसवर्णद्युतिवुद्धिरेतो-
निद्राबलौजोरुधिरक्षयेषु ॥ ११० ॥

जिन रोगियों के लिये इक्षुरस हितकर है वे भी तू मेरे से सुन—जीर्ण ज्वर, अरोचक, रक्तपित्त, कास, क्षत, क्षीण एवं कफ के क्षय में तथा तृष्णा, अग्निविसर्प, मदात्यय, मूत्ररोग, कर्ण, शिर, अक्षि एवं वायुरोग में, त्वचा, मांस, वर्ण, द्युति, बुद्धि, रेतस् (वीर्य), निद्रा, बल, ओज तथा रक्त के क्षय में, तथा जिन २ के लिये दूध हितकर होता है उन सबोंके लिये तथा शिशुओं के लिये इक्षुरस हितकर होता है ॥ १०९-११० ॥

येषामथोक्तं च पयः प्रशस्तं
तेषां हितश्चेक्षुरसः शिशूनाम् ॥
कफप्रसेकारुचितृप्तिमोह-
शूलप्रतिश्यायगलामयार्तान् ॥ १११ ॥

जिन व्यक्तियों को कफप्रसेक (कफयुक्त लालास्राव होना), अरुचि, तृप्ति, मोह, शूल, प्रतिश्याय, गलरोग, प्रमेह, हल्लास, जडता तथा अग्निनाश हो-उनमें अधिक मात्रा में पिया हुआ रस ज्वर को उत्पन्न करता है ॥ १११ ॥

प्रमेहहृल्लासजडाग्निनाशान्
रसोऽतिपीतः कुरुते ज्वरं च ॥
इत्येष धन्यः प्रवरश्च कल्पो
भोज्यं प्रति प्रश्न उदाहृतस्ते ॥ ११२ ॥
नृणां हितार्थं भिषजां च वृद्ध !
सुखस्य मूलं प्रवदन्ति धर्म्यम् ॥ ११३ ॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥
(इति कल्पस्थाने) भोजनकल्पः ।

इस प्रकार हे वृद्धजीवक ! मनुष्यों तथा वैद्यों के हित के लिये भोजन के प्रति यह धन्य एवं श्रेष्ठ कल्प तुम्हारे लिये कहा गया है। इसे सुख एवं धर्म का मूल कहा गया है ॥११२-११३॥

ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था ?

(इति कल्पस्थाने) भोजनकल्पः ।

विशेषकल्पाध्यायः ॥

अथातो विशेषकल्पं नामाध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ २ ॥

अब हम विशेषकल्प नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था। (इस अध्याय में सन्निपातज्वर के विशेष लक्षण आदि कहे जायेंगे) ॥ १-२ ॥

हुताग्निहोत्रमासीनं कश्यपं लोकपूजितम् ।
वृद्धो विशेषमन्विच्छन् पप्रच्छ विनये स्थितः ॥ ३ ॥

अग्निहोत्र में आहुति देकर बैठे हुये, ऐसे लोक में पूजित महर्षि कश्यप से सन्निपातों के विशेषों को जानने की इच्छा से विनययुक्त वृद्धजीवक ने निम्न प्रश्न किया ॥ ३ ॥

सूत्रस्थाने भगवता निर्दिष्टो द्विविधो ज्वरः ।
हेतुलिङ्गौषधज्ञानैः प्रतिपन्नोऽस्मि तं तथा ॥ ४ ॥
संशयस्त्वस्ति भगवन् ! सन्निपातज्वरं प्रति ।
तत्र मे संशयं छिन्धि विशेषज्ञ ! विशेषणैः ॥ ५ ॥

भगवन् ! सूत्रस्थान में आपने हेतु (Causes), लिङ्ग (Symptoms) तथा औषध (Treatment) आदि के ज्ञान सहित दो प्रकार के ज्वर का निर्देश किया था, उसे मैंने सम्यक् प्रकार से जान लिया है। परन्तु भगवन् ! सन्निपात ज्वर के प्रति मुझे कुछ संशय है। इस लिये हे सन्निपातज्वरों के विशेषज्ञ ! उस विषय में विशेषणों के द्वारा आप मेरे संशय को दूर करें ॥ ४-५ ॥

किमेकः सन्निपातोऽयं किं वा किं बहवो मुने ! ।
(इति ताडपत्रपुस्तके १९० तमं पत्रम्)
एकश्चेत् किं समैर्दोषैरनेकत्वं कथं पुनः ॥ ६ ॥

हे मुनि ! सन्निपात एक ही होता है अथवा अनेक होते हैं ? । यदि दोषों की समानता के कारण वह एक ही होता है तो वह अनेक प्रकार का कैसे हो जाता है ? ॥ ६ ॥

वातपित्तकफानां तु त्रयाणां संप्रकुप्यताम् ।
क एषां प्रथमं दोषः प्रकुप्यति महामुने ! ॥ ७ ॥
युगपद्वा प्रकुप्यन्ति दोषाः किं वाऽनुपूर्वशः ।
प्रकुप्यतां वा विषममेकैकश्येन वा पुनः ॥ ८ ॥
विशेषाः के महाभाग ! दोषव्याससमासतः ।
सन्निपाताः कियन्तो वा कानि नामानि वा पृथक् ॥९॥
उपद्रवाश्च के तेषां परिहारविधिश्च कः ।
उपक्रमश्च कस्तेषां साध्यासाध्यवराश्च के ॥ १० ॥

भगवन् ! वात, पित्त, कफ आदि प्रकुपित होते हुए तीनों दोषों में पहले कौन सा दोष प्रकुपित होता है ? ये तीनों दोष एक साथ प्रकुपित होते हैं अथवा आगे-पीछे करके प्रकुपित होते हैं ? हे महाभाग !-(ऐश्वर्यशालिन्) प्रकुपित होते हुए इन दोषों में पृथक् २ क्या विशेषताएँ होती हैं ? दोषों की व्यष्टि एवं समष्टि के अनुसार सन्निपातों की संख्या कितनी होती है ? उनके पृथक् २ क्या नाम हैं ? उनके उपद्रव, परिहार विधि तथा चिकित्सा क्या हैं ? उनमें से कौन से साध्य एवं कौन से असाध्य हैं ? ॥ ७-१० ॥

इति पृष्टः स शिष्येण स्थविरेण प्रजापतिः ।
सन्निपातविशेषार्थमद्भुतं वाक्यमब्रवीत् ॥ ११ ॥

इस प्रकार ज्ञानी शिष्य द्वारा प्रश्न किये जाने पर सन्निपातों के विशेष ज्ञान के लिये प्रजापति कश्यप ने निम्न आश्चर्यजनक उपदेश दिया ॥ ११ ॥

शृणु भार्गव ! तत्त्वार्थं सन्निपातविशेषणम् ।
जानते भिषजो नैनं बहवोऽकृतबुद्धयः ॥ १२ ॥

हे भार्गव ! तत्त्वज्ञान के लिये सन्निपातों के विशेषों (भेदों) को तू सुन क्योंकि बहुत से अज्ञानी वैद्य इसे नहीं जानते हैं ॥

शीतोपचारात् सूतानां मैथुनाद्विषमाशनात् ।
प्रजागराद्दिवास्वप्नाच्चिन्तेर्ष्यालौल्यकर्शनात् ॥ १३ ॥
तथा दुःखप्रजातानां व्यभिचारात् पृथग्विधात् ।
शिशोर्दुष्टपयःपानात्तथा संकीर्णभोजनात् ॥ १४ ॥
विरुद्धकर्मपानान्नसेविनां सततं नृणाम् ।
अभोजनादध्यशनाद्विषमाजीर्णभोजनात् ॥ १५ ॥
सहसा चान्नपानस्य परिवर्तादृतोस्तथा ।
विषोपहतवाय्वम्बुसेवनाद्गरदूषणात् ॥ १६ ॥
पर्वतोपत्यकानां च प्रतिकूले विशेषतः ।
अवप्रयोगात् स्नेहानां पञ्चानां चैव कर्मणाम् ॥ १७ ॥
यथोक्तानां च हेतूनां मिश्रीभावाद्यथोच्छ्रिताः ।
त्रयो दोषाः प्रकुप्यन्ति क्षीणे चायुषि भार्गव ! ॥१८॥

हे भार्गव ! प्रसूता तथा दुःखप्रजाता (जिन्हें कष्टपूर्वक प्रसव हुआ हो) स्त्रियों के शीत उपचार, मैथुन, विषमाशन (विषम भोजन), रात्रि जागरण, दिवा स्वप्न, चिन्ता, ईर्ष्या, जिह्वालौल्य तथा अपकर्षण से, नाना प्रकार के व्यभिचार से, बालक के दूषित दूध के पीने तथा संकीर्ण भोजन से, मनुष्यों के निरन्तर विरुद्ध कर्म, विरुद्धपान एवं विरुद्ध भोजन के सेवन से, भोजन के न करने से, अध्यशन (पूर्व भोजन के ऊपर पुनः भोजन) करने से, विषम एवं अजीर्ण भोजन से, अन्नपान एवं ऋतु के सहसा परिवर्तन से, विष से दूषित वायु एवं जल के सेवन से, गरविष (संयोगज विष) से दूषित होने के कारण, विशेषकर प्रतिकूल अवस्थाओं में पर्वत एवं उपत्यकाओं (तलहटी–Valley) में रहने से, स्नेहन एवं पञ्चकर्म के असम्यक् प्रयोग से तथा उपर्युक्त हेतुओं के मिश्रित हो जाने से और आयु के क्षीण होने पर बढ़े हुए तीनों दोष प्रकुपित हो जाते हैं ॥ १३–१८ ॥

ततो ज्वरादयो रोगाः पीडयन्ति भृशं नरम् ।
सर्वदोषविरोधाच्च दुश्चिकित्स्यो महागदः ॥ १९ ॥

तब ज्वर आदि रोग रोगी को अत्यन्त पीडित करते हैं । सम्पूर्ण दोषों के परस्पर विरुद्ध होने से यह महाव्याधि अत्यन्त दुश्चिकित्स्य होती है ॥ १९ ॥

यथाऽग्निवज्रपवनैर्न स्यादभिहतो द्रुमः ।
वातपित्तकफैस्तद्वत् क्रुद्धैर्देही न जीवति ॥ २० ॥

जिस प्रकार अग्नि, वज्र, एवं पवन के द्वारा आहत वृक्ष जीवित नहीं रहता उसी प्रकार वात, पित्त, कफ आदि तीनों दोषों के प्रकुपित हो जाने से व्यक्ति (रोगी) जीवित नहीं रहता ॥ २० ॥

विषाग्निशस्त्रैर्युगपन्न जीवन्ति यथा हताः ।
सन्निपातार्दितास्तद्वन्न जीवन्त्यतपस्विनः ॥ २१ ॥

जिस प्रकार विष, अग्नि एवं शस्त्रों के द्वारा एक साथ आहत हुआ व्यक्ति जीवित नहीं रहता उसी प्रकार सन्निपात के द्वारा पीडित हुए रोगी भी जीवित नहीं रहते ॥ २१ ॥

द्वयं तदुपरिष्टाच्च यथा प्रज्वलितं गृहत् ।
न शक्यते परित्रातुं सन्निपातस्तथा नृषु ॥ २२ ॥

जिस प्रकार ऊपर एवं नीचे दोनों ओर से जलते हुए गृह की रक्षा नहीं की जा सकती उसी प्रकार मनुष्यों में सन्निपात से भी रक्षा नहीं की जा सकती ॥ २२ ॥

दिग्धबाणास्त्रयो व्याधाः परिवार्य यथा मृगम् ।
घ्नन्त्यनौषधयस्तद्वत्त्रयो दोषाः शरीरिणम् ॥ २३ ॥

जिस प्रकार विष से बुझे हुए बाणों वाले तीन व्याध (शिकारी) मृग को चारों ओर से घेर कर मार देते हैं उसी प्रकार ओषधियों के अभाव में तीनों वात, पित्त, कफ आदि दोष रोगी को मार देते हैं ॥ २३ ॥

संगता नियतं यस्मात् पातयन्ति कलेवरम् ।
अन्यच्चाशु संनिपतत्यतो वा सन्निपातता ॥ २४ ॥

क्योंकि ये तीनों दोष मिलकर निश्चितरूप से शरीर को नष्ट कर देते हैं इसलिये इसे सन्निपात कहते हैं अथवा शीघ्र ही नष्ट करने के कारण सन्निपात कहते हैं ॥ २४ ॥

अकस्मादिन्द्रियोत्पत्तिरकस्मान्मूत्रदर्शनम् ।
अकस्माच्छीलविकृतिः सन्निपाताग्रलक्षणम् ॥ २५ ॥

सन्निपातज्वर के मुख्य लक्षण—इसमें सहसा इन्द्रियों के विषयों की उत्पत्ति होती है, सहसा मूत्र आ जाता है तथा सहसा स्वभाव में परिवर्तन हो जाता है । ये सन्निपात ज्वर के मुख्य लक्षण होते हैं। चरक चि. अ. ३ में सन्निपात ज्वर के निम्न लक्षण दिये हैं—क्षणे दाहः क्षणे शीतमस्थिसन्धिशिरोरुजा । सास्रावे कलुषे रक्ते निर्भुग्ने चापि दर्शने ॥ सस्वनौ सरुजौ कर्णौ कण्ठः शूकैरिवावृतः । तन्द्रा मोहः प्रलापश्च कासः श्वासोऽरुचिर्भ्रमः ॥ परिदग्धा खरस्पर्शा जिह्वा स्रस्ताङ्गता परम् । ष्ठीवनं रक्तपित्तस्य कफेनोन्मिश्रितस्य च ॥ शिरसो लोठनं तृष्णा निद्रानाशो हृदि व्यथा । स्वेदमूत्रपुरीषाणां चिराद्दर्शनमल्पशः ॥ कृशत्वं नातिगात्राणां प्रततं कण्ठकूजनम् । कोठानां श्यावरक्तानां मण्डलानां च दर्शनम् ॥ मूकत्वं स्रोतसां पाको गुरुत्वमुदरस्य च । चिरात्पाकश्च दोषाणां सन्निपातज्वराकृतिः ॥ २५ ॥

निर्दिष्टास्तस्य भेदास्तु भिषक्श्रेष्ठैस्त्रयोदश ।
हीनमध्याधिकसमद्व्युद्बलैकोद्बलोद्भवाः ॥ २६ ॥

श्रेष्ठ वैद्यों ने उस सन्निपात के हीन (निकृष्ट), मध्य, अधिक (प्रधान) अर्थात् तरतम आदि के भेद से सम

१. प्रबलैकदोष-प्रबलद्विदोषभवा इत्यर्थः ।

(तीनों दोषों की समावस्था), दो दोषों की प्रबलता (प्रधानता) एवं एक दोष की प्रबलता के अनुसार १३ भेद कहे हैं। चरक चि. अ. ३ में भी १३ प्रकार के सन्निपात दिये हैं— सन्निपातज्वरस्योर्ध्वं त्रयोदशविधस्य हि। प्राक् सूत्रितस्य वक्ष्यामि लक्षणं वै पृथक् पृथक् ॥ इसी प्रकार अष्टाङ्गहृदय में भी कहा है ॥

वातपित्ताधिको यस्य सन्निपातः प्रकुप्यति ।
तस्य ज्वरोऽङ्गमर्दस्तृट्तालुशोषप्रमीलिकाः ॥ २७ ॥
अरुचिस्तन्द्रिविड्भेदश्वासकासश्रमभ्रमाः ।

ये १३ भेद निम्न हैं—जिसके वातपित्तप्रधान (कफ मन्द) सन्निपात प्रकुपित हो जाता है-उसे ज्वर, अङ्गमर्द, तृषा, तालुशोष, प्रमीलक (मूढता), अरुचि, तन्द्रा, अतिसार, श्वास, कास, श्रम तथा भ्रमरोग हो जाते हैं। चरक चि. अ. ३ में भी कहा है—भ्रमः पिपासा दाहश्च गौरवं शिरसोऽतिरुक्। वातपित्तोल्बणे विद्याल्लिङ्गं मन्दकफे ज्वरे ॥ २७ ॥

पित्तश्लेष्माधिको यस्य सन्निपातः प्रकुप्यति ॥ २८ ॥
अन्तर्दाहो बहिः शीतं तस्य तृष्णा च वर्धते ।
तुद्यते दक्षिणं पार्श्वमुरःशीर्षगलग्रहः ॥ २९ ॥
निष्ठीवति कफं सासृक्कृच्छ्रात् कण्ठश्च दूयते ।
विभ्डेदश्वासहिक्काश्च बर्धन्ते सप्रमीलकाः ॥ ३० ॥

जिसके पित्तश्लेष्मप्रधान (वातहीन) सन्निपात प्रकुपित हो जाता है उसके शरीर के आन्तरिक भाग में गरमी परन्तु शरीर का बाह्यभाग ठण्ढा होता है। उसे प्यास बहुत लगती है। उसके दायें पार्श्व में वेदना होती है। छाती, सिर एवं गला जकड़ जाता है, उसके थूक में बड़ी कठिनता से रक्तसहित श्लेष्मा आती है, कण्ठ में वेदना होती है तथा अतिसार, श्वास, हिक्का एवं मूढता हो जाती है। चरक चि. अ. ३ में कहा है—छर्दिः शैत्यं मुहुर्दाहस्तृष्णा मोहोऽस्थिवेदना। मन्दवाते व्यवस्यन्ति लिङ्गं पित्तकफोल्बणे ॥ २८-३० ॥

विधुफल्गू च तौ नाम्ना सन्निपातावुदाहृतौ ।

उन दोनों सन्निपातों के नाम क्रमशः विधु और फल्गु है। अर्थात् वातपित्त प्रधान सन्निपात का नाम विधु एवं पित्तश्लेष्म प्रधान सन्निपात का नाम फल्गु है ॥

श्लेष्मानिलाधिको यस्य सन्निपातः प्रकुप्यति ॥ ३१ ॥
(इति ताडपत्रपुस्तके १९१[1] तमं[2] पत्रम् ।)
·················सन्निपातः सुदारुणः ॥

श्लेष्म एवं वातप्रधान सन्निपात जिसके प्रकुपित हों······ (उसे शीतज्वर, निद्रा, क्षुधा, तृष्णा, पार्श्वग्रह, सिर का भारीपन, आलस्य, मन्यास्तम्भ, मूढता, उदर में दाह तथा कटि एवं वस्ति में वेदना होती है। इसे मकरी कहते हैं यह अर्थ भालुकितन्त्र के श्लोकों से पूर्ण किया गया है)।

वक्तव्य—इससे आगे यह ग्रन्थ खण्डित है। इस त्रुटित ग्रन्थ के पूर्वापर भाग में दिये हुए विषय की माधवनिदान के सन्निपात प्रकरण की मधुकोश एवं आतङ्कदर्पण की व्याख्या में भालुकितन्त्र नाम से दिये हुए श्लोकों के साथ समानता मिलती है। इस ग्रन्थ के त्रुटितअंश से पूर्व एवं पश्चात् के विषय में भालुकितन्त्र के श्लोकों की समानता मिलने से मध्य के त्रुटित भाग की भी समानता होनी चाहिये। भालुकितन्त्र में यह विषय निम्न प्रकार से मिलता है—आमो ह्याहारदोषात् प्रथममुपचितो हन्ति वह्निं शरीरे—श्लेष्माख्यं याति भुक्तं सकलमपि ततोऽसौ कफो वायुदुष्टः॥ स्रोतांस्यापूर्य रुन्ध्यादनिलमथ मरुत्कोपयेत्पित्तमन्तः—सम्मूर्च्छ्यान्योऽन्यमेते प्रबलमिति नृणां कुर्वते सन्निपातम् ॥ वातपित्ताधिको यस्य सन्निपातः प्रकुप्यति। तस्य ज्वरोऽङ्गमर्दस्तृट् तालुशोषप्रमीलकौ ॥ आध्मानतन्द्रारुचयः श्वासकासभ्रमश्रमाः। पित्तश्लेष्माधिको यस्य सन्निपातः प्रकुप्यति ॥ अन्तर्दाहो बहिः शैत्यं तस्य तन्द्रा च वर्धते। तुद्यते दक्षिणं पार्श्वमुरःशीर्षगलग्रहः ॥ निष्ठीवेत्कफपित्तं च कृच्छ्रात्कण्डूश्च जायते। विड्भेदश्वासहिक्काश्च वर्धन्ते सप्रमीलकाः ॥ विधुः फल्गुश्च तौ नाम्ना सन्निपातावुदाहृतौ। श्लेष्मानिलाधिको यस्य सन्निपातः प्रकुप्यति ॥ तस्य शीतज्वरो निद्रा क्षुत्तृष्णापार्श्वनिग्रहाः ॥ शिरोगौरवमालस्यमन्यास्तम्भप्रमीलकाः। उदरं दह्यते चास्य कटिर्बस्तिश्च दूयते। सन्निपातः स विज्ञेयो मकरीति सुदारुणः ॥ वातोल्बणः सन्निपातो यस्य जन्तोः प्रकुप्यति। तस्य तृष्णा ज्वरो ग्लानिः पार्श्वरुग् दृष्टिसंक्षयः ॥ पिण्डिकोद्वेष्टनं दाह ऊरुसादो बलक्षयः। सरक्तं चास्य विण्मूत्रं शूलं निद्राविपर्ययः ॥ निर्भिद्यते गुदं चास्य बस्तिश्च परिगृह्यते। आयम्यते भिद्यते च हिक्कते विलपत्यपि ॥ मूर्च्छते स्फार्यते रौति नाम्ना विस्फारकः स्मृतः। पित्तोल्बणः सन्निपातो यस्य जन्तोः प्रकुप्यति ॥ तस्य दाहो ज्वरो घोरो बहिरन्तश्च वर्धते। शीतं च सेवमानस्य कुप्यतः कफमारुतौ ॥ ततश्चैनं प्रबाधन्ते हिक्काश्वासप्रमीलिकाः। विसूचिका पर्वभेदः प्रलापो गौरवं क्लमः ॥ नाभिपार्श्वरुजा तस्य स्विन्नस्याशु विवर्धते॥ स्विद्यमानस्य रक्तं च स्रोतोभ्यः संप्रवर्तते ॥ शूलेन पीड्यमानस्य तृष्णा श्वासः प्रबाधते। असाध्यः सन्निपातोऽयं शीघ्रकारीति कथ्यते ॥ न हि जीवत्यहोरात्रमनेनाविष्टविग्रहः। कफोल्बणः सन्निपातो यस्य जन्तोः प्रकुप्यति ॥ तस्य शीतज्वरः स्वप्नगौरवालस्यतन्द्रिकाः। छर्दिमूर्च्छातृषादाहतृष्णारोचकहृद्ग्रहाः ॥ ष्ठीवनं मुखमाधुर्यं श्रोत्रवाग्दृष्टिनिग्रहः। श्लेष्मणो निग्रहं चास्य यदा प्रकुरुते भिषक् ॥ तदा तस्य भृशं पित्तं कुर्यात्सोपद्रवं ज्वरम्। निगृहीते तु पित्ते च भृशं वायुः प्रकुप्यति ॥ निराहारस्य सोऽत्यर्थं मेदोमज्जास्थि बाधते। अथात्र स्नाति भुङ्क्ते वा त्रिरात्रं नैव जीवति ॥ मेदोगतः सन्निपातो ह्युल्बणः परिकीर्तितः। कामान्मोहाच्च लोभाच्च भयाच्चापि प्रपद्यते ॥ मध्यहीनाधिकैर्दोषैः सन्निपातो यदा भवेत्। तस्य रोगास्त एवोक्ताः प्रायो दोषबलाश्रयाः ॥ अर्थात् इसमें द्व्युल्बण तथा एकोल्बण सन्निपात का वर्णन किया गया है। इनके पृथक् २ नाम भी दिये गये हैं। यथा—

१. अस्याग्रे १९२ तमं पत्रं त्रुटितं ताड़पत्रपुस्तके।

२. अत्र त्रुटितग्रन्थस्य पूर्वापरग्रन्थयोर्यादृशो विषयस्तादृश एव माधवनिदानसंनिपातप्रकरणव्याख्ययोर्मधुकोशातङ्कदर्पणयोर्भालुकितन्त्रनाम्नोद्धृतेषु श्लोकेषु दृश्यते। तदीयपूर्वापरभागयोरेतत्संहितायाः १९१ पत्रान्त १९३ पत्रादिग्रन्थयोश्च बहुशो लेखविषयसंवाददर्शनेन लुप्त १९२ पत्रीयविषयोऽपि तदीयमध्यभागगतश्लोकोक्तसंवादी स्यादिति विवेचनीयं विवेचकैः।

वातपित्ताधिक सन्निपात—विभु ।
पित्तश्लेष्माधिक सन्निपात—फल्गु ।
कफवाताधिक सन्निपात—मकरी ।
वाताधिक सन्निपात—विस्फारक (विस्फुरक) ।
पित्ताधिक सन्निपात—शीघ्रकारी ।
श्लेष्माधिक सन्निपात—उल्वण (कफ्फण) ।

इसके बाद एक दोष हीन, एक वृद्ध तथा एक मध्य के अनुसार ६ सन्निपात दिये हैं ॥ ३१ ॥

हीनाभिवृद्धमध्यैस्तु सन्निपातो यदा भवेत् ।
तस्य रोगास्त एवोक्ता यथादोषबलाश्रयात् ॥
सर्वस्रोतोभवं त्वस्य रक्तपित्तं प्रकुप्यति ।
विस्फोटैरग्निदग्धाभैश्चीयते च समन्ततः ॥
हृदयोदरमन्त्रं च यकृत्प्लीहाऽथ फुप्फुसम् ।
पच्यतेऽन्तः शरीरस्थमूर्ध्वाधः पूयमेति च ॥
शीर्णदन्तश्च मृत्युश्च तस्याप्येतद्विशेषणम् ।

जब एक (वात) हीन, एक (पित्त) वृद्ध तथा एक (कफ) मध्य दोष वाला (अर्थात् तरतम आदि भेद से) सन्निपात होता है तब दोष एवं बल के अनुसार उसके वे ही रोग होते हैं। उसके सब स्रोतों में स्थित रक्तपित्त प्रकुपित होता है। तथा सम्पूर्ण शरीर पर अग्निदग्ध के समान विस्फोटक हो जाते हैं। हृदय, उदरप्रदेश, आन्त्र, यकृत्, प्लीहा तथा फुफ्फुस का पाक हो जाता है। शरीर के अन्दर ऊर्ध्व एवं अधः भाग में पूय (पस-Suppuration) हो जाती है। उसके दांत झड़ने लगते हैं तथा अन्त में मृत्यु हो जाती है। ये विशेष लक्षण होते हैं ॥

मध्याभिवृद्धहीनैस्तु सन्निपातो यदा भवेत् ॥
तस्य रोगास्त एवोक्ता यथादोषबलाश्रयात् ।
स्तब्धाङ्गः स्तब्धदृष्टिश्च स तु शेते हतो यथा ॥
विरिच्यतेऽतिमात्रं च पुरीषं बह्वनश्नतः ।
सर्वेषां स्रोतसां पाक एतदत्र विशेषणम् ॥

जब एक (वात) मध्य, एक (पित्त) वृद्ध तथा एक (कफ] हीन दोष वाला सन्निपात प्रकुपित होता है तब उसे दोष एवं बल के अनुसार वे ही रोग हो जाते हैं। उसके अङ्ग एवं दृष्टि स्तब्ध हो जाती है तथा वह सोते (पड़े) हुए मृत व्यक्ति की तरह प्रतीत होता है। उसे भोजन का अधिक सेवन न करने पर भी मल अधिक मात्रा में आता है तथा उसके सम्पूर्ण स्रोतों का पाक हो जाता है। ये इसके विशेष लक्षण हैं ॥

वृद्धाभिहीनमध्यैस्तु सन्निपातो यदा भवेत् ।
तस्य रोगास्त एवोक्ता यथादोषबलाश्रयात् ॥
जृम्भाप्रजागरायामविप्रलापशिरोरुजः ।
मन्यास्तम्भेन मृत्युश्च तस्याप्येतद्विशेषणम् ॥
एषां त्रयाणां नामानि याम्यक्रकचपाकलाः ।

जब एक (वात) वृद्ध, एक (पित्त) हीन तथा एक (कफ) मध्य दोष वाला सन्निपात प्रकुपित होता है तब उसे दोष एवं बल के अनुसार वे ही रोग हो जाते हैं। उसे जंभाई, जागरण, आयाम (अन्तः एवं बाह्य), प्रलाप, शिरोरोग तथा मन्यास्तम्भ (Stiff neck–Torticolis) होकर मृत्यु हो जाती है। ये इसके विशेष लक्षण हैं। इन उपर्युक्त तीनों सन्निपातों के नाम क्रमशः याम्य, क्रकच तथा पाकल होते हैं। चरक चि. अ. ३ में भी १३ सन्निपात दिये हैं। वातपित्त तथा कफ आदि तीनों दोषों के समानरूप से प्रकुपित होने पर जो सन्निपात होता है उसके अतिरिक्त १२ सन्निपातों के लक्षण निम्न प्रकार से दिये हैं—भ्रमः पिपासा दाहश्च गौरवं शिरसोऽतिरुक् । वातपित्तोल्वणे विद्याल्लिङ्गं मन्दकफे ज्वरे ॥ शैत्यं कासोऽरुचिस्तन्द्रा पिपासादाहरुग्व्यथाः । वातश्लेष्मोल्वणे व्याधौ लिङ्गं पित्तावरे विदुः ॥ छर्दिः शैत्यं मुहुर्दाहस्तृष्णा मोहोऽस्थिवेदना । मन्दवाते व्यवस्यन्ते लिङ्गं पित्तकफोल्वणे ॥ सन्ध्यस्थिशिरसः शूलं प्रलापो गौरवं भ्रमः । वातोल्बणे स्याद् द्व्यनुगे तृष्णा कण्ठास्यशोषता ॥ रक्तविण्मूत्रता दाहः स्वेदस्तृड्बलसंक्षयः । मूर्च्छा चेति त्रिदोषे स्याल्लिङ्गं पित्ते गरीयसि ॥ आलस्यारुचिहृल्लासदाहवम्यरतिभ्रमैः । कफोल्वणं सन्निपातं तन्द्राकासेन चादिशेत् ॥ प्रतिश्या च्छर्दिरालस्यं तन्द्राऽरुच्यग्निमार्दवम् । हीनवाते पित्तमध्ये चिह्नं श्लेष्माधिके मतम् ॥ हारिद्रमूत्रनेत्रत्वं दाहस्तृष्णा भ्रमोऽरुचिः । हीनवाते मध्यकफे लिङ्गं पित्ताधिके मतम् ॥ शिरोरुग्वेपथुः श्वासः प्रलापश्छर्द्यरोचकौ । हीनपित्ते मध्यकफे लिङ्गं वाताधिके मतम् ॥ शीतको गौरवं तन्द्रा प्रलापोऽस्थिशिरोतिरुक् । हीनपित्ते वातमध्ये लिङ्गं श्लेष्माधिके मतम् । श्वासकासप्रतिश्याया मुखशोषोऽतिपार्श्वरुक् । कफहीने पित्तमध्ये लिङ्गं वाताधिके मतम् ॥ पर्वभेदोऽग्निमान्द्यं च तृष्णा दाहोऽरुचिर्भ्रमः । कफहीने वातमध्ये लिङ्गं पित्ताधिके विदुः ॥ इन १२ सन्निपातों के लक्षणों का पाठ काश्मीर से उपलब्ध चरक संहिता में दिया है अन्यत्र नहीं। इसे टीकाकार आर्ष नहीं मानते हैं। ये लक्षण प्रकृति समसमवाय से हैं। प्राचीन आचार्यों की शैली प्रकृति समसमवाय से विस्तार से लक्षणों को देने की नहीं है। भिन्न २ दोषों से उत्पन्न ज्वरों के लक्षण कह देने पर सन्निपातों में प्रकृति समसमवाय से उत्पन्न लक्षणों को स्वयं समझा जा सकता है। उन सबको पृथक् २ पढ़ने की आवश्यकता नहीं होती है। इसके अतिरिक्त एक बार 'सन्निपातज उच्यते' कहकर पुनः 'सन्निपातज्वरस्योर्ध्वम्' आदि का दोबारा कहना भी विशेष अर्थ नहीं रखता है। इस लिये यह पाठ अनार्ष माना जाता है ॥

समैर्दोषैः प्रकुपितं सन्निपातं निबोध मे ॥
त्रयाणामत्र दोषाणां सर्वरूपाणि लक्षयेत् ।

अब वात, पित्त, कफ आदि तीनों दोषों के समानरूप से प्रकुपित होने पर जो सन्निपात होता है उसके लक्षण तू मेरे से सुन। इसमें तीनों दोषों के सब लक्षण दिखाई देते हैं ॥

त्रिदण्डवत् समबलास्त्वथो आहुस्त्रिपादवत् ।
यानि ज्वरचिकित्सायां रूपाण्युक्तानि तानि च ।
कूटपाकल इत्येष सन्निपातः सुदारुणः ॥

इसमें तिपाई की तरह तीनों दोषों के सब लक्षण समान बल वाले होते हैं इस लिये त्रिपाद (तीन पर वाला) कहते हैं। तथा ज्वर चिकित्सा में जो लक्षण कहे हैं वे सब इसमें होते हैं। इस सन्निपात का नाम कूटपाकल है तथा यह अत्यन्त भयंकर होता है ॥

व्याधिभ्यो दारुणेभ्यश्च वज्रशस्त्राग्नितो यदा ।
सद्यो हन्ता महाव्याधिर्जायते कूटपाकलः ॥

दारुण व्याधियों एवं वज्र, शस्त्र, अग्नि आदि के द्वारा शीघ्र प्राणघातक कूटपाकल नाम की महाव्याधि उत्पन्न होती है ॥

कूटपाकलविग्रस्तो न शृणोति न पश्यति ।
न स्पन्दते न ब्रवीति नाभिष्टौति न निन्दति ॥
केवलोच्छ्वासपरमः स्तब्धाङ्गः स्तब्धलोचनः ।
त्रिरात्रं परमं तस्य जन्तोर्भवति जीवितम् ॥

कूटपाकल नामक सन्निपात (सर्वदोषोल्वण सन्निपात) से पीडित रोगी न कुछ सुनता है, न देखता है, न हिलता है, न बोलता है, न किसी की प्रशंसा करता है और न निन्दा करता है। वह केवल श्वास-प्रश्वास लेता रहता है। उसके सम्पूर्ण अङ्ग तथा नेत्र स्तब्ध होते हैं। वह व्यक्ति अधिक से अधिक तीन दिन तक जीवित रहता है अर्थात् तीन दिन बाद उसकी मृत्यु हो जाती है ॥

तदवस्थं तु तं दृष्ट्वा मूढो व्याभाषते जनः ।
धर्षितो रक्षसा नूनमवेलायां चरन्निशि ॥
अन्त्वयं ब्रुवते चैके यक्षिण्या ब्रह्मराक्षसैः ।
पिशाचैर्गुह्यकैश्चैव तथाऽन्ये विषयोजितम् ॥
आक्रुष्टमभिशप्तं च तथाऽन्ये मस्तकाहतम् ।
कुलदेवार्चाविहतं धर्षितं गृहदैवतैः ॥
नक्षत्रपीडामपरे गरकर्माणि चापरे ।
वदन्ति सन्निपातं तु भिषजः कूटपाकलम् ॥

रोगी की यह अवस्था देखकर कूटपाकल नामक सन्निपात के विषय में कई मूर्ख वैद्य कहते हैं कि रात्रि में असमय में घूमने से इस पर राक्षसों ने आक्रमण कर दिया है। कुछ लोग इसे यक्ष एवं ब्रह्मराक्षसों, पिशाचों तथा गुह्यकों का आक्रमण मानते हैं। कोई इसे विष से पीडित कहते हैं। कोई इसे आक्रोश (निन्दा) एवं अभिशाप के कारण मानते हैं। कुछ लोग इस रोग को मस्तक पर आघात लगने से उत्पन्न मानते हैं। कुछ लोग इसे कुलदेवता तथा गृहदेवताओं द्वारा आक्रान्त कहते हैं। कुछ लोग इसे नक्षत्र की पीडा तथा अन्य कुछ लोग इसे संयोगज विष से उत्पन्न मानते हैं ॥

सद्यः स्वस्थस्य युगपद्यदा कुप्यन्ति ते त्रयः ।
तदा निर्वर्तते देहे पिडका विषसंज्ञिता ॥

सद्यः स्वस्थ व्यक्ति के जब तीनों दोष युगपत् प्रकुपित हो जाते हैं तब उसके शरीर में विषसंज्ञक पिडकाएं उत्पन्न हो जाती हैं ॥

विरुद्धभोजनात् कालात् परिणामाच्च कर्मणाम् ।
प्रकुप्यत्यनिलः शीघ्रं सोऽस्याग्निमुपहत्य तु ॥

विरुद्ध भोजन से तथा समयान्तर से कर्मों के परिणाम से प्रकुपित हुआ वायु शीघ्र ही मनुष्य की अग्नि को नष्ट कर देता है ॥

तस्योपहतकायाग्नेः पूर्ववत् पिबतोऽश्नतः ।
कफीभवति भूयिष्ठं यदादत्ते चतुर्विधम् ॥

कायाग्नि के नष्ट हो जाने से जब रोगी पहले के समान ही अन्न पान का सेवन करता है तब उसका खाया हुआ चतुर्विध अन्न (चर्व्य, चोष्य, लेह्य, पेय) विशेषरूप से कफ का रूप धारण कर लेता है ॥

तं कफं वायुरादाय स्रोतांस्यस्य विधावति ।
तस्य स्रोतांसि सर्वाणि सूक्ष्माणि च महान्ति च ॥
पूरयित्वा पिधायास्ते संरुद्धः पवनस्ततः ।
पित्तं प्रकोपयत्यस्य तत् पित्तं मारुतेरितम् ॥
सर्वतः श्लेष्मणा रुद्धमन्योन्यमिथुनाश्रयात् ।
ज्वरं हृल्लासमरुचिं पर्वभेदं विसूचिकाम् ॥
रोगान् नानाविधांश्चान्यान् कुर्वन्मृद्नाति देहिनम् ।

उस कफ को लेकर वायु उसके स्रोतों में गति करता है तथा वह वायु उसके सम्पूर्ण सूक्ष्म एवं महान् स्रोतों को पूर्ण करके उनके मार्ग को रोककर स्थित हो जाता है तथा पित्त को प्रकुपित कर देता है। फिर वायु द्वारा प्रेरित हुआ पित्त चारों ओर से श्लेष्मा से रुका हुआ होने से तथा परस्पर एक दूसरे के आश्रय से ज्वर, हल्लास, अरुचि, पर्वभेद, विसूचिका तथा अन्य भी नाना प्रकार के रोगों को उत्पन्न करके रोगी को कष्ट देता है।

प्रकृतेर्वा विपर्यासात् प्रकृत्या वा प्रकुप्यति ॥
यथा यथोद्बलत्वं वा प्राप्नुवन्ति गदाधिपाः ।
तथैकद्व्युद्बलानाहुर्हीनमध्याधिकानपि ॥
कूटस्थे तु समैर्दोषैर्जायते कूटपाकलः ।
एवमेते विनिर्देश्याः सन्निपातास्त्रयोदश ॥

अथवा प्रकृति के विपर्यास (विपरीतता) से या स्वभाव से ही दोष प्रकुपित होकर बल के अनुसार भिन्न २ रोगों को करते हैं जिससे एक तथा दो दोषों की प्रबलता वाले तथा हीन, मध्य एवं अधिक (तरतमाधिक्य के अनुसार) बलवान् दोषों वाले रोग उत्पन्न हो जाते हैं। तीनों समान दोषों के कूटस्थ (समावस्था) में होने पर कूटपाकल नामक सन्निपात

होता है। इस प्रकार इन १३ सन्निपातों का निर्देश किया गया है। अष्टाङ्ग हृदय सू. अ. १२ में ये तेरह सन्निपात निम्नरूप से दिये हैं—त्रयोदश समस्तेषु षट् द्वयेकातिशयेन तु। एकं तुल्याधिकैः षट् च तारतम्यविकल्पनात् ॥

(क) द्व्युल्बण सन्निपात—

१. वातवृद्ध	पित्तकफ अतिवृद्ध
२. पित्तवृद्ध	वातकफ अतिवृद्ध
३. कफवृद्ध	वातपित्त अतिवृद्ध

(ख) एकोल्बण सन्निपात—

१. वातपित्त वृद्ध	कफ अतिवृद्ध
२. वातकफ वृद्ध	पित्त अतिवृद्ध
३. पित्तकफ वृद्ध	वात अतिवृद्ध

(ग) समसन्निपात—

१. वातपित्तकफ	समवृद्ध

(घ) हीनमध्याधिक (तरतमाधिक) सन्निपात—

१. वात वृद्ध	पित्त वृद्धतर	कफ वृद्धतम
२. वात वृद्ध	कफ वृद्धतर	पित्त वृद्धतम
३. पित्त वृद्ध	कफ वृद्धतर	वात वृद्धतम
४. पित्त वृद्ध	वात वृद्धतर	कफ वृद्धतम
५. कफ वृद्ध	वात वृद्धतर	पित्त वृद्धतम
६. कफ वृद्ध	पित्त वृद्धतर	वात वृद्धतम

इस प्रकार ये ३+३+१+६=१३ सन्निपात होते हैं ॥

विपन्नस्तु रसो योऽस्य धातून् यात्यनिलेरितः।
विषादं गौरवं मूर्च्छां कुर्याच्चारयाङ्गवेदनाम् ॥

दूषित हुआ रोगी का रस वायु द्वारा प्रेरित हुआ धातुओं में पहुँचकर रोगी के शरीर में विषाद, गौरव (भारीपन), मूर्च्छा तथा अङ्गों में वेदना को उत्पन्न करता है ॥

स्वलक्षणेषु दोषाणां भिषक् प्राज्ञो न विभ्रमेत् ।
उदीरिता हि संसृष्टा दुर्बला एकदोषजाः ॥

प्रकुपित हुए दोषों के अनेक२ लक्षणों में बुद्धिमान् वैद्य को भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये। उदीर्ण हुए संसृष्ट (द्विदोषज) तथा एकदोषज विकार दुर्बल होते हैं ॥

सन्निपातेषु दाहार्तं यः सिञ्चेच्छीतवारिणा ।
(इति ताडपत्रपुस्तके १९३ तमं पत्रम् ।)
आतुरः स कथं जीवेद्भिषग्वा स कथं भवेत् ॥

सन्निपात रोगों में दाह से पीडित रोगी का यदि शीतल जल से सिंचन किया जाय तो वह रोगी किस प्रकार जीवित रह सकता है तथा उसे वैद्य भी कैसे कहा जा सकता है ॥

सन्निपातेषु कम्पन्तं विलपन्तं च यो घृतम् ।
पाययेद्भोजयेद्वाऽपि तौ च स्यातामुभौ कथम् ॥

सन्निपात रोग में कांपते हुए तथा विलाप करते हुए रोगी को यदि घृत का पान अथवा भोजन कराया जाय तो वह रोगी किस प्रकार जीवित रह सकता है तथा उसे वैद्य भी कैसे कहा जा सकता है ॥

सन्निपातेषु तृष्यन्तं पार्श्वरुक्तालुशोषिणम् ।
यः पाययेज्जलं शीतं स मृत्युर्नरविग्रहः ॥

सन्निपात रोग में प्यास, पार्श्वशूल और तालुशोष से युक्त रोगी में यदि शीतल जल का पान कराया जाय तो वह रोगी मृत्यु से आक्रान्त हो जाता है ॥

समुद्रतरणं ह्येतद्वदन्ति भिषजोऽश्मना ।
मृत्युना सह योद्धव्यं सन्निपातं चिकित्सता ॥

सन्निपात की चिकित्सा करने को वैद्य लोग पत्थर के द्वारा समुद्र को तैरना तथा मृत्यु के साथ युद्ध करना मानते हैं ॥

सन्निपातार्णवे मग्नं योऽभ्युद्धरति देहिनम् ।
कस्तेन न कृतो धर्मः कां च पूजां स नार्हति ॥

सन्निपातरूपी समुद्र में डूबते हुए रोगी का जो उद्धार करता है, उसने कौन सा धर्म नहीं किया है? तथा वह किस पूजा के योग्य नहीं है? अर्थात् इससे बढ़कर कोई धर्म नहीं है तथा उसकी सब प्रकार से पूजा करनी चाहिये ॥

सन्निपाते समुत्पन्ने किमादावभ्युपक्रमेत् ।
एतत् प्रश्नमतश्चोर्ध्वं चिकित्सोपक्रमं शृणु ॥

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सन्निपात रोग के उत्पन्न होने पर प्रारंभ में क्या उपक्रम करना चाहिये अर्थात् प्रारंभ में किस दोष की चिकित्सा करनी चाहिये। इस लिये अब इसकी चिकित्सा का उपक्रम सुन ॥

संमोहस्तत्र भूयिष्ठं भिषजो यान्त्यनिश्चिताः ।
अग्रे मूले च भैषज्यं कुर्वन्तो घ्नन्ति मानवान् ॥

निश्चय के अभाव के कारण वैद्य अत्यन्त मोह को प्राप्त होते हैं तथा कभी प्रारंभ की एवं कभी अन्त की चिकित्सा करते हुए प्राणियों को मार देते हैं। अर्थात् निश्चयाभाव से कभी किसी दोष की तथा कभी किसी दोष की चिकित्सा करने से रोगी को मार देते हैं ॥

यं दोषमुल्बणं पश्येत् सन्निपाते स्वलक्षणैः ।
तस्याग्रे निग्रहं कुर्यादित्यन्यभिषजो विदुः ॥

कुछ वैद्य कहते हैं कि सन्निपात में अपने लक्षणों के द्वारा जिस दोष को बढ़ा हुआ देखे प्रारम्भ में उसकी चिकित्सा करे ॥

वृद्धजीवक ! नैवं तु वयं कुर्मश्चिकित्सितम् ।
असम्यग्दर्शिनस्ते तु य एवं भिषजो विदुः ॥

हे वृद्धजीवक ! हम इस प्रकार से चिकित्सा नहीं करते हैं। जो वैद्य ऐसा कहते हैं वे असम्यक्दर्शी होते हैं अर्थात् उन्हें यथावत् ज्ञान नहीं होता है ॥

श्लेष्मनिग्रहमेवादौ कुर्याद्व्याधौ त्रिदोषजे ।

निरस्ते श्लेष्मणि ह्यस्य स्रोतःसूद्घाटितेषु च ।
लाघवं जायते सद्यस्तृष्णा चैवोपशाम्यति ॥
शिरोहृदयकर्णस्य पार्श्वरुक् चोपशाम्यति ।
जिह्वागुरुजडत्वं च दृष्टिश्चैव प्रसीदति ॥
तस्मात् पुनः पुनः कुर्याच्छ्लेष्मकर्षणमौषधैः ।

त्रिदोषज व्याधि (सन्निपात) में सर्वप्रथम श्लेष्मा (कफ) की ही चिकित्सा करनी चाहिये । कफ के निकल जाने पर अथवा शान्त हो जाने पर सब स्रोत खुल जाते हैं । शरीर शीघ्र ही लघु (हलका) हो जाता है । तृष्णा शान्त हो जाती है । शिर, हृदय, कान तथा पार्श्वों के रोग शान्त हो जाते हैं । जिह्वा गुरु (भारी) तथा जड़ हो जाती है और दृष्टि प्रसन्न हो जाती है । इसलिये ओषधियों से पुनः २ श्लेष्मा (कफ) का कर्षण करे । चरक चि० अ० ३ में भी सन्निपात ज्वर का निम्नचिकित्सा सूत्र दिया है—वर्धनेनैकदोषस्य क्षपणेनोच्छ्रितस्य वा । कफस्थानानुपूर्व्या वा सन्निपातज्वरे जयेत् ॥ अर्थात् एक दोषकी वृद्धि तथा वृद्ध दोष को क्षीण करके सन्निपात की चिकित्सा करे अथवा कफ स्थान के अनुसार ही चिकित्सा करनी चाहिये । अर्थात् जब सन्निपात में दोष तरतम भेद से बढे हुए विद्यमान हों तो वृद्ध को बढ़ाये परन्तु साथ ही वृद्धतर तथा वृद्धतम दोषों को घटाने का प्रयत्न करना चाहिये । परन्तु यदि सन्निपात में तीनों दोष समावस्था में हों तो उस अवस्था में पहले कफ की ही चिकित्सा करनी चाहिये । अर्थात् सर्वप्रथम लङ्घन आदि के द्वारा कफ को शान्त करना चाहिये । परन्तु यह क्रम ज्वरों में ही होता है अन्य सन्निपातों में नहीं । वहां प्रायः पूर्व वात की ही चिकित्सा करनी चाहिये ॥

उदीर्णदोषं प्रथमे दिवसे वामयेन्नरम् ॥
विशोषितं न वमयेदमेध्यं हि वमेत्तथा ।

पहले दिन जिसके दोष उदीर्ण हुए हैं उस व्यक्ति को वमन कराये । जिसका शोषण हुआ है उसे वमन न कराये तथा अमेध्य (अपवित्र) वस्तु का ही वमन कराये ॥

सर्वेषु सन्निपातेषु न क्षौद्रमवचारयेत् ॥
शीतोपचारि हि क्षौद्रं शीतं चात्र विरुध्यते ।

सब प्रकार के सन्निपातों में मधु का प्रयोग नहीं कराना चाहिये । क्योंकि मधु शीतोपचारी (शीतल उपचार=चिकित्सा वाला) है तथा सन्निपात में शीतोपचार विरुद्ध माना गया है॥

उष्णोपचारी सततं सन्निपाती प्रशस्यते ॥
वर्जयेच्च दिवास्वप्नं धृतिं सत्त्वं च संश्रयेत् ।

सन्निपात ज्वर में सदा उष्णोपचार (उष्ण चिकित्सा) प्रशस्त माना गया है। इसके साथ दिवास्वप्न का त्याग करना चाहिये तथा धैर्य एवं सत्त्व (मानसिक बल) को स्थिर रखना चाहिये ॥

लङ्घनं स्वेदनं नस्यं मर्दनं कवलग्रहः ॥
एतान्यादौ प्रयुञ्जीत सन्निपातेषु युक्तिवित् ।

युक्ति को जानने वाला वैद्य सन्निपात में प्रारम्भ में लङ्घन, स्वेदन, नस्य, मर्दन (मालिश) तथा कवलग्रह (सुखं संचार्यते या तु मात्रा स कवलग्रहः) का प्रयोग करे ॥

वक्तव्य—लङ्घन का अर्थ अनशन के साथ निर्बल मनुष्यों के लिये लघु भोजन भी होता है । लङ्घन का लक्षण चरक में निम्न दिया है—शरीरलाघवकरं यद् द्रव्यं कर्म वा पुनः । तल्लङ्घनमिति ज्ञेयम् ॥

त्रिरात्रं पञ्चरात्रं वा दशरात्रमथापि वा ॥
लङ्घनं सन्निपाते तु कुर्याद्वाऽऽरोग्यदर्शनात् ।

सन्निपात में लङ्घन की मर्यादा—सन्निपात में तीन, पांच तथा दस दिन तक अथवा आरोग्य (स्वास्थ्य) की प्राप्ति पर्यन्त लङ्घन कराना चाहिये । अर्थात् जब तक शरीर स्वस्थ या रोगमुक्त न हो जाय तब तक लङ्घन का प्रयोग करना चाहिये । चरक चि० अ० ३ में भी लङ्घन की मर्यादा दी है—प्राणाविरोधिना चैनं लङ्घनेनोपपादयेत् । बलाधिष्ठानमारोग्यं यदर्थोऽयं क्रियाक्रमः ॥ अर्थात् लंघन के द्वारा जक तक प्राण एवं बल की क्षीणता न हो तब तक लंघन किया जा सकता है । अष्टांगसंग्रह में लंघन का निम्न प्रयोजन दिया है—आमाशयस्थो हत्वाग्निं सामो मार्गान् पिधापयन् । विदधाति ज्वरं दोषस्तस्माल्लङ्घनमाचरेत् ॥ अर्थात् आमरस के द्वारा ही रोग उत्पन्न होते हैं । लङ्घन के द्वारा आमरस का शीघ्र ही पाचन हो जाता है जिससे ज्वर आदि रोग शान्त हो जाते हैं । चरक में भी कहा है—लङ्घनेन क्षयं नीते दोषे संधुक्षितेऽनले । विज्वरत्वं लघुत्वं च क्षुच्चैवास्योपजायते ॥

प्रकाङ्क्षा लाघवं ग्लानिः स्वच्छता संप्रसन्नता ॥
उपद्रवनिवृत्तिश्च सम्यग्लङ्घितलक्षणम् ।

सम्यक् लङ्घित के लक्षण—लंघन के सम्यक् प्रकार से हो जाने पर प्रकांक्षा (भोजन में रुचि), लघुता, ग्लानि, शरीर की स्वच्छता, प्रसन्नता तथा उपद्रवों की शान्ति ये लक्षण होते हैं । सृष्टमारुतविण्मूत्रं क्षुत्पिपासासहं लघुम् । प्रसन्नात्मेन्द्रियं क्षामं नरं विद्यात्सुलङ्घितम् ॥

अग्लानिगौरवाश्रद्धाविकृतिश्चाविशोषिते ॥
संमोहक्षामशैथिल्यवातरुक् चातिलङ्घिते ।

अतिलङ्घित के लक्षण—लंघन के मात्रा से अधिक हो जाने पर ग्लानि का अभाव, शरीर की गुरुता (भारीपन), अश्रद्धा (भोजन में अरुचि), विकार, आवश्यकता से अधिक शोषण, संमोह (मूर्च्छा), कमजोरी, शिथिलता तथा अन्य वातिक रोग आदि हो जाते हैं ॥

स्वेदाध्याये यथा प्रोक्ताः स्वेदाः सर्वाङ्गिकास्तथा ॥
तत्रास्य स्वेदयेत् प्रायो यत्र यत्रास्य वेदना ।

स्वेदाध्याय में जो सर्वाङ्गिक स्वेद गिनाये हैं—रोगी के

शरीर में जहां २ पीडा हो प्रायः उनके द्वारा स्वेदन देना चाहिये । चरक चि० अ० ३ में भी कहा है—त्रयोदशविधः स्वेदाध्याये निदर्शितः । मात्राकालविदा युक्तः ॥

कफो हि वायुना क्षिप्तो विष्टब्धः पार्श्वयोर्हृदि ॥
खरीकृतश्च पित्तेन शल्यवद्बाधते नरम् ।

वायु के द्वारा दूर हटाया गया तथा पार्श्व एवं हृदय में विष्टब्ध हुआ कफ पित्त के द्वारा खर (कठोर) होकर मनुष्य को शल्य (मनःशरीराबाधकराणि शल्यानि) की तरह कष्ट पहुंचाता है ॥

तस्याशुष्कस्य लीनस्य विलग्नस्य कृशात्मनः ॥
दुःखनिर्हरणं कर्तुं तीक्ष्णादन्यन्न भेषजात् ।

उस अशुष्क, लीन (झुके हुए), विलग्न तथा कृश शरीर वाले रोगीका दुःख (कष्ट-रोग) दूर करने के लिये तीक्ष्ण ओषधियों के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है अर्थात् इस अवस्था में तीक्ष्ण ओषधियों का ही प्रयोग करना चाहिये ॥

तस्य तीक्ष्णानि नस्यानि तीक्ष्णाश्च कवलग्रहाः ॥
स्वेदं दिवाजागरणं विदद्ध्यात् पार्श्वशूलिनः ।

उस व्यक्ति को यदि पार्श्वशूल हो तो उसे तीक्ष्ण नस्य, तीक्ष्ण कवलग्रह, स्वेद तथा दिनमें जागरण (दिन में न सोना) इत्यादि का प्रयोग करना चाहिये ॥

मातुलुङ्गार्द्रकरसं कोष्णं त्रिलवणान्वितम् ॥
अन्यद्वा सिद्धिविहितं तीक्ष्णं नस्यं विधापयेत् ।

ईषदुष्ण (हलके गरम) बिजौरे तथा अदरक के रस में तीनों नमक (सैन्धव, सामुद्र तथा विडनमक) मिलाकर अथवा सिद्धि स्थान में कहे हुए अन्य तीक्ष्ण नस्यों का प्रयोग करना चाहिये ॥

तेन प्रभिद्यते श्लेष्मा प्रस्विन्नश्च प्रसिच्यते ॥
शिरोहृदयमन्यास्यं दृष्टिश्चास्य प्रसीदति ।
प्रमीलकस्तालुशोषः श्वासः कासश्च शाम्यति ॥
पुनः पुनश्च निद्रायां कटु नस्याञ्जनं हितम् ।

इसके प्रयोग से कफ का भेदन हो जाता है तथा भेदन होने के बाद वह कफ स्विन्न होकर शरीर से बाहर निकल जाता है । जिससे शिर, हृदय, मन्या, मुख तथा दृष्टि प्रसन्न हो जाती है। उसके प्रमीलक (मूढता), तालुशोष, श्वास तथा कास शान्त हो जाते हैं । निद्रा आने पर पुनः २ कटु नस्य तथा अञ्जन का प्रयोग करना चाहिये ॥

तीक्ष्णैर्द्रव्यैः सलवणैर्मातुलुङ्गरसद्रवैः ॥
द्रवाम्लयुक्तैरथवा कोष्णाः स्युः कवलग्रहाः ।

तीक्ष्ण द्रव्यों से बिजौरे के रस में लवण मिलाकर अथवा अम्ल द्रव्यों से युक्त ईषदुष्ण कवलग्रहों (गरारों) का प्रयोग कराना चाहिये ॥

आर्द्रकस्वरसोपेतं सैन्धवं सकटुत्रिकम् ॥
आकर्षं धारयेदास्ये निष्ठीवेच्च पुनः पुनः ।

सैन्धव तथा त्रिकटु मिले हुए अदरक के स्वरस को जब तक कफ न निकले मुख में धारण करे तथा उसे बार २ थूक दे॥

तेनास्य हृदयश्लेष्मा मन्यापार्श्वशिरोगलात् ॥
लीनो व्याकृष्यते शुष्के लाघवं चास्य जायते ।
पर्वभेदो ज्वरो निद्राश्वासकासगलामयाः ॥
मुखाक्षिगौरवं जाड्यमुत्क्लेशश्चोपशाम्यति ।
सकृद्द्वित्रिचतुः कुर्याद् दृष्ट्वा दोषबलाबलम् ॥
एतद्धि परमं प्राहुर्भेषजं सन्निपातिनः ।

इससे उसकी लीन हुई हृदयस्थित श्लेष्मा का मन्या, पार्श्व, शिर तथा गले से कर्षण हो जाता है । उस श्लेष्मा के शुष्क हो जाने पर शरीर में लघुता हो जाती है तथा पर्वभेद (सन्धियों में पीडा), ज्वर, निद्रा, श्वास, कास, गले के रोग, मुख तथा आंखों का भारीपन, जड़ता तथा उत्क्लेश शान्त हो जाते हैं । दोष के बलाबल को देखकर इसका एक, दो, तीन अथवा चार बार आवश्यकतानुसार प्रयोग करना चाहिये । यह सन्निपात रोग की श्रेष्ठ ओषधि कही गई है ॥

श्लेष्मणा कृश्यमाणस्य सततं सन्निपातिनः ॥
(इति ताडपत्रपुस्तके १९४ तमं पत्रम् ।)
तृष्णा भवति शुष्कास्यहृत्कण्ठगलतालुनः ।

निरन्तर श्लेष्मा के द्वारा कृश किये जाते हुए तथा जिसका मुख, हृदय, कण्ठ, गला तथा तालु सूख गया है ऐसे सन्निपात के रोगी को प्यास लगती है ॥

तस्य तृष्णाप्रशमनं पानीयमुपदेक्ष्यते ॥
दीपनं कफवातघ्नं त्रिदोषघ्नमथापि वा ।

उसकी तृष्णा को शान्त करने के लिये दीपन, कफवात नाशक तथा त्रिदोषशामक पानीय (पेय द्रव्य) का उपदेश किया जायगा ॥

तेनास्य पच्यते श्लेष्मा पक्वः स्थानं विमुञ्चति ॥
कफे विमुक्ते च ततो याति वातोऽनुलोमताम् ।

इससे उसकी श्लेष्मा (कफ) पच जाती है तथा पकने के बाद अपने स्थान को छोड़ देती है । इस प्रकार कफ के अपने स्थान से हट जाने पर वायु की गति अनुलोम हो जाती है अर्थात् वायु ठीक प्रकार से नीचे की ओर गति करने लगता है॥

कफानिलानुलोम्येन पित्तमल्पबलीकृतम् ॥
सुचिकित्स्यं भवत्यस्य तस्य ह्यनुबलः कफः ।

इस प्रकार कफ तथा वायु के अनुलोम हो जाने से पित्त का बल भी कम हो जाता है तथा उसकी आराम से चिकित्सा की जासकती है। क्योंकि इस सन्निपात ज्वर में कफ का अनुबन्ध होता है ॥

अथैनं लङ्घितं ज्ञात्वा स्वल्पाबाधं प्रकाङ्क्षितम् ॥
दीपनीयोदके सिद्धां पेयामस्योपहारयेत् ।
शालीनां षष्टिकानां वा पुराणानां तु तण्डुलैः ॥
भृष्टैस्त्रिः प्रसुता रूक्षा सुखोष्णा लवणैर्युता ॥
शस्यते नातिबहला नचैनं बहु भोजयेत् ॥
स चेज्जीर्यत्यविघ्नेन तं विद्याज्जीवितं नरम् ।

तदनन्तर रोगी का सम्यक् प्रकार से लङ्घन हुआ जानकर उसके कष्टों के कम हो जाने पर तथा भोजन में रुचि उत्पन्न होजाने पर दीपनीय जल में सिद्ध की हुई शालि अथवा सांठी के पुराने तथा भुने हुए चावलों की पेया का प्रयोग कराना चाहिये। वह पेया तीन बार प्रसुत की हुई, रूक्ष (स्नेह रहित), ईषदुष्ण तथा लवणयुक्त होनी चाहिये और अतिसान्द्र नहीं होनी चाहिये अर्थात् अर्धद्रव होनी चाहिये। तथा यह अधिक मात्रा में नहीं खानी चाहिये। यह पेया यदि उस रोगी को बिना विघ्न (कष्ट) के जीर्ण हो जाय तो यह समझना चाहिये कि वह जीवित रहेगा ॥

मुद्गमण्डस्तु तत्रैव तोये श्लेष्माधिके हितः ॥
सहार्द्रकः समरिचः ससौवर्चलसैन्धवः ।

कफ की अधिकता होने पर उसी दीपनीय जल में मुद्ग (मूंग का) मण्ड सिद्ध करके उसमें अदरक, मरिच, सौवर्चल तथा सैन्धव मिलाकर देना चाहिये ॥

मृद्वीकां भक्षयित्वाऽग्रे शर्कराक्षौद्रसंयुताम् ॥
पित्ताधिके च ससितां पेयामेवावचारयेत् ।

पित्त की अधिकता में पूर्व शर्करा एवं मधु सहित मुनक्का खाकर चीनी मिली हुई पेया का प्रयोग करना चाहिये॥

न तु स्नेहान्नपानं वा गुरूण्यन्यानि वा भिषक् ॥
भोजयेत् संनिपातेषु तद्ध्यस्य विषभोजनम् ।

सन्निपात ज्वरों में वैद्य को स्नेहयुक्त अन्न-पान तथा अन्य गुरु भोजनों का प्रयोग नहीं कराना चाहिये। यह इसके लिये विषयुक्त भोजन के समान होता है ॥

पेयामरोचकार्ताय भिषग्दद्यात् सदाडिमाम् ॥
नात्युष्णां नातिलवणां फलाम्लां यूषमेव वा ।
प्रदोषे भोजयेच्चैनं भुक्तमात्रे यथा स्वपेत् ॥
गुप्ते निवातेऽग्निमति सुखप्रावरणास्तृते ।

यदि रोगी को अरुचि हो तो वैद्य दाडिमयुक्त पेया का प्रयोग कराये जो अत्यन्त उष्ण न हो तथा जिसमें अधिक लवण न पड़ा हो। अथवा अम्लफलों का यूष देना चाहिये। सायंकाल इसका भोजन कराये तथा भोजन करके रोगी सुरक्षित एवं निवात स्थान में अग्नियुक्त अर्थात् गरम तथा सुखकारी बिस्तरे पर सोजाये ॥

सप्ताहं भोजयेच्चैनमन्नवृद्ध्याऽल्पमल्पशः ॥
ततो विरसिकां दद्यात्तक्रदाडिमसाधिताम् ।
यथादोषं कषायांश्च सन्निपातज्वरापहान् ॥

धीरे २ अन्न की वृद्धि करके रोगी को सप्ताह भर तक इसीका भोजन कराये। तदनन्तर तक्र एवं अनारदाने से सिद्ध की हुई विरसिका का सेवन कराये तथा दोष के अनुसार सन्निपात-ज्वर को नष्ट करनेवाले कषायों का प्रयोग कराये। विरसिका—मुद्ग, तक्र तथा अम्ल से सिद्ध किये हुए यूष को विरसिका कहते हैं। इसी ग्रन्थ के खिलस्थान-यूषनिर्देशीयाध्याय में कहा है—'मुद्गतक्राम्लसिद्धस्तु यूषो विरसिका स्मृतः' ॥

सम्यक्परिणते चान्ने विदध्याज्जाङ्गलं रसम् ।
रूक्षोष्णव्योषलवणं तेन वा त्र्यहमाशयेत् ॥
ततो बदरमात्रस्तु स रसस्त्र्यहमिष्यते ।

इस अन्न के सम्यक् प्रकार से जीर्ण हो जाने पर रूक्ष (स्नेह रहित), उष्ण तथा त्रिकटु और लवणयुक्त जांगल मांसरस का तीन दिन तक बेर के प्रमाण में प्रयोग करना चाहिये ॥

दशमूलादिनिर्यूहे लावाद्यादानसंस्कृतः ॥
व्यक्ताम्ललवणस्नेहो रसः स्यादनिलोत्तरे ।

वात प्रधान रोग में दशमूल के क्वाथ में लाव (बटेर) आदि के द्वारा सिद्ध किया हुआ तथा जिसमें अम्ल, लवण एवं स्नेह पर्याप्त मात्रा में मिला हुआ है—ऐसा मांसरस डालकर प्रयोग कराना चाहिये ॥

सर्पिषा मुद्गनिर्यूहः प्रत्यादानेन संस्कृतः ॥
मन्दस्नेहाम्ललवणः कार्यः पित्तोत्तरे गदे ।

पित्त प्रधान रोग में मूंग के निर्यूह (क्वाथ) को घी के द्वारा संस्कृत करके तथा उसमें थोड़ा स्नेह, अम्ल एवं लवण डालकर प्रयोग कराना चाहिये ॥

तथा कुलत्थनिर्यूहे शशाद्यादानसंस्कृतः ॥
सबालमूलकव्योषः किञ्चित्स्नेहः कफोत्तरे ।

कफ प्रधान रोग में कुलथी के क्वाथ में खरगोश के मांस द्वारा सिद्ध किये हुये कच्ची मूली के क्वाथ में त्रिकटु तथा थोड़ा सा स्नेह मिलाकर प्रयोग कराना चाहिये ॥

जातप्राणं तु दृष्ट्वैनमीषद्रोगावलम्बितम् ॥
विस्रंसनेन मृदुनाऽऽभोज्य स्निग्धं विरेचयेत् ।
दोषशेषं तु तद्ध्यस्य विरिक्तस्योपशाम्यति ॥

इस प्रकार रोगी को जातप्राण (लब्धबल) जानकर रोग के अल्पमात्रा में शेष रहने पर विस्रंसन (विरेचन) एवं मृदु भोजन के द्वारा स्निग्ध विरेचन कराये। विरेचन होने के बाद इसके बचे हुए दोष भी शान्त हो जाते हैं ॥

इति क्रमः समुद्दिष्टः कषायानपि मे शृणु ।

इस प्रकार सन्निपात रोगी के लिये यह भोजन का क्रम

कहा गया है । अब तू मेरे से सन्निपात रोग के लिये कषायों को सुन ॥

पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरम् ॥
दीपनीयः स्मृतो वर्गः कफानिलगदापहः ।
रोचनो दीपनो हृद्यो लघुः सांग्राहिकः परः ॥

पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक तथा सोंठ—यह कफ तथा वात रोगों को नष्ट करने के लिये दीपनीय वर्ग कहा है । यह रुचिकारक, दीपक, हृद्य, लघु, एवं अत्यन्त संग्राहक होता है ॥

शटीपौष्करपिप्पल्यो बृहती कण्टकारिका ।
शुण्ठी कर्कटकी भार्गी दुरालम्भा यवानिका ॥
शूलानाहविबन्धघ्नं शट्याद्यं कफवातनुत् ।

शटी (कपूरकचरी), पुष्करमूल, पिप्पली, बृहती (बड़ी कटेरी), कण्टकारिका (कटेरी-रींगणी), सोंठ, काकड़ाशृंगी, भारंगी, दुरालभा, यवानिका (अजवायन)—यह शट्यादि वर्ग शूल, आनाह, विबन्ध तथा कफ और वात रोगों को नष्ट करने वाला है ।

मुस्तपर्पटकोशीरदेवदारुमहौषधम् ॥
त्रिफला सदुरालम्भा नीली कम्पिल्लकस्त्रिवृत् ।
किराततिक्तकं पाठा वचा कटुकरोहिणी ॥
मधुकं पिप्पलीमूलं मुस्ताद्यो गण उच्यते ।
संशोधनः संशमनस्त्रिदोषघ्नोऽग्निदीपनः ॥
अष्टादशाङ्गमुदकमेतद्वा स्यात् सपार्वतम् ।
पित्तोत्तरे सन्निपाते प्रशस्तं तीर्थकर्तृभिः ॥

(इति ताडपत्रपुस्तके १९५ तमं पत्रम्)

नागरमोथा[1], पित्तपापड़ा[2], खस[3], देवदारु[4], सोंठ[5], त्रिफला (हरड़[6], बहेड़ा[7], आंवला[8]), दुरालभा[9], नीली[10], कमोला[11], त्रिवृत्[12], चिरायता[13], पाठा[14], बच[15], कटुरोहिणी[16] (कटुकी), मुलहठी[17] तथा पिप्पलीमूल[18] । यह मुस्तादि गण कहलाता है । यह शोधक, शामक, त्रिदोषनाशक तथा अग्निदीपक है । पित्तोत्तर सन्निपात में आचार्यों ने इन उपर्युक्त १८ द्रव्यों का क्वाथ अथवा उसमें महानिम्ब (वकायन) मिलाकर प्रयोग करने को कहा है ।

दीपनं पञ्चमूलं वा शट्याद्यं वा प्रकल्पितम् ।
सपञ्चदशमूलं वा शृतं पेयं लघूदकम् ॥

दीपन करने वाले पञ्चमूल अथवा शट्यादि कषाय का प्रयोग करना चाहिये । अथवा पञ्चमूल या दशमूल से सिद्ध लघु (थोड़े) जल का पान करना चाहिये ॥

सुखोष्णं वा भृशोष्णं वा दृष्ट्वा दोषबलाबलम् ।
पार्वत्याः पञ्चमूल्या वा शृतं तोयं सदीपनम् ॥

महानिम्ब अथवा पञ्चमूल द्वारा सिद्ध एवं दीपन जल को दोष और बल के अनुसार हलके अथवा अधिक गरम रूप में प्रयोग करना चाहिये ॥

समुस्तकं पर्पटकमथवा सदुरालभम् ।
पेयं पित्तोत्तरे व्याधौ कोष्णं सर्वं च शस्यते ॥

सम्पूर्ण पित्त प्रधान रोगों में नागरमोथा, पित्तपापड़ा अथवा दुरालभा का ईषदुष्ण कषाय पीना चाहिये ॥

पिप्पल्यादिर्वचादारुवयस्थासर(ला)न्वितः ।
पेयः कफोत्तरे सामे सहिङ्गुक्षारसैन्धवः ॥
दोषास्तेनाशु पच्यन्ते विबन्धश्चोपशाम्यति ।

आमयुक्त कफ प्रधान रोग में पिप्पल्यादि गण, वचा, देवदारु, वयस्था (गिलोय) तथा सरल (चीड़) के कषाय में हींग, क्षार तथा सेन्धा नमक मिलाकर देना चाहिये । इससे शीघ्र ही दोषों का पाक हो जाता है तथा मलबन्ध की शान्ति हो जाती है ॥

अभया कट्फलं भार्गी भूतीकं देवदारु च ॥
वचा पर्पटकं मुस्तं धान्यकं विश्वभेषजम् ।
सहिङ्गुमाक्षिकः पेयो व्याधौ वातकफोत्तरे ॥

वात तथा कफ प्रधान रोग में अभया (हरड़), कायफल, भारङ्गी, भूतीक (कत्तृण), देवदारु, वचा, पित्तपापड़ा, नागरमोथा, धनिया तथा सोंठ का कषाय हींग एवं मधु मिलाकर पिलाना चाहिये ॥

दुरालभा वचा दारु पिप्पली भद्ररोहिणी ।
महौषधं कर्कटकी बृहती कण्टकारिका ॥
क्वाथः सलवणः पेयः सन्निपातज्वरापहः ।

सन्निपात ज्वर को नष्ट करने के लिये दुरालभा, बच, देवदारु, पिप्पली, भद्ररोहिणी, सोंठ, कर्कटकी (काकड़ाशृंगी), बृहती (बड़ी कटेरी) तथा कण्टकारी (रींगणी) के क्वाथ में लवण मिलाकर पीना चाहिये ॥

त्रिफला रोहिणी निम्बं पटोलं कटुकत्रयम् ॥
पाठा गुडूची वेत्राग्रं सप्तपर्णं सवत्सकम् ।
किराततिक्तकं मुस्ता वचा चेत्येकतः शृतम् ॥
कफोत्तरं निहन्त्येतत् पानादग्निं च दीपयेत् ।

त्रिफला, रोहिणी (कटुरोहिणी-कटुकी), नीम, पटोल, त्रिकटु (सोंठ, मरिच, पीपल), पाठा, गिलोय, बेंत का अग्रभाग, सप्तपर्ण, कुटज, चिरायता, नागरमोथा तथा बच आदि एक २ का क्वाथ पीने से कफ प्रधान व्याधि नष्ट होती है तथा जाठराग्नि प्रदीप्त होती है ॥

आरग्वधवचानिम्बपटोलोशीरवत्सकम् ॥
शार्ङ्गेष्टाऽतिविषा मूर्वा त्रिफला सदुरालभा ।
भद्रमुस्ता बला पाठा मधुकं भद्ररोहिणी ॥

१. समहानिम्बमित्यर्थः ।

कषाय एष शमयेज्ज्वरमाशु त्रिदोषजम् ।
जाड्यं सशोफमाध्मानं गुरुत्वं चापकर्षति ॥
मन्यास्तम्भमुरोघातमुरःपार्श्वशिरोरुजः ।

अमलतास, वच, नीम, परवल, खस, कुटज, शार्ङ्गेष्टा (काकजंघा अथवा काकमाची), अतीस, मरोड़फली, त्रिफला, दुरालभा, भद्रमुस्ता (मोथे का भेद), बला, पाठा, मुलहठी, भद्ररोहिणी—इनका कषाय शीघ्र ही त्रिदोषज (सन्निपात) ज्वर को शान्त करता है। इसके प्रयोग से जडता, शोथ, आध्मान, गुरुता, मन्यास्तम्भ, उरोघात (उरःक्षत), उदरशूल, पार्श्वशूल एवं शिरःशूल आदि नष्ट होते हैं ॥

उपनाहैः सलवणैरभ्युष्णैरुपनाहयेत् ॥
चिरकालोपवासस्य नस्योष्णकवलग्रहैः ।
हृदयं क्षण्यते जन्तोः पार्श्वकण्ठौष्ठताल च ॥
क्षतोरस्को घनं श्लेष्म सरक्तं ष्ठीवते ततः ।
ष्ठ्यूते चायस्यते मूर्च्छंस्तेन जन्तुर्विगच्छति ॥
दह्यते जठरं चास्य किञ्चिच्च परिकूजति ।
निद्रायते च पीत्वाऽऽशु जीर्णे जागर्ति चोदके ॥

उपर्युक्त रोग यदि चिरकालीन हों तो लवणयुक्त उष्ण उपनाहों (पुलटिसों) के द्वारा इसका उपनाह (स्वेदन) करना चाहिये। इसके विपरीत नस्य तथा उष्ण कवल ग्रहों के प्रयोग से रोगी का हृदय, पार्श्व, कण्ठ, ओष्ठ एवं तालु क्षत-युक्त हो जाते हैं। उसे उरःक्षत हो जाता है तथा उसके थूक के साथ रक्तयुक्त गाढ़ी श्लेष्मा निकलती है। रोगी वार २ थूकता है, वह थक जाता है तथा मूर्च्छित हो जाता है। रोगी के उदर में दाह होता है तथा कुछ गुड़गुड़ शब्द होते रहते हैं। इस कषाय के पीने के बाद रोगी को शीघ्र ही नींद आ जाती है तथा फिर कषाय के जीर्ण होने पर रोगी जागता है ॥

लङ्घनोष्णोपचाराद्वा व्याधौ पित्तोत्तरे नृणाम् ।
तीक्ष्णौषधप्रयोगाच्च पित्तमस्य प्रकुप्यति ॥

पित्त प्रधान रोगों में लंघन, उष्णोपचार एवं तीक्ष्ण ओषधियों के प्रयोग से रोगी का पित्त प्रकुपित हो जाता है ॥

पित्तोत्तरं सन्निपातमेभिर्ज्ञात्वा तु कारणैः ।
मुस्तादिक्वथितं तोयं शीतं समधुशर्करम् ॥
पाययेदातुरं काले तेन शर्म लभेत सः ।
विस्रस्यतेऽल्पमपि चेत्तेनैवाशु सुखी भवेत् ॥

उपर्युक्त कारणों (हेतुओं) के द्वारा पित्तप्रधान सन्निपात को जानकर रोगी को यथासमय मुस्तादि क्वाथ को ठण्डा करके उसमें मधु एवं शर्करा मिलाकर पिलाना चाहिये। इससे रोगी को शान्ति मिलती है। यदि इससे रोगी को थोड़ा भी विरेचन हो जाय तो उसे शीघ्र ही शान्ति मिल जाती है ॥

त्रिफला पिप्पली श्यामा केसरं शर्करा त्रिवृत् ।
सक्षौद्रो मोदको ह्येष पित्तोत्तरमपोहति ॥

त्रिफला, पिप्पली, श्यामा (काली त्रिवृत्), नागकेशर, शर्करा तथा अरुण त्रिवृत् के मधु के साथ मोदक (लड्डू) बनाकर प्रयोग करने से पैत्तिक रोग नष्ट हो जाते हैं ॥

यवकोलकुलत्थानां पञ्चमूलद्वयस्य च ।
त्रिफलायाश्च निष्क्वाथे सर्पिर्धीरो विपाचयेत् ॥
संहृत्य[1] कल्कानेतांश्च सुपिष्टान् भागकल्पितान् ।
मुस्ता पाठा वचा शुण्ठी रोहिणी चव्यचित्रकौ ॥
शृङ्गी दुरालभा शिग्रुः कैरातो रजनीद्वयम् ।
तेजोवती सोमवल्कः सप्तपर्णः सकेवुकः ॥
वयस्था पिप्पलीमूलं पिप्पली गजपिप्पली ।
छिन्नरुहा चातिविषा पत्रं निम्बपटोलयोः ॥
कण्डोपपुष्पी गोजिह्वा नक्तमालफलानि च ।
तुम्बुरुं पौष्करं मूलं मूलं च मदनार्कयोः ॥
क्षाराः सपञ्चलवणा हिङ्गुमात्रासमन्विताम् ।
(इति ताडपत्रपुस्तके १९६ तमं पत्रम् ।)
सिद्धमेतैर्यथान्यायं सर्पिः कटुकसंज्ञितम् ॥
पाययेन्मात्रया काले सन्निपातज्वरार्दितम् ।

कटुसर्पि—यव (जौ), कोल (बेर), कुलथी, दोनों (लघु एवं बृहत्) पञ्चमूल तथा त्रिफला के क्वाथ में धीर व्यक्ति घृत का पाक करे। इसमें नागरमोथा, पाठा, बच, सोंठ, रोहिणी (कटुकी), चव्य, चित्रक, काकड़ाशृंगी, दुरालभा, सहिजना, चिरायता, हरिद्रा, दारुहरिद्रा, तेजोवती (तेजवल), सोमवल्क (श्वेतखदिर), सप्तपर्ण, केवुक (कन्दशाक-फूलगोभी-Cabbage), वयस्था (हरड़), पिप्पली-मूल, पिप्पली, गजपिप्पली, छिन्नरुहा (गिलोय), अतीस, तेजपत्र, नीम, पटोल, (परवल), कण्डोपपुष्पी (?), गाजवां, अमलतास की फलियां, तुम्बुरु (धनिया), पुष्करमूल, मैनफल तथा आक की जड़—इनका अच्छी प्रकार पीसकर तथा उचित मात्रा में कल्क लेकर और इसमें सर्जक्षार, पांचों नमक तथा हींग की उचित मात्रा डालकर यथाविधि सिद्ध किया हुआ घृत कटुसर्पि कहलाता है। सन्निपात ज्वर से पीड़ित रोगी में मात्रा एवं काल के अनुसार इस घृत का प्रयोग कराना चाहिये ॥

लीनदोषावशेषं च विषमज्वरपीडितम् ॥
हृद्रोगं ग्रहणीदोषं वातगुल्मं प्लिहोदरम् ।
श्वासं कासं च शमयेद्बलमग्नेश्च दीपयेत् ॥

इसके सेवन से विषमज्वर से पीड़ित रोगी के लीन एवं अवशिष्ट दोष, हृद्रोग, ग्रहणी दोष, वातगुल्म, प्लीहोदर, श्वास तथा कास आदि शान्त होते हैं तथा जाठराग्नि प्रदीप्त होती है ॥

१. क्षतयुक्तं भवतीत्यर्थः ।

[1] समाहृत्य एकीकृत्येति यावत् ।

सन्निपातेषु भूयिष्ठं निवृत्तोपद्रवेष्वपि ।
श्लेष्मा च पार्श्वशूलं च निवर्तेत समश्नतः ॥

सन्निपात रोगों में पुनः उपद्रवों को शान्त हो जाने के बाद भी इसका सेवन करने से श्लेष्मा तथा पार्श्वशूल शान्त हो जाते हैं ॥

तस्याग्निं चिरकारित्वाद्भिषक् संदीपयेत् पुनः ।

बहुत देर हो जाने के बाद भी वैद्य को चाहिये कि उस सन्निपात के रोगी की जाठराग्नि को प्रदीप्त करे ॥

न चातिविश्वसेद्वैद्यो जितो व्याधिर्मयेति ह ॥
कृशे विरुद्धसेवित्वाच्चिराद्दोषः प्रकुप्यति ।
व्यावृत्तश्च पुनर्हन्ति सन्निपातो यथा विषम् ॥

वैद्य पूर्ण रूप से विश्वास न कर ले कि मैंने रोग को जीत लिया है क्योंकि कृश व्यक्ति में विरुद्ध आहार आदि के सेवन से कुछ देर के बाद भी दोष पुनः प्रकुपित हो जाता है। इस प्रकार दोबारा हुआ (Relapsed) सन्निपात विष के समान रोगी को मार देता है ।

वक्तव्य—ज्वर आदि में (Relapse) प्रायः भोजन के दोष से ही होता है। अधिक अथवा विषम भोजन से इसके होने की अधिक संभावना रहती है। (G. E. Beaumont) की (Medicine) में भी कहा है—'Relapses are more commen after a high caloric diet has been given'

सन्निपातात् समुत्तीर्णो यदि जीवति मानवः ।
क्षीणौजोबलमांसात्मा शीर्णश्मश्रुशिरोरुहः ॥
स्वरस्मृतिपरिभ्रष्टः क्षीणशुक्रो हतेन्द्रियः ।
अव्यक्तवाग्विवर्णश्च मन्दाग्निश्च भवत्यसौ ॥

सन्निपात ज्वर से पार हुआ या बचा हुआ रोगी यदि किसी प्रकार जीवित रहता भी है तो उसके ओज, बल, मांस एवं आत्मा क्षीण हो जाती है, दाढ़ी-मूँछ तथा सिर के बाल झड़ने लगते हैं, उसका स्वर तथा स्मृति शक्ति कमजोर हो जाती है, वीर्य क्षीण हो जाता है, सब इन्द्रियों की शक्ति नष्ट हो जाती है, उसकी वाणी एवं वर्ण अस्पष्ट हो जाता है तथा उसकी अग्नि मन्द हो जाती है ॥

सन्निपातेन मुक्तस्तु चिरादाप्यायते नरः ।
दृष्ट्वा संभोजनीयश्च पुनर्जन्म हि तस्य तत् ॥

सन्निपात ज्वर से छुटकारा पाने के बाद रोगी बहुत देर में पुष्ट होता है। उसे देखकर (ध्यानपूर्वक) भोजन कराना चाहिये क्योंकि वह उसका पुनर्जन्म होता है। अर्थात् सन्निपात ज्वर के बाद यह समझा जाता है कि मृत्यु के मुख से वापिस आया है। अतः उसका पुनर्जन्म हुआ समझना चाहिये ॥

तदवस्थो व्यभिचरेद्यदि रोगानवाप्नुते ।
ज्वरशोषारुचिप्लीहयक्ष्मपाण्डून्न जीवति ॥

इस अवस्था में रोगी यदि इस भोजन क्रम का उल्लंघन करे अर्थात् भोजन व्यवस्था का ठीक प्रकार पालन न करे तो उसे ज्वर, शोष, अरुचि, प्लीहावृद्धि, यक्ष्मा तथा पाण्डु आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं ॥

सर्वलक्षणसंपन्नः सर्वोपद्रवसंयुतः ।
त्रिरात्रोपेक्षितश्चापि सन्निपातो न सिद्ध्यति ॥

सब लक्षणों एवं सब उपद्रवों से युक्त सन्निपात रोग की यदि तीन दिन भी उपेक्षा की जाय तो फिर वह ठीक नहीं होता ॥

सन्निपाते निवृत्ते तु यो व्याधिरवलम्बते ।
सोपद्रवाँस्ताँश्चिकित्सेद्यथास्वैः स्वैश्चिकित्सितैः ॥

सन्निपात रोग के अच्छा हो जाने के बाद पीछे से जो रोग हो जाते हैं उन्हें उपद्रव कहते हैं। इन उपद्रवों की अपनी २ चिकित्सा के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिये ॥

एकाहारब्रह्मचर्यलघुपानान्नसेवनम् ।
अकर्मण्यमनायासः सुखशय्यासनस्थितिः ॥
दिवाजागरणं सद्भिः सुहृद्भिश्च सहासनम् ।
अभ्यङ्गाच्छादने चित्रं कदाचित् स्नेहमेव तु ॥
जाङ्गलाँश्च रसानुष्णान् कुलत्थरससाधितान् ।
वास्तुकं तण्डुलीयं च संस्कृतं बालमूलकम् ॥
सेवेत विधिवच्चैव द्वौ मासौ जीवितार्थिकः ।
त्रीन्मासाँश्चतुरो वाऽपि जिह्मत्वादस्य यक्ष्मणः ॥

सन्निपात रोग के बाद रोगी को दिन में एक समय भोजन करना चाहिये, ब्रह्मचर्यपूर्वक रहना चाहिये, तथा लघु अन्न-पान का सेवन करना चाहिये। उसे सहसा अधिक कार्य नहीं करना चाहिये, उसे सुखपूर्वक सोना तथा बैठना चाहिये। दिन में नहीं सोना चाहिये, सज्जन मित्रों के साथ बैठना चाहिये। नाना प्रकार के अभ्यङ्ग एवं आच्छादन का प्रयोग करना चाहिये। तथा कभी २ स्नेह का सेवन करना चाहिये। कुलथी के रस से सिद्ध किये हुए तथा उष्ण जांगल मांसरसों का प्रयोग करना चाहिये। बथुआ, चौलाई तथा संस्कार की हुई कच्ची मूली का सेवन करना चाहिये। इस प्रकार इस रोग के अत्यन्त कुटिल होने से जीवन को चाहने वाले रोगी को उपर्युक्त आहार-विहार का विधिपूर्वक दो, तीन अथवा चार मास तक सेवन करना चाहिये ॥

सुसृतेन समश्नीयात् पयसाऽऽज्येन पैत्तिकः ।
शर्कराक्षौद्रयुक्तेन गवां क्षीरेण वा पुनः ॥

यदि पित्त की अधिकता हो तो रोगी के द्वारा अच्छी प्रकार सिद्ध किये हुए दूध का सेवन करना चाहिये। अथवा शुद्ध गाय का दूध खाण्ड तथा मधुमिश्रित करके सेवन करना चाहिये ॥

कर्पूरचूर्णं तृष्णायां वदने धारयेत् सदा ।

तैलानि गन्धपुष्पाणि नित्यं मुख्यानि धारयेत् ॥

यदि रोगी को प्यास लगती हो तो मुख में सदा कर्पूर चूर्ण रखना चाहिये तथा नित्य तेल और गन्धयुक्त फूलों का धारण करना चाहिये ॥

औदकानूपमांसानि माषपिष्टतिलोत्कृतम् ।
मन्दजातानि मद्यानि गुरूण्यभिनवानि वा ॥
पायसं कृसरं चुक्रं शष्कुल्यो यावकं दधि ।
वर्जयेत्तानि सर्वाणि श्रद्धाभोजनमेव च ॥
अश्वव्यायामसंक्लेशं शीताम्बु मदिरासवम् ।
अवश्यायं पुरोवातमभ्युष्णं च विवर्जयेत् ॥

सन्निपात में अपथ्य—इसमें औदक तथा आनूप मांस, उड़द की पिट्ठी तथा तिलों के प्रयोग, मन्दजात (जो ठीक तरह से बनी नहीं है), गुरु तथा नवीन मद्य, खीर, खिचड़ी, चुक्र (सिरका), जलेबियां, जौ के योग, दही तथा अत्यन्त स्वादु भोजन आदि का (अधिक स्वादु भोजन होने से जिह्वा-लौल्य वश अधिक खा जाता है) तथा घुड़सवारी एवं व्यायाम के क्लेश, शीतल जल, मदिरा एवं आसव, ओस (ओस में सोना या घूमना आदि), सामने की हवा तथा उष्ण पदार्थों के प्रयोग का त्याग कर देना चाहिये ।

यानि तस्य प्रशस्यन्ते श्रद्धाभोज्यानि जीवक ! ।
पथ्यानि चान्नपानानि यथास्वं तानि मे शृणु ॥

हे जीवक ! इसके लिये जो २ श्रद्धा उत्पन्न करने वाले भोजन तथा पथ्यकारक अन्न-पान प्रशंसित माने गये हैं उनको यथाक्रम तू मेरे से सुन ॥

गुडसर्पिषि पिप्पल्यः संस्कृता दधिसाधिताः ।
तथा मुख्यं गुडकृतं भक्ष्या मुद्गमयाश्च ये ॥
यवगोधूमसंस्कारा दाधिकं शुष्कमूलकम् ।
मुद्गामलकयूषश्च तिक्तसूपश्च सर्पिषा ॥
एवं श्रद्धाविनयनं भिषक्कुर्यादरोचके ।
अप्रमादेन धर्मार्थी चिकित्सेन्मतिमान् भिषक् ॥

सन्निपात में पथ्य—गुड तथा घृत के साथ संस्कृत की हुई तथा दही में सिद्ध की हुई पिप्पली, मुख्य २ गुड के विकार या प्रयोग, मूंग के बने हुए भक्ष्य पदार्थ, जौ तथा गेहूं के संस्कार अर्थात् उनके बने हुए पदार्थ, दही के बने हुए पदार्थ, सूखी मूली, मूंग तथा आंवले का यूष (Juice), घृत मिला हुआ तिक्त पदार्थों का यूष आदि—इसके लिये पथ्य हैं। इस प्रकार अरुचि होने पर उपर्युक्त पदार्थों के द्वारा रोगी की भोजन में रुचि उत्पन्न करनी चाहिये । तथा धर्म की इच्छा करनेवाले एवं बुद्धिमान् चिकित्सक को इस रोगी की प्रमाद-रहित होकर चिकित्सा करनी चाहिये ॥

सूतिकोपक्रमाध्याये यच्च वक्ष्ये खिले मुने ! ।
तदिहापि प्रयोक्तव्यं सन्निपातचिकित्सितम् ॥

हे मुनि ! इसके अतिरिक्त खिलस्थान में सूतिका-सम्बन्धी चिकित्सा के अध्याय में जो विधान कहा जायगा, उस सबका यहां सन्निपात चिकित्सा में भी प्रयोग करना चाहिये ॥

इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ।

इति (कल्पस्थाने) विशेषकल्पः ।

ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था ।

इति (कल्पस्थाने) विशेषकल्पः ।

संहिताकल्पाध्यायः ।

अथातः संहिताकल्पं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ २ ॥

अब हम संहिता कल्प का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था ॥ १-२ ॥

संहिताध्ययने युक्तः शुचिः साधुर्जितेन्द्रियः ।
वैद्यो वैद्यकुले जातो ग्रन्थे चार्थे च निष्ठितः ॥ ३ ॥
स पृष्टोऽन्येन वैद्येन प्रब्रूयात् संहिताविधिम् ।

पवित्र, सज्जन, जितेन्द्रिय, वैद्यकुल में उत्पन्न हुए तथा ग्रन्थ एवं विषय में निष्ठा (विश्वास) रखने वाले वैद्य को संहिता के अध्ययन में तत्पर होना चाहिये । तथा दूसरे वैद्य के पूछने पर वह उसे संहिता की सम्पूर्ण विधि बताये ॥

कति स्थानमिदं तन्त्रं कस्मात्तन्त्रमिति स्मृतम् ॥४॥
स्थानानां कानि नामानि कर्माध्यायानि यानि च ।
(इति ताडपत्रपुस्तके १९७ तमं पत्रम्)
स्थाननामानुपूर्वीं च श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ ५ ॥

भगवन् ! मैं ठीक प्रकार से सुनना चाहता हूं कि इस तन्त्र में कितने स्थान हैं ? इसे तन्त्र क्यों कहा है ? स्थानों के क्या २ नाम हैं ? उनमें कर्म (विषय) एवं अध्याय कौन से हैं ? तथा इसमें उपर्युक्त स्थानों के क्या क्रम है ? इत्यादि विषयों को मैं तत्वपूर्वक सुनना चाहता हूं ॥ ४-५ ॥

अष्टौ स्थानानि वाच्यानि ततोऽतस्तन्त्रमुच्यते ।
अध्यायानां शतं विंशं योऽधीते स तु पारगः ॥ ६ ॥

इस संहिता में आठ स्थान हैं इस लिये इसे तन्त्र कहते हैं। इन आठ स्थानों में १२० अध्याय हैं। जो इस संहिता का अध्ययन करता है वह इस भवसागर से पार हो जाता है॥

सूत्रस्थाननिदानानि विमानान्यात्मनिश्चयः ।
इन्द्रियाणि चिकित्सा च सिद्धिः कल्पाश्च संहिता॥७॥

इस संहिता में सूत्र, निदान, विमान, शारीर, इन्द्रिय, चिकित्सा, सिद्धि तथा कल्प—ये आठ स्थान हैं ॥ ७ ॥

सूत्रस्थानं चिकित्सा च त्रिंशदध्यायके उभे ।

निदानानि विमानाश्च शारीराण्यष्टकानि तु ॥ ८ ॥
सिद्धयो द्वादशाध्यायाः कल्पाश्चैवेन्द्रियाणि च ।
खिलान्यशीतिरध्यायास्तन्त्रं सखिलमुच्यते ॥ ९ ॥

सूत्र एवं चिकित्सा स्थान इन दोनों में तीस २ अध्याय हैं। निदान, विमान एवं शारीर स्थान में आठ २ अध्याय हैं। सिद्धि, कल्प एवं इन्द्रिय स्थान में बारह २ अध्याय हैं। खिलस्थान में ८० अध्याय हैं। इस प्रकार खिलस्थान सहित यह सम्पूर्ण तन्त्र कहलाता है ॥ ८–९ ॥

धारणं ह्यस्य तन्त्रस्य वेदानां धारणं यथा ।
पुण्यं मङ्गल्यमायुष्यं दुःस्वप्नकलिनाशनम् ॥ १० ॥
धर्मार्थकाममोक्षाणां धर्म्यमायतनं महत् ।
सुखप्रदं नृणां शश्वद्धनमानयशस्करम् ॥ ११ ॥

वेदों के धारण के समान इस तन्त्र का धारण करना पुण्य एवं मंगलकारक, आयुष्य का देने वाला, दुःस्वप्न एवं कलि (पापों) का नाश करने वाला, धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष का देने वाला, धर्म का महान् आयतन, तथा प्राणियों को निरन्तर सुख, धन, मान, एवं यश का देने वाला है ॥१०॥

नाधार्मिको न चापुत्रो नाविद्वान्न च गर्हितः ।
नापूजितो नाविदितो लोके भवति पारगः ॥ १२ ॥

जो व्यक्ति धार्मिक, पुत्रवान् (पुत्र युक्त), विद्वान्, अनिन्दित, पूजा (आदर) युक्त तथा ज्ञानी नहीं है वह इस संसार सागर से पार नहीं हो सकता है ॥ १२ ॥

सततं चाप्यधीयानः सम्यगध्यापयन् भिषक् ।
इह लोके यशः प्राप्य शक्रलोके महीयते ॥ १३ ॥

निरन्तर इस शास्त्र का अध्ययन करने एवं सम्यक् प्रकार से अध्यापन करने से वैद्य इस लोक में यश को प्राप्त करके इन्द्रलोक (परलोक) में प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है ॥ १३ ॥

दक्षयज्ञे वधत्रासाद्देवर्षीणां पलायताम् ।
रोगाः सर्वे समुत्पन्नाः संतापाद्देहचेतसोः ॥ १४ ॥

प्रजापति दक्ष के यज्ञ में (रुद्र द्वारा यज्ञ के ध्वंस करने पर) मृत्यु के डर से पलायन करते (दौड़ते) हुए देवता और ऋषियों के देह (शरीर) एवं मन के सन्ताप से सम्पूर्ण रोग उत्पन्न हुए ॥ १४ ॥

ज्वरो गुरुत्वाद् गुल्मस्तु धावतां प्लवनात् प्लिहा ।
भ्रमो विषादाद्विड्भेदो धावतां वेगधारणात् ॥ १५ ॥
तृष्णा च रक्तपित्तं च श्रमादुष्णे च धावताम् ।
हिक्काश्वासौ कफाधिक्याद्धावतां पिबतां जलम् ॥१६॥
प्रागुत्पत्तिस्तथाऽन्येषां रोगाणां परिकीर्तिता ।
कृतत्रेतान्तरत्वेन प्रादुर्भूता यथा नृणाम् ॥ १७ ॥
धर्मार्थकाममोक्षेषु विद्याबलयशोहराः ।

शरीर के गुरु होने से ज्वर, उनके दौड़ने से गुल्म, प्लवन (तैरने) से प्लीहा (प्लीहावृद्धि–Enlargement of spleen), विषाद से भ्रम, दौड़ते हुए के वेगों को धारण करने से विड्भेद (अतिसार), दौड़ते हुए लोगों के उष्णकाल में श्रम (थकावट) से तृष्णा एवं रक्तपित्त, कफ की अधिकता एवं दौड़ते हुए जल पीने से हिक्का एवं श्वासरोग तथा अन्य भी धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, विद्या, बल एवं यश को नष्ट करने वाले रोग सत्ययुग तथा त्रेतायुग के मध्य में जिस प्रकार उत्पन्न हुए हैं, उनकी पूर्व उत्पत्ति का वर्णन किया गया है ॥ १५–१७ ॥

ततो हितार्थं लोकानां **कश्यपेन** महर्षिणा ॥१८॥
पितामहनियोगाच्च दृष्ट्वा च ज्ञानचक्षुषा ।
तपसा निर्मितं तन्त्रमृषयः प्रतिपेदिरे ॥ १९ ॥
जीवको निर्गततमा **ऋचीक**तनयः शुचिः ।
जगृहेऽग्रे महातन्त्रं संचिक्षेप पुनः स तत् ॥ २० ॥
नाभ्यनन्दन्त तत् सर्वे मुनयो बालभाषितम् ।

तब लोक कल्याण के लिये महर्षि कश्यप ने पितामह ब्रह्मा के नियोग एवं अपने ज्ञानचक्षुओं से देखकर तपस्या के प्रभाव से तन्त्र का निर्माण किया। तथा ऋषियों ने उसका प्रतिपादन किया। उसके बाद सर्वप्रथम तम (अज्ञान) से शून्य, पवित्र एवं ऋचीक के पुत्र जीवक ने इस महान् तन्त्र को ग्रहण करके संक्षिप्त किया। परन्तु सब ऋषियों ने बालभाषित (बालक का वचन) कहकर उसकी प्रशंसा नहीं की ॥ १८–२० ॥

ततः समक्षं सर्वेषामृषीणां **जीवकः** शुचिः ॥२१॥
गङ्गाह्रदे **कनखले** निमग्नः पञ्चवार्षिकः ।
वलीपलितविग्रस्त उन्ममज्ज मुहूर्तकात् ॥ २२ ॥

तब उस पांच वर्ष की आयु वाले एवं पवित्र जीवक ने सब ऋषियों के समक्ष कनखल स्थित गङ्गा के कुण्ड में डुबकी लगाई। तथा क्षणभर में झुर्रियों एवं सफेद बालों से युक्त होकर बाहर निकल आया ॥ २१–२२ ॥

ततस्तदद्भुतं दृष्ट्वा मुनयो विस्मयं गताः ।
वृद्धजीवक इत्येव नाम चक्रुः शिशोरपि ॥२३॥
प्रत्यगृह्णन्त तन्त्रं च भिषक्छ्रेष्ठं च चक्रिरे ।

तब इस अद्भुत घटना को देखकर सम्पूर्ण मुनियों को बड़ा आश्चर्य हुआ तथा उस बालक का नाम भी उन्होंने वृद्ध जीवक रख दिया। तथा उसके तन्त्र को स्वीकार करके उसे श्रेष्ठ वैद्य मान लिया ॥ २३ ॥

ततः कलियुगे नष्टं तन्त्रमेतद्यदृच्छया ॥ २४ ॥
अनायासेन यक्षेण धारितं लोकभूतये ।
वृद्धजीवकवंश्येन ततो **वात्स्येन** धीमता ॥

अनायासं प्रसाद्याथ लब्धं तन्त्रमिदं महत् ।

उसके बाद सहसा नष्ट हुए इस तन्त्र को लोककल्याण-के लिये कलियुग में अनायास नामक यक्ष ने धारण किया। तब वृद्ध जीवक के वंश वाले बुद्धिमान् वात्स्य ने अनायास नामक यक्ष को प्रसन्न करके इस महान् तन्त्र को प्राप्त किया॥

ऋग्यजुःसामवेदाँस्त्रीनधीत्याङ्गानि सर्वशः ॥ २६ ॥
शिवकश्यपयक्षांश्च प्रसाद्य तपसा धिया ।
संस्कृतं तत् पुनस्तन्त्रं वृद्धजीवकनिर्मितम् ॥ २७ ॥
धर्मकीर्तिसुखार्थाय प्रजानामभिवृद्धये ।

ऋक्, यजु, साम आदि तीनों वेदों एवं शिक्षा, व्याकरण आदि छओं अङ्गों का अध्ययन करके तथा अपनी तपस्या एवं बुद्धि के कारण शिव, कश्यप और यक्षों को प्रसन्न करके धर्म, कीर्ति तथा सुख एवं लोकसमृद्धि के लिये उसने वृद्धजीवक के बनाये हुए उस तन्त्र का संस्कार किया॥ २६-२७॥

स्थानेष्वष्टसु शाखायां यद्यन्नोक्तं प्रयोजनम् ॥ २८ ॥
तत्तद्भूयः प्रवक्ष्यामि खिलेषु निखिलेन ते ।

इस संहिता के आठों स्थानों तथा शाखाओं में जो २ विषय नहीं कहा गया है उसका मैं पुनः खिलस्थान में उपदेश करूंगा॥ २०॥

(इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥)

(इति) वृद्धजीवकीये तन्त्रे कौमारभृत्ये वात्स्यप्रतिसंस्कृते कल्पेषु संहिताकल्पो नाम द्वादशः ॥
समाप्तं च कल्पस्थानम् ॥ समाप्ता चेयं सहिता ॥
अतः परं खिलस्थानं भवति ॥

ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था।
इति कल्पस्थानंसमाप्तम्।

अथ नवमं खिलस्थानम्

विषमज्वरनिर्देशीयाध्यायः प्रथमः ।

अथातो विषमज्वरनिर्देशीयं नामाध्यायं व्याख्यास्यामः ॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ २ ॥

अब हम विषमज्वरनिर्देशीय नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था॥ १-२॥

कश्यपं सर्वशास्त्रज्ञं सर्वलोकगुरुं गुरुम् ।
भार्गवः परिपप्रच्छ संशयं संश्रितव्रतः ॥ ३ ॥

सम्पूर्ण शास्त्रों के ज्ञाता, सब लोकों के गुरु तथा महान् कश्यप से व्रत का धारण करने वाले भार्गव (वृद्धजीवक) ने संशय युक्त प्रश्न को पूछा॥ ३॥

प्रोक्तं ज्वरचिकित्सायां विषमज्वरभेषजम् ।
न निर्दिष्टं भगवता विषमत्वस्य कारणम् ॥ ४ ॥

आपने ज्वर चिकित्सा में विषम ज्वर की ओषधि का वर्णन किया था परन्तु वहां आपने विषमता का कारण नहीं बतलाया॥ ४॥

युक्तं सततकादीनां वैषम्यं विषमागतेः ।
अविसर्गी ज्वरः कस्मात् संततो विषमः स्मृतः ॥ ५ ॥
(इति ताडपत्रपुस्तके १९८ तमं पत्रम्)
प्रेतज्वरो ग्रहोत्थश्च विषमः केन हेतुना ।

विषम गति वाले सतत आदि ज्वरों की विषमता तो युक्तियुक्त है परन्तु अविसर्गी (निरन्तर रहने वाले) सन्तत ज्वर को विषम कहने का क्या अर्थ है? इसी प्रकार प्रेत-ज्वर एवं ग्रहोत्थ ज्वर को विषम मानने का क्या कारण है?॥५॥

तदिदानीं यथाकालं वक्तव्योऽव्ययमाद्यथा ॥ ६ ॥
वक्तुमर्हसि तत्त्वेन सविशेषं सविस्तरम् ।

अब आप यथासमय पृथक् २ तथा विस्तार पूर्वक इन सबोंका वर्णन करने की कृपा करें॥ ६॥

इति पृष्टः स शिष्येण प्रश्नं प्रोवाच कश्यपः ॥ ७ ॥

इस प्रकार शिष्य द्वारा प्रश्न पूछा जाने पर महर्षि कश्यप ने उत्तर दिया॥ ७॥

अल्पहेतुर्बहिर्मार्गो वैकृतो निरुपद्रवः ।
एकाश्रयः सुखोपायो लघुपाकः समो ज्वरः ॥ ८ ॥

समज्वर के लक्षण—स्वल्प कारणों वाला अर्थात् अल्प कारणों से उत्पन्न होने वाला, बहिर्भाग अर्थात् बहिर्वेग वाला, वैकृत (विकारों से उत्पन्न होने वाला), उपद्रव रहित, एक आश्रय वाला (चरक चि. अ. ३ में—ज्वर के रस, रक्त, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा, शुक्र आदि ७ आश्रय दिये हैं—इनमें से जो केवल एक को ही आश्रित करके हो), सुखपूर्वक जिसकी चिकित्सा की जा सके तथा जो लघुपाक वाला होता है वह समज्वर कहलाता है। बहिर्वेग ज्वर के चरक चि.अ.३ में निम्न लक्षण दिये हैं—सन्तापोऽभ्यधिको बाह्यस्तृष्णादीनां च मार्दवम्। बहिर्वेगस्य लिङ्गानि सुखसाध्यत्वमेव च॥ यह सुखसाध्य माना गया है॥ ८॥

विषमस्तद्विपर्यस्तस्तीक्ष्णत्वात् संततो मतः ।
तद्वत् प्रेतग्रहोत्था ये चत्वारो विषमागमात् ॥ ९ ॥

इसके विपरीत तीक्ष्ण होने के कारण सन्ततज्वर तथा प्रेत एवं ग्रहों से उत्पन्न होने वाले सतत आदि चारों ज्वर भी विषम गति के कारण विषमज्वर कहलाते हैं॥ ९॥

दुर्जयत्वा(द्दुर्ग्रहत्वा)दुग्रग्रहपरिग्रहात् ।
वैषम्यं संततादीनां दारुणत्वादुदाहृतम् ॥ १० ॥

दुर्जय (दुर्ग्रह) होने के कारण, उग्र ग्रहों द्वारा गृहीत होने तथा दारुण (भयंकर) होने के कारण सन्तत आदि को विषमज्वर कहा गया है ॥ १० ॥

तथा सततकादीनां चतुर्णां कालकारितम् ।
विषमत्वं प्रवक्ष्यामि ज्वराणां जायते यथा ॥ ११ ॥

इसी प्रकार सतत आदि चारों प्रकार के ज्वर भी काल के अनुसार जिस प्रकार विषम होते हैं उनका मैं वर्णन करूंगा ॥

समस्ता द्वन्द्वशो वाऽपि धमनी रसवाहिनीः ।
दोषाः प्रपन्नाः कुर्वन्ति विषमा विषमज्वरम् ॥ १२ ॥

सम्पूर्ण अथवा दो २ दोष रसवाहिनियों धमनियों में पहुंच कर विषम हुए विषमज्वर को उत्पन्न करते हैं ॥ १२ ॥

ज्वरितो मुच्यमानो वा मुक्तमात्रश्च यो नरः ।
व्यायामगुर्वसात्म्यान्नमतिमात्रमथो जलम् ॥ १३ ॥
पायसं कृशरं पिष्टं पललं दधि मन्दकम् ।
पिण्याकमाषविकृतीर्ग्राम्यानूपं तथाऽऽमिषम् ॥ १४ ॥
एवं विधानि चान्यानि विरुद्धानि गुरूणि च ।
सेवते च दिवास्वप्नमजीर्णाध्यशनानि च ॥ १५ ॥
ज्वरोऽभिवर्धते तस्य विषमो वाऽऽशु जायते ।

जो व्यक्ति ज्वरयुक्त अवस्था में, जो ज्वर से मुक्त होने की अवस्था में तथा जो ज्वर से मुक्त होने के बाद तुरन्त व्यायाम, गुरु एवं असात्म्य अन्न तथा अधिक मात्रा में जल, खीर, खिचड़ी, उड़द की पिट्ठी के बने हुए पदार्थ, मांस, अपूर्ण जमा हुआ दही, खल, उड़द के बने हुए पदार्थ, ग्राम्य तथा आनूप मांस तथा इसी प्रकार अन्य विरुद्ध एवं गुरु पदार्थों का तथा दिवास्वप्न, अजीर्ण एवं अध्यशन का सेवन करता है—उसका ज्वर बढ़ जाता है तथा वह शीघ्र ही विषम ज्वर का रूप धारण करलेता है ॥ १३–१५ ॥

दोषेष्वपरिपक्वेषु कषायं यश्च सेवते ॥ १६ ॥
लौल्याद्वा स्नेहपानानि क्षीरं संतर्पणानि वा ।
दैवतानामभिध्यानाद् ग्रहसंस्पर्शनादपि ॥ १७ ॥
सद्यो वान्तो विरिक्तो वा स्नेहपीतोऽनुवासितः ।
शीतोपचारं गुर्वन्नं व्यवायं यश्च सेवते ॥ १८ ॥
तस्यापि सहसा वायुरस्थिमज्जान्तरं गतः ।
कुपितः कोपयत्याशु श्लेष्माणं पित्तमेव च ॥ १९ ॥
ततोऽस्य धातुवैषम्याद्विषमो जायते ज्वरः ।
सततोऽन्येद्युको वाऽपि तृतीयः सचतुर्थकः ॥ २० ॥

दोषों के न पचने पर ही अर्थात् आमावस्था या ज्वर की तरुण अवस्था में ही जो कषाय का सेवन करता है अथवा जिह्वालौल्य के कारण जो व्यक्ति स्नेहपान, क्षीर अथवा सन्तर्पण (बृंहण) द्रव्यों का सेवन करता है, जो देवताओं द्वारा आक्रान्त तथा ग्रहों द्वारा स्पर्श किया जाता है अथवा वमन, विरेचन, स्नेहपान या अनुवासन का प्रयोग करने के बाद तुरन्त जो व्यक्ति शीत उपचार, गुरु अन्न तथा मैथुन का सेवन करता है—उस व्यक्ति के भी अस्थियों की मज्जा के अन्दर का वायु कुपित होकर शीघ्र ही कफ एवं पित्त को प्रकुपित कर देता है । इस प्रकार धातुओं के विषम हो जाने से उसे सतत, अन्येद्युक, तृतीयक तथा चतुर्थक नामक विषम ज्वर हो जाते हैं ।

वक्तव्य—कषाय–यहां कषाय शब्द से कसैले द्रव्यों का अथवा पांच प्रकार की कषायकल्पनाओं में से किसी भी कषाय रस प्रधान कल्पना का ग्रहण किया जाता है । क्योंकि कषाय रस स्तम्भक (Astringent) होने से दोषों की प्रवृत्ति नहीं होने देता इसीलिये दोषों की अपरिपक्वावस्था अथवा तरुण ज्वर में इसका निषेध किया गया है तथा स्वरस आदि पांचों कल्पनाओं में जो कषाय कल्पना है उसका भी त्याग करना चाहिये । कहा भी है—चतुर्भागावशिष्टस्तु यः षोडशगुणाम्भसा । स कषायः कषायः स्यात् स वर्ज्यस्तरुणज्वरे ॥ कषायं यः प्रयुञ्जीत नराणां तरुणज्वरे । स सुप्तं कृष्णसर्पन्तु कराग्रेण परामृशेत् ॥ **तथा**—न कषायं प्रयुञ्जीत नराणां तरुणे ज्वरे । कषायेणाकुलीभूता दोषा जेतुं सुदुष्कराः ॥ **इसी लिये चरक चि. अ. ३ में भी कहा है**—नवज्वरे दिवास्वप्नस्नानाभ्यङ्गान्नमैथुनम् । क्रोधप्रवातव्यायामकषायांश्च विवर्जयेत् ॥ १६–२० ॥

न च नोपशमं याति न च भूयो न कुप्यति ।
शमप्रकोपयोः कालं न चायमतिवर्तते ॥ २१ ॥

ये विषमज्वर शान्त न होते हों या पुनः प्रकुपित न होते हों—ऐसी बात नहीं है अर्थात् ये शान्त हो कर पुनः प्रकुपित हो जाते हैं । तथा इनका शमन एवं प्रकुपित होने के समय का उल्लंघन नहीं होता अर्थात् ये लगभग निश्चित समय पर शान्त होते हैं तथा निश्चित समय पर ही पुनः प्रकुपित होते हैं ॥ २१ ॥

न च स्वभावोपशमं गच्छत्यनुशयात्मकः ।
न हि स्वभावशान्तानां भावानामस्ति संभवः ॥ २२ ॥

अनुशय होने के कारण इनका स्वभाव शान्त नहीं होता । स्वभाव के शान्त हो जाने पर पदार्थों की पुनः उत्पत्ति नहीं होती है अर्थात् इनका स्वभाव नष्ट नहीं होता है इसलिये ये पूर्णरूप नष्ट नहीं हो पाते हैं तथा बार २ ये ज्वर अपना रूप प्रकट करते हैं ॥ २२ ॥

ज्वरप्रवेगोपरमे देही मुक्त इवेक्ष्यते ।
तथाऽप्यस्यामवस्थायामेभिर्लिङ्गैर्न मुच्यते ॥ २३ ॥
मुखवैरस्यकाटुक्यमाधुर्यादिभिरल्पशः ।
नात्यन्नलिप्साग्लानिभ्यां शिरसो गौरवेण च ॥ २४ ॥

ज्वर के वेग के शान्त हो जाने पर रोगी ज्वर से यद्यपि मुक्त हुआ प्रतीत होता है तथापि इस अवस्था में भी (अर्थात् वेग के शान्त होने पर भी) रोगी मुखवैरस्य (मुख की विर-

सता) तथा थोड़ा २ मुख का कड़वापन एवं मधुरता, अन्न की अधिक रुचि न होना, ग्लानि तथा सिर का भारी होना—इत्यादि लक्षणों से मुक्त नहीं हो पाता है ॥ २३-२४ ॥

पुनः पुनर्यथा चैष जायते तन्निबोध मे ।
निरुद्धमार्गो दोषेण विषमज्वरहेतुना ॥ २५ ॥
वायुस्तद्दोषकोपान्ते लब्धमार्गो यथाक्रमम् ।
दोषशेषं तमादाय यथास्थानं प्रपद्यते ॥ २६ ॥
स दोषशेषः स्वे स्थाने लीनः कालबलाश्रयात् ।
रसस्थानमुपागम्य भूयो जनयति ज्वरम् ॥ २७ ॥

यह विषमज्वर बार २ किस कारण से हो जाता है—वह अब तू मेरे से सुन—विषमज्वर को उत्पन्न करने वाले दोषों के द्वारा जिसका मार्ग रुक गया है ऐसा वायु उस दोष के प्रकोप के अन्त में मार्ग को प्राप्त करके क्रमशः उस बचे हुए दोष को लेकर यथास्थान पहुंच जाता है जिससे अपने स्थान पर लीन (स्थित) हुआ अवशिष्ट दोष काल एवं बल के आश्रय से रसस्थान (आमाशय) में पहुंच कर पुनः ज्वर को कर देता है। अष्टाङ्ग संग्रह चि. अ. १ में कहा है—आमाशयस्थो हत्वाग्निं सामो मार्गान् पिधापयन्। विदधाति ज्वरं दोषः''''''''॥ अर्थात् आमाशय में आम रस के साथ मिलकर दोष शरीर में स्रोतों के मुखों को बन्द कर देते हैं। इससे जाठराग्नि मन्द हो जाती है तथा भोजन का पाक नहीं हो पाता है। जितना ही भोजन किया जायगा उतनी ही शरीर में आमरस की उत्पत्ति होगी—जिससे ज्वर की वृद्धि होगी ॥ २५-२७ ॥

उपक्रमविशेषेण स्वबलस्य व्ययेन च ।
क्षयं प्राप्नोति वृद्धिं च समानगुणसंश्रयात् ॥ २८ ॥

चिकित्सा की विशेषता के कारण अथवा ज्वर के बल के कम होने के कारण समान गुण के आश्रित होने से ज्वर क्षय अथवा वृद्धि को प्राप्त करता है ॥ २८ ॥

सोऽयं निवृत्तिं संप्राप्य यथा दीपः स्वभावतः ।
पुनः पुनः प्रज्वलति क्षीणतैलेन्धनोऽपि सन् ॥ २९ ॥
स्वमधिष्ठानमाश्रित्य शान्तः शान्तस्तथा ज्वरः ।
काले बलं दर्शयति क्षीणदोषेन्धनोऽपि सन् ॥ ३० ॥

जिस प्रकार निवृत्ति को प्राप्त होने पर दीपक तैल रूपी इन्धन के क्षीण होने पर स्वभाव से ही पुनः २ प्रज्वलित होता रहता है, उसी प्रकार यह ज्वर अपने अधिष्ठान (आमाशय) में पहुंच कर शान्त हुआ भी दोषरूपी इन्धन के क्षीण होने पर स्वयमेव समय पर अपने बल को प्रकट करता है अर्थात् दोषों के क्षीण हो जाने पर स्वभाव के नष्ट न होने से पुनः ज्वर को प्रकट करता है ॥ २९-३० ॥

स्वहेतुदोषमाश्रित्य नियतो नियमेन यः ।
अहोरात्रे दर्शयति कालहेतुकृतं बलम् ॥ ३१ ॥
द्विकालं स यथादोषं ज्वरः सततकः स्मृतः ।
स्थानमामाशयस्तस्य यं समाश्रित्य वर्तते ॥ ३२ ॥

सतत ज्वर—ज्वरोत्पादक हेतु एवं दोष का आश्रय करके जो नियमपूर्वक दिन रात (२४ घण्टे) में दो बार निश्चित समय पर काल एवं हेतु कृत बल को प्रकट करता है उसे सतत ज्वर कहते हैं। इसका स्थान आमाशय होता है इसके आश्रित होकर यह बढता है। चरक चि. अ. ३ में इसकी सम्प्राप्ति निम्न प्रकार बताई है—रक्तधात्वाश्रयः प्रायो दोषः सततकं ज्वरम्। सप्रत्यनीकः कुरुते कालवृद्धिक्षयात्मकम् ॥ अहोरात्रे सततको द्वौ कालावनुवर्तते । कालप्रकृतिदूष्याणां प्राप्यैवान्यतमाद्बलम् ॥ ३१-३२ ॥

उरस्त्वन्येद्युकस्थानमहोरात्राद्दुरश्च्युतः ।
दोषो रसं समासाद्य यदा दर्शयते बलम् ॥ ३३ ॥
तदाऽनुषङ्गी स्वे काले जायतेऽन्येद्युको ज्वरः ।

अन्येद्युक ज्वर—अन्येद्युक ज्वर का स्थान उर (छाती) माना गया है। अहोरात्र (२४ घण्टे) में छाती से यह दोष आमाशयस्थित रस में पहुंच कर अपने बल को प्रकट करता है तथा यह अनुषङ्गी हुआ प्रतिदिन अपने समय पर होता है इसे अन्येद्युक ज्वर कहते हैं। चरक चि. अ. ३ में कहा है—दोषो मेदोवहा रुद्ध्वा नाडीरन्येद्युकं ज्वरम्। सप्रत्यनीकः कुरुते एककालमहर्निशि ॥ अर्थात् २४ घण्टे में इसका वेग एक बार होता है ॥ ३३ ॥

कण्ठस्तृतीयकस्थानमहोरात्राच्च्युतस्ततः ॥ ३४ ॥
(इति ताडपत्रपुस्तके १९९ तमं पत्रम् ।)
उरः प्रपद्यतेऽन्यस्मादहोरात्राद्यथाक्रमम् ।
रसधात्वाश्रितो दोष ऊष्मणा सह मूर्च्छितः ॥ ३५ ॥
तृतीयेऽहनि निर्वृत्तिं जनयेत् स तृतीयकः ।

तृतीयक ज्वर—तृतीयक ज्वर का स्थान कण्ठ होता है। प्रथम अहोरात्र (२४ घण्टे) में दोष कण्ठ से च्युत होकर उर (छाती) में पहुंचता है तथा दूसरे अहोरात्र में वह यथाक्रम रसधातु (आमाशय स्थित) में पहुंचकर ऊष्मा (उष्णता) के साथ मूर्च्छित हुआ तीसरे दिन पुनः प्रकट होता है। उसे तृतीयक ज्वर कहते हैं। अर्थात् दोष अपने स्थान कण्ठ से क्रमशः प्रथम दिन छाती में पहुंचता है तथा वहां से अगले दिन आमाशय में पहुंचता है आमाशय में पहुंचकर पूर्वोक्तानुसार दोष रसवाहिनियों के मार्गों को बन्द कर देता है तब ज्वर की उत्पत्ति होती है। इसलिये तृतीयक ज्वर एक दिन छोड़कर अर्थात् तीसरे दिन (४८ घण्टे में एकवार) उत्पन्न होता है ॥ ३४-३५ ॥

शिरश्चतुर्थकस्थानं चतुर्थं समुदाहृतम् ॥ ३६ ॥
अहोरात्राच्च्युतः स्थानाद्दोषः कण्ठेऽवतिष्ठते ।
ततः पुनरहोरात्रादुरसि प्रतिपद्यते ॥ ३७ ॥
तृतीये चाप्यहोरात्रे रसधातौ प्रकुप्यति ।

चतुर्थकः स विज्ञेयश्चिरस्थायी महाज्वरः ॥ ३८ ॥
गम्भीरस्थानसंभूतो धातुसंकरदूषितः ।
दर्शयित्वा बलं काले जन्तोः शिरसि लीयते ॥ ३९ ॥
त्रिदोषसंभवत्वाच्च भूतसंस्पर्शनादपि ।
दुश्चिकित्स्यतमो ह्येष तस्माद्यत्नेनमुपक्रमेत् ॥ ४० ॥

चतुर्थक ज्वर—चौथा चतुर्थक ज्वर होता है इसका स्थान शिर माना गया है। प्रथम अहोरात्र में अपने स्थान शिर से च्युत होकर दोष कण्ठ में पहुंचता है। अगले अहोरात्र में वह उर (छाती) में पहुंचता है तथा तृतीय अहोरात्र में वह दोष आमाशय स्थित रस धातु में पहुंचकर प्रकुपित होता है इसे चतुर्थक ज्वर कहते हैं। यह महाज्वर चिरस्थायी होता है अर्थात् यह अत्यन्त कठिनता से ठीक होता है। गंभीर स्थान में उत्पन्न होकर तथा अनेक धातुओं से दूषित हुआ यह अपने समय पर बलको प्रकट करके अर्थात् चतुर्थ दिन (७२ घंटे में एक वार) प्रकुपित होकर पुनः शिर में लीन हो जाता है अर्थात् वहां स्थित हो जाता है। त्रिदोष से उत्पन्न होने तथा भूतों का संसर्ग होने के कारण यह दुश्चिकित्स्य होता है इसलिये निम्न उपायों के द्वारा इसकी चिकित्सा करे। अर्थात् तीन अहोरात्र के बाद दोष अपने स्थान सिरसे यथाक्रम आमाशय में पहुंचता है इसलिये चतुर्थ दिन प्रकुपित होकर यह चतुर्थक ज्वर को करता है। तृतीयक तथा चतुर्थक ज्वर के लिये चरक चि० अ० ३ में कहा है—दोषोऽस्थिमज्जगः कुर्यात्तृतीयकचतुर्थकौ। अर्थात् अस्थि और मज्जा में पहुंचा हुआ दोष क्रमशः तृतीयक और चतुर्थक ज्वर को करता है। वहीं इन ज्वरों की गतियां निम्न प्रकार से कही गई हैं—गतिद्र्यैकान्तरान्येद्युर्दोषस्योक्ताऽन्यथा परैः। रक्तमेवाभिसंसृज्य कुर्यादन्येद्युकं ज्वरम् ॥ मांसस्रोतांस्यनुसृतो जनयेत्तु तृतीयकम्। ज्वरं दोषः संसृतो हि मेदोमार्गं चतुर्थकम् ॥ अर्थात् दोषों की गतियां क्रमशः प्रतिदिन, एक दिन छोड़कर अथवा दो दिन छोड़कर कही गई हैं। जब प्रतिदिन एक बार गति होती है तब अन्येद्युक ज्वर होता है। जब एक दिन के अन्तर से होती है तब तृतीयक और जब दो दिन के अन्तर से होती है तब चतुर्थक ज्वर होता है। सुश्रुत उ० अ० ३९ में ये गतियां निम्न प्रकार दी गई हैं—सन्ततं रसरक्तस्थः सोऽन्येद्युः पिशिताश्रितः। मेदोगतस्तृतीयेऽह्नि त्वस्थिमज्जगतः पुनः ॥ कुर्याच्चतुर्थकं घोरमन्तकं रोगसङ्करम् ॥ ३६–४० ॥

बलिभिः शान्तिहोमैश्च सिद्धैर्मन्त्रपदैस्तथा ।
पापापहरणं चास्य कर्तव्यं सिद्धिमिच्छता ॥ ४१ ॥
भूतेश्वरं नीलकण्ठं प्रपद्येत वृषध्वजम् ।

सिद्धि को चाहने वाले वैद्य को बलि, शान्ति, होम (शान्ति के निमित्त किये जाने वाले यज्ञ) तथा सिद्ध मन्त्रों के द्वारा इसके पाप का निराकरण करना चाहिये। नीलकण्ठ (नीले कण्ठ वाले) तथा वृषध्वज (जिसकी ध्वजा पर वृष-बैल का चिह्न हो) भूतेश्वर महादेव की उपासना करनी चाहिये ॥४१॥

चिरानुबन्धी विषमो यथाकालं विवर्धते ॥ ४२ ॥
एकाहाच्च द्व्यहाच्चैव त्र्यहाच्चतुरहात्तथा ।

चिरानुबन्धी (चिरकालीन अनुबन्ध वाला-जीर्ण) विषमज्वर यथासमय एक, दो, तीन तथा चार दिन बाद वृद्धि को प्राप्त होता है।

वक्तव्य—आधुनिक विज्ञान के अनुसार हम विषमज्वर को Malarial fever कह सकते हैं। पाश्चात्त्य विज्ञान मलेरिया को एक Specific protozoon (Malarial parasite) द्वारा उत्पन्न हुआ मानता है। मादा Anopheline नामक मच्छर के काटने से इसका संक्रमण मनुष्यों में होता है। इस पराश्रयी (Parasite) के दो Life cycles होते हैं। १. मनुष्य में Asexual cycle तथा २. मच्छर में Sexual cycle। सर्वप्रथम मच्छर के काटने से मनुष्य के अन्दर Sporozoite प्रविष्ट हो जाता है। वह रक्तकणों में प्रविष्ट होकर धीरे २ बढ़ता जाता है तथा अन्त में Merozoites के रूप में आजाता है। इस प्रकार Parasite का Asexual cycle मनुष्य में पूर्ण हो जाता है। अब जब मनुष्य को पुनः मच्छर काटता है तब ये मच्छर के आमाशय में पहुंचकर फिर वृद्धि को प्राप्त होते हैं तथा धीरे २ बढ़कर पुनः Sporozoites की अवस्था में मच्छर की लालाग्रन्थियों में पहुंच जाते हैं। इस प्रकार Parasite का Sexual cycle मच्छर में पूर्ण हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि Parasite के दो Life cycle हैं। इसे हम निम्न तालिका से प्रकट कर सकते हैं—
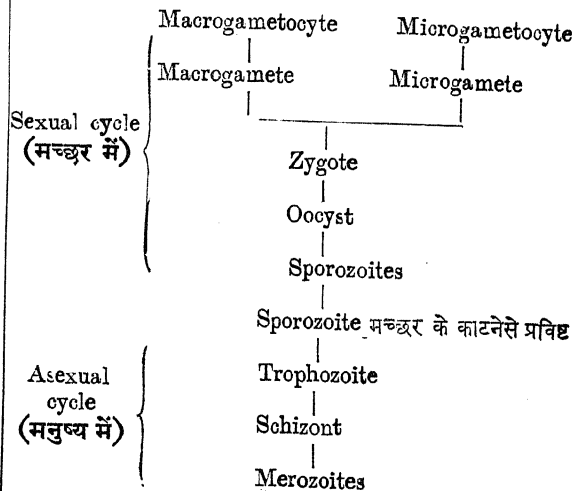
Malarial Parasite तीन प्रकार के होते हैं—

1. Plasmodium Vivex 2. P. Malarial 3. P. Falsiparum.

P. Vivex—यह Benign Tertian Malaria को उत्पन्न करता है। इसका Asexual cycle ४८ घण्टे का होता है अर्थात् यह तृतीयक ज्वर को करता है।

P. Malarial—यह Quartan Malaria को उत्पन्न करता

है। इसका Asexual cycle ७२ घण्टे का होता है। अर्थात् यह चातुर्थिक ज्वर को करता है।

P. Falsiparum—यह Malignant Tertian Malaria (Quotidian) को उत्पन्न करता है। इसका Asexual cycle २४-४८ घण्टे का होता है। यह अन्येद्युक को करता है। जब कभी साथ में ही दूसरा (Double) Infection हो जाता है तब सततज्वर (Double Tertian) होता है। रक्त में Spores के आने से जब उनका रक्त विष में मिलता है तब ज्वर का आक्रमण होता है। G. E. Beaumont की Medicine में लिखा है—The fever is thought to corres pond with the liberation of the spores in the blood, perhaps due to freeing of their toxins, but there must be a threshold value, a definite amount of toxin being required in any individual to produce a rise of temperature. इसी प्रकार अखिलरञ्जन मजूमदार की Bedside Midicine में भी लिखा है—The mature rose the ruptures and young parasites (merozoites) and a toxin are thrown into the general circulation. If many such red cells rupture liberating a quantity of toxin, a paroxysm of fever follows. ॥ ४२ ॥

पञ्चमेऽहनि षष्ठे वा कस्मादेष न जायते ॥ ४३ ॥
तस्य त्वामाशयः स्थानमुरः कण्ठः शिरस्तथा ।
स्थानमन्यत्ततो नास्ति स्थानाभावान्न जायते ॥ ४४ ॥

यह विषमज्वर पांचवें तथा छठे दिन क्यों नहीं होता है? इसका उत्तर—विषमज्वर के आमाशय, उर (छाती), कण्ठ तथा शिर ये चार स्थान हैं। इनके अतिरिक्त और कोई स्थान नहीं है। इसलिये अन्य स्थानों के अभाव से इन चार के अतिरिक्त पांचवें तथा छठे दिन यह ज्वर नहीं होता है ॥४३-४४॥

आग्नेयः स्यात् सततको वायव्यो हि द्वितीयकः ।
वैश्वदेवस्तृतीयः स्यादैशानस्तु चतुर्थकः ॥ ४५ ॥

सततज्वर आग्नेय (दक्षिण पूर्व दिशा) होता है। द्वितीयक (अन्येद्युक) वायव्य (पश्चिमोत्तर दिशा) होता है। तृतीयक वैश्वदेव तथा चतुर्थक ज्वर ऐशान (ईशान सम्बन्धी पूर्वोत्तर दिशा) होता है ॥ ४५ ॥

कस्मात् परिक्षीणबलः क्षीणधातुबलौजसः ।
ज्वरो विवर्धते जन्तोर्मोक्षकाले विशेषतः ॥ ४६ ॥

जिसका धातु, बल एवं ओज क्षीण हो गया है ऐसे व्यक्ति का क्षीण बल वाला ज्वर विशेषकर मोक्षकाल में क्यों वृद्धि को प्राप्त होता है ॥ ४६ ॥

गतेरभावाद्बाह्येन वायुनाऽभ्याहतक्रमः ।
संक्षीणवर्त्यनुगतः स्नेहवाय्वभिमूर्च्छितः ।
शान्तोऽपि तदुपादानाद्यथा दीपो न (ऽनु ?) दीप्यते ॥
तद्वद्धातुबले क्षीणे ज्वरः क्षीणबलोऽपि सन् ।
निरुपादानदोषत्वान्मोक्षकाले विशेषतः ॥ ४८ ॥
हेतुशेषमशेषेण दहन् दर्शयते बलम् ।
सप्रतीकारवैशेष्यात् प्रशमं याति हन्ति वा ॥ ४९ ॥

उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर—जिस प्रकार गति के अभाव में बाह्य वायु द्वारा आक्रान्त हुआ तथा बत्ती के क्षीण हो जाने से अनुगामी हुआ तथा स्नेह एवं वायु से मूर्च्छित होने के कारण शान्त हुआ भी दीपक अपने उपादान कारण के विद्यमान होने से प्रदीप्त (तेजी से जलना) होता है उसी प्रकार धातु एवं बल के क्षीण हो जाने पर ज्वर क्षीण बलवाला हो जाने पर भी उपादान दोषों के बचे होने से मोक्षकाल में विशेष कर बचे हुए दोष रूप हेतुओं को विशेषरूप से दहन करता (जलाता) हुआ अपने बलको प्रकट करता है। यह चिकित्सा की विशेषता के कारण शान्त हो जाता है अथवा रोगी को मार देता है अर्थात् यदि ठीक तरह से चिकित्सा हो जाय तो ज्वर शान्त हो जाता है अन्यथा रोगी समाप्त हो जाता है ॥ ४७-४९ ॥

पाकाद्वा शमनाद्वाऽपि शोधनाद्वा हृताधिके ।
स्वस्थानस्थे नरो दोषे शुद्धस्रोता विसृज्यते ॥ ५० ॥

दोषों के पाचन, शमन अथवा शोधन के द्वारा अपने स्थान में स्थित दोषों के नष्ट हो जाने से शुद्ध स्रोतों वाला मनुष्य ज्वर से मुक्त हो जाता है ॥ ५० ॥

निर्दिष्टो दोषपाकादेरस्माद्धेतुत्रयात् परम् ।
अन्यत्र चैव नान्योऽस्ति हेतुर्ज्वरविमोक्षणे ॥ ५१ ॥

ज्वर से मुक्त होने का इन दोषपाक आदि तीन कारणों के अतिरिक्त और कहीं कोई कारण नहीं होता है ॥ ५१ ॥

कस्माद्दोषपरिक्षोभे प्रायशः शीतपूर्वकम् ।
निर्वर्तते ज्वरो जन्तोः पश्चाद्दाहः प्रवर्तते ॥ ५२ ॥

दोषों के प्रकुपित होने पर मनुष्य को ज्वर में पहले ठण्ड तथा बाद में गर्मी क्यों लगती है? ॥ ५२ ॥

वायुर्व्यवायी विशदः शीतो रूक्षश्चलः खरः ।
पित्तमाग्नेयमुष्णं च तीक्ष्णमल्पं लघु द्रवम् ॥ ५३ ॥
सौम्यः शीतो गुरुः स्निग्धो बलवान् कफको बहु ।
कफो मन्दव्यवायी च चिरोत्थाननिवर्तनः ॥ ५४ ॥
वायुश्च शीतसामान्यात् कफस्यानुबलो बली ।
बलवान् हि गुणः सौम्य आग्नेयो दुर्बलः स्मृतः ॥५५॥
हेतुनाऽनेन महता श्लेष्मा हि बलवत्तरः ।
तस्मात् पूर्वं ज्वरे शीतं पश्चाद्दाहः प्रवर्तते ॥ ५६ ॥

उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर—वायु व्यवायी, विशद, शीत, रूक्ष, चल तथा खर होता है। पित्त आग्नेय, उष्ण, तीक्ष्ण, अल्प, लघु एवं द्रव होता है। कफ, सौम्य, शीत, गुरु, स्निग्ध, अत्यन्त बलवान् एवं मन्दव्यवायी होता है तथा इसकी

उत्पत्ति एवं निवृत्ति दोनों देर से होते हैं अर्थात् श्लैष्मिक रोग उत्पन्न भी देर में होते हैं तथा समाप्त भी देर में होते हैं। शीत की समानता से वायु भी कफ के समान ही बलवाला होता है। सौम्यगुण बलवान् होते हैं तथा आग्नेय गुण दुर्बल माने गये हैं। इस उपर्युक्त महान् हेतु के कारण कफ अधिक बलवान् होता है। इसीलिये ज्वर में पहले शीत लगती है तथा बाद में दाह होता है। विषमज्वर (मलेरिया) का जब आक्रमण होता है तब पहले Cold stage ही होती है। पीछे Hot stage आती है। अर्थात् पहले ठण्ड लगती है पीछे गरमी। G. E. Beaumont की Medicine में कहा है—He feels cold all over and may vomit. After a Varying period of about 2 hours the skin becomes hot and flushed and the beadache is more intense. This phase persists for 2 or 3 hours and is then followed by sweating and marked relief from the discomforts.

स्ववेगपरिणामाच्च क्रियाभिश्च यदा कफः ।
उष्णाभिः प्रशमं याति तदा पित्तं प्रकुप्यति ॥ ५७ ॥
परीणामक्रियाभिर्वा शान्ते तस्मिन् सुखी भवेत् ।
हेतुरुक्तो महानेष यथावच्छीतपूर्वके ॥ ५८ ॥

अपने वेग के परिणाम तथा उष्ण क्रियाओं के द्वारा जब कफ शान्त हो जाता है तब पित्त प्रकुपित होता है। तथा उसके बाद परिणाम एवं क्रियाओं के द्वारा जब पित्त शान्त हो जाता है तब मनुष्य स्वस्थ हो जाता है। ज्वर में प्रारम्भ में ठण्ड लगने का यह महान् हेतु बतलाया गया है ॥५७-५८॥

अथ कस्माज्ज्वरो जन्तोर्जायते दाहपूर्वकः ।
स एव हेतुरत्रापि बलीयस्त्वादुदाहृतः ॥ ५९ ॥
अत्युदीर्णं यदा पित्तं वायुनाऽल्पेन मूर्च्छितम् ।
अनुबद्धं रसस्थाने श्लेष्मणाऽल्पबलेन च ॥ ६० ॥
दाहः पूर्वं तदा जन्तोः शीतमन्ते प्रवर्तते ।
सोद्वेपकः सप्रलापस्मृतिबुद्धिप्रमोहनः ॥ ६१ ॥

प्रश्न—अब अगला प्रश्न यह है कि मनुष्य को दाह-पूर्वक (जिसमें प्रारम्भ में दाह होती है) ज्वर क्यों होता है? उत्तर—यहां भी वही कारण है। बलवान् होने के कारण जब उदीर्ण हुआ पित्त अल्प वायु तथा अल्प बलवाले श्लेष्मा के द्वारा मूर्च्छित हुआ रस के स्थान आमाशय में स्थित हो जाता है तब रोगी को प्रारम्भ में दाह होता है तथा बाद में ठण्ड लगती है। इस ज्वर में रोगी को कंपकंपी, प्रलाप (Detirium) तथा स्मृति एवं बुद्धि का व्याघात हो जाता है ॥ ५९-६१ ॥

तावेतौ शीतदाहादी ज्वरौ संसर्गसंभवौ ।
असाध्यः कृच्छ्रसाध्यो वा दाहपूर्वो ज्वरस्तयोः ॥६२॥

इस प्रकार सर्दी एवं गर्मी वाले ये दोनों ज्वर संसर्ग से उत्पन्न होते हैं। इनमें दाह पूर्व (जिसमें प्रारम्भ में गर्मी लगती है) ज्वर असाध्य अथवा कृच्छ्रसाध्य होता है ॥ ६२ ॥

प्रत्यनीकगुणाः सन्तो दोषा वातादयः कथम् ।
संभूय कुर्वते रोगान्नान्योऽन्यं शमयन्ति च ॥ ६३ ॥
(इति ताडपत्रपुस्तके २०० तमं पत्रम् ।)

प्रश्न—ये वातादिदोष विरोधी गुण वाले होते हुए भी परस्पर मिलकर किस प्रकार रोगों को उत्पन्न करते हैं तथा विरोधी होने के कारण ये दोष परस्पर एक दूसरे को शान्त क्यों नहीं करते हैं ॥ ६३ ॥

स्वभावाद्दूषणाद्दोषा नान्योन्यशमनाः स्मृताः ।
यस्मात्तस्माद्बहुविधाः संसृष्टाः कुर्वते गदान् ॥ ६४ ॥
विरुद्धा गुणतोऽन्योन्यं कार्यं सत्त्वादयो यथा ।

उत्तर—क्योंकि स्वभाव से तथा दूषित होने के कारण ये दोष परस्पर एक दूसरे को शान्त नहीं करते हैं इसीलिये ये मिलकर अनेक प्रकार के रोगों को उत्पन्न करते हैं। जिस प्रकार गुणों में विरुद्ध होते हुए सत्त्व आदि गुण परस्पर मिल कर कार्य करते हैं ॥ ६४ ॥

शिरः संतप्यते कस्माज्ज्वरितस्य विशेषतः ॥ ६५ ॥
सति सर्वाङ्गतापे च शैत्यं भवति पादयोः ।

प्रश्न—ज्वर के रोगी का विशेष कर सिर क्यों गरम रहता है तथा सम्पूर्ण शरीर गरम होने पर भी पैर ठण्डे क्यों होते हैं॥

दोषैरावृतमार्गत्वादूर्ध्वगत्वाच्च तेजसः ॥ ६६ ॥
बाहुल्यादिन्द्रियाणां च शिरः संतप्यतेऽधिकम् ।
तेजसाऽतिप्रवृद्धेन सोमधातुः प्रपीडितः ॥ ६७ ॥
अधः प्रपद्यते तेन शैत्यं भवति पादयोः ।

उत्तर—दोषों के द्वारा मार्गों के बन्द होने से, तेज के ऊर्ध्वगति का स्वभाव होने से तथा इन्द्रियों की बहुलता (अधिकता) के कारण सिर अधिक सन्तप्त (गरम) रहता है। तथा अत्यन्त बढ़ी हुई तेजधातु के कारण पीडित हुआ सोमधातु नीचे की ओर आता है इसलिये रोगी के पैर ठण्डे रहते हैं ॥ ६६-६७ ॥

ज्वरोष्मणाऽभिसंतप्ते प्रागुष्णादिक्रियाविधिः ॥ ६८ ॥
क्रियते नेतरः कस्माच्छीत उष्णस्य बाधकः ।
यथाऽग्न्यगारे संतप्ते कपाटपुटसंवृते ॥ ६९ ॥
भवत्यत्यधिकस्तूष्मा सर्वतः परितापनः ।
स एवोद्घाटितद्वारे मन्दीभवति तत्क्षणात् ॥ ७० ॥
एवमावृतमार्गेषु दोषैः स्रोतःसु देहिनाम् ।
ज्वरोष्मा वर्धते देहे यथाहेतुबलाश्रयम् ॥ ७१ ॥
उद्घाटनार्थं तत्तेषामुष्णोपक्रम इष्यते ।
स्तम्भनो हि गुणः शीत उष्णो विलयनः स्मृतः ॥७२॥

ज्वर की उष्णता के द्वारा संतप्त हुए रोगी में सर्वप्रथम उष्ण विधि करनी चाहिये, शीत नहीं। क्योंकि शीतविधि

उष्णता की बाधक होती है। जिस प्रकार संतप्त हुए तथा बन्द दरवाजों वाले अग्न्यागार (अग्निकोष्ठक) में चारों ओर से गरमी पहुंचाने वाली उष्णता अत्यधिक होती है, वही उष्णता अग्न्यागार के दरवाजे खोल देने पर उसी क्षण मन्द हो जाती है। उसीप्रकार रोगियों के शरीर में दोषों के द्वारा बन्द मार्ग वाले स्रोतों में हेतु एवं बल के आश्रय के अनुसार ज्वर की ऊष्मा वृद्धि को प्राप्त होती है। उन बन्द स्रोतों को खोलने के लिये उष्ण चिकित्सा अभिप्रेत है। शीत गुण दोषों का स्तम्भन करने वाला है तथा उष्ण गुण दोषों का विलयन करने (पिघलाने) वाला है ॥ ६८-७२ ॥

तस्मादुष्णाम्बु पानाय ज्वरिताय प्रदीयते ।
तेनास्य दोषाः पच्यन्ते कायाग्निश्चाभिदीप्यते ।। ७३ ।।
ज्वरोष्मा मार्दवं याति विबन्धश्च प्रशाम्यति ।
तृष्णा निवर्तते चाशु प्रकाङ्क्षा चोपजायते ।। ७४ ।।

इसलिये ज्वर रोग वाले व्यक्ति को पोने के लिये उष्ण जल देना चाहिये। इससे उसके दोषों का पाक हो जाता है तथा जाठराग्नि प्रदीप्त हो जाती है। ज्वर की उष्णता कम हो जाती है तथा विबन्ध (मलबन्ध) दूर हो जाता है। प्यास शीघ्र ही शान्त हो जाती है तथा भोजन में रुचि उत्पन्न हो जाती है। चरक वि० अ० ३ में भी कहा है—ज्वरितस्य कायसमुत्थान-देशकालानभिसमीक्ष्य पाचनार्थं पानीयमुष्णं प्रयच्छन्ति भिषजः, ज्वरो ह्यामाशयसमुत्थः, प्रायो भेषजानि चामाशयसमुत्थानां विकाराणां पाचनवमनापतर्पणसमर्थानि भवन्ति, पाचनार्थं च पानीयमुष्णं, तस्मादेतज्ज्वरितेभ्यः प्रयच्छन्ति भिषजो भूयिष्ठं, तद्ध्येषां पीतं वातमनुलोमयति, अग्निमुदर्यमुदीरयति, क्षिप्रं जरां गच्छति, श्लेष्माणं च परिशोषयति, स्वल्पमपि च पीतं तृष्णाप्रशमनायोपपद्यते ॥७३-७४॥

ऋते पित्तज्वरादुष्णो विधिः सर्वो ज्वरापहः ।
तत्राप्यनुष्णशीतादिरुपचारो विधीयते ।। ७५ ।।

पित्त ज्वर के अतिरिक्त सम्पूर्ण ज्वरों को नष्ट करने के लिये उष्ण विधि का प्रयोग करना चाहिये तथा पित्त ज्वर में भी ऐसा उपचार करना चाहिये जो न उष्ण हो और न शीत हो ॥

इति सप्त यथाप्रश्नं निर्दिष्टा विषमज्वराः ।
वक्ष्ये सततकादीनां चिकित्सां शृण्वतः परम् ।।७६।।

इस प्रकार प्रश्न के अनुसार सात विषम ज्वरों का निर्देश किया गया है। अब मैं सतत आदि विषम ज्वरों की चिकित्सा कहूंगा। उसे तू सुन ॥ ७६ ॥

उपक्रमैः परिक्लिष्टं क्षीणधातुबलौजसम् ।
ज्वरः पुराणो रूक्षत्वादनुबध्नाति देहिनम् ।। ७७ ।।

चिकित्सा के द्वारा परिक्लिष्ट हुए तथा जिसके धातु, बल एवं ओज क्षीण हो गये हैं ऐसे व्यक्ति को रूक्ष होने के कारण पुराण ज्वर पकड़ लेता है ॥ ७७ ॥

तस्मादस्य बलाधाने प्रयतेत विचक्षणः ।
रम्यैर्विचित्रैराहारैर्हृद्यैः श्रद्धोपपादितैः ।। ७८ ।।

सुराग्रपानैर्मांसानां वैष्किराणां च भक्षणैः ।
सर्पिषः पञ्चगव्यस्य पयसो लशुनस्य च ।। ७९ ।।

इसलिये बुद्धिमान् व्यक्ति रम्य, विचित्र, हृद्य (हृदय को अच्छे लगने वाले) तथा श्रद्धा (रुचि) उत्पन्न करने वाले आहारों, सुरापान, विष्किर जन्तुओं के मांस के भक्षण, पञ्चगव्य घृत, दूध तथा लशुन के द्वारा रोगी के बलाधान का प्रयत्न करे॥

उपक्रमेच्चौषधानां प्रयोगैर्विषमज्वरम् ।
दैवतेज्योपहारैश्च धूपनाभ्यञ्जनाञ्जनैः ।। ८० ।।

इसके अतिरिक्त ओषधियों के प्रयोग, देवता तथा इज्या के उपहार, धूपन, मालिश, एवं अञ्जनों के द्वारा विषम ज्वर की चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ८० ॥

वातोत्तरं स्नेहपानैरभ्यङ्गैः सावगाहनैः ।
स्निग्धोष्णैरन्नपानैश्च बलिभिश्चाप्युपक्रमैः ।। ८१ ।।

वातप्रधान विषमज्वर की स्नेहपान, अभ्यङ्ग (मालिश), अवगाहन (Tuh baths), स्निग्ध एवं उष्ण अन्नपान तथा बलियों के द्वारा चिकित्सा करे ॥ ८१ ॥

पित्तोत्तरं तिक्तशीतैः शमनैः सविरेचनैः ।
पयसा सर्पिषा चैव शीतैश्चाभ्यञ्जनैर्जयेत् ।। ८२ ।।

पित्त प्रधान विषमज्वर की तिक्त एवं शीतल शमन द्रव्य, विरेचन द्रव्य, दूध, घृत तथा शीतल अभ्यञ्जन (मालिशों) के द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ८२ ॥

वमनैः पाचनीयैश्च लङ्घनैर्लघुभोजनैः ।
रूक्षोष्णैश्चाप्युपचरेत् कषायैश्च कफोत्तरम् ।। ८३ ।।

कफ प्रधान ज्वर की वमन एवं पाचन द्रव्य, लङ्घन, लघु-भोजन तथा रूक्ष एवं उष्ण कषायों के द्वारा चिकित्सा करे ॥

रोमहर्षोऽङ्गमर्दश्च वातपित्तोत्तरे ज्वरे ।
महाकल्याणकं सर्पिः पञ्चगव्यमथो पिबेत् ।। ८४ ।।
पीत्वा वा महतीं मात्रां सर्पिषः पुनरुल्लिखेत् ।
तदहर्वा परेद्युर्वा पेयां समरिचां पिबेत् ।। ८५ ।।

वात तथा पित्त प्रधान ज्वर में रोमहर्ष तथा अङ्गमर्द होता है। इसमें महाकल्याणक तथा पञ्चगव्य घृत पिलाना चाहिये। अथवा घृत की बड़ी मात्रा पिलाकर पुनः वमन कराना चाहिये। अथवा उसी दिन या अगले दिन मरिच युक्त पेया पिलानी चाहिये ॥ ८४-८५ ॥

राजमूलस्य वा क्वाथं पिबेत् प्रज्वरकं हविः ।
क्रितोयं ·······मयोगश्चतुर्थकमपोहति ।। ८६ ।।

अथवा ज्वर की प्रबलता होने पर राजमूल का क्वाथ पिलाना चाहिये तथा यज्ञ में ···आहुति देनी चाहिये इससे चतुर्थक ज्वर दूर हो जाता है ॥ ८६ ॥

धारोष्णं वा पयः पीत्वा तद्वमेदिच्छया न वा ।

शीतं वा मधुनाऽशीतं निम्बपत्रोदकं पिबेत् ॥ ८७ ॥

अथवा धारोष्ण दूध पीकर स्वयमेव इच्छा से या अनिच्छा से वमन कर देना चाहिये अथवा मधु के साथ शीत या उष्ण निम्बपत्रोदक (नीम के पत्तों का कषाय) पिलाना चाहिये ॥

सर्पिर्वा माहिषं पीत्वा हिङ्गुस्तोकसमन्वितम् ।
तस्मिन् विदग्ध एवान्नं दध्ना भुञ्जीत केवलम् ॥ ८८ ॥

अथवा भैंस के घृत में थोड़ी हींग मिलाकर पिलाना चाहिये तथा इसके विदग्ध हो जाने पर दही के साथ केवल अन्न का सेवन करना चाहिये ॥ ८८ ॥

नीलस्पन्दशिफा वाऽपि सुपिष्टा तण्डुलाम्बुना ।
देया ज्वरतिथौ नस्ये मृगराजस्य वा वसा ॥ ८९ ॥

ज्वर के आने के दिन चावलों के पानी के साथ नील अपराजिता की मूल को अच्छी तरह पीसकर अथवा मृगराज की वसा (चर्बी) नस्य के रूप में देनी चाहिये ॥ ८९ ॥

हरीतकी वचा कुष्ठं निम्बपत्रं पलङ्कषा ।
सिद्धार्थका यवाः सर्पिर्धूपो जीर्णज्वरापहः ॥ ९० ॥

हरीतकी, बच, कूठ, नीम के पत्ते, गूगल, सफेद सरसों, जौ तथा घी–इनका धूप जीर्ण ज्वर को नष्ट करता है ॥ ९० ॥

मूलानि सहदेवायाः कटुका रोहिणी वचा ।
तण्डुलोदकपिष्टोऽयं देहो दाहज्वरापहः ॥ ९१ ॥

सहदेवी की जड़, कुटकी, रोहिणी तथा बच–इन्हें तण्डुलोदक के साथ पीसकर देने से दाहज्वर नष्ट होता है ॥ ९१ ॥

सुरया सर्वगन्धैश्च तैलमभ्यञ्जनं पचेत् ।
सर्षपा लसुनं हिङ्गु त्रिव्योषं रोचना वचा ॥ ९२ ॥
ऋक्षपित्तं बस्तमूत्रं करञ्जस्य फलानि च ।
ग्रहज्वराभिभूतानां नस्यकर्माञ्जनं हितम् ॥ ९३ ॥

(इति ताडपत्रपुस्तके २०१ तमं पत्रम् ।)

सुरा तथा सर्वगन्ध की ओषधियों के द्वारा अभ्यङ्ग के लिये तैल का पाक करना चाहिये तथा सरसों, लहसुन, हींग, त्रिकटु, गोरोचन, वच, रीछ का पित्त, बकरे का मूत्र तथा करञ्ज के फल–ग्रह ज्वर से पीडित रोगी में नस्यकर्म तथा अञ्जन के लिये हितकर होते हैं ॥ ९२–९३ ॥

सन्निपातविबन्धे च व्यालदष्टे च शस्यते ।
अर्शःसु योनिशूले च प्रलेपोऽयमनुत्तमः ॥ ९४ ॥

उपर्युक्त ओषधियों का ही लेप सन्निपात ज्वर, मलबन्ध, सर्पदंश, अर्श तथा योनि शूल में हितकर होता है ॥ ९४ ॥

भीषणैर्हर्षणैश्चैव विचित्राद्भुतदर्शनैः ।
व्याक्षेपं मनसश्चास्य भिषक्कुर्याज्ज्वरागमे ॥ ९५ ॥

ज्वर हो जाने पर चिकित्सक को भीषण (भयंकर) तथा हर्षकारक विचित्र एवं अद्भुत दर्शनों के द्वारा रोगी के मन का परिवर्तन करना चाहिये ॥ ९५ ॥

पानं चैतत् प्रदातव्यं स्निग्धस्विन्नस्य देहिनः ।
त्रिभण्टीमजगन्धां च नीलिनीं कटुरोहिणीम् ॥ ९६ ॥
कल्कं वा कटुरोहिण्याः पिबेद्गोमूत्रसंप्लुतम् ।
चिकित्सायां च यत् प्रोक्तं तच्च कुर्याद्विधानवित् ९७

तथा स्निग्ध एवं स्विन्न (जिसे स्नेहन एवं स्वेदन दिया गया हो) रोगी को त्रिभण्टी (त्रिवृत्), अजगन्धा, नीलिनी तथा कटुरोहिणी का क्राथ पिलाना चाहिये। अथवा कटुरोहिणी का कल्क गोमूत्र के साथ मिलाकर पिलाना चाहिये। इसके अतिरिक्त विधान को जानने वाला वैद्य चिकित्सा में अन्य भी जो कुछ कहा है उसका प्रयोग करे ॥ ९६–९७ ॥

इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ।
(इति) खिलेषु विषमज्वरनिर्देशीयो (नाम प्रथमोऽध्यायः) ॥

ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था।
(इति) खिलेषु विषमज्वरनिर्देशीयो (नाम प्रथमोऽध्यायः) ॥

विशेषनिर्देशीयो नाम द्वितीयोऽध्यायः ।

अथातो विशेषनिर्देशीयं नामाध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ २ ॥

अब हम विशेषनिर्देशीय नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था ॥ १–२ ॥

महर्षिं कश्यपं वृद्धं वेदवेदाङ्गपारगम् ।
सुखोपविष्टमव्यग्रमपृच्छद् वृद्धजीवकः ॥ ३ ॥

वेद वेदाङ्ग के पण्डित, ज्ञान में वृद्ध, व्यग्रता से रहित तथा सुखपूर्वक बैठे हुए महर्षि कश्यप से वृद्धजीवक ने प्रश्न किया ॥ ३ ॥

विषमाणां ज्वराणां ते सविकल्पं सविस्तरम् ।
यद्यथावच्च यावच्च प्रोक्तं वक्तव्यमादितः ॥ ४ ॥

पहले आपने विषम ज्वरों के विषय में जो भी तथा जितना भी वक्तव्य है वह विकल्प (भेद) एवं विस्तार सहित सब कह दिया है ॥ ४ ॥

सामान्येनापि सर्वेषां ज्वराणां विगतज्वर ! ।
वक्तुमर्हसि कार्त्स्न्येन परिशेषमतः परम् ॥ ५ ॥

हे विगतज्वर ! (जिसका ज्वर–सन्ताप नष्ट हो गया है) अब आप सामान्य रूप से सब ज्वरों के विषय में जो कुछ वक्तव्य है उसका विस्तारपूर्वक उपदेश करें ॥ ५ ॥

इति संचोदितः प्राह प्रजापतिरिदं वचः ।
समासाभिहितं यच्च (यच्च) नाभिहितं हितम् ॥ ६ ॥

ज्वरितानां ज्वराणां च भूयो वक्ष्यामि तच्छृणु ।
अवस्थालक्षणोद्देशविशेषोपक्रमे क्रमात् ॥ ७ ॥

इस प्रकार प्रश्न किया जाने पर प्रजापति कश्यप ने निम्न वचन कहा—ज्वरयुक्त व्यक्तियों तथा ज्वरों के विषय में पहले जो संक्षेप से कहा है तथा जो बिलकुल नहीं कहा है वह मैं क्रमशः अवस्था, लक्षण, उद्देश तथा विशेष उपक्रम के अनुसार अब पुनः कहूंगा। उसे तू सुन ॥ ६-७ ॥

भैषज्यमनवस्थायां पथ्यमप्यवचारितम् ।
गुणं न किञ्चित् कुरुते दोषायैव तु कल्पते ॥ ८ ॥

विपरीत अवस्था में प्रयुक्त की हुई ओषधि तथा पथ्य कुछ भी गुण नहीं करते हैं इसके विपरीत वे दोषों को ही करते हैं। वे ही अनुकूल अवस्थाओं में प्रयुक्त करने पर अमृत के समान गुणकारी होते हैं ॥ ८ ॥

प्रयुक्तं तदवस्थायाममृतत्वाय कल्पते ।
वाताद्वाह्यादभीघातात् क्रोधाच्छोकाद्भयात् क्षयात् ६
श्रमाद् ग्रहाभिषङ्गाच्च वेगानां च विधारणात् ।
समुत्पन्ने ज्वरे जन्तोर्वमनं न प्रयोजयेत् ॥ १० ॥
प्रयुक्तं कुरुते क्षिप्रं तीव्रं सोपद्रवं ज्वरम् ।

वायु, बाह्य आघात (चोट आदि), क्रोध, शोक, भय, क्षय, परिश्रम, ग्रहों के आक्रमण तथा वेगों के धारण करने से उत्पन्न हुए ज्वर में रोगी को वमन नहीं कराना चाहिये। उस अवस्था में प्रयुक्त कराया गया वमन शीघ्र ही तीव्र उपद्रव-युक्त ज्वर को उत्पन्न कर देता है ॥ ९-१० ॥

पूरणात्तु समुत्पन्ने ज्वरे ह्यमात्रया श्रयेत् ॥ ११ ॥
दोषे वृद्धेऽतिमात्रा च समुत्क्लिष्टे तथैव च ।
सन्निपातज्वरभयात्त्वरितं वामयेद्भिषक् ॥ १२ ॥
वामितं लङ्घनाद्येन क्रमेणोपक्रमेत्ततः ।

संतर्पणजन्य ज्वर में अल्पमात्रा में वमन का प्रयोग करे। दोषों की वृद्धि तथा उत्क्लेश होने पर सन्निपात ज्वर का भय होने से रोगी को शीघ्र ही अधिक मात्रा में वमन कराना चाहिये। वमन कराने के बाद रोगी की लङ्घन आदि के क्रम से चिकित्सा करे। अष्टाङ्ग हृदय चि० अ० १ में कहा है—तत्रोत्क्लिष्टे समुत्क्लिष्टे कफप्रायेचले मले। सहृल्लासप्रसेकान्नद्वेषका-सविषूचिके ॥ सद्योभुक्तस्य सञ्जाते ज्वरे सामे विशेषतः। वमनं वम-नार्हस्य शस्तम् ॥ ११-१२ ॥

वमनानन्तरं चास्य कुर्याच्छीर्षविरेचनम् ॥ १३ ॥
तथाऽऽशु शिरसः शूलं गौरवं चोपशाम्यति ।
विबन्धश्चक्षुरादीनामरुचिश्च निवर्तते ॥ १४ ॥

वमन के बाद उसे शिरोविरेचन (नस्य) देवे। इससे उसके सिर का शूल तथा भारीपन शीघ्र ही शान्त होजाता है। तथा विबन्ध और चक्षु आदियों की अरुचि दूर हो जाती है ॥ १३-१४ ॥

जीर्णज्वरेऽप्यथैतेषु विकारेषु प्रदापयेत् ।
बहुदोषे बलवती मध्यदोषेषु मध्यमा ॥ १५ ॥
अल्पदोषे ज्वरे मृद्वी क्रिया कार्या विजानता ।

जीर्ण ज्वर में भी इन विकारों के होने पर शिरोविरेचन देना चाहिये। बुद्धिमान् व्यक्ति को ज्वर में दोषों के अधिक होने पर बलवान्, दोषों के मध्य होने पर मध्यम तथा दोषों के अल्प होने पर मृदु क्रिया करनी चाहिये ॥ १५ ॥

स्वानि रूपाणि कार्त्स्न्येन यदा व्याधौ विशेषतः ॥१६॥
तीव्राणि व्यथितत्वं च शरीरस्योपलक्षयेत् ।
बहुदोषं तदा विद्यादल्पदोषमतोऽन्यथा ॥ १७ ॥
तथा मध्यबलेष्वेषु मध्यदोषं विभावयेत् ।

जब रोग में अपने २ सम्पूर्ण लक्षण तीव्र अवस्था में दिखाई दें तथा शरीर व्यथित मालूम पड़े तब दोष अधिक मात्रा में जानने चाहिये। इसके विपरीत दोष अल्प समझने चाहिये। जब रोगों का बल मध्यम हो तब दोष मध्यम समझने चाहिये ॥ १६-१७ ॥

विबन्धारुचितृण्मूर्च्छा गात्रभेदः शिरोरुजा ॥ १८ ॥
प्रलापालस्यहृल्लासतन्द्रीदाहश्रमभ्रमाः ।
मूत्रप्रचुरता ग्लानिः पुरीषस्याविपक्वता ॥ १९ ॥
उत्क्लेशो गुरुकोष्ठत्वं लिङ्गान्यामज्वरे वदेत् ।

आमज्वर के लक्षण—विबन्ध, अरुचि, तृष्णा, मूर्च्छा, गात्रभेद (शरीर का टूटना), शिर की पीडा, प्रलाप, आलस्य, हृल्लास (जी मचलाना), तन्द्रा, दाह, श्रम (थकावट), भ्रम, मूत्र की अधिकता, ग्लानि, मल का अपक्व होना, उत्क्लेश (दोषों की ऊर्ध्वगति होना) तथा कोष्ठ का भारी होना-ये आमज्वर के लक्षण होते हैं। चरक चि० अ० ३ में कहा है—अरुचिश्चाविपाकश्च गुरुत्वमुदरस्य च। हृदयस्याविशुद्धिश्च तन्द्रा चालस्यमेव च ॥ ज्वरोऽविसर्गी बलवान् दोषाणामप्रवर्तनम्। लालाप्रसेको हृल्लासो क्षुन्नाशो विरसं मुखम् ॥ स्तब्धसुप्तगुरुत्वं च गात्राणां बहुमूत्रता। न विड्जीर्णा न च ग्लानिर्ज्वरस्यामस्य लक्षणम् ॥

निवृत्तौ प्रायशश्चैषां संजाते ज्वरमार्दवे ॥ २० ॥
लघुत्वं चाष्टरात्रे च निरामज्वरमादिशेत् ।

निराम ज्वर के लक्षण—उपर्युक्त लक्षणों के प्रायः दूर होजाने पर, ज्वर के मृदु होजाने पर तथा आठ दिन में शरीर के लघु हो जाने पर निरामज्वर कहलाता है। चरक चि० अ० ३ में कहा है—क्षुत्क्षामता लघुत्वं च गात्राणां ज्वरमार्दवम्। दोषप्र-वृत्तिरष्टाहो निरामज्वरलक्षणम् ॥ अन्यत्र भी कहा है—सप्ताहेनैव पच्यन्ते सप्तधातुगता मलाः। निरामश्चाष्टतः प्रोक्तो ज्वरः प्रायोऽष्ट-मेऽहनि ॥ यहां आठवां दिन उपलक्षण मात्र है—इससे पूर्व अथवा पश्चात् भी निरामता हो सकती है। इसी लिये कहा है—न च निःसप्ततैवैका निरामज्वरलक्षणम्। चिरादपि हि पच्यन्ते सन्निपातज्वरे मलाः ॥ सप्तरात्रातिवृद्धिश्च ह्यामतादिस्वलक्षणम्। तस्मादेतद् द्वयं दृष्ट्वा निरामज्वरमादिशेत् ॥ यहां आठवां दिन इसी

लिये कहा गया है कि इस समय ज्वर में मुख्य ओषधि दी जासकती है। यदि आठवां दिन होने पर भी भूख लगना आदि लक्षण उपस्थित न हों तो मुख्य ओषधि न देकर पाचन ओषधि का ही प्रयोग करना चाहिये। यदि आठवां दिन भी हो तथा भूख आदि भी लगे तो शमन ओषधि देनी चाहिये। यदि दोषों का पाचन आठ दिन से पूर्व ही होजाय तो मुख्य ओषधि उससे पूर्व भी दीजासकती है। दोषों का पाचन ही मुख्य उद्देश्य है। आठवां दिन तो सामान्यरूप से कह दिया गया है। इसी लिये सुश्रुत में कहा है—अचिरज्वरितस्यापि देयं स्याद्दोषपाकतः ॥ २० ॥

आपातलक्ष्यः स्यादूष्मा तत्क्षणादेति मार्दवम् ॥ २१ ॥
अन्तर्लघुत्वमुत्साहो दोषपक्तिः प्रसन्नता ।
तृष्णादीनां मृदुत्वं च बहिर्मार्गगते ज्वरे ॥ २२ ॥
तत्राभ्यङ्गान् प्रदेहांश्च परिषेकांश्च कारयेत् ।

बहिर्मार्गगत ज्वर के लक्षण—सर्वशरीरसंचारी एवं प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाली ऊष्मा उसी क्षण मृदु होजाती है, शरीर के अन्तः अवयव लघु हो जाते हैं, शरीर में उत्साह होता है, दोष पक जाते हैं, शरीर प्रसन्न रहता है तथा तृष्णा आदि मृदु होजाती है—ये बहिर्मार्गगत ज्वर के लक्षण हैं। बहिर्मार्गगत से बहिर्वेग ज्वर का अभिप्राय है। इसके लक्षण चरक चि० अ० ३ में निम्न दिये हैं—सन्तापोऽभ्यधिको बाह्यस्तृष्णादीनां च मार्दवम्। बहिर्वेगस्य लिङ्गानि सुखसाध्यत्वमेव च ॥ इस बहिर्मार्गगत ज्वर में अभ्यङ्ग, प्रदेह तथा परिषेक आदि करे ॥२१-२२॥

अविपक्वा विपक्वा वा दोषा यस्य न निर्हृताः ॥ २३ ॥
न च व्याधेरुपशमो न चोत्साहो न लाघवम् ।
ग्लानिकार्श्ये न चात्यर्थं न च च्छन्दोऽशनं प्रति २४
अप्रकृष्टे (प्रकृष्टे) वा स काले दोषदुर्बलः ।
अतो विपर्ययाद्देही भवेदौषधदुर्बलः ॥ २५ ॥

(इति ताडपत्रपुस्तके २०२ तमं पत्रम्)

जिसके अविपक्व तथा पक्व दोषों का निर्हरण नहीं हुआ हो, व्याधि की शान्ति न हुई हो, शरीर में उत्साह तथा लघुता न हो, ग्लानि तथा कृशता बहुत अधिक न हो तथा भोजन के प्रति रुचि न हो–अधिक अथवा थोड़े समय में उस व्यक्ति को दोषों से दुर्बल हुआ समझा जाता है। इससे विपरीत रोगी को औषध के कारण दुर्बल हुआ समझना चाहिये ॥ २३-२५ ॥

पाचनैरविपक्वानां दोषाणां दोषदुर्बले ।
सम्यक्कुर्यादुपशमं पक्वानां च विरेचनैः ॥ २६ ॥

दोषों से दुर्बल हुए व्यक्ति में अपक्व दोषों को पाचक द्रव्यों तथा पक्व दोषों को विरेचनों के द्वारा शान्त करना चाहिये ॥ २६ ॥

इतरस्यामयावेक्षं बलाप्यायनमिष्यते ।
समुदीर्णेषु सहसा दोषेष्वभिनवेषु च ॥ २७ ॥

इनमें से दूसरे अर्थात् औषध से दुर्बल हुए व्यक्ति में सहसा उदीर्ण हुए तथा नवीन दोषों में बल की वृद्धि करनी चाहिये ॥ २७ ॥

बलवद् दुर्बले वाऽपि कषायं वाऽपि भेषजम् ।
संरक्षन् धर्मयशसी न प्रयुञ्ज्यात् कदाचन ॥ २८ ॥

धर्म तथा यश की रक्षा करते हुए व्यक्ति को दुर्बल रोगी में बलवान् कषाय अथवा अन्य ओषधि का कभी प्रयोग नहीं करना चाहिये। चरक चि० अ० ३ में कषाय निषेध में निम्न हेतु दिया है—स्तभ्यन्ते न विपच्यन्ते कुर्वन्ति विषमज्वरम्। दोषा बद्धाः कषायेण स्तम्भित्वात्तरुणे ज्वरे ॥ अर्थात् कषाय रस प्रधान ओषधि नवज्वर में निषिद्ध है क्योंकि कषाय के स्तम्भक (Astringent) होने से दोष देह में स्तब्ध हो जाते हैं—उनका पाक नहीं हो पाता ॥ २८ ॥

यथा शरत्सु महतोः क्रुद्धयोरभिषक्तयोः ।
न धत्ते दुर्बला वेगं हस्तिनोरग्रवारणी ॥ २९ ॥[1]
तथा बलं बलवतोस्तद्दोषौषधयोर्द्वयोः ।
संक्षुब्धयोर्न सहते संतप्ता देहिनस्ततः ॥ ३० ॥

जिस प्रकार शरद् ऋतु में मद से मस्त हुए महान् एवं क्रुद्ध हाथियों के वेग को दुर्बल हथिनी सहन नहीं कर सकती उसी प्रकार बलवान् तथा क्षुभित दोष और औषध दोनों के वेग को पीडित प्राणी सहन नहीं कर सकते हैं ॥ २९-३० ॥

पुष्णाति दुर्बलं दोषाः कषायः स्तम्भयत्यतः ।
भूयोऽभिवृद्धास्ते प्राणान्निघ्नन्त्याशु शरीरिणः ॥ ३१ ॥
कषायेणाकुलीभूताश्चिरं संक्लेशयन्ति वा ।

दोष दुर्बल रोगी को पुष्ट करते हैं तथा कषाय उन दोषों का स्तम्भन करता है अर्थात् कषाय के द्वारा दोष शरीर में जड़वत् स्तब्ध हो जाते हैं। तथा फिर बढ़े हुए वे दोष शीघ्र ही मनुष्य के प्राणों को नष्ट कर देते हैं अथवा कषाय के द्वारा व्याकुल हुए दोष बहुत देर तक क्लेश पहुंचाते हैं। चरक में भी कहा है—न कषायं प्रयुञ्जीत नराणां तरुणे ज्वरे। कषायेणाकुलीभूता दोषा जेतुं सुदुष्कराः ॥ ३१ ॥

भग्नवेगेषु दोषेषु विधिना लङ्घनादिना ॥ ३२ ॥
काले प्रयुक्तं भैषज्यं स्याद्विकारोपशान्तये ।

दोषों का वेग नष्ट हो जाने पर लङ्घन आदि विधि के द्वारा उचितकाल में प्रयुक्त की हुई औषध विकारों को शान्त करती है ॥ ३२ ॥

लङ्घनं स्वेदनं पेया त्रिविधा दीपनान्विता ।

---

१. शरदि मदेन मिथो व्यतिषक्तयोः क्रुद्धयोर्हस्तिनोर्वेगं दुर्बला हस्तिनी न सहते तथैव बलवतोर्दोषौषधयोर्वेगं पीडिता देहिनः सोढुं न शक्नुवन्ति, तेन दोषवृद्धचवस्थायां दुर्बले रोगिणि प्रबलं कषायमपि न प्रयुञ्जीतेत्यर्थः ।

ओदनस्त्रिविधो यूषः कषायस्त्रिविधो रसः ॥ ३३ ॥
सर्पिरभ्यञ्जनं बस्तिः प्रदेहः सावगाहनः ।
ज्वरापहः समुद्दिष्टो लङ्घनादिरयं क्रमः ॥ ३४ ॥

लङ्घन आदि क्रम—लङ्घन, स्वेदन, तीन प्रकार की दीपन पेया, ओदन, तीन प्रकार का यूष, कषाय, तीन प्रकार का रस, घृत, अभ्यङ्ग, बस्ति, प्रदेह, अवगाहन—यह ज्वर को नष्ट करने वाला लङ्घन आदि क्रम कहा गया है ॥ ३३-३४ ॥

पच्यन्ते सप्तरात्रेण दोषाः सप्तसु धातुषु ।
तस्मात् कषायं सप्ताहे पाचनीयं विधापयेत् ॥ ३५ ॥
शमनं स्रंसनीयं वा यथावस्थमतः परम् ।

सात दिन में सातों धातुओं में स्थित दोषों का पाचन हो जाता है । इसलिये सात दिन के बाद अर्थात् आठवें दिन पाचन कषाय पिलाना चाहिये । पाचन से अभिप्राय अपक्व आहार, रस तथा दोषों के परिपाक से है । च० चि० अ० ३ में भी कहा है—पाचनं शमनीयं वा कषायं पाययेत्तु तम् । ज्वरितं षडहेऽतीते लघ्वन्नप्रतिभोजितम् ॥ छठे दिन के व्यतीत हो जाने पर अर्थात् सातवें दिन जिसने लघु अन्न खाया हो उसे पाचन तथा शमनीय कषाय देना चाहिये । ज्वर की तरुणता नष्ट होने के बाद ही कषाय के देने का विधान है । यह तरुणता प्रायः ७ दिन होती है । यहां ज्वर के प्रारंभ होने के दिन का परिगणन न करते हुए ही कहा गया है इसी लिये सामान्य रूप से ही छठे दिन के व्यतीत होने पर कहा गया है । यदि ज्वर का प्रारंभ दिन गिना जाय तो सातवें दिन के व्यतीत होने पर अर्थात् आठवें दिन होगा । इसलिये इस संहिता तथा चरक के वचनों में परस्पर विरोध नहीं है केवल थोड़ा सा शब्दों का ही अन्तर है । इसी लिये कहा है—आसप्तरात्रं तरुणं ज्वरमाहुर्मनीषिणः । इसी लिये पहले इसी अध्याय में सात दिन के बाद दोषों के पक जाने पर ज्वर की निरामता बताते हुए भी आठवें दिन का परिगणन किया गया है—उषित्वं चाष्टरात्रे च निरामज्वरमादिशेत् । इसलिये तरुण ज्वर में साधारणतया आठवें दिन ही कषायरूप मुख्य औषध का सेवन कराना चाहिये, इसके बाद अवस्थानुसार शमन तथा स्रंसन कषाय का प्रयोग करना चाहिये ॥ ३५ ॥

मन्दोष्मत्वात् स्थिरत्वाच्च गुरुत्वाच्च कफज्वरः ॥ ३६ ॥
परिपाकं चिरादेति तस्मादस्यौषधक्रमः ।
अष्टाहात् परतो वाऽपि यथापाकं विधीयते ॥ ३७ ॥

ऊष्मा (उष्णता) के कम होने से, स्थिर होने से तथा गुरु होने से कफ ज्वर का देर में पाक होता है अतः पाक के अनुसार आठवें दिन के बाद उसके कषाय रूप मुख्य ओषधि का क्रम प्रारंभ किया जाता है ॥ ३६-३७ ॥

पक्वावशेषस्तेनाशु पच्यतेऽग्निश्च दीप्यते ।
दोषपक्त्याऽग्निदीप्त्या च ज्वरस्यापचयो ध्रुवम् ॥३८॥

इससे पचने से बचे हुए दोषों का शीघ्र ही पाक हो जाता है तथा जाठराग्नि प्रदीप्त होती है । इस प्रकार दोषों के पाक तथा अग्नि के प्रदीप्त होने से ज्वर निश्चित रूप से शान्त हो जाता है ॥ ३८ ॥

तद्युक्तस्नेहसंस्कारान् रसानत्रावचारयेत् ।
ततः संशमनं कुर्याद्व्याधिशेषोपशान्तये ॥ ३९ ॥

फिर बचे हुए रोग की शान्ति के लिये उचित स्नेह के संस्कारों से युक्त रसों का प्रयोग करे तथा उसके बाद दोषों का शमन करे ॥ ३९ ॥

प्रसादनार्थं धातूनां बलस्याप्यायनाय च ।
देशदोषाग्निसात्म्यर्तुयुक्तं चात्र प्रशोषणम् ॥ ४० ॥
त्र्यहं चतुरहं वाऽपि नातिमात्रमतः परम्
रूक्षत्वाज्ज्वर्यमाणाय देयं सर्पिर्ज्वरापहम् ॥ ४१ ॥
ज्वरितोऽनेन निर्वाति प्रदीप्तं चाम्बुना गृहम् ।

धातुओं के प्रसाद तथा बल की प्राप्ति के लिये देश, दोष, जाठराग्नि, सात्म्य तथा ऋतु के अनुसार तीन या चार दिन दोषों का शोषण करना चाहिये, इससे अधिक नहीं । तथा इसके बाद रूक्ष होने के कारण ज्वर रोगी को स्वल्प मात्रा में ज्वरनाशक घृत का प्रयोग कराना चाहिये । जिस प्रकार जलता हुआ घर जल के द्वारा बुझ जाता है उसी प्रकार ज्वर का रोगी घृत के प्रयोग से शान्ति को प्राप्त करता है । चरक चि० अ० ३ में घृतपान का निम्न अवस्था में प्रयोग करने का विधान दिया है—अत ऊर्ध्वं कफे मन्दे वातपित्तोत्तरे ज्वरे । परिपक्वेषु दोषेषु सर्पिष्पानं यथाऽमृतम् ॥ अर्थात् दोषों के पूर्णतया पक जाने पर घृत का पान कराना चाहिये ॥४०-४१॥

सर्पिः पित्तं शमयति शैत्यात् स्नेहाच्च मारुतम् ॥४२॥
समानगुणमप्येतत् संस्काराज्जीयते कफम् ।

शीतल गुण वाला होने के कारण घृत पित्त का तथा स्निग्ध होने के कारण वायु का शमन करता है । तथा समान गुण वाला होते हुए भी यह संस्कार के द्वारा कफ को शान्त करता है । चरक नि० अ० १ में भी कहा है—जीर्णज्वरेषु तु सर्वेष्वेव सर्पिषः पानं प्रशस्यते यथास्वौषधसिद्धस्य, सर्पिर्हि स्नेहाद्वातं शमयति संस्कारात्कफं, शैत्यात्पित्तमूष्माणं च । स्नेहाद्वातं शमयति शैत्यात्पित्तं नियच्छति । घृतं तुल्यगुणं दोषं संस्कारात्तु जयेत्कफम् ॥ ४२ ॥

अथ चेद्बहुदोषत्वात् कृतेऽपि शमने सति ॥ ४३ ॥
पक्वाशयगुरुत्वं च स्तिमितत्वं च लक्ष्यते ।
स्वेदो विण्मूत्ररागश्च भक्तस्यानभिनन्दनम् ॥ ४४ ॥
स्निग्धाय क्षामदेहाय दद्यात्तत्र विरेचनम् ।

यदि दोषों की अधिकता के कारण दोषों का शमन करने पर भी पक्वाशय में भारीपन, स्तिमितता, स्वेद, मल एवं मूत्र का रागयुक्त होना तथा भोजन में अरुचि हो तो स्निग्ध तथा दुर्बल शरीर वाले रोगी को विरेचन देना चाहिये॥४३-४४॥

शूले पक्वाशयगते पार्श्वपृष्ठकटिग्रहे ॥ ४५ ॥
वातविण्मूत्रसङ्गे च निरूहः सानुवासनः।
बहिर्मार्गगते चापि ज्वरेऽभ्यङ्गादिरिष्यते ॥ ४६ ॥

पक्वाशय में शूल होने पर तथा पार्श्वग्रह, पृष्ठग्रह, कटिग्रह तथा वायु, मल एवं मूत्र की रुकावट में अनुवासन और निरूहबस्ति देनी चाहिये। तथा यदि ज्वर बहिर्मार्गगत (बहिर्वेग) हो तो अभ्यङ्ग (मालिश) आदि करनी चाहिये॥

नरस्य वातप्रकृतेर्यदि स्याद्वातिको ज्वरः।
ऋतौ च वातप्रकृतौ स दुःसाध्यस्त्रिसंकरः ॥ ४७ ॥
तथैव पित्तप्रकृतेः श्लैष्मिकस्य च देहिनः।
विपरीतप्रकृतयः सुखसाध्या ज्वरादयः ॥ ४८ ॥

यदि वात प्रकृति वाले मनुष्य को वातिक ज्वर हो अथवा वात प्रकृति वाली ऋतु (वर्षा) में ज्वर हो तो वह तीनों दोषों के मिल जाने से कष्ट साध्य होता है। इसी प्रकार पित्त एवं श्लेष्म प्रकृति वाले मनुष्य को यदि पैत्तिक अथवा श्लैष्मिक ज्वर हो या पित्त और श्लेष्म प्रकोपक (शरद् तथा वसन्त) ऋतु में ज्वर हो तो वे कष्टसाध्य होते हैं। ज्वर आदि विपरीत प्रकृति वाले सुखसाध्य होते हैं। चरक में प्राकृत ज्वर को यद्यपि सुखसाध्य कहा है तथापि वर्षा ऋतु में होने वाला वातिक ज्वर प्राकृत होता हुआ भी कष्ट साध्य माना गया है। इसीलिये चि. अ. ३ में कहा है—प्रायेणानिलजं दुःखं कालेष्वन्येषु वैकृतम् ॥ ४७-४८ ॥

एकद्वित्रिप्रकृतयो व्याधयः सर्व एव हि।
सुखदुःखाश्चिकित्स्याः स्युः प्रायशस्ते यथाक्रमम् ॥४९॥

एक, दो अथवा तीन प्रकृति वाली सम्पूर्ण व्याधियां प्रायः क्रमशः सुखसाध्य अथवा दुःखसाध्य होती हैं॥ ४९॥

समुत्क्लिष्टेषु दोषेषु त्रिविधं कर्म निश्चितम्।
शोधनं शमनं चैव तथा शमनशोधनम् ॥ ५० ॥

दोषों का उत्क्लेश होने पर तीन प्रकार का कर्म किया जाता है—१. शोधन, २. शमन, ३. शमन-शोधन॥ ५०॥

तत्र पुंसां बलवतां (मन्द) वह्निमतां सताम्।
तीव्रवेगामयानां च हितं शोधनमौषधम् ॥ ५१ ॥

शोधन ओषधि किन्हें देनी चाहिये—बलवान् तथा मन्द अग्नि वाले पुरुषों को यदि रोग तीव्र वेग वाले हों तो उन्हें शोधन ओषधि देनी चाहिये॥ ५१॥

बलिनामल्पदोषाणां नातिवृद्धविकारिणाम्।
नातिक्लेशसहानां च शमनं हितमुच्यते ॥ ५२ ॥

शमन ओषधि—बलवान्, अल्प दोष वाले तथा अधिक क्लेश न सह सकने वाले व्यक्तियों में यदि विकार अत्यधिक बढ़े हुए नहीं हैं तो शमन ओषधि का प्रयोग हितकर होता है॥ ५२॥

तथैव मध्यदोषाणां दुर्बलानां शरीरिणाम्।
बलवद्व्याधिजुष्टानां हितं शमनशोधनम् ॥ ५३ ॥

शमन शोधन ओषधि—इसी प्रकार यदि मध्य दोष वाला दुर्बल व्यक्ति बलवान् व्याधि से पीडित हो तो उसे शमन शोधन ओषधि देनी चाहिये अर्थात् ऐसी ओषधि का प्रयोग करना चाहिये जो दोषों का शमन भी करे तथा उनका शोधन भी करे॥ ५३॥

ऊर्ध्वं हरति यद्दोषानधश्चोभयतश्च यत्।
द्रव्यं विविधवीर्यत्वात्तद्धि संशोधनं स्मृतम् ॥ ५४ ॥
(इति ताडपत्रपुस्तके २०३ तमं पत्रम्)

जो द्रव्य ऊर्ध्व, अधः अथवा दोनों मार्गों के द्वारा दोषों को निकालता हो उसे विविध प्रकार के वीर्य वाला होने से संशोधन द्रव्य कहते हैं। अष्टाङ्गसंग्रह सू. अ. २४ में इसका निम्न लक्षण दिया है—प्रदीरयेद्बहिर्दोषान् पञ्चधा शोधनं च यत्। निरूहो वमनं कायशिरोरेकोऽस्रविस्रुतिः॥ अर्थात् यह बाह्य एवं आभ्यन्तर दो प्रकार का होता है॥ ५४॥

नाधो न चोर्ध्वं हरति यद्दोषाञ्छमयत्यपि।
न चोग्रगुणवीर्यं तद् द्रव्यं संशमनं विदुः ॥ ५५ ॥

जो द्रव्य ऊर्ध्व अथवा अधोमार्ग से दोषों को निकालता नहीं है परन्तु उनका शमन करता है तथा जिसका गुण एवं वीर्य उग्र नहीं है उसे संशमन कहते हैं। अष्टाङ्गसंग्रह सू. अ. २४ में कहा है—न शोधयति यद्दोषान् समान्नोदीरयत्यपि। समीकरोति विषमान् शमनं तत्॥ यह तीन प्रकार का होता है १-दैवव्यपाश्रय-मन्त्रौषधि, मंगल, बलि उपहार आदि द्वारा। २-बाह्य लेप, परिषेक आदि द्वारा तथा ३-आभ्यन्तर पाचन, लेखन, बृंहण आदि द्वारा॥ ५५॥

नात्यर्थं शोधयति यद्दोषान् संशमयत्यपि।
तत्र मध्यबलोपेतं द्रव्यं शमनशोधनम् ॥ ५६ ॥

जो द्रव्य दोषों का अत्यधिक शोधन न करता हो तथा शमन करता हो उस मध्य बल वाले द्रव्य को शमन-शोधन कहते हैं॥ ५६॥

दशमूलशटीरास्नावयस्थापञ्चकोलकम्।
शार्ङ्गेष्टा रोहिणी पाठा सरलो देवदारु च।
मुस्ताऽमृता वृश्चिकाली कर्कटाख्या दुरालभा ॥ ५७ ॥
त्रायन्तीत्येवमादीनि शमनीयानि निर्दिशेत्।

शमनीय द्रव्य—दशमूल, कपूरकचरी, रास्ना, वयस्था (हरड़), पञ्चकोल (पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक तथा सोंठ), शार्ङ्गेष्टा (काकजंघा अथवा काकमाची), रोहिणी, पाठा, सरल (चीड़), देवदारु, नागरमोथा, गिलोय, वृश्चिकाली (बिछुवा घास), काकड़ाशृंगी, दुरालभा तथा त्रायन्ती (त्रायमाणा)-इत्यादि शमनीय ओषधियां हैं॥५७॥

वचाकोशातकीनिम्बपिप्पल्यः कौटजं फलम् ॥ ५८ ॥

क्षारद्वयं सगोमूत्रं मदनं लवणानि च ।
त्रिफलाऽऽरग्वधो दन्ती नीलिनी सप्तला त्रिवृत् ॥५९॥
एवमादि तु यच्चान्यद् द्रव्यं शोधनमुच्यते ।

शोधन द्रव्य—बच, कोशातकी (कड़ुतुम्बी), नीम, पिप्पली, कुटज का फल (इन्द्रजौ), दोनों क्षार (सर्ज क्षार तथा यवक्षार), गोमूत्र, मैनफल, पांचो नमक, त्रिफला, अमलतास, दन्ती (जमालगोटा), नीलिनी, सातला, त्रिवृत्—इत्यादि तथा इसी प्रकार के अन्य भी शोधन द्रव्य कहलाते हैं ॥ ५८–५९ ॥

काश्मर्यामलकं द्राक्षा शीतपाकी परूषकम् ॥ ६० ॥
मधुकं पिप्पलीमूलं विडङ्गं हिङ्गु सैन्धवम् ।
पाठाऽजगन्धाऽतिविषा पथ्या मुस्ता कटुत्रिकम् ॥६१॥
रोहिणीत्येवमादि स्याद् द्रव्यं शमनशोधनम् ।

शमन-शोधन द्रव्य—काश्मरी (गंभारी), आंवला, द्राक्षा, शीतपाकी (काकोली), फालसा, मुलहठी, पिप्पली-मूल, विडङ्ग, हींग, सैन्धा नमक, पाठा, अजगन्धा, अतीस, हरड़, नागरमोथा, त्रिकटु तथा रोहिणी इत्यादि-शमनशोधन द्रव्य हैं ॥ ६०–६१ ॥

त्रिविधं कर्म निर्दिष्टमित्येतद्दोषशान्तये ॥ ६२ ॥

इस प्रकार दोषों को शान्त करने के लिये यह तीन प्रकार का कर्म कहा गया है ॥ ६२ ॥

दोषशान्तौ च धातूनां प्रसाद उपजायते ।
मलायनानां सर्वेषामव्याघातक्रियासु च ॥ ६३ ॥
दोषधातुमलैस्तस्मात् स्वे स्वे कर्मण्यवस्थितैः ।
स्वास्थ्यमुत्पद्यते नृणामस्वास्थ्यं तद्विपर्यये ॥ ६४ ॥

दोषों के शान्त हो जाने पर तथा सम्पूर्ण मल स्थानों के व्याघात (उपद्रव) रहित हो जाने पर धातुओं में प्रसन्नता उत्पन्न होती है अर्थात् प्रसाद गुण की अधिकता हो जाती है। इस प्रकार दोष, धातु एवं मलों के अपने २ कार्य में स्थित होने पर मनुष्य स्वस्थ रहते हैं तथा इसके विपरीत अर्थात् दोष, धातु एवं मलों के अपने २ कार्य में स्थित न होने पर मनुष्य अस्वस्थ हो जाता है ॥ ६३–६४ ॥

सम्यगाहारचेष्टाभ्यां यदा सात्म्यं यथेरितम् ।
समानां रक्षणं कुर्याद्दोषादीनां विचक्षणः ॥ ६५ ॥
कुपितानां प्रशमनं क्षीणानामभिवर्धनम् ।
क्षपणं चैव वृद्धानामेतावद्धि चिकित्सितम् ॥ ६६ ॥

जब सम्यक् प्रकार के आहार एवं चेष्टाओं के द्वारा सात्म्य हो जाता है तब बुद्धिमान् व्यक्ति को समान अवस्था में स्थित दोष आदियों का रक्षण करना चाहिये। तथा कुपित दोषों का शमन, क्षीण हुए दोषों की वृद्धि और बढ़े हुए दोषों की कमी करनी चाहिये। इसे ही चिकित्सा कहते हैं ॥ ६५–६६ ॥

तदेकत्वमनेकत्वमवस्थामुदयव्ययम् ।
दोषाणामातुराणां च संप्रधार्य बलाबलम् ॥ ६७ ॥
यथावदौषधानां च भिन्नानां नामरूपतः ।
रसान् गुणांश्च वीर्यं च विपाकं च यथातथम् ॥ ६८ ॥
देशं कालमुपायं च प्रमाणं व्याधिमेव च ।
ज्ञात्वा चिकित्सा भिषजा प्रणेतव्याऽप्रमादतः ॥६९॥

चिकित्सक को दोष तथा रोगी के एकत्व, अनेकत्व, उदय (उद्भव-प्रकट होना), व्यय (नाश) तथा बल एवं अबल को देखकर तथा नाम एवं रूप के अनुसार भिन्न २ ओषधियों के यथावत् रस, गुण, वीर्य, विपाक, देश, काल, उपाय, प्रमाण तथा व्याधि को जानकर प्रमादरहित होकर चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ६७–६९ ॥

ये यथा च समुद्दिष्टा योगाः स्वे स्वे चिकित्सिते ।
ते तथैव प्रयोक्तव्या न तेष्वस्ति विचारणा ॥ ७० ॥

अपनी २ चिकित्सा में जो योग जिस २ रूप में दिये हैं उनका उसी २ रूप में प्रयोग करना चाहिये, इसमें विशेष विचार की आवश्यकता नहीं है अर्थात् उनमें तर्क नहीं करना चाहिये ॥७०॥

को हि नाम प्रणीतानां द्रव्याणां तत्त्वदर्शिभिः ।
नानाविधानामेकत्वे तत्कर्म ज्ञातुमर्हति ॥ ७१ ॥

तत्त्वदर्शी ऋषियों के द्वारा प्रणीत नाना प्रकार के द्रव्यों के एकत्व (एकत्र) हो जाने पर उनके कर्मों को कौन जान सकता है अर्थात् उनके कर्मों को जानना अत्यन्त कठिन है ॥७१॥

किञ्चिदन्यरसं द्रव्यं गुणतः किञ्चिदन्यथा ।
वीर्यतश्चान्यथा किञ्चिद्विद्यादत्र विपाकतः ॥ ७२ ॥
अथ चैकत्वमागम्य प्रयोगे न विरुध्यते ।
उत्पद्यते यथार्थं च समवायगुणान्तरम् ॥ ७३ ॥
पृथक्पृथक्प्रसिद्धेऽपि गन्धे गन्धान्तरं यथा ।
गन्धाङ्गानां मनोह्लादि प्रत्यक्षं सामवायिकम् ॥ ७४ ॥

कुछ द्रव्य रस के द्वारा भिन्न होते हैं, कुछ गुण तथा वीर्य, एवं कुछ विपाक के द्वारा भिन्न होते हैं। इनकी परस्पर एकता हो जाने पर ये प्रयोग में विरुद्ध नहीं होते। समवाय में अर्थात् उनके परस्पर मिल जाने पर यथार्थ गुणान्तर की उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार पृथक् २ प्रसिद्ध गन्ध वाले द्रव्यों की गन्ध के परस्पर मिल जाने से प्रत्यक्ष रूप से मन को आह्लादित करने वाली भिन्न ही गन्ध उत्पन्न होती है। अर्थात् भिन्न २ रस, वीर्य एवं विपाक वाले द्रव्यों के परस्पर संयुक्त हो जाने पर एक नया ही द्रव्य बन जाता है जो गुणों में उन सबसे भिन्न ही होता है ॥ ७२–७४ ॥

तस्मादार्षप्रयोगेषु प्रक्षेपापचयं प्रति ।
न प्रमाद्येदविज्ञाय दोषौषधबलाबलम् ॥ ७५ ॥

इसलिये आर्षयोगों के प्रक्षेप तथा अपचय (वृद्धि तथा

ह्रास) में दोष तथा औषध के बलाबल को जाने बिना प्रमाद नहीं करना चाहिये ॥ ७५ ॥

वयः शरीराग्निबलं त्ववेद्य मतिमान् भिषक् ।
मात्रां विकल्पयेदत्र प्रधानावरमध्यतः ॥ ७६ ॥

बुद्धिमान चिकित्सक रोगी के शरीर तथा अग्निबल को देख कर प्रधान, अवर तथा मध्य के अनुसार मात्रा का निश्चय करे ॥

इति ज्वराणामुद्दिष्टो विशेषोऽयमुपक्रमे ।
यं विदित्वा तु कार्येषु विविधेषु न संभ्रमेत् ॥ ७७ ॥

इस प्रकार ज्वरों की चिकित्सा में यह विशेष क्रम कहा गया है। जिसे जानकर विविध कार्यों में मतिभ्रम उत्पन्न नहीं होता ॥ ७७ ॥

इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ ७८ ॥

चू[1] ह्र ७५

(इति खिलेषु) विशेषनिर्देशीयो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥

(इति ताडपत्रपुस्तके २०४ तमं पत्रम्)

ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था ॥ ७८ ॥

चू[1] ह ७५

(इति खिलेषु) विशेषनिर्देशीयो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥

भैषज्योपक्रमणीयस्तृतीयाध्यायः ।

अथातो भैषज्योपक्रमणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ २ ॥

अब हम भैषज्योपक्रमणीय अध्याय का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था ॥ १-२ ॥

ब्राह्मया श्रिया प्रज्वलन्तं ब्रह्मर्षिममितद्युतिम् ।
कश्यपं लोककर्तारं भार्गवः परिपृच्छति ॥ ३ ॥

ब्राह्मतेज के द्वारा प्रज्वलित, अत्यन्त कान्ति वाले तथा लोकगुरु ब्रह्मर्षि कश्यप से भार्गव (वृद्धजीवक) ने प्रश्न किया ॥

आबाधकारणं व्याधिर्भेषजं सुखकारणम् ।
सम्यग्युक्तं तदमृतं स्यात्तदन्यद्विषवद्भवेत् ॥ ४ ॥

व्याधि (कष्ट) रोगों का कारण है तथा औषध सुख (स्वास्थ्य) का कारण है। सम्यक् प्रकार से प्रयुक्त की गई ओषधि अमृत के समान तथा अन्यथा प्रयुक्त की हुई विष के समान होती है ॥ ४ ॥

भेषजोपक्रमं तस्माद्भगवन् ! वक्तुमर्हसि ।
औषधं किमधिष्ठानं कथं चास्योपदिश्यते ।
औषधज्ञौषधत्वं च भेषजत्वमथापि च ॥ ५ ॥
भैषज्यत्वागदत्वं च कषायत्वं तथैव च ।
यथा च गौण्येन रसा द्रव्ये द्रव्ये व्यवस्थिताः ॥ ६ ॥
प्राधान्येन यथा दृष्टो मधुके मधुरो रसः ।
अम्लः कपित्थे, लवणः सैन्धवे, नागरे कटुः ॥ ७ ॥
तिक्तस्तिक्तकरोहिण्यां, कषायश्चाभयां प्रति ।
सत्येवं रसनानात्वे संयोगः सर्व एव हि ॥ ८ ॥
कषायत्वेन निर्दिष्टः कुतः किं चात्र कारणम् ।
कति के चौषधगुणा भेदाश्चास्य कति स्मृताः ॥ ९ ॥
कति चौषधकालाश्च काले काले च को विधिः ।
कस्यां कस्यामवस्थायां पातव्यं भेषजं न वा ॥ १० ॥
कथं च पेयं पीतस्य परिहार्यं च किं भवेत् ।
जीर्यमाणस्य किं रूपं किं च जीर्णस्य लक्षणम् ॥ ११ ॥
विभज्य वयसस्त्रित्वं कथं मात्रा विधीयते ।
अधोभागोर्ध्वभागानां दोषसंशमनी च या ॥ १२ ॥
जीवनीया च या मात्रा दीपनीया च या स्मृता ।
मात्रा संशोधनी या च स्नेहमात्रा च या भवेत् ॥ १३ ॥
सर्वमेतद्यथातत्त्वं कीर्तयस्व महामुने ! ।
जातमात्रमुपादाय यावद्वर्षशतं परम् ॥ १४ ॥

इसलिये हे भगवन् ! आप ओषधियों के उपक्रम का व्याख्यान कीजिये। ओषधि का क्या अधिष्ठान होता है ? ओषधि का ज्ञान, ओषधि, भेषज, भैषज्य, अगद तथा कषाय का किस प्रकार उपदेश किया जाता है ? भिन्न २ द्रव्यों में गौणरूप से भिन्न २ रस विद्यमान होते हैं परन्तु प्रधानता के कारण मुलहठी में मधुर रस, कपित्थ (कैथ) में अम्ल रस, सैन्धव में लवण रस, सोंठ में कटुरस, तिक्तरोहिणी में तिक्त रस तथा हरीतकी में कषाय रस माना जाता है। इस प्रकार रसों के नाना प्रकार होने पर भी उनके संयोग अथवा समुदाय को कषायरूप से क्यों कहा गया है—इसका क्या कारण है ? औषध के कितने तथा कौन २ से गुण होते हैं ? इसके भेद कौन २ से होते हैं ? औषध के कितने काल होते हैं ? भिन्न २ काल में औषध सेवन की क्या विधि है ? किस अवस्था में औषध का प्रयोग करना

---

१. 'चू' इति सप्ततेः, ह्र इति पञ्चकस्य अक्षराङ्कनिर्देशरीतिः प्राचीनपुस्तकेषु, तथैवात्रापि मूलताडपत्रपुस्तके एतदध्यायान्ते श्लोकमानमादाय अक्षराङ्कसङ्केतनिर्देशोऽयम्, आद्यन्तगद्यवाक्यवर्जमध्यगतश्लोकानामत्र ७५ संख्याऽस्ति, एवमेवाग्रेऽपि क्वचित् क्वचिदेवंविधाः संख्यासङ्केता दृश्यन्ते ।

१. प्राचीन पुस्तकों में 'चू' द्वारा ७० तथा 'ह्र' द्वारा ५ अक्षर के निर्देश की रीति है। उसी प्रकार यहां मूल ताडपत्र पुस्तक में भी इस अध्याय के अन्त में श्लोकों की संख्या के अनुसार यह अक्षरों का संकेत दिया गया है। आदि तथा अन्त के गद्य वाक्यों को छोड़कर बीच के श्लोकों की संख्या यहां ७५ है। इसी प्रकार आगे भी कहीं २ ऐसी संख्याओं के सङ्केत दिये गये हैं।

चाहिये तथा किस में नहीं ? ओषधि किस प्रकार पीनी चाहिये ? ओषधि पीने के बाद क्या परहेज होना चाहिये ? ओषधि के जीर्ण होते हुए तथा जीर्ण हो जाने के बाद क्या लक्षण होते हैं ? बालक के उत्पन्न होने से लेकर १०० वर्ष तक आयु को तीन भागों में विभक्त करके अधोभाग तथा ऊर्ध्वभाग द्वारा दोषों का संशमन करने वाली, जीवनीय, दीपनीय, संशोधनी तथा स्नेहमात्रा का किस प्रकार विभाग किया जाता है ? इन सबका आप सम्यक् प्रकार से उपदेश कीजिये ॥ ५-१४ ॥

इति शुश्रूषमाणाय शिष्याय वदतांवरः ।
आचचक्षे यथान्यायं भैषज्योपक्रमं प्रति ॥ १५ ॥

इस प्रकार सुनने की इच्छा वाले शिष्य को ज्ञानी महर्षि कश्यप ने यथायोग्य भैषज्योपक्रम का उपदेश किया ॥ १५ ॥

अयं हेतुरिदं लिङ्गमस्य चायमुपक्रमः ।
इति तावत् परं सूक्ष्मं व्याधिज्ञानं प्रचक्षते ॥ १६ ॥

रोग का अमुक हेतु, अमुक लिङ्ग (लक्षण) तथा अमुक चिकित्सा है । इस प्रकार रोग का ज्ञान अत्यन्त सूक्ष्म होता है ॥

अस्मादप्यौषधज्ञानमाहुः सूक्ष्मतरं बुधाः ।
तदहं तेऽभिधास्यामि कार्त्स्न्येनैव निबोध मे ॥ १७ ॥

ज्ञानी लोग रोग की अपेक्षा भी ओषधि के ज्ञान को अधिक सूक्ष्म बतलाते हैं । इसलिये मैं सम्पूर्ण रूप से तुझे ओषधि के ज्ञान का उपदेश करूंगा । वह तू मेरे से सुन ॥१७॥

पथ्यसेविनमारोग्यं गुणेन भजते नरम् ।
अपथ्यसेविनं क्षिप्रं रोगः समभिमर्दति ॥ १८ ॥

पथ्य का सेवन करने वाले व्यक्ति को स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है तथा कुपथ्य का सेवन करने वाले को सदा रोग घेरे रहते हैं ॥ १८ ॥

स रोगो द्विविधश्चोक्तः शारीरो मानसस्तथा ।
आधयो मानसास्तत्र शारीरा व्याधयः स्मृताः ॥१९॥
साध्योऽसाध्यश्च याप्यश्च त्रिविधं रोगलक्षणम् ।

वह रोग दो प्रकार का होता है—१ शारीरिक, २ मानसिक। मानसिक रोगों को आधि तथा शारीरिक रोगों को व्याधि कहते हैं । साध्य, असाध्य तथा याप्य भेद से रोगों के तीन प्रकार के लक्षण होते हैं ।

वक्तव्य—चरक सू० अ० १ में भी कहा है—'शरीरं सत्त्वसंज्ञं च व्याधीनामाश्रयो मतः' अर्थात् ये दो ही रोगों के आश्रय माने जाते हैं । कई रोग केवल शरीर का आश्रय लेकर होते हैं जैसे—कुष्ठ । कई रोग केवल मन का आश्रय लेते हैं जैसे—काम तथा कुछ रोग ऐसे होते हैं जो शरीर तथा मन दोनों का आश्रय लेकर होते हैं जैसे—उन्माद । शारीरिक रोग का मन पर तथा मानसिक रोग का शरीर पर थोड़ा बहुत प्रभाव अवश्य पड़ता है । चरक में शरीर, मन तथा आत्मा—इन तीन पर ही लोक की स्थिति बतलाई है अर्थात् ये तीनों आधार-स्तम्भ माने गये हैं । इन तीनों के संयोग से ही प्राणी स्थिर रहते हैं । इन तीनों में से शरीर तथा मन में तो विकार उत्पन्न होते हैं परन्तु निर्विकार होने से आत्मा में विकार उत्पन्न नहीं होते । इसीलिये दो प्रकार के ही रोग माने गये हैं । चरक सू० अ० १ में कहा भी है—निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्त्वभूतगुणेन्द्रियैः ॥ १९ ॥

वातपित्तकफा दोषाः शारीरव्याधिहेतवः ॥ २० ॥
सत्त्वेतरं च द्वन्द्वं च मानसामयहेतवः ।

वात, पित्त तथा कफ दोष शारीरिक रोगों के कारण होते हैं । तथा सत्त्व गुण को छोड़कर शेष रज और तम मानसिक रोगों के कारण माने जाते हैं ।

वक्तव्य—चरक सू० अ० १ में भी कहा है—वायुः पित्तं कफश्चोक्तः शारीरो दोषसंग्रहः । मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च ॥ अर्थात् वात, पित्त तथा कफ शारीरिक रोगों को उत्पन्न करते हैं । ये तीनों जब तक समावस्था में रहते हैं तब तक शरीर स्वस्थ रहता है उस अवस्था में ये शरीर को धारण करते हैं इसलिये उसका नाम धातु भी है । परन्तु जब ये दूषित हो जाते हैं तब रोगों को उत्पन्न करते हैं उस अवस्था में इन्हें दोष कहते हैं । मानसिक दोष रज एवं तम ये दो ही माने जाते हैं । यद्यपि सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण होते हैं तथापि इनमें सत्त्व के शुद्ध एवं अविकारी होने से इसे दोष नहीं माना जाता है । वृद्ध वाग्भट की टीका में कहा भी है—'मनः शुद्धं सत्त्वम् । रजस्तमसी दोषौ तस्योपप्लवावविद्यासम्भूतौ' । यदि सत्त्व को शुद्ध एवं अविकारी न माना जाय तो मोक्ष सम्भव नहीं है । क्योंकि सत्त्व के बिना यथार्थज्ञान नहीं होता तथा जब तक यथार्थ ज्ञान न हो तब तक मुक्ति नहीं होती । इसीलिये कहा भी है—'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' इसलिये सत्त्व को दोष नहीं माना जाता । केवल रज और तम ही मन को दूषित करने के कारण मानसिक रोगों के कारण माने गये हैं । अष्टाङ्ग हृदय में भी कहा है—'वायुः पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः' तथा—'रजस्तमश्च मनसो द्वौ च दोषावुदाहृतौ ॥ २० ॥

धृतिवीर्यस्मृतिज्ञानविज्ञानैर्मानसं जयेत् ॥ २१ ॥
शारीरं भेषजैः कालयुक्तिदैवव्यपाश्रयैः ।

मानसिक रोगों को धृति, वीर्य, स्मृति, ज्ञान तथा विज्ञान के द्वारा तथा शारीरिक रोगों को कालव्यपाश्रय, युक्तिव्यपाश्रय तथा दैवव्यपाश्रय ओषधियों के द्वारा जीते ।

वक्तव्य—चरक सू० अ० १ में कहा है—प्रशाम्यत्यौषधैः पूर्वो दैवयुक्तिव्यपाश्रयैः ॥ मानसो ज्ञानविज्ञानधैर्यस्मृतिसमाधिभिः ॥ अर्थात् शारीर दोष, दैवव्यपाश्रय तथा युक्तिव्यपाश्रय ओषधियों से शान्त होते हैं और मानस दोष ज्ञान-विज्ञान आदि द्वारा शान्त होते हैं । दैवव्यपाश्रय से बलि, मन्त्र, मङ्गल तथा सदाचार आदि का ग्रहण होता है तथा युक्तिव्यपाश्रय से दोष आदि की विवेचनापूर्वक यथावत् औषध प्रयोग का ग्रहण

होता है। अर्थात् पूर्वकर्मज शारीर व्याधियों की दैवव्यपाश्रय तथा दोषज व्याधियों की युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा करनी चाहिये ॥ २१ ॥

स पुनर्द्विविधो व्याधिरागन्तुर्निज एव च ॥ २२ ॥
आगन्तुर्बाधते पूर्वं पश्चाद्दोषान् प्रपद्यते ।
निजस्तु चीयते पूर्वं पश्चाद्वृद्धः प्रबाधते ॥ २३ ॥

व्याधि आगन्तु तथा निज के भेद से पुनः दो प्रकार की है। आगन्तु व्याधि पहले शरीर को कष्ट (व्यथा) पहुंचाती है तथा बाद में वातादि दोषों को प्रकुपित करती है। निज रोग में पहले से ही दोषों का संचय एवं प्रकोप होता है तथा बाद में वे शरीर को कष्ट देते हैं। चरक सू० अ० २० में भी कहा है—आगन्तुर्हि व्यथापूर्वसमुत्पन्नो जघन्यं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यमापादयति, निजे तु वातपित्तश्लेष्माणः पूर्वं वैषम्यमापाद्य ते, जघन्यं व्यथामभिनिर्वर्तयन्ति ॥ २२–२३ ॥

तस्मादागन्तुरोगाणां पश्यन्ति निजवत् क्रियाः ।
निजानां पूर्वरूपाणि दृष्ट्वा संशोधनं हितम् ॥ २४ ॥

इसलिये आगन्तु रोगों की भी निज रोगों की तरह ही चिकित्सा की जाती है। आगन्तु रोगों में निज रोगों के पूर्वरूपों को देखकर संशोधन कराना चाहिये। अर्थात् आगन्तु रोगों में निज रोगों के पूर्वरूप दिखाई देते ही अर्थात् लक्षण उत्पन्न होने से पूर्व ही यथायोग्य संशोधन आदि देना चाहिये॥

संशोधनं सप्तविधं तदायत्तं चिकित्सितम् ।
तच्चायत्तं चतुष्पादे पादश्चौषधमुच्यते ॥ २५ ॥
ओषधं युक्त्यधिष्ठानं दैवाधिष्ठानमेव च ।
युक्तिर्वमनकर्मादि दैवं यागादि कीर्त्यते ॥ २६ ॥

संशोधन सात प्रकार का होता है तथा उसी पर चिकित्सा निर्भर होती है। चिकित्सा चतुष्पाद पर निर्भर है तथा चतुष्पाद ही ओषधि कहलाता है। ओषधि युक्ति तथा दैव के आधीन होती है। वमन आदि क्रियाओं को युक्ति कहते हैं तथा यज्ञ आदि को दैव कहते हैं।

वक्तव्य—चतुष्पाद से अभिप्राय वैद्य, ओषधि, परिचारक तथा रोगी से है। इन चारों के गुणयुक्त होने पर ही सम्यक् प्रकार से चिकित्सा हो सकती है। इसी संहिता के सूत्रस्थान अ० २६ में पहले कहा गया है—चत्वारः खलु पादाश्चिकित्सितस्योपपद्यन्ते। ते यदा गुणवन्त उपपद्यन्ते तदा साध्यो व्याधिर्नातिवर्तते। तद्यथा—भिषक्, भेषजम्, आतुरः, परिचारक इति। इसी प्रकार च० सू० अ० ९ में भी कहा है—भिषक् द्रव्याण्युपस्थाता रोगी पादचतुष्टयम्। गुणवत्कारणं ज्ञेयं विकारव्युपशान्तये ॥

ओसो नाम रसः सोऽस्यां धीयते यत्तदोषधिः ।
ओसादारोग्यमाधत्ते तस्मादोषधिरोषधः ॥ २७ ॥
भिषग्विज्ञाननेयत्वाद्भेषजं भिषजो विदुः ।
भिषग्जिते हितत्वाच्च भैषज्यं परिचक्षते ॥ २८ ॥
अगदत्वं च युक्तस्य गदानामपुनर्भवात् ।
कण्ठस्य कषणात् प्रायो रोगाणां वाऽपि कर्षणात् ॥२९॥
कषायशब्दः प्राधान्यात् सर्वयोगेषु कल्प्यते ।

ओस रस को कहते हैं। यह (रस) जिसमें धारण किया जाता है वह ओषधि होती है। रस के द्वारा क्योंकि आरोग्य का आधान होता है इसलिये रस को धारण करनेवाला द्रव्य ओषधि कहाता है। भिषग् (चिकित्सकों) के जानने योग्य होने के कारण वैद्य लोग इसे भेषज कहते हैं। चिकित्सा में हितकारी होने के कारण इसे भैषज्य कहते हैं। इसका युक्तिपूर्वक प्रयोग होने से रोग पुनः नहीं होते हैं इसलिये इसे अगद कहते हैं। कण्ठ में लगने के कारण अथवा रोगों का कर्षण करने के कारण सम्पूर्ण योगों में प्रधान रूप से कषाय शब्द का प्रयोग होता है ॥ २७–२९ ॥

शब्दरूपरसस्पर्शगन्धवद्देशजं नवम् ॥ ३० ॥
अजंग्धमविदग्धं च द्रव्यं गुणवदुच्यते ।

शब्द, रूप, रस, स्पर्श तथा गन्ध की तरह उत्कृष्ट देश (स्थान) में उत्पन्न हुआ, नवीन, कीट आदियों द्वारा अदूषित[1] तथा विदग्ध न हुआ द्रव्य गुणकारी कहलाता है ॥ ३० ॥

मात्रावल्लघुपाकं च हृद्यं दोषप्रवाहणम् ॥ ३१ ॥
अल्पपेयं महावीर्यं प्रीणनं बलरक्षणम् ।
व्यापत्तावल्पदोषं च मन्दग्लापनमेव च ॥ ३२ ॥
संस्कारगुणसंपन्नं राजार्हं भेषजं मतम् ।

उत्तम ओषधि के लक्षण—जो मात्रा में प्रयोग की जाती हो, जिसका पाक लघु हो, जो हृदय को अच्छी लगती हो (रोचक हो), जो दोषों को निकालती हो, जो अल्पमात्रा में ही सेवन की जाती हो, जो प्रबल वीर्य (शक्ति) वाली, प्रसन्न करनेवाली तथा बल की रक्षा करनेवाली हो, विपरीत प्रयोग करने पर जो अल्प दोष वाली हो, जो ग्लानि कम करती हो, तथा जो संस्कार एवं गुणों से सम्पन्न हो वह ओषधि राजाओं के योग्य मानी जाती है अर्थात् वह उत्तम औषध मानी जाती है ॥ ३१–३२ ॥

तद्धि सिद्धमसिद्धं च शीतमुष्णं द्रवं घनम् ॥ ३३ ॥
कोष्णं सस्नेहमस्नेहमिति भिन्नमनेकधा ।
तदामयवयोभेदात् सप्तधैव विभज्यते ॥ ३४ ॥

वह ओषधि सिद्ध, असिद्ध, शीत, उष्ण, द्रव (Liquid), घन (Solid), ईषदुष्ण, स्नेहयुक्त तथा स्नेह रहित इत्यादि अनेक भेदों वाली होती है। रोग एवं अवस्था के अनुसार यह निम्न सात प्रकार से विभक्त की जा सकती है ॥ ३३–३४ ॥

चूर्णं शीतकषायश्च स्वरसोऽभिषवस्तथा ।
फाण्टः कल्कस्तथा क्वाथो यथावत्तं निबोध मे ॥३५॥

ओषधियों के भेद—१-चूर्ण (Powder) २-शीतकषाय (Infusion) ३-स्वरस (Juice) ४-अभिषव (मद्य)

१. कीटाद्यदूषितमित्यर्थः ।

५-फाण्ट (Infusion) ६-कल्क (Bruised coarsely powdered drugs or Paste) तथा ७-क्वाथ (Decoction)—इन्हें तू मेरे से यथावत् सुन।

वक्तव्य—चरक सू. अ. १ में केवल ५ कल्पनाएं दी हैं। कहा है—पञ्चविधं कषायकल्पनमिति तद्यथा-स्वरसः कल्कः शृतः शीतः फाण्टः कषाय इति। अर्थात् वहां चूर्ण और अभिषव का उल्लेख नहीं किया गया है। चूर्ण का उसने कल्क तथा अभिषव का शीतकषाय में अन्तर्भाव कर दिया है ॥ ३५ ॥

सूक्ष्मचूर्णीकृतं चूर्णं नानाकर्मसु युज्यते ।
ग्रहण्यामविकारेषु व्रणवत्यञ्जनादिषु ॥ ३६ ॥
शीतः शीतकषायः स्यादन्तरिक्षाम्बुसंप्लुतः ।
स पित्तज्वरदाहासृग्विषमूर्च्छामदापहः ॥ ३७ ॥
तद्वदेव निशाव्युष्टोऽभिषवः साधु साधितः ।
प्रशान्ताग्निबलक्षोभः सौम्यः स्वरससङ्गतः ॥ ३८ ॥
द्राक्षेक्ष्वामलकादीनां पीडनात् स्वरसः स्मृतः ।
स संशमनसंयोगे नानारोगेषु कल्पते ॥ ३९ ॥

(इति ताडपत्रपुस्तके २०५ तमं पत्रम्) ।

क्वथितस्त्वान्तरिक्षेण वारिणाऽर्धावशेषितः ।
सकृद्वा फाणितः फेनं कषायः फाण्ट उच्यते ॥ ४० ॥
सोऽल्पदोषबले बाले लघुव्याधौ च शस्यते ।
कल्कः कल्कीकृतो योज्यः पानलेपावलेहने ॥ ४१ ॥
केवलद्रव्यपेयत्वाद्विकार्षी दुर्जरश्च सः ।
पादस्थितो भवेत् क्वाथो युक्तोऽबह्वग्नितेजसा ॥४२॥
स वयोबलसंपन्ने गुरुव्याधौ च शस्यते ।

सूक्ष्म चूर्ण (Powder) किये हुए द्रव्य को चूर्ण कहते हैं। यह ग्रहणी रोग, आमविकार, व्रण तथा अञ्जन आदि नाना कर्मों में प्रयुक्त किया जाता है। अन्तरिक्ष जल के साथ मिलाये हुए शीत द्रव्य को शीतकषाय कहते हैं। यह पित्तज्वर दाह, रक्त, विष, मूर्च्छा तथा मद को नष्ट करने वाला है। पूर्वोक्त द्रव्य को ही यदि रात्रि भर पानी में रखकर अच्छी प्रकार सिद्ध किया जाय तो वह अभिषव कहलाता है। जिसका अग्निबल तथा क्षोभ शान्त हो गया है तथा जो सौम्य है ऐसे व्यक्ति को स्वरस के साथ अभिषव का प्रयोग करना चाहिये। द्राक्षा, इक्षु (गन्ना) तथा आंवले आदि का निष्पीडन करके जो रस निकाला जाता है उसे स्वरस कहते हैं। यह अन्य संशमन ओषधियों के साथ मिला कर नाना रोगों में प्रयुक्त किया जाता है। द्रव्य को अन्तरिक्ष जल के साथ पका कर आधा जल शेष रहने पर अथवा एक बार उबाला आकर झाग आने पर उस क्वाथ को फाण्ट कहते हैं। यह अल्प दोष एवं अल्प बल वाले बालक तथा मृदु व्याधि में प्रशस्त माना गया है। द्रव्य को पानी के साथ पीसकर कल्क बनाकर पान, लेप तथा अवलेह के रूप में प्रयोग किया जाता है। इसमें शुद्ध द्रव्य का पान के रूप में प्रयोग होने से वह कर्षण करने वाला तथा दुर्जर (कठिनता) से जीर्ण होने वाला-दुष्पच) होता है। तीव्र अग्नि पर पकाकर चतुर्थांश शेष रखने पर क्वाथ कहलाता है। इसका अवस्था एवं बल से सम्पन्न एवं गुरुव्याधि में प्रयोग किया जाता है। चरक सू. अ. ४ में पञ्चविध कषाय कल्पना की निम्न परिभाषायें दी हैं—यन्त्रप्रपीडनाद् द्रव्याद्रसः स्वरस उच्यते। यत्पिण्डं रसपिष्टानां तत्कल्कं परिकीर्तितम् ॥ वह्नौ तु क्वथितं द्रव्यं शृतमाहुश्चिकित्सकाः। द्रव्यादापोथितात्तोये तत्पुनर्निशि संस्थितात् ॥ कषायो योऽभिनिर्याति स शीतः समुदाहृतः। क्षिप्त्वोष्णतोये मृदितं तत्फाण्टं परिकीर्तितम् ॥ ३६-४२ ॥

सप्तधैवं विभज्यैतद्दशधा प्रविचारयेत् ।
पूर्वं भक्तस्य मध्येऽधः समुद्गं समुहुर्मुहुः ॥ ४३ ॥
सभक्तं भक्तयोर्मध्ये ग्रासग्रासान्तरे परः ।

इस प्रकार ओषधियों की कल्पना को सात प्रकार से विभक्त करके फिर १० प्रकार से पुनः विभक्त करे—१-भोजन के पूर्व, २-भोजन के मध्य में, ३-भोजन के अन्त में, ४-समुद्ग, ५-बार-बार, ६-सभक्त (भोजन के साथ), ७-दो भोजनों के बीच में, ८-ग्रास के साथ, ९-दो ग्रासों के बीच में, १०-भोजन किये बिना। सुश्रुत उ. अ. ६४ में भी कहा है—अत ऊर्ध्वं दशौषधकालान् वक्ष्यामः। तत्राभक्तं प्राग्भक्तमधोभक्तं मध्ये भक्तमन्तराभक्तं सभक्तं सामुद्गं मुहुर्मुहुः ग्रासं ग्रासान्तरं चेति दशौषधकालाः ॥ ४३ ॥

पूर्वं भक्तस्य भैषज्यं न करोति बलक्षयम् ॥ ४४ ॥
आमाशयगतान् दोषान्निहन्त्याशु च पच्यते ।
अन्नसंस्तम्भिते देहे च्छर्द्युद्गारव्यथादयः ॥ ४५ ॥
न भवन्ति यतस्तस्मात्तद्देयं दुर्बलीयसे ।

१-भोजन से पूर्व ली गई औषध बल का क्षय नहीं करती तथा आमाशयगत दोषों को नष्ट करती है और शीघ्र ही पच जाती है। अन्न के द्वारा शरीर में ओषधि का स्तम्भन किया जाने परे वमन, उद्गार (डकार) तथा व्यथा आदि नहीं होते हैं। इसलिये इसका दुर्बल मनुष्यों में प्रयोग कराना चाहिये। सुश्रुत उ. अ. ६४ में कहा है—प्राग्भक्तं नाम यत् प्राग्भक्तस्योपयुज्यते। शीघ्रं विपाकमुपयाति बलं न हिंस्यादन्नावृतं न च मुहुर्वदनान्निरेति। प्राग्भक्तसेवितमथौषधमेतदेव दद्याच्च वृद्धशिशुभीरुकृशाङ्गनाभ्यः ॥ ४४-४५ ॥

मध्येभक्तं ह्युभयतो रुद्धमन्नेन भेषजम् ॥ ४६ ॥
तदन्तराशये दोषान् सुखेनैव नियच्छति ।
शमयत्याश्वधो भक्तमुरःकण्ठशिरोगदान् ॥ ४७ ॥

२-भोजन के बीच में ली गई ओषधि दोनों ओर से अन्न के द्वारा रुकी होने के कारण शरीर के अन्दर के आशयों (कोष्ठों) में स्थित दोषों को सुखपूर्वक निकाल देती है। ३-भोजन के बाद सेवन की गई औषध छाती, कण्ठ तथा शिर में स्थित दोषों को शीघ्र ही शान्त कर देती है। सुश्रुत उ. अ. ६४ में इन दोनों के गुण निम्न प्रकार कहे हैं—अधो भक्तं नाम-यदधो

भक्तस्येति । मध्ये भक्तं नाम-यन्मध्ये भक्तस्य पीयते। पीतं यदन्नमुपयुज्य तदूर्ध्वकाये हन्याद् गदान् बहुविधांश्च बलं ददाति। मध्ये तु पीतमपहन्त्यविसारिभावाद्धे मध्यदेहमभिभूय भवन्ति रोगाः ॥४६-४७॥

व्यत्यासेन च सामुद्गं दोषे तूर्ध्वमधोगते ।
मुहुर्मुहुः श्वासकासहिक्कातृट्छर्दिशान्तये ॥ ४८ ॥

४-जब दोष ऊर्ध्व तथा अधोमार्ग दोनों में फैले हुए हों तब परस्पर क्षेपण के द्वारा सामुद्ग का प्रयोग करना चाहिये। सुश्रुत उ. अ. ६४ में कहा है—समुद्गं नाम यद्भक्तस्यादावन्ते च पीयते। दोषे द्विधा प्रविसृते तु समुद्गसंज्ञमाद्यन्तयोर्यदशनस्य निषेव्यते तु॥ अर्थात् जब भोजन के आदि तथा अन्त दोनों समय औषध ली जाती है तब उसे समुद्ग कहते हैं। ५-श्वास, कास, हिक्का, तृषा तथा छर्दि (वमन) की शान्ति के लिये मुहुर्मुहुः (बारबार) ओषधि का प्रयोग करना चाहिये ॥ ४८ ॥

हितं बलाग्निरक्षार्थं सभक्तं दुर्बलात्मनाम् ।
स्त्रीबालवृद्धललितक्षतक्षीणौषधद्विषाम् ॥ ४९ ॥

६-दुर्बल, स्त्री, बालक, वृद्ध, ललित (नाजुक व्यक्ति), क्षत, क्षीण तथा ओषधि से जिसे द्वेष है—ऐसे व्यक्तियों को बल तथा अग्नि की रक्षा के लिये सभक्त (भोजन के साथ) ओषधि का प्रयोग करना चाहिये। सुश्रुत उ. अ. ६४ में कहा है—सभक्तं नाम-यत् सह भक्तेन। पथ्यं सभक्तमबलाऽबलयोर्हि नित्यं तद्द्वेषिणामपि तथा शिशुवृद्धयोश्च ॥ अर्थात् शिशु, वृद्ध तथा दुर्बल व्यक्तियों को जो भोजन के साथ ओषधि का प्रयोग किया जाता है उसे सभक्त कहते हैं ॥ ४९ ॥

व्याधौ मन्देऽनले तीक्ष्णे भक्तयोर्मध्य इष्यते ।

७-व्याधि के मन्द तथा अग्नि के तीक्ष्ण होने पर दो भोजनों के बीच में ओषधि देनी चाहिये। सुश्रुत उ. अ. ६४ में कहा है—अन्तराभक्तं नाम-यदन्तरा पीयते पूर्वापरयोर्भक्तयोः। हृद्यं मनोबलकरं त्वथ दीपनं च-पथ्यं सदा भवति चान्तरभक्तकं यत् ॥५०॥

क्षीणक्षीणाल्पशुक्राणां वाजीकरणमौषधम् ॥ ५० ॥
ग्रासे विधेयं चूर्णं च यदग्निबलवर्धनम् ।

८-दुर्बल तथा क्षीण और अल्प शुक्र वाले व्यक्तियों में वाजीकरण औषध तथा अग्नि और बल को बढ़ाने वाले चूर्ण का ग्रास के साथ प्रयोग करना चाहिये। सुश्रुत उ. अ. ६४ में कहा है—ग्रासं तु-यत्पिण्डव्यामिश्रम्। ग्रासेषु चूर्णमबलाग्निषु दीपनीयं-वाजीकराण्यपि तु योजयितुं यतेत ॥ ५० ॥

ग्रासान्तरे च्छर्दनीयं धूमपानं च शस्यते ॥ ५१ ॥

९-दो ग्रासों के बीच में छर्दनीय (वमनीय) धूम्रपान का प्रयोग करना चाहिये। सुश्रुत उ. अ. ६४ में कहा है—ग्रासान्तरं तु यद् ग्रासान्तरेषु। ग्रासान्तरेषु वितरेद्वमनीयधूमान् श्वासादिषु प्रथितदृष्टगुणांश्च लेहान् ॥ इसकी व्याख्या में डल्हण ने लिखा है—'वमनीयधूमानिति स्नायुचर्मखुरप्रभृतिभिः कृतान्'। अर्थात् दो ग्रासों के बीच में स्नायु, चर्म, खुर आदियों के द्वारा तैयार किये हुए वमनीय धूमों का प्रयोग करना चाहिये ॥ ५१ ॥

अभक्तमौषधं पीतं व्याधिमाशु बलीयसाम् ।
हन्यात्तदेवेह बलं बलवद्दुर्बलीयसाम् ॥ ५२ ॥

१०-बिना भोजन किये हुए प्रयुक्त की हुई ओषधि शीघ्र ही बलवान् व्यक्तियों के रोगों को नष्ट कर देती है। जिस प्रकार बलवान् व्यक्ति दुर्बल मनुष्यों के बलों को नष्ट कर देता है। सुश्रुत उ. अ. ६४ में कहा है—तत्राभक्तं तु यत् केवलमेवौषधमुपयुज्यते'। अर्थात् जो केवल अन्नरहित ओषधि का प्रयोग किया जाता है उसे अभक्त कहते हैं उसके गुण निम्न कहे हैं—वीर्याधिकं भवति भेषजमन्नहीनं हन्यात्तथाऽऽमयमसंशयमाशु चैव। तद्बालवृद्धवनितामृदवस्तु पीत्वा ग्लानिं परां समुपयान्ति बलक्षयं च ॥ अर्थात् केवल अन्न रहित प्रयुक्त की हुई ओषधि अधिक वीर्य वाली होती है तथा शीघ्र ही रोगों को नष्ट कर देती है ॥ ५२ ॥

एतानौषधकालांस्तु विभजेद्दशधा दश ।
क्षीणधात्विन्द्रिये शान्ते क्लान्ते तान्ते बुभुक्षिते ॥५३॥
भैषज्यदग्धकोष्ठे च भेषजं नावचारयेत् ।
क्रुद्धे विषण्णे शोकार्ते रात्रौ जागरिते तथा ॥ ५४ ॥
विदग्धाजीर्णभक्ते च भेषजं नावचारयेत् ।
कर्मातिभाराभिहते निरूढे सानुवासिते ॥ ५५ ॥
उपोषिते विरिक्ते च भेषजं नावचारयेत् ।
यत्किञ्चिदप्युपात्तान्ने मूर्च्छिते घर्मतापिते ॥ ५६ ॥
सद्यः पीतोदके चैव भेषजं नावचारयेत् ।
अवस्थाविपरीतं च भेषजं नावचारयेत् ॥ ५७ ॥

इन दस औषधों के कालों को दस प्रकार से विभक्त करे। कहां २ ओषधि का प्रयोग नहीं करना चाहिये—जिसकी धातु तथा इन्द्रियां क्षीण हो गई हैं, जो शान्त, क्लान्त (थका हुआ), खिन्न तथा भूखा हो, भैषज्य के द्वारा जिसका कोष्ठ दग्ध हो चुका हो, जो क्रुद्ध, दुःखी, एवं शोक से पीड़ित हो तथा जो रात्रि में जागा हुआ हो, जिसका खाया हुआ भोजन विदग्ध हो गया हो, जिसे अजीर्ण हो, अधिक कार्य तथा भार से जो पीड़ित हो, जिसे निरूह एवं अनुवासन दिया हो, जिसने उपवास किया हो, जिसे विरेचन दिया गया हो, जो व्यक्ति जो भी अन्न मिल जाय उसका (अर्थात् प्रत्येक अन्न का) सेवन करता हो, जो मूर्च्छित हो तथा जो गर्मी से पीड़ित हो, जिसने कुछ समय पूर्व ही पानी पिया हो ऐसे व्यक्तियों को तथा अवस्था से विपरीत ओषधि का प्रयोग नहीं करना चाहिये ॥ ५३-५७ ॥

ऊनद्वादशवर्षाणां नैकान्तेनावचारयेत् ।
अवचारितमेकान्तेनाहन्यहनि चौषधम् ॥ ५८ ॥

असमत्वागतप्राणदोषधातुबलौजसाम् ।
अत्यन्तसुकुमाराणां कुमाराणां बलायुषी ॥ ५९ ॥

१२ वर्ष से कम अवस्था वालों में ओषधि का एकान्त रूप से अर्थात् निरन्तर प्रयोग नहीं करना चाहिये। प्रतिदिन निरन्तर प्रयोग कराई गई ओषधि—जिनके शरीर में प्राण दोष, धातु, बल तथा ओज समरूप में विद्यमान नहीं हैं तथा जो अत्यन्त सुकुमार हैं—ऐसे बालकों के बल और आयु को नष्ट कर देती है ॥ ५८-५९ ॥

क्षीणातिवृद्धक्रुद्धानां क्षीणधात्विन्द्रियौजसाम् ।
एकान्तेनौषधं पीतं सूर्यस्तोयमिवाल्पकम् ॥ ६० ॥

जो व्यक्ति क्षीण, अत्यन्त वृद्ध एवं क्रुद्ध है, जिसके धातु, इन्द्रियां एवं ओज क्षीण हो चुके हैं—उनमें यदि ओषधि का निरन्तर रूप से प्रयोग किया जायगा तो वह उन्हें उस प्रकार नष्ट कर देती है जिस प्रकार थोड़े जल को सूर्य नष्ट कर देता है॥

व्याधिदोषबलाग्निभ्यो हीनं तेभ्योऽधिकं च यत् ।
अजिज्ञासितपूर्वं च गुणैश्चोक्तैर्विवर्जितम् ॥ ६१ ॥
अरोगसात्म्यं दुर्युक्तमनिष्टं मनसश्च यत् ।
यस्य पीतस्य पाकान्ते दोषः सूक्ष्मोऽपि लक्ष्यते ॥६२॥
व्याधेश्च प्रशमो न स्यात्तच्च वर्ज्यं विजानता ।

त्याज्य ओषधि—जो ओषधि-व्याधि, दोष, बल एवं अग्नि से हीन अथवा अधिक हो, जिसका पहले से ज्ञान न हो, जो यथोक्त गुणों से रहित हो, जो रोग के अनुसार न हो, ठीक प्रकार से प्रयुक्त न की गई हो, जो मन के अनुकूल न हो, जिस ओषधि के पीने के बाद पाक के अनन्तर भी थोड़ा बहुत दोष अवशिष्ट दिखाई देता हो तथा व्याधि शान्ति न हो-बुद्धिमान् व्यक्ति को उस ओषधि का त्याग कर देना चाहिये ॥६१-६२॥

यन्नातुरबलं हन्ति व्याधिवीर्यं निहन्ति च ॥ ६३ ॥
तदेवास्यावचार्यं स्यादाव्याध्युच्छेददर्शनात् ।

प्रयोज्य ओषधि—जो ओषधि रोगी के बल को नष्ट नहीं करती परन्तु रोग के बल को नष्ट करती है उसी ओषधि का व्याधि के नष्ट होने पर्यन्त प्रयोग करना चाहिये ॥ ६३ ॥

कामं व्याधौ प्रशान्तेऽपि शमदानाच्छमौषधम् ॥६४॥
तदेवाल्पं विधातव्यं सकृद् द्विस्त्रिर्यथाबलम् ।

व्याधि के शान्त हो जाने पर भी व्याधि को शान्त करने के कारण उस शामक ओषधि का अल्पमात्रा में बल के अनुसार एक, दो अथवा तीन बार प्रयोग करना चाहिये ॥ ६४ ॥

पुण्येऽहनि नमस्यादौ देवद्विजभिषग्गुरून् ॥ ६५ ॥
पूर्वाह्णे प्राङ्मुखायास्मै सुखासीनाय साधवे ।
बुभूषमाणाय भिषङ्मन्त्रवद्भेषजं शुचिः ॥ ६६ ॥
इदं हन्त[1] पिब चेति संप्रयच्छेदुदङ्मुखः ।

औषध प्रयोग विधि—पुण्य दिन में सर्वप्रथम देव, ब्राह्मण, वैद्य तथा गुरुओं को नमस्कार करके पूर्वाह्ण (प्रातःकाल) के समय पूर्व की ओर मुख किये हुए, सुखपूर्वक बैठे हुए. सज्जन तथा ओषधि का सेवन करने की इच्छा वाले रोगी को पवित्र हुआ तथा उत्तर दिशा की ओर मुख किया हुआ वैद्य कहे कि हन्त[1]! (सम्बोधन) तू इस मन्त्रयुक्त ओषधि को पी ॥६५-६६॥

अतिचङ्क्रमणस्थानशयनासनभाषणम् ॥ ६७ ॥
क्रोधशोकदिवास्वप्नविरुद्धान्नहिमातपान् ।
पीतौषधो न सेवेत तथा स्त्रीवेगधारणम् ॥ ६८ ॥

औषध सेवन के बाद त्याज्य भाव—ओषधिका सेवन करने के बाद अतिचङ्क्रमण (अधिक चलना), अधिक बैठना, अधिक सोना, अधिक बोलना, क्रोध, शोक, दिवास्वप्न, विरुद्ध भोजन, हिम (बरफ), धूप तथा स्त्रीसम्बन्धी वेग के धारण आदि का सेवन नहीं करना चाहिये ॥ ६७-६८ ॥

विजृम्भाः शब्दविद्वेषो मुखशोषोऽरतिः क्लमः ।
तन्द्रीरुद्वेष्टनं सादो लिङ्गं जीर्यति भेषजे ॥ ६९ ॥

ओषधि के जीर्ण होने के लक्षण—औषध के जीर्ण होने पर जंभाई, शब्दों से विद्वेष, मुख का सूखना, अरुचि, थकावट, तन्द्रा, उद्वेष्टन (हाथ-पैर में अकड़ाहट) तथा आलस्य आदि लक्षण होते हैं ॥ ६९ ॥

सृष्टिर्विण्मूत्रवातानां शरीरस्य च लाघवम् ।
उद्गारशुद्धिर्वैशद्यं वैमल्यं हृदयस्य च ॥ ७० ॥
प्रकाङ्क्षा कुक्षिशैथिल्यमन्नकालस्य लक्षणम् ।

अन्नकाल के लक्षण—मल, मूत्र तथा वायु का निकलना, शरीर का हलकापन, डकार का साफ आना, विशदता, हृदय की विमलता, भोजन में रुचि, कुक्षिकी शिथिलता इत्यादि—अन्नकाल (भोजन के समय) के लक्षण होते हैं ॥ ७० ॥

वयस्त्रिधा विभज्यादौ मात्रा वक्ष्याम्यतः परम् ॥ ७१ ॥

पहले अवस्था (आयु-Age) को तीन प्रकार से विभक्त करके तदुपरान्त मैं औषध की मात्रा का निर्देश करूंगा ॥७१॥

गर्भबालकुमाराख्यमित्येतत्त्रिविधं वयः ।
यौवनं मध्यमं वृद्धमेतच्च त्रिविधं पुनः ॥ ७२ ॥

गर्भ, बाल तथा कुमार—यह तीन प्रकार की अवस्था

१. पञ्चयज्ञान्तर्गते मनुष्ययज्ञे मनुष्येभ्यो हन्तशब्देन दानविधानवदत्रापि मनुष्येभ्य औषधदाने आर्यसम्प्रदायसम्भवो हन्तशब्दप्रयोगः, नत्वत्र खेदवाचको हर्षवाचको वाऽयं शब्दः, किन्तु त्यागविशेषवाचक इति ध्येयम् ।

(१) पञ्चयज्ञ के अन्तर्गत मनुष्य यज्ञ में मनुष्यों के लिये हन्त शब्द के द्वारा दान विधान की तरह यहां भी मनुष्यों के लिये औषध का प्रयोग करते हुए आर्य सम्प्रदाय वाले हन्त शब्द का प्रयोग किया गया प्रतीत होता है। यह हन्त शब्द खेद अथवा हर्ष वाचक नहीं है, अपितु त्याग विशेष वाचक ही है।

होती है। यह यौवन, मध्यम तथा वृद्ध के भेद से पुनः तीन प्रकार की होती है ॥ ७२ ॥

वर्षावरः क्षीरपः स्याद्यावत् पिबति वा पयः ।
वयस्तद्बालमस्माच्च यावत् षोडशवार्षिकः ॥ ७३ ॥
अन्नादः सर्व एव स्यात् कौमारे वयसि स्थितः ।
अतः परं धातुसत्त्वबलवीर्यपराक्रमैः ॥ ७४ ॥
वर्धमानैश्चतुस्त्रिंशद्युवा वर्षाण्युदर्कतः ।
धात्वादिभिः स्थिरीभूतैरासप्ततेर्नरः ॥ ७५ ॥

(इति ताडपत्रपुस्तके २०६ तमं पत्रम् ।)

मध्यो धात्वादिभिः पश्चात् क्षीयमाणैर्यथाक्रमम् ।
वृद्धो भवति मन्दात्मा प्रवृत्तिर्यावदायुषः ॥ ७६ ॥

एक वर्ष की अवस्था तक अथवा जब तक बालक दूध पीता है तब तक उसे क्षीरप कहते हैं। यह बाल अवस्था कहलाती है। इस एक वर्ष की अवस्था से लेकर १६ वर्ष की अवस्था तक सम्पूर्ण अन्नाद (अन्न का सेवन करनेवाले) बालक कौमारावस्था में होते हैं। इसके बाद धातु, सत्त्व, बल, वीर्य एवं पराक्रम के द्वारा बढ़ता हुआ व्यक्ति उत्तर परिणाम के अनुसार ३४ वर्ष की अवस्था तक युवा कहलाता है। धातु आदियों के स्थिर हो जाने पर सत्तर वर्ष की अवस्था तक मनुष्य की मध्यम अवस्था समझी जाती है। इसके बाद धातु आदियों के क्रमशः क्षीण हो जाने पर मन्द आत्मावाला व्यक्ति आयु पर्यन्त वृद्ध कहलाता है। अर्थात् यहां आयुको पहले मुख्य रूप से तीन भागों में बांटा गया है—१-यौवन (३४ वर्ष तक) २-मध्यम अवस्था (३४ से ७० वर्ष तक) तथा ३-वृद्धावस्था (७० से आयु पर्यन्त) यौवन अवस्था के भी तीन भाग किये गये हैं १-बालावस्था (१ वर्ष तक अथवा दूध पीने की अवस्था तक) २-कौमारावस्था (१ से १६ वर्ष की आयु तक) ३-युवा (१६ से ३४ वर्ष की अवस्था तक) सुश्रुत सू० अ० ३५ में भी अवस्था के ये ही भेद दिये हैं—

वयस्तु त्रिविधं-बाल्यं, मध्यं, वृद्धमिति । तत्रोनषोडशवर्षीया बालाः । तेऽपि त्रिविधाः-क्षीरपाः, क्षीरान्नादाः, अन्नादा इति । तेषु संवत्सरपराः क्षीरपाः, द्विसंवत्सरपराः क्षीरान्नादाः, परतोऽन्नादा इति । षोडशसप्तत्योरन्तरे मध्यं वयः । तस्य विकल्पो वृद्धिर्यौवनं संपूर्णता परिहाणिरिति । तत्र, आविंशतेर्वृद्धिः, आत्रिंशतो यौवनम्, आचत्वारिंशतः सर्वधात्विन्द्रियबलवीर्यसंपूर्णता, अत ऊर्ध्वमीषत्परिहाणिर्यावत् सप्ततिरिति । सप्ततेरूर्ध्वं क्षीयमाणधात्विन्द्रियबलवीर्योत्साहमहन्यहनि बलीपलितखालित्यजुष्टं कासश्वासप्रभृतिभिरुपद्रवैरभिभूयमानं सर्वक्रियास्वसमर्थं जीर्णागारमिवाभिवृष्टमवसीदन्तं वृद्धमाचक्षते । यहां भी वर्णन करने के ढंग में थोड़ा बहुत अवश्य अन्तर है अन्यथा वे ही भेद दिये गये हैं। मुख्यरूप से यहां भी तीन भेद दिये गये हैं। १. बाल्यावस्था (१६ वर्ष तक) २. मध्यमावस्था (६० वर्ष तक) तथा ३. वृद्धावस्था (६० वर्ष के बाद आयुपर्यन्त)। इन्हीं के अवान्तर भेद भी पृथक् २ दिये हैं जिनका प्रकृत ग्रन्थोक्त भेदों में ही अन्तर्भाव किया जा सकता है। इसी प्रकार चरक वि. अ. ८ में भी आयु के लगभग ये ही भेद दिये गये हैं ॥ ७३-७६ ॥

विकल्पनाऽन्या वृद्धस्य तस्य षोडशवार्षिकी ।
भवेद्भेषजमात्रा तु क्षीयमाणोत्तरोत्तरा ॥ ७७ ॥
शतिके शताधिके वाऽपि क्षीरान्नादवदिष्यते ।

वृद्ध व्यक्ति की ओषधि की मात्रा १६ वर्ष के व्यक्ति (Adult) की अपेक्षा उत्तरोत्तर क्षीण होती जाती है। तथा अन्त में जाकर १०० वर्ष अथवा इससे अधिक अवस्था में क्षीरान्नाद बालक के समान होती है। अर्थात् १०० वर्ष अथवा उसके बाद की अवस्था में व्यक्ति की औषध की मात्रा उतनी ही होनी चाहिये जितने क्षीरान्नाद (२ वर्ष के) बालक की होती है ॥ ७७ ॥

जातमात्रस्य मात्रा स्यात् सर्पिष्कोलास्थिसंमिता ॥७८॥
पञ्चरात्रं भवेद्यावद्दशाहमधिकं ततः ।
कोलार्धसंमितं यावद्विंशद्रात्रमतः परम् ॥ ७९ ॥

उत्पन्न हुए बालक के लिए घृत की मात्रा छोटे बेर की गुठली के प्रमाण के बराबर होनी चाहिये। उसके बाद ५ दिन तथा १० दिन की अवस्था तक उससे कुछ अधिक मात्रा देनी चाहिये। इसके बाद २० दिन तक की अवस्था में आधे कोल (बेर) के प्रमाण की मात्रा होनी चाहिये ॥७८-७९॥

कोलमात्रं भवेद्यावन्मासं मासद्वयेऽधिकम् ।
द्विकोलसंमितं सर्पिस्तृतीये मासि शस्यते ॥ ८० ॥

एक मास की अवस्था तक एक कोल (बेर) के बराबर तथा दो मास तक उससे कुछ अधिक मात्रा होनी चाहिये। तीसरे मास में घृत की मात्रा दो कोल के बराबर होनी चाहिये ॥

शुष्कामलकमात्रं तु चतुर्थे मास्युदाहृतम् ।
पञ्चमे मासि षष्ठे च ह्यार्द्रामलकसंमितम् ॥ ८१ ॥
तदेवाभ्यधिकं किञ्चिद्विहितं सप्तमाष्टमे ।

चौथे मास में शुष्क आंवले के समान मात्रा होनी चाहिये। तथा पांचवें और छठे मास में घृत की मात्रा गीले आंवले के बराबर होनी चाहिये। सातवें तथा आठवें मास में इससे कुछ अधिक मात्रा होनी चाहिये ॥ ८१ ॥

क्षीरान्नादस्य बालस्य प्रायेणाहारसंकरात् ॥ ८२ ॥
भवत्यनियतो वह्निः पक्तौ बह्वनिलात्मनः ।
तस्याऽग्न्यावेक्षिकी तस्मात् स्नेहमात्रा विधीयते ॥८३॥

वातप्रधान क्षीरान्नाद (दूध तथा अन्न दोनों का सेवन करनेवाले) बालक की जाठराग्नि प्रायः मिश्रित भोजन के खाने से भोजन के पचाने में अनिश्चित होती है अर्थात् जाठराग्नि सम नहीं होती। इसलिये उसके लिये स्नेह की मात्रा उसकी अग्नि के अनुसार होनी चाहिये ॥ ८२-८३ ॥

अन्नादस्य तु भूयिष्ठं समो भवति पावकः ।
तस्यामलकमात्रस्य सर्पिषः पानमिष्यते ॥ ८४ ॥

अन्नाद (अन्न का सेवन करने वाले) बालक की जाठराग्नि अपेक्षाकृत अधिक सम होती है। उसे आंवले के प्रमाण के बराबर घृत का पान कराना चाहिये ॥ ८४ ॥

तदेवाग्निबलं वीक्ष्य वर्धमानस्य वर्धयेत् ।
क्षीरपस्य कुमारस्य क्षीरान्नादस्य चोभयोः ॥ ८५ ॥

ज्यों २ वह वृद्धि को प्राप्त होता जाय त्यों २ क्षीरप (दूध पीने वाले) तथा क्षीरान्नाद (दूध और अन्न दोनों का सेवन करने वाले) दोनों की मात्रा अग्निबल को देखकर बढ़ानी चाहिये ॥ ८५ ॥

देयं स्नेहचतुर्भागं भेषजस्य यथामयम् ।
घृतेन पाययेद्बालं यावत् स्यादष्टमासिकः ॥ ८६ ॥
मासादतोऽष्टमाज्जन्तोर्जलपिष्टं प्रदापयेत् ।

आठ मास की अवस्था तक बालक को रोग के अनुसार स्नेह की चतुर्थांश औषध घृत के साथ पिलानी चाहिये। आठ मास के बाद बालक को जल में घुली हुई ओषधि देनी चाहिये ॥ ८६ ॥

अतः परं यथाशास्त्रं कुमारस्यान्नसेविनः ॥ ८७ ॥
वक्ष्यामि त्रिविधां मात्रां भेषजानां विभागशः ।

इसके बाद अन्न का सेवन करने वाले बालक के लिये मैं शास्त्र के अनुसार विभागपूर्वक ओषधियों की त्रिविध प्रकार की मात्रा का उपदेश करूंगा ॥ ८७ ॥

मुचूटिं[1] वा प्रकुञ्चं वा प्रसृतं वाऽथवाऽञ्जलिम् ॥ ८८ ॥
आतुरस्य प्रमाणेन समेतव्यं चिकित्सिते ।

चिकित्सा में रोगी के रोग अथवा बल के प्रमाण के अनुसार एक मुष्टि, पल, प्रसृत अथवा अञ्जलि प्रमाण ओषधि देनी चाहिये ॥ ८८ ॥

अग्रपर्वाङ्गुलिग्राह्या चूर्णमात्रा तु पाणिना ॥ ८९ ॥
चूर्णानां दीपनीयानामेषा मात्रा विधीयते ।
द्विगुणा जीवनीयानां तथा संशमनस्य च ॥ ९० ॥
ऊर्ध्वभागे त्वर्धमात्रा तथैव च विरेचने ।

हाथ की अंगुली के अगले पर्व (पोर—Phalynx) के समान चूर्ण की मात्रा ग्रहण करनी चाहिये। यह दीपनीय चूर्णों की मात्रा कही गई है। जीवनीय तथा संशमनीय चूर्णों की मात्रा इससे दुगुनी होनी चाहिये। वमन तथा विरेचन के लिये चूर्णों की मात्रा उससे आधी होनी चाहिये ॥

वातपित्तकफघ्नानां कषाये तु प्रदापयेत् ॥ ९१ ॥
द्वौ दापयेत प्रसृतौ शर्करामधुसंयुतौ ।

वात पित्त तथा कफ नाशक कषायों में शर्करा तथा मधु के साथ मिलाकर चूर्ण की मात्रा दो प्रसृत लेनी चाहिये ॥९१॥

प्रसृतं छर्दनीयस्य निष्क्वाथस्य प्रदापयेत् ॥ ९२ ॥
तथा वैरेचनीयस्य प्रसृतं नात्र संशयः ।
द्विगुणां जीवनीयस्य तथा संशमनस्य च ।

वामक तथा विरेचक क्वाथ की मात्रा निश्चित रूप से एक प्रसृत होनी चाहिये तथा दीपनीय और संशमनीय क्वाथ की मात्रा इससे दुगुनी होनी चाहिये ॥ ९२ ॥

दीपनीयस्य कल्कं तु अक्षमात्रं प्रदापयेत् ॥ ९३ ॥
द्विगुणं जीवनीयस्य तथा संशमनस्य च ।
अक्षार्धं छर्दनीयस्य तथा वैरेचिकस्य च ॥ ९४ ॥

दीपनीय कल्क की मात्रा एक अक्ष (कर्ष), जीवनीय तथा संशमनीय की इससे दुगुनी तथा वामक और विरेचक कल्क की मात्रा इससे आधी होनी चाहिये ॥ ९३-९४ ॥

स्नेहमात्रामतो वक्ष्ये वमने सविरेचने ।
वमने वमनीयाभिरोषधीभिः सुसंस्कृते ॥ ९५ ॥
मात्रावत्तु घृतं दद्याद्वमने कफसंभवे ।
अर्धमात्रा भवेद्देया विरेके सर्पिषस्तथा ॥ ९६ ॥
वैरेचनैर्विपक्वस्य पित्ते प्रकुपिते सति ।

वमन तथा विरेचन के लिये अब मैं स्नेह (घृत) की मात्रा का उपदेश करूंगा। श्लैष्मिक वमन में वमनीय ओषधियों से सुसंस्कृत घृत मात्रा में देना चाहिये। तथा पित्त के प्रकुपित होने से उत्पन्न विरेचन में विरेचन द्रव्यों से पकाये हुए स्नेह की मात्रा इससे आधी देनी चाहिये ॥९५-९६

मात्राऽधश्चोर्ध्वभागा च श्लैष्मिकस्य प्रशस्यते ॥९७॥
दीपनैः शमनीयैश्च जीवनीयैश्च साधितम् ।

श्लैष्मिक वमन तथा विरेचन में भी दीपक, शामक एवं जीवनीय द्रव्यों से साधित स्नेह की इतनी ही मात्रा देनी चाहिये ॥ ९७ ॥

तथाऽपि कुपिते वाते दोषे पक्वाशये स्थिते ॥ ९८ ॥
कुक्षिग्रन्थिषु पार्श्वे च सक्ते देयं विरेचनम् ।
शमनैर्दीपनीयैश्च पाचनीयैश्च साधितम् ॥ ९९ ॥

वायु के प्रकुपित होने पर और दोष के पक्वाशय, कुक्षि-ग्रन्थि तथा पार्श्वों में स्थित होने पर शामक, दीपक एवं पाचक द्रव्यों से सिद्ध विरेचन देना चाहिये ॥ ९८-९९ ॥

चतुर्भागगुणं दद्यान्मात्रायाः कुम्भसर्पिषः ।
पादार्धहीनं पादोनमर्धं वाऽपि यथाक्रमम् ॥ १०० ॥
सर्पिर्विदद्याद्बालेषु संप्रधार्य वयोबले ।

एतदर्थ बालकों की अवस्था तथा बल के अनुसार क्रमशः कुम्भसर्पि की मात्रा चौगुनी, पादार्धहीन, तीन चौथाई ($\frac{3}{4}$) अथवा आधी होनी चाहिये।

वक्तव्य—कुम्भसर्पि-कुछ लोग १० वर्ष तथा कुछ १०० वर्ष पुराने घृत को कुम्भसर्पि कहते हैं। यथा—कौम्भं

१. मुचूटिर्मुष्टिः प्रकुञ्चः पलम् ।

दशाब्दिकम् (चक्रपाणि) तथा शतवर्षस्थितं यत्तु कुम्भसर्पिस्तदुच्यते (योगरत्नाकर) ॥ १०० ॥

निष्क्काथानां सकल्कानां चूर्णानां सर्पिषस्तथा ॥१०१॥
इत्युक्ता विविधा मात्रा मात्रामूलं चिकित्सितम् ।

इस प्रकार क्वाथ, कल्क, चूर्ण तथा घृत की अनेक प्रकार की मात्रायें कही हैं क्योंकि मात्रा पर ही चिकित्सा निर्भर है ॥

तस्मादग्निमृतुं सात्म्यं देहं कोष्ठं वयो बलम् ॥ १०२॥
प्रकृतिं भेषजं चैव दोषाणामुदयं व्ययम् ।
विज्ञायैतद्यथोद्दिष्टां मात्रां सम्यक् प्रयोजयेत् ॥१०३॥

इसलिये अग्नि, ऋतु, सात्म्य, देह, कोष्ठ, वय (अवस्था), बल, प्रकृति, ओषधि तथा दोषों के प्रकोप और शान्ति को जानकर ही ठीक प्रकार से मात्रा का प्रयोग करे ॥१०२-१०३॥

अप्रमत्तः सदा च स्याद्भेषजानां प्रयोजने ।
ओषधीर्नामरूपाभ्यां जानन्ति वनगोचराः ॥ १०४ ॥
अजपालाश्च गोपाश्च न तु कर्मगुणं विदुः ।

ओषधियों के प्रयोग में सदा सावधान रहना चाहिये। वनों में घूमने वाले बकरियों तथा गायों के चरवाहे ओषधियों के नाम तथा रूप को जानते हैं परन्तु वे उनके कर्म तथा गुणों को नहीं जानते हैं। इसी प्रकार चरक सू० अ० १ में भी कहा है ॥ १०४ ॥

योगं तु तासां योगज्ञा भिषजः शास्त्रकोविदाः ॥१०५॥
मात्राबलविधानज्ञा जानते गुणकर्म च ।

ओषधियों के योग को जानने वाले, शास्त्रों के पण्डित तथा उनके मात्रा, बल और विधान को जानने वाले वैद्य ओषधियों के योग तथा गुण और कर्म को जानते हैं ॥ १०५ ॥

कर्मज्ञो वाऽप्यरूपज्ञस्तासां तत्त्वविदुच्यते ॥ १०६ ॥
किं पुनर्यो विजानीयादोषधीः सर्वथा भिषक् ।

ओषधियों के कर्म को जानने वाला वैद्य उनके रूप को न जानने पर भी तत्त्ववित् (तत्त्वज्ञ) कहलाता है। और जो वैद्य ओषधियों को सर्वथा जानता है अर्थात् उनके रूप, गुण, कर्म आदि सब कुछ जानता है उसका तो कहना ही क्या है ॥

यथा विषं यथा शस्त्रं यथाऽग्निरशनिर्यथा ॥ १०७ ॥
तथौषधमविज्ञातं विज्ञातममृतोपमम् ।

जिस औषध को वैद्य नाम, रूप, गुण अथवा सम्यक्प्रयोग द्वारा नहीं जानता है उस औषध को विष, शस्त्र, अग्नि तथा वज्र के समान जानना चाहिये अर्थात् अविज्ञात औषध विष आदि के समान प्राणनाशक है। तथा सम्यक् प्रकार से जानी हुई ओषधि को अमृत के समान जानना चाहिये। चरक सू० अ० १ में भी यह श्लोक लगभग इसी रूप में मिलता है॥१०७॥

औषधं चापि दुर्युक्तं तीक्ष्णं संपद्यते विषम् ॥ १०८ ॥
विषं च विधिना युक्तं भैषज्यायोपकल्पते ।

ठीक प्रकार से प्रयुक्त न की गई औषध तीक्ष्ण विष के समान हो जाती है। तथा विधिपूर्वक प्रयुक्त किया गया विष भी उत्तम ओषधि हो जाता है इसी प्रकार चरक सू० अ० १ में भी कहा है ॥ १०८ ॥

अग्निर्यथा प्रज्वलितः क्रुद्धश्चाशीविषो यथा ॥ १०९ ॥
असिधारा यथा तीक्ष्णा प्रभिन्नो वाऽपि कुञ्जरः ।
तथौषधमसंयुक्तमवैद्येनावचारितम् ॥ ११० ॥
विपर्ययेण मात्राया निरुणद्ध्यस्य जीवितम् ।

प्रज्वलित हुई अग्नि, क्रुद्ध हुए सर्प, तीक्ष्ण तलवार तथा मदमस्त हाथी के समान सम्यक् प्रकार से प्रयुक्त न की हुई तथा मूर्ख वैद्य द्वारा व्यवहृत ओषधि मात्रा के विपर्यय के कारण रोगी के जीवन को नष्ट कर देती है। इसी प्रकार चरक सू० अ० १ में भी कहा है। अर्थात् इन्द्र के वज्र के सिर पर गिरने से भी शायद मनुष्य बच जाय परन्तु मूर्ख वैद्य द्वारा प्रयुक्त की गई औषध से रोगी नहीं बचता अर्थात् उसकी मृत्यु हो जाती है ॥ १०९-११० ॥

दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा तथा पृष्ट्वा कार्याकार्यक्रियां ततः ॥ १११ ॥
औषधानि प्रसिद्धानि यानि स्युर्बहुशो भिषक् ।
रसतो वीर्यतश्चैव तानि तत्रावचारयेत् ॥ ११२ ॥
अतोऽन्यथा ह्यमात्रज्ञो युक्त्यागमबहिष्कृतः ।
(इति ताडपत्रपुस्तके २०७ तमं पत्रम् ।)

जो भी प्रसिद्ध ओषधियां हैं उन्हें देखकर स्पर्श करके तथा उनके कार्य और अकार्य को अच्छी प्रकार पूंछ करके वैद्य को उनके रस तथा वीर्य के अनुसार प्रयोग करना चाहिये। मात्रा को न जानने वाला तथा युक्ति और शास्त्र से बहिष्कृत वैद्य इससे विपरीत प्रयोग करता है ॥ १११-११२ ॥

कृशं रोगपरिध्वस्तं सुकुमारं समाति(धि[1])कम् ॥११३॥
तीक्ष्णौषधप्रयोगेण हन्ति चाप्यतिमात्रया ।
महारोगं महाहारं महासत्त्वं महाबलम् ॥ ११४ ॥
मृद्वल्पौषधयोगेन क्लेशयत्यातुरं भिषक् ।

कमजोर, रोग से घिरे हुए, सुकुमार तथा आधि (मानसिक रोग) से युक्त रोगी को वैद्य तीक्ष्ण औषध के प्रयोग तथा अधिक मात्रा के द्वारा मार देता है। इसके विपरीत महान् रोग, अधिक आहार, महान् सत्त्व तथा अधिक बल वाले रोगी को वैद्य मृदु एवं अल्प औषध के प्रयोग से क्लेश पहुंचाता है। अर्थात् कमजोर एवं सुकुमार रोगी को तीक्ष्ण औषध के प्रयोग से हानि होती है तथा महान् रोग और महान् बल वाले रोगी को अल्प एवं मृदु ओषधि का यदि प्रयोग कराया जाय तो उसका कोई लाभ नहीं होता है। इसलिये रोगी एवं रोग के बल को सम्यक् प्रकार से देखकर ही ओषधि का प्रयोग कराना चाहिये ॥ ११३-११४ ॥

उपक्रम्यो बली तस्माद् दुर्बलो निरुपक्रमः ॥ ११५ ॥

१. आधिग्रस्तमित्यर्थः सम्भवति ।

मध्यं युक्तैरुपक्रम्य न चाहारान्निवर्तयेत्।

इसलिये बलवान् रोगी की चिकित्सा करनी चाहिये और दुर्बल की चिकित्सा नहीं करनी चाहिये। तथा मध्य बलवाले रोगी की योग्य उपक्रमों के द्वारा चिकित्सा करे तथा उसका आहार बन्द न करे॥ ११५॥

कृशं विश्राम्य विश्राम्य पथ्यैरौषधसाधनैः॥ ११६॥
धारयेद्वर्धयेदग्निमग्नौ वृद्धे हि जीवति।

कमजोर रोगी को बार २ विश्राम देकर औषध के द्वारा सिद्ध पथ्यों से उसका धारण करे तथा अग्नि को बढ़ाये। क्योंकि अग्नि के बढ़ने पर रोगी जीवित रहता है॥ ११६॥

यथाऽनिलः पित्तकफासृजश्च
नित्याः शरीरे निहिता नराणाम्।
तथैव बालेष्वपि सर्वमेत-
द्द्वयोस्तु रूपं तु तदल्पमल्पम्॥ ११७॥

जिस प्रकार मनुष्यों के शरीर में वायु, पित्त, कफ और रक्त सदा विद्यमान रहते हैं उसी प्रकार बालकों के शरीर में भी ये सब विद्यमान रहते हैं। दोनों में अन्तर इतना ही होता है कि बालकों में ये सब अल्प मात्रा में होते हैं॥११७॥

यथाऽल्पदेहस्य तदल्पमल्पं
तथाऽन्नपानौषधमल्पमल्पम्।
बुद्ध्या विमृश्येह भिषग्विदध्यात्
मात्रा हि देहाग्निवयःप्रधानाः॥ ११८॥

जिस प्रकार अल्प देह वाले व्यक्ति में ये वात पित्त आदि अल्प मात्रा में होते हैं उसी प्रकार वैद्य को बुद्धि के द्वारा विचार करके उसके लिये अन्न, पान तथा औषध आदि भी अल्प मात्रा में प्रयुक्त करने चाहिये क्योंकि मात्रा मुख्यरूप से देहाग्नि तथा अवस्था के अनुसार होती है॥ ११८॥

इतिह स्माह भगवान् कश्यपः।
अलष्क (१३४[1])
(इति) खिलेषु भैषज्योपक्रमणीयाध्यायस्तृतीयः॥ ३॥

ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था। अलष्क (१३४)
(इति) खिलेषु भैषज्योपक्रमणीयाध्यायस्तृतीयः॥ ३॥

१. अत्र अलष्क इत्यक्षराङ्कोल्लेखेन १३४ श्लोकमानमायाति, परमत्र ११६ श्लोका एव भवन्ति, तेन कतिपये एतत्प्रकरणमध्यगताः श्लोकाः पूर्वमेव विलुप्ताः किमु।

यहां 'अलष्क' शब्द द्वारा अक्षरों का उल्लेख होने से १३४ श्लोकों की प्रतीति होती है परन्तु यहां ११६ श्लोक ही हैं। इससे अनुमान किया जासकता है कि इस प्रकरण के बीच के कुछ श्लोक लुप्त हो गये हैं। इस अध्याय में श्लोकों की संख्या ११६ नहीं अपितु ११८ हैं। बीच में संख्या की गड़बड़ी के कारण ११६ संख्या आती है। हमने उस संख्या को ठीक करके ११८ कर दिया है। (अनुवादक)।

अथ यूषनिर्देशीयो नाम चतुर्थोऽध्यायः।

अथातो यूषनिर्देशीयं नामाध्यायं व्याख्यास्यामः॥१॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः॥ २॥

अब हम यूष निर्देशीय नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था।

वक्तव्य—यूष सिद्ध करने के लिये मूंग आदि को कुछ भून करके १४ या १८ गुना जल में पकाकर आधा जल शेष रहने पर उतार लिया जाता है। कहा भी है—चतुर्दशगुणे तोये अष्टादशगुणेऽथवा। ईषद्भ्रष्टं तु विदलं पक्वा यूषोऽर्धशेषितः॥ यूष तथा सूप में यह अन्तर है कि यूष में केवल मात्र द्रव भाग लिया जाता है जब कि सूप में दाल के दाने तथा जल दोनों ही रहते हैं तथा जल भी चतुर्थांश रहता है॥ १-२॥

यूषादिव्यञ्जनोपेतं भोज्यं पथ्यतरं भवेत्।
स्वस्थानामातुराणां च विशेषारोग्यकारकम्॥ ३॥

यूष आदि व्यञ्जनों से युक्त भोज्य पदार्थ स्वस्थ तथा रोगी दोनों के लिये पथ्य होता है तथा विशेषरूप से आरोग्य को देने वाला होता है॥ ३॥

अतश्च सर्वभूतानामाहारः स्थितिकारणम्।
न त्वाहारादृतेऽस्त्यन्यत् प्राणिनां प्राणधारणम्॥ ४॥

इसलिये आहार सब प्राणियों की स्थिति का कारण कहा गया है। आहार के अतिरिक्त और कोई वस्तु ऐसी नहीं है जो प्राणियों के प्राणों को धारण कराये। सुश्रुत सू. अ. ४६ में कहा भी है—प्रागभिहितः प्राणिनामित्यादि, Sir Robert Mc Carrison ने भी अपनी पुस्तक Food में आहार प्रयोजन बतलाया है॥ ४॥

न चाहारसमं किञ्चिद्भैषज्यमुपलभ्यते।
शक्यतेऽप्यन्नमात्रेण नरः कर्तुं निरामयः॥ ५॥

आहार के समान अन्य कोई भी ओषधि नहीं है केवल अन्न (पथ्य आहार) के द्वारा ही मनुष्य को निरोग किया जा सकता है। इसीलिये 'वैद्यजीवन' में कहा है—पथ्ये सति गदार्तस्य किमौषधनिषेवणैः। पथ्येऽसति गदार्तस्य किमौषधनिषेवणैः॥ अर्थात् यदि रोगी पथ्य का सेवन करता है तो वह ओषधि के बिना केवल उस पथ्य के द्वारा ही स्वास्थ्य लाभ कर लेता है। और यदि रोगी पथ्य का सेवन नहीं करता है तो चाहे कितनी ही ओषधियों का प्रयोग किया जाय सब व्यर्थ होती हैं॥ ५॥

भेषजेनोपपन्नोऽपि निराहारो न शक्यते।
तस्माद्भिषग्भिराहारो महाभैषज्यमुच्यते॥ ६॥

ओषधि का सेवन करने पर भी आहार के विना व्यक्ति की स्थिति नहीं होती है। इसलिये वैद्यों ने आहार को महाभैषज्य कहा है। अर्थात् केवल ओषधियों के सेवन से कोई भी व्यक्ति जीवित नहीं रह सकता है। जीवन को स्थिर

रखने के लिये आहार अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए आजकल भी 'आहार ही औषध हैं' 'Food De Medicine' इत्यादि वचन भी इसी अभिप्राय को प्रकट करते हैं ॥ ६ ॥

स ह्याहरणसामान्याद्दृष्ट एकविधो बुधैः।
द्विविधो वीर्यभेदेन, त्रिविधो दोषभेदतः॥ ७॥
भक्ष्यभोज्यादिभेदेन तथैवोक्तश्चतुर्विधः।
पञ्चभूतात्मकत्वाच्च पुनः पञ्चविधः स्मृतः॥ ८॥
स एव पुनरुद्दिष्टः षड्विधः षड्रसाश्रयात्।
पुनर्द्वादशधा भिन्नो द्वादशप्रविचारतः॥ ९॥

विद्वान् लोग 'आहरण' (आहार्यते गलादधो नीयते) की समानता के कारण सम्पूर्ण आहार को केवल एक प्रकार का मानते हैं। शीत तथा उष्ण वीर्य के अनुसार वह दो प्रकार का, वात पित्त कफ आदि दोषों के अनुसार तीन प्रकार का, भक्ष्य भोज्य (अशित, खादित, पीत, लीढ) आदि के अनुसार चार प्रकार का तथा पंचमहाभूतों के अनुसार वह ५ प्रकार का माना गया है। वही आहार पुनः मधुर अम्ल आदि ६ रसों के आश्रय के अनुसार ६ प्रकार का तथा भोजन की १२ प्रकार की प्रकृष्ट विचारणाओं के अनुसार आहार १२ प्रकार का होता है ॥ ७-९ ॥

चतुर्विंशतिधा भूयः कालादीनां विकल्पतः।
प्रवर्तते तमाश्रित्य धर्मार्थादिचतुष्टयम्॥ १०॥
स्वस्थयात्रा चिकित्सा च तमेवाश्रित्य वर्तते।

काल आदियों के भेद के अनुसार पुनः आहार २४ प्रकार का होता है। उस आहार पर ही धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि चारों कर्म आश्रित होते हैं। मनुष्य का स्वास्थ्य तथा चिकित्सा भी आहार पर आश्रित होते हैं ॥ १० ॥

तुष्टिः पुष्टिर्धृतिर्बुद्धिरुत्साहः पौरुषं बलम्॥ ११॥
सौस्वर्यमोजस्तेजश्च जीवितं प्रतिभा प्रभा।
आहारादेव जायन्ते एवमाद्या गुणा नृणाम्॥ १२॥
तदात्मवान् हितमितं काले भुञ्जीत षड्रसम्।

तुष्टि (सन्तोष), पोषण, धैर्य, बुद्धि, उत्साह, पौरुष, बल, उत्तम स्वर, ओज, तेज, जीवन, प्रतिभा, प्रभा आदि गुण भी मनुष्य में आहार से ही उत्पन्न होते हैं। इसलिये आयुष्मान् व्यक्ति को चाहिये कि वह उचितकाल में षड्रसयुक्त हितकारी तथा परिमित आहार का सेवन करे। स्वास्थ्य प्राप्ति के लिये हित एवं मित आहार का माहात्म्य तन्त्रान्तर में भी दिया है—कोऽरुक् कोऽरुक् कोऽरुक् हितभुङ् मितभुग् जितेन्द्रियो नियतः। सोऽरुक् सोऽरुक् सोऽरुक्॥ ११-१२॥

यथा च यच्च भोक्तव्यं ये च भोग्य(ज्य)गुणागुणाः॥१३॥
तत्ते भोज्यविभागीये सर्वं वक्ष्याम्यतः परम्।

जिस प्रकार से तथा जो २ भोजन करना चाहिये और भोजन के जो २ गुण एवं अवगुण हैं वे सब मैं बाद में भोज्यविभागीय नामक अध्याय में कहूँगा ॥ १३ ॥

अत्र ते संप्रवक्ष्यामि नानाद्रव्योपसंस्कृतान्॥ १४॥
नानारोगोपशमनान् यूषान् स्थविरजीवक!।

हे वृद्धजीवक! अब मैं अनेक रोगों को शान्त करने वाले तथा नाना द्रव्यों से संस्कृत यूषों का वर्णन करूंगा ॥ १४ ॥

रोचनो दीपनो वृष्यः स्वरवर्णबलाग्निकृत्॥ १५॥
प्रस्वेदजननो मुख्यस्तुष्टिपुष्टिसुखावहः।

यूष के गुण—यूष रुचिकारक, दीपन, वृष्य, स्वर, वर्ण, बल तथा अग्नि को बढ़ाने वाला, स्वेद लाने वाला (Diaphoratic), मुख के लिये हितकर, तुष्टि, पुष्टि तथा सुखदायक होता है ॥ १५ ॥

यूषः स्नेहोष्णभावाच्च वातं, स्नेहकषायतः॥ १६॥
पित्तं, कफं कदुष्णत्वात् संस्काराच्च नियच्छति।

स्निग्ध तथा उष्ण होने के कारण यूष वात को, स्निग्ध तथा कषाय रस के कारण पित्त को और ईषदुष्ण होने के कारण तथा संस्कार के कारण कफ को शान्त करता है ॥१६॥

यूषधातुं वदन्ति ज्ञा द्रवीकरणपाकयोः॥ १७॥
द्रवीकरोति भोज्यानि पक्वः सद्यूष इत्यतः।

विद्वान् लोग यूष धातु को द्रवीकरण (Liquidation) तथा पाक (पचाने) अर्थ में प्रयुक्त करते हैं। पकाया हुआ यूष भोज्य पदार्थों को द्रव अवस्था में ले आता है ॥ १७ ॥

द्रव्यै(वै)र्बहुविधैर्द्रव्यैस्तथा चान्यैरतण्डुलैः॥ १८॥
यूष इत्युच्यते सिद्धो, यवागूस्तण्डुलैः सह।

तण्डुलों (चावलों) को छोड़कर अन्य बहुत से पदार्थों को अनेक प्रकार के द्रवों के साथ मिलाकर सिद्ध करने पर यूष कहलाता है। तथा यदि तण्डुलों के साथ सिद्ध किया जाय तो उसे यवागू कहते हैं ॥ १८ ॥

मुद्गयूषो विरसिका यूषो दाडिमकस्तथा॥ १९॥
चित्रकामलकानां च द्वौ यूषौ परिकीर्तितौ।
पञ्चकोलकयूषौ द्वौ संग्राही दीपनस्तथा॥ २०॥
धान्ययूषोऽथ कौलत्थः फलयूषश्च भार्गव!।
पुष्पयूषः पत्रयूषो वल्कयूषस्तथैव च॥ २१॥
मुख्यः पल्लवयूषश्च महायूषस्तथैव च
रास्नायूषो महायूषश्चाङ्गेर्या मूलकस्य च॥ २२॥
पुनर्नवातिबलयोर्गुडक(का)म्बलिकस्तथा।
मुख्यत्रिकटुयूषश्च लशुनैर्वास्तुकेन च॥ २३॥
पञ्चविंशतिरित्येते यूषाः कश्यपनिर्मिताः।

---

१. सुस्वरतेत्यर्थः।

१. ग्रन्थान्तरेषु निर्माणविशेषदर्शनेऽपि गुडकाम्बलिकोऽयमत्रैव वक्ष्यमाणो ग्राह्यः।

यूषों के भेद—१ मुद्गयूष, २ विरसिका, ३ अनार का यूष, ४ चित्रक यूष, ५ आंवले का यूष, ६–७ पंचकोल के दो संग्राही तथा दीपन यूष, ८ धान्य यूष, ९ कुलत्थ यूष, १० फल-यूष, ११ पुष्पयूष, १२ पत्रयूष, १३ वल्कयूष, १४ पल्लवयूष, १५ महायूष, १६ रास्नायूष, १७ चाङ्गेरी का यूष, १८ मूली का यूष, १९ पुनर्नवा यूष, २० अतिबला यूष, २१ गुड़काम्लिक यूष, २२ मुख्यत्रिकटु यूष, २३ लशुन यूष, २४ बथुए का-यूष, इस प्रकार कश्यप द्वारा निर्मित ये २५ यूष हैं।

वक्तव्य—उपर्युक्त संख्या को यदि गिना जाय तो ये यूष संख्या में २५ नहीं होते अपितु २४ ही रहते हैं ॥ १९-२३ ॥

यूषाः कषायमधुरा कषायाम्लाश्च भार्गव ! ॥ २४ ॥
द्विविधा विहिताः सर्वे सर्वे च द्रवयोनयः ।

हे भार्गव (भृगुकुलोत्पन्न वृद्धजीवक) सम्पूर्ण प्रकार के यूष दो प्रकार के होते हैं—१ कषाय और मधुर, २ कषाय और अम्ल। तथा सम्पूर्ण यूषों का योनि (उत्पत्ति कारण) द्रव होता है ॥ २४ ॥

कृताऽकृताऽकृतकृताः[१] पित्तश्लेष्मानिलात्मसु ॥ २५ ॥
रोगेषु स्नेहयोगाच्च ते यूषास्त्रिविधाः स्मृताः ।

पित्त, श्लेष्म (कफ) तथा वातरोगों में स्नेह के योग के अनुसार तीन प्रकार के यूष माने गये हैं—१ कृत, २ अकृत, ३ अकृतकृत। 'कृत' यूष से अभिप्राय यह है कि जिसे स्नेह, नमक या कालीमिर्च आदि मसाले के साथ सिद्ध किया जाय। तथा जिसे उपर्युक्त मसालों के साथ सिद्ध न किया जाय उसे 'अकृत' यूष कहते हैं ॥ २५ ॥

त एव पाचनाः प्रोक्ताः कर्षणा बृंहणास्तथा ॥ २६ ॥
शीतोष्णमिश्रवीर्यत्वान्नानाद्रव्योपसंश्रयात् ।

वे ही यूष शीत, उष्ण तथा मिश्र वीर्य के कारण तथा नाना द्रव्यों के संयोग से पाचन, कर्षण तथा बृंहण के भेद से तीन प्रकार के होते हैं ॥ २६ ॥

लवणव्योषणस्नेहपक्तिसंस्कारयुक्तयः ॥ २७ ॥
सिद्धा यूषेषु विदुषो न वक्ष्यामि पुनः पुनः ।

नमक, त्रिकटु तथा स्नेह के साथ पकाकर संस्कार तथा युक्ति के द्वारा सिद्ध किये हुए यूषों का मैं विद्वानों को बार २ उपदेश नहीं करूंगा ॥ २७ ॥

दोषभेदेन यूषास्ते संख्याताः पञ्चसप्ततिः ॥ २८ ॥
तथैव यापनादित्वात् पञ्चाशत्तु रसाश्रयात् ।

दोष भेद से ये यूष ७५ कहे गये हैं। अर्थात् वात पित्त एवं कफ के अनुसार ये ही २५ यूष (२५×३) ७५ हो जाते हैं। इसी प्रकार यापन आदि के अनुसार भी ये ७५ ही होते हैं। अर्थात् साध्य, याप्य और असाध्य के अनुसार भी ये २५×३=७५ ही होते हैं। तथा रसों के आश्रय के अनुसार ये ५० होते हैं। अर्थात् पहले २४ वें श्लोक में जो कषायमधुर और कषायाम्ल भेद से दो प्रकार के यूष बताये हैं उसके अनुसार ये २५×२=५० होते हैं ॥ २८ ॥

[१] चरकसिद्धिस्थानटीकायां चक्रपाणिः–'अकृतयूषः स्नेहलवणाद्यसंस्कृतः, कृतयूषः स्नेहलवणादिसंस्कृत' इति ।

एके यूषास्तथैकेषां यत्किञ्चिद्व्यञ्जनं द्रवम् ॥ २९ ॥
अग्नौ सिद्धमसिद्धं तु रागखाडवपानकम् ।

कुछ यूष ऐसे होते हैं जिनमें कुछ व्यञ्जन आदि डालकर उसे द्रवरूप में बनाया जाता है। उन्हीं को अग्नि पर सिद्ध करके अथवा विना सिद्ध किये हुए राग, खाडव एवं पानक बनाये जाते हैं।

वक्तव्य—राग षाडव (खाडव) का लक्षण—चरक सू. अ. २७ में कहा है-क्वथितन्तु गुडोपेतं सहकारफलं नवम् । तैलनागरसंयुक्तं विज्ञेयो रागषाडवः ॥ २९ ॥

यमकस्नेहसिद्धास्तु ते यूषा घृततैलयोः ॥ ३० ॥
शस्यन्ते वातरोगेषु वर्चःशोषाभिघातयोः ।
दीप्ताग्नीनामनिद्राणां भाराध्वश्रममैथुनैः ॥ ३१ ॥
क्लान्तानां पतनाद्यैश्च यूषोऽयमेक इष्यते ।

घृत तथा तैल रूपी यमक स्नेह में सिद्ध किये हुए यूष वात रोग, वर्चः शोष (मल का सूख जाना) तथा अभिघात (चोट) रोग में और दीप्त अग्निवाले, जिन्हें निद्रा नहीं आती है, और भार, अध्व (मार्गगमन), श्रम, मैथुन तथा गिरने से थके हुए रोगियों में उपयोगी होते हैं ॥ ३०-३१ ॥

दधिकाञ्जिकशुक्तानि वर्गो यश्चापि दीपनः ॥ ३२ ॥
निर्यूहः सर्वयूषाणामन्यस्मात् पाञ्चकर्मिकात् ।
(इति ताडपत्रपुस्तके २०८ तमं पत्रम्)।

क्वाथो निर्यूह आदानं कषायश्चेति तत् समम् ॥ ३३ ॥
गर्भः कल्कस्तथाऽऽवापः पाकः संस्कार उच्यते ।

दही, कांजी, शुक्त (सिरका) तथा दीपन वर्ग आदि से बनाये हुए सम्पूर्ण यूषों का निर्यूह पञ्चकर्म के अतिरिक्त सब कार्यों में प्रयुक्त होता है। उसे क्वाथ, निर्यूह, आदान, कषाय, गर्भ, कल्क, आवाप, पाक तथा संस्कार आदि समान शब्दों से कहा जाता है ॥ ३२-३३ ॥

निस्तुषाणां पुराणानां मुद्गानां दीपनाम्बुना ॥ ३४ ॥
मुद्गमण्डस्तनुत्वात् स मुद्गयूषो घनोऽल्पशः ।
मुद्गतक्राम्लसिद्धस्तु यूषो विरसिका स्मृतः ॥ ३५ ॥
स एव दाडिमोदश्वित्कृतो रोचन उच्यते ।
स्मृतो दाडिमयूषश्च मुद्गदाडिमसंस्कृतः ॥ ३६ ॥
मुद्गामलकनिर्यूहो धात्रीयूषोऽभिधीयते ।
इत्येते पञ्च यूषास्तु विहिताः पाञ्चकर्मिकाः ॥ ३७ ॥

छिलके सहित पुराने मूंगों के दीपन द्रव्य के साथ बनाये हुए पदार्थ को तनु (पतला) होने के कारण मुद्गमण्ड कहते हैं। वही घना एवं अल्प होने के कारण मुद्गयूष कहलाता है।

मूंग तथा तक्राम्ल के द्वारा सिद्ध किया हुआ यूष विरसिका कहलाता है। वही अनार तथा तक्र के साथ सिद्ध करने पर रोचक कहलाता है। तथा मूंग और अनार से सिद्ध किये हुए को दाडिमयूष कहते हैं। मूंग तथा आंवले के निर्यूह को धात्रीयूष कहते हैं। ये पांच यूष पञ्चकर्म के लिये प्रयुक्त किये जाते हैं ॥ ३४-३७ ॥

काम्यांस्त्वन्यान् प्रवक्ष्यामि यूषानामयदर्शनात् ।
सिद्धश्चित्रकनिर्यूहे समूलस्कन्धपत्रके ॥ ३८ ॥
ख्यातश्चित्रकयूषस्तु ग्रहणीदोषशूलनुत् ।
प्लीहार्शोगुल्मकुष्ठघ्नो हृद्रोगकफवातजित् ॥ ३९ ॥
तद्वन्मूलकयूषोऽपि स वै संस्कारमीक्षते ।

रोगों के अनुसार मैं अन्य इष्ट यूषों का वर्णन करूंगा। मूल, स्कन्ध (तना) तथा पत्रों सहित चित्रक के क्वाथ में सिद्ध किया हुआ यूष चित्रक यूष कहलाता है। यह ग्रहणी दोष, शूल, प्लीहा, अर्श, गुल्म, कुष्ठ, हृद्रोग तथा कफ और वात को नष्ट करता है। इसी प्रकार मूलक यूष भी है। यह संस्कार की अपेक्षा करता है ॥ ३८-३९ ॥

शटीकर्कटकीबिल्वमाजपौष्करधातकी ॥ ४० ॥
दधित्थं दाडिमफलं चाङ्गेरीससमङ्गयोः ।
पञ्चकोलकयूषोऽयं परः सांग्राहिकः स्मृतः ॥ ४१ ॥
स एव दीपनोपेतो लवणैश्चापि दीपनः ।

शटी (कपूरकचरी–कचूर), काकड़ाश्रृंगी, बिल्व, अजश्रृंगी, पुष्करमूल, धाय के फूल, दधित्थ (कपित्थ), दाडिम, चांगेरी, समङ्गा (मञ्जिष्ठा)—यह पञ्चकोल यूष कहलाता है जो कि अत्यन्त संग्राही (Astringent) माना गया है। उसीमें यदि दीपक पदार्थ तथा लवण डाल दिये जायं तो वह दीपक हो जाता है ॥ ४०-४१ ॥

अखण्डितानां धान्यानां सर्वेषां समभागिनाम् ॥४२॥
निर्यूहः स्यादृते माषतिलनिष्पावसर्षपात् ।
धान्ययूषः स्मृतो मुख्यो दीपदाडिमसंस्कृतः ॥ ४३ ॥

अखण्डित धान्यों को समभाग में लेकर तिल, निष्पाव (राजशिम्बी) और सरसों से रहित उनका निर्यूह (क्वाथ) बनाकर उसे चित्रक तथा दाडिम से सिद्ध करने पर धान्ययूष कहलाता है ॥ ४२-४३ ॥

दधिमण्डेऽथ वा सिद्धस्तक्रे वा रोगदर्शनात् ।
शिरःकर्णाक्षिरोगेषु हृद्रोगेऽवधभेदके ॥ ७४ ॥
अरुचौ चातिसारे च कार्यः सतिलमाषकः ।

दधिमण्ड अथवा तक्र में सिद्ध किया हुआ यूष रोगों के दिखाई देने तक शिर, कर्ण तथा अक्षिरोगों में और हृद्रोग, अर्धावभेद, अरुचि एवं अतिसार में तिल एवं माष के सहित प्रयोग करना चाहिये ॥ ४४ ॥

कुलत्थानां तु निर्यूहे कौलत्थो यूष उच्यते ॥ ४५ ॥
सन्निपातानिलकफव्याधीन् हन्ति विरूक्षणः ।

कुलत्थ के क्वाथ को कौलत्थयूष कहते हैं। यह सन्निपात, वायु तथा कफ के रोगों को नष्ट करता है तथा रूक्ष है ॥ ४५ ॥

कपित्थबिल्वबदरद्राक(?)दाडिमचूतजैः ॥ ४६ ॥
फलयूषं(षः)फलैरामैर्जीर्णातीसारनाशनम् (नः) ।

कपित्थ, बिल्व, बेर, द्राक (?), अनार तथा आम के कच्चे फलों से फलयूष बनाया जाता है जो कि जीर्ण अतिसार को नष्ट करता है ॥ ४६ ॥

शणशाल्मलिधातक्यः पद्मसौगन्धिकैः सह ॥ ४७ ॥
कोविदारात् कर्बुदारात् पुष्पैर्यूषं प्रकल्पयेत् ।
असृग्दरे रक्तपित्ते दाहे चोदरचक्षुषोः ॥ ४८ ॥
तैलाम्लाभ्यामृते सिद्धः पुष्पयूषः सदाडिमः ।

शण (सन), शाल्मलि (सिम्बल), धाय के फूल, कमल तथा सौगन्धिक के साथ कोविदार (कचनार) तथा कर्बुदार (सफेद कचनार) के फूलों से यूष बनाये। तैल तथा अम्ल से रहित अनार से सिद्ध किया हुआ यह पुष्पयूष प्रदर, रक्तपित्त, दाह एवं उदर और चक्षुरोगों में उपयोगी है ॥४७-४८॥

बिल्वशोभाञ्जनैरण्डबलारास्नाम्रवारिणा ॥ ४९ ॥
पत्रनिष्क्वाथयूषः स्यात् पत्रयूषोऽनिलापहः ।

पानी में बिल्व, सुहांजना, एरण्ड, बला, रास्ना तथा आम्र के पत्तों को पाककर यूष बनाया जाता है। यह पत्रयूष वातनाशक है ॥ ४९ ॥

दाडिमाम्रातजम्बूनां चिरबिल्वस्य च त्वचः ॥ ५० ॥
निष्क्वाथ्य दधिमण्डेन वल्कयूषोऽतिसारनुत् ।

अनार, आम्रातक (अम्बाड़ा), जामुन तथा चिरबिल्व (नाटाकरंज) की छाल का दही के मण्ड के साथ क्वाथ करके वल्कयूष बनाया जाता है। यह अतिसार को नष्ट करता है ॥ ५० ॥

न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षकालापलाशजैः ॥ ५१ ॥
पल्लवैः कमलानां च घृतदाडिमसंस्कृतः ।
पित्तरोगेषु सर्वेषु गर्भच्यवनदाहयोः ॥ ५२ ॥
मुख्यः पल्लवयूषोऽयं हितः कटुकिनीषु च ।

बढ़, गूलर, पीपल, पिलखन, त्रिवृत्, ढाक तथा कमल के पत्तों से घी और अनार के साथ सिद्ध करके पल्लवयूष बनाया जाता है। यह सम्पूर्ण पित्त रोगों में, गर्भपात, दाह तथा कटुकिनी (ग्रह रोग) में हितकर होता है ॥ ५१-५२ ॥

पुनर्नवाया रास्नायाश्चाङ्गेरीबलयोस्तथा ॥ ५३ ॥
पृथग्यूषाः समाख्याता वातघ्ना दधिसर्पिषा ।

पुनर्नवा, रास्ना, चाङ्गेरी तथा बला के दही तथा घृत के साथ पृथक् २ यूष बनाये जाते हैं। ये वातनाशक होते हैं ॥५३॥

रोहितापोतमत्स्यानां[1] निर्यूहं साधयेज्जले ॥ ५४ ॥

१. रोहितायाः पोतमत्स्यानां बालमत्स्यानामित्यर्थः ।

तं क्वाथं साधयेद्भूयः शुक्तकाञ्जिकमस्तुभिः ।
द्रवाणि कुडबीजानि गुडपञ्चपले श्रृतः ॥ ५५ ॥
एष काम्बलिको रूक्षः कटुतैलेन वा कृतः ।
वातरोगप्रशमनो बृंहणो बलवर्धनः ॥ ५६ ॥
रतिनिद्रारुचिकरस्तिलतैलेन वा कृतः ।

रोहित जाति की छोटी मछलियों को जल में पकाकर सिद्ध करे। उसे पुनः सिरके, कांजी तथा दधिमस्तु के साथ सिद्ध करे। इसमें द्रव (Liquid) कुडबीज (कुटजबीज) लेवे तथा ५ पल गुड लेकर पकाये। यह रूक्ष अथवा कटु तैल (सरसों के तेल) के साथ बनाया हुआ काम्बलिक कहलाता है। यह काम्बलिक वातरोगों का शामक, बृंहण तथा बलवर्धक है। अथवा तिल तैल के साथ बनाने पर रति (कामशक्ति) निद्रा तथा रुचि को बढ़ाने वाला है ॥ ५४-५६ ॥

दीपनं पञ्चमूलं च फलानि मधुराणि च ॥ ५७ ॥
पूर्ववत् सर्वधान्यानि धान्यकं मरिचानि च ।
काकोलीक्षीरकाकोलीकाश्मर्याणि परूषकम् ॥ ५८ ॥
बदराणि कुलत्थाश्च रास्नैरण्डपुनर्नवाः ।
द्वे पले गोक्षुरः शिग्रुपलाशतरुणानि च ॥ ५९ ॥
जलद्रोणे पचेदेतं निर्यूहं पादशेषितम् ।
दधिकाञ्जिकशुक्तानि प्रस्थशस्तैलसर्पिषी ॥ ६० ॥
मूलकानामपत्राणां तरुणानां शतं भवेत् ।
एष सिद्धो महायूषो व्योषसंस्कारसंस्कृतः ॥ ६१ ॥
सर्वरोगेषु भूयिष्ठं संसृष्टेषु प्रशस्यते ।
अत्यग्निषु विनिद्रेषु स्तब्धाङ्गच्छुबुकाक्षिषु (?) ॥६२॥
निर्यूहेण समं दद्यान्मांसनिर्यूहमेव तु ।
कार्यः सतिलकल्को वा जीर्णातीसारशान्तये ॥ ६३ ॥

दीपक पञ्चमूल, मधुर वर्ग के फल, सब धान्य, धनिया, मरिच, काकोली, क्षीर काकोली, गंभारी, फालसा, बेर, कुलत्थ, रास्ना, एरण्ड, पुनर्नवा, दो पल गोखुरु तथा तरुण सुहांजना और ढ़ाक—इन्हें एक द्रोण जल में पकाकर इस क्वाथ का चतुर्थांश शेष रखे। दही, कांजी, सिरका, तैल तथा घृत—सब एक २ प्रस्थ होने चाहिये। पत्र सहित तरुण मूलियां १०० होनी चाहिये। यह त्रिकटु के संस्कार से संस्कृत करके सिद्ध किया हुआ यूष महायूष कहलाता है। यह सब प्रकार के मिश्रित रोगों, अग्नि की वृद्धि, अनिद्रा, स्तब्धाङ्ग तथा छुबुकाक्षि (?) रोगों में प्रशस्त माना गया है। इस निर्यूह के समान इसमें मांस का निर्यूह और तिल का कल्क मिलावे। यह जीर्ण अतिसार को नष्ट करता है ॥ ५७-६३ ॥

उक्तो लशुनयूषस्तु स्वकल्पे वातनाशनः ।
सूपाश्च रसकाश्चैव त्रिविधाः प्राङ्निदर्शिताः ॥ ६४ ॥

लशुन कल्प में वातनाशक लशुन यूष कहा गया है। पहले तीन प्रकार से सूप तथा रसक कहे गये हैं ॥ ६४ ॥

स्विन्नानि मूलकान्यप्सु निष्पीड्य तरुणो विभुः ।
परिभृज्य ततः स्नेहे तत आदानमावपेत् ॥ ६५ ॥
एष मूलकयूषस्तु सर्वरोगविनाशनः ।

तरुण एवं सर्वज्ञाता वैद्य पानी में मूली को उबाल कर पीस ले। तब उसे स्नेह (घृत या तैल) में भून ले उसमें प्रक्षेप डालकर यूष बनाये। यह मूलक यूष सब रोगों को नष्ट करता है ॥ ६५ ॥

अनम्लोलदक(लावक?)रसः संस्कृतो जलसर्पिषोः ॥६६॥
भवेत् पित्तोपशमनस्तैलभृष्टोऽनिलापहः ।

अम्ल (खटाई) से रहित लावक (बटेर) का मांस रस जल और घृत में संस्कृत किया हुआ पैत्तिक रोगों को शान्त करता है तथा तेल में भूनने पर वात को नष्ट करता है ॥ ६६ ॥

एते यूषाः स्वतन्त्रोत्था उक्ता व्याससमासतः ॥ ६७ ॥

ये स्वतन्त्र रूप से बनाये हुए यूष विस्तार तथा संक्षेप से कहे गये हैं ॥ ६७ ॥

यवागूरपि वक्ष्यामि नानाद्रव्योपसंस्कृताः ।
नानारोगोपशमनीः श्रृणु वृद्धैकविंशतिम् ॥ ६८ ॥

अब मैं नाना द्रव्यों से संस्कृत यवागुओं का वर्णन करूंगा। हे वृद्धजीवक ! तू नाना रोगों को शान्त करनेवाली २१ यवागुओं को सुन ॥ ६८ ॥

ओदनस्य विलेप्याश्च यवाग्वाश्च किमन्तरम् ।
शुश्रूषे भगवन्नेतदित्युक्तः प्राह कश्यपः ॥ ६९ ॥

हे भगवन् ! मैं ओदन, विलेपी तथा यवागू के भेद को सुनना चाहता हूँ। यह प्रश्न किया जाने पर भगवान् कश्यप ने उत्तर दिया ॥ ६९ ॥

ओदनो विशदः सिद्धः सुस्विन्नो निस्रुतो मृदुः ।
तण्डुलैः सकलप्रायैरक्षीणैश्चापि पठ्यते ॥ ७० ॥

ओदन के गुण—ओदन विशद होता है, सिद्ध किया हुआ होता है, अच्छी प्रकार से स्विन्न (उबाला हुआ-पकाया हुआ) होता है, निस्रुत—इसमें से मांड चुआ दी जाती है, मृदु होता है तथा इसमें तण्डुल (चावल) सम्पूर्ण (पूरे) होते हैं तथा कम नहीं होते ॥ ७० ॥

अस्विन्नत्वमक्लेदस्त्वसाकल्यमनिस्रवः ।
विरसोऽविशदः शीत ओदनस्य विपर्ययाः ॥ ७१ ॥

ओदन के विपरीत गुण—अच्छी प्रकार स्विन्न न होना (अच्छी प्रकार पका हुआ न होना), क्लेद का न होना, असाकल्य (चावलों का पूरे रूप में न होना), मांड का चुआया न जाना, विरस तथा अविशद (रस तथा विशदता का अभाव) और ठण्डा होना—ये ओदन के विपरीत गुण हैं अर्थात् ये ओदन के अप्रशस्त गुण हैं ॥ ७१ ॥

द्रवाद्विंशतिभागेन तण्डुलैः सह साधयेत् ।
तथा पञ्चदशाख्येन यवागूर्दशकेन वा ॥ ७२ ॥

यवागू बनाते हुए चावलों को बीस भाग, पन्द्रह भाग अथवा दस भाग पानी के साथ सिद्ध करना चाहिये ॥ ७२ ॥

विंशतेः स्फुटितैः सिक्थैस्तुल्याधोमध्यतोपरि ।

(इति ताडपत्रपुस्तके २०९ तमं पत्रम्) ।

अहस्तहार्या पेया स्याद्यवागूः सपरिग्रहा: ॥ ७३ ॥

पेया तथा यवागू में अन्तर—जो बीस गुने पानी में सिद्ध की हुई हो, सिक्थ (चावलों की कणियां) जिसमें स्फुटित हों, ऊपर नीचे तथा मध्य में समान रूप से द्रव होने के कारण हाथ से जो ग्रहण न की जा सके—उसे पेया कहते हैं। तथा जो परिग्रह युक्त अर्थात् हाथ से ग्रहण की जा सकने वाली हो—उसे यवागू कहते हैं। अन्यत्र इनके भेद निम्न प्रकार से दिये हैं—सिक्थकै रहितो मण्डः पेया सिक्थसमन्विता। यवागूर्बहुसिक्था स्याद् विलेपी विरलद्रवा॥ अर्थात् अल्प सिक्थयुक्त द्रव्य को पेया तथा सिक्थ प्रधान द्रव्य को यवागू कहते हैं ॥ ७३ ॥

घना विशीर्णा शीता च न चावक्षीणतण्डुला ।
पिच्छिला विशदाऽहृद्या यवाग्वा दोषसंग्रहः ॥ ७४ ॥

यवागू के दोष—बहुत गाढ़ी, विशीर्ण (पतली), ठण्डी, चावलों का कम न होना, पिच्छिलता, विशदता तथा अहृद्या (हृदय को अच्छी न लगना)—ये यवागुओं के दोष है ॥७४॥

तक्रसिद्धा यवागूस्तु दधिसिद्धा च ते घने ।
संस्कृते हस्तहार्ये ते प्रतिषिद्धे क्रियावताम् ॥ ७५ ॥
उष्णा घना प्रशिथिला दलितैस्तण्डुलैः कृता ।

तक्र एवं दही में सिद्ध की हुई जो यवागू सान्द्र एवं संस्कारयुक्त हो, हाथों से जिसका ग्रहण हो सके तथा जो उष्ण, घन (गाढ़ी–सान्द्र), शिथिल तथा टूटे हुए चावलों से बनाई हुई हो—उनका क्रियायुक्त व्यक्तियों के लिये निषेध है ॥ ७५ ॥

विलेप्या गुणदोषांस्तु यवाग्वा इव निर्दिशेत् ॥ ७६ ॥

विलेपी के गुण एवं दोष यवागू के समान ही जानने चाहिये ॥

दीर्घोपवासिनां नृणां क्षीरपेया प्रशस्यते ।
शीतपित्तोपशमनी बृंहणी वर्चबन्धनी ॥ ७७ ॥

लम्बे उपवास करनेवाले व्यक्तियों के लिये क्षीर पेया प्रशस्त मानी गई है। यह शीत पित्त को शान्त करती है, बृंहणकारक है तथा मल को बांधती है ॥ ७७ ॥

शूलघ्नी दीपनी पेया दीपनीयोपसाधिता ।
पाचनी पचनी चोक्ता कषायैर्वर्चबन्धनी ॥ ७८ ॥

दीपन द्रव्यों से सिद्ध की हुई पेया शूल को नष्ट करती है, दीपक है, पाचक है, स्वयं पचने वाली है तथा कषायों के द्वारा मल को बांधती है ॥ ७८ ॥

बिल्वं दधित्थं सह दाडिमेन
सव्योषचाङ्गेरिकृता यवागूः ।
सांग्राहिणी दीपनपाचनी च
सपञ्चमूलाऽनिलपीडिते तु ॥ ७९ ॥

त्रिकटु तथा चांगेरी के साथ बिल्व एवं दधित्थ (कपित्थ) की बनाई हुई, अनारदाने से युक्त यवागू संग्राहक (Astringent) तथा दीपक और पाचक होती है। तथा पञ्चमूल के सहित बनाई हुई यवागू वायु से पीडित रोग में प्रयुक्त की जाती है ॥ ७९ ॥

बला वृषत्पर्ण्यथ शालपर्णी
स्याद्दाडिमं बिल्वशलाटुयुक्तम् ।
पेया हिता पित्तकफातिसारे
तोयं च तत्तत्र वदन्ति पेयम् ॥ ८० ॥

बला, वृषत्पर्णी (आखुकर्णी), शालपर्णी, अनार तथा बिल्वशलाटु (कच्चा बिल्व) से युक्त पेया पित्त तथा कफातिसार में हितकर होती है। इस अवस्था में इसका जल पीना चाहिये ॥ ८० ॥

एषैव दध्ना रुचिवर्धनी स्या-
न्निर्वाहिकां हन्ति तिलोपसिद्धा ।
रक्तातिसारं शमयत्युदीर्ण-
मसृग्दरं गर्भपरिस्रवं च ॥ ८१ ॥

यही पेया दही के साथ रुचिवर्धक होती है। तिलों के द्वारा सिद्ध की हुई यह प्रवाहिका को नष्ट करती है। यह उत्पन्न हुए रक्तातिसार, रक्तप्रदर तथा गर्भस्राव को शान्त करती है ॥

सदाडिमा सातिविषाऽथ साम्ला
पेया भवेदामविपाचनीया ।
स्यात् कण्टकारीरसगोक्षुराभ्यां
सफाणिता मूत्रगदे यवागूः ॥ ८२ ॥

अनार, अतीस तथा अम्ल द्रव्यों से युक्त पेया आम का पाचन करती है। कण्टकारी के रस तथा गोखरु में फाणित (राब) मिलाकर बनाई हुई यवागू मूत्र रोगों में हितकर होती है ॥ ८२ ॥

सुवर्चिकाक्षारविडङ्गशिग्रु-
सपिप्पलीमूलकृता यवागूः ।
तक्रोपसिद्धा क्रिमिनाशनी स्या-
द्गुल्मेऽथ कासे ग्रहणीगदे च ॥ ८३ ॥

सज्जीक्षार, विडङ्ग, सुहांजना तथा पिप्पलीमूल के द्वारा बनाई हुई एवं तक्र से सिद्ध की हुई यवागू क्रमिनाशक होती है तथा गुल्म, कास और ग्रहणी रोग में प्रयुक्त होती है ॥८३॥

मृद्वीकलाजामधुपिप्पलीभिः
ससारिवा तृड्शमनी यवागूः ।

१. विंशतिभागजलसिद्धा स्फुटितसिक्था उपर्यधोर्ध्वभागेषु समानरूपा द्रवतया हस्तेन ग्रहीतुमयोग्या पेया, ग्रहीतुं योग्या तु यवागूरित्यर्थः ।

विषं निहन्त्याशु तु सोमराज्या,
वराहनिर्यूहकृता तु बल्या ॥ ८४ ॥

मुनक्का, लाजा (खील), मधु, पिप्पली तथा सारिवा से युक्त यवागू प्यास को शान्त करती है। सोमराजी (वाकुची) से युक्त यवागू विष को नष्ट करती है तथा वराह (सूअर) के निर्यूह से बनाई हुई यवागू बल्य (बलकारक) होती है ॥८४॥

कार्श्यार्थमिष्टा तु गवेधुकानां,
सर्पिष्मती सैन्धवयुग्बलाय ।
द्विपञ्चमूलोदकसाधिता तु
श्वासं च कासं च कफं च हन्ति ॥ ८५ ॥

गेहुओं की यवागू कृशता के लिये श्रेष्ठ मानी गई है। घृत तथा सैन्धव से युक्त यवागू बलकारक होती है। दोनों पञ्चमूल अर्थात् दशमूल से सिद्ध की हुई यवागू श्वास, कास तथा कफ को नष्ट करती है ॥ ८५ ॥

शाकैः समांसैः सतिलैः समाषैः
सर्पिष्मती स्नेहनभेदनी तु ।
जम्ब्वाम्रयोरस्थिदधित्थबिल्वैः-
स्तैरम्लयुग्वर्चविबन्धनी तु ॥ ८६ ॥

शाक, मांस, तिल, उड़द तथा घृत युक्त यवागू स्नेहन तथा मल का भेदन करती है। जामुन तथा आम की गुठली, दधित्थ (कपित्थ) तथा बिल्व की अम्लयुक्त यवागू मल को बांधती है ॥ ८६ ॥

तक्रोपसिद्धा तु घृतामये स्यात्,
पिण्याकयुक् सैव तु तैलरोगे ।
उपोदिकादध्युपसाधिता तु
मदं विदाहं च नयेत् प्रसादम् ॥ ८७ ॥

तक्र से सिद्ध की हुई यवागू घृत से उत्पन्न हुए रोग में, पिण्याक (खल) से युक्त यवागू तैल के प्रयोग से उत्पन्न हुए रोग में, उपोदिका (पोई का शाक-Bassela Alba) तथा दही से सिद्ध की हुई यवागू मद तथा विदाह को शान्त करती है ॥ ८७ ॥

शाकैरभृष्टैः परिभृष्टकैश्च रोगातुरावेक्ष्युपकल्पयेत्ताः[1] ।
लोके प्रसिद्धं यन्मानं तर्कमानं तुलाधृतम् ।
तत्तन्त्रेऽस्मिन् प्रमाणं स्याद्वक्तव्यं तत्र नास्ति मे ॥८८॥

रोग तथा रोगी को देखकर (अर्थात् रोग तथा रोगी की अवस्था के अनुसार) विना तले हुए तथा तले हुए शाकों के द्वारा यवागू बनाये। जो तर्क संगत तुलायुक्त मान लोक (व्यवहार) में प्रसिद्ध है, वही इस तन्त्र में भी प्रमाण माना गया है। इस विषय में मुझे विशेष वक्तव्य नहीं है अर्थात् इस विषय में इसलिये विशेष उपदेश नहीं करूंगा ॥८८॥

१. अत्रार्धमात्रमन्तेऽवशिष्टमर्धान्तरं त्रुटितं सम्भाव्यते ।

इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥
(इति) खिलेषु यूषनिर्देशीयो (नाम चतुर्थोऽध्यायः) ॥

ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था।
(इति) खिलेषु यूषनिर्देशीयो (नाम चतुर्थोऽध्यायः) ॥

भोज्योपक्रमणीयाध्यायः पञ्चमः ।

अथातो भोज्योपक्रमणीयं नामाध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ २ ॥

अब हम भोज्योपक्रमणीय नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था ॥ १-२ ॥

अथ खल्वस्माभिः पूर्वं यद्रसविमानेऽभिहितं कालादिचतुर्विंशतिविधमाहारमानं, तस्येदानीं प्रतिविकल्पविशेषानुपदेक्ष्यामः। किं कारणम्? न ह्याहारादृते प्राणिनां प्राणाधिष्ठानं किञ्चिदप्युपलभामहे। स सम्यगुपयुज्यमानो जीवयति, सर्वेन्द्रियाणि ह्लादयति, धातूनाप्याययति, स्मृतिमतिसर्वबलौजांस्यूर्जयति, वर्णप्रसादं चोपजनयति; असम्यगुपयुज्यमानस्त्वसुखेनोपयोजयति। तस्मात् काले सात्म्यं मात्रावदुष्णं स्निग्धमविरोधि शुचौ देशे शुचिषु पात्रेषु शुचिपरिचरेणोपनीतं प्राङ्मुखस्तूष्णींस्तन्मना आस्वादयन्नातिद्रुतं नातिविलम्बितं नात्युष्णं नातिशीतं नातिरूक्षं नातिस्निग्धं नातिबहु नातिस्तोकं नातिद्रवं नातिशुष्कं नाकांक्षितो न प्रतान्तो नैकरसं वाऽऽरोग्यायुर्बलार्थी समश्नीयात् ॥३॥

हमने पहले रस विमान में काल आदि २४ प्रकार का जो आहार का मान कहा है, अब हम उसके विशेष विकल्पों (भेदों) को कहेंगे। क्योंकि आहार के विना किञ्चिन्मात्र भी प्राणियों के प्राण स्थिर नहीं रहते हैं। यदि आहार का अच्छी प्रकार से प्रयोग किया जाय तो वह जीवन प्रदान करता है, सम्पूर्ण इन्द्रियों को प्रसन्न करता है, धातुओं की वृद्धि करता है, स्मृति, बुद्धि, सब प्रकार के बल तथा ओज को बढ़ाता है तथा वर्ण (Complexion) को निखारता है। इसके विपरीत यदि आहार का अच्छी प्रकार प्रयोग न किया जाय तो वह शरीर को दुःखों से युक्त करता है।

वक्तव्य—आरोग्य, आयु तथा बल को चाहने वाले व्यक्ति को चाहिये कि १ उचित काल में, २ सात्म्य, ३ उचित मात्रा में, ४ उष्ण, ५ स्निग्ध, ६ जो विरुद्ध न हो, ७ पवित्र स्थान में पवित्र पात्रों (बर्तनों) में पवित्र परिचारक द्वारा लाया गया, ८ पूर्व दिशा की ओर मुख करके, ९ शान्त होकर, १० अच्छी प्रकार मन लगाकर दत्तचित्त होकर, ११ स्वादपूर्वक,

१२ न अत्यन्त शीघ्रता से, १३ न अत्यन्त धीरे धीरे, १४ न अत्यन्त उष्ण, १५ न अत्यन्त शीत, १६ न अत्यन्त रूक्ष, १७ न अत्यन्त स्निग्ध, १८ न अत्यन्त अधिक परिमाण में, १९ न अत्यन्त स्वल्प परिमाण में, २० न अत्यन्त द्रव, २१ न अत्यन्त शुष्क, २२ न भोजन के प्रति अनिच्छा होने पर, २३ न निरन्तर-बारबार तथा २४ न केवल एक रस वाला भोजन करे ॥ ३ ॥

भवन्ति चात्र—

आरोग्यं दोषसमता सर्वाबाधनिवर्तनम् ।
तदर्थमृषयः पुण्यमायुर्वेदमधीयते ॥ ४ ॥

दोषोंका समावस्था में होना तथा सम्पूर्ण रोगों की निवृत्ति (आरोग्य) कहलाता है। इस आरोग्य के लिये ही ऋषि लोग पुण्यकारक आयुर्वेद का अध्ययन करते हैं ॥ ४ ॥

रसायनानि विधिवत्तदर्थं चोपयुञ्जते ।
धर्मार्थकाममोक्षाणामवाप्तिश्च तदाश्रया ॥ ५ ॥
तदात्मवांस्तदर्थाय प्रयतेत विचक्षणः ।

उस आरोग्य के लिये ही विधिवत् रसायनों का प्रयोग किया जाता है। धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष आदि चतुर्विध पुरुषार्थ की प्राप्ति भी आरोग्य से ही होती है। चरक सू. अ. १६ में कहा है कि आरोग्य दान के द्वारा वैद्य धर्म, अर्थ, काम तथा अभ्युदय एवं निश्रेयस रूप मोक्ष का दाता होता है। निर्बल पुरुष जहां भौतिक अर्थ एवं काम की प्राप्ति में असमर्थ रहता है वहां वह धर्म तथा मोक्ष से भी वञ्चित रहता है। इसलिये बुद्धिमान् तथा आत्मवान् (जितेन्द्रिय मनुष्य) को उस आरोग्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिये ॥ ५ ॥

अन्नाभिलाषो भुक्तस्य परिपाकः सुखेन च ॥ ६ ॥
सृष्टविण्मूत्रवातत्वं शरीरस्य च लाघवम् ।
सुप्रसन्नेन्द्रियत्वं च सुखस्वप्नप्रबोधनम् ॥ ७ ॥
बलवर्णायुषां लाभः सौमनस्यं समाग्निता ।
विद्यादारोग्यलिङ्गानि विपरीते विपर्ययम् ॥ ८ ॥

आरोग्य के लक्षण—अन्न में रुचि, खाये हुए अन्न का सुखपूर्वक परिपाक हो जाना, मल, मूत्र, तथा वायु का निकलना, शरीर की लघुता, इन्द्रियों की प्रसन्नता, सुखपूर्वक सोना तथा जागना, बल, वर्ण तथा आयु की प्राप्ति, मन की प्रसन्नता, तथा अग्नि की समता ये आरोग्य के लक्षण जानने चाहिये। अनारोग्य (अस्वास्थ्य-रोग) में इससे विपरीत लक्षण होते हैं॥

आरोग्यं भोजनाधीनं भोज्यं विधिमवेक्षते ।
विधिर्विकल्पं भजते विकल्पस्तु प्रवक्ष्यते ॥ ९ ॥

आरोग्य (स्वास्थ्य) भोजन पर निर्भर होता है तथा भोजन विधि की अपेक्षा करता है। भोजन की विधि उसके विकल्प पर आश्रित होती है इसलिये हम भोजन के विकल्पों का व्याख्यान करेंगे ॥ ९ ॥

स्वस्थानस्थेषु दोषेषु स्रोतःसु विमलेषु च ।
जातायां च प्रकाङ्क्षायामन्नकालं विदुर्बुधाः ॥ १० ॥

अन्न का काल—दोषों के अपने स्थान में स्थित होने पर, स्रोतों के मल रहित हो जाने पर तथा भोजन के प्रति इच्छा उत्पन्न होने पर विद्वान् लोग अन्न का काल कहते हैं। अर्थात् जब तक दोष अपने स्थान में स्थित न हों, स्रोत मल रहित न हों तथा भोजन की इच्छा उत्पन्न न हो तब तक अन्न का सेवन नहीं करना चाहिये ॥ १० ॥

कालेऽश्नतोऽन्नं स्वदते तुष्टिः पुष्टिश्च वर्धते ।
सुखेन जीर्यते न स्युः प्रतान्ताजीर्णजा गदाः ॥ ११ ॥

अब भोजन के २४ विकल्पों का व्याख्यान किया जायगा।

१—योग्यकाल में खाया हुआ अन्न स्वादु लगता है, शरीर को सन्तुष्ट करता है, पोषण की वृद्धि होती है वह सुखपूर्वक जीर्ण हो जाता है तथा बार २ भोजन के करने तथा अजीर्ण से उत्पन्न होने वाले रोग नहीं होते हैं। सुश्रुत में भी कहा है—'काले भुक्तं प्रीणयति' ॥ ११ ॥

सात्म्यं नामाहुरौचित्यं सातत्येनोपसेवितम् ।
आहारजातं यद्यस्य चानुशेते स्वभावतः ॥ १२ ॥

२—सात्म्य का लक्षण-सात्म्य औचित्य को कहते हैं। निरन्तर सेवन किया जाता हुआ जो आहार स्वाभाविक रूप से जिसके अनुकूल होता है उसे सात्म्य कहते हैं। चरक वि० अ० १ में कहा है कि सात्म्य उसे कहते हैं जो अपने (मन, आत्मा एवं शरीर के संयोग रूप) को सुखकर हो। सात्म्य और उपशय परस्पर पर्यायवाचक शब्द हैं। यह मुख्य रूप से तीन प्रकार का है। प्रवर, अवर तथा मध्यम। इनमें सम्पूर्ण रस सात्म्य तथा एक रस अवर सात्म्य होता है। प्रत्येक व्यक्ति को प्रयत्न करना चाहिये कि उसे छओं रस सात्म्य हों अर्थात् प्रवर सात्म्य की प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिये ॥१२॥

सात्म्याशी सात्म्यसाद्गुण्याच्छतं वर्षाणि जीवति ।
न चाप्यनुचिताहारविकारैरुपसृज्यते ॥ १३ ॥

(इति ताडपत्रपुस्तके २१० तमं पत्रम् ।)

सात्म्य का सेवन करने वाला व्यक्ति सात्म्य के साद्गुण्य (श्रेष्ठ गुण कारक होने) के कारण सौ वर्ष तक जीवित रहता है तथा इसे अनुचित आहार से उत्पन्न होने वाले विकार नहीं होते हैं। सुश्रुत सू० अ० ४६ में कहा है—'सात्म्यमन्नं न बाधते' अर्थात् सात्म्य अन्न शरीर में किसी प्रकार का कष्ट नहीं पहुंचाता है ॥ १३ ॥

लघूनां नातिसौहित्यं गुरूणामल्पशस्तथा ।
मात्रावदश्नतो भुक्तं सुखेन परिपच्यते ॥ १४ ॥
स्वस्थ(स्वास्थ्य)यात्राग्निचेष्टानामविरोधि च तद्भवेत् ।

३—लघु पदार्थों को अत्यन्त सौहित्य से अर्थात् खूब पेट भरकर नहीं खाना चाहिये तथा गुरु पदार्थों को भी अल्प मात्रा में सेवन करना चाहिये। इस प्रकार उचित मात्रा में

भोजन करने वाले व्यक्ति को खाया हुआ आहार सुखपूर्वक पच जाता है तथा वह मात्रा में खाया हुआ आहार शरीर की स्वास्थ्यरूपी यात्रा, जाठराग्नि तथा शरीर की चेष्टाओं का विरोधी नहीं होता। चरक सू० अ० ५ में कहा है कि भोजन मात्रा (उपयुक्त परिमाण) में ही करना चाहिये। तथा भोजन की मात्रा अग्निबल के अनुसार होती है अर्थात् जाठराग्नि के अनुसार मात्रा कम या अधिक करनी चाहिये। जितना भोजन यथासमय सुखपूर्वक जीर्ण हो जाय उतनी ही आहारमात्रा समझनी चाहिये । अर्थात् आहारमात्रा प्रत्येक व्यक्ति की अपेक्षा रखती है। सबके लिये कोई एक समान मात्रा निर्धारित नहीं की जासकती है। उचित मात्रा में सेवन किया गया गुरु भोजन भी परिणाम में लघु हो जाता है तथा इसके विपरीत लघु भोजन भी यदि अधिक मात्रा में सेवन किया जाय तो वह परिणाम में गुरु (भारी) होजाता है। इसलिये प्रत्येक द्रव्य मात्रा की अपेक्षा रखता है। इसीलिये सुश्रुत सू० अ० ४६ में भी कहा है कि मात्रा के अनुसार किया हुआ भोजन सुखपूर्वक जीर्ण हो जाता है तथा धातुओं की समता करता है ॥ १४ ॥

उष्णं हि भुक्तं स्वदते श्लेष्माणं च जयत्यपि ॥ १५ ॥
वातानुलोम्यं कुरुते क्षिप्रमेव च जीर्यते ।
अन्नाभिलाषं लघुतामग्निदीप्तिं च देहिनाम् ॥ १६ ॥

४—उष्ण भोजन खाया हुआ मनुष्य को स्वादु लगता है, श्लेष्मा (कफ) को शान्त करता है, वायु का अनुलोमन करता है, शीघ्र ही जीर्ण होजाता है, अन्न में रुचि उत्पन्न करता है, शरीर में लघुता तथा अग्नि को प्रदीप्त करता है। सुश्रुत सू० अ० ४६ में भी कहा है—'स्निग्धोष्णं बलवह्निदम्' ॥

स्निग्धं प्रीणयते देहमूर्जयत्यपि पौरुषम् ।
करोति धातूपचयं बलवर्णौ दधाति च ॥ १७ ॥

५—स्निग्ध भोजन शरीर को प्रसन्न करता है, पौरुष को बढ़ाता है, धातुओं की वृद्धि करता है तथा बल और वर्ण को धारण कराता है ॥ १७ ॥

सुमृष्टमपि नाश्नीयाद्विरुद्धं तद्धि देहिनः ।
प्राणानस्याऽऽशु वा हन्यात्तुल्यं मधुघृतं यथा ॥ १८ ॥
अविरुद्धान्नभुक् स्वास्थ्यमायुर्वर्णं बलं सुखम् ।
प्राप्नोति, विपरीताशी तेषामेव विपर्ययम् ॥ १९ ॥

६—अच्छी प्रकार साफ किया हुआ भी विरुद्ध भोजन नहीं करना चाहिये। विरुद्ध भोजन शीघ्र ही प्राणियों के प्राणों को नष्ट कर देता है जिस प्रकार समान मात्रा में मधु और घृत का सेवन। अविरुद्ध अन्न का सेवन करने वाला व्यक्ति स्वास्थ्य, आयु, वर्ण, बल तथा सुख को प्राप्त करता है। इससे विपरीत अर्थात् विरुद्ध अन्न का सेवन करने वाला व्यक्ति उपर्युक्त गुणों से विपरीत अर्थात् आयु, वर्ण, बल तथा सुख के ह्रास को प्राप्त करता है ॥ १८-१९ ॥

शुचिपात्रोपचरणः शुचौ देशे शुचिः स्वयम् ।
भुञ्जानो लभते तुष्टिं पुष्टिं तेनाधिगच्छति ॥ २० ॥
नानिष्टैरमनस्यैर्वा विघातं मनसोच्छति ।
तस्मादनिष्टे नाश्नीयादायुरारोग्यलिप्सया ॥ २१ ॥

७—पवित्र पात्रों में, पवित्र देश में तथा स्वयं पवित्र होकर भोजन करने वाला व्यक्ति तुष्टि को प्राप्त करता है तथा शरीर का पोषण होता है। जो इष्ट न हो तथा मन को रुचिकर न हो ऐसे ढंग से आहार न करे। इससे मन का विघात होता है। इसलिये आयु तथा आरोग्य को चाहने वाला व्यक्ति ऐसे स्थान पर भोजन न करे जो इष्ट (मन के अनुकूल) न हो ॥ २०-२१ ॥

प्राङ्मुखोऽश्नन्नरो धीमान् दीर्घमायुरवाप्नुते ।
तूष्णीं सर्वेन्द्रियाह्लादं मनःसात्म्यं च विन्दति ॥ २२ ॥

८-९—पूर्व दिशा की ओर मुख करके भोजन करने वाला बुद्धिमान् व्यक्ति दीर्घ आयु को प्राप्त करता है। शान्त (चुपचाप) होकर भोजन करने वाला व्यक्ति सब इन्द्रियों की प्रसन्नता तथा मन की सात्म्यता को प्राप्त करता है ॥ २२ ॥

एतदेव च मात्रां च पक्तिं युक्तिं च तन्मनाः ।
तस्मात्तत्प्रवणोऽजल्पन् स्वस्थो भुञ्जीत भोजनम् ॥२३॥

१०—दत्तचित्त होकर भोजन करने वाला व्यक्ति पूर्वोक्त गुणों को तथा इसके साथ ही मात्रा, पाचन, शक्ति तथा युक्ति को जानता है। इसलिये स्वस्थ व्यक्ति को भोजन में मन लगाकर तथा बिना अधिक बातचीत किये भोजन करना चाहिये ॥ २३ ॥

आस्वाद्यास्वाद्य योऽश्नाति शुद्धजिह्वेन्द्रियो रसान् ।
स वेत्ति रसनानात्वं विशेषांश्चाधिगच्छति ॥ २४ ॥

११—जो शुद्ध रसनेन्द्रिय वाला मनुष्य अच्छी प्रकार रसों का स्वाद ले लेकर भोजन करता है वह अनेक रसों को तथा उनके भेदों को जानता है ॥ २४ ॥

अतिद्रुतं हि भुञ्जानो नाहारस्थितिमाप्नुयात् ।
भोज्यानुपूर्वीं नो वेत्ति न चान्नरससंपदम् ॥ २५ ॥
नातिद्रुताशी तत्सर्वमनूनं प्रतिपद्यते ।
प्रसादमिन्द्रियाणां च तथा वातानुलोमताम् ॥ २६ ॥

१२—अत्यन्त शीघ्र भोजन करने से आहार अपनी स्थिति में नहीं पहुंचता है। वह भोज्यानुपूर्वी (भोजन में कौन सा पदार्थ पहले खाना चाहिये) तथा अन्नरस के गुणों को नहीं जान सकता है। अत्यन्त शीघ्र भोजन करने वाला व्यक्ति इन्द्रियों की प्रसन्नता और वायु के अनुलोमन आदि सब बातों को पूर्णरूप से नहीं जान पाता है ॥ २५-२६ ॥

शीतीकरोति चान्नाद्यं भुञ्जानोऽतिविलम्बितम् ।
भुङ्क्ते बहु च शीतं च न तृप्तिमधिगच्छति ॥ २७ ॥

शैत्याद्बहुत्वाद्वैरस्याद् भुक्तं क्लेशेन पच्यते ।

१३—अत्यन्त धीरे २ भोजन करने से सारा अन्न ठण्डा हो जाता है। अन्न अधिक मात्रा में खाया जाता है। तथा ठण्डे हुए अन्न से तृप्ति नहीं होती है। ठण्डा मात्रा में अधिक तथा विरस होने से खाया हुआ भोजन कष्ट से पचता है ॥२७॥

अत्युष्णभोजनाज्जिह्वाकण्ठौष्ठहृदयोदरम् ॥ २८ ॥
दह्यते न रसं वेत्ति रोगांश्चाप्नोति दारुणान् ।
मुखाक्षिपाकवैसर्परक्तपित्तभ्रमज्वरान् ॥ २९ ॥

१४—अत्यन्त उष्ण भोजन करने से जिह्वा, कण्ठ, ओष्ठ, हृदय तथा उदर में दाह हो जाता है, रस का ज्ञान नहीं होता तथा मुखपाक, अक्षिपाक, विसर्प, रक्तपित्त, भ्रम तथा ज्वर आदि भयंकर रोग हो जाते हैं ॥ २८–२९ ॥

अतिशीताशिनः शूलं ग्रहणीमार्दवं घृणा ।
कफवाताभिवृद्धिश्च कासो हिक्का च जायते ॥ ३० ॥

१५—अत्यन्त शीत भोजन करने से शूल, ग्रहणी की मृदुता, घृणा, कफ और वात की वृद्धि, कास तथा हिक्का उत्पन्न हो जाती है ॥ ३० ॥

रूक्षं करोति विष्टम्भमुदावर्तं विवर्णताम् ।
ग्लानिं बह्वशितं वायोः प्रकोपं मूत्रनिग्रहम् ॥ ३१ ॥

१६—रूक्ष भोजन से विष्टम्भ, उदावर्त, विवर्णता, ग्लानि, अधिक खाना, वायु का प्रकोप तथा मूत्र की रुकावट हो जाती है ॥ ३१ ॥

अतिस्निग्धाशिनस्तन्द्रीतृष्णाजीर्णोदरामयाः ।
भवन्ति कफमेदोत्था रोगाः कण्ठोद्भवास्तथा ॥ ३२ ॥

१७—अत्यन्त स्निग्ध भोजन करने से तन्द्रा, तृष्णा, जीर्ण उदर रोग, कफ, मेद तथा कण्ठ के रोग हो जाते हैं ॥ ३२ ॥

विष्टम्भोद्वेष्टनक्लेशचेष्टाहानिविसूचिकाः ।
ज्ञेया विकारा जन्तूनामतिबह्वशनोद्भवाः ॥ ३३ ॥

१८—अत्यन्त अधिक मात्रा में भोजन करने से मनुष्यों को विष्टम्भ, उद्वेष्टन, क्लेश, चेष्टाहानि (गति का अभाव) तथा विसूचिका आदि रोग हो जाते हैं ॥ ३३ ॥

अतिस्तोकाशिनोऽत्यग्निविकाराः कृशता भ्रमः ।
अतृप्तिर्लघुता निद्राशकृन्मूत्रबलक्षयः ॥ ३४ ॥

१९—अत्यन्त कम भोजन करने से अत्यग्नि के विकार, कृशता, भ्रम, अतृप्ति, लघुता (शरीर का परिमाण में लघु-छोटा होना), निद्रा, मल, मूत्र, तथा बल का क्षय हो जाता है ॥ ३४ ॥

अतिद्रवाशनाज्जन्तोरुत्क्लेशो बहुमूत्रता ।
पार्श्वभेदः प्रतिश्यायो विड्भेदश्चोपजायते ॥ ३५ ॥

२०—अत्यन्त द्रव भोजन करने से व्यक्ति को उत्क्लेश, बहुमूत्र (Polyurea), पार्श्वभेद (पसलियों में पीडा), प्रतिश्याय तथा विड्भेद (अतिसार) हो जाता है ॥ ३५ ॥

अतिशुष्काशनं चापि विष्टभ्य परिपच्यते ।
पूर्वजातरसं जग्ध्वा कुर्यान्मूत्रकफक्षयम् ॥ ३६ ॥

२१—अत्यन्त शुष्क भोजन विष्टब्ध होकर पचता है। वह पहले उत्पन्न हुए रस को जलाकर (शुष्क करके) मूत्र तथा कफ के क्षय को करता है ॥ ३६ ॥

मोहात् प्रमादाल्लौल्याद्वा यो भुङ्क्ते ह्यप्रकाङ्क्षितः ।
अविपाकारुचिच्छर्दिशूलानाहान् समृच्छति ॥ ३७ ॥

२२—जो व्यक्ति भोजन के प्रति रुचि न होने पर भी मोह, प्रमाद अथवा जिह्वालौल्य के कारण भोजन करता है उसे अविपाक (भोजन का न पचना), अरुचि, वमन, शूल तथा आनाह रोग हो जाते हैं ॥ ३७ ॥

प्रतान्तभोक्तुस्तृण्मूर्च्छा वह्निसादोऽङ्गसीदनम्[1] ।
ज्वरः क्षयोऽतिसारो वा मन्दत्वं दर्शनस्य च ॥ ३८ ॥

२३—निरन्तर (बारबार) भोजन करने वाले व्यक्ति को तृष्णा, मूर्च्छा, अग्निसाद (जाठराग्नि का मन्द होना), अङ्गों की पीडा, ज्वर, क्षय, अतिसार तथा दृष्टि का मन्द होना, हो जाता है ॥ ३८ ॥

दौर्बल्यमदृढत्वं च भवत्येकरसाशनात् ।
दोषाप्रवृद्धिर्धातूनां साम्यं वृद्धिर्बलायुषोः ॥ ३९ ॥
आरोग्यं चाग्निदीप्तिश्च जन्तोः सर्वरसाशनात् ।
तस्मादेकरसाभ्यासमारोग्यार्थी विवर्जयेत् ॥ ४० ॥

२४—सदा एक ही रस का सेवन करने से दुर्बलता तथा अदृढता हो जाती है। इसके विपरीत सब रसों का सेवन करने से दोषों की कमी, धातुओं में समता, बल और आयु की वृद्धि, आरोग्य तथा अग्नि दीप्त होती है। इसलिये आरोग्य को चाहने वाला व्यक्ति केवल एक रस के अभ्यास को त्याग दे। सुश्रुत सू. अ. ४६ में कहा है कि कभी भी एक ही रस के सेवन में आसक्ति नहीं होनी चाहिये ॥ ३९–४० ॥

कालसात्म्यादिनाऽनेन विधिनाऽश्नाति यो नरः ।
स प्राप्नोति गुणांस्तज्जान्न च दोषैः प्रबाध्यते ॥ ४१ ॥

उपर्युक्त काल, सात्म्य आदि की विधि के अनुसार जो व्यक्ति भोजन करता है वह उन २ के गुणों से युक्त होता है तथा उसे उन २ काल सात्म्य आदि से सम्बन्धित दोष कष्ट नहीं पहुंचाते हैं ॥ ४१ ॥

स्थिरत्वं स्वस्थताऽङ्गानामिन्द्रियोपचयं बलम् ।
कफमेदोऽभिवृद्धिं च कुर्यान्मधुरसात्म्यता ॥ ४२ ॥

मधुर रस की सात्म्यता के कारण शरीर की स्थिरता, अङ्गों की स्वस्थता, इन्द्रियों का उपचय, बल तथा कफ और मेद की वृद्धि होती है ॥ ४२ ॥

---

१. नितान्तभोक्तुः निरन्तरं भक्षणशीलस्येति यावत् ।

दन्ताक्षिकेशदौर्बल्यं कफपित्तामयोद्भवम् ।
लघुतामग्निदीप्तिं च जनयेदम्लसात्म्यता ॥ ४३ ॥

अम्ल रस की सात्म्यता के कारण दातों, आंखों तथा बालों की दुर्बलता, कफ तथा पित्त रोगों की उत्पत्ति, लघुता एवं अग्निदीप्ति हो जाती है ॥ ४३ ॥

रक्तप्रकोपं तैमिर्यं तृष्णां दुर्बलशुक्रताम् ।
पालित्यं बलहानिं च कुर्याल्लवणसात्म्यता ॥ ४४ ॥

लवण रस की सात्म्यता से रक्तप्रकोप, तिमिर रोग, तृष्णा, शुक्र की दुर्बलता, पालित्य (बालों का सफेद होना) तथा बल में कमी हो जाती है। लवणसात्म्यता के विषय में चरक वि. अ. १ में भी कहा है ॥ ४४ ॥

पक्तेरुपचयं कार्श्यं रौक्ष्यं शुक्रबलक्षयम् ।
पित्तानिलप्रवृद्धिं च कुर्यात् कटुकसात्म्यता ॥ ४५ ॥

कटु रस की सात्म्यता से पाचन शक्ति की वृद्धि, कृशता, रूक्षता, शुक्र और बल का क्षय तथा पित्त और वायु की वृद्धि हो जाती है ॥ ४५ ॥

क्लेदाल्पतां वातवृद्धिं दृष्टिहानिं कफक्षयम् ।
त्वग्विकारोपशान्तिं च जनयेत्तिक्तसात्म्यता ॥ ४६ ॥

तिक्तरस की सात्म्यता के कारण क्लेद की कमी, वायु की वृद्धि, दृष्टि की कमी, कफ का क्षय तथा त्वचा के रोगों की शान्ति हो जाती है ॥ ४६ ॥

कफपित्तक्षयं वायोः प्रकोपं पक्तिमार्दवम् ।
कुर्याद्रक्तोपशान्तिं च कषायरससात्म्यता ॥ ४७ ॥

कषाय रस की सात्म्यता के कारण कफ और पित्त का क्षय, वायु का प्रकोप, पाचन शक्ति की मृदुता तथा रक्त रोगों की शान्ति हो जाती है ॥ ४७ ॥

ओजस्तेजो बलं वर्णमायुर्मेधा धृतिः स्मृतिः ।
जायते सौकुमार्यं च घृतसात्म्यस्य देहिनः ॥ ४८ ॥

जिस व्यक्ति को घृत सात्म्य हो उसमें ओज, तेज, बल, वर्ण, आयु, मेधा, धृति, स्मृति तथा सुकुमारता हो जाती है ॥

तथैव क्षीरसात्म्यस्य परं चैतद्रसायनम् ।
दृढोपचितगात्रश्च निर्मेदस्को जितश्रमः ॥ ४९ ॥

जिस व्यक्ति को क्षीर (दूध) सात्म्य हो उसके लिये वह रसायन है तथा उसका शरीर दृढ होता है। मेदा (चर्बी) कम हो जाती है तथा वह व्यक्ति परिश्रमी होता है ॥ ४९ ॥

बलवान् तैलसात्म्यः स्यात् क्षीणवातकफामयः ।
चक्षुष्मान् बलवाञ्छ्लेष्मी दृढसत्त्वो दृढेन्द्रियः ५०॥

जिस व्यक्ति को तैल सात्म्य हो वह बलवान् होता है, उसके वात तथा कफ के रोग क्षीण हो जाते हैं। उसके चक्षु (नेत्र) उत्तम हो जाते हैं वह बलवान् होता है, उसमें कफ की वृद्धि हो जाती है तथा उसका सत्त्व एवं इन्द्रियां दृढ हो जाती हैं ॥ ५० ॥

दृढाश्रयो मन्दरुजो मांससात्म्यो भवेन्नरः ।
(इति ताडपत्रपुस्तके २११ तमं पत्रम् ।)
अहितं यस्य सात्म्यं स्यादसात्म्यं च हितं भवेत् ॥५१॥
स शनैर्हितमादद्यादहितं च शनैस्त्यजेत् ।

जिस व्यक्ति को मांस सात्म्य होता है वह दृढ आश्रयवाला होता है तथा उसके रोग मन्द हो जाते हैं। अहितकर पदार्थ जिसे सात्म्य होते हैं तथा हितकर पदार्थ जिसे असात्म्य होते उसे शनैः २ हित का ग्रहण तथा अहित का त्याग करना चाहिये। चरक वि. अ. १ में कहा है—तस्मात्तेषां तत्सात्म्यतः क्रमेणापगमनं श्रेयः, सात्म्यमपि हि क्रमेणोपनिवर्त्त्यमानमदोषमल्पदोषं वा भवति। अर्थात् अहित का त्याग एवं हित का ग्रहण भी क्रमशः ही होना चाहिये। अहित का सहसा त्याग ठीक नहीं है॥

आदौ तु स्निग्धमधुरं विचित्रं मध्यतस्तथा ॥ ५२ ॥
रूक्षद्रवावसानं च भुञ्जानो नावसीदति ।

भोजन के प्रारम्भ में स्निग्ध तथा मधुर पदार्थ, मध्य में नाना प्रकार के भोजन तथा अन्त में रूक्ष और द्रव पदार्थों का सेवन करनेवाला व्यक्ति कष्ट नहीं पाता। इसी संहिता के कल्प स्थान के भोजनकल्पाध्याय में कहा है—स्निग्धञ्च पूर्वं मधुरं च भोज्यं मध्ये द्रवं शीतमथो विचित्रम्। तीक्ष्णोष्णरूक्षाणि लघूनि पश्चाद्भोज्यानुपूर्वी खलु सात्म्यतश्च ॥ ५२ ॥

भागद्वयमिहान्नस्य तृतीयमुदकस्य च ॥ ५३ ॥
वायोः संचरणार्थं च चतुर्थमवशेषयेत् ।

कुक्षि के चार भागों में से दो भाग अन्न (ठोस आहार) द्रव्य से तथा तीसरा जल (द्रव पदार्थ–Liquids) से भरना चाहिये और चौथा भाग वायु की गति के लिये खाली रखना चाहिये। यह अर्धसौहित्य की दृष्टि से कहा गया है। इसमें मूर्त आहार आमाशय के ½ भाग में रहते हैं। अष्टाङ्ग हृदय सू. अ. १० में भी कहा है कि यदि आमाशय के अवकाश (रिक्त) स्थान को चार भागों में विभक्त किया जाय तो उसमें से दो भाग अन्न द्वारा तथा एक भाग पेय पदार्थों से भरकर चौथा स्थान (भाग) वायु आदि की गति के लिये खाली रखना चाहिये ॥ ५३ ॥

ततो मुहूर्तमाश्वस्य गत्वा पादशतं शनैः ॥ ५४ ॥
स्वासीनस्य सुखेनान्नमव्यथं परिपच्यते ।
वीणावेणुस्वनोन्मिश्रं गीतं नाट्यविडम्बितम् ॥ ५५ ॥
विचित्राश्च कथाः श्रृण्वन्[1] भुक्त्वा वर्धयते बलम् ।

१. श्रृण्वन् भुक्त्वेत्यत्रत्यपदक्रमस्वरसतो भोजनसमये गीतवाद्यादिश्रवणं रुचिवर्धकत्वेन बलवृद्ध्यादिजनकतया आधुनिकपाश्चात्त्यसंप्रदायवदनुकूलं प्रतीयते, 'अजल्पन्नहसँस्तन्मना भुञ्जीत' इति चरकोक्तेः, 'शब्दरूपरसान् गन्धान् स्पर्शांश्च मनसः प्रियान्। भुक्तवानुपसेवेत' इति सुश्रुतोक्तेश्च संवादो यद्यपेक्षेत तदा 'भुक्त्वा श्रृण्वन्' इति पदव्यत्ययेनान्वयो विधेयः।

सुखस्पर्शविहारं च सम्यगाप्नोत्यतोऽन्यथा ॥ ५६ ॥

भोजन के बाद मुहूर्त भर आराम करके धीरे २ सौ कदम टहले तथा फिर सुखपूर्वक अच्छी तरह (आराम से) बैठ जाय। इस प्रकार उसका खाया हुआ अन्न बिना बाधा के पच जाता है। भोजन करते हुए अथवा भोजन के बाद वीणा तथा वेणु के शब्द से मिश्रित गीत (गाना), नाटक का देखना तथा विचित्र कथाओं के सुनने(१) से बल बढ़ता है। तथा वह सुखकारक स्पर्श और विहार को अच्छी प्रकार प्राप्त करता है। सुश्रुत सू. अ. ४६ में कहा है कि भोजन के बाद जब तक अन्न का क्लम (भारीपन-नशा) रहे तब तक सुखपूर्वक आराम करे। उसके बाद सौ कदम अर्थात् थोड़ी दूर टहल कर बांई करवट से लेट जाना चाहिये। तथा भोजन के बाद मनुष्य को मन को प्रसन्न करनेवाले शब्द, रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श का सेवन करना चाहिये। भोजन के बाद शारीरिक तथा मानसिक आराम करना बहुत आवश्यक है। अंगरेजी में एक कहावत है—(After dinner reot awhile) भोजन के बाद विश्राम न करने से खाया हुआ अन्न सम्यक् प्रकार से नहीं पचता है जिससे अजीर्ण, वमन, अतिसार आदि शिकायतें हो जाती हैं। इसीलिये कहा भी है—व्यायामं च व्यवायं च धावनं यानमेव च। युद्धं गीतं च पाठं च मुहूर्तं भुक्तवांस्त्यजेत् ॥ ५४-५५ ॥

अतिस्निग्धातिशुष्काणां गुरूणां चातिसेवनात्।
जन्तोरत्यम्बुपानाच्च वातविण्मूत्रधारणात् ॥ ५७ ॥
रात्रौ जागरणात् स्वप्नाद्दिवा विषमभोजनात्।
असात्म्यसेवनाच्चैव न सम्यक् परिपच्यते ॥ ५८ ॥

इसके विपरीत अतिस्निग्ध, अतिशुष्क तथा गुरु पदार्थों के अत्यन्त सेवन से, वायु, मल तथा मूत्र के धारण करने से, रात्रि जागरण से, दिन में सोने से, विषम भोजन तथा असात्म्य सेवन के द्वारा प्राणी का खाया हुआ अन्न ठीक प्रकार से नहीं पचता है ॥ ५६-५८ ॥

(१) 'श्रृण्वन् भुक्त्वा' इस पदक्रम के स्वारस्य के अनुसार भोजन के सयय गीत वाद्य आदि का सुनना रुचिवर्धक तथा बलवर्धक होने से आधुनिक पाश्चात्य सम्प्रदाय के अनुकूल प्रतीत होता है। इसके विपरीत चरक के 'अजल्पन्नहसंस्तन्मना भुञ्जीत' तथा 'शब्दरूपान् रसान् गन्धान् स्पर्शांश्च मनसः प्रियान्। भुक्तवानुपसेवेत' को यदि दृष्टि में रखा जाय तो 'भुक्त्वा श्रृण्वन्' यह अन्वय करना चाहिये। अर्थात् यदि पाश्चात्यमत को दृष्टि में रखा जाय तो वे लोग भोजन के समय गाना बजाना, रेडियो आदि सुनते हैं तब 'श्रृण्वन् भुक्त्वा' यह अन्वय होना चाहिये। इसके विपरीत चरक तथा सुश्रुत के प्राचीन आर्ष मतों को दृष्टि में रखा जाय तो वे भोजन के समय शान्त भाव से भोजन करने को कहते हैं तथा उसके बाद गाना, बजाना आदि का विधान बतलाते हैं। इसके अनुसार 'भुक्त्वा श्रृण्वन्' यह अन्वय किया जा सकता है।

हिताहितं यदैकध्यं भुक्तं समशनं तु तत्।
पूर्वभक्तेऽपरिणते विद्यादध्यशनं भिषक् ॥ ५९ ॥
क्षुत्तृष्णोपरमे जाते शान्तेऽग्नौ प्रमृताशनात् (नम्)।
विषमं गुणसंस्कारात् क्रमसात्म्यव्यतिक्रमात् ॥ ६० ॥

हितकर और अहितकर दोनों प्रकार के पदार्थ एक ही समय या एक साथ मिलाकर भोजन करना समशन कहलाता है। पूर्व भोजन का पूरा परिपाक न होने पर भी पुनः भोजन करना अध्यशन कहलाता है। क्षुधा तथा तृष्णा के नष्ट हो जाने एवं अग्नि के शान्त हो जाने पर प्रमृताशन कहलाता है तथा गुणों के संस्कार और सात्म्य क्रम के बदल जाने से विषमाशन कहलाता है। सुश्रुत सू. अ. ४६ में भी ऐसा कहा है॥

विरुद्धं पयसा मत्स्या यथा वा गुडमूलकम्।
स्यादजीर्णाशनं नाम व्युष्टाजीर्णे चतुर्विधे ॥ ६१ ॥
तथैवात्यशनं ज्ञेयमतिमात्रोपयोगतः।
स···तान्यामयोत्पत्तौ मूलहेतुं प्रचक्षते ॥ ६२ ॥

दूध तथा मछली परस्पर विरुद्ध हैं। इसी प्रकार गुड़ और मूली भी परस्पर विरुद्ध हैं। चार प्रकार का व्युष्टाजीर्ण (प्रभात काल में हुआ अजीर्ण) अजीर्णाशन कहलाता है। इसी प्रकार मात्रा में अधिक भोजन करना अत्यशन कहलाता है। ये सब रोगों की उत्पत्ति के मूल कारण माने गये हैं॥६१-६२॥

आहारसात्म्यं देशेषु येषु येष यथा यथा।
प्रोक्तं तथोपदेष्टव्यं तेषु तेषु तथा तथा ॥ ६३ ॥

जिन २ देशों में जो २ आहार सात्म्य माना गया है उन २ देशों में उसी २ आहार का उसी प्रकार उपदेश करना चाहिये ॥ ६३ ॥

चतुर्विंशतिरित्येते विकल्पाः समुदाहृताः।
भिषजा ह्युपदेष्टव्या राज्ञो राजोपमस्य वा ॥ ६४ ॥
अन्येषां वा वसुमतां यशोधर्मार्थसिद्धये।

ये आहार के २४ विकल्प कहे गये हैं। यश, धर्म एवं अर्थ (धन) की सिद्धि के लिये वैद्य को राजा तथा राजा के समान अन्य ऐश्वर्यशाली व्यक्तियों के लिये उपदेश करना चाहिये ॥ ६४ ॥

इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥

(इति) खिलेषु भोज्यविभागीयो (नाम पञ्चमोऽध्यायः) ॥ ५ ॥

ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था।

(इति) खिलेषु भोज्यविभागीयो (नाम पञ्चमोऽध्यायः) ॥५॥

अथ रसदोषविभागीयाध्यायः षष्ठः ।

अथातो रसदोषविभागीयं नामाध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ २ ॥

अब हम रसदोषविभागीय नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था ॥ १-२ ॥

रसदोषविभागज्ञः प्रकोपोपशमं प्रति ।
भिषग्भिषक्त्वं लभते विपर्ययमथान्यथा ॥ ३ ॥

रस और दोष के विभाग को जानने वाला वैद्य रोगों के प्रकोप तथा शान्ति के प्रति भिषक्त्व (वैद्यत्व) को प्राप्त करता है। अर्थात् रस और दोषों के विभाग को जानने वाला वैद्य ही वस्तुतः वैद्य कहलाता है। यदि वह इससे विपरीत है तो वैद्य कहलाने के योग्य नहीं है ॥ ३ ॥

तस्माद्दोषविकल्पांश्च विकल्पांश्च रसाश्रयान् ।
प्रवक्ष्यामि यथाशास्त्रं सविशेषं सविस्तरम् ॥ ४ ॥

इसलिये मैं शास्त्र के अनुसार दोषों तथा रसों के भेदों को विशेषज्ञान एवं विस्तार सहित कहूंगा ॥ ४ ॥

व्यासतस्तु ज्वरादीनां व्याधीनां दोषभेदतः ।
द्विषष्टिधा कल्पनोक्ता स्थूलसंख्या त्वतः परम् ॥ ५ ॥

ज्वरों के विस्तार तथा रोगों के दोष भेद के अनुसार इनकी ६२ कल्पनाएं कही गई हैं। इसके बाद इनकी स्थूल संख्या कही जायेंगी। सुश्रुत उ. अ. ६६ में भी कहा है-भिन्ना दोषास्त्रयो गुणाः। द्विषष्टिधा भवन्त्येते भूयिष्ठमिति निश्चयः॥ ५ ॥

एकैकशस्त्रयो द्वन्द्वैर्नव सर्वे त्रयोदश ।
क्षीणाधिकसमैश्चान्यैर्दश द्वौ च प्रकीर्तिताः ॥ ६ ॥

पृथक् २ दोषों के अनुसार तीन विकार होते हैं। द्वन्द्वज (द्विदोषज) विकार ९ होते हैं। तथा सम्पूर्ण दोषों (सन्निपात) से १३ विकार होते हैं। क्षीण, अधिक तथा समता के अनुसार दोषों की संख्या १२ होती है अर्थात् पृथक् २ दोषों के अनुसार ३, द्वन्द्व के अनुसार ९, सन्निपात के अनुसार १३, इस प्रकार बढ़े हुए दोषों को दृष्टि में रखते हुए कुल २५ विकार होते हैं। बढ़े हुए दोषों की तरह ही क्षीण हुए दोषों के अनुसार भी २५ विकार होते हैं। क्षीणवृद्ध तथा समता के अनुसार दोषों की संख्या-१२ इस प्रकार कुल विकारों की संख्या = २५ + २५ + १२ = ६२ चरक सू. अ. १७ तथा सुश्रुत उ. अ. ६६ में भी ये ही ६२ भेद दिये गये हैं ॥ ६ ॥

तेषां विभागं वक्ष्यामि विस्तरेण यथाक्रमम् ।
एकैकशस्त्रयो ज्ञेया वातपित्तकफैर्गदाः ॥ ७ ॥
समैर्द्वन्द्वैस्त्रयः षट् तु विषमैर्नव ते स्मृताः ।
द्व्यधिकैकाधिकैः षट् च हीनमध्याधिकैश्च षट् ॥ ८ ॥
एकः समैस्त्रिभिर्दोषैरित्यातङ्कास्त्रयोदश ।
दोषैरेतैर्विवृद्धैः स्युर्विकल्पाः पञ्चविंशतिः ॥ ९ ॥

अब मैं उनके विभाग को क्रमशः विस्तारपूर्वक कहूंगा। पृथक् २ दोषों (की वृद्धि) से तीन विकार होते हैं। यथा—१. वातवृद्ध, २. पित्तवृद्ध. ३. कफवृद्ध अर्थात् एकदोषज विकार ३ होते हैं। द्वन्द्वज विकार ९ होते हैं। इनमें से दोनों दोष समता से बढ़े हुए हों तो ३ विकार होते हैं—१-वात-पित्त (दोनों समवृद्ध), २-वात-कफ (दोनों समवृद्ध), ३-पित्त-कफ (दोनों समवृद्ध), द्वन्द्वज विकारों में यदि दोष विषमता से बढ़े हुए हों तो ६ विकार होते हैं—१- वात-वृद्ध (पित्तवृद्धतर), २—पित्त—वृद्ध (वातवृद्धतर), ३-कफ-वृद्ध (पित्तवृद्धतर), ४-पित्त-वृद्ध (कफवृद्धतर), ५-वात-वृद्ध (कफवृद्धतर), ६-कफ-वृद्ध (वातवृद्धतर)। इस प्रकार वृद्ध दोष द्वन्द्वज (संसर्गज) विकार ३ + ६ = ९ होते हैं।

सन्निपात से १३ विकार होते हैं। इनमें दो दोष तथा एक दोष की अधिकता से ६ विकार होते हैं। इनमें से दो दोष अधिक बढ़े हुए हों तो निम्न तीन विकार होते हैं। यथा—१-कफवृद्ध वातपित्त दोनों अधिक वृद्ध, २-पित्त-वृद्ध वातकफ दोनों अधिक वृद्ध, ३-वातवृद्ध पित्तकफ दोनों अधिक वृद्ध, सन्निपात में एक दोष अधिक बढ़ा हुआ हो तो निम्न ३ विकार होते हैं। यथा—१-पित्त कफ दोनों वृद्ध वात अधिक वृद्ध, २- वात कफ दोनों वृद्ध पित्त अधिक वृद्ध, ३-वात पित्त दोनों वृद्ध कफ अधिक वृद्ध, तीनों दोषों के हीन, मध्य एवं अधिक भेद से सन्निपात ६ प्रकार के होते हैं। यथा—१-वात वृद्ध, पित्त वृद्धतर, कफ वृद्धतम, २-वात वृद्ध, कफ वृद्धतर, पित्त वृद्धतम, ३-पित्त वृद्ध, कफ वृद्धतर, वात वृद्धतम, ४-पित्त वृद्ध, वात वृद्धतर, कफ वृद्धतम, ५-कफ वृद्ध, वात वृद्धतर, पित्त वृद्धतम, ६-कफ वृद्ध, पित्त वृद्धतर, वातवृद्धतम, हीन, मध्य एवं अधिक का अभिप्राय यही है कि सन्निपातों में क्रमशः एक दोष कम बढ़ा हुआ हो, एक मध्यम बढ़ा हुआ हो तथा एक अधिक बढ़ा हुआ हो। अर्थात् तीनों दोष बढ़े हुए होते हैं परन्तु उन तीनों में भी एक कम, एक मध्यम तथा एक अधिक बढ़ा हुआ होता है। सन्निपात में तीनों दोष यदि समान रूप से बढ़े हुए हों तो एक विकार होता है। यथा—१-वात पित्त कफ तीनों सम-वृद्ध अर्थात् द्व्युल्वण ३ + एकोल्वण ३ + हीन मध्य एवं अधिक भेद से ६ + समवृद्ध १ = १३ सन्निपात विकार होते हैं। इस प्रकार बढ़े हुए दोषों को दृष्टि में रखते हुए २५ विकार होते हैं। यथा—एक दोषज ३ + द्विदोषज ९ + सान्निपातिक १३=२५ ॥ ७-९ ॥

दोषैः क्षीणैरपि गदा दृष्ट्वैवं पञ्चविंशतिः ।

इसी प्रकार वृद्ध दोषों की तरह क्षीण दोषों को दृष्टि में रखते हुए भी २५ ही विकार होते हैं। अर्थात् पूर्ववत् एक दोषज ३, द्विदोषज ९ तथा सन्निपात से १३ विकार होते हैं। यथा—पृथक् २ (एक दोषज) क्षीण विकार ३ होते हैं। यथा—१-वात क्षीण, २-पित्त क्षीण, ३-कफ क्षीण, द्विदोषज

(संसर्गज) विकार ९ होते हैं। इन क्षीण द्विदोषजों में दोनों दोषों के समान रूप से क्षीण होने पर ३ विकार होते हैं। यथा—१-वात पित्त दोनों समक्षीण, २-वात कफ दोनों समक्षीण, ३-पित्त कफ दोनों समक्षीण, यदि दोनों दोष विषमता से क्षीण हों तो ६ विकार होते हैं। यथा—१-वातक्षीण पित्त क्षीणतर, २-पित्त क्षीण वात क्षीणतर, ३-वात क्षीण कफ क्षीणतर, ४-कफ क्षीण वात क्षीणतर, ५-कफ क्षीण पित्त क्षीणतर, ६-पित्त क्षीण कफ क्षीणतर, इस प्रकार क्षीण दोष द्वन्द्वज रोग ३ + ६=९ होते हैं। सन्निपात में दो दोषों के अतिक्षीण होने से ३ विकार होते हैं। यथा—१-वातक्षीण पित्त कफ दोनों अतिक्षीण, २-पित्त क्षीण वात कफ दोनों अतिक्षीण, ३- कफ क्षीण वात पित्त दोनों अति क्षीण, सन्निपात में एक दोष के अतिक्षीण होने से ३ भेद होते हैं। यथा—१-वात पित्त दोनों क्षीण कफ अतिक्षीण, २-वात कफ दोनों क्षीण पित्त अतिक्षीण, ३-पित्त कफ दोनों क्षीण वात अतिक्षीण, सन्निपात में हीन, मध्य एवं अधिक के भेद से ६ विकार होते हैं। यथा—१-कफ क्षीण, पित्त क्षीणतर, वात क्षीणतम, २ वात क्षीण, कफ क्षीणतर, पित्त क्षीणतम, ३-पित्त क्षीण, कफ क्षीणतर, वात क्षीणतम, ४-कफ क्षीण, वात क्षीणतर, पित्त क्षीणतम, ५ वात क्षीण, पित्त क्षीणतर, कफ क्षीणतम, ६-पित्त क्षीण, वात क्षीणतर, कफ क्षीणतम, यहां हीन, मध्य तथा अधिक से अभिप्राय क्रमशः कम क्षीण, मध्यम क्षीण तथा अधिक क्षीण से है। सन्निपात में तीनों दोषों के समक्षीण होने से १ विकार होता है। यथा—१-वात पित्त कफ तीनों समक्षीण अर्थात् क्षीण दोष सन्निपात ३ + ३ + ६ + १ = १३ होते हैं। इस प्रकार क्षीण दोषों को दृष्टि में रखते हुए ३ + ९ + १३=२५ विकार होते हैं॥

द्विक्षीणैरेकवृद्धैः स्युरेकक्षीणैर्द्विरुद्गलैः ॥ १० ॥
षट् षट् क्षीणाधिकसमैर्दश द्वौ चापरे गदाः ।

दो दोष क्षीण तथा एक वृद्ध और एक दोष क्षीण तथा दो वृद्ध से ६ भेद होते हैं। तथा एक क्षीण एक वृद्ध तथा एक सम के भेद से ६ हैं। इस प्रकार ये १२ विकार होते हैं। अर्थात्—दो का क्षय तथा एक की वृद्धि इस भेद से ३ विकार होते हैं। यथा—१ कफ पित्त दोनों क्षीण वात वृद्ध, २-वात कफ दोनों क्षीण पित्त वृद्ध, ३-वात पित्त दोनों क्षीण कफ वृद्ध, एक का क्षय तथा दो की वृद्धि इस भेद से ३ विकार होते हैं। यथा—१-वात क्षीण कफ पित्त दोनों वृद्ध, २-पित्त क्षीण वात कफ दोनों वृद्ध, ३-कफ क्षीण वात पित्त दोनों वृद्ध, एक का क्षय, एक की वृद्धि तथा एक की समता के अनुसार ६ भेद होते हैं। यथा—१-कफ क्षीण, पित्त सम, वात वृद्ध, २-पित्त क्षीण, कफ सम, वात वृद्ध, ३-वात क्षीण, कफ सम, पित्त वृद्ध, ४-कफ क्षीण, वात सम, पित्त वृद्ध, ५-वात क्षीण, पित्त सम, कफ वृद्ध, ६-पित्त क्षीण, वात सम, कफ वृद्ध, ये विकार १२ होते हैं। इस प्रकार दोषों के परिणाम के भेद से २५ + २५ + १२ = ६२ विकार होते हैं। चरक सू. अ. १७ में भी ये ही ६२ विकार दिये हैं॥१०॥

इति द्विषष्टिसंख्यैषा विकाराणां विकल्पशः ॥ ११ ॥
वातपित्तकफैरेको दश स्यात् प्रकृतिस्थितैः ॥

इस प्रकार विकल्प (भेद) के अनुसार विकारों की संख्या ६२ होती है। इसके अतिरिक्त वात पित्त तथा कफ के प्रकृतिस्थ होने पर एक भेद और होता है। अष्टाङ्ग हृदय में भी इन ६२ दोष भेदों के अतिरिक्त एक ६३ वां भेद और दिया है। वहां कहा है—'त्रिषष्टः स्वास्थ्यकारणम्'। यह ६३ वां भेद आरोग्य का कारण माना गया है। इस अवस्था में वात पित्त कफ तीनों अपने परिमाण में स्थित होते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि पूर्वोक्त ६२ भेद रोग के कारण होते हैं॥११॥

रसानां तु विकल्पाः स्युरेकैकश्येन षट् स्मृताः ॥१२॥
पूर्वः पूर्वः परैर्युक्तो द्विकाः पञ्चदशापरे ।

रसों के विकल्प—एक रस वाले ६ भेद होते हैं। यथा-१ मधुर, २ अम्ल, ३ लवण, ४ कटु, ५ तिक्त, ६ कषाय द्विक (दो रसों का संयोग)—पूर्व २ रस अगले २ रस के साथ मिलकर १५ योग बनाता है। चरक सू. अ. २६ में भी द्विकों के १५ भेद दिये हैं। इसी प्रकार सुश्रुत उ. अ. ६३ में भी कहा है ॥ १२ ॥

रसेषु त्रिषु पूर्वेषु विकल्पाः स्युस्त्रयोऽधिकाः ॥ १३ ॥
द्विकेषु त्रिष्वथैकैकं संयोज्य कटुकादिभिः ।
कट्वादिषु तथा पूर्वैः स्वाद्वम्ललवणैः पृथक् ॥ १४ ॥
अष्टादशैते द्वाभ्यां च त्रिकाभ्यां विंशतिस्त्रिकाः ।

मधुर, अम्ल तथा लवण आदि प्रथम तीन रसों से तीन अधिक भेद (द्विकों के) हो जाते हैं (मधुराम्ल, मधुरलवण तथा अम्ललवण) इन तीनों द्विकों के साथ कटु आदि (कटु, तिक्त, कषाय) एक २ को जोड़कर (संयुक्त करके) तथा कटु आदि तीनों द्विकों (कटु तिक्त, कटु कषाय, तिक्त कषाय) के साथ पूर्वोक्त मधुर आदियों (मधुर, अम्ल, लवण) को जोड़ने से १८ भेद (द्विक) बन जाते हैं। इनमें दो त्रिकों (मधुराम्ललवण तथा कटुतिक्तकषाय) को जोड़ने से १८ + २ = २० त्रिक बन जाते हैं ॥ १३-१४ ॥

पूर्वोत्तराभ्यां मधुरत्र्योषादिभ्यां यथाक्रमम् ॥ १५ ॥
ये द्विकास्त्रिषु पूर्वेषु योज्यास्ते त्रिभिरुत्तरैः ।
प्रत्येकशो नवैते स्युर्विकल्पाः षडिहान्यथा ॥ १६ ॥
युक्ताः स्वाद्वम्ललवणाः पृथक् कट्वादिभिस्त्रिभिः ।
कट्वादयस्तथा पूर्वैरित्येते दश पञ्च च ॥ १७ ॥
चतुष्काः पञ्चकाः षट् स्युरेकैकस्य विवर्जनात् ।

पूर्व एवं उत्तर (पहले एवं पिछले) मधुर (मधुर, अम्ल, लवण) तथा कटु (कटु, तिक्त, कषाय) आदि के जो द्विक हैं (अर्थात् मधुराम्ल, मधुरलवण एवं अम्ललवण तथा कटुतिक्त, कटुकषाय एवं तिक्तकषाय) उनमें पहले तीन के साथ पिछले तीन को क्रमशः जोड़ने से ९ चतुष्क बनते हैं। तथा संयुक्त मधुर, अम्ल, लवण तीनों को कटु, तिक्त एवं

कषाय के साथ तथा कटु, तिक्त एवं कषाय को मधुर, अम्ल, लवण के साथ पृथक् २ मिलाने से ६ चतुष्क बनते हैं। इस प्रकार ९+६=१५ चतुष्क होते हैं ॥ १५-१७ ॥

षड्भिरेको रसैस्तेषां कल्पनेयं त्रिषष्टिधा ॥ १८ ॥

पञ्चक (पांच रसों वाले) द्रव्य—छओं रसों में से एक २ रस को छोड़ने से ५ रस वाले द्रव्य ६ होते हैं। चरक सू. अ. २६ में भी कहा है—'षट् तु पञ्चरसान्याहुरेकैकस्यापवर्जनात्।' ६ रस वाले द्रव्य—एक हैं। इस प्रकार कल्पना के अनुसार ६+१५+२०+१५+६+१=६३ रसों के भेद होते हैं। चरक सू. अ. २६ में तथा सुश्रुत उ. अ. ६३ में भी इसी प्रकार कहा है ॥ १८ ॥

संयोगाः सप्तपञ्चाशदसंयुक्तास्तु षड्रसाः ।
षडेव त्रिषु युज्यन्ते रसा दोषेषु योगतः ॥ १९ ॥

संयुक्त रस ५७ होते हैं। अर्थात् उपर्युक्त ६३ में से पृथक् २ एक २ रस को छोड़ने से शेष ५७ भेद होते हैं। ये संयोग दो २, तीन २, चार २, पांच २ तथा छ रसों के संयोग से होते हैं। असंयुक्त (पृथक् २ मधुर अम्ल आदि) रस ६ होते हैं। वात-पित्त तथा कफ रूप तीनों दोषों में भिन्न २ योग के अनुसार ये ६ रस ही प्रयुक्त होते हैं। कहीं एक रस का प्रयोग किया जाता है, कहीं दो का तथा दोष की यदि अधिक वृद्धि हो तो कहीं तीन रस इत्यादि का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार चरक सू. अ. २६ में भी कहा है ॥ १९ ॥

क्वचिदेकः क्वचिद् द्वौ च दोषवृद्ध्या क्वचित्त्रयः ।
हीनमध्यातिवृद्धानां दोषाणां तु यथाक्रमम् ॥ २० ॥
हीनमध्याधिकैरेवं रसैः कुर्यादुपक्रमम् ।
द्व्युल्बणैकोल्बणानां च समानां चैव तद्विधैः ॥ २१ ॥

हीन, मध्य तथा वृद्ध दोषों की यथाक्रम हीन, मध्य तथा अधिक (वृद्ध) रसों के द्वारा ही चिकित्सा करनी चाहिये। द्व्युल्बण, एकोल्बण तथा समान वृद्ध दोषों की भी इसी प्रकार के रसों से चिकित्सा करनी चाहिये ॥ २०-२१ ॥

वृद्धानां क्षपणं कार्यं मध्यानां यापनं तथा ।
क्षीणानां वर्धनं चैव रसवृद्धिप्रमाणतः ॥ २२ ॥

रस की वृद्धि के प्रमाण के अनुसार बढ़े हुए दोषों को घटाने का, समावस्था में स्थित दोषों को स्थिर रखने का तथा क्षीण हुए दोषों को बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिये। अर्थात् यदि दोष अपने प्रमाण से अधिक बढ़े हुए हैं तो उन्हें कम करने का प्रयत्न करना चाहिये तथा यदि दोष स्वप्रमाण से घटे हुए हैं तो उन्हें बढ़ाकर अपने प्रमाण में लाने का प्रयत्न करना चाहिये। ये दोनों अवस्थाएँ विषम हैं तथा रोग या अस्वास्थ्य को सूचित करती हैं। तीसरी अवस्था स्वस्थ व्यक्ति की है अर्थात् दोष अपने स्वाभाविक परिमाण में स्थित हों। इस अवस्था में दोषों के स्वाभाविक परिमाण को स्थिर रखने का प्रयत्न करना चाहिये। यही आयुर्वेद का प्रधान उद्देश्य है। इसे आजकल के विज्ञान के अनुसार Prophilactic या Preventive Treatment अथवा Hygiene कह सकते हैं। दोषों की विषमता होकर रोग उत्पन्न ही न होने पावें—यह श्रेष्ठ प्रयत्न है। इसीलिये सुश्रुत में स्वास्थ्य का रक्षण भी आयुर्वेद का प्रयोजन बताते हुए भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है—'इह खल्वायुर्वेदप्रयोजनं-व्याध्युपसृष्टानां व्यधिपरिमोक्षः स्वस्थस्य रक्षणं च। चरक सू. अ. ३० में भी यही प्रयोजन बतलाया गया है। परन्तु वहां अनुक्रम उलटा है और वही स्वाभाविक भी है। उत्पन्न होते हुए व्यक्ति जन्म के समय साधारणतया स्वस्थ एवं नीरोग ही होते हैं। बाद में प्रज्ञापराध आदि के कारण ही व्याधियां हो जाती हैं। इसलिये प्रजाहित के लिये आयुर्वेद की उत्पत्ति प्रजा की उत्पत्ति के साथ या उससे पहले हुई—उसका प्रयोजन भी यही था कि स्वस्थ व्यक्ति किस प्रकार से अपने स्वास्थ्य को स्थिर रख सके। इसीलिये चरक में कहा भी है—'धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्' ॥

विशेषोऽत्र यथायोगं कार्यो रसविपर्ययात् ।

(इति ताडपत्रपुस्तके २१२ तमं पत्रम्।)

एवं द्विषष्टिदोषाणां रसैरेषां द्विषष्टिभिः ॥ २३ ॥
साम्यं तैः षट्कैरेवैकः स्वस्थवृत्तौ प्रयुज्यते ।

रसों के विपर्यय से योग के अनुसार इसमें परिवर्तन करना पड़ता है। इस प्रकार ६२ रसों के द्वारा ६२ दोषों की चिकित्सा करनी चाहिये। परन्तु ६ रसों के योग से जो एक रस (मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषाय) बनता है उससे दोष समावस्था में स्थित रहते हैं तथा वही स्वस्थवृत्त (स्वस्थावस्था) में प्रयुक्त होता है। अर्थात् रसों की ६३ कल्पनायें कही गई हैं। तथा कुपित और अकुपित दोषों के भेद भी ६३ ही दिये गये हैं। इनमें कुपित ६२ प्रकार के दोषों में ६२ प्रकार के ही रसों की कल्पना का उपयोग होता है तथा ६३ वें (समधातु वा समदोष) में ६३ वें रस भेद (छओं रसों के मिश्रण) का सेवन करना चाहिये ॥ २३ ॥

कटुतिक्तकषायांस्तु रसान् प्राज्ञो यथाक्रमम् ॥ २४ ॥
योगतः कफजे व्याधौ भैषज्यमवतारयेत् ।

बुद्धिमान् व्यक्ति कटु, तिक्त तथा कषाय रसों को क्रमशः सम्यक् योग के द्वारा कफज व्याधि में भैषज्य के रूप में प्रयुक्त करे ॥ २४ ॥

प्रयुक्तः कटुकः पूर्वं पैच्छिल्यं गौरवं च यत् ॥ २५ ॥
श्लेष्मणस्तं निहन्त्याशु तिक्तस्तस्मादनन्तरम् ।
ह्रासयत्यास्यमाधुर्यं कफं संशोषयत्यपि ॥ २६ ॥
संगृह्णाति कषायश्च स्नेहं चास्यावकर्षति ।

इनमें से प्रयुक्त किया गया कटु रस सर्वप्रथम श्लेष्मा (कफ) की पिच्छिलता तथा गौरवता को शीघ्र ही नष्ट कर देता है। इसके बाद तिक्त रस मुख की मधुरता को नष्ट करता है तथा कफ का शोषण करता है। और कषाय रस

इसका संग्रहण करता है तथा श्लेष्मा के स्नेह का अपकर्षण करता है अर्थात् इसके स्नेहांश को कम करता है ॥ २५-२६ ॥

तिक्तस्वादुकषायाः स्युः क्रमशः पैत्तिके हिताः ॥२७॥
आमान्वयत्वात् पित्तस्य पूर्वं तिक्तोऽवचारितः ।
पाचयत्याशु तं पक्वं ततस्तु मधुरो रसः ॥ २८ ॥
शैत्याद् गुरुत्वात् स्नेहाच्च माधुर्याच्च नियच्छति ।
तद्द्रवत्वविघातार्थं कषायश्चावचारितः ॥ २९ ॥
रौक्ष्याद्विशोषिभावाच्च विशोषयति तैजसम् ।

तिक्त, स्वादु एवं कषाय रस क्रमशः पैत्तिक रोगों में हितकर हैं। पित्त में आमरस का संसर्ग होने से प्रारम्भ में प्रयुक्त किया गया तिक्तरस उस आम का शीघ्र ही पाचन कर देता है। उसके बाद मधुर रस अपनी शीतलता, गुरुता (गौरव), स्निग्धता तथा मधुरता के कारण उस पके हुए पित्त को शान्त कर देता है। उसके बाद उसकी द्रवता को नष्ट करने के लिये कषाय रस का प्रयोग किया जाता है। यह कषाय रस अपनी रूक्षता तथा विशोषण के स्वभाव के कारण इस पित्त का शोषण कर देता है ॥ २७-२९ ॥

वातिके लवणः पूर्वं संयोगादवचारितः ॥ ३० ॥
प्रक्लेदिभावाज्जयति विबन्धं मातरिश्वनः ।
निहन्ति शैत्यमुष्णत्वाद् गुरुत्वाच्चापि लाघवम् ॥३१॥
तथैवाम्लो रसः पश्चात्तस्मिन्नेवावचारितः ।
जडीकृतानि स्रोतांसि तैक्ष्ण्यादुद्घाट्य मारुतम् ॥३२॥
अनुलोमयति क्षिप्रं स्निग्धोष्णत्वाद्विमार्गगम् ।
अम्लादनन्तरं पश्चात् प्रयुक्तो मधुरो रसः ॥ ३३ ॥
वायोर्लघुत्वं वैशद्यं रूक्षत्वं च व्यपोहति ।
गुरुत्वात् पिच्छिलत्वाच्च स्निग्धत्वाच्च यथाबलम् ॥३४॥
इत्युक्ताः सर्वरोगेषु रसानां प्रविचारणाः ।

वातरोगों में सर्वप्रथम संयोग के द्वारा प्रयुक्त किया गया लवणरस क्लेद के कारण वायु के विबन्ध को शान्त करता है। यही लवण रस उष्ण होने के कारण वायु की शीतलता को तथा गुरु होने के कारण वायु की लघुता को नष्ट कर देता है। उसके बाद वातरोग में प्रयुक्त किया गया अम्लरस अपनी तीक्ष्णता के कारण जडीभूत स्रोतों का उद्घाटन करके (खोलकर) स्निग्धता तथा उष्णता के कारण विमार्गस्थित वायु का शीघ्र ही अनुलोमन करता है। अर्थात् प्रतिकूल मार्ग में जाती हुई वायु का अनुलोमन करता है अर्थात् अनुकूल मार्ग में लाता है। अम्लरस के अनन्तर प्रयुक्त किया गया मधुर रस अपने बल के अनुसार गुरुता, पिच्छिलता तथा स्निग्धता के कारण वायु की लघुता, विशदता तथा रूक्षता को नष्ट करता है। इस प्रकार सम्पूर्ण (वातिक, पैत्तिक तथा श्लैष्मिक) रोगों में रसों के भेद कहे गये हैं। अर्थात् जिन रोगों में जिन रसों का प्रयोग किया जाना चाहिए— इसका निर्देश किया गया है। कौन २ से रस किस २ दोष को शान्त करते हैं तथा किन २ को बढ़ाते हैं इस विषय में चरक वि. अ. १ में तथा सु. सू. अ. ४२ में भी विस्तृत रूप से कहा है ॥ ३०-३४ ॥

दृश्यन्ते प्रायशो योगा रोगेषूक्ता ज्वरादिषु ॥ ३५ ॥
कटुतिक्तकषायाश्च रसतो मधुरास्तथा ।
वातज्वरे यथापूर्वं पेयायूषरसादिषु ।
लवणोऽम्लश्च युज्येते रसौ संस्कारयोगिनौ ॥ ३६ ॥
ततो विदारिगन्धादिर्मधुरः संप्रयुज्यते ।

ज्वर आदि रोगों में प्रायः कटु, तिक्त, कषाय तथा मधुर रस वाले योग कहे गये हैं। वातज्वर में पहले पेया, यूष तथा रस आदियों में संस्कार से युक्त लवण एवं अम्ल रस का प्रयोग किया जाता है। इसके बाद विदारिगन्ध आदि मधुर द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है ॥ ३५-३६ ॥

पित्तज्वरे यथा तिक्तः शार्ङ्गेष्टादिः प्रयुज्यते ॥ ३७ ॥
मधुरः सारिवादिश्च, कषायश्चाभयादिकः ।

पित्तज्वर में शार्ङ्गेष्टा (काकजंघा अथवा काकमाची) आदि तिक्त, सारिवा आदि मधुर तथा अभया (हरीतकी) आदि कषाय द्रव्य प्रयुक्त किये जाते हैं ॥ ३७ ॥

पिप्पल्यादिर्यथापूर्वं कटुकः कफजे ज्वरे ॥ ३८ ॥
आरग्वधादिकस्तिक्तः, कषायस्त्रिफलादिकः ।

कफज (श्लैष्मिक) ज्वर में यथापूर्व पिप्पली आदि कटु, आरग्वध (अमलतास) आदि तिक्त तथा त्रिफला आदि कषाय द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये ॥ ३८ ॥

सर्वत्रैवानया युक्त्या यथोद्दिष्टान्रसान् बुधः ॥ ३९ ॥
यथादोषं यथायोगं प्रयुञ्जीत यथेप्सितम् ।
प्रक्षेपैरवकर्षैश्च द्रव्याणामन्यथाऽन्यथा ॥ ४० ॥

बुद्धिमान् व्यक्ति सर्वत्र इसी उपर्युक्त युक्ति से यथोद्दिष्ट रसों को दोष एवं योग के अनुसार द्रव्यों के प्रक्षेप (बढ़ाना) तथा अपकर्ष (घटाने) के द्वारा इच्छानुसार प्रयुक्त करे॥ ३९-४०॥

यथा वा वीणया वीणी तन्त्रीणां स्वरकोविदः ।
उत्कर्षश्चावकर्षैश्च स्वरान् सम्यक् प्रयोजयेत् ॥ ४१ ॥
विन्दन् नानाविकल्पैश्च ग्रामरागांश्च दर्शयेत् ।
स्वरमण्डलतत्त्वज्ञो विकल्पैर्बहुविस्तरैः ॥ ४२ ॥
तथैव शास्त्रतत्त्वज्ञो योगज्ञः प्रतिपत्तिमान् ।
व्याधौ बलाबलज्ञश्च प्रकृतिज्ञश्च योगवान् ॥ ४३ ॥
उत्कर्षैश्चावकर्षैश्च प्रयोगाच्छास्त्रकोविदः ।
केवलैः शीतवीर्यैश्च तथैवोष्णैश्च वीर्यतः ॥ ४४ ॥
शीतैरुष्णैश्च संपृक्तैर्द्रव्यैर्योगान् प्रयोजयेत् ।
कार्त्स्न्यतश्च प्रयुञ्जीत यथावदनुपूर्वशः ॥ ४५ ॥

जिस प्रकार तन्त्रियों के स्वरों को जानने वाला वीणावादक व्यक्ति आरोह तथा अवरोह के द्वारा ठीक प्रकार से स्वरों

को प्रयुक्त करता है तथा स्वरमण्डलों के तत्त्व को जानने वाला अनेक विस्तृत विकल्पों (भेदों) के द्वारा ज्ञान प्राप्त करके ग्रामरोगों का प्रदर्शन करता है अर्थात् ७ स्वरों के ही आरोह अवरोह के द्वारा नाना भेद हो जाते हैं। उसी प्रकार शास्त्रों के तत्त्व, योग, युक्ति, रोग के बलाबल तथा प्रकृति को जानने वाला शास्त्र का पण्डित प्रयोगों के उत्कर्ष तथा अपकर्ष के द्वारा केवल शीतवीर्य, केवल उष्णवीर्य अथवा शीतवीर्य एवं उष्णवीर्य दोनों प्रकार के द्रव्यों के संयोग से बनाये हुए योगों का सम्पूर्णरूपमें अथवा क्रमशः धीरे २ प्रयोग करे ॥ ४१-४५ ॥

समुच्चयैर्विकल्पैश्च नानारससमुच्छ्रयैः ।
युञ्जीत बहुधा योगान्नृत्तं गीतवशादिव ॥ ४६ ॥

नाना रसों से बने हुए योगों का समुच्चय (सामूहिक) तथा विकल्प (पृथक् २) रूप में नृत्य तथा गीत की तरह प्रयोग करे ॥ ४६ ॥

समस्योक्तं पृथक्चोक्तं संप्रधार्य बलाबलम् ।
द्विषष्टिर्दोषभेदा ये निर्दिष्टास्तानतः परम् ॥ ४७ ॥
स्थानानि दश संगृह्य प्रवक्ष्यामि सविस्तरम् ।

इस प्रकार दोषों के बलाबलको देखकर सम एवं पृथक् रूप में जो दोषों के ६२ भेद कहे गये हैं उन्हें अब १० स्थानों के अनुसार विभक्त करके विस्तार पूर्वक कहूँगा।

वक्तव्य—दस स्थानों से अभिप्राय रस-रक्त आदि सात धातु एवं वात पित्त कफ तीन दोषों (मिलकर दस होते हैं) से प्रतीत होता है ॥ ४७ ॥

त्रय एकैकशस्तेषां ये च वृद्धास्त्रयः समाः ॥ ४८ ॥
समैरेकश्च सप्तैते क्षयवृद्ध्या चतुर्दश ।
स्थानवृद्ध्या भवेत्तेषां चत्वारिंशोत्तरं शतम् ॥ ४९ ॥

वे दोष पृथक् २ तीन हैं। यथा १-वात २-पित्त ३-कफ तथा समानरूप से एक २ दोष की वृद्धि के अनुसार भी वे तीन हैं। यथा १-वातवृद्ध २-पित्तवृद्ध ३-कफवृद्ध। तथा दोषों के समावस्था में स्थित होने पर एक भेद होता है। यथा—१-समवात पित्त कफ। ये सात भेद होते हैं। क्षय के अनुसार भी ये सात दोष होते हैं। इस प्रकार वृद्धि एवं क्षय के अनुसार ये भेद ७×२=१४ हो जाते हैं। तथा १० स्थानों की वृद्धि के अनुसार इनके १४×१०=१४० भेद हो जाते हैं ॥ ४८-४९ ॥

व्युदस्यैतानतः शेषा ये त्रिंशद्दश चाष्ट च ।
ते भेदं यान्त्यमेयत्वाच्छतशोऽथ सहस्रशः ॥ ५० ॥
द्वन्द्वानां विषमाणां तु षण्णामन्यतमं बुधः ।
स्वस्थानाद्वर्धयेत्तावद्यावत् स्यात् स्थानमष्टमम् ॥५१॥

इन १४ भेदों को छोड़कर जो शेष अर्थात् ६२—१४=४८ भेद बचते हैं, उनके अपरिमित होने से सैकड़ों तथा हजारों भेद हो जाते हैं। ६ विषमद्वन्द्वों—(१-वातवृद्ध पित्तवृद्धतर, २-पित्त वृद्ध वात वृद्धतर, ३-कफ वृद्ध पित्त वृद्धतर, ४पित्त वृद्ध कफ वृद्धतर, ५ वात वृद्ध कफ वृद्धतर, ६-कफ वृद्ध वात वृद्धतर) को एक २ को लेकर अपने स्थान से तब तक बढ़ाये जब तक कि आठवें स्थान तक न पहुंच जायँ। इस प्रकार ये ६×८=४८ भेद होते हैं ॥ ५०-५१ ॥

एकैकशो द्विशश्चैव चतुर्विंशद्भवन्ति ते ।
ह्रासेनैकैकशश्चापि विंशन्नव च भेदतः ॥ ५२ ॥
एवमेते त्रिपञ्चाशद् द्वन्द्वेनैकेन दर्शिताः ।

पृथक्२ एक दोष तथा द्वन्द्वों के अनुसार वे २४ हो जाते हैं। अर्थात् पृथक् २ दोष तीन तथा द्वन्द्वज ९ होते हैं जो कि मिलकर १२ होते हैं। इनके ह्रास तथा वृद्धि के अनुसार १२×२=२४ भेद हो जाते हैं। एक २ दोष के ह्रास के द्वारा २९ भेद और हो जाते हैं। इस प्रकार एक द्वन्द्व के द्वारा ये २४+२९=५३ भेद हो जाते हैं ॥ ५२ ॥

एषैव युक्तिः शिष्टानां द्वन्द्वानां स्यान्न संशयः ॥ ५३ ॥
शतत्रयं भवत्येवमेषामष्टादशोत्तरम् ।

अवशिष्ट (६ - १ = ५) द्वन्द्वों के भी इसी प्रकार से योग बन जाते हैं। इस प्रकार ६ द्वन्द्वों से ये कुल ५३×६=३१८ भेद हो जाते हैं ॥ ५३ ॥

द्व्युल्बणैकोल्बणानां च तावदेव विनिर्दिशेत् ॥ ५४ ॥

इसीप्रकार सन्निपातों में द्व्युल्वण तथा एकोल्वण (३+३=६) दोषों के भी इतने ही भेद होते हैं ॥ ५४ ॥

हीनमध्याधिका दोषाः स्वे स्वे स्थाने व्यवस्थिताः ।
स्वस्थानात् सप्तमं स्थानमेकैकश्येन यान्ति ते ॥५५॥
द्वौ च द्वौ च समस्ताश्च तेषां षट् सप्तकास्तथा ।
भवन्ति ह्रासयेत्तांश्च यथा(स्था)नमधः क्रमात् ॥५६॥
पञ्चाशीतिमतस्तेषां भेदानां परिचक्षते ।
एष एव विकल्पः स्याच्छेषाणां प्रविभागशः ॥ ५७ ॥
शतानि सप्त षष्टिश्च द्वौ च भेदा भवन्ति ते ।
एवं सहस्रं भेदानां वृद्धैस्त्रीणि शतानि च ॥ ५८ ॥
दोषैर्नवतिरष्टौ च क्षीणैस्तावन्त एव ते ।

हीन मध्य एवं अधिक के अनुसार अर्थात् तर-तम आदि के अनुसार अपने २ स्थान पर स्थित हुए दोष अपने स्थान से एक २ करके सप्तम स्थान तक पहुंचते हैं। इस प्रकार समस्त दोष मिलकर चार, छै और सात अर्थात् १७ बन जाते हैं। इसी प्रकार इन्हें यथास्थान उलटे क्रम से कम करते जायें। इस प्रकार ये १७×५=८५ भेद हो जाते हैं। इसी प्रकार शेष द्वन्द्वों के भी विभागपूर्वक ये ही भेद हो जाते हैं। ये ७६२ भेद हो जाते हैं। इस प्रकार वृद्ध दोषों के ३१८+३१८+७६२=१३९८ भेद हो जाते हैं। इसी प्रकार क्षीण दोषों के भी इतने ही अर्थात् १३९८ भेद होते हैं ॥ ५५-५८ ॥

द्विक्षीणैरेकवृद्धैः स्युः षट् च त्रीणि शतानि च ॥५९॥
यावन्त्येव च भेदानामेकक्षीणैर्द्विरुद्धलैः ।

क्षीणाधिकसमैः षट् च षट् च षट् च शतानि च ॥६०॥

(इति ताडपत्रपुस्तके २१३ तमं पत्रम्)

क्रम एवात्र भागः स्याद्यो द्वन्द्वेषु निदर्शितः ।

दो क्षीण तथा एक वृद्ध दोष वाले द्वन्द्व के ३०६ भेद होते हैं। इसीप्रकार एक क्षीण तथा दो वृद्ध दोष वाले द्वन्द्व के भी इतने ही अर्थात् ३०६ भेद होते हैं। पूर्व द्वन्द्वों का जो क्रम बताया है उसके अनुसार क्षीण, अधिक एवं सम दोषों के ६१२ भेद हो जाते हैं ॥ ५९-६० ॥

चतुर्दश विनिर्दिष्टाः सविकल्पास्तयोः पृथक् ॥ ६१ ॥
तैः सार्धमेषां सर्वेषां कात्स्न्र्येनैव विभावयेत् ।
सहस्राणि च चत्वारि शतं षष्ट्युत्तरं तथा ॥ ६२ ॥

इनके अतिरिक्त जो पहले १४ भेद बताये हैं उनके भेद अर्थात् १४×१०=१४० पृथक् समझने चाहिये। इन १४० भेदों के साथ इन उपर्युक्त सम्पूर्ण भेदों को गिनने से १३९८+ १३९८+३०६+३०६+६१२+१४०=४१६० भेद हो जाते हैं।

एतावन्तो ज्वराद्यानां भेदाः प्रोक्ता यथागमम् ।
अथैतेषु चतुर्योगविभागगतिकर्मतः ॥ ६३ ॥
सहस्रं सन्निपातानां विद्यात् सनवकं भिषक् ।

ज्वर आदियों के भी शास्त्रानुसार इतने ही भेद कहे गये हैं। इनमें योग, विभाग, गति एवं कर्म इन चार के अनुसार सन्निपातों के भी नौ हजार भेद समझने चाहिये ॥ ६३ ॥

अत ऊर्ध्वं रसानां तु वक्ष्यते भेदविस्तरः ॥ ६४ ॥

अब हम विस्तारपूर्वक रसों के भेदों का वर्णन करेंगे ॥६४॥

कर्मस्थानानि दोषाणां भाववृद्ध्या यथाक्रमम् ।
तथा रसानां षट् कुर्यात् स्थानानीति विनिश्चयः ॥६५॥

यथाक्रम वृद्धि के अनुसार दोषों के कर्म एवं स्थान के समान निश्चय से रसों के भी ६ स्थान होते हैं ॥ ६५ ॥

तदेव कर्म सर्वेषां द्विकादीनां क्षयं विना ।
भवत्येवं द्विकानां तु पञ्चषष्ट्युत्तरं शतम् ॥ ॥ ६६ ॥

क्षय के बिना सम्पूर्ण द्विकों के भी वे ही कर्म होते हैं इस प्रकार द्विकों (१५) के १६५ भेद होते हैं ॥ ६६ ॥

त्रिकानां च सविंशानि षट्शतानि विनिर्दिशेत् ।
चतुष्कानां सहस्रं च पञ्चषष्ट्युत्तरं वदेत् ॥ ६७ ॥

त्रिकों के ६२० भेद होते हैं तथा चतुष्कों के १०६५ भेद होते हैं ॥ ६७ ॥

पञ्चकाणां शतान्यष्टौ स्याच्छतं च षडुत्तरम् ।
षष्ठकानां शते द्वे तु शतं चैकादशोत्तरम् ॥ ६८ ॥
संयुक्तानां विकल्पोऽयं सविकल्पाः षडेककः ।

पञ्चकों के ९०६ भेद होते हैं तथा षष्ठकों (६ रसों के संयोग) के ३११ भेद होते हैं। इसप्रकार संयुक्त रसों के ये उपर्युक्त विकल्प (भेद) हैं तथा एक २ (पृथक् २) रस ६ होते हैं॥६८॥

समानां रसभेदानामेकमेकं तु पिण्डितम् ॥ ६६ ॥
त्रिसप्ततिर्भवत्येषां सहस्रत्रयमेव च ।

इस प्रकार सब समान रसों को परस्पर मिलाकर इनके १६५+६२०+१०६५+९०६+३११+६=३०७३ भेद होते हैं॥

रसदोषविकल्पानामतिसौक्ष्म्यादतः परम् ।
न वक्ष्यामि महाभाग ! न तु बुद्धिपरिक्षयात् ॥ ७० ॥

हे महाभाग ! इससे आगे बुद्धि के क्षीण होने के कारण नहीं, अपितु रसों तथा दोषों के भेदों के अत्यन्त सूक्ष्म होने से नहीं वर्णन करूंगा। अर्थात् इससे आगे रसों तथा दोषों के भेद अत्यन्त सूक्ष्म हो जाते हैं इसलिये उनका मैं वर्णन नहीं करूंगा। इसका तुम यह तात्पर्य मत समझना कि इससे आगे बुद्धि की पहुंच नहीं है ॥ ७० ॥

अतः परमिदानीं रसभेदान् विस्तरेणोपदेक्ष्यामः । तद्यथा—मधुराम्ललवणकटुकतिक्तकषायाः षड्रसाः । एषामिदानीं रसानां विकल्पास्त्रिषष्टिर्भवन्ति । तत्रैकैकश्येन षट् । तद्यथा—मधुर एव, अम्ल एव, लवण एव, कटुक एव, तिक्त एव, कषाय एव ॥ ७१ ॥

इसके बाद अब मैं रसों के भेदों का विस्तारपूर्वक वर्णन करूंगा। उदाहरण के लिये मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय–ये ६ रस होते हैं। इन ६ रसों के ६३ भेद होते हैं। इनमें से पृथक् २ रस ६ होते हैं। यथा—१. अकेला मधुर (सन्तानिकागोदुग्धादिकम्) २. अकेला अम्ल (आमकरमर्दादिकम्) ३. अकेला लवण (रोमकादिकम्) ४. कटु (चव्यादिकम्) ५. तिक्त (निम्बपर्पटकादिकम्) ६ कषाय (पञ्चन्यग्रोधाद्यङ्कुरादिकम्) ॥७१॥

पूर्वः पूर्वः परैर्युक्तो द्विकः, ते पञ्चदश भवन्ति । तत्र मधुरः पञ्चभिरम्लादिभिर्युज्यते । तद्यथा—मधुराम्लः, मधुरलवणः, मधुरकटुकः, मधुरतिक्तः, मधुरकषाय इति । अम्लश्चतुर्भिर्लवणादिभिः; तद्यथा—अम्ललवणः, अम्लकटुकः, अम्लतिक्तः, अम्लकषाय इति । लवणस्त्रिभिः कटुकादिभिः; तद्यथा—लवणकटुः, लवणतिक्तः, लवणकषाय इति । कटुकस्तिक्तकषायाभ्यां द्वाभ्यां; तद्यथा—कटुतिक्तः, कटुकषाय इति । तिक्तः कषायेण च । तद्यथा—तिक्तकषाय इति । ते पञ्चदश एव । ते द्विकाः पञ्चदशविकल्पा भवन्ति; मधुरसंयोगेन पञ्च भवन्ति, अम्लसंयोगेन चत्वारः, लवणसंयोगेन त्रयः, कटुसंयोगेन द्वौ, तिक्तसंयोगेनैक इति । पूर्वेषु त्रिषु रसेषु मधुराम्ललवणेषु त्रयोऽधिका निष्पद्यन्ते । मधुराम्लः, मधुरलवणः, अम्ललवण इति ॥

पूर्व रस अगले रस के साथ मिलकर द्विक बनते हैं। ये १५ होते हैं। इनमें से मधुर रस अम्ल आदि ५ रसों के साथ

संयुक्त होता है। यथा—१. मधुराम्ल (वदरकपित्थफलादिकम्) २. मधुर लवण (उष्ट्रीक्षीरोरभ्रमांसादिकम्) ३. मधुर कटु (कुक्कुर-शृगालमांसादिकम्) ४ मधुर तिक्त (श्रीवाससर्जरसादिकम्) ५. मधुर कषाय (तैलधन्वनफलादिकम्)। अम्ल लवण आदि ४ रसों के साथ संयुक्त होता है। यथा—१. अम्ल लवण (ऊषकादिकम्) २. अम्ल कटु (चुक्रादिकम्) ३. अम्ल तिक्त (सुरादिकम्) ४. अम्ल कषाय (हस्तिनीदधिशुकमांसादिकम्) लवण रस कटु आदि ३ के साथ संयुक्त होता है। यथा—१. लवण कटु (गोमूत्रसर्जिकादिकम्) २. लवण तिक्त (त्रपुसीसादिकम्) ३. लवण कषाय (समुद्रफेनादिकम्) कटु रस तिक्त एवं कषाय रसके साथ संयुक्त होता है। यथा—१. कटुतिक्त (कर्पूरजातिफलादिकम्) २ कटुकषाय (भल्लातकमज्जाहरितालादिकम्) तिक्त रस, कषाय के साथ संयुक्त होता है। यथा—१. तिक्तकषाय (लवलीफलहस्तिनीघृतादिकम्) इस प्रकार इन द्विकों के १५ भेद होते हैं। इनमें मधुर के संयोग से पांच, अम्ल के संयोग से चार, लवण के संयोग से तीन, कटु के संयोग से दो तथा तिक्त के संयोग से एक होते हैं। इसी प्रकार चरक सू. अ. २६ में तथा सुश्रुत उ. अ. ६३ में भी कहा है। मधुर, अम्ल, लवण आदि प्रथम तीन रसों में तीन संयोग अधिक होते हैं। यथा—१. मधुराम्ल २. मधुरलवण ३. अम्ल लवण॥ ७२॥

एषां त्रयाणां द्विकानामेकैको द्विकस्त्रिभिरितरैः कटुतिक्तकषायै रसैर्योज्यः, ततस्त्रिका निष्पद्यन्ते। तद्यथा—मधुराम्लकटुः, मधुराम्लतिक्तः, मधुराम्लकषायः, मधुरलवणकटुः, मधुरलवणतिक्तः, मधुरलवणकषायः; अम्ललवणकटुः अम्ललवणतिक्तः, अम्ललवणकषाय इति। उत्तरेषु त्रिषु रसेषु कटुतिक्तकषायेषु त्रयो द्विका निष्पद्यन्ते; तद्यथा—कटुतिक्तः, कटुकषायः, तिक्तकषाय इति; एषां त्रयाणां द्विकानामेकैको द्विकस्त्रिभिरितरैर्मधुराम्ललवणै रसैर्योजयितव्यः, तत्र त्रिका निष्पद्यन्ते। तद्यथा—कटुतिक्तमधुरः, कटुतिक्ताम्लः, कटुतिक्तलवणः; कटुकषायमधुरः, कटुकषायाम्लः, कटुकषायलवणः; तिक्तकषायमधुरः, तिक्तकषायाम्लः, तिक्तकषायलवण इति। पूर्वे चोत्तरे च। पूर्वे च त्रयः, मधुराम्ललवणत्रिक एकः, उत्तरे च त्रयः, कटुकतिक्तकषायत्रिक एकः। त एते त्रिका विंशतिर्भवन्ति; प्रथमेन सूत्रेणोक्ता नव, नव च द्वितीयेन, तृतीयेन द्वाविति॥ ७३॥

इन उपर्युक्त तीनों द्विकों में से एक २ द्विक शेष तीन कटु, तिक्त तथा कषाय रसों के साथ मिलकर त्रिक बनते हैं। यथा—१. मधुराम्लकटु (शलकमीमांसादिकम्) २. मधुराम्लतिक्त (गोधूमोत्थसुरादिकम्) ३. मधुराम्लकषाय (मस्तुतक्रादिकम्) ४. मधुर लवण कटु (काणकपोतमांसादिकम्) ५. मधुरलवणतिक्त (शम्बूकादिमांसम्) ६ मधुरलवणकषाय (पद्मकन्दादिकं गुडसंयुक्तम्) ७. अम्ललवण कटु (रौप्यशिलाजत्वादिकम्) ८. अम्ललवण तिक्त (हस्तिमूत्रादिकम्) ९. अम्ललवणकषाय (सरोमकं हस्तिनीदध्यादिकम्) पिछले तीन कटु तिक्त एवं कषाय रसों से तीन द्विक बनते हैं। यथा—१. कटुतिक्त २. कटुकषाय ३. तिक्तकषाय इन तीनों द्विकों में से एक २ द्विक शेष मधुर, अम्ल तथा लवण आदि तीनों रसों से मिलाया जाता है। इससे त्रिक बनते हैं। यथा—१. कटुतिक्त मधुर (तृणशून्याफलशुष्ककुस्तुम्बर्यादिकम्) २. कटुतिक्ताम्ल (मरिचसंस्कृतसुरादिकम्) ३. कटुतिक्त लवण (अविमूत्रादिकम्) ४. कटुकषायमधुर (गोधामांसैरण्डतैलादिकम्) ५. कटुकषायाम्ल (अम्लवेतसादिकम्) ६. कटुकषायलवण (अरुष्करं सरोमकम्) ७. तिक्तकषायमधुर (गुडूचीशाखामृगामिषतुवरकतैलादिकम्) ८. तिक्तकषायाम्ल (क्षीरमांसयुतसुरादिकम्) ९. तिक्तकषायलवण (समुद्रफेनादिकम्) प्रथम तीन रसों से एक त्रिक बनता है—१. मधुराम्ललवण (हस्तिमांसादिकम्)। तथा पिछले तीन रसों से एक त्रिक बनता है २. कटुतिक्तकषाय (कृष्णागरुसुरदारुस्नेहादिकम्) इस प्रकार त्रिक २० होते हैं। प्रथम सूत्र के द्वारा ९ + द्वितीय के द्वारा ९ + तथा तृतीय के द्वारा २ = २० सु० उ० अ० ६३ में कहा है कि मधुर के योग से १० त्रिक + अम्ल के योग से ६ + लवण के योग से ३ + कटु के योग से १ = २० त्रिक होते हैं॥ ७३॥

पूर्वेषु त्रिषु रसेषु मधुराम्ललवणेषु त्रयोऽधिका ये पूर्वोक्तास्ते परेषां त्रयाणां रसानां कटुकतिक्तकषायाणां पूर्वोक्तैस्त्रिभिर्द्विकैः प्रत्येकैकश्येन योजयितव्याः; तेन चतुष्का निष्पद्यन्ते। तद्यथा—मधुराम्लकटुतिक्तः, मधुराम्लकटुकषायः, मधुराम्लतिक्तकषायः, मधुरलवणकटुतिक्तः, मधुरलवणकटुकषायः, मधुरलवणतिक्तकषायः, अम्ललवणकटुतिक्तः, अम्ललवणकटुकषायः, अम्ललवणतिक्तकषाय इति। पूर्वे मधुराम्ललवणा उत्तरैः कटुकतिक्तकषायैरेकैकशो युज्यन्ते। तद्यथा—मधुराम्ललवणकटुः, मधुराम्ललवणतिक्तः, मधुराम्ललवणकषाय इति। उत्तरे त्रयः कटुकतिक्तकषायाः पूर्वैर्मधुराम्ललवणैरेकैकशो युज्यन्ते, ततश्चतुष्का निष्पद्यन्ते। तद्यथा—कटुतिक्तकषायमधुरः, कटुतिक्तकषायाम्लः, कटुतिक्तकषायलवण इति। एते चतुष्काः पञ्चदश, पूर्वसूत्रोक्ता नव, द्वितीयसूत्रोक्तास्त्रयः, तृतीयसूत्रोक्तास्त्रयः; इत्येते चतुष्काः पञ्चदश॥ ७४॥

(इति ताडपत्रपुस्तके २१४ तमं पत्रम्।)

पूर्वोक्त, मधुर, अम्ल, लवण आदि तीन रसों में जो तीन अधिक रस कहे हैं वे पिछले तीन कटु, तिक्त तथा कषाय रसों में जो पूर्वोक्त तीन द्विक हैं—उनमें प्रत्येक के साथ जोड़ने चाहिये जिससे चतुष्कसंयोग बनते हैं। यथा—१. मधुराम्लकटुतिक्त (लशुनान्वितं सुरादिकम्) २. मधुराम्लकटुकषाय

(काञ्जिकान्वितैरण्डतैलादि खदिरान्वितशिलाह्वादिकं च) ३. मधुराम्लतिक्तकषाय (उदुम्बरान्वितं यवासशर्करादिकम्) ४. मधुर लवणकटुतिक्त (वार्ताकफलादिकम्) ५. मधुरलवणकटुकषाय (गोमूत्रान्वितं तैलादिकम्) ६. मधुरलवणतिक्तकषाय (समुद्रफेनशर्कराचित्रकान्वितबदरादि) ७. अम्ललवणकटुतिक्त (सुवर्चलान्वितहस्तिनीदध्यादिकृतसुरादिकम्) ८. अम्ललवणकटुकषाय (सौवर्चलान्वितहस्तिनीदध्यादिकम्) ९. अम्ललवणतिक्तकषाय (औद्भिदलवणान्वितं शुकमांसादिकम्) पूर्व मधुराम्ललवण, पिछले कटु तिक्त कषाय में से एक २ के साथ पृथक् २ जुड़ते हैं। यथा—१. मधुराम्ललवणकटु (गोमूत्रान्वितशिलाजतु प्रभृतिकम्) २ मधुराम्ललवणतिक्त (गोमूत्रैकशफक्षीरादिकम्) ३. मधुराम्ललवणकषाय (सैन्धवान्विततक्रादिकम्) पिछले तीन कटु, तिक्त एवं कषायरस प्रथम तीन-मधुर, अम्ल तथा लवण में से प्रत्येक के साथ पृथक् २ जुड़ते हैं जिससे चतुष्क संयोग बनते हैं। यथा—१. कटुतिक्तकषाय मधुर (तिलगुग्गुल्वादिकम्) २. कटुतिक्तकषायाम्ल (बालमूलकहस्तिनीदध्यादिकम्) ३. कटुतिक्तकषायलवण (सरोमर्क बालबिल्वादिकम्) इस प्रकार चतुष्क संयोग १५ होते हैं। पूर्व सूत्रोक्त ९ + द्वितीय सूत्रोक्त ३ + तृतीय सूत्रोक्त ३ = इस प्रकार चतुष्क १५ होते हैं। इसी प्रकार चरक सू० अ० २६ में तथा सु० उ० अ० ६३ में भी कहा है ॥ ७४ ॥

षट् पञ्चकाः । षण्णां रसानां मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायाणामेकैकमपनयितव्याः, षट् पञ्चका निष्पद्यन्ते । तद्यथा-अम्ललवणकटुतिक्तकषायः, मधुरलवणकटुतिक्तकषायः, मधुराम्लकटुतिक्तकषायः, मधुराम्ललवणतिक्तकषायः, मधुराम्ललवणकटुकषायः, मधुराम्ललवणकटुतिक्त इति । त एते षट् पञ्चकाः । षड्भिर्मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायैरेकः । तद्यथा-मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषाय इति । त एवमेते रसास्त्रिषष्टिधा भिन्नाः; तत्र संयुक्ताः सप्तपञ्चाशत्, असंयुक्ताः षट् ७५

पंचक (पांच रसों के संयोग) ६ होते हैं। मधुर अम्ल लवण कटु तिक्त तथा कषाय इन छओं रसों में से एक २ रस कम करते जाना चाहिये। इस प्रकार ६ पञ्चक संयोग बनते हैं। यथा—१. अम्ललवण कटु तिक्त कषाय (भल्लातकरौप्यशिलाजतुर्मिश्रितनिम्बादिकम्) २. मधुरलवणकटुतिक्तकषाय (रसोनादिकम्) ३. मधुराम्लकटुतिक्तकषाय (हरीतकीधात्रीफलादिकम्) ४. मधुराम्ललवणतिक्तकषाय (औद्भिदान्वितत‍क्रादिकम्) ५. मधुराम्ललवणकटुकषाय (कटुत्रययवक्षारान्वितत‍क्रादिकम्) ६. मधुराम्ललवणकटुतिक्त (आमकरमर्दान्वितं भृष्टवार्ताकफलादिकम्) षट्क संयोग—मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त तथा कषाय इन छओं रसों के संयोग से एक रस बनता है। यथा—१. मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय (एणमांसणादिकम्) इस प्रकार इन रसों के ६३ भेद हो जाते हैं। इनमें से संयुक्त रस ५७ होते हैं तथा असंयुक्त (पृथक् २) रस ६ होते हैं। चरक सू० अ० २६ में भी कहा है—संयोगाः सप्तपञ्चाशत्कल्पना तु त्रिषष्टिधा ॥ ७५ ॥

इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ ७६ ॥

ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था ॥ ७६ ॥

(इति) खिलेषु रसदोषविभागीयो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

अथ संशुद्धिविशेषणीयो नाम सप्तमोऽध्यायः

अथातः संशुद्धिविशेषणीयं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ २ ॥

अब हम संशुद्धिविशेषणीय नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था ॥ १–२ ॥

सिद्धौ विशोधनाख्यायामनुक्तं यद्विशेषणम् ।
ऊर्ध्वानुलोमयोः सर्वं तत् प्रवक्ष्याम्यतः परम् ॥ ३ ॥

सिद्धिस्थान में विशोधन के प्रकरण में ऊर्ध्व तथा अनुलोम शोधन के विषय में जो बातें नहीं कही हैं। उन सबको अब मैं यहां कहूंगा ॥ ३ ॥

चयप्रकोपप्रशमाः पित्तस्य प्रावृडादिषु ।
श्लेष्मणः शिशिराद्येषु, वायोर्ग्रीष्मादिषु त्रिषु ॥ ४ ॥

पित्त का प्रावृट् आदि ऋतुओं में क्रमशः संचय, प्रकोप तथा शान्ति होती है। अर्थात् प्रावृट् ऋतु में पित्त का संचय, शरद् में पित्त का प्रकोप तथा हेमन्त में पित्त की शान्ति होती है। श्लेष्मा का शिशिर आदि ऋतुओं में संचय, प्रकोप तथा शान्ति होती है अर्थात् शिशिर में कफ का संचय, वसन्त में कफ का प्रकोप तथा ग्रीष्म में कफ की शान्ति हो जाती है। तथा वायु का ग्रीष्म आदि ऋतुओं में क्रमशः संचय, प्रकोप तथा शान्ति होती है। अर्थात् ग्रीष्म ऋतु में वात का संचय, वर्षा में प्रकोप तथा शरद् में शान्ति होती है ॥

प्रावृट्शरद्धेमन्ताख्या विसर्गस्त्वृतवस्त्रयः ।
शिशिरश्च वसन्तश्च ग्रीष्मश्चादानसंज्ञिताः ॥ ५ ॥

प्रावृट्, शरद् तथा हेमन्त आदि तीन ऋतुएं विसर्गकाल तथा शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म ऋतुएं आदानकाल कहलाती हैं। विसर्गकाल सौम्य तथा आदानकाल आग्नेय होता है। विसर्गकाल का अर्थ है जिसमें प्राणियों के शरीर तथा बल की वृद्धि होती है। विसृजति जनयत्याप्यमंशं प्राणिनां च बलमिति विसर्गः। आदानकाल में जगत् का आप्यभाग तथा प्राणियों का बल खींचा जाता है। इसलिये—'आददाति क्षपयति पृथिव्याः सौम्यांशं प्राणिनाञ्च बलमित्यादानम्' ॥ ५ ॥

१. एष एव त्रिषष्टिविधो रसविकल्पश्चरकसूत्रस्थाने २६ अध्याये; सुश्रुतोत्तरतन्त्रे ६४ अध्याये चोपवर्णितः ।

विसर्गादानयोर्मध्ये बलं मध्यं शरीरिणाम् ।
आद्यन्तयोस्तु दौर्बल्यमन्ताद्योरुत्तमं बलम् ॥ ६ ॥

विसर्गकाल तथा आदानकाल के मध्य में अर्थात् शरद् और वसन्त ऋतु में प्राणियों का बल मध्यम होता है। अर्थात् इन ऋतुओं में मनुष्यों का बल न बहुत अधिक होता है और न बहुत कम। विसर्गकाल के आदि (प्रावृट् ऋतु) तथा आदानकाल के अन्त (ग्रीष्म ऋतु) में मनुष्यों में दुर्बलता होती है। विसर्गकाल के अन्त (हेमन्त ऋतु) तथा आदान-काल के प्रारंभ (शिशिर ऋतु) में पुरुषों का बल उत्तम (श्रेष्ठ) रहता है ॥ ६ ॥

हेमन्ते स्निग्धशीताभिरद्भिरोषधिभिस्तथा ।
चितोऽपि शैत्यात् प्रस्कन्नः कफो नात्र प्रकुप्यति ॥७॥
स कुप्यति हिमापाये संतप्तो भास्करांशुभिः ।
तस्मात् संशोधनं तत्र कर्तव्यं वमनोत्तरम् ॥ ८ ॥

हेमन्त ऋतु में स्निग्ध एवं शीतल जल तथा ओषधियों के द्वारा संचित हुआ भी कफ ठण्ड से जमा हुआ होने के कारण इस ऋतु में कुपित नहीं होता है। वही कफ ठण्ड के समाप्त होजाने पर सूर्य की किरणों के द्वारा संतप्त होने के कारण कुपित हो जाता है। अर्थात् हेमन्त के बाद वसन्त ऋतु में कफ का प्रकोप हो जाता है इसलिये इस ऋतु (वसन्त) में वमन द्वारा शरीर का संशोधन करना चाहिये। वमन द्वारा शरीर का संशोधन 'माधवप्रथमे मासि' के अनुसार चैत्र मास में कराना चाहिये। कफ के प्रकोप को शान्त करने के लिये वमन श्रेष्ठ माना गया है। चरक सू० अ० २० में इसका उल्लेख मिलता है ॥ ७-८ ॥

ग्रीष्मे निष्पीतसारत्वाद्रसानां विचितोऽपि सः ।
औष्ण्यातिरेकात् कालस्य वायुरत्र न कुप्यति ॥ ९ ॥
रवेरम्बुदसंरोधात् प्रकुप्यत्यम्बुदागमे ।
बस्तिकर्मोत्तरं तत्र प्रतिकर्म विशिष्यते ॥ १० ॥

ग्रीष्म ऋतु में सम्पूर्ण रसयुक्त पदार्थों के सारभाग के सूर्य की किरणों के द्वारा पान किया जाने के कारण संचित हुआ भी वायु इस ऋतु में उष्णता की अधिकता के कारण प्रकुपित नहीं होता है। अर्थात् यद्यपि ग्रीष्म ऋतु में सूर्य की किरणों के द्वारा जगत् के प्रत्येक पदार्थ के रस (सार भाग) का शोषण किया जाने से शरीर में रूक्षता के कारण वायु संचित होजाता है तथापि काल के उष्ण होने के कारण वायु प्रकुपित नहीं होता है। वायु शीतगुण वाला होने के कारण शीतकाल में ही प्रकुपित हो सकता है। क्योंकि 'वृद्धिः समानैः सर्वेषाम्' के अनुसार समान गुण (शीत) के कारण समान वस्तु (वायु) की वृद्धि होती है इसलिये उष्णकाल में वायु का प्रकोप नहीं हो पाता है। इसीलिये चरक में कहा भी है—'शीतः शीते प्रकुप्यति'। वही वायु वर्षाऋतु के आने पर बादलों में सूर्य के छिप जाने से प्रकुपित हो जाता है। अर्थात् अब वर्षाऋतु में सूर्य बादलों में छिपा रहता है इसलिये पहले (ग्रीष्म ऋतु) के समान गर्मी नहीं रहती अपितु मौसम ठण्डा हो जाता है। मौसम के शीतल हो जाने के कारण 'वृद्धिः समानैः सर्वेषाम्' के अनुसार वायु का प्रकोप होजाता है। इसलिये इस ऋतु (वर्षा) में बस्तिकर्म द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये। वायु को शान्त करने के लिये बस्तिकर्म श्रेष्ठ उपक्रम माना गया है। चरक सू० अ० २० में भी इसका उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार बस्ति के विषय में सुश्रुत चि० अ० ३६ में भी कहा है ॥९-१०॥

अपां चैवौषधीनां च वर्षास्वम्लविपाकतः ।
चितमप्यत्र तत् पित्तं वर्षाशैत्यान्न कुप्यति ॥ ११ ॥
दिवाकरांशुसंतप्तं शरत्काले प्रकुप्यति ।
विरेचनोत्तरं चात्र विधातव्यं विशोधनम् ॥ १२ ॥

वर्षा ऋतु में जल तथा ओषधियों के अम्लविपाकी अर्थात् सम्यक् प्रकार से पाक न होने से विदग्ध हो जाने के कारण शरीर में संचित हुआ भी पित्त वर्षा ऋतु की शीतलता के कारण प्रकुपित नहीं होता है। अर्थात् पित्त को प्रकुपित करने के लिये पित्त के समान गुण—उष्णता की आवश्यकता होती है। परन्तु वर्षा में उस उष्णता का अभाव होता है इसलिये इस ऋतु में पित्त प्रकुपित नहीं हो पाता। वही पित्त सूर्य की किरणों के द्वारा संतप्त हुआ शरत् काल में प्रकुपित हो जाता है। क्यों कि उष्णता पित्त का समान धर्मी होने से इसे प्रकु-पित कर देती है। इस ऋतु (शरत् काल) में विरेचन के द्वारा शरीर का शोधन करना चाहिये। पित्त के प्रकोप को शान्त करने के लिये विरेचन सर्वश्रेष्ठ उपक्रम माना गया है ॥

दोषप्रकोपे सर्वस्मिन् काले कार्यमनन्तरम् ।
न हि हेत्वीरितो दोषः कञ्चित्कालमुदीक्ष्यते ॥ १३ ॥
औचित्यादार्तवो दोषप्रकोपो न तथा भृशः ।
यथा हेतुकृतस्तस्मात् क्षिप्रमेनमुपक्रमेत् ॥ १४ ॥

अथवा दोषों का प्रकोप हो जाने पर सम्पूर्ण कालों में इनका शोधन किया जा सकता है। अर्थात् दोषों के प्रकुपित हो जाने पर दोष शोधन के योग्य पूर्वोक्त ऋतुओं की अपेक्षा न करके प्रत्येक ऋतु में उन २ दोषों का शोधन कर देना चाहिये। क्योंकि अपने २ हेतुओं के द्वारा प्रेरित हुआ दोष थोड़ी देर भी प्रतीक्षा नहीं करता है। उन २ ऋतुओं में होने वाला दोषप्रकोप अर्थात् वर्षा में वायु, शरद में पित्त तथा वसन्त में कफ का प्रकोप उचित (काल के अनुसार स्वाभा-विक) होने के कारण उतना भयंकर नहीं होता है जितना कि अपने २ प्रकोपक कारणों के द्वारा प्रकुपित हुआ दोष। इस-लिये इस दोष को शीघ्र ही शान्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। अर्थात् अपने २ प्रकोपक कारणों के द्वारा प्रकुपित होने से पूर्व ही उन २ दोषों का उन २ ऋतुओं में शोधन कर लेना चाहिये जिनमें कि उनका प्रकोप होता है। जैसे वायु का वर्षा में, पित्त का शरद् में तथा कफ का वसन्त में। अर्थात्

उपर्युक्त ऋतुओं में इन दोषों का प्रकोप स्वाभाविक रूप से हो होता है। इसलिये इन ऋतुओं में ये दोष स्वाभाविक होते हैं और इतने कष्टसाध्य नहीं होते हैं। यदि इन ऋतुओं में अपने २ दोषों का शोधन नहीं किया जाय तो उसके बाद अपने २ हेतुओं के द्वारा प्रकुपित हुए वे ही दोष सुखसाध्य नहीं होते क्योंकि फिर वे दोष स्वाभाविक नहीं होते। इसलिये जबतक दोष का स्वाभाविक प्रकोप ही है तभी उसे उन २ ऋतुओं में शान्त करने का प्रयत्न करना चाहिये ॥ १३-१४ ॥

वमनैश्च विरेकैश्च निरूहैः सानुवासनैः ।
तथा स्वास्थ्यमवाप्नोति रोगेभ्यश्च प्रमुच्यते ॥ १५ ॥

वमन, विरेचन तथा अनुवासन सहित निरूह बस्तियों के द्वारा मनुष्य स्वास्थ्य को प्राप्त करता है तथा रोगों से मुक्त हो जाता है। अर्थात् योग्य काल में—वसन्त में वमन के द्वारा कफ का, शरद् में विरेचन के द्वारा पित्त तथा वर्षा में बस्तियों के द्वारा वायु की शान्ति हो जाने पर मनुष्य स्वस्थ रहता है। तथा यदि रोग हो भी जाते हैं तो उन रोगों से शीघ्र ही मुक्त हो जाता है। यहां यह स्मरण रखना चाहिये कि आयुर्वेद के दो प्रयोजन हैं—१. स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा तथा २. रोगी होने पर रोगों से मुक्ति। इनमें से प्रथम प्रयोजन प्रधान है इसीलिये इसका प्रथम वर्णन किया है। चरक सू. अ. ३० में कहा भी है—"प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनं च"। अर्थात् प्रयत्न यह किया जाता है कि मनुष्य रुग्ण ही न होने पावे इसलिये रुग्ण होने से पूर्व ही अमुक २ ऋतु में अमुक २ दोष का शोधन कर लेना चाहिये। स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा करना अधिक सरल है। रोग होने के बाद उन्हें दूर करना अपेक्षाकृत कठिन है ॥ १५ ॥

स्थौल्यामपाण्डुताकर्णकोठारुःपिडकोद्भवः ।
निद्रानाशोऽरतिस्तन्द्रीरुत्क्लेशः कफपित्तयोः ॥१६॥
श्रमदौर्बल्यदौर्गन्ध्यमालस्यं सीदनं क्लमः ।
भक्तद्वेषोऽविपाकश्च क्लैब्यं बुद्धेरुपप्लवः ॥ १७ ॥
बृंहणैस्तृप्यतोऽपि(स्या)द्बलवर्णपरिक्षयः ।
दुःस्वप्रदर्शनं चेति बहुदोषस्य लक्षणम् ॥ १८ ॥

बहुदोष व्यक्ति के लक्षण—स्थूलता, आमदोष, पाण्डु, कर्णरोग, कोठ (चर्मरोग-Ringwarm), अरु (क्षतव्रण) तथा पिडकाओं का उत्पन्न होना, निद्रा का नष्ट होना, अरति (ग्लानि), तन्द्रा, कफ और पित्त का उत्क्लेश (बाहर आने की प्रवृत्ति), परिश्रम, दुर्बलता, दुर्गन्धि, आलस्य, अङ्गसीदन, थकावट, भोजन में अरुचि, खाये हुए अन्न का ठीक प्रकार से पाक न होना, क्लीवता (नपुंसकता), बुद्धिविभ्रम, बृंहण आहार मिलने पर भी लगातार बल और वर्ण (कान्ति) का क्षीण होना तथा बुरे स्वप्नों का दिखाई देना—ये शरीर में दोषों की अधिक मात्रा में उपस्थिति के लक्षण हैं। अर्थात् यदि शरीर में दोष बहुत अधिक मात्रा में विद्यमान हों तो उपर्युक्त लक्षण होते हैं ॥ १६-१८ ॥

बलिनः स्थिरदेहस्य तस्य संशोधनं भिषक् ।
कुर्यात्, संशमनं चैव मध्यदोषबलस्य तु ॥ १९ ॥
अल्पदोषबलस्यापि यथाकालं विशोषणम् ।

यदि रोगी बलवान् है तथा उसका शरीर भी स्थिर है तो चिकित्सक को चाहिये कि उसका संशोधन तथा यदि रोगी का दोष और बल दोनों मध्यम हैं तो दोषों का संशमन करना चाहिये। अर्थात् यदि न तो दोष ही बहुत अधिक या बहुत कम हों और न रोगी का बल भी बहुत कम या बहुत अधिक हो तो उस अवस्था में संशोधन की अपेक्षा संशमन चिकित्सा अधिक श्रेष्ठ मानी गई है। यदि रोगी के दोष और बल अल्प मात्रा में हों तो उनका यथासमय शोषण करना चाहिये। अर्थात् यदि रोगी का दोष एवं बल अधिक हो तो संशोधन चिकित्सा, यदि दोष एवं बल मध्य मात्रा में हों तो संशमन चिकित्सा और यदि दोष एवं बल अल्प मात्रा में हों तो रूक्ष या शोषण चिकित्सा करनी चाहिये। जो शरीरस्थ दोषों को बाहर निकाल देता है उन्हें संशोधन कहते हैं। संशोधन बाह्य एवं आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार का होता है। वमन, विरेचन, शिरोविरेचन और बस्ति चार प्रकार का अन्तःशोधन है तथा यन्त्र, शस्त्र, क्षार, अग्नि प्रयोग आदि द्वारा बाह्य शोधन किया जाता है। यहां निरूह से अभिप्राय आस्थापन (रूक्ष) बस्ति से है। संशोधन में अनुवासन बस्ति का ग्रहण नहीं किया जाता है। क्योंकि अनुवासन बृंहण है अतः संशोधन से अभिप्राय अनुवासन को छोड़कर शेष चार संशोधन—अन्तः (वमन, विरेचन, आस्थापन, शिरोविरेचन) तथा पांचवां रक्तमोक्षण है। संशोधन के द्वारा बलवान् मनुष्यों के दोषों का निर्हरण करना चाहिये। संशमन—जो शरीरस्थ दोषों को बाहर नहीं निकालता है, समावस्था में स्थित दोषों में विषमता उत्पन्न नहीं करता है तथा विषम दोषों को शान्त करता है—उसे संशमन कहते हैं। संशमन तीन प्रकार का होता है—१. दैवव्यपाश्रय मन्त्र ओषधि, बलि आदि के द्वारा दोषों को शान्त करना, २—बाह्य-प्लस्तर आदि लेप के द्वारा दोषों को शान्त करना, ३—आभ्यन्तर (Internally) पाचन आदि के द्वारा दोषों का शमन करना। संशमन के द्वारा मध्य बल एवं रोग वाले मनुष्यों के दोषों का शमन करना चाहिये। शोषण—लङ्घन आदि के द्वारा दोषों को अन्दर ही सुखा देने को शोषण कहते हैं। अल्प दोष एवं अल्प बल वाले व्यक्तियों के लिये यह उपक्रम श्रेष्ठ माना गया है ॥ १९ ॥

अथ संशोधनार्हे तु स्नेहस्वेदोपपादिते ॥ २० ॥
वमनं स्रंसनं वाऽपि यथावदुपकल्पयेत् ।

इसके बाद संशोधन के योग्य रोगी को पहले स्नेहन तथा स्वेदन देकर पुनः यथावत् वमन तथा विरेचन कराना चाहिये। अर्थात् जिस व्यक्ति का संशोधन करना है उसे पहले स्नेहन तथा स्वेदन कराना चाहिये ॥ २० ॥

स्नेहः पीतोऽनिलं हन्ति कुरुते देहमार्दवम् ॥ २१ ॥

सङ्गं मलानां निघ्न(ह)न्ति, स्वेदः स्निग्धस्य देहिनः ।

सेवन किया गया स्नेह वायु को शान्त करता है, शरीर को मृदु करता है तथा मलों के सङ्ग-समूह को नष्ट करता है अर्थात् सामूहिक रूप में एकत्र हुए मलों को ढीला करता है ॥

स्रोतःसु लीनं सूक्ष्मेषु दोषं द्रवयति, द्रवम् ॥२२॥

स्निग्ध (जिसका स्नेहन किया गया है) मनुष्य को दिया गया स्वेदन सूक्ष्म स्रोतों में लीन हुए दोष को पिघला देता है। अर्थात् पहले स्नेहन के द्वारा दोषों का संघात ढीला पड़ जाता है। तदनन्तर स्वेदन के द्वारा दोष पतले होजाते हैं। वे दोष पतले हो जाने से शरीर में रुके नहीं रह सकते, आराम से शरीर से बाहर निकल जाते हैं ॥ २२ ॥

शोधनं हरति क्षिप्रं यथावत् संप्रयोजितम् ।
मन्त्र[1]पूतमबीभत्सं हृद्यं कार्यं विरेचनम् ॥ २३ ॥
सबीभत्सं तु वमनं तथा तद्योगमृच्छति ।

द्रव शोधन यथावत् प्रयुक्त किया गया शीघ्र ही दोषों को हर लेता है। इसलिये शोधन के लिये ऐसा विरेचन प्रयुक्त चाहिये जो मन्त्रों के द्वारा पवित्र किया गया हो, जो बीभत्स न हो अर्थात् जिसे देखकर शरीर में घृणा उत्पन्न न हो तथा जो हृदय के लिये रुचिकर हो। बीभत्स (घृणित) वमन के द्वारा वमन का अतियोग हो जाता है॥ २३ ॥

स्निग्धो वमेत्तृतीयेऽह्नि चतुर्थे स्रंसनं पिबेत् ॥ २४ ॥
विकारजाते तद्युक्तं स्वस्थवृत्तौ तु कामतः ।

स्नेहन के बाद तीसरे दिन वमन औषध तथा चौथे दिन विरेचन औषध पीनो चाहिये। यह उपर्युक्त व्यवस्था विकारों के उत्पन्न होने की अवस्था में बताई गई है। स्वस्थ अवस्था में तो इसका यथेच्छ प्रयोग किया जा सकता है। अर्थात् रुग्णावस्था में स्नेह के बाद तीसरे दिन वमन और चौथे दिन विरेचन देना चाहिये। परन्तु यदि व्यक्ति स्वस्थ हो तो उपर्युक्त विधान आवश्यक नहीं है। उस समय आवश्यकतानुसार उसका यथेच्छ प्रयोग किया जा सकता है ॥ २४ ॥

कफवृद्धिकरं भोज्यः श्वः पाता वमनं नरः ॥ २५ ॥
विरेचनं द्रवप्रायं स्निग्धोष्णविशदं लघु ।
तथोत्क्लिष्टकफत्वाच्च पुरीषस्य च लाघवात् ॥ २६ ॥
ऊर्ध्वं चाधश्च दोषाणां प्रवृत्तिः स्यादयत्नतः ।

अगले दिन जिस व्यक्ति को वमन द्रव्य का पान करना है उसे पहले दिन कफ की वृद्धि करने वाला भोजन कराना चाहिये। तथा विरेचन औषध-द्रव (Liquid), स्निग्ध, उष्ण (गरम), विशद (जो पिच्छिल न हो) तथा लघु होना चाहिये। इस प्रकार उपर्युक्त आहार के द्वारा कफ के उत्क्लिष्ट (बहिः प्रवृत्त्युन्मुख) हो जाने पर तथा पुरीष के लघु हो जाने से दोषों की ऊर्ध्व (ऊपर) तथा अधः (नीचे) प्रवृत्ति बिना यत्न के हो जाती है अर्थात् वमन एवं विरेचन सुखपूर्वक हो जाते हैं। वमन एवं विरेचन कराने से पूर्व दोषों का उत्क्लेश कराना आवश्यक है। चरक—सि. अ. १ में भी कहा है कि ग्राम्य, औदक एवं आनूप मांसरसों से तथा दूध से कफ को उत्क्लिष्ट करना चाहिये-उसे बहिः प्रवृत्ति के लिये उन्मुख करना चाहिये। तथा जिस व्यक्ति को विरेचन देना है उसके दोष (पित्त) को स्निग्ध जांगल मांसरसों से तथा कफ को न बढ़ाने वाले यूषों से उत्क्लिष्ट करना चाहिये। वमन योग्य रोगी को यह आहार एक दिन तथा विरेच्य पुरुष को तीन दिन देना चाहिये। कफ को बढ़ाने वाले भोजनों के द्वारा कफ के उत्क्लिष्ट हो जाने से वमन सुखपूर्वक हो जाता है। यदि कफ उत्क्लिष्ट न हो अथवा मन्द हो तो वमन ओषधि वमन नहीं लायेगी प्रत्युत नीचे जाकर विरेचन करा देती है। इससे विपरीत यदि कफ बढ़ा हुआ होगा तो विरेचक ओषधि विरेचन नहीं लायेगी अपितु ऊपर की ओर जाकर वमन ले आयेगी ॥ २५-२६ ॥

विषे विसर्पे श्वयथौ वातरक्ते हलीमके ॥ २७ ॥
कामलापाण्डुरोगे च नातिस्निग्धं विरेचयेत् ।

विष (विष का प्रयोग), विसर्परोग, शोथ, वातरक्त, हलीमक, कामला तथा पाण्डुरोग में-जिन्हें अत्यन्त स्नेहन नहीं कराया गया है, विरेचन देना चाहिये। अर्थात् विष, विसर्प आदि रोगों में यदि विरेचन कराना हो तो उससे पूर्व स्नेहन तो कराना चाहिये परन्तु अधिक स्नेहन नहीं कराना चाहिये ॥ २७ ॥

नातिस्निग्धशरीराय विदध्यात् स्नेहसंयुतम् ॥ २८ ॥
स्निग्धाय रूक्ष(क्षं,)रूक्षाय कामं स्नेहविरेचनम् ।
स्निग्धाभारं रथात् (?) को वा स्रंसनं सहते नरः २९

जिस व्यक्ति का शरीर अधिक स्निग्ध हो उसे स्नेह विरेचन नहीं देना चाहिये। जिस व्यक्ति का शरीर स्निग्ध है उसे रूक्ष विरेचन दें तथा जिसका शरीर रूक्ष है उसे यथेच्छ स्निग्ध विरेचन देना चाहिये। अर्थात् अतिस्निग्ध पुरुष में दोषों के बहिः प्रवृत्त्युन्मुख होने पर यदि स्नेह विरेचन दिया जाय तो दोष बाहर नहीं निकलेंगे। अपितु पुनः स्रोतों में लीन हो जायेंगे। उस अवस्था में रूक्ष विरेचन ही देना चाहिये जिससे बहिः प्रवृत्त्युन्मुख दोष पुनः स्रोतों में लीन न हो सकें। परन्तु यदि शरीर रूक्ष है जैसा कि पूर्वोक्तानुसार विष, विसर्प आदि रोगों में होता है तो वहां स्निग्ध विरेचन ही देना चाहिये। अत्यन्त स्नेहन से युक्त विरेचन को कौन व्यक्ति सहन कर सकता है अर्थात् ऐसे व्यक्ति बहुत कम हैं जो स्निग्ध विरेचन को सहन कर सकते हों (१)॥

१. आशीर्भिरभिमन्त्रितामिति चरके सुश्रुते च श्लोकमन्त्रयोरप्युल्लेखस्य दर्शनेन अत्रापि मन्त्रशब्देन मन्त्र एव ग्राह्यः ।

१ यहां 'स्निग्धाभारं रथात् को वा स्रंसनं सहते नरः' के स्थान पर 'स्निग्धाहारभृते को वा स्रंसनं सहते नरः' यह पाठ होता तो सम्यक् अर्थ हो सकता था। यहां पर इसी पाठ के अनुसार उपर्युक्त अर्थ किया गया है।

घृतकुम्भाद्यथा तोयमयत्नेन निरस्यते ।
निरस्यते तथा दोषः स्निग्धाद्देहाद्विरेचनैः ॥ ३० ॥

घृतयुक्त अर्थात् स्निग्ध (चिकने) घड़े से जिस प्रकार पानी को बिना यत्न के हटाया जा सकता है उसी प्रकार स्निग्ध देह से विरेचन के द्वारा दोष सुखपूर्वक हटाये जा सकते हैं। यहां 'विरेचन' शब्द उपलक्षणमात्र है इससे वमन आदि सम्पूर्ण संशोधनों का ग्रहण होता है। अर्थात् संशोधन से पूर्व स्नेहन के द्वारा दोष चलायमान हो जाते हैं। तदुपरान्त वमन आदि के द्वारा उन दोषों को बिना कठिनाई के निकाला जा सकता है ॥ ३० ॥

स्निग्धं विष्यन्दयत्यङ्गं स्वेदो(दः)स्निग्धार्द्रमिन्धनम्[1] (?)
ततः स्विन्नशरीरस्य दोषान् हरति भेषजम् ॥ ३१ ॥

जैसे स्निग्ध एवं गीली ईंधन (लकड़ी) को अग्नि विष्यन्दित (क्षरित) कर देती है उसी प्रकार स्निग्ध (स्नेहन युक्त) शरीर (शरीर के दोषों) को स्वेदन भी विष्यन्दित कर देता है-विचलित कर देता है। इस प्रकार स्वेदन किये गये शरीर से ओषधि (वमन-विरेचन आदि के लिये प्रयुक्त की गई ओषधि) दोषों को नष्ट कर देती है। अर्थात् स्निग्ध शरीर में स्वेदन के द्वारा दोष अपने स्थान से विचलित हो जाते हैं ॥ ३१ ॥

यथा हि मलिनं वासः क्षारेणोत्क्लेश्य वारिणा ।
शोध्यते शोधनैस्तद्वदुत्क्लेश्य विधिवद्बलात् ॥ ३२ ॥

जिस प्रकार मैला वस्त्र क्षार के द्वारा मैल या दोषों को उक्लिष्ट करके फिर जल के द्वारा साफ किया जाता है उसी प्रकार शरीर भी पूर्व स्नेहन एवं स्वेदन के द्वारा विधिवत् दोषों को उत्क्लिष्ट करके पुनः वमन आदि शोधनों के द्वारा बलपूर्वक शुद्ध किया जाता है। अर्थात् जिस प्रकार वस्त्र की मैल को ढीला करने के लिये पहले क्षार का प्रयोग किया जाता है उसी प्रकार संशोधन से पूर्व स्नेहन एवं स्वेदन के द्वारा शरीर के दोषों को ढीला-बहिः प्रवृत्त्युन्मुख किया जाता है। अन्यथा शारीरिक दोष सुखपूर्वक तथा पूर्णरूप से नहीं निकल पाते हैं ॥ ३२ ॥

वामितं लङ्घयेल्लङ्घ्यं (लङ्घितं) लघु भोजयेत् ।
तस्य वान्तविरिक्तस्य क्रमः पेयादिरिष्यते ॥ ३३ ॥
तेनाग्निर्वर्धते सूक्ष्मैरिन्धनैरारणयो[2] यथा (रिन्धनैररणेर्यथा)।
(इति ताडपत्रपुस्तके २१५ तमं पत्रम् ।)

वमन कराने के बाद रोगी को लङ्घन (उपवास) कराये तथा लङ्घन के बाद लघुभोजन कराये। वमन और विरेचन के बाद रोगी को पेया आदि संसर्जन क्रम से आहार देना चाहिये। चरक सि. अ. १ में यह संसर्जन क्रम इस प्रकार से दिया है कि-शोधन के पश्चात् रोगी को पहले पेया तदनन्तर क्रमशः विलेपी, अकृतयूष, कृतयूष, मांसरस आदि धीरे २ देने चाहिये। चरक सू. अ. १५ में भी १२ अन्नकाल का संसर्जनक्रम दिया है। अर्थात् संशोधन के ७ दिन के बाद स्वाभाविक भोजन पर लाये। क्योंकि संशोधन के द्वारा जाठराग्नि मन्द हो जाती है, उस मन्द को क्रमशः तीक्ष्ण करने के लिये पेयादि क्रम कराया जाता है। सूक्ष्म ईंधनों के द्वारा जिस प्रकार अरणि से उत्पन्न हुई अग्नि प्रदीप्त हो जाती है उसी प्रकार उपर्युक्त पेयादि क्रम युक्तलघु आहार के द्वारा संशोधन से मन्द हुई अग्नि प्रदीप्त हो जाती है ॥३३॥

समुत्थितेऽग्नौ संजाते म(ब)ले देहे च निर्मले ॥३४॥
वाससीवार्पितो रागः सिद्धिं यात्युत्तरो विधिः ।

कायाग्नि के प्रदीप्त हो जाने, शरीर में बल के उत्पन्न हो जाने तथा संशोधन के द्वारा शरीर के निर्मल हो जाने पर बाद में की गई चिकित्सा आदि की सम्पूर्ण विधि सफल होती है जिसप्रकार वस्त्रों को सम्यक् प्रकार से धोने के बाद उनपर चढ़ाया गया रंग अच्छी प्रकार चढ़ जाता है। अर्थात् वस्त्र को अच्छी प्रकार धोने के बाद उसपर जो भी रंग चढ़ाया जाता है वह वस्त्र पर अच्छी तरह चढ़ जाता है उसी प्रकार संशोधन के बाद पेयादि क्रम के द्वारा जाठराग्नि के प्रदीप्त हो जाने तथा शरीर में बल उत्पन्न हो जाने के बाद जो भी क्रिया की जाती है उसका अच्छी प्रकार प्रभाव होता है ॥३४॥

यश्चात्र वा यदाबाधः स्यादयोगादियोगतः ॥ ३५ ॥
समासव्यासतस्तस्य सिद्धौ सिद्धिरुदाहृता ।

चिकित्सा कार्य में अयोग आदि (अयोग, अतियोग, हीनयोग एवं मिथ्यायोग) के कारण जो कष्ट अथवा उपद्रव होते हैं उनकी चिकित्सा संक्षेप तथा विस्तार से सिद्धिस्थान में पहले कही गई है ॥ ३५ ॥

ततोऽन्नप्रविचारस्य विकल्पः संप्रवक्ष्यते ॥ ३६ ॥

इसके बाद अब अन्न की प्रकृष्ट विचारणाओं के भेद कहे जायेंगे ॥ ३६ ॥

सर्वत्र त्रिविधा पेया संसर्गादौ विधीयते ।
अकृतादिविकल्पेन ततो यूषस्ततो रसः ॥ ३७ ॥

सम्पूर्ण चिकित्सा शास्त्र में संसर्जन आदि के लिये तीन प्रकार की पेयाओं का वर्णन मिलता है, १ कृतयूष २ अकृतयूष ३ मांसरस ॥ ३७ ॥

व्यपेतलवणा पूर्वा दीपनीयाम्बुसाधिता ।
तानि(सा च)क्षुद्रा, द्वितीया स्यात किञ्चिल्लवणदीपना ॥
तद्वदेव तृतीया तु संस्कृता स्नेहमात्रया ।

---

१. अत्र स्नेहार्द्रमिन्धनमिव स्वेदः स्निग्धमङ्गं विष्यन्दयतीति पदयोजने यथाऽऽर्द्रे इन्धने स्नेहनं विधाय ज्वालने स्वेदेन रसनिष्यन्दः, एवमेव शरीरेऽपि स्नेहनं कृत्वा स्वेदने दोषनिःसरणं भवतीति भावः प्रतीयते, परं यथेवादिपदमपेक्ष्यते । एतदादर्शपुस्तके पाठो भ्रष्टः किल ।

२. अरणिसंभवो वह्निः सूक्ष्मैरिन्धनैरिव वान्तविरिक्तस्य जाठराग्निर्लघुभोजनैर्वर्धते इति भावः । अत्रापि मूलपाठो विभ्रष्टः ।

इनमें से पहला अर्थात् कृतयूष लवण से युक्त होता है तथा दीपनीय जल के द्वारा सिद्ध किया हुआ होता है। यह हलका माना गया है इनमें से दूसरा अर्थात् अकृतयूष ईषत् लवण युक्त तथा दीपक होता है। इसी प्रकार तीसरा अर्थात् मांसरस होता है परन्तु यह अल्प (थोड़े) स्नेह के द्वारा सिद्ध किया गया होता है ॥ ३८ ॥

अव्यक्तलवणस्नेहो यूषस्त्वकृतको मतः ॥ ३९ ॥
मन्दाम्ललवणस्नेहसंस्कारः स्यात् कृताकृतः ।
व्यक्तस्नेहाम्ललवणः कृतयूषः सुसंस्कृतः ॥ ४० ॥
एवमेव रसं विद्यादिमं पेयादिकं क्रमम् ।

जिस यूष में लवण एवं स्नेह स्पष्ट न हो उसे अकृतयूष कहते हैं। जो स्वल्प अम्ल, लवण एवं स्नेह के द्वारा संस्कृत किया गया है उसे कृताकृत यूष कहते हैं। तथा जिस यूष में स्नेह, अम्ल एवं लवण व्यक्त-स्पष्ट हों उस संस्कृत यूष को कृतयूष कहते हैं। अर्थात् जिस यूष में अम्ल, लवण तथा स्नेह स्पष्ट रूप से प्रतीत न हो अथवा जो स्नेह एवं लवण आदि के द्वारा संस्कृत न हो उसे अकृतयूष, जिसमें स्नेह, अम्ल तथा लवण स्पष्ट रूप से प्रतीत हों—जो स्नेह अम्ल लवण आदि के द्वारा सिद्ध किया गया हो—उस यूष को कृतयूष तथा जिसमें अम्ल, लवण एवं स्नेह थोड़ी मात्रा में हों उसे कृताकृत यूष कहते हैं। इसी प्रकार मांसरस को भी समझना चाहिये अर्थात् मांसरस भी ऐसा हो सकता है जो स्नेह लवण आदि के द्वारा सिद्ध हो अथवा न हो। यह पेयादि क्रम कहा गया है ॥ ३९-४० ॥

सकृज्जघन्या द्विर्मध्या त्रिः श्रेष्ठा शुद्धिमर्हति ॥ ४१ ॥

जघन्य (हीन) शुद्धि वाले व्यक्ति को इनमें से एक का सेवन करना चाहिये। मध्य शुद्धि वाले को इनमें से दो का तथा श्रेष्ठ शुद्धि वाले व्यक्ति को इनमें से तीनों का सेवन करना चाहिये। अर्थात् हीन शुद्धि वाले व्यक्ति को केवल अकृतयूष का सेवन करना चाहिये। मध्य शुद्धिवाले को अकृत तथा कृत यूष का सेवन करना चाहिये तथा श्रेष्ठ शुद्धि वाले व्यक्ति को अकृत तथा कृतयूष एवं मांसरस-तीनों का सेवन करना चाहिये ॥ ४१ ॥

इमां पेयादिसंसर्गीं सर्वसंशोधनोपगाम् ।
आरोग्यकामः सेवेत स्वास्थ्ये प्रकृतिभोजनम् ॥४२॥
वर्जयित्वा विरुद्धान्नं गुर्वसात्म्यं च यद्भवेत् ।

आरोग्य की कामना करनेवाले व्यक्ति को चाहिये कि वह संशोधन में सहायता देने वाले उपर्युक्त पेयादि संसर्जन क्रम का सेवन करे। तथा पूर्णरूप से स्वास्थ्य की प्राप्ति हो जाने पर विरुद्ध, गुरु तथा असात्म्य भोजन को छोड़कर शेष प्रकृति (साधारण) भोजन पर पहुंच जावे ॥ ४२ ॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि प्रमाणादिप्रयोजनम् ॥ ४३ ॥

इसके बाद अब मैं प्रमाण आदि का प्रयोजन कहूंगा। अर्थात् अब वमन, विरेचन आदि की मात्रा का वर्णन करूंगा॥

वमनीयकषायस्य चत्वारोऽञ्जलयः परा ।
मात्रा, मध्या त्रयो, ह्रस्वा द्वौ, तदर्धा विरेचने ॥४४॥

वमन के लिये प्रयुक्त किये जाने वाले कषाय की उत्कृष्ट मात्रा चार अञ्जलि होती है। मध्य मात्रा तीन अञ्जलि तथा ह्रस्व (हीन) मात्रा दो अञ्जलि होनी चाहिये। विरेचन की मात्रा इससे आधी होनी चाहिये अर्थात् विरेचन की उत्कृष्ट मात्रा दो अञ्जलि, मध्य मात्रा डेढ़ अञ्जलि तथा ह्रस्व मात्रा एक अञ्जलि होनी चाहिये ॥ ४४ ॥

पुरुषं पुरुषं प्राप्य दोषाणां च बलाबलम् ।
मदनस्य फलक्वाथः पिप्पलीसर्षपान्वितः ॥ ४५ ॥
ग्रहघ्न्या वा स एवाऽथ पटोलारिष्टवत्सकैः ।
युक्तो वाऽथ प्रियङ्गूनां कल्केन मधुकस्य च ॥ ४६ ॥
वमनार्थे विधेयः स्यान्मधुसैन्धवमूर्च्छितः ।

प्रत्येक पुरुष (रोगी व्यक्ति) तथा उसके दोषों के बलाबल को देखकर मदनफल के क्वाथ को मधु और सैन्धव से मूर्च्छित करके अर्थात् मधु और सैन्धव से युक्त करके उसमें पिप्पली और सरसों अथवा ग्रहघ्नी (श्वेत सरसों), पटोल, अरिष्ट (नीम) और वत्सक (इन्द्रजौ) अथवा प्रियङ्गु (फूल प्रियङ्गु) और महुए का कल्क डालकर वमन के लिये प्रयुक्त करना चाहिये ॥ ४५ ॥

न त्वजीर्णे, हितं त्वत्र लवणोष्णाम्बु केवलम् ॥ ४७ ॥
तद्धि सर्वं समुत्क्लिश्य मुखेनाशु विनिर्हरेत् ।

परन्तु यदि रोगी को अजीर्ण हो तो उस अवस्था में उपर्युक्त ओषधियों का व्यवहार नहीं करना चाहिये, अपितु उस अवस्था में वमन के लिये केवल उष्ण जल में नमक डालकर प्रयोग करना चाहिये। यह सम्पूर्ण दोषों का उत्क्लेश करके दोषों को मुख से बाहर निकाल देता है। मदनफल के कषाय में मधु और सैन्धव का डालना कफ के विलयन के लिये लिखा है। इसलिये चरक सू. अ. १५ में भी कहा है—'मधुमधुकसैन्धवफाणितोपहितां मदनफलकषायमात्रां पाययेत्'। यदि पूर्वकृत भोजन जीर्ण हो चुका हो तभी उपर्युक्त विधान प्रयोग में लाना चाहिये, भोजन के अजीर्ण की अवस्था में नहीं। इसीलिये चरक सू. अ. १५ में वमन के विधान में 'सुप्रजीर्णभक्तं' विशेषण दिया है। तथा चरक सि. अ. ६ में भी अजीर्ण की अवस्था में औषध का निषेध किया गया है ॥ ४७ ॥

यद्येवमामं विष्टम्भान्नापैति तत उत्तरम् ॥ ४८ ॥
वचाजगन्धामदनपिप्पलीभिस्तदुद्धरेत् ।
अन्यैर्वा कल्क(ल्प)विहितैर्बीभत्सोद्वेजनौषधैः ॥४९॥
अङ्गल्युत्पलनालाद्यैर्गलावतुदनैः सुखैः ।
तत्पार्श्वोदरपृष्ठानां पीडनोन्मर्दनैरपि ॥ ५० ॥

यदि वह दोष आम अवस्था में विद्यमान होने के कारण बाहर न निकले तो उसके बाद बच, अजगन्धा, मैनफल तथा पिप्पली के द्वारा उसे बाहर निकाले अथवा अन्य कल्पों

(कटुतुम्बी, जीमूत, धामार्गव आदि) से बनाये हुए बीभत्स (घृणित) तथा उद्वेजन कारक ओषधियों अथवा अंगुली या कमलनाल के द्वारा गले में सुखकारक स्पर्श के द्वारा अथवा रोगी के पार्श्व, उदर और पृष्ठप्रदेश को दबाने या ऊपर की ओर मालिश करने के द्वारा उस दोष को बाहर निकाल देवे ॥

पीतवन्तं च वमनं मुहूर्तमनुपालयेत् ।
विदाहपूर्वः स्वेदोऽस्य यदा भवति सर्वतः ॥ ५१ ॥
विष्यन्दमानं जानीयात्तदा दोषं भिषग्वरः ।
लोमहर्षेण चान्वक्तं स्थानेभ्यश्चलितं तथा ॥ ५२ ॥
आध्मानोद्वेष्टनाभ्यां च निर्दिशेत् कोष्ठमाश्रितम् ।
हृल्लासास्यपरिस्रावैश्चामुखीभूतमुद्धरेत् ॥ ५३ ॥
उष्णाम्बु लवणोपेतं पीत्वाऽऽकण्ठं पुनः पुनः ।

वमन औषध पिलाने के बाद मुहूर्त भर (थोड़ी देर) प्रतीक्षा करे । रोगी को पहले गरमी लगेगी तथा उसके बाद सारे शरीर में पसीना आने लगेगा । उस समय वैद्य यह समझ ले कि दोष पिघल रहे हैं । तथा शरीर में लोमहर्ष के द्वारा दोषों को अपने स्थान से विचलित हुआ जाने । आध्मान तथा उद्वेष्टन के द्वारा दोषों को कोष्ठ में आया हुआ तथा जी मिचलाने और मुख में लालास्राव के द्वारा दोषों को ऊर्ध्वमुख जाने तब कण्ठपर्यन्त लवणयुक्त उष्ण जल पुनः २ पीकर वमन के द्वारा दोषों को बाहर निकाल दे । सुश्रुत के अनुसार औषध पिलाने के बाद प्रतीक्षा काल में अग्नि पर हाथों को तपाकर रोगी को उष्णता पहुँचानी चाहिये ॥ ५१-५३ ॥

यावत् स्युरष्टौ षड्वाऽपि वेगाश्चत्वार एव वा ॥ ५४ ॥
आपित्तदर्शनाद्वाऽपि दोषोच्छित्तेरथापि वा ।

वमन के वेग—वमन में आठ, छै अथवा चार वेग आने चाहिये (अर्थात् उत्कृष्ट शोधन में ८ वेग, मध्य शोधन में ६ वेग तथा हीन शोधन में वमन के ४ वेग होने चाहिये। चरक सि. अ. १ में कहा है—जघन्यमध्यप्रवरेषु वेगाश्चत्वार इष्टा वमने षडष्टौ । अथवा वमन में कफ के बाद पित्त निकलने लगे या दोष नष्ट हो जायें तब तक वमन ओषधि देनी चाहिये। चरक सि. अ. १ में कहा है—'पित्तान्तमिष्टं वमनं तथोर्ध्वम्' अर्थात् वमन पित्त निकलने पर्यन्त देना चाहिये । वमन में दोषों के निकलने का क्रम चरक सि. अ. १ में निम्न प्रकार से दिया है । क्रमात् कफः पित्तमथानिलश्च यस्यैति सम्यग्वमितः स इष्टः ॥ ५४ ॥

मानप्रमाणतो वैकाध्यर्धद्विप्रस्थसंमितम् ॥ ५५ ॥
पीतादभ्यधिकं यत् स्यात् सदोषस्तद्विनिर्गमे ।

दोषों के मान के अनुसार पी हुई औषध के अतिरिक्त एक, डेढ़ और दो प्रस्थ दोष निकलने चाहिये अर्थात् हीन शुद्धि में एक प्रस्थ, मध्य शुद्धि में डेढ़ प्रस्थ तथा उत्कृष्ट शुद्धि में दो प्रस्थ होना चाहिये । वमन के वेगों के मान के विषय में चरक सि. अ. १ में कहा है—पित्तान्तमिष्टं वमनं विरेकादर्धम्.......... । अर्थात् वमन में दोषों का परिमाण विरेचन से आधा होना चाहिये । वमन में पी हुई औषध के निकलने के बाद तथा विरेचन में दो तीन पुरीषयुक्त वेगों के पश्चात् वेगों को मापना चाहिये । यहां पर प्रस्थ १६ पल का नहीं लेना चाहिये अपितु परिभाषा के अनुसार १३½ पल का लेना चाहिये । वमन आदि की मात्रा यदि पी हुई औषध से अधिक हो तो वह निकलते हुए दोषयुक्त होती है ॥ ५५ ॥

निरामगन्धं सोद्गारं यावत् पीतमपिच्छिलम् ॥५६॥
यदा विकलुषं वान्तं दृश्यतेऽम्बु प्रतिग्रहे[१] ।
कुक्ष्युरःकण्ठशिरसां लाघवं रोगमार्दवम् ॥ ५७ ॥
क्लमकार्श्ये न चात्यर्थमुत्साहो विशदात्मता ।
सद्यो निर्हृतदोषस्य लिङ्गान्येतानि निर्दिशेत् ॥ ५८ ॥

दोषों के निकल जाने पर लक्षण—जब पी हुई ओषधि रोगी को आमगन्ध से रहित उद्गार (डकार) सहित वापिस आ जाये तथा पीकदान में वमन किया हुआ जल (द्रव्य) पिच्छिलता तथा कलुषता (दोषों) से रहित दिखाई देवे, कुक्षि (कोख), छाती, कण्ठ तथा सिर में लघुता प्रतीत हो, रोग मृदु हो जायें, शरीर में थकावट तथा कमजोरी बहुत अधिक मालूम न पड़े, उत्साह एवं विशदता (प्रसन्नता) दिखाई दे—इन लक्षणों को देखकर यह समझना चाहिये कि उसके दोष निकल गये हैं ॥ ५६-५८ ॥

शिरोगतं ततश्चास्य त(तै)लैः स्विन्नस्य देहिनः ।
दोषावशेषं नस्येन धूमपानेन वा हरेत् ॥ ५९ ॥

इसके (वमन के) बाद उसके सिर में बचे हुए दोषों को सिर में तेल की मालिश करके तथा फिर नस्य और धूम्रपान के द्वारा नष्ट करे । ऊर्ध्वजत्रुज दोषों को नष्ट करने के लिये धूम्रपान तथा नस्य विशेष प्रभाव रखते हैं अतः सिर में स्थित दोषों को निकालने के लिये धूम्रपान एवं नस्य का प्रयोग कराया जाता है ॥ ५९ ॥

यथाशुद्धि ततश्चैनं संसर्गेणोपपादयेत् ।
हरीतक्या ग्रहघ्न्या वा कल्पोक्तं स्याद्विरेचनम् ॥६०॥

इसके बाद सम्यक् प्रकार से शुद्धि हो जाने पर रोगी को संसर्जन क्रम के द्वारा भोजन कराये तदनन्तर कल्पोक्त हरीतकी अथवा ग्रहघ्नी (श्वेत सरसों) के द्वारा विरेचन कराये। जिस व्यक्ति को वमन के बाद विरेचन देना हो उसे पुनः स्नेहन तथा स्वेदन देकर तब विरेचन देना चाहिये । संशोधन कराने में वमन कराने के १५ दिन बाद विरेचन देना चाहिये । सुश्रुत में कहा है—'पक्षाद्विरेको वान्तस्य' इन १५ दिनों में पेयादि संसर्जन क्रम का सेवन और स्नेहन-स्वेदन आदि करना चाहिये ॥ ६० ॥

पिप्पलीसैन्धवोपेता पथ्या वा त्रिवृतायुता ।
शृतं चारग्वधफलं क्षीरेणाथ रसेन वा ॥ ६१ ॥

१. पतद्ग्रहे इत्यर्थः । 'पीकदानी' इति भाषायाम् । 'प्रतिग्रहः स्त्रीकरणे सैन्ये पृष्ठे पतद्ग्रहे' इति मेदिनी ।

त्रिफला वा त्रिवृद्युक्ता सघृतव्योषसैन्धवा ।
तथा गन्धर्वतैलं वा श्रेष्ठं स्नेहविरेचनम् ॥ ६२ ॥

अथवा पिप्पली और सैन्धव से युक्त हरीतकी अथवा त्रिवृत् युक्त हरीतकी देवे । अथवा अमलतास के गूदे के क्वाथ को दूध या मांसरस से देवे । अथवा त्रिफला और त्रिवृत् में घृत, व्योष (त्रिकटु-सोंठ, मरिच, पीपल और सैन्धव) मिलाकर दें । अथवा गन्धर्व तैल (एरण्ड तैल) श्रेष्ठ स्नेह विरेचन है ॥ ६१-६२ ॥

दशमूलकषायेण जाङ्गलानां रसेन वा ।
द्राक्षाक्वाथेन वा युक्तमथवा दीपनाम्बुना ॥ ६३ ॥
त्रिवृद्द्राक्षाभयानां वा गवां मूत्रेण संयुता ।
सद्राक्षा त्रिवृता वा स्यादथवा त्रिवृताष्टकम् ॥ ६४ ॥

दशमूल के क्वाथ, जांगल मांसरस, द्राक्षा (मुनक्का) के क्वाथ, दीपनीय जल अथवा गोमूत्र के साथ त्रिवृत्, द्राक्षा और हरड़ का प्रयोग करना चाहिये । अथवा द्राक्षा और त्रिवृत् या त्रिवृताष्टक चूर्ण का सेवन करें ॥ ६३-६४ ॥

पथ्या त्रिजातकं व्यूषं विडङ्गामलकं घनम् ।
समानि, षड्गुणा त्वत्र शर्कराऽष्टगुणा त्रिवृत् ॥ ६५ ॥
चूर्णं ज्वरश्रमश्वासकासपाण्डवामयक्षयान् ।
हन्यात् क्रिमिविषार्शांसि मूत्रकृच्छ्रं च देहिनाम् ॥६६॥

त्रिवृताष्टक चूर्ण—हरड़, त्रिजातक (दालचीनी, छोटी इलायची तथा तेजपत्र), त्रिकटु, विडङ्ग, आंवला तथा नागरमोथा—सब द्रव्य समभाग लेवें । इसमें ६ गुना शर्करा तथा तथा ८ गुना त्रिवृत् डालकर सबका चूर्ण करें । यह चूर्ण प्राणियों के ज्वर, श्रम, श्वास, कास, पाण्डुरोग, क्षय, कृमि, विष, अर्श तथा मूत्रकृच्छ्र को नष्ट करता है ॥ ६५-६६ ॥

दशावरे, पञ्चदश मध्यमे, त्रिंशदुत्तमे ।
वेगा द्वित्रिचतुष्प्रस्थप्रमाणाः स्युर्विरेचने ॥ ६७ ॥

विरेचन के वेग—अवर (हीन) विरेचन में दस, मध्यम विरेचन में १५ तथा उत्तम विरेचन में ३० वेग होते हैं । तथा मान के अनुसार दोषों का प्रमाण हीन विरेचन में दो प्रस्थ, मध्यम विरेचन में तीन प्रस्थ तथा उत्तम विरेचन में चार प्रस्थ होना चाहिये । चरक सि॰ अ॰ १ में विरेचन के मध्यम योग में १५ के स्थान पर २० वेग दिये हैं ॥ ६७ ॥

विट्पित्तकफसंमिश्राः सवाताः स्युर्यथाक्रमम् ।
पित्तावसाना वमने कषायकफमूर्च्छिताः ॥ ६८ ॥
सम्यग्योगेऽतियोगेऽतिप्रवृत्तिः शोणितोत्तरा ।
अयोगे त्वप्रवृत्तिः स्याद्विपरीताऽल्पशोऽपि वा ॥६९॥
विभ्रंशः कर्मणो भ्रंशः केवलौषधनिर्गमः ।

विरेचन में दोषों के निकलने का क्रम—विरेचन के सम्यक् योग में सबसे पहले मल फिर क्रमशः पित्त, कफ तथा वायु निकलते हैं । तथा वमन में पहले कषाय औषध फिर कफ तथा अन्त में पित्त निकलता है । आमाशय के खाली हो जाने पर अन्त में केवल वायु ही निकलती हैं । विरेचन का अतियोग—इसमें उपर्युक्त दोष अत्यधिक मात्रा में निकलते हैं तथा अन्त में मल के साथ रक्त आने लगता है । विरेचन के अयोग के लक्षण-विरेचन का सर्वथा प्रवृत्त न होना, विपरीत मार्ग में प्रवृत्त होना (अर्थात् विरेचन न होना तथा स्वयं औषध का भी वापिस न निकलना अपि तु ऊर्ध्वगति होकर आध्मान, वमन आदि उपद्रवों का करना), विरेचन का अल्प मात्रा में होना, विभ्रंश (कोष्ठस्थित अङ्गों का स्वस्थान से च्युत हो जाना अथवा गुदभ्रंश-कांच निकलना), विरेचन कार्य का बिलकुल न होना अथवा विरेचन के लिये पीई हुई केवल औषध का ही निकल जाना-ये अयोग के लक्षण होते हैं ॥ ६८-६९ ॥

सर्पिष्पानं विकारे स्याद्तियोगानुबन्धजे ॥ ७० ॥
मधुकादिविपक्वं वा तैलं तत्रानुवासनम् ।

विरेचन के अतियोग से होने वाले विकारों में घृतपान कराना चाहिये अथवा मुलहठी के द्वारा सिद्ध तैल से अनुवासन बस्ति देनी चाहिये ॥ ७० ॥

दुर्वान्तं दुर्विरिक्तं वा स्निग्धदेहं बलान्वितम् ॥ ७१ ॥
बहुदोषं दृढाग्निं च पाययेदपरेऽहनि ।
दुर्बलं क्रमशो भूयः स्निग्धस्विन्नं विशोधयेत् ॥७२॥
(इति ताडपत्रपुस्तके २१६ तमं पत्रम्)

दुर्वान्त तथा दुर्विरिक्त पुरुष (जिसे वमन तथा विरेचन ठीक प्रकार न हुआ हो-अयोग हो) का शरीर यदि स्निग्ध तथा बलवान् हो, दोष अधिक मात्रा में विद्यमान हों तथा जाठराग्नि प्रदीप्त हो तो उसे अगले दिन वमन या विरेचन औषध पुनः पिलानी चाहिये । यदि रोगी दुर्बल है तो उसे नये सिरे से स्नेहन तथा स्वेदन देने के बाद ही पुनः वमन तथा विरेचन ओषधि पिलानी चाहिये । अर्थात् यदि रोगी को वमन तथा विरेचन औषध पिलाने के बाद ठीक प्रकार से वमन तथा विरेचन न हुआ हो परन्तु रोगी का शरीर स्निग्ध तथा बलवान् हो, शरीर में दोषों की मात्रा अधिक हो तथा जाठराग्नि तेज हो तो उसे अगले ही दिन पुनः वमन या विरेचन ओषधि पिलानी चाहिये । परन्तु यदि रोगी दुर्बल है तो अगले दिन ओषधि नहीं देनी चाहिये अपितु नये सिरे से दोबारा शरीर का स्नेहन तथा स्वेदन करने के बाद ही पुनः वमन तथा विरेचन ओषधि पिलाये । वमन या विरेचन के अयोग में पुनः ओषधि देने से पहले यह देख लेना आवश्यक है कि पूर्व प्रदत्त ओषधि जीर्ण हो चुकी है या नहीं। पूर्व औषधि के जीर्ण होने पर ही पुनः ओषधि देनी चाहिये अन्यथा अतियोग का भय रहता है । इसके अतिरिक्त रोगी के कोष्ठ तथा शारीरिक बल का ध्यान रखना भी आवश्यक है । यदि रोगी बलवान् है तो तीक्ष्ण ओषधि देनी चाहिये और यदि रोगी निर्बल है तो मृदु संशोधन देना चाहिये ॥

न तु दुश्छर्दनं जातु क्रूरकोष्ठमथापि वा ।
तयोः संशमनैर्दोषान् बस्तिभिर्वा शमं नयेत् ॥ ७३ ॥

अहृद्यमतिदुर्गन्धमजीर्णे चाति वा बहु ।
यस्यानुलोमिकं पीतमूर्ध्वं याति कफावृतम् ॥ ७४ ॥
तं वामितं लङ्घितं वा परिस्निग्धं विरेचयेत् ।

दुर्वम्य (जिसे वमन कठिनता से होता हो) अथवा क्रूर-कोष्ठ (जिसे विरेचन अत्यन्त कठिनता से होता हो) पुरुष को कभी भी वमन या विरेचन ओषध दोबारा नहीं देनी चाहिये। उनके दोषों को संशमन उपायों अथवा बस्ति के द्वारा शान्त करना चाहिये। चरक सि. अ. ६ में कहा है कि उन्हें साधारणतया पुनः वामक या विरेचक ओषधि नहीं देनी चाहिये और यदि देनी ही पड़े तो अधिक मात्रा में नहीं देनी चाहिये ॥

जिस रोगी को पिलाई गई विरेचक औषध हृदय को अच्छी न लगने, अत्यन्त दुर्गन्ध युक्त होने, अजीर्ण में ओषधि का प्रयोग करने अथवा मात्रा में अत्यन्त अधिक होने के कारण कफ से आवृत हुई ओषधि ऊपर की ओर चली जाती है अर्थात् विरेचन न होकर वमन हो जाता है उसे वमन, लङ्घन तथा स्नेहन कराकर विरेचन कराये ॥ ७३-७४ ॥

अत्यर्थस्निग्धदेहस्य विशुद्धामाशयस्य वा ॥ ७५ ॥
मारुतस्यानुलोम्यस्य यस्याधो वमनं व्रजेत् ।
तस्य संसर्गमात्रेण परिशुद्धिर्विधीयते ॥ ७६ ॥
दुर्बलस्याल्पदोषस्य मृदु संशोधनं हितम् ।

जिस व्यक्ति का शरीर अत्यन्त स्निग्ध होने से, आमाशय शुद्ध होने से अर्थात् आमाशय में कफ का संचय न होने से तथा वायु के अनुलोम होने से वमन औषध नीचे की ओर चली जाये अर्थात् वमन न होकर विरेचन हो जाये उस व्यक्ति की संसर्जन मात्र से शुद्धि हो जाती है। दुर्बल तथा अल्प दोष वाले व्यक्ति के लिये मृदु संशोधन देना चाहिये ॥७५-७६॥

विगृहीताच्चिराद्दोषैः स्तोकं स्तोकं व्रजत्यधः ॥ ७७ ॥
उष्णाम्बुपानं तत्र स्यादानुलोम्यकरं परम् ।

ओषधि के द्वारा दोषों के शीघ्र ही ग्रहण न किये जाने के कारण दोष धीरे २ नीचे आता है। उस अवस्था में उष्णजल पिलाना चाहिये। वह मल तथा दोषों की गति का अनुलोमन करता है अर्थात् जब बार २ थोड़ा २ मल आता हो तब उष्ण जल पिलाना चाहिये जिससे दोषों तथा मलों की गति अनुलोम हो जाती है ॥ ७७ ॥

दोषो भवेद्वा सोद्गारो नोर्ध्वं नाधश्च गच्छति ॥७८॥
सशूले भेषजे जन्तोः स्वेदं तत्रावचारयेत् ।

औषध का सेवन करने पर रोगी को उद्गार (उबकाई) आने लगे तथा दोष न ऊपर की ओर जाये और न नीचे की ओर जाये। अर्थात् दोष न वमन के द्वारा निकले और न विरेचन के द्वारा निकले तथा रोगी के पेट में शूल हो तो उस अवस्था में स्वेदन देना चाहिये ॥ ७८ ॥

मात्राविरिक्ते सोद्गारमौषधं क्षिप्रमुद्धरेत् ॥ ७९ ॥
अतिप्रवृत्तौ जीर्णेऽस्मिन् स्तम्भनीयैरुपक्रमेत् ।

योग्य मात्रा में विरेचन हो जाने के बाद भी यदि ओषधि के डकार आते हों तो शीघ्र ही वमन द्वारा उस ओषधि को बाहर निकाल देना चाहिये। अन्यथा विरेचन का अतियोग हो जायेगा। तथा वेग की अति प्रवृत्ति (अतियोग) में औषध के जीर्ण होने पर स्तम्भक द्रव्यों के द्वारा इसका स्तम्भन करे ॥

दीप्ताग्नेः क्रूरकोष्ठस्य बहुदोषस्य देहिनः ॥ ८० ॥
सोदावर्तस्य निर्वाह्य पुरीषं फलवर्तिभिः ।
सुस्निग्धस्विन्नगात्रस्य भिषग्दद्याद्विरेचनम् ॥ ८१ ॥

जिस व्यक्ति की अग्नि दीप्त हो, कोष्ठ क्रूर हो (अर्थात् विरेचन अत्यन्त कठिनता से होता हो) तथा शरीर में दोष बहुत अधिक विद्यमान हों—उसे यदि उदावर्त हो जाय तो वैद्य फलवर्तियों के द्वारा उसके मल को निकाल कर शरीर का स्नेहन एवं स्वेदन करके उसे विरेचन देवे ॥ ८०-८१ ॥

यदसक्तं महावेगैः सुखेनाशु प्रवर्तते ।
अनाबाधकरं नातिग्लपनं दोषशोधनम् ॥ ८२ ॥
अव्यापन्नगुणोदर्कं मात्रायुक्तं सुसंस्कृतम् ।
पीतमेकाग्रमनसा सम्यक्च्छुद्धिकृदावहेत् ॥ ८३ ॥

सम्यक् शुद्धि करनेवाली ओषधि के लक्षण—जो ओषधि शरीर के अन्दर लगी हुई न रहे, अत्यन्त वेग के साथ सुखपूर्वक प्रवृत्त हो जाय, जो शरीर में कोई कष्ट न पहुँचाये, अत्यन्त ग्लानि उत्पन्न न करे, दोषों का शोधन करे, जिसके शुभ गुण नष्ट न हों, जो योग्य मात्रा में सेवन की जाय, जिसका अच्छी प्रकार संस्कार किया गया हो तथा जो एकाग्र मन से पीई गई हो—वह ओषधि सम्यक् प्रकार से शुद्धि करनेवाली कही गई है ॥ ८२-८३ ॥

दीप्ताग्नयः कर्मनित्या ये नरा रूक्षभोजिनः ।
शश्वद्दोषाः क्षयं यान्ति तेषां वाय्वग्निकर्मभिः ॥ ८४ ॥
विरुद्धाध्यशनाजीर्णदोषानपि सहन्ति ते ।
स्वस्थवृत्तौ न ते शोध्या रक्ष्या वातविकारतः ॥ ८५[१] ॥
विज्ञायैवंविधं वैद्यः संशुद्धिं कर्म(तु)मर्हति ॥

जिन व्यक्तियों की अग्नि प्रदीप्त है, जो नित्य परिश्रम आदि करते हैं, जो रूक्ष भोजन करते हैं—उनके दोष वायु, अग्नि तथा व्यायाम आदि कर्मों के द्वारा ही शान्त हो जाते हैं। वे व्यक्ति विरुद्ध भोजन, अध्यशन तथा अजीर्ण आदि दोषों को भी सह लेते हैं अर्थात् इन उपद्रवों से भी उनमें कोई विकार उत्पन्न नहीं होता है। उनका स्वस्थावस्था में शोधन नहीं करना चाहिये तथा वायु के विकारों से उनकी रक्षा करनी चाहिये—अर्थात् यदि उन्हें कोई रोग न हो तो उनका वमन-विरेचन आदि के द्वारा संशोधन करने की आवश्यकता नहीं है। रोग होने पर तो संशोधन करना ही पड़ता है। अन्य

१. अनयोः ८४-८५ श्लोकयोः प्रायः संवादिनौ चरककल्पस्थाने १२ अध्याये ७८-७९ श्लोकौ ।

व्यक्तियों को जिस प्रकार रोग न होने पर भी ऋतु के अनुसार संशोधन कराया जाता है वैसा इनमें नहीं करना चाहिये केवल रोग की अवस्था में ही शोधन कराया जा सकता है। वैद्य को इन सब उपर्युक्त बातों को देखकर संशोधन करना चाहिये ॥ ८४-८५ ॥

इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ।

(इति) खिलेषु संशुद्धिविशेषणीयो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था ।

(इति) खिलेषु संशुद्धिविशेषणीयो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७॥

अथ बस्तिविशेषणीयो नामाष्टमोऽध्यायः।

अथातो बस्तिविशेषणीयं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ २ ॥

अब हम बस्तिविशेषणीय अध्याय का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था। अर्थात् इस अध्याय में बस्ति के विशेष गुण तथा प्रयोगों का वर्णन किया जायगा ॥

बस्तिदानात् परं नास्ति चिकित्साऽङ्गसुखावहा ।
शाखाकोष्ठगता रोगाः सर्वार्धाङ्गगताश्च ये ॥ ३ ॥
तेषां समुद्भवे हेतुर्वातादन्यो न विद्यते ।

बस्ति से बढ़कर कोई भी चिकित्सा शरीर के अङ्गों को सुख देनेवाली नहीं है। शाखागत, कोष्ठगत, सम्पूर्ण शरीरगत अथवा अर्धशरीरगत जितने भी रोग हैं उनकी उत्पत्ति में वायु के अतिरिक्त अन्य कोई कारण नहीं है।

वक्तव्य—चरक में तीन रोगों के मार्ग गिनाये गये हैं—१-शाखा २-मर्मास्थिसन्धि ३-कोष्ठ। शाखा से अभिप्राय रक्त आदि धातु तथा त्वचा है—यह रोग का बाह्य मार्ग है। बस्ति, हृदय, मूर्धादि मर्म तथा अस्थियों की सन्धियां—रोगों का मध्यम मार्ग है। कोष्ठ से अभिप्राय शरीर के आन्तरिक अवयवों—विशेषकर आमाशय, पक्वाशय आदि से है। यह रोगों का आभ्यन्तर मार्ग कहा गया है। यहां शाखा तथा कोष्ठ का स्पष्ट रूप से ग्रहण किया गया है परन्तु रोग के मध्य-मार्ग (मर्मास्थिसन्धि) का उल्लेख स्पष्ट नहीं है। सर्वगत तथा अर्धाङ्गगत रोगों से इसका ग्रहण किया जा सकता है। इन सब रोगों का कारण वायु को माना गया है ॥ ३ ॥

तथा कफस्य पित्तस्य मलानां च रसस्य च ॥ ४ ॥
विक्षेपणे संहरणे वायुरेवात्र कारणम् ।

इसी प्रकार कफ, पित्त, मल और रस के विक्षेप और संघात (वियोग तथा संयोग) में भी वायु ही कारण है। अर्थात् वास्तव में रोगों का कारण वायु ही है तथा कफ, पित्त आदि के वियोग और संयोग के कारण जो नाना प्रकार के रोग होते हैं-उनका भी वायु ही कारण है।

वक्तव्य—यद्यपि पित्त और कफ भी रोगों की उत्पत्ति में कारण होते हैं तथापि वायु प्रधान कारण है। पित्त तथा कफ चेष्टाहीन माने गये हैं। वायु ही उन्हें इधर उधर विक्षिप्त करके रोगोत्पत्ति कराता है ॥ ४ ॥

जेता चास्य प्रवृद्धस्य बस्तितुल्यो न कश्चन ॥ ५ ॥
तदुपार्धं[1] चिकित्सायाः सर्वं वातचिकित्सितम् ।

इस प्रकार इस प्रवृद्ध हुए वायु को जीतने के लिये बस्ति के समान अन्य कोई उपाय नहीं है। इस प्रकार बस्तिक्रिया सम्पूर्ण वातरोगों की प्रायः आधी चिकित्सा मानी गई है। अर्थात् वातरोगों की सम्पूर्ण चिकित्सा में अकेली बस्ति ही लगभग आधी चिकित्सा है-वातरोगों की आधी चिकित्सा केवल बस्ति के द्वारा हो सकती है ॥ ५ ॥

कर्म कालश्च योगश्च तिस्रः संज्ञा यथाक्रमम् ॥ ६ ॥
वक्ष्ये निरुक्तनिर्देशसंख्यादोषविकल्पतः ।

निरुक्ति, निर्देश, संख्या तथा दोष के भेद के अनुसार यथाक्रम कर्मबस्ति, कालबस्ति तथा योगबस्ति का मैं वर्णन करूंगा। अर्थात् बस्ति समूह तीन प्रकार का होता है। १. कर्म २. काल ३. योग ॥ ६ ॥

बाहु············तेः कर्मसंज्ञितम् ॥ ७ ॥
अत्युदीर्णबले जाते प्रयोज्यं तद्यथाविधि ।

कर्मबस्ति—इनमें से कर्मसंज्ञक बस्ति का शरीर में बल के अधिक होने पर यथाविधि प्रयोग करना चाहिये ॥ ७ ॥

तदर्धकलनात् कालः स हि मध्यबलान्वये ॥ ८ ॥
पवने पित्तसंसृष्टे विधातव्यो विजानता ।

कालबस्ति—कर्मबस्ति की अपेक्षा संख्या में आधी होने के कारण इसे कालबस्ति कहते हैं। शरीर में बल मध्यम होने पर तथा वायु के साथ पित्त का संसर्ग होने पर बुद्धिमान व्यक्ति को इसका प्रयोग करना चाहिये ॥ ८ ॥

अल्पत्वात् स्नेहबस्तीनां युक्तेर्योगः स लाघवात् ॥९॥
प्रयोज्यः कफसंसृष्टे नातितीव्रबलेऽनिले ।

योगबस्ति—इसमें स्नेहबस्तियों के योग के कम होने से तथा इसी लिये लघु होने से इसे योगबस्ति कहा है। यदि कफ का संसर्ग हो तथा इसमें वायु का बल अधिक तीव्र न हो तो इसका प्रयोग करना चातिये ॥ ९ ॥

अन्वासनाश्चतुर्विंशतिर्निरूहाः षट् च कर्मणि ॥ १० ॥
(द्वादशाऽन्वासनाः काले) निरूहाश्चात्र वै त्रयः ॥११॥
त्रय एव निरूहाः स्युर्योगे पञ्चानुवासनाः ।
कर्मादीनां त्रिपञ्चाशद्बस्तिसंख्या निदर्शिता ॥ १२ ॥

---

१. तदुपार्धं बस्तिक्रियाऽर्धप्रायमित्यर्थः । यावन्ति वातचिकित्सितानि तेषु बस्तिकर्म अर्धप्रायं भवतीति भावः । चरकसिद्धिस्थानेऽपि बस्तिकर्मणो वातचिकित्सार्धत्वं निदर्शितम् ।

कर्मबस्ति समुदाय में अनुवासन बस्ति २४ तथा निरूह बस्तियां ६ होती हैं। कालबस्तियों में १२ अनुवासन तथा ३ निरूह बस्तियां होती हैं। तथा योगबस्ति में ५ अनुवासन तथा ३ निरूह बस्तियां होती हैं। इस प्रकार कर्म, काल तथा योग में कुल बस्तिसंख्या ५३ होती हैं। कर्मबस्तियां कुल ३०, कालबस्तियां १५ तथा योगबस्तियां ८ होती हैं। इस प्रकार कुल ३०+१५+८=५३ बस्तियां होती हैं। चरक सि. अ. १ में कहा है—त्रिंशत्स्मृताः कर्मसु बस्तयो हि कालस्ततोऽर्धेन ततश्च योगः। अर्थात् कर्म ३० बस्तियों के समुदाय को कहते हैं। कालसंज्ञक बस्ति समुदाय में कर्म की अपेक्षा आधी अर्थात् १५ या १६ बस्ति होती हैं। और योग संज्ञक बस्ति समुदाय में इससे भी आधी अर्थात् ८ बस्तियां होती हैं। यहां कुल संख्या ३०+१६+८=५४ दी है। क्योंकि १५ का आधा करने पर ७½ होता है जो कि बस्ति की अवस्था में संभव नहीं। आधी बस्ति नहीं दी जा सकती। इस लिये इसे १६ मान लिया गया है। जिससे उसका आधा करने पर योगबस्तियां ८ होती हैं ॥ १०–१२ ॥

पञ्चादौ कर्मणि स्नेहाश्चत्वारोऽन्ते तथाऽनयोः ।
मध्ये षण्णां निरूहाणामन्तरेषु त्रयस्त्रयः ॥ १३ ॥
आदावन्तेऽन्तरे चैव काले स्नेहास्त्रयस्त्रयः ।
योगे निरूहान्तरितास्त्रयोऽन्ते द्वाविति क्रमात् ॥ १४ ॥
प्रोक्तो विभागनिर्देशस्तद्विकल्पमतः शृणु ।

कर्मबस्ति में प्रारम्भ में ५ तथा अन्त में ४ स्नेहबस्तियां होती हैं तथा इनके मध्य में भी ६ निरूहों के बीच में तीन स्नेहबस्तियां होती हैं कालबस्ति में प्रारंभ, अन्त तथा बीच में भी तीन २ स्नेहबस्तियां होती हैं। अर्थात् इसमें स्नेहबस्तियां ३ प्रारंभ में, तीन अन्त में तथा एक २ निरूह के व्यवधान से तीन निरूहों के बीच में तीन २ (अर्थात् ६) मध्य में होती हैं। इसमें निरूह बस्ति ३ होती हैं। योग बस्ति में स्नेहबस्तियां निरूह के व्यवधान से बीच २ में तीन तथा दो अन्त में होती हैं। अर्थात् तीन मध्य में, दो अन्त में एवं एक प्रारंभ में होती है। तथा बीच २ में तीन निरूह होती हैं। इन्हे हम निम्नरूप में रख सकते हैं–कर्मबस्ति—५ स्नेह+१ निरूह+३ स्नेह+१ निरूह+३ स्नेह+१ निरूह+३ स्नेह+१ निरूह+३ स्नेह+१ निरूह+३ स्नेह+१ निरूह+४ स्नेह=३०, कालबस्ति—३ स्नेह+१ निरूह+३ स्नेह+१ निरूह+३ स्नेह+१ निरूह+३ स्नेह=१५, योगबस्ति—१ स्नेह+१ निरूह+१ स्नेह+१ निरूह+१ स्नेह+१ निरूह+२ स्नेह=८। चरक सि. अ. १ में यह बस्ति समुदाय कुछ भिन्न रूप में मिलता है। तद्यथा—कर्मबस्ति में १ स्नेहबस्ति आदि में+५ अन्त में+मध्य में १२ अनुवासन+१२ निरूह=३० बस्तियां काल बस्ति में अन्त में ३ स्नेहबस्तियां+प्रारंभ में १ स्नेहबस्ति+निरूह के व्यवधान से ६ स्नेहबस्तियां=१६ बस्तियां। योगबस्ति में ३ निरूह+आदि, अन्त और मध्य की मिलाकर ५ स्नेहबस्तियां=८ बस्तियां। इस प्रकार यह कर्म, काल तथा योग के अनुसार बस्तियों के विभाग का निर्देश किया गया है। अब इसके विस्तार को सुनो। यहां यह जिज्ञासा हो सकती है कि इस प्रकार निरूह एवं अनुवासन के परस्पर व्यवधान का क्या प्रयोजन है? इसका उत्तर यह है कि अनुवासन तथा निरूह बस्ति को परस्पर एक दूसरे के व्यवधान के विना सेवन करना उपयुक्त नहीं है क्योंकि अकेली स्नेहबस्ति (अनुवासन) के प्रयोग से कफ तथा पित्त का उत्क्लेश हो जाता है जिससे जाठराग्नि नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार अकेले निरूह के निरन्तर सेवन से वायु का प्रकोप हो जाता है। इसलिये अनुवासन के बाद निरूह बस्ति तथा निरूह के बाद अनुवासन द्वारा स्नेहन देना चाहिये। इस प्रकार व्यवधान से ही बस्तियों की योजना करनी चाहिये। इसी प्रकार चरक सि. अ. ४ तथा सुश्रुत चि. अ. ३७ में भी कहा है ॥ १३–१४ ॥

सप्त पञ्च त्रयो वाऽऽदौ वाते (स्नेहास्त्व)गर्हिताः ॥१५॥
जघन्यौ पित्तकफयोरेतावेव कदाचन ।

वायु के प्रकोप में प्रारम्भ में सात, पांच या तीन स्नेहबस्तियां निन्दित नहीं हैं। परन्तु ये ही संख्याएँ अर्थात् सात, पांच या तीन स्नेहबस्तियां पित्त तथा कफ के प्रकोप में यदि प्रारम्भ में दी जांय तो कभी २ निन्दित मानी जाती हैं ॥१५॥

तां तामवस्थामन्वीक्ष्य दोषकालबलाश्रयाम् ॥ १६ ॥
उत्कर्षञ्चापकर्षञ्च बस्तीन् द्रव्याणि वा भिषक् ।
कुर्याद्योगे तथोत्कर्षमपकर्षं तु कर्मणि ॥ १७ ॥
काले तदुभयं चैव वीक्ष्य दोषबलाबलम् ।

इसलिये दोष (वात, पित्त, कफ), काल तथा रोगी के बल पर आश्रित उस २ अवस्था को देखकर चिकित्सक को चाहिये कि वह बस्ति अथवा उसके द्रव्यों में घटाबढ़ी कर ले। योगबस्ति में उत्कर्ष (वृद्धि) कर्मबस्ति में अपकर्ष (ह्रास–कमी) तथा कालबस्ति में दोषों के बलाबल को देखकर दोनों अर्थात् अवस्थानुसार वृद्धि एवं ह्रास दोनों किये जा सकते हैं ॥ १६–१७ ॥

वाते समांशः स्निग्धोष्णो निरूहः पानतैलिकः ॥१८॥
षड्भागस्नैहिकौ पित्ते सक्षीरौ स्वादुशीतलौ ।
त्रयः समूत्रास्तीक्ष्णोष्णाः श्लेष्मण्यष्टाङ्गतैलिकाः ॥१९॥
सकृत् प्रणिहितो वातमाशयस्थं निरस्यति ।
सपित्तं सकफं द्विस्त्रिरत ऊर्ध्वं न शस्यते ॥ २० ॥

वायु के रोगों में निरूह बस्ति में समान मात्रा में तेल डालकर उसे स्निग्ध तथा उष्ण करके एक बस्ति देनी चाहिये। पित्त के रोगों में ६ भाग तेल तथा दूध के द्वारा स्वादु तथा शीतल करके दो बस्तियां देनी चाहिये। तथा श्लेष्मा (कफ) के रोगों में आठ भाग तेल तथा गोमूत्र डालकर तैयार की हुई तीक्ष्ण तथा उष्ण तीन बस्तियां देनी चाहिये। वायु के रोगों

में दी हुई एक बस्ति आशयों में से वातदोष को निकाल देती है। पित्त के रोगों में दो तथा कफ के रोगों में तीन बस्तियां देनी चाहिये। इससे अधिक बस्तियां नहीं देनी चाहिये। यह निरूह बस्तियों के विषय का विचार किया गया है। इसी प्रकार चरक सि. अ. ३ में भी कहा है। सुश्रुत चि. अ. ३२ में कहा है कि यदि उपर्युक्त संख्या में दी गई बस्तियों से दोष ठीक प्रकार से न निकल पायें तो इससे अधिक बस्तियां भी दी जा सकती हैं ॥ १८-२० ॥

शस्यतेऽत्र रसक्षीरयूषाशनविधिः क्रमात् ।
अथवा बलकालाग्निदेशप्रकृतिसात्म्यतः ॥ २१ ॥

बस्ति देने के बाद क्रमशः रस (मांसरस), क्षीर (दूध) तथा यूष का भोजन करना चाहिये। अर्थात् वातरोग में बस्ति देने के बाद मांसरस, पित्तरोग में दूध तथा कफरोग में यूष का भोजन कराना चाहिये। अथवा रोगी के बल, काल, अग्नि, देश, प्रकृति तथा सात्म्य के अनुसार जो उचित हो वह भोजन देना चाहिये। इसी प्रकार चरक सि. अ. ३ में भी कहा है ॥ २१ ॥

एता दोषविकल्पान्ता निर्दिष्टा बस्तियुक्तयः ।
एष चाप्यपरः कल्पश्चतुर्भद्र इति स्मृतः ॥ २२ ॥

इस प्रकार दोष भेद से यह बस्तियों की योजना की गई है। इसके अतिरिक्त बस्तियों के सम्बन्ध में निम्न चतुर्भद्र नाम का एक कल्प दिया गया है ॥ २२ ॥

चत्वारो बस्तयः पूर्वमन्ते चत्वार एव च ।
तयोरास्थापनं मध्ये कल्पः सोऽयं निरत्ययः ॥ २३ ॥
द्विस्त्रिर्वाऽर्थवशादेष क्रियमाणः सुखावहः ।

चतुर्भद्र कल्प —चार स्नेहबस्तियां प्रारम्भ में+चार अन्त में तथा+इनके बीच में चार आस्थापन (निरूह या रूक्ष बस्तियां) बस्तियां देनी चाहिये। बस्तियों का यह कल्प उपद्रवशून्य होता है अर्थात् इस कल्प का प्रयोग करने पर किसी उपद्रव की संभावना नहीं होती है। इस कल्प का आवश्यकतानुसार दो या तीन वार प्रयोग करने पर वह सुखकारक होता है। अर्थात् आवश्यकतानुसार इस कल्प का दोबारा या तिबारा भी प्रयोग किया जा सकता है ॥२३॥

ज्वरादिभिः परिक्लिष्टे हीनवर्णबलौजसि ॥ २४ ॥
जातानुवासनावस्थे बलपुंस्त्वाग्निवर्धनाः ।

जो रोगी ज्वर आदि के कारण क्लान्त हुआ है तथा इसी कारण से जिसका वर्ण, बल तथा ओज कम हो गया है—ऐसी अवस्था में यदि अनुवासन (स्नेहबस्ति) किया जाता है तो वह उसके बल, पुंस्त्वशक्ति तथा जाठराग्नि को बढ़ाता है ॥२४॥

अयुग्मा बस्तयो देया न तु युग्माः कथञ्चन ॥ २५ ॥
विषमा विषमैरेव हन्यन्ते बस्तिभिर्गदाः ।
एकस्त्रयो वा कफजे, पैत्तिके पञ्च सप्त वा ॥ २६ ॥
वाते नवैकादश वा यो यदाप्नोति वा समम् ।

(इति ताडपत्रपुस्तके २१७ तमं पत्रम्)

रोगी को सदा अयुग्म (विषम संख्या में) ही बस्तियां देनी चाहिये। युग्म (सम संख्या में) बस्तियां कभी नहीं देनी चाहिये। विषम हुए रोग अथवा दोषों के विषम होने के कारण उत्पन्न हुए रोग विषम बस्तियों के द्वारा ही नष्ट होते हैं। जिस रोगी को कफज रोग में एक या तीन, पित्तज रोग में पांच या सात तथा वातिक रोग में नौ या ग्यारह बस्तियां दी जाती हैं उसके दोष या धातुएँ समावस्था में रहती हैं अर्थात् वह स्वस्थ रहता है। इसी प्रकार चरक सि· अ. १ में भी कहा है। विषम संख्या में बस्ति देने का नियम साधारणतया प्रधानरूप से कराये जाने वाले अनुवासन के लिये ही है। निरूहबस्ति के अङ्गरूप में कराये जाने वाले अनुवासन में यह नियम लागू नहीं होता है। उस अवस्था में सम (युग्म) बस्तियां भी दी जा सकती हैं ॥ २५-२६ ॥

इति सूक्ष्मविचित्रार्थमुक्तं व्याससमासतः ॥ २७ ॥
विज्ञायैतत् प्रयोक्तव्यं यथा वक्ष्याम्यतः परम् ।

इसप्रकार सूक्ष्म तथा अनेक प्रकार के विषयों को मैंने विस्तार एवं संक्षेप से कहा है। इस सबको जानकर इन बस्तियों का प्रयोग करना चाहिये–जैसा कि मैं आगे कहूंगा॥२७॥

गम्भीरानुगता यस्य क्रमेणोपचिता मलाः ॥ २८ ॥
कुपिता वातभूयिष्ठा बस्तिसाध्या विशेषतः ।
संपन्नस्य सहिष्णोश्च कर्म तस्य परायणम् ॥ २९ ॥

जिस व्यक्ति के क्रमशः उपचित (वृद्धि को प्राप्त) हुए तथा गम्भीर धातुओं में प्रविष्ट हुए मल कुपित हुए हों, उनमें वात की प्रधानता हो, वे दोष विशेषरूप से बस्तिसाध्य हों तथा यदि रोगी सम्पन्न (सम्पूर्ण साधनों से युक्त) तथा सहिष्णु हो तो उस रोगी के लिये कर्मबस्ति श्रेष्ठ उपाय है ॥

अतो मध्यस्य कालः स्यादव(र)स्यावरस्तथा ।
स्नेहस्वेदोपपन्नस्य वामितस्य यथाक्रमम् ॥ ३० ॥
स्निग्धस्विन्नस्य तु पुनर्विरिक्तस्य क्रमे गते ।
दत्तानुवासनस्यास्य यथायोगं ततस्त्र्यहात् ॥ ३१ ॥
क्षणिकस्य प्रशान्तस्य निरूहमुपलक्षयेत् ।

मध्यबल, मध्यदोष तथा मध्य साधन सम्पन्न व्यक्ति को कालबस्ति देनी चाहिये। तथा अवर (निकृष्ट) बल, अवर दोष तथा और अवर साधन युक्त व्यक्ति को क्रमशः पहले स्नेहन, स्वेदन तथा वमन कराकर फिर दोबारा क्रमशः स्नेहन, स्वेदन तथा विरेचन के बाद अनुवासन (स्नेह बस्ति) देकर तीन दिन के बाद थोड़ी देर के लिये शान्त होने पर निरूहबस्ति देनी चाहिये। अर्थात् निरूहबस्ति तीन दिन के बाद देनी चाहिये। इसी प्रकार चरक सि. अ. १ में भी कहा है ॥३०-३१॥

त्रिभिरन्वासितस्यातः सप्ताहः कर्मकालयोः ॥ ३२ ॥

पुनरास्थापनं कार्यं योगः स्यात् पञ्चमेऽहनि ।
स्वभ्यक्तस्विन्नगात्रस्य काल्यमप्रातराशिनः ॥ ३३ ॥
कोष्ठात्तु साऽऽमं शाखाभ्यः सम्यक्संवाहितस्य च ।

तीन दिन के बाद जिसे अनुवासन दिया गया है उसे सप्ताह भर बाद कर्म तथा कालबस्ति देनी चाहिये। फिर आस्थापन (निरूहबस्ति) देकर शरीर का स्नेहन तथा स्वेदन करके प्रातःकाल खाली पेट यदि कोष्ठ में आम प्रकोप हो तो शाखाओं पर संवाहन करके पांचवे दिन योगबस्ति देनी चाहिये ॥ ३२-३३ ॥

निरूहं योजयेत् प्राज्ञः सर्वोपकरणान्वितः ॥ ३४ ॥
हैमे रौप्येऽथवा कांस्ये सुमृष्टे भाजने समे ।
प्रक्षिप्यैकैकशो द्रव्यं यत् क्रमेणोपदेक्ष्यते ॥ ३५ ॥

बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिये कि सब उपकरणों (साधनों) से युक्त होकर सोने, चांदी अथवा कांसी के साफ सुथरे तथा सम बर्तन में क्रमशः एक २ द्रव्य डालकर—जैसा कि आगे वर्णन किया जायेगा-निरूह बस्ति की योजना करे ॥३४-३५॥

भिषङ्निरूहं मृद्नीयात् प्राङ्मुखः सुसमाहितः ।
पूर्वमेवात्र निक्षेप्यं मधुनः प्रसृतद्वयम् ॥ ३६ ॥
सैन्धवस्यार्धकर्षं च तैलं च मधुनः समम् ।
ततश्च कल्कप्रसृतं क्वाथं कल्कचतुर्गुणम् ॥ ३७ ॥
प्रसृतौ मांसनिर्यूहान्मूत्रप्रसृतमेव च ।
द्वादशप्रसृतो बस्तिरित्येवं खजमूर्च्छितः ॥ ३८ ॥
यथार्थं च यथावच्च प्रणिधेयो विजानता ।

बस्ति के उपादान द्रव्यों को मिलाने का प्रकार—चिकित्सक को चाहिये कि पूर्व दिशा की ओर मुख करके तथा समाहित (दत्तचित) होकर हाथ से मलकर निरूह तैयार करे। सबसे पहले दो प्रसृत मधु डालना चाहिये। उसमें आधा कर्ष (आधा तोला) सैन्धवनमक तथा मधु के समान अर्थात् दो प्रसृत तैल डालना चाहिये। उसमें एक प्रसृत कल्क तथा कल्क से चौगुना अर्थात् चार प्रसृत क्वाथ द्रव्य मिलाये। इसमें दो प्रसृत मांस निर्यूह (मांसरस) तथा एक प्रसृत गोमूत्र डाले। इसप्रकार कुल १२ प्रसृत बस्तिद्रव्य होता है। बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिये कि इन सबको खोंचे के द्वारा खूब मथकर यथार्थरूप में तथा यथाविधि बस्ति तैयार करे। इसी प्रकार चरक सि. अ. ३ में तथा सुश्रुत चि. अ. ३८ में भी कहा है ॥ ३६-३८ ॥

स्याच्चेद्विवक्षा द्रव्याणां प्रक्षेपं प्रति कस्यचित् ॥ ३९ ॥
तत्र वाच्यमिदं व्यस्तक्रमसंयोगकारणम् ।

यदि किसी व्यक्ति को द्रव्यों के प्रक्षेप के विषय में जिज्ञासा हो तो उन द्रव्यों के मिलाने के क्रम के विषय में निम्न वक्तव्य है। अर्थात् बस्तिमें द्रव्यों के मिलाने के उपर्युक्त क्रम के विषय में किसी को ज्ञातव्य हो कि उपर्युक्त द्रव्य इसी क्रम से ही क्यों मिलाये जाते हैं तो उसका उत्तर निम्न है ॥ ३९ ॥

मङ्गल्यं मङ्गलार्थाय मधु पूर्वं निषिच्यते ॥ ४० ॥
पैच्छिल्यं बहुलत्वं च कषायत्वं च माक्षिके ।
भिनत्ति लवणं तैक्ष्ण्यात् सङ्घातं च नियच्छति ॥४१॥
मधुनोऽनन्तरं तस्माल्लवणांशो निषिच्यते ।२५
ततस्तैलं विनिक्षिप्तमेकीभावाय कल्पते ॥ ४२ ॥
कल्कः संसृज्यते चाशु क्वाथश्च समतां व्रजेत् ।
स्नेहकल्ककषायाणामेवं संमूर्च्छने कृते ॥ ४३ ॥
मूत्रं पटुत्वं कुरुते वीर्यं चोद्भावयत्यपि ।
सम्यगेवं विमृदितः स्रोतोभ्यः कफमारुतौ ॥ ४४ ॥
विष्यन्दयति पित्तं च क्षिप्रं चैव हरत्यपि ।
अतोऽन्यथा मृद्यमानो न श्लेषमधिगच्छति ॥ ४५ ॥

मधु मङ्गलकारी (शुभ) द्रव्य माना गया है इसलिये मङ्गल (शुभ) की दृष्टि से मधु सबसे पहले डाला जाता है। मधु की पिच्छिलता बहुलता तथा कषायपने को तीक्ष्ण गुण के कारण लवण नष्ट कर देता है तथा उनका संघात बना देता है-इसलिये मधु के बाद उसमें लवण डाला जाता है। इसके बाद उसमें जो तैल डाला जाता है वह सम्पूर्णद्रव्यों में एकीभाव-एकात्मता उत्पन्न कर देता है अर्थात् तैल के कारण सब द्रव्यों में एकात्मता उत्पन्न हो जाती है (वे सब परस्पर अच्छी प्रकार मिल जाते हैं)। कल्क का शीघ्र ही संसर्जन हो जाता है तथा क्वाथ समरूप में हो जाता है। इसीलिये स्नेह (तैल), कल्क तथा कषाय (क्वाथ) को इसमें डाला जाता है। इसमें डाला हुआ मूत्र इसकी पटुता (गुणवृद्धि) को करता है तथा इसके वीर्य (शक्ति) को बढ़ाता है। इसप्रकार ठीक ढङ्ग से मथ कर तैयार की हुई बस्ति स्रोतों से कफ, वायु तथा पित्त को शीघ्र ही निकाल देती है। तथा इससे विपरीत मथकर तैयार की हुई बस्ति ठीक प्रकार से मिल नहीं पाती है ४०-४५

असम्यङ्मथितः श्लिष्टो बस्तिर्नार्थाय कल्पते ।
तत एष क्रमो दृष्टो निरूहस्योपयोजने ॥ ४६ ॥

ठीक प्रकार से न मथी हुई तथा परस्पर ठीक प्रकार से न मिली हुई बस्ति अपने प्रयोजन को सिद्ध नहीं करती है अर्थात् सम्यक् कार्य नहीं करती है। इसीलिये निरूह बस्तिकी योजना में उपर्युक्त क्रम दिया गया है ॥ ४६ ॥

प्रमाणं च प्रकृष्टस्य प्रसृतेर्यदुदाहृतम् ।
तस्मात् प्रमाणादुत्कर्षो (वयोबलव)दिष्यते ॥ ४७ ॥
अपकर्षस्तु कर्तव्यः संप्रधार्य वयोबलम् ।
गुणतस्तूभयत्वेन दृष्ट्वा व्याधिबलाबलम् ॥ ४८ ॥

यह ऊपर प्रकृष्ट प्रसृति का प्रमाण दिया गया है। इस प्रमाण में रोगी की अवस्था तथा बल के अनुसार वृद्धि की जा सकती है। मात्रा में कभी भी रोगी की अवस्था तथा बल के अनुसार ही करनी चाहिये। इस प्रकार रोग के बलाबल को भी देखकर मात्रा में वृद्धि अथवा कमी करनी चाहिये। इसी प्रकार सुश्रुत चि. अ. ३८ में भी कहा है ॥ ४७-४८ ॥

उत्कर्षणं यदङ्गेन तदङ्गेनापकर्षयेत्[१] ।
शीतोष्णस्निग्धरूक्षाणां द्रव्याणामुपकल्पयेत् ॥ ४९ ॥

शीत, उष्ण, स्निग्ध तथा रूक्ष द्रव्यों में जिस क्रम से मात्रा में वृद्धि की जाती है उसी क्रम से उसमें ह्रास (कमी) भी करनी चाहिये ॥ ४९ ॥

स्वाद्वम्ललवणोष्णानामुत्कर्षं नातिमात्रशः ।
वातव्याधौ भिषक्कुर्यात् स्नेहस्य तु विधापयेत् ॥५०॥
रूक्षाणां शीतवीर्याणामपकर्षं च युक्तितः ।

चिकित्सक को वातव्याधि में स्वादु (मधुर), अम्ल, लवण तथा उष्ण द्रव्यों की अधिक मात्रा में वृद्धि नहीं करनी चाहिये। स्नेह को समावस्था में रखना चाहिये तथा रूक्ष एवं शीतवीर्य द्रव्यों में युक्तिपूर्वक कमी कर देनी चाहिये ॥ ५० ॥

स्वादुतिक्तकषायाणां व्याधौ पित्तोत्तरे भिषक् ॥ ५१ ॥
उत्कर्षमपकर्षं तु कुर्यात्तीक्ष्णोष्णयोस्तथा ।

पित्त प्रधान व्याधि में चिकित्सक को स्वादु, तिक्त एवं कषाय द्रव्यों में वृद्धि तथा तीक्ष्ण और उष्ण द्रव्यों में कमी कर देनी चाहिये ॥ ५१ ॥

तीक्ष्णोष्णरूक्षद्रव्याणामुत्कर्षं तु कफोत्तरे ॥ ५२ ॥

कफप्रधान व्याधि में तीक्ष्ण, उष्ण तथा रूक्ष द्रव्यों की वृद्धि कर देनी चाहिये ॥ ५२ ॥

विपर्ययं विपर्यये गुणानां च प्रकल्पयेत् ।
संसृष्टदोषे संसृष्टगुणद्रव्याणि योजयेत् ॥ ५३ ॥

विपरीत अवस्था में विपरीत गुणों की वृद्धि करनी चाहिये तथा संसृष्ट (मिले हुए) दोषों में संसृष्ट (मिश्रित) गुणों-वाले द्रव्यों की योजना करनी चाहिये। अर्थात् जिस रोग में जिन दोषों की वृद्धि हुई हो उनमें उससे विपरीत गुणवाले द्रव्यों की वृद्धि करनी चाहिये। भगवान् आत्रेय के 'वृद्धिः समानैः सर्वेषां विपरीतैर्विपर्ययः' के अनुसार समान गुण के द्वारा उस दोष की वृद्धि एवं विपरीत गुण के द्वारा उसकी शान्ति होती है इसलिये जिस दोष को शान्त करना हो उसके लिये उससे विपरीत गुण वाले द्रव्यों की योजना करनी चाहिये। इसीलिये चरक सू. अ. में तीनों दोषों के पृथक् २ गुणों का निर्देश करके उन्हें शान्त करने के लिये उनसे विपरीत गुणयुक्त द्रव्यों का प्रयोग दिया गया है। इसी प्रकार यदि दो दोषों का मिश्रित प्रकोप है तो उन्हें शान्त करने के लिये ऐसे द्रव्य देने चाहिये जो मिश्रित रूप से उन दोषों के विपरीत गुणवाले हों। अर्थात् यदि वात और पित्त दोनों सम्मिलित रूप से बढ़े हुए हों तो उनकी शान्ति के लिये ऐसे द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये जो सम्मिलित रूप से वात और पित्त के गुणों से विपरीत हों ॥ ५३ ॥

आस्थापनं दुष्प्रयुक्तं भवत्याशीविषोपमम् ।
सुप्रयुक्तं तदेवेह प्राणिनाममृतोपमम् ॥ ५४ ॥

यदि आस्थापन (निरूह) बस्ति का ठीक प्रकार से प्रयोग न किया जाये तो वह सर्पविष के समान है। ठीक प्रकार से प्रयुक्त होने पर वही प्राणियों के लिये अमृत के समान गुणकारी होती है। अर्थात् यदि आस्थापन बस्ति का ठीक प्रकार से प्रयोग नहीं किया जायेगा तो वह लाभ के स्थान पर उलटा सर्पविष के समान भयंकर (घातक) होती है। यदि उसका ठीक प्रकार से विवेचना करके प्रयोग किया जायेगा तो वह अमृत के समान गुणकारी होती है ॥ ५४ ॥

प्रायो यत्र गुणाधिक्यं सम्यग्योगेन लक्ष्यते ।
तदप्रमादं कुर्वीत बस्तिकर्मणि बुद्धिमान् ॥ ५५ ॥

बुद्धिमान व्यक्ति को चाहिये कि सम्यक् योग के द्वारा प्रायः जो २ वस्तु अधिक गुणकारी दिखाई दे, उस २ का प्रमादरहित होकर बस्तिकर्म में प्रयोग करे ॥ ५५ ॥

न हि तादृग्विधं किञ्चित् कर्मान्यदुपपद्यते ।
क्षिप्रं रोगाभिघाताय रोगाणां चोपपत्तये ॥ ५६ ॥

रोगों को शीघ्र ही नष्ट करने के लिये तथा नये उत्पन्न करने के लिये आस्थापन बस्ति के सदृश अन्य कोई कर्म नहीं है। यदि इसका ठीक प्रकार से प्रयोग किया जाय तो यह शीघ्र ही रोगों को नष्ट कर देती है तथा यदि विपरीत प्रयोग किया जायगा तो यह शीघ्र ही रोगों को उत्पन्न कर देती है। अर्थात् यह सम्यक् प्रयोग के द्वारा जहां शीघ्र ही रोगों को नष्ट करती है वहां विपरीत प्रयोग के द्वारा रोगों को भी उतना ही शीघ्र उत्पन्न करती है ॥ ५६ ॥

व्याध्यातुराग्निभैषज्यबलं प्रकृतिमेव च ।
वयः शरीरमौचित्यं सौकुमार्यं सहिष्णुताम् ॥ ५७ ॥
प्रधार्य बुद्ध्या मतिमाँस्तत्तत्कर्मविचारणम् ।
अवस्थायामवस्थायां कुर्यात् सम्यगतन्द्रितः ॥ ५८ ॥

बुद्धिमान व्यक्ति को चाहिये कि रोग, रोगी की जाठराग्नि, औषध, बल, प्रकृति, अवस्था, शरीर, औचित्य, सुकुमारता, तथा सहिष्णुता का बुद्धिपूर्वक विचार करके प्रमादरहित होकर सम्यक् प्रकार से उस २ अवस्था में उस २ कर्म को करे। अर्थात् रोगी के रोग तथा उसकी जाठराग्नि, बल, औषध, प्रकृति, शरीर, सुकुमारता तथा सहिष्णुता आदि को देखकर जिस २ अवस्था में जो २ कर्म (चिकित्सा आदि) आवश्यक हो वह करना चाहिये ॥ ५७-५८ ॥

नातिशीतं न चात्युष्णं नातितीक्ष्णं नचेतरम्(त्) ।
नातिरूक्षमतिस्निग्धं नातिसान्द्रं न च द्रवम् ॥ ५९ ॥
नातिमात्रं न चात्यल्पं निरूहमुपकल्पयेत् ।

निरूहबस्ति का प्रयोग—अत्यन्त शीत, अत्यन्त उष्ण, अत्यन्त तीक्ष्ण, अत्यन्त मृदु, अत्यन्त रूक्ष, अत्यन्त स्निग्ध,

१. येन क्रमेण मात्रोत्कर्षः क्रियते तेनैव क्रमेण मात्राह्रासं कुर्यादित्यर्थः ।

अत्यन्त सान्द्र, अत्यन्त द्रव, अत्यन्त अधिक मात्रा में तथा अत्यन्त थोड़ी मात्रा में निरूह बस्ति का प्रयोग नहीं करना चाहिये ॥ ५९ ॥

अतिशीतोऽतिशैत्येन स्कन्नो वातबलावृतः ॥ ६० ॥
भृशं स्तम्भयते गात्रं कृच्छ्रेण च निवर्तते ।
अत्युष्णः कुरुते दाहं मूर्च्छां चाशु निरेति च ॥ ६१ ॥

प्रत्येक का पृथक् २ हेतु—अत्यन्त शीतल बस्ति अधिक शीतलता (ठण्ड) के कारण जमकर वायु के बल से आवृत हो जाती है जिससे शरीर और भी जकड़ जाता है तथा वह शरीर से वापिस भी कठिनता से लौटती है तथा अत्यन्त उष्ण बस्ति दाह पैदा करती है तथा शीघ्र ही शरीर में मूर्च्छा पैदा कर देती है ॥

अतितीक्ष्णस्तथैवास्य जीवादानं करोति वा ।
मन्दो न दोषान् हरति दूषयत्येव केवलम् ॥ ६२ ॥

अत्यन्त तीक्ष्ण बस्ति शरीर से जीवरक्त (शुद्ध रक्त) को प्रवाहित कर देती है तथा अत्यन्त मन्द बस्ति शरीर से दोषों को नष्ट नहीं करती है अपितु शरीर को और भी दूषित कर देती है । इसी प्रकार चरक सि. अ. ६ में भी कहा है । जीवरक्त का रक्तपित्त में आनेवाले रक्त से भ्रम हो सकता है । उनकी भेदक पहचान चरक सि. अ. ६ में लिखा है । अर्थात् उसके दो भेद दिये हैं । १-उस रक्त से अन्न को मिश्रित करके कौये या कुत्ते को दिया जाय । यदि वे उसे खा जायें तो जीवरक्त (शुद्ध रक्त) जाने अन्यथा रक्तपित्त जानें । २- इस रक्त से एक श्वेत वस्त्र को गीला करके सुखा देवें । सूख जाने पर उसे ईषदुष्ण जल से धो डालें । यदि विवर्ण हो जाये तो रक्तपित्त तथा शुद्ध हो जाये तो जीवरक्त जानें ॥ ६२ ॥

कर्षयत्यतिरूक्षश्च मारुतं च प्रकोपयेत् ।
स्निग्धोऽतिजाड्यं कुरुते व्यापादयति चानलम् ॥ ६३ ॥

अत्यन्त रूक्ष बस्ति शरीर का अत्यन्त कर्षण करती है तथा वायु को प्रकुपित कर देती है । और अत्यन्त स्निग्ध बस्ति शरीर में जड़ता उत्पन्न कर देती है तथा वह शरीर की जाठराग्नि को नष्ट कर देती है ॥ ६३ ॥

स्तम्भयत्यतिसान्द्रस्तु न वा नेत्रा[1]द्विनिष्क्रमेत् ।
अतिद्रवोऽल्पवीर्यत्वादयोगायोपपद्यते ॥ ६४ ॥

अत्यन्त सान्द्र (Concentrated) बस्ति शरीर में जम जाती है अथवा वह गाढ़ी होने से बस्तिनेत्र (Nozzle) से ही बाहर नहीं निकल सकती है । अत्यन्त द्रव (Dilute) बस्ति अल्पवीर्य होने के कारण शरीर में अयोग के लक्षण उत्पन्न कर देती है अर्थात् उस ओषधि का पूरा प्रभाव ही नहीं होता है । अयोग से अभिप्राय यह है कि ओषधि का या तो बिलकुल प्रभाव न हो या थोड़ा प्रभाव हो अथवा उसका विपरीत प्रभाव हो अर्थात् बस्ति द्वारा दी हुई ओषधि ऊपर की ओर गति करे तथा वमन आदि ले आये ॥ ६४ ॥

[1] बस्तिनेत्रादित्यर्थः ।

अल्पमात्रो न(चा)प्येति कृच्छ्राद्वाऽपि निवर्तते ।
अतिमात्रोऽतियोगाय तस्माद्देते विगर्हिताः ॥ ६५ ॥

अल्प मात्रा में दी हुई बस्ति वापिस लौटकर नहीं आती है अथवा कठिनता से वापिस लौटती है । अधिक मात्रा में दी गई बस्ति अतियोग के लक्षण को उत्पन्न कर देती है । इसलिये उपर्युक्त अतिशीत, अत्युष्ण आदि बस्ति के सब दोष निन्दित माने गये हैं । चरक सि. अ. ३ में तथा सुश्रुत में भी उपर्युक्त दोषों का वर्णन किया गया है ॥ ६५ ॥

यथावन्मूर्च्छितो मृ[1]त्स्नो भोज्योष्णलवणः समः ।
(इति ताडपत्रपुस्तके २१८ तमं पत्रम्)
बालकाष्ठौष्ठजिह्वानां योनिदाहप्रवर्तकः ॥ ६६ ॥

सम्यक् प्रकार से मसलकर चिकनी की हुई बस्ति को उष्ण करके तथा समभाग मात्रा में लवण डालकर सेवन करने से वह बल कोष्ठ, ओष्ठ, जिह्वा तथा योनि में दाह उत्पन्न नहीं करती है ।

वक्तव्य—यहां 'बालकाष्ठौष्ठजिह्वानां योनिदाहप्रवर्तकः' के स्थान पर यदि 'बलकोष्ठौष्ठजिह्वानां योनिदाहाप्रवर्तकः' यह पाठ होता तो अधिक ठीक अर्थ हो सकता है । उसी पाठ के अनुसार उपर्युक्त अर्थ किया है ॥ ६६ ॥

श्रोणिबस्तिकटीपार्श्वनाभिमूलोदराश्रितः ।
सम्यक्समुच्छ्रयं कृत्स्नं वीर्यतः प्रतिपद्यते ॥ ६७ ॥

यह बस्ति—श्रोणि, बस्ति (Bladder), कटी, पार्श्व, नाभिमूल तथा उदर में सम्यक् प्रकार से आश्रित हुई अपने वीर्य के द्वारा पूर्णरूप से ऊपर तक पहुंच जाती है अर्थात् कोष्ठ के द्वारा शरीर के ऊर्ध्वभाग में पहुंच जाती है ॥ ६७ ॥

ऊर्ध्वभागैर्बलात् क्षिप्तो मारुतैरिव पावकः ।
पित्तस्थानमतिक्रम्य स्वल्पमाक्षिपते कफम् ॥ ६८ ॥

शरीर के ऊर्ध्वभागों में स्थित वायु के द्वारा मानों बलपूर्वक फेंकी गई अग्नि पित्त स्थान का अतिक्रमण करके थोड़ा कफ को व्याप्त कर लेती है ॥ ६८ ॥

तीक्ष्णो मात्राशतादूर्ध्वं नातितीक्ष्णः (प्रयुज्यते) ।
न तिष्ठति, मृदुस्तिष्ठत्यधिकं वाऽपि यापनः ॥ ६९ ॥

तीक्ष्ण बस्ति १०० मात्रा से अधिक शरीर में नहीं ठहरती है इसलिये अत्यन्त तीक्ष्ण बस्ति प्रयुक्त नहीं करनी चाहिये । इसके विपरीत मृदु या यापन बस्ति शरीर में बहुत देर तक स्थित रहती है ॥ ६९ ॥

आनुलोम्यादपानस्य गुदस्यारोपणाद् भृशम् ।
तद्द्वितीयस्तृतीयो वा कालमल्पतरं तथा ॥ ७० ॥
दोषान् स्थूलांश्च सूक्ष्मांश्च गम्भीराननुगतानपि ।
विष्यन्दयति विषर्णान् (ष्टब्धान्) सपुरीषान् प्रकर्षति ॥

[1] मसृण इत्यर्थः ।

अपान वायु के अनुलोम होने से तथा गुदा के अत्यन्त समीप होने के कारण थोड़ी देर के बाद दी हुई दूसरी या तीसरी बस्ति शरीर में विष्टब्ध हुए स्थूल, सूक्ष्म तथा गम्भीर धातुओं में प्रविष्ट हुए दोषों को भी मलसहित निकाल कर बाहर कर देती है ॥ ७०-७१ ॥

न कुर्याद्व्यापदः काश्चित् सुखेन च निवर्तते ।
युक्तो युक्तेन भिषजा स बस्तिः संप्रशस्यते ॥ ७२ ॥

श्रेष्ठ बस्ति—जो बस्ति शरीर में कोई उपद्रव उत्पन्न न करे, सुखपूर्वक शरीर से बाहर वापिस आ जाये तथा जो योग्य चिकित्सक के द्वारा प्रयुक्त की गई हो वह प्रशस्त मानी गई है। चरक सि. अ. १ में प्रशस्त बस्ति के लक्षण दिये हैं ॥७२॥

वयसः स्थापनो वृष्यः स्वरवर्णबलाग्निकृत् ।
वातपित्तकफानां च मलानां चापकर्षणः ॥ ७३ ॥
बालवृद्धवयस्थानां क्षिप्रमूर्जस्करः परम् ।
सर्वेन्द्रियाणां वैशद्यं कुरुते चाङ्गमार्दवम् ॥ ७४ ॥
एवमेते समाख्याता निरूहस्य गुणागुणाः ।

बस्ति वयःस्थापक (आयु को स्थिर करने वाली) एवं वृष्य है, स्वर, वर्ण, बल और अग्नि को बढ़ाने वाली है, वात, पित्त तथा कफ रूप दोषों और मलों का अपकर्षण करती (शरीर से बाहर निकालती) है, बाल, वृद्ध तथा युवा व्यक्तियों में शीघ्र ही बल को बढ़ाने वाली है, सब इन्द्रियों को विशद (निर्मल) करती है तथा शरीर के अङ्गों को मृदु कर देती है। इस प्रकार ऊपर निरूह बस्ति के गुण तथा दोष कहे गये हैं ॥ ७३-७४ ॥

पुरीषं मारुतः पित्तं कफश्च क्रमशो यदा ॥ ७५ ॥
प्रवर्तन्ते च फेनं च शङ्खस्फटिकसन्निभम् ।
सम्यङ्निरूढगात्राणां मार्दवं जनयेत् परम् ॥ ७६ ॥
अन्नाभिलाषो वैशद्यं लघुता वाऽथ मार्दवम् ।
सृष्टविण्मूत्रवातत्वमिन्द्रियाणां प्रसन्नता ॥ ७७ ॥

निरूह के सम्यक् योग के लक्षण—यदि निरूह का सम्यक् योग हुआ हो तो क्रमशः पुरीष (मल), वायु, पित्त तथा कफ निकलते हैं तथा उनके बाद शङ्ख तथा स्फटिक के समान (सफेद) झाग निकलते हैं अर्थात् सम्यक् प्रकार से प्रयुक्त निरूह बस्ति में सर्वप्रथम मल निकलना चाहिये तथा उसके बाद क्रमशः आंतों में से वायु फिर पक्वाशय में से पित्त तथा आमाशय में से कफ का निःसरण होता है तथा अन्त में सफेद झाग निकलते हैं। तथा सम्यक् निरूह हो जाने पर शरीर अत्यन्त मृदु हो जाता है, अन्न में रुचि उत्पन्न होती है, शरीर विशद, लघु तथा मृदु हो जाता है, मल-मूत्र तथा वायु ठीक प्रकार से सरते हैं (निकल जाते हैं) तथा सम्पूर्ण इन्द्रियां प्रसन्न हो जाती हैं ॥ ७५-७७ ॥

अयोगे विपरीतं स्यादतियोगेऽतिवर्तनम् ।
कफपित्तासृजां मांसप्रक्षालननिभस्य वा ॥ ७८ ॥
हिक्का कम्पस्तृषा ग्लानिर्गात्रभेदस्तमः क्लमः ।
निद्रानाशः प्रलापश्च यत्र चाप्युपजायते ॥ ७९ ॥

अयोग के लक्षण—निरूह के अयोग में इससे विपरीत लक्षण होते हैं अर्थात् उसमें पुरीष, वायु आदि के निकलने का क्रम उपर्युक्त नहीं रहता है, शरीर मृदु नहीं होता, अन्न में रुचि उत्पन्न नहीं होती, शरीर विशद तथा मृदु नहीं होता है उसके मल-मूत्र तथा वायु ठीक तरह से नहीं सरते हैं तथा इन्द्रियां प्रसन्न नहीं होती हैं। इसी प्रकार चरक सि. अ. १ में भी कहा है।

अतियोग के लक्षण—यदि निरूह का अतियोग हो जाये तो शरीर से कफ, पित्त तथा रक्त अथवा मांस के धोवन के समान जल अधिक मात्रा में निकलता है तथा हिक्का, कम्पन, प्यास, ग्लानि, अङ्गभेद, तम (तमोगुण की प्रधानता), क्लम (थकावट), निद्रानाश तथा प्रलाप आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। चरक सि. अ. १ में कहा है कि-निरूह के अतियोग के वे ही लक्षण होते हैं जो विरेचन के अतियोग के होते हैं। विरेचन के अतियोग के लक्षण पहले कहे जा चुके हैं ॥ ७८-७९ ॥

सम्यङ्निरूढमाश्वस्तं परिषिक्तं सुखाम्बुना ।
तनु वा(ना) भोजयेन्मात्रां जाङ्गलानां रसेन वा ॥८०॥

सम्यक् प्रकार से निरूह हो जाने पर रोगी को आश्वासन देकर तथा ईषदुष्ण जल से उसका परिषेचन करके उचित मात्रा में पतले जांगल मांसरस के द्वारा भोजन कराये। निरूहबस्ति में विरेचन के समान अग्नि मन्द नहीं होती है इसलिये इसमें पेयादि संसर्जन क्रम की विशेष आवश्यकता नहीं होती है। इसमें प्रारम्भ से ही जांगल मांसरस दिया जा सकता है। वमन, विरेचन के बाद पेयादि क्रम की आवश्यकता होती है क्योंकि उसमें रोगी की अग्नि मन्द हो जाती है ॥ ८० ॥

भुक्तवन्तं च तैलस्य प्रसृतेनानुवासयेत् ।
वायुः प्रशाम्यते तेन निरूहेण प्रचालितः ॥ ८१ ॥

जांगल मांसरस का भोजन करने के बाद उस व्यक्ति को एक प्रसृत तैल के द्वारा अनुवासन (स्नेहबस्ति) देनी चाहिये। इससे शरीर में निरूहबस्ति के द्वारा विचलित हुआ वायु शान्त हो जाता है। अर्थात् निरूह बस्ति के द्वारा शरीर में वायु विक्षुभित हो जाता है उसकी शान्ति के लिये अनुवासन (स्नेह) बस्ति का प्रयोग करना चाहिये॥८१॥

आस्थापनो बस्तिरयं गुदनिर्वापणं नरः ।
एकान्तरं ततश्चोर्ध्वं यथोक्तमनुवासनम् ॥ ८२ ॥

आस्थापन (निरूह) बस्ति देकर एक अथवा एक से अधिक दिन के बाद रोगी की गुदा का निर्वापण करने वाला अनुवासन (स्नेह बस्ति) देना चाहिये। चरक सि. अ. १ में भी कहा है कि-निरूह के बाद यदि वायु अत्यन्त प्रबल हो

तो तीसरे दिन अन्यथा पांचवें दिन अनुवासन देना चाहिये। यदि रोगी की अग्नि मन्द न हो तो उसी दिन भी अनुवासन कराया जा सकता है ॥ ८२ ॥

दीप्ताग्नेर्दृढदेहस्य सोदावर्ते विमार्गगे ।
श्रोणिवङ्क्षणसंस्थे च वाते शस्तं दिने दिने ॥ ८३ ॥

प्रतिदिन अनुवासन किसे देना चाहिये ?—जिस व्यक्ति की जाठराग्नि प्रदीप्त हो, शरीर दृढ हो, उदावर्त हुआ हो, वायु विपरीत मार्ग में गया हुआ हो अथवा श्रोणि तथा वंक्षण (groin) में स्थित हो तो उसे प्रतिदिन अनुवासन दिया जा सकता है । अष्टाङ्गसंग्रह सू. अ. २८ में कहा है कि-जिनकी अग्नि प्रदीप्त हो, जो रूक्ष हों, वायु की प्रधानता हो तथा नित्य व्यायाम करते हों उन्हें प्रतिदिन अनुवासन कराया जा सकता है। अन्यथा तीसरे या पांचवें दिन कराना चाहिये॥

तस्य पक्वाशयगतः स्नेहमात्रां प्रभञ्जनः ।
बलवान् बलवत्यग्नौ वारिवत् स विशोधयेत् ॥८४॥

उस रोगी के पक्वाशय में स्थित वायु यदि बलवान् हो तथा उसकी जाठराग्नि भी बलवान् हो तो उसे मात्रा में स्नेह देना चाहिये । वह स्नेह उस वायु का पानी की तरह शोधन कर देता है अर्थात् जिस प्रकार पानी वायु का शोधन कर देता है उसी प्रकार स्नेह (तैल) भी वायु का शोधन कर देता है। पानी के अन्दर से यदि वायु छनकर गुजरे तो उसकी सब अशुद्धियां पानी अपने में जज्ब (Absorb) कर लेता है उसी प्रकार तैल में भी यही गुण विद्यमान है ॥ ८४ ॥

न च तैलात् परं किञ्चिद्द्रव्यमस्त्यनिलापहम् ।
स्नेहाद्रौक्ष्यं गुरुत्वाच्च लघुत्वं मारुतस्य तु ॥ ८५ ॥
औष्ण्याच्छैत्यं निहन्त्याशु तैलं पुष्टिं करोति च ।
मनःप्रसादः(दं) स्नेहं च बलवर्णमथापि च ॥ ८६ ॥

अनुवासन के गुण—तैल से बढ़कर वायु (वातप्रकोप अथवा वायु के रोग) को नष्ट करने वाला कोई द्रव्य नहीं है। इसी प्रकार चरक सि. अ. १ में कहा है। तैल के गुण— तैल स्नेह होने से वायु की रूक्षता, गुरु होने से वायु की लघुता तथा उष्ण होने से वायु की शीतलता का शीघ्र ही नाश करके शरीर की पुष्टि, मन की प्रसन्नता तथा बल और वर्ण की वृद्धि करता है। इसी प्रकार चरक सि. अ. १ में कहा है ॥ ८५-८६ ॥

स्यात् स्निग्धविटपस्कन्धः कोमलाङ्कुरपल्लवः ।
मूले सिक्तो यथा वृक्षः काले पुष्पफलप्रदः ॥ ८७ ॥
स्नेहबस्तेर्नरस्तद्वद् दृढकायो दृढप्रजः ।
वातात्मकैर्विकारैश्च पूर्वोक्तैर्नाभिभूयते ॥ ८८ ॥

जिस प्रकार जड़ को सींचने से वृक्ष की शाखायें तथा तना स्निग्ध (गीला-हरा) रहता है, उसमें कोमल अङ्कुर तथा नवीन पत्ते आने लगते हैं और उचित समय पर वह फूलों तथा फलों से युक्त हो जाता है। उसी प्रकार स्नेहबस्ति (अनुवासन बस्ति) के द्वारा मनुष्य दृढ शरीर तथा हृष्ट-पुष्ट सन्तान वाला हो जाता है तथा पूर्वोक्त वातविकारों के द्वारा वह आक्रान्त नहीं होता है। इसी प्रकार चरक सि. अ. १ में भी कहा है ॥ ८७-८८ ॥

पञ्चमूलाढकेऽध्यर्धं फलानामाढकं भवेत् ।
यवकोलकुलत्थानां कुडवाः स्युस्त्रयः पृथक् ॥ ८९ ॥
चतुर्भागावशिष्टं तु पश्चादष्टगुणे जले ।
मस्तुनश्चाढकेनैतत्तैलप्रस्थं विपाचयेत् ॥ ९० ॥
कुष्ठस्य शतपुष्पाया वचाया मधुकस्य च ।
कुटजस्य च बीजानां बीजानां मदनस्य च ॥ ९१ ॥
यवान्याः पिप्पलीनां च हरेण्वा देवदारुणः ।
बिल्वस्य देवपुष्पस्य रास्नाया मुस्तकस्य च ॥ ९२ ॥
सूक्ष्मैलायाः प्रियङ्ग्वाश्च भागैरक्षसमैः पृथक् ।
सिद्धं सुलवणं पूतं निदध्याद्भाजने शुचौ ॥ ९३ ॥
एतन्मन्दनिरूढानां बस्तिव्यापत्सु चोत्तमम् ।
फलतैलमिति ख्यातमुदावर्तनिवर्तनम् ॥ ९४ ॥
तथैवोदरिणां सिद्धं गुल्मिनां क्रिमिकोष्ठिनाम् ।
पृष्ठश्रोण्यूरुजङ्घासु वातेष्वप्रगुणेषु च ॥ ९५ ॥
निरूहसाध्या ये केचिद्विकाराः समुदाहृताः ।
ताञ्जयेद्बस्तिनाऽनेन मूत्राघातांश्च नाशयेत् ॥ ९६ ॥

फल तैल का निर्माण तथा उपयोग-लघुपञ्चमूल १ आढक (२५६ तोले), मदनफल १½ आढक (३८४ तोले), यव, कोल (बेर) तथा कुलत्थ-पृथक् २ तीन कुडव (१६×३= ४८ तोले)-इन्हें अष्टगुण जल में पकाकर चतुर्थांश शेष रखें। इसमें १ आढक दधिमस्तु (दही के ऊपर का पानी) तथा एक प्रस्थ (६४ तोले) तिल तैल डालें। इसमें कुष्ठ, सौंफ, बच, मुलहठी, कुटज के बीज (इन्द्रजौ), मैनफल के बीज, अजवायन, पिप्पली, हरेणु, देवदारु, बिल्व, लौंग, रास्ना, नागरमोथा, छोटी इलायची तथा प्रियङ्गु—सब पृथक् २ एक २ अक्ष (एक २ तोला) डालकर तैल सिद्ध करके इसमें बारीक पीसकर छना हुआ नमक डालकर साफ बर्तन में रख दें। यह फल तैल कहलाता है। यह तैल जिन्हें ठीक प्रकार से निरूह बस्ति नहीं दी गई हो, जिन्हें बस्ति के कारण उपद्रव हो गये हों तथा उदावर्त रोगों को नष्ट करने में उत्तम मानी गई है। इसी प्रकार उदररोगी, गुल्मरोगी, जिनके पेट में कृमिरोग हो, पृष्ठ, श्रोणि, ऊरु तथा जङ्घाओं में यदि वायु प्रकुपित हुआ हो, निरूहसाध्य (निरूह के द्वारा अच्छे होने वाले विकार तथा मूत्राघात आदि रोगों का उपर्युक्त बस्ति (स्नेहबस्ति) के द्वारा शमन करे ॥ ८९-९६ ॥

एरण्डमूलत्रिफलाबलारास्नापुनर्नवाः ।
गुडूच्यारग्वधो दारु पलाशो मदनं फलम् ॥ ९७ ॥
मूलं तुरङ्गगन्धायाः पञ्चमूलं कनीयसम् ।
पलप्रमाणान्येतानि जलद्रोणे विपाचयेत् ॥ ९८ ॥
अष्टभागावशेषं तं परिपूतं समाहरेत् ।

कर्षप्रमाणान्येतानि श्लक्ष्णपेष्याणि कारयेत् ॥ ९९ ॥
शताह्वा मधुकं मुस्ता प्रियङ्गुर्हपुषा वचा ।
रसाञ्जनं तार्क्ष्यशैलं पिप्पल्यः कौटजं फलम् ॥१००॥
खजेन मथितः कोष्णः सतैलमधुसैन्धवः ।
समूत्रमांसनिर्यूहो निरूहः साधुयोजितः ॥ १०१ ॥
लेखनो दीपनो बल्यो ग्रहण्यर्शोविकारनुत् ।
पार्श्वपृष्ठकटीशूलं पार्श्वजङ्घोरुजा रुजः ॥ १०२ ॥
एरण्डबस्तिः शमयेन्मारुतं च कफावृतम् ।
युक्तमात्रोष्णलवणः स्नेहबस्तिर्विधीयते ॥ १०३ ॥

एरण्डबस्ति का निर्माण तथा प्रयोग-एरण्डमूल, त्रिफला, बला, रास्ना, पुनर्नवा, गिलोय, अमलतास, देवदारु, ढाक, मैनफल, अश्वगन्धा की जड़, लघु पञ्चमूल सब १ पल (४ तो०)। इन्हें १ द्रोण जल में पकाये। अष्टमांश शेष रहने पर उतार कर छान लें। इसमें-सौंफ, मुलहठी, नागरमोथा, प्रियङ्गु, हाऊबेर, बच, तार्क्ष्य पर्वत पर उत्पन्न होने वाला रसाञ्जन (रसौंत), पिप्पली, कुटजबीज (इन्द्रजौ) सब द्रव्य एक कर्ष प्रमाण में लेकर उनका सूक्ष्म चूर्ण करके इसमें डालकर खोंचे से मथ दें। इसमें गरम में ही तिलतैल, मधु, सैन्धवनमक, गोमूत्र तथा मांसरस अच्छी प्रकार मिलाकर निर्यूह तैयार करे। यह एरण्डबस्ति शरीर का लेखन करती है, अग्निदीपक तथा बल्य है और ग्रहणी, अर्शरोग, पार्श्वशूल, पृष्ठशूल, कटीशूल एवं पार्श्व, जङ्घा और ऊरुमें वेदना को नष्ट करती है। इसी स्नेहबस्ति को यदि योग्य मात्रा में उष्ण कर लिया जाय तथा उसमें नमक मिला दिया जाय तो यह कफावृत वायुरोग को नष्ट करती है ॥ ९७-१०३ ॥

समासतः स द्विविधस्तस्य मात्रा प्रचक्ष्यते ।
प्रकुञ्चः कन्यसी मात्रा, ततोऽध्यर्धा तु मध्यमा ॥१०४॥
(इति ताडपत्रपुस्तके २१९ तमं पत्रम्)।
उत्तमा द्विपला मात्रा मात्राबस्तौ तु भार्गव ! ।
अपस्तनस्यार्धपलं (लाऽ) परिहार्या निरत्यया ॥ १०५ ॥

संक्षेप से यह स्नेहबस्ति दो प्रकार की होती है। उसकी मात्रा का वर्णन किया जाता है। हे भार्गव (भृगुकुलोत्पन्न जीवक)! मात्राबस्ति में ह्रस्व मात्रा एक प्रकुञ्च, मध्यम मात्रा डेढ प्रकुञ्च तथा उत्तम मात्रा दो पल होती है। दूध न पीने वाले बालक के लिये यह आधा पल होती है। इसका निःशंक होकर सब अवस्थाओं में प्रयोग किया जा सकता है। इसमें किसी प्रकार के उपद्रव की आशंका नहीं होती है। चरक सि. अ. ४ में स्नेह की सब से ह्रस्व मात्रा के समान मात्राबस्ति बताई है। चरक में ६ घण्टे में जीर्ण होने वाली मात्रा को स्नेह की सब से छोटी मात्रा बताई है। इसके अतिरिक्त कहीं २ डेढ़ पल को स्नेह की ह्रस्व मात्रा बताया है। सुश्रुत चि. अ. ३५ में कहा है—'तस्यापि विकल्पोऽर्धार्धमात्राद-कृष्टोऽपरिहार्यो मात्राबस्तिः'। यहां ६ पल स्नेह की मात्रा वाली बस्ति को स्नेहबस्ति, ३ पल की मात्रा वाली स्नेहबस्ति को अनुवासन तथा डेढ़ पल की मात्रा वाली स्नेहबस्ति को मात्राबस्ति कहते हैं। इसी मात्राबस्ति की ओर यहां संकेत किया गया है। मात्राबस्ति का प्रयोग चरक सि. अ. ४ में निम्न अवस्थाओं में दिया है—कर्मव्यायामभाराध्वयानस्त्रीक-र्षितेषु च। दुर्बले वातभग्ने च मात्राबस्तिः सदा मतः ॥१०४-१०५॥

कर्षत्रयं त्रिवर्षस्य, चतुर्वर्षस्य वै पलम् ।
षड्वर्षस्य तु बालस्य स्व एव प्रसृतः स्मृतः ॥ १०६ ॥
द्वौ द्वौ द्वादशवर्षाणां चत्वारः प्रसृतास्तथा ।
देयाः षोडशकादीनां पूर्वाह्णे वाऽन्तरेषु च ॥ १०७ ॥
यावन्मध्यं वयो, वार्धे त्वपकर्षेद्यथाक्रमम् ।
समीक्ष्य देहदोषाग्निबलं प्रकृतिमेव च ॥ १०८ ॥

स्नेहबस्ति तथा निरूहबस्ति की मात्रा—तीन वर्ष तक के बालक के लिये स्नेहबस्ति की मात्रा ३ कर्ष (३ तोला) होती है। चार वर्ष के बालक के लिये एक पल (४ तोला), छै वर्ष के बालक के लिये १ प्रसृत (८ तोला), बारह वर्ष के बालकों के लिये दो २ प्रसृत (१६ तोला) तथा सोलह वर्ष से लेकर मध्य अवस्था तक पूर्वाह्ण तथा उसके बीच २ में ४ प्रसृत (३२ तोला) मात्रा देनी चाहिये। वृद्धावस्था में फिर रोगी के शरीर, दोष, अग्निबल तथा प्रकृति को देखकर इस मात्रा को यथाक्रम कम करे। अर्थात् जिस क्रम से वृद्धि की गई है उसी क्रम से मात्रा में कमी करनी चाहिये। बस्ति में जो स्नेह की मात्रा कही गई है, निरूह की मात्रा उससे तिगुनी होती है। चरक वि. अ. ८ में वय (अवस्था-उम्र) को निम्न तीन विभागों में विभक्त किया गया है—१-बाल्यावस्था २-मध्यमावस्था ३-वृद्धावस्था। तीस वर्ष तक बाल्यावस्था मानी गई है। ६० वर्ष तक मध्यम अवस्था तथा उसके बाद १० वर्ष तक (आयु पर्यन्त) वृद्धावस्था मानी गई है। अवस्था के अनुसार चरक सि. अ. ३ में निरूह की मात्रा इस प्रकार से दी है—प्रथम वर्ष में निरूह की मात्रा आधा प्रसृत (१ पल) होती है तदनन्तर १२ वर्ष तक प्रतिवर्ष आधा प्रसृत बढ़ती जाती है जिससे १२ वर्ष बालक के लिये ६ प्रसृत (१२ पल) मात्रा हो जाती है। इसके बाद प्रतिवर्ष १ प्रसृत मात्रा बढ़ाई जाती है जिससे १८ वर्ष की अवस्था में १२ प्रसृत (२४ पल) मात्रा हो जाती है। ७० वर्ष तक की आयु में यही मात्रा (१२ प्रसृत या २४ पल) अभीष्ट है अर्थात् इससे अधिक मात्रा नहीं दी जाती है। इसके बाद अर्थात् वृद्धावस्था १६ वर्ष के बालक के समान अर्थात् १० प्रसृत मात्रा निरूह की होती है ॥ १०६-१०८ ॥

स्नेहप्रमाणं यद्बस्तौ निरूहस्त्रिगुणस्ततः ।
अतिव्यवायव्यायामपानयानाध्वसङ्गिनः ॥ १०९ ॥
वयस्थाः स्नेहसात्म्याश्च येषां चाग्निबलं दृढम् ।
येषां चाधः प्रकुपितो वायुर्वातात्मकाश्च ये ॥ ११० ॥
तेषूत्तमां प्रणिदधेत् स्नेहमात्रां विचक्षणः ।

१. अस्तनन्धयस्य बालस्येत्यर्थः ।

य एभ्यो मध्यमावस्थाः पुरुषास्तेषु मध्यमाम् ॥१११॥
वयोऽव्याधिबलावेक्षामितरामितरेषु च ।
इति कर्मादिबस्तीनां त्रितयं समुदाहृतम् ॥ ११२ ॥

स्नेह की उत्तम मात्रा किन्हें देनी चाहिये ?—जो अत्यन्त मैथुन, व्यायाम, मद्यपान, यान (सवारी) तथा मार्गगमन करते हों, जिनकी आयु स्थिर हो, जिन्हें स्नेह सात्म्य हुआ हो, जिनकी जाठराग्नि दृढ हो, जिनके शरीर के अधोभाग में वायु का प्रकोप हो, जिनकी वातिक प्रकृति हो अथवा जिन्हें वायु के विकार हों—उनमें बुद्धिमान व्यक्ति को स्नेह की उत्तम मात्रा देनी चाहिये। जो पुरुष उपर्युक्त सब दृष्टियों से मध्यम अवस्था वाले हैं—उन्हें स्नेह की मध्यम मात्रा देनी चाहिये। जो व्यक्ति अवस्था, रोग तथा बल की दृष्टि से निकृष्ट (हीन) हैं—उनमें स्नेह की हीन मात्रा देनी चाहिये।

इस प्रकार कर्म आदि (कर्म, काल, योग) तीनों बस्तियों का वर्णन किया गया है ॥ १०९-११२ ॥

निर्देशश्च विकल्पश्च प्रविभागश्च कार्त्स्न्यतः ।
यच्च यस्मिन् विधातव्यं या मात्रा येषु युज्यते ॥११३॥
निरूहयुक्तिः स्नेहश्च निरूहश्च प्रकीर्तितः ।
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ ११४ ॥अड (१११)

इति खिलेषु बस्तिविशेषणीयो (नामाष्टमोऽध्यायः ॥८॥) उ(८)

इन सम्पूर्ण बस्तियों का पूर्णरूप से निर्देश, विकल्प (भेद) तथा विभाग कहे गये हैं। जिस बस्ति का जिस रोग तथा जिस मात्रा में व्यवहार करना चाहिये वह भी कह दिया गया है। निरूहबस्ति की योजना, स्नेह तथा निरूह इन सबका वर्णन कर दिया गया है। ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था ॥ ११३-११४ ॥

अड (१११)

इति खिलेषु बस्तिविशेषणीयो (नामाष्टमोऽध्यायः ॥८॥) उ (८)

अथ रक्तगुल्मविनिश्चयाध्यायो नवमः ।

अथातो रक्तगुल्मविनिश्चयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ २ ॥

अब हम रक्तगुल्म विनिश्चय नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था ॥ १-२ ॥

भगवन्तमृषिश्रेष्ठं सर्वशास्त्रविदां वरम् ।
कश्यपं भार्गवो धीमान् पर्यपृच्छत् प्रजापतिम् ॥ ३ ॥

ऐश्वर्ययुक्त, सम्पूर्ण शास्त्रों के ज्ञाता तथा ऋषियों में श्रेष्ठ प्रजापति कश्यप से बुद्धिमान भार्गव (भृगुकुलोत्पन्न जीवक) ने प्रश्न किया ॥ ३ ॥

रक्तगुल्मः कथं स्त्रीणां जायते दुरुपद्रवः ।
अथ कस्मात् कुमाराणां कन्यानां च न जायते ॥ ४ ॥
रक्तगुल्मः कथं चासौ रक्तगुल्म इति स्मृतः ।
कस्मान्निश्चेतनत्वेऽपि गर्भचेष्टा विचेष्टते ॥ ५ ॥
दूरान्तरं न त्वनयोश्चेतनाचेतनावतोः ।
विप्रकृष्टान्तरेऽप्यस्मिन् गर्भशोणितगुल्मयोः ॥ ६ ॥
केचिद्विशेषं नेच्छन्ति केचिदिच्छन्ति लिङ्गतः ।
तयोर्विशेषो यद्यस्ति किमर्थं स उपेक्ष्यते ॥ ७ ॥
युक्तो गर्भे दोहदस्य क्षीरस्य च समुद्भवः ।
आपाण्डुगण्डतादीनां लिङ्गानां च समुद्भवः ॥ ८ ॥
न युक्तमिव पश्यामि तस्मिन्नेषां समुद्भवम् ।
रक्तगुल्मेऽथ दृश्यन्ते लिङ्गान्येतानि तत् कथम् ॥९॥
कस्मादादशमान्मासात् परिपाकं नियच्छति ।
एकद्वित्रिचतुष्पञ्चषट्सप्ताष्टनवादिषु ॥ १० ॥
मासेषु भेदं नाप्नोति प्रायो गर्भवदास्थितः ।
नारीणां सुकुमारीणां स कष्ट इति मे मतिः ॥ ११ ॥
उपक्रम्यः कथमयं कश्चास्योपक्रमः स्मृतः ।
कस्यां कस्यामवस्थायां का का वाऽस्यावचारणा ॥१२॥
कस्मिन् काले च निर्भेद्यो भेदनीयं च किं भवेत् ।
विनिर्भिन्ने च किं कार्यमेतदाचक्ष्व मे विभो ! ॥१३॥

स्त्रियों को भयंकर उपद्रवों वाला रक्तगुल्म किस प्रकार हो जाता है तथा वह बालकों और बालिकाओं को क्यों नहीं होता है ? रक्तगुल्म को इस (रक्तगुल्म) नाम से क्यों कहा जाता है ? तथा अचेतन होने पर भी इसमें गर्भ (के समान) चेष्टाएँ क्यों होती हैं ? इन चेतन तथा अचेतन गर्भ और रक्तगुल्म में थोड़ा भेद होने पर भी अधिक भेद नहीं होता है। कुछ लोग इन दोनों में अन्तर (भेद) नहीं करते हैं। कुछ लोग इनमें लक्षणों के द्वारा भेद करते हैं। यदि उन दोनों में भेद है तो उसकी उपेक्षा क्यों की जाती है ? इसमें गर्भ में होनेवाले दोहद (गर्भावस्था में उत्पन्न होनेवाली विशेष इच्छायें), स्तनों में दुग्ध की उत्पत्ति तथा गाल आदि का पाण्डु (रक्तहीनता-(Anarmia) आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। रक्तगुल्म में जब ये लक्षण उत्पन्न नहीं होने चाहिये तब ये उसमें दिखाई क्यों देते हैं ? यह दसवें महीने तक परिपाक को क्यों प्राप्त होता चला जाता है ? पहले, दूसरे, तीसरे, चौथे, पांचवें, छठे, सातवें, आठवें तथा नौवें महीनों में इसका भेदन क्यों नहीं होता है ? तथा यह प्रायः गर्भ की तरह स्थित क्यों रहता है ? सुकुमार स्त्रियों में यह अधिक कष्टदायक होता है। इसकी किस प्रकार चिकित्सा करनी चाहिये तथा वह चिकित्सा कौन सी है ? किस २ अवस्था में इसकी कौन २ सी अवचारणा प्रयुक्त होती है ? किस समय इसका भेदन करना चाहिये तथा भेदनीय द्रव्य क्या होता है ? तथा भेदन करने के बाद क्या करना चाहिये ? हे सर्वव्यापक भगवन् ! मुझे इन सब बातों का उत्तर दीजिये ॥ ४-१३ ॥

इति पृष्टः स शिष्येण प्रोवाच वदतां वरः।
रक्तगुल्मस्तु नारीणां जायते येन हेतुना ॥ १४ ॥
येन चैव कुमाराणां कन्यानां च न जायते ।
तत् सर्वमभिधास्यामि विस्तरेण निबोध मे ॥ १५ ॥

इस प्रकार शिष्य द्वारा प्रश्न किये जाने पर ज्ञानी कश्यप ने कहा कि जिस प्रकार से स्त्रियों को रक्तगुल्म होता है, तथा जिस कारण से यह बालकों तथा कन्याओं को नहीं होता है—उन सबका मैं विस्तारपूर्वक वर्णन करूँगा वह तू मेरे से सुन॥

विण्मूत्रक्रिमिपक्वामकफवाताशयाः पृथक् ।
सप्तैते देहिनां कोष्ठे स्त्रीणां गर्भाशयोऽष्टमः ॥ १६ ॥

सब प्राणियों के कोष्ठ में मल, मूत्र, कृमि, पक्व, आम, कफ तथा वायु के पृथक् २ सात आशय होते हैं। इनके अतिरिक्त स्त्रियों में एक आठवां गर्भाशय होता है। जिसमें रजोवहा सिराएँ रज को लाकर डालती हैं। अर्थात् उपर्युक्त मल-मूत्र के सात आशय तो सभी प्राणियों में (चाहे वह स्त्री हो या पुरुष) सामान्य रूप से होते हैं। इनके अतिरिक्त स्त्रियों में आठवां गर्भाशय होता है जो केवल स्त्रियों में ही होता है, पुरुषों में नहीं। आशय का अर्थ अधिष्ठान है। सुश्रुत शा. अ.५ में आशयों का परिगणन निम्न प्रकार से किया गया है—आशयास्तु—वाताशयः पित्ताशयः श्लेष्माशयो रक्ताशय आमाशयः पक्वाशयो मूत्राशयः, स्त्रीणां गर्भाशयोऽष्टम इति'। गर्भाशय की शरीर में स्थिति के विषय में वाग्भट में कहा है—'गर्भाशयोऽष्टमः स्त्रीणां पित्तपक्वाशयान्तरा'। अर्थात् पित्ताशय और पक्वाशय के बीच में गर्भाशय होता है ॥ १६ ॥

रजोवहाः सिरा यस्मिन् रजः प्रविसृजन्त्यतः ।
पुष्पभूतं हि तद्दैवान्मासि मासि प्रवर्तते
विपर्ययात्तदेवेह तत्रैव तु निचीयते ॥ १७ ॥

वही रज पुष्प (आर्तव–Monthly discharge) के रूप में दैववश प्रत्येक मास में प्रवृत्त होता है–निकलता रहता है। तथा यदि रोग या किसी अन्य कारण से प्रवृत्त न हो सके तो वह रज वहीं गर्भाशय में ही संचित होता रहता है ॥ १७ ॥

अनेन हेतुना स्त्रीणां रक्तगुल्मो हि जायते ।
तदाशयस्य चाभावात् पुरुषाणां न जायते ॥ १८ ॥

इस उपर्युक्त कारण से स्त्रियों को रक्तगुल्म होता है। इसके विपरीत आशय (गर्भाशय) के अभाव के कारण यह रक्तगुल्म पुरुषों में नहीं होता है ॥ १८ ॥

हीनयोन्यास्तु बालायाः कायं गच्छति शोणितम् ।
अथ पूर्णस्वभावायाः कायं योनिं च गच्छति ॥ १९ ॥

छोटी लड़कियों की योनि स्वल्प होने के कारण उनका सारा रक्त शरीर में चला जाता है। तथा जिस स्त्री के शारीरिक अवयव पूर्ण हो चुके हैं—उनका रक्त शरीर तथा योनि दोनों में जाता है। अर्थात् कुछ रक्त जहां शरीर के पोषण में व्यय होता है वहां कुछ योनि में भी जाता है ॥ १९ ॥

गर्भमङ्गे भावयति, किञ्चित् स्तन्याय कल्पते ।
पक्तये शोणिताद्य(दे)स्तु शेषः कायं समिन्धति ॥२०॥

स्त्री के शरीर के रक्त का कुछ भाग गर्भ को पुष्ट करता है, कुछ स्तन्य (दूध) का निर्माण करता है तथा कुछ रक्त से शरीर में पाचन होता है। शेष—इन सबसे बचा हुआ रक्त शरीर में ईंधन का कार्य करता है। अर्थात् स्त्री के शरीर के रक्त के कुछ भाग से गर्भ का पोषण होता है, कुछ से उसके स्तनों में दूध का निर्माण होता है, कुछ शरीर के अन्दर पाचन का कार्य करता है तथा इन कार्यों के बाद बचा हुआ रक्त शरीर का पोषण करता है। इस संहिता के सूत्रस्थान के उपलब्ध प्रथम अध्याय में भी कहा है—मातृपुष्ट्यर्थमेकांशो द्वितीयो गर्भपुष्टये। तृतीयः स्तनपुष्ट्यर्थं नार्या गर्भस्तु पुष्यति ॥ २० ॥

तथैव गर्भः सूतायाः सद्यः स्तन्याय कल्पते ।
शेषं तु रुधिरीभूतं कायं योनिं च सर्पति ॥ २१ ॥

इसीप्रकार गर्भ का कुछ अंश प्रसव के बाद शीघ्र ही दुग्ध का निर्माण करने लगता है। तथा शेष रक्त के रूप में शरीर तथा योनि में फैल जाता है ॥ २१ ॥

धातुषु प्रतिपूर्णेषु शरीरे समवस्थिते ।
संचितं रुधिरं योनिः पुनः कालेन मुञ्चति ॥ २२ ॥

तब धातुओं के रक्त से पूर्ण हो जाने तथा शरीर के समावस्था में स्थित होने पर संचित हुआ रक्त पुनः उचित काल में योनि को छोड़ देता है अर्थात् योनि से प्रवृत्त होने लगता है।

यदा रक्तवहा रक्तं प्रदोषान्नानुपद्यते ।
विमार्गाद्योनिमन्वेति(विकृति) स्तेन जायते ॥ २३ ॥
तथैव रक्तगुल्मोऽपि हेतुनाऽनेन जायते ।

जब दोषों के कारण वह रक्त रक्तवहा सिराओं में नहीं पहुंचता है तब वह विपरीत मार्ग में जाने से पुनः योनि में पहुंच जाता है जिससे विकार उत्पन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार उपर्युक्त कारण से रक्तगुल्म भी हो जाता है ॥ २३ ॥

यदा ऋतुमती नारी प्राप्तान् वेगान् विधारयेत् ॥२४॥
ह्रिया त्रासाद्व्यवायाद्वा वर्तमानानधोगतान् ।
एवमादिभिरप्यन्यैरुदावृत्तैः प्रकोपितः ॥ २५ ॥
वायुः शोणितमादाय प्रतिस्रोतः प्रपद्यते ।
गर्भाशयमुदावृत्तस्तस्या वहति शोणितम् ॥ २६ ॥
मारुतश्च्युतगर्भाया यदा मिथ्योपचर्यते ।
तस्याः स वायुरुद्वृत्तः प्रतिघातात् सशोणितः ॥ २७ ॥
गत्वा गर्भाशयं रुद्धः स्थिरत्वमुपपद्यते ।
संवृत्तं शोणितं तत्र मारुतो विषमं गतः ॥ २८ ॥
रजोवहाः समावृत्तः संस्तम्भयति गर्भवत् ।

जब ऋतुकाल में स्त्री लज्जा, भय अथवा मैथुन के कारण शरीर के अधो भाग में प्राप्त हुए वेगों को रोकती है। उप-

युक्त अथवा उदीर्ण हुए अन्य कारणों से प्रकुपित हुआ वायु उस रक्त को लेकर स्रोतों में पहुंचता है। गर्भाशय में पहुंचने पर वह रक्त बढ़ने लगता है अथवा जिसका सद्यः गर्भपात हुआ हो उस स्त्री का वायु मिथ्योपचार के कारण प्रकुपित हो जाता है। उसका वह प्रकुपित हुआ वायु रक्तरहित गर्भाशय में पहुंच कर रुककर वहां स्थिर हो जाता है। वह रुका हुआ रक्त तथा विषम (प्रकुपित) हुआ वायु रजोवहा सिराओं को घेरकर गर्भ के समान स्थित हो जाता है। अर्थात् जिस प्रकार गर्भ स्थित होता है उसी प्रकार यह स्थित हो जाता है। इसी संहिता के चिकित्सा स्थान (गुल्मचिकित्साध्याय) में रक्तगुल्म की सम्प्राप्ति तथा निदान निम्न रूप से दिया है—रक्तगुल्मः स्त्रिया योनौ जायते न नृणां क्वचित् ।'''गर्भिण्यस्मीति मन्यते ॥ (पृ० ११२ देखें) इसी प्रकार चरक नि. अ. ३ में भी कहा है ॥ २४–२८ ॥

स गुल्मः स्पन्दतेऽभीक्ष्णं मारुतेन समीरितः ॥ २९ ॥
दर्शयन् यानि रूपाणि तानि वक्ष्यामि सर्वशः ।

वायु के द्वारा प्रेरित हुआ वह गुल्म निरन्तर स्पन्दन करता रहता है। उसके जो स्वरूप (लक्षण) दिखाई देते हैं उन्हें मैं विस्तारपूर्वक कहूंगा ॥ २९ ॥

कासते शूल्यते चैव ज्वर्यतेऽथातिसार्यते ॥ ३० ॥
मन्यते सर्वगात्राणि मूर्च्छितानि गुरूणि च ।
तमोऽस्या जायतेऽभीक्ष्णं कार्श्यं चैव निगच्छति ॥३१॥
वमत्यभीक्ष्णशो भुक्तमन्नं चास्यै न रोचते ।
जायन्ते चोदरे गण्डा नीलं चास्याः प्रदृश्यते ॥ ३२ ॥
स्तनान्तरं च नाभिश्च लोमराजी च मूर्च्छिता ।
ओष्ठौ च कृष्णौ भवतस्तथैव स्तनचूचुकौ ॥ ३३ ॥
पयोधरौ प्रसिच्येते दोहदं च निगच्छति ।

(इति ताडपत्रपुस्तके २२० तमं पत्रम्) ।

नानारसान् प्रार्थयते निष्ठीवति मुहुर्मुहुः ॥ ३४ ॥
शुभादुद्विजते गन्धाद्वर्णश्चास्याः प्रसीदति ।
गर्भिण्या यानि रूपाणि तानि संदृश्य तत्त्वतः ॥३५॥
वर्षाणि हरति व्याधिं गर्भोऽयमिति दुःखिता ।

रक्तगुल्म के लक्षण—उस स्त्री को कास, शूल, ज्वर तथा अतिसार होजाता है। उसे अपना सम्पूर्ण शरीर मूर्च्छित तथा भारी प्रतीत होता है। उसे अपने सामने निरन्तर अन्धकार दिखाई देता है अथवा उसमें तमोगुण की वृद्धि हो जाती है, शरीर कृश हो जाता है, उसे निरन्तर वमन होता है (गर्भिणी स्त्री को प्रातः काल वमन—Morning sickness–Hyperemesis grauidarum होती है, उसी के समान इसमें भी वमन होने लगती है), उसे खाया हुआ अन्न रुचिकर नहीं होता है, पेट में उसके गांठें हो जाती हैं तथा उसका शरीर नीला हो जाता है। उसके स्तनों का मध्यभाग, नाभि तथा लोमराजि मूर्च्छित सी दिखाई देती है। उसके होंठ तथा स्तनों के चूचक (Nipples) काले पड़ जाते हैं, स्तनों से दूध बहने लगता है तथा उसे दोहद (विशेष प्रकार की इच्छाएँ जैसी गर्भावस्था में गर्भिणी को होती हैं) उत्पन्न होने लगती हैं, वह नानाप्रकार के अम्ल आदि रसों की इच्छा करती है, बार २ थूकती है, अच्छी गन्ध को वह पसन्द नहीं करती है, उसका वर्ण निखर आता है (निर्मल हो जाता है)-इत्यादि गर्भिणी के जो लक्षण होते हैं उन्हें देखकर इस व्याधि को अनेक वर्षों तक गर्भ समझ कर लोग दुःखी होते हैं। इसी संहिता के 'गुल्मचिकित्साध्याय' में इसके निम्न लक्षण दिये हैं—'स्तनमण्डलकृष्णत्वं''''''प्रचक्षते' (मूल पृ० ११३ देखें) चरक नि. अ. ३ में भी रक्तगुल्म में होने वाले गर्भ के लक्षणों को कहा है तथा सुश्रुत शा. अ ३ में गर्भिणी के उन लक्षणों को कहा है जो कि रक्तगुल्म में होते हैं ॥ ३०–३५ ॥

केनचित्त्वथ कालेन निर्भेदं यदि गच्छति ॥ ३६ ॥

यदि किसी कारण से उस गुल्म का भेदन हो जाता है तो लोग उसे गुल्म से मुक्त हुई समझते हैं। अर्थात् यदि गुल्म किसी कारण से पककर फटजाये तो उसका स्राव बह जाता है जिससे लोग यह समझने लगते हैं कि उसका गुल्म नष्ट हो गया है। साधारणतया गुल्म पकता नहीं है इसीलिये फटता भी नहीं है। विद्रधि (Abscess) पककर फट जाती है। गुल्म तथा विद्रधि का भेद ही यह है कि गुल्म पकता नहीं है तथा विद्रधि पक जाती है ॥ ३६ ॥

ततो गुल्मप्रमुक्ता सा ज्ञातिमध्ये प्रभाषते ।
गर्भिण्यहं चिरं भूत्वा प्रच्युते गर्भशोणिते ॥ ३७ ॥

जब वह स्त्री इसप्रकार चिरकाल तक गर्भिणी (गर्भिणी के लक्षणों से युक्त होने के कारण अपने आप को गर्भिणी समझने वाली) रहती है और उसके बाद गर्भस्थित शोणित (रक्तगुल्म का रक्त) निकल जाता है तब गर्भ के लक्षण दिखाई नहीं देते हैं। उस समय उसे बड़ा भारी सन्देह होने लगता है ॥ ३७ ॥

गर्भरूपं न पश्यामि तत्र मे संशयो महान् ।
तामिदं प्रतिभाषन्ते सर्वग्रामकुतूहलाम् ॥ ३८ ॥
दिव्यो गर्भो व्यतिक्रान्तो नैगमेषेण ते हृतः ।
इत्येनामबुधाः प्राहुर्हृतं सर्वमशोभनम् ॥ ३९ ॥

इस आश्चर्यजनक बात को देखकर अज्ञानी लोग उसे कहते हैं कि तेरे जो दिव्य गर्भ उत्पन्न हुआ था—नैगमेष ने उसका हरण करलिया है। जितनी अशुभ बातें थी उन सबका हरण हो गया है। तथा जो कुशल एवं ज्ञानी लोग हैं वे उसे परिप्लुत कहते हैं ॥ ३८–३९ ॥

परिप्लुत इति प्राहुः कुशला ये मनीषिणः ।
गुल्मश्चय इति प्रोक्तो रक्तं रुधिरमुच्यते ॥ ४० ॥
रक्तस्य संचयस्तेन रक्तगुल्म इति स्मृतः ।
गर्भवच्चेष्टते नायं किन्तु सादृश्यदर्शनात् ॥ ४१ ॥

गुल्म–चय या इकट्ठे होने को कहते हैं तथा रक्त काअर्थ

रुधिर है। इसप्रकार रक्त का संचय होने से इसे रक्तगुल्म कहते हैं। यह गर्भ की तरह चेष्टा अवश्य करता है परन्तु केवल सादृश्य के कारण यह वास्तव में गर्भ नहीं होता है। चरक चि. अ. ३ में गर्भ से इसका निम्न भेद दिया है—"केवलश्चास्या-गुल्मः पिण्डित एव स्पन्दते, तामगर्भां गर्भिणीमित्याहुर्मूढाः"। अर्थात् यदि रक्तगुल्म है तो वह सारा का सारा पिण्डाकृति गुल्म ही स्पन्दन करता है अर्थात् यह गर्भ की तरह ही स्पन्दन तो अवश्य करता है परन्तु यदि सम्यक् प्रकार से परीक्षा की जाये तो ज्ञात होगा कि यह केवल एक पिण्डाकृति वस्तु ही है। गर्भ के समान उसके अङ्गों का हम पृथक् २ स्पर्श या अनुभव नहीं कर सकते हैं। इसीलिये चरक चि. अ. ५ में बिलकुल स्पष्ट कहा है—यः स्पन्दते पिण्डित एव नाङ्गैश्चिरात्सशूलः समगर्भ-लिङ्गः। अर्थात् गुल्म में स्पन्दन देर से भी होते हैं जब कि गर्भ के स्पन्दन तृतीय मास में होने लगते हैं तथा माता को चौथे-पांचवें मास में अनुभव होने लगते हैं ॥ ४०-४१ ॥

गर्भोऽयमिति मन्वाना मनसा तद्विभाविनी।
नारी विचेष्टते तास्ता गर्भचेष्टाः पृथग्विधाः ॥ ४२ ॥

उस रक्तगुल्म को गर्भ समझती हुई तथा उसी का मन में ध्यान करती हुई वह स्त्री नाना प्रकार की गर्भ की चेष्टाओं को करती है ॥ ४२ ॥

दोहदं यत् करोतीति शृणु तत्रापि कारणम्।
य एव हि रसाः प्रायो धातूनां वृद्धिहेतवः ॥ ४३ ॥
तेषामेवाभिलाषः स्याद्योनिसाधर्म्यतस्तत्वतः।
वातपित्तान्वितं रक्तं चीयमानं विकारवत् ॥ ४४ ॥
कट्वम्ललवणादीनां रसानां गृद्धिमावहेत्[1]।

रक्तगुल्म में दोहद का कारण—उस समय स्त्री के जो दोहद (गर्भावस्था में उत्पन्न होने वाली विशेष इच्छाएं) के लक्षण उत्पन्न होते हैं-उसका कारण भी तू मेरे से सुन-जो रस धातुओं की वृद्धि करने वाले होते हैं, उत्पत्ति धर्म की समानता के कारण प्रायः उन्हीं रसों की ही स्त्री को उस समय इच्छा होती है। उदाहरण के लिये गुल्म में एकत्रित हुए विकार युक्त रक्त में यदि वायु तथा पित्त की प्रधानता हो तो उस स्त्री को कटु, अम्ल एवं लवण रस की इच्छा उत्पन्न होती है ॥४३-४४॥

गर्भिण्यस्मीति तत्प्रीतिप्रेमसंकल्पसंभृतः ॥ ४५ ॥
प्रस्नुतो जायते नार्यास्तेन स्तन्यं प्रवर्तते।

रक्तगुल्म में स्तनों में दुग्ध उत्पत्ति का कारण—स्त्री अपने आपको गर्भिणी समझती है। इसलिये उस (कल्पित) गर्भ के प्रति प्रीति एवं प्रेम के संकल्प के कारण नारी में स्रावों की उत्पत्ति होती है इसीलिये स्त्री के स्तनों में दुग्ध का स्राव प्रारम्भ हो जाता है। दुग्ध उत्पत्ति का कारण शिशु के प्रति माता का प्रेम ही मुख्य कारण होता है। इसीलिये सुश्रुत में कहा भी है—"स्नेहो निरन्तरस्तस्य स्रवणे हेतुरुच्यते"। अर्थात् यदि माता में प्रेम (स्नेह) अथवा ममता की भावना न हो तो स्तनों में दुग्ध उत्पन्न ही नहीं होता अथवा बहुत कम होता है ॥ ४५ ॥

सर्वा रसवहा नाड्यः समन्तान्नाभिमाश्रिताः ॥ ४६ ॥
गर्भो विवर्धमानश्च संपीडयति ताः स्त्रियाः।
तद्वच्च रक्तगुल्मोऽपि पीडयन्नुपचीयते ॥ ४७ ॥
ताभिश्च पीड्यमानाभिर्न सम्यग्वर्तते रसः।
आपाण्डुगण्डतादीनि लक्षणानि भवन्त्यतः ॥ ४८ ॥

रक्तगुल्म में पाण्डुता आदि का कारण—सम्पूर्ण रसवहा नाडियां चारों ओर से आकर नाभि में आश्रित होती हैं, स्त्री में वृद्धि को प्राप्त होता हुआ गर्भ उन रसवहा नाडियों का पीडन करता है। उसीप्रकार रक्तगुल्म भी रसवहा नाडियों का पीडन करता हुआ वृद्धि को प्राप्त होता रहता है—बढ़ता रहता है। उन रसवहा सिराओं का पीडन होने से शरीर में रस ठीक प्रकार से नहीं पहुंचता है। इसीलिये सारे शरीर में पाण्डुता तथा गण्डता आदि के लक्षण हो जाते हैं ॥ ४६-४८ ॥

कथं प्रकर्षते कालमिति तत्रापि मे शृणु।
विवृद्धेरिह सारूप्याद्गर्भोऽयमिति निश्चिता ॥ ४९ ॥
संरक्षतेऽभिघातेभ्यः कुक्कुट्यण्डमिवाङ्गना।
तदपायकरान् हेतून्न कथंचन सेवते ॥ ५० ॥
श्रमोपवासतीक्ष्णोष्णक्षारादीनि च सर्वशः।
स एवं याप्यमानस्तु यथाकालं प्रकर्षते ॥ ५१ ॥
व्यापत्तिहेतुमासाद्य कालेनाल्पेन वा पुनः।
भेदं गच्छत्यधस्ताद्धि जलकुम्भ इव क्षतः ॥ ५२ ॥

रक्तगुल्म की वृद्धि का कारण—समय के साथ २ वह रक्त-गुल्म किस प्रकार बढ़ता जाता है। इसका भी तू मेरे से कारण सुन। वृद्धि की समानता के कारण उसे गर्भ समझकर वह स्त्री उसकी अभिघात आदि से इसप्रकार रक्षा करती है जैसे मुर्गी अभिघात आदि से अपने अण्डे की रक्षा करती है। वह उसे (रक्तगुल्म को जिसे वह गर्भ समझे हुए हैं) हानि पहुंचाने वाले कारणों, श्रम, उपवास, तीक्ष्ण, उष्ण एवं क्षारीय पदार्थों का कभी सेवन नहीं करती है। इसप्रकार रक्षा किया जाता हुआ वह (रक्तगुल्म) समय के अनुसार धीरे २ बढ़ता जाता है। तथा उपघातकर (हानि पहुंचाने वाले) कारणों के द्वारा कुछ काल के बाद नीचे से टूटे हुए जलकुम्भ (घड़े) के समान कभी २ उसका भेदन हो जाता है ॥ ४९-५२ ॥

केचिदिच्छन्ति गुल्मस्य मासाद्दशमात् परम्।
परिपाकं फलस्येव स्वकालपरिणामतः ॥ ५३ ॥
तस्मिंश्च काले स व्याधिः स्यान्नातिदुरुपक्रमः।
तत्रोपक्रममिच्छन्ति तस्य कर्तुमतो बुधाः ॥ ५४ ॥

कुछ लोग फल के समान गुल्म का अपने काल के परिणाम के अनुसार दसवें मास के बाद परिपाक मानते हैं। अर्थात्

[1] गृद्धिं गर्धामभिलाषमित्यर्थः।

जिस प्रकार अपने समय के अनुसार फल का पाक होता है उसीप्रकार गुल्म का भी अपने काल के अनुसार दसवें मास के बाद परिपाक होता है। उससे पूर्व गुल्म का सम्यक् परिपाक नहीं हो पाता है। उस समय वह रोग (रक्तगुल्म) अधिक कष्टसाध्य नहीं होता है इसलिये विद्वान् लोग कहते हैं कि उस समय (अर्थात् दसवें मास के बाद) इस (रक्तगुल्म) की चिकित्सा करनी चाहिये। चरक चि. अ. ५ में भी कहा है—स रौधिरः स्त्रीभव एव गुल्मो मासि व्यतीते दशमे चिकित्स्यः। क्यों कि दसवें मास के बाद ही वह सुखसाध्य माना गया है। उस समय तक उसका पूर्णरूप से परिपाक हो जाता है। कहा भी है—रक्तगुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम्। यह सुख साध्यता उसके परिपाक के काल के अनुसार ही कही गई है॥

अप्राप्तकालो याप्यः स्याद्गर्भवद्युक्तिकोविदैः।
नापक्वो भिद्यते व्याधिरिति मत्त्वा यथाभवम् ॥५५॥

रक्तगुल्म की चिकित्सा का जब तक काल उपस्थित न हो अर्थात् १० वें मास से पूर्व वह विद्वानों द्वारा गर्भ के समान याप्य माना गया है तथा पकने पर अर्थात् उसका सम्यक् परिपाक होने पर (दसवें मास के बाद) उसका भेदन हो हो जाता है-इत्यादि बातों को ध्यान में रखते हुए दसवें मास तक इसका यापन करना चाहिये। याप्य से अभिप्राय उस रोग या अवस्था से है जिसे चिकित्सा संभाले रखती है अर्थात् जब तक चिकित्सा होती रहती है रोगी ठीक रहता है तथा ज्यों ही चिकित्सा बन्द की जाती है रोगी की अवस्था खराब हो जाती है अथवा उसकी मृत्यु हो जाती है। रक्तगुल्म का ऊपर जो दसवें मास के बाद चिकित्सा करने का निर्देश किया गया है उसे देखकर कुछ लोग कहते हैं कि प्राचीन आचार्यों को गुल्म तथा गर्भ के भेद का ज्ञान नहीं था इसीलिये गर्भकाल (दसवां मास) व्यतीत होने पर चिकित्सा करने का विधान दिया है। परन्तु यह ठीक नहीं है। दसवें मास के बाद चिकित्सा का विधान केवल इसलिये दिया गया है कि तब वह सुख साध्य होता है—उस समय तक उसका सम्यक् परिपाक हो जाता है तथा इसी अध्याय में ५४ वें श्लोक में कहा है-तस्मिंश्च काले सन्व्याधिः स्यान्नातिदुरुपक्रमः"। इसलिये यह कहना कि प्राचीन आचार्यों को इनके भेद का ज्ञान नहीं था-ठीक नहीं है। इसीलिये अगले श्लोकों में आचार्य स्वयं विस्तार से इनकी विभेदक पहचान लिखते हैं॥ ५५॥

विशेषं रक्तगुल्मस्य गर्भस्य च निबोध मे।
अङ्गप्रत्यङ्गवान् गर्भस्तैरेव च विचेष्टते ॥ ५६ ॥
रक्तगुल्मस्तु वृत्तः स्याल्लोष्टवच्च विचेष्टते।
स्थानात् स्थानं व्रजन् गर्भो व्याविद्धं परिवर्तते ॥५७॥
नाभेरधस्ताद्गुल्मोऽयमव्याविद्धं विवर्तते।
आनुपूर्व्येण गर्भश्च अहन्यहनि वर्धते ॥ ५८ ॥
विपरीतं हि गुल्मस्तु मन्दं मन्दं विवर्धते।
तां तामवस्थां गर्भस्तु मासि मासि प्रपद्यते ॥ ५९ ॥
गर्भिणी नानिमित्तं च ज्वर्यते दह्यतेऽपि वा।
गुल्मिनी ह्यनिमित्तं तु ज्वर्यते दह्यतेऽपि वा ॥ ६० ॥

अब तू मेरे से रक्तगुल्म तथा गर्भ का भेद (Differential diagnosis) सुन–गर्भ तथा रक्तगुल्म में भेद—१. गर्भ अङ्ग-प्रत्यङ्गों से युक्त हुआ उन्हीं के द्वारा चेष्टा करता है तथा रक्तगुल्म एक गोल ढेले या मांस की लोथ के समान चेष्टा करता है। अर्थात् गर्भ के तीसरे या चौथे मास में हाथ-पैर आदि की पिण्डिकायें प्रकट हो जाती हैं अतः यदि उसके बाद के महीनों में अर्थात् चतुर्थ या पंचम आदि मासों में हम माता के पेट की स्पर्श आदि के द्वारा परीक्षा करें तो हमें गर्भ के हाथ-पैर आदि की पिण्डिकाओं तथा समयानुसार अन्य भी अङ्ग-प्रत्यङ्गों का अनुभव हो सकता है। जब कि रक्तगुल्म में भी गुल्म के इधर-उधर हिलने से चेष्टाएं तो अवश्य ही होती हैं परन्तु उसमें हाथ-पैर आदि के पृथक् अनुभव नहीं होते हैं अपितु अङ्ग-प्रत्यङ्गों से रहित केवल एक मांस के लोथड़े मात्र का ही अनुभव होता है। इसीलिये चरक चि. अ. ५ में कहा है—'यः स्पन्दते पिण्डित एव नाङ्गैः'। इसी प्रकार चरक नि. अ. ३ में भी कहा है। २-गर्भ एक स्थान से दूसरे स्थान पर गति करता हुआ व्याविद्ध दिखाई देता है। जब कि गुल्म नाभि के नीचे अव्याविद्ध होकर स्थित होता है। ३-गर्भ प्रतिदिन क्रमशः वृद्धि को प्राप्त होता है। इसके विपरीत गुल्म धीरे धीरे बढ़ता है। ४-गर्भ प्रत्येक मास में अपनी भिन्न २ अवस्था को प्राप्त करता है अर्थात् प्रत्येक मास में गर्भ की अवस्था थोड़ी बहुत अवश्य बदलती रहती है तथा गर्भिणी को बिना किसी कारण के ज्वर तथा दाह नहीं होता है परन्तु गुल्मिनी (जिस स्त्री को रक्तगुल्म हो) को बिना किसी कारण के ही ज्वर तथा दाह हो जाता है॥ ५६-६०॥

अस्मिन् विशेषेऽपि सति संदेहो जायते महान्।
नानागर्भविकाराणां सङ्कराद्भिषजे मतः ॥ ६१ ॥

इन सब उपर्युक्त भेदों के होने पर भी अनेक गर्भसंबन्धी विकारों के मिल जाने से चिकित्सक को बड़ा भारी सन्देह हो जाता है। अर्थात् यद्यपि रक्तगुल्म तथा गर्भ की उपरिलिखित अनेक विभेदक पहिचान हैं तथापि कई बार गर्भ के अनेक लक्षणों के मिल जाने से रक्तगुल्म तथा गर्भ में भेद करना अत्यन्त कठिन हो जाता है॥ ६१॥

संभूय सह संमन्त्र्य भिषग्भिः शास्त्रकोविदैः।
काले चिकित्सां कुर्वीत यथा वक्ष्याम्यतः परम् ॥६२॥
अल्पान्तरावुभावेतौ गर्भो गुल्मश्च रक्तजः।
तद्यथावद्विदित्वाऽऽदौ क्रियां कुर्याद्भिषग्वरः ॥ ६३ ॥

इसलिये एकत्रित होकर तथा शास्त्रों के पारंगत वैद्यों के साथ परस्पर सलाह (Consultation) करके उचित काल में (दसवें मास के बाद) रक्तगुल्म की चिकित्सा करनी चाहिये। जैसा कि मैं आगे वर्णन करूँगा। क्योंकि गर्भ तथा रक्तगुल्म में बहुत कम भेद होता है इसलिये इस बात को पहले अच्छी

प्रकार जानकर चिकित्सक को चिकित्सा करनी चाहिये। अर्थात् यदि गर्भ के लक्षणों के कारण ठीक प्रकार से निदान न हो रहा हो तो अन्य भी चिकित्सकों से सलाह की जा सकती है। क्योंकि संभव है कि कोई बात अकेले व्यक्ति को समझ न पड़ती हो वह अन्य चिकित्सकों की सहायता से समझ में आ सकती है। आजकल भी हम देखते हैं कि यदि एक चिकित्सक को किसी रोगी के निदान में सन्देह हो तो वह निःसंकोच दूसरे योग्य चिकित्सक को बुलाकर दिखा देता है तथा उसके विषय में अपने सन्देह को दूर कर लेता है। यदि कोई रोगी (Case) अधिक (Complicated) हो तो कई चिकित्सकों की समिति (Medical counsil) बैठकर भी विचार करती है। कई व्यक्ति मिलकर जब विचार करते हैं तब वे अन्त में अवश्य ही किसी न किसी निश्चित परिणाम पर पहुँच जाते हैं। क्योंकि एक चिकित्सक को कोई एक बात ध्यान में आती है तो दूसरे को कोई दूसरी बात। इस प्रकार उस (Gase) के विषय में कोई भी ज्ञातव्य बात (Important poimt) छूटने नहीं पाता है। उसपर पूर्णरूप से (Thoroughly) विचार विनिमय किया जा सकता है ॥ ६२-६३ ॥

यो हि गुल्मे गर्भ इति गर्भे वा गुल्म इत्यपि ।
क्रियां कुर्यादयशसा एनसा चैव युज्यते ॥ ६४ ॥
अतस्तु संशये जाते कुर्यात् साधारणीः क्रियाः ।
नोपक्रमेदविदितं रोगं कश्चिच्चिकित्सकः ॥ ६५ ॥

जो गुल्म में गर्भ की अथवा गर्भ में गुल्म की चिकित्सा करता है वह अपकीर्ति (बदनामी) तथा पाप से युक्त होता है। इसलिये यदि गुल्म या गर्भ का परस्पर संशय हो तो साधारण चिकित्सा करनी चाहिये। चिकित्सक को किसी भी अज्ञात रोग की चिकित्सा नहीं करनी चाहिये। अर्थात् यदि चिकित्सक को गर्भ या गुल्म में परस्पर संशय हो तो उसे गर्भ या गुल्म की कोई भी विशेष चिकित्सा नहीं करनी चाहिये। अपितु ऐसी चिकित्सा करनी चाहिये जो साधारणतया दोनों में प्रयुक्त हो सके ॥ ६४-६५ ॥

अथ काले त्वसंपूर्णे संदिग्धे चापि दर्शने ।
हेतुना केनचिद्रक्तं स्रवेत्तं चाशु वारयेत् ॥ ६६ ॥
पूर्णे प्रसवकाले तु न रक्तं प्रतिवारयेत् ।
तत्रानुवासनं दद्याद् द्रवं स्निग्धं च भोजनम् ॥ ६७ ॥

यदि पूर्ण या उचित समय (दसवें मास) से पूर्व ही किसी कारण से रक्त आने लग जाय तथा साथ ही गर्भ और गुल्म में परस्पर संदेह भी हो तो उस निकलते हुए रक्त को रोक देना चाहिये अर्थात् उस रक्त का स्तम्भन कर देना चाहिये। तथा यदि प्रसव का समय (दस मास) पूरा हो चुका हो (उस समय यदि रक्त आता हो) तो उस रक्त का स्तम्भन नहीं करना चाहिये—उसे नहीं रोकना चाहिये। उस अवस्था में अर्थात् दसवें मास के बाद यदि रक्तस्राव हो रहा हो तो उस स्त्री को अनुवासन बस्ति तथा द्रव और स्निग्ध भोजन कराना चाहिये। अर्थात् दसवें मास से पूर्व होनेवाले रक्तस्राव को अवश्य रोक देना चाहिये क्योंकि उस अवस्था में यदि वह गर्भ है तो रक्तस्राव को न रोकने से गर्भपात (Abortion) होने का भय रहता है ॥ ६६-६७ ॥

विधिनाऽनेन गर्भश्चेत् सुखेन प्रसविष्यति ।
अथवा रक्तगुल्मः स्यात् सोऽप्यक्रत्स्नेन भेत्स्यते ॥६८॥
एतस्मात् कारणाद्रक्तं प्रवृत्तं न निवार्यते ।

उपर्युक्त विधि (अनुवासन और स्निग्ध एवं द्रव भोजन) के द्वारा चिकित्सा करने से यदि वह गर्भ है तो सुखपूर्वक प्रसव हो जायगा। और यदि वह रक्तगुल्म है तो उसका भी पूर्णरूप से भेदन हो जायगा। इस कारण से दसवें मास के बाद प्रवृत्त हुए रक्त को रोकना नहीं चाहिये ॥ ६८ ॥

रक्तगुल्मे प्रथमतो युक्त्या स्नेहोपपादनम् ॥ ६९ ॥
शस्तं बाहुसिरायाश्च वेधनं पाकवारणम् ।
तथा संशमनीयं च दोषशेषावकर्षणम् ॥ ७० ॥

रक्तगुल्म में प्रारम्भ में रोगी को युक्तिपूर्वक स्नेहन कराना चाहिये। तथा गुल्म में पाक को रोकने के लिये हाथ की सिरा का वेधन करना चाहिये अर्थात् फस्त खोलनी चाहिये। तथा उसके बाद बचे हुए दोषों को निकालने के लिये संशमन चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिये ॥ ६९-७० ॥

कल्याणकं पञ्चगव्यं षट्पलं तिक्तमेव वा ।
सरुजां पाययेन्नारीं दोषवित् कर्मकोविदः ॥ ७१ ॥
तीक्ष्णैरास्थापयेदेनां युक्तितश्चानुवासयेत् ।
पथ्यानि भोजयेच्चैव क्षीरयूषरसादिभिः ॥ ७२ ॥

दोषों तथा चिकित्सा के कर्म को जानने वाले व्यक्ति को चाहिये कि वह उस रुग्णा स्त्री को कल्याणक, पञ्चगव्य, षट्पल अथवा तिक्तक घृत का पान कराये। तीक्ष्ण द्रव्यों के द्वारा उसे आस्थापन बस्ति देकर फिर युक्तिपूर्वक अनुवासन कराये। तथा दूध, यूष, एवं मांसरस आदि के द्वारा उसे पथ्य भोजन कराये ॥ ७१-७२ ॥

अन्नपानानि रूक्षाणि विदाहीनि गुरूणि च ।
व्यायामं मैथुनं चिन्तां गुल्मिनी तु विवर्जयेत् ॥७३॥
(इति ताडपत्रपुस्तके २२१ तमं पत्रम्)।

रक्तगुल्म में अपथ्य—रक्तगुल्म की रोगिणी को चाहिये कि वह रूक्ष, विदाही एवं गुरु अन्नपान, व्यायाम, मैथुन तथा चिन्ता का त्याग करे अर्थात् इनका सेवन न करे ॥ ७३ ॥

ज्वरारुचिश्वासकासशोषकार्श्यारतिव्यथाः ।
शोफश्चोपद्रवा गुल्मे तांश्चिकित्सेत् स्वभेषजैः ॥७४॥

गुल्म के उपद्रव—गुल्म में ज्वर, अरुचि, श्वास, कास, शोष, कृशता, अरति (ग्लानि), पीड़ा तथा शोक आदि उपद्रव होते हैं। वैद्य को चाहिये कि अपनी २ ओषधियों के द्वारा उनकी चिकित्सा करे ॥ ७४ ॥

बिल्वश्योनाकनिर्यूहे साधितैर्जाङ्गलै रसैः ।
शैथिल्यकरणार्थं च रक्तगुल्मस्य भोजयेत् ॥ ७५ ॥

रक्तगुल्म में पथ्य—रक्तगुल्म के रोगी को गुल्म के शिथिल करने के लिये जांगल मांसरसों के द्वारा सिद्ध किये हुए बिल्व और श्योनाक (पाठा) के क्वाथ पिलाने चाहिये ॥ ७५ ॥

यूषेण वा कुलत्थानां लावसंस्कारिकेण वा ।
चालनार्थं विरेकं च त्रिवृत्त्रिफलया पिबेत् ॥ ७६ ॥

अथवा गुल्म में गति उत्पन्न करने के लिये कुलत्थ के यूष अथवा लाव (बटेर) के द्वारा संस्कारयुक्त त्रिवृत् और त्रिफला से विरेचन देना चाहिये ॥ ७६ ॥

वायोरुपशमार्थं च फलतैलानुवासिताम् ।
आस्थापयेत् सकृद् द्विर्वा शूलाटोपनिवृत्तये ॥ ७७ ॥

वायु की शान्ति के लिये उसे फल तैल के द्वारा अनुवासन देकर शूल तथा आटोप (अफारे) को दूर करने के लिये एक या दो बार आस्थापन बस्ति देवे। फल तैल का प्रयोग इसी ग्रन्थ के पिछले अध्याय (बस्तिविशेषणीयाध्याय) में ८९ से ९४ श्लोकों में दिया गया है ॥ ७७ ॥

तुल्यं मधु च तैलं च ताभ्यामुष्णोदकं समम् ।
द्वौ कर्षौ शतपुष्पायाः कर्षार्धं सैन्धवस्य च ॥ ७८ ॥
एतेनास्थापयेन्नारीं दशमूलादिकेन वा ।
बलं चाप्याययेत्तस्या रसैः क्षीरैश्च संस्कृतैः ॥ ७९ ॥

आस्थापन योग—मधु और तैल समान मात्रा तथा इन दोनों के समान उष्ण जल लेवे। इसमें दो कर्ष सौंफ तथा आधा कर्ष सैन्धव नमक डालकर उसके द्वारा अथवा दशमूल क्वाथ के द्वारा उसे आस्थापन बस्ति देवे। फिर संस्कारयुक्त मांसरस तथा दूध के प्रयोग द्वारा उसके बल की वृद्धि करे ॥ ७८–७९ ॥

उपक्रमेत्ततश्चूर्णैरेतैः शोधनपातनैः ।
हरीतकी वचा हिङ्गु सैन्धवं साम्लवेतसम् ॥ ८० ॥
यवानी यावशूकं च चूर्णमुष्णाम्बुना पिबेत् ।

इसके बाद शोधन कराने वाले तथा गुल्म को नीचे गिराने वाले निम्न चूर्णों के द्वारा उसकी चिकित्सा करे—हरड, बच, हींग, सैन्धवनमक, अम्लवेतस, अजवायन तथा यवक्षार के चूर्ण को उष्ण जल के साथ सेवन करे ॥ ८० ॥

हरीतकीयवक्षारसौवर्चलमिति त्रयम् ॥ ८१ ॥
घृतयुक्तं पिबेद्युक्त्या रक्तगुल्मस्य भेदनम् ।

रक्तगुल्म के भेदन करने के लिये हरड, यवक्षार तथा सौवर्चल नमक-इन तीनों का युक्तिपूर्वक घृत के साथ सेवन करे ॥ ८१ ॥

पत्रैलापिप्पलीशुण्ठीचूर्णं वा विडसंयुतम् ॥ ८२ ॥
नागरं शुक्तिचूर्णं वा पिबेद्गोमूत्रसंप्लुतम् ।

तेजपत्र, पिप्पली तथा सोंठ के चूर्ण में विडलवण मिलाकर अथवा सोंठ या मुक्ताशुक्ति (अथना नखी) के चूर्ण को गोमूत्र में मिलाकर सेवन करना चाहिये ॥ ८२ ॥

सूक्ष्मैलाकुञ्चिकाचव्यपिप्पलीचित्रकस्य वा ॥ ८३ ॥
कल्कं बल्वजयूषाद्यैः पिबेन्मण्डोदकेन वा ।

छोटी इलायची, कलौंजी, चव्य, पिप्पली तथा चित्रक के कल्क को बल्वज के यूष अथवा चावलों के मण्ड के साथ सेवन करना चाहिये ॥ ८३ ॥

अपरापातनोद्दिष्टैरौषधैश्चापि भेदयेत् ॥ ८४ ॥

अथवा अपरा (Placenta) पातन के लिये प्रयुक्त होने वाली (सु. शा. अ १० में कथित) ओषधियों के द्वारा इसका भेदन करना चाहिये ॥ ८४ ॥

अतिप्रवृत्तं रुधिरं ग्लानिं जनयते यदि ।
विनिर्हृते गुल्मदोषे सावशेषेऽपि वा भिषक् ॥ ८५ ॥
पुनरास्थापनोक्तेन तत्र कुर्याद्भिषग्जितम् ।
अनुबन्धभयाच्चैव शनैस्तदनुशोधयेत् ॥ ८६ ॥

यदि गुल्म के दोष के निकल जाने पर अथवा कुछ शेष रहने पर भी अत्यन्त प्रवृत्त होता हुआ रक्त शरीर में बहुत ग्लानि उत्पन्न करे तो पुनः आस्थापनोक्त विधि से उसकी (च. चि. अ. ५ में कथित) चिकित्सा करनी चाहिये। तथा अनुबन्ध के भय से उसके बाद उसका शनैः २ शोधन करना चाहिये ॥ ८५–८६ ॥

पद्मादीनि समूलानि दग्ध्वा तद्भस्म संहरेत् ।
गाढयित्वा च तत्क्वाथं चूर्णैरेतैर्विपाचयेत् ॥ ८७ ॥
शुण्ठीपिप्पलिकुष्ठैश्च चव्यचित्रकदारुभिः ।
दर्विप्रलेपितं सिद्धमभ्यसेत्तेन शुद्ध्यति ॥ ८८ ॥
शिलाजत्वभयारिष्टं कल्पेनाभ्यस्य मुच्यते ।

मूल सहित पद्म आदि को जलाकर उसकी भस्म बनाले तथा उसके क्वाथ को गाढ़ा करके उसमें सोंठ, पिप्पली, कुष्ठ, चव्य, चित्रक, देवदारु आदि का चूर्ण डालकर पकायें। जब वह कलछी में लिप्त होने योग्य हो जाय तब उसका प्रयोग करे। उससे रोगी का शोधन होता है। और शिलाजीत तथा अभयारिष्ट के कल्प के सेवन से भी रक्तगुल्म नष्ट होताहै॥

यच्चापि पञ्चगुल्मीये चिकित्सितमुदाहृतम् ॥ ८९ ॥
तदिहापि प्रयोक्तव्यं प्रसमीक्ष्य बलाबलम् ।
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ ९० ॥

(इति) खिलेषु रक्तगुल्मविनिश्चयो (नाम नवमोऽध्यायः) ॥९॥

इसके अतिरिक्त पञ्चगुल्मीय अध्याय में जो चिकित्सा कही गई है—रोगी के बलाबल को देखकर उस सबका भी यहां प्रयोग करना चाहिये।

ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था ॥ ८९–९० ॥

(इति) खिलेषु रक्तगुल्मविनिश्चयो (नाम नवमोऽध्यायः)

अथ अन्तर्वत्नीचिकित्सिताध्यायो दशमः।

अथातोऽन्तर्वत्नीचिकित्सितमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् कश्यपः ॥ २ ॥

अब हम अन्तर्वत्नी चिकित्सित अध्याय का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था। अर्थात् इस अध्याय में गर्भिणी स्त्रियों की चिकित्सा का वर्णन किया जायेगा॥

सूक्ष्मां चिकित्सां वक्ष्यामि गर्भिणीनां विभागशः ।
तथा गर्भश्च नारी च वर्धते रक्ष्यतेऽपि च ॥ ३ ॥

अब मैं गर्भिणी स्त्रियों की सूक्ष्म चिकित्सा का विभागपूर्वक वर्णन करूंगा जिससे गर्भ और नारी (गर्भवती स्त्री) दोनों की वृद्धि होती है तथा उनकी रक्षा भी होती है ॥ ३ ॥

गर्भिणीनां ज्वरः कष्टः सर्वव्याधिषु पार्थिव ! ।
ज्वरोष्मणाऽभितप्तस्तु गर्भो यात्येव विक्रियाम् ॥ ४ ॥
तस्माज्ज्वरचिकित्सां तु पूर्वमेव निबोध मे ।

हे पार्थिव ! गर्भिणी स्त्रियों के सम्पूर्ण रोगों में ज्वर सबसे अधिक कष्टदायी रोग होता है। ज्वर की ऊष्मा (गर्मी) से सन्तप्त हुए गर्भ में विकृति उत्पन्न हो जाती है। इस लिये सबसे पहले तू मेरे से ज्वर की चिकित्सा सुन ॥ ४ ॥

क्षुच्छ्रमाभ्यञ्जनाद्रौक्ष्याद्‌औष्ण्यापक्वविधारणात् ॥ ५ ॥
स्नेहस्वेदौषधानां च विभ्रमात्तेजसोऽपि च ।
सन्तापान्मनसश्चापि पर्वतानां[1] तथैव च ॥ ६ ॥
गन्धाच्च तृणपुष्पाणां गर्भिण्या जायते ज्वरः ।

क्षुधा, श्रम, अभ्यञ्जन, रूक्षता, उष्णता, अपक्व के धारण स्नेहन, स्वेदन तथा ओषधियों और तेज के विभ्रम, मन के सन्ताप तथा पहाड़ों पर चढ़ने और तृण एवं पुष्पों की गन्ध इत्यादि से गर्भिणी स्त्री को ज्वर हो जाता है ॥ ५-६ ॥

गर्भिणीं ज्वरितां नारीमेकाहमुपवासयेत् ॥ ७ ॥
ततो दद्यादलवणां पेयां स्नेहविवर्जिताम् ।

ज्वरयुक्त गर्भिणी स्त्री को पहले एक दिन उपवास कराके फिर लवण एवं स्नेह से रहित पेया देनी चाहिये ॥ ७ ॥

तीक्ष्णानि त्वन्नपानानि स्वेदमायासमेव च ॥ ८ ॥
वर्जयेज्ज्वरिता नारी यवागूं केवलां पिबेत् ।

गर्भिणी स्त्री को ज्वर हो जाने पर तीक्ष्ण अन्नपान, स्वेदन और आयास (परिश्रम वाले कार्य) का त्याग कर देना चाहिये। तथा केवल यवागू का सेवन करना चाहिये ॥ ८ ॥

यवाग्वा ह्रसिते दोषे यूषैरन्नानि दापयेत् ॥ ९ ॥
यूषैस्तु ह्रसिते दोषे रसं वा क्षीरमेव वा ।
दापयेन्मतिमान् प्राज्ञो न त्वौषधविधिर्हितः ॥ १० ॥

[1] आरोहणादिति पूरणीयम् । किं वा 'पर्वतारोहणात्तथा' इति वा पाठः स्यात् ?।

अनुबन्धे तु दोषस्य गर्भकालमपेक्ष्य च ।
मासाच्चतुर्थात् प्रभृति भिषग्भेषजमाचरेत् ॥ ११ ॥

बुद्धिमान व्यक्ति को चाहिये कि यवागू के द्वारा दोषों के कुछ कम हो जाने पर यूषों के साथ अन्न का सेवन कराये। तथा फिर यूषों के द्वारा दोषों के और कम हो जाने पर मांसरस अथवा दूध देवे। इस अवस्था में ओषधियों का प्रयोग अच्छा नहीं है। इसके बाद भी यदि कुछ दोष का अनुबन्ध शेष रहे अर्थात् दोष बचा रह जाय तो गर्भ के समय को देखकर चतुर्थ मास से लेकर चिकित्सक ओषधि का प्रयोग कर सकता है। अर्थात् गर्भ के चतुर्थ मास के बाद ओषधि का प्रयोग किया जा सकता है। उससे पूर्व ओषधि का प्रयोग बिलकुल नहीं करना चाहिये। चतुर्थ मास से पूर्व गर्भ स्थिर नहीं होता इस लिये ओषधियों का प्रयोग नहीं कराना चाहिये। चतुर्थ मास में गर्भ स्थिर हो जाता है। गर्भ के स्थिर हो जाने के बाद फिर विशेष डर नहीं रहता है। चरक शा. अ. ४ में कहा है—'चतुर्थे मासि स्थिरत्वमापद्यते गर्भः'। चरक में तो गर्भावस्था में आठवें मास से पूर्व तक ओषधि का निषेध किया गया है उसके बाद भी जो केवल वमन आदि से साध्य रोग हैं अर्थात् जिनमें वमन, विरेचन आदि देना आवश्यक है उनमें मृदु वमन-विरेचन आदि अथवा तदर्थकारी (विरेचन ओषधि के स्थान पर गुदा में फलवर्ति आदियों का रखना तदर्थकारी कहलाता है अर्थात् जो उस प्रयोजन को सिद्ध करे) ओषधियों के प्रयोग का विधान दिया गया है ॥ ९-११ ॥

शारीरं तु ज्वरं ज्ञात्वा वातपित्तकफात्मकम् ।
मध्यां क्रियां प्रयुञ्जीत संचिन्त्य गुरुलाघवम् ॥ १२ ॥
उपद्रवबलं ज्ञात्वा सत्त्वं चापि समीक्ष्य तु ।
गर्भावस्थां तु विज्ञाय लेखनानि प्रदापयेत् ॥ १३ ॥

यदि गर्भिणी स्त्री को वातिक, पैत्तिक अथवा श्लैष्मिक आदि शारीरिक ज्वर हो तो गुरुता एवं लघुता का विचार करके मध्य क्रिया (चिकित्सा) का प्रयोग करना चाहिये। अर्थात् उस समय ऐसी चिकित्सा होनी चाहिये जो साधारणतया तीनों दोषों के प्रकोप में व्यवहृत हो सके। तथा रोग के उपद्रव एवं रोगी के बल और गर्भावस्था को ध्यान में रखते हुए लेखन ओषधियां देनी चाहिये ॥ १२-१३ ॥

उत्पन्नायां तु तृष्णायां नात्युष्णं प्रपिबेज्जलम् ।
वातश्लेष्मसमुत्थे तु ज्वरे नीरं[1] विषायते ॥ १४ ॥
अथ पित्तकृते चापि शृतशीतं प्रशस्यते ।
कुप्यपाषाणनिष्पक्वं शीतं तृष्णानिबर्हणम् ॥ १५ ॥

ज्वर में तृष्णा (प्यास) लगने पर हलका, उष्ण (सुखोष्ण) जल पीना चाहिये। विशेषकर वातिक और श्लैष्मिक ज्वर में तो शीतल जल बिलकुल ही विष के तुल्य है। पैत्तिक ज्वर में भी गरम करके ठण्डा किया हुआ पानी ही प्रशस्त

[1] नीरं शीतजलमित्यर्थः स्यात् ।

माना गया है। कूपी तथा पत्थर के बर्तन में पकाकर ठण्डा किया गया जल प्यास को बुझाता है। अर्थात् वैसे तो साधारणतया सभी प्रकार के ज्वरों में उष्ण जल ही देना चाहिये। पैत्तिक ज्वर में यदि चाहें तो थोड़ा बहुत शीतल जल दिया जा सकता है परन्तु वातिक और श्लैष्मिक ज्वर में तो शीतल जल का बिलकुल ही निषेध किया गया है तथा पैत्तिक में भी गर्म करके ठण्डा किया हुआ जल देना चाहिये। ज्वर में साधारणतया उष्ण जल ही क्यों देना चाहिये इस विषय में चरक वि. अ. ३ में कहा है। यहां भी पित्त के प्रयोग में जो शीतल जल का विधान दिया गया है, वह गरम करके ठण्डा किया हुआ जल ही समझना चाहिये ॥ १४-१५ ॥

ज्वरे तु तरुणे दृष्टो विधिरेष विशेषतः ।
भग्नवेगे तु कर्तव्यं तृष्णाप्रशमनैः शृतम् ॥ १६ ॥
ज्वरं ज्वरं समासाद्य शीतं वा यदि वेतरम्(त्) ।

यह उपर्युक्त विधान विशेषकर तरुण ज्वरों के लिये दिया गया है। अर्थात् साधारणतया सभी प्रकार के ज्वरों में इस विधान का पालन करना चाहिये परन्तु तरुण ज्वरों में तो इसका अवश्य ही पालन करना चाहिये। अन्य ज्वरों में इस विषय में थोड़ी बहुत ढील की जा सकती है परन्तु तरुण ज्वर में बिलकुल नहीं। ज्वर के वेग के समाप्त हो जाने पर प्रत्येक ज्वर के अनुसार तृष्णाशामक ओषधियों के द्वारा पकाया हुआ शीतल या उष्ण जल देना चाहिये ॥ १६ ॥

शिरोरोगे तु कर्तव्यो यथावद्भेषजक्रमः ।
भग्नवेगे ज्वरे कृत्स्ने गुरु नैव प्रशस्यते ॥ १७ ॥

गर्भिणी स्त्री को यदि शिरोरोग हो जाय तो यथावत् चिकित्सा करनी चाहिये। ज्वर का वेग पूर्णरूप से शान्त हो जाने पर भी गुरु भोजन नहीं देना चाहिये ॥ १७ ॥

तरुणे तु ज्वरे नार्या अभ्यङ्गो न प्रशस्यते ।
गर्भे तु तरुणे दत्तो गर्भघाताय कल्पते ॥ १८ ॥

तरुण ज्वर में गर्भवती स्त्री को अभ्यङ्ग (मालिश) नहीं देना चाहिये। गर्भावस्था में तरुण ज्वर में अभ्यङ्ग देने से गर्भ नष्ट हो जाता है ॥ १८ ॥

गर्भिणीनां तु नारीणां नस्ततो नानुसेचयेत् ।
नस्यदानेन गर्भिण्याः प्राणस्तु परिहीयते ॥ १९ ॥

नस्य के द्वारा गर्भिणी स्त्री के दोषों को नहीं निकालना चाहिये अर्थात् उसे नस्य नहीं देना चाहिये। नस्य देने से गर्भिणी स्त्री के प्राण नष्ट हो जाते हैं ॥ १९ ॥

कुणिर्वा यदि वाऽन्धश्च जायते दुर्बलेन्द्रियः ।
धूमपानेन गर्भिण्या धूमतेजोहतो भृशम् ॥ २० ॥
विवर्णो जायते गर्भः पतेद्वाऽपि विशांपते ! ।

हे राजन् ! गर्भिणी के धूम्रपान करने से उत्पन्न हुई सन्तान धूम्र की तेजी से नष्ट हुई लूली (जिसके हाथ निकम्मे हों), अन्धी अथवा दुर्बल होती है। वह वर्णरहित (कान्तिहीन) होती है अथवा गर्भपात ही हो जाता है ॥ २० ॥

शिरोविरेके गर्भिण्याः संक्षोभात्तु भयेन वा ॥ २१ ॥
मारुतः कुपितो देहे गर्भघाताय कल्पते ।
अथवा वातरोगी तु गर्भो भवति पार्थिव ! ॥ २२ ॥

हे पार्थिव ! गर्भिणी को शिरोविरेचन देने से संक्षोभ और भय के कारण गर्भिणी के शरीर में वायु का प्रकोप होकर गर्भ नष्ट हो जाता है अथवा यदि वह उत्पन्न होता है तो उसे वातिक रोग हो जाते हैं ॥ २१-२२ ॥

स्वेदेन तरुणे गर्भे पित्तं प्रकुपितं भृशम् ।
च्यावयेदाशु गर्भं तु तस्मात् स्वेदं विवर्जयेत् ॥ २३ ॥
स्वेदः स्थिरे तु विहितो गर्भवैवर्ण्यकारकः ।

तरुण गर्भ में स्वेद देने से पित्त प्रकुपित हो जाता है। वह प्रकुपित हुआ पित्त शीघ्र ही गर्भ को गिरा देता है। इसलिये गर्भावस्था में स्वेद नहीं देना चाहिये। तथा गर्भ के स्थिर होने पर दिया गया स्वेद गर्भ को विवर्ण (कान्तिहीन) कर देता है ॥ २३ ॥

वमनं तरुणे गर्भे स्वैर्गुणैर्गर्भघातकम् ॥ २४ ॥

तरुण गर्भ में दिया गया वमन अपने गुणों के द्वारा गर्भ को नष्ट कर देता है ॥ २४ ॥

नाभिप्रपीडनोत्कारात् संक्षोभाच्च विशेषतः ।
गर्भिण्यास्तरुणे गर्भे स्रंसनं न प्रशस्यते ॥ २५ ॥
गुरुत्वादुष्णतीक्ष्णत्वाद्वाहनाच्चास्य घातकम् ।

विशेष रूप से नाभि का पीडन करने अथवा संक्षोभ के कारण गर्भिणी को तरुण गर्भावस्था में दिया गया विरेचन प्रशस्त नहीं माना गया है। यह गुरु, उष्ण, तीक्ष्ण तथा वाहन गुण के कारण गर्भ को नष्ट कर देता है ॥ २५ ॥

आस्थापनं तु तरुणे गर्भे नार्या न शस्यते ॥ २६ ॥
अनुवासनं च मतिमानिति शास्त्रविनिश्चयः ।

तरुण गर्भ में गर्भवती स्त्री को आस्थापन तथा अनुवासन दोनों प्रशस्त नहीं माने गये हैं-ऐसा शास्त्रों का कहना है ॥ २६ ॥

आस्थापनं सानुवासं करोति स्वेन तेजसा ॥ २७ ॥
हीनाङ्गं स्राविणं वाऽपि गर्भमित्येष निश्चयः ।

तरुण गर्भावस्था में आस्थापन तथा अनुवासन देने से उनके तेज के कारण गर्भ निश्चय से हीन अङ्गों वाला हो जाता है तथा गर्भस्राव हो जाता है। योगरत्नाकर में गर्भपात तथा गर्भस्राव का भेद कहते हुए कहा है कि चतुर्थमास तक गर्भस्राव (Abortion) होता है। तब तक गर्भ स्थिर नहीं होता है। उसके बाद पांचवें अथवा छठे मास में गर्भपात (Miscarriage) होता है ॥ २७ ॥

तस्मादेतानि मतिमान् गर्भिण्या न प्रदापयेत् ॥ २८ ॥

इसलिये बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिये कि वह गर्भिणी को उपर्युक्त चीजों का प्रयोग न कराये ॥ २८ ॥

इमानि दद्यात् संचिन्त्य रोगावस्थाविशेषवित् ।
विदारिगन्धां कलशीं तथा गन्धर्वहस्तकम् ॥ २९ ॥

(इति ताडपत्रपुस्तके २२२ तमं पत्रम्)

मधुकं भद्रदारुं च क्वाथः शर्करया युतः ।
वातज्वरहरो देयो मातुलुङ्गरसाप्लुतः ॥ ३० ॥

रोगों की भिन्न २ अवस्थाओं को जानने वाले व्यक्ति को चाहिये कि वह अच्छी प्रकार सोच-विचार कर गर्भिणी स्त्री को निम्न वस्तुओं का प्रयोग कराये—वातज्वरहर क्वाथ—विदारीगन्धा, कलशी (पृश्निपर्णी), एरण्ड, मुलहठी तथा देवदारु के क्वाथ में शर्करा और बिजौरे नबू का रस मिलाकर देने से वह वातज्वर को नष्ट करता है ॥ २९-३० ॥

वर्गो विदारिगन्धादिः क्वथितो नातिशीतलः ।
भद्रदारुसमायुक्तो वातज्वरहरो मतः ॥ ३१ ॥

विदारीगन्धा वर्ग की ओषधियों का क्वाथ बनाकर उसमें देवदारु मिलाकर ईषद् उष्ण अवस्था में देने से यह वातज्वर को नष्ट करता है ॥ ३१ ॥

एरण्डो वरुणश्चैव बृहत्यौ मधुकं तथा ।
वातज्वरहरः क्वाथो रास्नाकल्कसमायुतः ॥ ३२ ॥

एरण्ड, वरुण, दोनों बृहती (छोटी तथा बड़ी कटेरी), मुलहठी तथा रास्ना का कल्क—इनका क्वाथ वातज्वर को नष्ट करता है ॥ ३२ ॥

द्विपञ्चमूलनिष्क्वाथः कोष्णो वा यदि वा हिमः ।
रास्नाकल्कसमायुक्तो वातज्वरहितो मतः ॥ ३३ ॥

दोनों पञ्चमूल अर्थात् दशमूल के क्वाथ में रास्नाकल्क मिलाकर ईषदुष्ण अथवा शीतल अवस्था में वातज्वर में हितकर माना गया है ॥ ३३ ॥

जीर्णे तु भोजने पेया तन्वी लवणवर्जिता ।
कुष्ठं सयष्टीमधुकं रास्ना गिरिकदम्बकः ॥ ३४ ॥
शताह्वा पद्मकं चैव सारिवोशीरमुत्पलम् ।
मुस्ता शृगालविन्ना च करविन्दी तथा वचा ॥ ३५ ॥
पयस्या हंसपादी च तथा पुन्नागमेव च ।
कर्षप्रमाणान्येतानि दधिमण्डेन पेषयेत् ॥ ३६ ॥
तत(सम?)स्तमेषामङ्गानां निष्क्वाथं क्वाथयेद्भिषक् ।
भागाश्च दशमूलस्य कार्या द्विपलसंमिताः ॥ ३७ ॥
बलातिबलयोश्चैव कुर्यादर्धपलं भिषक् ।
कोरण्डमधुशिग्रूणि मदयन्ती च ते त्रयः ॥ ३८ ॥
यवकोलकुलत्थानां भागाः स्युः प्रस्थसंमिताः ।
निष्क्वाथ्यैतानपां द्रोणे शेषमाढकसंमितम् ॥ ३९ ॥
तत्र दद्यात् प्रतीवापं यत् पूर्वमुपकल्पितम् ।
क्षीरं तथैव गोमूत्रं वारुणीं दधि चोत्तमम् ॥ ४० ॥
भिषक्कुडवमात्राणि तिलतैलेन योजयेत् ।
अवहृत्याग्निना सिद्धमीषत्क्षोदायितं यदि ॥ ४१ ॥
उष्णेनैतेन तैलेन सर्वगात्राणि म्रक्षयेत् ।
वातज्वरं निहन्त्येतन्म्रक्षणैस्त्रिभिरेव तु ॥ ४२ ॥
एषोऽभ्यङ्गः स्थिरे गर्भे यथावत् संप्रशस्यते ।

भोजन के जीर्ण होने पर पतली तथा लवण रहित पेया देनी चाहिये । अभ्यङ्गार्थ तैल-कुष्ठ, मधुयष्टि, रास्ना, भूकदम्ब, सौंफ, पद्माख, सारिवा (अनन्तमूल), खश, नीलकमल, नागरमोथा, शृगालविन्ना (पृश्निपर्णी), करविन्दी, बच, पयस्या (क्षीरविदारी), हंसपादी तथा नागकेसर—प्रत्येक १ कर्ष लेकर इन्हें दही के पानी के साथ पीस ले । इन सबका क्वाथ बनाये । फिर दशमूल २ पल, बला तथा अतिबला आधा २ पल, कोरण्ड, मीठा सहिजना, मदयन्ती (मेंहदी), यव, कोल तथा कुलत्थ प्रत्येक १ प्रस्थ । इनका एक द्रोण जल में क्वाथ करके एक आढक जल शेष रखे । उस क्वाथ में उपरिलिखित कुष्ठ इत्यादि वाला क्वाथ डाल दें । फिर इसमें उत्तम दूध, गोमूत्र, वारुणी (मद्य) तथा दही-प्रत्येक १ कुडव तथा तिल तैल डालकर पकाये । तथा तैलसिद्ध होने पर उसे अग्नि पर से उतार ले । इस उष्ण तैल के द्वारा सम्पूर्ण शरीर पर मालिश करे । तीन दिन मालिश करने से यह वातज्वर को नष्ट कर देता है । स्थिर हुए गर्भ में (अर्थात् चतुर्थ मास के बाद) इस अभ्यङ्ग (तैल) का यथावत् प्रयोग प्रशस्त माना गया है ॥ ३४-४२ ॥

क्षीरं क्षीरयवागूर्वा रसो वा जाङ्गलो हितः ॥ ४३ ॥
जीर्णज्वरे सदा नार्या वातघ्नैरौषधैः शृतः ।

जीर्णज्वर में गर्भवती स्त्री को सदा वातनाशक ओषधियों से सिद्ध किया दूध, क्षीरयवागू अथवा जांगल मांसरस देना चाहिये ॥ ४३ ॥

अथ पित्तकृते चापि क्वथितं सारिवादिकम् ॥ ४४ ॥
शर्करामधुसंयुक्तं पाययेत् कल्यमुत्थितम् ।

यदि ज्वर में पित्त का प्रकोप हो तो सारिवा आदि के क्वाथ में शर्करा और मधु मिलाकर प्रातःकाल पिलाना चाहिये॥

पयस्या क्षीरकाकोली मृद्वीका मधुकानि च ॥ ४५ ॥
शर्करामधुसंयुक्तं पानकं पैत्तिके ज्वरे ।

पैत्तिकज्वर में पयस्या, क्षीरकाकोली, मुनक्का, मुलहठी, शर्करा तथा मधु मिला हुआ पानक (शर्बत-Syrup) देना चाहिये ॥ ४५ ॥

नीलोत्पलं पयस्या च सारिवा मधुकं मधु ॥ ४६ ॥
पिप्पल्यो मरिचोशीरं लोध्रं लाजा सशर्करा ।
एतत् क्षीरसमायुक्तं खजेन मथितं पिबेत् ॥ ४७ ॥
गर्भिणी ज्वरिता क्षिप्रं पित्तात्तेन प्रशाम्यति ।

ज्वर की अवस्था में गर्भिणी स्त्री को नीलकमल, पयस्या, सारिवा, मुलहठी, मधु, पिप्पली, मरिच, खस, लोध्र, लाजा (धान की खील) तथा चीनी-इन सबको दूध में मिलाकर खोंचे से खूब मथकर पीना चाहिये। इससे पित्त का प्रकोप शीघ्र ही शान्त हो जाता है ॥ ४६-४७ ॥

नलवञ्जुलमूलानि गुन्द्रामूलानि चाहरेत् ॥ ४८ ॥
सहां च सहदेवां च मार्कवं पाटलिं तथा।
क्षीरिणां च प्रवालानि तथा जम्ब्वाम्रयोरपि ॥ ४९ ॥
उत्पलं सारिवोशीरं चन्दनं पद्मपत्रकम्।
श्लक्ष्णान्येतानि पिष्टानि प्रदेहः शीतलो भवेत् ॥५०॥
पित्तज्वरहरो नार्यास्तर्पणो घृतसंयुतः।

नल (नड़), बेंत तथा गुन्द्रा के मूल, सहा, सहदेवा, मकोय, पाटली (पाटला), क्षीरी वृक्षों (प्लक्ष, न्यग्रोध, वट आदि) तथा आम्र और जामुन के नवीन पत्ते, कमल, सारिवा, खस, चन्दन तथा पद्मपत्रक—इन सबको बारीक पीसकर घी मिलाकर बनाया हुआ प्रदेह (प्रलेप) शीतल होता है। यह गर्भवती स्त्रियों के पित्तज्वर को नष्ट करता है तथा उनका तर्पण करता है ॥ ४८-५० ॥

यवपिष्टस्य कुडवो मञ्जिष्ठार्धपलं तथा ॥ ५१ ॥
अम्लप्रस्थशते तैलं[1] तैलप्रस्थं विपाचयेत्।
दाहज्वरहरं तैलं प्रशस्तं ज्वरनाशनम् ॥ ५२ ॥

पिसे हुए जौ १ कुडव, मंजीठ आधा पल, अम्ल (कांजी) १०० प्रस्थ, तिल तैल १ प्रस्थ। तैलपाक विधि से तैल को सिद्ध करे। यह तैल दाह तथा ज्वर को नष्ट करता है। तथा यह उत्तम ज्वरनाशक माना गया है ॥ ५१-५२ ॥

अथ श्लेष्मज्वरे नारीं रास्नाक्काथं सुशीतलम्।
क्षौद्रेण सह संयुक्तं पाययेदिति कश्यपः ॥ ५३ ॥

महर्षि कश्यप का मत है कि श्लेष्मज्वर में गर्भवती स्त्री को रास्ना का क्वाथ ठण्डा करके उसमें मधु मिलाकर पिलाना चाहिये ॥ ५३ ॥

भद्रदारुकनिष्क्काथो रास्नाक्षौद्रसमायुतः।
अथवा चन्दनक्काथः पिप्पलीक्षौद्रसंयुतः ॥ ५४ ॥
श्लेष्मज्वरहरः पेयो रास्नावासाऽमृताशृतः।

श्लेष्म ज्वर में क्काथ—श्लेष्म ज्वर को नष्ट करने के लिये रास्ना तथा मधु मिश्रित देवदारु का क्काथ, पिप्पली एवं मधु मिश्रित चन्दन का क्काथ तथा रास्ना, बासा और गिलोय का क्काथ—पिलाना चाहिये ॥ ५४ ॥

श्रीपर्णिकामृतानां तु निष्क्काथो मधुयोजितः ॥ ५५ ॥
पेयः सयष्टीमधुको ज्वरे श्लैष्मिकपैत्तिके।

श्लेष्मपैत्तिक (द्विदोषज) ज्वर में श्रीपर्णिका (गंभारी), अमृता (गिलोय) तथा मधुयष्टि के क्काथ में मधु मिलाकर देना चाहिये ॥ ५५ ॥

महतः पञ्चमूलस्य क्काथः श्लैष्मिकवातिके ॥ ५६ ॥
रास्नाकल्कसमायुक्तः पेयः कल्यमिति स्थितिः।

श्लेष्मवातिक (द्विदोषज) ज्वर में बृहत् पञ्चमूल (बिल्व, अग्निमन्थ, श्योनाक, पाटला, गंभारी) के क्काथ में रास्ना का कल्क मिलाकर प्रातःकाल सेवन करना चाहिये ॥५६॥

क्काथो विदारिगन्धादेः शर्करामधुयोजितः ॥ ५७ ॥
वातपित्तज्वरे पेय इति ह स्माह कश्यपः।

वातपित्त ज्वर में विदारीगन्धा आदि के क्काथ में शर्करा तथा मधु मिलाकर पिलाना चाहिये—ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था ॥ ५७ ॥

पित्तज्वरे हिमा पेया पथ्या क्षीरमथापि च ॥ ५८ ॥
जीर्णे पित्तहरैः पक्वो यूषस्तु चणकैस्तथा।

पित्त ज्वर में शीतल पेया अथवा दूध पथ्य होता है। जीर्ण पित्त ज्वर में पित्तनाशक ओषधियों द्वारा पकाया हुआ तथा चने का यूष पथ्य माना गया है ॥ ५८ ॥

श्लेष्मज्वरे सुखोष्णा तु पेया नार्याः प्रशस्यते ॥ ५९ ॥
तथैव मुद्गयूषोऽथ मौलको रस एव च।
सुसात्म्यश्चेति कर्तव्यो व्याधावस्मिन् विशेषतः ॥६०॥

श्लेष्म ज्वर में गर्भवती स्त्री को सुखोष्ण (ईषदुष्ण) पेया, मूंग का यूष अथवा मूली का रस देना चाहिये। तथा इस रोग में विशेषकर ऐसी वस्तुओं का प्रयोग कराना चाहिये जो शरीर के लिये सात्म्य हों ॥ ५९-६० ॥

संसृष्टे तु भिषक् प्राज्ञो योजयेत यथाबलम्।
सन्निपातसमुत्थाने त्रिदोषशमनं हितम् ॥ ६१ ॥

संसृष्ट दोषों में (दो दोषों के मिले होने पर) विद्वान् चिकित्सक को बल के अनुसार ओषधियों का प्रयोग करना चाहिये। तथा सन्निपात (तीनों दोषों के संमिलित प्रकोप) में त्रिदोषशामक चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ६१ ॥

अथ या मद्यपा नारी शृणु तस्याश्चिकित्सितम्।
वातिके पैत्तिके वाऽपि श्लैष्मिके च विशांपते ! ॥६२॥
ज्वरे दद्यात् सुरां नार्या जलेनार्धेन योजिताम्।
सुरया वासयित्वैनां ततः कल्पं[1] प्रदापयेत् ॥ ६३ ॥

हे विशांपते (राजन्) ! जो स्त्री मद्य का सेवन करती है उसकी चिकित्सा सुनो—वातिक, पैत्तिक अथवा श्लैष्मिक ज्वर में गर्भवती स्त्री को मद्य (शराब) में आधा पानी मिलाकर देना चाहिये। अथवा भिन्न २ कल्प को सुरा के द्वारा सुगन्धित करके उसे देना चाहिये ॥ ६२-६३ ॥

हरेणुमुद्गचुच्चूनां[2] कर्कट्याश्च रसेन तु।
रसेन किञ्चिदम्लेन लघून्यन्नानि भोजयेत् ॥ ६४ ॥

१. तिलोद्भवमित्यर्थः।

१. कल्पं तत्तत्प्रयोगोक्तम्। २. चुञ्चुः शाकविशेषः।

लवणस्नेहहीनानि मृदूनि सुरभीणि च ।
आहारेण गदे भग्ने मद्यस्योपरमे कृते ॥ ६५ ॥

उपर्युक्त आहार के द्वारा रोग के नष्ट हो जाने तथा मद्य की शान्ति हो जाने पर उस स्त्री को हरेणु, मूंग तथा चुच्चू नामक शाक अथवा काकड़ाशृङ्गी के रस या कुछ अम्ल रस के साथ लवण तथा स्नेह से रहित मृदु एवं सुगन्धियुक्त भोजन कराये ॥ ६४-६५ ॥

यथोक्ता तु क्रिया पथ्या यथास्वमिति कश्यपः ।
अतिसारे तु गर्भिण्याः समुत्पन्ने भिषग्जितम् ॥ ६६ ॥
वातिके पैत्तिके चैव श्लैष्मिके च प्रवक्ष्यते ।

गर्भिणी स्त्री को अतिसार हो जाने पर वातिक, पैत्तिक एवं श्लैष्मिक दोष के अनुसार उस २ दोष की यथोक्त चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ६६ ॥

विरुद्धाध्यशनाजीर्णैस्तथैवात्यशनादपि ॥ ६७ ॥
भयोद्वेगविघाताद्वा संघातात् पूरणात् क्षयात् ।
(इति ताडपत्रपुस्तके २२३ तमं पत्रम् ।)
कन्दमूलफलैरामैर्दुष्टतोयनिषेवणात् ॥ ६८ ॥
रौक्ष्याद्बुभुक्षया छो(शो)काद्गुर्वभिष्यन्दिभोजनात् ।
अब्धातोश्च स(मु)द्रेकादतीसारः प्रवर्तते ॥ ६९ ॥

गर्भिणी स्त्री को अतिसार का कारण-विरुद्ध भोजन, अध्यशन (पूर्वकृत आहार के बिना पचे दूसरा भोजन करना), अजीर्ण, मात्रा से अधिक भोजन, भय तथा उद्वेग के विघात, संघात (दोषों के संघात), पूरण (सन्तर्पण), एवं क्षय से तथा कच्चे कन्द मूल, फल के प्रयोग एवं दूषित जल के सेवन से, क्षुधा के कारण उत्पन्न रूक्षता, शोक और गुरु एवं अभिष्यन्दि भोजन से अब् धातु (जलीय अंशयुक्त धातु-लसीका) के उद्रेग के कारण अतिसार हो जाता है ॥ ६७-६९ ॥

आमातिसारे संजाते पाचनानि प्रदापयेत् ।
कुटजस्य च बीजानि मुस्ता पाठा तथैव च ॥ ७० ॥
अजमोदाऽथ सरलं तथा चातिविषा शुभा ।
आमे श्लेष्मान्विते पेयमेतत् पिष्टं सुखाम्बुना ॥७१॥

आमातिसार में आम के श्लेष्मा से युक्त होने पर उसे कुटज के बीज (इन्द्रजौ), नागरमोथा, पाठा, अजमोद, सरल (चीड़) तथा अतिविषा (अतीस) आदि पाचक ओषधियों को पीसकर ईषदुष्ण जल के साथ देना चाहिये ॥

पाठाचन्दनभागश्च कुटजस्य फलानि च ।
तथा चातिविषा मुख्या पिष्टमेतद्धिताम्बुना ॥ ७२ ॥
आमे पित्तान्विते पेयमिति ह स्माह कश्यपः ।

आमातिसार में आम के पित्त से युक्त होने पर पाठा, चन्दन, कुटज के फल (इन्द्रजौ) तथा अतीस-आदि ओषधियों को पीसकर हितकर जल के साथ देना चाहिये ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था ॥ ७२ ॥

हिङ्गुसैन्धवनागाश्च बृहत्यौ कौटजं फलम् ॥ ७३ ॥
तथा पिप्पलिमूलं च मुख्या चातिविषा नृप ! ।
आमे वातोत्थिते पेयमेतत् पिष्टं सुखाम्बुना ॥ ७४ ॥

हे राजन् ! आमातिसार में आम के वात से युक्त होने पर हींग, सैन्धव, नागकेसर, दोनों बृहती, इन्द्रजौ, पिप्पलीमूल तथा अतीस-उन्हें पीसकर ईषदुष्ण जल के साथ देना चाहिये ॥

बृहत्यादिस्तु पातव्यः सन्निपातसमुत्थिते ।
पक्वसंग्रहणे पथ्यः सर्वेषामिति निश्चयः ॥ ७५ ॥

सान्निपातिक आमातिसार में बृहत्यादि गण की ओषधियों का क्वाथ पिलाना चाहिये। आमदोष के पक जाने पर पक्वातिसार का स्तम्भन करना चाहिये—ऐसा सब आचार्यों का मत है ॥ ७५ ॥

श्लैष्मिके मधुसंयुक्तस्तण्डुलोदकसंयुतः ।
अम्बष्ठादिगणः पेयो भिन्नवर्चोविबन्धनः ॥ ७६ ॥

प ातिसार में श्लेष्मा का संयोग होने पर अर्थात् श्लैष्मिक अतिसार के स्तम्भन के लिये अम्बष्ठादि गण के क्वाथ में मधु तथा तण्डुलोदक मिलाकर पिलाना चाहिये। यह अतिसार को रोकता है ॥ ७६ ॥

अथवा कौटजं पिष्ट्वा फलं क्षौद्रेण संयुतम् ।
धातकी मरिचं लोध्रं कट्वङ्गं देवदारु च ॥ ७७ ॥
तण्डुलोदकसंयुक्तं श्लेष्मातीसारनाशनम् ।

अथवा इन्द्रजौ, धाय के फूल, मरिच, लोध्र, कट्वङ्ग (श्योनाक अरलु) तथा देवदारु को मधु के साथ पीसकर तण्डुलोदक से पीना चाहिये। यह श्लेष्मातिसार को नष्ट करता है ॥ ७७ ॥

तण्डुलोदकपिष्टं वा केसरं नलिनस्य तु ॥ ७८ ॥
मधुयुक्तं पिबेन्नारी श्लेष्मातीसारनाशनम् ।

अथवा नलिन (कमल) के पुंकेसर (Pallens) को तण्डुलोदक में पीसकर उसमें मधु मिलाकर पीने से श्लेष्मातिसार नष्ट होता है ॥ ७८ ॥

न्यग्रोधादिस्तु निर्यूहः क्षौद्रेण मधुरीकृतः ॥ ७९ ॥
पित्तातिसारशमनः कुशलैः परिकीर्तितः ।

कुशल चिकित्सकों की राय में न्यग्रोधादि गण के क्वाथ को मधु के द्वारा मधुर करके पीने से पित्तातिसार नष्ट होता है ॥

कणा धातकिपुष्पं च मधुकं बिल्वपेशिका ॥ ८० ॥
शर्करामधुसंयुक्तं पित्तवृद्धिविनाशनम् ।

अथवा पिप्पली, धाय के फूल, मुलहठी, कच्चे बिल्व का गूदा-इनके क्वाथ को शर्करा एवं मधु मिलाकर पिलाने से पित्तातिसार नष्ट होता है ॥ ८० ॥

पद्मां समङ्गमाम्रास्थि मधुकं पद्मकेसरम् ॥ ८१ ॥
लोध्रं मोचरसश्चैव शर्कराक्षौद्रसंयुतः ।

पित्तातिसारशमनो योग एष विधीयते ॥ ८२ ॥

कमल, मंजीठ, आम की गुठली, मुलहठी, पद्मकेसर, लोध्र तथा मोचरस को शर्करा तथा मधु के साथ देने से पित्तातिसार शान्त होता है ॥ ८१-८२ ॥

एरण्डवर्जं खुड्डाकं पञ्चमूलं शृतं हितम् ।
कालाकट्वङ्गसंयुक्तं वातातीसारनाशनम् ॥ ८३ ॥

एरण्ड को छोड़कर स्वल्प पञ्चमूल का क्वाथ बनाकर उसमें काला (नीलिनी अथवा सारिवा) और कट्वङ्ग (श्योनाक) मिलाकर देने से वातातिसार नष्ट होता है ॥ ८३ ॥

पद्मं समङ्गमाम्रास्थि बृहती बिल्वपेशिका ।
श्लक्ष्णपिष्टं पिबेद्दध्ना वातातीसारनाशनम् ॥ ८४ ॥

कमल, मंजीठ, आम की गुठली, बृहती, कच्चे बिल्व का गूदा—इन सबको बारीक पीसकर दही के साथ सेवन करने से वातातिसार नष्ट होता है ॥ ८४ ॥

पिप्पल्यो धातकी पद्मं समङ्गा मोचजो रसः ।
मत्स्यण्डिकेन्द्रधान्यं च पिष्टमेतन्नृपोत्तम ! ॥ ८५ ॥
तण्डुलोदकसंयुक्तं सशूले वातिके हितम् ।

हे राजन् ! वातातिसार में पिप्पली, धाय के फूल, कमल, मंजीठ, मोचरस, मत्स्यण्डिका (मीजां खाण्ड), इन्द्रजौ—इनको पीसकर तण्डुलोदक के साथ देना चाहिये ॥ ८५ ॥

मुस्ताबिल्वशलाटूनि अनन्ता मधुकं तथा ॥ ८६ ॥
श्लक्ष्णपिष्टं पिबेद्दध्ना सर्पिर्गुडसमायुतम् ।
वातातीसारशान्त्यर्थं यथावदिति कश्यपः ॥ ८७ ॥

नागरमोथा, बिल्वशलाटु (कच्चे बिल्व), सारिवा, मुलहठी इन्हें बारीक पीसफर उसमें घृत तथा गुड मिलाकर यथावत् दही के साथ सेवन करने से वातातिसार नष्ट होता है-ऐसा महर्षि कश्यप का मत है ॥ ८६-८७ ॥

पिप्पल्यो धातकी लोध्रं समङ्गा पद्मकेसरम् ।
पद्मा मोचरसश्चैव दीर्घवृन्ततरोस्त्वचः ॥ ८८ ॥
केसरं चेति चूर्णानि श्लक्ष्णान्येतानि चूर्णयेत् ।
घृतं मत्स्यण्डिका क्षौद्रं लेहीभूतानि लेहयेत् ॥ ८९ ॥
लेहः कल्याणकस्त्वेष सर्वातीसारनाशनः ।

कल्याणकावलेह—पिप्पली, धाय के फूल, लोध्र, मंजीठ, पद्मकेसर, पद्म, मोचरस, दीर्घवृन्त (श्योनाक) की छाल, तथा नागकेसर-इन सबको बारीक पीसकर चूर्ण करे। इनमें घी, मत्स्यण्डिका तथा मधु मिलाकर अवलेह बनाये। इसे कल्याणकावलेह कहते हैं। यह सब प्रकार के अतिसारों को नष्ट करता है ॥ ८८-८९ ॥

काश्मर्यमूलत्वक्कल्कः श्यामामूलं तथैव च ॥ ९० ॥
यवागूं दधिमण्डेन सिद्धामल्पघृतां पिबेत् ।
प्रवाहिकार्ता सततं तथा संपद्यते सुखी ॥ ९१ ॥

गंभारी की जड़ की छाल का कल्क तथा त्रिवृत् की मूल की दधिमण्ड (दही का पानी-Water floating on curd) के साथ यवागू बनाकर उसे थोड़े घृत के द्वारा सिद्ध करके निरन्तर पीने से प्रवाहिका (Dysentry) का रोगी स्वस्थ हो जाता है।

वक्तव्य—माधवनिदानकार अतिसार तथा प्रवाहिका में यह अन्तर माना है कि अतिसार में नाना प्रकार की द्रवधातुएं निकलती हैं और प्रवाहिका में केवल मात्र कफ ही निकलता है ॥ ९०-९१ ॥

किराततिक्तकं लोध्रं यष्टीमधुकमेव च ।
फाणितं तिलकल्कश्च शर्करामधुसंयुतम् ॥ ९२ ॥
तण्डुलोदकमित्येतत् प्रतिहन्ति प्रवाहिकाम् ।

चिरायता, लोध्र, मुलहठी, फाणित (राब), तिलों का कल्क इन्हें पीसकर शर्करा तथा मधु मिलाकर तण्डुलोदक के साथ सेवन करने से प्रवाहिका नष्ट होती है ॥ ९२ ॥

कपित्थबिल्वमाषाणां कल्कानक्षसमान् पृथक् ॥९३॥
तथा कोमलमोचाऽपि पिप्पलीशृङ्गबेरयोः ।
अर्धप्रस्थं भवेद्दध्नो गौडमद्यकृतः खटः (डः) ॥ ९४ ॥
घृतक्षौद्रेण सहितः पीतो हन्ति चिरोत्थिताम् ।
वाहिकां जीर्णभक्तायाः प्राणस्य बलवर्धनः ॥ ९५ ॥

कपित्थ (कैथ), बिल्व, उड़द, कोमल शल्लकी तथा पिप्पली और आर्द्रक—प्रत्येक का कल्क पृथक् २ एक अक्ष (तोला) तथा दही आधा प्रस्थ। इसमें गुड निर्मित मद्य डालकर खड तैयार किया जाय। इसमें घी और मधु (असमान मात्रा में) डालकर भोजन के जीर्ण हो जाने पर सेवन करने से जीर्ण प्रवाहिका नष्ट होती है तथा प्राणों के बल की वृद्धि होती है। दही की लस्सी में कपित्थ, चांगेरी, मरिच तथा जीरा आदि डालकर पका लेने से उसे खड कहते हैं। कहा भी है—तक्रं कपित्थचांगेरीमरिचाजाजिचित्रकैः। सुपक्वः खडयूषोऽयम् ॥ चरक चि. अ. १९ में भी प्रवाहिका के लिये खडयोग दिया है ॥ ९३-९५ ॥

बाणमूलस्य निष्क्वाथस्त्रपुषीबीजसंयुतः ।
शर्करामधुसंयुक्तो रक्तातीसारनाशनः ॥ ९६ ॥

रक्तातिसारनाशक योग—बाण (सहचर) की मूल के क्वाथ में खीरे के बीज तथा शर्करा और मधु मिलाकर सेवन करने से रक्तातिसार नष्ट होता है ॥ ९६ ॥

पद्मं समङ्गा मधुकं चन्दनं पद्मकेशरम् ।
पयसा मधुसंयुक्तं रक्तातीसारनाशनम् ॥ ९७ ॥

कमल, मंजीठ, मुलहठी, चन्दन, कमलकेसर, इनके चूर्ण को मधु मिलाकर दूध से सेवन करने से रक्तातिसार नष्ट होता है ॥ ९७ ॥

तिलान् कृष्णान् समङ्गा च यष्टीमधुकमुत्पलम् ।
पिबेदामेन पयसा रक्तातीसारनाशनम् ॥ ९८ ॥

काले तिल, मंजीठ, मधुयष्टि तथा नील कमल–इन्हें पीसकर कच्चे दूध के साथ सेवन करने से रक्तातिसार नष्ट होता है।

वक्तव्य—इसमें दूध बकरी का लिया जाय तो विशेष गुणकारी होता है। चरक ने रक्तातिसार में बकरी के दूध का प्रयोग दिया है ॥ ९८ ॥

मौचो रसस्तिला लोध्रमुत्पलं कमलं तथा ।
पिबेत् क्षीरेण संयुक्तं रक्तातीसारनाशनम् ॥ ९९ ॥

मोचरस, तिल, लोध्र, नीलकमल, कमल–इनके चूर्ण का दूध के साथ सेवन करने से रक्तातिसार नष्ट होता है ॥ ९९ ॥

पयस्या चन्दनं लोध्रं पद्मकेसरमेव च ।
पयसा मधुसंयुक्तं पिबेद्रक्तातिसारिणी ॥ १०० ॥

रक्तातिसार के रोगिणी को पयस्या (क्षीरकाकोली), रक्तचन्दन, लोध्र तथा कमलकेसर–के चूर्ण को मधु में मिलाकर दूध के साथ सेवन करना चाहिये ॥ १०० ॥

रक्तं निर्वा(र्व)हते यावत् कृच्छ्रात् सगुदवेदनम् ।
कुप्यपाषाणतप्तेन पयसा भोजितां ततः ॥ १०१ ॥
मधुकं घृतमण्डेन त्वथैनामनुवासयेत् ।

जब तक गुदा में वेदना होती है तथा कष्टपूर्वक गुदा से रक्त आता है तब तक कुप्पी अथवा पत्थर के बर्तन में गरम किये हुए दूध के साथ मुलहठी का सेवन करना चाहिये। तदनन्तर घृतमण्ड के द्वारा उसे अनुवासन देना चाहिये। जमे हुए घी के ऊपर के स्वच्छ पतले भाग को घृतमण्ड कहते हैं ॥ १०१ ॥

गर्भिण्या वातिकी यस्या जायते परिकी(क)र्तिका १०२
बृहतीबिल्वमानन्तैर्यूषं कृत्वा तु भोजयेत्।

जिस गर्भवती स्त्री को वातिक परिकर्तिका (परिकर्तनवत् गुदा में पीडा) होती हो उसे बृहती, बिल्व तथा अनन्तमूल का यूष बनाकर खिलाना चाहिये ॥ १०२ ॥

परिकी(क)र्तिकायां गर्भिण्याः पैत्तिकायामिदं हितम् ॥
मधुकं हंसपादी च वितुन्नकमथापि च ।
पाययेन्मधुसंयुक्तं सुपिष्टं तण्डुलाम्बुना ॥ १०४ ॥

गर्भवती स्त्री की पैत्तिक परिकर्तिका में मुलहठी, हंसपादी, तथा धनिये को अच्छी प्रकार पीसकर मधु में मिलाकर तण्डुलोदक के साथ पिलाना चाहिये ॥ १०३–१०४ ॥

श्लैष्मिकायां तु कर्तव्यं यथावत्तन्निबोधत ।
कण्टकारी श्वदंष्ट्रा च अश्वत्थं चेति तत् समम् ॥१०५॥
संपन्नलवणं कृत्वा भोजयेत् पाययेदपि ।

श्लैष्मिक परिकर्तिका में जो चिकित्सा करनी चाहिये उसे तू यथावत् सुन, कटेरी, गोखुरू तथा पीपल–इन तीनों को समान मात्रा में लेकर पीसकर तथा उसमें नमक मिलाकर भोजन तथा पान के रूप में प्रयोग करना चाहिये ॥ १०५ ॥

अथ चेदत्र गर्भिण्याः पार्श्वस्योपग्रहो भवेत् ॥ १०६ ॥
शालपर्णीं पृश्निपर्णीं बृहतीं कण्टकारिकाम् ।
बिल्वाग्निमन्थश्योनाकं काश्मर्यमथ पाटलिम् ॥१०७॥
(इति ताडपत्रपुस्तके २२४ तमं पत्रम्)
यूषं कृत्वा तु संपन्नं भोजयेत् पाययेदपि ।

यदि गर्भिणी को पार्श्वग्रह (पार्श्व का जकड़ जाना) हो जाय तो उसे शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कटेरी, बिल्व, अग्निमन्थ (अरणी), श्योनाक (अरलु), गंभारी तथा पाटला–इनका अच्छीप्रकार से यूष बनाकर गर्भिणी को भोजन तथा पान के रूप में प्रयोग कराये ॥ १०६–१०७ ॥

अथ चेदत्र गर्भिण्या मुखपाको भवेदिह ॥ १०८ ॥
हरिद्रादारुनिष्क्वाथं ग्राहयेत् कवलं ततः ।
ततः स्नेहेन कृत्वा तु ततः स्याच्छर्करोदकम् ॥ १०९ ॥
लोध्रोदकेन कृत्वा तु कुर्यात्तत्प्रतिसारणम् ।
अनन्तां च समङ्गां च घृषीं मोचरसं तथा ॥ ११० ॥
मधुना सह(म)मश्नीयात्ततः संपद्यते सुखी ।

यदि गर्भिणी स्त्री को मुखपाक (Stomatitis) हो जाय तो पहले हल्दी तथा दारुहल्दी के क्वाथ के कवलधारण करे। तदनन्तर स्नेह के तथा फिर चीनी मिले पानी के तथा अन्त में लोध्र क्वाथ के कवलधारण करे उसके बाद लोध्र के चूर्ण का ही मुख में प्रतिसारण (Dusting) करे। अन्त में सारिवा, मंजीठ, घृषी तथा मोचरस के चूर्ण को मधु में मिलाकर सेवन (अन्तःप्रयोग) करना चाहिये। इससे वह रोगिणी स्वस्थ हो जाती है ॥ १०८–११० ॥

आक्षेपके समुत्पन्ने तथैवाप्यपतानके ॥ १११ ॥
मातुलुङ्गरसः पेयो बिडसैन्धवसंयुतः ।
अग्निमन्थस्य निर्यूहः कथितो वरुणस्य वा ॥ ११२ ॥
लावो वा तैत्तिरो वाऽपि रसः स्निग्धः प्रशस्यते ।
पानार्थं वातशमनो वांदूलो रस एव च ॥ ११३ ॥
असंसृष्टे तु कर्तव्यो विधिरेष सुखावहः ।

यदि गर्भिणी को आक्षेपक अथवा अपतानक रोग हो जावे तो बिजौरे नीम्बू के रस में विडनमक (बिरिया) तथा सैन्धव नमक डालकर पिलाना चाहिये। अथवा अग्निमन्थ क्वाथ या वरुण क्वाथ देना चाहिये। अथवा बटेर या तीतर के स्निग्ध (स्नेहयुक्त) मांसरस देने चाहिये। तथा पीने के लिये चर्मचटी का रस देना चाहिये। यदि उपर्युक्त (आक्षेपक तथा अपनातक) रोगों में किसी दोष का विशेष रूप से प्राबल्य न हो तब यह विधि लाभप्रद होती है। आक्षेपक रोग—शरीर की मांसपेशियों में अकस्मात् तथा प्रबल जो

१. चर्मचव्या रस इत्यर्थः ।

संकोच होता है उसे आक्षेपक या (Convulsions) कहते हैं। यह कई रोगों में मुख्य लक्षण होता है जिनमें मस्तिष्क विकार-युक्त हो जाता है। अपतानक रोग—जिस रोग में शरीर की मांसपेशियों में तनाव उत्पन्न हो जाता है उसे अपतानक (Tetanus)कहते हैं। सुश्रुत नि. अ. १ में कहा है—सोऽपतानकसंज्ञो यः पातयत्यन्तराऽन्तरा ॥ १११-११३ ॥

पित्तोपसृष्टे तु हितो जाङ्गलो मधुरो रसः ॥ ११४ ॥
शृतो मधुरकैः सर्वैर्दाडिमाम्लसमायुतः ।

यदि उपर्युक्त रोगों (आक्षेपक तथा अपनातक) में पित्त का संयोग हो तो उसमें मधुर जांगल मांसरस का सेवन कराना चाहिये । अथवा मधुर वर्ग की सम्पूर्ण ओषधियों का क्वाथ बनाकर उसमें अनारदाने की खटाई डालकर देना चाहिये ॥ ११४ ॥

वातश्लेष्मसमुत्थे तु व्यम्लस्तु कटुको रसः ॥ ११५ ॥
यवक्षारेण संयुक्तो जाङ्गलः सततं हितः ।
मृदवः पाणितापाश्च पित्तवर्ज्ये हितास्तथा ॥ ११६ ॥

यदि इनमें वायु तथा कफ का संयोग हो तो अम्ल और कटु रसों का सेवन कराना चाहिये अथवा जांगल मांसरस में यवक्षार मिलाकर देना चाहिये। तथा हाथों को गरम करके रोगी को मृदु ताप पहुँचाना लाभदायक होता है। परन्तु इसमें पित्त का प्रकोप नहीं होना चाहिये। अर्थात् यदि इसमें साथ में पित्त का भी प्रकोप सम्मिलित हो तो रोगी को ताप नहीं पहुंचाना चाहिये ॥ ११५-११६ ॥

घृतसेकोऽथवा कार्यो जीर्णे गर्भे विशेषतः ।
उष्णो वा यदि वा शीतो व्याधिमासाद्य तत्त्वतः ११७

अथवा जीर्ण गर्भ में विशेषकर घृत का सेक करना चाहिये। यह सेक व्याधि के अनुसार उष्ण या शीत भी हो सकता है ॥ ११७ ॥

अथ छर्दिचिकित्सां तु प्रोच्यमानां निबोधत ।
मातुलुङ्गरसो लाजाः कोलमज्जा तथाऽञ्जनम् ॥११८॥
तथा दाडिमसारश्च शर्करा क्षौद्रमेव च ।
एष वातात्मिकां छर्दिं हन्ति लेहो विशेषतः ॥ ११९ ॥

अब तू मेरे से छर्दि (वमन) की चिकित्सा को सुन, वातिक छर्दि—बिजौरे का रस, लाजा (धान की खील), कोल (बेर) की मींगी, अञ्जन (रसाञ्जन), अनारदाना, चीनी—इन सबका मधु के साथ बनाया हुआ यह अवलेह विशेषरूप से वातिक छर्दि को नष्ट करता है ॥ ११८-११९ ॥

दाडिमाम्लो रसः पक्को हृद्यो लवणवर्जितः ।
वातच्छर्दिहरो राजन् ! माहिषो वा सुसंस्कृतः ॥१२०॥

हे राजन् ! हृदय को अच्छा लगने वाला तथा लवणरहित खट्टे अनार का रस तथा पका हुआ मांसरस अथवा अच्छी प्रकार संस्कार किया हुआ भैंस का मांसरस खिलाने से वातिक छर्दि नष्ट होती है ॥ १२० ॥

शर्करामधुसंयुक्तं लाजचूर्णसमायुतम् ।
चातुर्जातककल्केन हृद्यं पुष्पैः सुवासितम् ॥ १२१ ॥
पित्तच्छर्दिप्रशमनं हितं तण्डुलधावने ।
हिता लाजमयी पेया सिताक्षौद्रेण संयुता ॥ १२२ ॥
जाङ्गलो वा रसः पथ्यः शर्करामधुरीकृतः ।

पैत्तिक छर्दि—इसमें चातुर्जातक (दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपत्र, नागकेसर) के कल्क में लाजा का चूर्ण, शर्करा तथा मधु मिलाकर तथा उसे फूलों के द्वारा हृद्य एवं सुगन्धित करके तण्डुलोदक के साथ देना चाहिये। अथवा शर्करा एवं मधु मिश्रित लाजा (धान की खील) की पेया देनी चाहिये। अथवा जांगल पशुपक्षियों का मांसरस शर्करा के द्वारा मधुर करके पथ्य माना गया है ॥१२१-१२२ ॥

आम्रजम्बूप्रवालानि सितानि सुश्रृतानि तु ॥ १२३ ॥
क्षौद्रयुक्तानि पेयानि श्लेष्मच्छर्द्यां विशेषतः ।
भोजनार्थे हितं यूषं मुद्गैर्दाडिमसारि(धि)तम् ॥ १२४ ॥
व्यपेतस्नेहलवणं हृद्यं छर्दिविनाशनम् ।

श्लैष्मिक छर्दि—(श्लैष्मिकवमन) में विशेषकर आम एवं जामुन के शुभ्र कोमल पत्तों को पकाकर उसमें मधु मिलाकर पिलाना चाहिये । तथा भोजन में उसके लिये अनारदाने से सिद्ध किया हुआ तथा स्नेह और लवणयुक्त मूंगों का यूष हितकर है। यह हृदय को अच्छा लगता है तथा वमन को नष्ट करता है ॥ १२३-१२४ ॥

सन्निपातसमुत्थायां संसृष्टान्यवचारयेत् ॥ १२५ ॥

सन्निपातज (त्रिदोषज) वमन में संसृष्ट योग देने चाहिये अर्थात् यदि वमन त्रिदोषजन्य हो तो उसकी चिकित्सा भी ऐसी होनी चाहिये जो तीनों दोषों को शान्त करे ॥ १२५ ॥

क्रिमिजायां तु कर्तव्यं यत् पुरस्तात् प्रवक्ष्यते ।
वर्षाभूमूलनिष्क्वाथं योजयेद्भद्रदारुणा ॥ १२६ ॥
तत् पिबेन्मधुसंयुक्तं शोफे स्त्री पूर्वया सह ।

यदि गर्भिणी स्त्री को कृमिजन्य वमन हो तो निम्न-लिखित चिकित्सा करनी चाहिये—पुनर्नवा की मूल तथा देवदारु के क्वाथ में मधु मिलाकर उसे पिलाना चाहिये। यदि उस स्त्री को शोफ (शोथ) हो तो केवल ओषधि अर्थात् केवल पुनर्नवा का क्वाथ देना चाहिये ॥ १२६ ॥

पिप्पल्यङ्कोठमूलानि वाजिलिण्डरसस्तथा ॥ १२७ ॥
दधि माहिषमित्येतत् कामलायाश्चिकित्सितम् ।

गर्भिणी स्त्री के कामला रोग (Jaundice) पिप्पली, अङ्कोठमूल, घोड़े की लीद का रस और भैंस के दूध की दही सब मिलाकर सेवन कराना चाहिये ॥ १२७ ॥

मातुलुङ्गरसः पेयः सैन्धवेन सुयोजितः ॥ १२८ ॥
वातिके हृदि शूले तु प्रधान इति निश्चयः ।

गर्भिणी के वातिक हृदयशूल में मुख्यरूप से बिजौरे नींबू के रस में अच्छी प्रकार नमक मिलाकर पिलाना चाहिये। यह निश्चय से इसकी प्रधान ओषधि है ॥ १२८ ॥

प्रियङ्ग्वोऽथ पिप्पल्यो भद्रमुस्ता हरेणवः ॥ १२९ ॥
क्षौद्रं बदरचूर्णं च पिबेत् पित्तार्दिते हृदि ।

पैत्तिक हृदयशूल में प्रियङ्गु, पिप्पली, भद्रमुस्ता, हरेणु, मधु तथा बेर का चूर्ण—इनका प्रयोग करना चाहिये ॥ १२९ ॥

पिप्पलीचूर्णकल्कस्तु पत्रं चोचं प्रियङ्गवः ॥ १३० ॥
मातुलुङ्गरसश्चैव लेहः श्लेष्मार्दिते हृदि ।

श्लैष्मिक हृदयशूल में पिप्पली का चूर्ण, तेजपत्र, चोच (दालचीनी का एक भेद जिसे बहलत्वक् कहते हैं) तथा प्रियङ्गु को बिजौरे नीम्बू के रस में मिलाकर अवलेह बनाकर देना चाहिये ॥ १३० ॥

कुलीरशृङ्गी शरटं भार्गी पिप्पल्य एव च ॥ १३१ ॥
वातकासहरो लेहो मातुलुङ्गरसप्लुतः ।

कुलीरशृङ्गी (काकड़ाशृङ्गी), शरट, भारङ्गी तथा पिप्पली—इनके चूर्ण को बिजौरे नीम्बू के रस में मिलाकर बनाया हुआ अवलेह वातिक कास रोग को नष्ट करता है ॥ १३१ ॥

मधूलिका तु गोक्षीरी पिप्पली शर्करा तथा ॥ १३२ ॥
द्राक्षाक्षौद्रसमायुक्तो लेहो वै पित्तकासहा ।

मुलहठी, गोक्षीरी, पिप्पली तथा शर्करा इन सबके चूर्ण को मुनक्के तथा मधु के साथ पीसकर बनाया हुआ अवलेह पैत्तिक कास को दूर करता है ॥ १३२ ॥

पिप्पल्यस्त्रिफला रास्ना भद्रदारु समाक्षिकम् ॥१३३॥
श्लेष्मकासहरो लेहः कुशलैः परिकीर्तितः ।

पिप्पली, त्रिफला, रास्ना तथा भद्रदारु के चूर्ण को मधु के साथ मिलाकर बनाया हुआ अवलेह चिकित्साकुशल व्यक्तियों द्वारा श्लैष्मिक कास को नष्ट करनेवाला कहा गया है ॥१३३॥

मधुकं शङ्खचूर्णं च जीवलाक्षाऽथ माक्षिकम् ॥१३४॥
लेहः शर्करया युक्तः क्षतकासविनाशनः ।

मुलहठी, शंखपुष्पी, पीपल की लाख तथा मधु और चीनी इनका अवलेह क्षतज कास को नष्ट करता है ॥ १३४ ॥

मयूरस्य तु रोमाणि श्वाविच्छल्यकयोरपि ॥ १३५ ॥
पिप्पलीतण्डुलाश्चैव कोलमूलं च तत्समम् ।
चूर्णितं मधुसर्पिर्भ्यां लिहेच्छ्वासकफापहम् ॥१३६॥

मोर के रोंये (चंदोए) तथा सेही और शल्यक (छोटी सेही) के बाल, पिप्पली, चावल तथा कोल (बेर) की जड़—समान मात्रा में लेकर चूर्ण करके उनका मधु और घृत (असमान मात्रा) के साथ अवलेह बना कर सेवन करने से श्वास तथा कफरोग नष्ट होते हैं ॥ १३५-१३६ ॥

गुडो रास्नाऽथ पिप्पल्यो द्राक्षा समरिचा तथा ।
हरिद्रा च समङ्गानि चूर्णान्येतानि लेहयेत् ॥ १३७ ॥
तैलेन श्वासकासेषु तमके चैव पूजितः ।

गुड, रास्ना, पिप्पली, द्राक्षा (मुनक्का), मरिच, हल्दी, मजीठ, इनका चूर्ण तैल के साथ मिलाकर श्वास, कास तथा तमक श्वास (Asthama) में चटाना चाहिये ॥ १३७ ॥

अभयाऽऽमलकं वाऽपि शल्यकस्य त्वचा युतम् ॥१३८॥
अन्तर्गृहं सहोष्ट्रास्थि दधितैलेन लेहयेत् ।
पिप्पल्यामलकी मुस्ता तथा फाणितशर्करा ॥ १३९ ॥
हरीतकीति चूर्णानि मधुतैलेन लेहयेत् ।
शमनं सर्वकासानां श्वासानां च प्रशस्यते ॥ १४० ॥

सम्पूर्ण श्वास तथा कास रोगों में हरड़, आंवला, शल्यक (छोटी सेही) की त्वचा गृहधूम तथा ऊंट की हड्डियां इन सबको पीसकर दही तथा तेल के साथ चटाये। तथा पिप्पली, आंवला, नागरमोथा, राब, शर्करा तथा हरड़ का चूर्ण तैल और मधु में मिलाकर चटाना चाहिये ॥ १३८-१४० ॥

भद्रदारुहरीतक्यौ सैन्धवं कुष्ठमेव च ।
घृतं च फाणितं चैव लेह ऊर्ध्वानिलापहः ॥ १४१ ॥

भद्रदारु, हरड़, सैन्धव नमक, कुष्ठ, घृत तथा फाणित (राब) को मिलाकर बनाया हुआ अवलेह ऊर्ध्ववात (डकार) को नष्ट करता है ॥ १४१ ॥

पिप्पली गैरिकं भार्गी हिङ्गु कर्कटकी तथा ।
समानि च भवेल्लेहो हिक्काप्रशमनः स्त्रियाः ॥१४२॥

पिप्पली, गेरु, भारंगी, हींग तथा काकड़ाशृङ्गी को समान मात्रा में लेकर बनाया हुआ अवलेह गर्भिणी स्त्री की हिक्का को शान्त करता है ॥ १४२ ॥

(पिप्पली) पिप्पलीमूलं मुस्ता तगरमेव च ।
दीपनीयं भवेदेतत् क्षीरेण तु समाक्षिकम् ॥ १४३ ॥

पिप्पली, पिप्पलीमूल, नागरमोथा तथा तगर के चूर्ण को मधु में मिलाकर दूध के साथ सेवन करने से अग्निदीप्त होती है अर्थात् यह (Stomachic) है ॥ १४३ ॥

शतावरी दर्भमूलं मधुकं क्षीरमोरटः ।
पाषाणभेदकोशीरं कतकस्य फलानि च ॥ १४४ ॥
एषां क्वाथरसं कल्कं क्षीरं वा पाययेद्भिषक् ।
मूत्रग्रहेषु सर्वेषु सिद्धमित्याह कश्यपः ॥ १४५ ॥

सम्पूर्ण मूत्रग्रह रोगों में—शतावरी, दर्भमूल, मुलहठी, क्षीरमोरट (मूर्वाभेद-क्षीरचूरीनि या क्षीरमोरबेल), पाषाणभेद, खस तथा निर्मली बीजों का क्वाथ, कल्क अथवा इनसे सिद्ध दूध पिलाना चाहिये—ऐसा महर्षि कश्यप का मत है ॥१४५॥

वातगुल्मस्य भैषज्यं योनिगुल्मस्य चाप्यथ ।

यथावत् पूर्वमुद्दिष्टं समासेन चिकित्सितम् ॥ १४६ ॥

वातगुल्म तथा योनिगुल्म (रक्तगुल्म) की चिकित्सा पहले संक्षेप में यथावत् कह दी गई है ॥ १४६ ॥

वातिके पैत्तिके चैव श्लैष्मिके च विशेषतः ।
(इति ताडपत्रपुस्तके २२५ तमं पत्रम् ।)
चतुर्थे मासि नारीणामिदं कुर्याच्चिकित्सितम् ॥१४७॥

चतुर्थ मास में गर्भिणी स्त्री के वातिक, पैत्तिक तथा श्लैष्मिक गुल्म की निम्न चिकित्सा करनी चाहिये ।

वक्तव्य—पहले भी कहा गया है कि गर्भवती स्त्रियों में चतुर्थ मास से पूर्व ओषधि नहीं देनी चाहिये क्योंकि तब तक गर्भ स्थिर नहीं होता है । चतुर्थ मास में गर्भ स्थिर हो जाता है । इसीलिये चतुर्थ मास से पूर्व इसकी चिकित्सा का विधान न देकर उसके बाद के मासों में क्रमशः चिकित्सा का क्रम दिया गया है ॥ १४७ ॥

सर्पिभिरन्नपानैर्वा क्षीरेणेक्षुरसेन वा ।
वामयेत् फलयुक्तेन यथावदिति कश्यपः ॥ १४८ ॥

मदनफल से युक्त घृत, अन्नपान, दूध अथवा इक्षुरस के द्वारा यथावत् वमन कराना चाहिये। ऐसा महर्षि कश्यप का मत है ॥ १४८ ॥

चतुरङ्गुल[1]सिद्धेन रसेन पयसाऽपि वा ।
विरेचयेत्तु मतिमान् य इच्छेत् सुखमात्मनः ॥१४९॥

अथवा स्वास्थ्य की इच्छा करनेवाले बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिये कि अमलतास के रस से सिद्ध किये हुए मांसरस अथवा दूध के द्वारा गर्भिणी स्त्री को विरेचन कराये ॥ १४९ ॥

पूतीकपत्रैर्भृष्टैर्वा पुष्पैर्वाऽऽट्यालकस्य वा ।
अम्लां यवागूं प्रपिबेन्नातिवेगा यथा भवेत् ॥१५०॥

अथवा पूतिकरञ्ज के तले हुए पत्तों अथवा पीली बला के फूलों से बनी हुई यवागू को अनारदाने से खट्टी करके पीनी चाहिये जिससे विरेचन के बहुत अधिक योग न हों। अर्थात् इस प्रयोग से विरेचन के थोड़े ही वेग होते हैं ॥ १५० ॥

एरण्ड(पत्रं) क्षीरेण वातरोगान्विता पिबेत् ।
वातमूत्रविरोधे तु शूले वाऽपि समुत्थिते ॥ १५१ ॥

यदि गर्भिणी स्त्री को कोई वातिक रोग हो, वातिक मूत्रग्रह हो अथवा शूल हो तो दूध के साथ एरण्ड पत्र का चूर्ण दें अथवा दूध में एरण्ड के पत्तों को पकाकर दें ॥ १५१ ॥

पञ्चमे मासि गर्भिण्या व्यक्ताम्ललवणं ततः ।
आस्थापनं हितं नार्या मधुरं चानुवासनम् ॥ १५२ ॥

पांचवें मास में गर्भिणी स्त्री को अम्ल एवं लवण द्रव्ययुक्त आस्थापन तथा मधुर द्रव्यों की अनुवासन (स्नेह) बस्ति देनी चाहिये ॥ १५२ ॥

ग्रन्थीनां पिडकानां च शोथे चैव विशाम्पते ! ।
रोहिण्यां विद्रधौ वाऽपि षष्ठमासे विशेषतः ।
यथास्वं भेषजं कुर्याद्दारुणं शास्त्रपारगः ॥ १५३ ॥

हे राजन् ! शास्त्रकुशल चिकित्सा को छठे मास में गर्भिणी स्त्री की ग्रन्थिरोग, पिडका, शोथ तथा विशेषकर रोहिणी नामक विद्रधि की अपने २ रोग के अनुसार दारुण चिकित्सा करनी चाहिये ।

वक्तव्य—रोहिणी रोग गला का एक संक्रामक रोग है जिसे हम आधुनिक परिभाषा के अनुसार (Diphtheria) कह सकते हैं। जिसमें गले में एक झिल्ली बन जाती है जिससे श्वासावरोध हो जाता है। यह रोग प्रायः बच्चों को होता है ॥ १५३ ॥

पीनमांसोपशमनं क्षारकर्माग्निकर्म च ।
भग्नास्थिश्लेषणं चैव शस्त्रकर्म तथैव च ॥ १५४ ॥
सप्तमे मासि नारीणां सर्वमेतत् प्रयोजयेत् ।

सातवें मास में गर्भिणी स्त्री के उभरे हुए मांस की शान्ति (व्रण के भरने के बाद यदि मांसतन्तु की अधिक वृद्धि हो जाय तो उसे (Canterize) करके अथवा नीला थोथा आदि तीक्ष्ण द्रव्यों के द्वारा स्वस्थ मांस के समान स्तर में लाना होता है), क्षारकर्म, अग्निकर्म, टूटी हुई हड्डी का जोड़ना इत्यादि सब शस्त्रकर्म किये जा सकते हैं। अर्थात् सातवें मास में उपर्युक्त सब कर्म किये जा सकते हैं ॥ १५४ ॥

दष्टा सर्पेण पीता वा या विषं गर्भिणी नृप ! ॥१५५॥
वमनादिर्विषघ्नैस्तु संसृष्टः स्यादुपक्रमः ।

जिस गर्भवती स्त्री को सांप ने काट लिया हो अथवा उसने कोई विषपान कर लिया हो उसकी विषनाशक वामक ओषधियों के द्वारा संसर्जन क्रम से चिकित्सा करनी चाहिये ॥१५५॥

पाठाऽमृता सोमवल्कं द्वे सहे कुटजं तथा ॥ १५६ ॥
क्षीरक्वथितमेतत्तु पेयं नार्या विषापहम् ।

पाठा, गिलोय, सोमवल्क (श्वेत खदिर), दोनों सहा (सहा तथा अतिसहा) तथा कुटज—इसमें दूध डालकर उसका क्षीरपाक करके क्वाथ बनाकर पिलाये। यह क्वाथ विष को नष्ट करता है ॥ १५६ ॥

शिरीषं पाटलीमूलं तण्डुलीयकमेव च ॥ १५७ ॥
सिन्दुवारितमूलं च मूलं सहचरस्य च ।
निष्क्वाथ्य साधयेत् पेयां प्रक्षुद्रां विषनाशनीम् ॥१५८॥

शिरीष, पाटलामूल, चौलाई तथा निर्गुण्डी तथा सहचर (नीलझिण्टी काला बांसा) की जड़—इनका क्वाथ बनाकर पतली पेया बनाये—यह विष को नष्ट करती है ॥ १५७–१५८ ॥

खडयूषादिकं चापि युक्त्याऽन्नमशितं हितम् ।
द्वितीये वक्ष्यते यच्च स्थाने तच्चापि कारयेत् ॥ १५९ ॥

---

१. आरग्वधरसेनेत्यर्थः ।

इसमें खडयूष तथा युक्तिपूर्वक सेवन किया गया अन्न हितकर होता है। तथा इस विषय में अन्य स्थानों पर भी जो कुछ कहा जायगा उन सबोंका प्रयोग करना चाहिये ॥१५९॥

गर्भिणी दुर्बलाकारा या भवत्यासिता सती।
ज्वरश्चाभिद्रवत्येनां तस्या गर्भो विपद्यते ॥ १६० ॥

जो गर्भवती स्त्री दुर्बल तथा एकदम सफेद (पाण्डु वर्ण वाली) हो जाती है तथा उसे ज्वर होने लगे। उसका गर्भ नष्ट हो जाता है ॥ १६० ॥

बहु भुङ्क्ते तु याऽत्यर्थं बहुशो बहुमूर्च्छिता।
भवेत्तस्याः पतेद्गर्भो गर्भिण्यास्तु न संशयः ॥ १६१ ॥

जो गर्भिणी स्त्री बहुत खाती हो, बार २ खाती हो तथा इतना खाती हो कि खाते २ बार २ मूर्च्छित हो जाती हो उस स्त्री का निःसन्देह गर्भपात हो जाता है ॥ १६१ ॥

नेत्रे मुस्तोत्थिताकारे कर्णौ पादौ च शीतलौ।
केशाश्च जटिला यस्यास्तस्या गर्भो विपद्यते ॥१६२॥

जिस गर्भिणी स्त्री के नेत्र मोथे के समान उभरे हुए हों, कान तथा पैर ठण्डे पड़े हुए हों तथा बाल जटिल (वक्र) हों उसका गर्भ नष्ट हो जाता है ॥ १६२ ॥

उपरिष्टात्तु यो नाभ्या उभे पार्श्वे निषेवते।
मध्ये वा तिष्ठते नार्याः सोऽपि गर्भो विपद्यते ॥१६३॥

जो गर्भ स्त्री के पेट में नाभि के ऊपर दोनों पार्श्वों में अथवा मध्य में स्थित होता है वह गर्भ भी नष्ट हो जाता है ॥

रुक् सन्धिमोचे यस्याः स्यान्मृष्टान्ने चारुचिस्तथा।
निश्चेष्टस्वप्रकामायास्तस्या गर्भो विपद्यते ॥ १६४ ॥

जिस स्त्री के सन्धिबन्धनों में पीडा होती हो तथा अन्न में अरुचि हो एवं चेष्टा से शून्य तथा अधिक सोने की इच्छा वाली उस स्त्री का गर्भ नष्ट हो जाता है ॥ १६४ ॥

सन्धिशोथोऽङ्गपाकश्च विक्रामश्च[1] गुरुर्भवेत्।
यस्यास्तस्याः सुतो जातो म्रियते नात्र संशयः ॥१६५॥

जिस स्त्री के सन्धियों में शोथ हो जाये, अङ्गों में पाक हो जाये तथा पदन्यास भारी हो जाये अर्थात् वह कष्ट पूर्वक चल सके-उसका उत्पन्न हुआ पुत्र निःसन्देह मर जाता है॥

शोचन्त्याः परिदेविन्याः प्रध्यायिन्यास्तथैव च।
अङ्गुलीस्फोटशीलाया जातः पुत्रो न जीवति ॥१६६॥

जो स्त्री गर्भावस्था में बहुत शोक, दुःख तथा चिन्ता करती हो और जो अङ्गुलियों को चटकारती रहती हो—उसका उत्पन्न हुआ पुत्र जीवित नहीं रहता है ॥ १६६ ॥

दुर्गन्धि च पयो यस्या जटिलाश्च शिरोरुहाः।
मलिनाश्च ततस्तस्या जातः पुत्रो न जीवति ॥१६७॥

[1] पादन्यास इत्यर्थः। दुःखेन पादन्यास इति यावत्।

जिसका दूध दुर्गन्धियुक्त हो तथा जिसके बाल जटिल तथा मैले हों उसका उत्पन्न हुआ पुत्र जीवित नहीं रहता है ॥

पूतिगन्धि मुखं यस्याः शूलं चैवोपजायते।
निद्रा वाऽभिद्रवत्येनां मूढगर्भा न जीवति ॥ १६८ ॥

जिसके मुख में से दुर्गन्धि आती हो, पेट में शूल (वेदना) होती हो तथा सदा नींद आती रहती हो—वह मूढ गर्भ वाली स्त्री जीवित नहीं रहती है।

वक्तव्य—मूढ गर्भ उस गर्भ को कहते हैं जो सम्पूर्ण अवयवों से युक्त होता हुआ भी अपत्य मार्ग में अयोग्य (अस्वाभाविक) रीति से उपस्थित हो जाये। अर्थात् Mal-Presentation of foetus को मूढगर्भ कहते हैं। कहा भी है—सर्वावयवसंपूर्णो मनोबुद्ध्यादिसंयुतः। विगुणापानसंमूढो मूढगर्भोऽभिधीयते ॥ गर्भावस्था में गर्भ की स्वाभाविक स्थिति का चरक शा. अ. ६ में बड़ा सुन्दर वर्णन किया है—गर्भस्तु खलु मातुः पृष्ठाभिमुख उर्ध्वशिराः सङ्कुच्याङ्गान्यास्ते जरायुवृतः कुक्षौ। स चोपस्थितकाले जन्मनि प्रसूतिमारुतयोगात् परिवृत्त्याऽवाक्शिरा निष्क्रामत्यपत्यपथेन। एषा प्रकृतिः, विकृतिः पुनरतोऽन्यथा। अर्थात् प्रसवावस्था में गर्भ (Vertex Presentation) से गर्भाशय से बाहर आता है। अर्थात् उसका शिर नीचे होता है तथा चूतड़ ऊपर को होते हैं। तथा क्रमशः सिर, ग्रीवा, कन्धे, ऊर्ध्वशाखायें, उदर, चूतड़ तथा अधोशाखायें क्रमशः बाहर निकलती हैं। यह उसका स्वाभाविक मार्ग है। प्रसव के समय इस उपर्युक्त अवस्था के अतिरिक्त शेष सब अवस्थायें मूढगर्भ समझी जाती हैं ॥ १६८ ॥

मयूरग्रीवसंकाशं या पश्यति हुताशनम्।
शूनपादमुखी चैव मूढगर्भा न जीवति ॥ १६९ ॥

जो गर्भिणी स्त्री अग्नि को मोर की गरदन के समान नीली देखती है तथा उसके पैर और मुख सूजे हुए हों—वह मूढगर्भ वाली स्त्री जीवित नहीं रहती है ॥ १६९ ॥

पार्श्वशूलं च तृष्णा च संज्ञानाशस्तथैव च।
श्वासश्च वर्त्मरोधश्च यस्याः साऽपि न जीवति ॥१७०॥

जिस गर्भिणी स्त्री को पार्श्वशूल, तृष्णा, संज्ञानाश, श्वास तथा मार्गों (रसवाही अथवा अन्नमार्ग) का अवरोध हो जाय वह स्त्री भी जीवित नहीं रहती है ॥ १७० ॥

कटिग्रहो योनिशूलं पूतिगन्धि मुखं तथा।
संज्ञानाशः प्रलापो वा गर्भिण्याः सा न जीवति १७१

जिस गर्भिणी स्त्री को कटिग्रह, योनिशूल, मुख से दुर्गन्धि आना, संज्ञानाश तथा प्रलाप (Delirium) हो जाय वह स्त्री जीवित नहीं रहती है ॥ १७१ ॥

नासा तु काकवद्यस्याः स्रस्तनेत्रा च या भवेत्।
तथा शकुन्तगन्धा च गर्भः शस्त्रेण मुच्यते ॥ १७२ ॥

जिस गर्भवती स्त्री की नाक कौए की तरह हो, जिसके नेत्र कांपते हों तथा जिसमें से पक्षी की गन्ध आती हो

उस स्त्री का गर्भ शस्त्रों के द्वारा बाहर निकालना पड़ता है। अर्थात् उसके गर्भ को बाहर निकालने के लिये उसका आपरेशन करना पड़ता है ॥ १७२ ॥

अजाश्वगन्धा श्वेता या मायूरं मांसमिच्छति ।
गर्भस्तस्यापि शस्त्रेण नार्या निर्ह्रियते नृप ! ॥ १७३ ॥

हे राजन्! जिस गर्भवती स्त्री में से बकरी अथवा घोड़े की गन्ध आती हो, जो सफेद (पाण्डु) हो गई हो, जो मोर का मांस खाना चाहती हो-उस स्त्री का गर्भ भी शस्त्रों के द्वारा बाहर निकालना पड़ता है १७३ ॥

रक्तवस्त्रपरीधाना रक्तमाल्यानुलेपना ।
स्मयते सा शयाना वा श्मशानं याऽधिरोहति ॥१७४॥
मूढगर्भा सगर्भा वा गर्भिणी सा विनश्यति ।

जो गर्भिणी स्त्री लाल वस्त्रों को धारण करती है, लाल मालायें पहनती है, सोते हुए जो मुस्कराती है अथवा श्मशान की ओर जाती है—वह मूढगर्भ वाली स्त्री गर्भसहित नष्ट हो जाती है ॥ १७४ ॥

खरं वराहं महिषं श्वानमुष्ट्रं तथैव च ॥ १७५ ॥
स्वप्नेऽधिरोहते या तु सगर्भा सा विनश्यति ।

जो गर्भवती स्त्री स्वप्न में गदहे, सूअर, भैंस, कुत्ते अथवा ऊंट की सवारी करती है-वह स्त्री गर्भसहित नष्ट हो जाती है ॥

नित्यस्नाता च मृष्टा च शुक्लवस्त्रधरा शुचिः ॥ १७६ ॥
देवविप्रपरा सौम्या गर्भिणी तु सदा भवेत् ।

गर्भिणी स्त्री नित्य स्नान करके, शरीर पोंछकर, श्वेत वस्त्रों को धारण करके तथा पवित्र और सौम्य होकर सदा देवताओं तथा ब्राह्मणों की पूजा करे ॥ १७६ ॥

बहुपुत्रामनन्तां च ईश्वरीं मुदितां तथा ॥ १७७ ॥
ब्राह्मीं च सहदेवां च तथा चैवेन्द्रवारुणीम् ।
जीवकर्षभकौ भार्गीं समङ्गां च तथैव च ॥ १७८ ॥
रोहपादान् वटशुङ्गानात्मगुप्तां तथैव च ।
अरिष्टं पूतनां केशीं शतवीर्यां च पार्थिव ! ॥ १७९ ॥
सहस्रवीर्यां चैतानि प्राजापत्येन संहरेत् ।
संदधेदथ पुष्येण धारयेदुत्तरेषु च ॥ १८० ॥

हे राजन् ! गर्भिणी स्त्री को चाहिये कि वह कण्टकारी, अनन्तमूल, शिवलिङ्गी, ब्राह्मी, सहदेवी, इन्द्रवारुणी, जीवक, ऋषभक, भारंगी, मजीठ, रोहपाद, वटाङ्कुर, कौंच, नीम, पूतना (हरड़), केशी (सुगन्ध जटामांसी-कुछ लोग शतावरी का ग्रहण करते हैं), शतवीर्या (शतावरी) तथा सहस्रवीर्या (श्वेत दूर्वा) आदि ओषधियों को प्रजापत्य विधि से उखाड़े तथा उसके बाद पुष्य नक्षत्र में उनको धारण करे ॥ १७७–१८० ॥

त्रैवृतं तु मणिं कृत्वा तं श्रोण्यां गर्भिणी सदा ।
प्रजाता शिरसा राजन् ! धारयेत् कारयेत्तथा ॥१८१॥
सूतिकाया विशेषेण रक्षोघ्नानि हितानि च ।

हे राजन् ! गर्भिणी स्त्री को चाहिये कि त्रिवृत् की मणि बनाकर वह श्रोणि में धारण करे। प्रसव के बाद फिर वह उसे सिर पर धारण करे। तथा प्रसूता स्त्री के लिये विशेषरूप से हितकर एवं रक्षोघ्न विधान का पालन करना चाहिये ॥१८१॥

ज्वराद्यानां विकाराणां यत्र यत्रेह लक्षणम् ॥ १८२ ॥
अन्नादानां प्रवक्ष्यामि तज्ज्ञेयं गर्भिणीष्वपि ।
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ १८३ ॥

(इति) खिलेष्वन्तर्वत्नीचिकित्सितं नाम दशमोऽध्यायः ॥१०॥

ज्वर आदि विकारों के जो २ लक्षण अन्नाद (अन्न का सेवन करने वाले-दो वर्ष से बड़े) बालकों के कहे जायेंगे गर्भिणी के भी वे ही लक्षण समझने चाहिये

ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था ॥ १८२–१८३ ॥

(इति) खिलेस्वन्तर्वत्नीचिकित्सितं नाम दशमोऽध्यायः ॥

सूतिकोपक्रमणीयाध्याय एकादशः ।

अथातः सूतिकोपक्रमणीयं नामाध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ २ ॥

अब हम सूतिकोपक्रमणीय नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था ॥ १–२ ॥

उपक्रमं तु सूतानां सविशेषमतः परम् ।
संप्रवक्ष्यामि कार्त्स्न्येन तन्निबोध यथाक्रमम् ॥ ३ ॥

अब मैं विस्तार से प्रसूता स्त्रियों की विशेष चिकित्सा का वर्णन करूंगा। उसे तू क्रमशः सुन ॥ ३ ॥

गर्भात् प्रभृति सूतायां भिषग्भवति कार्यवान्[१] ।
कथं नु काले संपूर्णे सूयेदित्यपरापरम् ॥ ४ ॥
प्राप्ते प्रसवकाले च भयमुत्पद्यते यतः ।
अस्मिन्नेकः स्थितः पादो भवेदन्यो यमक्षये[२] ॥ ५ ॥

प्रसूता स्त्रियों में चिकित्सक गर्भ धारण काल से लेकर प्रसव पर्यन्त इसी कार्य (चिन्ता) में लगा रहता है कि कब उसे पूर्ण समय (९ मास) व्यतीत होने पर उत्तरोत्तर प्रसव हो जाये तथा प्रसव काल के उपस्थित होने पर और भी भय रहता है। उस समय उस स्त्री का एक पैर इस लोक में तथा दूसरा यमलोक में होता है। अर्थात् गर्भधारण काल से प्रारंभ करके जब तक उसे प्रसव नहीं हो जाता

१. उत्तरोत्तरमित्यर्थः। २. यमलोके इत्यर्थः।

तब तक वैद्य को सदा यही चिन्ता लगी रहती है कि किसी प्रकार विना विघ्न के कुशलपूर्वक यह कार्य सम्पन्न हो जाय। क्योंकि तबतक सदा किसी न किसी उपद्रव का भय बना ही रहता है। तथा प्रसव की अवस्था और भी भयंकर होती है। यह समय बड़ा ही (Critical) होता है। इस समय स्त्री के लिये जीवन तथा मृत्यु का प्रश्न होता है। बहुत सी स्त्रियों को प्रसव अत्यन्त कष्टपूर्वक होता है तथा कितने को तो इस समय प्राणों तक से भी हाथ धोना पड़ता है। यह अवस्था विशेषकर प्रथम प्रसव (Primipara) में होती है। अगले प्रसवों में इतना भय नहीं रहता है ॥ ४-५ ॥

सूतायाश्चापि तत्र स्यादपरा चेन्न निर्गता।
प्रसूताऽपि न सूता स्त्री भवत्येवं गते सति ॥ ६ ॥

प्रसूता स्त्री की भी यदि अपरा (Placenta) न गिरे तो उस अवस्था में प्रसूता स्त्री भी अप्रसूता के ही समान होती है। अर्थात् यदि सुखपूर्वक प्रसव होने के बाद भी किसी कारण से अपरा नहीं गिर पाती है तो सब व्यर्थ है। उसे उस अवस्था में और भी अधिक कष्ट होता है ॥ ६ ॥

दुष्प्रजातामयाः सन्ति चतुःषष्टिरिति स्थितिः।
योनिर्भ्रष्टा क्षता चैव विभिन्ना मूत्रसङ्गिनी ॥ ७ ॥
सशोफस्राविणी चैव प्रसुप्ता वेदनावती।
पार्श्वपृष्ठकटीशूलं हृदि शूलं विषूचिका ॥ ८ ॥
प्लीहा महोदरत्वं च शाखावातोऽङ्गमर्दकः।
भ्रूक्षेपको हनुस्तम्भो मन्यास्तम्भोऽपतानकः।
(इति ताडपत्रपुस्तके २२६ तमं पत्रम्।)
मक्कल्लो विद्रधिः शोफः प्रलापोन्मादकामलाः ॥ ९ ॥
दौर्बल्यं भ्रमली कार्श्यं भक्तद्वेषोऽविपाचकः।
ज्वरातिसारौ वैसर्पश्छर्दिस्तृष्णा प्रवाहिका ॥ १० ॥
हिक्का श्वासश्च कासश्च पाण्डुर्गुल्मश्च रक्तजः।
आनाहाध्मापने चोभे वर्चोमूत्रग्रहावपि ॥ ११ ॥
मुखरोगोऽक्षिरोगश्च प्रतिश्यायगलग्रहौ।
राजयक्ष्माऽर्दितं कम्पः कर्णस्रावः प्रजागरः ॥ १२ ॥
उष्णवातो ग्रहाबाधस्तनरोगोऽथ रोहणी।
वाताष्ठीला वातगुल्मरक्तपित्तविचर्चिकाः ॥ १३ ॥

दुष्प्रजाता (यदि सम्यक् प्रकार से प्रसव न हो तो उस) स्त्री को ६४ रोग होते हैं। ६४ रोगों की संख्या केवल उपलक्षण मात्र है। इससे अतिरिक्त रोग भी हो सकते हैं। वे रोग निम्न हैं—१. योनिभ्रष्ट, २. योनिक्षत, ३. योनिभेदन, ४. मूत्रसङ्ग (मूत्र की रुकावट), ५ शोथ, ६. योनि से स्राव, ७. प्रसुप्ता, (शरीर का सोया हुआ सा-सुन्न सा रहना), ८. वेदना, ९. पार्श्वशूल, १०. पृष्ठशूल, ११. कटिशूल, १२. हृच्छूल, १३. विषूचिका, १४. प्लीहा, १५. महोदर (पेट का बड़ा होना), १६. शाखावात, १७. अङ्गमर्द, १८. भ्रूक्षेप, १९. हनुस्तम्भ, २०. मन्यास्तम्भ, २१. अपतानक, २२. मक्कल (After pains), २३. विद्रधि, २४. शोफ, २५. प्रलाप, २६. उन्माद, २७. कामला, २८. दुर्बलता, २९. भ्रम (शिरोभ्रम आदि), ३०. कृशता, ३१. भक्तद्वेष (भोजन में अरुचि), ३२. अविपाक (भोजन का न पचना), ३३. ज्वर, ३४. अतिसार, ३५. विसर्प, ३६. छर्दि (वमन), ३७. तृष्णा, ३८. प्रवाहिका, ३९. हिक्का, ४०. श्वास, ४१. कास, ४२. पाण्डु ४३ रक्तगुल्म, ४४. आनाह, ४५. आध्मान, ४६. वर्चोग्रह (मलबन्ध), ४७. मूत्रग्रह, ४८. मुखरोग, ४९. अक्षिरोग, ५०. प्रतिश्याय, ५१. गलग्रह, ५२. राजयक्ष्मा, ५३. अर्दित, ५४. कम्पन, ५५. कर्णस्राव, ५६. प्रजागर (Insomnia), ५७. उष्णवात, ५८. ग्रहाबाध (ग्रहरोगों का भय), ५९. स्तनरोग, ६०. रोहिणी, ६१. वाताष्ठीला, ६२. वातगुल्म, ६३. रक्तपित्त, ६४. विचर्चिका ॥ ७-१३ ॥

इत्येते सूतिकारोगाश्चतुःषष्टिरुदाहृताः।
तेभ्यः सर्वेभ्य एवासौ रक्षितव्या कथं त्विति ॥ १४ ॥

इस प्रकार ये ६४ रोग कहे गये हैं। उन सब रोगों से उस प्रसूता स्त्री की किस प्रकार रक्षा की जाय यह एक विचारणीय प्रश्न होता है ॥ १४ ॥

तद्विदामपि संमोहो भिषजामुपजायते।
किं पुनर्येऽल्पमतयः परतन्त्रोपशिक्षिताः ॥ १५ ॥

इस विषय में ज्ञानी वैद्यों को भी मतिभ्रम हो जाता है, तब जो कम बुद्धि वाले हैं तथा जिन्होंने दूसरे सम्प्रदायों के ग्रन्थों से शिक्षा ग्रहण की है उनका तो फिर कहना ही क्या है।

तस्मात् सुनिश्चितार्थेन तद्विद्येनाऽनुदर्शिना।
अप्रमत्तेन संभाव्यं सूतिकानामुपक्रमे ॥ १६ ॥

इसलिये प्रसूता स्त्रियों में वैद्य को निश्चित अर्थ (विषय) को जानने वाला, तद्विद्य, अनुदर्शी (सब कुछ देखने वाला) होना चाहिये तथा सावधान हो कर चिकित्सा करनी चाहिये।

तदुपक्रमसामान्यं विशेषोपक्रमं तथा।
वक्ष्यामि व्यासतो देशविदेशकुलसात्म्यतः ॥ १७ ॥

अब मैं देश, विदेश तथा कुल सात्म्य के अनुसार उनकी सामान्य तथा विशेष चिकित्सा को कहूंगा ॥ १७ ॥

प्रजातमात्रामाश्वास्य सूतां शक्ला[१] विजा(प्रसा)विका(?)।
न्युब्जां शयानां संवाह्य पृष्ठे संश्लिष्य कुक्षिणा ॥ १८ ॥
पीडयेद्दृष्टमुदरं गर्भदोषप्रवृत्तये।
महताऽदुष्टपट्टेन कुक्षिपार्श्वे च वेष्टयेत् ॥ १९ ॥
तेनोदरं स्वसंस्थानं याति वायुश्च शाम्यति।

प्रसव कराने वाली स्त्री को चाहिये कि वह मधुर भाषण करने वाली हो तथा वह प्रसव होते ही प्रसूता को आश्वासन देकर अधोमुख लेटी हुई उस प्रसूता की पीठ में संवाहन (मुट्ठी या चापी मारना-धीरे २ दबाना) करके फिर गर्भ के बाद बचे हुए दोषों को निकालने के लिये कुक्षि पर मालिश करके ढीले हुए पेट का पीडन करे-उसे दबाये। फिर एक साफ सुथरा

(१) 'शक्लः प्रियंवदे' इत्यमरः, प्रियंवदा प्रसाविका इति स्यात्।

कपड़ा कुक्षि के चारों ओर लपेट दे। इससे ढीला हुआ पेट अपने स्थान पर चला जाता है तथा वायु की शान्ति हो जाती है। अर्थात् पेट को बांध देने से वह ढीला नहीं रहता जिससे वायु का प्रवेश नहीं हो सकता है। तथा इससे ढीली हुई उदर की मांसपेशियों को बहुत आराम मिलता है। इसी प्रकार चरक शा. अ. ८ में भी कहा है ॥ १८-१९ ॥

चर्मावनद्धामासन्दीं बलातैलोष्णपूरिताम् ॥ २० ॥
अध्यासीत सदा सूता तथा योनिः प्रसीदति ।
प्रियङ्गुकानां कृसरैः स्वभ्यक्तां स्वेदयेत्ततः ॥ २१ ॥

प्रसूता स्त्री को चाहिये कि वह एक गरम २ बला तैल से भरी हुई तथा चमड़े से मढ़ी हुई आसन्दी (लघु खट्टिका) में बैठे। इससे उसकी योनि निर्मल हो जाती है। उसके बाद तैल की मालिश करके प्रियङ्गु आदि की गरम २ कृशरा (खिचड़ी) बनाकर उससे उसका स्वेदन करे।

वक्तव्य—कृशरा की परिभाषा भावप्रकाश में निम्न दी है- तण्डुला दालिसंमिश्रा लवणार्द्रकहिंगुभिः । संयुक्ताः सलिले सिद्धाः कृशरा कथिता बुधैः ॥ यवागू की विधि से ही इसे पकाना चाहिये ॥ २०-२१ ॥

स्विन्नामुष्णाम्बुना स्नातां विश्रान्तां विगतक्लमाम् ।
कुष्ठगुग्गुल्वगुरुभिर्धूपयेद्घृतसंयुतैः ॥ २२ ॥

तदुपरान्त स्वेदन हो जाने के बाद उसे उष्ण जल से स्नान कराके विश्राम देकर थकावट दूर हो जाने के बाद कुष्ठ, गूगल तथा अगर को घृत में मिलाकर उससे शरीर का धूपन करना चाहिये ॥ २२ ॥

ततोऽग्निबलव(वि)द्वीक्ष्य त्र्यहं पञ्चाहमेव वा ।
मण्डानुपानमन्वक्षं पिबेत् स्नेहं हिताशिनी ॥ २३ ॥

तब अग्निबल को जानने वाली स्त्री को अपनी अवस्था देख कर तीन या पांच दिन तक मण्ड का सेवन करना चाहिये। इसके बाद हितकर भोजन करने वाली स्त्री को स्नेह का पान करना चाहिये। यवादि से सिद्ध किये हुए सिक्थ (ठोस भाग) से रहित द्रव को मण्ड कहते हैं। सुश्रुत सू. अ. ४६ में कहा है-सिक्थकैर्विरहितो मण्डः........ मदनपालनिघण्टु में कहा है—"मण्डश्चतुर्दशगुणे सिद्धस्तोये त्वसिक्थकः। उसे Barm of Barley or Rice कह सकते हैं ॥ २३ ॥

स्नेहव्युपरमेऽश्नीयादल्पस्नेहामसैन्धवाम् ।
यवागूं त्र्यहमेवात्र पिप्पलीनागराश्रिताम् ॥ २४ ॥
स्याव्यपेतौषधा पश्चात् सस्नेहलवणोत्तरा ।

स्नेह के जीर्ण हो जाने पर तीन दिन तक पिप्पली और सोंठ से बनी हुई यवागू का सेवन करना चाहिये जिसमें थोड़ा स्नेह डला हुआ हो तथा लवण बिलकुल न हो। तथा उसके बाद ओषधियों से बनी हुई तथा जिसमें स्नेह और लवण पर्याप्त मात्रा में डला हो-यवागू का सेवन करना चाहिये। चरक शा. अ. ८ में कहा है—जीर्णे तु स्नेहे पिप्पल्यादिभिरेव सिद्धां यवागूं सुस्निग्धां द्रवां मात्रशः पाययेत् ॥ २४ ॥

कुलत्थयूषः सस्नेहलवणाम्लस्ततः परम् ॥ २५ ॥
तथैव जाङ्गलरसः शाकानीमानि चाप्यतः ।
घृतभृष्टानि कूष्माण्डमूलकैर्वारुकाणि च ॥ २६ ॥

फिर स्नेह, लवण और अम्ल (खटाई) डला हुआ कुलत्थ का यूष तथा जांगल मांसरस का सेवन करे। उसके बाद फिर घी में तले हुए कूष्माण्ड, मूली तथा ककड़ी Cucumber के शाक खाये ॥ २५-२६ ॥

स्नेहस्वेदौ च सेवेत मासमेकमतन्द्रिता ।
उष्णोदकोपचारं च स्वस्थवृत्तमतः परम् ॥ २७ ॥

प्रसव के बाद उस स्त्री को एक मास तक प्रमाद रहित हो कर स्नेहन, स्वेदन तथा उष्णजल का सेवन करना चाहिये। इसके बाद स्वस्थ व्यक्ति के आहार-विहार का सेवन करे। अर्थात् प्रसव के बाद एक मास तक उपर्युक्त विशेष आहार-विहार आदि का सेवन करना चाहिये। तदुपरान्त वह एक स्वस्थ व्यक्ति के समान सामान्य आहार-विहार का ग्रहण कर सकती है। इस एक मास तक वह प्रसूता कहलाती है ॥२७॥

त्रिविधं देशमाश्रित्य वक्ष्यामि त्रिविधं विधिम् ।
आनूपदेशे भूयिष्ठं वातश्लेष्मात्मका गदाः ॥ २८ ॥
तत्राभिस्यन्दभूयस्त्वादादौ स्नेहो विगर्हितः ।
मण्डादिरत्र कर्तव्यः संसर्गोऽग्निबलावहः ॥ २९ ॥
स्वेदो निवातशयनं सर्वमुष्णं च शस्यते ।

तीन प्रकार के देश के अनुसार मैं तीन प्रकार के स्वस्थवृत्त का वर्णन करूंगा। देश तीन प्रकार का होता है—१. आनूप, २. जांगल, ३. साधारण सुश्रुत सू. अ. ३५ में कहा है—'देशस्त्वानूपो जाङ्गलः साधारण इति'। आनूपदेश—आनूपदेश में मुख्यरूप से वात तथा कफ के रोग होते हैं। वहां पर क्लेद की प्रधानता से प्रारम्भ में स्नेह निन्दित माना गया है। इस अवस्था में अग्नि-बल को बढ़ाने वाला मण्ड आदि का संसर्जन क्रम कराना चाहिये। वहां पर स्वेद, निवात (जहां सीधी हवा न आती हो) स्थान में शयन तथा आहार-विहार आदि सम्पूर्ण उष्ण विधि करनी चाहिये। आनूप देश से अभिप्राय जल प्रधान स्थान से है। सुश्रुत सू. अ. ३५ में कहा है— 'तत्र बहूदकनिम्नोन्नतनदीवर्षगहनो मृदुशीतानिलो बहुमहापर्वतवृक्षो मृदुसुकुमारोपचितशरीरमनुष्यप्रायः कफवातरोगभूयिष्ठश्चानूपः'।

नियतं जाङ्गले देशे वातपित्तात्मका गदाः ॥ ३० ॥
तदत्र स्नेहसात्म्यत्वात् स्नेहादिः स्यादुपक्रमः ।
कार्यः प्रजातमात्राया विशेषश्चात्र बुध्यते ॥ ३१ ॥

जांगल देश—जांगल देश में वात और पित्त के रोग होते हैं। यहां पर स्नेह शरीर के लिये सात्म्य होने के कारण सद्यः प्रसूता स्त्री की स्नेह आदि के द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये। उसका विशेष विवरण आगे दिया जायगा। जांगल देश उसे कहते हैं जहां जलीय अंश की कमी हो तथा जंगल भूयिष्ठ हो। सुश्रुत सू. अ. ३५ में कहा है—'आकाशसमः प्रविरलाल्पकण्टकि-

वृक्षप्रायोऽल्पवर्षप्रस्रवणोदपानोदकप्राय उष्णदारुणवातः प्रविरलाल्पशैलः स्थिरकृशशरीरमनुष्यप्रायो वातपित्तरोगभूयिष्ठश्च जाङ्गलः' ॥

कुमारप्रसवे तैलं कुमारीप्रसवे घृतम् ।
पिबेज्जीर्णे यवागूं च दीपनीयोपसंस्कृताम् ॥ ३२ ॥
पञ्चाहं सप्तरात्रं वा ततो मण्डाद्युपक्रमः ।

प्रसूता स्त्री को पुत्र उत्पन्न होने पर तैल तथा पुत्री उत्पन्न होने पर घृत का पान करना चाहिये तथा घृत के जीर्ण होने पर पांच या सात दिन तक दीपनीय द्रव्यों से सिद्ध की हुई यवागू पीनी चाहिये। उसके बाद मण्ड आदि का क्रम होना चाहिये ॥ ३२ ॥

देशे साधारणे चास्या हितः साधारणो विधिः ॥३३॥

साधारण देश—साधारण देश में प्रसूता स्त्री के लिये साधारण विधि हितकर होती है। साधारण देश का लक्षण सुश्रुत में कहा है—'उभयदेशलक्षणः साधारण इति'। अर्थात् आनूप और जांगल दोनों के लक्षण जिसमें विद्यमान हों उसे साधारण समझा जाता है ॥ ३३ ॥

वैदेश्याश्च प्रयच्छन्ति विविधा म्लेच्छजातयः ।
रक्तं मांसस्य निर्यूहं कन्दमूलफलानि च ॥ ३४ ॥

अनेक विदेशी म्लेच्छ जाति के लोग इस अवस्था में रक्त, मांसनिर्यूह तथा कन्द मूल-फल आदि का व्यवहार कराते हैं।

कुलसात्म्यं च बुध्येत यस्मिन् यस्मिन् यथा यथा ।
औचित्यात् कुलसात्म्यस्य तत्तथैवानुवर्तते ॥ ३५ ॥

जिस २ देश में जैसा २ कुलसात्म्य हो उसके औचित्य को देखकर उसके अनुसार वैसा २ आचरण किया जाता है। अर्थात् जिस कुल या देश में जो व्यवहार उचित समझा जाता है अथवा जिसका प्रचलन हो-उसके अनुसार ही आचरण करना चाहिये ॥ ३५ ॥

अतो नैकान्तिकत्वाच्च सूतिकोपक्रमस्य च ।
देशं च जातिसात्म्यं च संप्रधार्य प्रयोजयेत् ॥ ३६ ॥

इसलिये सूतिका (प्रसूता स्त्री) की चिकित्सा को एकान्तिक (एकदेशीय) न समझे तथा देश और जाति सात्म्य को दृष्टि में रखते हुए उनका प्रयोग करे ॥ ३६ ॥

उक्तं तद्व्याधिभैषज्यं दुष्प्रजातोपचारिके ।
केषांचिदिह वक्ष्यामि व्याधीनामत उत्तरम् ॥ ३७ ॥

दुष्प्रजाता स्त्री के उपचारों में उन २ रोगों की चिकित्सा दी गई है। यहां मैं कुछ थोड़े से रोगों की चिकित्सा का वर्णन करूंगा ॥ ३७ ॥

सर्वेषामेव रोगाणां ज्वरः कष्टतमो मतः ।
तदस्यादौ विधिं वक्ष्ये निदानाकृतिभेषजैः ॥ ३८ ॥

सम्पूर्ण रोगों में ज्वर सबसे अधिक कष्टदायी रोग माना जाता है। इसलिये सबसे पहले मैं निदान, आकृति तथा ओषधि के द्वारा उस ज्वर की चिकित्सा का वर्णन करूंगा ॥३८॥

षड्विधस्तु प्रसूतानां नारीणां जायते ज्वरः ।
निजागन्तुविभागेन निदानं तस्य मे शृणु ॥ ३९ ॥

निज तथा आगन्तु भेद से प्रसूता स्त्रियों को ६ प्रकार का ज्वर हुआ करता है। उस ज्वर का तू कारण सुन।

वक्तव्य—इसी अध्याय में आगे निम्न ६ ज्वर दिये हैं—१. वातिक, २. पैत्तिक, ३. श्लैष्मिक, ४. सान्निपातिक, ५. स्तन्योत्थ, ६. ग्रहोत्थ ॥ ३९ ॥

वेगसंधारणाद्रौक्ष्याद्व्यायामादत्यसृक्क्षयात् ।
शोकादत्यग्निसंतापात् कट्वम्लोष्णातिसेवनात् ॥४०॥
दिवास्वप्नात् पुरोवाताद्गुर्वभिष्यन्दिभोजनात् ।
स्तन्यागमाद्ग्रहाबाधादजीर्णाद्दुष्प्रजायनात् ॥ ४१ ॥
ज्वरः संजायते नार्याः षड्विधो हेतुभेदतः ।

ज्वर का निदान—उपस्थित वेगों को रोकने, रूक्षता, व्यायाम, रक्त के अत्यधिक क्षय, शोक, अधिक अग्नि की गर्मी, अधिक कटु एवं अम्ल रस युक्त तथा उष्ण द्रव्यों के सेवन, दिवा स्वप्न, पुरोवात (पूर्व दिशा की वायु), गुरु और अभिष्यन्दि भोजन, दुग्ध की उत्पत्ति, ग्रहाबाधा (ग्रह रोगों का भय), अजीर्ण तथा सम्यक् प्रकार से प्रसव न होने इत्यादि कारणों से प्रसूता स्त्रियों को कारण के भेद के अनुसार ६ प्रकार का ज्वर हो जाता है ॥ ४०-४१ ॥

स एव पूर्वरूपेषु व्यभिचीर्णो विरोधिभिः ॥ ४२ ॥
संसृष्टैः स्नेहशीताम्बुस्नानपानाशनादिभिः ।
सन्निपातज्वरो घोरो जायते दुरुपक्रमः ॥ ४३ ॥

इन्हीं छओं प्रकार के ज्वरों के पूर्वरूप—इन ज्वरों के पूर्वरूप-स्नेह, शीतल जल, स्नान पान तथा अशन (भोजन) आदि परस्पर मिले हुए विरोधी कारणों से परस्पर एकदम मिले हुए होते हैं। अर्थात् उन ६ प्रकार के ज्वरों के पूर्वरूप परस्पर इतने अधिक मिले हुए होते हैं कि केवल पूर्वरूपों को देखकर उन्हें पृथक् करना अत्यन्त कठिन होता है। इनमें से सन्निपात ज्वर अत्यन्त भयंकर होता है. तथा उसकी चिकित्सा भी अत्यन्त कठिनता से हो सकती है ॥ ४२-४३ ॥

तस्य तीव्राभिरावीभिः प्रततं वाहनश्रमैः ।
शैथिल्यं चागते देहे संक्षुब्धेष्वनिलादिषु ॥ ४४ ॥
क्लान्तेष्विन्द्रियमार्गेषु सारशून्येषु धातुषु ॥
एकोऽपि दोषः कुपितः कृच्छ्रतो वहते महत् ॥ ४५ ॥

उस प्रसूता स्त्री की तीव्र आवियों (प्रसवकालीन वेदनाओं–Labour–Pains) से, नौ मास तक निरन्तर गर्भ को धारण किये रहने के श्रम से, (प्रसव के बाद) देह के शिथिल हो जाने के कारण, वातादि दोषों के प्रकुपित हो जाने से, सम्पूर्ण इन्द्रियों के मार्गों के (प्रसव के कारण) थक जाने से तथा सम्पूर्ण शरीर की धातुओं के प्रसव के बाद सार रहित हो जाने से (चरक में कहा है—विशेषतो हि शून्यशरीराः स्त्रियः

प्रजाता भवन्ति) यदि एक भी दोष प्रकुपित हो जाय तो वह इस शरीर को बड़े कष्टपूर्वक धारण करती है ॥ ४४–४५ ॥

परिजीर्णं यथा वस्त्रं मलदिग्धं समन्ततः ।
क्लेशेन शोध्यते तज्ज्ञैः प्रदृश्य तत्तदाश्रयम् ॥ ४६ ॥
तथा शरीरं सूतायाः परिक्लिष्टं परिस्रुतम् ।
भृशं दोषबलैर्दिग्धं क्लेशेन परिशोध्यते ॥ ४७ ॥

जिस प्रकार अत्यन्त जीर्ण वस्त्र चारों ओर से मैला होने पर उस वस्त्र के आश्रय को दृष्टि में रखते हुए धोने वाले अत्यन्त कठिनता से साफ कर पाते हैं उसीप्रकार प्रसूता स्त्री के शरीर का थके हुए एवं परिस्रुत (प्रसव के समय शरीर में से बहुत से स्राव निकल जाते हैं) होने के कारण तथा वातादि दोषों के बल से क्षीण होने के कारण अत्यन्त कठिनता से शोधन किया जा सकता है ॥ ४६–४७ ॥

यथा च जीर्णं भवनं सर्वतः श्लथबन्धनम् ।
(इति ताडपत्रपुस्तके २२७ तमं पत्रम् ।)
वर्षवातविकम्पानामसहं स्यात्तथाविधम् ॥ ४८ ॥
तथा शरीरं सूतायाः खिन्नं प्रस्रवणश्रमैः ।
वातपित्तकफोत्थानां व्याधीनामसहं भवेत् ॥ ४९ ॥

अथवा जिस प्रकार प्राचीन मकान सम्पूर्ण बन्धन ढीले हो जाने के कारण वर्षा, वायु तथा भूकम्प आदि को सहन नहीं कर सकते हैं अर्थात् तीव्र वर्षा, वायु आदि में ढह जाते हैं उसी प्रकार प्रसूता स्त्री का शरीर भी प्रसव के श्रम से खिन्न होने के कारण वात, पित्त तथा कफ से उत्पन्न होनेवाले रोगों को सहन नहीं कर सकता है अर्थात् उनसे आक्रान्त हो जाता है ॥ ४८–४९ ॥

दोषैरेव शरीराणि धार्यन्ते सर्वदेहिनाम् ।
तेषु क्षीणेषु सूताया ज्वरः संतापलक्षणः ॥ ५० ॥
देहं सन्तापयत्याशु शुष्केन्धनमिवानलः ।

वातादि दोषों के द्वारा ही सम्पूर्ण प्राणियों के शरीर धारण किये जाते हैं। प्रसूता में इन दोषों के अपने योग्य परिमाण से क्षीण हो जाने पर ताप (उष्णता-Heat) लक्षणवाला ज्वर हो जाता है। जिस प्रकार अग्नि शुष्क ईंधन को जला देती है उसी प्रकार यह ज्वर भी सारे शरीर में सन्ताप उत्पन्न कर देता है। वात, पित्त, कफ तीनों दोष मिलकर शरीर का धारण करते हैं–इसीलिये इन्हें धातु भी कहते हैं। इसी प्रकार सुश्रुत सू. अ. २१ में भी कहा है ॥ ५० ॥

तद्धेतुमात्रवृद्धानां दोषाणां तु यथोच्छ्रयम् ॥ ५१ ॥
कुर्यादुपशमं धीमान् धातूनां च प्रसादनम् ।

बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिये कि साधारण कारणों से भी बढ़े हुए दोषों की शान्ति करे तथा शरीर की धातुओं का प्रसादन करे ॥ ५१ ॥

षड्भिर्मासैः प्रसूताया धातवो रुधिरादयः ॥ ५२ ॥
प्रत्यागच्छन्त्यरोगाया यथास्वं परिसंस्थितिम् ।
एतच्चान्यच्च संचिन्त्य चिकित्सां संप्रयोजयेत् ॥ ५३ ॥

रोग रहित होने पर प्रसूता स्त्री की रक्त आदि धातुएं ६ मास के अन्दर पुनः अपनी पूर्व स्वाभाविक अवस्था में लौट आती हैं। इन सब बातों को दृष्टि में रखते हुए प्रसूता स्त्री की चिकित्सा करनी चाहिये। अर्थात् प्रसव के बाद ६ मास तक प्रसूता स्त्री के दोष तथा शारीरिक धातुयें अपनी २ पूर्व अवस्था में नहीं पहुंच पाती हैं। धीरे २ करके लगभग ६ मास में वे अपनी पूर्वस्वाभाविक अवस्था में पहुंच पाती हैं ॥५२–५३॥

अतः परं ज्वराणां तु लक्षणं संप्रवक्ष्यते ।
विषमोष्माऽङ्गमर्दश्च जृम्भथू रोमहर्षणम् ॥ ५४ ॥
कषायविरसास्यत्वं शीतद्वेषोष्णकामते ।
दन्तहर्षः प्रलापश्च शुष्कोद्गारः प्रजागरः ॥ ५५ ॥
आध्मानमङ्गसंकोचो वातज्वरनिदर्शनम् ।

इसके बाद अब ज्वरों के लक्षण कहे जायेंगे—वातज्वर के लक्षण—शरीर में विषमरूप से ऊष्मा (उष्णता-तापांश) का होना अर्थात् कभी तापांश अधिक होता है कभी कम अथवा शरीर के किसी अवयव में तापांश कम होता है किसी में अधिक, अङ्गमर्द (अङ्गों का टूटना), जंभाई, रोमहर्ष, मुख का स्वाद कषाय अथवा विरस (फीका) होना, शीत का अच्छा न लगना, उष्णता को चाहना, दन्तहर्ष, प्रलाप (Delirium), सूखी डकार, निद्रा न आना, आध्मान तथा अङ्गसंकोच (अङ्गों का सुकड़ जाना)—ये वातज्वर के लक्षण होते हैं ॥ ५४–५५ ॥

तृष्णा दाहः प्रलापश्च वमथुः कटुकास्यता ॥ ५६ ॥
पीतास्यनखदन्ताक्षिविण्मूत्रत्वं च लक्ष्यते ।
कण्ठस्य शोषः सर्वं च प्रदीप्तमिव मन्यते ॥ ५७ ॥
भ्रमः शीताभिलाषश्च पित्तज्वरनिदर्शनम् ।

पित्तज्वर के लक्षण—प्यास, शरीर में दाह, प्रलाप, वमन, मुख का स्वाद कड़वा होना, मुख, नख, दांत, आंखें, मल तथा मूत्र का रंग पीला होना (पित्त के कारण), कण्ठशोष (गले का सूखना), ऐसा प्रतीत होना मानों सम्पूर्ण शरीर जल रहा है, भ्रम (चक्कर) तथा शीत पदार्थों की इच्छा करना—ये सब पित्त ज्वर के लक्षण हैं ॥ ५६–५७ ॥

उष्णाभिकामता कासः शिरोरुग्गात्रगौरवम् ॥ ५८ ॥
मन्दोष्मता प्रतिश्यायः शुक्लमूत्रपुरीषता ।
निद्रा तन्द्रीर्हिमद्वेषः ष्ठीवनं मधुरास्यता ॥ ५९ ॥
गात्रसादोऽन्नविद्वेषः कफज्वरनिदर्शनम् ।

श्लेष्म ज्वर के लक्षण—उष्ण पदार्थों की इच्छा करना, कास, शिर में वेदना, शरीर का भारी होना, शरीर में तापांश (Temperature) की कमी, प्रतिश्याय, मूत्र तथा मल का रंग सफेद होना, अधिक नींद आना, तन्द्रा (आलस्य),

शीतपदार्थों से द्वेष अर्थात् उनकी इच्छा न करना, बार २ थूकना, मुख का स्वाद मीठा होना, शरीर का अवसाद अर्थात् शरीर का भारी होना तथा अन्न में रुचि न होना—ये सब श्लेष्म ज्वर के लक्षण हैं ॥ ५८–५९ ॥

मुहुः शीतं मुहुर्दाहो मुहुरूष्मा समोऽसमः ॥ ६० ॥
कृच्छ्रविण्मूत्रवातत्वं वाताङ्गान्त्राभिसंजनम्[१] ।
दाहस्तृष्णा प्रलापश्च पित्ताद्विक्षिप्तचित्तता ॥ ६१ ॥
गुरुत्वं कण्ठसंरोधः कफाच्च प्रतिशीतता[२] ।
सन्निपातज्वरस्यैतल्लक्षणं समुदाहृतम् ॥ ६२ ॥

सन्निपात ज्वर के लक्षण—कभी शीत लगता है, कभी दाह होती है, तापांश भी कभी सम तथा कभी विषम हो जाता है, मल, मूत्र तथा वायु कष्ट से सरते हैं तथा वायु के कारण अङ्गों तथा आंतों में कष्ट का अनुभव होता है। पित्त के कारण इसमें दाह, तृष्णा, प्रलाप होते हैं तथा चित्त (मन) विक्षिप्त रहता है। तथा कफ के कारण शरीर भारी रहता है, गला रुक जाता है तथा सर्दी पर पुनः सर्दी लगती है। ये सन्निपात ज्वर के लक्षण कहे गये हैं ॥ ६०–६२ ॥

तृतीयेऽह्नि चतुर्थे वा नार्याः स्तन्यं प्रवर्तते ।
पयोवहानि स्रोतांसि संवृतान्यभिघट्टयेत् ॥ ६३ ॥
करोति स्तनयोः स्तम्भं पिपासां हृदयद्रवम् ।
कुक्षिपार्श्वकटीशूलमङ्गमर्दं शिरोरुजाम् ॥ ६४ ॥
एतत् स्तन्यागमोत्थस्य ज्वरस्योक्तं स्वलक्षणम् ।
स हि पीयूषसंशुद्धौ क्रममात्रेण तिष्ठति ॥ ६५ ॥

स्तन्योत्पत्ति के कारण होने वाले ज्वर के लक्षण (Milk-fever or fever of Lactation)—प्रसूता स्त्री के तीसरे या चौथे दिन स्तनों में दूध आता है (प्रथम तीन दिन तक स्तनों से शुद्ध दूध नहीं निकलता अपितु खीस या Collustrum नामक गाढ़ा द्रव्य निकलता है जो गुरु होने के कारण रेचक होता है)। इससे दुग्धवाही स्रोतों के मार्ग बन्द हो जाते हैं जिससे स्तनों में स्तम्भ (अकड़ाहट), पिपासा, हृदयद्रव (Palpitation of the Heart), कुक्षिशूल, पार्श्वशूल, कटिशूल, अङ्गमर्द तथा शिरोवेदना हो जाती है। ये स्तन्योत्पत्ति के कारण उत्पन्न ज्वर के अपने लक्षण कहे गये हैं। तथा दूध का शोधन होने पर क्रमशः ज्वर शान्त हो जाता है ॥ ६३–६५ ॥

ग्रहावलोकितत्रासवाताघातावधूननैः ।
ज्वर्यते चेत् प्रसूता स्त्री तस्य वक्ष्यामि लक्षणम् ॥६६॥
उद्वेपको निष्टननं चक्षुषो विभ्रमः श्रमः ।
कम्पनं हस्तनेत्राणां हारिद्रमुखनेत्रता ॥ ६७ ॥
क्षणेन श्यावताऽङ्गानां क्षणेन च सवर्णता ।
सुप्रबोधः सह' ' 'क्रोशः केशलुञ्चनम् ॥ ६८ ॥
पवनज्वररूपाणि भूयिष्ठानि करोति च ।
विधिर्ग्रहघ्नोऽस्य हितः क्रमो यश्चानिलज्वरे ॥ ६९ ॥

ग्रहोत्थ ज्वर के लक्षण—ग्रहों के देखने से, भय से, वायु के कारण और आघात तथा कम्पन के कारण यदि प्रसूता स्त्री को ज्वर हो जाय तो उसके लक्षण मैं कहूंगा। वे निम्न होते हैं—शरीर में वेपथु, अङ्गों में पीडा, नेत्रविभ्रम, थकावट तथा हाथों और नेत्रों में कम्पन होता है, मुख तथा नेत्रों का वर्ण हारिद्र (पीला-हल्दी के समान) हो जाता है। क्षण भर में अङ्ग कृष्णवर्ण के हो जाते हैं तथा अगले क्षण ही वर्ण ठीक हो जाता है, उस समय उसे अच्छी प्रकार ज्ञान होता है, वह चिल्लाती है, बालों को नोचती है तथा विशेषरूप से वातज्वर के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। इस अवस्था में ग्रहनाशक उपचार तथा वातज्वर की चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ६६–६९ ॥

श्लेष्माभिष्यन्दिनीं स्थूलामक्लिन्नामल्पनिःस्रुताम् ।
विदग्धभक्तां स्निग्धां च लङ्घनेनोपपादयेत् ॥ ७० ॥

यदि उस स्त्री का शरीर कफ एवं अभिष्यन्द से युक्त हो, स्थूल हो, क्लेदरहित तथा स्राव कम हुआ हो, उसका खाया हुआ भोजन विदग्ध हो जाता हो अर्थात् पूरा पाक न होता हो तो उसे स्नेहन कराकर लङ्घन का प्रयोग कराये ॥ ७० ॥

रूक्षां निःस्रुतरक्तां च कृशां वातज्वरार्दिताम् ।
क्षुत्तृष्णाभिहतां क्लान्तां शमनेनोपपादयेत् ॥ ७१ ॥
तस्यास्तदहरेवेह पेयादिः क्रम इष्यते ।
लङ्घितायाश्च मण्डादिरित्येष द्विविधः क्रमः ॥ ७२ ॥

जो स्त्री रूक्ष हो, जिसका रक्त न निकला हो, जो कृश एवं वातज्वर से पीडित हो, जो भूख और प्यास से व्याकुल हो तथा शरीर क्लान्त हो—उसकी संशमन ओषधियों के द्वारा चिकित्सा करे। तथा उसे उसी दिन पेयादि क्रम से भोजन कराये। और जिसे लङ्घन कराया गया है उसे मण्ड आदि का भोजन कराना चाहिये। इस प्रकार यह दो प्रकार का भोजन का क्रम होता है।

वक्तव्य—पेया तथा मण्ड यवागू के भेद होते हैं। सुश्रुत सू. अ. ४६ में कहा है—सिक्थकै रहितो मण्डः पेया सिक्थसमन्विता। अर्थात् पके हुए चावलों में से सिक्थ (ठोस भाग) को छोड़कर केवल ऊपर का द्रवभाग छान कर निकाल लिया जाय तो उस द्रवभाग को मण्ड कहते हैं। तन्त्रान्तर में कहा है—'नीरे चतुर्दशगुणे सिद्धो मण्डस्त्वसिक्थकः'। सिक्थ (ठोस भाग) से युक्त यवागू को पेया कहते हैं। यहां पर उसीप्रकार १४ गुने जल में चावलों को पकाया जाता है परन्तु पकाने के बाद उसे मण्ड की भांति छानना नहीं चाहिये। उस सिक्थ (ठोस भाग) से युक्त यवागू को पेया कहते हैं। इसमें सिक्थ (ठोस) भाग थोड़ा ही होना चाहिये अन्यथा सिक्थभाग के अधिक होने पर वह यवागू का अगला भेद विलेपी बन जाता है। कहा है—विलेपी बहुसिक्था स्याद् यवागूर्विरलद्रवा ॥७१–७२॥

---

१. वातेन अङ्गानामन्त्राणां चाऽभिधर्षणमित्यर्थः।
२. शैत्योपरि शैत्यमित्यर्थः।

पेया हि दीपयत्यग्निं धातून् संशमयत्यपि ।
गर्भदोषावशेषघ्नो मण्डो दोषविपाचनः ॥ ७३ ॥

पेया अग्नि को प्रदीप्त करती है तथा धातुओं का संशमन करती है । मण्ड गर्भ के अवशिष्ट दोषों को नष्ट करता है तथा दोषों का पाचन करता है ॥ ७३ ॥

तस्मात् पेया च मण्डश्च क्रमादौ विहितौ हितौ ।
अकृतश्च कृतश्चैव द्वित्रिर्यूषरसौ तथा ॥ ७४ ॥

इसलिये चिकित्सा क्रम के प्रारम्भ में पेया और मण्ड का प्रयोग हितकर माना गया है । तथा दो-तीन दिन तक अकृत और कृत यूष तथा मांसरस का सेवन करना चाहिये ।

वक्तव्य—मूंग आदि को १८ गुने पानी में पकाने से यूष बनता है । जो यूष स्नेह लवण आदि के द्वारा संस्कृत कर लिया जाता है उसे 'कृत' तथा स्नेह लवण आदि के द्वारा असंस्कृत यूष को 'अकृत' कहते हैं ॥ ७४ ॥

स्वेदोऽपतर्पणं युक्त्या पाचनौषधसेवनम् ।
कषायोऽभ्यञ्जनं सर्पिर्ज्वरघ्नः परमो विधिः ॥ ७५ ॥

ज्वर नाशक उपाय—स्वेद, युक्तिपूर्वक अपतर्पण, पाचन ओषधियों का सेवन, कषाय, अभ्यङ्ग एवं घृत-ये श्रेष्ठ ज्वरनाशक उपाय हैं ॥ ७५ ॥

शीतोपवासे व्यायाममायासमहिताशनम् ।
तद्धेतुसेवनं चैव क्षिप्रं ज्वरबलावहम् ॥ ७६ ॥

ज्वर को बढ़ाने वाले उपाय—शीत (ठण्ड लग जाना अथवा शीतल वस्तुओं का प्रयोग), उपवास, व्यायाम, परिश्रम, अहितकर भोजन तथा ज्वर को उत्पन्न करने वाले पदार्थों का सेवन करने से शीघ्र ही ज्वर के बल में वृद्धि हो जाती है अर्थात् उपर्युक्त कारणों से ज्वर की वृद्धि हो जाती है ॥ ७६ ॥

गर्भाशये च्युते नार्या दोषास्तदनुगामिनः ।
च्यवन्ति तस्माद्वमनं नस्यं बस्तिर्विरेचनम् ॥ ७७ ॥
न कार्यमल्पदोषायाः शरीरे परिसंस्थिते ।
तदेव युक्तितः कार्यं वीक्ष्य दोषबलाबलम् ॥ ७८ ॥

प्रसूता स्त्री के गर्भाशय के अपने स्थान से च्युत हो जाने (नीचे आजाने) के कारण शरीरस्थित दोष भी उस गर्भाशय का अनुगमन करके नीचे की ओर आजाते हैं इसलिये उसे वमन, नस्य, बस्ति तथा विरेचन आदि नहीं कराने चाहिये । परन्तु यदि उसके शरीर में दोष अल्प मात्रा में ही विद्यमान हों तथा शरीर स्थिर हो तो शरीर में दोषों के बलाबल को देखकर युक्तिपूर्वक उन सब का सेवन किया जा सकता है ॥

वमनं वा विरेकं वा तीक्ष्णं तीक्ष्णौषधान्वितम् ।
न ह्यतिच्युतदोषाया ज्वरितायाः प्रशस्यते ॥ ७९ ॥

जिस ज्वरयुक्त प्रसूता स्त्री के शरीर में दोष बहुत अधिक मात्रा में अपने स्थान से च्युत हो गये हों-नीचे की ओर आ गये हों उसे तीक्ष्ण ओषधियों से युक्त तीक्ष्ण वमन एवं विरेचन नहीं देना चाहिये ॥ ७९ ॥

संतप्ते तूष्मणा देहे धातवः परिपाचिताः ।
भूयस्तीक्ष्णौषधं प्राप्य गच्छेयुरमितां गतिम् ॥ ८० ॥

ज्वर की ऊष्मा (गरमी) के कारण संतप्त हुए शरीर में धातुओं का परिपाक हो जाता है । शरीर में पुनः तीक्ष्ण ओषधियों के पहुंचने से उन धातुओं का और अधिक पाक हो जाता है ॥ ८० ॥

उत्क्लिश्यमाने हृदये कफे चाप्युरसि स्थिते ।
कफज्वरे क्षमे देहे विदध्याद्वमनं मृदु ॥ ८१ ॥

वमन का प्रयोग—कफ ज्वर में हृदय का उत्क्लेश होने पर, कफ के वक्षःस्थल में स्थित होने पर तथा शरीर के सहनशील होने पर मृदु वमन देना चाहिये ॥ ८१ ॥

अरुचौ कण्ठसंरोधे कफे चैव शिरोगते ।
अशक्यमाने कवले नस्यं तत्र विधापयेत् ॥ ८२ ॥

नस्य का प्रयोग—अरुचि और कण्ठरोध होने पर तथा कफ के सिर में स्थित होने पर यदि कवल का प्रयोग नहीं किया जा सकता हो तो नस्य का प्रयोग कराना चाहिये ॥८२॥

संसर्गपाचिते दोषे ज्वरे च मृदुतां गते ।
पञ्चाहात् सप्तरात्राद्वा कषायमवचारयेत् ॥ ८३ ॥
पाचनीयं तु पञ्चाहात् सप्ताहादानुलोमिकम् ।

संसर्ग के कारण दोषों के पच जाने पर तथा ज्वर के मृदु हो जाने पर पांच या सात दिन में कषाय का प्रयोग करना चाहिये । इनमें से पाचन कषाय का पांच दिन बाद तथा अनुलोमन कषाय का प्रयोग सात दिन बाद करना चाहिये ।

अनुलोम कषाय से अभिप्राय उस कषाय से है जो मल, मूत्र, वायु आदि का अनुलोमन करे ॥ ८३ ॥

कफपित्तज्वरे दद्यात् पञ्चाहे शमनौषधम् ॥ ८४ ॥
स्वभावतैक्ष्ण्यादल्पेन कालेन परिपच्यते ।
दुर्बलत्वाच्च धातूनां च्युतत्वादामयस्य च ॥ ८५ ॥

कफ तथा पित्तज्वर में पांचवें दिन संशमन औषध का प्रयोग कराना चाहिये । क्योंकि इस रोग में पित्त की स्वाभाविक तीक्ष्णता के कारण, धातुओं के दुर्बल होने से तथा रोग के बहुत कुछ निकल जाने के कारण दोषों का पाचन शीघ्र ही हो जाता है ॥ ८४-८५ ॥

वातज्वरे जितेऽभ्यङ्गैस्तथैव रसभोजनैः ।
पक्वाशयस्थे विमले विदध्यादानुलोमिकम् ॥ ८६ ॥
भोजयेल्लघु चाप्यन्नं तनुभिर्जाङ्गलै रसैः ।

वातज्वर के अभ्यङ्ग (तैल मर्दन) तथा मांसरस के भोजन आदि द्वारा शान्त हो जाने पर तथा पक्वाशय स्थित दोष अर्थात् वायु के निर्मल (शान्त) हो जाने पर अनु-

लोमन का प्रयोग करना चाहिये। तथा उसके बाद उसे पतले जांगल मांसरसों के साथ लघु अन्न का भोजन कराना चाहिये ॥ ८६ ॥

यश्च नैवं शमं याति वातपित्तात्मको ज्वरः ॥ ८७ ॥
सर्पिस्तं शमयेदाशु दावाग्निमिव तोयदः ।

इन उपर्युक्त उपचारों के द्वारा जो ज्वर शान्त नहीं होता है उसे वातपित्तात्मक ज्वर समझना चाहिये। उस वातपित्तात्मक ज्वर को घृत शीघ्र ही शान्त कर देता है जिस प्रकार बादल दावाग्नि (जंगल की अग्नि) को शान्त कर देता है ॥ ८७ ॥

विमलेऽग्नौ मृदौ (व्याधौ) सर्पिरेव परायणम् ॥ ८८ ॥
स्नेहवध्यास्तु भूयिष्ठं व्याधयो दुष्प्रजातयः ।

जाठराग्नि के निर्मल अर्थात् तीव्र हो जाने पर तथा रोग के हलका पड़ जाने पर घृत ही मुख्य ओषधि है। दुष्प्रजाता (ठीक प्रकार से प्रसव न होने से उत्पन्न हुई) व्याधियां प्रधानरूप से स्नेह के द्वारा ही शान्त होती हैं ॥ ८८ ॥

सन्निपातज्वरे नार्या मारुते च बलीयसि ॥ ८९ ॥

(इति ताडपत्रपुस्तके २२८ तमं पत्रम् ।)

संस्कृतं रसयूषाभ्यां पुराणं सर्पिरिष्यते ।

सन्निपात ज्वर में तथा वायु के बलवान् होने पर प्रसूता स्त्री को मांसरस तथा यूष के द्वारा संस्कृत किये हुए पुराने घी का प्रयोग कराना चाहिये ॥ ८९ ॥

तत्र वातज्वरे तावत् प्रवक्ष्यामि चिकित्सितम् ॥ ९० ॥
क्रव्यादानां च मांसानि धान्यमाषतिला यवाः ।
दशमूलमपामार्गभण्ट्येरण्डाटरूषकाः ॥ ९१ ॥
अश्वगन्धां श्वदंष्ट्रां च वंशपत्रं च संहरेत् ।
इत्येष संकरस्वेदः सकरीषोऽम्लसंयुतः ॥ ९२ ॥
वातज्वरेऽवचार्यः स्यात् संसर्गादौ सुखावहः ।

अब मैं वातज्वर की चिकित्सा का वर्णन करूंगा—वातज्वर में संकर स्वेद—क्रव्याद (मांस खाने वाले पशु-पक्षियों) का मांस, धान्य, उड़द, तिल, यव (जौ), दशमूल, अपामार्ग, भण्टी (मंजिष्ठा), एरण्ड, बांसा, अश्वगन्धा, गोखरू, बांस के पत्ते तथा करीष (सूखे हुए कण्डों-गोबर का चूर्ण) इसमें अम्लद्रव्य (कांजी) आदि की खटाई डाल कर उससे संकर संकरस्वेद दिया जाता है। यह वातज्वर में प्रारम्भ में करने से सुखकारी होता है।

वक्तव्य—संकरस्वेद का ही चरक सू. अ. १४ में दूसरा नाम पिण्डस्वेद दिया है। अर्थात् धान्य, उड़द आदि सूखे पदार्थों को मांस तथा कांजी आदि के साथ पीसकर पिण्डाकार बनाकर उस पिण्ड को कपड़े में रखकर अथवा कपड़े में बिना रखे ही स्वेदन दिया जाता है ॥ ९०-९२ ॥

द्वे पञ्चमूल्यौ वृश्चीवमेकेषीकां पुनर्नवाम् ॥ ९३ ॥
सहस्रवीर्यां नादेयीं शतवीर्यां शतावरीम् ।
विश्वदेवां शुकनसं सहदेवां सनाकुलीम् ॥ ९४ ॥
रास्नाऽजगन्धे पूतीकं देवाह्वां देवताडकम् ।
बले द्वे हंसपादीं च क्वाथार्थमुपसंहरेत् ॥ ९५ ॥
कृष्णागरुं व्याघ्रनखं शतपुष्पां पलङ्कषाम् ।
कायस्थां च वयस्थां च चोरकं जटिलां जटाम् ॥ ९६ ॥
अपेतराक्षसीं यक्षगुहां महोष्ट्रलोमिकाम् ।
हरेणुकां हैमवतीं कैरवं सुवहां वचाम् ॥ ९७ ॥
वृश्चिकालीं च भार्गीं च श्यामां शिग्रुं च कल्कशः ।
संहृत्य तैलं विपचेद्वातज्वरनिबर्हणम् ॥ ९८ ॥

वातज्वर नाशक तैल—स्वल्प एवं बृहत् पञ्चमूल (अर्थात् दशमूल-शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, गोक्षुर-बिल्व, अग्निमन्थ, श्योनाक, पाटला, गम्भारी), वृश्चीव (श्वेत पुनर्नवा-विषखपरा), एकेषीका (त्रिवृत् अथवा शतावरी), पुनर्नवा, सहस्रवीर्या (दूर्वा), नादेयी (अरणी), शतवीर्या (द्राक्षा), शतावरी, विश्वदेवा (गोरक्षतण्डुली), शुकनस (श्योनाक), सहदेवा (बला), नाकुली (गन्धनाकुली), रास्ना, अजगन्धा, पूतीक (पूतिकरञ्ज), देवदारु, देवताडक (देवदाली), दोनों बला (बला तथा अतिबला) तथा हंसपदी इनका क्वाथ बनाये। तथा काला अगरु, व्याघ्रनख (बृहन्नखी), सौंफ, गूगल, कायस्था (हरड़), वयस्था (गिलोय) चोरक (गन्ध द्रव्य-भटेउर),, जटिला (बचा), जटा (जटामांसी), अपेतराक्षसी (तुलसी), यक्षगुहा, उष्ट्रलोमिका, हरेणुका, हैमवती (श्वेत बच), कैरव (विडङ्ग), सुवहा (शेफालिका), वच, वृश्चिकाली (ईषद्रोमशा श्वेतपुष्पगुच्छा दक्षिणावर्तवल्ली मेषशृङ्गीभेदः), भारंगी, श्यामा (अनन्तमूल) तथा सहिजना-इन सब का कल्क बनाकर-उपर्युक्त क्वाथ के साथ यथाविधि तैल सिद्ध करे। यह तैल वातज्वर को नष्ट करता है ॥ ९३-९८ ॥

महतः पञ्चमूलस्य पिबेत् क्वाथं ससैन्धवम् ।
पेयो विदारिगन्धाया निष्क्वाथो वा ससैन्धवः ॥ ९९ ॥

तथा इसमें बृहत् पञ्चमूल अथवा विदारीगन्धा के क्वाथ में सैन्धव मिलाकर पीना चाहिये ॥ ९९ ॥

रास्नां सरलदेवाह्वयष्टीमधुकसंयुताम् ।
बृहतीं सरलं दारुं भार्गीं वरुणकं तथा ॥ १०० ॥
एरण्डमूलं रास्नां च वृश्चिकालीं च संहरेत् ।
एतदुत्क्वथितं कोष्णं पिबेद्वातज्वरापहम् ॥ १०१ ॥
पिबेदन्तरपानं च बिल्वमूलशृतं जलम् ।

वातज्वर को नष्ट करने के लिये रास्ना, सरल (चीड़), देवदारु तथा मधुयष्टि का क्वाथ अथवा बृहती, सरल, देवदारु, भारङ्गी, एरण्डमूल, रास्ना तथा वृश्चिकाली का क्वाथ बनाकर ईषदुष्ण पीना चाहिये। तथा उसके बाद बिल्व की जड़ से सिद्ध किया हुआ (पकाया हुआ) जल पिलाना चाहिये ॥

पञ्चमुष्टिकयूषेण युक्ताम्ललवणेन च ॥ १०२ ॥
भुञ्जीत भोजनं काले जाङ्गलानां रसेन वा ।

उचित काल में योग्य मात्रा में खटाई तथा नमक डले हुए पञ्चमुष्टिकयूष अथवा जांगल-मांसरस के साथ भोजन कराये ॥ १०२ ॥

यवकोलकुलत्थानां पञ्चमूलद्वयस्य च ॥ १०३ ॥
क्वाथे दधियवक्षारचव्यचित्रकनागरैः ।
पिप्पलीभिश्च तत् सिद्धं सर्पिर्ज्वरहरं पिबेत् ॥ १०४ ॥
वातश्लेष्मविबन्धघ्नं ग्रहणीदीपनं परम् ।
श्यामातिल्वकसिद्धेन सर्पिषा च विरेचयेत् ॥ १०५ ॥

यव, कोल (बेर), कुलत्थ तथा लघु एवं बृहत् पञ्चमूल के क्वाथ में दही, यवक्षार, चव्य, चित्रक, सोंठ तथा पिप्पली डालकर सिद्ध किया हुआ घृत पिलाना चाहिये। यह ज्वर को नष्ट करता है, वायु तथा श्लेष्मा (कफ) के विबन्ध को दूर करता है तथा ग्रहणी को उत्तेजित करता है। इसके बाद श्यामा (त्रिवृत्) तथा तिल्वक (लोध्र) से सिद्ध किये हुए घृत के द्वारा विरेचन देना चाहिये ॥ १०३-१०५ ॥

स चेद्वातोल्बणत्वाच्च वेपथुर्नोपशाम्यति ।
स्वभ्यक्तामुष्णतैलेन धूपयेत् सुरदारुणा ॥ १०६ ॥
सुखोष्णैरम्लपिष्टैश्च सर्वगन्धैः प्रलेपयेत् ।

यदि वायु की प्रधानता के कारण उस ज्वर में वेपथु (कम्पन) शान्त न हो तो उसके शरीर पर उष्ण तैल की मालिश करके देवदारु की धूप देनी चाहिये। तथा सर्वगन्ध[1] द्रव्यों को कांजी में पीसकर उनका शरीर पर ईषदुष्ण लेप करना चाहिये ॥ १०६ ॥

स्योनाकवासावंशानां तर्कार्येरण्डयोस्तथा ॥ १०७ ॥
अपामार्गस्य काश्मर्या भङ्गोष्णाम्लेऽवगाहयेत् ।

अरलु, बांसा, बांस, तर्कारी (अग्निमन्थ-अरणी), एरण्ड, अपामार्ग, गंभारी तथा भांग के गरम काढ़े में कांजी डालकर उसमें उसका अवगाहन करे।

अवगाहन से अभिप्राय निमज्जन (Tub-bath) से है। अर्थात् एक टब में उपर्युक्त द्रव्यों के क्वाथ को भरके उसमें रोगी को यथाविधि बिठाकर Bath देना चाहिये ॥ १०७ ॥

सुखावगाढामाश्वस्तां मांसाद्याजिनकम्बलैः ॥ १०८ ॥
कुष्ठगुग्गुलुधूपेन घृतमिश्रेण धूपयेत् ।
उष्णानि चान्नपानानि .... ॥ १०९ ॥

तदनन्तर मांसरस खिलाकर तथा मृगचर्म एवं गरम कम्बलों से उसे सुखपूर्वक ढककर आश्वासन देके तथा घी मिले हुए कुष्ठ, गूगल तथा धूप के द्वारा उसका धूपन करे। तथा उसके बाद उष्ण अन्नपान का प्रयोग कराये ॥१०८-१०९ ॥

उष्णो वर्ज्यश्च पवनः पित्ते चोष्णं विरुद्ध्यते ।
अतीक्ष्णोपद्रवं तस्मात् पित्तज्वरमुपक्रमेत् ॥ ११० ॥
कषायतिक्तमधुरैः प्रदेहाभ्यञ्जनौषधैः ।

उष्णता (गर्मी) पित्त की विरोधी है तथा उष्ण वायु भी इसमें वर्जित है अतः जिसमें तीक्ष्ण उपद्रव नहीं हैं ऐसे पित्तज्वर की कषाय, तिक्त एवं मधुर द्रव्यों तथा प्रदेह (लेप) और मालिश की ओषधियों के द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ११० ॥

शार्ङ्गिष्ठां मरुवां पाठां नक्तमालं सवत्सकम् ॥ १११ ॥
निम्बमारग्वधोशीरमासुतं[1] मधुना पिबेत् ।

इसमें शार्ङ्गिष्ठा (काकजंघा-कुछ इसका अर्थ काकमाची तथा गुंजा भी कहते हैं), मरवा, पाठा, नक्तमाल (करञ्ज), इन्द्रजौ, नीम, अमलतास तथा खस-इन ओषधियों का आसव बनाकर उसमें मधु मिलाकर सेवन करना चाहिये ॥ १११ ॥

स्थिराद्यं पञ्चमूलं च केसरं सकशेरुकम् ॥ ११२ ॥
गोपीं पर्पटकोशीरं धान्यकं चेति साधयेत् ।
पादावशिष्टं तच्छीतं पिबेत् समधुशर्करम् ॥ ११३ ॥

स्थिरा (शालपर्णी) आदि ओषधियां, पञ्चमूल, नागकेशर, कशेरुक, गोपी (सारिवा), पित्तपापड़ा, खस तथा धनियां इन्हें सिद्ध करे अर्थात् १६ गुने पानी में डालकर क्वाथ बनाये। चतुर्थांश शेष रहने पर ठण्डा करके उसमें मधु एवं शर्करा मिलाकर पिलाना चाहिये ॥ ११२-११३ ॥

मुस्तद्विसारिवोशीरयष्टिकालोध्रपद्मकैः ।
ससप्तपर्णैरष्टाङ्गैर्वार्यर्धाढकमाप्लुतम् ॥ ११४ ॥
तन्निशामुषितं पूतं पातव्यं शर्करायुतम् ।
कर्षेण कटुरोहिण्याः श्लक्ष्णपिष्टेन चान्वितम् ॥ ११५ ॥
सर्वाभिषवराजोऽयं सर्वज्वरनिवारणः ।

नागरमोथा, दोनों सारिवा (कृष्ण तथा श्वेत), खस, मधुयष्टि, लोध्र, पद्माख तथा सप्तपर्ण इन आठ द्रव्यों को आधा आढक पानी में भिगोकर रख दे। रात भर पड़ा रहने के बाद प्रातः काल छानकर उसमें शर्करा तथा एक कर्ष (तोला) बारीक पिसा हुआ कटुरोहिणी का कल्क मिलाकर पिलाना चाहिये। यह उत्तम अभिषव है। यह सब प्रकार के ज्वरों को नष्ट करता है ॥ ११४-११५ ॥

मृद्वीका नागपुष्पं च मरिचान्यथ शर्करा ॥ ११६ ॥
पत्रमेला च चव्यं च पानकं पैत्तिके ज्वरे ।

पैत्तिक ज्वर में मुनक्का, नागकेशर, मरिच, शर्करा, तेजपत्र, छोटी इलायची तथा चव्य का पानक (शर्बत-Syrup) बनाकर पिलाना चाहिये ॥ ११६ ॥

भद्रश्रीस्तिन्दुको मुस्ता पयस्या मधुकं वचा ॥ ११७ ॥

---

(१) सर्वगन्ध—चातुर्जातककर्पूरकक्कोलागुरुकुंकुमम् ।
लवङ्गसहितञ्चैव सर्वगन्धं प्रकीर्तितम् ॥

१. आसवीकृतमित्यर्थः; "सन्धानाच्चिरकालाम्लमासुतं परिकीर्तितम्"

कषाय एषां पातव्यो ज्वरातीसारनाशनः।
पिबेन्मुद्गरसं वाऽपि पृश्निपर्णीस्थिरायुतम् ॥ ११८ ॥

ज्वरातिसार में भद्रश्री (चन्दन), तिन्दुक (तेंदूं-Diospyros Embroypteris), नागरमोथा, पयस्या (क्षीरकाकोली), मुलहठी तथा बच-इनका कषाय बनाकर पिलाना चाहिये। अथवा पृश्निपर्णी और शालपर्णी युक्त मुद्गयूष पिलाना चाहिये ॥ ११७-११८ ॥

सारिवाचन्दनोशीरद्राक्षापद्मकसाधितम् ।
लाजपेयां पिबेच्छर्दिमूर्च्छादाहज्वरापहाम् ॥ ११९ ॥
मुद्गयूषेण वाऽश्नीयान्मधुरेण रसेन वा।

छर्दि (वमन), मूर्च्छा, दाह तथा ज्वर को नष्ट करने के लिये सारिवा, चन्दन, खस, मुनक्का तथा पद्माख द्वारा सिद्ध की हुई लाजपेया अथवा उस लाजपेया में मुद्गयूष या मधुर रस युक्त द्रव्य मिलाकर पिलानी चाहिये। धान की खील से बनी पेया को लाजपेया कहते हैं ॥ ११९ ॥

मधुकं केसरं गोपी निम्बपत्रं कशेरुकम् ॥ १२० ॥
शर्करामधुसंयुक्तो लेहो मुखविशोधनः।

मुलहठी, नागकेशर, गोपी (सारिवा), नीम के पत्ते तथा कसेरु के चूर्ण में शर्करा और मधु मिलाकर बनाया हुआ चूर्ण मुख का शोधन करता है ॥ १२० ॥

शान्तवेगे ज्वरे चास्यै दद्यान्मृदु विरेचनम् ॥ १२१ ॥
चतुरङ्गुलमृद्वीकात्रिवृत्कल्केन बुद्धिमान् ।
प्रदिहेद्दारुसंयुक्तैस्तालीसोशीरचन्दनैः ॥ १२२ ॥

ज्वर का वेग शान्त हो जाने पर बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिये कि उसे अमलतास, मुनक्का तथा त्रिवृत् के कल्क से मृदु विरेचन देवे। तथा उसके शरीर पर देवदारु, तालीशपत्र, खश तथा चन्दन का लेप करना चाहिये ॥१२१-१२२॥

मधुकस्य च कल्केन कल्केन तगरस्य च ।
तैलमभ्यञ्जनं सिद्धं पीतं ज्वरमपोहति ॥ १२३ ॥

मुलहठी तथा तगर के कल्क से सिद्ध किया हुआ तैल मालिश तथा पीने से ज्वर को नष्ट करता है ॥ १२३ ॥

पटोलस्य गुडूच्याश्च रोहिण्यारग्वधस्य च ।
चन्दनस्य च कल्केन सिद्धं सर्पिर्ज्वरापहम् ॥ १२४ ॥

पटोल (परवल), गिलोय, कटुरोहिणी, अमलतास तथा चन्दन के कल्क से यथाविधि सिद्ध किया हुआ घृत ज्वर को नष्ट करता है ॥ १२४ ॥

चन्दनाद्येन वा सिद्धं पटोलाद्येन वा घृतम् ।
पाययेत्तिक्तसर्पिर्वा तित्तिराद्यमथापि वा ॥ १२५ ॥

अथवा चन्दन आदि या पटोलादि ओषधियों से सिद्ध किये हुए घृत का प्रयोग कराये अथवा तिक्तसर्पि या तित्तिराद्य घृत का पान कराना चाहिये ॥ १२५ ॥

अम्लानि चान्नपानानि तथोष्णकटुकानि च ।
पित्तज्वरे विवर्ज्यानि प्रत्यनीकानि चाचरेत् ॥ १२६ ॥

पित्तज्वर में अम्ल, उष्ण तथा कटु अन्नपान आदि का त्याग कर देना चाहिये तथा इनसे विपरीत गुण वाले अन्न-पान आदि का सेवन करना चाहिये। अर्थात् मधुर, तिक्त एवं कषाय रसयुक्त तथा शीतल अन्न-पान का सेवन करना चाहिये ॥ १२६ ॥

सम्यक्संसर्गयोगेन भग्नवेगं कफज्वरम् ।
जयेद्भैषज्यपानैश्च सर्पिषाऽभ्यञ्जनेन च ॥ १२७ ॥

जिसका वेग शान्त हो गया है ऐसे कफ ज्वर को अच्छी प्रकार औषध, पान, घृत तथा अभ्यङ्ग (मालिश) के संसृष्ट-योग के द्वारा शान्त करे। अर्थात् उपर्युक्त सब उपायों को अच्छी प्रकार यथावश्यक मिलाकर चिकित्सा करनी चाहिये ॥

बृहत्यौ पुष्करं दारु पिप्पल्यो नागरं शटी ।
क्वाथमेषां पिबेदुष्णमादौ दोषविपाचनम् ॥ १२८ ॥

कफ ज्वर के प्रारम्भ में दोषों का पाचन करने के लिये दोनों बृहती, पुष्करमूल, देवदारु, पिप्पली, सोंठ तथा कचूर का गरम २ क्वाथ पिलाना चाहिये ॥ १२८ ॥

द्विपञ्चमूलीं भार्गीं च कर्कटाख्यां दुरालभाम् ।
नागरं पिप्पलीं दारुं पिबेद्वा सैन्धवान्वितम् ॥१२९॥
(इति ताडपत्रपुस्तके २२९ तमं पत्रम्)

अथवा दोनों पञ्चमूल (बृहत् तथा लघु अर्थात् दशमूल), भारंगी, काकड़ाशृंगी, दुरालभा, सोंठ, पीपल तथा देवदारु के क्वाथ में लवण डालकर पीना चाहिये ॥ १२९ ॥

पटोलं धान्यकं मुस्ता मूर्वा पाठा निदिग्धिका ।
कषाय एषां पातव्यः षडङ्गो मधुसंयुतः ॥ १३० ॥

पटोल (परवल), धनियां, नागरमोथा, मरोड़फली, पाठा तथा छोटी कटेरी इन ६ चीजों का क्वाथ मधु डालकर पीना चाहिये ॥ १३० ॥

नागरामरदारुभ्यां शृतमुष्णं पिबेज्जलम् ।
बालमूलकयूषेण जाङ्गलानां रसेन वा ॥ १३१ ॥
कटूष्णद्रव्ययुक्तेन मन्दस्निग्धेन भोजयेत् ।

सोंठ तथा देवदारु से पकाया हुआ उष्ण जल पीना चाहिये। तथा कच्ची मूली के यूष अथवा जांगल मांसरस में कटु एवं उष्ण द्रव्य तथा थोड़ा स्नेह डालकर भोजन कराना चाहिये ॥ १३१ ॥

पिबेद्गोमूत्रसंयुक्तं त्रिवृत्कल्कविरेचनम् ॥ १३२ ॥
काले कल्याणकं सर्पिः पिबेद्वा दाशमौलिकम् ।

विरेचन के लिये उचित काल में त्रिवृत् के कल्क में गोमूत्र मिलाकर पिलाना चाहिये अथवा कल्याणक घृत या दशमूल घृत का सेवन कराना चाहिये ॥ १३२ ॥

लाक्षा मुस्ता हरिद्रे द्वे शताह्वा भद्ररोहिणी ॥ १३३ ॥
देवपुष्पा वचा दारु सरलं चेति तैः समैः ।
पचेत्तैलं तदेतेन कुर्यादभ्यञ्जनं भिषक् ॥ १३४ ॥

लाक्षा, नागरमोथा, हरिद्रा, दारुहरिद्रा, सोया, भद्ररोहिणी, लौंग, बच, देवदारु तथा सरल (चीड़) सब समभाग लेकर यथाविधि तैलपाक करे। उस तैल के द्वारा वैद्य रोगी का अभ्यङ्ग कराये ॥ १३३-१३४ ॥

कुष्ठागरुव्याघ्रनखं मांसी धान्यकसामकम् ।
वक्रं हरेणुं ह्रीबेरं स्थौणेयं केसरं त्वचम् ॥ १३५ ॥
एले द्वे सरलं दारु मूर्वा कालानुसारिवा ।
बर्हिष्टं शतपुष्पा च पृथ्वीका देवपुष्पकम् ॥ १३६ ॥
एतैर्हि समभागैस्तु तैलं धीरो विपाचयेत् ।
एतदभ्यञ्जनादेव कफज्वरमपोहति ॥ १३७ ॥
शेषं वातज्वरहितं कार्यमत्र चिकित्सितम् ।

कुष्ठ, अगर, व्याघ्रनख (बृहन्नखी), जटामांसी, धनियां, सामक, वक्र (कुटिल-तगर), हरेणु, गन्धबाला,स्थौणेयक (सुगन्ध औषध विशेष-थुनेर-Clerodendron-Infortunatum), नागकेसर, दालचीनी, छोटी तथा बड़ी इलायची, सरल (चीड़), देवदारु, मरोड़फली, कालानुसारिवा (उत्पलसारिवा), बर्हिष्ठ (नेत्रबाला), सौंफ, पृथ्वीका (स्थूलजीरा), लौंग-समभाग लेकर बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिये कि यथाविधि तैलपाक करे। इस तैल के मर्दन से ही कफज्वर नष्ट हो जाता है। शेष जो वातज्वर में हितकारी चिकित्सा है वह सारी यहां भी करनी चाहिये ॥१३५-१३७॥

मधुराण्यन्नपानानि स्निग्धानि च गुरूणि च ॥१३८॥
कफज्वरे विवर्ज्यानि प्रत्यनीकानि चाचरेत् ।

कफज्वर का पथ्यापथ्य—कफज्वर में मधुर, स्निग्ध एवं गुरु अन्नपान का त्याग कर देना चाहिये तथा इनसे विपरीत गुण वाले पदार्थों का सेवन करना चाहिये अर्थात् कटुरस युक्त रूक्ष तथा लघु अन्न-पान का सेवन करना चाहिये ॥ १३८ ॥

सन्निपातज्वरस्यातः प्रवक्ष्यामि चिकित्सितम् ॥१३९॥
स सर्वलक्षणोऽसाध्यः कृच्छ्रसाध्योऽल्पलक्षणः ।
बलहीनस्य नष्टाग्नेः सर्वथा नैव सिद्ध्यति ॥ १४० ॥
किमङ्ग ! सूतिकानां तु क्षीणधातुबलौजसाम् ।
तथाऽपि यत्नमातिष्ठेदानृशंस्याद्भिषग्वरः ॥ १४१ ॥

अब मैं सन्निपात ज्वर की चिकित्सा का वर्णन करूंगा। हे प्रिय ! सम्पूर्ण लक्षणों वाला सन्निपात ज्वर असाध्य होता है तथा अल्प लक्षणों वाला कृच्छ्रसाध्य होता है। तथा जिसका शारीरिक बल एवं अग्नि नष्ट हो गई है तथा जिन प्रसूता स्त्रियों का धातु, बल एवं ओज क्षीण हो चुका हो उनमें सन्निपात ज्वर सर्वथा (बिलकुल) ठीक नहीं होता। अथवा सर्वथा ठीक नहीं होता का अभिप्राय यह है कि पूर्णरूप से ठीक नहीं हो पाता है—(अन्त में कुछ न कुछ कसर अवश्य रह ही जाती है)। तथापि चिकित्सक को रोगी की मृत्यु-पर्यन्त चिकित्सा का प्रयत्न अवश्य करते रहना चाहिये ॥

सन्निपातेषु दोषेषु यो दोषो बलवान् भवेत् ।
तमेवादौ प्रशमयेच्छेषदोषमतः परम् ॥ १४२ ॥
अल्पान्तरबलेष्वेषु दोषेषु (मति)मान् भिषक् ।
श्लेष्माणमादौ शमयेत् स ह्येषामनुबन्धकृत् ॥१४३॥
गुरुत्वात् कृच्छ्रपाकित्वादूर्ध्वकायाश्रयात्तथा ।
तस्माज्ज्वरेण दुर्दिष्टं वातपित्तकफात्मके ॥ १४४ ॥

सन्निपात ज्वर में जो दोष सबसे अधिक बलवान् हो सबसे पहले उसी की चिकित्सा करनी चाहिये। उसके बाद शेष (बचे हुए) दोषों की चिकित्सा करनी चाहिये। यदि वात, पित्त, कफ रूप सन्निपात ज्वर से आक्रान्त व्यक्ति में तीनों दोषों के बलों में विशेष अन्तर न हो अर्थात् तीनों दोष लगभग समान बल वाले हों तो बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिये कि वह पहले श्लेष्मा की चिकित्सा करे क्योंकि गुरु, कृच्छ्रपाकी तथा शरीर के ऊर्ध्वभाग में स्थित होने के कारण श्लेष्मा ही इनमें अनुबन्ध कारक होता है। चरक चि० अ० ३ में भी सन्निपात ज्वर में पहले कफ की चिकित्सा का ही विधान किया गया है। उसके बाद पित्त तथा वात की चिकित्सा करनी चाहिये ॥

तस्यां तस्यामवस्थायां तत्तत् कार्यं चिकित्सितम् ।
सामान्येन तु वक्ष्यामि तद्विशेषं भिषग्जितम् ॥१४५॥

इसलिये सन्निपात ज्वर की उस २ अवस्था में वह २ चिकित्सा करनी चाहिये अर्थात् ज्वर में जैसी अवस्था हो उसके अनुसार चिकित्सा करनी चाहिये। फिर भी सामान्यरूप से उनमें जो विशेषता है उसका मैं वर्णन करता हूं ॥ १४५ ॥

कुशकाशश्वदंष्ट्रार्कसुधैरण्डपरू(षकैः) ।
······ञ्यवद्रोणं चर्मण्यास्तीर्य युक्तितः ॥ १४६ ॥
स्वेदयेत् सूतिकां तत्र गुरुप्रावरणावृताम् ।

सन्निपात ज्वर में स्वेदन—कुश, काश, गोखुरू, आक, थूहर, एरण्ड, परूषक (फालसा) तथा···जौ—इन सबको एक द्रोण परिमाण में लेकर चमड़े पर फैलाकर प्रसूता स्त्री को भारी वस्त्रों से ढककर तदनन्तर उसे युक्तिपूर्वक स्वेदन देना चाहिये ॥१४६॥

नागरं दशमूलं च कट्वङ्गं दारुकद्वयम् ॥ १४७ ॥
पिप्पल्यस्त्रिफला भार्गी कर्कटाख्या दुरालभा ।
ससैन्धवः कषायोऽयं ज्वरे पूर्वापराह्णिके ॥ १४८ ॥
मधुहिङ्गुसमायुक्तो देयः सायाह्निके ज्वरे ।

पूर्वाह्ण (दिन के पूर्व भाग १२ बजे से पूर्व) तथा अपराह्ण (दिन के पिछले पहर ३ बजे के बाद) काल में होने वाले सान्निपातिक ज्वर में सोंठ, दशमूल, कट्वङ्ग (श्योनाक), हरिद्रा, दारुहरिद्रा, पिप्पली, त्रिफला, भारंगी, कर्कट (काकड़ा-

शृङ्गी अथवा विल्वशलाटु) तथा दुरालभा के क्काथ में लवण मिलाकर देना चाहिये। तथा सायंकाल होने वाले ज्वर में उपर्युक्त कषाय में मधु एवं हींग मिलाकर देना चाहिये ॥

पटोलमुस्तामधुकरोहि·················॥ १४९ ॥
सर्पिषा सह पातव्यं सन्निपातेऽनिलोत्तरे ।

यदि सन्निपात ज्वर में वायु की प्रधानता हो तो पटोल (परवल), नागरमोथा, मधुक (मुलहठी) तथा रोहिणी··· आदि द्रव्यों के क्काथ को घृत के साथ सेवन कराना चाहिये ॥

एतदेव त्रिफलया युक्तं च सुरदारुणा ॥ १५० ॥
पाययेन्मधुनाऽऽलोड्य सन्निपाते कफोत्तरे ।

यदि सन्निपात ज्वर में कफ की प्रधानता हो तो उपर्युक्त क्काथ में ही त्रिफला तथा देवदारु डालकर उसे मधु में मिलाकर पिलाना चाहिये ॥ १५० ॥

एलामधूकमधुकशीतपाकीपरूषकैः ॥ १५१ ॥
त्रिफलासारिवापाठामञ्जिष्ठाचतुरङ्गुलैः ।
पित्तोत्तरे त्वभि(न्यासे) पिबेत् समधुशर्करम् ॥१५२॥

यदि सन्निपात ज्वर में पित्त की अधिकता हो तो छोटी इलायची, महुआ, मुलहठी, शीतपाकी (गुंजा), फालसा, त्रिफला, सारिवा, पाठा, मंजीठ तथा अमलतास के क्काथ में मधु एवं शर्करा मिलाकर पिलाना चाहिये ॥ १५१-१५२ ॥

भार्गी शृङ्गी त्रिवृद्दन्ती दशमूली दुरालभा ।
कट्वङ्गं त्रिफला शुण्ठी पिप्पली चेति तैः शृतम् १५३
क्काथं ससैन्धवक्षारं पाययेच्चानुलोमिकम् ।
गोमूत्रयुक्तां त्रिवृतां केवलां वा वचां पिबेत् ॥१५४॥

अनुलोमन (Lexative) के लिये भारंगी, काकड़ाशृङ्गी, त्रिवृत् (निसोथ), दन्ती (जमालगोटा), दशमूल, दुरालभा, कट्वङ्ग (श्योनाक), त्रिफला, सोंठ तथा पिप्पली-इत्यादि ओषधियों द्वारा पकाकर बनाये हुए क्काथ में सैन्धव तथा क्षार मिलाकर पिलाना चाहिये अथवा गोमूत्र में मिलाकर त्रिवृत् या अकेली बच का सेवन कराये ॥ १५३-१५४ ॥

अनुलोमं गते दोषे संजाते ग्रहणीबले ।
········ततः सर्पिर्वा साधु संस्कृतम् ॥ १५५ ॥

दोषों के अनुलोम हो जाने पर अर्थात् उनकी गति अनुलोम (नीचे की ओर) हो जाने पर तथा ग्रहणी के बलवान् हो जाने पर···अच्छी प्रकार संस्कृत किया हुआ घृत पिलाना चाहिये ॥

मधुकेनातिविषया रोहिण्या भद्रदारुणा ।
सिद्धं सर्पिः पिबेत् काले सन्निपातज्वरापहम् ॥१५६॥
कल्याणकं महान्तं वा पञ्चगव्यमथापि वा ।

अथवा सन्निपात ज्वर को नष्ट करने के लिये उचित काल में मुलहठी, अतीस, रोहिणी तथा देवदारु से सिद्ध किया हुआ घृत पिलाना चाहिये। अथवा महान् कल्याण घृत या पञ्चगव्य घृत का सेवन कराना चाहिये ॥ १५६ ॥

शीतोष्णैरौषधैस्तैलं सर्वैरेवोपसंस्कृतम् ॥ १५७ ॥
अभ्यञ्जनं विधातव्यं यच्चान्यत्रिमलापहम् ।

सम्पूर्ण शीत एवं उष्ण ओषधियों से सिद्ध किये हुए तैल का अभ्यङ्ग (मर्दन-मालिश) करना चाहिये। तथा अन्य जो भी त्रिदोषनाशक आहार-विहार आदि हैं, वे सब करने चाहिये ॥ १५७ ॥

हरीतक्या प्रियंग्वा च मालत्याऽऽम(लकेन) च १५८
मु(ख)प्रक्षालनं कार्यं वासया खदिरेण वा ।

हरड़, प्रियङ्गु, मालती (चमेली), आंवला, बांसा और खदिर (के क्काथ) से मुखप्रक्षालन करना चाहिये ॥ १५८ ॥

श्लक्ष्णपिष्टं तथाऽऽम्रास्थि रसाञ्जनसमन्वितम् ॥१५९॥
दन्तमांसौष्ठजिह्वानां प्रधानं प्रतिसारणम् ।

बारीक पिसी हुई आम की गुठली तथा रसौंत के चूर्ण का दन्तमांस (मसूड़े), होंठ तथा जिह्वा पर प्रतिसारण (Dust) करना चाहिये ॥ १५९ ॥

सन्तप्यमाने शिरसि दधिसर्जरसाक्षतैः ॥ १६० ॥
साश्वगन्धैर्मधुयुतैर्ललाटमुपलेहयेत् ।

यदि सिर में बहुत सन्ताप हो तो दही, राल, अक्षत (चावल) तथा असगन्ध (अश्वगन्धा) को मधु में मिला कर मस्तिष्क पर लेप करना चाहिये ॥ १६० ॥

लघ्वन्नकृतसंसर्गे निरष्टाहपरे[1] ज्वरे ॥ १६१ ॥
संसर्गे सन्निपाते वा सप्रलापेऽनिलोत्तरे ।
सशूलबद्धविण्मूत्रे सश्वासे च विशेषतः ॥ १६२ ॥
पुराणसर्पिः संस्कारो विधेयो जाङ्गलो रसः ।
दशमूलकुलत्थानां यवानां कुवलस्य च ॥ १६३ ॥
कुलीरशृङ्ग्या रास्नायाः शटीपुष्करमूलयोः ।
भार्ग्या दुरालभायाश्च निर्यूहे साधु साधितः ॥१६४॥
तेनास्य विगुणो वायुर्ज्वरश्चास्य प्रशाम्यति ।

ज्वर में आठ दिन व्यतीत हो जाने पर लघु अन्न का प्रयोग करने पर यदि प्रलाप (Delirium) युक्त द्वन्द्वज या सन्निपात ज्वर में वायु की प्रधानता हो तथा यदि उसमें विशेष रूप से शूल, मलमूत्र की रुकावट तथा श्वास की कठिनता हो तो उसे पुराण सर्पि से संस्कृत जांगल मांसरस देना चाहिये। तथा दशमूल, कुलत्थ, यव, कुवल (बेर या पद्म), कुलीरशृंगी (काकड़ाशृङ्गी), रास्ना, शटी (कपूर कचरी), पुष्करमूल, भारंगी तथा दुरालभा को अच्छी प्रकार सिद्धकर निर्यूह बनाना चाहिये। इससे रोगी का विगुण (प्रकुपित) हुआ वायु तथा ज्वर नष्ट हो जाते हैं ॥ १६१-१६४ ॥

पाचनीयैरुपक्रान्ते भग्नवेगे सति ज्वरे ॥ १६५ ॥
पक्कावशेषे च मले बले मन्दत्वमागते ।

१. अष्टौ दिनान्यतिक्रान्त इत्यर्थः ।

पेयं सुशीतं सक्षौद्रमिदं संशमनद्वयम् ॥ १६६ ॥
पिप्पली सदुरालम्भा मृद्वीका वा सपिप्पली ।

पाचन द्रव्यों का प्रयोग करने से ज्वर का वेग शान्त हो जाने पर, मल के पचने से कुछ शेष रहने पर तथा बल के कुछ कम हो जाने पर निम्न दो शीतल संशमन योगों में मधु मिलाकर पिलाना चाहिये—१ पिप्पली तथा दुरालभा तथा (२) मुनक्का और पिप्पली ॥ १६५–१६६ ॥

गुडूच्यामलकानां च स्वरसे साधितं घृतम् ॥१६७॥
कल्केन सारिवाशुण्ठीलोध्रदाडिमचन्दनै ।
तद्धि मङ्गल्यकं नाम विषमज्वरनाशनम् ॥ १६८ ॥
ज्वराणां चापि सर्वेषामेतदेवामृतोपमम् ।

इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ अचूष्क (१७४)
(इति) खिलेषु सूतिकोपक्रमणीयो (नामैकादशोऽध्यायः) ॥

गिलोय और आंवले के रस में सारिवा, सोंठ, लोध्र, अनार और चन्दन का कल्क डालकर घृत सिद्ध किया जाय। यह मङ्गल्यक नाम का घृत है। इसके सेवन से विषमज्वर नष्ट हो जाता है तथा अन्य ज्वरों में भी यह अमृत के समान है॥
ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था। अचूष्क (१७४)

(इति) खिलेषु सूतिकोपक्रमणीयो (नामैकादशोऽध्यायः) ॥११॥

अथ जातकर्मोत्तराध्यायो द्वादशः ।

अथातो जातकर्मोत्तरमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ २ ॥

अब हम जातकर्मोत्तर अध्याय का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था। इस अध्याय में उन क्रियाकर्मों का वर्णन किया जायेगा जो शिशु की उत्पत्ति के बाद किये जाते हैं ॥ १–२ ॥

अथ खलु शिशोर्जातस्य तत्कर्मण्यभिनिर्वृत्ते प्रथम एव मासि कृतरक्षाहोममङ्गलस्वस्त्ययनस्य सूर्योदयदर्शनोपस्थानं, प्रदोषे चन्द्रमसः ॥ ३ ॥

अब शिशु की उत्पत्ति के बाद उस उत्पत्तिकर्म (प्रसव) के निवृत्त हो जाने पर प्रथम मास में हीउ सकी रक्षा, होम, मङ्गल तथा स्वस्त्ययन (स्वस्तिवाचन) कराकर सूर्योदय का दर्शन एवं पूजा तथा रात्रि में चन्द्रमा का दर्शन कराना चाहिये। वेदों में भी सूर्यदर्शन का विधान दिया है। कहा है—ओं तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् पश्येम शरदः शतम् ॥ ३ ॥

चतुर्थे मासि स्नातालङ्कृतस्याहतवाससा संवीतस्य ससिद्धार्थकमधुसर्पिषा रोचनया चान्वालब्धस्य धात्र्या सहान्तर्गृहान्निष्क्रमणं देवतागारप्रवेशनं च। तत्राग्निं प्रज्वलन्तं घृताक्षतैरभ्यर्च्य ब्राह्मणमीश्वरं विष्णुं स्कन्दं मातॄश्चान्यानि च कुलदैवतानि गन्धपुष्पधूपमाल्योपहारैर्भक्ष्यैश्च बहुभिर्बहुविधैः संपूज्य, ततो ब्राह्मणवाचनं कृत्वा, तेषामाशिषो गृहीत्वाऽभिवाद्य च गुरून् पुनः स्वमागारं प्रविशेत्। प्रविष्टं चैनमनेन मन्त्रेणाभ्युदय भिषग्वर्तेत ॥ ४ ॥

'शरच्छतं जीव शिशो ! त्वं देवैरभिरक्षितः ।
द्विजैरप्याशिषा पूतो गुरुभिश्चाभिनन्दितः' इति ॥५॥

चतुर्थ मास में उस शिशु को स्नान तथा अलंकार (आभूषणों) से युक्त करके नये वस्त्र पहना कर तथा सिद्धार्थक (श्वेत सरसों), मधु तथा घृत से अथवा गोरोचन से युक्त करके धात्री के साथ उसे प्रथम बार घर से बाहर निकाला जाता है तथा मन्दिर में प्रवेश कराया जाता है। वहां मन्दिर में प्रज्वलित हुई अग्नि की घृत तथा अक्षत (चावलों) के द्वारा अभ्यर्चना करके ब्राह्मण, भगवान् विष्णु, स्कन्द, मातृकाओं तथा अन्य भी कुलदेवताओं की गन्ध, पुष्प, धूप एवं माला आदि के उपहारों तथा नाना प्रकार के भक्ष्य पदार्थों द्वारा अनेकविध पूजा करके, ब्राह्मणों को नमस्कार करके तथा उनसे आशीर्वाद लेकर और गुरुओं को अभिवादन करके पुनः लौटकर अपने घर में प्रवेश करे। घर में प्रविष्ट होने पर वैद्य निम्न मन्त्र के द्वारा उसकी अभ्यर्थना करे—शरच्छतं जीव शिशो ! त्वं देवैरभिरक्षितः। द्विजैरप्याशिषा पूतो गुरुभिश्चाभिनन्दितः ॥ (अर्थात् हे शिशु ! तुम देवताओं के द्वारा रक्षित, ब्राह्मणों के आशीर्वादों से पवित्र तथा गुरुओं के द्वारा प्रशंसित हुए सौ वर्ष तक जीओ) ॥ ४–५ ॥

षष्ठे मासि पुण्याहेऽभ्यर्च्य देवतां, द्विजांश्च भोजनेन सन्तर्प्य दक्षिणाभिः स्वस्ति वाच्य च, गृहमध्ये वास्तुमध्ये वा शुचौ देशे गोमयेनाद्भिश्च चतुर्हस्तमात्रं स्थण्डिलमुपलिप्य मण्डलं चतुरस्रं वा, हिरण्यसुवर्णरजतताम्रकांस्यशीसायसानि मणयो मुक्ताप्रवाला(द्यः) सर्वे, सर्वाणि धान्यानि व्रीहयः सर्वसतालेष्टक(?) क्षीरदधिघृतमधुगोमयगोमूत्रकार्पासादीनि, बालक्रीडनकानि पिष्टमयानि, तद्यथा—गोगजोष्ट्राश्वगर्दभमहिषमेषच्छागमृगवराहवानररुरुशरभसिंहव्याघ्रकपितरक्षुवृकर्कूर्ममीनशुकसारिकाकोकिलकलविङ्कचक्रवाकहंसक्रौञ्चसारसमयूरक्रकरचकोरकपिञ्जलचरणायुधवर्तककारा-णि, शैलकगृह(क)रथकयानकस्यन्दनकशल्लिकाजिञ्झिरिकाखैरिकेशीकातुम्बीकादुष्प्रवाहकभद्रकसंचोल्लकपीठप·······न्दिकादुहितृकाकुमारकगोलगन्दुकादीन्य-

१. प्राचीनास्तत्तदाकाराः क्रीडनकविशेषा इमे । प्रतिकृत्यर्थे कप्रत्ययः ।

न्यानि च स्त्रीकौतुकानीति, भिषक् तस्य मण्डलं सन्निधाय वसुधायै अर्घ्यं दत्त्वाऽनेन मन्त्रेण—॥ ६ ॥

त्वमग्रजा त्वं प्रभवाऽव्यया च
लोकस्य धात्री सचराचरस्य ।
त्वमीज्यसे त्वं यजसे महीह
मात्रेऽव नः (पा) हि कुमारमेनम् ॥ ७ ॥
तं ब्रह्मा अनुमन्यतां स्वाहा ।

छठे मास में किसी शुभ दिन देवता की पूजा करके और ब्राह्मणों को भोजन एवं दक्षिणा से सन्तुष्ट करके तथा स्वस्तिवाचन करके, घर या वास्तु (बड़े भवन) के मध्य में पवित्र स्थान पर गोबर तथा पानी के द्वारा चार हाथ प्रमाण की एक गोल या चौकोर वेदी लीप कर बनाये । उस वेदी के पास वैद्य सुन्दर तथा ऐश्वर्य युक्त, सोने, चांदी, तांबा, कांसी, सीसा तथा लोहे की सब प्रकार की मणियां और मुक्ता, प्रवाल आदि सम्पूर्ण व्रीहि (चावल) आदि धान्य, सर्वसतालेष्टक(?) दूध, दही, घृत, मधु, गोबर, गोमूत्र तथा कपास आदि तथा पिष्टियुक्त (खोये इत्यादि के बनाये हुए) निम्न आकृति वाले खिलौने यथा—गौ, हाथी, ऊंट, घोड़ा, गदहा, भैंस, मेंढा, बकरी, मृग, सूअर, बन्दर, रुरु तथा शरभ जाति के मृग, सिंह, व्याघ्र, कपि, चीता, भेड़िया, कछुआ, मछली, तोता, मैना, कोयल, कलविङ्क, चक्रवाक, हंस, क्रौञ्च, सारस, मोर, क्कर (केंकड़ा), चकोर, कपिञ्जल (गौरय्या), चरणायुध तथा बत्तख के आकार के तथा शिला, गृह, रथ, यान (सवारी), स्यन्दन, शल्लिका, झञ्झर, खैरिका, ईशीका (सरकण्डा), तुम्बी, दुग्धप्रवाह, भद्र, संचोल्ल, पीठप''(नना)न्दिका (ननद), दुहिता (लड़की), कुमार, गोलगन्दुक (गेंद) इत्यादि आकार वाले तथा अन्य भी स्त्रियों की पसन्द वाले खिलौने इत्यादि रखकर निम्न मन्त्र के द्वारा पृथ्वी को अर्घ्य देवे—त्वमग्रजा त्वं प्रभवाऽव्यया च लोकस्य धात्री सचराचरस्य । त्वमीज्यसे त्व यजसे महीह मात्रेऽव नः (पा) हि कुमारमेनम् ॥ तं ब्रह्मा अनुमन्यतां स्वाहा । (अर्थात् हे पृथिवि ! तू सबसे प्रथम हुई है । तू प्रभवा—प्रकृष्ट उत्पत्तिवाली तथा अव्यया-क्षय न होने वाली है । और तू सम्पूर्ण जड़ एवं चेतन जगत् की धात्री धारण करने वाली-पोषक है। हम तेरी पूजा एवं यज्ञ करते हैं । तू हमारी माता के समान है । तू इस बालक की रक्षा कर । ब्रह्मा उसका अनुमोदन करे-इत्यादि)॥

वक्तव्य—यद्यपि यहां उपर्युक्त मन्त्रों के अर्थ दे दिये गये हैं परन्तु यहां मूल मन्त्र ही अभिप्रेत है ॥ ६-७ ॥

ततस्तं मण्डलमध्ये तथैव स्नातमलङ्कृतमहतवाससं कुमारं प्राङ्मुखमुपवेशयेन्मुहूर्तं, मुहूर्तमुपविश्य यद्धस्ताभ्यां प्रथमं गृह्णीत परिमृशेद्वा कृष्याद्वा तद्भागी भविष्यतीति हृदि निमित्तं कृत्वोत्थाप्योत्तरकालमवहितया धात्र्याऽन्वितः कुमारेण वा एतैरेव क्रीडनकैस्तैजसैरितरैश्च लघुभिरखरैरतीक्ष्णैरवक्राङ्गैरनवोपस्करैराकर्षणाहरणशक्यै रुचिभिर्घोषवद्भिर्विनोद्यमानः सोपाश्रयास्तरणोपेतायां भूमौ प्रतिदिनमभ्यासार्थं सकृदुपविशेदिति॥

इसके बाद उस बालक को उसी प्रकार स्नान, अलंकार (आभूषण) तथा नवीन वस्त्रों से भूषित करके उस मण्डल के मध्य में पूर्व दिशा की ओर मुख करके थोड़ी देर के लिये बिठा दें । थोड़ी देर बैठने के बाद वह बालक अपने हाथों के द्वारा वहां उपस्थित पदार्थों में से जिस पदार्थ का सर्वप्रथम ग्रहण, स्पर्श या कर्षण (खींचना) करेगा वह उसी का भागी होगा-ऐसा मनमें सोच ले । उसके बाद उस बालक को उठाकर प्रमाद रहित धात्री अथवा दूसरे बालक के साथ उपर्युक्त अथवा अन्य तेजयुक्त, हलके, जो खर (कठोर) न हों, जो बहुत तेज न हों, जो बहुत वक्र (टेढ़े मेढ़े) न हों, जो बिलकुल नवीन न हों, जो खींचकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाये जा सकते हों तथा रुचिकारक एवं शब्दयुक्त (नाना प्रकार के शब्द करने वाले) खिलौनों से विनोद करता हुआ प्रतिदिन किसी के सहारे तथा बिछौने से युक्त भूमि पर अपने खेल आदि के अभ्यास के लिये प्रवेश करे । बालकों के खिलौनों के विषय में चरक शा० अ० ८ में भी कहा है—क्रीडनकानि खल्वस्य विचित्राणि घोषवन्त्यभिरामाण्यगुरूण्यतीक्ष्णाग्राण्यनास्यप्रवेशीन्यप्राणहराण्यवित्रासनानि च स्युः ॥ ८ ॥

तत्र श्लोकाः—

उपलिप्ते शुचौ देशे शस्त्रतोयाग्निवर्जिते ।
उपविष्टं सकृच्चैनं न चिरात् स्थापयेद् बुधः ॥ ९ ॥

गोबर, मिट्टी आदि से लिपी हुई, पवित्र तथा शस्त्र, जल एवं अग्नि आदि से रहित भूमि में एक बार बैठे हुए शिशुको लगातार बहुत देर तक बुद्धिमान् व्यक्ति न बैठा रहने दे । अर्थात् निरन्तर बहुत देर तक उस अवस्था में न बैठा रहने दे ॥ ९ ॥

स्तैमित्यं कटिदौर्बल्यं पृष्ठभङ्गः श्रमो ज्वरः ।
विण्मूत्रानिलसंरोधाध्मानं चात्युपवेशनात् ॥ १० ॥

लगातार बहुत अधिक देर तक बैठे रहने से शिशु के शरीर में स्तिमितता, कटि में दुर्बलता, पृष्ठभङ्ग (सीधा न बैठ सकना), श्रम, ज्वर, मल, मूत्र एवं वायु का अवरोध तथा आध्मान हो जाते हैं ॥ १० ॥

आसीनस्यातिबालस्य सततं भूमिसेवनात् ।
आसन्नान्येव दुःखानि निर्घातं गात्रभेदनम् ॥ ११ ॥
निर्घाताज्जर्जराङ्गत्वं वेदना ज्वरसंभवः ।
ततो न वृद्धिर्बालस्य कठोराङ्गत्वमेव च ॥ १२ ॥

अत्यन्त छोटे बालक के निरन्तर बहुत देर तक भूमि पर बैठे रहने से उसे दुःख (रोग) बहुत शीघ्र हो जाते हैं। इससे उसे निर्घात (शरीर का बहुत अधिक हिलना) तथा अङ्गभेद (शरीर का भेदन) हो जाता है । निर्घात के कारण उसके सम्पूर्ण अङ्ग जर्जर हो जाते हैं और शरीर में वेदना

तथा ज्वर हो जाता है। इस प्रकार बालक के शरीर की वृद्धि नहीं हो पाती है तथा उसके अङ्ग भी कठोर (दृढ़) नहीं हो पाते हैं ॥ ११-१२ ॥

मक्षिकाक्रिमिकीटानां वेलाझञ्झानिलस्य च ।
सर्पाखुनकुलादीनां गम्यो भवति नित्यशः ॥ १३ ॥

तथा बहुत देर तक लगातार भूमि पर बैठने से बालक मक्खी, कृमि तथा कीड़े आदियों से उत्पन्न होने वाले रोगों, झञ्झावात (तेज वायु) तथा सांप, चूहे एवं नेवले आदि प्राणियों से आक्रान्त हो जाता है। अर्थात् लगातार बैठे रहने से बालक को उपर्युक्त प्राणियों का भय रहता है। मक्खी, मच्छर, कीड़े आदि उसे तंग कर सकते हैं। तेज हवा लग सकती है अथवा सांप, बिच्छू आदि उसे काट सकते हैं ॥१३॥

तस्मान्नातिचिरं नैको न बालो न च रोगितः ।
उपवेश्यो भवेद्बालो नापुण्याहकृतादिकः ॥१४॥ इति ॥

इसलिये छोटे बालक को रोगी अवस्था में तथा अशुभ दिन आदि के समय अकेले बहुत देर तक न बैठे रहने दे ॥१४॥

तस्मिन्नेव मासि विविधानां फलानां प्राशनं, भिषगनुतिष्ठेत् । तद्धि दन्तजातस्यान्नप्राशनं दशमे वा मासि प्रशस्तेऽहनि प्राजापत्ये नक्षत्रेऽऽभ्यर्च्य देवतां ब्राह्मणांश्च समांसेनान्नेन दक्षिणावता स्वस्ति वाच्य गोमयोपलिप्ते स्थण्डिले दर्भानास्तीर्य सुमनसोऽवकीर्य चतुर्षु स्थानेषु गन्धमाल्यालङ्कृतान् पूर्णकलशान् स्वस्तिकांश्च स्थाप्य क्रीडनकविहितानि पूर्ववदुपकरणानि सर्वाण्येवोपकल्प्य लावककपिञ्जलतित्तिरचरणायुधानामन्यतमस्य मांसेनान्यैश्च विचित्रसुसंस्कृतकामिकैर्व्यञ्जनैः समुदितमन्नपानं मध्ये निधाय ततो भिषक् सुतमलङ्कृतमहतवस्त्रपरिहितमनुष्ठितरक्षाविधानं कुमारं प्राङ्मुखः प्रत्यङ्मुखमुपवेश्याग्निं प्रज्वाल्यान्नं सर्वव्यञ्जनोपेतं गृहीत्वाऽनेन मन्त्रेण जुहुयात्-॥१५॥

(इति ताडपत्रपुस्तके २३१ तमं पत्रम्)

फिर वैद्य को चाहिये कि उसी अर्थात् छठे मास में वह बालक को विविध प्रकार के फलों का सेवन कराये। उसके बाद दांत निकलने पर दसवें महीने में प्राजापत्य नक्षत्र के समय किसी शुभ दिन में देवताओं तथा ब्राह्मणों की अभ्यर्चना करके मांसयुक्त अन्न की दक्षिणा सहित स्वस्तिवाचन करके गोबर से लिपे हुए स्थण्डिल (वेदी) पर दर्भ डालकर तथा उस पर चमेली के फूल बिखेर कर चारों ओर गन्धद्रव्य एवं मालाओं से अलंकृत किये हुए जलपूर्ण घड़े तथा स्वस्तिक आदि के चिह्नों को स्थापित करके तथा खिलौनों की विधि के समय बनाये हुए सम्पूर्ण उपकरणों को पूर्ववत् तैयार करके लाव (बटेर), गौरय्या, तीतर, चरणायुध (कुक्कुट-मुर्गा) आदियों में से किसी एक का मांस तथा अन्य भी नाना प्रकार के सुसंस्कृत तथा मन को प्रसन्न करनेवाले व्यञ्जनों से सिद्ध किया हुआ अन्न-पान आदि मध्य में रख दे। तदनन्तर वैद्य को चाहिये कि वह पूर्व दिशा की ओर मुख करके आभूषणों से अलंकृत, नवीन वस्त्र पहने हुए तथा जिसका रक्षाविधान किया जा चुका हो ऐसे बालक को पश्चिम दिशा की ओर मुख करके बिठा दे। फिर अग्नि को प्रज्वलित करके उसमें सम्पूर्ण व्यञ्जनों से युक्त अन्न की निम्न मन्त्रों द्वारा आहुति देवे। (चरक शा. अ. ८ में भी शिशु की रक्षाविधान का वर्णन अच्छी प्रकार से किया गया है) ॥ १५ ॥

यथा सुराणाममृतं नागेन्द्राणां यथा सुधा ।
तथाऽन्नं प्राणिनां प्राणा अन्नं चाहुः प्रजापतिम् ॥१६॥
तदुद्भवस्त्रिवर्गश्च लोकाश्चैव यथा ह्यमी ।
जुहोमि तस्मात्त्वय्यन्नमग्नेऽमृतसुखोपगम् ॥ १७ ॥
प्रजापतिरनुमन्यतां स्वाहा ।

अर्थात् जिस प्रकार देवताओं के लिये अमृत होता है तथा श्रेष्ठ हाथियों के लिये सुधा (मद) होती है उसी प्रकार प्राणियों के लिये अन्न प्राण होता है। अन्न को ही प्रजापति कहते हैं। जिस प्रकार इन त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) तथा लोक की उत्पत्ति होती है। उसी प्रकार अन्न की भी उत्पत्ति होती है। इसलिये हे अग्ने! अमृत के समान सुख को देनेवाले इस अन्न की मैं तेरे अन्दर आहुति देता हूँ। प्रजापति इस बात का अनुमोदन करते हैं। इसी प्रकार का मन्त्र सुश्रुत सू. अ. ४३ में वमनविधान में मिलता है। यहां पर भी ये मूल श्लोक ही पढ़ने चाहिये। अर्थ अभिप्रेत नहीं है ॥ १६-१७ ॥

हुतशेषस्याङ्गुष्ठमात्रं सुमृदितं कृत्वाऽऽलभ्य बालं ततोऽस्य मुखे दद्यात्त्रीणि पञ्च वा वारान्, प्राश्योपस्पृशेच्चैनम्; उत्थाप्योर्ध्वं द्वादशमासिकस्यान्नमभिलषतोऽल्पशश्चेमानि दद्यादिति ॥ १८ ॥

अग्नि में आहुति देने से बचे हुए (यज्ञशेष) अन्न में से थोड़ा सा अन्न लेकर उसे अच्छी प्रकार नरम करके बालक के मुख में तीन या पांच बार देवे। तथा अन्न खिलाने के बाद उसे जल का आचमन कराये। तदनन्तर १२ मास का होने के बाद अन्न की इच्छा करने पर उसे निम्न खाद्य पदार्थ थोड़े २ खाने को देवे। अर्थात् दसवें मास में अन्नप्राशन संस्कार किया जाता है तथा उसके बाद एक वर्ष का होने पर उसे धीरे २ अन्य (आगे वर्णित) शालि, षष्टिक आदि लघु खाद्य पदार्थ देने चाहिये। दस मास से पूर्व दूध तथा फल का सेवन ही कराया जाता है। सुश्रुत में छठे मास में ही अन्न देने का विधान दिया है ॥१८॥

तत्र श्लोकाः—

शालीनां षष्टिकानां वा पुराणानां विशेषतः ।
तण्डुलैर्निस्तुषैर्भृष्टैः क्षालितैः साधिता द्रवाः ॥ १९ ॥

सस्नेहलवणा लेह्या बालानां पुष्टिवर्धनाः ।
गोधूमानां तथा चूर्णं यवानां वाऽपि सात्म्यतः ॥२०॥

पुराने छिलके रहित तथा भुने हुए शालि एवं षष्टिक चावलों को धोकर सिद्ध किये हुए (बनाये हुए) द्रव में स्नेह एवं लवण मिलाकर अवलेह बनाये। ये बालकों के लिये पुष्टिवर्धक होते हैं। तथा सात्म्य के अनुसार गेहूँ तथा जौ का चूर्ण भी सेवन कराना चाहिये ॥ १९-२० ॥

विडङ्गलवणस्नेहैः पकोष्णं लेहनं हितम् ।
भृशं भिन्नपुरीषस्य कोद्रवानां (णां) निधापयेत् ॥२१॥

विडङ्ग लवण तथा घृत आदि स्नेह मिलाकर पकाकर बनाया हुआ उष्ण अवलेह बालकों के लिये हितकर होता है। यदि बालक को मल भेद (अतिसार) होने लग जाय तो इसीमें कोरदूषक (कोदो) मिलाकर देना चाहिये ॥ २१ ॥

मृद्वीकामधुसर्पींषि दद्यात् पित्तात्मनः सदा ।
मातुलुङ्गरसोपेतं वाते सलवणाशनम् ॥ २२ ॥

यदि उनमें पित्त की अधिकता हो तो मुनक्का, मधु तथा घृत मिलाकर देना चाहिये तथा यदि वायु की अधिकता हो तो बिजौरे के रस के साथ लवणयुक्त भोजन दिया जाता है ॥

एकान्तरं द्व्यन्तरं वा देशाग्निबलकालवित् ।
यदा वा क्षुधितं पश्येत्तदैनं सात्म्यमाशयेत् ॥ २३ ॥

देश (स्थान), अग्नि (जाठराग्नि), बालक के शारीरिक बल तथा काल (समय) को जाननेवाले व्यक्ति को चाहिये कि एक समय या दो समय छोड़कर अथवा जब भी बालक को भूख समझे तब उसे सात्म्य भोजन कराये ॥ २३ ॥

इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥

(इति) खिलेषु जातकर्मोत्तरं नाम (द्वादशोऽध्यायः)

ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था।

(इति) खिलेषु जातकर्मोत्तरं नाम (द्वादशोऽध्यायः) ॥ १२ ॥

अथ कुक्कुणकचिकित्सिताध्यायस्त्रयोदशः

अथातः कुक्कुणकचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ २ ॥

अब हम कुक्कुणक चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था। कुक्कुणक का अभिप्राय शिशुओं के नेत्रवर्त्मगत रोग से है। इसके विषय में योगरत्नाकर में कहा है कि यह बच्चों में होने वाला एक नेत्र रोग है। इसमें नेत्र कमजोर हो जाते हैं (Weakness of the eyes in Infants) तथा बालक सूर्य के प्रकाश या अन्य चमकीले पदार्थों को देखने में असमर्थ होता है ॥ १-२ ॥

यदा माता कुमारस्य मधुराणि निषेवते ।
मत्स्यं मांसं पयः शाकं नवनीतं तथा दधि ॥ ३ ॥
सुरासवं पिष्टमयं तिलपिष्टाम्लकाञ्जिकम् ।
अभिष्यन्दीनि सर्वाणि काले काले निषेवते ॥ ४ ॥
भुक्त्वा भुक्त्वा दिवा शेते विसंज्ञा च विबुध्यते ।
तस्य दोषाः प्रकुपिता दूरं गत्वा च तिष्ठते ॥ ५ ॥
दोषेणावृतमार्गायास्ततः स्तन्यं च दुष्यते ।

जब शिशु की माता सदा मधुर द्रव्य, मछली, मांस, दूध, शाक, मक्खन, दधि, सुरा, आसव, उड़द की पिट्ठी के बने हुए पदार्थ, तिल के बने हुए पदार्थ (तिलकुट आदि), खट्टी कांजी तथा सम्पूर्ण अभिष्यन्दि द्रव्यों का सेवन करती है, दिन में भोजन करते ही सो जाती है तथा संज्ञाशून्य हो जाती है—तब उस स्त्री के दोष प्रकुपित होकर शरीर में दूर जाकर स्थित हो जाते हैं तथा दोषों के द्वारा मार्गों के रुक जाने से उस स्त्री का दूध दूषित हो जाता है ॥ ३-५ ॥

प्रदुष्टदोषसंज्ञं तु यदा पिबति दारकः ॥ ६ ॥
लवणाम्लनिषेवित्वान्मातापुत्रौ रसादिह ।
आहारदोषात्तस्यास्तु बालस्यानन्नभोजिनः ॥ ७ ॥
अनुप्रवेशादाक्षेपादुष्णसत्त्वावनादपि ।
जायते नयनव्याधिः श्लेष्मलोहितसंभवः ॥ ८ ॥

दोषों के कारण दूषित हुए उस दूध को जब शिशु पीता है तब माता के लवण एवं अम्ल रस के सेवन करने से तथा उत्पन्न हुए आहार दोष से—अन्न का सेवन न करनेवाले अर्थात् केवल दूध का पान करने वाले बालक में प्रवेश करके आक्षेप तथा उष्णता के कारण कफ तथा रक्त से उत्पन्न होनेवाला नेत्र रोग हो जाता है ॥ ६-८ ॥

अभीक्ष्णमस्रं स्रवते न च क्षीवति दुर्मनाः ।
नासिकां परिमृद्गाति कर्णं वाञ्छ(ह्य)ति दुःखितः ॥९॥
ललाटमक्षिकूटं च नासां च परिमर्दति ।
नेत्रे कण्डूयतेऽभीक्ष्णं पाणिना चाप्यतीव तु ॥ १० ॥
स प्रकाशं न सहते अश्रु चास्य प्रवर्तते ।
वर्त्मनि श्वयथुश्चास्य जानीयात्तं कुक्कुणकम् ॥ ११ ॥

कुक्कुणक के लक्षण—उसकी आंखों से निरन्तर पानी बहता रहता है, उसे छींक नहीं आती, उसका मन बड़ा अप्रसन्न रहता है, अत्यन्त दुखी हुआ अर्थात् कष्टपूर्वक वह नासिका तथा कानों को कुरेदता रहता है, ललाट (माथा), आंखों तथा नाक को मसलता है, आंखों में बहुत अधिक खाज चलती है जिससे वह उन्हें हाथों से रगड़ता है, वह प्रकाश (रोशनी-चमक-Light) को सहन नहीं कर सकता है, आंखों से अश्रु (पानी-Lacrimation) बहते रहते हैं तथा नेत्रवर्त्म (नेत्र पक्ष्म) में शोथ हो जाती है। ये कुक्कुणक के लक्षण हैं ॥ ९-११ ॥

तस्य चिकित्सितं श्रेष्ठं व्याख्यास्यामि यथा तथा ।
धात्रीं तु तस्य वामयेद्युक्तं चैव विपाचयेत् ॥ १२ ॥
तस्या वान्तविरिक्ताया निर्दुह्य च स्तनावुभौ ।
भोजनानि च सर्वाणि यथायुक्तं प्रदापयेत् ॥ १३ ॥
पथ्यं भुञ्जीत खादेत विपरीतं च वर्जयेत् ।
प्रयता शुद्धवस्त्रा स्यादक्लिष्टाऽमलिना तथा ॥ १४ ॥

उसकी श्रेष्ठ चिकित्सा का मैं यथाविधि वर्णन करूंगा— उस बालक की धात्री को वमन कराये तथा युक्तिपूर्वक उसके दोषों का पाचन करे। वमन तथा विरेचन के बाद उसके दोनों स्तनों का दोहन करे अर्थात् स्तनों से (Breast pump) इत्यादि द्वारा दूध निकाल दे तथा उसके बाद उसे युक्तिपूर्वक सम्पूर्ण पथ्य भोजन खाने के लिये देवे और अपथ्य भोजन का त्याग कर दे। निर्मल वस्त्र धारण करे, क्लेशयुक्त न रहे तथा वह साफ सुथरी रहे ॥ १२-१४ ॥

ततो वर्त्मनि बालस्य निर्भुज्याथ प्रमृज्य च ।
निर्मुच्य रुधिरं दुष्टं कुर्याद्धीरोऽवसेचनम् ॥ १५ ॥

तदनन्तर उस बालक की आंखों को अच्छी तरह खोलकर साफ करे तथा उनमें से दूषित रक्त निकाल कर पानी के छींटे देवे ॥ १५ ॥

एरण्डं रोहिषं चैव त्वक्क्षीरीं वरुणं तथा ।
निष्क्वाथमेतत् कृत्वा च कुमारं परिषेचयेत् ॥ १६ ॥

एरण्ड, रोहिष (गन्धतृण), त्वक्क्षीरी (तवाशीर-वंशलोचन) तथा वरुण-इनका क्वाथ बनाकर बालक का परिषेचन करे ॥ १६ ॥

फणिज्झकस्य पत्राणि सुरसस्य च पीडयेत् ।
जातिप्रसन्नामण्डेन यष्टीमधुकमेव च ॥ १७ ॥
एतदाश्चोतनं तस्य शारदेन जलेन तु ।
त्र्यहमेतत् प्रयुञ्जीत द्व्यहं वाऽपि विधानवित् ॥ १८ ॥

चिकित्सा कार्य को जाननेवाले वैद्य को चाहिये कि वह फणिज्झक (तुलसीभेद) तथा तुलसी के पत्तों का पीडन करके रस निकाल ले। उसमें जाति (चमेली के पत्तों का रस, प्रसन्ना (मद्य विशेष), मण्ड तथा मधुयष्टि मिलाकर उससे अथवा शीतल जल से तीन या दो दिन तक उसकी आंख का आश्च्योतन (नेत्र सेचन) करे।

वक्तव्य—भिन्न २ ओषधियों के क्वाथ, मधु, स्नेह आदि के द्वारा नेत्रों के तर्पण करने को आश्च्योतन कहते हैं ॥१७-१८॥

ने(भे)कराजस्य पत्राणि बिल्वस्याच्छवनां तथा ।
सुराग्रमण्डसंपिष्टं श्रेष्ठमाश्चोतनं मतम् ॥ १९ ॥

भृङ्गराज के पत्ते तथा बिल्व की अच्छ (गोंद) और पत्र स्वरस (अथवा अच्छवन को एक सम्मिलित शब्द मानने से बिल्व के पत्तों का निर्मल स्वरस—यह अर्थ होगा) को सुरामण्ड में पीसने से उत्तम आश्च्योतन बनता है ॥ १९ ॥

कोलान्युत्क्वाथ्य कल्कं वा यष्टीमधुकसंयुतम् ।
नेत्रामये मुखालेपः कश्यपस्तत्प्रशंसति ॥ २० ॥

कोल (बेर) के क्वाथ अथवा उसके कल्क को मुलहठी के साथ मिलाकर नेत्ररोगों में मुख पर लेप किया जाता है। इस लेप की महर्षि कश्यप प्रशंसा करते हैं ॥ २० ॥

ने(भे)कराजीं च नीलीं च सुरसं गौरसर्षपाः ।
हरिद्रां चैव तत् सर्वं कल्कं कुर्वीत भागशः ॥ २१ ॥
एतदालेपनं कुर्याद्रोगघ्नं नयनामये ।
वेदनामक्षिरोगं च क्षिप्रमेवापकर्षति ॥ २२ ॥

भृङ्गराज, नील, तुलसी, श्वेत सरसों तथा हल्दी को यथायोग्य परिमाण में लेकर इनका कल्क बनाये। नेत्ररोगों में उपर्युक्त रोगनाशक लेप का प्रयोग करना चाहिये। यह नेत्रों में वेदना (पीड़ा) तथा अन्य नेत्ररोगों को नष्ट करता है ॥

हरिद्रात्वचमाहृत्य पिप्पलीं चाथ भागशः ।
वरप्रसन्नया मण्डं कुर्यादञ्जनवर्तिकाम् ॥ २३ ॥
पिल्लिका चोपलेपश्च नेत्रयोस्तेन शाम्यति ।
अथास्याश्च्योतनं कुर्यात् सौवीरकमनुत्तमम्[1] ।

हल्दी के छिलके तथा पिप्पली को योग्य परिमाण में लेकर उत्तम प्रसन्ना (मद्यविशेष) के मण्ड (उपरितन स्वच्छभाग) के साथ मिलाकर अञ्जनवर्ती बनाये। इस अञ्जन के प्रयोग से नेत्रगत पिल्लिका (क्लिन्न नेत्ररोग) तथा उपलेप (नेत्रों का लिप्त सा रहना) रोग शान्त होते हैं। तदनन्तर श्रेष्ठ सौवीरक (कांजी) से उसकी आंख का आश्च्योतन करे।

वक्तव्य—अष्टाङ्गहृदय उ. अ. १६ में उक्लिष्ट आदि १८ नेत्ररोगों को पिल्ल नाम से कहा है ॥ २३ ॥

प्रपौण्डरीकं लोध्रं च हरिद्रां शर्करां मधु ॥ २४ ॥
(इति ताडपत्रपुस्तके २३२ तमं पत्रम् ।)
परिषेको भवेच्छ्रेष्ठो जलेनोष्णेन योजयेत् ।
अक्षिरोगेषु सर्वेषु योग एष प्रशस्यते ॥ २५ ॥
आचार्यानुमतं श्रेष्ठं रात्रौ चैनं प्रयोजयेत् ।

पुण्डरीक, लोध्र, हल्दी, शर्करा तथा मधु—इनमें उष्णजल मिलाकर उसके द्वारा आंखों का परिषेक करना चाहिये। सम्पूर्ण अक्षिरोगों में आचार्य ने इसे श्रेष्ठ योग माना है तथा इसका रात्रि में प्रयोग करना चाहिये।

वक्तव्य—आश्च्योतन का प्रयोग रात्रि में ही करना चाहिये। क्योंकि आश्च्योतन के द्वारा नेत्रों का विरेचन हो जाने के बाद नेत्र दुर्बल हो जाते हैं। यदि यह दिन के समय प्रयुक्त किया जायगा तो दुर्बल हुई दृष्टि सूर्य के प्रकाश में कष्ट को अनुभव करती है अतः दिन में आश्च्योतन आदि तीव्र प्रयोगों का व्यवहार नहीं करना चाहिये। ऐसा चरक सू. अ. ५ में भी कहा है ॥२४-२५॥

आटरूषकपत्राणि मधूकं सैन्धवं तथा ॥ २६ ॥

---

१ सौवीरकमत्र संधानविशेषः ।

पुण्डरीकस्य पत्राणि तथा नीलोत्पलानि च ।
सुखोदकेन संयुक्तः परिषेको हितो भवेत् ॥ २७ ॥
कफात्मके त्वभिष्यन्दे सिद्धमेतं नराधिपः ।

हे राजन्! बांसे के पत्ते, मुलहठी, सैन्धव, पुण्डरीक (कमल) तथा नील कमल के पत्ते—इन सबको ईषदुष्ण जल में मिलाकर सिद्ध करें। यह परिषेक कफाभिष्यन्द में हितकर माना गया है ॥ २६–२७ ॥

अमृतायास्तु निष्क्वाथे कुष्ठं च गुडमेव च ॥ २८ ॥
विनीय पिष्टं तोयेन परिषेकोऽक्षिरोगिणाम् ।

गिलोय के क्वाथ में कुष्ठ तथा गुड को पीसकर उस जल के द्वारा नेत्ररोगों में परिषेक करना चाहिये ॥ २८ ॥

परिषेकास्तु बलानां दन्तजन्मनि ये मया ॥ २९ ॥
कीर्तितास्ते प्रयोक्तव्याः परिभूताक्षिरोगिषु ।

बालकों के दांतों की उत्पत्ति के समय मैंने पहले जिन परिषेकों का वर्णन किया है उनका इन सम्पूर्ण अक्षिरोगों में प्रयोग करना चाहिये ॥ २९ ॥

गव्येन मधुना पिष्ट्वा शङ्खेन सह सैन्धवम् ॥ ३० ॥
सप्तरात्रं प्रलेप्यं तु तेन स्रोतसमञ्जनम् ।
तं पिष्ट्वा गुडिकां कृत्वा छायायां परिशोषयेत् ॥ ३१ ॥
पुष्ये सर्वास्तु सिद्धास्ता गुडिकाः पत्रसन्निभाः ।
पृश्निपर्ण्यास्तु भागौ द्वावंशुमत्यास्तथा भवेत् ॥ ३२ ॥
त्रयश्चैवोरुपूगस्य बृहत्या भागमेव तु ।
रजसश्चायसश्चाथ तथा ताम्रायसस्य च ॥ ३३ ॥
अजाक्षीरेण पिष्ट्वा तु शोषयेद् गुटिकां कृताम् ।
अजानां लिण्डिकाभिस्ताः शमीपत्रैश्च धूपयेत् ॥३४॥
तथैवार्द्राश्च शुष्काश्च बालानामक्षिरोगके ।
रसाञ्जनं च यन्मुख्यं हरिद्रात्वचमेव च ॥ ३५ ॥
प्रसन्नयाऽञ्जनं त्वेतत् कुर्यादञ्जनवर्तिकाम्[1] ।

गोघृत (अथवा गोमूत्र या गो दुग्ध), मधु और शंख के साथ सैन्धव नमक को पीसकर सात दिन तक उसका स्रोतोञ्जन पर लेप करना चाहिये। तदनन्तर उस स्रोतोञ्जन को पीसकर जल के साथ गोलियां बनाकर छाया में सुखा दे। पुष्य नक्षत्र में वे सब सिद्ध की हुई गोलियां, पृश्निपर्णी तथा अंशुमती (शालिपर्णी) दो भाग, श्वेत एरण्ड तथा बृहती ३ भाग इसी प्रकार लोहचूर्ण तथा ताम्रचूर्ण भी ३–३ भाग। इन सबको बकरी के दूध में पीसकर गोलियां बनाकर उन्हें सुखा ले। उन गोलियों का बकरी की मेंगनी तथा शमी के पत्तों से धूपन करे। इस प्रकार उन आर्द्र (गीली) तथा शुष्क गोलियों को रसौत तथा हल्दी की त्वचा के साथ सुरामण्ड से पीसकर अञ्जनवर्तिका बनाये ॥ ३०–३५ ॥

[1] प्रसन्ना सुराग्रं च सुराया उपरितनो मण्डभागः ।

पिप्पलीं शृङ्गबेरं च समभागानि पेषयेत् ॥ ३६ ॥
सुराग्रेण ततः कुर्यात् पिल्लिकाञ्जनवर्तिकाम् ।

इसी प्रकार पिप्पली तथा आर्द्रक को समभाग में लेकर सुराग्र (सुरामण्ड) के साथ पीसकर पिल्लिका रोग के लिये अञ्जनवर्ती बनाये ॥ ३६ ॥

अथवाऽतिभवेन्नेत्रशूलं बालस्य लक्षयेत् ॥ ३७ ॥
स्तब्धनेत्रश्च दृश्येत तत्रेमं विधिमाचरेत् ।
पिप्पलीं शृङ्गबेरं च पर्णानि सुरसस्य च ॥ ३८ ॥
कालमालकपर्णानि तथैव च कुठेरकम् ।
तं प्रपिष्य सुराग्रेण कुर्यादञ्जनवर्तिकाम् ॥ ३९ ॥
पिल्लिकामुपदेहं च न चिरादेव नाशयेत् ।

अथवा यदि बालक के नेत्रशूल बहुत अधिक हो या नेत्र स्तब्ध दिखाई दें तो निम्न विधि का प्रयोग करना चाहिये—पिप्पली, आर्द्रक, तुलसी, काली तुलसी तथा कुठेरक (तुलसी भेद)—इन सबको सुरामण्ड से पीसकर अञ्जनवर्ती बनाये। यह पिल्लिका तथा उपदेह रोग (उपलेह) को शीघ्र ही नष्ट कर देता है ॥ ३७–३९ ॥

कपित्थस्याथ बिल्वस्य खदिरस्य च पेषयेत् ॥ ४० ॥
अजाक्षीरस्य पात्रे च ततः श्च्योतनमुत्तमम् ।

कपित्थ (कैथ), बिल्व तथा खदिर को बकरी के दूध में पीस ले। यह उत्तम आश्च्योतन है ॥ ४० ॥

कपित्थस्याऽटजीनां च पत्राणि सुरसस्य च ॥ ४१ ॥
अजाक्षीरेण पिष्टानि कुर्यादाश्च्योतनं भिषक् ।

कपित्थ, अटजी तथा तुलसी के पत्तों को बकरी के दूध में पीसकर उससे आश्च्योतन करे ॥ ४१ ॥

मधुकं पर्वतीयां[1] च हरिद्रां पेषयेत् समाम् ॥ ४२ ॥
अजाक्षीरेण तत् कुर्यादाश्च्योतनमनुत्तमम् ।

मुलहठी तथा दारुहल्दी को समान मात्रा में लेकर बकरी के दूध में पीस ले। यह उत्तम आश्च्योतन है ॥ ४२ ॥

सर्पिर्मण्डं सुराग्रं च ऐन्द्रीं चन्दनमेव च ॥ ४३ ॥
सलिलेन प्रपिष्टानि कुर्यादञ्जनवर्तिकाम् ।

घृतमण्ड, सुराग्र (सुरा का ऊपर का स्वच्छभाग), ऐन्द्री (इन्द्रवारुणी अथवा गोरक्षकर्कटी) तथा चन्दन को पानी से पीसकर अञ्जनवर्ती बनाये ॥ ४३ ॥

पद्मकं चोत्पलं चैव मधुकं च प्रपेषयेत् ॥ ४४ ॥
अक्षिरोगे मुखालेपमजाक्षीरेण शर्कराम् ।

पद्माख (पद्मकाष्ठ), कमल, मुलहठी तथा शर्करा को बकरी के दूध में पीसकर अक्षिरोग के लिये मुखालेप तैयार करे॥

[1] पर्वतीयां हरिद्रां दारुहरिद्रामित्यर्थः ।

शृङ्गबेरोऽथ मञ्जिष्ठा कार्पासकुलकानि च ॥ ४५ ॥
सलिलेन प्रपिष्टानि मुखालेपनमुत्तमम् ।

आर्द्रक, मजीठ, कपास तथा कुलक (पटोल) को पानी से पीसकर उत्तम मुखालेपन बनाया जाता है ॥ ४५ ॥

त्रिफलामञ्जनं चैव तथैव च रसाञ्जनम् ॥ ४६ ॥
मधुना समभागानि कुर्यादाशु रसक्रियाम् ।

त्रिफला, अञ्जन (सुरमा–Lead) तथा रसाञ्जन समभाग लेकर मधु से पीसकर रसक्रिया बनाई जाती है ॥ ४६ ॥

पिप्पलीं शृङ्गबेरं च मरिचानि तथाऽञ्जनम् ॥ ४७ ॥
त्रिफलां शङ्खनाभिं च सैन्धवं ताम्रजं रजः ।
एते भागाः समाः पिष्टाश्छायायां गुडिकाः कृताः ॥४८॥
शोषयित्वा विकारेषु नैकजेषु प्रदापयेत् ।
तिमिरे तोयसंसृष्टा कोथके मार्कवेन तु ॥ ४९ ॥

पिप्पली, आर्द्रक, मरिच, अञ्जन, त्रिफला, शङ्खनाभि, सैन्धव, ताम्रचूर्ण–समभाग लेकर, पीसकर और गोलियां बना कर छाया में सुखा ले। ये गोलियां अनेक रोगों में प्रयुक्त की जाती हैं। उदाहरण के लिये तिमिररोग में पानी तथा कोथरोग (नेत्ररोग भेद) में मकोय के रस के साथ इनका प्रयोग किया जाता है।

वक्तव्य—लिङ्गनाश नामक नेत्ररोग को तिमिर कहते हैं यह नेत्र के चतुर्थ पटल में होता है। इसमें दिखाई देना बन्द हो जाता है। तथा अन्त में Perception of light भी समाप्त हो जाती है ॥ ४७–४९ ॥

रसेन पिष्ट्वा सिद्धस्य द्राक्षाक्षुद्रोदकेन तु ।
गुडिका कोकिला नाम चक्षुर्व्याधिषु संमता ॥ ५० ॥
हितभोजिषु योक्तव्या बालेषु भिषगुत्तमैः ।

कोकिला गुटिका—अथवा सिद्ध (काला धतूरा या काली निर्गुण्डी) के रस या मुनक्का और क्षुद्रा (कैटर्य अथवा रक्त पुनर्नवा) के रस से कोकिला नाम की गोलयां बनाई जाती हैं। ये नेत्र रोगों में उत्तम मानी गई हैं। श्रेष्ठ चिकित्सक को चाहिये कि पथ्य भोजन करने वाले बालकों में इसका प्रयोग कराये ॥ ५० ॥

निर्यासो नक्तमालस्य घृतमण्डेन साधितः ॥ ५१ ॥
स्तन्यक्षीरेण तिमिरे कण्डौ चैव हितो भवेत् ।

करञ्ज के निर्यास (गोंद) को घृतमण्ड से सिद्ध करके उसे स्त्री के दूध के साथ देने से तिमिर तथा नेत्रकण्डू रोग में हितकारी होता है ॥ ५१ ॥

सुवर्णगैरिकं लाक्षा सैन्धवं मरिचानि च ॥ ५२ ॥
सशर्करं त्रिकटुकं गुटिकां ह्युपकल्पयेत् ।
एषा लोहितिका नाम गुडिका तु स्मृता बुधैः ॥ ५३ ॥
प्रयोक्तव्याऽक्षिसंरम्भे क्षिप्रं निर्वाणमिच्छता ।

लोहितिका गुटिका—स्वर्णगैरिक, लाख, सैन्धव नमक, मरिच, शर्करा, त्रिकटु—इन सबको मिलाकर गुटिकाएं बनाये। विद्वानों द्वारा ये लोहितिका नामक गुटिका कहलाती हैं। शीघ्र आरोग्य चाहने वालों को अक्षिरोगों में इनका प्रयोग करना चाहिये ॥ ५२–५३ ॥

पिप्पल्यस्त्रिफला चैव वचा कटुकरोहिणी ॥ ५४ ॥
षडेताः समभागाः स्युः सप्तमं ताम्रजं रजः ।
जलपिष्टा भवेदेताः सूर्यतप्ताः पुनः पुनः ॥ ५५ ॥
गुडिकाः कारयेत्ता हि छायायां परिशोषयेत् ॥ ५६ ॥
रूक्षां घृतेन पिष्टां दुग्धेनाजेन कोथके दद्यात् ।
पाशवरसेन तिमिरे राजिषु मधुकेन देया तु ॥ ५७ ॥
कोथके मर्मजे सर्वा सर्वाभिष्यन्द एव च ।
सैन्धवेन समायुक्ता हन्यात् कण्डूं जलान्विता ॥५८॥

पिप्पली, त्रिफला, (हरड़, बहेड़ा, आंवला), बच तथा कुटकी–ये छओं समभाग तथा सातवां ताम्रचूर्ण–इन सबको जल में पीसकर तथा बार २ धूप में रखकर गोलियां बनाकर छाया में सुखा ले। फिर उन रूक्ष गोलियों को घी में पीसकर कोथरोग (नेत्ररोग विशेष) में बकरी के दूध से देवे। तिमिर रोग में इसे घास के रस से तथा राजिरोग में मुलहठी के साथ देना चाहिये। कोथरोग, मर्म तथा सम्पूर्ण नेत्राभिष्यन्द रोगों में सैन्धव के साथ एवं नेत्रकण्डू में जल के साथ देना चाहिये ॥ ५३–५८ ॥

द्वीपिशत्रोश्च पत्राणि निष्क्वाथमुपहारयेत् ।
एतेन चाक्षिरोगं तु कोष्णेन परिषेचयेत् ॥ ५९ ॥

द्वीपी (चित्रक) तथा शत्रु (अम्लवेतस) के पत्तों का क्वाथ बनाये। इस उष्ण क्वाथ से नेत्र रोगों में परिषेचन करे ॥

सरलं मधुकं चैव देवदारु च पेषयेत् ।
कल्केनैतेन वदनं वेदनासु प्रलेपयेत् ॥ ६० ॥

सरल (चीड़), मुलहठी तथा देवदारु को पीसकर कल्क बनाये। वेदना (पीडा) में इस कल्क का मुख पर लेप करे ॥

रसाञ्जनं तार्क्ष्यशैलां क्षौद्रेण सह संयुताम् ।
आश्च्योतनं प्रयुञ्जीत नेत्रव्याधिविनाशनम् ॥ ६१ ॥

नेत्ररोगों को नष्ट करने के लिये तार्क्ष्य पर्वत पर उत्पन्न होने वाली रसाञ्जन (रसौंत) को मधु में मिलाकर उसका आश्च्योतन करना चाहिये ॥ ६१ ॥

शर्करां शृङ्गबेरं च स्तन्यं गोपित्तमेव च ।
रसाञ्जनं समधुकं कुर्यादाश्च्योतनं भिषक् ॥ ६२ ॥

शर्करा, आर्द्रक, दूध, गोपित्त (गोरोचन) तथा रसाञ्जन आदि का मधु में मिलाकर आश्च्योतन करना चाहिये ॥ ६२ ॥

हरिद्रां शङ्खनाभिं च सलिलेन प्रपेषयेत् ।

(इति ताडपत्रपुस्तके २३३ तमं पत्रम्)

क्षीरस्य मात्रया चैव कुर्यादाश्च्योतनं हितम् ॥६३॥

हल्दी तथा शंखनाभि को पानी से पीसकर उसमें थोड़ा दूध मिलादे। इसका आश्च्योतन करना चाहिये ॥ ६३ ॥

हरिद्रां पर्वतीयां तु सूर्यतेजसि पाचयेत् ।
ताम्रपट्टेषु पिष्टां च सारसेनावसेचयेत् ॥ ६४ ॥
शीतं च परिपूतं च स्तन्येन सह संयुतम् ।
आश्च्योतनं प्रयुञ्जीत नेत्रव्याधिविनाशनम् ॥ ६५ ॥

दारुहरिद्रा को सूर्य के ताप में खूब पकाकर ताम्बे की शिलाओं पर उसे पीसले। फिर उसमें तालाब का जल मिलाले। ठण्डा होने पर उसे छानकर उसमें दूध मिलाकर आश्च्योतन का प्रयोग करे। यह नेत्ररोगों को नष्ट करता है ॥

सर्पिषश्च भवेद्भागः क्षौद्रेण द्विगुणं भवेत् ।
तत्काले प्रलिपेद्बालो नेत्रव्याधौ प्रमुच्यते ॥ ६६ ॥

नेत्ररोग में एक भाग घी तथा दो भाग मधु मिलाकर लेप करने से बालक तत्काल रोग से मुक्त हो जाता है ॥६६॥

हरिद्रां शङ्खनाभिं च भद्रमुस्तं च काढकम् ।
पिष्ट्वा व्याघ्रनखं चैव मधुकं चैव भागशः ॥ ६७ ॥
शिरीषबीजं प्रथमं ताभ्यां कुर्वीत पूपिकाम् ।
ताम्रपात्रे सतैलास्ताः सूर्यतेजसि पाचिताः ॥ ६८ ॥
द्वादशेऽह्नि निवाते च नीरजस्काः प्रयत्नतः ।
शिलामये ततो भाण्डे तैलं तां चैव पूपिकाम् ॥ ६९ ॥
आतुराण्यथ नेत्राणि तैलेनानेन पूरयेत् ।
व्याधिमाशु नृणां हन्ति प्रयोगश्चेत् प्रशस्यते ॥ ७० ॥

हरिद्रा, शंखनाभि, नागरमोथा, व्याघ्रनखी, मुलहठी तथा सिरस के बीज—यथायोग्य परिमाण में लेकर पीसकर इनके अपूप (पूड़े) बनाये। ताम्र के बर्तन में तैल डालकर सूर्य के ताप में उन्हें पकाये। १२ वें दिन वायु एवं धूलि रहित स्थान में उन अपूप तथा तैल को एक पत्थर के बर्तन में रखे। ये अपूप रोगी को खिलाये तथा उस तैल के द्वारा रोगी के नेत्रों का पूरण (आश्च्योतन) करे। यदि यह योग प्रशस्त हो तो मनुष्यों के रोग को शीघ्र ही नष्ट कर देता है ॥

हरीतकीमामलकीं हरिद्रां गिरिजामपि ।
मधुकं च समं सर्वं सलिलेन प्रपेषयेत् ॥ ७१ ॥
एतदाश्च्योतनं मुख्यं व्याधीनां शमनं हितम् ।
स्थविराणां शिशूनां च एतदाश्च्योतनं हितम् ॥ ७२ ॥

हरड़, आंवला, दारुहरिद्रा तथा मुलहठी सब समभाग लेकर पानी से पीसले। यह मुख्य आश्च्योतन है। यह नेत्र रोगों को शान्त करता है। यह आश्च्योतन वृद्ध पुरुषों तथा शिशुओं के लिये हितकर होता है ॥ ७१-७२ ॥

हरिद्राशकलीकानामार्द्राणां कर्षमावपेत् ।
ताम्रपात्रे मितं दद्यात् सारमस्याढकं मितम् ॥ ७३ ॥
दशभागावशेषं तु मृद्वग्निमुपसाधितम् ।
शीतं च परिपूतं च मुख्यमाश्योतनं हितम् ॥ ७४ ॥

एक ताम्र पात्र में ताजी हल्दी तथा शकली (मृद्गिल नामक मछली) का एक २ कर्ष लेकर उसमें एक आढक उपर्युक्त वस्तुओं का रस डालदे। उसे मृदु अग्नि पर पकाकर दसवां हिस्सा शेष रखे। उसे ठण्डा करके छानने से मुख्य आश्च्योतन बन जाता है ॥ ७३-७४ ॥

शकलीकमथाक्षीणां धारयेन्नयनामये ।
ग्रीवायामुत्तमाङ्गे वा तथा रोगात् प्रमुच्यते ॥ ७५ ॥

नेत्ररोगों में नेत्र, ग्रीवा तथा उत्तमाङ्ग में मृद्गिल मछली को धारण करे। इससे नेत्ररोगों से मुक्ति हो जाती है ॥ ७५ ॥

आलङ्कतकमूलानि वास्तुकस्य यवस्य च ।
आघृष्य नव (?) एषां तु मूर्ध्नि कुर्वीत कण्टकान् ॥७६॥
अक्षिरोगं शिरोरोगं सर्वमेतेन शाम्यति ।

आल (हरिताल), कतक (निर्मली बीज), बथुआ और जौ के नवीन मूल लेकर तथा घिसकर उनके द्वारा सिर पर कण्टकाकार चिह्न बनादे। इस प्रयोग से सम्पूर्ण नेत्ररोग तथा शिरोरोग शान्त हो जाते हैं ॥ ७६ ॥

बलामतिबलां चैव त्रिवृतां चैव गर्भिणी ॥ ७७ ॥
सव्ये पाणिपुटे कृत्वा पीडयेत्तमपूर्वशः ।
तं रसं क्षौद्रसंसृष्टं कण्ठमस्याः प्रलेपयेत् ॥ ७८ ॥

कोई गर्भिणी स्त्री बला, अतिबला तथा त्रिवृत् को अपने बांये हाथ में लेकर दबाकर अच्छी तरह रस निकाले। इस रस में मधु मिलाकर उस गर्भिणी स्त्री के कण्ठ में लेप करदे॥

सपिप्पलीशृङ्गबेरां हरितालमनःशिलाम् ।
रसाञ्जनं तार्क्ष्यशिलां सुमनाकोरकाणि च ॥ ७९ ॥
सप्तमोऽत्र गुडस्यांशो मधुना सह पेषितः ।
एषा कल्याणिका नाम सर्वरोगरसक्रिया ॥ ८० ॥

पिप्पली, आर्द्रक, हरिताल, मनःशिला, तार्क्ष्यशैलोद्भव रसाञ्जन, चमेली की कलियां तथा सातवां गुड का अंश—इन सबको मधु के साथ पीसले। यह सब रोगों को नष्ट करने वाली कल्याणिका नामक रसक्रिया है ॥ ७९-८० ॥

मरिचं शृङ्गबेरं च समभागानि कारयेत् ।
दधिनाऽम्लेन पिष्ट्वा तु ताम्रपट्टं प्रलेपयेत् ॥ ८१ ॥
सप्तरात्रं प्रलिप्यैव ततो दध्ना प्रपेषयेत् ।
वर्त्योऽथ तनुकाः कार्या दद्यात् कौतुकमञ्जनम् ॥ ८२ ॥

मरिच तथा आर्द्रक को समभाग में लेकर उन्हें दही तथा कांजी से पीसकर ताम्र के टुकड़ों पर लेप करदे। सात दिन तक उन पर इसी प्रकार लेप करके उन्हें दही के साथ पीसले। उनकी छोटी २ वर्तियां बनाये। इनसे नेत्रों में अञ्जन करना चाहिये। यह आश्चर्यजनक अञ्जन है ॥ ८१-८२ ॥

मृदुपूर्वमदोषं तु मात्रायुक्तं च भेषजम् ।
सादेश्यात्तत्कुलीनां (?) च कुर्याद्बाले भिषक् क्रियाम् ॥

चिकित्सक को चाहिये कि वह बालक के लिये पहले मृदु, दोषरहित तथा योग्य मात्रा में औषध का प्रयोग करे ॥ ८३ ॥

कटुकीया हि केचित् स्यान्म(स्युर्म)धुरीयास्तथाऽपरे ।
मृदु तस्मै उपक्राम्यंस्तीक्ष्णमप्यल्पमाचरेत् ॥ ८४ ॥

कुछ लोग बालक के लिये कटु ओषधियों का तथा कुछ मधुर ओषधियों का प्रयोग करते हैं। बालकों की मृदु ओषधियों के द्वारा ही चिकित्सा करनी चाहिये। तीक्ष्ण ओषधियों का यथासंभव कम प्रयोग करे ॥ ८४ ॥

इति वार्योविदायेदं महीपाय महानृषिः ।
शशंस सर्वमखिलं बालानामथ भेषजम् ॥ ८५ ॥

इस प्रकार महर्षि कश्यप ने वार्योविद नामक राजा को सम्पूर्ण बालकों की ओषधियों का उपदेश कर दिया ॥ ८५ ॥

लोध्रं सयष्टीमधुकं तु पिष्टं
घृतेन भृष्टं तु निबध्य वस्त्रे ।
क्वाथं गुडूच्याः परिमृज्य तप्ते
निहन्ति सर्वाक्षिगतान्विकारान् ॥ ८६ ॥

लोध्र तथा मधुयष्टि को पीसकर घी में भून लें। उसे वस्त्र में बांधकर गिलोय के गरम २ क्वाथ में लटकाकर शुद्ध करलें। इसके प्रयोग से सम्पूर्ण नेत्र रोग नष्ट होते हैं ॥ ८६ ॥

इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ ८७ ॥ ॐ ष्क (८४)।

(इति) वृद्धकाश्यपीयायां संहितायां कुक्कुणकचिकित्साध्यायस्त्रयोदशः ॥ १३ ॥

ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था ॥ ८७ ॥ ॐ ष्क (८४)।

(इति) वृद्धकाश्यपीयायां संहितायां कुक्कुणकचिकित्साध्यायस्त्रयोदशः ॥ १३ ॥

अथ विसर्पचिकित्सिताध्यायश्चतुर्दशः ।

अथातो वैसर्पचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ २ ॥

अब हम विसर्प चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था। विसर्प शब्द का अर्थ चारो ओर फैलना है अर्थात् जो रोग चारो ओर फैलता है उसे विसर्प कहते हैं। यह व्याधि शरीर में विविध प्रकार से सर्पण (प्रसार या फैलाव) करती है इसलिये इसे विसर्प कहा है। अथवा चारो ओर से (सर्वतः) परिसर्पण (प्रसार) के कारण इसे परिसर्प नाम से भी कहा जाता है। अर्थात् इस रोग का प्रसार दो प्रकार से हो सकता है। या तो यह रोग दो ओर फैलता है अथवा कभी २ चारो ओर फैलने लगता है। यह एक सम्पूर्ण शरीर में फैलने वाला रोग है। जिसमें वातादि (वात, पित्त एवं कफ) दोषों के कारण त्वचा, रक्त, मांस एवं लसीका—ये चारो दूष्य दूषित हो जाते हैं। आयुर्वेद में इसे प्रधानरूप से निज या दोषज रोग माना गया है। एलोपैथी में इसे (Erysipelas) नाम दिया गया है। जो कि मुख्यरूप से आगन्तु रोग माना गया है। (Streptococcus Erysipelatis) नामक जीवाणु इस रोग को उत्पन्न करने का प्रधान कारण माना गया गया है। त्वचा में कोई क्षत होने पर यह जीवाणु शरीर में प्रवेश करता है। कभी २ क्षत के अतिसूक्ष्म होने से हमें क्षत का ज्ञान नहीं होता यद्यपि जीवाणु सूक्ष्म क्षत के द्वारा ही प्रविष्ट होते हैं। उस अवस्था में इस रोग को (Idio-pathic) या आयुर्वेद के अनुसार दोषज कहते हैं। जिसमें हमें क्षत का स्पष्टरूप से ज्ञान हो उसे क्षतज (Traumatic) कहते हैं। ये जीवाणु त्वचा में प्रविष्ट होकर शोथ, जलन, रक्तिमा आदि स्थानिक लक्षण उत्पन्न कर देते हैं तथा यदि रोग के जीवाणु अधिक बलवान् होते हैं तो वे रक्त में पहुँच कर ज्वर आदि सार्वदैहिक लक्षण भी उत्पन्न कर देते हैं। यद्यपि आयुर्वेद में इसे मुख्यरूप से दोषज व्याधि ही माना है इसीलिये इसके जो ७ भेद दिये हैं वे भी दोषों के अनुसार ही हैं। इसी अध्याय में आगे कहा जायगा—'वातिकः पैत्तिकश्चैव''''''समुदाहृताः॥' तथापि पृथक् नाम का निर्देश न करने पर भी इसके निदान में कहा है—'क्षताद्भग्नाद्धर्षात्...दामच्छेदाद्विधारणात्।' अर्थात् क्षत भग्न आदि का उल्लेख किया गया है। इसीप्रकार चरक चि. अ. २१ में भी कहा है। अर्थात् यहां भी दोषज कारणों के अतिरिक्त क्षत, वध (तीव्र आघात), बन्ध (कस कर पट्टी बांधना) तथा पतन (गिरकर चोट लगना) आदि का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। इस प्रकार स्पष्टरूप से क्षतज भी माना गया है ॥ १–२ ॥

कश्यपं भिषजां श्रेष्ठमादित्यसमतेजसम् ।
हुताग्निहोत्रमासीनमपृच्छद् वृद्धजीवकः ॥ ३ ॥

सूर्य के समान तेजस्वी, अग्निहोत्र करके बैठे हुए भिषक् श्रेष्ठ महर्षि कश्यप से वृद्धजीवक ने निम्न प्रश्न किया ॥ ३ ॥

भगवन् मण्डलीभूतं त्वग्रक्तं मांसमेव च ।
विदहन् दृश्यते व्याधिराशीविषविषोपमः ॥ ४ ॥
दुःसहः सुकुमाराणां कुमाराणां विशेषतः ।

भगवन् सर्पविष के समान यह व्याधि मण्डलीभूत त्वचा (तथा त्वचाश्रित लसीका), रक्त और मांस को जलाती हुई सी दिखाई देती है। यह विशेषकर सुकुमार बालकों में होता है।

वक्तव्य—१. त्वचा-यहां त्वचा से त्वचाश्रित लसीका का भी ग्रहण किया जाना चाहिये क्योंकि विसर्प की उत्पत्ति में दोष तथा दूष्य सब मिलाकर ७ द्रव्य होते हैं। ये तभी

पूरे हो सकते हैं जब दूष्यों में लसीका को भी गिना जाय। ऐसा चरक चि. अ. २१ में कहा है। २-यहां यह द्रष्टव्य है कि जिस प्रकार विसर्प के आरंभ कारण वातादि तीन दोष तथा त्वचा, रक्त, मांस एवं लसीका आदि ४ दूष्य अर्थात् ७ द्रव्य हैं उसी प्रकार कुष्ठों की उत्पत्ति में भी ये ही सात द्रव्य भाग लेते हैं। ऐसा माधवनिदान में भी कहा है। अब प्रश्न यह उठता है कि इन दोनों में फिर अन्तर क्या है? इसका अन्तर भी माधवनिदान के कुष्ठ प्रकरण में मधुकोश व्याख्या में दिया गया है कि-कुष्ठ—चिरक्रिया वाले, स्थिर, निर्बल रक्तपित्त वाले दोषों से होते हैं और विसर्प—अचिर विसर्पणशील, प्रबल रक्तपित्त वाले दोषों से होते हैं। एवं कुष्ठ में गुरु की अवज्ञा और चोरी आदि कारण हैं किन्तु विसर्प में नहीं। कुछ आचार्यों के मत में विसर्प वातादि एक २ दोष से होता है तथा कुष्ठ त्रिदोषज ही होता है। यह इनमें परस्पर भेद है। ३-सुकुमाराणां कुमाराणाम्—विसर्प मुख्यरूप से छोटे बालकों को होता है। अथवा फिर ४० वर्ष के बाद की अवस्था में होता है। बालकों में भी मुख्यरूप से सद्यः प्रसूत बालक को प्रायः होता है। गर्भ के कारण उत्पन्न हुए क्षत के कारण इसके जीवाणु शिशु के शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं। G. E. Beaumont की Medicine में भी विसर्प के कारणों में लिखा है ॥ ४ ॥

तस्य दारुणरूपस्य दीप्ताग्निसमतेजसः ॥ ५ ॥
समुत्पत्तिं च रूपं च चिकित्सां च महामुने ! ।
वक्तुमर्हसि तत्त्वेन बालानां हितकाम्यया ॥ ६ ॥

महामुने ! बालकों के हित की दृष्टि से आप अग्नि के समान तेज वाले तथा भयंकर रूप (लक्षणों) वाले-उस रोग की उत्पत्ति (Etiology and cause), रूप (लक्षण—Symptoms) तथा चिकित्सा का विस्तार से उपदेश कीजिये॥

इति पृष्टः स शिष्येण प्रोवाचेदं महामुनिः ।
दक्षक्रोधाद्भगवतो रुद्रस्यामिततेजसः ॥ ७ ॥
संदष्टौष्ठपुटस्यौष्ठाद्यद्रक्तं प्रापतद् भुवि ।
लोहिताङ्कोऽभवत्तस्माद्वैसर्पश्चाग्निसन्निभः ॥ ८ ॥
तस्मान्निर्दाहिनावेतौ भृशं पीडाकृतौ नृणाम् ।

इस प्रकार शिष्य द्वारा प्रश्न किया जाने पर महामुनि कश्यप ने उत्तर दिया—असीम तेज वाले भगवान् रुद्र (महादेव) ने जब दक्ष पर क्रोध किया तब क्रोध से दांतों के द्वारा होठों के दबाये जाने से उनके होंठ से जो रक्त निकलकर भूमि पर गिरा वही लोहिताङ्क (रक्त) तथा अग्नि के समान तेज वाले विसर्प रोग के रूप में उत्पन्न हुआ। इसलिये ये दोनों मनुष्यों का दाह करने वाले तथा अत्यन्त पीडा देने वाले हैं ॥ ७-८ ॥

विविधं सर्पणाद्देहे वैसर्पस्तु निरुच्यते ॥ ९ ॥

विसर्प की निरुक्ति—शरीर में नाना प्रकार से सर्पण (फैलना, विस्तार) करने के कारण यह विसर्प कहलाता है॥९॥

क्षताद्भग्नादथोत्पिष्टादामच्छेदाद्विधारणात् ।
दध्यम्लमन्दकसुराशुक्तसौवीरकस्य च ॥ १० ॥
तिलमाषकुलत्थानां पलाण्डोर्लशुनस्य च ।
ग्राम्यानूपौदकानां च मांसानामतिसेवनात् ॥ ११ ॥
विरोधिगुर्वभिष्यन्दपूतिपर्युषिताशनात् ।
दिवास्वप्नादजीर्णाच्च शाकपिष्टान्नसेवनात् ॥ १२ ॥
विषोपहतवाय्वम्बुवस्त्रपानान्नसेवनात् ।
एवमादिभिरप्यन्यैर्दुष्टा वातादयः शिशोः ॥ १३ ॥
वैसर्पं जनयन्त्याशु रक्तादीन् संप्रदूष्य तु ।
एवमेव प्रकुपितैर्दोषैर्दुष्टं यदा पयः ॥ १४ ॥
सेवते तस्य तद्दोषाद्वैसर्पः संप्रजायते ।

विसर्प के कारण—क्षत (चोट), अस्थिभग्न अथवा दब जाने (Laciration) से, शरीर के किसी अंश का कच्ची अवस्था में कट जाने से, वेगों के धारण करने से तथा खट्टी दही, मन्दक (जो दही पूरी न जमी हो), सुरा, शुक्त (सिरका), सौवीर (निस्तुष जौ से बनाई हुई कांजी), तिल, उड़द, कुलत्थ, प्याज, लहसुन, ग्राम्य आनूप (जलीय भूमि में रहनेवाले) तथा औदक (जल में रहनेवाले-जलचर) पशुपक्षियों के मांस आदि के अधिक सेवन करने से, विरुद्ध भोजन, गुरु, अभिष्यन्दि (स्रोतों के मार्गों का रोध करनेवाले), पूति (दुर्गन्धियुक्त) तथा पर्युषित (बासी) भोजन करने से, दिन में सोने से, अजीर्ण से तथा शाकों और उड़द की पिट्ठी आदि से बने हुए पदार्थों के अधिक सेवन से, विष से दूषित हुए वायु, जल एवं वस्त्र से, जल तथा अन्न के सेवन करने से-उपर्युक्त तथा दूसरे कारणों से दूषित हुए वातादि (वात, पित्त, कफ) दोष बालक के शरीर में रक्त आदि (रक्त, मांस, त्वचा, लसीका आदि दूष्यों) को दूषित करके विसर्प रोग को उत्पन्न कर देते हैं। इसी प्रकार जब शिशु प्रकुपित हुए दोषों से दूषित दूध का सेवन करता है तब भी उस दूध के दोष के कारण विसर्परोग हो जाता है॥१०-१४॥

वातिकः पैत्तिकश्चैव श्लैष्मिको द्वन्द्वजास्त्रयः ॥ १५ ॥
सन्निपाताच्च सप्तैते वैसर्पाः समुदाहृताः ।

विसर्प के भेद—१-वातिक, २-पैत्तिक, ३-श्लैष्मिक, ४-५-६ द्वन्द्वज तीन (वातपैत्तिक, वातश्लैष्मिक, पित्तश्लैष्मिक) ७सान्निपातिक। इस प्रकार ये ७विसर्प होते हैं। चरक में तीनों द्वन्द्वज विसर्पों के नाम क्रमशः आग्नेयविसर्प, ग्रन्थिविसर्प तथा कर्दमविसर्प दिये हैं ॥ १५ ॥

न विना रक्तपित्ताभ्यां वैसर्पो जातु जायते ॥ १६ ॥
रक्ताश्रयो रक्तभवः पित्तं रक्ते व्यवस्थितम् ।
तस्माद्रक्तावसेकोऽत्र भेषजं परमुच्यते ॥ १७ ॥
बलकालवयोदोषदेशदेहव्यपेक्षया ।

रक्त तथा पित्त के बिना कभी विसर्प नहीं होता है। यह (विसर्प) रक्त के आश्रित होता है तथा रक्त से उत्पन्न होता है। और पित्त भी रक्त में स्थित होता है। इस लिये इसमें रोगी के बल, काल, अवस्था, दोष, देश तथा शरीर के अनुसार रक्तमोक्षण करना श्रेष्ठ चिकित्सा कही गई है। चरक चि. अ. २१ में कहा है—'रक्तपित्तान्वये' अर्थात् प्रत्येक विसर्प में रक्त एवं पित्त का अनुबन्ध होता है। इसी से आगे कहा है—'रुधिरस्यावसेकं च तद्ध्यस्याश्रयसंज्ञितम्' अर्थात् इसमें रुधिर का अवसेचन (रक्तमोक्षण) हितकर होता है क्योंकि रुधिर (रक्त) विसर्प का आश्रय कहा गया है। दूषित रक्तरूपी आश्रय के नष्ट हो जाने से विसर्प भी नष्ट हो जायेगा॥

लक्षणान्यत ऊर्ध्वं तु प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ॥ १८ ॥

अब मैं प्रत्येक विसर्प के क्रमशः पृथक् २ लक्षण कहूँगा॥

हेतुभिः पूर्वमुद्दिष्टैर्यदा प्रकुपितोऽनिलः ।
रक्तादीन्यभिदूष्याशु वै··········॥ १९ ॥

(इति ताडपत्रपुस्तके २३४ तमं पत्रम्)

जब पूर्व निर्दिष्ट वातप्रकोपक हेतुओं के कारण वायु प्रकुपित होकर रक्त आदियों (रक्त, मांस, त्वचा तथा लसीका आदि दूष्यों) को दूषित करता है तब शीघ्र ही विसर्प रोग उत्पन्न हो जाता है।

वक्तव्य—यहां आचार्य ने विसर्प की त्रिदोषजता बतलाने के लिये ही रूक्ष, उष्ण तथा पूरण—ये तीन कारण दिये हैं। रूक्षता से वायु, उष्णता से पित्त तथा पूरण (पेट भर कर अन्न खाना) से कफ के संसर्ग की ओर संकेत किया गया है॥ १९॥

वातरक्तज्वर·····स्फोटांश्चैष न···येत् ।

वातिक विसर्प के लक्षण—उसके शरीर में वातरक्त, ज्वर····· तथा स्फोट (फोड़े)··आदि हो जाते हैं। चरक चि. अ. २१ में निम्न लक्षण दिये हैं—भ्रमदवथुपिपासानिस्तोदशूलाङ्गमर्दोद्वेष्टनकम्पज्वरतमककासास्थिसन्धिभेदविश्लेषणवमनारोचकाविपाकाश्चक्षुषोराकुलत्वमस्रागमनं पिपीलिकासंचार इव चाङ्गेषु, यस्मिंश्चावकाशे विसर्पोऽनुविसर्पति सोऽवकाशः श्यावारुणावभासः श्वयथुमान् निस्तोदभेदशूलायाससंकोचहर्षस्फुरणैरतिमात्रं प्रपीड्यते, अनुपक्रान्तश्चोपचीयते शीघ्रप्रभेदैः स्फोटकैस्तनुभिररुणाभैः श्यावैर्वा तनुविषमदारुणाल्पास्रावैर्विबद्धवातमूत्रपुरीषश्च भवति, निदानोक्तानि चास्य नोपशेरते विपरीतानि चोपशेरत इति वातविसर्पः॥

ऊर्ध्वाधःशुद्धदेहानां बहिर्मार्गाश्रिते मले ।
आदितश्चाल्पदोषाणां क्रियां कुर्यादिमां भिषक्॥

दोषों के बहिर्मार्गाश्रित होने पर तथा प्रारम्भ में दोषों के अल्प (कम शक्तिवाले) होने पर रोगी के शरीर का ऊर्ध्व एवं अधः शोधन (वमन विरेचन द्वारा) करके वैद्य को निम्न चिकित्सा करनी चाहिये।

वक्तव्य—रोगों का बाह्यमार्ग चरक सू. अ. ११ निम्न दिया है—'तत्र शाखा रक्तादयो धातवस्त्वक् च, स बाह्यो रोगमार्गः।'

लङ्घयित्वा यथाकालं कषायैः समुपक्रमेत् ।
प्रदेहैः परिषेकैश्च स्नेहैरभ्यञ्जनैरपि ॥
रक्तावसेकैः पथ्यैश्च पानान्नौषधसेवनैः ।

रोगी को उचित काल में लंघन कराने के बाद कषाय, प्रदेह (लेप), परिषेक, स्नेह, अभ्यङ्ग, रक्तमोक्षण तथा पथ्यकारक पान, अन्न एवं औषधों के द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये॥

वातवैसर्पिणं पूर्वमनुबन्धविशेषतः ॥
पुराणं[1] प्रपुराणं वा कौम्भं वा पाययेद् घृतम् ।

बातविसर्प में पहले अनुबन्ध की विशेषता के कारण पुराण, प्रपुराण अथवा कुम्भसर्पि का प्रयोग करना चाहिये।

वक्तव्य—पुराण घृत के विषय में प्राचीन आचार्यों में कुछ मतभेद दिखाई देता है। कुछ लोग पुराण घृत का काल एक वर्ष का, कुछ १० वर्ष का तथा कुछ १५ वर्ष का मानते हैं। कुम्भसर्पि—चक्रपाणि इसका काल १० वर्ष मानते हैं। योगरत्नाकर में १०० वर्ष का कहा गया है तथा सुश्रुत सू. अ. ४५ में ११ से लेकर १०० वर्ष तक का पुराना घृत कुम्भसर्पि और उससे अधिक पुराने घृत को महाघृत कहा गया है॥

तैलं सलवणं चास्य क्षिप्रमभ्यञ्जने हितम् ॥
आरनालेन सुरया बलया वा विपाचितम् ।

कांजी, सुरा (मद्य) अथवा बला के द्वारा पकाये हुए तैल में लवण डालकर उससे शीघ्र ही रोगी का अभ्यङ्ग (मालिश) करना चाहिये॥

मधुकस्य च कल्केन गुडूच्या स्वरसेन च ॥
तुल्यक्षीरं पचेत्तैलं तदस्याभ्यञ्जने हितम् ।

अथवा मुलहठी के कल्क तथा गिलोय के स्वरस में समान मात्रा में दूध डालकर तैल सिद्ध करना चाहिये। इस तैल का अभ्यङ्ग करना हितकारी होता है॥

बलां रास्नां बृहत्यौ द्वे वर्चीवं सपुनर्नवम् ॥
पाटलां सुषवीं चैव मधुकं देवदारुकम् ।
पिष्ट्वा विपक्वं दध्ना च तैलमभ्यञ्जने हितम् ॥

बला, रास्ना, दोनों बृहती, वर्चीव, पुनर्नवा, पाटला, सुषवी (काला जीरा), मुलहठी, देवदारु—इन सबको पीसकर तथा दही के साथ पकाकर तैल सिद्ध करे। यह तैल अभ्यङ्ग में हितकर होता है॥

बिल्वाग्निमन्थकाश्मर्यश्योनाकैरण्डपाटलैः ।
पयसा चाम्बुना वाऽपि शृतेन परिषेचयेत् ॥

बिल्व, अग्निमन्थ (अरणी), काश्मर्य (गम्भारी), श्योनाक

---

१. अस्याग्रे एकं पत्रं खण्डितं ताडपत्रपुस्तके ।

[1] उग्रगन्धं पुराणं स्याद्दशवर्षस्थितं घृतम् । लाक्षारसनिभं गीतं प्रपुराणमतः परम् ॥ स्थितं वर्षशतं श्रेष्ठं कौम्भं सर्पिस्तदुच्यते ।

(अरलु-पाढल), एरण्ड तथा पाटला—इन्हें दूध तथा जल में सिद्ध करके क्वाथ बनायें। इससे परिषेचन करें ॥

भृष्टैः पयसि निर्वातैरतसीतिलसर्षपैः ।
क्षीरपिष्टैः प्रलिम्पेद्वा वातवैसर्पपीडितम् ॥

वायुरहित स्थान में अलसी, तिल तथा सरसों को पानी में पकाकर पुनः दूध में पीसकर वातविसर्प के रोगी को लेप करना चाहिये।

वक्तव्य—विसर्प में लेप करते हुए निम्न बातों का अवश्य ध्यान रखना चाहिये। १-प्रदेह (लेप) सम्प्रसादन (रोग अथवा जीवाणुनाशक या पित्तशामक) होने चाहिये। २-लेप को थोड़ी २ देर बाद बदल कर नया लगा देना चाहिये। ३-लेपों को बिना धोये उतार कर पुनः पतले लेप लगाने चाहिये। ४-प्रलेप सम होना चाहिये। न बहुत स्निग्ध एवं रूक्ष होना चाहिये तथा न अत्यन्त द्रव एवं घन होना चाहिये। हाथ के अंगूठे की चौड़ाई के तीसरे भाग जितना घना लेप होना चाहिये। ५-बासी लेप न लगावे। एक बार लगाये हुए लेप को दोबारा न लगावे। ६-लेप को कपड़े पर नहीं लगाना चाहिये। अन्यथा गर्मी के अन्दर रुक जाने से व्रण का स्वेदन करके क्लेद, शूल, पिडका तथा कण्डू आदि उत्पन्न हो जाते हैं। ७-पहले लेप को उतारे बिना ही उसके ऊपर दूसरा लेप नहीं करना चाहिये। ८-लेप बहुत पतला तथा बहुत गाढ़ा भी नहीं करना चाहिये। (देखिये चरक चि. अ. २१) ॥

सुषवीं सुरभीं रास्नां वर्चीवं सपुनर्नवम् ।
एकाष्ठीलां पलाशं च देवदारुं च पेषयेत् ।
जलेनाम्लेन वा तेन स्निग्धोष्णेन प्रलेपयेत् ।

सुषवी (काला जीरा), सुरभि (सुगन्धतृण अथवा राल), रास्ना, वर्चीव, पुनर्नवा, एकाष्ठीला (वकवृक्ष), पलाश तथा देवदारु—को जल अथवा कांजी से पीस ले। स्निग्ध एवं उष्ण करके उसका लेप करना चाहिये ॥

तिल्वकेन त्रिवृतया नीलिन्या वा पृथक्पृथक् ॥
विपक्वं पाययेत् सर्पिः समस्तैर्वा विरेचनम् ।

तिल्वक (लोध्र), त्रिवृत् तथा नीलिनी (नील)-इनसे पृथक् २ अथवा सम्मिलित घृत पकाकर पिलायें। यह विरेचन कराता है ॥

आभिः क्रियाभिः प्रशमं न प्रयाति यदाऽनिलः ॥
स्वभ्यक्तं स्वेदयेद्वस्त्रैर्वेशवारेण वा पुनः ।

उपर्युक्त सम्पूर्ण क्रियाओं से भी यदि वायु शान्त न हो तो शरीर पर स्नेह का मर्दन करके गरम कपड़े अथवा वेशवार के द्वारा स्वेदन करना चाहिये। वेसवार—मांस में से अस्थियां निकाल कर उबाल कर पीस लें। उसमें पिप्पली, सोंठ, मरिच, गुड तथा घी मिलाकर पुनः पकायें। इसे वेशवार कहते हैं ॥

उक्ताभिराभिः स्निग्धाभिः पायसैः कृसरेण वा ॥
शुष्कमूलककल्कैर्वा कल्कैः शोभाञ्जनस्य वा ।
सुखोष्णैः प्रदिहेदेनं नात्युष्णं वाऽऽचरेद्विधिम् ॥
स्वेदैः प्रशान्ते त्वनिले प्रकुप्येत् पित्तमग्निवत् ।
यथा न च प्रकुप्येत पित्तं वायुश्च शाम्यति ॥
तथा भिषक् प्रयुञ्जीत वातपित्तहरीं क्रियाम् ॥

उपर्युक्त स्निग्ध द्रव्यों अथवा सुखोष्ण (ईषदुष्ण) पायस (दूध चावलों की बनी हुई खीर), कृशरा (तिल, चावल तथा उड़द की खिचड़ी), सूखी हुई मूली का कल्क अथवा सहिजने की कल्क का लेप लगाना चाहिये। परन्तु ये लेप अत्यन्त उष्ण नहीं लगाने चाहिये। उपर्युक्त स्वेदों के द्वारा वायु के शान्त हो जाने पर अग्नि के समान पित्त प्रकुपित हो जाता है। चिकित्सक को इस प्रकार की वात एवं पित्तनाशक चिकित्सा करनी चाहिये कि जिससे पित्त का प्रकोप न हो तथा वायु की शान्ति हो जाये ॥

पैत्तिके तिक्तकं सर्पिरुक्तं ज्वरचिकित्सिते ।
निरामं पाययेद्वैद्यः स्निग्धं ज्ञात्वा विरेचयेत् ॥

पैत्तिक विसर्प की चिकित्सा—रोगी को निराम (आम-रहित-आम का पाचन हो जाने पर) हो जाने पर वैद्य ज्वर-चिकित्सा में कहा हुआ तिक्तक घृत पिलाये। तथा इस घृत के द्वारा स्नेहन होजाने पर उसे विरेचन देवे। चरक चि. अ. २१ में भी ऐसा कहा है ॥

चन्दनं पद्मकोशीरं तथा चन्दनसारिवाम् ।
मृद्वीकां च विदारीं च काश्मर्याणि परूषकम् ॥
वासाशृतं पिबेदेतद्वैसर्पज्वरनाशनम् ॥

चन्दन, पद्माख, खस, रक्तचन्दन, सारिवा, मुनक्का, विदारीगन्धा, काश्मर्य (गंभारी), फालसा—इन्हें बांसे के साथ पकाकर काढ़ा बनाकर पिलाये। यह विसर्प ज्वर को नष्ट करता है ॥

उशीरं मधुकं द्राक्षां काश्मर्याण्युत्पलानि च ।
कशेरुकामिक्षुगण्डं परूषकफलानि च ॥
पूर्वकल्पेन पेयानि ज्वरवैसर्पशान्तये ।

खस, मुलहठी, मुनक्का, गंभारी, कमल, कसेरु, इक्षुगण्ड (काशतृण) तथा फालसा-इन्हें भी उपर्युक्त विधि से ही पकाकर विसर्पज्वर को शान्त करने के लिये पिलाना चाहिये ॥

कैरातं मधुकं लोध्रं चन्दनं सबिभीतकम् ॥
पद्मोत्पलं नागपुष्पं नागरं सदुरालभम् ।
निष्क्वाथ्य शीतं मधुना पेयं वैसर्पशान्तये ॥ १६

(१) अतप्ततण्डुलो धौतः परिभ्रष्टो घृतेन च ।
खण्डयुक्तेन दुग्धेन पाचितः पायसो भवेत् ॥
(२) तण्डुला दालिसंमिश्रा लवणार्द्रकहिंगुभिः ।
संयुक्ताः सलिलैः सिद्धाः कृशरा कथिता बुधैः ॥

चिरायता, मुलहठी, लोध्र, रक्तचन्दन, बहेड़ा, श्वेतकमल, नील कमल, नागकेसर, सोंठ, दुरालभा (जवासा)-इन सब का क्वाथ बनाकर ठण्डा करके उसमें मधु मिलाकर विसर्प की शान्ति के लिये पीना चाहिये ॥

पटोलं चन्दनं मूर्वा गुडूचीं कटुरोहिणीम् ।
मुस्तां पाठां सयष्टीकां पूर्वकल्पेन पाचयेत् ॥

पटोल (परवल), चन्दन, मूर्वा (मोरबेल), गिलोय, कुटकी, मोथा, पाठा, मधुयष्टि—इन सबको उपर्युक्त विधि से पकाकर पिलाना चाहिये ॥

व्याघातकं हरिद्रे द्वे कुटजं कटुरोहिणीम् ।
गुडूचीं मधुकं चैव चन्दनं चेति तत् पिबेत् ॥

व्याघातक (अमलतास), हरिद्रा, दारुहरिद्रा, कुटज, कुटकी, गिलोय, मुलहठी तथा रक्तचन्दन—इन सबका क्वाथ बनाकर पीना चाहिये ॥

वक्तव्य—यहां 'व्याघातक' के स्थान पर 'व्याधिघातक' पाठ हो तो संगत प्रतीत होता है। इसी के अनुसार उपर्युक्त अर्थ किया गया है ॥

पिचुमन्दं पटोलं च दार्वीं कटुकरोहिणीम् ।
गुडूचीं मधुकं चैव चन्दनं चेति तत् पिबेत् ॥

नीम, पटोल, दारुहल्दी, कुटकी, गिलोय, मुलहठी तथा रक्तचन्दन—इनका क्वाथ बनाकर पीना चाहिये ॥

पिचुमन्दं पटोलं च दार्वीं कटुकरोहिणीम् ।
त्रायमाणां सयष्टीकां पिबेद्वैसर्पशान्तये ॥

नीम, पटोल, दारुहल्दी, कुटकी, त्रायमाणा, मुलहठी—इनका क्वाथ बनाकर विसर्प ज्वर की शान्ति के लिये पीना चाहिये ॥

पटोलनिम्बमुस्तानां चन्दनोशीरयोरपि ।
मुस्तकामलकोशीरसारिवाणामथापि वा ॥
दद्यात् कषायं पानेन पित्तवैसर्पशान्तये ।
पटोलमुस्तामलकशृतं वा सघृतं पिबेत् ॥

१. पटोल, नीम तथा मोथा २. चन्दन और खस अथवा ३. नागरमोथा, आंवला, खस और सारिवा का कषाय पिलाना चाहिये। ये पित्त विसर्प को शान्त करते हैं। अथवा पटोल, नागरमोथा और आंवले के क्वाथ में घृत डालकर पिलाना चाहिये॥

उदुम्बरत्वङ्मधुकं प्रियङ्ग्वो नागकेशरम् ।
पद्मोत्पलानां किञ्जल्कं प्रदेहः सघृतो हितः ॥

गूलर की छाल (अथवा उदुम्बर और त्वक्-दालचीनी), मुलहठी, फूलप्रियङ्गु, नागकेसर, कमल तथा नीलकमल के किञ्जल्क (केसर-पराग-(Stamins)-इनके चूर्ण में घृत मिलाकर प्रदेह (प्रलेप) करना चाहिये ॥

अश्वत्थोदुम्बरप्लक्षवटवेतसजाम्बवैः ।
त्वग्भिः सुपिष्टैरालेपः शतधौतघृताप्लुतैः ॥

पीपल, गूलर, प्लक्ष (पिलखन), बड़, वेतस् (बेंत) और जामुन के वृक्ष की छाल को अच्छी प्रकार पीसकर शतधौतघृत में मिलाकर लेप करना चाहिये ।

वक्तव्य—१०० वार ठण्डे पानी में धोये हुए घृत को शतधौतघृत कहते हैं ॥

श(क)कुभोदुम्बराश्वत्थवटलोध्रत्वचः समाः ।
वेतसत्वक् सशालूका नऽ·········पेषयेत् ॥
सहविष्कः प्रलेपोऽयं दाहरागनिवारणः ।

अर्जुन, गूलर, पीपल, बड़, लोध्र, वेतस् (बेंत) तथा शालूक (पद्मकन्द-कसेरु) इन सबको पीसकर घृत के साथ प्रलेप बनाये यह दाह एवं राग (लालिमा-(Redness) को दूर करता है ॥

उशीरं चन्दनं चैव शाड्वलं शङ्खमुत्पलम् ॥
वेतसस्य च मूलानि प्रदेहः स्यात् सतण्डुलः ।

खस, रक्तचन्दन, दूर्वा, शङ्खपुष्पी, कमल तथा वेतस् की जड़ों को चावलों के साथ पीस कर लेप करना चाहिये ॥

ह्रीबेरं चन्दनोशीरं मञ्जिष्ठां कुमुदोत्पलम् ॥
शारिवां पद्मकिञ्जल्कं प्रलेपनमनुत्तमम् ।

ह्रीबेर (नेत्रबाला), रक्तचन्दन, खस, मंजीठ, कमल, नीलकमल, सारिवा तथा पद्मकेसर-इनको पीसकर उत्तम प्रलेप बनाया जाता है ॥

विदारीं चन्दनोशीरं तथा चन्दनसारिवाम् ॥
मधुकं क्षीरशुक्लां च दद्या(दालेप)नं भिषक् ।

विदारीगन्धा, रक्तचन्दन, खस, चन्दन, सारिवा (कृष्ण सारिवा), मुलहठी तथा क्षीरशुक्ला (खिरनी अथवा भूमिकूष्माण्ड)-इनको पीसकर लेप करें ॥

तालीशं पद्मकोशीरं मञ्जिष्ठां चन्दनद्वयम् ॥
प्रपौण्डरीकं मधुकं प्रलेपो दाहनाशनः ।

तालीश, पद्माख, खस, मंजीठ, श्वेत चन्दन, रक्तचन्दन, पुण्डरीक, मुलहठी-इनका लेप दाह को शान्त करता है ॥

मुक्ताशङ्खप्रलेपैश्च शुक्तिस्फाटिकगैरिकैः ॥
सघृतैः प्रदिहेदेनं समस्तैर्लाभतोऽपि वा ।

मुक्ता (मोती) और शङ्ख अथवा मुक्ताशुक्ति, स्फटिक और गेरु इन्हें पृथक् २ मिलाकर अथवा इनमें से जो द्रव्य मिल सके उन्हें परस्पर लेकर घी के साथ मिलाकर लेप करना चाहिये ॥

कदलीकुशकाशानां तथैव नड(ल)वेत्रयोः ॥
मूलानि चन्दनोशीरं पद्मकर्षभजीवकम् ।
कुमुदोत्पलप(त्राणि मू) र्वासौगन्धिकानि च ।
मृणालबिशशालूकतृणशोले(शाली) क्षुवालिकाः ।

प्रपौण्डरीकं मधुकं तालीशं सकशेरुकम् ॥
इक्षुवेतसमूलानि सानन्ताः क्षीरिणां त्वचः ।
शतावरीं समञ्जिष्ठां कुम्भीकामिति संहरेत् ॥
संक्षोद्यैतानि मतिमान् वासयेत् सलिले निशि ।
रसं तमथ निस्राव्य परिषेकं तु दापयेत् ॥

कदली (केला), कुश, काश, नल (नडा) तथा वेतस् (बेंत) की जड़ और रक्तचन्दन, खस, पद्माख, ऋषभक, जीवक, कुमुद और नीलकमल के पत्ते, मूर्वा (मोर बेल), सौगन्धिक (लाल कमल), मृणाल, बिश, शालूक (कमल-कन्द), तृण (गन्धतृण), शालि, इक्षुबालिका (कोकिलाक्ष-तालमखाना), पुण्डरीक, मुलहठी, तालीश, कसेरु, इक्षु एवं बेंत की जड़, अनन्ता, क्षीरीवृक्षों[1] की छाल, शतावरी, मंजीठ, कुम्भीका (रक्तपाटला)-इन सबोंको लाये । और इनका यवकुट चूर्ण करके बुद्धिमान् व्यक्ति रात्रि में शीतल जल में डाल दे । प्रातः काल उन सबको निचोड़ कर उनका रस निकाल ले । उसके द्वारा परिषेक करना चाहिये ॥

घृतं वा विपचेदेभिर्म्रक्षणं पयसा सह ।
एतेनैव कषायेण पयस्तुल्यं पचेद्भिषक् ॥
चतुर्भागावशिष्टं च खजेनाभिप्रमन्थयेत् ।
तत्रोत्थितं घृतं भूयः पयसाऽष्टगुणेन तु ॥
कल्कैः पयस्यामधुकचन्दनानां विपाचितम् ।
अभ्यङ्गे भोजने पाने दद्याद्वैसर्पनाशनम् ॥
घृतेन परिषेक्त ··············· न्तर ।

अथवा उपर्युक्त ओषधियों के साथ ही घृत सिद्ध करे । इसमें इस कषाय के बराबर ही दूध डाल दे । चतुर्थांश शेष रहने पर उसे उतार कर खींचे से खूब मथ दे । इस प्रकार तैयार हुए घृत को पुनः आठ गुने दूध तथा पयस्या (जीवन्ती या क्षीरकाकोली), मुलहठी और रक्तचन्दन के कल्क से पकाये । घृत सिद्ध होने पर अभ्यङ्ग (मालिश), भोजन तथा पान में प्रयोग करे । यह घृत विसर्प को नष्ट करता है । इस घृत के द्वारा परिषेक भी करना चाहिये ॥

यष्टीमधुकतोयेन क्षीरेणेक्षुरसेन वा ॥
वटादिवल्कतोयेन शीतेन परिषेचयेत् ।

मुलहठी के क्वाथ, इक्षुरस अथवा बड़ आदि की छाल के क्वाथ को ठंडा करके उससे परिषेक करना चाहिये ।

प्रदिहेद्वा वटादीनां कल्केन सघृतेन तु ॥
तथा सहस्रधौतेन (शतधौतेन) वा पुनः ।
सर्पिषा प्रदिहेदेनं दाहे क्षीरोत्थितेन वा ।

बड़ आदि के कल्क में घृत मिलाकर अथवा सहस्रधौत या शतधौत घृत का लेप करना चाहिये । अथवा यदि विसर्प में दाह हो तो क्षीरोत्थ सर्पि (दूध से निकाले हुए घृत) का लेप करना चाहिये ॥

सदाहराम(ग)पाके तु श्वयथौ विप्रसर्पति ॥
अन्तर्विशुद्धदेहानां जलौकाभिर्हरेदसृक् ।
(इति ताडपत्रपुस्तके २३६ तमं पत्रम्)
निःस्राव्य दुष्टं रुधिरं कुर्याद्रक्तप्रसादनम् ॥
सघृतैः क्षीरिणां कल्कैर्यथोक्तैः शीतलैरपि ।

यदि विसर्प रोग में दाह (जलन), राग (लालिमा-Redness) तथा पाक (पकना-Suppuration) हो तो रोगी के शरीर का वमन, विरेचन आदि के द्वारा अन्तःशोधन करके जलौका (जोंक-Leeches) के द्वारा रक्तमोक्षण करना चाहिये । तथा दूषित रक्त के निकल जाने के बाद उपर्युक्त शीतल क्षीरी-वृक्षों की छाल के कल्क में घी मिलाकर रक्तप्रसादन करना चाहिये । अर्थात् दूषित रक्त के निकल जाने के बाद शेष रक्त का प्रसादन करना चाहिये ॥

आदितः श्लेष्मवैसर्पे वमनं संप्रकल्पयेत् ॥
लङ्घनं वाऽल्पदोषाणां ततः कुर्यादिमां क्रियाम् ।

श्लैष्मिक विसर्प की चिकित्सा—श्लैष्मिक विसर्प में प्रारंभ में रोगी को वमन कराना चाहिये अथवा यदि शरीर में दोष कम हों तो लङ्घन कराकर निम्न चिकित्सा करनी चाहिये । अर्थात् यदि दोष अधिक हों तो पहले वमन करा लेना चाहिये । परन्तु यदि दोष अधिक न हों तो वमन कराने की आवश्यकता नहीं होती है अपितु लङ्घन कराकर प्रारंभ से ही उसमें निम्न चिकित्सा की जा सकती है ॥

मुस्तां पाठां हरिद्रे द्वे कुष्ठं तेजोवतीं वचाम् ॥
शार्ङ्गिष्ठां त्रिफलां मूर्वामग्निं हैमवतीमपि ।
वत्सकातिविषे चैव तथा कटुकरोहिणीम् ॥
निष्क्वाथ्य पाययेदेनं पिष्टैस्तैश्च प्रलेपयेत् ।

मोथा, पाठा, हल्दी, दारुहल्दी, कुष्ठ, तेजोवती (ज्योतिष्मती-मालकंगनी), बच, शार्ङ्गिष्ठा (काकजङ्घा या काकमाची), त्रिफला, मूर्वा (मोरबेल), अग्नि (चित्रक), हैमवती (स्वर्णक्षीरी या श्वेत बच), इन्द्र जौ, अतीस, कुटकी-इन सबका क्वाथ करके रोगी को पिलाये तथा इन्हीं को पीसकर शरीर पर लेप करे ॥

आरग्वधं सोमवल्कं कुटजातिविषे घनम् ॥
पाठां मूर्वां सशार्ङ्गिष्ठां कुष्ठं च विपचेद्भिषक् ।
तत्कषायं पिबेत् काले सुपिष्टैस्तैश्च लेपयेत् ॥
तेनास्य कण्डूः कोठानि शोफश्चाशु प्रशाम्यति ।

अमलतास, सोमवल्क (श्वेत खदिर अथवा कई कायफल या करञ्ज का भी ग्रहण करते हैं), कुटज, अतीस, नागरमोथा, पाठा, मूर्वा, शार्ङ्गिष्ठा तथा कुष्ठ-इन सबको पकाकर कषाय बनाये । उचित काल में इस कषाय को पीना चाहिये तथा इन्हीं ओषधियों को अच्छी तरह पीसकर लेप करना चाहिये ।

(१) न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थपारीषप्लक्षपादपाः ।
पञ्चैते क्षीरिणो वृक्षाः, ·········· ॥

इस प्रयोग से विसर्प में कण्डू (खाज), कोठ (मण्डल-चर्मरोग विशेष) तथा शोफ शीघ्र ही शान्त हो जाते हैं।

वक्तव्य—कोठ यह एकक्षुद्ररोगान्तर्गत चर्मरोग है। इसका लक्षण निम्न है—असम्यग्वमनोदीर्णपित्तश्लेष्मान्ननिग्रहैः । मण्डलानि सकण्डूनि रागवन्ति बहूनि च ॥ उत्कोठः सानुबन्धस्तु कोठ इत्यभिधीयते ॥ इसे Ringworm कहा जा सकता है ॥

शृतं वाऽप्यमृताशुण्ठीपर्पटैः सदुरालभैः ॥
पिबेत् कषायं मधुना वैसर्पज्वरपीडितः ।

विसर्प ज्वर से पीडित रोगी को गिलोय, सोंठ, पित्तपापड़ा तथा दुरालभा (जवासा) के कषाय में मधु मिलाकर पिलाना चाहिये ॥

त्रिफलोशीरमुस्तानि एरण्डं देवदारु च ॥
निष्काथ्य परिषेक्तव्यो निम्बपत्रोदकेन वा ।

त्रिफला, खस, नागरमोथा, एरण्ड तथा देवदारु के क्वाथ अथवा नीम के पत्तों के क्वाथ से परिषेक करना चाहिये ॥

शिग्रुत्वक्सुरसास्फोटकालमालफणिज्झकैः ॥
साटरूषैः शृतं तोयं प्रदद्यात् परिषेचनम् ।
खदिरोदकसेको वा गोमूत्रेणाथवा हितः ॥

सहिजने की छाल, तुलसी, आस्फोट (आक), कालमाल (काली तुलसी), फणिज्झक (तुलसी भेद) तथा बांसे का क्वाथ बनाकर उसका अथवा खदिर के क्वाथ या गोमूत्र का परिषेचन करना चाहिये ॥

गृहधूमं हरिद्रे द्वे मालतीपल्लवानि च !
विडङ्गं द्वे हरिद्रे च पिप्पल्यस्तललण्डिका(?) ॥
मुस्ताऽमृता हरिद्रे द्वे पटोलारिष्टपल्लवाः ।
कुटजातिविषे मुस्तं कुष्ठं चेति प्रपेषयेत् ॥
आगारधूमं रजनीं सैन्धवं च प्रलेपनम् ।
श्लोकार्धविहिता ह्येते योगाः स्वल्पघृतायु(न्वि)ताः ॥
प्रदेहार्थे प्रयोक्तव्याः शोफकण्डूरुजापहाः ।

१. गृहधूम, हल्दी, दारुहल्दी तथा चमेली के पत्ते। २. वायविडङ्ग, हल्दी, दारुहल्दी, पिप्पली, तललण्डिका (?) ३. नागरमोथा, गिलोय, हल्दी, दारुहल्दी, पटोल (परवल) तथा नीम के पत्ते। ४. कुटज, अतीस, नागरमोथा और कुष्ठ। ५. आगारधूम (गृहधूम), हल्दी तथा सैन्धव। आधे श्लोकों के द्वारा कहे हुए उपर्युक्त योगों में थोड़ा घी मिलाकर प्रदेह (लेप) के रूप में प्रयोग करने चाहिये। ये विसर्प की शोफ (Swelling), कण्डू तथा वेदना को नष्ट कर देते हैं ॥

सप्तपर्णं सखदिरं मुस्तमारग्वधत्वचम् ॥
कुरण्टकं देवदारु प्रलेपनमनुत्तमम् ।
पलाशभस्म चैकाङ्गं लेपो गोमूत्रसंयुतः ॥

सप्तपर्ण, खदिर, नागरमोथा, अमलतास की छाल, कुरण्टक (पीतझिण्टी) तथा देवदारु का लेप उत्तम होता है। अथवा पलाश (ढाक) की भस्म (राख) तथा चन्दन को गोमूत्र में मिलाकर लेप करना चाहिये ॥

सक्षारं सार्षपं तैलमथवाऽपि ससैन्धवम् ।
अभ्यङ्गार्थे प्रयोक्तव्यं तैलं कारञ्जमेव वा ।
कुष्ठसैन्धवचूर्णं वा तैलाक्तस्यावघर्षणम् ॥

सरसों के तेल में क्षार अथवा सैन्धव मिलाकर या करञ्ज तैल का अभ्यङ्ग (मालिश) करना चाहिये। अथवा रोगी को तैल की मालिश करने के बाद कुष्ठ और सैन्धव के चूर्ण के द्वारा शरीर का घर्षण (रगड़ना) करना चाहिये ॥

स्वर्जिकातिविषे मुस्तं त्वगेलेल्वार्थ(लैल्वालु)वत्सकैः ।
शताह्वागरुकुष्ठैश्च पिष्टैस्तैलं विपाचयेत् ॥
तदस्याभ्यञ्जने योज्यं कण्डूकोठारुनाशनम् ।

स्वर्जिका (सज्जी क्षार), अतीस, नागरमोथा, दालचीनी, एलवालुक (गन्धद्रव्य अथवा लोध्र), इन्द्रजौ, सोया, अगरु तथा कुष्ठ के कल्क से तैल सिद्ध करे। इस तैल के अभ्यङ्ग (मालिश) से कण्डू, कोठ तथा क्षतव्रण आदि नष्ट होते हैं ॥

शिग्रुमूलमहिंस्रां च पिष्ट्वा सर्पिर्विपाचयेत् ।
तेनास्याभ्यञ्जयेद्गात्रं कुष्ठतैलेन वा पुनः ॥

सहिजने की जड़ तथा अहिंसा (कण्टकपाली–Capparis sepiaria) के पिसे हुए कल्क से घृत पाक करें। इस घृत या कुष्ठ तैल के द्वारा रोगी के शरीर का अभ्यङ्ग करे ॥

एतेन विधिना व्याधिर्यदि नैवोपशाम्यति ।
कण्डूमद्भिः सदाहैश्च मण्डलैर्विदहेदपि ॥
ततो विरेचनं दद्याद्रक्तं चास्यावसेचयेत् ।
विनिर्हृते दुष्टरक्ते कुर्याद्रक्तप्रसादनम् ॥
सघृतैस्त्रिफलाकल्कैर्मधुकोदुम्बरान्वितैः ।

उपर्युक्त विधि के द्वारा यदि रोग शान्त न हो तथा कण्डू एवं दाहयुक्त मण्डलों (चकत्तों) के द्वारा शरीर में दाह होती हो तो रोगी को विरेचन देना चाहिये तथा रक्तमोक्षण करना चाहिये। तथा दूषित रक्त का निर्हरण हो जाने पर मुलहठी, गूलर और घृतयुक्त त्रिफला के कल्क से रक्त-प्रसादन करना चाहिये ॥

इति वातादिजानां ते वैसर्पाणां चिकित्सितम् ॥
समासव्यासयोगैश्च पृथक्त्वेन च कीर्तितम् ।
एतदेव च संसृष्टं संसृष्टेषु प्रयोजयेत् ॥

इस प्रकार मैंने संक्षेप तथा विस्तार से पृथक् २ वातज आदि विसर्पों की चिकित्सा का वर्णन कर दिया है। संसृष्ट दोषों वाले विसर्पों में यही चिकित्सा ही संसृष्ट (मिलाकर) करनी चाहिये। अर्थात् यदि विसर्प वातिक एवं पैत्तिक हो तो उसमें वातिक एवं पैत्तिक विसर्प की सम्मिलित चिकित्सा करनी चाहिये ॥

यवान्नं शालयो मुद्गा मसूराः सहरेणवः ।
भोजनार्थे पुराणाः स्युर्जाङ्गलाश्च मृगद्विजाः ॥

विसर्प में पथ्य—भोजन में पुराने यवान्न (यवकृत-भक्त), शालिचावल, मूंग, मसूर, हरेणु तथा जांगल पशु-पक्षियों के मांस देने चाहिये। चरक चि० अ० २१ में विसर्परोग में विदाहि अन्नपान, विरुद्ध भोजन, दिवास्वप्न, क्रोध, व्यायाम, धूप, अग्नि तथा प्रवात आदि का त्याग कर देने को कहा है ॥

मसूरिकाः सविस्फोटाः कक्ष्यां पामां तथैव च ।
संसृष्टपित्तरक्तोत्था वैसर्पवदुपक्रमेत् ॥

मसूरिका, विस्फोट, कक्षा तथा पामा आदि पित्त तथा रक्त के संसर्ग से उत्पन्न होते हैं। इनकी भी विसर्प के समान चिकित्सा करनी चाहिये।

वक्तव्य—मसूरिका रक्त से मिला हुआ पित्त जब त्वचा को दूषित करता है तब मनुष्य के सारे शरीर में पिडकायें उत्पन्न हो जाती हैं। ये पिडकायें मसूर की आकृति की होती हैं अतः इस रोग को मसूरिका कहते हैं। आजकल की परिभाषा में यह Small pox कहा जा सकता है। विस्फोट—शरीर में बड़े २ फोड़े निकल आते हैं इन्हें आजकल Exanthemata कहते हैं। कक्षा—पित्त के प्रकोप से बाहु, पार्श्व, अंश और कक्षा में पिडकायें उत्पन्न हो जाती हैं। ये पिडकाएं काले वर्ण की होती हैं। तथा इनमें वेदना होती है। इन्हें कक्षरैली या Herpes zoster कहते हैं। पामा—इसे Eczema कह सकते हैं ॥

इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ।

(इति) उत्तरेषु खिलस्थाने भार्गवीयायां संहितायां वैसर्पचिकित्साध्यायश्चतुर्दशः ॥ १४ ॥

ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था।

इति वैसर्पचिकित्साध्यायश्चतुर्दशः ॥ १४ ॥

अथ चर्मदलचिकित्सिताध्यायः पञ्चदशः ।

अथातश्चर्मदलचिकित्सितं नामाध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ २ ॥

अब हम चर्मदल चिकित्सित नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था। चर्मदल एक त्वग्रोग (Skin disease) है। इसकी आयुर्वेद में क्षुद्रकुष्ठों में गिनती की है। माधव निदान में कहा गया है कि इस रोग में लालरंग के, शूल एवं कण्डु युक्त स्फोट बन जाते हैं तथा वे अधिक स्पर्श को नहीं सह सकते हैं। इसके अतिरिक्त सुश्रुत नि० अ० ५ में इसका निम्न लक्षण दिया है—स्फुर्येन कण्डूक्त्यथनौषचोषास्तलेषु तच्चर्मदलं वदन्ति। ॥ १-२ ॥

अथ खलु भगवन्तमृषिगणपरिवृतं ब्राह्म्या श्रिया देदीप्यमानमृषिश्रेष्ठं कश्यपमभिवाद्य पप्रच्छ भार्गवः-भगवन्! क एष चर्मदलो नाम व्याधिर्विसर्पमाणोऽग्निदग्धोपमरूपोऽत्याबाधकरो बालानामङ्गेषूपपद्यते, कथं चोत्पद्यते क्षीरपाणां कुमाराणां? क्षीरान्नादानां तु(च), नवाऽन्नादवयःस्थानाम्? अत्र को हेतुः? किमात्मकः? कतिविधः? कानि चास्य लक्षणानि? उपद्रवाश्च के? इत्येवं व्याख्यातुमर्हसीति ॥ ३ ॥

ऐश्वर्यशाली, ऋषिगणों से घिरे हुए, ब्राह्मतेज से देदीप्यमान तथा ऋषियों में श्रेष्ठ कश्यप का अभिवादन करके भार्गव (भृगुकुलोत्पन्न वृद्ध जीवक) ने प्रश्न किया कि हे भगवन्! यह बालकों के शरीर में उत्पन्न होने वाला चर्मदल नाम का कौन सा रोग है जो विसर्पण करने (फैलने) वाला है? जिसके लक्षण अग्निदग्ध के समान होते हैं तथा जो अत्यन्त कष्ट देने वाला है? यह क्षीरपायी (दूध पीने वाले) तथा दूध एवं अन्न दोनों का सेवन करने वाले बालकों को क्यों होता है? तथा अन्नाद (अन्न का सेवन करने वाले) और बड़ी अवस्था वाले बालकों को यह क्यों नहीं होता है? इसके उत्पन्न होने का कारण क्या है? इसका क्या स्वरूप होता है? इसके कितने भेद हैं? इसके लक्षण क्या हैं? तथा इसके उपद्रव कौन २ से हैं? इत्यादि सब बातों का आप उपदेश कीजिये॥

अथ भगवानब्रवीद्वत्स! श्रूयतामिह खलु क्षीरपाणां कुमाराणां स्तन्यदोषेण, क्षीरान्नादानां स्तन्यदोषेणाहारदोषेण च, सुकुमाराणामस्थिरधातूनां बालानां गर्भशय्योचितमृदुशरीराणां वस्त्राङ्काधारणोष्णानिलातपस्वेदोपनाहस्वमलमूत्रपुरीषसंस्पर्शाशौचपाणिपीडनाऽतीवोद्वर्तनकुलप्रवृत्त्यादिभिरुपायैर्मुखगलहस्तपादवृषणान्तरकट्यङ्गसन्धिषु चोत्पद्यते ॥ ४ ॥

भगवान् कश्यप ने उत्तर दिया—वत्स! सुनो, यह रोग क्षीरप बालकों को स्तन्य (दूध) के दोष से और क्षीरान्नाद (दूध तथा अन्न दोनों का सेवन करनेवाले) बालकों को दूध तथा आहार के दोष से होता है तथा जिनकी शारीरिक धातुएं स्थिर न हों, जिनका शरीर गर्भशय्या के योग्य मृदु हो तथा जो सुकुमार हैं ऐसे बालकों को वस्त्र के अत्यन्त धारण करने, निरन्तर उसे गोद में लेने तथा उष्ण वायु, धूप, पसीना, उपनाह (पुलटिस) एवं बालकों के स्वयं अपने शरीर के मलमूत्र पुरीष आदि के लगने, गन्दगी, हाथ के द्वारा पीडन, अत्यन्त उद्वर्तन (उबटन) आदि कारणों से अथवा कुलप्रवृत्ति (Heriditary) के कारण बालक के मुख, गले, हाथ, पैर, वृषण (अण्डकोश) के नीचे तथा कटि एवं अङ्गों की सन्धियों में उत्पन्न हो जाता है ॥ ४ ॥

नचान्नादवयःस्थानामिति किं कारणं? स्थिरकठिन-

१. आधारणमतिशयेन धारणमिति यावत् ।

संहतत्वगस्थिधातूनां तथा नित्यव्यायामोपचितगात्राणां क्लेशं सहतां न भवत्येष व्याधिरिति ॥ ५ ॥
(इति ताडपत्रपुस्तके २३७ तमं पत्रम् ।)

अन्नाद तथा बड़ी अवस्था वाले बालकों को यह रोग न होने के कारण यह है कि इनकी त्वचा, अस्थियां तथा शारीरिक धातुएं स्थिर, कठोर तथा संहत (दृढ) होती हैं तथा नित्य व्यायाम आदि करने से उनके शरीर पुष्ट हो जाते हैं तथा वे क्लेश को सहन कर सकते हैं इसीलिये उन्हें यह रोग नहीं होता है ॥ ५ ॥

वायुभूयिष्ठत्वाद्वाय्वात्मकमेवोदाहरन्ति । चर्मदलमिति चर्मावदारणात् । स चतुर्विधो—वातिकः, श्लैष्मिकः, सान्निपातिक इति ॥ ६ ॥

इस रोग में वायु की प्रधानता होने से इसे वातात्मक (वातिक) कहते हैं । चर्म का अवदारण कर देने से (चर्म-त्वचा को काट देने के कारण) इसे चर्मदल कहते हैं । अर्थात् इस रोग में शरीर का चर्म फट जाता है । यह रोग चार प्रकार का होता है-१-वातिक, २-पैत्तिक, ३ श्लैष्मिक, ४-सान्निपातिक॥

तत्र या बालस्य माता वा धात्री वा रूक्षसमुदाचाराहारोदावर्तनोपवसनशीला तथाऽतिचङ्क्रमणव्यायामक्लेशानत्यर्थमुपसेवते तस्या वायुः प्रकुपितः स्तन्यं दूषयति । तस्य लक्षणम्—उदके प्रक्षिप्तं प्लवते विच्छिद्यते छत्रायते श्यावावभासं, रसेन तिक्तकषायं विरसं चेति । तत् पिबतो जन्तोरिमानि रूपाणि भवन्ति—सकण्डूस्फुटितपरुषश्यावावभासान्यङ्गे मण्डलानि; पिप्लुतं तनु विवर्णमतिसार्यते; प्रवेपकमुखशोषरोमहर्षान्वितश्च वातचर्मदलः ॥ ७ ॥

निदान तथा सम्प्राप्ति—जब बालक की माता या धात्री रूक्ष आचार एवं आहार, उदावर्तन तथा उपवास करती है तथा अत्यधिक चङ्क्रमण (चलना-सैर आदि करना), व्यायाम तथा क्लेश आदि का सेवन करती है तब उसके शरीर में वायु प्रकुपित होकर दूध को दूषित कर देता है। उस वायु से दूषित दूध के निम्न लक्षण होते हैं—यदि उसे पानी में डाला जाय तो वह पानी में ऊपर तैरता रहता है, वह दूध अलग २ हो जाता है (अथवा फट जाता है), वह छत्र के समान दिखाई देता है, उसका रंग श्याव (काला) हो जाता है तथा स्वाद में उसका रस तिक्त तथा कषाय होता है और वह रसरहित प्रतीत होता है। वात दुष्ट स्तन्य के योगरत्नाकर में निम्न लक्षण दिये हैं—कषायं सलिलप्लावि स्तन्यं मारुतदूषितम् । उस दूध का सेवन करनेवाले बालक में निम्न लक्षण हो जाते हैं—उसके शरीर में कण्डु एवं स्फोटयुक्त कठोर तथा काले रंग के मण्डल (चकत्ते-दाग) दिखाई देने लगते हैं। उसके शरीर में चिमचिमाहट एवं फेन (झाग) युक्त विसर्प हो जाता है, उसे विप्लुत (मिले हुए), पतले, रंगबिरंगे दस्त आने लगते हैं तथा इसमें प्रवेपक (शरीर में कम्पन), मुखशोष तथा रोमहर्ष हो जाता है। ये वातिक चर्मदल के लक्षण होते हैं ॥ ७ ॥

यदा तु धात्री क्रोधसंतापोष्णाम्ललवणकटुकविदग्धाध्यशनविवशा (ता) नुपसेवते तस्याः पित्तं प्रकुपितं वायुना विक्षिप्यमाणं स्तन्यवहाभिः सिराभिरनुसृत्य स्तन्यं दूषयति । तस्य लक्षणानि—उदके प्रक्षिप्तं हरितरक्तासितावभासं भवत्यथ रसेन कट्वम्ललवणतिक्तं, स्पर्शेनोष्णमिति । तत् पिबतो जन्तोरिमानि रूपाणि भवन्ति—रक्तनीलावभासानि श्यावपीताभानि शुष्कच्छवीन्युष्णानि कुथित[1]दोषपूर्णानि मण्डलान्युत्पद्यन्तेऽस्य विसर्पीणि त्वङ्मांसदारणानि प्रभिन्नानि पद्मपत्रप्रकाशान्यग्निदग्धोपमानि भवन्ति । अतोऽतिसार्यते हरितपीतगुदपाककरमभीक्ष्णं, दाहमुखशोषच्छर्दियच्च(पीत) वदनान्वितश्च पित्तचर्मदलः ॥ ८ ॥

जब धात्री क्रोध, सन्ताप तथा उष्ण, अम्ल, लवण, कटु रसयुक्त एवं विदग्ध (Fermanted) आहार-विहार तथा अध्यशन (पूर्व भोजन पर दूसरा भोजन करना) आदि का सेवन करती है तब उसका वायु से विक्षिप्त होकर प्रकुपित हुआ पित्त स्तन्यवहा सिराओं में प्रवेश करके स्तन्य को दूषित कर देता है। उस पित्त से दूषित दूध के निम्न लक्षण होते हैं—यदि उसे जल में डाला जाय तो उसका रंग कुछ हरा, लाल तथा काला सा दिखाई देने लगता है, रस में वह कटु, अम्ल, लवण तथा तिक्त हो जाता है तथा स्पर्श में वह उष्ण होता है। योगरत्नाकर में कहा है—कट्वम्ललवणं पीतराजिमत्पित्तसंज्ञितम् ॥ उस दूध का सेवन करनेवाले बालक में निम्न लक्षण हो जाते हैं—उसके शरीर में लाल, नीले, काले तथा पीले रंगवाले, शुष्क छवियुक्त, उष्ण, दुर्गन्धयुक्त तथा दोषपूर्ण मण्डल (चकत्ते-दाग) हो जाते हैं। त्वचा तथा मांस का दारण (भेदन) करनेवाले, पद्मपत्र के तुल्य तथा अग्निदग्ध के समान विसर्प हो जाते हैं। उसे निरन्तर हरे-पीले तथा गुदा में पाक उत्पन्न कर देनेवाले दस्त आने लगते हैं। उसे दाह, मुखशोष, छर्दि एवं मुख का पीलापन आदि हो जाते हैं। ये पैत्तिक चर्मदल के लक्षण हैं ॥ ८ ॥

अथ या धात्री गुर्वम्ललवणमधुराभिष्यन्दिदिवास्वप्नालस्याहितानि चात्यर्थमुपसेवते तस्याः प्रकुपितः श्लेष्मा वायुना समुदीर्यमाणः स्तन्यमभिदूषयति । तस्य लक्षणं—जले निषीदत्यधस्ताद्रूपेण सान्द्रं स्नेहबहलं स्पर्शेन शीतपिच्छिलं रसेन मधुरमिति । तत् पिबतो जन्तोरिमानि रूपाणि भवन्ति—शीतस्तिमितस्निग्धसान्द्रैर्मण्डलैः श्वेताभैर्बहुभिर्नात्यर्थवेदनाकरैः सर्षपमात्रीभिः पिडकाभिरुपचितैश्चिरपाकिभिः सकण्डूतोदयुतै-

[1] कुथितानि दुर्गन्धयुक्तानीत्यर्थः ।

रुपचीयते, ततोऽस्य प्रतिश्यायारोचकाङ्गगौरवकासपाका उत्पद्यन्ते, बहुलं पिच्छिलं चाऽनुबद्धमतिसार्यते, निष्टनति श्लेष्माणं छर्दयति, तन्द्राभिभूतः श्वेतताल्वोष्ठश्च भवतीति श्लेष्मचर्मदलः ॥ ६ ॥

जो धात्री गुरु, अम्ल, लवण, मधुर, अभिष्यन्दि आहार और दिन में सोना, आलस्य तथा अन्य अहितकर आचार आदि का अत्यधिक सेवन करती है उसका प्रकुपित हुआ श्लेष्मा वायु से प्रेरित होकर स्तन्य (दूध) को दूषित कर देता है। उस श्लेष्मा से दूषित दूध के निम्न लक्षण होते हैं—यदि उसे जल में डाला जाय तो वह नीचे बैठ जाता है, वह देखने में सान्द्र (गाढ़ा–Concentrated) होता है, उसमें स्नेह (चिकनाई–Fat) की अधिकता होती है, वह स्पर्श में शीतल तथा पिच्छिल (चिपचिपा सा) होता है तथा उसका रस मधुर होता है। योगरत्नाकर में कहा है—कफदुष्टं घनं तोये निमज्जति सुपिच्छिलम्। उस दूध का सेवन करनेवाले बालक में निम्न लक्षण हो जाते हैं—उसके शरीर में शीत, स्तिमित (जड़ीभूत), स्निग्ध तथा सान्द्र (घने) मण्डल (चकत्ते–दाग) हो जाते हैं तथा श्वेत रंग वाले, संख्या में बहुत, कम वेदना वाले, सरसों के बराबर बड़े, बहुत देर में पकनेवाले तथा कण्डू एवं तोद (पीडा) से युक्त पिडिकायें हो जाती हैं। उसके बाद उसे प्रतिश्याय, अरुचि, अङ्गगौरव, कास तथा पाक आदि हो जाते हैं। उसे संख्या में बहुत, पिच्छिल तथा ढीले (बिना बंधे हुए) दस्त आते हैं, वह कठिनता से श्वास लेता है तथा श्लेष्मा का वमन करता है अर्थात् उसकी वमन में श्लेष्मा आती है। वह तन्द्रायुक्त होता है तथा उसके ओष्ठ एवं तालु सफेद हो जाते हैं। ये श्लैष्मिक चर्मदल के लक्षण हैं ॥ ९ ॥

यदा तु त्रिदोषसंसृष्टं क्षीरमनुपिबति तदाऽस्याङ्गे मण्डलानि प्रादुर्भवन्ति कृष्णरक्तावभासानि दग्धगुडप्रकाशानि वा त्रिभिर्गुणैरन्वितानि क्षिप्रपाकीनि विगन्धीन्यवदीर्णानि पूतिकुणपविस्रावीणि चेति। तैः स सर्वावनद्धाङ्गो निष्टनत्यनिशं कृच्छ्रेण रोदिति स्तनं नाभिनन्दति, कृष्णमरुणवर्णावभासं चाऽतिसार्यते। सोऽसाध्यः सन्निपातात्मक इति ॥ १० ॥

जब बालक त्रिदोषयुक्त दूध पीता है तब उसके शरीर में काले तथा लाल वर्ण वाले, जले हुए गुड के समान दिखाई देने वाले, तीनों दोषों के गुणों से युक्त अर्थात् तीनों दोषों वाले, शीघ्र पक जाने वाले, दुर्गन्धयुक्त, विदीर्ण होने वाले (फटने वाले) तथा जिनमें से पूति (दुर्गन्धि) एवं कुणप (मुर्दे की गन्धवाला) स्राव निकलता हो–ऐसे मण्डल (चकत्ते–दाग) हो जाते हैं। उन मण्डलों के द्वारा उसका सम्पूर्ण शरीर व्याप्त हो जाता है, वह निरन्तर कष्टपूर्वक सांस लेता है, रोते हुए उसे कष्ट होता है, उसे दूध पीने की इच्छा नहीं होती है तथा उसे काले एवं अरुण (लाल) रंग के अतिसार आने लगते हैं। यह सान्निपातिक चर्मदल असाध्य होता है ॥ १० ॥

छर्दितृष्णाज्वराध्मानश्वयथुहिक्काश्वासस्वरभेदोपद्रवान्वितश्च प्रत्याख्येयः ॥ ११ ॥

जिस चर्मदल में वमन, तृष्णा, ज्वर, आध्मान, शोथ, हिक्का, श्वास, स्वरभेद आदि उपद्रव हो जाते हैं वह प्रत्याख्येय (असाध्य) होता है ॥ ११ ॥

भवन्ति चात्र श्लोकाः—

नोपक्रमेदसाध्यं तु साध्यं यत्नेन साधयेत्।
यत् पश्येद् द्वन्द्वजं रूपे पाकं वा रूपतोऽधिकम् ॥१२॥
तस्य तस्य विदित्वा तु क्रियां सम्यक् प्रयोजयेत्।
येनोपक्रम्यमाणोऽपि शान्तिं नैति पुनः पुनः ॥ १३ ॥
तेनैवोत्पातरोगोऽयं न विश्वास्यः कथञ्चन।
तस्मात् सम्यगुपक्रम्यो यथा वक्ष्ये चिकित्सितम् ॥१४॥

असाध्य रोग की चिकित्सा न करे तथा साध्यरोग की यत्नपूर्वक चिकित्सा करे। जो रूप में द्वन्द्वज हो अथवा जो अधिक पक रहा हो—उस२ रोग को देखकर ठीक प्रकार से चिकित्सा करनी चाहिये। क्योंकि इस रोग की बार २ चिकित्सा करने पर भी शान्ति नहीं होती है इसलिये इसे उत्पात रोग कहते हैं। इस रोग का कभी विश्वास नहीं करना चाहिये। इसलिये इस रोग की ठीक प्रकार से चिकित्सा करनी चाहिये। इस चिकित्सा का मैं आगे वर्णन करूंगा॥

तत्रादितश्चैव धात्रीं स्नेहाभ्यङ्गस्वेदोपपन्नां नीलिकाचूर्णयुतं सर्पिः पाययेत्, त्रिवृच्चूर्णघृतं वा। ततः संसर्गोपपादितालघुस्निग्धैर्यूषैर्दाडिमसैन्धवयुतैर्मृदुमोदनमश्नीयान्निवातशयनासनपरा। व्यायामाजीर्णमैथुनं च नानुचरेत्। विदारिगन्धैरण्डबृहतीगोक्षुरकपुनर्नवापृश्निपर्ण्य इति कषायमेनां पाययेत् स्तन्यशोधनार्थं, द्विपञ्चमूलकषायं वा। रास्ना सुगन्धा नाकुलीति कल्कः स्तनालेपः, तथाऽजगन्धाऽवल्गुजकबृहतीकण्टकारिकायुतः प्रदेहः, शताह्वामधुकाजगन्धाकाश्मर्यबृहतीकण्टकारिकाबलापीलुगुडूचीकल्को वा भद्रमुस्तात्व(ग)गरुकल्को वा पुराणसर्पिस्तिलकल्को वेति। अथोरुपूगपलाशपाटलिरास्नाक्वाथः परिषेकः, पयसा वा सुखोष्णेन चेति। देवदारुरास्नाबर्हिणमज्जेति तैलं विपक्वमभ्यञ्जनीयं, बिल्वदेवदारुचूतमुक्तिफलविपक्वं वा द्विबलाबिल्वमूलसुरदार्वाम्रपेशिकाविपक्वं वेति वातचर्मदलचिकित्सितमुक्तम् ॥ १५ ॥

(इति ताडपत्रपुस्तके २३८ तमं पत्रम्)

वातिक चर्मदल की चिकित्सा—सर्व प्रथम उस धात्री को स्नेहन तथा स्वेदन कराकर नीलिका अथवा त्रिवृत् चूर्ण से युक्त घृत पिलाना चाहिये। इसके बाद अनारदाना तथा नमक

डले हुए संसर्गयुक्त गुरु एवं स्निग्ध यूषों के साथ नरम २ चावल खाने चाहिये तथा उस समय उसे निवात (जहां तेज अथवा सीधी हवा न आती हो) स्थान में सोना–बैठना चाहिये। व्यायाम, अजीर्ण तथा मैथुन का सेवन नहीं करना चाहिये। स्तन्य शोधन के लिये विदारीगन्धा, एरण्ड, बृहती, गोखुरू, पुनर्नवा तथा पृश्निपर्णी के कषाय अथवा दोनों पञ्चमूल (अर्थात् दशमूल) का कषाय पिलाना चाहिये। स्तनों पर रास्ना, सुगन्धा (स्पृक्का अथवा कृष्णजीरक) और गन्धनाकुली के कल्क का लेप करना चाहिये अथवा अजगन्धा, सोमराजी, बृहती तथा कटेरी का लेप अथवा सोया, मुलहठी, अजगन्धा, गंभारी, बृहती, कटेरी, बला, पीलु और गिलोय के कल्क या नागरमोथा तथा अगरु के कल्क या पुराने घी में तिलकल्क मिलाकर लेप करना चाहिये। तदनन्तर श्वेत एरण्ड, ढाक, पाटली (पाटला) तथा रास्ना के क्वाथ अथवा ईषदुष्ण जल का परिषेक करना चाहिये। देवदारु, रास्ना तथा मयूर की मज्जा के द्वारा अथवा बिल्व, देवदारु, आम तथा मुक्तिफल (कर्पूर अथवा लवलीफल) के द्वारा अथवा बला, अतिबला, बिल्वमूल, देवदारु तथा आम की गुठली की मज्जा के द्वारा सिद्ध तैल का अभ्यङ्ग करना चाहिये। यह वातिक चर्मदल की चिकित्सा कही गई है ॥ १५ ॥

अथ पैत्तिके वक्ष्यामः। तद्यथा—धात्रीं स्नेहाभ्यङ्गोपपन्नां वमनविरेचनेनोपक्रमेत्, निम्बोदकपिप्पलीकल्केन वामयेत् पिप्पलीलवणयुक्तेन वा दोषनिर्हरणार्थं, मृद्वीकेक्षुरसाभयादिभिर्विरेचयेन्मृद्वीकामलकसंयोगेन वा आरग्वधफलमज्जकषायसंयुक्तेन वा क्षीरेणेति यथाबलं वीक्ष्य। संसर्गं कारयेद्यवाग्वा यूषकृताकृतविधानेन वा। काश्मर्यमधुकपरूषकशीतपाक्य इति कृत्वा सुशीतं शर्करामधुलिखितं कषायं पाययेत् स्तन्यशोधनार्थं, पयस्यासारिवामृतामधूकमृद्वीकानां कषायं शर्करायुतं चेति। प्रपौण्डरीकसारिवोशीरचन्दनकल्कः स्तनालेपः, मधुकक्षीरशुक्लाचन्दनरसाञ्जनतुङ्गयुतः प्रदेहः, यष्टीमधुकचन्दनकल्को वा, मधुकचन्दनभद्रमुस्तामञ्जिष्ठारसाञ्जनकल्को वा, रसाञ्जनसारिवामधुकचन्दनोशीरकल्को वा, ककुभोदुम्बराश्वत्थवटनलमूलशालूकवञ्जुलकल्कोवा घृतयुतः, विशमृणालपद्मकमञ्जिष्ठापद्मरसाञ्जनकल्को वेति। मधुकमधुपर्णीवेडवेतसशतावरीनलमूलकदलीकुशकाशपद्मोत्पलेक्षुविदारीवटोदुम्बरत्वग्जम्बूकुम्भीका मधुरा चेत्येतानि जलाढके पक्त्वा चतुर्भागावशेषे घृतप्रस्थं पाचयेत् कषायद्विगुणक्षीरेण सगर्भः स्यान्मञ्जिष्ठावितूर्णकपयस्याधातक्युशीरचन्दनक्षीरकाकोलीप्रपौण्डरीकक्षीरशुक्लातालीसमृद्वीकेति सुपिष्टं विदध्यात्तेन सिद्धेनाभ्यज्य ततोऽवचूर्णयेल्लोध्रमधुकदारुहरिद्रामलकीत्वक्पत्रचूर्णैरेतेनेत्येवम्, अस्माज्ज्वरदाहरागपाकव्रणादयश्चोपशाम्यन्तीति पित्तचर्मदलचिकित्सितमुक्तम् ॥ १६ ॥

अब पैत्तिक चर्मदल की चिकित्सा कही जायगी—जैसे-धात्री को स्नेह का अभ्यङ्ग कराकर वमन तथा विरेचन कराये। दोषों का निर्हरण करने के लिये नीम के पानी (क्वाथ) में पिप्पली का कल्क मिलाकर उससे अथवा पिप्पली और लवण के द्वारा वमन कराये। तथा रोगी के बल के अनुसार मुनक्का, इक्षुरस तथा अभया (हरड़) अथवा मुनक्का और आंवला अथवा दूध में अमलतास के फल के गूदे का कषाय मिलाकर विरेचन कराये। उसके बाद रोगी को यवागू, कृतयूष तथा अकृतयूष के क्रम से संसर्जन कराये। अर्थात् यवागू आदि के क्रम से धीरे २ साधारण भोजन पर पहुंचे। स्तन्यशोधन के लिये उसे गंभारी, मुलहठी, फालसा तथा शीतपाक्य (बलाफल) का क्वाथ बनाकर उसे ठण्डा करके शर्करा एवं मधु मिलाकर देना चाहिये अथवा पयस्या (क्षीरकाकोली), सारिवा, गिलोय, महुए का फल तथा मुनक्के के कषाय में शर्करा मिलाकर देना चाहिये। फिर पुण्डरीक, सारिवा, खस तथा चन्दन के कल्क का स्तनों पर लेप करना चाहिये। तथा मुलहठी, क्षीरशुक्ला (क्षीरविदारी), रक्तचन्दन, रसौंत तथा तुङ्ग (नागकेसर या पद्मकेसर) अथवा मुलहठी और चन्दन का कल्क अथवा मुलहठी, रक्तचन्दन, नागरमोथा, मंजीठ तथा रसौंत के कल्क अथवा रसौंत, सारिवा, मुलहठी, रक्तचन्दन एवं खस के कल्क अथवा अर्जुन की छाल, गूलर, पीपल, बड़, नल की मूल, शालूक (कमलकन्द) तथा वञ्जुल (वेतस् अथवा जलवेतस) के कल्क में घी मिलाकर अथवा बिसमृणाल, पद्माख, मंजीठ, कमल तथा रसाञ्जन के कल्क का लेप करना चाहिये। उसके बाद मुलहठी, मधुपर्णी (गिलोय), वेड (वेट्ट या वेल्ल–गीला चन्दन), वेतस्, शतावरी, नल (नड) की मूल, कदली (केला), कुश, काश, पद्म, उत्पल (नील कमल), इक्षु, विदारी (अथवा इक्षुविदारी शब्द एक ही हो तो भूमिकूष्माण्ड अर्थ होगा), बड़, गूलर की छाल, जामुन, कुम्भीका (जलपर्णी या रक्तपाढल) तथा मधुरा (शतपुष्पा सौंफ अथवा मेदा)–इन सबको एक आढक जल में पकाकर चतुर्थांश शेष रहने पर उसमें एक प्रस्थ घृत तथा कषाय से दुगुना दूध डाले और मंजीठ, वितूर्णक (केवटीमोथा), काकोली, धाय के फूल, खस, रक्तचन्दन, क्षीरकाकोली, पुण्डरीक, क्षीरशुक्ला (क्षीरविदारी), तालीशपत्र तथा मुनक्के को अच्छी प्रकार पीसकर इस कल्क के द्वारा घृत सिद्ध करें। इस घृत का अभ्यङ्ग करके शरीर पर लोध्र, मुलहठी, दारुहल्दी, आंवला, दालचीनी तथा तेजपत्र का चूर्ण छिड़क दे (Dusting) उपर्युक्त विधि से ज्वर, दाह, राग (लालिमा) पाक तथा व्रण आदि शान्त हो जाते हैं। इस प्रकार यह पैत्तिक चर्मदल की श्रेष्ठ चिकित्सा कही गई है ॥ १६ ॥

अत ऊर्ध्वं श्लैष्मिके वक्ष्यामः–अथ धात्रीं पूर्वेण विधिनोपचार्य निम्बकषायमदनफलसिद्धां व्यक्तलवणां

यवागूं पाययेन्मदनफलतिलपिष्टतण्डुलसिद्धां वा वमनविधानेन सुखसलवणास्निग्धायाः श्लेष्मोद्धरणार्थं च पिप्पल्युष्णोदकं पीत्वा च्छर्दयेत् , कृतवमनायाः शिरोविरेचनं विदध्यान्मुद्गसतीनवेत्राग्रपटोलनिम्बमुस्तकानामन्यतमपरिगृहीतेन यूषेण मृदुमोदनं भोजयेत् । कुटजफलमुस्ताप्रियङ्गुशार्ङ्गिष्ठापाठालोध्रगुडूचीमूर्वेत्यक्षमात्राणि यथालाभं सुखोष्णोदकेनानुपिबेत् , पाठाशृङ्गबेरकल्कं वा, कुटजफलपाठाकल्कं वा, किराततिक्तकमुस्ताचूर्णं वा मधुना लिहेत् । भद्रमुस्तारिष्टपटोलमूर्वादारुहरिद्रात्रिफलासप्तपर्णत्वगित्येतैः कषायमासुतं मधुना पाकव्यपदेशतश्चोपयोजयेत् , मुस्तकमालतीपत्रकल्केन स्तनावालेपयेत् । अथ विरेचनं त्रिवृत्त्रिफलोष्णोदकलवणसंयुक्तमुपयोज्य यूषश्चाहारविधिः । कुटजारिष्टारग्वधमदनस्वादुकण्टकमुस्तकनक्तमालयुतः प्रदेहः, कुष्ठशुकनासारोहिणीमुस्तककिराततिक्तातिविषायुतो वा, सुरसशिग्रुमुस्ताकालमालकविडङ्गहिङ्गुपर्णीति वा, त्रिफलादारुहरिद्राकल्को वा हरिद्रारसाञ्जनकल्को वेति । भद्रमुस्तोशीरास्फोटाटरूषकहरिद्राकरञ्जसुमनारिष्टसिद्धं तैलमभ्यञ्जनीयमिति ॥ १७ ॥

इसके बाद अब हम श्लैष्मिक चर्मदल की चिकित्सा कहेंगे-धात्री का पूर्वोक्त विधि से उपचार करके उसे वमन के विधान के अनुसार यवागू पिलाये जो नीम के कषाय तथा मैनफल के द्वारा सिद्ध की हुई हो तथा जिसमें पर्याप्त मात्रा में लवण डला हुआ हो अथवा जो मैनफल, तिलपिष्ट (तिलकुट) और चावलों के द्वारा सिद्ध की गई हो। सुखपूर्वक लवणयुक्त द्रव्यों के द्वारा स्नेहन हो जाने के बाद कफ को निकालने के लिये पिप्पली तथा गरम पानी पिलाकर वमन करादे। वमन कराने के बाद उसका शिरोविरेचन कराये। तदनन्तर मूंग, सतीन (मटर भेद-कलायस्त्रिपुटः प्रोक्तः सतीनो वर्त्तुलो मतः), वेत्राग्र, पटोल, नीम तथा नागरमोथे में से किसी एक के यूष के साथ मृदु ओदन (भात) का भोजन कराये। इन्द्रजौ, नागरमोथा, प्रियङ्गु, शार्ङ्गिष्ठा (काकजंघा अथवा काकमाची), पाठा, लोध्र, गिलोय तथा मूर्वा (मोरवेल) में से जो २ ओषधि मिल जाये उन सबका एक २ अक्ष (तोला) चूर्ण अथवा पाठा और आर्द्रक का कल्क अथवा इन्द्रजौ और पाठा का कल्क सुखोष्ण जल से पीये। अथवा चिरायते और नागरमोथे का चूर्ण मधु से सेवन करे। नागरमोथा, नीम, पटोल, मूर्वा, दारुहल्दी, त्रिफला तथा सप्तपर्ण की छाल के क्वाथ का संधान करके मधु के साथ पाक के रूप में प्रयोग करे तथा नागरमोथा और चमेली के पत्तों के कल्क का स्तनों पर लेप करे। तथा त्रिवृत्, त्रिफला एवं उष्णजल में नमक मिलाकर उसका विरेचन देवे तथा आहार के रूप में यूष का सेवन करना चाहिये। कुटज, नीम, अमलतास, मैनफल, गोखरू, नागरमोथा तथा करंज अथवा कुष्ठ, शुकनासा (शुकशिम्बी), रोहिणी, नागरमोथा, चिरायता तथा अतीस अथवा तुलसी, सहिजना, नागरमोथा, कालमालक (काली तुलसी), विडङ्ग तथा हिङ्गुपर्णी (इसी नाम का तृण विशेष) अथवा त्रिफला और दारुहल्दी के कल्क अथवा हल्दी और रसौंत के कल्क का लेप करना चाहिये। तथा नागरमोथा, खस, आस्फोट (आक), बांसा, हल्दी, करञ्ज, पूतिकरञ्ज तथा नीम से सिद्ध तैल का अभ्यङ्ग करना चाहिये ॥ १७ ॥

भवति चात्र श्लोकः—

एषा चर्मदलोत्पत्तिर्व्याख्याता वर्णरूपतः ।
साध्यासाध्यविधानैश्च (प्रतीकार्यो) यथाक्रमम् ॥१८॥

इस प्रकार वर्ण (रंग) तथा रूप (आकृति आदि) के अनुसार चर्मदल की उत्पत्ति का वर्णन कर दिया गया है। साध्य एवं असाध्य के अनुसार यथाक्रम इनकी चिकित्सा करनी चाहिये ॥ १८ ॥

इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ (हू ८५) ।
(इति) खिलेषु चर्मदलचिकित्सा (ध्यायः पञ्चदशः) ॥ १५ ॥

ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था ॥ हू (८५) ।
(इति) खिलेषु चर्मदलचिकित्सा (ध्यायः पञ्चदशः) ॥१५॥

अथाम्लपित्तचिकित्सिताध्यायः षोडशः ।

अथातोऽम्लपित्तचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ २ ॥

अब हम अम्लपित्त चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था। जब कोई व्यक्ति पित्त के प्रकोपक अन्नपान का अधिक सेवन करता है तब उसके पित्त का सम्यक् पाक नहीं होता है। अपितु वह विदग्ध (Fermented) होकर अम्लभाव को प्राप्त हो जाता है उसे अम्लपित्त(Hyperacidity) कहते हैं ॥ १-२ ॥

विरुद्धाध्यशनाजीर्णादामे चामे च पूरणात् ।
पिष्टान्नानामपक्वानां मद्यानां गोरसस्य च ॥ ३ ॥
गुर्वविष्यन्दिभोज्यानां वेगानां धारणस्य च ।
अत्युष्णास्निग्धरूक्षाम्लद्रवाणामतिसेवनात् ॥ ४ ॥
फाणितेक्षुविकाराणां कुलत्थानां च शीलनात् ।
भृष्टधान्यपुलाकानां पृथुकानां तथैव च ॥ ५ ॥
भुक्त्वा भुक्त्वा दिवास्वप्नादतिस्नानावगाहनात् ।
अन्तरोदकपानाच्च भुक्तपर्युषिताशनात् ॥ ६ ॥
वातादयः प्रकुप्यन्ति तेषामन्यतमो यदा ।

मन्दीकरोति कायाग्निमग्नौ मार्दवमागते ॥ ७ ॥
एतान्येव तथा भूयः सेवमानस्य दुर्मतेः ।
यत्किञ्चिदशितं पीतं देहिनस्तद्धि दह्यति ॥ ८ ॥
विदग्धं शुक्ततां याति शुक्तमामाशये स्थितम् ।
तदम्लपित्तमित्याहुर्भूयिष्ठं पित्तदूषणात् ॥ ९ ॥
जन्तोर्यदनुबध्नाति लौल्यादनियतात्मनः ।

निदान तथा सम्प्राप्ति—विरुद्ध भोजन (मानविरुद्ध तथा संयोग विरुद्ध), अध्यशन (अजीर्ण पर भोजन-अजीर्णे भुज्यते यत्तु तदध्यशनमुच्यते), अजीर्ण तथा शरीर में आम रस अथवा आम आहार के उपस्थित होने पर पुनः भोजन करने से, पिष्टान्न (उड़द की पिट्ठी आदि से बने द्रव्य) तथा अपक्व मद्य एवं गोरस (दूध) से, गुरु तथा अभिष्यन्दि भोजन से, वेगों के धारण करने से, अत्यन्त उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष एवं अम्ल भोजन से तथा द्रव पदार्थों के अधिक प्रयोग करने से, फाणित (राब) तथा गुड़ आदि अन्य इक्षु विकारों, कुलत्थ, भूने हुए धान्य, पुलाक (तुष अथवा तुच्छ धान्य) एवं पृथुक (चिउड़े) के अधिक सेवन से, भोजन करने के बाद तुरन्त दिन में सोने से, अत्यधिक स्नान एवं अवगाहन से, भोजन के बीच में पानी पीने से, पर्युषित (बासी) भोजन के करने से-वात आदि दोष प्रकुपित हो जाते हैं। इनमें से जब कोई दोष जाठराग्नि को मन्द कर देता है उस समय अग्नि के मन्द हो जाने पर उपर्युक्त विरुद्धाशन आदि अथवा अन्य कारणों का सेवन करने पर मूर्ख व्यक्ति जो कुछ भी अन्न आदि खाता पीता है वह विदग्ध हो जाता है। वह विदग्ध हुआ अन्न शुक्त (अम्ल) बन जाता है। तथा वह शुक्त (अम्लत्व को प्राप्त हुआ अन्न रस) आमाशय में स्थित होता है। इस अवस्था में असंयमी मनुष्य जिह्वालौल्य के कारण जो कुछ भी खाता है वह विदग्ध हुए पित्त के कारण दूषित हो जाता है इसलिये इसे अम्लपित्त कहते हैं। माधवनिदान में इसके हेतु एवं सम्प्राप्ति के विषय में कहा है कि अपने कारणों से पहले से ही वृद्धि को प्राप्त हुआ पित्त, पित्तप्रकोपक आहार-विहार आदि के सेवन से प्रकुपित होकर अम्लभाव को प्राप्त हो जाता है-उसे अम्लपित्त कहते हैं॥

अविशुष्के यथा क्षीरं प्रक्षिप्तं दधिभाजने ॥ १० ॥
क्षिप्रमेवाम्लतामेति कूर्चीभावं च गच्छति ।
रसधातौ तथा ह्यम्ले भुक्तं मुक्तं विदह्यते ॥ ११ ॥

जिस प्रकार अच्छी तरह बिना सूखे हुए दही के वर्तन में यदि दूध डाल दिया जाय तो वह तुरन्त खट्टा हो जाता है तथा उसकी फुट्टियां (Curd) बन जाती हैं उसी प्रकार रस धातु के अम्लयुक्त होने पर (विदग्ध पित्त की उपस्थिति के कारण) जो कुछ भी भोजन किया जाता है वह विदग्ध हो जाता है ॥ १०-११ ॥

अव्यापन्ने त्वधिष्ठाने जाग्रतः स्वपतोऽपि वा ।
प्रेर्यमाणः समानेन प्रश्वासोच्छ्वासयोगतः ॥ १२ ॥

इससे विपरीत शारीरिक अधिष्ठान के दूषित न होने पर जागृत तथा स्वप्नावस्था में श्वास-प्रश्वास के योग से समानवायु के द्वारा प्रेरित हुआ तथा उदान वायु के द्वारा धमन किया जाता हुआ पाचकाग्नि भोजन को सम्यक् प्रकार से पचा देती है। इस प्रकार इसकी उत्पत्ति का वर्णन किया गया है ॥ १२ ॥

धम्यमान उदानेन सम्यक् पचति पाचकः ।
इत्युद्दिष्टं समुत्थानं, लिङ्गं वक्ष्याम्यतः परम् ॥ १३ ॥
विड्भेदो गुरुकोष्ठत्वमम्लोत्क्लेशः शिरोरुजा ।
हृच्छूलमुदराध्मानमङ्गसादोऽन्त्रकूजनम् ॥ १४ ॥
कण्ठोरसी विदह्येते रोमहर्षश्च जायते ।
सामान्यलक्षणं त्वेतद्विशेषश्चोपदेक्ष्यते ॥ १५ ॥

अब मैं इसके लक्षणों का वर्णन करूंगा। अम्ल पित्त के सामान्य लक्षण-विड्भेद (अतिसार), कोष्ठ का भारी होना, अम्ल के कारण उत्क्लेश, शिरःशूल, हृच्छूल, पेट में आध्मान (अफारा), अङ्गसाद (शरीर का सुस्त होना) तथा आन्त्र-कूजन (आंतों में वायु के कारण गड़गड़ाहट) होते हैं। रोगी के कण्ठ एवं छाती में जलन होती है तथा उसे रोमहर्ष होता है। ये अम्लपित्त के सामान्य लक्षण कहे गये हैं। आगे उसके विशेष लक्षणों का वर्णन किया जायगा ॥ १३-१५ ॥

वाताच्छूलाङ्गसादौ च जृम्भा स्निग्धोपशायिता ।
पित्ताद्भ्रमो विदाहश्च स्वादुशीतोपशायिता ॥ १६ ॥
कफाद् गुरुत्वं छर्दिश्च स्याद्रूक्षोष्णोपशायिता ॥१७॥

वातिक अम्लपित्त के लक्षण—वायु के कारण शूल, अङ्गसाद, जृम्भा (जंभाई) आती है तथा स्निग्ध पदार्थ उपशय होते हैं अर्थात् स्निग्ध पदार्थ शरीर के लिये सात्म्य होते हैं (वायु से विपरीत गुण होने के कारण)। पैत्तिक अम्लपित्त के लक्षण—पित्त के कारण शरीर में भ्रम एवं विदाह होता है तथा स्वादु और शीत पदार्थ शरीर के लिये उपशय होते हैं (पित्त से विपरीत गुणों के कारण)। श्लैष्मिक अम्लपित्त के लक्षण-कफ के कारण शरीर में भारीपन तथा वमन होती है और रूक्ष एवं उष्ण पदार्थ शरीर के लिये उपशय होते हैं (श्लेष्मा से विपरीत गुणों के कारण)।

वक्तव्य—उपशय जो आहार विहार शरीर के लिये सुख कर अथवा अनुकूल हो उसे उपशय कहते हैं। इसे ही सात्म्य भी कहते हैं। चरक वि० अ० १ में कहा है—सात्म्यं नाम तद् यदात्मन्युपशेते, सात्म्यार्थो ह्युपशयार्थः ॥ १६-१७ ॥

व्याधिरामाशयोत्थोऽयं कफपित्ते तदाश्रये ।
तस्मादादित एवास्य मूलच्छेदाय बुद्धिमान् ॥ १८ ॥
अक्षीणबलमांसस्य वमनं संप्रकल्पयेत् ।
नान्यो मान्यः क्र(मो) ह्यस्य शान्तये वमनादृते ॥१९॥
मूलच्छेदादिव तरोः स्कन्धशाखाविपर्यये ।

यह रोग आमाशय से उत्पन्न होता है तथा कफ और पित्त उसके आश्रित होते हैं। इसलिये इसके मूल च्छेदन

के लिये जिस रोगी का शारीरिक बल तथा मांस क्षीण नहीं हुए हैं उसे [illegible] में ही वमन कराना चाहिये। स्कन्ध एवं शाखा के दूषित होने पर वृक्ष के मूल के काटने के समान इस रोग की शान्ति के लिये वमन के अतिरिक्त और कोई चिकित्सा क्रम नहीं है अर्थात् जिस प्रकार वृक्ष के मूल के काट दिये जाने पर वृक्ष का तना एवं शाखायें स्वयं सूख कर नष्ट हो जाती हैं उसी प्रकार यह रोग क्योंकि आमाशय से उत्पन्न होता है अतः आमाशय स्थित कफ की शान्ति के लिये वमन कराया जाता है इससे उसके अनुबन्धभूत अन्य दोष स्वयं शान्त हो जाते हैं ॥ १८-१९ ॥

दोषशेषश्च वान्तस्य यः स्यात्तदनुबन्धकृत् ॥ २० ॥
(इति ताडपत्रपुस्तके २३९ तमं पत्रम् ।)

तस्योपशमनं कुर्याल्लङ्घनैर्लघुभोजनैः ।
सात्म्यकालोपपन्नैश्च योगैः शमनपाचनैः ॥ २१ ॥

वमन कराने के बाद यदि कोई अनुबन्धरूप दोष बच जाता है तो उसकी शान्ति लङ्घन, लघुभोजन तथा सात्म्य एवं कालोचित शमन-पाचन योगों के द्वारा करनी चाहिये। अर्थात् इसमें पहले वमन कराने के बाद लङ्घन कराना चाहिये तथा लघु आहार देने चाहिये। तदनन्तर शमन-पाचन योगों का सेवन कराना चाहिये ॥ २०-२१ ॥

दोषोत्क्लेशे न सहसा द्रवमौषधमाचरेत् ।
वमनीयादृते तद्धि न सम्यक् परिपच्यते ॥ २२ ॥

दोषों का उत्क्लेश (प्रवृत्युन्मुख) होने के बाद वमन के अतिरिक्त और कोई द्रव औषध तुरन्त नहीं देनी चाहिये। क्योंकि उसका ठीक प्रकार से पाक नहीं हो पाता है ॥ २२ ॥

चेष्टाहारविशेषेण किञ्चित् परिणते ततः ।
पीतं तु कुरुते यस्माच्छमपाचनभेदनम् ॥ २३ ॥

कुछ समय के बाद चेष्टा एवं आहार आदि के कारण शारीरिक अवस्थाओं के परिणत हो जाने पर सेवन की हुई द्रव औषध दोषों का शमन-पाचन एवं भेदन कर सकती है ॥

नागरातिविषे मुस्ता नागरातिविषेऽभया ।
त्रायमाणा पटोलस्य पत्रं कटुकरोहिणी ॥ २४ ॥
त्र्यस्त्रिकार्षिका ह्येते पातव्या दोषदर्शनात् ।
किराततिक्तक्काथो वा रोहिण्या वाऽथ केवलः ॥२५॥

जब तक शरीर में दोष दिखाई दें तब तक सोंठ, अतीस तथा नागरमोथा अथवा सोंठ, अतीस और हरड़ अथवा त्रायमाणा, पटोलपत्र और कुटकी तीनों का तीन २ कर्ष क्वाथ अथवा अकेले चिरायते या रोहिणी का क्वाथ पिलाना चाहिये ॥

संसर्गहृतदोषस्य विशुद्धामाशयस्य च ।
यत्नेनाग्निसमाधाने प्रयतेत विचक्षणः ॥ २६ ॥

संसर्ग से दोषों के नष्ट हो जाने पर तथा आमाशय के शुद्ध हो जाने पर बुद्धिमान् व्यक्ति को प्रयत्नपूर्वक जाठराग्नि को बढ़ाने का यत्न करना चाहिये ॥ २६ ॥

यथा गोमयचूर्णाद्यैः सूक्ष्मैः सन्धुक्षितोऽनलः ।
क्रमेणाप्यायितबलो दहत्यार्द्रमपीन्धनम् ॥ २७ ॥
तथा विशुद्धदेहानां कायाग्निः समुदीरितः ।
पाचयत्यन्नपानानि सारवन्त्यपि देहिनाम् ॥ २८ ॥

जिस प्रकार सूक्ष्म गोबर आदि के चूर्ण से जलाई हुई अग्नि क्रमशः अधिक प्रज्वलित होकर पीछे गीले हुए ईंधन (लकड़ी आदि) को भी जला देती है उसी प्रकार शरीर के शुद्ध हो जाने पर प्रदीप्त हुई जाठराग्नि पीछे से सारयुक्त (अर्थात् गुरु) अन्न-पान को भी पचा देती है। अर्थात् प्रारम्भ में लघु अन्नपान के द्वारा जाठराग्नि को बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिये। बाद में प्रवृद्ध हुई अग्नि गुरु भोजन आदि को भी पचा देती है ॥ २७-२८ ॥

सम्यक्परिणतेष्वेषु न स्युरामान्वया गदाः ।
जायते च तदोत्साहस्तुष्टिः पुष्टिर्वपुर्बलम् ॥ २९ ॥

इन दोषों अथवा आहार रसों का सम्यक् परिपाक हो जाने के बाद आमयुक्त रोग नहीं हो सकते हैं तथा उस समय शरीर में उत्साह, तुष्टि (संतोष), पुष्टि (पोषण) तथा शारीरिक बल की प्राप्ति होती है ॥ २९ ॥

ततः क्रमविशेषेण जातप्राणस्य देहिनः ।
पक्वाशयगतान् दोषान् स्रंसनेन विनिर्हरेत् ॥ ३० ॥

उसके बाद उस व्यक्ति के प्राणों में क्रमशः बल आजाने पर स्रंसन (विरेचन) के द्वारा उसके पक्वाशयगत दोषों का निर्हरण करना चाहिये ॥ ३० ॥

लवणाम्बुना सुखोष्णेन क्षीरेणेक्षुरसेन वा ।
मधूदकेन तिक्तैर्वा वमनं संप्रकल्पयेत् ॥ ३१ ॥

वमन योग—लवणाम्बु (नमक के पानी), सुखोष्ण दूध, इक्षुरस, मधूदक (मधु में पानी मिलाकर) अथवा तिक्तद्रव्यों के द्वारा वमन कराना चाहिये ॥ ३१ ॥

त्रिफला त्रायमाणा च कटुका रोहिणी त्रिवृत् ।
पञ्चैषामर्धपलिकास्त्रिवृता त्वर्धभागिका ॥ ३२ ॥
पीत्वा विरेचनं ह्येतदम्लपित्ताद्विमुच्यते ।

विरेचन योग—त्रिफला, त्रायमाणा, कटुकी, रोहिणी तथा त्रिवृत्-ये पांचों आधापल तथा त्रिवृत् इनसे आधा लेवे। इस विरेचन को पीकर मनुष्य अम्लपित्त से मुक्त हो जाता है ॥

पटोलपत्रं त्रिफलात्वचश्चार्धपलोन्मिताः ॥ ३३ ॥
त्रायन्तीरोहिणीनिम्बयष्टिकाः कर्षसंमिताः ।
पलद्वयं मसूराणां चैकध्यं तद्विपाचयेत् ॥ ३४ ॥
जलाढकेऽष्टभागं तु पूतशेषं पुनः पचेत् ।
सर्पिषः कुडवं दत्त्वा प्रस्थार्धमवशेषितम् ॥ ३५ ॥
तत् पीत्वा नातिशीतोष्णं सुखेनाशु विरिच्यते ।
चिरप्रसक्तमप्येतदम्लपित्तं व्यपोहति ॥ ३६ ॥

वातपित्तं ज्वरं कुष्ठं वैसर्पं वातशोणितम् ।
विद्रधिं रक्तगुल्मं च विस्फोटांश्चाशु नाशयेत् ॥ ३७ ॥

पटोल पत्र एवं त्रिफला की छाल-आधा पल, त्रायमाणा, रोहिणी, नीम तथा मुलहठी-एक कर्ष तथा मसूर दो पल इन सबको एकत्र करके एक आढ़क जल में पकाये। अष्टमांश शेष रहने पर उसे छान कर एक कुडव घृत डालकर पुनः पकाये। आधा प्रस्थ शेष रहने पर उतार ले। इस घृत का न बहुत शीत तथा न बहुत उष्णरूप में सेवन करने से सुख-पूर्वक विरेचन हो जाता है तथा यह अत्यन्त पुराने अम्लपित्त को भी नष्ट कर देता है। तथा इसके प्रयोग से वात, पित्त, ज्वर, कुष्ठ, विसर्प, वातरक्त, विद्रधि, रक्तगुल्म तथा विस्फोट शीघ्र ही शान्त हो जाते हैं ॥ ३३-३७ ॥

पुराणाः शालयो मुद्गा मसूराः सहरेणवः ।
गव्यं सर्पिः पयो वाऽपि जाङ्गलाश्च मृगद्विजाः ॥३८॥
कलायशाकं पौतीकं वासापुष्पं सवास्तुकम् ।
यानि चान्यानि शाकानि तिक्तानि च लघूनि च ३९
भोजनेनाऽतिशस्यन्ते यच्चान्यदविदाहि च ।
तत्सात्म्यानां प्रयोगाणां यथोक्तानां च शीलनम् ॥४०॥

अम्लपित्त में पथ्य—पुराने शालि चावल, मूंग, मसूर, हरेणु, गोघृत, गोदुग्ध, जांगल पशुपक्षियों का मांस, मटर का शाक, पौतीक (करंज), बांसे के फूल, बथुआ तथा अन्य भी तिक्त एवं लघु शाक और जो भी अविदाही (जो विदाह उत्पन्न न करते हों) आहार आदि द्रव्य हैं—उनका भोजन में प्रयोग करना चाहिये। इसके अतिरिक्त यथोक्त सात्म्य प्रयोगों का सेवन करना चाहिये ॥ ३८-४० ॥

लशुनस्य हरीतक्याः पिप्पल्याः सर्पिषस्तथा ।
मदिरायाश्च जीर्णायाः कालाग्निबलवृद्धये ॥ ४१ ॥
व्याधेरस्य यथोक्तानां निदानानां च वर्जनम् ।

इसके अतिरिक्त रोगी के काल, अग्नि एवं बल की वृद्धि के लिये लहसुन, हरड़, पिप्पली, घृत तथा पुरानी मदिरा का सेवन करना चाहिये तथा इस रोग के यथोक्त निदान को छोड़ देना चाहिये अर्थात् इस रोग के उत्पन्न करने वाले कारणों का सेवन नहीं करना चाहिये ॥ ४१ ॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तव्यायामसेविनः ॥ ४२ ॥
शुक्तकोऽयमलोलस्य[1] शाम्यत्यात्मवतः सतः ।

समुचित आहार-विहार का सेवन करने वाले, समुचित व्यायाम करने वाले, जिह्वालौल्य से रहित अर्थात् संयमी, आत्मवान् (जितेन्द्रिय) तथा सज्जन पुरुष का शुक्तक (अम्ल-पित्त) रोग शान्त हो जाता है ॥ ४२ ॥

यश्च यस्यानुबन्धः(द्धः) स्याद्दोषस्तस्योपशान्तये ॥४३॥
प्रयतेत भिषङ् नित्यं तच्छान्तौ स प्रशाम्यति ।

जो दोष जिसका अनुबन्ध हो, चिकित्सक को उसकी शान्ति का प्रयत्न करना चाहिये। उस दोष के शान्त होने पर वह अनुबन्ध दोष तो स्वयं शान्त हो जायेगा ॥ ४३ ॥

आनूपदेशे प्रायेण संभवत्येष देहिनाम् ॥ ४४ ॥
तस्माज्जाङ्गलजैरेनमौषधैः समुपक्रमेत् ।
अप्रशाम्यति चैतस्मिन्नपि देशान्तरं व्रजेत् ॥ ४५ ॥

यह रोग प्रायः आनूप देश में रहने वाले प्राणियों को होता है इसलिये उस मनुष्य का जांगल ओषधियों के द्वारा उपचार करना चाहिये। तथा तब भी उसके शान्त न होने पर रोगी को दूसरे देश में चले जाना चाहिये अर्थात् अपना Change of climate कर लेना चाहिये। जलवायु परिवर्तन से रोग पर अवश्य प्रभाव होता है। जो रोग हठी (Obstinate) हो गये हों उनपर जलवायु के परिवर्तन का ही कुछ प्रभाव पड़ सकता है उस पर ओषधियों का बहुत कम प्रभाव होता है। अनुभवी लोगों का कथन है कि एक चिरकालीन रोगी को यदि एक कमरे से दूसरे कमरे में ही बदल दिया जाय तो भी उसके रोग में थोड़ा बहुत अवश्य अन्तर हो जाता है परन्तु परिवर्तन स्वच्छ तथा शुद्ध वायु वाले स्थान पर ही होना चाहिये॥

स एव देशो यत्र स्यादारोग्यं ते च बान्धवाः ।
गच्छन्ति ये न गच्छन्ति ये चास्य हितकारिणः ॥४६॥

वही देश (स्थान) उत्तम माना जाता है जहां मनुष्य का स्वास्थ्य ठीक रहता हो। तथा वे ही बन्धु माने जाते हैं जो उससे दूर नहीं जाते हैं तथा जो उसके हितकारी हों ॥४६॥

नित्यालोलस्य दीनस्य परिदूनस्य देहिनः ।
क्रियाः सर्वाः प्रहीयन्ते स्वजनो विजनीभवेत् ॥ ४७ ॥

जो व्यक्ति नित्य अस्वस्थ (निष्क्रिय-बोदा) रहता हो, जो दीन हो तथा जिसका शरीर कष्टमय हो उसके सब कार्य नष्ट हो जाते हैं तथा स्वजन (अपने संबन्धी) भी सब उसे छोड़ कर चले जाते हैं ॥ ४७ ॥

तस्मात् सततमारोग्ये प्रयतेत विचक्षणः ।
अरोगो जीवितफलं सुखं समधिगच्छति ॥ ४८ ॥

इसलिये बुद्धिमान व्यक्ति को सदा आरोग्य की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील होना चाहिये। स्वस्थ व्यक्ति जीवन के फल (धर्मार्थ काम मोक्ष) को सुखपूर्वक प्राप्त कर लेता है। चरक सू० अ० १ में कहा है—धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम् ॥

ज्वरातीसारपाण्डुत्वशूलशोथारुचिभ्रमैः ।
उपद्रवैरिमैर्जुष्टः क्षीणधातुर्न सिद्ध्यति ॥ ४९ ॥

यदि अम्लपित्त रोग में ज्वर, अतिसार, पाण्डु, शूल, शोथ, अरुचि तथा भ्रम आदि उपद्रव हो जायें तथा रोगी की धातुएं क्षीण हो जायें तो वह सिद्ध नहीं होता अर्थात् उपर्युक्त उपद्रव हो जाने पर अम्लपित्त रोग असाध्य हो जाता है ॥ ४९ ॥

---

१. अलोलस्य जिह्वालौल्यादिरहितस्याऽयं शुक्तकोऽम्लपित्तामयः शाम्यतीत्यर्थः ।

इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ।। पृह (४६)

इति खिलेऽवम्लपित्तचिकित्साध्यायः षोडशः ॥ ड ट (१६)

(इति ताडपत्रपुस्तके २४० तमं पत्रम् ।)

ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था । पृह (४६)

इति खिलेऽवम्लपित्तचिकित्साध्यायः षोडशः ॥ ड ट (१६)

अथ शोथचिकित्साध्यायः सप्तदशः ।

अथातः शोथचिकित्सितं नामाध्यायं व्याख्यास्यामः ।।
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ।। २ ।।

अब हम शोथ चिकित्सित नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था ॥ १-२ ॥

वान्तस्याथ विरिक्तस्य कर्शितस्य ज्वरादिभिः ।
महोपवासक्लिष्टस्य विरुद्धाजीर्णभोजिनः ।। ३ ।।
सद्यश्चात्यर्थलवणक्षारोष्णाम्लकटून् रसान् ।
शूकरोरभ्रमांसादि दधिमृद्भक्षणादि च ।। ४ ।।
शीतप्रवातव्यायामव्यवायांश्चातिसेवतः ।
तथैव दुष्प्रजाताया नार्याः कृच्छ्रेण वा पुनः ।। ५ ।।
सूताया निःस्रुतायाश्च द्विषन्त्याः स्वमुपक्रमम् ।
एतदेव निदानं च शीलयन्त्यास्ततस्तयोः ।। ६ ।।
शोथः संजायते शीघ्रं दारुणः, स चतुर्विधः ।

निदान तथा सम्प्राप्ति—वमन तथा विरेचन के बाद, ज्वर आदि के द्वारा कृश हो जाने से, लम्बे उपवास के बाद, विरुद्ध भोजन से तथा अजीर्ण पर भोजन करने से, अत्यधिक लवण, क्षार, उष्ण पदार्थ, अम्ल एवं कटु रसों के सेवन से, सूअर तथा मेंढे के मांस और दही एवं मिट्टी के खाने से, तेज ठण्डी हवा, व्यायाम, तथा व्यवाय (मैथुन) के अधिक प्रयोग से, जिसे प्रसव ठीक प्रकार से न हुआ हो अथवा कष्ट से हुआ हो, जिसका गर्भस्राव हो गया हो, जो चिकित्सा से द्वेष करती हो अर्थात् चिकित्सा न करवाती हो-इत्यादि उपर्युक्त कारणों तथा अन्य निदानों का सेवन करने से शीघ्र ही दारुण शोथ हो जाता है ॥ ३-६ ॥

वातिकः पैत्तिकश्चैव श्लैष्मिकः सान्निपातिकः ।। ७ ।।

शोथ के भेद—यह शोथ चार प्रकार का होता है १. वातिक २. पैत्तिक ३. श्लैष्मिक तथा ४. सान्निपातिक ॥ ७ ॥

आगन्तुः क्षतनिष्पिष्टच्युतभग्नादिसंभवः ।
दष्टावमूत्रिताघ्रातसंस्पर्शगरयोगजः ।। ८ ।।

आगन्तु शोथ—इसके अतिरिक्त आगन्तु शोथ क्षत (चोट लग जाने) से, पिसजाने से, गिर पड़ने से अथवा हड्डी आदि के टूट जाने से तथा सर्प आदि विषैले प्राणियों के द्वारा काटने, मूत्र करने, सूंघने, स्पर्श करने अथवा विष के कारण भी हो जाती है। इस प्रकार आगन्तु एवं विषज मिला कर कुल ६ प्रकार की शोथ होती है। माधवनिदान में द्वन्द्वज शोथों के तीन पृथक् भेद देकर ९ भेद कर दिये गये हैं। यथा—दोषैः पृथक् द्वयैः सर्वैरभिघाताद्विषादपि। अर्थात् तीनों दोषों से पृथक् २ तीन, द्वन्द्वज से तीन, सन्निपात से एक, अभिघात से एक और विष से एक-इस प्रकार कुल ९ होते हैं। द्वन्द्वज शोथों में दोषप्रकृतिसमसमवायावस्था में विद्यमान होने से उन्हें पृथक् नहीं गिना गया है। इस प्रकार जो यहां ६ ही शोथों का वर्णन किया गया है वह समुचित ही है ॥ ८ ॥

प्रकोपहेतुः सर्वेषां सामान्येनैव कीर्तितः ।
पूर्वं ज्वरनिदाने तु प्रोक्तः प्रत्येकशो मया ।। ९ ।।

इन सब प्रकार की शोथों के प्रकोप के कारण सामान्य रूप से ही कहे गये हैं क्योंकि पहले ज्वर निदान में मैंने प्रत्येक का पृथक् २ प्रकोप कारण कहा है ॥ ९ ॥

यथावदेषां रूपाणि संप्रवक्ष्याम्यतः परम् ।
अपराह्णे ध्रुवा वृद्धिः श्वयथोरनिलात्मनः ।। १० ।।
पूर्वाह्णे श्लैष्मिकस्य स्यान्मध्याह्ने पैत्तिकस्य तु ।

अब मैं इन सबके स्वरूप का यथावत् वर्णन करूंगा। शोथों का वृद्धि काल—वातिक शोथ की अपराह्ण (सायंकाल-दिन के पिछले प्रहर), श्लैष्मिक की पूर्वाह्ण (दिन के पहले प्रहर में) तथा पैत्तिक की मध्याह्न काल में वृद्धि होती है ॥ १० ॥

पूर्वामध्यापरे यामे ह्रासश्चैषां यथाक्रमम् ।। ११ ।।

शोथों का ह्रास—इनका ह्रास क्रमशः पूर्वाह्ण, मध्याह्न तथा अपराह्ण में होता है। अर्थात् वातिक शोथ का पूर्वाह्ण में, श्लैष्मिक का मध्याह्न तथा पैत्तिक का अपराह्ण में ह्रास होता है॥

श्याववर्णः सवर्णो वा क्षिप्रोत्थाननिवर्तनः ।
पिपीलिकाकीर्ण इव ताम्यते परितुद्यते ।। १२ ।।
विषमज्वरजुष्टस्य चिराच्चैव विदह्यते ।
भिन्नरोमा चलोऽङ्गुल्या निम्नो भवति पीडितः ।।१३।।
सिरास्नायुत्वगायामैरधःकाये च वर्धते ।
स्निग्धोष्णोपशयी रूक्षः श्वयथुर्वातसंभवः ।। १४ ।।

वातिक शोथ के लक्षण—वातिक शोथ का रंग काला अथवा सवर्ण (अविकृत) होता है। यह शीघ्र ही उत्पन्न होती है तथा शीघ्र ही शान्त भी हो जाती है, वह स्थान चींटियों से घिरे हुए के समान होता है। तथा उसमें ऐसा प्रतीत होता है कि मानों चींटियां काट रही हों तथा पीडा होती है। यदि रोगी को विषम ज्वर हो तो वह शोथ शीघ्र ही विदग्ध हो जाती है—पक जाती है। उसमें रोम (बाल) टूट जाते हैं, वह शोथ अस्थिर होती है तथा उंगली से दबाने पर वह शोथयुक्त स्थान

१. अविकृतवर्ण इत्यर्थः ।

नीचे दब जाता है (Pits on pressure), शरीर के निचले भाग में सिरा, स्नायु एवं त्वचा के द्वारा वृद्धि को प्राप्त होता है, स्निग्ध एवं उष्ण वस्तुएं उसके अनुकूल-सात्म्य होती हैं तथा वह रूक्ष होती है ॥ १२-१४ ॥

नीललोहितपीताभः पीड्यते धूप्यते मुहुः ।
क्षिप्रपाकी सविड्भेदस्तृष्णादाहज्वरान्वितः ॥ १५ ॥
नाभ्यां च बस्तिमूले च वृद्धिश्चास्य विशेषतः ।
नित्यं च (रोच)ते शीतं श्वयथुः पित्तसंभवः ॥ १६ ॥

पैत्तिक शोथ के लक्षण—जो शोथ नीले, लाल तथा पीले रंग की हो, जिसमें बहुत पीडा तथा धूप लगे, जो शीघ्र ही पक जाये, जिसमें साथ में अतिसार, तृष्णा, दाह एवं ज्वर हो, जिसकी नाभि एवं बस्तिमूल में विशेष वृद्धि हो तथा जिसमें शीत (ठण्डी वस्तुएं) अच्छी लगती हों-वह पैत्तिक शोथ होती है ॥ १५-१६ ॥

स्थिरः शीतोऽतिबहलः श्लक्ष्णः पाण्डुरवेदनः ।
सोत्क्लेशारोचकस्वापकण्डूकाठिन्यगौरवः ॥ १७ ॥
चिराद् वृद्धिमवाप्नोति चिराच्च विनिवर्तते ।
उरोगण्डाक्षिकूटेषु वृद्धिश्चास्य विशेषतः ॥ १८ ॥
शीतज्वरकरः शीतद्वेषी शोफः कफात्मकः ।

श्लैष्मिक शोथ के लक्षण—जो शोथ स्थिर, शीतल, अत्यन्त घनी, चिकनी, पाण्डुवर्ण का तथा वेदना रहित हो, जिसमें उत्क्लेश (जी मचलाना) तथा अरुचि हो, जिसमें स्पर्शज्ञान न हो (सोई हुई सी-सुन्न हो), जिसमें कण्डू हो, जो कठिन तथा गुरु हो, जो शोथ बहुत देर में बढ़ती हो तथा बहुत देर में हटती हो, छाती, कपोल एवं अक्षिकूटों में जिसकी विशेष वृद्धि होती हो, जिसमें ठण्ड लग कर ज्वर आता हो तथा जिसमें शीत अच्छी न लगे-वह श्लैष्मिक शोथ होती है।

नीलपीतारुणाभासः सिराजालोपसन्ततः ॥ १९ ॥
अनेकोपद्रवस्रावः सर्वरूपसमन्वितः ।
सुतीव्रवेदनोऽसाध्यः श्वयथुः सान्निपातिकः ॥ २० ॥

सान्निपातिक शोथ के लक्षण—जो नीली, पीली एवं अरुण वर्ण की हो, जो सिराजाल से युक्त हो, जिसमें अनेक उपद्रव तथा स्राव होते हों, जिसमें वात, पित्त एवं कफ तीनों के लक्षण विद्यमान हों, जिसमें अत्यन्त तीव्र वेदना होती हो वह सान्निपातिक शोथ होती है। यह असाध्य है ॥ १९-२० ॥

रक्तश्यावारुणोऽत्युष्णस्तोदभेदरुजान्वितः ।
आगन्तुः, सविषस्ताम्रः कृष्णो वाऽऽशु विसर्पितः ॥२१॥
हृल्लासारुचितृण्मूर्च्छाज्वरारुचिकरो भृशम् ।

आगन्तु शोथ के लक्षण—आगन्तु शोथ लाल, काली तथा अरुण वर्ण की होती है, अत्यन्त उष्ण होती है तथा इसमें तोद (सुई चुभने के समान) तथा भेद (शस्त्र के काटे जाने के समान) से युक्त पीडा होती है। विषज शोथ के लक्षण—विषज शोथ ताम्र एवं कृष्ण वर्ण की होती है, सारे शरीर में शीघ्र फैल जाती है, इसमें अत्यधिक हृल्लास (जी मचलाना), अरुचि, तृष्णा, मूर्च्छा, ज्वर एवं अरोचकता होती है ॥ २१ ॥

इति षड्विधमुद्दिष्टं श्वयथोर्लक्षणं मया ॥ २२ ॥

इस प्रकार मैंने ६ प्रकार की शोथों के लक्षण कह दिये हैं॥

नृणां तु पादप्रभवः स्त्रीणां च मुखसंभवः ।
उभयोर्यश्च गुह्यस्थः सर्वगश्च न सिद्ध्यति ॥ २३ ॥

असाध्य शोथ—जो शोथ मनुष्य में पैरों से उत्पन्न हो कर मुख की ओर आता है तथा स्त्रियों में मुख से उत्पन्न हो कर पैरों की ओर आता है वह असाध्य होता है। अथवा स्त्री एवं पुरुष दोनों के ही गुह्यस्थानों पर तथा सम्पूर्ण शरीर पर होने वाली शोथ असाध्य होती है। पुरुष का ऊर्ध्वकाय प्रधान एवं भारी माना गया है अतः पैरों से प्रारम्भ हो कर मुख (प्रधान स्थान) की ओर आने वाली शोथ असाध्य हो जाती है। इसी प्रकार स्त्री का अधः काय प्रधान एवं भारी होता है अतः मुख से प्रारम्भ हो कर पैरों (प्रधान स्थान) की ओर आने वाली शोथ असाध्य होती है ॥ २३ ॥

मारुतः सर्वशोफानां मूलहेतुरुदाहृतः ।
यथा च पित्तं दाहस्य, शैत्यस्य च यथा कफः ॥२४॥

जिस प्रकार दाह का मूल हेतु पित्त होता है तथा शीतलता का कफ होता है उसी प्रकार सब शोफों का मूल हेतु वायु माना गया है। इसी लिये चरक चि. अ. १२ में शोथ की सम्प्राप्ति बताते हुए कहा है कि जब दूषित हुआ वायु बाह्य शिराओं में पहुंच कर कफ, रक्त और पित्त को दूषित करता है तब उनके द्वारा मार्ग के रुक जाने से अन्य स्थानों पर न जा सकने के कारण वहीं उभर कर शोथ हो जाती है। अर्थात् शोथ में सर्व प्रथम वायु ही दूषित होता है तथा वही कफ, पित्त आदियों को दूषित करके शोथ का कारण बनता है ॥ २४ ॥

त्वग्रक्तमांसमेदांसि शोथोऽधिष्ठाय वर्धते ।
तदस्याशु क्रियां कुर्याद्दारुणस्य यथोत्तरम् ॥ २५ ॥

शोथ त्वचा, रक्त, मांस और मेदा का आश्रय करके बढ़ता है। यह यथोत्तर दारुण होता जाता है। इस लिये इसकी शीघ्र ही चिकित्सा करनी चाहिये। अर्थात् शोथ क्रमशः त्वचा से रक्त, रक्त से मांस और मांस से मेदा में आश्रय करता हुआ बढ़ता जाता है। तथा यह क्रमशः कष्टसाध्य होता जाता है अर्थात् त्वचा की अपेक्षा रक्त में पहुंचने पर अधिक कष्टसाध्य हो जाता है। रक्त की अपेक्षा मांस में तथा मांस की अपेक्षा मेदा में पहुंचने पर कष्टसाध्य हो जाता है। इस लिये इसकी प्रारंभ से ही चिकित्सा करनी चाहिये जिससे यह पहली से अगली धातु में न पहुंचने पाये ॥ २५ ॥

कफपित्तोत्तरे शोफे क्षामदेहस्य देहिनः ।
वमनाद्यां क्रियां कुर्यात्तद्युक्तमनिलोत्तरे ॥ २६ ॥

शाल्यन्नमुद्गमण्डेन शोथी भुञ्जीत मात्रया ।
सबालमूलकव्योषपिप्पलीकेन वाऽऽदितः ॥ २७ ॥

जिस शोथ में कफ एवं पित्त की प्रधानता हो तथा रोगी का शरीर क्षीण हो उसमें प्रारंभ में वमन कराना चाहिये। तथा वातप्रधान शोथ में रोगी को युक्तिपूर्वक मात्रा में शालि चावल तथा मुद्गमण्ड के साथ अथवा कच्ची मूली, त्रिकटु तथा पिप्पली के साथ भोजन करे ॥ २६-२७ ॥

लघ्वामाशयकोष्ठस्य पञ्चगव्येन सर्पिषा ।
कल्याणकेन तिक्तेन दशमूलादिकेन वा ॥ २८ ॥
स्निग्धस्विन्नस्य वमनं विदध्याच्च विरेचनम् ।
ततो दशाहान् सोऽश्नीयात पयसा वाऽप्पभोजनम् ॥

रोगी का आमाशय एवं कोष्ठ लघु हो जाने पर उसे स्नेहन तथा स्वेदन कराकर पञ्चगव्य घृत, कल्याण घृत, तिक्त घृत अथबा दशमूल घृत के द्वारा वमन एवं विरेचन कराये। उसके बाद दस दिन तक उसे दूध के साथ भोजन कराना चाहिये ॥ २८-२९ ॥

ततो यवान्नं तक्रेण शीलयेच्च यथाबलम् ।
(इति ताडपत्रपुस्तके २४१ तमं पत्रम्)
पञ्चमुष्टिकयूषेण जाङ्गलानां रसेन वा ॥ ३० ॥

तदनन्तर रोगी को बल के अनुसार तक्र, पञ्चमुष्टिक यूष, अथवा जाङ्गल मांसरस के साथ यवान्न (यवों का बना हुआ भात) का सेवन करना चाहिये ॥ ३० ॥

दधिमद्यसुरास्नेहशाकपिष्टाम्लसेवनम् ।
असात्म्यानि निदानं च वर्जयेत् पथ्यमाचरेत् ॥३१॥

शोथ में अपथ्य—दही, मद्य, सुरा, स्नेह (घृत तैल आदि स्निग्ध द्रव्य), शाक, उड़द की पिट्ठी आदि तथा अम्ल (खट्टे द्रव्य-अचार चटनी आदि) का सेवन और अन्य असात्म्य एवं निदानोक्त भावों का त्याग करना चाहिये। तथा पथ्य का सेवन करना चाहिये ॥ ३१ ॥

सगुडं शृङ्गबेरं च भक्षयेत् प्रातरुत्थितः ।
हरीतकीं गुडयुतां त्रिसमां[1] वाऽभ्यसेत् सदा ॥ ३२ ॥

प्रातःकाल उठ कर रोगी को अदरक अथवा हरीतकी में गुड मिलाकर सेवन करना चाहिये। अथवा समान भाग हरीतकी, गिलोय और सोंठ के चूर्ण का प्रयोग करना चाहिये ॥

पिप्पलीवर्धमानं वा, पिप्पल्यो मधुकेन वा ।
देवदार्वभयाशुण्ठीचूर्णकल्कमथापि वा ॥ ३३ ॥
पिबेत्त्रयाणामेतेषां क्वाथं च सपुनर्नवम् ।

अथवा वर्धमान पिप्पली का प्रयोग करना चाहिये या पिप्पली और मुलहठी का प्रयोग करे। अथवा पुनर्नवा के साथ देवदारु, हरड़ तथा सोंठ—इन तीनों के चूर्ण के कल्क का क्वाथ बनाकर पीना चाहिये ॥ ३३ ॥

महौषधं चित्रकं वा पिप्पल्यो देवदारु वा ॥ ३४ ॥
तक्रेण पयसा वाऽथ सेवमानः सुखी भवेत् ।

अथवा सोंठ, चित्रक, पिप्पली और देवदारु के चूर्ण को तक्र या दूध से पीने से रोगी सुखी (स्वस्थ) होता है ॥३४॥

चित्रामूलाग्निकश्यामात्रिव्योषैर्वा शृतं पयः ॥ ३५ ॥
महौषधं देवदारुकल्कं वा पयसा पिबेत् ।

चित्रा (द्रवन्ती अथवा इन्द्रवारुणी) की जड़, चित्रक, त्रिवृत् तथा त्रिकुट से सिद्ध किये हुए दूध का प्रयोग करना चाहिये अथवा दूध के साथ सोंठ और देवदारु के कल्क का प्रयोग करना चाहिये ॥ ३५ ॥

गन्धर्वहस्तं त्रिव्योषं श्यामामूलं च पञ्चमम् ॥ ३६ ॥
क्षीरसिद्धं पिबेदेतद्यस्य स्याच्छ्वयथुर्महान् ।

जिसके शरीर में महान् शोथ हो उसे एरण्ड, त्रिकटु (सोंठ, मरिच, पीपल) और त्रिवृन्मूल—इन पांचों द्रव्यों को दूध में सिद्ध करके पीना चाहिये ॥ ३६ ॥

गोमूत्रं महिषीमूत्रमुष्ट्रमूत्रमथो पिबेत् ॥ ३७ ॥
यथास्वं क्षीरमिश्रं वा शीलयेच्छोफशान्तये ।

शोफ (शोथ) की शान्ति के लिये गौ, भैंस तथा ऊंटनी का मूत्र पीना चाहिये। अथवा उपर्युक्त मूत्रों में योग्य परिमाण में दूध मिलाकर सेवन करना चाहिये ॥ ३७ ॥

सर्पिः पुनर्नवाक्वाथे कल्कैरेभिर्विपाचयेत् ॥ ३८ ॥
व्योषमुस्ता ··············· दिने दिने ।
सर्वेषामेव शोथानां प्रयोगोऽयं विधीयते ॥ ३९ ॥

पुनर्नवा के क्वाथ में त्रिकटु, नागरमोथा आदि ओषधियों का कल्क डालकर घृत सिद्ध करना चाहिये। सम्पूर्ण शोथों में प्रतिदिन इसका प्रयोग करना चाहिये ॥ ३८-३९ ॥

अयोरजस्त्रिकटुकं त्रिवृता कटुरोहिणी ।
त्रिफलाया रसेनैतत् पीत्वा चूर्णं सुखी भवेत् ॥ ४० ॥

त्रिफला के रस के साथ लोहचूर्ण, त्रिकटु, त्रिवृत् तथा कुटकी के चूर्ण का सेवन करके रोगी सुखी होता है ॥ ४० ॥

त्रिफला त्रिवृता दन्ती विडङ्गं गजपिप्पली ।
त्रिव्योषं रोहिणी दारु चित्रकं चेति चूर्णयेत् ॥ ४१ ॥
अयोरजस्तद् द्विगुणं क्षीरेणाभ्यस्य मुच्यते ।

त्रिफला, त्रिवृत्, दन्ती, विडङ्ग, गजपिप्पली, त्रिकटु, रोहिणी, दारुहल्दी तथा चित्रक का चूर्ण बनाये। इसमें इन सबसे दुगुना लोहचूर्ण मिलाये। इसे दूध के साथ सेवन करने से रोगी रोगमुक्त हो जाता है ॥ ४१ ॥

त्रिव्योषत्रिफलामुस्ताविडङ्गचित्रकाः समाः ॥ ४२ ॥
नवैते सुधृता भागा नवायोरजसस्तथा ।

१. समभागा हरीतकी गुडूची शुण्ठी=त्रिसमा।

तच्चूर्णं मधुना लीढ्वा भुञ्जीत यवषष्टिकम् ॥ ४३ ॥
शुष्कमूलकयूषेण मुस्ताक्तपयसाऽपि वा ।

त्रिकटु (सोंठ, मरिच, पीपल), त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आंवला), नागरमोथा, बिडङ्ग तथा चित्रक—ये ९ द्रव्य तथा लोहचूर्ण—इन सबको समभाग में लेकर बनाये हुए चूर्ण को मधु से चाटकर ऊपर से सूखी मूली के यूष अथवा नागरमोथे से युक्त दूध के साथ जौ और सांठी के चावलों का भोजन करना चाहिये ॥ ४२-४३ ॥

भल्लातकं त्रिवृद्दन्ती त्रिव्योषं त्रिफलाऽग्निकः ॥ ४४ ॥
तिला गुडा विडङ्गं च मधु सर्पिरयोरजः ।
नाम्ना कटुकबिन्दुर्हि लेहः शोथप्रमर्दनः ॥ ४५ ॥

कटुकबिन्दु अवलेह—भिलावा, त्रिवृत्, दन्ती, त्रिकटु, त्रिफला, चित्रक, तिल, गुड, विडङ्ग, मधु, घृत तथा लोहचूर्ण—इन सबको मिलाकर अवलेह बनाया जाता है। इसका नाम कटुकबिन्दु है। यह शोथ को नष्ट करता है ॥ ४४-४५ ॥

सामान्येनैतदाख्यातं पृथक्त्वेन निबोध मे ।
तत्रादितः प्रवक्ष्यामि वातिकस्य भिषग्जितम् ॥ ४६ ॥

यह सब शोथों की सामान्य चिकित्सा कही गई है। अब मेरे से इनकी पृथक् २ चिकित्सा सुनो। सबसे पहले मैं वातिक शोथ की चिकित्सा कहूंगा ॥ ४६ ॥

कुलत्थयवकोलानामुभयोः पञ्चमूलयोः ।
निर्यूहे साधितं तैलं कल्कैरेतैः समांशिकैः ॥ ४७ ॥
शतावरीकृष्णगन्धायष्टीमधुकजीवनैः ।
सक्षीरैस्तत् पिबेत् काले कुर्यादभ्यञ्जनं च तत् ॥४८॥

वातिक शोथ की चिकित्सा—कुलत्थ, यव, कोल तथा दोनों पञ्चमूल (अर्थात् दशमूल) के क्वाथ में समान मात्रा में शतावरी, कृष्णगन्धा (सहिजना), मुलहठी तथा जीवनीय गण की ओषधियों का कल्क डालकर तैल सिद्ध करे। उचित काल में दूध के साथ इस तैल का पान तथा अभ्यंग द्वारा सेवन करे ॥ ४७-४८ ॥

शताह्वां मधुकं दारु सश्वेतां च गवादनीम् ।
वत्सादनीं च पिष्ट्वा तैः सुखोष्णैः शोथमादिहेत् ॥४९॥

शतपुष्पा (सौंफ), मुलहठी, दारुहल्दी, श्वेता (सफेद बच), गवादनी (इन्द्रवारुणी) तथा वत्सादनी (गिलोय) इन्हें पीस ले। शोथ पर इसका सुखोष्ण लेप करे ॥ ४९ ॥

वर्षाभ्वं बिल्वमेरण्डं तर्कारीं सपुनर्नवाम् ।
निष्क्वाथ्य वारिणोष्णेन श्वयथुं परिषेचयेत् ॥ ५० ॥

वर्षाभ्व (श्वेत पुनर्नवा), बिल्व, एरण्ड, तर्कारी (अग्निमन्थ अथवा जयन्ती) तथा रक्त पुनर्नवा-इनका क्वाथ बनाये। इस उष्ण क्वाथ से शोथ का परिषेचन करना चाहिये ॥ ५० ॥

तिलानां सर्षपाणां च गोधूमस्य यवस्य च ।
चूर्णानां तैलमिश्राणामुपनाहं विधापयेत् ॥ ५१ ॥
तथैवैरण्डबीजानां भृष्टानां वोपनाहनम् ।

तिल, सरसों, गेहूं तथा जौ के चूर्ण को तिल तैल में मिलाकर (उपनाह) (पुलटिस) लगानी चाहिये। अथवा एरण्ड के बीजों को भूनकर अवलेह बनाये ॥ ५१ ॥

एरण्डो बिल्वमूलं च बृहती कण्टकारिका ॥ ५२ ॥
करञ्जश्चिरिबिल्वश्च श्वदंष्ट्रा च समांशिका ।
लेपोऽयं सर्पिषा युक्तो वातश्वयथुनाशनः ॥ ५३ ॥
एष एव यथालाभं परिषेकः सुखावहः ।

वातशोथ को नष्ट करने के लिये एरण्ड, बिल्वमूल, बृहती, कटेरी, करञ्ज, चिरबिल्व (नाटाकरञ्ज अथवा पूतिकरञ्ज) तथा गोखरू समभाग लेकर चूर्ण करके घी में मिलाकर लेप करना चाहिये तथा इन्हीं वस्तुओं में से जो २ मिल जायें उनका परिषेक करना चाहिये। यह सुखकारी होता है ॥

शारिवा मूलकं शुष्कं शुकनासा महौषधम् ॥ ५४ ॥
कुष्ठं मुस्ता जलं लम्बा प्रलेपः शोफनाशनः ।

सारिवा, सूखीमूली, शुकनासा (श्योनाक-अरलु), सोंठ, कुष्ठ, नागरमोथा, ह्रीबेर (सुगन्धवाला) तथा लम्बा (कटुकालाबु) का लेप शोथ को नष्ट करता है ॥ ५४ ॥

श्वदंष्ट्रैरण्डमूलं च बिल्वमूलं महौषधम् ॥ ५५ ॥
पुराणमूलकं चैषां क्वाथे क्षीरं विपाचयेत् ।
क्षीरावशेषमाहृत्य काले सघृतशर्करम् ॥ ५६ ॥
यथाग्नि पाचयेदेनं वातश्वयथुनाशनम् ।

गोखरू, एरण्डमूल, बिल्वमूल, सोंठ—इन सबकी पुरानी जड़ों का क्वाथ बनाकर उसमें दूध डालकर पाक करें। दुग्धमात्र शेष रहने पर उतार ले। फिर इसमें घी और शर्करा मिलाकर क्रमशः मन्द, मध्य एवं तीक्ष्ण अग्नि पर उसे पकाये। यह घृत वातशोथ को नष्ट करता है ॥ ५५-५६ ॥

एरण्डतैलं पयसा गवां मूत्रेण वा पिबेत् ॥ ५७ ॥
तेनास्य दोषशेषश्च श्वयथुश्च निवर्तते ।

दूध अथवा गोमूत्र के साथ रोगी को एरण्डतैल पिलाये। इससे उसके अवशिष्ट दोष तथा शोथ नष्ट हो जाता है ॥ ५७ ॥

लघून्यन्नानि भुञ्जीत स्निग्धोष्णसहितानि च ॥ ५८ ॥
(इति ताडपत्रपुस्तके २४२ तमं पत्रम्)

तथा इस वातशोथ में, लघु, स्निग्ध एवं उष्ण अन्न का भोजन करना चाहिये ॥ ५८ ॥

अथ पित्तसमुत्थस्य प्रवक्ष्यामि चिकित्सितम् ।
अभयाऽऽमलकीदन्तीत्रिकर्ममधुचन्दनैः ॥ ५९ ॥
संजीवनीयमञ्जिष्ठैर्मधूककुसुमैः समैः ।
सक्षीरैः पाचितं सर्पिः शोफस्याभ्यञ्जनं परम् ॥ ६० ॥

पानं चैतत् प्रदातव्यं शोफरोगनिवारणम् ।

अब मैं पैत्तिक शोथ की चिकित्सा कहूँगा। पैत्तिक शोथ की चिकित्सा—हरड, आंवला, दन्ती, त्रिकर्म, मधु, चन्दन, जीवनीयगण की ओषधियां, मंजीठ तथा महुए के फूल समभाग तथा दूध के द्वारा पकाये हुए घृत का शोथ में अभ्यङ्ग करना चाहिये। तथा शोथरोग को नष्ट करने के लिये इस घृत को पीना भी चाहिये ॥ ५९–६० ॥

वक्तव्य—त्रिकर्म-त्रिकर्म के स्थान पर यदि त्रिकर्ष पाठ हो तो अर्थ ठीक प्रतीत होता है। त्रिकर्ष शब्द-सोंठ, अतीस तथा नागरमोथे के लिये सम्मिलित रूप में व्यवहृत होता है। राजनिघण्टु में कहा है—नागरातिविषामुस्ता त्रयमेतत्त्रिकर्षिकम् ॥

जीवकर्षभकावैन्द्री मधुपर्णी शतावरी ॥ ६१ ॥
मुदिता वेतसं चैव प्रलेपः सरसाञ्जनः ।

जीवक, ऋषभक, ऐन्द्री (इन्द्रवारुणी), मधुपर्णी (गिलोय), सतावरी, मुदिता तथा वेतस् में रसाञ्जन मिलाकर शोथ पर लेप करना चाहिये ॥ ६१ ॥

तालीशोशीरमुदिताचन्दनं सरसाञ्जनम् ॥ ६२ ॥
मधुकं पद्मकं चेति लेपः श्वयथुनाशनः ।

तालीशपत्र, खस, मुदिता, चन्दन, रसौंत, मुलहठी तथा पद्माख-यह लेप शोथ को नष्ट करता है ॥ ६२ ॥

शतावरीं हंसपदीं मधुपर्णीं च चित्रकम् ॥ ६३ ॥
बन्दां तालीसपत्रं च पिष्ट्वा श्वयथुमादिहेत् ।

शतावर, हंसपदी, गिलोय, चित्रक, बन्दा तथा तालीशपत्र को पीसकर शोथ पर लेप करना चाहिये ॥ ६३ ॥

क्षीरद्रुमाणां त्वङ्मूलकाथस्तु परिषेचने ॥ ६४ ॥
सदाहरागपाके च हितः सक्षीरशर्करः ।

शोथ में दाह, राग (लालिमा) तथा पाक होने पर क्षीरी वृक्षों की त्वचा तथा मूल के क्वाथ में दूध तथा शर्करा मिलाकर परिषेचन करना चाहिये ॥ ६४ ॥

त्रिवृन्मधुकमृद्वीकाकाश्मर्याभिः शृतं पयः ॥ ६५ ॥
विरेचनीयमन्यद्वा यथावस्थं प्रयोजयेत् ।

विरेचन के लिये त्रिवृत्, मुलहठी, मुनक्का तथा गंभारी के द्वारा सिद्ध किया हुआ दूध अथवा अवस्था के अनुसार अन्य द्रव्य प्रयुक्त करना चाहिये ॥ ६५ ॥

नात्यच्छस्निग्धशीतानि स्वादूनि च लघूनि च ॥ ६६ ॥
पयो द्रवाणि भुञ्जीत यथोक्तानि च मात्रया ।

पैत्तिक शोथ में पथ्य—जो बहुत अधिक सान्द्र, स्निग्ध तथा शीतल नहीं है ऐसे तथा स्वादु एवं लघु द्रव्य, दूध तथा अन्य यथोक्त द्रव पदार्थों का मात्रा में प्रयोग करना चाहिये ॥

श्वयथोः कफजस्यापि चिकित्सां शृण्वतः परम् ॥ ६७ ॥

अब कफज श्वयथु (शोथ) की भी चिकित्सा सुनो ॥ ६७ ॥

ह्रीबेरागरुदारूणि चव्यचित्रकनागरम् ।
अभया पिप्पलीमूलं रजन्यौ हिङ्गु मात्रया ॥ ६८ ॥
क्वाथं गोमूत्रपिष्टं वा पिबेच्छोफनिबर्हणम् ।

कफज शोथ की चिकित्सा—शोथ को नष्ट करने के लिये ह्रीबेर (बालक), अगरु, देवदारु, चव्य, चित्रक, सोंठ, हरड, पिप्पलीमूल, हल्दी, दारुहल्दी तथा हींग आदि का क्वाथ बनाकर अथवा गोमूत्र में पीसकर पीना चाहिये ॥ ६८ ॥

चित्रकारग्वधौ मूर्वाविडङ्गामलकाभयाः ॥ ६९ ॥
पिप्पलीशारिवापाठाकषायं मधुना पिबेत् ।

चित्रक, अमलतास, मूर्वा (मोरबेल), विडङ्ग, आंवला, हरड, पिप्पली, सारिवा तथा पाठा-इनका कषाय मधु के साथ पीना चाहिये ॥ ६९ ॥

देवदारु च पाठां च शृङ्गबेरं च भागशः ॥ ७० ॥
तथा पुष्करमूलं च गोमूत्रकथितं पिबेत् ।

देवदारु, पाठा, अदरक तथा पुष्करमूल की गोमूत्र में क्वाथ बनाकर पीना चाहिये ॥ ७० ॥

पाठा मुस्ताऽभया दारु चित्रको विश्वभेषजम् ॥ ७१ ॥
पिप्पल्यतिविषा मूर्वा तथा ताडकपत्रिका ।
बाधासु तत् पिबेत् पूतं कफश्वयथुनाशनम् ॥ ७२ ॥

श्लैष्मिक शोथ के कष्ट को दूर करने के लिये पाठा, नागरमोथा, हरड, देवदारु, चित्रक, सोंठ, पिप्पली, अतीस, मूर्वा तथा ताडपत्र के क्वाथ को छानकर पीना चाहिये ॥ ७१–७२ ॥

तगरागरुमुस्तानि सरलं देवदारु च ।
कुष्ठं त्वचा च लेपोऽयं कफश्वयथुवारणः ॥ ७३ ॥

तगर, अगरु, नागरमोथा, सरल (चीड़), देवदारु तथा कुष्ठ की छाल का लेप श्लैष्मिक शोथ को नष्ट करता है ॥ ७३ ॥

कालां गोधापदीं हिंस्रां सुषवीं तालपत्रिकाम् ।
पिष्ट्वा शीतकमूलं च शोथमस्य प्रलेपयेत् ॥ ७४ ॥

काला (त्रिवृत्), गोधापदी (हंसपदी), हिंस्रा (जटामांसी), सुषवी (काला जीरा), तालपत्रिका (मुशली-मूसली) तथा शीतक (अशनपर्णी)—की जड़ों को पीसकर शोथ पर लेप करना चाहिये ॥ ७४ ॥

कुष्ठच्छत्राकवल्कं च यातुमूलं त्रिकण्टकम् ।
भद्रदारुं सुगन्धां च पिष्ट्वोष्णैः शोफमादिहेत् ॥ ७५ ॥

कुष्ठ तथा छत्राक (आंवला) की छाल, यातुकमूल (पत्र शाक विशेष), गोखुरू, देवदारु तथा सुगन्धा (सर्पलोचना अथवा स्पृक्का) को पीसकर गरम करके शोथ पर लेप करे ॥

मूलकानि च शुष्काणि भद्रमुस्तं सशारिवम् ।
गोमूत्रपिष्टो लेपोऽयं श्वयथोर्विनिवारणः ॥ ७६ ॥

सूखी मूली, नागरमोथा तथा सारिवा को गोमूत्र में पीसकर लेप करने से शोथ नष्ट हो जाता है ॥ ७६ ॥

पलाशभस्म चैकाङ्गलेपो गोमूत्रसंयुतः ।
श्लैष्मिके श्वयथावेष परिषेको विधीयते ॥ ७७ ॥
पञ्चमूलशृतं तोयं गोमूत्रं वाऽपि केवलम् ।

पलाश (ढाक) की भस्म को गोमूत्र में मिलाकर अङ्ग पर लेप करना चाहिये । श्लैष्मिक श्वयथु में पञ्चमूल से सिद्ध किये हुए जल अथवा अकेले गोमूत्र के द्वारा परिषेचन करना चाहिये ॥ ७७ ॥

निम्बाङ्कोठोरुपूगानां तर्कार्याः कुटजस्य च ॥ ७८ ॥
नक्तमालस्य वंशस्य पत्रक्राथोऽवगाहनः ।

नीम, अङ्कोठ (Alangium Decapetalum–निकोचक), एरण्ड, तर्कारी (अग्निमन्थ–अरणी), कुटज, नक्तमाल (करञ्ज) तथा बांस के पत्तों के क्वाथ से अवगाहन करना चाहिये ॥७८॥

त्रिफला चित्रकवचे द्वे हरिद्रे कुठेरकः ॥ ७९ ॥
श्यामाखुपर्णीकटुकाकाकमाचीसुत्रचेलाः ।
वार्ताकी निचुलं निम्बो विडङ्गं विश्वभेषजम् ॥ ८० ॥
रास्ना पुनर्नवा मूर्वा कुष्ठं व्याघ्रनखं वृषम् ।
शिग्रुमूलमथार्कं च यथालाभं समाहृतैः ॥ ८१ ॥
गोमूत्रपिष्टैर्लेपः स्यात् कथितैः परिषेचनम् ।
एतैरेव द्रवैः पक्वैरभ्यङ्गः शोथनाशनः ॥ ८२ ॥

त्रिफला, चित्रक, बच, हल्दी, दारुहल्दी, कुठेरक (श्वेत तुलसी भेद–हाराणचन्द्र), श्यामा (त्रिवृत्–काली निशोथ), आखुपर्णी, कुटकी, मकोय, हुलहुल, वार्ताकी (बैंगन), निचुल (हिज्जल–समुद्रफल), नीम, विडङ्ग, सोंठ, रास्ना, पुनर्नवा, मूर्वा (मोरबेल), कुष्ठ, व्याघ्रनख (नखी–व्याघ्रनख नामक गन्धद्रव्य), वृष (बांसा), सहिजने की जड़ तथा आक इनमें से जो २ द्रव्य मिल सकें उन्हें लेकर गोमूत्र में पीसकर लेप करें तथा इन्हीं के क्वाथ से परिषेक और इन्हीं द्रव्यों को पकाकर अभ्यङ्ग करने से शोथ नष्ट होता है ॥७९–८२॥

पटोलमूलं त्रिफला विडङ्गं रजनीति षट् ।
कार्षिकाः स्युस्तथैकस्माद् द्विगुणं रोचनीफलम् ॥८३॥
नीलिका त्रिगुणा देया त्रिवृता तु चतुर्गुणा ।
चूर्णमेतद्द्रवां मूत्रसंयुतं मात्रया पिबेत् ॥ ८४ ॥
काले विरिक्तो भुञ्जीत जाङ्गलानां रसेन तु ।

पटोल की जड़, त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आंवला), विडङ्ग तथा हल्दी–ये छओं द्रव्य प्रत्येक १ कर्ष, जमालगोटा इससे दुगुना (अर्थात् २ कर्ष), नीलिका (विद्रुमलता अथवा रुक्मलौह) तिगुना (अर्थात् ३ कर्ष) तथा त्रिवृत् चौगुना (अर्थात् ४ कर्ष)–इनका चूर्ण योग्यमात्रा में गोमूत्र में मिलाकर पीये । इससे उचित समय में विरेचन हो जाने के बाद जांगल मांसरस का भोजन करना चाहिये ॥ ८३–८४ ॥

त्रिफला सरलं दारु रजन्यो रोहिणी वचा ॥ ८५ ॥
पिप्पली पिप्पलीमूलं नागरातिविषे घनम् ।
क्षारद्वयं विडङ्गं च पाठाऽगरु सचित्रकम् ॥ ८६ ॥
अयोरजश्च चूर्णानि गोमूत्रेण विपाचयेत् ।

(इति ताडपत्रपुस्तके २४३ तमं पत्रम् ।)

द्रा(क्षाव)लयमाहृत्य गुटिका बदरोपमाः ॥ ८७ ॥
कृत्वाऽथैकां ततो द्वे वा पिबेदुष्णेन वारिणा ।
मुच्यते कफजाच्छोफादेवं श्वयथुपीडितः ॥ ८८ ॥
एषा हि ग्रहणीदोषं पाण्डुरोगं कफात्मकम् ।
कफार्शांसि च वृद्धिं च प्रमेहं च शमं नयेत् ॥ ८९ ॥

त्रिफला, सरल (चीड़), देवदारु, हल्दी, दारुहल्दी, रोहिणी, बच, पिप्पली, पिप्पलीमूल, सोंठ, अतीस, घन (नागरमोथा), दोनों क्षार (सर्जक्षार तथा यवक्षार), विडङ्ग, पाठा, अगरु, चित्रक तथा लोहचूर्ण–इन सबका चूर्ण करके गोमूत्र से पकाये । फिर मुनक्के के साथ पीसकर बेर के समान गोलियां बनाये । ये एक या दो गोलियां उष्ण जल के साथ सेवन करनी चाहिये । इस प्रकार कफज शोथ से पीडित रोगी शोथ से मुक्त हो जाता है । यही प्रयोग ग्रहणी दोष, श्लैष्मिक पाण्डु, श्लैष्मिक अर्शरोग, वृद्धि तथा प्रमेह रोग को शान्त करता है ॥ ८५–८९ ॥

पञ्चमूलं वरुणकं सरलं देवदारु च ।
हस्तिकर्णपलाशश्च फलानि निचुलस्य च ॥ ९० ॥
पलाशः काकला काला गुडूची देवपुष्पकम् ।
अहिंस्रा श्रेयसी हिंस्रा कृष्णगन्धा पुनर्नवा ॥ ९१ ॥
कायस्था च वयःस्था च चोरको जटिला जटा ।
अलम्बुषं सोरुपूगं प्रपुन्नाडं सनागरम् ॥ ९२ ॥
शिग्रुर्गोधापदी भार्गी तर्कारी शुष्कमूलकम् ।
एतैः सिद्धं यथालाभं तैलमभ्यञ्जनैस्त्रिभिः ॥ ९३ ॥
निहन्त्युदीर्णश्वयथुं जन्तोर्वातकफोत्तरम् ।

पञ्चमूल (बृहत् पञ्चमूल–बिल्व, श्योनाक, गंभारी, पाटला, गणिकारिका), वरुण, सरल (चीड़), देवदारु, हस्तिकर्ण पलाश (गजकर्णाकार पत्र वाला पलाश भेद–भूपलाश), निचुल (जलवेतस्) के फल, पलाश, काकला (षष्टि धान्य जाति भेद), काला (त्रिवृत्–काली निशोथ), गिलोय, लौंग, अहिंस्रा (कण्टकपाली), श्रेयसी (हरड़), हिंस्रा (जटामांसी अथवा कण्टकारी), कृष्णगन्धा (शोभाञ्जन–सहिजना), पुनर्नवा, कायस्था (आंवला), वयस्था (हरड़), चोरक (गन्धद्रव्य विशेष–ग्रन्थिपर्णकभेद–डल्लण, भटेउर), जटिला (जटामांसी), जटा (भूम्यामलकी), अलम्बुष (भूकदम्ब), उरुबूक (एरण्ड), प्रपुन्नाट (चक्रमर्द–पवाड), सोंठ, सहिजना, गोधापदी (हंसपदी), भारंगी, तर्कारी (अग्निमन्थ), सूखीमूली–इनमें से जो २ औषध मिल सके उनसे सिद्ध किये हुए तैल का अभ्यङ्ग करने से तीनों प्रकार के विशेषकर वात एवं कफ की प्रधानता वाले शोथ नष्ट हो जाते हैं ॥ ९०–९३ ॥

उभे हरिद्रे मञ्जिष्ठा यष्टीमधुकचन्दनम् ॥ ९४ ॥
पिप्पल्यो बालकं चैव पीतद्रुः पद्मकं तथा ।
मांस्युशीरं सतगरमेलाऽगरु कुटन्नटम् ॥ ९५ ॥
श्रीवेष्टकं सर्जरसं मूर्वाकुष्ठप्रियङ्गवः ।
एतैस्तैलं विपक्तव्यमभ्यङ्गाच्छोथनाशनम् ॥ ९६ ॥

हल्दी, दारुहल्दी, मंजीठ, मुलहठी, रक्तचन्दन, पिप्पली, बालक (ह्रीबेर), पीतद्रु (सरल-चीड़), पद्माख, जटामांसी, खस, तगर, छोटी इलायची, अगर, कुटन्नट (भद्रमुस्ता), श्रीवेष्टक, (सरल निर्यास-गन्धाबिरोजा), सर्जरस (राल-Resin), मूर्वा (मोरबेल), कुष्ठ तथा प्रियङ्गु—इन ओषधियों से तैल सिद्ध करके पकाना चाहिये। यह शोथ को नष्ट करता है ॥ ९४-९६ ॥

क्रियैषा दोषजस्योक्ताऽऽगन्तोर्वीसर्पवत् क्रिया ।
अग्निसादो ज्वरस्तृष्णा कार्श्यारुचितमोभ्रमाः ॥ ९७ ॥
श्वासव्रणातिसाराश्च स्वैश्चिकित्स्या उपद्रवाः ॥ ९८ ॥

यह दोषज (निज) शोथ की चिकित्सा कही गई है। आगन्तु शोथ की विसर्प के समान चिकित्सा करनी चाहिये। शोथ के उपद्रव—अग्निमान्द्य, ज्वर, तृष्णा, कृशता, अरुचि, तमोगुण की प्रधानता, भ्रम (शिरोभ्रम), श्वास, व्रण, अतिसार, ये शोथ के उपद्रव होते हैं। इन उपद्रवों की अपनी २ चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ९७-९८ ॥

इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ अभ्र (१०६)
(इति) खिलेषु श्वयथुचिकित्साध्यायः सप्तदशः ॥ १७ ॥

ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था ॥ अभ्र (१०६)
(इति) खिलेषु श्वयथुचिकित्सिताध्यायः सप्तदशः ॥ १७ ॥

अथ शूलचिकित्साध्यायोऽष्टादशः ।

अथातः शूलचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ २ ॥

अब हम शूल चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था ॥ १-२ ॥

क्षोभात्रासाध्ययनातिप्रसङ्गात्
क्षुत्काले चात्यम्भसः पानदोषात् ।
वेगानां वा निग्रहाद्यानयाना-
दामाद्भ्रंशसाद्रूक्षधान्याशनाद्वा ॥ ३ ॥
क्रुद्धो वायुः कर्तनायामतोदैः
कम्पाध्मानैराविशन् कुक्षिदेशे ।
शूलं पित्तेनान्वितः श्लेष्मणा वा
द्वाभ्यां वाऽपि प्रेर्यमाणः करोति ॥ ४ ॥

शूल का निदान तथा संप्राप्ति—क्षोभ, त्रास (डर) तथा अध्ययन के अतिप्रसङ्ग (अत्यन्त प्रयोग करने) से, भूख के समय अत्यधिक पानी पीने से, वेगों के निग्रह से, सवारियों में बैठकर चलने से, आमदोष से, भ्रंश (गिरने) से अथवा रूक्ष धान्य के सेवन आदि से प्रकुपित हुआ वायु कर्तन (काटने के समान पीड़ा), आयाम (थकावट), तोद (वेदना), कम्पन तथा आध्मान सहित कुक्षिप्रदेश में प्रविष्ट होकर पित्त, कफ अथवा दोनों से युक्त एवं प्रेरित होता हुआ शूल को उत्पन्न कर देता है ॥ ३-४ ॥

वाताच्छूलं क्षुधितस्योग्ररूपं
घोरैर्वेगैर्यन्निरुच्छ्वासकर्तृ ।
विद्याद्भुक्ते जीर्यति स्वेददाह-
तृष्णार्तस्य प्रततं पित्तशूलम् ॥ ५ ॥
मन्दाबाधं स्तिमितं भुक्तमात्रे
कफोद्रेकात् स्तम्भहृल्लासकर्तृ ।
विद्याच्छूलं सन्निपाताच्चतुर्थं
सर्वैर्लिङ्गैर्दुःसहं तत्त्वसाध्यम् ॥ ६ ॥

वातिकशूल—यह भूखे अथवा खाली पेट बढ़ जाती है तथा शूल के तीव्र वेग के समय श्वास रुक जाता है। पैत्तिक शूल—यह शूल भोजन के जीर्ण होने के बाद होती है। इसमें रोगी अत्यधिक स्वेद, दाह तथा तृष्णा से पीडित रहता है। श्लैष्मिक शूल—इस शूल में रोगी को कष्ट अधिक नहीं होता है, रोगी स्तिमित सा रहता है, भोजन करने के तुरन्त बाद यह शूल प्रारम्भ होती है तथा इसमें स्तम्भ एवं हृल्लास (जी मचलाना) आदि लक्षण होते हैं। सान्निपातिक-शूल—चौथी सान्निपातिक शूल होती है जिसमें उपर्युक्त सब दोषों के लक्षण विद्यमान होते हैं। यह दुःसह एवं असाध्य होती है ॥ ५-६ ॥

वायुः प्रोक्तो बलवानुग्रवेगः
(सोऽयं)क्रुद्धो देहमाश्वेव हन्ति ।
तस्मादादावर्दितं वातशूले-
नाऽभ्यक्ताङ्गं स्वेदयेदाशु वैद्यः ॥ ७ ॥
वातघ्नोष्णैरवगाहोपनाहैः
पिण्डस्वेदैरुष्णकैः पायसैर्वा ।

वायु अत्यन्त बलवान् तथा उग्रवेग वाला होता है। यह क्रुद्ध (प्रकुपित) होने पर शरीर को शीघ्र ही नष्ट कर देता है। इसलिये वातशूल से पीडित रोगी का सर्वप्रथम स्नेहन कराकर वैद्य को वातनाशक तथा उष्ण अवगाह, उपनाह, पिण्डस्वेद तथा उष्ण पायस (पायसोदन-खीर) आदि के द्वारा स्वेदन करना चाहिये ॥ ७ ॥

एणादीनां जाङ्गलानां रसांश्च
लावादीनां चान्वितान् सैन्धवेन ॥ ८ ॥
स्निग्धोष्णाम्लान् शीलयेद्वातशूली
वातघ्नैर्वा साधितं क्षीरमुष्णम् ॥ ९ ॥
तैलं शुक्तं मस्तु सौवीरकं च
पिबेच्छूली सह सौवर्चलेन ।

वातिकशूल से पीडित रोगी को चाहिये कि वह हरिण, जांगल पशु-पक्षी तथा लाव का लवणयुक्त मांसरस, स्निग्ध, उष्ण एवं अम्ल पदार्थ, वातघ्न ओषधियों से सिद्ध किया हुआ दूध तथा सौवर्चल लवणयुक्त तैल, शुक्त (सिरका), मस्तु तथा सौवीरक (जौ तथा गेहूँ से बनी हुई कांजी) का सेवन करे॥

श्यामां शुण्ठीं सैन्धवं तुम्बुरूणि
हिङ्गु क्षारं यावशूकं विडं च ॥ १० ॥
श्लक्ष्णं पिष्ट्वा प्रवराह्वं शटिं च
पेयं कोष्णं चाम्भसा वातशूले ।

वातिक शूल में श्यामा (त्रिवृत्), सोंठ, सैन्धव, तुम्बुरु (नैपाली धनिया अथवा तेजबल), हींग, क्षार (सर्जक्षार), यवक्षार, विडलवण, प्रवर (अगरु) तथा शटी (कचूर-कपूर-कचरी)—इन्हें बारीक पीसकर गर्म करके जल के साथ सेवन करना चाहिये ॥ १० ॥

क्षीरं पीत्वा शीतलं पित्तशूली
वमेत् कामं शर्करावारिणा वा ॥ ११ ॥
शूलार्तं वा शङ्खकुन्देन्दुगौरै-
र्मुक्ताहारैः संस्पृशेत् पङ्कजैर्वा ।
रौप्यैः कांस्यैः स्फाटिकैः काञ्चनैर्वा
(तोया)सिक्तैर्भाजनैश्चन्द्रशीतैः ॥ १२ ॥
यस्मिञ्छूलं संस्पृशेत्तं प्रदेशं
भूयो भूयः कदलीनां दलैर्वा ।
मृद्वीं शय्यां बिसिनीपत्रभक्ति-
न्यासोपेतां चन्दनाम्बुप्रसिक्ताम् ॥ १३ ॥
शीते वेश्मन्यहतां सोपधानां
सेवेतान्तःप्रस्फुरत्पद्मपत्राम् ।

पैत्तिक शूल के रोगी को शीतल दूध पीकर अथवा पानी में खाण्ड मिलाकर उसका सेवन करके यथेच्छ वमन कर देना चाहिये । उस शूल से पीडित व्यक्ति के शरीर का शंख, कुन्द तथा चन्द्रमा के समान श्वेत कमल की मालाओं के द्वारा तथा चन्द्रमा के द्वारा अथवा चन्द्रमा के समान शीतल (अथवा चन्द्र-कर्पूर डालकर शीतल किये हुए), चांदी, कांसी, स्फटिक तथा सोने के जलपूर्ण पात्रों का स्पर्श कराना चाहिये । अथवा जिस स्थान पर शूल हो उसे बार २ कदली-दलों (केले के पत्तों) के द्वारा स्पर्श कराना चाहिये । उस रोगी को शीतल घर में मृदु, बिसिनी (मृणाल) पत्र से युक्त, चन्दन के अर्क से सींची हुई, उपधान (तकिये) से युक्त, बिना टूटी हुई तथा जिसमें पद्मपत्र विकसित हों ऐसी शय्या का प्रयोग करना चाहिये ॥ ११-१३ ॥

हृद्याः शीता मधुरा भेदनीयाः
पेयाः सिद्धाः शीतला वा कषायाः ॥ १४ ॥
(इति ताडपत्रपुस्तके २४४ तमं पत्रम् ।)
क्षौद्रोन्मिश्राः स्वादवः पित्तशूल-
स्योच्छेदार्थं शर्कराचूर्णयुक्ताः ।

तथा पित्त शूल को नष्ट करने के लिये रोगी को मधु एवं शर्करा चूर्ण मिश्रित स्वादु, हृद्य, शीतल, मधु तथा विरेचन गुणयुक्त सिद्ध की हुई पेया अथवा शीतल कषाय का प्रयोग करना चाहिये ॥ १४ ॥

सामे सोत्क्लेशे भोजने वा विदग्धे
संशुद्ध्यर्थं सैन्धवोष्णोदकेन ॥ १५ ॥
कुर्यात् कामं वमनं श्लेष्मशूले
वान्तं चैनं लङ्घितं सुप्रतान्तम् ।
क्षारोपेतं पाययेत् पाचनीयं
पिप्पल्यादिक्काथमुष्णं सहिङ्गु ॥ १६ ॥
तत्सिद्धां वा भोजयेत्तं यवागूं
संसृष्टान्नैः क्रमशो वा निषेवेत् ।
चूर्णं सर्पिर्वटकक्षारबस्तीन्
कल्कक्काथान् भागशः कल्पशश्च ॥ १७ ॥

श्लैष्मिक शूल में आम रस का उत्क्लेश होने पर अथवा भोजन के विदग्ध होने पर संशोधन के लिये लवणयुक्त गरम पानी से यथेच्छ वमन कराये । वमन के बाद उसे लङ्घन कराकर क्षार मिलाकर कोई पाचन योग पिलाये, गरम २ पिप्पल्यादि क्वाथ में हींग मिलाकर देवे अथवा इसी क्वाथ से सिद्ध की हुई यवागू खिलाये या संसर्जन क्रम से भोजन कराये । इसके अतिरिक्त चूर्ण, सर्पि, वटक, क्षार, बस्ति, कल्क तथा क्वाथ का योग्य परिमाण एवं कल्प के अनुसार प्रयोग करना चाहिये ॥ १५-१७ ॥

शूलाटोपानाहगुल्मामयघ्नं
सिद्धं प्रोक्तमृषिभिर्ध्यानयोगात् ॥ १८ ॥
हिङ्गुपाठात्रिकटुकक्षारसैन्धवचित्रकान् ।
हपुषामभयां चव्यमजाजीधान्यपुष्करान् ॥ १९ ॥
अम्लवेतसवृक्षाम्लयवानीदाडिमानि च ।
शटिं सौवर्चलं चैव सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत् ॥ २० ॥
एतद्धि चूर्णमुष्णाम्बुदधिमस्तुसुरासवैः ।
पीतमानाहहृद्बस्तिशूलगुल्मार्तिनाशनम् ॥ २१ ॥

ऋषियों ने ध्यान (समाधि) के बल से शूल, आटोप, आनाह तथा गुल्म रोगों को नष्ट करने वाला निम्न सिद्ध योग कहा है—हींग, पाठा, त्रिकटु, सर्जक्षार, सैन्धव, चित्रक, हाऊ-

बेर, हरड़, चव्य, अजाजी (अजवायन), धनिया, पुष्करमूल, अम्लवेत, वृक्षाम्ल (तिन्तिडीक-विषांविल), यवानी, अनारदाना, कपूर कचरी, सौवर्चल, इन सबका सूक्ष्म चूर्ण कर ले। यह चूर्ण उष्णजल, दधिमस्तु, सुरा एवं आसव से सेवन करने पर आनाह, हृच्छूल, बस्तिशूल तथा गुल्म रोग को नष्ट करता है ॥ १८–२१ ॥

प्लीहार्शोग्रहणीदोषकासश्वासानुरोग्रहम् ।
मातुलुङ्गरसैर्युक्तं हन्ति मूत्रग्रहं तथा ॥ २२ ॥

उपर्युक्त चूर्ण को ही यदि बिजौरे नीम्बू के रस से सेवन किया जाय तो वह प्लीहावृद्धि, अर्श, ग्रहणी विकार, कास, श्वास, उरोग्रह तथा मूत्रग्रह को नष्ट करता है ॥ २२ ॥

अम्लवेतसवृक्षाम्लयवानीक्षारचित्रकम् ।
हिङ्गुचव्योषकशटीजीवन्तीत्रिकटूनि च ॥ २३ ॥
पिप्पलीं पिप्पलीमूलं बदरं शिरिवारिकाम् ।
नागदन्तीं च बिल्वं च तथा लवणपञ्चकम् ॥ २४ ॥
समभागानि मतिमान् सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत् ।
रसेन मातुलुङ्गस्य वटकान् कारयेत्ततः ॥ २५ ॥
गुल्मोदावर्तशूलेषु पिबेदेतान्महागुणान् ।
सुखोष्णवारिमद्याम्लैर्मूत्रकृच्छ्रे तथैव च ॥ २६ ॥
हृद्रोगेषु गुदभ्रंशमेढ्रबस्तिरुजासु च ।

अम्लवेतस, वृक्षाम्ल (तिन्तिडीक-विषांबिल), अजवायन, सर्जक्षार, चित्रक, हींग, चव्य, ऊषक (मृत्तिका क्षार अथवा टंकण क्षार–सुहागा), कपूर कचरी, जीवन्ती, त्रिकटु, पिप्पली, पिप्पलीमूल, बेर, शिरिवारिका (चांगेरी), नागदन्ती (स्थूलमूल दन्ती), बिल्व, पांचो नमक (सौवर्चल, सैन्धव, विड, उद्भिद्, सामुद्र) ये सब समभाग लेकर सूक्ष्म चूर्ण करे। मातुलुङ्ग के रस से इनकी गोलियां बनाये। ईषदुष्ण जल, मद्य तथा अम्ल (कांजी) के अनुपान से इनका गुल्म, उदावर्त, शूल, मूत्रकृच्छ्र, हृद्रोग, गुदभ्रंश, मेढ्रशूल तथा बस्तिशूल में प्रयोग करना चाहिये ॥ २३–२६ ॥

विडदाडिमहिङ्गूनि सैन्धवं मरिचं तथा ॥ २७ ॥
मातुलुङ्गरसैर्युक्तं शूलाटोपहरं पिबेत् ।

विड नमक, अनारदाना, हींग, सैन्धव तथा मरिच को मातुलुङ्ग के रसमें मिलाकर पीने से शूल तथा आटोप (पेट में वायु के कारण होने वाली गड़गड़ाहट) शान्त होते हैं ॥ २७ ॥

एतानि व्योषपृथ्वीकाचव्यचित्रकसैन्धवैः ॥ २८ ॥
साजाजिपिप्पलीमूलयुतैर्वा पथ्यमुत्तमम् ।

उपर्युक्त योग, त्रिकटु, पृथ्वीका (जीरा या बड़ी इलायची), चव्य, चित्रक, सैन्धव, अजाजी (कालाजीरा) तथा पिप्पलीमूल के साथ सेवन करने से उत्तम पथ्य है ॥ २८ ॥

सौवर्चलवचाहिङ्गुत्र्यूषणं सहरीतकम् ॥ २९ ॥
सुरेशयवसंयुक्तं हन्ति शूलबलं क्षणात् ।

सौवर्चल, बच, हींग, त्रिकटु, हरड़ तथा इन्द्रजौ का चूर्ण क्षण भर में ही शूल के वेग को नष्ट कर देता है ॥ २९ ॥

पलिकान् घृतसंयुक्तान् सक्तुसैन्धवचित्रकान् ॥ ३० ॥
वचां चैवैकतः कृत्वा कटाहे प्रदहेद्भिषक् ।
प्रदीप्तमवतार्याथ तं क्षारं मात्रया पिबेत् ॥ ३१ ॥
तण्डुलोदकसंयुक्तं शूलगुल्मरुजापहम् ।

वैद्य सत्तू, सैन्धव, चित्रक तथा बच–प्रत्येक १ पल का सूक्ष्म चूर्ण करके कढाई में डालकर जलाये। अत्यन्त प्रदीप्त होने पर उसे उतार ले। इस क्षार का उचित मात्रा में तण्डुलोदक के साथ सेवन करने से शूल तथा गुल्म रोग नष्ट होते हैं ॥ ३०–३१ ॥

पञ्चमूलयवक्वाथयुक्तमेरण्डजं पिबेत् ॥ ३२ ॥

उपर्युक्त प्रयोजन के लिये ही पञ्चमूल तथा जौ के क्वाथ के साथ एरण्ड के क्षार का प्रयोग करना चाहिये ॥ ३२ ॥

तैलं वाय्वात्मके शूले द्राक्षाक्वाथयुतं तथा ।
सशर्करं पित्तशूले पित्तगुल्मे प्लिहेषु च ॥ ३३ ॥

वातिक शूल में द्राक्षा के क्वाथ के साथ तथा पैत्तिक शूल, पैत्तिक गुल्म तथा प्लीहारोग में शर्करा के साथ तिलतैल का प्रयोग करना चाहिये ॥ ३३ ॥

दाडिमव्योषहपुषापृथ्वीकाक्षारचित्रकैः ।
साजाजिपिप्पलीमूलचव्यदीप्यकसैन्धवैः ॥ ३४ ॥
समांशैर्विपचेत् सर्पिः सक्षीरं मृदुनाऽग्निना ।
कोलमूलकयूषेण संयुक्तं वातगुल्मनुत् ॥ ३५ ॥
शूलानाहश्वासकासविषमज्वरहृद्ग्रहान् ।
अरुचिग्रहणीदोषशूलपाण्ड्वामयांस्तथा ॥ ३६ ॥
योनिदोषांश्च हन्त्येतदमृतप्रतिमं घृतम् ।

अनार दाना, त्रिकटु, हाऊबेर, पृथ्वीका (बड़ी इलायची), सर्जक्षार, चित्रक, अजाजी (कालाजीरा), पिप्पलीमूल, चव्य, दीप्यक (यमानी–अजमोद), सैन्धव–समभाग लेकर थोड़े दूध के साथ मृदु अग्नि पर घृत पाक करे। यह घृत बेर तथा मूली के यूष के साथ मिलाकर सेवन करने से वातगुल्म को नष्ट करता है। तथा अमृत के समान यह घृत शूल, आनाह, श्वास, कास, विषमज्वर, हृद्ग्रह, अरुचि, ग्रहणी विकार, शूल, पाण्डुरोग तथा योनिरोगों को नष्ट करता है ॥ ३४–३६ ॥

बिल्वकुष्ठयवक्षारवचाचित्रकसैन्धवैः ॥ ३७ ॥
एनीयकविडव्योषतिन्तिडीकाम्लवेतसैः ।
हिङ्गुसौवर्चलाजाति(जि)दाडिमेन्द्रयवैस्तथा ॥ ३८ ॥
पुनर्नवाकारवीभ्यां हंसपद्या च साधितम् ।
घृतं चतुर्गुणे दध्नि शुक्तकाति(जि)कसंयुतम् ॥ ३९ ॥
द्विपञ्चमूलकोलानां कुलत्थानां रसेन च ।
शूलगुल्मानिलोत्कम्पग्रन्थीनर्दितहृद्ग्रहान् ॥ ४० ॥

वातकुण्डलिकावर्तमेतत् सर्पिरपोहति ।

बिल्व, कुष्ठ, यवक्षार, बच, चित्रक, सैन्धव, एनीयक (?), विड लवण, त्रिकटु, तिन्तिडीक (विषांविल), अम्लवेतस, हींग, सौवर्चल, अजाजी, अनारदाना, इन्द्रजौ, पुनर्नवा, कारवी (कालाजीरा) तथा हंसपदी के चूर्ण में घृत डालकर उसमें घृत से चतुर्गुण दही, शुक्त (सिरका), कांजी और दोनों पञ्चमूल (अर्थात् दशमूल), कोल तथा कुलत्थ का रस डालकर घृतपाक विधि से घृत सिद्ध करें। इस घृत के सेवन से शूल, गुल्म, वातकम्प, ग्रन्थिरोग, अर्दित, हृद्ग्रह, वातकुण्डलिका (मूत्राघात रोग) तथा आवर्त (भ्रम) रोग नष्ट होते हैं॥

सौवर्चलयवक्षारवचात्र्यूषणचित्रकैः ॥ ४१ ॥
हरीतकीविडङ्गाभ्यां पयसा चैव साधितम् ।
(इति ताडपत्रपुस्तके २४५ तमं पत्रम् ।)
संयुक्तं भद्ररोहिण्या दशाङ्गं शूलनुद् घृतम् ॥ ४२ ॥
प्लीहगुल्मक्रिमिश्वासकासहिक्काविनाशनम् ।

सौवर्चल, यवक्षार, बच, त्रिकटु (सोंठ, मरिच, पीपल), चित्रक, हरड़, विडङ्ग तथा भद्ररोहिणी इन दस द्रव्यों से दूध डालकर घृतपाक विधि से घृत सिद्ध करें। यह घृत शूल, प्लीहा, गुल्म, कृमि, श्वास, कास तथा हिक्का को नष्ट करता है॥

शतपुष्पावचाकुष्ठपिप्पलीफलसैन्धवैः ॥ ४३ ॥
सर्षपद्वयसंयुक्तां फलवर्तिं प्रयोजयेत् ।
एषाऽऽध्मानमुदावर्तं शूलं चाशु व्यपोहति ॥ ४४ ॥
उष्णोदकस्नेहयुक्तं मूत्रक्षौद्राम्लकाञ्जिकैः ।
संयोज्यैकत्र मतिमानेभिश्चूर्णैः समावपेत् ॥ ४५ ॥

सौंफ, बच, कुष्ठ, पिप्पली, मैनफल, सैन्धव तथा सफेद और पीली सरसों के चूर्ण को एकत्र पीसकर उष्णजल, स्नेह (तैल), गोमूत्र, मधु, खटाई तथा कांजी के साथ मिलाकर फलवर्ति[1] (गुदवर्ती-Suppository) बनाये। इसके प्रयोग से आध्मान, उदावर्त तथा शूल आदि शीघ्र नष्ट होते हैं॥४३-४५॥

शताह्वापिप्पलीकुष्ठवचानां देवदारुणः ।
पूतीकस्य हरेणूनां बिल्वानां मदनस्य च ॥ ४६ ॥
शूलानाहविबन्धघ्नमिमं बस्तिं प्रदापयेत् ।
आस्थापनप्रमाणेन स्निग्धस्विन्नस्य देहिनः ॥ ४७ ॥
संरुद्धे वायुना मूत्रे प्रतिस्तब्धे तथोदरे ।
पुरीषे च विमार्गस्थे चूर्णबस्तिरयं हितः ॥ ४८ ॥

स्नेहन एवं स्वेदन करने के बाद रोगी को आस्थापन बस्ति के प्रमाण के अनुसार शताह्वा (सोया), पिप्पली, कुष्ठ, बच, देवदारु, पूतीक (करञ्ज), हरेणु, बिल्व तथा मैनफल के चूर्ण की बनाई हुई बस्ति देनी चाहिये। यह शूल, आनाह तथा विबन्ध (मलबन्ध) को नष्ट करती है। यह चूर्ण बस्ति (उपर्युक्त चूर्णों के द्वारा बनाई हुई बस्ति) वायु के द्वारा मूत्र के रुक जाने, पेट के स्तब्ध होने तथा पुरीष (मल) के विपरीत मार्ग में चले जाने पर हितकारी होती है॥ ४५-४८॥

वारिद्रोणे पलान्यष्टौ पचेद्गन्धपलाशकात् ।
ततः कषायं तु वचापिप्पलीफलसैन्धवैः ॥ ४९ ॥
संयुक्तं क्षौद्रतैलाभ्यां शताह्वाकुडवेन च ।
दद्यान्निरूहमानाहपार्श्वहृद्बस्तिशूलिनाम् ॥ ५० ॥

एक द्रोण जल में ८ पल गन्धपलाश (गन्धशटी-कपूरकचरी) को पकाकर कषाय बनाये। उस कषाय में बच, पिप्पली, मैनफल, सैन्धव, मधु, तैल तथा सोया एक कुडव डाले। आनाह, पार्श्वशूल, हृच्छूल तथा बस्तिशूल के रोगियों को यह निरूह (आस्थापन) बस्ति देवे॥ ४९-५०॥

बलवर्णाग्निजननं श्रोणिगुल्मरुजापहम् ।
कुलत्थयवकोलानि पञ्चमूलद्वयं तथा ॥ ५१ ॥
क्वाथयेत्तं जलद्रोणे ततस्तं तैलसंयुतम् ।

कुलत्थ, यव, कोल तथा दोनों पञ्चमूल को एक द्रोण जल में पकाकर क्वाथ बनाये। इस क्वाथ में तैल मिलाकर बस्ति के रूप में प्रयोग करने से बल, वर्ण तथा जाठराग्नि की वृद्धि होती है तथा श्रोणि और गुल्म रोग नष्ट होते हैं॥ ५१॥

कषायं पिप्पलीकुष्ठवचेन्द्रयवसर्षपैः ॥ ५२ ॥
हरेणुकासैन्धवाभ्यां तगरेण घृतेन वा ।
तन्निरूहमुदावर्तकुष्ठगुल्मोपशान्तये ॥ ५३ ॥
दद्याच्चैवेदमाश्वेव बलवर्णाग्निवर्धनम् ।
तैलपक्वाशनं धीरः कल्कपेष्यैर्विपाचितम् ॥ ५४ ॥

पिप्पली, कुष्ठ, बच, इन्द्रजौ, सरसों, हरेणु, सैन्धव, तगर तथा घृत की निरूह (आस्थापन) बस्ति देने से उदावर्त, कुष्ठ तथा गुल्मरोग शान्त होते हैं। उपर्युक्त द्रव्यों के कल्क को पीसकर तथा तैल में पकाकर प्रयोग करने से शीघ्र ही बल, वर्ण तथा जाठराग्नि की वृद्धि होती है॥ ५२-५४॥

पिप्पलीबिल्वमधुकशताह्वाफलचित्रकैः ।
देवदारुवचाकुष्ठपुष्कराख्यैश्च संयुतम् ॥ ५५ ॥
समांशैर्द्विगुणक्षीरं तदुदावर्तिनां हितम् ।
शूलानाहगुदभ्रंशवर्चोमूत्रविनिग्रहान् ॥ ५६ ॥
कट्यूरुपृष्ठशूलार्शोमूढवातांश्च नाशयेत् ।
गुदशूलं तथोत्थानं बहुशः सप्रवाहिकम् ॥ ५७ ॥

पिप्पली, बिल्व, मुलहठी, शताह्वा, मैनफल, चित्रक, देवदारु, बच, कुष्ठ तथा पुष्करमूल-सब समभाग लेकर इसमें द्विगुण दूध मिलाकर क्षीरपाक करें। यह योग उदावर्त के रोगियों को हितकर है। इसके प्रयोग से शूल, आनाह, गुदभ्रंश, वर्चोग्रह (मलबन्ध), मूत्रग्रह (मूत्र का रुक जाना), कटिशूल, ऊरुशूल, पृष्ठशूल, अर्श, मूढवात (वायु का न

१. घृताभ्यक्ते गुदे क्षिप्ता श्लक्ष्णा स्वाङ्गुष्ठसन्निभा ।
मलप्रवर्तिनी वर्तिः फलवर्तिश्च सा स्मृता ॥

सरना), गुदशूल, उत्थान (मलरोग) तथा प्रवाहिका (Dysentry) रोग नष्ट होते हैं ॥ ५५-५७ ॥

कुष्ठं विडङ्गातिविषादारुदार्वीहरेणुकाः ।
एलाऽजमोदा ह्रीबेरं नागरं पुष्करं शटी ॥ ५८ ॥
स्थिरा सकट्फला रास्ना पिप्पल्यश्चव्यचित्रकम् ।
श्यामा शताह्वा यष्ट्याह्वा सैन्धवं मदनं वचा ॥ ५९ ॥
निचुलं नीलिनी दन्ती बिल्वं चाक्षार्धसंश्रि(मि)तैः ।
गन्धर्वतैलं तैलं वा पचेत्तदनुवासनम् ॥ ६० ॥
गुल्माढ्यवातशूलार्शःप्लीहोदावर्तवृद्धिनुत् ।
सकुण्डलं मूत्रकृच्छ्रमानाहं च व्यपोहति ॥ ६१ ॥

कुष्ठ, विडङ्ग, अतीस, देवदारु, दारुहल्दी, हरेणु, एला, अजमोद, ह्रीबेर (बालक), सोंठ, पुष्करमूल, कपूरकचरी, स्थिरा (शालपर्णी), कायफल, रास्ना, पिप्पली, चव्य, चित्रक, श्यामा (त्रिवृत्), शताह्वा, मुलहठी, सैन्धव, मैनफल, बच, निचुल (जलवेतस), नील, दन्ती, बिल्व-सब आधा २ अक्ष (½ तोला) लेवें । इनके कल्क के द्वारा एरण्ड अथवा तिल का तेल पकायें । इस तैल का अनुवासन (स्नेहवस्ति) करने से गुल्म, आढ्यवात[1] (वातरक्त), शूल, अर्श, प्लीहा, उदावर्त, वृद्धि, कुण्डल, मूत्रकृच्छ्र तथा आनाहरोग नष्ट होते हैं॥

शतार्धं दशमूलस्य मदनानां तथाऽऽढकम् ।
पूतीकदन्तीसुरभीश्वदंष्ट्राणां च बुद्धिमान् ॥ ६२ ॥
पलानि विंशतिं दद्यादेकैकस्य तमेकतः ।
यवकोलकुलत्थानां प्रस्थयुक्तं जलोन्मने ॥ ६३ ॥
क्राथयेत् पादशेषं तु तस्मिंस्तैलाढकं पचेत् ।
गोमूत्रार्धाढकं यवपिप्पलीसैन्धवत्रिकम् ॥ ६४ ॥
·········यवशताह्वानां······वलीनकैः ।
कुष्ठवक्र(क्र)स्य(त्व)चा युक्तमेतत् स्यादनुवासनम् ॥ ६५ ॥
ऊरुस्तम्भकटीपृष्ठगुदवंक्षणशूलिषु ।
प्लीहोदावर्तगुल्मेषु फलतैलं प्रयोजयेत् ॥ ६६ ॥

फलतैल—दशमूल-५० पल । मैनफल-१ आढक । पूतीक (करञ्ज), दन्ती, सुरभी (रास्ना) तथा गोखुरू-प्रत्येक २० पल । यव, कोल, कुलत्थ-१ प्रस्थ । इन सबको एक उन्मन (द्रोण) जल में पकाकर क्राथ करे। चतुर्थांश शेष रहने पर उसमें एक आढक तैल डालकर सिद्ध करे । फिर उसमें आधा आढक गोमूत्र तथा यव, पिप्पली, तीनो लवण (विड, सैन्धव तथा रुचक),···यव, शताह्वा,···वलीनक कुष्ठ तथा वक्र (तगर या पित्त पापड़ा) की छाल डालकर पकाये । यह उत्तम अनुवासन है। इस फल तैल का ऊरुस्तम्भ, कटीशूल, पृष्ठशूल, गुदशूल, वंक्षणशूल, प्लीहा, उदावर्त तथा गुल्मरोग में प्रयोग करना चाहिये ॥ ६२-६६ ॥

(१) चलः स्निग्धे मृदुः शीते शोफोऽङ्गेषु मृदुस्तथा । आढ्यवात इति ज्ञेयः सकृच्छ्रो मेदसावृतः ॥

इति शूलचिकित्सा ते विस्तरेण प्रकीर्तिता ।
सिद्धैः प्रयोगैर्विविधैः प्राणिनां हितकाम्यया ॥ ६७ ॥

इस प्रकार मैंने तुझे प्राणियों के हित की दृष्टि से नाना प्रकार के सिद्ध योगों द्वारा विस्तारपूर्वक शूलचिकित्सा का उपदेश किया है ॥ ६७ ॥

इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ चू १ (७१)
(इति) खिलेषु शूलचिकित्साध्यायोऽष्टादशः ॥ १८॥ डाड (१८)।

ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था । चू १ (७१)
(इति) खिलेषु शूलचिकित्साध्यायोऽष्टादशः ॥ १८ ॥ डाड (१८) ।

अथाष्टज्वरचिकित्सितोत्तराध्याय एकोनविंशतितमः ।

अथातोऽष्टज्वरचिकित्सितोत्तरमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ २ ॥

अब हम अष्ट ज्वर चिकित्सितोत्तर नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे । ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था ॥ १-२ ॥

एकद्वित्रिसमुत्थानां निदानं प्रागुदाहृतम् ।
चिकित्सां संप्रवक्ष्यामि सन्निपातस्य हेतुवत्[1] ॥ ३ ॥
(इति ताडपत्रपुस्तके २४६ तमं पत्रम्)

मैंने एकदोषज (वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक), द्विदोषज (वातपैत्तिक, वातश्लैष्मिक, पित्तश्लैष्मिक) तथा त्रिदोषज (सान्निपातिक-वातपित्तकफ तीनों दोषों से होने वाले) ज्वरों का निदान पहले बता दिया है। अब मैं उन सबकी चिकित्सा तथा सन्निपात ज्वर का निदान कहूंगा ॥ ३ ॥

अहिता································ ।
································गुडसंयुतः ॥

इस श्लोक में संभवतः ज्वर का निदान दिया गया है। अर्थात् अहितकर आहार······तथा गुड के सेवन आदि से ज्वर हो जाता है ॥

बिल्वोऽग्निमन्थः श्योनाकः काश्मर्यः पाटलिस्तथा
एषां तु मूलं निष्काथ्य पिबेत् सक्षारसैन्धवम् ॥

बिल्व, अग्निमन्थ, श्योनाक (अरलु), गंभारी तथा पाढल-इन सबकी मूल का क्राथ बनाकर उसमें सर्जक्षार तथा सैन्धव मिलाकर वातज्वर के रोगी को पिलाना चाहिये ॥

समङ्गा मधुकं मुस्तं भद्रदार्वथ शर्करा ।
वातज्वरे प्रयोक्तव्यं गुडूच्या सह पानकम् ॥

१ अस्याग्रे पत्रत्रयं लुप्तं ताडपत्रपुस्तके ।

मंजीठ, मुलहठी, नागरमोथा, देवदारु शर्करा तथा गिलोय का पानक (शर्बत-Syrup) बनाकर वातज्वर में प्रयोग करना चाहिये ॥

विदारिगन्धा ह्येरण्डं बृहत्यौ पृश्निपर्णिका ।
भद्रदारुसमायुक्तो वातज्वरहरो मतः ॥

विदारीगन्धा, एरण्ड, दोनों बृहती, पृश्निपर्णी तथा देवदारु-इन सबका वातज्वर में प्रयोग करना चाहिये ॥

विदारिगन्धा कलशी तथा गन्धर्वहस्तकः ।
मधुकं भद्रदारुश्च क्राथः शर्करया युतः ॥
वातज्वरहरो देयो मातुलुङ्गरसाप्लुतः ।

विदारीगन्धा, कलशी (पृश्निपर्णी), गन्धर्वहस्तक (एरण्ड), मुलहठी तथा देवदारु के क्राथ में शर्करा और मातुलुङ्ग का रस मिलाकर वातज्वर में देना चाहिये ॥

एरण्डं वरुणं चैव बृहत्यौ मधुकं तथा ॥
वातज्वरहरः क्राथो रास्नाकल्कसमायुतः ।

एरण्ड, वरुण, दोनों बृहती (स्थूल तथा क्षुद्र बृहती) तथा मुलहठी के क्राथ में रास्ना का कल्क मिलाकर देने से वातज्वर नष्ट होता है ॥

द्विपञ्चमूलनिष्क्राथः कोष्णो वा यदि वा हिमः ।
रास्नाकल्कसमायुक्तो वातज्वरहितो मतः ॥

दोनों पञ्चमूल (अर्थात् दशमूल) के ईषद् उष्ण अथवा शीतल क्राथ में रास्ना का कल्क मिलाकर वातज्वर में हितकर माना गया है ।

रास्नासरलदेवाह्वयष्टीमधुकसंयुतः ।
पेयो विदारिगन्धाद्यो निष्क्राथो वा ससैन्धवः ॥

रास्ना, सरल (चीड़), देवदारु तथा मुलहठी से युक्त विदारीगन्धादि के क्राथ में सैन्धव मिलाकर पीना चाहिये ॥

पञ्चमुष्टिकयूषेण युक्ताम्ललवणेन च ।
भुञ्जीत भोजनं काले जाङ्गलानां रसेन च ॥
पिबेदन्तरपानं च बिल्वमूलशृतं जलम् ।

योग्य मात्रा में खटाई तथा लवण मिले हुए पञ्चमुष्टिक यूष अथवा जांगल पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ योग्य काल में भोजन करना चाहिये। तथा भोजन के बीच में बिल्वमूल से सिद्ध किया हुआ जल देना चाहिये। पञ्चमुष्टिक यूष—इसका पहले खिलस्थान के शोथ चिकित्सिताध्याय में वर्णन किया गया है। इसे वहीं देखें (श्लोक सं० ३०) ॥

द्वे पञ्चमूले वर्चीवमेकेषीकां पुनर्नवाम् ॥
सहस्रवीर्यां नादेयीं शतवीर्यां शतावरीम् ।
विश्वदेवां शुकनसां सहदेवां सनाकुलीम् ॥
रास्नाजगन्धे पूतीकं देवाह्वं देवताडकम् ।
बले द्वे हंसपादीं च क्राथोत्थीमुपलङ्कशाम् (?) ॥
कृष्णागरुं व्याघ्रनखं शतपुष्पां पलङ्कषाम् ।
कायस्थां च वयस्थां च चोरकं जटिलां जटाम् ।
अपेतराक्षसीं यक्षां गुहाह्वामुष्ट्रलोमिकाम् ।
हरेणुकां हैमवतीं कैटर्यं सुवहां वचाम् ॥
वृश्चिकालीं च भार्गीं च···स्या शिग्रुं च कल्कशः ।
संहृत्य तैलं विपचेद्वातज्वरनिबर्हणम् ॥
पुराणसर्पिःसंस्कारो विधेयो जाङ्गलो रसः ।

दोनों पञ्चमूल (अर्थात् दशमूल), वर्चीव, एकेषीका (पाठा), पुनर्नवा, सहस्रवीर्या (दूर्वा), नादेयी (अरणी अथवा नागरमोथा), शतवीर्या (शतमूली अथवा द्राक्षा), शतावरी, विश्वदेवा (गोरक्षतण्डुला), शुकनासा (श्योनाक), सहदेवा (बला), गन्धनाकुली, रास्ना, अजगन्धा (वनयवानी-जंगली अजवायन), पूतीक (करञ्ज), देवदारु, देवताड़क (देवदाली-घोषालता), दोनों बला (बला तथा अतिबाला), हंसपदी, किसी क्राथ विशेष में शोधित गूगल, काला अगर, व्याघ्रनख (नखनखी) सौंफ, गूलर, कायस्था (आंवला अथवा काकोली), वयस्था (हरड़), चोरक (ग्रन्थिपर्णी का एक भेद-भटेउर), जटिला (वटवृक्ष), जटा (जटामांसी), अपेतराक्षसी (काली तुलसी), यक्षा (राल), गुहाह्वा (पृश्निपर्णी का भेद), उष्ट्रलोमिका, हरेणु, हैमवती (स्वर्णक्षीरी अथवा हरीतकी), कैटर्य (महानिम्ब का एक भेद गोरानीम), सुवहा (शेफालिका), बच, वृश्चिकाली (बरहण्टा), भारंगी···तथा सुहांजने का कल्क बनाकर तैल पाक करे। यह वातज्वर को नष्ट करता है। इसमें पुराने घृत के संस्कार से युक्त जांगल मांसरस का प्रयोग करना चाहिये ॥

दशमूलकुलत्थानां यवानां कुडवस्य च ॥
कुलीरशृङ्ग्या रास्नायाः शटीपुष्करमूलयोः ।
भार्ग्या दुरालभायाश्च निर्यूहः साधु साधितः ॥
तेनास्य विगुणो वायुर्ज्वरश्चाशु प्रशाम्यति ।

दशमूल, कुलत्थ, यव, कुलीरशृंगी (काकड़ाशृंगी), रास्ना, कपूरकचरी, पुष्करमूल, भारंगी तथा दुरालभा-एक २ पल लेकर उनका अच्छी प्रकार निर्यूह (क्राथ) बनाया जाये। इस प्रयोग से विगुण (दूषित) हुआ वायु तथा ज्वर शीघ्र ही शान्त हो जाते हैं ॥

वातश्लेष्मसमुत्थस्य व्याख्यास्यामि चिकित्सितम् ॥
बृहत्यौ पुष्करं दारु पिप्पल्यो नागरं शटी ।
क्राथमेषां पिबेदुष्णमादौ दोषविपाचनम् ॥

अब मैं वातश्लेष्म ज्वर की चिकित्सा का उपदेश करूंगा। वातश्लेष्म ज्वर के प्रारंभ में दोनों बृहती (स्थूलफला तथा क्षुद्रफला), पुष्करमूल, देवदारु, पिप्पली, सोंठ, कपूरकचरी का क्राथ पीना चाहिये। यह दोषों का पाचन करता है ॥

द्विपञ्चमूलं भार्गीं च कर्कटाख्यां दुरालभाम् ।
नागरं पिप्पलीं दारु पिबेद्वा सैन्धवान्वितम् ॥

अथवा इसमें दोनों पञ्चमूल, भारंगी, काकड़ाशृंगी, दुरालभा, सोंठ, पिप्पली तथा देवदारु के क्वाथ में सैन्धव मिलाकर पीना चाहिये ॥

पटोलं धान्यकं मुस्ता मूर्वा पाठा निदिग्धिका ।
कषाय एषां पातव्यः षडङ्गो मधुसंयुतः ॥

पटोल, धनिया, नागरमोथा, मूर्वा (मोरबेल), पाठा, निदिग्धिका (कण्टकारी)-इन ६ द्रव्यों के कषाय में मधु मिलाकर सेवन करना चाहिये ॥

त्रिफला जीवनीयानि पिप्पलीमूलशर्करे ।
सिद्धो ग्रहघ्नसंयुक्तो वातश्लेष्मज्वरापहः ॥

त्रिफला, जीवनीयवर्ग की ओषधियां, पिप्पलीमूल, शर्करा तथा ग्रहघ्न (श्वेत सरसों) का क्वाथ वातश्लेष्म ज्वर को नष्ट करता है ॥

नागरं दश(मूलं) च कट्वङ्गं दारुकद्वयम् ।
पिप्पल्यस्त्रिफला भार्गी कर्कटाख्या दुरालभा ॥
वातश्लेष्मज्वरे पेयं सुखोष्णं सैन्धवान्वितम् ।

सोंठ, दशमूल, कट्वङ्ग (स्योनाक-अरलु), हल्दी, दारुहल्दी, पिप्पली, त्रिफला, भारंगी, काकड़ाशृंगी तथा दुरालभा के सुखोष्ण क्वाथ में सैन्धव मिलाकर वातश्लेष्म ज्वर में पीना चाहिये ॥

तिक्तकं कटुरोहिण्याः कल्कमक्षसमं भिषक् ॥
हिङ्गुसैन्धवसंसृष्टं पिबेत् क्षिप्रं सुखाम्बुना ।
कफजेऽनिलजे चैव ज्वरे पीतं सुखावहम् ॥

वैद्य को चाहिये कि वह तिक्तक (पटोल) तथा कटुरोहिणी (कुटकी) का कल्क १ अक्ष लेवे । उसमें हींग और लवण मिलाकर शीघ्र ही सुखोष्ण जल से पिला देवे । यह क्वाथ वातश्लेष्म ज्वर में पीने से सुखकारी होता है ॥

महतः पञ्चमूलस्य क्वाथः श्लैष्मिकवातिके ।
नागरामरदारुभ्यां शृतमुष्णं पिबेज्जलम् ॥

वातश्लेष्म ज्वर में बृहत् पञ्चमूल का क्वाथ तथा सोंठ और देवदारु से सिद्ध किया हुआ उष्ण जल पिलाना चाहिये ॥

बालमूलकयूषेण जाङ्गलानां रसेन वा ।
कटूष्णद्रव्ययुक्तेन मन्दस्निग्धेन भोजयेत् ॥

वातश्लेष्म ज्वर के रोगी को कच्ची मूली के यूष, जांगलमांसरस तथा अल्पस्नेह युक्त कटु एवं उष्ण द्रव्यों का भोजन करना चाहिये ॥

लाक्षाप्रियङ्गुमञ्जिष्ठायष्टिकोशीरबालकैः ।
चन्दनागरुबाह्लीकश्रीवेष्टककुटन्नटैः ॥
मूर्वाशताह्वासरलसालनिर्यासरोचकैः ।
क्षीरद्रोणेऽर्धपलिकैर्भिषक्तैलाढकं पचेत् ॥
तत् साधु सिद्धमाहृत्य स्वनुगुप्तं निधापयेत् ।

लाक्षादिकमिदं तैल··············· ।
(इति ताडपत्रपुस्तके २५० तमं पत्रम्)[1]

··

··

लाक्षादि तैल—लाक्षा, प्रियङ्गु, मंजीठ, मुलहठी, खस, बालक (नेत्रबाला), चन्दन, अगर, बाह्लीक (हींग), श्रीवेष्टक (सरल निर्यास-गन्धा बिरोजा), कुटन्नट (स्योनाक अथवा केवटीमोथा), मूर्वा (मोरबेल), शताह्वा, सरल (चीड़), साल निर्यास (राल-Resin) तथा रोचक (राजपलाण्डु या बिजौरा)-आधा पल । इसको एक द्रोण जल में डालकर उसमें एक आढक तैल को सिद्ध करे । सम्यक् प्रकार से तैल सिद्ध होने पर उसे उतारकर एकान्त स्थान में रख दें । इसे लाक्षादि तैल···कहते हैं ॥

(पिप्प)ल्योऽतिविषा मुस्ता स्थिराढ्या सदुरालभा ॥
सचन्दनयवोशीरसारिवाः सनिदिग्धिकाः ।
रोहिण्यामलकं बिल्वं त्रायमाणातिसाधितम् ॥
घृतं हन्ति शिरः शूलं कासं जीर्णज्वरं क्षयम् ।

पिप्पली, अतीस, नागरमोथा, स्थिरा (शालपर्णी), आढ्या (अजमोदा), दुरालभा, रक्तचन्दन, जौ, खस, सारिवा, निदिग्धिका (कण्टकारी), रोहिणी, आंवला, बिल्व तथा त्रायमाणा से सिद्ध किया हुआ घृत शिरःशूल, कास, जीर्णज्वर तथा क्षयरोग को नष्ट करता है ।

वमनं कफरोगाणां पैत्तिकानां विरेचनम् ॥
शोधनं शमनं कार्यं कृशे शमनशोधनम् ।

श्लैष्मिक रोगों में वमन के द्वारा तथा पैत्तिक रोगों में विरेचन के द्वारा शोधन करके फिर दोषों का शमन करना चाहिये । यदि रोगी कृश हो तो पहले दोषों का शमन करें, उसके बाद शोधन करना चाहिये ॥

मण्डादिरिष्यते सामे यवागूर्वातजे तथा ॥
विषौषधिप्रजातानां पित्तघ्नीं कारयेत् क्रियाम् ।

आमज्वर में मण्ड आदि तथा वातज्वर में यवागू का सेवन करना चाहिये । तथा विषौषधियों से उत्पन्न हुए ज्वर में पित्तनाशक चिकित्सा करनी चाहिये ॥

सन्निपातज्वरस्यातः प्रवक्ष्यामि चिकित्सितम् ॥
स सर्वलक्षणोऽसाध्यः कृच्छ्रसाध्योऽल्पलक्षणः ।

अब मैं सन्निपात ज्वर की चिकित्सा कहूंगा । यदि सन्निपातज्वर में सम्पूर्ण लक्षण विद्यमान हों तो वह असाध्य होता है तथा यदि उसमें थोड़े ही लक्षण विद्यमान हों तो वह कृच्छ्रसाध्य होता है ॥

बलहीनस्य नष्टाग्नेः सर्वथा नैव सिध्यति ॥
किमङ्ग ! बालकानां तु क्षीणधातुबलौजसाम् ।

१. अस्याग्रे पत्रद्वयं लुप्तं ताडपत्रपुस्तके ।

तथाऽपि यत्नमातिष्ठेदानृशंस्याद्भिषग्वरः ॥

हे प्रिय ! जिन बालकों का बल कम हो गया है, जिनकी जाठराग्नि नष्ट हो चुकी है तथा जिनके धातु, बल एवं ओज क्षीण हो चुके हैं—उनमें सन्निपात ज्वर सर्वथा साध्य नहीं है अर्थात् बिलकुल असाध्य है। तथापि चिकित्सक को मृत्यु अथवा अन्तिम भयंकर अवस्था तक भी प्रयत्न करते रहना चाहिये ॥

सन्निपातेषु दोषेषु यो दोषो बलवान् भवेत् ।
तमेवादौ प्रशमयेच्छेषं दोषमतः परम् ॥

सन्निपात ज्वर में जो दोष सबसे अधिक बलवान् हो पहले उसीकी चिकित्सा करनी चाहिये । शेष दोषों की उसके बाद चिकित्सा करनी चाहिये ॥

अल्पान्तरबलेष्वेषु दोषेषु मतिमान् भिषक् ।
श्लेष्माणमादौ शमयेत् स ह्येषामनुबन्धकृत् ॥
गुरुत्वात् कृच्छ्रपाकित्वादूर्ध्वकायाश्रयात्तथा ।

यदि सन्निपात ज्वर में तीनों दोष लगभग समान बलवाले हों तो बुद्धिमान् चिकित्सक को पहले श्लेष्मा (कफ) की शान्ति करनी चाहिये। क्योंकि इसमें गुरु, कृच्छ्रपाकी (जिसका पाक-विपाक कठिनता से होता हो) तथा शरीर के ऊर्ध्व भाग में स्थित होनेके कारण श्लेष्मा ही अनुबन्धवाला होता है॥

तस्माज्ज्वरे यदुद्दिष्टं वातपित्तकफात्मके ॥
तस्मात्तस्यामवस्थायां तत्तत् कार्यं चिकित्सितम् ।

इसलिये वातिक, पैत्तिक एवं श्लैष्मिक ज्वरों में जो २ कहा गया है—ज्वर की उस २ अवस्था में वह २ चिकित्सा करनी चाहिये । ('सन्निपातज्वरस्यातः' इत्यादि ३८ वें श्लोक से 'कार्यं चिकित्सितम्' इत्यादि ४३ तक के श्लोक पहले सूतिकोपक्रमणीय अध्याय में १३९ से १४५ श्लोकों में अक्षरशः इसी रूप में आ चुके हैं । यहां पुनरावृत्ति हुई है)॥

पिप्पल्यादिवचादारुवयस्थासरलान्वितः ॥
पेयः कफोत्तरे सामे सहिङ्गुक्षारसैन्धवः ।
दोषास्तेनाशु पच्यन्ते विबन्धश्चोपशाम्यति ॥

ज्वर में कफरूप आमरस की प्रधानता होने पर पिप्पली. बच, देवदारु, वयस्था (हरड़), सरल (चीड़), हींग, सर्जक्षार तथा सैन्धव का प्रयोग करना चाहिये । इससे दोषों का शीघ्र ही पाचन होता है तथा ज्वर भी शान्त हो जाता है ॥

नागरं कट्फलं धान्यं मुस्तं पर्पटकं वचा ।
देवदार्वभया भार्गी भूतीकं दशमं भवेत् ॥
शृतं सैन्धवहिङ्गुभ्यां पेयं वातकफोत्तरे ।
ऊर्ध्वजत्रवङ्गरोगाणां ज्वरितानां प्रशस्यते ॥

वात एवं कफ प्रधान ज्वर में सोंठ, कायफल, धनिया, नागरमोथा, पित्तपापड़ा, बच, देवदारु, हरड़, भारंगी तथा भूतीक (यवानी-अजवायन)-इन दस द्रव्यों का क्वाथ बनाकर उसमें सैन्धव तथा हींग मिलाकर प्रयोग कराना चाहिये । यह ज्वरयुक्त रोगी के ऊर्ध्वजत्रुज अङ्गों के रोगों में प्रशस्त माना गया है ॥

शटीपौष्करपिप्पल्यो बृहती कण्टकारिका ।
शुण्ठी कर्कटकी भार्गी दुरालम्भा यवानिका ॥
शूलानाहविबन्धघ्नं शट्याद्यं कफवातनुत् ।

शटि (कपूरकचरी–कचूर), पुष्करमूल, पिप्पली, बृहती (बड़ी कटेरी–भटकटैया), कण्टकारी, सोंठ, काकड़ाशृङ्गी, भारंगी, दुरालभा तथा यवानी (खुरासानी अजवायन) का प्रयोग करना चाहिये । यह शट्यादि प्रयोग शूल, आनाह, विबन्ध तथा वात और कफ को नष्ट करता है ॥

विडङ्गातिविषे भार्गी पौष्करं चित्रकं शटी ॥
शार्ङ्गेष्टा पिप्पली शुण्ठी पिबेद्वातकफोत्तरे ।

वात एवं कफ प्रधान ज्वर में विडङ्ग, अतीस, भारंगी, पुष्करमूल, चित्रक, कचूर, शार्ङ्गेष्टा (काकजंघा अथवा काकमाची), पिप्पली तथा सोंठ का सेवन करना चाहिये ॥

दुरालभावचादारुपिप्पलीमूलनागरम् ॥
.... पुष्करं शटी ।
क्वाथं सलवणं देयं हिङ्गुक्षारान्वितं पिबेत् ॥
सन्निपाते विबन्धे च वातश्लेष्मोत्तरे ज्वरे ।

सन्निपात, विबन्ध तथा वात कफ प्रधान ज्वर में दुरालभा, बच, देवदारु, पिप्पलीमूल, सोंठ···पुष्करमूल तथा कचूर के क्वाथ में लवण हींग तथा सर्जक्षार मिलाकर पिलाना चाहिये ॥

जीवकर्षभकौ शृङ्गी मूलं पुष्करजं शटी ॥
सन्निपातेऽनिलकफे कासे चैषां प्रशस्यते ।

यदि सन्निपात ज्वर में वात एवं कफ की प्रधानता हो तथा कास हो तो जीवक, ऋषभक, काकड़ाशृङ्गी, पुष्करमूल तथा कचूर का क्वाथ प्रशस्त होता है ॥

बृहत्यौ पुष्करं दारु पिप्पल्यो नागरं शटी ॥
क्वाथमेषां पिबेदुष्णमादौ दोषविपाचनम् ।

सन्निपात ज्वर में प्रारम्भ में दोषों का पाचन करने के लिये दोनों बृहती, पुष्करमूल, देवदारु, पिप्पली, सोंठ तथा कचूर का गरम २ क्वाथ पीना चाहिये ॥

दुरालभा वचा दारु पिप्पली भद्ररोहिणी ॥
महौषधं कर्कटकी बृहती कण्टकारिका ।
क्वाथः सलवणः पेयः सन्निपातज्वरापहः ॥

सन्निपात ज्वर को नष्ट करने के लिये दुरालभा, बच, देवदारु, पिप्पली, कटुरोहिणी, सोंठ, काकडाशृङ्गी, बड़ी कटेरी तथा छोटी कटेरी के क्वाथ में लवण मिलाकर पीना चाहिये ॥

देवदारु वचा मुस्तं कैरातं कटुरोहिणी ।
गुडूची नागरं क्वाथः सन्निपातज्वरापहः ॥

उरोग्रहे कण्ठरोगे मुखरोगे च शस्यते ।

सन्निपात ज्वर में देवदारु, बच, नागरमोथा, चिरायता, कुटकी, गिलोय तथा सोंठ के क्वाथ का प्रयोग करना चाहिये। यह उरोग्रह, कण्ठरोग तथा मुखरोगों में हितकर है ॥

त्रिफला रोहिणी निम्बं पटोलं कटुकत्रयम् ॥
पाठा गुडूची वेताग्रं सप्तपर्णः सवत्सकः ।
किराततिक्तकं मुस्ता वचा चेत्येकतः शृतम् ॥
कफोत्तरं निहन्त्येतत् पानादग्निं च दीपयेत् ।

त्रिफला, रोहिणी, नीम, पटोल, त्रिकटु, पाठा, गिलोय, वेताग्र (नाडीशाक), सप्तपर्ण, इन्द्रजौ, चिरायता, नागरमोथा तथा बच का क्वाथ कफप्रधान सन्निपात ज्वर को नष्ट करता है तथा अग्नि को प्रदीप्त करता है ॥

पटोलमुस्तमधुकरोहिणीक्वथितं जलम् ॥
योगमेतं त्रिफलया युक्तं च सुरदारुणा ।
पाययेन्मधुनाऽऽलोड्य सन्निपाते कफोत्तरे ॥

कफप्रधान सन्निपात ज्वर में पटोल, नागरमोथा, मुलहठी, रोहिणी, त्रिफला तथा देवदारु के क्वाथ में मधु मिलाकर सेवन करना चाहिये ॥

आरग्वधवचानिम्बपटोलोशीरवत्सकम् ।
शार्ङ्गेष्टाऽतिविषा मूर्वा त्रिफला सदुरालभा ॥
भद्रमुस्ता बला पाठा मधुकं भद्ररोहिणी ।
कषाय एष शमयेज्ज्वरमाशु त्रिदोषजम् ॥
जाड्यं सशोफमाध्मानं गुरुत्वं चापकर्षति ।

अमलतास, बच, नीम, पटोल, खस, इन्द्रजौ, शार्ङ्गेष्टा, अतीस, मूर्वा, त्रिफला, दुरालभा, नागरमोथा, बला, पाठा, मुलहठी तथा कटुरोहिणी का कषाय शीघ्र ही त्रिदोषज (सान्निपातिक) ज्वर को शान्त कर देता है। यह जड़ता, शोफ (शोथ), आध्मान तथा शरीर के भारीपन को भी दूर करता है ॥

नागरं दशमूलं च कट्वङ्गं दा·········

सोंठ, दशमूल, कट्वङ्ग (स्योनाक)······आदि का क्वाथ सन्निपात ज्वर में देना चाहिये ॥

(इति ताडपत्रपुस्तके २५३ तमं पत्रम्[1])

································
································

इससे आगे ताडपत्र पुस्तक में ५ पृष्ठ खण्डित हैं। उस खण्डित प्रकरण में कुछ अंश अष्टज्वर चिकित्सा-१९वां अध्याय का होना चाहिये। इसके अतिरिक्त २०वां अध्याय (अज्ञात नाम) सम्पूर्ण रूप से खण्डित है तथा मधुविशेषणीय-नामक २१ वें अध्याय का भी बहुत सा अंश खण्डित है। (इस प्रकार अष्टज्वरचिकित्सिताध्याय बीच में ही खण्डित हो गया है)।

१. अस्याग्रे पत्रपञ्चकं खण्डितं ताडपत्रपुस्तके ।

वक्तव्य—यह अध्याय भी प्रारंभ में खण्डित है। अध्याय के अन्त में थोड़े से श्लोक इस अध्याय के मिलते हैं। अध्याय के अन्त में अध्याय की समाप्ति की सूचना देनेवाले लेख को देखकर ही अनुमान होता है कि यह मधुविशेषणीय नामक २१ वां अध्याय है। अब हम उपलब्ध श्लोकों का व्याख्यान करेंगे।

············शिशुं प्राशयेयुः कथञ्चन ॥

शिशु को किसी प्रकार मधु का सेवन कराना चाहिये।

वक्तव्य—प्रारंभिक सम्पूर्ण श्लोकों के खण्डित होने से यह कहना कठिन है कि ऊपर से क्या प्रकरण आ रहा है। फिर भी इतना तो स्पष्ट है कि कम से कम यह प्रकरण शिशुओं को मधु सेवन कराने का है। सुश्रुत में अत्यन्त विस्तार के साथ मधु के गुणों का वर्णन किया गया है। नवजात शिशु को अनेक स्थानों पर मधु चटाने का विधान दिया गया है॥

नवसद्यःक्षतानां तद् व्रणानां रोहणं भवेत् ।
क्षतजं प्राप्य हि विषं दर्शयत्यात्मनो बलम् ॥
प्रसादयति तच्चाशु सन्धत्ते च मधु व्रणम् ।

मधु के गुण—मधु नवीन एवं सद्यःक्षत व्रणों का रोहण करता है-उन्हें भर देता है। क्षत (चोट आदि) के कारण शरीर में जो विष उत्पन्न हो जाता है उस पर मधु अपनी शक्ति प्रकट करता है। मधु उस विष को शान्त कर देता है तथा व्रण का सन्धान करता है॥

तस्मात् स्वभावतो नृणां सहोष्णेनाशितं मधु ॥
विरुद्धत्वात्त्रिभिर्दोषैर्जीवितान्ताय कल्पते ।
तुल्यत्वादुष्णयोगाच्च यथा च मधुसर्पिषी ॥

मधु अपने स्वभाव से तीनों दोषों से विरुद्ध होने के कारण उष्ण पदार्थों के साथ सेवन किया जाता हुआ मृत्यु का कारण होता है। उदाहरण के लिये मधु तथा घृत समान मात्रा में लेने से तथा उष्णता के कारण घातक होता है। अर्थात् मधु को घृत के साथ यदि सेवन करना हो तो दोनों द्रव्य समान परिमाण में कभी नहीं होने चाहिये। समान परिमाण में मिलने से वे दोनों दूषितविष का कार्य करते हैं। मधु के विषय में दूसरी बात यह ध्यान रखनेवाली है कि इसे न तो कभी स्वयं उष्ण करना चाहिये तथा न उष्ण द्रव्यों के साथ या उष्ण प्रकृतिवाले मनुष्य में सेवन कराना चाहिये। मधु-मक्खियों द्वारा यह अनेक प्रकार के फूलों से संग्रह किया जाता है। उन फूलों में कई विषयुक्त भी हो सकते हैं जिससे मधु में कुछ विषयुक्त अंश भी विद्यमान हो सकता है। विष का उष्णता से विरोध होता है। उष्णता मिलने से विष प्रकुपित हो जाता है। इसलिये मधु को कभी भी गरम नहीं करना चाहिये। गरम वस्तुओं के साथ इसे मिलाना भी नहीं चाहिये तथा उष्ण प्रकृति वाले रोग अथवा मनुष्यों में भी इसका प्रयोग नहीं करना चाहिये। परन्तु वमन द्रव्यों के साथ यदि मधु का प्रयोग किया जा रहा हो तो वहां उष्णता का विरोध

हीं होता क्योंकि उसका परिपाक नहीं होता है तथा शरीर वह ठहरता नहीं है। मधु एक ऐसा खाद्य पदार्थ है जिसे धुमक्खियां भिन्न २ फूलों से लाकर अपने छत्तों में एकत्र रती हैं। इसमें अन्य तत्त्वों के अतिरिक्त सबसे अधिक मात्रा ं ग्लूकोज (Glucose) होता है। ग्लूकोज का पाचन बहुत गमता से हो सकता है तथा यह हृदय को अत्यन्त बल देने ाला पदार्थ है। प्राचीन आयुर्वेदिक ग्रन्थों में मधु को बहुत धिक महत्त्व दिया गया है। अधिकांश आयुर्वेदिक ओषधियों का अनुपान मधु ही होता है। इसका कारण मुख्यरूप से यह है कि मधु में योगवाही गुण होता है। योगवाही का अभिप्राय यह है कि उसे जिस द्रव्य के साथ मिलाया जाता है, अपने गुणों को स्थिर रखते हुए वह उसके गुणों को बढ़ा देता है। इसी गुण के कारण इसका इतना महत्त्व है। भिन्न २ प्रकार की मक्खियों द्वारा संचित किये हुए मधु के गुणों में परस्पर अन्तर होता है। इसका विशेष विवरण सुश्रुत सू. अ. ४५ मधुवर्ग में देखें॥

इति ह स्माह भगवान् कश्यपः॥

(इति) खिलेषु मधुविशेषणीयो नामैकविंशतितमोऽध्यायः॥ थ १ (२१)

ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था।

(इति) खिलेषु मधुविशेषणीयो नामैकविंशतितमोऽध्यायः॥

अथ क्षीरगुणविशेषीयाध्यायो द्वाविंशतितमः।

अथातः क्षीरगुणविशेषीयं व्याख्यास्यामः॥ १॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः॥ २॥

अब हम क्षीरगुण विशेषीय अध्याय का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था। अर्थात् इस अध्याय में भिन्न २ प्राणियों के दूधों के पृथक् २ गुणों का विवेचन किया जायगा॥ १-२॥

गोर्महिष्या अजायाश्च नार्या उष्ट्र्या अवेः स्त्रियाः।
तुरङ्ग्या इति चोक्तानि पूर्वमेव पयांसि तु॥ ३॥
भूयश्च गुणवैशेष्यात् क्षीराण्यष्टौ निबोध मे।

गौ, भैंस, बकरी, नारी, ऊंटनी, भेड़, स्त्री तथा घोड़ी के दूध का पहले वर्णन किया गया है। अब गुणों की विशेषता के कारण पुनः इन आठ प्रकार के दूध के विषय में तू मेरे से सुन।

वक्तव्य—यहां नारी तथा स्त्री शब्द दोनों एक ही अर्थ के वाचक हैं। यह संभवतः प्रमादवश लिखा गया है। इन दोनों में से एक शब्द के स्थान पर हथिनी वाचक शब्द होना चाहिये। क्योंकि स्त्री शब्द का दोबारा आने का कोई अर्थ नहीं है तथा हथिनी के दूध का इसमें समावेश नहीं किया गया है। हथिनी के दूध को मिलाकर ही आठ प्रकार के दूध होते हैं। आयुर्वेद में चिकित्सार्थ अनेक प्राणियों के दूध का उपयोग किया जाता है परन्तु जहां तक पीने का संबन्ध है उपर्युक्त आठ प्राणियों का दूध ही व्यवहृत होता है॥ ३॥

प्रजापतेः पुरेच्छातः प्रजानां प्राणधारणम्॥ ४॥
पञ्चभूतगुणं चापि भूरुहां जन्म कथ्यते।
वनस्पतीनां वृक्षाणां वानस्पत्यगणस्य च॥ ५॥
वीरुधामोषधीनां च गुल्मानामपि जीवक!।
विविधानां तृणानां च सस्यानां चैव देहिनाम्॥ ६॥
एवमादिगणो यस्तु भूमेः सार उदाहृतः।

हे जीवक! प्राचीन काल में प्रजापति (ब्रह्मा) की इच्छा से सम्पूर्ण प्राणियों के प्राणों का धारण हुआ। पञ्चमहाभूतों के गुणों से युक्त पर्वतों का जन्म हुआ तथा वनस्पति, वृक्ष, सम्पूर्ण वानस्पत्य, वीरुध्, ओषधि, गुल्म, विविध प्रकार के तृण, घास तथा मनुष्यों की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार यह उपर्युक्त सम्पूर्ण वर्ग भूमि का सार कहलाता है। अर्थात् इन सबकी पृथ्वी पर उत्पत्ति होने के कारण ये सब पृथ्वी के सार रूप हैं।

वक्तव्य—वनस्पति-जिसके पुष्प न हों पर फल हों उन्हें वनस्पति कहते हैं तथा इसका उदाहरण गूलर दिया जाता है। 'अपुष्पा' का अर्थ 'अविद्यानपुष्प' किया जाता है अर्थात् जिसमें पुष्प न हों। परन्तु यह बात वनस्पति शास्त्र के सिद्धान्त के ही विरुद्ध है कि बिना पुष्प के फल हो जाय। पहले पुष्प उत्पन्न होते हैं तथा उसीसे बाद में फल बनते हैं। आधुनिक विद्वान् यह मानते हैं कि गूलर आदि फलों को यदि सूक्ष्मवीक्षण यन्त्र से देखा जाय तो हमें ज्ञान होता है कि इनके अन्दर भी असंख्य सूक्ष्म फूल होते हैं जो एक बन्द आधार में रहते हैं। इसलिये 'अपुष्पा' का अर्थ अविद्यमान न करके 'अदृश्य' किया जाना अधिक उचित है अर्थात् इनमें फूल अदृश्य होता है। वृक्ष-जिनके फूल भी हों और फल भी हों उन्हें वृक्ष कहते हैं जैसे आम्र, जामुन आदि। वानस्पत्य—वानस्पत्य तथा वृक्ष का एक ही अभिप्राय होता है। तन्त्रान्तर में कहा है-'वानस्पत्यः फलपुष्पवति वृक्षे। पुष्पजफलवृक्षे आम्रादौ।' वीरुध्—जो फैलने वाली लता होती है उन्हें वीरुध् कहते हैं। ओषधि-जो फल के पक जाने पर नष्ट होजाती हैं उन्हें 'ओषधि' कहते हैं। मनुस्मृति में भी कहा है—'ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः' अर्थात् जिसमें पुष्प और फल बहुत हों परन्तु फल के पक जाने पर जो नष्ट हो जाती है उसे 'ओषधि' कहते हैं। इसके उदाहरण-शालि, यव, गोधूम (गेहूं), तिल तथा मूंग आदि हैं। गुल्म—जो गुल्म या गुच्छे के आकार का हो उसे 'गुल्म' कहते हैं। यह काण्डशून्य वृक्ष जाति होती है। इसका समावेश भी वीरुध् में ही होता है॥ ४-६॥

सोमस्य वायुतेजोपां बुद्धिश्चेति प्रजापतेः ॥
तदाहारगुणोत्पन्नं गवादीनामतः परम् ।

उपर्युक्त गुण वाले आहारों से उत्पन्न होने के कारण गौ आदि का दूध सोम (चन्द्रमा), वायु, तेज (सूर्य), जल तथा प्रजापति (ब्रह्मा) को बुद्धिरूप समझा जाता है। अर्थात् गौ आदि प्राणियों का दूध उपर्युक्त आहार के सेवन से बनता है तथा वह आहारद्रव्य सूर्य, चन्द्रमा, जल आदि से उत्पन्न होता है। इसलिये यह उनका बुद्धिरूप या सारतत्त्व समझा जा सकता है ॥

यथा सर्वौषधीसारं क्षीरोदे मथिते पुरा ॥
संभूतममृतं दिव्यममरा येन देवताः ।
तथा सर्वौषधीसारं गवादीनां तु कुक्षिषु ॥
क्षीरमुत्पद्यते तस्मात् कारणादमृतोपमम् ।

जिस प्रकार प्राचीन काल में क्षीरसागर के मथे जाने पर सम्पूर्ण ओषधियों का सार दिव्य अमृत बन गया था उसी प्रकार सम्पूर्ण ओषधियों का सार गौ आदि की कुक्षि (पेट) में पहुँच कर दूध बन जाता है। इसलिये यह अमृत के समान होता है ॥

जरायुजानां भूतानां विशेषेण तु जीवनम् ॥

पशु, मनुष्य आदि जरायुज प्राणियों के लिये दूध विशेषकर जीवन देने वाला है। चरक सू. अ. २७ में भी कहा है कि दूध सबसे श्रेष्ठ जीवनीय (जीवन देने वाला) द्रव्य समझा जाता है। जरायुज—जो प्राणी जरायु-अर्थात् गर्भाशय से उत्पन्न होते हैं उन्हें जरायुज कहते हैं। सुश्रुत सू. अ. १ में कहा है—'तत्र पशुमनुष्यव्यालादयो जरायुजाः'।

क्षीरं सात्म्यं हि बालानां क्षीरं जीवनमुच्यते ।
क्षीरं पुष्टिकरं वृद्धिकरं बलविवर्धनम् ॥
क्षीरमोजस्करं पुंसां क्षीरं प्राणगुणावहम् ।
गर्भधानकरं क्षीरं बन्ध्यानामपि योषिताम् ॥

बालकों के लिये दूध सात्म्य होता है तथा उनका जीवन होता है (अर्थात् उनके लिये जीवन तुल्य होता है)। यह पुष्टि, शरीर की वृद्धि तथा बल को बढ़ाने वाला है। दूध प्राणियों में ओज को बढ़ाता है तथा प्राणों को बलवान् बनाता है तथा यह बन्ध्या (बांझ) स्त्रियों में गर्भ का स्थापन कराता है। अर्थात् इसमें गर्भस्थापक गुण हैं ॥

क्षीणानां च कृशानां च शोफिनां राजयक्ष्मिणाम् ।
व्यायामश्रमनित्यानां स्त्रीनित्यानां च देहिनाम् ॥
संक्षीणरेतसां चापि गर्भस्रावे च दारुणे ।
रक्तपित्तामयेऽर्शस्सु मदक्षीणे ज्वरे तथा ॥
गर्भशोषे च वातानां क्षीरं परममुच्यते ।

यह क्षीण, कृश, शोथ तथा राजयक्ष्मा (क्षय) के रोगियों, नित्य व्यायाम, परिश्रम का कार्य तथा नित्य स्त्रीसंभोग करने वाले एवं जिनका वीर्य क्षीण (निर्बल) हो गया है—उन मनुष्यों में हितकर माना गया है। इसके अतिरिक्त दारुण गर्भस्राव (Severe Abortion), रक्तपित्त, अर्श, मद के कारण हुई क्षीणता, ज्वर तथा वायु के कारण हुए गर्भशोष में दूध अत्यन्त हितकर माना गया है। सुश्रुत सू. अ. ४५ में दूध के सामान्य गुण अत्यन्त विस्तार से दिये गये हैं ॥

सामान्यादिह दुग्धानां पुरा चोक्ता गुणादयः ॥
पृथक्त्वेन च वक्ष्यामि गवादीनां विशेषणम् ।

ये सम्पूर्ण दूध के सामान्य गुण कहे गये हैं। अब मैं गौ आदि के दूध का विशेष रूप से पृथक् २ वर्णन करूंगा ॥

तृणगुल्मौषधीनां च अग्राग्रं पय एव हि ॥
खादन्ति मधुरप्रायं लवणं च विशेषतः ।
तत्सारगुणवैशेष्याद्गवां क्षीरं प्रशस्यते ॥

गौ के दूध के गुण—गौ का दूध तृण, गुल्म और ओषधियों का प्रधान अथवा सारभाग होता है। गौएं मधुर एवं लवण प्रधान द्रव्यों का भक्षण करती हैं। इसलिये गौओं का दूध उन सबका सार होने के कारण प्रशस्त माना गया है ॥

मधुरो हि रसः श्रेष्ठो रसानां परिकीर्तितः ।
तन्नित्यं वा गवां क्षीरं मधुरं बृंहणं मतम् ॥

सम्पूर्ण रसों में मधुर रस श्रेष्ठ माना गया है। उसका नित्य सेवन करने के कारण गौओं का दूध मधुर एवं बृंहण होता है ॥

औषधाग्रातिभक्षत्वाद्विरेचयति तत् पयः ।
एतस्मात् कारणादुक्तं गवां क्षीरं रसायनम् ॥

ओषधियों के प्रधान अंश का अत्यधिक भक्षण करने के कारण वह (गोदुग्ध) विरेचन कराता है। इसी कारण से गौ का दूध रसायन माना गया है। ये सब गोदुग्ध के विशेष गुण कहे गये हैं। इसी प्रकार चरक सू. अ. २७ तथा सुश्रुत अ. ४५ में भी कहा है। आहार के विषय में पाश्चात्त्य विद्वान् Robert Mc carrison ने अपनी 'Food' नामक पुस्तक में विस्तृत रूप से लिखा है ॥

एष वैशेषिकगुणो गोक्षीरस्य प्रकीर्तितः ।
क्रिमिकीटपतङ्गैश्च सर्पैरपि तृणाश्रितैः ॥
सह नानातृणं हीनं महिष्यो भक्षयन्ति हि ।
अवगाहन्ति तोयानि गर्भाणि च विशेषतः ॥
एतस्मात् कारणत्तासां क्षीरं कषायशीतलम् ।
शीतत्वाद् दुर्जरं स्निग्धं (गुरु) दाहनिबर्हणम् ॥
गवां क्षीराच्चाल्पा (गु)णं महिषीणां पयो मतम् ।

भैंस के दूध के गुण—भैंसें तृण घास आदि में रहने वाले कृमि, कीड़े, पतङ्गे तथा सांप आदि के साथ नाना प्रकार की हीन (निकृष्ट) तथा घास को खाती हैं। तथा वे पानी में अवगाहन करती रहती हैं अर्थात् पानी में बैठी रहती हैं इस

लिये उनका (भैंसों का) दूध कषाय एवं शीतल होता है। शीतल होने से वह दुर्जर, स्निग्ध, गुरु (भारी) तथा दाह को शान्त करने वाला है। इसलिये भैंसों का दूध गाय के दूध की अपेक्षा अल्पगुणों वाला होता है। इसी प्रकार चरक सू. अ. २७ तथा सुश्रुत सू. अ. ४५ में भी कहा है॥

अजानामल्पकायत्वात् कटुतिक्तानिबर्हणात् ॥
अल्पत्वाच्च बलित्वाच्च लघु दोषहरं पयः ।
अल्पत्वात्तद्घनं क्षीरं घनत्वादपि बृंहणम् ॥
शीतं संग्राहि मधुरं बल्यं वातानुलोमनम् ।

बकरी के दूध के गुण—बकरियों के सूक्ष्म काय होने के कारण तथा कटु एवं तिक्त द्रव्यों (वृक्ष आदि के पत्तों) के सेवन करने से तथा उनके दूध के अल्प एवं बलवान् होने के कारण बकरी का दूध लघु एवं दोषनाशक होता है। वह दूध अल्प (परिमाण में थोड़ा) होने के कारण घन (सान्द्र-गाढ़ा) होता है तथा घन होने से वह बृंहणकारक होता है। वह दूध शीतल, संग्राही, मधुर, बलवान् तथा वायु का अनुमोलन करने वाला होता है। इसी प्रकार चरक सू. अ. २७ तथा सुश्रुत सू. अ. ४५ में भी कहा है॥

महाशयतया श्याम(न)मधुरप्रायसेवनात् ॥
बहुत्वाच्च घनत्वाच्च बल्यं पुष्टिकरं पयः ।
गुरु वृष्यं च निर्दिष्टं मधुरं च विशेषतः ॥
अल्पाहारतयोष्ट्रीणां प्रियं चाऽऽलवणं··· ॥
(इति ताडपत्रपुस्तके २५९ तमं पत्रम् ।)[1]

ऊंटनी के दूध के गुण—ऊंटनी के शरीर के बहुत बड़ा एवं श्याम वर्ण का होने से, मधुर प्राय ओषधियों के सेवन करने से तथा दूध के परिमाण में अधिक होने से ऊंटनी का दूध बल्य (Tonic) पुष्टिकारक, गुरु, वृष्य तथा विशेषकर रस में मधुर होता है। ऊंटनी के आहार कम करने से वह दूध प्रिय तथा ईषत् लवण (नमकीन) होता है। इसी प्रकार चरक सू. अ. २७ तथा सुश्रुत सू. अ. ४५ में भी कहा है॥

वक्तव्य—इससे आगे यह अध्याय खण्डित है। उस खण्डित अंश में बचे हुए प्राणियों के प्रत्येक के दूध का इसी प्रकार पृथक् २ वर्णन होना चाहिये। अब हम अन्य ग्रन्थों के आधार पर बचे हुए प्राणियों के दूध के गुणों का वर्णन करेंगे। भेड़ के दूध के गुण—यह पित्त और कफ को बढ़ानेवाला है। (च. सू. अ. २७)। हथिनी के दूध के गुण—'हस्तिनीनां पयो बल्यं गुरु स्थैर्यकरं परम्'। (चरक सू. अ. २७)। घोड़ी, गधी आदि एक शफवाले प्राणियों के दूध के गुण—यह रूक्ष, लघु, मधुर, अम्ल तथा अनुरस में लवण है तथा शाखागत वात रोगों को नष्ट करता है (सुश्रुत सू. अ. ४५)। शाखा का अभिप्राय हाथ, पैर आदि से है। स्त्री के दूध के गुण—'जीवनं बृंहणं सात्म्यं स्नेहनं मानुषं पयः। नावनं रक्तपित्ते च तर्पणं चाक्षिशूलिनाम् ॥' (चरक. सू. अ. २७)। आजकल के विद्वान् भी दूध को पूर्ण भोजन (Perfect food) मानते हैं। दूध में लगभग वे सब घटक न्यूनाधिक रूप में विद्यमान होते हैं जो मनुष्य के शरीर के पोषण तथा वृद्धि के लिये आवश्यक होते हैं। दूध प्रत्येक प्राणी को जातिसात्म्य होता है इसीलिये दूध बालक, वृद्ध, युवा, स्त्री, प्रौढ़-प्रत्येक अवस्था में हितकर एवं सात्म्य होता है। बालक तथा वृद्ध व्यक्तियों के लिये तो जीवन का सबसे अधिक सहारा होता है। दूध एक प्रकार का स्नेह का घोल (Emmulsion) होता है अर्थात् इसमें स्नेह के कण (Fat globules) अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था में विद्यमान होते हैं इसीलिये यह अत्यन्त सुपच होता है।

·························· ।
·························· ॥
·························· ।

यह अध्याय भी प्रारंभ में खण्डित है। अध्याय के अन्त के समाप्तिसूचक लेख को देखकर ही इस अध्याय का 'पानीयगुणविशेषीय' यह नाम प्रतीत होता है। इस अध्याय में भिन्न २ प्रकार के जलों के विशेष गुण दिये गये हैं। अब हम प्राप्त एवं खण्डित श्लोकों की यथासंभव व्याख्या करते हैं।

अतीते प्रथमे मासि प्रावृट्प्रोष्ठपदागमे ॥
दिव्यं खात् पतितं तोयं नाम्ना हंसोदकं शिवम् ।
आपूतं सूर्यतेजोभिरगस्त्येनाऽविषीकृतम् ॥

प्रावृट् ऋतु (आषाढ़ तथा श्रावण मास) और प्रोष्ठपद (भाद्रपद मास-वर्षा ऋतु का प्रारम्भ) के व्यतीत हो जाने पर प्रथम मास में अर्थात् शरद्ऋतु (कार्तिक तथा मार्गशीर्ष) में आकाश से गिरनेवाला दिव्य जल 'हंसोदक' कहलाता है। यह जल कल्याणकारक एवं पवित्र होता है तथा सूर्य के तेज एवं अगस्त्य नक्षत्र के उदय होने के कारण विषरहित हो जाता है। अर्थात् शरद् ऋतु से पूर्व वर्षा में जल अत्यन्त मलिन एवं अपरिपक्व (अम्लविपाक) होता है—उसका सम्यक् पाक नहीं होता है। उस जल में वर्षा के कारण बहुत मलिनताएं होती हैं। वह जल पीने के योग्य नहीं होता है। इस जल के सेवन से अनेक प्रकार के संक्रामक रोग होने का भय रहता है। इसीलिये चरक में कहा है—'उदमन्थं दिवास्वप्नमवश्यायं नदीजलम् ।·········चात्र वर्जयेत् ॥' इसके बाद शरद्ऋतु में वही जल काल द्वारा सम्यक् परिपक्व होकर दोषरहित तथा अगस्त्य नक्षत्र के उदय होने से विषरहित हो जाता है। उस जल को 'हंसोदक' कहते हैं। इस जल का सेवन करना चाहिये। हंसोदक का अर्थ सूर्य और चन्द्रमा के कारण निर्मल हुआ अथवा हंस के समान निर्मल जल होता है॥

·························· ।
··························ति ॥

स्निग्धं वृष्यं च बल्यं च हेमन्ते गुरु वर्षति ।
शिशिरे वर्षति जलं कफवातप्रकोपनम् ॥

१. अस्याग्रे एकं पत्रं खण्डितं ताडपत्रपुस्तके ।

वसन्ते वर्षति जलं कषायस्वादुरूक्षणम् ।
तत्र·································· ॥

····हेमन्त ऋतु में वर्षा के समय जल स्निग्ध, वृष्य, बलवान् तथा गुरु होता है। शिशिर ऋतु में बरसने वाला जल कफ तथा वायु को प्रकुपित करता है। तथा वसन्त में बरसने वाला जल कषाय, स्वादु तथा रूक्ष होता है।···भिन्न २ ऋतुओं में बरसने वाले जलों के गुण पृथक् २ होते हैं। चरक सू. अ. २७ में इसका वर्णन किया गया है ॥

··················(पति)तं क्षितौ ।
तत् पात्रोपेक्षितवति पात्रदोषेण तत्त्वतः ॥
नानारसत्वं भजते तोयं संप्राप्य भूतलम् ।

·····अन्तरिक्ष से गिरता हुआ जल भूमि पर पहुंचकर पात्र (स्थान) की अपेक्षा रखता है। पात्रों (भिन्न २ स्थानों) के दोषों के अनुसार वह भूमि पर पहुँच कर अनेक रसों वाला हो जाता है।

वक्तव्य—साधारणतया आन्तरिक्ष जल का कोई रस नहीं होता है। उसका रस अव्यक्त माना गया है। परन्तु जब वह बरस कर नीचे भूमि पर आता है तब उसमें आकाश, वायुमण्डल तथा भूमि की अनेक मलिनताओं के मिल जाने से वह जल अनेक रसों वाला हो जाता है। आन्तरिक्ष जल सब जगह का एक ही गुण वाला होता है। परन्तु भिन्न २ स्थानों की भूमि के गुण भिन्न २ हुआ करते हैं। उस २ भूमि पर पहुंचने पर वह अव्यक्तरस वाला आन्तरीक्ष जल भिन्न २ रसोंवाला हो जाया करता है। चरक सू. अ. २७ तथा सुश्रुत सू. अ. ४५ में भी इसी प्रकार कहा गया है ॥

सर्वाम्बु सद्यःपतितमप्रशस्तमनार्तवम् ॥
त································ ।
································रूक्षकम् ॥

सम्पूर्ण जल जो सद्यः पतित हों तथा बेमौसमी हों वे अप्रशस्त माने गये हैं।···वर्षा ऋतु के अतिरिक्त दूसरी ऋतुओं के आन्तरीक्ष जल का प्रयोग नहीं करना चाहिये। सुश्रुत सू. अ. ४५ में भी ऐसा कहा गया है ॥

कफानिलकरं पित्ते हितं शीतातिकारकम् ।
रक्तपित्तहरं रूक्षमवश्यायोदकं लघु ॥
एतच्चतुर्विधं प्रोक्तं तत्त्वेनाम्भोऽन्तरिक्षजम् ।
सह·································· ॥
······························श्लेष्मप्रकोपनाः ।

अवश्याय (ओस) का जल, कफ तथा वायु को बढ़ाने वाला है, पित्त में हितकर है, अत्यन्त शीतकारक है, रक्तपित्त को नष्ट करता है और रूक्ष तथा लघु है। यह आन्तरिक्ष जल चार प्रकार का कहा गया है।·········

वक्तव्य—यहां चार प्रकार के आन्तरिक्ष जलों में से केवल एक अवश्याय (ओस) जल का वर्णन मिलता है। शेष तीन का वर्णन उपलब्ध नहीं है। तत्संबन्धी श्लोक खण्डित हैं अतः उनके विषय में निश्चय से कुछ नहीं कहा जा सकता है। सुश्रुत सू. अ. ४५ में भी चार प्रकार के आन्तरीक्ष जल का वर्णन मिलता है। कहा है—तत्रान्तरीक्षं चतुर्विधम्। तद्यथा—धारं कारं तौषारं हैममिति। अर्थात् जो धारारूप में वर्षा हो उसे 'धार' कहते हैं। यदि ओले गिरें तो उस जल को 'कार,' 'तुषार' (Snow या ओस) के रूप में गिरने वाले जल को तौषार तथा हिम (बर्फ-Ice) के रूप में गिरने वाले जल को 'हैम' जल कहते हैं ॥

क्षारोदाः प्राक्स्रुता नद्यः कफघ्नाः पित्तकोपनाः ॥
लघूदकाः प्रतीचीगा वातलाः कफनाशनाः ।
क्षारं ताभ्यस्तु सामुद्रं मधुरं गुरु पच्यते ॥
································ ।
·······················लवणं जलम् ॥

पूर्व की ओर बहने वाली नदियों का जल क्षारयुक्त होता है तथा वह कफनाशक और पित्तप्रकोपक होता है। पश्चिम की ओर बहने वाली नदियों के जल लघु, वातकारक तथा कफनाशक होते हैं। सामुद्रजल क्षारयुक्त, मधुर, गुरु···एवं लवणयुक्त होता है।

वक्तव्य—यहां भिन्न २ दिशाओं की ओर बहने वाली नदियों के जलों के गुण दिये गये हैं। चरक (सू. अ. २७), सुश्रुत (सू. अ ४५), अष्टाङ्ग हृदय आदि ग्रन्थों में भी इसी प्रकार का वर्णन मिलता है ॥

साभिष्यन्दि स्वादुपाकि शीतं पित्तघ्नमौद्भिदम् ।
सत्त्वक्लेदमलाद् दुष्टं पल्वलाम्बु गुरु स्मृतम् ॥
कषायमधुरं स्वादु विमलं सारसं जलम् ।
कौपं पि··························· ॥
································ ।
इत्यष्टधा जलं प्रोक्तं भूमिजं वृद्धजीवक ! ॥

औद्भिद जल के गुण—औद्भिद जल अभिष्यन्दि, स्वादुपाकी (मधुर विपाक वाला), शीतल तथा पित्तनाशक होता है। पल्वल का जल—पल्वल का जल सत्त्व, क्लेद तथा मल के कारण दूषित होता है तथा गुरु होता है। सरोवर का जल—सरोवर का जल कषाय, मधुर, स्वादु तथा निर्मल होता है। कूप का जल···(खारा, पित्तकारक, कफनाशक, दीपक तथा लघु होता है—सुश्रुत के आधार पर यह अर्थ किया गया है) हे वृद्धजीवक! इस प्रकार यह आठ तरह का भौमजल कहा गया है।

वक्तव्य—यहां श्लोकों के खण्डित होने से आठो प्रकार के जलों का वर्णन उपलब्ध नहीं है। केवल तीन चार प्रकार के जलों का संक्षेप से वर्णन मिलता है। सुश्रुत सू. अ. ४५ में सात प्रकार के भौम जल दिये हैं—तत्पुनः सप्तविधम्। तद्यथा—कौपं, नादेयं, सारसं, ताडागं, प्रास्रवणं, औद्भिदं, चौण्ट्यमिति। इससे आगे इन भौमजलों के पृथक् २ गुणों का वर्णन भी सुश्रुत में वहीं पर किया गया है ॥

लघु प्रकामं सस्नेहं शीतं सर्वरसान्वितम् ।
तृष्णापहं मनोह्लादि श्लेष्मघ्नं क्रिमिनाशनम् ॥
रक्षोघ्नं जीवनं वृष्यं मूर्च्छाघ्नं········ ।
································ ॥

सेवनीय जल—जो जल लघु, ईषत् स्नेहयुक्त, शीतल तथा सब रसों से युक्त हो, जो तृष्णा को शान्त करता हो, मन को आह्लादित करता हो, श्लेष्मा, क्रमि तथा जन्तुओं का नाशक हो, जीवन को देनेवाला हो, वृष्य हो तथा मूर्च्छा को नष्ट करता हो—वह जल सेवन करने योग्य होता है ॥

··············सूक्ष्मप्राणिसमाकुलम् ।
बहलं कलुषं चैव तथा पिच्छिलमाविलम् ।
ग्रामक्षेत्ररसैर्दुष्टं विषमूलोपदूषितम् ॥
शकुन्तक्रिमिशैवालयुक्तमत्युष्णचिक्कणम् ।

त्याज्य जल—जिस जल में सूक्ष्म प्राणी (कृमि कीट आदि) हों, जो बहल (घना–सान्द्र), कलुष (कलुषित या मैला), पिच्छिल (चिपचिपा) तथा आविल (मलयुक्त) हो, जो जल ग्राम, क्षेत्र (खेत) तथा अनेक प्रकार के रसों के कारण दूषित हो, जो विषयुक्त मूलों (कन्दों) से विषैला हो, जिसमें अनेक पक्षी, कृमि तथा शैवाल (काई) पड़ी हुई हो तथा जो अत्यन्त गरम एवं चिकना हो–ऐसे जल का त्याग कर देना चाहिये। चरक सू. अ. २७ में भी इसी प्रकार कहा है॥

································ ॥

··············गुर्विणीषु च वर्जयेत् ।
धात्रीणां च विशेषेण स्वस्थानां रोगिणामपि ॥
पूर्वोक्तगुणबाहुल्यात् पानीयं सेव्यमिष्यते ।
विपाके मधुरं शैत्याद्वारि पित्तघ्नमुच्यते ॥

शीतल जल का निषेध···गर्भिणी स्त्रियों को (शीतल जल का) प्रयोग नहीं कराना चाहिये । पूर्वोक्त गुणों की अधिकता के कारण स्वस्थ अथवा रुग्ण धात्रियों को शीतल जल का प्रयोग कराना चाहिये । शीतल होने के कारण जल विपाक में मधुर होता है । इसीलिये वह पित्तनाशक होता है ।

वक्तव्य—शीतल जल के निषेध के कारण प्रसङ्गवश हम शीतल जल के प्रयोग का विधान भी लिखते हैं जो कि इस ग्रन्थ में संभवतः खण्डित हो गया है । सुश्रुत सू. अ. ४५ में कहा है—मूर्च्छापित्तोष्णदाहेषु विषे रक्ते मदात्यये । भ्रमक्लमपरीतेषु तमके वमथौ तथा ॥ ऊर्ध्वगे रक्तपित्ते च शीतमम्भः प्रशस्यते ॥

································ ।

··············णशीतमुष्णमथापि वा ।
भक्तस्य पूर्वं पीतं वा कृशत्वं कुरुते शिशोः ॥
भक्तस्य मध्ये पीतं तन्मध्यमत्वं नियच्छति ।
भक्तस्योपरि पीतं तु पीनत्वं (संप्रयच्छति) ॥

···भोजन से पूर्व चाहे उष्ण अथवा शीतल जल पीने से शिशु कृश (कमजोर) हो जाता है । भोजन के मध्य में जल का सेवन करने से मध्य अवस्था रहती है तथा भोजन के अन्त में जल का सेवन करने से शिशु मोटा हो जाता है। तन्त्रान्तर में साधारणतया भोजन के बाद जल का पीना प्रशस्त माना गया है परन्तु कुछ रोगों की अवस्था में उसका निषेध किया गया है । ऐसा चरक सू. अ. २७ में कहा है ॥

································ ।
············निष्क्वाथोष्णाम्बु पाचनम् ॥
श्रमे भेदेषु तृष्णासु मूर्च्छास्वतिपिपासिते ।
निष्क्वाथलाघवादम्बु सलिलं तप्तशीतलम् ॥
निर्दिशेत् सर्वदोषघ्नं बालानां········ ।

उष्ण जल के गुण—क्वाथ बनाकर गरम किया हुआ जल पाचक होता है । क्वाथ बनाने के करण लघु हुआ यह जल श्रम, भेद (मलभेद–अतिसार), तृष्णा, मूर्च्छा तथा अत्यन्त पिपासा में उपयोगी है । गरम करके ठण्डा किया हुआ यह जल बालकों के सब रोगों को नष्ट करने वाला कहा गया है। सुश्रुत सू. अ. ४५ में कहा है—कफमेदोऽनिलामघ्नं दीपनं बस्तिशोधनम् । श्वासकासज्वरहरं पथ्यमुष्णोदकं सदा॥ यहां उष्ण किये हुए अथवा क्वाथ बनाकर तैयार किये हुए जल का क्या अभिप्राय है–इसको भी आचार्य स्वयं वहीं स्पष्ट करते हैं कि—जो जल क्वाथ बनाने के कारण हलका हो गया हो तथा चतुर्थांश शेष रहा हो–वही गुणकारी होता है ॥ २४–२५ ॥

································ ॥
················मुष्णोदकं शिशोः ।
रक्तपित्तामयं त्यक्त्वा प्रायो वातकफात्मके ॥
रोगे शिशुर्वा धात्री वा गुर्विणी वोष्णकं पिबेत् ।
क्वचिद्रोगविशेषेण तप्तशीतं हितं बहु ॥

(इति ताडपत्रपुस्तके २६१ तमं पत्रम् ।)

रक्तपित्त रोग को छोड़कर प्रायः सब वात एवं कफ के रोगों में शिशु को उष्ण जल का प्रयोग कराना चाहिये । शिशु, धात्री तथा गर्भिणी स्त्री को उष्ण जल का ही प्रयोग कराना चाहिये । किसी २ रोग में गरम करके ठण्डा किया हुआ जल अधिक हितकर माना गया है । ऐसा सुश्रुत सू. अ. ४५ में कहा है । रक्तपित्त रोग में उष्ण जल का निषेध किया गया है क्योंकि उष्णता से रक्तपित्त प्रकुपित हो जाता है ॥

अथान्तरिक्षं शरदि प्रशस्तं
संतप्यमानं च रवेर्मयूखैः ।
पिबेत्सरो वाऽथ नदीं तडागं
हेमन्तकाले शिशिरे च बालः ॥
वाप्यौद्भिदं प्रास्रवणं हि तोयं
ग्रीष्मे प्रशस्तं कुसुमागमे च ।
वर्षासु कौपं सलिलं प्रशस्त-
मारोग्यहेतोरथ तप्तशीतलम् ॥

बालकों के लिये शरद् ऋतु में सूर्य की किरणों से सन्तप्त (तपाया हुआ) हुआ आन्तरीक्ष जल (वर्षा जल) प्रशस्त माना गया है। हेमन्त तथा शिशिर ऋतु में सरोवर, नदी तथा तडाग (तालाब) का जल पीना चाहिये। ग्रीष्म तथा वसन्त ऋतु में बावड़ी, औद्भिद अथवा झरने का जल प्रयोग में लाना चाहिये। तथा वर्षा ऋतु में गरम करके ठण्डा किया हुआ कुंए का पानी आरोग्य के लिये हितकर होता है॥

इति ह स्माह भगवान् कश्यपः॥
(इति) खिलेषु पानीयगुणविशेषीयाध्यायः॥ (२३)

ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था।
(इति) खिलेषु पानीयगुणविशेषीयाध्यायः॥ (२३)

अथ मांसगुणविशेषीयाध्यायश्चतुर्विंशः।

अथातो मांसगुणविशेषीयं व्याख्यास्यामः॥ १॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः॥ २॥

अब हम मांसगुणविशेषीय अध्याय का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था। अर्थात् इस अध्याय में मांस के सामान्य तथा विशेष गुणों का वर्णन किया जायेगा॥१-२॥

मांसं वृष्यं च बल्यं च मांसं प्राणविवर्धनम्।
मांसं पुष्टिकरं वृद्धकृशानां मांसवर्धनम्॥ ३॥

मांस के सामान्य गुण—मांस वृष्य, बल्य तथा प्राणों की शक्ति को बढ़ाने वाला है। यह पुष्टिकारक है तथा वृद्ध एवं कृश व्यक्तियों के मांस को बढ़ाता है।

वक्तव्य—शरीर के मांस की वृद्धि करने में मांस सबसे बढ़कर माना गया है। 'सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्' इस सिद्धान्त के अनुसार शरीर के मांस तथा खाद्य मांस में मांसत्व के सामान्य होने से यह शरीर के मांस की वृद्धि करता है॥ ३॥

क्षयिणां क्षीणदेहानां मांसमेव परायणम्।
न मांसतुल्यमन्यत्त्वारोग्यवीर्यविवर्धनम्॥ ४॥

क्षय के रोगी तथा क्षीण देह वाले व्यक्तियों के लिये मांस ही श्रेष्ठ द्रव्य है। उनके आरोग्य तथा वीर्य की वृद्धि के लिये मांस के समान और कोई पदार्थ नहीं है॥ ४॥

नराणां क्षीणशुक्राणां मांसं रेतोभिवर्धनम्।
बन्ध्यानामपि नारीणां कुमाराणां तथैव च॥ ५॥

जिन व्यक्तियों का शुक्र (वीर्य) क्षीण हो गया है उनमें मांस से वीर्य की वृद्धि होती है। तथा बन्ध्या स्त्रियों में एवं बालकों में भी यह शुक्र धातु की वृद्धि करता है॥ ५॥

गर्भाधानकरं मांसमन्ते पुष्टिकरं तथा।
गर्भिणीनां च नारीणां वातप्रशमनं परम्॥ ६॥

मांस गर्भाधान (गर्भस्थिति) कराने वाला है तथा अन्त में गर्भ की पुष्टि करता है। गर्भिणी स्त्रियों में मांस का सेवन करने से वायु की शान्ति होती है॥ ६॥

स्त्रीणां प्रसवकाले तु मांस······मेव च।
गर्भकाले च बालानां सरसं परमौषधम्॥ ७॥

प्रसव के समय स्त्रियों में मांस (रस)···श्रेष्ठ माना गया है। गर्भ के समय (गर्भस्थित) बालकों के लिये रसयुक्त मांस (अर्थात् मांसरस) श्रेष्ठ ओषधि माना गया है॥ ७॥

स्त्रीप्रियाणां तथा पुंसां नित्यव्यायामसेविनाम्।
क्षीणानां यक्ष्मिणां चैव ज्वरक्षीणाश्च ये नराः॥ ८॥
वाताहतास्तु ये सत्त्वास्तेषां मांसरसो हितः।

जिन व्यक्तियों को स्त्रियां प्रिय हैं (अर्थात् जो स्त्रियों का सहवास अथवा मैथुन अधिक करते हों), जो नित्य व्यायाम करते हों तथा जो क्षीण एवं क्षय के रोगी हैं, जो ज्वर के कारण क्षीण हुए हैं तथा जो वातरोग से पीडित हैं—ऐसे व्यक्तियों में मांसरस हितकर होता है॥ ८॥

सुसंस्कृतो मांसरसो बिडजीरकहिङ्गुभिः॥ ९॥
स्नेहे सिद्धश्च पयसा विशेषाद्वातिके स्मृतः।

विडनमक, जीरा तथा हींग से अच्छी प्रकार संस्कृत किया हुआ तथा दूध डालकर स्नेह के साथ सिद्ध किया हुआ मांसरस विशेषकर वातरोगों में हितकर माना गया है॥ ९॥

वातपित्तोत्तरे पुंभिः शर्करामधुरीकृतः॥ १०॥
स्निग्धो मांसरसः पेयस्तथा रक्तामयार्दितैः।

वात एवं पित्त के प्रकोप तथा रक्त रोगों से पीडित व्यक्तियों में शर्करा के द्वारा मधुर किया हुआ स्निग्ध मांसरस पिलाना चाहिये॥ १०॥

क्षीण(र)सिद्धो मांसरसो मधुरो लवणोऽपि वा॥११॥
बालानां क्षीणदेहानां गर्भकाले च शस्यते।

दूध के द्वारा सिद्ध किया हुआ मधुर अथवा लवण मांसरस क्षीण देह वाले बालकों के लिये तथा गर्भ के समय प्रशस्त होता है॥ ११॥

हितं च बा(ब)लकामानां मांसस्वरससाधितः(म्)॥
बल को चाहने वाले व्यक्तियों के लिये मांसरस से सिद्ध किये हुए द्रव्य हितकर माने जाते हैं॥ १२॥

सुसिद्धं लवणे सिद्धं मांसं कटुकरोचनम्।
कायाग्निदीपनं चैव रसा······पो हितः॥ १३॥

अच्छी प्रकार लवण के साथ सिद्ध तथा मरिच आदि कटु पदार्थों के द्वारा रुचिकारक बनाया हुआ मांस कायाग्नि को प्रदीप्त करता है······॥ १३॥

वेसवारः समधुरो लावणो वाऽपि रोचनः ।
पिष्टचूर्णितपक्वं वा प्रकु···वापिवान्न(?)तत् ॥ १४ ॥

रुचिकारक मीठा या नमकीन वेसवार अथवा पिट्ठी के चूर्ण से पकाया हुआ मांस हितकर होता है। जो मांस अस्थि रहित करके उबाल कर पुनः पत्थर पर पीस लिया जाय। ···उसमें फिर पिप्पली, मरिच, सोंठ, गुड तथा घृत मिलाकर पका लिया जाय उसे 'वेसवार' कहते हैं (सुश्रुत सू० अ० ४६) ॥ १४ ॥

शूल्यमङ्गारतप्तं च मांसं श्लेष्मामये हितम् ।
साम्लः(म्लं) सलवणश्चै(णं चै)व
हितस्त(तं त)स्मात्तु जीवक ! ॥ १५ ॥

लोहे की शलाका पर लेप करके अङ्गारों पर पकाया हुआ मांस श्लेष्म रोगों में हितकर होता है। इसलिये हे जीवक ! अम्ल एवं लवण युक्त करके इसका प्रयोग करना प्रशस्त माना गया है ॥ १५ ॥

पिष्टं वा खण्डशो वाऽपि मांसं पुटकसाधितम् ।
सहिङ्गुसैन्धवबिडैर्मरिचाम्लसजीरकैः ॥ १६ ॥
साङ्कुरैर्धान्यकैश्चैव शृङ्गबेरार्द्रकैरपि ।
पलाशे भूस्तृणोपेतं मांसं सिद्धं प्रयोजयेत् ॥ १७ ॥

मांस को पीसकर अथवा उसके टुकड़े २ करके हींग, सैन्धव, विडनमक, मरिच, अनार दाना, जीरा, अङ्कुरयुक्त गेहूं, चने आदि धान्य तथा सोंठ, अदरक एवं भूस्तृण (गन्धतृण) आदि के द्वारा बर्तन में सिद्ध किया जाय। सिद्ध होने पर इसका प्रयोग करे ॥ १६–१७ ॥

अथ मांसरसं(सः) सर्पिः
सिद्धं (द्धः)सक्षीरमि(रइ)ष्यते ।
रसपाकविशेषेण तद्बल्यं (स बल्यः)
तद्र (स र) सायनम् (नः) ॥ १८ ॥

घृत से सिद्ध किये हुए मांस रस में दूध मिलाकर प्रयोग करना चाहिये। इस प्रकार यह मांस-रस एवं पाक की विशेषता के कारण बल्य (Tonic) एवं रसायन (Alterative) माना गया है ॥ १८ ॥

अतः परं तु मांसानां रसपाकविशेषणम् ।
वक्ष्ये गुणविशेषं च वृद्धजीवक ! तच्छृणु ॥ १९ ॥

हे वृद्धजीवक ! अब मैं मांसों के रस एवं पाक की विशेषता तथा उनके विशेष गुणों का वर्णन करूंगा। इसे तुम सुनो॥

कफपित्तकरं मांसं गवां वाते हितं गुरु ।
विदाहि बृंहणं चैव, खड्गमांसं च तत्समम् ॥ २० ॥

गौ का मांस—गौ का मांस कफ तथा पित्तकारक, वातरोगों में हितकर, गुरु, विदाहि एवं बृंहण होता है। गैंडे का मांस—यह भी गौ के मांस के ही समान होता है ॥ २० ॥

न्यङ्कूनां विहितं वाते कफपित्तहरं लघु ।
सक्षारं दान्तिनं मांसं बृंहणं कटुतिक्तकम् ॥ २१ ॥
वीर्येणोष्णं च तद्विद्यात् कफपित्तं करोति च ।

शम्बर मृग (बारहसिंगे) का मांस—शम्बर मृग का मांस वातरोगों में हितकर है तथा यह कफ-पित्तहर एवं लघु है। हाथी का मांस-हाथी का मांस क्षारयुक्त, बृंहण, कटु एवं तिक्त होता है। यह वीर्य में उष्ण होता है तथा कफ और पित्त को बढ़ाता है ॥ २१ ॥

गोकर्णमांसं तत्तुल्यं गवयस्य रुरोरपि ॥ २२ ॥

गोकर्ण (मृगभेद), गवय (गलकम्बल से शून्य गौ के समान पशु-नील गाय) तथा रुरु (मृगभेद) का मांस भी हाथी के मांस के समान ही होता है ॥ २२ ॥

रसे पाके च मधुरं वातपित्तहरं गुरु ।
उष्णं चैव च्छागमांसमाविकं चापि तद्गुणम् ॥ २३ ॥

अजा का मांस—अजा (बकरे) का मांस रस एवं विपाक में मधुर, वात पित्त नाशक, गुरु तथा उष्ण है। भेड़ का मांस-भेड़ के मांस के गुण बकरे के मांस के समान ही है ॥ २३ ॥

वृष्यं तु मांसं वाराहं मधुरं गुरु पच्यते ।
तद्गुणं माहिषं विद्धि, शौकरं स्यात्ततो गुरु ॥ २४ ॥

सूअर का मांस—सूअर का मांस वृष्य, मधुर तथा गुरुपाकी होता है। भैंस का मांस—भैंस के मांस के वे ही गुण हैं जो सूअर के मांस के हैं। सूअर का मांस इससे गुरु होता है॥

गर्दभस्य तथाऽश्वस्य मांसं यत् पृषतस्य च ।
कफघ्नं वातलं रूक्षं कटुतिक्ताह्वयं लघु ॥ २५ ॥

गदहा, घोड़ा तथा पृषत (जिसके शरीर पर चित्र विचित्र बिन्दु होते हैं ऐसा चित्तल मृग) नामक हरिण का मांस-कफनाशक, वातकारक, रूक्ष, कटु, तिक्त एवं लघु होते हैं॥

श्वदंष्ट्रो वृषदंष्ट्रश्च ऋष्यः शरभ एव च ।
वातघ्ना उष्णवीर्याश्च रसतः कटुकान्वयाः ॥ २६ ॥
गोलाङ्गूला वानराश्च तत्तुल्या मधुरोत्तराः ।

श्वदंष्ट्र (चार दांत वाला एक मृग), वृषदंष्ट्र (रान का बिलाव), ऋष्य (नीले अण्डकोश वाला रोझू मृग), तथा शरभ (महासिंह नामक काश्मीर देशीय हरिण विशेष—अष्टापद उष्ट्रप्रमाणो महाशृङ्गः पृष्ठगतचतुष्पादः काश्मीरे प्रसिद्धः) का मांस वातनाशक, उष्णवीर्य तथा रस में कटु होता है। गोलाङ्गूल (बन्दर की जाति) तथा वानरों का मांस—इन्हीं के समान है परन्तु इनमें कुछ मधुर रस की अधिकता होती है ॥ २६ ॥

वृकर्क्षकोकजम्बूकाः सिंहा व्याघ्रतरक्षवः ॥ २७ ॥
(इति ताडपत्रपुस्तके २६२ तमं पत्रम्)
स्वाद्यमांसास्त्विमे वृष्या उष्णाः पित्तविवर्धनाः ।
कषायतिक्ता रसतो वातघ्नाः कटुपाकिनः ॥ २८ ॥

वृक (भेड़िया), ऋक्ष (रीछ), कोक (ईहामृग), जम्बूक (गीदड़), सिंह, व्याघ्र, तरक्षु (व्याघ्रविशेष) का मांस स्वादु, वृष्य, उष्ण तथा पित्तवर्धक होता है। इनका रस कषाय एवं तिक्त होता है, ये वातनाशक हैं तथा इनका विपाक कटु होता है ॥ २७-२८ ॥

नकुलो मूषिकः श्वाविद्बभ्रुः शल्यक एव च ।
कषायमधुराः शीता वृष्या गोधाश्च तद्गुणाः ॥ २९ ॥

नेवला, मूषिक (चूहा), श्वावित् (सेही), बभ्रु (नकुल भेद) तथा शल्यक—का मांस कषाय, मधुर, शीत एवं वृष्य होता है। गोधा (गोह) का मांस भी इन्हीं के समान होता है॥

ये स्युः शशकुरङ्गाद्याः सृमरश्चमराश्च ये ।
लघवो·········ष्णाः पित्तला नातिबृंहणाः ॥ ३० ॥

शश (खरगोश), कुरंग (हरिण), सृमर (श्रृङ्ग त्यागी मृग), चमर (चंवर गाय) का मांस-लघु,···उष्ण, पित्त-कारक तथा थोड़े बृंहण होते हैं ॥ ३० ॥

बार्हिणं मधुरोष्णं तु विषघ्नं गुरु बृंहणम् ।
तुल्यं कौक्कुटजं वन्यं, तत्तुल्यं ग्राम्यकौक्कुटम् ॥ ३१ ॥

मोर का मांस—मधुर, उष्ण, विषनाशक, गुरु एवं बृंहण होता है। जंगली तथा ग्राम्य (पालतू) मुर्गे का मांस भी इन्हीं के समान है ॥ ३१ ॥

विष्किराः क्रौञ्चवर्तीका मयूरेण समाः स्मृताः ।
तस्माल्लघुस्तु वर्तीरो वर्तीका लघवो लघुः ॥ ३२ ॥

विष्किर (पंजों से कुरेद कर चुगने वाले प्राणी—विकीर्य विष्किराश्चेति), क्रौञ्च तथा वर्तीक (बटेर) के मांसों के गुण मोर के मांस के समान होते हैं। वर्तीर (कपिञ्जल के समान पक्षी-घरवरा) उससे लघु होता है तथा वर्तीक (बटेर) उससे भी लघु होता है ॥ ३२ ॥

तित्तिरिस्तु कटुः पाके सोष्णस्तु कफवातजित् ।
कपिञ्जलश्चकोरश्च उपचक्रश्च तत्समाः ॥ ३३ ॥

तीतर (काला तीतर) का मांस—विपाक में कटु, उष्ण तथा कफ और वात को शान्त करने वाला है। कपिञ्जल (गोरा तीतर), चकोर तथा उपचक्र (हंस विशेष) के मांस इन्हीं के समान होते हैं ॥ ३३ ॥

लोहपृष्ठो रक्तपृष्ठो रक्ताक्षो जीवजीवकः ।
तथाऽन्ये हिमवज्जाता मधुरा वृष्यबृंहणाः ॥ ३४ ॥
गुरवः शीतलाः पाके कषाया रसतस्तथा ।

लोहपृष्ठ (कङ्कपक्षी), रक्तपृष्ठ, रक्ताक्ष (पारावत-कबूतर), जीवजीवक (प्लवजातीय चकोर भेद) तथा अन्य हिमालय में उत्पन्न होने वाले प्राणी-मधुर, वृष्य, बृंहण, गुरु, पाक में शीतल तथा रस में कषाय होते हैं ॥ ३४ ॥

खञ्जरीटो वपुक्कारः क्रकरो दीर्घपुंसकः ॥ ३५ ॥
कोयष्टिकः कपोतश्च रक्तपादो वसन्तकः ।
भृङ्गराजोऽथ हारीतः कोकिलः शुकसारिकाः ॥ ३६ ॥
एते चान्ये च प्रच्छदा (?) शीतमारुतकोपकाः ।
कषायमधुराः स्वादे कफघ्नाः कटुपाकिनः ॥ ३७ ॥

खञ्जरीट (खञ्जन), वपुक्कार, केकड़ा, दीर्घपुंसक, कोयष्टिक (टिटिहरी या क्रौञ्च), कबूतर, रक्तपाद (तोता), वसन्तक, भृङ्गराज (पक्षिविशेष), हारीत (हरिताल पक्षी), कोयल, तोता तथा मैना—इन तथा अन्य भी प्रच्छद पक्षियों के मांस शीत तथा वायु को कुपित करनेवाले हैं। ये स्वाद में कषाय एवं मधुर हैं, कफनाशक हैं तथा इनका विपाक कटु है ॥ ३५-३७ ॥

गृध्रः काकः श्येनचाषौ भासोलूककुलिङ्गकाः ।
शशान्ता मूषिकाः कोडास्तथाऽन्ये मांसभोजनाः ॥
प्रसहास्ते तु मधुरा वातघ्नाः कटुपाकिनः ।
बृंहणाश्चोष्णवीर्याश्च सततं शोषिणां हिताः ॥ ३८ ॥

गृध्र, कौवा, श्येन (बाज), चाष, भास (गोकुलचारी गृध्रविशेष), उल्लू, कुलिङ्गक (चिड़िया), शशान्त, मूषिक, कोड-तथा अन्य जो भी प्रसहवर्ग के मांस भोजन करनेवाले हैं वे मधुर, वातनाशक, कटुपाकी, बृंहण तथा उष्णवीर्य हैं एवं शोषरोगियों के लिये निरन्तर सेवन करने से हितकर हैं। प्रसह—अपना भोजन जबरदस्ती पकड़ कर खानेवाले प्राणी 'प्रसह' कहलाते हैं ॥

प्लवा बका बलाकाश्च तीदार्यः कुररास्तथा ।
·········रक्ताक्षा मल्लिकाक्षाः सवारटाः ॥ ४० ॥
नन्दीमुखा मेघरावाः शराख्या जलकुक्कुटाः ।
समुद्रकाकाः कुहरा गोटुभा गण्डमालकाः ॥ ४१ ॥
कारण्डवाः सजीमूतास्तथाऽन्ये जलचारिणः ।
पाके च मधुरा वृष्या गुरवश्च······ ॥ ४२ ॥
································· ।
································ ॥ ४३ ॥

प्लव (पानी में तैरनेवाले जीव संघातचारी पक्षी), बक (बगुला), बलाका (बकभेद), तीदार्य, कुरर,···रक्ताक्ष, मल्लिकाक्ष (हंस विशेष), वारट (हंसी), नन्दीमुख, मेघराव (मेघनाद या चातक), शर, जलकुक्कुट (जल मुर्गा), समुद्र काक, कुहर, गोटुभ, गण्डमालक, कारण्डव (सफेद हंस का भेद), जीमूत तथा अन्य जो भी जलचर पक्षी हैं उनका मांस पाक में मधुर, वृष्य एवं गुरु होता है······ ॥ ४०-४३ ॥

हंसस्तु गुरुरत्यर्थं वृष्योऽथ कफपित्तलः ।
शरारिः पाकहंसश्च चक्रवाकस्तथैव च ॥ ४४ ॥
जालपादास्तथाऽन्ये च हंसतुल्या गुणैः स्मृताः ।

हंस का मांस अत्यन्त गुरु, वृष्य तथा कफ एवं पित्तवर्धक है। शरारि (आटी), पाकहंस, चक्रवाक, जालपाद तथा अन्य पक्षी गुणों में हंस के समान माने गये हैं ॥ ४४ ॥

क्रौञ्चः कुलिङ्गो द्रविडः पद्मपुष्करसादकः ॥ ४५ ॥
वार्ध्रीणसः सारसश्च सारङ्गो धामृण्यलिकः (?) ।

एते चान्ये चाम्बुचराः पक्षिणो गुरवः स्मृताः ॥ ४६ ॥
रसे पाके च मधुरा उष्णाः सलवणान्वयाः ।
वृष्या वातहराश्चैव कफपित्तविवर्धनाः ॥ ४७ ॥

क्रौञ्च, कुलिङ्ग, द्रविड, पद्मपुष्कर, सादक, वार्ध्रीणस (नीली ग्रीवा तथा लाल सिर वाला पक्षी विशेष), सारस, सारङ्ग (मृगभेद-चित्रमृग), धामृण्यलिक (?)—इत्यादि तथा अन्य भी जलचर पक्षी गुरु माने गये हैं। ये रस तथा विकाप में मधुर होते हैं और ये उष्ण, लवणरसयुक्त, वृष्य, वातनाशक एवं कफ और पित्त को बढ़ाने वाले हैं ॥ ४५–४७ ॥

नलमीनो झषश्चैव पाठीनश्चर्मपीवरः ।
चेलीमः शकुलार्भ(द)श्च शिलीन्ध्रो गर्गरस्तथा ॥४८॥
पुष्करो गोकरो मूचो वारडः शूलपाटलः ।
कृष्णमत्स्यः श्वेतमत्स्यो गोमत्स्यो रोहितस्तथा ॥ ४९ ॥
शकली महाशकली चम्पः कुन्दोऽथ मद्गुरः ।
इल्यः शङ्कश्चिचरणो राजीवः शफरी तथा ॥ ५० ॥
एते चान्ये च बहवो विविधा मत्स्यजातयः ।
रसे पाके च मधुरा वातघ्ना वृष्यबृंहणाः ॥ ५१ ॥
उष्णवीर्याश्च ते ज्ञेया गुरवः कफपित्तलाः ।
लघ्वाशयास्तेऽन्ये तु किञ्चित्तिक्तान्वयान्तराः ॥ ५२ ॥
रोहितो नलमीनश्च·········लघवः स्मृताः ।

नलमीन (चिलिचिम मछली), झष (मत्स्यभेद), पाठीन, चर्मपीवर, चेलीम, शकुलार्भक, शिलीन्द्र, गर्गर, पुष्कर, गोकर, मूच, वारड, शूलपाटल, कृष्णमत्स्य, श्वेतमत्स्य, गोमत्स्य, रोहित, शकली, महाशकली, चम्प, कुन्द, मद्गुर, इल्य, शङ्कु (शांकोच), चिचरण, राजीव, शफरी (प्रोष्ठी मत्स्य), इत्यादि तथा अन्य भी कई मछलियों की जातियां रस एवं पाक में मधुर, वातघ्न, वृष्य, बृंहण, उष्णवीर्य, गुरु तथा कफ एवं पित्त-वर्धक हैं। इनमें लघु शरीर वाले तथा कुछ तिक्त रस वाले प्राणियों का ग्रहण करना चाहिये। रोहित एवं नलमीन···आदि लघु कहे गये हैं ॥ ४८–५२ ॥

कूर्मो दुटिश्च नक्रश्च मकरोऽवकुशस्तथा ॥ ५३ ॥
तिमिः सहस्रदशनस्तथैव च तिमिङ्गिलः ।
इश्वकः शुक्तिकः शङ्खोऽवल्लूको जलसूकरः ॥ ५४ ॥
शम्बूकश्चन्द्रिकः शृङ्गी कर्कटः शकुटीपयः ।
एते चान्ये च जलजा मधुरा रसपाकयोः ॥ ५५ ॥
गुरवश्चोष्णवीर्याश्च गुरवः कफपित्तलाः ।

कूर्म (कछुआ), दुटि, नक्र (नाका), मकर (मगरमच्छ), अवकुश, तिमि, सहस्रदशन, तिमिङ्गिल, इश्वक, शुक्तिक (सीप), शङ्ख, अवल्लूक, जलशूकर, शम्बूक (घोंघा), चन्द्रिक, शृङ्गी, कर्कट (केंकड़ा), शकुटीपय आदि तथा अन्य जलचर प्राणी रस तथा पाक में मधुर, गुरु, उष्णवीर्य, गुरु तथा कफ एवं पित्तवर्धक होते हैं ॥ ५३–५५ ॥

आनूपे तूत्तमश्छागः, श्रेष्ठो मत्स्येषु रोहितः ॥ ५६ ॥
जलजे शुक्तिकूर्मौ च, वारटोऽथ पक्षिषु ।
एणो मृगेषु प्रवरः, प्रतुदेषु शुको वरः ॥ ५७ ॥

(इति ताडपत्रपुस्तके २६२ तमं पत्रम्)

विषयेषु·········ग्यो लावः खगेषु तु ।
तित्तिरो विष्किरेष्वग्र्यः, काकोऽग्र्यः प्रसहेषु तु ॥५८॥

आनूप (जलयुक्त प्रदेश में रहने वाले) प्राणियों में बकरा सबसे श्रेष्ठ माना गया है। मछलियों में रोहित मछली सबसे श्रेष्ठ होती है (रोहितो मत्स्यानां—चरक सू. अ. २५), जलज प्राणियों में शुक्ति और कूर्म (कछुआ), पक्षियों में वारट, मृगों में एण हरिण (ऐणेयं मृगमांसानां—चरक सू. अ. २५), प्रतुद (नोक से कुरेदकर चुगनेवाले) पक्षियों में तोता, विषयों में·······, पक्षियों में लाव (लावः पक्षिणां-चरक सू. अ. २५), विष्किर (पंजों से कुरेदकर चुगने वाले) प्राणियों में तीतर, प्रसह (अपना भोजन जबरदस्ती पकड़ कर खाने वाले) प्राणियों में कौवा श्रेष्ठ माना गया है ॥ ५६–५८ ॥

लघूक्तं रुधिरं मांसाद् गुरु मेदश्च चर्म च ।
मज्जावसे गुरुतरे तेभ्यो गुरु शिरः स्मृतम् ॥ ५९ ॥

मांस की अपेक्षा रक्त लघु कहा गया है तथा मेद और चर्म (त्वचा) गुरु और मज्जा तथा वसा इनसे गुरु तथा सिर इनसे भी गुरु माना गया है ॥ ५९ ॥

लघुः स्कन्धो हि शिरसस्तस्मात् पार्श्वं लघु स्मृतम् ।
पार्श्वात् सक्थि लघु प्रोक्तं पादमांसं गुरु स्मृतम् ॥६०॥

सिर की अपेक्षा कन्धा लघु होता है, कन्धों से पार्श्वभाग तथा पार्श्व से सक्थि लघु होती है तथा पैरों का मांस गुरु होता है ॥ ६० ॥

वसा मेदश्च मज्जा च वातपित्तहिताः स्मृताः ।
रसे पाके च मधुराः स्नेहाच्छ्लेष्मप्रकोपनाः ॥ ६१ ॥
रक्तं रक्तप्रशमनं मांसं मांसविवर्धनम् ।

वसा मेद तथा मज्जा—वात एवं पित्त के लिये हितकर होते हैं। ये रस तथा पाक में मधुर होते हैं, स्नेहयुक्त होते हैं तथा श्लेष्मा को प्रकुपित करते हैं। रक्त रक्त को निर्मल करने वाला है तथा मांस मांस की वृद्धि करता है ॥ ६१ ॥

गुरवः प्राणिनो बाला, युवानो वृष्यबृंहणाः ॥ ६२ ॥
वृद्धास्तु वातला रूक्षाः, पुंभ्यस्तु लघवः स्त्रियः ।
मृगाल्लघुतरः पक्षी, पक्षिभ्योऽम्बुचरो गुरुः ॥ ६३ ॥

बाल (छोटे) प्राणी गुरु माने गये हैं, युवा प्राणी वृष्य तथा बृंहण होते हैं तथा वृद्धप्राणी वातकारक एवं रूक्ष होते हैं। पुरुषों (Males) की अपेक्षा स्त्रियां (Females) लघु होती हैं। मृगों (पशुओं) की अपेक्षा पक्षी लघु होते हैं तथा पक्षियों से जलचर प्राणी गुरु होते हैं ॥ ६२–६३ ॥

महाशरीराश्चाल्पकाया लघवो जीवक ! स्मृताः ।
विज्ञेयाश्चाल्पभुग्भ्योऽपि गुरवो बहुभोजनाः ॥ ६४ ॥

हे जीवक ! (नकुल मूषिक आदि) अल्प शरीरवाले प्राणियों में बड़े और मोटे प्राणियों का मांस लघु होता है। अल्पभुक् (थोड़ा खानेवाले) प्राणियों में अधिक भोजन करनेवाले प्राणी गुरु होते हैं ॥ ६४ ॥

लघवोऽल्पभूमिचरा, अलसेभ्यो विदूरगाः ।
लघुदेशाचरा अल्पा लघवो लघुभोजनाः ॥ ६५ ॥

अल्पभूमिचर (थोड़ा चरने वाले) प्राणी लघु होते हैं। आलसी प्राणियों में बहुत दूर तक जाकर चरने वाले प्राणी लघु होते हैं तथा लघु देश में चरने वाले, अल्प शरीर वाले एवं लघु भोजन करने वाले प्राणी भी लघु होते हैं ॥ ६५ ॥

गुरुदेशाचराः स्थूला गुरवो गुरुभोजनाः ।
पाशबद्धं गुरु मांसं रूक्षं क्षुद्व्याधिभिर्हतम् ॥ ६६ ॥

गुरु (भारी) देश (स्थान) में विचरने वाले, स्थूल तथा गुरु भोजन करने वाले प्राणी गुरु होते हैं। जाल में पकड़े हुए प्राणियों का मांस गुरु होता है। क्षुधा (भूख) एवं रोग से मरे हुए प्राणी का मांस रूक्ष होता है ॥ ६६ ॥

श्वभिर्हतं पीतरक्तं नातिबृंहणमुच्यते ।
विषैर्हतमभक्ष्यं स्याच्छुष्कं नातिगुणावहम् ॥ ६७ ॥

कुत्तों द्वारा मारे हुए तथा जिसका रक्तपान कर लिया गया है ऐसे प्राणियों का मांस अधिक बृंहण नहीं होता है। विष द्वारा मारे हुए प्राणियों का मांस अभक्ष्य होता है। वह शुष्क तथा गुणहीन होता है ॥ ६७ ॥

सद्योऽपरिक्लिष्टहतं मांसं धातुं विवर्धयेत् ।
पूतिमांसं गुर्वसारं तदवृष्यमबृंहणम् ॥ ६८ ॥

ताजा मारा हुआ तथा अदूषित मांस-मांस तथा धातु की वृद्धि करता है। जो मांस सड़ा हुआ, गुरु एवं साररहित हो वह अवृष्य तथा अबृंहण होता है।

वक्तव्य—चरक सू. अ. २५ तथा सुश्रुत सू. अ. ४६ में भी अत्यन्त विस्तारपूर्वक देश, काल, अवस्था, लिङ्ग, जाति तथा अङ्गों के भेद से मांस के गुणों का वर्णन किया गया है ॥ ६८ ॥

एवं मांसविशेषज्ञः कल्पयेद्भोजने सदा ।
बालानां गुर्विणीनां वा बालपुत्रासु वा भिषक् ॥ ६९ ॥
दुष्प्रजातासु वा स्त्रीषु बाले वा कृशिते सदा ।
प्रयुञ्जन् सिद्धिमाप्नोति तत्त्वविद् वृद्धजीवक ! ॥ ७० ॥

इस प्रकार मांस के गुणों को जानने वाले व्यक्तियों को भोजन में सदा मांस की कल्पना करनी चाहिये। हे वृद्धजीवक ! जो तत्त्ववेत्ता मनुष्य बालक, गर्भिणी, छोटी लड़की, दुष्प्रजाता स्त्री तथा कृश बालकों में इस प्रकार कल्पनानुसार मांस का प्रयोग करता है वह सिद्धि (सफलता) को प्राप्त करता है ॥ ६९-७० ॥

इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥

(इति) खिलेषु मांसगुणविशेषीयाध्यायश्चतुर्विंशतितमोऽध्यायः ॥ २४ ॥ चू (७०)

ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था।

(इति) खिलेषु मांसगुणविशेषीयाध्यायश्चतुर्विंशतितमोऽध्यायः ॥ २४ ॥ चू (७०)

अथ देशसात्म्याध्यायः पञ्चविंशः ।

अथातो देशसात्म्याध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥ २ ॥

अब हम देशसात्म्याध्याय का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् कश्यप ने कहा था।

वक्तव्य—इस अध्याय में किस २ देश में कौन २ सा आहार-विहार सात्म्य होता है-इसका वर्णन किया जायगा। यह अध्याय भी अपूर्ण ही मिलता है। इसमें कुरुक्षेत्र को मध्य (Centre) मानकर पहले पूर्व दिशा के देश तथा सात्म्य आहार-विहार का वर्णन किया है। उससे आगे दक्षिण दिशा के देशमें के केवल नामों का ही उल्लेख मिलता है। उससे आगे अध्याय खण्डित हो गया है। उस खण्डित अंश में संभवतः दक्षिण देशों का सात्म्य आहार-विहार तथा पश्चिम एवं उत्तर देशों के नामपूर्वक सात्म्य आहार-विहार आदि का वर्णन किया गया होगा ॥ १-२ ॥

कश्यपाख्यमृषिश्रेष्ठं पृष्टवान्\.........रोचतः ।
देशसात्म्यमजानन्तः कथं कुर्युश्चिकित्सितम् ॥ ३ ॥
कस्य देशस्य मध्ये तु कुरुक्षेत्रं प्रतिष्ठितम् ।

कश्यप नाम वाले श्रेष्ठ ऋषि से जीवक ने प्रश्न किया—·· देश सात्म्य को जाने बिना हम किस प्रकार चिकित्सा कर सकते हैं तथा कुरुक्षेत्र किस देश के मध्य में स्थित है ॥ ३ ॥

इत्येवमुक्तो भगवान् काशिराजो महामुनिः ॥ ४ ॥
इदमुत्तरमक्लिष्टं व्याख्यातुमुपचक्रमे ।
कुरुक्षेत्रं मध्यदेशाद्योजनानां शतं परम् ॥ ५ ॥
समस्तान् षड्रसान् प्रायो भुञ्जते मध्यदेशजाः ।
भक्ष्यभोज्यान्नवीरास्ते तु भुञ्जन्तो वाऽसकृत्तथा ॥ ६ ॥

इस प्रकार प्रश्न किये जाने पर महामुनि भगवान् काशीराज ने सरल ढंग से उत्तर देना प्रारंभ किया—देश के मध्यभाग में सौ योजन विस्तार वाला कुरुक्षेत्र प्रदेश है। मध्य देश के निवासी प्रायः सम्पूर्ण छओं रसों (रसों से युक्त आहार) का सेवन करते हैं। वे भक्ष्य, भोज्य एवं अन्न (खान पान) में अत्यन्त वीर होते हैं तथा वे अनेक वार भोजन करते हैं। अर्थात् वे खूब खाने पीने वाले होते हैं ॥ ४-६ ॥

पूर्वदेशस्तु विज्ञेयो मधुरः शीतलो गुरुः ।
कुमारवर्तनीमा(चा)दौ कटीवर्षस्तथैव च ॥ ७ ॥
मगधासु महाराष्ट्रमृषभद्वीपमेव च ।
पौंड्रवर्धनकं चापि मृत्तिकावर्धमानकम् ॥ ८ ॥
कर्वटं च समातङ्गं ताम(म्र)लिप्तं सचीरकम् ।
प्रियङ्गुमथ कौशल्यं कलिङ्गपृष्ठपूरकम् ॥ ९ ॥

पूर्व दिशा के देश मधुर, शीतल तथा गुरु माने गये हैं। वे देश निम्न हैं—सबसे पहले कुमारवर्तनी, फिर कटीवर्ष, मगध में महाराष्ट्र, ऋषभ द्वीप, पौण्ड्रवर्धनक, मृत्तिकावर्धमानक, कर्वट, मातङ्ग, ताम्रलिप्त, चीर (चीन), प्रियङ्गु, कौशल्य, कलिङ्ग तथा पृष्ठपूरक ॥ ७–९ ॥

एषु प्लीहविनो मर्त्या गलगण्डिकमे(न ए)व च ।
गुडशाल्योदनप्राया मत्स्यभोजनसेविनः ॥ १० ॥
प्रायशो मधुराहारा वातश्लेष्मात्मका नराः ।

इन देशों के लोग प्लीहा एवं गलगण्ड से युक्त होते हैं अर्थात् उनमें प्लीहारोग (Enlargement of Spleen आदि) तथा गलगण्ड (Goitre) रोग अधिक होते हैं । ये प्रायः गुड तथा शालिचावल और मछली का भोजन करते हैं। इनका आहार प्रायः मधुर होता है तथा यहां के लोग वात एवं श्लेष्म प्रकृति के होते हैं ॥ १० ॥

तेषां कटुकतिक्तं च रूक्षमुष्णं च भोजनम् ॥ ११ ॥
यच्चान्यदपि श्लेष्मघ्नं तेषां तत्तत् प्रयोजयेत् ।

इन व्यक्तियों को कटु, तिक्त, रूक्ष एवं उष्ण भोजन कराना चाहिये तथा अन्य जो भी श्लेष्मनाशक आहार-विहार है—उसका सेवन कराना चाहिये ॥ ११ ॥

कञ्चीपदा नवध्वाना कावीरास्तुल्ययोरपि ॥ १२ ॥
वानसी कुमुदाराज्यं चिरिपालिस्तथैव च ।
चीरराज्यञ्च चोराणां पुलिन्द(न्दं)द्रविडेषु च ॥ १३ ॥
करघाटशनानां च विवे(दे)हा मण्डपेषु च ।
कान्तारं च वराहं च घटास्वाभीरमेव च ॥ १४ ॥
दक्षिणां दिशमाश्रित्य देशा वि············ ।

(इति ताडपत्रपुस्तके २६४ तमं पत्रम्)

दक्षिण दिशा का आश्रय करके निम्न देश हैं—कञ्चीपद, नवध्वान, कावीर, वानसी, कुमुदाराज्य, चिरिपालि, चोरों का चीरराज्य, द्रविड में पुलिन्द, शनों में करघाट, मण्डपों में विदेह, कान्तार, वाराह तथा घटाओं में आभीर देश हैं।···

(वक्तव्य—इन देशों का यथासंभव परिचय उपोद्घात में दिया गया है । पाठक इन्हें वहीं देखें) ॥ १२–१४ ॥

·······································
·······································
·······································
·······································

खिलस्थानस्यैतावानेव भाग उपलब्धः ।

खिलस्थान का इतना ही भाग उपलब्ध होता है ।

काश्यपसंहिता
वृद्धजीवकीयतन्त्रं च
एतावत्येवोपलब्धभागे
विश्राम्यति ।

१. खिलान्यशीतिरध्याया इति पूर्वोद्देशानुसारेणाऽस्मादपूर्णपञ्चविंशाध्यायादुत्तरं पञ्चपञ्चाशदध्याया अवशिष्यन्ते, तेनाऽर्धग्रास इवायमकाण्डे विच्छिन्नो ग्रन्थः पूर्तये पुनरनुकूलदैवं समीहते । उक्तं चाभियुक्तैः—
द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात् । आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः ॥ इत्यलम् ।

काश्यपसंहिताया विषयानुक्रमणिका ।

सूत्रस्थानम् ।

* अत्र सर्वत्र पङ्क्तिसंख्यागणनायां केवलं संस्कृतमूलश्लोकगद्यस्थितपङ्क्तीनामेव ग्रहणम् ।

स्वेदाध्यायः २३ ।

उपकल्पनीयाध्यायः २४ ।

वेदनाध्यायः २५ ।

विमानस्थानम् ३।

कर्णायजयावष्ठीवनं(?)विमानम् १।

शिष्योपक्रमणीयं विमानम् १।

शारीरस्थानम् ४।

असमानगोत्रीयशारीराध्यायः १

गर्भावक्रान्तिशारीराध्यायः १।

सिद्धिस्थानम् ७।

कल्पस्थानम् ८ ।

विशेषकल्पाध्यायः ११।

संहिताकल्पाध्यायः १२।

खिलस्थानम् ९।

विषमज्वरनिर्देशीयाध्यायः १।

विशेषनिर्देशीयाध्यायः २।

LB:441:6x1,1
15J53.2

प्राप्तिस्थानम्—

चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस,

पो० बा० नं० ८, बनारस—१